26, 27

|| श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः||

श्रीमद्भागवतम्

[भागवतपुराण सचित्र हिन्दी व्याख्य साहित्य]



गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

महर्षिवेदव्यास-प्रणीत

श्रीमद्भागवतमहापुराण

[सचित्र, सरल हिन्दी-व्याख्यासहित]

(प्रथम-खण्ड)

[स्कन्ध १ से ८ तक]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरि: ॥

द्वितीय संस्करणका नम्र निवेदन

श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है। इसीसे भक्त-भागवतगण भगवद्भावनासे श्रद्धापूर्वक इसकी पूजा-आराधना किया करते हैं। भगवान् व्यास-सरीखे भगवत्स्वरूप महापुरुषको जिसकी रचनासे ही शान्ति मिली; जिसमें सकाम कर्म, निष्काम कर्म, साधनज्ञान, सिद्धज्ञान, साधनभक्ति, साध्यभक्ति, वैधी भक्ति, प्रेमा भक्ति, मर्यादामार्ग, अनुग्रहमार्ग, द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत आदि सभीका परम रहस्य बड़ी ही मधुरताके साथ भरा हुआ है, जो सारे मतभेदोंसे ऊपर उठा हुआ अथवा सभी मतभेदोंका समन्वय करनेवाला महान् ग्रन्थ है—उस भागवतकी महिमा क्या कही जाय। इसके प्रत्येक अंगसे भगवद्भावपूर्ण पारमहंस्य ज्ञान-सुधा-सरिताकी बाढ़ आ रही है—'**यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।**' भगवान्‌के मधुरतम प्रेम-रसका छलकता हुआ सागर है—श्रीमद्भागवत। इसीसे भावुक भक्तगण इसमें सदा अवगाहन करते हैं। परम मधुर भगवद्रससे भरा हुआ '**स्वादु-स्वादु पदे-पदे**' ऐसा ग्रन्थ बस, यह एक ही है। इसकी कहीं तुलना नहीं है। विद्याका तो यह भण्डार ही है। '**विद्या भागवतावधि:**' प्रसिद्ध है। इस 'परमहंससंहिता' का यथार्थ आनन्द तो उन्हीं सौभाग्यशाली भक्तोंको किसी सीमातक मिल सकता है, जो हृदयकी सच्ची लगनके साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक केवल 'भगवत्प्रेमकी प्राप्ति' के लिये ही इसका पारायण करते हैं। यों तो श्रीमद्भागवत आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है, इसके पारायणसे लौकिक-पारलौकिक सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसमें कई प्रकारके अमोघ प्रयोगोंके उल्लेख हैं—जैसे 'नारायण-कवच' (स्क० ६ अ० ८)-से समस्त विघ्नोंका नाश तथा विजय, आरोग्य और ऐश्वर्यकी प्राप्ति; 'पुंसवन-व्रत' (स्क० ६ अ० १९)-से समस्त कामनाओंकी पूर्ति; 'गजेन्द्रस्तवन' (स्क० ८ अ० ३)-से ऋणसे मुक्ति, शत्रुसे छुटकारा और दुर्भाग्यका नाश, 'पयोव्रत' (स्क० ८ अ० १६)-से मनोवांछित संतानकी प्राप्ति; 'सप्ताहश्रवण' या पारायणसे प्रेतत्वसे मुक्ति। इन सब साधनोंका भगवत्प्रेम या भगवत्प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे प्रयोग किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्तिके पथमें बड़ी सहायता मिलती है। श्रीमद्भागवतके सेवनका यथार्थ आनन्द तो भगवत्प्रेमी पुरुषोंको ही प्राप्त होता है। जो लोग अपनी विद्या-बुद्धिका अभिमान छोड़कर और केवल भगवत्कृपाका आश्रय लेकर श्रीमद्भागवतका अध्ययन करते हैं, वे ही इसके भावोंको अपने-अपने अधिकारके अनुसार हृदयंगम कर सकते हैं।

गीताप्रेसके द्वारा श्रीमद्भागवतके प्रकाशनका विचार लगभग चौबीस-पचीस वर्ष पहलेसे हो रहा था। परंतु कई कारणोंसे उसमें देर होती गयी। फिर पाठका प्रश्न आया। खोज आरम्भ हुई, टीकाओं और पुरानी प्रतियोंको देखा गया। अन्तमें पूज्यपाद गोलोकवासी श्रीमन्मध्वगौडसम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी शास्त्री और गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेजके भूतपूर्व प्रिंसिपल परम श्रद्धेय विद्वद्वर डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए० से परामर्श किया गया। श्रीकविराज महोदयके परामर्श, प्रयत्न और परिश्रमसे काशीके सरकारी 'सरस्वती-भवन' पुस्तकालयमें सुरक्षित प्राय: आठ सौ वर्षकी पुरानी प्रति देखी गयी और गीताप्रेसके विद्वान् शास्त्रियोंके द्वारा उससे पाठ मिलाया गया। इसके लिये हम श्रद्धेय श्रीकविराजजीके हृदयसे कृतज्ञ हैं। इसके पाठनिर्णयमें मथुराके प्रसिद्ध वैष्णव विद्वान् श्रद्धेय पं० जवाहरलालजी चतुर्वेदीसे बड़ी सहायता मिली थी, एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

इसी समय श्रीमद्भागवतके अनुवादकी बात भी चली और मेरे अनुरोधसे प्रिय श्रीमुनिलालजी (वर्तमानमें श्रद्धेय स्वामी सनातनदेवजी)-ने अनुवाद करना स्वीकार किया और भगवत्कृपासे उन्होंने सं० १९८९ के आषाढ़में उसे पूरा कर दिया। उक्त अनुवादका संशोधन श्रीवल्लभसम्प्रदायके महान् विद्वान् गोलोकवासी श्रद्धेय देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी भट्ट, अपने ही साथी पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री और भाई हरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके द्वारा करवाया गया। तदनन्तर संवत् १९९७ में श्रीमद्भागवतका अनुवादसहित पाठभेदकी पाद-टिप्पणियोंसे युक्त संस्करण दो खण्डोंमें प्रकाशित किया गया, जिसको भावुक पाठकोंने बहुत ही अपनाया। इसीके साथ-साथ मूल पाठका गुटका-संस्करण भी निकाला गया, जिसकी अबतक १,०८,२५० प्रतियाँ छप चुकी हैं।

इसके अनन्तर संवत् १९९८ में 'कल्याण' का 'भागवताङ्क' प्रकाशित किया गया। इसमें अनुवादकी शैली कुछ

बदल दी गयी। इस अनुवादका अधिकांश हमारे अपने ही पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी (वर्तमानमें श्रद्धेय स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)-ने किया। कुछ श्रीमुनिलालजी तथा पं श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने भी किया। फिर द्वितीय महायुद्धके कारण कई तरहकी अड़चनें आ गयीं। श्रीमद्भागवतके ये दोनों खण्ड और 'श्रीभागवताङ्क' दोनों ही अप्राप्य हो गये। पुन: प्रकाशनकी बात बराबर चलती रही, पर कुछ-न-कुछ अड़चनें आती ही रहीं। 'भागवताङ्क' वाली नयी शैलीके अनुसार अनुवादमें संशोधन करना हमारे पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्रीने आरम्भ भी किया। परंतु अन्यान्य कार्योंमें अत्यधिक व्यस्त रहनेके कारण उनसे वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। गत फाल्गुनमें श्रद्धेय स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज गोरखपुर पधारे, यों ही प्रसंगवश बात चल गयी और उन्होंने कृपापूर्वक इस कामको करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार कार्य आरम्भ हो गया और भगवत्कृपासे अब यह छपकर पाठकोंके सामने प्रस्तुत है। श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज महीनोंतक लगातार अथक परिश्रम करके यह कार्य नहीं करते तो आज इस रूपमें इसका प्रकाशित होना सम्भव नहीं था। इसलिये हमलोग तो स्वामीजी महाराजके कृतज्ञ हैं ही, भागवतके प्रेमी पाठकोंको भी उनका कृतज्ञ होना चाहिये।

इस संस्करणमें अधिकांश अनुवाद 'भागवताङ्क' (मुख्यतया पं० श्रीशान्तनुविहारीजीके द्वारा अनुवादित)-के अनुसार ही है। कुछ अनुवाद तथा बहुत-सी अन्य सामग्री पूर्वप्रकाशित श्रीमद्भागवतके दोनों खण्डों (श्रीमुनिलालजीके द्वारा अनुवादित)-के अनुसार भी है। 'भागवताङ्क' के भावानुवादमें भी पं० श्रीशान्तनुविहारीजीके साथ-साथ श्रीमुनिलालजी और पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीका कुछ हाथ था। उसी प्रकार इसमें भी है। इसीसे अनुवादकके रूपमें किन्हीं एक महानुभावका नाम नहीं दिया गया है। नाम-रूपके परित्यागी पूज्यद्वय संन्यासी महोदय (श्रद्धेय श्रीअखण्डानन्दजी महाराज और श्रद्धेय श्रीसनातनदेवजी महाराज) तो नाम न देनेसे प्रसन्न ही होंगे। हम तो इसको इन दोनों ही महानुभावोंका कृपाप्रसाद मानते हैं और दोनोंके ही कृतज्ञ हैं। पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री सम्पादकीय विभागके सदस्य हैं। अत: उनके नामकी पृथक् आवश्यकता भी नहीं। पाठकोंकी जानकारीके लिये यह परिचय दिया गया है। वस्तुत: अनुवादक महोदयोंके लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने जो कुछ किया है, कृपापूर्वक ही किया है और उनकी कृपा तथा सद्भावना हमें सदा सहज ही प्राप्त है।

इसमें श्लोकोंका केवल अक्षरानुवाद नहीं है, पाठकोंको श्लोकोंका भाव भलीभाँति समझानेके लिये श्लोकोंमें आये हुए प्रत्येक शब्दके भावकी पूर्ण रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें उनकी व्याख्या की गयी है, साथ ही बहुत विस्तार न हो, इसका भी ध्यान रखा गया है। इसे अनुवाद न कहकर 'सरल संक्षिप्त व्याख्या' कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्थान-स्थानपर, विशेष करके दशम स्कन्धमें कई जगह श्रीभगवान्‌की मधुर लीलाओंके रसास्वादनके लिये और लीलारहस्यको समझनेके लिये नयी-नयी टिप्पणियाँ भी दे दी गयी हैं, जिससे इसकी उपादेयता और सुन्दरता विशेष बढ़ गयी है। साथ ही आरम्भमें स्कन्दपुराणोक्त एक छोटा माहात्म्य, श्रीमद्भागवतकी पूजनविधि आदि सप्ताहपारायणकी विधि तथा आवश्यक सामग्रीकी सूची एवं अन्तमें स्कन्दपुराणोक्त भागवतमाहात्म्य और विस्तृत प्रयोगविधि दे दी गयी है, इसलिये पहले संस्करणकी अपेक्षा इसमें पृष्ठ भी बहुत बढ़ गये हैं। चित्र भी अधिक दिये गये हैं। ये कुछ इस संस्करणकी विशेषताएँ हैं।

इसके पाठ-संशोधन, अनुवाद, प्रूफ-संशोधन आदिमें गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी और पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने बड़ा काम किया है। सभी बातोंमें सावधानी रखी गयी है, तथापि इतने बड़े ग्रन्थकी छपाईमें जहाँ-तहाँ भूलें अवश्य रही होंगी। कृपालु पाठकोंसे प्रार्थना है कि उन्हें पाठ, अनुवाद या छपाईमें जहाँ भूल दिखलायी दे, कृपया वे व्योरेवार लिख दें, जिससे आगामी संस्करणमें यथायोग्य संशोधन कर दिया जाय। सहृदय पाठकोंसे प्रार्थना है कि असावधानतावश होनेवाली भूलोंके लिये वे क्षमा करें।

अन्तमें निवेदन है कि यह सब जो कुछ हुआ है, इसमें भगवत्कृपा ही कारण है और सब तो निमित्तमात्र है। मैं अपना बड़ा सौभाग्य समझता हूँ और अपने प्रति श्रीभगवान्‌की बड़ी कृपा मानता हूँ, जिससे इधर कई महीने प्राय: श्रीमद्भागवतके ही पठन-चिन्तन आदिमें लगे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या

तृतीय स्कन्ध

चतुर्थ स्कन्ध

चतुःश्लोकी भागवत

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ १॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥ २॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३॥
एतावदेव जिज्ञास्यंतत्त्व जिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ४॥

सृष्टिके पूर्व केवल मैं-ही-मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनोंका कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं-ही-मैं हूँ और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं हूँ; और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ॥ १॥ वास्तवमें न होनेपर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मामें दो चन्द्रमाओंकी तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है, अथवा विद्यमान होनेपर भी आकाश-मण्डलके नक्षत्रोंमें राहुकी भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझनी चाहिये॥ २॥ जैसे प्राणियोंके पंचभूतरचित छोटे-बड़े शरीरोंमें आकाशादि पंचमहाभूत उन शरीरोंके कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं और पहलेसे ही उन स्थानों और रूपोंमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते, वैसे ही उन प्राणियोंके शरीरकी दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपसे प्रवेश किये हुए हूँ और आत्मदृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ॥ ३॥ यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं—इस प्रकार निषेधकी पद्धतिसे और यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है—इस अन्वयकी पद्धतिसे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं, वे ही वास्तविक तत्त्व हैं। जो आत्मा अथवा परमात्माका तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जाननेकी आवश्यकता है॥ ४॥

(श्रीमद्भा० २।९।३२—३५)

श्रीमद्भागवत-माहात्म्य

(स्वयं श्रीभगवान्के श्रीमुखसे ब्रह्माजीके प्रति कथित)

श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं लोकविश्रुतम्।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो मम सन्तोषकारणम्॥ १॥

लोकविख्यात श्रीमद्भागवत नामक पुराणका प्रतिदिन श्रद्धायुक्त होकर श्रवण करना चाहिये। यही मेरे संतोषका कारण है।

नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः।
प्रत्यक्षरं भवेत्तस्य कपिलादानजं फलम्॥ २॥

जो मनुष्य प्रतिदिन भागवतपुराणका पाठ करता है, उसे एक-एक अक्षरके उच्चारणके साथ कपिला गौ दान देनेका पुण्य होता है।

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्।
पठते शृणुयाद् यस्तु गोसहस्रफलं लभेत्॥ ३॥

जो प्रतिदिन भागवतके आधे श्लोक या चौथाई श्लोकका पाठ अथवा श्रवण करता है, उसे एक हजार गोदानका फल मिलता है।

यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं सुत।
अष्टादशपुराणानां फलमाप्नोति मानवः॥ ४॥

पुत्र! जो प्रतिदिन पवित्रचित्त होकर भागवतके एक श्लोकका पाठ करता है, वह मनुष्य अठारह पुराणोंके पाठका फल पा लेता है।

नित्यं मम कथा यत्र तत्र तिष्ठन्ति वैष्णवाः।
कलिबाह्या नरास्ते वै येऽर्चयन्ति सदा मम॥ ५॥

जहाँ नित्य मेरी कथा होती है, वहाँ विष्णुपार्षद प्रह्लाद आदि विद्यमान रहते हैं। जो मनुष्य सदा मेरे भागवतशास्त्रकी पूजा करते हैं, वे कलिके अधिकारसे अलग हैं, उनपर कलिका वश नहीं चलता।

वैष्णवानां तु शास्त्राणि येऽर्चयन्ति गृहे नराः।
सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सुरवन्दिताः॥ ६॥

जो मानव अपने घरमें वैष्णवशास्त्रोंकी पूजा करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त होकर देवताओंद्वारा वन्दित होते हैं।

येऽर्चयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं कलौ।
आस्फोटयन्ति वल्गन्ति तेषां प्रीतो भवाम्यहम्॥ ७॥

जो लोग कलियुगमें अपने घरके भीतर प्रतिदिन भागवतशास्त्रकी पूजा करते हैं, वे [कलिसे निडर होकर] ताल ठोंकते और उछलते-कूदते हैं, मैं उनपर बहुत प्रसन्न रहता हूँ।

यावद्दिनानि हे पुत्र शास्त्रं भागवतं गृहे।
तावत् पिबन्ति पितरः क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ ८॥

पुत्र! मनुष्य जितने दिनोंतक अपने घरमें भागवतशास्त्र रखता है, उतने समयतक उसके पितर दूध, घी, मधु और मीठा जल पीते हैं।

यच्छन्ति वैष्णवे भक्त्या शास्त्रं भागवतं हि ये।
कल्पकोटिसहस्राणि मम लोके वसन्ति ते॥ ९॥

जो लोग विष्णुभक्त पुरुषको भक्तिपूर्वक भागवतशास्त्र समर्पण करते हैं, वे हजारों करोड़ कल्पोंतक (अनन्तकालतक) मेरे वैकुण्ठधाममें वास करते हैं।

येऽर्चयन्ति सदा गेहे शास्त्रं भागवतं नराः।
प्रीणितास्तैश्च विबुधा यावदाभूतसंप्लवम्॥ १०॥

जो लोग सदा अपने घरमें भागवतशास्त्रका पूजन करते हैं, वे मानो एक कल्पतकके लिये सम्पूर्ण देवताओंको तृप्त कर देते हैं।

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा वरं भागवतं गृहे।
शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः॥ ११॥

यदि अपने घरपर भागवतका आधा श्लोक या चौथाई श्लोक भी रहे, तो यह बहुत उत्तम बात है, उसे छोड़कर सैकड़ों और हजारों तरहके अन्य ग्रन्थोंके संग्रहसे भी क्या लाभ है?

न यस्य तिष्ठते शास्त्रं गृहे भागवतं कलौ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्याम्यपाशात् कदाचन॥ १२॥

कलियुगमें जिस मनुष्यके घरमें भागवतशास्त्र मौजूद नहीं है, उसको यमराजके पाशसे कभी छुटकारा नहीं मिलता।

कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ।
गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचादधिको हि सः॥ १३॥

इस कलियुगमें जिसके घर भागवतशास्त्र मौजूद नहीं है, उसे कैसे वैष्णव समझा जाय? वह तो चाण्डालसे भी बढ़कर नीच है!

सर्वस्वेनापि लोकेश कर्तव्यः शास्त्रसंग्रहः।
वैष्णवस्तु सदा भक्त्या तुष्ट्यर्थं मम पुत्रक॥ १४॥

लोकेश ब्रह्मा! पुत्र! मनुष्यको सदा मुझे भक्ति-पूर्वक संतुष्ट करनेके लिये अपना सर्वस्व देकर भी वैष्णवशास्त्रोंका संग्रह करना चाहिये।

यत्र यत्र भवेत् पुण्यं शास्त्रं भागवतं कलौ।
तत्र तत्र सदैवाहं भवामि त्रिदशैः सह॥ १५॥

कलियुगमें जहाँ-जहाँ पवित्र भागवतशास्त्र रहता है, वहाँ-वहाँ सदा ही मैं देवताओंके साथ उपस्थित रहता हूँ।

तत्र सर्वाणि तीर्थानि नदीनदसरांसि च।
यज्ञाः सप्तपुरी नित्यं पुण्याः सर्वे शिलोच्चयाः॥ १६॥

यही नहीं—वहाँ नदी, नद और सरोवररूपमें प्रसिद्ध सभी तीर्थ वास करते हैं; सम्पूर्ण यज्ञ, सात पुरियाँ और सभी पावन पर्वत वहाँ नित्य निवास करते हैं।

श्रोतव्यं मम शास्त्रं हि यशोधर्मजयार्थिना।
पापक्षयार्थं लोकेश मोक्षार्थं धर्मबुद्धिना॥ १७॥

लोकेश! यश, धर्म और विजयके लिये तथा पापक्षय एवं मोक्षकी प्राप्तिके लिये धर्मात्मा मनुष्यको सदा ही मेरे भागवतशास्त्रका श्रवण करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतं पुण्यमायुरारोग्यपुष्टिदम्।
पठनाच्छ्रवणाद् वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १८॥

यह पावन पुराण श्रीमद्भागवत आयु, आरोग्य और पुष्टिको देनेवाला है; इसका पाठ अथवा श्रवण करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

न शृण्वन्ति न हृष्यन्ति श्रीमद्भागवतं परम्।
सत्यं सत्यं हि लोकेश तेषां स्वामी सदा यमः॥ १९॥

लोकेश! जो इस परम उत्तम भागवतको न तो सुनते हैं और न सुनकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके स्वामी सदा यमराज ही हैं—वे सदा यमराजके ही वशमें रहते हैं—यह मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ।

न गच्छति यदा मर्त्यः श्रोतुं भागवतं सुत।
एकादश्यां विशेषेण नास्ति पापरतस्ततः॥ २०॥

पुत्र! जो मनुष्य सदा ही—विशेषतः एकादशीको भागवत सुनने नहीं जाता, उससे बढ़कर पापी कोई नहीं है।

श्लोकं भागवतं चापि श्लोकार्धं पादमेव वा।
लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य वसाम्यहम्॥ २१॥

जिसके घरमें एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा श्लोकका एक ही चरण लिखा रहता है, उसके घरमें मैं निवास करता हूँ।

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम्।
न तथा पावनं नृणां श्रीमद्भागवतं यथा॥ २२॥

मनुष्यके लिये सम्पूर्ण पुण्य-आश्रमोंकी यात्रा या सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा पवित्रकारक नहीं है, जैसा श्रीमद्भागवत है।

यत्र यत्र चतुर्वक्त्र श्रीमद्भागवतं भवेत्।
गच्छामि तत्र तत्राहं गौर्यथा सुतवत्सला॥ २३॥

चतुर्मुख! जहाँ-जहाँ भागवतकी कथा होती है, वहाँ-वहाँ मैं उसी प्रकार जाता हूँ, जैसे पुत्रवत्सला गौ अपने बछड़ेके पीछे-पीछे जाती है।

मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम्।
मत्कथाप्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम्॥ २४॥

जो मेरी कथा कहता है, जो सदा उसे सुननेमें लगा रहता है तथा जो मेरी कथासे मन-ही-मन प्रसन्न होता है, उस मनुष्यका मैं कभी त्याग नहीं करता।

श्रीमद्भागवतं पुण्यं दृष्ट्वा नोत्तिष्ठते हि यः।
सांवत्सरं तस्य पुण्यं विलयं याति पुत्रक॥ २५॥

पुत्र! जो परम पुण्यमय श्रीमद्भागवतशास्त्रको देखकर अपने आसनसे उठकर खड़ा नहीं हो जाता, उसका एक वर्षका पुण्य नष्ट हो जाता है।

श्रीमद्भागवतं दृष्ट्वा प्रत्युथानाभिवादनैः।
सम्मानयेत तं दृष्ट्वा भवेत् प्रीतिर्ममातुला॥ २६॥

जो श्रीमद्भागवतपुराणको देखकर खड़ा होने और प्रणाम करने आदिके द्वारा उसका सम्मान करता है, उस मनुष्यको देखकर मुझे अनुपम आनन्द मिलता है।

दृष्ट्वा भागवतं दूरात् प्रक्रमेत् सम्मुखं हि यः।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम्॥ २७॥

जो श्रीमद्भागवतको दूरसे ही देखकर उसके सम्मुख जाता है, वह एक-एक पगपर अश्वमेध यज्ञके पुण्यको प्राप्त करता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

उत्थाय प्रणमेद् यो वै श्रीमद्भागवतं नरः।
धनपुत्रांस्तथा दारान् भक्तिं च प्रददाम्यहम्॥ २८॥

जो मानव खड़ा होकर श्रीमद्भागवतको प्रणाम करता है, उसे मैं धन, स्त्री, पुत्र और अपनी भक्ति प्रदान करता हूँ।

महाराजोपचारैस्तु श्रीमद्भागवतं सुत।
शृण्वन्ति ये नरा भक्त्या तेषां वश्यो भवाम्यहम्॥ २९॥

हे पुत्र! जो लोग महाराजोचित सामग्रियोंसे युक्त होकर भक्तिपूर्वक श्रीमद्भागवतकी कथा सुनते हैं, मैं उनके वशीभूत हो जाता हूँ।

ममोत्सवेषु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम्।
शृण्वन्ति ये नरा भक्त्या मम प्रीत्यै च सुव्रत॥ ३०॥
वस्त्रालङ्करणैः पुष्पैर्धूपदीपोपहारकैः।
वशीकृतो ह्यहं तैश्च सत्स्त्रिया सत्पतिर्यथा॥ ३१॥

सुव्रत! जो लोग मेरे पर्वोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी उत्सवोंमें मेरी प्रसन्नताके लिये वस्त्र, आभूषण, पुष्प, धूप और दीप आदि उपहार अर्पण करते हुए परम उत्तम श्रीमद्भागवतपुराणका भक्तिपूर्वक श्रवण करते हैं, वे मुझे उसी प्रकार अपने वशमें कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने साधुस्वभाववाले पतिको वशमें कर लेती है।

(स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड, मार्गशीर्षमाहात्म्य अ० १६)

श्रीशुकदेवजीको नमस्कार

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥

(१।२।२)

जिस समय श्रीशुकदेवजीका यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था, सुतरां लौकिक-वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अवसर भी नहीं आया था, उन्हें अकेले ही संन्यास लेनेके उद्देश्यसे जाते देखकर उनके पिता व्यासजी विरहसे कातर होकर पुकारने लगे—'बेटा! बेटा!' उस समय तन्मय होनेके कारण श्रीशुकदेवजीकी ओरसे वृक्षोंने उत्तर दिया। ऐसे, सबके हृदयमें विराजमान श्रीशुकदेव मुनिको मैं नमस्कार करता हूँ।

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥

(१।२।३)

यह श्रीमद्भागवत अत्यन्त गोपनीय-रहस्यात्मक पुराण है। यह भगवत्स्वरूपका अनुभव करानेवाला और समस्त वेदोंका सार है। संसारमें फँसे हुए जो लोग इस घोर अज्ञानान्धकारसे पार जाना चाहते हैं, उनके लिये आध्यात्मिक तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला यह एक अद्वितीय दीपक है। वास्तवमें उन्हींपर करुणा करके बड़े-बड़े मुनियोंके आचार्य श्रीशुकदेवजीने इसका वर्णन किया है। मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(१२।१२।६८)

श्रीशुकदेवजी महाराज अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी मधुमयी, मंगलमयी मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्के प्राणियोंपर कृपा करके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस महापुराणका विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ।

श्रीमद्भागवतकी महिमा

श्रीमद्भागवतकी महिमा मैं क्या लिखूँ? उसके आदिके तीन श्लोकोंमें जो महिमा कह दी गयी है, उसके बराबर कौन कह सकता है? उन तीनों श्लोकोंको कितनी ही बार पढ़ चुकनेपर भी जब उनका स्मरण होता है, मनमें अद्भुत भाव उदित होते हैं। कोई अनुवाद उन श्लोकोंकी गम्भीरता और मधुरताको पा नहीं सकता। उन तीनों श्लोकोंसे मनको निर्मल करके फिर इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान कीजिये—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥
रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव॥

मुझको श्रीमद्भागवतमें अत्यन्त प्रेम है। मेरा विश्वास और अनुभव है कि इसके पढ़ने और सुननेसे मनुष्यको ईश्वरका सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है और उनके चरणकमलोंमें अचल भक्ति होती है। इसके पढ़नेसे मनुष्यको दृढ़ निश्चय हो जाता है कि इस संसारको रचने और पालन करनेवाली कोई सर्वव्यापक शक्ति है—

एक अनन्त त्रिकाल सच, चेतन शक्ति दिखात।
सिरजत, पालत, हरत, जग, महिमा बरनि न जात॥

इसी एक शक्तिको लोग ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। भागवतके पहले ही श्लोकमें वेदव्यासजीने ईश्वरके स्वरूपका वर्णन किया है कि जिससे इस संसारकी सृष्टि, पालन और संहार होते हैं, जो त्रिकालमें सत्य है—अर्थात् जो सदा रहा भी, है भी और रहेगा भी—और जो अपने प्रकाशसे अन्धकारको सदा दूर रखता है, उस परम सत्यका हम ध्यान करते हैं। उसी स्थानमें श्रीमद्भागवतका स्वरूप भी इस प्रकारसे संक्षेपमें वर्णित है कि इस भागवतमें—जो दूसरोंकी बढ़ती देखकर डाह नहीं करते, ऐसे साधुजनोंका सब प्रकारके स्वार्थसे रहित परम धर्म और वह जाननेके योग्य ज्ञान वर्णित है जो वास्तवमें सब कल्याणका देनेवाला और आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इन तीनों प्रकारके तापोंको मिटानेवाला है। और ग्रन्थोंसे क्या, जिन सुकृतियोंने पुण्यके कर्म कर रखे हैं और जो श्रद्धासे भागवतको पढ़ते या सुनते हैं, वे इसका सेवन करनेके समयसे ही अपनी भक्तिसे ईश्वरको अपने हृदयमें अविचलरूपसे स्थापित कर लेते हैं। ईश्वरका ज्ञान और उनमें भक्तिका परम साधन—ये दो पदार्थ जब किसी प्राणीको प्राप्त हो गये तो कौन-सा पदार्थ रह गया, जिसके लिये मनुष्य कामना करे और ये दोनों पदार्थ श्रीमद्भागवतसे पूरी मात्रामें प्राप्त होते हैं। इसीलिये यह पवित्र ग्रन्थ मनुष्यमात्रका उपकारी है। जबतक मनुष्य भागवतको पढ़े नहीं और उसकी इसमें श्रद्धा न हो, तबतक वह समझ नहीं सकता कि ज्ञान-भक्ति-वैराग्यका यह कितना विशाल समुद्र है। भागवतके पढ़नेसे उसको यह विमल ज्ञान हो जाता है कि एक ही परमात्मा प्राणी-प्राणीमें बैठा हुआ है और जब उसको यह ज्ञान हो जाता है, तब वह अधर्म करनेका मन नहीं करता; क्योंकि दूसरोंको चोट पहुँचाना अपनेको चोट पहुँचानेके समान हो जाता है। इसका ज्ञान होनेसे मनुष्य सत्य धर्ममें स्थिर हो जाता है, स्वभावहीसे दया-धर्मका पालन करने लगता है और किसी अहिंसक प्राणीके ऊपर वार करनेकी इच्छा नहीं करता। मनुष्योंमें परस्पर प्रेम और प्राणिमात्रके प्रति दयाका भाव स्थापित करनेके लिये इससे बढ़कर कोई साधन नहीं। वर्तमान समयमें, जब संसारके बहुत अधिक भागोंमें भयंकर युद्ध छिड़ा हुआ है, मनुष्यमात्रको इस पवित्र धर्मका उपदेश अत्यन्त कल्याणकारी होगा। जो भगवद्भक्त हैं और श्रीमद्भागवतके महत्त्वको जानते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि मनुष्यके लोक और परलोक दोनोंके बनानेवाले इस पवित्र ग्रन्थका सब देशोंकी भाषाओंमें अनुवाद कर इसका प्रचार करें।

—मदन मोहन मालवीय

श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि तथा विनियोग, न्यास एवं ध्यान

प्रात:काल स्नानके पश्चात् अपना नित्य-नियम समाप्त करके पहले भगवत्-सम्बन्धी स्तोत्रों एवं पदोंके द्वारा मंगलाचरण और वन्दना करे। इसके बाद आचमन और प्राणायाम करके—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳪसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ १॥

—इत्यादि मन्त्रोंसे शान्तिपाठ करे। इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीव्यासजी, शुकदेवजी तथा श्रीमद्भागवत-ग्रन्थकी षोडशोपचारसे पूजा करनी चाहिये। यहाँ श्रीमद्भागवत-पुस्तकके षोडशोपचार पूजनकी मन्त्रसहित विधि दी जा रही है, इसीके अनुसार श्रीकृष्ण आदिकी भी पूजा करनी चाहिये। निम्नांकित वाक्य पढ़कर पूजनके लिये संकल्प करना चाहिये। संकल्पके समय दाहिने हाथकी अनामिका अंगुलिमें कुशकी पवित्री पहने और हाथमें जल लिये रहे। संकल्पवाक्य इस प्रकार है—

ॐ तत्सत्। ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः ओ३मद्यैतस्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते पुण्यस्थाने कलियुगे कलिप्रथमचरणे अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकयोगवारांशकलग्नमुहूर्तकरणान्वितायां शुभपुण्यतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नस्य अमुकशर्मणः (वर्मणः गुप्तस्य वा) मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य श्रीगोवर्धनधरणचरणारविन्दप्रसादात् सर्वसमृद्धिप्राप्त्यर्थं भगवदनुग्रहपूर्वकभगवदीयप्रेमोपलब्धये च श्रीभगवन्नामात्मकभगवत्स्वरूपश्रीभागवतस्य पाठेऽधिकारसिद्ध्यर्थं श्रीमद्भागवतस्य प्रतिष्ठां पूजनं चाहं करिष्ये।

इस प्रकार संकल्प करके—

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शंय्योऽस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय॥ २॥

—यह मन्त्र पढ़कर श्रीमद्भागवतकी सिंहासन या अन्य किसी आसनपर स्थापना करे। तत्पश्चात् पुरुषसूक्तके एक-एक मन्त्रद्वारा क्रमशः षोडश-उपचार अर्पण करते हुए पूजन करे।

१—देवताओ! हमें अपने कानोंसे ऐसे ही वचन सुननेको मिलें, जो परिणाममें कल्याणकारी हों। हम यज्ञकर्ममें समर्थ होकर अपनी इन आँखोंसे सदा शुभ-ही-शुभ देखें—अशुभका कभी दर्शन न हो। हमारा शरीर और उसके अवयव स्थिर हों—पुष्ट हों और उनसे परमात्माकी स्तुति—भगवान्‌की सेवा करते हुए हम ऐसी आयुका उपभोग करें, ऐसा जीवन बितायें जो देवताओंके लिये हितकर हो, जिसका देवकार्यमें उपयोग हो सके।

२—परमात्मन्! आप सबके मित्र—हितकारी होनेके कारण मित्र नामसे पुकारे जाते हैं, सबसे वर—श्रेष्ठ होनेसे आप वरुण हैं, सबको ग्रहण करनेवाले होनेके कारण अग्नि हैं। हम आपको इन 'मित्र', 'वरुण' एवं 'अग्नि' नामोंसे सम्बोधित करके प्रार्थना करते हैं कि यह सूक्त (आपके सुयशसे पूर्ण यह श्रीमद्भागवतरूप सुन्दर उक्ति) अत्यन्त प्रशस्त हो—सर्वोत्तम होनेके साथ ही इसकी ख्याति एवं प्रसार हो तथा यह सूक्त हमलोगोंके लिये ऐसा सुख, ऐसी शान्ति प्रदान करे, जिसमें दुःख या अशान्तिका मेल न हो, अर्थात् इससे नित्य सुख, नित्य शान्ति प्राप्त हो। हम चाहते हैं अविचल स्थिति, हम चाहते हैं शाश्वत प्रतिष्ठा, इसे इस सूक्तके द्वारा हम प्राप्त कर सकें। देवदेव! यह जो आपका अत्यन्त प्रकाशमान परम महान् समस्त लोकोंका आश्रयभूत 'सूर्य' नामक स्वरूप है, इसे हम सदा ही नमस्कार करते हैं।

पूजन-मन्त्र

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। आवाहयामि।

—इस मन्त्रसे भगवान्‌के नामस्वरूप भागवतको नमस्कार करके आवाहन करे।

ॐ पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। आसनं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे आसन समर्पित करे।

ॐ एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। पाद्यं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे पैर पखारनेके लिये गंगाजल समर्पित करे।

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥ ४॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। अर्घ्यं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे अर्घ्य (गन्ध-पुष्पादिसहित गंगाजल) निवेदित करे।

ॐ ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ ५॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। आचमनं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे आचमनके लिये गंगाजल अर्पित करे।

१—सर्वान्तर्यामी परमात्मा इस समस्त ब्रह्माण्डकी भूमिको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित हैं और इससे दस अंगुल ऊपर भी हैं। अर्थात् ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए वे इससे परे भी हैं। उन परमात्माके मस्तक, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और चरण आदि कर्मेन्द्रियाँ हजारों हैं—असंख्य हैं।

२—यह जो कुछ इस समय वर्तमान है, सब परमात्माका ही स्वरूप है, भूत और भविष्य जगत् भी परमात्मा ही है। इतना ही नहीं, वह परमात्मा मुक्तिका स्वामी है, तथापि ये जो अन्नसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं, उन सबका भी शासन—सबको नियमके अंदर रखनेवाला वह परमात्मा ही है।

३—भूत, भविष्य और वर्तमान कालसे सम्बन्ध रखनेवाला जितना भी जगत् है—यह सब इस पुरुषकी महिमा है, इस परमात्माका विभूति-विस्तार है। उसका पारमार्थिक स्वरूप इतना ही नहीं है, वह पुरुष इस ब्रह्माण्डमय विराट्स्वरूपसे भी बहुत बड़ा है। यह सारा विश्व (ये तीनों लोक) तो उसके एक पादमें है, उसकी एक चौथाईमें समाप्त हो जाते हैं। अभी उसके तीन पाद और शेष हैं। यह त्रिपादस्वरूप अमृत है—अविनाशी है और परम प्रकाशमय द्युलोक अर्थात् अपने स्वरूपमें ही स्थित है।

४—यह त्रिपाद पुरुष ऊपर उठा हुआ है अर्थात् वह परमात्मा अज्ञानके कार्यभूत इस संसारसे पृथक् तथा यहाँके गुण-दोषोंसे अछूता रहकर ऊँची स्थितिमें विराजमान है। उसका एक अंशमात्र मायाके सम्पर्कमें आकर यहाँ जगत्‌के रूपमें उत्पन्न हुआ, फिर वह मायावश जड-चेतनमयी नाना प्रकारकी सृष्टिके रूपमें स्वयं ही फैलकर सब ओर व्याप्त हो गया।

५—उस आदिपुरुष परमात्मासे विराट्की उत्पत्ति हुई—यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। इस ब्रह्माण्डके ऊपर इसका अभिमानी एक पुरुष प्रकट हुआ। तात्पर्य यह कि परमात्माने अपनी मायासे विराट् ब्रह्माण्डकी रचना कर स्वयं ही उसमें जीवरूपसे प्रवेश किया। वे ही जीव ब्रह्माण्डका अभिमानी देवता (हिरण्यगर्भ) हुआ। इस प्रकार उत्पन्न होकर वह विराट् पुरुष पुनः देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि अनेकों रूपोंमें प्रकट हुआ। इसके बाद उसने भूमिको उत्पन्न किया, फिर जीवोंके शरीरोंकी रचना की।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥ ६॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। स्नानं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे स्नानके लिये गंगाजल अथवा शुद्ध जल अर्पित करे।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तमादजायत॥ ७॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। वस्त्रं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे वस्त्र समर्पित करे।

ॐ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ८॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। यज्ञोपवीतं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे यज्ञोपवीत अर्पित करे।

ॐ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ ९॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। गन्धं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे गन्ध-चन्दनादि चढ़ाये।

ॐ यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किम्बाहू किमूरू पादा उच्येते॥ १०॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। तुलसीदलं च पुष्पाणि समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे तुलसीदल एवं पुष्प चढ़ावे।

ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ११॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। धूपमाघ्रापयामि।

—इस मन्त्रसे धूप सुँघाये।

ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ १२॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। दीपं दर्शयामि।

—इस मन्त्रसे घीका दीप जलाकर दिखाये। (उसके बाद हाथ धो ले।)

६—जिसमें सब कुछ हवन किया गया, उस पुरुषरूप यज्ञसे दही-घी आदि सामग्री उत्पन्न हुई। पुरुषने वनमें उत्पन्न होनेवाले हिरन आदि और गाँवोंमें होनेवाले गाय, घोड़े आदि, वायु-देवता-सम्बन्धी प्रसिद्ध पशुओंको भी उत्पन्न किया।

७—जिसमें सब कुछ हवन किया गया है उस यज्ञपुरुषसे ऋग्वेद और सामवेद प्रकट हुए, उसीसे गायत्री आदि छन्दोंकी उत्पत्ति हुई तथा उसीसे यजुर्वेदका भी प्रादुर्भाव हुआ।

८—उस यज्ञपुरुषसे घोड़े उत्पन्न हुए, इनके अतिरिक्त भी जो नीचे-ऊपर दोनों ओर दाँत रखनेवाले खच्चर, गदहे आदि प्राणी हैं, ये भी उत्पन्न हुए। उसीसे गौएँ उत्पन्न हुईं और उसीसे भेड़ों तथा बकरोंकी उत्पत्ति हुई।

९—सबसे पहले उत्पन्न हुआ वह पुरुष ही उस समय यज्ञका साधन था, देवताओंने उसे संकल्पद्वारा यूपमें बँधा हुआ पशु माना और उस मानसिक यज्ञमें उस संकल्पित पशुका भावनाद्वारा ही प्रोक्षण आदि संस्कार भी किया। इस प्रकार संस्कार किये हुए उस पुरुषरूपी पशुके द्वारा देवताओं, साध्यों और ऋषियोंने उस मानसिक यज्ञको पूर्ण किया।

१०—जब प्राणमय देवताओंने उस यज्ञपुरुष (प्रजापति)-को प्रकट किया, उस समय उसके अवयवोंके रूपमें कितने विभाग किये। इस पुरुषका मुख क्या था, दोनों बाहें क्या थीं। दोनों जाँघें और दोनों पैर कौन थे।

११—ब्राह्मण इसका मुख था अर्थात् मुखसे ब्राह्मणकी उत्पत्ति हुई। दोनों भुजाएँ क्षत्रिय जाति बनीं, अर्थात् उनसे क्षत्रियोंका प्राकट्य हुआ। इस पुरुषकी दोनों जंघाएँ वैश्य हुईं—जंघाओंसे वैश्य जातिकी उत्पत्ति हुई और दोनों पैरोंसे शूद्र जाति प्रकट हुई।

१२—इसके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए, नेत्रोंसे सूर्यकी उत्पत्ति हुई। श्रोत्र (कान)-से वायु और प्राणकी उत्पत्ति हुई और मुखसे अग्निका प्रादुर्भाव हुआ।

ॐ नाभ्या आसीदन्तरिक्षँ् शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ १३॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। नैवेद्यं निवेदयामि।

—इस मन्त्रसे नैवेद्य अर्पित करे। नैवेद्यके बाद "**मध्ये पानीयं समर्पयामि**" एवम् '**उत्तरापोशनं समर्पयामि**' कहकर तीन-तीन बार जल छोड़े (प्रसाद)।

ॐ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ १४॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। एलालवङ्गपूगीफलकर्पूरसहितं ताम्बूलं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे ताम्बूल समर्पण करे।

ॐ सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम्॥ १५॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। दक्षिणां समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे दक्षिणा समर्पित करे।

ॐ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे।
सर्वाणि भूतानि विचिन्त्य धीरः
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते॥ १६॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। नमस्कारं समर्पयामि।

ॐ धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार
शक्रः प्रविद्वान् प्ररिशश्चतस्त्रः।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते॥ १७॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। प्रदक्षिणां समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे प्रदक्षिणा समर्पण करे।

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १८॥

श्रीभगवन्नामस्वरूपिणे भागवताय नमः। मन्त्रपुष्पं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे पुष्पांजलि समर्पित करे।

१३—नाभिसे अन्तरिक्ष-लोककी उत्पत्ति हुई, मस्तकसे स्वर्गलोक प्रकट हुआ, पैरोंसे पृथिवी हुई और कानसे दिशाएँ प्रकट हुईं। इस प्रकार उन्होंने समस्त लोकोंकी कल्पना की।

१४—उस समय देवताओंने यज्ञ करना चाहा, परन्तु यज्ञकी कोई सामग्री उपलब्ध न हुई, तब उन्होंने पुरुषस्वरूपमें ही हविष्यकी भावना की। जब पुरुषरूप हविष्यसे ही देवताओंने यज्ञका विस्तार किया, उस समय उनके संकल्पानुसार वसन्त ऋतु घी हुई, ग्रीष्म ऋतुने समिधाका काम दिया और शरद्-ऋतुसे विशेष प्रकारके चरु-पुरोडाशादि हविष्यकी आवश्यकता पूर्ण हुई।

१५—प्रजापतिके प्राणरूपी देवताओंने जब मानसिक यज्ञका अनुष्ठान करते समय संकल्पद्वारा पुरुषरूपी पशुका बन्धन किया था, उस समय सात समुद्र इस यज्ञकी परिधि थे और इक्कीस प्रकारके छन्दोंकी समिधा हुई। (गायत्री आदि ७, श्रुति जगती आदि ७ और कृति आदि ७—ये ही २१ छन्द हैं।)

१६—धीर पुरुष समग्र रूपोंको परमात्माके ही स्वरूप विचारकर, उनके भिन्न-भिन्न नाम रखकर जिस एक तत्त्वका ही उच्चारण और अभिवन्दन करता है, उसको ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जानते हैं—अविद्यारूपी अन्धकारसे परे आदित्यके समान स्वप्रकाश इस महान् पुरुषको मैं अपने 'आत्मा' रूपसे जानता हूँ।

१७—ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिसका स्तवन किया था, इन्द्रने सब दिशा-विदिशाओंमें जिसे व्याप्त जाना था, उस परमात्माको जो इस प्रकार जानता है, वह इस जीवनमें ही अमृत (मुक्त) हो जाता है। मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये इसके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है।

१८—देवताओंने पूर्वोक्त मानसिक यज्ञद्वारा यज्ञस्वरूप पुरुष-प्रजापतिकी आराधना की। इस आराधनासे समस्त जगत्‌को धारण करनेवाले वे पृथ्वी आदि मुख्य भूत प्रकट हुए। इस यज्ञकी उपासना करनेवाले महात्मालोग उस स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं, जहाँ प्राचीन साध्यदेवता निवास करते हैं।

प्रार्थना

वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यं
लोके भक्तिप्रसिद्धं यदुकुलजलधौ प्रादुरासीदपारे।
यस्यासीद् रूपमेवं त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतन्त्रं
शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः॥

जो इस जगत्‌में भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं, जिनका तत्त्व वेद और वेदान्तके द्वारा ही जाननेयोग्य है, जो अपार यादवरूपी समुद्रमें प्रकट हुए थे, मुर और नरकासुरको मारनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं सादर सप्रेम प्रणाम करता हूँ। जो इस संसारमें अपने स्वरूप तथा शास्त्रको प्रसन्नतापूर्वक प्रकट किया करते हैं तथा सचमुच ही जिनका स्वरूप इस त्रिभुवनको तारनेके लिये भक्तिके समान स्वतन्त्र नौकारूप है, वे भगवान् श्रीकृष्ण हमलोगोंका कल्याण करें।

नमः कृष्णपदाब्जाय भक्ताभीष्टप्रदायिने।
आरक्तं रोचयेच्छश्वन्मामके हृदयाम्बुजे॥

कुछ-कुछ लालिमा लिये हुए श्रीकृष्णका जो चरणकमल मेरे हृदयकमलमें सदा दिव्य प्रकाश फैलाता रहता है और भक्तजनोंकी मनोवांछित कामनाएँ पूर्ण किया करता है, उसे मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

श्रीभागवतरूपं तत् पूजयेद् भक्तिपूर्वकम्।
अर्चकायाखिलान् कामान् प्रयच्छति न संशयः॥

श्रीमद्भागवत भगवान्‌का स्वरूप है, इसका भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये। यह पूजन करनेवालेकी सारी कामनाएँ पूर्ण करता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

विनियोग

दाहिने हाथकी अनामिकामें कुशकी पवित्री पहन ले। फिर हाथमें जल लेकर नीचे लिखे वाक्यको पढ़कर भूमिपर गिरा दे—

ॐ अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः। बृहती छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। ब्रह्म बीजम्। भक्तिः शक्तिः। ज्ञानवैराग्ये कीलकम्। मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थे पाठे विनियोगः।

'इस श्रीमद्भागवतस्तोत्र-मन्त्रके देवर्षि नारदजी ऋषि हैं, बृहती छन्द है, परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र देवता हैं, ब्रह्म बीज है, भक्ति शक्ति है, ज्ञान और वैराग्य कीलक है। अपने ऊपर भगवान्‌की प्रसन्नता हो, उनकी कृपा बराबर बनी रहे—इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पाठ करनेमें इस भागवतका विनियोग (उपयोग) किया जाता है।'

न्यास

विनियोगमें आये हुए ऋषि आदिका तथा प्रधान देवताके मन्त्राक्षरोंका अपने शरीरके विभिन्न अंगोंमें जो स्थापन किया जाता है, उसे 'न्यास' कहते हैं। मन्त्रका एक-एक अक्षर चिन्मय होता है, उसे मूर्तिमान् देवताके रूपमें देखना चाहिये। इन अक्षरोंके स्थापनसे साधक स्वयं मन्त्रमय हो जाता है, उसके हृदयमें दिव्य चेतनाका प्रकाश फैलता है, मन्त्रके देवता उसके स्वरूप होकर उसकी सर्वथा रक्षा करते हैं। इस प्रकार वह **'देवो भूत्वा देवं यजेत्'** इस श्रुतिके अनुसार स्वयं देवस्वरूप होकर देवताओंका पूजन करता है। ऋषि आदिका न्यास सिर आदि कतिपय अंगोंमें होता है। मन्त्रपदों अथवा अक्षरोंका न्यास प्रायः हाथकी अँगुलियों और हृदयादि अंगोंमें होता है। इन्हें क्रमशः 'करन्यास' और 'अंगन्यास' कहते हैं। किन्हीं-किन्हीं मन्त्रोंका न्यास सर्वांगमें होता है। न्याससे बाहर-भीतरकी शुद्धि, दिव्यबलकी प्राप्ति और साधनाकी निर्विघ्न पूर्ति होती है। यहाँ क्रमशः ऋष्यादिन्यास, करन्यास और अंगन्यास दिये जा रहे हैं—

ऋष्यादिन्यास

नारदर्षये नमः शिरसि॥ १॥ बृहतीच्छन्दसे नमो मुखे॥ २॥ श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमो हृदये॥ ३॥ ब्रह्मबीजाय नमो गुह्ये॥ ४॥ भक्तिशक्तये नमः पादयोः॥ ५॥ ज्ञानवैराग्यकीलकाभ्यां नमो नाभौ॥ ६॥ विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे॥ ७॥

ऊपर न्यासके सात वाक्य उद्धृत किये गये हैं। इनमें पहला वाक्य पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे सिरका स्पर्श करे, दूसरा वाक्य पढ़कर मुखका, तीसरे वाक्यसे हृदयका, चौथेसे गुदाका, पाँचवेंसे दोनों पैरोंका, छठेसे नाभिका और सातवें वाक्यसे सम्पूर्ण अंगोंका स्पर्श करना चाहिये।

करन्यास

इसमें **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** इस द्वादशाक्षरमन्त्रके एक-एक अक्षरको प्रणवसे सम्पुटित करके दोनों हाथोंकी अंगुलियोंमें स्थापित करना है। मन्त्र नीचे दिये जा रहे हैं—

'ॐ ॐ ॐ नमो दक्षिणतर्जन्याम्' ऐसा उच्चारण करके दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी तर्जनीका स्पर्श करे। **'ॐ नं ॐ नमो दक्षिणमध्यमायाम्'**—यह उच्चारण कर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी मध्यमा अंगुलिका स्पर्श करे। **'ॐ मों ॐ नमो दक्षिणानामिकायाम्'**—यह पढ़कर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी अनामिका अंगुलिका स्पर्श करे। **'ॐ भं ॐ नमो दक्षिणकनिष्ठिकायाम्'**—इससे दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी कनिष्ठिका अंगुलिका स्पर्श करे। **'ॐ गं ॐ नमो वामकनिष्ठिकायाम्'**—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी कनिष्ठिका अंगुलिका स्पर्श करे। **'ॐ वं ॐ नमो वामानामिकायाम्'**—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी अनामिका अंगुलिका स्पर्श करे। **'ॐ तें ॐ नमो वाममध्यमायाम्'**—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी मध्यमा अंगुलिका स्पर्श करे। **'ॐ वां ॐ नमो वामतर्जन्याम्'**—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी तर्जनी अंगुलिका स्पर्श करे। **'ॐ सुं ॐ नमः ॐ दें ॐ नमो दक्षिणाङ्गुष्ठपर्वणोः'**—इसको पढ़कर दाहिने हाथकी तर्जनी अंगुलिसे दाहिने हाथके अँगूठेकी दोनों गाँठोंका स्पर्श करे। **'ॐ वां ॐ नमः ॐ यं ॐ नमो वामाङ्गुष्ठपर्वणोः'**—इसका उच्चारण करके बायें हाथकी तर्जनी अंगुलिसे बायें हाथके अँगूठेकी दोनों गाँठोंका स्पर्श करे।

अङ्गन्यास

यहाँ द्वादशाक्षरमन्त्रके पदोंका हृदयादि अंगोंमें न्यास करना है—

'ॐ नमो नमो हृदयाय नमः'—इसको पढ़कर दाहिने हाथकी पाँचों अंगुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे। **'ॐ भगवते नमः शिरसे स्वाहा'**—इसका उच्चारण करके दाहिने हाथकी सभी अंगुलियोंसे सिरका स्पर्श करे। **'ॐ वासुदेवाय नमः शिखायै वषट्'**—इसके द्वारा दाहिने हाथसे शिखाका स्पर्श करे। **'ॐ नमो नमः कवचाय हुम्'**—इसको पढ़कर दायें हाथकी अंगुलियोंसे बायें कंधेका और बायें हाथकी अंगुलियोंसे दायें कंधेका स्पर्श करे। **'ॐ भगवते नमः नेत्रत्रयाय वौषट्'**—इसको पढ़कर दाहिने हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रोंका तथा ललाटके मध्यभागमें गुप्तरूपसे स्थित तृतीय नेत्र (ज्ञानचक्षु)-का स्पर्श करे। **'ॐ वासुदेवाय नमः अस्त्राय फट्'**—इसका उच्चारण करके दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे उलटा अर्थात् बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले जाये और तर्जनी तथा मध्यमा अंगुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये।

अंगन्यासमें आये हुए **'स्वाहा'**, **'वषट्'**, **'हुम्'**, **'वौषट्'** और **'फट्'**—ये पाँच शब्द देवताओंके उद्देश्यसे किये जानेवाले हवनसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। यहाँ इनका आत्मशुद्धिके लिये ही उच्चारण किया जाता है।

ध्यान

इस प्रकार न्यास करके बाहर-भीतरसे शुद्ध हो मनको सब ओरसे हटाकर एकाग्रभावसे भगवान्का ध्यान करे—

किरीटकेयूरमहार्हनिष्कै-
र्मण्युत्तमालङ्कृतसर्वगात्रम् ।
पीताम्बरं काञ्चनचित्रनद्ध-
मालाधरं केशवमभ्युपैमि ॥

'जिनके मस्तकपर किरीट, बाहुओंमें भुजबन्ध और गलेमें बहुमूल्य हार शोभा पा रहे हैं, मणियोंके सुन्दर गहनोंसे सारे अंग सुशोभित हो रहे हैं और शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है—सोनेके तारद्वारा विचित्र रीतिसे बँधी हुई वनमाला धारण किये, उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका मैं मन-ही-मन चिन्तन करता हूँ।'

श्रीमद्भागवत-सप्ताहकी आवश्यक विधि

पुराणोंमें श्रीमद्भागवतके सप्ताहपारायण तथा श्रवणकी बड़ी भारी महिमा बतलायी गयी है, अतः यहाँ श्रीमद्भागवत-प्रेमियोंके लिये संक्षेपसे सप्ताह-यज्ञकी आवश्यक विधिका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मुहूर्तविचार— पहले विद्वान् ज्योतिषीको बुलाकर उनके द्वारा कथा-प्रारम्भके लिये शुभ मुहूर्तका विचार करा लेना चाहिये। नक्षत्रोंमें हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, पुनर्वसु, पुष्य, रेवती, अश्विनी, मृगशिरा, श्रवण, धनिष्ठा तथा पूर्वाभाद्रपदा उत्तम हैं। तिथियोंमें द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी तथा द्वादशीको इस कार्यके लिये श्रेष्ठ बतलाया गया है। सोम, बुध, गुरु एवं शुक्र—ये वार सर्वोत्तम हैं। तिथि, वार और नक्षत्रका विचार करनेके साथ ही यह भी देख लेना चाहिये कि शुक्र या गुरु अस्त, बाल अथवा वृद्ध तो नहीं हैं। कथारम्भका मुहूर्त भद्रादि दोषोंसे रहित होना चाहिये। उस दिन पृथ्वी जागती हो, वक्ता और श्रोताका चन्द्रबल ठीक हो। लग्नमें शुभ ग्रहोंका योग अथवा उनकी दृष्टि हो। शुभ ग्रहोंकी स्थिति केन्द्र या त्रिकोणमें हो तो उत्तम है। आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और मार्गशीर्ष (अगहन)—ये मास कथा आरम्भ करनेके लिये श्रेष्ठ बतलाये गये हैं। किन्हीं विद्वानोंके मतसे चैत्र और पौषको छोड़कर सभी मास ग्राह्य हैं।

कथाके लिये स्थान— सप्ताहकथाके लिये उत्तम एवं पवित्र स्थानकी व्यवस्था हो। जहाँ अधिक लोग सुविधासे बैठ सकें, ऐसे स्थानमें कथाका आयोजन उत्तम है। नदीका तट, उपवन (बगीचा), देवमन्दिर अथवा अपना निवास-स्थान—ये सभी कथाके लिये उपयोगी स्थल हैं, स्थान लिपा-पुता स्वच्छ हो। नीचेकी भूमि गोबर और पीली मिट्टीसे लीपी गयी हो। अथवा पक्का आँगन हो तो उसे धो दिया गया हो। उसपर पवित्र एवं सुन्दर आसन बिछे हों। ऊपरसे चँदोवा तना हो। चँदोवा आदि किसी भी कार्यमें नीले रंगके वस्त्रका उपयोग न किया जाय। यजमानके हाथसे सोलह हाथ लम्बा और उतना ही चौड़ा कथा-मण्डप बने। उसे केलेके खम्भोंसे सजाया जाय। हरे बाँसके खंभे लगाये जायँ। नूतन पल्लवोंकी बंदनवारों, पुष्पमालाओं और ध्वजा-पताकाओंसे मण्डपको भलीभाँति सुसज्जित किया जाय। उसपर ऊपरसे सुन्दर चँदोवा तान दिया जाय। उस मण्डपके दक्षिण-पश्चिम भागमें कथावाचक और मुख्य श्रोताके बैठनेके लिये स्थान हो। शेष भागमें देवताओं और कलश आदिका स्थापन किया जाय। कथावाचकके बैठनेके लिये ऊँची चौकी रखी जाय। उसपर शुद्ध आसन (नया गद्दा) बिछाया जाय। पीछे तथा पार्श्वभागमें मसनद एवं तकिये रख दिये जायँ। श्रीमद्भागवतको स्थापित करनेके लिये एक छोटी-सी चौकी या आधारपीठ बनवाकर उसपर पवित्र वस्त्र बिछा दिया जाय। उसपर आगे बतायी जानेवाली विधिके अनुसार अष्टदल कमल बनाकर पूजन करके श्रीमद्भागवतकी पुस्तक स्थापित की जाय। कथावाचक विद्वान्, सर्वशास्त्रकुशल, दृष्टान्त देकर श्रोताओंको समझानेमें समर्थ, सदाचारी एवं सद्गुणसम्पन्न ब्राह्मण हों। उनमें सुशीलता, कुलीनता, गम्भीरता तथा श्रीकृष्णभक्तिका होना भी परमावश्यक है। वक्ताको असूया तथा परनिन्दा आदि दोषसे सर्वथा रहित निःस्पृह होना चाहिये। श्रीमद्भागवतकी पुस्तकको रेशमी वस्त्रसे आच्छादित करके छत्र-चँवरके साथ डोलीमें अथवा अपने मस्तकपर रखकर कथामण्डपमें लाना और स्थापित करना चाहिये। उस समय गीत-वाद्य आदिके द्वारा उत्सव मनाना चाहिये। कथामण्डपसे अनुपयोगी वस्तुएँ हटा देनी चाहिये। इधर-उधर दीवालोंमें भगवान् और उनकी लीलाओंके स्मारक चित्र लगा देने चाहिये। वक्ताका मुँह यदि उत्तरकी ओर हो तो मुख्य श्रोताका मुख पूर्वकी ओर होना चाहिये। यदि वक्ता पूर्वाभिमुख हो तो श्रोताको उत्तराभिमुख होना चाहिये।

सप्ताह-कथा एक महान् यज्ञ है। इसे सुसम्पन्न

करनेके लिये अन्य सुहृद्-सम्बन्धियोंको भी सहायक बना लेना चाहिये। अर्थकी भी समुचित व्यवस्था पहलेसे ही कर लेना उत्तम है। पाँच-सात दिन पहलेसे ही दूर-दूरतक कथाका समाचार भेज देना चाहिये और सबसे यह अनुरोध करना चाहिये कि वे स्वयं उपस्थित होकर सप्ताह-कथा श्रवण करें। अधिक समय न दे सकें तो भी एक दिन अवश्य पधारकर कथाश्रवणका लाभ लें। दूरसे आये हुए अतिथियोंके ठहरने और भोजनादिकी व्यवस्था भी करनी चाहिये। वक्ताको व्रत ग्रहण करनेके लिये एक दिन पहले ही क्षौर करा लेना चाहिये। सप्ताह-प्रारम्भ होनेके एक दिन पूर्व ही देवस्थापन, पूजनादि कर लेना उत्तम है। वक्ता प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व ही स्नानादि करके संक्षेपसे सन्ध्या-वन्दनादिका नियम पूरा कर ले और कथामें कोई विघ्न न आये, इसके लिये नित्यप्रति गणेशजीका पूजन कर लिया करे।

सप्ताहके प्रथम दिन यजमान स्नान आदिसे शुद्ध हो नित्यकर्म करके आभ्युदयिक श्राद्ध करे। आभ्युदयिक श्राद्ध और पहले भी किया जा सकता है। यज्ञमें इक्कीस दिन पहले भी आभ्युदयिक श्राद्ध करनेका विधान है। उसके बाद गणेश, ब्रह्मा आदि देवताओंसहित नवग्रह, षोडशमातृका, सप्त चिरजीवी (अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुरामजी) एवं कलशकी स्थापना तथा पूजा करे। एक चौकीपर सर्वतोभद्र-मण्डल बनाकर उसके मध्यभागमें ताम्रकलश स्थापित करे। कलशके ऊपर भगवान् लक्ष्मीनारायणकी प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये। कलशके ही बगलमें भगवान् शालग्रामका सिंहासन विराजमान कर देना चाहिये। सर्वतोभद्र-मण्डलमें स्थित समस्त देवताओंका पूजन करनेके पश्चात् भगवान् नर-नारायण, गुरु, वायु, सरस्वती, शेष, सनकादि कुमार, सांख्यायन, पराशर, बृहस्पति, मैत्रेय तथा उद्धवका भी आवाहन, स्थापन एवं पूजन करना चाहिये। फिर त्रय्यारुणि आदि छः पौराणिकोंका भी स्थापन-पूजन करके एक अलग पीठपर उसे सुन्दर वस्त्रसे आवृत करके, श्रीनारदजीकी स्थापना एवं अर्चना करनी चाहिये। तदनन्तर आधारपीठ, पुस्तक एवं व्यास (वक्ता आचार्य)-का भी यथाप्राप्त उपचारोंसे पूजन करना चाहिये। कथा निर्विघ्न पूर्ण हो—इसके लिये गणेशमन्त्र, द्वादशाक्षरमन्त्र तथा गायत्री-मन्त्रका जप और विष्णुसहस्रनाम एवं गीताका पाठ करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार सात, पाँच या तीन ब्राह्मणोंका वरण करे। श्रीमद्भागवतका भी एक पाठ अलग ब्राह्मणद्वारा कराये। देवताओंकी स्थापना और पूजाके पहले स्वस्तिवाचनपूर्वक हाथमें पवित्री, अक्षत, फूल, जल और द्रव्य लेकर एक महासंकल्प कर लेना चाहिये। संकल्प इस प्रकार है—

ॐ तत्सदद्य श्रीमहाभगवतो विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्ते विष्णुप्रजापतिक्षेत्रे वैवस्वतमनुभोग्यैकसप्ततियुगचतुष्टयान्तर्गताष्टाविंशतितमकलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे अमुकसंवत्सरे अमुकायने अमुकर्तौ अमुकराशिस्थिते भगवति सवितरि अमुकामुकराशिस्थितेषु चान्येषु ग्रहेषु महामाङ्गल्यप्रदे मासानामुत्तमे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकवासरे अमुकनक्षत्रे अमुकमुहूर्तकरणादियुतायाम् अमुकतिथौ अमुकगोत्रः अमुकप्रवरः अमुकशर्मा (वर्मा, गुप्तः) अहं पूर्वातीतानेकजन्मसंचिताखिलदुष्कृतनिवृत्तिपुरस्सरैहिकाध्यात्मिकादिविविधतापपापापनोदार्थं दशाश्वमेधयज्ञजन्यसम्यगिष्टराजसूययज्ञसहस्रपुण्यसमपुण्यचन्द्रसूर्यग्रहणकालिकबहुब्राह्मणसम्प्रदानकसर्वसस्यपूर्णसर्वरत्नोपशोभितमहीदानपुण्यप्राप्तये श्रीगोविन्दचरणारविन्दयुगले निरन्तरमुत्तरोत्तरमेधमाननिस्सीम प्रेमोपलब्धये तदीयपरमानन्दमयगोलोकधाम्नि नित्यनिवासपूर्वकतत्परिचर्यारसास्वादनसौभाग्यसिद्धये च अमुकगोत्रामुकप्रवरामुकशर्मब्राह्मणवदनारविन्दाच्छ्रीकृष्णवाङ्मयमूर्तीभूतं श्रीमद्भागवतमष्टादशपुराणप्रकृतिभूतमनेकश्रोतृश्रवणपूर्वकममुकदिना-

दारभ्यामुकदिनपर्यन्तं सप्ताहयज्ञरूपतया श्रोष्यामि* प्राप्स्यमानेऽस्मिन् सप्ताहयज्ञे विघ्नपूगनिवारणपूर्वकं यज्ञरक्षाकरणार्थं गणपतिब्रह्मादिसहितनवग्रह-षोडशमातृकासप्तचिरजीविपुरुषसर्वतोभद्रमण्डलस्थ-देवकलशाद्यर्चनपुरस्सरं श्रीलक्ष्मीनारायण-प्रतिमाशालग्रामनरनारायणगुरुवायुसरस्वतीशेषसनत्कुमार-सांख्यायनपराशरबृहस्पतिमैत्रेयोद्धवत्रय्यारुणिकश्यप-रामशिष्याकृतव्रणवैशम्पायनहारीतनारदपूजनमाधारपीठ-पुस्तकव्यासपूजनं च यथालब्धोपचारैः करिष्ये।

संकल्पके पश्चात् पूर्वोक्त देवताओंके चित्रपटमें अथवा अक्षत-पुंजपर उनका आवाहन-स्थापन करके वैदिक-पूजा-पद्धतिके अनुसार उन सबकी पूजा करनी चाहिये। सप्तचिरजीविपुरुषों तथा सनत्कुमार आदिका पूजन नाम-मन्त्रद्वारा करना चाहिये।

कथामण्डपमें चारों दिशाओं या कोणोंमें एक-एक कलश और मध्यभागमें एक कलश—इस प्रकार पाँच कलश स्थापित करने चाहिये। चारों ओरके चार कलशोंमेंसे पूर्वके कलशपर ऋग्वेदकी, दक्षिण कलशपर यजुर्वेदकी, पश्चिम कलशपर सामवेदकी और उत्तर कलशपर अथर्ववेदकी स्थापना एवं पूजा करनी चाहिये। कोई-कोई मध्यमें सर्वतोभद्र-मण्डलके मध्यभागमें एक ही ताम्रकलश स्थापित करके उसीके चारों दिशाओंमें सर्वतोभद्रमण्डलकी चौकीके चारों ओर चारों वेदोंकी स्थापनाका विधान करते हैं। इसी कलशके ऊपर भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी प्रतिमा स्थापित करे और षोडशोपचार-विधिसे उसकी पूजा करे। देवपूजाका क्रम प्रारम्भसे इस प्रकार रखना चाहिये—

पहले रक्षादीप प्रज्वलित करे। एक पात्रमें घी भरकर रूईकी फूलबत्ती जलाये और उसे सुरक्षित स्थानपर अक्षतके ऊपर स्थापित कर दे। वह वायु आदिके झोंकेसे बुझ न जाय, इसकी सावधानीके साथ व्यवस्था करे। फिर स्वस्तिवाचनपूर्वक मंगलपाठ एवं सर्वदेव-नमस्कार करके पूर्वोक्त महासंकल्प पढ़े। उसके बाद एक पात्रमें चावल भरकर उसपर मोलीमें लपेटी हुई एक सुपारी रख दे और उसीमें गणेशजीका आवाहन करे—'**ॐ भूर्भुवः स्वः गणपते इहागच्छ इह तिष्ठ मम पूजां गृहाण।**' इस प्रकार आवाहन करके '**गणानां त्वा०**' इत्यादि मन्त्रोंको पढ़े। फिर '**गजाननं भूत०**' इत्यादि श्लोकोंको पढ़ते हुए तदनुरूप ध्यान करे। '**ॐ मनो जूतिः०**' इत्यादि मन्त्रसे प्रतिष्ठा करके विभिन्न उपचारसमर्पणसम्बन्धी मन्त्र पढ़ते हुए अथवा '**श्रीगणपतये नमः**' इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए गणेशजीको क्रमशः पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, पुनराचमनीय, पंचामृतस्नान, शुद्धोदकस्नान, वस्त्र, रक्षासूत्र, यज्ञोपवीत, चन्दन, रोली, सिन्दूर, अबीर, गुलाल, अक्षत, फूल, माला, दूर्वादल, आभूषण, सुगन्ध (इत्रका फाहा), धूप, दीप, नैवेद्य (मिष्टान्न एवं गुड़, मेवा आदि) तथा ऋतुफल अर्पण करे। गंगाजलसे आचमन कराकर मुखशुद्धिके लिये सुपारी, लवंग, इलायची और कर्पूरसहित ताम्बूल अर्पण करे। अन्तमें दक्षिणा-द्रव्य एवं विशेषार्घ्य, प्रदक्षिणा एवं साष्टांग प्रणाम निवेदन करके प्रार्थना करे।

ॐ लम्बोदरं परमसुन्दरमेकदन्तं
रक्ताम्बरं त्रिनयनं परमं पवित्रम्।
उद्यद्दिवाकरकरोज्ज्वलकायकान्तं
विघ्नेश्वरं सकलविघ्नहरं नमामि॥

---

* संतानकी इच्छासे प्रयोग करना हो तो संकल्पके उद्देश्यमें इस प्रकार योजना कर लेनी चाहिये। 'अतीतानन्तजन्मसम्पादितदुष्कृतपरिपाकवशप्राप्तजन्माङ्गक्रूरग्रहसूचितपत्नीवन्ध्यात्वकाकवन्ध्यात्वमृतवत्सात्वस्रवद्गर्भात्वादि-रूपसन्ततिप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तये सद्गुणसम्पन्नचिरञ्जीविस्वस्थसुन्दरसुपुत्रप्राप्तये च.....।'

यदि किसी मृत व्यक्तिकी सद्गतिके उद्देश्यसे भागवत-सप्ताह करना हो तो संकल्पके उद्देश्यमें इस प्रकार योजना कर ले—

'स्वीयानन्तदुष्कृतपरिपाकवशान्नानाविधदुःखक्षेत्रयोनिनाम् पितॄणाम् अमुकामुकशर्मणाम् (·····योनेः पितुः अमुकशर्मणः अन्यस्य वा कस्यचित्) प्रेतत्वनिवृत्तिपूर्वकमुत्तमवैकुण्ठधामोपलब्धये·····।'

इसी प्रकार आवश्यकताके अनुसार अन्यान्य उद्देश्यकी भी योजना कर लेनी चाहिये।

त्वां देव विघ्नदलनेति च सुन्दरेति
भक्तप्रियेति सुखदेति फलप्रदेति।
विद्याप्रदेत्यघहरेति च ये स्तुवन्ति
तेभ्यो गणेश वरदो भव नित्यमेव॥

—'**अनया पूजया गणपतिः प्रीयतां न मम।**' यों कहकर गणेशजीको पुष्पांजलि दे।

इसके बाद '**ॐ भूर्भुवः स्वः भो ब्रह्मविष्णु-शिवसहितसूर्यादिनवग्रहा इहागच्छतेह तिष्ठत मम पूजां गृह्णीत**' इस प्रकार या वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मादिसहित नवग्रहोंका आवाहन करे। फिर पूर्ववत् उपचार-मन्त्रोंसे अथवा **ॐ ब्रह्मणे नमः, ॐ विष्णवे नमः, ॐ शिवाय नमः, ॐ सूर्याय नमः, ॐ चन्द्रमसे नमः, ॐ भौमाय नमः, ॐ बुधाय नमः, ॐ बृहस्पतये नमः, ॐ भार्गवाय नमः, ॐ शनैश्चराय नमः, ॐ राहवे नमः, ॐ केतवे नमः**—इन नाम-मन्त्रोंसे पाद्य, अर्घ्य आदि सब उपचार समर्पण करके निम्नांकित मन्त्र पढ़कर प्रार्थना करे—

ॐ ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
सर्वे ग्रहाः शान्तिकरा भवन्तु॥

—'**अनया पूजया ब्रह्मविष्णुशिवसहित सूर्यादिनवग्रहाः प्रीयन्तां न मम।**' यों कहकर पुष्पांजलि चढ़ाये।

तत्पश्चात् '**ॐ भूर्भुवः स्वः भो गौर्यादिषोडश-मातर इहागच्छत मम पूजां गृह्णीत**' इस प्रकार आवाहन करके नाम-मन्त्रोंद्वारा पाद्य-अर्घ्य आदि निवेदन करे—**१ ॐ गौर्यै नमः। २ ॐ पद्मायै नमः। ३ ॐ शच्यै नमः। ४ ॐ मेधायै नमः। ५ ॐ सावित्र्यै नमः। ६ ॐ विजयायै नमः। ७ ॐ जयायै नमः। ८ ॐ देवसेनायै नमः। ९ ॐ स्वधायै नमः। १० ॐ स्वाहायै नमः। ११ ॐ मातृभ्यो नमः। १२ ॐ लोकमातृभ्यो नमः। १३ ॐ हृष्ट्यै नमः। १४ ॐ पुष्ट्यै नमः। १५ ॐ तुष्ट्यै नमः। १६ ॐ आत्मकुलदेवतायै नमः॥**

पूजनके पश्चात् प्रार्थना करे—

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥
हृष्टिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मनः कुलदेवता।
इत्येता मातरः सर्वा वृद्धिं कुर्वन्तु मे सदा॥

—'**अनया पूजया गौर्यादिषोडशमातरः प्रीयन्तां न मम।**' इस प्रकार समर्पणपूर्वक पुष्पांजलि निवेदन करे।

तदनन्तर '**भो अश्वत्थामादिसप्तचिरजीविन इहागत्य मम पूजां गृह्णीत**' इस प्रकार आवाहन करके पूर्ववत् नाममन्त्रसे पूजा करे—

१ ॐ अश्वत्थाम्ने नमः। २ ॐ बलये नमः। ३ ॐ व्यासाय नमः। ४ ॐ हनुमते नमः। ५ ॐ विभीषणाय नमः। ६ ॐ कृपाय नमः। ७ ॐ परशुरामाय नमः।

पूजाके पश्चात् हाथमें फूल लेकर निम्नांकित रूपसे प्रार्थना करे—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
यजमानगृहे नित्यं सुखदाः सिद्धिदाः सदा॥

—'**अनया पूजया अश्वत्थामादिसप्तचिरजीविनः प्रीयन्तां न मम।**' यह कहकर फूल चढ़ा दे।

इसके अनन्तर सर्वतोभद्रमण्डलस्थ देवताओंका आवाहन-पूजन (देवपूजापद्धतियोंके अनुसार) करके मध्यमें ताम्रकलश स्थापित करे। उसकी संक्षिप्त विधि यह है—'**ॐ भूरसि०**' इत्यादि मन्त्रसे भूमिकी प्रार्थना करके हाथसे (कलशके नीचेकी) भूमिका स्पर्श करे। उस समय '**ॐ मही द्यौः पृथ्वी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पितृतान्नौ वरीमभिः॥**' इस मन्त्रको पढ़ना चाहिये। उसी भूमिपर कुंकुम आदिसे अष्टदल कमल बनाकर उसके ऊपर '**ॐ धान्यमसि०**' इत्यादि मन्त्रसे सप्तधान्य स्थापित करे। फिर उस सप्तधान्यपर कलश स्थापित करे; उस समय '**ॐ आजिघ्र कलश०**' इत्यादि मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। इसके बाद '**ॐ वरुणस्योत्तम्भनमसि०**' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए

कलशको शुद्ध जलसे भर दे। तत्पश्चात् '**ॐ स्थिरो भव०**' इत्यादि मन्त्र पढ़कर कलशको ऐसा सुस्थिर कर दे, जिससे वह हिलने-डुलने या गिरने लायक न रह जाय। फिर उस कलशके पूर्व भागमें '**ॐ अग्निमीळे०**' इत्यादि मन्त्रसे ऋग्वेदका, दक्षिण भागमें '**ॐ इषे त्वोर्जेत्वा०**' इत्यादि मन्त्रसे यजुर्वेदका, पश्चिम भागमें '**ॐ अग्न आयाहि वीतये०**' इत्यादि मन्त्रसे सामवेदका तथा '**ॐ शन्नो देवी०**' इत्यादि मन्त्रसे उत्तर भागमें अथर्ववेदका स्थापन करे। पाँच कलश हों तो पृथक्-पृथक् कलशोंपर वेदोंकी स्थापना करनी चाहिये। इसके अनन्तर आम, बड़, पीपल, पाकर और गूलरके पल्लवोंको कलशमें डाले और '**ॐ अश्वत्थे०**' इत्यादि मन्त्रका पाठ करे। फिर '**ॐ काण्डात्काण्डात् प्ररोहन्ती०**' इत्यादि मन्त्रसे कलशमें दूर्वादल छोड़े, '**ॐ पवित्रे स्थो०**' इत्यादि मन्त्रसे कुशा, '**ॐ याः फलिनी०**' इत्यादि मन्त्रसे पूगीफल, '**ॐ हिरण्यगर्भः०**' इत्यादि मन्त्रसे दक्षिणा, '**ॐ परिवाजपतिः०**' से पंचरत्न, '**ॐ या ओषधीः०**' इत्यादिसे सर्वौषधी, '**ॐ गन्धद्वारां०**' इत्यादिसे गन्ध और '**ॐ अक्षन्नमीमदन्त०**' इत्यादिसे अक्षतको कलशमें छोड़े। तदनन्तर '**ॐ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च०**' इत्यादिसे फूल छोड़े। '**ॐ धूरसि०**' इत्यादिसे धूपकी आहुति अग्निमें छोड़े। '**ॐ अग्निर्ज्योतिः०**' इत्यादि मन्त्रसे अलग दीप जलाकर रख दे। उसके बाद कलशमें तीर्थोदक डाले और '**ॐ पञ्चनद्यः०**' इत्यादि मन्त्रको पढ़े। फिर '**ॐ उपह्वरे०**' इत्यादि मन्त्रसे नदी-संगमका जल डाले। तत्पश्चात् '**ॐ समुद्राय त्वा०**' इत्यादि मन्त्रसे समुद्रका जल कलशमें डाले। फिर '**ॐ स्योना पृथिवि०**' इत्यादिसे सप्तमृत्तिका डालकर '**ॐ वसोः पवित्रमसि०**' इत्यादि मन्त्रको पढ़ते हुए लाल वस्त्रसे कलशको आच्छादित करे। तदनन्तर '**ॐ पूर्णादर्वि०**' इत्यादि मन्त्रसे एक पूर्णपात्र (चावलसे भरा हुआ काँसी या ताँबेका पात्र) कलशके ऊपर रखे। इसके बाद '**ॐ श्रीश्च ते०**' इत्यादि मन्त्रसे उस पूर्णपात्रपर लाल कपड़ेमें लपेटा हुआ श्रीफल (गरीका गोला या नारियल) रखे। फिर हाथमें अक्षत ले '**ॐ मनो जूतिः०**' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए कलशपर अक्षत छोड़े और इस प्रकार कलशकी प्रतिष्ठा सम्पन्न करे। तदनन्तर '**सर्वे समुद्राः सरितः०**' इत्यादि श्लोकोंका पाठ करते हुए कलशमें तीर्थोंका आवाहन करे। फिर गन्ध आदि उपचारोंसे तीर्थोंका पूजन करके कलशकी प्रार्थना करे—

देवदानवसंवादे मथ्यमाने जलार्णवे।
उत्पन्नोऽसि तदा कुम्भ विधृतो विष्णुना स्वयम्॥
त्वत्तोये सर्वतीर्थानि देवाः सर्वे त्वयि स्थिताः।
त्वयि तिष्ठन्ति भूतानि त्वयि प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥
शिवः स्वयं त्वमेवासि विष्णुस्त्वं च प्रजापतिः।
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवाः सपैतृकाः॥
त्वयि तिष्ठन्ति सर्वेऽपि यतः कामफलप्रदाः।
त्वत्प्रसादादिमं यज्ञं कर्तुमीहे जलोद्भव॥
सान्निध्यं कुरु मे देव प्रसन्नो भव सर्वदा।
ब्रह्मणैर्निर्मितस्त्वं हि मन्त्रैरेवामृतोद्भवैः॥
प्रार्थयामि च कुम्भ त्वां वाञ्छितार्थं ददस्व मे।
पुरा हि सृष्टश्च पितामहेन
महोत्सवानां प्रथमो वरिष्ठः।
दूर्वाग्रसाश्वत्थसुपल्लवैर्युक्
करोतु शान्तिं कलशः सुवासाः॥

इस प्रार्थनाके अनन्तर कलशमें '**ॐ गणानां त्वा०**' इत्यादिसे गणेशका तथा '**ॐ तत्त्वायामि**' इत्यादि मन्त्रसे वरुणदेवताका आवाहन करके इनका षोडशोपचारसे पूजन करे। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दक्षिणा, प्रदक्षिणा और पुष्पांजलि—ये ही षोडश उपचार कहे गये हैं। पूजनके पश्चात् '**अनया पूजया वरुणाद्यावाहितदेवताः प्रीयन्ताम्**' कहकर फूल छोड़ दे।

तदनन्तर कलशके ऊपर लक्ष्मीनारायणप्रतिमाको संस्कार करके स्थापित करे। पुरुषसूक्तके षोडश मन्त्रोंसे षोडश-उपचार चढ़ाकर पूजन करे। साथ ही शालग्रामजीकी भी पूजा करे। (षोडशोपचार-पूजनविधि अन्यत्र इसीमें 'श्रीमद्भागवतकी पूजनविधि' शीर्षक लेखमें दी गयी है) पूजाके

पश्चात् इस प्रकार भगवान्‌से प्रार्थना करे—

ब्रह्मसत्रं करिष्यामि तवानुग्रहतो विभो।
तन्निर्विघ्नं भवेद्देव रमानाथ क्षमस्व मे॥

—'**अनया पूजया लक्ष्मीसहितो भगवन्नारायणः प्रीयतां न मम।**' यों कहकर पुष्पांजलि चढ़ाये। ऐसा ही सर्वत्र करे।

इसके बाद '**ॐ नरनारायणाभ्यां नमः**' इस मन्त्रसे भगवान् नर-नारायणका आवाहन और पूजन करके इस प्रकार प्रार्थना करे—

यो मायया विरचितं निजमात्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै॥
सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम्॥

—'**अनया पूजया भगवन्तौ नरनारायणौ प्रीयेतां न मम।**'

तत्पश्चात् वक्ता और श्रोताओंके सब विकारोंको दूर करनेके लिये वायुदेवताका आवाहन एवं पूजन करे—'**ॐ वायवे सर्वकल्याणकर्त्रे नमः।**' इस मन्त्रसे पाद्य आदि निवेदन करके निम्नांकित रूपसे प्रार्थना करे—

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो विभर्त्यात्मकेतुभिः।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात् पातु नो यद्वशे स्फुटम्॥

—'**अनया पूजया सर्वकल्याणकर्ता वायुः प्रीयतां न मम।**'

वायुकी पूजाके पश्चात् गुरुका '**ॐ गुरवे नमः।**' इस मन्त्रसे पूजन करके प्रार्थना करे—

ब्रह्मस्थानसरोजमध्यविलसच्छीतांशुपीठस्थितं
स्फूर्जत्सूर्यरुचिं वराभयकरं कर्पूरकुन्दोज्ज्वलम्।
श्वेतस्त्रग्वसनानुलेपनयुतं विद्युद्रुचा कान्तया
संश्लिष्टार्धतनुं प्रसन्नवदनं वन्दे गुरुं सादरम्॥

—'**अनया पूजया गुरुदेवः प्रीयतां न मम।**'

तदनन्तर श्वेतपुष्प आदिसे '**ॐ सरस्वत्यै नमः।**' इस मन्त्रद्वारा सरस्वतीका पूर्ववत् पूजन करके प्रार्थना करे—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

—'**अनया पूजया भगवती सरस्वती प्रीयतां न मम।**'

सरस्वतीपूजनके पश्चात् '**ॐ शेषाय नमः**', '**ॐ सनत्कुमाराय नमः**', '**ॐ सांख्यायनाय नमः,**' '**ॐ पराशराय नमः**', '**ॐ बृहस्पतये नमः,**' '**ॐ मैत्रेयाय नमः,**' '**ॐ उद्धवाय नमः**'—इन मन्त्रोंसे शेष आदिकी पूजा करके प्रार्थना करे—

शेषः सनत्कुमारश्च सांख्यायनपराशरौ।
बृहस्पतिश्च मैत्रेय उद्धवश्चात्र कर्मणि॥
प्रत्यूहवृन्दं सततं हरन्तां पूजिता मया।

—'**अनया पूजया शेषसनत्कुमारसांख्यायन-पराशरबृहस्पतिमैत्रेयोद्धवाः प्रीयन्तां न मम।**'

इसके बाद '**ॐ त्रय्यारुणये नमः**', '**ॐ कश्यपाय नमः,**' '**ॐ रामशिष्याय नमः,**' '**ॐ अकृतव्रणाय नमः,**' '**ॐ वैशम्पायनाय नमः**' '**ॐ हारीताय नमः**'—इन मन्त्रोंसे त्रय्यारुणि आदि छः पौराणिकोंकी पूर्ववत् पूजा करके प्रार्थना करे—

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च रामशिष्योऽकृतव्रणः।
वैशम्पायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे॥
सुखदाः सन्तु मे नित्यमनया पूजयार्चिताः।

—'**अनया पूजया त्रय्यारुणिप्रभृतयः षट् पौराणिकाः प्रीयन्तां न मम।**'

तत्पश्चात् '**ॐ भगवते व्यासाय नमः**' इस मन्त्रसे भगवान् व्यासदेवकी स्थापना और पूजा करके इस प्रकार प्रार्थना करे—

नमस्तस्मै भगवते व्यासायामिततेजसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम्॥

—'**अनया पूजया भगवान् व्यासः प्रीयतां न मम।**'

इसके बाद सप्ताहयज्ञके उपदेशक भगवान् सूर्यकी स्थापना करके प्रतिदिन उनकी भी पूजा करे। उनकी पूजाका मन्त्र '**ॐ सूर्याय नमः**' है। पूजनके पश्चात् इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये।

लोकेश त्वं जगच्चक्षुः सत्कर्म तव भाषितम्।
करोमि तच्च निर्विघ्नं पूर्णमस्तु त्वदर्चनात्॥

—'**अनया पूजया सप्ताहयज्ञोपदेष्टा भगवान् सूर्यः प्रीयतां न मम।**'

इसके बाद दशावतारोंकी तथा शुकदेवजीकी भी यथास्थान स्थापना करके पूजा करनी चाहिये।

तदनन्तर नारदपीठ और पुस्तकपीठ दोनोंकी एक ही साथ पूजा करे। पहले उन दोनों पीठोंका जलसे अभिषेक करके उनपर चन्दनादिसे अष्टदल कमल बनावे। फिर '**ॐ आधारशक्तये नमः**', '**ॐ मूलप्रकृतये नमः**', '**ॐ क्षीरसमुद्राय नमः**', '**ॐ श्वेतद्वीपाय नमः,**' '**ॐ कल्पवृक्षाय नमः,**' '**ॐ रत्नमण्डपाय नमः,**' '**ॐ रत्नसिंहासनाय नमः**'—इन मन्त्रोंसे दोनों पीठोंमें आधारशक्ति आदिकी भावना करके पूजा करे। फिर चारों दिशाओंमें पूर्वादिके क्रमसे '**ॐ धर्माय नमः,**' '**ॐ ज्ञानाय नमः,**' '**ॐ वैराग्याय नमः,**' '**ॐ ऐश्वर्याय नमः**'—इन मन्त्रोंद्वारा धर्मादिकी भावना एवं पूजा करे। फिर पीठोंके मध्यभागमें '**ॐ अनन्ताय नमः**' से अनन्तकी और '**ॐ महापद्माय नमः**' से महापद्मकी पूजा करे। फिर यह चिन्तन करे—उस महापद्मका कन्द (मूलभाग) आनन्दमय है। उसकी नाल संवित्स्वरूप है, उसके दल प्रकृतिमय हैं, उसके केसर विकृतिरूप हैं, उसके बीज पंचाशत् वर्णस्वरूप हैं—और उन्हींसे उस महापद्मकी कर्णिका (गद्दी) विभूषित है। उस कर्णिकामें अर्कमण्डल, सोममण्डल और वह्निमण्डलकी स्थिति है। वहीं प्रबोधात्मक सत्त्व, रज एवं तम भी विराजमान हैं। ऐसी भावनाके पश्चात् उन सबकी पंचोपचारसे पूजा करे। मन्त्र इस प्रकार हैं—'**ॐ आनन्दमयकन्दाय नमः**', '**ॐ संविन्नालाय नमः,**' '**ॐ प्रकृतिमयपत्रेभ्यो नमः,**' '**ॐ विकृतिमयकेसरेभ्यो नमः,**' '**ॐ पञ्चाशद्वर्णबीजभूषितायै कर्णिकायै नमः**', '**ॐ अं अर्कमण्डलाय नमः,**' '**ॐ सं सोममण्डलाय नमः,**' '**ॐ वं वह्निमण्डलाय नमः,**' '**ॐ सं प्रबोधात्मने सत्त्वाय नमः,**' '**ॐ रं रजसे नमः,**' '**ॐ तं तमसे नमः**'। इन सबकी पूजाके पश्चात् कमलके सब ओर पूर्वादि आठों दिशाओंमें क्रमशः '**ॐ विमलायै नमः,**' '**ॐ उत्कर्षिण्यै नमः,**' '**ॐ ज्ञानायै नमः,**' '**ॐ क्रियायै नमः,**' '**ॐ योगायै नमः,**' '**ॐ प्रह्व्यै नमः**', '**ॐ सत्यायै नमः,**' '**ॐ ईशानायै नमः**'—इन मन्त्रोंद्वारा विमला आदि आठ शक्तियोंकी पूजा करे और कमलके मध्यभागमें '**ॐ अनुग्रहायै नमः**' से अनुग्रहा नामकी शक्तिकी पूजा करे। तदनन्तर '**ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय पद्मपीठात्मने नमः**' इस मन्त्रसे सम्पूर्ण पद्मपीठका पूजन करके उसपर सुन्दर वस्त्र डाल दे और उसीके ऊपर स्थापित करनेके लिये श्रीमद्भागवतकी पुस्तकको हाथमें लेकर '**ॐ ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सा पर्वता इमे। ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामसि**' इस मन्त्रको पढ़ते हुए उक्त पीठपर स्थापित करे। फिर '**ॐ मनो जूतिः०**' इस मन्त्रसे पुस्तककी प्रतिष्ठा करके पुरुषसूक्तके षोडश मन्त्रोंद्वारा षोडशोपचार-विधिसे पूजा करे। (यह विधि पहले 'श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि' शीर्षक लेखमें दी गयी है।) तत्पश्चात् द्वितीय पीठको श्वेत वस्त्रसे आच्छादित करके उसपर देवर्षि नारदको स्थापित करे और '**ॐ सुरर्षिवरनारदाय नमः**' इस मन्त्रसे उनकी विधिवत् पूजा करके निम्नांकितरूपसे प्रार्थना करे—

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते ज्ञानवैराग्यशालिने।
नारदाय सर्वलोकपूजिताय सुरर्षये॥

—'**अनया पूजया देवर्षिनारदः प्रीयतां न मम।**'

इस प्रकार पूजनके पश्चात् यजमान पुष्प, चन्दन, ताम्बूल, वस्त्र, दक्षिणा, सुपारी तथा रक्षासूत्र हाथमें लेकर '**ॐ अद्यामुकगोत्रममुकप्रवरममुक-शर्माणं ब्राह्मणमेभिर्वरणद्रव्यैः सर्वेष्टद-श्रीमद्भागवतवक्तृत्वेन भवन्तमहं वृणे**'—इस

प्रकार कहते हुए कथावाचक आचार्यका वरण करे। हाथमें ली हुई सब सामग्री उनको दे दे। वह सब लेकर कथावाचक व्यास '**वृतोऽस्मि**' यों कहें। इसके बाद पुनः उन्हीं सब सामग्रियोंको हाथमें लेकर जप और पाठ करनेवाले ब्राह्मणोंका वरण करे। इसके लिये संकल्पवाक्य इस प्रकार है—'**अद्याहममुकगोत्रानमुकप्रवरानमुकशर्मणो यथा-संख्याकान् ब्राह्मणानेभिर्वरणद्रव्यैर्गाथाविघ्नापनोदार्थं गणेशगायत्रीवासुदेवमन्त्रजपकर्तृत्वेन गीताविष्णु-सहस्रनामपाठकर्तृत्वेन च वो विभज्य वृणे।**' इस प्रकार संकल्प करके प्रत्येक ब्राह्मणको वरण-सामग्री अर्पित करे। सामग्री लेकर वे ब्राह्मण कहें '**वृताः स्मः**'। इसके बाद पहले कथावाचक आचार्यके हाथमें दिये हुए रक्षासूत्रको लेकर उन्हींके हाथमें बाँध दे। उस समय आचार्य निम्नांकित मन्त्रका पाठ करें—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

रक्षा बाँधनेके अनन्तर यजमान उनके ललाटमें कुंकुम (रोली) और अक्षतसे तिलक करे। इसी प्रकार जपकर्ता ब्राह्मणोंके हाथोंमें भी रक्षा बाँधकर तिलक करे। तदनन्तर पीले अक्षत लेकर यजमान चारों दिशाओंमें रक्षाके लिये बिखेरे। उस समय निम्नांकित मन्त्रोंका पाठ भी करे—

पूर्वे नारायणः पातु वारिजाक्षश्च दक्षिणे।
पश्चिमे पातु गोविन्द उत्तरे मधुसूदनः॥
ऐशान्यां वामनः पातु चाग्नेय्यां च जनार्दनः।
नैर्ऋत्यां पद्मनाभश्च वायव्यां माधवस्तथा॥
ऊर्ध्वं गोवर्धनधरो ह्यधस्ताच्च त्रिविक्रमः।
रक्षाहीनं तु यत्स्थानं तत्सर्वं रक्षतां हरिः॥

इसके बाद वक्ता आचार्य यजमानके हाथमें—

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

इस मन्त्रको पढ़कर रक्षा बाँधे और—

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
तिलकं ते प्रयच्छन्तु धर्मकामार्थसिद्धये॥

—इस मन्त्रसे उसके ललाटमें तिलक कर दे। फिर यजमान व्यासासनकी चन्दन-पुष्प आदिसे पूजा करे। पूजनका मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ व्यासासनाय नमः**'। तदनन्तर कथावाचक आचार्य ब्राह्मणों और वृद्ध पुरुषोंकी आज्ञा लेकर विप्रवर्गको नमस्कार और गुरु-चरणोंका ध्यान करके व्यासासनपर बैठे। मन-ही-मन गणेश और नारदादिका स्मरण एवं पूजन करें। इसके बाद यजमान '**ॐ नमः पुराणपुरुषोत्तमाय**' इस मन्त्रसे पुनः पुस्तककी गन्ध, पुष्प, तुलसीदल एवं दक्षिणा आदिके द्वारा पूजा करे। फिर गन्ध, पुष्प आदिसे वक्ताका पूजन करते हुए निम्नांकित श्लोकका पाठ करे—

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत्पिबति॥

तत्पश्चात् नीचे लिखे हुए श्लोकोंको पढ़कर प्रार्थना करे—

शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय॥
संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे।
कर्ममोहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात्॥

इस प्रकार प्रार्थना करनेके पश्चात् निम्नांकित श्लोक पढ़कर श्रीमद्भागवतपर पुष्प, चन्दन और नारियल आदि चढ़ाये—

श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि।
स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे॥
मनोरथो मदीयोऽयं सफलः सर्वथा त्वया।
निर्विघ्नेनैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव॥

कथा-मण्डपमें वायुरूपधारी आतिवाहिक शरीरवाले जीवविशेषके लिये सात गाँठके एक बाँसको भी स्थापित कर देना चाहिये।

तत्पश्चात् वक्ता भगवान्का स्मरण करके उस दिन श्रीमद्भागवतमाहात्म्यकी कथा सब श्रोताओंको सुनाये और दूसरे दिनसे प्रतिदिन देवपूजा, पुस्तक तथा व्यासकी पूजा एवं आरती हो जानेके पश्चात् वक्ता कथा प्रारम्भ करे। सन्ध्याको कथाकी समाप्ति होनेपर भी नित्यप्रति पुस्तक तथा वक्ताकी पूजा तथा आरती,

प्रसाद एवं तुलसीदलका वितरण, भगवन्नामकीर्तन एवं शङ्खध्वनि करनी चाहिये। कथाके प्रारम्भमें और बीच-बीचमें भी जब कथाका विराम हो तो समयानुसार भगवन्नामकीर्तन करना चाहिये।

वक्ताको चाहिये कि प्रतिदिन पाठ प्रारम्भ करनेसे पूर्व एक सौ आठ बार '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस द्वादशाक्षरमन्त्रका अथवा '**ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा**' इस गोपालमन्त्रका जप करे। इसके बाद निम्नांकित वाक्य पढ़कर विनियोग करे—

ॐ अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारदऋषिः बृहतीच्छन्दः श्रीकृष्णपरमात्मा देवता ब्रह्मबीजं भक्तिः शक्तिः ज्ञानवैराग्यकीलकं मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थे पाठे विनियोगः।

विनियोगके पश्चात् निम्नांकित रूपसे न्यास करे—

ऋष्यादिन्यासः—नारदर्षये नमः शिरसि। बृहतीच्छन्दसे नमः मुखे। श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः हृदि। ब्रह्मबीजाय नमः गुह्ये। भक्तिशक्तये नमः पादयोः। ज्ञानवैराग्यकीलकाभ्यां नमः नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वांगे।

द्वादशाक्षरमन्त्रसे करन्यास और अंगन्यास करना चाहिये अथवा नीचे लिखे अनुसार उसका सम्पादन करना चाहिये—

करन्यासः—ॐ क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ॐ क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ॐ क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ॐ क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

अङ्गन्यासः—ॐ क्लां हृदयाय नमः। ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा। ॐ क्लूं शिखायै वषट्। ॐ क्लैं कवचाय हुम्। ॐ क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ क्लः अस्त्राय फट्।

इसके बाद निम्नांकित रूपसे ध्यान करे—

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं
वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं
हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृतिः॥

इस प्रकार ध्यानके पश्चात् कथा प्रारम्भ करनी चाहिये। सूर्योदयसे आरम्भ करके प्रतिदिन साढ़े तीन प्रहरतक कथा बाँचनी चाहिये। मध्याह्नमें दो घड़ी कथा बंद रखनी चाहिये। प्रातःकालसे मध्याह्नतक मूलका पाठ होना चाहिये और मध्याह्नसे सन्ध्यातक उसका संक्षिप्त भावार्थ अपनी भाषामें कहना चाहिये। मध्याह्नमें विश्रामके समय तथा रात्रिके समय भगवन्नाम-कीर्तनकी व्यवस्था होनी चाहिये।

श्रोताओंके स्थान—वक्ताके सामने श्रोताओंके बैठनेके लिये आगे-पीछे सात पंक्तियाँ बना लेनी चाहिये। पहली पंक्तिका नाम सत्यलोक है, इसमें साधु-संन्यासी, विरक्त, वैष्णव आदिको बैठाना चाहिये। दूसरी पंक्ति तपोलोक कहलाती है, इसमें वानप्रस्थ श्रोताओंको बैठाना चाहिये। तीसरी पंक्तिको जनलोक नाम दिया गया है, इसमें ब्रह्मचारी श्रोता बैठाये जाने चाहिये। चौथी पंक्ति महर्लोक कही गयी है, यह ब्राह्मण श्रोताओंका स्थान है। पाँचवीं पंक्तिको स्वर्लोक कहते हैं। इसमें क्षत्रिय श्रोताओंको बैठाना चाहिये। छठी पंक्तिका नाम भुवर्लोक है, जो वैश्य श्रोताओंका स्थान है। सातवीं पंक्ति भूर्लोक मानी गयी है, उसमें शूद्रजातीय श्रोताओंको बैठाना चाहिये। स्त्रियाँ वक्ताके वामभागकी भूमिपर कथा सुनें। ये स्थान उन लोगोंके लिये नियत किये गये हैं, जो प्रतिदिन नियमपूर्वक कथा सुनते हैं। जो श्रोता कथा प्रारम्भ होनेपर कुछ समयके लिये अनियमितरूपसे आते हैं, उनके लिये वक्ताके दक्षिण भागमें स्थान रहना चाहिये।

श्रोताओंके नियम—श्रोता प्रतिदिन एक बार हविष्यान्न भोजन करें। पतित, दुर्जन आदिका संग तो दूर रहा, उनसे वार्तालाप भी न करें। ब्रह्मचर्यपालन, भूमिशयन (नीचे आसन बिछाकर या तख्तपर सोना)

सबके लिये अनिवार्य है। एकाग्रचित्त होकर कथा सुननी चाहिये। जितने दिन कथा सुनें—धन, स्त्री, पुत्र, घर एवं लौकिक लाभकी समस्त चिन्ताएँ त्याग दें। मल-मूत्रपर काबू रखनेके लिये हलका आहार सुखद होता है। यदि शक्ति हो तो सात दिनतक उपवास करके कथा सुनें। अन्यथा दूध पीकर सुखपूर्वक कथा सुनें। इससे भी काम न चले तो फलाहार या एक समय अन्न-भोजन करें। जिस तरह भी सुखपूर्वक कथा सुननेकी सुविधा हो, वैसे कर लें। प्रतिदिन कथा समाप्त होनेपर ही भोजन करना उचित है। दाल, शहद, तेल, गरिष्ठ अन्न, भावदूषित अन्न तथा बासी अन्नका परित्याग करें। काम, क्रोध, मद, मान, ईर्ष्या, लोभ, दम्भ, मोह तथा द्वेषसे दूर रहें। वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गौ, व्रती, स्त्री, राजा तथा महापुरुषोंकी कभी भूलकर भी निन्दा न करें। रजस्वला, चाण्डाल, म्लेच्छ, पतित, व्रतहीन, ब्राह्मणद्रोही तथा वेद-बहिष्कृत मनुष्योंसे वार्तालाप न करें। मनमें सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता, विनय तथा उदारताको स्थान दें। श्रोताओंको वक्तासे ऊँचे आसनपर कभी नहीं बैठना चाहिये।

कुछ विशेष बातें—प्रत्येक स्कन्धकी समाप्ति होनेपर चन्दन, पुष्प, नैवेद्य आदिसे पुस्तककी पूजा करके आरती उतारनी चाहिये। शुकदेवजीके आगमन तथा श्रीकृष्णके प्राकट्यका प्रसंग आनेपर भी आरती करनी चाहिये। बारहवें स्कन्धकी समाप्ति होनेपर पुस्तक और वक्ताका भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये। वक्ता गृहस्थ हों तो, उन्हें अपनी शक्तिके अनुसार उदारतापूर्वक वस्त्राभूषण तथा नकद रुपये भेंट देने चाहिये। मृदंग आदि बजाकर जोर-जोरसे कीर्तन करना चाहिये। जय-जयकार, नमस्कार और शंखनाद करने चाहिये। ब्राह्मणों और याचकोंको अन्न एवं धन देना चाहिये। वक्ताके हाथोंसे श्रोताओंको प्रसाद एवं तुलसीदल मिलने चाहिये। प्रतिदिन कथाके प्रारम्भ और अन्तमें आरती होनी आवश्यक है। (श्रीमद्भागवतकी आरती इसीमें अन्यत्र दी गयी है।)

कथाका विश्राम प्रतिदिन नियत स्थलपर ही करना चाहिये। प्रथम दिन मनु-कर्दम-संवादतक। दूसरे दिन भरत-चरित्रतक। तीसरे दिन सातवें-स्कन्धकी समाप्तितक। चौथे दिन श्रीकृष्णके प्राकट्यतक। पाँचवें दिन रुक्मिणी-विवाहतक और छठे दिन हंसोपाख्यानतककी कथा बाँचकर, सातवें दिन अवशिष्ट भागको पूर्ण कर देना चाहिये।* स्कन्धके आदि और अन्तिम श्लोकको कई बार उच्च स्वरसे पढ़ना चाहिये। कथा-समाप्तिके दूसरे दिन वहाँ स्थापित हुए सम्पूर्ण देवताओंका पूजन करके हवनकी वेदीपर पंचभूसंस्कार, अग्निस्थापन एवं कुशकण्डिका करे। फिर विधिपूर्वक वृत ब्राह्मणोंद्वारा हवन, तर्पण एवं मार्जन कराकर श्रीमद्भागवतकी शोभायात्रा निकाले और ब्राह्मण-भोजन कराये। मधु-मिश्रित खीर और तिल आदिसे भागवतके श्लोकोंका दशांश (अर्थात् १,८००) आहुति देनी चाहिये। खीरके अभावमें तिल, चावल, जौ, मेवा, शुद्ध घी और चीनीको मिलाकर हवनीय पदार्थ तैयार कर लेना चाहिये। इसमें सुगन्धित पदार्थ (कपूर-काचरी, नागरमोथा, छड़छड़ीला, अगर-तगर, चन्दनचूर्ण आदि) भी मिलाने चाहिये। पूर्वोक्त अठारह सौ आहुति गायत्री-मन्त्र अथवा दशम-स्कन्धके प्रति श्लोकसे देनी चाहिये। हवनके अन्तमें दिक्पाल आदिके लिये बलि, क्षेत्रपाल-पूजन, छायापात्र-दान, हवनका दशांश तर्पण एवं तर्पणका दशांश मार्जन करना चाहिये। फिर आरतीके पश्चात् किसी नदी, सरोवर या कूपादिपर जाकर अवभृथस्नान (यज्ञान्त-स्नान) भी करना चाहिये। इसके लिये समूहके साथ शोभायात्रा निकालकर गाजे-बाजेके

---

* **मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्॥**
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत् सुधीः॥
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

साथ कीर्तन करते हुए जाना चाहिये। यजमान श्रीमद्भागवतग्रन्थको अपने मस्तकपर रखकर उसकी शोभायात्रा निकाले, जिसमें वक्ता तथा सब श्रोता सम्मिलित हों। हरिकीर्तन होता चले। भागवत-ग्रन्थपर चँवर डुलते रहें। घड़ियाल, घण्टा, झाँझ, शंख आदि बाजे बजते रहें। जो पूर्ण हवन करनेमें असमर्थ हो, वह यथाशक्ति हवनीय पदार्थ दान करे। अन्तमें कम-से-कम बारह ब्राह्मणोंको मधुयुक्त खीरका भोजन कराना चाहिये। व्रतकी पूर्तिके लिये सुवर्ण-दान और गोदान करना चाहिये। सिंहासनपर विराजित सुन्दर अक्षरोंमें लिखित श्रीमद्भागवतकी पूजा करके उसे दक्षिणासहित कथावाचक आचार्यको दान कर देना चाहिये। अन्तमें सब प्रकारकी त्रुटियोंकी पूर्तिके लिये विष्णुसहस्रनामका पाठ कथावाचक आचार्यके द्वारा सुनना चाहिये। विरक्त श्रोताओंको 'गीता' सुननी चाहिये।

सप्ताह-कथाके प्रारम्भमें संग्रहणीय सामग्रीकी सूची

पूजन-सामग्री

गंगाजल, रोली (कुंकुम), मोली (रक्षासूत्र), चन्दन, शुद्ध केसर, कपूर, पुष्प, पुष्पमाला, तुलसीदल, बिल्वपत्र, दूर्वादल, धूप ,शुद्ध अगरबत्ती, पंचामृत (दूध ऽ।, दही ऽ=, मधु दो पैसे भर, चीनी ऽ=, घी छटाँक भर), दीप (यथासम्भव शुद्ध, गोघृत और रूई), पानका पत्ता पचास, सुपारी पचीस, यज्ञोपवीत पचीस, इलायची, लौंग, पेड़ा ऽ॥,, मेवा ऽ॥, गुड़ ऽ।, चावल ऽ।, गेहूँ ऽ५, कुण्डे मिट्टीके दो गेहूँ बोनेके लिये, पीली सरसों, अबीर, गुलाल, ऋतुफल—केला-संतरा आदि, कपड़ा सफेद ५ गज, कपड़ा लाल ५ गज, कपड़ा पीला ५ गज, कपड़ा शुद्ध रेशमी १$\frac{१}{२}$ गज, सर्वतोभद्रकी रचनाके लिये हरा, लाल, काला, पीला और गुलाबी रंग, गोबर, नारियल दो या सात, शुद्ध इत्र, कुशा, सिन्दूर, रुपये-रेजगी-पैसे, आरतीका पात्र, घण्टा, घड़ियाल, शंख-झाँझ आदि, कोसा पचास, दियासलाई, चौकी एक सर्वतोभद्रके लिये, चौकी एक नारदजीके लिये, चौकी एक नवग्रह, षोडशमातृका और गणेशके लिये, चौकी एक व्यास, शुकदेव, सप्त-चिरजीवी तथा पौराणिकोंके लिये, पाटा एक शेष-सनत्कुमारादिके लिये।

कलशस्थापनकी सामग्री

कलश ताँबेका एक, ताँबे या काँसीका पात्र एक, कलश मिट्टीके पाँच, सप्तधान्य (जौ, गेहूँ, धान, तिल, कँगनी, साँवा, चना), पंचपल्लव (आम, पीपल, पाकर, गूलर और बड़के पत्ते) दूर्वा, कुशा, सुपारी, दक्षिणा, चन्दन, अक्षत, फूल, तीर्थोदक, समुद्रजल, सप्तमृत्तिका (घुड़सालकी, हाथीशालाकी, दीमककी, नदी-संगमकी, राजद्वारकी, गोशालाकी, तालाबकी), सर्वौषधि (कूट, जटामाशी, हल्दी गाँठ २, राभट, मुरा, शैलेभ, चन्दन, बचा, चम्पक और नागरमोथा—अभावमें केवल हल्दी), नदीसंगमका जल, श्रीलक्ष्मी-नारायणकी प्रतिमा।

कथामण्डपके लिये सामग्री

चँदोवेका कपड़ा, चौकोर मण्डप, केलेके खम्भे चार, बाँसके खम्भे, मण्डपको चारों ओरसे माला, फूल और पत्तोंसे सजाना, चारों दिशाओंमें झंडी लगाना, वस्त्र और गोटे आदिसे सजाना, चौकी व्यासके लिये, गद्दी, मसनद, तकिये, कम्बल, चद्दर, पाँच झंडियाँ, पुस्तकका वेष्टन, पुस्तकके लिये चौकी, आमके पत्तोंके बंदनवार।

गणेशजी, देवता, श्रीमद्भागवत और आचार्यकी पूजाके लिये प्रतिदिन चन्दन, पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीपादि सामग्री।

वरणकी सामग्री

वक्ताके लिये चादर, धोती, गमछा, आसन, दक्षिणा, तुलसीमाला, जलपात्र आदि, जप करनेवालोंके लिये भी यथासम्भव वस्त्र-द्रव्य आदि।

पाठके लिये पुस्तक

भागवत, रामायण, गीता, सहस्त्रनाम आदि।

हवनके लिये सामग्री

वेदीके लिये स्वच्छ बालू एक बोरा, सूखी आमकी लकड़ी दो मन, कुशकण्डिकाके लिये कुशा, दूर्वा, अग्नि लानेके लिये दो कांस्यपात्र, एक पूर्णपात्र पीतलका बड़ा-सा, यज्ञपात्र—प्रणीता, प्रोक्षणी, स्त्रुवा, स्त्रुक्, पूर्णाहुतिपात्र, चरुस्थाली, आज्यस्थाली (काँसीका बड़ा-सा कटोरा), हवनीय पदार्थ—मधुमिश्रित खीर, छायापात्र-दानके लिये काँसेकी छोटी एक कटोरी तथा उसके लिये घी।

तिल १० सेर, चावल ५ सेर, जौ २$\frac{1}{2}$ सेर शुद्ध घी ४ सेर, शुद्ध चीनी २$\frac{1}{2}$ सेर,पंचमेवा २ सेर (पिश्ता, बादाम, किशमिश अखरोट और काँजू)—इन सबको मिलाकर हवनसामग्री बनायी जाती है। फिर इसमें सुगन्धित द्रव्य (कपूरकाचरी, छड़छड़ीला, नागरमोथा, अगर-तगर, चन्दनचूर्ण आदि) आवश्यकतानुसार मिला देने चाहिये। बलिके लिये पापड़, उड़द, दही, चावल, रूईकी बत्ती, दक्षिणा, क्षेत्रपाल-बलिके लिये हँड़िया, काजल, सिंदूर, दीपक, दक्षिणा आदि। पूर्णाहुतिके लिये नारियलका गोला इत्यादि, वितरणके लिये प्रसाद। ब्राह्मण-भोजनके लिये मधुमिश्रित खीर तथा अन्यान्य मधुर पकवान, पूरी-साग आदि। हवनकर्ता ब्राह्मणोंके लिये वरण और दक्षिणा आदि।

कथा-समाप्तिके पश्चात् कथावाचकको भेंट देनेके लिये वस्त्र, आभूषण, नकद रुपये आदि।

वन्दनम्

सर्गस्थितिनिरोधार्थं कामाकाममयो हि यः।
तं कामं कामकामघ्नं कामाभावाय कामये॥

यत्कामिनीकेलिकलापकुण्ठितः कामोऽप्यकामा विमदो बभूव ह।
तं मानिनीमानदमानदं सदा श्रीमोहनं मोहनमानतोऽस्म्यहम्॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजपरागपरप्रभावाद् भूत्वा कृती कृतिमतां सृतिमाचरामि।
तं सद्गुरुं सततसर्वसुखं सदग्र्यं वन्दे सदा विमलबोधघनं विचित्रम्॥

व्यासं व्यासकरं वन्दे मुनिं नारायणं स्वयम्।
यतः प्राप्तकृपालोका लोका मुक्ताः कलेर्ग्रहात्॥
यस्य तुण्डाच्च्युतश्चूतो राजतेऽयं रसात्मकः।
तमच्युतकथाकुञ्जे सुकूजन्तं शुकं भजे॥
श्रीधरं श्रीधरं वन्दे श्रीधरैकपरायणम्।
यस्यैव श्रीप्रसादेन श्रीधरेयं कृतिः कृता॥
राधा भक्तिर्हरिर्ज्ञानं ताभ्यां या च समन्विता।
तां श्रीभागवतीं गाथां वन्दे युगलरूपिणीम्॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवतकी आरती

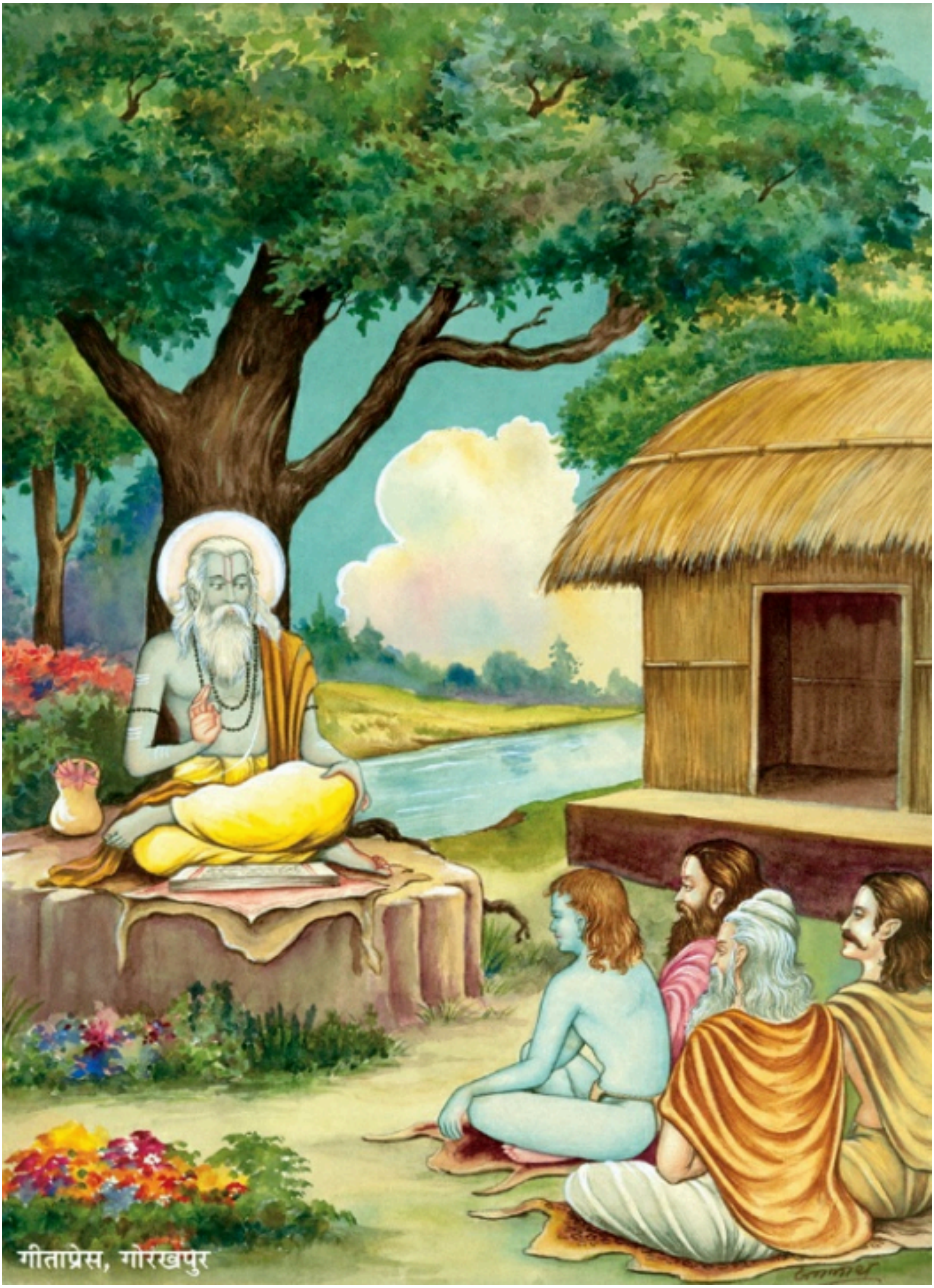
आरति अतिपावन पुरानकी।
धर्म-भक्ति-विज्ञान-खानकी॥ टेक ॥

महापुरान भागवत निरमल।
शुक-मुख-विगलित निगम-कल्प-फल।
परमानन्द-सुधा-रसमय कल।
लीला-रति-रस रसनिधानकी॥ आरति० ॥

कलि-मल-मथनि त्रिताप-निवारिनि।
जन्म-मृत्युमय भव-भय-हारिनि।
सेवत सतत सकल सुख-कारिनि।
सुमहौषधि हरि-चरित-गानकी॥ आरति० ॥

विषय-विलास-विमोह-विनाशिनि।
विमल विराग विवेक विकाशिनि।
भगवत्-तत्त्व-रहस्य-प्रकाशिनि।
परम ज्योति परमात्म-ज्ञानकी॥ आरति० ॥

परमहंस-मुनि-मन उल्लासिनि।
रसिक-हृदय रस-रास विलासिनि।
भुक्ति मुक्ति रति प्रेम सुदासिनि।
कथा अकिञ्चनप्रिय सुजानकी॥ आरति० ॥


गीताप्रेस, गोरखपुर



महाप्रयाणके समय भीष्मपर भगवान्की कृपा


गीताप्रेस, गोरखपुर


गीताप्रेस, गोरखपुर
B. K. Mitra


गीताप्रेस, गोरखपुर


नवधा भक्ति
श्रवण
आत्मनिवेदन
कीर्तन
सख्य
स्मरण
दास्य
भक्तिदेवी
वन्दन
पादसेवन
अर्चन
गीताप्रेस, गोरखपुर
B. K. Mitra


गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

कृष्णं नारायणं वन्दे कृष्णं वन्दे व्रजप्रियम्।
कृष्णं द्वैपायनं वन्दे कृष्णं वन्दे पृथासुतम्॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

देवर्षि नारदकी भक्तिसे भेंट

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः॥ १

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ २

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम्।
कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत्॥ ३

शौनक उवाच

अज्ञानध्वान्तविध्वंसकोटिसूर्यसमप्रभ।
सूताख्याहि कथासारं मम कर्णरसायनम्॥ ४

भक्तिज्ञानविरागाप्तो विवेको वर्धते महान्।
मायामोहनिरासश्च वैष्णवैः क्रियते कथम्॥ ५

इह घोरे कलौ प्रायो जीवश्चासुरतां गतः।
क्लेशाक्रान्तस्य तस्यैव शोधने किं परायणम्॥ ६

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको हम नमस्कार करते हैं, जो जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके हेतु तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों प्रकारके तापोंका नाश करनेवाले हैं॥ १॥

जिस समय श्रीशुकदेवजीका यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था तथा लौकिक-वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अवसर भी नहीं आया था, तभी उन्हें अकेले ही संन्यास लेनेके लिये घरसे जाते देखकर उनके पिता व्यासजी विरहसे कातर होकर पुकारने लगे—'बेटा! बेटा! तुम कहाँ जा रहे हो?' उस समय वृक्षोंने तन्मय होनेके कारण श्रीशुकदेवजीकी ओरसे उत्तर दिया था। ऐसे सर्वभूत-हृदयस्वरूप श्रीशुकदेवमुनिको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २॥

एक बार भगवत्कथामृतका रसास्वादन करनेमें कुशल मुनिवर शौनकजीने नैमिषारण्य क्षेत्रमें विराजमान महामति सूतजीको नमस्कार करके उनसे पूछा॥ ३॥

शौनकजी बोले—सूतजी! आपका ज्ञान अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेके लिये करोड़ों सूर्योंके समान है। आप हमारे कानोंके लिये रसायन—अमृत-स्वरूप सारगर्भित कथा कहिये॥ ४॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्यसे प्राप्त होनेवाले महान् विवेककी वृद्धि किस प्रकार होती है तथा वैष्णवलोग किस तरह इस माया-मोहसे अपना पीछा छुड़ाते हैं?॥ ५॥ इस घोर कलि-कालमें जीव प्राय: आसुरी स्वभावके हो गये हैं, विविध क्लेशोंसे आक्रान्त इन जीवोंको शुद्ध (दैवीशक्तिसम्पन्न) बनानेका सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है?॥ ६॥

श्रेयसां यद्भवेच्छ्रेयः पावनानां च पावनम्।
कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत्साधनं तद्वदाधुना॥ ७

चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम्।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्॥ ८

सूत उवाच

प्रीतिः शौनक चित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च।
सर्वसिद्धान्तनिष्पन्नं संसारभयनाशनम्॥ ९

भक्त्योघवर्धनं यच्च कृष्णसंतोषहेतुकम्।
तदहं तेऽभिधास्यामि सावधानतया शृणु॥ १०

कालव्यालमुखग्रासत्रासनिर्णाशहेतवे ।
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम्॥ ११

एतस्मादपरं किंचिन्मनः शुद्ध्यै न विद्यते।
जन्मान्तरे भवेत्पुण्यं तदा भागवतं लभेत्॥ १२

परीक्षिते कथां वक्तुं सभायां संस्थिते शुके।
सुधाकुम्भं गृहीत्वैव देवास्तत्र समागमन्॥ १३

शुकं नत्वावदन् सर्वे स्वकार्यकुशलाः सुराः।
कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम्॥ १४

एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम्।
प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम्॥ १५

क्व सुधा क्व कथा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान्।
ब्रह्मरातो विचार्यैवं तदा देवाञ्जहास ह॥ १६

अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम्।
श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा॥ १७

सूतजी! आप हमें कोई ऐसा शाश्वत साधन बताइये जो सबसे अधिक कल्याणकारी तथा पवित्र करनेवालोंमें भी पवित्र हो; तथा जो भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करा दे॥ ७॥ चिन्तामणि केवल लौकिक सुख दे सकती है और कल्पवृक्ष अधिक-से-अधिक स्वर्गीय सम्पत्ति दे सकता है; परन्तु गुरुदेव प्रसन्न होकर भगवान्का योगिदुर्लभ नित्य वैकुण्ठधाम दे देते हैं॥ ८॥

सूतजीने कहा—शौनकजी! तुम्हारे हृदयमें भगवान्का प्रेम है; इसलिये मैं विचारकर तुम्हें सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका निष्कर्ष सुनाता हूँ, जो जन्म-मृत्युके भयका नाश कर देता है॥ ९ ॥ जो भक्तिके प्रवाहको बढ़ाता है और भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताका प्रधान कारण है, मैं तुम्हें वह साधन बतलाता हूँ; उसे सावधान होकर सुनो॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजीने कलियुगमें जीवोंके कालरूपी सर्पके मुखका ग्रास होनेके त्रासका आत्यन्तिक नाश करनेके लिये श्रीमद्भागवतशास्त्रका प्रवचन किया है॥ ११ ॥ मनकी शुद्धिके लिये इससे बढ़कर कोई साधन नहीं है। जब मनुष्यके जन्म-जन्मान्तरका पुण्य उदय होता है, तभी उसे इस भागवतशास्त्रकी प्राप्ति होती है॥ १२ ॥ जब शुकदेवजी राजा परीक्षित्को यह कथा सुनानेके लिये सभामें विराजमान हुए, तब देवतालोग उनके पास अमृतका कलश लेकर आये॥ १३ ॥ देवता अपना काम बनानेमें बड़े कुशल होते हैं; अतः यहाँ भी सबने शुकदेवमुनिको नमस्कार करके कहा; 'आप यह अमृत लेकर बदलेमें हमें कथामृतका दान दीजिये॥ १४॥ इस प्रकार परस्पर विनिमय (अदला-बदली) हो जानेपर राजा परीक्षित् अमृतका पान करें और हम सब श्रीमद्भागवतरूप अमृतका पान करेंगे'॥ १५ ॥ इस संसारमें कहाँ काँच और कहाँ महामूल्य मणि तथा कहाँ सुधा और कहाँ कथा? श्रीशुकदेवजीने (यह सोचकर) उस समय देवताओंकी हँसी उड़ा दी॥ १६॥ उन्हें भक्तिशून्य (कथाका अनधिकारी) जानकर कथामृतका दान नहीं किया। इस प्रकार यह श्रीमद्भागवतकी कथा देवताओंको भी दुर्लभ है॥ १७॥

राज्ञो मोक्षं तथा वीक्ष्य पुरा धातापि विस्मितः।
सत्यलोके तुलां बद्ध्वातोलयत्साधनान्यजः॥ १८
लघून्यन्यानि जातानि गौरवेण इदं महत्।
तदा ऋषिगणाः सर्वे विस्मयं परमं ययुः॥ १९
मेनिरे भगवद्रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ।
पठनाच्छ्रवणात्सद्यो वैकुण्ठफलदायकम्॥ २०
सप्ताहेन श्रुतं चैतत्सर्वथा मुक्तिदायकम्।
सनकाद्यैः पुरा प्रोक्तं नारदाय दयापरैः॥ २१
यद्यपि ब्रह्मसम्बन्धाच्छ्रुतमेतत्सुरर्षिणा।
सप्ताहश्रवणविधिः कुमारैस्तस्य भाषितः॥ २२

शौनक उवाच

लोकविग्रहमुक्तस्य नारदस्यास्थिरस्य च।
विधिश्रवे कुतः प्रीतिः संयोगः कुत्र तैः सह॥ २३

सूत उवाच

अत्र ते कीर्तयिष्यामि भक्तियुक्तं कथानकम्।
शुकेन मम यत्प्रोक्तं रहः शिष्यं विचार्य च॥ २४
एकदा हि विशालायां चत्वार ऋषयोऽमलाः।
सत्सङ्गार्थं समायाता ददृशुस्तत्र नारदम्॥ २५

कुमारा ऊचुः

कथं ब्रह्मन्दीनमुखः कुतश्चिन्तातुरो भवान्।
त्वरितं गम्यते कुत्र कुतश्चागमनं तव॥ २६
इदानीं शून्यचित्तोऽसि गतवित्तो यथा जनः।
तवेदं मुक्तसङ्गस्य नोचितं वद कारणम्॥ २७

नारद उवाच

अहं तु पृथिवीं यातो ज्ञात्वा सर्वोत्तमामिति।
पुष्करं च प्रयागं च काशीं गोदावरीं तथा॥ २८
हरिक्षेत्रं कुरुक्षेत्रं श्रीरङ्गं सेतुबन्धनम्।
एवमादिषु तीर्थेषु भ्रममाण इतस्ततः॥ २९
नापश्यं कुत्रचिच्छर्म मनःसंतोषकारकम्।
कलिनाधर्ममित्रेण धरेयं बाधिताधुना॥ ३०

पूर्वकालमें श्रीमद्भागवतके श्रवणसे ही राजा परीक्षित्‌की मुक्ति देखकर ब्रह्माजीको भी बड़ा आश्चर्य हुआ था। उन्होंने सत्यलोकमें तराजू बाँधकर सब साधनोंको तौला॥ १८॥ अन्य सभी साधन तौलमें हलके पड़ गये, अपने महत्त्वके कारण भागवत ही सबसे भारी रहा। यह देखकर सभी ऋषियोंको बड़ा विस्मय हुआ॥ १९॥ उन्होंने कलियुगमें इस भगवद्रूप भागवतशास्त्रको ही पढ़ने-सुननेसे तत्काल मोक्ष देनेवाला निश्चय किया॥ २०॥ सप्ताह-विधिसे श्रवण करनेपर यह निश्चय भक्ति प्रदान करता है। पूर्वकालमें इसे दयापरायण सनकादिने देवर्षि नारदको सुनाया था॥ २१॥ यद्यपि देवर्षिने पहले ब्रह्माजीके मुखसे इसे श्रवण कर लिया था, तथापि सप्ताहश्रवणकी विधि तो उन्हें सनकादिने ही बतायी थी॥ २२॥

शौनकजीने पूछा—सांसारिक प्रपंचसे मुक्त एवं विचरणशील नारदजीका सनकादिके साथ संयोग कहाँ हुआ और विधि-विधानके श्रवणमें उनकी प्रीति कैसे हुई?॥ २३॥

सूतजीने कहा—अब मैं तुम्हें वह भक्तिपूर्ण कथानक सुनाता हूँ, जो श्रीशुकदेवजीने मुझे अपना अनन्य शिष्य जानकर एकान्तमें सुनाया था॥ २४॥ एक दिन विशालापुरीमें वे चारों निर्मल ऋषि सत्संगके लिये आये। वहाँ उन्होंने नारदजीको देखा॥ २५॥

सनकादिने पूछा—ब्रह्मन्! आपका मुख उदास क्यों हो रहा है? आप चिन्तातुर कैसे हैं? इतनी जल्दी-जल्दी आप कहाँ जा रहे हैं? और आपका आगमन कहाँसे हो रहा है?॥ २६॥ इस समय तो आप उस पुरुषके समान व्याकुल जान पड़ते हैं जिसका सारा धन लुट गया हो; आप-जैसे आसक्तिरहित पुरुषोंके लिये यह उचित नहीं है। इसका कारण बताइये॥ २७॥

नारदजीने कहा—मैं सर्वोत्तम लोक समझकर पृथ्वीमें आया था। यहाँ पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी (नासिक), हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, श्रीरंग और सेतुबन्ध आदि कई तीर्थोंमें मैं इधर-उधर विचरता रहा; किन्तु मुझे कहीं भी मनको संतोष देनेवाली शान्ति नहीं मिली। इस समय अधर्मके सहायक कलि-युगने सारी पृथ्वीको पीड़ित कर रखा है॥ २८—३०॥

सत्यं नास्ति तपः शौचं दया दानं न विद्यते।
उदरम्भरिणो जीवा वराकाः कूटभाषिणः॥ ३१

मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।
पाखण्डनिरताः सन्तो विरक्ताः सपरिग्रहाः॥ ३२

तरुणीप्रभुता गेहे श्यालको बुद्धिदायकः।
कन्याविक्रयिणो लोभाद्दम्पतीनां च कल्कनम्॥ ३३

आश्रमा यवनै रुद्धास्तीर्थानि सरितस्तथा।
देवतायतनान्यत्र दुष्टैर्नष्टानि भूरिशः॥ ३४

न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः।
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम्॥ ३५

अट्टशूला* जनपदाः शिवशूला द्विजातयः।
कामिन्यः केशशूलिन्यः सम्भवन्ति कलाविह॥ ३६

एवं पश्यन् कलेर्दोषान् पर्यटन्नवनीमहम्।
यामुनं तटमापन्नो यत्र लीला हरेरभूत्॥ ३७

तत्राश्चर्यं मया दृष्टं श्रूयतां तन्मुनीश्वराः।
एका तु तरुणी तत्र निषण्णा खिन्नमानसा॥ ३८

वृद्धौ द्वौ पतितौ पार्श्वे निःश्वसन्तावचेतनौ।
शुश्रूषन्ती प्रबोधन्ती रुदती च तयोः पुरः॥ ३९

दशदिक्षु निरीक्षन्ती रक्षितारं निजं वपुः।
वीज्यमाना शतस्त्रीभिर्बोध्यमाना मुहुर्मुहुः॥ ४०

दृष्ट्वा दूराद्गतः सोऽहं कौतुकेन तदन्तिकम्।
मां दृष्ट्वा चोत्थिता बाला विह्वला चाब्रवीद्वचः॥ ४१

अब यहाँ सत्य, तप, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, दान आदि कुछ भी नहीं है। बेचारे जीव केवल अपना पेट पालनेमें लगे हुए हैं; वे असत्यभाषी, आलसी, मन्दबुद्धि, भाग्यहीन, उपद्रवग्रस्त हो गये हैं। जो साधु-संत कहे जाते हैं वे पूरे पाखण्डी हो गये हैं; देखनेमें तो वे विरक्त हैं, किन्तु स्त्री-धन आदि सभीका परिग्रह करते हैं। घरोंमें स्त्रियोंका राज्य है, साले सलाहकार बने हुए हैं, लोभसे लोग कन्या-विक्रय करते हैं और स्त्री-पुरुषोंमें कलह मचा रहता है॥ ३१—३३॥ महात्माओंके आश्रम, तीर्थ और नदियोंपर यवनों (विधर्मियों) का अधिकार हो गया है; उन दुष्टोंने बहुत-से देवालय भी नष्ट कर दिये हैं॥ ३४॥ इस समय यहाँ न कोई योगी है न सिद्ध है; न ज्ञानी है और न सत्कर्म करनेवाला ही है। सारे साधन इस समय कलिरूप दावानलसे जलकर भस्म हो गये हैं॥ ३५॥ इस कलियुगमें सभी देशवासी बाजारोंमें अन्न बेचने लगे हैं, ब्राह्मणलोग पैसा लेकर वेद पढ़ाते हैं और स्त्रियाँ वेश्या-वृत्तिसे निर्वाह करने लगी हैं॥ ३६॥

इस तरह कलियुगके दोष देखता और पृथ्वीपर विचरता हुआ मैं यमुनाजीके तटपर पहुँचा जहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों लीलाएँ हो चुकी हैं॥ ३७॥ मुनिवरो! सुनिये, वहाँ मैंने एक बड़ा आश्चर्य देखा। वहाँ एक युवती स्त्री खिन्न मनसे बैठी थी॥ ३८॥ उसके पास दो वृद्ध पुरुष अचेत अवस्थामें पड़े जोर-जोरसे साँस ले रहे थे। वह तरुणी उनकी सेवा करती हुई कभी उन्हें चेत करानेका प्रयत्न करती और कभी उनके आगे रोने लगती थी॥ ३९॥ वह अपने शरीरके रक्षक परमात्माको दशों दिशाओंमें देख रही थी। उसके चारों ओर सैकड़ों स्त्रियाँ उसे पंखा झल रही थीं और बार-बार समझाती जाती थीं॥ ४०॥ दूरसे यह सब चरित देखकर मैं कुतूहलवश उसके पास चला गया। मुझे देखकर वह युवती खड़ी हो गयी और बड़ी व्याकुल होकर कहने लगी॥ ४१॥

* अट्टमन्नं शिवो वेदः शूलो विक्रय उच्यते। केशो भगमिति प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

बालोवाच

भो भोः साधो क्षणं तिष्ठ मच्चिन्तामपि नाशय।
दर्शनं तव लोकस्य सर्वथाघहरं परम्॥ ४२

बहुधा तव वाक्येन दुःखशान्तिर्भविष्यति।
यदा भाग्यं भवेद्भूरि भवतो दर्शनं तदा॥ ४३

नारद उवाच

कासि त्वं काविमौ चेमा नार्यः काः पद्मलोचनाः।
वद देवि सविस्तारं स्वस्य दुःखस्य कारणम्॥ ४४

बालोवाच

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥ ४५
गङ्गाद्याः सरितश्चेमा मत्सेवार्थं समागताः।
तथापि न च मे श्रेयः सेवितायाः सुरैरपि॥ ४६
इदानीं शृणु मद्वार्तां सचित्तस्त्वं तपोधन।
वार्ता मे वितताप्यस्ति तां श्रुत्वा सुखमावह॥ ४७
उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥ ४८
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥ ४९
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥ ५०
इमौ तु शयितावत्र सुतौ मे क्लिश्यतः श्रमात्।
इदं स्थानं परित्यज्य विदेशं गम्यते मया॥ ५१
जरठत्वं समायातौ तेन दुःखेन दुःखिता।
साहं तु तरुणी कस्मात्सुतौ वृद्धाविमौ कुतः॥ ५२
त्रयाणां सहचारित्वाद्वैपरीत्यं कुतः स्थितम्।
घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति॥ ५३

युवतीने कहा—अजी महात्माजी! क्षणभर ठहर जाइये और मेरी चिन्ताको भी नष्ट कर दीजिये। आपका दर्शन तो संसारके सभी पापोंको सर्वथा नष्ट कर देनेवाला है॥ ४२॥ आपके वचनोंसे मेरे दुःखकी भी बहुत कुछ शान्ति हो जायगी। मनुष्यका जब बड़ा भाग्य होता है, तभी आपके दर्शन हुआ करते हैं॥ ४३॥

नारदजी कहते हैं—तब मैंने उस स्त्रीसे पूछा—देवि! तुम कौन हो? ये दोनों पुरुष तुम्हारे क्या होते हैं? और तुम्हारे पास ये कमलनयनी देवियाँ कौन हैं? तुम हमें विस्तारसे अपने दुःखका कारण बताओ॥ ४४॥

युवतीने कहा—मेरा नाम भक्ति है, ये ज्ञान और वैराग्य नामक मेरे पुत्र हैं। समयके फेरसे ही ये ऐसे जर्जर हो गये हैं॥ ४५॥ ये देवियाँ गंगाजी आदि नदियाँ हैं। ये सब मेरी सेवा करनेके लिये ही आयी हैं। इस प्रकार साक्षात् देवियोंके द्वारा सेवित होनेपर भी मुझे सुख-शान्ति नहीं है॥ ४६॥ तपोधन! अब ध्यान देकर मेरा वृत्तान्त सुनिये। मेरी कथा वैसे तो प्रसिद्ध है, फिर भी उसे सुनकर आप मुझे शान्ति प्रदान करें॥ ४७॥

मैं द्रविड़ देशमें उत्पन्न हुई, कर्णाटकमें बढ़ी, कहीं-कहीं महाराष्ट्रमें सम्मानित हुई; किन्तु गुजरातमें मुझको बुढ़ापेने आ घेरा॥ ४८॥ वहाँ घोर कलियुगके प्रभावसे पाखण्डियोंने मुझे अंग-भंग कर दिया। चिरकालतक यह अवस्था रहनेके कारण मैं अपने पुत्रोंके साथ दुर्बल और निस्तेज हो गयी॥ ४९॥ अब जबसे मैं वृन्दावन आयी, तबसे पुनः परम सुन्दरी सुरूपवती नवयुवती हो गयी हूँ॥ ५०॥ किन्तु सामने पड़े हुए ये दोनों मेरे पुत्र थके-माँदे दुःखी हो रहे हैं। अब मैं यह स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना चाहती हूँ॥ ५१॥ ये दोनों बूढ़े हो गये हैं—इसी दुःखसे मैं दुःखी हूँ। मैं तरुणी क्यों और ये दोनों मेरे पुत्र बूढ़े क्यों?॥ ५२॥ हम तीनों साथ-साथ रहनेवाले हैं। फिर यह विपरीतता क्यों? होना तो यह चाहिये कि माता बूढ़ी हो और पुत्र तरुण॥ ५३॥

अतः शोचामि चात्मानं विस्मयाविष्टमानसा।
वद योगनिधे धीमन् कारणं चात्र किं भवेत्॥ ५४

इसीसे मैं आश्चर्यचकित चित्तसे अपनी इस अवस्थापर शोक करती रहती हूँ। आप परम बुद्धिमान् एवं योगनिधि हैं; इसका क्या कारण हो सकता है, बताइये?॥ ५४॥

नारद उवाच

ज्ञानेनात्मनि पश्यामि सर्वमेतत्तवानघे।
न विषादस्त्वया कार्यो हरिः शं ते करिष्यति॥ ५५

नारदजीने कहा—साध्वि! मैं अपने हृदयमें ज्ञानदृष्टिसे तुम्हारे सम्पूर्ण दुःखका कारण देखता हूँ, तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये। श्रीहरि तुम्हारा कल्याण करेंगे॥ ५५॥

सूत उवाच

क्षणमात्रेण तज्ज्ञात्वा वाक्यमूचे मुनीश्वरः॥ ५६

सूतजी कहते हैं—मुनिवर नारदजीने एक क्षणमें ही उसका कारण जानकर कहा॥ ५६॥

नारद उवाच

शृणुष्वावहिता बाले युगोऽयं दारुणः कलिः।
तेन लुप्तः सदाचारो योगमार्गस्तपांसि च॥ ५७
जना अघासुरायन्ते शाठ्यदुष्कर्मकारिणः।
इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः।
धत्ते धैर्यं तु यो धीमान् स धीरः पण्डितोऽथवा॥ ५८
अस्पृश्यानवलोक्येयं शेषभारकरी धरा।
वर्षे वर्षे क्रमाज्जाता मङ्गलं नापि दृश्यते॥ ५९
न त्वामपि सुतैः साकं कोऽपि पश्यति साम्प्रतम्।
उपेक्षितानुरागान्धैर्जर्जरत्वेन संस्थिता॥ ६०
वृन्दावनस्य संयोगात्पुनस्त्वं तरुणी नवा।
धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च॥ ६१
अत्रेमौ ग्राहकाभावान्न जरामपि मुञ्चतः।
किञ्चिदात्मसुखेनेह प्रसुप्तिर्मन्यतेऽनयोः॥ ६२

नारदजीने कहा—देवि! सावधान होकर सुनो। यह दारुण कलियुग है। इसीसे इस समय सदाचार, योगमार्ग और तप आदि सभी लुप्त हो गये हैं॥ ५७॥ लोग शठता और दुष्कर्ममें लगकर अघासुर बन रहे हैं। संसारमें जहाँ देखो, वहीं सत्पुरुष दुःखसे म्लान हैं और दुष्ट सुखी हो रहे हैं। इस समय जिस बुद्धिमान् पुरुषका धैर्य बना रहे, वही बड़ा ज्ञानी या पण्डित है॥ ५८॥ पृथ्वी क्रमशः प्रतिवर्ष शेषजीके लिये भाररूप होती जा रही है। अब यह छूनेयोग्य तो क्या, देखनेयोग्य भी नहीं रह गयी है और न इसमें कहीं मंगल ही दिखायी देता है॥ ५९॥ अब किसीको पुत्रोंके साथ तुम्हारा दर्शन भी नहीं होता। विषयानुरागके कारण अंधे बने हुए जीवोंसे उपेक्षित होकर तुम जर्जर हो रही थी॥ ६०॥ वृन्दावनके संयोगसे तुम फिर नवीन तरुणी हो गयी हो। अतः यह वृन्दावनधाम धन्य है जहाँ भक्ति सर्वत्र नृत्य कर रही है॥ ६१॥ परंतु तुम्हारे इन दोनों पुत्रोंका यहाँ कोई ग्राहक नहीं है, इसलिये इनका बुढ़ापा नहीं छूट रहा है। यहाँ इनको कुछ आत्मसुख (भगवत्स्पर्शजनित आनन्द)-की प्राप्ति होनेके कारण ये सोते-से जान पड़ते हैं॥ ६२॥

भक्तिरुवाच

कथं परीक्षिता राज्ञा स्थापितो ह्यशुचिः कलिः।
प्रवृत्ते तु कलौ सर्वसारः कुत्र गतो महान्॥ ६३
करुणापरेण हरिणाप्यधर्मः कथमीक्ष्यते।
इमं मे संशयं छिन्धि त्वद्वाचा सुखितास्म्यहम्॥ ६४

भक्तिने कहा—राजा परीक्षित्ने इस पापी कलियुगको क्यों रहने दिया? इसके आते ही सब वस्तुओंका सार न जाने कहाँ चला गया?॥ ६३॥ करुणामय श्रीहरिसे भी यह अधर्म कैसे देखा जाता है? मुने! मेरा यह संदेह दूर कीजिये, आपके वचनोंसे मुझे बड़ी शान्ति मिली है॥ ६४॥

नारद उवाच

यदि पृष्टस्त्वया बाले प्रेमतः श्रवणं कुरु।
सर्वं वक्ष्यामि ते भद्रे कश्मलं ते गमिष्यति॥ ६५
यदा मुकुन्दो भगवान् क्ष्मां त्यक्त्वा स्वपदं गतः।
तद्दिनात्कलिरायातः सर्वसाधनबाधकः॥ ६६
दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणं गतः।
न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक्॥ ६७
यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥ ६८
एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत्सारनीरसम्।
विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च॥ ६९
कुकर्माचरणात्सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा॥ ७०
विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः॥ ७१
अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः॥ ७२
कामक्रोधमहालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः।
तेऽपि तिष्ठन्ति तपसि तपःसारस्ततो गतः॥ ७३
मनसश्चाजयाल्लोभाद्दम्भात्पाखण्डसंश्रयात्।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम्॥ ७४
पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने॥ ७५
न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा।
एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले॥ ७६

नारदजीने कहा—बाले! यदि तुमने पूछा है तो प्रेमसे सुनो; कल्याणी! मैं तुम्हें सब बताऊँगा और तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा॥ ६५॥ जिस दिन भगवान् श्रीकृष्ण इस भूलोकको छोड़कर अपने परमधामको पधारे उसी दिनसे यहाँ सम्पूर्ण साधनोंमें बाधा डालनेवाला कलियुग आ गया॥ ६६॥ दिग्विजयके समय राजा परीक्षित्‌की दृष्टि पड़नेपर कलियुग दीनके समान उनकी शरणमें आया। भ्रमरके समान सारग्राही राजाने यह निश्चय किया कि इसका वध मुझे नहीं करना चाहिये॥ ६७॥ क्योंकि जो फल तपस्या, योग एवं समाधिसे भी नहीं मिलता, कलियुगमें वही फल श्रीहरिकीर्तनसे ही भलीभाँति मिल जाता है॥ ६८॥ इस प्रकार सारहीन होनेपर भी उसे इस एक ही दृष्टिसे सारयुक्त देखकर उन्होंने कलियुगमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सुखके लिये ही इसे रहने दिया था॥ ६९॥

इस समय लोगोंके कुकर्ममें प्रवृत्त होनेके कारण सभी वस्तुओंका सार निकल गया है और पृथ्वीके सारे पदार्थ बीजहीन भूसीके समान हो गये हैं॥ ७०॥ ब्राह्मण केवल अन्न-धनादिके लोभवश घर-घर एवं जन-जनको भागवतकी कथा सुनाने लगे हैं, इसलिये कथाका सार चला गया॥ ७१॥ तीर्थोंमें नाना प्रकारके अत्यन्त घोर कर्म करनेवाले, नास्तिक और नारकी पुरुष भी रहने लगे हैं; इसलिये तीर्थोंका भी प्रभाव जाता रहा॥ ७२॥ जिनका चित्त निरन्तर काम, क्रोध, महान् लोभ और तृष्णासे तपता रहता है वे भी तपस्याका ढोंग करने लगे हैं, इसलिये तपका भी सार निकल गया॥ ७३॥ मनपर काबू न होनेके कारण तथा लोभ, दम्भ और पाखण्डका आश्रय लेनेके कारण एवं शास्त्रका अभ्यास न करनेसे ध्यानयोगका फल मिट गया॥ ७४॥ पण्डितोंकी यह दशा है कि वे अपनी स्त्रियोंके साथ पशुकी तरह रमण करते हैं; उनमें संतान पैदा करनेकी ही कुशलता पायी जाती है, मुक्ति-साधनमें वे सर्वथा अकुशल हैं॥ ७५॥ सम्प्रदायानुसार प्राप्त हुई वैष्णवता भी कहीं देखनेमें नहीं आती। इस प्रकार जगह-जगह सभी वस्तुओंका सार लुप्त हो गया है॥ ७६॥

अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः॥ ७७

सूत उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा विस्मयं परमं गता।
भक्तिरूचे वचो भूयः श्रूयतां तच्च शौनक॥ ७८

भक्तिरुवाच

सुरर्षे त्वं हि धन्योऽसि मद्भाग्येन समागतः।
साधूनां दर्शनं लोके सर्वसिद्धिकरं परम्॥ ७९

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि॥ ८०

यह तो इस युगका स्वभाव ही है, इसमें किसीका दोष नहीं है। इसीसे पुण्डरीकाक्षभगवान् बहुत समीप रहते हुए भी यह सब सह रहे हैं॥ ७७॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! इस प्रकार देवर्षि नारदके वचन सुनकर भक्तिको बड़ा आश्चर्य हुआ; फिर उसने जो कुछ कहा, उसे सुनिये॥ ७८॥

भक्तिने कहा—देवर्षे! आप धन्य हैं! मेरा बड़ा सौभाग्य था जो आपका समागम हुआ। संसारमें साधुओंका दर्शन ही समस्त सिद्धियोंका परम कारण है॥ ७९॥ आपका केवल एक बारका उपदेश धारण करके कयाधूकुमार प्रह्लादने मायापर विजय प्राप्त कर ली थी। ध्रुवने भी आपकी कृपासे ही ध्रुवपद प्राप्त किया था। आप सर्वमंगलमय और साक्षात् श्रीब्रह्माजीके पुत्र हैं, मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ ८०॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भक्तिनारदसमागमो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भक्तिका दुःख दूर करनेके लिये नारदजीका उद्योग

नारद उवाच

वृथा खेदयसे बाले अहो चिन्तातुरा कथम्।
श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति॥ १

द्रौपदी च परित्राता येन कौरवकश्मलात्।
पालिता गोपसुन्दर्यः स कृष्णः क्वापि नो गतः॥ २

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका।
त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि॥ ३

सत्यादित्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी॥ ४

इति निश्चित्य चिद्रूपः सद्रूपां त्वां ससर्ज ह।
परमानन्दचिन्मूर्तिः सुन्दरीं कृष्णवल्लभाम्॥ ५

नारदजीने कहा—बाले! तुम व्यर्थ ही अपनेको क्यों खेदमें डाल रही हो? अरे! तुम इतनी चिन्तातुर क्यों हो? भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका चिन्तन करो, उनकी कृपासे तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायगा॥ १॥ जिन्होंने कौरवोंके अत्याचारसे द्रौपदीकी रक्षा की थी और गोपसुन्दरियोंको सनाथ किया था, वे श्रीकृष्ण कहीं चले थोड़े ही गये हैं॥ २॥ फिर तुम तो भक्ति हो और सदा उन्हें प्राणोंसे भी प्यारी हो; तुम्हारे बुलानेपर तो भगवान् नीचोंके घरोंमें भी चले जाते हैं॥ ३॥ सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीन युगोंमें ज्ञान और वैराग्य मुक्तिके साधन थे; किन्तु कलियुगमें तो केवल भक्ति ही ब्रह्मसायुज्य (मोक्ष)-की प्राप्ति करानेवाली है॥ ४॥ यह सोचकर ही परमानन्दचिन्मूर्ति ज्ञानस्वरूप श्रीहरिने अपने सत्स्वरूपसे तुम्हें रचा है; तुम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिया और परम सुन्दरी हो॥ ५॥

बद्ध्वाञ्जलिं त्वया पृष्टं किं करोमीति चैकदा।
त्वां तदाऽऽज्ञापयत्कृष्णो मद्भक्तान् पोषयेति च॥ ६
अङ्गीकृतं त्वया तद्वै प्रसन्नोऽभूद्धरिस्तदा।
मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ॥ ७
पोषणं स्वेन रूपेण वैकुण्ठे त्वं करोषि च।
भूमौ भक्तविपोषाय छायारूपं त्वया कृतम्॥ ८
मुक्तिं ज्ञानं विरक्तिं च सह कृत्वा गता भुवि।
कृतादिद्वापरस्यान्तं महानन्देन संस्थिता॥ ९
कलौ मुक्तिः क्षयं प्राप्ता पाखण्डामयपीडिता।
त्वदाज्ञया गता शीघ्रं वैकुण्ठं पुनरेव सा॥ १०
स्मृता त्वयापि चात्रैव मुक्तिरायाति याति च।
पुत्रीकृत्य त्वयेमौ च पार्श्वे स्वस्यैव रक्षितौ॥ ११
उपेक्षातः कलौ मन्दौ वृद्धौ जातौ सुतौ तव।
तथापि चिन्तां मुञ्च त्वमुपायं चिन्तयाम्यहम्॥ १२
कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने॥ १३
अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान्।
तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये॥ १४
त्वदन्विताश्च ये जीवा भविष्यन्ति कलाविह।
पापिनोऽपि गमिष्यन्ति निर्भयं कृष्णमन्दिरम्॥ १५
येषां चित्ते वसेद्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी।
न ते पश्यन्ति कीनाशं स्वप्नेऽप्यमलमूर्तयः॥ १६
न प्रेतो न पिशाचो वा राक्षसो वासुरोऽपि वा।
भक्तियुक्तमनस्कानां स्पर्शने न प्रभुर्भवेत्॥ १७

एक बार जब तुमने हाथ जोड़कर पूछा था कि 'मैं क्या करूँ?' तब भगवान्ने तुम्हें यही आज्ञा दी थी कि 'मेरे भक्तोंका पोषण करो।'॥ ६॥ तुमने भगवान्की वह आज्ञा स्वीकार कर ली; इससे तुमपर श्रीहरि बहुत प्रसन्न हुए और तुम्हारी सेवा करनेके लिये मुक्तिको तुम्हें दासीके रूपमें दे दिया और इन ज्ञान-वैराग्यको पुत्रोंके रूपमें॥ ७॥ तुम अपने साक्षात् स्वरूपसे वैकुण्ठधाममें ही भक्तोंका पोषण करती हो, भूलोकमें तो तुमने उनकी पुष्टिके लिये केवल छायारूप धारण कर रखा है॥ ८॥

तब तुम मुक्ति, ज्ञान और वैराग्यको साथ लिये पृथ्वीतलपर आयीं और सत्ययुगसे द्वापरपर्यन्त बड़े आनन्दसे रहीं॥ ९॥ कलियुगमें तुम्हारी दासी मुक्ति पाखण्डरूप रोगसे पीड़ित होकर क्षीण होने लगी थी, इसलिये वह तो तुरन्त ही तुम्हारी आज्ञासे वैकुण्ठलोकको चली गयी॥ १०॥ इस लोकमें भी तुम्हारे स्मरण करनेसे ही वह आती है और फिर चली जाती है; किंतु इन ज्ञान-वैराग्यको तुमने पुत्र मानकर अपने पास ही रख छोड़ा है॥ ११॥ फिर भी कलियुगमें इनकी उपेक्षा होनेके कारण तुम्हारे ये पुत्र उत्साहहीन और वृद्ध हो गये हैं; फिर भी तुम चिन्ता न करो, मैं इनके नवजीवनका उपाय सोचता हूँ॥ १२॥ सुमुखि! कलिके समान कोई भी युग नहीं है, इस युगमें मैं तुम्हें घर-घरमें प्रत्येक पुरुषके हृदयमें स्थापित कर दूँगा॥ १३॥ देखो, अन्य सब धर्मोंको दबाकर और भक्तिविषयक महोत्सवोंको आगे रखकर यदि मैंने लोकमें तुम्हारा प्रचार न किया तो मैं श्रीहरिका दास नहीं॥ १४॥ इस कलियुगमें जो जीव तुमसे युक्त होंगे, वे पापी होनेपर भी बेखटके भगवान् श्रीकृष्णके अभय धामको प्राप्त होंगे॥ १५॥ जिनके हृदयमें निरन्तर प्रेमरूपिणी भक्ति निवास करती है, वे शुद्धान्तःकरण पुरुष स्वप्नमें भी यमराजको नहीं देखते॥ १६॥ जिनके हृदयमें भक्ति महारानीका निवास है, उन्हें प्रेत, पिशाच, राक्षस या दैत्य आदि स्पर्श करनेमें भी समर्थ नहीं हो सकते॥ १७॥

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥ १८
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः॥ १९
भक्तिद्रोहकरा ये च ते सीदन्ति जगत्त्रये।
दुर्वासा दुःखमापन्नः पुरा भक्तविनिन्दकः॥ २०
अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा॥ २१

सूत उवाच

इति नारदनिर्णीतं स्वमाहात्म्यं निशम्य सा।
सर्वाङ्गपुष्टिसंयुक्ता नारदं वाक्यमब्रवीत्॥ २२

भक्तिरुवाच

अहो नारद धन्योऽसि प्रीतिस्ते मयि निश्चला।
न कदाचिद्विमुञ्चामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा॥ २३
कृपालुना त्वया साधो मद्बाधा ध्वंसिता क्षणात्।
पुत्रयोश्चेतना नास्ति ततो बोधय बोधय॥ २४

सूत उवाच

तस्या वचः समाकर्ण्य कारुण्यं नारदो गतः।
तयोर्बोधनमारेभे कराग्रेण विमर्दयन्॥ २५
मुखं संयोज्य कर्णान्ते शब्दमुच्चैः समुच्चरन्।
ज्ञान प्रबुध्यतां शीघ्रं रे वैराग्य प्रबुध्यताम्॥ २६
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्मुहुर्मुहुः।
बोध्यमानौ तदा तेन कथंचिच्चोत्थितौ बलात्॥ २७
नेत्रैरनवलोकन्तौ जृम्भन्तौ सालसावुभौ।
बकवत्पलितौ प्रायः शुष्ककाष्ठसमाङ्गकौ॥ २८

तप, वेदाध्ययन, ज्ञान और कर्म आदि किसी भी साधनसे भगवान् वशमें नहीं किये जा सकते; वे केवल भक्तिसे ही वशीभूत होते हैं। इसमें श्रीगोपीजन प्रमाण हैं॥ १८॥ मनुष्योंका सहस्रों जन्मके पुण्य-प्रतापसे भक्तिमें अनुराग होता है। कलियुगमें केवल भक्ति, केवल भक्ति ही सार है। भक्तिसे तो साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र सामने उपस्थित हो जाते हैं॥ १९॥ जो लोग भक्तिसे द्रोह करते हैं वे तीनों लोकोंमें दुःख-ही-दुःख पाते हैं। पूर्वकालमें भक्तका तिरस्कार करनेवाले दुर्वासा ऋषिको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था॥ २०॥ बस, बस—व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ और ज्ञानचर्चा आदि बहुत-से साधनोंकी कोई आवश्यकता नहीं है; एकमात्र भक्ति ही मुक्ति देनेवाली है॥ २१॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार नारदजीके निर्णय किये हुए अपने माहात्म्यको सुनकर भक्तिके सारे अंग पुष्ट हो गये और वे उनसे कहने लगीं॥ २२॥

भक्तिने कहा—नारदजी! आप धन्य हैं। आपकी मुझमें निश्चल प्रीति है। मैं सदा आपके हृदयमें रहूँगी, कभी आपको छोड़कर नहीं जाऊँगी॥ २३॥ साधो! आप बड़े कृपालु हैं। आपने क्षणभरमें ही मेरा सारा दुःख दूर कर दिया। किन्तु अभी मेरे पुत्रोंमें चेतना नहीं आयी है; आप इन्हें शीघ्र ही सचेत कर दीजिये, जगा दीजिये॥ २४॥

सूतजी कहते हैं—भक्तिके ये वचन सुनकर नारदजीको बड़ी करुणा आयी और वे उन्हें हाथसे हिला-डुलाकर जगाने लगे॥ २५॥ फिर उनके कानके पास मुँह लगाकर जोरसे कहा, 'ओ ज्ञान! जल्दी जग पड़ो; ओ वैराग्य! जल्दी जग पड़ो।'॥ २६॥ फिर उन्होंने वेदध्वनि, वेदान्तघोष और बार-बार गीतापाठ करके उन्हें जगाया; इससे वे जैसे-तैसे बहुत जोर लगाकर उठे॥ २७॥ किन्तु आलस्यके कारण वे दोनों जँभाई लेते रहे, नेत्र उघाड़कर देख भी नहीं सके। उनके बाल बगुलोंकी तरह सफेद हो गये थे, उनके अंग प्रायः सूखे काठके समान निस्तेज और

क्षुत्क्षामौ तौ निरीक्ष्यैव पुनः स्वापपरायणौ।
ऋषिश्चिन्तापरो जातः किं विधेयं मयेति च॥ २९
अहो निद्रा कथं याति वृद्धत्वं च महत्तरम्।
चिन्तयन्निति गोविन्दं स्मारयामास भार्गव॥ ३०
व्योमवाणी तदैवाभून्मा ऋषे खिद्यतामिति।
उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः॥ ३१
एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर।
तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः॥ ३२
सत्कर्मणि कृते तस्मिन् सनिद्रा वृद्धतानयोः।
गमिष्यति क्षणाद्भक्तिः सर्वतः प्रसरिष्यति॥ ३३
इत्याकाशवचः स्पष्टं तत्सर्वैरपि विश्रुतम्।
नारदो विस्मयं लेभे नेदं ज्ञातमिति ब्रुवन्॥ ३४

नारद उवाच

अनयाऽऽकाशवाण्यापि गोप्यत्वेन निरूपितम्।
किं वा तत्साधनं कार्यं येन कार्यं भवेत्तयोः॥ ३५
क्व भविष्यन्ति सन्तस्ते कथं दास्यन्ति साधनम्।
मयात्र किं प्रकर्तव्यं यदुक्तं व्योमभाषया॥ ३६

सूत उवाच

तत्र द्वावपि संस्थाप्य निर्गतो नारदो मुनिः।
तीर्थं तीर्थं विनिष्क्रम्य पृच्छन्मार्गे मुनीश्वरान्॥ ३७
वृत्तान्तः श्रूयते सर्वैः किञ्चिन्निश्चित्य नोच्यते।
असाध्यं केचन प्रोचुर्दुर्ज्ञेयमिति चापरे।
मूकीभूतास्तथान्ये तु कियन्तस्तु पलायिताः॥ ३८

कठोर हो गये थे॥ २८॥ इस प्रकार भूख-प्यासके मारे अत्यन्त दुर्बल होनेके कारण उन्हें फिर सोते देख नारदजीको बड़ी चिन्ता हुई और वे सोचने लगे, 'अब मुझे क्या करना चाहिये?॥ २९॥ इनकी यह नींद और इससे भी बढ़कर इनकी वृद्धावस्था कैसे दूर हो?' शौनकजी! इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे भगवान्‌का स्मरण करने लगे॥ ३०॥ उसी समय यह आकाशवाणी हुई कि 'मुने! खेद मत करो, तुम्हारा यह उद्योग निःसंदेह सफल होगा॥ ३१॥ देवर्षे! इसके लिये तुम एक सत्कर्म करो, वह कर्म तुम्हें संतशिरोमणि महानुभाव बतायेंगे॥ ३२॥ उस सत्कर्मका अनुष्ठान करते ही क्षणभरमें इनकी नींद और वृद्धावस्था चली जायँगी तथा सर्वत्र भक्तिका प्रसार होगा'॥ ३३॥ यह आकाशवाणी वहाँ सभीको साफ-साफ सुनाई दी। इससे नारदजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे कहने लगे, 'मुझे तो इसका कुछ आशय समझमें नहीं आया'॥ ३४॥

नारदजी बोले—इस आकाशवाणीने भी गुप्त-रूपमें ही बात कही है। यह नहीं बताया कि वह कौन-सा साधन किया जाय जिससे इनका कार्य सिद्ध हो॥ ३५॥ वे संत न जाने कहाँ मिलेंगे और किस प्रकार उस साधनको बतायेंगे? अब आकाश-वाणीने जो कुछ कहा है, उसके अनुसार मुझे क्या करना चाहिये?॥ ३६॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! तब ज्ञान-वैराग्य दोनोंको वहीं छोड़कर नारदमुनि वहाँसे चल पड़े और प्रत्येक तीर्थमें जा-जाकर मार्गमें मिलनेवाले मुनीश्वरोंसे वह साधन पूछने लगे॥ ३७॥ उनकी उस बातको सुनते तो सब थे, किंतु उसके विषयमें कोई कुछ भी निश्चित उत्तर न देता। किन्हींने उसे असाध्य बताया; कोई बोले—'इसका ठीक-ठीक पता लगना ही कठिन है।' कोई सुनकर चुप रह गये और कोई-कोई तो अपनी अवज्ञा होनेके भयसे बातको टाल-टूलकर खिसक गये॥ ३८॥

हाहाकारो महानासीत्त्रैलोक्ये विस्मयावहः।
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्विबोधितम्॥ ३९
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा।
उपायो नापरोऽस्तीति कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः॥ ४०
योगिना नारदेनापि स्वयं न ज्ञायते तु यत्।
तत्कथं शक्यते वक्तुमितरैरिह मानुषैः॥ ४१
एवमृषिगणैः पृष्टैर्निर्णीयोक्तं दुरासदम्॥ ४२
ततश्चिन्तातुरः सोऽथ बदरीवनमागतः।
तपश्चरामि चात्रेति तदर्थं कृतनिश्चयः॥ ४३
तावद्ददर्श पुरतः सनकादीन्मुनीश्वरान्।
कोटिसूर्यसमाभासानुवाच मुनिसत्तमः॥ ४४

नारद उवाच

इदानीं भूरिभाग्येन भवद्भिः सङ्गमोऽभवत्।
कुमारा ब्रुवतां शीघ्रं कृपां कृत्वा ममोपरि॥ ४५
भवन्तो योगिनः सर्वे बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः।
पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः॥ ४६
सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तनतत्पराः।
लीलामृतरसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविनः॥ ४७
हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः।
अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न बाधते॥ ४८
येषां भ्रूभङ्गमात्रेण द्वारपालौ हरेः पुरा।
भूमौ निपतितौ सद्यो यत्कृपातः पुरं गतौ॥ ४९
अहो भाग्यस्य योगेन दर्शनं भवतामिह।
अनुग्रहस्तु कर्तव्यो मयि दीने दयापरैः॥ ५०

त्रिलोकीमें महान् आश्चर्यजनक हाहाकार मच गया। लोग आपसमें कानाफूसी करने लगे—'भाई! जब वेदध्वनि, वेदान्तघोष और बार-बार गीतापाठ सुनानेपर भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये तीनों नहीं जगाये जा सके, तब और कोई उपाय नहीं है॥ ३९-४०॥ स्वयं योगिराज नारदको भी जिसका ज्ञान नहीं है, उसे दूसरे संसारी लोग कैसे बता सकते हैं?'॥ ४१॥ इस प्रकार जिन-जिन ऋषियोंसे इसके विषयमें पूछा गया, उन्होंने निर्णय करके यही कहा कि यह बात दुःसाध्य ही है॥ ४२॥

तब नारदजी बहुत चिन्तातुर हुए और बदरीवनमें आये। ज्ञान-वैराग्यको जगानेके लिये वहाँ उन्होंने यह निश्चय किया कि 'मैं तप करूँगा'॥ ४३॥ इसी समय उन्हें अपने सामने करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी सनकादि मुनीश्वर दिखायी दिये। उन्हें देखकर वे मुनिश्रेष्ठ कहने लगे॥ ४४॥

नारदजीने कहा—महात्माओ! इस समय बड़े भाग्यसे मेरा आपलोगोंके साथ समागम हुआ है, आप मुझपर कृपा करके शीघ्र ही वह साधन बताइये॥ ४५॥ आप सभी लोग बड़े योगी, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं। आप देखनेमें पाँच-पाँच वर्षके बालक-से जान पड़ते हैं, किंतु हैं पूर्वजोंके भी पूर्वज॥ ४६॥ आपलोग सदा वैकुण्ठधाममें निवास करते हैं, निरन्तर हरिकीर्तनमें तत्पर रहते हैं, भगवल्लीलामृतका रसास्वादन कर सदा उसीमें उन्मत्त रहते हैं और एकमात्र भगवत्कथा ही आपके जीवनका आधार है॥ ४७॥ **'हरिः शरणम्'** (भगवान् ही हमारे रक्षक हैं) यह वाक्य (मन्त्र) सर्वदा आपके मुखमें रहता है; इसीसे कालप्रेरित वृद्धावस्था भी आपको बाधा नहीं पहुँचाती॥ ४८॥ पूर्वकालमें आपके भ्रूभंगमात्रसे भगवान् विष्णुके द्वारपाल जय और विजय तुरंत पृथ्वीपर गिर गये थे और फिर आपकी ही कृपासे वे पुनः वैकुण्ठलोक पहुँच गये॥ ४९॥ धन्य है, इस समय आपका दर्शन बड़े सौभाग्यसे ही हुआ है। मैं बहुत दीन हूँ और आपलोग स्वभावसे ही दयालु हैं; इसलिये मुझपर आपको अवश्य कृपा करनी चाहिये॥ ५०॥

अशरीरगिरोक्तं यत्तत्किं साधनमुच्यताम्।
अनुष्ठेयं कथं तावत्प्रब्रुवन्तु सविस्तरम्॥ ५१
भक्तिज्ञानविरागाणां सुखमुत्पद्यते कथम्।
स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रयत्नतः॥ ५२

कुमारा ऊचुः

मा चिन्तां कुरु देवर्षे हर्षं चित्ते समावह।
उपायः सुखसाध्योऽत्र वर्तते पूर्व एव हि॥ ५३
अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः।
सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः॥ ५४
त्वयि चित्रं न मन्तव्यं भक्त्यर्थमनुवर्तिनि।
घटते कृष्णदासस्य भक्तेः संस्थापना सदा॥ ५५
ऋषिभिर्बहवो लोके पन्थानः प्रकटीकृताः।
श्रमसाध्याश्च ते सर्वे प्रायः स्वर्गफलप्रदाः॥ ५६
वैकुण्ठसाधकः पन्थाः स तु गोप्यो हि वर्तते।
तस्योपदेष्टा पुरुषः प्रायो भाग्येन लभ्यते॥ ५७
सत्कर्म तव निर्दिष्टं व्योमवाचा तु यत्पुरा।
तदुच्यते शृणुष्वाद्य स्थिरचित्तः प्रसन्नधीः॥ ५८
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ते तु कर्मविसूचकाः॥ ५९
सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः।
श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः॥ ६०
भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत्।
व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति॥ ६१
प्रलयं हि गमिष्यन्ति श्रीमद्भागवतध्वनेः।
कलेर्दोषा इमे सर्वे सिंहशब्दाद् वृका इव॥ ६२

बताइये—आकाशवाणीने जिसके विषयमें कहा है, वह कौन-सा साधन है, और मुझे किस प्रकार उसका अनुष्ठान करना चाहिये। आप इसका विस्तारसे वर्णन कीजिये॥ ५१॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको किस प्रकार सुख मिल सकता है? और किस तरह इनकी प्रेमपूर्वक सब वर्णोंमें प्रतिष्ठा की जा सकती है?'॥ ५२॥

सनकादिने कहा—देवर्षे! आप चिन्ता न करें, मनमें प्रसन्न हों; उनके उद्धारका एक सरल उपाय पहलेसे ही विद्यमान है॥ ५३॥ नारदजी! आप धन्य हैं। आप विरक्तोंके शिरोमणि हैं। श्रीकृष्ण-दासोंके शाश्वत पथ-प्रदर्शक एवं भक्तियोगके भास्कर हैं॥ ५४॥ आप भक्तिके लिये जो उद्योग कर रहे हैं, यह आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं समझनी चाहिये। भगवान्‌के भक्तके लिये तो भक्तिकी सम्यक् स्थापना करना सदा उचित ही है॥ ५५॥ ऋषियोंने संसारमें अनेकों मार्ग प्रकट किये हैं; किंतु वे सभी कष्टसाध्य हैं और परिणाममें प्रायः स्वर्गकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं॥ ५६॥ अभीतक भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला मार्ग तो गुप्त ही रहा है। उसका उपदेश करनेवाला पुरुष प्रायः भाग्यसे ही मिलता है॥ ५७॥ आपको आकाशवाणीने जिस सत्कर्मका संकेत किया है, उसे हम बतलाते हैं; आप प्रसन्न और समाहितचित्त होकर सुनिये॥ ५८॥

नारदजी! द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ—ये सब तो स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले कर्मकी ही ओर संकेत करते हैं॥ ५९॥ पण्डितोंने ज्ञानयज्ञको ही सत्कर्म (मुक्तिदायक कर्म)-का सूचक माना है। वह श्रीमद्भागवतका पारायण है, जिसका गान शुकादि महानुभावोंने किया है॥ ६०॥ उसके शब्द सुननेसे ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको बड़ा बल मिलेगा। इससे ज्ञान-वैराग्यका कष्ट मिट जायगा और भक्तिको आनन्द मिलेगा॥ ६१॥ सिंहकी गर्जना सुनकर जैसे भेड़िये भाग जाते हैं, उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकी ध्वनिसे कलियुगके सारे दोष नष्ट हो जायँगे॥ ६२॥

ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा।
प्रतिगेहं प्रतिजनं ततः क्रीडां करिष्यति॥ ६३

नारद उवाच

वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा॥ ६४
श्रीमद्भागवतालापात्तत्कथं बोधमेष्यति।
तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे॥ ६५
छिन्दन्तु संशयं ह्येनं भवन्तोऽमोघदर्शनाः।
विलम्बो नात्र कर्तव्यः शरणागतवत्सलाः॥ ६६

कुमारा ऊचुः

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा।
अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः॥ ६७
आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा।
स भूयः संपृथग्भूतः फले विश्वमनोहरः॥ ६८
यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न स्वादायोपकल्पते।
पृथग्भूतं हि तद्गव्यं देवानां रसवर्धनम्॥ ६९
ईक्षूणामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्य तिष्ठति।
पृथग्भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा॥ ७०
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रकाशितम्॥ ७१
वेदान्तवेदसुस्नाते गीताया अपि कर्तरि।
परितापवति व्यासे मुह्यत्यज्ञानसागरे॥ ७२
तदा त्वया पुरा प्रोक्तं चतुःश्लोकसमन्वितम्।
तदीयश्रवणात्सद्यो निर्बाधो बादरायणः॥ ७३
तत्र ते विस्मयः केन यतः प्रश्नकरो भवान्।
श्रीमद्भागवतं श्राव्यं शोकदुःखविनाशनम्॥ ७४

तब प्रेमरस प्रवाहित करनेवाली भक्ति ज्ञान और वैराग्यको साथ लेकर प्रत्येक घर और व्यक्तिके हृदयमें क्रीड़ा करेगी॥ ६३॥

नारदजीने कहा—मैंने वेद-वेदान्तकी ध्वनि और गीतापाठ करके उन्हें बहुत जगाया, किंतु फिर भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये तीनों नहीं जगे॥ ६४॥ ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवत सुनानेसे वे कैसे जगेंगे? क्योंकि उस कथाके प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक पदमें भी वेदोंका ही तो सारांश है॥ ६५॥ आपलोग शरणागतवत्सल हैं तथा आपका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं होता; इसलिये मेरा यह संदेह दूर कर दीजिये, इस कार्यमें विलम्ब न कीजिये॥ ६६॥

सनकादिने कहा—श्रीमद्भागवतकी कथा वेद और उपनिषदोंके सारसे बनी है। इसलिये उनसे अलग उनकी फलरूपा होनेके कारण वह बड़ी उत्तम जान पड़ती है॥ ६७॥ जिस प्रकार रस वृक्षकी जड़से लेकर शाखाग्रपर्यन्त रहता है, किंतु इस स्थितिमें उसका आस्वादन नहीं किया जा सकता; वही जब अलग होकर फलके रूपमें आ जाता है, तब संसारमें सभीको प्रिय लगने लगता है॥ ६८॥ दूधमें घी रहता ही है, किन्तु उस समय उसका अलग स्वाद नहीं मिलता; वही जब उससे अलग हो जाता है, तब देवताओंके लिये भी स्वादवर्धक हो जाता है॥ ६९॥ खाँड ईखके ओर-छोर और बीचमें भी व्याप्त रहती है, तथापि अलग होनेपर उसकी कुछ और ही मिठास होती है। ऐसी ही यह भागवतकी कथा है॥ ७०॥ यह भागवतपुराण वेदोंके समान है। श्रीव्यासदेवने इसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी स्थापनाके लिये प्रकाशित किया है॥ ७१॥ पूर्वकालमें जिस समय वेद-वेदान्तके पारगामी और गीताकी भी रचना करनेवाले भगवान् व्यासदेव खिन्न होकर अज्ञानसमुद्रमें गोते खा रहे थे, उस समय आपने ही उन्हें चार श्लोकोंमें इसका उपदेश किया था। उसे सुनते ही उनकी सारी चिन्ता दूर हो गयी थी॥ ७२-७३॥ फिर इसमें आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है, जो आप हमसे प्रश्न कर रहे हैं? आपको उन्हें शोक और दुःखका विनाश करनेवाला श्रीमद्भागवत-पुराण ही सुनाना चाहिये॥ ७४॥

नारद उवाच

यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः
श्रेयस्तनोति भवदुःखदवार्दितानाम्।
निःशेषशेषमुखगीतकथैकपानाः
प्रेमप्रकाशकृतये शरणं गतोऽस्मि॥ ७५
भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥ ७६

नारदजीने कहा—महानुभावो! आपका दर्शन जीवके सम्पूर्ण पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जो संसार-दुःखरूप दावानलसे तपे हुए हैं उनपर शीघ्र ही शान्तिकी वर्षा करता है। आप निरन्तर शेषजीके सहस्त्र मुखोंसे गाये हुए भगवत्कथामृतका ही पान करते रहते हैं। मैं प्रेमलक्षणा भक्तिका प्रकाश करनेके उद्देश्यसे आपकी शरण लेता हूँ॥ ७५॥ जब अनेकों जन्मोंके संचित पुण्यपुंजका उदय होनेसे मनुष्यको सत्संग मिलता है, तब वह उसके अज्ञान-जनित मोह और मदरूप अन्धकारका नाश करके विवेक उदय होता है॥ ७६॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये कुमारनारदसंवादो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

भक्तिके कष्टकी निवृत्ति

नारद उवाच

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः॥ १
कुत्र कार्यो मया यज्ञः स्थलं तद्वाच्यतामिह।
महिमा शुकशास्त्रस्य वक्तव्यो वेदपारगैः॥ २
कियद्भिर्दिवसैः श्राव्या श्रीमद्भागवती कथा।
को विधिस्तत्र कर्तव्यो ममेदं ब्रुवतामितः॥ ३

कुमारा ऊचुः

शृणु नारद वक्ष्यामो विनम्राय विवेकिने।
गङ्गाद्वारसमीपे तु तटमानन्दनामकम्॥ ४
नानाऋषिगणैर्जुष्टं देवसिद्धनिषेवितम्।
नानातरुलताकीर्णं नवकोमलवालुकम्॥ ५
रम्यमेकान्तदेशस्थं हेमपद्मसुसौरभम्।
यत्समीपस्थजीवानां वैरं चेतसि न स्थितम्॥ ६

नारदजी कहते हैं—अब मैं भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको स्थापित करनेके लिये प्रयत्नपूर्वक श्रीशुकदेवजीके कहे हुए भागवतशास्त्रकी कथाद्वारा उज्ज्वल ज्ञानयज्ञ करूँगा॥ १॥ यह यज्ञ मुझे कहाँ करना चाहिये, आप इसके लिये कोई स्थान बता दीजिये। आपलोग वेदके पारगामी हैं, इसलिये मुझे इस शुकशास्त्रकी महिमा सुनाइये॥ २॥ यह भी बताइये कि श्रीमद्भागवतकी कथा कितने दिनोंमें सुनानी चाहिये और उसके सुननेकी विधि क्या है॥ ३॥

सनकादि बोले—नारदजी! आप बड़े विनीत और विवेकी हैं। सुनिये, हम आपको ये सब बातें बताते हैं। हरिद्वारके पास आनन्द नामका एक घाट है॥ ४॥ वहाँ अनेकों ऋषि रहते हैं तथा देवता और सिद्धलोग भी उसका सेवन करते रहते हैं। भाँति-भाँतिके वृक्ष और लताओंके कारण वह बड़ा सघन है और वहाँ बड़ी कोमल नवीन बालू बिछी हुई है॥ ५॥ वह घाट बड़ा ही सुरम्य और एकान्त प्रदेशमें है, वहाँ हर समय सुनहले कमलोंकी सुगन्ध आया करती है। उसके आस-पास रहनेवाले सिंह, हाथी आदि परस्पर-विरोधी जीवोंके चित्तमें भी वैरभाव नहीं है॥ ६॥

ज्ञानयज्ञस्त्वया तत्र कर्तव्यो ह्यप्रयत्नतः।
अपूर्वरसरूपा च कथा तत्र भविष्यति॥ ७
पुरःस्थं निर्बलं चैव जराजीर्णकलेवरम्।
तद्द्वयं च पुरस्कृत्य भक्तिस्तत्रागमिष्यति॥ ८
यत्र भागवती वार्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत्।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तत्त्रिकं तरुणायते॥ ९

सूत उवाच

एवमुक्त्वा कुमारास्ते नारदेन समं ततः।
गङ्गातटं समाजग्मुः कथापानाय सत्वराः॥ १०
यदा यातास्तटं ते तु तदा कोलाहलोऽप्यभूत्।
भूर्लोके देवलोके च ब्रह्मलोके तथैव च॥ ११
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः।
धावन्तोऽप्याययुः सर्वे प्रथमं ये च वैष्णवाः॥ १२
भृगुर्वसिष्ठश्च्यवनश्च गौतमो
मेधातिथिर्देवलदेवरातौ।
रामस्तथा गाधिसुतश्च शाकलो
मृकण्डुपुत्रात्रिजपिप्पलादाः॥ १३
योगेश्वरौ व्यासपराशरौ च
छायाशुको जाजलिजह्नुमुख्याः।
सर्वेऽप्यमी मुनिगणाः सहपुत्रशिष्याः
स्वस्त्रीभिराययुरतिप्रणयेन युक्ताः॥ १४
वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राः समूर्तयः।
दशसप्तपुराणानि षट्शास्त्राणि तथाऽऽययुः॥ १५
गङ्गाद्याः सरितस्तत्र पुष्करादिसरांसि च।
क्षेत्राणि च दिशः सर्वा दण्डकादिवनानि च॥ १६
नगादयो ययुस्तत्र देवगन्धर्वदानवाः।
गुरुत्वात्तत्र नायातान्भृगुः सम्बोध्य चानयत्॥ १७
दीक्षिता नारदेनाथ दत्तमासनमुत्तमम्।
कुमारा वन्दिताः सर्वैर्निषेदुः कृष्णतत्पराः॥ १८
वैष्णवाश्च विरक्ताश्च न्यासिनो ब्रह्मचारिणः।
मुखभागे स्थितास्ते च तदग्रे नारदः स्थितः॥ १९

वहाँ आप बिना किसी विशेष प्रयत्नके ही ज्ञानयज्ञ आरम्भ कर दीजिये, उस स्थानपर कथामें अपूर्व रसका उदय होगा॥ ७॥ भक्ति भी अपनी आँखोंके ही सामने निर्बल और जराजीर्ण अवस्थामें पड़े हुए ज्ञान और वैराग्यको साथ लेकर वहाँ आ जायगी॥ ८॥ क्योंकि जहाँ भी श्रीमद्भागवतकी कथा होती है वहाँ ये भक्ति आदि अपने-आप पहुँच जाते हैं। वहाँ कानोंमें कथाके शब्द पड़नेसे ये तीनों तरुण हो जायँगे॥ ९॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार कहकर नारदजीके साथ सनकादि भी श्रीमद्भागवतकथामृतका पान करनेके लिये वहाँसे तुरंत गंगातटपर चले आये॥ १०॥ जिस समय वे तटपर पहुँचे, भूलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक—सभी जगह इस कथाका हल्ला हो गया॥ ११॥ जो-जो भगवत्कथाके रसिक विष्णुभक्त थे, वे सभी श्रीमद्भागवतामृतका पान करनेके लिये सबसे आगे दौड़-दौड़कर आने लगे॥ १२॥ भृगु, वसिष्ठ, च्यवन, गौतम, मेधातिथि, देवल, देवरात, परशुराम, विश्वामित्र, शाकल, मार्कण्डेय, दत्तात्रेय, पिप्पलाद, योगेश्वर व्यास और पराशर, छायाशुक, जाजलि और जह्नु आदि सभी प्रधान-प्रधान मुनिगण अपने-अपने पुत्र, शिष्य और स्त्रियोंसमेत बड़े प्रेमसे वहाँ आये॥ १३-१४॥ इनके सिवा वेद, वेदान्त (उपनिषद्), मन्त्र, तन्त्र, सत्रह पुराण और छहों शास्त्र भी मूर्तिमान् होकर वहाँ उपस्थित हुए॥ १५॥

गंगा आदि नदियाँ, पुष्कर आदि सरोवर, कुरुक्षेत्र आदि समस्त क्षेत्र, सारी दिशाएँ, दण्डक आदि वन, हिमालय आदि पर्वत तथा देव, गन्धर्व और दानव आदि सभी कथा सुनने चले आये। जो लोग अपने गौरवके कारण नहीं आये, महर्षि भृगु उन्हें समझा-बुझाकर ले आये॥ १६-१७॥

तब कथा सुनानेके लिये दीक्षित होकर श्रीकृष्णपरायण सनकादि नारदजीके दिये हुए श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए। उस समय सभी श्रोताओंने उनकी वन्दना की॥ १८॥ श्रोताओंमें वैष्णव, विरक्त, संन्यासी और ब्रह्मचारी लोग आगे बैठे और उन सबके आगे नारदजी विराजमान हुए॥ १९॥

एकभागे ऋषिगणास्तदन्यत्र दिवौकसः।
वेदोपनिषदोऽन्यत्र तीर्थान्यत्र स्त्रियोऽन्यतः॥ २०
जयशब्दो नमःशब्दः शङ्खशब्दस्तथैव च।
चूर्णलाजाप्रसूनानां निक्षेपः सुमहानभूत्॥ २१
विमानानि समारुह्य कियन्तो देवनायकाः।
कल्पवृक्षप्रसूनैस्तान् सर्वांस्तत्र समाकिरन्॥ २२

सूत उवाच

एवं तेष्वेकचित्तेषु श्रीमद्भागवतस्य च।
माहात्म्यमूचिरे स्पष्टं नारदाय महात्मने॥ २३

कुमारा ऊचुः

अथ ते वर्ण्यतेऽस्माभिर्महिमा शुकशास्त्रजः।
यस्य श्रवणमात्रेण मुक्तिः करतले स्थिता॥ २४
सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा।
यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत्॥ २५
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः।
परीक्षिच्छुकसंवादः शृणु भागवतं च तत्॥ २६
तावत्संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतेऽज्ञानतः पुमान्।
यावत्कर्णगता नास्ति शुकशास्त्रकथा क्षणम्॥ २७
किं श्रुतैर्बहुभिः शास्त्रैः पुराणैश्च भ्रमावहैः।
एकं भागवतं शास्त्रं मुक्तिदानेन गर्जति॥ २८
कथा भागवतस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे।
तद्गृहं तीर्थरूपं हि वसतां पापनाशनम्॥ २९
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
शुकशास्त्रकथायाश्च कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ ३०
तावत्पापानि देहेऽस्मिन्निवसन्ति तपोधनाः।
यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्भागवतं नरैः॥ ३१
न गङ्गा न गया काशी पुष्करं न प्रयागकम्।
शुकशास्त्रकथायाश्च फलेन समतां नयेत्॥ ३२

एक ओर ऋषिगण, एक ओर देवता, एक ओर वेद और उपनिषदादि तथा एक ओर तीर्थ बैठे, और दूसरी ओर स्त्रियाँ बैठीं॥ २०॥ उस समय सब ओर जय-जयकार, नमस्कार और शंखोंका शब्द होने लगा और अबीर-गुलाल, खील एवं फूलोंकी खूब वर्षा होने लगी॥ २१॥ कोई-कोई देवश्रेष्ठ तो विमानोंपर चढ़कर वहाँ बैठे हुए सब लोगोंपर कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ २२॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार पूजा समाप्त होनेपर जब सब लोग एकाग्रचित्त हो गये, तब सनकादि ऋषि महात्मा नारदको श्रीमद्भागवतका माहात्म्य स्पष्ट करके सुनाने लगे॥ २३॥

सनकादिने कहा—अब हम आपको इस भागवतशास्त्रकी महिमा सुनाते हैं। इसके श्रवणमात्रसे मुक्ति हाथ लग जाती है॥ २४॥ श्रीमद्भागवतकी कथाका सदा-सर्वदा सेवन, आस्वादन करना चाहिये। इसके श्रवणमात्रसे श्रीहरि हृदयमें आ विराजते हैं॥ २५॥ इस ग्रन्थमें अठारह हजार श्लोक और बारह स्कन्ध हैं तथा श्रीशुकदेव और राजा परीक्षित्का संवाद है। आप यह भागवतशास्त्र ध्यान देकर सुनिये॥ २६॥ यह जीव तभीतक अज्ञानवश इस संसारचक्रमें भटकता है, जबतक क्षणभरके लिये भी कानोंमें इस शुकशास्त्र-की कथा नहीं पड़ती॥ २७॥ बहुत-से शास्त्र और पुराण सुननेसे क्या लाभ है, इससे तो व्यर्थका भ्रम बढ़ता है। मुक्ति देनेके लिये तो एकमात्र भागवतशास्त्र ही गरज रहा है॥ २८॥ जिस घरमें नित्यप्रति श्रीमद्भागवतकी कथा होती है, वह तीर्थरूप हो जाता है और जो लोग उसमें रहते हैं, उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ २९॥ हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ इस शुकशास्त्रकी कथाका सोलहवाँ अंश भी नहीं हो सकते॥ ३०॥ तपोधनो! जबतक लोग अच्छी तरह श्रीमद्भागवतका श्रवण नहीं करते, तभीतक उनके शरीरमें पाप निवास करते हैं॥ ३१॥ फलकी दृष्टिसे इस शुकशास्त्रकथाकी समता गंगा, गया, काशी, पुष्कर या प्रयाग—कोई तीर्थ भी नहीं कर सकता॥ ३२॥

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम्॥ ३३
वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च।
त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च॥ ३४
द्वादशात्मा प्रयागश्च कालः संवत्सरात्मकः।
ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्रं च सुरभिर्द्वादशी तथा॥ ३५
तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च।
एतेषां तत्त्वतः प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते॥ ३६
यश्च भागवतं शास्त्रं वाचयेदर्थतोऽनिशम्।
जन्मकोटिकृतं पापं नश्यते नात्र संशयः॥ ३७
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा पठेद्भागवतं च यः।
नित्यं पुण्यमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः॥ ३८
उक्तं भागवतं नित्यं कृतं च हरिचिन्तनम्।
तुलसीपोषणं चैव धेनूनां सेवनं समम्॥ ३९
अन्तकाले तु येनैव श्रूयते शुकशास्त्रवाक्।
प्रीत्या तस्यैव वैकुण्ठं गोविन्दोऽपि प्रयच्छति॥ ४०
हेमसिंहयुतं चैतद्वैष्णवाय ददाति च।
कृष्णेन सह सायुज्यं स पुमाँल्लभते ध्रुवम्॥ ४१
आजन्ममात्रमपि येन शठेन किञ्चि-
च्चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता।
चाण्डालवच्च खरवद्बत तेन नीतं
मिथ्या स्वजन्म जननीजनिदुःखभाजा॥ ४२
जीवच्छवोनिगदितः स तु पापकर्मा
येन श्रुतं शुककथावचनं न किञ्चित्।
धिक् तं नरं पशुसमं भुवि भाररूप-
मेवं वदन्ति दिवि देवसमाजमुख्याः॥ ४३
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते॥ ४४
तेन योगनिधे धीमन् श्रोतव्या सा प्रयत्नतः।
दिनानां नियमो नास्ति सर्वदा श्रवणं मतम्॥ ४५

यदि आपको परम गतिकी इच्छा है तो अपने मुखसे ही श्रीमद्भागवतके आधे अथवा चौथाई श्लोकका भी नित्य नियमपूर्वक पाठ कीजिये॥ ३३॥ ॐकार, गायत्री, पुरुषसूक्त, तीनों वेद, श्रीमद्भागवत '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'—यह द्वादशाक्षर मन्त्र, बारह मूर्तियोंवाले सूर्यभगवान्, प्रयाग, संवत्सररूप काल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र, गौ, द्वादशी तिथि, तुलसी, वसन्त ऋतु और भगवान् पुरुषोत्तम—इन सबमें बुद्धिमान् लोग वस्तुतः कोई अन्तर नहीं मानते॥ ३४—३६॥ जो पुरुष अहर्निश अर्थसहित श्रीमद्भागवतशास्त्रका पाठ करता है, उसके करोड़ों जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है॥ ३७॥ जो पुरुष नित्यप्रति भागवतका आधा या चौथाई श्लोक भी पढ़ता है, उसे राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका फल मिलता है॥ ३८॥ नित्य भागवतका पाठ करना, भगवान्‌का चिन्तन करना, तुलसीको सींचना और गौकी सेवा करना—ये चारों समान हैं॥ ३९॥ जो पुरुष अन्तसमयमें श्रीमद्भागवतका वाक्य सुन लेता है, उसपर प्रसन्न होकर भगवान् उसे वैकुण्ठधाम देते हैं॥ ४०॥ जो पुरुष इसे सोनेके सिंहासनपर रखकर विष्णुभक्तको दान करता है, वह अवश्य ही भगवान्‌का सायुज्य प्राप्त करता है॥ ४१॥

जिस दुष्टने अपनी सारी आयुमें चित्तको एकाग्र करके श्रीमद्भागवतामृतका थोड़ा-सा भी रसास्वादन नहीं किया, उसने तो अपना सारा जन्म चाण्डाल और गधेके समान व्यर्थ ही गँवा दिया; वह तो अपनी माताको प्रसव-पीड़ा पहुँचानेके लिये ही उत्पन्न हुआ॥ ४२॥ जिसने इस शुकशास्त्रके थोड़े-से भी वचन नहीं सुने, वह पापात्मा तो जीता हुआ ही मुर्देके समान है। 'पृथ्वीके भारस्वरूप उस पशुतुल्य मनुष्यको धिक्कार है'—यों स्वर्गलोकमें देवताओंमें प्रधान इन्द्रादि कहा करते हैं॥ ४३॥

संसारमें श्रीमद्भागवतकी कथाका मिलना अवश्य ही कठिन है; जब करोड़ों जन्मोंका पुण्य होता है, तभी इसकी प्राप्ति होती है॥ ४४॥ नारदजी! आप बड़े ही बुद्धिमान् और योगनिधि हैं। आप प्रयत्नपूर्वक कथाका श्रवण कीजिये। इसे सुननेके लिये दिनोंका कोई नियम नहीं है, इसे तो सर्वदा ही सुनना अच्छा है॥ ४५॥

सत्येन ब्रह्मचर्येण सर्वदा श्रवणं मतम्।
अशक्यत्वात्कलौ बोध्यो विशेषोऽत्र शुकाज्ञया॥ ४६
मनोवृत्तिजयश्चैव नियमाचरणं तथा।
दीक्षा कर्तुमशक्यत्वात्सप्ताहश्रवणं मतम्॥ ४७
श्रद्धातः श्रवणे नित्यं माघे तावद्धि यत्फलम्।
तत्फलं शुकदेवेन सप्ताहश्रवणे कृतम्॥ ४८
मनसश्चाजयाद्रोगात्पुंसां चैवायुषः क्षयात्।
कलेर्दोषबहुत्वाच्च सप्ताहश्रवणं मतम्॥ ४९
यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
अनायासेन तत्सर्वं सप्ताहश्रवणे लभेत्॥ ५०
यज्ञाद्गर्जति सप्ताहः सप्ताहो गर्जति व्रतात्।
तपसो गर्जति प्रोच्चैस्तीर्थान्नित्यं हि गर्जति॥ ५१
योगाद्गर्जति सप्ताहो ध्यानाज्ज्ञानाच्च गर्जति।
किं ब्रूमो गर्जनं तस्य रे रे गर्जति गर्जति॥ ५२

शौनक उवाच

साश्चर्यमेतत्कथितं कथानकं
ज्ञानादिधर्मान् विगणय्य साम्प्रतम्।
निःश्रेयसे भागवतं पुराणं
जातं कुतो योगविदादिसूचकम्॥ ५३

सूत उवाच

यदा कृष्णो धरां त्यक्त्वा स्वपदं गन्तुमुद्यतः।
एकादशं परिश्रुत्याप्युद्धवो वाक्यमब्रवीत्॥ ५४

उद्धव उवाच

त्वं तु यास्यसि गोविन्द भक्तकार्यं विधाय च।
मच्चित्ते महती चिन्ता तां श्रुत्वा सुखमावह॥ ५५

इसे सत्यभाषण और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक सर्वदा ही सुनना श्रेष्ठ माना गया है। किन्तु कलियुगमें ऐसा होना कठिन है; इसलिये इसकी शुकदेवजीने जो विशेष विधि बतायी है, वह जान लेनी चाहिये॥ ४६॥ कलियुगमें बहुत दिनोंतक चित्तकी वृत्तियोंको वशमें रखना, नियमोंमें बँधे रहना और किसी पुण्यकार्यके लिये दीक्षित रहना कठिन है; इसलिये सप्ताहश्रवणकी विधि है॥ ४७॥ श्रद्धापूर्वक कभी भी श्रवण करनेसे अथवा माघमासमें श्रवण करनेसे जो फल होता है, वही फल श्रीशुकदेवजीने सप्ताहश्रवणमें निर्धारित किया है॥ ४८॥ मनके असंयम, रोगोंकी बहुलता और आयुकी अल्पताके कारण तथा कलियुगमें अनेकों दोषोंकी सम्भावनासे ही सप्ताहश्रवणका विधान किया गया है॥ ४९॥ जो फल तप, योग और समाधिसे भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह सर्वांगरूपमें सप्ताहश्रवणसे सहजमें ही मिल जाता है॥ ५०॥ सप्ताहश्रवण यज्ञसे बढ़कर है, व्रतसे बढ़कर है, तपसे कहीं बढ़कर है। तीर्थसेवनसे तो सदा ही बड़ा है, योगसे बढ़कर है—यहाँतक कि ध्यान और ज्ञानसे भी बढ़कर है, अजी! इसकी विशेषताका कहाँतक वर्णन करें, यह तो सभीसे बढ़-चढ़कर है॥ ५१-५२॥

शौनकजीने पूछा—सूतजी! यह तो आपने बड़े आश्चर्यकी बात कही। अवश्य ही यह भागवतपुराण योगवेत्ता ब्रह्माजीके भी आदिकारण श्रीनारायणका निरूपण करता है; परन्तु यह मोक्षकी प्राप्तिमें ज्ञानादि सभी साधनोंका तिरस्कार करके इस युगमें उनसे भी कैसे बढ़ गया?॥ ५३॥

सूतजीने कहा—शौनकजी! जब भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधामको छोड़कर अपने नित्यधामको जाने लगे, तब उनके मुखारविन्दसे एकादश स्कन्धका ज्ञानोपदेश सुनकर भी उद्धवजीने पूछा॥ ५४॥

उद्धवजी बोले—गोविन्द! अब आप तो अपने भक्तोंका कार्य करके परमधामको पधारना चाहते हैं; किन्तु मेरे मनमें एक बड़ी चिन्ता है। उसे सुनकर आप मुझे शान्त कीजिये॥ ५५॥

आगतोऽयं कलिर्घोरो भविष्यन्ति पुनः खलाः।
तत्सङ्गेनैव सन्तोऽपि गमिष्यन्त्युग्रतां यदा॥ ५६
तदा भारवती भूमिर्गोरूपेयं कमाश्रयेत्।
अन्यो न दृश्यते त्राता त्वत्तः कमललोचन॥ ५७
अतः सत्सु दयां कृत्वा भक्तवत्सल मा व्रज।
भक्तार्थं सगुणो जातो निराकारोऽपि चिन्मयः॥ ५८
त्वद्वियोगेन ते भक्ताः कथं स्थास्यन्ति भूतले।
निर्गुणोपासने कष्टमतः किञ्चिद्विचारय॥ ५९
इत्युद्धववचः श्रुत्वा प्रभासेऽचिन्तयद्धरिः।
भक्तावलम्बनार्थाय किं विधेयं मयेति च॥ ६०
स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात्।
तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्॥ ६१
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।
सेवनाच्छ्रवणात्पाठाद्दर्शनात्पापनाशिनी॥ ६२
सप्ताहश्रवणं तेन सर्वेभ्योऽप्यधिकं कृतम्।
साधनानि तिरस्कृत्य कलौ धर्मोऽयमीरितः॥ ६३
दुःखदारिद्र्यदौर्भाग्यपापप्रक्षालनाय च।
कामक्रोधजयार्थं हि कलौ धर्मोऽयमीरितः॥ ६४
अन्यथा वैष्णवी माया देवैरपि सुदुस्त्यजा।
कथं त्याज्या भवेत्पुम्भिः सप्ताहोऽतः प्रकीर्तितः॥ ६५

सूत उवाच

एवं नगाहश्रवणोरुधर्मे
प्रकाश्यमाने ऋषिभिः सभायाम्।
आश्चर्यमेकं समभूत्तदानीं
तदुच्यते संशृणु शौनक त्वम्॥ ६६

अब घोर कलिकाल आया ही समझिये, इसलिये संसारमें फिर अनेकों दुष्ट प्रकट हो जायँगे; उनके संसर्गसे जब अनेकों सत्पुरुष भी उग्र प्रकृतिके हो जायँगे, तब उनके भारसे दबकर यह गोरूपिणी पृथ्वी किसकी शरणमें जायगी? कमलनयन! मुझे तो आपको छोड़कर इसकी रक्षा करनेवाला कोई दूसरा नहीं दिखायी देता॥ ५६-५७॥ इसलिये भक्तवत्सल! आप साधुओंपर कृपा करके यहाँसे मत जाइये। भगवन्! आपने निराकार और चिन्मात्र होकर भी भक्तोंके लिये ही तो यह सगुण रूप धारण किया है॥ ५८॥ फिर भला, आपका वियोग होनेपर वे भक्तजन पृथ्वीपर कैसे रह सकेंगे? निर्गुणोपासनामें तो बड़ा कष्ट है। इसलिये कुछ और विचार कीजिये॥ ५९॥

प्रभासक्षेत्रमें उद्धवजीके ये वचन सुनकर भगवान् सोचने लगे कि भक्तोंके अवलम्बके लिये मुझे क्या व्यवस्था करनी चाहिये॥ ६०॥ शौनकजी! तब भगवान्ने अपनी सारी शक्ति भागवतमें रख दी; वे अन्तर्धान होकर इस भागवतसमुद्रमें प्रवेश कर गये॥ ६१॥ इसलिये यह भगवान्की साक्षात् शब्दमयी मूर्ति है। इसके सेवन, श्रवण, पाठ अथवा दर्शनसे ही मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ ६२॥ इसीसे इसका सप्ताहश्रवण सबसे बढ़कर माना गया है और कलियुगमें तो अन्य सब साधनोंको छोड़कर यही प्रधान धर्म बताया गया है॥ ६३॥ कलिकालमें यही ऐसा धर्म है, जो दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य और पापोंकी सफाई कर देता है तथा काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय दिलाता है॥ ६४॥ अन्यथा, भगवान्की इस मायासे पीछा छुड़ाना देवताओंके लिये भी कठिन है, मनुष्य तो इसे छोड़ ही कैसे सकते हैं। अतः इससे छूटनेके लिये भी सप्ताहश्रवणका विधान किया गया है॥ ६५॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! जिस समय सनकादि मुनीश्वर इस प्रकार सप्ताहश्रवणकी महिमाका बखान कर रहे थे, उस सभामें एक बड़ा आश्चर्य हुआ; उसे मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो॥ ६६॥

भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा
प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत्।
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
नाथेति नामानि मुहुर्वदन्ती॥ ६७
तां चागतां भागवतार्थभूषां
सुचारुवेषां ददृशुः सदस्याः।
कथं प्रविष्टा कथमागतेयं
मध्ये मुनीनामिति तर्कयन्तः॥ ६८
ऊचुः कुमारा वचनं तदानीं
कथार्थतो निष्पतिताधुनेयम्।
एवं गिरः सा ससुता निशम्य
सनत्कुमारं निजगाद नम्रा॥ ६९

भक्तिरुवाच

भवद्भिरद्यैव कृतास्मि पुष्टा
कलिप्रणष्टापि कथारसेन।
क्वाहं तु तिष्ठाम्यधुना ब्रुवन्तु
ब्राह्मा इदं तां गिरमूचिरे ते॥ ७०
भक्तेषु गोविन्दस्वरूपकर्त्री
प्रेमैकधर्त्री भवरोगहन्त्री।
सा त्वं च तिष्ठस्व सुधैर्यसंश्रया
निरन्तरं वैष्णवमानसानि॥ ७१
ततोऽपि दोषाः कलिजा इमे त्वां
द्रष्टुं न शक्ताः प्रभवोऽपि लोके।
एवं तदाज्ञावसरेऽपि भक्ति-
स्तदा निषण्णा हरिदासचित्ते॥ ७२
सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः॥ ७३
ब्रूमोऽद्य ते किमधिकं महिमानमेवं
ब्रह्मात्मकस्य भुवि भागवताभिधस्य।
यत्संश्रयान्निगदिते लभते सुवक्ता
श्रोतापि कृष्णसमतामलमन्यधर्मैः॥ ७४

वहाँ तरुणावस्थाको प्राप्त हुए अपने दोनों पुत्रोंको साथ लिये विशुद्ध प्रेमरूपा भक्ति बार-बार 'श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!' आदि भगवन्नामोंका उच्चारण करती हुई अकस्मात् प्रकट हो गयीं॥ ६७॥ सभी सदस्योंने देखा कि परम सुन्दरी भक्तिरानी भागवतके अर्थोंका आभूषण पहने वहाँ पधारीं। मुनियोंकी उस सभामें सभी यह तर्क-वितर्क करने लगे कि ये यहाँ कैसे आयीं, कैसे प्रविष्ट हुईं॥ ६८॥ तब सनकादिने कहा—'ये भक्तिदेवी अभी-अभी कथाके अर्थसे निकली हैं।' उनके ये वचन सुनकर भक्तिने अपने पुत्रोंसमेत अत्यन्त विनम्र होकर सनत्कुमारजीसे कहा॥ ६९॥

भक्ति बोलीं—मैं कलियुगमें नष्टप्राय हो गयी थी, आपने कथामृतसे सींचकर मुझे फिर पुष्ट कर दिया। अब आप यह बताइये कि मैं कहाँ रहूँ? यह सुनकर सनकादिने उससे कहा—॥ ७०॥ 'तुम भक्तोंको भगवान्‌का स्वरूप प्रदान करनेवाली, अनन्यप्रेमका सम्पादन करनेवाली और संसाररोगको निर्मूल करनेवाली हो; अतः तुम धैर्य धारण करके नित्य-निरन्तर विष्णुभक्तोंके हृदयोंमें ही निवास करो॥ ७१॥ ये कलियुगके दोष भले ही सारे संसारपर अपना प्रभाव डालें, किन्तु वहाँ तुमपर इनकी दृष्टि भी नहीं पड़ सकेगी।' इस प्रकार उनकी आज्ञा पाते ही भक्ति तुरन्त भगवद्भक्तोंके हृदयोंमें जा विराजीं॥ ७२॥

जिनके हृदयमें एकमात्र श्रीहरिकी भक्ति निवास करती है; वे त्रिलोकीमें अत्यन्त निर्धन होनेपर भी परम धन्य हैं; क्योंकि इस भक्तिकी डोरीसे बँधकर तो साक्षात् भगवान् भी अपना परमधाम छोड़कर उनके हृदयमें आकर बस जाते हैं॥ ७३॥ भूलोकमें यह भागवत साक्षात् परब्रह्मका विग्रह है, हम इसकी महिमा कहाँतक वर्णन करें। इसका आश्रय लेकर इसे सुनानेसे तो सुनने और सुनानेवाले दोनोंको ही भगवान् श्रीकृष्णकी समता प्राप्त हो जाती है। अतः इसे छोड़कर अन्य धर्मोंसे क्या प्रयोजन है॥ ७४॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भक्तिकष्टनिवर्तनं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

गोकर्णोपाख्यान प्रारम्भ

सूत उवाच

अथ वैष्णवचित्तेषु दृष्ट्वा भक्तिमलौकिकीम्।
निजलोकं परित्यज्य भगवान् भक्तवत्सलः॥ १
वनमाली घनश्यामः पीतवासा मनोहरः।
काञ्चीकलापरुचिरो लसन्मुकुटकुण्डलः॥ २
त्रिभङ्गललितश्चारुकौस्तुभेन विराजितः।
कोटिमन्मथलावण्यो हरिचन्दनचर्चितः॥ ३
परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः।
आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च॥ ४
वैकुण्ठवासिनो ये च वैष्णवा उद्धवादयः।
तत्कथाश्रवणार्थं ते गूढरूपेण संस्थिताः॥ ५
तदा जयजयारावो रसपुष्टिरलौकिकी।
चूर्णप्रसूनवृष्टिश्च मुहुः शङ्खरवोऽप्यभूत्॥ ६
तत्सभासंस्थितानां च देहगेहात्मविस्मृतिः।
दृष्ट्वा च तन्मयावस्थां नारदो वाक्यमब्रवीत्॥ ७
अलौकिकोऽयं महिमा मुनीश्वराः
सप्ताहजन्योऽद्य विलोकितो मया।
मूढाः शठा ये पशुपक्षिणोऽत्र
सर्वेऽपि निष्पापतमा भवन्ति॥ ८
अतो नृलोके ननु नास्ति किञ्चि-
च्चित्तस्य शोधाय कलौ पवित्रम्।
अघौघविध्वंसकरं तथैव
कथासमानं भुवि नास्ति चान्यत्॥ ९
के के विशुद्ध्यन्ति वदन्तु मह्यं
सप्ताहयज्ञेन कथामयेन।
कृपालुभिर्लोकहितं विचार्य
प्रकाशितः कोऽपि नवीनमार्गः॥ १०

सूतजी कहते हैं—मुनिवर! उस समय अपने भक्तोंके चित्तमें अलौकिक भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ देख भक्तवत्सल श्रीभगवान् अपना धाम छोड़कर वहाँ पधारे॥ १॥ उनके गलेमें वनमाला शोभा पा रही थी, श्रीअंग सजल जलधरके समान श्यामवर्ण था, उसपर मनोहर पीताम्बर सुशोभित था, कटिप्रदेश करधनीकी लड़ियोंसे सुसज्जित था, सिरपर मुकुटकी लटक और कानोंमें कुण्डलोंकी झलक देखते ही बनती थी॥ २॥ वे त्रिभंगललित भावसे खड़े हुए चित्तको चुराये लेते थे। वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि दमक रही थी, सारा श्रीअंग हरिचन्दनसे चर्चित था। उस रूपकी शोभा क्या कहें, उसने तो मानो करोड़ों कामदेवोंकी रूपमाधुरी छीन ली थी॥ ३॥ वे परमानन्दचिन्मूर्ति मधुरातिमधुर मुरलीधर ऐसी अनुपम छबिसे अपने भक्तोंके निर्मल चित्तोंमें आविर्भूत हुए ॥ ४॥ भगवान्‌के नित्य लोक-निवासी लीलापरिकर उद्धवादि वहाँ गुप्तरूपसे उस कथाको सुननेके लिये आये हुए थे॥ ५॥ प्रभुके प्रकट होते ही चारों ओर 'जय हो! जय हो!!' की ध्वनि होने लगी। उस समय भक्तिरसका अद्भुत प्रवाह चला, बार-बार अबीर-गुलाल और पुष्पोंकी वर्षा तथा शंखध्वनि होने लगी॥ ६॥ उस सभामें जो लोग बैठे थे, उन्हें अपने देह, गेह और आत्माकी भी कोई सुधि न रही। उनकी ऐसी तन्मयता देखकर नारदजी कहने लगे— ॥ ७॥

मुनीश्वरगण! आज सप्ताहश्रवणकी मैंने यह बड़ी ही अलौकिक महिमा देखी। यहाँ तो जो बड़े मूर्ख, दुष्ट और पशु-पक्षी भी हैं, वे सभी अत्यन्त निष्पाप हो गये हैं॥ ८॥ अतः इसमें संदेह नहीं कि कलिकालमें चित्तकी शुद्धिके लिये इस भागवतकथाके समान मर्त्यलोकमें पापपुंजका नाश करनेवाला कोई दूसरा पवित्र साधन नहीं है॥ ९॥ मुनिवर! आपलोग बड़े कृपालु हैं, आपने संसारके कल्याणका विचार करके यह बिलकुल निराला ही मार्ग निकाला है। आप कृपया यह तो बताइये कि इस कथारूप सप्ताहयज्ञके द्वारा संसारमें कौन-कौन लोग पवित्र हो जाते हैं॥ १०॥

कुमारा ऊचुः

ये मानवाः पापकृतस्तु सर्वदा
सदा दुराचाररता विमार्गगाः।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते॥ ११
सत्येन हीनाः पितृमातृदूषका-
स्तृष्णाकुलाश्चाश्रमधर्मवर्जिताः।
ये दाम्भिका मत्सरिणोऽपि हिंसकाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते॥ १२
पञ्चोग्रपापाश्छलछद्मकारिणः
क्रूराः पिशाचा इव निर्दयाश्च ये।
ब्रह्मस्वपुष्टा व्यभिचारकारिणः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते॥ १३
कायेन वाचा मनसापि पातकं
नित्यं प्रकुर्वन्ति शठा हठेन ये।
परस्वपुष्टा मलिना दुराशयाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते॥ १४
अत्र ते कीर्तयिष्याम इतिहासं पुरातनम्।
यस्य श्रवणमात्रेण पापहानिः प्रजायते॥ १५
तुङ्गभद्रातटे पूर्वमभूत्पत्तनमुत्तमम्।
यत्र वर्णाः स्वधर्मेण सत्यसत्कर्मतत्पराः॥ १६
आत्मदेवः पुरे तस्मिन् सर्ववेदविशारदः।
श्रौतस्मार्तेषु निष्णातो द्वितीय इव भास्करः॥ १७
भिक्षुको वित्तवाँल्लोके तत्प्रिया धुन्धुली स्मृता।
स्ववाक्यस्थापिका नित्यं सुन्दरी सुकुलोद्भवा॥ १८
लोकवार्तारता क्रूरा प्रायशो बहुजल्पिका।
शूरा च गृहकृत्येषु कृपणा कलहप्रिया॥ १९

सनकादिने कहा—जो लोग सदा तरह-तरहके पाप किया करते हैं, निरन्तर दुराचारमें ही तत्पर रहते हैं और उलटे मार्गोंसे चलते हैं तथा जो क्रोधाग्निसे जलते रहनेवाले कुटिल और कामपरायण हैं, वे सभी इस कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं॥ ११॥ जो सत्यसे च्युत, माता-पिताकी निन्दा करनेवाले, तृष्णाके मारे व्याकुल, आश्रमधर्मसे रहित, दम्भी, दूसरोंकी उन्नति देखकर कुढ़नेवाले और दूसरोंको दुःख देनेवाले हैं, वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं॥ १२॥ जो मदिरापान, ब्रह्महत्या, सुवर्णकी चोरी, गुरुस्त्रीगमन और विश्वासघात—ये पाँच महापाप करनेवाले, छल-छद्मपरायण, क्रूर, पिशाचोंके समान निर्दयी, ब्राह्मणोंके धनसे पुष्ट होनेवाले और व्यभिचारी हैं, वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं॥ १३॥ जो दुष्ट आग्रहपूर्वक सर्वदा मन, वाणी या शरीरसे पाप करते रहते हैं, दूसरेके धनसे ही पुष्ट होते हैं तथा मलिन मन और दुष्ट हृदयवाले हैं, वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं॥ १४॥

नारदजी! अब हम तुम्हें इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास सुनाते हैं, उसके सुननेसे ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं॥ १५॥ पूर्वकालमें तुंगभद्रा नदीके तटपर एक अनुपम नगर बसा हुआ था। वहाँ सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्मोंका आचरण करते हुए सत्य और सत्कर्मोंमें तत्पर रहते थे॥ १६॥ उस नगरमें समस्त वेदोंका विशेषज्ञ और श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें निपुण एक आत्मदेव नामक ब्राह्मण रहता था, वह साक्षात् दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी था॥ १७॥ वह धनी होनेपर भी भिक्षाजीवी था। उसकी प्यारी पत्नी धुन्धुली कुलीन एवं सुन्दरी होनेपर भी सदा अपनी बातपर अड़ जानेवाली थी॥ १८॥ उसे लोगोंकी बात करनेमें सुख मिलता था। स्वभाव था क्रूर। प्रायः कुछ-न-कुछ बकवाद करती रहती थी। गृहकार्यमें निपुण थी, कृपण थी और थी झगड़ालू भी॥ १९॥

एवं निवसतोः प्रेम्णा दम्पत्यो रममाणयोः ।
अर्थाः कामास्तयोरासन्न सुखाय गृहादिकम्॥ २०
पश्चाद्धर्माः समारब्धास्ताभ्यां संतानहेतवे ।
गोभूहिरण्यवासांसि दीनेभ्यो यच्छतः सदा ॥ २१
धनार्धं धर्ममार्गेण ताभ्यां नीतं तथापि च ।
न पुत्रो नापि वा पुत्री ततश्चिन्तातुरो भृशम्॥ २२
एकदा स द्विजो दुःखाद् गृहं त्यक्त्वा वनं गतः ।
मध्याह्ने तृषितो जातस्तडागं समुपेयिवान्॥ २३
पीत्वा जलं निषण्णस्तु प्रजादुःखेन कर्शितः ।
मुहूर्तादपि तत्रैव संन्यासी कश्चिदागतः ॥ २४
दृष्ट्वा पीतजलं तं तु विप्रो यातस्तदन्तिकम्।
नत्वा च पादयोस्तस्य निःश्वसन् संस्थितः पुरः ॥ २५

यतिरुवाच

कथं रोदिषि विप्र त्वं का ते चिन्ता बलीयसी ।
वद त्वं सत्वरं मह्यं स्वस्य दुःखस्य कारणम्॥ २६

ब्राह्मण उवाच

किं ब्रवीमि ऋषे दुःखं पूर्वपापेन संचितम्।
मदीयाः पूर्वजास्तोयं कवोष्णमुपभुञ्जते॥ २७
मद्दत्तं नैव गृह्णन्ति प्रीत्या देवा द्विजातयः ।
प्रजादुःखेन शून्योऽहं प्राणांस्त्यक्तुमिहागतः ॥ २८
धिग्जीवितं प्रजाहीनं धिग्गृहं च प्रजां विना ।
धिग्धनं चानपत्यस्य धिक्कुलं संततिं विना ॥ २९

इस प्रकार ब्राह्मण दम्पति प्रेमसे अपने घरमें रहते और विहार करते थे। उनके पास अर्थ और भोग-विलासकी सामग्री बहुत थी। घर-द्वार भी सुन्दर थे, परन्तु उससे उन्हें सुख नहीं था॥ २० ॥ जब अवस्था बहुत ढल गयी, तब उन्होंने सन्तानके लिये तरह-तरहके पुण्यकर्म आरम्भ किये और वे दीन-दुःखियोंको गौ, पृथ्वी, सुवर्ण और वस्त्रादि दान करने लगे॥ २१ ॥ इस प्रकार धर्ममार्गमें उन्होंने अपना आधा धन समाप्त कर दिया, तो भी उन्हें पुत्र या पुत्री किसीका भी मुख देखनेको न मिला। इसलिये अब वह ब्राह्मण बहुत ही चिन्तातुर रहने लगा॥ २२ ॥

एक दिन वह ब्राह्मणदेवता बहुत दुःखी होकर घरसे निकलकर वनको चल दिया। दोपहरके समय उसे प्यास लगी, इसलिये वह एक तालाबपर आया॥ २३ ॥ सन्तानके अभावके दुःखने उसके शरीरको बहुत सुखा दिया था, इसलिये थक जानेके कारण जल पीकर वह वहीं बैठ गया। दो घड़ी बीतनेपर वहाँ एक संन्यासी महात्मा आये॥ २४ ॥ जब ब्राह्मणदेवताने देखा कि वे जल पी चुके हैं, तब वह उनके पास गया और चरणोंमें नमस्कार करनेके बाद सामने खड़े होकर लंबी-लंबी साँसें लेने लगा॥ २५ ॥

संन्यासीने पूछा—कहो, ब्राह्मणदेवता! रोते क्यों हो? ऐसी तुम्हें क्या भारी चिन्ता है? तुम जल्दी ही मुझे अपने दुःखका कारण बताओ॥ २६ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाराज! मैं अपने पूर्वजन्मके पापोंसे संचित दुःखका क्या वर्णन करूँ? अब मेरे पितर मेरे द्वारा दी हुई जलांजलिके जलको अपनी चिन्ताजनित साँससे कुछ गरम करके पीते हैं॥ २७ ॥ देवता और ब्राह्मण मेरा दिया हुआ प्रसन्न मनसे स्वीकार नहीं करते। सन्तानके लिये मैं इतना दुःखी हो गया हूँ कि मुझे सब सूना-ही-सूना दिखायी देता है। मैं प्राण त्यागनेके लिये यहाँ आया हूँ॥ २८ ॥ सन्तानहीन जीवनको धिक्कार है, सन्तानहीन गृहको धिक्कार है! सन्तानहीन धनको धिक्कार है और सन्तानहीन कुलको धिक्कार है!!॥ २९ ॥

पाल्यते या मया धेनुः सा वन्ध्या सर्वथा भवेत्।
यो मया रोपितो वृक्षः सोऽपि वन्ध्यत्वमाश्रयेत्॥ ३०
यत्फलं मद्गृहायातं तच्च शीघ्रं विनश्यति।
निर्भाग्यस्यानपत्यस्य किमतो जीवितेन मे॥ ३१
इत्युक्त्वा स रुरोदोच्चैस्तत्पार्श्वे दुःखपीडितः।
तदा तस्य यतेश्चित्ते करुणाभूद्गरीयसी॥ ३२
तद्भालाक्षरमालां च वाचयामास योगवान्।
सर्वं ज्ञात्वा यतिः पश्चाद्विप्रमूचे सविस्तरम्॥ ३३

यतिरुवाच

मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं बलिष्ठा कर्मणो गतिः।
विवेकं तु समासाद्य त्यज संसारवासनाम्॥ ३४
शृणु विप्र मया तेऽद्य प्रारब्धं तु विलोकितम्।
सप्तजन्मावधि तव पुत्रो नैव च नैव च॥ ३५
संततेः सगरो दुःखमवापाङ्गः पुरा तथा।
रे मुञ्चाद्य कुटुम्बाशां संन्यासे सर्वथा सुखम्॥ ३६

ब्राह्मण उवाच

विवेकेन भवेत्किं मे पुत्रं देहि बलादपि।
नो चेत्त्यजाम्यहं प्राणांस्त्वदग्रे शोकमूर्च्छितः॥ ३७
पुत्रादिसुखहीनोऽयं संन्यासः शुष्क एव हि।
गृहस्थः सरसो लोके पुत्रपौत्रसमन्वितः॥ ३८
इति विप्राग्रहं दृष्ट्वा प्राब्रवीत्स तपोधनः।
चित्रकेतुर्गतः कष्टं विधिलेखविमार्जनात्॥ ३९
न यास्यसि सुखं पुत्राद्यथा दैवहतोद्यमः।
अतो हठेन युक्तोऽसि ह्यर्थिनं किं वदाम्यहम्॥ ४०

मैं जिस गायको पालता हूँ, वह भी सर्वथा बाँझ हो जाती है; जो पेड़ लगाता हूँ, उसपर भी फल-फूल नहीं लगते॥ ३०॥ मेरे घरमें जो फल आता है, वह भी बहुत जल्दी सड़ जाता है। जब मैं ऐसा अभागा और पुत्रहीन हूँ, तब फिर इस जीवनको ही रखकर मुझे क्या करना है॥ ३१॥ यों कहकर वह ब्राह्मण दुःखसे व्याकुल हो उन संन्यासी महात्माके पास फूट-फूटकर रोने लगा। तब उन यतिवरके हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न हुई॥ ३२॥ वे योगनिष्ठ थे; उन्होंने उसके ललाटकी रेखाएँ देखकर सारा वृत्तान्त जान लिया और फिर उसे विस्तारपूर्वक कहने लगे॥ ३३॥

संन्यासीने कहा—ब्राह्मणदेवता! इस प्रजाप्राप्तिका मोह त्याग दो। कर्मकी गति प्रबल है, विवेकका आश्रय लेकर संसारकी वासना छोड़ दो॥ ३४॥ विप्रवर! सुनो; मैंने इस समय तुम्हारा प्रारब्ध देखकर निश्चय किया है कि सात जन्मतक तुम्हारे कोई सन्तान किसी प्रकार नहीं हो सकती॥ ३५॥ पूर्वकालमें राजा सगर एवं अंगको सन्तानके कारण दुःख भोगना पड़ा था। ब्राह्मण! अब तुम कुटुम्बकी आशा छोड़ दो। संन्यासमें ही सब प्रकारका सुख है॥ ३६॥

ब्राह्मणने कहा—महात्माजी! विवेकसे मेरा क्या होगा। मुझे तो बलपूर्वक पुत्र दीजिये; नहीं तो मैं आपके सामने ही शोकमूर्च्छित होकर अपने प्राण त्यागता हूँ ॥ ३७॥ जिसमें पुत्र-स्त्री आदिका सुख नहीं है, ऐसा संन्यास तो सर्वथा नीरस ही है। लोकमें सरस तो पुत्र-पौत्रादिसे भरा-पूरा गृहस्थाश्रम ही है॥ ३८॥

ब्राह्मणका ऐसा आग्रह देखकर उन तपोधनने कहा, 'विधाताके लेखको मिटानेका हठ करनेसे राजा चित्रकेतुको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था॥ ३९॥ इसलिये दैव जिसके उद्योगको कुचल देता है, उस पुरुषके समान तुम्हें भी पुत्रसे सुख नहीं मिल सकेगा। तुमने तो बड़ा हठ पकड़ रखा है और अर्थीके रूपमें तुम मेरे सामने उपस्थित हो; ऐसी दशामें मैं तुमसे क्या कहूँ'॥ ४०॥

तस्याग्रहं समालोक्य फलमेकं स दत्तवान्।
इदं भक्षय पत्न्या त्वं ततः पुत्रो भविष्यति॥ ४१
सत्यं शौचं दया दानमेकभक्तं तु भोजनम्।
वर्षावधि स्त्रिया कार्यं तेन पुत्रोऽतिनिर्मलः॥ ४२
एवमुक्त्वा ययौ योगी विप्रस्तु गृहमागतः।
पत्न्याः पाणौ फलं दत्त्वा स्वयं यातस्तु कुत्रचित्॥ ४३
तरुणी कुटिला तस्य सख्यग्रे च रुरोद ह।
अहो चिन्ता ममोत्पन्ना फलं चाहं न भक्षये॥ ४४
फलभक्षेण गर्भः स्याद्गर्भेणोदरवृद्धिता।
स्वल्पभक्षं ततोऽशक्तिर्गृहकार्यं कथं भवेत्॥ ४५
दैवाद्धाटी व्रजेद्ग्रामे पलायेद्गर्भिणी कथम्।
शुकवन्निवसेद्गर्भस्तं कुक्षेः कथमुत्सृजेत्॥ ४६
तिर्यक्चेदागतो गर्भस्तदा मे मरणं भवेत्।
प्रसूतौ दारुणं दुःखं सुकुमारी कथं सहे॥ ४७
मन्दायां मयि सर्वस्वं ननान्दा संहरेत्तदा।
सत्यशौचादिनियमो दुराराध्यः स दृश्यते॥ ४८
लालने पालने दुःखं प्रसूतायाश्च वर्तते।
वन्ध्या वा विधवा नारी सुखिनी चेति मे मतिः॥ ४९
एवं कुतर्कयोगेन तत्फलं नैव भक्षितम्।
पत्न्या पृष्टं फलं भुक्तं भुक्तं चेति तयेरितम्॥ ५०

जब महात्माजीने देखा कि यह किसी प्रकार अपना आग्रह नहीं छोड़ता, तब उन्होंने उसे एक फल देकर कहा—'इसे तुम अपनी पत्नीको खिला देना, इससे उसके एक पुत्र होगा॥ ४१॥ तुम्हारी स्त्रीको एक सालतक सत्य, शौच, दया, दान और एक समय एक ही अन्न खानेका नियम रखना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगी तो बालक बहुत शुद्ध स्वभाववाला होगा'॥ ४२॥

यों कहकर वे योगिराज चले गये और ब्राह्मण अपने घर लौट आया। वहाँ आकर उसने वह फल अपनी स्त्रीके हाथमें दे दिया और स्वयं कहीं चला गया ॥ ४३॥ उसकी स्त्री तो कुटिल स्वभावकी थी ही, वह रो-रोकर अपनी एक सखीसे कहने लगी—'सखी! मुझे तो बड़ी चिन्ता हो गयी, मैं तो यह फल नहीं खाऊँगी ॥ ४४॥ फल खानेसे गर्भ रहेगा और गर्भसे पेट बढ़ जायगा। फिर कुछ खाया-पीया जायगा नहीं, इससे मेरी शक्ति क्षीण हो जायगी; तब बता, घरका धंधा कैसे होगा?॥ ४५॥ और—दैववश—यदि कहीं गाँवमें डाकुओंका आक्रमण हो गया तो गर्भिणी स्त्री कैसे भागेगी। यदि शुकदेवजीकी तरह यह गर्भ भी पेटमें ही रह गया तो इसे बाहर कैसे निकाला जायगा॥ ४६॥ और कहीं प्रसवकालके समय वह टेढ़ा हो गया तो फिर प्राणोंसे ही हाथ धोना पड़ेगा। यों भी प्रसवके समय बड़ी भयंकर पीड़ा होती है; मैं सुकुमारी भला, यह सब कैसे सह सकूँगी?॥ ४७॥ मैं जब दुर्बल पड़ जाऊँगी, तब ननदरानी आकर घरका सब माल-मता समेट ले जायँगी। और मुझसे तो सत्य-शौचादि नियमोंका पालन होना भी कठिन ही जान पड़ता है॥ ४८॥ जो स्त्री बच्चा जनती है, उसे उस बच्चेके लालन-पालनमें भी बड़ा कष्ट होता है। मेरे विचारसे तो वन्ध्या या विधवा स्त्रियाँ ही सुखी हैं'॥ ४९॥

मनमें ऐसे ही तरह-तरहके कुतर्क उठनेसे उसने वह फल नहीं खाया और जब उसके पतिने पूछा—'फल खा लिया?' तब उसने कह दिया—'हाँ, खा लिया'॥ ५०॥

एकदा भगिनी तस्यास्तद्गृहं स्वेच्छयाऽऽगता।
तदग्रे कथितं सर्वं चिन्तेयं महती हि मे॥ ५१
दुर्बला तेन दुःखेन ह्यनुजे करवाणि किम्।
साब्रवीन्मम गर्भोऽस्ति तं दास्यामि प्रसूतितः॥ ५२
तावत्कालं सगर्भेव गुप्ता तिष्ठ गृहे सुखम्।
वित्तं त्वं मत्पतेर्यच्छ स ते दास्यति बालकम्॥ ५३
षाण्मासिको मृतो बाल इति लोको वदिष्यति।
तं बालं पोषयिष्यामि नित्यमागत्य ते गृहे॥ ५४
फलमर्पय धेन्वै त्वं परीक्षार्थं तु साम्प्रतम्।
तत्तदाचरितं सर्वं तथैव स्त्रीस्वभावतः॥ ५५
अथ कालेन सा नारी प्रसूता बालकं तदा।
आनीय जनको बालं रहस्ये धुन्धुलीं ददौ॥ ५६
तया च कथितं भर्त्रे प्रसूतः सुखमर्भकः।
लोकस्य सुखमुत्पन्नमात्मदेवप्रजोदयात्॥ ५७
ददौ दानं द्विजातिभ्यो जातकर्म विधाय च।
गीतवादित्रघोषोऽभूत्तद्द्वारे मङ्गलं बहु॥ ५८
भर्तुरग्रेऽब्रवीद्वाक्यं स्तन्यं नास्ति कुचे मम।
अन्यस्तन्येन निर्दुग्धा कथं पुष्णामि बालकम्॥ ५९
मत्स्वसुश्च प्रसूताया मृतो बालस्तु वर्तते।
तामाकार्य गृहे रक्ष सा तेऽर्भं पोषयिष्यति॥ ६०
पतिना तत्कृतं सर्वं पुत्ररक्षणहेतवे।
पुत्रस्य धुन्धुकारीति नाम मात्रा प्रतिष्ठितम्॥ ६१
त्रिमासे निर्गते चाथ सा धेनुः सुषुवेऽर्भकम्।
सर्वाङ्गसुन्दरं दिव्यं निर्मलं कनकप्रभम्॥ ६२

एक दिन उसकी बहिन अपने-आप ही उसके घर आयी; तब उसने अपनी बहिनको सारा वृत्तान्त सुनाकर कहा कि 'मेरे मनमें इसकी बड़ी चिन्ता है॥ ५१॥ मैं इस दुःखके कारण दिनोंदिन दुबली हो रही हूँ। बहिन! मैं क्या करूँ?' बहिनने कहा, 'मेरे पेटमें बच्चा है, प्रसव होनेपर वह बालक मैं तुझे दे दूँगी॥ ५२॥ तबतक तू गर्भवतीके समान घरमें गुप्त-रूपसे सुखसे रह। तू मेरे पतिको कुछ धन दे देगी तो वे तुझे अपना बालक दे देंगे॥ ५३॥ (हम ऐसी युक्ति करेंगी) कि जिसमें सब लोग यही कहें कि 'इसका बालक छः महीनेका होकर मर गया' और मैं नित्यप्रति तेरे घर आकर उस बालकका पालन-पोषण करती रहूँगी॥ ५४॥ तू इस समय इसकी जाँच करनेके लिये यह फल गौको खिला दे।' ब्राह्मणीने स्त्रीस्वभाववश जो-जो उसकी बहिनने कहा था, वैसे ही सब किया॥ ५५॥

इसके पश्चात् समयानुसार जब उस स्त्रीके पुत्र हुआ, तब उसके पिताने चुपचाप लाकर उसे धुन्धुलीको दे दिया॥ ५६॥ और उसने आत्मदेवको सूचना दे दी कि मेरे सुखपूर्वक बालक हो गया है। इस प्रकार आत्मदेवके पुत्र हुआ सुनकर सब लोगोंको बड़ा आनन्द हुआ॥ ५७॥ ब्राह्मणने उसका जातकर्म-संस्कार करके ब्राह्मणोंको दान दिया और उसके द्वारपर गाना-बजाना तथा अनेक प्रकारके मांगलिक कृत्य होने लगे॥ ५८॥ धुन्धुलीने अपने पतिसे कहा, 'मेरे स्तनोंमें तो दूध ही नहीं है; फिर गौ आदि किसी अन्य जीवके दूधसे मैं इस बालकका किस प्रकार पालन करूँगी? ॥ ५९॥ मेरी बहिनके अभी बालक हुआ था, वह मर गया है; उसे बुलाकर अपने यहाँ रख लें तो वह आपके इस बच्चेका पालन-पोषण कर लेगी॥ ६०॥ तब पुत्रकी रक्षाके लिये आत्मदेवने वैसा ही किया तथा माता धुन्धुलीने उस बालकका नाम धुन्धुकारी रखा॥ ६१॥

इसके बाद तीन महीने बीतनेपर उस गौके भी एक मनुष्याकार बच्चा हुआ। वह सर्वांगसुन्दर, दिव्य, निर्मल तथा सुवर्णकी-सी कान्तिवाला था॥ ६२॥

दृष्ट्वा प्रसन्नो विप्रस्तु संस्कारान् स्वयमादधे।
मत्वाऽऽश्चर्यं जनाः सर्वे दिदृक्षार्थं समागताः ॥ ६३

भाग्योदयोऽधुना जात आत्मदेवस्य पश्यत।
धेन्वा बालः प्रसूतस्तु देवरूपीति कौतुकम् ॥ ६४

न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापि विधियोगतः।
गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत् ॥ ६५

कियत्कालेन तौ जातौ तरुणौ तनयावुभौ।
गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी धुन्धुकारी महाखलः ॥ ६६

स्नानशौचक्रियाहीनो दुर्भक्षी क्रोधवर्धितः।
दुष्परिग्रहकर्ता च शवहस्तेन भोजनम् ॥ ६७

चौरः सर्वजनद्वेषी परवेश्मप्रदीपकः।
लालनायार्भकान्धृत्वा सद्यः कूपे न्यपातयत् ॥ ६८

हिंसकः शस्त्रधारी च दीनान्धानां प्रपीडकः।
चाण्डालाभिरतो नित्यं पाशहस्तः श्वसंगतः ॥ ६९

तेन वेश्याकुसङ्गेन पित्र्यं वित्तं तु नाशितम्।
एकदा पितरौ ताड्य पात्राणि स्वयमाहरत् ॥ ७०

तत्पिता कृपणः प्रोच्चैर्धनहीनो रुरोद ह।
वन्ध्यत्वं तु समीचीनं कुपुत्रो दुःखदायकः ॥ ७१

उसे देखकर ब्राह्मणदेवताको बड़ा आनन्द हुआ और उसने स्वयं ही उसके सब संस्कार किये। इस समाचारसे और सब लोगोंको भी बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बालकको देखनेके लिये आये ॥ ६३ ॥ तथा आपसमें कहने लगे, 'देखो, भाई! अब आत्मदेवका कैसा भाग्य उदय हुआ है! कैसे आश्चर्यकी बात है कि गौके भी ऐसा दिव्यरूप बालक उत्पन्न हुआ है ॥ ६४ ॥ दैवयोगसे इस गुप्त रहस्यका किसीको भी पता न लगा। आत्मदेवने उस बालकके गौके-से कान देखकर उसका नाम 'गोकर्ण' रखा ॥ ६५ ॥

कुछ काल बीतनेपर वे दोनों बालक जवान हो गये। उनमें गोकर्ण तो बड़ा पण्डित और ज्ञानी हुआ, किन्तु धुन्धुकारी बड़ा ही दुष्ट निकला ॥ ६६ ॥ स्नान-शौचादि ब्राह्मणोचित आचारोंका उसमें नाम भी न था और न खान-पानका ही कोई परहेज था। क्रोध उसमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वह बुरी-बुरी वस्तुओंका संग्रह किया करता था। मुर्देके हाथसे छुआया हुआ अन्न भी खा लेता था ॥ ६७ ॥ दूसरोंकी चोरी करना और सब लोगोंसे द्वेष बढ़ाना उसका स्वभाव बन गया था। छिपे-छिपे वह दूसरोंके घरोंमें आग लगा देता था। दूसरोंके बालकोंको खेलानेके लिये गोदमें लेता और उन्हें चट कुएँमें डाल देता ॥ ६८ ॥ हिंसाका उसे व्यसन-सा हो गया था। हर समय वह अस्त्र-शस्त्र धारण किये रहता और बेचारे अंधे और दीन-दुःखियोंको व्यर्थ तंग करता। चाण्डालोंसे उसका विशेष प्रेम था; बस, हाथमें फंदा लिये कुत्तोंकी टोलीके साथ शिकारकी टोहमें घूमता रहता ॥ ६९ ॥ वेश्याओंके जालमें फँसकर उसने अपने पिताकी सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी। एक दिन माता-पिताको मार-पीटकर घरके सब बर्तन-भाँड़े उठा ले गया ॥ ७० ॥

इस प्रकार जब सारी सम्पत्ति स्वाहा हो गयी, तब उसका कृपण पिता फूट-फूटकर रोने लगा और बोला—'इससे तो इसकी माँका बाँझ रहना ही अच्छा था; कुपुत्र तो बड़ा ही दुःखदायी होता है ॥ ७१ ॥

क्व तिष्ठामि क्व गच्छामि को मे दुःखं व्यपोहयेत्।
प्राणांस्त्यजामि दुःखेन हा कष्टं मम संस्थितम्॥ ७२
तदानीं तु समागत्य गोकर्णो ज्ञानसंयुतः।
बोधयामास जनकं वैराग्यं परिदर्शयन्॥ ७३
असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः।
सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाञ्ज्वलतेऽनिशम्॥ ७४
न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चिन्न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः॥ ७५
मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं मोहतो नरके गतिः।
निपतिष्यति देहोऽयं सर्वं त्यक्त्वा वनं व्रज॥ ७६
तद्वाक्यं तु समाकर्ण्य गन्तुकामः पिताब्रवीत्।
किं कर्तव्यं वने तात तत्त्वं वद सविस्तरम्॥ ७७
अन्धकूपे स्नेहपाशे बद्धः पङ्गुरहं शठः।
कर्मणा पतितो नूनं मामुद्धर दयानिधे॥ ७८

गोकर्ण उवाच

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥ ७९
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥ ८०

अब मैं कहाँ रहूँ? कहाँ जाऊँ? मेरे इस संकटको कौन काटेगा? हाय! मेरे ऊपर तो बड़ी विपत्ति आ पड़ी है, इस दुःखके कारण अवश्य मुझे एक दिन प्राण छोड़ने पड़ेंगे॥ ७२॥ उसी समय परम ज्ञानी गोकर्णजी वहाँ आये और उन्होंने पिताको वैराग्यका उपदेश करते हुए बहुत समझाया॥ ७३॥ वे बोले,'पिताजी! यह संसार असार है। यह अत्यन्त दुःखरूप और मोहमें डालनेवाला है। पुत्र किसका? धन किसका? स्नेहवान् पुरुष रात-दिन दीपकके समान जलता रहता है॥ ७४॥ सुख न तो इन्द्रको है और न चक्रवर्ती राजाको ही; सुख है तो केवल विरक्त, एकान्तजीवी मुनिको॥ ७५॥ 'यह मेरा पुत्र है' इस अज्ञानको छोड़ दीजिये। मोहसे नरककी प्राप्ति होती है। यह शरीर तो नष्ट होगा ही। इसलिये सब कुछ छोड़कर वनमें चले जाइये॥ ७६॥

गोकर्णके वचन सुनकर आत्मदेव वनमें जानेके लिये तैयार हो गया और उनसे कहने लगा, 'बेटा! वनमें रहकर मुझे क्या करना चाहिये, यह मुझसे विस्तारपूर्वक कहो॥ ७७॥ मैं बड़ा मूर्ख हूँ, अबतक कर्मवश स्नेहपाशमें बँधा हुआ अपंगकी भाँति इस घररूप अँधेरे कुएँमें ही पड़ा रहा हूँ। तुम बड़े दयालु हो, इससे मेरा उद्धार करो'॥ ७८॥

गोकर्णने कहा—पिताजी! यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है; इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको 'अपना' कभी न मानें। इस संसारको रात-दिन क्षणभंगुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्यरसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें॥ ७९॥ भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, निरन्तर उसीका आश्रय लिये रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुख मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको पास न फटकने दें तथा जल्दी-से-जल्दी दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवान्‌की कथाओंके रसका ही पान करें॥ ८०॥

एवं सुतोक्तिवशतोऽपि गृहं विहाय
यातो वनं स्थिरमतिर्गतषष्टिवर्षः।
युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्ययासौ
श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात्॥ ८१

इस प्रकार पुत्रकी वाणीसे प्रभावित होकर आत्मदेवने घर छोड़ दिया और वनकी यात्रा की। यद्यपि उसकी आयु उस समय साठ वर्षकी हो चुकी थी, फिर भी बुद्धिमें पूरी दृढ़ता थी। वहाँ रात-दिन भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे और नियमपूर्वक भागवतके दशमस्कन्धका पाठ करनेसे उसने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको प्राप्त कर लिया॥ ८१॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये विप्रमोक्षो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

धुन्धुकारीको प्रेतयोनिकी प्राप्ति और उससे उद्धार

सूत उवाच

पितर्युपरते तेन जननी ताडिता भृशम्।
क्व वित्तं तिष्ठति ब्रूहि हनिष्ये लत्तया न चेत्॥ १
इति तद्वाक्यसंत्रासाज्जनन्या पुत्रदुःखतः।
कूपे पातः कृतो रात्रौ तेन सा निधनं गता॥ २
गोकर्णस्तीर्थयात्रार्थं निर्गतो योगसंस्थितः।
न दुःखं न सुखं तस्य न वैरी नापि बान्धवः॥ ३
धुन्धुकारी गृहेऽतिष्ठत्पञ्चपण्यवधूवृतः।
अत्युग्रकर्मकर्ता च तत्पोषणविमूढधीः॥ ४
एकदा कुलटास्तास्तु भूषणान्यभिलिप्सवः।
तदर्थं निर्गतो गेहात्कामान्धो मृत्युमस्मरन्॥ ५
यतस्ततश्च संहृत्य वित्तं वेश्म पुनर्गतः।
ताभ्योऽयच्छत्सुवस्त्राणि भूषणानि कियन्ति च॥ ६
बहुवित्तचयं दृष्ट्वा रात्रौ नार्यो व्यचारयन्।
चौर्यं करोत्यसौ नित्यमतो राजा ग्रहीष्यति॥ ७

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! पिताके वन चले जानेपर एक दिन धुन्धुकारीने अपनी माताको बहुत पीटा और कहा—'बता, धन कहाँ रखा है? नहीं तो अभी तेरी लुआठी (जलती लकड़ी)-से खबर लूँगा॥ १॥ उसकी इस धमकीसे डरकर और पुत्रके उपद्रवोंसे दुःखी होकर वह रात्रिके समय कुएँमें जा गिरी और इसीसे उसकी मृत्यु हो गयी॥ २॥ योगनिष्ठ गोकर्णजी तीर्थयात्राके लिये निकल गये। उन्हें इन घटनाओंसे कोई सुख या दुःख नहीं होता था; क्योंकि उनका न कोई मित्र था न शत्रु॥ ३॥

धुन्धुकारी पाँच वेश्याओंके साथ घरमें रहने लगा। उनके लिये भोग-सामग्री जुटानेकी चिन्ताने उसकी बुद्धि नष्ट कर दी और वह नाना प्रकारके अत्यन्त क्रूर कर्म करने लगा॥ ४॥ एक दिन उन कुलटाओंने उससे बहुत-से गहने माँगे। वह तो कामसे अंधा हो रहा था, मौतकी उसे कभी याद नहीं आती थी। बस, उन्हें जुटानेके लिये वह घरसे निकल पड़ा॥ ५॥ वह जहाँ-तहाँसे बहुत-सा धन चुराकर घर लौट आया तथा उन्हें कुछ सुन्दर वस्त्र और आभूषण लाकर दिये॥ ६॥ चोरीका बहुत माल देखकर रात्रिके समय स्त्रियोंने विचार किया कि 'यह नित्य ही चोरी करता है, इसलिये इसे किसी दिन अवश्य राजा पकड़ लेगा॥ ७॥

वित्तं हृत्वा पुनश्चैनं मारयिष्यति निश्चितम्।
अतोऽर्थगुप्तये गूढमस्माभिः किं न हन्यते॥ ८
निहत्यैनं गृहीत्वार्थं यास्यामो यत्र कुत्रचित्।
इति ता निश्चयं कृत्वा सुप्तं सम्बद्ध्य रश्मिभिः॥ ९
पाशं कण्ठे निधायास्य तन्मृत्युमुपचक्रमुः।
त्वरितं न ममारासौ चिन्तायुक्तास्तदाभवन्॥ १०
तप्ताङ्गारसमूहांश्च तन्मुखे हि विचिक्षिपुः।
अग्निज्वालातिदुःखेन व्याकुलो निधनं गतः॥ ११
तं देहं मुमुचुर्गर्ते प्रायः साहसिकाः स्त्रियः।
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापीदं तथैव च॥ १२
लोकैः पृष्टा वदन्ति स्म दूरं यातः प्रियो हि नः।
आगमिष्यति वर्षेऽस्मिन् वित्तलोभविकर्षितः॥ १३
स्त्रीणां नैव तु विश्वासं दुष्टानां कारयेद्बुधः।
विश्वासे यः स्थितो मूढः स दुःखैः परिभूयते॥ १४
सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम्।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम्॥ १५
संहृत्य वित्तं ता याताः कुलटा बहुभर्तृकाः।
धुन्धुकारी बभूवाथ महान् प्रेतः कुकर्मतः॥ १६
वात्यारूपधरो नित्यं धावन्दशदिशोऽन्तरम्।
शीतातपपरिक्लिष्टो निराहारः पिपासितः॥ १७
न लेभे शरणं क्वापि हा दैवेति मुहुर्वदन्।
कियत्कालेन गोकर्णो मृतं लोकादबुध्यत॥ १८
अनाथं तं विदित्वैव गयाश्राद्धमचीकरत्।
यस्मिंस्तीर्थे तु संयाति तत्र श्राद्धमवर्तयत्॥ १९

राजा यह सारा धन छीनकर इसे निश्चय ही प्राणदण्ड देगा। जब एक दिन इसे मरना ही है, तब हम ही धनकी रक्षाके लिये गुप्तरूपसे इसको क्यों न मार डालें॥ ८॥ इसे मारकर हम इसका माल-मता लेकर जहाँ-कहीं चली जायँगी।' ऐसा निश्चय कर उन्होंने सोये हुए धुन्धुकारीको रस्सियोंसे कस दिया और उसके गलेमें फाँसी लगाकर उसे मारनेका प्रयत्न किया। इससे जब वह जल्दी न मरा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई॥ ९-१०॥ तब उन्होंने उसके मुखपर बहुत-से दहकते अँगारे डाले; इससे वह अग्निकी लपटोंसे बहुत छटपटाकर मर गया॥ ११॥ उन्होंने उसके शरीरको एक गड्ढेमें डालकर गाड़ दिया। सच है, स्त्रियाँ प्रायः बड़ी दुःसाहसी होती हैं। उनके इस कृत्यका किसीको भी पता न चला॥ १२॥ लोगोंके पूछनेपर कह देती थीं कि 'हमारे प्रियतम पैसेके लोभसे अबकी बार कहीं दूर चले गये हैं, इसी वर्षके अन्दर लौट आयेंगे'॥ १३॥ बुद्धिमान् पुरुषको दुष्टा स्त्रियोंका कभी विश्वास न करना चाहिये। जो मूर्ख इनका विश्वास करता है, उसे दुःखी होना पड़ता है॥ १४॥ इनकी वाणी तो अमृतके समान कामियोंके हृदयमें रसका संचार करती है; किन्तु हृदय छूरेकी धारके समान तीक्ष्ण होता है। भला, इन स्त्रियोंका कौन प्यारा है?॥ १५॥

वे कुलटाएँ धुन्धुकारीकी सारी सम्पत्ति समेटकर वहाँसे चंपत हो गयीं; उनके ऐसे न जाने कितने पति थे। और धुन्धुकारी अपने कुकर्मोंके कारण भयंकर प्रेत हुआ॥ १६॥ वह बवंडरके रूपमें सर्वदा दसों दिशाओंमें भटकता रहता था तथा शीत-घामसे सन्तप्त और भूख-प्याससे व्याकुल होनेके कारण 'हा दैव! हा दैव!' चिल्लाता रहता था। परन्तु उसे कहीं भी कोई आश्रय न मिला। कुछ काल बीतनेपर गोकर्णने भी लोगोंके मुखसे धुन्धुकारीकी मृत्युका समाचार सुना॥ १७-१८॥ तब उसे अनाथ समझकर उन्होंने उसका गयाजीमें श्राद्ध किया; और भी जहाँ-जहाँ वे जाते थे, उसका श्राद्ध अवश्य करते थे॥ १९॥

एवं भ्रमन् स गोकर्णः स्वपुरं समुपेयिवान्।
रात्रौ गृहाङ्गणे स्वप्तुमागतोऽलक्षितः परैः॥ २०

इस प्रकार घूमते-घूमते गोकर्णजी अपने नगरमें आये और रात्रिके समय दूसरोंकी दृष्टिसे बचकर सीधे अपने घरके आँगनमें सोनेके लिये पहुँचे॥ २०॥

तत्र सुप्तं स विज्ञाय धुन्धुकारी स्वबान्धवम्।
निशीथे दर्शयामास महारौद्रतरं वपुः॥ २१

वहाँ अपने भाईको सोया देख आधी रातके समय धुन्धुकारीने अपना बड़ा विकट रूप दिखाया॥ २१॥

सकृन्मेषः सकृद्धस्ती सकृच्च महिषोऽभवत्।
सकृदिन्द्रः सकृच्चाग्नि : पुनश्च पुरुषोऽभवत्॥ २२

वह कभी भेड़ा, कभी हाथी, कभी भैंसा, कभी इन्द्र और कभी अग्निका रूप धारण करता। अन्तमें वह मनुष्यके आकारमें प्रकट हुआ॥ २२॥

वैपरीत्यमिदं दृष्ट्वा गोकर्णो धैर्यसंयुतः।
अयं दुर्गतिकः कोऽपि निश्चित्याथ तमब्रवीत्॥ २३

ये विपरीत अवस्थाएँ देखकर गोकर्णने निश्चय किया कि यह कोई दुर्गतिको प्राप्त हुआ जीव है। तब उन्होंने उससे धैर्यपूर्वक पूछा॥ २३॥

गोकर्ण उवाच

कस्त्वमुग्रतरो रात्रौ कुतो यातो दशामिमाम्।
किं वा प्रेतः पिशाचो वा राक्षसोऽसीति शंस नः॥ २४

गोकर्णने कहा—तू कौन है? रात्रिके समय ऐसे भयानक रूप क्यों दिखा रहा है? तेरी यह दशा कैसे हुई? हमें बता तो सही—तू प्रेत है, पिशाच है अथवा कोई राक्षस है?॥ २४॥

सूत उवाच

एवं पृष्टस्तदा तेन रुरोदोच्चैः पुनः पुनः।
अशक्तो वचनोच्चारे संज्ञामात्रं चकार ह॥ २५

सूतजी कहते हैं—गोकर्णके इस प्रकार पूछनेपर वह बार-बार जोर-जोरसे रोने लगा। उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं थी, इसलिये उसने केवल संकेतमात्र किया॥ २५॥

ततोऽञ्जलौ जलं कृत्वा गोकर्णस्तमुदैरयत्।
तत्सेकहतपापोऽसौ प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ २६

तब गोकर्णने अंजलिमें जल लेकर उसे अभिमन्त्रित करके उसपर छिड़का। इससे उसके पापोंका कुछ शमन हुआ और वह इस प्रकार कहने लगा॥ २६॥

प्रेत उवाच

अहं भ्राता त्वदीयोऽस्मि धुन्धुकारीति नामतः।
स्वकीयेनैव दोषेण ब्रह्मत्वं नाशितं मया॥ २७

प्रेत बोला—'मैं तुम्हारा भाई हूँ। मेरा नाम है धुन्धुकारी। मैंने अपने ही दोषसे अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया॥ २७॥

कर्मणो नास्ति संख्या मे महाज्ञाने विवर्तिनः।
लोकानां हिंसकः सोऽहं स्त्रीभिर्दुःखेन मारितः॥ २८

मेरे कुकर्मोंकी गिनती नहीं की जा सकती। मैं तो महान् अज्ञानमें चक्कर काट रहा था। इसीसे मैंने लोगोंकी बड़ी हिंसा की। अन्तमें कुलटा स्त्रियोंने मुझे तड़पा-तड़पाकर मार डाला॥ २८॥

अतः प्रेतत्वमापन्नो दुर्दशां च वहाम्यहम्।
वाताहारेण जीवामि दैवाधीनफलोदयात्॥ २९

इसीसे अब प्रेतयोनिमें पड़कर यह दुर्दशा भोग रहा हूँ। अब दैववश कर्मफलका उदय होनेसे मैं केवल वायुभक्षण करके जी रहा हूँ॥ २९॥

अहो बन्धो कृपासिन्धो भ्रातर्मामाशु मोचय।
गोकर्णो वचनं श्रुत्वा तस्मै वाक्यमथाब्रवीत्॥ ३०

भाई! तुम दयाके समुद्र हो; अब किसी प्रकार जल्दी ही मुझे इस योनिसे छुड़ाओ।' गोकर्णने धुन्धुकारीकी सारी बातें सुनीं और तब उससे बोले॥ ३०॥

गोकर्ण उवाच

त्वदर्थं तु गयापिण्डो मया दत्तो विधानतः।
तत्कथं नैव मुक्तोऽसि ममाश्चर्यमिदं महत्॥ ३१
गयाश्राद्धान्न मुक्तिश्चेदुपायो नापरस्त्विह।
किं विधेयं मया प्रेत तत्त्वं वद सविस्तरम्॥ ३२

प्रेत उवाच

गयाश्राद्धशतेनापि मुक्तिर्मे न भविष्यति।
उपायमपरं कञ्चित्त्वं विचारय साम्प्रतम्॥ ३३
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य गोकर्णो विस्मयं गतः।
शतश्राद्धैर्न मुक्तिश्चेदसाध्यं मोचनं तव॥ ३४
इदानीं तु निजं स्थानमातिष्ठ प्रेत निर्भयः।
त्वन्मुक्तिसाधकं किञ्चिदाचरिष्ये विचार्य च॥ ३५
धुन्धुकारी निजस्थानं तेनादिष्टस्ततो गतः।
गोकर्णश्चिन्तयामास तां रात्रिं न तदध्यगात्॥ ३६
प्रातस्तमागतं दृष्ट्वा लोकाः प्रीत्या समागताः।
तत्सर्वं कथितं तेन यज्जातं च यथा निशि॥ ३७
विद्वांसो योगनिष्ठाश्च ज्ञानिनो ब्रह्मवादिनः।
तन्मुक्तिं नैव तेऽपश्यन् पश्यन्तः शास्त्रसंचयान्॥ ३८
ततः सर्वैः सूर्यवाक्यं तन्मुक्तौ स्थापितं परम्।
गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा॥ ३९
तुभ्यं नमो जगत्साक्षिन् ब्रूहि मे मुक्तिहेतुकम्।
तच्छ्रुत्वा दूरतः सूर्यः स्फुटमित्यभ्यभाषत॥ ४०
श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु।
इति सूर्यवचः सर्वैर्धर्मरूपं तु विश्रुतम्॥ ४१

गोकर्णने कहा—भाई! मुझे इस बातका बड़ा आश्चर्य है—मैंने तुम्हारे लिये विधिपूर्वक गयाजीमें पिण्डदान किया, फिर भी तुम प्रेतयोनिसे मुक्त कैसे नहीं हुए?॥ ३१॥ यदि गया-श्राद्धसे भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई, तब इसका और कोई उपाय ही नहीं है। अच्छा, तुम सब बात खोलकर कहो—मुझे अब क्या करना चाहिये?॥ ३२॥

प्रेतने कहा—मेरी मुक्ति सैकड़ों गया-श्राद्ध करनेसे भी नहीं हो सकती। अब तो तुम इसका कोई और उपाय सोचो॥ ३३॥

प्रेतकी यह बात सुनकर गोकर्णको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कहने लगे—'यदि सैकड़ों गया-श्राद्धोंसे भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती, तब तो तुम्हारी मुक्ति असम्भव ही है॥ ३४॥ अच्छा, अभी तो तुम निर्भय होकर अपने स्थानपर रहो; मैं विचार करके तुम्हारी मुक्तिके लिये कोई दूसरा उपाय करूँगा'॥ ३५॥

गोकर्णकी आज्ञा पाकर धुन्धुकारी वहाँसे अपने स्थानपर चला आया। इधर गोकर्णने रातभर विचार किया, तब भी उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा॥ ३६॥ प्रात:काल उनको आया देख लोग प्रेमसे उनसे मिलने आये। तब गोकर्णने रातमें जो कुछ जिस प्रकार हुआ था, वह सब उन्हें सुना दिया॥ ३७॥ उनमें जो लोग विद्वान्, योगनिष्ठ, ज्ञानी और वेदज्ञ थे, उन्होंने भी अनेकों शास्त्रोंको उलट-पलटकर देखा; तो भी उसकी मुक्तिका कोई उपाय न मिला॥ ३८॥ तब सबने यही निश्चय किया कि इस विषयमें सूर्यनारायण जो आज्ञा करें, वही करना चाहिये। अत: गोकर्णने अपने तपोबलसे सूर्यकी गतिको रोक दिया॥ ३९॥ उन्होंने स्तुति की—'भगवन्! आप सारे संसारके साक्षी हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप मुझे कृपा करके धुन्धुकारीकी मुक्तिका साधन बताइये।' गोकर्णकी यह प्रार्थना सुनकर सूर्यदेवने दूरसे ही स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'श्रीमद्भागवतसे मुक्ति हो सकती है, इसलिये तुम उसका सप्ताह पारायण करो।' सूर्यका यह धर्ममय वचन वहाँ सभीने सुना॥ ४०-४१॥

सर्वेऽब्रुवन् प्रयत्नेन कर्तव्यं सुकरं त्विदम्।
गोकर्णो निश्चयं कृत्वा वाचनार्थं प्रवर्तितः॥ ४२

तब सबने यही कहा कि 'प्रयत्नपूर्वक यही करो, है भी यह साधन बहुत सरल।' अतः गोकर्णजी भी तदनुसार निश्चय करके कथा सुनानेके लिये तैयार हो गये॥ ४२॥

तत्र संश्रवणार्थाय देशग्रामाज्जना ययुः।
पङ्ग्वन्धवृद्धमन्दाश्च तेऽपि पापक्षयाय वै॥ ४३
समाजस्तु महाञ्जातो देवविस्मयकारकः।
यदैवासनमास्थाय गोकर्णोऽकथयत्कथाम्॥ ४४
स प्रेतोऽपि तदाऽऽयातः स्थानं पश्यन्नितस्ततः।
सप्तग्रन्थियुतं तत्रापश्यत्कीचकमुच्छ्रितम्॥ ४५

देश और गाँवोंसे अनेकों लोग कथा सुननेके लिये आये। बहुत-से लँगड़े-लूले, अंधे, बूढ़े और मन्दबुद्धि पुरुष भी अपने पापोंकी निवृत्तिके उद्देश्यसे वहाँ आ पहुँचे ॥ ४३॥ इस प्रकार वहाँ इतनी भीड़ हो गयी कि उसे देखकर देवताओंको भी आश्चर्य होता था। जब गोकर्णजी व्यासगद्दीपर बैठकर कथा कहने लगे, तब वह प्रेत भी वहाँ आ पहुँचा और इधर-उधर बैठनेके लिये स्थान ढूँढ़ने लगा। इतनेमें ही उसकी दृष्टि एक सीधे रखे हुए सात गाँठके बाँसपर पड़ी॥ ४४-४५॥

तन्मूलच्छिद्रमाविश्य श्रवणार्थं स्थितो ह्यसौ।
वातरूपी स्थितिं कर्तुमशक्तो वंशमाविशत्॥ ४६

उसीके नीचेके छिद्रमें घुसकर वह कथा सुननेके लिये बैठ गया। वायुरूप होनेके कारण वह बाहर कहीं बैठ नहीं सकता था, इसलिये बाँसमें घुस गया॥ ४६॥

वैष्णवं ब्राह्मणं मुख्यं श्रोतारं परिकल्प्य सः।
प्रथमस्कन्धतः स्पष्टमाख्यानं धेनुजोऽकरोत्॥ ४७

गोकर्णजीने एक वैष्णव ब्राह्मणको मुख्य श्रोता बनाया और प्रथमस्कन्धसे ही स्पष्ट स्वरमें कथा सुनानी आरम्भ कर दी॥ ४७॥

दिनान्ते रक्षिता गाथा तदा चित्रं बभूव ह।
वंशैकग्रन्थिभेदोऽभूत्सशब्दं पश्यतां सताम्॥ ४८
द्वितीयेऽह्नि तथा सायं द्वितीयग्रन्थिभेदनम्।
तृतीयेऽह्नि तथा सायं तृतीयग्रन्थिभेदनम्॥ ४९
एवं सप्तदिनैश्चैव सप्तग्रन्थिविभेदनम्।
कृत्वा स द्वादशस्कन्धश्रवणात्प्रेततां जहौ॥ ५०
दिव्यरूपधरो जातस्तुलसीदाममण्डितः।
पीतवासा घनश्यामो मुकुटी कुण्डलान्वितः॥ ५१

सायंकालमें जब कथाको विश्राम दिया गया, तब एक बड़ी विचित्र बात हुई। वहाँ सभासदोंके देखते-देखते उस बाँसकी एक गाँठ तड़-तड़ शब्द करती फट गयी॥ ४८॥ इसी प्रकार दूसरे दिन सायंकालमें दूसरी गाँठ फटी और तीसरे दिन उसी समय तीसरी॥ ४९॥ इस प्रकार सात दिनोंमें सातों गाँठोंको फोड़कर धुन्धुकारी बारहों स्कन्धोंके सुननेसे पवित्र होकर प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया और दिव्यरूप धारण करके सबके सामने प्रकट हुआ। उसका मेघके समान श्याम शरीर पीताम्बर और तुलसीकी मालाओंसे सुशोभित था तथा सिरपर मनोहर मुकुट और कानोंमें कमनीय कुण्डल झिलमिला रहे थे॥ ५०-५१॥

ननाम भ्रातरं सद्यो गोकर्णमिति चाब्रवीत्।
त्वयाहं मोचितो बन्धो कृपया प्रेतकश्मलात्॥ ५२

उसने तुरन्त अपने भाई गोकर्णको प्रणाम करके कहा—'भाई! तुमने कृपा करके मुझे प्रेतयोनिकी यातनाओंसे मुक्त कर दिया॥ ५२॥

धन्या भागवती वार्ता प्रेतपीडाविनाशिनी।
सप्ताहोऽपि तथा धन्यः कृष्णलोकफलप्रदः॥ ५३

कम्पन्ते सर्वपापानि सप्ताहश्रवणे स्थिते।
अस्माकं प्रलयं सद्यः कथा चेयं करिष्यति॥ ५४

आर्द्रं शुष्कं लघु स्थूलं वाङ्मनःकर्मभिः कृतम्।
श्रवणं विदहेत्पापं पावकः समिधो यथा॥ ५५

अस्मिन् वै भारते वर्षे सूरिभिर्देवसंसदि।
अकथाश्राविणां पुंसां निष्फलं जन्म कीर्तितम्॥ ५६

किं मोहतो रक्षितेन सुपुष्टेन बलीयसा।
अध्रुवेण शरीरेण शुकशास्त्रकथां विना॥ ५७

अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पात्रं मूत्रपुरीषयोः॥ ५८

जराशोकविपाकार्तं रोगमन्दिरमातुरम्।
दुष्पूरं दुर्धरं दुष्टं सदोषं क्षणभङ्गुरम्॥ ५९

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्तं शरीरमिति वर्णितम्।
अस्थिरेण स्थिरं कर्म कुतोऽयं साधयेन्न हि॥ ६०

यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥ ६१

यह प्रेतपीड़ाका नाश करनेवाली श्रीमद्भागवतकी कथा धन्य है तथा श्रीकृष्णचन्द्रके धामकी प्राप्ति करानेवाला इसका सप्ताह-पारायण भी धन्य है!॥ ५३॥ जब सप्ताहश्रवणका योग लगता है, तब सब पाप थर्रा उठते हैं कि अब यह भागवतकी कथा जल्दी ही हमारा अन्त कर देगी॥ ५४॥ जिस प्रकार आग गीली-सूखी, छोटी-बड़ी—सब तरहकी लकड़ियोंको जला डालती है, उसी प्रकार यह सप्ताहश्रवण मन, वचन और कर्मद्वारा किये हुए नये-पुराने, छोटे-बड़े—सभी प्रकारके पापोंको भस्म कर देता है॥ ५५॥

विद्वानोंने देवताओंकी सभामें कहा है कि जो लोग इस भारतवर्षमें श्रीमद्भागवतकी कथा नहीं सुनते, उनका जन्म वृथा ही है॥ ५६॥ भला, मोहपूर्वक लालन-पालन करके यदि इस अनित्य शरीरको हृष्ट-पुष्ट और बलवान् भी बना लिया तो भी श्रीमद्भागवतकी कथा सुने बिना इससे क्या लाभ हुआ? ॥ ५७॥ अस्थियाँ ही इस शरीरके आधारस्तम्भ हैं, नस-नाडीरूप रस्सियोंसे यह बँधा हुआ है, ऊपरसे इसपर मांस और रक्त थोपकर इसे चर्मसे मँढ़ दिया गया है। इसके प्रत्येक अंगमें दुर्गन्ध आती है; क्योंकि है तो यह मल-मूत्रका भाण्ड ही॥ ५८॥ वृद्धावस्था और शोकके कारण यह परिणाममें दुःखमय ही है, रोगोंका तो घर ही ठहरा। यह निरन्तर किसी-न-किसी कामनासे पीड़ित रहता है, कभी इसकी तृप्ति नहीं होती। इसे धारण किये रहना भी एक भार ही है; इसके रोम-रोममें दोष भरे हुए हैं और नष्ट होनेमें इसे एक क्षण भी नहीं लगता॥ ५९॥ अन्तमें यदि इसे गाड़ दिया जाता है तो इसके कीड़े बन जाते हैं; कोई पशु खा जाता है तो यह विष्ठा हो जाता है और अग्निमें जला दिया जाता है तो भस्मकी ढेरी हो जाता है। ये तीन ही इसकी गतियाँ बतायी गयी हैं। ऐसे अस्थिर शरीरसे मनुष्य अविनाशी फल देनेवाला काम क्यों नहीं बना लेता?॥ ६०॥ जो अन्न प्रातःकाल पकाया जाता है, वह सायंकालतक बिगड़ जाता है; फिर उसीके रससे पुष्ट हुए शरीरकी नित्यता कैसी॥ ६१॥

सप्ताहश्रवणाल्लोके प्राप्यते निकटे हरिः।
अतो दोषनिवृत्त्यर्थमेतदेव हि साधनम्॥ ६२
बुद्बुदा इव तोयेषु मशका इव जन्तुषु।
जायन्ते मरणायैव कथाश्रवणवर्जिताः॥ ६३
जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम्।
चित्रं किमु तदा चित्तग्रन्थिभेदः कथाश्रवात्॥ ६४
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताहश्रवणे कृते॥ ६५
संसारकर्दमालेपप्रक्षालनपटीयसि।
कथातीर्थे स्थिते चित्ते मुक्तिरेव बुधैः स्मृता॥ ६६
एवं ब्रुवति वै तस्मिन् विमानमागमत्तदा।
वैकुण्ठवासिभिर्युक्तं प्रस्फुरद्दीप्तिमण्डलम्॥ ६७
सर्वेषां पश्यतां भेजे विमानं धुन्धुलीसुतः।
विमाने वैष्णवान् वीक्ष्य गोकर्णो वाक्यमब्रवीत्॥ ६८

गोकर्ण उवाच

अत्रैव बहवः सन्ति श्रोतारो मम निर्मलाः।
आनीतानि विमानानि न तेषां युगपत्कुतः॥ ६९
श्रवणं समभागेन सर्वेषामिह दृश्यते।
फलभेदः कुतो जातः प्रब्रुवन्तु हरिप्रियाः॥ ७०

हरिदासा ऊचुः

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः।
श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम्।
फलभेदस्ततो जातो भजनादपि मानद॥ ७१

इस लोकमें सप्ताहश्रवण करनेसे भगवान्‌की शीघ्र ही प्राप्ति हो सकती है। अतः सब प्रकारके दोषोंकी निवृत्तिके लिये एकमात्र यही साधन है॥ ६२॥ जो लोग भागवतकी कथासे वंचित हैं, वे तो जलमें बुद्बुदे और जीवोंमें मच्छरोंके समान केवल मरनेके लिये ही पैदा होते हैं॥ ६३॥ भला, जिसके प्रभावसे जड़ और सूखे हुए बाँसकी गाँठें फट सकती हैं, उस भागवतकथाका श्रवण करनेसे चित्तकी गाँठोंका खुल जाना कौन बड़ी बात है॥ ६४॥

सप्ताहश्रवण करनेसे मनुष्यके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, उसके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं॥ ६५॥

यह भागवतकथारूप तीर्थ संसारके कीचड़को धोनेमें बड़ा ही पटु है। विद्वानोंका कथन है कि जब यह हृदयमें स्थित हो जाता है, तब मनुष्यकी मुक्ति निश्चित ही समझनी चाहिये"॥ ६६॥

जिस समय धुन्धुकारी ये सब बातें कह रहा था, जिसके लिये वैकुण्ठवासी पार्षदोंके सहित एक विमान उतरा; उससे सब ओर मण्डलाकार प्रकाश फैल रहा था॥ ६७॥

सब लोगोंके सामने ही धुन्धुकारी उस विमानपर चढ़ गया। तब उस विमानपर आये हुए पार्षदोंको देखकर उनसे गोकर्णने यह बात कही॥ ६८॥

गोकर्णने पूछा—भगवान्‌के प्रिय पार्षदो! यहाँ हमारे अनेकों शुद्धहृदय श्रोतागण हैं, उन सबके लिये आपलोग एक साथ बहुत-से विमान क्यों नहीं लाये? हम देखते हैं कि यहाँ सभीने समानरूपसे कथा सुनी है, फिर फलमें इस प्रकारका भेद क्यों हुआ, यह बताइये॥ ६९-७०॥

भगवान्‌के सेवकोंने कहा—हे मानद! इस फलभेदका कारण इनके श्रवणका भेद ही है। यह ठीक है कि श्रवण तो सबने समानरूपसे ही किया है, किन्तु इसके-जैसा मनन नहीं किया। इसीसे एक साथ भजन करनेपर भी उसके फलमें भेद रहा॥ ७१॥

सप्तरात्रमुपोष्यैव प्रेतेन श्रवणं कृतम्।
मननादि तथा तेन स्थिरचित्ते कृतं भृशम्॥ ७२
अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम्।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः॥ ७३
अवैष्णवो हतो देशो हतं श्राद्धमपात्रकम्।
हतमश्रोत्रिये दानमनाचारं हतं कुलम्॥ ७४
विश्वासो गुरुवाक्येषु स्वस्मिन्दीनत्वभावना।
मनोदोषजयश्चैव कथायां निश्चला मतिः॥ ७५
एवमादि कृतं चेत्स्यात्तदा वै श्रवणे फलम्।
पुनः श्रवान्ते सर्वेषां वैकुण्ठे वसतिर्ध्रुवम्॥ ७६
गोकर्ण तव गोविन्दो गोलोकं दास्यति स्वयम्।
एवमुक्त्वा ययुः सर्वे वैकुण्ठं हरिकीर्तनाः॥ ७७
श्रावणे मासि गोकर्णः कथामूचे तथा पुनः।
सप्तरात्रवतीं भूयः श्रवणं तैः कृतं पुनः॥ ७८
कथासमाप्तौ यज्जातं श्रूयतां तच्च नारद॥ ७९
विमानैः सह भक्तैश्च हरिराविर्बभूव ह।
जयशब्दा नमःशब्दास्तत्रासन् बहवस्तदा॥ ८०
पाञ्चजन्यध्वनिं चक्रे हर्षात्तत्र स्वयं हरिः।
गोकर्णं तु समालिङ्ग्याकरोत्स्वसदृशं हरिः॥ ८१
श्रोतॄनन्यान् घनश्यामान् पीतकौशेयवाससः।
किरीटिनः कुण्डलिनस्तथा चक्रे हरिः क्षणात्॥ ८२
तद्ग्रामे ये स्थिता जीवा आश्वचाण्डालजातयः।
विमाने स्थापितास्तेऽपि गोकर्णकृपया तदा॥ ८३
प्रेषिता हरिलोके ते यत्र गच्छन्ति योगिनः।
गोकर्णेन स गोपालो गोलोकं गोपवल्लभम्।
कथाश्रवणतः प्रीतो निर्ययौ भक्तवत्सलः॥ ८४

इस प्रेतने सात दिनोंतक निराहार रहकर श्रवण किया था, तथा सुने हुए विषयका स्थिरचित्तसे यह खूब मनन-निदिध्यासन भी करता रहता था॥ ७२॥ जो ज्ञान दृढ़ नहीं होता, वह व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार ध्यान न देनेसे श्रवणका, संदेहसे मन्त्रका और चित्तके इधर-उधर भटकते रहनेसे जपका भी कोई फल नहीं होता॥ ७३॥ वैष्णवहीन देश, अपात्रको कराया हुआ श्राद्धका भोजन, अश्रोत्रियको दिया हुआ दान एवं आचारहीन कुल—इन सबका नाश हो जाता है॥ ७४॥ गुरुवचनोंमें विश्वास, दीनताका भाव, मनके दोषोंपर विजय और कथामें चित्तकी एकाग्रता इत्यादि नियमोंका यदि पालन किया जाय तो श्रवणका यथार्थ फल मिलता है। यदि ये श्रोता फिरसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुनें तो निश्चय ही सबको वैकुण्ठकी प्राप्ति होगी॥ ७५-७६॥ और गोकर्णजी! आपको तो भगवान् स्वयं आकर गोलोकधाममें ले जायँगे। यों कहकर वे सब पार्षद हरिकीर्तन करते वैकुण्ठलोकको चले गये॥ ७७॥

श्रावण मासमें गोकर्णजीने फिर उसी प्रकार सप्ताहक्रमसे कथा कही और उन श्रोताओंने उसे फिर सुना॥ ७८॥ नारदजी! इस कथाकी समाप्तिपर जो कुछ हुआ, वह सुनिये॥ ७९॥ वहाँ भक्तोंसे भरे हुए विमानोंके साथ भगवान् प्रकट हुए। सब ओरसे खूब जय-जयकार और नमस्कारकी ध्वनियाँ होने लगीं॥ ८०॥ भगवान् स्वयं हर्षित होकर अपने पांचजन्य शंखकी ध्वनि करने लगे और उन्होंने गोकर्णको हृदयसे लगाकर अपने ही समान बना लिया॥ ८१॥ उन्होंने क्षणभरमें ही अन्य सब श्रोताओंको भी मेघके समान श्यामवर्ण, रेशमी पीताम्बरधारी तथा किरीट और कुण्डलादिसे विभूषित कर दिया॥ ८२॥ उस गाँवमें कुत्ते और चाण्डालपर्यन्त जितने भी जीव थे, वे सभी गोकर्णजीकी कृपासे विमानोंपर चढ़ा लिये गये॥ ८३॥ तथा जहाँ योगिजन जाते हैं, उस भगवद्धाममें वे भेज दिये गये। इस प्रकार भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण कथाश्रवणसे प्रसन्न होकर गोकर्णजीको साथ ले अपने ग्वालबालोंके प्रिय गोलोकधाममें चले गये॥ ८४॥

अयोध्यावासिनः पूर्वं यथा रामेण संगताः ।
तथा कृष्णेन ते नीता गोलोकं योगिदुर्लभम् ॥ ८५
यत्र सूर्यस्य सोमस्य सिद्धानां न गतिः कदा ।
तं लोकं हि गतास्ते तु श्रीमद्भागवतश्रवात् ॥ ८६
ब्रूमोऽत्र ते किं फलवृन्दमुज्ज्वलं
सप्ताहयज्ञेन कथासु सञ्चितम् ।
कर्णेन गोकर्णकथाक्षरो यैः
पीतश्च ते गर्भगता न भूयः ॥ ८७
वाताम्बुपर्णाशनदेहशोषणै-
स्तपोभिरुग्रैश्चिरकालसञ्चितैः ।
योगैश्च संयान्ति न तां गतिं वै
सप्ताहगाथाश्रवणेन यान्ति याम् ॥ ८८
इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः ।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः ॥ ८९
आख्यानमेतत्परमं पवित्रं
श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम् ।
श्राद्धे प्रयुक्तं पितृतृप्तिमावहे-
न्नित्यं सुपाठादपुनर्भवं च ॥ ९०

पूर्वकालमें जैसे अयोध्यावासी भगवान् श्रीरामके साथ साकेतधाम सिधारे थे, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण उन सबको योगिदुर्लभ गोलोकधामको ले गये ॥ ८५ ॥ जिस लोकमें सूर्य, चन्द्रमा और सिद्धोंकी भी कभी गति नहीं हो सकती, उसमें वे श्रीमद्भागवत श्रवण करनेसे चले गये ॥ ८६ ॥

नारदजी ! सप्ताहयज्ञके द्वारा कथाश्रवण करनेसे जैसा उज्ज्वल फल संचित होता है, उसके विषयमें हम आपसे क्या कहें ? अजी ! जिन्होंने अपने कर्णपुटसे गोकर्णजीकी कथाके एक अक्षरका भी पान किया था, वे फिर माताके गर्भमें नहीं आये ॥ ८७ ॥ जिस गतिको लोग वायु, जल या पत्ते खाकर शरीर सुखानेसे, बहुत कालतक घोर तपस्या करनेसे और योगाभ्याससे भी नहीं पा सकते, उसे वे सप्ताहश्रवणसे सहजमें ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ ८८ ॥ इस परम पवित्र इतिहासका पाठ चित्रकूटपर विराजमान मुनीश्वर शाण्डिल्य भी ब्रह्मानन्दमें मग्न होकर करते रहते हैं ॥ ८९ ॥ यह कथा बड़ी ही पवित्र है। एक बारके श्रवणसे ही समस्त पापराशिको भस्म कर देती है। यदि इसका श्राद्धके समय पाठ किया जाय, तो इससे पितृगणको बड़ी तृप्ति होती है और नित्य पाठ करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ९० ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये गोकर्णमोक्षवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

सप्ताहयज्ञकी विधि

कुमारा ऊचुः

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामः सप्ताहश्रवणे विधिम् ।
सहायैर्वसुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिः स्मृतः ॥ १

श्रीसनकादि कहते हैं—नारदजी ! अब हम आपको सप्ताहश्रवणकी विधि बताते हैं। यह विधि प्रायः लोगोंकी सहायता और धनसे साध्य कही गयी है ॥ १ ॥

दैवज्ञं तु समाहूय मुहूर्तं पृच्छ्य यत्नतः ।
विवाहे यादृशं वित्तं तादृशं परिकल्पयेत् ॥ २

पहले तो यत्नपूर्वक ज्योतिषीको बुलाकर मुहूर्त पूछना चाहिये तथा विवाहके लिये जिस प्रकार धनका प्रबन्ध किया जाता है उस प्रकार ही धनकी व्यवस्था इसके लिये करनी चाहिये ॥ २ ॥

नभस्य आश्विनोर्जौ च मार्गशीर्षः शुचिर्नभाः।
एते मासाः कथारम्भे श्रोतॄणां मोक्षसूचकाः॥ ३
मासानां विप्र हेयानि तानि त्याज्यानि सर्वथा।
सहायाश्चेतरे तत्र कर्तव्याः सोद्यमाश्च ये॥ ४
देशे देशे तथा सेयं वार्ता प्रेष्या प्रयत्नतः।
भविष्यति कथा चात्र आगन्तव्यं कुटुम्बिभिः॥ ५
दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयो ये च तेषां बोधो यतो भवेत्॥ ६
देशे देशे विरक्ता ये वैष्णवाः कीर्तनोत्सुकाः।
तेष्वेव पत्रं प्रेष्यं च तल्लेखनमितीरितम्॥ ७
सतां समाजो भविता सप्तरात्रं सुदुर्लभः।
अपूर्वरसरूपैव कथा चात्र भविष्यति॥ ८
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः।
भवन्तश्च तथा शीघ्रमायात प्रेमतत्पराः॥ ९
नावकाशः कदाचिच्चेद् दिनमात्रं तथापि तु।
सर्वथाऽऽगमनं कार्यं क्षणोऽत्रैव सुदुर्लभः॥ १०
एवमाकारणं तेषां कर्तव्यं विनयेन च।
आगन्तुकानां सर्वेषां वासस्थानानि कल्पयेत्॥ ११
तीर्थे वापि वने वापि गृहे वा श्रवणं मतम्।
विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत्कथास्थलम्॥ १२
शोधनं मार्जनं भूमेर्लेपनं धातुमण्डनम्।
गृहोपस्करमुद्धृत्य गृहकोणे निवेशयेत्॥ १३
अर्वाक्पञ्चाहतो यत्नादास्तीर्णानि प्रमेलयेत्।
कर्तव्यो मण्डपः प्रोच्चैः कदलीखण्डमण्डितः॥ १४
फलपुष्पदलैर्विष्वग्वितानेन विराजितः।
चतुर्दिक्षु ध्वजारोपो बहुसम्पद्विराजितः॥ १५

कथा आरम्भ करनेमें भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, आषाढ़ और श्रावण—ये छः महीने श्रोताओंके लिये मोक्षकी प्राप्तिके कारण हैं॥ ३॥ देवर्षे! इन महीनोंमें भी भद्रा-व्यतीपात आदि कुयोगोंको सर्वथा त्याग देना चाहिये तथा दूसरे लोग जो उत्साही हों, उन्हें अपना सहायक बना लेना चाहिये॥ ४॥ फिर प्रयत्न करके देश-देशान्तरोंमें यह संवाद भेजना चाहिये कि यहाँ कथा होगी, सब लोगोंको सपरिवार पधारना चाहिये॥ ५॥ जो स्त्री और शूद्रादि भगवत्कथा एवं संकीर्तनसे दूर पड़ गये हैं। उनको भी सूचना हो जाय, ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये॥ ६॥ देश-देशमें जो विरक्त वैष्णव और हरिकीर्तनके प्रेमी हों, उनके पास निमन्त्रणपत्र अवश्य भेजे। उसे लिखनेकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है॥ ७॥ 'महानुभावो! यहाँ सात दिनतक सत्पुरुषोंका बड़ा दुर्लभ समागम रहेगा और अपूर्व रसमयी श्रीमद्भागवतकी कथा होगी॥ ८॥ आपलोग भगवद्रसके रसिक हैं, अतः श्रीभागवतामृतका पान करनेके लिये प्रेमपूर्वक शीघ्र ही पधारनेकी कृपा करें॥ ९॥ यदि आपको विशेष अवकाश न हो, तो भी एक दिनके लिये तो अवश्य ही कृपा करनी चाहिये; क्योंकि यहाँका तो एक क्षण भी अत्यन्त दुर्लभ है'॥ १०॥ इस प्रकार विनयपूर्वक उन्हें निमन्त्रित करे और जो लोग आयें, उनके लिये यथोचित निवास-स्थानका प्रबन्ध करे॥ ११॥

कथाका श्रवण किसी तीर्थमें, वनमें अथवा अपने घरपर भी अच्छा माना गया है। जहाँ लम्बा-चौड़ा मैदान हो, वहीं कथास्थल रखना चाहिये॥ १२॥ भूमिका शोधन, मार्जन और लेपन करके रंग-बिरंगी धातुओंसे चौक पूरे। घरकी सारी सामग्री उठाकर एक कोनेमें रख दे॥ १३॥ पाँच दिन पहलेसे ही यत्नपूर्वक बहुत-से बिछानेके वस्त्र एकत्र कर ले तथा केलेके खंभोंसे सुशोभित एक ऊँचा मण्डप तैयार कराये॥ १४॥ उसे सब ओर फल, पुष्प, पत्र और चँदोवेसे अलंकृत करे तथा चारों ओर झंडियाँ लगाकर तरह-तरहके सामानोंसे सजा दे॥ १५॥

ऊर्ध्वं सप्तैव लोकाश्च कल्पनीयाः सविस्तरम्।
तेषु विप्रा विरक्ताश्च स्थापनीयाः प्रबोध्य च॥ १६
पूर्वं तेषामासनानि कर्तव्यानि यथोत्तरम्।
वक्तुश्चापि तदा दिव्यमासनं परिकल्पयेत्॥ १७
उदङ्मुखो भवेद्वक्ता श्रोता वै प्राङ्मुखस्तदा।
प्राङ्मुखश्चेद्भवेद्वक्ता श्रोता चोदङ्मुखस्तदा॥ १८
अथवा पूर्वदिग्ज्ञेया पूज्यपूजकमध्यतः।
श्रोतॄणामागमे प्रोक्ता देशकालादिकोविदैः॥ १९
विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिःस्पृहः॥ २०
अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः।
शुकशास्त्रकथोच्चारे त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः॥ २१
वक्तुः पार्श्वे सहायार्थमन्यः स्थाप्यस्तथाविधः।
पण्डितः संशयच्छेत्ता लोकबोधनतत्परः॥ २२
वक्त्रा क्षौरं प्रकर्तव्यं दिनादर्वाग्व्रताप्तये।
अरुणोदयेऽसौ निर्वर्त्य शौचं स्नानं समाचरेत्॥ २३
नित्यं संक्षेपतः कृत्वा संध्याद्यं स्वं प्रयत्नतः।
कथाविघ्नविघाताय गणनाथं प्रपूजयेत्॥ २४
पितॄन् संतर्प्य शुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं समाचरेत्।
मण्डलं च प्रकर्तव्यं तत्र स्थाप्यो हरिस्तथा॥ २५
कृष्णमुद्दिश्य मन्त्रेण चरेत्पूजाविधिं क्रमात्।
प्रदक्षिणनमस्कारान् पूजान्ते स्तुतिमाचरेत्॥ २६

उस मण्डपमें कुछ ऊँचाईपर सात विशाल लोकोंकी कल्पना करे और उनमें विरक्त ब्राह्मणोंको बुला-बुलाकर बैठाये॥ १६॥ आगेकी ओर उनके लिये वहाँ यथोचित आसन तैयार रखे। इनके पीछे वक्ताके लिये भी एक दिव्य सिंहासनका प्रबन्ध करे॥ १७॥ यदि वक्ताका मुख उत्तरकी ओर रहे तो श्रोता पूर्वाभिमुख होकर बैठे और यदि वक्ता पूर्वाभिमुख रहे तो श्रोताको उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये॥ १८॥ अथवा वक्ता और श्रोताको पूर्वमुख होकर बैठना चाहिये। देश-काल आदिको जाननेवाले महानुभावोंने श्रोताके लिये ऐसा ही नियम बताया है॥ १९॥ जो वेद-शास्त्रकी स्पष्ट व्याख्या करनेमें समर्थ हो, तरह-तरहके दृष्टान्त दे सकता हो तथा विवेकी और अत्यन्त निःस्पृह हो, ऐसे विरक्त और विष्णुभक्त ब्राह्मणको वक्ता बनाना चाहिये॥ २०॥ श्रीमद्भागवतके प्रवचनमें ऐसे लोगोंको नियुक्त नहीं करना चाहिये जो पण्डित होनेपर भी अनेक धर्मोंके चक्करमें पड़े हुए, स्त्री-लम्पट एवं पाखण्डके प्रचारक हों॥ २१॥ वक्ताके पास ही उसकी सहायताके लिये एक वैसा ही विद्वान् और स्थापित करना चाहिये। वह भी सब प्रकारके संशयोंकी निवृत्ति करनेमें समर्थ और लोगोंको समझानेमें कुशल हो॥ २२॥

कथा-प्रारम्भके दिनसे एक दिन पूर्व व्रत ग्रहण करनेके लिये वक्ताको क्षौर करा लेना चाहिये। तथा अरुणोदयके समय शौचसे निवृत्त होकर अच्छी तरह स्नान करे॥ २३॥ और संध्यादि अपने नित्यकर्मोंको संक्षेपसे समाप्त करके कथाके विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये गणेशजीका पूजन करे॥ २४॥

तदनन्तर पितृगणका तर्पण कर पूर्व पापोंकी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करे और एक मण्डल बनाकर उसमें श्रीहरिको स्थापित करे॥ २५॥

फिर भगवान् श्रीकृष्णको लक्ष्य करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रमशः षोडशोपचारविधिसे पूजन करे और उसके पश्चात् प्रदक्षिणा तथा नमस्कारादि कर इस प्रकार स्तुति करे॥ २६॥

संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे।
कर्ममोहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात्॥ २७
श्रीमद्भागवतस्यापि ततः पूजा प्रयत्नतः।
कर्तव्या विधिना प्रीत्या धूपदीपसमन्विता॥ २८
ततस्तु श्रीफलं धृत्वा नमस्कारं समाचरेत्।
स्तुतिः प्रसन्नचित्तेन कर्तव्या केवलं तदा॥ २९
श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि।
स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे॥ ३०
मनोरथो मदीयोऽयं सफलः सर्वथा त्वया।
निर्विघ्नेनैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव॥ ३१
एवं दीनवचः प्रोच्य वक्तारं चाथ पूजयेत्।
सम्भूष्य वस्त्रभूषाभिः पूजान्ते तं च संस्तवेत्॥ ३२
शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय॥ ३३
तदग्रे नियमः पश्चात्कर्तव्यः श्रेयसे मुदा।
सप्तरात्रं यथाशक्त्या धारणीयः स एव हि॥ ३४
वरणं पञ्चविप्राणां कथाभङ्गनिवृत्तये।
कर्तव्यं तैर्हरेर्जाप्यं द्वादशाक्षरविद्यया॥ ३५
ब्राह्मणान् वैष्णवांश्चान्यांस्तथा कीर्तनकारिणः।
नत्वा सम्पूज्य दत्ताज्ञः स्वयमासनमाविशेत्॥ ३६
लोकवित्तधनागारपुत्रचिन्तां व्युदस्य च।
कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेत्फलमुत्तमम्॥ ३७
आसूर्योदयमारभ्य सार्धत्रिप्रहरान्तकम्।
वाचनीया कथा सम्यग्धीरकण्ठं सुधीमता॥ ३८
कथाविरामः कर्तव्यो मध्याह्ने घटिकाद्वयम्।
तत्कथामनु कार्यं वै कीर्तनं वैष्णवैस्तदा॥ ३९

'करुणानिधान! मैं संसारसागरमें डूबा हुआ और बड़ा दीन हूँ। कर्मोंके मोहरूपी ग्राहने मुझे पकड़ रखा है। आप इस संसारसागरसे मेरा उद्धार कीजिये'॥ २७॥ इसके पश्चात् धूप-दीप आदि सामग्रियोंसे श्रीमद्भागवतकी भी बड़े उत्साह और प्रीतिपूर्वक विधि-विधानसे पूजा करे॥ २८॥ फिर पुस्तकके आगे नारियल रखकर नमस्कार करे और प्रसन्नचित्तसे इस प्रकार स्तुति करे— ॥ २९॥ 'श्रीमद्भागवतके रूपमें आप साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही विराजमान हैं। नाथ! मैंने भवसागरसे छुटकारा पानेके लिये आपकी शरण ली है॥ ३०॥ मेरा यह मनोरथ आप बिना किसी विघ्न-बाधाके सांगोपांग पूरा करें। केशव! मैं आपका दास हूँ'॥ ३१॥

इस प्रकार दीन वचन कहकर फिर वक्ताका पूजन करे। उसे सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करे और फिर पूजाके पश्चात् उसकी इस प्रकार स्तुति करे— ॥ ३२॥ 'शुकस्वरूप भगवन्! आप समझानेकी कलामें कुशल और सब शास्त्रोंमें पारंगत हैं; कृपया इस कथाको प्रकाशित करके मेरा अज्ञान दूर करें'॥ ३३॥ फिर अपने कल्याणके लिये प्रसन्नता-पूर्वक उसके सामने नियम ग्रहण करे और सात दिनोंतक यथाशक्ति उसका पालन करे॥ ३४॥ कथामें विघ्न न हो, इसके लिये पाँच ब्राह्मणोंको और वरण करे; वे द्वादशाक्षर मन्त्रद्वारा भगवान्के नामोंका जप करें॥ ३५॥ फिर ब्राह्मण, अन्य विष्णुभक्त एवं कीर्तन करनेवालोंको नमस्कार करके उनकी पूजा करे और उनकी आज्ञा पाकर स्वयं भी आसनपर बैठ जाय॥ ३६॥ जो पुरुष लोक, सम्पत्ति, धन, घर और पुत्रादिकी चिन्ता छोड़कर शुद्धचित्तसे केवल कथामें ही ध्यान रखता है, उसे इसके श्रवणका उत्तम फल मिलता है॥ ३७॥

बुद्धिमान् वक्ताको चाहिये कि सूर्योदयसे कथा आरम्भ करके साढ़े तीन पहरतक मध्यम स्वरसे अच्छी तरह कथा बाँचे॥ ३८॥ दोपहरके समय दो घड़ीतक कथा बंद रखे। उस समय कथाके प्रसंगके अनुसार वैष्णवोंको भगवान्के गुणोंका कीर्तन करना चाहिये—व्यर्थ बातें नहीं करनी चाहिये॥ ३९॥

मलमूत्रजयार्थं हि लघ्वाहारः सुखावहः।
हविष्यान्नेन कर्तव्यो ह्येकवारं कथार्थिना॥ ४०
उपोष्य सप्तरात्रं वै शक्तिश्चेच्छृणुयात्तदा।
घृतपानं पयःपानं कृत्वा वै शृणुयात्सुखम्॥ ४१
फलाहारेण वा भाव्यमेकभुक्तेन वा पुनः।
सुखसाध्यं भवेद्यत्तु कर्तव्यं श्रवणाय तत्॥ ४२
भोजनं तु वरं मन्ये कथाश्रवणकारकम्।
नोपवासो वरः प्रोक्तः कथाविघ्नकरो यदि॥ ४३
सप्ताहव्रतिनां पुंसां नियमाञ्छृणु नारद।
विष्णुदीक्षाविहीनानां नाधिकारः कथाश्रवे॥ ४४
ब्रह्मचर्यमधःसुप्तिः पत्रावल्यां च भोजनम्।
कथासमाप्तौ भुक्तिं च कुर्यान्नित्यं कथाव्रती॥ ४५
द्विदलं मधु तैलं च गरिष्ठान्नं तथैव च।
भावदुष्टं पर्युषितं जह्यान्नित्यं कथाव्रती॥ ४६
कामं क्रोधं मदं मानं मत्सरं लोभमेव च।
दम्भं मोहं तथा द्वेषं दूरयेच्च कथाव्रती॥ ४७
वेदवैष्णवविप्राणां गुरुगोव्रतिनां तथा।
स्त्रीराजमहतां निन्दां वर्जयेद्यः कथाव्रती॥ ४८
रजस्वलान्त्यजम्लेच्छपतितव्रात्यकैस्तथा।
द्विजद्विड्वेदबाह्यैश्च न वदेद्यः कथाव्रती॥ ४९
सत्यं शौचं दयां मौनमार्जवं विनयं तथा।
उदारमानसं तद्वदेवं कुर्यात्कथाव्रती॥ ५०
दरिद्रश्च क्षयी रोगी निर्भाग्यः पापकर्मवान्।
अनपत्यो मोक्षकामः शृणुयाच्च कथामिमाम्॥ ५१
अपुष्पा काकवन्ध्या च वन्ध्या या च मृतार्भका।
स्रवद्गर्भा च या नारी तया श्राव्या प्रयत्नतः॥ ५२
एतेषु विधिना श्रावे तदक्षयतरं भवेत्।
अत्युत्तमा कथा दिव्या कोटियज्ञफलप्रदा॥ ५३

कथाके समय मल-मूत्रके वेगको काबूमें रखनेके लिये अल्पाहार सुखकारी होता है; इसलिये श्रोता केवल एक ही समय हविष्यान्न भोजन करे॥ ४०॥ यदि शक्ति हो तो सातों दिन निराहार रहकर कथा सुने अथवा केवल घी या दूध पीकर सुखपूर्वक श्रवण करे॥ ४१॥ अथवा फलाहार या एक समय ही भोजन करे। जिससे जैसा नियम सुभीतेसे सध सके, उसीको कथाश्रवणके लिये ग्रहण करे॥ ४२॥ मैं तो उपवासकी अपेक्षा भोजन करना अच्छा समझता हूँ, यदि वह कथाश्रवणमें सहायक हो। यदि उपवाससे श्रवणमें बाधा पहुँचती हो तो वह किसी कामका नहीं॥ ४३॥

नारदजी! नियमसे सप्ताह सुननेवाले पुरुषोंके नियम सुनिये। विष्णुभक्तकी दीक्षासे रहित पुरुष कथाश्रवणका अधिकारी नहीं है॥ ४४॥ जो पुरुष नियमसे कथा सुने, उसे ब्रह्मचर्यसे रहना, भूमिपर सोना और नित्यप्रति कथा समाप्त होनेपर पत्तलमें भोजन करना चाहिये॥ ४५॥ दाल, मधु, तेल, गरिष्ठ अन्न, भावदूषित पदार्थ और बासी अन्न—इनका उसे सर्वदा ही त्याग करना चाहिये॥ ४६॥ काम, क्रोध, मद, मान, मत्सर, लोभ, दम्भ, मोह और द्वेषको तो अपने पास भी नहीं फटकने देना चाहिये॥ ४७॥ वह वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गोसेवक तथा स्त्री, राजा और महापुरुषोंकी निन्दासे भी बचे॥ ४८॥ नियमसे कथा सुननेवाले पुरुषको रजस्वला स्त्री, अन्त्यज, म्लेच्छ, पतित, गायत्रीहीन द्विज, ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले तथा वेदको न माननेवाले पुरुषोंसे बात नहीं करनी चाहिये॥ ४९॥ सर्वदा सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता, विनय और उदारताका बर्ताव करना चाहिये॥ ५०॥ धनहीन, क्षयरोगी, किसी अन्य रोगसे पीड़ित, भाग्यहीन, पापी, पुत्रहीन और मुमुक्षु भी यह कथा श्रवण करे॥ ५१॥ जिस स्त्रीका रजोदर्शन रुक गया हो, जिसके एक ही संतान होकर रह गयी हो, जो बाँझ हो, जिसकी संतान होकर मर जाती हो अथवा जिसका गर्भ गिर जाता हो, वह यत्नपूर्वक इस कथाको सुने॥ ५२॥ ये सब यदि विधिवत् कथा सुनें तो इन्हें अक्षय फलकी प्राप्ति हो सकती है। यह अत्युत्तम दिव्य कथा करोड़ों यज्ञोंका फल देनेवाली है॥ ५३॥

एवं कृत्वा व्रतविधिमुद्यापनमथाचरेत्।
जन्माष्टमीव्रतमिव कर्तव्यं फलकाङ्क्षिभिः॥ ५४
अकिञ्चनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनाग्रहः।
श्रवणेनैव पूतास्ते निष्कामा वैष्णवा यतः॥ ५५
एवं नगाहयज्ञेऽस्मिन् समाप्ते श्रोतृभिस्तदा।
पुस्तकस्य च वक्तुश्च पूजा कार्यातिभक्तितः॥ ५६
प्रसादतुलसीमाला श्रोतृभ्यश्चाथ दीयताम्।
मृदङ्गताललिलितं कर्तव्यं कीर्तनं ततः॥ ५७
जयशब्दं नमःशब्दं शङ्खशब्दं च कारयेत्।
विप्रेभ्यो याचकेभ्यश्च वित्तमन्नं च दीयताम्॥ ५८
विरक्तश्चेद्भवेच्छ्रोता गीता वाच्या परेऽहनि।
गृहस्थश्चेत्तदा होमः कर्तव्यः कर्मशान्तये॥ ५९
प्रतिश्लोकं तु जुहुयाद्विधिना दशमस्य च।
पायसं मधु सर्पिश्च तिलान्नादिकसंयुतम्॥ ६०
अथवा हवनं कुर्याद्गायत्र्या सुसमाहितः।
तन्मयत्वात्पुराणस्य परमस्य च तत्त्वतः॥ ६१
होमाशक्तौ बुधो हौम्यं दद्यात्तत्फलसिद्धये।
नानाच्छिद्रनिरोधार्थं न्यूनताधिकतानयोः॥ ६२
दोषयोः प्रशमार्थं च पठेन्नामसहस्रकम्।
तेन स्यात्सफलं सर्वं नास्त्यस्मादधिकं यतः॥ ६३
द्वादश ब्राह्मणान् पश्चाद्भोजयेन्मधुपायसैः।
दद्यात्सुवर्णं धेनुं च व्रतपूर्णत्वहेतवे॥ ६४
शक्तौ पलत्रयमितं स्वर्णसिंहं विधाय च।
तत्रास्य पुस्तकं स्थाप्यं लिखितं ललिताक्षरम्॥ ६५
सम्पूज्यावाहनाद्यैस्तदुपचारैः सदक्षिणम्।
वस्त्रभूषणगन्धाद्यैः पूजिताय यतात्मने॥ ६६

इस प्रकार इस व्रतकी विधियोंका पालन करके फिर उद्यापन करे। जिन्हें इसके विशेष फलकी इच्छा हो, वे जन्माष्टमीव्रतके समान ही इस कथाव्रतका उद्यापन करें॥ ५४॥ किन्तु जो भगवान्‌के अकिंचन भक्त हैं, उनके लिये उद्यापनका कोई आग्रह नहीं है। वे श्रवणसे ही पवित्र हैं; क्योंकि वे तो निष्काम भगवद्भक्त हैं॥ ५५॥

इस प्रकार जब सप्ताहयज्ञ समाप्त हो जाय, तब श्रोताओंको अत्यन्त भक्तिपूर्वक पुस्तक और वक्ताकी पूजा करनी चाहिये॥ ५६॥ फिर वक्ता श्रोताओंको प्रसाद, तुलसी और प्रसादी मालाएँ दे तथा सब लोग मृदंग और झाँझकी मनोहर ध्वनिसे सुन्दर कीर्तन करें॥ ५७॥ जय-जयकार, नमस्कार और शंखध्वनिका घोष कराये तथा ब्राह्मण और याचकोंको धन और अन्न दे॥ ५८॥ श्रोता विरक्त हो तो कर्मकी शान्तिके लिये दूसरे दिन गीतापाठ करे; गृहस्थ हो तो हवन करे॥ ५९॥ उस हवनमें दशमस्कन्धका एक-एक श्लोक पढ़कर विधिपूर्वक खीर, मधु, घृत, तिल और अन्नादि सामग्रियोंसे आहुति दे॥ ६०॥

अथवा एकाग्रचित्तसे गायत्री-मन्त्रद्वारा हवन करे; क्योंकि तत्त्वतः यह महापुराण गायत्रीस्वरूप ही है॥ ६१॥ होम करनेकी शक्ति न हो तो उसका फल प्राप्त करनेके लिये ब्राह्मणोंको हवनसामग्री दान करे तथा नाना प्रकारकी त्रुटियोंको दूर करनेके लिये और विधिमें फिर जो न्यूनाधिकता रह गयी हो, उसके दोषोंकी शान्तिके लिये विष्णुसहस्रनामका पाठ करे। उससे सभी कर्म सफल हो जाते हैं; क्योंकि कोई भी कर्म इससे बढ़कर नहीं है॥ ६२-६३॥

फिर बारह ब्राह्मणोंको खीर और मधु आदि उत्तम-उत्तम पदार्थ खिलाये तथा व्रतकी पूर्तिके लिये गौ और सुवर्णका दान करे॥ ६४॥ सामर्थ्य हो तो तीन तोले सोनेका एक सिंहासन बनवाये, उसपर सुन्दर अक्षरोंमें लिखी हुई श्रीमद्भागवतकी पोथी रखकर उसकी आवाहनादि विविध उपचारोंसे पूजा करे और फिर जितेन्द्रिय आचार्यको—उसका वस्त्र, आभूषण एवं गन्धादिसे पूजनकर—दक्षिणाके सहित समर्पण कर दे॥ ६५-६६॥

आचार्याय सुधीर्दत्त्वा मुक्तः स्याद्भवबन्धनैः।
एवं कृते विधाने च सर्वपापनिवारणे॥ ६७

फलदं स्यात्पुराणं तु श्रीमद्भागवतं शुभम्।
धर्मकामार्थमोक्षाणां साधनं स्यान्न संशयः॥ ६८

कुमारा ऊचुः

इति ते कथितं सर्वं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।
श्रीमद्भागवतेनैव भुक्तिमुक्ती करे स्थिते॥ ६९

सूत उवाच

इत्युक्त्वा ते महात्मानः प्रोचुर्भागवतीं कथाम्।
सर्वपापहरां पुण्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्॥ ७०

शृण्वतां सर्वभूतानां सप्ताहं नियतात्मनाम्।
यथाविधि ततो देवं तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम्॥ ७१

तदन्ते ज्ञानवैराग्यभक्तीनां पुष्टता परा।
तारुण्यं परमं चाभूत्सर्वभूतमनोहरम्॥ ७२

नारदश्च कृतार्थोऽभूत्सिद्धे स्वीये मनोरथे।
पुलकीकृतसर्वाङ्गः परमानन्दसम्भृतः॥ ७३

एवं कथां समाकर्ण्य नारदो भगवत्प्रियः।
प्रेमगद्गदया वाचा तानुवाच कृताञ्जलिः॥ ७४

नारद उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवद्भिः करुणापरैः।
अद्य मे भगवाँल्लब्धः सर्वपापहरो हरिः॥ ७५

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते॥ ७६

यों करनेसे वह बुद्धिमान् दाता जन्म-मरणके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। यह सप्ताहपारायणकी विधि सब पापोंकी निवृत्ति करनेवाली है। इसका इस प्रकार ठीक-ठीक पालन करनेसे यह मंगलमय भागवतपुराण अभीष्ट फल प्रदान करता है तथा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारोंकी प्राप्तिका साधन हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं॥ ६७-६८॥

सनकादि कहते हैं—नारदजी! इस प्रकार तुम्हें यह सप्ताहश्रवणकी विधि हमने पूरी-पूरी सुना दी, अब और क्या सुनना चाहते हो? इस श्रीमद्भागवतसे भोग और मोक्ष दोनों ही हाथ लग जाते हैं॥ ६९॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! यों कहकर महामुनि सनकादिने एक सप्ताहतक विधिपूर्वक इस सर्वपापनाशिनी, परम पवित्र तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली भागवतकथाका प्रवचन किया। सब प्राणियोंने नियमपूर्वक इसे श्रवण किया। इसके पश्चात् उन्होंने विधिपूर्वक भगवान् पुरुषोत्तमकी स्तुति की॥ ७०-७१॥ कथाके अन्तमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिको बड़ी पुष्टि मिली और वे तीनों एकदम तरुण होकर सब जीवोंका चित्त अपनी ओर आकर्षित करने लगे॥ ७२॥ अपना मनोरथ पूरा होनेसे नारदजीको भी बड़ी प्रसन्नता हुई, उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे परमानन्दसे पूर्ण हो गये॥ ७३॥ इस प्रकार कथा श्रवणकर भगवान्‌के प्यारे नारदजी हाथ जोड़कर प्रेमगद्‌गद वाणीसे सनकादिसे कहने लगे॥ ७४॥

नारदजीने कहा—मैं धन्य हूँ, आपलोगोंने करुणा करके मुझे बड़ा ही अनुगृहीत किया है, आज मुझे सर्वपापहारी भगवान् श्रीहरिकी ही प्राप्ति हो गयी॥ ७५॥ तपोधनो! मैं श्रीमद्भागवतश्रवणको ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि जिसके श्रवणसे वैकुण्ठ (गोलोक)-विहारी श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है॥ ७६॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवति वै तत्र नारदे वैष्णवोत्तमे।
परिभ्रमन् समायातः शुको योगेश्वरस्तदा॥ ७७
तत्राययौ षोडशवार्षिकस्तदा
व्यासात्मजो ज्ञानमहाब्धिचन्द्रमाः।
कथावसाने निजलाभपूर्णः
प्रेम्णा पठन् भागवतं शनैः शनैः॥ ७८
दृष्ट्वा सदस्याः परमोरुतेजसं
सद्यः समुत्थाय ददुर्महासनम्।
प्रीत्या सुरर्षिस्तमपूजयत्सुखं
स्थितोऽवदत्संशृणुतामलां गिरम्॥ ७९

श्रीशुक उवाच

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ ८०
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो
निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं
तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते
किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः
शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ ८१
श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं
यद्वैष्णवानां धनं
यस्मिन् पारमहंस्यमेवममलं
ज्ञानं परं गीयते।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं
नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् प्रपठन् विचारणपरो
भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ ८२
स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः।
अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित्॥ ८३

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! वैष्णवश्रेष्ठ नारदजी यों कह ही रहे थे कि वहाँ घूमते-फिरते योगेश्वर शुकदेवजी आ गये॥ ७७॥ कथा समाप्त होते ही व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी वहाँ पधारे। सोलह वर्षकी-सी आयु, आत्मलाभसे पूर्ण, ज्ञानरूपी महा-सागरका संवर्धन करनेके लिये चन्द्रमाके समान वे प्रेमसे धीरे-धीरे श्रीमद्भागवतका पाठ कर रहे थे॥ ७८॥ परम तेजस्वी शुकदेवजीको देखकर सारे सभासद् झटपट खड़े हो गये और उन्हें एक ऊँचे आसनपर बैठाया। फिर देवर्षि नारदजीने उनका प्रेमपूर्वक पूजन किया। उन्होंने सुखपूर्वक बैठकर कहा—'आपलोग मेरी निर्मल वाणी सुनिये'॥ ७९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—रसिक एवं भावुक जन! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका परिपक्व फल है। श्रीशुकदेवरूप शुकके मुखका संयोग होनेसे अमृतरससे परिपूर्ण है। यह रस-ही-रस है—इसमें न छिलका है न गुठली। यह इसी लोकमें सुलभ है। जबतक शरीरमें चेतना रहे तबतक आपलोग बार-बार इसका पान करें॥ ८०॥ महामुनि व्यासदेवने श्रीमद्भागवतमहापुराणकी रचना की है। इसमें निष्कपट—निष्काम परम धर्मका निरूपण है। इसमें शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषोंके जानने-योग्य कल्याणकारी वास्तविक वस्तुका वर्णन है, जिससे तीनों तापोंकी शान्ति होती है। इसका आश्रय लेनेपर दूसरे शास्त्र अथवा साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। जब कभी पुण्यात्मा पुरुष इसके श्रवणकी इच्छा करते हैं, तभी ईश्वर अविलम्ब उनके हृदयमें अवरुद्ध हो जाता है॥ ८१॥ यह भागवत पुराणोंका तिलक और वैष्णवोंका धन है। इसमें परमहंसोंके प्राप्य विशुद्ध ज्ञानका ही वर्णन किया गया है; तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके सहित निवृत्तिमार्गको प्रकाशित किया गया है। जो पुरुष भक्तिपूर्वक इसके श्रवण, पठन और मननमें तत्पर रहता है, वह मुक्त हो जाता है॥ ८२॥ यह रस स्वर्गलोक, सत्यलोक, कैलास और वैकुण्ठमें भी नहीं है। इसलिये भाग्यवान् श्रोताओ! तुम इसका खूब पान करो; इसे कभी मत छोड़ो, मत छोड़ो॥ ८३॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवाणे सति बादरायणौ
मध्ये सभायां हरिराविरासीत्।
प्रह्लादबल्युद्धवफाल्गुनादिभि-
र्वृतः सुरर्षिस्तमपूजयच्च तान्॥ ८४

दृष्ट्वा प्रसन्नं महदासने हरिं
ते चक्रिरे कीर्तनमग्रतस्तदा।
भवो भवान्या कमलासनस्तु
तत्रागमत्कीर्तनदर्शनाय ॥ ८५

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया
चोद्धवः कांस्यधारी
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया
रागकर्तार्जुनोऽभूत् ।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयसुकराः
कीर्तने ते कुमारा
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया
व्यासपुत्रो बभूव॥ ८६

ननर्त मध्ये त्रिकमेव तत्र
भक्त्यादिकानां नटवत्सुतेजसाम्।
अलौकिकं कीर्तनमेतदीक्ष्य
हरिः प्रसन्नोऽपि वचोऽब्रवीत्तत्॥ ८७

मत्तो वरं भाववृताद् वृणुध्वं
प्रीतः कथाकीर्तनतोऽस्मि साम्प्रतम्।
श्रुत्वेति तद्वाक्यमतिप्रसन्नाः
प्रेमार्द्रचित्ता हरिमूचिरे ते॥ ८८

नगाहगाथासु च सर्वभक्तै-
रेभिस्त्वया भाव्यमिति प्रयत्नात्।
मनोरथोऽयं परिपूरणीय-
स्तथेति चोक्त्वान्तरधीयताच्युतः॥ ८९

सूतजी कहते हैं—श्रीशुकदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि उस सभाके बीचोबीच प्रह्लाद, बलि, उद्धव और अर्जुन आदि पार्षदोंके सहित साक्षात् श्रीहरि प्रकट हो गये। तब देवर्षि नारदने भगवान् और उनके भक्तोंकी यथोचित पूजा की॥ ८४॥

भगवान्‌को प्रसन्न देखकर देवर्षिने उन्हें एक विशाल सिंहासनपर बैठा दिया और सब लोग उनके सामने संकीर्तन करने लगे। उस कीर्तनको देखनेके लिये श्रीपार्वतीजीके सहित महादेवजी और ब्रह्माजी भी आये॥ ८५॥

कीर्तन आरम्भ हुआ। प्रह्लादजी तो चंचलगति (फुर्तीले) होनेके कारण करताल बजाने लगे, उद्धवजीने झाँझें उठा लीं, देवर्षि नारद वीणाकी ध्वनि करने लगे, स्वर-विज्ञान (गान-विद्या)-में कुशल होनेके कारण अर्जुन राग अलापने लगे, इन्द्रने मृदंग बजाना आरम्भ किया, सनकादि बीच-बीचमें जयघोष करने लगे और इन सबके आगे शुकदेवजी तरह-तरहकी सरस अंगभंगी करके भाव बताने लगे॥ ८६॥

इन सबके बीचमें परम तेजस्वी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य नटोंके समान नाचने लगे। ऐसा अलौकिक कीर्तन देखकर भगवान् प्रसन्न हो गये और इस प्रकार कहने लगे—॥ ८७॥

'मैं तुम्हारी इस कथा और कीर्तनसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारे भक्तिभावने इस समय मुझे अपने वशमें कर लिया है। अतः तुमलोग मुझसे वर माँगो'। भगवान्‌के ये वचन सुनकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और प्रेमार्द्रचित्तसे भगवान्‌से कहने लगे॥ ८८॥

'भगवन्! हमारी यह अभिलाषा है कि भविष्यमें भी जहाँ-कहीं सप्ताह-कथा हो, वहाँ आप इन पार्षदोंके सहित अवश्य पधारें। हमारा यह मनोरथ पूर्ण कर दीजिये'। भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये॥ ८९॥

ततोऽनमत्तच्चरणेषु नारद-
स्तथा शुकादीनपि तापसांश्च।
अथ प्रहृष्टाः परिनष्टमोहाः
सर्वे ययुः पीतकथामृतास्ते॥ ९०
भक्तिः सुताभ्यां सह रक्षिता सा
शास्त्रे स्वकीयेऽपि तदा शुकेन।
अतो हरिर्भागवतस्य सेवना-
च्चित्तं समायाति हि वैष्णवानाम्॥ ९१
दारिद्र्यदुःखज्वरदाहितानां
मायापिशाचीपरिमर्दितानाम्।
संसारसिन्धौ परिपातितानां
क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति॥ ९२

शौनक उवाच

शुकेनोक्तं कदा राज्ञे गोकर्णेन कदा पुनः।
सुरर्षये कदा ब्राह्मैश्छिन्धि मे संशयं त्विमम्॥ ९३

सूत उवाच

आकृष्णनिर्गमात्त्रिंशद्वर्षाधिकगते कलौ।
नवमीतो नभस्ये च कथारम्भं शुकोऽकरोत्॥ ९४
परीक्षिच्छ्रवणान्ते च कलौ वर्षशतद्वये।
शुद्धे शुचौ नवम्यां च धेनुजोऽकथयत्कथाम्॥ ९५
तस्मादपि कलौ प्राप्ते त्रिंशद्वर्षगते सति।
ऊचुरूर्जे सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणः सुताः॥ ९६
इत्येतत्ते समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ।
कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी॥ ९७
कृष्णप्रियं सकलकल्मषनाशनं च
मुक्त्येकहेतुमिह भक्तिविलासकारि।
सन्तः कथानकमिदं पिबतादरेण
लोके हि तीर्थपरिशीलनसेवया किम्॥ ९८

इसके पश्चात् नारदजीने भगवान् तथा उनके पार्षदोंके चरणोंको लक्ष्य करके प्रणाम किया और फिर शुकदेवजी आदि तपस्वियोंको भी नमस्कार किया। कथामृतका पान करनेसे सब लोगोंको बड़ा ही आनन्द हुआ, उनका सारा मोह नष्ट हो गया। फिर वे सब लोग अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ९०॥ उस समय शुकदेवजीने भक्तिको उसके पुत्रोंसहित अपने शास्त्रमें स्थापित कर दिया। इसीसे भागवतका सेवन करनेसे श्रीहरि वैष्णवोंके हृदयमें आ विराजते हैं॥ ९१॥ जो लोग दरिद्रताके दुःखज्वरकी ज्वालासे दग्ध हो रहे हैं, जिन्हें माया-पिशाचीने रौंद डाला है तथा जो संसारसमुद्रमें डूब रहे हैं, उनका कल्याण करनेके लिये श्रीमद्भागवत सिंहनाद कर रहा है॥ ९२॥

शौनकजीने पूछा—सूतजी! शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌को, गोकर्णने धुन्धुकारीको और सनकादिने नारदजीको किस-किस समय यह ग्रन्थ सुनाया था—मेरा यह संशय दूर कीजिये!॥ ९३॥

सूतजीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णके स्वधामगमनके बाद कलियुगके तीस वर्षसे कुछ अधिक बीत जानेपर भाद्रपद मासकी शुक्ला नवमीको शुकदेवजीने कथा आरम्भ की थी॥ ९४॥ राजा परीक्षित्‌के कथा सुननेके बाद कलियुगके दो सौ वर्ष बीत जानेपर आषाढ़ मासकी शुक्ला नवमीको गोकर्णजीने यह कथा सुनायी थी॥ ९५॥ इसके पीछे कलियुगके तीस वर्ष और निकल जानेपर कार्तिक शुक्ला नवमीसे सनकादिने कथा आरम्भ की थी॥ ९६॥ निष्पाप शौनकजी! आपने जो कुछ पूछा था, उसका उत्तर मैंने आपको दे दिया। इस कलियुगमें भागवतकी कथा भवरोगकी रामबाण औषध है॥ ९७॥

संतजन! आपलोग आदरपूर्वक इस कथामृतका पान कीजिये। यह श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रिय, सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला मुक्तिका एकमात्र कारण और भक्तिको बढ़ानेवाला है। लोकमें अन्य कल्याणकारी साधनोंका विचार करने और तीर्थोंका सेवन करनेसे क्या होगा॥ ९८॥

स्वपुरुषमपि वीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर भगवत्कथासु मत्तान्
प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्॥ ९९

अपने दूतको हाथमें पाश लिये देखकर यमराज उसके कानमें कहते हैं—'देखो, जो भगवान्‌की कथा-वार्तामें मत्त हो रहे हों, उनसे दूर रहना; मैं औरोंको ही दण्ड देनेकी शक्ति रखता हूँ, वैष्णवोंको नहीं'॥ ९९॥

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने॥ १००

इस असार संसारमें विषयरूप विषकी आसक्तिके कारण व्याकुल बुद्धिवाले पुरुषो! अपने कल्याणके उद्देश्यसे आधे क्षणके लिये भी इस शुककथारूप अनुपम सुधाका पान करो। प्यारे भाइयो! निन्दित कथाओंसे युक्त कुपथमें व्यर्थ ही क्यों भटक रहे हो? इस कथाके कानमें प्रवेश करते ही मुक्ति हो जाती है, इस बातके साक्षी राजा परीक्षित् हैं॥ १००॥

रसप्रवाहसंस्थेन श्रीशुकेनेरिता कथा।
कण्ठे सम्बध्यते येन स वैकुण्ठप्रभुर्भवेत्॥ १०१

श्रीशुकदेवजीने प्रेमरसके प्रवाहमें स्थित होकर इस कथाको कहा था। इसका जिसके कण्ठसे सम्बन्ध हो जाता है, वह वैकुण्ठका स्वामी बन जाता है॥ १०१॥ शौनकजी! मैंने अनेक शास्त्रोंको देखकर आपको यह परम गोप्य रहस्य अभी-अभी सुनाया है। सब शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका यही निचोड़ है। संसारमें इस शुकशास्त्रसे अधिक पवित्र और कोई वस्तु नहीं है; अतः आपलोग परमानन्दकी प्राप्तिके लिये इस द्वादशस्कन्धरूप रसका पान करें॥ १०२॥

इति च परमगुह्यं सर्वसिद्धान्तसिद्धं
सपदि निगदितं ते शास्त्रपुञ्जं विलोक्य।
जगति शुककथातो निर्मलं नास्ति किञ्चित्
पिब परसुखहेतोर्द्वादशस्कन्धसारम्॥ १०२

एतां यो नियततया शृणोति भक्त्या
यश्चैनां कथयति शुद्धवैष्णवाग्रे।
तौ सम्यग्विधिकरणात्फलं लभेते
याथार्थ्यान्न हि भुवने किमप्यसाध्यम्॥ १०३

जो पुरुष नियमपूर्वक इस कथाका भक्तिभावसे श्रवण करता है और जो शुद्धान्तःकरण भगवद्भक्तोंके सामने इसे सुनाता है, वे दोनों ही विधिका पूरा-पूरा पालन करनेके कारण इसका यथार्थ फल पाते हैं—उनके लिये त्रिलोकीमें कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता॥ १०३॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रवणविधिकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

॥ समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

॥ श्रीगणेशाय: नम: ॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

प्रथमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

श्रीसूतजीसे शौनकादि ऋषियोंका प्रश्न

मङ्गलाचरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत-
श्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये
मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो
यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं
सत्यं परं धीमहि॥ १

जिससे इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं—क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थोंमें अनुगत है और असत् पदार्थोंसे पृथक् है; जड नहीं, चेतन है; परतन्त्र नहीं, स्वयंप्रकाश है; जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं, प्रत्युत उन्हें अपने संकल्पसे ही जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है; जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं; जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जलका, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होनेपर भी अधिष्ठान-सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयंप्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्यसे पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं॥ १ ॥

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो
निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं
तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते
किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः
शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥ २

महामुनि व्यासदेवके द्वारा निर्मित इस श्रीमद्भागवतमहापुराणमें मोक्षपर्यन्त फलकी कामनासे रहित परम धर्मका निरूपण हुआ है। इसमें शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषोंके जाननेयोग्य उस वास्तविक वस्तु परमात्माका निरूपण हुआ है, जो तीनों तापोंका जड़से नाश करनेवाली और परम कल्याण देनेवाली है। अब और किसी साधन या शास्त्रसे क्या प्रयोजन। जिस समय भी सुकृती पुरुष इसके श्रवणकी इच्छा करते हैं, ईश्वर उसी समय अविलम्ब उनके हृदयमें आकर बन्दी बन जाता है॥ २॥

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ ३

रसके मर्मज्ञ भक्तजन! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका पका हुआ फल है। श्रीशुकदेवरूप तोतेके* मुखका सम्बन्ध हो जानेसे यह परमानन्दमयी सुधासे परिपूर्ण हो गया है। इस फलमें छिलका, गुठली आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है। यह मूर्तिमान् रस है। जबतक शरीरमें चेतना रहे, तबतक इस दिव्य भगवद्रसका निरन्तर बार-बार पान करते रहो। यह पृथ्वीपर ही सुलभ है॥ ३॥

कथाप्रारम्भ

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत॥ ४

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात्॥ ५

एक बार भगवान् विष्णु एवं देवताओंके परम पुण्यमय क्षेत्र नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियोंने भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे सहस्र वर्षोंमें पूरे होनेवाले एक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया॥ ४॥ एक दिन उन लोगोंने प्रातःकाल अग्निहोत्र आदि नित्यकृत्योंसे निवृत्त होकर सूतजीका पूजन किया और उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाकर बड़े आदरसे यह प्रश्न किया॥ ५॥

ऋषय ऊचुः

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत॥ ६

यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः।
अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः॥ ७

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात्।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ८

तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि॥ ९

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥ १०

ऋषियोंने कहा—सूतजी! आप निष्पाप हैं। आपने समस्त इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रोंका विधिपूर्वक अध्ययन किया है तथा उनकी भलीभाँति व्याख्या भी की है॥ ६॥ वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् बादरायणने एवं भगवान्के सगुण-निर्गुण रूपको जाननेवाले दूसरे मुनियोंने जो कुछ जाना है—उन्हें जिन विषयोंका ज्ञान है, वह सब आप वास्तविक रूपमें जानते हैं। आपका हृदय बड़ा ही सरल और शुद्ध है, इसीसे आप उनकी कृपा और अनुग्रहके पात्र हुए हैं। गुरुजन अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त-से-गुप्त बात भी बता दिया करते हैं॥ ७-८॥ आयुष्मन्! आप कृपा करके यह बतलाइये कि उन सब शास्त्रों, पुराणों और गुरुजनोंके उपदेशोंमें कलियुगी जीवोंके परम कल्याणका सहज साधन आपने क्या निश्चय किया है॥ ९॥ आप संत-समाजके भूषण हैं। इस कलियुगमें प्रायः लोगोंकी आयु कम हो गयी है। साधन करनेमें लोगोंकी रुचि और प्रवृत्ति भी नहीं है। लोग आलसी हो गये हैं। उनका भाग्य तो मन्द है ही, समझ भी थोड़ी है। इसके साथ ही वे नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे घिरे हुए भी रहते हैं॥ १०॥

* यह प्रसिद्ध है कि तोतेका काटा हुआ फल अधिक मीठा होता है।

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।
अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां येनात्मा सम्प्रसीदति॥ ११

सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया॥ १२

तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम्।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च॥ १३

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥ १४

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया॥ १५

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम्॥ १६

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः॥ १७

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया॥ १८

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ १९

शास्त्र भी बहुत-से हैं। परन्तु उनमें एक निश्चित साधनका नहीं, अनेक प्रकारके कर्मोंका वर्णन है। साथ ही वे इतने बड़े हैं कि उनका एक अंश सुनना भी कठिन है। आप परोपकारी हैं। अपनी बुद्धिसे उनका सार निकालकर प्राणियोंके परम कल्याणके लिये हम श्रद्धालुओंको सुनाइये, जिससे हमारे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त हो॥ ११॥

प्यारे सूतजी! आपका कल्याण हो। आप तो जानते ही हैं कि यदुवंशियोंके रक्षक भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेवकी धर्मपत्नी देवकीके गर्भसे क्या करनेकी इच्छासे अवतीर्ण हुए थे॥ १२॥ हम उसे सुनना चाहते हैं। आप कृपा करके हमारे लिये उसका वर्णन कीजिये; क्योंकि भगवान्‌का अवतार जीवोंके परम कल्याण और उनकी भगवत्प्रेममयी समृद्धिके लिये ही होता है॥ १३॥ यह जीव जन्म-मृत्युके घोर चक्रमें पड़ा हुआ है—इस स्थितिमें भी यदि वह कभी भगवान्‌के मंगलमय नामका उच्चारण कर ले तो उसी क्षण उससे मुक्त हो जाय; क्योंकि स्वयं भय भी भगवान्‌से डरता रहता है॥ १४॥ सूतजी! परम विरक्त और परम शान्त मुनिजन भगवान्‌के श्रीचरणोंकी शरणमें ही रहते हैं, अतएव उनके स्पर्शमात्रसे संसारके जीव तुरन्त पवित्र हो जाते हैं। इधर गंगाजीके जलका बहुत दिनोंतक सेवन किया जाय, तब कहीं पवित्रता प्राप्त होती है॥ १५॥ ऐसे पुण्यात्मा भक्त जिनकी लीलाओंका गान करते रहते हैं, उन भगवान्‌का कलिमलहारी पवित्र यश भला आत्मशुद्धिकी इच्छावाला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो श्रवण न करे॥ १६॥ वे लीलासे ही अवतार धारण करते हैं। नारदादि महात्माओंने उनके उदार कर्मोंका गान किया है। हम श्रद्धालुओंके प्रति आप उनका वर्णन कीजिये॥ १७॥

बुद्धिमान् सूतजी! सर्वसमर्थ प्रभु अपनी योगमायासे स्वच्छन्द लीला करते हैं। आप उन श्रीहरिकी मंगलमयी अवतार-कथाओंका अब वर्णन कीजिये॥ १८॥ पुण्यकीर्ति भगवान्‌की लीला सुननेसे हमें कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि रसज्ञ श्रोताओंको पद-पदपर भगवान्‌की लीलाओंमें नये-नये रसका अनुभव होता है॥ १९॥

कृतवान् किल वीर्याणि सह रामेण केशवः।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः॥ २०

भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको छिपाये हुए थे, लोगोंके सामने ऐसी चेष्टा करते थे मानो कोई मनुष्य हों। परन्तु उन्होंने बलरामजीके साथ ऐसी लीलाएँ भी की हैं, ऐसा पराक्रम भी प्रकट किया है, जो मनुष्य नहीं कर सकते॥ २०॥

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥ २१

कलियुगको आया जानकर इस वैष्णवक्षेत्रमें हम दीर्घकालीन सत्रका संकल्प करके बैठे हैं। श्रीहरिकी कथा सुननेके लिये हमें अवकाश प्राप्त है॥ २१॥

त्वं नः संदर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम्।
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम्॥ २२

यह कलियुग अन्त:करणकी पवित्रता और शक्तिका नाश करनेवाला है। इससे पार पाना कठिन है। जैसे समुद्रसे पार जानेवालोंको कर्णधार मिल जाय, उसी प्रकार इससे पार पानेकी इच्छा रखनेवाले हम लोगोंसे ब्रह्माने आपको मिलाया है॥ २२॥

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः॥ २३

धर्मरक्षक, ब्राह्मणभक्त, योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके अपने धाममें पधार जानेपर धर्मने अब किसकी शरण ली है—यह बताइये॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवत्कथा और भगवद्भक्तिका माहात्म्य

व्यास उवाच

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ १

श्रीव्यासजी कहते हैं—शौनकादि ब्रह्मवादी ऋषियोंके ये प्रश्न सुनकर रोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवाको बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने ऋषियोंके इस मंगलमय प्रश्नका अभिनन्दन करके कहना आरम्भ किया॥ १॥

सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ २

सूतजीने कहा—जिस समय श्रीशुकदेवजीका यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था, सुतरां लौकिक-वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अवसर भी नहीं आया था, उन्हें अकेले ही संन्यास लेनेके उद्देश्यसे जाते देखकर उनके पिता व्यासजी विरहसे कातर होकर पुकारने लगे—'बेटा! बेटा!' उस समय तन्मय होनेके कारण श्रीशुकदेवजीकी ओरसे वृक्षोंने उत्तर दिया। ऐसे सबके हृदयमें विराजमान श्रीशुकदेव मुनिको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २॥

य: स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥ ३

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ ४

मुनय: साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।
यत्कृत: कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥ ५

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥ ६

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥ ७

धर्म: स्वनुष्ठित: पुंसां विष्वक्सेनकथासु य:।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ ८

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृत:॥ ९

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभि:॥ १०

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ ११

यह श्रीमद्भागवत अत्यन्त गोपनीय—रहस्यात्मक पुराण है। यह भगवत्स्वरूपका अनुभव करानेवाला और समस्त वेदोंका सार है। संसारमें फँसे हुए जो लोग इस घोर अज्ञानान्धकारसे पार जाना चाहते हैं, उनके लिये आध्यात्मिक तत्त्वोंको प्रकाशित करानेवाला यह एक अद्वितीय दीपक है। वास्तवमें उन्हींपर करुणा करके बड़े-बड़े मुनियोंके आचार्य श्रीशुकदेवजीने इसका वर्णन किया है। मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ ३॥ मनुष्योंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान्‌के अवतार नर-नारायण ऋषियोंको, सरस्वती देवीको और श्रीव्यासदेवजीको नमस्कार करके तब संसार और अन्त:करणके समस्त विकारोंपर विजय प्राप्त करानेवाले इस श्रीमद्भागवतमहापुराणका पाठ करना चाहिये॥ ४॥

ऋषियो! आपने सम्पूर्ण विश्वके कल्याणके लिये यह बहुत सुन्दर प्रश्न किया है; क्योंकि यह प्रश्न श्रीकृष्णके सम्बन्धमें है और इससे भलीभाँति आत्मशुद्धि हो जाती है॥ ५॥ मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो—भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे; ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है॥ ६॥ भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति होते ही, अनन्य प्रेमसे उनमें चित्त जोड़ते ही निष्काम ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव हो जाता है॥ ७॥ धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेपर भी यदि मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌की लीला-कथाओंके प्रति अनुरागका उदय न हो तो वह निरा श्रम-ही-श्रम है॥ ८॥ धर्मका फल है मोक्ष। उसकी सार्थकता अर्थप्राप्तिमें नहीं है। अर्थ केवल धर्मके लिये है। भोगविलास उसका फल नहीं माना गया है॥ ९॥ भोगविलासका फल इन्द्रियोंको तृप्त करना नहीं है, उसका प्रयोजन है केवल जीवननिर्वाह। जीवनका फल भी तत्त्वजिज्ञासा है। बहुत कर्म करके स्वर्गादि प्राप्त करना उसका फल नहीं है॥ १०॥ तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं॥ ११॥

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया[1]।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥ १२

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥ १३

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥ १४

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम्॥ १५

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥ १६

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥ १७

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया[2]।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥ १८

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥ १९

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥ २०

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ २१

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्॥ २२

श्रद्धालु मुनिजन भागवतश्रवणसे प्राप्त ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तिसे अपने हृदयमें उस परमतत्त्वरूप परमात्माका अनुभव करते हैं॥ १२॥ शौनकादि ऋषियो! यही कारण है कि अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुसार मनुष्य जो धर्मका अनुष्ठान करते हैं, उसकी पूर्ण सिद्धि इसीमें है कि भगवान् प्रसन्न हों॥ १३॥ इसलिये एकाग्र मनसे भक्तवत्सल भगवान्का ही नित्य-निरन्तर श्रवण, कीर्तन, ध्यान और आराधन करना चाहिये॥ १४॥ कर्मोंकी गाँठ बड़ी कड़ी है। विचारवान् पुरुष भगवान्के चिन्तनकी तलवारसे उस गाँठको काट डालते हैं। तब भला, ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो भगवान्की लीलाकथामें प्रेम न करे॥ १५॥

शौनकादि ऋषियो! पवित्र तीर्थोंका सेवन करनेसे महत्सेवा, तदनन्तर श्रवणकी इच्छा, फिर श्रद्धा, तत्पश्चात् भगवत्-कथामें रुचि होती है॥ १६॥ भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करनेवाले हैं। वे अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें आकर स्थित हो जाते हैं और उनकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं; क्योंकि वे संतोंके नित्य सुहृद् हैं॥ १७॥ जब श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तोंके निरन्तर सेवनसे अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके प्रति स्थायी प्रेमकी प्राप्ति होती है॥ १८॥ तब रजोगुण और तमोगुणके भाव—काम और लोभादि शान्त हो जाते हैं और चित्त इनसे रहित होकर सत्त्वगुणमें स्थित एवं निर्मल हो जाता है॥ १९॥ इस प्रकार भगवान्की प्रेममयी भक्तिसे जब संसारकी समस्त आसक्तियाँ मिट जाती हैं, हृदय आनन्दसे भर जाता है, तब भगवान्के तत्त्वका अनुभव अपने-आप हो जाता है॥ २०॥ हृदयमें आत्मस्वरूप भगवान्का साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है॥ २१॥ इसीसे बुद्धिमान् लोग नित्य-निरन्तर बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम-भक्ति करते हैं, जिससे आत्मप्रसादकी प्राप्ति होती है॥ २२॥

१. प्रा० पा०—युक्तयः। २. प्रा० पा०—भगवदाश्रयात्।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥ २३

पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ २४

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह॥ २५

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः[१] शान्ता[२] भजन्ति ह्यनसूयवः॥ २६

रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै।
पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः॥ २७

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥ २८

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥ २९

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः॥ ३०

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनको स्वीकार करके इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके लिये एक अद्वितीय परमात्मा ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र—ये तीन नाम ग्रहण करते हैं। फिर भी मनुष्योंका परम कल्याण तो सत्त्वगुण स्वीकार करनेवाले श्रीहरिसे ही होता है॥ २३॥ जैसे पृथ्वीके विकार लकड़ीकी अपेक्षा धुआँ श्रेष्ठ है और उससे भी श्रेष्ठ है अग्नि —क्योंकि वेदोक्त यज्ञ-यागादिके द्वारा अग्नि सद्गति देनेवाला है—वैसे ही तमोगुणसे रजोगुण श्रेष्ठ है और रजोगुणसे भी सत्त्वगुण श्रेष्ठ है; क्योंकि वह भगवान्का दर्शन करानेवाला है॥ २४॥ प्राचीन युगमें महात्मालोग अपने कल्याणके लिये विशुद्ध सत्त्वमय भगवान् विष्णुकी ही आराधना किया करते थे। अब भी जो लोग उनका अनुसरण करते हैं, वे उन्हींके समान कल्याणभाजन होते हैं॥ २५॥ जो लोग इस संसारसागरसे पार जाना चाहते हैं, वे यद्यपि किसीकी निन्दा तो नहीं करते, न किसीमें दोष ही देखते हैं, फिर भी घोररूपवाले—तमोगुणी-रजोगुणी भैरवादि भूतपतियोंकी उपासना न करके सत्त्वगुणी विष्णुभगवान् और उनके अंश—कलास्वरूपोंका ही भजन करते हैं॥ २६॥ परन्तु जिसका स्वभाव रजोगुणी अथवा तमोगुणी है, वे धन, ऐश्वर्य और संतानकी कामनासे भूत, पितर और प्रजापतियोंकी उपासना करते हैं; क्योंकि इन लोगोंका स्वभाव उन (भूतादि)-से मिलता-जुलता होता है॥ २७॥ वेदोंका तात्पर्य श्रीकृष्णमें ही है। यज्ञोंके उद्देश्य श्रीकृष्ण ही हैं। योग श्रीकृष्णके लिये ही किये जाते हैं और समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति भी श्रीकृष्णमें ही है॥ २८॥ ज्ञानसे ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णकी ही प्राप्ति होती है। तपस्या श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही की जाती है। श्रीकृष्णके लिये ही धर्मोंका अनुष्ठान होता है और सब गतियाँ श्रीकृष्णमें ही समा जाती हैं॥ २९॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत हैं, फिर भी अपनी गुणमयी मायासे, जो प्रपंचकी दृष्टिसे है और तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं है—उन्होंने ही सर्गके आदिमें इस संसारकी रचना की थी॥ ३०॥

१. प्रा० पा०—कलां। २. प्रा० पा०—शान्तां।

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव।
अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः॥ ३१

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥ ३२

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान्॥ ३३

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो[1] देवतिर्यङ्नरादिषु॥ ३४

ये सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण उसी मायाके विलास हैं; इनके भीतर रहकर भगवान् इनसे युक्त-सरीखे मालूम पड़ते हैं। वास्तवमें तो वे परिपूर्ण विज्ञानानन्दघन हैं॥ ३१॥ अग्नि तो वस्तुतः एक ही है, परंतु जब वह अनेक प्रकारकी लकड़ियोंमें प्रकट होती है तब अनेक-सी मालूम पड़ती है। वैसे ही सबके आत्मरूप भगवान् तो एक ही हैं, परंतु प्राणियोंकी अनेकतासे अनेक-जैसे जान पड़ते हैं॥ ३२॥ भगवान् ही सूक्ष्म भूत—तन्मात्रा, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि गुणोंके विकारभूत भावोंके द्वारा नाना प्रकारकी योनियोंका निर्माण करते हैं और उनमें भिन्न-भिन्न जीवोंके रूपमें प्रवेश करके उन-उन योनियोंके अनुरूप विषयोंका उपभोग करते-कराते हैं॥ ३३॥ वे ही सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करते हैं और देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियोंमें लीलावतार ग्रहण करके सत्त्वगुणके द्वारा जीवोंका पालन-पोषण करते हैं॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान्के अवतारोंका वर्णन

सूत उवाच

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥ १

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥ २

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥ ३

श्रीसूतजी कहते हैं—सृष्टिके आदिमें भगवान्ने लोकोंके निर्माणकी इच्छा की। इच्छा होते ही उन्होंने महत्तत्त्व आदिसे निष्पन्न पुरुषरूप ग्रहण किया। उसमें दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत—ये सोलह कलाएँ थीं॥ १॥

उन्होंने कारण-जलमें शयन करते हुए जब योगनिद्राका विस्तार किया, तब उनके नाभि-सरोवरमेंसे एक कमल प्रकट हुआ और उस कमलसे प्रजापतियोंके अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए॥ २॥

भगवान्के उस विराट्रूपके अंग-प्रत्यंगमें ही समस्त लोकोंकी कल्पना की गयी है, वह भगवान्का विशुद्ध सत्त्वमय श्रेष्ठ रूप है॥ ३॥

१. प्रा० पा०—लीलावतारानुरतस्तिर्यङ्नरसुरादिषु ।

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥ ५

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥ ६

द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः॥ ७

तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥ ८

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।
भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः॥ ९

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ १०

षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान्॥ ११

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम्॥ १२

योगीलोग दिव्यदृष्टिसे भगवान्के उस रूपका दर्शन करते हैं। भगवान्का वह रूप हजारों पैर, जाँघें, भुजाएँ और मुखोंके कारण अत्यन्त विलक्षण है; उसमें सहस्रों सिर, हजारों कान, हजारों आँखें और हजारों नासिकाएँ हैं। हजारों मुकुट, वस्त्र और कुण्डल आदि आभूषणोंसे वह उल्लसित रहता है॥ ४॥ भगवान्का यही पुरुषरूप जिसे नारायण कहते हैं, अनेक अवतारोंका अक्षय कोष है—इसीसे सारे अवतार प्रकट होते हैं। इस रूपके छोटे-से-छोटे अंशसे देवता, पशु-पक्षी और मनुष्यादि योनियोंकी सृष्टि होती है॥ ५॥

उन्हीं प्रभुने पहले कौमारसर्गमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार ब्राह्मणोंके रूपमें अवतार ग्रहण करके अत्यन्त कठिन अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया॥ ६॥ दूसरी बार इस संसारके कल्याणके लिये समस्त यज्ञोंके स्वामी उन भगवान्ने ही रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको निकाल लानेके विचारसे सूकररूप ग्रहण किया॥ ७॥ ऋषियोंकी सृष्टिमें उन्होंने देवर्षि नारदके रूपमें तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत तन्त्रका (जिसे 'नारद-पांचरात्र' कहते हैं) उपदेश किया; उसमें कर्मोंके द्वारा किस प्रकार कर्मबन्धनसे मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन है॥ ८॥ धर्मपत्नी मूर्तिके गर्भसे उन्होंने नर-नारायणके रूपमें चौथा अवतार ग्रहण किया। इस अवतारमें उन्होंने ऋषि बनकर मन और इन्द्रियोंका सर्वथा संयम करके बड़ी कठिन तपस्या की॥ ९॥ पाँचवें अवतारमें वे सिद्धोंके स्वामी कपिलके रूपमें प्रकट हुए और तत्त्वोंका निर्णय करनेवाले सांख्य-शास्त्रका, जो समयके फेरसे लुप्त हो गया था, आसुरि नामक ब्राह्मणको उपदेश किया॥ १०॥ अनसूयाके वर माँगनेपर छठे अवतारमें वे अत्रिकी सन्तान—दत्तात्रेय हुए। इस अवतारमें उन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदिको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया॥ ११॥ सातवीं बार रुचि प्रजापतिकी आकूति नामक पत्नीसे यज्ञके रूपमें उन्होंने अवतार ग्रहण किया और अपने पुत्र याम आदि देवताओंके साथ स्वायम्भुव मन्वन्तरकी रक्षा की॥ १२॥

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥ १३

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः॥ १४

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्॥ १५

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः॥ १६

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशमथापि च।
अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया॥ १७

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम्।
ददार करजैर्वक्षस्येरकां कटकृद्यथा॥ १८

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः।
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम्॥ १९

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान्।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम्॥ २०

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥ २१

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्॥ २२

राजा नाभिकी पत्नी मेरु देवीके गर्भसे ऋषभदेवके रूपमें भगवान्ने आठवाँ अवतार ग्रहण किया। इस रूपमें उन्होंने परमहंसोंका वह मार्ग, जो सभी आश्रमियोंके लिये वन्दनीय है, दिखाया॥ १३ ॥ ऋषियोंकी प्रार्थनासे नवीं बार वे राजा पृथुके रूपमें अवतीर्ण हुए। शौनकादि ऋषियो! इस अवतारमें उन्होंने पृथ्वीसे समस्त ओषधियोंका दोहन किया था, इससे यह अवतार सबके लिये बड़ा ही कल्याणकारी हुआ॥ १४॥ चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें जब सारी त्रिलोकी समुद्रमें डूब रही थी, तब उन्होंने मत्स्यके रूपमें दसवाँ अवतार ग्रहण किया और पृथ्वीरूपी नौकापर बैठाकर अगले मन्वन्तरके अधिपति वैवस्वत मनुकी रक्षा की॥ १५ ॥ जिस समय देवता और दैत्य समुद्र-मन्थन कर रहे थे, उस समय ग्यारहवाँ अवतार धारण करके कच्छपरूपसे भगवान्ने मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया॥ १६ ॥ बारहवीं बार धन्वन्तरिके रूपमें अमृत लेकर समुद्रसे प्रकट हुए और तेरहवीं बार मोहिनीरूप धारण करके दैत्योंको मोहित करते हुए देवताओंको अमृत पिलाया॥ १७ ॥ चौदहवें अवतारमें उन्होंने नरसिंहरूप धारण किया और अत्यन्त बलवान् दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी छाती अपने नखोंसे अनायास इस प्रकार फाड़ डाली, जैसे चटाई बनानेवाला सींकको चीर डालता है॥ १८ ॥ पंद्रहवीं बार वामनका रूप धारण करके भगवान् दैत्यराज बलिके यज्ञमें गये। वे चाहते तो थे त्रिलोकीका राज्य, परन्तु माँगी उन्होंने केवल तीन पग पृथ्वी॥ १९ ॥ सोलहवें परशुराम अवतारमें जब उन्होंने देखा कि राजालोग ब्राह्मणोंके द्रोही हो गये हैं, तब क्रोधित होकर उन्होंने पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया॥ २० ॥ इसके बाद सत्रहवें अवतारमें सत्यवतीके गर्भसे पराशरजीके द्वारा वे व्यासके रूपमें अवतीर्ण हुए, उस समय लोगोंकी समझ और धारणाशक्ति कम देखकर आपने वेदरूप वृक्षकी कई शाखाएँ बना दीं॥ २१ ॥ अठारहवीं बार देवताओंका कार्य सम्पन्न करनेकी इच्छासे उन्होंने राजाके रूपमें रामावतार ग्रहण किया और सेतुबन्धन, रावणवध आदि वीरतापूर्ण बहुत-सी लीलाएँ कीं॥ २२ ॥

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्॥ २३
ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥ २४
अथासौ युगसंध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः॥ २५
अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥ २६
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥ २७
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥ २८
जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते॥ २९
एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥ ३०
यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः॥ ३१

उन्नीसवें और बीसवें अवतारोंमें उन्होंने यदुवंशमें बलराम और श्रीकृष्णके नामसे प्रकट होकर पृथ्वीका भार उतारा॥ २३॥ उसके बाद कलियुग आ जानेपर मगधदेश (बिहार)-में देवताओंके द्वेषी दैत्योंको मोहित करनेके लिये अजनके पुत्ररूपमें आपका बुद्धावतार होगा॥ २४॥ इसके भी बहुत पीछे जब कलियुगका अन्त समीप होगा और राजालोग प्रायः लुटेरे हो जायँगे, तब जगत्के रक्षक भगवान् विष्णुयश नामक ब्राह्मणके घर कल्किरूपमें अवतीर्ण होंगे*॥ २५॥

शौनकादि ऋषियो! जैसे अगाध सरोवरसे हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वनिधि भगवान् श्रीहरिके असंख्य अवतार हुआ करते हैं॥ २६॥ ऋषि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपुत्र और जितने भी महान् शक्तिशाली हैं, वे सब-के-सब भगवान्के ही अंश हैं॥ २७॥ ये सब अवतार तो भगवान्के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) ही हैं। जब लोग दैत्योंके अत्याचारसे व्याकुल हो उठते हैं, तब युग-युगमें अनेक रूप धारण करके भगवान् उनकी रक्षा करते हैं॥ २८॥ भगवान्के दिव्य जन्मोंकी यह कथा अत्यन्त गोपनीय—रहस्यमयी है; जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे नियमपूर्वक सायंकाल और प्रातःकाल प्रेमसे इसका पाठ करता है, वह सब दुःखोंसे छूट जाता है॥ २९॥

प्राकृत स्वरूपरहित चिन्मय भगवान्का जो यह स्थूल जगदाकार रूप है, यह उनकी मायाके महत्तत्त्वादि गुणोंसे भगवान्में ही कल्पित है॥ ३०॥ जैसे बादल वायुके आश्रय रहते हैं और धूसरपना धूलमें होता है, परन्तु अल्पबुद्धि मनुष्य बादलोंका आकाशमें और धूसरपनेका वायुमें आरोप करते हैं—वैसे ही अविवेकी पुरुष सबके साक्षी आत्मामें स्थूल दृश्यरूप जगत्का

* यहाँ बाईस अवतारोंकी गणना की गयी है, परन्तु भगवान्के चौबीस अवतार प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वान् चौबीसकी संख्या यों पूर्ण करते हैं—राम-कृष्णके अतिरिक्त बीस अवतार तो उपर्युक्त हैं ही, शेष चार अवतार श्रीकृष्णके ही अंश हैं। स्वयं श्रीकृष्ण तो पूर्ण परमेश्वर हैं; वे अवतार नहीं, अवतारी हैं। अतः श्रीकृष्णको अवतारोंकी गणनामें नहीं गिनते। उनके चार अंश ये हैं—एक तो केशका अवतार, दूसरा सुतपा तथा पृश्निपर कृपा करनेवाला अवतार, तीसरा संकर्षण-बलराम और चौथा परब्रह्म। इस प्रकार इन चार अवतारोंसे विशिष्ट पाँचवें साक्षात् भगवान् वासुदेव हैं। दूसरे विद्वान् ऐसा मानते हैं कि बाईस अवतार तो उपर्युक्त हैं ही; इनके अतिरिक्त दो और हैं—हंस और हयग्रीव।

अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणव्यूहितम्।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः॥ ३२

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम्॥ ३३

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते॥ ३४

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः॥ ३५

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः॥ ३६

न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः
सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥ ३७

स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या
भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥ ३८

आरोप करते हैं॥ ३१॥ इस स्थूलरूपसे परे भगवान्‌का एक सूक्ष्म अव्यक्त रूप है—जो न तो स्थूलकी तरह आकारादि गुणोंवाला है और न देखने, सुननेमें ही आ सकता है; वही सूक्ष्मशरीर है। आत्माका आरोप या प्रवेश होनेसे यही जीव कहलाता है और इसीका बार-बार जन्म होता है॥ ३२॥

उपर्युक्त सूक्ष्म और स्थूलशरीर अविद्यासे ही आत्मामें आरोपित हैं। जिस अवस्थामें आत्मस्वरूपके ज्ञानसे यह आरोप दूर हो जाता है, उसी समय ब्रह्मका साक्षात्कार होता है॥ ३३॥ तत्त्वज्ञानी लोग जानते हैं कि जिस समय यह बुद्धिरूपा परमेश्वरकी माया निवृत्त हो जाती है, उस समय जीव परमानन्दमय हो जाता है और अपनी स्वरूप-महिमामें प्रतिष्ठित होता है॥ ३४॥ वास्तवमें जिनके जन्म नहीं हैं और कर्म भी नहीं हैं, उन हृदयेश्वर भगवान्‌के अप्राकृत जन्म और कर्मोंका तत्त्वज्ञानी लोग इसी प्रकार वर्णन करते हैं; क्योंकि उनके जन्म और कर्म वेदोंके अत्यन्त गोपनीय रहस्य हैं॥ ३५॥

भगवान्‌की लीला अमोघ है। वे लीलासे ही इस संसारका सृजन, पालन और संहार करते हैं, किंतु इसमें आसक्त नहीं होते। प्राणियोंके अन्त:करणमें छिपे रहकर ज्ञानेन्द्रिय और मनके नियन्ताके रूपमें उनके विषयोंको ग्रहण भी करते हैं, परंतु उनसे अलग रहते हैं, वे परम स्वतन्त्र हैं—ये विषय कभी उन्हें लिप्त नहीं कर सकते॥ ३६॥ जैसे अनजान मनुष्य जादूगर अथवा नटके संकल्प और वचनोंसे की हुई करामातको नहीं समझ पाता, वैसे ही अपने संकल्प और वेदवाणीके द्वारा भगवान्‌के प्रकट किये हुए इन नाना नाम और रूपोंको तथा उनकी लीलाओंको कुबुद्धि जीव बहुत-सी तर्क-युक्तियोंके द्वारा नहीं पहचान सकता॥ ३७॥ चक्रपाणि भगवान्‌की शक्ति और पराक्रम अनन्त है—उनकी कोई थाह नहीं पा सकता। वे सारे जगत्‌के निर्माता होनेपर भी उससे सर्वथा परे हैं। उनके स्वरूपको अथवा उनकी लीलाके रहस्यको वही जान सकता है, जो नित्य-निरन्तर निष्कपटभावसे उनके चरणकमलोंकी दिव्य गन्धका सेवन करता है—सेवाभावसे उनके चरणोंका चिन्तन करता रहता है॥ ३८॥

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं
यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं
न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ॥ ३९

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥ ४०

निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्।
तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥ ४१

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥ ४२

प्रायोपविष्टं गंगायां परीतं परमर्षिभिः।
कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ॥ ४३

कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः।
तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ॥ ४४

अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥ ४५

शौनकादि ऋषियो! आपलोग बड़े ही सौभाग्यशाली तथा धन्य हैं जो इस जीवनमें और विघ्न-बाधाओंसे भरे इस संसारमें समस्त लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे वह सर्वात्मक आत्मभाव, वह अनिर्वचनीय अनन्य प्रेम करते हैं, जिससे फिर इस जन्म-मरणरूप संसारके भयंकर चक्रमें नहीं पड़ना होता ॥ ३९ ॥ भगवान् वेदव्यासने यह वेदोंके समान भगवच्चरित्रसे परिपूर्ण भागवत नामका पुराण बनाया है ॥ ४० ॥ उन्होंने इस श्लाघनीय, कल्याणकारी और महान् पुराणको लोगोंके परम कल्याणके लिये अपने आत्मज्ञानिशिरोमणि पुत्रको ग्रहण कराया ॥ ४१ ॥ इसमें सारे वेद और इतिहासोंका सार-सार संग्रह किया गया है। शुकदेवजीने राजा परीक्षित्को यह सुनाया ॥ ४२ ॥ उस समय वे परमर्षियोंसे घिरे हुए आमरण अनशनका व्रत लेकर गंगातटपर बैठे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्ण जब धर्म, ज्ञान आदिके साथ अपने परमधामको पधार गये, तब इस कलियुगमें जो लोग अज्ञानरूपी अन्धकारसे अंधे हो रहे हैं, उनके लिये यह पुराणरूपी सूर्य इस समय प्रकट हुआ है। शौनकादि ऋषियो! जब महातेजस्वी श्रीशुकदेवजी महाराज वहाँ इस पुराणकी कथा कह रहे थे, तब मैं भी वहाँ बैठा था। वहीं मैंने उनकी कृपापूर्ण अनुमतिसे इसका अध्ययन किया। मेरा जैसा अध्ययन है और मेरी बुद्धिने जितना जिस प्रकार इसको ग्रहण किया है, उसीके अनुसार इसे मैं आपलोगोंको सुनाऊँगा ॥ ४३—४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

महर्षि व्यासका असन्तोष

व्यास उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम्।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १

व्यासजी कहते हैं—उस दीर्घकालीन सत्रमें सम्मिलित हुए मुनियोंमें विद्यावयोवृद्ध कुलपति ऋग्वेदी शौनकजीने सूतजीकी पूर्वोक्त बात सुनकर उनकी प्रशंसा की और कहा ॥ १ ॥

शौनक उवाच

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः॥ २
कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना।
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः॥ ३
तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते॥ ४
दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं[१]
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥ ५
कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।
उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये॥ ६
कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह।
संवादः समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः॥ ७
स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥ ८
अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम्।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः॥ ९
स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः।
प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम्॥ १०

शौनकजी बोले—सूतजी! आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं तथा बड़े भाग्यशाली हैं, जो कथा भगवान् श्रीशुकदेवजीने कही थी, वही भगवान्‌की पुण्यमयी कथा कृपा करके आप हमें सुनाइये॥ २॥

वह कथा किस युगमें, किस स्थानपर और किस कारणसे हुई थी? मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायनने किसकी प्रेरणासे इस परमहंसोंकी संहिताका निर्माण किया था?॥ ३॥ उनके पुत्र शुकदेवजी बड़े योगी, समदर्शी, भेदभावरहित, संसारनिद्रासे जगे एवं निरन्तर एकमात्र परमात्मामें ही स्थिर रहते हैं। वे छिपे रहनेके कारण मूढ़-से प्रतीत होते हैं॥ ४॥ व्यासजी जब संन्यासके लिये वनकी ओर जाते हुए अपने पुत्रका पीछा कर रहे थे, उस समय जलमें स्नान करनेवाली स्त्रियोंने नंगे शुकदेवको देखकर तो वस्त्र धारण नहीं किया, परंतु वस्त्र पहने हुए व्यासजीको देखकर लज्जासे कपड़े पहन लिये थे। इस आश्चर्यको देखकर जब व्यासजीने उन स्त्रियोंसे इसका कारण पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया कि 'आपकी दृष्टिमें तो अभी स्त्री-पुरुषका भेद बना हुआ है, परंतु आपके पुत्रकी शुद्ध दृष्टिमें यह भेद नहीं है'॥ ५॥ कुरुजांगल देशमें पहुँचकर हस्तिनापुरमें वे पागल, गूँगे तथा जडके समान विचरते होंगे। नगरवासियोंने उन्हें कैसे पहचाना?॥ ६॥ पाण्डवनन्दन राजर्षि परीक्षित्‌का इन मौनी शुकदेवजीके साथ संवाद कैसे हुआ, जिसमें यह भागवतसंहिता कही गयी?॥ ७॥ महाभाग श्रीशुकदेवजी तो गृहस्थोंके घरोंको तीर्थस्वरूप बना देनेके लिये उतनी ही देर उनके दरवाजेपर रहते हैं, जितनी देरमें एक गाय दुही जाती है॥ ८॥ सूतजी! हमने सुना है कि अभिमन्युनन्दन परीक्षित् भगवान्‌के बड़े प्रेमी भक्त थे। उनके अत्यन्त आश्चर्यमय जन्म और कर्मोंका भी वर्णन कीजिये॥ ९॥ वे तो पाण्डव-वंशके गौरव बढ़ानेवाले सम्राट् थे। वे भला, किस कारणसे साम्राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके गंगातटपर मृत्युपर्यन्त अनशनका व्रत लेकर बैठे थे?॥ १०॥

१. प्रा० पा०—मप्सु मग्ना:।

नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः
शिवाय हानीय धनानि शत्रवः।
कथं स वीरः श्रियमंग दुस्त्यजां
युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः॥ ११
शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम्॥ १२
तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन।
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्॥ १३

सूत उवाच

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये।
जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः॥ १४
स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः।
विविक्तदेश आसीन उदिते रविमण्डले॥ १५
परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥ १६
भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान्निःसत्त्वान्दुर्मेधान् ह्रसितायुषः॥ १७
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक्॥ १८
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥ १९
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥ २०

शत्रुगण अपने भलेके लिये बहुत-सा धन लाकर उनके चरण रखनेकी चौकीको नमस्कार करते थे। वे एक वीर युवक थे। उन्होंने उस दुस्त्यज लक्ष्मीको, अपने प्राणोंके साथ भला, क्यों त्याग देनेकी इच्छा की॥ ११॥ जिन लोगोंका जीवन भगवान्‌के आश्रित है, वे तो संसारके परम कल्याण, अभ्युदय और समृद्धिके लिये ही जीवन धारण करते हैं। उसमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। उनका शरीर तो दूसरोंके हितके लिये था, उन्होंने विरक्त होकर उसका परित्याग क्यों किया॥ १२॥ वेदवाणीको छोड़कर अन्य समस्त शास्त्रोंके आप पारदर्शी विद्वान् हैं। सूतजी! इसलिये इस समय जो कुछ हमने आपसे पूछा है, वह सब कृपा करके हमें कहिये॥ १३॥

सूतजीने कहा—इस वर्तमान चतुर्युगीके तीसरे युग द्वापरमें महर्षि पराशरके द्वारा वसुकन्या सत्यवतीके गर्भसे भगवान्‌के कलावतार योगिराज व्यासजीका जन्म हुआ॥ १४॥ एक दिन वे सूर्योदयके समय सरस्वतीके पवित्र जलमें स्नानादि करके एकान्त पवित्र स्थानपर बैठे हुए थे॥ १५॥ महर्षि भूत और भविष्यको जानते थे। उनकी दृष्टि अचूक थी। उन्होंने देखा कि जिसको लोग जान नहीं पाते, ऐसे समयके फेरसे प्रत्येक युगमें धर्मसंकरता और उसके प्रभावसे भौतिक वस्तुओंकी भी शक्तिका ह्रास होता रहता है। संसारके लोग श्रद्धाहीन और शक्तिरहित हो जाते हैं। उनकी बुद्धि कर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाती और आयु भी कम हो जाती है। लोगोंकी इस भाग्यहीनताको देखकर उन मुनीश्वरने अपनी दिव्यदृष्टिसे समस्त वर्णों और आश्रमोंका हित कैसे हो, इसपर विचार किया॥ १६—१८॥ उन्होंने सोचा कि वेदोक्त चातुर्होत्र* कर्म लोगोंका हृदय शुद्ध करनेवाला है। इस दृष्टिसे यज्ञोंका विस्तार करनेके लिये उन्होंने एक ही वेदके चार विभाग कर दिये॥ १९॥ व्यासजीके द्वारा ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चार वेदोंका उद्धार (पृथक्करण) हुआ। इतिहास और पुराणोंको पाँचवाँ वेद कहा जाता है॥ २०॥

* होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—ये चार होता हैं। इनके द्वारा सम्पादित होनेवाले अग्निष्टोमादि यज्ञको चातुर्होत्र कहते हैं।

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत॥ २१
अथर्वाङ्गिगरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥ २२
त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्॥ २३
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः॥ २४
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ २५
एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः॥ २६
नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित्॥ २७
धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम्॥ २८
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत॥ २९
तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः॥ ३०
किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः॥ ३१

उनमेंसे ऋग्वेदके पैल, सामगानके विद्वान् जैमिनि एवं यजुर्वेदके एकमात्र स्नातक वैशम्पायन हुए॥ २१॥ अथर्ववेदमें प्रवीण हुए दरुणनन्दन सुमन्तु मुनि। इतिहास और पुराणोंके स्नातक मेरे पिता रोमहर्षण थे॥ २२॥ इन पूर्वोक्त ऋषियोंने अपनी-अपनी शाखाको और भी अनेक भागोंमें विभक्त कर दिया। इस प्रकार शिष्य, प्रशिष्य और उनके शिष्योंद्वारा वेदोंकी बहुत-सी शाखाएँ बन गयीं॥ २३॥ कम समझवाले पुरुषोंपर कृपा करके भगवान् वेदव्यासने इसलिये ऐसा विभाग कर दिया कि जिन लोगोंको स्मरणशक्ति नहीं है या कम है, वे भी वेदोंको धारण कर सकें॥ २४॥

स्त्री, शूद्र और पतित द्विजाति—तीनों ही वेद-श्रवणके अधिकारी नहीं हैं। इसलिये वे कल्याणकारी शास्त्रोक्त कर्मोंके आचरणमें भूल कर बैठते हैं। अब इसके द्वारा उनका भी कल्याण हो जाय, यह सोचकर महामुनि व्यासजीने बड़ी कृपा करके महाभारत इतिहासकी रचना की॥ २५॥ शौनकादि ऋषियो! यद्यपि व्यासजी इस प्रकार अपनी पूरी शक्तिसे सदा-सर्वदा प्राणियोंके कल्याणमें ही लगे रहे, तथापि उनके हृदयको सन्तोष नहीं हुआ॥ २६॥ उनका मन कुछ खिन्न-सा हो गया। सरस्वती नदीके पवित्र तटपर एकान्तमें बैठकर धर्मवेत्ता व्यासजी मन-ही-मन विचार करते हुए इस प्रकार कहने लगे—॥ २७॥ 'मैंने निष्कपटभावसे ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करते हुए वेद, गुरुजन और अग्नियोंका सम्मान किया है और उनकी आज्ञाका पालन किया है॥ २८॥ महाभारतकी रचनाके बहाने मैंने वेदके अर्थको खोल दिया है—जिससे स्त्री, शूद्र आदि भी अपने-अपने धर्म-कर्मका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं॥ २९॥ यद्यपि मैं ब्रह्मतेजसे सम्पन्न एवं समर्थ हूँ, तथापि मेरा हृदय कुछ अपूर्णकाम-सा जान पड़ता है॥ ३०॥ अवश्य ही अबतक मैंने भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले धर्मोंका प्रायः निरूपण नहीं किया है। वे ही धर्म परमहंसोंको प्रिय हैं और वे ही भगवान्‌को भी प्रिय हैं (हो-न-हो मेरी अपूर्णताका यही कारण है)'॥ ३१॥

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम्॥ ३२

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः।
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम्॥ ३३

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास इस प्रकार अपनेको अपूर्ण-सा मानकर जब खिन्न हो रहे थे, उसी समय पूर्वोक्त आश्रमपर देवर्षि नारदजी आ पहुँचे॥ ३२॥ उन्हें आया देख व्यासजी तुरन्त खड़े हो गये। उन्होंने देवताओंके द्वारा सम्मानित देवर्षि नारदकी विधिपूर्वक पूजा की॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः[1] *॥ ४॥*

अथ पञ्चमोऽध्यायः

भगवान्‌के यश-कीर्तनकी महिमा और देवर्षि नारदजीका पूर्वचरित्र

सूत उवाच

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव॥ १

नारद उवाच

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा॥ २
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम्॥ ३
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम्।
अथापि[2] शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥ ४

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छाम हे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतम्॥ ५
स वै भवान् वेद समस्तगुह्य-
मुपासितो यत्पुरुषः पुराणः।
परावरेशो मनसैव विश्वं
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः॥ ६

सूतजी कहते हैं—तदनन्तर सुखपूर्वक बैठे हुए वीणापाणि परम यशस्वी देवर्षि नारदने मुसकराकर अपने पास ही बैठे ब्रह्मर्षि व्यासजीसे कहा॥ १॥

नारदजीने प्रश्न किया—महाभाग व्यासजी! आपके शरीर एवं मन—दोनों ही अपने कर्म एवं चिन्तनसे सन्तुष्ट हैं न? ॥ २॥ अवश्य ही आपकी जिज्ञासा तो भलीभाँति पूर्ण हो गयी है; क्योंकि आपने जो यह महाभारतकी रचना की है, वह बड़ी ही अद्भुत है। वह धर्म आदि सभी पुरुषार्थोंसे परिपूर्ण है॥ ३॥ सनातन ब्रह्मतत्त्वको भी आपने खूब विचारा है और जान भी लिया है। फिर भी प्रभु! आप अकृतार्थ पुरुषके समान अपने विषयमें शोक क्यों कर रहे हैं?॥ ४॥

व्यासजीने कहा—आपने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक ही है। वैसा होनेपर भी मेरा हृदय सन्तुष्ट नहीं है। पता नहीं, इसका क्या कारण है। आपका ज्ञान अगाध है। आप साक्षात् ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। इसलिये मैं आपसे ही इसका कारण पूछता हूँ॥ ५॥ नारदजी! आप समस्त गोपनीय रहस्योंको जानते हैं; क्योंकि आपने उन पुराणपुरुषकी उपासना की है, जो प्रकृति-पुरुष दोनोंके स्वामी हैं और असंग रहते हुए ही अपने संकल्पमात्रसे गुणोंके द्वारा संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते रहते हैं॥ ६॥

१-यहाँ प्राचीन प्रतिमें 'नारदागमनं' इतना पाठ अधिक है। २- प्रा० पा०—तथापि।

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-
मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः
स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व॥ ७

आप सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंमें भ्रमण करते रहते हैं और योगबलसे प्राणवायुके समान सबके भीतर रहकर अन्तःकरणोंके साक्षी भी हैं। योगानुष्ठान और नियमोंके द्वारा परब्रह्म और शब्दब्रह्म दोनोंकी पूर्ण प्राप्ति कर लेनेपर भी मुझमें जो बड़ी कमी है, उसे आप कृपा करके बतलाइये॥ ७॥

श्रीनारद उवाच

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥ ८
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥ ९
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥ १०
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ ११
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥ १२
अथो महाभाग भवानमोघदृक्
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥ १३

नारदजीने कहा—व्यासजी! आपने भगवान्‌के निर्मल यशका गान प्रायः नहीं किया। मेरी ऐसी मान्यता है कि जिससे भगवान् संतुष्ट नहीं होते, वह शास्त्र या ज्ञान अधूरा है॥ ८॥ आपने धर्म आदि पुरुषार्थोंका जैसा निरूपण किया है, भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वैसा निरूपण नहीं किया॥ ९॥ जिस वाणीसे—चाहे वह रस-भाव-अलंकारादिसे युक्त ही क्यों न हो—जगत्‌को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशका कभी गान नहीं होता, वह तो कौओंके लिये उच्छिष्ट फेंकनेके स्थानके समान अपवित्र मानी जाती है। मानसरोवरके कमनीय कमलवनमें विहरनेवाले हंसोंकी भाँति ब्रह्मधाममें विहार करनेवाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त कभी उसमें रमण नहीं करते॥ १०॥ इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो दूषित शब्दोंसे युक्त भी है, परन्तु जिसका प्रत्येक श्लोक भगवान्‌के सुयशसूचक नामोंसे युक्त है, वह वाणी लोगोंके सारे पापोंका नाश कर देती है; क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणीका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं॥ ११॥ वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमंगलरूप है, वह काम्य कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है, ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है॥ १२॥ महाभाग व्यासजी! आपकी दृष्टि अमोघ है। आपकी कीर्ति पवित्र है। आप सत्यपरायण एवं दृढ़व्रत हैं। इसलिये अब आप सम्पूर्ण जीवोंको बन्धनसे मुक्त करनेके लिये समाधिके द्वारा अचिन्त्य-शक्ति भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण कीजिये॥ १३॥

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्॥ १४
जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो
न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥ १५
विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो-
रनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम्।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-
स्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः॥ १६
त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥ १७
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥ १८
न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः॥ १९

जो मनुष्य भगवान्‌की लीलाके अतिरिक्त और कुछ कहनेकी इच्छा करता है, वह उस इच्छासे ही निर्मित अनेक नाम और रूपोंके चक्करमें पड़ जाता है। उसकी बुद्धि भेदभावसे भर जाती है। जैसे हवाके झकोरोंसे डगमगाती हुई डोंगीको कहीं भी ठहरनेका ठौर नहीं मिलता, वैसे ही उसकी चंचल बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती॥ १४॥ संसारी लोग स्वभावसे ही विषयोंमें फँसे हुए हैं। धर्मके नामपर आपने उन्हें निन्दित (पशुहिंसायुक्त) सकाम कर्म करनेकी भी आज्ञा दे दी है। यह बहुत ही उलटी बात हुई; क्योंकि मूर्खलोग आपके वचनोंसे पूर्वोक्त निन्दित कर्मको ही धर्म मानकर—'यही मुख्य धर्म है' ऐसा निश्चय करके उसका निषेध करनेवाले वचनोंको ठीक नहीं मानते॥ १५॥ भगवान् अनन्त हैं। कोई विचारवान् ज्ञानी पुरुष ही संसारकी ओरसे निवृत्त होकर उनके स्वरूपभूत परमानन्दका अनुभव कर सकता है। अतः जो लोग पारमार्थिक बुद्धिसे रहित हैं और गुणोंके द्वारा नचाये जा रहे हैं, उनके कल्याणके लिये ही आप भगवान्‌की लीलाओंका सर्वसाधारणके हितकी दृष्टिसे वर्णन कीजिये॥ १६॥ जो मनुष्य अपने धर्मका परित्याग करके भगवान्‌के चरणकमलोंका भजन-सेवन करता है—भजन परिपक्व हो जानेपर तो बात ही क्या है—यदि इससे पूर्व ही उसका भजन छूट जाय तो क्या कहीं भी उसका कोई अमंगल हो सकता है? परन्तु जो भगवान्‌का भजन नहीं करते और केवल स्वधर्मका पालन करते हैं, उन्हें कौन-सा लाभ मिलता है॥ १७॥ बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह उसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे, जो तिनकेसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त समस्त ऊँची-नीची योनियोंमें कर्मोंके फलस्वरूप आने-जानेपर भी स्वयं प्राप्त नहीं होती। संसारके विषयसुख तो, जैसे बिना चेष्टाके दुःख मिलते हैं वैसे ही, कर्मके फलरूपमें अचिन्त्यगति समयके फेरसे सबको सर्वत्र स्वभावसे ही मिल जाते हैं॥ १८॥ व्यासजी! जो भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दका सेवक है वह भजन न करनेवाले कर्मी मनुष्योंके समान दैवात् कभी बुरा भाव हो जानेपर भी जन्म-मृत्युमय संसारमें नहीं आता। वह भगवान्‌के चरणकमलोंके आलिंगनका स्मरण करके फिर उसे छोड़ना नहीं

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै[१]
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥ २०
त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक्
परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम्।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-
न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम्॥ २१
इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः[२]।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्[३]॥ २२
अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने[४]
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम्।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥ २३
ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि॥ २४
उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥ २५
तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः॥ २६

चाहता; उसे रसका चसका जो लग चुका है॥ १९॥ जिनसे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, वे भगवान् ही इस विश्वके रूपमें भी हैं। ऐसा होनेपर भी वे इससे विलक्षण हैं। इस बातको आप स्वयं जानते हैं, तथापि मैंने आपको संकेतमात्र कर दिया है॥ २०॥ व्यासजी! आपकी दृष्टि अमोघ है; आप इस बातको जानिये कि आप पुरुषोत्तम-भगवान्‌के कलावतार हैं। आपने अजन्मा होकर भी जगत्‌के कल्याणके लिये जन्म ग्रहण किया है। इसलिये आप विशेषरूपसे भगवान्‌की लीलाओंका कीर्तन कीजिये॥ २१॥ विद्वानोंने इस बातका निरूपण किया है कि मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दानका एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्यकीर्ति श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका वर्णन किया जाय॥ २२॥

मुने! पिछले कल्पमें अपने पूर्वजीवनमें मैं वेदवादी ब्राह्मणोंकी एक दासीका लड़का था। वे योगी वर्षाऋतुमें एक स्थानपर चातुर्मास्य कर रहे थे। बचपनमें ही मैं उनकी सेवामें नियुक्त कर दिया गया था॥ २३॥ मैं यद्यपि बालक था, फिर भी किसी प्रकारकी चंचलता नहीं करता था, जितेन्द्रिय था, खेल-कूदसे दूर रहता था और आज्ञानुसार उनकी सेवा करता था। मैं बोलता भी बहुत कम था। मेरे इस शील-स्वभावको देखकर समदर्शी मुनियोंने मुझ सेवकपर अत्यन्त अनुग्रह किया॥ २४॥ उनकी अनुमति प्राप्त करके बरतनोंमें लगा हुआ प्रसाद मैं एक बार खा लिया करता था। इससे मेरे सारे पाप धुल गये। इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया और वे लोग जैसा भजन-पूजन करते थे, उसीमें मेरी भी रुचि हो गयी॥ २५॥ प्यारे व्यासजी! उस सत्संगमें उन लीलागानपरायण महात्माओंके अनुग्रहसे मैं प्रतिदिन श्रीकृष्णकी मनोहर कथाएँ सुना करता। श्रद्धापूर्वक एक-एक पद श्रवण करते-करते प्रियकीर्ति भगवान्‌में मेरी रुचि हो गयी॥ २६॥

१. प्रा० पा०—ते प्रदेश०। २. प्रा० पा०—बुद्ध०। ३. प्रा० पा०—गुणानुकीर्तनम्। ४. प्रा० पा०—सुतो।

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे॥ २७
इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा॥ २८
तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च॥ २९
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥ ३०
येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम्॥ ३१
एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥ ३२
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥ ३३
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥ ३४
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥ ३५
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च॥ ३६
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥ ३७

महामुने! जब भगवान्‌में मेरी रुचि हो गयी, तब उन मनोहरकीर्ति प्रभुमें मेरी बुद्धि भी निश्चल हो गयी। उस बुद्धिसे मैं इस सम्पूर्ण सत् और असत्-रूप जगत्‌को अपने परब्रह्मस्वरूप आत्मामें मायासे कल्पित देखने लगा॥ २७॥ इस प्रकार शरद् और वर्षा—इन दो ऋतुओंमें तीनों समय उन महात्मा मुनियोंने श्रीहरिके निर्मल यशका संकीर्तन किया और मैं प्रेमसे प्रत्येक बात सुनता रहा। अब चित्तके रजोगुण और तमोगुणको नाश करनेवाली भक्तिका मेरे हृदयमें प्रादुर्भाव हो गया॥ २८॥ मैं उनका बड़ा ही अनुरागी था, विनयी था; उन लोगोंकी सेवासे मेरे पाप नष्ट हो चुके थे। मेरे हृदयमें श्रद्धा थी, इन्द्रियोंमें संयम था एवं शरीर, वाणी और मनसे मैं उनका आज्ञाकारी था॥ २९॥ उन दीनवत्सल महात्माओंने जाते समय कृपा करके मुझे उस गुह्यतम ज्ञानका उपदेश किया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे किया है॥ ३०॥ उस उपदेशसे ही जगत्‌के निर्माता भगवान् श्रीकृष्णकी मायाके प्रभावको मैं जान सका, जिसके जान लेनेपर उनके परमपदकी प्राप्ति हो जाती है॥ ३१॥

सत्यसंकल्प व्यासजी! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति समस्त कर्मोंको समर्पित कर देना ही संसारके तीनों तापोंकी एकमात्र ओषधि है, यह बात मैंने आपको बतला दी॥ ३२॥ प्राणियोंको जिस पदार्थके सेवनसे जो रोग हो जाता है, वही पदार्थ चिकित्साविधिके अनुसार प्रयोग करनेपर क्या उस रोगको दूर नहीं करता?॥ ३३॥ इसी प्रकार यद्यपि सभी कर्म मनुष्योंको जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें डालनेवाले हैं, तथापि जब वे भगवान्‌को समर्पित कर दिये जाते हैं, तब उनका कर्मपना ही नष्ट हो जाता है॥ ३४॥ इस लोकमें जो शास्त्रविहित कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, उन्हींसे पराभक्तियुक्त ज्ञानकी प्राप्ति होती है॥ ३५॥ उस भगवदर्थ कर्मके मार्गमें भगवान्‌के आज्ञानुसार आचरण करते हुए लोग बार-बार भगवान् श्रीकृष्णके गुण और नामोंका कीर्तन तथा स्मरण करते हैं॥ ३६॥ 'प्रभो! आप भगवान् श्रीवासुदेवको नमस्कार है। हम आपका ध्यान करते हैं। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणको भी नमस्कार है'॥ ३७॥

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्॥ ३८

इस प्रकार जो पुरुष चतुर्व्यूहरूपी भगवन्मूर्तियोंके नामद्वारा प्राकृतमूर्तिरहित अप्राकृत मन्त्रमूर्ति भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन करता है, उसीका ज्ञान पूर्ण एवं यथार्थ है॥ ३८॥

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम्।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः॥ ३९

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां
संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा॥ ४०

ब्रह्मन्! जब मैंने भगवान्की आज्ञाका इस प्रकार पालन किया, तब इस बातको जानकर भगवान् श्रीकृष्णने मुझे आत्मज्ञान, ऐश्वर्य और अपनी भावरूपा प्रेमाभक्तिका दान किया॥ ३९॥ व्यासजी! आपका ज्ञान पूर्ण है; आप भगवान्की ही कीर्तिका—उनकी प्रेममयी लीलाका वर्णन कीजिये। उसीसे बड़े-बड़े ज्ञानियोंकी भी जिज्ञासा पूर्ण होती है। जो लोग दुःखोंके द्वारा बार-बार रौंदे जा रहे हैं, उनके दुःखकी शान्ति इसीसे हो सकती है और कोई उपाय नहीं है॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे व्यासनारदसंवादे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

नारदजीके पूर्वचरित्रका शेष भाग

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान्देवर्षेर्जन्म कर्म च।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः॥ १

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकजी! देवर्षि नारदके जन्म और साधनाकी बात सुनकर सत्यवतीनन्दन भगवान् श्रीव्यासजीने उनसे फिर यह प्रश्न किया॥ १॥

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान्॥ २
स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः।
कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम्॥ ३
प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम।
न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः॥ ४

श्रीव्यासजीने पूछा—नारदजी! जब आपको ज्ञानोपदेश करनेवाले महात्मागण चले गये, तब आपने क्या किया? उस समय तो आपकी अवस्था बहुत छोटी थी॥ २॥ स्वायम्भुव! आपकी शेष आयु किस प्रकार व्यतीत हुई और मृत्युके समय आपने किस विधिसे अपने शरीरका परित्याग किया?॥ ३॥ देवर्षे! काल तो सभी वस्तुओंको नष्ट कर देता है, उसने आपकी इस पूर्वकल्पकी स्मृतिका कैसे नाश नहीं किया?॥ ४॥

नारद उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम।
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम्॥ ५

श्रीनारदजीने कहा—मुझे ज्ञानोपदेश करनेवाले महात्मागण जब चले गये, तब मैंने इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत किया—यद्यपि उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी॥ ५॥

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी।
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम्॥ ६

सास्वतन्त्रा न कल्पाऽऽसीद्योगक्षेमं ममेच्छती।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा॥ ७

अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदपेक्षया।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः॥ ८

एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि।
सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः॥ ९

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम्॥ १०

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान्।
खेट[1]खर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च॥ ११

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान्।
जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः॥ १२

चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः।
[2]नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम् ॥ १३

एक एवाति[3]यातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत्।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम्॥ १४

मैं अपनी माँका इकलौता लड़का था। एक तो वह स्त्री थी, दूसरे मूढ़ और तीसरे दासी थी। मुझे भी उसके सिवा और कोई सहारा नहीं था। उसने अपनेको मेरे स्नेहपाशसे जकड़ रखा था॥ ६॥ वह मेरे योगक्षेमकी चिन्ता तो बहुत करती थी, परंतु पराधीन होनेके कारण कुछ कर नहीं पाती थी। जैसे कठपुतली नचानेवालेकी इच्छाके अनुसार ही नाचती है, वैसे ही यह सारा संसार ईश्वरके अधीन है॥ ७॥

मैं भी अपनी माँके स्नेहबन्धनमें बँधकर उस ब्राह्मण-बस्तीमें ही रहा। मेरी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी; मुझे दिशा, देश और कालके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं था॥ ८॥ एक दिनकी बात है, मेरी माँ गौ दुहनेके लिये रातके समय घरसे बाहर निकली। रास्तेमें उसके पैरसे साँप छू गया, उसने उस बेचारीको डस लिया। उस साँपका क्या दोष, कालकी ऐसी ही प्रेरणा थी॥ ९॥ मैंने समझा, भक्तोंका मंगल चाहनेवाले भगवान्‌का यह भी एक अनुग्रह ही है। इसके बाद मैं उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा॥ १०॥

उस ओर मार्गमें मुझे अनेकों धन-धान्यसे सम्पन्न देश, नगर, गाँव, अहीरोंकी चलती-फिरती बस्तियाँ, खानें, खेड़े, नदी और पर्वतोंके तटवर्ती पड़ाव, वाटिकाएँ, वन-उपवन और रंग-बिरंगी धातुओंसे युक्त विचित्र पर्वत दिखायी पड़े। कहीं-कहीं जंगली वृक्ष थे, जिनकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ हाथियोंने तोड़ डाली थीं। शीतल जलसे भरे हुए जलाशय थे, जिनमें देवताओंके काममें आनेवाले कमल थे; उनपर पक्षी तरह-तरहकी बोली बोल रहे थे और भौंरे मँडरा रहे थे। यह सब देखता हुआ मैं आगे बढ़ा। मैं अकेला ही था। इतना लम्बा मार्ग तै करनेपर मैंने एक घोर गहन जंगल देखा। उसमें नरकट, बाँस, सेंठा, कुश, कीचक आदि खड़े थे। उसकी लम्बाई-चौड़ाई भी बहुत थी और वह साँप, उल्लू, स्यार आदि भयंकर जीवोंका घर हो रहा था। देखनेमें बड़ा भयावना लगता था॥ ११—१४॥

१. प्रा० पा०—खेटान्। २. प्रा० पा०—रत्नरेणु। ३. प्रा० पा०—एवाभि०।

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः।
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः॥ १५

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आस्थितः[१]।
आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थं[२] यथाश्रुतमचिन्तयम्॥ १६

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥ १७

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥ १८

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव॥ १९

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः॥ २०

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम्।
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव॥ २१

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥ २२

सकृद् यद् दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान्॥ २३

चलते-चलते मेरा शरीर और इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं। मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी, भूखा तो था ही। वहाँ एक नदी मिली। उसके कुण्डमें मैंने स्नान, जलपान और आचमन किया। इससे मेरी थकावट मिट गयी॥ १५॥ उस विजन वनमें एक पीपलके नीचे आसन लगाकर मैं बैठ गया। उन महात्माओंसे जैसा मैंने सुना था, हृदयमें रहनेवाले परमात्माके उसी स्वरूपका मैं मन-ही-मन ध्यान करने लगा॥ १६॥ भक्तिभावसे वशीकृत चित्तद्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंका ध्यान करते ही भगवत्-प्राप्तिकी उत्कट लालसासे मेरे नेत्रोंमें आँसू छलछला आये और हृदयमें धीरे-धीरे भगवान् प्रकट हो गये॥ १७॥ व्यासजी! उस समय प्रेमभावके अत्यन्त उद्रेकसे मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया। उस आनन्दकी बाढ़में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और ध्येय वस्तुका तनिक भी भान न रहा॥ १८॥ भगवान्‌का वह अनिर्वचनीय रूप समस्त शोकोंका नाश करनेवाला और मनके लिये अत्यन्त लुभावना था। सहसा उसे न देख मैं बहुत ही विकल हो गया और अनमना-सा होकर आसनसे उठ खड़ा हुआ॥ १९॥

मैंने उस स्वरूपका दर्शन फिर करना चाहा; किन्तु मनको हृदयमें समाहित करके बार-बार दर्शनकी चेष्टा करनेपर भी मैं उसे नहीं देख सका। मैं अतृप्तके समान आतुर हो उठा॥ २०॥ इस प्रकार निर्जन वनमें मुझे प्रयत्न करते देख स्वयं भगवान्‌ने, जो वाणीके विषय नहीं हैं, बड़ी गंभीर और मधुर वाणीसे मेरे शोकको शान्त करते हुए-से कहा॥ २१॥ 'खेद है कि इस जन्ममें तुम मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो गयीं हैं, उन अधकचरे योगियोंको मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है॥ २२॥ निष्पाप बालक! तुम्हारे हृदयमें मुझे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् करनेके लिये ही मैंने एक बार तुम्हें अपने रूपकी झलक दिखायी है। मुझे प्राप्त करनेकी आकांक्षासे युक्त साधक धीरे-धीरे हृदयकी सम्पूर्ण वासनाओंका भलीभाँति त्याग कर देता है॥ २३॥

१. प्रा० पा०—आश्रितः। २. प्रा० पा०—आत्मनाऽऽत्मस्थमात्मानं।

सत्सेवयादीर्घया ते जाता मयि दृढा मतिः।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि॥ २४
मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित्।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात्॥ २५
एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम्।
अहं च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः॥ २६
नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन्।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
कालं प्रतीक्षन् विमदो[1] विमत्सरः॥ २७
एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः।
कालः प्रादुरभूत्काले तडित्[2]सौदामनी यथा॥ २८
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥ २९
कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः॥ ३०
सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे॥ ३१
अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः।
अनुग्रहान्[3]महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित्॥ ३२

अल्पकालीन संतसेवासे ही तुम्हारी चित्तवृत्ति मुझमें स्थिर हो गयी है। अब तुम इस प्राकृतमलिन शरीरको छोड़कर मेरे पार्षद हो जाओगे॥ २४॥ मुझे प्राप्त करनेका तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय कभी किसी प्रकार नहीं टूटेगा। समस्त सृष्टिका प्रलय हो जानेपर भी मेरी कृपासे तुम्हें मेरी स्मृति बनी रहेगी'॥ २५॥ आकाशके समान अव्यक्त सर्वशक्तिमान् महान् परमात्मा इतना कहकर चुप हो रहे। उनकी इस कृपाका अनुभव करके मैंने उन श्रेष्ठोंसे भी श्रेष्ठतर भगवान्‌को सिर झुकाकर प्रणाम किया॥ २६॥ तभीसे मैं लज्जा-संकोच छोड़कर भगवान्‌के अत्यन्त रहस्यमय और मंगलमय मधुर नामों और लीलाओंका कीर्तन और स्मरण करने लगा। स्पृहा और मद-मत्सर मेरे हृदयसे पहले ही निवृत्त हो चुके थे, अब मैं आनन्दसे कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथ्वीपर विचरने लगा॥ २७॥

व्यासजी! इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे मेरा हृदय शुद्ध हो गया, आसक्ति मिट गयी और मैं श्रीकृष्णपरायण हो गया। कुछ समय बाद, जैसे एकाएक बिजली कौंध जाती है, वैसे ही अपने समयपर मेरी मृत्यु आ गयी॥ २८॥ मुझे शुद्ध भगवत्पार्षद-शरीर प्राप्त होनेका अवसर आनेपर प्रारब्धकर्म समाप्त हो जानेके कारण पांचभौतिक शरीर नष्ट हो गया॥ २९॥ कल्पके अन्तमें जिस समय भगवान् नारायण एकार्णव (प्रलय-कालीन समुद्र)-के जलमें शयन करते हैं, उस समय उनके हृदयमें शयन करनेकी इच्छासे इस सारी सृष्टिको समेटकर ब्रह्माजी जब प्रवेश करने लगे, तब उनके श्वासके साथ मैं भी उनके हृदयमें प्रवेश कर गया॥ ३०॥ एक सहस्र चतुर्युगी बीत जानेपर जब ब्रह्मा जगे और उन्होंने सृष्टि करनेकी इच्छा की, तब उनकी इन्द्रियोंसे मरीचि आदि ऋषियोंके साथ मैं भी प्रकट हो गया॥ ३१॥ तभीसे मैं भगवान्‌की कृपासे वैकुण्ठादिमें और तीनों लोकोंमें बाहर और भीतर बिना रोक-टोक विचरण किया करता हूँ। मेरे जीवनका व्रत भगवद्भजन अखण्डरूपसे चलता रहता है॥ ३२॥

१. प्रा० पा०—प्रतीक्षन्नमदो। २. प्रा० पा०—विद्युत्। ३. प्रा० पा०—अनुग्रहादहं विष्णो।

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्॥ ३३

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥ ३४

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥ ३५

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति॥ ३६

सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ।
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम्॥ ३७

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम्।
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः॥ ३८

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं[1] शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥ ३९

भगवान्‌की दी हुई इस स्वरब्रह्मसे* विभूषित वीणापर तान छेड़कर मैं उनकी लीलाओंका गान करता हुआ सारे संसारमें विचरता हूँ॥ ३३॥ जब मैं उनकी लीलाओंका गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु, जिनके चरणकमल समस्त तीर्थोंके उद्‌गमस्थान हैं और जिनका यशोगान मुझे बहुत ही प्रिय लगता है, बुलाये हुएकी भाँति तुरन्त मेरे हृदयमें आकर दर्शन दे देते हैं॥ ३४॥ जिन लोगोंका चित्त निरन्तर विषयभोगोंकी कामनासे आतुर हो रहा है, उनके लिये भगवान्‌की लीलाओंका कीर्तन संसारसागरसे पार जानेका जहाज है, यह मेरा अपना अनुभव है॥ ३५॥ काम और लोभकी चोटसे बार-बार घायल हुआ हृदय श्रीकृष्णसेवासे जैसी प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है, यम-नियम आदि योगमार्गोंसे वैसी शान्ति नहीं मिल सकती॥ ३६॥ व्यासजी! आप निष्पाप हैं। आपने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब अपने जन्म और साधनाका रहस्य तथा आपकी आत्मतुष्टिका उपाय मैंने बतला दिया॥ ३७॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! देवर्षि नारदने व्यासजीसे इस प्रकार कहकर जानेकी अनुमति ली और वीणा बजाते हुए स्वच्छन्द विचरण करनेके लिये वे चल पड़े॥ ३८॥ अहा! ये देवर्षि नारद धन्य हैं; क्योंकि ये शार्ङ्गपाणि भगवान्‌की कीर्तिको अपनी वीणापर गा-गाकर स्वयं तो आनन्दमग्न होते ही हैं, साथ-साथ इस त्रितापतप्त जगत्‌को भी आनन्दित करते रहते हैं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
व्यासनारदसंवादे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

---

१. प्रा० पा०—यः कीर्तिं।

* षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद्—ये सातों स्वर ब्रह्मव्यंजक होनेके नाते ही ब्रह्मरूप कहे गये हैं।

अथ सप्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाद्वारा द्रौपदीके पुत्रोंका मारा जाना और अर्जुनके द्वारा अश्वत्थामाका मानमर्दन

शौनक उवाच

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः।
श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः॥ १

सूत उवाच

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः॥ २
तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्॥ ३
भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम्॥ ४
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥ ५
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥ ६
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ ७
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः॥ ८

शौनक उवाच

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः।
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत्॥ ९

श्रीशौनकजीने पूछा—सूतजी! सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् व्यासभगवान्ने नारदजीका अभिप्राय सुन लिया। फिर उनके चले जानेपर उन्होंने क्या किया?॥ १॥

श्रीसूतजीने कहा—ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिम तटपर शम्याप्रास नामका एक आश्रम है। वहाँ ऋषियोंके यज्ञ चलते ही रहते हैं॥ २॥ वहीं व्यासजीका अपना आश्रम है। उसके चारों ओर बेरका सुन्दर वन है। उस आश्रममें बैठकर उन्होंने आचमन किया और स्वयं अपने मनको समाहित किया॥ ३॥ उन्होंने भक्तियोगके द्वारा अपने मनको पूर्णतया एकाग्र और निर्मल करके आदिपुरुष परमात्मा और उनके आश्रयसे रहनेवाली मायाको देखा॥ ४॥ इसी मायासे मोहित होकर यह जीव तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर भी अपनेको त्रिगुणात्मक मान लेता है और इस मान्यताके कारण होनेवाले अनर्थोंको भोगता है॥ ५॥ इन अनर्थोंकी शान्तिका साक्षात् साधन है—केवल भगवान्का भक्ति-योग। परन्तु संसारके लोग इस बातको नहीं जानते। यही समझकर उन्होंने इस परमहंसोंकी संहिता श्रीमद्भागवतकी रचना की॥ ६॥ इसके श्रवणमात्रसे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम प्रेममयी भक्ति हो जाती है, जिससे जीवके शोक, मोह और भय नष्ट हो जाते हैं॥ ७॥ उन्होंने इस भागवत-संहिताका निर्माण और पुनरावृत्ति करके इसे अपने निवृत्तिपरायण पुत्र श्रीशुकदेवजीको पढ़ाया॥ ८॥

श्रीशौनकजीने पूछा—श्रीशुकदेवजी तो अत्यन्त निवृत्तिपरायण हैं, उन्हें किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है। वे सदा आत्मामें ही रमण करते हैं। फिर उन्होंने किसलिये इस विशाल ग्रन्थका अध्ययन किया?॥ ९॥

सूत उवाच

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ १०
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥ ११
परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम्।
संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्॥ १२
यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्श-
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे॥ १३
भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद् विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति॥ १४
माता शिशूनां निधनं सुतानां
निशम्य घोरं परितप्यमाना।
तदारुदद्बाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली॥ १५
तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे
यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे
त्वाऽऽक्रम्य यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा॥ १६
इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा
कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन॥ १७

श्रीसूतजीने कहा—जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं॥ १०॥ फिर श्रीशुकदेवजी तो भगवान्‌के भक्तोंके अत्यन्त प्रिय और स्वयं भगवान् वेदव्यासके पुत्र हैं। भगवान्‌के गुणोंने उनके हृदयको अपनी ओर खींच लिया और उन्होंने उससे विवश होकर ही इस विशाल ग्रन्थका अध्ययन किया॥ ११॥

शौनकजी! अब मैं राजर्षि परीक्षित्‌के जन्म, कर्म और मोक्षकी तथा पाण्डवोंके स्वर्गारोहणकी कथा कहता हूँ; क्योंकि इन्हींसे भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों कथाओंका उदय होता है॥ १२॥ जिस समय महाभारतयुद्धमें कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके बहुत-से वीर वीरगतिको प्राप्त हो चुके थे और भीमसेनकी गदाके प्रहारसे दुर्योधनकी जाँघ टूट चुकी थी, तब अश्वत्थामाने अपने स्वामी दुर्योधनका प्रिय कार्य समझकर द्रौपदीके सोते हुए पुत्रोंके सिर काटकर उसे भेंट किये, यह घटना दुर्योधनको भी अप्रिय ही लगी; क्योंकि ऐसे नीच कर्मकी सभी निन्दा करते हैं॥ १३-१४॥ उन बालकोंकी माता द्रौपदी अपने पुत्रोंका निधन सुनकर अत्यन्त दुःखी हो गयी। उसकी आँखोंमें आँसू छलछला आये—वह रोने लगी। अर्जुनने उसे सान्त्वना देते हुए कहा॥ १५॥ 'कल्याणि! मैं तुम्हारे आँसू तब पोछूँगा, जब उस आततायी* ब्राह्मणाधमका सिर गाण्डीव-धनुषके बाणोंसे काटकर तुम्हें भेंट करूँगा और पुत्रोंकी अन्त्येष्टि क्रियाके बाद तुम उसपर पैर रखकर स्नान करोगी'॥ १६॥ अर्जुनने इन मीठी और विचित्र बातोंसे द्रौपदीको सान्त्वना दी और अपने मित्र भगवान् श्रीकृष्णकी सलाहसे उन्हें सारथि बनाकर कवच धारणकर और अपने भयानक गाण्डीव धनुषको लेकर वे रथपर सवार हुए तथा गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़ पड़े॥ १७॥

* आग लगानेवाला, जहर देनेवाला, बुरी नीयतसे हाथमें शस्त्र ग्रहण करनेवाला, धन लूटनेवाला, खेत और स्त्रीको छीननेवाला—ये छः 'आततायी' कहलाते हैं।

तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन।
पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद्यथार्कः॥ १८
यदाशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम्।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः॥ १९
अथोपस्पृश्य सलिलं संदधे तत्समाहितः।
अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते॥ २०
ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम्।
प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह॥ २१

अर्जुन उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो[1] भक्तानामभयङ्कर।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः॥ २२
त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि॥ २३
स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम्॥ २४
तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
[2]स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत्॥ २५
किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम्।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम्॥ २६

श्रीभगवानुवाच

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम्।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते॥ २७

बच्चोंकी हत्यासे अश्वत्थामाका भी मन उद्विग्न हो गया था। जब उसने दूरसे ही देखा कि अर्जुन मेरी ओर झपटे हुए आ रहे हैं, तब वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये पृथ्वीपर जहाँतक भाग सकता था, रुद्रसे भयभीत सूर्यकी* भाँति भागता रहा॥ १८॥ जब उसने देखा कि मेरे रथके घोड़े थक गये हैं और मैं बिलकुल अकेला हूँ, तब उसने अपनेको बचानेका एकमात्र साधन ब्रह्मास्त्र ही समझा॥ १९॥ यद्यपि उसे ब्रह्मास्त्रको लौटानेकी विधि मालूम न थी, फिर भी प्राणसंकट देखकर उसने आचमन किया और ध्यानस्थ होकर ब्रह्मास्त्रका सन्धान किया॥ २०॥ उस अस्त्रसे सब दिशाओंमें एक बड़ा प्रचण्ड तेज फैल गया। अर्जुनने देखा कि अब तो मेरे प्राणोंपर ही आ बनी है, तब उन्होंने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की॥ २१॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! तुम सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा हो। तुम्हारी शक्ति अनन्त है। तुम्हीं भक्तोंको अभय देनेवाले हो। जो संसारकी धधकती हुई आगमें जल रहे हैं, उन जीवोंको उससे उबारनेवाले एकमात्र तुम्हीं हो॥ २२॥ तुम प्रकृतिसे परे रहनेवाले आदिपुरुष साक्षात् परमेश्वर हो। अपनी चित्-शक्ति (स्वरूप-शक्ति)- से बहिरंग एवं त्रिगुणमयी मायाको दूर भगाकर अपने अद्वितीय स्वरूपमें स्थित हो॥ २३॥ वही तुम अपने प्रभावसे माया-मोहित जीवोंके लिये धर्मादिरूप कल्याणका विधान करते हो॥ २४॥ तुम्हारा यह अवतार पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये और तुम्हारे अनन्य प्रेमी भक्तजनोंके निरन्तर स्मरण-ध्यान करनेके लिये है॥ २५॥ स्वयम्प्रकाशस्वरूप श्रीकृष्ण! यह भयंकर तेज सब ओरसे मेरी ओर आ रहा है। यह क्या है, कहाँसे, क्यों आ रहा है—इसका मुझे बिलकुल पता नहीं है!॥ २६॥

भगवान्‌ने कहा—अर्जुन! यह अश्वत्थामाका चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र है। यह बात समझ लो कि प्राणसंकट उपस्थित होनेसे उसने इसका प्रयोग तो कर दिया है, परन्तु वह इस अस्त्रको लौटाना नहीं

१. प्रा० पा०—महाभाग। २. प्रा० पा०—स्वानामनन्य०।

* शिवभक्त विद्युन्माली दैत्यको जब सूर्यने हरा दिया तब सूर्यपर क्रोधित हो भगवान् रुद्र त्रिशूल हाथमें लेकर उनकी ओर दौड़े। उस समय सूर्य भागते-भागते पृथ्वीपर काशीमें आकर गिरे, इसीसे वहाँ उनका 'लोलार्क' नाम पड़ा है।

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम्।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा॥ २८

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा।
स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय संदधे॥ २९

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते।
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत्॥ ३०

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रींल्लोकान् प्रदहन्महत्।
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत॥ ३१

प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम्।
मतं च वासुदेवस्य संजहारार्जुनो द्वयम्॥ ३२

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम्।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा॥ ३३

शिबिराय निनीषन्तं दाम्ना बद्ध्वा रिपुं बलात्।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः॥ ३४

मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि।
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान्॥ ३५

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥ ३६

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान्॥ ३७

प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा॥ ३८

जानता॥ २७॥ किसी भी दूसरे अस्त्रमें इसको दबा देनेकी शक्ति नहीं है। तुम शस्त्रास्त्रविद्याको भलीभाँति जानते ही हो, ब्रह्मास्त्रके तेजसे ही इस ब्रह्मास्त्रकी प्रचण्ड आगको बुझा दो॥ २८॥

सूतजी कहते हैं—अर्जुन विपक्षी वीरोंको मारनेमें बड़े प्रवीण थे। भगवान्‌की बात सुनकर उन्होंने आचमन किया और भगवान्‌की परिक्रमा करके ब्रह्मास्त्रके निवारणके लिये ब्रह्मास्त्रका ही सन्धान किया॥ २९॥ बाणोंसे वेष्टित उन दोनों ब्रह्मास्त्रोंके तेज प्रलयकालीन सूर्य एवं अग्निके समान आपसमें टकराकर सारे आकाश और दिशाओंमें फैल गये और बढ़ने लगे॥ ३०॥ तीनों लोकोंको जलानेवाली उन दोनों अस्त्रोंकी बढ़ी हुई लपटोंसे प्रजा जलने लगी और उसे देखकर सबने यही समझा कि यह प्रलयकालकी सांवर्तक अग्नि है॥ ३१॥ उस आगसे प्रजाका और लोकोंका नाश होते देखकर भगवान्‌की अनुमतिसे अर्जुनने उन दोनोंको ही लौटा लिया॥ ३२॥ अर्जुनकी आँखें क्रोधसे लाल-लाल हो रही थीं। उन्होंने झपटकर उस क्रूर अश्वत्थामाको पकड़ लिया और जैसे कोई रस्सीसे पशुको बाँध ले, वैसे ही बाँध लिया॥ ३३॥ अश्वत्थामाको बलपूर्वक बाँधकर अर्जुनने जब शिविरकी ओर ले जाना चाहा, तब उनसे कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने कुपित होकर कहा— ॥ ३४॥ 'अर्जुन! इस ब्राह्मणाधमको छोड़ना ठीक नहीं है, इसको तो मार ही डालो। इसने रातमें सोये हुए निरपराध बालकोंकी हत्या की है॥ ३५॥ धर्मवेत्ता पुरुष असावधान, मतवाले, पागल, सोये हुए, बालक, स्त्री, विवेकज्ञानशून्य, शरणागत, रथहीन और भयभीत शत्रुको कभी नहीं मारते॥ ३६॥ परन्तु जो दुष्ट और क्रूर पुरुष दूसरोंको मारकर अपने प्राणोंका पोषण करता है, उसका तो वध ही उसके लिये कल्याणकारी है; क्योंकि वैसी आदतको लेकर यदि वह जीता है तो और भी पाप करता है और उन पापोंके कारण नरकगामी होता है॥ ३७॥ फिर मेरे सामने ही तुमने द्रौपदीसे प्रतिज्ञा की थी कि 'मानवती! जिसने तुम्हारे पुत्रोंका वध किया है, उसका सिर मैं उतार लाऊँगा'॥ ३८॥

तदसौ वध्यतां पाप आतताय्यात्मबन्धुहा।
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः॥ ३९

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः।
नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान्॥ ४०

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः।
न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान्॥ ४१

तथाऽऽहृतं पशुवत् पाशबद्ध-
मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं
वामस्वभावा कृपया ननाम च॥ ४२

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती।
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः॥ ४३

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात्॥ ४४

स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते।
तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी॥ ४५

तद् धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम्।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः॥ ४६

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाहं मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥ ४७

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः।
तत् कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम्॥ ४८

इस पापी कुलांगार आततायीने तुम्हारे पुत्रोंका वध किया है और अपने स्वामी दुर्योधनको भी दुःख पहुँचाया है। इसलिये अर्जुन! इसे मार ही डालो॥ ३९॥ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये इस प्रकार प्रेरणा की, परन्तु अर्जुनका हृदय महान् था। यद्यपि अश्वत्थामाने उनके पुत्रोंकी हत्या की थी, फिर भी अर्जुनके मनमें गुरुपुत्रको मारनेकी इच्छा नहीं हुई॥ ४०॥

इसके बाद अपने मित्र और सारथि श्रीकृष्णके साथ वे अपने युद्ध-शिविरमें पहुँचे। वहाँ अपने मृत पुत्रोंके लिये शोक करती हुई द्रौपदीको उसे सौंप दिया॥ ४१॥ द्रौपदीने देखा कि अश्वत्थामा पशुकी तरह बाँधकर लाया गया है। निन्दित कर्म करनेके कारण उसका मुख नीचेकी ओर झुका हुआ है। अपना अनिष्ट करनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामाको इस प्रकार अपमानित देखकर द्रौपदीका कोमल हृदय कृपासे भर आया और उसने अश्वत्थामाको नमस्कार किया॥ ४२॥ गुरुपुत्रका इस प्रकार बाँधकर लाया जाना सती द्रौपदीको सहन नहीं हुआ। उसने कहा—'छोड़ दो इन्हें, छोड़ दो। ये ब्राह्मण हैं, हमलोगोंके अत्यन्त पूजनीय हैं॥ ४३॥ जिनकी कृपासे आपने रहस्यके साथ सारे धनुर्वेद और प्रयोग तथा उपसंहारके साथ सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया है, वे आपके आचार्य द्रोण ही पुत्रके रूपमें आपके सामने खड़े हैं। उनकी अर्धांगिनी कृपी अपने वीर पुत्रकी ममतासे ही अपने पतिका अनुगमन नहीं कर सकीं, वे अभी जीवित हैं॥ ४४-४५॥ महाभाग्यवान् आर्यपुत्र! आप तो बड़े धर्मज्ञ हैं। जिस गुरुवंशकी नित्य पूजा और वन्दना करनी चाहिये उसीको व्यथा पहुँचाना आपके योग्य कार्य नहीं है॥ ४६॥ जैसे अपने बच्चोंके मर जानेसे मैं दुःखी होकर रो रही हूँ और मेरी आँखोंसे बार-बार आँसू निकल रहे हैं, वैसे ही इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोयें॥ ४७॥ जो उच्छृंखल राजा अपने कुकृत्योंसे ब्राह्मणकुलको कुपित कर देते हैं, वह कुपित ब्राह्मणकुल उन राजाओंको सपरिवार शोकाग्निमें डालकर शीघ्र ही भस्म कर देता है'॥ ४८॥

सूत उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः॥ ४९
नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः॥ ५०
तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा॥ ५१
निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः।
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव॥ ५२

श्रीकृष्ण उवाच

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः[१]।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम्॥ ५३
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम्।
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च॥ ५४

सूत उवाच

अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय[२] हरेर्हार्दमथासिना।
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम्॥ ५५
विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम्।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत्॥ ५६
वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः॥ ५७
पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया।
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम्॥ ५८

सूतजीने कहा—शौनकादि ऋषियो! द्रौपदीकी बात धर्म और न्यायके अनुकूल थी। उसमें कपट नहीं था, करुणा और समता थी। अतएव राजा युधिष्ठिरने रानीके इन हितभरे श्रेष्ठ वचनोंका अभिनन्दन किया॥ ४९॥ साथ ही नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण और वहाँपर उपस्थित सभी नर-नारियोंने द्रौपदीकी बातका समर्थन किया॥ ५०॥ उस समय क्रोधित होकर भीमसेनने कहा, 'जिसने सोते हुए बच्चोंको न अपने लिये और न अपने स्वामीके लिये, बल्कि व्यर्थ ही मार डाला, उसका तो वध ही उत्तम है'॥ ५१॥ भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदी और भीमसेनकी बात सुनकर और अर्जुनकी ओर देखकर कुछ हँसते हुए-से कहा॥ ५२॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'पतित ब्राह्मणका भी वध नहीं करना चाहिये और आततायीको मार ही डालना चाहिये'—शास्त्रोंमें मैंने ही ये दोनों बातें कही हैं। इसलिये मेरी दोनों आज्ञाओंका पालन करो॥ ५३॥ तुमने द्रौपदीको सान्त्वना देते समय जो प्रतिज्ञा की थी उसे भी सत्य करो; साथ ही भीमसेन, द्रौपदी और मुझे जो प्रिय हो, वह भी करो॥ ५४॥

सूतजी कहते हैं—अर्जुन भगवान्‌के हृदयकी बात तुरंत ताड़ गये और उन्होंने अपनी तलवारसे अश्वत्थामाके सिरकी मणि उसके बालोंके साथ उतार ली॥ ५५॥ बालकोंकी हत्या करनेसे वह श्रीहीन तो पहले ही हो गया था, अब मणि और ब्रह्मतेजसे भी रहित हो गया। इसके बाद उन्होंने रस्सीका बन्धन खोलकर उसे शिविरसे निकाल दिया॥ ५६॥ मूँड देना, धन छीन लेना और स्थानसे बाहर निकाल देना—यही ब्राह्मणाधमोंका वध है। उनके लिये इससे भिन्न शारीरिक वधका विधान नहीं है॥ ५७॥ पुत्रोंकी मृत्युसे द्रौपदी और पाण्डव सभी शोकातुर हो रहे थे। अब उन्होंने अपने मरे हुए भाई बन्धुओंकी दाहादि अन्त्येष्टि क्रिया की॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे द्रौणिनिग्रहो[३] नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

१. प्रा० पा०—वधार्हकः। २. प्रा० पा०—सहसा ज्ञात्वा। ३. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें 'द्रौणिनिग्रहो नाम' की जगह 'पारीक्षिते' पाठ है।

अथाष्टमोऽध्यायः

गर्भमें परीक्षित्‌की रक्षा, कुन्तीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और युधिष्ठिरका शोक

सूत उवाच

अथ ते[1] सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम्।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः॥ १

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः।
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले॥ २

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम्।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः॥ ३

सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्छुचार्पितान्[2]।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम्॥ ४

साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम्।
घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः॥ ५

याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत्॥ ६

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः॥ ७

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम्॥ ८

सूतजी कहते हैं—इसके बाद पाण्डव श्रीकृष्णके साथ जलांजलिके इच्छुक मरे हुए स्वजनोंका तर्पण करनेके लिये स्त्रियोंको आगे करके गंगातटपर गये॥ १॥ वहाँ उन सबने मृत बन्धुओंको जलदान दिया और उनके गुणोंका स्मरण करके बहुत विलाप किया। तदनन्तर भगवान्‌के चरण-कमलोंकी धूलिसे पवित्र गंगाजलमें पुनः स्नान किया॥ २॥ वहाँ अपने भाइयोंके साथ कुरुपति महाराज युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, पुत्रशोकसे व्याकुल गान्धारी, कुन्ती और द्रौपदी—सब बैठकर मरे हुए स्वजनोंके लिये शोक करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने धौम्यादि मुनियोंके साथ उनको सान्त्वना दी और समझाया कि संसारके सभी प्राणी कालके अधीन हैं, मौतसे किसीको कोई बचा नहीं सकता॥ ३-४॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरको उनका वह राज्य, जो धूर्तोंने छलसे छीन लिया था, वापस दिलाया तथा द्रौपदीके केशोंका स्पर्श करनेसे जिनकी आयु क्षीण हो गयी थी, उन दुष्ट राजाओंका वध कराया॥ ५॥ साथ ही युधिष्ठिरके द्वारा उत्तम सामग्रियोंसे तथा पुरोहितोंसे तीन अश्वमेध यज्ञ कराये। इस प्रकार युधिष्ठिरके पवित्र यशको सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रके यशकी तरह सब ओर फैला दिया॥ ६॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने वहाँसे जानेका विचार किया। उन्होंने इसके लिये पाण्डवोंसे विदा ली और व्यास आदि ब्राह्मणोंका सत्कार किया। उन लोगोंने भी भगवान्‌का बड़ा ही सम्मान किया। तदनन्तर सात्यकि और उद्धवके साथ द्वारका जानेके लिये वे रथपर सवार हुए। उसी समय उन्होंने देखा कि उत्तरा भयसे विह्वल होकर सामनेसे दौड़ी चली आ रही है॥ ७-८॥

---

१. प्रा० पा०—तेषां परेतानां। २. प्रा० पा०—शुचार्दितान्।

उत्तरोवाच

पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते।
नान्यं[1] त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥ ९
अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दहतु[2] मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्॥ १०

सूत उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः।
अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत॥ ११
तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ[3] पाण्डवाः पञ्च सायकान्।
आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः॥ १२
व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम्।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः॥ १३
अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः।
स्वमायया़ऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे॥ १४
यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम्।
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह॥ १५
मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः॥ १६
ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया।
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती॥ १७

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्[4]॥ १८

उत्तराने कहा—देवाधिदेव! जगदीश्वर! आप महायोगी हैं। आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आपके अतिरिक्त इस लोकमें मुझे अभय देनेवाला और कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी परस्पर एक-दूसरेकी मृत्युके निमित्त बन रहे हैं॥ ९॥ प्रभो! आप सर्व-शक्तिमान् हैं। यह दहकते हुए लोहेका बाण मेरी ओर दौड़ा आ रहा है। स्वामिन्! यह मुझे भले ही जला डाले, परन्तु मेरे गर्भको नष्ट न करे—ऐसी कृपा कीजिये॥ १०॥

सूतजी कहते हैं—भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण उसकी बात सुनते ही जान गये कि अश्वत्थामाने पाण्डवोंके वंशको निर्बीज करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया है॥ ११॥ शौनकजी! उसी समय पाण्डवोंने भी देखा कि जलते हुए पाँच बाण हमारी ओर आ रहे हैं। इसलिये उन्होंने भी अपने-अपने अस्त्र उठा लिये॥ १२॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने अपने अनन्य प्रेमियोंपर—शरणागत भक्तोंपर बहुत बड़ी विपत्ति आयी जानकर अपने निज अस्त्र सुदर्शनचक्रसे उन निज जनोंकी रक्षा की॥ १३॥ योगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान आत्मा हैं। उन्होंने उत्तराके गर्भको पाण्डवोंकी वंशपरम्परा चलानेके लिये अपनी मायाके कवचसे ढक दिया॥ १४॥ शौनकजी! यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ है और उसके निवारणका कोई उपाय भी नहीं है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णके तेजके सामने आकर वह शान्त हो गया॥ १५॥ यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि भगवान् तो सर्वाश्चर्यमय हैं, वे ही अपनी निज शक्ति मायासे स्वयं अजन्मा होकर भी इस संसारकी सृष्टि रक्षा और संहार करते हैं॥ १६॥ जब भगवान् श्रीकृष्ण जाने लगे, तब ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे मुक्त अपने पुत्रोंके और द्रौपदीके साथ सती कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की॥ १७॥

कुन्तीने कहा—आप समस्त जीवोंके बाहर और भीतर एकरस स्थित हैं, फिर भी इन्द्रियों और वृत्तियोंसे देखे नहीं जाते; क्योंकि आप प्रकृतिसे परे आदिपुरुष परमेश्वर हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ १८॥

१. प्रा० पा०—नान्यत्र त्वभयं। २. प्रा० पा०—दहति। ३.प्रा० पा०—भृगुश्रेष्ठ। ४. प्रा० पा०—बहिरपि ध्रुवम्।

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥ १९

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥ २०

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥ २१

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥ २२

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्॥ २३

विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शना-
दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः॥ २४

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ २५

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥ २६

इन्द्रियोंसे जो कुछ जाना जाता है, उसकी तहमें आप विद्यमान रहते हैं और अपनी ही मायाके परदेसे अपनेको ढके रहते हैं। मैं अबोध नारी आप अविनाशी पुरुषोत्तमको भला कैसे जान सकती हूँ? जैसे मूढ़ लोग दूसरा भेष धारण किये हुए नटको प्रत्यक्ष देखकर भी नहीं पहचान सकते, वैसे ही आप दीखते हुए भी नहीं दीखते॥ १९॥ आप शुद्ध हृदयवाले विचारशील जीवन्मुक्त परमहंसोंके हृदयमें अपनी प्रेममयी भक्तिका सृजन करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं। फिर हम अल्पबुद्धि स्त्रियाँ आपको कैसे पहचान सकती हैं॥ २०॥ आप श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्द गोपके लाड़ले लाल गोविन्दको हमारा बारंबार प्रणाम है॥ २१॥ जिनकी नाभिसे ब्रह्माका जन्मस्थान कमल प्रकट हुआ है, जो सुन्दर कमलोंकी माला धारण करते हैं, जिनके नेत्र कमलके समान विशाल और कोमल हैं, जिनके चरणकमलोंमें कमलका चिह्न है—श्रीकृष्ण! ऐसे आपको मेरा बार-बार नमस्कार है॥ २२॥ हृषीकेश! जैसे आपने दुष्ट कंसके द्वारा कैद की हुई और चिरकालसे शोकग्रस्त देवकीकी रक्षा की थी, वैसे ही पुत्रोंके साथ मेरी भी आपने बार-बार विपत्तियोंसे रक्षा की है। आप ही हमारे स्वामी हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं। श्रीकृष्ण! कहाँतक गिनाऊँ—विषसे, लाक्षागृहकी भयानक आगसे, हिडिम्ब आदि राक्षसोंकी दृष्टिसे, दुष्टोंकी द्यूतसभासे, वनवासकी विपत्तियोंसे और अनेक बारके युद्धोंमें अनेक महारथियोंके शस्त्रास्त्रोंसे और अभी-अभी इस अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे भी आपने ही हमारी रक्षा की है॥ २३-२४॥ जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जानेपर फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं आना पड़ता॥ २५॥ ऊँचे कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्तिके कारण जिसका घमंड बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता; क्योंकि आप तो उन लोगोंको दर्शन देते हैं जो अकिंचन हैं॥ २६॥

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः॥ २७

आप निर्धनोंके परम धन हैं। मायाका प्रपंच आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता। आप अपने-आपमें ही विहार करनेवाले, परम शान्तस्वरूप हैं। आप ही कैवल्य मोक्षके अधिपति हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ॥ २७॥

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम्।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः॥ २८

मैं आपको अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सबके नियन्ता, कालरूप, परमेश्वर समझती हूँ। संसारके समस्त पदार्थ और प्राणी आपसमें टकराकर विषमताके कारण परस्पर विरुद्ध हो रहे हैं, परंतु आप सबमें समानरूपसे विचर रहे हैं॥ २८॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम्॥ २९

भगवन्! आप जब मनुष्योंकी-सी लीला करते हैं, तब आप क्या करना चाहते हैं—यह कोई नहीं जानता। आपका कभी कोई न प्रिय है और न अप्रिय। आपके सम्बन्धमें लोगोंकी बुद्धि ही विषम हुआ करती है॥ २९॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः।
तिर्यङ्नृषिषु[1] यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम्॥ ३०

आप विश्वके आत्मा हैं, विश्वरूप हैं। न आप जन्म लेते हैं और न कर्म ही करते हैं। फिर भी पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदिमें आप जन्म लेते हैं और उन योनियोंके अनुरूप दिव्य कर्म भी करते हैं। यह आपकी लीला ही तो है॥ ३०॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।[2]
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥ ३१

जब बचपनमें आपने दूधकी मटकी फोड़कर यशोदा मैयाको खिझा दिया था और उन्होंने आपको बाँधनेके लिये हाथमें रस्सी ली थी, तब आपकी आँखोंमें आँसू छलक आये थे, काजल कपोलोंपर बह चला था, नेत्र चंचल हो रहे थे और भयकी भावनासे आपने अपने मुखको नीचेकी ओर झुका लिया था! आपकी उस दशाका—लीला-छबिका ध्यान करके मैं मोहित हो जाती हूँ। भला, जिससे भय भी भय मानता है, उसकी यह दशा!॥ ३१॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥ ३२

आपने अजन्मा होकर भी जन्म क्यों लिया है, इसका कारण बतलाते हुए कोई-कोई महापुरुष यों कहते हैं कि जैसे मलयाचलकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये उसमें चन्दन प्रकट होता है, वैसे ही अपने प्रिय भक्त पुण्यश्लोक राजा यदुकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये ही आपने उनके वंशमें अवतार ग्रहण किया है॥ ३२॥

१. प्रा० पा०—नृष्वपि यादस्सु। २. प्रा० पा०—मृषा०।

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्॥ ३३
भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥ ३४
भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्[1]निति केचन॥ ३५
शृण्वन्ति गायन्ति गृ[2]णन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥ ३६
अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित[3] प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम्॥ ३७
के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः॥ ३८
नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः॥ ३९
इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः[4]॥ ४०
अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु॥ ४१

दूसरे लोग यों कहते हैं कि वसुदेव और देवकीने पूर्वजन्ममें (सुतपा और पृश्निके रूपमें) आपसे यही वरदान प्राप्त किया था, इसीलिये आप अजन्मा होते हुए भी जगत्‌के कल्याण और दैत्योंके नाशके लिये उनके पुत्र बने हैं॥ ३३॥ कुछ और लोग यों कहते हैं कि यह पृथ्वी दैत्योंके अत्यन्त भारसे समुद्रमें डूबते हुए जहाजकी तरह डगमगा रही थी—पीड़ित हो रही थी, तब ब्रह्माकी प्रार्थनासे उसका भार उतारनेके लिये ही आप प्रकट हुए॥ ३४॥ कोई महापुरुष यों कहते हैं कि जो लोग इस संसारमें अज्ञान, कामना और कर्मोंके बन्धनमें जकड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं उन लोगोंके लिये श्रवण और स्मरण करनेयोग्य लीला करनेके विचारसे ही आपने अवतार ग्रहण किया है॥ ३५॥ भक्तजन बार-बार आपके चरित्रका श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं; वे ही अविलम्ब आपके उस चरणकमलका दर्शन कर पाते हैं; जो जन्म-मृत्युके प्रवाहको सदाके लिये रोक देता है॥ ३६॥

भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभो! क्या अब आप अपने आश्रित और सम्बन्धी हमलोगोंको छोड़कर जाना चाहते हैं। आप जानते हैं कि आपके चरणकमलोंके अतिरिक्त हमें और किसीका सहारा नहीं है। पृथ्वीके राजाओंके तो हम यों ही विरोधी हो गये हैं॥ ३७॥ जैसे जीवके बिना इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं, वैसे ही आपके दर्शन बिना यदुवंशियोंके और हमारे पुत्र पाण्डवोंके नाम तथा रूपका अस्तित्व ही क्या रह जाता है॥ ३८॥ गदाधर! आपके विलक्षण चरणचिह्नोंसे चिह्नित यह कुरुजांगल-देशकी भूमि आज जैसी शोभायमान हो रही है, वैसी आपके चले जानेके बाद न रहेगी॥ ३९॥ आपकी दृष्टिके प्रभावसे ही यह देश पकी हुई फसल तथा लता-वृक्षोंसे समृद्ध हो रहा है। ये वन, पर्वत, नदी और समुद्र भी आपकी दृष्टिसे ही वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं॥ ४०॥ आप विश्वके स्वामी हैं, विश्वके आत्मा हैं और विश्वरूप हैं। यदुवंशियों और पाण्डवोंमें मेरी बड़ी ममता हो गयी है। आप कृपा करके स्वजनोंके साथ जोड़े हुए इस स्नेहकी दृढ़ फाँसीको काट दीजिये॥ ४१॥

१. प्रा० पा०—करिष्य इति। २. प्रा० पा०—वदन्त्य०। ३. प्रा० प्रा० स्वकृतेहितः। ४. प्रा० पा०—वीक्षिताः।

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा[1] गङ्गेवौघमुदन्वति॥ ४२

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते॥ ४३

सूत उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया॥ ४४

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम्।
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः॥ ४५

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः[2]॥ ४६

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम्।
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः॥ ४७

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः॥ ४८

बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः॥ ४९

श्रीकृष्ण! जैसे गंगाकी अखण्ड धारा समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरन्तर प्रेम करती रहे॥ ४२॥ श्रीकृष्ण! अर्जुनके प्यारे सखा यदुवंशशिरोमणे! आप पृथ्वीके भाररूप राजवेशधारी दैत्योंको जलानेके लिये अग्नि-स्वरूप हैं। आपकी शक्ति अनन्त है। गोविन्द! आपका यह अवतार गौ, ब्राह्मण और देवताओंका दुःख मिटानेके लिये ही है। योगेश्वर! चराचरके गुरु भगवन्! मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ ४३॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार कुन्तीने बड़े मधुर शब्दोंमें भगवान्‌की अधिकांश लीलाओंका वर्णन किया। यह सब सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मायासे उसे मोहित करते हुए-से मन्द-मन्द मुसकराने लगे॥ ४४॥ उन्होंने कुन्तीसे कह दिया—'अच्छा ठीक है' और रथके स्थानसे वे हस्तिनापुर लौट आये। वहाँ कुन्ती और सुभद्रा आदि देवियोंसे विदा लेकर जब वे जाने लगे, तब राजा युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे उन्हें रोक लिया॥ ४५॥ राजा युधिष्ठिरको अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेका बड़ा शोक हो रहा था। भगवान्‌की लीलाका मर्म जाननेवाले व्यास आदि महर्षियोंने और स्वयं अद्भुत चरित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने भी अनेकों इतिहास कहकर उन्हें समझानेकी बहुत चेष्टा की; परंतु उन्हें सान्त्वना न मिली, उनका शोक न मिटा॥ ४६॥ शौनकादि ऋषियो! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अपने स्वजनोंके वधसे बड़ी चिन्ता हुई। वे अविवेकयुक्त चित्तसे स्नेह और मोहके वशमें होकर कहने लगे—भला, मुझ दुरात्माके हृदयमें बद्धमूल हुए इस अज्ञानको तो देखो; मैंने सियार-कुत्तोंके आहार इस अनात्मा शरीरके लिये अनेक अक्षौहिणी* सेनाका नाश कर डाला॥ ४७-४८॥ मैंने बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, मित्र, चाचा-ताऊ, भाई-बन्धु और गुरुजनोंसे द्रोह किया है। करोड़ों बरसोंसे भी नरकसे मेरा छुटकारा नहीं हो सकता॥ ४९॥

---

१. प्रा० पा०—रतिमुद्वहतां तद्वत्। २. प्रा० पा०—शुचार्दिताः।

* २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, १,०९,३५० पैदल और ६५,६०० घुड़सवार—इतनी सेनाको अक्षौहिणी कहते हैं। (महाभारत)

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम्।
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः॥ ५०

यद्यपि शास्त्रका वचन है कि राजा यदि प्रजाका पालन करनेके लिये धर्मयुद्धमें शत्रुओंको मारे तो उसे पाप नहीं लगता, फिर भी इससे मुझे संतोष नहीं होता॥ ५०॥

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः।
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम्॥ ५१

स्त्रियोंके पति और भाई-बन्धुओंको मारनेसे उनका मेरे द्वारा यहाँ जो अपराध हुआ है। उसका मैं गृहस्थोचित यज्ञ-यागादिकोंके द्वारा मार्जन करनेमें समर्थ नहीं हूँ॥ ५१॥

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥ ५२

जैसे कीचड़से गँदला जल स्वच्छ नहीं किया जा सकता, मदिरासे मदिराकी अपवित्रता नहीं मिटायी जा सकती, वैसे ही बहुत-से हिंसाबहुल यज्ञोंके द्वारा एक भी प्राणीकी हत्याका प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
कुन्तीस्तुतिर्युधिष्ठिरानुतापो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिरादिका भीष्मजीके पास जाना और भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए भीष्मजीका प्राणत्याग करना

सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया।
ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत्॥ १

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर प्रजाद्रोहसे भयभीत हो गये। फिर सब धर्मोंका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने कुरुक्षेत्रकी यात्रा की, जहाँ भीष्मपितामह शरशय्यापर पड़े हुए थे॥ १॥

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः।
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा॥ २

शौनकादि ऋषियो! उस समय उन सब भाइयोंने स्वर्णजटित रथोंपर, जिनमें अच्छे-अच्छे घोड़े जुते हुए थे, सवार होकर अपने भाई युधिष्ठिरका अनुगमन किया। उनके साथ व्यास, धौम्य आदि ब्राह्मण भी थे॥ २॥

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः॥ ३

शौनकजी! अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भी रथपर चढ़कर चले। उन सब भाइयोंके साथ महाराज युधिष्ठिरकी ऐसी शोभा हुई, मानो यक्षोंसे घिरे हुए स्वयं कुबेर ही जा रहे हों॥ ३॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम्।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा॥ ४

अपने अनुचरों और भगवान् श्रीकृष्णके साथ वहाँ जाकर पाण्डवोंने देखा कि भीष्मपितामह स्वर्गसे गिरे हुए देवताके समान पृथ्वीपर पड़े हुए हैं। उन लोगोंने उन्हें प्रणाम किया॥ ४॥

तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम।
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम्॥ ५

शौनकजी! उसी समय भरतवंशियोंके गौरवरूप भीष्मपितामहको देखनेके लिये सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि वहाँ आये॥ ५॥

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः।
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः॥ ६

वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः॥ ७

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः॥ ८

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः।
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित्॥ ९

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम्।
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम्॥ १०

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान्[1]।
अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा॥ ११

अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं[2] विप्रधर्माच्युताश्रयाः॥ १२

संस्थितेऽतिरथे[3] पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः।
युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः॥ १३

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम्।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः॥ १४

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत्॥ १५

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम्।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥ १६

पर्वत, नारद, धौम्य, भगवान् व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, शिष्योंके साथ परशुरामजी, वसिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन तथा और भी शुकदेव आदि शुद्ध-हृदय महात्मागण एवं शिष्योंके सहित कश्यप, अंगिरा-पुत्र बृहस्पति आदि मुनिगण भी वहाँ पधारे॥ ६—८॥ भीष्मपितामह धर्मको और देश-कालके विभागको—कहाँ किस समय क्या करना चाहिये, इस बातको जानते थे। उन्होंने उन बड़भागी ऋषियोंको सम्मिलित हुआ देखकर उनका यथायोग्य सत्कार किया॥ ९॥ वे भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव भी जानते थे। अतः उन्होंने अपनी लीलासे मनुष्यका वेष धारण करके वहाँ बैठे हुए तथा जगदीश्वरके रूपमें हृदयमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णकी बाहर तथा भीतर दोनों जगह पूजा की॥ १०॥

पाण्डव बड़े विनय और प्रेमके साथ भीष्म-पितामहके पास बैठ गये। उन्हें देखकर भीष्मपितामहकी आँखें प्रेमके आँसुओंसे भर गयीं। उन्होंने उनसे कहा— ॥ ११॥ 'धर्मपुत्रो! हाय! हाय! यह बड़े कष्ट और अन्यायकी बात है कि तुमलोगोंको ब्राह्मण, धर्म और भगवान्के आश्रित रहनेपर भी इतने कष्टके साथ जीना पड़ा, जिसके तुम कदापि योग्य नहीं थे॥ १२॥ अतिरथी पाण्डुकी मृत्युके समय तुम्हारी अवस्था बहुत छोटी थी। उन दिनों तुमलोगोंके लिये कुन्तीरानीको और साथ-साथ तुम्हें भी बार-बार बहुत-से कष्ट झेलने पड़े॥ १३॥ जिस प्रकार बादल वायुके वशमें रहते हैं, वैसे ही लोकपालोंके सहित सारा संसार कालभगवान्के अधीन है। मैं समझता हूँ कि तुमलोगोंके जीवनमें ये जो अप्रिय घटनाएँ घटित हुई हैं, वे सब उन्हींकी लीला हैं॥ १४॥ नहीं तो जहाँ साक्षात् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, गदाधारी भीमसेन और धनुर्धारी अर्जुन रक्षाका काम कर रहे हों, गाण्डीव धनुष हो और स्वयं श्रीकृष्ण सुहृद् हों—भला, वहाँ भी विपत्तिकी सम्भावना है?॥ १५॥ ये कालरूप श्रीकृष्ण कब क्या करना चाहते हैं, इस बातको कभी कोई नहीं जानता। बड़े-बड़े ज्ञानी भी इसे जाननेकी इच्छा करके मोहित हो जाते हैं॥ १६॥

१. प्रा० पा०—सन्नतान्। २. प्रा० पा०—कृच्छ्रं। ३. प्रा० पा०—संस्थिते विरथे।

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ।
तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो॥ १७

युधिष्ठिर! संसारकी ये सब घटनाएँ ईश्वरेच्छाके अधीन हैं। उसीका अनुसरण करके तुम इस अनाथ प्रजाका पालन करो; क्योंकि अब तुम्हीं इसके स्वामी और इसे पालन करनेमें समर्थ हो॥ १७॥

एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्।
मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु॥ १८

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप[1]॥ १९

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम्।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम्॥ २०

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित्॥ २१

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपो[2]नुकम्पितम्।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः॥ २२

भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन्।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते का[3]मकर्मभिः॥ २३

ये श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। ये सबके आदिकारण और परम पुरुष नारायण हैं। अपनी मायासे लोगोंको मोहित करते हुए ये यदुवंशियोंमें छिपकर लीला कर रहे हैं॥ १८॥ इनका प्रभाव अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यमय है। युधिष्ठिर! उसे भगवान् शंकर, देवर्षि नारद और स्वयं भगवान् कपिल ही जानते हैं॥ १९॥ जिन्हें तुम अपना ममेरा भाई, प्रिय मित्र और सबसे बड़ा हितू मानते हो तथा जिन्हें तुमने प्रेमवश अपना मन्त्री, दूत और सारथितक बनानेमें संकोच नहीं किया है, वे स्वयं परमात्मा हैं॥ २०॥ इन सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वितीय, अहंकार-रहित और निष्पाप परमात्मामें उन ऊँचे-नीचे कार्योंके कारण कभी किसी प्रकारकी विषमता नहीं होती॥ २१॥ युधिष्ठिर! इस प्रकार सर्वत्र सम होनेपर भी देखो तो सही, वे अपने अनन्यप्रेमी भक्तोंपर कितनी कृपा करते हैं। यही कारण है कि ऐसे समयमें जबकि मैं अपने प्राणोंका त्याग करने जा रहा हूँ, इन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे साक्षात् दर्शन दिया है॥ २२॥ भगवत्परायण योगी पुरुष भक्तिभावसे इनमें अपना मन लगाकर और वाणीसे इनके नामका कीर्तन करते हुए शरीरका त्याग करते हैं और कामनाओंसे तथा कर्मके बन्धनसे छूट जाते हैं॥ २३॥

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः॥ २४

वे ही देवदेव भगवान् अपने प्रसन्न हास्य और रक्तकमलके समान अरुण नेत्रोंसे उल्लसित मुखवाले चतुर्भुजरूपसे, जिसका और लोगोंको केवल ध्यानमें दर्शन होता है, तबतक यहीं स्थित रहकर प्रतीक्षा करें जबतक मैं इस शरीरका त्याग न कर दूँ॥ २४॥

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे।
अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम्॥ २५

सूतजी कहते हैं—युधिष्ठिरने उनकी यह बात सुनकर शरशय्यापर सोये हुए भीष्मपितामहसे बहुत-से ऋषियोंके सामने ही नाना प्रकारके धर्मोंके सम्बन्धमें अनेकों रहस्य पूछे॥ २५॥

१. प्रा० पा०—मुनिः। २. प्रा० पा०—भूतानु०। ३. प्रा० पा०—सर्व०।

पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम्।
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान्॥ २६
दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः॥ २७
धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित्॥ २८
धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः।
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः॥ २९
तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-
र्विमुक्तसङ्गं[1] मन आदिपूरुषे।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत्॥ ३०
विशुद्धया धारणया [2]हताशुभ-
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधव्यथः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम्॥ ३१

श्रीभीष्म उवाच

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः॥ ३२
त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे [3]रतिरस्तु मेऽनवद्या॥ ३३

तब तत्त्ववेत्ता भीष्मपितामहने वर्ण और आश्रमके अनुसार पुरुषके स्वाभाविक धर्म और वैराग्य तथा रागके कारण विभिन्नरूपसे बतलाये हुए निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप द्विविध धर्म, दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म और भगवद्धर्म—इन सबका अलग-अलग संक्षेप और विस्तारसे वर्णन किया। शौनकजी! इनके साथ ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका तथा इनकी प्राप्तिके साधनोंका अनेकों उपाख्यान और इतिहास सुनाते हुए विभागशः वर्णन किया॥ २६—२८॥ भीष्मपितामह इस प्रकार धर्मका प्रवचन कर ही रहे थे कि वह उत्तरायणका समय आ पहुँचा जिसे मृत्युको अपने अधीन रखनेवाले भगवत्परायण योगीलोग चाहा करते हैं॥ २९॥ उस समय हजारों रथियोंके नेता भीष्मपितामहने वाणीका संयम करके मनको सब ओरसे हटाकर अपने सामने स्थित आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णमें लगा दिया। भगवान् श्रीकृष्णके सुन्दर चतुर्भुज विग्रहपर उस समय पीताम्बर फहरा रहा था। भीष्मजीकी आँखें उसीपर एकटक लग गयीं॥ ३०॥ उनको शस्त्रोंकी चोटसे जो पीड़ा हो रही थी वह तो भगवान्के दर्शनमात्रसे ही तुरंत दूर हो गयी तथा भगवान्की विशुद्ध धारणासे उनके जो कुछ अशुभ शेष थे वे सभी नष्ट हो गये। अब शरीर छोड़नेके समय उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियोंके वृत्तिविलासको रोक दिया और बड़े प्रेमसे भगवान्की स्तुति की॥ ३१॥

भीष्मजीने कहा—अब मृत्युके समय मैं अपनी यह बुद्धि, जो अनेक प्रकारके साधनोंका अनुष्ठान करनेसे अत्यन्त शुद्ध एवं कामनारहित हो गयी है, यदुवंशशिरोमणि अनन्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित करता हूँ, जो सदा-सर्वदा अपने आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही कभी विहार करनेकी—लीला करनेकी इच्छासे प्रकृतिको स्वीकार कर लेते हैं, जिससे यह सृष्टिपरम्परा चलती है॥ ३२॥ जिनका शरीर त्रिभुवन-सुन्दर एवं श्याम तमालके समान साँवला है, जिसपर सूर्यरश्मियोंके समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता रहता है और कमल-सदृश मुखपर घुँघराली अलकें लटकती रहती हैं उन अर्जुन-सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्कपट प्रीति हो॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—विमुक्तसङ्गो। २. प्रा० पा०—हता। ३. प्रा० पा०—मति०।

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥ ३४

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा
हृतवति पार्थसखे रतिर्[1]ममास्तु ॥ ३५

[2]व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या[3] ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥ ३६

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥ ३७

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥ ३८

मुझे युद्धके समयकी उनकी वह विलक्षण छबि याद आती है। उनके मुखपर लहराते हुए घुँघराले बाल घोड़ोंकी टॉपकी धूलसे मटमैले हो गये थे और पसीनेकी छोटी-छोटी बूँदें शोभायमान हो रही थीं। मैं अपने तीखे बाणोंसे उनकी त्वचाको बींध रहा था। उन सुन्दर कवचमण्डित भगवान् श्रीकृष्णके प्रति मेरा शरीर, अन्तःकरण और आत्मा समर्पित हो जायँ॥ ३४॥

अपने मित्र अर्जुनकी बात सुनकर, जो तुरंत ही पाण्डव-सेना और कौरव-सेनाके बीचमें अपना रथ ले आये और वहाँ स्थित होकर जिन्होंने अपनी दृष्टिसे ही शत्रुपक्षके सैनिकोंकी आयु छीन ली, उन पार्थसखा भगवान् श्रीकृष्णमें मेरी परम प्रीति हो॥ ३५॥ अर्जुनने जब दूरसे कौरवोंकी सेनाके मुखिया हमलोगोंको देखा तब पाप समझकर वह अपने स्वजनोंके वधसे विमुख हो गया। उस समय जिन्होंने गीताके रूपमें आत्मविद्याका उपदेश करके उसके सामयिक अज्ञानका नाश कर दिया, उन परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरी प्रीति बनी रहे॥ ३६॥ मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराकर छोड़ूँगा; उसे सत्य एवं ऊँची करनेके लिये उन्होंने अपनी शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा तोड़ दी। उस समय वे रथसे नीचे कूद पड़े और सिंह जैसे हाथीको मारनेके लिये उसपर टूट पड़ता है, वैसे ही रथका पहिया लेकर मुझपर झपट पड़े। उस समय वे इतने वेगसे दौड़े कि उनके कंधेका दुपट्टा गिर गया और पृथ्वी काँपने लगी॥ ३७॥

मुझ आततायीने तीखे बाण मार-मारकर उनके शरीरका कवच तोड़ डाला था, जिससे सारा शरीर लहूलुहान हो रहा था, अर्जुनके रोकनेपर भी वे बलपूर्वक मुझे मारनेके लिये मेरी ओर दौड़े आ रहे थे। वे ही भगवान् श्रीकृष्ण, जो ऐसा करते हुए भी मेरे प्रति अनुग्रह और भक्तवत्सलतासे परिपूर्ण थे, मेरी एकमात्र गति हों—आश्रय हों॥ ३८॥

१. प्रा० पा०—नति०। २. प्रा० पा०—व्यवसित०। ३. प्रा० पा०—धर्मबुद्ध्या।

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्॥ ३९

ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः॥ ४०

मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्तः-
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो
मम दृशिगोचर एष आविरात्मा॥ ४१

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥ ४२

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः[१]।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्॥ ४३
सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये[२]॥ ४४
तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानव[३]वादिताः।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः॥ ४५

अर्जुनके रथकी रक्षामें सावधान जिन श्रीकृष्णके बायें हाथमें घोड़ोंकी रास थी और दाहिने हाथमें चाबुक, इन दोनोंकी शोभासे उस समय जिनकी अपूर्व छवि बन गयी थी, तथा महाभारतयुद्धमें मरनेवाले वीर जिनकी इस छविका दर्शन करते रहनेके कारण सारूप्य मोक्षको प्राप्त हो गये, उन्हीं पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णमें मुझ मरणासन्नकी परम प्रीति हो॥ ३९॥ जिनकी लटकीली सुन्दर चाल, हाव-भावयुक्त चेष्टाएँ, मधुर मुसकान और प्रेमभरी चितवनसे अत्यन्त सम्मानित गोपियाँ रासलीलामें उनके अन्तर्धान हो जानेपर प्रेमोन्मादसे मतवाली होकर जिनकी लीलाओंका अनुकरण करके तन्मय हो गयी थीं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णमें मेरा परम प्रेम हो॥ ४०॥ जिस समय युधिष्ठिरका राजसूययज्ञ हो रहा था, मुनियों और बड़े-बड़े राजाओंसे भरी हुई सभामें सबसे पहले सबकी ओरसे इन्हीं सबके दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्णकी मेरी आँखोंके सामने पूजा हुई थी; वे ही सबके आत्मा प्रभु आज इस मृत्युके समय मेरे सामने खड़े हैं॥ ४१॥ जैसे एक ही सूर्य अनेक आँखोंसे अनेक रूपोंमें दीखते हैं, वैसे ही अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने ही द्वारा रचित अनेक शरीरधारियोंके हृदयमें अनेक रूप-से जान पड़ते हैं; वास्तवमें तो वे एक और सबके हृदयमें विराजमान हैं ही। उन्हीं इन भगवान् श्रीकृष्णको मैं भेद-भ्रमसे रहित होकर प्राप्त हो गया हूँ॥ ४२॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार भीष्मपितामहने मन, वाणी और दृष्टिकी वृत्तियोंसे आत्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णमें अपने-आपको लीन कर दिया। उनके प्राण वहीं विलीन हो गये और वे शान्त हो गये॥ ४३॥ उन्हें अनन्त ब्रह्ममें लीन जानकर सब लोग वैसे ही चुप हो गये, जैसे दिनके बीत जानेपर पक्षियोंका कलरव शान्त हो जाता है॥ ४४॥ उस समय देवता और मनुष्य नगारे बजाने लगे। साधुस्वभावके राजा उनकी प्रशंसा करने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी॥ ४५॥

१. प्रा० पा०—मनोवाग्वृत्तिदृष्टिभिः। २.प्रा० पा०—दिवात्यये। ३. प्रा० पा०—दानव०।

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत्॥ ४६

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः॥ ४७

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम्।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम्॥ ४८

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः॥ ४९

शौनकजी! युधिष्ठिरने उनके मृत शरीरकी अन्त्येष्टि क्रिया करायी और कुछ समयके लिये वे शोकमग्न हो गये॥ ४६॥ उस समय मुनियोंने बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णकी उनके रहस्यमय नाम ले-लेकर स्तुति की। इसके पश्चात् अपने हृदयोंको श्रीकृष्णमय बनाकर वे अपने-अपने आश्रमोंको लौट गये॥ ४७॥ तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णके साथ युधिष्ठिर हस्तिनापुर चले आये और उन्होंने वहाँ अपने चाचा धृतराष्ट्र और तपस्विनी गान्धारीको ढाढस बँधाया॥ ४८॥ फिर धृतराष्ट्रकी आज्ञा और भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमतिसे समर्थ राजा युधिष्ठिर अपने वंशपरम्परागत साम्राज्यका धर्मपूर्वक शासन करने लगे॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
युधिष्ठिरराज्यप्रलम्भो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका द्वारका-गमन

शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः
कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः॥ १

सूत उवाच

वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं
संरोहयित्वा भवभावनो हरिः।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह॥ २

निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः॥ ३

शौनकजीने पूछा—धार्मिकशिरोमणि महाराज युधिष्ठिरने अपनी पैतृक सम्पत्तिको हड़प जानेके इच्छुक आततायियोंका नाश करके अपने भाइयोंके साथ किस प्रकारसे राज्य-शासन किया और कौन-कौन-से काम किये, क्योंकि भोगोंमें तो उनकी प्रवृत्ति थी ही नहीं॥ १॥

सूतजी कहते हैं—सम्पूर्ण सृष्टिको उज्जीवित करनेवाले भगवान् श्रीहरि परस्परकी कलहाग्निसे दग्ध कुरुवंशको पुनः अंकुरितकर और युधिष्ठिरको उनके राज्यसिंहासनपर बैठाकर बहुत प्रसन्न हुए॥ २॥ भीष्मपितामह और भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशोंके श्रवणसे उनके अन्तःकरणमें विज्ञानका उदय हुआ और भ्रान्ति मिट गयी। भगवान्के आश्रयमें रहकर वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका इन्द्रके समान शासन करने लगे। भीमसेन आदि उनके भाई पूर्णरूपसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते थे॥ ३॥

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही।
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा॥ ४
नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै॥ ५
नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित्॥ ६

युधिष्ठिरके राज्यमें आवश्यकतानुसार यथेष्ट वर्षा होती थी, पृथ्वीमें समस्त अभीष्ट वस्तुएँ पैदा होती थीं, बड़े-बड़े थनोंवाली बहुत-सी गौएँ प्रसन्न रहकर गोशालाओंको दूधसे सींचती रहती थीं॥ ४॥ नदियाँ, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, लताएँ और ओषधियाँ प्रत्येक ऋतुमें यथेष्टरूपसे अपनी-अपनी वस्तुएँ राजाको देती थीं॥ ५॥ अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरके राज्यमें किसी प्राणीको कभी भी आधि-व्याधि अथवा दैविक, भौतिक और आत्मिक क्लेश नहीं होते थे॥ ६॥

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः।
सुहृदां च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया॥ ७
आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम्।
आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः॥ ८
सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ॥ ९
वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः॥ १०
सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्॥ ११
तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम्।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनैः ॥ १२
सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह॥ १३
न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः॥ १४

अपने बन्धुओंका शोक मिटानेके लिये और अपनी बहिन सुभद्राकी प्रसन्नताके लिये भगवान् श्रीकृष्ण कई महीनोंतक हस्तिनापुरमें ही रहे॥ ७॥ फिर जब उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे द्वारका जानेकी अनुमति माँगी तब राजाने उन्हें अपने हृदयसे लगाकर स्वीकृति दे दी। भगवान् उनको प्रणाम करके रथपर सवार हुए। कुछ लोगों (समान उम्रवालों)-ने उनका आलिंगन किया और कुछ (छोटी उम्रवालों)-ने प्रणाम॥ ८॥ उस समय सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीमसेन, धौम्य और सत्यवती आदि सब मूर्च्छित-से हो गये। वे शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्णका विरह नहीं सह सके॥ ९-१०॥ भगवद्भक्त सत्पुरुषोंके संगसे जिसका दुःसंग छूट गया है, वह विचारशील पुरुष भगवान्के मधुर-मनोहर सुयशको एक बार भी सुन लेनेपर फिर उसे छोड़नेकी कल्पना भी नहीं करता। उन्हीं भगवान्के दर्शन तथा स्पर्शसे, उनके साथ आलाप करनेसे तथा साथ-ही-साथ सोने, उठने-बैठने और भोजन करनेसे जिनका सम्पूर्ण हृदय उन्हें समर्पित हो चुका था, वे पाण्डव भला, उनका विरह कैसे सह सकते थे॥ ११-१२॥ उनका चित्त द्रवित हो रहा था, वे सब निर्निमेष नेत्रोंसे भगवान्को देखते हुए स्नेहबन्धनसे बँधकर जहाँ-तहाँ दौड़ रहे थे॥ १३॥ भगवान् श्रीकृष्णके घरसे चलते समय उनके बन्धुओंकी स्त्रियोंके नेत्र उत्कण्ठावश उमड़ते हुए आँसुओंसे भर आये; परंतु इस भयसे कि कहीं यात्राके समय अशकुन न हो जाय, उन्होंने बड़ी कठिनाईसे उन्हें रोक लिया॥ १४॥

मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः।
धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा॥ १५

प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया।
ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः॥ १६

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम्।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह॥ १७

उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते।
विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि॥ १८

अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १९

अन्योन्यमासीत्संजल्प उत्तमश्लोकचेतसाम्।
कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः॥ २०

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु॥ २१

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्॥ २२

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति॥ २३

भगवान्के प्रस्थानके समय मृदंग, शङ्ख, भेरी, वीणा, ढोल, नरसिंगे, धुन्धुरी, नगारे, घंटे और दुन्दुभियाँ आदि बाजे बजने लगे॥ १५॥ भगवान्के दर्शनकी लालसासे कुरुवंशकी स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़ गयीं और प्रेम, लज्जा एवं मुसकानसे युक्त चितवनसे भगवान्को देखती हुई उनपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं॥ १६॥ उस समय भगवान्के प्रिय सखा घुँघराले बालोंवाले अर्जुनने अपने प्रियतम श्रीकृष्णका वह श्वेत छत्र, जिसमें मोतियोंकी झालर लटक रही थी और जिसका डंडा रत्नोंका बना हुआ था, अपने हाथमें ले लिया॥ १७॥ उद्धव और सात्यकि बड़े विचित्र चँवर डुलाने लगे। मार्गमें भगवान् श्रीकृष्णपर चारों ओरसे पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी। बड़ी ही मधुर झाँकी थी॥ १८॥ जहाँ-तहाँ ब्राह्मणोंके दिये हुए सत्य आशीर्वाद सुनायी पड़ रहे थे। वे सगुण भगवान्के तो अनुरूप ही थे; क्योंकि उनमें सब कुछ है, परन्तु निर्गुणके अनुरूप नहीं थे, क्योंकि उनमें कोई प्राकृत गुण नहीं है॥ १९॥ हस्तिनापुरकी कुलीन रमणियाँ, जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें रम गया था, आपसमें ऐसी बातें कर रही थीं, जो सबके कान और मनको आकृष्ट कर रही थीं॥ २०॥

वे आपसमें कह रही थीं—'सखियो! ये वे ही सनातन परम पुरुष हैं, जो प्रलयके समय भी अपने अद्वितीय निर्विशेष स्वरूपमें स्थित रहते हैं। उस समय सृष्टिके मूल ये तीनों गुण भी नहीं रहते। जगदात्मा ईश्वरमें जीव भी लीन हो जाते हैं और महत्तत्त्वादि समस्त शक्तियाँ अपने कारण अव्यक्तमें सो जाती हैं॥ २१॥ उन्होंने ही फिर अपने नाम-रूपरहित स्वरूपमें नामरूपके निर्माणकी इच्छा की तथा अपनी काल-शक्तिसे प्रेरित प्रकृतिका, जो कि उनके अंशभूत जीवोंको मोहित कर लेती है और सृष्टिकी रचनामें प्रवृत्त रहती है, अनुसरण किया और व्यवहारके लिये वेदादि शास्त्रोंकी रचना की॥ २२॥ इस जगत्में जिसके स्वरूपका साक्षात्कार जितेन्द्रिय योगी अपने प्राणोंको वशमें करके भक्तिसे प्रफुल्लित निर्मल हृदयमें किया करते हैं, ये श्रीकृष्ण वही साक्षात् परब्रह्म हैं। वास्तवमें इन्हींकी भक्तिसे अन्त:करणकी पूर्ण शुद्धि हो सकती है, योगादिके द्वारा नहीं॥ २३॥

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते॥ २४

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः[१] किल।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे॥ २५

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः
स्वजन्मना[२] चङ्क्रमणेन चाञ्चति॥ २६

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी
कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं[३]
स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः॥ २७

नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः
समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-
र्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः॥ २८

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे
प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः।
प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा
याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः॥ २९

सखी! वास्तवमें ये वही हैं, जिनकी सुन्दर लीलाओंका गायन वेदोंमें और दूसरे गोपनीय शास्त्रोंमें व्यासादि रहस्यवादी ऋषियोंने किया है—जो एक अद्वितीय ईश्वर हैं और अपनी लीलासे जगत्‌की सृष्टि, पालन तथा संहार करते हैं, परन्तु उनमें आसक्त नहीं होते॥ २४॥ जब तामसी बुद्धिवाले राजा अधर्मसे अपना पेट पालने लगते हैं तब ये ही सत्त्वगुणको स्वीकारकर ऐश्वर्य, सत्य, ऋत, दया और यश प्रकट करते और संसारके कल्याणके लिये युग-युगमें अनेकों अवतार धारण करते हैं॥ २५॥ अहो! यह यदुवंश परम प्रशंसनीय है; क्योंकि लक्ष्मीपति पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जन्म ग्रहण करके इस वंशको सम्मानित किया है। वह पवित्र मधुवन (व्रजमण्डल) भी अत्यन्त धन्य है जिसे इन्होंने अपने शैशव एवं किशोरावस्थामें घूम-फिरकर सुशोभित किया है॥ २६॥ बड़े हर्षकी बात है कि द्वारकाने स्वर्गके यशका तिरस्कार करके पृथ्वीके पवित्र यशको बढ़ाया है। क्यों न हो, वहाँकी प्रजा अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्णको जो बड़े प्रेमसे मन्द-मन्द मुसकराते हुए उन्हें कृपादृष्टिसे देखते हैं, निरन्तर निहारती रहती हैं॥ २७॥ सखी! जिनका इन्होंने पाणिग्रहण किया है उन स्त्रियोंने अवश्य ही व्रत, स्नान, हवन आदिके द्वारा इन परमात्माकी आराधना की होगी; क्योंकि वे बार-बार इनकी उस अधर-सुधाका पान करती हैं जिसके स्मरणमात्रसे ही व्रजबालाएँ आनन्दसे मूर्च्छित हो जाया करती थीं॥ २८॥ ये स्वयंवरमें शिशुपाल आदि मतवाले राजाओंका मान मर्दन करके जिनको अपने बाहुबलसे हर लाये थे तथा जिनके पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब, आम्ब आदि हैं, वे रुक्मिणी आदि आठों पटरानियाँ और भौमासुरको मारकर लायी हुई जो इनकी हजारों अन्य पत्नियाँ हैं, वे वास्तवमें धन्य हैं। क्योंकि इन सभीने स्वतन्त्रता और पवित्रतासे रहित स्त्रीजीवनको पवित्र और उज्ज्वल बना दिया है। इनकी महिमाका वर्णन कोई क्या करे। इनके स्वामी

१. प्रा० पा०—सात्वतः। २. प्रा० पा०—सुजन्मना। ३. प्रा० पा०—यदनुग्रहोषितं स्मिता०।

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पति-
र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन्॥ ३०

साक्षात् कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो नाना प्रकारकी प्रिय चेष्टाओं तथा पारिजातादि प्रिय वस्तुओंकी भेंटसे इनके हृदयमें प्रेम एवं आनन्दकी अभिवृद्धि करते हुए कभी एक क्षणके लिये भी इन्हें छोड़कर दूसरी जगह नहीं जाते॥ २९-३०॥

एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम्।
निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः॥ ३१

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम्॥ ३२

अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान्[१]।
संनिवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात्स्वनगरीं प्रियैः॥ ३३

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान्।
ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ॥ ३४

मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान्।
आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः॥ ३५

तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः।
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा॥ ३६

हस्तिनापुरकी स्त्रियाँ इस प्रकार बातचीत कर ही रही थीं कि भगवान् श्रीकृष्ण मन्द मुसकान और प्रेमपूर्ण चितवनसे उनका अभिनन्दन करते हुए वहाँसे विदा हो गये॥ ३१॥ अजातशत्रु युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना उनके साथ कर दी; उन्हें स्नेहवश यह शंका हो आयी थी कि कहीं रास्तेमें शत्रु इनपर आक्रमण न कर दें॥ ३२॥ सुदृढ़ प्रेमके कारण कुरुवंशी पाण्डव भगवान्के साथ बहुत दूरतक चले गये। वे लोग उस समय भावी विरहसे व्याकुल हो रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें बहुत आग्रह करके विदा किया और सात्यकि, उद्धव आदि प्रेमी मित्रोंके साथ द्वारकाकी यात्रा की॥ ३३॥ शौनकजी! वे कुरुजांगल, पांचाल, शूरसेन, यमुनाके तटवर्ती प्रदेश ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, सारस्वत और मरुधन्व देशको पार करके सौवीर और आभीर देशके पश्चिम आनर्त देशमें आये। उस समय अधिक चलनेके कारण भगवान्के रथके घोड़े कुछ थक-से गये थे॥ ३४-३५॥ मार्गमें स्थान-स्थानपर लोग उपहारादिके द्वारा भगवान्का सम्मान करते, सायंकाल होनेपर वे रथपरसे भूमिपर उतर आते और जलाशयपर जाकर सन्ध्या-वन्दन करते। यह उनकी नित्यचर्या थी॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
नैमिषीयोपाख्याने श्रीकृष्णद्वारकागमनं
नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

१. प्रा० पा०—विदुरान्विताम्।

अथैकादशोऽध्यायः

द्वारकामें श्रीकृष्णका राजोचित स्वागत

सूत उवाच

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान् स्वकान्।
दध्मौ दरवरं[1] तेषां विषादं शमयन्निव॥ १
स उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः॥ २
तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम्।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः॥ ३
तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृताः।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा॥ ४
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः॥ ५
नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परः[2] प्रभुः॥ ६
भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ[3] सुहृत्पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम॥ ७
अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम्।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम्॥ ८

सूतजी कहते हैं—श्रीकृष्णने अपने समृद्ध आनर्त देशमें पहुँचकर वहाँके लोगोंकी विरह-वेदना बहुत कुछ शान्त करते हुए अपना श्रेष्ठ पांचजन्य नामक शंख बजाया॥ १॥ भगवान्‌के होठोंकी लालीसे लाल हुआ वह श्वेतवर्णका शंख बजते समय उनके करकमलोंमें ऐसा शोभायमान हुआ, जैसे लाल रंगके कमलोंपर बैठकर कोई राजहंस उच्चस्वरसे मधुर गान कर रहा हो॥ २॥ भगवान्‌के शंखकी वह ध्वनि संसारके भयको भयभीत करनेवाली है। उसे सुनकर सारी प्रजा अपने स्वामी श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे नगरके बाहर निकल आयी॥ ३॥ भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, वे अपने आत्मलाभसे ही सदा-सर्वदा पूर्णकाम हैं, फिर भी जैसे लोग बड़े आदरसे भगवान् सूर्यको भी दीपदान करते हैं, वैसे ही अनेक प्रकारकी भेंटोंसे प्रजाने श्रीकृष्णका स्वागत किया॥ ४॥ सबके मुखकमल प्रेमसे खिल उठे। वे हर्षगद्गद वाणीसे सबके सुहृद् और संरक्षक भगवान् श्रीकृष्णकी ठीक वैसे ही स्तुति करने लगे, जैसे बालक अपने पितासे अपनी तोतली बोलीमें बातें करते हैं॥ ५॥ 'स्वामिन्! हम आपके उन चरणकमलोंको सदा-सर्वदा प्रणाम करते हैं जिनकी वन्दना ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रतक करते हैं, जो इस संसारमें परम कल्याण चाहनेवालोंके लिये सर्वोत्तम आश्रय हैं, जिनकी शरण ले लेनेपर परम समर्थ काल भी एक बालतक बाँका नहीं कर सकता॥ ६॥ विश्वभावन! आप ही हमारे माता, सुहृद्, स्वामी और पिता हैं; आप ही हमारे सद्गुरु और परम आराध्यदेव हैं। आपके चरणोंकी सेवासे हम कृतार्थ हो रहे हैं। आप ही हमारा कल्याण करें॥ ७॥ अहा! हम आपको पाकर सनाथ हो गये; क्योंकि आपके सर्वसौन्दर्यसार अनुपम रूपका हम दर्शन करते रहते हैं। कितना सुन्दर मुख है। प्रेमपूर्ण मुसकानसे स्निग्ध चितवन! यह दर्शन तो देवताओंके लिये भी दुर्लभ है॥ ८॥

१. प्रा० पा०—शङ्खवरं। २. परः प्रभो। ३. प्रा० पा०—मातात्मसुहृत्पिता पतिः।

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत[1]॥ ९

इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत्पुरीम्[2]॥ १०

मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव॥ ११

सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम्॥ १२

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम्।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तः प्रतिहतातपाम्॥ १३

सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम्।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः॥ १४

द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः[3]॥ १५

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः॥ १६

कमलनयन श्रीकृष्ण! जब आप अपने बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेके लिये हस्तिनापुर अथवा मथुरा (व्रजमण्डल) चले जाते हैं, तब आपके बिना हमारा एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षोंके समान लम्बा हो जाता है। आपके बिना हमारी दशा वैसी हो जाती है, जैसे सूर्यके बिना आँखोंकी॥ ९॥ भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण प्रजाके मुखसे ऐसे वचन सुनते हुए और अपनी कृपामयी दृष्टिसे उनपर अनुग्रहकी वृष्टि करते हुए द्वारकामें प्रविष्ट हुए॥ १०॥

जैसे नाग अपनी नगरी भोगवती (पातालपुरी)-की रक्षा करते हैं, वैसे ही भगवान्‌की वह द्वारकापुरी भी मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंसे, जिनके पराक्रमकी तुलना और किसीसे भी नहीं की जा सकती, सुरक्षित थी॥ ११॥ वह पुरी समस्त ऋतुओंके सम्पूर्ण वैभवसे सम्पन्न एवं पवित्र वृक्षों एवं लताओंके कुंजोंसे युक्त थी। स्थान-स्थानपर फलोंसे पूर्ण उद्यान, पुष्पवाटिकाएँ एवं क्रीडावन थे। बीच-बीचमें कमलयुक्त सरोवर नगरकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ १२॥ नगरके फाटकों, महलके दरवाजों और सड़कोंपर भगवान्‌के स्वागतार्थ बंदनवारें लगायी गयी थीं। चारों ओर चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनसे उन स्थानोंपर घामका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था॥ १३॥ उसके राजमार्ग, अन्यान्य सड़कें, बाजार और चौक झाड़-बुहारकर सुगन्धित जलसे सींच दिये गये थे और भगवान्‌के स्वागतके लिये बरसाये हुए फल-फूल, अक्षत-अंकुर चारों ओर बिखरे हुए थे॥ १४॥ घरोंके प्रत्येक द्वारपर दही, अक्षत, फल, ईख, जलसे भरे हुए कलश, उपहारकी वस्तुएँ और धूप-दीप आदि सजा दिये गये थे॥ १५॥

उदारशिरोमणि वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, अद्भुत पराक्रमी बलराम, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण और जाम्बवतीनन्दन साम्बने जब यह सुना कि हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण आ रहे हैं, तब उनके मनमें इतना आनन्द उमड़ा कि उन लोगोंने अपने सभी आवश्यक कार्य—

१. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें नवम श्लोकके बाद एक श्लोक अधिक है, जो इस प्रकार है—'कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम्। जीवाम ते सुन्दरहासशोभितमपश्यमाना वदनं मनोहरम्॥'
२. प्रा० पा०—पुरम्। ३. प्रा ०पा०—दीपधूपकैः।

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो[1] जाम्बवतीसुतः।
प्रहर्षवेगोच्छ्वशितशयनासनभोजनाः ॥ १७

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः[2] ससुमङ्गलैः।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः।
प्रत्युज्जग्मू[3] रथैर्हृष्टाः[4] प्रणयागतसाध्वसाः ॥ १८

वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः।
लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः ॥ १९

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः।
गायन्ति[6] चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥ २०

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्।
यथाविध्युपसङ्गम्य सर्वेषां मानमादधे ॥ २१

प्रह्वा[7]भिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥ २२

स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम्[8] ॥ २३

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः[9] कुलस्त्रियः।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥ २४

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम्।
नैव तृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥ २५

सोना, बैठना और भोजन आदि छोड़ दिये। प्रेमके आवेगसे उनका हृदय उछलने लगा। वे मंगलशकुनके लिये एक गजराजको आगे करके स्वस्त्ययनपाठ करते हुए और मांगलिक सामग्रियोंसे सुसज्जित ब्राह्मणोंको साथ लेकर चले। शंख और तुरही आदि बाजे बजने लगे और वेदध्वनि होने लगी। वे सब हर्षित होकर रथोंपर सवार हुए और बड़ी आदरबुद्धिसे भगवान्‌की अगवानी करने चले॥ १६—१८॥ साथ ही भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये उत्सुक सैकड़ों श्रेष्ठ वारांगनाएँ, जिनके मुख कपोलोंपर चमचमाते हुए कुण्डलोंकी कान्ति पड़नेसे बड़े सुन्दर दीखते थे, पालकियोंपर चढ़कर भगवान्‌की अगवानीके लिये चलीं॥ १९॥ बहुत-से नट, नाचनेवाले, गानेवाले, विरद बखाननेवाले सूत, मागध और वंदीजन भगवान् श्रीकृष्णके अद्‌भुत चरित्रोंका गायन करते हुए चले॥ २०॥

भगवान् श्रीकृष्णने बन्धु-बान्धवों, नागरिकों और सेवकोंसे उनकी योग्यताके अनुसार अलग-अलग मिलकर सबका सम्मान किया॥ २१॥ किसीको सिर झुकाकर प्रणाम किया, किसीको वाणीसे अभिवादन किया, किसीको हृदयसे लगाया, किसीसे हाथ मिलाया, किसीकी ओर देखकर मुसकरा भर दिया और किसीको केवल प्रेमभरी दृष्टिसे देख लिया। जिसकी जो इच्छा थी, उसे वही वरदान दिया। इस प्रकार चाण्डालपर्यन्त सबको संतुष्ट करके गुरुजन, सपत्नीक ब्राह्मण और वृद्धोंका तथा दूसरे लोगोंका भी आशीर्वाद ग्रहण करते एवं वंदीजनोंसे विरुदावली सुनते हुए सबके साथ भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया॥ २२-२३॥

शौनकजी! जिस समय भगवान् राजमार्गसे जा रहे थे, उस समय द्वारकाकी कुल-कामिनियाँ भगवान्‌के दर्शनको ही परमानन्द मानकर अपनी-अपनी अटारियोंपर चढ़ गयीं॥ २४॥ भगवान्‌का वक्षःस्थल मूर्तिमान् सौन्दर्यलक्ष्मीका निवासस्थान है। उनका मुखारविन्द नेत्रोंके द्वारा पान करनेके लिये सौन्दर्य-सुधासे भरा हुआ पात्र है। उनकी भुजाएँ लोकपालोंको भी शक्ति

१. प्रा० पा०—चारुसाम्बगदादयः। २. प्रा० पा०—ब्राह्मणैस्तु सुमङ्गलैः। ३. प्रा० पा०—प्रतिजग्मू। ४. प्रा० पा०—रथैर्ब्रह्मन्। ५. प्रा० पा०—निर्भिन्न०। ६. प्रा०पा०—गायन्त उत्तमश्लोक०। ७. प्रा० पा०—बान्धवानथ आश्लिष्य। ८. प्रा० पा०—पुरीम्। ९. प्रा० पा०—द्वारकायां।

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम्॥ २६

देनेवाली हैं। उनके चरणकमल भक्त परमहंसोंके आश्रय हैं। उनके अंग-अंग शोभाके धाम हैं। भगवान्‌की इस छविको द्वारकावासी नित्य-निरन्तर निहारते रहते हैं, फिर भी उनकी आँखें एक क्षणके लिये भी तृप्त नहीं होतीं॥ २५-२६॥

सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः
प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः॥ २७

द्वारकाके राजपथपर भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर श्वेतवर्णका छत्र तना हुआ था, श्वेत चँवर डुलाये जा रहे थे, चारों ओरसे पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी, वे पीताम्बर और वनमाला धारण किये हुए थे। इस समय वे ऐसे शोभायमान हुए, मानो श्याम मेघ एक ही साथ सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष और बिजलीसे शोभायमान हो॥ २७॥

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा॥ २८

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः॥ २९

भगवान् सबसे पहले अपने माता-पिताके महलमें गये। वहाँ उन्होंने बड़े आनन्दसे देवकी आदि सातों माताओंको चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया और माताओंने उन्हें अपने हृदयसे लगाकर गोदमें बैठा लिया। स्नेहके कारण उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी, उनका हृदय हर्षसे विह्वल हो गया और वे आनन्दके आँसुओंसे उनका अभिषेक करने लगीं॥ २८-२९॥

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम्।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश॥ ३०

माताओंसे आज्ञा लेकर वे अपने समस्त भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न सर्वश्रेष्ठ भवनमें गये। उसमें सोलह हजार पत्नियोंके अलग-अलग महल थे॥ ३०॥

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः।
उत्तस्थुरारात् सहसाऽऽसनाशयात्[१]
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः॥ ३१

अपने प्राणनाथ भगवान् श्रीकृष्णको बहुत दिन बाहर रहनेके बाद घर आया देखकर रानियोंके हृदयमें बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें अपने निकट देखकर वे एकाएक ध्यान छोड़कर उठ खड़ी हुईं; उन्होंने केवल आसनको ही नहीं; बल्कि उन नियमोंको* भी त्याग दिया, जिन्हें उन्होंने पतिके प्रवासी होनेपर ग्रहण किया था। उस समय उनके मुख और नेत्रोंमें लज्जा छा गयी॥ ३१॥

---

१. प्रा० पा०—सहसासनाश्रयात्सकञ्चुका व्रीडित०।

* जिस स्त्रीका पति विदेश गया हो, उसे इन नियमोंका पालन करना चाहिये।

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥

जिसका पति परदेश गया हो, उस स्त्रीको खेल-कूद, शृंगार, सामाजिक उत्सवोंमें भाग लेना, हँसी-मजाक करना और पराये घर जाना—इन पाँच कामोंको त्याग देना चाहिये। (याज्ञवल्क्यस्मृति)

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात्॥ ३२

भगवान्‌के प्रति उनका भाव बड़ा ही गम्भीर था। उन्होंने पहले मन-ही-मन, फिर नेत्रोंके द्वारा और तत्पश्चात् पुत्रोंके बहाने शरीरसे उनका आलिंगन किया। शौनकजी! उस समय उनके नेत्रोंमें जो प्रेमके आँसू छलक आये थे, उन्हें संकोचवश उन्होंने बहुत रोका। फिर भी विवशताके कारण वे ढलक ही गये॥ ३२॥

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।
पदे पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्॥ ३३

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एकान्तमें सर्वदा ही उनके पास रहते थे, तथापि उनके चरण-कमल उन्हें पद-पदपर नये-नये जान पड़ते। भला, स्वभावसे ही चंचल लक्ष्मी जिन्हें एक क्षणके लिये भी कभी नहीं छोड़तीं, उनकी संनिधिसे किस स्त्रीकी तृप्ति हो सकती है॥ ३३॥

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
मक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम्।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो निरायुधः॥ ३४

जैसे वायु बाँसोंके संघर्षसे दावानल पैदा करके उन्हें जला देता है, वैसे ही पृथ्वीके भारभूत और शक्तिशाली राजाओंमें परस्पर फूट डालकर बिना शस्त्र ग्रहण किये ही भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें कई अक्षौहिणी सेनासहित एक-दूसरेसे मरवा डाला और उसके बाद आप भी उपराम हो गये॥ ३४॥

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा॥ ३५

साक्षात् परमेश्वर ही अपनी लीलासे इस मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे और सहस्रों रमणी-रत्नोंमें रहकर उन्होंने साधारण मनुष्यकी तरह क्रीडा की॥ ३५॥

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः॥ ३६

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥ ३७

जिनकी निर्मल और मधुर हँसी उनके हृदयके उन्मुक्त भावोंको सूचित करनेवाली थी, जिनकी लजीली चितवनकी चोटसे बेसुध होकर विश्वविजयी कामदेवने भी अपने धनुषका परित्याग कर दिया था—वे कमनीय कामिनियाँ अपने काम-विलासोंसे जिनके मनमें तनिक भी क्षोभ नहीं पैदा कर सकीं, उन असंग भगवान् श्रीकृष्णको संसारके लोग अपने ही समान कर्म करते देखकर आसक्त मनुष्य समझते हैं—यह उनकी मूर्खता है॥ ३६-३७॥

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदाऽऽत्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥ ३८

यही तो भगवान्‌की भगवत्ता है कि वे प्रकृतिमें स्थित होकर भी उसके गुणोंसे कभी लिप्त नहीं होते, जैसे भगवान्‌की शरणागत बुद्धि अपनेमें रहनेवाले प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होती॥ ३८॥

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा॥ ३९

वे मूढ़ स्त्रियाँ भी श्रीकृष्णको अपना एकान्तसेवी, स्त्रीपरायण भक्त ही समझ बैठी थीं; क्योंकि वे अपने स्वामीके ऐश्वर्यको नहीं जानती थीं—ठीक वैसे ही जैसे अहंकारकी वृत्तियाँ ईश्वरको अपने धर्मसे युक्त मानती हैं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने कृष्णद्वारकाप्रवेशो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

परीक्षित्का जन्म

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन[1] ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः॥ १

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः।
निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान् यथा॥ २

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः॥ ३

शौनकजीने कहा—अश्वत्थामाने जो अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मास्त्र चलाया था, उससे उत्तराका गर्भ नष्ट हो गया था; परंतु भगवान्ने उसे पुनः जीवित कर दिया॥ १॥ उस गर्भसे पैदा हुए महाज्ञानी महात्मा परीक्षित्के, जिन्हें शुकदेवजीने ज्ञानोपदेश दिया था, जन्म, कर्म, मृत्यु और उसके बाद जो गति उन्हें प्राप्त हुई, वह सब यदि आप ठीक समझें तो कहें; हमलोग बड़ी श्रद्धाके साथ सुनना चाहते हैं॥ २-३॥

सूत उवाच

अपीपलद्धर्मराजः[2] पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादाब्जसेवया[3]॥ ४

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम्॥ ५

किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः[4]।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे॥ ६

सूतजीने कहा—धर्मराज युधिष्ठिर अपनी प्रजाको प्रसन्न रखते हुए पिताके समान उसका पालन करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके सेवनसे वे समस्त भोगोंसे निःस्पृह हो गये थे॥ ४॥

शौनकादि ऋषियो! उनके पास अतुल सम्पत्ति थी, उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे तथा उनके फलस्वरूप श्रेष्ठ लोकोंका अधिकार प्राप्त किया था। उनकी रानियाँ और भाई अनुकूल थे, सारी पृथ्वी उनकी थी, वे जम्बूद्वीपके स्वामी थे और उनकी कीर्ति स्वर्गतक फैली हुई थी॥ ५॥ उनके पास भोगकी ऐसी सामग्री थी, जिसके लिये देवतालोग भी लालायित रहते हैं। परन्तु जैसे भूखे मनुष्यको भोजनके अतिरिक्त दूसरे पदार्थ नहीं सुहाते, वैसे ही उन्हें भगवान्के सिवा दूसरी कोई वस्तु सुख नहीं देती थी॥ ६॥

१. प्रा० पा०—अश्वथाम्ना विसृष्टेन। २. प्रा० पा०—अपालयद्। ३. प्रा० पा०—पादानुसेवया। ४. प्रा० पा०—द्विज।

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा॥ ७

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्॥ ८

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम्।
क्षतजाक्षं[1] गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम्।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः॥ ९

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः।
विधमन्तं संनिकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ॥ १०

विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब् विभुः।
मिषतो दशमास्यस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ ११

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा॥ १२

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः[2]।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम्॥ १३

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान्[3]।
प्रादात्स्वन्नं[4] च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित्॥ १४

शौनकजी! उत्तराके गर्भमें स्थित वह वीर शिशु परीक्षित् जब अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजसे जलने लगा, तब उसने देखा कि उसकी आँखोंके सामने एक ज्योतिर्मय पुरुष है॥ ७॥ वह देखनेमें तो अँगूठेभरका है, परन्तु उसका स्वरूप बहुत ही निर्मल है। अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, बिजलीके समान चमकता हुआ पीताम्बर धारण किये हुए है, सिरपर सोनेका मुकुट झिलमिला रहा है। उस निर्विकार पुरुषके बड़ी ही सुन्दर लम्बी-लम्बी चार भुजाएँ हैं। कानोंमें तपाये हुए स्वर्णके सुन्दर कुण्डल हैं, आँखोंमें लालिमा है, हाथमें लूकेके समान जलती हुई गदा लेकर उसे बार-बार घुमाता जा रहा है और स्वयं शिशुके चारों ओर घूम रहा है॥ ८-९॥ जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे कुहरेको भगा देते हैं, वैसे ही वह उस गदाके द्वारा ब्रह्मास्त्रके तेजको शान्त करता जा रहा था। उस पुरुषको अपने समीप देखकर वह गर्भस्थ शिशु सोचने लगा कि यह कौन है॥ १०॥ इस प्रकार उस दस मासके गर्भस्थ शिशुके सामने ही धर्मरक्षक अप्रमेय भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मास्त्रके तेजको शान्त करके वहीं अन्तर्धान हो गये॥ ११॥

तदनन्तर अनुकूल ग्रहोंके उदयसे युक्त समस्त सद्गुणोंको विकसित करनेवाले शुभ समयमें पाण्डुके वंशधर परीक्षित्का जन्म हुआ। जन्मके समय ही वह बालक इतना तेजस्वी दीख पड़ता था, मानो स्वयं पाण्डुने ही फिरसे जन्म लिया हो॥ १२॥ पौत्रके जन्मकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिर मनमें बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने धौम्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंसे मंगलवाचन और जातकर्म-संस्कार करवाये॥ १३॥ महाराज युधिष्ठिर दानके योग्य समयको जानते थे। उन्होंने प्रजातीर्थ* नामक कालमें अर्थात् नाल काटनेके पहले ही ब्राह्मणोंको सुवर्ण, गौएँ, पृथ्वी, गाँव, उत्तम जातिके हाथी-घोड़े और उत्तम अन्नका दान दिया॥ १४॥

१. प्रा० पा०—शङ्खचक्रगदा०। २. प्रा० पा०—विप्रैर्जातक्रियादिभिः। ३.प्रा० पा०—हयांश्च नृपति०। ४. प्रा० पा०—प्रादात्स्वयं च।

* नालच्छेदनसे पहले सूतक नहीं होता, जैसे कहा है—'**यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम्। छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते॥**' इसी समयको 'प्रजातीर्थ' काल कहते हैं। इस समय जो दान दिया जाता है, वह अक्षय होता है। स्मृति कहती है—'**पुत्रे जाते व्यतीपाते दत्तं भवति चाक्षयम्।**' अर्थात् '**पुत्रोत्पत्ति**' और व्यतीपातके समय दिया हुआ दान अक्षय होता है।'

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम्।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ[1] ॥ १५
दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि।
रातो वो[2]ऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १६
तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः।
भविष्यति न संदेहो महाभागवतो महान् ॥ १७

युधिष्ठिर[3] उवाच

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन्[4] पुण्यश्लोकान् महात्मनः।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥ १८

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥ १९
एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः।
[5]यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥ २०
धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥ २१
मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥ २२
पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥ २३
सर्वसद्गुणमाहात्म्ये[6] एष कृष्णमनुव्रतः।
रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥ २४
धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः[7]।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥ २५
राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम्।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥ २६

ब्राह्मणोंने सन्तुष्ट होकर अत्यन्त विनयी युधिष्ठिरसे कहा—'पुरुवंशशिरोमणे! कालकी दुर्निवार गतिसे यह पवित्र पुरुवंश मिटना ही चाहता था, परन्तु तुमलोगोंपर कृपा करनेके लिये भगवान् विष्णुने यह बालक देकर इसकी रक्षा कर दी ॥ १५-१६ ॥ इसीलिये इसका नाम विष्णुरात होगा। निस्सन्देह यह बालक संसारमें बड़ा यशस्वी, भगवान्‌का परम भक्त और महापुरुष होगा' ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ! यह बालक क्या अपने उज्ज्वल यशसे हमारे वंशके पवित्रकीर्ति महात्मा राजर्षियोंका अनुसरण करेगा? ॥ १८ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—धर्मराज! यह मनुपुत्र इक्ष्वाकुके समान अपनी प्रजाका पालन करेगा तथा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामके समान ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ होगा ॥ १९ ॥ यह उशीनरनरेश शिबिके समान दाता और शरणागतवत्सल होगा तथा याज्ञिकोंमें दुष्यन्तके पुत्र भरतके समान अपने वंशका यश फैलायेगा ॥ २० ॥ धनुर्धरोंमें यह सहस्रबाहु अर्जुन और अपने दादा पार्थके समान अग्रगण्य होगा। यह अग्निके समान दुर्धर्ष और समुद्रके समान दुस्तर होगा ॥ २१ ॥ यह सिंहके समान पराक्रमी, हिमाचलकी तरह आश्रय लेनेयोग्य, पृथ्वीके सदृश तितिक्षु और माता-पिताके समान सहनशील होगा ॥ २२ ॥ इसमें पितामह ब्रह्माके समान समता रहेगी, भगवान् शंकरकी तरह यह कृपालु होगा और सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेमें यह लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुके समान होगा ॥ २३ ॥ यह समस्त सद्गुणोंकी महिमा धारण करनेमें श्रीकृष्णका अनुयायी होगा, रन्तिदेवके समान उदार होगा और ययातिके समान धार्मिक होगा ॥ २४ ॥ धैर्यमें बलिके समान और भगवान् श्रीकृष्णके प्रति दृढ़ निष्ठामें यह प्रह्लादके समान होगा। यह बहुतसे अश्वमेधयज्ञोंका करनेवाला और वृद्धोंका सेवक होगा ॥ २५ ॥ इसके पुत्र राजर्षि होंगे। मर्यादाका उल्लंघन करनेवालोंको यह दण्ड देगा। यह पृथ्वीमाता और धर्मकी रक्षाके लिये कलियुगका भी दमन करेगा ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—पौरवर्षभः। २. प्रा० पा०—यो। ३. प्रा० पा०—राजोवाच। ४. प्रा० पा०—राजर्षिः। ५. प्रा० पा०—यथोचितविधाता च दौष्यन्ति। ६. प्रा० पा०—माहात्म्यमेष कृष्ण०। ७. प्रा० पा०—निर्भरः।

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात्।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः॥ २७
जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो मुनेर्व्याससुतादसौ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम्॥ २८
इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः।
लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान्॥ २९
स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः।
गर्भे[१] दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह॥ ३०
स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम्॥ ३१
यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया।
राजालब्धधनो द[२]ध्यावन्यत्र करदण्डयोः॥ ३२
तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः॥ ३३
तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
वाजिमेधैस्त्रिभि[३]र्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम्॥ ३४
आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम्।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया॥ ३५

ब्राह्मणकुमारके शापसे तक्षकके द्वारा अपनी मृत्यु सुनकर यह सबकी आसक्ति छोड़ देगा और भगवान्‌के चरणोंकी शरण लेगा॥ २७॥ राजन्! व्यासनन्दन शुकदेवजीसे यह आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करेगा और अन्तमें गंगातटपर अपने शरीरको त्यागकर निश्चय ही अभयपद प्राप्त करेगा॥ २८॥

ज्यौतिषशास्त्रके विशेषज्ञ ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरको इस प्रकार बालकके जन्मलग्नका फल बतलाकर और भेंट-पूजा लेकर अपने-अपने घर चले गये॥ २९॥ वही यह बालक संसारमें परीक्षित्‌के नामसे प्रसिद्ध हुआ; क्योंकि वह समर्थ बालक गर्भमें जिस पुरुषका दर्शन पा चुका था, उसका स्मरण करता हुआ लोगोंमें उसीकी परीक्षा करता रहता था कि देखें इनमेंसे कौन-सा वह है॥ ३०॥ जैसे शुक्लपक्षमें दिन-प्रतिदिन चन्द्रमा अपनी कलाओंसे पूर्ण होता हुआ बढ़ता है, वैसे ही वह राजकुमार भी अपने गुरुजनोंके लालन-पालनसे क्रमशः अनुदिन बढ़ता हुआ शीघ्र ही सयाना हो गया॥ ३१॥

इसी समय स्वजनोंके वधका प्रायश्चित्त करनेके लिये राजा युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनेका विचार किया, परन्तु प्रजासे वसूल किये हुए कर और दण्ड (जुर्माने)-की रकमके अतिरिक्त और धन न होनेके कारण वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये॥ ३२॥ उनका अभिप्राय समझकर भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे उनके भाई उत्तर दिशामें राजा मरुत्त और ब्राह्मणोंद्वारा छोड़ा हुआ* बहुत-सा धन ले आये॥ ३३॥ उससे यज्ञकी सामग्री एकत्र करके धर्मभीरु महाराज युधिष्ठिरने तीन अश्वमेधयज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा की॥ ३४॥ युधिष्ठिरके निमन्त्रणसे पधारे हुए भगवान् ब्राह्मणोंद्वारा उनका यज्ञ सम्पन्न कराकर अपने सुहृद् पाण्डवोंकी प्रसन्नताके लिये कई महीनोंतक वहीं रहे॥ ३५॥

१. प्रा० पा०—पूर्वदृष्ट०। २. दध्यौ नान्यत्र। ३. प्रा० पा०—त्रिभी राजा यज्ञैः।

* पूर्वकालमें महाराज मरुत्तने ऐसा यज्ञ किया था, जिसमें सभी पात्र सुवर्णके थे। यज्ञ समाप्त हो जानेपर उन्होंने वे पात्र उत्तर दिशामें फिंकवा दिये थे। उन्होंने ब्राह्मणोंको भी इतना धन दिया कि वे उसे ले जा न सके; वे भी उसे उत्तर दिशामें ही छोड़कर चले आये। परित्यक्त धनपर राजाका अधिकार होता है, इसलिये उस धनको मँगवाकर भगवान्‌ने युधिष्ठिरका यज्ञ कराया।

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः॥ ३६

शौनकजी! इसके बाद भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिर और द्रौपदीसे अनुमति लेकर अर्जुनके साथ यदुवंशियोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकाके लिये प्रस्थान किया॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने परीक्षिज्जन्माद्युत्कर्षो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

विदुरजीके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गान्धारीका वनमें जाना

सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः॥ १

सूतजी कहते हैं—विदुरजी तीर्थयात्रामें महर्षि मैत्रेयसे आत्माका ज्ञान प्राप्त करके हस्तिनापुर लौट आये। उन्हें जो कुछ जाननेकी इच्छा थी वह पूर्ण हो गयी थी॥ १॥

यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह॥ २

विदुरजीने मैत्रेय ऋषिसे जितने प्रश्न किये थे, उनका उत्तर सुननेके पहले ही श्रीकृष्णमें अनन्य भक्ति हो जानेके कारण वे उत्तर सुननेसे उपराम हो गये॥ २॥

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा॥ ३
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी।
अन्याश्च जामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः॥ ४
प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम्।
अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः॥ ५
मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम्॥ ६

शौनकजी! अपने चाचा विदुरजीको आया देख धर्मराज युधिष्ठिर, उनके चारों भाई, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, संजय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी तथा पाण्डव-परिवारके अन्य सभी नर-नारी और अपने पुत्रोंसहित दूसरी स्त्रियाँ—सब-के-सब बड़ी प्रसन्नतासे, मानो मृत शरीरमें प्राण आ गया हो—ऐसा अनुभव करते हुए उनकी अगवानीके लिये सामने गये। यथायोग्य आलिंगन और प्रणामादिके द्वारा सब उनसे मिले और विरहजनित उत्कण्ठासे कातर होकर सबने प्रेमके आँसू बहाये। युधिष्ठिरने आसनपर बैठाकर उनका यथोचित सत्कार किया॥ ३—६॥

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां[1] च शृण्वताम्॥ ७

जब वे भोजन एवं विश्राम करके सुखपूर्वक आसनपर बैठे थे तब युधिष्ठिरने विनयसे झुककर सबके सामने ही उनसे कहा॥ ७॥

१. प्रा० पा०—स्वानां विशृण्वताम्।

युधिष्ठिर उवाच

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान्।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८
कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम्।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥ ९
भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥ १०
अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते ॥ ११
इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत्।
यथानुभूतं क्रमशो[1] विना यदुकुलक्षयम् ॥ १२
नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम्।
[2]नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः ॥ १३
कञ्चित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम्[3]।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां प्रीतिमावहन् ॥ १४
अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥ १५

युधिष्ठिरने कहा— चाचाजी! जैसे पक्षी अपने अंडोंको पंखोंकी छायाके नीचे रखकर उन्हें सेते और बढ़ाते हैं, वैसे ही आपने अत्यन्त वात्सल्यसे अपने करकमलोंकी छत्रछायामें हमलोगोंको पाला-पोसा है। बार-बार आपने हमें और हमारी माताको विषदान और लाक्षागृहके दाह आदि विपत्तियोंसे बचाया है। क्या आप कभी हम लोगोंकी भी याद करते रहे हैं?॥ ८॥ आपने पृथ्वीपर विचरण करते समय किस वृत्तिसे जीवन-निर्वाह किया? आपने पृथ्वीतलपर किन-किन तीर्थों और मुख्य क्षेत्रोंका सेवन किया?॥ ९॥ प्रभो! आप-जैसे भगवान्‌के प्यारे भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं। आपलोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान्‌के द्वारा तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं॥ १०॥ चाचाजी! आप तीर्थयात्रा करते हुए द्वारका भी अवश्य ही गये होंगे। वहाँ हमारे सुहृद् एवं भाई-बन्धु यादवलोग, जिनके एकमात्र आराध्यदेव श्रीकृष्ण हैं, अपनी नगरीमें सुखसे तो हैं न? आपने यदि जाकर देखा नहीं होगा तो सुना तो अवश्य ही होगा॥ ११॥

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर विदुरजीने तीर्थों और यदुवंशियोंके सम्बन्धमें जो कुछ देखा, सुना और अनुभव किया था, सब क्रमसे बतला दिया, केवल यदुवंशके विनाशकी बात नहीं कही॥ १२॥ करुणहृदय विदुरजी पाण्डवोंको दुःखी नहीं देख सकते थे। इसलिये उन्होंने यह अप्रिय एवं असह्य घटना पाण्डवोंको नहीं सुनायी; क्योंकि वह तो स्वयं ही प्रकट होनेवाली थी॥ १३॥

पाण्डव विदुरजीका देवताके समान सेवा-सत्कार करते थे। वे कुछ दिनोंतक अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रकी कल्याणकामनासे सब लोगोंको प्रसन्न करते हुए सुखपूर्वक हस्तिनापुरमें ही रहे॥ १४॥ विदुरजी तो साक्षात् धर्मराज थे, माण्डव्य ऋषिके शापसे ये सौ वर्षके लिये शूद्र बन गये थे*। इतने दिनोंतक यमराजके पदपर अर्यमा थे और वही पापियोंको उचित दण्ड देते थे॥ १५॥

१. प्रा० पा०—भ्रमतो। २. प्रा० पा०—न्यवेदयत्। ३. प्रा० पा०—स्वकैः।

* एक समय किसी राजाके अनुचरोंने कुछ चोरोंको माण्डव्य ऋषिके आश्रमपर पकड़ा। उन्होंने समझा कि ऋषि भी चोरोंमें शामिल होंगे। अतः वे भी पकड़ लिये गये और राजाज्ञासे सबके साथ उनको भी शूलीपर चढ़ा दिया गया। राजाको यह पता लगते ही कि ये महात्मा हैं—ऋषिको शूलीसे उतरवा दिया और हाथ जोड़कर

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलंधरम्[1]।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया॥ १६
एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः॥ १७
विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत।
राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम्॥ १८
प्रतिक्रिया[2] न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो।
स एव भगवान् कालः सर्वेषां नः[3] समागतः॥ १९
येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः॥ २०
पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे॥ २१
अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान्।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्॥ २२
अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत्॥ २३
तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव॥ २४

राज्य प्राप्त हो जानेपर अपने लोकपालों-सरीखे भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर वंशधर परीक्षित्‌को देखकर अपनी अतुल सम्पत्तिसे आनन्दित रहने लगे॥ १६॥ इस प्रकार पाण्डव गृहस्थके काम-धंधोंमें रम गये और उन्हींके पीछे एक प्रकारसे यह बात भूल गये कि अनजानमें ही हमारा जीवन मृत्युकी ओर जा रहा है; अब देखते-देखते उनके सामने वह समय आ पहुँचा जिसे कोई टाल नहीं सकता॥ १७॥

परन्तु विदुरजीने कालकी गति जानकर अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज! देखिये, अब बड़ा भयंकर समय आ गया है, झटपट यहाँसे निकल चलिये॥ १८॥ हम सब लोगोंके सिरपर वह सर्वसमर्थ काल मँडराने लगा है, जिसके टालनेका कहीं भी कोई उपाय नहीं है॥ १९॥ कालके वशीभूत होकर जीवका अपने प्रियतम प्राणोंसे भी बात-की-बातमें वियोग हो जाता है; फिर धन, जन आदि दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या है॥ २०॥ आपके चाचा, ताऊ, भाई, सगे-सम्बन्धी और पुत्र—सभी मारे गये, आपकी उम्र भी ढल चुकी, शरीर बुढ़ापेका शिकार हो गया, आप पराये घरमें पड़े हुए हैं॥ २१॥ ओह! इस प्राणीको जीवित रहनेकी कितनी प्रबल इच्छा होती है! इसीके कारण तो आप भीमका दिया हुआ टुकड़ा खाकर कुत्तेका-सा जीवन बिता रहे हैं॥ २२॥ जिनको आपने आगमें जलानेकी चेष्टा की, विष देकर मार डालना चाहा, भरी सभामें जिनकी विवाहिता पत्नीको अपमानित किया, जिनकी भूमि और धन छीन लिये, उन्हींके अन्नसे पले हुए प्राणोंको रखनेमें क्या गौरव है॥ २३॥ आपके अज्ञानकी हद हो गयी कि अब भी आप जीना चाहते हैं! परन्तु आपके चाहनेसे क्या होगा; पुराने वस्त्रकी तरह बुढ़ापेसे गला हुआ आपका शरीर आपके न चाहनेपर भी क्षीण हुआ जा रहा है॥ २४॥

उनसे अपना अपराध क्षमा कराया। माण्डव्यजीने यमराजके पास जाकर पूछा—'मुझे किस पापके फलस्वरूप यह दण्ड मिला?' यमराजने बताया कि 'आपने लड़कपनमें एक टिड्डीको कुशकी नोकसे छेद दिया था, इसीलिये ऐसा हुआ।' इसपर मुनिने कहा—'मैंने अज्ञानवश ऐसा किया होगा, उस छोटेसे अपराधके लिये तुमने मुझे बड़ा कठोर दण्ड दिया। इसलिये तुम सौ वर्षतक शूद्रयोनिमें रहोगे।' माण्डव्यजीके इस शापसे ही यमराजने विदुरके रूपमें अवतार लिया था।

१. प्रा० पा०—कुलोद्वहम्। २. प्रा० पा०—प्रतिक्रियां न पश्येऽहं कुतश्चित्। ३. प्रा० पा०—वः।

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः।
अविज्ञातगति[1]र्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः॥ २५
यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः॥ २६
अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान्।
इतोऽर्वाक्प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः॥ २७
एवं राजा विदुरेणानुजेन
प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो
निश्चक्राम भ्रातृसंदर्शिताध्वा॥ २८
पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री
पतिव्रता चानुजगाम साध्वी।
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं
मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः॥ २९
अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-
र्विप्रान् नत्वा तिल[2]गोभूमिरुक्मैः।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
न चापश्यत्पितरौ सौबलीं च॥ ३०
तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः।
गावल्गणे क्व नस्तातो[3] वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः॥ ३१
अम्बा च हतपुत्राऽऽर्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत्[4]।
अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत्॥ ३२

अब इस शरीरसे आपका कोई स्वार्थ सधनेवाला नहीं है; इसमें फँसिये मत, इसकी ममताका बन्धन काट डालिये। जो संसारके सम्बन्धियोंसे अलग रहकर उनके अनजानमें अपने शरीरका त्याग करता है, वही धीर कहा गया है॥ २५॥ चाहे अपनी समझसे हो या दूसरेके समझानेसे—जो इस संसारको दुःखरूप समझकर इससे विरक्त हो जाता है और अपने अन्तःकरणको वशमें करके हृदयमें भगवान्‌को धारणकर संन्यासके लिये घरसे निकल पड़ता है, वही उत्तम मनुष्य है॥ २६॥ इसके आगे जो समय आनेवाला है, वह प्रायः मनुष्योंके गुणोंको घटानेवाला होगा; इसलिये आप अपने कुटुम्बियोंसे छिपकर उत्तराखण्डमें चले जाइये'॥ २७॥

जब छोटे भाई विदुरने अंधे राजा धृतराष्ट्रको इस प्रकार समझाया, तब उनकी प्रज्ञाके नेत्र खुल गये; वे भाई-बन्धुओंके सुदृढ़ स्नेह-पाशोंको काटकर अपने छोटे भाई विदुरके दिखलाये हुए मार्गसे निकल पड़े॥ २८॥ जब परम पतिव्रता सुबलनन्दिनी गान्धारीने देखा कि मेरे पतिदेव तो उस हिमालयकी यात्रा कर रहे हैं जो संन्यासियोंको वैसा ही सुख देता है जैसा वीर पुरुषोंको लड़ाईके मैदानमें अपने शत्रुके द्वारा किये हुए न्यायोचित प्रहारसे होता है। तब वे भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ीं॥ २९॥

अजातशत्रु युधिष्ठिरने प्रातःकाल सन्ध्या-वन्दन तथा अग्निहोत्र करके ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और उन्हें तिल, गौ, भूमि और सुवर्णका दान दिया। इसके बाद जब वे गुरुजनोंकी चरणवन्दनाके लिये राजमहलमें गये, तब उन्हें धृतराष्ट्र, विदुर तथा गान्धारीके दर्शन नहीं हुए॥ ३०॥ युधिष्ठिरने उद्विग्नचित्त होकर वहीं बैठे हुए संजयसे पूछा—'संजय! मेरे वे वृद्ध और नेत्रहीन पिता धृतराष्ट्र कहाँ हैं?॥ ३१॥ पुत्रशोकसे पीड़ित दुखिया माता गान्धारी और मेरे परम हितैषी चाचा विदुरजी कहाँ चले गये? ताऊजी अपने पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेसे दुःखी थे। मैं बड़ा मन्दबुद्धि हूँ—कहीं मुझसे किसी अपराधकी आशंका करके वे माता गान्धारीसहित गंगाजीमें तो नहीं कूद पड़े॥ ३२॥

१. प्रा० पा०—मति०। २. प्रा० पा०—वसु। ३. प्रा० पा०—यातोऽसौ। ४. प्रा० पा०—सुकृत्।

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून्।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः॥ ३३

जब हमारे पिता पाण्डुकी मृत्यु हो गयी थी और हमलोग नन्हे-नन्हे बच्चे थे, तब इन्हीं दोनों चाचाओंने बड़े-बड़े दुःखोंसे हमें बचाया था। वे हमपर बड़ा ही प्रेम रखते थे। हाय! वे यहाँसे कहाँ चले गये?'॥ ३३॥

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्शितः।
आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः॥ ३४
विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन्॥ ३५

सूतजी कहते हैं— संजय अपने स्वामी धृतराष्ट्रको न पाकर कृपा और स्नेहकी विकलतासे अत्यन्त पीड़ित और विरहातुर हो रहे थे। वे युधिष्ठिरको कुछ उत्तर न दे सके॥ ३४॥ फिर धीरे-धीरे बुद्धिके द्वारा उन्होंने अपने चित्तको स्थिर किया, हाथोंसे आँखोंके आसूँ पोंछे और अपने स्वामी धृतराष्ट्रके चरणोंका स्मरण करते हुए युधिष्ठिरसे कहा॥ ३५॥

सञ्जय उवाच

नाहं[1] वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन।
गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः॥ ३६
अथाजगाम भगवान् नारदः सहतुम्बुरुः।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव॥ ३७

संजय बोले— कुलनन्दन! मुझे आपके दोनों चाचा और गान्धारीके संकल्पका कुछ भी पता नहीं है। महाबाहो! मुझे तो उन महात्माओंने ठग लिया॥ ३६॥ संजय इस प्रकार कह ही रहे थे कि तुम्बुरुके साथ देवर्षि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। महाराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर उन्हें प्रणाम किया और उनका सम्मान करते हुए बोले— ॥ ३७॥

युधिष्ठिर उवाच

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः।
अम्बा वा हतपुत्राऽऽर्ता क्व गता च तपस्विनी॥ ३८
कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः।
अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः॥ ३९
मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत्।
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च॥ ४०

युधिष्ठिरने कहा— 'भगवन्! मुझे अपने दोनों चाचाओंका पता नहीं लग रहा है; न जाने वे दोनों और पुत्र-शोकसे व्याकुल तपस्विनी माता गान्धारी यहाँसे कहाँ चले गये॥ ३८॥ भगवन्! अपार समुद्रमें कर्णधारके समान आप ही हमारे पारदर्शक हैं।' तब भगवान्‌के परमभक्त भगवन्मय देवर्षि नारदने कहा— ॥ ३९॥ 'धर्मराज! तुम किसीके लिये शोक मत करो; क्योंकि यह सारा जगत् ईश्वरके वशमें है। सारे लोक और लोकपाल विवश होकर ईश्वरकी ही आज्ञाका पालन कर रहे हैं। वही एक प्राणीको दूसरेसे मिलाता है और वही उन्हें अलग करता है॥ ४०॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'नाहं वेद····' से लेकर····वहन्ति बलिमीशितुः॥' यहाँतक पाँच श्लोक इस प्रकार मिलते हैं—
'अहं व्यवसितं रात्रौ पित्रोस्ते कुलनन्दन। न वेद साध्व्या गान्धार्या मुषितोऽस्मि महात्मभिः॥
एतस्मिन्नन्तरे विप्र नारदः प्रत्यदृश्यत। वीणां त्रितन्त्रीं ध्वनयन् भगवान् सहतुम्बुरुः॥
राजा नत्वोपनीतार्घ्यः प्रत्युत्थायाभिवन्दितम्। परमासन आसीनं पौरवेन्द्रोऽभ्यभाषत॥
नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गताविति। कर्णधार इवापारे सीदतां पारदर्शकः॥
नारद उवाच—
'मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशे जगत्। लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः'

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाः स्वदामभिः ।
वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥ ४१

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४२

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥ ४३

तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥ ४४

कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥ ४५

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ ४६

तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्माऽऽत्मनां स्वदृक् ।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥ ४७

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥ ४८

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते।
तावद् यूयमवेक्षध्वं भवेद् यावदिहेश्वरः ॥ ४९

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया ।
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥ ५०

स्त्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् ।
सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्त्रोतः प्रचक्षते ॥ ५१

जैसे बैल बड़ी रस्सीमें बँधे और छोटी रस्सीसे नथे रहकर अपने स्वामीका भार ढोते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी वर्णाश्रमादि अनेक प्रकारके नामोंसे वेदरूप रस्सीमें बँधकर ईश्वरकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं ॥ ४१ ॥ जैसे संसारमें खिलाड़ीकी इच्छासे ही खिलौनोंका संयोग और वियोग होता है, वैसे ही भगवान्‌की इच्छासे ही मनुष्योंका मिलना-बिछुड़ना होता है ॥ ४२ ॥ तुमलोगोंको जीवरूपसे नित्य मानो या देहरूपसे अनित्य अथवा जडरूपसे अनित्य और चेतनरूपसे नित्य अथवा शुद्धब्रह्मरूपमें नित्य-अनित्य कुछ भी न मानो—किसी भी अवस्थामें मोहजन्य आसक्तिके अतिरिक्त वे शोक करनेयोग्य नहीं हैं ॥ ४३ ॥ इसलिये धर्मराज! वे दीन-दुःखी चाचा-चाची असहाय अवस्थामें मेरे बिना कैसे रहेंगे, इस अज्ञानजन्य मनकी विकलताको छोड़ दो ॥ ४४ ॥ यह पांचभौतिक शरीर काल, कर्म और गुणोंके वशमें है। अजगरके मुँहमें पड़े हुए पुरुषके समान यह पराधीन शरीर दूसरोंकी रक्षा ही क्या कर सकता है ॥ ४५ ॥ हाथवालोंके बिना हाथवाले, चार पैरवाले पशुओंके बिना पैरवाले (तृणादि) और उनमें भी बड़े जीवोंके छोटे जीव आहार हैं। इस प्रकार एक जीव दूसरे जीवके जीवनका कारण हो रहा है ॥ ४६ ॥ इन समस्त रूपोंमें जीवोंके बाहर और भीतर वही एक स्वयंप्रकाश भगवान्, जो सम्पूर्ण आत्माओंके आत्मा हैं, मायाके द्वारा अनेकों प्रकारसे प्रकट हो रहे हैं; तुम केवल उन्हींको देखो ॥ ४७ ॥ महाराज! समस्त प्राणियोंको जीवनदान देनेवाले वे ही भगवान् इस समय इस पृथ्वीतलपर देवद्रोहियोंका नाश करनेके लिये कालरूपसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४८ ॥ अब वे देवताओंका कार्य पूरा कर चुके हैं। थोड़ा-सा काम और शेष है, उसीके लिये वे रुके हुए हैं। जबतक वे प्रभु यहाँ हैं तबतक तुमलोग भी उनकी प्रतीक्षा करते रहो ॥ ४९ ॥

धर्मराज! हिमालयके दक्षिण भागमें, जहाँ सप्तर्षियोंकी प्रसन्नताके लिये गंगाजीने अलग-अलग सात धाराओंके रूपमें अपनेको सात भागोंमें विभक्त कर दिया है, जिसे 'सप्तस्रोत' कहते हैं, वहीं ऋषियोंके आश्रमपर धृतराष्ट्र अपनी पत्नी गान्धारी और विदुरके साथ गये हैं ॥ ५०-५१ ॥

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि।
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः॥ ५२

जितासनो जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः।
हरिभावनया ध्वस्तरजःसत्त्वतमोमलः॥ ५३

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे॥ ५४

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः।
तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः॥ ५५

स वा अद्यतनाद् राजन् परतः पञ्चमेऽहनि।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति॥ ५६

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे।
बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनुवेक्ष्यति॥ ५७

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन।
हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः॥ ५८

इत्युक्त्वाथारुहत्[1] स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः॥ ५९

वहाँ वे त्रिकाल स्नान और विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं। अब उनके चित्तमें किसी प्रकारकी कामना नहीं है, वे केवल जल पीकर शान्तचित्तसे निवास करते हैं॥ ५२॥ आसन जीतकर प्राणोंको वशमें करके उन्होंने अपनी छहों इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटा लिया है। भगवान्‌की धारणासे उनके तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुणके मल नष्ट हो चुके हैं॥ ५३॥ उन्होंने अहंकारको बुद्धिके साथ जोड़कर और उसे क्षेत्रज्ञ आत्मामें लीन करके उसे भी महाकाशमें घटाकाशके समान सर्वाधिष्ठान ब्रह्ममें एक कर दिया है। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों और मनको रोककर समस्त विषयोंको बाहरसे ही लौटा दिया है और मायाके गुणोंसे होनेवाले परिणामोंको सर्वथा मिटा दिया है। समस्त कर्मोंका संन्यास करके वे इस समय ठूँठकी तरह स्थिर होकर बैठे हुए हैं, अतः तुम उनके मार्गमें विघ्नरूप मत बनना*॥ ५४-५५॥ धर्मराज! आजसे पाँचवें दिन वे अपने शरीरका परित्याग कर देंगे और वह जलकर भस्म हो जायगा॥ ५६॥ गार्हपत्यादि अग्नियोंके द्वारा पर्णकुटीके साथ अपने पतिके मृतदेहको जलते देखकर बाहर खड़ी हुई साध्वी गान्धारी भी पतिका अनुगमन करती हुई उसी आगमें प्रवेश कर जायँगी॥ ५७॥ धर्मराज! विदुरजी अपने भाईका आश्चर्यमय मोक्ष देखकर हर्षित और वियोग देखकर दुःखित होते हुए वहाँसे तीर्थ-सेवनके लिये चले जायँगे॥ ५८॥ देवर्षि नारद यों कहकर तुम्बुरुके साथ स्वर्गको चले गये। धर्मराज युधिष्ठिरने उनके उपदेशोंको हृदयमें धारण करके शोकको त्याग दिया॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
नैमिषीयोपाख्याने त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

---

१. प्रा० पा०—इत्युक्त्वा चारुहत्।

* देवर्षि नारदजी त्रिकालदर्शी हैं। वे धृतराष्ट्रके भविष्य-जीवनको वर्तमानकी भाँति प्रत्यक्ष देखते हुए उसी रूपमें वर्णन कर रहे हैं। धृतराष्ट्र पिछली रातको ही हस्तिनापुरसे गये हैं, अतः यह वर्णन भविष्यका ही समझना चाहिये।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अपशकुन देखकर महाराज युधिष्ठिरका शंका करना और अर्जुनका द्वारकासे लौटना

सूत उवाच

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया।
ज्ञातुं[1] च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम्॥ १
व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात्ततो[2]ऽर्जुनः।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः[3]॥ २
कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः[4]।
पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम्॥ ३
जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम्।
पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम्॥ ४
निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम्।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः॥ ५

सूतजी कहते हैं—स्वजनोंसे मिलने और पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण अब क्या करना चाहते हैं—यह जाननेके लिये अर्जुन द्वारका गये हुए थे॥ १॥ कई महीने बीत जानेपर भी अर्जुन वहाँसे लौटकर नहीं आये। धर्मराज युधिष्ठिरको बड़े भयंकर अपशकुन दीखने लगे॥ २॥ उन्होंने देखा, कालकी गति बड़ी विकट हो गयी है। जिस समय जो ऋतु होनी चाहिये, उस समय वह नहीं होती और उनकी क्रियाएँ भी उलटी ही होती हैं। लोग बड़े क्रोधी, लोभी और असत्यपरायण हो गये हैं। अपने जीवन-निर्वाहके लिये लोग पापपूर्ण व्यापार करने लगे हैं॥ ३॥ सारा व्यवहार कपटसे भरा हुआ होता है, यहाँतक कि मित्रतामें भी छल मिला रहता है; पिता-माता, सगे-सम्बन्धी, भाई और पति-पत्नीमें भी झगड़ा-टंटा रहने लगा है॥ ४॥ कलिकालके आ जानेसे लोगोंका स्वभाव ही लोभ, दम्भ आदि अधर्मसे अभिभूत हो गया है और प्रकृतिमें भी अत्यन्त अरिष्टसूचक अपशकुन होने लगे हैं, यह सब देखकर युधिष्ठिरने अपने छोटे भाई भीमसेनसे कहा॥ ५॥

युधिष्ठिर उवाच

सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम्॥ ६
गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः।
नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा॥ ७
अपि देवर्षिणाऽऽदिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः।
यदाऽऽत्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति॥ ८
यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः।
आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात्॥ ९

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन! अर्जुनको हमने द्वारका इसलिये भेजा था कि वह वहाँ जाकर, पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं—इसका पता लगा आये और सम्बन्धियोंसे मिल भी आये॥ ६॥ तबसे सात महीने बीत गये; किन्तु तुम्हारे छोटे भाई अबतक नहीं लौट रहे हैं। मैं ठीक-ठीक यह नहीं समझ पाता हूँ कि उनके न आनेका क्या कारण है॥ ७॥ कहीं देवर्षि नारदके द्वारा बतलाया हुआ वह समय तो नहीं आ पहुँचा है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने लीला-विग्रहका संवरण करना चाहते हैं?॥ ८॥ उन्हीं भगवान्‌की कृपासे हमें यह सम्पत्ति, राज्य, स्त्री, प्राण, कुल, संतान, शत्रुओंपर विजय और स्वर्गादि लोकोंका अधिकार प्राप्त हुआ है॥ ९॥

१. प्रा० पा०—ज्ञातुं मायामनुष्यस्य वासुदेवस्य चेष्टितम्। २. प्रा० पा०—पाण्डुसुतो नृपः। ३. प्रा० पा०—भृगूद्वह। ४. प्रा० पा०—धर्मणः।

पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान्।
दारुणान्[1] शंसतोऽदूराद्भयं नो[2] बुद्धिमोहनम्॥ १०

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः।
वेपथुश्चापि हृदये आराद्दास्यन्ति विप्रियम्॥ ११

शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना[3] ।
मामङ्ग[4] सारमेयोऽयमभिरेभत्यभीरुवत्[5]॥ १२

शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम॥ १३

मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन् मनः।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैरनिद्रौ[6] शून्यमिच्छतः॥ १४

धूम्रा दिशः[7] परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः।
निर्घातश्च[8] महांस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः॥ १५

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः।
असृग् वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः॥ १६

सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि।
ससङ्कुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी॥ १७

नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति॥ १८

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे॥ १९

भीमसेन! तुम तो मनुष्योंमें व्याघ्रके समान बलवान् हो; देखो तो सही—आकाशमें उल्कापातादि, पृथ्वीमें भूकम्पादि और शरीरोंमें रोगादि कितने भयंकर अपशकुन हो रहे हैं! इनसे इस बातकी सूचना मिलती है कि शीघ्र ही हमारी बुद्धिको मोहमें डालनेवाला कोई उत्पात होनेवाला है॥ १०॥ प्यारे भीमसेन! मेरी बायीं जाँघ, आँख और भुजा बार-बार फड़क रही हैं। हृदय जोरसे धड़क रहा है। अवश्य ही बहुत जल्दी कोई अनिष्ट होनेवाला है॥ ११॥ देखो, यह सियारिन उदय होते हुए सूर्यकी ओर मुँह करके रो रही है। अरे! उसके मुँहसे तो आग भी निकल रही है! यह कुत्ता बिलकुल निर्भय-सा होकर मेरी ओर देखकर चिल्ला रहा है॥ १२॥ भीमसेन! गौ आदि अच्छे पशु मुझे अपने बायें करके जाते हैं और गधे आदि बुरे पशु मुझे अपने दाहिने कर देते हैं। मेरे घोड़े आदि वाहन मुझे रोते हुए दिखायी देते हैं॥ १३॥ यह मृत्युका दूत पेड़ुखी, उल्लू और उसका प्रतिपक्षी कौआ रातको अपने कर्ण-कठोर शब्दोंसे मेरे मनको कँपाते हुए विश्वको सूना कर देना चाहते हैं॥ १४॥ दिशाएँ धुँधली हो गयी हैं, सूर्य और चन्द्रमाके चारों ओर बार-बार मण्डल बैठते हैं। यह पृथ्वी पहाड़ोंके साथ काँप उठती है, बादल बड़े जोर-जोरसे गरजते हैं और जहाँ-तहाँ बिजली भी गिरती ही रहती है॥ १५॥ शरीरको छेदनेवाली एवं धूलिवर्षासे अंधकार फैलानेवाली आँधी चलने लगी है। बादल बड़ा डरावना दृश्य उपस्थित करके सब ओर खून बरसाते हैं॥ १६॥ देखो! सूर्यकी प्रभा मन्द पड़ गयी है। आकाशमें ग्रह परस्पर टकराया करते हैं। भूतोंकी घनी भीड़में पृथ्वी और अन्तरिक्षमें आग-सी लगी हुई है॥ १७॥ नदी, नद, तालाब और लोगोंके मन क्षुब्ध हो रहे हैं। घीसे आग नहीं जलती। यह भयंकर काल न जाने क्या करेगा॥ १८॥ बछड़े दूध नहीं पीते, गौएँ दुहने नहीं देतीं, गोशालामें गौएँ आँसू बहा-बहाकर रो रही हैं। बैल भी उदास हो रहे हैं॥ १९॥

१. प्रा० पा०—घोरमाशंसतो। २. प्रा० पा०—मे। ३. प्रा० पा०—मरुणमभि०। ४. प्रा० पा०—ममाग्रे। ५. प्रा० पा०—भीत०। ६. प्रा० पा०—कुहानो रौद्रोऽसौ शून्यमिच्छति। ७. प्रा० पा०—दीप्ताः। ८. प्रा० पा०—तः सुमहां०।

दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः॥ २०
मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः।
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा॥ २१
इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः॥ २२
तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम्।
अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः॥ २३
विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम्॥ २४

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते।
मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः॥ २५
शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः।
मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः॥ २६
सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम्॥ २७
कच्चिद्राजाऽऽहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः॥ २८
आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः॥ २९
प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते भगवानुत॥ ३०
सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः॥ ३१

देवताओंकी मूर्तियाँ रो-सी रही हैं, उनमेंसे पसीना चूने लगता है और वे हिलती-डोलती भी हैं। भाई! ये देश, गाँव, शहर, बगीचे, खानें और आश्रम श्रीहीन और आनन्दरहित हो गये हैं। पता नहीं ये हमारे किस दुःखकी सूचना दे रहे हैं॥ २० ॥ इन बड़े-बड़े उत्पातोंको देखकर मैं तो ऐसा समझता हूँ कि निश्चय ही यह भाग्यहीना भूमि भगवान्‌के उन चरण-कमलोंसे, जिनका सौन्दर्य तथा जिनके ध्वजा, वज्र अंकुशादि-विलक्षण चिह्न और किसीमें भी कहीं भी नहीं हैं, रहित हो गयी है॥ २१ ॥ शौनकजी! राजा युधिष्ठिर इन भयंकर उत्पातोंको देखकर मन-ही-मन चिन्तित हो रहे थे कि द्वारकासे लौटकर अर्जुन आये॥ २२ ॥ युधिष्ठिरने देखा, अर्जुन इतने आतुर हो रहे हैं जितने पहले कभी नहीं देखे गये थे। मुँह लटका हुआ है, कमल-सरीखे नेत्रोंसे आँसू बह रहे हैं और शरीरमें बिलकुल कान्ति नहीं है। उनको इस रूपमें अपने चरणोंमें पड़ा देखकर युधिष्ठिर घबरा गये। देवर्षि नारदकी बातें याद करके उन्होंने सुहृदोंके सामने ही अर्जुनसे पूछा॥ २३-२४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—'भाई! द्वारकापुरीमें हमारे स्वजन-सम्बन्धी मधु, भोज, दशार्ह, आर्ह, सात्वत, अन्धक और वृष्णिवंशी यादव कुशलसे तो हैं?॥ २५ ॥ हमारे माननीय नाना शूरसेनजी प्रसन्न हैं? अपने छोटे भाईसहित मामा वसुदेवजी तो कुशलपूर्वक हैं?॥ २६ ॥ उनकी पत्नियाँ हमारी मामी देवकी आदि सातों बहिनें अपने पुत्रों और बहुओंके साथ आनन्दसे तो हैं?॥ २७ ॥ जिनका पुत्र कंस बड़ा ही दुष्ट था, वे राजा उग्रसेन अपने छोटे भाई देवकके साथ जीवित तो हैं न? हृदीक, उनके पुत्र कृतवर्मा, अक्रूर, जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित् आदि यादववीर सकुशल हैं न? यादवोंके प्रभु बलरामजी तो आनन्दसे हैं?॥ २८-२९ ॥ वृष्णिवंशके सर्वश्रेष्ठ महारथी प्रद्युम्न सुखसे तो हैं? युद्धमें बड़ी फुर्ती दिखलानेवाले भगवान् अनिरुद्ध आनन्दसे हैं न?॥ ३० ॥ सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवतीनन्दन साम्ब और अपने पुत्रोंके सहित ऋषभ आदि भगवान् श्रीकृष्णके अन्य सब पुत्र भी प्रसन्न हैं न?॥ ३१ ॥

तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः॥ ३२
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः॥ ३३
भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः।
कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः॥ ३४
मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान्॥ ३५
यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव॥ ३६
यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः।
निर्जित्य संख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः॥ ३७
यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात्
सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम्॥ ३८
कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः॥ ३९
कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः।
न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम्॥ ४०
कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम्।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः॥ ४१

भगवान् श्रीकृष्णके सेवक श्रुतदेव, उद्धव आदि और दूसरे सुनन्द-नन्द आदि प्रधान यदुवंशी, जो भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके बाहुबलसे सुरक्षित हैं, सब-के-सब सकुशल हैं न? हमसे अत्यन्त प्रेम करनेवाले वे लोग कभी हमारा कुशल-मंगल भी पूछते हैं?॥ ३२-३३॥

भक्तवत्सल ब्राह्मणभक्त भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वजनोंके साथ द्वारकाकी सुधर्मा सभामें सुखपूर्वक विराजते हैं न?॥ ३४॥ वे आदिपुरुष बलरामजीके साथ संसारके परम मंगल, परम कल्याण और उन्नतिके लिये यदुवंशरूप क्षीरसागरमें विराजमान हैं। उन्हींके बाहुबलसे सुरक्षित द्वारकापुरीमें यदुवंशीलोग सारे संसारके द्वारा सम्मानित होकर बड़े आनन्दसे विष्णुभगवान्‌के पार्षदोंके समान विहार कर रहे हैं॥ ३५-३६॥ सत्यभामा आदि सोलह हजार रानियाँ प्रधानरूपसे उनके चरणकमलोंकी सेवामें ही रत रहकर उनके द्वारा युद्धमें इन्द्रादि देवताओंको भी हराकर इन्द्राणीके भोगयोग्य तथा उन्हींकी अभीष्ट पारिजातादि वस्तुओंका उपभोग करती हैं॥ ३७॥ यदुवंशी वीर श्रीकृष्णके बाहुदण्डके प्रभावसे सुरक्षित रहकर निर्भय रहते हैं और बलपूर्वक लायी हुई बड़े-बड़े देवताओंके बैठने योग्य सुधर्मा सभाको अपने चरणोंसे आक्रान्त करते हैं॥ ३८॥

भाई अर्जुन! यह भी बताओ कि तुम स्वयं तो कुशलसे हो न? मुझे तुम श्रीहीन-से दीख रहे हो; वहाँ बहुत दिनोंतक रहे, कहीं तुम्हारे सम्मानमें तो किसी प्रकारकी कमी नहीं हुई? किसीने तुम्हारा अपमान तो नहीं कर दिया?॥ ३९॥ कहीं किसीने दुर्भावपूर्ण अमंगल शब्द आदिके द्वारा तुम्हारा चित्त तो नहीं दुखाया? अथवा किसी आशासे तुम्हारे पास आये हुए याचकोंको उनकी माँगी हुई वस्तु अथवा अपनी ओरसे कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके भी तुम नहीं दे सके?॥ ४०॥ तुम सदा शरणागतोंकी रक्षा करते आये हो; कहीं किसी भी ब्राह्मण, बालक, गौ, बूढ़े, रोगी, अबला अथवा अन्य किसी प्राणीका, जो तुम्हारी शरणमें आया हो, तुमने त्याग तो नहीं कर दिया?॥ ४१॥

कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम्।
पराजितो वाथ भवान्नोत्तमैर्नासमैः पथि॥ ४२

कहीं तुमने अगम्या स्त्रीसे समागम तो नहीं किया? अथवा गमन करनेयोग्य स्त्रीके साथ असत्कारपूर्वक समागम तो नहीं किया? कहीं मार्गमें अपनेसे छोटे अथवा बराबरीवालोंसे हार तो नहीं गये?॥ ४२॥

अपि स्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान्।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित्कृतवान्न यदक्षमम्॥ ४३

अथवा भोजन करानेयोग्य बालक और बूढ़ोंको छोड़कर तुमने अकेले ही तो भोजन नहीं कर लिया? मेरा विश्वास है कि तुमने ऐसा कोई निन्दित काम तो नहीं किया होगा, जो तुम्हारे योग्य न हो॥ ४३॥ हो-न-हो अपने परम प्रियतम अभिन्नहृदय परम सुहृद् भगवान् श्रीकृष्णसे तुम रहित हो गये हो। इसीसे अपनेको शून्य मान रहे हो। इसके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं हो सकता, जिससे तुमको इतनी मानसिक पीड़ा हो॥ ४४॥

कच्चित् प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना।
शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक्॥ ४४

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
युधिष्ठिरवितर्को नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

कृष्णविरहव्यथित पाण्डवोंका परीक्षित्को राज्य देकर स्वर्ग सिधारना

सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञाऽऽविकल्पितः।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः॥ १

शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः।
विभुं तमेवानुध्यायन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम्॥ २

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनाऽऽमृज्य नेत्रयोः।
परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः॥ ३

सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन्।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा॥ ४

सूतजी कहते हैं— भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा अर्जुन एक तो पहले ही श्रीकृष्णके विरहसे कृश हो रहे थे, उसपर राजा युधिष्ठिरने उनकी विषादग्रस्त मुद्रा देखकर उसके विषयमें कई प्रकारकी आशंकाएँ करते हुए प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी॥ १॥ शोकसे अर्जुनका मुख और हृदय-कमल सूख गया था, चेहरा फीका पड़ गया था। वे उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें ऐसे डूब रहे थे कि बड़े भाईके प्रश्नोंका कुछ भी उत्तर न दे सके॥ २॥ श्रीकृष्णकी आँखोंसे ओझल हो जानेके कारण वे बढ़ी हुई प्रेमजनित उत्कण्ठाके परवश हो रहे थे। रथ हाँकने, टहलने आदिके समय भगवान्ने उनके साथ जो मित्रता, अभिन्नहृदयता और प्रेमसे भरे हुए व्यवहार किये थे, उनकी याद-पर-याद आ रही थी; बड़े कष्टसे उन्होंने अपने शोकका वेग रोका, हाथसे नेत्रोंके आँसू पोंछे और फिर रुँधे हुए गलेसे अपने बड़े भाई महाराज युधिष्ठिरसे कहा॥ ३—४॥

अर्जुन उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत्॥ ५

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा॥ ६

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम्।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा॥ ७

यत्संनिधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते॥ ८

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थे
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते॥ ९

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम्।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यैस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः॥ १०

अर्जुन बोले—महाराज! मेरे ममेरे भाई अथवा अत्यन्त घनिष्ठ मित्रका रूप धारणकर श्रीकृष्णने मुझे ठग लिया। मेरे जिस प्रबल पराक्रमसे बड़े-बड़े देवता भी आश्चर्यमें डूब जाते थे, उसे श्रीकृष्णने मुझसे छीन लिया॥ ५॥

जैसे यह शरीर प्राणसे रहित होनेपर मृतक कहलाता है, वैसे ही उनके क्षणभरके वियोगसे यह संसार अप्रिय दीखने लगता है॥ ६॥

उनके आश्रयसे द्रौपदी-स्वयंवरमें राजा द्रुपदके घर आये हुए कामोन्मत्त राजाओंका तेज मैंने हरण कर लिया, धनुषपर बाण चढ़ाकर मत्स्यवेध किया और इस प्रकार द्रौपदीको प्राप्त किया था॥ ७॥

उनकी सन्निधिमात्रसे मैंने समस्त देवताओंके साथ इन्द्रको अपने बलसे जीतकर अग्निदेवको उनकी तृप्तिके लिये खाण्डव वनका दान कर दिया और मय दानवकी निर्माण की हुई, अलौकिक कलाकौशलसे युक्त मायामयी सभा प्राप्त की और आपके यज्ञमें सब ओरसे आ-आकर राजाओंने अनेकों प्रकारकी भेंटें समर्पित कीं॥ ८॥

दस हजार हाथियोंकी शक्ति और बलसे सम्पन्न आपके इन छोटे भाई भीमसेनने उन्हींकी शक्तिसे राजाओंके सिरपर पैर रखनेवाले अभिमानी जरासन्धका वध किया था; तदनन्तर उन्हीं भगवान्ने उन बहुत-से राजाओंको मुक्त किया, जिनको जरासन्धने महाभैरव-यज्ञमें बलि चढ़ानेके लिये बंदी बना रखा था। उन सब राजाओंने आपके यज्ञमें अनेकों प्रकारके उपहार दिये थे॥ ९॥

महारानी द्रौपदी राजसूय यज्ञके महान् अभिषेकसे पवित्र हुए अपने उन सुन्दर केशोंको, जिन्हें दुष्टोंने भरी सभामें छूनेका साहस किया था, बिखेरकर तथा आँखोंमें आँसू भरकर जब श्रीकृष्णके चरणोंमें गिर पड़ी, तब उन्होंने उसके सामने उसके उस घोर अपमानका बदला लेनेकी प्रतिज्ञा करके उन धूर्तोंकी स्त्रियोंकी ऐसी दशा कर दी कि वे विधवा हो गयीं और उन्हें अपने केश अपने हाथों खोल देने पड़े॥ १०॥

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग् यः।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः॥ ११

वनवासके समय हमारे वैरी दुर्योधनके षड्यन्त्रसे दस हजार शिष्योंको साथ बिठाकर भोजन करनेवाले महर्षि दुर्वासाने हमें दुस्तर संकटमें डाल दिया था। उस समय उन्होंने द्रौपदीके पात्रमें बची हुई शाककी एक पत्तीका ही भोग लगाकर हमारी रक्षा की। उनके ऐसा करते ही नदीमें स्नान करती हुई मुनिमण्डलीको ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनकी तो बात ही क्या, सारी त्रिलोकी ही तृप्त हो गयी है*॥ ११॥

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम्॥ १२

उनके प्रतापसे मैंने युद्धमें पार्वतीसहित भगवान् शंकरको आश्चर्यमें डाल दिया तथा उन्होंने मुझको अपना पाशुपत नामक अस्त्र दिया; साथ ही दूसरे लोकपालोंने भी प्रसन्न होकर अपने-अपने अस्त्र मुझे दिये। और तो क्या, उनकी कृपासे मैं इसी शरीरसे स्वर्गमें गया और देवराज इन्द्रकी सभामें उनके बराबर आधे आसनपर बैठनेका सम्मान मैंने प्राप्त किया॥ १२॥

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना॥ १३

उनके आग्रहसे जब मैं स्वर्गमें ही कुछ दिनोंतक रह गया, तब इन्द्रके साथ समस्त देवताओंने मेरी इन्हीं गाण्डीव धारण करनेवाली भुजाओंका निवातकवच आदि दैत्योंको मारनेके लिये आश्रय लिया। महाराज! यह सब जिनकी महती कृपाका फल था, उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने मुझे आज ठग लिया?॥ १३॥

---

* एक बार राजा दुर्योधनने महर्षि दुर्वासाकी बड़ी सेवा की। उससे प्रसन्न होकर मुनिने दुर्योधनसे वर माँगनेको कहा। दुर्योधनने यह सोचकर कि ऋषिके शापसे पाण्डवोंको नष्ट करनेका अच्छा अवसर है, मुनिसे कहा—''ब्रह्मन्! हमारे कुलमें युधिष्ठिर प्रधान हैं, आप अपने दस सहस्र शिष्योंसहित उनका आतिथ्य स्वीकार करें। किंतु आप उनके यहाँ उस समय जायँ जबकि द्रौपदी भोजन कर चुकी हो, जिससे उसे भूखका कष्ट न उठाना पड़े।'' द्रौपदीके पास सूर्यकी दी हुई एक ऐसी बटलोई थी, जिसमें सिद्ध किया हुआ अन्न द्रौपदीके भोजन कर लेनेसे पूर्व शेष नहीं होता था; किन्तु उसके भोजन करनेके बाद वह समाप्त हो जाता था। दुर्वासाजी दुर्योधनके कथनानुसार उसके भोजन कर चुकनेपर मध्याह्नमें अपनी शिष्यमण्डलीसहित पहुँचे और धर्मराजसे बोले—''हम नदीपर स्नान करने जाते हैं, तुम हमारे लिये भोजन तैयार रखना।'' इससे द्रौपदीको बड़ी चिन्ता हुई और उसने अति आर्त होकर आर्तबन्धु भगवान् श्रीकृष्णकी शरण ली। भगवान् तुरंत ही अपना विलासभवन छोड़कर द्रौपदीकी झोंपड़ीपर आये और उससे बोले—''कृष्णे! आज बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको दो।'' द्रौपदी भगवान्‌की इस अनुपम दयासे गद्गद हो गयी और बोली,''प्रभो! मेरा बड़ा भाग्य है, जो आज विश्वम्भरने मुझसे भोजन माँगा; परन्तु क्या करूँ? अब तो कुटीमें कुछ भी नहीं है।'' भगवान्‌ने कहा—''अच्छा, वह पात्र तो लाओ; उसमें कुछ होगा ही।'' द्रौपदी बटलोई ले आयी; उसमें कहीं शाकका एक कण लगा था। विश्वात्मा हरिने उसीको भोग लगाकर त्रिलोकीको तृप्त कर दिया और भीमसेनसे कहा कि मुनिमण्डलीको भोजनके लिये बुला लाओ। किन्तु मुनिगण तो पहले ही तृप्त होकर भाग गये थे। (महाभारत)

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतार्यसत्त्वम्।
प्रत्याहृतं बहु[1] धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः॥ १४

महाराज! कौरवोंकी सेना भीष्म-द्रोण आदि अजेय महामत्स्योंसे पूर्ण अपार समुद्रके समान दुस्तर थी, परंतु उनका आश्रय ग्रहण करके अकेले ही रथपर सवार हो मैं उसे पार कर गया। उन्हींकी सहायतासे, आपको याद होगा, मैंने शत्रुओंसे राजा विराटका सारा गोधन तो वापस ले ही लिया, साथ ही उनके सिरोंपरसे चमकते हुए मणिमय मुकुट तथा अंगोंके अलंकारतक छीन लिये थे॥ १४॥

यो भीष्मकर्णगुरु[2]शल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज[3] आर्च्छत्॥ १५

भाईजी! कौरवोंकी सेना भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य तथा अन्य बड़े-बड़े राजाओं और क्षत्रिय वीरोंके रथोंसे शोभायमान थी। उसके सामने मेरे आगे-आगे चलकर वे अपनी दृष्टिसे ही उन महारथी यूथपतियोंकी आयु, मन, उत्साह और बलको छीन लिया करते थे॥ १५॥

यद्दोष्षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नो पस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि॥ १६

द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लीक आदि वीरोंने मुझपर अपने कभी न चूकनेवाले अस्त्र चलाये थे; परंतु जैसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंके अस्त्र-शस्त्र भगवद्भक्त प्रह्लादका स्पर्श नहीं करते थे, वैसे ही उनके शस्त्रास्त्र मुझे छूतक नहीं सके। यह श्रीकृष्णके भुजदण्डोंकी छत्रछायामें रहनेका ही प्रभाव था॥ १६॥

सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः॥ १७

श्रेष्ठ पुरुष संसारसे मुक्त होनेके लिये जिनके चरणकमलोंका सेवन करते हैं, अपने-आपतकको दे डालनेवाले उन भगवान्‌को मुझ दुर्बुद्धिने सारथितक बना डाला। अहा! जिस समय मेरे घोड़े थक गये थे और मैं रथसे उतरकर पृथ्वीपर खड़ा था, उस समय बड़े-बड़े महारथी शत्रु भी मुझपर प्रहार न कर सके; क्योंकि श्रीकृष्णके प्रभावसे उनकी बुद्धि मारी गयी थी॥ १७॥

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति।
संजल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य॥ १८

महाराज! माधवके उन्मुक्त और मधुरमुसकानसे युक्त, विनोदभरे एवं हृदयस्पर्शी वचन और उनका मुझे 'पार्थ, अर्जुन, सखा, कुरुनन्दन' आदि कहकर पुकारना, मुझे याद आनेपर मेरे हृदयमें उथल-पुथल मचा देते हैं॥ १८॥

---

१. प्रा० पा०—पुरु। २. प्रा० पा०—कृप। ३. प्रा० पा०—सह उज्जहार।

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे॥ १९

सोने, बैठने, टहलने और अपने सम्बन्धमें बड़ी-बड़ी बातें करने तथा भोजन आदि करनेमें हम प्रायः एक साथ रहा करते थे। किसी-किसी दिन मैं व्यंग्यसे उन्हें कह बैठता, 'मित्र! तुम तो बड़े सत्यवादी हो!' उस समय भी वे महापुरुष अपनी महानुभावताके कारण, जैसे मित्र अपने मित्रका और पिता अपने पुत्रका अपराध सह लेता है उसी प्रकार, मुझ दुर्बुद्धिके अपराधोंको सह लिया करते थे॥ १९॥

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि॥ २०

महाराज! जो मेरे सखा, प्रिय मित्र—नहीं-नहीं मेरे हृदय ही थे, उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान्‌से मैं रहित हो गया हूँ। भगवान्‌की पत्नियोंको द्वारकासे अपने साथ ला रहा था, परंतु मार्गमें दुष्ट गोपोंने मुझे एक अबलाकी भाँति हरा दिया और मैं उनकी रक्षा नहीं कर सका॥ २०॥

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥ २१

वही मेरा गाण्डीव धनुष है, वे ही बाण हैं, वही रथ है, वही घोड़े हैं और वही मैं रथी अर्जुन हूँ, जिसके सामने बड़े-बड़े राजालोग सिर झुकाया करते थे। श्रीकृष्णके बिना ये सब एक ही क्षणमें नहींके समान सारशून्य हो गये—ठीक उसी तरह, जैसे भस्ममें डाली हुई आहुति, कपटभरी सेवा और ऊसरमें बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है॥ २१॥

राजंस्त्वयाभिपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः॥ २२

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम्।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः॥ २३

राजन्! आपने द्वारकावासी अपने जिन सुहृद्-सम्बन्धियोंकी बात पूछी है, वे ब्राह्मणोंके शापवश मोहग्रस्त हो गये और वारुणी मदिराके पानसे मदोन्मत्त होकर अपरिचितोंकी भाँति आपसमें ही एक-दूसरेसे भिड़ गये और घूँसोंसे मार-पीट करके सब-के-सब नष्ट हो गये। उनमेंसे केवल चार-पाँच ही बचे हैं॥ २२-२३॥

प्रायेणैतद् भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम्।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः॥ २४

वास्तवमें यह सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की ही लीला है कि संसारके प्राणी परस्पर एक-दूसरेका पालन-पोषण भी करते हैं और एक-दूसरेको मार भी डालते हैं॥ २४॥

जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः।
दुर्बलान्बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः॥ २५

एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः।
यदून् यदुभिरन्योन्यं भूभारान् संजहार ह॥ २६

राजन्! जिस प्रकार जलचरोंमें बड़े जन्तु छोटोंको, बलवान् दुर्बलोंको एवं बड़े और बलवान् भी परस्पर एक-दूसरेको खा जाते हैं, उसी प्रकार अतिशय बली और बड़े यदुवंशियोंके द्वारा भगवान्‌ने दूसरे राजाओंका संहार कराया। तत्पश्चात् यदुवंशियोंके द्वारा ही एकसे दूसरे यदुवंशीका नाश कराके पूर्णरूपसे पृथ्वीका भार उतार दिया॥ २५-२६॥

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे॥ २७

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम्।
सौहार्देनातिगाढेन शान्ताऽऽसीद्विमला मतिः॥ २८
वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा।
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः॥ २९
गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत् सङ्ग्राममूर्धनि।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद् विभुः॥ ३०
विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः॥ ३१
निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः॥ ३२
पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम्।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः॥ ३३
ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम्॥ ३४
यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥ ३५
यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत॥ ३६

भगवान् श्रीकृष्णने मुझे जो शिक्षाएँ दी थीं, वे देश, काल और प्रयोजनके अनुरूप तथा हृदयके तापको शान्त करनेवाली थीं; स्मरण आते ही वे हमारे चित्तका हरण कर लेती हैं॥ २७॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार प्रगाढ़ प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका चिन्तन करते-करते अर्जुनकी चित्तवृत्ति अत्यन्त निर्मल और प्रशान्त हो गयी॥ २८॥ उनकी प्रेममयी भक्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके अहर्निश चिन्तनसे अत्यन्त बढ़ गयी। भक्तिके वेगने उनके हृदयको मथकर उसमेंसे सारे विकारोंको बाहर निकाल दिया॥ २९॥ उन्हें युद्धके प्रारम्भमें भगवान्‌के द्वारा उपदेश किया हुआ गीता-ज्ञान पुनः स्मरण हो आया, जिसकी कालके व्यवधान और कर्मोंके विस्तारके कारण प्रमादवश कुछ दिनोंके लिये विस्मृति हो गयी थी॥ ३०॥ ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिसे मायाका आवरण भंग होकर गुणातीत अवस्था प्राप्त हो गयी। द्वैतका संशय निवृत्त हो गया। सूक्ष्मशरीर भंग हुआ। वे शोक एवं जन्म-मृत्युके चक्रसे सर्वथा मुक्त हो गये॥ ३१॥

भगवान्‌के स्वधामगमन और यदुवंशके संहारका वृत्तान्त सुनकर निश्चलमति युधिष्ठिरने स्वर्गारोहणका निश्चय किया॥ ३२॥ कुन्तीने भी अर्जुनके मुखसे यदुवंशियोंके नाश और भगवान्‌के स्वधामगमनकी बात सुनकर अनन्य भक्तिसे अपने हृदयको भगवान् श्रीकृष्णमें लगा दिया और सदाके लिये इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे अपना मुँह मोड़ लिया॥ ३३॥ भगवान् श्रीकृष्णने लोकदृष्टिमें जिस यादवशरीरसे पृथ्वीका भार उतारा था, उसका वैसे ही परित्याग कर दिया, जैसे कोई काँटेसे काँटा निकालकर फिर दोनोंको फेंक दे। भगवान्‌की दृष्टिमें दोनों ही समान थे॥ ३४॥ जैसे वे नटके समान मत्स्यादि रूप धारण करते हैं और फिर उनका त्याग कर देते हैं, वैसे ही उन्होंने जिस यादवशरीरसे पृथ्वीका भार दूर किया था, उसे त्याग भी दिया॥ ३५॥ जिनकी मधुर लीलाएँ श्रवण करनेयोग्य हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णने जब अपने मनुष्यके-से शरीरसे इस पृथ्वीका परित्याग कर दिया, उसी दिन विचारहीन लोगोंको अधर्ममें फँसानेवाला कलियुग आ धमका॥ ३६॥

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथाऽऽत्मनि।
विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात्॥ ३७

स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये॥ ३८

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः॥ ३९

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम्।
निर्ममो निरहङ्कारः संछिन्नाशेषबन्धनः॥ ४०

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम्।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्॥ ४१

त्रित्वे हुत्वाथ पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमात्मन्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये॥ ४२

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ् मुक्तमूर्धजः।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ ४३

अनपेक्षमाणो निरगादशृण्वन्बधिरो यथा।
उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः॥ ४४

सर्वे तमनु निर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि॥ ४५

महाराज युधिष्ठिरसे कलियुगका फैलना छिपा न रहा। उन्होंने देखा—देशमें, नगरमें, घरोंमें और प्राणियोंमें लोभ, असत्य, छल, हिंसा आदि अधर्मोंकी बढ़ती हो गयी है। तब उन्होंने महाप्रस्थानका निश्चय किया॥ ३७॥ उन्होंने अपने विनयी पौत्र परीक्षित्‌को, जो गुणोंमें उन्हींके समान थे, समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वीके सम्राट् पदपर हस्तिनापुरमें अभिषिक्त किया॥ ३८॥ उन्होंने मथुरामें शूरसेनाधिपतिके रूपमें अनिरुद्धके पुत्र वज्रका अभिषेक किया। इसके बाद समर्थ युधिष्ठिरने प्राजापत्य यज्ञ करके आहवनीय आदि अग्नियोंको अपनेमें लीन कर दिया अर्थात् गृहस्थाश्रमके धर्मसे मुक्त होकर उन्होंने संन्यास ग्रहण किया॥ ३९॥ युधिष्ठिरने अपने सब वस्त्राभूषण आदि वहीं छोड़ दिये एवं ममता और अहंकारसे रहित होकर समस्त बन्धन काट डाले॥ ४०॥ उन्होंने दृढ़ भावनासे वाणीको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और अपानको उसकी क्रियाके साथ मृत्युमें तथा मृत्युको पंचभूतमय शरीरमें लीन कर लिया॥ ४१॥ इस प्रकार शरीरको मृत्युरूप अनुभव करके उन्होंने उसे त्रिगुणमें मिला दिया, त्रिगुणको मूल प्रकृतिमें, सर्वकारणरूपा प्रकृतिको आत्मामें और आत्माको अविनाशी ब्रह्ममें विलीन कर दिया। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि यह सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच ब्रह्मस्वरूप है॥ ४२॥ इसके पश्चात् उन्होंने शरीरपर चीर-वस्त्र धारण कर लिया, अन्न-जलका त्याग कर दिया, मौन ले लिया और केश खोलकर बिखेर लिये। वे अपने रूपको ऐसा दिखाने लगे जैसे कोई जड, उन्मत्त या पिशाच हो॥ ४३॥ फिर वे बिना किसीकी बाट देखे तथा बहरेकी तरह बिना किसीकी बात सुने, घरसे निकल पड़े। हृदयमें उस परब्रह्मका ध्यान करते हुए, जिसको प्राप्त करके फिर लौटना नहीं होता, उन्होंने उत्तर दिशाकी यात्रा की, जिस ओर पहले बड़े-बड़े महात्माजन जा चुके हैं॥ ४४॥

भीमसेन, अर्जुन आदि युधिष्ठिरके छोटे भाइयोंने भी देखा कि अब पृथ्वीमें सभी लोगोंको अधर्मके सहायक कलियुगने प्रभावित कर डाला है; इसलिये वे भी श्रीकृष्णचरणोंकी प्राप्तिका दृढ़ निश्चय करके अपने बड़े भाईके पीछे-पीछे चल पड़े॥ ४५॥

ते साधुकृतसर्वार्था[1] ज्ञात्वाऽऽत्यन्तिकमात्मनः।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम्॥ ४६

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे।
तस्मिन् नारायणपदे एकान्तमतयो[2] गतिम्॥ ४७

अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः।
विधूतकल्मषास्थाने विरजेनात्मनैव हि॥ ४८

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मवान्[3]।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ॥ ४९

द्रौपदी च तदाऽऽज्ञाय पतीनामनपेक्षताम्।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम्॥ ५०

यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणां
पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम्।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम्॥ ५१

उन्होंने जीवनके सभी लाभ भलीभाँति प्राप्त कर लिये थे; इसलिये यह निश्चय करके कि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमल ही हमारे परम पुरुषार्थ हैं, उन्होंने उन्हें हृदयमें धारण किया॥ ४६॥ पाण्डवोंके हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके ध्यानसे भक्ति-भाव उमड़ आया, उनकी बुद्धि सर्वथा शुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णके उस सर्वोत्कृष्ट स्वरूपमें अनन्यभावसे स्थिर हो गयी; जिसमें निष्पाप पुरुष ही स्थिर हो पाते हैं। फलतः उन्होंने अपने विशुद्ध अन्तःकरणसे स्वयं ही वह गति प्राप्त की, जो विषयासक्त दुष्ट मनुष्योंको कभी प्राप्त नहीं हो सकती॥ ४७-४८॥ संयमी एवं श्रीकृष्णके प्रेमावेशमें मुग्ध भगवन्मय विदुरजीने भी अपने शरीरको प्रभासक्षेत्रमें त्याग दिया। उस समय उन्हें लेनेके लिये आये हुए पितरोंके साथ वे अपने लोक (यमलोक)-को चले गये॥ ४९॥ द्रौपदीने देखा कि अब पाण्डवलोग निरपेक्ष हो गये हैं; तब वे अनन्यप्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णका ही चिन्तन करके उन्हें प्राप्त हो गयीं॥ ५०॥

भगवान्‌के प्यारे भक्त पाण्डवोंके महाप्रयाणकी इस परम पवित्र और मंगलमयी कथाको जो पुरुष श्रद्धासे सुनता है, वह निश्चय ही भगवान्‌की भक्ति और मोक्ष प्राप्त करता है॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
पाण्डवस्वर्गारोहणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

परीक्षित्‌की दिग्विजय तथा धर्म और पृथ्वीका संवाद

सूत उवाच

ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया
महीं महाभागवतः शशास ह।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा॥ १

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! पाण्डवोंके महाप्रयाणके पश्चात् भगवान्‌के परम भक्त राजा परीक्षित् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी शिक्षाके अनुसार पृथ्वीका शासन करने लगे। उनके जन्मके समय ज्योतिषियोंने उनके सम्बन्धमें जो कुछ कहा था, वास्तवमें वे सभी महान् गुण उनमें विद्यमान थे॥ १॥

१. प्रा० पा०—सत्त्वार्थाः। २. प्रा० पा०—गतयो। ३. प्रा० पा०—देहमात्मनः।

स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम्।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान्॥ २

आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान्।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः॥ ३

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित्।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा॥ ४

शौनक उवाच

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः।
नृदेवचिह्नधृक् शूद्रकोऽसौ गां यः पदाहनत्।
तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्[1]॥ ५

अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः॥ ६

क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम्।
इहोपहूतो भगवान् मृत्युः शामित्रकर्मणि॥ ७

न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदास्त इहान्तकः।
एतदर्थं हि भगवानाहूतः[2] परमर्षिभिः।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः॥ ८

मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः॥ ९

उन्होंने उत्तरकी पुत्री इरावतीसे विवाह किया। उससे उन्होंने जनमेजय आदि चार पुत्र उत्पन्न किये॥ २॥ तथा कृपाचार्यको आचार्य बनाकर उन्होंने गंगाके तटपर तीन अश्वमेधयज्ञ किये, जिनमें ब्राह्मणोंको पुष्कल दक्षिणा दी गयी। उन यज्ञोंमें देवताओंने प्रत्यक्षरूपमें प्रकट होकर अपना भाग ग्रहण किया था॥ ३॥ एक बार दिग्विजय करते समय उन्होंने देखा कि शूद्रके रूपमें कलियुग राजाका वेष धारण करके एक गाय और बैलके जोड़ेको ठोकरोंसे मार रहा है। तब उन्होंने उसे बलपूर्वक पकड़कर दण्ड दिया॥ ४॥

शौनकजीने पूछा—महाभाग्यवान् सूतजी! दिग्विजयके समय महाराज परीक्षित्‌ने कलियुगको दण्ड देकर ही क्यों छोड़ दिया—मार क्यों नहीं डाला? क्योंकि राजाका वेष धारण करनेपर भी था तो वह अधम शूद्र ही, जिसने गायको लातसे मारा था? यदि यह प्रसंग भगवान् श्रीकृष्णकी लीलासे अथवा उनके चरणकमलोंके मकरन्द-रसका पान करनेवाले रसिक महानुभावोंसे सम्बन्ध रखता हो तो अवश्य कहिये। दूसरी व्यर्थकी बातोंसे क्या लाभ। उनमें तो आयु व्यर्थ नष्ट होती है॥ ५-६॥

प्यारे सूतजी! जो लोग चाहते तो हैं मोक्ष परन्तु अल्पायु होनेके कारण मृत्युसे ग्रस्त हो रहे हैं, उनके कल्याणके लिये भगवान् यमका आवाहन करके उन्हें यहाँ शामित्रकर्ममें नियुक्त कर दिया गया है॥ ७॥ जबतक यमराज यहाँ इस कर्ममें नियुक्त हैं, तबतक किसीकी मृत्यु नहीं होगी। मृत्युसे ग्रस्त मनुष्यलोकके जीव भी भगवान्‌की सुधातुल्य लीला-कथाका पान कर सकें, इसीलिये महर्षियोंने भगवान् यमको यहाँ बुलाया है॥ ८॥ एक तो थोड़ी आयु और दूसरे कम समझ। ऐसी अवस्थामें संसारके मन्दभाग्य विषयी पुरुषोंकी आयु व्यर्थ ही बीती जा रही है—नींदमें रात और व्यर्थके कामोंमें दिन॥ ९॥

१. प्रा० पा०—विष्णु। २. प्रा० पा०—भगवानुपहूतो महर्षिभिः।

सूत उवाच

यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गलेऽवसन्
कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः
शरासनं संयुगशौण्डिराददे[1]॥ १०

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात्।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः॥ ११

भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून्।
किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम्॥ १२

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम्।
प्रगीयमाणं[2] च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम्॥ १३

आत्मानं च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः।
स्नेहं च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिं च केशवे॥ १४

तेभ्यः परमसंतुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः॥ १५

सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य-
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान्।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च[3] विष्णो-
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे॥ १६

सूतजीने कहा—जिस समय राजा परीक्षित् कुरुजांगल देशमें सम्राट्के रूपमें निवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने सुना कि मेरी सेनाद्वारा सुरक्षित साम्राज्यमें कलियुगका प्रवेश हो गया है। इस समाचारसे उन्हें दुःख तो अवश्य हुआ; परन्तु यह सोचकर कि युद्ध करनेका अवसर हाथ लगा, वे उतने दुःखी नहीं हुए। इसके बाद युद्धवीर परीक्षित्ने धनुष हाथमें ले लिया॥ १०॥ वे श्यामवर्णके घोड़ोंसे जुते हुए, सिंहकी ध्वजावाले, सुसज्जित रथपर सवार होकर दिग्विजय करनेके लिये नगरसे बाहर निकल पड़े। उस समय रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सेना उनके साथ-साथ चल रही थी॥ ११॥ उन्होंने भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तरकुरु और किम्पुरुष आदि सभी वर्षोंको जीतकर वहाँके राजाओंसे भेंट ली॥ १२॥ उन्हें उन देशोंमें सर्वत्र अपने पूर्वज महात्माओंका सुयश सुननेको मिला। उस यशोगानसे पद-पदपर भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा प्रकट होती थी॥ १३॥ इसके साथ ही उन्हें यह भी सुननेको मिलता था कि भगवान् श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे किस प्रकार उनकी रक्षा की थी, यदुवंशी और पाण्डवोंमें परस्पर कितना प्रेम था तथा पाण्डवोंकी भगवान् श्रीकृष्णमें कितनी भक्ति थी॥ १४॥ जो लोग उन्हें ये चरित्र सुनाते, उनपर महामना राजा परीक्षित् बहुत प्रसन्न होते; उनके नेत्र प्रेमसे खिल उठते। वे बड़ी उदारतासे उन्हें बहुमूल्य वस्त्र और मणियोंके हार उपहाररूपमें देते॥ १५॥ वे सुनते कि भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमपरवश होकर पाण्डवोंके सारथिका काम किया, उनके सभासद् बने—यहाँतक कि उनके मनके अनुसार काम करके उनकी सेवा भी की। उनके सखा तो थे ही, दूत भी बने। वे रातको शस्त्र ग्रहण करके वीरासनसे बैठ जाते और शिविरका पहरा देते, उनके पीछे-पीछे चलते, स्तुति करते तथा प्रणाम करते; इतना ही नहीं, अपने प्रेमी पाण्डवोंके चरणोंमें उन्होंने सारे जगतको झुका दिया। तब परीक्षित्की भक्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें और भी बढ़ जाती॥ १६॥

१. प्रा० पा०—शौण्ड आददे। २. प्रा० पा०—गीयमानं च पुरतः। ३. प्रा० पा०—स्म।

तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम्।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे॥ १७

इस प्रकार वे दिन-दिन पाण्डवोंके आचरणका अनुसरण करते हुए दिग्विजय कर रहे थे। उन्हीं दिनों उनके शिविरसे थोड़ी ही दूरपर एक आश्चर्यजनक घटना घटी। वह मैं आपको सुनाता हूँ॥ १७॥

धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम्।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम्॥ १८

धर्म बैलका रूप धारण करके एक पैरसे घूम रहा था। एक स्थानपर उसे गायके रूपमें पृथ्वी मिली। पुत्रकी मृत्युसे दुःखिनी माताके समान उसके नेत्रोंसे आँसुओंके झरने झर रहे थे। उसका शरीर श्रीहीन हो गया था। धर्म पृथ्वीसे पूछने लगा॥ १८॥

धर्म उवाच

कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
　विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं
　दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब॥ १९

धर्मने कहा—कल्याणि! कुशलसे तो हो न? तुम्हारा मुख कुछ-कुछ मलिन हो रहा है। तुम श्रीहीन हो रही हो, मालूम होता है तुम्हारे हृदयमें कुछ-न-कुछ दुःख अवश्य है। क्या तुम्हारा कोई सम्बन्धी दूर देशमें चला गया है, जिसके लिये तुम इतनी चिन्ता कर रही हो?॥ १९॥

पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपाद-
　मात्मानं वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणम्।
आहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान्
　प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति॥ २०

कहीं तुम मेरी तो चिन्ता नहीं कर रही हो कि अब इसके तीन पैर टूट गये, एक ही पैर रह गया है? सम्भव है, तुम अपने लिये शोक कर रही हो कि अब शूद्र तुम्हारे ऊपर शासन करेंगे। तुम्हें इन देवताओंके लिये भी खेद हो सकता है, जिन्हें अब यज्ञोंमें आहुति नहीं दी जाती, अथवा उस प्रजाके लिये भी, जो वर्षा न होनेके कारण अकाल एवं दुर्भिक्षसे पीड़ित हो रही है॥ २०॥

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान्
　शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान्।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
　ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान्॥ २१

देवि! क्या तुम राक्षस-सरीखे मनुष्योंके द्वारा सतायी हुई अरक्षित स्त्रियों एवं आर्तबालकोंके लिये शोक कर रही हो? सम्भव है, विद्या अब कुकर्मी-ब्राह्मणोंके चंगुलमें पड़ गयी है और ब्राह्मण विप्रद्रोही राजाओंकी सेवा करने लगे हैं, और इसीका तुम्हें दुःख हो॥ २१॥

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान्
　राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि।
इतस्ततो वाशनपानवासः-
　स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम्॥ २२

आजके नाममात्रके राजा तो सोलहों आने कलियुगी हो गये हैं, उन्होंने बड़े-बड़े देशोंको भी उजाड़ डाला है। क्या तुम उन राजाओं या देशोंके लिये शोक कर रही हो? आजकी जनता खान-पान, वस्त्र, स्नान और स्त्री-सहवास आदिमें शास्त्रीय नियमोंका पालन न करके स्वेच्छाचार कर रही है; क्या इसके लिये तुम दुःखी हो?॥ २२॥

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार-
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि॥ २३

इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्शितासि।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा
सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम्॥ २४

धरण्युवाच[1]

भवान्[2] हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्मानुपृच्छसि।
चतुर्भिर्वर्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः॥ २५

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः[3] सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥ २६

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं[4] स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं[5] मार्दवमेव च॥ २७

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥ २८

एते[6] चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥ २९

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम्।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम्॥ ३०

आत्मानं चानुशोचामि भवन्तं चामरोत्तमम्।
देवान् पितॄनृषीन् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथाऽऽश्रमान्॥ ३१

मा पृथ्वी! अब समझमें आया, हो-न-हो तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णकी याद आ रही होगी; क्योंकि उन्होंने तुम्हारा भार उतारनेके लिये ही अवतार लिया था और ऐसी लीलाएँ की थीं, जो मोक्षका भी अवलम्बन हैं। अब उनके लीला-संवरण कर लेनेपर उनके परित्यागसे तुम दुःखी हो रही हो॥ २३॥ देवि! तुम तो धन-रत्नोंकी खान हो। तुम अपने क्लेशका कारण, जिससे तुम इतनी दुर्बल हो गयी हो, मुझे बतलाओ। मालूम होता है, बड़े-बड़े बलवानोंको भी हरा देनेवाले कालने देवताओंके द्वारा वन्दनीय तुम्हारे सौभाग्यको छीन लिया है॥ २४॥

पृथ्वीने कहा—धर्म! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब स्वयं जानते हो। जिन भगवान्‌के सहारे तुम सारे संसारको सुख पहुँचानेवाले अपने चारों चरणोंसे युक्त थे, जिनमें सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहंकारता—ये उनतालीस अप्राकृत गुण तथा महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंके द्वारा वाञ्छनीय (शरणागतवत्सलता आदि) और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते—उन्हीं समस्त गुणोंके आश्रय, सौन्दर्यधाम भगवान् श्रीकृष्णने इस समय इस लोकसे अपनी लीला संवरण कर ली और यह संसार पापमय कलियुगकी कुदृष्टिका शिकार हो गया। यही देखकर मुझे बड़ा शोक हो रहा है॥ २५—३०॥ अपने लिये, देवताओंमें श्रेष्ठ तुम्हारे लिये, देवता, पितर, ऋषि, साधु और समस्त वर्णों तथा आश्रमोंके मनुष्योंके लिये मैं शोकग्रस्त हो रही हूँ॥ ३१॥

१. प्रा० पा०—धरोवाच। २. प्रा० पा०—भवानेव हि तद्वेद यन्मां। ३. प्रा० पा०—दानं त्यागः। ४. प्रा० पा०—धृतिः। ५. प्रा० पा०—कान्तिः सौभाग्यं मार्दवं क्षमा। ६. प्रा० पा०—इमे।

ब्रह्मादयो बहुतिथं[1] यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः[2] समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥ ३२

तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो[3] विभूतिं
लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते॥ ३३

जिनका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मा आदि देवता भगवान्के शरणागत होकर बहुत दिनोंतक तपस्या करते रहे, वही लक्ष्मीजी अपने निवासस्थान कमलवनका परित्याग करके बड़े प्रेमसे जिनके चरणकमलोंकी सुभग छत्रछायाका सेवन करती हैं, उन्हीं भगवान्के कमल, वज्र, अंकुश, ध्वजा आदि चिह्नोंसे युक्त श्रीचरणोंसे विभूषित होनेके कारण मुझे महान् वैभव प्राप्त हुआ था और मेरी तीनों लोकोंसे बढ़कर शोभा हुई थी; परन्तु मेरे सौभाग्यका अब अन्त हो गया! भगवान्ने मुझ अभागिनीको छोड़ दिया! मालूम होता है मुझे अपने सौभाग्यपर गर्व हो गया था, इसीलिये उन्होंने मुझे यह दण्ड दिया है॥ ३२-३३॥

यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः।
त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन् यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम्॥ ३४

का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्किताया:॥ ३५

तुम अपने तीन चरणोंके कम हो जानेसे मन-ही-मन कुढ़ रहे थे; अतः अपने पुरुषार्थसे तुम्हें अपने ही अन्दर पुनः सब अंगोंसे पूर्ण एवं स्वस्थ कर देनेके लिये वे अत्यन्त रमणीय श्यामसुन्दर विग्रहसे यदुवंशमें प्रकट हुए और मेरे बड़े भारी भारको, जो असुरवंशी राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणियोंके रूपमें था, नष्ट कर डाला। क्योंकि वे परम स्वतन्त्र थे॥ ३४॥ जिन्होंने अपनी प्रेमभरी चितवन, मनोहर मुसकान और मीठी-मीठी बातोंसे सत्यभामा आदि मधुमयी मानिनियोंके मानके साथ धीरजको भी छीन लिया था और जिनके चरणकमलोंके स्पर्शसे मैं निरन्तर आनन्दसे पुलकित रहती थी, उन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका विरह भला कौन सह सकती है॥ ३५॥

तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा।
परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम्॥ ३६

धर्म और पृथ्वी इस प्रकार आपसमें बातचीत कर ही रहे थे कि उसी समय राजर्षि परीक्षित् पूर्ववाहिनी सरस्वतीके तटपर आ पहुँचे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
पृथ्वीधर्मसंवादो[4] नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

---

१. प्रा० पा०—यदनिशं। २. प्रा० पा०—तपोव्रतधरा भगव०। ३. प्रा० पा०—तपोविभूतिं। ४. प्रा० पा०—पारिक्षिते षोड०।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्‌द्वारा कलियुगका दमन

सूत उवाच

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम्॥ १

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्[1]॥ २

गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्।
विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां[2] यवसमिच्छतीम्॥ ३

पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम्।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः॥ ४

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली।
नरदेवोऽसि वेषेण नटवत्कर्मणाद्विजः॥ ५

यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि॥ ६

त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन्।
वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन्॥ ७

न जातु पौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः॥ ८

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! वहाँ पहुँचकर राजा परीक्षित्‌ने देखा कि एक राजवेषधारी शूद्र हाथमें डंडा लिये हुए है और गाय-बैलके एक जोड़ेको इस तरह पीटता जा रहा है, जैसे उनका कोई स्वामी ही न हो॥ १॥ वह कमलतन्तुके समान श्वेत रंगका बैल एक पैरसे खड़ा काँप रहा था तथा शूद्रकी ताड़नासे पीड़ित और भयभीत होकर मूत्र-त्याग कर रहा था॥ २॥ धर्मोपयोगी दूध, घी आदि हविष्य पदार्थोंको देनेवाली वह गाय भी बार-बार शूद्रके पैरोंकी ठोकरें खाकर अत्यन्त दीन हो रही थी। एक तो वह स्वयं ही दुबली-पतली थी, दूसरे उसका बछड़ा भी उसके पास नहीं था। उसे भूख लगी हुई थी और उसकी आँखोंसे आँसू बहते जा रहे थे॥ ३॥ स्वर्णजटित रथपर चढ़े हुए राजा परीक्षित्‌ने अपना धनुष चढ़ाकर मेघके समान गम्भीर वाणीसे उसको ललकारा॥ ४॥ अरे! तू कौन है, जो बलवान् होकर भी मेरे राज्यके इन दुर्बल प्राणियोंको बलपूर्वक मार रहा है? तूने नटकी भाँति वेष तो राजाका-सा बना रखा है, परन्तु कर्मसे तू शूद्र जान पड़ता है॥ ५॥ हमारे दादा अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधार जानेपर इस प्रकार निर्जन स्थानमें निरपराधोंपर प्रहार करनेवाला तू अपराधी है, अतः वधके योग्य है॥ ६॥

उन्होंने धर्मसे पूछा—कमल-नालके समान आपका श्वेतवर्ण है। तीन पैर न होनेपर भी आप एक ही पैरसे चलते-फिरते हैं। यह देखकर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। बतलाइये, आप क्या बैलके रूपमें कोई देवता हैं?॥ ७॥ अभी यह भूमण्डल कुरुवंशी नरपतियोंके बाहुबलसे सुरक्षित है। इसमें आपके सिवा और किसी भी प्राणीकी आँखोंसे शोकके आँसू बहते मैंने नहीं देखे॥ ८॥

१. प्रा० पा०—पीडितम्। २. प्रा० पा०—कृशां।

मा सौरभेयानुशुचो व्येतु ते वृषलाद् भयम्।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि॥ ९

यस्य राष्ट्रे प्रजाः[1] सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः॥ १०

एष राज्ञां[2] परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम्॥ ११

कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद[3]।
मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम्॥ १२

आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम्।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम्॥ १३

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम्।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते॥ १४

अनागस्स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः।
आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम्॥ १५

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥ १६

धर्म उवाच

एतद् वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः॥ १७

न वयं क्लेशबीजानि यतः[4] स्युः पुरुषर्षभ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः॥ १८

धेनुपुत्र! अब आप शोक न करें। इस शूद्रसे निर्भय हो जायँ। गोमाता! मैं दुष्टोंको दण्ड देनेवाला हूँ। अब आप रोयें नहीं। आपका कल्याण हो॥ ९॥

देवि! जिस राजाके राज्यमें दुष्टोंके उपद्रवसे सारी प्रजा त्रस्त रहती है उस मतवाले राजाकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं॥ १०॥

राजाओंका परम धर्म यही है कि वे दुःखियोंका दुःख दूर करें। यह महादुष्ट और प्राणियोंको पीड़ित करनेवाला है। अतः मैं अभी इसे मार डालूँगा॥ ११॥

सुरभिनन्दन! आप तो चार पैरवाले जीव हैं। आपके तीन पैर किसने काट डाले? श्रीकृष्णके अनुयायी राजाओंके राज्यमें कभी कोई भी आपकी तरह दुःखी न हो॥ १२॥

वृषभ! आपका कल्याण हो। बताइये, आप-जैसे निरपराध साधुओंका अंग-भंग करके किस दुष्टने पाण्डवोंकी कीर्तिमें कलंक लगाया है?॥ १३॥ जो किसी निरपराध प्राणीको सताता है, उसे चाहे वह कहीं भी रहे, मेरा भय अवश्य होगा। दुष्टोंका दमन करनेसे साधुओंका कल्याण ही होता है॥ १४॥ जो उद्दण्ड व्यक्ति निरपराध प्राणियोंको दुःख देता है, वह चाहे साक्षात् देवता ही क्यों न हो, मैं उसकी बाजूबंदसे विभूषित भुजाको काट डालूँगा॥ १५॥ बिना आपत्तिकालके मर्यादाका उल्लंघन करनेवालोंको शास्त्रानुसार दण्ड देते हुए अपने धर्ममें स्थित लोगोंका पालन करना राजाओंका परम धर्म है॥ १६॥

धर्मने कहा—राजन्! आप महाराज पाण्डुके वंशज हैं। आपका इस प्रकार दुःखियोंको आश्वासन देना आपके योग्य ही है; क्योंकि आपके पूर्वजोंके श्रेष्ठ गुणोंने भगवान् श्रीकृष्णको उनका सारथि और दूत आदि बना दिया था॥ १७॥ नरेन्द्र! शास्त्रोंके विभिन्न वचनोंसे मोहित होनेके कारण हम उस पुरुषको नहीं जानते, जिससे क्लेशोंके कारण उत्पन्न होते हैं॥ १८॥

१. प्रा० पा०—मातर्हिंस्यन्ते। २. प्रा० पा०—राज्ञः। ३. प्रा० पा० चतुष्पदः। ४. प्रा० पा०—यतस्व।

केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्॥ १९

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया॥ २०

सूत उवाच

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तम।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम्॥ २१

राजोवाच

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्॥ २२

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा।
चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः॥ २३

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव॥ २४

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः॥ २५

इयं च भूर्भगवता न्यासितोरुभरा सती।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका॥ २६

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिताधुना।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति॥ २७

जो लोग किसी भी प्रकारके द्वैतको स्वीकार नहीं करते, वे अपने-आपको ही अपने दुःखका कारण बतलाते हैं। कोई प्रारब्धको कारण बतलाते हैं, तो कोई कर्मको। कुछ लोग स्वभावको, तो कुछ लोग ईश्वरको दुःखका कारण मानते हैं॥ १९॥ किन्हीं-किन्हींका ऐसा भी निश्चय है कि दुःखका कारण न तो तर्कके द्वारा जाना जा सकता है और न वाणीके द्वारा बतलाया जा सकता है। राजर्षे! अब इनमें कौन-सा मत ठीक है, यह आप अपनी बुद्धिसे ही विचार लीजिये॥ २०॥

सूतजी कहते हैं—ऋषिश्रेष्ठ शौनकजी! धर्मका यह प्रवचन सुनकर सम्राट् परीक्षित् बहुत प्रसन्न हुए, उनका खेद मिट गया। उन्होंने शान्तचित्त होकर उनसे कहा—॥ २१॥

परीक्षित्ने कहा—धर्मका तत्त्व जाननेवाले वृषभदेव! आप धर्मका उपदेश कर रहे हैं। अवश्य ही आप वृषभके रूपमें स्वयं धर्म हैं। (आपने अपनेको दुःख देनेवालेका नाम इसलिये नहीं बताया है कि) अधर्म करनेवालेको जो नरकादि प्राप्त होते हैं, वे ही चुगली करनेवालेको भी मिलते हैं॥ २२॥ अथवा यही सिद्धान्त निश्चित है कि प्राणियोंके मन और वाणीसे परमेश्वरकी मायाके स्वरूपका निरूपण नहीं किया जा सकता॥ २३॥ धर्मदेव! सत्ययुगमें आपके चार चरण थे—तप, पवित्रता, दया और सत्य। इस समय अधर्मके अंश गर्व, आसक्ति और मदसे तीन चरण नष्ट हो चुके हैं॥ २४॥ अब आपका चौथा चरण केवल 'सत्य' ही बच रहा है। उसीके बलपर आप जी रहे हैं। असत्यसे पुष्ट हुआ यह अधर्मरूप कलियुग उसे भी ग्रास कर लेना चाहता है॥ २५॥ ये गौ माता साक्षात् पृथ्वी हैं। भगवान्ने इनका भारी बोझ उतार दिया था और ये उनके राशि-राशि सौन्दर्य बिखेरनेवाले चरणचिह्नोंसे सर्वत्र उत्सवमयी हो गयी थीं॥ २६॥ अब ये उनसे बिछुड़ गयी हैं। वे साध्वी अभागिनीके समान नेत्रोंमें जल भरकर यह चिन्ता कर रही हैं कि अब राजाका स्वाँग बनाकर ब्राह्मणद्रोही शूद्र मुझे भोगेंगे॥ २७॥

इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः।
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे॥ २८
तं जिघांसुमभिप्रेत्य[१] विहाय नृपलाञ्छनम्।
तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः॥ २९
पतितं पादयोर्वीक्ष्य कृपया दीनवत्सलः।
शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव॥ ३०

राजोवाच

न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै[२] भयमस्ति किञ्चित्।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः॥ ३१
त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे-
ष्वनु प्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो
ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः॥ ३२
न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः॥ ३३
यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान
[३]इज्यामूर्तिर्यजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा॥ ३४

सूत उवाच

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम्॥ ३५

महारथी परीक्षित्ने इस प्रकार धर्म और पृथ्वीको सान्त्वना दी। फिर उन्होंने अधर्मके कारणरूप कलियुगको मारनेके लिये तीक्ष्ण तलवार उठायी॥ २८॥

कलियुग ताड़ गया कि ये तो अब मुझे मार ही डालना चाहते हैं; अतः झटपट उसने अपने राजचिह्न उतार डाले और भयविह्वल होकर उनके चरणोंमें अपना सिर रख दिया॥ २९॥

परीक्षित् बड़े यशस्वी, दीनवत्सल और शरणागतरक्षक थे। उन्होंने जब कलियुगको अपने पैरोंपर पड़े देखा तो कृपा करके उसको मारा नहीं, अपितु हँसते हुए-से उससे कहा॥ ३०॥

परीक्षित् बोले—जब तू हाथ जोड़कर शरण आ गया, तब अर्जुनके यशस्वी वंशमें उत्पन्न हुए किसी भी वीरसे तुझे कोई भय नहीं है। परन्तु तू अधर्मका सहायक है, इसलिये तुझे मेरे राज्यमें बिलकुल नहीं रहना चाहिये॥ ३१॥ तेरे राजाओंके शरीरमें रहनेसे ही लोभ, झूठ, चोरी, दुष्टता, स्वधर्म-त्याग, दरिद्रता, कपट, कलह, दम्भ और दूसरे पापोंकी बढ़ती हो रही है॥ ३२॥ अतः अधर्मके साथी! इस ब्रह्मावर्तमें तू एक क्षणके लिये भी न ठहरना; क्योंकि यह धर्म और सत्यका निवासस्थान है। इस क्षेत्रमें यज्ञविधिके जाननेवाले महात्मा यज्ञोंके द्वारा यज्ञपुरुष-भगवान्‌की आराधना करते रहते हैं॥ ३३॥

इस देशमें भगवान् श्रीहरि यज्ञोंके रूपमें निवास करते हैं, यज्ञोंके द्वारा उनकी पूजा होती है और वे यज्ञ करनेवालोंका कल्याण करते हैं। वे सर्वात्मा भगवान् वायुकी भाँति समस्त चराचर जीवोंके भीतर और बाहर एकरस स्थित रहते हुए उनकी कामनाओंको पूर्ण करते रहते हैं॥ ३४॥

सूतजी कहते हैं—परीक्षित्‌की यह आज्ञा सुनकर कलियुग सिहर उठा। यमराजके समान मारनेके लिये उद्यत, हाथमें तलवार लिये हुए परीक्षित्से वह बोला— ॥ ३५॥

१. प्रा० पा०—प्रेक्ष्य। २. प्रा० पा०—बद्धाञ्जलेस्ते। ३. प्रा० पा०—इष्टात्ममूर्ति०।

कलिरुवाच

यत्र क्वचन[1] वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम्॥ ३६

तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि।
यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम्॥ ३७

कलिने कहा—सार्वभौम! आपकी आज्ञासे जहाँ कहीं भी मैं रहनेका विचार करता हूँ, वहीं देखता हूँ कि आप धनुषपर बाण चढ़ाये खड़े हैं॥ ३६॥ धार्मिकशिरोमणे! आप मुझे वह स्थान बतलाइये, जहाँ मैं आपकी आज्ञाका पालन करता हुआ स्थिर होकर रह सकूँ ॥ ३७॥

सूत उवाच

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥ ३८

सूतजी कहते हैं—कलियुगकी प्रार्थना स्वीकार करके राजा परीक्षित्ने उसे चार स्थान दिये—द्यूत, मद्यपान, स्त्री-संग और हिंसा। इन स्थानोंमें क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति और निर्दयता—ये चार प्रकारके अधर्म निवास करते हैं ॥ ३८॥

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं[2] कामं रजो वैरं च पञ्चमम्॥ ३९

उसने और भी स्थान माँगे। तब समर्थ परीक्षित्ने उसे रहनेके लिये एक और स्थान—'सुवर्ण' (धन)—दिया। इस प्रकार कलियुगके पाँच स्थान हो गये—झूठ, मद, काम, वैर और रजोगुण॥ ३९॥

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत्॥ ४०

परीक्षित्के दिये हुए इन्हीं पाँच स्थानोंमें अधर्मका मूल कारण कलि उनकी आज्ञाओंका पालन करता हुआ निवास करने लगा ॥ ४०॥

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः॥ ४१

इसलिये आत्मकल्याणकामी पुरुषको इन पाँचों स्थानोंका सेवन कभी नहीं करना चाहिये। धार्मिक राजा, प्रजावर्गके लौकिक नेता और धर्मोपदेष्टा गुरुओंको तो बड़ी सावधानीसे इनका त्याग करना चाहिये॥ ४१॥

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपः शौचं दयामिति।
प्रतिसंदध आश्वास्य[3] महीं च समवर्धयत्॥ ४२

राजा परीक्षित्ने इसके बाद वृषभरूप धर्मके तीनों चरण—तपस्या, शौच और दया जोड़ दिये और आश्वासन देकर पृथ्वीका संवर्धन किया॥ ४२॥

स एष एतर्ह्यध्यास्त[4] आसनं पार्थिवोचितम्।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता॥ ४३

वे ही महाराजा परीक्षित् इस समय अपने राजसिंहासनपर, जिसे उनके पितामह महाराज युधिष्ठिरने वनमें जाते समय उन्हें दिया था, विराजमान हैं।॥ ४३॥

आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन्।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः॥ ४४

वे परम यशस्वी सौभाग्यभाजन चक्रवर्ती सम्राट् राजर्षि परीक्षित् इस समय हस्तिनापुरमें कौरव-कुलकी राज्यलक्ष्मीसे शोभायमान हैं॥ ४४॥

१. प्रा० पा०—क्व चाथ। २. प्रा० पा०—मदः कामो। ३. प्रा० पा०—आस्थाय—४. प्रा० पा०—एतदध्यास्त।

इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः॥ ४५

अभिमन्युनन्दन राजा परीक्षित् वास्तवमें ऐसे ही प्रभावशाली हैं, जिनके शासनकालमें आपलोग इस दीर्घकालीन यज्ञके लिये दीक्षित हुए हैं*॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे कलिनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

राजा परीक्षित्को शृंगी ऋषिका शाप

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः।
अनुग्रहाद् भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः॥ १
ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात्।
न सम्मुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशयः॥ २
उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम्॥ ३
नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम्।
स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम्॥ ४
तावत्कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः।
यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट्॥ ५

सूतजी कहते हैं—अद्‌भुत कर्मा भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे राजा परीक्षित् अपनी माताकी कोखमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जल जानेपर भी मरे नहीं॥ १॥ जिस समय ब्राह्मणके शापसे उन्हें डसनेके लिये तक्षक आया, उस समय वे प्राणनाशके महान् भयसे भी भयभीत नहीं हुए; क्योंकि उन्होंने अपना चित्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर रखा था॥ २॥ उन्होंने सबकी आसक्ति छोड़ दी, गंगातटपर जाकर श्रीशुकदेवजीसे उपदेश ग्रहण किया और इस प्रकार भगवान्के स्वरूपको जानकर अपने शरीरको त्याग दिया॥ ३॥ जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथा कहते रहते हैं, उस कथामृतका पान करते रहते हैं और इन दोनों ही साधनोंके द्वारा उनके चरण-कमलोंका स्मरण करते रहते हैं, उन्हें अन्तकालमें भी मोह नहीं होता॥ ४॥ जबतक पृथ्वीपर अभिमन्युनन्दन महाराज परीक्षित् सम्राट् रहे, तबतक चारों ओर व्याप्त हो जानेपर भी कलियुगका कुछ भी प्रभाव नहीं था॥ ५॥

* ४३ से ४५ तकके श्लोकोंमें महाराज परीक्षित्का वर्तमानके समान वर्णन किया गया है। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा० सू०३। ३। १३१) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार वर्तमानके निकटवर्ती भूत और भविष्यके लिये भी वर्तमानका प्रयोग किया जा सकता है। जगद्‌गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने अपनी टीकामें लिखा है कि यद्यपि परीक्षित्की मृत्यु हो गयी थी, फिर भी उनकी कीर्ति और प्रभाव वर्तमानके समान ही विद्यमान थे। उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये उनकी दूरी यहाँ मिटा दी गयी है। उन्हें भगवान्का सायुज्य प्राप्त हो गया था, इसलिये भी सूतजीको वे अपने सम्मुख ही दीख रहे हैं। न केवल उन्हींको, बल्कि सबको इस बातकी प्रतीति हो रही है। **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** इस श्रुतिके अनुसार जनमेजयके रूपमें भी वही राजसिंहासनपर बैठे हुए हैं। इन सब कारणोंसे वर्तमानके रूपमें उनका वर्णन भी कथाके रसको पुष्ट ही करता है।

यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम्।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः॥ ६

नानुद्वेष्टि[1] कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥ ७

किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको[2] नृषु वर्तते॥ ८

उपवर्णितमेतद् वः[3] पुण्यं पारीक्षितं मया।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत॥ ९

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः।
गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः॥ १०

ऋषय ऊचुः

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः॥ ११

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु॥ १२

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ १३

को नाम तृप्येद् रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः॥ १४

वैसे तो जिस दिन, जिस क्षण श्रीकृष्णने पृथ्वीका परित्याग किया, उसी समय पृथ्वीमें अधर्मका मूलकारण कलियुग आ गया था॥ ६॥ भ्रमरके समान सारग्राही सम्राट् परीक्षित् कलियुगसे कोई द्वेष नहीं रखते थे; क्योंकि इसमें यह एक बहुत बड़ा गुण है कि पुण्यकर्म तो संकल्पमात्रसे ही फलीभूत हो जाते हैं, परन्तु पापकर्मका फल शरीरसे करनेपर ही मिलता है; संकल्पमात्रसे नहीं॥ ७॥ यह भेड़ियेके समान बालकोंके प्रति शूरवीर और धीर वीर पुरुषोंके लिये बड़ा भीरु है। यह प्रमादी मनुष्योंको अपने वशमें करनेके लिये ही सदा सावधान रहता है॥ ८॥ शौनकादि ऋषियो! आपलोगोंको मैंने भगवान्‌की कथासे युक्त राजा परीक्षित्‌का पवित्र चरित्र सुनाया। आपलोगोंने यही पूछा था॥ ९॥ भगवान् श्रीकृष्ण कीर्तन करनेयोग्य बहुत-सी लीलाएँ करते हैं। इसलिये उनके गुण और लीलाओंसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भी कथाएँ हैं, कल्याणकामी पुरुषोंको उन सबका सेवन करना चाहिये॥ १०॥

ऋषियोंने कहा—सौम्यस्वभाव सूतजी! आप युग-युग जीयें; क्योंकि मृत्युके प्रवाहमें पड़े हुए हम-लोगोंको आप भगवान् श्रीकृष्णकी अमृतमयी उज्ज्वल कीर्तिका श्रवण कराते हैं॥ ११॥ यज्ञ करते-करते उसके धूएँसे हमलोगोंका शरीर धूमिल हो गया है। फिर भी इस कर्मका कोई विश्वास नहीं है। इधर आप तो वर्तमानमें ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंका मादक और मधुर मधु पिलाकर हमें तृप्त कर रहे हैं॥ १२॥ भगवत्-प्रेमी भक्तोंके लवमात्रके सत्संगसे स्वर्ग एवं मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती; फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है॥ १३॥ ऐसा कौन रस-मर्मज्ञ होगा, जो महापुरुषोंके एकमात्र जीवनसर्वस्व श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंसे तृप्त हो जाय? समस्त प्राकृत गुणोंसे अतीत भगवान्‌के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणगणोंका पार तो ब्रह्मा, शंकर आदि बड़े-बड़े योगेश्वर भी नहीं पा सके॥ १४॥

१. प्रा० पा०—नाभि०। २. प्रा० पा०—नृपो। ३. प्रा० पा०—मेतद्धि।

तन्नो[1] भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन्[2] ॥ १५

स वै महाभागवतः परीक्षिद्
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।
ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन
भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥ १६

तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥ १७

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोगः ॥ १८

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥ १९

एतावतालं ननु[3] सूचितेन
गुणैरसाम्यै[4]नतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥ २०

विद्वन्! आप भगवान्‌को ही अपने जीवनका ध्रुवतारा मानते हैं। इसलिये आप सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय भगवान्‌के उदार और विशुद्ध चरित्रोंका हम श्रद्धालु श्रोताओंके लिये विस्तारसे वर्णन कीजिये॥ १५॥ भगवान्‌के परम प्रेमी महाबुद्धि परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीके उपदेश किये हुए जिस ज्ञानसे मोक्षस्वरूप भगवान्‌के चरणकमलोंको प्राप्त किया, आप कृपा करके उसी ज्ञान और परीक्षित्‌के परम पवित्र उपाख्यानका वर्णन कीजिये; क्योंकि उसमें कोई बात छिपाकर नहीं कही गयी होगी और भगवत्प्रेमकी अद्भुत योगनिष्ठाका निरूपण किया गया होगा। उसमें पद-पदपर भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका वर्णन हुआ होगा। भगवान्‌के प्यारे भक्तोंको वैसा प्रसंग सुननेमें बड़ा रस मिलता है॥ १६-१७॥

सूतजी कहते हैं—अहो! विलोम* जातिमें उत्पन्न होनेपर भी महात्माओंकी सेवा करनेके कारण आज हमारा जन्म सफल हो गया। क्योंकि महापुरुषोंके साथ बातचीत करनेमात्रसे ही नीच कुलमें उत्पन्न होनेकी मनोव्यथा शीघ्र ही मिट जाती है॥ १८॥

फिर उन लोगोंकी तो बात ही क्या है, जो सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय भगवान्‌का नाम लेते हैं! भगवान्‌की शक्ति अनन्त है, वे स्वयं अनन्त हैं। वास्तवमें उनके गुणोंकी अनन्तताके कारण ही उन्हें अनन्त कहा गया है॥ १९॥

भगवान्‌के गुणोंकी समता भी जब कोई नहीं कर सकता, तब उनसे बढ़कर तो कोई हो ही कैसे सकता है। उनके गुणोंकी यह विशेषता समझानेके लिये इतना कह देना ही पर्याप्त है कि लक्ष्मीजी अपनेको प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रार्थना करनेवाले ब्रह्मादि देवताओंको छोड़कर भगवान्‌के न चाहनेपर भी उनके चरणकमलोंकी रजका ही सेवन करती हैं॥ २०॥

---

१. प्रा० पा०—ततो। २. प्रा० पा०—विद्वान्। ३. प्रा० पा०—बत। ४. प्रा० पा०—रसाम्यैरति०।

* उच्च वर्णकी माता और निम्न वर्णके पितासे उत्पन्न संतानको 'विलोमज' कहते हैं। सूत जातिकी उत्पत्ति इसी प्रकार ब्राह्मणी माता और क्षत्रिय पिताके द्वारा होनेसे उसे शास्त्रोंमें विलोम जाति माना गया है।

अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः॥ २१

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम्।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः॥ २२

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिण-
स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः॥ २३

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम्॥ २४

जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम्।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम्॥ २५

प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम्।
स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम्॥ २६

विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत॥ २७

अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह॥ २८

ब्रह्माजीने भगवान्के चरणोंका प्रक्षालन करनेके लिये जो जल समर्पित किया था, वही उनके चरणनखोंसे निकलकर गंगाजीके रूपमें प्रवाहित हुआ। यह जल महादेवजीसहित सारे जगत्को पवित्र करता है। ऐसी अवस्थामें त्रिभुवनमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त 'भगवान्' शब्दका दूसरा और क्या अर्थ हो सकता है॥ २१ ॥ जिनके प्रेमको प्राप्त करके धीर पुरुष बिना किसी हिचकके देह-गेह आदिकी दृढ़ आसक्तिको छोड़ देते हैं और उस अन्तिम परमहंस-आश्रमको स्वीकार करते हैं, जिसमें किसीको कष्ट न पहुँचाना और सब ओरसे उपशान्त हो जाना ही स्वधर्म होता है॥ २२॥ सूर्यके समान प्रकाशमान महात्माओ! आपलोगोंने मुझसे जो कुछ पूछा है, वह मैं अपनी समझके अनुसार सुनाता हूँ। जैसे पक्षी अपनी शक्तिके अनुसार आकाशमें उड़ते हैं, वैसे ही विद्वान्लोग भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार ही श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन करते हैं॥ २३ ॥

एक दिन राजा परीक्षित् धनुष लेकर वनमें शिकार खेलने गये हुए थे। हरिणोंके पीछे दौड़ते-दौड़ते वे थक गये और उन्हें बड़े जोरकी भूख और प्यास लगी॥ २४॥ जब कहीं उन्हें कोई जलाशय नहीं मिला, तब वे पासके ही एक ऋषिके आश्रममें घुस गये। उन्होंने देखा कि वहाँ आँखें बंद करके शान्तभावसे एक मुनि आसनपर बैठे हुए हैं॥ २५ ॥ इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिके निरुद्ध हो जानेसे वे संसारसे ऊपर उठ गये थे। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे रहित निर्विकार ब्रह्मरूप तुरीय पदमें वे स्थित थे॥ २६ ॥ उनका शरीर बिखरी हुई जटाओंसे और कृष्ण मृगचर्मसे ढका हुआ था। राजा परीक्षित्ने ऐसी ही अवस्थामें उनसे जल माँगा, क्योंकि प्याससे उनका गला सूखा जा रहा था॥ २७॥ जब राजाको वहाँ बैठनेके लिये तिनकेका आसन भी न मिला, किसीने उन्हें भूमिपर भी बैठनेको न कहा—अर्घ्य और आदरभरी मीठी बातें तो कहाँसे मिलतीं—तब अपनेको अपमानित-सा मानकर वे क्रोधके वश हो गये॥ २८॥

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च॥ २९

स[१] तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।
विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागमत्[२]॥ ३०

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः।
मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः॥ ३१

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत्॥ ३२

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव।
स्वामिन्यघं यद् दासानां द्वारपानां शुनामिव॥ ३३

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो[३] निरूपितः।
स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुम्[४]अर्हति॥ ३४

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम्।
तद्भिन्नसेतून्[५]अद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम्॥ ३५

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह॥ ३६

इति[६] लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि।
दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम्[७]॥ ३७

शौनकजी! वे भूख-प्याससे छटपटा रहे थे, इसलिये एकाएक उन्हें ब्राह्मणके प्रति ईर्ष्या और क्रोध हो आया। उनके जीवनमें इस प्रकारका यह पहला ही अवसर था॥ २९॥ वहाँसे लौटते समय उन्होंने क्रोधवश धनुषकी नोकसे एक मरा साँप उठाकर ऋषिके गलेमें डाल दिया और अपनी राजधानीमें चले आये॥ ३०॥ उनके मनमें यह बात आयी कि इन्होंने जो अपने नेत्र बंद कर रखे हैं, सो क्या वास्तवमें इन्होंने अपनी सारी इन्द्रियवृत्तियोंका निरोध कर लिया है अथवा इन राजाओंसे हमारा क्या प्रयोजन है, यों सोचकर इन्होंने झूठ-मूठ समाधिका ढोंग रच रखा है॥ ३१॥

उन शमीक मुनिका पुत्र बड़ा तेजस्वी था। वह दूसरे ऋषिकुमारोंके साथ पास ही खेल रहा था। जब उस बालकने सुना कि राजाने मेरे पिताके साथ दुर्व्यवहार किया है, तब वह इस प्रकार कहने लगा—॥ ३२॥ 'ये नरपति कहलानेवाले लोग उच्छिष्टभोजी कौओंके समान संड-मुसंड होकर कितना अन्याय करने लगे हैं! ब्राह्मणोंके दास होकर भी ये दरवाजेपर पहरा देनेवाले कुत्तेके समान अपने स्वामीका ही तिरस्कार करते हैं॥ ३३॥ ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको अपना द्वारपाल बनाया है। उन्हें द्वारपर रहकर रक्षा करनी चाहिये, घरमें घुसकर स्वामीके बर्तनोंमें खानेका उसे अधिकार नहीं है॥ ३४॥ अतएव उन्मार्गगामियोंके शासक भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधार जानेपर इन मर्यादा तोड़नेवालोंको आज मैं दण्ड देता हूँ। मेरा तपोबल देखो'॥ ३५॥ अपने साथी बालकोंसे इस प्रकार कहकर क्रोधसे लाल-लाल आँखोंवाले उस ऋषिकुमारने कौशिकी नदीके जलसे आचमन करके अपने वाणी-रूपी वज्रका प्रयोग किया॥ ३६॥ 'कुलांगार परीक्षित्‌ने मेरे पिताका अपमान करके मर्यादाका उल्लंघन किया है, इसलिये मेरी प्रेरणासे आजके सातवें दिन उसे तक्षक सर्प डस लेगा'॥ ३७॥

१. प्रा० पा०—तस्य ब्रह्मर्षरंसे। २. प्रा० पा०—मागतः। ३. प्रा० पा०—गृहपालो। ४. प्रा० पा०—भङ्क्तु। ५. प्रा० पा०—सेतुमद्या०। ६. प्रा० पा०—अतो। ७. प्रा० पा०—पितृद्रुहम्।

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम्।
पितरं वीक्ष्य दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह॥ ३८
स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम्।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा स्वांसे मृतोरगम्॥ ३९
विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि।
केन वा तेऽपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत्॥ ४०
निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं
स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत्।
अहो बतांहो महदज्ञ ते कृत-
मल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः॥ ४१
न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता
विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः॥ ४२
अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात्॥ ४३
तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात्।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः॥ ४४
तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः॥ ४५
धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः।
साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट्।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति॥ ४६

इसके बाद वह बालक अपने आश्रमपर आया और अपने पिताके गलेमें साँप देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ तथा वह ढाड़ मारकर रोने लगा ॥ ३८ ॥ विप्रवर शौनकजी! शमीक मुनिने अपने पुत्रका रोना-चिल्लाना सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोली और देखा कि उनके गलेमें एक मरा साँप पड़ा है ॥ ३९ ॥ उसे फेंककर उन्होंने अपने पुत्रसे पूछा—'बेटा! तुम क्यों रो रहे हो? किसने तुम्हारा अपकार किया है?' उनके इस प्रकार पूछनेपर बालकने सारा हाल कह दिया ॥ ४० ॥ ब्रह्मर्षि शमीकने राजाके शापकी बात सुनकर अपने पुत्रका अभिनन्दन नहीं किया। उनकी दृष्टिमें परीक्षित् शापके योग्य नहीं थे। उन्होंने कहा—'ओह, मूर्ख बालक! तूने बड़ा पाप किया! खेद है कि उनकी थोड़ी-सी गलतीके लिये तूने उनको इतना बड़ा दण्ड दिया॥ ४१ ॥ तेरी बुद्धि अभी कच्ची है। तुझे भगवत्स्वरूप राजाको साधारण मनुष्योंके समान नहीं समझना चाहिये; क्योंकि राजाके दुस्सह तेजसे सुरक्षित और निर्भय रहकर ही प्रजा अपना कल्याण सम्पादन करती है॥ ४२ ॥ जिस समय राजाका रूप धारण करके भगवान् पृथ्वीपर नहीं दिखायी देंगे, उस समय चोर बढ़ जायँगे और अरक्षित भेड़ोंके समान एक क्षणमें ही लोगोंका नाश हो जायगा ॥ ४३ ॥ राजाके नष्ट हो जानेपर धन आदि चुरानेवाले चोर जो पाप करेंगे, उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न होनेपर भी वह हमपर भी लागू होगा। क्योंकि राजाके न रहनेपर लुटेरे बढ़ जाते हैं और वे आपसमें मार-पीट, गाली-गलौज करते हैं, साथ ही पशु, स्त्री और धन-सम्पत्ति भी लूट लेते हैं॥ ४४ ॥ उस समय मनुष्योंका वर्णाश्रमाचार-युक्त वैदिक आर्यधर्म लुप्त हो जाता है, अर्थ-लोभ और काम-वासनाके विवश होकर लोग कुत्तों और बंदरोंके समान वर्णसंकर हो जाते हैं॥ ४५ ॥ सम्राट् परीक्षित् तो बड़े ही यशस्वी और धर्मधुरन्धर हैं। उन्होंने बहुत-से अश्वमेध यज्ञ किये हैं और वे भगवान्के परम प्यारे भक्त हैं; वे ही राजर्षि भूख-प्याससे व्याकुल होकर हमारे आश्रमपर आये थे, वे शापके योग्य कदापि नहीं हैं॥ ४६ ॥

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना।
पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति॥ ४७

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि॥ ४८

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत्॥ ४९

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः॥ ५०

इस नासमझ बालकने हमारे निष्पाप सेवक राजाका अपराध किया है, सर्वात्मा भगवान् कृपा करके इसे क्षमा करें॥ ४७॥ भगवान्‌के भक्तोंमें भी बदला लेनेकी शक्ति होती है, परंतु वे दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, धोखेबाजी, गाली-गलौज, आक्षेप और मार-पीटका कोई बदला नहीं लेते॥ ४८॥ महामुनि शमीकको पुत्रके अपराधपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। राजा परीक्षित्‌ने जो उनका अपमान किया था, उसपर तो उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया॥ ४९॥ महात्माओंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि जगत्‌में जब दूसरे लोग उन्हें सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें डाल देते हैं, तब भी वे प्रायः हर्षित या व्यथित नहीं होते; क्योंकि आत्माका स्वरूप तो गुणोंसे सर्वथा परे है॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
विप्रशापोपलम्भनं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

परीक्षित्‌का अनशनव्रत और शुकदेवजीका आगमन

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः।
अहो मया नीचमनार्यवत्कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि॥ १
ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्
दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात्।
तदस्तु कामं त्वघ[1]निष्कृताय मे
यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा[2]॥ २
अद्यैव राज्यं बल[3]मृद्धकोशं
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्[4]
पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः॥ ३

सूतजी कहते हैं—राजधानीमें पहुँचनेपर राजा परीक्षित्‌को अपने उस निन्दनीय कर्मके लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे अत्यन्त उदास हो गये और सोचने लगे—'मैंने निरपराध एवं अपना तेज छिपाये हुए ब्राह्मणके साथ अनार्य पुरुषोंके समान बड़ा नीच व्यवहार किया। यह बड़े खेदकी बात है॥ १॥ अवश्य ही उन महात्माके अपमानके फलस्वरूप शीघ्र-से-शीघ्र मुझपर कोई घोर विपत्ति आवेगी। मैं भी ऐसा ही चाहता हूँ; क्योंकि उससे मेरे पापका प्रायश्चित्त हो जायगा और फिर कभी मैं ऐसा काम करनेका दुःसाहस नहीं करूँगा॥ २॥ ब्राह्मणोंकी क्रोधाग्नि आज ही मेरे राज्य, सेना और भरे-पूरे खजानेको जलाकर खाक कर दे—जिससे फिर कभी मुझ दुष्टकी ब्राह्मण, देवता और गौओंके प्रति ऐसी पापबुद्धि न हो॥ ३॥

१. प्रा० पा०—ह्यघ। २. प्रा० पा०—पुनरेव सद्यः। ३. प्रा० पा०—बलमूर्ज०। ४. प्रा० पा०—मेऽस्तु।

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद् यथा
मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः।
स साधु मेने नचिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम्॥ ४
अथो विहायेममम् च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात्।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम्॥ ५
या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः॥ ६
इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम्।
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः॥ ७
तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना
महानुभावा मुनयः सशिष्याः।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥ ८
अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-
नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम
उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ॥ ९
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो
भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनि-
द्वैपायनो भगवान्नारदश्च॥ १०
अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या
राजर्षिवर्या अरुणादयश्च।
नानार्षेयप्रवरान् समेता-
नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे॥ ११

वे इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि उन्हें मालूम हुआ—ऋषिकुमारके शापसे तक्षक मुझे डसेगा। उन्हें वह धधकती हुई आगके समान तक्षकका डसना बहुत भला मालूम हुआ। उन्होंने सोचा कि बहुत दिनोंसे मैं संसारमें आसक्त हो रहा था, अब मुझे शीघ्र वैराग्य होनेका कारण प्राप्त हो गया॥ ४॥ वे इस लोक और परलोकके भोगोंको तो पहलेसे ही तुच्छ और त्याज्य समझते थे। अब उनका स्वरूपतः त्याग करके भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाको ही सर्वोपरि मानकर आमरण अनशनव्रत लेकर वे गंगातटपर बैठ गये॥ ५॥ गंगाजीका जल भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका वह पराग लेकर प्रवाहित होता है, जो श्रीमती तुलसीकी गन्धसे मिश्रित है। यही कारण है कि वे लोकपालोंके सहित ऊपर-नीचेके समस्त लोकोंको पवित्र करती हैं। कौन ऐसा मरणासन्न पुरुष होगा, जो उनका सेवन न करेगा?॥ ६॥

इस प्रकार गंगाजीके तटपर आमरण अनशनका निश्चय करके उन्होंने समस्त आसक्तियोंका परित्याग कर दिया और वे मुनियोंका व्रत स्वीकार करके अनन्यभावसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंका ध्यान करने लगे॥ ७॥ उस समय त्रिलोकीको पवित्र करनेवाले बड़े-बड़े महानुभाव ऋषि-मुनि अपने शिष्योंके साथ वहाँ पधारे। संतजन प्रायः तीर्थयात्राके बहाने स्वयं उन तीर्थस्थानोंको ही पवित्र करते हैं॥ ८॥ उस समय वहाँपर अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अंगिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, भगवान् व्यास, नारद तथा इनके अतिरिक्त और भी कई श्रेष्ठ देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा अरुणादि राजर्षिवर्योंका शुभागमन हुआ। इस प्रकार विभिन्न गोत्रोंके मुख्य-मुख्य ऋषियोंको एकत्र देखकर राजाने सबका यथायोग्य सत्कार किया और उनके चरणोंपर सिर रखकर वन्दना की॥ ९—११॥

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः
कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत्।
विज्ञापयामास विविक्तचेता
उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥ १२

जब सब लोग आरामसे अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, तब महाराज परीक्षित्‌ने उन्हें फिरसे प्रणाम किया और उनके सामने खड़े होकर शुद्ध हृदयसे अंजलि बाँधकर वे जो कुछ करना चाहते थे, उसे सुनाने लगे॥ १२॥

राजोवाच

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां
महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचाद्
दूराद् विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म॥ १३

तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम्।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते॥ १४

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः॥ १५

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः॥ १६

राजा परीक्षित्‌ने कहा—अहो! समस्त राजाओंमें हम धन्य हैं। धन्यतम हैं; क्योंकि अपने शील-स्वभावके कारण हम आप महापुरुषोंके कृपापात्र बन गये हैं। राजवंशके लोग प्रायः निन्दित कर्म करनेके कारण ब्राह्मणोंके चरण-धोवनसे दूर पड़ जाते हैं—यह कितने खेदकी बात है॥ १३॥ मैं भी राजा ही हूँ। निरन्तर देह-गेहमें आसक्त रहनेके कारण मैं भी पापरूप ही हो गया हूँ। इसीसे स्वयं भगवान् ही ब्राह्मणके शापके रूपमें मुझपर कृपा करनेके लिये पधारे हैं। यह शाप वैराग्य उत्पन्न करनेवाला है। क्योंकि इस प्रकारके शापसे संसारासक्त पुरुष भयभीत होकर विरक्त हो जाया करते हैं॥ १४॥

ब्राह्मणो! अब मैंने अपने चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया है। आपलोग और माँ गंगाजी शरणागत जानकर मुझपर अनुग्रह करें, ब्राह्मणकुमारके शापसे प्रेरित कोई दूसरा कपटसे तक्षकका रूप धरकर मुझे डस ले अथवा स्वयं तक्षक आकर डस ले; इसकी मुझे तनिक भी परवा नहीं है। आपलोग कृपा करके भगवान्‌की रसमयी लीलाओंका गायन करें॥ १५॥ मैं आप ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रणाम करके पुनः यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कर्मवश चाहे जिस योनिमें जन्म लेना पड़े, भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा अनुराग हो, उनके चरणाश्रित महात्माओंसे विशेष प्रीति हो और जगत्‌के समस्त प्राणियोंके प्रति मेरी एक-सी मैत्री रहे। ऐसा आप आशीर्वाद दीजिये॥ १६॥

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः
प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः॥ १७

महाराज परीक्षित् परम धीर थे। वे ऐसा दृढ़ निश्चय करके गंगाजीके दक्षिण तटपर पूर्वाग्र कुशोंके आसनपर उत्तरमुख होकर बैठ गये। राज-काजका भार तो उन्होंने पहले ही अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया था॥ १७॥

एवं च तस्मिन्नरदेवदेवे
प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनै-
र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः॥ १८

पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् परीक्षित् जब इस प्रकार आमरण अनशनका निश्चय करके बैठ गये, तब आकाशमें स्थित देवतालोग बड़े आनन्दसे उनकी प्रशंसा करते हुए वहाँ पृथ्वीपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे तथा उनके नगारे बार-बार बजने लगे॥ १८॥

महर्षयो वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः।
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम् ॥ १९

सभी उपस्थित महर्षियोंने परीक्षित्‌के निश्चयकी प्रशंसा की और 'साधु-साधु' कहकर उनका अनुमोदन किया। ऋषिलोग तो स्वभावसे ही लोगोंपर अनुग्रहकी वर्षा करते रहते हैं; यही नहीं, उनकी सारी शक्ति लोकपर कृपा करनेके लिये ही होती है। उन लोगोंने भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंसे प्रभावित परीक्षित्‌के प्रति उनके अनुरूप वचन कहे॥ १९॥

न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः॥ २०

'राजर्षिशिरोमणे! भगवान् श्रीकृष्णके सेवक और अनुयायी आप पाण्डुवंशियोंके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आपलोगोंने भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त करनेकी आकांक्षासे उस राजसिंहासनका एक क्षणमें ही परित्याग कर दिया, जिसकी सेवा बड़े-बड़े राजा अपने मुकुटोंसे करते थे॥ २०॥

सर्वे वयं तावदिहास्महेऽद्य
कलेवरं यावदसौ विहाय।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं
यास्यत्ययं भागवतप्रधानः॥ २१

हम सब तबतक यहीं रहेंगे, जबतक ये भगवान्‌के परम भक्त परीक्षित् अपने नश्वर शरीरको छोड़कर मायादोष एवं शोकसे रहित भगवद्धाममें नहीं चले जाते'॥ २१॥

आश्रुत्य तदृषिगणवचः परीक्षित्
समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम्।
आभाषतैनानभिनन्द्य युक्तान्
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः॥ २२

ऋषियोंके ये वचन बड़े ही मधुर, गम्भीर, सत्य और समतासे युक्त थे। उन्हें सुनकर राजा परीक्षित्‌ने उन योगयुक्त मुनियोंका अभिनन्दन किया और भगवान्‌के मनोहर चरित्र सुननेकी इच्छासे ऋषियोंसे प्रार्थना की॥ २२॥

समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे।
नेहाथवामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम्॥ २३

'महात्माओ! आप सभी सब ओरसे यहाँ पधारे हैं। आप सत्यलोकमें रहनेवाले मूर्तिमान् वेदोंके समान हैं। आपलोगोंका दूसरोंपर अनुग्रह करनेके अतिरिक्त, जो आपका सहज स्वभाव ही है, इस लोक या परलोकमें और कोई स्वार्थ नहीं है॥ २३॥

ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम्।

विप्रवरो! आपलोगोंपर पूर्ण विश्वास करके मैं अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें यह पूछने योग्य प्रश्न करता हूँ। आप सभी विद्वान् परस्पर विचार करके बतलाइये

सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः॥ २४

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेषः॥ २५

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम्।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण
सुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम्॥ २६

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस-
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम्॥ २७

श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य-
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम्॥ २८

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः॥ २९

कि सबके लिये सब अवस्थाओंमें और विशेष करके थोड़े ही समयमें मरनेवाले पुरुषोंके लिये अन्तःकरण और शरीरसे करनेयोग्य विशुद्ध कर्म कौन-सा है*॥ २४॥

उसी समय पृथ्वीपर स्वेच्छासे विचरण करते हुए, किसीकी कोई अपेक्षा न रखनेवाले व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी महाराज वहाँ प्रकट हो गये। वे वर्ण अथवा आश्रमके बाह्य चिह्नोंसे रहित एवं आत्मानुभूतिमें सन्तुष्ट थे। बच्चों और स्त्रियोंने उन्हें घेर रखा था। उनका वेष अवधूतका था॥ २५॥

सोलह वर्षकी अवस्था थी। चरण, हाथ, जंघा, भुजाएँ, कंधे, कपोल और अन्य सब अंग अत्यन्त सुकुमार थे। नेत्र बड़े-बड़े और मनोहर थे। नासिका कुछ ऊँची थी। कान बराबर थे। सुन्दर भौंहें थीं, इनसे मुख बड़ा ही शोभायमान हो रहा था। गला तो मानो सुन्दर शंख ही था॥ २६॥

हँसली ढकी हुई, छाती चौड़ी और उभरी हुई, नाभि भँवरके समान गहरी तथा उदर बड़ा ही सुन्दर, त्रिवलीसे युक्त था। लंबी-लंबी भुजाएँ थीं, मुखपर घुँघराले बाल बिखरे हुए थे। इस दिगम्बर वेषमें वे श्रेष्ठ देवताके समान तेजस्वी जान पड़ते थे॥ २७॥

श्याम रंग था। चित्तको चुरानेवाली भरी जवानी थी। वे शरीरकी छटा और मधुर मुसकानसे स्त्रियोंको सदा ही मनोहर जान पड़ते थे। यद्यपि उन्होंने अपने तेजको छिपा रखा था, फिर भी उनके लक्षण जाननेवाले मुनियोंने उन्हें पहचान लिया और वे सब-के-सब अपने-अपने आसन छोड़कर उनके सम्मानके लिये उठ खड़े हुए॥ २८॥

राजा परीक्षित्ने अतिथिरूपसे पधारे हुए श्रीशुकदेवजीको सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की। उनके स्वरूपको न जाननेवाले बच्चे और स्त्रियाँ उनकी यह महिमा देखकर वहाँसे लौट गये; सबके द्वारा सम्मानित होकर श्रीशुकदेवजी श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए॥ २९॥

* इस जगह राजाने ब्राह्मणोंसे दो प्रश्न किये हैं; पहला प्रश्न यह है कि जीवको सदा-सर्वदा क्या करना चाहिये और दूसरा यह कि जो थोड़े ही समयमें मरनेवाले हैं, उनका क्या कर्तव्य है? ये ही दो प्रश्न उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे भी किये तथा क्रमशः इन्हीं दोनों प्रश्नोंका उत्तर द्वितीय स्कन्धसे लेकर द्वादशपर्यन्त श्रीशुकदेवजीने दिया है।

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दु-
र्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः॥ ३०

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत्॥ ३१

परीक्षिदुवाच

अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः।
कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः॥ ३२

येषां संस्मरणात् पुंसां[1] सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः॥ ३३

सांनिध्यात्ते महायोगिन्पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः॥ ३४

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः॥ ३५

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम्।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः[2]॥ ३६

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा॥ ३७

ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंके समूहसे आवृत श्रीशुकदेवजी अत्यन्त शोभायमान हुए। वास्तवमें वे महात्माओंके भी आदरणीय थे॥ ३०॥

जब प्रखरबुद्धि श्रीशुकदेवजी शान्तभावसे बैठ गये, तब भगवान्‌के परम भक्त परीक्षित्‌ने उनके समीप आकर और चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया। फिर खड़े होकर हाथ जोड़कर नमस्कार किया। उसके पश्चात् बड़ी मधुर वाणीसे उनसे यह पूछा॥ ३१॥

परीक्षित्‌ने कहा—ब्रह्मस्वरूप भगवन्! आज हम बड़भागी हुए; क्योंकि अपराधी क्षत्रिय होनेपर भी हमें संत-समागमका अधिकारी समझा गया। आज कृपापूर्वक अतिथिरूपसे पधारकर आपने हमें तीर्थके तुल्य पवित्र बना दिया ॥ ३२॥

आप-जैसे महात्माओंके स्मरणमात्रसे ही गृहस्थोंके घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं; फिर दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसन-दानादिका सुअवसर मिलनेपर तो कहना ही क्या है॥ ३३॥

महायोगिन्! जैसे भगवान् विष्णुके सामने दैत्यलोग नहीं ठहरते, वैसे ही आपकी सन्निधिसे बड़े-बड़े पाप भी तुरंत नष्ट हो जाते हैं॥ ३४॥

अवश्य ही पाण्डवोंके सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर अत्यन्त प्रसन्न हैं; उन्होंने अपने फुफेरे भाइयोंकी प्रसन्नताके लिये उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुए मेरे साथ भी अपनेपनका व्यवहार किया है ॥ ३५॥

भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा न होती तो आप-सरीखे एकान्त वनवासी अव्यक्तगति परम सिद्ध पुरुष स्वयं पधारकर इस मृत्युके समय हम-जैसे प्राकृत मनुष्योंको क्यों दर्शन देते॥ ३६॥

आप योगियोंके परम गुरु हैं, इसलिये मैं आपसे परम सिद्धिके स्वरूप और साधनके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहा हूँ। जो पुरुष सर्वथा मरणासन्न है, उसको क्या करना चाहिये?॥ ३७॥

१. प्रा० पा०—पुंसः। २. प्रा० पा० वरीयसः।

यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्॥ ३८

भगवन्! साथ ही यह भी बतलाइये कि मनुष्यमात्रको क्या करना चाहिये। वे किसका श्रवण, किसका जप, किसका स्मरण और किसका भजन करें तथा किसका त्याग करें?॥ ३८॥

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम्।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित्॥ ३९

भगवत्स्वरूप मुनिवर! आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि जितनी देर एक गाय दुही जाती है, गृहस्थोंके घरपर उतनी देर भी तो आप नहीं ठहरते॥ ३९॥

सूत उवाच

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः॥ ४०

सूतजी कहते हैं—जब राजाने बड़ी ही मधुर वाणीमें इस प्रकार सम्भाषण एवं प्रश्न किये, तब समस्त धर्मोंके मर्मज्ञ व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी उनका उत्तर देने लगे॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे शुकागमनं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

॥ इति प्रथमः स्कन्धः समाप्तः॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

॥ ॐ तत्सत्॥

॥ श्रीगणेशाय: नमः॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वितीयः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

ध्यान-विधि और भगवान्‌के विराट्स्वरूपका वर्णन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीशुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं[1] नृप।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥ १

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥ २

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥ ३

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि[2]।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥ ४

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्[3]॥ ५

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥ ६

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! तुम्हारा लोकहितके लिये किया हुआ यह प्रश्न बहुत ही उत्तम है। मनुष्योंके लिये जितनी भी बातें सुनने, स्मरण करने या कीर्तन करनेकी हैं, उन सबमें यह श्रेष्ठ है। आत्मज्ञानी महापुरुष ऐसे प्रश्नका बड़ा आदर करते हैं॥ १॥ राजेन्द्र! जो गृहस्थ घरके काम-धंधोंमें उलझे हुए हैं, अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनके लिये हजारों बातें कहने-सुनने एवं सोचने, करनेकी रहती हैं॥ २॥ उनकी सारी उम्र यों ही बीत जाती है। उनकी रात नींद या स्त्री-प्रसंगसे कटती है और दिन धनकी हाय-हाय या कुटुम्बियोंके भरण-पोषणमें समाप्त हो जाता है॥ ३॥ संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं; परन्तु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो जाता है कि रात-दिन उनको मृत्युका ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं॥ ४॥ इसलिये परीक्षित्! जो अभय पदको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये॥ ५॥ मनुष्य-जन्मका यही—इतना ही लाभ है कि चाहे जैसे हो—ज्ञानसे, भक्तिसे अथवा अपने धर्मकी निष्ठासे जीवनको ऐसा बना लिया जाय कि मृत्युके समय भगवान्‌की स्मृति अवश्य बनी रहे॥ ६॥

---

१. प्रा० पा०—लोकहितो। २. प्रा० पा०—सौख्येष्व०। ३. प्रा० पा०—व्यः स्वेच्छया विभुः।

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥ ७

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्॥ ८

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥ ९

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती॥ १०

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप[1] निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥ ११

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत[2] श्रेयसे यतः॥ १२

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥ १३

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीविताविधिः।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम्॥ १४

अन्तकाले तु [3] पुरुष आगते गतसाध्वसः।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु[4] ये च तम्॥ १५

परीक्षित्! जो निर्गुण स्वरूपमें स्थित हैं एवं विधि-निषेधकी मर्यादाको लाँघ चुके हैं, वे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी प्रायः भगवान्‌के अनन्त कल्याणमय गुणगणोंके वर्णनमें रमे रहते हैं॥ ७॥ द्वापरके अन्तमें इस भगवद्‌रूप अथवा वेदतुल्य श्रीमद्‌भागवत नामके महापुराणका अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायनसे मैंने अध्ययन किया था॥ ८॥ राजर्षे! मेरी निर्गुणस्वरूप परमात्मामें पूर्ण निष्ठा है। फिर भी भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंने बलात् मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। यही कारण है कि मैंने इस पुराणका अध्ययन किया॥ ९॥ तुम भगवान्‌के परमभक्त हो, इसलिये तुम्हें मैं इसे सुनाऊँगा। जो इसके प्रति श्रद्धा रखते हैं, उनकी शुद्ध चित्तवृत्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्यप्रेमके साथ बहुत शीघ्र लग जाती है॥ १०॥ जो लोग लोक या परलोककी किसी भी वस्तुकी इच्छा रखते हैं या इसके विपरीत संसारमें दुःखका अनुभव करके जो उससे विरक्त हो गये हैं और निर्भय मोक्षपदको प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंके लिये तथा योगसम्पन्न सिद्ध ज्ञानियोंके लिये भी समस्त शास्त्रोंका यही निर्णय है कि वे भगवान्‌के नामोंका प्रेमसे संकीर्तन करें॥ ११॥ अपने कल्याण-साधनकी ओरसे असावधान रहनेवाले पुरुषकी वर्षों लम्बी आयु भी अनजानमें ही व्यर्थ बीत जाती है। उससे क्या लाभ! सावधानीसे ज्ञानपूर्वक बितायी हुई घड़ी, दो घड़ी भी श्रेष्ठ है; क्योंकि उसके द्वारा अपने कल्याणकी चेष्टा तो की जा सकती है॥ १२॥ राजर्षि खट्वांग अपनी आयुकी समाप्तिका समय जानकर दो घड़ीमें ही सब कुछ त्यागकर भगवान्‌के अभयपदको प्राप्त हो गये॥ १३॥ परीक्षित्! अभी तो तुम्हारे जीवनकी अवधि सात दिनकी है। इस बीचमें ही तुम अपने परम कल्याणके लिये जो कुछ करना चाहिये, सब कर लो॥ १४॥

मृत्युका समय आनेपर मनुष्य घबराये नहीं। उसे चाहिये कि वह वैराग्यके शस्त्रसे शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवालोंके प्रति ममताको काट डाले॥ १५॥

१. प्रा० पा०—नृपते गीतं। २. प्रा० पा०—यतते। ३. प्रा० पा०—ऽपि। ४. प्रा० पा०—देहानुयायिनीम्।

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः[1]।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने॥ १६

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्[2]॥ १७

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया॥ १८

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति॥ १९

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम्॥ २०

यस्यां सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः।
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः॥ २१

राजोवाच

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम्॥ २२

श्रीशुक उवाच

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया॥ २३

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्॥ २४

धैर्यके साथ घरसे निकलकर पवित्र तीर्थके जलमें स्नान करे और पवित्र तथा एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक आसन लगाकर बैठ जाय॥ १६॥ तत्पश्चात् परम पवित्र 'अ उ म्' इन तीन मात्राओंसे युक्त प्रणवका मन-ही-मन जप करे। प्राणवायुको वशमें करके मनका दमन करे और एक क्षणके लिये भी प्रणवको न भूले॥ १७॥ बुद्धिकी सहायतासे मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटा ले और कर्मकी वासनाओंसे चंचल हुए मनको विचारके द्वारा रोककर भगवान्के मंगलमय रूपमें लगाये॥ १८॥ स्थिर चित्तसे भगवान्के श्रीविग्रहमेंसे किसी एक अंगका ध्यान करे। इस प्रकार एक-एक अंगका ध्यान करते-करते विषय-वासनासे रहित मनको पूर्णरूपसे भगवान्में ऐसा तल्लीन कर दे कि फिर और किसी विषयका चिन्तन ही न हो। वही भगवान् विष्णुका परमपद है, जिसे प्राप्त करके मन भगवत्प्रेमरूप आनन्दसे भर जाता है॥ १९॥ यदि भगवान्का ध्यान करते समय मन रजोगुणसे विक्षिप्त या तमोगुणसे मूढ़ हो जाय तो घबराये नहीं। धैर्यके साथ योगधारणाके द्वारा उसे वशमें करना चाहिये; क्योंकि धारणा उक्त दोनों गुणोंके दोषोंको मिटा देती है॥ २०॥ धारणा स्थिर हो जानेपर ध्यानमें जब योगी अपने परम मंगलमय आश्रय (भगवान्)-को देखता है तब उसे तुरंत ही भक्तियोगकी प्राप्ति हो जाती है॥ २१॥

परीक्षित्ने पूछा—ब्रह्मन्! धारणा किस साधनसे किस वस्तुमें किस प्रकार की जाती है और उसका क्या स्वरूप माना गया है, जो शीघ्र ही मनुष्यके मनका मैल मिटा देती है?॥ २२॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! आसन, श्वास, आसक्ति और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके फिर बुद्धिके द्वारा मनको भगवान्के स्थूलरूपमें लगाना चाहिये॥ २३॥ यह कार्यरूप सम्पूर्ण विश्व जो कुछ कभी था, है या होगा—सब-का-सब जिसमें दीख पड़ता है वही भगवान्का स्थूल-से-स्थूल और विराट् शरीर है॥ २४॥

१. प्रा० पा०—परिप्लुतः। २. प्रा० पा०—मनुस्म०।

आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः॥ २५
पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे॥ २६
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलं चातलं च।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति॥ २७
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः
सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः॥ २८
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः॥ २९
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा॥ ३०
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः॥ ३१
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम्।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः॥ ३२
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः॥ ३३

जल, अग्नि , वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन सात आवरणोंसे घिरे हुए इस ब्रह्माण्डशरीरमें जो विराट् पुरुष भगवान् हैं, वे ही धारणाके आश्रय हैं, उन्हींकी धारणा की जाती है॥ २५ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष उनका इस प्रकार वर्णन करते हैं—पाताल विराट् पुरुषके तलवे हैं, उनकी एड़ियाँ और पंजे रसातल हैं, दोनों गुल्फ—एड़ीके ऊपरकी गाँठें महातल हैं, उनके पैरके पिंडे तलातल हैं, ॥ २६ ॥

विश्व-मूर्तिभगवान्के दोनों घुटने सुतल हैं, जाँघें वितल और अतल हैं, पेड़ू भूतल है और परीक्षित्! उनके नाभिरूप सरोवरको ही आकाश कहते हैं॥ २७॥

आदिपुरुष परमात्माकी छातीको स्वर्गलोक, गलेको महर्लोक, मुखको जनलोक और ललाटको तपोलोक कहते हैं। उन सहस्र सिरवाले भगवान्का मस्तकसमूह ही सत्यलोक है॥ २८ ॥

इन्द्रादि देवता उनकी भुजाएँ हैं। दिशाएँ कान और शब्द श्रवणेन्द्रिय हैं। दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके छिद्र हैं; गन्ध घ्राणेन्द्रिय है और धधकती हुई आग उनका मुख है॥ २९ ॥

भगवान् विष्णुके नेत्र अन्तरिक्ष हैं, उनमें देखनेकी शक्ति सूर्य है, दोनों पलकें रात और दिन हैं, उनका भ्रूविलास ब्रह्मलोक है। तालु जल है और जिह्वा रस॥ ३० ॥ वेदोंको भगवान्का ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं और यमको दाढ़ें। सब प्रकारके स्नेह दाँत हैं और उनकी जगन्मोहिनी मायाको ही उनकी मुसकान कहते हैं। यह अनन्त सृष्टि उसी मायाका कटाक्ष-विक्षेप है॥ ३१ ॥

लज्जा ऊपरका होठ और लोभ नीचेका होठ है। धर्म स्तन और अधर्म पीठ है। प्रजापति उनके मूत्रेन्द्रिय हैं, मित्रावरुण अण्डकोश हैं, समुद्र कोख है और बड़े-बड़े पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं॥ ३२ ॥

राजन्! विश्वमूर्ति विराट् पुरुषकी नाड़ियाँ नदियाँ हैं। वृक्ष रोम हैं। परम प्रबल वायु श्वास है। काल उनकी चाल है और गुणोंका चक्कर चलाते रहना ही उनका कर्म है॥ ३३ ॥

ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः॥ ३४
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे॥ ३५
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः
स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः[१] ॥ ३६
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा
विड्रूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः॥ ३७
इयानसावीश्वरविग्रहस्य
यः सन्निवेशः कथितो मया ते।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित्॥ ३८
स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः॥ ३९

परीक्षित्! बादलोंको उनके केश मानते हैं। सन्ध्या उन अनन्तका वस्त्र है। महात्माओंने अव्यक्त (मूलप्रकृति)-को ही उनका हृदय बतलाया है और सब विकारोंका खजाना उनका मन चन्द्रमा कहा गया है॥ ३४॥

महत्तत्त्वको सर्वात्मा भगवान्‌का चित्त कहते हैं और रुद्र उनके अहंकार कहे गये हैं। घोड़े, खच्चर, ऊँट और हाथी उनके नख हैं। वनमें रहनेवाले सारे मृग और पशु उनके कटिप्रेदशमें स्थित हैं॥ ३५॥

तरह-तरहके पक्षी उनके अद्‌भुत रचना-कौशल हैं। स्वायम्भुव मनु उनकी बुद्धि हैं और मनुकी सन्तान मनुष्य उनके निवासस्थान हैं। गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएँ उनके षड्‌ज आदि स्वरोंकी स्मृति हैं। दैत्य उनके वीर्य हैं॥ ३६॥

ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य जंघाएँ और शूद्र उन विराट् पुरुषके चरण हैं। विविध देवताओंके नामसे जो बड़े-बड़े द्रव्यमय यज्ञ किये जाते हैं, वे उनके कर्म हैं॥ ३७॥

परीक्षित्! विराट्‌भगवान्‌के स्थूलशरीरका यही स्वरूप है, सो मैंने तुम्हें सुना दिया। इसीमें मुमुक्षु पुरुष बुद्धिके द्वारा मनको स्थिर करते हैं; क्योंकि इससे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है॥ ३८॥

जैसे स्वप्न देखनेवाला स्वप्नावस्थामें अपने-आपको ही विविध पदार्थोंके रूपमें देखता है, वैसे ही सबकी बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा सब कुछ अनुभव करनेवाला सर्वान्तर्यामी परमात्मा भी एक ही है। उन सत्यस्वरूप आनन्दनिधि भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये, अन्य किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यह आसक्ति जीवके अध:पतनका हेतु है॥ ३९॥

इति श्रीमद्‌भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे महापुरुषसंस्थानुवर्णने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

---

१. प्रा० पा०—स्वरः स्मृतिर्वै भासुरानीकवीर्यः।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्मरूपोंकी धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका वर्णन

श्रीशुक उवाच

एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनि-
र्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात्।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टि-
र्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः॥ १

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः॥ २

अतः कविर्नामसु यावदर्थः
स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र
परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः॥ ३

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥ ४

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने इसी धारणाके द्वारा प्रसन्न हुए भगवान्‌से वह सृष्टिविषयक स्मृति प्राप्त की थी जो पहले प्रलयकालमें विलुप्त हो गयी थी। इससे उनकी दृष्टि अमोघ और बुद्धि निश्चयात्मिका हो गयी तब उन्होंने इस जगत्‌को वैसे ही रचा जैसा कि यह प्रलयके पहले था॥ १॥

वेदोंकी वर्णनशैली ही इस प्रकारकी है कि लोगोंकी बुद्धि स्वर्ग आदि निरर्थक नामोंके फेरमें फँस जाती है, जीव वहाँ सुखकी वासनामें स्वप्न-सा देखता हुआ भटकने लगता है; किंतु उन मायामय लोकोंमें कहीं भी उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं होती॥ २॥ इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह विविध नामवाले पदार्थोंसे उतना ही व्यवहार करे, जितना प्रयोजनीय हो। अपनी बुद्धिको उनकी निस्सारताके निश्चयसे परिपूर्ण रखे और एक क्षणके लिये भी असावधान न हो। यदि संसारके पदार्थ प्रारब्धवश बिना परिश्रमके यों ही मिल जायँ, तब उनके उपार्जनका परिश्रम व्यर्थ समझकर उनके लिये कोई प्रयत्न न करे॥ ३॥ जब जमीनपर सोनेसे काम चल सकता है तब पलँगके लिये प्रयत्न करनेसे क्या प्रयोजन। जब भुजाएँ अपनेको भगवान्‌की कृपासे स्वयं ही मिली हुई हैं तब तकियोंकी क्या आवश्यकता। जब अंजलिसे काम चल सकता है तब बहुत-से बर्तन क्यों बटोरें। वृक्षकी छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता॥ ४॥ पहननेको क्या रास्तोंमें चिथड़े नहीं हैं? भूख लगनेपर दूसरोंके लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूलकी भिक्षा नहीं देते? जल चाहनेवालोंके लिये नदियाँ क्या बिलकुल सूख गयी हैं? रहनेके लिये क्या पहाड़ोंकी गुफाएँ बंद कर दी गयी हैं? अरे भाई! सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणगतोंकी रक्षा नहीं करते? ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग भी धनके नशेमें चूर घमंडी धनियोंकी चापलूसी क्यों करते हैं?॥ ५॥

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र॥ ६
कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात्।
पश्यञ्जनं पतितं वैतरण्यां
स्वकर्मजान् परितापाञ्जुषाणम्॥ ७
केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥ ८
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥ ९
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धर-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाऽऽचितम्॥ १०
विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ ११
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते॥ १२

इस प्रकार विरक्त हो जानेपर अपने हृदयमें नित्य विराजमान, स्वत:सिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्तभगवान् हैं, बड़े प्रेम और आनन्दसे दृढ़ निश्चय करके उन्हींका भजन करे; क्योंकि उनके भजनसे जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले अज्ञानका नाश हो जाता है॥ ६ ॥ पशुओंकी बात तो अलग है; परन्तु मनुष्योंमें भला ऐसा कौन है जो लोगोंको इस संसाररूप वैतरणी नदीमें गिरकर अपने कर्मजन्य दु:खोंको भोगते हुए देखकर भी भगवान्का मंगलमय चिन्तन नहीं करेगा, इन असत् विषय-भोगोंमें ही अपने चित्तको भटकने देगा ?॥ ७॥

कोई-कोई साधक अपने शरीरके भीतर हृदयाकाशमें विराजमान भगवान्के प्रादेशमात्र स्वरूपकी धारणा करते हैं। वे ऐसा ध्यान करते हैं कि भगवान्की चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं॥ ८॥ उनके मुखपर प्रसन्नता झलक रही है। कमलके समान विशाल और कोमल नेत्र हैं। कदम्बके पुष्पकी केसरके समान पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं। भुजाओंमें श्रेष्ठ रत्नोंसे जड़े हुए सोनेके बाजूबंद शोभायमान हैं। सिरपर बड़ा ही सुन्दर मुकुट और कानोंमें कुण्डल हैं, जिनमें जड़े हुए बहुमूल्य रत्न जगमगा रहे हैं॥ ९॥ उनके चरणकमल योगेश्वरोंके खिले हुए हृदयकमलकी कर्णिकापर विराजित हैं। उनके हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न—एक सुनहरी रेखा है। गलेमें कौस्तुभमणि लटक रही है। वक्ष:स्थल कभी न कुम्हलानेवाली वनमालासे घिरा हुआ है॥ १०॥ वे कमरमें करधनी, अँगुलियोंमें बहुमूल्य अँगूठी, चरणोंमें नूपुर और हाथोंमें कंगन आदि आभूषण धारण किये हुए हैं। उनके बालोंकी लटें बहुत चिकनी, निर्मल, घुँघराली और नीली हैं। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिल रहा है॥ ११॥ लीलापूर्ण उन्मुक्त हास्य और चितवनसे शोभायमान भौंहोंके द्वारा वे भक्तजनोंपर अनन्त अनुग्रहकी वर्षा कर रहे हैं। जबतक मन इस धारणाके द्वारा स्थिर न हो जाय, तबतक बार-बार इन चिन्तनस्वरूप भगवान्को देखते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये॥ १२॥

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्[1]
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति[2] धीर्यथा यथा॥ १३

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत॥ १४

स्थिरं सुखं चासनमाश्रितो यति-
र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम्।
काले च देशे च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः॥ १५

मनः[3] स्वबुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ[4] एतां निनयेत् तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्॥ १६

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥ १७

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥ १८

भगवान्‌के चरण-कमलोंसे लेकर उनके मुसकानयुक्त मुखकमलपर्यन्त समस्त अंगोंकी एक-एक करके बुद्धिके द्वारा धारणा करनी चाहिये। जैसे-जैसे बुद्धि शुद्ध होती जायगी, वैसे-वैसे चित्त स्थिर होता जायगा। जब एक अंगका ध्यान ठीक-ठीक होने लगे, तब उसे छोड़कर दूसरे अंगका ध्यान करना चाहिये॥ १३॥ ये विश्वेश्वर भगवान् दृश्य नहीं, द्रष्टा हैं। सगुण, निर्गुण—सब कुछ इन्हींका स्वरूप है। जबतक इनमें अनन्य प्रेममय भक्तियोग न हो जाय तबतक साधकको नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके बाद एकाग्रतासे भगवान्‌के उपर्युक्त स्थूलरूपका ही चिन्तन करना चाहिये॥ १४॥

परीक्षित्! जब योगी पुरुष इस मनुष्यलोकको छोड़ना चाहे तब देश और कालमें मनको न लगाये। सुखपूर्वक स्थिर आसनसे बैठकर प्राणोंको जीतकर मनसे इन्द्रियोंका संयम करे॥ १५॥ तदनन्तर अपनी निर्मल बुद्धिसे मनको नियमित करके मनके साथ बुद्धिको क्षेत्रज्ञमें और क्षेत्रज्ञको अन्तरात्मामें लीन कर दे। फिर अन्तरात्माको परमात्मामें लीन करके धीर पुरुष उस परम शान्तिमय अवस्थामें स्थित हो जाय। फिर उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता॥ १६॥ इस अवस्थामें सत्त्वगुण भी नहीं है, फिर रजोगुण और तमोगुणकी तो बात ही क्या है। अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृतिका भी वहाँ अस्तित्व नहीं है। उस स्थितिमें जब देवताओंके नियामक कालकी भी दाल नहीं गलती, तब देवता और उनके अधीन रहनेवाले प्राणी तो रह ही कैसे सकते हैं?॥ १७॥ योगीलोग 'यह नहीं, यह नहीं'—इस प्रकार परमात्मासे भिन्न पदार्थोंका त्याग करना चाहते हैं और शरीर तथा उसके सम्बन्धी पदार्थोंमें आत्मबुद्धिका त्याग करके हृदयके द्वारा पद-पदपर भगवान्‌के जिस परम पूज्य स्वरूपका आलिंगन करते हुए अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण रहते हैं, वही भगवान् विष्णुका परम पद है—इस विषयमें समस्त शास्त्रोंकी सम्मति है॥ १८॥

१. प्रा० पा०—भावयन्। २. प्रा० पा०—चात्मनि। ३. प्रा० पा०—मनश्च बुद्ध्या। ४. प्रा० पा०—क्षेत्रज्ञमेतं निनयेद् य आत्मनि।

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो
विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः॥ १९
नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मा-
दुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी
स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत॥ २०
तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टि-
र्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः॥ २१
यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं
वैहायसानामुत यद् विहारम्।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च॥ २२
योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥ २३
वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्॥ २४

ज्ञानदृष्टिके बलसे जिसके चित्तकी वासना नष्ट हो गयी है, उस ब्रह्मनिष्ठ योगीको इस प्रकार अपने शरीरका त्याग करना चाहिये। पहले एड़ीसे अपनी गुदाको दबाकर स्थिर हो जाय और तब बिना घबड़ाहटके प्राणवायुको षट्चक्रभेदनकी रीतिसे ऊपर ले जाय॥ १९॥ मनस्वी योगीको चाहिये कि नाभिचक्र मणिपूरकमें स्थित वायुको हृदयचक्र अनाहतमें, वहाँसे उदानवायुके द्वारा वक्षःस्थलके ऊपर विशुद्ध चक्रमें, फिर उस वायुको धीरे-धीरे तालुमूलमें (विशुद्ध चक्रके अग्रभागमें) चढ़ा दे॥ २०॥ तदनन्तर दो आँख, दो कान, दो नासाछिद्र और मुख—इन सातों छिद्रोंको रोककर उस तालुमूलमें स्थित वायुको भौंहोंके बीच आज्ञाचक्रमें ले जाय। यदि किसी लोकमें जानेकी इच्छा न हो तो आधी घड़ीतक उस वायुको वहीं रोककर स्थिर लक्ष्यके साथ उसे सहस्रारमें ले जाकर परमात्मामें स्थित हो जाय। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करके शरीर-इन्द्रियादिको छोड़ दे॥ २१॥

परीक्षित्! यदि योगीकी इच्छा हो कि मैं ब्रह्म-लोकमें जाऊँ, आठों सिद्धियाँ प्राप्त करके आकाशचारी सिद्धोंके साथ विहार करूँ अथवा त्रिगुणमय ब्रह्माण्डके किसी भी प्रदेशमें विचरण करूँ तो उसे मन और इन्द्रियोंको साथ ही लेकर शरीरसे निकलना चाहिये॥ २२॥

योगियोंका शरीर वायुकी भाँति सूक्ष्म होता है। उपासना, तपस्या, योग और ज्ञानका सेवन करनेवाले योगियोंको त्रिलोकीके बाहर और भीतर सर्वत्र स्वच्छन्दरूपसे विचरण करनेका अधिकार होता है। केवल कर्मोंके द्वारा इस प्रकार बेरोक-टोक विचरना नहीं हो सकता॥ २३॥

परीक्षित्! योगी ज्योतिर्मय मार्ग सुषुम्णाके द्वारा जब ब्रह्मलोककेलिये प्रस्थान करता है, तब पहले वह आकाशमार्गसे अग्निलोकमें जाता है; वहाँ उसके बचे-खुचे मल भी जल जाते हैं। इसके बाद वह वहाँसे ऊपर भगवान् श्रीहरिके शिशुमार नामक ज्योतिर्मय चक्रपर पहुँचता है॥ २४॥

तद् विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो-
रणीयसा विरजेनात्मनैकः।
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति
कल्पायुषो यद्[1] विबुधा रमन्ते॥ २५

भगवान् विष्णुका यह शिशुमार चक्र विश्व-ब्रह्माण्डके भ्रमणका केन्द्र है। उसका अतिक्रमण करके अत्यन्त सूक्ष्म एवं निर्मल शरीरसे वह अकेला ही महर्लोकमें जाता है। वह लोक ब्रह्मवेत्ताओंके द्वारा भी वन्दित है और उसमें कल्पपर्यन्त जीवित रहनेवाले देवता विहार करते रहते हैं॥ २५॥

अथो अनन्तस्य मुखानलेन
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्।
निर्याति सिद्धेश्वर[2]जुष्टधिष्ण्यं
यद् द्वैपरार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम्॥ २६

फिर जब प्रलयका समय आता है, तब नीचेके लोकोंको शेषके मुखसे निकली हुई आगके द्वारा भस्म होते देख वह ब्रह्मलोकमें चला जाता है, जिस ब्रह्मलोकमें बड़े-बड़े सिद्धेश्वर विमानोंपर निवास करते हैं। उस ब्रह्मलोककी आयु ब्रह्माकी आयुके समान ही दो परार्द्धकी है॥ २६॥

न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
र्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित्।
यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदां
दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् ॥ २७

वहाँ न शोक है न दुःख, न बुढ़ापा है न मृत्यु। फिर वहाँ किसी प्रकारका उद्वेग या भय तो हो ही कैसे सकता है। वहाँ यदि दुःख है तो केवल एक बातका। वह यही कि इस परमपदको न जाननेवाले लोगोंके जन्म-मृत्युमय अत्यन्त घोर संकटोंको देखकर दयावश वहाँके लोगोंके मनमें बड़ी व्यथा होती है॥ २७॥

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-
स्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले
वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम्॥ २८

सत्यलोकमें पहुँचनेके पश्चात् वह योगी निर्भय होकर अपने सूक्ष्म शरीरको पृथ्वीसे मिला देता है और फिर उतावली न करते हुए सात आवरणोंका भेदन करता है। पृथ्वीरूपसे जलको और जलरूपसे अग्निमय आवरणोंको प्राप्त होकर वह ज्योतिरूपसे वायुरूप आवरणमें आ जाता है और वहाँसे समयपर ब्रह्मकी अनन्तताका बोध करानेवाले आकाशरूप आवरणको प्राप्त करता है॥ २८॥

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपं तु दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं
प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी॥ २९

इस प्रकार स्थूल आवरणोंको पार करते समय उसकी इन्द्रियाँ भी अपने सूक्ष्म अधिष्ठानमें लीन होती जाती हैं। घ्राणेन्द्रिय गन्धतन्मात्रामें, रसना रसतन्मात्रामें, नेत्र रूपतन्मात्रामें, त्वचा स्पर्शतन्मात्रामें, श्रोत्र शब्दतन्मात्रामें और कर्मेन्द्रियाँ अपनी-अपनी क्रियाशक्तिमें मिलकर अपने-अपने सूक्ष्मस्वरूपको प्राप्त हो जाती हैं॥ २९॥

१. प्रा० पा०—विबुधा यद्रमन्ते। २. प्रा० पा०—विश्वेश्वर०।

स[1] भूतसूक्ष्मेन्द्रियसंनिकर्षं
मनोमयं देवमयं विकार्यम्।
संसाद्य गत्या सह तेन याति
विज्ञानतत्त्वं गुणसंनिरोधम्॥ ३०

तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग॥ ३१

एते सृती ते नृप वेदगीते
त्वयाभिपृष्टे ह[2] सनातने च।
ये[3] वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट
आराधितो भगवान् वासुदेवः॥ ३२

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥ ३३

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥ ३४

इस प्रकार योगी पंचभूतोंके स्थूल-सूक्ष्म आवरणोंको पार करके अहंकारमें प्रवेश करता है। वहाँ सूक्ष्म भूतोंको तामस अहंकारमें, इन्द्रियोंको राजस अहंकारमें तथा मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको सात्त्विक अहंकारमें लीन कर देता है। इसके बाद अहंकारके सहित लयरूप गतिके द्वारा महत्तत्त्वमें प्रवेश करके अन्तमें समस्त गुणोंके लयस्थान प्रकृतिरूप आवरणमें जा मिलता है॥ ३० ॥ परीक्षित्! महाप्रलयके समय प्रकृतिरूप आवरणका भी लय हो जानेपर वह योगी स्वयं आनन्दस्वरूप होकर अपने उस निरावरण रूपसे आनन्दस्वरूप शान्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जिसे इस भगवन्मयी गतिकी प्राप्ति हो जाती है उसे फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता॥ ३१ ॥ परीक्षित्! तुमने जो पूछा था, उसके उत्तरमें मैंने वेदोक्त द्विविध सनातन मार्ग सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिका तुमसे वर्णन किया। पहले ब्रह्माजीने भगवान् वासुदेवकी आराधना करके उनसे जब प्रश्न किया था, तब उन्होंने उत्तरमें इन्हीं दोनों मार्गोंकी बात ब्रह्माजीसे कही थी॥ ३२ ॥

संसारचक्रमें पड़े हुए मनुष्यके लिये जिस साधनके द्वारा उसे भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाय, उसके अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है॥ ३३ ॥ भगवान् ब्रह्माने एकाग्रचित्तसे सारे वेदोंका तीन बार अनुशीलन करके अपनी बुद्धिसे यही निश्चय किया कि जिससे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्यप्रेम प्राप्त हो वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है॥ ३४ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'स भूतसूक्ष्मे·····' से लेकर '·····ऽवसाने' तक डेढ़ श्लोककी जगह कुछ परिवर्तनके साथ दो चरण और बढ़ाकर पूरे दो श्लोक मिलते हैं, यथा—

'स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षात् सनातनोऽसौ भगवाननादिः।
अनामयं देवमयं विकार्यं संसाद्य गत्या सह तेन याति॥ १॥
विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधं तेनात्मनात्मानमुपैति शान्तम्।
आनन्दमानन्दमयोऽवसाने सर्वात्मके ब्रह्मणि वासुदेवे॥ २॥

इसके आगे मूलके ही अनुसार है।

२. प्रा० पा०—च। ३. प्रा० पा०—यद्वै।

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥ ३५

समस्त चर-अचर प्राणियोंमें उनके आत्मारूपसे भगवान् श्रीकृष्ण ही लक्षित होते हैं; क्योंकि ये बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं, वे इन सबके साक्षी एकमात्र द्रष्टा हैं ॥ ३५ ॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्॥ ३६

परीक्षित्! इसलिये मनुष्योंको चाहिये कि सब समय और सभी स्थितियोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें ॥ ३६ ॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥ ३७

राजन्! संत पुरुष आत्मस्वरूप भगवान्‌की कथाका मधुर अमृत बाँटते ही रहते हैं; जो अपने कानके दोनोंमें भर-भरकर उनका पान करते हैं, उनके हृदयसे विषयोंका विषैला प्रभाव जाता रहता है, वह शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सन्निधि प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे
पुरुषसंस्थावर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

कामनाओंके अनुसार विभिन्न देवताओंकी उपासना तथा भगवद्भक्तिके प्राधान्यका निरूपण

श्रीशुक उवाच

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान् मम।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्॥ १

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! तुमने मुझसे जो पूछा था कि मरते समय बुद्धिमान् मनुष्यको क्या करना चाहिये, उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया॥ १॥

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ २

जो ब्रह्मतेजका इच्छुक हो वह बृहस्पतिकी; जिसे इन्द्रियोंकी विशेष शक्तिकी कामना हो वह इन्द्रकी और जिसे सन्तानकी लालसा हो वह प्रजापतियोंकी उपासना करे॥ २॥

देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥ ३

जिसे लक्ष्मी चाहिये वह मायादेवीकी, जिसे तेज चाहिये वह अग्निकी, जिसे धन चाहिये वह वसुओंकी और जिस प्रभावशाली पुरुषको वीरताकी चाह हो उसे रुद्रोंकी उपासना करनी चाहिये॥ ३॥

अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥ ४

जिसे बहुत अन्न प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह अदितिका; जिसे स्वर्गकी कामना हो वह अदितिके पुत्र देवताओंका, जिसे राज्यकी अभिलाषा हो वह विश्वेदेवोंका और जो प्रजाको अपने अनुकूल बनानेकी इच्छा रखता हो उसे साध्य देवताओंका आराधन करना चाहिये॥ ४॥

आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥ ५

रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥ ६

यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥ ७

धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥ ८

राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्॥ ९

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ १०

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गतः॥ ११

ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्॥ १२

शौनक उवाच

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः।
किमन्यत्पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम्॥ १३

आयुकी इच्छासे अश्विनीकुमारोंका, पुष्टिकी इच्छासे पृथ्वीका और प्रतिष्ठाकी चाह हो तो लोक-माता पृथ्वी और द्यौ (आकाश)-का सेवन करना चाहिये॥ ५॥ सौन्दर्यकी चाहसे गन्धर्वोंकी, पत्नीकी प्राप्तिके लिये उर्वशी अप्सराकी और सबका स्वामी बननेके लिये ब्रह्माकी आराधना करनी चाहिये॥ ६॥ जिसे यशकी इच्छा हो वह यज्ञपुरुषकी, जिसे खजानेकी लालसा हो वह वरुणकी; विद्या प्राप्त करनेकी आकांक्षा हो तो भगवान् शंकरकी और पति-पत्नीमें परस्पर प्रेम बनाये रखनेके लिये पार्वतीजीकी उपासना करनी चाहिये॥ ७॥ धर्म-उपार्जन करनेके लिये विष्णु-भगवान्‌की, वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये पितरोंकी, बाधाओंसे बचनेके लिये यक्षोंकी और बलवान् होनेके लिये मरुद्गणोंकी आराधना करनी चाहिये॥ ८॥ राज्यके लिये मन्वन्तरोंके अधिपति देवोंको, अभिचारके लिये निर्ऋतिको, भोगोंके लिये चन्द्रमाको और निष्कामता प्राप्त करनेके लिये परम पुरुष नारायणको भजना चाहिये॥ ९॥ और जो बुद्धिमान् पुरुष है—वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो—उसे तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये॥ १०॥ जितने भी उपासक हैं, उनका सबसे बड़ा हित इसीमें है कि वे भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका संग करके भगवान्‌में अविचल प्रेम प्राप्त कर लें॥ ११॥ ऐसे पुरुषोंके सत्संगमें जो भगवान्‌की लीला-कथाएँ होती हैं, उनसे उस दुर्लभ ज्ञानकी प्राप्ति होती है जिससे संसार-सागरकी त्रिगुणमयी तरंगमालाओंके थपेड़े शान्त हो जाते हैं, हृदय शुद्ध होकर आनन्दका अनुभव होने लगता है, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति नहीं रहती, कैवल्यमोक्षका सर्वसम्मत मार्ग भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌की ऐसी रसमयी कथाओंका चस्का लग जानेपर भला कौन ऐसा है, जो उनमें प्रेम न करे॥ १२॥

शौनकजीने कहा—सूतजी! राजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीकी यह बात सुनकर उनसे और क्या पूछा? वे तो सर्वज्ञ होनेके साथ-ही-साथ मधुर वर्णन करनेमें भी बड़े निपुण थे॥ १३॥

एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम्।
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम्॥ १४

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः।
बालक्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे॥ १५

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे॥ १६

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया॥ १७

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥ १८

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥ १९

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥ २०

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥ २१

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥ २२

सूतजी! आप तो सब कुछ जानते हैं, हमलोग उनकी वह बातचीत बड़े प्रेमसे सुनना चाहते हैं, आप कृपा करके अवश्य सुनाइये। क्योंकि संतोंकी सभामें ऐसी ही बातें होती हैं जिनका पर्यवसान भगवान्की रसमयी लीला-कथामें ही होता है॥ १४॥ पाण्डुनन्दन महारथी राजा परीक्षित् बड़े भगवद्भक्त थे। बाल्यावस्थामें खिलौनोंसे खेलते समय भी वे श्रीकृष्णलीलाका ही रस लेते थे॥ १५॥ भगवन्मय श्रीशुकदेवजी भी जन्मसे ही भगवत्परायण हैं। ऐसे संतोंके सत्संगमें भगवान्के मंगलमय गुणोंकी दिव्य चर्चा अवश्य ही हुई होगी॥ १६॥ जिसका समय भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंके गान अथवा श्रवणमें व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त सभी मनुष्योंकी आयु व्यर्थ जा रही है। ये भगवान् सूर्य प्रतिदिन अपने उदय और अस्तसे उनकी आयु छीनते जा रहे हैं॥ १७॥ क्या वृक्ष नहीं जीते? क्या लुहारकी धौंकनी साँस नहीं लेती? गाँवके अन्य पालतू पशु क्या मनुष्य—पशुकी ही तरह खाते-पीते या मैथुन नहीं करते?॥ १८॥ जिसके कानमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथा कभी नहीं पड़ी, वह नर पशु, कुत्ते, ग्रामसूकर, ऊँट और गधेसे भी गया बीता है॥ १९॥

सूतजी! जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णकी कथा कभी नहीं सुनता, उसके कान बिलके समान हैं। जो जीभ भगवान्की लीलाओंका गायन नहीं करती, वह मेढककी जीभके समान टर्र-टर्र करनेवाली है; उसका तो न रहना ही अच्छा है॥ २०॥ जो सिर कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें झुकता नहीं, वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त होनेपर भी बोझामात्र ही है। जो हाथ भगवान्की सेवा-पूजा नहीं करते, वे सोनेके कंगनसे भूषित होनेपर भी मुर्देके हाथ हैं॥ २१॥ जो आँखें भगवान्की याद दिलानेवाली मूर्ति, तीर्थ, नदी आदिका दर्शन नहीं करतीं, वे मोरोंकी पाँखमें बने हुए आँखोंके चिह्नके समान निरर्थक हैं। मनुष्योंके वे पैर चलनेकी शक्ति रखनेपर भी न चलनेवाले पेड़ों-जैसे ही हैं, जो भगवान्की लीला-स्थलियोंकी यात्रा नहीं करते॥ २२॥

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥ २३
तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ २४
अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं
प्रभाषसे भागवतप्रधानः।
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः॥ २५

जिस मनुष्यने भगवत्प्रेमी संतोंके चरणोंकी धूल कभी सिरपर नहीं चढ़ायी, वह जीता हुआ भी मुर्दा है। जिस मनुष्यने भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी सुगन्ध लेकर उसकी सराहना नहीं की, वह श्वास लेता हुआ भी श्वासरहित शव है॥ २३॥ सूतजी! वह हृदय नहीं लोहा है, जो भगवान्‌के मंगलमय नामोंका श्रवण-कीर्तन करनेपर भी पिघलकर उन्हींकी ओर बह नहीं जाता। जिस समय हृदय पिघल जाता है, उस समय नेत्रोंमें आँसू छलकने लगते हैं और शरीरका रोम-रोम खिल उठता है॥ २४॥ प्रिय सूतजी! आपकी वाणी हमारे हृदयको मधुरतासे भर देती है। इसलिये भगवान्‌के परम भक्त, आत्मविद्या-विशारद श्रीशुकदेवजीने परीक्षित्‌के सुन्दर प्रश्न करनेपर जो कुछ कहा, वह संवाद आप कृपा करके हमलोगोंको सुनाइये॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

राजाका सृष्टिविषयक प्रश्न और शुकदेवजीका कथारम्भ

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः।
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात्॥ १

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु।
राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ॥ २

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः।
कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः॥ ३

संस्थां विज्ञाय संन्यस्य कर्म त्रैवर्गिकं च यत्।
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः॥ ४

सूतजी कहते हैं—शुकदेवजीके वचन भगवत्तत्त्वका निश्चय करानेवाले थे। उत्तरानन्दन राजा परीक्षित्‌ने उन्हें सुनकर अपनी शुद्ध बुद्धि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्यभावसे समर्पित कर दी॥ १॥ शरीर, पत्नी, पुत्र, महल, पशु, धन, भाई-बन्धु और निष्कण्टक राज्यमें नित्यके अभ्यासके कारण उनकी दृढ़ ममता हो गयी थी। एक क्षणमें ही उन्होंने उस ममताका त्याग कर दिया॥ २॥ शौनकादि ऋषियो! महामनस्वी परीक्षित्‌ने अपनी मृत्युका निश्चित समय जान लिया था। इसलिये उन्होंने धर्म, अर्थ और कामसे सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी कर्म थे, उनका संन्यास कर दिया। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णमें सुदृढ़ आत्मभावको प्राप्त होकर बड़ी श्रद्धासे भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा सुननेके लिये उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे यही प्रश्न किया, जिसे आप-लोग मुझसे पूछ रहे हैं॥ ३-४॥

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्वज्ञस्य तवानघ।
तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम्॥ ५

भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः॥ ६

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान्।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च॥ ७

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः।
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम्॥ ८

यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः॥ ९

विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान्खलु॥ १०

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः।
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे॥ ११

श्रीशुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने॥ १२

परीक्षित्ने पूछा—भगवत्स्वरूप मुनिवर! आप परम पवित्र और सर्वज्ञ हैं। आपने जो कुछ कहा है, वह सत्य एवं उचित है। आप ज्यों-ज्यों भगवान्की कथा कहते जा रहे हैं, त्यों-त्यों मेरे अज्ञानका परदा फटता जा रहा है॥ ५॥ मैं आपसे फिर भी यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् अपनी मायासे इस संसारकी सृष्टि कैसे करते हैं। इस संसारकी रचना तो इतनी रहस्यमयी है कि ब्रह्मादि समर्थ लोकपाल भी इसके समझनेमें भूल कर बैठते हैं॥ ६॥ भगवान् कैसे इस विश्वकी रक्षा और फिर संहार करते हैं? अनन्तशक्ति परमात्मा किन-किन शक्तियोंका आश्रय लेकर अपने-आपको ही खिलौने बनाकर खेलते हैं? वे बच्चोंके बनाये हुए घरौंदोंकी तरह ब्रह्माण्डोंको कैसे बनाते हैं और फिर किस प्रकार बात-की-बातमें मिटा देते हैं?॥ ७॥ भगवान् श्रीहरिकी लीलाएँ बड़ी ही अद्भुत—अचिन्त्य हैं। इसमें संदेह नहीं कि बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी उनकी लीलाका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है॥ ८॥ भगवान् तो अकेले ही हैं। वे बहुत-से कर्म करनेके लिये पुरुषरूपसे प्रकृतिके विभिन्न गुणोंको एक साथ ही धारण करते हैं अथवा अनेकों अवतार ग्रहण करके उन्हें क्रमशः धारण करते हैं॥ ९॥ मुनिवर! आप वेद और ब्रह्मतत्त्व दोनोंके पूर्ण मर्मज्ञ हैं, इसलिये मेरे इस सन्देहका निवारण कीजिये॥ १०॥

सूतजी कहते हैं—जब राजा परीक्षित्ने भगवान्के गुणोंका वर्णन करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब श्रीशुकदेवजीने भगवान् श्रीकृष्णका बार-बार स्मरण करके अपना प्रवचन प्रारम्भ किया॥ ११॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—उन पुरुषोत्तम भगवान्के चरणकमलोंमें मेरे कोटि-कोटि प्रणाम हैं, जो संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी लीला करनेके लिये सत्त्व, रज तथा तमोगुणरूप तीन शक्तियोंको स्वीकार कर ब्रह्मा, विष्णु और शंकरका रूप धारण करते हैं; जो समस्त चर-अचर प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं, जिनका स्वरूप और उसकी उपलब्धिका मार्ग बुद्धिके विषय नहीं हैं; जो स्वयं अनन्त हैं तथा जिनकी महिमा भी अनन्त है॥ १२॥

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥ १३
नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥ १४
यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १५
विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा-
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १६
तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १७
किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ १८
स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।

हम पुनः बार-बार उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं, जो सत्पुरुषोंका दुःख मिटाकर उन्हें अपने प्रेमका दान करते हैं, दुष्टोंकी सांसारिक बढ़ती रोककर उन्हें मुक्ति देते हैं तथा जो लोग परमहंस आश्रममें स्थित हैं, उन्हें उनकी भी अभीष्ट वस्तुका दान करते हैं। क्योंकि चर-अचर समस्त प्राणी उन्हींकी मूर्ति हैं, इसलिये किसीसे भी उनका पक्षपात नहीं है॥ १३॥ जो बड़े ही भक्तवत्सल हैं और हठपूर्वक भक्तिहीन साधन करनेवाले लोग जिनकी छाया भी नहीं छू सकते; जिनके समान भी किसीका ऐश्वर्य नहीं है, फिर उससे अधिक तो हो ही कैसे सकता है तथा ऐसे ऐश्वर्यसे युक्त होकर जो निरन्तर ब्रह्मस्वरूप अपने धाममें विहार करते रहते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ १४॥ जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन जीवोंके पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है, उन पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णको बार-बार नमस्कार है॥ १५॥ विवेकी पुरुष जिनके चरणकमलोंकी शरण लेकर अपने हृदयसे इस लोक और परलोककी आसक्ति निकाल डालते हैं और बिना किसी परिश्रमके ही ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेते हैं, उन मंगलमय कीर्तिवाले भगवान् श्रीकृष्णको अनेक बार नमस्कार है॥ १६॥ बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मन्त्रवेत्ता जबतक अपनी साधनाओंको तथा अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित नहीं कर देते, तबतक उन्हें कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। जिनके प्रति आत्मसमर्पणकी ऐसी महिमा है, उन कल्याणमयी कीर्तिवाले भगवान्को बार-बार नमस्कार है॥ १७॥ किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे पापी जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्को बार-बार नमस्कार है॥ १८॥ वे ही भगवान् ज्ञानियोंके आत्मा हैं, भक्तोंके स्वामी हैं, कर्मकाण्डियोंके लिये वेदमूर्ति हैं, धार्मिकोंके लिये धर्ममूर्ति हैं और तपस्वियोंके लिये तपःस्वरूप हैं। ब्रह्मा, शंकर आदि बड़े-बड़े

गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्॥ १९

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥ २०

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्॥ २१

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य[1] सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा[2] प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥ २२

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे॥ २३

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम्॥ २४

एतदेवात्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते।
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षात्[3] यदाह हरिरात्मनः॥ २५

देवता भी अपने शुद्ध हृदयसे उनके स्वरूपका चिन्तन करते और आश्चर्यचकित होकर देखते रहते हैं। वे मुझपर अपने अनुग्रहकी—प्रसादकी वर्षा करें॥ १९॥ जो समस्त सम्पत्तियोंकी स्वामिनी लक्ष्मीदेवीके पति हैं, समस्त यज्ञोंके भोक्ता एवं फलदाता हैं, प्रजाके रक्षक हैं, सबके अन्तर्यामी और समस्त लोकोंके पालनकर्ता हैं तथा पृथ्वीदेवीके स्वामी हैं, जिन्होंने यदुवंशमें प्रकट होकर अन्धक, वृष्णि एवं यदुवंशके लोगोंकी रक्षा की है तथा जो उन लोगोंके एकमात्र आश्रय रहे हैं—वे भक्तवत्सल, संतजनोंके सर्वस्व श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों॥ २०॥ विद्वान् पुरुष जिनके चरणकमलोंके चिन्तनरूप समाधिसे शुद्ध हुई बुद्धिके द्वारा आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं तथा उनके दर्शनके अनन्तर अपनी-अपनी मति और रुचिके अनुसार जिनके स्वरूपका वर्णन करते रहते हैं, वे प्रेम और मुक्तिके लुटानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों॥ २१॥ जिन्होंने सृष्टिके समय ब्रह्माके हृदयमें पूर्वकल्पकी स्मृति जागरित करनेके लिये ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवीको प्रेरित किया और वे अपने अंगोंके सहित वेदके रूपमें उनके मुखसे प्रकट हुईं, वे ज्ञानके मूलकारण भगवान् मुझपर कृपा करें, मेरे हृदयमें प्रकट हों॥ २२॥ भगवान् ही पंचमहाभूतोंसे इन शरीरोंका निर्माण करके इनमें जीवरूपसे शयन करते हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और एक मन—इन सोलह कलाओंसे युक्त होकर इनके द्वारा सोलह विषयोंका भोग करते हैं। वे सर्वभूतमय भगवान् मेरी वाणीको अपने गुणोंसे अलंकृत कर दें॥ २३॥ संत पुरुष जिनके मुखकमलसे मकरन्दके समान झरती हुई ज्ञानमयी सुधाका पान करते रहते हैं उन वासुदेवावतार सर्वज्ञ भगवान् व्यासके चरणोंमें मेरा बार-बार नमस्कार है॥ २४॥

परीक्षित्! वेदगर्भ स्वयम्भू ब्रह्माने नारदके प्रश्न करनेपर यही बात कही थी, जिसका स्वयं भगवान् नारायणने उन्हें उपदेश किया था (और वही मैं तुमसे कह रहा हूँ)॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

१. प्रा० पा०—वितन्वतोऽजस्य। २. प्रा० पा०—विलक्षणा। ३. प्रा० पा०—सर्वं यदाह हरिरीश्वरः।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सृष्टि-वर्णन

नारद उवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज।
तद् विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम्॥ १

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः॥ २

सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः।
करामलकवद् विश्वं विज्ञानावसितं तव॥ ३

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया॥ ४

आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम्।
आत्मशक्तिमवष्टभ्य [१]ऊर्णनाभिरिवाक्लमः॥ ५

नाहं वेद परं [२]ह्यस्मिन्नापरं न समं विभो।
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः॥ ६

स भवानचरद् घोरं यत् तपः सुसमाहितः।
तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि॥ ७

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर।
विजानीहि यथैवेदमहं बुद्ध्येऽनुशासितः॥ ८

नारदजीने पूछा—पिताजी! आप केवल मेरे ही नहीं, सबके पिता, समस्त देवताओंसे श्रेष्ठ एवं सृष्टिकर्ता हैं। आपको मेरा प्रणाम है। आप मुझे वह ज्ञान दीजिये, जिससे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है॥ १॥ पिताजी! इस संसारका क्या लक्षण है? इसका आधार क्या है? इसका निर्माण किसने किया है? इसका प्रलय किसमें होता है? यह किसके अधीन है? और वास्तवमें यह है क्या वस्तु? आप इसका तत्त्व बतलाइये॥ २॥ आप तो यह सब कुछ जानते हैं; क्योंकि जो कुछ हुआ है, हो रहा है या होगा, उसके स्वामी आप ही हैं। यह सारा संसार हथेलीपर रखे हुए आँवलेके समान आपकी ज्ञान-दृष्टिके अन्तर्गत ही है॥ ३॥ पिताजी! आपको यह ज्ञान कहाँसे मिला? आप किसके आधारपर ठहरे हुए हैं? आपका स्वामी कौन है? और आपका स्वरूप क्या है? आप अकेले ही अपनी मायासे पंचभूतोंके द्वारा प्राणियोंकी सृष्टि कर लेते हैं, कितना अद्‌भुत है!॥ ४॥ जैसे मकड़ी अनायास ही अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें खेलने लगती है, वैसे ही आप अपनी शक्तिके आश्रयसे जीवोंको अपनेमें ही उत्पन्न करते हैं और फिर भी आपमें कोई विकार नहीं होता॥ ५॥ जगत्‌में नाम, रूप और गुणोंसे जो कुछ जाना जाता है उसमें मैं ऐसी कोई सत्, असत्, उत्तम, मध्यम या अधम वस्तु नहीं देखता जो आपके सिवा और किसीसे उत्पन्न हुई हो॥ ६॥ इस प्रकार सबके ईश्वर होकर भी आपने एकाग्रचित्तसे घोर तपस्या की, इस बातसे मुझे मोहके साथ-साथ बहुत बड़ी शंका भी हो रही है कि आपसे बड़ा भी कोई है क्या॥ ७॥ पिताजी! आप सर्वज्ञ और सर्वेश्वर हैं। जो कुछ मैं पूछ रहा हूँ, वह सब आप कृपा करके मुझे इस प्रकार समझाइये कि जिससे मैं आपके उपदेशको ठीक-ठीक समझ सकूँ॥ ८॥

१. प्रा० पा०—सूत्रनाभि०। २. प्रा० पा०—तस्मि०।

ब्रह्मोवाच

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम्।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने॥ ९

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः।
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे॥ १०

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः॥ ११

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि।
यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम्॥ १२

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥ १३

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥ १४

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥ १५

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥ १६

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः॥ १७

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः॥ १८

ब्रह्माजीने कहा—बेटा नारद! तुमने जीवोंके प्रति करुणाके भावसे भरकर यह बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया है; क्योंकि इससे भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेकी प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई है॥ ९॥ तुमने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, तुम्हारा वह कथन भी असत्य नहीं है; क्योंकि जबतक मुझसे परेका तत्त्व—जो स्वयं भगवान् ही हैं—जान नहीं लिया जाता, तबतक मेरा ऐसा ही प्रभाव प्रतीत होता है॥ १०॥ जैसे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशित होकर जगत्‌में प्रकाश फैलाते हैं, वैसे ही मैं भी उन्हीं स्वयंप्रकाश भगवान्‌के चिन्मय प्रकाशसे प्रकाशित होकर संसारको प्रकाशित कर रहा हूँ॥ ११॥ उन भगवान् वासुदेवकी मैं वन्दना करता हूँ और ध्यान भी, जिनकी दुर्जय मायासे मोहित होकर लोग मुझे जगद्‌गुरु कहते हैं॥ १२॥ यह माया तो उनकी आँखोंके सामने ठहरती ही नहीं, झेंपकर दूरसे ही भाग जाती है। परन्तु संसारके अज्ञानीजन उसीसे मोहित होकर 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार बकते रहते हैं॥ १३॥ भगवत्स्वरूप नारद! द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—वास्तवमें भगवान्‌से भिन्न दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है॥ १४॥ वेद नारायणके परायण हैं। देवता भी नारायणके ही अंगोंमें कल्पित हुए हैं और समस्त यज्ञ भी नारायणकी प्रसन्नताके लिये ही हैं तथा उनसे जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, वे भी नारायणमें ही कल्पित हैं॥ १५॥ सब प्रकारके योग भी नारायणकी प्राप्तिके ही हेतु हैं। सारी तपस्याएँ नारायणकी ओर ही ले जानेवाली हैं, ज्ञानके द्वारा भी नारायण ही जाने जाते हैं। समस्त साध्य और साधनोंका पर्यवसान भगवान् नारायणमें ही है॥ १६॥ वे द्रष्टा होनेपर भी ईश्वर हैं, स्वामी हैं; निर्विकार होनेपर भी सर्वस्वरूप हैं। उन्होंने ही मुझे बनाया है और उनकी दृष्टिसे ही प्रेरित होकर मैं उनके इच्छा-नुसार सृष्टि-रचना करता हूँ॥ १७॥ भगवान् मायाके गुणोंसे रहित एवं अनन्त हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलयके लिये रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण—ये तीन गुण मायाके द्वारा उनमें स्वीकार किये गये हैं॥ १८॥

कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः॥ १९

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेभिरधोक्षजः।
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः॥ २०

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे॥ २१

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥ २२

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात्।
तमःप्रधानस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः॥ २३

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्त्रिधा।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो॥ २४

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययोः॥ २५

नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्॥ २६

वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः।
उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्शशब्दवत्॥ २७

तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥ २८

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्।
परान्वयाद् रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः॥ २९

ये ही तीनों गुण द्रव्य, ज्ञान और क्रियाका आश्रय लेकर मायातीत नित्यमुक्त पुरुषको ही मायामें स्थित होनेपर कार्य, कारण और कर्तापनके अभिमानसे बाँध लेते हैं॥ १९ ॥ नारद! इन्द्रियातीत भगवान् गुणोंके इन तीन आवरणोंसे अपने स्वरूपको भलीभाँति ढक लेते हैं, इसलिये लोग उनको नहीं जान पाते। सारे संसारके और मेरे भी एकमात्र स्वामी वे ही हैं॥ २० ॥

मायापति भगवान्ने एकसे बहुत होनेकी इच्छा होनेपर अपनी मायासे अपने स्वरूपमें स्वयं प्राप्त काल, कर्म और स्वभावको स्वीकार कर लिया॥ २१ ॥ भगवान्की शक्तिसे ही कालने तीनों गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न कर दिया, स्वभावने उन्हें रूपान्तरित कर दिया और कर्मने महत्तत्त्वको जन्म दिया॥ २२ ॥ रजोगुण और सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर महत्तत्त्वका जो विकार हुआ, उससे ज्ञान, क्रिया और द्रव्यरूप तमःप्रधान विकार हुआ॥ २३ ॥ वह अहंकार कहलाया और विकारको प्राप्त होकर तीन प्रकारका हो गया। उसके भेद हैं—वैकारिक, तैजस और तामस। नारदजी! वे क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्तिप्रधान हैं॥ २४ ॥ जब पंचमहाभूतोंके कारणरूप तामस अहंकारमें विकार हुआ, तब उससे आकाशकी उत्पत्ति हुई। आकाशकी तन्मात्रा और गुण शब्द है। इस शब्दके द्वारा ही द्रष्टा और दृश्यका बोध होता है॥ २५ ॥ जब आकाशमें विकार हुआ, तब उससे वायुकी उत्पत्ति हुई; उसका गुण स्पर्श है। अपने कारणका गुण आ जानेसे यह शब्दवाला भी है। इन्द्रियोंमें स्फूर्ति, शरीरमें जीवनीशक्ति, ओज और बल इसीके रूप हैं॥ २६ ॥ काल, कर्म और स्वभावसे वायुमें भी विकार हुआ। उससे तेजकी उत्पत्ति हुई। इसका प्रधान गुण रूप है। साथ ही इसके कारण आकाश और वायुके गुण शब्द एवं स्पर्श भी इसमें हैं॥ २७ ॥ तेजके विकारसे जलकी उत्पत्ति हुई। इसका गुण है रस; कारण-तत्त्वोंके गुण शब्द, स्पर्श और रूप भी इसमें हैं॥ २८ ॥ जलके विकारसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, इसका गुण है गन्ध। कारणके गुण कार्यमें आते हैं—इस न्यायसे शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चारों गुण भी इसमें विद्यमान हैं॥ २९ ॥

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः॥ ३०

तैजसात् तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन्।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः॥ ३१

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः।
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम॥ ३२

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः॥ ३३

वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्॥ ३४

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥ ३५

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥ ३६

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत॥ ३७

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥ ३८

ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः॥ ३९

वैकारिक अहंकारसे मनकी और इन्द्रियोंके दस अधिष्ठातृ देवताओंकी भी उत्पत्ति हुई। उनके नाम हैं—दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति॥ ३०॥ तैजस अहंकारके विकारसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। साथ ही ज्ञानशक्तिरूप बुद्धि और क्रियाशक्तिरूप प्राण भी तैजस अहंकारसे ही उत्पन्न हुए॥ ३१॥

श्रेष्ठ ब्रह्मवित्! जिस समय ये पंचभूत, इन्द्रिय, मन और सत्त्व आदि तीनों गुण परस्पर संगठित नहीं थे तब अपने रहनेके लिये भोगोंके साधनरूप शरीरकी रचना नहीं कर सके॥ ३२॥ जब भगवान्ने इन्हें अपनी शक्तिसे प्रेरित किया तब वे तत्त्व परस्पर एक-दूसरेके साथ मिल गये और उन्होंने आपसमें कार्य-कारणभाव स्वीकार करके व्यष्टि-समष्टिरूप पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनोंकी रचना की॥ ३३॥ वह ब्रह्माण्डरूप अंडा एक सहस्र वर्षतक निर्जीवरूपसे जलमें पड़ा रहा; फिर काल, कर्म और स्वभावको स्वीकार करनेवाले भगवान्ने उसे जीवित कर दिया॥ ३४॥ उस अंडेको फोड़कर उसमेंसे वही विराट् पुरुष निकला, जिसकी जंघा, चरण, भुजाएँ, नेत्र, मुख और सिर सहस्रोंकी संख्यामें हैं॥ ३५॥ विद्वान् पुरुष (उपासनाके लिये) उसीके अंगोंमें समस्त लोक और उनमें रहनेवाली वस्तुओंकी कल्पना करते हैं। उसकी कमरसे नीचेके अंगोंमें सातों पातालकी और उसके पेड़ूसे ऊपरके अंगोंमें सातों स्वर्गकी कल्पना की जाती है॥ ३६॥ ब्राह्मण इस विराट् पुरुषका मुख है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं, जाँघोंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं॥ ३७॥ पैरोंसे लेकर कटिपर्यन्त सातों पाताल तथा भूलोककी कल्पना की गयी है; नाभिमें भुवर्लोककी, हृदयमें स्वर्लोककी और परमात्माके वक्षःस्थलमें महर्लोककी कल्पना की गयी है॥ ३८॥ उसके गलेमें जनलोक, दोनों स्तनोंमें तपोलोक और मस्तकमें ब्रह्माका नित्य निवासस्थान सत्यलोक है॥ ३९॥

तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम्॥ ४०
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥ ४१
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना॥ ४२

उस विराट् पुरुषकी कमरमें अतल, जाँघोंमें वितल, घुटनोंमें पवित्र सुतललोक और जंघाओंमें तलातलकी कल्पना की गयी है॥ ४०॥ एड़ीके ऊपरकी गाँठोंमें महातल, पंजे और एड़ियोंमें रसातल और तलुओंमें पाताल समझना चाहिये। इस प्रकार विराट् पुरुष सर्वलोकमय है ॥ ४१॥ विराट् भगवान्के अंगोंमें इस प्रकार भी लोकोंकी कल्पना की जाती है कि उनके चरणोंमें पृथ्वी है, नाभिमें भुवर्लोक है और सिरमें स्वर्लोक है॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

विराट्स्वरूपकी विभूतियोंका वर्णन

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च॥ १

ब्रह्माजी कहते हैं—उन्हीं विराट् पुरुषके मुखसे वाणी और उसके अधिष्ठातृदेवता अग्नि उत्पन्न हुए हैं। सातों छन्द* उनकी सात धातुओंसे निकले हैं। मनुष्यों, पितरों और देवताओंके भोजन करनेयोग्य अमृतमय अन्न, सब प्रकारके रस, रसनेन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृदेवता वरुण विराट् पुरुषकी जिह्वासे उत्पन्न हुए हैं॥ १॥

सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः॥ २

उनके नासाछिद्रोंसे प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँचों प्राण और वायु तथा घ्राणेन्द्रियसे अश्विनीकुमार, समस्त ओषधियाँ एवं साधारण तथा विशेष गन्ध उत्पन्न हुए हैं॥ २॥

रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः।
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्॥ ३

उनकी नेत्रेन्द्रिय रूप और तेजकी तथा नेत्र-गोलक स्वर्ग और सूर्यकी जन्मभूमि हैं। समस्त दिशाएँ और पवित्र करनेवाले तीर्थ कानोंसे तथा आकाश और शब्द श्रोत्रेन्द्रियसे निकले हैं। उनका शरीर संसारकी सभी वस्तुओंके सारभाग तथा सौन्दर्यका खजाना है॥ ३॥

त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि।
रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः॥ ४

सारे यज्ञ, स्पर्श और वायु उनकी त्वचासे निकले हैं; उनके रोम सभी उद्भिज्ज पदार्थोंके जन्मस्थान हैं, अथवा केवल उन्हींके, जिनसे यज्ञ सम्पन्न होते हैं॥ ४॥

* गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती, पङ्क्ति और जगती—ये सात छन्द हैं।

केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम्।
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्॥ ५
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च।
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्॥ ६
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः॥ ७
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः॥ ८
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः।
नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः॥ ९
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च।
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्॥ १०
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्॥ ११
अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः।
सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः॥ १२
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः॥ १३
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः।
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः॥ १४
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥ १५

उनके केश, दाढ़ी-मूँछ और नखोंसे मेघ, बिजली, शिला एवं लोहा आदि धातुएँ तथा भुजाओंसे प्रायः संसारकी रक्षा करनेवाले लोकपाल प्रकट हुए हैं॥ ५॥ उनका चलना-फिरना भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोकोंका आश्रय है। उनके चरणकमल प्राप्तकी रक्षा करते हैं और भयोंको भगा देते हैं तथा समस्त कामनाओंकी पूर्ति उन्हींसे होती है॥ ६॥ विराट् पुरुषका लिंग जल, वीर्य, सृष्टि, मेघ और प्रजापतिका आधार है तथा उनकी जननेन्द्रिय मैथुनजनित आनन्दका उद्गम है॥ ७॥ नारदजी! विराट् पुरुषकी पायु-इन्द्रिय यम, मित्र और मलत्यागका तथा गुदाद्वार हिंसा, निर्ऋति, मृत्यु और नरकका उत्पत्तिस्थान है॥ ८॥ उनकी पीठसे पराजय, अधर्म और अज्ञान, नाड़ियोंसे नद-नदी और हड्डियोंसे पर्वतोंका निर्माण हुआ है॥ ९॥ उनके उदरमें मूल प्रकृति, रस नामकी धातु तथा समुद्र, समस्त प्राणी और उनकी मृत्यु समायी हुई है। उनका हृदय ही मनकी जन्मभूमि है॥ १०॥ नारद! हम, तुम, धर्म, सनकादि, शंकर, विज्ञान और अन्तःकरण—सब-के-सब उनके चित्तके आश्रित हैं॥ ११॥ (कहाँतक गिनायें—) मैं, तुम, तुम्हारे बड़े भाई सनकादि, शंकर, देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, मृग, रेंगनेवाले जन्तु, गन्धर्व, अप्सराएँ, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, सर्प, पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष और नाना प्रकारके जीव—जो आकाश, जल या स्थलमें रहते हैं—ग्रह-नक्षत्र, केतु (पुच्छल तारे) तारे, बिजली और बादल—ये सब-के-सब विराट् पुरुष ही हैं। यह सम्पूर्ण विश्व—जो कुछ कभी था, है या होगा—सबको वह घेरे हुए है और उसके अंदर यह विश्व उसके केवल दस अंगुलके* परिमाणमें ही स्थित है॥ १२—१५॥

* ब्रह्माण्डके सात आवरणोंका वर्णन करते हुए वेदान्त प्रक्रियामें ऐसा माना गया है कि—पृथ्वीसे दसगुना जल है, जलसे दसगुना अग्नि, अग्निसे दसगुना वायु, वायुसे दसगुना आकाश, आकाशसे दसगुना अहंकार, अहंकारसे दसगुना महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे दसगुनी मूल प्रकृति है। वह प्रकृति भगवान्‌के केवल एक पादमें है। इस प्रकार भगवान्‌की महत्ता प्रकट की गयी है। यह दशांगुलन्याय कहलाता है।

स्वधिष्ण्यं प्रतपन्[1] प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान्॥ १६

जैसे सूर्य अपने मण्डलको प्रकाशित करते हुए ही बाहर भी प्रकाश फैलाते हैं, वैसे ही पुराणपुरुष परमात्मा भी सम्पूर्ण विराट् विग्रहको प्रकाशित करते हुए ही उसके बाहर-भीतर—सर्वत्र एकरस प्रकाशित हो रहा है॥ १६॥

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः॥ १७

मुनिवर! जो कुछ मनुष्यकी क्रिया और संकल्पसे बनता है, उससे वह परे है और अमृत एवं अभयपद (मोक्ष)-का स्वामी है। यही कारण है कि कोई भी उसकी महिमाका पार नहीं पा सकता॥ १७॥

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि[2] मूर्धसु॥ १८

सम्पूर्ण लोक भगवान्‌के एक पादमात्र (अंशमात्र) हैं, तथा उनके अंशमात्र लोकोंमें समस्त प्राणी निवास करते हैं। भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकके ऊपर महर्लोक है। उसके भी ऊपर जन, तप और सत्यलोकोंमें क्रमशः अमृत, क्षेम एवं अभयका नित्य निवास है॥ १८॥

पादास्त्रयो बहिश्चासन्[3]प्रजानां य आश्रमाः।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः[4]॥ १९

जन, तप और सत्य—इन तीनों लोकोंमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी निवास करते हैं। दीर्घकालीन ब्रह्मचर्यसे रहित गृहस्थ भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकके भीतर ही निवास करते हैं॥ १९॥

सृती विचक्रमे विष्वङ्[5] साशनानशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः॥ २०

शास्त्रोंमें दो मार्ग बतलाये गये हैं—एक अविद्यारूप कर्ममार्ग, जो सकाम पुरुषोंके लिये है और दूसरा उपासनारूप विद्याका मार्ग, जो निष्काम उपासकोंके लिये है। मनुष्य दोनोंमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर भोग प्राप्त करानेवाले दक्षिणमार्गसे अथवा मोक्ष प्राप्त करानेवाले उत्तरमार्गसे यात्रा करता है; किन्तु पुरुषोत्तम-भगवान् दोनोंके आधारभूत हैं॥ २०॥

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः[6]।
तद् द्रव्यमत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन्[7]॥ २१

जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे सबको प्रकाशित करते हुए भी सबसे अलग हैं, वैसे ही जिन परमात्मासे इस अण्डकी और पंचभूत, एकादश इन्द्रिय एवं गुणमय विराट्‌की उत्पत्ति हुई है—वे प्रभु भी इन समस्त वस्तुओंके अंदर और उनके रूपमें रहते हुए भी उनसे सर्वथा अतीत हैं॥ २१॥

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।
नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवादृते॥ २२

जिस समय इस विराट् पुरुषके नाभिकमलसे मेरा जन्म हुआ, उस समय इस पुरुषके अंगोंके अतिरिक्त मुझे और कोई भी यज्ञकी सामग्री नहीं मिली॥ २२॥

---

१. प्रा० पा०—प्रातपत्प्राणो। २. प्रा० पा०—वापि। ३. प्रा० पा०—बहिस्त्वासन् प्रजानां त्रय आश्रमाः। ४. प्रा० पा०—महद्व्रतम्। ५. प्रा० पा०—विष्वक्। ६. प्रा० पा०—गुणाश्रयः। ७. प्रा० पा०—इवातपत्।

तेषु यज्ञस्य[1] पशवः सवनस्पतयः कुशाः।
इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः॥ २३
वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम्।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम॥ २४
नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च।
देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च॥ २५
गतयो मतयः श्रद्धा प्रायश्चित्तं समर्पणम्।
पुरुषावयवैरेते[2] सम्भाराः सम्भृता मया॥ २६

तब मैंने उनके अंगोंमें ही यज्ञके पशु, यूप (स्तम्भ), कुश, यह यज्ञभूमि और यज्ञके योग्य उत्तम कालकी कल्पना की॥ २३॥ ऋषिश्रेष्ठ! यज्ञके लिये आवश्यक पात्र आदि वस्तुएँ, जौ, चावल आदि ओषधियाँ, घृत आदि स्नेहपदार्थ, छः रस, लोहा, मिट्टी, जल, ऋक्, यजुः, साम, चातुर्होत्र, यज्ञोंके नाम, मन्त्र, दक्षिणा, व्रत, देवताओंके नाम, पद्धतिग्रन्थ, संकल्प, तन्त्र (अनुष्ठानकी रीति), गति, मति, श्रद्धा, प्रायश्चित्त और समर्पण—यह समस्त यज्ञ-सामग्री मैंने विराट् पुरुषके अंगोंसे ही इकट्ठी की॥ २४—२६॥

इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम्।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम्॥ २७

इस प्रकार विराट् पुरुषके अंगोंसे ही सारी सामग्रीका संग्रह करके मैंने उन्हीं सामग्रियोंसे उन यज्ञस्वरूप परमात्माका यज्ञके द्वारा यजन किया॥ २७॥

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव।
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः॥ २८

तदनन्तर तुम्हारे बड़े भाई इन नौ प्रजापतियोंने अपने चित्तको पूर्ण समाहित करके विराट् एवं अन्तर्यामीरूपसे स्थित उस पुरुषकी आराधना की॥ २८॥

ततश्च मनवः काले[3] ईजिरे ऋषयोऽपरे।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम्॥ २९

इसके पश्चात् समय-समयपर मनु, ऋषि, पितर, देवता, दैत्य और मनुष्योंने यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधना की॥ २९॥

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः॥ ३०

नारद! यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं भगवान् नारायणमें स्थित है जो स्वयं तो प्राकृत गुणोंसे रहित हैं, परन्तु सृष्टिके प्रारम्भमें मायाके द्वारा बहुत-से गुण ग्रहण कर लेते हैं॥ ३०॥

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥ ३१

उन्हींकी प्रेरणासे मैं इस संसारकी रचना करता हूँ। उन्हींके अधीन होकर रुद्र इसका संहार करते हैं और वे स्वयं ही विष्णुके रूपसे इसका पालन करते हैं। क्योंकि उन्होंने सत्त्व, रज और तमकी तीन शक्तियाँ स्वीकार कर रखी हैं॥ ३१॥

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम्॥ ३२

बेटा! जो कुछ तुमने पूछा था, उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया; भाव या अभाव, कार्य या कारणके रूपमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो भगवान्‌से भिन्न हो॥ ३२॥

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न[4] वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥ ३३

प्यारे नारद! मैं प्रेमपूर्ण एवं उत्कण्ठित हृदयसे भगवान्‌के स्मरणमें मग्न रहता हूँ, इसीसे मेरी वाणी कभी असत्य होती नहीं दीखती, मेरा मन कभी असत्य संकल्प नहीं करता और मेरी इन्द्रियाँ भी कभी मर्यादाका उल्लंघन करके कुमार्गमें नहीं जातीं॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—यज्ञेषु। २. प्रा० पा०—रेतैः। ३. प्रा० पा०—कालमीजिरे। ४. प्रा० पा०—न कर्हिचिन्मे।

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः
प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित-
स्तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः॥ ३४

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम्।
यो[१] ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगाद्
यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः॥ ३५

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चात्मसमं[२] विचक्ष्महे॥ ३६

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः॥ ३७

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः[३]।
आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति[४] च पाति च॥ ३८

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥ ३९

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्॥ ४०

मैं वेदमूर्ति हूँ, मेरा जीवन तपस्यामय है, बड़े-बड़े प्रजापति मेरी वन्दना करते हैं और मैं उनका स्वामी हूँ। पहले मैंने बड़ी निष्ठासे योगका सर्वांग अनुष्ठान किया था, परन्तु मैं अपने मूलकारण परमात्माके स्वरूपको नहीं जान सका॥ ३४॥ (क्योंकि वे तो एकमात्र भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं।) मैं तो परम मंगलमय एवं शरण आये हुए भक्तोंको जन्म-मृत्युसे छुड़ानेवाले परम कल्याणस्वरूप भगवान्‌के चरणोंको ही नमस्कार करता हूँ। उनकी मायाकी शक्ति अपार है; जैसे आकाश अपने अन्तको नहीं जानता, वैसे ही वे भी अपनी महिमाका विस्तार नहीं जानते। ऐसी स्थितिमें दूसरे तो उसका पार पा ही कैसे सकते हैं?॥ ३५॥ मैं, मेरे पुत्र तुम लोग और शंकरजी भी उनके सत्यस्वरूपको नहीं जानते; तब दूसरे देवता तो उन्हें जान ही कैसे सकते हैं। हम सब इस प्रकार मोहित हो रहे हैं कि उनकी मायाके द्वारा रचे हुए जगत्‌को भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकते, अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार ही अटकल लगाते हैं॥ ३६॥

हमलोग केवल जिनके अवतारकी लीलाओंका गान ही करते रहते हैं, उनके तत्त्वको नहीं जानते—उन भगवान्‌के श्रीचरणोंमें मैं नमस्कार करता हूँ॥ ३७॥ वे अजन्मा एवं पुरुषोत्तम हैं। प्रत्येक कल्पमें वे स्वयं अपने-आपमें अपने-आपकी ही सृष्टि करते हैं, रक्षा करते हैं और संहार कर लेते हैं॥ ३८॥ वे मायाके लेशसे रहित, केवल ज्ञानस्वरूप हैं और अन्तरात्माके रूपमें एकरस स्थित हैं। वे तीनों कालमें सत्य एवं परिपूर्ण हैं; न उनका आदि है न अन्त। वे तीनों गुणोंसे रहित, सनातन एवं अद्वितीय हैं॥ ३९॥ नारद! महात्मालोग जिस समय अपने अन्तःकरण, इन्द्रिय और शरीरको शान्त कर लेते हैं, उस समय उनका साक्षात्कार करते हैं। परन्तु जब असत्पुरुषोंके द्वारा कुतर्कोंका जाल बिछाकर उनको ढक दिया जाता है, तब उनके दर्शन नहीं हो पाते॥ ४०॥

---

१. प्रा० पा०—यस्त्वात्ममायाविभवं स्वयं गतो यथा। २. प्रा० पा०—त्वात्म०। ३. प्रा० पा०—ऽसृजत्प्रजाः। ४. प्रा० पा०—समं गच्छति पाति।

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥ ४१
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च।
स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला
नृलोकपालास्तललोकपालाः ॥ ४२
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा
ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितॄणां
दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत-
कूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः ॥ ४३
यत्किञ्च लोके भगवन्महस्व-
दोजःसहस्वद् बलवत् क्षमावत्।
श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥ ४४
प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति
लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः।
आपीयतां कर्णकषायशोषा-
ननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्॥ ४५

परमात्माका पहला अवतार विराट् पुरुष है; उसके सिवा काल, स्वभाव, कार्य, कारण, मन, पंचभूत, अहंकार, तीनों गुण, इन्द्रियाँ, ब्रह्माण्ड-शरीर, उसका अभिमानी, स्थावर और जंगम जीव—सब-के-सब उन अनन्तभगवान्के ही रूप हैं ॥ ४१ ॥ मैं, शंकर, विष्णु, दक्ष आदि ये प्रजापति, तुम और तुम्हारे-जैसे अन्य भक्तजन, स्वर्गलोकके रक्षक, पक्षियोंके राजा, मनुष्यलोकके राजा, नीचेके लोकोंके राजा; गन्धर्व, विद्याधर और चारणोंके अधिनायक; यक्ष, राक्षस, साँप और नागोंके स्वामी; महर्षि, पितृपति, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर, दानवराज; और भी प्रेत-पिशाच, भूत-कूष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग और पक्षियोंके स्वामी; एवं संसारमें और भी जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रियबल, मनोबल, शरीरबल या क्षमासे युक्त हैं; अथवा जो भी विशेष सौन्दर्य, लज्जा, वैभव तथा विभूतिसे युक्त हैं; एवं जितनी भी वस्तुएँ अद्भुत वर्णवाली, रूपवान् या अरूप हैं—वे सब-के-सब परमतत्त्वमय भगवत्त्वरूप ही हैं॥ ४२—४४॥ नारद! इनके सिवा परम पुरुष परमात्माके परम पवित्र एवं प्रधान-प्रधान लीलावतार भी शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उनका मैं क्रमशः वर्णन करता हूँ। उनके चरित्र सुननेमें बड़े मधुर एवं श्रवणेन्द्रियके दोषोंको दूर करनेवाले हैं। तुम सावधान होकर उनका रस लो॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

भगवान्के लीलावतारोंकी कथा

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार॥ १

ब्रह्माजी कहते हैं—अनन्तभगवान्ने प्रलयके जलमें डूबी हुई पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये समस्त यज्ञमय वराहशरीर ग्रहण किया था। आदिदैत्य हिरण्याक्ष जलके अंदर ही लड़नेके लिये उनके सामने आया। जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे पर्वतोंके पंख काट डाले थे, वैसे ही वराहभगवान्ने अपनी दाढ़ोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये॥ १॥

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ
आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम्।
लोकत्रयस्य महतीमहरद् यदाऽऽर्तिं
स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः॥ २

फिर उन्हीं प्रभुने रुचि नामक प्रजापतिकी पत्नी आकूतिके गर्भसे सुयज्ञके रूपमें अवतार ग्रहण किया। उस अवतारमें उन्होंने दक्षिणा नामकी पत्नीसे सुयम नामके देवताओंको उत्पन्न किया और तीनों लोकोंके बड़े-बड़े संकट हर लिये। इसीसे स्वायम्भुव मनुने उन्हें 'हरि' के नामसे पुकारा॥ २॥

जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां
स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे।
ऊचे ययाऽऽत्मशमलं गुणसङ्गपङ्क-
मस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे॥ ३

नारद! कर्दम प्रजापतिके घर देवहूतिके गर्भसे नौ बहिनोंके साथ भगवान्ने कपिलके रूपमें अवतार ग्रहण किया। उन्होंने अपनी माताको उस आत्मज्ञानका उपदेश किया, जिससे वे इसी जन्ममें अपने हृदयके सम्पूर्ण मल—तीनों गुणोंकी आसक्तिका सारा कीचड़ धोकर कपिलभगवान्के वास्तविक स्वरूपको प्राप्त हो गयीं॥ ३॥

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः॥ ४

महर्षि अत्रि भगवान्को पुत्ररूपमें प्राप्त करना चाहते थे। उनपर प्रसन्न होकर भगवान्ने उनसे एक दिन कहा कि 'मैंने अपने-आपको तुम्हें दे दिया।' इसीसे अवतार लेनेपर भगवान्का नाम 'दत्त' (दत्तात्रेय) पड़ा। उनके चरणकमलोंके परागसे अपने शरीरको पवित्र करके राजा यदु और सहस्रार्जुन आदिने योगकी, भोग और मोक्ष दोनों ही सिद्धियाँ प्राप्त कीं॥ ४॥

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥ ५

नारद! सृष्टिके प्रारम्भमें मैंने विविध लोकोंको रचनेकी इच्छासे तपस्या की। मेरे उस अखण्ड तपसे प्रसन्न होकर उन्होंने 'तप' अर्थवाले 'सन' नामसे युक्त होकर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारके रूपमें अवतार ग्रहण किया। इस अवतारमें उन्होंने प्रलयके कारण पहले कल्पके भूले हुए आत्मज्ञानका ऋषियोंके प्रति यथावत् उपदेश किया, जिससे उन लोगोंने तत्काल परम तत्त्वका अपने हृदयमें साक्षात्कार कर लिया॥ ५॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः॥ ६

धर्मकी पत्नी दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे वे नर-नारायणके रूपमें प्रकट हुए। उनकी तपस्याका प्रभाव उन्हींके जैसा है। इन्द्रकी भेजी हुई कामकी सेना अप्सराएँ उनके सामने जाते ही अपना स्वभाव खो बैठीं। वे अपने हाव-भावसे उन आत्मस्वरूप भगवान्की तपस्यामें विघ्न नहीं डाल सकीं॥ ६॥

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत॥ ७

नारद! शंकर आदि महानुभाव अपनी रोषभरी दृष्टिसे कामदेवको जला देते हैं, परंतु अपने-आपको जलानेवाले असह्य क्रोधको वे नहीं जला पाते। वही क्रोध नर-नारायणके निर्मल हृदयमें प्रवेश करनेके पहले ही डरके मारे काँप जाता है। फिर भला, उनके हृदयमें कामका प्रवेश तो हो ही कैसे सकता है॥ ७॥

विद्धः सपत्न्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि।
तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात्॥ ८

अपने पिता राजा उत्तानपादके पास बैठे हुए पाँच वर्षके बालक ध्रुवको उनकी सौतेली माता सुरुचिने अपने वचन-बाणोंसे बेध दिया था। इतनी छोटी अवस्था होनेपर भी वे उस ग्लानिसे तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये। उनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने ध्रुवको ध्रुवपदका वरदान दिया। आज भी ध्रुवके ऊपर-नीचे प्रदक्षिणा करते हुए दिव्य महर्षिगण उनकी स्तुति करते रहते हैं॥ ८॥

यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र-
विप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम्।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन॥ ९

कुमार्गगामी वेनका ऐश्वर्य और पौरुष ब्राह्मणोंके हुंकाररूपी वज्रसे जलकर भस्म हो गया। वह नरकमें गिरने लगा। ऋषियोंकी प्रार्थनापर भगवान्ने उसके शरीरमन्थनसे पृथुके रूपमें अवतार धारण कर उसे नरकोंसे उबारा और इस प्रकार 'पुत्र'* शब्दको चरितार्थ किया। उसी अवतारमें पृथ्वीको गाय बनाकर उन्होंने उससे जगत्के लिये समस्त ओषधियोंका दोहन किया॥ ९॥

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
र्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥ १०

राजा नाभिकी पत्नी सुदेवीके गर्भसे भगवान्ने ऋषभदेवके रूपमें जन्म लिया। इस अवतारमें समस्त आसक्तियोंसे रहित रहकर, अपनी इन्द्रियों और मनको अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूपमें स्थित होकर समदर्शीके रूपमें उन्होंने जड़ोंकी भाँति योगचर्याका आचरण किया। इस स्थितिको महर्षिलोग परमहंसपद अथवा अवधूतचर्या कहते हैं॥ १०॥

सत्रे ममास भगवान् हयशीरषाथो[१]
साक्षात् स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा
वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः॥ ११

इसके बाद स्वयं उन्हीं यज्ञपुरुषने मेरे यज्ञमें स्वर्णके समान कान्तिवाले हयग्रीवके रूपमें अवतार ग्रहण किया। भगवान्का वह विग्रह वेदमय, यज्ञमय और सर्वदेवमय है। उन्हींकी नासिकासे श्वासके रूपमें वेदवाणी प्रकट हुई॥ ११॥

१. प्रा० पा०—शीर्षशीर्षा। * 'पुत्र' शब्दका अर्थ ही है 'पुत्' नामक नरकसे रक्षा करनेवाला।

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान्॥ १२

चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें भावी मनु सत्यव्रतने मत्स्यरूपमें भगवान्‌को प्राप्त किया था। उस समय पृथ्वीरूप नौकाके आश्रय होनेके कारण वे ही समस्त जीवोंके आश्रय बने। प्रलयके उस भयंकर जलमें मेरे मुखसे गिरे हुए वेदोंको लेकर वे उसीमें विहार करते रहे॥ १२॥

क्षीरोदधावमरदानवयूथपाना-
मुन्मथ्नताममृतलब्धय आदिदेवः।
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं
निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः ॥ १३

जब मुख्य-मुख्य देवता और दानव अमृतकी प्राप्तिके लिये क्षीरसागरको मथ रहे थे, तब भगवान्‌ने कच्छपके रूपमें अपनी पीठपर मन्दराचल धारण किया। उस समय पर्वतके घूमनेके कारण उसकी रगड़से उनकी पीठकी खुजलाहट थोड़ी मिट गयी, जिससे वे कुछ क्षणोंतक सुखकी नींद सो सके॥ १३॥

त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम्।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-
दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम्॥ १४

देवताओंका महान् भय मिटानेके लिये उन्होंने नृसिंहका रूप धारण किया। फड़कती हुई भौंहों और तीखी दाढ़ोंसे उनका मुख बड़ा भयावना लगता था। हिरण्यकशिपु उन्हें देखते ही हाथमें गदा लेकर उनपर टूट पड़ा। इसपर भगवान् नृसिंहने दूरसे ही उसे पकड़कर अपनी जाँघोंपर डाल लिया और उसके छटपटाते रहनेपर भी अपने नखोंसे उसका पेट फाड़ डाला॥ १४॥

अन्तःसरस्युरुबलेन पदे गृहीतो
ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः।
आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय॥ १५

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः।
चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार॥ १६

बड़े भारी सरोवरमें महाबली ग्राहने गजेन्द्रका पैर पकड़ लिया। जब बहुत थककर वह घबरा गया, तब उसने अपनी सूँड़में कमल लेकर भगवान्‌को पुकारा—'हे आदिपुरुष! हे समस्त लोकोंके स्वामी! हे श्रवणमात्रसे कल्याण करनेवाले!'॥ १५॥ उसकी पुकार सुनकर अनन्तशक्ति भगवान् चक्रपाणि गरुडकी पीठपर चढ़कर वहाँ आये और अपने चक्रसे उन्होंने ग्राहका मस्तक उखाड़ डाला। इस प्रकार कृपापरवश भगवान्‌ने अपने शरणागत गजेन्द्रकी सूँड़ पकड़कर उस विपत्तिसे उसका उद्धार किया॥ १६॥

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः॥ १७

भगवान् वामन अदितिके पुत्रोंमें सबसे छोटे थे, परन्तु गुणोंकी दृष्टिसे वे सबसे बड़े थे। क्योंकि यज्ञपुरुष भगवान्‌ने इस अवतारमें बलिके संकल्प छोड़ते ही सम्पूर्ण लोकोंको अपने चरणोंसे ही नाप लिया था। वामन बनकर उन्होंने तीन पग पृथ्वीके बहाने बलिसे सारी पृथ्वी ले तो ली, परन्तु इससे यह बात सिद्ध कर दी कि सन्मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको याचनाके सिवा और किसी उपायसे समर्थ पुरुष भी

नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौच-
मापः शिखा धृतवतो विबुधाधिपत्यम्।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-
दात्मानमङ्ग शिरसा[1] हरयेऽभिमेने॥ १८

अपने स्थानसे नहीं हटा सकते, ऐश्वर्यसे च्युत नहीं कर सकते॥ १७॥

दैत्यराज बलिने अपने सिरपर स्वयं वामनभगवान्का चरणामृत धारण किया था। ऐसी स्थितिमें उन्हें जो देवताओंके राजा इन्द्रकी पदवी मिली, इसमें कोई बलिका पुरुषार्थ नहीं था। अपने गुरु शुक्राचार्यके मना करनेपर भी वे अपनी प्रतिज्ञाके विपरीत कुछ भी करनेको तैयार नहीं हुए। और तो क्या, भगवान्का तीसरा पग पूरा करनेके लिये उनके चरणोंमें सिर रखकर उन्होंने अपने-आपको भी समर्पित कर दिया॥ १८॥

तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् विवृद्ध-
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम्।
ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव॥ १९

नारद! तुम्हारे अत्यन्त प्रेमभावसे परम प्रसन्न होकर हंसके रूपमें भगवान्ने तुम्हें योग, ज्ञान और आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेवाले भागवतधर्मका उपदेश किया। वह केवल भगवान्के शरणागत भक्तोंको ही सुगमतासे प्राप्त होता है॥ १९॥

चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्वतेजो
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति।
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्वकीर्तिं
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः॥ २०

वे ही भगवान् स्वायम्भुव आदि मन्वन्तरोंमें मनुके रूपमें अवतार लेकर मनुवंशकी रक्षा करते हुए दसों दिशाओंमें अपने सुदर्शनचक्रके समान तेजसे बेरोक-टोक—निष्कण्टक राज्य करते हैं। तीनों लोकोंके ऊपर सत्यलोकतक उनके चरित्रोंकी कमनीय कीर्ति फैल जाती है और उसी रूपमें वे समय-समयपर पृथ्वीके भारभूत दुष्ट राजाओंका दमन भी करते रहते हैं॥ २०॥

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध[2]
आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥ २१

स्वनामधन्य भगवान् धन्वन्तरि अपने नामसे ही बड़े-बड़े रोगियोंके रोग तत्काल नष्ट कर देते हैं। उन्होंने अमृत पिलाकर देवताओंको अमर कर दिया और दैत्योंके द्वारा हरण किये हुए उनके यज्ञभाग उन्हें फिरसे दिला दिये। उन्होंने ही अवतार लेकर संसारमें आयुर्वेदका प्रवर्तन किया॥ २१॥

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु।
[3]उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्य-
स्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन॥ २२

जब संसारमें ब्राह्मणद्रोही आर्यमर्यादाका उल्लंघन करनेवाले नारकीय क्षत्रिय अपने नाशके लिये ही दैववश बढ़ जाते हैं और पृथ्वीके काँटे बन जाते हैं, तब भगवान् महापराक्रमी परशुरामके रूपमें अवतीर्ण होकर अपनी तीखी धारवाले फरसेसे इक्कीस बार उनका संहार करते हैं॥ २२॥

१. प्रा० पा०—मनसा। २. प्रा० पा०—रवाप दुःखमायुश्च। ३. प्रा० पा०—उद्यन्नसाव०।

अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश
यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत्॥ २३

मायापति भगवान् हमपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी कलाओं—भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मणके साथ श्रीरामके रूपसे इक्ष्वाकुके वंशमें अवतीर्ण होते हैं। इस अवतारमें अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपनी पत्नी और भाईके साथ वे वनमें निवास करते हैं। उसी समय उनसे विरोध करके रावण उनके हाथों मरता है॥ २३॥ त्रिपुर विमानको जलानेके लिये उद्यत शंकरके समान, जिस समय भगवान् राम शत्रुकी नगरी लंकाको भस्म करनेके लिये समुद्रतटपर पहुँचते हैं, उस समय सीताके वियोगके कारण बढ़ी हुई क्रोधाग्निसे उनकी आँखें इतनी लाल हो जाती हैं कि उनकी दृष्टिसे ही समुद्रके मगरमच्छ, साँप और ग्राह आदि जीव जलने लगते हैं और भयसे थर-थर काँपता हुआ समुद्र झटपट उन्हें मार्ग दे देता है॥ २४॥ जब रावणकी कठोर छातीसे टकराकर इन्द्रके वाहन ऐरावतके दाँत चूर-चूर होकर चारों ओर फैल गये थे, जिससे दिशाएँ सफेद हो गयी थीं, तब दिग्विजयी रावण घमंडसे फूलकर हँसने लगा था। वही रावण जब श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी सीताजीको चुराकर ले जाता है और लड़ाईके मैदानमें उनसे लड़नेके लिये गर्वपूर्वक आता है, तब भगवान् श्रीरामके धनुषकी टंकारसे ही उसका वह घमंड प्राणोंके साथ तत्क्षण विलीन हो जाता है॥ २५॥

यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपो
मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद् दिधक्षोः।
दूरे सुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या
तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः ॥ २४

वक्षःस्थलस्पर्शरुग्ण[1]महेन्द्रवाह-
दन्तैर्विडम्बित[2]ककुब्जुष ऊढहासम्।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये[3]॥ २५

जिस समय झुंड-के-झुंड दैत्य पृथ्वीको रौंद डालेंगे उस समय उसका भार उतारनेके लिये भगवान् अपने सफेद और काले केशसे बलराम और श्रीकृष्णके रूपमें कलावतार ग्रहण करेंगे।* वे अपनी महिमाको प्रकट करनेवाले इतने अद्भुत चरित्र करेंगे कि संसारके मनुष्य उनकी लीलाओंका रहस्य बिलकुल नहीं समझ सकेंगे॥ २६॥

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥ २६

१. प्रा० पा०—भग्नमहे०। २. प्रा० पा०—विलम्बित। ३. प्रा० पा०—तोऽरि०।

* केशोंके अवतार कहनेका अभिप्राय यह है कि पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान्‌का एक केश ही काफी है इसके अतिरिक्त श्रीबलरामजी और श्रीकृष्णके वर्णोंकी सूचना देनेके लिये भी उन्हें क्रमशः सफेद और काले केशोंका अवतार कहा गया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण तो पूर्णपुरुष स्वयं भगवान् हैं—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकाया-
स्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।
यद् रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा
उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम्॥ २७

यद् वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीथान्
पालांस्त्वजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम्॥ २८

तत् कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः॥ २९

गृह्णीत यद् यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत् तदमुष्य माति।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधिताऽऽसीत्॥ ३०

नन्दं च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य पाशाद्
गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म॥ ३१

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम्॥ ३२

बचपनमें ही पूतनाके प्राण हर लेना, तीन महीनेकी अवस्थामें पैर उछालकर बड़ा भारी छकड़ा उलट देना और घुटनोंके बल चलते-चलते आकाशको छूनेवाले यमलार्जुनवृक्षोंके बीचमें जाकर उन्हें उखाड़ डालना—ये सब ऐसे कर्म हैं, जिन्हें भगवान्‌के सिवा और कोई नहीं कर सकता॥ २७॥ जब कालियनागके विषसे दूषित हुआ यमुना-जल पीकर बछड़े और गोपबालक मर जायँगे, तब वे अपनी सुधामयी कृपा-दृष्टिकी वर्षासे ही उन्हें जीवित कर देंगे और यमुना-जलको शुद्ध करनेके लिये वे उसमें विहार करेंगे तथा विषकी शक्तिसे जीभ लपलपाते हुए कालियनागको वहाँसे निकाल देंगे॥ २८॥ उसी दिन रातको जब सब लोग वहीं यमुना-तटपर सो जायँगे और दावाग्निसे आस-पासका मूँजका वन चारों ओरसे जलने लगेगा, तब बलरामजीके साथ वे प्राणसंकटमें पड़े हुए व्रजवासियोंको उनकी आँखें बंद कराकर उस अग्निसे बचा लेंगे। उनकी यह लीला भी अलौकिक ही होगी। उनकी शक्ति वास्तवमें अचिन्त्य है॥ २९॥ उनकी माता उन्हें बाँधनेके लिये जो-जो रस्सी लायेंगी वही उनके उदरमें पूरी नहीं पड़ेगी, दो अंगुल छोटी ही रह जायगी। तथा जँभाई लेते समय श्रीकृष्णके मुखमें चौदहों भुवन देखकर पहले तो यशोदा भयभीत हो जायँगी, परन्तु फिर वे सँभल जायँगी॥ ३०॥ वे नन्दबाबाको अजगरके भयसे और वरुणके पाशसे छुड़ायेंगे। मय दानवका पुत्र व्योमासुर जब गोपबालोंको पहाड़की गुफाओंमें बन्द कर देगा, तब वे उन्हें भी वहाँसे बचा लायेंगे। गोकुलके लोगोंको, जो दिनभर तो काम-धंधोंमें व्याकुल रहते हैं और रातको अत्यन्त थककर सो जाते हैं, साधनाहीन होनेपर भी, वे अपने परमधाममें ले जायँगे॥ ३१॥ निष्पाप नारद! जब श्रीकृष्णकी सलाहसे गोपलोग इन्द्रका यज्ञ बंद कर देंगे, तब इन्द्र व्रजभूमिका नाश करनेके लिये चारों ओरसे मूसलधार वर्षा करने लगेंगे। उससे उनकी तथा उनके पशुओंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् कृपापरवश हो सात वर्षकी अवस्थामें ही सात दिनोंतक गोवर्द्धन पर्वतको एक ही हाथसे छत्रकपुष्प (कुकुरमुत्ते)-की तरह खेल-खेलमें ही धारण किये रहेंगे॥ ३२॥

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य॥ ३३

वृन्दावनमें विहार करते हुए रास करनेकी इच्छासे वे रातके समय, जब चन्द्रमाकी उज्ज्वल चाँदनी चारों ओर छिटक रही होगी, अपनी बाँसुरीपर मधुर संगीतकी लम्बी तान छेड़ेंगे। उससे प्रेमविवश होकर आयी हुई गोपियोंको जब कुबेरका सेवक शंखचूड़ हरण करेगा, तब वे उसका सिर उतार लेंगे॥ ३३॥

ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्ट-
मल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः।
अन्ये च शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्त्र-
सप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः॥ ३४

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोजमत्स्यकुरुकैकयसृञ्जयाद्याः।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम-
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्॥ ३५

और भी बहुत-से प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, बकासुर, केशी, अरिष्टासुर आदि दैत्य, चाणूर आदि पहलवान, कुवलयापीड हाथी, कंस, कालयवन, भौमासुर, मिथ्यावासुदेव, शाल्व, द्विविद वानर, बल्वल, दन्तवक्त्र, राजा नग्नजित्के सात बैल, शम्बरासुर, विदूरथ और रुक्मी आदि तथा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय और सृंजय आदि देशोंके राजालोग एवं जो भी योद्धा धनुष धारण करके युद्धके मैदानमें सामने आयेंगे, वे सब बलराम, भीमसेन और अर्जुन आदि नामोंकी आड़में स्वयं भगवान्के द्वारा मारे जाकर उन्हींके धाममें चले जायँगे॥ ३४-३५॥

कालेन मीलितधियामवमृश्य नृणां
स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां
वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म॥ ३६

समयके फेरसे लोगोंकी समझ कम हो जाती है, आयु भी कम होने लगती है। उस समय जब भगवान् देखते हैं कि अब ये लोग मेरे तत्त्वको बतलानेवाली वेदवाणीको समझनेमें असमर्थ होते जा रहे हैं, तब प्रत्येक कल्पमें सत्यवतीके गर्भसे व्यासके रूपमें प्रकट होकर वे वेदरूपी वृक्षका विभिन्न शाखाओंके रूपमें विभाजन कर देते हैं॥ ३६॥

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्॥ ३७

यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते॥ ३८

देवताओंके शत्रु दैत्यलोग भी वेदमार्गका सहारा लेकर मयदानवके बनाये हुए अदृश्य वेगवाले नगरोंमें रहकर लोगोंका सत्यानाश करने लगेंगे, तब भगवान् लोगोंकी बुद्धिमें मोह और अत्यन्त लोभ उत्पन्न करनेवाला वेष धारण करके बुद्धके रूपमें बहुत-से उपधर्मोंका उपदेश करेंगे॥ ३७॥ कलियुगके अन्तमें जब सत्पुरुषोंके घर भी भगवान्की कथा होनेमें बाधा पड़ने लगेगी; ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पाखण्डी और शूद्र राजा हो जायँगे, यहाँतक कि कहीं भी 'स्वाहा', 'स्वधा' और 'वषट्कार' की ध्वनि—देवता-पितरोंके यज्ञश्राद्धकी बाततक नहीं सुनायी पड़ेगी, तब कलियुगका शासन करनेके लिये भगवान् कल्कि अवतार ग्रहण करेंगे॥ ३८॥

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या
मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः॥ ३९

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम्॥ ४०

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥ ४१

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥ ४२

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च॥ ४३

इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधि-
रघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः।
मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः॥ ४४

जब संसारकी रचनाका समय होता है, तब तपस्या, नौ प्रजापति, मरीचि आदि ऋषि और मेरे रूपमें; जब सृष्टिकी रक्षाका समय होता है, तब धर्म, विष्णु, मनु, देवता और राजाओंके रूपमें तथा जब सृष्टिके प्रलयका समय होता है, तब अधर्म, रुद्र तथा क्रोधवश नामके सर्प एवं दैत्य आदिके रूपमें सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की माया-विभूतियाँ ही प्रकट होती हैं ॥ ३९ ॥ अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके एक-एक धूलिकणको गिन चुकनेपर भी जगत्‌में ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान्‌की शक्तियोंकी गणना कर सके। जब वे त्रिविक्रम-अवतार लेकर त्रिलोकीको नाप रहे थे, उस समय उनके चरणोंके अदम्य वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलोकतक सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा था। तब उन्होंने ही अपनी शक्तिसे उसे स्थिर किया था ॥ ४० ॥ समस्त सृष्टिकी रचना और संहार करनेवाली माया उनकी एक शक्ति है। ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियोंके आश्रय उनके स्वरूपको न मैं जानता हूँ और न वे तुम्हारे बड़े भाई सनकादि ही; फिर दूसरोंका तो कहना ही क्या है। आदिदेव भगवान् शेष सहस्र मुखसे उनके गुणोंका गायन करते आ रहे हैं; परन्तु वे अब भी उसके अन्तकी कल्पना नहीं कर सके॥ ४१ ॥ जो निष्कपटभावसे अपना सर्वस्व और अपने-आपको भी उनके चरणकमलोंमें निछावर कर देते हैं, उनपर वे अनन्तभगवान् स्वयं ही अपनी ओरसे दया करते हैं और उनकी दयाके पात्र ही उनकी दुस्तर मायाका स्वरूप जानते हैं और उसके पार जा पाते हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुष ही कुत्ते और सियारोंके कलेवारूप अपने और पुत्रादिके शरीरमें 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसा भाव नहीं करते॥ ४२ ॥ प्यारे नारद! परम पुरुषकी उस योगमायाको मैं जानता हूँ तथा तुमलोग, भगवान् शंकर, दैत्यकुल-भूषण प्रह्लाद, शतरूपा, मनु, मनुपुत्र प्रियव्रत आदि, प्राचीनबर्हि, ऋभु और ध्रुव भी जानते हैं॥ ४३ ॥ इनके सिवा इक्ष्वाकु, पुरूरवा, मुचुकुन्द, जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति आदि तथा मान्धाता, अलर्क, शतधन्वा, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि अमूर्त्तरय,

सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलाद-[1]
सारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्त-[2]
पार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतदेववर्याः[3] ॥ ४५

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः ।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥ ४६

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥ ४७

तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम् ।
सध्र्यङ्[4] नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः ॥ ४८

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य
भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।
देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे
व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः[5] ॥ ४९

दिलीप, सौभरि, उत्तंक, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण एवं विभीषण, हनुमान्, शुकदेव, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर और श्रुतदेव आदि महात्मा भी जानते हैं॥ ४४-४५ ॥ जिन्हें भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका-सा स्वभाव बनानेकी शिक्षा मिली है, वे स्त्री, शूद्र, हूण, भील और पापके कारण पशु-पक्षी आदि योनियोंमें रहनेवाले भी भगवान्‌की मायाका रहस्य जान जाते हैं और इस संसारसागरसे सदाके लिये पार हो जाते हैं; फिर जो लोग वैदिक सदाचारका पालन करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ ४६ ॥

परमात्माका वास्तविक स्वरूप एकरस, शान्त, अभय एवं केवल ज्ञानस्वरूप है। न उसमें मायाका मल है और न तो उसके द्वारा रची हुई विषमताएँ ही। वह सत् और असत् दोनोंसे परे है। किसी भी वैदिक या लौकिक शब्दकी वहाँतक पहुँच नहीं है। अनेक प्रकारके साधनोंसे सम्पन्न होनेवाले कर्मोंका फल भी वहाँतक नहीं पहुँच सकता। और तो क्या, स्वयं माया भी उसके सामने नहीं जा पाती, लजाकर भाग खड़ी होती है॥ ४७॥ परमपुरुष भगवान्‌का वही परमपद है। महात्मालोग उसीका शोकरहित अनन्त आनन्दस्वरूप ब्रह्मके रूपमें साक्षात्कार करते हैं। संयमशील पुरुष उसीमें अपने मनको समाहित करके स्थित हो जाते हैं। जैसे इन्द्र स्वयं मेघरूपसे विद्यमान होनेके कारण जलके लिये कुआँ खोदनेकी कुदाल नहीं रखते वैसे ही वे भेद दूर करनेवाले ज्ञान-साधनोंको भी छोड़ देते हैं॥ ४८ ॥ समस्त कर्मोंके फल भी भगवान् ही देते हैं। क्योंकि मनुष्य अपने स्वभावके अनुसार जो शुभकर्म करता है, वह सब उन्हींकी प्रेरणासे होता है। इस शरीरमें रहनेवाले पंचभूतोंके अलग-अलग हो जानेपर जब—यह शरीर नष्ट हो जाता है, तब भी इसमें रहनेवाला अजन्मा पुरुष आकाशके समान नष्ट नहीं होता॥ ४९ ॥

१. प्रा० पा०—पिप्पलादाः। २. प्रा० पा०—दत्ताः। ३. प्रा० पा०—देवभूपाः। ४. प्रा० पा०—सम्यङ्। ५. प्रा० पा०—ऽतः।

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्॥ ५०

बेटा नारद! संकल्पसे विश्वकी रचना करनेवाले षडैश्वर्यसम्पन्न श्रीहरिका मैंने तुम्हारे सामने संक्षेपसे वर्णन किया। जो कुछ कार्य-कारण अथवा भाव-अभाव है, वह सब भगवान्‌से भिन्न नहीं है। फिर भी भगवान् तो इससे पृथक् भी हैं ही॥ ५०॥

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्[1] विपुलीकुरु॥ ५१

भगवान्‌ने मुझे जो उपदेश किया था, वह यही 'भागवत' है। इसमें भगवान्‌की विभूतियोंका संक्षिप्त वर्णन है। तुम इसका विस्तार करो॥ ५१॥

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय[2]॥ ५२

जिस प्रकार सबके आश्रय और सर्वस्वरूप भगवान् श्रीहरिमें लोगोंकी प्रेममयी भक्ति हो, ऐसा निश्चय करके इसका वर्णन करो॥ ५२॥

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति॥ ५३

जो पुरुष भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति मायाका वर्णन या दूसरेके द्वारा किये हुए वर्णनका अनुमोदन करते हैं अथवा श्रद्धाके साथ नित्य श्रवण करते हैं, उनका चित्त मायासे कभी मोहित नहीं होता॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे
ब्रह्मनारदसंवादे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

राजा परीक्षित्‌के विविध प्रश्न

राजोवाच

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः॥ १

एतद् वेदितुमिच्छामि तत्त्वं वेदविदां वर।
हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः[3]॥ २

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! आप वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि जब ब्रह्माजीने निर्गुण भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेके लिये नारदजीको आदेश दिया, तब उन्होंने किन-किनको किस रूपमें उपदेश किया? एक तो अचिन्त्य शक्तियोंके आश्रय भगवान्‌की कथाएँ ही लोगोंका परम मंगल करनेवाली हैं, दूसरे देवर्षि नारदका सबको भगवद्दर्शन करानेका स्वभाव है। अवश्य ही आप उनकी बातें मुझे सुनाइये॥ १-२॥

कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्॥ ३

महाभाग्यवान् शुकदेवजी! आप मुझे ऐसा उपदेश कीजिये कि मैं अपने आसक्तिरहित मनको सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय करके अपना शरीर छोड़ सकूँ॥ ३॥

१. प्रा० पा०—तदेतद्। २. प्रा० पा०—वर्ण्यताम्। ३. प्रा० पा०—योगे सुमंगलाः।

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि॥ ४

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥ ५

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।
मुक्त[1] सर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥ ६

यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा॥ ७

आसीद् यदुदरात् पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम्।
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक्।
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव॥ ८

अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात्।
ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः॥ ९

स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।
मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः॥ १०

पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः।
लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम॥ ११

यावान्[2] कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते।
भूतभव्यभवच्छब्द आयुर्मानं च यत् सतः॥ १२

जो लोग उनकी लीलाओंका श्रद्धाके साथ नित्य श्रवण और कथन करते हैं, उनके हृदयमें थोड़े ही समयमें भगवान् प्रकट हो जाते हैं॥ ४॥ श्रीकृष्ण कानके छिद्रोंके द्वारा अपने भक्तोंके भावमय हृदयकमलपर जाकर बैठ जाते हैं और जैसे शरद् ऋतु जलका गँदलापन मिटा देती है, वैसे ही वे भक्तोंके मनोमलका नाश कर देते हैं॥ ५॥ जिसका हृदय शुद्ध हो जाता है, वह श्रीकृष्णके चरणकमलोंको एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ता—जैसे मार्गके समस्त क्लेशोंसे छूटकर घर आया हुआ पथिक अपने घरको नहीं छोड़ता॥ ६॥

भगवन्! जीवका पंचभूतोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी इसका शरीर पंचभूतोंसे ही बनता है। तो क्या स्वभावसे ही ऐसा होता है, अथवा किसी कारणवश—आप इस बातका मर्म पूर्णरीतिसे जानते हैं॥ ७॥ (आपने बतलाया कि) भगवान्‌की नाभिसे वह कमल प्रकट हुआ, जिसमें लोकोंकी रचना हुई। यह जीव अपने सीमित अवयवोंसे जैसे परिच्छिन्न है, वैसे ही आपने परमात्माको भी सीमित अवयवोंसे परिच्छिन्न-सा वर्णन किया (यह क्या बात है?)॥ ८॥ जिनकी कृपासे सर्वभूतमय ब्रह्माजी प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं, जिनके नाभिकमलसे पैदा होनेपर भी जिनकी कृपासे ही ये उनके रूपका दर्शन कर सके थे, वे संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके हेतु, सर्वान्तर्यामी और मायाके स्वामी परमपुरुष परमात्मा अपनी मायाका त्याग करके किसमें किस रूपसे शयन करते हैं? ॥ ९-१०॥ पहले आपने बतलाया था कि विराट् पुरुषके अंगोंसे लोक और लोकपालोंकी रचना हुई और फिर यह भी बतलाया कि लोक और लोकपालोंके रूपमें उसके अंगोंकी कल्पना हुई। इन दोनों बातोंका तात्पर्य क्या है?॥ ११॥

महाकल्प और उनके अन्तर्गत अवान्तर कल्प कितने हैं? भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालका अनुमान किस प्रकार किया जाता है? क्या स्थूल देहाभिमानी जीवोंकी आयु भी बँधी हुई है॥ १२॥

१. प्रा० पा०—मुक्तः सर्वपरिक्लेशैः। २. प्रा० पा०—यावत्कल्पो।

कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम॥ १३

यस्मिन् कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते।
गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम्॥ १४

भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्रभूभृताम् ।
सरित्समुद्रद्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम्॥ १५

प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः[1]।
महतां चानुचरितं[2] वर्णाश्रमविनिश्चयः॥ १६

युगानि युगमानं च धर्मो यश्च युगे युगे।
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं[3] हरेः॥ १७

नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः।
श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम्॥ १८

तत्त्वानां परिसंख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम्।
पुरुषाराधनविधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च॥ १९

योगेश्वरैश्वर्यगतिर्लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम्।
वेदोपवेदधर्माणामितिहासपुराणयोः ॥ २०

सम्प्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः।
इष्टापूर्तस्य काम्यानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः॥ २१

यश्चानुशायिनां सर्गः पाखण्डस्य च सम्भवः।
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः॥ २२

ब्राह्मणश्रेष्ठ! कालकी सूक्ष्म गति त्रुटि आदि और स्थूल गति वर्ष आदि किस प्रकारसे जानी जाती है? विविध कर्मोंसे जीवोंकी कितनी और कैसी गतियाँ होती हैं॥ १३॥ देव, मनुष्य आदि योनियाँ सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके फलस्वरूप ही प्राप्त होती हैं। उनको चाहनेवाले जीवोंमेंसे कौन-कौन किस-किस योनिको प्राप्त करनेके लिये किस-किस प्रकारसे कौन-कौन कर्म स्वीकार करते हैं?॥ १४॥ पृथ्वी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप और उनमें रहनेवाले जीवोंकी उत्पत्ति कैसे होती है?॥ १५॥ ब्रह्माण्डका परिमाण भीतर और बाहर—दोनों प्रकारसे बतलाइये। साथ ही महापुरुषोंके चरित्र, वर्णाश्रमके भेद और उनके धर्मका निरूपण कीजिये॥ १६॥ युगोंके भेद, उनके परिमाण और उनके अलग-अलग धर्म तथा भगवान्‌के विभिन्न अवतारोंके परम आश्चर्यमय चरित्र भी बतलाइये॥ १७॥ मनुष्योंके साधारण और विशेष धर्म कौन-कौन-से हैं? विभिन्न व्यवसायवाले लोगोंके, राजर्षियोंके और विपत्तिमें पड़े हुए लोगोंके धर्मका भी उपदेश कीजिये॥ १८॥ तत्त्वोंकी संख्या कितनी है, उनके स्वरूप और लक्षण क्या हैं? भगवान्‌की आराधनाकी और अध्यात्मयोगकी विधि क्या है?॥ १९॥ योगेश्वरोंको क्या-क्या ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, तथा अन्तमें उन्हें कौन-सी गति मिलती है? योगियोंका लिंगशरीर किस प्रकार भंग होता है? वेद, उपवेद, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणोंका स्वरूप एवं तात्पर्य क्या है?॥ २०॥ समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कैसे होता है? बावली, कुआँ खुदवाना आदि स्मार्त्त, यज्ञ-यागादि वैदिक एवं काम्य कर्मोंकी तथा अर्थ-धर्म-कामके साधनोंकी विधि क्या है?॥ २१॥ प्रलयके समय जो जीव प्रकृतिमें लीन रहते हैं, उनकी उत्पत्ति कैसे होती है? पाखण्डकी उत्पत्ति कैसे होती है? आत्माके बन्ध-मोक्षका स्वरूप क्या है? और वह अपने स्वरूपमें किस प्रकार स्थित होता है?॥ २२॥

१. प्रा० पा०—भ्यन्तरवस्तुनः। २. प्रा० पा०—चारु चरितं। ३. प्रा० पा०—मयं।

यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद् विभुः॥ २३
सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छते मेऽनुपूर्वशः।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने॥ २४
अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः।
परे चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्॥ २५
न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी।
पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद् द्विजात्॥ २६

भगवान् तो परम स्वतन्त्र हैं। वे अपनी मायासे किस प्रकार क्रीड़ा करते हैं और उसे छोड़कर साक्षीके समान उदासीन कैसे हो जाते हैं?॥ २३॥ भगवन्! मैं यह सब आपसे पूछ रहा हूँ। मैं आपकी शरणमें हूँ। महामुने! आप कृपा करके क्रमशः इनका तात्त्विक निरूपण कीजिये॥ २४॥ इस विषयमें आप स्वयम्भू ब्रह्माके समान परम प्रमाण हैं। दूसरे लोग तो अपनी पूर्वपरम्परासे सुनी-सुनायी बातोंका ही अनुष्ठान करते हैं॥ २५॥ ब्रह्मन्! आप मेरी भूख-प्यासकी चिन्ता न करें। मेरे प्राण कुपित ब्राह्मणके शापके अतिरिक्त और किसी कारणसे निकल नहीं सकते; क्योंकि मैं आपके मुखारविन्दसे निकलनेवाली भगवान्की अमृतमयी लीलाकथाका पान कर रहा हूँ॥ २६॥

सूत उवाच

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि॥ २७
प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते॥ २८
यद् यत् परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति।
आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥ २९

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! जब राजा परीक्षित्ने संतोंकी सभामें भगवान्की लीला-कथा सुनानेके लिये इस प्रकार प्रार्थना की, तब श्रीशुकदेवजीको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ २७॥ उन्होंने उन्हें वही वेदतुल्य श्रीमद्भागवत-महापुराण सुनाया, जो ब्राह्मकल्पके आरम्भमें स्वयं भगवान्ने ब्रह्माजीको सुनाया था॥ २८॥ पाण्डुवंशशिरोमणि परीक्षित्ने उनसे जो-जो प्रश्न किये थे, वे उन सबका उत्तर क्रमशः देने लगे॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे प्रश्नविधिर्नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका भगवद्धामदर्शन और भगवान्के द्वारा उन्हें चतुःश्लोकी भागवतका उपदेश

श्रीशुक उवाच

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा॥ १

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! जैसे स्वप्नमें देखे जानेवाले पदार्थोंके साथ उसे देखनेवालेका कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहादिसे अतीत अनुभवस्वरूप आत्माका मायाके बिना दृश्य पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता॥ १॥

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते॥ २

विविध रूपवाली मायाके कारण वह विविध रूपवाला प्रतीत होता है और जब उसके गुणोंमें रम जाता है तब 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार मानने लगता है॥ २॥

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः।
रमेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम्॥ ३
आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम्।
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः॥ ४
स आदिदेवो जगतां परो गुरुः
स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां
प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्॥ ५
स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः॥ ६
निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो
विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं
तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः॥ ७
दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो
जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः।
अतप्यत स्माखिललोकतापनं
तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः॥ ८
तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं
स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम्॥ ९

किन्तु जब यह गुणोंको क्षुब्ध करनेवाले काल और मोह उत्पन्न करनेवाली माया—इन दोनोंसे परे अपने अनन्त स्वरूपमें मोहरहित होकर रमण करने लगता है—आत्माराम हो जाता है; तब यह 'मैं, मेरा' का भाव छोड़कर पूर्ण उदासीन—गुणातीत हो जाता है॥ ३॥ ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपने रूपका दर्शन कराया और आत्म-तत्त्वके ज्ञानके लिये उन्हें परम सत्य परमार्थ वस्तुका उपदेश किया (वही बात मैं तुम्हें सुनाता हूँ)॥ ४॥

तीनों लोकोंके परम गुरु आदिदेव ब्रह्माजी अपने जन्मस्थान कमलपर बैठकर सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे। परन्तु जिस ज्ञानदृष्टिसे सृष्टिका निर्माण हो सकता था और जो सृष्टि-व्यापारके लिये वांछनीय है, वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई॥ ५॥ एक दिन वे यही चिन्ता कर रहे थे कि प्रलयके समुद्रमें उन्होंने व्यंजनोंके सोलहवें एवं इक्कीसवें अक्षर 'त' तथा 'प' को—'तप-तप' ('तप करो') इस प्रकार दो बार सुना। परीक्षित्! महात्मालोग इस तपको ही त्यागियोंका धन मानते हैं॥ ६॥ यह सुनकर ब्रह्माजीने वक्ताको देखनेकी इच्छासे चारों ओर देखा, परन्तु वहाँ दूसरा कोई दिखायी न पड़ा। वे अपने कमलपर बैठ गये और 'मुझे तप करनेकी प्रत्यक्ष आज्ञा मिली है' ऐसा निश्चयकर और उसीमें अपना हित समझकर उन्होंने अपने मनको तपस्यामें लगा दिया॥ ७॥ ब्रह्माजी तपस्वियोंमें सबसे बड़े तपस्वी हैं। उनका ज्ञान अमोघ है। उन्होंने उस समय एक सहस्र दिव्य वर्षपर्यन्त एकाग्र चित्तसे अपने प्राण, मन, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें करके ऐसी तपस्या की, जिससे वे समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो सके॥ ८॥

उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपना वह लोक दिखाया, जो सबसे श्रेष्ठ है और जिससे परे कोई दूसरा लोक नहीं है। उस लोकमें किसी भी प्रकारके क्लेश, मोह और भय नहीं हैं। जिन्हें कभी एक बार भी उसके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे देवता बार-बार उसकी स्तुति करते रहते हैं॥ ९॥

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः[१]।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥ १०

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः
पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि-
प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः।
प्रवालवैदूर्यमृणालवर्चसः
परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥ ११

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः॥ १२

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः
करोति मानं बहुधा विभूतिभिः।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-
र्विगीयमाना प्रियकर्म गायती॥ १३

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।
सुनन्दनन्दप्रबल[२]ार्हणादिभिः
स्वपार्षदमुख्यैः परिसेवितं विभुम्॥ १४

भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्नहासारुणलोचनाननम् ।

वहाँ रजोगुण, तमोगुण और इनसे मिला हुआ सत्त्वगुण भी नहीं है। वहाँ न कालकी दाल गलती है और न माया ही कदम रख सकती है; फिर मायाके बाल-बच्चे तो जा ही कैसे सकते हैं। वहाँ भगवान्‌के वे पार्षद निवास करते हैं, जिनका पूजन देवता और दैत्य दोनों ही करते हैं॥ १०॥ उनका उज्ज्वल आभासे युक्त श्याम शरीर शतदल कमलके समान कोमल नेत्र और पीले रंगके वस्त्रसे शोभायमान है। अंग-अंगसे राशि-राशि सौन्दर्य बिखरता रहता है। वे कोमलताकी मूर्ति हैं। सभीके चार-चार भुजाएँ हैं। वे स्वयं तो अत्यन्त तेजस्वी हैं ही, मणिजटित सुवर्णके प्रभामय आभूषण भी धारण किये रहते हैं। उनकी छबि मूँगे, वैदूर्यमणि और कमलके उज्ज्वल तन्तुके समान है। उनके कानोंमें कुण्डल, मस्तकपर मुकुट और कण्ठमें मालाएँ शोभायमान हैं॥ ११॥ जिस प्रकार आकाश बिजलीसहित बादलोंसे शोभायमान होता है, वैसे ही वह लोक मनोहर कामिनियोंकी कान्तिसे युक्त महात्माओंके दिव्य तेजोमय विमानोंसे स्थान-स्थानपर सुशोभित होता रहता है॥ १२॥ उस वैकुण्ठलोकमें लक्ष्मीजी सुन्दर रूप धारण करके अपनी विविध विभूतियोंके द्वारा भगवान्‌के चरणकमलोंकी अनेकों प्रकारसे सेवा करती रहती हैं। कभी-कभी जब वे झूलेपर बैठकर अपने प्रियतम भगवान्‌की लीलाओंका गायन करने लगती हैं, तब उनके सौन्दर्य और सुरभिसे उन्मत्त होकर भौंरे स्वयं उन लक्ष्मीजीका गुण-गान करने लगते हैं॥ १३॥

ब्रह्माजीने देखा कि उस दिव्य लोकमें समस्त भक्तोंके रक्षक, लक्ष्मीपति, यज्ञपति एवं विश्वपति भगवान् विराजमान हैं। सुनन्द, नन्द, प्रबल और अर्हण आदि मुख्य-मुख्य पार्षदगण उन प्रभुकी सेवा कर रहे हैं॥ १४॥

उनका मुखकमल प्रसाद-मधुर मुसकानसे युक्त है। आँखोंमें लाल-लाल डोरियाँ हैं। बड़ी मोहक और मधुर चितवन है। ऐसा जान पड़ता है कि अभी-अभी

१. प्रा० पा०—कालविभ्रमः। २. प्रा० पा०—प्रमुखा०।

किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया॥ १५

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं
वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिः।
युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः
स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम्॥ १६

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो
हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्
यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते॥ १७

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा
प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम्।
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा
प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन्॥ १८

श्रीभगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग् वेदगर्भ सिसृक्षया।
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम्॥ १९

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम्।
ब्रह्मञ्छ्रेयः परिश्रामः पुंसो मद्दर्शनावधिः॥ २०

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः॥ २१

अपने प्रेमी भक्तको अपना सर्वस्व दे देंगे। सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल और कंधेपर पीताम्बर जगमगा रहे हैं। वक्षःस्थलपर एक सुनहरी रेखाके रूपमें श्रीलक्ष्मीजी विराजमान हैं और सुन्दर चार भुजाएँ हैं॥ १५॥ वे एक सर्वोत्तम और बहुमूल्य आसनपर विराजमान हैं। पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, मन, दस इन्द्रिय, शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ और पंचभूत—ये पचीस शक्तियाँ मूर्तिमान् होकर उनके चारों ओर खड़ी हैं। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः नित्यसिद्ध स्वरूपभूत शक्तियोंसे वे सर्वदा युक्त रहते हैं। उनके अतिरिक्त और कहीं भी ये नित्यरूपसे निवास नहीं करतीं। वे सर्वेश्वर प्रभु अपने नित्य आनन्दमय स्वरूपमें ही नित्य-निरन्तर निमग्न रहते हैं॥ १६॥ उनका दर्शन करते ही ब्रह्माजीका हृदय आनन्दके उद्रेकसे लबालब भर गया। शरीर पुलकित हो उठा, नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। ब्रह्माजीने भगवान्के उन चरणकमलोंमें, जो परमहंसोंके निवृत्तिमार्गसे प्राप्त हो सकते हैं, सिर झुकाकर प्रणाम किया॥ १७॥ ब्रह्माजीके प्यारे भगवान् अपने प्रिय ब्रह्माको प्रेम और दर्शनके आनन्दमें निमग्न, शरणागत तथा प्रजा-सृष्टिके लिये आदेश देनेके योग्य देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्रह्माजीसे हाथ मिलाया तथा मन्द मुसकानसे अलंकृत वाणीमें कहा— ॥ १८॥

श्रीभगवान्ने कहा—ब्रह्माजी! तुम्हारे हृदयमें तो समस्त वेदोंका ज्ञान विद्यमान है। तुमने सृष्टिरचनाकी इच्छासे चिरकालतक तपस्या करके मुझे भलीभाँति सन्तुष्ट कर दिया है। मनमें कपट रखकर योगसाधन करनेवाले मुझे कभी प्रसन्न नहीं कर सकते॥ १९॥ तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, वही वर मुझसे माँग लो। क्योंकि मैं मुँहमाँगी वस्तु देनेमें समर्थ हूँ। ब्रह्माजी! जीवके समस्त कल्याणकारी साधनोंका विश्राम—पर्यवसान मेरे दर्शनमें ही है॥ २०॥ तुमने मुझे देखे बिना ही उस सूने जलमें मेरी वाणी सुनकर इतनी घोर तपस्या की है, इसीसे मेरी इच्छासे तुम्हें मेरे लोकका दर्शन हुआ है॥ २१॥

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ॥ २२

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥ २३

ब्रह्मोवाच

भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम्।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम्॥ २४

तथापि[1] नाथमानस्य नाथ[2] नाथय नाथितम्।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः॥ २५

यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना॥ २६

क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि[3] माधव॥ २७

भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात्॥ २८

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भो जनम्।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः॥ २९

तुम उस समय सृष्टिरचनाका कर्म करनेमें किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। इसीसे मैंने तुम्हें तपस्या करनेकी आज्ञा दी थी। क्योंकि निष्पाप! तपस्या मेरा हृदय है और मैं स्वयं तपस्याका आत्मा हूँ॥ २२॥ मैं तपस्यासे ही इस संसारकी सृष्टि करता हूँ, तपस्यासे ही इसका धारण-पोषण करता हूँ और फिर तपस्यासे ही इसे अपनेमें लीन कर लेता हूँ। तपस्या मेरी एक दुर्लङ्घ्य शक्ति है॥ २३॥

ब्रह्माजीने कहा—भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विराजमान रहते हैं। आप अपने अप्रतिहत ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ॥ २४॥ नाथ! आप कृपा करके मुझ याचकको यह माँग पूरी कीजिये कि मैं रूपरहित आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ॥ २५॥ आप मायाके स्वामी हैं, आपका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाका आश्रय लेकर इस विविध-शक्तिसम्पन्न जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिये अपने-आपको ही अनेक रूपोंमें बना देते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं—इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये॥ २६-२७॥

आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सजग रहकर सावधानीसे आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्तापन आदिके अभिमानसे बँध न जाऊँ॥ २८॥

प्रभो! आपने एक मित्रके समान हाथ पकड़कर मुझे अपना मित्र स्वीकार किया है। अतः जब मैं आपकी इस सेवा—सृष्टिरचनामें लगूँ और सावधानीसे पूर्वसृष्टिके गुण-कर्मानुसार जीवोंका विभाजन करने लगूँ, तब कहीं अपनेको जन्म-कर्मसे स्वतन्त्र मानकर प्रबल अभिमान न कर बैठूँ॥ २९॥

१. प्रा० पा०—अथापि। २. प्रा० पा०—नाथनाथ जनार्चित। ३. प्रा० पा०—मम।

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥ ३०

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ ३१

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ ३२

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥ ३३

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु[1]।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३४

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ३५

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ ३६

श्रीभगवान्‌ने कहा—अनुभव, प्रेमाभक्ति और साधनोंसे युक्त अत्यन्त गोपनीय अपने स्वरूपका ज्ञान मैं तुम्हें कहता हूँ; तुम उसे ग्रहण करो॥ ३०॥ मेरा जितना विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण और लीलाएँ हैं—मेरी कृपासे तुम उनका तत्त्व ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव करो॥ ३१॥ सृष्टिके पूर्व केवल मैं-ही-मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनोंका कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं-ही-मैं हूँ और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ॥ ३२॥ वास्तवमें न होनेपर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मामें दो चन्द्रमाओंकी तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होनेपर भी आकाश-मण्डलके नक्षत्रोंमें राहुकी भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिये॥ ३३॥ जैसे प्राणियोंके पंचभूतरचित छोटे-बड़े शरीरोंमें आकाशादि पंचमहाभूत उन शरीरोंके कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं और पहलेसे ही उन स्थानों और रूपोंमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते, वैसे ही उन प्राणियोंके शरीरकी दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपसे प्रवेश किये हुए हूँ और आत्मदृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ॥ ३४॥ यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं—इस प्रकार निषेधकी पद्धतिसे, और यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है—इस अन्वयकी पद्धतिसे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं, वही वास्तविक तत्त्व हैं। जो आत्मा अथवा परमात्माका तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जाननेकी आवश्यकता है॥ ३५॥ ब्रह्माजी! तुम अविचल समाधिके द्वारा मेरे इस सिद्धान्तमें पूर्ण निष्ठा कर लो। इससे तुम्हें कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टिरचना करते रहनेपर भी कभी मोह नहीं होगा॥ ३६॥

१. प्रा० पा०—चेषु च।

श्रीशुक उवाच

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम्।
पश्यतस्तस्य तद् रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः॥ ३७
अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत्॥ ३८
प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान्।
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थकाम्यया॥ ३९
तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च॥ ४०
मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः।
महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत्॥ ४१
तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम्।
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान् यन्मानुपृच्छति[1]॥ ४२
तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम्।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत्॥ ४३
नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे॥ ४४
यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम्।
यथाऽऽसीत्तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः॥ ४५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—लोकपितामह ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश देकर अजन्मा भगवान्ने उनके देखते-ही-देखते अपने उस रूपको छिपा लिया॥ ३७॥ जब सर्वभूतस्वरूप ब्रह्माजीने देखा कि भगवान्ने अपने इन्द्रियगोचर स्वरूपको हमारे नेत्रोंके सामनेसे हटा लिया है, तब उन्होंने अंजलि बाँधकर उन्हें प्रणाम किया और पहले कल्पमें जैसी सृष्टि थी, उसी रूपमें इस विश्वकी रचना की॥ ३८॥ एक बार धर्मपति, प्रजापति ब्रह्माजीने सारी जनताका कल्याण हो, अपने इस स्वार्थकी पूर्तिके लिये विधिपूर्वक यम-नियमोंको धारण किया॥ ३९॥ उस समय उनके पुत्रोंमें सबसे अधिक प्रिय, परम भक्त देवर्षि नारदजीने मायापति भगवान्की मायाका तत्त्व जाननेकी इच्छासे बड़े संयम, विनय और सौम्यतासे अनुगत होकर उनकी सेवा की और उन्होंने सेवासे ब्रह्माजीको बहुत ही सन्तुष्ट कर लिया॥ ४०-४१॥ परीक्षित्! जब देवर्षि नारदने देखा कि मेरे लोकपितामह पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, तब उन्होंने उनसे यही प्रश्न किया, जो तुम मुझसे कर रहे हो॥ ४२॥ उनके प्रश्नसे ब्रह्माजी और भी प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने यह दस लक्षणवाला भागवतपुराण अपने पुत्र नारदको सुनाया, जिसका स्वयं भगवान्ने उन्हें उपदेश किया था॥ ४३॥ परीक्षित्! जिस समय मेरे परमतेजस्वी पिता सरस्वतीके तटपर बैठकर परमात्माके ध्यानमें मग्न थे, उस समय देवर्षि नारदजीने वही भागवत उन्हें सुनाया॥ ४४॥ तुमने मुझसे जो यह प्रश्न किया है कि विराट्पुरुषसे इस जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई तथा दूसरे भी जो बहुत-से प्रश्न किये हैं, उन सबका उत्तर मैं उसी भागवतपुराणके रूपमें देता हूँ॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

---

१. प्रा० पा०—भवान् यदनु।

अथ दशमोऽध्यायः

भागवतके दस लक्षण

श्रीशुक उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥ १

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥ २

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः॥ ३

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः॥ ४

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्[1]।
सतामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः॥ ५

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥ ६

आभासश्च निरोधश्च [2]यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते[3]॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस भागवतपुराणमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस विषयोंका वर्णन है॥ १॥ इनमें जो दसवाँ आश्रय-तत्त्व है, उसीका ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये कहीं श्रुतिसे, कहीं तात्पर्यसे और कहीं दोनोंके अनुकूल अनुभवसे महात्माओंने अन्य नौ विषयोंका बड़ी सुगम रीतिसे वर्णन किया है॥ २॥ ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंमें क्षोभ होकर रूपान्तर होनेसे जो आकाशादि पंचभूत, शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहंकार और महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, उसको 'सर्ग' कहते हैं। उस विराट् पुरुषसे उत्पन्न ब्रह्माजीके द्वारा जो विभिन्न चराचर सृष्टियोंका निर्माण होता है, उसका नाम है 'विसर्ग'॥ ३ ॥ प्रतिपद नाशकी ओर बढ़नेवाली सृष्टिको एक मर्यादामें स्थिर रखनेसे भगवान् विष्णुकी जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है। अपने द्वारा सुरक्षित सृष्टिमें भक्तोंके ऊपर उनकी जो कृपा होती है, उसका नाम है 'पोषण'। मन्वन्तरोंके अधिपति जो भगवद्भक्ति और प्रजापालनरूप शुद्ध धर्मका अनुष्ठान करते हैं, उसे 'मन्वन्तर' कहते हैं। जीवोंकी वे वासनाएँ, जो कर्मके द्वारा उन्हें बन्धनमें डाल देती हैं, 'ऊति' नामसे कही जाती हैं॥ ४॥ भगवान्के विभिन्न अवतारोंके और उनके प्रेमी भक्तोंकी विविध आख्यानोंसे युक्त गाथाएँ 'ईशकथा' हैं॥ ५॥ जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीवका अपनी उपाधियोंके साथ उनमें लीन हो जाना 'निरोध' है। अज्ञानकल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्मभावका परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मामें स्थित होना ही 'मुक्ति' है॥ ६ ॥ परीक्षित्! इस चराचर जगत्की उत्पत्ति और प्रलय जिस तत्त्वसे प्रकाशित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही आश्रय' है। शास्त्रोंमें उसीको परमात्मा कहा गया है॥ ७॥

१. प्रा० पा०—नुवर्णितम्। २. प्रा० पा०—तपस्तद् यत्र गीयते। ३. प्रा० पा०—जप्यते।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो[1] ह्याधिभौतिकः॥ ८

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥ ९

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः[2]।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः॥ १०

तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान्।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः॥ ११

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥ १२

एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरणमयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा॥ १३

अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः।
यथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु॥ १४

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे[3] ततः प्राणो महानसुः॥ १५

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः॥ १६

जो नेत्र आदि इन्द्रियोंका अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवता सूर्य आदिके रूपमें भी है और जो नेत्रगोलक आदिसे युक्त दृश्य देह है, वही उन दोनोंको अलग-अलग करता है॥ ८॥ इन तीनोंमें यदि एकका भी अभाव हो जाय तो दूसरे दोकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः जो इन तीनोंको जानता है, वह परमात्मा ही सबका अधिष्ठान 'आश्रय' तत्त्व है। उसका आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं॥ ९॥

जब पूर्वोक्त विराट् पुरुष ब्रह्माण्डको फोड़कर निकला, तब वह अपने रहनेका स्थान ढूँढने लगा और स्थानकी इच्छासे उस शुद्ध-संकल्प पुरुषने अत्यन्त पवित्र जलकी सृष्टि की॥ १०॥ विराट् पुरुषरूप 'नर' से उत्पन्न होनेके कारण ही जलका नाम 'नार' पड़ा और उस अपने उत्पन्न किये हुए 'नार' में वह पुरुष एक हजार वर्षोंतक रहा, इसीसे उसका नाम 'नारायण' हुआ॥ ११॥ उन नारायणभगवान्की कृपासे ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव आदिकी सत्ता है। उनके उपेक्षा कर देनेपर और किसीका अस्तित्व नहीं रहता॥ १२॥ उन अद्वितीय भगवान् नारायणने योगनिद्रासे जगकर अनेक होनेकी इच्छा की। तब अपनी मायासे उन्होंने अखिल ब्रह्माण्डके बीजस्वरूप अपने सुवर्णमय वीर्यको तीन भागोंमें विभक्त कर दिया—अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत। परीक्षित्! विराट् पुरुषका एक ही वीर्य तीन भागोंमें कैसे विभक्त हुआ, सो सुनो॥ १३-१४॥

विराट् पुरुषके हिलने-डोलनेपर उनके शरीरमें रहनेवाले आकाशसे इन्द्रियबल, मनोबल और शरीरबलकी उत्पत्ति हुई। उनसे इन सबका राजा प्राण उत्पन्न हुआ॥ १५॥ जैसे सेवक अपने स्वामी राजाके पीछे-पीछे चलते हैं, वैसे ही सबके शरीरोंमें प्राणके प्रबल रहनेपर ही सारी इन्द्रियाँ प्रबल रहती हैं और जब वह सुस्त पड़ जाता है, तब सारी इन्द्रियाँ भी सुस्त हो जाती हैं॥ १६॥

१. प्रा० पा०—स स्मृतो। २. प्रा० पा०—विसर्गतः। ३. प्रा० पा०—तेजस्ततः।

प्राणेन क्षिपता क्षुत् तृडन्तरा जायते प्रभोः[१]।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत॥ १७

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते॥ १८

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग् व्याहृतं तयोः।
जले वै तस्य[२] सुचिरं निरोधः समजायत॥ १९

नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः॥ २०

यदाऽऽत्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः।
निर्भिन्ने ह्यक्षिणी[३] तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः॥ २१

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः॥ २२

वस्तुनो मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीतताम्।
जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः॥ २३

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलमिन्द्रश्च[४] आदानमुभयाश्रयम्॥ २४

जब प्राण जोरसे आने-जाने लगा, तब विराट् पुरुषको भूख-प्यासका अनुभव हुआ। खाने-पीनेकी इच्छा करते ही सबसे पहले उनके शरीरमें मुख प्रकट हुआ॥ १७॥ मुखसे तालु और तालुसे रसनेन्द्रिय प्रकट हुई। इसके बाद अनेकों प्रकारके रस उत्पन्न हुए, जिन्हें रसना ग्रहण करती है॥ १८॥ जब उनकी इच्छा बोलनेकी हुई तब वाक्-इन्द्रिय, उसके अधिष्ठातृदेवता अग्नि और उनका विषय बोलना—ये तीनों प्रकट हुए। इसके बाद बहुत दिनोंतक उस जलमें ही वे रुके रहे॥ १९॥ श्वासके वेगसे नासिका-छिद्र प्रकट हो गये। जब उन्हें सूँघनेकी इच्छा हुई, तब उनकी नाक घ्राणेन्द्रिय आकर बैठ गयी और उसके देवता गन्धको फैलानेवाले वायुदेव प्रकट हुए॥ २०॥ पहले उनके शरीरमें प्रकाश नहीं था; फिर जब उन्हें अपनेको तथा दूसरी वस्तुओंको देखनेकी इच्छा हुई, तब नेत्रोंके छिद्र, उनका अधिष्ठाता सूर्य और नेत्रेन्द्रिय प्रकट हो गये। इन्हींसे रूपका ग्रहण होने लगा॥ २१॥ जब वेदरूप ऋषि विराट् पुरुषको स्तुतियोंके द्वारा जगाने लगे, तब उन्हें सुननेकी इच्छा हुई। उसी समय कान, उनकी अधिष्ठातृदेवता दिशाएँ और श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुई। इसीसे शब्द सुनायी पड़ता है॥ २२॥ जब उन्होंने वस्तुओंकी कोमलता, कठिनता, हलकापन, भारीपन, उष्णता और शीतलता आदि जाननी चाही तब उनके शरीरमें चर्म प्रकट हुआ। पृथ्वीमेंसे जैसे वृक्ष निकल आते हैं, उसी प्रकार उस चर्ममें रोएँ पैदा हुए और उसके भीतर-बाहर रहनेवाला वायु भी प्रकट हो गया। स्पर्श ग्रहण करनेवाली त्वचा-इन्द्रिय भी साथ-ही-साथ शरीरमें चारों ओर लिपट गयी और उससे उन्हें स्पर्शका अनुभव होने लगा॥ २३॥ जब उन्हें अनेकों प्रकारके कर्म करनेकी इच्छा हुई, तब उनके हाथ उग आये। उन हाथोंमें ग्रहण करनेकी शक्ति हस्तेन्द्रिय तथा उनके अधिदेवता इन्द्र प्रकट हुए और दोनोंके आश्रयसे होनेवाला ग्रहणरूप कर्म भी प्रकट हो गया॥ २४॥

१. प्रा० पा०—विभोः। २. प्रा० पा०—सुचिरं तस्य। ३. प्रा० पा०—अक्षिणी। ४. प्रा० पा०—बलवानिन्द्र आदा०।

गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः[1] ॥ २५

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम्॥ २६

उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम्।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः॥ २७

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम्॥ २८

आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये॥ २९

निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत।
ततो मनस्[2]ततश्चन्द्रः सङ्कल्पः काम एव च॥ ३०

त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः ।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः॥ ३१

[3]गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः।
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी॥ ३२

जब उन्हें अभीष्ट स्थानपर जानेकी इच्छा हुई, तब उनके शरीरमें पैर उग आये। चरणोंके साथ ही चरण-इन्द्रियके अधिष्ठातारूपमें वहाँ स्वयं यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु स्थित हो गये और उन्हींमें चलनारूप कर्म प्रकट हुआ। मनुष्य इसी चरणेन्द्रियसे चलकर यज्ञ-सामग्री एकत्र करते हैं॥ २५॥ सन्तान, रति और स्वर्ग-भोगकी कामना होनेपर विराट् पुरुषके शरीरमें लिंगकी उत्पत्ति हुई। उसमें उपस्थेन्द्रिय और प्रजापति देवता तथा इन दोनोंके आश्रय रहनेवाले कामसुखका आविर्भाव हुआ॥ २६॥ जब उन्हें मलत्यागकी इच्छा हुई, तब गुदाद्वार प्रकट हुआ। तत्पश्चात् उसमें पायु-इन्द्रिय और मित्र-देवता उत्पन्न हुए। इन्हीं दोनोंके द्वारा मलत्यागकी क्रिया सम्पन्न होती है॥ २७॥ अपानमार्गद्वारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी इच्छा होनेपर नाभिद्वार प्रकट हुआ। उससे अपान और मृत्यु देवता प्रकट हुए। इन दोनोंके आश्रयसे ही प्राण और अपानका बिछोह यानी मृत्यु होती है॥ २८॥ जब विराट् पुरुषको अन्न-जल ग्रहण करनेकी इच्छा हुई, तब कोख, आँतें और नाड़ियाँ उत्पन्न हुईं। साथ ही कुक्षिके देवता समुद्र, नाड़ियोंके देवता नदियाँ एवं तुष्टि और पुष्टि—ये दोनों उनके आश्रित विषय उत्पन्न हुए॥ २९॥ जब उन्होंने अपनी मायापर विचार करना चाहा, तब हृदयकी उत्पत्ति हुई। उससे मनरूप इन्द्रिय और मनसे उसका देवता चन्द्रमा तथा विषय, कामना और संकल्प प्रकट हुए॥ ३०॥ विराट् पुरुषके शरीरमें पृथ्वी, जल और तेजसे सात धातुएँ प्रकट हुईं—त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि। इसी प्रकार आकाश, जल और वायुसे प्राणोंकी उत्पत्ति हुई॥ ३१॥ श्रोत्रादि सब इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाली हैं। वे विषय अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं। मन सब विकारोंका उत्पत्तिस्थान है और बुद्धि समस्त पदार्थोंका बोध करानेवाली है॥ ३२॥

१. प्रा० पा०—त्रिभिः। २. प्रा० पा०—मनश्चन्द्र इति। ३. प्रा० पा०—भूतात्म०।

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥ ३३

मैंने भगवान्‌के इस स्थूलरूपका वर्णन तुम्हें सुनाया है। यह बाहरकी ओरसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन आठ आवरणोंसे घिरा हुआ है॥ ३३॥

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम्।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम्॥ ३४

इससे परे भगवान्‌का अत्यन्त सूक्ष्मरूप है। वह अव्यक्त, निर्विशेष, आदि, मध्य और अन्तसे रहित एवं नित्य है। वाणी और मनकी वहाँतक पहुँच नहीं है॥ ३४॥

अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः॥ ३५

मैंने तुम्हें भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म—व्यक्त और अव्यक्त जिन दो रूपोंका वर्णन सुनाया है, ये दोनों ही भगवान्‌की मायाके द्वारा रचित हैं। इसलिये विद्वान् पुरुष इन दोनोंको ही स्वीकार नहीं करते॥ ३५॥

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः॥ ३६

वास्तवमें भगवान् निष्क्रिय हैं। अपनी शक्तिसे ही वे सक्रिय बनते हैं। फिर तो वे ब्रह्माका या विराट्‌रूप धारण करके वाच्य और वाचक—शब्द और उसके अर्थके रूपमें प्रकट होते हैं और अनेकों नाम, रूप तथा क्रियाएँ स्वीकार करते हैं॥ ३६॥

प्रजापतीन्मनून् देवानृषीन् पितृगणान् पृथक्।
सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान्॥ ३७

किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषोरगान्।
मातॄ[1] रक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान्॥ ३८

कूष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि।
खगान्मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृप सरीसृपान्॥ ३९

परीक्षित्! प्रजापति, मनु, देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर,अप्सराएँ, नाग, सर्प, किम्पुरुष, उरग, मातृकाएँ, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, वेताल, यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसृप इत्यादि जितने भी संसारमें नाम-रूप हैं, सब भगवान्‌के ही हैं॥ ३७—३९॥

द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः।
कुशलाकुशला[2] मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः॥ ४०

संसारमें चर और अचर भेदसे दो प्रकारके तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकारके जितने भी जलचर, थलचर तथा आकाशचारी प्राणी हैं, सब-के-सब शुभ-अशुभ और मिश्रित कर्मोंके तदनुरूप फल हैं ॥ ४०॥

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः।
तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते॥ ४१

सत्त्वकी प्रधानतासे देवता, रजोगुणकी प्रधानतासे मनुष्य और तमोगुणकी प्रधानतासे नारकीय योनियाँ मिलती हैं। इन गुणोंमें भी जब एक गुण दूसरे दो गुणोंसे अभिभूत हो जाता है, तब प्रत्येक गतिके तीन-तीन भेद और हो जाते हैं।॥ ४१॥

---

१. प्रा० पा०—मातृरक्षः०। २. प्रा० पा०—कुशलाकुशलमिश्राणां।

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः[1] ॥ ४२

वे भगवान् जगत्‌के धारण-पोषणके लिये धर्ममय विष्णुरूप स्वीकार करके देवता, मनुष्य और पशु, पक्षी आदि रूपोंमें अवतार लेते हैं तथा विश्वका पालन-पोषण करते हैं॥ ४२॥

ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः।
संनियच्छति कालेन[2] घनानीकमिवानिलः॥ ४३

प्रलयका समय आनेपर वे ही भगवान् अपने बनाये हुए इस विश्वको कालाग्निस्वरूप रुद्रका रूप ग्रहण करके अपनेमें वैसे ही लीन कर लेते हैं, जैसे वायु मेघमालाको॥ ४३॥

इत्थंभावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः।
नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः॥ ४४

परीक्षित्! महात्माओंने अचिन्त्यैश्वर्य भगवान्‌का इसी प्रकार वर्णन किया है। परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुषोंको केवल इस सृष्टि, पालन और प्रलय करनेवाले रूपमें ही उनका दर्शन नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे तो इससे परे भी हैं॥ ४४॥

नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत्॥ ४५

सृष्टिकी रचना आदि कर्मोंका निरूपण करके पूर्ण परमात्मासे कर्म या कर्तापनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। वह तो मायासे आरोपित होनेके कारण कर्तृत्वका निषेध करनेके लिये ही है॥ ४५॥

अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः॥ ४६

परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम्।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो[3] शृणु॥ ४७

यह मैंने ब्रह्माजीके महाकल्पका अवान्तर कल्पोंके साथ वर्णन किया है। सब कल्पोंमें सृष्टि-क्रम एक-सा ही है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि महाकल्पके प्रारम्भमें प्रकृतिसे क्रमशः महत्तत्त्वादिकी उत्पत्ति होती है और कल्पोंके प्रारम्भमें प्राकृत सृष्टि तो ज्यों-की-त्यों रहती ही है, चराचर प्राणियोंकी वैकृत सृष्टि नवीन रूपसे होती है॥ ४६॥ परीक्षित्! कालका परिमाण, कल्प और उसके अन्तर्गत मन्वन्तरोंका वर्णन आगे चलकर करेंगे। अब तुम पाद्मकल्पका वर्णन सावधान होकर सुनो॥ ४७॥

शौनक उवाच

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून्[4] सुदुस्त्यजान्॥ ४८

शौनकजीने पूछा—सूतजी! आपने हमलोगोंसे कहा था कि भगवान्‌के परम भक्त विदुरजीने अपने अति दुस्त्यज कुटुम्बियोंको भी छोड़कर पृथ्वीके विभिन्न तीर्थोंमें विचरण किया था॥ ४८॥

१. प्रा० पा०—सुरादिभिः। २. प्रा० पा०—तत्काले। ३. प्रा० पा०—कल्पमिमं। ४. प्रा० पा०—कृत्स्नं च दुस्त्यजम्।

कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह॥ ४९

उस यात्रामें मैत्रेय ऋषिके साथ अध्यात्मके सम्बन्धमें उनकी बातचीत कहाँ हुई तथा मैत्रेयजीने उनके प्रश्न करनेपर किस तत्त्वका उपदेश किया?॥ ४९ ॥

ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम्।
बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवागतवान् पुनः॥ ५०

सूतजी! आपका स्वभाव बड़ा सौम्य है। आप विदुरजीका वह चरित्र हमें सुनाइये। उन्होंने अपने भाई-बन्धुओंको क्यों छोड़ा और फिर उनके पास क्यों लौट आये?॥ ५० ॥

सूत उवाच

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः॥ ५१

सूतजीने कहा—शौनकादि ऋषियो! राजा परीक्षित्ने भी यही बात पूछी थी। उनके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी महाराजने जो कुछ कहा था, वही मैं आपलोगोंसे कहता हूँ। सावधान होकर सुनिये॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे पुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

॥ इति द्वितीयः स्कन्धः समाप्तः॥

ॐ ॐ ॐ

॥ ॐ तत्सत् ॥

॥ श्रीगणेशाय: नम: ॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

तृतीय स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

उद्धव और विदुरकी भेंट

श्रीशुक उवाच

एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत्॥ १
यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम्॥ २

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो॥ ३
न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः।
तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः॥ ४

सूत उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता।
प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥ ५

श्रीशुक उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान् विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह॥ ६
यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः
केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम्।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्वास्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि॥ ७

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! जो बात तुमने पूछी है, वही पूर्वकालमें अपने सुख-समृद्धिसे पूर्ण घरको छोड़कर वनमें गये हुए विदुरजीने भगवान् मैत्रेयजीसे पूछी थी॥ १॥ जब सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके दूत बनकर गये थे, तब वे दुर्योधनके महलोंको छोड़कर, उसी विदुरजीके घरमें उसे अपना ही समझकर बिना बुलाये चले गये थे॥ २॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—प्रभो! यह तो बतलाइये कि भगवान् मैत्रेयके साथ विदुरजीका समागम कहाँ और किस समय हुआ था?॥ ३॥ पवित्रात्मा विदुरने महात्मा मैत्रेयजीसे कोई साधारण प्रश्न नहीं किया होगा; क्योंकि उसे तो मैत्रेयजी-जैसे साधुशिरोमणिने अभिनन्दनपूर्वक उत्तर देकर महिमान्वित किया था॥ ४॥

सूतजी कहते हैं—सर्वज्ञ शुकदेवजीने राजा परीक्षित्के इस प्रकार पूछनेपर अति प्रसन्न होकर कहा—सुनो॥ ५॥

श्रीशुकदेवजी कहने लगे—परीक्षित्! यह उन दिनोंकी बात है, जब अन्धे राजा धृतराष्ट्रने अन्यायपूर्वक अपने दुष्ट पुत्रोंका पालन-पोषण करते हुए अपने छोटे भाई पाण्डुके अनाथ बालकोंको लाक्षाभवनमें भेजकर आग लगवा दी॥ ६॥ जब उनकी पुत्रवधू और महाराज युधिष्ठिरकी पटरानी द्रौपदीके केश दु:शासनने भरी सभामें खींचे, उस समय द्रौपदीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और उस प्रवाहसे उसके वक्ष:स्थलपर लगा हुआ केसर भी बह चला; किन्तु धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको उस कुकर्मसे नहीं रोका॥ ७॥

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनागतस्य।
न याचतोऽदात्समयेन दायं
तमो जुषाणो यदजातशत्रोः॥ ८
यदा च पार्थप्रहितः सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः॥ ९
यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति॥ १०
अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं
तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः
श्वसन् रुषा यत्त्वमलं बिभेषि॥ ११
पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो
गृहीतवान् सक्षितिदेवदेवः।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥ १२
स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री-
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय॥ १३
इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण।

दुर्योधनने सत्यपरायण और भोले-भाले युधिष्ठिरका राज्य जूएमें अन्यायसे जीत लिया और उन्हें वनमें निकाल दिया। किन्तु वनसे लौटनेपर प्रतिज्ञानुसार जब उन्होंने अपना न्यायोचित पैतृक भाग माँगा, तब भी मोहवश उन्होंने उन अजातशत्रु युधिष्ठिरको उनका हिस्सा नहीं दिया॥ ८॥ महाराज युधिष्ठिरके भेजनेपर जब जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने कौरवोंकी सभामें हितभरे सुमधुर वचन कहे, जो भीष्मादि सज्जनोंको अमृत-से लगे, पर कुरुराजने उनके कथनको कुछ भी आदर नहीं दिया। देते कैसे? उनके तो सारे पुण्य नष्ट हो चुके थे॥ ९॥ फिर जब सलाहके लिये विदुरजीको बुलाया गया, तब मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ विदुरजीने राज्यभवनमें जाकर बड़े भाई धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें वह सम्मति दी, जिसे नीति-शास्त्रके जाननेवाले पुरुष 'विदुरनीति' कहते हैं॥ १०॥

उन्होंने कहा—'महाराज! आप अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिरको उनका हिस्सा दे दीजिये। वे आपके न सहनेयोग्य अपराधको भी सह रहे हैं। भीमरूप काले नागसे तो आप भी बहुत डरते हैं; देखिये, वह अपने छोटे भाइयोंके सहित बदला लेनेके लिये बड़े क्रोधसे फुफकारें मार रहा है॥ ११॥ आपको पता नहीं, भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको अपना लिया है। वे यदुवीरोंके आराध्यदेव इस समय अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें विराजमान हैं। उन्होंने पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े राजाओंको अपने अधीन कर लिया है तथा ब्राह्मण और देवता भी उन्हींके पक्षमें हैं॥ १२॥ जिसे आप पुत्र मानकर पाल रहे हैं तथा जिसकी हाँ-में-हाँ मिलाते जा रहे हैं, उस दुर्योधनके रूपमें तो मूर्तिमान् दोष ही आपके घरमें घुसा बैठा है। यह तो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाला है। इसीके कारण आप भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख होकर श्रीहीन हो रहे हैं। अतएव यदि आप अपने कुलकी कुशल चाहते हैं तो इस दुष्टको तुरन्त ही त्याग दीजिये'॥ १३॥

विदुरजीका ऐसा सुन्दर स्वभाव था कि साधुजन भी उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते थे। किंतु उनकी यह बात सुनते ही कर्ण, दु:शासन और शकुनिके

असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन॥ १४
क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं
दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः॥ १५
स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
र्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
गतव्यथोऽयादुरु मानयानः॥ १६
स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्यां
स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः॥ १७
पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरःसु।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः॥ १८
गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाऽऽप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि॥ १९
इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं
कालेन यावद्गतवान् प्रभासम्।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः॥ २०
तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम्।
संस्पर्धया दग्धमथानुशोचन्
सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम्॥ २१

सहित दुर्योधनके होठ अत्यन्त क्रोधसे फड़कने लगे और उसने उनका तिरस्कार करते हुए कहा—'अरे! इस कुटिल दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया है? यह जिनके टुकड़े खा-खाकर जीता है, उन्हींके प्रतिकूल होकर शत्रुका काम बनाना चाहता है। इसके प्राण तो मत लो, परंतु इसे हमारे नगरसे तुरन्त बाहर निकाल दो'॥ १४-१५॥ भाईके सामने ही कानोंमें बाणके समान लगनेवाले इन अत्यन्त कठोर वचनोंसे मर्माहत होकर भी विदुरजीने कुछ बुरा न माना और भगवान्‌की मायाको प्रबल समझकर अपना धनुष राजद्वारपर रख वे हस्तिनापुरसे चल दिये॥ १६॥ कौरवोंको विदुर-जैसे महात्मा बड़े पुण्यसे प्राप्त हुए थे। वे हस्तिनापुरसे चलकर पुण्य करनेकी इच्छासे भूमण्डलमें तीर्थपाद भगवान्‌के क्षेत्रोंमें विचरने लगे, जहाँ श्रीहरि, ब्रह्मा, रुद्र, अनन्त आदि अनेकों मूर्तियोंके रूपमें विराजमान हैं॥ १७॥ जहाँ-जहाँ भगवान्‌की प्रतिमाओंसे सुशोभित तीर्थस्थान, नगर, पवित्र वन, पर्वत, निकुंज और निर्मल जलसे भरे हुए नदी-सरोवर आदि थे, उन सभी स्थानोंमें वे अकेले ही विचरते रहे॥ १८॥ वे अवधूत-वेषमें स्वच्छन्दतापूर्वक पृथ्वीपर विचरते थे, जिससे आत्मीयजन उन्हें पहचान न सकें। वे शरीरको सजाते न थे, पवित्र और साधारण भोजन करते, शुद्धवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते, प्रत्येक तीर्थमें स्नान करते, जमीनपर सोते और भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाले व्रतोंका पालन करते रहते थे॥ १९॥

इस प्रकार भारतवर्षमें ही विचरते-विचरते जबतक वे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचे, तबतक भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे महाराज युधिष्ठिर पृथ्वीका एकच्छत्र अखण्ड राज्य करने लगे थे॥ २०॥ वहाँ उन्होंने अपने कौरव बन्धुओंके विनाशका समाचार सुना, जो आपसकी कलहके कारण परस्पर लड़-भिड़कर उसी प्रकार नष्ट हो गये थे, जैसे अपनी ही रगड़से उत्पन्न हुई आगसे बाँसोंका सारा जंगल जलकर खाक हो जाता है। यह सुनकर वे शोक करते हुए चुपचाप सरस्वतीके तीरपर आये॥ २१॥

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे॥ २२
अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥ २३
ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श॥ २४
स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक् तनयं प्रतीतम्।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं
स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥ २५
कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-
पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे॥ २६
कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः।
यो वै स्वसॄणां पितृवद्ददाति
वरान् वदान्यो वरतर्पणेन॥ २७
कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे॥ २८
कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोज-
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात्॥ २९

वहाँ उन्होंने त्रित, उशना, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेवके नामोंसे प्रसिद्ध ग्यारह तीर्थोंका सेवन किया॥ २२॥ इनके सिवा पृथ्वीमें ब्राह्मण और देवताओंके स्थापित किये हुए जो भगवान् विष्णुके और भी अनेकों मन्दिर थे, जिनके शिखरोंपर भगवान्‌के प्रधान आयुध चक्रके चिह्न थे और जिनके दर्शनमात्रसे श्रीकृष्णका स्मरण हो आता था, उनका भी सेवन किया॥ २३॥ वहाँसे चलकर वे धन-धान्यपूर्ण सौराष्ट्र, सौवीर, मत्स्य और कुरुजांगल आदि देशोंमें होते हुए जब कुछ दिनोंमें यमुनातटपर पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने परमभागवत उद्धवजीका दर्शन किया॥ २४॥ वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रख्यात सेवक और अत्यन्त शान्तस्वभाव थे। वे पहले बृहस्पतिजीके शिष्य रह चुके थे। विदुरजीने उन्हें देखकर प्रेमसे गाढ़ आलिंगन किया और उनसे अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनोंका कुशल-समाचार पूछा॥ २५॥

विदुरजी कहने लगे—उद्धवजी! पुराणपुरुष बलरामजी और श्रीकृष्णने अपने ही नाभिकमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे इस जगत्‌में अवतार लिया है। वे पृथ्वीका भार उतारकर सबको आनन्द देते हुए अब श्रीवसुदेवजीके घर कुशलसे रह रहे हैं न?॥ २६॥ प्रियवर! हम कुरुवंशियोंके परम सुहृद् और पूज्य वसुदेवजी, जो पिताके समान उदारतापूर्वक अपनी कुन्ती आदि बहिनोंको उनके स्वामियोंका सन्तोष कराते हुए उनकी सभी मनचाही वस्तुएँ देते आये हैं, आनन्दपूर्वक हैं न?॥ २७॥ प्यारे उद्धवजी! यादवोंके सेनापति वीरवर प्रद्युम्नजी तो प्रसन्न हैं न, जो पूर्वजन्ममें कामदेव थे तथा जिन्हें देवी रुक्मिणीजीने ब्राह्मणोंकी आराधना करके भगवान्‌से प्राप्त किया था॥ २८॥ सात्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्हवंशी यादवोंके अधिपति महाराज उग्रसेन तो सुखसे हैं न, जिन्होंने राज्य पानेकी आशाका सर्वथा परित्याग कर दिया था किंतु कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने जिन्हें फिरसे राजसिंहासनपर बैठाया॥ २९॥

कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे॥ ३०
क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम्॥ ३१
कच्चिद् बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते
श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः॥ ३२
कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम्॥ ३३
अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः।
यमामनन्ति स्म ह शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम्॥ ३४
अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-
मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण-
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य॥ ३५
अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम्।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या॥ ३६
किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत्।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम्॥ ३७

सौम्य! अपने पिता श्रीकृष्णके समान समस्त रथियोंमें अग्रगण्य श्रीकृष्णतनय साम्ब सकुशल तो हैं न? ये पहले पार्वतीजीके द्वारा गर्भमें धारण किये हुए स्वामिकार्तिक हैं। अनेकों व्रत करके जाम्बवतीने इन्हें जन्म दिया था॥ ३०॥ जिन्होंने अर्जुनसे रहस्ययुक्त धनुर्विद्याकी शिक्षा पायी है, वे सात्यकि तो कुशलपूर्वक हैं? वे भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे अनायास ही भगवज्जनोंकी उस महान् स्थितिपर पहुँच गये हैं, जो बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ है॥ ३१॥ भगवान्के शरणागत निर्मल भक्त बुद्धिमान् अक्रूरजी भी प्रसन्न हैं न, जो श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंसे अंकित व्रजके मार्गकी रजमें प्रेमसे अधीर होकर लोटने लगे थे?॥ ३२॥ भोजवंशी देवककी पुत्री देवकीजी अच्छी तरह हैं न, जो देवमाता अदितिके समान ही साक्षात् विष्णुभगवान्की माता हैं? जैसे वेदत्रयी यज्ञविस्ताररूप अर्थको अपने मन्त्रोंमें धारण किये रहती है, उसी प्रकार उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको अपने गर्भमें धारण किया था॥ ३३॥ आप भक्तजनोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले भगवान् अनिरुद्धजी सुखपूर्वक हैं न, जिन्हें शास्त्र वेदोंके आदिकारण और अन्तःकरणचतुष्टयके चौथे अंश मनके अधिष्ठाता बतलाते हैं*॥ ३४॥ सौम्यस्वभाव उद्धवजी! अपने हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका अनन्यभावसे अनुसरण करनेवाले जो हृदीक, सत्यभामानन्दन चारुदेष्ण और गद आदि अन्य भगवान्के पुत्र हैं, वे सब भी कुशलपूर्वक हैं न?॥ ३५॥

महाराज युधिष्ठिर अपनी अर्जुन और श्रीकृष्ण-रूप दोनों भुजाओंकी सहायतासे धर्ममर्यादाका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न? मयदानवकी बनायी हुई सभामें इनके राज्यवैभव और दबदबेको देखकर दुर्योधनको बड़ा डाह हुआ था॥ ३६॥ अपराधियोंके प्रति अत्यन्त असहिष्णु भीमसेनने सर्पके समान दीर्घकालीन क्रोधको छोड़ दिया है क्या? जब वे गदायुद्धमें तरह-तरहके पैंतरे बदलते थे, तब उनके पैरोंकी धमकसे धरती डोलने लगती थी॥ ३७॥

* चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन—ये अन्तःकरणके चार अंश हैं। इनके अधिष्ठाता क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं।

कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष॥ ३८

यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं
परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात्॥ ३९

अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः॥ ४०

सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे यः।
निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या
अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन॥ ४१

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन
दृशो नृणां चालयतो विधातुः।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र॥ ४२

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः।
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षताघं भगवान् कुरूणाम्॥ ४३

जिनके बाणोंके जालसे छिपकर किरातवेषधारी, अतएव किसीकी पहचानमें न आनेवाले भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये थे, वे रथी और यूथपतियोंका सुयश बढ़ानेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन तो प्रसन्न हैं न? अब तो उनके सभी शत्रु शान्त हो चुके होंगे?॥ ३८॥ पलक जिस प्रकार नेत्रोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिरादि जिनकी सर्वदा सँभाल रखते हैं और कुन्तीने ही जिनका लालन-पालन किया है, वे माद्रीके यमज पुत्र नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न? उन्होंने युद्धमें शत्रुसे अपना राज्य उसी प्रकार छीन लिया, जैसे दो गरुड़ इन्द्रके मुखसे अमृत निकाल लायें॥ ३९॥ अहो! बेचारी कुन्ती तो राजर्षिश्रेष्ठ पाण्डुके वियोगमें मृतप्राय-सी होकर भी इन बालकोंके लिये ही प्राण धारण किये हुए है। रथियोंमें श्रेष्ठ महाराज पाण्डु ऐसे अनुपम वीर थे कि उन्होंने केवल एक धनुष लेकर ही अकेले चारों दिशाओंको जीत लिया था॥ ४०॥ सौम्यस्वभाव उद्धवजी! मुझे तो अधःपतनकी ओर जानेवाले उन धृतराष्ट्रके लिये बार-बार शोक होता है, जिन्होंने पाण्डवोंके रूपमें अपने परलोकवासी भाई पाण्डुसे ही द्रोह किया तथा अपने पुत्रोंकी हाँ-में-हाँ मिलाकर अपने हितचिन्तक मुझको भी नगरसे निकलवा दिया॥ ४१॥ किंतु भाई! मुझे इसका कुछ भी खेद अथवा आश्चर्य नहीं है। जगद्विधाता भगवान् श्रीकृष्ण ही मनुष्योंकी-सी लीलाएँ करके लोगोंकी मनोवृत्तियोंको भ्रमित कर देते हैं। मैं तो उन्हींकी कृपासे उनकी महिमाको देखता हुआ दूसरोंकी दृष्टिसे दूर रहकर सानन्द विचर रहा हूँ॥ ४२॥ यद्यपि कौरवोंने उनके बहुत-से अपराध किये, फिर भी भगवान्ने उनकी इसीलिये उपेक्षा कर दी थी कि वे उनके साथ उन दुष्ट राजाओंको भी मारकर अपने शरणागतोंका दुःख दूर करना चाहते थे, जो धन, विद्या और जातिके मदसे अंधे होकर कुमार्गगामी हो रहे थे और बार-बार अपनी सेनाओंसे पृथ्वीको कँपा रहे थे॥ ४३॥

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम्।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम्॥ ४४

उद्धवजी! भगवान् श्रीकृष्ण जन्म और कर्मसे रहित हैं, फिर भी दुष्टोंका नाश करनेके लिये और लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये उनके दिव्य जन्म-कर्म हुआ करते हैं। नहीं तो, भगवान्की तो बात ही क्या—दूसरे जो लोग गुणोंसे पार हो गये हैं, उनमें भी ऐसा कौन है, जो इस कर्माधीन देहके बन्धनमें पड़ना चाहेगा॥ ४४॥

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः॥ ४५

अतः मित्र! जिन्होंने अजन्मा होकर भी अपनी शरणमें आये हुए समस्त लोकपाल और आज्ञाकारी भक्तोंका प्रिय करनेके लिये यदुकुलमें जन्म लिया है, उन पवित्रकीर्ति श्रीहरिकी बातें सुनाओ॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

उद्धवजीद्वारा भगवान्की बाललीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम्।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— जब विदुरजीने परम भक्त उद्धवसे इस प्रकार उनके प्रियतम श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें पूछीं, तब उन्हें अपने स्वामीका स्मरण हो आया और वे हृदय भर आनेके कारण कुछ भी उत्तर न दे सके॥ १॥

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया॥ २

जब ये पाँच वर्षके थे, तब बालकोंकी तरह खेलमें ही श्रीकृष्णकी मूर्ति बनाकर उसकी सेवा-पूजामें ऐसे तन्मय हो जाते थे कि कलेवेके लिये माताके बुलानेपर भी उसे छोड़कर नहीं जाना चाहते थे॥ २॥

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः।
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन्॥ ३

अब तो दीर्घकालसे उन्हींकी सेवामें रहते-रहते ये बूढ़े हो चले थे; अतः विदुरजीके पूछनेसे उन्हें अपने प्यारे प्रभुके चरणकमलोंका स्मरण हो आया—उनका चित्त विरहसे व्याकुल हो गया। फिर वे कैसे उत्तर दे सकते थे॥ ३॥

स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम्।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः॥ ४

उद्धवजी श्रीकृष्णके चरणारविन्द-मकरन्दसुधासे सराबोर होकर दो घड़ीतक कुछ भी नहीं बोल सके। तीव्र भक्तियोगसे उसमें डूबकर वे आनन्द-मग्न हो गये॥ ४॥

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः॥ ५

उनके सारे शरीरमें रोमांच हो आया तथा मुँदे हुए नेत्रोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बहने लगी। उद्धवजीको इस प्रकार प्रेमप्रवाहमें डूबे हुए देखकर विदुरजीने उन्हें कृतकृत्य माना॥ ५॥

शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन्॥ ६

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥ ७

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥ ८

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत॥ ९

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ॥ १०

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम्।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम्॥ ११

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥ १२

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातु-
रर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत॥ १३

कुछ समय बाद जब उद्धवजी भगवान्‌के प्रेमधामसे उतरकर पुनः धीरे-धीरे संसारमें आये, तब अपने नेत्रोंको पोंछकर भगवल्लीलाओंका स्मरण हो आनेसे विस्मित हो विदुरजीसे इस प्रकार कहने लगे॥ ६॥

उद्धवजी बोले—विदुरजी! श्रीकृष्णरूप सूर्यके छिप जानेसे हमारे घरोंको कालरूप अजगरने खा डाला है, वे श्रीहीन हो गये हैं; अब मैं उनकी क्या कुशल सुनाऊँ॥ ७॥ ओह! यह मनुष्यलोक बड़ा ही अभागा है; इसमें भी यादव तो नितान्त भाग्यहीन हैं, जिन्होंने निरन्तर श्रीकृष्णके साथ रहते हुए भी उन्हें नहीं पहचाना—जिस तरह अमृतमय चन्द्रमाके समुद्रमें रहते समय मछलियाँ उन्हें नहीं पहचान सकी थीं॥ ८॥ यादवलोग मनके भावको ताड़नेवाले, बड़े समझदार और भगवान्‌के साथ एक ही स्थानमें रहकर क्रीडा करनेवाले थे; तो भी उन सबने समस्त विश्वके आश्रय, सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णको एक श्रेष्ठ यादव ही समझा॥ ९॥ किंतु भगवान्‌की मायासे मोहित इन यादवों और इनसे व्यर्थका वैर ठाननेवाले शिशुपाल आदिके अवहेलना और निन्दासूचक वाक्योंसे भगवत्प्राण महानुभावोंकी बुद्धि भ्रममें नहीं पड़ती थी॥ १०॥ जिन्होंने कभी तप नहीं किया, उन लोगोंको भी इतने दिनोंतक दर्शन देकर अब उनकी दर्शन-लालसाको तृप्त किये बिना ही वे भगवान् श्रीकृष्ण अपने त्रिभुवन-मोहन श्रीविग्रहको छिपाकर अन्तर्धान हो गये हैं और इस प्रकार उन्होंने मानो उनके नेत्रोंको ही छीन लिया है॥ ११॥ भगवान्‌ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखानेके लिये मानवलीलाओंके योग्य जो दिव्य श्रीविग्रह प्रकट किया था, वह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था, वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। सौभाग्य और सुन्दरताकी पराकाष्ठा थी उस रूपमें। उससे आभूषण (अंगोंके गहने) भी विभूषित हो जाते थे॥ १२॥

धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें जब भगवान्‌के उस नयनाभिराम रूपपर लोगोंकी दृष्टि पड़ी थी, तब त्रिलोकीने यही माना था कि मानव-सृष्टिकी रचनामें विधाताकी जितनी चतुराई है, सब इसी रूपमें पूरी हो गयी है॥ १३॥

यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त-
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः॥ १४
स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः॥ १५
मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
पुराद् व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः॥ १६
दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्
यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः।
ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम्॥ १७
को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन्।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार॥ १८
दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
योगेन कस्तद्विरहं सहेत॥ १९
तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम्।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य॥ २०

उनके प्रेमपूर्ण हास्य-विनोद और लीलामय चितवनसे सम्मानित होनेपर व्रजबालाओंकी आँखें उन्हींकी ओर लग जाती थीं और उनका चित्त भी ऐसा तल्लीन हो जाता था कि वे घरके काम-धंधोंको अधूरा ही छोड़कर जड पुतलियोंकी तरह खड़ी रह जाती थीं॥ १४॥ चराचर जगत् और प्रकृतिके स्वामी भगवान्ने जब अपने शान्तरूप महात्माओंको अपने ही घोररूप असुरोंसे सताये जाते देखा, तब वे करुणाभावसे द्रवित हो गये और अजन्मा होनेपर भी अपने अंश बलरामजीके साथ काष्ठमें अग्निके समान प्रकट हुए॥ १५॥

अजन्मा होकर भी वसुदेवजीके यहाँ जन्म लेनेकी लीला करना, सबको अभय देनेवाले होनेपर भी मानो कंसके भयसे व्रजमें जाकर छिप रहना और अनन्तपराक्रमी होनेपर भी कालयवनके सामने मथुरापुरीको छोड़कर भाग जाना—भगवान्की ये लीलाएँ याद आ-आकर मुझे बेचैन कर डालती हैं॥ १६॥ उन्होंने जो देवकी-वसुदेवकी चरण-वन्दना करके कहा था—'पिताजी, माताजी! कंसका बड़ा भय रहनेके कारण मुझसे आपकी कोई सेवा न बन सकी, आप मेरे इस अपराधपर ध्यान न देकर मुझपर प्रसन्न हों।' श्रीकृष्णकी ये बातें जब याद आती हैं, तब आज भी मेरा चित्त अत्यन्त व्यथित हो जाता है॥ १७॥ जिन्होंने कालरूप अपने भ्रुकुटिविलाससे ही पृथ्वीका सारा भार उतार दिया था, उन श्रीकृष्णके पादपद्मपरागका सेवन करनेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उसे भूल सके॥ १८॥ आपलोगोंने राजसूय यज्ञमें प्रत्यक्ष ही देखा था कि श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाले शिशुपालको वह सिद्धि मिल गयी, जिसकी बड़े-बड़े योगी भलीभाँति योग-साधना करके स्पृहा करते रहते हैं। उनका विरह भला कौन सह सकता है॥ १९॥ शिशुपालके ही समान महाभारत-युद्धमें जिन दूसरे योद्धाओंने अपनी आँखोंसे भगवान् श्रीकृष्णके नयनाभिराम मुखकमलका मकरन्द पान करते हुए अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर प्राणत्याग किया, वे पवित्र होकर सब-के-सब भगवान्के परमधामको प्राप्त हो गये॥ २०॥

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः[१] ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥ २१

तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान्नो
विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम्।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये
न्यबोधयद्देव निधारयेति॥ २२

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥ २३

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम्॥ २४

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः॥ २५

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत्॥ २६

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः[२]।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसंकुलिताङ्घ्रिपे॥ २७

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम्।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः॥ २८

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंके अधीश्वर हैं। उनके समान भी कोई नहीं है, उनसे बढ़कर तो कौन होगा। वे अपने स्वतःसिद्ध ऐश्वर्यसे ही सर्वदा पूर्णकाम हैं। इन्द्रादि असंख्य लोकपालगण नाना प्रकारकी भेंटें ला-लाकर अपने-अपने मुकुटोंके अग्रभागसे उनके चरण रखनेकी चौकीको प्रणाम किया करते हैं॥ २१ ॥ विदुरजी! वे ही भगवान् श्रीकृष्ण राजसिंहासनपर बैठे हुए उग्रसेनके सामने खड़े होकर निवेदन करते थे, 'देव! हमारी प्रार्थना सुनिये।' उनके इस सेवा-भावकी याद आते ही हम-जैसे सेवकोंका चित्त अत्यन्त व्यथित हो जाता है॥ २२ ॥ पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नियतसे उन्हें दूध पिलाया था; उसको भी भगवान्ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें॥ २३ ॥

मैं असुरोंको भी भगवान्का भक्त समझता हूँ; क्योंकि वैरभावजनित क्रोधके कारण उनका चित्त सदा श्रीकृष्णमें लगा रहता था और उन्हें रणभूमिमें सुदर्शनचक्रधारी भगवान्को कंधेपर चढ़ाकर झपटते हुए गरुड़जीके दर्शन हुआ करते थे॥ २४ ॥

ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार उतारकर उसे सुखी करनेके लिये कंसके कारागारमें वसुदेव-देवकीके यहाँ भगवान्ने अवतार लिया था॥ २५ ॥ उस समय कंसके डरसे पिता वसुदेवजीने उन्हें नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचा दिया था। वहाँ वे बलरामजीके साथ ग्यारह वर्षतक इस प्रकार छिपकर रहे कि उनका प्रभाव व्रजके बाहर किसीपर प्रकट नहीं हुआ॥ २६ ॥ यमुनाके उपवनमें, जिसके हरे-भरे वृक्षोंपर कलरव करते हुए पक्षियोंके झुंड-के-झुंड रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णने बछड़ोंको चराते हुए ग्वालबालोंकी मण्डलीके साथ विहार किया था॥ २७ ॥ वे व्रजवासियोंकी दृष्टि आकृष्ट करनेके लिये अनेकों बाल-लीला उन्हें दिखाते थे। कभी रोने-से लगते, कभी हँसते और कभी सिंहशावकके समान मुग्ध दृष्टिसे देखते॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—साम्राज्य०। २. प्रा० पा०—व्यचरद् भुवि।

स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम्।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत्॥ २९

फिर कुछ बड़े होनेपर वे सफेद बैल और रंग-बिरंगी शोभाकी मूर्ति गौओंको चराते हुए अपने साथी गोपोंको बाँसुरी बजा-बजाकर रिझाने लगे॥ २९॥

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः।
लीलया व्यनुदत्तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव॥ ३०

इसी समय जब कंसने उन्हें मारनेके लिये बहुत-से मायावी और मनमाना रूप धारण करनेवाले राक्षस भेजे, तब उनको खेल-ही-खेलमें भगवान्ने मार डाला—जैसे बालक खिलौनोंको तोड़-फोड़ डालता है॥ ३०॥

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम्।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम्॥ ३१

कालियनागका दमन करके विष मिला हुआ जल पीनेसे मरे हुए ग्वालबालों और गौओंको जीवितकर उन्हें कालियदहका निर्दोष जल पीनेकी सुविधा कर दी॥ ३१॥

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन् सद्व्ययं विभुः॥ ३२

भगवान् श्रीकृष्णने बढ़े हुए धनका सद्व्यय करानेकी इच्छासे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा नन्दबाबासे गोवर्धनपूजारूप गोयज्ञ करवाया॥ ३२॥

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता॥ ३३

भद्र! इससे अपना मानभंग होनेके कारण जब इन्द्रने क्रोधित होकर व्रजका विनाश करनेके लिये मूसलधार जल बरसाना आरम्भ किया, तब भगवान्ने करुणावश खेल-ही-खेलमें छत्तेके समान गोवर्धन पर्वतको उठा लिया और अत्यन्त घबराये हुए व्रजवासियोंकी तथा उनके पशुओंकी रक्षा की॥ ३३॥

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम्।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः॥ ३४

सन्ध्याके समय जब सारे वृन्दावनमें शरत्के चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक जाती, तब श्रीकृष्ण उसका सम्मान करते हुए मधुर गान करते और गोपियोंके मण्डलकी शोभा बढ़ाते हुए उनके साथ रासविहार करते॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान्के अन्य लीलाचरित्रोंका वर्णन

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद् व्यसुमोजसोर्व्याम्॥ १

उद्धवजी कहते हैं—इसके बाद श्रीकृष्ण अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवको सुख पहुँचानेकी इच्छासे बलदेवजीके साथ मथुरा पधारे और उन्होंने शत्रुसमुदायके स्वामी कंसको ऊँचे सिंहासनसे नीचे पटककर तथा उसके प्राण लेकर उसकी लाशको बड़े जोरसे पृथ्वीपर घसीटा॥ १॥

सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम्।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात्॥ २
समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम्।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः॥ ३
ककुद्मतोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञा-
ञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः॥ ४
प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद् द्युतरुं यदर्थे।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम्॥ ५
सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश॥ ६
तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम्।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥ ७
आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥ ८
तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया॥ ९

सान्दीपनि मुनिके द्वारा एक बार उच्चारण किये हुए सांगोपांग वेदका अध्ययन करके दक्षिणास्वरूप उनके मरे हुए पुत्रको पंचजन नामक राक्षसके पेटसे (यमपुरीसे) लाकर दे दिया॥ २॥ भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीके सौन्दर्यसे अथवा रुक्मीके बुलानेसे जो शिशुपाल और उसके सहायक वहाँ आये हुए थे, उनके सिरपर पैर रखकर गान्धर्व विधिके द्वारा विवाह करनेके लिये अपनी नित्यसंगिनी रुक्मिणीको वे वैसे ही हरण कर लाये, जैसे गरुड अमृतकलशको ले आये थे॥ ३॥ स्वयंवरमें सात बिना नथे हुए बैलोंको नाथकर नाग्नजिती (सत्या)-से विवाह किया। इस प्रकार मानभंग हो जानेपर मूर्ख राजाओंने शस्त्र उठाकर राजकुमारीको छीनना चाहा। तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं बिना घायल हुए अपने शस्त्रोंसे उन्हें मार डाला॥ ४॥ भगवान् विषयी पुरुषोंकी-सी लीला करते हुए अपनी प्राणप्रिया सत्यभामाको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उनके लिये स्वर्गसे कल्पवृक्ष उखाड़ लाये। उस समय इन्द्रने क्रोधसे अंधे होकर अपने सैनिकोंसहित उनपर आक्रमण कर दिया; क्योंकि वह निश्चय ही अपनी स्त्रियोंका क्रीडामृग बना हुआ है॥ ५॥ अपने विशाल डीलडौलसे आकाशको भी ढक देनेवाले अपने पुत्र भौमासुरको भगवान्के हाथसे मरा हुआ देखकर पृथ्वीने जब उनसे प्रार्थना की, तब उन्होंने भौमासुरके पुत्र भगदत्तको उसका बचा हुआ राज्य देकर उसके अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥ ६॥ वहाँ भौमासुरद्वारा हरकर लायी हुई बहुत-सी राजकन्याएँ थीं। वे दीनबन्धु श्रीकृष्णचन्द्रको देखते ही खड़ी हो गयीं और सबने महान् हर्ष, लज्जा एवं प्रेमपूर्ण चितवनसे तत्काल ही भगवान्को पतिरूपमें वरण कर लिया॥ ७॥

तब भगवान्ने अपनी निजशक्ति योगमायासे उन ललनाओंके अनुरूप उतने ही रूप धारणकर उन सबका अलग-अलग महलोंमें एक ही मुहूर्तमें विधिवत् पाणिग्रहण किया॥ ८॥ अपनी लीलाका विस्तार करनेके लिये उन्होंने उनमेंसे प्रत्येकके गर्भसे सभी गुणोंमें अपने ही समान दस-दस पुत्र उत्पन्न किये॥ ९॥

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम्।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत्॥ १०

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत्॥ ११

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान्नृपान्।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः॥ १२

स कर्णदुश्शासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्।
सुयोधनं सानुचरं शयानं
भग्नोरुमूर्व्यां न ननन्द पश्यन्॥ १३

कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम्॥ १४

मिथो यदैषां भविता विवादो
मध्वामदाताम्रविलोचनानाम्।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म॥ १५

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम्।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन्॥ १६

उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना।
स वै द्रौण्यस्त्रसंछिन्नः पुनर्भगवता धृतः॥ १७

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः॥ १८

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः।
कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः॥ १९

जब कालयवन, जरासन्ध और शाल्वादिने अपनी सेनाओंसे मथुरा और द्वारकापुरीको घेरा था, तब भगवान्ने निजजनोंको अपनी अलौकिक शक्ति देकर उन्हें स्वयं मरवाया था॥ १०॥ शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल तथा दन्तवक्त्र आदि अन्य योद्धाओंमेंसे भी किसीको उन्होंने स्वयं मारा था और किसीको दूसरोंसे मरवाया॥ ११॥ इसके बाद उन्होंने आपके भाई धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्रोंका पक्ष लेकर आये हुए राजाओंका भी संहार किया, जिनके सेनासहित कुरुक्षेत्रमें पहुँचनेपर पृथ्वी डगमगाने लगी थी॥ १२॥ कर्ण, दुःशासन और शकुनिकी खोटी सलाहसे जिसकी आयु और श्री दोनों नष्ट हो चुकी थीं तथा भीमसेनकी गदासे जिसकी जाँघ टूट चुकी थी, उस दुर्योधनको अपने साथियोंके सहित पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी उन्हें प्रसन्नता न हुई॥ १३॥ वे सोचने लगे—यदि द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीमसेनके द्वारा इस अठारह अक्षौहिणी सेनाका विपुल संहार हो भी गया, तो इससे पृथ्वीका कितना भार हलका हुआ। अभी तो मेरे अंशरूप प्रद्युम्न आदिके बलसे बढ़े हुए यादवोंका दुःसह दल बना ही हुआ है॥ १४॥ जब ये मधुपानसे मतवाले हो लाल-लाल आँखें करके आपसमें लड़ने लगेंगे, तब उससे ही इनका नाश होगा। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। असलमें मेरे संकल्प करनेपर ये स्वयं ही अन्तर्धान हो जायँगे॥ १५॥

यों सोचकर भगवान्ने युधिष्ठिरको अपनी पैतृक राजगद्दीपर बैठाया और अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंको सत्पुरुषोंका मार्ग दिखाकर आनन्दित किया॥ १६॥ उत्तराके उदरमें जो अभिमन्युने पूरुवंशका बीज स्थापित किया था, वह भी अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे नष्ट-सा हो चुका था; किन्तु भगवान्ने उसे बचा लिया॥ १७॥ उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेधयज्ञ करवाये और वे भी श्रीकृष्णके अनुगामी होकर अपने छोटे भाइयोंकी सहायतासे पृथ्वीकी रक्षा करते हुए बड़े आनन्दसे रहने लगे॥ १८॥ विश्वात्मा श्रीभगवान्ने भी द्वारकापुरीमें रहकर लोक और वेदकी मर्यादाका पालन करते हुए सब प्रकारके भोग भोगे, किन्तु सांख्ययोगकी स्थापना करनेके लिये उनमें कभी आसक्त नहीं हुए॥ १९॥

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया।
चरित्रेणानवद्येन[1] श्रीनिकेतेन चात्मना॥ २०

इमं लोकममुं चैव रमयन् सुतरां यदून्।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः॥ २१

तस्यैवं[2] रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून्।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत॥ २२

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान्।
को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः॥ २३

पुर्यां कदाचित्क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः॥ २४

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः॥ २५

तत्र स्नात्वा पितॄन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा।
तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः॥ २६

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान्।
यानं[3] रथानिभान् कन्या धरां वृत्तिकरीमपि॥ २७

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम्।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः॥ २८

मधुर मुसकान, स्नेहमयी चितवन, सुधामयी वाणी, निर्मल चरित्र तथा समस्त शोभा और सुन्दरताके निवास अपने श्रीविग्रहसे लोक-परलोक और विशेषतया यादवोंको आनन्दित किया तथा रात्रिमें अपनी प्रियाओंके साथ क्षणिक अनुरागयुक्त होकर समयोचित विहार किया और इस प्रकार उन्हें भी सुख दिया॥ २०-२१॥ इस तरह बहुत वर्षोंतक विहार करते-करते उन्हें गृहस्थ-आश्रम-सम्बन्धी भोग-सामग्रियोंसे वैराग्य हो गया॥ २२॥ ये भोग-सामग्रियाँ ईश्वरके अधीन हैं और जीव भी उन्हींके अधीन है। जब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको ही उनसे वैराग्य हो गया तब भक्तियोगके द्वारा उनका अनुगमन करनेवाला भक्त तो उनपर विश्वास ही कैसे करेगा?॥ २३॥

एक बार द्वारकापुरीमें खेलते हुए यदुवंशी और भोजवंशी बालकोंने खेल-खेलमें कुछ मुनीश्वरोंको चिढ़ा दिया। तब यादवकुलका नाश ही भगवान्‌को अभीष्ट है—यह समझकर उन ऋषियोंने बालकोंको शाप दे दिया॥ २४॥ इसके कुछ ही महीने बाद भावीवश वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी यादव बड़े हर्षसे रथोंपर चढ़कर प्रभासक्षेत्रको गये॥ २५॥ वहाँ स्नान करके उन्होंने उस तीर्थके जलसे पितर, देवता और ऋषियोंका तर्पण किया तथा ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ गौएँ दीं॥ २६॥ उन्होंने सोना, चाँदी, शय्या, वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पालकी, रथ, हाथी, कन्याएँ और ऐसी भूमि जिससे जीविका चल सके तथा नाना प्रकारके सरस अन्न भी भगवदर्पण करके ब्राह्मणोंको दिये। इसके पश्चात् गौ और ब्राह्मणोंके लिये ही प्राण धारण करनेवाले उन वीरोंने पृथ्वीपर सिर टेककर उन्हें प्रणाम किया॥ २७-२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
विदुरोद्धवसंवादे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

१. प्रा० पा०—चारित्र्येणा०। २. प्रा० पा०—तस्येत्थं। ३. प्रा० पा०—हयान्रथानिभान्कन्यां।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

उद्धवजीसे विदा होकर विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम्।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः॥ १
तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम्।
निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम्॥ २
भगवान् स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत्॥ ३
अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा॥ ४
अथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः॥ ५
अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन् दयितं पतिम्।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम्॥ ६
श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम्।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च॥ ७
वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम्।
अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम्॥ ८
तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा।
लोकाननुचरन् सिद्ध आससाद यदृच्छया॥ ९
तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य।
आशृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच॥ १०

उद्धवजीने कहा—फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा पाकर यादवोंने भोजन किया और वारुणी मदिरा पी। उससे उनका ज्ञान नष्ट हो गया और वे दुर्वचनोंसे एक-दूसरेके हृदयको चोट पहुँचाने लगे॥ १॥ मदिराके नशेसे उनकी बुद्धि बिगड़ गयी और जैसे आपसकी रगड़से बाँसोंमें आग लग जाती है, उसी प्रकार सूर्यास्त होते-होते उनमें मार-काट होने लगी॥ २॥ भगवान् अपनी मायाकी उस विचित्र गतिको देखकर सरस्वतीके जलसे आचमन करके एक वृक्षके नीचे बैठ गये॥ ३॥ इससे पहले ही शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलका संहार करनेकी इच्छा होनेपर मुझसे कह दिया था कि तुम बदरिकाश्रम चले जाओ॥ ४॥ विदुरजी! इससे यद्यपि मैं उनका आशय समझ गया था, तो भी स्वामीके चरणोंका वियोग न सह सकनेके कारण मैं उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्रमें पहुँच गया॥ ५॥ वहाँ मैंने देखा कि जो सबके आश्रय हैं किन्तु जिनका कोई और आश्रय नहीं है, वे प्रियतम प्रभु शोभाधाम श्यामसुन्दर सरस्वतीके तटपर अकेले ही बैठे हैं॥ ६॥ दिव्य विशुद्ध-सत्त्वमय अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, शान्तिसे भरी रतनारी आँखें हैं। उनकी चार भुजाएँ और रेशमी पीताम्बर देखकर मैंने उनको दूरसे ही पहचान लिया॥ ७॥ वे एक पीपलके छोटे-से वृक्षका सहारा लिये बायीं जाँघपर दायाँ चरणकमल रखे बैठे थे। भोजन-पानका त्याग कर देनेपर भी वे आनन्दसे प्रफुल्लित हो रहे थे॥ ८॥ इसी समय व्यासजीके प्रिय मित्र परम भागवत सिद्ध मैत्रेयजी लोकोंमें स्वच्छन्द विचरते हुए वहाँ आ पहुँचे॥ ९॥ मैत्रेय मुनि भगवान्के अनुरागी भक्त हैं। आनन्द और भक्तिभावसे उनकी गर्दन झुक रही थी। उनके सामने ही श्रीहरिने प्रेम एवं मुसकानयुक्त चितवनसे मुझे आनन्दित करते हुए कहा॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
ददामि यत्तद् दुरवापमन्यैः।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः॥ ११
स एष साधो चरमो भवाना-
मासादितस्ते मदनुग्रहो यत्।
यन्मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या॥ १२
पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति॥ १३
इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे॥ १४
को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः॥ १५
कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः
स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥ १६
मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्व-
मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्त-
स्तन्नो मनो मोहयतीव देव॥ १७

श्रीभगवान् कहने लगे—मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा जानता हूँ; इसलिये मैं तुम्हें वह साधन देता हूँ, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। उद्धव! तुम पूर्वजन्ममें वसु थे। विश्वकी रचना करनेवाले प्रजापतियों और वसुओंके यज्ञमें मुझे पानेकी इच्छासे ही तुमने मेरी आराधना की थी॥ ११॥ साधुस्वभाव उद्धव! संसारमें तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है; क्योंकि इसमें तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। अब मैं मर्त्यलोकको छोड़कर अपने धाममें जाना चाहता हूँ। इस समय यहाँ एकान्तमें तुमने अपनी अनन्य भक्तिके कारण ही मेरा दर्शन पाया है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥ १२॥ पूर्वकाल (पाद्मकल्प)-के आरम्भमें मैंने अपने नाभिकमलपर बैठे हुए ब्रह्माको अपनी महिमाके प्रकट करनेवाले जिस श्रेष्ठ ज्ञानका उपदेश किया था और जिसे विवेकी लोग 'भागवत' कहते हैं, वही मैं तुम्हें देता हूँ॥ १३॥

विदुरजी! मुझपर तो प्रतिक्षण उन परम पुरुषकी कृपा बरसा करती थी। इस समय उनके इस प्रकार आदरपूर्वक कहनेसे स्नेहवश मुझे रोमांच हो आया, मेरी वाणी गद्गद हो गयी और नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। उस समय मैंने हाथ जोड़कर उनसे कहा— ॥ १४॥ 'स्वामिन्! आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको इस संसारमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारोंमेंसे कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है; तथापि मुझे उनमेंसे किसीकी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल आपके चरणकमलोंकी सेवाके लिये ही लालायित रहता हूँ॥ १५॥ प्रभो! आप निःस्पृह होकर भी कर्म करते हैं, अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं, कालरूप होकर भी शत्रुके डरसे भागते हैं और द्वारकाके किलेमें जाकर छिप रहते हैं तथा स्वात्माराम होकर भी सोलह हजार स्त्रियोंके साथ रमण करते हैं—इन विचित्र चरित्रोंको देखकर विद्वानोंकी बुद्धि भी चक्करमें पड़ जाती है॥ १६॥ देव! आपका स्वरूपज्ञान सर्वथा अबाध और अखण्ड है। फिर भी आप सलाह लेनेके लिये मुझे बुलाकर जो भोले मनुष्योंकी तरह बड़ी सावधानीसे मेरी सम्मति पूछा करते थे, प्रभो! आपकी वह लीला मेरे मनको मोहित-सा कर देती है॥ १७॥

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम्।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद् वृजिनं तरेम॥ १८

स्वामिन्! अपने स्वरूपका गूढ़ रहस्य प्रकट करनेवाला जो श्रेष्ठ एवं समग्र ज्ञान आपने ब्रह्माजीको बतलाया था, वह यदि मेरे समझनेयोग्य हो तो मुझे भी सुनाइये, जिससे मैं भी इस संसार-दुःखको सुगमतासे पार कर जाऊँ'॥ १८॥

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम्॥ १९

जब मैंने इस प्रकार अपने हृदयका भाव निवेदित किया, तब परमपुरुष कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे अपने स्वरूपकी परम स्थितिका उपदेश दिया॥ १९॥

स एवमाराधितपादतीर्था-
दधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा॥ २०

सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम्॥ २१

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ॥ २२

इस प्रकार पूज्यपाद गुरु श्रीकृष्णसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका साधन सुनकर तथा उन प्रभुके चरणोंकी वन्दना और परिक्रमा करके मैं यहाँ आया हूँ। इस समय उनके विरहसे मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है॥ २०॥ विदुरजी! पहले तो उनके दर्शन पाकर मुझे आनन्द हुआ था, किन्तु अब तो मेरे हृदयको उनकी विरहव्यथा अत्यन्त पीड़ित कर रही है। अब मैं उनके प्रिय क्षेत्र बदरिकाश्रमको जा रहा हूँ, जहाँ भगवान् श्रीनारायणदेव और नर—ये दोनों ऋषि लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये दीर्घकालीन सौम्य, दूसरोंको सुख पहुँचानेवाली एवं कठिन तपस्या कर रहे हैं॥ २१-२२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम्।
ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः॥ २३

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे॥ २४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार उद्धवजीके मुखसे अपने प्रिय बन्धुओंके विनाशका असह्य समाचार सुनकर परम ज्ञानी विदुरजीको जो शोक उत्पन्न हुआ, उसे उन्होंने ज्ञानद्वारा शान्त कर दिया॥ २३॥ जब भगवान् श्रीकृष्णके परिकरोंमें प्रधान महाभागवत उद्धवजी बदरिकाश्रमकी ओर जाने लगे, तब कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने श्रद्धापूर्वक उनसे पूछा॥ २४॥

विदुर उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो-
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति॥ २५

विदुरजीने कहा—उद्धवजी! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपके गूढ़ रहस्यको प्रकट करनेवाला जो परमज्ञान आपसे कहा था, वह आप हमें भी सुनाइये; क्योंकि भगवान्‌के सेवक तो अपने सेवकोंका कार्य सिद्ध करनेके लिये ही विचरा करते हैं॥ २५॥

उद्धव उवाच

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे।
साक्षाद्भगवताऽऽदिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता॥ २६

उद्धवजीने कहा—उस तत्त्वज्ञानके लिये आपको मुनिवर मैत्रेयजीकी सेवा करनी चाहिये। इस मर्त्यलोकको छोड़ते समय मेरे सामने स्वयं भगवान्‌ने ही आपको उपदेश करनेके लिये उन्हें आज्ञा दी थी॥ २६॥

श्रीशुक उवाच

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
र्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात्॥ २७

राजोवाच

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः।
स तु कथमवशिष्ट उद्धवो य-
द्धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः॥ २८

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः।
संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत्॥ २९
अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥ ३०
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥ ३१
एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना॥ ३२
विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च॥ ३३
देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम्।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम्॥ ३४
आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम्।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः॥ ३५
कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभः।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः॥ ३६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार विदुरजीके साथ विश्वमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंकी चर्चा होनेसे उस कथामृतके द्वारा उद्धवजीका वियोगजनित महान् ताप शान्त हो गया। यमुनाजीके तीरपर उनकी वह रात्रि एक क्षणके समान बीत गयी। फिर प्रातःकाल होते ही वे वहाँसे चल दिये॥ २७॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! वृष्णिकुल और भोजवंशके सभी रथी और यूथपतियोंके भी यूथपति नष्ट हो गये थे। यहाँतक कि त्रिलोकीनाथ श्रीहरिको भी अपना वह रूप छोड़ना पड़ा था। फिर उन सबके मुखिया उद्धवजी ही कैसे बच रहे?॥ २८॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—जिनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती, उन श्रीहरिने ब्राह्मणोंके शापरूप कालके बहाने अपने कुलका संहार कर अपने श्रीविग्रहको त्यागते समय विचार किया॥ २९॥ 'अब इस लोकसे मेरे चले जानेपर संयमीशिरोमणि उद्धव ही मेरे ज्ञानको ग्रहण करनेके सच्चे अधिकारी हैं॥ ३०॥ उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं, क्योंकि वे आत्मजयी हैं, विषयोंसे कभी विचलित नहीं हुए। अतः लोगोंको मेरे ज्ञानकी शिक्षा देते हुए वे यहीं रहें'॥ ३१॥ वेदोंके मूल कारण जगद्गुरु श्रीकृष्णके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उद्धवजी बदरिकाश्रममें जाकर समाधियोगद्वारा श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ३२॥ कुरुश्रेष्ठ परीक्षित्! परमात्मा श्रीकृष्णने लीलासे ही अपना श्रीविग्रह प्रकट किया था और लीलासे ही उसे अन्तर्धान भी कर दिया। उनका वह अन्तर्धान होना भी धीर पुरुषोंका उत्साह बढ़ानेवाला तथा दूसरे पशुतुल्य अधीर पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था। परम भागवत उद्धवजीके मुखसे उनके प्रशंसनीय कर्म और इस प्रकार अन्तर्धान होनेका समाचार पाकर तथा यह जानकर कि भगवान्‌ने परमधाम जाते समय मुझे भी स्मरण किया था, विदुरजी उद्धवजीके चले जानेपर प्रेमसे विह्वल होकर रोने लगे॥ ३३—३५॥ इसके पश्चात् सिद्धशिरोमणि विदुरजी यमुनातटसे चलकर कुछ दिनोंमें गंगाजीके किनारे जा पहुँचे, जहाँ श्रीमैत्रेयजी रहते थे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

विदुरजीका प्रश्न और मैत्रेयजीका सृष्टिक्रमवर्णन

श्रीशुक उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावशुद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥ १

विदुर उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ॥ २
जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥ ३
तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः
संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥ ४
करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥ ५
यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथाऽऽसीत् ॥ ६
क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परमज्ञानी मैत्रेय मुनि (हरिद्वारक्षेत्रमें) विराजमान थे। भगवद्भक्तिसे शुद्ध हुए हृदयवाले विदुरजी उनके पास जा पहुँचे और उनके साधुस्वभावसे आप्यायित होकर उन्होंने पूछा ॥ १ ॥

विदुरजीने कहा— भगवन्! संसारमें सब लोग सुखके लिये कर्म करते हैं; परन्तु उनसे न तो उन्हें सुख ही मिलता है और न उनका दुःख ही दूर होता है, बल्कि उससे भी उनके दुःखकी वृद्धि ही होती है। अतः इस विषयमें क्या करना उचित है, यह आप मुझे कृपा करके बतलाइये ॥ २ ॥ जो लोग दुर्भाग्यवश भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख, अधर्मपरायण और अत्यन्त दुःखी हैं, उनपर कृपा करनेके लिये ही आप-जैसे भाग्यशाली भगवद्भक्त संसारमें विचरा करते हैं ॥ ३ ॥ साधुशिरोमणे! आप मुझे उस शान्तिप्रद साधनका उपदेश दीजिये, जिसके अनुसार आराधना करनेसे भगवान् अपने भक्तोंके भक्तिपूत हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं और अपने स्वरूपका अपरोक्ष अनुभव करानेवाला सनातन ज्ञान प्रदान करते हैं ॥ ४ ॥ त्रिलोकीके नियन्ता और परम स्वतन्त्र श्रीहरि अवतार लेकर जो-जो लीलाएँ करते हैं; जिस प्रकार अकर्ता होकर भी उन्होंने कल्पके आरम्भमें इस सृष्टिकी रचना की, जिस प्रकार इसे स्थापित कर वे जगत्के जीवोंकी जीविकाका विधान करते हैं, फिर जिस प्रकार इसे अपने हृदयाकाशमें लीनकर वृत्तिशून्य हो योगमायाका आश्रय लेकर शयन करते हैं और जिस प्रकार वे योगेश्वरेश्वर प्रभु एक होनेपर भी इस ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे अनुप्रविष्ट होकर अनेकों रूपोंमें प्रकट होते हैं—वह सब रहस्य आप हमें समझाइये ॥ ५-६ ॥ ब्राह्मण, गौ और देवताओंके कल्याणके लिये जो अनेकों अवतार धारण करके लीलासे ही नाना प्रकारके दिव्य कर्म करते हैं, वे भी हमें सुनाइये। यशस्वियोंके मुकुटमणि श्रीहरिके लीलामृतका पान करते-करते हमारा मन तृप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
लोकानलोकान् सह लोकपालान्।
अचीक्लृपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः॥ ८
येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
रूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त।
नारायणो विश्वसृडात्मयोनि-
रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य॥ ९
परावरेषां भगवन् व्रतानि
श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम्।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
तेषामृते कृष्णकथामृतौघात्॥ १०
कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात्।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति॥ ११
मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां
सखापि ते भारतमाह कृष्णः।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम्॥ १२
सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते॥ १३
ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४
तदस्य कौषारव शर्मदातु-
र्हरेः कथामेव कथासु सारम्।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः॥ १५

हमें यह भी सुनाइये कि उन समस्त लोकपतियोंके स्वामी श्रीहरिने इन लोकों, लोकपालों और लोका-लोक-पर्वतसे बाहरके भागोंको, जिनमें ये सब प्रकारके प्राणियोंके अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत हो रहे हैं, किन तत्त्वोंसे रचा है॥ ८॥ द्विजवर! उन विश्वकर्ता स्वयम्भू श्रीनारायणने अपनी प्रजाके स्वभाव, कर्म, रूप और नामोंके भेदकी किस प्रकार रचना की है? भगवन्! मैंने श्रीव्यासजीके मुखसे ऊँच-नीच वर्णोंके धर्म तो कई बार सुने हैं। किन्तु अब श्रीकृष्णकथामृतके प्रवाहको छोड़कर अन्य स्वल्प-सुखदायक धर्मोंसे मेरा चित्त ऊब गया है॥ ९-१०॥ उन तीर्थपाद श्रीहरिके गुणानुवादसे तृप्त हो भी कौन सकता है। उनका तो नारदादि महात्मागण भी आप-जैसे साधुओंके समाजमें कीर्तन करते हैं तथा जब ये मनुष्योंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते हैं, तब उनकी संसारचक्रमें डालनेवाली घर-गृहस्थीकी आसक्तिको काट डालते हैं॥ ११॥ भगवन्! आपके सखा मुनिवर कृष्णद्वैपायनने भी भगवान्के गुणोंका वर्णन करनेकी इच्छासे ही महाभारत रचा है। उसमें भी विषयसुखोंका उल्लेख करते हुए मनुष्योंकी बुद्धिको भगवान्की कथाओंकी ओर लगानेका ही प्रयत्न किया गया है॥ १२॥ यह भगवत्कथाकी रुचि श्रद्धालु पुरुषके हृदयमें जब बढ़ने लगती है, तब अन्य विषयोंसे उसे विरक्त कर देती है। वह भगवच्चरणोंके निरन्तर चिन्तनसे आनन्दमग्न हो जाता है और उस पुरुषके सभी दुःखोंका तत्काल अन्त हो जाता है॥ १३॥ मुझे तो उन शोचनीयोंके भी शोचनीय अज्ञानी पुरुषोंके लिये निरन्तर खेद रहता है, जो अपने पिछले पापोंके कारण श्रीहरिकी कथाओंसे विमुख रहते हैं। हाय! कालभगवान् उनके अमूल्य जीवनको काट रहे हैं और वे वाणी, देह और मनसे व्यर्थ वाद-विवाद, व्यर्थ चेष्टा और व्यर्थ चिन्तनमें लगे रहते हैं॥ १४॥ मैत्रेयजी! आप दीनोंपर कृपा करनेवाले हैं; अतः भौंरा जैसे फूलोंमेंसे रस निकाल लेता है, उसी प्रकार इन लौकिक कथाओंमेंसे इनकी सारभूता परम कल्याणकारी पवित्र-कीर्ति श्रीहरिकी कथाएँ छाँटकर हमारे कल्याणके लिये सुनाइये॥ १५॥

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम्॥ १६

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहु मानयन्॥ १७

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः॥ १८

नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः॥ १९

माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजासंयमनो यमः।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात्॥ २०

भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च।
यस्य ज्ञानोपदेशाय माऽऽदिशद्भगवान् व्रजन्॥ २१

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः॥ २२

भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः॥ २३

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥ २४

उन सर्वेश्वरने संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये अपनी मायाशक्तिको स्वीकार कर राम-कृष्णादि अवतारोंके द्वारा जो अनेकों अलौकिक लीलाएँ की हैं, वे सब मुझे सुनाइये॥ १६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब विदुरजीने जीवोंके कल्याणके लिये इस प्रकार प्रश्न किया, तब तो मुनिश्रेष्ठ भगवान् मैत्रेयजीने उनकी बहुत बड़ाई करते हुए यों कहा॥ १७॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—साधुस्वभाव विदुरजी! आपने सब जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह करके यह बड़ी अच्छी बात पूछी है। आपका चित्त तो सर्वदा श्रीभगवान्‌में ही लगा रहता है, तथापि इससे संसारमें भी आपका बहुत सुयश फैलेगा॥ १८॥ आप श्रीव्यासजीके औरस पुत्र हैं; इसलिये आपके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है कि आप अनन्यभावसे सर्वेश्वर श्रीहरिके ही आश्रित हो गये हैं॥ १९॥ आप प्रजाको दण्ड देनेवाले भगवान् यम ही हैं। माण्डव्य ऋषिका शाप होनेके कारण ही आपने श्रीव्यासजीके वीर्यसे उनके भाई विचित्रवीर्यकी भोगपत्नी दासीके गर्भसे जन्म लिया है॥ २०॥ आप सर्वदा ही श्रीभगवान् और उनके भक्तोंको अत्यन्त प्रिय हैं; इसीलिये भगवान् निजधाम पधारते समय मुझे आपको ज्ञानोपदेश करनेकी आज्ञा दे गये हैं॥ २१॥ इसलिये अब मैं जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये योगमायाके द्वारा विस्तारित हुई भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका क्रमशः वर्णन करता हूँ॥ २२॥

सृष्टिरचनाके पूर्व समस्त आत्माओंके आत्मा एक पूर्ण परमात्मा ही थे—न द्रष्टा था न दृश्य! सृष्टिकालमें अनेक वृत्तियोंके भेदसे जो अनेकता दिखायी पड़ती है, वह भी वही थे; क्योंकि उनकी इच्छा अकेले रहनेकी थी॥ २३॥ वे ही द्रष्टा होकर देखने लगे, परन्तु उन्हें दृश्य दिखायी नहीं पड़ा; क्योंकि उस समय वे ही अद्वितीय रूपसे प्रकाशित हो रहे थे। ऐसी अवस्थामें वे अपनेको असत्‌के समान समझने लगे। वस्तुतः वे असत् नहीं थे, क्योंकि उनकी शक्तियाँ ही सोयी थीं। उनके ज्ञानका लोप नहीं हुआ था॥ २४॥

सा वा एतस्य संद्रष्टु: शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥ २५

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥ २६

ततोऽभवन् महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात्।
विज्ञानात्माऽऽत्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥ २७

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया॥ २८

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः॥ २९

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः॥ ३०

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः॥ ३१

कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम्॥ ३२

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम्॥ ३३

अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम्।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः॥ ३४

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम्।
महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः॥ ३५

यह द्रष्टा और दृश्यका अनुसन्धान करनेवाली शक्ति ही—कार्यकारणरूपा माया है। महाभाग विदुरजी! इस भावाभावरूप अनिर्वचनीय मायाके द्वारा ही भगवान्‌ने इस विश्वका निर्माण किया है॥ २५॥ कालशक्तिसे जब यह त्रिगुणमयी माया क्षोभको प्राप्त हुई, तब उन इन्द्रियातीत चिन्मय परमात्माने अपने अंश पुरुषरूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया॥ २६॥ तब कालकी प्रेरणासे उस अव्यक्त मायासे महत्तत्त्व प्रकट हुआ। वह मिथ्या अज्ञानका नाशक होनेके कारण विज्ञानस्वरूप और अपनेमें सूक्ष्मरूपसे स्थित प्रपंचकी अभिव्यक्ति करनेवाला था॥ २७॥ फिर चिदाभास, गुण और कालके अधीन उस महत्तत्त्वने भगवान्‌की दृष्टि पड़नेपर इस विश्वकी रचनाके लिये अपना रूपान्तर किया॥ २८॥ महत्तत्त्वके विकृत होनेपर अहंकारकी उत्पत्ति हुई—जो कार्य (अधिभूत), कारण (अध्यात्म) और कर्ता (अधिदैव) रूप होनेके कारण भूत, इन्द्रिय और मनका कारण है॥ २९॥ वह अहंकार वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस-भेदसे तीन प्रकारका है; अतः अहंतत्त्वमें विकार होनेपर वैकारिक अहंकारसे मन और जिनसे विषयोंका ज्ञान होता है वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता हुए॥ ३०॥ तैजस अहंकारसे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हुईं तथा तामस अहंकारसे सूक्ष्म भूतोंका कारण शब्द-तन्मात्र हुआ और उससे दृष्टान्तरूपसे आत्माका बोध करानेवाला आकाश उत्पन्न हुआ॥ ३१॥ भगवान्‌की दृष्टि जब आकाशपर पड़ी, तब उससे फिर काल, माया और चिदाभासके योगसे स्पर्शतन्मात्र हुआ और उसके विकृत होनेपर उससे वायुकी उत्पत्ति हुई॥ ३२॥ अत्यन्त बलवान् वायुने आकाशके सहित विकृत होकर रूपतन्मात्रकी रचना की और उससे संसारका प्रकाशक तेज उत्पन्न हुआ॥ ३३॥ फिर परमात्माकी दृष्टि पड़नेपर वायुयुक्त तेजने काल, माया और चिदंशके योगसे विकृत होकर रसतन्मात्रके कार्य जलको उत्पन्न किया॥ ३४॥ तदनन्तर तेजसे युक्त जलने ब्रह्मका दृष्टिपात होनेपर काल, माया और चिदंशके योगसे गन्धगुणमयी पृथ्वीको उत्पन्न किया॥ ३५॥

भूतानां नभआदीनां यद्यद्भव्यावरावरम्।
तेषां परानुसंसर्गाद्यथासंख्यं गुणान् विदुः॥ ३६
एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः।
नानात्वात्स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्॥ ३७

देवा ऊचुः

नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति॥ ३८
धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणोपहता न शर्म।
आत्मँल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि-
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम॥ ३९
मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्दःसुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते।
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः
पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः॥ ४०
यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्॥ ४१
विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम्॥ ४२
यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम्।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम्॥ ४३
तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहृतान्तर्मनसः परेश।

विदुरजी! इन आकाशादि भूतोंमेंसे जो-जो भूत पीछे-पीछे उत्पन्न हुए हैं, उनमें क्रमशः अपने पूर्व-पूर्व भूतोंके गुण भी अनुगत समझने चाहिये॥ ३६॥ ये महत्तत्त्वादिके अभिमानी विकार, विक्षेप और चेतनांशविशिष्ट देवगण श्रीभगवान्‌के ही अंश हैं किन्तु पृथक्-पृथक् रहनेके कारण जब वे विश्वरचनारूप अपने कार्यमें सफल नहीं हुए, तब हाथ जोड़कर भगवान्‌से कहने लगे॥ ३७॥

देवताओंने कहा—देव! हम आपके चरण-कमलोंकी वन्दना करते हैं। ये अपनी शरणमें आये हुए जीवोंका ताप दूर करनेके लिये छत्रके समान हैं तथा इनका आश्रय लेनेसे यतिजन अनन्त संसारदुःखको सुगमतासे ही दूर फेंक देते हैं॥ ३८॥ जगत्कर्ता जगदीश्वर! इस संसारमें तापत्रयसे व्याकुल रहनेके कारण जीवोंको जरा भी शान्ति नहीं मिलती। इसलिये भगवन्! हम आपके चरणोंकी ज्ञानमयी छायाका आश्रय लेते हैं॥ ३९॥ मुनिजन एकान्त स्थानमें रहकर आपके मुखकमलका आश्रय लेनेवाले वेदमन्त्ररूप पक्षियोंके द्वारा जिनका अनुसन्धान करते रहते हैं तथा जो सम्पूर्ण पापनाशिनी नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगंगाजीके उद्‌गमस्थान हैं, आपके उन परम पावन पादपद्मोंका हम आश्रय लेते हैं॥ ४०॥ हम आपके चरणकमलोंकी उस चौकीका आश्रय ग्रहण करते हैं, जिसे भक्तजन श्रद्धा और श्रवण-कीर्तनादिरूप भक्तिसे परिमार्जित अन्तःकरणमें धारण करके वैराग्यपुष्ट ज्ञानके द्वारा परम धीर हो जाते हैं॥ ४१॥ ईश! आप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये ही अवतार लेते हैं; अतः हम सब आपके उन चरणकमलोंकी शरण लेते हैं, जो अपना स्मरण करनेवाले भक्तजनोंको अभय कर देते हैं॥ ४२॥ जिन पुरुषोंका देह, गेह तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य तुच्छ पदार्थोंमें अहंता, ममताका दृढ़ दुराग्रह है, उनके शरीरमें (आपके अन्तर्यामीरूपसे) रहनेपर भी जो अत्यन्त दूर हैं; उन्हीं आपके चरणारविन्दोंको हम भजते हैं॥ ४३॥

परम यशस्वी परमेश्वर! इन्द्रियोंके विषयाभिमुख रहनेके कारण जिनका मन सर्वदा बाहर ही भटका

अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः॥ ४४
पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥ ४५
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥ ४६
तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाऽऽद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते॥ ४७
यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयं चान्नमदाम यत्र।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः॥ ४८
त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः॥ ४९
ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे
बभूविमात्मन् करवाम किं ते।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या
देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्॥ ५०

करता है, वे पामरलोग आपके विलासपूर्ण पादविन्यासकी शोभाके विशेषज्ञ भक्तजनोंका दर्शन नहीं कर पाते; इसीसे वे आपके चरणोंसे दूर रहते हैं॥ ४४॥ देव! आपके कथामृतका पान करनेसे उमड़ी हुई भक्तिके कारण जिनका अन्तःकरण निर्मल हो गया है, वे लोग—वैराग्य ही जिसका सार है—ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करके अनायास ही आपके वैकुण्ठधामको चले जाते हैं॥ ४५॥ दूसरे धीर पुरुष चित्तनिरोधरूप समाधिके बलसे आपकी बलवती मायाको जीतकर आपमें ही लीन तो हो जाते हैं, पर उन्हें श्रम बहुत होता है; किन्तु आपकी सेवाके मार्गमें कुछ भी कष्ट नहीं है॥ ४६॥

आदिदेव! आपने सृष्टिरचनाकी इच्छासे हमें त्रिगुणमय रचा है। इसलिये विभिन्न स्वभाववाले होनेके कारण हम आपसमें मिल नहीं पाते और इसीसे आपकी क्रीडाके साधनरूप ब्रह्माण्डकी रचना करके उसे आपको समर्पण करनेमें असमर्थ हो रहे हैं॥ ४७॥ अतः जन्मरहित भगवन्! जिससे हम ब्रह्माण्ड रचकर आपको सब प्रकारके भोग समयपर समर्पण कर सकें और जहाँ स्थित होकर हम भी अपनी योग्यताके अनुसार अन्न ग्रहण कर सकें तथा ये सब जीव भी सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे दूर रहकर हम और आप दोनोंको भोग समर्पण करते हुए अपना-अपना अन्न भक्षण कर सकें, ऐसा कोई उपाय कीजिये॥ ४८॥ आप निर्विकार पुराणपुरुष ही अन्य कार्यवर्गके सहित हम देवताओंके आदि कारण हैं। देव! पहले आप अजन्माहीने सत्त्वादि गुण और जन्मादि कर्मोंकी कारणरूपा मायाशक्तिमें चिदाभासरूप वीर्य स्थापित किया था॥ ४९॥ परमात्मदेव! महत्तत्त्वादिरूप हम देवगण जिस कार्यके लिये उत्पन्न हुए हैं, उसके सम्बन्धमें हम क्या करें? देव! हमपर आप ही अनुग्रह करनेवाले हैं। इसलिये ब्रह्माण्डरचनाके लिये आप हमें क्रियाशक्तिके सहित अपनी ज्ञानशक्ति भी प्रदान कीजिये॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

विराट् शरीरकी उत्पत्ति

ऋषिरुवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः॥ १

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥ २

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥ ३

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः।
प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम्॥ ४

परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृग्गणः।
चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः॥ ५

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ ६

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान्।
विबभाजात्मनाऽऽत्मानमेकधा दशधा त्रिधा॥ ७

एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते॥ ८

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च॥ ९

मैत्रेय ऋषिने कहा—सर्वशक्तिमान् भगवान्ने जब देखा कि आपसमें संगठित न होनेके कारण ये मेरी महत्तत्त्व आदि शक्तियाँ विश्वरचनाके कार्यमें असमर्थ हो रही हैं, तब वे कालशक्तिको स्वीकार करके एक साथ ही महत्तत्त्व, अहंकार, पंचभूत, पंच-तन्मात्रा और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ—इन तेईस तत्त्वोंके समुदायमें प्रविष्ट हो गये॥ १-२॥ उनमें प्रविष्ट होकर उन्होंने जीवोंके सोये हुए अदृष्टको जाग्रत् किया और परस्पर विलग हुए उस तत्त्वसमूहको अपनी क्रियाशक्तिके द्वारा आपसमें मिला दिया॥ ३॥ इस प्रकार जब भगवान्ने अदृष्टको कार्योन्मुख किया, तब उस तेईस तत्त्वोंके समूहने भगवान्की प्रेरणासे अपने अंशोंद्वारा अधिपुरुष—विराट्को उत्पन्न किया॥ ४॥ अर्थात् जब भगवान्ने अंशरूपसे अपने उस शरीरमें प्रवेश किया, तब वह विश्वरचना करनेवाला महत्तत्त्वादिका समुदाय एक-दूसरेसे मिलकर परिणामको प्राप्त हुआ। यह तत्त्वोंका परिणाम ही विराट् पुरुष है, जिसमें चराचर जगत् विद्यमान है॥ ५॥ जलके भीतर जो अण्डरूप आश्रयस्थान था, उसमें वह हिरण्मय विराट् पुरुष सम्पूर्ण जीवोंको साथ लेकर एक हजार दिव्य वर्षोंतक रहा॥ ६॥ वह विश्वरचना करनेवाले तत्त्वोंका गर्भ (कार्य) था तथा ज्ञान, क्रिया और आत्म-शक्तिसे सम्पन्न था। इन शक्तियोंसे उसने स्वयं अपने क्रमशः एक (हृदयरूप), दस (प्राणरूप) और तीन (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) विभाग किये॥ ७॥ यह विराट् पुरुष ही प्रथम जीव होनेके कारण समस्त जीवोंका आत्मा, जीवरूप होनेके कारण परमात्माका अंश और प्रथम अभिव्यक्त होनेके कारण भगवान्का आदि-अवतार है। यह सम्पूर्ण भूतसमुदाय इसीमें प्रकाशित होता है॥ ८॥ यह अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूपसे तीन प्रकारका, प्राणरूपसे दस प्रकारका* और हृदयरूपसे एक प्रकारका है॥ ९॥

---

* दस इन्द्रियोंसहित मन अध्यात्म है, इन्द्रियादिके विषय अधिभूत हैं, इन्द्रियाधिष्ठाता देव अधिदैव हैं तथा प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये दस प्राण हैं।

स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये॥ १०

अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतनानि ह।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु॥ ११

तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम्।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते॥ १२

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः।
जिह्वयांशेन च रसं ययासौ प्रतिपद्यते॥ १३

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम्।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ १४

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ १५

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत्।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते॥ १६

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते॥ १७

त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते॥ १८

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत्।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते॥ १९

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत्।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते॥ २०

हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत्।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते॥ २१

फिर विश्वकी रचना करनेवाले महत्तत्त्वादिके अधिपति श्रीभगवान्‌ने उनकी प्रार्थनाको स्मरण कर उनकी वृत्तियोंको जगानेके लिये अपने चेतनरूप तेजसे उस विराट् पुरुषको प्रकाशित किया, उसे जगाया॥ १०॥ उसके जाग्रत् होते ही देवताओंके लिये कितने स्थान प्रकट हुए—यह मैं बतलाता हूँ, सुनो॥ ११॥ विराट् पुरुषके पहले मुख प्रकट हुआ; उसमें लोकपाल अग्नि अपने अंश वागिन्द्रियके समेत प्रविष्ट हो गया, जिससे यह जीव बोलता है॥ १२॥ फिर विराट् पुरुषके तालु उत्पन्न हुआ; उसमें लोक-पाल वरुण अपने अंश रसनेन्द्रियके सहित स्थित हुआ, जिससे जीव रस ग्रहण करता है॥ १३॥ इसके पश्चात् उस विराट् पुरुषके नथुने प्रकट हुए; उनमें दोनों अश्विनीकुमार अपने अंश घ्राणेन्द्रियके सहित प्रविष्ट हुए, जिससे जीव गन्ध ग्रहण करता है॥ १४॥ इसी प्रकार जब उस विराट् देहमें आँखें प्रकट हुईं, तब उनमें अपने अंश नेत्रेन्द्रियके सहित—लोकपति सूर्यने प्रवेश किया, जिस नेत्रेन्द्रियसे पुरुषको विविध रूपोंका ज्ञान होता है॥ १५॥ फिर उस विराट् विग्रहमें त्वचा उत्पन्न हुई; उसमें अपने अंश त्वगिन्द्रियके सहित वायु स्थित हुआ, जिस त्वगिन्द्रियसे जीव स्पर्शका अनुभव करता है॥ १६॥ जब इसके कर्णछिद्र प्रकट हुए, तब उनमें अपने अंश श्रवणेन्द्रियके सहित दिशाओंने प्रवेश किया, जिस श्रवणेन्द्रियसे जीवको शब्दका ज्ञान होता है॥ १७॥ फिर विराट् शरीरमें चर्म उत्पन्न हुआ; उसमें अपने अंश रोमोंके सहित ओषधियाँ स्थित हुईं, जिन रोमोंसे जीव खुजली आदिका अनुभव करता है॥ १८॥ अब उसके लिंग उत्पन्न हुआ। अपने इस आश्रयमें प्रजापतिने अपने अंश वीर्यके सहित प्रवेश किया, जिससे जीव आनन्दका अनुभव करता है॥ १९॥ फिर विराट् पुरुषके गुदा प्रकट हुई; उसमें लोकपाल मित्रने अपने अंश पायु-इन्द्रियके सहित प्रवेश किया, इससे जीव मलत्याग करता है॥ २०॥ इसके पश्चात् उसके हाथ प्रकट हुए; उनमें अपनी ग्रहण-त्यागरूपा शक्तिके सहित देवराज इन्द्रने प्रवेश किया, इस शक्तिसे जीव अपनी जीविका प्राप्त करता है॥ २१॥

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत्।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते॥ २२
बुद्धिं चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत्।
बोधेनांशेन बोद्धव्यप्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ २३
हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत्।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते॥ २४
आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदम्।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते॥ २५
सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महान्धिष्ण्यमुपाविशत्।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते॥ २६
शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः॥ २७
आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे।
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च ताननु॥ २८
तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः।
उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदां गणाः॥ २९
मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः॥ ३०
बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥ ३१
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत्॥ ३२

जब इसके चरण उत्पन्न हुए, तब उनमें अपनी शक्ति गतिके सहित लोकेश्वर विष्णुने प्रवेश किया—इस गतिशक्तिद्वारा जीव अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है॥ २२॥ फिर इसके बुद्धि उत्पन्न हुई; अपने इस स्थानमें अपने अंश बुद्धिशक्तिके साथ वाक्पति ब्रह्माने प्रवेश किया, इस बुद्धिशक्तिसे जीव ज्ञातव्य विषयोंको जान सकता है॥ २३॥ फिर इसमें हृदय प्रकट हुआ; उसमें अपने अंश मनके सहित चन्द्रमा स्थित हुआ। इस मनःशक्तिके द्वारा जीव संकल्प-विकल्पादिरूप विकारोंको प्राप्त होता है॥ २४॥ तत्पश्चात् विराट् पुरुषमें अहंकार उत्पन्न हुआ; इस अपने आश्रयमें क्रियाशक्तिसहित अभिमान (रुद्र)-ने प्रवेश किया। इससे जीव अपने कर्तव्यको स्वीकार करता है॥ २५॥ अब इसमें चित्त प्रकट हुआ। उसमें चित्तशक्तिके सहित महत्तत्त्व (ब्रह्मा) स्थित हुआ; इस चित्तशक्तिसे जीव विज्ञान (चेतना)-को उपलब्ध करता है॥ २६॥ इस विराट् पुरुषके सिरसे स्वर्गलोक, पैरोंसे पृथ्वी और नाभिसे अन्तरिक्ष (आकाश) उत्पन्न हुआ। इनमें क्रमशः सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके परिणामरूप देवता, मनुष्य और प्रेतादि देखे जाते हैं॥ २७॥ इनमें देवतालोग सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण स्वर्गलोकमें, मनुष्य और उनके उपयोगी गौ आदि जीव रजोगुणकी प्रधानताके कारण पृथ्वीमें तथा तमोगुणी स्वभाववाले होनेसे रुद्रके पार्षदगण (भूत, प्रेत आदि) दोनोंके बीचमें स्थित भगवान्के नाभिस्थानीय अन्तरिक्षलोकमें रहते हैं॥ २८-२९॥

विदुरजी! वेद और ब्राह्मण भगवान्के मुखसे प्रकट हुए। मुखसे प्रकट होनेके कारण ही ब्राह्मण सब वर्णोंमें श्रेष्ठ और सबका गुरु है॥ ३०॥ उनकी भुजाओंसे क्षत्रियवृत्ति और उसका अवलम्बन करनेवाला क्षत्रिय वर्ण उत्पन्न हुआ, जो विराट् भगवान्का अंश होनेके कारण जन्म लेकर सब वर्णोंकी चोर आदिके उपद्रवोंसे रक्षा करता है॥ ३१॥ भगवान्की दोनों जाँघोंसे सब लोगोंका निर्वाह करनेवाली वैश्यवृत्ति उत्पन्न हुई और उन्हींसे वैश्य वर्णका भी प्रादुर्भाव हुआ। यह वर्ण अपनी वृत्तिसे सब जीवोंकी जीविका चलाता है॥ ३२॥

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥ ३३

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः॥ ३४

एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम्॥ ३५

अथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम्।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम्॥ ३६

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसम्प्रयोगम्॥ ३७

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनाऽऽदिना।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया॥ ३८

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे॥ ३९

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः॥ ४०

फिर सब धर्मोंकी सिद्धिके लिये भगवान्‌के चरणोंसे सेवावृत्ति प्रकट हुई और उन्हींसे पहले-पहल उस वृत्तिका अधिकारी शूद्रवर्ण भी प्रकट हुआ, जिसकी वृत्तिसे ही श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं*॥ ३३॥ ये चारों वर्ण अपनी-अपनी वृत्तियोंके सहित जिनसे उत्पन्न हुए हैं, उन अपने गुरु श्रीहरिका अपने-अपने धर्मोंसे चित्तशुद्धिके लिये श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं॥ ३४॥ विदुरजी! यह विराट् पुरुष काल, कर्म और स्वभावशक्तिसे युक्त भगवान्‌की योगमायाके प्रभावको प्रकट करनेवाला है। इसके स्वरूपका पूरा-पूरा वर्णन करनेका कौन साहस कर सकता है॥ ३५॥ तथापि प्यारे विदुरजी! अन्य व्यावहारिक चर्चाओंसे अपवित्र हुई अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये, जैसी मेरी बुद्धि है और जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना है वैसा, श्रीहरिका सुयश वर्णन करता हूँ॥ ३६॥ महापुरुषोंका मत है कि पुण्यश्लोकशिरोमणि श्रीहरिके गुणोंका गान करना ही मनुष्योंकी वाणीका तथा विद्वानोंके मुखसे भगवत्कथामृतका पान करना ही उनके कानोंका सबसे बड़ा लाभ है॥ ३७॥ वत्स! हम ही नहीं, आदि-कवि श्रीब्रह्माजीने एक हजार दिव्य वर्षोंतक अपनी योगपरिपक्व बुद्धिसे विचार किया; तो भी क्या वे भगवान्‌की अमित महिमाका पार पा सके?॥ ३८॥ अतः भगवान्‌की माया बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देनेवाली है। उसकी चक्करमें डालनेवाली चाल अनन्त है; अतएव स्वयं भगवान् भी उसकी थाह नहीं लगा सकते, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है॥ ३९॥ जहाँ न पहुँचकर मनके सहित वाणी भी लौट आती है तथा जिनका पार पानेमें अहंकारके अभिमानी रुद्र तथा अन्य इन्द्रियाधिष्ठाता देवता भी समर्थ नहीं हैं, उन श्रीभगवान्‌को हम नमस्कार करते हैं॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

---

* सब धर्मकी सिद्धिका मूल सेवा है, सेवा किये बिना कोई भी धर्म सिद्ध नहीं होता। अतः सब धर्मोंकी मूलभूता सेवा ही जिसका धर्म है, वह शूद्र सब वर्णोंमें महान् है। ब्राह्मणका धर्म मोक्षके लिये है, क्षत्रियका धर्म भोगनेके लिये है, वैश्यका धर्म अर्थके लिये है और शूद्रका धर्म धर्मके लिये है। इस प्रकार प्रथम तीन वर्णोंके धर्म अन्य पुरुषार्थोंके लिये हैं, किन्तु शूद्रका धर्म स्वपुरुषार्थके लिये है; अतः इसकी वृत्तिसे ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

अथ सप्तमोऽध्यायः

विदुरजीके प्रश्न

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत॥ १

विदुर उवाच

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥ २
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥ ३
अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥ ४
देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम्॥ ५
भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः॥ ६
एतस्मिन्मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत्॥ ७

श्रीशुक उवाच

स इत्थं चोदितः क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः॥ ८

मैत्रेय उवाच

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥ ९
यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः॥ १०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—मैत्रेयजीका यह भाषण सुनकर बुद्धिमान् व्यासनन्दन विदुरजीने उन्हें अपनी वाणीसे प्रसन्न करते हुए कहा॥ १॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् तो शुद्ध बोधस्वरूप, निर्विकार और निर्गुण हैं; उनके साथ लीलासे भी गुण और क्रियाका सम्बन्ध कैसे हो सकता है॥ २॥ बालकमें तो कामना और दूसरोंके साथ खेलनेकी इच्छा रहती है, इसीसे वह खेलनेके लिये प्रयत्न करता है; किन्तु भगवान् तो स्वतः नित्यतृप्त—पूर्णकाम और सर्वदा असंग हैं, वे क्रीडाके लिये भी क्यों संकल्प करेंगे ॥ ३॥ भगवान्ने अपनी गुणमयी मायासे जगत्की रचना की है, उसीसे वे इसका पालन करते हैं और फिर उसीसे संहार भी करेंगे॥ ४॥ जिनके ज्ञानका देश, काल अथवा अवस्थासे, अपने-आप या किसी दूसरे निमित्तसे भी कभी लोप नहीं होता, उनका मायाके साथ किस प्रकार संयोग हो सकता है॥ ५॥ एकमात्र ये भगवान् ही समस्त क्षेत्रोंमें उनके साक्षीरूपसे स्थित हैं, फिर इन्हें दुर्भाग्य या किसी प्रकारके कर्मजनित क्लेशकी प्राप्ति कैसे हो सकती है॥ ६॥ भगवन्! इस अज्ञानसंकटमें पड़कर मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा है, आप मेरे मनके इस महान् मोहको कृपा करके दूर कीजिये॥ ७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तत्त्वजिज्ञासु विदुरजीकी यह प्रेरणा प्राप्तकर अहंकारहीन श्रीमैत्रेयजीने भगवान्का स्मरण करते हुए मुसकराते हुए कहा॥ ८॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—जो आत्मा सबका स्वामी और सर्वथा मुक्तस्वरूप है, वही दीनता और बन्धनको प्राप्त हो—यह बात युक्तिविरुद्ध अवश्य है; किन्तु वस्तुतः यही तो भगवान्की माया है॥ ९॥ जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषको अपना सिर कटना आदि व्यापार न होनेपर भी अज्ञानके कारण सत्यवत् भासते हैं, उसी प्रकार इस जीवको बन्धनादि न होते हुए भी अज्ञानवश भास रहे हैं॥ १०॥

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनो नात्मनो गुणः॥ ११

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह॥ १२

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः॥ १३

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतः[१] पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४

विदुर उवाच

संछिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो।
उभयत्रापि भगवन्मनो मे सम्प्रधावति॥ १५

साध्वेतद् व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः[२]॥ १६

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥ १७

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीत[३]स्यापि नात्मनः।
तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे॥ १८

यदि यह कहा जाय कि फिर ईश्वरमें इनकी प्रतीति क्यों नहीं होती, तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जलमें होनेवाली कम्प आदि क्रिया जलमें दीखनेवाले चन्द्रमाके प्रतिबिम्बमें न होनेपर भी भासती है, आकाशस्थ चन्द्रमामें नहीं, उसी प्रकार देहाभिमानी जीवमें ही देहके मिथ्या धर्मोंकी प्रतीति होती है, परमात्मामें नहीं॥ ११॥ निष्कामभावसे धर्मोंका आचरण करनेपर भगवत्कृपासे प्राप्त हुए भक्तियोगके द्वारा यह प्रतीति धीरे-धीरे निवृत्त हो जाती है॥ १२॥ जिस समय समस्त इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर साक्षी परमात्मा श्रीहरिमें निश्चलभावसे स्थित हो जाती हैं, उस समय गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यके समान जीवके राग-द्वेषादि सारे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं॥ १३॥ श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन एवं श्रवण अशेष दुःखराशिको शान्त कर देता है; फिर यदि हमारे हृदयमें उनके चरणकमलकी रजके सेवनका प्रेम जग पड़े, तब तो कहना ही क्या है?॥ १४॥

विदुरजीने कहा—भगवन्! आपके युक्तियुक्त वचनोंकी तलवारसे मेरे सन्देह छिन्न-भिन्न हो गये हैं। अब मेरा चित्त भगवान्‌की स्वतन्त्रता और जीवकी परतन्त्रता—दोनों ही विषयोंमें खूब प्रवेश कर रहा है॥ १५॥ विद्वन्! आपने यह बात बहुत ठीक कही कि जीवको जो क्लेशादिकी प्रतीति हो रही है, उसका आधार केवल भगवान्‌की माया ही है। वह क्लेश मिथ्या एवं निर्मूल ही है; क्योंकि इस विश्वका मूल कारण ही मायाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है॥ १६॥ इस संसारमें दो ही प्रकारके लोग सुखी हैं—या तो जो अत्यन्त मूढ़ (अज्ञानग्रस्त) हैं या जो बुद्धि आदिसे अतीत श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर चुके हैं। बीचकी श्रेणीके संशयापन्न लोग तो दुःख ही भोगते रहते हैं॥ १७॥ भगवन्! आपकी कृपासे मुझे यह निश्चय हो गया कि ये अनात्म पदार्थ वस्तुतः हैं नहीं, केवल प्रतीत ही होते हैं। अब मैं आपके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे उस प्रतीतिको भी हटा दूँगा॥ १८॥

१. प्रा० पा०—किं वा। २. प्रा० पा०—त०। ३. प्रा० पा०—तश्चा०।

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः॥ १९

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः॥ २०

सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात्।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः॥ २१

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम्।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं समासते॥ २२

यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत्।
त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः॥ २३

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः।
प्रजा विचित्राकृतय आसन् याभिरिदं ततम्॥ २४

प्रजापतीनां स पतिश्चक्लृपे कान् प्रजापतीन्।
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून्मन्वन्तराधिपान्॥ २५

एतेषामपि वंशांश्च वंशानुचरितानि च।
उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते॥ २६

तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय।
तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्त्रिणाम्।
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम्॥ २७

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम्।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम्॥ २८

इन श्रीचरणोंकी सेवासे नित्यसिद्ध भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणकमलोंमें उत्कट प्रेम और आनन्दकी वृद्धि होती है, जो आवागमनकी यन्त्रणाका नाश कर देती है॥ १९॥ महात्मालोग भगवत्प्राप्तिके साक्षात् मार्ग ही होते हैं, उनके यहाँ सर्वदा देवदेव श्रीहरिके गुणोंका गान होता रहता है; अल्पपुण्य पुरुषको उनकी सेवाका अवसर मिलना अत्यन्त कठिन है॥ २०॥

भगवन्! आपने कहा कि सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान्ने क्रमशः महदादि तत्त्व और उनके विकारोंको रचकर फिर उनके अंशोंसे विराट्को उत्पन्न किया और इसके पश्चात् वे स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गये॥ २१॥ उन विराट्के हजारों पैर, जाँघें और बाँहें हैं; उन्हींको वेद आदिपुरुष कहते हैं; उन्हींमें ये सब लोक विस्तृतरूपसे स्थित हैं॥ २२॥ उन्हींमें इन्द्रिय, विषय और इन्द्रियाभिमानी देवताओंके सहित दस प्रकारके प्राणोंका—जो इन्द्रियबल, मनोबल और शारीरिक बलरूपसे तीन प्रकारके हैं—आपने वर्णन किया है और उन्हींसे ब्राह्मणादि वर्ण भी उत्पन्न हुए हैं। अब आप मुझे उनकी ब्रह्मादि विभूतियोंका वर्णन सुनाइये—जिनसे पुत्र, पौत्र, नाती और कुटुम्बियोंके सहित तरह-तरहकी प्रजा उत्पन्न हुई और उससे यह सारा ब्रह्माण्ड भर गया॥ २३-२४॥ वह विराट् ब्रह्मादि प्रजापतियोंका भी प्रभु है। उसने किन-किन प्रजापतियोंको उत्पन्न किया तथा सर्ग, अनुसर्ग और मन्वन्तरोंके अधिपति मनुओंकी भी किस क्रमसे रचना की?॥ २५॥ मैत्रेयजी! उन मनुओंके वंश और वंशधर राजाओंके चरित्रोंका, पृथ्वीके ऊपर और नीचेके लोकों तथा भूर्लोकके विस्तार और स्थितिका भी वर्णन कीजिये तथा यह भी बताइये कि तिर्यक्, मनुष्य, देवता, सरीसृप (सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु) और पक्षी तथा जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी किस प्रकार उत्पन्न हुए॥ २६-२७॥ श्रीहरिने सृष्टि करते समय जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये अपने गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु और महादेवरूपसे जो कल्याणकारी लीलाएँ कीं, उनका भी वर्णन कीजिये॥ २८॥

वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः।
ऋषीणां जन्मकर्मादि वेदस्य च विकर्षणम्॥ २९
यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम्॥ ३०
पाखण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम्।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः॥ ३१
धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक्॥ ३२
श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितॄणां सर्गमेव च।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम्॥ ३३
दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम्।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि॥ ३४
येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः।
सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि चानघ॥ ३५
अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः॥ ३६
तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥ ३७
पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च।
ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम्॥ ३८
निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव वा॥ ३९
एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविवित्सया।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः॥ ४०

वेष, आचरण और स्वभावके अनुसार वर्णाश्रमका विभाग, ऋषियोंके जन्म-कर्मादि, वेदोंका विभाग, यज्ञोंका विस्तार, योगका मार्ग, ज्ञानमार्ग और उसका साधन सांख्यमार्ग तथा भगवान्‌के कहे हुए नारदपांचरात्र आदि तन्त्रशास्त्र, विभिन्न पाखण्डमार्गोंके प्रचारसे होनेवाली विषमता, नीचवर्णके पुरुषसे उच्चवर्णकी स्त्रीमें होनेवाली सन्तानोंके प्रकार तथा भिन्न-भिन्न गुण और कर्मोंके कारण जीवकी जैसी और जितनी गतियाँ होती हैं, वे सब हमें सुनाइये॥ २९—३१॥

ब्रह्मन्! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके परस्पर अविरोधी साधनोंका, वाणिज्य, दण्डनीति और शास्त्रश्रवणकी विधियोंका, श्राद्धकी विधिका, पितृगणोंकी सृष्टिका तथा कालचक्रमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणकी स्थितिका भी अलग-अलग वर्णन कीजिये॥ ३२-३३॥ दान, तप तथा इष्ट और पूर्त कर्मोंका क्या फल है? प्रवास और आपत्तिके समय मनुष्यका क्या धर्म होता है?॥ ३४॥ निष्पाप मैत्रेयजी! धर्मके मूल कारण श्रीजनार्दनभगवान् किस आचरणसे सन्तुष्ट होते हैं और किनपर अनुग्रह करते हैं, यह वर्णन कीजिये॥ ३५॥ द्विजवर! दीनवत्सल गुरुजन अपने अनुगत शिष्यों और पुत्रोंको बिना पूछे भी उनके हितकी बात बतला दिया करते हैं॥ ३६॥ भगवन्! उन महदादि तत्त्वोंका प्रलय कितने प्रकारका है? तथा जब भगवान् योगनिद्रामें शयन करते हैं, तब उनमेंसे कौन-कौन तत्त्व उनकी सेवा करते हैं और कौन उनमें लीन हो जाते हैं?॥ ३७॥ जीवका तत्त्व, परमेश्वरका स्वरूप, उपनिषत्-प्रतिपादित ज्ञान तथा गुरु और शिष्यका पारस्परिक प्रयोजन क्या है?॥ ३८॥ पवित्रात्मन् विद्वानोंने उस ज्ञानकी प्राप्तिके क्या-क्या उपाय बतलाये हैं? क्योंकि मनुष्योंको ज्ञान, भक्ति अथवा वैराग्यकी प्राप्ति अपने-आप तो हो नहीं सकती॥ ३९॥ ब्रह्मन्! माया-मोहके कारण मेरी विचारदृष्टि नष्ट हो गयी है। मैं अज्ञ हूँ, आप मेरे परम सुहृद् हैं; अतः श्रीहरिलीलाका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे मैंने जो प्रश्न किये हैं, उनका उत्तर मुझे दीजिये॥ ४०॥

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि॥ ४१

पुण्यमय मैत्रेयजी! भगवत्तत्त्वके उपदेशद्वारा जीवको जन्म-मृत्युसे छुड़ाकर उसे अभय कर देनेमें जो पुण्य होता है, समस्त वेदोंके अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादिसे होनेवाला पुण्य उस पुण्यके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकता॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः
कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां
सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह॥ ४२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब कुरु-श्रेष्ठ विदुरजीने मुनिवर मैत्रेयजीसे इस प्रकार पुराणविषयक प्रश्न किये, तब भगवच्चर्चाके लिये प्रेरित किये जानेके कारण वे बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराकर उनसे कहने लगे॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति

मैत्रेय उवाच

सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम्॥ १

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
महद्गतानां विरमाय तस्य।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं
यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः॥ २

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! आप भगवद्भक्तोंमें प्रधान लोकपाल यमराज ही हैं; आपके पूरुवंशमें जन्म लेनेके कारण वह वंश साधु-पुरुषोंके लिये भी सेव्य हो गया है। धन्य हैं! आप निरन्तर पद-पदपर श्रीहरिकी कीर्तिमयी मालाको नित्य नूतन बना रहे हैं॥ १॥ अब मैं, क्षुद्र विषय-सुखकी कामनासे महान् दुःखको मोल लेनेवाले पुरुषोंकी दुःखनिवृत्तिके लिये, श्रीमद्भागवतपुराण प्रारम्भ करता हूँ—जिसे स्वयं श्रीसंकर्षणभगवान्‌ने सनकादि ऋषियोंको सुनाया था॥ २॥

आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं
सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम्।
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य
कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन्॥ ३

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं
यं वासुदेवाभिधमामनन्ति।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीष-
दुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय॥ ४

अखण्ड ज्ञानसम्पन्न आदिदेव भगवान् संकर्षण पाताललोकमें विराजमान थे। सनत्कुमार आदि ऋषियोंने परम पुरुषोत्तम ब्रह्मका तत्त्व जाननेके लिये उनसे प्रश्न किया॥ ३॥ उस समय शेषजी अपने आश्रय-स्वरूप उन परमात्माकी मानसिक पूजा कर रहे थे, जिनका वेद वासुदेवके नामसे निरूपण करते हैं। उनके कमलकोशसरीखे नेत्र बंद थे। प्रश्न करनेपर सनत्कुमारादि ज्ञानीजनोंके आनन्दके लिये उन्होंने अधखुले नेत्रोंसे देखा॥ ४॥

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापै-
रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
सप्रेमनानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५
मुहुर्गृणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः ।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक-
प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥ ६
प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन ।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः
सांख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय ॥ ७
सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो
विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च ॥ ८
प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम् ।
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥ ९
उदाप्लुतं[1] विश्वमिदं तदाऽऽसीद्
यन्निद्रयामीलितदृङ् न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ[2] निरीहः ॥ १०
सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः ।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः ॥ ११

सनत्कुमार आदि ऋषियोंने मन्दाकिनीके जलसे भीगे अपने जटासमूहसे उनके चरणोंकी चौकीके रूपमें स्थित कमलका स्पर्श किया, जिसकी नागराजकुमारियाँ अभिलषित वरकी प्राप्तिके लिये प्रेमपूर्वक अनेकों उपहार-सामग्रियोंसे पूजा करती हैं॥ ५॥

सनत्कुमारादि उनकी लीलाके मर्मज्ञ हैं। उन्होंने बार-बार प्रेम-गद्गद वाणीसे उनकी लीलाका गान किया। उस समय शेषभगवान्के उठे हुए सहस्रों फण किरीटोंकी सहस्र-सहस्र श्रेष्ठ मणियोंकी छिटकती हुई रश्मियोंसे जगमगा रहे थे॥ ६॥ भगवान् संकर्षणने निवृत्तिपरायण सनत्कुमारजीको यह भागवत सुनाया था—ऐसा प्रसिद्ध है। सनत्कुमारजीने फिर इसे परम व्रतशील सांख्यायन मुनिको, उनके प्रश्न करनेपर सुनाया॥ ७॥ परमहंसोंमें प्रधान श्रीसांख्यायनजीको जब भगवान्की विभूतियोंका वर्णन करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने इसे अपने अनुगत शिष्य, हमारे गुरु श्रीपराशरजीको और बृहस्पतिजीको सुनाया॥ ८॥ इसके पश्चात् परम दयालु पराशरजीने पुलस्त्य मुनिके कहनेसे वह आदिपुराण मुझसे कहा। वत्स! श्रद्धालु और सदा अनुगत देखकर अब वही पुराण मैं तुम्हें सुनाता हूँ॥ ९॥

सृष्टिके पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व जलमें डूबा हुआ था। उस समय एकमात्र श्रीनारायणदेव शेषशय्यापर पौढ़े हुए थे। वे अपनी ज्ञानशक्तिको अक्षुण्ण रखते हुए ही, योगनिद्राका आश्रय ले, अपने नेत्र मूँदे हुए थे। सृष्टिकर्मसे अवकाश लेकर आत्मानन्दमें मग्न थे। उनमें किसी भी क्रियाका उन्मेष नहीं था॥ १०॥ जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहिका आदि शक्तियोंको छिपाये हुए काष्ठमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार श्रीभगवान्ने सम्पूर्ण प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरोंको अपने शरीरमें लीन करके अपने आधारभूत उस जलमें शयन किया, उन्हें सृष्टिकाल आनेपर पुनः जगानेके लिये केवल कालशक्तिको जाग्रत् रखा॥ ११॥

१. प्रा० पा०—उदप्लुतं। २. प्रा० पा०—रतावनीहः।

चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु
स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या।
कालाख्ययाऽऽसादितकर्मतन्त्रो
लोकानपीतान्ददृशे स्वदेहे॥ १२
तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टे-
रन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात्॥ १३
स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः॥ १४
तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम्।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्॥ १५
तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि॥ १६
तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण-
जलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम्।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमद्धाविददादिदेवः॥ १७
क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ
एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम्॥ १८
स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल-
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः॥ १९

इस प्रकार अपनी स्वरूपभूता चिच्छक्तिके साथ एक सहस्र चतुर्युगपर्यन्त जलमें शयन करनेके अनन्तर जब उन्हींके द्वारा नियुक्त उनकी कालशक्तिने उन्हें जीवोंके कर्मोंकी प्रवृत्तिके लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने अपने शरीरमें लीन हुए अनन्त लोक देखे॥ १२॥ जिस समय भगवान्‌की दृष्टि अपनेमें निहित लिंगशरीरादि सूक्ष्मतत्त्वपर पड़ी, तब वह कालाश्रित रजोगुणसे क्षुभित होकर सृष्टिरचनाके निमित्त उनके नाभिदेशसे बाहर निकला॥ १३॥ कर्मशक्तिको जाग्रत् करनेवाले कालके द्वारा विष्णुभगवान्‌की नाभिसे प्रकट हुआ वह सूक्ष्मतत्त्व कमलकोशके रूपमें सहसा ऊपर उठा और उसने सूर्यके समान अपने तेजसे उस अपार जलराशिको देदीप्यमान कर दिया॥ १४॥ सम्पूर्ण गुणोंको प्रकाशित करनेवाले उस सर्वलोकमय कमलमें वे विष्णुभगवान् ही अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो गये। तब उसमेंसे बिना पढ़ाये ही स्वयं सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाले साक्षात् वेदमूर्ति श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए, जिन्हें लोग स्वयम्भू कहते हैं॥ १५॥ उस कमलकी कर्णिका (गद्दी)-में बैठे हुए ब्रह्माजीको जब कोई लोक दिखायी नहीं दिया, तब वे आँखें फाड़कर आकाशमें चारों ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे, इससे उनके चारों दिशाओंमें चार मुख हो गये॥ १६॥ उस समय प्रलयकालीन पवनके थपेड़ोंसे उछलती हुई जलकी तरंगमालाओंके कारण उस जलराशिसे ऊपर उठे हुए कमलपर विराजमान आदिदेव ब्रह्माजीको अपना तथा उस लोकतत्त्वरूप कमलका कुछ भी रहस्य न जान पड़ा॥ १७॥

वे सोचने लगे, 'इस कमलकी कर्णिकापर बैठा हुआ मैं कौन हूँ? यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके जलमें कहाँसे उत्पन्न हो गया? इसके नीचे अवश्य कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये, जिसके आधारपर यह स्थित है'॥ १८॥

ऐसा सोचकर वे उस कमलकी नालके सूक्ष्म छिद्रोंमें होकर उस जलमें घुसे। किन्तु उस नालके आधारको खोजते-खोजते नाभि-देशके समीप पहुँच जानेपर भी वे उसे पा न सके॥ १९॥

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं
विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥ २०

ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥ २१

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभात-
मपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम् ॥ २२

मृणालगौरायतशेषभोग-
पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्न-
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥ २३

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य-
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥ २४

आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसंग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम्[१] ॥ २५

विदुरजी! उस अपार अन्धकारमें अपने उत्पत्ति-स्थानको खोजते-खोजते ब्रह्माजीको बहुत काल बीत गया। यह काल ही भगवान्‌का चक्र है, जो प्राणियोंको भयभीत (करता हुआ उनकी आयुको क्षीण) करता रहता है॥ २०॥ अन्तमें विफलमनोरथ हो वे वहाँसे लौट आये और पुनः अपने आधारभूत कमलपर बैठकर धीरे-धीरे प्राणवायुको जीतकर चित्तको निःसंकल्प किया और समाधिमें स्थित हो गये॥ २१॥ इस प्रकार पुरुषकी पूर्ण आयुके बराबर कालतक (अर्थात् दिव्य सौ वर्षतक) अच्छी तरह योगाभ्यास करनेपर ब्रह्माजीको ज्ञान प्राप्त हुआ; तब उन्होंने अपने उस अधिष्ठानको, जिसे वे पहले खोजनेपर भी नहीं देख पाये थे, अपने ही अन्तःकरणमें प्रकाशित होते देखा॥ २२॥ उन्होंने देखा कि उस प्रलयकालीन जलमें शेषजीके कमलनालसदृश गौर और विशाल विग्रहकी शय्यापर पुरुषोत्तमभगवान् अकेले ही लेटे हुए हैं। शेषजीके दस हजार फण छत्रके समान फैले हुए हैं। उनके मस्तकोंपर किरीट शोभायमान हैं, उनमें जो मणियाँ जड़ी हुई हैं, उनकी कान्तिसे चारों ओरका अन्धकार दूर हो गया है॥ २३॥ वे अपने श्याम शरीरकी आभासे मरकतमणिके पर्वतकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं। उनकी कमरका पीतपट पर्वतके प्रान्त देशमें छाये हुए सायंकालके पीले-पीले चमकीले मेघोंकी आभाको मलिन कर रहा है, सिरपर सुशोभित सुवर्णमुकुट सुवर्णमय शिखरोंका मान मर्दन कर रहा है। उनकी वनमाला पर्वतके रत्न, जलप्रपात, ओषधि और पुष्पोंकी शोभाको परास्त कर रही है तथा उनके भुजदण्ड वेणुदण्डका और चरण वृक्षोंका तिरस्कार करते हैं॥ २४॥ उनका वह श्रीविग्रह अपने परिमाणसे लंबाई-चौड़ाईमें त्रिलोकीका संग्रह किये हुए है। वह अपनी शोभासे विचित्र एवं दिव्य वस्त्राभूषणोंकी शोभाको सुशोभित करनेवाला होनेपर भी पीताम्बर आदि अपनी वेशभूषासे सुसज्जित है॥ २५॥

१. प्रा० पा०—श्रितदेहवेषम्।

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम्।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥ २६
मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा॥ २७
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा
स्वलङ्कृतं मेखलया नितम्बे।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥ २८
परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥ २९
चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम्।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥ ३०
निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम्।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥ ३१
तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोज-
मात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः॥ ३२

अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्गोंसे पूजा करनेवाले भक्तजनोंको कृपापूर्वक अपने भक्तवाञ्छाकल्पतरु चरणकमलोंका दर्शन दे रहे हैं, जिनके सुन्दर अंगुलिदल नखचन्द्रकी चन्द्रिकासे अलग-अलग स्पष्ट चमकते रहते हैं॥ २६॥ सुन्दर नासिका, अनुग्रहवर्षी भौंहें, कानोंमें झिलमिलाते हुए कुण्डलोंकी शोभा, बिम्बाफलके समान लाल-लाल अधरोंकी कान्ति एवं लोकार्तिहारी मुसकानसे युक्त मुखारविन्दके द्वारा वे अपने उपासकोंका सम्मान—अभिनन्दन कर रहे हैं॥ २७॥ वत्स! उनके नितम्बदेशमें कदम्बकुसुमकी केसरके समान पीतवस्त्र और सुवर्णमयी मेखला सुशोभित है तथा वक्षःस्थलमें अमूल्य हार और सुनहरी रेखावाले श्रीवत्सचिह्नकी अपूर्व शोभा हो रही है॥ २८॥ वे अव्यक्तमूल चन्दनवृक्षके समान हैं। महामूल्य केयूर और उत्तम-उत्तम मणियोंसे सुशोभित उनके विशाल भुजदण्ड ही मानो उसकी सहस्रों शाखाएँ हैं और चन्दनके वृक्षोंमें जैसे बड़े-बड़े साँप लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार उनके कंधोंको शेषजीके फणोंने लपेट रखा है॥ २९॥ वे नागराज अनन्तके बन्धु श्रीनारायण ऐसे जान पड़ते हैं, मानो कोई जलसे घिरे हुए पर्वतराज ही हों। पर्वतपर जैसे अनेकों जीव रहते हैं, उसी प्रकार वे सम्पूर्ण चराचरके आश्रय हैं; शेषजीके फणोंपर जो सहस्रों मुकुट हैं वे ही मानो उस पर्वतके सुवर्णमण्डित शिखर हैं तथा वक्षःस्थलमें विराजमान कौस्तुभमणि उसके गर्भसे प्रकट हुआ रत्न है॥ ३०॥ प्रभुके गलेमें वेदरूप भौंरोंसे गुंजायमान अपनी कीर्तिमयी वनमाला विराज रही है; सूर्य, चन्द्र, वायु और अग्नि आदि देवताओंकी भी आपतक पहुँच नहीं है तथा त्रिभुवनमें बेरोक-टोक विचरण करनेवाले सुदर्शनचक्रादि आयुध भी प्रभुके आस-पास ही घूमते रहते हैं, उनके लिये भी आप अत्यन्त दुर्लभ हैं॥ ३१॥

तब विश्वरचनाकी इच्छावाले लोकविधाता ब्रह्माजीने भगवान्‌के नाभिसरोवरसे प्रकट हुआ वह कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर—केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे, इनके सिवा और कुछ उन्हें दिखायी न दिया॥ ३२॥

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः
प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्य-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥ ३३

रजोगुणसे व्याप्त ब्रह्माजी प्रजाकी रचना करना चाहते थे। जब उन्होंने सृष्टिके कारणरूप केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे, तब लोकरचनाके लिये उत्सुक होनेके कारण वे अचिन्त्यगति श्रीहरिमें चित्त लगाकर उन परमपूजनीय प्रभुकी स्तुति करने लगे॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

ब्रह्माजीद्वारा भगवान्‌की स्तुति

ब्रह्मोवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥ १

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो! आज बहुत समयके बाद मैं आपको जान सका हूँ। अहो! कैसे दुर्भाग्यकी बात है कि देहधारी जीव आपके स्वरूपको नहीं जान पाते। भगवन्! आपके सिवा और कोई वस्तु नहीं है। जो वस्तु प्रतीत होती है, वह भी स्वरूपतः सत्य नहीं है, क्योंकि मायाके गुणोंके क्षुभित होनेके कारण केवल आप ही अनेकों रूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं॥ १॥

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २

देव! आपकी चित् शक्तिके प्रकाशित रहनेके कारण अज्ञान आपसे सदा ही दूर रहता है। आपका यह रूप, जिसके नाभिकमलसे मैं प्रकट हुआ हूँ, सैकड़ों अवतारोंका मूल कारण है। इसे आपने सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही पहले-पहल प्रकट किया है॥ २॥

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि॥ ३

परमात्मन्! आपका जो आनन्दमात्र, भेदरहित, अखण्ड तेजोमय स्वरूप है, उसे मैं इससे भिन्न नहीं समझता। इसलिये मैंने विश्वकी रचना करनेवाले होनेपर भी विश्वातीत आपके इस अद्वितीय रूपकी ही शरण ली है। यही सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियोंका भी अधिष्ठान है॥ ३॥

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः॥ ४

हे विश्वकल्याणमय! मैं आपका उपासक हूँ, आपने मेरे हितके लिये ही मुझे ध्यानमें अपना यह रूप दिखलाया है। जो पापात्मा विषयासक्त जीव हैं, वे ही इसका अनादर करते हैं। मैं तो आपको इसी रूपमें बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ ४॥

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम्॥ ५

मेरे स्वामी! जो लोग वेदरूप वायुसे लायी हुई आपके चरणरूप कमलकोशकी गन्धको अपने कर्णपुटोंसे ग्रहण करते हैं, उन अपने भक्तजनोंके हृदय-कमलसे आप कभी दूर नहीं होते; क्योंकि वे पराभक्तिरूप डोरीसे आपके पादपद्मोंको बाँध लेते हैं॥ ५॥

तावद्भयं द्रविणगेह[1]सुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥ ६
दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्
सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्॥ ७
क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे॥ ८
यावत्पृथ[2]क्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि[3] दुःखनिवहं वहती क्रियार्था॥ ९
अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति॥ १०
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय[4]॥ ११

जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसे धन, घर और बन्धुजनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभीतक उसे मैं-मेरेपनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण है॥ ६॥ जो लोग सब प्रकारके अमंगलोंको नष्ट करनेवाले आपके श्रवण-कीर्तनादि प्रसंगोंसे इन्द्रियोंको हटाकर लेशमात्र विषय-सुखके लिये दीन और मन-ही-मन लालायित होकर निरन्तर दुष्कर्मोंमें लगे रहते हैं, उन बेचारोंकी बुद्धि दैवने हर ली है॥ ७॥ अच्युत! उरुक्रम! इस प्रजाको भूख-प्यास, वात, पित्त, कफ, सर्दी, गरमी, हवा और वर्षासे, परस्पर एक-दूसरेसे तथा कामाग्नि और दुःसह क्रोधसे बार-बार कष्ट उठाते देखकर मेरा मन बड़ा खिन्न होता है॥ ८॥ स्वामिन्! जबतक मनुष्य इन्द्रिय और विषयरूपी मायाके प्रभावसे आपसे अपनेको भिन्न देखता है, तबतक उसके लिये इस संसारचक्रकी निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि यह मिथ्या है, तथापि कर्मफल भोगका क्षेत्र होनेके कारण उसे नाना प्रकारके दुःखोंमें डालता रहता है॥ ९॥

देव! औरोंकी तो बात ही क्या—जो साक्षात् मुनि हैं, वे भी यदि आपके कथाप्रसंगसे विमुख रहते हैं तो उन्हें संसारमें फँसना पड़ता है। वे दिनमें अनेक प्रकारके व्यापारोंके कारण विक्षिप्तचित्त रहते हैं, रात्रिमें निद्रामें अचेत पड़े रहते हैं; उस समय भी तरह-तरहके मनोरथोंके कारण क्षण-क्षणमें उनकी नींद टूटती रहती है तथा दैववश उनकी अर्थसिद्धिके सब उद्योग भी विफल होते रहते हैं॥ १०॥ नाथ! आपका मार्ग केवल गुणश्रवणसे ही जाना जाता है। आप निश्चय ही मनुष्योंके भक्तियोगके द्वारा परिशुद्ध हुए हृदयकमलमें निवास करते हैं। पुण्यश्लोक प्रभो! आपके भक्तजन जिस-जिस भावनासे आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं॥ ११॥

१. प्रा० पा०—द्रविणदेह०। २. प्रा० पा०—पृथक्स्थितमिदं मन इन्द्रियार्थं मा०। ३. प्रा० पा०—व्यर्थातिदुःख०। ४. प्रा० पा०—तदनुग्रहाय।

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा॥ १२

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्‌ध्रियते न यत्र॥ १३

शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय[१] नमः परस्मै।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय॥ १४

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
ते नैकजन्मशमलं[२] सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥ १५

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम्।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय॥ १६

भगवन्! आप एक हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें स्थित उनके परम हितकारी अन्तरात्मा हैं। इसलिये यदि देवतालोग भी हृदयमें तरह-तरहकी कामनाएँ रखकर भाँति-भाँतिकी विपुल सामग्रियोंसे आपका पूजन करते हैं, तो उससे आप उतने प्रसन्न नहीं होते जितने सब प्राणियोंपर दया करनेसे होते हैं। किन्तु वह सर्वभूतदया असत् पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ है॥ १२॥ जो कर्म आपको अर्पण कर दिया जाता है, उसका कभी नाश नहीं होता—वह अक्षय हो जाता है। अतः नाना प्रकारके कर्म—यज्ञ, दान, कठिन तपस्या और व्रतादिके द्वारा आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना ही मनुष्यका सबसे बड़ा कर्मफल है, क्योंकि आपकी प्रसन्नता होनेपर ऐसा कौन फल है जो सुलभ नहीं हो जाता॥ १३॥ आप सर्वदा अपने स्वरूपके प्रकाशसे ही प्राणियोंके भेद-भ्रमरूप अन्धकारका नाश करते रहते हैं तथा ज्ञानके अधिष्ठान साक्षात् परमपुरुष हैं; मैं आपको नमस्कार करता हूँ। संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके निमित्तसे जो मायाकी लीला होती है, वह आपका ही खेल है; अतः आप परमेश्वरको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ १४॥ जो लोग प्राणत्याग करते समय आपके अवतार, गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाले देवकीनन्दन, जनार्दन, कंसनिकन्दन आदि नामोंका विवश होकर भी उच्चारण करते हैं, वे अनेकों जन्मोंके पापोंसे तत्काल छूटकर मायादि आवरणोंसे रहित ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं। आप नित्य अजन्मा हैं, मैं आपकी शरण लेता हूँ॥ १५॥ भगवन्! इस विश्ववृक्षके रूपमें आप ही विराजमान हैं। आप ही अपनी मूलप्रकृतिको स्वीकार करके जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये मेरे, अपने और महादेवजीके रूपमें तीन प्रधान शाखाओंमें विभक्त हुए हैं और फिर प्रजापति एवं मनु आदि शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें फैलकर बहुत विस्तृत हो गये हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ १६॥

१. प्रा० पा०—बोधविषयाय। २. प्रा० पा०—जन्मजमलं।

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै॥ १७
यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत्।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम्॥ १८
तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय॥ १९
योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन्॥ २०
यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय॥ २१
सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ॥ २२

भगवन्! आपने अपनी आराधनाको ही लोकोंके लिये कल्याणकारी स्वधर्म बताया है, किन्तु वे इस ओरसे उदासीन रहकर सर्वदा विपरीत (निषिद्ध) कर्मोंमें लगे रहते हैं। ऐसी प्रमादकी अवस्थामें पड़े हुए इन जीवोंकी जीवन-आशाको जो सदा सावधान रहकर बड़ी शीघ्रतासे काटता रहता है, वह बलवान् काल भी आपका ही रूप है; मैं उसे नमस्कार करता हूँ॥ १७॥ यद्यपि मैं सत्यलोकका अधिष्ठाता हूँ, जो दो परार्द्धपर्यन्त रहनेवाला और समस्त लोकोंका वन्दनीय है, तो भी आपके उस कालरूपसे डरता रहता हूँ। उससे बचने और आपको प्राप्त करनेके लिये ही मैंने बहुत समयतक तपस्या की है। आप ही अधियज्ञरूपसे मेरी इस तपस्याके साक्षी हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ १८॥ आप पूर्णकाम हैं, आपको किसी विषयसुखकी इच्छा नहीं है, तो भी आपने अपनी बनायी हुई धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि जीवयोनियोंमें अपनी ही इच्छासे शरीर धारण कर अनेकों लीलाएँ की हैं। ऐसे आप पुरुषोत्तमभगवान्‌को मेरा नमस्कार है॥ १९॥ प्रभो! आप अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—पाँचोंमेंसे किसीके भी अधीन नहीं हैं; तथापि इस समय जो सारे संसारको अपने उदरमें लीनकर भयंकर तरंगमालाओंसे विक्षुब्ध प्रलयकालीन जलमें अनन्तविग्रहकी कोमल शय्यापर शयन कर रहे हैं, वह पूर्वकल्पकी कर्मपरम्परासे श्रमित हुए जीवोंको विश्राम देनेके लिये ही है॥ २०॥ आपके नाभिकमलरूप भवनसे मेरा जन्म हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समाया हुआ है। आपकी कृपासे ही मैं त्रिलोकीकी रचनारूप उपकारमें प्रवृत्त हुआ हूँ। इस समय योगनिद्राका अन्त हो जानेके कारण आपके नेत्रकमल विकसित हो रहे हैं, आपको मेरा नमस्कार है॥ २१॥ आप सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र सुहृद् और आत्मा हैं तथा शरणागतोंपर कृपा करनेवाले हैं। अतः अपने जिस ज्ञान और ऐश्वर्यसे आप विश्वको आनन्दित करते हैं, उसीसे मेरी बुद्धिको भी युक्त करें—जिससे मैं पूर्वकल्पके समान इस समय भी जगत्‌की रचना कर सकूँ॥ २२॥

एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या
यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम्॥ २३
नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः॥ २४
सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः॥ २५

मैत्रेय उवाच

स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत्॥ २६
अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा॥ २७
लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव॥ २८

श्रीभगवानुवाच

मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह।
तन्मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान्॥ २९
भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम्।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान्॥ ३०
तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः।
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः॥ ३१

आप भक्तवांछाकल्पतरु हैं। अपनी शक्ति लक्ष्मीजीके सहित अनेकों गुणावतार लेकर आप जो-जो अद्‌भुत कर्म करेंगे, मेरा यह जगत्‌की रचना करनेका उद्यम भी उन्हींमेंसे एक है। अत: इसे रचते समय आप मेरे चित्तको प्रेरित करें—शक्ति प्रदान करें, जिससे मैं सृष्टिरचनाविषयक अभिमानरूप मलसे दूर रह सकूँ॥ २३॥ प्रभो! इस प्रलयकालीन जलमें शयन करते हुए आप अनन्तशक्ति परमपुरुषके नाभिकमलसे मेरा प्रादुर्भाव हुआ है और मैं हूँ भी आपकी ही विज्ञानशक्ति; अत: इस जगत्‌के विचित्र रूपका विस्तार करते समय आपकी कृपासे मेरी वेदरूप वाणीका उच्चारण लुप्त न हो॥ २४॥ आप अपार करुणामय पुराणपुरुष हैं। आप परम प्रेममयी मुसकानके सहित अपने नेत्रकमल खोलिये और शेषशय्यासे उठकर विश्वके उद्भवके लिये अपनी सुमधुर वाणीसे मेरा विषाद दूर कीजिये॥ २५॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार तप, विद्या और समाधिके द्वारा अपने उत्पत्तिस्थान श्रीभगवान्‌को देखकर तथा अपने मन और वाणीकी शक्तिके अनुसार उनकी स्तुति कर ब्रह्माजी थके-से होकर मौन हो गये॥ २६॥ श्रीमधुसूदनभगवान्‌ने देखा कि ब्रह्माजी इस प्रलयजलराशिसे बहुत घबराये हुए हैं तथा लोकरचनाके विषयमें कोई निश्चित विचार न होनेके कारण उनका चित्त बहुत खिन्न है। तब उनके अभिप्रायको जानकर वे अपनी गम्भीर वाणीसे उनका खेद शान्त करते हुए कहने लगे॥ २७-२८॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—वेदगर्भ! तुम विषादके वशीभूत हो आलस्य न करो, सृष्टिरचनाके उद्यममें तत्पर हो जाओ। तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, उसे तो मैं पहले ही कर चुका हूँ॥ २९॥ तुम एक बार फिर तप करो और भागवत-ज्ञानका अनुष्ठान करो। उनके द्वारा तुम सब लोकोंको स्पष्टतया अपने अन्त:करणमें देखोगे॥ ३०॥ फिर भक्तियुक्त और समाहितचित्त होकर तुम सम्पूर्ण लोक और अपनेमें मुझको व्याप्त देखोगे तथा मुझमें सम्पूर्ण लोक और अपने-आपको देखोगे॥ ३१॥

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
[1]प्रतिचक्षीत मां लोको [2]जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम्॥ ३२
यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः[3]।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति॥ ३३
नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः।
नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते [4]वर्षीयान्मदनुग्रहः॥ ३४
ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते॥ ३५
ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम्।
यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः॥ ३६
तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे [5]दर्शितोऽबहिः।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः॥ ३७
यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम्।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः॥ ३८
प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन्॥ ३९
य एतेन पुमान्नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत्।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः॥ ४०
पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्[6]॥ ४१
अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥ ४२

जिस समय जीव काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान समस्त भूतोंमें मुझे ही स्थित देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मलसे मुक्त हो जाता है॥ ३२॥ जब वह अपनेको भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित तथा स्वरूपतः मुझसे अभिन्न देखता है, तब मोक्षपद प्राप्त कर लेता है॥ ३३॥ ब्रह्माजी! नाना प्रकारके कर्मसंस्कारोंके अनुसार अनेक प्रकारकी जीवसृष्टिको रचनेकी इच्छा होनेपर भी तुम्हारा चित्त मोहित नहीं होता, यह मेरी अतिशय कृपाका ही फल है॥ ३४॥ तुम सबसे पहले मन्त्रद्रष्टा हो। प्रजा उत्पन्न करते समय भी तुम्हारा मन मुझमें ही लगा रहता है, इसीसे पापमय रजोगुण तुमको बाँध नहीं पाता॥ ३५॥ तुम मुझे भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित समझते हो; इससे जान पड़ता है कि यद्यपि देहधारी जीवोंको मेरा ज्ञान होना बहुत कठिन है, तथापि तुमने मुझे जान लिया है॥ ३६॥ 'मेरा आश्रय कोई है या नहीं' इस सन्देहसे तुम कमलनालके द्वारा जलमें उसका मूल खोज रहे थे, सो मैंने तुम्हें अपना यह स्वरूप अन्तःकरणमें ही दिखलाया है॥ ३७॥

प्यारे ब्रह्माजी! तुमने जो मेरी कथाओंके वैभवसे युक्त मेरी स्तुति की है और तपस्यामें जो तुम्हारी निष्ठा है, वह भी मेरी ही कृपाका फल है॥ ३८॥ लोकरचनाकी इच्छासे तुमने सगुण प्रतीत होनेपर भी जो निर्गुणरूपसे मेरा वर्णन करते हुए स्तुति की है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ; तुम्हारा कल्याण हो॥ ३९॥ मैं समस्त कामनाओं और मनोरथोंको पूर्ण करनेमें समर्थ हूँ। जो पुरुष नित्यप्रति इस स्तोत्रद्वारा स्तुति करके मेरा भजन करेगा, उसपर मैं शीघ्र ही प्रसन्न हो जाऊँगा॥ ४०॥ तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि पूर्त, तप, यज्ञ, दान, योग और समाधि आदि साधनोंसे प्राप्त होनेवाला जो परम कल्याणमय फल है, वह मेरी प्रसन्नता ही है॥ ४१॥ विधाता! मैं आत्माओंका भी आत्मा और स्त्री-पुत्रादि प्रियोंका भी प्रिय हूँ। देहादि भी मेरे ही लिये प्रिय हैं। अतः मुझसे ही प्रेम करना चाहिये॥ ४२॥

१. प्रा० पा०—प्रवि० । २. प्रा० पा०—जह्यां त०। ३. प्रा० पा०—गुणाश्रयैः। ४. प्रा० पा०—वरीयान्। ५. प्रा० पा०—संदर्शि०। ६. प्रा० पा०—मता।

सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥ ४३

ब्रह्माजी! त्रिलोकीको तथा जो प्रजा इस समय मुझमें लीन है, उसे तुम पूर्वकल्पके समान मुझसे उत्पन्न हुए अपने सर्ववेदमय स्वरूपसे स्वयं ही रचो॥ ४३॥

मैत्रेय उवाच

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे॥ ४४

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रकृति और पुरुषके स्वामी कमलनाभ भगवान् सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीको इस प्रकार जगत्‌की अभिव्यक्ति करवाकर अपने उस नारायणरूपसे अदृश्य हो गये॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

विदुर उवाच

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः॥ १
ये च मे भगवन् पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम।
तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान्॥ २

विदुरजीने कहा—मुनिवर! भगवान् नारायणके अन्तर्धान हो जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने अपने देह और मनसे कितने प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न की?॥ १॥ भगवन्! इनके सिवा मैंने आपसे और जो-जो बातें पूछी हैं, उन सबका भी क्रमशः वर्णन कीजिये और मेरे सब संशयोंको दूर कीजिये; क्योंकि आप सभी बहुज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं॥ २॥

सूत उवाच

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः।
प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव॥ ३

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! विदुरजीके इस प्रकार पूछनेपर मुनिवर मैत्रेयजी बड़े प्रसन्न हुए और अपने हृदयमें स्थित उन प्रश्नोंका इस प्रकार उत्तर देने लगे॥ ३॥

मैत्रेय उवाच

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः॥ ४
तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम्॥ ५
तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाम्भसा॥ ६
तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्।
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्॥ ७

श्रीमैत्रेयजीने कहा—अजन्मा भगवान् श्रीहरिने जैसा कहा था, ब्रह्माजीने भी उसी प्रकार चित्तको अपने आत्मा श्रीनारायणमें लगाकर सौ दिव्य वर्षोंतक तप किया॥ ४॥ ब्रह्माजीने देखा कि प्रलयकालीन प्रबल वायुके झकोरोंसे, जिससे वे उत्पन्न हुए हैं तथा जिसपर वे बैठे हुए हैं वह कमल तथा जल काँप रहे हैं॥ ५॥ प्रबल तपस्या एवं हृदयमें स्थित आत्मज्ञानसे उनका विज्ञानबल बढ़ गया और उन्होंने जलके साथ वायुको पी लिया॥ ६॥ फिर जिसपर स्वयं बैठे हुए थे, उस आकाशव्यापी कमलको देखकर उन्होंने विचार किया कि 'पूर्वकल्पमें लीन हुए लोकोंको मैं इसीसे रचूँगा'॥ ७॥

पद्मकोशं तदाऽऽविश्य भगवत्कर्मचोदितः।
एकं व्यभाङ्‌क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा॥ ८

एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ॥ ९

विदुर उवाच

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् यथा वर्णय नः प्रभो॥ १०

मैत्रेय उवाच

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत्॥ ११

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥ १२

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।
सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः॥ १३

कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः।
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः॥ १४

द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्॥ १५

चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः॥ १६

तब भगवान्‌के द्वारा सृष्टिकार्यमें नियुक्त ब्रह्माजीने उस कमलकोशमें प्रवेश किया और उस एकके ही भूः, भुवः, स्वः—ये तीन भाग किये, यद्यपि वह कमल इतना बड़ा था कि उसके चौदह भुवन या इससे भी अधिक लोकोंके रूपमें विभाग किये जा सकते थे॥ ८॥

जीवोंके भोगस्थानके रूपमें इन्हीं तीन लोकोंका शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है; जो निष्काम कर्म करनेवाले हैं, उन्हें महः, तपः, जनः और सत्यलोकरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है॥ ९॥

विदुरजीने कहा—ब्रह्मन्! आपने अद्भुतकर्मा विश्वरूप श्रीहरिकी जिस काल नामक शक्तिकी बात कही थी, प्रभो! उसका कृपया विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये॥ १०॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विषयोंका रूपान्तर (बदलना) ही कालका आकार है। स्वयं तो वह निर्विशेष, अनादि और अनन्त है। उसीको निमित्त बनाकर भगवान् खेल-खेलमें अपने-आपको ही सृष्टिके रूपमें प्रकट कर देते हैं॥ ११॥ पहले यह सारा विश्व भगवान्‌की मायासे लीन होकर ब्रह्मरूपसे स्थित था। उसीको अव्यक्तमूर्ति कालके द्वारा भगवान्‌ने पुनः पृथक् रूपसे प्रकट किया है॥ १२॥ यह जगत् जैसा अब है वैसा ही पहले था और भविष्यमें भी वैसा ही रहेगा। इसकी सृष्टि नौ प्रकारकी होती है तथा प्राकृत-वैकृत-भेदसे एक दसवीं सृष्टि और भी है॥ १३॥ और इसका प्रलय काल, द्रव्य तथा गुणोंके द्वारा तीन प्रकारसे होता है। (अब पहले मैं दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन करता हूँ) पहली सृष्टि महत्तत्त्वकी है। भगवान्‌की प्रेरणासे सत्त्वादि गुणोंमें विषमता होना ही इसका स्वरूप है॥ १४॥ दूसरी सृष्टि अहंकारकी है, जिससे पृथ्वी आदि पंचभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। तीसरी सृष्टि भूतसर्ग है, जिसमें पंचमहाभूतोंको उत्पन्न करनेवाला तन्मात्रवर्ग रहता है॥ १५॥ चौथी सृष्टि इन्द्रियोंकी है, यह ज्ञान और क्रियाशक्तिसे सम्पन्न होती है। पाँचवीं सृष्टि सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंकी है, मन भी इसी सृष्टिके अन्तर्गत है॥ १६॥

षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो।
षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु॥ १७

छठी सृष्टि अविद्याकी है। इसमें तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—ये पाँच गाँठें हैं। यह जीवोंकी बुद्धिका आवरण और विक्षेप करनेवाली है। ये छः प्राकृत सृष्टियाँ हैं, अब वैकृत सृष्टियोंका भी विवरण सुनो॥ १७॥

रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः।
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः॥ १८

वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः।
उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः॥ १९

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः॥ २०

गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम॥ २१

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून्॥ २२

श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः॥ २३

कङ्कगृध्रवटश्येनभासभल्लूकबर्हिणः।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः॥ २४

जो भगवान् अपना चिन्तन करनेवालोंके समस्त दुःखोंको हर लेते हैं, यह सारी लीला उन्हीं श्रीहरिकी है। वे ही ब्रह्माके रूपमें रजोगुणको स्वीकार करके जगत्की रचना करते हैं। छः प्रकारकी प्राकृत सृष्टियोंके बाद सातवीं प्रधान वैकृत सृष्टि इन छः प्रकारके स्थावर वृक्षोंकी होती है॥ १८॥ वनस्पति[1], ओषधि,[2] लता,[3] त्वक्सार,[4] वीरुध[5] और द्रुम[6] इनका संचार नीचे (जड़)-से ऊपरकी ओर होता है, इनमें प्रायः ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं रहती, ये भीतर-ही-भीतर केवल स्पर्शका अनुभव करते हैं तथा इनमेंसे प्रत्येकमें कोई विशेष गुण रहता है॥ १९॥ आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु-पक्षियों)-की है। वह अट्ठाईस प्रकारकी मानी जाती है। इन्हें कालका ज्ञान नहीं होता, तमोगुणकी अधिकताके कारण ये केवल खाना-पीना, मैथुन करना, सोना आदि ही जानते हैं, इन्हें सूँघनेमात्रसे वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है। इनके हृदयमें विचारशक्ति या दूरदर्शिता नहीं होती॥ २०॥ साधुश्रेष्ठ! इन तिर्यकोंमें गौ, बकरा, भैंसा, कृष्ण-मृग, सूअर, नीलगाय, रुरु नामका मृग, भेड़ और ऊँट—ये द्विशफ (दो खुरोंवाले) पशु कहलाते हैं॥ २१॥ गधा, घोड़ा, खच्चर, गौरमृग, शरफ और चमरी—ये एकशफ (एक खुरवाले) हैं। अब पाँच नखवाले पशु-पक्षियोंके नाम सुनो॥ २२॥ कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, साही, सिंह, बंदर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि (पशु) हैं॥ २३॥ कंक (बगुला), गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि उड़नेवाले जीव पक्षी कहलाते हैं॥ २४॥

---

१. जो बिना मौर आये ही फलते हैं, जैसे गूलर, बड़, पीपल आदि। २. जो फलोंके पक जानेपर नष्ट हो जाते हैं, जैसे धान, गेहूँ, चना आदि। ३. जो किसीका आश्रय लेकर बढ़ते हैं, जैसे ब्राह्मी, गिलोय आदि। ४. जिनकी छाल बहुत कठोर होती है, जैसे बाँस आदि। ५. जो लता पृथ्वीपर ही फैलती है, किन्तु कठोर होनेसे ऊपरकी ओर नहीं चढ़ती—जैसे खरबूजा, तरबूजा आदि। ६. जिनमें पहले फूल आकर फिर उन फूलोंके स्थानमें ही फल लगते हैं, जैसे आम, जामुन आदि।

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः॥ २५

विदुरजी! नवीं सृष्टि मनुष्योंकी है। यह एक ही प्रकारकी है। इसके आहारका प्रवाह ऊपर (मुँह)-से नीचेकी ओर होता है। मनुष्य रजोगुणप्रधान, कर्मपरायण और दुःखरूप विषयोंमें ही सुख माननेवाले होते हैं॥ २५॥

वैकृतास्त्रय एवैते[1] देवसर्गश्च सत्तम।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः॥ २६

स्थावर, पशु-पक्षी और मनुष्य—ये तीनों प्रकारकी सृष्टियाँ तथा आगे कहा जानेवाला देवसर्ग वैकृत सृष्टि हैं तथा जो महत्तत्त्वादिरूप वैकारिक देवसर्ग है, उसकी गणना पहले प्राकृत सृष्टिमें की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त सनत्कुमार आदि ऋषियोंका जो कौमारसर्ग है, वह प्राकृत-वैकृत दोनों प्रकारका है॥ २६॥

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः॥ २७

भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः॥ २८

देवता, पितर, असुर, गन्धर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध-चारण-विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच और किन्नर-किम्पुरुष-अश्वमुख आदि भेदसे देवसृष्टि आठ प्रकारकी है। विदुरजी! इस प्रकार जगत्कर्ता श्रीब्रह्माजीकी रची हुई यह दस प्रकारकी सृष्टि मैंने तुमसे कही ॥ २७-२८॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च।
एवं रजःप्लुतः स्त्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना॥ २९

अब आगे मैं वंश और मन्वन्तरादिका वर्णन करूँगा। इस प्रकार सृष्टि करनेवाले सत्यसंकल्प भगवान् हरि ही ब्रह्माके रूपसे प्रत्येक कल्पके आदिमें रजोगुणसे व्याप्त होकर स्वयं ही जगत्‌के रूपमें अपनी ही रचना करते हैं॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

मन्वन्तरादि कालविभागका वर्णन

मैत्रेय उवाच

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! पृथ्वी आदि कार्यवर्गका जो सूक्ष्मतम अंश है—जिसका और विभाग नहीं हो सकता तथा जो कार्यरूपको प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका अन्य परमाणुओंके साथ संयोग भी नहीं हुआ है उसे परमाणु कहते हैं। इन अनेक परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्योंको भ्रमवश उनके समुदायरूप एक अवयवीकी प्रतीति होती है॥ १॥

१. प्रा० पा०—एते वै।

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः॥ २

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये[१] स्थौल्ये च सत्तम।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः॥ ३

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स[२] कालः परमो महान्॥ ४

अणुर्द्वौ[३] परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
जालार्करश्म्यवगतः[४] खमेवानुपतन्नगात्[५]॥ ५

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः।
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥ ६

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च॥ ७

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम्॥ ८

यह परमाणु जिसका सूक्ष्मतम अंश है, अपने सामान्य स्वरूपमें स्थित उस पृथ्वी आदि कार्योंकी एकता (समुदाय अथवा समग्ररूप)– का नाम परम महान् है। इस समय उसमें न तो प्रलयादि अवस्थाभेदकी स्फूर्ति होती है, न नवीन-प्राचीन आदि कालभेदका भान होता है और न घट-पटादि वस्तुभेदकी ही कल्पना होती है॥ २॥ साधुश्रेष्ठ! इस प्रकार यह वस्तुके सूक्ष्मतम और महत्तम स्वरूपका विचार हुआ। इसीके सादृश्यसे परमाणु आदि अवस्थाओंमें व्याप्त होकर व्यक्त पदार्थोंको भोगनेवाले सृष्टि आदिमें समर्थ, अव्यक्तस्वरूप भगवान् कालकी भी सूक्ष्मता और स्थूलताका अनुमान किया जा सकता है॥ ३॥ जो काल प्रपंचकी परमाणु-जैसी सूक्ष्म अवस्थामें व्याप्त रहता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है और जो सृष्टिसे लेकर प्रलयपर्यन्त उसकी सभी अवस्थाओंका भोग करता है, वह परम महान् है॥ ४॥

दो परमाणु मिलकर एक 'अणु' होता है और तीन अणुओंके मिलनेसे एक 'त्रसरेणु' होता है, जो झरोखेमेंसे होकर आयी हुई सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है॥ ५॥ ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है, उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौगुना काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेधका एक 'लव' होता है॥ ६॥ तीन लवको एक 'निमेष' और तीन निमेषको एक 'क्षण' कहते हैं। पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' होती है और पन्द्रह काष्ठाका एक 'लघु'॥ ७॥ पन्द्रह लघुकी एक 'नाडिका' (दण्ड) कही जाती है, दो नाडिकाका एक 'मुहूर्त' होता है और दिनके घटने-बढ़नेके अनुसार (दिन एवं रात्रिकी दोनों सन्धियोंके दो मुहूर्तोंको छोड़कर) छः या सात नाडिकाका एक 'प्रहर' होता है। यह 'याम' कहलाता है, जो मनुष्यके दिन या रातका चौथा भाग होता है॥ ८॥

---

१. प्रा० पा०—सूक्ष्मे स्थूले च। २. प्रा० पा०—कालः स। ३. प्रा० पा०—अणू द्वौ द्व्यणुकः प्रोक्तः त्र०। ४. प्रा० पा०—जालाक्षार्करश्मिगतः। ५. प्रा० पा०—पतन्न गाम्। इसका उल्लेख श्रीधरस्वामीने भी किया है।

द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम्॥ ९

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद॥ १०

तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम्।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि॥ ११

अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः।
संवत्सरशतं नॄणां परमायुर्निरूपितम्॥ १२

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत्।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः॥ १३

संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते॥ १४

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं-
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय॥ १५

छः पल ताँबेका एक ऐसा बरतन बनाया जाय जिसमें एक प्रस्थ जल आ सके और चार माशे सोनेकी चार अंगुल लंबी सलाई बनवाकर उसके द्वारा उस बरतनके पेंदेमें छेद करके उसे जलमें छोड़ दिया जाय। जितने समयमें एक प्रस्थ जल उस बरतनमें भर जाय, वह बरतन जलमें डूब जाय, उतने समयको एक 'नाडिका' कहते हैं॥ ९॥ विदुरजी! चार-चार पहरके मनुष्यके 'दिन' और 'रात' होते हैं और पन्द्रह दिन-रातका एक 'पक्ष' होता है, जो शुक्ल और कृष्ण भेदसे दो प्रकारका माना गया है॥ १०॥ इन दोनों पक्षोंको मिलाकर एक 'मास' होता है, जो पितरोंका एक दिन-रात है। दो मासका एक 'ऋतु' और छः मासका एक 'अयन' होता है। अयन 'दक्षिणायन' और 'उत्तरायण' भेदसे दो प्रकारका है॥ ११॥ ये दोनों अयन मिलकर देवताओंके एक दिन-रात होते हैं तथा मनुष्यलोकमें ये 'वर्ष' या बारह मास कहे जाते हैं। ऐसे सौ वर्षकी मनुष्यकी परम आयु बतायी गयी है॥ १२॥ चन्द्रमा आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र और समस्त तारा-मण्डलके अधिष्ठाता कालस्वरूप भगवान् सूर्य परमाणुसे लेकर संवत्सरपर्यन्त कालमें द्वादश राशिरूप सम्पूर्ण भुवनकोशकी निरन्तर परिक्रमा किया करते हैं॥ १३॥ सूर्य, बृहस्पति, सवन, चन्द्रमा और नक्षत्रसम्बन्धी महीनोंके भेदसे यह वर्ष ही संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर कहा जाता है॥ १४॥ विदुरजी! इन पाँच प्रकारके वर्षोंकी प्रवृत्ति करनेवाले भगवान् सूर्यकी तुम उपहारादि समर्पित करके पूजा करो। ये सूर्यदेव पंचभूतोंमेंसे तेज:स्वरूप हैं और अपनी कालशक्तिसे बीजादि पदार्थोंकी अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्तिको अनेक प्रकारसे कार्योन्मुख करते हैं। ये पुरुषोंकी मोहनिवृत्तिके लिये उनकी आयुका क्षय करते हुए आकाशमें विचरते रहते हैं तथा ये ही सकाम-पुरुषोंको यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि मंगलमय फलोंका विस्तार करते हैं॥ १५॥

विदुर उवाच

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम्[१]।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद् बहिर्विदः॥ १६
भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा॥ १७

मैत्रेय उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम्॥ १८
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च॥ १९
संध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते॥ २०
धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता॥ २१
त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्[२]॥ २२
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते[३]।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश॥ २३

विदुरजीने कहा— मुनिवर! आपने देवता, पितर और मनुष्योंकी परमायुका वर्णन तो किया। अब जो सनकादि ज्ञानी मुनिजन त्रिलोकीसे बाहर कल्पसे भी अधिक कालतक रहनेवाले हैं, उनकी भी आयुका वर्णन कीजिये॥ १६॥ आप भगवान् कालकी गति भलीभाँति जानते हैं; क्योंकि ज्ञानीलोग अपनी योगसिद्ध दिव्य दृष्टिसे सारे संसारको देख लेते हैं॥ १७॥

मैत्रेयजीने कहा— विदुरजी! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग अपनी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंके सहित देवताओंके बारह सहस्र वर्षतक रहते हैं, ऐसा बतलाया गया है॥ १८॥ इन सत्यादि चारों युगोंमें क्रमशः चार, तीन, दो और एक सहस्र दिव्य वर्ष होते हैं और प्रत्येकमें जितने सहस्र वर्ष होते हैं उससे दुगुने सौ वर्ष उनकी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंमें होते हैं*॥ १९॥ युगकी आदिमें सन्ध्या होती है और अन्तमें सन्ध्यांश। इनकी वर्ष-गणना सैकड़ोंकी संख्यामें बतलायी गयी है। इनके बीचका जो काल होता है, उसीको कालवेत्ताओंने युग कहा है। प्रत्येक युगमें एक-एक विशेष धर्मका विधान पाया जाता है॥ २०॥ सत्ययुगके मनुष्योंमें धर्म अपने चारों चरणोंसे रहता है; फिर अन्य युगोंमें अधर्मकी वृद्धि होनेसे उसका एक-एक चरण क्षीण होता जाता है॥ २१॥ प्यारे विदुरजी! त्रिलोकीसे बाहर महर्लोकसे ब्रह्मलोकपर्यन्त यहाँकी एक सहस्र चतुर्युगीका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है, जिसमें जगत्कर्ता ब्रह्माजी शयन करते हैं॥ २२॥ उस रात्रिका अन्त होनेपर इस लोकका कल्प आरम्भ होता है; उसका क्रम जबतक ब्रह्माजीका दिन रहता है तबतक चलता रहता है। उस एक कल्पमें चौदह मनु हो जाते हैं॥ २३॥

---

१. प्रा० पा०—श्रुतम्। २. प्रा० पा०—दृक्। ३. प्रा० पा०—वर्धते।

* अर्थात् सत्ययुगमें ४००० दिव्य वर्ष युगके और ८०० सन्ध्या एवं सन्ध्यांशके—इस प्रकार ४८०० वर्ष होते हैं। इसी प्रकार त्रेतामें ३६००, द्वापरमें २४०० और कलियुगमें १२०० दिव्य वर्ष होते हैं। मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक दिन होता है, अतः देवताओंका एक वर्ष मनुष्योंके ३६० वर्षके बराबर हुआ। इस प्रकार मानवीय मानसे कलियुगमें ४३२००० वर्ष हुए तथा इससे दुगुने द्वापरमें, तिगुने त्रेतामें और चौगुने सत्ययुगमें होते हैं।

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्।
मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः।
भवन्ति चैव युगपत्सुरेशाश्चानु ये च तान्॥ २४
एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः।
तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः॥ २५
मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्तिभिः।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः॥ २६
तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये॥ २७
तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः।
निशायामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम्॥ २८
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः॥ २९
तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः॥ ३०
अन्तः स तस्मिन् सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः॥ ३१
एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
अपक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम्॥ ३२
यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते॥ ३३
पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत्।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः॥ ३४

प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक काल (७१$\frac{६}{१४}$चतुर्युगी) तक अपना अधिकार भोगता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न मनुवंशी राजालोग, सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र और उनके अनुयायी गन्धर्वादि साथ-साथ ही अपना अधिकार भोगते हैं॥ २४॥ यह ब्रह्माजीकी प्रतिदिनकी सृष्टि है, जिसमें तीनों लोकोंकी रचना होती है। उसमें अपने-अपने कर्मानुसार पशु-पक्षी, मनुष्य, पितर और देवताओंकी उत्पत्ति होती है॥ २५॥ इन मन्वन्तरोंमें भगवान् सत्त्वगुणका आश्रय ले, अपनी मनु आदि मूर्तियोंके द्वारा पौरुष प्रकट करते हुए इस विश्वका पालन करते हैं॥ २६॥ कालक्रमसे जब ब्रह्माजीका दिन बीत जाता है, तब वे तमोगुणके सम्पर्कको स्वीकार कर अपने सृष्टिरचनारूप पौरुषको स्थगित करके निश्चेष्टभावसे स्थित हो जाते हैं॥ २७॥ उस समय सारा विश्व उन्हींमें लीन हो जाता है। जब सूर्य और चन्द्रमादिसे रहित वह प्रलयरात्रि आती है, तब वे भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोक उन्हीं ब्रह्माजीके शरीरमें छिप जाते हैं॥ २८॥ उस अवसरपर तीनों लोक शेषजीके मुखसे निकली हुई अग्निरूप भगवान्‌की शक्तिसे जलने लगते हैं। इसलिये उसके तापसे व्याकुल होकर भृगु आदि मुनीश्वरगण महर्लोकसे जनलोकको चले जाते हैं॥ २९॥ इतनेमें ही सातों समुद्र प्रलयकालके प्रचण्ड पवनसे उमड़कर अपनी उछलती हुई उत्ताल तरंगोंसे त्रिलोकीको डुबो देते हैं॥ ३०॥ तब उस जलके भीतर भगवान् शेषशायी योगनिद्रासे नेत्र मूँदकर शयन करते हैं। उस समय जनलोकनिवासी मुनिगण उनकी स्तुति किया करते हैं॥ ३१॥ इस प्रकार कालकी गतिसे एक-एक सहस्र चतुर्युगके रूपमें प्रतीत होनेवाले दिन-रातके हेर-फेरसे ब्रह्माजीकी सौ वर्षकी परमायु भी बीती हुई-सी दिखायी देती है॥ ३२॥

ब्रह्माजीकी आयुके आधे भागको परार्ध कहते हैं। अबतक पहला परार्ध तो बीत चुका है, दूसरा चल रहा है॥ ३३॥ पूर्व परार्धके आरम्भमें ब्राह्म नामक महान् कल्प हुआ था। उसीमें ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई थी। पण्डितजन इन्हें शब्दब्रह्म कहते हैं॥ ३४॥

तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद् यं पाद्ममभिचक्षते।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम्॥ ३५

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीत्सूकरो हरिः॥ ३६

कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते।
अव्याकृतस्यानन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः॥ ३७

कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम्॥ ३८

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः।
आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः॥ ३९

दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः॥ ४०

तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।
विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः॥ ४१

उसी परार्धके अन्तमें जो कल्प हुआ था, उसे पाद्मकल्प कहते हैं। इसमें भगवान्‌के नाभिसरोवरसे सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ था॥ ३५॥ विदुरजी! इस समय जो कल्प चल रहा है, वह दूसरे परार्धका आरम्भक बतलाया जाता है। यह वाराहकल्प-नामसे विख्यात है, इसमें भगवान्‌ने सूकररूप धारण किया था॥ ३६॥ यह दो परार्धका काल अव्यक्त, अनन्त, अनादि, विश्वात्मा श्रीहरिका एक निमेष माना जाता है॥ ३७॥ यह परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त फैला हुआ काल सर्वसमर्थ होनेपर भी सर्वात्मा श्रीहरिपर किसी प्रकारकी प्रभुता नहीं रखता। यह तो देहादिमें अभिमान रखनेवाले जीवोंका ही शासन करनेमें समर्थ है॥ ३८॥

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्र—इन आठ प्रकृतियोंके सहित दस इन्द्रियाँ, मन और पंचभूत—इन सोलह विकारोंसे मिलकर बना हुआ यह ब्रह्माण्डकोश भीतरसे पचास करोड़ योजन विस्तारवाला है तथा इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर दस-दस गुने सात आवरण हैं। उन सबके सहित यह जिसमें परमाणुके समान पड़ा हुआ दीखता है और जिसमें ऐसी करोड़ों ब्रह्माण्डराशियाँ हैं, वह इन प्रधानादि समस्त कारणोंका कारण अक्षर ब्रह्म कहलाता है और यही पुराणपुरुष परमात्मा श्रीविष्णुभगवान्‌का श्रेष्ठ धाम (स्वरूप) है॥ ३९—४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सृष्टिका विस्तार

मैत्रेय उवाच

इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः।
महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे॥ १

ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्।
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥ २

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! यहाँतक मैंने आपको भगवान्‌की कालरूप महिमा सुनायी। अब जिस प्रकार ब्रह्माजीने जगत्‌की रचना की, वह सुनिये॥ १॥ सबसे पहले उन्होंने अज्ञानकी पाँच वृत्तियाँ—तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) रचीं॥ २॥

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत्॥ ३
सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥ ४
तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः॥ ५
सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे॥ ६
धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः।
सद्योऽजायत तन्मन्युः[1] कुमारो नीललोहितः॥ ७
स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो॥ ८
इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन्।
अभ्यधाद् भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते॥ ९
यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः॥ १०
हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे[2]॥ ११
मन्युर्मनुर्[3]महिनसो महाञ्छिव ऋतध्वजः।
उग्ररेता[4] भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः॥ १२
धीर्वृत्तिरुशनोमा[5] च नियुत्सर्पिरिलाम्बिका।
इरावती सुधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः॥ १३
गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः।
एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः॥ १४

किन्तु इस अत्यन्त पापमयी सृष्टिको देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। तब उन्होंने अपने मनको भगवान्के ध्यानसे पवित्र कर उससे दूसरी सृष्टि रची॥ ३॥ इस बार ब्रह्माजीने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चार निवृत्तिपरायण ऊर्ध्वरेता मुनि उत्पन्न किये॥ ४॥ अपने इन पुत्रोंसे ब्रह्माजीने कहा, 'पुत्रो! तुमलोग सृष्टि उत्पन्न करो।' किंतु वे जन्मसे ही मोक्षमार्ग-(निवृत्तिमार्ग-) का अनुसरण करनेवाले और भगवान्के ध्यानमें तत्पर थे, इसलिये उन्होंने ऐसा करना नहीं चाहा॥ ५॥ जब ब्रह्माजीने देखा कि मेरी आज्ञा न मानकर ये मेरे पुत्र मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, तब उन्हें असह्य क्रोध हुआ। उन्होंने उसे रोकनेका प्रयत्न किया॥ ६॥ किंतु बुद्धि-द्वारा उनके बहुत रोकनेपर भी वह क्रोध तत्काल प्रजापतिकी भौंहोंके बीचमेंसे एक नीललोहित (नीले और लाल रंगके) बालकके रूपमें प्रकट हो गया॥ ७॥ वे देवताओंके पूर्वज भगवान् भव (रुद्र) रो-रोकर कहने लगे—'जगत्पिता! विधाता! मेरे नाम और रहनेके स्थान बतलाइये'॥ ८॥

तब कमलयोनि भगवान् ब्रह्माने उस बालककी प्रार्थना पूर्ण करनेके लिये मधुर वाणीमें कहा, 'रोओ मत, मैं अभी तुम्हारी इच्छा पूरी करता हूँ॥ ९॥ देवश्रेष्ठ! तुम जन्म लेते ही बालकके समान फूट-फूटकर रोने लगे, इसलिये प्रजा तुम्हें 'रुद्र' नामसे पुकारेगी॥ १०॥ तुम्हारे रहनेके लिये मैंने पहलेसे ही हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और तप—ये स्थान रच दिये हैं॥ ११॥ तुम्हारे नाम मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत होंगे॥ १२॥ तथा धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा—ये ग्यारह रुद्राणियाँ तुम्हारी पत्नियाँ होंगी॥ १३॥ तुम उपर्युक्त नाम, स्थान और स्त्रियोंको स्वीकार करो और इनके द्वारा बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करो; क्योंकि तुम प्रजापति हो'॥ १४॥

१. प्रा० पा०—तन्मन्योः। २. प्रा० पा०—ते। ३. प्रा० पा०—मनुर्महान्सोमो महान्। ४. प्रा० पा०—ऊर्ध्वरेता। ५. प्रा० पा०—धीवृत्तिरसरोमा च निजसर्पि०।

इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवान्नीललोहितः।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः॥ १५
रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत्।
निशाम्यासंख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत॥ १६
अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः॥ १७
तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम्।
तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान्॥ १८
तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान्॥ १९

मैत्रेय उवाच

एवमात्मभुवाऽऽदिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम्।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम्॥ २०
अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः॥ २१
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥ २२
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः॥ २३
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत्॥ २४
धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम्।
अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः॥ २५
हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात्।
आस्याद्वाक्सिन्धवो मेढ्रान्निर्ऋतिः पायोरघाश्रयः॥ २६

लोकपिता ब्रह्माजीसे ऐसी आज्ञा पाकर भगवान् नीललोहित बल, आकार और स्वभावमें अपने ही जैसी प्रजा उत्पन्न करने लगे॥ १५॥ भगवान् रुद्रके द्वारा उत्पन्न हुए उन रुद्रोंको असंख्य यूथ बनाकर सारे संसारको भक्षण करते देख ब्रह्माजीको बड़ी शंका हुई॥ १६॥ तब उन्होंने रुद्रसे कहा—'सुरश्रेष्ठ! तुम्हारी प्रजा तो अपनी भयंकर दृष्टिसे मुझे और सारी दिशाओंको भस्म किये डालती है; अतः ऐसी सृष्टि और न रचो॥ १७॥ तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम समस्त प्राणियोंको सुख देनेके लिये तप करो। फिर उस तपके प्रभावसे ही तुम पूर्ववत् इस संसारकी रचना करना॥ १८॥ पुरुष तपके द्वारा ही इन्द्रियातीत, सर्वान्तर्यामी, ज्योतिःस्वरूप श्रीहरिको सुगमतासे प्राप्त कर सकता है'॥ १९॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—जब ब्रह्माजीने ऐसी आज्ञा दी, तब रुद्रने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे शिरोधार्य किया और फिर उनकी अनुमति लेकर तथा उनकी परिक्रमा करके वे तपस्या करनेके लिये वनको चले गये॥ २०॥

इसके पश्चात् जब भगवान्‌की शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्माजीने सृष्टिके लिये संकल्प किया, तब उनके दस पुत्र और उत्पन्न हुए। उनसे लोककी बहुत वृद्धि हुई॥ २१॥ उनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और दसवें नारद थे॥ २२॥ इनमें नारदजी प्रजापति ब्रह्माजीकी गोदसे, दक्ष अँगूठेसे, वसिष्ठ प्राणसे, भृगु त्वचासे, क्रतु हाथसे, पुलह नाभिसे, पुलस्त्य ऋषि कानोंसे, अंगिरा मुखसे, अत्रि नेत्रोंसे और मरीचि मनसे उत्पन्न हुए॥ २३-२४॥ फिर उनके दायें स्तनसे धर्म उत्पन्न हुआ, जिसकी पत्नी मूर्तिसे स्वयं नारायण अवतीर्ण हुए तथा उनकी पीठसे अधर्मका जन्म हुआ और उससे संसारको भयभीत करनेवाला मृत्यु उत्पन्न हुआ॥ २५॥ इसी प्रकार ब्रह्माजीके हृदयसे काम, भौंहोंसे क्रोध, नीचेके होठसे लोभ, मुखसे वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती, लिंगसे समुद्र, गुदासे पापका निवासस्थान (राक्षसोंका अधिपति) निर्ऋति॥ २६॥

छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत्॥ २७

छायासे देवहूतिके पति भगवान् कर्दमजी उत्पन्न हुए। इस तरह यह सारा जगत् जगत्कर्ता ब्रह्माजीके शरीर और मनसे उत्पन्न हुआ॥ २७॥

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्॥ २८

तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन्॥ २९

नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः॥ ३०

तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते॥ ३१

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति॥ ३२

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः॥ ३३

विदुरजी! भगवान् ब्रह्माकी कन्या सरस्वती बड़ी ही सुकुमारी और मनोहर थी। हमने सुना है—एक बार उसे देखकर ब्रह्माजी काममोहित हो गये थे, यद्यपि वह स्वयं वासनाहीन थी॥ २८॥ उन्हें ऐसा अधर्ममय संकल्प करते देख, उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषियोंने उन्हें विश्वासपूर्वक समझाया—॥ २९॥ 'पिताजी! आप समर्थ हैं, फिर भी अपने मनमें उत्पन्न हुए कामके वेगको न रोककर पुत्रीगमन-जैसा दुस्तर पाप करनेका संकल्प कर रहे हैं! ऐसा तो आपसे पूर्ववर्ती किसी भी ब्रह्माने नहीं किया और न आगे ही कोई करेगा॥ ३०॥ जगद्गुरो! आप-जैसे तेजस्वी पुरुषोंको भी ऐसा काम शोभा नहीं देता; क्योंकि आपलोगोंके आचरणोंका अनुसरण करनेसे ही तो संसारका कल्याण होता है॥ ३१॥ जिन श्रीभगवान्ने अपने स्वरूपमें स्थित इस जगत्को अपने ही तेजसे प्रकट किया है, उन्हें नमस्कार है। इस समय वे ही धर्मकी रक्षा कर सकते हैं'॥ ३२॥ अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने सामने इस प्रकार कहते देख प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजी बड़े लज्जित हुए और उन्होंने उस शरीरको उसी समय छोड़ दिया। तब उस घोर शरीरको दिशाओंने ले लिया। वही कुहरा हुआ, जिसे अन्धकार भी कहते हैं॥ ३३॥

कदाचिद् ध्यायतः स्त्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात्।
कथं स्त्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा॥ ३४

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः॥ ३५

एक बार ब्रह्माजी यह सोच रहे थे कि 'मैं पहलेकी तरह सुव्यवस्थित रूपसे सब लोकोंकी रचना किस प्रकार करूँ?' इसी समय उनके चार मुखोंसे चार वेद प्रकट हुए॥ ३४॥ इनके सिवा उपवेद, न्यायशास्त्र, होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंके कर्म, यज्ञोंका विस्तार, धर्मके चार चरण और चारों आश्रम तथा उनकी वृत्तियाँ—ये सब भी ब्रह्माजीके मुखोंसे ही उत्पन्न हुए॥ ३५॥

विदुर उवाच

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत्।
यद् यद् येनासृजद् देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन॥ ३६

विदुरजीने पूछा—तपोधन! विश्वरचयिताओंके स्वामी श्रीब्रह्माजीने जब अपने मुखोंसे इन वेदादिको रचा, तो उन्होंने अपने किस मुखसे कौन वस्तु उत्पन्न की—यह आप कृपा करके मुझे बतलाइये॥ ३६॥

मैत्रेय उवाच

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात्॥ ३७
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः।
स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः॥ ३८
इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥ ३९
षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम्॥ ४०
विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।
आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः॥ ४१
सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा।
वार्तासञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे॥ ४२
वैखानसा वालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने।
न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ॥ ४३

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! ब्रह्माने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके मुखसे क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेदोंको रचा तथा इसी क्रमसे शस्त्र (होताका कर्म), इज्या (अध्वर्युका कर्म), स्तुतिस्तोम (उद्‌गाताका कर्म) और प्रायश्चित्त (ब्रह्माका कर्म)—इन चारोंकी रचना की॥ ३७॥ इसी प्रकार आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र), धनुर्वेद (शस्त्रविद्या), गान्धर्ववेद (संगीतशास्त्र) और स्थापत्यवेद (शिल्पविद्या)—इन चार उपवेदोंको भी क्रमशः उन पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न किया॥ ३८॥ फिर सर्वदर्शी भगवान् ब्रह्माने अपने चारों मुखोंसे इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद बनाया॥ ३९॥ इसी क्रमसे षोडशी और उक्थ, चयन और अग्निष्टोम, आप्तोर्याम और अतिरात्र तथा वाजपेय और गोसव—ये दो-दो याग भी उनके पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न हुए॥ ४०॥ विद्या, दान, तप और सत्य—ये धर्मके चार पाद और वृत्तियोंके सहित चार आश्रम भी इसी क्रमसे प्रकट हुए॥ ४१॥ सावित्र*, प्राजापत्य[१], ब्राह्म[२] और बृहत्[३]—ये चार वृत्तियाँ ब्रह्मचारीकी हैं तथा वार्ता[४], संचय[५], शालीन[६] और शिलोञ्छ[७]—ये चार वृत्तियाँ गृहस्थकी हैं॥ ४२॥ इसी प्रकार वृत्तिभेदसे वैखानस[८], वालखिल्य[९], औदुम्बर[१०] और फेनप[११]—ये चार भेद वानप्रस्थोंके तथा कुटीचक[१२], बहूदक[१३], हंस[१४] और निष्क्रिय (परमहंस[१५])—ये चार भेद संन्यासियोंके हैं॥ ४३॥

* उपनयन-संस्कारके पश्चात् गायत्रीका अध्ययन करनेके लिये धारण किया जानेवाला तीन दिनका ब्रह्मचर्यव्रत।

१. एक वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत। २. वेदाध्ययनकी समाप्तितक रहनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत। ३. आयुपर्यन्त रहनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत। ४. कृषि आदि शास्त्रविहित वृत्तियाँ। ५. यागादि कराना। ६. अयाचितवृत्ति। ७. खेत कट जानेपर पृथ्वीपर पड़े हुए तथा अनाजकी मंडीमें गिरे हुए दानोंको बीनकर निर्वाह करना। ८. बिना जोती-बोयी भूमिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे निर्वाह करनेवाले। ९. नवीन अन्न मिलनेपर पहला संचय करके रखा हुआ अन्न दान कर देनेवाले। १०. प्रातःकाल उठनेपर जिस दिशाकी ओर मुख हो उसी ओरसे फलादि लाकर निर्वाह करनेवाले। ११. अपने-आप झड़े हुए फलादि खाकर रहनेवाले। १२. कुटी बनाकर एक जगह रहने और आश्रमके धर्मोंका पूरा पालन करनेवाले। १३. कर्मकी ओर गौणदृष्टि रखकर ज्ञानको ही प्रधान माननेवाले। १४. ज्ञानाभ्यासी। १५. ज्ञानी जीवन्मुक्त।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च।
एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दह्रतः॥ ४४
तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः॥ ४५
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत्।
स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः॥ ४६
ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तःस्था बलमात्मनः।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः॥ ४७
शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः॥ ४८
ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे।
ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम्॥ ४९
ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव।
अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा॥ ५०
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम्।
एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा॥ ५१
कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत॥ ५२

इसी क्रमसे आन्वीक्षिकी[१], त्रयी[२], वार्ता[३] और दण्डनीति[४]—ये चार विद्याएँ तथा चार व्याहृतियाँ[५] भी ब्रह्माजीके चार मुखोंसे उत्पन्न हुईं तथा उनके हृदयाकाशसे ॐकार प्रकट हुआ॥ ४४॥ उनके रोमोंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री, मांससे त्रिष्टुप्, स्नायुसे अनुष्टुप्, अस्थियोंसे जगती, मज्जासे पंक्ति और प्राणोंसे बृहती छन्द उत्पन्न हुआ। ऐसे ही उनका जीव स्पर्शवर्ण (कवर्गादि पंचवर्ग) और देह स्वरवर्ण (अकारादि) कहलाया॥ ४५-४६ ॥ उनकी इन्द्रियोंको ऊष्मवर्ण (श ष स ह) और बलको अन्तःस्थ (य र ल व) कहते हैं, तथा उनकी क्रीडासे निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पंचम—ये सात स्वर हुए॥ ४७॥ हे तात! ब्रह्माजी शब्दब्रह्मस्वरूप हैं। वे वैखरीरूपसे व्यक्त और ओंकाररूपसे अव्यक्त हैं तथा उनसे परे जो सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्म है, वही अनेकों प्रकारकी शक्तियोंसे विकसित होकर इन्द्रादि रूपोंमें भास रहा है॥ ४८॥

विदुरजी! ब्रह्माजीने पहला कामासक्त शरीर जिससे कुहरा बना था—छोड़नेके बाद दूसरा शरीर धारण करके विश्वविस्तारका विचार किया; वे देख चुके थे कि मरीचि आदि महान् शक्तिशाली ऋषियोंसे भी सृष्टिका विस्तार अधिक नहीं हुआ, अतः वे मन-ही-मन पुनः चिन्ता करने लगे—'अहो! बड़ा आश्चर्य है, मेरे निरन्तर प्रयत्न करनेपर भी प्रजाकी वृद्धि नहीं हो रही है। मालूम होता है इसमें दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है।' जिस समय यथोचित क्रिया करनेवाले श्रीब्रह्माजी इस प्रकार दैवके विषयमें विचार कर रहे थे उसी समय अकस्मात् उनके शरीरके दो भाग हो गये। 'क' ब्रह्माजीका नाम है, उन्हींसे विभक्त होनेके कारण शरीरको 'काय' कहते हैं। उन दोनों विभागोंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ॥ ४९—५२॥

---

१. मोक्ष प्राप्त करनेवाली आत्मविद्या। २. स्वर्गादि फल देनेवाली कर्मविद्या। ३. खेती-व्यापारादि-सम्बन्धी विद्या। ४. राजनीति।

५. भूः, भुवः, स्वः—ये तीन और चौथी महःको मिलाकर, इस प्रकार चार व्याहृतियाँ आश्वलायनने अपने गृह्यसूत्रोंमें बतलायी हैं—'एवं व्याहृतयः प्रोक्ता व्यस्ताः समस्ताः।' अथवा भूः, भुवः, स्वः और महः—ये चार व्याहृतियाँ, जैसा कि श्रुति कहती है—'भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयस्तासामु ह स्मैतां चतुर्थीमाह। वाचमस्य प्रवेदयते महः इत्यादि।

यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट्।
स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः॥ ५३
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे।
स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत्॥ ५४
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम॥ ५५
आकूतिं रुचये प्रादात्कर्दमाय तु मध्यमाम्।
दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत्॥ ५६

उनमें जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट् स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी, वह उनकी महारानी शतरूपा हुईं॥ ५३॥ तबसे मिथुनधर्म (स्त्री-पुरुष-सम्भोग)-से प्रजाकी वृद्धि होने लगी। महाराज स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं॥ ५४॥ साधुशिरोमणि विदुरजी! उनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति—तीन कन्याएँ थीं॥ ५५॥ मनुजीने आकूतिका विवाह रुचि प्रजापतिसे किया, मझली कन्या देवहूति कर्दमजीको दी और प्रसूति दक्ष प्रजापतिको। इन तीनों कन्याओंकी सन्ततिसे सारा संसार भर गया॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

वाराह-अवतारकी कथा

श्रीशुक उवाच

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः॥ १

विदुर उवाच

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने॥ २
चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ॥ ३
श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।
यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥ ४

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम्।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट॥ ५

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन्! मुनिवर मैत्रेयजीके मुखसे यह परम पुण्यमयी कथा सुनकर श्रीविदुरजीने फिर पूछा; क्योंकि भगवान्‌की लीला-कथामें इनका अत्यन्त अनुराग हो गया था॥ १॥

विदुरजीने कहा—मुने! स्वयम्भू ब्रह्माजीके प्रिय पुत्र महाराज स्वायम्भुव मनुने अपनी प्रिय पत्नी शतरूपाको पाकर फिर क्या किया?॥ २॥ आप साधुशिरोमणि हैं। आप मुझे आदिराज राजर्षि स्वायम्भुव मनुका पवित्र चरित्र सुनाइये। वे श्रीविष्णुभगवान्‌के शरणापन्न थे, इसलिये उनका चरित्र सुननेमें मेरी बहुत श्रद्धा है॥ ३॥ जिनके हृदयमें श्रीमुकुन्दके चरणारविन्द विराजमान हैं, उन भक्तजनोंके गुणोंको श्रवण करना ही मनुष्योंके बहुत दिनोंतक किये हुए शास्त्राभ्यासके श्रमका मुख्य फल है, ऐसा विद्वानोंका श्रेष्ठ मत है॥ ४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! विदुरजी सहस्रशीर्षा भगवान् श्रीहरिके चरणाश्रित भक्त थे। उन्होंने जब विनयपूर्वक भगवान्‌की कथाके लिये प्रेरणा की, तब मुनिवर मैत्रेयका रोम-रोम खिल उठा। उन्होंने कहा॥ ५॥

मैत्रेय उवाच

यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायम्भुवो मनुः।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत॥ ६
त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद् वृत्तिदः पिता।
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत्॥ ७
तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु।
यत्कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः॥ ८

ब्रह्मोवाच

प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम्॥ ९
एतावत्यात्मजैर्वीर कार्या ह्यपचितिर्गुरौ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः॥ १०
स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज॥ ११
परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति॥ १२
येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम्॥ १३

मनुरुवाच

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन।
स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो॥ १४
यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम्॥ १५

मैत्रेय उवाच

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम्।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम्॥ १६

श्रीमैत्रेयजी बोले—जब अपनी भार्या शतरूपाके साथ स्वायम्भुव मनुका जन्म हुआ, तब उन्होंने बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर श्रीब्रह्माजीसे कहा—॥ ६॥ 'भगवन्! एकमात्र आप ही समस्त जीवोंके जन्मदाता और जीविका प्रदान करनेवाले पिता हैं। तथापि हम आपकी सन्तान ऐसा कौन-सा कर्म करें, जिससे आपकी सेवा बन सके?॥ ७॥ पूज्यपाद! हम आपको नमस्कार करते हैं। आप हमसे हो सकने योग्य किसी ऐसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दीजिये, जिससे इस लोकमें हमारी सर्वत्र कीर्ति हो और परलोकमें सद्गति प्राप्त हो सके'॥ ८॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—तात! पृथ्वीपते! तुम दोनोंका कल्याण हो। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि तुमने निष्कपटभावसे 'मुझे आज्ञा दीजिये' यों कहकर मुझे आत्मसमर्पण किया है॥ ९॥ वीर! पुत्रोंको अपने पिताकी इसी रूपमें पूजा करनी चाहिये। उन्हें उचित है कि दूसरोंके प्रति ईर्ष्याका भाव न रखकर जहाँतक बने, उनकी आज्ञाका आदरपूर्वक सावधानीसे पालन करें॥ १०॥ तुम अपनी इस भार्यासे अपने ही समान गुणवती सन्तति उत्पन्न करके धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करो और यज्ञोंद्वारा श्रीहरिकी आराधना करो॥ ११॥ राजन्! प्रजापालनसे मेरी बड़ी सेवा होगी और तुम्हें प्रजाका पालन करते देखकर भगवान् श्रीहरि भी तुमसे प्रसन्न होंगे। जिनपर यज्ञमूर्ति जनार्दन भगवान् प्रसन्न नहीं होते, उनका सारा श्रम व्यर्थ ही होता है; क्योंकि वे तो एक प्रकारसे अपने आत्माका ही अनादर करते हैं॥ १२-१३॥

मनुजीने कहा—पापका नाश करनेवाले पिताजी! मैं आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करूँगा; किन्तु आप इस जगत्में मेरे और मेरी भावी प्रजाके रहनेके लिये स्थान बतलाइये॥ १४॥ देव! सब जीवोंका निवासस्थान पृथ्वी इस समय प्रलयके जलमें डूबी हुई है। आप इस देवीके उद्धारका प्रयत्न कीजिये॥ १५॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—पृथ्वीको इस प्रकार अथाह जलमें डूबी देखकर ब्रह्माजी बहुत देरतक मनमें यह सोचते रहे कि 'इसे कैसे निकालूँ॥ १६॥

सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता।
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे॥ १७
इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः॥ १८
तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत्॥ १९
मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा॥ २०
किमेतत्सौकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम्।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम्॥ २१
दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः॥ २२
इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः॥ २३
ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान्।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः॥ २४
निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयसूकरस्य।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते
त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन् स्म॥ २५
तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम्।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश॥ २६

जिस समय मैं लोकरचनामें लगा हुआ था, उस समय पृथ्वी जलमें डूब जानेसे रसातलको चली गयी। हमलोग सृष्टिकार्यमें नियुक्त हैं, अतः इसके लिये हमें क्या करना चाहिये? अब तो, जिनके संकल्पमात्रसे मेरा जन्म हुआ है, वे सर्वशक्तिमान् श्रीहरि ही मेरा यह काम पूरा करें'॥ १७॥

निष्पाप विदुरजी! ब्रह्माजी इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उनके नासाछिद्रसे अकस्मात् अँगूठेके बराबर आकारका एक वराह-शिशु निकला॥ १८॥ भारत! बड़े आश्चर्यकी बात तो यही हुई कि आकाशमें खड़ा हुआ वह वराह-शिशु ब्रह्माजीके देखते-ही-देखते बड़ा होकर क्षणभरमें हाथीके बराबर हो गया॥ १९॥ उस विशाल वराह-मूर्तिको देखकर मरीचि आदि मुनिजन, सनकादि और स्वायम्भुव मनुके सहित श्रीब्रह्माजी तरह-तरहके विचार करने लगे— ॥ २०॥ अहो! सूकरके रूपमें आज यह कौन दिव्य प्राणी यहाँ प्रकट हुआ है? कैसा आश्चर्य है! यह अभी-अभी मेरी नाकसे निकला था॥ २१॥ पहले तो यह अँगूठेके पोरुएके बराबर दिखायी देता था, किन्तु एक क्षणमें ही बड़ी भारी शिलाके समान हो गया। अवश्य ही यज्ञमूर्ति भगवान् हमलोगोंके मनको मोहित कर रहे हैं॥ २२॥ ब्रह्माजी और उनके पुत्र इस प्रकार सोच ही रहे थे कि भगवान् यज्ञपुरुष पर्वताकार होकर गरजने लगे॥ २३॥ सर्वशक्तिमान् श्रीहरिने अपनी गर्जनासे दिशाओंको प्रतिध्वनित करके ब्रह्मा और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको हर्षसे भर दिया॥ २४॥ अपना खेद दूर करनेवाली मायामय वराहभगवान्की घुरघुराहटको सुनकर वे जनलोक, तपलोक और सत्यलोकनिवासी मुनिगण तीनों वेदोंके परम पवित्र मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे॥ २५॥ भगवान्के स्वरूपका वेदोंमें विस्तारसे वर्णन किया गया है; अतः उन मुनीश्वरोंने जो स्तुति की, उसे वेदरूप मानकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और एक बार फिर गरजकर देवताओंके हितके लिये गजराजकी-सी लीला करते हुए जलमें घुस गये॥ २६॥

उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक्।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा-
ज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः॥ २७
घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत्कम्॥ २८
स वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान्।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-
श्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति॥ २९
खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाऽऽप
उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम्।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त॥ ३०
स्वद्रंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः।
तत्रापि दैत्यं गदयाऽऽपतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥ ३१
जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं
स लीलयेभं मृगराडिवाम्भसि।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन्॥ ३२

पहले वे सूकररूप भगवान् पूँछ उठाकर बड़े वेगसे आकाशमें उछले और अपनी गर्दनके बालोंको फटकारकर खुरोंके आघातसे बादलोंको छितराने लगे। उनका शरीर बड़ा कठोर था, त्वचापर कड़े-कड़े बाल थे, दाढ़ें सफेद थीं और नेत्रोंसे तेज निकल रहा था, उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ २७॥ भगवान् स्वयं यज्ञपुरुष हैं तथापि सूकररूप धारण करनेके कारण अपनी नाकसे सूँघ-सूँघकर पृथ्वीका पता लगा रहे थे। उनकी दाढ़ें बड़ी कठोर थीं। इस प्रकार यद्यपि वे बड़े क्रूर जान पड़ते थे, तथापि अपनी स्तुति करनेवाले मरीचि आदि मुनियोंकी ओर बड़ी सौम्य दृष्टिसे निहारते हुए उन्होंने जलमें प्रवेश किया॥ २८॥ जिस समय उनका वज्रमय पर्वतके समान कठोर कलेवर जलमें गिरा, तब उसके वेगसे मानो समुद्रका पेट फट गया और उसमें बादलोंकी गड़गड़ाहटके समान बड़ा भीषण शब्द हुआ। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो अपनी उत्ताल तरंगरूप भुजाओंको उठाकर वह बड़े आर्तस्वरसे 'हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा करो।' इस प्रकार पुकार रहा है॥ २९॥ तब भगवान् यज्ञमूर्ति अपने बाणके समान पैने खुरोंसे जलको चीरते हुए उस अपार जलराशिके उस पार पहुँचे। वहाँ रसातलमें उन्होंने समस्त जीवोंकी आश्रयभूता पृथ्वीको देखा, जिसे कल्पान्तमें शयन करनेके लिये उद्यत श्रीहरिने स्वयं अपने ही उदरमें लीन कर लिया था॥ ३०॥

फिर वे जलमें डूबी हुई पृथ्वीको अपनी दाढ़ोंपर लेकर रसातलसे ऊपर आये। उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। जलसे बाहर आते समय उनके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये महापराक्रमी हिरण्याक्षने जलके भीतर ही उनपर गदासे आक्रमण किया। इससे उनका क्रोध चक्रके समान तीक्ष्ण हो गया और उन्होंने उसे लीलासे ही इस प्रकार मार डाला, जैसे सिंह हाथीको मार डालता है। उस समय उसके रक्तसे थूथनी तथा कनपटी सन जानेके कारण वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कोई गजराज लाल मिट्टीके टीलेमें टक्कर मारकर आया हो॥ ३१-३२॥

तमालनीलं सितदन्तकोट्या
क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग।
प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-
र्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम्॥ ३३

तात! जैसे गजराज अपने दाँतोंपर कमल-पुष्प धारण कर ले, उसी प्रकार अपने सफेद दाँतोंकी नोकपर पृथ्वीको धारण कर जलसे बाहर निकले हुए, तमालके समान नीलवर्ण वराहभगवान्‌को देखकर ब्रह्मा, मरीचि आदिको निश्चय हो गया कि ये भगवान् ही हैं। तब वे हाथ जोड़कर वेदवाक्योंसे उनकी स्तुति करने लगे॥ ३३॥

ऋषय ऊचुः

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु[1] निलिल्युरध्वरा-
स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते॥ ३४
रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां
दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम्।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-
स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम्॥ ३५
स्रुक्तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नासयो-
रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे।
प्राशित्रमास्ये[2] ग्रसने ग्रहास्तु ते
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम्॥ ३६
दीक्षानुजन्मोपसदः[3] शिरोधरं
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव[4] शीर्षकं क्रतोः
सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो[5] हि ते॥ ३७
सोमस्तु[6] रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः।

ऋषियोंने कहा—भगवान् अजित्! आपकी जय हो, जय हो। यज्ञपते! आप अपने वेदत्रयीरूप विग्रहको फटकार रहे हैं; आपको नमस्कार है। आपके रोम-कूपोंमें सम्पूर्ण यज्ञ लीन हैं। आपने पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये ही यह सूकररूप धारण किया है; आपको नमस्कार है॥ ३४॥ देव! दुराचारियोंको आपके इस शरीरका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि यह यज्ञरूप है। इसकी त्वचामें गायत्री आदि छन्द, रोमावलीमें कुश, नेत्रोंमें घृत तथा चारों चरणोंमें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—इन चारों ऋत्विजोंके कर्म हैं॥ ३५॥ ईश! आपकी थूथनी (मुखके अग्रभाग)-में स्रुक् है, नासिका-छिद्रोंमें स्रुवा है, उदरमें इडा (यज्ञीय भक्षणपात्र) है, कानोंमें चमस है, मुखमें प्राशित्र (ब्रह्मभागपात्र) है और कण्ठछिद्रमें ग्रह (सोमपात्र) है। भगवन्! आपका जो चबाना है, वही अग्निहोत्र है॥ ३६॥ बार-बार अवतार लेना यज्ञस्वरूप आपकी दीक्षणीय इष्टि है, गरदन उपसद (तीन इष्टियाँ) हैं; दोनों दाढ़ें प्रायणीय (दीक्षाके बादकी इष्टि) और उदयनीय (यज्ञसमाप्तिकी इष्टि) हैं; जिह्वा प्रवर्ग्य (प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जानेवाला महावीर नामक कर्म) है, सिर सभ्य (होमरहित अग्नि) और आवसथ्य (औपासनाग्नि) हैं तथा प्राण चिति (इष्टकाचयन) हैं॥ ३७॥ देव! आपका वीर्य सोम है; आसन (बैठना) प्रातःसवनादि तीन सवन हैं; सातों धातु अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम

१. प्रा० पा०—मकूपेषु। २. प्रा० पा०—प्रोशित्र०। ३. प्रा० पा०—भुजज्योप०। ४. प्रा० पा०—प्रवस्यास्तव। ५. प्रा० पा०—अवरं ते। ६. प्रा० पा०—सोमश्च।

सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धि-
स्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः॥ ३८
नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः॥ ३९
द्रंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
विराजते भूधर भूः सभूधरा।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी॥ ४०
त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः॥ ४१
संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया
यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः॥ ४२
कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो
रसां गताया भुव उद्विबर्हणम्।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम्॥ ४३
विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम्।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः॥ ४४
स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैष ते
यः कर्मणां पारमपारकर्मणः।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं
विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम्॥ ४५

नामकी सात संस्थाएँ हैं तथा शरीरकी सन्धियाँ (जोड़) सम्पूर्ण सत्र हैं। इस प्रकार आप सम्पूर्ण यज्ञ (सोमरहित याग) और क्रतु (सोमसहित याग) रूप हैं। यज्ञानुष्ठानरूप इष्टियाँ आपके अंगोंको मिलाये रखनेवाली मांसपेशियाँ हैं॥ ३८॥ समस्त मन्त्र, देवता, द्रव्य, यज्ञ और कर्म आपके ही स्वरूप हैं; आपको नमस्कार है। वैराग्य, भक्ति और मनकी एकाग्रतासे जिस ज्ञानका अनुभव होता है, वह आपका स्वरूप ही है तथा आप ही सबके विद्यागुरु हैं; आपको पुनः-पुनः प्रणाम है॥ ३९॥ पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवन्! आपकी दाढ़ोंकी नोकपर रखी हुई यह पर्वतादि-मण्डित पृथ्वी ऐसी सुशोभित हो रही है, जैसे वनमेंसे निकलकर बाहर आये हुए किसी गजराजके दाँतोंपर पत्रयुक्त कमलिनी रखी हो॥ ४०॥ आपके दाँतोंपर रखे हुए भूमण्डलके सहित आपका यह वेदमय वराहविग्रह ऐसा सुशोभित हो रहा है, जैसे शिखरोंपर छायी हुई मेघमालासे कुलपर्वतकी शोभा होती है॥ ४१॥ नाथ! चराचर जीवोंके सुखपूर्वक रहनेके लिये आप अपनी पत्नी इन जगन्माता पृथ्वीको जलपर स्थापित कीजिये। आप जगत्‌के पिता हैं और अरणिमें अग्निस्थापनके समान आपने इसमें धारण शक्तिरूप अपना तेज स्थापित किया है। हम आपको और इस पृथ्वीमाताको प्रणाम करते हैं॥ ४२॥ प्रभो! रसातलमें डूबी हुई इस पृथ्वीको निकालनेका साहस आपके सिवा और कौन कर सकता था। किंतु आप तो सम्पूर्ण आश्चर्योंके आश्रय हैं, आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपने ही तो अपनी मायासे इस अत्याश्चर्यमय विश्वकी रचना की है॥ ४३॥ जब आप अपने वेदमय विग्रहको हिलाते हैं, तब हमारे ऊपर आपकी गरदनके बालोंसे झरती हुई शीतल जलकी बूँदें गिरती हैं। ईश! उनसे भीगकर हम जनलोक, तपलोक और सत्यलोकमें रहनेवाले मुनिजन सर्वथा पवित्र हो जाते हैं॥ ४४॥ जो पुरुष आपके कर्मोंका पार पाना चाहता है, अवश्य ही उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है; क्योंकि आपके कर्मोंका कोई पार ही नहीं है। आपकी ही योगमायाके सत्त्वादि गुणोंसे यह सारा जगत् मोहित हो रहा है। भगवन्! आप इसका कल्याण कीजिये॥ ४५॥

मैत्रेय उवाच

इत्युपस्थीयमानस्तैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः।
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम्॥ ४६

स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः।
रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः॥ ४७

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति॥ ४८

तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम्॥ ४९

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम्॥ ५०

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! उन ब्रह्मवादी मुनियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर सबकी रक्षा करनेवाले वराहभगवान्‌ने अपने खुरोंसे जलको स्तम्भित-कर उसपर पृथ्वीको स्थापित कर दिया॥ ४६॥ इस प्रकार रसातलसे लीलापूर्वक लायी हुई पृथ्वीको जलपर रखकर वे विष्वक्सेन प्रजापति भगवान् श्रीहरि अन्तर्धान हो गये॥ ४७॥

विदुरजी! भगवान्‌के लीलामय चरित्र अत्यन्त कीर्तनीय हैं और उनमें लगी हुई बुद्धि सब प्रकारके पाप-तापोंको दूर कर देती है। जो पुरुष उनकी इस मंगलमयी मंजुल कथाको भक्तिभावसे सुनता या सुनाता है, उसके प्रति भक्तवत्सल भगवान् अन्तस्तलसे बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं॥ ४८॥ भगवान् तो सभी कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं, उनके प्रसन्न होनेपर संसारमें क्या दुर्लभ है। किन्तु उन तुच्छ कामनाओंकी आवश्यकता ही क्या है? जो लोग उनका अनन्यभावसे भजन करते हैं, उन्हें तो वे अन्तर्यामी परमात्मा स्वयं अपना परम पद ही दे देते हैं॥ ४९॥ अरे! संसारमें पशुओंको छोड़कर अपने पुरुषार्थका सार जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आवागमनसे छुड़ा देनेवाली भगवान्‌की प्राचीन कथाओंमेंसे किसी भी अमृतमयी कथाका अपने कर्णपुटोंसे एक बार पान करके फिर उनकी ओरसे मन हटा लेगा॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धे वराहप्रादुर्भावानुवर्णने
त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

दितिका गर्भधारण

श्रीशुक उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितां
हरेः कथां कारणसूकरात्मनः।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! प्रयोजनवश सूकर बने श्रीहरिकी कथाको मैत्रेयजीके मुखसे सुनकर भी भक्तिव्रतधारी विदुरजीकी पूर्ण तृप्ति न हुई; अतः उन्होंने हाथ जोड़कर फिर पूछा॥ १॥

विदुर उवाच

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम॥ २
तस्य चोद्धरतः क्षोणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् कस्माद्धेतोरभून्मृधः॥ ३

मैत्रेय उवाच

साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम्॥ ४
ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम्॥ ५
अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम्॥ ६
दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम्।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता॥ ७
इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम्।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम्॥ ८

दितिरुवाच

एष मां त्वत्कृते विद्वन् काम आत्तशरासनः।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः॥ ९
तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम्॥ १०
भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते॥ ११
पुरा पिता नो भगवान्दक्षो दुहितृवत्सलः।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक्॥ १२

विदुरजीने कहा—मुनिवर! हमने यह बात आपके मुखसे अभी सुनी है कि आदिदैत्य हिरण्याक्षको भगवान् यज्ञमूर्तिने ही मारा था॥ २॥

ब्रह्मन्! जिस समय भगवान् लीलासे ही अपनी दाढ़ोंपर रखकर पृथ्वीको जलमेंसे निकाल रहे थे, उस समय उनसे दैत्यराज हिरण्याक्षकी मुठभेड़ किस कारण हुई?॥ ३॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है; क्योंकि तुम श्रीहरिकी अवतारकथाके विषयमें ही पूछ रहे हो, जो मनुष्योंके मृत्युपाशका छेदन करनेवाली है॥ ४॥ देखो, उत्तानपादका पुत्र ध्रुव बालकपनमें श्रीनारदजीकी सुनायी हुई हरिकथाके प्रभावसे ही मृत्युके सिरपर पैर रखकर भगवान्के परमपदपर आरूढ़ हो गया था॥ ५॥ पूर्वकालमें एक बार इसी वाराहभगवान् और हिरण्याक्षके युद्धके विषयमें देवताओंके प्रश्न करनेपर देवदेव श्रीब्रह्माजीने उन्हें यह इतिहास सुनाया था और उसीके परम्परासे मैंने सुना है॥ ६॥ विदुरजी! एक बार दक्षकी पुत्री दितिने पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे कामातुर होकर सायंकालके समय ही अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपजीसे प्रार्थना की॥ ७॥ उस समय कश्यपजी खीरकी आहुतियोंद्वारा अग्निजिह्व भगवान् यज्ञपतिकी आराधना कर सूर्यास्तका समय जान अग्निशालामें ध्यानस्थ होकर बैठे थे॥ ८॥

दितिने कहा—विद्वन्! मतवाला हाथी जैसे केलेके वृक्षको मसल डालता है, उसी प्रकार यह प्रसिद्ध धनुर्धर कामदेव मुझ अबलापर जोर जताकर आपके लिये मुझे बेचैन कर रहा है॥ ९॥ अपनी पुत्रवती सौतोंकी सुख-समृद्धिको देखकर मैं ईर्ष्याकी आगसे जली जाती हूँ। अतः आप मुझपर कृपा कीजिये, आपका कल्याण हो॥ १०॥ जिनके गर्भसे आप-जैसा पति पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, वे ही स्त्रियाँ अपने पतियोंसे सम्मानिता समझी जाती हैं। उनका सुयश संसारमें सर्वत्र फैल जाता है॥ ११॥ हमारे पिता प्रजापति दक्षका अपनी पुत्रियोंपर बड़ा स्नेह था। एक बार उन्होंने हम सबको अलग-अलग बुलाकर पूछा कि 'तुम किसे अपना पति बनाना चाहती हो?'॥ १२॥

स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं सन्तानभावनः।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः॥ १३

अथ मे कुरु कल्याण कामं कञ्जविलोचन।
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि॥ १४

इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम्।
प्रत्याहानुनयन् वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम्॥ १५

एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः॥ १६

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान्।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथार्णवम्॥ १७

यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः॥ १८

यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा॥ १९

न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि।
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः॥ २०

अथापि काममेतं ते प्रजात्यै करवाण्यलम्।
यथा मां नातिवोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय॥ २१

एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह॥ २२

वे अपनी सन्तानकी सब प्रकारकी चिन्ता रखते थे। अतः हमारा भाव जानकर उन्होंने उनमेंसे हम तेरह पुत्रियोंको, जो आपके गुण-स्वभावके अनुरूप थीं, आपके साथ ब्याह दिया॥ १३॥ अतः मंगलमूर्ते! कमलनयन! आप मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये; क्योंकि हे महत्तम! आप-जैसे महापुरुषोंके पास दीनजनोंका आना निष्फल नहीं होता॥ १४॥

विदुरजी! दिति कामदेवके वेगसे अत्यन्त बेचैन और बेबस हो रही थी। उसने इसी प्रकार बहुत-सी बातें बनाते हुए दीन होकर कश्यपजीसे प्रार्थना की, तब उन्होंने उसे सुमधुर वाणीसे समझाते हुए कहा॥ १५॥ 'भीरु! तुम्हारी इच्छाके अनुसार मैं अभी-अभी तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा। भला, जिसके द्वारा अर्थ, धर्म और काम—तीनोंकी सिद्धि होती है, अपनी ऐसी पत्नीकी कामना कौन पूर्ण नहीं करेगा?॥ १६॥ जिस प्रकार जहाजपर चढ़कर मनुष्य महासागरको पार कर लेता है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी दूसरे आश्रमोंको आश्रय देता हुआ अपने आश्रमद्वारा स्वयं भी दुःखसमुद्रके पार हो जाता है॥ १७॥ मानिनि! स्त्रीको तो त्रिविध पुरुषार्थकी कामनावाले पुरुषका आधा अंग कहा गया है। उसपर अपनी गृहस्थीका भार डालकर पुरुष निश्चिन्त होकर विचरता है॥ १८॥ इन्द्रियरूप शत्रु अन्य आश्रमवालोंके लिये अत्यन्त दुर्जय हैं; किन्तु जिस प्रकार किलेका स्वामी सुगमतासे ही लूटनेवाले शत्रुओंको अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार हम अपनी विवाहिता पत्नीका आश्रय लेकर इन इन्द्रियरूप शत्रुओंको सहजमें ही जीत लेते हैं॥ १९॥ गृहेश्वरि! तुम-जैसी भार्याके उपकारोंका बदला तो हम अथवा और कोई भी गुणग्राही पुरुष अपनी सारी उम्रमें अथवा जन्मान्तरमें भी पूर्णरूपसे नहीं चुका सकते॥ २०॥ तो भी तुम्हारी इस सन्तान-प्राप्तिकी इच्छाको मैं यथाशक्ति अवश्य पूर्ण करूँगा। परन्तु अभी तुम एक मुहूर्त ठहरो, जिससे लोग मेरी निन्दा न करें॥ २१॥ यह अत्यन्त घोर समय राक्षसादि घोर जीवोंका है और देखनेमें भी बड़ा भयानक है। इसमें भगवान् भूतनाथके गण भूत-प्रेतादि घूमा करते हैं॥ २२॥

एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः।
परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट्॥ २३
श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र-
विकीर्णविद्योतजटाकलापः ।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते॥ २४
न यस्य लोके स्वजनः परो वा
नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम्॥ २५
यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम्॥ २६
हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम्।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम्॥ २७
ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
यत्कारणं विश्वमिदं च माया।
आज्ञाकरी तस्य पिशाचचर्या
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥ २८

मैत्रेय उवाच

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा॥ २९
स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह॥ ३०
अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः।
ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्॥ ३१

साध्वि! इस सन्ध्याकालमें भूतभावन भूतपति भगवान् शंकर अपने गण भूत-प्रेतादिको साथ लिये बैलपर चढ़कर विचरा करते हैं॥ २३॥ जिनका जटाजूट श्मशानभूमिसे उठे हुए बवंडरकी धूलिसे धूसरित होकर देदीप्यमान हो रहा है तथा जिनके सुवर्ण-कान्तिमय गौर शरीरमें भस्म लगी हुई है, वे तुम्हारे देवर (श्वशुर) महादेवजी अपने सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूप तीन नेत्रोंसे सभीको देखते रहते हैं॥ २४॥ संसारमें उनका कोई अपना या पराया नहीं है। न कोई अधिक आदरणीय और न निन्दनीय ही है। हमलोग तो अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन करके उनकी मायाको ही ग्रहण करना चाहते हैं, जिसे उन्होंने भोगकर लात मार दी है॥ २५॥ विवेकी पुरुष अविद्याके आवरणको हटानेकी इच्छासे उनके निर्मल चरित्रका गान किया करते हैं; उनसे बढ़कर तो क्या, उनके समान भी कोई नहीं है और उनतक केवल सत्पुरुषोंकी ही पहुँच है। यह सब होनेपर भी वे स्वयं पिशाचोंका-सा आचरण करते हैं॥ २६॥ यह नरशरीर कुत्तोंका भोजन है; जो अविवेकी पुरुष आत्मा मानकर वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दनादिसे इसीको सजाते-सँवारते रहते हैं—वे अभागे ही आत्माराम भगवान् शंकरके आचरणपर हँसते हैं॥ २७॥ हमलोग तो क्या, ब्रह्मादि लोकपाल भी उन्हींकी बाँधी हुई धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं; वे ही इस विश्वके अधिष्ठान हैं तथा यह माया भी उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाली है। ऐसे होकर भी वे प्रेतोंका-सा आचरण करते हैं। अहो! उन जगद्व्यापक प्रभुकी यह अद्भुत लीला कुछ समझमें नहीं आती'॥ २८॥

मैत्रेयजी कहते हैं—पतिके इस प्रकार समझानेपर भी कामातुरा दितिने वेश्याके समान निर्लज्ज होकर ब्रह्मर्षि कश्यपजीका वस्त्र पकड़ लिया॥ २९॥ तब कश्यपजीने उस निन्दित कर्ममें अपनी भार्याका बहुत आग्रह देख दैवको नमस्कार किया और एकान्तमें उसके साथ समागम किया॥ ३०॥ फिर जलमें स्नानकर प्राण और वाणीका संयम करके विशुद्ध ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्मका ध्यान करते हुए उसीका जप करने लगे॥ ३१॥

दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत।
उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत॥ ३२

दितिरुवाच

मा मे गर्भमिमं ब्रह्मन् भूतानामृषभो वधीत्।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम्॥ ३३
नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे॥ ३४
स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः॥ ३५

मैत्रेय उवाच

स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम्।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः॥ ३६

कश्यप उवाच

अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चातिहेलनात्॥ ३७
भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ।
लोकान् सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः॥ ३८
प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम्।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु॥ ३९
तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक्॥ ४०

दितिरुवाच

वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणाद्विभो॥ ४१
न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः॥ ४२

विदुरजी! दितिको भी उस निन्दित कर्मके कारण बड़ी लज्जा आयी और वह ब्रह्मर्षिके पास जा, सिर नीचा करके इस प्रकार कहने लगी॥ ३२॥

दिति बोलीं—ब्रह्मन्! भगवान् रुद्र भूतोंके स्वामी हैं, मैंने उनका अपराध किया है; किन्तु वे भूतश्रेष्ठ मेरे इस गर्भको नष्ट न करें॥ ३३॥ मैं भक्तवाञ्छाकल्पतरु, उग्र एवं रुद्ररूप महादेवको नमस्कार करती हूँ। वे सत्पुरुषोंके लिये कल्याणकारी एवं दण्ड देनेके भावसे रहित हैं, किन्तु दुष्टोंके लिये क्रोधमूर्ति दण्डपाणि हैं॥ ३४॥ हम स्त्रियोंपर तो व्याध भी दया करते हैं, फिर वे सतीपति तो मेरे बहनोई और परम कृपालु हैं; अतः वे मुझपर प्रसन्न हों॥ ३५॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! प्रजापति कश्यपने सायंकालीन सन्ध्या-वन्दनादि कर्मसे निवृत्त होनेपर देखा कि दिति थर-थर काँपती हुई अपनी सन्तानकी लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके लिये प्रार्थना कर रही है। तब उन्होंने उससे कहा॥ ३६॥

कश्यपजीने कहा—तुम्हारा चित्त कामवासनासे मलिन था, वह समय भी ठीक नहीं था और तुमने मेरी बात भी नहीं मानी तथा देवताओंकी भी अवहेलना की॥ ३७॥ अमंगलमयी चण्डी! तुम्हारी कोखसे दो बड़े ही अमंगलमय और अधम पुत्र उत्पन्न होंगे। वे बार-बार सम्पूर्ण लोक और लोकपालोंको अपने अत्याचारोंसे रुलायेंगे॥ ३८॥ जब उनके हाथसे बहुत-से निरपराध और दीन प्राणी मारे जाने लगेंगे, स्त्रियोंपर अत्याचार होने लगेंगे और महात्माओंको क्षुब्ध किया जाने लगेगा, उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाले श्रीजगदीश्वर कुपित होकर अवतार लेंगे और इन्द्र जैसे पर्वतोंका दमन करता है, उसी प्रकार उनका वध करेंगे॥ ३९-४०॥

दितिने कहा—प्रभो! यही मैं भी चाहती हूँ कि यदि मेरे पुत्रोंका वध हो तो वह साक्षात् भगवान् चक्रपाणिके हाथसे ही हो, कुपित ब्राह्मणोंके शापादिसे न हो॥ ४१॥ जो जीव ब्राह्मणोंके शापसे दग्ध अथवा प्राणियोंको भय देनेवाला होता है, वह किसी भी योनिमें जाय—उसपर नारकी जीव भी दया नहीं करते॥ ४२॥

कश्यप उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात्।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात्॥ ४३
पुत्रस्यैव तु पुत्राणां भवितैकः सतां मतः।
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम्॥ ४४
योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम्॥ ४५
यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम्।
स स्वदृग्भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा॥ ४६
स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति॥ ४७
अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः॥ ४८
अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम्।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम्॥ ४९

मैत्रेय उवाच

श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत दितिर्भृशम्।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वाऽऽसीन्महामनाः॥ ५०

कश्यपजीने कहा—देवि! तुमने अपने कियेपर शोक और पश्चात्ताप प्रकट किया है, तुम्हें शीघ्र ही उचित-अनुचितका विचार भी हो गया तथा भगवान् विष्णु, शिव और मेरे प्रति भी तुम्हारा बहुत आदर जान पड़ता है; इसलिये तुम्हारे एक पुत्रके चार पुत्रोंमेंसे एक ऐसा होगा, जिसका सत्पुरुष भी मान करेंगे और जिसके पवित्र यशको भक्तजन भगवान्के गुणोंके साथ गायेंगे॥ ४३-४४॥ जिस प्रकार खोटे सोनेको बार-बार तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार साधुजन उसके स्वभावका अनुकरण करनेके लिये निर्वैरता आदि उपायोंसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करेंगे॥ ४५॥ जिनकी कृपासे उन्हींका स्वरूपभूत यह जगत् आनन्दित होता है, वे स्वयंप्रकाश भगवान् भी उसकी अनन्यभक्तिसे सन्तुष्ट हो जायँगे॥ ४६॥ दिति! वह बालक बड़ा ही भगवद्भक्त, उदारहृदय, प्रभावशाली और महान् पुरुषोंका भी पूज्य होगा तथा प्रौढ़ भक्तिभावसे विशुद्ध और भावान्वित हुए अन्तःकरणमें श्रीभगवान्को स्थापित करके देहाभिमानको त्याग देगा॥ ४७॥ वह विषयोंमें अनासक्त, शीलवान्, गुणोंका भंडार तथा दूसरोंकी समृद्धिमें सुख और दुःखमें दुःख माननेवाला होगा। उसका कोई शत्रु न होगा तथा चन्द्रमा जैसे ग्रीष्म ऋतुके तापको हर लेता है, वैसे ही वह संसारके शोकको शान्त करनेवाला होगा॥ ४८॥ जो इस संसारके बाहर-भीतर सब ओर विराजमान हैं, अपने भक्तोंके इच्छानुसार समय-समयपर मंगलविग्रह प्रकट करते हैं और लक्ष्मीरूप लावण्यमूर्ति ललनाकी भी शोभा बढ़ानेवाले हैं तथा जिनका मुखमण्डल झिलमिलाते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित है—उन परम पवित्र कमलनयन श्रीहरिका तुम्हारे पौत्रको प्रत्यक्ष दर्शन होगा॥ ४९॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! दितिने जब सुना कि मेरा पौत्र भगवान्का भक्त होगा, तब उसे बड़ा आनन्द हुआ तथा यह जानकर कि मेरे पुत्र साक्षात् श्रीहरिके हाथसे मारे जायँगे, उसे और भी अधिक उत्साह हुआ॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दितिकश्यपसंवादे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

जय-विजयको सनकादिका शाप

मैत्रेय उवाच

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात्॥ १

लोके तेन हतालोके[1] लोकपाला हतौजसः।
न्यवेदयन् विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम्॥ २

देवा ऊचुः

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम्।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः॥ ३

देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे[2]।
परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित्॥ ४

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये॥ ५

ये त्वानन्येन[3] भावेन भावयन्त्यात्मभावनम्।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम्॥ ६

तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम्।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः॥ ७

यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय[4] ते नमः॥ ८

श्रीमैत्रेयजीने कहा— विदुरजी! दितिको अपने पुत्रोंसे देवताओंको कष्ट पहुँचनेकी आशंका थी, इसलिये उसने दूसरोंके तेजका नाश करनेवाले उस कश्यपजीके तेज (वीर्य)-को सौ वर्षोंतक अपने उदरमें ही रखा॥ १॥ उस गर्भस्थ तेजसे ही लोकोंमें सूर्यादिका प्रकाश क्षीण होने लगा तथा इन्द्रादि लोकपाल भी तेजोहीन हो गये। तब उन्होंने ब्रह्माजीके पास जाकर कहा कि सब दिशाओंमें अन्धकारके कारण बड़ी अव्यवस्था हो रही है॥ २॥

देवताओंने कहा— भगवन्! काल आपकी ज्ञानशक्तिको कुण्ठित नहीं कर सकता, इसलिये आपसे कोई बात छिपी नहीं है। आप इस अन्धकारके विषयमें भी जानते ही होंगे, हम तो इससे बड़े ही भयभीत हो रहे हैं॥ ३॥ देवाधिदेव! आप जगत्के रचयिता और समस्त लोकपालोंके मुकुटमणि हैं। आप छोटे-बड़े सभी जीवोंका भाव जानते हैं॥ ४॥ देव! आप विज्ञानबलसम्पन्न हैं; आपने मायासे ही यह चतुर्मुख रूप और रजोगुण स्वीकार किया है; आपकी उत्पत्तिके वास्तविक कारणको कोई नहीं जान सकता। हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ५॥ आपमें सम्पूर्ण भुवन स्थित हैं, कार्य-कारणरूप सारा प्रपंच आपका शरीर है; किन्तु वास्तवमें आप इससे परे हैं। जो समस्त जीवोंके उत्पत्तिस्थान आपका अनन्यभावसे ध्यान करते हैं, उन सिद्ध योगियोंका किसी प्रकार भी ह्रास नहीं हो सकता; क्योंकि वे आपके कृपाकटाक्षसे कृतकृत्य हो जाते हैं तथा प्राण, इन्द्रिय और मनको जीत लेनेके कारण उनका योग भी परिपक्व हो जाता है॥ ६-७॥ रस्सीसे बँधे हुए बैलोंकी भाँति आपकी वेदवाणीसे जकड़ी हुई सारी प्रजा आपकी अधीनतामें नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान करके आपको बलि समर्पित करती है। आप सबके नियन्ता मुख्य प्राण हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ८॥

१. प्रा० पा०—कृतालोके। २. प्रा० पा०—शिरोमणे। ३. प्रा० पा०—ये त्वामनन्यभावेन। ४. प्रा० पा०—मुख्यात्मने नमः।

स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा लुप्तकर्मणाम्।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम्॥ ९

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम्।
दिशस्तिमिरयन् सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि॥ १०

मैत्रेय उवाच

स प्रहस्य महाबाहो भगवान् शब्दगोचरः।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा॥ ११

ब्रह्मोवाच

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः॥ १२

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम्॥ १३

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥ १४

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः॥ १५

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत्॥ १६

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र
गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः॥ १७

भूमन्! इस अन्धकारके कारण दिन-रातका विभाग अस्पष्ट हो जानेसे लोकोंके सारे कर्म लुप्त होते जा रहे हैं, जिससे वे दुःखी हो रहे हैं; उनका कल्याण कीजिये और हम शरणागतोंकी ओर अपनी अपार दयादृष्टिसे निहारिये॥ ९॥ देव! आग जिस प्रकार ईंधनमें पड़कर बढ़ती रहती है, उसी प्रकार कश्यपजीके वीर्यसे स्थापित हुआ यह दितिका गर्भ सारी दिशाओंको अन्धकारमय करता हुआ क्रमशः बढ़ रहा है॥ १०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाबाहो! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान् ब्रह्माजी हँसे और उन्हें अपनी मधुर वाणीसे आनन्दित करते हुए कहने लगे॥ ११॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—देवताओ! तुम्हारे पूर्वज, मेरे मानसपुत्र सनकादि लोकोंकी आसक्ति त्यागकर समस्त लोकोंमें आकाशमार्गसे विचरा करते थे॥ १२॥ एक बार वे भगवान् विष्णुके शुद्ध-सत्त्वमय सब लोकोंके शिरोभागमें स्थित, वैकुण्ठधाममें जा पहुँचे॥ १३॥ वहाँ सभी लोग विष्णुरूप होकर रहते हैं और वह प्राप्त भी उन्हींको होता है, जो अन्य सब प्रकारकी कामनाएँ छोड़कर केवल भगवच्चरण-शरणकी प्राप्तिके लिये ही अपने धर्मद्वारा उनकी आराधना करते हैं॥ १४॥ वहाँ वेदान्तप्रतिपाद्य धर्ममूर्ति श्रीआदिनारायण हम अपने भक्तोंको सुख देनेके लिये शुद्धसत्त्वमय स्वरूप धारणकर हर समय विराजमान रहते हैं॥ १५॥ उस लोकमें नैःश्रेयस नामका एक वन है, जो मूर्तिमान् कैवल्य-सा ही जान पड़ता है। वह सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित है, जो स्वयं हर समय छहों ऋतुओंकी शोभासे सम्पन्न रहते हैं॥ १६॥

वहाँ विमानचारी गन्धर्वगण अपनी प्रियाओंके सहित अपने प्रभुकी पवित्र लीलाओंका गान करते रहते हैं, जो लोगोंकी सम्पूर्ण पापराशिको भस्म कर देनेवाली हैं। उस समय सरोवरोंमें खिली हुई मकरन्दपूर्ण वासन्तिक माधवी लताकी सुमधुर गन्ध उनके चित्तको अपनी ओर खींचना चाहती है; परन्तु वे उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते वरं उस गन्धको उड़ाकर लानेवाले वायुको ही बुरा-भला कहते हैं॥ १७॥

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने॥ १८

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः।
गन्धेऽर्चिते[1] तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति॥ १९

यत्सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
र्वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः॥ २०

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः॥ २१

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम्।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः॥ २२

जिस समय भ्रमरराज ऊँचे स्वरसे गुंजार करते हुए मानो हरिकथाका गान करते हैं, उस समय थोड़ी देरके लिये कबूतर, कोयल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर और मोरोंका कोलाहल बंद हो जाता है—मानो वे भी उस कीर्तनानन्दमें बेसुध हो जाते हैं॥ १८॥ श्रीहरि तुलसीसे अपने श्रीविग्रहको सजाते हैं और तुलसीकी गन्धका ही अधिक आदर करते हैं—यह देखकर वहाँके मन्दार, कुन्द, कुरबक (तिलकवृक्ष), उत्पल (रात्रिमें खिलनेवाले कमल), चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेसर, बकुल (मौलसिरी), अम्बुज (दिनमें खिलनेवाले कमल) और पारिजात आदि पुष्प सुगन्धयुक्त होनेपर भी तुलसीका ही तप अधिक मानते हैं॥ १९॥ वह लोक वैदूर्य, मरकत-मणि (पन्ने) और सुवर्णके विमानोंसे भरा हुआ है। ये सब किसी कर्मफलसे नहीं, बल्कि एकमात्र श्रीहरिके पादपद्मोंकी वन्दना करनेसे ही प्राप्त होते हैं। उन विमानोंपर चढ़े हुए कृष्णप्राण भगवद्भक्तोंके चित्तोंमें बड़े-बड़े नितम्बोंवाली सुमुखी सुन्दरियाँ भी अपनी मन्द मुसकान एवं मनोहर हास-परिहाससे कामविकार नहीं उत्पन्न कर सकतीं॥ २०॥

परम सौन्दर्यशालिनी लक्ष्मीजी, जिनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये देवगण भी यत्नशील रहते हैं, श्रीहरिके भवनमें चंचलतारूप दोषको त्यागकर रहती हैं। जिस समय अपने चरणकमलोंके नूपुरोंकी झनकार करती हुई वे अपना लीलाकमल घुमाती हैं, उस समय उस कनकभवनकी स्फटिकमय दीवारोंमें उनका प्रति-बिम्ब पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो वे उन्हें बुहार रही हों॥ २१॥ प्यारे देवताओ! जिस समय दासियोंको साथ लिये वे अपने क्रीडावनमें तुलसीदलद्वारा भगवान्‌का पूजन करती हैं, तब वहाँके निर्मल जलसे भरे हुए सरोवरोंमें, जिनमें मूँगेके घाट बने हुए हैं, अपना सुन्दर अलकावली और उन्नत नासिकासे सुशोभित मुखारविन्द देखकर 'यह भगवान्‌का चुम्बन किया हुआ है' यों जानकर उसे बड़ा सौभाग्यशाली समझती हैं॥ २२॥

१. प्रा० पा०—गन्धेऽन्विते।

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा[1]-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त॥ २३

येऽभ्यर्थितामपि[2] च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया बत[3] मायया ते॥ २४

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः॥ २५

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम्॥ २६

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः
कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम्।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्घ्य-
केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ
विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ॥ २८

जो लोग भगवान्‌की पापापहारिणी लीलाकथाओंको छोड़कर बुद्धिको नष्ट करनेवाली अर्थ-कामसम्बन्धिनी अन्य निन्दित कथाएँ सुनते हैं, वे उस वैकुण्ठलोकमें नहीं जा सकते। हाय! जब वे अभागे लोग इन सारहीन बातोंको सुनते हैं, तब ये उनके पुण्योंको नष्टकर उन्हें आश्रयहीन घोर नरकोंमें डाल देती हैं॥ २३॥ अहा! इस मनुष्ययोनिकी बड़ी महिमा है, हम देवतालोग भी इसकी चाह करते हैं। इसीमें तत्त्वज्ञान और धर्मकी भी प्राप्ति हो सकती है। इसे पाकर भी जो लोग भगवान्‌की आराधना नहीं करते, वे वास्तवमें उनकी सर्वत्र फैली हुई मायासे ही मोहित हैं॥ २४॥ देवाधिदेव श्रीहरिका निरन्तर चिन्तन करते रहनेके कारण जिनसे यमराज दूर रहते हैं, आपसमें प्रभुके सुयशकी चर्चा चलनेपर अनुरागजन्य विह्वलतावश जिनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहने लगती है तथा शरीरमें रोमांच हो जाता है और जिनके-से शील स्वभावकी हमलोग भी इच्छा करते हैं—वे परमभागवत ही हमारे लोकोंसे ऊपर उस वैकुण्ठधाममें जाते हैं॥ २५॥ जिस समय सनकादि मुनि विश्वगुरु श्रीहरिके निवास-स्थान, सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय और श्रेष्ठ देवताओंके विचित्र विमानोंसे विभूषित उस परम दिव्य और अद्‌भुत वैकुण्ठधाममें अपने योगबलसे पहुँचे, तब उन्हें बड़ा ही आनन्द हुआ॥ २६॥

भगवद्दर्शनकी लालसासे अन्य दर्शनीय सामग्रीकी उपेक्षा करते हुए वैकुण्ठधामकी छः ड्योढ़ियाँ पार करके जब वे सातवींपर पहुँचे, तब वहाँ उन्हें हाथमें गदा लिये दो समान आयुवाले देवश्रेष्ठ दिखलायी दिये—जो बाजूबंद, कुण्डल और किरीट आदि अनेकों अमूल्य आभूषणोंसे अलंकृत थे॥ २७॥ उनकी चार श्यामल भुजाओंके बीचमें मतवाले मधुकरोंसे गुंजायमान वनमाला सुशोभित थी तथा बाँकी भौंहें, फड़कते हुए नासिकारन्ध्र और अरुण नयनोंके कारण उनके चेहरेपर कुछ क्षोभके-से चिह्न दिखायी दे रहे थे॥ २८॥

१. प्रा० पा०—त्तवीर्यां। २. प्रा० पा०—ऽभ्यर्चिता०। ३. प्रा० पा०—ननु।

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा

पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिका याः।

सर्वत्र[१] तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या[२]

ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः॥ २९

तान् वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान्

वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।

वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ

तेजो[३] विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ॥ ३०

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः

स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम्।

ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईष-

त्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः॥ ३१

मुनय ऊचुः

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-

स्तद्धर्मिणां[४] निवसतां विषमः स्वभावः।

तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां

को वाऽऽत्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः॥ ३२

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-

वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः।

पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं

व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य॥ ३३

उनके इस प्रकार देखते रहनेपर भी वे मुनिगण उनसे बिना कुछ पूछताछ किये, जैसे सुवर्ण और वज्रमय किवाड़ोंसे युक्त पहली छः ड्यौढ़ी लाँघकर आये थे, उसी प्रकार उनके द्वारमें भी घुस गये। उनकी दृष्टि तो सर्वत्र समान थी और वे नि:शंक होकर सर्वत्र बिना किसी रोक-टोकके विचरते थे॥ २९॥ वे चारों कुमार पूर्ण तत्त्वज्ञ थे तथा ब्रह्माकी सृष्टिमें आयुमें सबसे बड़े होनेपर भी देखनेमें पाँच वर्षके बालकों-से जान पड़ते थे और दिगम्बरवृत्तिसे (नंग-धड़ंग) रहते थे। उन्हें इस प्रकार नि:संकोचरूपसे भीतर जाते देख उन द्वारपालोंने भगवान्‌के शील-स्वभावके विपरीत सनकादिके तेजकी हँसी उड़ाते हुए उन्हें बेंत अड़ाकर रोक दिया, यद्यपि वे ऐसे दुर्व्यवहारके योग्य नहीं थे॥ ३०॥ जब उन द्वारपालोंने वैकुण्ठवासी देवताओंके सामने पूजाके सर्वश्रेष्ठ पात्र उन कुमारोंको इस प्रकार रोका, तब अपने प्रियतम प्रभुके दर्शनोंमें विघ्न पड़नेके कारण उनके नेत्र सहसा कुछ-कुछ क्रोधसे लाल हो उठे और वे इस प्रकार कहने लगे॥ ३१॥

मुनियोंने कहा—अरे द्वारपालो! जो लोग भगवान्‌की महती सेवाके प्रभावसे इस लोकको प्राप्त होकर यहाँ निवास करते हैं, वे तो भगवान्‌के समान ही समदर्शी होते हैं। तुम दोनों भी उन्हींमेंसे हो, किन्तु तुम्हारे स्वभावमें यह विषमता क्यों है? भगवान् तो परम शान्तस्वभाव हैं, उनका किसीसे विरोध भी नहीं है; फिर यहाँ ऐसा कौन है, जिसपर शंका की जा सके? तुम स्वयं कपटी हो, इसीसे अपने ही समान दूसरोंपर शंका करते हो ॥ ३२॥ भगवान्‌के उदरमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है; इसलिये यहाँ रहनेवाले ज्ञानीजन सर्वात्मा श्रीहरिसे अपना कोई भेद नहीं देखते, बल्कि महाकाशमें घटाकाशकी भाँति उनमें अपना अन्तर्भाव देखते हैं। तुम तो देवरूपधारी हो; फिर भी तुम्हें ऐसा क्या दिखायी देता है, जिससे तुमने भगवान्‌के साथ कुछ भेदभावके कारण होनेवाले भयकी कल्पना कर ली॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—सर्वेऽपि ते। २. प्रा० पा०—स्ववृत्त्या। ३. प्रा० पा०—सम्यग्विहस्य। ४. प्रा० पा०—तद्धर्मणां।

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम्।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र॥ ३४

तुम हो तो इन भगवान् वैकुण्ठनाथके पार्षद, किन्तु तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द है। अतएव तुम्हारा कल्याण करनेके लिये हम तुम्हारे अपराधके योग्य दण्डका विचार करते हैं। तुम अपनी मन्द भेदबुद्धिके दोषसे इस वैकुण्ठलोकसे निकलकर उन पापमय योनियोंमें जाओ, जहाँ काम, क्रोध, लोभ—प्राणियोंके ये तीन शत्रु निवास करते हैं॥ ३४॥

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं
तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्
पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥ ३५

सनकादिके ये कठोर वचन सुनकर और ब्राह्मणोंके शापको किसी भी प्रकारके शस्त्रसमूहसे निवारण होनेयोग्य न जानकर श्रीहरिके वे दोनों पार्षद अत्यन्त दीनभावसे उनके चरण पकड़कर पृथ्वीपर लोट गये। वे जानते थे कि उनके स्वामी श्रीहरि भी ब्राह्मणोंसे बहुत डरते हैं ॥ ३५ ॥ फिर उन्होंने अत्यन्त आतुर होकर कहा—'भगवन्! हम अवश्य अपराधी हैं; अतः आपने हमें जो दण्ड दिया है, वह उचित ही है और वह हमें मिलना ही चाहिये। हमने भगवान्‌का अभिप्राय न समझकर उनकी आज्ञाका उल्लंघन किया है। इससे हमें जो पाप लगा है, वह आपके दिये हुए दण्डसे सर्वथा धुल जायगा। किन्तु हमारी इस दुर्दशाका विचार करके यदि करुणावश आपको थोड़ा-सा भी अनुताप हो, तो ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे उन अधमाधम योनियोंमें जानेपर भी हमें भगवत्स्मृतिको नष्ट करनेवाला मोह न प्राप्त हो॥ ३६॥

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम्।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः॥ ३६

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः॥ ३७

इधर जब साधुजनोंके हृदयधन भगवान् कमलनाभको मालूम हुआ कि मेरे द्वारपालोंने सनकादि साधुओंका अनादर किया है, तब वे लक्ष्मीजीके सहित अपने उन्हीं श्रीचरणोंसे चलकर ही वहाँ पहुँचे, जिन्हें परमहंस मुनिजन भी ढूँढ़ते रहते हैं—सहजमें पाते नहीं॥ ३७॥ सनकादिने देखा कि उनकी समाधिके विषय श्रीवैकुण्ठनाथ स्वयं उनके नेत्रगोचर होकर पधारे हैं, उनके साथ-साथ पार्षदगण छत्र-चामरादि लिये चल रहे हैं तथा प्रभुके दोनों ओर राजहंसके पंखोंके समान दो श्वेत चँवर डुलाये जा रहे हैं। उनकी शीतल वायुसे उनके श्वेत छत्रमें लगी हुई मोतियोंकी झालर हिलती हुई ऐसी शोभा दे रही है मानो चन्द्रमाकी किरणोंसे अमृतकी बूँदें झर रही हों॥ ३८॥

तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
च्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम्॥ ३८

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्॥ ३९

प्रभु समस्त सद्गुणोंके आश्रय हैं, उनकी सौम्य मुखमुद्राको देखकर जान पड़ता था मानो वे सभीपर अनवरत कृपासुधाकी वर्षा कर रहे हैं। अपनी स्नेहमयी चितवनसे वे भक्तोंका हृदय स्पर्श कर रहे थे तथा उनके सुविशाल श्याम वक्षःस्थलपर स्वर्णरेखाके रूपमें जो साक्षात् लक्ष्मी विराजमान थीं, उनसे मानो वे समस्त दिव्यलोकोंके चूडामणि वैकुण्ठधामको सुशोभित कर रहे थे॥ ३९॥

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्॥ ४०

उनके पीताम्बरमण्डित विशाल नितम्बोंपर झिलमिलाती हुई करधनी और गलेमें भ्रमरोंसे मुखरित वनमाला विराज रही थी; तथा वे कलाइयोंमें सुन्दर कंगन पहने अपना एक हाथ गरुड़जीके कंधेपर रख दूसरेसे कमलका पुष्प घुमा रहे थे॥ ४०॥

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम्।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्घ्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन॥ ४१

उनके अमोल कपोल बिजलीकी प्रभाको भी लजानेवाले मकराकृत कुण्डलोंकी शोभा बढ़ा रहे थे, उभरी हुई सुघड़ नासिका थी, बड़ा ही सुन्दर मुख था, सिरपर मणिमय मुकुट विराजमान था तथा चारों भुजाओंके बीच महामूल्यवान् मनोहर हारकी और गलेमें कौस्तुभमणिकी अपूर्व शोभा थी॥ ४१॥

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम्।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः॥ ४२

भगवान्‌का श्रीविग्रह बड़ा ही सौन्दर्यशाली था। उसे देखकर भक्तोंके मनमें ऐसा वितर्क होता था कि इसके सामने लक्ष्मीजीका सौन्दर्याभिमान भी गलित हो गया है। ब्रह्माजी कहते हैं—देवताओ! इस प्रकार मेरे, महादेवजीके और तुम्हारे लिये परम सुन्दर विग्रह धारण करनेवाले श्रीहरिको देखकर सनकादि मुनीश्वरोंने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय उनकी अद्भुत छविको निहारते-निहारते उनके नेत्र तृप्त नहीं होते थे॥ ४२॥

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥ ४३

सनकादि मुनीश्वर निरन्तर ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहा करते थे। किन्तु जिस समय भगवान् कमलनयनके चरणारविन्दमकरन्दसे मिली हुई तुलसीमंजरीके गन्धसे सुवासित वायुने नासिकारन्ध्रोंके द्वारा उनके अन्तःकरणमें प्रवेश किया, उस समय वे अपने शरीरको सँभाल न सके और उस दिव्य गन्धने उनके मनमें भी खलबली पैदा कर दी॥ ४३॥

ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-
मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम्।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः॥ ४४

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम्।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः॥ ४५

कुमारा ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन॥ ४६

तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
तत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः॥ ४७

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः॥ ४८

भगवान्‌का मुख नील कमलके समान था, अति सुन्दर अधर और कुन्दकलीके समान मनोहर हाससे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। उसकी झाँकी करके वे कृतकृत्य हो गये और फिर पद्मरागके समान लाल-लाल नखोंसे सुशोभित उनके चरण-कमल देखकर वे उन्हींका ध्यान करने लगे॥ ४४॥ इसके पश्चात् वे मुनिगण अन्य साधनोंसे सिद्ध न होनेवाली स्वाभाविक अष्टसिद्धियोंसे सम्पन्न श्रीहरिकी स्तुति करने लगे—जो योगमार्गद्वारा मोक्षपदकी खोज करनेवाले पुरुषोंके लिये उनके ध्यानका विषय, अत्यन्त आदरणीय और नयनानन्दकी वृद्धि करनेवाला पुरुषरूप प्रकट करते हैं॥ ४५॥

सनकादि मुनियोंने कहा—अनन्त! यद्यपि आप अन्तर्यामीरूपसे दुष्टचित्त पुरुषोंके हृदयमें भी स्थित रहते हैं, तथापि उनकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं। किन्तु आज हमारे नेत्रोंके सामने तो आप साक्षात् विराजमान हैं। प्रभो! जिस समय आपसे उत्पन्न हुए हमारे पिता ब्रह्माजीने आपका रहस्य वर्णन किया था, उसी समय श्रवणरन्ध्रोंद्वारा हमारी बुद्धिमें तो आप आ विराजे थे; किन्तु प्रत्यक्ष दर्शनका महान् सौभाग्य तो हमें आज ही प्राप्त हुआ है॥ ४६॥

भगवन्! हम आपको साक्षात् परमात्मतत्त्व ही जानते हैं। इस समय आप अपने विशुद्ध सत्त्वमय विग्रहसे अपने इन भक्तोंको आनन्दित कर रहे हैं। आपकी इस सगुण-साकार मूर्तिको राग और अहंकारसे मुक्त मुनिजन आपकी कृपादृष्टिसे प्राप्त हुए सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा अपने हृदयमें उपलब्ध करते हैं॥ ४७॥

प्रभो! आपका सुयश अत्यन्त कीर्तनीय और सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति करनेवाला है। आपके चरणोंकी शरणमें रहनेवाले जो महाभाग आपकी कथाओंके रसिक हैं, वे आपके आत्यन्तिक प्रसाद मोक्षपदको भी कुछ अधिक नहीं गिनते; फिर जिन्हें आपकी जरा-सी टेढ़ी भौंह ही भयभीत कर देती है, उन इन्द्रपद आदि अन्य भोगोंके विषयमें तो कहना ही क्या है॥ ४८॥

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥ ४९

भगवन्! यदि हमारा चित्त भौंरेकी तरह आपके चरणकमलोंमें ही रमण करता रहे, हमारी वाणी तुलसीके समान आपके चरणसम्बन्धसे ही सुशोभित हो और हमारे कान आपकी सुयश-सुधासे परिपूर्ण रहें तो अपने पापोंके कारण भले ही हमारा जन्म नरकादि योनियोंमें हो जाय—इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है॥ ४९॥

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः॥ ५०

विपुलकीर्ति प्रभो! आपने हमारे सामने जो यह मनोहर रूप प्रकट किया है, उससे हमारे नेत्रोंको बड़ा ही सुख मिला है; विषयासक्त अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये इसका दृष्टिगोचर होना अत्यन्त कठिन है। आप साक्षात् भगवान् हैं और इस प्रकार स्पष्टतया हमारे नेत्रोंके सामने प्रकट हुए हैं। हम आपको प्रणाम करते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे जयविजययोः सनकादिशापो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

जय-विजयका वैकुण्ठसे पतन

ब्रह्मोवाच

इति तद् गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम्।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः॥ १

श्रीब्रह्माजीने कहा—देवगण! जब योग-निष्ठ सनकादि मुनियोंने इस प्रकार स्तुति की, तब वैकुण्ठ-निवास श्रीहरिने उनकी प्रशंसा करते हुए यह कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रातामतिक्रमम्॥ २
यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात्॥ ३
तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः॥ ४
यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः॥ ५

श्रीभगवान्‌ने कहा—मुनिगण! ये जय-विजय मेरे पार्षद हैं। इन्होंने मेरी कुछ भी परवा न करके आपका बहुत बड़ा अपराध किया है॥ २॥ आपलोग भी मेरे अनुगत भक्त हैं; अतः इस प्रकार मेरी ही अवज्ञा करनेके कारण आपने इन्हें जो दण्ड दिया है, वह मुझे भी अभिमत है॥ ३॥ ब्राह्मण मेरे परम आराध्य हैं; मेरे अनुचरोंके द्वारा आपलोगोंका जो तिरस्कार हुआ है, उसे मैं अपना ही किया हुआ मानता हूँ। इसलिये मैं आपलोगोंसे प्रसन्नताकी भिक्षा माँगता हूँ॥ ४॥ सेवकोंके अपराध करनेपर संसार उनके स्वामीका ही नाम लेता है। वह अपयश उसकी कीर्तिको इस प्रकार दूषित कर देता है, जैसे त्वचाको चर्मरोग॥ ५॥

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥ ६
यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम्।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति॥ ७
नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः॥ ८
येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान्॥ ९
ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः॥ १०
ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः।
वाण्यानुरागकलयाऽऽत्मजवद् गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः॥ ११

मेरी निर्मल सुयश-सुधामें गोता लगानेसे चाण्डालपर्यन्त सारा जगत् तुरंत पवित्र हो जाता है, इसीलिये मैं 'विकुण्ठ' कहलाता हूँ। किन्तु यह पवित्र कीर्ति मुझे आपलोगोंसे ही प्राप्त हुई है। इसलिये जो कोई आपके विरुद्ध आचरण करेगा, वह मेरी भुजा ही क्यों न हो—मैं उसे तुरन्त काट डालूँगा॥ ६॥ आपलोगोंकी सेवा करनेसे ही मेरी चरणरजको ऐसी पवित्रता प्राप्त हुई है कि वह सारे पापोंको तत्काल नष्ट कर देती है और मुझे ऐसा सुन्दर स्वभाव मिला है कि मेरे उदासीन रहनेपर भी लक्ष्मीजी मुझे एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़तीं—यद्यपि इन्हींके लेशमात्र कृपाकटाक्षके लिये अन्य ब्रह्मादि देवता नाना प्रकारके नियमों एवं व्रतोंका पालन करते हैं॥ ७॥ जो अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पणकर सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे निष्काम ब्राह्मण ग्रास-ग्रासपर तृप्त होते हुए घीसे तर तरह-तरहके पकवानोंका जब भोजन करते हैं, तब उनके मुखसे मैं जैसा तृप्त होता हूँ वैसा यज्ञमें अग्निरूप मुखसे यजमानकी दी हुई आहुतियोंको ग्रहण करके नहीं होता॥ ८॥ योगमायाका अखण्ड और असीम ऐश्वर्य मेरे अधीन है तथा मेरी चरणोदकरूपिणी गंगाजी चन्द्रमाको मस्तकपर धारण करनेवाले भगवान् शंकरके सहित समस्त लोकोंको पवित्र करती हैं। ऐसा परम पवित्र एवं परमेश्वर होकर भी मैं जिनकी पवित्र चरण-रजको अपने मुकुटपर धारण करता हूँ, उन ब्राह्मणोंके कर्मको कौन नहीं सहन करेगा॥ ९॥ ब्राह्मण, दूध देनेवाली गौएँ और अनाथ प्राणी—ये मेरे ही शरीर हैं। पापोंके द्वारा विवेकदृष्टि नष्ट हो जानेके कारण जो लोग इन्हें मुझसे भिन्न समझते हैं, उन्हें मेरे द्वारा नियुक्त यमराजके गृध्र-जैसे दूत—जो सर्पके समान क्रोधी हैं—अत्यन्त क्रोधित होकर अपनी चोंचोंसे नोचते हैं॥ १०॥ ब्राह्मण तिरस्कारपूर्वक कटुभाषण भी करे, तो भी जो उसमें मेरी भावना करके प्रसन्नचित्तसे तथा अमृतभरी मुसकानसे युक्त मुखकमलसे उसका आदर करते हैं तथा जैसे रूठे हुए पिताको पुत्र और आपलोगोंको मैं मनाता हूँ, उसी प्रकार जो प्रेमपूर्ण वचनोंसे प्रार्थना करते हुए उन्हें शान्त करते हैं, वे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं॥ ११॥

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः॥ १२

मेरे इन सेवकोंने मेरा अभिप्राय न समझकर ही आपलोगोंका अपमान किया है। इसलिये मेरे अनुरोधसे आप केवल इतनी कृपा कीजिये कि इनका यह निर्वासनकाल शीघ्र ही समाप्त हो जाय, ये अपने अपराधके अनुरूप अधम गतिको भोगकर शीघ्र ही मेरे पास लौट आयें॥ १२॥

ब्रह्मोवाच

अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम्।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत॥ १३

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—देवताओ! सनकादि मुनि क्रोधरूप सर्पसे डसे हुए थे, तो भी उनका चित्त अन्तःकरणको प्रकाशित करनेवाली भगवान्‌की मन्त्रमयी सुमधुर वाणी सुनते-सुनते तृप्त नहीं हुआ॥ १३॥

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम्।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम्॥ १४

भगवान्‌की उक्ति बड़ी ही मनोहर और थोड़े अक्षरोंवाली थी; किन्तु वह इतनी अर्थपूर्ण, सारयुक्त, दुर्विज्ञेय और गम्भीर थी कि बहुत ध्यान देकर सुनने और विचार करनेपर भी वे यह न जान सके कि भगवान् क्या करना चाहते हैं॥ १४॥

ते योगमाययाऽऽरब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥ १५

भगवान्‌की इस अद्भुत उदारताको देखकर वे बहुत आनन्दित हुए और उनका अंग-अंग पुलकित हो गया। फिर योगमायाके प्रभावसे अपने परम ऐश्वर्यका प्रभाव प्रकट करनेवाले प्रभुसे वे हाथ जोड़कर कहने लगे॥ १५॥

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन् विद्मस्तव देव चिकीर्षितम्।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे॥ १६

मुनियोंने कहा—स्वप्रकाश भगवन्! आप सर्वेश्वर होकर भी जो यह कह रहे हैं कि 'यह आपने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया' सो इससे आपका क्या अभिप्राय है—यह हम नहीं जान सके हैं॥ १६॥

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम्॥ १७

प्रभो! आप ब्राह्मणोंके परम हितकारी हैं; इससे लोकशिक्षाके लिये आप भले ही ऐसा मानें कि ब्राह्मण मेरे आराध्यदेव हैं। वस्तुतः तो ब्राह्मण तथा देवताओंके भी देवता ब्रह्मादिके भी आप ही आत्मा और आराध्यदेव हैं॥ १७॥

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः॥ १८

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात्।
योगिनः स भवान् किंस्विदनुगृह्येत यत्परैः॥ १९

सनातनधर्म आपसे ही उत्पन्न हुआ है, आपके अवतारोंद्वारा ही समय-समयपर उसकी रक्षा होती है तथा निर्विकारस्वरूप आप ही धर्मके परम गुह्य रहस्य हैं—यह शास्त्रोंका मत है॥ १८॥ आपकी कृपासे निवृत्तिपरायण योगीजन सहजमें ही मृत्युरूप संसारसागरसे पार हो जाते हैं; फिर भला, दूसरा कोई आपपर क्या कृपा कर सकता है॥ १९॥

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-
रर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना॥ २०

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम्॥ २१

धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम्।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च
सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य॥ २२

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहात्मगोपं
गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम्॥ २३

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः
क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-
स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः॥ २४

भगवन्! दूसरे अर्थार्थी जन जिनकी चरण-रजको सर्वदा अपने मस्तकपर धारण करते हैं, वे लक्ष्मीजी निरन्तर आपकी सेवामें लगी रहती हैं; सो ऐसा जान पड़ता है कि भाग्यवान् भक्तजन आपके चरणोंपर जो नूतन तुलसीकी मालाएँ अर्पण करते हैं, उनपर गुंजार करते हुए भौंरोंके समान वे भी आपके पादपद्मोंको ही अपना निवासस्थान बनाना चाहती हैं॥ २०॥ किन्तु अपने पवित्र चरित्रोंसे निरन्तर सेवामें तत्पर रहनेवाली उन लक्ष्मीजीका भी आप विशेष आदर नहीं करते, आप तो अपने भक्तोंसे ही विशेष प्रेम रखते हैं। आप स्वयं ही सम्पूर्ण भजनीय गुणोंके आश्रय हैं; क्या जहाँ-तहाँ विचरते हुए ब्राह्मणोंके चरणोंमें लगनेसे पवित्र हुई मार्गकी धूलि और श्रीवत्सका चिह्न आपको पवित्र कर सकते हैं? क्या इनसे आपकी शोभा बढ़ सकती है?॥ २१॥

भगवन्! आप साक्षात् धर्मस्वरूप हैं। आप सत्यादि तीनों युगोंमें प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान रहते हैं तथा ब्राह्मण और देवताओंके लिये तप, शौच और दया—अपने इन तीन चरणोंसे इस चराचर जगत्की रक्षा करते हैं। अब आप अपनी शुद्धसत्त्वमयी वरदायिनी मूर्तिसे हमारे धर्मविरोधी रजोगुण-तमोगुणको दूर कर दीजिये॥ २२॥ देव! यह ब्राह्मणकुल आपके द्वारा अवश्य रक्षणीय है। यदि साक्षात् धर्मरूप होकर भी आप सुमधुर वाणी और पूजनादिके द्वारा इस उत्तम कुलकी रक्षा न करें तो आपका निश्चित किया हुआ कल्याणमार्ग ही नष्ट हो जाय; क्योंकि लोक तो श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणको ही प्रमाणरूपसे ग्रहण करता है॥ २३॥ प्रभो! आप सत्त्वगुणकी खान हैं और सभी जीवोंका कल्याण करनेके लिये उत्सुक हैं। इसीसे आप अपनी शक्तिरूप राजा आदिके द्वारा धर्मके शत्रुओंका संहार करते हैं; क्योंकि वेदमार्गका उच्छेद आपको अभीष्ट नहीं है। आप त्रिलोकीनाथ और जगत्प्रतिपालक होकर भी ब्राह्मणोंके प्रति इतने नम्र रहते हैं, इससे आपके तेजकी कोई हानि नहीं होती; यह तो आपकी लीलामात्र है॥ २४॥

यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते[1]
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम्।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण॥ २५

सर्वेश्वर! इन द्वारपालोंको आप जैसा उचित समझें वैसा दण्ड दें अथवा पुरस्काररूपमें इनकी वृत्ति बढ़ा दें—हम निष्कपटभावसे सब प्रकार आपसे सहमत हैं अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरोंको शाप दिया है, इसके लिये हमींको उचित दण्ड दें; हमें वह भी सहर्ष स्वीकार है॥ २५॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः
संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः
शापो मयैव निमितस्तदवैत[2] विप्राः॥ २६

श्रीभगवान्‌ने कहा—मुनिगण! आपने इन्हें जो शाप दिया है—सच जानिये, वह मेरी ही प्रेरणासे हुआ है। अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनिको प्राप्त होंगे और वहाँ क्रोधावेशसे बढ़ी हुई एकाग्रताके कारण सुदृढ़ योगसम्पन्न होकर फिर जल्दी ही मेरे पास लौट आयेंगे॥ २६॥

ब्रह्मोवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम्।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयम्प्रभम्[3]॥ २७
भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य[4] च।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम्॥ २८
भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे॥ २९
एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते॥ ३०
मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः॥ ३१
द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम्।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत्॥ ३२
तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ॥ ३३

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—तदनन्तर उन मुनीश्वरोंने नयनाभिराम भगवान् विष्णु और उनके स्वयंप्रकाश वैकुण्ठधामके दर्शन करके प्रभुकी परिक्रमा की और उन्हें प्रणामकर तथा उनकी आज्ञा पा भगवान्‌के ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए प्रमुदित हो वहाँसे लौट गये॥ २७-२८॥ फिर भगवान्‌ने अपने अनुचरोंसे कहा, 'जाओ, मनमें किसी प्रकारका भय मत करो; तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी ब्रह्मतेजको मिटाना नहीं चाहता; क्योंकि ऐसा ही मुझे अभिमत भी है॥ २९॥ एक बार जब मैं योगनिद्रामें स्थित हो गया था, तब तुमने द्वारमें प्रवेश करती हुई लक्ष्मीजीको रोका था। उस समय उन्होंने क्रुद्ध होकर पहले ही तुम्हें यह शाप दे दिया था॥ ३०॥ अब दैत्ययोनिमें मेरे प्रति क्रोधाकार वृत्ति रहनेसे तुम्हें जो एकाग्रता होगी उससे तुम इस विप्र-तिरस्कारजनित पापसे मुक्त हो जाओगे और फिर थोड़े ही समयमें मेरे पास लौट आओगे॥ ३१॥ द्वारपालोंको इस प्रकार आज्ञा दे, भगवान्‌ने विमानोंकी श्रेणियोंसे सुसज्जित अपने सर्वाधिक श्रीसम्पन्न धाममें प्रवेश किया॥ ३२॥ वे देवश्रेष्ठ जय-विजय तो ब्रह्म-शापके कारण उस अलंघनीय भगवद्धाममें ही श्रीहीन हो गये तथा उनका सारा गर्व गलित हो गया॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—विचष्टे। २. प्रा० पा०—निहित०। ३. प्रा० पा०—प्रभुः। ४. प्रा० पा०—भाव्य च।

तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः।
हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः॥ ३४
तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम्॥ ३५
तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति॥ ३६
विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥ ३७

पुत्रो! फिर जब वे वैकुण्ठलोकसे गिरने लगे, तब वहाँ श्रेष्ठ विमानोंपर बैठे हुए वैकुण्ठवासियोंमें महान् हाहाकार मच गया॥ ३४॥ इस समय दितिके गर्भमें स्थित जो कश्यपजीका उग्र तेज है, उसमें भगवान्‌के उन पार्षदप्रवरोंने ही प्रवेश किया है॥ ३५॥ उन दोनों असुरोंके तेजसे ही तुम सबका तेज फीका पड़ गया है। इस समय भगवान् ऐसा ही करना चाहते हैं॥ ३६॥ जो आदिपुरुष संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं, जिनकी योगमायाको बड़े-बड़े योगिजन भी बड़ी कठिनतासे पार कर पाते हैं—वे सत्त्वादि तीनों गुणोंके नियन्ता श्रीहरि ही हमारा कल्याण करेंगे। अब इस विषयमें हमारे विशेष विचार करनेसे क्या लाभ हो सकता है॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षकी दिग्विजय

मैत्रेय उवाच

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः॥ १

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ॥ २

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः॥ ३

सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः॥ ४

ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः।
उन्मूलयन्नगपतीन्वात्यानीको रजोध्वजः॥ ५

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! ब्रह्माजीके कहनेसे अन्धकारका कारण जानकर देवताओंकी शंका निवृत्त हो गयी और फिर वे सब स्वर्गलोकको लौट आये॥ १॥ इधर दितिको अपने पतिदेवके कथनानुसार पुत्रोंकी ओरसे उपद्रवादिकी आशंका बनी रहती थी। इसलिये जब पूरे सौ वर्ष बीत गये, तब उस साध्वीने दो यमज (जुड़वे) पुत्र उत्पन्न किये॥ २॥ उनके जन्म लेते समय स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें अनेकों उत्पात होने लगे—जिनसे लोग अत्यन्त भयभीत हो गये॥ ३॥ जहाँ-तहाँ पृथ्वी और पर्वत काँपने लगे, सब दिशाओंमें दाह होने लगा। जगह-जगह उल्कापात होने लगा, बिजलियाँ गिरने लगीं और आकाशमें अनिष्टसूचक धूमकेतु (पुच्छल तारे) दिखायी देने लगे॥ ४॥ बार-बार सायँ-सायँ करती और बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ती हुई बड़ी विकट और असह्य वायु चलने लगी। उस समय आँधी उसकी सेना और उड़ती हुई धूल ध्वजाके समान जान पड़ती थी॥ ५॥

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम्॥ ६

चुक्रोश विमना वार्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः॥ ७

मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः।
निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे॥ ८

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम्।
सृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः॥ ९

संगीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम्।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः॥ १०

खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम्।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन् वरूथशः॥ ११

रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन् खगाः।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत॥ १२

गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः।
व्यरुदन्देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम्॥ १३

ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम्॥ १४

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातानतत्तत्त्वविदः प्रजाः।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम्॥ १५

बिजली जोर-जोरसे चमककर मानो खिलखिला रही थी। घटाओंने ऐसा सघन रूप धारण किया कि सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोंके लुप्त हो जानेसे आकाशमें गहरा अँधेरा छा गया। उस समय कहीं कुछ भी दिखायी न देता था॥ ६॥

समुद्र दुःखी मनुष्यकी भाँति कोलाहल करने लगा, उसमें ऊँची-ऊँची तरंगें उठने लगीं और उसके भीतर रहनेवाले जीवोंमें बड़ी हलचल मच गयी। नदियों तथा अन्य जलाशयोंमें भी बड़ी खलबली मच गयी और उनके कमल सूख गये॥ ७॥ सूर्य और चन्द्रमा बार-बार ग्रसे जाने लगे तथा उनके चारों ओर अमंगलसूचक मण्डल बैठने लगे। बिना बादलोंके ही गरजनेका शब्द होने लगा तथा गुफाओंमेंसे रथकी घरघराहटका-सा शब्द निकलने लगा॥ ८॥ गाँवोंमें गीदड़ और उल्लुओंके भयानक शब्दके साथ ही सियारियाँ मुखसे दहकती हुई आग उगलकर बड़ा अमंगल शब्द करने लगीं॥ ९ ॥ जहाँ-तहाँ कुत्ते अपनी गरदन ऊपर उठाकर कभी गाने और कभी रोनेके समान भाँति-भाँतिके शब्द करने लगे॥ १० ॥ विदुरजी! झुंड-के-झुंड गधे अपने कठोर खुरोंसे पृथ्वी खोदते और रेंकनेका शब्द करते मतवाले होकर इधर-उधर दौड़ने लगे॥ ११ ॥ पक्षी गधोंके शब्दसे डरकर रोते-चिल्लाते अपने घोंसलोंसे उड़ने लगे। अपनी खिरकोंमें बँधे हुए और वनमें चरते हुए गाय-बैल आदि पशु डरके मारे मल-मूत्र त्यागने लगे॥ १२ ॥ गौएँ ऐसी डर गयीं कि दुहनेपर उनके थनोंसे खून निकलने लगा, बादल पीबकी वर्षा करने लगे, देवमूर्तियोंकी आँखोंसे आँसू बहने लगे और आँधीके बिना ही वृक्ष उखड़-उखड़कर गिरने लगे॥ १३ ॥ शनि, राहु आदि क्रूर ग्रह प्रबल होकर चन्द्र, बृहस्पति आदि सौम्य ग्रहों तथा बहुत-से नक्षत्रोंको लाँघकर वक्रगतिसे चलने लगे तथा आपसमें युद्ध करने लगे॥ १४॥ ऐसे ही और भी अनेकों भयंकर उत्पात देखकर सनकादिके सिवा और सब जीव भयभीत हो गये तथा उन उत्पातोंका मर्म न जाननेके कारण उन्होंने यही समझा कि अब संसारका प्रलय होनेवाला है॥ १५॥

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव॥ १६

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभि-
र्निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे
कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः॥ १७

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्
यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः॥ १८

चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च।
वशे सपालाँल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः॥ १९

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम्।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम्॥ २०

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम्।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम्॥ २१

मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम्।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः॥ २२

स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट्।
सेन्द्रान्देवगणान् क्षीबानपश्यन् व्यनदद् भृशम्॥ २३

वे दोनों आदिदैत्य जन्मके अनन्तर शीघ्र ही अपने फौलादके समान कठोर शरीरोंसे बढ़कर महान् पर्वतोंके सदृश हो गये तथा उनका पूर्व पराक्रम भी प्रकट हो गया॥ १६॥ वे इतने ऊँचे थे कि उनके सुवर्णमय मुकुटोंका अग्रभाग स्वर्गको स्पर्श करता था और उनके विशाल शरीरोंसे सारी दिशाएँ आच्छादित हो जाती थीं। उनकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमचमा रहे थे। पृथ्वीपर जो वे एक-एक कदम रखते थे, उससे भूकम्प होने लगता था और जब वे खड़े होते थे, तब उनकी जगमगाती हुई चमकीली करधनीसे सुशोभित कमर अपने प्रकाशसे सूर्यको भी मात करती थी॥ १७॥ वे दोनों यमज थे। प्रजापति कश्यपजीने उनका नामकरण किया। उनमेंसे जो उनके वीर्यसे दितिके गर्भमें पहले स्थापित हुआ था, उसका नाम हिरण्यकशिपु रखा और जो दितिके उदरसे पहले निकला, वह हिरण्याक्षके नामसे विख्यात हुआ॥ १८॥

हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीके वरसे मृत्युभयसे मुक्त हो जानेके कारण बड़ा उद्धत हो गया था। उसने अपनी भुजाओंके बलसे लोकपालोंके सहित तीनों लोकोंको अपने वशमें कर लिया॥ १९॥ वह अपने छोटे भाई हिरण्याक्षको बहुत चाहता था और वह भी सदा अपने बड़े भाईका प्रिय कार्य करता रहता था। एक दिन वह हिरण्याक्ष हाथमें गदा लिये युद्धका अवसर ढूँढ़ता हुआ स्वर्गलोकमें जा पहुँचा॥ २०॥ उसका वेग बड़ा असह्य था। उसके पैरोंमें सोनेके नूपुरोंकी झनकार हो रही थी, गलेमें विजयसूचक माला धारण की हुई थी और कंधेपर विशाल गदा रखी हुई थी॥ २१॥ उसके मनोबल, शारीरिक बल तथा ब्रह्माजीके वरने उसे मतवाला कर रखा था; इसलिये वह सर्वथा निरंकुश और निर्भय हो रहा था। उसे देखकर देवतालोग डरके मारे वैसे ही जहाँ-तहाँ छिप गये, जैसे गरुड़के डरसे साँप छिप जाते हैं॥ २२॥ जब दैत्यराज हिरण्याक्षने देखा कि मेरे तेजके सामने बड़े-बड़े गर्वीले इन्द्रादि देवता भी छिप गये हैं, तब उन्हें अपने सामने न देखकर वह बार-बार भयंकर गर्जना करने लगा॥ २३॥

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिस्वनम्।
विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः॥ २४
तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः॥ २५
स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीञ्छ्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः॥ २६
तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम्।
स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
ज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम्॥ २७
त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम्।
विजित्य लोकेऽखिलदैत्यदानवान्
यद्राजसूयेन पुरायजत्प्रभो॥ २८
स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया
व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम्॥ २९
पश्यामि नान्यं पुरुषात्पुरातनाद्
यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम्।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः॥ ३०
तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया॥ ३१

फिर वह महाबली दैत्य वहाँसे लौटकर जलक्रीडा करनेके लिये मतवाले हाथीके समान गहरे समुद्रमें घुस गया, जिसमें लहरोंकी बड़ी भयंकर गर्जना हो रही थी॥ २४॥ ज्यों ही उसने समुद्रमें पैर रखा कि डरके मारे वरुणके सैनिक जलचर जीव हकबका गये और किसी प्रकारकी छेड़छाड़ न करनेपर भी वे उसकी धाकसे ही घबराकर बहुत दूर भाग गये॥ २५॥ महाबली हिरण्याक्ष अनेक वर्षोंतक समुद्रमें ही घूमता और सामने किसी प्रतिपक्षीको न पाकर बार-बार वायुवेगसे उठी हुई उसकी प्रचण्ड तरंगोंपर ही अपनी लोहमयी गदाको आजमाता रहा। इस प्रकार घूमते-घूमते वह वरुणकी राजधानी विभावरीपुरीमें जा पहुँचा॥ २६॥ वहाँ पाताललोकके स्वामी, जलचरोंके अधिपति वरुणजीको देखकर उसने उनकी हँसी उड़ाते हुए नीच मनुष्यकी भाँति प्रणाम किया और कुछ मुसकराते हुए व्यंगसे कहा—'महाराज! मुझे युद्धकी भिक्षा दीजिये॥ २७॥ प्रभो! आप तो लोक-पालक, राजा और बड़े कीर्तिशाली हैं। जो लोग अपनेको बाँका वीर समझते थे, उनके वीर्यमदको भी आप चूर्ण कर चुके हैं और पहले एक बार आपने संसारके समस्त दैत्य-दानवोंको जीतकर राजसूययज्ञ भी किया था'॥ २८॥

उस मदोन्मत्त शत्रुके इस प्रकार बहुत उपहास करनेसे भगवान् वरुणको क्रोध तो बहुत आया, किंतु अपने बुद्धिबलसे वे उसे पी गये और बदलेमें उससे कहने लगे—'भाई! हमें तो अब युद्धादिका कोई चाव नहीं रह गया है॥ २९॥ भगवान् पुराणपुरुषके सिवा हमें और कोई ऐसा दीखता भी नहीं जो तुम-जैसे रणकुशल वीरको युद्धमें सन्तुष्ट कर सके। दैत्यराज! तुम उन्हींके पास जाओ, वे ही तुम्हारी कामना पूरी करेंगे। तुम-जैसे वीर उन्हींका गुणगान किया करते हैं॥ ३०॥ वे बड़े वीर हैं। उनके पास पहुँचते ही तुम्हारी सारी शेखी पूरी हो जायगी और तुम कुत्तोंसे घिरकर वीरशय्यापर शयन करोगे। वे तुम-जैसे दुष्टोंको मारने और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये अनेक प्रकारके रूप धारण किया करते हैं'॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षदिग्विजये सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

हिरण्याक्षके साथ वराहभगवान्का युद्ध

मैत्रेय उवाच

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदाद्
रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः॥ १

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः॥ २

आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः
सुराधमासादितसूकराकृते ॥ ३

त्वं नः सपत्नैरभवाय किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान् परोक्षजित्।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः॥ ४

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम्।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः॥ ५

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
र्दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम्।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्
ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः॥ ६

तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः।

श्रीमैत्रेयजीने कहा—तात! वरुणजीकी यह बात सुनकर वह मदोन्मत्त दैत्य बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उनके इस कथनपर कि 'तू उनके हाथसे मारा जायगा' कुछ भी ध्यान नहीं दिया और चट नारदजीसे श्रीहरिका पता लगाकर रसातलमें पहुँच गया॥ १॥ वहाँ उसने विश्वविजयी वराहभगवान्को अपनी दाढ़ोंकी नोकपर पृथ्वीको ऊपरकी ओर ले जाते हुए देखा। वे अपने लाल-लाल चमकीले नेत्रोंसे उसके तेजको हरे लेते थे। उन्हें देखकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला, 'अरे! यह जंगली पशु यहाँ जलमें कहाँसे आया'॥ २॥ फिर वराहजीसे कहा, 'अरे नासमझ! इधर आ, इस पृथ्वीको छोड़ दे; इसे विश्वविधाता ब्रह्माजीने हम रसातलवासियोंके हवाले कर दिया है। रे सूकररूपधारी सुराधम! मेरे देखते-देखते तू इसे लेकर कुशलपूर्वक नहीं जा सकता॥ ३॥ तू मायासे लुक-छिपकर ही दैत्योंको जीत लेता और मार डालता है। क्या इसीसे हमारे शत्रुओंने हमारा नाश करानेके लिये तुझे पाला है? मूढ़! तेरा बल तो योगमाया ही है और कोई पुरुषार्थ तुझमें थोड़े ही है। आज तुझे समाप्तकर मैं अपने बन्धुओंका शोक दूर करूँगा॥ ४॥ जब मेरे हाथसे छूटी हुई गदाके प्रहारसे सिर फट जानेके कारण तू मर जायगा, तब तेरी आराधना करनेवाले जो देवता और ऋषि हैं, वे सब भी जड़ कटे हुए वृक्षोंकी भाँति स्वयं ही नष्ट हो जायँगे'॥ ५॥

हिरण्याक्ष भगवान्को दुर्वचन-बाणोंसे छेदे जा रहा था; परन्तु उन्होंने दाँतकी नोकपर स्थित पृथ्वीको भयभीत देखकर वह चोट सह ली तथा जलसे उसी प्रकार बाहर निकल आये, जैसे ग्राहकी चोट खाकर हथिनीसहित गजराज॥ ६॥ जब उसकी चुनौतीका कोई उत्तर न देकर वे जलसे बाहर आने लगे, तब ग्राह जैसे गजका पीछा करता है, उसी प्रकार पीले केश और तीखी दाढ़ोंवाले उस दैत्यने उनका पीछा

करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवीद्
गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम्॥ ७
स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात्स्वसत्त्वम्।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः॥ ८
परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम्।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे॥ ९

श्रीभगवानुवाच

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान्मृगये ग्रामसिंहान्।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र॥ १०
एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्रावितास्ते।
तिष्ठामहेऽथापि कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम्॥ ११
त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः॥ १२

मैत्रेय उवाच

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम्।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव॥ १३
सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाभ्यहनद्धरिम्॥ १४

किया तथा वज्रके समान कड़ककर वह कहने लगा, 'तुझे भागनेमें लज्जा नहीं आती? सच है, असत् पुरुषोंके लिये कौन-सा काम न करनेयोग्य है?'॥ ७॥

भगवान्‌ने पृथ्वीको ले जाकर जलके ऊपर व्यवहारयोग्य स्थानमें स्थित कर दिया और उसमें अपनी आधारशक्तिका संचार किया। उस समय हिरण्याक्षके सामने ही ब्रह्माजीने उनकी स्तुति की और देवताओंने फूल बरसाये॥ ८॥ तब श्रीहरिने बड़ी भारी गदा लिये अपने पीछे आ रहे हिरण्याक्षसे, जो सोनेके आभूषण और अद्भुत कवच धारण किये था तथा अपने कटुवाक्योंसे उन्हें निरन्तर मर्माहत कर रहा था, अत्यन्त क्रोधपूर्वक हँसते हुए कहा॥ ९॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अरे! सचमुच ही हम जंगली जीव हैं, जो तुझ-जैसे ग्रामसिंहों (कुत्तों)-को ढूँढ़ते फिरते हैं। दुष्ट! वीर पुरुष तुझ-जैसे मृत्युपाशमें बँधे हुए अभागे जीवोंकी आत्मश्लाघापर ध्यान नहीं देते॥ १०॥ हाँ, हम रसातलवासियोंकी धरोहर चुराकर और लज्जा छोड़कर तेरी गदाके भयसे यहाँ भाग आये हैं। हममें ऐसी सामर्थ्य ही कहाँ कि तेरे-जैसे अद्वितीय वीरके सामने युद्धमें ठहर सकें। फिर भी हम जैसे-तैसे तेरे सामने खड़े हैं; तुझ-जैसे बलवानोंसे वैर बाँधकर हम जा भी कहाँ सकते हैं?॥ ११॥ तू पैदल वीरोंका सरदार है, इसलिये अब निःशंक होकर—उधेड़-बुन छोड़कर हमारा अनिष्ट करनेका प्रयत्न कर और हमें मारकर अपने भाई-बन्धुओंके आँसू पोंछ। अब इसमें देर न कर। जो अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता, वह असभ्य है—भले आदमियोंमें बैठने लायक नहीं है॥ १२॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! जब भगवान्‌ने रोषसे उस दैत्यका इस प्रकार खूब उपहास और तिरस्कार किया, तब वह पकड़कर खेलाये जाते हुए सर्पके समान क्रोधसे तिलमिला उठा॥ १३॥ वह खीझकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगा, उसकी इन्द्रियाँ क्रोधसे क्षुब्ध हो उठीं और उस दुष्ट दैत्यने बड़े वेगसे लपककर भगवान्‌पर गदाका प्रहार किया॥ १४॥

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम्॥ १५

पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदम्॥ १६

ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः।
आजघ्ने स तु तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत्॥ १७

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ १८

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्रवघ्राणविवृद्धमन्व्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः॥ १९

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य माया-
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट्॥ २०

आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान् सहस्रणी-
र्जगाद नारायणमादिसूकरम्॥ २१

ब्रह्मोवाच

एष ते देव देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम्।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम्॥ २२

आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः ।
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः॥ २३

किन्तु भगवान्ने अपनी छातीपर चलायी हुई शत्रुकी गदाके प्रहारको कुछ टेढ़े होकर बचा लिया—ठीक वैसे ही, जैसे योगसिद्ध पुरुष मृत्युके आक्रमणसे अपनेको बचा लेता है॥ १५॥ फिर जब वह क्रोधसे होठ चबाता अपनी गदा लेकर बार-बार घुमाने लगा, तब श्रीहरि कुपित होकर बड़े वेगसे उसकी ओर झपटे॥ १६॥ सौम्यस्वभाव विदुरजी! तब प्रभुने शत्रुकी दायीं भौंहपर गदाकी चोट की, किन्तु गदायुद्धमें कुशल हिरण्याक्षने उसे बीचमें ही अपनी गदापर ले लिया॥ १७॥ इस प्रकार श्रीहरि और हिरण्याक्ष एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रुद्ध होकर आपसमें अपनी भारी गदाओंसे प्रहार करने लगे॥ १८॥ उस समय उन दोनोंमें ही जीतनेकी होड़ लग गयी, दोनोंके ही अंग गदाओंकी चोटोंसे घायल हो गये थे, अपने अंगोंके घावोंसे बहनेवाले रुधिरकी गन्धसे दोनोंका ही क्रोध बढ़ रहा था और वे दोनों ही तरह-तरहके पैतरे बदल रहे थे। इस प्रकार गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो साँड़ोंके समान उन दोनोंमें एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे बड़ा भयंकर युद्ध हुआ॥ १९॥ विदुरजी! जब इस प्रकार हिरण्याक्ष और मायासे वराहरूप धारण करनेवाले भगवान् यज्ञमूर्ति पृथ्वीके लिये द्वेष बाँधकर युद्ध करने लगे, तब उसे देखनेके लिये वहाँ ऋषियोंके सहित ब्रह्माजी आये॥ २०॥ वे हजारों ऋषियोंसे घिरे हुए थे। जब उन्होंने देखा कि वह दैत्य बड़ा शूरवीर है, उसमें भयका नाम भी नहीं है, वह मुकाबला करनेमें भी समर्थ है और उसके पराक्रमको चूर्ण करना बड़ा कठिन काम है, तब वे भगवान् आदिसूकररूप नारायणसे इस प्रकार कहने लगे॥ २१॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—देव! मुझसे वर पाकर यह दुष्ट दैत्य बड़ा प्रबल हो गया है। इस समय यह आपके चरणोंकी शरणमें रहनेवाले देवताओं, ब्राह्मणों, गौओं तथा अन्य निरपराध जीवोंको बहुत ही हानि पहुँचानेवाला, दुःखदायी और भयप्रद हो रहा है। इसकी जोड़का और कोई योद्धा नहीं है, इसलिये यह महाकण्टक अपना मुकाबला करनेवाले वीरकी खोजमें समस्त लोकोंमें घूम रहा है॥ २२-२३॥

मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम्।
आक्रीड बालवद्देव यथाऽऽशीविषमुत्थितम्॥ २४

न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः।
स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत॥ २५

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो।
उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयमावह॥ २६

अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात्।
शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम्॥ २७

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम्।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि॥ २८

यह दुष्ट बड़ा ही मायावी, घमण्डी और निरंकुश है। बच्चा जिस प्रकार क्रुद्ध हुए साँपसे खेलता है; वैसे ही आप इससे खिलवाड़ न करें॥ २४॥ देव! अच्युत! जबतक यह दारुण दैत्य अपनी बल-वृद्धिकी वेलाको पाकर प्रबल हो, उससे पहले-पहले ही आप अपनी योगमायाको स्वीकार करके इस पापीको मार डालिये॥ २५॥ प्रभो! देखिये, लोकोंका संहार करनेवाली सन्ध्याकी भयंकर वेला आना ही चाहती है। सर्वात्मन्! आप उससे पहले ही इस असुरको मारकर देवताओंको विजय प्रदान कीजिये॥ २६॥ इस समय अभिजित् नामक मंगलमय मुहूर्तका भी योग आ गया है। अतः अपने सुहृद् हमलोगोंके कल्याणके लिये शीघ्र ही इस दुर्जय दैत्यसे निपट लीजिये॥ २७॥ प्रभो! इसकी मृत्यु आपके ही हाथ बदी है। हमलोगोंके बड़े भाग्य हैं कि स्वयं ही अपने कालरूप आपके पास आ पहुँचा है। अब आप युद्धमें बलपूर्वक इसे मारकर लोकोंको शान्ति प्रदान कीजिये॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
हिरण्याक्षवधेऽष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

हिरण्याक्षवध

मैत्रेय उवाच

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत्॥ १
ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम्।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः॥ २
सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात्।
विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत्॥ ३
स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम्।
मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन्॥ ४

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! ब्रह्माजीके ये कपटरहित अमृतमय वचन सुनकर भगवान्‌ने उनके भोलेपनपर मुसकराकर अपने प्रेमपूर्ण कटाक्षके द्वारा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली॥ १॥ फिर उन्होंने झपटकर अपने सामने निर्भय विचरते हुए शत्रुकी ठुड्डीपर गदा मारी। किन्तु हिरण्याक्षकी गदासे टकराकर वह गदा भगवान्‌के हाथसे छूट गयी और चक्कर काटती हुई जमीनपर गिरकर सुशोभित हुई। किंतु यह बड़ी अद्‌भुत-सी घटना हुई॥ २-३॥ उस समय शत्रुपर वार करनेका अच्छा अवसर पाकर भी हिरण्याक्षने उन्हें निरस्त्र देखकर युद्धधर्मका पालन करते हुए उनपर आक्रमण नहीं किया। उसने भगवान्‌का क्रोध बढ़ानेके लिये ही ऐसा किया था॥ ४॥

गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चास्मरद्विभुः॥ ५
तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम्।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्रास्मासन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति॥ ६
स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम्।
विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो
रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन्॥ ७
करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव।
अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम्॥ ८
पदा सव्येन तां साधो भगवान् यज्ञसूकरः।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम्॥ ९
आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि।
इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन् व्यनदद् भृशम्॥ १०
तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम्॥ ११
स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः।
नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः॥ १२
जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम्।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा॥ १३

गदा गिर जानेपर और लोगोंका हाहाकार बंद हो जानेपर प्रभुने उसकी धर्मबुद्धिकी प्रशंसा की और अपने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया॥ ५॥

चक्र तुरंत ही उपस्थित होकर भगवान्‌के हाथमें घूमने लगा। किंतु वे अपने प्रमुख पार्षद दैत्याधम हिरण्याक्षके साथ विशेषरूपसे क्रीडा करने लगे। उस समय उनके प्रभावको न जाननेवाले देवताओंके ये विचित्र वचन सुनायी देने लगे—'प्रभो! आपकी जय हो; इसे और न खेलाइये, शीघ्र ही मार डालिये'॥ ६॥ जब हिरण्याक्षने देखा कि कमल-दल-लोचन श्रीहरि उसके सामने चक्र लिये खड़े हैं, तब उसकी सारी इन्द्रियाँ क्रोधसे तिलमिला उठीं और वह लम्बी साँसें लेता हुआ अपने दाँतोंसे होठ चबाने लगा॥ ७॥ उस समय वह तीखी दाढ़ोंवाला दैत्य, अपने नेत्रोंसे इस प्रकार उनकी ओर घूरने लगा मानो वह भगवान्‌को भस्म कर देगा। उसने उछलकर 'ले, अब तू नहीं बच सकता' इस प्रकार ललकारते हुए श्रीहरिपर गदासे प्रहार किया॥ ८॥ साधुस्वभाव विदुरजी! यज्ञमूर्ति श्रीवराहभगवान्‌ने शत्रुके देखते-देखते लीलासे ही अपने बायें पैरसे उसकी वह वायुके समान वेगवाली गदा पृथ्वीपर गिरा दी और उससे कहा, 'अरे दैत्य! तू मुझे जीतना चाहता है, इसलिये अपना शस्त्र उठा ले और एक बार फिर वार कर।' भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर उसने फिर गदा चलायी और बड़ी भीषण गर्जना करने लगा॥ ९-१०॥ गदाको अपनी ओर आते देखकर भगवान्‌ने, जहाँ खड़े थे वहींसे, उसे आते ही अनायास इस प्रकार पकड़ लिया, जैसे गरुड साँपिनको पकड़ ले॥ ११॥

अपने उद्यमको इस प्रकार व्यर्थ हुआ देख उस महादैत्यका घमंड ठंडा पड़ गया और उसका तेज नष्ट हो गया। अबकी बार भगवान्‌के देनेपर उसने उस गदाको लेना न चाहा॥ १२॥ किंतु जिस प्रकार कोई ब्राह्मणके ऊपर निष्फल अभिचार (मारणादि प्रयोग) करे—मूठ आदि चलाये, वैसे ही उसने श्रीयज्ञपुरुषपर प्रहार करनेके लिये एक प्रज्वलित अग्निके समान लपलपाता हुआ त्रिशूल लिया॥ १३॥

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं
चकासदन्तः ख उदीर्णदीधिति।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना
हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्रमुज्झितम्॥ १४
वृणे स्वशूले बहुधारिणा हरेः
प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत्।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन् प्रहृत्यान्तरधीयतासुरः॥ १५
तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः।
नाकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः॥ १६
अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ।
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम्॥ १७
प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन्।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव॥ १८
द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत्॥ १९
गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः॥ २०
बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः॥ २१
प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत्।
सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात्॥ २२

महाबली हिरण्याक्षका अत्यन्त वेगसे छोड़ा हुआ वह तेजस्वी त्रिशूल आकाशमें बड़ी तेजीसे चमकने लगा। तब भगवान्ने उसे अपनी तीखी धारवाले चक्रसे इस प्रकार काट डाला, जैसे इन्द्रने गरुडजीके छोड़े हुए तेजस्वी पंखको काट डाला था*॥ १४॥ भगवान्के चक्रसे अपने त्रिशूलके बहुत-से टुकड़े हुए देखकर उसे बड़ा क्रोध हुआ। उसने पास आकर उनके विशाल वक्षःस्थलपर, जिसपर श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है, कसकर घूँसा मारा और फिर बड़े जोरसे गरजकर अन्तर्धान हो गया॥ १५॥

विदुरजी! जैसे हाथीपर पुष्पमालाकी चोटका कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार उसके इस प्रकार घूँसा मारनेसे भगवान् आदिवराह तनिक भी टस-से-मस नहीं हुए॥ १६॥ तब वह महामायावी दैत्य मायापति श्रीहरिपर अनेक प्रकारकी मायाओंका प्रयोग करने लगा, जिन्हें देखकर सभी प्रजा बहुत डर गयी और समझने लगी कि अब संसारका प्रलय होनेवाला है॥ १७॥ बड़ी प्रचण्ड आँधी चलने लगी, जिसके कारण धूलसे सब ओर अन्धकार छा गया। सब ओरसे पत्थरोंकी वर्षा होने लगी, जो ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी क्षेपणयन्त्र (गुलेल)-से फेंके जा रहे हों॥ १८॥ बिजलीकी चमचमाहट और कड़कके साथ बादलोंके घिर आनेसे आकाशमें सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह छिप गये तथा उनसे निरन्तर पीब, केश, रुधिर, विष्ठा, मूत्र और हड्डियोंकी वर्षा होने लगी॥ १९॥ विदुरजी! ऐसे-ऐसे पहाड़ दिखायी देने लगे, जो तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र बरसा रहे थे। हाथमें त्रिशूल लिये बाल खोले नंगी राक्षसियाँ दीखने लगीं॥ २०॥ बहुत-से पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियोंपर चढ़े सैनिकोंके साथ आततायी यक्ष-राक्षसोंका 'मारो-मारो, काटो-काटो' ऐसा अत्यन्त क्रूर और हिंसामय कोलाहल सुनायी देने लगा॥ २१॥ इस प्रकार प्रकट हुए उस आसुरी माया-जालका नाश करनेके लिये यज्ञमूर्ति भगवान् वराहने अपना

* एक बार गरुडजी अपनी माता विनताको सर्पोंकी माता कद्रूके दासीपनेसे मुक्त करनेके लिये देवताओंके पाससे अमृत छीन लाये थे। तब इन्द्रने उनके ऊपर अपना वज्र छोड़ा। इन्द्रका वज्र कभी व्यर्थ नहीं जाता, इसलिये उसका मान रखनेके लिये गरुडजीने अपना एक पर गिरा दिया। उसे उस वज्रने काट डाला।

तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे॥ २३
विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम्।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः॥ २४
तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः।
करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः॥ २५
स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता॥ २६
क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम्।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम्॥ २७
यं योगिनो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिंगादसतो मुमुक्षया।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह॥ २८
एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम्।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः॥ २९

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-
स्त्वत्पादभक्त्या वयमीश निर्वृताः॥ ३०

मैत्रेय उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिसूकरः।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः॥ ३१

प्रिय सुदर्शनचक्र छोड़ा॥ २२॥ उस समय अपने पतिका कथन स्मरण हो आनेसे दितिका हृदय सहसा काँप उठा और उसके स्तनोंसे रक्त बहने लगा॥ २३॥ अपना माया-जाल नष्ट हो जानेपर वह दैत्य फिर भगवान्‌के पास आया। उसने उन्हें क्रोधसे दबाकर चूर-चूर करनेकी इच्छासे भुजाओंमें भर लिया, किंतु देखा कि वे तो बाहर ही खड़े हैं॥ २४॥ अब वह भगवान्‌को वज्रके समान कठोर मुक्कोंसे मारने लगा। तब इन्द्रने जैसे वृत्रासुरपर प्रहार किया था, उसी प्रकार भगवान्‌ने उसकी कनपटीपर एक तमाचा मारा॥ २५॥

विश्वविजयी भगवान्‌ने यद्यपि बड़ी उपेक्षासे तमाचा मारा था, तो भी उसकी चोटसे हिरण्याक्षका शरीर घूमने लगा, उसके नेत्र बाहर निकल आये तथा हाथ-पैर और बाल छिन्न-भिन्न हो गये और वह निष्प्राण होकर आँधीसे उखड़े हुए विशाल वृक्षके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २६॥ हिरण्याक्षका तेज अब भी मलिन नहीं हुआ था। उस कराल दाढ़ोंवाले दैत्यको दाँतोंसे होठ चबाते पृथ्वीपर पड़ा देख वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए ब्रह्मादि देवता उसकी प्रशंसा करने लगे कि 'अहो! ऐसी अलभ्य मृत्यु किसको मिल सकती है॥ २७॥ अपनी मिथ्या उपाधिसे छूटनेके लिये जिनका योगिजन समाधियोगके द्वारा एकान्तमें ध्यान करते हैं, उन्हींके चरण-प्रहारसे उनका मुख देखते-देखते इस दैत्यराजने अपना शरीर त्यागा॥ २८॥ ये हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भगवान्‌के ही पार्षद हैं। इन्हें शापवश यह अधोगति प्राप्त हुई है। अब कुछ जन्मोंमें ये फिर अपने स्थानपर पहुँच जायँगे'॥ २९॥

देवतालोग कहने लगे—प्रभो! आपको बारम्बार नमस्कार है। आप सम्पूर्ण यज्ञोंका विस्तार करनेवाले हैं तथा संसारकी स्थितिके लिये शुद्धसत्त्वमय मंगलविग्रह प्रकट करते हैं। बड़े आनन्दकी बात है कि संसारको कष्ट देनेवाला यह दुष्ट दैत्य मारा गया। अब आपके चरणोंकी भक्तिके प्रभावसे हमें भी सुख-शान्ति मिल गयी॥ ३०॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार महापराक्रमी हिरण्याक्षका वध करके भगवान् आदिवराह अपने अखण्ड आनन्दमय धामको पधार गये। उस समय ब्रह्मादि देवता उनकी स्तुति कर रहे थे॥ ३१॥

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम्।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो
महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः॥ ३२

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम्।
क्षत्ताऽऽनन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज॥ ३३
अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम्।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः॥ ३४
यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम्।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद् द्रुतम्॥ ३५
तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः॥ ३६
यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा
विमुच्यते[१] ब्रह्मवधादपि द्विजाः[२]॥ ३७
एतन्महापुण्यमलं[३] पवित्रं
धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम्।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम्॥ ३८

भगवान् अवतार लेकर जैसी लीलाएँ करते हैं और जिस प्रकार उन्होंने भीषण संग्राममें खिलौनेकी भाँति महापराक्रमी हिरण्याक्षका वध कर डाला, मित्र विदुरजी! वह सब चरित जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना था, तुम्हें सुना दिया॥ ३२॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! मैत्रेयजीके मुखसे भगवान्की यह कथा सुनकर परम भागवत विदुरजीको बड़ा आनन्द हुआ॥ ३३॥ जब अन्य पवित्रकीर्ति और परम यशस्वी महापुरुषोंका चरित्र सुननेसे ही बड़ा आनन्द होता है, तब श्रीवत्सधारी भगवान्की ललित-ललाम लीलाओंकी तो बात ही क्या है॥ ३४॥ जिस समय ग्राहके पकड़नेपर गजराज प्रभुके चरणोंका ध्यान करने लगे और उनकी हथिनियाँ दुःखसे चिग्घाड़ने लगीं, उस समय जिन्होंने उन्हें तत्काल दुःखसे छुड़ाया और जो सब ओरसे निराश होकर अपनी शरणमें आये हुए सरलहृदय भक्तोंसे सहजमें ही प्रसन्न हो जाते हैं, किंतु दुष्ट पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुराराध्य हैं—उनपर जल्दी प्रसन्न नहीं होते, उन प्रभुके उपकारोंको जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उनका सेवन न करेगा?॥ ३५-३६॥ शौनकादि ऋषियो! पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी इस हिरण्याक्ष-वध नामक परम अद्भुत लीलाको जो पुरुष सुनता, गाता अथवा अनुमोदन करता है, वह ब्रह्महत्या-जैसे घोर पापसे भी सहजमें ही छूट जाता हैं॥ ३७॥ यह चरित्र अत्यन्त पुण्यप्रद परम पवित्र, धन और यशकी प्राप्ति करानेवाला आयुवर्द्धक और कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला तथा युद्धमें प्राण और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ानेवाला है। जो लोग इसे सुनते हैं, उन्हें अन्तमें श्रीभगवान्का आश्रय प्राप्त होता है॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
हिरण्याक्षवधो नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

१. प्रा० पा०—स मुच्यते। २. प्रा० पा०—ध्रुवम्। ३. प्रा० पा०—फलं।

अथ विंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी रची हुई अनेक प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठाम[1]ध्यस्य सौते स्वायम्भुवो मनुः।
कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम्॥ १
क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत्।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति॥ २
द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः॥ ३
किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम्॥ ४
तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः।
आपो गांगा इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः॥ ५
ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन्॥ ६
एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति॥ ७

सूत उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात्।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
संजातहर्षो मुनिमाह भारतः[2]॥ ८

शौनकजी कहते हैं—सूतजी! पृथ्वीरूप आधार पाकर स्वायम्भुव मनुने आगे होनेवाली सन्ततिको उत्पन्न करनेके लिये किन-किन उपायोंका अवलम्बन किया?॥ १॥ विदुरजी बड़े ही भगवद्भक्त और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य सुहृद् थे। इसीलिये उन्होंने अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रको, उनके पुत्र दुर्योधनके सहित, भगवान् श्रीकृष्णका अनादर करनेके कारण अपराधी समझकर त्याग दिया था॥ २॥ वे महर्षि द्वैपायनके पुत्र थे और महिमामें उनसे किसी प्रकार कम नहीं थे तथा सब प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित और कृष्णभक्तोंके अनुगामी थे॥ ३॥ तीर्थसेवनसे उनका अन्तःकरण और भी शुद्ध हो गया था। उन्होंने कुशावर्तक्षेत्र (हरिद्वार) में बैठे हुए तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेयजीके पास जाकर और क्या पूछा?॥ ४॥ सूतजी! उन दोनोंमें वार्तालाप होनेपर श्रीहरिके चरणोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी पवित्र कथाएँ हुई होंगी, जो उन्हीं चरणोंसे निकले हुए गंगाजलके समान सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाली होंगी॥ ५॥ सूतजी! आपका मंगल हो, आप हमें भगवान्‌की वे पवित्र कथाएँ सुनाइये। प्रभुके उदार चरित्र तो कीर्तन करनेयोग्य होते हैं। भला, ऐसा कौन रसिक होगा जो श्रीहरिके लीलामृतका पान करते-करते तृप्त हो जाय॥ ६॥

नैमिषारण्यवासी मुनियोंके इस प्रकार पूछनेपर उग्रश्रवा सूतजीने भगवान्‌में चित्त लगाकर उनसे कहा—'सुनिये'॥ ७॥

सूतजीने कहा—मुनिगण! अपनी मायासे वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी रसातलसे पृथ्वीको निकालने और खेलमें ही तिरस्कारपूर्वक हिरण्याक्षको मार डालनेकी लीला सुनकर विदुरजीको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने मुनिवर मैत्रेयजीसे कहा॥ ८॥

---

१. प्रा० पा०—मध्यास्य। २. प्रा० पा०—सारवित्।

विदुर उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन्।
किमारभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित्॥ ९

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन्॥ १०

सद्वितीयाः किमसृजन् स्वतन्त्रा उत कर्मसु।
आहोस्वित्संहताः सर्व इदं स्म[1] समकल्पयन्॥ ११

मैत्रेय उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद् गुणत्रयात्॥ १२

रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिंगो दैवचोदितात्।
जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि[2] पंचशः॥ १३

तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम्।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन्॥ १४

सोऽशयिष्टाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः॥ १५

तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराट्॥ १६

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया॥ १७

विदुरजीने कहा—ब्रह्मन्! आप परोक्ष विषयोंको भी जाननेवाले हैं; अतः यह बतलाइये कि प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न करके फिर सृष्टिको बढ़ानेके लिये क्या किया॥ ९॥ मरीचि आदि मुनीश्वरोंने और स्वायम्भुव मनुने भी ब्रह्माजीकी आज्ञासे किस प्रकार प्रजाकी वृद्धि की?॥ १०॥ क्या उन्होंने इस जगत्को पत्नियोंके सहयोगसे उत्पन्न किया या अपने-अपने कार्यमें स्वतन्त्र रहकर अथवा सबने एक साथ मिलकर इस जगत्की रचना की?॥ ११॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! जिसकी गतिको जानना अत्यन्त कठिन है—उस जीवोंके प्रारब्ध, प्रकृतिके नियन्ता पुरुष और काल—इन तीन हेतुओंसे तथा भगवान्की सन्निधिसे त्रिगुणमय प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर उससे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ॥ १२॥ दैवकी प्रेरणासे रजःप्रधान महत्तत्त्वसे वैकारिक (सात्त्विक), राजस और तामस—तीन प्रकारका अहङ्कार उत्पन्न हुआ। उसने आकाशादि पाँच-पाँच तत्त्वोंके अनेक वर्ग* प्रकट किये॥ १३॥ वे सब अलग-अलग रहकर भूतोंके कार्यरूप ब्रह्माण्डकी रचना नहीं कर सकते थे; इसलिये उन्होंने भगवान्की शक्तिसे परस्पर संगठित होकर एक सुवर्णवर्ण अण्डकी रचना की॥ १४॥ वह अण्ड चेतनाशून्य अवस्थामें एक हजार वर्षोंसे भी अधिक समयतक कारणाब्धिके जलमें पड़ा रहा। फिर उसमें श्रीभगवान्ने प्रवेश किया॥ १५॥ उसमें अधिष्ठित होनेपर उनकी नाभिसे सहस्र सूर्योंके समान अत्यन्त देदीप्यमान एक कमल प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण जीव-समुदायका आश्रय था। उसीसे स्वयं ब्रह्माजीका भी आविर्भाव हुआ है॥ १६॥

जब ब्रह्माण्डके गर्भरूप जलमें शयन करनेवाले श्रीनारायणदेवने ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें प्रवेश किया, तब वे पूर्वकल्पोंमें अपने ही द्वारा निश्चित की हुई नाम-रूपमयी व्यवस्थाके अनुसार लोकोंकी रचना करने लगे॥ १७॥

---

१. प्रा० पा०—सर्वमकल्पयन्। २. प्रा० पा०—भूतानि विय०।

* पंच तन्मात्र, पंच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और उनके पाँच-पाँच देवता—इन्हीं छः वर्गोंका यहाँ संकेत समझना चाहिये।

ससर्जच्छाययाविद्यां पंचपर्वाणमग्रतः।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः॥ १८

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम्।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम्॥ १९

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः॥ २०

देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ॥ २१

देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत्।
ते अहार्षुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः॥ २२

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान्।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे॥ २३

ततो हसन् स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत्॥ २४

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम्।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम्॥ २५

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः।
ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो॥ २६

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः।
त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव॥ २७

सबसे पहले उन्होंने अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—यों पाँच प्रकारकी अविद्या उत्पन्न की॥ १८॥ ब्रह्माजीको अपना वह तमोमय शरीर अच्छा नहीं लगा, अतः उन्होंने उसे त्याग दिया। तब जिससे भूख-प्यासकी उत्पत्ति होती है—ऐसे रात्रिरूप उस शरीरको उसीसे उत्पन्न हुए यक्ष और राक्षसोंने ग्रहण कर लिया॥ १९॥ उस समय भूख-प्याससे अभिभूत होकर वे ब्रह्माजीको खानेको दौड़ पड़े और कहने लगे—'इसे खा जाओ, इसकी रक्षा मत करो' क्योंकि वे भूख-प्याससे व्याकुल हो रहे थे॥ २०॥ ब्रह्माजीने घबराकर उनसे कहा—'अरे यक्ष-राक्षसो! तुम मेरी सन्तान हो; इसलिये मुझे भक्षण मत करो, मेरी रक्षा करो!' (उनमेंसे जिन्होंने कहा 'खा जाओ', वे यक्ष हुए और जिन्होंने कहा 'रक्षा मत करो', वे राक्षस कहलाये)॥ २१॥

फिर ब्रह्माजीने सात्त्विकी प्रभासे देदीप्यमान होकर मुख्य-मुख्य देवताओंकी रचना की। उन्होंने क्रीडा करते हुए, ब्रह्माजीके त्यागनेपर, उनका वह दिनरूप प्रकाशमय शरीर ग्रहण कर लिया॥ २२॥ इसके पश्चात् ब्रह्माजीने अपने जघनदेशसे कामासक्त असुरोंको उत्पन्न किया। वे अत्यन्त कामलोलुप होनेके कारण उत्पन्न होते ही मैथुनके लिये ब्रह्माजीकी ओर चले॥ २३॥ यह देखकर पहले तो वे हँसे; किन्तु फिर उन निर्लज्ज असुरोंको अपने पीछे लगा देख भयभीत और क्रोधित होकर बड़े जोरसे भागे॥ २४॥ तब उन्होंने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनकी भावनाके अनुसार दर्शन देनेवाले, शरणागतवत्सल वरदायक श्रीहरिके पास जाकर कहा—॥ २५॥ 'परमात्मन्! मेरी रक्षा कीजिये; मैंने तो आपकी ही आज्ञासे प्रजा उत्पन्न की थी, किन्तु यह तो पापमें प्रवृत्त होकर मुझको ही तंग करने चली है॥ २६॥ नाथ! एकमात्र आप ही दुःखी जीवोंका दुःख दूर करनेवाले हैं और जो आपकी चरणशरणमें नहीं आते, उन्हें दुःख देनेवाले भी एकमात्र आप ही हैं'॥ २७॥

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह॥ २८

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम्।
कांचीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ॥ २९

अन्योन्यश्लेषयोत्तुंगनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम्॥ ३०

गूहन्तीं व्रीडयाऽऽत्मानं नीलालकवरूथिनीम्।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे सम्मुमुहुः स्त्रियम्॥ ३१

अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति॥ ३२

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम्।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन् कुमेधसः॥ ३३

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे॥ ३४

या वा काचित्त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः॥ ३५

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतंगम्।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं
शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः॥ ३६

प्रभु तो प्रत्यक्षवत् सबके हृदयकी जाननेवाले हैं। उन्होंने ब्रह्माजीकी आतुरता देखकर कहा—'तुम अपने इस कामकलुषित शरीरको त्याग दो।' भगवान्के यों कहते ही उन्होंने वह शरीर भी छोड़ दिया॥ २८॥ (ब्रह्माजीका छोड़ा हुआ वह शरीर एक सुन्दरी स्त्री—संध्यादेवीके रूपमें परिणत हो गया।) उसके चरणकमलोंके पायजेब झंकृत हो रहे थे। उसकी आँखें मतवाली हो रही थीं और कमर करधनीकी लड़ोंसे सुशोभित सजीली साड़ीसे ढकी हुई थी॥ २९॥ उसके उभरे हुए स्तन इस प्रकार एक-दूसरेसे सटे हुए थे कि उनके बीचमें कोई अन्तर ही नहीं रह गया था। उसकी नासिका और दन्तावली बड़ी ही सुघड़ थी तथा वह मधुर-मधुर मुसकराती हुई असुरोंकी ओर हाव-भावपूर्ण दृष्टिसे देख रही थी॥ ३०॥ वह नीली-नीली अलकावलीसे सुशोभित सुकुमारी मानो लज्जाके मारे अपने अंचलमें ही सिमिटी जाती थी। विदुरजी! उस सुन्दरीको देखकर सब-के-सब असुर मोहित हो गये ॥ ३१॥ 'अहो! इसका कैसा विचित्र रूप, कैसा अलौकिक धैर्य और कैसी नयी अवस्था है। देखो, हम कामपीड़ितोंके बीचमें यह कैसी बेपरवाह-सी विचर रही है'॥ ३२॥

इस प्रकार उन कुबुद्धि दैत्योंने स्त्रीरूपिणी संध्याके विषयमें तरह-तरहके तर्क-वितर्क करके फिर उसका बहुत आदर करते हुए प्रेमपूर्वक पूछा— ॥ ३३॥ 'सुन्दरि! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो? भामिनि! यहाँ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है? तुम अपने अनूप रूपका यह बेमोल सौदा दिखाकर हम अभागोंको क्यों तरसा रही हो॥ ३४॥ अबले! तुम कोई भी क्यों न हो, हमें तुम्हारा दर्शन हुआ—यह बड़े सौभाग्यकी बात है। तुम अपनी गेंद उछाल-उछालकर तो हम दर्शकोंके मनको मथे डालती हो॥ ३५॥ सुन्दरि! जब तुम उछलती हुई गेंदपर अपनी हथेलीकी थपकी मारती हो, तब तुम्हारा चरण-कमल एक जगह नहीं ठहरता; तुम्हारा कटिप्रदेश स्थूल स्तनोंके भारसे थक-सा जाता है और तुम्हारी निर्मल दृष्टिसे भी थकावट झलकने लगती है। अहो! तुम्हारा केशपाश कैसा सुन्दर है'॥ ३६॥

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम्।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम्॥ ३७

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना।
कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान्॥ ३८

विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम्।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः॥ ३९

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा।
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद् दृशौ॥ ४०

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः।
निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते॥ ४१

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः।
साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणासृजत्प्रभुः॥ ४२

त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते॥ ४३

सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत्।
तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम्॥ ४४

स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः।
मानयन्नात्मनाऽऽत्मानमात्माभासं विलोकयन्॥ ४५

ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः॥ ४६

इस प्रकार स्त्रीरूपसे प्रकट हुई उस सायंकालीन सन्ध्याने उन्हें अत्यन्त कामासक्त कर दिया और उन मूढ़ोंने उसे कोई रमणीरत्न समझकर ग्रहण कर लिया॥ ३७॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने गम्भीर भावसे हँसकर अपनी कान्तिमयी मूर्तिसे, जो अपने सौन्दर्यका मानो आप ही आस्वादन करती थी, गन्धर्व और अप्सराओंको उत्पन्न किया॥ ३८॥ उन्होंने ज्योत्स्ना (चन्द्रिका)-रूप अपने उस कान्तिमय प्रिय शरीरको त्याग दिया। उसीको विश्वावसु आदि गन्धर्वोंने प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ ३९॥

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माने अपनी तन्द्रासे भूत-पिशाच उत्पन्न किये। उन्हें दिगम्बर (वस्त्रहीन) और बाल बिखेरे देख उन्होंने आँखें मूँद लीं॥ ४०॥ ब्रह्माजीके त्यागे हुए उस जँभाईरूप शरीरको भूत-पिशाचोंने ग्रहण किया। इसीको निद्रा भी कहते हैं, जिससे जीवोंकी इन्द्रियोंमें शिथिलता आती देखी जाती है। यदि कोई मनुष्य जूठे मुँह सो जाता है तो उसपर भूत-पिशाचादि आक्रमण करते हैं; उसीको उन्माद कहते हैं॥ ४१॥

फिर भगवान् ब्रह्माने भावना की कि मैं तेजोमय हूँ और अपने अदृश्य रूपसे साध्यगण एवं पितृगणको उत्पन्न किया॥ ४२॥ पितरोंने अपनी उत्पत्तिके स्थान उस अदृश्य शरीरको ग्रहण कर लिया। इसीको लक्ष्यमें रखकर पण्डितजन श्राद्धादिके द्वारा पितर और साध्यगणोंको क्रमशः कव्य (पिण्ड) और हव्य अर्पण करते हैं॥ ४३॥

अपनी तिरोधानशक्तिसे ब्रह्माजीने सिद्ध और विद्याधरोंकी सृष्टि की और उन्हें अपना वह अन्तर्धान नामक अद्भुत शरीर दिया॥ ४४॥ एक बार ब्रह्माजीने अपना प्रतिबिम्ब देखा। तब अपनेको बहुत सुन्दर मानकर उस प्रतिबिम्बसे किन्नर और किम्पुरुष उत्पन्न किये॥ ४५॥ उन्होंने ब्रह्माजीके त्याग देनेपर उनका वह प्रतिबिम्ब-शरीर ग्रहण किया। इसीलिये ये सब उषःकालमें अपनी पत्नियोंके साथ मिलकर ब्रह्माजीके गुण-कर्मादिका गान किया करते हैं॥ ४६॥

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः॥ ४७
येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः॥ ४८
स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः।
तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान्॥ ४९
तेभ्यः सोऽत्यसृजत्स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान्।
तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम्॥ ५०
अहो एतज्जगत्स्त्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम्।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकमन्नमदामहे॥ ५१
तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना।
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः॥ ५२
तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥ ५३

एक बार ब्रह्माजी सृष्टिकी वृद्धि न होनेके कारण बहुत चिन्तित होकर हाथ-पैर आदि अवयवोंको फैलाकर लेट गये और फिर क्रोधवश उस भोगमय शरीरको त्याग दिया॥ ४७॥ उससे जो बाल झड़कर गिरे, वे अहि हुए तथा उसके हाथ-पैर सिकोड़कर चलनेसे क्रूरस्वभाव सर्प और नाग हुए, जिनका शरीर फणरूपसे कंधेके पास बहुत फैला होता है॥ ४८॥

एक बार ब्रह्माजीने अपनेको कृतकृत्य-सा अनुभव किया। उस समय अन्तमें उन्होंने अपने मनसे मनुओंकी सृष्टि की। ये सब प्रजाकी वृद्धि करनेवाले हैं॥ ४९॥ मनस्वी ब्रह्माजीने उनके लिये अपना पुरुषाकार शरीर त्याग दिया। मनुओंको देखकर उनसे पहले उत्पन्न हुए देवता-गन्धर्वादि ब्रह्माजीकी स्तुति करने लगे॥ ५०॥ वे बोले, 'विश्वकर्ता ब्रह्माजी! आपकी यह (मनुओंकी) सृष्टि बड़ी ही सुन्दर है। इसमें अग्निहोत्र आदि सभी कर्म प्रतिष्ठित हैं। इसकी सहायतासे हम भी अपना अन्न (हविर्भाग) ग्रहण कर सकेंगे'॥ ५१॥

फिर आदिऋषि ब्रह्माजीने इन्द्रियसंयमपूर्वक तप, विद्या, योग और समाधिसे सम्पन्न हो अपनी प्रिय सन्तान ऋषिगणकी रचना की और उनमेंसे प्रत्येकको अपने समाधि, योग, ऐश्वर्य, तप, विद्या और वैराग्यमय शरीरका अंश दिया॥ ५२-५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विंशोऽध्यायः॥ २०॥

अथैकविंशोऽध्यायः

कर्दमजीकी तपस्या और भगवान्‌का वरदान

विदुर उवाच

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः।
कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः॥ १
प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम्॥ २
तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ॥ ३

विदुरजीने पूछा—भगवन्! स्वायम्भुव मनुका वंश बड़ा आदरणीय माना गया है। उसमें मैथुनधर्मके द्वारा प्रजाकी वृद्धि हुई थी। अब आप मुझे उसीकी कथा सुनाइये॥ १॥ ब्रह्मन्! आपने कहा था कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपादने सातों द्वीपोंवाली पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया था तथा उनकी पुत्री जो देवहूति नामसे विख्यात थी, कर्दमप्रजापतिको ब्याही गयी थी।॥ २-३॥

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद॥ ४

रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम्॥ ५

मैत्रेय उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश॥ ६

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम्॥ ७

तावत्प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः॥ ८

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम्।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम्॥ ९

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम्।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम्॥ १०

विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम्॥ ११

जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः।
गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृतांजलिः॥ १२

देवहूति योगके लक्षण यमादिसे सम्पन्न थी, उससे महायोगी कर्दमजीने कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं? वह सब प्रसंग आप मुझे सुनाइये, मुझे उसके सुननेकी बड़ी इच्छा है॥ ४॥ इसी प्रकार भगवान् रुचि और ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने भी मनुजीकी कन्याओंका पाणिग्रहण करके उनसे किस प्रकार क्या-क्या सन्तान उत्पन्न की, यह सब चरित भी मुझे सुनाइये॥ ५॥

मैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! जब ब्रह्माजीने भगवान् कर्दमको आज्ञा दी कि तुम संतानकी उत्पत्ति करो तो उन्होंने दस हजार वर्षोंतक सरस्वती नदीके तीरपर तपस्या की॥ ६॥ वे एकाग्रचित्तसे प्रेमपूर्वक पूजनोपचारद्वारा शरणागतवरदायक श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ७॥ तब सत्ययुगके आरम्भमें कमलनयन भगवान् श्रीहरिने उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन्हें अपने शब्दब्रह्ममय स्वरूपसे मूर्तिमान् होकर दर्शन दिये॥ ८॥

भगवान्‌की वह भव्य मूर्ति सूर्यके समान तेजोमयी थी। वे गलेमें श्वेत कमल और कुमुदके फूलोंकी माला धारण किये हुए थे, मुखकमल नीली और चिकनी अलकावलीसे सुशोभित था। वे निर्मल वस्त्र धारण किये हुए थे॥ ९॥ सिरपर झिलमिलाता हुआ सुवर्णमय मुकुट, कानोंमें जगमगाते हुए कुण्डल और करकमलोंमें शंख, चक्र, गदा आदि आयुध विराजमान थे। उनके एक हाथमें क्रीडाके लिये श्वेत कमल सुशोभित था। प्रभुकी मधुर मुसकानभरी चितवन चित्तको चुराये लेती थी॥ १०॥ उनके चरणकमल गरुडजीके कंधोंपर विराजमान थे, तथा वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी और कण्ठमें कौस्तुभमणि सुशोभित थी। प्रभुकी इस आकाशस्थित मनोहर मूर्तिका दर्शन करके कर्दमजीको बड़ा हर्ष हुआ, मानो उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। उन्होंने सानन्द हृदयसे पृथ्वीपर सिर टेककर भगवान्‌को साष्टांग प्रणाम किया और फिर प्रेमप्रवण चित्तसे हाथ जोड़कर सुमधुर वाणीसे वे उनकी स्तुति करने लगे॥ ११-१२॥

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः
सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः॥ १३

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः॥ १४

तथा स चाहं परिवोढुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम्।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य॥ १५

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः।
अहं च लोकानुगतो वहामि
बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम्॥ १६

लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम्।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥ १७

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व।
षण्णेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ॥ १८

कर्दमजीने कहा—स्तुति करनेयोग्य परमेश्वर! आप सम्पूर्ण सत्त्वगुणके आधार हैं। योगिजन उत्तरोत्तर शुभ योनियोंमें जन्म लेकर अन्तमें योगस्थ होनेपर आपके दर्शनोंकी इच्छा करते हैं; आज आपका वही दर्शन पाकर हमें नेत्रोंका फल मिल गया॥ १३॥ आपके चरणकमल भवसागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। जिनकी बुद्धि आपकी मायासे मारी गयी है, वे ही उन तुच्छ क्षणिक विषय-सुखोंके लिये, जो नरकमें भी मिल सकते हैं उन चरणोंका आश्रय लेते हैं; किन्तु स्वामिन्! आप तो उन्हें वे विषय-भोग भी दे देते हैं॥ १४॥ प्रभो! आप कल्पवृक्ष हैं। आपके चरण समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं। मेरा हृदय काम-कलुषित है। मैं भी अपने अनुरूप स्वभाव-वाली और गृहस्थधर्मके पालनमें सहायक शीलवती कन्यासे विवाह करनेके लिये आपके चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ॥ १५॥ सर्वेश्वर! आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हैं। नाना प्रकारकी कामनाओंमें फँसा हुआ यह लोक आपकी वेद-वाणीरूप डोरीमें बँधा है। धर्ममूर्ते! उसीका अनुगमन करता हुआ मैं भी कालरूप आपको आज्ञापालनरूप पूजोपहारादि समर्पित करता हूँ॥ १६॥

प्रभो! आपके भक्त विषयासक्त लोगों और उन्हींके मार्गका अनुसरण करनेवाले मुझ-जैसे कर्मजड पशुओंको कुछ भी न गिनकर आपके चरणोंकी छत्रच्छायाका ही आश्रय लेते हैं तथा परस्पर आपके गुणगानरूप मादक सुधाका ही पान करके अपने क्षुधा-पिपासादि देहधर्मोंको शान्त करते रहते हैं॥ १७॥ प्रभो! यह कालचक्र बड़ा प्रबल है। साक्षात् ब्रह्म ही इसके घूमनेकी धुरी है, अधिक माससहित तेरह महीने अरे हैं, तीन सौ साठ दिन जोड़ हैं, छः ऋतुएँ नेमि (हाल) हैं, अनन्त क्षण-पल आदि इसमें पत्राकार धाराएँ हैं तथा तीन चातुर्मास्य इसके आधारभूत नाभि हैं। यह अत्यन्त वेगवान् संवत्सररूप कालचक्र चराचर जगत्की आयुका छेदन करता हुआ घूमता रहता है, किंतु आपके भक्तोंकी आयुका ह्रास नहीं कर सकता॥ १८॥

एकः स्वयं संजगतः सिसृक्षया-
द्वितीययाऽऽत्मन्नधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन् स्वशक्तिभिः ॥ १९
नैतद्बताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम्।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया
लसत्तुलस्या तनुवा विलक्षितः ॥ २०
तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम्।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥ २१

ऋषिरुवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ॥ २२

श्रीभगवानुवाच

विदित्वा तव चैत्त्यं मे पुरैव समयोजि तत्।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥ २३
न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम्।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥ २४
प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विख्यातमंगलः।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥ २५
स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥ २६

भगवन्! जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही जालेको फैलाती, उसकी रक्षा करती और अन्तमें उसे निगल जाती है—उसी प्रकार आप अकेले ही जगत्‌की रचना करनेके लिये अपनेसे अभिन्न अपनी योगमायाको स्वीकारकर उससे अभिव्यक्त हुई अपनी सत्त्वादि शक्तियोंद्वारा स्वयं ही इस जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं॥ १९॥ प्रभो! इस समय आपने हमें अपनी तुलसीमालामण्डित, मायासे परिच्छिन्न-सी दिखायी देनेवाली सगुणमूर्तिसे दर्शन दिया है। आप हम भक्तोंको जो शब्दादि विषय-सुख प्रदान करते हैं, वे मायिक होनेके कारण यद्यपि आपको पसंद नहीं हैं, तथापि परिणाममें हमारा शुभ करनेके लिये वे हमें प्राप्त हों— ॥ २०॥

नाथ! आप स्वरूपसे निष्क्रिय होनेपर भी मायाके द्वारा सारे संसारका व्यवहार चलानेवाले हैं तथा थोड़ी-सी उपासना करनेवालेपर भी समस्त अभिलषित वस्तुओंकी वर्षा करते रहते हैं। आपके चरणकमल वन्दनीय हैं, मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ २१ ॥।

मैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्‌की भौंहें प्रणयमुसकानभरी चितवनसे चंचल हो रही थीं, वे गरुड़जीके कंधेपर विराजमान थे। जब कर्दमजीने इस प्रकार निष्कपटभावसे उनकी स्तुति की तब वे उनसे अमृतमयी वाणीसे कहने लगे॥ २२॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—जिसके लिये तुमने आत्मसंयमादिके द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदयके उस भावको जानकर मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था कर दी है॥ २३॥ प्रजापते! मेरी आराधना तो कभी भी निष्फल नहीं होती; फिर जिनका चित्त निरन्तर एकान्तरूपसे मुझमें ही लगा रहता है, उन तुम-जैसे महात्माओंके द्वारा की हुई उपासनाका तो और भी अधिक फल होता है॥ २४॥ प्रसिद्ध यशस्वी सम्राट् स्वायम्भुव मनु ब्रह्मावर्तमें रहकर सात समुद्रवाली सारी पृथ्वीका शासन करते हैं॥ २५॥ विप्रवर! वे परम धर्मज्ञ महाराज महारानी शतरूपाके साथ तुमसे मिलनेके लिये परसों यहाँ आयेंगे॥ २६॥

आत्मजामसितापांगीं वयःशीलगुणान्विताम्।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो॥ २७
समाहितं ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान्।
सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति॥ २८
या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसाऽऽत्मनः॥ २९
त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः।
मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे॥ ३०
कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान्।
मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम्॥ ३१
सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम्॥ ३२

मैत्रेय उवाच

एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात्॥ ३३
निरीक्षतस्तस्य ययावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः।
आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम॥ ३४
अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन्॥ ३५
मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम्।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम्॥ ३६
तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत्समादिशत्।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत्॥ ३७

उनकी एक रूप-यौवन, शील और गुणोंसे सम्पन्न श्यामलोचना कन्या इस समय विवाहके योग्य है। प्रजापते! तुम सर्वथा उसके योग्य हो, इसलिये वे तुम्हींको वह कन्या अर्पण करेंगे॥ २७॥ ब्रह्मन्! गत अनेकों वर्षोंसे तुम्हारा चित्त जैसी भार्याके लिये समाहित रहा है, अब शीघ्र ही वह राजकन्या तुम्हारी वैसी ही पत्नी होकर यथेष्ट सेवा करेगी॥ २८॥ वह तुम्हारा वीर्य अपने गर्भमें धारणकर उससे नौ कन्याएँ उत्पन्न करेगी और फिर तुम्हारी उन कन्याओंसे लोकरीतिके अनुसार मरीचि आदि ऋषिगण पुत्र उत्पन्न करेंगे॥ २९॥ तुम भी मेरी आज्ञाका अच्छी तरह पालन करनेसे शुद्धचित्त हो, फिर अपने सब कर्मोंका फल मुझे अर्पणकर मुझको ही प्राप्त होओगे॥ ३०॥ जीवोंपर दया करते हुए तुम आत्मज्ञान प्राप्त करोगे और फिर सबको अभय-दान दे अपने सहित सम्पूर्ण जगत्‌को मुझमें और मुझको अपनेमें स्थित देखोगे॥ ३१॥ महामुने! मैं भी अपने अंश-कलारूपसे तुम्हारे वीर्यद्वारा तुम्हारी पत्नी देवहूतिके गर्भमें अवतीर्ण होकर सांख्यशास्त्रकी रचना करूँगा॥ ३२॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! कर्दमऋषिसे इस प्रकार सम्भाषण करके, इन्द्रियोंके अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होनेवाले श्रीहरि सरस्वती नदीसे घिरे हुए बिन्दुसर-तीर्थसे (जहाँ कर्दमऋषि तप कर रहे थे) अपने लोकको चले गये॥ ३३॥ भगवान्‌के सिद्धमार्ग (वैकुण्ठमार्ग) की सभी सिद्धेश्वर प्रशंसा करते हैं। वे कर्दमजीके देखते-देखते अपने लोकको सिधार गये। उस समय गरुडजीके पक्षोंसे जो सामकी आधारभूता ऋचाएँ निकल रही थीं, उन्हें वे सुनते जाते थे ॥ ३४॥

विदुरजी! श्रीहरिके चले जानेपर भगवान् कर्दम उनके बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु-सरोवरपर ही ठहरे रहे ॥ ३५॥ वीरवर! इधर मनुजी भी महारानी शतरूपाके साथ सुवर्णजटित रथपर सवार होकर तथा उसपर अपनी कन्याको भी बिठाकर पृथ्वीपर विचरते हुए, जो दिन भगवान्‌ने बताया था, उसी दिन शान्तिपरायण महर्षि कर्दमके उस आश्रमपर पहुँचे॥ ३६-३७॥

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम्॥ ३८

तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम्।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम्॥ ३९

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम्॥ ४०

मत्तद्विजगणैर्घुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम्।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम्॥ ४१

कदम्बचम्पकाशोककरंजबकुलासनैः।
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम्॥ ४२

कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम्॥ ४३

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुंजरैः।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम्॥ ४४

प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः।
ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन् हुतहुताशनम्॥ ४५

विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम्।
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापांगावलोकनात्।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च॥ ४६

प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम्।
उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम्॥ ४७

सरस्वतीके जलसे भरा हुआ यह बिन्दुसरोवर वह स्थान है, जहाँ अपने शरणागत भक्त कर्दमके प्रति उत्पन्न हुई अत्यन्त करुणाके वशीभूत हुए भगवान्के नेत्रोंसे आँसुओंकी बूँदें गिरी थीं। यह तीर्थ बड़ा पवित्र है, इसका जल कल्याणमय और अमृतके समान मधुर है तथा महर्षिगण सदा इसका सेवन करते हैं॥ ३८-३९॥ उस समय बिन्दुसरोवर पवित्र वृक्ष-लताओंसे घिरा हुआ था, जिनमें तरह-तरहकी बोली बोलनेवाले पवित्र मृग और पक्षी रहते थे, वह स्थान सभी ऋतुओंके फल और फूलोंसे सम्पन्न था और सुन्दर वनश्रेणी भी उसकी शोभा बढ़ाती थी॥ ४०॥ वहाँ झुंड-के-झुंड मतवाले पक्षी चहक रहे थे, मतवाले भौंरे मँडरा रहे थे, उन्मत्त मयूर अपने पिच्छ फैला-फैलाकर नटकी भाँति नृत्य कर रहे थे और मतवाले कोकिल कुहू-कुहू करके मानो एक-दूसरेको बुला रहे थे॥ ४१॥ वह आश्रम कदम्ब, चम्पक, अशोक, करंज, बकुल, असन, कुन्द, मन्दार, कुटज और नये-नये आमके वृक्षोंसे अलंकृत था॥ ४२॥ वहाँ जलकाग, बत्तख आदि जलपर तैरनेवाले पक्षी हंस, कुरर, जलमुर्ग, सारस, चकवा और चकोर मधुर स्वरसे कलरव कर रहे थे॥ ४३॥ हरिन, सूअर, स्याही, नीलगाय, हाथी, लंगूर, सिंह, वानर, नेवले और कस्तूरीमृग आदि पशुओंसे भी वह आश्रम घिरा हुआ था॥ ४४॥

आदिराज महाराज मनुने उस उत्तम तीर्थमें कन्याके सहित पहुँचकर देखा कि मुनिवर कर्दम अग्निहोत्रसे निवृत्त होकर बैठे हुए हैं॥ ४५॥ बहुत दिनोंतक उग्र तपस्या करनेके कारण वे शरीरसे बड़े तेजस्वी दीख पड़ते थे तथा भगवान्के स्नेहपूर्ण चितवनके दर्शन और उनके उच्चारण किये हुए कर्णामृतरूप सुमधुर वचनोंको सुननेसे, इतने दिनोंतक तपस्या करनेपर भी वे विशेष दुर्बल नहीं जान पड़ते थे॥ ४६॥ उनका शरीर लम्बा था, नेत्र कमलदलके समान विशाल और मनोहर थे, सिरपर जटाएँ सुशोभित थीं और कमरमें चीर-वस्त्र थे। वे निकटसे देखनेपर बिना सानपर चढ़ी हुई महामूल्य मणिके समान मलिन जान पड़ते थे॥ ४७॥

अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः।
सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया॥ ४८

महाराज स्वायम्भुव मनुको अपनी कुटीमें आकर प्रणाम करते देख उन्होंने उन्हें आशीर्वादसे प्रसन्न किया और यथोचित आतिथ्यकी रीतिसे उनका स्वागत-सत्कार किया॥ ४८॥

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः।
स्मरन् भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा॥ ४९

जब मनुजी उनकी पूजा ग्रहण कर स्वस्थ-चित्तसे आसनपर बैठ गये, तब मुनिवर कर्दमने भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण कर उन्हें मधुर वाणीसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ४९॥

नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी॥ ५०

'देव! आप भगवान् विष्णुकी पालनशक्तिरूप हैं, इसलिये आपका घूमना-फिरना निःसन्देह सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंके संहारके लिये ही होता है॥ ५०॥

योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम्।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः॥ ५१

आप साक्षात् विशुद्ध विष्णुस्वरूप हैं तथा भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण आदि रूप धारण करते हैं; आपको नमस्कार है॥ ५१॥

न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम्।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान्॥ ५२

स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः।
विकर्षन् बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव॥ ५३

तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः।
भगवद्रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः॥ ५४

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति॥ ५५

आप मणियोंसे जड़े हुए जयदायक रथपर सवार हो अपने प्रचण्ड धनुषकी टंकार करते हुए उस रथकी घरघराहटसे ही पापियोंको भयभीत कर देते हैं और अपनी सेनाके चरणोंसे रौंदे हुए भूमण्डलको कँपाते अपनी उस विशाल सेनाको साथ लेकर पृथ्वीपर सूर्यके समान विचरते हैं। यदि आप ऐसा न करें तो चोर-डाकू भगवान्‌की बनायी हुई वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाको तत्काल नष्ट कर दें तथा विषयलोलुप निरंकुश मानवोंद्वारा सर्वत्र अधर्म फैल जाय। यदि आप संसारकी ओरसे निश्चिन्त हो जायँ तो यह लोक दुराचारियोंके पंजेमें पड़कर नष्ट हो जाय॥ ५२-५५॥

अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा॥ ५६

तो भी वीरवर! मैं आपसे पूछता हूँ कि इस समय यहाँ आपका आगमन किस प्रयोजनसे हुआ है; मेरे लिये जो आज्ञा होगी उसे मैं निष्कपट भावसे सहर्ष स्वीकार करूँगा॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

देवहूतिके साथ कर्दम प्रजापतिका विवाह

मैत्रेय उवाच

एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम्।
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह॥ १

मनुरुवाच

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २
तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात् ।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म[1] क्षत्रमंगं प्रचक्षते॥ ३
अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः॥ ४
तव सन्दर्शनादेव च्छिन्ना मे सर्वसंशयाः।
यत्स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः॥ ५
दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम्।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम्॥ ६
दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान्।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः॥ ७
स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने॥ ८
प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयः शीलगुणादिभिः॥ ९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार जब कर्दमजीने मनुजीके सम्पूर्ण गुणों और कर्मोंकी श्रेष्ठताका वर्णन किया तो उन्होंने उन निवृत्तिपरायण मुनिसे कुछ सकुचाकर कहा॥ १॥

मनुजीने कहा—मुने! वेदमूर्ति भगवान् ब्रह्माने अपने वेदमय विग्रहकी रक्षाके लिये तप, विद्या और योगसे सम्पन्न तथा विषयोंमें अनासक्त आप ब्राह्मणोंको अपने मुखसे प्रकट किया है और फिर उन सहस्र चरणोंवाले विराट् पुरुषने आपलोगोंकी रक्षाके लिये ही अपनी सहस्रों भुजाओंसे हम क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है। इस प्रकार ब्राह्मण उनके हृदय और क्षत्रिय शरीर कहलाते हैं॥ २-३ ॥ अतः एक ही शरीरसे सम्बद्ध होनेके कारण अपनी-अपनी और एक-दूसरेकी रक्षा करनेवाले उन ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी वास्तवमें श्रीहरि ही रक्षा करते हैं जो समस्त कार्यकारणरूप होकर भी वास्तवमें निर्विकार हैं॥ ४॥ आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे सारे सन्देह दूर हो गये, क्योंकि आपने मेरी प्रशंसाके मिससे स्वयं ही प्रजापालनकी इच्छावाले राजाके धर्मोंका बड़े प्रेमसे निरूपण किया है॥ ५॥ आपका दर्शन अजितेन्द्रिय पुरुषोंको बहुत दुर्लभ है; मेरा बड़ा भाग्य है जो मुझे आपका दर्शन हुआ और मैं आपके चरणोंकी मंगलमयी रज अपने सिरपर चढ़ा सका॥ ६ ॥ मेरे भाग्योदयसे ही आपने मुझे राजधर्मोंकी शिक्षा देकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है और मैंने भी शुभ प्रारब्धका उदय होनेसे ही आपकी पवित्र वाणी कान खोलकर सुनी है॥ ७॥

मुने! इस कन्याके स्नेहवश मेरा चित्त बहुत चिन्ताग्रस्त हो रहा है; अतः मुझ दीनकी यह प्रार्थना आप कृपापूर्वक सुनें॥ ८॥ यह मेरी कन्या—जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहिन है—अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पतिको पानेकी इच्छा रखती है॥ ९॥

१. प्रा० पा०—ब्रह्मन्नुत्तमांगं प्र०।

यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान्।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया॥ १०
तत्प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपहृतां मया।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु॥ ११
उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते।
अपि निर्मुक्तसंगस्य कामरक्तस्य किं पुनः॥ १२
य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः॥ १३
अहं त्वाशृणवं विद्वन् विवाहार्थं समुद्यतम्।
अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे॥ १४

जबसे इसने नारदजीके मुखसे आपके शील, विद्या, रूप, आयु और गुणोंका वर्णन सुना है तभीसे यह आपको अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है॥ १०॥ द्विजवर! मैं बड़ी श्रद्धासे आपको यह कन्या समर्पित करता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये। यह गृहस्थोचित कार्योंके लिये सब प्रकार आपके योग्य है॥ ११॥ जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय, उसकी अवहेलना करना विरक्त पुरुषको भी उचित नहीं है; फिर विषयासक्तकी तो बात ही क्या है॥ १२॥ जो पुरुष स्वयं प्राप्त हुए भोगका निरादर कर फिर किसी कृपणके आगे हाथ पसारता है उसका बहुत फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है और दूसरोंके तिरस्कारसे मानभंग भी होता है॥ १३॥ विद्वन्! मैंने सुना है, आप विवाह करनेके लिये उद्यत हैं। आपका ब्रह्मचर्य एक सीमातक है, आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो हैं नहीं। इसलिये अब आप इस कन्याको स्वीकार कीजिये, मैं इसे आपको अर्पित करता हूँ॥ १४॥

ऋषिरुवाच

बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः॥ १५
कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम्॥ १६
यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम्।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमाना-
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः॥ १७

श्रीकर्दम मुनिने कहा—ठीक है, मैं विवाह करना चाहता हूँ और आपकी कन्याका अभी किसीके साथ वाग्दान नहीं हुआ है, इसलिये हम दोनोंका सर्वश्रेष्ठ ब्राह्म* विधिसे विवाह होना उचित ही होगा॥ १५॥ राजन्! वेदोक्त विवाह-विधिमें प्रसिद्ध जो '**गृभ्णामि ते**' इत्यादि मन्त्रोंमें बताया हुआ काम (संतानोत्पादनरूप मनोरथ) है, वह आपकी इस कन्याके साथ हमारा सम्बन्ध होनेसे सफल होगा। भला, जो अपनी अंगकान्तिसे आभूषणादिकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रही है, आपकी उस कन्याका कौन आदर न करेगा?॥ १६॥

एक बार यह अपने महलकी छतपर गेंद खेल रही थी। गेंदके पीछे इधर-उधर दौड़नेके कारण इसके नेत्र चंचल हो रहे थे तथा पैरोंके पायजेब मधुर झनकार करते जाते थे। उस समय इसे देखकर विश्वावसु गन्धर्व मोहवश अचेत होकर अपने विमानसे गिर पड़ा था॥ १७॥

* मनुस्मृतिमें आठ प्रकारके विवाहोंका उल्लेख पाया जाता है—(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस और (८) पैशाच। इनके लक्षण वहीं तीसरे अध्यायमें देखने चाहिये। इनमें पहला सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इसमें पिता योग्य वरको कन्याका दान करता है।

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम्॥ १८
अतो भजिष्ये[1] समयेन साध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान्॥ १९
यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः॥ २०

मैत्रेय उवाच

स उग्रधन्वन्[2]नियदेवाबभाषे
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम्।
धियोपगृह्णन् स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः॥ २१
सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम्।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः॥ २२
शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्[3]महाधनान्।
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान्॥ २३
प्रत्तां[4] दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः॥ २४
अशक्नुवंस्तद्विरहं मुंचन् बाष्पकलां मुहुः।
आसिंचदम्ब[5] वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः॥ २५

वही इस समय यहाँ स्वयं आकर प्रार्थना कर रही है; ऐसी अवस्थामें कौन समझदार पुरुष इसे स्वीकार न करेगा? यह तो साक्षात् आप महाराज श्रीस्वायम्भुवमनुकी दुलारी कन्या और उत्तानपादकी प्यारी बहिन है; तथा यह रमणियोंमें रत्नके समान है। जिन लोगोंने कभी श्रीलक्ष्मीजीके चरणोंकी उपासना नहीं की है, उन्हें तो इसका दर्शन भी नहीं हो सकता॥ १८॥ अतः मैं आपकी इस साध्वी कन्याको अवश्य स्वीकार करूँगा, किन्तु एक शर्तके साथ। जबतक इसके संतान न हो जायगी, तबतक मैं गृहस्थ-धर्मानुसार इसके साथ रहूँगा। उसके बाद भगवान्के बताये हुए संन्यासप्रधान हिंसारहित शम-दमादि धर्मोंको ही अधिक महत्त्व दूँगा॥ १९॥ जिनसे इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति हुई है, जिनमें यह लीन हो जाता है और जिनके आश्रयसे यह स्थित है—मुझे तो वे प्रजापतियोंके भी पति भगवान् श्रीअनन्त ही सबसे अधिक मान्य हैं॥ २०॥

मैत्रेयजी कहते हैं—प्रचण्ड धनुर्धर विदुर! कर्दमजी केवल इतना ही कह सके, फिर वे हृदयमें भगवान् कमलनाभका ध्यान करते हुए मौन हो गये। उस समय उनके मन्द हास्ययुक्त मुखकमलको देखकर देवहूतिका चित्त लुभा गया॥ २१॥ मनुजीने देखा कि इस सम्बन्धमें महारानी शतरूपा और राजकुमारीकी स्पष्ट अनुमति है, अतः उन्होंने अनेक गुणोंसे सम्पन्न कर्दमजीको उन्हींके समान गुणवती कन्याका प्रसन्नतापूर्वक दान कर दिया॥ २२॥ महारानी शतरूपाने भी बेटी और दामादको बड़े प्रेमपूर्वक बहुत से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोचित पात्रादि दहेजमें दिये॥ २३॥ इस प्रकार सुयोग्य वरको अपनी कन्या देकर महाराज मनु निश्चिन्त हो गये। चलती बार उसका वियोग न सह सकनेके कारण उन्होंने उत्कण्ठावश विह्वलचित्त होकर उसे अपनी छातीसे चिपटा लिया और 'बेटी! बेटी!' कहकर रोने लगे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी और उनसे उन्होंने देवहूतिके सिरके सारे बाल भिगो दिये॥ २४-२५॥

१. प्रा० पा०—वरिष्ये। २. प्रा पा—धन्वन्नृप आबभा। ३. प्रा० पा०—पारिहार्यं महाधनम्। ४. प्रा० पा०—पिता। ५. प्रा० पा०—आसिंचन्निव चात्मेति नेत्रो०।

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः॥ २६
उभयोर्ऋषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः॥ २७
तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम्।
गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः॥ २८
बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता।
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्यांगं विधुन्वतः॥ २९
कुशाः काशास्त एवासन् शश्वद्धरितवर्चसः।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे॥ ३०
कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान्मनुः।
अयजद्यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम्॥ ३१
बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विश्य समावसत्।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम्॥ ३२
सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः।
संगीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाः॥ ३३
निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायम्भुवं मनुम्।
यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम्॥ ३४
अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः॥ ३५
स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम्।
वासुदेवप्रसंगेन परिभूतगतित्रयः॥ ३६

फिर वे मुनिवर कर्दमसे पूछकर, उनकी आज्ञा ले रानीके सहित रथपर सवार हुए और अपने सेवकोंसहित ऋषिकुलसेवित सरस्वती नदीके दोनों तीरोंपर मुनियोंके आश्रमोंकी शोभा देखते हुए अपनी राजधानीमें चले आये॥ २६-२७॥

जब ब्रह्मावर्तकी प्रजाको यह समाचार मिला कि उसके स्वामी आ रहे हैं तब वह अत्यन्त आनन्दित होकर स्तुति, गीत एवं बाजे-गाजेके साथ अगवानी करनेके लिये ब्रह्मावर्तकी राजधानीसे बाहर आयी॥ २८॥ सब प्रकारकी सम्पदाओंसे युक्त बर्हिष्मती नगरी मनुजीकी राजधानी थी, जहाँ पृथ्वीको रसातलसे ले आनेके पश्चात् शरीर कँपाते समय श्रीवराहभगवान्के रोम झड़कर गिरे थे॥ २९॥ वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और कास हुए, जिनके द्वारा मुनियोंने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंका तिरस्कार कर भगवान् यज्ञपुरुषकी यज्ञोंद्वारा आराधना की है॥ ३०॥ महाराज मनुने भी श्रीवराहभगवान्से भूमिरूप निवासस्थान प्राप्त होनेपर इसी स्थानमें कुश और कासकी बर्हि (चटाई) बिछाकर श्रीयज्ञभगवान्की पूजा की थी॥ ३१॥

जिस बर्हिष्मती पुरीमें मनुजी निवास करते थे, उसमें पहुँचकर उन्होंने अपने त्रितापनाशक भवनमें प्रवेश किया॥ ३२॥ वहाँ अपनी भार्या और सन्ततिके सहित वे धर्म, अर्थ और मोक्षके अनुकूल भोगोंको भोगने लगे। प्रातःकाल होनेपर गन्धर्वगण अपनी स्त्रियोंके सहित उनका गुणगान करते थे; किन्तु मनुजी उसमें आसक्त न होकर प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीहरिकी कथाएँ ही सुना करते थे॥ ३३॥ वे इच्छानुसार भोगोंका निर्माण करनेमें कुशल थे; किन्तु मननशील और भगवत्परायण होनेके कारण भोग उन्हें किंचित् भी विचलित नहीं कर पाते थे॥ ३४॥ भगवान् विष्णुकी कथाओंका श्रवण, ध्यान, रचना और निरूपण करते रहनेके कारण उनके मन्वन्तरको व्यतीत करनेवाले क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाते थे॥ ३५॥ इस प्रकार अपनी जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं अथवा तीनों गुणोंको अभिभूत करके उन्होंने भगवान् वासुदेवके कथाप्रसंगमें अपने मन्वन्तरके इकहत्तर चतुर्युग पूरे कर दिये॥ ३६॥

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम्॥ ३७

व्यासनन्दन विदुरजी! जो पुरुष श्रीहरिके आश्रित रहता है उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक अथवा भौतिक दुःख किस प्रकार कष्ट पहुँचा सकते हैं॥ ३७॥

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान्।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा॥ ३८

मनुजी निरन्तर समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहते थे। मुनियोंके पूछनेपर उन्होंने मनुष्योंके तथा समस्त वर्ण और आश्रमोंके अनेक प्रकारके मंगलमय धर्मोंका भी वर्णन किया (जो मनुसंहिताके रूपमें अब भी उपलब्ध है)॥ ३८॥

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम्।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु॥ ३९

जगत्के सर्वप्रथम सम्राट् महाराज मनु वास्तवमें कीर्तनके योग्य थे। यह मैंने उनके अद्‌भुत चरित्रका वर्णन किया, अब उनकी कन्या देवहूतिका प्रभाव सुनो॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

कर्दम और देवहूतिका विहार

मैत्रेय उवाच

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिंगितकोविदा।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम्॥ १

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! माता-पिताके चले जानेपर पतिके अभिप्रायको समझ लेनेमें कुशल साध्वी देवहूति कर्दमजीकी प्रतिदिन प्रेम-पूर्वक सेवा करने लगी, ठीक उसी तरह, जैसे श्रीपार्वतीजी भगवान् शंकरकी सेवा करती हैं॥ १॥

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः॥ २
विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥ ३

उसने काम-वासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप और मदका त्यागकर बड़ी सावधानी और लगनके साथ सेवामें तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुरभाषणादि गुणोंसे अपने परम तेजस्वी पतिदेवको सन्तुष्ट कर लिया॥ २-३॥

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम्।
दैवाद्गरीयसः पत्युराशासानां महाशिषः॥ ४
कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया।
प्रेमगद्‌गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत्॥ ५

देवहूति समझती थी कि मेरे पतिदेव दैवसे भी बढ़कर हैं, इसलिये वह उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखकर उनकी सेवामें लगी रहती थी। इस प्रकार बहुत दिनोंतक अपना अनुवर्तन करनेवाली उस मनुपुत्रीको व्रतादिका पालन करनेसे दुर्बल हुई देख देवर्षिश्रेष्ठ कर्दमको दयावश कुछ खेद हुआ और उन्होंने उससे प्रेमगद्‌गद वाणीमें कहा॥ ४-५॥

कर्दम उवाच

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः
शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या।
यो देहिनामयमतीव सुहृत्स्वदेहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे॥ ६
ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान्॥ ७
अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निज[1]धर्मदोहान्
दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृपविक्रियाभिः॥ ८
एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत्।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्-
व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाऽऽह॥ ९

देवहूतिरुवाच

राद्धं बत[2] द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदंगसंगो
भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः[3] सतीनाम्॥ १०

कर्दमजी बोले—मनुनन्दिनि! तुमने मेरा बड़ा आदर किया है। मैं तुम्हारी उत्तम सेवा और परम भक्तिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। सभी देहधारियोंको अपना शरीर बहुत प्रिय एवं आदरकी वस्तु होता है, किन्तु तुमने मेरी सेवाके आगे उसके क्षीण होनेकी भी कोई परवा नहीं की॥ ६॥ अतः अपने धर्मका पालन करते रहनेसे मुझे तप, समाधि, उपासना और योगके द्वारा जो भय और शोकसे रहित भगवत्प्रसाद-स्वरूप विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनपर मेरी सेवाके प्रभावसे अब तुम्हारा भी अधिकार हो गया है। मैं तुम्हें दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ, उसके द्वारा तुम उन्हें देखो॥ ७॥ अन्य जितने भी भोग हैं, वे तो भगवान् श्रीहरिके भ्रुकुटि-विलासमात्रसे नष्ट हो जाते हैं; अतः वे इनके आगे कुछ भी नहीं हैं। तुम मेरी सेवासे भी कृतार्थ हो गयी हो; अपने पातिव्रत-धर्मका पालन करनेसे तुम्हें ये दिव्य भोग प्राप्त हो गये हैं, तुम इन्हें भोग सकती हो। हम राजा हैं, हमें सब कुछ सुलभ है, इस प्रकार जो अभिमान आदि विकार हैं, उनके रहते हुए मनुष्योंको इन दिव्य भोगोंकी प्राप्ति होनी कठिन है॥ ८॥

कर्दमजीके इस प्रकार कहनेसे अपने पतिदेवको सम्पूर्ण योगमाया और विद्याओंमें कुशल जानकर उस अबलाकी सारी चिन्ता जाती रही। उसका मुख किंचित् संकोचभरी चितवन और मधुर मुसकानसे खिल उठा और वह विनय एवं प्रेमसे गद्गद वाणीमें इस प्रकार कहने लगी॥ ९॥

देवहूतिने कहा—द्विजश्रेष्ठ! स्वामिन्! मैं यह जानती हूँ कि कभी निष्फल न होनेवाली योगशक्ति और त्रिगुणात्मिका मायापर अधिकार रखनेवाले आपको ये सब ऐश्वर्य प्राप्त हैं। किन्तु प्रभो! आपने विवाहके समय जो प्रतिज्ञा की थी कि गर्भाधान होनेतक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ-सुखका उपभोग करूँगा, उसकी अब पूर्ति होनी चाहिये। क्योंकि श्रेष्ठ पतिके द्वारा सन्तान प्राप्त होना पतिव्रता स्त्रीके लिये महान् लाभ है॥ १०॥

१. प्रा० पा०—निजवर्त्मदो। २. प्रा० पा०—तव। ३. प्रा० पा०—प्रभवः।

तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे कर्शितोऽतिरिरंसयाऽऽत्मा।
सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया
दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व॥ ११

हम दोनोंके समागमके लिये शास्त्रके अनुसार जो कर्तव्य हो, उसका आप उपदेश दीजिये और उबटन, गन्ध, भोजन आदि उपयोगी सामग्रियाँ भी जुटा दीजिये, जिससे मिलनकी इच्छासे अत्यन्त दीन, दुर्बल हुआ मेरा यह शरीर आपके अंग-संगके योग्य हो जाय; क्योंकि आपकी ही बढ़ायी हुई कामवेदनासे मैं पीडित हो रही हूँ। स्वामिन्! इस कार्यके लिये एक उपयुक्त भवन तैयार हो जाय, इसका भी विचार कीजिये॥ ११॥

मैत्रेय उवाच

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत्॥ १२
सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम्।
सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम्॥ १३
दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम्।
पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलंकृतम्॥ १४
स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्[1]मंजुशिंजत्षडङ्घ्रिभिः।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम्॥ १५
उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक्पृथक्।
क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः॥ १६
तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम्।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः॥ १७
द्वाःसु[2] विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत्।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम्॥ १८
चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः।
जुष्टं विचित्रवैतानैर्महार्हैर्हेमतोरणैः॥ १९

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! कर्दम मुनिने अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय योगमें स्थित होकर एक विमान रचा, जो इच्छानुसार सर्वत्र जा सकता था॥ १२॥ यह विमान सब प्रकारके इच्छित भोग-सुख प्रदान करनेवाला, अत्यन्त सुन्दर, सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त, सब सम्पत्तियोंकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे सम्पन्न तथा मणिमय खंभोंसे सुशोभित था॥ १३॥ वह सभी ऋतुओंमें सुखदायक था और उसमें जहाँ-तहाँ सब प्रकारकी दिव्य सामग्रियाँ रखी हुई थीं तथा उसे चित्र-विचित्र रेशमी झंडियों और पताकाओंसे खूब सजाया गया था॥ १४॥ जिनपर भ्रमरगण मधुर गुंजार कर रहे थे, ऐसे रंग-बिरंगे पुष्पोंकी मालाओंसे तथा अनेक प्रकारके सूती और रेशमी वस्त्रोंसे वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था॥ १५॥ एकके ऊपर एक बनाये हुए कमरोंमें अलग-अलग रखी हुई शय्या, पलंग, पंखे और आसनोंके कारण वह बड़ा सुन्दर जान पड़ता था॥ १६॥ जहाँ-तहाँ दीवारोंमें की हुई शिल्परचनासे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उसमें पन्नेका फर्श था और बैठनेके लिये मूँगेकी वेदियाँ बनायी गयी थीं॥ १७॥ मूँगेकी ही देहलियाँ थीं। उसके द्वारोंमें हीरेके किवाड़ थे तथा इन्द्रनील मणिके शिखरोंपर सोनेके कलश रखे हुए थे॥ १८॥ उसकी हीरेकी दीवारोंमें बढ़िया लाल जड़े हुए थे, जो ऐसे जान पड़ते थे मानो विमानकी आँखें हों तथा उसे रंग-बिरंगे चँदोवे और बहुमूल्य सुनहरी बन्दनवारोंसे सजाया गया था॥ १९॥

१. प्रा० पा०—मालाभि०। २. प्रा० पा०—द्वाःस्थविद्रु०।

हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम्[1]।
कृत्रिमान् मन्यमानैः[2] स्वानधिरुह्याधिरुह्य च॥ २०

विहारस्थानविश्रामसंवेशप्रांगणाजिरैः ।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः॥ २१

ईदृग्गृहं[3] तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत्कर्दमः[4] स्वयम्॥ २२

निमज्ज्यास्मिन् ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह।
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं[5] नृणाम्॥ २३

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान्॥ २४

अंगं च मलपङ्केन संछन्नं शबलस्तनम्।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम्॥ २५

सान्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः॥ २६

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्रांजलयः स्त्रियः।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम्॥ २७

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम्।
दुकूले निर्मले नूत्ने[6] ददुरस्यै च मानदाः[7]॥ २८

भूषणानि परार्घ्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम्॥ २९

उस विमानमें जहाँ-तहाँ कृत्रिम हंस और कबूतर आदि पक्षी बनाये गये थे, जो बिलकुल सजीव-से मालूम पड़ते थे; उन्हें अपना सजातीय समझकर बहुत-से हंस और कबूतर उनके पास बैठ-बैठकर अपनी बोली बोलते थे॥ २०॥ उसमें सुविधानुसार क्रीडास्थली, शयनगृह, बैठक, आँगन और चौक आदि बनाये गये थे—जिनके कारण वह विमान स्वयं कर्दमजीको भी विस्मित-सा कर रहा था॥ २१॥

ऐसे सुन्दर घरको भी जब देवहूतिने बहुत प्रसन्न चित्तसे नहीं देखा तो सबके आन्तरिक भावको परख लेनेवाले कर्दमजीने स्वयं ही कहा— २२॥ 'भीरु! तुम इस बिन्दुसरोवरमें स्नान करके विमानपर चढ़ जाओ; यह विष्णुभगवान्‌का रचा हुआ तीर्थ मनुष्योंको सभी कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला है'॥ २३॥

कमललोचना देवहूतिने अपने पतिकी बात मानकर सरस्वतीके पवित्र जलसे भरे हुए उस सरोवरमें प्रवेश किया। उस समय वह बड़ी मैली-कुचैली साड़ी पहने हुए थी, उसके सिरके बाल चिपक जानेसे उनमें लटें पड़ गयी थीं, शरीरमें मैल जम गया था तथा स्तन कान्तिहीन हो गये थे॥ २४-२५॥ सरोवरमें गोता लगानेपर उसने उसके भीतर एक महलमें एक हजार कन्याएँ देखीं। वे सभी किशोर-अवस्थाकी थीं और उनके शरीरोंसे कमलकी-सी गन्ध आती थी॥ २६॥ देवहूतिको देखते ही वे सब स्त्रियाँ सहसा खड़ी हो गयीं और हाथ जोड़कर कहने लगीं, 'हम आपकी दासियाँ हैं; हमें आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करें?'॥ २७॥

विदुरजी! तब स्वामिनीको सम्मान देनेवाली उन रमणियोंने बहुमूल्य मसालों तथा गन्ध आदिसे मिश्रित जलके द्वारा मनस्विनी देवहूतिको स्नान कराया तथा उसे दो नवीन और निर्मल वस्त्र पहननेको दिये॥ २८॥ फिर उन्होंने ये बहुत मूल्यके बड़े सुन्दर और कान्तिमान् आभूषण, सर्वगुणसम्पन्न भोजन और पीनेके लिये अमृतके समान स्वादिष्ट आसव प्रस्तुत किये॥ २९॥

१. प्रा० पा०—विकू। २. प्रा० पा०—सविमानांश्च समन्तादधिरुह्य। ३. प्रा० पा०—इत्थं गृहं तस्य पश्यन्नतिप्रीतेन। ४. प्रा० पा०—प्रोवाच कर्दमः। ५. प्रा० पा०—यद्भवेन्नृ०। ६. प्रा० पा०—भूते। ७. प्रा० पा०—मानिताः।

अथादर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम्।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम्॥ ३०

स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम्।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्कांचननूपुरम्॥ ३१

श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम्॥ ३२

सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापांगेन चक्षुषा।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम्॥ ३३

यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम्।
तत्र चास्ते सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः॥ ३४

भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत॥ ३५

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत्।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम्॥ ३६

विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम्।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन्॥ ३७

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः॥ ३८

अब देवहूतिने दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखा तो उसे मालूम हुआ कि वह भाँति-भाँतिके सुगंधित फूलोंके हारोंसे विभूषित है, स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए है, उसका शरीर भी निर्मल और कान्तिमान् हो गया है तथा उन कन्याओंने बड़े आदरपूर्वक उसका मांगलिक शृंगार किया है॥ ३०॥ उसे सिरसे स्नान कराया गया है, स्नानके पश्चात् अंग-अंगमें सब प्रकारके आभूषण सजाये गये हैं तथा उसके गलेमें हार-हुमेल, हाथोंमें कङ्कण और पैरोंमें छमछमाते हुए सोनेके पायजेब सुशोभित हैं ॥ ३१॥ कमरमें पड़ी हुई सोनेकी रत्नजटित करधनीसे, बहुमूल्य मणियोंके हारसे और अंग-अंगमें लगे हुए कुङ्कुमादि मंगलद्रव्योंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥ ३२॥ उसका मुख सुन्दर दन्तावली, मनोहर भौंहें, कमलकी कलीसे स्पर्धा करनेवाले प्रेमकटाक्षमय सुन्दर नेत्र और नीली अलकावलीसे बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता है ॥ ३३॥ विदुरजी! जब देवहूतिने अपने प्रिय पतिदेवका स्मरण किया, तो अपनेको सहेलियोंके सहित वहीं पाया जहाँ प्रजापति कर्दमजी विराजमान थे॥ ३४॥ उस समय अपनेको सहस्रों स्त्रियोंके सहित अपने प्राणनाथके सामने देख और इसे उनके योगका प्रभाव समझकर देवहूतिको बड़ा विस्मय हुआ॥ ३५॥

शत्रुविजयी विदुर! जब कर्दमजीने देखा कि देवहूतिका शरीर स्नान करनेसे अत्यन्त निर्मल हो गया है, और विवाहकालसे पूर्व उसका जैसा रूप था, उसी रूपको पाकर वह अपूर्व शोभासे सम्पन्न हो गयी है। उसका सुन्दर वक्षःस्थल चोलीसे ढका हुआ है, हजारों विद्याधरियाँ उसकी सेवामें लगी हुई हैं तथा उसके शरीरपर बढ़िया-बढ़िया वस्त्र शोभा पा रहे हैं, तब उन्होंने बड़े प्रेमसे उसे विमानपर चढ़ाया॥ ३६-३७॥

उस समय अपनी प्रियाके प्रति अनुरक्त होनेपर भी कर्दमजीकी महिमा (मन और इन्द्रियोंपर प्रभुता) कम नहीं हुई। विद्याधरियाँ उनके शरीरकी सेवा कर रही थीं। खिले हुए कुमुदके फूलोंसे शृंगार करके अत्यन्त सुन्दर बने हुए वे विमानपर इस प्रकार शोभा

तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनंगसखमारुतसौभगासु।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी॥ ३९

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः॥ ४०

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा।
वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान् यथानिलः॥ ४१

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम्।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः॥ ४२

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत॥ ४३

विभज्य नवधाऽऽत्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम्।
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत्॥ ४४

तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता।
न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीच्येन संगता॥ ४५

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः।
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक्॥ ४६

पा रहे थे, मानो आकाशमें तारागणसे घिरे हुए चन्द्रदेव विराजमान हों॥ ३८॥

उस विमानपर निवासकर उन्होंने दीर्घकालतक कुबेरजीके समान मेरुपर्वतकी घाटियोंमें विहार किया। ये घाटियाँ आठों लोकपालोंकी विहारभूमि हैं; इनमें कामदेवको बढ़ानेवाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलकर इनकी कमनीय शोभाका विस्तार करती है तथा श्रीगंगाजीके स्वर्गलोकसे गिरनेकी मंगलमय ध्वनि निरन्तर गूँजती रहती है। उस समय भी दिव्य विद्याधरियोंका समुदाय उनकी सेवामें उपस्थित था और सिद्धगण वन्दना किया करते थे॥ ३९॥

इसी प्रकार प्राणप्रिया देवहूतिके साथ उन्होंने वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र और चैत्ररथ आदि अनेकों देवोद्यानों तथा मानस-सरोवरमें अनुरागपूर्वक विहार किया॥ ४०॥ उस कान्तिमान् और इच्छानुसार चलनेवाले श्रेष्ठ विमानपर बैठकर वायुके समान सभी लोकोंमें विचरते हुए कर्दमजी विमानविहारी देवताओंसे भी आगे बढ़ गये॥ ४१॥ विदुरजी! जिन्होंने भगवान्के भवभयहारी पवित्र पादपद्मोंका आश्रय लिया है, उन धीर पुरुषोंके लिये कौन-सी वस्तु या शक्ति दुर्लभ है॥ ४२॥

इस प्रकार महायोगी कर्दमजी यह सारा भूमण्डल, जो द्वीप-वर्ष आदिकी विचित्र रचनाके कारण बड़ा आश्चर्यमय प्रतीत होता है, अपनी प्रियाको दिखाकर अपने आश्रमको लौट आये॥ ४३॥ फिर उन्होंने अपनेको नौ रूपोंमें विभक्त कर रतिसुखके लिये अत्यन्त उत्सुक मनुकुमारी देवहूतिको आनन्दित करते हुए उसके साथ बहुत वर्षोंतक विहार किया, किन्तु उनका इतना लम्बा समय एक मुहूर्तके समान बीत गया॥ ४४॥ उस विमानमें रतिसुखको बढ़ानेवाली बड़ी सुन्दर शय्याका आश्रय ले अपने परम रूपवान् प्रियतमके साथ रहती हुई देवहूतिको इतना काल कुछ भी न जान पड़ा॥ ४५॥ इस प्रकार उस कामासक्त दम्पतिको अपने योगबलसे सैकड़ों वर्षोंतक विहार करते हुए भी वह काल बहुत थोड़े समयके समान निकल गया॥ ४६॥

तस्यामाधत्त रेतस्तां[1] भावयन्नात्मनाऽऽत्मवित्।
नोधा[2] विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः॥ ४७

अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः॥ ४८

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदाऽऽलक्ष्योशती सती।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता॥ ४९

लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलां शनैः॥ ५०

देवहूतिरुवाच

सर्वं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम्।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि॥ ५१

ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम्॥ ५२

एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो।
इन्द्रियार्थप्रसंगेन परित्यक्तपरात्मनः॥ ५३

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसंगस्त्वयि मे कृतः।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे॥ ५४

संगो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसंगत्वाय कल्पते॥ ५५

आत्मज्ञानी कर्दमजी सब प्रकारके संकल्पोंको जानते थे; अतः देवहूतिको सन्तानप्राप्तिके लिये उत्सुक देख तथा भगवान्‌के आदेशको स्मरणकर उन्होंने अपने स्वरूपके नौ विभाग किये तथा कन्याओंकी उत्पत्तिके लिये एकाग्रचित्तसे अर्धांगरूपमें अपनी पत्नीकी भावना करते हुए उसके गर्भमें वीर्य स्थापित किया॥ ४७॥ इससे देवहूतिके एक ही साथ नौ कन्याएँ पैदा हुईं। वे सभी सर्वांगसुन्दरी थीं और उनके शरीरसे लाल कमलकी-सी सुगन्ध निकलती थी॥ ४८॥

इसी समय शुद्ध स्वभाववाली सती देवहूतिने देखा कि पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार उसके पतिदेव संन्यासाश्रम ग्रहण करके वनको जाना चाहते हैं तो उसने अपने आँसुओंको रोककर ऊपरसे मुसकराते हुए व्याकुल एवं संतप्त हृदयसे धीरे-धीरे अति मधुर वाणीमें कहा। उस समय वह सिर नीचा किये हुए अपने नखमणिमण्डित चरणकमलसे पृथ्वीको कुरेद रही थी॥ ४९-५०॥

देवहूतिने कहा—भगवन्! आपने जो कुछ प्रतिज्ञा की थी, वह सब तो पूर्णतः निभा दी; तो भी मैं आपकी शरणागत हूँ, अतः आप मुझे अभयदान और दीजिये॥ ५१॥ ब्रह्मन्! इन कन्याओंके लिये योग्य वर खोजने पड़ेंगे और आपके वनको चले जानेके बाद मेरे जन्म-मरणरूप शोकको दूर करनेके लिये भी कोई होना चाहिये॥ ५२॥ प्रभो! अबतक परमात्मासे विमुख रहकर मेरा जो समय इन्द्रियसुख भोगनेमें बीता है, वह तो निरर्थक ही गया॥ ५३॥ आपके परम प्रभावको न जाननेके कारण ही मैंने इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहकर आपसे अनुराग किया तथापि यह भी मेरे संसार-भयको दूर करनेवाला ही होना चाहिये॥ ५४॥ अज्ञानवश असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ जो संग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सत्पुरुषोंके साथ किये जानेपर असंगता प्रदान करता है॥ ५५॥

१. प्रा० पा०—रेतः स्वं। २. प्रा० पा०—नवधा।

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥ ५६

संसारमें जिस पुरुषके कर्मोंसे न तो धर्मका सम्पादन होता है, न वैराग्य उत्पन्न होता है और न भगवान्‌की सेवा ही सम्पन्न होती है वह पुरुष जीते ही मुर्देके समान है॥ ५६॥

साहं भगवतो नूनं वंचिता मायया दृढम्।
यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात्॥ ५७

अवश्य ही मैं भगवान्‌की मायासे बहुत ठगी गयी, जो आप-जैसे मुक्तिदाता पतिदेवको पाकर भी मैंने संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा नहीं की॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

श्रीकपिलदेवजीका जन्म

मैत्रेय उवाच

निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—उत्तम गुणोंसे सुशोभित मनुकुमारी देवहूतिने जब ऐसी वैराग्ययुक्त बातें कहीं, तब कृपालु कर्दम मुनिको भगवान् विष्णुके कथनका स्मरण हो आया और उन्होंने उससे कहा॥ १॥

ऋषिरुवाच

मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्सम्प्रपत्स्यते॥ २
धृतव्रतासि[1] भद्रं ते दमेन[2] नियमेन च।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज॥ ३
स त्वयाऽऽराधितः शुक्लो वितन्वन्मामकं यशः।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः॥ ४

कर्दमजी बोले—दोषरहित राजकुमारी! तुम अपने विषयमें इस प्रकार खेद न करो; तुम्हारे गर्भमें अविनाशी भगवान् विष्णु शीघ्र ही पधारेंगे॥ २॥ प्रिये! तुमने अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन किया है, अतः तुम्हारा कल्याण होगा। अब तुम संयम, नियम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का भजन करो॥ ३॥ इस प्रकार आराधना करनेपर श्रीहरि तुम्हारे गर्भसे अवतीर्ण होकर मेरा यश बढ़ावेंगे और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके तुम्हारे हृदयकी अहंकारमयी ग्रन्थिका छेदन करेंगे॥ ४॥

मैत्रेय उवाच

देवहूत्यपि संदेशं गौरवेण प्रजापतेः।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम्॥ ५
तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि॥ ६

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! प्रजापति कर्दमके आदेशमें गौरव-बुद्धि होनेसे देवहूतिने उसपर पूर्ण विश्वास किया और वह निर्विकार, जगद्गुरु भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी आराधना करने लगी॥ ५॥ इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर भगवान् मधुसूदन कर्दमजीके वीर्यका आश्रय ले उसके गर्भसे इस प्रकार प्रकट हुए, जैसे काष्ठमेंसे अग्नि॥ ६॥

१. प्रा० पा०—व्रता सुभद्रं। २. प्रा० पा—यमेन।

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ॥ ७
पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः ।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ॥ ८
तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम् ।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥ ९
भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥ १०
सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदमभ्यधात् ॥ ११

ब्रह्मोवाच

त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकतः ।
यन्मे संजगृहे वाक्यं भवान्मानद मानयन् ॥ १२
एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ॥ १३
इमा दुहितरः सभ्य तव वत्स सुमध्यमाः ।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ॥ १४
अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥ १५
वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया ।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने ॥ १६
ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन् जटाः ।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ॥ १७

उस समय आकाशमें मेघ जल बरसाते हुए गरज-गरजकर बाजे बजाने लगे, गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दित होकर नाचने लगीं ॥ ७ ॥ आकाशसे देवताओंके बरसाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी; सब दिशाओंमें आनन्द छा गया, जलाशयोंका जल निर्मल हो गया और सभी जीवोंके मन प्रसन्न हो गये ॥ ८ ॥ इसी समय सरस्वती नदीसे घिरे हुए कर्दमजीके उस आश्रममें मरीचि आदि मुनियोंके सहित श्रीब्रह्माजी आये ॥ ९ ॥ शत्रुदमन विदुरजी! स्वत:सिद्ध ज्ञानसे सम्पन्न अजन्मा ब्रह्माजीको यह मालूम हो गया था कि साक्षात् परब्रह्म भगवान् विष्णु सांख्यशास्त्रका उपदेश करनेके लिये अपने विशुद्ध सत्त्वमय अंशसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ १० ॥

अत: भगवान् जिस कार्यको करना चाहते थे, उसका उन्होंने विशुद्ध चित्तसे अनुमोदन एवं आदर किया और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए कर्दमजीसे इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—प्रिय कर्दम! तुम दूसरोंको मान देनेवाले हो। तुमने मेरा सम्मान करते हुए जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारे द्वारा निष्कपट-भावसे मेरी पूजा सम्पन्न हुई है ॥ १२ ॥ पुत्रोंको अपने पिताकी सबसे बड़ी सेवा यही करनी चाहिये कि 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर आदरपूर्वक उनके आदेशको स्वीकार करें ॥ १३ ॥ बेटा! तुम सभ्य हो, तुम्हारी ये सुन्दरी कन्याएँ अपने वंशोंद्वारा इस सृष्टिको अनेक प्रकारसे बढ़ावेंगी ॥ १४ ॥ अब तुम इन मरीचि आदि मुनिवरोंको इनके स्वभाव और रुचिके अनुसार अपनी कन्याएँ समर्पित करो और संसारमें अपना सुयश फैलाओ ॥ १५ ॥ मुने! मैं जानता हूँ, जो सम्पूर्ण प्राणियोंकी निधि हैं—उनके अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं, वे आदिपुरुष श्रीनारायण ही अपनी योगमायासे कपिलके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ १६ ॥ [फिर देवहूतिसे बोले—] राजकुमारी! सुनहरे बाल, कमल-जैसे विशाल नेत्र और कमलांकित चरण-कमलोंवाले शिशुके रूपमें कैटभासुरको मारनेवाले साक्षात्

एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति॥ १८
अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥ १९

मैत्रेय उवाच

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सहनारदः।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधामपरमं ययौ॥ २०
गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः।
यथोदितं स्वदुहितॄः प्रादाद्विश्वसृजां ततः॥ २१
मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम्॥ २२
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम्।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाप्यरुन्धतीम्॥ २३
अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते।
विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत्॥ २४
ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम्।
प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम्॥ २५
स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम्।
विविक्त उपसंगम्य प्रणम्य समभाषत॥ २६
अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमंगलैः।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः॥ २७
बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्॥ २८
स एव भगवानद्य हेलनं नगणय्य नः।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः॥ २९

श्रीहरिने ही, ज्ञान-विज्ञानद्वारा कर्मोंकी वासनाओंका मूलोच्छेदन करनेके लिये, तेरे गर्भमें प्रवेश किया है। ये अविद्याजनित मोहकी ग्रन्थियोंको काटकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरेंगे॥ १७-१८॥ ये सिद्धगणोंके स्वामी और सांख्याचार्योंके भी माननीय होंगे। लोकमें तेरी कीर्तिका विस्तार करेंगे और 'कपिल' नामसे विख्यात होंगे॥ १९॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी उन दोनोंको इस प्रकार आश्वासन देकर नारद और सनकादिको साथ ले, हंसपर चढ़कर ब्रह्मलोकको चले गये॥ २०॥ ब्रह्माजीके चले जानेपर कर्दमजीने उनके आज्ञानुसार मरीचि आदि प्रजापतियोंके साथ अपनी कन्याओंका विधिपूर्वक विवाह कर दिया॥ २१॥ उन्होंने अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अंगिराको और हविर्भू पुलस्त्यको समर्पित की॥ २२॥

पुलहको उनके अनुरूप गति नामकी कन्या दी, क्रतुके साथ परम साध्वी क्रियाका विवाह किया, भृगुजीको ख्याति और वसिष्ठजीको अरुन्धती समर्पित की॥ २३॥ अथर्वा ऋषिको शान्ति नामकी कन्या दी, जिससे यज्ञकर्मका विस्तार किया जाता है। कर्दमजीने उन विवाहित ऋषियोंका उनकी पत्नियोंके सहित खूब सत्कार किया॥ २४॥ विदुरजी! इस प्रकार विवाह हो जानेपर वे सब ऋषि कर्दमजीकी आज्ञा ले अति आनन्दपूर्वक अपने-अपने आश्रमोंको चले गये॥ २५॥

कर्दमजीने देखा कि उनके यहाँ साक्षात् देवाधिदेव श्रीहरिने ही अवतार लिया है तो वे एकान्तमें उनके पास गये और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहने लगे॥ २६॥ 'अहो! अपने पापकर्मोंके कारण इस दुःखमय संसारमें नाना प्रकारसे पीडित होते हुए पुरुषोंपर देवगण तो बहुत काल बीतनेपर प्रसन्न होते हैं॥ २७॥ किन्तु जिनके स्वरूपको योगिजन अनेकों जन्मोंके साधनसे सिद्ध हुई सुदृढ़ समाधिके द्वारा एकान्तमें देखनेका प्रयत्न करते हैं, अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाले वे ही श्रीहरि हम विषयलोलुपोंके द्वारा होनेवाली अपनी अवज्ञाका कुछ भी विचार न कर आज हमारे घर अवतीर्ण हुए हैं॥ २८-२९॥

स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः॥ ३०
तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥ ३१
त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
वीर्यश्रिया पूर्त्तमहं प्रपद्ये॥ ३२
परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये॥ ३३
आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
त्वयावतीर्णार्ण उताप्तकामः।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
चरिष्ये त्वां हृदि युंजन्[1] विशोकः॥ ३४

श्रीभगवानुवाच

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके[2]।
अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने॥ ३५
एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने॥ ३६
एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम्॥ ३७

आप वास्तवमें अपने भक्तोंका मान बढ़ानेवाले हैं। आपने अपने वचनोंको सत्य करने और सांख्ययोगका उपदेश करनेके लिये ही मेरे यहाँ अवतार लिया है॥ ३० ॥ भगवन्! आप प्राकृतरूपसे रहित हैं, आपके जो चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं वे ही आपके योग्य हैं तथा जो मनुष्य-सदृश रूप आपके भक्तोंको प्रिय लगते हैं, वे भी आपको रुचिकर प्रतीत होते हैं॥ ३१ ॥ आपका पाद-पीठ तत्त्वज्ञानकी इच्छासे विद्वानोंद्वारा सर्वदा वन्दनीय है तथा आप ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और श्री—इन छहों ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ ३२ ॥ भगवन्! आप परब्रह्म हैं; सारी शक्तियाँ आपके अधीन हैं; प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, काल, त्रिविध अहंकार, समस्त लोक एवं लोकपालोंके रूपमें आप ही प्रकट हैं; तथा आप सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सारे प्रपंचको चेतनशक्तिके द्वारा अपनेमें लीन कर लेते हैं। अत: इन सबसे परे भी आप ही हैं। मैं आप भगवान् कपिलकी शरण लेता हूँ॥ ३३ ॥

प्रभो! आपकी कृपासे मैं तीनों ऋणोंसे मुक्त हो गया हूँ और मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं। अब मैं संन्यास-मार्गको ग्रहणकर आपका चिन्तन करते हुए शोकरहित होकर विचरूँगा। आप समस्त प्रजाओंके स्वामी हैं, अतएव इसके लिये मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—मुने! वैदिक और लौकिक सभी कर्मोंमें संसारके लिये मेरा कथन ही प्रमाण है। इसलिये मैंने जो तुमसे कहा था कि 'मैं तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा', उसे सत्य करनेके लिये ही मैंने यह अवतार लिया है॥ ३५ ॥ इस लोकमें मेरा यह जन्म लिंगशरीरसे मुक्त होनेकी इच्छावाले मुनियोंके लिये आत्मदर्शनमें उपयोगी प्रकृति आदि तत्त्वोंका विवेचन करनेके लिये ही हुआ है॥ ३६ ॥ आत्मज्ञानका यह सूक्ष्म मार्ग बहुत समयसे लुप्त हो गया है। इसे फिरसे प्रवर्तित करनेके लिये ही मैंने यह शरीर ग्रहण किया है—ऐसा जानो॥ ३७ ॥

१. प्रा० पा०—युंजन्नशोक:। २. प्रा० पा०—लौकिकम्।

गच्छ कामं मयाऽऽपृष्टो मयि संन्यस्तकर्मणा।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज॥ ३८
मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्।
आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि॥ ३९
मात्र आध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम्।
वितरिष्ये यया चासौ भयं चातितरिष्यति॥ ४०

मैत्रेय उवाच

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह॥ ४१
व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः।
निःसंगो व्यचरत्क्षोणीमनग्निरनिकेतनः॥ ४२
मनो ब्रह्मणि युंजानो यत्तत्सदसतः परम्।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते॥ ४३
निरहंकृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक्।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः॥ ४४
वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः॥ ४५
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥ ४६
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः॥ ४७

मुने! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम इच्छानुसार जाओ और अपने सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हुए दुर्जय मृत्युको जीतकर मोक्षपद प्राप्त करनेके लिये मेरा भजन करो॥ ३८॥ मैं स्वयंप्रकाश और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणोंमें रहनेवाला परमात्मा ही हूँ। अतः जब तुम विशुद्ध बुद्धिके द्वारा अपने अन्तःकरणमें मेरा साक्षात्कार कर लोगे तब सब प्रकारके शोकोंसे छूटकर निर्भय पद (मोक्ष) प्राप्त कर लोगे॥ ३९॥ माता देवहूतिको भी मैं सम्पूर्ण कर्मोंसे छुड़ानेवाला आत्मज्ञान प्रदान करूँगा जिससे यह संसाररूप भयसे पार हो जायगी॥ ४०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं— भगवान् कपिलके इस प्रकार कहनेपर प्रजापति कर्दमजी उनकी परिक्रमा कर प्रसन्नतापूर्वक वनको चले गये॥ ४१॥ वहाँ अहिंसामय संन्यास-धर्मका पालन करते हुए वे एकमात्र श्रीभगवान्‌की शरण हो गये तथा अग्नि और आश्रमका त्याग करके निःसङ्गभावसे पृथ्वीपर विचरने लगे॥ ४२॥ जो कार्यकारणसे अतीत है, सत्त्वादि गुणोंका प्रकाशक एवं निर्गुण है और अनन्य भक्तिसे ही प्रत्यक्ष होता है उस परब्रह्ममें उन्होंने अपना मन लगा दिया॥ ४३॥ वे अहंकार, ममता और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे छूटकर समदर्शी (भेददृष्टिसे रहित) हो, सबमें अपने आत्माको ही देखने लगे। उनकी बुद्धि अन्तर्मुख एवं शान्त हो गयी। उस समय धीर कर्दमजी शान्त लहरोंवाले समुद्रके समान जान पड़ने लगे॥ ४४॥

परम भक्तिभावके द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेवमें चित्त स्थिर हो जानेसे वे सारे बन्धनोंसे मुक्त हो गये॥ ४५॥ सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्मा श्रीभगवान्‌को और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मस्वरूप श्रीहरिमें स्थित देखने लगे॥ ४६॥ इस प्रकार इच्छा और द्वेषसे रहित, सर्वत्र समबुद्धि और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न होकर श्रीकर्दमजीने भगवान्‌का परमपद प्राप्त कर लिया॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

देवहूतिका प्रश्न तथा भगवान् कपिलद्वारा भक्तियोगकी महिमाका वर्णन

शौनक उवाच

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥ १
न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम्।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः॥ २
यद्यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्माऽऽत्ममायया।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय॥ ३

सूत उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा।
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः॥ ४

मैत्रेय उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया।
तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान् कपिलः किल॥ ५
तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम्।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः॥ ६

देवहूतिरुवाच

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात्।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो॥ ७
तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम्।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात्॥ ८
य आद्यो भगवान् पुंसामीश्वरो वै भवान् किल।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः॥ ९
अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि।
योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया॥ १०

शौनकजीने पूछा—सूतजी! तत्त्वोंकी संख्या करनेवाले भगवान् कपिल साक्षात् अजन्मा नारायण होकर भी लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश करनेके लिये अपनी मायासे उत्पन्न हुए थे॥ १॥ मैंने भगवान्‌के बहुत-से चरित्र सुने हैं, तथापि इन योगिप्रवर पुरुषश्रेष्ठ कपिलजीकी कीर्तिको सुनते-सुनते मेरी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होतीं॥ २॥ सर्वथा स्वतन्त्र श्रीहरि अपनी योगमायाद्वारा भक्तोंकी इच्छाके अनुसार शरीर धारण करके जो-जो लीलाएँ करते हैं, वे सभी कीर्तन करने योग्य हैं; अतः आप मुझे वे सभी सुनाइये, मुझे उन्हें सुननेमें बड़ी श्रद्धा है॥ ३॥

सूतजी कहते हैं—मुने! आपकी ही भाँति जब विदुरने भी यह आत्मज्ञानविषयक प्रश्न किया, तो श्रीव्यासजीके सखा भगवान् मैत्रेयजी प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगे॥ ४॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! पिताके वनमें चले जानेपर भगवान् कपिलजी माताका प्रिय करनेकी इच्छासे उस बिन्दुसर तीर्थमें रहने लगे॥ ५॥ एक दिन तत्त्वसमूहके पारदर्शी भगवान् कपिल कर्मकलापसे विरत हो आसनपर विराजमान थे। उस समय ब्रह्माजीके वचनोंका स्मरण करके देवहूतिने उनसे कहा॥ ६॥

देवहूति बोली—भूमन्! प्रभो! इन दुष्ट इन्द्रियोंकी विषय-लालसासे मैं बहुत ऊब गयी हूँ और इनकी इच्छा पूरी करते रहनेसे ही घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ी हुई हूँ॥ ७॥ अब आपकी कृपासे मेरी जन्मपरम्परा समाप्त हो चुकी है, इसीसे इस दुस्तर अज्ञानान्धकारसे पार लगानेके लिये सुन्दर नेत्ररूप आप प्राप्त हुए हैं॥ ८॥ आप सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी भगवान् आदिपुरुष हैं तथा अज्ञानान्धकारसे अन्धे पुरुषोंके लिये नेत्रस्वरूप सूर्यकी भाँति उदित हुए हैं॥ ९॥ देव! इन देह-गेह आदिमें जो मैं-मेरेपनका दुराग्रह होता है, वह भी आपका ही कराया हुआ है; अतः अब आप मेरे इस महामोहको दूर कीजिये॥ १०॥

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम्॥ ११

मैत्रेय उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम्।
धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः॥ १२

श्रीभगवानुवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च॥ १३
तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वांगनैपुणम्॥ १४
चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥ १५
अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम्॥ १६
तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम्॥ १७
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥ १८
न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥ १९
प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥ २०

आप अपने भक्तोंके संसाररूप वृक्षके लिये कुठारके समान हैं; मैं प्रकृति और पुरुषका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आप शरणागतवत्सलकी शरणमें आयी हूँ। आप भागवतधर्म जाननेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ ११॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार माता देवहूतिने अपनी जो अभिलाषा प्रकट की, वह परम पवित्र और लोगोंका मोक्षमार्गमें अनुराग उत्पन्न करनेवाली थी, उसे सुनकर आत्मज्ञ सत्पुरुषोंकी गति श्रीकपिलजी उसकी मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे और फिर मृदु मुसकानसे सुशोभित मुखारविन्दसे इस प्रकार कहने लगे॥ १२॥

भगवान् कपिलने कहा—माता! यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्मयोग ही मनुष्योंके आत्यन्तिक कल्याणका मुख्य साधन है, जहाँ दुःख और सुखकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है॥ १३॥ साध्वि! सब अंगोंसे सम्पन्न उस योगका मैंने पहले नारदादि ऋषियोंके सामने, उनकी सुननेकी इच्छा होनेपर, वर्णन किया था। वही अब मैं आपको सुनाता हूँ॥ १४॥

इस जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है। विषयोंमें आसक्त होनेपर वह बन्धनका हेतु होता है और परमात्मामें अनुरक्त होनेपर वही मोक्षका कारण बन जाता है॥ १५॥ जिस समय यह मन मैं और मेरेपनके कारण होनेवाले काम-लोभ आदि विकारोंसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःखसे छूटकर सम अवस्थामें आ जाता है॥ १६॥

तब जीव अपने ज्ञान-वैराग्य और भक्तिसे युक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे परे, एकमात्र (अद्वितीय), भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और उदासीन (सुख-दुःखशून्य) देखता है तथा प्रकृतिको शक्तिहीन अनुभव करता है॥ १७-१८॥ योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके निमित्त सर्वात्मा श्रीहरिके प्रति की हुई भक्तिके समान और कोई मंगलमय मार्ग नहीं है॥ १९॥ विवेकीजन संग या आसक्तिको ही आत्माका अच्छेद्य बन्धन मानते हैं; किन्तु वही संग या आसक्ति जब संतों—महापुरुषोंके प्रति हो जाती है तो मोक्षका खुला द्वार बन जाती है॥ २०॥

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥ २१
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥ २२
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः[1]॥ २३
त एते साधवः साध्वि सर्वसंगविवर्जिताः[2]।
संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते॥ २४
सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥ २५
भक्त्या पुमांजातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः॥ २६
असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेनमय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥ २७

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा।
यया पदं ते निर्वाणमंजसान्वाश्नवा अहम्॥ २८
यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः।
कीदृशः कति चांगानि यतस्तत्त्वावबोधनम्॥ २९

जो लोग सहनशील, दयालु, समस्त देहधारियोंके अकारण हितू, किसीके प्रति भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्त, सरलस्वभाव और सत्पुरुषोंका सम्मान करनेवाले होते हैं, जो मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ़ प्रेम करते हैं, मेरे लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी त्याग देते हैं, और मेरे परायण रहकर मेरी पवित्र कथाओंका श्रवण, कीर्तन करते हैं तथा मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं—उन भक्तोंको संसारके तरह-तरहके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते हैं॥ २१—२३॥ साध्वि! ऐसे-ऐसे सर्वसंगपरित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हींके संगकी इच्छा करनी चाहिये; क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हर लेनेवाले हैं॥ २४॥ सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिका क्रमशः विकास होगा॥ २५॥ फिर मेरी सृष्टि आदि लीलाओंका चिन्तन करनेसे प्राप्त हुई भक्तिके द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुखोंमें वैराग्य हो जानेपर मनुष्य सावधानतापूर्वक योगके भक्तिप्रधान सरल उपायोंसे समाहित होकर मनोनिग्रहके लिये यत्न करेगा॥ २६॥ इस प्रकार प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न हुए शब्दादि विषयोंका त्याग करनेसे, वैराग्ययुक्त ज्ञानसे, योगसे और मेरे प्रति की हुई सुदृढ़ भक्तिसे मनुष्य मुझ अपने अन्तरात्माको इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है॥ २७॥

देवहूतिने कहा—भगवन्! आपकी समुचित भक्तिका स्वरूप क्या है? और मेरी-जैसी अबलाओंके लिये कैसी भक्ति ठीक है, जिससे कि मैं सहजमें ही आपके निर्वाणपदको प्राप्त कर सकूँ?॥ २८॥ निर्वाणस्वरूप प्रभो! जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान होता है और जो लक्ष्यको बेधनेवाले बाणके समान भगवान्की प्राप्ति करानेवाला है, वह आपका कहा हुआ योग कैसा है और उसके कितने अंग हैं?॥ २९॥

१. प्रा० पा०—नैकात्मगत०। २. प्रा० पा०—विनिर्गताः।

तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे।
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात्॥ ३०

मैत्रेय उवाच

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं
प्रोवाच[1] वै भक्तिवितानयोगम्॥ ३१

श्रीभगवानुवाच

देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥ ३२
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥ ३३
नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्-
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥ ३४
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥ ३५
तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते॥ ३६

हरे! यह सब आप मुझे इस प्रकार समझाइये जिससे कि आपकी कृपासे मैं मन्दमति स्त्रीजाति भी इस दुर्बोध विषयको सुगमतासे समझ सकूँ॥ ३०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! जिसके शरीरसे उन्होंने स्वयं जन्म लिया था, उस अपनी माताका ऐसा अभिप्राय जानकर कपिलजीके हृदयमें स्नेह उमड़ आया और उन्होंने प्रकृति आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले शास्त्रका, जिसे सांख्य कहते हैं, उपदेश किया। साथ ही भक्ति-विस्तार एवं योगका भी वर्णन किया॥ ३१॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—माता! जिसका चित्त एकमात्र भगवान्‌में ही लग गया है, ऐसे मनुष्यकी वेदविहित कर्मोंमें लगी हुई तथा विषयोंका ज्ञान करानेवाली (कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय—दोनों प्रकारकी) इन्द्रियोंकी जो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिके प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, वही भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति है। यह मुक्तिसे भी बढ़कर है; क्योंकि जठरानल जिस प्रकार खाये हुए अन्नको पचाता है, उसी प्रकार यह भी कर्मसंस्कारोंके भण्डाररूप लिंगशरीरको तत्काल भस्म कर देती है॥ ३२-३३॥

मेरी चरणसेवामें प्रीति रखनेवाले और मेरी ही प्रसन्नताके लिये समस्त कार्य करनेवाले कितने ही बड़भागी भक्त, जो एक-दूसरेसे मिलकर प्रेमपूर्वक मेरे ही पराक्रमोंकी चर्चा किया करते हैं, मेरे साथ एकीभाव (सायुज्यमोक्ष) की भी इच्छा नहीं करते॥ ३४॥ मा! वे साधुजन अरुण नयन एवं मनोहर मुखारविन्दसे युक्त मेरे परम सुन्दर और वरदायक दिव्य रूपोंकी झाँकी करते हैं और उनके साथ सप्रेम सम्भाषण भी करते हैं, जिसके लिये बड़े-बड़े तपस्वी भी लालायित रहते हैं॥ ३५॥ दर्शनीय अंग-प्रत्यंग, उदार हास-विलास, मनोहर चितवन और सुमधुर वाणीसे युक्त मेरे उन रूपोंकी माधुरीमें उनका मन और इन्द्रियाँ फँस जाती हैं। ऐसी मेरी भक्ति न चाहनेपर भी उन्हें परमपदकी प्राप्ति करा देती है॥ ३६॥

१. प्रा० पा०—प्रावोचद्वै।

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता-
मैश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके॥ ३७

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥ ३८

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम्।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः॥ ३९

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये[1]॥ ४०

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं[2] निवर्तते॥ ४१

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥ ४२

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्[3]॥ ४३

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥ ४४

अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर यद्यपि वे मुझ मायापतिके सत्यादि लोकोंकी भोगसम्पत्ति, भक्तिकी प्रवृत्तिके पश्चात् स्वयं प्राप्त होनेवाली अष्टसिद्धि अथवा वैकुण्ठलोकके भगवदीय ऐश्वर्यकी भी इच्छा नहीं करते, तथापि मेरे धाममें पहुँचनेपर उन्हें ये सब विभूतियाँ स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं॥ ३७॥ जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव हूँ—वे मेरे ही आश्रयमें रहनेवाले भक्तजन शान्तिमय वैकुण्ठधाममें पहुँचकर किसी प्रकार भी इन दिव्य भोगोंसे रहित नहीं होते और न उन्हें मेरा कालचक्र ही ग्रस सकता है॥ ३८॥

माताजी! जो लोग इहलोक, परलोक और इन दोनों लोकोंमें साथ जानेवाले वासनामय लिंगदेहको तथा शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले जो धन, पशु एवं गृह आदि पदार्थ हैं, उन सबको और अन्यान्य संग्रहोंको भी छोड़कर अनन्य भक्तिसे सब प्रकार मेरा ही भजन करते हैं—उन्हें मैं मृत्युरूप संसारसागरसे पार कर देता हूँ॥ ३९-४०॥

मैं साक्षात् भगवान् हूँ, प्रकृति और पुरुषका भी प्रभु हूँ तथा समस्त प्राणियोंका आत्मा हूँ; मेरे सिवा और किसीका आश्रय लेनेसे मृत्युरूप महाभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता॥ ४१॥ मेरे भयसे यह वायु चलती है, मेरे भयसे सूर्य तपता है, मेरे भयसे इन्द्र वर्षा करता और अग्नि जलाती है तथा मेरे ही भयसे मृत्यु अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है॥ ४२॥ योगिजन ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तियोगके द्वारा शान्ति प्राप्त करनेके लिये मेरे निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं॥ ४३॥ संसारमें मनुष्यके लिये सबसे बड़ी कल्याणप्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझमें लगकर स्थिर हो जाय॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेयोपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

१. प्रा० पा०—रभिपारये। २. प्रा० पा०—सर्वं। ३. प्रा० पा०—कुतोभयाः।

अथ षड्विंशोऽध्यायः

महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक्।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः॥ १

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम्।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम्॥ २

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥ ३

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥ ४

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया॥ ५

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥ ६

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः॥ ७

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥ ८

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम्॥ ९

श्रीभगवान्‌ने कहा—माताजी! अब मैं तुम्हें प्रकृति आदि सब तत्त्वोंके अलग-अलग लक्षण बतलाता हूँ; इन्हें जानकर मनुष्य प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त हो जाता है॥ १॥ आत्मदर्शनरूप ज्ञान ही पुरुषके मोक्षका कारण है और वही उसकी अहंकाररूप हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाला है, ऐसा पण्डितजन कहते हैं। उस ज्ञानका मैं तुम्हारे आगे वर्णन करता हूँ॥ २॥ यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृतिसे परे, अन्तःकरणमें स्फुरित होनेवाला और स्वयंप्रकाश है॥ ३॥ उस सर्वव्यापक पुरुषने अपने पास लीला-विलासपूर्वक आयी हुई अव्यक्त और त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको स्वेच्छासे स्वीकार कर लिया॥ ४॥ लीलापरायण प्रकृति अपने सत्त्वादि गुणोंद्वारा उन्हींके अनुरूप प्रजाकी सृष्टि करने लगी; यह देख पुरुष ज्ञानको आच्छादित करनेवाली उसकी आवरणशक्तिसे मोहित हो गया, अपने स्वरूपको भूल गया॥ ५॥ इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रकृतिको ही अपना स्वरूप समझ लेनेसे पुरुष प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको ही कर्ता मानने लगता है॥ ६॥ इस कर्तृत्वाभिमानसे ही अकर्ता, स्वाधीन, साक्षी और आनन्दस्वरूप पुरुषको जन्म-मृत्युरूप बन्धन एवं परतन्त्रताकी प्राप्ति होती है॥ ७॥ कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रिय तथा कर्तारूप इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवताओंमें पुरुष जो अपनेपनका आरोप कर लेता है, उसमें पण्डितजन प्रकृतिको ही कारण मानते हैं तथा वास्तवमें प्रकृतिसे परे होकर भी जो प्रकृतिस्थ हो रहा है, उस पुरुषको सुख-दुःखोंके भोगनेमें कारण मानते हैं॥ ८॥

देवहूतिने कहा—पुरुषोत्तम! इस विश्वके स्थूल-सूक्ष्म कार्य जिनके स्वरूप हैं तथा जो इसके कारण हैं उन प्रकृति और पुरुषका लक्षण भी आप मुझसे कहिये॥ ९॥

श्रीभगवानुवाच

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्॥ १०

पंचभिः पंचभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः॥ ११

महाभूतानि पंचैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे॥ १२

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते॥ १३

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया॥ १४

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पंचविंशकः॥ १५

प्रभावं[१] पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः॥ १६

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः॥ १७

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥ १८

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरणमयम्॥ १९

श्रीभगवान्‌ने कहा—जो त्रिगुणात्मक, अव्यक्त, नित्य और कार्य-कारणरूप है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मोंका आश्रय है, उस प्रधान नामक तत्त्वको ही प्रकृति कहते हैं॥ १०॥ पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रिय—इन चौबीस तत्त्वोंके समूहको विद्वान् लोग प्रकृतिका कार्य मानते हैं॥ ११॥ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं; गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्र माने गये हैं॥ १२॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु—ये दस इन्द्रियाँ हैं॥ १३॥ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चारके रूपमें एक ही अन्तःकरण अपनी संकल्प, निश्चय, चिन्ता और अभिमानरूपा चार प्रकारकी वृत्तियोंसे लक्षित होता है॥ १४॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने सगुण ब्रह्मके सन्निवेशस्थान इन चौबीस तत्त्वोंकी संख्या बतलायी है। इनके सिवा जो काल है, वह पचीसवाँ तत्त्व है॥ १५॥ कुछ लोग कालको पुरुषसे भिन्न तत्त्व न मानकर पुरुषका प्रभाव अर्थात् ईश्वरकी संहारकारिणी शक्ति बताते हैं। जिससे मायाके कार्यरूप देहादिमें आत्मत्वका अभिमान करके अहंकारसे मोहित और अपनेको कर्ता माननेवाले जीवको निरन्तर भय लगा रहता है॥ १६॥ मनुपुत्रि! जिनकी प्रेरणासे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृतिमें गति उत्पन्न होती है, वास्तवमें वे पुरुषरूप भगवान् ही 'काल' कहे जाते हैं॥ १७॥ इस प्रकार जो अपनी मायाके द्वारा सब प्राणियोंके भीतर जीवरूपसे और बाहर कालरूपसे व्याप्त हैं, वे भगवान् ही पचीसवें तत्त्व हैं॥ १८॥

जब परमपुरुष परमात्माने जीवोंके अदृष्टवश क्षोभको प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवोंकी उत्पत्तिस्थानरूपा अपनी मायामें चिच्छक्तिरूप वीर्य स्थापित किया, तो उससे तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ॥ १९॥

१. प्रा० पा०—प्रधानं पुरुषं प्रा०।

विश्वमात्मगतं व्यंजन् कूटस्थो जगदङ्कुरः।
स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः॥ २०

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम्।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम्॥ २१

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा॥ २२

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात्।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत॥ २३

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि॥ २४

सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम्॥ २५

कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम्।
शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहंकृतेः॥ २६

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः॥ २७

यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम्।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः॥ २८

लय-विक्षेपादि रहित तथा जगत्के अंकुररूप इस महत्तत्त्वने अपनेमें स्थित विश्वको प्रकट करनेके लिये अपने स्वरूपको आच्छादित करने-वाले प्रलयकालीन अन्धकारको अपने ही तेजसे पी लिया॥ २०॥

जो सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान्‌की उपलब्धिका स्थानरूप चित्त है, वही महत्तत्त्व है और उसीको 'वासुदेव' कहते हैं*॥ २१॥ जिस प्रकार पृथ्वी आदि अन्य पदार्थोंके संसर्गसे पूर्व जल अपनी स्वाभाविक (फेन-तरंगादिरहित) अवस्थामें अत्यन्त स्वच्छ, विकारशून्य एवं शान्त होता है, उसी प्रकार अपनी स्वाभाविकी अवस्थाकी दृष्टिसे स्वच्छत्व, अविकारित्व और शान्तत्व ही वृत्तियोंसहित चित्तका लक्षण कहा गया है॥ २२॥ तदनन्तर भगवान्‌की वीर्यरूप चित्-शक्तिसे उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके विकृत होनेपर उससे क्रिया-शक्तिप्रधान अहंकार उत्पन्न हुआ। वह वैकारिक, तैजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है। उसीसे क्रमशः मन, इन्द्रियों और पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई॥ २३-२४॥ इस भूत, इन्द्रिय और मनरूप अहंकारको ही पण्डितजन साक्षात् 'संकर्षण' नामक सहस्र सिरवाले अनन्तदेव कहते हैं॥ २५॥ इस अहंकारका देवतारूपसे कर्तृत्व, इन्द्रियरूपसे करणत्व और पंचभूतरूपसे कार्यत्व लक्षण है तथा सत्त्वादि गुणोंके सम्बन्धसे शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व भी इसीके लक्षण हैं॥ २६॥ उपर्युक्त तीन प्रकारके अहंकारमेंसे वैकारिक अहंकारके विकृत होनेपर उससे मन हुआ, जिसके संकल्प-विकल्पोंसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है॥ २७॥ यह मनस्तत्त्व ही इन्द्रियोंके अधिष्ठाता 'अनिरुद्ध' के नामसे प्रसिद्ध है। योगिजन शरत्कालीन नीलकमलके समान श्याम वर्णवाले इन अनिरुद्धजीकी शनैः-शनैः मनको वशीभूत करके आराधना करते हैं॥ २८॥

* जिसे अध्यात्ममें चित्त कहते हैं; उसीको अधिभूतमें महत्तत्त्व कहा जाता है। चित्तमें अधिष्ठाता 'क्षेत्रज्ञ' और उपास्यदेव 'वासुदेव' हैं। इसी प्रकार अहंकारमें अधिष्ठाता 'रुद्र' और उपास्यदेव 'संकर्षण' है, बुद्धिमें अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' और उपास्यदेव 'प्रद्युम्न' है तथा मनमें अधिष्ठाता 'चन्द्रमा' और उपास्यदेव 'अनिरुद्ध' है।

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वमभूत्सति।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्[१] ॥ ३०

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः।
प्राणस्य हि क्रिया शक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥ ३१

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः[२] श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥ ३२

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिंगत्वमेव च।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥ ३३

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥ ३४

नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ॥ ३५

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च।
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥ ३६

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥ ३७

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत्।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥ ३८

साध्वि! फिर तैजस अहंकारमें विकार होनेपर उससे बुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ। वस्तुका स्फुरणरूप विज्ञान और इन्द्रियोंके व्यापारमें सहायक होना—पदार्थोंका विशेष ज्ञान करना—ये बुद्धिके कार्य हैं॥ २९॥ वृत्तियोंके भेदसे संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान), निश्चय, स्मृति और निद्रा भी बुद्धिके ही लक्षण हैं। यह बुद्धितत्त्व ही 'प्रद्युम्न' है॥ ३०॥ इन्द्रियाँ भी तैजस अहंकारका ही कार्य हैं। कर्म और ज्ञानके विभागसे उनके कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भेद हैं। इनमें कर्म प्राणकी शक्ति है और ज्ञान बुद्धिकी॥ ३१॥

भगवान्‌की चेतनशक्तिकी प्रेरणासे तामस अहंकारके विकृत होनेपर उससे शब्दतन्मात्रका प्रादुर्भाव हुआ। शब्दतन्मात्रसे आकाश तथा शब्दका ज्ञान करानेवाली श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुई॥ ३२॥ अर्थका प्रकाशक होना, ओटमें खड़े हुए वक्ताका भी ज्ञान करा देना और आकाशका सूक्ष्म रूप होना—विद्वानोंके मतमें यही शब्दके लक्षण हैं॥ ३३॥ भूतोंको अवकाश देना, सबके बाहर-भीतर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मनका आश्रय होना—ये आकाशके वृत्ति (कार्य) रूप लक्षण हैं॥ ३४॥ फिर शब्दतन्मात्रके कार्य आकाशमें कालगतिसे विकार होनेपर स्पर्शतन्मात्र हुआ और उससे वायु तथा स्पर्शका ग्रहण करानेवाली त्वगिन्द्रिय (त्वचा) उत्पन्न हुई॥ ३५॥ कोमलता, कठोरता, शीतलता और उष्णता तथा वायुका सूक्ष्म रूप होना—ये स्पर्शके लक्षण हैं॥ ३६॥ वृक्षकी शाखा आदिको हिलाना, तृणादिको इकट्ठा कर देना, सर्वत्र पहुँचना, गन्धादियुक्त द्रव्यको घ्राणादि इन्द्रियोंके पास तथा शब्दको श्रोत्रेन्द्रियके समीप ले जाना तथा समस्त इन्द्रियोंको कार्यशक्ति देना—ये वायुकी वृत्तियोंके लक्षण हैं॥ ३७॥

तदनन्तर दैवकी प्रेरणासे स्पर्शतन्मात्रविशिष्ट वायुके विकृत होनेपर उससे रूपतन्मात्र हुआ तथा उससे तेज और रूपको उपलब्ध करानेवाली नेत्रेन्द्रियका प्रादुर्भाव हुआ॥ ३८॥

---

१. प्रा० पा०—क्वचित्। २. प्रा० पा०—तत्त्वन्नभः।

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च।
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥ ३९

द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम्।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥ ४०

रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात्।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥ ४१

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥ ४२

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम्।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥ ४३

रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात्।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥ ४४

करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक्।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥ ४५

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम्।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥ ४६

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥ ४७

साध्वि! वस्तुके आकारका बोध कराना, गौण होना—द्रव्यके अंगरूपसे प्रतीत होना, द्रव्यका जैसा आकार-प्रकार और परिमाण आदि हो, उसी रूपमें उपलक्षित होना तथा तेजका स्वरूपभूत होना—ये सब रूपतन्मात्रकी वृत्तियाँ हैं॥ ३९ ॥ चमकना, पकाना, शीतको दूर करना, सुखाना, भूख-प्यास पैदा करना और उनकी निवृत्तिके लिये भोजन एवं जलपान कराना—ये तेजकी वृत्तियाँ हैं॥ ४० ॥

फिर दैवकी प्रेरणासे रूपतन्मात्रमय तेजके विकृत होनेपर उससे रसतन्मात्र हुआ और उससे जल तथा रसको ग्रहण करानेवाली रसनेन्द्रिय (जिह्वा) उत्पन्न हुई॥ ४१ ॥ रस अपने शुद्ध स्वरूपमें एक ही है; किन्तु अन्य भौतिक पदार्थोंके संयोगसे वह कसैला, मीठा, तीखा, कड़वा, खट्टा और नमकीन आदि कई प्रकारका हो जाता है॥ ४२ ॥ गीला करना, मिट्टी आदिको पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवित रखना, प्यास बुझाना, पदार्थोंको मृदु कर देना, तापकी निवृत्ति करना और कूपादिमेंसे निकाल लिये जानेपर भी वहाँ बार-बार पुनः प्रकट हो जाना—ये जलकी वृत्तियाँ हैं॥ ४३ ॥

इसके पश्चात् दैवप्रेरित रसस्वरूप जलके विकृत होनेपर उससे गन्धतन्मात्र हुआ और उससे पृथ्वी तथा गन्धको ग्रहण करानेवाली घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुई॥ ४४ ॥ गन्ध एक ही है; तथापि परस्पर मिले हुए द्रव्यभागोंकी न्यूनाधिकतासे वह मिश्रितगन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, मृदु, तीव्र और अम्ल (खट्टा) आदि अनेक प्रकारका हो जाता है॥ ४५ ॥ प्रतिमादि रूपसे ब्रह्मकी साकार-भावनाका आश्रय होना, जल आदि कारणतत्त्वोंसे भिन्न किसी दूसरे आश्रयकी अपेक्षा किये बिना ही स्थित रहना, जल आदि अन्य पदार्थोंको धारण करना, आकाशादिका अवच्छेदक होना (घटाकाश, मठाकाश आदि भेदोंको सिद्ध करना) तथा परिणामविशेषसे सम्पूर्ण प्राणियोंके [स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि] गुणोंको प्रकट करना—ये पृथ्वीके कार्यरूप लक्षण हैं॥ ४६ ॥

आकाशका विशेष गुण शब्द जिसका विषय है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है; वायुका विशेष गुण स्पर्श जिसका विषय है, वह त्वगिन्द्रिय है॥ ४७॥

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते॥ ४८

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते[1]॥ ४९

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत्॥ ५०

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम्।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट्॥ ५१

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः[2]।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः॥ ५२

हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात्।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम्॥ ५३

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः॥ ५४

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः।
तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः॥ ५५

तेजका विशेष गुण रूप जिसका विषय है, वह नेत्रेन्द्रिय है; जलका विशेष गुण रस जिसका विषय है, वह रसनेन्द्रिय है और पृथ्वीका विशेष गुण गन्ध जिसका विषय है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं॥ ४८॥ वायु आदि कार्य-तत्त्वोंमें आकाशादि कारण-तत्त्वोंके रहनेसे उनके गुण भी अनुगत देखे जाते हैं; इसलिये समस्त महाभूतोंके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध केवल पृथ्वीमें ही पाये जाते हैं॥ ४९॥ जब महत्तत्त्व, अहंकार और पंचभूत—ये सात तत्त्व परस्पर मिल न सके—पृथक्-पृथक् ही रह गये, तब जगत्के आदिकारण श्रीनारायणने काल, अदृष्ट और सत्त्वादि गुणोंके सहित उनमें प्रवेश किया॥ ५०॥

फिर परमात्माके प्रवेशसे क्षुब्ध और आपसमें मिले हुए उन तत्त्वोंसे एक जड अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्डसे इस विराट् पुरुषकी अभिव्यक्ति हुई॥ ५१॥ इस अण्डका नाम विशेष है, इसीके अन्तर्गत श्रीहरिके स्वरूपभूत चौदहों भुवनोंका विस्तार है। यह चारों ओरसे क्रमशः एक-दूसरेसे दसगुने जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार और महत्तत्त्व—इन छः आवरणोंसे घिरा हुआ है। इन सबके बाहर सातवाँ आवरण प्रकृतिका है॥ ५२॥ कारणमय जलमें स्थित उस तेजोमय अण्डसे उठकर उस विराट् पुरुषने पुनः उसमें प्रवेश किया और फिर उसमें कई प्रकारके छिद्र किये॥ ५३॥ सबसे पहले उसमें मुख प्रकट हुआ, उससे वाक्-इन्द्रिय और उसके अनन्तर वाक्का अधिष्ठाता अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर नाकके छिद्र (नथुने) प्रकट हुए, उनसे प्राणसहित घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई॥ ५४॥ घ्राणके बाद उसका अधिष्ठाता वायु उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् नेत्रगोलक प्रकट हुए, उनसे चक्षु-इन्द्रिय प्रकट हुई और उसके अनन्तर उसका अधिष्ठाता सूर्य उत्पन्न हुआ। फिर कानोंके छिद्र प्रकट हुए, उनसे उनकी इन्द्रिय श्रोत्र और उसके अभिमानी दिग्देवता प्रकट हुए॥ ५५॥

---

१. प्रा० पा०—लभ्यते। २. प्रा० पा०—नेन वृतै०।

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः॥ ५६

इसके बाद उस विराट् पुरुषके त्वचा उत्पन्न हुई। उससे रोम, मूँछ-दाढ़ी तथा सिरके बाल प्रकट हुए और उनके बाद त्वचाकी अभिमानी ओषधियाँ (अन्न आदि) उत्पन्न हुईं। इसके पश्चात् लिंग प्रकट हुआ॥ ५६॥

रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम्।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः॥ ५७

उससे वीर्य और वीर्यके बाद लिंगका अभिमानी आपोदेव (जल) उत्पन्न हुआ। फिर गुदा प्रकट हुई, उससे अपानवायु और अपानके बाद उसका अभिमानी लोकोंको भयभीत करनेवाला मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ॥ ५७॥

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट्।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः॥ ५८

तदनन्तर हाथ प्रकट हुए, उनसे बल और बलके बाद हस्तेन्द्रियका अभिमानी इन्द्र उत्पन्न हुआ। फिर चरण प्रकट हुए, उनसे गति (गमनकी क्रिया) और फिर पादेन्द्रियका अभिमानी विष्णुदेवता उत्पन्न हुआ॥ ५८॥

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम्[१]।
नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत॥ ५९

इसी प्रकार जब विराट् पुरुषके नाडियाँ प्रकट हुईं, तो उनसे रुधिर उत्पन्न हुआ और उससे नदियाँ हुईं। फिर उसके उदर (पेट) प्रकट हुआ॥ ५९॥

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत्।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम्॥ ६०

उससे क्षुधा-पिपासाकी अभिव्यक्ति हुई और फिर उदरका अभिमानी समुद्रदेवता उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् उसके हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मनका प्राकट्य हुआ॥ ६०॥

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः।
अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत्॥ ६१

मनके बाद उसका अभिमानी देवता चन्द्रमा हुआ। फिर हृदयसे ही बुद्धि और उसके बाद उसका अभिमानी ब्रह्मा हुआ। तत्पश्चात् अहंकार और उसके अनन्तर उसका अभिमानी रुद्रदेवता उत्पन्न हुआ। इसके बाद चित्त और उसका अभिमानी क्षेत्रज्ञ प्रकट हुआ॥ ६१॥

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन्।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात्॥ ६२

जब ये क्षेत्रज्ञके अतिरिक्त सारे देवता उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुषको उठानेमें असमर्थ रहे, तो उसे उठानेके लिये क्रमशः फिर अपने-अपने उत्पत्तिस्थानोंमें प्रविष्ट होने लगे॥ ६२॥

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६३

अग्निने वाणीके साथ मुखमें प्रवेश किया, परन्तु इससे विराट् पुरुष न उठा। वायुने घ्राणेन्द्रियके सहित नासाछिद्रोंमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा॥ ६३॥

१. प्रा० पा०—माश्रितम्।

अक्षिणी चक्षुषाऽऽदित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६४

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६५

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६६

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६७

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६८

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६९

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥ ७०

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा॥ ७१

तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत्॥ ७२

सूर्यने चक्षुके सहित नेत्रोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा। दिशाओंने श्रवणेन्द्रियके सहित कानोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा॥ ६४॥

ओषधियोंने रोमोंके सहित त्वचामें प्रवेश किया फिर भी विराट् पुरुष न उठा। जलने वीर्यके साथ लिंगमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा॥ ६५॥ मृत्युने अपानके साथ गुदामें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा। इन्द्रने बलके साथ हाथोंमें प्रवेश किया, परन्तु इससे भी विराट् पुरुष न उठा॥ ६६॥ विष्णुने गतिके सहित चरणोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा। नदियोंने रुधिरके सहित नाडियोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा॥ ६७॥ समुद्रने क्षुधा-पिपासाके सहित उदरमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा। चन्द्रमाने मनके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा॥ ६८॥ ब्रह्माने बुद्धिके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा। रुद्रने अहंकारके सहित उसी हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा॥ ६९॥

किन्तु जब चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञने चित्तके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तो विराट् पुरुष उसी समय जलसे उठकर खड़ा हो गया॥ ७०॥

जिस प्रकार लोकमें प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञकी सहायताके बिना सोये हुए प्राणीको अपने बलसे नहीं उठा सकते, उसी प्रकार विराट् पुरुषको भी वे क्षेत्रज्ञ परमात्माके बिना नहीं उठा सके॥ ७१॥

अतः भक्ति, वैराग्य और चित्तकी एकाग्रतासे प्रकट हुए ज्ञानके द्वारा उस अन्तरात्मस्वरूप क्षेत्रज्ञको इस शरीरमें स्थित जानकर उसका चिन्तन करना चाहिये॥ ७२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेये तत्त्वसमाम्नाये षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

प्रकृति-पुरुषके विवेकसे मोक्ष-प्राप्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥ १

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते।
अहंक्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते॥ २

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः।
प्रासंगिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥ ३

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ४

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम्॥ ५

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च॥ ६

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसंगतः।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा॥ ७

यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥ ८

श्रीभगवान् कहते हैं—माताजी! जिस तरह जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके साथ जलके शीतलता, चंचलता आदि गुणोंका सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृतिके कार्य शरीरमें स्थित रहनेपर भी आत्मा वास्तवमें उसके सुख-दुःखादि धर्मोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह स्वभावसे निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण है॥ १॥

किन्तु जब वही प्राकृत गुणोंसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब अहंकारसे मोहित होकर 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानने लगता है॥ २॥ उस अभिमानके कारण वह देहके संसर्गसे किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंके दोषसे अपनी स्वाधीनता और शान्ति खो बैठता है तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियोंमें उत्पन्न होकर संसारचक्रमें घूमता रहता है॥ ३॥ जिस प्रकार स्वप्नमें भय-शोकादिका कोई कारण न होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंमें आस्था हो जानेके कारण दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय-शोक, अहं-मम एवं जन्म-मरणादिरूप संसारकी कोई सत्ता न होनेपर भी अविद्यावश विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे जीवका संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता॥ ४॥ इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि असन्मार्ग (विषय-चिन्तन) में फँसे हुए चित्तको तीव्र भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा धीरे-धीरे अपने वशमें लावे॥ ५॥

यमादि योगसाधनोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास—चित्तको बारंबार एकाग्र करते हुए मुझमें सच्चा भाव रखने, मेरी कथा श्रवण करने, समस्त प्राणियोंमें समभाव रखने, किसीसे वैर न करने, आसक्तिके त्याग, ब्रह्मचर्य, मौन-व्रत और बलिष्ठ (अर्थात् भगवान्‌को समर्पित किये हुए) स्वधर्मसे जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गयी है कि—प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता है उसीमें सन्तुष्ट रहता है, परिमित भोजन करता है, सदा एकान्तमें रहता है, शान्तस्वभाव है, सबका मित्र है, दयालु और धैर्यवान्

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम्।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च॥ ९

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः।
उपलभ्यात्मनाऽऽत्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक्॥ १०

मुक्तलिंगं सदाभासमसति प्रतिपद्यते।
सतोबन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम्॥ ११

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः॥ १२

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक्॥ १३

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः॥ १४

मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः॥ १५

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः॥ १६

है, प्रकृति और पुरुषके वास्तविक स्वरूपके अनुभवसे प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानके कारण स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंके सहित इस देहमें मैं-मेरेपनका मिथ्या अभिनिवेश नहीं करता, बुद्धिकी जाग्रदादि अवस्थाओंसे भी अलग हो गया है तथा परमात्माके सिवा और कोई वस्तु नहीं देखता—वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रोंसे सूर्यको देखनेकी भाँति अपने शुद्ध अन्तःकरणद्वारा परमात्माका साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है, जो देहादि सम्पूर्ण उपाधियोंसे पृथक्, अहंकारादि मिथ्या वस्तुओंमें सत्यरूपसे भासनेवाला, जगत्कारणभूता प्रकृतिका अधिष्ठान, महदादि कार्य-वर्गका प्रकाशक और कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त है॥ ६—११॥

जिस प्रकार जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब दीवालपर पड़े हुए अपने आभासके सम्बन्धसे देखा जाता है और जलमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे आकाशस्थित सूर्यका ज्ञान होता है, उसी प्रकार वैकारिक आदि भेदसे तीन प्रकारका अहङ्कार देह, इन्द्रिय और मनमें स्थित अपने प्रतिबिम्बोंसे लक्षित होता है और फिर सत् परमात्माके प्रतिबिम्बयुक्त उस अहङ्कारके द्वारा सत्यज्ञानस्वरूप परमात्माका दर्शन होता है—जो सुषुप्तिके समय निद्रासे शब्दादि भूतसूक्ष्म, इन्द्रिय और मनबुद्धि आदिके अव्याकृतमें लीन हो जानेपर स्वयं जागता रहता है और सर्वथा अहंकारशून्य है॥ १२—१४॥ (जाग्रत्-अवस्थामें यह आत्मा भूत-सूक्ष्मादि दृश्यवर्गके द्रष्टारूपमें स्पष्टतया अनुभवमें आता है; किन्तु) सुषुप्तिके समय अपने उपाधिभूत अहंकारका नाश होनेसे वह भ्रमवश अपनेको ही नष्ट हुआ मान लेता है और जिस प्रकार धनका नाश हो जानेपर मनुष्य अपनेको भी नष्ट हुआ मानकर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है॥ १५॥ माताजी! इन सब बातोंका मनन करके विवेकी पुरुष अपने आत्माका अनुभव कर लेता है, जो अहंकारके सहित सम्पूर्ण तत्त्वोंका अधिष्ठान और प्रकाशक है॥ १६॥

देवहूतिरुवाच

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो॥ १७
यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च॥ १८
अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम्॥ १९
क्वचित् तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम्।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते॥ २०

श्रीभगवानुवाच

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम्॥ २१
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना॥ २२
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः॥ २३
भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च॥ २४
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥ २५
एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम्।
युंजतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित्॥ २६
यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः॥ २७

देवहूतिने पूछा—प्रभो! पुरुष और प्रकृति दोनों ही नित्य और एक-दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले हैं, इसलिये प्रकृति तो पुरुषको कभी छोड़ ही नहीं सकती॥ १७॥ ब्रह्मन्! जिस प्रकार गन्ध और पृथ्वी तथा रस और जलकी पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी एक-दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते॥ १८॥ अतः जिनके आश्रयसे अकर्ता पुरुषको यह कर्मबन्धन प्राप्त हुआ है, उन प्रकृतिके गुणोंके रहते हुए उसे कैवल्यपद कैसे प्राप्त होगा?॥ १९॥ यदि तत्त्वोंका विचार करनेसे कभी यह संसारबन्धनका तीव्र भय निवृत्त हो भी जाय, तो भी उसके निमित्तभूत प्राकृत गुणोंका अभाव न होनेसे वह भय फिर उपस्थित हो सकता है॥ २०॥

श्रीभगवान्ने कहा—माताजी! जिस प्रकार अग्निका उत्पत्तिस्थान अरणि अपनेसे ही उत्पन्न अग्निसे जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्कामभावसे किये हुए स्वधर्मपालनद्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बहुत समयतक भगवत्कथा-श्रवणद्वारा पुष्ट हुई मेरी तीव्र भक्तिसे, तत्त्वसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानसे, प्रबल वैराग्यसे, व्रतनियमादिके सहित किये हुए ध्यानाभ्याससे और चित्तकी प्रगाढ़ एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति (अविद्या) दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है॥ २१—२३॥ फिर नित्यप्रति दोष दीखनेसे भोगकर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूपमें स्थित और स्वतन्त्र (बन्धनमुक्त) हुए उस पुरुषका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती॥ २४॥ जैसे सोये हुए पुरुषको स्वप्नमें कितने ही अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जग पड़नेपर उसे उन स्वप्नके अनुभवोंसे किसी प्रकारका मोह नहीं होता॥ २५॥ उसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है और जो निरन्तर मुझमें ही मन लगाये रहता है, उस आत्माराम मुनिका प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती॥ २६॥ जब मनुष्य अनेकों जन्मोंमें बहुत समयतक इस प्रकार आत्मचिन्तनमें ही निमग्न रहता है, तब उसे ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी प्रकारके भोगोंसे वैराग्य हो जाता है॥ २७॥

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम्॥ २८
प्राप्नोतीहांजसा धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी[१] लिंगाद्विनिर्गमे॥ २९

मेरा वह धैर्यवान् भक्त मेरी ही महती कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभवके द्वारा सारे संशयोंसे मुक्त हो जाता है और फिर लिंगदेहका नाश होनेपर एकमात्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत कैवल्यसंज्ञक मंगलमय पदको सहजमें ही प्राप्त कर लेता है, जहाँ पहुँचनेपर योगी फिर लौटकर नहीं आता॥ २८-२९॥

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग[२]।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद्
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः॥ ३०

माताजी! यदि योगीका चित्त योगसाधनासे बढ़ी हुई मायामयी अणिमादि सिद्धियोंमें, जिनकी प्राप्तिका योगके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है, नहीं फँसता, तो उसे मेरा वह अविनाशी परमपद प्राप्त होता है—जहाँ मृत्युकी कुछ भी दाल नहीं गलती॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेयोपाख्याने सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अष्टांगयोगकी विधि

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मज।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम्॥ १

कपिलभगवान् कहते हैं—माताजी! अब मैं तुम्हें सबीज (ध्येयस्वरूपके आलम्बनसे युक्त) योगका लक्षण बताता हूँ, जिसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर परमात्माके मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है॥ १॥

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम्॥ २

यथाशक्ति शास्त्रविहित स्वधर्मका पालन करना तथा शास्त्रविरुद्ध आचरणका परित्याग करना, प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना, आत्मज्ञानियोंके चरणोंकी पूजा करना,॥ २॥

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम्॥ ३

विषय-वासनाओंको बढ़ानेवाले कर्मोंसे दूर रहना, संसारबन्धनसे छुड़ानेवाले धर्मोंमें प्रेम करना, पवित्र और परिमित भोजन करना, निरन्तर एकान्त और निर्भय स्थानमें रहना,॥ ३॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम्॥ ४

मन, वाणी और शरीरसे किसी जीवको न सताना, सत्य बोलना, चोरी न करना, आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका संग्रह न करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, तपस्या करना (धर्मपालनके लिये कष्ट सहना), बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्‌की पूजा करना,॥ ४॥

१. प्रा० पा०—लिंगविनिर्गमे। २. प्रा० पा०—जते कथम्।

मौनं सदाऽऽसनजयस्थैर्यं प्राणजयः शनैः।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि॥ ५

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम्।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथाऽऽत्मनः॥ ६

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम्।
बुद्ध्या युंजीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः॥ ७

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥ ८

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचंचलम्॥ ९

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥ १०

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ ११

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः॥ १२

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम्॥ १३

लसत्पङ्कजकिंजल्कपीतकौशेयवाससम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्॥ १४

वाणीका संयम करना, उत्तम आसनोंका अभ्यास करके स्थिरतापूर्वक बैठना, धीरे-धीरे प्राणायामके द्वारा श्वासको जीतना, इन्द्रियोंको मनके द्वारा विषयोंसे हटाकर अपने हृदयमें ले जाना॥ ५॥ मूलाधार आदि किसी एक केन्द्रमें मनके सहित प्राणोंको स्थिर करना, निरन्तर भगवान्‌की लीलाओंका चिन्तन और चित्तको समाहित करना॥ ६॥ इनसे तथा व्रत-दानादि दूसरे साधनोंसे भी सावधानीके साथ प्राणोंको जीतकर बुद्धिके द्वारा अपने कुमार्गगामी दुष्ट चित्तको धीरे-धीरे एकाग्र करे, परमात्माके ध्यानमें लगावे॥ ७॥

पहले आसनको जीते, फिर प्राणायामके अभ्यासके लिये पवित्र देशमें कुश-मृगचर्मादिसे युक्त आसन बिछावे। उसपर शरीरको सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर अभ्यास करे॥ ८॥ आरम्भमें बायें नासिकासे पूरक, कुम्भक और रेचक करे, फिर इसके विपरीत दाहिनी नासिकासे प्राणायाम करके प्राणके मार्गका शोधन करे—जिससे चित्त स्थिर और निश्चल हो जाय॥ ९॥

जिस प्रकार वायु और अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने मलको त्याग देता है, उसी प्रकार जो योगी प्राणवायुको जीत लेता है, उसका मन बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है॥ १०॥ अतः योगीको उचित है कि प्राणायामसे वात-पित्तादिजनित दोषोंको, धारणासे पापोंको, प्रत्याहारसे विषयोंके सम्बन्धको और ध्यानसे भगवद्विमुख करनेवाले राग-द्वेषादि दुर्गुणोंको दूर करे॥ ११॥ जब योगका अभ्यास करते-करते चित्त निर्मल और एकाग्र हो जाय, तब नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर इस प्रकार भगवान्‌की मूर्तिका ध्यान करे॥ १२॥

भगवान्‌का मुखकमल आनन्दसे प्रफुल्ल है, नेत्र कमलकोशके समान रतनारे हैं, शरीर नीलकमलदलके समान श्याम है; हाथोंमें शंख, चक्र और गदा धारण किये हैं॥ १३॥ कमलकी केसरके समान पीला रेशमी वस्त्र लहरा रहा है, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न है और गलेमें कौस्तुभमणि झिलमिला रही है॥ १४॥

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया।
परार्घ्यहारवलयकिरीटांगदनूपुरम् ॥ १५

कांचीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम्॥ १६

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्॥ १७

कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्।
ध्यायेद्देवं समग्रांगं यावन्न च्यवते मनः॥ १८

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा॥ १९

तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादंगे भगवतो मुनिः॥ २०

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुंगरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥ २१

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥ २२

वनमाला चरणोंतक लटकी हुई है, जिसके चारों ओर भौंरे सुगन्धसे मतवाले होकर मधुर गुंजार कर रहे हैं; अंग-प्रत्यंगमें महामूल्य हार, कंकण, किरीट, भुजबन्ध और नूपुर आदि आभूषण विराजमान हैं॥ १५॥ कमरमें करधनीकी लड़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही हैं; भक्तोंके हृदयकमल ही उनके आसन हैं, उनका दर्शनीय श्यामसुन्दर स्वरूप अत्यन्त शान्त एवं मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है॥ १६॥ उनकी अति सुन्दर किशोर अवस्था है, वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आतुर हो रहे हैं। बड़ी मनोहर झाँकी है। भगवान् सदा सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दित हैं॥ १७॥ उनका पवित्र यश परम कीर्तनीय है और वे राजा बलि आदि परम यशस्वियोंके भी यशको बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार श्रीनारायणदेवका सम्पूर्ण अंगोंके सहित तबतक ध्यान करे, जबतक चित्त वहाँसे हटे नहीं॥ १८॥ भगवान्‌की लीलाएँ बड़ी दर्शनीय हैं; अतः अपनी रुचिके अनुसार खड़े हुए, चलते हुए, बैठे हुए, पौढ़े हुए अथवा अन्तर्यामीरूपमें स्थित हुए उनके स्वरूपका विशुद्ध भावयुक्त चित्तसे चिन्तन करे॥ १९॥ इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवद्विग्रहमें चित्तकी स्थिति हो गयी, तब वह उनके समस्त अंगोंमें लगे हुए चित्तको विशेष रूपसे एक-एक अंगमें लगावे॥ २०॥

भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करना चाहिये। वे वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमलके मंगलमय चिह्नोंसे युक्त हैं तथा अपने उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नखचन्द्रमण्डलकी चन्द्रिकासे ध्यान करनेवालोंके हृदयके अज्ञानरूप घोर अन्धकारको दूर कर देते हैं॥ २१॥ इन्हींकी धोवनसे नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगंगाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जलको मस्तकपर धारण करनेके कारण स्वयं मंगलरूप श्रीमहादेवजी और भी अधिक मंगलमय हो गये। ये अपना ध्यान करनेवालोंके पापरूप पर्वतोंपर छोड़े हुए इन्द्रके वज्रके समान हैं। भगवान्‌के इन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करे॥ २२॥

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात्॥ २३

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
कांचीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम्॥ २४

नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम्।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य
ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम्॥ २५

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम्।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य॥ २६

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान्।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम्॥ २७

भवभयहारी अजन्मा श्रीहरिकी दोनों पिंडलियों एवं घुटनोंका ध्यान करे, जिनको विश्वविधाता ब्रह्माजीकी माता सुरवन्दिता कमललोचना लक्ष्मीजी अपनी जाँघोंपर रखकर अपने कान्तिमान् करकिसलयोंकी कान्तिसे लाड़ लड़ाती रहती हैं॥ २३॥

भगवान्‌की जाँघोंका ध्यान करे, जो अलसीके फूलके समान नीलवर्ण और बलकी निधि हैं तथा गरुडजीकी पीठपर शोभायमान हैं। भगवान्‌के नितम्बबिम्बका ध्यान करे, जो एड़ीतक लटके हुए पीताम्बरसे ढका हुआ है और उस पीताम्बरके ऊपर पहनी हुई सुवर्णमयी करधनीकी लड़ियोंको आलिंगन कर रहा है॥ २४॥

सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयस्थान भगवान्‌के उदरदेशमें स्थित नाभिसरोवरका ध्यान करे; इसीमेंसे ब्रह्माजीका आधारभूत सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ है। फिर प्रभुके श्रेष्ठ मरकतमणिसदृश दोनों स्तनोंका चिन्तन करे, जो वक्षःस्थलपर पड़े हुए शुभ्र हारोंकी किरणोंसे गौरवर्ण जान पड़ते हैं॥ २५॥

इसके पश्चात् पुरुषोत्तमभगवान्‌के वक्षःस्थलका ध्यान करे, जो महालक्ष्मीका निवासस्थान और लोगोंके मन एवं नेत्रोंको आनन्द देनेवाला है। फिर सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय भगवान्‌के गलेका चिन्तन करे, जो मानो कौस्तुभमणिको भी सुशोभित करनेके लिये ही उसे धारण करता है॥ २६॥

समस्त लोकपालोंकी आश्रयभूता भगवान्‌की चारों भुजाओंका ध्यान करे, जिनमें धारण किये हुए कंकणादि आभूषण समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़से और भी उजले हो गये हैं। इसी प्रकार जिसके तेजको सहन नहीं किया जा सकता, उस सहस्र धारोंवाले सुदर्शनचक्रका तथा उनके कर-कमलमें राजहंसके समान विराजमान शंखका चिन्तन करे॥ २७॥

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे॥ २८

फिर विपक्षी वीरोंके रुधिरसे सनी हुई प्रभुकी प्यारी कौमोदकी गदाका, भौंरोंके शब्दसे गुंजायमान वनमालाका और उनके कण्ठमें सुशोभित सम्पूर्ण जीवोंके निर्मलतत्त्वरूप कौस्तुभमणिका ध्यान करे*॥ २८॥

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम्।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ २९

भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही यहाँ साकाररूप धारण करनेवाले श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो सुधड़ नासिकासे सुशोभित है और झिलमिलाते हुए मकराकृत कुण्डलोंके हिलनेसे अतिशय प्रकाशमान स्वच्छ कपोलोंके कारण बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है॥ २९॥

यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम्।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु॥ ३०

काली-काली घुँघराली अलकावलीसे मण्डित भगवान्‌का मुखमण्डल अपनी छबिके द्वारा भ्रमरोंसे सेवित कमलकोशका भी तिरस्कार कर रहा है और उसके कमलसदृश विशाल एवं चंचल नेत्र उस कमलकोशपर उछलते हुए मछलियोंके जोड़ेकी शोभाको मात कर रहे हैं। उन्नत भ्रूलताओंसे सुशोभित भगवान्‌के ऐसे मनोहर मुखारविन्दकी मनमें धारणा करके आलस्यरहित हो उसीका ध्यान करे॥ ३०॥

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम्॥ ३१

हृदयगुहामें चिरकालतक भक्तिभावसे भगवान्‌के नेत्रोंकी चितवनका ध्यान करना चाहिये, जो कृपासे और प्रेमभरी मुसकानसे क्षण-क्षण अधिकाधिक बढ़ती रहती है, विपुल प्रसादकी वर्षा करती रहती है और भक्तजनोंके अत्यन्त घोर तीनों तापोंको शान्त करनेके लिये ही प्रकट हुई है॥ ३१॥

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य॥ ३२

श्रीहरिका हास्य प्रणतजनोंके तीव्र-से-तीव्र शोकके अश्रुसागरको सुखा देता है और अत्यन्त उदार है। मुनियोंके हितके लिये कामदेवको मोहित करनेके लिये ही अपनी मायासे श्रीहरिने अपने भ्रूमण्डलको बनाया है—उनका ध्यान करना चाहिये॥ ३२॥

* 'आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम्। विभर्ति कौस्तुभमणिं स्वरूपं भगवान् हरिः॥'
अर्थात् इस जगत्‌की निर्लेप, निर्गुण, निर्मल तथा स्वरूपभूत आत्माको कौस्तुभमणिके रूपमें भगवान् धारण करते हैं।

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्॥ ३३

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥ ३४

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥ ३५

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥ ३६

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३७

अत्यन्त प्रेमार्द्रभावसे अपने हृदयमें विराजमान श्रीहरिके खिलखिलाकर हँसनेका ध्यान करे, जो वस्तुतः ध्यानके ही योग्य है तथा जिसमें ऊपर और नीचेके दोनों होठोंकी अत्यधिक अरुण कान्तिके कारण उनके कुन्दकलीके समान शुभ्र छोटे-छोटे दाँतोंपर लालिमा-सी प्रतीत होने लगी है। इस प्रकार ध्यानमें तन्मय होकर उनके सिवा किसी अन्य पदार्थको देखनेकी इच्छा न करे॥ ३३॥

इस प्रकारके ध्यानके अभ्याससे साधकका श्रीहरिमें प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्तिसे द्रवित हो जाता है, शरीरमें आनन्दातिरेकके कारण रोमांच होने लगता है, उत्कण्ठाजनित प्रेमाश्रुओंकी धारामें वह बारंबार अपने शरीरको नहलाता है और फिर मछली पकड़नेके काँटेके समान श्रीहरिको अपनी ओर आकर्षित करनेके साधनरूप अपने चित्तको भी धीरे-धीरे ध्येय वस्तुसे हटा लेता है॥ ३४॥ जैसे तेल आदिके चुक जानेपर दीपशिखा अपने कारणरूप तेजस्-तत्त्वमें लीन हो जाती है, वैसे ही आश्रय, विषय और रागसे रहित होकर मन शान्त—ब्रह्माकार हो जाता है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर जीव गुणप्रवाहरूप देहादि उपाधिके निवृत्त हो जानेके कारण ध्याता, ध्येय आदि विभागसे रहित एक अखण्ड परमात्माको ही सर्वत्र अनुगत देखता है॥ ३५॥ योगाभ्याससे प्राप्त हुई चित्तकी इस अविद्यारहित लयरूप निवृत्तिसे अपनी सुख-दुःखरहित ब्रह्मरूप महिमामें स्थित होकर परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर वह योगी जिस सुख-दुःखके भोक्तृत्वको पहले अज्ञानवश अपने स्वरूपमें देखता था, उसे अब अविद्याकृत अहंकारमें ही देखता है॥ ३६॥ जिस प्रकार मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको अपनी कमरपर लपेटे हुए वस्त्रके रहने या गिरनेकी कुछ भी सुधि नहीं रहती, उसी प्रकार चरमावस्थाको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषको भी अपनी देहके बैठने-उठने अथवा दैववश कहीं जाने या लौट आनेके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित है॥ ३७॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपंचमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३८

उसका शरीर तो पूर्वजन्मके संस्कारोंके अधीन है; अतः जबतक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है तबतक वह इन्द्रियोंके सहित जीवित रहता है; किन्तु जिसे समाधिपर्यन्त योगकी स्थिति प्राप्त हो गयी है और जिसने परमात्मतत्त्वको भी भलीभाँति जान लिया है, वह सिद्धपुरुष पुत्र-कलत्रादिके सहित इस शरीरको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले शरीरोंके समान फिर स्वीकार नहीं करता—फिर उसमें अहंता-ममता नहीं करता॥ ३८॥

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा॥ ३९

यथोल्मुकाद्विस्फुलिंगाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥ ४०

भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥ ४१

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्॥ ४२

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः॥ ४३

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥ ४४

जिस प्रकार अत्यन्त स्नेहके कारण पुत्र और धनादिमें भी साधारण जीवोंकी आत्मबुद्धि रहती है, किन्तु थोड़ा-सा विचार करनेसे ही वे उनसे स्पष्टतया अलग दिखायी देते हैं, उसी प्रकार जिन्हें यह अपना आत्मा मान बैठा है, उन देहादिसे भी उनका साक्षी पुरुष पृथक् ही है॥ ३९॥ जिस प्रकार जलती हुई लकड़ीसे, चिनगारीसे, स्वयं अग्निसे ही प्रकट हुए धूएँसे तथा अग्निरूप मानी जानेवाली उस जलती हुई लकड़ीसे भी अग्नि वास्तवमें पृथक् ही है—उसी प्रकार भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे उनका साक्षी आत्मा अलग है तथा जीव कहलानेवाले उस आत्मासे भी ब्रह्म भिन्न है और प्रकृतिसे उसके संचालक पुरुषोत्तम भिन्न हैं॥ ४०-४१॥ जिस प्रकार देहदृष्टिसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—चारों प्रकारके प्राणी पंचभूतमात्र हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण जीवोंको अनन्यभावसे अनुगत देखे॥ ४२॥ जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने पृथक्-पृथक् आश्रयोंमें उनकी विभिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न आकारका दिखायी देता है, उसी प्रकार देव-मनुष्यादि शरीरोंमें रहनेवाला एक ही आत्मा अपने आश्रयोंके गुण-भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारका भासता है॥ ४३॥ अतः भगवान्का भक्त जीवके स्वरूपको छिपा देनेवाली कार्यकारणरूपसे परिणामको प्राप्त हुई भगवान्की इस अचिन्त्य शक्तिमयी मायाको भगवान्की कृपासे ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूप—ब्रह्मरूपमें स्थित होता है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये साधनानुष्ठानं नामाष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्याय:

भक्तिका मर्म और कालकी महिमा

देवहूतिरुवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम्॥ १
यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः[1] प्रभो॥ २
विरागो येन पुरुषो भगवन् सर्वतो भवेत्।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः॥ ३
कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः॥ ४
लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः॥ ५

देवहूतिने पूछा—प्रभो! प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वादिका जैसा लक्षण सांख्यशास्त्रमें कहा गया है तथा जिसके द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप अलग-अलग जाना जाता है और भक्तियोगको ही जिसका प्रयोजन कहा गया है, वह आपने मुझे बताया। अब कृपा करके भक्तियोगका मार्ग मुझे विस्तारपूर्वक बताइये॥ १-२॥ इसके सिवा जीवोंकी जन्म-मरणरूपा अनेक प्रकारकी गतियोंका भी वर्णन कीजिये; जिनके सुननेसे जीवको सब प्रकारकी वस्तुओंसे वैराग्य होता है॥ ३॥ जिसके भयसे लोग शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और जो ब्रह्मादिका भी शासन करनेवाला है, उस सर्वसमर्थ कालका स्वरूप भी आप मुझसे कहिये॥ ४॥ ज्ञानदृष्टिके लुप्त हो जानेके कारण देहादि मिथ्या वस्तुओंमें जिन्हें आत्माभिमान हो गया है तथा बुद्धिके कर्मासक्त रहनेके कारण अत्यन्त श्रमिक होकर जो चिरकालसे अपार अन्धकारमय संसारमें सोये पड़े हैं, उन्हें जगानेके लिये आप योगप्रकाशक सूर्य ही प्रकट हुए हैं॥ ५॥

मैत्रेय उवाच

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः।
आबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः॥ ६

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ विदुरजी! माताके ये मनोहर वचन सुनकर महामुनि कपिलजीने उनकी प्रशंसा की और जीवोंके प्रति दयासे द्रवीभूत हो बड़ी प्रसन्नताके साथ उनसे इस प्रकार बोले—॥ ६॥

श्रीभगवानुवाच

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥ ७
अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा[2]।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः॥ ८
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥ ९

श्रीभगवान्‌ने कहा—माताजी! साधकोंके भावके अनुसार भक्तियोगका अनेक प्रकारसे प्रकाश होता है, क्योंकि स्वभाव और गुणोंके भेदसे मनुष्योंके भावमें भी विभिन्नता आ जाती है॥ ७॥ जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदयमें हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्यका भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है॥ ८॥ जो पुरुष विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे प्रतिमादिमें मेरा भेदभावसे पूजन करता है, वह राजस भक्त है॥ ९॥

१. प्रा० पा०—रत:। २. प्रा० पा०—च।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥ १०

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥ ११

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ १२

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ १३

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥ १४

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥ १५

मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च॥ १६

महता बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥ १७

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा॥ १८

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥ १९

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात्।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत्॥ २०

जो व्यक्ति पापोंका क्षय करनेके लिये, परमात्माको अर्पण करनेके लिये और पूजन करना कर्तव्य है— इस बुद्धिसे मेरा भेदभावसे पूजन करता है, वह सात्त्विक भक्त है॥ १०॥ जिस प्रकार गंगाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है॥ ११-१२॥ ऐसे निष्काम भक्त, दिये जानेपर भी, मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य[1], सार्ष्टि,[2] सामीप्य,[3] सारूप्य[4] और सायुज्य[5] मोक्षतक नहीं लेते— ॥ १३॥ भगवत् सेवाके लिये मुक्तिका तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको—मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है॥ १४॥

निष्कामभावसे श्रद्धापूर्वक अपने नित्य-नैमित्तिक कर्तव्योंका पालन कर, नित्यप्रति हिंसारहित उत्तम क्रियायोगका अनुष्ठान करने, मेरी प्रतिमाका दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति और वन्दना करने, प्राणियोंमें मेरी भावना करने, धैर्य और वैराग्यके अवलम्बन, महापुरुषोंका मान, दीनोंपर दया और समान स्थितिवालोंके प्रति मित्रताका व्यवहार करने, यम-नियमोंका पालन, अध्यात्मशास्त्रोंका श्रवण और मेरे नामोंका उच्चस्वरसे कीर्तन करनेसे तथा मनकी सरलता, सत्पुरुषोंके संग और अहंकारके त्यागसे मेरे धर्मोंका (भागवतधर्मोंका) अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे अनायास ही मुझमें लग जाता है॥ १५—१९॥

जिस प्रकार वायुके द्वारा उड़कर जानेवाला गन्ध अपने आश्रय पुष्पसे घ्राणेन्द्रियतक पहुँच जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें तत्पर और राग-द्वेषादि विकारोंसे शून्य चित्त परमात्माको प्राप्त कर लेता है॥ २०॥

---

१. भगवान्‌के नित्यधाममें निवास, २. भगवान्‌के समान ऐश्वर्यभोग, ३. भगवान्‌की नित्यसमीपता, ४. भगवान्‌का-सा रूप और ५. भगवान्‌के विग्रहमें समा जाना, उनसे एक हो जाना या ब्रह्मरूप प्राप्त कर लेना।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥ २१

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥ २२

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥ २३

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥ २४

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥ २५

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्॥ २६

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥ २७

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः॥ २८

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥ २९

मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ; इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा स्वाँगमात्र है॥ २१॥ मैं सबका आत्मा, परमेश्वर सभी भूतोंमें स्थित हूँ; ऐसी दशामें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही हवन करता है॥ २२॥ जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीरोंमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती॥ २३॥ माताजी! जो दूसरे जीवोंका अपमान करता है, वह बहुत-सी घटिया-बढ़िया सामग्रियोंसे अनेक प्रकारके विधि-विधानके साथ मेरी मूर्तिका पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता॥ २४॥ मनुष्य अपने धर्मका अनुष्ठान करता हुआ तबतक मुझ ईश्वरकी प्रतिमा आदिमें पूजा करता रहे, जबतक उसे अपने हृदयमें एवं सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित परमात्माका अनुभव न हो जाय॥ २५॥ जो व्यक्ति आत्मा और परमात्माके बीचमें थोड़ा-सा भी अन्तर करता है, उस भेददर्शीको मैं मृत्युरूपसे महान् भय उपस्थित करता हूँ॥ २६॥ अतः सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर घर बनाकर उन प्राणियोंके ही रूपमें स्थित मुझ परमात्माका यथायोग्य दान, मान, मित्रताके व्यवहार तथा समदृष्टिके द्वारा पूजन करना चाहिये॥ २७॥

माताजी! पाषाणादि अचेतनोंकी अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ हैं, उनसे साँस लेनेवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनमें भी मनवाले प्राणी उत्तम और उनसे इन्द्रियकी वृत्तियोंसे युक्त प्राणी श्रेष्ठ हैं। सेन्द्रिय प्राणियोंमें भी केवल स्पर्शका अनुभव करनेवालोंकी अपेक्षा रसका ग्रहण कर सकनेवाले मत्स्यादि उत्कृष्ट हैं तथा रसवेत्ताओंकी अपेक्षा गन्धका अनुभव करनेवाले (भ्रमरादि) और गन्धका ग्रहण करनेवालोंसे भी शब्दका ग्रहण करनेवाले (सर्पादि) श्रेष्ठ हैं॥ २८-२९॥

रूपभेदविदस्तत्र[1] ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पाद[2]स्ततो द्विपात्॥ ३०

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥ ३१

अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः॥ ३२

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्॥ ३३

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥ ३४

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्॥ ३५

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः।
परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम्॥ ३६

रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्॥ ३७

उनसे भी रूपका अनुभव करनेवाले (काकादि) उत्तम हैं और उनकी अपेक्षा जिनके ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँत होते हैं, वे जीव श्रेष्ठ हैं। उनमें भी बिना पैरवालोंसे बहुत-से चरणोंवाले श्रेष्ठ हैं तथा बहुत चरणोंवालोंसे चार चरणवाले और चार चरणवालोंसे भी दो चरणवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं॥ ३०॥ मनुष्योंमें भी चार वर्ण श्रेष्ठ हैं; उनमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मणोंमें वेदको जाननेवाले उत्तम हैं और वेदज्ञोंमें भी वेदका तात्पर्य जाननेवाले श्रेष्ठ हैं॥ ३१॥ तात्पर्य जाननेवालोंसे संशय निवारण करनेवाले, उनसे भी अपने वर्णाश्रमोचित धर्मका पालन करनेवाले तथा उनसे भी आसक्तिका त्याग और अपने धर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं॥ ३२॥ उनकी अपेक्षा भी जो लोग अपने सम्पूर्ण कर्म, उनके फल तथा अपने शरीरको भी मुझे ही अर्पण करके भेदभाव छोड़कर मेरी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार मुझे ही चित्त और कर्म समर्पण करनेवाले अकर्त्ता और समदर्शी पुरुषसे बढ़कर मुझे कोई अन्य प्राणी नहीं दीखता॥ ३३॥ अतः यह मानकर कि जीवरूप अपने अंशसे साक्षात् भगवान् ही सबमें अनुगत हैं, इन समस्त प्राणियोंको बड़े आदरके साथ मनसे प्रणाम करे॥ ३४॥

माताजी! इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिये भक्तियोग और अष्टांगयोगका वर्णन किया। इनमेंसे एकका भी साधन करनेसे जीव परमपुरुष भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है॥ ३५॥ भगवान् परमात्मा परब्रह्मका अद्भुत प्रभावसम्पन्न तथा जागतिक पदार्थोंके नानाविध वैचित्र्यका हेतुभूत स्वरूपविशेष ही 'काल' नामसे विख्यात है। प्रकृति और पुरुष इसीके रूप हैं तथा इनसे यह पृथक् भी है। नाना प्रकारके कर्मोंका मूल अदृष्ट भी यही है तथा इसीसे महत्तत्त्वादिके अभिमानी भेददर्शी प्राणियोंको सदा भय लगा रहता है॥ ३६-३७॥

१. प्रा० पा०—विदस्तेभ्यस्ततश्चोभयवेदिनः। २. प्रा० पा०—पादास्ततो।

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः।
स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः॥ ३८

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत्॥ ३९

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥ ४०

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥ ४१

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्॥ ४२

नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्॥ ४३

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्॥ ४४

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम्॥ ४५

जो सबका आश्रय होनेके कारण समस्त प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर भूतोंद्वारा ही उनका संहार करता है, वह जगत्का शासन करनेवाले ब्रह्मादिका भी प्रभु भगवान् काल ही यज्ञोंका फल देनेवाला विष्णु है॥ ३८॥ इसका न तो कोई मित्र है न कोई शत्रु और न तो कोई सगा-सम्बन्धी ही है। यह सर्वदा सजग रहता है और अपने स्वरूपभूत श्रीभगवान्को भूलकर भोगरूप प्रमादमें पड़े हुए प्राणियोंपर आक्रमण करके उनका संहार करता है॥ ३९॥

इसीके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है, इसीके भयसे इन्द्र वर्षा करते हैं और इसीके भयसे तारे चमकते हैं॥ ४०॥ इसीसे भयभीत होकर ओषधियोंके सहित लताएँ और सारी वनस्पतियाँ समय-समयपर फल-फूल धारण करती हैं॥ ४१॥ इसीके डरसे नदियाँ बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादासे बाहर नहीं जाता। इसीके भयसे अग्नि प्रज्वलित होती है और पर्वतोंके सहित पृथ्वी जलमें नहीं डूबती॥ ४२॥

इसीके शासनसे यह आकाश जीवित प्राणियोंको श्वास-प्रश्वासके लिये अवकाश देता है और महत्तत्त्व अहंकाररूप शरीरका सात आवरणोंसे युक्त ब्रह्माण्डके रूपमें विस्तार करता है॥ ४३॥ इस कालके ही भयसे सत्त्वादि गुणोंके नियामक विष्णु आदि देवगण, जिनके अधीन यह सारा चराचर जगत् है, अपने जगत्-रचना आदि कार्योंमें युगक्रमसे तत्पर रहते हैं॥ ४४॥ यह अविनाशी काल स्वयं अनादि किन्तु दूसरोंका आदिकर्ता (उत्पादक) है तथा स्वयं अनन्त होकर भी दूसरोंका अन्त करनेवाला है। यह पितासे पुत्रकी उत्पत्ति कराता हुआ सारे जगत्की रचना करता है और अपनी संहारशक्ति मृत्युके द्वारा यमराजको भी मरवाकर इसका अन्त कर देता है॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
'कापिलेयोपाख्याने' एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

देह-गेहमें आसक्त पुरुषोंकी अधोगतिका वर्णन

कपिल उवाच

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम्।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः॥ १

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे।
तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते॥ २

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च॥ ३

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते॥ ४

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः॥ ५

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते॥ ६

सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः॥ ७

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया।
रहोरचितयाऽऽलापैः शिशूनां कलभाषिणाम्॥ ८

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः।
कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही॥ ९

श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—माताजी! जिस प्रकार वायुके द्वारा उड़ाया जानेवाला मेघसमूह उसके बलको नहीं जानता, उसी प्रकार यह जीव भी बलवान् कालकी प्रेरणासे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा योनियोंमें भ्रमण करता रहता है, किन्तु उसके प्रबल पराक्रमको नहीं जानता॥ १॥ जीव सुखकी अभिलाषासे जिस-जिस वस्तुको बड़े कष्टसे प्राप्त करता है, उसी-उसीको भगवान् काल विनष्ट कर देता है—जिसके लिये उसे बड़ा शोक होता है॥ २॥ इसका कारण यही है कि यह मन्दमति जीव अपने इस नाशवान् शरीर तथा उसके सम्बन्धियोंके घर, खेत और धन आदिको मोहवश नित्य मान लेता है॥ ३॥ इस संसारमें यह जीव जिस-जिस योनिमें जन्म लेता है, उसी-उसीमें आनन्द मानने लगता है और उससेविरक्त नहीं होता॥ ४॥ यह भगवान्की मायासे ऐसा मोहित हो रहा है कि कर्मवश नारकी योनियोंमें जन्म लेनेपर भी वहाँके विष्ठा आदि भोगोंमें ही सुख माननेके कारण उसे भी छोड़ना नहीं चाहता॥ ५॥ यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवोंमें अत्यन्त आसक्त होकर उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारके मनोरथ करता हुआ अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझता है॥ ६॥ इनके पालन-पोषणकी चिन्तासे इसके सम्पूर्ण अंग जलते रहते हैं; तथापि दुर्वासनाओंसे दूषित हृदय होनेके कारण यह मूढ़ निरन्तर इन्हींके लिये तरह-तरहके पाप करता रहता है॥ ७॥ कुलटा स्त्रियोंके द्वारा एकान्तमें सम्भोगादिके समय प्रदर्शित किये हुए कपटपूर्ण प्रेममें तथा बालकोंकी मीठी-मीठी बातोंमें मन और इन्द्रियोंके फँस जानेसे गृहस्थ पुरुष घरके दुःखप्रधान कपटपूर्ण कर्मोंमें लिप्त हो जाता है। उस समय बहुत सावधानी करनेपर यदि उसे किसी दुःखका प्रतीकार करनेमें सफलता मिल जाती है, तो उसे ही वह सुख-सा मान लेता है॥ ८-९॥

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम्॥ १०

वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम्॥ ११

कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः[1]।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायञ्छ्वसिति मूढधीः॥ १२

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम्॥ १३

तत्राप्यजातनिर्वेदो भ्रियमाणः स्वयम्भृतैः।
[2]जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे॥ १४

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन्।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः॥ १५

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः[3]।
कासश्वासकृतायासः[4] कण्ठे घुरघुरायते॥ १६

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः[5] स्वबन्धुभिः।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः॥ १७

एवं कुटुम्बभरणे [6]व्यापृतात्माजितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः॥ १८

जहाँ-तहाँसे भयंकर हिंसावृत्तिके द्वारा धन संचयकर यह ऐसे लोगोंका पोषण करता है, जिनके पोषणसे नरकमें जाता है। स्वयं तो उनके खाने-पीनेसे बचे हुए अन्नको ही खाकर रहता है॥ १० ॥ बार-बार प्रयत्न करनेपर भी जब इसकी कोई जीविका नहीं चलती, तो यह लोभवश अधीर हो जानेसे दूसरेके धनकी इच्छा करने लगता है॥ ११ ॥ जब मन्दभाग्यके कारण इसका कोई प्रयत्न नहीं चलता और यह मन्दबुद्धि धनहीन होकर कुटुम्बके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है, तब अत्यन्त दीन और चिन्तातुर होकर लंबी-लंबी साँसें छोड़ने लगता है॥ १२ ॥

इसे अपने पालन-पोषणमें असमर्थ देखकर वे स्त्री-पुत्रादि इसका पहलेके समान आदर नहीं करते, जैसे कृपण किसान बूढ़े बैलकी उपेक्षा कर देते हैं॥ १३ ॥ फिर भी इसे वैराग्य नहीं होता। जिन्हें उसने स्वयं पाला था, वे ही अब उसका पालन करते हैं, वृद्धावस्थाके कारण इसका रूप बिगड़ जाता है, शरीर रोगी हो जाता है, अग्नि मन्द पड़ जाती है, भोजन और पुरुषार्थ दोनों ही कम हो जाते हैं। वह मरणोन्मुख होकर घरमें पड़ा रहता है और कुत्तेकी भाँति स्त्री-पुत्रादिके अपमानपूर्वक दिये हुए टुकड़े खाकर जीवन-निर्वाह करता है॥ १४-१५ ॥ मृत्युका समय निकट आनेपर वायुके उत्क्रमणसे इसकी पुतलियाँ चढ़ जाती हैं, श्वास-प्रश्वासकी नलिकाएँ कफसे रुक जाती हैं, खाँसने और साँस लेनेमें भी इसे बड़ा कष्ट होता है तथा कफ बढ़ जानेके कारण कण्ठमें घुरघुराहट होने लगती है॥ १६ ॥ यह अपने शोकातुर बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ पड़ा रहता है और मृत्युपाशके वशीभूत हो जानेसे उनके बुलानेपर भी नहीं बोल सकता॥ १७ ॥

इस प्रकार जो मूढ़ पुरुष इन्द्रियोंको न जीतकर निरन्तर कुटुम्ब-पोषणमें ही लगा रहता है, वह रोते हुए स्वजनोंके बीच अत्यन्त वेदनासे अचेत होकर मृत्युको प्राप्त होता है॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—वृथाश्रमः। २. प्रा० पा०—जरया जात०। ३. प्रा० पा०—नाडिना। ४. प्रा० पा०—यासकण्ठो घु०। ५. प्रा० पा०—परितश्च स्व०। ६. प्रा० पा०—व्यावृता०।

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति॥ १९

यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात्।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा॥ २०

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन्॥ २१

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके॥ २२

तत्र तत्र पतञ्छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम्॥ २३

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः॥ २४

आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा॥ २५

जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम्॥ २६

कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम्।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाम्बुगर्तयोः॥ २७

इस अवसरपर उसे लेनेके लिये अति भयंकर और रोषयुक्त नेत्रोंवाले जो दो यमदूत आते हैं, उन्हें देखकर वह भयके कारण मल-मूत्र कर देता है॥ १९॥ वे यमदूत उसे यातनादेहमें डाल देते हैं और फिर जिस प्रकार सिपाही किसी अपराधीको ले जाते हैं, उसी प्रकार उसके गलेमें रस्सी बाँधकर बलात् यमलोककी लंबी यात्रामें उसे ले जाते हैं॥ २०॥

उनकी घुड़कियोंसे उसका हृदय फटने और शरीर काँपने लगता है, मार्गमें उसे कुत्ते नोचते हैं। उस समय अपने पापोंको याद करके वह व्याकुल हो उठता है॥ २१॥ भूख-प्यास उसे बेचैन कर देती है तथा घाम, दावानल और लूओंसे वह तप जाता है। ऐसी अवस्थामें जल और विश्रामस्थानसे रहित उस तप्तबालुकामय मार्गमें जब उसे एक पग आगे बढ़नेकी भी शक्ति नहीं रहती, यमदूत उसकी पीठपर कोड़े बरसाते हैं, तब बड़े कष्टसे उसे चलना ही पड़ता है॥ २२॥

वह जहाँ-तहाँ थककर गिर जाता है, मूर्च्छा आ जाती है, चेतना आनेपर फिर उठता है। इस प्रकार अति दुःखमय अँधेरे मार्गसे अत्यन्त क्रूर यमदूत उसे शीघ्रतासे यमपुरीको ले जाते हैं॥ २३॥ यमलोकका मार्ग निन्यानबे हजार योजन है। इतने लम्बे मार्गको दो-ही-तीन मुहूर्तमें तय करके वह नरकमें तरह-तरहकी यातनाएँ भोगता है॥ २४॥

वहाँ उसके शरीरको धधकती लकड़ियों आदिके बीचमें डालकर जलाया जाता है, कहीं स्वयं और दूसरोंके द्वारा काट-काटकर उसे अपना ही मांस खिलाया जाता है॥ २५॥ यमपुरीके कुत्तों अथवा गिद्धोंद्वारा जीते-जी उसकी आँतें खींची जाती हैं। साँप, बिच्छू और डाँस आदि डसनेवाले तथा डंक मारनेवाले जीवोंसे शरीरको पीड़ा पहुँचायी जाती है॥ २६॥

शरीरको काटकर टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं। उसे हाथियोंसे चिरवाया जाता है, पर्वतशिखरोंसे गिराया जाता है अथवा जल या गढ़ेमें डालकर बन्द कर दिया जाता है॥ २७॥

यास्तामिस्रान्धतामिस्रा रौरवाद्याश्च यातनाः।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः संगेन निर्मिताः॥ २८

ये सब यातनाएँ तथा इसी प्रकार तामिस्र, अन्धतामिस्र एवं रौरव आदि नरकोंकी और भी अनेकों यन्त्रणाएँ, स्त्री हो या पुरुष, उस जीवको पारस्परिक संसर्गसे होनेवाले पापके कारण भोगनी ही पड़ती हैं॥ २८॥

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः॥ २९

माताजी! कुछ लोगोंका कहना है कि स्वर्ग और नरक तो इसी लोकमें हैं, क्योंकि जो नारकी यातनाएँ हैं, वे यहाँ भी देखी जाती हैं॥ २९॥

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम्॥ ३०

इस प्रकार अनेक कष्ट भोगकर अपने कुटुम्बका ही पालन करनेवाला अथवा केवल अपना ही पेट भरनेवाला पुरुष उन कुटुम्ब और शरीर—दोनोंको यहीं छोड़कर मरनेके बाद अपने किये हुए पापोंका ऐसा फल भोगता है॥ ३०॥

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम्।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद् भृतम्॥ ३१

अपने इस शरीरको यहीं छोड़कर प्राणियोंसे द्रोह करके एकत्रित किये हुए पापरूप पाथेयको साथ लेकर वह अकेला ही नरकमें जाता है॥ ३१॥

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान्।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः॥ ३२

मनुष्य अपने कुटुम्बका पेट पालनेमें जो अन्याय करता है, उसका दैवविहित कुफल वह नरकमें जाकर भोगता है। उस समय वह ऐसा व्याकुल होता है, मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो॥ ३२॥

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम्॥ ३३

जो पुरुष निरी पापकी कमाईसे ही अपने परिवारका पालन करनेमें व्यस्त रहता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें जाता है—जो नरकोंमें चरम सीमाका कष्टप्रद स्थान है॥ ३३॥

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः॥ ३४

मनुष्य-जन्म मिलनेके पूर्व जितनी भी यातनाएँ हैं तथा शूकर-कूकरादि योनियोंके जितने कष्ट हैं, उन सबको क्रमसे भोगकर शुद्ध हो जानेपर वह फिर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने कर्मविपाको नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

मनुष्ययोनिको प्राप्त हुए जीवकी गतिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥ १

श्रीभगवान् कहते हैं—माताजी! जब जीवको मनुष्य-शरीरमें जन्म लेना होता है, तो वह भगवान्‌की प्रेरणासे अपने पूर्वकर्मानुसार देहप्राप्तिके लिये पुरुषके वीर्यकणके द्वारा स्त्रीके उदरमें प्रवेश करता है॥ १॥

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्‌बुदम्।
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम्॥ २

वहाँ वह एक रात्रिमें स्त्रीके रजमें मिलकर एकरूप कलल बन जाता है, पाँच रात्रिमें बुद्‌बुदरूप हो जाता है, दस दिनमें बेरके समान कुछ कठिन हो जाता है और उसके बाद मांसपेशी अथवा अण्डज प्राणियोंमें अण्डेके रूपमें परिणत हो जाता है॥ २॥

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्‌घ्र्याद्यङ्गविग्रहः।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः॥ ३

एक महीनेमें उसके सिर निकल आता है, दो मासमें हाथ-पाँव आदि अंगोंका विभाग हो जाता है और तीन मासमें नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री-पुरुषके चिह्न तथा अन्य छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं॥ ३॥

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः।
षड्‌भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे॥ ४

चार मासमें उसमें मांसादि सातों धातुएँ पैदा हो जाती हैं, पाँचवें महीनेमें भूख-प्यास लगने लगती है और छठे मासमें झिल्लीसे लिपटकर वह दाहिनी कोखमें घूमने लगता है॥ ४॥

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे॥ ५

उस समय माताके खाये हुए अन्न-जल आदिसे उसकी सब धातुएँ पुष्ट होने लगती हैं और वह कृमि आदि जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान उस जघन्य मल-मूत्रके गढ़ेमें पड़ा रहता है॥ ५॥

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम्।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः॥ ६

वह सुकुमार तो होता ही है; इसलिये जब वहाँके भूखे कीड़े उसके अंग-प्रत्यंग नोचते हैं, तब अत्यन्त क्लेशके कारण वह क्षण-क्षणमें अचेत हो जाता है॥ ६॥

कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः॥ ७

माताके खाये हुए कड़वे, तीखे, गरम, नमकीन, रूखे और खट्टे आदि उग्र पदार्थोंका स्पर्श होनेसे उसके सारे शरीरमें पीड़ा होने लगती है॥ ७॥

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः॥ ८

वह जीव माताके गर्भाशयमें झिल्लीसे लिपटा और आँतोंसे घिरा रहता है। उसका सिर पेटकी ओर तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुड़े रहते हैं॥ ८॥

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे।
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम्।
स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म [1] किं नाम विन्दते॥ ९

वह पिंजड़ेमें बंद पक्षीके समान पराधीन एवं अंगोंको हिलाने-डुलानेमें भी असमर्थ रहता है। इसी समय अदृष्टकी प्रेरणासे उसे स्मरणशक्ति प्राप्त होती है। तब अपने सैकड़ों जन्मोंके कर्म याद आ जाते हैं और वह बेचैन हो जाता है तथा उसका दम घुटने लगता है। ऐसी अवस्थामें उसे क्या शान्ति मिल सकती है?॥ ९॥

१. प्रा० पा०—सङ्गात् किं।

आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः॥ १०
नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः॥ ११

जन्तुरुवाच

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम्।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा॥ १२
यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि॥ १३
यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे-
च्छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम्।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम्॥ १४
यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण॥ १५

सातवाँ महीना आरम्भ होनेपर उसमें ज्ञान-शक्तिका भी उन्मेष हो जाता है; परन्तु प्रसूतिवायुसे चलायमान रहनेके कारण वह उसी उदरमें उत्पन्न हुए विष्ठाके कीड़ोंके समान एक स्थानपर नहीं रह सकता॥ १०॥

तब सप्तधातुमय स्थूलशरीरसे बँधा हुआ वह देहात्मदर्शी जीव अत्यन्त भयभीत होकर दीन वाणीसे कृपा-याचना करता हुआ, हाथ जोड़कर उस प्रभुकी स्तुति करता है, जिसने उसे माताके गर्भमें डाला है॥ ११॥

जीव कहता है—मैं बड़ा अधम हूँ; भगवान्‌ने मुझे जो इस प्रकारकी गति दिखायी है, वह मेरे योग्य ही है। वे अपनी शरणमें आये हुए इस नश्वर जगत्‌की रक्षाके लिये ही अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं; अतः मैं भी भूतलपर विचरण करनेवाले उन्हींके निर्भय चरणारविन्दोंकी शरण लेता हूँ॥ १२॥ जो मैं(जीव) इस माताके उदरमें देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपा मायाका आश्रय कर पुण्य-पापरूप कर्मोंसे आच्छादित रहनेके कारण बद्धकी तरह हूँ, वही मैं यहीं अपने सन्तप्त हृदयमें प्रतीत होनेवाले उन विशुद्ध (उपाधिरहित), अविकारी और अखण्ड बोधस्वरूप परमात्माको नमस्कार करता हूँ॥ १३॥ मैं वस्तुतः शरीरादिसे रहित (असंग) होनेपर भी देखनेमें पांचभौतिक शरीरसे सम्बद्ध हूँ और इसीलिये इन्द्रिय, गुण, शब्दादि विषय और चिदाभास (अहंकार)-रूप जान पड़ता हूँ। अतः इस शरीरादिके आवरणसे जिनकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है, उन प्रकृति और पुरुषके नियन्ता सर्वज्ञ (विद्याशक्तिसम्पन्न) परमपुरुषकी मैं वन्दना करता हूँ॥ १४॥ उन्हींकी मायासे अपने स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जानेके कारण यह जीव अनेक प्रकारके सत्त्वादि गुण और कर्मके बन्धनसे युक्त इस संसारमार्गमें तरह-तरहके कष्ट झेलता हुआ भटकता रहता है; अतः उन परमपुरुष परमात्माकी कृपाके बिना और किस युक्तिसे इसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो सकता है॥ १५॥

ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम॥ १६

मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ है, यह भी उनके सिवा और किसने दिया है; क्योंकि स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंमें एकमात्र वे ही तो अन्तर्यामीरूप अंशसे विद्यमान हैं। अतः जीवरूप कर्मजनित पदवीका अनुवर्तन करनेवाले हम अपने त्रिविध तापोंकी शान्तिके लिये उन्हींका भजन करते हैं॥ १६॥

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु॥ १७

भगवन्! यह देहधारी जीव दूसरी (माताके) देहके उदरके भीतर मल, मूत्र और रुधिरके कुएँमें गिरा हुआ है, उसकी जठराग्निसे इसका शरीर अत्यन्त सन्तप्त हो रहा है। उससे निकलनेकी इच्छा करता हुआ यह अपने महीने गिन रहा है। भगवन्! अब इस दीनको यहाँसे कब निकाला जायगा?॥ १७॥

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्॥ १८

स्वामिन्! आप बड़े दयालु हैं, आप-जैसे उदार प्रभुने ही इस दस मासके जीवको ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है। दीनबन्धो! इस अपने किये हुए उपकारसे ही आप प्रसन्न हों; क्योंकि आपको हाथ जोड़नेके सिवा आपके उस उपकारका बदला तो कोई दे भी क्या सकता है॥ १८॥

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे।
यत्सृष्टयाऽऽसं तमहं पुरुषं पुराणं
पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव[१] प्रतीतम्॥ १९

प्रभो! संसारके ये पशु-पक्षी आदि अन्य जीव तो अपनी मूढ़ बुद्धिके अनुसार अपने शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखादिका ही अनुभव करते हैं; किन्तु मैं तो आपकी कृपासे शम-दमादि साधनसम्पन्न शरीरसे युक्त हुआ हूँ, अतः आपकी दी हुई विवेकवती बुद्धिसे आप पुराणपुरुषको अपने शरीरके बाहर और भीतर अहंकारके आश्रयभूत आत्माकी भाँति प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ॥ १९॥

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत्॥ २०

भगवन्! इस अत्यन्त दुःखसे भरे हुए गर्भाशयमें यद्यपि मैं बड़े कष्टसे रह रहा हूँ, तो भी इससे बाहर निकलकर संसारमय अन्धकूपमें गिरनेकी मुझे बिलकुल इच्छा नहीं है; क्योंकि उसमें जानेवाले जीवको आपकी माया घेर लेती है। जिसके कारण उसकी शरीरमें अहंबुद्धि हो जाती है और उसके परिणाममें उसे फिर इस संसारचक्रमें ही पड़ना होता है॥ २०॥

१. प्रा० पा०—दैवमिति प्रतीतः।

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्य
आत्मानमाशु तमसः सुहृदाऽऽत्मनैव।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः॥ २१

अतः मैं व्याकुलताको छोड़कर हृदयमें श्रीविष्णुभगवान्‌के चरणोंको स्थापितकर अपनी बुद्धिकी सहायतासे ही अपनेको बहुत शीघ्र इस संसाररूप समुद्रके पार लगा दूँगा, जिससे मुझे अनेक प्रकारके दोषोंसे युक्त यह संसार-दुःख फिर न प्राप्त हो॥ २१॥

कपिल उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः॥ २२

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक् शिर आतुरः।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः॥ २३

पतितो भुव्यसृङ्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः॥ २४

कपिलदेवजी कहते हैं—माता! वह दस महीनेका जीव गर्भमें ही जब इस प्रकार विवेकसम्पन्न होकर भगवान्‌की स्तुति करता है, तब उस अधोमुख बालकको प्रसवकालकी वायु तत्काल बाहर आनेके लिये ढकेलती है॥ २२॥ उसके सहसा ठेलनेपर वह बालक अत्यन्त व्याकुल हो नीचे सिर करके बड़े कष्टसे बाहर निकलता है। उस समय उसके श्वासकी गति रुक जाती है और पूर्वस्मृति नष्ट हो जाती है॥ २३॥ पृथ्वीपर माताके रुधिर और मूत्रमें पड़ा हुआ वह बालक विष्ठाके कीड़ेके समान छटपटाता है। उसका गर्भवासका सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति (देहाभिमानरूप अज्ञान-दशा)-को प्राप्त होकर बार-बार जोर-जोरसे रोता है॥ २४॥

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः॥ २५

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने॥ २६

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा॥ २७

फिर जो लोग उसका अभिप्राय नहीं समझ सकते, उनके द्वारा उसका पालन-पोषण होता है। ऐसी अवस्थामें उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है, उसका निषेध करनेकी शक्ति भी उसमें नहीं होती॥ २५॥ जब उस जीवको शिशु-अवस्थामें मैली-कुचैली खाटपर सुला दिया जाता है, जिसमें खटमल आदि स्वेदज जीव चिपटे रहते हैं, तब उसमें शरीरको खुजलाने, उठाने अथवा करवट बदलनेकी भी सामर्थ्य न होनेके कारण वह बड़ा कष्ट पाता है॥ २६॥ उसकी त्वचा बड़ी कोमल होती है; उसे डाँस, मच्छर और खटमल आदि उसी प्रकार काटते रहते हैं, जैसे बड़े कीड़ेको छोटे कीड़े। इस समय उसका गर्भावस्थाका सारा ज्ञान जाता रहता है, सिवा रोनेके वह कुछ नहीं कर सकता॥ २७॥

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः॥ २८

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः॥ २९

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत्।
अहंममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम्॥ ३०

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः॥ ३१

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥ ३२

सत्यं शौचं दया[1] मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम्॥ ३३

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥ ३४

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः[2]।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसंगतः॥ ३५

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः॥ ३६

इसी प्रकार बाल्य (कौमार) और पौगण्ड—अवस्थाओंके दुःख भोगकर वह बालक युवावस्थामें पहुँचता है। इस समय उसे यदि कोई इच्छित भोग नहीं प्राप्त होता, तो अज्ञानवश उसका क्रोध उद्दीप्त हो उठता है और वह शोकाकुल हो जाता है॥ २८॥ देहके साथ-ही-साथ अभिमान और क्रोध बढ़ जानेके कारण वह कामपरवश जीव अपना ही नाश करनेके लिये दूसरे कामी पुरुषोंके साथ वैर ठानता है॥ २९॥ खोटी बुद्धिवाला वह अज्ञानी जीव पंचभूतोंसे रचे हुए इस देहमें मिथ्याभिनिवेशके कारण निरन्तर मैं-मेरेपनका अभिमान करने लगता है॥ ३०॥ जो शरीर इसे वृद्धावस्था आदि अनेक प्रकारके कष्ट ही देता है तथा अविद्या और कर्मके सूत्रसे बँधा रहनेके कारण सदा इसके पीछे लगा रहता है, उसीके लिये यह तरह-तरहके कर्म करता रहता है—जिनमें बँध जानेके कारण इसे बार-बार संसारचक्रमें पड़ना होता है॥ ३१॥ सन्मार्गमें चलते हुए यदि इसका किन्हीं जिह्वा और उपस्थेन्द्रियके भोगोंमें लगे हुए विषयी पुरुषोंसे समागम हो जाता है और यह उनमें आस्था करके उन्हींका अनुगमन करने लगता है, तो पहलेके समान ही फिर नारकी योनियोंमें पड़ता है॥ ३२॥ जिनके संगसे इसके सत्य, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, वाणीका संयम, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। उन अत्यन्त शोचनीय, स्त्रियोंके क्रीडामृग (खिलौना), अशान्त, मूढ़ और देहात्मदर्शी असत्पुरुषोंका संग कभी नहीं करना चाहिये॥ ३३-३४॥ क्योंकि इस जीवको किसी औरका संग करनेसे ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता, जैसा स्त्री और स्त्रियोंके संगियोंका संग करनेसे होता है॥ ३५॥ एक बार अपनी पुत्री सरस्वतीको देखकर ब्रह्माजी भी उसके रूप-लावण्यसे मोहित हो गये थे और उसके मृगीरूप होकर भागनेपर उसके पीछे निर्लज्जतापूर्वक मृगरूप होकर दौड़ने लगे॥ ३६॥

१. प्रा० पा०—तपो मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः। २. प्रा० पा०—चास्य प्र०।

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया॥ ३७

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम्॥ ३८

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥ ३९

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्॥ ४०

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम्।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम्॥ ४१

तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम्।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा॥ ४२

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥ ४३

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः॥ ४४

उन्हीं ब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंकी तथा मरीचि आदिने कश्यपादिकी और कश्यपादिने देव-मनुष्यादि प्राणियोंकी सृष्टि की। अतः इनमें एक ऋषिप्रवर नारायणको छोड़कर ऐसा कौन पुरुष हो सकता है, जिसकी बुद्धि स्त्रीरूपिणी मायासे मोहित न हो॥ ३७॥ अहो! मेरी इस स्त्रीरूपिणी मायाका बल तो देखो, जो अपने भ्रुकुटि-विलासमात्रसे बड़े-बड़े दिग्विजयी वीरोंको पैरोंसे कुचल देती है॥ ३८॥

जो पुरुष योगके परम पदपर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवाके प्रभावसे आत्मा-अनात्माका विवेक हो गया हो, वह स्त्रियोंका संग कभी न करे; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुषके लिये नरकका खुला द्वार बताया गया है॥ ३९॥ भगवान्की रची हुई यह जो स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदिके मिससे पास आती है, इसे तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान अपनी मृत्यु ही समझे॥ ४०॥

स्त्रीमें आसक्त रहनेके कारण तथा अन्त समयमें स्त्रीका ही ध्यान रहनेसे जीवको स्त्रीयोनि प्राप्त होती है। इस प्रकार स्त्रीयोनिको प्राप्त हुआ जीव पुरुषरूपमें प्रतीत होनेवाली मेरी मायाको ही धन, पुत्र और गृह आदि देनेवाला अपना पति मानता रहता है; सो जिस प्रकार व्याधेका गान कानोंको प्रिय लगनेपर भी बेचारे भोले-भाले पशु-पक्षियोंको फँसाकर उनके नाशका ही कारण होता है—उसी प्रकार उन पुत्र, पति और गृह आदिको विधाताकी निश्चित की हुई अपनी मृत्यु ही जाने॥ ४१-४२॥ देवि! जीवके उपाधिभूत लिंगदेहके द्वारा पुरुष एक लोकसे दूसरे लोकमें जाता है और अपने प्रारब्धकर्मोंको भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे कर्म करता रहता है॥ ४३॥ जीवका उपाधिरूप लिंगशरीर तो मोक्षपर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत, इन्द्रिय और मनका कार्यरूप स्थूलशरीर इसका भोगाधिष्ठान है। इन दोनोंका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणीकी 'मृत्यु' है और दोनोंका साथ-साथ प्रकट होना 'जन्म' कहलाता है॥ ४४॥

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा।
तत्पञ्चत्वमहं मानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्॥ ४५

पदार्थोंकी उपलब्धिके स्थानरूप इस स्थूलशरीरमें जब उनको ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती, यह उसका मरण है और यह स्थूलशरीर ही मैं हूँ—इस अभिमानके साथ उसे देखना उसका जन्म है॥ ४५॥

यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः॥ ४६

नेत्रोंमें जब किसी दोषके कारण रूपादिको देखनेकी योग्यता नहीं रहती, तभी उनमें रहनेवाली चक्षु-इन्द्रिय भी रूप देखनेमें असमर्थ हो जाती है और जब नेत्र और उनमें रहनेवाली इन्द्रिय दोनों ही रूप देखनेमें असमर्थ हो जाते हैं, तभी इन दोनोंके साक्षी जीवमें भी वह योग्यता नहीं रहती॥ ४६॥

तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह॥ ४७

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया।
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम्॥ ४८

अतः मुमुक्ष पुरुषको मरणादिसे भय, दीनता अथवा मोह नहीं होना चाहिये। उसे जीवके स्वरूपको जानकर धैर्यपूर्वक निःसंगभावसे विचरना चाहिये तथा इस मायामय संसारमें योग-वैराग्य-युक्त सम्यक् ज्ञानमयी बुद्धिसे शरीरको निक्षेप (धरोहर)-की भाँति रखकर उसके प्रति अनासक्त रहते हुए विचरण करना चाहिये॥ ४७-४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेयोपाख्याने जीवगतिर्नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

धूममार्ग और अर्चिरादि मार्गसे जानेवालोंकी गतिका और भक्तियोगकी उत्कृष्टताका वर्णन

कपिल उवाच

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन् गृहे।
काममर्थं च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान्॥ १

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः॥ २

कपिलदेवजी कहते हैं—माताजी! जो पुरुष घरमें रहकर सकामभावसे गृहस्थके धर्मोंका पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवं कामका उपभोग करके फिर उन्हींका अनुष्ठान करता रहता है, वह तरह-तरहकी कामनाओंसे मोहित रहनेके कारण भगवद्धर्मोंसे विमुख हो जाता है और यज्ञोंद्वारा श्रद्धापूर्वक देवता तथा पितरोंकी ही आराधना करता रहता है॥ १-२॥

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥ ३

उसकी बुद्धि उसी प्रकारकी श्रद्धासे युक्त रहती है, देवता और पितर ही उसके उपास्य रहते हैं; अतः वह चन्द्रलोकमें जाकर उनके साथ सोमपान करता है और फिर पुण्य क्षीण होनेपर इसी लोकमें लौट आता है॥ ३॥

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम्॥ ४

ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः॥ ५

निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः।
स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा॥ ६

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम्॥ ७

द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः॥ ८

क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः[1]।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः॥ ९

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः[2]॥ १०

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि[3]॥ ११

जिस समय प्रलयकालमें शेषशायी भगवान् शेषशय्यापर शयन करते हैं, उस समय सकाम गृहस्थाश्रमियोंको प्राप्त होनेवाले ये सब लोक भी लीन हो जाते हैं॥ ४॥

जो विवेकी पुरुष अपने धर्मोंका अर्थ और भोग-विलासके लिये उपयोग नहीं करते, बल्कि भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही उनका पालन करते हैं—वे अनासक्त, प्रशान्त, शुद्धचित्त, निवृत्तिधर्मपरायण, ममतारहित और अहंकारशून्य पुरुष स्वधर्मपालनरूप सत्त्वगुणके द्वारा सर्वथा शुद्धचित्त हो जाते हैं॥ ५-६॥ वे अन्तमें सूर्यमार्ग (अर्चिमार्ग या देवयान)-के द्वारा सर्वव्यापी पूर्णपुरुष श्रीहरिको ही प्राप्त होते हैं—जो कार्य-कारणरूप जगत्‌के नियन्ता, संसारके उपादान-कारण और उसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करनेवाले हैं॥ ७॥ जो लोग परमात्मदृष्टिसे हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं, वे दो परार्द्धमें होनेवाले ब्रह्माजीके प्रलयपर्यन्त उनके सत्यलोकमें ही रहते हैं॥ ८॥ जिस समय देवतादिसे श्रेष्ठ ब्रह्माजी अपने द्विपरार्द्धकालके अधिकारको भोगकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, इन्द्रिय, उनके विषय (शब्दादि) और अहंकारादिके सहित सम्पूर्ण विश्वका संहार करनेकी इच्छासे त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके साथ एकरूप होकर निर्विशेष परमात्मामें लीन हो जाते हैं, उस समय प्राण और मनको जीते हुए वे विरक्त योगिगण भी देह त्यागकर उन भगवान् ब्रह्माजीमें ही प्रवेश करते हैं और फिर उन्हींके साथ परमानन्दस्वरूप पुराणपुरुष परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। इससे पहले वे भगवान्‌में लीन नहीं हुए; क्योंकि अबतक उनमें अहंकार शेष था॥ ९-१०॥ इसलिये माताजी! अब तुम भी अत्यन्त भक्तिभावसे उन श्रीहरिकी ही चरण-शरणमें जाओ; समस्त प्राणियोंका हृदयकमल ही उनका मन्दिर है और तुमने भी मुझसे उनका प्रभाव सुन ही लिया है॥ ११॥

१. प्रा० पा०—जिघृक्षुः। २. प्रा० पा०—यान्ति गता०। ३. प्रा० पा०—भाविनि।

आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः॥ १२

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा।
कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम्॥ १३

स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते॥ १४

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च तेऽपि धर्मविनिर्मितम्।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति॥ १५

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः॥ १६

रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः।
पितॄन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः॥ १७

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः।
कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः॥ १८

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥ १९

दक्षिणेन पथार्यम्णः[1] पितृलोकं व्रजन्ति ते[2]।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्त[3]क्रियाकृतः॥ २०

वेदगर्भ ब्रह्माजी भी—जो समस्त स्थावर-जंगम प्राणियोंके आदिकारण हैं—मरीचि आदि ऋषियों, योगेश्वरों, सनकादिकों तथा योगप्रवर्तक सिद्धोंके सहित निष्काम कर्मके द्वारा आदिपुरुष पुरुषश्रेष्ठ सगुण ब्रह्मको प्राप्त होकर भी भेददृष्टि और कर्तृत्वाभिमानके कारण भगवदिच्छा-से, जब सर्गकाल उपस्थित होता है तब कालरूप ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंमें क्षोभ होनेपर फिर पूर्ववत् प्रकट हो जाते हैं॥ १२—१४॥

इसी प्रकार पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मानुसार ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको भोगकर भगवदिच्छासे गुणोंमें क्षोभ होनेपर पुनः इस लोकमें आ जाते हैं॥ १५॥

जिनका चित्त इस लोकमें आसक्त है और जो कर्मोंमें श्रद्धा रखते हैं, वे वेदमें कहे हुए काम्य और नित्य कर्मोंका सांगोपांग अनुष्ठान करनेमें ही लगे रहते हैं॥ १६॥ उनकी बुद्धि रजोगुणकी अधिकताके कारण कुण्ठित रहती है, हृदयमें कामनाओंका जाल फैला रहता है और इन्द्रियाँ उनके वशमें नहीं होतीं; बस, अपने घरोंमें ही आसक्त होकर वे नित्यप्रति पितरोंकी पूजामें लगे रहते हैं॥ १७॥ ये लोग अर्थ, धर्म और कामके ही परायण होते हैं; इसलिये जिनके महान् पराक्रम अत्यन्त कीर्तनीय हैं, उन भवभयहारी श्रीमधुसूदनभगवान्‌की कथा-वार्ताओंसे तो ये विमुख ही रहते हैं॥ १८॥

हाय! विष्ठाभोजी कूकर-सूकर आदि जीवोंके विष्ठा चाहनेके समान जो मनुष्य भगवत्कथामृतको छोड़कर निन्दित विषय-वार्ताओंको सुनते हैं—वे तो अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं, उनका बड़ा ही मन्द भाग्य है॥ १९॥

गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक सब संस्कारोंको विधिपूर्वक करनेवाले ये सकामकर्मी सूर्यसे दक्षिण ओरके पितृयान या धूममार्गसे पित्रीश्वर अर्यमाके लोकमें जाते हैं और फिर अपनी ही सन्ततिके वंशमें उत्पन्न होते हैं॥ २०॥

१. प्रा० पा०—पथा ते तु। २. प्रा० पा०—वै। ३. प्रा० पा०—न्यकृतक्रियाः।

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः॥ २१

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम्॥ २२

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ २३

यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत॥ २४

स तदैवात्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं समदर्शनम्।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते॥ २५

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते॥ २६

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥ २७

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥ २८

यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट्।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः॥ २९

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या परिपश्यति॥ ३०

माताजी! पितृलोकके भोग भोग लेनेपर जब उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवतालोग उन्हें वहाँके ऐश्वर्यसे च्युत कर देते हैं और फिर उन्हें विवश होकर तुरन्त ही इस लोकमें गिरना पड़ता है॥ २१॥ इसलिये माताजी! जिनके चरणकमल सदा भजनेयोग्य हैं, उन भगवान्‌का तुम उन्हींके गुणोंका आश्रय लेनेवाली भक्तिके द्वारा सब प्रकारसे (मन, वाणी और शरीरसे) भजन करो॥ २२॥ भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरंत ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है॥ २३॥ वस्तुतः सभी विषय भगवद्रूप होनेके कारण समान हैं। अतः जब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके द्वारा भी भगवद्भक्तका चित्त उनमें प्रिय-अप्रियरूप विषमताका अनुभव नहीं करता—सर्वत्र भगवान्‌का ही दर्शन करता है—उसी समय वह संगरहित, सबमें समानरूपसे स्थित, त्याग और ग्रहण करनेयोग्य, दोष और गुणोंसे रहित, अपनी महिमामें आरूढ़ अपने आत्माका ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करता है॥ २४-२५॥ वही ज्ञानस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही ईश्वर है, वही पुरुष है; वही एक भगवान् स्वयं जीव, शरीर, विषय, इन्द्रियों आदि अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है॥ २६॥ सम्पूर्ण संसारमें आसक्तिका अभाव हो जाना—बस, यही योगियोंके सब प्रकारके योगसाधनका एकमात्र अभीष्ट फल है॥ २७॥ ब्रह्म एक है, ज्ञानस्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्यवृत्तियोंवाली इन्द्रियोंके द्वारा भ्रान्तिवश शब्दादि धर्मोंवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भास रहा है॥ २८॥ जिस प्रकार एक ही परब्रह्म महत्तत्त्व, वैकारिक, राजस और तामस—तीन प्रकारका अहंकार, पंचमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियरूप बन गया और फिर वही स्वयंप्रकाश इनके संयोगसे जीव कहलाया, उसी प्रकार उस जीवका शरीररूप यह ब्रह्माण्ड भी वस्तुतः ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्मसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है॥ २९॥ किन्तु इसे ब्रह्मरूप वही देख सकता है, जो श्रद्धा, भक्ति और वैराग्य तथा निरन्तरके योगाभ्यासके द्वारा एकाग्रचित्त और असंगबुद्धि हो गया है॥ ३०॥

इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम्।
येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च॥ ३१
ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः॥ ३२
यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥ ३३
क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः[1]।
आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम्॥ ३४
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान्॥ ३५
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक्॥ ३६
प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्।
कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु॥ ३७
जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः॥ ३८
नैतत्खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित्।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च॥ ३९
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे।
नाभक्ताय च मे जातु[2] न मद्भक्तद्विषामपि॥ ४०

पूजनीय माताजी! मैंने तुम्हें यह ब्रह्मसाक्षात्कारका साधनरूप ज्ञान सुनाया, इसके द्वारा प्रकृति और पुरुषके यथार्थस्वरूपका बोध हो जाता है॥ ३१॥

देवि! निर्गुणब्रह्म-विषयक ज्ञानयोग और मेरे प्रति किया हुआ भक्तियोग—इन दोनोंका फल एक ही है। उसे ही भगवान् कहते हैं॥ ३२॥

जिस प्रकार रूप, रस एवं गन्ध आदि अनेक गुणोंका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा विभिन्नरूपसे अनुभूत होता है, वैसे ही शास्त्रके विभिन्न मार्गोंद्वारा एक ही भगवान्‌की अनेक प्रकारसे अनुभूति होती है॥ ३३॥

नाना प्रकारके कर्मकलाप, यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, वेदविचार (मीमांसा), मन और इन्द्रियोंके संयम, कर्मोंके त्याग, विविध अंगोंवाले योग, भक्तियोग, निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके धर्म, आत्मतत्त्वके ज्ञान और दृढ़ वैराग्य—इन सभी साधनोंसे सगुण-निर्गुणरूप स्वयंप्रकाश भगवान्‌को ही प्राप्त किया जाता है॥ ३४—३६॥

माताजी! सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण-भेदसे चार प्रकारके भक्तियोगका और जो प्राणियोंके जन्मादि विकारोंका हेतु है तथा जिसकी गति जानी नहीं जाती, उस कालका स्वरूप मैं तुमसे कह ही चुका हूँ॥ ३७॥

देवि! अविद्याजनित कर्मके कारण जीवकी अनेकों गतियाँ होती हैं; उनमें जानेपर वह अपने स्वरूपको नहीं पहचान सकता॥ ३८॥

मैंने तुम्हें जो ज्ञानोपदेश दिया है—उसे दुष्ट, दुर्विनीत, घमंडी, दुराचारी और धर्मध्वजी (दम्भी) पुरुषोंको नहीं सुनाना चाहिये॥ ३९॥

जो विषयलोलुप हो, गृहासक्त हो, मेरा भक्त न हो अथवा मेरे भक्तोंसे द्वेष करनेवाला हो, उसे भी इसका उपदेश कभी न करे॥ ४०॥

१. प्रा० पा०—दर्शनैः। २. प्रा० पा०—ज्ञानं।

श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च॥ ४१
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम्।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः॥ ४२
य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत्।
यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च मे॥ ४३

जो अत्यन्त श्रद्धालु, भक्त, विनयी, दूसरोंके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाला, सब प्राणियोंसे मित्रता रखनेवाला, गुरुसेवामें तत्पर, बाह्य विषयोंमें अनासक्त, शान्तचित्त, मत्सरशून्य और पवित्रचित्त हो तथा मुझे परम प्रियतम माननेवाला हो, उसे इसका अवश्य उपदेश करे॥ ४१-४२॥ मा! जो पुरुष मुझमें चित्त लगाकर इसका श्रद्धापूर्वक एक बार भी श्रवण या कथन करेगा, वह मेरे परमपदको प्राप्त होगा॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये द्वात्रिंशोऽध्यायः॥ ३२॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

देवहूतिको तत्त्वज्ञान एवं मोक्षपदकी प्राप्ति

मैत्रेय उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम्॥ १

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! श्रीकपिल भगवान्‌के ये वचन सुनकर कर्दमजीकी प्रिय पत्नी माता देवहूतिके मोहका पर्दा फट गया और वे तत्त्वप्रतिपादक सांख्यशास्त्रके ज्ञानकी आधारभूमि भगवान् श्रीकपिलजीको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगीं॥ १॥

देवहूतिरुवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः॥ २
स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि-
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः॥ ३
स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत्।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः
शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः॥ ४

देवहूतिजीने कहा—कपिलजी! ब्रह्माजी आपके ही नाभिकमलसे प्रकट हुए थे। उन्होंने प्रलयकालीन जलमें शयन करनेवाले आपके पंचभूत, इन्द्रिय, शब्दादि विषय और मनोमय विग्रहका, जो सत्त्वादि गुणोंके प्रवाहसे युक्त, सत्स्वरूप और कार्य एवं कारण दोनोंका बीज है, ध्यान ही किया था॥ २॥ आप निष्क्रिय, सत्यसंकल्प, सम्पूर्ण जीवोंके प्रभु तथा सहस्रों अचिन्त्य शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। अपनी शक्तिको गुणप्रवाहरूपसे ब्रह्मादि अनन्त मूर्तियोंमें विभक्त करके उनके द्वारा आप स्वयं ही विश्वकी रचना आदि करते हैं॥ ३॥ नाथ! यह कैसी विचित्र बात है कि जिनके उदरमें प्रलयकाल आनेपर यह सारा प्रपंच लीन हो जाता है और जो कल्पान्तमें मायामय बालकका रूप धारण कर अपने चरणका अँगूठा चूसते हुए अकेले ही वटवृक्षके पत्तेपर शयन करते हैं, उन्हीं आपको मैंने गर्भमें धारण किया॥ ४॥

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजां च विभो विभूतये।
यथावतारास्तव सूकरादय-
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥ ५
यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥ ६
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥ ७
तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम्॥ ८

मैत्रेय उवाच

ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान्।
वाचाविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः॥ ९

कपिल उवाच

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि[1]॥ १०
श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः।
येन मामभवं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः॥ ११

विभो! आप पापियोंका दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तोंका अभ्युदय एवं कल्याण करनेके लिये स्वेच्छासे देह धारण किया करते हैं। अतः जिस प्रकार आपके वराह आदि अवतार हुए हैं, उसी प्रकार यह कपिलावतार भी मुमुक्षुओंको ज्ञानमार्ग दिखानेके लिये हुआ है॥ ५॥ भगवन्! आपके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे तथा भूले-भटके कभी-कभी आपका वन्दन या स्मरण करनेसे ही कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल भी सोमयाजी ब्राह्मणके समान पूजनीय हो सकता है; फिर आपका दर्शन करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है॥ ६॥ अहो! वह चाण्डाल भी इसीसे सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम विराजमान है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया॥ ७॥ कपिलदेवजी! आप साक्षात् परब्रह्म हैं, आप ही परम पुरुष हैं, वृत्तियोंके प्रवाहको अन्तर्मुख करके अन्तःकरणमें आपका ही चिन्तन किया जाता है। आप अपने तेजसे मायाके कार्य गुण-प्रवाहको शान्त कर देते हैं तथा आपके ही उदरमें सम्पूर्ण वेदतत्त्व निहित है। ऐसे साक्षात् विष्णुस्वरूप आपको मैं प्रणाम करती हूँ॥ ८॥

मैत्रेयजी कहते हैं—माताके इस प्रकार स्तुति करनेपर मातृवत्सल परमपुरुष भगवान् कपिलदेवजीने उनसे गम्भीर वाणीमें कहा॥ ९॥

कपिलदेवजीने कहा—माताजी! मैंने तुम्हें जो यह सुगम मार्ग बताया है, इसका अवलम्बन करनेसे तुम शीघ्र ही परमपद प्राप्त कर लोगी॥ १०॥ तुम मेरे इस मतमें विश्वास करो, ब्रह्मवादी लोगोंने इसका सेवन किया है; इसके द्वारा तुम मेरे जन्म-मरणरहित स्वरूपको प्राप्त कर लोगी। जो लोग मेरे इस मतको नहीं जानते, वे जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ते हैं॥ ११॥

---

१. प्रा० पा०—दधिरो०।

मैत्रेय उवाच

इति प्रदर्श्य भगवान् सतीं तामात्मनो गतिम्।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ॥ १२

मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार अपने श्रेष्ठ आत्मज्ञानका उपदेश कर श्रीकपिलदेवजी अपनी ब्रह्मवादिनी जननीकी अनुमति लेकर वहाँसे चले गये॥ १२॥

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन[1] योगयुक्।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे[2] सरस्वत्याः समाहिता॥ १३

तब देवहूतिजी भी सरस्वतीके मुकुटसदृश अपने आश्रममें अपने पुत्रके उपदेश किये हुए योगसाधनके द्वारा योगाभ्यास करती हुई समाधिमें स्थित हो गयीं॥ १३॥

[3]अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान् कुटिलालकान्।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम्॥ १४

त्रिकाल स्नान करनेसे उनकी घुँघराली अलकें भूरी-भूरी जटाओंमें परिणत हो गयीं तथा चीर-वस्त्रोंसे ढका हुआ शरीर उग्र तपस्याके कारण दुर्बल हो गया॥ १४॥

प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम्।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि॥ १५

उन्होंने प्रजापति कर्दमके तप और योगबलसे प्राप्त अनुपम गार्हस्थ्यसुखको, जिसके लिये देवता भी तरसते थे, त्याग दिया॥ १५॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च॥ १६

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः॥ १७

गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम्॥ १८

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम्॥ १९

हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम्।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा॥ २०

जिसमें दुग्धफेनके समान स्वच्छ और सुकोमल शय्यासे युक्त हाथी-दाँतके पलंग, सुवर्णके पात्र, सोनेके सिंहासन और उनपर कोमल-कोमल गद्दे बिछे हुए थे तथा जिसकी स्वच्छ स्फटिकमणि और महामरकतमणिकी भीतोंमें रत्नोंकी बनी हुई रमणी-मूर्तियोंके सहित मणिमय दीपक जगमगा रहे थे, जो फूलोंसे लदे हुए अनेकों दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित था, जिसमें अनेक प्रकारके पक्षियोंका कलरव और मतवाले भौंरोंका गुंजार होता रहता था, जहाँकी कमलगन्धसे सुवासित बावलियोंमें कर्दमजीके साथ उनका लाड़-प्यार पाकर क्रीडाके लिये प्रवेश करनेपर उसका (देवहूतिका) गन्धर्वगण गुणगान किया करते थे और जिसे पानेके लिये इन्द्राणियाँ भी लालायित रहती थीं—उस गृहोद्यानकी भी ममता उन्होंने त्याग दी। किन्तु पुत्रवियोगसे व्याकुल होनेके कारण अवश्य उनका मुख कुछ उदास हो गया॥ १६—२०॥

१. प्रा० पा०—योगमार्गेण। २. प्रा० पा०—पीले। ३. प्रा० पा०—नीरावगाहकपिशं जटिलं कुटिलालकम्।

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला॥ २१

तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम्।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे॥ २२

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम्।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया॥ २३

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना॥ २४

विशुद्धेन तदाऽऽत्मानमात्मना विश्वतोमुखम्।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम्॥ २५

ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ।
निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाऽऽप्तनिर्वृतिः ॥ २६

नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।
न सस्मार तदाऽऽत्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः॥ २७

तद्देहः परतःपोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात्।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः॥ २८

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम्।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः॥ २९

पतिके वनगमनके अनन्तर पुत्रका भी वियोग हो जानेसे वे आत्मज्ञानसम्पन्न होकर भी ऐसी व्याकुल हो गयीं, जैसे बछड़ेके बिछुड़ जानेसे उसे प्यार करनेवाली गौ॥ २१॥

वत्स विदुर! अपने पुत्र कपिलदेवरूप भगवान् हरिका ही चिन्तन करते-करते वे कुछ ही दिनोंमें ऐसे ऐश्वर्यसम्पन्न घरसे भी उपरत हो गयीं॥ २२॥ फिर वे, कपिलदेवजीने भगवान्के जिस ध्यान करनेयोग्य प्रसन्नवदनारविन्दयुक्त स्वरूपका वर्णन किया था, उसके एक-एक अवयवका तथा उस समग्र रूपका भी चिन्तन करती हुई ध्यानमें तत्पर हो गयीं॥ २३॥ भगवद्भक्तिके प्रवाह, प्रबल वैराग्य और यथोचित्त कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न हुए ब्रह्म साक्षात्कार करानेवाले ज्ञानद्वारा चित्त शुद्ध हो जानेपर वे उस सर्वव्यापक आत्माके ध्यानमें मग्न हो गयीं, जो अपने स्वरूपके प्रकाशसे मायाजनित आवरणको दूर कर देता है॥ २४-२५॥

इस प्रकार जीवके अधिष्ठानभूत परब्रह्म श्रीभगवान्में ही बुद्धिकी स्थिति हो जानेसे उनका जीवभाव निवृत्त हो गया और वे समस्त क्लेशोंसे मुक्त होकर परमानन्दमें निमग्न हो गयीं॥ २६॥ अब निरन्तर समाधिस्थ रहनेके कारण उनकी विषयोंके सत्यत्वकी भ्रान्ति मिट गयी और उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि न रही—जैसे जागे हुए पुरुषको अपने स्वप्नमें देखे हुए शरीरकी नहीं रहती॥ २७॥

उनके शरीरका पोषण भी दूसरोंके द्वारा ही होता था, किन्तु किसी प्रकारका मानसिक क्लेश न होनेके कारण वह दुर्बल नहीं हुआ। उसका तेज और भी निखर गया और वह मैलके कारण धूमयुक्त अग्निके समान सुशोभित होने लगा। उनके बाल बिथुर गये थे और वस्त्र भी गिर गया था; तथापि निरन्तर श्रीभगवान्में ही चित्त लगा रहनेके कारण उन्हें अपने तपोयोगमय शरीरकी कुछ भी सुधि नहीं थी, केवल प्रारब्ध ही उसकी रक्षा करता था॥ २८-२९॥

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम्।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह॥ ३०
तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी॥ ३१
तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित्।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता[1]॥ ३२
कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात्।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ॥ ३३
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः॥ ३४
आस्ते योगं समास्थाय सांख्याचार्यैरभिष्टुतः।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै[2] समाहितः॥ ३५
एतन्निगदितं तात यत्पृष्टोऽहं तवानघ[3]।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः॥ ३६
य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम्।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेता-
वुपलभते भगवत्पदारविन्दम्॥ ३७

विदुरजी! इस प्रकार देवहूतिजीने कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गद्वारा थोड़े ही समयमें नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लिया॥ ३०॥

वीरवर! जिस स्थानपर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह परम पवित्र क्षेत्र त्रिलोकीमें 'सिद्धपद' नामसे विख्यात हुआ॥ ३१॥

साधुस्वभाव विदुरजी! योगसाधनके द्वारा उनके शरीरके सारे दैहिक मल दूर हो गये थे। वह एक नदीके रूपमें परिणत हो गया, जो सिद्धगणसे सेवित और सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली है॥ ३२॥

महायोगी भगवान् कपिलजी भी माताकी आज्ञा ले पिताके आश्रमसे ईशानकोणकी ओर चले गये॥ ३३॥ वहाँ स्वयं समुद्रने उनका पूजन करके उन्हें स्थान दिया। वे तीनों लोकोंको शान्ति प्रदान करनेके लिये योगमार्गका अवलम्बन कर समाधिमें स्थित हो गये हैं। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि और अप्सरागण उनकी स्तुति करते हैं तथा सांख्याचार्यगण भी उनका सब प्रकार स्तवन करते रहते हैं॥ ३४-३५॥

निष्पाप विदुरजी! तुम्हारे पूछनेसे मैंने तुम्हें यह भगवान् कपिल और देवहूतिका परम पवित्र संवाद सुनाया॥ ३६॥ यह कपिलदेवजीका मत अध्यात्मयोगका गूढ़ रहस्य है। जो पुरुष इसका श्रवण या वर्णन करता है, वह भगवान् गरुडध्वजकी भक्तिसे युक्त होकर शीघ्र ही श्रीहरिके चरणारविन्दोंको प्राप्त करता है॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

॥ इति तृतीयः स्कन्धः समाप्तः॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

१. प्रा० पा०—सिद्धि०। २. प्रा० पा०—कानां सुखायास्ते समा०। ३. प्रा० पा०—त्वया०।

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

चतुर्थः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

स्वायम्भुव-मनुकी कन्याओंके वंशका वर्णन

मैत्रेय उवाच

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः[1]॥ १

आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः।
पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः॥ २

प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत्।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना॥ ३

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक्।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी॥ ४

आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम्।
स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम्॥ ५

तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान्॥ ६

तोषः प्रतोषः सन्तोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः।
इध्मः कविर्विभुः स्वह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट्॥ ७

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! स्वायम्भुव मनुके महारानी शतरूपासे प्रियव्रत और उत्तानपाद—इन दो पुत्रोंके सिवा तीन कन्याएँ भी हुई थीं; वे आकूति, देवहूति और प्रसूति नामसे विख्यात थीं॥ १॥ आकूतिका, यद्यपि उसके भाई थे तो भी, महारानी शतरूपाकी अनुमतिसे उन्होंने रुचि प्रजापतिके साथ 'पुत्रिकाधर्म'-के* अनुसार विवाह किया॥ २॥

प्रजापति रुचि भगवान्के अनन्य चिन्तनके कारण ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे। उन्होंने आकूतिके गर्भसे एक पुरुष और स्त्रीका जोड़ा उत्पन्न किया॥ ३॥ उनमें जो पुरुष था, वह साक्षात् यज्ञस्वरूपधारी भगवान् विष्णु थे और जो स्त्री थी, वह भगवान्से कभी अलग न रहनेवाली लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूपा 'दक्षिणा' थी॥ ४॥ मनुजी अपनी पुत्री आकूतिके उस परमतेजस्वी पुत्रको बड़ी प्रसन्नतासे अपने घर ले आये और दक्षिणाको रुचि प्रजापतिने अपने पास रखा॥ ५॥ जब दक्षिणा विवाहके योग्य हुई तो उसने यज्ञभगवान्को ही पतिरूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा की, तब भगवान् यज्ञपुरुषने उससे विवाह किया। इससे दक्षिणाको बड़ा सन्तोष हुआ। भगवान्ने प्रसन्न होकर उससे बारह पुत्र उत्पन्न किये॥ ६॥ उनके नाम हैं—तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्न, सुदेव और रोचन॥ ७॥

---

१. प्रा० पा०—सुव्रताः।

* 'पुत्रिकाधर्म' के अनुसार किये जानेवाले विवाहमें यह शर्त होती है कि कन्याके जो पहला पुत्र होगा, उसे कन्याके पिता ले लेंगे।

तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वायम्भुवान्तरे।
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः॥ ८
प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम्[१]॥ ९
देवहूतिमदात्तात कर्दमायात्मजां मनुः।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम॥ १०
दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान्मनुः।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान्॥ ११
याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव[२] ब्रह्मर्षिपत्नयः।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे॥ १२
पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा।
कश्यपं[३] पूर्णिमानं च ययोरापूरितं जगत्॥ १३
पूर्णिमासूत विरजं विश्वगं च परंतप।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्दिवः॥ १४
अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीञ्जज्ञे सुयशसः सुतान्।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान्॥ १५

विदुर उवाच

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो॥ १६

मैत्रेय उवाच

ब्रह्मणा नोदितः[४] सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः॥ १७

ये ही स्वायम्भुव मन्वन्तरमें 'तुषित' नामके देवता हुए। उस मन्वन्तरमें मरीचि आदि सप्तर्षि थे, भगवान् यज्ञ ही देवताओंके अधीश्वर इन्द्र थे और महान् प्रभावशाली प्रियव्रत एवं उत्तानपाद मनुपुत्र थे। वह मन्वन्तर उन्हीं दोनोंके बेटों, पोतों और दौहित्रोंके वंशसे छा गया॥ ८-९॥

प्यारे विदुरजी! मनुजीने अपनी दूसरी कन्या देवहूति कर्दमजीको ब्याही थी। उसके सम्बन्धकी प्रायः सभी बातें तुम मुझसे सुन चुके हो॥ १०॥ भगवान् मनुने अपनी तीसरी कन्या प्रसूतिका विवाह ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिसे किया था; उसकी विशाल वंशपरम्परा तो सारी त्रिलोकीमें फैली हुई है॥ ११॥

मैं कर्दमजीकी नौ कन्याओंका, जो नौ ब्रह्मर्षियोंसे ब्याही गयी थीं, पहले ही वर्णन कर चुका हूँ। अब उनकी वंशपरम्पराका वर्णन करता हूँ, सुनो॥ १२॥ मरीचि ऋषिकी पत्नी कर्दमजीकी बेटी कलासे कश्यप और पूर्णिमा नामक दो पुत्र हुए, जिनके वंशसे यह सारा जगत् भरा हुआ है॥ १३॥ शत्रुतापन विदुरजी! पूर्णिमाके विरज और विश्वग नामके दो पुत्र तथा देवकुल्या नामकी एक कन्या हुई। यही दूसरे जन्ममें श्रीहरिके चरणोंके धोवनसे देवनदी गंगाके रूपमें प्रकट हुई॥ १४॥ अत्रिकी पत्नी अनसूयासे दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा नामके तीन परम यशस्वी पुत्र हुए। ये क्रमशः भगवान् विष्णु, शंकर और ब्रह्माके अंशसे उत्पन्न हुए थे॥ १५॥

विदुरजीने पूछा—गुरुजी! कृपया यह बतलाइये कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करनेवाले इन सर्वश्रेष्ठ देवोंने अत्रि मुनिके यहाँ क्या करनेकी इच्छासे अवतार लिया था?॥ १६॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—जब ब्रह्माजीने ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको सृष्टि रचनेके लिये आज्ञा दी, तब वे अपनी सहधर्मिणीके सहित तप करनेके लिये ऋक्षनामक कुलपर्वतपर गये॥ १७॥

१. प्रा० पा०—यद०। २. प्रा० पा०—त्ता:क्षत्तर्ब्रह्म०। ३. प्रा० पा०—यज्ञं च। ४. प्रा० पा०—चो०।

तस्मिन् प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने।
वार्भिःस्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः॥ १८
प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः॥ १९
शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन्॥ २०
तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः॥ २१
अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः॥ २२
तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान्॥ २३
प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः।
वृषहंससुपर्णस्थान् स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान्॥ २४
कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान्।
तद्रोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी॥ २५
चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत्संहताञ्जलिः।
श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः॥ २६

अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः॥ २७

वहाँ पलाश और अशोकके वृक्षोंका एक विशाल वन था। उसके सभी वृक्ष फूलोंके गुच्छोंसे लदे थे तथा उसमें सब ओर निर्विन्ध्या नदीके जलकी कलकल ध्वनि गूँजती रहती थी॥ १८॥ उस वनमें वे मुनिश्रेष्ठ प्राणायामके द्वारा चित्तको वशमें करके सौ वर्षतक केवल वायु पीकर सर्दी-गरमी आदि द्वन्द्वोंकी कुछ भी परवा न कर एक ही पैरसे खड़े रहे॥ १९॥ उस समय वे मन-ही-मन यही प्रार्थना करते थे कि 'जो कोई सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं, मैं उनकी शरणमें हूँ; वे मुझे अपने ही समान सन्तान प्रदान करें'॥ २०॥

तब यह देखकर कि प्राणायामरूपी ईंधनसे प्रज्वलित हुआ अत्रि मुनिका तेज उनके मस्तकसे निकलकर तीनों लोकोंको तपा रहा है—ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—तीनों जगत्पति उनके आश्रमपर आये। उस समय अप्सरा, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर और नाग—उनका सुयश गा रहे थे॥ २१-२२॥ उन तीनोंका एक ही साथ प्रादुर्भाव होनेसे अत्रि मुनिका अन्तःकरण प्रकाशित हो उठा। उन्होंने एक पैरसे खड़े-खड़े ही उन देवदेवोंको देखा और फिर पृथ्वीपर दण्डके समान लोटकर प्रणाम करनेके अनन्तर अर्घ्य-पुष्पादि पूजनकी सामग्री हाथमें ले उनकी पूजा की। वे तीनों अपने-अपने वाहन—हंस, गरुड और बैलपर चढ़े हुए तथा अपने कमण्डलु, चक्र, त्रिशूलादि चिह्नोंसे सुशोभित थे॥ २३-२४॥ उनकी आँखोंसे कृपाकी वर्षा हो रही थी। उनके मुखपर मन्द हास्यकी रेखा थी—जिससे उनकी प्रसन्नता झलक रही थी। उनके तेजसे चौंधियाकर मुनिवरने अपनी आँखें मूँद लीं॥ २५॥ वे चित्तको उन्हींकी ओर लगाकर हाथ जोड़ अति मधुर और सुन्दर भावपूर्ण वचनोंमें लोकमें सबसे बड़े उन तीनों देवोंकी स्तुति करने लगे॥ २६॥

अत्रि मुनिने कहा— भगवन्! प्रत्येक कल्पके आरम्भमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये जो मायाके सत्त्वादि तीनों गुणोंका विभाग करके भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं—वे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव आप ही हैं; मैं आपको प्रणाम करता हूँ। कहिये—मैंने जिनको बुलाया था, आपमेंसे वे कौन महानुभाव हैं?॥ २७॥

एको मयेह भगवान् विबुधप्रधान-
श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम्।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूरा
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे॥ २८

मैत्रेय उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः।
प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो॥ २९

देवा ऊचुः

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति ते वयम्॥ ३०
अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः॥ ३१
एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः॥ ३२
सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः॥ ३३
श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः।
सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा॥ ३४
तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे।
उतथ्यो भगवान् साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः॥ ३५
पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुवि।
सोऽन्यजन्मनि दह्राग्निर्विश्रवाश्च महातपाः॥ ३६
तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः॥ ३७

क्योंकि मैंने तो सन्तानप्राप्तिकी इच्छासे केवल एक सुरेश्वर भगवान्‌का ही चिन्तन किया था। फिर आप तीनोंने यहाँ पधारनेकी कृपा कैसे की? आप-लोगोंतक तो देहधारियोंके मनकी भी गति नहीं है, इसलिये मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। आपलोग कृपा करके मुझे इसका रहस्य बतलाइये॥ २८॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—समर्थ विदुरजी! अत्रि मुनिके वचन सुनकर वे तीनों देव हँसे और उनसे सुमधुर वाणीमें कहने लगे॥ २९॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! तुम सत्यसंकल्प हो। अतः तुमने जैसा संकल्प किया था, वही होना चाहिये। उससे विपरीत कैसे हो सकता था? तुम जिस 'जगदीश्वर' का ध्यान करते थे, वह हम तीनों ही हैं॥ ३०॥ प्रिय महर्षे! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंशस्वरूप तीन जगद्विख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे और तुम्हारे सुन्दर यशका विस्तार करेंगे॥ ३१॥

उन्हें इस प्रकार अभीष्ट वर देकर तथा पति-पत्नी दोनोंसे भलीभाँति पूजित होकर उनके देखते-ही-देखते वे तीनों सुरेश्वर अपने-अपने लोकोंको चले गये॥ ३२॥ ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे योगवेत्ता दत्तात्रेयजी और महादेवजीके अंशसे दुर्वासा ऋषि अत्रिके पुत्ररूपमें प्रकट हुए। अब अंगिरा ऋषिकी सन्तानोंका वर्णन सुनो॥ ३३॥

अंगिराकी पत्नी श्रद्धाने सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति—इन चार कन्याओंको जन्म दिया॥ ३४॥ इनके सिवा उनके साक्षात् भगवान् उतथ्यजी और ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पतिजी—ये दो पुत्र भी हुए, जो स्वारोचिष मन्वन्तरमें विख्यात हुए॥ ३५॥ पुलस्त्यजीके उनकी पत्नी हविर्भूसे महर्षि अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवा—ये दो पुत्र हुए। इनमें अगस्त्यजी दूसरे जन्ममें जठराग्नि हुए॥ ३६॥ विश्रवा मुनिके इडविडाके गर्भसे यक्षराज कुबेरका जन्म हुआ और उनकी दूसरी पत्नी केशिनीसे रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण उत्पन्न हुए॥ ३७॥

पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान्।
कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते॥ ३८
क्रतोरपि क्रिया भार्या वालखिल्यानसूयत।
ऋषीन्षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा॥ ३९
ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परंतप।
चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमलाः॥ ४०
चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे॥ ४१
चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम्।
दध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे॥ ४२
भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत्।
धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम्॥ ४३
आयतिं नियतिं चैव सुते मेरुस्तयोरदात्।
ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च॥ ४४
मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः॥ ४५
त एते मुनयः क्षत्तर्लोकान् सर्गैरभावयन्।
एष कर्दमदौहित्रसंतानः कथितस्तव।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः॥ ४६
प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः।
तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः॥ ४७
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे॥ ४८
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥ ४९

महामते! महर्षि पुलहकी स्त्री परम साध्वी गतिसे कर्मश्रेष्ठ, वरीयान् और सहिष्णु—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए॥ ३८॥ इसी प्रकार क्रतुकी पत्नी क्रियाने ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान बालखिल्यादि साठ हजार ऋषियोंको जन्म दिया॥ ३९॥ शत्रुतापन विदुरजी! वसिष्ठजीकी पत्नी ऊर्जा (अरुन्धती)-से चित्रकेतु आदि सात विशुद्धचित्त ब्रह्मर्षियोंका जन्म हुआ॥ ४०॥ उनके नाम चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान और द्युमान् थे। इनके सिवा उनकी दूसरी पत्नीसे शक्ति आदि और भी कई पुत्र हुए॥ ४१॥ अथर्वा मुनिकी पत्नी चित्तिने दध्यङ् (दधीचि) नामक एक तपोनिष्ठ पुत्र प्राप्त किया, जिसका दूसरा नाम अश्वशिरा भी था। अब भृगुके वंशका वर्णन सुनो॥ ४२॥

महाभाग भृगुजीने अपनी भार्या ख्यातिसे धाता और विधाता नामक पुत्र तथा श्री नामकी एक भगवत्परायणा कन्या उत्पन्न की॥ ४३॥ मेरुऋषिने अपनी आयति और नियति नामकी कन्याएँ क्रमशः धाता और विधाताको ब्याहीं; उनसे उनके मृकण्ड और प्राण नामक पुत्र हुए॥ ४४॥

उनमेंसे मृकण्डके मार्कण्डेय और प्राणके मुनिवर वेदशिराका जन्म हुआ। भृगुजीके एक कवि नामक पुत्र भी थे। उनके भगवान् उशना (शुक्राचार्य) हुए॥ ४५॥ विदुरजी! इन सब मुनीश्वरोंने भी सन्तान उत्पन्न करके सृष्टिका विस्तार किया। इस प्रकार मैंने तुम्हें यह कर्दमजीके दौहित्रोंकी सन्तानका वर्णन सुनाया। जो पुरुष इसे श्रद्धापूर्वक सुनता है, उसके पापोंको यह तत्काल नष्ट कर देता है॥ ४६॥

ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने मनुनन्दिनी प्रसूतिसे विवाह किया। उससे उन्होंने सुन्दर नेत्रोंवाली सोलह कन्याएँ उत्पन्न कीं॥ ४७॥ भगवान् दक्षने उनमेंसे तेरह धर्मको, एक अग्निको, एक समस्त पितृगणको और एक संसारका संहार करनेवाले तथा जन्म-मृत्युसे छुड़ानेवाले भगवान् शंकरको दी॥ ४८॥ श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति—ये धर्मकी पत्नियाँ हैं॥ ४९॥

श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥ ५०

योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम्॥ ५१

मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी॥ ५२

ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम्।
मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः॥ ५३

दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः।
मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः॥ ५४

नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्य आसीत्परममङ्गलम्।
देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः॥ ५५

देवा ऊचुः

योमायया विरचितं निजयाऽऽत्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै॥ ५६

सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम्॥ ५७

एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम्॥ ५८

इनमेंसे श्रद्धाने शुभ, मैत्रीने प्रसाद, दयाने अभय, शान्तिने सुख, तुष्टिने मोद और पुष्टिने अहंकारको जन्म दिया॥ ५०॥ क्रियाने योग, उन्नतिने दर्प, बुद्धिने अर्थ, मेधाने स्मृति, तितिक्षाने क्षेम और ह्री (लज्जा)-ने प्रश्रय (विनय) नामक पुत्र उत्पन्न किया॥ ५१॥ समस्त गुणोंकी खान मूर्तिदेवीने नर-नारायण ऋषियोंको जन्म दिया॥ ५२॥ इनका जन्म होनेपर इस सम्पूर्ण विश्वने आनन्दित होकर प्रसन्नता प्रकट की। उस समय लोगोंके मन, दिशाएँ, वायु, नदी और पर्वत—सभीमें प्रसन्नता छा गयी॥ ५३॥ आकाशमें मांगलिक बाजे बजने लगे, देवतालोग फूलोंकी वर्षा करने लगे, मुनि प्रसन्न होकर स्तुति करने लगे, गन्धर्व और किन्नर गाने लगे॥ ५४॥ अप्सराएँ नाचने लगीं। इस प्रकार उस समय बड़ा ही आनन्द-मंगल हुआ तथा ब्रह्मादि समस्त देवता स्तोत्रोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ ५५॥

देवताओंने कहा—जिस प्रकार आकाशमें तरह-तरहके रूपोंकी कल्पना कर ली जाती है—उसी प्रकार जिन्होंने अपनी मायाके द्वारा अपने ही स्वरूपके अन्दर इस संसारकी रचना की है और अपने उस स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिये इस समय इस ऋषि-विग्रहके साथ धर्मके घरमें अपने-आपको प्रकट किया है, उन परम पुरुषको हमारा नमस्कार है॥ ५६॥

जिनके तत्त्वका शास्त्रके आधारपर हमलोग केवल अनुमान ही करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं कर पाते—उन्हीं भगवान्‌ने देवताओंको संसारकी मर्यादामें किसी प्रकारकी गड़बड़ी न हो, इसीलिये सत्त्वगुणसे उत्पन्न किया है। अब वे अपने करुणामय नेत्रोंसे—जो समस्त शोभा और सौन्दर्यके निवासस्थान निर्मल दिव्य कमलको भी नीचा दिखानेवाले हैं—हमारी ओर निहारें॥ ५७॥

प्यारे विदुरजी! प्रभुका साक्षात् दर्शन पाकर देवताओंने उनकी इस प्रकार स्तुति और पूजा की। तदनन्तर भगवान् नर-नारायण दोनों गन्धमादन पर्वतपर चले गये॥ ५८॥

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ॥ ५९

भगवान् श्रीहरिके अंशभूत वे नर-नारायण ही इस समय पृथ्वीका भार उतारनेके लिये यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण और उन्हींके सरीखे श्यामवर्ण, कुरुकुलतिलक अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं॥ ५९॥

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत्।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम्॥ ६०

तेभ्योऽग्नयः समभवन् चत्वारिंशच्च पञ्च च।
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः॥ ६१

वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः।
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते॥ ६२

अग्निदेवकी पत्नी स्वाहाने अग्निके ही अभिमानी पावक, पवमान और शुचि—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये। ये तीनों ही हवन किये हुए पदार्थोंका भक्षण करनेवाले हैं॥ ६०॥ इन्हीं तीनोंसे पैंतालीस प्रकारके अग्नि और उत्पन्न हुए। ये ही अपने तीन पिता और एक पितामहको साथ लेकर उनचास अग्नि कहलाये॥ ६१॥ वेदज्ञ ब्राह्मण वैदिक यज्ञकर्ममें जिन उनचास अग्नियोंके नामोंसे आग्नेयी इष्टियाँ करते हैं, वे ये ही हैं॥ ६२॥

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोम्याः पितर आज्यपाः।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा॥ ६३

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे॥ ६४

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः॥ ६५

पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा।
अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योगसंयुता॥ ६६

अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमप और आज्यप—ये पितर हैं; इनमें साग्निक भी हैं और निरग्निक भी। इन सब पितरोंकी पत्नी दक्षकुमारी स्वधा हैं॥ ६३॥ इन पितरोंसे स्वधाके धारिणी और वयुना नामकी दो कन्याएँ हुईं। वे दोनों ही ज्ञान-विज्ञानमें पारंगत और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेवाली हुईं॥ ६४॥ महादेवजीकी पत्नी सती थीं, वे सब प्रकारसे अपने पतिदेवकी सेवामें संलग्न रहनेवाली थीं। किन्तु उनके अपने गुण और शीलके अनुरूप कोई पुत्र नहीं हुआ॥ ६५॥ क्योंकि सतीके पिता दक्षने बिना ही किसी अपराधके भगवान् शिवजीके प्रतिकूल आचरण किया था, इसलिये सतीने युवावस्थामें ही क्रोधवश योगके द्वारा स्वयं ही अपने शरीरका त्याग कर दिया था॥ ६६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान् शिव और दक्ष प्रजापतिका मनोमालिन्य

विदुर उवाच

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः।
विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम्॥ १

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! प्रजापति दक्ष तो अपनी लड़कियोंसे बहुत ही स्नेह रखते थे, फिर उन्होंने अपनी कन्या सतीका अनादर करके शीलवानोंमें सबसे श्रेष्ठ श्रीमहादेवजीसे द्वेष क्यों किया?॥ १॥

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम्।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत्॥ २
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् जामातुः श्वशुरस्य च।
विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्यजे दुस्त्यजान्सती॥ ३

मैत्रेय उवाच

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः॥ ४
तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः॥ ५
उदतिष्ठन् सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः।
ऋते विरिञ्चं शर्वं च तद्भासाऽऽक्षिप्तचेतसः॥ ६
सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान् साधु सत्कृतः।
अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया॥ ७
प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव॥ ८
श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात्॥ ९
अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः॥ १०
एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत्।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत्॥ ११
गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम्॥ १२

महादेवजी भी चराचरके गुरु, वैररहित, शान्तमूर्ति, आत्माराम और जगत्के परम आराध्य देव हैं। उनसे भला, कोई क्यों वैर करेगा?॥ २॥

भगवन्! उन ससुर और दामादमें इतना विद्वेष कैसे हो गया, जिसके कारण सतीने अपने दुस्त्यज प्राणोंतककी बलि दे दी? यह आप मुझसे कहिये॥ ३॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! पहले एक बार प्रजापतियोंके यज्ञमें सब बड़े-बड़े ऋषि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियोंके सहित एकत्र हुए थे॥ ४॥ उसी समय प्रजापति दक्षने भी उस सभामें प्रवेश किया। वे अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशमान थे और उस विशाल सभा-भवनका अन्धकार दूर किये देते थे। उन्हें आया देख ब्रह्माजी और महादेवजीके अतिरिक्त अग्निपर्यन्त सभी सभासद् उनके तेजसे प्रभावित होकर अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये॥ ५-६॥ इस प्रकार समस्त सभासदोंसे भलीभाँति सम्मान प्राप्त करके तेजस्वी दक्ष जगत्पिता ब्रह्माजीको प्रणाम कर उनकी आज्ञासे अपने आसनपर बैठ गये॥ ७॥

परन्तु महादेवजीको पहलेसे ही बैठा देख तथा उनसे अभ्युत्थानादिके रूपमें कुछ भी आदर न पाकर दक्ष उनका यह व्यवहार सहन न कर सके। उन्होंने उनकी ओर टेढ़ी नजरसे इस प्रकार देखा मानो उन्हें वे क्रोधाग्निसे जला डालेंगे। फिर कहने लगे— ॥ ८॥ 'देवता और अग्नियोंके सहित समस्त ब्रह्मर्षिगण मेरी बात सुनें। मैं नासमझी या द्वेषवश नहीं कहता, बल्कि शिष्टाचारकी बात कहता हूँ॥ ९॥ यह निर्लज्ज महादेव समस्त लोकपालोंकी पवित्र कीर्तिको धूलमें मिला रहा है। देखिये, इस घमण्डीने सत्पुरुषोंके आचरणको लांछित एवं मटियामेट कर दिया है॥ १०॥ बन्दरके-से नेत्रवाले इसने सत्पुरुषोंके समान मेरी सावित्री-सरीखी मृगनयनी पवित्र कन्याका अग्नि और ब्राह्मणोंके सामने पाणिग्रहण किया था, इसलिये यह एक प्रकार मेरे पुत्रके समान हो गया है। उचित तो यह था कि यह उठकर मेरा स्वागत करता, मुझे प्रणाम करता; परंतु इसने वाणीसे भी मेरा सत्कार नहीं किया॥ ११-१२॥

लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम्॥ १३

प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः।
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन्॥ १४

चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्न्रस्थिभूषणः।
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः।
पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम्॥ १५

तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना॥ १६

मैत्रेय उवाच

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम्।
दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे॥ १७

अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः॥ १८

निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम्।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
र्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम्॥ १९

विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-
र्नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः॥ २०

हाय! जिस प्रकार शूद्रको कोई वेद पढ़ा दे, उसी प्रकार मैंने इच्छा न होते हुए भी भावीवश इसको अपनी सुकुमारी कन्या दे दी! इसने सत्कर्मका लोप कर दिया, यह सदा अपवित्र रहता है, बड़ा घमण्डी है और धर्मकी मर्यादाको तोड़ रहा है॥ १३॥ यह प्रेतोंके निवासस्थान भयंकर श्मशानोंमें भूत-प्रेतोंको साथ लिये घूमता रहता है। पूरे पागलकी तरह सिरके बाल बिखेरे नंग-धड़ंग भटकता है, कभी हँसता है, कभी रोता है॥ १४॥ यह सारे शरीरपर चिताकी अपवित्र भस्म लपेटे रहता है, गलेमें भूतोंके पहननेयोग्य नरमुण्डोंकी माला और सारे शरीरमें हड्डियोंके गहने पहने रहता है। यह बस, नामभरका ही शिव है, वास्तवमें है पूरा अशिव—अमंगलरूप। जैसे यह स्वयं मतवाला है, वैसे ही इसे मतवाले ही प्यारे लगते हैं। भूत-प्रेत-प्रमथ आदि निरे तमोगुणी स्वभाववाले जीवोंका यह नेता है॥ १५॥ अरे! मैंने केवल ब्रह्माजीके बहकावेमें आकर ऐसे भूतोंके सरदार, आचारहीन और दुष्ट स्वभाववालेको अपनी भोली-भाली बेटी ब्याह दी'॥ १६॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! दक्षने इस प्रकार महादेवजीको बहुत कुछ बुरा-भला कहा; तथापि उन्होंने इसका कोई प्रतीकार नहीं किया, वे पूर्ववत् निश्चलभावसे बैठे रहे। इससे दक्षके क्रोधका पारा और भी ऊँचा चढ़ गया और वे जल हाथमें लेकर उन्हें शाप देनेको तैयार हो गये॥ १७॥ दक्षने कहा, 'यह महादेव देवताओंमें बड़ा ही अधम है। अबसे इसे इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञका भाग न मिले'॥ १८॥ उपस्थित मुख्य-मुख्य सभासदोंने उन्हें बहुत मना किया, परन्तु उन्होंने किसीकी न सुनी; महादेवजीको शाप दे ही दिया। फिर वे अत्यन्त क्रोधित हो उस सभासे निकलकर अपने घर चले गये॥ १९॥

जब श्रीशंकरजीके अनुयायियोंमें अग्रगण्य नन्दीश्वरको मालूम हुआ कि दक्षने शाप दिया है, तो वे क्रोधसे तमतमा उठे और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके दुर्वचनोंका अनुमोदन किया था, बड़ा भयंकर शाप दिया॥ २०॥

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत्॥ २१

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः॥ २२

बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात्॥ २३

विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम्॥ २४

गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः॥ २५

सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह॥ २६

तस्यैवं ददतः शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै।
भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम्॥ २७

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः॥ २८

नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्॥ २९

ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ।
सेतुं विधारणं पुंसामतः पाखण्डमाश्रिता॥ ३०

वे बोले—'जो इस मरणधर्मा शरीरमें ही अभिमान करके किसीसे भी द्रोह न करनेवाले भगवान् शंकरसे द्वेष करता है, वह भेद-बुद्धिवाला मूर्ख दक्ष, तत्त्वज्ञानसे विमुख ही रहे॥ २१॥ यह 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' आदि अर्थवादरूप वेदवाक्योंसे मोहित एवं विवेकभ्रष्ट होकर विषयसुखकी इच्छासे कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें आसक्त रहकर कर्मकाण्डमें ही लगा रहता है। इसकी बुद्धि देहादिमें आत्मभावका चिन्तन करनेवाली है; उसके द्वारा इसने आत्मस्वरूपको भुला दिया है; यह साक्षात् पशुके ही समान है, अतः अत्यन्त स्त्री-लम्पट हो और शीघ्र ही इसका मुँह बकरेका हो जाय॥ २२-२३॥ यह मूर्ख कर्ममयी अविद्याको ही विद्या समझता है; इसलिये यह और जो लोग भगवान् शङ्करका अपमान करनेवाले इस दुष्टके पीछे-पीछे चलनेवाले हैं, वे सभी जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़े रहें॥ २४॥ वेदवाणीरूप लता फलश्रुतिरूप पुष्पोंसे सुशोभित है, उसके कर्मफलरूप मनमोहक गन्धसे इनके चित्त क्षुब्ध हो रहे हैं। इससे ये शंकरद्रोही कर्मोंके जालमें ही फँसे रहें॥ २५॥ ये ब्राह्मणलोग भक्ष्याभक्ष्यके विचारको छोड़कर केवल पेट पालनेके लिये ही विद्या, तप और व्रतादिका आश्रय लें तथा धन, शरीर और इन्द्रियोंके सुखको ही सुख मानकर—उन्हींके गुलाम बनकर दुनियामें भीख माँगते भटका करें'॥ २६॥

नन्दीश्वरके मुखसे इस प्रकार ब्राह्मणकुलके लिये शाप सुनकर उसके बदलेमें भृगुजीने यह दुस्तर शापरूप ब्रह्मदण्ड दिया॥ २७॥ 'जो लोग शिवभक्त हैं तथा जो उन भक्तोंके अनुयायी हैं, वे सत्-शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले और पाखण्डी हों॥ २८॥ जो लोग शौचाचारविहीन, मन्दबुद्धि तथा जटा, राख और हड्डियोंको धारण करनेवाले हैं—वे ही शैव-सम्प्रदायमें दीक्षित हों, जिसमें सुरा और आसव ही देवताओंके समान आदरणीय हैं॥ २९॥ अरे! तुमलोग जो धर्ममर्यादाके संस्थापक एवं वर्णाश्रमियोंके रक्षक वेद और ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हो, इससे मालूम होता है तुमने पाखण्डका आश्रय ले रखा है॥ ३०॥

एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः।
यं पूर्वे चानुसंतस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः॥ ३१
तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम्।
विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट्॥ ३२

यह वेदमार्ग ही लोगोंके लिये कल्याणकारी और सनातन मार्ग है। पूर्वपुरुष इसीपर चलते आये हैं और इसके मूल साक्षात् श्रीविष्णुभगवान् हैं॥ ३१॥ तुमलोग सत्पुरुषोंके परम पवित्र और सनातन मार्गस्वरूप वेदकी निन्दा करते हो—इसलिये उस पाखण्डमार्गमें जाओ, जिसमें भूतोंके सरदार तुम्हारे इष्टदेव निवास करते हैं'॥ ३२॥

मैत्रेय उवाच

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः।
निश्चक्राम ततः किंचिद्विमना इव सानुगः॥ ३३
तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान्।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः॥ ३४
आप्लुत्यावभृथं यत्र गंगा यमुनयान्विता।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः॥ ३५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! भृगु ऋषिके इस प्रकार शाप देनेपर भगवान् शंकर कुछ खिन्न-से हो वहाँसे अपने अनुयायियोंसहित चल दिये॥ ३३॥ वहाँ प्रजापतिलोग जो यज्ञ कर रहे थे, उसमें पुरुषोत्तम श्रीहरि ही उपास्यदेव थे और वह यज्ञ एक हजार वर्षमें समाप्त होनेवाला था। उसे समाप्त कर उन प्रजापतियोंने श्रीगंगा-यमुनाके संगममें यज्ञान्त स्नान किया और फिर प्रसन्न मनसे वे अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ३४-३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दक्षशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

सतीका पिताके यहाँ यज्ञोत्सवमें जानेके लिये आग्रह करना

मैत्रेय उवाच

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे॥ १

यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत्॥ २

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम्॥ ३

तस्मिन् ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः।
आसन् कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः॥ ४

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार उन ससुर और दामादको आपसमें वैर-विरोध रखते हुए बहुत अधिक समय निकल गया॥ १॥ इसी समय ब्रह्माजीने दक्षको समस्त प्रजापतियोंका अधिपति बना दिया। इससे उसका गर्व और भी बढ़ गया॥ २॥ उसने भगवान् शंकर आदि ब्रह्मनिष्ठोंको यज्ञभाग न देकर उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो वाजपेय-यज्ञ किया और फिर बृहस्पतिसव नामका महायज्ञ आरम्भ किया॥ ३॥ उस यज्ञोत्सवमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ पधारे, उन सबने मिलकर वहाँ मांगलिक कार्य सम्पन्न किये और दक्षके द्वारा उन सबका स्वागत-सत्कार किया गया॥ ४॥

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम्।
सती दाक्षायणी देवी पितुर्यज्ञमहोत्सवम्॥ ५
व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः॥ ६
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत॥ ७

सत्युवाच

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि॥ ८
तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
र्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः।
अहं च तस्मिन् भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम्॥ ९
तत्र स्वसॄर्मे ननु भर्तृसम्मिता
मातृष्वसॄः क्लिन्नधियं च मातरम्।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभि-
रुन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम्॥ १०
त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया
विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम्।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते
दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम्॥ ११
पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो-
ऽप्यलंकृताः कान्तसखा वरूथशः।
यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः॥ १२

उस समय आकाशमार्गसे जाते हुए देवता आपसमें उस यज्ञकी चर्चा करते जाते थे। उनके मुखसे दक्षकुमारी सतीने अपने पिताके घर होनेवाले यज्ञकी बात सुन ली॥ ५॥ उन्होंने देखा कि हमारे निवासस्थान कैलासके पाससे होकर सब ओरसे चंचल नेत्रोंवाली गन्धर्व और यक्षोंकी स्त्रियाँ चमकीले कुण्डल और हार पहने खूब सज-धजकर अपने-अपने पतियोंके साथ विमानोंपर बैठी उस यज्ञोत्सवमें जा रही हैं। इससे उन्हें भी बड़ी उत्सुकता हुई और उन्होंने अपने पति भगवान् भूतनाथसे कहा॥ ६-७॥

सतीने कहा—वामदेव! सुना है, इस समय आपके ससुर दक्षप्रजापतिके यहाँ बड़ा भारी यज्ञोत्सव हो रहा है। देखिये, ये सब देवता वहीं जा रहे हैं; यदि आपकी इच्छा हो तो हम भी चलें॥ ८॥ इस समय अपने आत्मीयोंसे मिलनेके लिये मेरी बहिनें भी अपने-अपने पतियोंके सहित वहाँ अवश्य आयेंगी। मैं भी चाहती हूँ कि आपके साथ वहाँ जाकर माता-पिताके दिये हुए गहने, कपड़े आदि उपहार स्वीकार करूँ॥ ९॥ वहाँ अपने पतियोंसे सम्मानित बहिनों, मौसियों और स्नेहार्द्रहृदया जननीको देखनेके लिये मेरा मन बहुत दिनोंसे उत्सुक है। कल्याणमय! इसके सिवा वहाँ महर्षियोंका रचा हुआ श्रेष्ठ यज्ञ भी देखनेको मिलेगा॥ १०॥ अजन्मा प्रभो! आप जगत्की उत्पत्तिके हेतु हैं। आपकी मायासे रचा हुआ यह परम आश्चर्यमय त्रिगुणात्मक जगत् आपहीमें भास रहा है। किंतु मैं तो स्त्रीस्वभाव होनेके कारण आपके तत्त्वसे अनभिज्ञ और बहुत दीन हूँ। इसलिये इस समय अपनी जन्मभूमि देखनेको बहुत उत्सुक हो रही हूँ॥ ११॥ जन्मरहित नीलकण्ठ! देखिये—इनमें कितनी ही स्त्रियाँ तो ऐसी हैं, जिनका दक्षसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है। फिर भी वे अपने-अपने पतियोंके सहित खूब सज-धजकर झुंड-की-झुंड वहाँ जा रही हैं। वहाँ जानेवाली इन देवांगनाओंके राजहंसके समान श्वेत विमानोंसे आकाशमण्डल कैसा सुशोभित हो रहा है॥ १२॥

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं
निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं
भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥ १३
तन्मे प्रसीदेदममर्त्य वाञ्छितं
कर्तुं भवान्कारुणिको बतार्हति।
त्वयाऽऽत्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा
निरूपिता मानुगृहाण याचितः॥ १४

ऋषिरुवाच

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः॥ १५

श्रीभगवानुवाच

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने
अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो
बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना॥ १६
विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥ १७
नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान् प्रतीयादनवस्थितात्मनाम्।
येऽभ्यागतान् वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः॥ १८
तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दितांगो हृदयेन दूयता।
स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभि-
र्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः॥ १९

सुरश्रेष्ठ! ऐसी अवस्थामें अपने पिताके यहाँ उत्सवका समाचार पाकर उसकी बेटीका शरीर उसमें सम्मिलित होनेके लिये क्यों न छटपटायेगा। पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदोंके यहाँ तो बिना बुलाये भी जा सकते हैं॥ १३॥ अतः देव! आप मुझपर प्रसन्न हों; आपको मेरी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करनी चाहिये; आप बड़े करुणामय हैं, तभी तो परम ज्ञानी होकर भी आपने मुझे अपने आधे अंगमें स्थान दिया है। अब मेरी इस याचनापर ध्यान देकर मुझे अनुगृहीत कीजिये॥ १४॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रिया सतीजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर अपने आत्मीयोंका प्रिय करनेवाले भगवान् शंकरको दक्षप्रजापतिके उन मर्मभेदी दुर्वचनरूप बाणोंका स्मरण हो आया, जो उन्होंने समस्त प्रजापतियोंके सामने कहे थे; तब वे हँसकर बोले॥ १५॥

भगवान् शंकरने कहा—सुन्दरि! तुमने जो कहा कि अपने बन्धुजनके यहाँ बिना बुलाये भी जा सकते हैं, सो तो ठीक ही है; किंतु ऐसा तभी करना चाहिये, जब उनकी दृष्टि अतिशय प्रबल देहाभिमानसे उत्पन्न हुए मद और क्रोधके कारण द्वेष-दोषसे युक्त न हो गयी हो॥ १६॥ विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल—ये छः सत्पुरुषोंके तो गुण हैं, परन्तु नीच पुरुषोंमें ये ही अवगुण हो जाते हैं; क्योंकि इनसे उनका अभिमान बढ़ जाता है और दृष्टि दोषयुक्त हो जाती है एवं विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी कारण वे महापुरुषोंका प्रभाव नहीं देख पाते॥ १७॥ इसीसे जो अपने यहाँ आये हुए पुरुषोंको कुटिल बुद्धिसे भौं चढ़ाकर रोषभरी दृष्टिसे देखते हैं, उन अव्यवस्थितचित्त लोगोंके यहाँ 'ये हमारे बान्धव हैं' ऐसा समझकर कभी नहीं जाना चाहिये॥ १८॥ देवि! शत्रुओंके बाणोंसे बिंध जानेपर भी ऐसी व्यथा नहीं होती, जैसी अपने कुटिलबुद्धि स्वजनोंके कुटिल वचनोंसे होती है। क्योंकि बाणोंसे शरीर छिन्न-भिन्न हो जानेपर तो जैसे-तैसे निद्रा आ जाती है, किन्तु कुवाक्योंसे मर्मस्थान विद्ध हो जानेपर तो मनुष्य हृदयकी पीड़ासे दिन-रात बेचैन रहता है॥ १९॥

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः
प्रियाऽऽत्मजानामसि सुभ्रु सम्मता।
अथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे
मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः॥ २०

पापच्यमानेन हृदाऽऽतुरेन्द्रियः
समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम्।
अकल्प एषामधिरोढुमंजसा
पदं परं द्वेष्टि यथासुरा हरिम्॥ २१

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने॥ २२

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते॥ २३

तत्ते[2] निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्
दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-
मनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः॥ २४

यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो
भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति।
सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते॥ २५

सुन्दरि! अवश्य ही मैं यह जानता हूँ कि तुम परमोन्नतिको प्राप्त हुए दक्षप्रजापतिको अपनी कन्याओंमें सबसे अधिक प्रिय हो। तथापि मेरी आश्रिता होनेके कारण तुम्हें अपने पितासे मान नहीं मिलेगा; क्योंकि वे मुझसे बहुत जलते हैं॥ २०॥ जीवकी चित्तवृत्तिके साक्षी अहंकारशून्य महापुरुषोंकी समृद्धिको देखकर जिसके हृदयमें सन्ताप और इन्द्रियोंमें व्यथा होती है, वह पुरुष उनके पदको तो सुगमतासे प्राप्त कर नहीं सकता; बस, दैत्यगण जैसे श्रीहरिसे द्वेष मानते हैं, वैसे ही उनसे कुढ़ता रहता है॥ २१॥

सुमध्यमे! तुम कह सकती हो कि आपने प्रजापतियोंकी सभामें उनका आदर क्यों नहीं किया। सो ये सम्मुख जाना, नम्रता दिखाना, प्रणाम करना आदि क्रियाएँ जो लोकव्यवहारमें परस्पर की जाती हैं, तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा बहुत अच्छे ढंगसे की जाती हैं। वे अन्तर्यामीरूपसे सबके अन्तःकरणोंमें स्थित परमपुरुष वासुदेवको ही प्रणामादि करते हैं; देहाभिमानी पुरुषको नहीं करते॥ २२॥ विशुद्ध अन्तःकरणका नाम ही 'वसुदेव' है, क्योंकि उसीमें भगवान् वासुदेवका अपरोक्ष अनुभव होता है। उस शुद्ध चित्तमें स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवको ही मैं नमस्कार किया करता हूँ॥ २३॥ इसीलिये प्रिये! जिसने प्रजापतियोंके यज्ञमें, मेरेद्वारा कोई अपराध न होनेपर भी, मेरा कटुवाक्योंसे तिरस्कार किया था, वह दक्ष यद्यपि तुम्हारे शरीरको उत्पन्न करनेवाला पिता है, तो भी मेरा शत्रु होनेके कारण तुम्हें उसे अथवा उसके अनुयायियोंको देखनेका विचार भी नहीं करना चाहिये॥ २४॥ यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी, तो तुम्हारे लिये अच्छा न होगा; क्योंकि जब किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिका अपने आत्मीयजनोंके द्वारा अपमान होता है, तब वह तत्काल उनकी मृत्युका कारण हो जाता है॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
उमारुद्रसंवादे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

---

१. प्रा० पा०—यस्मि०। २. प्रा० पा०—त्वया।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

सतीका अग्निप्रवेश

मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शंकरः
पत्न्यंगनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन्।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा॥ १

सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः॥ २

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्[१]
प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः॥ ३

तामन्वगच्छन् द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः।
सपार्षदय[२]क्षा मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः॥ ४

तां [३]सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज-
श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः॥ ५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इतना कहकर भगवान् शंकर मौन हो गये। उन्होंने देखा कि दक्षके यहाँ जाने देने अथवा जानेसे रोकने—दोनों ही अवस्थाओंमें सतीके प्राणत्यागकी सम्भावना है। इधर, सतीजी भी कभी बन्धुजनोंको देखने जानेकी इच्छासे बाहर आतीं और कभी 'भगवान् शंकर रुष्ट न हो जायँ, इस शंकासे फिर लौट जातीं। इस प्रकार कोई एक बात निश्चित न कर सकनेके कारण वे दुविधामें पड़ गयीं—चंचल हो गयीं॥ १॥ बन्धुजनोंसे मिलनेकी इच्छामें बाधा पड़नेसे वे बड़ी अनमनी हो गयीं। स्वजनोंके स्नेहवश उनका हृदय भर आया और वे आँखोंमें आँसू भरकर अत्यन्त व्याकुल हो रोने लगीं। उनका शरीर थर-थर काँपने लगा और वे अप्रतिम पुरुष भगवान् शंकरकी ओर इस प्रकार रोषपूर्ण दृष्टिसे देखने लगीं मानो उन्हें भस्म कर देंगी॥ २॥ शोक और क्रोधने उनके चित्तको बिलकुल बेचैन कर दिया तथा स्त्रीस्वभावके कारण उनकी बुद्धि मूढ़ हो गयी। जिन्होंने प्रीतिवश उन्हें अपना आधा अंगतक दे दिया था, उन सत्पुरुषोंके प्रिय भगवान् शंकरको भी छोड़कर वे लंबी-लंबी साँस लेती हुई अपने माता-पिताके घर चल दीं॥ ३॥ सतीको बड़ी फुर्तीसे अकेली जाते देख श्रीमहादेवजीके मणिमान् एवं मद आदि हजारों सेवक भगवान्‌के वाहन वृषभराजको आगे कर तथा और भी अनेकों पार्षद और यक्षोंको साथ ले बड़ी तेजीसे निर्भयतापूर्वक उनके पीछे हो लिये॥ ४॥ उन्होंने सतीको बैलपर सवार करा दिया तथा मैना पक्षी, गेंद, दर्पण और कमल आदि खेलकी सामग्री, श्वेत छत्र, चँवर और माला आदि राजचिह्न तथा दुन्दुभि, शंख और बाँसुरी आदि गाने-बजानेके सामानोंसे सुसज्जित हो वे उनके साथ चल दिये॥ ५॥

१. प्रा० पा०—गृहात्। २. प्रा० पा०—स्वपार्षदा ये। ३. प्रा० पा०—सैनिका रुद्रकदर्प०।

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः।
मृद्दार्वयःकांचनदर्भचर्मभि-
र्निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत्॥ ६
तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः।
ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा॥ ७
सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम्।
दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती॥ ८
अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा॥ ९
जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम्।
स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान्
निगृह्य देवी जगतोऽभि[1]शृण्वतः॥ १०

श्रीदेव्युवाच

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः।
तस्मिन् सम[2]स्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत्॥ ११

तदनन्तर सती अपने समस्त सेवकोंके साथ दक्षकी यज्ञशालामें पहुँचीं। वहाँ वेदध्वनि करते हुए ब्राह्मणोंमें परस्पर होड़ लग रही थी कि सबसे ऊँचे स्वरमें कौन बोले; सब ओर ब्रह्मर्षि और देवता विराजमान थे तथा जहाँ-तहाँ मिट्टी, काठ, लोहे, सोने, डाभ और चर्मके पात्र रखे हुए थे॥ ६॥ वहाँ पहुँचनेपर पिताके द्वारा सतीकी अवहेलना हुई, यह देख यज्ञकर्ता दक्षके भयसे सतीकी माता और बहनोंके सिवा किसी भी मनुष्यने उनका कुछ भी आदर-सत्कार नहीं किया। अवश्य ही उनकी माता और बहिनें बहुत प्रसन्न हुईं और प्रेमसे गद्गद होकर उन्होंने सतीजीको आदरपूर्वक गले लगाया॥ ७॥ किन्तु सतीजीने पितासे अपमानित होनेके कारण, बहिनोंके कुशल-प्रश्नसहित प्रेमपूर्ण वार्तालाप तथा माता और मौसियोंके सम्मानपूर्वक दिये हुए उपहार और सुन्दर आसनादिको स्वीकार नहीं किया॥ ८॥

सर्वलोकेश्वरी देवी सतीका यज्ञमण्डपमें तो अनादर हुआ ही था, उन्होंने यह भी देखा कि उस यज्ञमें भगवान् शंकरके लिये कोई भाग नहीं दिया गया है और पिता दक्ष उनका बड़ा अपमान कर रहा है। इससे उन्हें बहुत क्रोध हुआ; ऐसा जान पड़ता था मानो वे अपने रोषसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देंगी॥ ९॥ दक्षको कर्ममार्गके अभ्याससे बहुत घमण्ड हो गया था। उसे शिवजीसे द्वेष करते देख जब सतीके साथ आये हुए भूत उसे मारनेको तैयार हुए तो देवी सतीने उन्हें अपने तेजसे रोक दिया और सब लोगोंको सुनाकर पिताकी निन्दा करते हुए क्रोधसे लड़खड़ाती हुई वाणीमें कहा॥ १०॥

देवी सतीने कहा—पिताजी! भगवान् शंकरसे बड़ा तो संसारमें कोई भी नहीं है। वे तो सभी देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं। उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय, अतएव उनका किसी भी प्राणीसे वैर नहीं है। वे तो सबके कारण एवं सर्वरूप हैं; आपके सिवा और ऐसा कौन है जो उनसे विरोध करेगा?॥ ११॥

१. प्रा० पा०—तो वि०। २. प्रा० पा०—विमुक्तात्मनि।

दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥ १२

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभि-
र्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्॥ १३

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसंगादघमाशु हन्ति तत्।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥ १४

यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
र्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे॥ १५

किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचै-
र्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्॥ १६

कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।

द्विजवर! आप-जैसे लोग दूसरोंके गुणोंमें भी दोष ही देखते हैं, किन्तु कोई साधुपुरुष ऐसा नहीं करते। जो लोग—दोष देखनेकी बात तो अलग रही—दूसरोंके थोड़ेसे गुणको भी बड़े रूपमें देखना चाहते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं। खेद है कि आपने ऐसे महापुरुषोंपर भी दोषारोपण ही किया॥ १२ ॥ जो दुष्ट मनुष्य इस शवरूप जडशरीरको ही आत्मा मानते हैं, वे यदि ईर्ष्यावश सर्वदा ही महापुरुषोंकी निन्दा करें तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि महापुरुष तो उनकी इस चेष्टापर कोई ध्यान नहीं देते, परन्तु उनके चरणोंकी धूलि उनके इस अपराधको न सहकर उनका तेज नष्ट कर देती है। अतः महापुरुषोंकी निन्दा-जैसा जघन्य कार्य उन दुष्ट पुरुषोंको ही शोभा देता है॥ १३ ॥ जिनका 'शिव' यह दो अक्षरोंका नाम प्रसंगवश एक बार भी मुखसे निकल जानेपर मनुष्यके समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जिनकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता, अहो! उन्हीं पवित्रकीर्ति मंगलमय भगवान् शंकरसे आप द्वेष करते हैं! अवश्य ही आप अमंगलरूप हैं॥ १४ ॥ अरे! महापुरुषोंके मन-मधुकर ब्रह्मानन्दमय रसका पान करनेकी इच्छासे जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन किया करते हैं और जिनके चरणारविन्द सकाम पुरुषोंको उनके अभीष्ट भोग भी देते हैं, उन विश्वबन्धु भगवान् शिवसे आप वैर करते हैं॥ १५ ॥

वे केवल नाममात्रके शिव हैं, उनका वेष अशिवरूप—अमंगलरूप है; इस बातको आपके सिवा दूसरे कोई देवता सम्भवतः नहीं जानते; क्योंकि जो भगवान् शिव श्मशानभूमिस्थ नरमुण्डोंकी माला, चिताकी भस्म और हड्डियाँ पहने, जटा बिखेरे, भूत-पिशाचोंके साथ श्मशानमें निवास करते हैं, उन्हींके चरणोंपरसे गिरे हुए निर्माल्यको ब्रह्मा आदि देवता अपने सिरपर धारण करते हैं॥ १६ ॥

यदि निरंकुशलोग धर्ममर्यादाकी रक्षा करनेवाले अपने पूजनीय स्वामीकी निन्दा करें तो अपनेमें उसे दण्ड देनेकी शक्ति न होनेपर कान बंद करके वहाँसे चला जाय और यदि शक्ति हो तो बलपूर्वक पकड़कर

छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥ १७
अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥ १८
न वेदवादाननुवर्तते मतिः
स्व एव लोके रमतो महामुनेः।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥ १९
कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिंगमाश्रितम्।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ॥ २०
मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिंगा अवधूतसेविताः ॥ २१
नैतेन देहेन हरे कृतागसो
देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसंगत-
स्तज्जन्म धिग् यो महतामवद्यकृत् ॥ २२
गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो
दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्ध्यहं
व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदंगजम् ॥ २३

उस बकवाद करनेवाली अमंगलरूप दुष्ट जिह्वाको काट डाले। इस पापको रोकनेके लिये स्वयं अपने प्राणतक दे दे, यही धर्म है ॥ १७ ॥ आप भगवान् नीलकण्ठकी निन्दा करनेवाले हैं, इसलिये आपसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अब मैं नहीं रख सकती; यदि भूलसे कोई निन्दित वस्तु खा ली जाय तो उसे वमन करके निकाल देनेसे ही मनुष्यकी शुद्धि बतायी जाती है ॥ १८ ॥ जो महामुनि निरन्तर अपने स्वरूपमें ही रमण करते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा वेदके विधिनिषेधमय वाक्योंका अनुसरण नहीं करती। जिस प्रकार देवता और मनुष्योंकी गतिमें भेद रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी स्थिति भी एक-सी नहीं होती। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने ही धर्ममार्गमें स्थित रहते हुए भी दूसरोंके मार्गकी निन्दा न करे ॥ १९ ॥ प्रवृत्ति (यज्ञ-यागादि) और निवृत्ति (शम-दमादि)-रूप दोनों ही प्रकारके कर्म ठीक हैं। वेदमें उनके अलग-अलग रागी और विरागी दो प्रकारके अधिकारी बताये गये हैं। परस्पर विरोधी होनेके कारण उक्त दोनों प्रकारके कर्मोंका एक साथ एक ही पुरुषके द्वारा आचरण नहीं किया जा सकता। भगवान् शंकर तो परब्रह्म परमात्मा हैं उन्हें इन दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारका कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २० ॥

पिताजी! हमारा ऐश्वर्य अव्यक्त है, आत्मज्ञानी महापुरुष ही उसका सेवन कर सकते हैं। आपके पास वह ऐश्वर्य नहीं है और यज्ञशालाओंमें यज्ञान्नसे तृप्त होकर प्राणपोषण करनेवाले कर्मठलोग उसकी प्रशंसा भी नहीं करते ॥ २१ ॥ आप भगवान् शंकरका अपराध करनेवाले हैं। अतः आपके शरीरसे उत्पन्न इस निन्दनीय देहको रखकर मुझे क्या करना है। आप-जैसे दुर्जनसे सम्बन्ध होनेके कारण मुझे लज्जा आती है। जो महापुरुषोंका अपराध करता है, उससे होनेवाले जन्मको भी धिक्कार है ॥ २२ ॥ जिस समय भगवान् शिव आपके साथ मेरा सम्बन्ध दिखलाते हुए मुझे हँसीमें 'दाक्षायणी' (दक्षकुमारी)-के नामसे पुकारेंगे, उस समय हँसीको भूलकर मुझे बड़ी ही लज्जा और खेद होगा। इसलिये उसके पहले ही मैं आपके अंगसे उत्पन्न इस शवतुल्य शरीरको त्याग दूँगी ॥ २३ ॥

मैत्रेय उवाच

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक्।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
निमील्य दृग्योगपथं समाविशत्॥ २४
कृत्वा समानावनिलौ जितासना
सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
कण्ठाद् भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत्॥ २५
एवं स्वदेहं महतां महीयसा
मुहुः समारोपितमङ्कमादरात्।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम्॥ २६
ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥ २७
तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्
हाहेति वादः सुमहानजायत।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
जहावसून् केन सती प्रकोपिता॥ २८
अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः।
जहावसून् यद्विमताऽऽत्मजा सती
मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति॥ २९
सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक् च
लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति।
यदंगजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः॥ ३०

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कामादि शत्रुओंको जीतनेवाले विदुरजी! उस यज्ञमण्डपमें दक्षसे इस प्रकार कह देवी सती मौन होकर उत्तर दिशामें भूमिपर बैठ गयीं। उन्होंने आचमन करके पीला वस्त्र ओढ़ लिया तथा आँखें मूँदकर शरीर छोड़नेके लिये वे योगमार्गमें स्थित हो गयीं॥ २४॥ उन्होंने आसनको स्थिरकर प्राणायामद्वारा प्राण और अपानको एकरूप करके नाभिचक्रमें स्थित किया; फिर उदानवायुको नाभिचक्रसे ऊपर उठाकर धीरे-धीरे बुद्धिके साथ हृदयमें स्थापित किया। इसके पश्चात् अनिन्दिता सती उस हृदयस्थित वायुको कण्ठमार्गसे भ्रुकुटियोंके बीचमें ले गयीं॥ २५॥ इस प्रकार, जिस शरीरको महापुरुषोंके भी पूजनीय भगवान् शंकरने कई बार बड़े आदरसे अपनी गोदमें बैठाया था, दक्षपर कुपित होकर उसे त्यागनेकी इच्छासे महामनस्विनी सतीने अपने सम्पूर्ण अंगोंमें वायु और अग्निकी धारणा की॥ २६॥ अपने पति जगद्गुरु भगवान् शंकरके चरण-कमल-मकरन्दका चिन्तन करते-करते सतीने और सब ध्यान भुला दिये; उन्हें उन चरणोंके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी न दिया। इससे वे सर्वथा निर्दोष, अर्थात् मैं दक्षकन्या हूँ—ऐसे अभिमानसे भी मुक्त हो गयीं और उनका शरीर तुरंत ही योगाग्निसे जल उठा॥ २७॥ उस समय वहाँ आये हुए देवता आदिने जब सतीका देहत्यागरूप यह महान् आश्चर्यमय चरित्र देखा, तब वे सभी हाहाकार करने लगे और वह भयंकर कोलाहल आकाशमें एवं पृथ्वीतलपर सभी जगह फैल गया। सब ओर यही सुनायी देता था—'हाय! दक्षके दुर्व्यवहारसे कुपित होकर देवाधिदेव महादेवकी प्रिया सतीने प्राण त्याग दिये॥ २८॥ देखो, सारे चराचर जीव इस दक्षप्रजापतिकी ही सन्तान हैं; फिर भी इसने कैसी भारी दुष्टता की है! इसकी पुत्री शुद्धहृदया सती सदा ही मान पानेके योग्य थी, किन्तु इसने उसका ऐसा निरादर किया कि उसने प्राण त्याग दिये॥ २९॥ वास्तवमें यह बड़ा ही असहिष्णु और ब्राह्मणद्रोही है। अब इसकी संसारमें बड़ी अपकीर्ति होगी। जब इसकी पुत्री सती इसीके अपराधसे प्राणत्याग करनेको तैयार हुई, तब भी इस शंकरद्रोहीने उसे रोकातक नहीं!'॥ ३०॥

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम्।
दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः॥ ३१

जिस समय सब लोग ऐसा कह रहे थे, उसी समय शिवजीके पार्षद सतीका यह अद्भुत प्राणत्याग देख, अस्त्र-शस्त्र लेकर दक्षको मारनेके लिये उठ खड़े हुए॥ ३१॥

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान् भृगुः।
यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह॥ ३२

उनके आक्रमणका वेग देखकर भगवान् भृगुने यज्ञमें विघ्न डालनेवालोंका नाश करनेके लिये '**अपहतं रक्ष**.....' इत्यादि मन्त्रका उच्चारण करते हुए दक्षिणाग्निमें आहुति दी॥ ३२॥

अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा।
ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः॥ ३३

अध्वर्यु भृगुने ज्यों ही आहुति छोड़ी कि यज्ञकुण्डसे 'ऋभु' नामके हजारों तेजस्वी देवता प्रकट हो गये। इन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे चन्द्रलोक प्राप्त किया था॥ ३३॥

तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः।
हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा॥ ३४

उन ब्रह्मतेजसम्पन्न देवताओंने जलती हुई लकड़ियोंसे आक्रमण किया, तो समस्त गुह्यक और प्रमथगण इधर-उधर भाग गये॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे सतीदेहोत्सर्गो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

वीरभद्रकृत दक्षयज्ञविध्वंस और दक्षवध

मैत्रेय उवाच

भवो भवान्या निधनं प्रजापते-
रसत्कृताया अवगम्य नारदात्।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महादेवजीने जब देवर्षि नारदके मुखसे सुना कि अपने पिता दक्षसे अपमानित होनेके कारण देवी सतीने प्राण त्याग दिये हैं और उसकी यज्ञवेदीसे प्रकट हुए ऋभुओंने उनके पार्षदोंकी सेनाको मारकर भगा दिया है, तब उन्हें बड़ा ही क्रोध हुआ॥ १॥

क्रुद्धः सुदष्टोष्ठपुटः स धूर्जटि-
र्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम्।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन्
गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि॥ २

उन्होंने उग्र रूप धारण कर क्रोधके मारे होठ चबाते हुए अपनी एक जटा उखाड़ ली—जो बिजली और आगकी लपटके समान दीप्त हो रही थी—और सहसा खड़े होकर बड़े गम्भीर अट्टहासके साथ उसे पृथ्वीपर पटक दिया॥ २॥

ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन्दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक् त्रिसूर्यदृक्।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः॥ ३

उससे तुरंत ही एक बड़ा भारी लंबा-चौड़ा पुरुष उत्पन्न हुआ। उसका शरीर इतना विशाल था कि वह स्वर्गको स्पर्श कर रहा था। उसके हजार भुजाएँ थीं। मेघके समान श्यामवर्ण था, सूर्यके समान जलते हुए तीन नेत्र थे, विकराल दाढ़ें थीं और अग्निकी ज्वालाओंके समान लाल-लाल जटाएँ थीं। उसके गलेमें नरमुण्डोंकी माला थी और हाथोंमें तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र थे॥ ३॥

तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे॥ ४
आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम्।
मेने तदाऽऽत्मानमसंगरंहसा
महीयसां तात सहः सहिष्णुम्॥ ५
अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
र्भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सुभैरवम्।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
स प्राद्रवद् घोषणभूषणाङ्घ्रिः॥ ६
अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम्।
तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः॥ ७
वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते॥ ८
प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैष तस्य।
यत्पश्यन्तीनां दुहितॄणां प्रजेशः
सुतां सतीमवदध्यावनागाम्॥ ९
यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।

जब उसने हाथ जोड़कर पूछा, 'भगवन्! मैं क्या करूँ?' तो भगवान् भूतनाथने कहा—'वीर रुद्र! तू मेरा अंश है, इसलिये मेरे पार्षदोंका अधिनायक बनकर तू तुरंत ही जा और दक्ष तथा उसके यज्ञको नष्ट कर दे'॥ ४॥

प्यारे विदुरजी! जब देवाधिदेव भगवान् शंकरने क्रोधमें भरकर ऐसी आज्ञा दी, तब वीरभद्र उनकी परिक्रमा करके चलनेको तैयार हो गये। उस समय उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे वेगका सामना करनेवाला संसारमें कोई नहीं है और मैं बड़े-से-बड़े वीरका भी वेग सहन कर सकता हूँ॥ ५॥ वे भयंकर सिंहनाद करते हुए एक अति कराल त्रिशूल हाथमें लेकर दक्षके यज्ञमण्डपकी ओर दौड़े। उनका त्रिशूल संसार-संहारक मृत्युका भी संहार करनेमें समर्थ था। भगवान् रुद्रके और भी बहुत-से सेवक गर्जना करते हुए उनके पीछे हो लिये। उस समय वीरभद्रके पैरोंके नूपुरादि आभूषण झनन-झनन बजते जाते थे॥ ६॥

इधर यज्ञशालामें बैठे हुए ऋत्विज्, यजमान, सदस्य तथा अन्य ब्राह्मण और ब्राह्मणियोंने जब उत्तर दिशाकी ओर धूल उड़ती देखी, तब वे सोचने लगे—'अरे यह अँधेरा-सा कैसे होता आ रहा है? यह धूल कहाँसे छा गयी?॥ ७॥ इस समय न तो आँधी ही चल रही है और न कहीं लुटेरे ही सुने जाते हैं; क्योंकि अपराधियोंको कठोर दण्ड देनेवाला राजा प्राचीनबर्हि अभी जीवित है। अभी गौओंके आनेका समय भी नहीं हुआ है। फिर यह धूल कहाँसे आयी? क्या इसी समय संसारका प्रलय तो नहीं होनेवाला है?'॥ ८॥ तब दक्षपत्नी प्रसूति एवं अन्य स्त्रियोंने व्याकुल होकर कहा—प्रजापति दक्षने अपनी सारी कन्याओंके सामने बेचारी निरपराधा सतीका तिरस्कार किया था; मालूम होता है यह उसी पापका फल है॥ ९॥ (अथवा हो न हो यह संहारमूर्ति भगवान् रुद्रके अनादरका ही परिणाम है।) प्रलयकाल उपस्थित होनेपर जिस समय वे अपने जटाजूटको बिखेरकर तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित अपनी भुजाओंको ध्वजाओंके

वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥ १०
अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
मन्युप्लुतं दुर्विषहं भ्रुकुट्या।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥ ११
बह्वेवमुद्विग्न दृशोच्यमाने
जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥ १२
तावत्स रुद्रानुचरैर्मखो महान्
नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः।
पिङ्गैः पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥ १३
केचिद्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥ १४
रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन्।
कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥ १५
अबाधन्त मुनीनन्य एके पत्नीरतर्जयन्।
अपरे जगृहुर्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान् ॥ १६
भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम्।
चण्डीशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् ॥ १७

समान फैलाकर ताण्डव नृत्य करते हैं, उस समय उनके त्रिशूलके फलोंसे दिग्गज बिंध जाते हैं तथा उनके मेघगर्जनके समान भयंकर अट्टहाससे दिशाएँ विदीर्ण हो जाती हैं॥ १०॥ उस समय उनका तेज असह्य होता है, वे अपनी भौंहें टेढ़ी करनेके कारण बड़े दुर्धर्ष जान पड़ते हैं और उनकी विकराल दाढ़ोंसे तारागण अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। उन क्रोधमें भरे हुए भगवान् शंकरको बार-बार कुपित करनेवाला पुरुष साक्षात् विधाता ही क्यों न हो—क्या कभी उसका कल्याण हो सकता है?॥ ११॥

जो लोग महात्मा दक्षके यज्ञमें बैठे थे, वे भयके कारण एक-दूसरेकी ओर कातर दृष्टिसे निहारते हुए ऐसी ही तरह-तरहकी बातें कर रहे थे कि इतनेमें ही आकाश और पृथ्वीमें सब ओर सहस्रों भयंकर उत्पात होने लगे॥ १२॥ विदुरजी! इसी समय दौड़कर आये हुए रुद्रसेवकोंने उस महान् यज्ञमण्डपको सब ओरसे घेर लिया। वे सब तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे। उनमें कोई बौने, कोई भूरे रंगके, कोई पीले और कोई मगरके समान पेट और मुखवाले थे॥ १३॥ उनमेंसे किन्हींने प्राग्वंश (यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके खंभोंके बीचमें आड़े रखे हुए डंडे) को तोड़ डाला, किन्हींने यज्ञशालाके पश्चिमकी ओर स्थित पत्नीशालाको नष्ट कर दिया, किन्हींने यज्ञशालाके सामनेका सभामण्डप और मण्डपके आगे उत्तरकी ओर स्थित आग्नीध्रशालाको तोड़ दिया, किन्हींने यजमानगृह और पाकशालाको तहस-नहस कर डाला॥ १४॥

किन्हींने यज्ञके पात्र फोड़ दिये, किन्हींने अग्नियोंको बुझा दिया, किन्हींने यज्ञकुण्डोंमें पेशाब कर दिया और किन्हींने वेदीकी सीमाके सूत्रोंको तोड़ डाला॥ १५॥ कोई-कोई मुनियोंको तंग करने लगे, कोई स्त्रियोंको डराने-धमकाने लगे और किन्हींने अपने पास होकर भागते हुए देवताओंको पकड़ लिया॥ १६॥ मणिमान्ने भृगु ऋषिको बाँध लिया, वीरभद्रने प्रजापति दक्षको कैद कर लिया तथा चण्डीशने पूषाको और नन्दीश्वरने भग देवताको पकड़ लिया॥ १७॥

सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः।
तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाद्रवन्॥ १८

जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः।
भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसच्छ्मश्रु दर्शयन्॥ १९

भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि।
उज्जहार सदस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत्[1]॥ २०

पूष्णश्चापातयद्दन्तान् कालिंगस्य यथा बलः।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः॥ २१

आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना।
छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत् त्र्यम्बकस्तदा॥ २२

शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेवमनिर्भिन्नत्वचं हरः।
विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम्॥ २३

दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे।
यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः॥ २४

साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य शंसताम्।
भूतप्रेतपिशाचानामन्येषां तद्विपर्ययः॥ २५

जुहावैतच्छिरस्तस्मिन्दक्षिणाग्नावमर्षितः।
तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद् गुह्यकालयम्॥ २६

भगवान् शंकरके पार्षदोंकी यह भयंकर लीला देखकर तथा उनके कंकड़-पत्थरोंकी मारसे बहुत तंग आकर वहाँ जितने ऋत्विज्, सदस्य और देवतालोग थे, सब-के-सब जहाँ-तहाँ भाग गये॥ १८॥ भृगुजी हाथमें स्रुवा लिये हवन कर रहे थे। वीरभद्रने इनकी दाढ़ी-मूँछ नोच लीं; क्योंकि इन्होंने प्रजापतियोंकी सभामें मूँछें ऐंठते हुए महादेवजीका उपहास किया था॥ १९॥ उन्होंने क्रोधमें भरकर भगदेवताको पृथ्वीपर पटक दिया और उनकी आँखें निकाल लीं; क्योंकि जब दक्ष देवसभामें श्रीमहादेवजीको बुरा-भला कहते हुए शाप दे रहे थे, उस समय इन्होंने दक्षको सैन देकर उकसाया था॥ २०॥ इसके पश्चात् जैसे अनिरुद्धके विवाहके समय बलरामजीने कलिंगराजके दाँत उखाड़े थे, उसी प्रकार उन्होंने पूषाके दाँत तोड़ दिये; क्योंकि जब दक्षने महादेवजीको गालियाँ दी थीं, उस समय ये दाँत दिखाकर हँसे थे॥ २१॥ फिर वे दक्षकी छातीपर बैठकर एक तेज तलवारसे उसका सिर काटने लगे, परन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी वे उस समय उसे धड़से अलग न कर सके॥ २२॥ जब किसी भी प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे दक्षकी त्वचा नहीं कटी, तब वीरभद्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बहुत देरतक विचार करते रहे॥ २३॥ तब उन्होंने यज्ञमण्डपमें यज्ञपशुओंको जिस प्रकार मारा जाता था, उसे देखकर उसी प्रकार दक्षरूप उस यजमान पशुका सिर धड़से अलग कर दिया॥ २४॥ यह देखकर भूत, प्रेत और पिशाचादि तो उनके इस कर्मकी प्रशंसा करते हुए 'वाह-वाह' करने लगे और दक्षके दलवालोंमें हाहाकार मच गया॥ २५॥ वीरभद्रने अत्यन्त कुपित होकर दक्षके सिरको यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया और उस यज्ञशालामें आग लगाकर यज्ञको विध्वंस करके वे कैलासपर्वतको लौट गये॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
दक्षयज्ञविध्वंसो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

१. प्रा० पा०—मसूचयत्।

अथ षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मादि देवताओंका कैलास जाकर श्रीमहादेवजीको मनाना

मैत्रेय उवाच

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्‍गरैः ॥ १
संछिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन्॥ २
उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः॥ ३
तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम्॥ ४
अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम्॥ ५
आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन्।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः॥ ६
नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम्।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
य स्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत्॥ ७
स इत्थमादिश्य सुरानजस्तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः॥ ८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार जब रुद्रके सेवकोंने समस्त देवताओंको हरा दिया और उनके सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग भूत-प्रेतोंके त्रिशूल, पट्टिश, खड्ग, गदा, परिघ और मुद्‍गर आदि आयुधोंसे छिन्न-भिन्न हो गये तब वे ऋत्विज् और सदस्योंके सहित बहुत ही डरकर ब्रह्माजीके पास पहुँचे और प्रणाम करके उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १-२॥ भगवान् ब्रह्माजी और सर्वान्तर्यामी श्रीनारायण पहलेसे ही इस भावी उत्पातको जानते थे, इसीसे वे दक्षके यज्ञमें नहीं गये थे ॥ ३॥ अब देवताओंके मुखसे वहाँकी सारी बात सुनकर उन्होंने कहा, 'देवताओ! परम समर्थ तेजस्वी पुरुषसे कोई दोष भी बन जाय तो भी उसके बदलेमें अपराध करनेवाले मनुष्योंका भला नहीं हो सकता॥ ४॥ फिर तुमलोगोंने तो यज्ञमें भगवान् शंकरका प्राप्य भाग न देकर उनका बड़ा भारी अपराध किया है। परन्तु शंकरजी बहुत शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं, इसलिये तुमलोग शुद्ध हृदयसे उनके पैर पकड़कर उन्हें प्रसन्न करो—उनसे क्षमा माँगो॥ ५॥ दक्षके दुर्वचनरूपी बाणोंसे उनका हृदय तो पहलेसे ही बिंध रहा था, उसपर उनकी प्रिया सतीजीका वियोग हो गया। इसलिये यदि तुमलोग चाहते हो कि वह यज्ञ फिरसे आरम्भ होकर पूर्ण हो, तो पहले जल्दी जाकर उनसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा माँगो। नहीं तो उनके कुपित होनेपर लोकपालोंके सहित इन समस्त लोकोंका भी बचना असम्भव है॥ ६॥ भगवान् रुद्र परम स्वतन्त्र हैं, उनके तत्त्व और शक्ति-सामर्थ्यको न तो कोई ऋषि-मुनि, देवता और यज्ञ-स्वरूप देवराज इन्द्र ही जानते हैं और न स्वयं मैं ही जानता हूँ; फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है। ऐसी अवस्थामें उन्हें शान्त करनेका उपाय कौन कर सकता है॥ ७॥

देवताओंसे इस प्रकार कहकर ब्रह्माजी उनको, प्रजापतियोंको और पितरोंको साथ ले अपने लोकसे पर्वतश्रेष्ठ कैलासको गये, जो भगवान् शंकरका प्रिय धाम है॥ ८॥

जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः ।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा॥ ९
नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः ॥ १०
नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः ।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम्॥ ११
मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम्।
प्लाविते रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्रिणाम्॥ १२
आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान् कामदुघैर्द्रुमैः।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः॥ १३
मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम्।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः॥ १४
चूतैः कदम्बैर्नीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि॥ १५
स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वररेणुकजातिभिः।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम्॥ १६
पनसोदुम्बराश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधहिंगुभिः ।
भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभिः॥ १७
खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेंगुदैः।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः॥ १८
कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रवनर्द्धिभिः ।
नलिनीषु कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम्॥ १९

उस कैलासपर ओषधि, तप, मन्त्र तथा योग आदि उपायोंसे सिद्धिको प्राप्त हुए और जन्मसे ही सिद्ध देवता नित्य निवास करते हैं; किन्नर, गन्धर्व और अप्सरादि सदा वहाँ बने रहते हैं॥ ९॥ उसके मणिमय शिखर हैं, जो नाना प्रकारकी धातुओंसे रंग-बिरंगे प्रतीत होते हैं। उसपर अनेक प्रकारके वृक्ष, लता और गुल्मादि छाये हुए हैं, जिनमें झुंड-के-झुंड जंगली पशु विचरते रहते हैं॥ १०॥ वहाँ निर्मल जलके अनेकों झरने बहते हैं और बहुत-सी गहरी कन्दरा और ऊँचे शिखरोंके कारण वह पर्वत अपने प्रियतमोंके साथ विहार करती हुई सिद्धपत्नियोंका क्रीडा-स्थल बना हुआ है॥ ११॥ वह सब ओर मोरोंके शोर, मदान्ध भ्रमरोंके गुंजार, कोयलोंकी कुहू-कुहू ध्वनि तथा अन्यान्य पक्षियोंके कलरवसे गूँज रहा है॥ १२॥ उसके कल्पवृक्ष अपनी ऊँची-ऊँची डालियोंको हिला-हिलाकर मानो पक्षियोंको बुलाते रहते हैं। तथा हाथियोंके चलने-फिरनेके कारण वह कैलास स्वयं चलता हुआ-सा और झरनोंकी कलकल-ध्वनिसे बातचीत करता हुआ-सा जान पड़ता है॥ १३॥

मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताड़, कचनार, असन और अर्जुनके वृक्षोंसे वह पर्वत बड़ा ही सुहावना जान पड़ता है॥ १४॥ आम, कदम्ब, नीप, नाग, पुन्नाग, चम्पा, गुलाब, अशोक, मौलसिरी, कुन्द, कुरबक, सुनहरे शतपत्र कमल, इलायची और मालतीकी मनोहर लताएँ तथा कुब्जक, मोगरा और माधवीकी बेलें भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं॥ १५-१६॥ कटहल, गूलर, पीपल, पाकर, बड़, गूगल, भोजवृक्ष, ओषध जातिके पेड़ (केले आदि, जो फल आनेके बाद काट दिये जाते हैं), सुपारी, राजपूग, जामुन, खजूर, आमड़ा, आम, पियाल, महुआ और लिसौड़ा आदि विभिन्न प्रकारके वृक्षों तथा पोले और ठोस बाँसके झुरमुटोंसे वह पर्वत बड़ा ही मनोहर मालूम होता है॥ १७-१८॥ उसके सरोवरोंमें कुमुद, उत्पल, कल्हार और शतपत्र आदि अनेक जातिके कमल खिले रहते हैं। उनकी शोभासे मुग्ध होकर कलरव करते हुए झुंड-के-झुंड पक्षियोंसे वह बड़ा ही भला लगता है॥ १९॥

मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रैर्ऋक्षशल्यकैः[१]।
गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः॥ २०

कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं[२] वृकनाभिभिः।
कदलीखण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम्॥ २१

पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया।
विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः॥ २२

वहाँ जहाँ-तहाँ हरिन, वानर, सूअर, सिंह, रीछ, साही, नीलगाय, शरभ, बाघ, कृष्णमृग, भैंसे, कर्णान्त्र, एकपद, अश्वमुख, भेड़िये और कस्तूरी-मृग घूमते रहते हैं तथा वहाँके सरोवरोंके तट केलोंकी पंक्तियोंसे घिरे होनेके कारण बड़ी शोभा पाते हैं। उसके चारों ओर नन्दा नामकी नदी बहती है, जिसका पवित्र जल देवी सतीके स्नान करनेसे और भी पवित्र एवं सुगन्धित हो गया है। भगवान् भूतनाथके निवासस्थान उस कैलासपर्वतकी ऐसी रमणीयता देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ २०—२२॥

ददृशुस्तत्र[३] ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम्।
वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम्॥ २३

नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः।
तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने॥ २४

ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः।
क्रीडन्ति पुंसः सिंचन्त्यो विगाह्य रतिकर्शिताः[४]॥ २५

ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कुमपिंजरम्।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः॥ २६

वहाँ उन्होंने अलका नामकी एक सुरम्य पुरी और सौगन्धिक वन देखा, जिसमें सर्वत्र सुगन्ध फैलानेवाले सौगन्धिक नामके कमल खिले हुए थे॥ २३॥ उस नगरके बाहरकी ओर नन्दा और अलकनन्दा नामकी दो नदियाँ हैं; वे तीर्थपाद श्रीहरिकी चरण-रजके संयोगसे अत्यन्त पवित्र हो गयी हैं॥ २४॥ विदुरजी! उन नदियोंमें रतिविलाससे थकी हुई देवांगनाएँ अपने-अपने निवासस्थानसे आकर जलक्रीडा करती हैं और उसमें प्रवेशकर अपने प्रियतमोंपर जल उलीचती हैं॥ २५॥ स्नानके समय उनका तुरंतका लगाया हुआ कुचकुंकुम धुल जानेसे जल पीला हो जाता है। उस कुंकुममिश्रित जलको हाथी प्यास न होनेपर भी गन्धके लोभसे स्वयं पीते और अपनी हथिनियोंको पिलाते हैं॥ २६॥

तारहेममहारत्नविमानशतसंकुलाम्।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम्॥ २७

हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत्।
द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं[५] चित्रमाल्यफलच्छदैः॥ २८

अलकापुरीपर चाँदी, सोने और बहुमूल्य मणियोंके सैकड़ों विमान छाये हुए थे, जिनमें अनेकों यक्षपत्नियाँ निवास करती थीं। इनके कारण वह विशाल नगरी बिजली और बादलोंसे छाये हुए आकाशके समान जान पड़ती थी॥ २७॥ यक्षराज कुबेरकी राजधानी उस अलकापुरीको पीछे छोड़कर देवगण सौगन्धिक वनमें आये। वह वन रंग-बिरंगे फल, फूल और पत्तोंवाले अनेकों कल्पवृक्षोंसे सुशोभित था॥ २८॥

१. प्रा० पा०—शल्ल०। २. प्रा० पा०—कल्लोलूषपदैश्चान्यैर्निर्विष्टं मृगनाभिभिः। ३. प्रा० पा०—तस्य ते। ४. प्रा० पा०—रतितर्षिताः। ५. प्रा० पा०—दुघैर्जुष्टं।

रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम्।
कलहंसकुलप्रेष्ठं खरदण्डजलाशयम्॥ २९

वनकुञ्जरसंघृष्टहरिचन्दनवायुना ।
अधिपुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्मनः॥ ३०

वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः।
प्राप्तं किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम्॥ ३१

स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः।
पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः॥ ३२

तस्मिन्महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः।
ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम्॥ ३३

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम्।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम्॥ ३४

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम्।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमंगलम्॥ ३५

लिंगं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम्।
अंगेन संध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम्॥ ३६

उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम्।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम्॥ ३७

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया॥ ३८

उसमें कोकिल आदि पक्षियोंका कलरव और भौंरोंका गुंजार हो रहा था तथा राजहंसोंके परमप्रिय कमलकुसुमोंसे सुशोभित अनेकों सरोवर थे॥ २९॥ वह वन जंगली हाथियोंके शरीरकी रगड़ लगनेसे घिसे हुए हरिचन्दन वृक्षोंका स्पर्श करके चलनेवाली सुगन्धित वायुके द्वारा यक्षपत्नियोंके मनको विशेषरूपसे मथे डालता था॥ ३०॥ बावलियोंकी सीढ़ियाँ वैदूर्य-मणिकी बनी हुई थीं। उनमें बहुत-से कमल खिले रहते थे। वहाँ अनेकों किम्पुरुष जी बहलानेके लिये आये हुए थे। इस प्रकार उस वनकी शोभा निहारते जब देवगण कुछ आगे बढ़े, तब उन्हें पास ही एक वटवृक्ष दिखलायी दिया॥ ३१॥

वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा था तथा उसकी शाखाएँ पचहत्तर योजनतक फैली हुई थीं। उसके चारों ओर सर्वदा अविचल छाया बनी रहती थी, इसलिये घामका कष्ट कभी नहीं होता था; तथा उसमें कोई घोंसला भी न था॥ ३२॥

उस महायोगमय और मुमुक्षुओंके आश्रयभूत वृक्षके नीचे देवताओंने भगवान् शंकरको विराजमान देखा। वे साक्षात् क्रोधहीन कालके समान जान पड़ते थे॥ ३३॥ भगवान् भूतनाथका श्रीअंग बड़ा ही शान्त था। सनन्दनादि शान्त सिद्धगण और सखा—यक्ष-राक्षसोंके स्वामी कुबेर उनकी सेवा कर रहे थे॥ ३४॥ जगत्पति महादेवजी सारे संसारके सुहृद् हैं, स्नेहवश सबका कल्याण करनेवाले हैं; वे लोकहितके लिये ही उपासना, चित्तकी एकाग्रता और समाधि आदि साधनोंका आचरण करते रहते हैं॥ ३५॥ सन्ध्याकालीन मेघकी-सी कान्तिवाले शरीरपर वे तपस्वियोंके अभीष्ट चिह्न—भस्म, दण्ड, जटा और मृगचर्म एवं मस्तकपर चन्द्रकला धारण किये हुए थे॥ ३६॥ वे एक कुशासनपर बैठे थे और अनेकों साधु श्रोताओंके बीचमें श्रीनारदजीके पूछनेसे सनातन ब्रह्मका उपदेश कर रहे थे॥ ३७॥ उनका बायाँ चरण दायीं जाँघपर रखा था। वे बायाँ हाथ बायें घुटनेपर रखे, कलाईमें रुद्राक्षकी माला डाले तर्कमुद्रासे* विराजमान थे॥ ३८॥

* तर्जनीको अँगूठेसे जोड़कर अन्य अँगुलियोंको आपसमें मिलाकर फैला देनेसे जो बन्ध सिद्ध होता है, उसे 'तर्कमुद्रा' कहते हैं। इसका नाम ज्ञानमुद्रा भी है।

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम्।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्रांजलयः प्रणेमुः॥ ३९
स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-
मर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः॥ ४०
तथापरे सिद्धगणा महर्षिभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम्।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः॥ ४१

ब्रह्मोवाच

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्॥ ४२
त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा॥ ४३
त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम्।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान्ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः॥ ४४
त्वं कर्मणां मंगल मंगलानां
कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा।
अमंगलानां च तमिस्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित्॥ ४५
न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम्॥ ४६

वे योगपट्ट (काठकी बनी हुई टेकनी)-का सहारा लिये एकाग्रचित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे। लोकपालोंके सहित समस्त मुनियोंने मननशीलोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् शंकरको हाथ जोड़कर प्रणाम किया॥ ३९॥ यद्यपि समस्त देवता और दैत्योंके अधिपति भी श्रीमहादेवजीके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं, तथापि वे श्रीब्रह्माजीको अपने स्थानपर आया देख तुरंत खड़े हो गये और जैसे वामनावतारमें परमपूज्य विष्णुभगवान् कश्यपजीकी वन्दना करते हैं, उसी प्रकार सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ ४०॥ इसी प्रकार शंकरजीके चारों ओर जो महर्षियोंसहित अन्यान्य सिद्धगण बैठे थे, उन्होंने भी ब्रह्माजीको प्रणाम किया। सबके नमस्कार कर चुकनेपर ब्रह्माजीने चन्द्रमौलि भगवान्‌से, जो अबतक प्रणामकी मुद्रामें ही खड़े थे, हँसते हुए कहा॥ ४१॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—देव! मैं जानता हूँ, आप सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी हैं; क्योंकि विश्वकी योनि शक्ति (प्रकृति) और उसके बीज शिव (पुरुष)-से परे जो एकरस परब्रह्म है, वह आप ही हैं॥ ४२॥ भगवन्! आप मकड़ीके समान ही अपने स्वरूपभूत शिव-शक्तिके रूपमें क्रीडा करते हुए लीलासे ही संसारकी रचना, पालन और संहार करते रहते हैं॥ ४३॥ आपने ही धर्म और अर्थकी प्राप्ति करानेवाले वेदकी रक्षाके लिये दक्षको निमित्त बनाकर यज्ञको प्रकट किया है। आपकी ही बाँधी हुई ये वर्णाश्रमकी मर्यादाएँ हैं, जिनका नियमनिष्ठ ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं॥ ४४॥ मंगलमय महेश्वर! आप शुभ कर्म करनेवालोंको स्वर्गलोक अथवा मोक्षपद प्रदान करते हैं तथा पापकर्म करनेवालोंको घोर नरकोंमें डालते हैं। फिर भी किसी-किसी व्यक्तिके लिये इन कर्मोंका फल उलटा कैसे हो जाता है?॥ ४५॥

जो महानुभाव आपके चरणोंमें अपनेको समर्पित कर देते हैं, जो समस्त प्राणियोंमें आपकी ही झाँकी करते हैं और समस्त जीवोंको अभेददृष्टिसे आत्मामें ही देखते हैं, वे पशुओंके समान प्रायः क्रोधके अधीन नहीं होते॥ ४६॥

पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदा-
स्तान्मा वधीद्दैववधान् भवद्विधः॥ ४७
यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम्॥ ४८
भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक्।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेत-
स्स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो॥ ४९
कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भो-
स्त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः
कुयज्विनो येन मखो निनीयते॥ ५०
जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत्॥ ५१
देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम्॥ ५२
एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन्॥ ५३

जो लोग भेदबुद्धि होनेके कारण कर्मोंमें ही आसक्त हैं, जिनकी नीयत अच्छी नहीं है, दूसरोंकी उन्नति देखकर जिनका चित्त रात-दिन कुढ़ा करता है और जो मर्मभेदी अज्ञानी अपने दुर्वचनोंसे दूसरोंका चित्त दुखाया करते हैं, आप-जैसे महापुरुषोंके लिये उन्हें भी मारना उचित नहीं है; क्योंकि वे बेचारे तो विधाताके ही मारे हुए हैं॥ ४७॥ देवदेव! भगवान् कमलनाभकी प्रबल मायासे मोहित हो जानेके कारण यदि किसी पुरुषकी कभी किसी स्थानमें भेदबुद्धि होती है, तो भी साधु पुरुष अपने परदुःखकातर स्वभावके कारण उसपर कृपा ही करते हैं; दैववश जो कुछ हो जाता है, वे उसे रोकनेका प्रयत्न नहीं करते॥ ४८॥

प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं, परम पुरुष भगवान्की दुस्तर मायाने आपकी बुद्धिका स्पर्श भी नहीं किया है। अतः जिनका चित्त उसके वशीभूत होकर कर्ममार्गमें आसक्त हो रहा है, उनके द्वारा अपराध बन जाय, तो भी उनपर आपको कृपा ही करनी चाहिये॥ ४९॥

भगवन्! आप सबके मूल हैं। आप ही सम्पूर्ण यज्ञोंको पूर्ण करनेवाले हैं। यज्ञभाग पानेका भी आपको पूरा अधिकार है। फिर भी इस दक्षयज्ञके बुद्धिहीन याजकोंने आपको यज्ञभाग नहीं दिया। इसीसे यह आपके द्वारा विध्वस्त हुआ। अब आप इस अपूर्ण यज्ञका पुनरुद्धार करनेकी कृपा करें॥ ५०॥ प्रभो! ऐसा कीजिये, जिससे यजमान दक्ष फिर जी उठे, भगदेवताको नेत्र मिल जायँ, भृगुजीके दाढ़ी-मूँछ आ जायँ और पूषाके पहलेके ही समान दाँत निकल आयें॥ ५१॥ रुद्रदेव! अस्त्र-शस्त्र और पत्थरोंकी बौछारसे जिन देवता और ऋत्विजोंके अंग-प्रत्यंग घायल हो गये हैं, आपकी कृपासे वे फिर ठीक हो जायँ॥ ५२॥ यज्ञ सम्पूर्ण होनेपर जो कुछ शेष रहे, वह सब आपका भाग होगा। यज्ञविध्वंसक! आज यह यज्ञ आपके ही भागसे पूर्ण हो॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
रुद्रसान्त्वनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

दक्षयज्ञकी पूर्ति

मैत्रेय उवाच

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति॥ १

श्रीमहादेव उवाच

नाघं प्रजेश[1] बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र[2] धृतो मया॥ २

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः॥ ३

पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु[3] पिष्टभुक्।
देवाः प्रकृतसर्वांगा ये म उच्छेषणं ददुः॥ ४

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत्॥ ५

मैत्रेय उवाच

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम्।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन्॥ ६

ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः॥ ७

विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यदाह भगवान् भवः।
संदधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः॥ ८

संधीयमाने शिरसि[4] दक्षो रुद्राभिवीक्षितः।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम्॥ ९

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः।
शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः॥ १०

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाबाहो विदुरजी! ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् शंकरने प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए कहा—सुनिये॥ १॥

श्रीमहादेवजीने कहा—'प्रजापते! भगवान्‌की मायासे मोहित हुए दक्ष-जैसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही। मैंने तो केवल सावधान करनेके लिये ही उन्हें थोड़ा-सा दण्ड दे दिया॥ २॥ दक्षप्रजापतिका सिर जल गया है, इसलिये उनके बकरेका सिर लगा दिया जाय; भगदेव मित्रदेवताके नेत्रोंसे अपना यज्ञभाग देखें॥ ३॥ पूषा पिसा हुआ अन्न खानेवाले हैं, वे उसे यजमानके दाँतोंसे भक्षण करें तथा अन्य सब देवताओंके अंग-प्रत्यंग भी स्वस्थ हो जायँ; क्योंकि उन्होंने यज्ञसे बचे हुए पदार्थोंको मेरा भाग निश्चित किया है॥ ४॥ अध्वर्यु आदि याज्ञिकोंमेंसे जिनकी भुजाएँ टूट गयी हैं वे अश्विनीकुमारकी भुजाओंसे और जिनके हाथ नष्ट हो गये हैं वे पूषाके हाथोंसे काम करें तथा भृगुजीके बकरेकी-सी दाढ़ी-मूँछ हो जाय'॥ ५॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—वत्स विदुर! तब भगवान् शंकरके वचन सुनकर सब लोग प्रसन्न चित्तसे 'धन्य! धन्य!' कहने लगे॥ ६॥ फिर सभी देवता और ऋषियोंने महादेवजीसे दक्षकी यज्ञशालामें पधारनेकी प्रार्थना की और तब वे उन्हें तथा ब्रह्माजीको साथ लेकर वहाँ गये॥ ७॥ वहाँ जैसा-जैसा भगवान् शंकरने कहा था, उसी प्रकार सब कार्य करके उन्होंने दक्षकी धड़से यज्ञपशुका सिर जोड़ दिया॥ ८॥ सिर जुड़ जानेपर रुद्रदेवकी दृष्टि पड़ते ही दक्ष तत्काल सोकर जागनेके समान जी उठे और अपने सामने भगवान् शिवको देखा॥ ९॥ दक्षका शंकरद्रोहकी कालिमासे कलुषित हृदय उनका दर्शन करनेसे शरत्कालीन सरोवरके समान स्वच्छ हो गया॥ १०॥

---

१. प्रा० पा०—परेश। २. प्रा० पा०—दण्डस्तु विधृतो। ३. प्रा० पा०—जक्षिति। ४. प्रा० पा०—शीर्ष्णीह।

भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः।
औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया सम्परेतां सुतां स्मरन्॥ ११
कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः॥ १२

दक्ष उवाच

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु॥ १३
विद्यातपोव्रतधरान् मुखतः स्म विप्रान्
ब्रह्माऽऽत्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक्।
तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः॥ १४
योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैरगणय्य तन्माम्।
अर्वाक् पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्
दृष्ट्याऽऽर्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत्॥ १५

मैत्रेय उवाच

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः॥ १६
वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः।
पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये॥ १७
अध्वर्युणाऽऽत्तहविषा यजमानो विशाम्पते।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः॥ १८

उन्होंने महादेवजीकी स्तुति करनी चाही, किन्तु अपनी मरी हुई बेटी सतीका स्मरण हो आनेसे स्नेह और उत्कण्ठाके कारण उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उनके मुखसे शब्द न निकल सका॥ ११॥ प्रेमसे विह्वल, परम बुद्धिमान् प्रजापतिने जैसे-तैसे अपने हृदयके आवेगको रोककर विशुद्धभावसे भगवान् शिवकी स्तुति करनी आरम्भ की॥ १२॥

दक्षने कहा— भगवन्! मैंने आपका अपराध किया था, किन्तु आपने उसके बदलेमें मुझे दण्डके द्वारा शिक्षा देकर बड़ा ही अनुग्रह किया है। अहो! आप और श्रीहरि तो आचारहीन, नाममात्रके ब्राह्मणोंकी भी उपेक्षा नहीं करते—फिर हम-जैसे यज्ञ-यागादि करनेवालोंको क्यों भूलेंगे॥ १३॥ विभो! आपने ब्रह्मा होकर सबसे पहले आत्मतत्त्वकी रक्षाके लिये अपने मुखसे विद्या, तप और व्रतादिके धारण करनेवाले ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था। जैसे चरवाहा लाठी लेकर गौओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप उन ब्राह्मणोंकी सब विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं॥ १४॥ मैं आपके तत्त्वको नहीं जानता था, इसीसे मैंने भरी सभामें आपको अपने वाग्बाणोंसे बेधा था। किन्तु आपने मेरे उस अपराधका कोई विचार नहीं किया। मैं तो आप-जैसे पूज्यतम महानुभावोंका अपराध करनेके कारण नरकादि नीच लोकोंमें गिरनेवाला था, परन्तु आपने अपनी करुणाभरी दृष्टिसे मुझे उबार लिया। अब भी आपको प्रसन्न करनेयोग्य मुझमें कोई गुण नहीं है; बस, आप अपने ही उदारतापूर्ण बर्तावसे मुझपर प्रसन्न हों॥ १५॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं— आशुतोष शंकरसे इस प्रकार अपना अपराध क्षमा कराकर दक्षने ब्रह्माजीके कहनेपर उपाध्याय, ऋत्विज् आदिकी सहायतासे यज्ञकार्य आरम्भ किया॥ १६॥ तब ब्राह्मणोंने यज्ञ सम्पन्न करनेके उद्देश्यसे रुद्रगण-सम्बन्धी भूत-पिशाचोंके संसर्गजनित दोषकी शान्तिके लिये तीन पात्रोंमें विष्णुभगवान्‌के लिये तैयार किये हुए पुरोडाश नामक चरुका हवन किया॥ १७॥ विदुरजी! उस हविको हाथमें लेकर खड़े हुए अध्वर्युके साथ यजमान दक्षने ज्यों ही विशुद्ध चित्तसे श्रीहरिका ध्यान किया, त्यों ही सहसा भगवान् वहाँ प्रकट हो गये॥ १८॥

तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना॥ १९

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः।
कम्ब्वब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-
व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः॥ २०

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-
हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम्।
पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः
श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः॥ २१

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः।
प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः॥ २२

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः।
मूर्ध्ना धृतांजलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम्॥ २३

अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः।
यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम्॥ २४

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं
यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम्।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा
गृणन् प्रपेदे प्रयतः कृतांजलिः॥ २५

'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नामक साम-स्तोत्र जिनके पंख हैं, उन गरुडजीके द्वारा समीप लाये हुए भगवान्‌ने दसों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई अपनी अंगकान्तिसे सब देवताओंका तेज हर लिया—उनके सामने सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी॥ १९॥ उनका श्याम वर्ण था, कमरमें सुवर्णकी करधनी तथा पीताम्बर सुशोभित थे। सिरपर सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुट था, मुखकमल भौंरोंके समान नीली अलकावली और कान्तिमय कुण्डलोंसे शोभायमान था, उनके सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित आठ भुजाएँ थीं, जो भक्तोंकी रक्षाके लिये सदा उद्यत रहती हैं। आठों भुजाओंमें वे शंख, पद्म, चक्र, बाण, धनुष, गदा, खड्ग और ढाल लिये हुए थे तथा इन सब आयुधोंके कारण वे फूले हुए कनेरके वृक्षके समान जान पड़ते थे॥ २०॥ प्रभुके हृदयमें श्रीवत्सका चिह्न था और सुन्दर वनमाला सुशोभित थी। वे अपने उदार हास और लीलामय कटाक्षसे सारे संसारको आनन्दमग्न कर रहे थे। पार्षदगण दोनों ओर राजहंसके समान सफेद पंखे और चँवर डुला रहे थे। भगवान्‌के मस्तकपर चन्द्रमाके समान शुभ्र छत्र शोभा दे रहा था॥ २१॥

भगवान् पधारे हैं—यह देखकर इन्द्र, ब्रह्मा और महादेवजी आदि देवेश्वरोंसहित समस्त देवता, गन्धर्व और ऋषि आदिने सहसा खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया॥ २२॥ उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी, जिह्वा लड़खड़ाने लगी, वे सब-के-सब सकपका गये और मस्तकपर अंजलि बाँधकर भगवान्‌के सामने खड़े हो गये॥ २३॥ यद्यपि भगवान्‌की महिमातक ब्रह्मा आदिकी मति भी नहीं पहुँच पाती, तो भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये दिव्यरूपमें प्रकट हुए श्रीहरिकी वे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करने लगे॥ २४॥ सबसे पहले प्रजापति दक्ष एक उत्तम पात्रमें पूजाकी सामग्री ले नन्द-सुनन्दादि पार्षदोंसे घिरे हुए, प्रजापतियोंके परमगुरु भगवान् यज्ञेश्वरके पास गये और अति आनन्दित हो विनीतभावसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करते प्रभुके शरणापन्न हुए॥ २५॥

दक्ष उवाच

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम्।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या-
मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः॥ २६

ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्
कर्मण्यवग्रहधियो भगवन्विदामः।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदोव्यवस्थाः॥ २७

सदस्या ऊचुः

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः
पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः॥ २८

रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण॥ २९

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः।
नात्मन् श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः॥ ३०

दक्षने कहा—भगवन्! अपने स्वरूपमें आप बुद्धिकी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंसे रहित, शुद्ध, चिन्मय, भेदरहित, अतएव निर्भय हैं। आप मायाका तिरस्कार करके स्वतन्त्ररूपसे विराजमान हैं; तथापि जब मायासे ही जीवभावको स्वीकारकर उसी मायामें स्थित हो जाते हैं, तब अज्ञानी-से दीखने लगते हैं॥ २६॥

ऋत्विजोंने कहा—उपाधिरहित प्रभो! भगवान् रुद्रके प्रधान अनुचर नन्दीश्वरके शापके कारण हमारी बुद्धि केवल कर्मकाण्डमें ही फँसी हुई है, अतएव हम आपके तत्त्वको नहीं जानते। जिसके लिये 'इस कर्मका यही देवता है' ऐसी व्यवस्था की गयी है—उस धर्मप्रवृत्तिके प्रयोजक, वेदत्रयीसे प्रतिपादित यज्ञको ही हम आपका स्वरूप समझते हैं॥ २७॥

सदस्योंने कहा—जीवोंको आश्रय देनेवाले प्रभो! जो अनेक प्रकारके क्लेशोंके कारण अत्यन्त दुर्गम है, जिसमें कालरूप भयंकर सर्प ताकमें बैठा हुआ है, द्वन्द्वरूप अनेकों गढ़े हैं, दुर्जनरूप जंगली जीवोंका भय है तथा शोकरूप दावानल धधक रहा है—ऐसे, विश्राम-स्थलसे रहित संसारमार्गमें जो अज्ञानी जीव कामनाओंसे पीड़ित होकर विषयरूप मृगतृष्णाजलके लिये ही देह-गेहका भारी बोझा सिरपर लिये जा रहे हैं, वे भला आपके चरणकमलोंकी शरणमें कब आने लगे॥ २८॥

रुद्रने कहा—वरदायक प्रभो! आपके उत्तम चरण इस संसारमें सकाम पुरुषोंको सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाले हैं; और जिन्हें किसी भी वस्तुकी कामना नहीं है, वे निष्काम मुनिजन भी उनका आदरपूर्वक पूजन करते हैं। उनमें चित्त लगा रहनेके कारण यदि अज्ञानी लोग मुझे आचार भ्रष्ट कहते हैं, तो कहें; आपके परम अनुग्रहसे मैं उनके कहने-सुननेका कोई विचार नहीं करता॥ २९॥

भृगुजीने कहा—आपकी गहन मायासे आत्मज्ञान लुप्त हो जानेके कारण जो अज्ञान-निद्रामें सोये हुए हैं, वे ब्रह्मादि देहधारी आत्मज्ञानमें उपयोगी आपके तत्त्वको अभीतक नहीं जान सके। ऐसे होनेपर भी आप अपने शरणागत भक्तोंके तो आत्मा और सुहृद् हैं; अतः आप मुझपर प्रसन्न होइये॥ ३०॥

ब्रह्मोवाच

नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-
भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत्।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद् व्यतिरिक्तो यतस्त्वम्॥ ३१

इन्द्र उवाच

इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम्।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥ ३२

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात्।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं
यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि॥ ३३

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन् विचेष्टितं
यदात्मनाऽऽचरसि हि कर्म नाज्यसे।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान्॥ ३४

सिद्धा ऊचुः

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः॥ ३५

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः॥ ३६

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो! पृथक्-पृथक् पदार्थोंको जाननेवाली इन्द्रियोंके द्वारा पुरुष जो कुछ देखता है, वह आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि आप ज्ञान शब्दादि विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियोंके अधिष्ठान हैं—ये सब आपमें अध्यस्त हैं। अतएव आप इस मायामय प्रपंचसे सर्वथा अलग हैं॥ ३१॥

इन्द्रने कहा—अच्युत! आपका यह जगत्को प्रकाशित करनेवाला रूप देवद्रोहियोंका संहार करनेवाली आठ भुजाओंसे सुशोभित है, जिनमें आप सदा ही नाना प्रकारके आयुध धारण किये रहते हैं। यह रूप हमारे मन और नेत्रोंको परम आनन्द देनेवाला है॥ ३२॥

याज्ञिकोंकी पत्नियोंने कहा—भगवन्! ब्रह्माजीने आपके पूजनके लिये ही इस यज्ञकी रचना की थी; परन्तु दक्षपर कुपित होनेके कारण इसे भगवान् पशुपतिने अब नष्ट कर दिया है। यज्ञमूर्ते! श्मशानभूमिके समान उत्सवहीन हुए हमारे उस यज्ञको आप नील कमलकी-सी कान्तिवाले अपने नेत्रोंसे निहारकर पवित्र कीजिये॥ ३३॥

ऋषियोंने कहा—भगवन्! आपकी लीला बड़ी ही अनोखी है; क्योंकि आप कर्म करते हुए भी उनसे निर्लेप रहते हैं। दूसरे लोग वैभवकी भूखसे जिन लक्ष्मीजीकी उपासना करते हैं, वे स्वयं आपकी सेवामें लगी रहती हैं; तो भी आप उनका मान नहीं करते, उनसे निःस्पृह रहते हैं॥ ३४॥

सिद्धोंने कहा—प्रभो! यह हमारा मनरूप हाथी नाना प्रकारके क्लेशरूप दावानलसे दग्ध एवं अत्यन्त तृषित होकर आपकी कथारूप विशुद्ध अमृतमयी सरितामें घुसकर गोता लगाये बैठा है। वहाँ ब्रह्मानन्दमें लीन-सा हो जानेके कारण उसे न तो संसाररूप दावानलका ही स्मरण है और न वह उस नदीसे बाहर ही निकलता है॥ ३५॥

यजमानपत्नीने कहा—सर्वसमर्थ परमेश्वर! आपका स्वागत है। मैं आपको नमस्कार करती हूँ। आप मुझपर प्रसन्न होइये। लक्ष्मीपते! अपनी प्रिया लक्ष्मीजीके सहित आप हमारी रक्षा कीजिये। यज्ञेश्वर! जिस प्रकार सिरके बिना मनुष्यका धड़ अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार अन्य अंगोंसे पूर्ण होनेपर भी आपके बिना यज्ञकी शोभा नहीं होती॥ ३६॥

लोकपाला ऊचुः

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं
प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम्।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्
यस्त्वं षष्ठः पंचभिर्भासि भूतैः॥ ३७

योगेश्वरा ऊचुः

प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः।
अथापि भक्त्येशतयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल॥ ३८

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः॥ ३९

ब्रह्मोवाच

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च॥ ४०

अग्निरुवाच

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम्।
तं यज्ञियं पंचविधं च पंचभिः
स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम्॥ ४१

लोकपालोंने कहा—अनन्त परमात्मन्! आप समस्त अन्तःकरणोंके साक्षी हैं, यह सारा जगत् आपके ही द्वारा देखा जाता है। तो क्या मायिक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली हमारी इन नेत्र आदि इन्द्रियोंसे कभी आप प्रत्यक्ष हो सके हैं? वस्तुतः आप हैं तो पंचभूतोंसे पृथक्; फिर भी पांचभौतिक शरीरोंके साथ जो आपका सम्बन्ध प्रतीत होता है, यह आपकी माया ही है॥ ३७॥

योगेश्वरोंने कहा—प्रभो! जो पुरुष सम्पूर्ण विश्वके आत्मा आपमें और अपनेमें कोई भेद नहीं देखता, उससे अधिक प्यारा आपको कोई नहीं है। तथापि भक्तवत्सल! जो लोग आपमें स्वामिभाव रखकर अनन्य भक्तिसे आपकी सेवा करते हैं, उनपर भी आप कृपा कीजिये॥ ३८॥ जीवोंके अदृष्टवश जिसके सत्त्वादि गुणोंमें बड़ी विभिन्नता आ जाती है, उस अपनी मायाके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये ब्रह्मादि विभिन्न रूप धारण करके आप भेदबुद्धि पैदा कर देते हैं; किन्तु अपनी स्वरूप-स्थितिसे आप उस भेदज्ञान और उसके कारण सत्त्वादि गुणोंसे सर्वथा दूर हैं। ऐसे आपको हमारा नमस्कार है॥ ३९॥

ब्रह्मस्वरूप वेदने कहा—आप ही धर्मादिकी उत्पत्तिके लिये शुद्ध सत्त्वको स्वीकार करते हैं, साथ ही आप निर्गुण भी हैं। अतएव आपका तत्त्व न तो मैं जानता हूँ और न ब्रह्मादि कोई और ही जानते हैं; आपको नमस्कार है॥ ४०॥

अग्निदेवने कहा—भगवन्! आपके ही तेजसे प्रज्वलित होकर मैं श्रेष्ठ यज्ञोंमें देवताओंके पास घृतमिश्रित हवि पहुँचाता हूँ। आप साक्षात् यज्ञपुरुष एवं यज्ञकी रक्षा करनेवाले हैं। अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और पशु-सोम—ये पाँच प्रकारके यज्ञ आपके ही स्वरूप हैं तथा '**आश्रावय**', '**अस्तु श्रौषट्**', '**यजे**', '**ये यजामहे**' और '**वषट्**'—इन पाँच प्रकारके यजुर्मन्त्रोंसे आपका ही पूजन होता है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ४१॥

देवा ऊचुः

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने।
पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः॥ ४२

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्
तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम॥ ४३

विद्याधरा ऊचुः

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत्॥ ४४

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः॥ ४५

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा।
स्तूयमानो नदँल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः॥ ४६

देवताओंने कहा—देव! आप आदिपुरुष हैं। पूर्वकल्पका अन्त होनेपर अपने कार्यरूप इस प्रपंचको उदरमें लीनकर आपने ही प्रलयकालीन जलके भीतर शेषनागकी उत्तम शय्यापर शयन किया था। आपके आध्यात्मिक स्वरूपका जनलोकादिवासी सिद्धगण भी अपने हृदयमें चिन्तन करते हैं। अहो! वही आप आज हमारे नेत्रोंके विषय होकर अपने भक्तोंकी रक्षा कर रहे हैं॥ ४२॥

गन्धर्वोंने कहा—देव! मरीचि आदि ऋषि और ये ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्रादि देवतागण आपके अंशके भी अंश हैं। महत्तम! यह सम्पूर्ण विश्व आपके खेलकी सामग्री है। नाथ! ऐसे आपको हम सर्वदा प्रणाम करते हैं॥ ४३॥

विद्याधरोंने कहा—प्रभो! परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके साधनरूप इस मानवदेहको पाकर भी जीव आपकी मायासे मोहित होकर इसमें मैं-मेरेपनका अभिमान कर लेता है। फिर वह दुर्बुद्धि अपने आत्मीयोंसे तिरस्कृत होनेपर भी असत् विषयोंकी ही लालसा करता रहता है। किन्तु ऐसी अवस्थामें भी जो आपके कथामृतका सेवन करता है, वह इस अन्तःकरणके मोहको सर्वथा त्याग देता है॥ ४४॥

ब्राह्मणोंने कहा—भगवन्! आप ही यज्ञ हैं, आप ही हवि हैं, आप ही अग्नि हैं, स्वयं आप ही मन्त्र हैं; आप ही समिधा, कुशा और यज्ञपात्र हैं तथा आप ही सदस्य, ऋत्विज्, यजमान एवं उसकी धर्मपत्नी, देवता, अग्निहोत्र, स्वधा, सोमरस, घृत और पशु हैं॥ ४५॥

वेदमूर्ते! यज्ञ और उसका संकल्प दोनों आप ही हैं। पूर्वकालमें आप ही अति विशाल वराहरूप धारणकर रसातलमें डूबी हुई पृथ्वीको लीलासे ही अपनी दाढ़ोंपर उठाकर इस प्रकार निकाल लाये थे, जैसे कोई गजराज कमलिनीको उठा लाये। उस समय आप धीरे-धीरे गरज रहे थे और योगिगण आपका यह अलौकिक पुरुषार्थ देखकर आपकी स्तुति करते जाते थे॥ ४६॥

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां
दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम्।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः॥ ४७

यज्ञेश्वर! जब लोग आपके नामका कीर्तन करते हैं, तब यज्ञके सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं। हमारा यह यज्ञस्वरूप सत्कर्म नष्ट हो गया था, अत: हम आपके दर्शनोंकी इच्छा कर रहे थे। अब आप हमपर प्रसन्न होइये। आपको नमस्कार है॥ ४७॥

मैत्रेय उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्राभिमर्शितम्।
कीर्त्यमाने हृषीकेशे संनिन्ये[1] यज्ञभावने॥ ४८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भैया विदुर! जब इस प्रकार सब लोग यज्ञरक्षक भगवान् हृषीकेशकी स्तुति करने लगे, तब परम चतुर दक्षने रुद्रपार्षद वीरभद्रके ध्वंस किये हुए यज्ञको फिर आरम्भ कर दिया॥ ४८॥

भगवान् स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक्।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ॥ ४९

सर्वान्तर्यामी श्रीहरि यों तो सभीके भागोंके भोक्ता हैं; तथापि त्रिकपाल-पुरोडाशरूप अपने भागसे और भी प्रसन्न होकर उन्होंने दक्षको सम्बोधन करके कहा॥ ४९॥

श्रीभगवानुवाच

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥ ५०

श्रीभगवान्ने कहा—जगत्का परम कारण मैं ही ब्रह्मा और महादेव हूँ; मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ तथा स्वयंप्रकाश और उपाधिशून्य हूँ॥ ५०॥

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥ ५१

विप्रवर! अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको स्वीकार करके मैं ही जगत्की रचना, पालन और संहार करता रहता हूँ और मैंने ही उन कर्मोंके अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शंकर—ये नाम धारण किये हैं॥ ५१॥

तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ[2] च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति॥ ५२

ऐसा जो भेदरहित विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप मैं हूँ, उसीमें अज्ञानी पुरुष ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य समस्त जीवोंको विभिन्न रूपसे देखता है॥ ५२॥

यथा पुमान्न स्वांगेषु शिरःपाण्यादिषु[3] क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥ ५३

जिस प्रकार मनुष्य अपने सिर, हाथ आदि अंगोंमें 'ये मुझसे भिन्न हैं' ऐसी बुद्धि कभी नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भक्त प्राणिमात्रको मुझसे भिन्न नहीं देखता॥ ५३॥

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥ ५४

ब्रह्मन्! हम—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—तीनों स्वरूपत: एक ही हैं और हम ही सम्पूर्ण जीवरूप हैं; अत: जो हममें कुछ भी भेद नहीं देखता, वही शान्ति प्राप्त करता है॥ ५४॥

१. प्रा० पा०—सान्निध्ये। २. प्रा० पा०—देहात्मबुद्धिर्भूतानि। ३. प्रा० पा०—ण्यादिना।

मैत्रेय उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम्।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवान्[१]उभयतोऽयजत्॥ ५५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्‌के इस प्रकार आज्ञा देनेपर प्रजापतियोंके नायक दक्षने उनका त्रिकपाल-यज्ञके द्वारा पूजन करके फिर अंगभूत और प्रधान दोनों प्रकारके यज्ञोंसे अन्य सब देवताओंका अर्चन किया॥ ५५॥

रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः।
कर्मणो[२]दवसानेन सोमपानितरानपि।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः॥ ५६

फिर एकाग्रचित्त हो भगवान् शंकरका यज्ञशेषरूप उनके भागसे यजन किया तथा समाप्तिमें किये जानेवाले उदवसान नामक कर्मसे अन्य सोमपायी एवं दूसरे देवताओंका यजन कर यज्ञका उपसंहार किया और अन्तमें ऋत्विजोंके सहित अवभृथ-स्नान किया॥ ५६॥

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे।
धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः॥ ५७

फिर जिन्हें अपने पुरुषार्थसे ही सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त थीं, उन दक्षप्रजापतिको 'तुम्हारी सदा धर्ममें बुद्धि रहे' ऐसा आशीर्वाद देकर सब देवता स्वर्गलोकको चले गये॥ ५७॥

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम्।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम॥ ५८

विदुरजी! सुना है कि दक्षसुता सतीजीने इस प्रकार अपना पूर्वशरीर त्यागकर फिर हिमालयकी पत्नी मेनाके गर्भसे जन्म लिया था॥ ५८॥

तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम्॥ ५९

जिस प्रकार प्रलयकालमें लीन हुई शक्ति सृष्टिके आरम्भमें फिर ईश्वरका ही आश्रय लेती है, उसी प्रकार अनन्यपरायणा श्रीअम्बिकाजीने उस जन्ममें भी अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम भगवान् शंकरको ही वरण किया॥ ५९॥

[३]एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः॥ ६०

विदुरजी! दक्ष-यज्ञका विध्वंस करनेवाले भगवान् शिवका यह चरित्र मैंने बृहस्पतिजीके शिष्य परम भागवत उद्धवजीके मुखसे सुना था॥ ६०॥

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम्।
यो नित्यदा[४]ऽऽकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद्
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः॥ ६१

कुरुनन्दन! श्रीमहादेवजीका यह पावन चरित्र यश और आयुको बढ़ानेवाला तथा पापपुंजको नष्ट करनेवाला है। जो पुरुष भक्तिभावसे इसका नित्यप्रति श्रवण और कीर्तन करता है, वह अपनी पापराशिका नाश कर देता है॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
दक्षयज्ञसंधानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

१. प्रा० पा०—वान् भगवतोऽयजत्। २. प्रा० पा०—णो ह्यव०। ३. प्रा० पा०—एवं भग०।
४. प्रा० पा०—नित्यमाक०।

अथाष्टमोऽध्यायः

ध्रुवका वन-गमन

मैत्रेय उवाच

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः।
नैते गृहान् ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः॥ १

मृषाधर्मस्य भार्याऽऽसीद्दम्भं मायां च शत्रुहन्।
असूत मिथुनं तत्तु निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजः॥ २

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते।
ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः स्वसा कलिः॥ ३

दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा॥ ४

संग्रहेण मयाऽऽख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ।
त्रिःश्रुत्वैतत्पुमान् पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम्॥ ५

अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह।
स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः॥ ६

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ।
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ॥ ७

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः॥ ८

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन्।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत॥ ९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—शत्रुसूदन विदुरजी! सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति—ब्रह्माजीके इन नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रोंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया (अतः उनके कोई सन्तान नहीं हुई)। अधर्म भी ब्रह्माजीका ही पुत्र था, उसकी पत्नीका नाम था मृषा। उसके दम्भ नामक पुत्र और माया नामकी कन्या हुई। उन दोनोंको निर्ऋति ले गया, क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी॥ १-२॥ दम्भ और मायासे लोभ और निकृति (शठता)-का जन्म हुआ, उनसे क्रोध और हिंसा तथा उनसे कलि (कलह) और उसकी बहिन दुरुक्ति (गाली) उत्पन्न हुए॥ ३॥ साधुशिरोमणे! फिर दुरुक्तिसे कलिने भय और मृत्युको उत्पन्न किया तथा उन दोनोंके संयोगसे यातना और निरय (नरक)-का जोड़ा उत्पन्न हुआ॥ ४॥ निष्पाप विदुरजी! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे तुम्हें प्रलयका कारणरूप यह अधर्मका वंश सुनाया। यह अधर्मका त्याग कराकर पुण्य-सम्पादनमें हेतु बनता है; अतएव इसका वर्णन तीन बार सुनकर मनुष्य अपने मनकी मलिनता दूर कर देता है॥ ५॥ कुरुनन्दन! अब मैं श्रीहरिके अंश (ब्रह्माजी)-के अंशसे उत्पन्न हुए पवित्रकीर्ति महाराज स्वायम्भुव मनुके पुत्रोंके वंशका वर्णन करता हूँ॥ ६॥

महारानी शतरूपा और उनके पति स्वायम्भुव मनुसे प्रियव्रत और उत्तानपाद—ये दो पुत्र हुए। भगवान् वासुदेवकी कलासे उत्पन्न होनेके कारण ये दोनों संसारकी रक्षामें तत्पर रहते थे॥ ७॥ उत्तानपादके सुनीति और सुरुचि नामकी दो पत्नियाँ थीं। उनमें सुरुचि राजाको अधिक प्रिय थी; सुनीति, जिसका पुत्र ध्रुव था, उन्हें वैसी प्रिय नहीं थी॥ ८॥

एक दिन राजा उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें बिठाकर प्यार कर रहे थे। उसी समय ध्रुवने भी गोदमें बैठना चाहा, परन्तु राजाने उसका स्वागत नहीं किया॥ ९॥

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम्।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता॥ १०
न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति।
न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः॥ ११
बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम्।
नूनं वेद भवान् यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः॥ १२
तपसाऽऽराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्॥ १३

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः
श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाहिः।
हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
जगाम मातुः प्ररुदन् सकाशम्॥ १४
तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
सुनीतिरुत्संग उदूह्य बालम्।
निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं
सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या॥ १५
सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक-
दावाग्निना दावलतेव बाला।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज-
श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह॥ १६
दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पार-
मपश्यती बालकमाह बाला।
मामंगलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत्॥ १७
सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे
यद् दुर्भगाया उदरे गृहीतः।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम्॥ १८

उस समय घमण्डसे भरी हुई सुरुचिने अपनी सौतके पुत्र ध्रुवको महाराजकी गोदमें आनेका यत्न करते देख उनके सामने ही उससे डाहभरे शब्दोंमें कहा॥ १०॥ 'बच्चे! तू राजसिंहासनपर बैठनेका अधिकारी नहीं है। तू भी राजाका ही बेटा है, इससे क्या हुआ; तुझको मैंने तो अपनी कोखमें नहीं धारण किया॥ ११॥ तू अभी नादान है, तुझे पता नहीं है कि तूने किसी दूसरी स्त्रीके गर्भसे जन्म लिया है; तभी तो ऐसे दुर्लभ विषयकी इच्छा कर रहा है॥ १२॥ यदि तुझे राजसिंहासनकी इच्छा है तो तपस्या करके परम पुरुष श्रीनारायणकी आराधना कर और उनकी कृपासे मेरे गर्भमें आकर जन्म ले'॥ १३॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! जिस प्रकार डंडेकी चोट खाकर साँप फुँफकार मारने लगता है, उसी प्रकार अपनी सौतेली माँके कठोर वचनोंसे घायल होकर ध्रुव क्रोधके मारे लंबी-लंबी साँस लेने लगा। उसके पिता चुपचाप यह सब देखते रहे, मुँहसे एक शब्द भी नहीं बोले। तब पिताको छोड़कर ध्रुव रोता हुआ अपनी माताके पास आया॥ १४॥ उसके दोनों होठ फड़क रहे थे और वह सिसक-सिसककर रो रहा था। सुनीतिने बेटेको गोदमें उठा लिया और जब महलके दूसरे लोगोंसे अपनी सौत सुरुचिकी कही हुई बातें सुनी, तब उसे भी बड़ा दुःख हुआ॥ १५॥ उसका धीरज टूट गया। वह दावानलसे जली हुई बेलके समान शोकसे सन्तप्त होकर मुरझा गयी तथा विलाप करने लगी। सौतकी बातें याद आनेसे उसके कमल-सरीखे नेत्रोंमें आँसू भर आये॥ १६॥ उस बेचारीको अपने दुःखपारावारका कहीं अन्त ही नहीं दिखायी देता था। उसने गहरी साँस लेकर ध्रुवसे कहा, 'बेटा! तू दूसरोंके लिये किसी प्रकारके अमंगलकी कामना मत कर। जो मनुष्य दूसरोंको दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है॥ १७॥ सुरुचिने जो कुछ कहा है, ठीक ही है; क्योंकि महाराजको मुझे 'पत्नी' तो क्या, 'दासी' स्वीकार करनेमें भी लज्जा आती है। तूने मुझ मन्दभागिनीके गर्भसे ही जन्म लिया है और मेरे ही दूधसे तू पला है॥ १८॥

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम्।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा॥ १९
यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम्॥ २०
तथा मनुर्वो भगवान् पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः।
इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम्॥ २१
तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम्॥ २२
नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरंग विमृग्यमाणया॥ २३

मैत्रेय उवाच

एवं संजल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः।
संनियम्यात्मनाऽऽत्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात्॥ २४
नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम्।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः॥ २५

बेटा! सुरुचिने तेरी सौतेली माँ होनेपर भी बात बिलकुल ठीक कही है; अतः यदि राजकुमार उत्तमके समान राजसिंहासनपर बैठना चाहता है तो द्वेषभाव छोड़कर उसीका पालन कर। बस, श्रीअधोक्षजभगवान्के चरणकमलोंकी आराधनामें लग जा॥ १९॥

संसारका पालन करनेके लिये सत्त्वगुणको अंगीकार करनेवाले उन श्रीहरिके चरणोंकी आराधना करनेसे ही तेरे परदादा श्रीब्रह्माजीको वह सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है, जो मन और प्राणोंको जीतनेवाले मुनियोंके द्वारा भी वन्दनीय है॥ २०॥ इसी प्रकार तेरे दादा स्वायम्भुव मनुने भी बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंके द्वारा अनन्यभावसे उन्हीं भगवान्की आराधना की थी; तभी उन्हें दूसरोंके लिये अति दुर्लभ लौकिक, अलौकिक तथा मोक्षसुखकी प्राप्ति हुई॥ २१॥ 'बेटा! तू भी उन भक्तवत्सल श्रीभगवान्का ही आश्रय ले। जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुलोग निरन्तर उन्हींके चरणकमलोंके मार्गकी खोज किया करते हैं। तू स्वधर्मपालनसे पवित्र हुए अपने चित्तमें श्रीपुरुषोत्तमभगवान्को बैठा ले तथा अन्य सबका चिन्तन छोड़कर केवल उन्हींका भजन कर ॥ २२॥ बेटा! उन कमल-दल-लोचन श्रीहरिको छोड़कर मुझे तो तेरे दुःखको दूर करनेवाला और कोई दिखायी नहीं देता। देख, जिन्हें प्रसन्न करनेके लिये ब्रह्मा आदि अन्य सब देवता ढूँढ़ते रहते हैं, वे श्रीलक्ष्मीजी भी दीपककी भाँति हाथमें कमल लिये निरन्तर उन्हीं श्रीहरिकी खोज किया करती हैं'॥ २३॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—माता सुनीतिने जो वचन कहे, वे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिका मार्ग दिखलानेवाले थे। अतः उन्हें सुनकर ध्रुवने बुद्धिद्वारा अपने चित्तका समाधान किया। इसके बाद वे पिताके नगरसे निकल पड़े॥ २४॥ यह सब समाचार सुनकर और ध्रुव क्या करना चाहता है, इस बातको जानकर नारदजी वहाँ आये। उन्होंने ध्रुवके मस्तकपर अपना पापनाशक कर-कमल फेरते हुए मन-ही-मन विस्मित होकर कहा॥ २५॥

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभंगममृष्यताम्।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः॥ २६

'अहो! क्षत्रियोंका कैसा अद्‌भुत तेज है, वे थोड़ा-सा भी मान-भंग नहीं सह सकते। देखो, अभी तो यह नन्हा-सा बच्चा है; तो भी इसके हृदयमें सौतेली माताके कटु वचन घर कर गये हैं'॥ २६॥

नारद उवाच

नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु॥ २७

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसंतोषहेतवः।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः॥ २८

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः॥ २९

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम॥ ३०

मुनयः पदवीं यस्य निःसंगेनोरुजन्मभिः।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना॥ ३१

अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः।
यतिष्यति भवान् काले श्रेयसां समुपस्थिते॥ ३२

यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः।
आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमृच्छति॥ ३३

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते॥ ३४

तत्पश्चात् नारदजीने ध्रुवसे कहा—बेटा! अभी तो तू बच्चा है, खेल-कूदमें ही मस्त रहता है; हम नहीं समझते कि इस उम्रमें किसी बातसे तेरा सम्मान या अपमान हो सकता है॥ २७॥ यदि तुझे मानापमानका विचार ही हो, तो बेटा! असलमें मनुष्यके असन्तोषका कारण मोहके सिवा और कुछ नहीं है। संसारमें मनुष्य अपने कर्मानुसार ही मान-अपमान या सुख-दुःख आदिको प्राप्त होता है॥ २८॥

तात! भगवान्‌की गति बड़ी विचित्र है! इसलिये उसपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दैववश उसे जैसी भी परिस्थितिका सामना करना पड़े, उसीमें सन्तुष्ट रहे॥ २९॥ अब, माताके उपदेशसे तू योगसाधनद्वारा जिन भगवान्‌की कृपा प्राप्त करने चला है—मेरे विचारसे साधारण पुरुषोंके लिये उन्हें प्रसन्न करना बहुत ही कठिन है॥ ३०॥ योगीलोग अनेकों जन्मोंतक अनासक्त रहकर समाधियोगके द्वारा बड़ी-बड़ी कठोर साधनाएँ करते रहते हैं, परन्तु भगवान्‌के मार्गका पता नहीं पाते॥ ३१॥ इसलिये तू यह व्यर्थका हठ छोड़ दे और घर लौट जा; बड़ा होनेपर जब परमार्थ-साधनका समय आवे, तब उसके लिये प्रयत्न कर लेना॥ ३२॥ विधाताके विधानके अनुसार सुख-दुःख जो कुछ भी प्राप्त हो, उसीमें चित्तको सन्तुष्ट रखना चाहिये। यों करनेवाला पुरुष मोहमय संसारसे पार हो जाता है॥ ३३॥ मनुष्यको चाहिये कि अपनेसे अधिक गुणवान्‌को देखकर प्रसन्न हो; जो कम गुणवाला हो, उसपर दया करे और जो अपने समान गुणवाला हो, उससे मित्रताका भाव रखे। यों करनेसे उसे दुःख कभी नहीं दबा सकते॥ ३४॥

ध्रुव उवाच

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम्।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः॥ ३५

ध्रुवने कहा—भगवन्! सुख-दुःखसे जिनका चित्त चंचल हो जाता है, उन लोगोंके लिये आपने कृपा करके शान्तिका यह बहुत अच्छा उपाय बतलाया। परन्तु मुझ-जैसे अज्ञानियोंकी दृष्टि यहाँतक नहीं पहुँच पाती॥ ३५॥

अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि॥ ३६

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम्॥ ३७

नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः।
वितुदन्नटते वीणां हितार्थं जगतोऽर्कवत्॥ ३८

मैत्रेय उवाच

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान्नारदस्तदा।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया॥ ३९

नारद उवाच

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना॥ ४०

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥ ४१

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।
पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः॥ ४२

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् कालिन्द्याः सलिले शिवे।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः॥ ४३

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम्।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम्॥ ४४

प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम्।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम्॥ ४५

इसके सिवा, मुझे घोर क्षत्रियस्वभाव प्राप्त हुआ है, अतएव मुझमें विनयका प्रायः अभाव है; सुरुचिने अपने कटुवचनरूपी बाणोंसे मेरे हृदयको विदीर्ण कर डाला है; इसलिये उसमें आपका यह उपदेश नहीं ठहर पाता॥ ३६॥ ब्रह्मन्! मैं उस पदपर अधिकार करना चाहता हूँ, जो त्रिलोकीमें सबसे श्रेष्ठ है तथा जिसपर मेरे बाप-दादे और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं। आप मुझे उसीकी प्राप्तिका कोई अच्छा-सा मार्ग बतलाइये॥ ३७॥ आप भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र हैं और संसारके कल्याणके लिये ही वीणा बजाते सूर्यकी भाँति त्रिलोकीमें विचरा करते हैं॥ ३८॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—ध्रुवकी बात सुनकर भगवान् नारदजी बड़े प्रसन्न हुए और उसपर कृपा करके इस प्रकार सदुपदेश देने लगे॥ ३९॥

श्रीनारदजीने कहा—बेटा! तेरी माता सुनीतिने तुझे जो कुछ बताया है, वही तेरे लिये परम कल्याणका मार्ग है। भगवान् वासुदेव ही वह उपाय हैं, इसलिये तू चित्त लगाकर उन्हींका भजन कर॥ ४०॥ जिस पुरुषको अपने लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थकी अभिलाषा हो, उसके लिये उनकी प्राप्तिका उपाय एकमात्र श्रीहरिके चरणोंका सेवन ही है॥ ४१॥ बेटा! तेरा कल्याण होगा, अब तू श्रीयमुनाजीके तटवर्ती परम पवित्र मधुवनको जा। वहाँ श्रीहरिका नित्य-निवास है॥ ४२॥ वहाँ श्रीकालिन्दीके निर्मल जलमें तीनों समय स्नान करके नित्यकर्मसे निवृत्त हो यथाविधि आसन बिछाकर स्थिरभावसे बैठना॥ ४३॥ फिर रेचक, पूरक और कुम्भक—तीन प्रकारके प्राणायामसे धीरे-धीरे प्राण, मन और इन्द्रियके दोषोंको दूरकर धैर्ययुक्त मनसे परमगुरु श्रीभगवान्‌का इस प्रकार ध्यान करना॥ ४४॥

भगवान्‌के नेत्र और मुख निरन्तर प्रसन्न रहते हैं; उन्हें देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि वे प्रसन्नतापूर्वक भक्तको वर देनेके लिये उद्यत हैं। उनकी नासिका, भौंहें और कपोल बड़े ही सुहावने हैं; वे सभी देवताओंमें परम सुन्दर हैं॥ ४५॥

तरुणं रमणीयांगमरुणोष्ठेक्षणाधरम्।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम्॥ ४६

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ४७

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम्।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम्॥ ४८

कांचीकलापपर्यस्तं लसत्कांचननूपुरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम्॥ ४९

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्[1]।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम्॥ ५०

स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम्।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम्॥ ५१

एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते॥ ५२

जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान्॥ ५३

''ॐ नमो भगवते वासुदेवाय''।
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद् द्रव्यमयीं बुधः।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥ ५४

उनकी तरुण अवस्था है; सभी अंग बड़े सुडौल हैं; लाल-लाल होठ और रतनारे नेत्र हैं। वे प्रणतजनोंको आश्रय देनेवाले, अपार सुखदायक, शरणागतवत्सल और दयाके समुद्र हैं॥ ४६॥ उनके वक्ष:स्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है; उनका शरीर सजल जलधरके समान श्यामवर्ण है; वे परम पुरुष श्यामसुन्दर गलेमें वनमाला धारण किये हुए हैं और उनकी चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा एवं पद्म सुशोभित हैं॥ ४७॥ उनके अंग-प्रत्यंग किरीट, कुण्डल, केयूर और कंकणादि आभूषणोंसे विभूषित हैं; गला कौस्तुभमणिकी भी शोभा बढ़ा रहा है तथा शरीरमें रेशमी पीताम्बर है॥ ४८॥ उनके कटिप्रदेशमें कांचनकी करधनी और चरणोंमें सुवर्णमय नूपुर (पैजनी) सुशोभित हैं। भगवान्‌का स्वरूप बड़ा ही दर्शनीय, शान्त तथा मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है॥ ४९॥ जो लोग प्रभुका मानस-पूजन करते हैं, उनके अन्त:करणमें वे हृदयकमलकी कर्णिकापर अपने नख-मणिमण्डित मनोहर पादारविन्दोंको स्थापित करके विराजते हैं॥ ५०॥ इस प्रकार धारणा करते-करते जब चित्त स्थिर और एकाग्र हो जाय तब उन वरदायक प्रभुका मन-ही-मन इस प्रकार ध्यान करे कि वे मेरी ओर अनुरागभरी दृष्टिसे निहारते हुए मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं॥ ५१॥ भगवान्‌की मंगलमयी मूर्तिका इस प्रकार निरन्तर ध्यान करनेसे मन शीघ्र ही परमानन्दमें डूबकर तल्लीन हो जाता है और फिर वहाँसे लौटता नहीं॥ ५२॥

राजकुमार! इस ध्यानके साथ जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना चाहिये, वह भी बतलाता हूँ—सुन। इसका सात रात जप करनेसे मनुष्य आकाशमें विचरनेवाले सिद्धोंका दर्शन कर सकता है॥ ५३॥ वह मन्त्र है—'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'। किस देश और किस कालमें कौन वस्तु उपयोगी है—इसका विचार करके बुद्धिमान् पुरुषको इस मन्त्रके द्वारा तरह-तरहकी सामग्रियोंसे भगवान्‌की द्रव्यमयी पूजा करनी चाहिये॥ ५४॥

१. प्रा० पा०—समर्चितम्।

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम्॥ ५५

लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत्।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक्॥ ५६

स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद्ध्यायेद्धृदयंगमम्॥ ५७

परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये॥ ५८

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम्।
परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया॥ ५९

पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम्॥ ६०

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये॥ ६१

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम्॥ ६२

तपोवनं गते तस्मिन्प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम्॥ ६३

नारद उवाच

राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः॥ ६४

प्रभुका पूजन विशुद्ध जल, पुष्पमाला, जंगली मूल और फलादि, पूजामें विहित दूर्वादि अंकुर, वनमें ही प्राप्त होनेवाले वल्कल वस्त्र और उनकी प्रेयसी तुलसीसे करना चाहिये॥ ५५॥ यदि शिला आदिकी मूर्ति मिल सके तो उसमें, नहीं तो पृथ्वी या जल आदिमें ही भगवान्‌की पूजा करे। सर्वदा संयतचित्त, मननशील, शान्त और मौन रहे तथा जंगली फल-मूलादिका परिमित आहार करे॥ ५६॥ इसके सिवा पुण्यकीर्ति श्रीहरि अपनी अनिर्वचनीया मायाके द्वारा अपनी ही इच्छासे अवतार लेकर जो-जो मनोहर चरित्र करनेवाले हैं, उनका मन-ही-मन चिन्तन करता रहे॥ ५७॥ प्रभुकी पूजाके लिये जिन-जिन उपचारोंका विधान किया गया है, उन्हें मन्त्रमूर्ति श्रीहरिको द्वादशाक्षर मन्त्रके द्वारा ही अर्पण करे॥ ५८॥

इस प्रकार जब हृदयस्थित हरिका मन, वाणी और शरीरसे भक्तिपूर्वक पूजन किया जाता है, तब वे निश्छलभावसे भलीभाँति भजन करनेवाले अपने भक्तोंके भावको बढ़ा देते हैं और उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षरूप कल्याण प्रदान करते हैं॥ ५९-६०॥ यदि उपासकको इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंसे वैराग्य हो गया हो तो वह मोक्षप्राप्तिके लिये अत्यन्त भक्तिपूर्वक अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌का भजन करे॥ ६१॥

श्रीनारदजीसे इस प्रकार उपदेश पाकर राजकुमार ध्रुवने परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने भगवान्‌के चरणचिह्नोंसे अंकित परम पवित्र मधुवनकी यात्रा की॥ ६२॥ ध्रुवके तपोवनकी ओर चले जानेपर नारदजी महाराज उत्तानपादके महलमें पहुँचे। राजाने उनकी यथायोग्य उपचारोंसे पूजा की; तब उन्होंने आरामसे आसनपर बैठकर राजासे पूछा॥ ६३॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन्! तुम्हारा मुख सूखा हुआ है, तुम बड़ी देरसे किस सोच-विचारमें पड़े हो? तुम्हारे धर्म, अर्थ और काममेंसे किसीमें कोई कमी तो नहीं आ गयी?॥ ६४॥

राजोवाच

सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना।
निर्वासितः पंचवर्षः सह मात्रा महान्कविः॥ ६५
अप्यनाथं वने ब्रह्मन् मास्मादन्त्यर्भकं वृकाः।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम्॥ ६६
अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय।
योऽङ्कं प्रेम्णाऽऽरुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः॥ ६७

नारद उवाच

मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत्॥ ६८
सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः।
एष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव॥ ६९

मैत्रेय उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत्॥ ७०
तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम्।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥ ७१
त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम्॥ ७२
द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने।
तृणपर्णादिभिः शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयद्विभुम्॥ ७३
तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि।
अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना॥ ७४
चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि।
वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देवमधारयत्॥ ७५

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मैं बड़ा ही स्त्रैण और निर्दय हूँ। हाय, मैंने अपने पाँच वर्षके नन्हेसे बच्चेको उसकी माताके साथ घरसे निकाल दिया। मुनिवर! वह बड़ा ही बुद्धिमान् था॥ ६५॥ उसका कमल-सा मुख भूखसे कुम्हला गया होगा, वह थककर कहीं रास्तेमें पड़ गया होगा। ब्रह्मन्! उस असहाय बच्चेको वनमें कहीं भेड़िये न खा जायँ॥ ६६॥ अहो! मैं कैसा स्त्रीका गुलाम हूँ! मेरी कुटिलता तो देखिये—वह बालक प्रेमवश मेरी गोदमें चढ़ना चाहता था, किन्तु मुझ दुष्टने उसका तनिक भी आदर नहीं किया॥ ६७॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन्! तुम अपने बालककी चिन्ता मत करो। उसके रक्षक भगवान् हैं। तुम्हें उसके प्रभावका पता नहीं है, उसका यश सारे जगत्में फैल रहा है॥ ६८॥ वह बालक बड़ा समर्थ है। जिस कामको बड़े-बड़े लोकपाल भी नहीं कर सके, उसे पूरा करके वह शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आयेगा। उसके कारण तुम्हारा यश भी बहुत बढ़ेगा॥ ६९॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—देवर्षि नारदजीकी बात सुनकर महाराज उत्तानपाद राजपाटकी ओरसे उदासीन होकर निरन्तर पुत्रकी ही चिन्तामें रहने लगे॥ ७०॥ इधर ध्रुवजीने मधुवनमें पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया और उस रात पवित्रतापूर्वक उपवास करके श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे परमपुरुष श्रीनारायणकी उपासना आरम्भ कर दी॥ ७१॥ उन्होंने तीन-तीन रात्रिके अन्तरसे शरीरनिर्वाहके लिये केवल कैथ और बेरके फल खाकर श्रीहरिकी उपासना करते हुए एक मास व्यतीत किया॥ ७२॥ दूसरे महीनेमें उन्होंने छः-छः दिनके पीछे सूखे घास और पत्ते खाकर भगवान्का भजन किया॥ ७३॥ तीसरा महीना नौ-नौ दिनपर केवल जल पीकर समाधियोगके द्वारा श्रीहरिकी आराधना करते हुए बिताया॥ ७४॥ चौथे महीनेमें उन्होंने श्वासको जीतकर बारह-बारह दिनके बाद केवल वायु पीकर ध्यानयोगद्वारा भगवान्की आराधना की॥ ७५॥

पंचमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः।
ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः॥ ७६
सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्।
ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किंचनापरम्॥ ७७
आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम्।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे॥ ७८
यदैकपादेन स पार्थिवार्भक-
स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही।
ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
तरीव सव्येतरतः पदे पदे॥ ७९
तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम्॥ ८०

देवा ऊचुः

नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं
चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम्॥ ८१

श्रीभगवानुवाच

मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
न्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि संगतात्मा॥ ८२

पाँचवाँ मास लगनेपर राजकुमार ध्रुव श्वासको जीतकर परब्रह्मका चिन्तन करते हुए एक पैरसे खंभेके समान निश्चल भावसे खड़े हो गये॥ ७६॥ उस समय उन्होंने शब्दादि विषय और इन्द्रियोंके नियामक अपने मनको सब ओरसे खींच लिया तथा हृदयस्थित हरिके स्वरूपका चिन्तन करते हुए चित्तको किसी दूसरी ओर न जाने दिया॥ ७७॥ जिस समय उन्होंने महदादि सम्पूर्ण तत्त्वोंके आधार तथा प्रकृति और पुरुषके भी अधीश्वर परब्रह्मकी धारणा की, उस समय (उनके तेजको न सह सकनेके कारण) तीनों लोक काँप उठे॥ ७८॥ जब राजकुमार ध्रुव एक पैरसे खड़े हुए, तब उनके अँगूठेसे दबकर आधी पृथ्वी इस प्रकार झुक गयी, जैसे किसी गजराजके चढ़ जानेपर नाव पद-पदपर दायीं-बायीं ओर डगमगाने लगती है॥ ७९॥ ध्रुवजी अपने इन्द्रियद्वार तथा प्राणोंको रोककर अनन्यबुद्धिसे विश्वात्मा श्रीहरिका ध्यान करने लगे। इस प्रकार उनकी समष्टि प्राणसे अभिन्नता हो जानेके कारण सभी जीवोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया। इससे समस्त लोक और लोकपालोंको बड़ी पीड़ा हुई और वे सब घबराकर श्रीहरिकी शरणमें गये॥ ८०॥

देवताओंने कहा—भगवन्! समस्त स्थावर-जंगम जीवोंके शरीरोंका प्राण एक साथ ही रुक गया है ऐसा तो हमने पहले कभी अनुभव नहीं किया। आप शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं, अपनी शरणमें आये हुए हमलोगोंको इस दुःखसे छुड़ाइये॥ ८१॥

श्रीभगवान्ने कहा—देवताओ! तुम डरो मत। उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने अपने चित्तको मुझ विश्वात्मामें लीन कर दिया है, इस समय मेरे साथ उसकी अभेदधारणा सिद्ध हो गयी है, इसीसे उसके प्राणनिरोधसे तुम सबका प्राण भी रुक गया है। अब तुम अपने-अपने लोकोंको जाओ, मैं उस बालकको इस दुष्कर तपसे निवृत्त कर दूँगा॥ ८२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे ध्रुवचरितेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

ध्रुवका वर पाकर घर लौटना

मैत्रेय उवाच

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम्।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः॥ १
स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम्।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श॥ २
तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत्।
दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन्॥ ३
स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
र्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृतांजलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥ ४
स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः[1]॥ ५

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ ६

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेसे देवताओंका भय जाता रहा और वे उन्हें प्रणाम करके स्वर्गलोकको चले गये। तदनन्तर विराट्‌स्वरूप भगवान् गरुड़पर चढ़कर अपने भक्तको देखनेके लिये मधुवनमें आये॥ १॥ उस समय ध्रुवजी तीव्र योगाभ्याससे एकाग्र हुई बुद्धिके द्वारा भगवान्‌की बिजलीके समान देदीप्यमान जिस मूर्तिका अपने हृदयकमलमें ध्यान कर रहे थे, वह सहसा विलीन हो गयी। इससे घबराकर उन्होंने ज्यों ही नेत्र खोले कि भगवान्‌के उसी रूपको बाहर अपने सामने खड़ा देखा॥ २॥ प्रभुका दर्शन पाकर बालक ध्रुवको बड़ा कुतूहल हुआ, वे प्रेममें अधीर हो गये। उन्होंने पृथ्वीपर दण्डके समान लोटकर उन्हें प्रणाम किया। फिर वे इस प्रकार प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देखने लगे मानो नेत्रोंसे उन्हें पी जायँगे, मुखसे चूम लेंगे और भुजाओंमें कस लेंगे॥ ३॥ वे हाथ जोड़े प्रभुके सामने खड़े थे और उनकी स्तुति करना चाहते थे, परन्तु किस प्रकार करें यह नहीं जानते थे। सर्वान्तर्यामी हरि उनके मनकी बात जान गये; उन्होंने कृपापूर्वक अपने वेदमय शंखको उनके गालसे छुआ दिया॥ ४॥ ध्रुवजी भविष्यमें अविचल पद प्राप्त करनेवाले थे। इस समय शंखका स्पर्श होते ही उन्हें वेदमयी दिव्यवाणी प्राप्त हो गयी और जीव तथा ब्रह्मके स्वरूपका भी निश्चय हो गया। वे अत्यन्त भक्तिभावसे धैर्यपूर्वक विश्वविख्यात कीर्तिमान् श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥ ५॥

ध्रुवजीने कहा—प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं; आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ॥ ६॥

१. प्रा० पा०—स्थितिः।

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु।
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि॥ ७

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो॥ ८

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥ ९

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥ १०

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसंगो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनांजसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥ ११

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसंगाः॥ १२

भगवन्! आप एक ही हैं, परन्तु अपनी अनन्त गुणमयी मायाशक्तिसे इस महदादि सम्पूर्ण प्रपंचको रचकर अन्तर्यामीरूपसे उसमें प्रवेश कर जाते हैं और फिर इसके इन्द्रियादि असत् गुणोंमें उनके अधिष्ठातृ-देवताओंके रूपमें स्थित होकर अनेकरूप भासते हैं—ठीक वैसे ही जैसे तरह-तरहकी लकड़ियोंमें प्रकट हुई आग अपनी उपाधियोंके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें भासती है॥ ७॥ नाथ! सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजीने भी आपकी शरण लेकर आपके दिये हुए ज्ञानके प्रभावसे ही इस जगत्को सोकर उठे हुए पुरुषके समान देखा था। दीनबन्धो! उन्हीं आपके चरणतलका मुक्त पुरुष भी आश्रय लेते हैं, कोई भी कृतज्ञ पुरुष उन्हें कैसे भूल सकता है?॥ ८॥ प्रभो! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुख तो मनुष्योंको नरकमें भी मिल सकता है। जो लोग इस विषयसुखके लिये लालायित रहते हैं और जो जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देनेवाले कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासना भगवत्-प्राप्तिके सिवा किसी अन्य उद्देश्यसे करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी मायाके द्वारा ठगी गयी है॥ ९॥ नाथ! आपके चरणकमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके पवित्र चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता। फिर जिन्हें कालकी तलवार काटे डालती है उन स्वर्गीय विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है॥ १०॥

अनन्त परमात्मन्! मुझे तो आप उन विशुद्धहृदय महात्मा भक्तोंका संग दीजिये, जिनका आपमें अविच्छिन्न भक्तिभाव है; उनके संगमें मैं आपके गुणों और लीलाओंकी कथा-सुधाको पी-पीकर उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही इस अनेक प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण भयंकर संसारसागरके उस पार पहुँच जाऊँगा॥ ११॥ कमलनाभ प्रभो! जिनका चित्त आपके चरणकमलकी सुगन्धमें लुभाया हुआ है, उन महानुभावोंका जो लोग संग करते हैं—वे अपने इस अत्यन्त प्रिय शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह और स्त्री आदिकी सुधि भी नहीं करते॥ १२॥

तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः॥ १३

अजन्मा परमेश्वर! मैं तो पशु, वृक्ष, पर्वत, पक्षी, सरीसृप (सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु), देवता, दैत्य और मनुष्य आदिसे परिपूर्ण तथा महदादि अनेकों कारणोंसे सम्पादित आपके इस सदसदात्मक स्थूल विश्वरूपको ही जानता हूँ; इससे परे जो आपका परम स्वरूप है, जिसमें वाणीकी गति नहीं है, उसका मुझे पता नहीं है॥ १३॥

कल्पान्त[1] एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के।
यन्नाभिसिन्धुरुहकांचनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै॥ १४

भगवन्! कल्पका अन्त होनेपर योगनिद्रामें स्थित जो परमपुरुष इस सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें लीन करके शेषजीके साथ उन्हींकी गोदमें शयन करते हैं तथा जिनके नाभि-समुद्रसे प्रकट हुए सर्वलोकमय सुवर्णवर्ण कमलसे परम तेजोमय ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, वे भगवान् आप ही हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ १४॥

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥ १५

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ १६

प्रभो! आप अपनी अखण्ड चिन्मयी दृष्टिसे बुद्धिकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हैं तथा नित्यमुक्त शुद्धसत्त्वमय, सर्वज्ञ, परमात्मस्वरूप, निर्विकार, आदि-पुरुष, षडैश्वर्य-सम्पन्न एवं तीनों गुणोंके अधीश्वर हैं। आप जीवसे सर्वथा भिन्न हैं तथा संसारकी स्थितिके लिये यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरूपसे विराजमान हैं॥ १५॥ आपसे ही विद्या-अविद्या आदि विरुद्ध गतियोंवाली अनेकों शक्तियाँ धारावाहिक रूपसे निरन्तर प्रकट होती रहती हैं। आप जगत्के कारण, अखण्ड, अनादि, अनन्त, आनन्दमय निर्विकार ब्रह्मस्वरूप हैं। मैं आपकी शरण हूँ॥ १६॥ भगवन्! आप परमानन्दमूर्ति हैं—जो लोग ऐसा समझकर निष्कामभावसे आपका निरन्तर भजन करते हैं, उनके लिये राज्यादि भोगोंकी अपेक्षा आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही भजनका सच्चा फल है। स्वामिन्! यद्यपि बात ऐसी ही है, तो भी गौ जैसे अपने तुरंतके जन्में हुए बछड़ेको दूध पिलाती और व्याघ्रादिसे बचाती रहती है, उसी प्रकार आप भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये निरन्तर विकल रहनेके कारण हम-जैसे सकाम जीवोंकी भी कामना पूर्ण करके उनकी संसार-भयसे रक्षा करते रहते हैं॥ १७॥

सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमर्य[2] भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥ १७

---

१. प्रा० पा०—न्तरे तदखि०। २. प्रा० पा०—माद्य।

मैत्रेय उवाच

अथाभिष्टुत एवं वै सत्संकल्पेन धीमता।
भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येदमब्रवीत्॥ १८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! जब शुभ संकल्पवाले मतिमान् ध्रुवजीने इस प्रकार स्तुति की तब भक्तवत्सल भगवान् उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक।
तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत॥ १९

नान्यैरधिष्ठितं भद्र[1] यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति[2]।
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम्॥ २०

मेढ्यां गोचक्रवत्स्थास्नु परस्तात्कल्पवासिनाम्।
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः॥ २१

श्रीभगवान्ने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजकुमार! मैं तेरे हृदयका संकल्प जानता हूँ। यद्यपि उस पदका प्राप्त होना बहुत कठिन है, तो भी मैं तुझे वह देता हूँ। तेरा कल्याण हो॥ १९॥

भद्र! जिस तेजोमय अविनाशी लोकको आजतक किसीने प्राप्त नहीं किया, जिसके चारों ओर ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र उसी प्रकार चक्कर काटता रहता है जिस प्रकार मेढीके* चारों ओर दँवरीके बैल घूमते रहते हैं। अवान्तर कल्पपर्यन्त रहनेवाले अन्य लोकोंका नाश हो जानेपर भी जो स्थिर रहता है तथा तारागणके सहित धर्म, अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि नक्षत्र एवं सप्तर्षिगण जिसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं, वह ध्रुवलोक मैं तुझे देता हूँ॥ २०-२१॥

प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः।
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः॥ २२

त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः।
अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति॥ २३

इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः।
भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि॥ २४

ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्।
उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः॥ २५

यहाँ भी जब तेरे पिता तुझे राजसिंहासन देकर वनको चले जायँगे; तब तू छत्तीस हजार वर्षतक धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करेगा। तेरी इन्द्रियोंकी शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी॥ २२॥ आगे चलकर किसी समय तेरा भाई उत्तम शिकार खेलता हुआ मारा जायगा, तब उसकी माता सुरुचि पुत्र-प्रेममें पागल होकर उसे वनमें खोजती हुई दावानलमें प्रवेश कर जायगी॥ २३॥ यज्ञ मेरी प्रिय मूर्ति है, तू अनेकों बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंके द्वारा मेरा यजन करेगा तथा यहाँ उत्तम-उत्तम भोग भोगकर अन्तमें मेरा ही स्मरण करेगा॥ २४॥ इससे तू अन्तमें सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय और सप्तर्षियोंसे भी ऊपर मेरे निज धामको जायगा, जहाँ पहुँच जानेपर फिर संसारमें लौटकर नहीं आना होता है॥ २५॥

---

१. प्रा० पा०—तत्र। २. प्रा० पा०—स्थिति।

* कटी हुई फसल धान-गेहूँ आदिको कुचलनेके लिये घुमाये जानेवाले बैल जिस खंभेमें बँधे रहते हैं, उसका नाम मेढी है।

मैत्रेय उवाच

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम्।
बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः॥ २६

सोऽपि संकल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम्।
प्राप्य संकल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम्॥ २७

विदुर उवाच

सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरे-
र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना
कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित्॥ २८

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान् स्मरन्।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान्॥ २९

ध्रुव उवाच

समाधिना नैकभवेन यत्पदं
विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो-
श्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः॥ ३०

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत।
भवच्छिदः पादमूलं गत्वायाचे यदन्तवत्॥ ३१

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः॥ ३२

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—बालक ध्रुवसे इस प्रकार पूजित हो और उसे अपना पद प्रदानकर भगवान् श्रीगरुडध्वज उसके देखते-देखते अपने लोकको चले गये॥ २६॥

प्रभुकी चरणसेवासे संकल्पित वस्तु प्राप्त हो जानेके कारण यद्यपि ध्रुवजीका संकल्प तो निवृत्त हो गया, किन्तु उनका चित्त विशेष प्रसन्न नहीं हुआ। फिर वे अपने नगरको लौट गये॥ २७॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! मायापति श्रीहरिका परमपद तो अत्यन्त दुर्लभ है और मिलता भी उनके चरणकमलोंकी उपासनासे ही है। ध्रुवजी भी सारासारका पूर्ण विवेक रखते थे; फिर एक ही जन्ममें उस परमपदको पा लेनेपर भी उन्होंने अपनेको अकृतार्थ क्यों समझा?॥ २८॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—ध्रुवजीका हृदय अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे बिंध गया था तथा वर माँगनेके समय भी उन्हें उनका स्मरण बना हुआ था; इसीसे उन्होंने मुक्तिदाता श्रीहरिसे मुक्ति नहीं माँगी। अब जब भगवद्दर्शनसे वह मनोमालिन्य दूर हो गया तो उन्हें अपनी इस भूलके लिये पश्चात्ताप हुआ॥ २९॥

ध्रुवजी मन-ही-मन कहने लगे—अहो! सनकादि ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) सिद्ध भी जिन्हें समाधिद्वारा अनेकों जन्मोंमें प्राप्त कर पाते हैं, उन भगवच्चरणोंकी छायाको मैंने छः महीनेमें ही पा लिया, किन्तु चित्तमें दूसरी वासना रहनेके कारण मैं फिर उनसे दूर हो गया॥ ३०॥

अहो! मुझ मन्दभाग्यकी मूर्खता तो देखो, मैंने संसार-पाशको काटनेवाले प्रभुके पादपद्मोंमें पहुँचकर भी उनसे नाशवान् वस्तुकी ही याचना की!॥ ३१॥ देवताओंको स्वर्गभोगके पश्चात् फिर नीचे गिरना होता है, इसलिये वे मेरी भगवत्प्राप्तिरूप उच्च स्थितिको सहन नहीं कर सके; अतः उन्होंने ही मेरी बुद्धिको नष्ट कर दिया। तभी तो मुझ दुष्टने नारदजीकी यथार्थ बात भी स्वीकार नहीं की॥ ३२॥

दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक्।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा॥ ३३

मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि।
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम्।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः॥ ३४

स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत।
ईश्वरात्क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः॥ ३५

मैत्रेय उवाच

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः॥ ३६

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथाऽऽगतम्।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम॥ ३७

श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम्॥ ३८

सदश्वं रथमारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम्।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः॥ ३९

यद्यपि संसारमें आत्माके सिवा दूसरा कोई भी नहीं है; तथापि सोया हुआ मनुष्य जैसे स्वप्नमें अपने ही कल्पना किये हुए व्याघ्रादिसे डरता है, उसी प्रकार मैंने भी भगवान्‌की मायासे मोहित होकर भाईको ही शत्रु मान लिया और व्यर्थ ही द्वेषरूप हार्दिक रोगसे जलने लगा॥ ३३॥ जिन्हें प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन है; उन्हीं विश्वात्मा श्रीहरिको तपस्या-द्वारा प्रसन्न करके मैंने जो कुछ माँगा है, वह सब व्यर्थ है; ठीक उसी तरह, जैसे गतायु पुरुषके लिये चिकित्सा व्यर्थ होती है। ओह! मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ, संसार-बन्धनका नाश करनेवाले प्रभुसे मैंने संसार ही माँगा॥ ३४॥ मैं बड़ा ही पुण्यहीन हूँ! जिस प्रकार कोई कँगला किसी चक्रवर्ती सम्राट्‌को प्रसन्न करके उससे तुषसहित चावलोंकी कनी माँगे, उसी प्रकार मैंने भी आत्मानन्द प्रदान करनेवाले श्रीहरिसे मूर्खतावश व्यर्थका अभिमान बढ़ानेवाले उच्चपदादि ही माँगे हैं॥ ३५॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—तात! तुम्हारी तरह जो लोग श्रीमुकुन्दपादारविन्द-मकरन्दके ही मधुकर हैं—जो निरन्तर प्रभुकी चरण-रजका ही सेवन करते हैं और जिनका मन अपने-आप आयी हुई सभी परिस्थितियोंमें सन्तुष्ट रहता है, वे भगवान्‌से उनकी सेवाके सिवा अपने लिये और कोई भी पदार्थ नहीं माँगते॥ ३६॥

इधर जब राजा उत्तानपादने सुना कि उनका पुत्र ध्रुव घर लौट रहा है, तो उन्हें इस बातपर वैसे ही विश्वास नहीं हुआ जैसे कोई किसीके यमलोकसे लौटनेकी बातपर विश्वास न करे। उन्होंने यह सोचा कि 'मुझ अभागेका ऐसा भाग्य कहाँ'॥ ३७॥ परन्तु फिर उन्हें देवर्षि नारदकी बात याद आ गयी। इससे उनका इस बातमें विश्वास हुआ और वे आनन्दके वेगसे अधीर हो उठे। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह समाचार लानेवालेको एक बहुमूल्य हार दिया॥ ३८॥ राजा उत्तानपादने पुत्रका मुख देखनेके लिये उत्सुक होकर बहुत-से ब्राह्मण, कुलके बड़े-बूढ़े, मन्त्री और बन्धुजनोंको साथ लिया तथा एक बढ़िया घोड़ोंवाले

शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः।
निश्चक्राम पुरात्तूर्णमात्मजाभीक्षणोत्सुकः॥ ४०
सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते।
आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः॥ ४१
तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात्।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः॥ ४२
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन्।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम्॥ ४३
अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि शीतैर्[1]नयनवारिभिः।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः॥ ४४
अभिवन्द्य[2] पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः[3]।
ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः॥ ४५
सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम्।
परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा॥ ४६
यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्॥ ४७
उत्तमश्च ध्रुवश्चोभावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ।
अंगसंगादुत्पुलकावस्रौघं मुहुरूहतुः॥ ४८
सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम्।
उपगुह्य जहावाधिं तदंगस्पर्शनिर्वृता॥ ४९

सुवर्णजटित रथपर सवार होकर वे झटपट नगरके बाहर आये। उनके आगे-आगे वेदध्वनि होती जाती थी तथा शंख, दुन्दुभि एवं वंशी आदि अनेकों मांगलिक बाजे बजते जाते थे॥ ३९-४०॥ उनकी दोनों रानियाँ सुनीति और सुरुचि भी सुवर्णमय आभूषणोंसे बिभूषित हो राजकुमार उत्तमके साथ पालकियोंपर चढ़कर चल रही थीं॥ ४१॥ ध्रुवजी उपवनके पास आ पहुँचे, उन्हें देखते ही महाराज उत्तानपाद तुरंत रथसे उतर पड़े। पुत्रको देखनेके लिये वे बहुत दिनोंसे उत्कण्ठित हो रहे थे। उन्होंने झटपट आगे बढ़कर प्रेमातुर हो, लंबी-लंबी साँसें लेते हुए, ध्रुवको भुजाओंमें भर लिया। अब ये पहलेके ध्रुव नहीं थे, प्रभुके परमपुनीत पादपद्मोंका स्पर्श होनेसे इनके समस्त पाप-बन्धन कट गये थे॥ ४२-४३॥ राजा उत्तानपादकी एक बहुत बड़ी कामना पूर्ण हो गयी। उन्होंने बार-बार पुत्रका सिर सूँघा और आनन्द तथा प्रेमके कारण निकलनेवाले ठंडे-ठंडे* आँसुओंसे उन्हें नहला दिया॥ ४४॥

तदनन्तर सज्जनोंमें अग्रगण्य ध्रुवजीने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और उनसे आशीर्वाद पाकर, कुशल-प्रश्नादिसे सम्मानित हो दोनों माताओंको प्रणाम किया॥ ४५॥ छोटी माता सुरुचिने अपने चरणोंपर झुके हुए बालक ध्रुवको उठाकर हृदयसे लगा लिया और अश्रुगद्गद वाणीसे 'चिरंजीवी रहो' ऐसा आशीर्वाद दिया॥ ४६॥ जिस प्रकार जल स्वयं ही नीचेकी ओर बहने लगता है—उसी प्रकार मैत्री आदि गुणोंके कारण जिसपर श्रीभगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, उसके आगे सभी जीव झुक जाते हैं॥ ४७॥ इधर उत्तम और ध्रुव दोनों ही प्रेमसे विह्वल होकर मिले। एक- दूसरेके अंगोंका स्पर्श पाकर उन दोनोंके ही शरीरमें रोमांच हो आया तथा नेत्रोंसे बार-बार आसुओंकी धारा बहने लगी॥ ४८॥ ध्रुवकी माता सुनीति अपने प्राणोंसे भी प्यारे पुत्रको गले लगाकर सारा सन्ताप भूल गयी। उसके सुकुमार अंगोंके स्पर्शसे उसे बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ॥ ४९॥

१. प्रा० पा०—शान्तै०। २. प्रा० पा०—वाद्य। ३. प्रा० पा०—चानुम०।
* आनन्द या प्रेमके कारण जो आँसू आते हैं वे ठंडे हुआ करते हैं और शोकके आँसू गरम होते हैं।

पयःस्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः॥ ५०

तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः॥ ५१

अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान् प्रणतार्तिहा।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम्॥ ५२

लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः।
आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम्॥ ५३

तत्र तत्रोपसंक्लृप्तैर्लसन्मकरतोरणैः।
सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः॥ ५४

चूतपल्लववासःस्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः।
उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः॥ ५५

प्राकारैर्गोपुरागारैः शातकुम्भपरिच्छदैः।
सर्वतोऽलंकृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः॥ ५६

मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम्।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम्॥ ५७

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च॥ ५८

उपजह्रुः प्रयुंजाना वात्सल्यादाशिषः सतीः।
शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः॥ ५९

वीरवर विदुरजी! वीरमाता सुनीतिके स्तन उसके नेत्रोंसे झरते हुए मंगलमय आनन्दाश्रुओंसे भीग गये और उनसे बार-बार दूध बहने लगा॥ ५०॥ उस समय पुरवासी लोग उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे, 'महारानीजी! आपका लाल बहुत दिनोंसे खोया हुआ था; सौभाग्यवश अब वह लौट आया, यह हम सबका दुःख दूर करनेवाला है। बहुत दिनोंतक भूमण्डलकी रक्षा करेगा ॥ ५१॥ आपने अवश्य ही शरणागतभयभंजन श्रीहरिकी उपासना की है। उनका निरन्तर ध्यान करनेवाले धीर पुरुष परम दुर्जय मृत्युको भी जीत लेते हैं'॥ ५२॥

विदुरजी! इस प्रकार जब सभी लोग ध्रुवके प्रति अपना लाड़-प्यार प्रकट कर रहे थे, उसी समय उन्हें भाई उत्तमके सहित हथिनीपर चढ़ाकर महाराज उत्तानपादने बड़े हर्षके साथ राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय सभी लोग उनके भाग्यकी बड़ाई कर रहे थे॥ ५३॥

नगरमें जहाँ-तहाँ मगरके आकारके सुन्दर दरवाजे बनाये गये थे तथा फल-फूलोंके गुच्छोंके सहित केलेके खम्भे और सुपारीके पौधे सजाये गये थे॥ ५४॥ द्वार-द्वारपर दीपकके सहित जलके कलश रखे हुए थे—जो आमके पत्तों, वस्त्रों, पुष्पमालाओं तथा मोतीकी लड़ियोंसे सुसज्जित थे॥ ५५॥ जिन अनेकों परकोटों, फाटकों और महलोंसे नगरी सुशोभित थी, उन सबको सुवर्णकी सामग्रियोंसे सजाया गया था तथा उनके कँगूरे विमानोंके शिखरोंके समान चमक रहे थे॥ ५६॥ नगरके चौक, गलियों, अटारियों और सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर चन्दनका छिड़काव किया गया था और जहाँ-तहाँ खील, चावल, पुष्प, फल, जौ एवं अन्य मांगलिक उपहार-सामग्रियाँ सजी रखी थीं॥ ५७॥ ध्रुवजी राजमार्गसे जा रहे थे। उस समय जहाँ-तहाँ नगरकी शीलवती सुन्दरियाँ उन्हें देखनेको एकत्र हो रही थीं। उन्होंने वात्सल्यभावसे अनेकों शुभाशीर्वाद देते हुए उनपर सफेद सरसों, अक्षत, दही, जल, दूर्वा, पुष्प और फलोंकी वर्षा की। इस प्रकार उनके मनोहर गीत सुनते हुए ध्रुवजीने अपने पिताके महलमें प्रवेश किया॥ ५८-५९॥

महामणिव्रातमये स तस्मिन् भवनोत्तमे।
लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत्॥ ६०

वह श्रेष्ठ भवन महामूल्य मणियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित था। उसमें अपने पिताजीके लाड़-प्यारका सुख भोगते हुए वे उसी प्रकार आनन्दपूर्वक रहने लगे, जैसे स्वर्गमें देवतालोग रहते हैं॥ ६०॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः॥ ६१

वहाँ दूधके फेनके समान सफेद और कोमल शय्याएँ, हाथी-दाँतके पलंग, सुनहरी कामदार परदे, बहुमूल्य आसन और बहुत-सा सोनेका सामान था॥ ६१॥

यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः॥ ६२

उसकी स्फटिक और महामरकतमणि (पन्ने)-की दीवारोंमें रत्नोंकी बनी हुई स्त्रीमूर्तियोंपर रखे हुए मणिमय दीपक जगमगा रहे थे॥ ६२॥

उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः।
कूजद्विहंगमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः॥ ६३

उस महलके चारों ओर अनेक जातिके दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित उद्यान थे, जिनमें नर और मादा पक्षियोंका कलरव तथा मतवाले भौंरोंका गुंजार होता रहता था॥ ६३॥

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः।
हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः॥ ६४

उन बगीचोंमें वैदूर्यमणि (पुखराज)-की सीढ़ियोंसे सुशोभित बावलियाँ थीं—जिनमें लाल, नीले और सफेद रंगके कमल खिले रहते थे तथा हंस, कारण्डव, चकवा एवं सारस आदि पक्षी क्रीडा करते रहते थे॥ ६४॥

उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम्॥ ६५

राजर्षि उत्तानपादने अपने पुत्रके अति अद्भुत प्रभावकी बात देवर्षि नारदसे पहले ही सुन रखी थी; अब उसे प्रत्यक्ष वैसा ही देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ६५॥

वीक्ष्योढवयसं तं च प्रकृतीनां च सम्मतम्।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम्॥ ६६

फिर यह देखकर कि अब ध्रुव तरुण अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं, अमात्यवर्ग उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते हैं तथा प्रजाका भी उनपर अनुराग है, उन्होंने उन्हें निखिल भूमण्डलके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया॥ ६६॥

आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम्॥ ६७

और आप वृद्धावस्था आयी जानकर आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए संसारसे विरक्त होकर वनको चल दिये॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
ध्रुवराज्याभिषेकवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

उत्तमका मारा जाना, ध्रुवका यक्षोंके साथ युद्ध

मैत्रेय उवाच

प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! ध्रुवने प्रजापति शिशुमारकी पुत्री भ्रमिके साथ विवाह किया, उससे उनके कल्प और वत्सर नामके दो पुत्र हुए॥ १॥

इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत्॥ २
उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता॥ ३

महाबली ध्रुवकी दूसरी स्त्री वायुपुत्री इला थी। उससे उनके उत्कल नामके एक पुत्र और एक कन्यारत्नका जन्म हुआ॥ २॥ उत्तमका अभी विवाह नहीं हुआ था कि एक दिन शिकार खेलते समय उसे हिमालय पर्वतपर एक बलवान् यक्षने मार डाला। उसके साथ उसकी माता भी परलोक सिधार गयी॥ ३॥

ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पितः।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम्॥ ४
गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम्।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसंकुलाम्॥ ५
दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन्।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन्भृशम्॥ ६

ध्रुवने जब भाईके मारे जानेका समाचार सुना तो वे क्रोध, शोक और उद्वेगसे भरकर एक विजयप्रद रथपर सवार हो यक्षोंके देशमें जा पहुँचे॥ ४॥ उन्होंने उत्तर दिशामें जाकर हिमालयकी घाटीमें यक्षोंसे भरी हुई अलकापुरी देखी, उसमें अनेकों भूत-प्रेत-पिशाचादि रुद्रानुचर रहते थे॥ ५॥ विदुरजी! वहाँ पहुँचकर महाबाहु ध्रुवने अपना शंख बजाया तथा सम्पूर्ण आकाश और दिशाओंको गुँजा दिया। उस शंखध्वनिसे यक्ष-पत्नियाँ बहुत ही डर गयीं, उनकी आँखें भयसे कातर हो उठीं॥ ६॥

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः॥ ७
स तानापततो वीर उग्रधन्वा महारथः।
एकैकं युगपत्सर्वानहन् बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः॥ ८
ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन् कर्म तस्य तत्॥ ९
तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः।
शरैरविध्यन् युगपद् द्विगुणं प्रचिकीर्षवः॥ १०
ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः।
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि॥ ११
अभ्यवर्षन् प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम्।
इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुमयुतानि त्रयोदश॥ १२
औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा।
न उपादृश्यतच्छन्न आसारेण यथा गिरिः॥ १३

वीरवर विदुरजी! महाबलवान् यक्षवीरोंको वह शंखनाद सहन न हुआ। इसलिये वे तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरके बाहर निकल आये और ध्रुवपर टूट पड़े॥ ७॥ महारथी ध्रुव प्रचण्ड धनुर्धर थे। उन्होंने एक ही साथ उनमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन बाण मारे॥ ८॥ उन सभीने जब अपने-अपने मस्तकोंमें तीन-तीन बाण लगे देखे, तब उन्हें यह विश्वास हो गया कि हमारी हार अवश्य होगी। वे ध्रुवजीके इस अद्भुत पराक्रमकी प्रशंसा करने लगे॥ ९॥ फिर जैसे सर्प किसीके पैरोंका आघात नहीं सहते, उसी प्रकार ध्रुवके इस पराक्रमको न सहकर उन्होंने भी उनके बाणोंके जवाबमें एक ही साथ उनसे दूने—छः-छः बाण छोड़े॥ १०॥ यक्षोंकी संख्या तेरह अयुत (१,३०,०००) थी। उन्होंने ध्रुवजीका बदला लेनेके लिये अत्यन्त कुपित होकर रथ और सारथीके सहित उनपर परिघ, खड्ग, प्रास, त्रिशूल, फरसा, शक्ति, ऋष्टि, भुशुण्डी तथा चित्र-विचित्र पंखदार बाणोंकी वर्षा की॥ ११-१२॥ इस भीषण शस्त्रवर्षासे ध्रुवजी बिलकुल ढक गये। तब लोगोंको उनका दीखना वैसे ही बंद हो गया, जैसे भारी वर्षासे पर्वतका॥ १३॥

हाहाकारस्तदैवासीत्सिद्धानां दिवि पश्यताम्।
हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे॥ १४
नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे।
उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः॥ १५
धनुर्विस्फूर्जयन्दिव्यं द्विषतां खेदमुद्वहन्।
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः॥ १६
तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम्।
कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा॥ १७
भल्लैः संछिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः।
ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः ॥ १८
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च महाधनैः।
आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीरमनोहराः॥ १९
हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद्
रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः।
प्रायो विवृक्णावयवा विदुद्रुवु-
र्मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव॥ २०
अपश्यमानः स तदाऽऽततायिनं
महामृधे कंचन मानवोत्तमः।
पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद् द्विषां
न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः॥ २१
इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं
यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं
नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत॥ २२

उस समय जो सिद्धगण आकाशमें स्थित होकर यह दृश्य देख रहे थे, वे सब हाय-हाय करके कहने लगे—'आज यक्षसेनारूप समुद्रमें डूबकर यह मानव-सूर्य अस्त हो गया'॥ १४॥ यक्षलोग अपनी विजयकी घोषणा करते हुए युद्धक्षेत्रमें सिंहकी तरह गरजने लगे। इसी बीचमें ध्रुवजीका रथ एकाएक वैसे ही प्रकट हो गया, जैसे कुहरेमेंसे सूर्यभगवान् निकल आते हैं॥ १५॥

ध्रुवजीने अपने दिव्य धनुषकी टंकार करके शत्रुओंके दिल दहला दिये और फिर प्रचण्ड बाणोंकी वर्षा करके उनके अस्त्र-शस्त्रोंको इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया, जैसे आँधी बादलोंको तितर-बितर कर देती है॥ १६॥ उनके धनुषसे छूटे हुए तीखे तीर यक्ष-राक्षसोंके कवचोंको भेदकर इस प्रकार उनके शरीरोंमें घुस गये, जैसे इन्द्रके छोड़े हुए वज्र पर्वतोंमें प्रवेश कर गये थे॥ १७॥ विदुरजी! महाराज ध्रुवके बाणोंसे कटे हुए यक्षोंके सुन्दर कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे, सुनहरी तालवृक्षके समान जाँघोंसे, वलयविभूषित बाहुओंसे, हार, भुजबन्ध, मुकुट और बहुमूल्य पगड़ियोंसे पटी हुई वह वीरोंके मनको लुभानेवाली समरभूमि बड़ी शोभा पा रही थी॥ १८-१९॥

जो यक्ष किसी प्रकार जीवित बचे, वे क्षत्रियप्रवर ध्रुवजीके बाणोंसे प्रायः अंग-अंग छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण युद्धक्रीडामें सिंहसे परास्त हुए गजराजके समान मैदान छोड़कर भाग गये॥ २०॥

नरश्रेष्ठ ध्रुवजीने देखा कि उस विस्तृत रणभूमिमें अब एक भी शत्रु अस्त्र-शस्त्र लिये उनके सामने नहीं है, तो उनकी इच्छा अलकापुरी देखनेकी हुई; किन्तु वे पुरीके भीतर नहीं गये 'ये मायावी क्या करना चाहते हैं इस बातका मनुष्यको पता नहीं लग सकता' सारथिसे इस प्रकार कहकर वे उस विचित्र रथमें बैठे रहे तथा शत्रुके नवीन आक्रमणकी आशंकासे सावधान हो गये। इतनेमें ही उन्हें समुद्रकी गर्जनाके समान आँधीका भीषण शब्द सुनायी दिया तथा दिशाओंमें उठती हुई धूल भी दिखायी दी॥ २१-२२॥

क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः।
विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत्स्तनयित्नुना॥ २३
ववृषू रुधिरौघासृक्पूयविण्मूत्रमेदसः।
निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ॥ २४
ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतोदिशम्।
गदापरिघनिस्त्रिंशमुसलाः साश्मवर्षिणः॥ २५
अहयोऽशनिनिःश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः।
अभ्यधावन् गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः॥ २६
समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन् सर्वतो भुवम्।
आससाद महाह्रादः कल्पान्त इव भीषणः॥ २७
एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम्।
ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः॥ २८
ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम्।
निशाम्य तस्य मुनयः शमाशंसन् समागताः॥ २९

एक क्षणमें ही सारा आकाश मेघमालासे घिर गया। सब ओर भयंकर गड़गड़ाहटके साथ बिजली चमकने लगी॥ २३॥ निष्पाप विदुरजी! उन बादलोंसे खून, कफ, पीब, विष्ठा, मूत्र एवं चर्बीकी वर्षा होने लगी और ध्रुवजीके आगे आकाशसे बहुत-से धड़ गिरने लगे॥ २४॥ फिर आकाशमें एक पर्वत दिखायी दिया और सभी दिशाओंमें पत्थरोंकी वर्षाके साथ गदा, परिघ, तलवार और मूसल गिरने लगे॥ २५॥ उन्होंने देखा कि बहुत-से सर्प वज्रकी तरह फुफकार मारते रोषपूर्ण नेत्रोंसे आगकी चिनगारियाँ उगलते आ रहे हैं; झुंड-के-झुंड मतवाले हाथी, सिंह और बाघ भी दौड़े चले आ रहे हैं॥ २६॥ प्रलयकालके समान भयंकर समुद्र अपनी उत्ताल तरंगोंसे पृथ्वीको सब ओरसे डुबाता हुआ बड़ी भीषण गर्जनाके साथ उनकी ओर बढ़ रहा है॥ २७॥ क्रूरस्वभाव असुरोंने अपनी आसुरी मायासे ऐसे ही बहुत-से कौतुक दिखलाये, जिनसे कायरोंके मन काँप सकते थे॥ २८॥ ध्रुवजीपर असुरोंने अपनी दुस्तर माया फैलायी है, यह सुनकर वहाँ कुछ मुनियोंने आकर उनके लिये मंगल कामना की॥ २९॥

मुनय ऊचुः

औत्तानपादे भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा
देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान्।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा
लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमंग मृत्युम्॥ ३०

मुनियोंने कहा—उत्तानपादनन्दन ध्रुव! शरणागत-भयभंजन शार्ङ्गपाणि भगवान् नारायण तुम्हारे शत्रुओंका संहार करें। भगवान्का तो नाम ही ऐसा है, जिसके सुनने और कीर्तन करनेमात्रसे मनुष्य दुस्तर मृत्युके मुखसे अनायास ही बच जाता है॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

स्वायम्भुव-मनुका ध्रुवजीको युद्ध बंद करनेके लिये समझाना

मैत्रेय उवाच

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः।
संदधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम्॥ १

संधीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा॥ २

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! ऋषियोंका ऐसा कथन सुनकर महाराज ध्रुवने आचमन कर श्रीनारायणके बनाये हुए नारायणास्त्रको अपने धनुषपर चढ़ाया॥ १॥ उस बाणके चढ़ाते ही यक्षोंद्वारा रची हुई नाना प्रकारकी माया उसी क्षण नष्ट हो गयी, जिस प्रकार ज्ञानका उदय होनेपर अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं॥ २॥

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुंजतः
सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः।
विनिःसृता आविविशुर्द्विषद्बलं
यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः॥ ३
तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखै-
रितस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः।
तमभ्यधावन् कुपिता उदायुधाः
सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः॥ ४
स तान् पृषत्कैरभिधावतो मृधे
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान्।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः॥ ५
तान् हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-
ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो
मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः॥ ६

मनुरुवाच

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः॥ ७
नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम्।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम्॥ ८
नन्वेकस्यापराधेन प्रसंगाद् बहवो हताः।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयांग भ्रातृवत्सल॥ ९
नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम्।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम्॥ १०
सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान्।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम्॥ ११

ऋषिवर नारायणके द्वारा आविष्कृत उस अस्त्रको धनुषपर चढ़ाते ही उससे राजहंसके-से पक्ष और सोनेके फलवाले बड़े तीखे बाण निकले और जिस प्रकार मयूर केकारव करते वनमें घुस जाते हैं, उसी प्रकार भयानक साँय-साँय शब्द करते हुए वे शत्रुकी सेनामें घुस गये॥ ३॥ उन तीखी धारवाले बाणोंने शत्रुओंको बेचैन कर दिया। तब उस रणांगणमें अनेकों यक्षोंने अत्यन्त कुपित होकर अपने अस्त्र-शस्त्र सँभाले और जिस प्रकार गरुड़के छेड़नेसे बड़े-बड़े सर्प फन उठाकर उनकी ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार वे इधर-उधरसे ध्रुवजीपर टूट पड़े॥ ४॥ उन्हें सामने आते देख ध्रुवजीने अपने बाणोंद्वारा उनकी भुजाएँ, जाँघें, कंधे और उदर आदि अंग-प्रत्यंगोंको छिन्न-भिन्न कर उन्हें उस सर्वश्रेष्ठ लोक (सत्यलोक)-में भेज दिया, जिसमें ऊर्ध्वरेता मुनिगण सूर्यमण्डलका भेदन करके जाते हैं॥ ५॥ अब उनके पितामह स्वायम्भुव मनुने देखा कि विचित्र रथपर चढ़े हुए ध्रुव अनेकों निरपराध यक्षोंको मार रहे हैं, तो उन्हें उनपर बहुत दया आयी। वे बहुत-से ऋषियोंको साथ लेकर वहाँ आये और अपने पौत्र ध्रुवको समझाने लगे॥ ६॥

मनुजीने कहा—बेटा! बस, बस! अधिक क्रोध करना ठीक नहीं। यह पापी नरकका द्वार है। इसीके वशीभूत होकर तुमने इन निरपराध यक्षोंका वध किया है॥ ७॥ तात! तुम जो निर्दोष यक्षोंके संहारपर उतर रहे हो, यह हमारे कुलके योग्य कर्म नहीं है; साधु पुरुष इसकी बड़ी निन्दा करते हैं॥ ८॥ बेटा! तुम्हारा अपने भाईपर बड़ा अनुराग था, यह तो ठीक है; परन्तु देखो, उसके वधसे सन्तप्त होकर तुमने एक यक्षके अपराध करनेपर प्रसंगवश कितनोंकी हत्या कर डाली॥ ९॥ इस जड शरीरको ही आत्मा मानकर इसके लिये पशुओंकी भाँति प्राणियोंकी हिंसा करना यह भगवत्सेवी साधुजनोंका मार्ग नहीं है॥ १०॥ प्रभुकी आराधना करना बड़ा कठिन है, परन्तु तुमने तो लड़कपनमें ही सम्पूर्ण भूतोंके आश्रय-स्थान श्रीहरिकी सर्वभूतात्मभावसे आराधना करके उनका परमपद प्राप्त कर लिया है॥ ११॥

स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः।
कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन् सतां व्रतम्॥ १२

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति॥ १३

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति॥ १४

भूतैः पंचभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि।
तयोर्व्यवायात्सम्भूतिर्योषित्पुरुषयोरिह ॥ १५

एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च।
गुणव्यतिकराद्राजन् मायया परमात्मनः॥ १६

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत्॥ १७

स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या॥ १८

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम्॥ १९

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः॥ २०

तुम्हें तो प्रभु भी अपना प्रिय भक्त समझते हैं तथा भक्तजन भी तुम्हारा आदर करते हैं। तुम साधुजनोंके पथप्रदर्शक हो; फिर भी तुमने ऐसा निन्दनीय कर्म कैसे किया?॥ १२॥ सर्वात्मा श्रीहरि तो अपनेसे बड़े पुरुषोंके प्रति सहनशीलता, छोटोंके प्रति दया, बराबरवालोंके साथ मित्रता और समस्त जीवोंके साथ समताका बर्ताव करनेसे ही प्रसन्न होते हैं॥ १३॥ और प्रभुके प्रसन्न हो जानेपर पुरुष प्राकृत गुण एवं उनके कार्यरूप लिंगशरीरसे छूटकर परमानन्दस्वरूप ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

बेटा ध्रुव! देहादिके रूपमें परिणत हुए पंचभूतोंसे स्त्री-पुरुषका आविर्भाव होता है और फिर उनके पारस्परिक समागमसे दूसरे स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं॥ १५॥ ध्रुव! इस प्रकार भगवान्की मायासे सत्त्वादि गुणोंमें न्यूनाधिकभाव होनेसे ही जैसे भूतोंद्वारा शरीरोंकी रचना होती है, वैसे ही उनकी स्थिति और प्रलय भी होते हैं॥ १६॥ पुरुषश्रेष्ठ! निर्गुण परमात्मा तो इनमें केवल निमित्तमात्र है; उसके आश्रयसे यह कार्यकारणात्मक जगत् उसी प्रकार भ्रमता रहता है, जैसे चुम्बकके आश्रयसे लोहा॥ १७॥ काल-शक्तिके द्वारा क्रमशः सत्त्वादि गुणोंमें क्षोभ होनेसे लीलामय भगवान्की शक्ति भी सृष्टि आदिके रूपमें विभक्त हो जाती है; अतः भगवान् अकर्ता होकर भी जगत्की रचना करते हैं और संहार करनेवाले न होकर भी इसका संहार करते हैं। सचमुच उन अनन्त प्रभुकी लीला सर्वथा अचिन्तनीय है॥ १८॥ ध्रुव! वे कालस्वरूप अव्यय परमात्मा ही स्वयं अन्तरहित होकर भी जगत्का अन्त करनेवाले हैं तथा अनादि होकर भी सबके आदिकर्ता हैं। वे ही एक जीवसे दूसरे जीवको उत्पन्न कर संसारकी सृष्टि करते हैं तथा मृत्युके द्वारा मारनेवालेको भी मरवाकर उसका संहार करते हैं॥ १९॥ वे कालभगवान् सम्पूर्ण सृष्टिमें समानरूपसे अनुप्रविष्ट हैं। उनका न तो कोई मित्रपक्ष है और न शत्रुपक्ष। जैसे वायुके चलनेपर धूल उसके साथ-साथ उड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीव अपने-अपने कर्मोंके अधीन होकर कालकी गतिका अनुसरण करते हैं—अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखादि फल भोगते हैं॥ २०॥

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ॥ २१
केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे॥ २२
अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ[1] स्वसम्भवम्॥ २३
न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम्॥ २४
स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च।
अथापि ह्यनहंकारान्नाज्यते गुणकर्मभिः॥ २५
एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च॥ २६
तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम्।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः॥ २७
यः पंचवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः॥ २८
तमेनमंगात्मनि[2] मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम्।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग्
यस्मिन्निदं भेदमसत् प्रतीयते॥ २९

सर्वसमर्थ श्रीहरि कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवकी आयुकी वृद्धि और क्षयका विधान करते हैं, परन्तु वे स्वयं इन दोनोंसे रहित और अपने स्वरूपमें स्थित हैं॥ २१॥ राजन्! इन परमात्माको ही मीमांसकलोग कर्म, चार्वाक स्वभाव, वैशेषिकमतावलम्बी काल, ज्योतिषी दैव और कामशास्त्री काम कहते हैं ॥ २२॥ वे किसी भी इन्द्रिय या प्रमाणके विषय नहीं हैं। महदादि अनेक शक्तियाँ भी उन्हींसे प्रकट हुई हैं। वे क्या करना चाहते हैं, इस बातको भी संसारमें कोई नहीं जानता; फिर अपने मूल कारण उन प्रभुको तो जान ही कौन सकता है॥ २३॥

बेटा! ये कुबेरके अनुचर तुम्हारे भाईको मारनेवाले नहीं हैं, क्योंकि मनुष्यके जन्म-मरणका वास्तविक कारण तो ईश्वर है॥ २४॥ एकमात्र वही संसारको रचता, पालता और नष्ट करता है, किन्तु अहंकारशून्य होनेके कारण इसके गुण और कर्मोंसे वह सदा निर्लेप रहता है॥ २५॥ वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा, नियन्ता और रक्षा करनेवाले प्रभु ही अपनी मायाशक्तिसे युक्त होकर समस्त जीवोंका सृजन, पालन और संहार करते हैं॥ २६॥ जिस प्रकार नाकमें नकेल पड़े हुए बैल अपने मालिकका बोझा ढोते रहते हैं, उसी प्रकार जगत्‌की रचना करनेवाले ब्रह्मादि भी नामरूप डोरीसे बँधे हुए उन्हींकी आज्ञाका पालन करते हैं। वे अभक्तोंके लिये मृत्युरूप और भक्तोंके लिये अमृतरूप हैं तथा संसारके एकमात्र आश्रय हैं। तात! तुम सब प्रकार उन्हीं परमात्माकी शरण लो॥ २७॥ तुम पाँच वर्षकी ही अवस्थामें अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे मर्माहत होकर माँकी गोद छोड़कर वनको चले गये थे। वहाँ तपस्याद्वारा जिन हृषीकेश भगवान्‌की आराधना करके तुमने त्रिलोकीसे ऊपर ध्रुवपद प्राप्त किया है और जो तुम्हारे वैरभावहीन सरल हृदयमें वात्सल्यवश विशेषरूपसे विराजमान हुए थे, उन निर्गुण अद्वितीय अविनाशी और नित्यमुक्त परमात्माको अध्यात्मदृष्टिसे अपने अन्तःकरणमें ढूँढ़ो। उनमें यह भेदभावमय प्रपंच न होनेपर भी प्रतीत हो रहा है॥ २८-२९॥

१. प्रा० पा०—वेदास्य च संभ०। २. प्रा० पा०—मेवम०।

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्॥ ३०

ऐसा करनेसे सर्वशक्तिसम्पन्न परमानन्दस्वरूप सर्वान्तर्यामी भगवान् अनन्तमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी और उसके प्रभावसे तुम मैं-मेरेपनके रूपमें दृढ़ हुई अविद्याकी गाँठको काट डालोगे॥ ३०॥

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम्।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथाऽऽमयम्॥ ३१

येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम्।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः॥ ३२

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम्।
यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः॥ ३३

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः।
न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति॥ ३४

एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम्।
तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ॥ ३५

राजन्! जिस प्रकार ओषधिसे रोग शान्त किया जाता है—उसी प्रकार मैंने तुम्हें जो कुछ उपदेश दिया है, उसपर विचार करके अपने क्रोधको शान्त करो। क्रोध कल्याणमार्गका बड़ा ही विरोधी है। भगवान् तुम्हारा मंगल करें॥ ३१॥ क्रोधके वशीभूत हुए पुरुषसे सभी लोगोंको बड़ा भय होता है; इसलिये जो बुद्धिमान् पुरुष ऐसा चाहता है कि मुझसे किसी भी प्राणीको भय न हो और मुझे भी किसीसे भय न हो, उसे क्रोधके वशमें कभी न होना चाहिये॥ ३२॥ तुमने जो यह समझकर कि ये मेरे भाईके मारनेवाले हैं, इतने यक्षोंका संहार किया है, इससे तुम्हारे द्वारा भगवान् शंकरके सखा कुबेरजीका बड़ा अपराध हुआ है॥ ३३॥ इसलिये बेटा! जबतक कि महापुरुषोंका तेज हमारे कुलको आक्रान्त नहीं कर लेता; इसके पहले ही विनम्र भाषण और विनयके द्वारा शीघ्र उन्हें प्रसन्न कर लो॥ ३४॥ इस प्रकार स्वायम्भुव मनुने अपने पौत्र ध्रुवको शिक्षा दी। तब ध्रुवजीने उन्हें प्रणाम किया। इसके पश्चात् वे महर्षियोंके सहित अपने लोकको चले गये॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

ध्रुवजीको कुबेरका वरदान और विष्णुलोककी प्राप्ति

मैत्रेय उवाच

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य वैशसा-
दपेतमन्युं भगवान् धनेश्वरः।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः
संस्तूयमानोऽभ्यवदत्कृतांजलिम्॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! ध्रुवका क्रोध शान्त हो गया है और वे यक्षोंके वधसे निवृत्त हो गये हैं, यह जानकर भगवान् कुबेर वहाँ आये। उस समय यक्ष, चारण और किन्नरलोग उनकी स्तुति कर रहे थे। उन्हें देखते ही ध्रुवजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब कुबेरने कहा॥ १॥

धनद उवाच

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ।
यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः॥ २

श्रीकुबेरजी बोले—शुद्धहृदय क्षत्रियकुमार! तुमने अपने दादाके उपदेशसे ऐसा दुस्त्यज वैर त्याग दिया; इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ॥ २॥

न भवानवधीद्यक्षान्न यक्षा भ्रातरं तव।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः॥ ३
अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात्पुरुषस्य हि।
स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ॥ ४
तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम्॥ ५
भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम्।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्याऽऽत्ममायया॥ ६
वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं
मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।
वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयो-
रनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम॥ ७

मैत्रेय उवाच

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः॥ ८
तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैडविडस्ततः।
पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत॥ ९
अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम्॥ १०
सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन्।
ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम्॥ ११
तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम्।
गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः॥ १२

वास्तवमें न तुमने यक्षोंको मारा है और न यक्षोंने तुम्हारे भाईको। समस्त जीवोंकी उत्पत्ति और विनाशका कारण तो एकमात्र काल ही है॥ ३॥ यह मैं-तू आदि मिथ्याबुद्धि तो जीवको अज्ञानवश स्वप्नके समान शरीरादिको ही आत्मा माननेसे उत्पन्न होती है। इसीसे मनुष्यको बन्धन एवं दुःखादि विपरीत अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है॥ ४॥

ध्रुव! अब तुम जाओ, भगवान् तुम्हारा मंगल करें। तुम संसारपाशसे मुक्त होनेके लिये सब जीवोंमें समदृष्टि रखकर सर्वभूतात्मा भगवान् श्रीहरिका भजन करो। वे संसारपाशका छेदन करनेवाले हैं तथा संसारकी उत्पत्ति आदिके लिये अपनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्तिसे युक्त होकर भी वास्तवमें उससे रहित हैं। उनके चरणकमल ही सबके लिये भजन करनेयोग्य हैं॥ ५-६॥ प्रियवर! हमने सुना है, तुम सर्वदा भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंके समीप रहनेवाले हो; इसलिये तुम अवश्य ही वर पानेयोग्य हो। ध्रुव! तुम्हें जिस वरकी इच्छा हो, मुझसे निःसंकोच एवं निःशंक होकर माँग लो॥ ७॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! यक्षराज कुबेरने जब इस प्रकार वर माँगनेके लिये आग्रह किया, तब महाभागवत महामति ध्रुवजीने उनसे यही माँगा कि मुझे श्रीहरिकी अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य सहज ही दुस्तर संसारसागरको पार कर जाता है॥ ८॥ इडविडाके पुत्र कुबेरजीने बड़े प्रसन्न मनसे उन्हें भगवत्स्मृति प्रदान की। फिर उनके देखते-ही-देखते वे अन्तर्धान हो गये। इसके पश्चात् ध्रुवजी भी अपनी राजधानीको लौट आये॥ ९॥ वहाँ रहते हुए उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना की; भगवान् ही द्रव्य, क्रिया और देवता-सम्बन्धी समस्त कर्म और उसके फल हैं तथा वे ही कर्मफलके दाता भी हैं॥ १०॥ सर्वोपाधिशून्य सर्वात्मा श्रीअच्युतमें प्रबल वेगयुक्त भक्तिभाव रखते हुए ध्रुवजी अपनेमें और समस्त प्राणियोंमें सर्वव्यापक श्रीहरिको ही विराजमान देखने लगे॥ ११॥ ध्रुवजी बड़े ही शीलसम्पन्न, ब्राह्मणभक्त, दीनवत्सल और धर्ममर्यादाके रक्षक थे; उनकी प्रजा उन्हें साक्षात् पिताके समान मानती थी॥ १२॥

षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम्।
भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम्॥ १३
एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः।
त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम्॥ १४
मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि।
अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥ १५
आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोश-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम्॥ १६
तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य
बद्ध्वाऽऽसनं जितमरुन्मनसाऽऽहृताक्षः।
स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद्
ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ॥ १७
भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिंगः॥ १८
स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः।
विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम्॥ १९
तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ
श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ।
स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ
किरीटहारांगदचारुकुण्डलौ ॥ २०

इस प्रकार तरह-तरहके ऐश्वर्यभोगसे पुण्यका और भोगोंके त्यागपूर्वक यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानसे पापका क्षय करते हुए उन्होंने छत्तीस हजार वर्षतक पृथ्वीका शासन किया॥ १३॥ जितेन्द्रिय महात्मा ध्रुवने इसी तरह अर्थ, धर्म और कामके सम्पादनमें बहुत-से वर्ष बिताकर अपने पुत्र उत्कलको राजसिंहासन सौंप दिया॥ १४॥ इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंचको अविद्यारचित स्वप्न और गन्धर्वनगरके समान मायासे अपनेमें ही कल्पित मानकर और यह समझकर कि शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेना, भरापूरा खजाना, जनाने महल, सुरम्य विहारभूमि और समुद्रपर्यन्त भूमण्डलका राज्य—ये सभी कालके गालमें पड़े हुए हैं, वे बदरिकाश्रमको चले गये॥ १५-१६॥

वहाँ उन्होंने पवित्र जलमें स्नानकर इन्द्रियोंको विशुद्ध (शान्त) किया। फिर स्थिर आसनसे बैठकर प्राणायामद्वारा वायुको वशमें किया। तदनन्तर मनके द्वारा इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनको भगवान्‌के स्थूल विराट्स्वरूपमें स्थिर कर दिया। उसी विराट्-रूपका चिन्तन करते-करते वे अन्तमें ध्याता और ध्येयके भेदसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें लीन हो गये और उस अवस्थामें विराट्‌रूपका भी परित्याग कर दिया॥ १७॥ इस प्रकार भगवान् श्रीहरिके प्रति निरन्तर भक्तिभावका प्रवाह चलते रहनेसे उनके नेत्रोंमें बार-बार आनन्दाश्रुओंकी बाढ़-सी आ जाती थी। इससे उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और शरीरमें रोमांच हो आया। फिर देहाभिमान गलित हो जानेसे उन्हें 'मैं ध्रुव हूँ' इसकी स्मृति भी न रही॥ १८॥

इसी समय ध्रुवजीने आकाशसे एक बड़ा ही सुन्दर विमान उतरते देखा। वह अपने प्रकाशसे दसों दिशाओंको आलोकित कर रहा था; मानो पूर्णिमाका चन्द्र ही उदय हुआ हो॥ १९॥

उसमें दो श्रेष्ठ पार्षद गदाओंका सहारा लिये खड़े थे। उनके चार भुजाएँ थीं, सुन्दर श्याम शरीर था, किशोर अवस्था थी और अरुण कमलके समान नेत्र थे। वे सुन्दर वस्त्र, किरीट, हार, भुजबन्ध और अति मनोहर कुण्डल धारण किये हुए थे॥ २०॥

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करा-
वभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः।
ननाम नामानि गृणन्मधुद्विषः
पार्षत्प्रधानाविति संहतांजलिः॥ २१
तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं
बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम्।
सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं
प्रत्यूचतुः पुष्करनाभसम्मतौ॥ २२

सुनन्दनन्दावूचतुः

भो भो राजन् सुभद्रं ते वाचं नोऽवहितः शृणु।
यः पंचवर्षस्तपसा भवान्देवमतीतृपत्॥ २३
तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः।
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्पदम्॥ २४
सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया
यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम्।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो
ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम्॥ २५
अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यंग कर्हिचित्।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम्॥ २६
एतद्विमानप्रवरमुत्तमश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि॥ २७

मैत्रेय उवाच

निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो-
र्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः।
कृताभिषेकः कृतनित्यमंगलो
मुनीन् प्रणम्याशिषमभ्यवादयत्॥ २८
परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम्॥ २९

उन्हें पुण्यश्लोक श्रीहरिके सेवक जान ध्रुवजी हड़बड़ाहटमें पूजा आदिका क्रम भूलकर सहसा खड़े हो गये और ये भगवान्‌के पार्षदोंमें प्रधान हैं—ऐसा समझकर उन्होंने श्रीमधुसूदनके नामोंका कीर्तन करते हुए उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया॥ २१॥ ध्रुवजीका मन भगवान्‌के चरणकमलोंमें तल्लीन हो गया और वे हाथ जोड़कर बड़ी नम्रतासे सिर नीचा किये खड़े रह गये। तब श्रीहरिके प्रिय पार्षद सुनन्द और नन्दने उनके पास जाकर मुसकराते हुए कहा॥ २२॥

सुनन्द और नन्द कहने लगे—राजन्! आपका कल्याण हो, आप सावधान होकर हमारी बात सुनिये। आपने पाँच वर्षकी अवस्थामें ही तपस्या करके सर्वेश्वर भगवान्‌को प्रसन्न कर लिया था॥ २३॥ हम उन्हीं निखिलजगन्नियन्ता शार्ङ्गपाणि भगवान् विष्णुके सेवक हैं और आपको भगवान्‌के धाममें ले जानेके लिये यहाँ आये हैं॥ २४॥ आपने अपनी भक्तिके प्रभावसे विष्णुलोकका अधिकार प्राप्त किया है, जो औरोंके लिये बड़ा दुर्लभ है। परमज्ञानी सप्तर्षि भी वहाँतक नहीं पहुँच सके, वे नीचेसे केवल उसे देखते रहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा आदि ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण भी उसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। चलिये, आप उसी विष्णुधाममें निवास कीजिये॥ २५॥ प्रियवर! आजतक आपके पूर्वज तथा और कोई भी उस पदपर कभी नहीं पहुँच सके। भगवान् विष्णुका वह परमधाम सारे संसारका वन्दनीय है, आप वहाँ चलकर विराजमान हों॥ २६॥ आयुष्मन्! यह श्रेष्ठ विमान पुण्यश्लोकशिखामणि श्रीहरिने आपके लिये ही भेजा है, आप इसपर चढ़नेयोग्य हैं॥ २७॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्‌के प्रमुख पार्षदोंके ये अमृतमय वचन सुनकर परम भागवत ध्रुवजीने स्नान किया, फिर सन्ध्या-वन्दनादि नित्य-कर्मसे निवृत्त हो मांगलिक अलंकारादि धारण किये। बदरिकाश्रममें रहनेवाले मुनियोंको प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लिया॥ २८॥ इसके बाद उस श्रेष्ठ विमानकी पूजा और प्रदक्षिणा की और पार्षदोंको प्रणाम कर सुवर्णके समान कान्तिमान् दिव्य रूप धारणकर उसपर चढ़नेको तैयार हुए॥ २९॥

तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम्॥ ३०
तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदंगपणवादयः।
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः॥ ३१
स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन् सुनीतिं जननीं ध्रुवः।
अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिविष्टपम्॥ ३२
इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ।
दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम्॥ ३३
तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः।
अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान्॥ ३४
त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि।
परस्ताद्यद् ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात्॥ ३५
यद् भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो
लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते।
यन्नाव्रजंजन्तुषु येऽननुग्रहा
व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम्॥ ३६
शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरंजनाः।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः॥ ३७
इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः।
अभूत्त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः॥ ३८
गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम्।
यस्मिन् भ्रमति कौरव्य मेढ्यामिव गवां गणः॥ ३९
महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः।
आतोद्यं वितुदन् श्लोकान् सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम्॥ ४०

इतनेमें ही ध्रुवजीने देखा कि काल मूर्तिमान् होकर उनके सामने खड़ा है। तब वे मृत्युके सिरपर पैर रखकर उस समय अद्भुत विमानपर चढ़ गये॥ ३०॥ उस समय आकाशमें दुन्दुभि, मृदंग और ढोल आदि बाजे बजने लगे, श्रेष्ठ गन्धर्व गान करने लगे और फूलोंकी वर्षा होने लगी॥ ३१॥

विमानपर बैठकर ध्रुवजी ज्यों-ही भगवान्‌के धामको जानेके लिये तैयार हुए, त्यों-ही उन्हें अपनी माता सुनीतिका स्मरण हो आया। वे सोचने लगे, 'क्या मैं बेचारी माताको छोड़कर अकेला ही दुर्लभ वैकुण्ठधामको जाऊँगा?'॥ ३२॥

नन्द और सुनन्दने ध्रुवके हृदयकी बात जानकर उन्हें दिखलाया कि देवी सुनीति आगे-आगे दूसरे विमानपर जा रही हैं॥ ३३॥ उन्होंने क्रमशः सूर्य आदि सभी ग्रह देखे। मार्गमें जहाँ-तहाँ विमानोंपर बैठे हुए देवता उनकी प्रशंसा करते हुए फूलोंकी वर्षा करते जाते थे॥ ३४॥ उस दिव्य विमानपर बैठकर ध्रुवजी त्रिलोकीको पारकर सप्तर्षिमण्डलसे भी ऊपर भगवान् विष्णुके नित्यधाममें पहुँचे। इस प्रकार उन्होंने अविचल गति प्राप्त की॥ ३५॥ यह दिव्य धाम अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है, इसीके प्रकाशसे तीनों लोक प्रकाशित हैं। इसमें जीवोंपर निर्दयता करनेवाले पुरुष नहीं जा सकते। यहाँ तो उन्हींकी पहुँच होती है, जो दिन-रात प्राणियोंके कल्याणके लिये शुभ कर्म ही करते रहते हैं॥ ३६॥ जो शान्त, समदर्शी, शुद्ध और सब प्राणियोंको प्रसन्न रखनेवाले हैं तथा भगवद्भक्तोंको ही अपना एकमात्र सच्चा सुहृद् मानते हैं—ऐसे लोग सुगमतासे ही इस भगवद्धामको प्राप्त कर लेते हैं॥ ३७॥

इस प्रकार उत्तानपादके पुत्र भगवत्परायण श्रीध्रुवजी तीनों लोकोंके ऊपर उसकी निर्मल चूडा-मणिके समान विराजमान हुए॥ ३८॥ कुरुनन्दन! जिस प्रकार दायँ चलानेके समय खम्भेके चारों ओर बैल घूमते हैं, उसी प्रकार यह गम्भीर वेगवाला ज्योतिश्चक्र उस अविनाशी लोकके आश्रय ही निरन्तर घूमता रहता है॥ ३९॥ उसकी महिमा देखकर देवर्षि नारदने प्रचेताओंकी यज्ञशालामें वीणा बजाकर ये तीन श्लोक गाये थे॥ ४०॥

नारद उवाच

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम्।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः॥ ४१
यः पंचवर्षो गुरुदारवाक्शरै-
र्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं
जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम्॥ ४२
यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ-
मन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः।
षट्पंचवर्षो यदहोभिरल्पैः
प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम्॥ ४३

मैत्रेय उवाच

एतत्तेऽभिहितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया।
ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम्॥ ४४
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत्।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम्॥ ४५
श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम्।
भवेद्भक्तिर्भगवति यया स्यात्क्लेशसंक्षयः॥ ४६
महत्त्वमिच्छतां तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः।
यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम्॥ ४७
प्रयतः कीर्तयेत्प्रातः समवाये द्विजन्मनाम्।
सायं च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत्॥ ४८
पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा।
दिनक्षये व्यतीपाते सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि वा॥ ४९

नारदजीने कहा था—इसमें सन्देह नहीं, पतिपरायणा सुनीतिके पुत्र ध्रुवने तपस्याद्वारा अद्भुत शक्ति संचित करके जो गति पायी है, उसे भागवतधर्मोंकी आलोचना करके वेदवादी मुनिगण भी नहीं पा सकते; फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है॥ ४१॥ अहो! वे पाँच वर्षकी अवस्थामें ही सौतेली माताके वाग्बाणोंसे मर्माहत होकर दुःखी हृदयसे वनमें चले गये और मेरे उपदेशके अनुसार आचरण करके ही उन अजेय प्रभुको जीत लिया, जो केवल अपने भक्तोंके गुणोंसे ही वशमें होते हैं॥ ४२॥

ध्रुवजीने तो पाँच-छः वर्षकी अवस्थामें कुछ दिनोंकी तपस्यासे ही भगवान्‌को प्रसन्न करके उनका परमपद प्राप्त कर लिया; किन्तु उनके अधिकृत किये हुए इस पदको भूमण्डलमें कोई दूसरा क्षत्रिय क्या वर्षोंतक तपस्या करके भी पा सकता है?॥ ४३॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! तुमने मुझसे उदारकीर्ति ध्रुवजीके चरित्रके विषयमें पूछा था, सो मैंने तुम्हें वह पूरा-का-पूरा सुना दिया। साधुजन इस चरित्रकी बड़ी प्रशंसा करते हैं॥ ४४॥ यह धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला, परम पवित्र और अत्यन्त मंगलमय है। इससे स्वर्ग और अविनाशी पद भी प्राप्त हो सकता है। यह देवत्वकी प्राप्ति करानेवाला, बड़ा ही प्रशंसनीय और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है॥ ४५॥ भगवद्भक्त ध्रुवके इस पवित्र चरित्रको जो श्रद्धापूर्वक बार-बार सुनते हैं, उन्हें भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है, जिससे उनके सभी दुःखोंका नाश हो जाता है॥ ४६॥ इसे श्रवण करनेवालेको शीलादि गुणोंकी प्राप्ति होती है, जो महत्त्व चाहते हैं, उन्हें महत्त्वकी प्राप्ति करानेवाला स्थान मिलता है, जो तेज चाहते हैं, उन्हें तेज प्राप्त होता है और मनस्वियोंका मान बढ़ता है॥ ४७॥ पवित्रकीर्ति ध्रुवजीके इस महान् चरित्रका प्रातः और सायंकाल ब्राह्मणादि द्विजातियोंके समाजमें एकाग्र चित्तसे कीर्तन करना चाहिये॥ ४८॥ भगवान्‌के परम पवित्र चरणोंकी शरणमें रहनेवाला जो पुरुष इसे निष्कामभावसे पूर्णिमा, अमावास्या, द्वादशी, श्रवण नक्षत्र, तिथिक्षय, व्यतीपात, संक्रान्ति अथवा

श्रावयेच्छ्रद्दधानानां तीर्थपादपदाश्रयः।
नेच्छंस्तत्रात्मनाऽऽत्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति॥ ५०

रविवारके दिन श्रद्धालु पुरुषोंको सुनाता है, वह स्वयं अपने आत्मामें ही सन्तुष्ट रहने लगता है और सिद्ध हो जाता है॥ ४९-५०॥

ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात्सत्पथेऽमृतम्।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते॥ ५१

यह साक्षात् भगवद्विषयक अमृतमय ज्ञान है; जो लोग भगवन्मार्गके मर्मसे अनभिज्ञ हैं—उन्हें जो कोई इसे प्रदान करता है, उस दीनवत्सल कृपालु पुरुषपर देवता अनुग्रह करते हैं॥ ५१॥

इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह
ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मणः।
हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातु-
र्गृहं च विष्णुं शरणं यो जगाम॥ ५२

ध्रुवजीके कर्म सर्वत्र प्रसिद्ध और परम पवित्र हैं; वे अपनी बाल्यावस्थामें ही माताके घर और खिलौनोंका मोह छोड़कर श्रीविष्णुभगवान्‌की शरणमें चले गये थे। कुरुनन्दन! उनका यह पवित्र चरित्र मैंने तुम्हें सुना दिया॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे ध्रुवचरितं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

ध्रुववंशका वर्णन, राजा अंगका चरित्र

सूत उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम्।
प्ररूढभावो भगवत्यधोक्षजे
प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे॥ १

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकजी! श्रीमैत्रेय मुनिके मुखसे ध्रुवजीके विष्णुपदपर आरूढ़ होनेका वृत्तान्त सुनकर विदुरजीके हृदयमें भगवान् विष्णुकी भक्तिका उद्रेक हो आया और उन्होंने फिर मैत्रेयजीसे प्रश्न करना आरम्भ किया॥ १॥

विदुर उवाच

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत॥ २
मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम्।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः॥ ३
स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यमानो भक्तिमता[1] नारदेनेरितः किल॥ ४
यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथाः।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन् कार्त्स्न्येनाचष्टुमर्हसि॥ ५

विदुरजीने पूछा—भगवत्परायण मुने! ये प्रचेता कौन थे? किसके पुत्र थे? किसके वंशमें प्रसिद्ध थे और इन्होंने कहाँ यज्ञ किया था?॥ २॥ भगवान्‌के दर्शनसे कृतार्थ नारदजी परम भागवत हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। उन्होंने पांचरात्रका निर्माण करके श्रीहरिकी पूजापद्धतिरूप क्रियायोगका उपदेश किया है॥ ३॥ जिस समय प्रचेतागण स्वधर्मका आचरण करते हुए भगवान् यज्ञेश्वरकी आराधना कर रहे थे, उसी समय भक्तप्रवर नारदजीने ध्रुवका गुणगान किया था॥ ४॥ ब्रह्मन्! उस स्थानपर उन्होंने भगवान्‌की जिन-जिन लीला-कथाओंका वर्णन किया था, वे सब पूर्णरूपसे मुझे सुनाइये; मुझे उनके सुननेकी बड़ी इच्छा है॥ ५॥

१. प्रा० पा०—भगवता।

मैत्रेय उवाच

ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम्।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः॥ ६
स जन्मनोपशान्तात्मा निःसंगः समदर्शनः।
ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि॥ ७
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम्।
अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥ ८
अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः।
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत॥ ९
जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः ।
लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः॥ १०
मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः।
वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम्॥ ११
स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान्।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम्॥ १२
पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन् प्रभासुताः॥ १३
प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे॥ १४
स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह।
मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान्॥ १५
पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं सत्यवन्तमृतं व्रतम्।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम्॥ १६
उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान्पुष्करिण्यां षडुत्तमान्।
अंगं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम्॥ १७
सुनीथांगस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम्।
यद्दौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात्॥ १८

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! महाराज ध्रुवके वन चले जानेपर उनके पुत्र उत्कलने अपने पिताके सार्वभौम वैभव और राज्यसिंहासनको अस्वीकार कर दिया॥ ६॥ वह जन्मसे ही शान्तचित्त, आसक्तिशून्य और समदर्शी था; तथा सम्पूर्ण लोकोंको अपनी आत्मामें और अपनी आत्माको सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित देखता था॥ ७॥ उसके अन्तःकरणका वासनारूप मल अखण्ड योगाग्निसे भस्म हो गया था। इसलिये वह अपनी आत्माको विशुद्ध बोधरसके साथ अभिन्न, आनन्दमय और सर्वत्र व्याप्त देखता था। सब प्रकारके भेदसे रहित प्रशान्त ब्रह्मको ही वह अपना स्वरूप समझता था; तथा अपनी आत्मासे भिन्न कुछ भी नहीं देखता था॥ ८-९॥ वह अज्ञानियोंको रास्ते आदि साधारण स्थानोंमें बिना लपटकी आगके समान मूर्ख, अंधा, बहिरा, पागल अथवा गूँगा-सा प्रतीत होता था—वास्तवमें ऐसा था नहीं॥ १०॥ इसलिये कुलके बड़े-बूढ़े तथा मन्त्रियोंने उसे मूर्ख और पागल समझकर उसके छोटे भाई भ्रमिपुत्र वत्सरको राजा बनाया॥ ११॥

वत्सरकी प्रेयसी भार्या स्वर्वीथिके गर्भसे पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु और जय नामके छः पुत्र हुए॥ १२॥ पुष्पार्णके प्रभा और दोषा नामकी दो स्त्रियाँ थीं; उनमेंसे प्रभाके प्रातः, मध्यन्दिन और सायं—ये तीन पुत्र हुए॥ १३॥ दोषाके प्रदोष, निशीथ और व्युष्ट—ये तीन पुत्र हुए। व्युष्टने अपनी भार्या पुष्करिणीसे सर्वतेजा नामका पुत्र उत्पन्न किया॥ १४॥ उसकी पत्नी आकूतिसे चक्षुः नामक पुत्र हुआ। चाक्षुष मन्वन्तरमें वही मनु हुआ। चक्षु मनुकी स्त्री नड्वलासे पुरु, कुत्स, त्रित, द्युम्न, सत्यवान्, ऋत, व्रत, अग्निष्टोम, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिबि और उल्मुक—ये बारह सत्त्वगुणी बालक उत्पन्न हुए॥ १५-१६॥ इनमें उल्मुकने अपनी पत्नी पुष्करिणीसे अंग, सुमना, ख्याति, क्रतु, अंगिरा और गय—ये छः उत्तम पुत्र उत्पन्न किये॥ १७॥ अंगकी पत्नी सुनीथाने क्रूरकर्मा वेनको जन्म दिया, जिसकी दुष्टतासे उद्विग्न होकर राजर्षि अंग नगर छोड़कर चले गये थे॥ १८॥

यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम्॥ १९
अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः॥ २०

विदुर उवाच

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः।
राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ॥ २१
किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन्।
दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः॥ २२
नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि।
यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा॥ २३
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् सुनीथात्मजचेष्टितम्।
श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः॥ २४

मैत्रेय उवाच

अंगोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम्।
नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः॥ २५
तमूचुर्विस्मितास्तत्र[1] यजमानमथर्त्विजः।
हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः॥ २६
राजन् हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयाऽऽसादितानि ते।
छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः॥ २७
न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि।
यन्न गृह्णन्ति भागान् स्वान् ये देवाः कर्मसाक्षिणः॥ २८

प्यारे विदुरजी! मुनियोंके वाक्य वज्रके समान अमोघ होते हैं; उन्होंने कुपित होकर वेनको शाप दिया और जब वह मर गया, तब कोई राजा न रहनेके कारण लोकमें लुटेरोंके द्वारा प्रजाको बहुत कष्ट होने लगा। यह देखकर उन्होंने वेनकी दाहिनी भुजाका मन्थन किया, जिससे भगवान् विष्णुके अंशावतार आदिसम्राट् महाराज पृथु प्रकट हुए॥ १९-२०॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! महाराज अंग तो बड़े शीलसम्पन्न, साधुस्वभाव, ब्राह्मण-भक्त और महात्मा थे। उनके वेन-जैसा दुष्ट पुत्र कैसे हुआ, जिसके कारण दुःखी होकर उन्हें नगर छोड़ना पड़ा॥ २१॥ राजदण्डधारी वेनका भी ऐसा क्या अपराध था, जो धर्मज्ञ मुनीश्वरोंने उसके प्रति शापरूप ब्रह्मदण्डका प्रयोग किया॥ २२॥ प्रजाका कर्तव्य है कि वह प्रजापालक राजासे कोई पाप बन जाय तो भी उसका तिरस्कार न करे; क्योंकि वह अपने प्रभावसे आठ लोकपालोंके तेजको धारण करता है॥ २३॥ ब्रह्मन्! आप भूत-भविष्यकी बातें जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिये आप मुझे सुनीथाके पुत्र वेनकी सब करतूतें सुनाइये। मैं आपका श्रद्धालु भक्त हूँ॥ २४॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! एक बार राजर्षि अंगने अश्वमेध-महायज्ञका अनुष्ठान किया। उसमें वेदवादी ब्राह्मणोंके आवाहन करनेपर भी देवतालोग अपना भाग लेने नहीं आये॥ २५॥ तब ऋत्विजोंने विस्मित होकर यजमान अंगसे कहा—'राजन्! हम आहुतियोंके रूपमें आपका जो घृत आदि पदार्थ हवन कर रहे हैं, उसे देवतालोग स्वीकार नहीं करते॥ २६॥ हम जानते हैं आपकी होम-सामग्री दूषित नहीं है; आपने उसे बड़ी श्रद्धासे जुटाया है तथा वेदमन्त्र भी किसी प्रकार बलहीन नहीं हैं; क्योंकि उनका प्रयोग करनेवाले ऋत्विज्गण याजकोचित सभी नियमोंका पूर्णतया पालन करते हैं॥ २७॥ हमें ऐसी कोई बात नहीं दीखती कि इस यज्ञमें देवताओंका किंचित् भी तिरस्कार हुआ है—फिर भी कर्माध्यक्ष देवतालोग क्यों अपना भाग नहीं ले रहे हैं?'॥ २८॥

[1] प्रा० पा०—तदूचु०।

मैत्रेय उवाच

अंगो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः।
तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया॥ २९
नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह।
सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम्॥ ३०

सदसस्पतय ऊचुः

नरदेवेह भवतो[1] नाघं तावन्मनाक् स्थितम्।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं[2] यदिहेदृक् त्वमप्रजः॥ ३१
तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक्॥ ३२
तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः।
यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः॥ ३३
तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद्यान् यान् कामयते जनः।
आराधितो तथैवैष यथा पुंसां फलोदयः॥ ३४
इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये।
पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे॥ ३५
तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः।
हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम्॥ ३६
स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम्।
अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात्पत्न्या उदारधीः॥ ३७
सा[3] तत्पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादधे।
गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजा॥ ३८
स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः॥ ३९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—ऋत्विजोंकी बात सुनकर यजमान अंग बहुत उदास हुए। तब उन्होंने याजकोंकी अनुमतिसे मौन तोड़कर सदस्योंसे पूछा॥ २९॥ 'सदस्यो! देवतालोग आवाहन करनेपर भी यज्ञमें नहीं आ रहे हैं और न सोमपात्र ही ग्रहण करते हैं; आप बतलाइये मुझसे ऐसा क्या अपराध हुआ है?'॥ ३०॥

सदस्योंने कहा—राजन्! इस जन्ममें तो आपसे तनिक भी अपराध नहीं हुआ; हाँ, पूर्वजन्मका एक अपराध अवश्य है, जिसके कारण आप ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न होनेपर भी पुत्रहीन हैं॥ ३१॥ आपका कल्याण हो! इसलिये पहले आप सुपुत्र प्राप्त करनेका कोई उपाय कीजिये। यदि आप पुत्रकी कामनासे यज्ञ करेंगे, तो भगवान् यज्ञेश्वर आपको अवश्य पुत्र प्रदान करेंगे ॥ ३२॥ जब सन्तानके लिये साक्षात् यज्ञपुरुष श्रीहरिका आवाहन किया जायगा, तब देवतालोग स्वयं ही अपना-अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करेंगे॥ ३३॥ भक्त जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, श्रीहरि उसे वही-वही पदार्थ देते हैं। उनकी जिस प्रकार आराधना की जाती है उसी प्रकार उपासकको फल भी मिलता है॥ ३४॥

इस प्रकार राजा अंगको पुत्रप्राप्ति करानेका निश्चय कर ऋत्विजोंने पशुमें यज्ञरूपसे रहनेवाले श्रीविष्णुभगवान्के पूजनके लिये पुरोडाश नामक चरु समर्पण किया॥ ३५॥ अग्निमें आहुति डालते ही अग्निकुण्डसे सोनेके हार और शुभ्र वस्त्रोंसे विभूषित एक पुरुष प्रकट हुए; वे एक स्वर्णपात्रमें सिद्ध खीर लिये हुए थे॥ ३६॥ उदारबुद्धि राजा अंगने याजकोंकी अनुमतिसे अपनी अंजलिमें वह खीर ले ली और उसे स्वयं सूँघकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नीको दे दिया॥ ३७॥ पुत्रहीना रानीने वह पुत्र प्रदायिनी खीर खाकर अपने पतिके सहवाससे गर्भ धारण किया। उससे यथासमय उसके एक पुत्र हुआ॥ ३८॥ वह बालक बाल्यावस्थासे ही अधर्मके वंशमें उत्पन्न हुए अपने नाना मृत्युका अनुगामी था (सुनीथा मृत्युकी ही पुत्री थी); इसलिये वह भी अधार्मिक ही हुआ॥ ३९॥

१. प्रा० पा०—भवता चावद्यं किं क्रियान्वितम्। २. प्रा० पा०—प्राक्तनावद्यम्। ३. प्रा० पा०—यावत्पुंस०।

स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः।
हन्त्यसाधुर्मृगान् दीनान् वेनोऽसावित्यरौज्जनः॥ ४०
आक्रीडे क्रीडतो बालान् वयस्यानतिदारुणः।
प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत्॥ ४१
तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः।
यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत्सुदुर्मनाः॥ ४२
प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः।
कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम्॥ ४३
यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान्नृणाम्।
यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः॥ ४४
कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः।
पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः॥ ४५
कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात्।
निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः॥ ४६
एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा-
न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात्।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम्॥ ४७
विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः
पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा
यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः॥ ४८

वह दुष्ट वेन धनुष-बाण चढ़ाकर वनमें जाता और व्याधके समान बेचारे भोले-भाले हरिणोंकी हत्या करता। उसे देखते ही पुरवासीलोग 'वेन आया! वेन आया!' कहकर पुकार उठते॥ ४०॥ वह ऐसा क्रूर और निर्दयी था कि मैदानमें खेलते हुए अपनी बराबरीके बालकोंको पशुओंकी भाँति बलात् मार डालता॥ ४१॥ वेनकी ऐसी दुष्ट प्रकृति देखकर महाराज अंगने उसे तरह-तरहसे सुधारनेकी चेष्टा की; परन्तु वे उसे सुमार्गपर लानेमें समर्थ न हुए। इससे उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ॥ ४२॥ (वे मन-ही-मन कहने लगे—) 'जिन गृहस्थोंके पुत्र नहीं हैं, उन्होंने अवश्य ही पूर्वजन्ममें श्रीहरिकी आराधना की होगी; इसीसे उन्हें कुपूतकी करतूतोंसे होनेवाले असह्य क्लेश नहीं सहने पड़ते॥ ४३॥ जिसकी करनीसे माता-पिताका सारा सुयश मिट्टीमें मिल जाय, उन्हें अधर्मका भागी होना पड़े, सबसे विरोध हो जाय, कभी न छूटनेवाली चिन्ता मोल लेनी पड़े और घर भी दुःखदायी हो जाय—ऐसी नाममात्रकी सन्तानके लिये कौन समझदार पुरुष ललचावेगा? वह तो आत्माके लिये एक प्रकारका मोहमय बन्धन ही है॥ ४४-४५॥ मैं तो सपूतकी अपेक्षा कुपूतको ही अच्छा समझता हूँ; क्योंकि सपूतको छोड़नेमें बड़ा क्लेश होता है। कुपूत घरको नरक बना देता है, इसलिये उससे सहज ही छुटकारा हो जाता है'॥ ४६॥

इस प्रकार सोचते-सोचते महाराज अंगको रातमें नींद नहीं आयी। उनका चित्त गृहस्थीसे विरक्त हो गया। वे आधी रातके समय बिछौनेसे उठे। इस समय वेनकी माता नींदमें बेसुध पड़ी थी। राजाने सबका मोह छोड़ दिया और उसी समय किसीको भी मालूम न हो, इस प्रकार चुपचाप उस महान् ऐश्वर्यसे भरे राजमहलसे निकलकर वनको चल दिये॥ ४७॥ महाराज विरक्त होकर घरसे निकल गये हैं, यह जानकर सभी प्रजाजन, पुरोहित, मन्त्री और सुहृद्गण आदि अत्यन्त शोकाकुल होकर पृथ्वीपर उनकी खोज करने लगे। ठीक वैसे ही जैसे योगका यथार्थ रहस्य न जाननेवाले पुरुष अपने हृदयमें छिपे हुए भगवान्को बाहर खोजते हैं॥ ४८॥

अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापते-
र्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम्।
ऋषीन् समेतानभिवन्द्य साश्रवो
न्यवेदयन् पौरव भर्तृविप्लवम्॥ ४९

जब उन्हें अपने स्वामीका कहीं पता न लगा, तब वे निराश होकर नगरमें लौट आये और वहाँ जो मुनिजन एकत्रित हुए थे, उन्हें यथावत् प्रणाम करके उन्होंने आँखोंमें आँसू भरकर महाराजके न मिलनेका वृत्तान्त सुनाया॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

राजा वेनकी कथा

मैत्रेय उवाच

भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः।
गोप्तर्यसति वै नॄणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम्॥ १
वीर मातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः।
प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन् पतिं भुवः॥ २
श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम्।
निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः॥ ३
स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः।
अवमेने महाभागान् स्तब्धः सम्भावितः स्वतः॥ ४
एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः।
पर्यटन् रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी॥ ५
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः॥ ६
वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम्।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः॥ ७
अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्।
दारुण्युभयतो दीप्ते इव तस्करपालयोः॥ ८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—वीरवर विदुरजी! सभी लोकोंकी कुशल चाहनेवाले भृगु आदि मुनियोंने देखा कि अंगके चले जानेसे अब पृथ्वीकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं रह गया है, सब लोग पशुओंके समान उच्छृंखल होते जा रहे हैं॥ १॥ तब उन्होंने माता सुनीथाकी सम्मतिसे, मन्त्रियोंके सहमत न होनेपर भी वेनको भूमण्डलके राजपदपर अभिषिक्त कर दिया॥ २॥ वेन बड़ा कठोर शासक था। जब चोर-डाकुओंने सुना कि वही राजसिंहासनपर बैठा है, तब सर्पसे डरे हुए चूहोंके समान वे सब तुरंत ही जहाँ-तहाँ छिप गये॥ ३॥ राज्यासन पानेपर वेन आठों लोकपालोंकी ऐश्वर्यकलाके कारण उन्मत्त हो गया और अभिमानवश अपनेको ही सबसे बड़ा मानकर महापुरुषोंका अपमान करने लगा॥ ४॥ वह ऐश्वर्यमदसे अंधा हो रथपर चढ़कर निरंकुश गजराजके समान पृथ्वी और आकाशको कँपाता हुआ सर्वत्र विचरने लगा॥ ५॥ 'कोई भी द्विजातिय वर्णका पुरुष कभी किसी प्रकारका यज्ञ, दान और हवन न करे' अपने राज्यमें यह ढिंढोरा पिटवाकर उसने सारे धर्म-कर्म बंद करवा दिये॥ ६॥

दुष्ट वेनका ऐसा अत्याचार देख सारे ऋषि-मुनि एकत्र हुए और संसारपर संकट आया समझकर करुणावश आपसमें कहने लगे॥ ७॥ 'अहो! जैसे दोनों ओर जलती हुई लकड़ीके बीचमें रहनेवाले चींटी आदि जीव महान् संकटमें पड़ जाते हैं, वैसे ही इस समय सारी प्रजा एक ओर राजाके और दूसरी ओर चोर-डाकुओंके अत्याचारसे महान् संकटमें पड़

अराजकभयादेष कृतो राजातदर्हणः।
ततोऽप्यासीद्भयं त्वद्य कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम्॥ ९
अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत्।
वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः॥ १०
निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः।
तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत्॥ ११
तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः।
सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत्॥ १२
लोकधिक्कारसन्दग्धं दहिष्यामः स्वतेजसा।
एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः।
उपव्रज्याब्रुवन् वेनं सान्त्वयित्वा च सामभिः॥ १३

मुनय ऊचुः

नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः।
आयुःश्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम्॥ १४
धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसंगिनाम्॥ १५
स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः।
यस्मिन् विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवरोहति॥ १६
राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः।
रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते॥ १७
यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः॥ १८
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥ १९

रही है॥ ८॥ हमने अराजकताके भयसे ही अयोग्य होनेपर भी वेनको राजा बनाया था; किन्तु अब उससे भी प्रजाको भय हो गया। ऐसी अवस्थामें प्रजाको किस प्रकार सुख-शान्ति मिल सकती है?॥ ९॥ सुनीथाकी कोखसे उत्पन्न हुआ यह वेन स्वभावसे ही दुष्ट है। परन्तु साँपको दूध पिलानेके समान इसको पालना, पालनेवालोंके लिये अनर्थका कारण हो गया॥ १०॥ हमने इसे प्रजाकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया था, यह आज उसीको नष्ट करनेपर तुला हुआ है। इतना सब होनेपर भी हमें इसे समझाना अवश्य चाहिये; ऐसा करनेसे इसके किये हुए पाप हमें स्पर्श नहीं करेंगे॥ ११॥ हमने जान-बूझकर दुराचारी वेनको राजा बनाया था। किन्तु यदि समझानेपर भी यह हमारी बात नहीं मानेगा, तो लोकके धिक्कारसे दग्ध हुए इस दुष्टको हम अपने तेजसे भस्म कर देंगे।' ऐसा विचार करके मुनिलोग वेनके पास गये और अपने क्रोधको छिपाकर उसे प्रिय वचनोंसे समझाते हुए इस प्रकार कहने लगे॥ १२-१३॥

मुनियोंने कहा—राजन्! हम आपसे जो बात कहते हैं, उसपर ध्यान दीजिये। इससे आपकी आयु, श्री, बल और कीर्तिकी वृद्धि होगी॥ १४॥ तात! यदि मनुष्य मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करे, तो उसे स्वर्गादि शोकरहित लोकोंकी प्राप्ति होती है। यदि उसका निष्कामभाव हो, तब तो वही धर्म उसे अनन्त मोक्षपदपर पहुँचा देता है॥ १५॥ इसलिये वीरवर! प्रजाका कल्याणरूप वह धर्म आपके कारण नष्ट नहीं होना चाहिये। धर्मके नष्ट होनेसे राजा भी ऐश्वर्यसे च्युत हो जाता है॥ १६॥ जो राजा दुष्ट मन्त्री और चोर आदिसे अपनी प्रजाकी रक्षा करते हुए न्यायानुकूल कर लेता है, वह इस लोकमें और परलोकमें दोनों जगह सुख पाता है॥ १७॥ जिसके राज्य अथवा नगरमें वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्मपालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, महाभाग! अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे भगवान् प्रसन्न रहते हैं; क्योंकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतोंके रक्षक हैं॥ १८-१९॥

तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।
लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः॥ २०
तं सर्वलोकामरयज्ञसंग्रहं
त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम्।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते
राजन् स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि॥ २१
यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि-
र्वितायमानेन सुराः कला हरेः।
स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं
तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम्॥ २२

वेन उवाच

बालिशा बत यूयं वा[1] अधर्मे धर्ममानिनः।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते॥ २३
अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम्।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च॥ २४
को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी।
भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम्॥ २५
विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः॥ २६
एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः॥ २७
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः।
बलिं च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान्॥ २८

भगवान् ब्रह्मादि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उनके प्रसन्न होनेपर कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। तभी तो इन्द्रादि लोकपालोंके सहित समस्त लोक उन्हें बड़े आदरसे पूजोपहार समर्पण करते हैं॥ २०॥ राजन्! भगवान् श्रीहरि समस्त लोक, लोकपाल और यज्ञोंके नियन्ता हैं; वे वेदत्रयीरूप, द्रव्यरूप और तपःस्वरूप हैं। इसलिये आपके जो देशवासी आपकी उन्नतिके लिये अनेक प्रकारके यज्ञोंसे भगवान्‌का यजन करते हैं, आपको उनके अनुकूल ही रहना चाहिये॥ २१ ॥ जब आपके राज्यमें ब्राह्मणलोग यज्ञोंका अनुष्ठान करेंगे, तब उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान्‌के अंशस्वरूप देवता आपको मनचाहा फल देंगे। अतः वीरवर! आपको यज्ञादि धर्मानुष्ठान बंद करके देवताओंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये॥ २२॥

वेनने कहा—तुमलोग बड़े मूर्ख हो! खेद है, तुमने अधर्ममें ही धर्मबुद्धि कर रखी है। तभी तो तुम जीविका देनेवाले मुझ साक्षात् पतिको छोड़कर किसी दूसरे जारपतिकी उपासना करते हो॥ २३ ॥ जो लोग मूर्खतावश राजारूप परमेश्वरका अनादर करते हैं, उन्हें न तो इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही॥ २४॥ अरे! जिसमें तुमलोगोंकी इतनी भक्ति है, वह यज्ञपुरुष है कौन? यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे कुलटा स्त्रियाँ अपने विवाहित पतिसे प्रेम न करके किसी परपुरुषमें आसक्त हो जायँ॥ २५॥ विष्णु, ब्रह्मा, महादेव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, मेघ, कुबेर, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि और वरुण तथा इनके अतिरिक्त जो दूसरे वर और शाप देनेमें समर्थ देवता हैं, वे सब-के-सब राजाके शरीरमें रहते हैं; इसलिये राजा सर्वदेवमय है और देवता उसके अंशमात्र हैं॥ २६-२७॥ इसलिये ब्राह्मणो! तुम मत्सरता छोड़कर अपने सभी कर्मोंद्वारा एक मेरा ही पूजन करो और मुझीको बलि समर्पण करो। भला मेरे सिवा और कौन अग्रपूजाका अधिकारी हो सकता है॥ २८॥

१. प्रा० पा०—वै।

मैत्रेय उवाच

इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः।
अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे[1] भ्रष्टमंगलः॥ २९
इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डितमानिना।
भग्नायां भव्ययाच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः॥ ३०
हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः।
जीवञ्जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद् ध्रुवम्॥ ३१
नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम्।
योऽधियज्ञपतिं विष्णुं[2] विनिन्दत्यनपत्रपः॥ ३२
को वै[3]नं परिच[4]क्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम्।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः॥ ३३
इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः।
निजघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया॥ ३४
ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम्।
सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती॥ ३५
एकदा मुनयस्ते तु स[5]रस्वत्सलिलाप्लुताः।
हुत्वाग्नीन् सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे॥ ३६
वीक्ष्योत्थितांस्तदोत्पातानाहुर्लोकभयङ्क[6]रान्।
अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्भुवः॥ ३७
एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतोदिशम्।
पांसुः समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम्॥ ३८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण वह अत्यन्त पापी और कुमार्गगामी हो गया था। उसका पुण्य क्षीण हो चुका था, इसलिये मुनियोंके बहुत विनयपूर्वक प्रार्थना करनेपर भी उसने उनकी बातपर ध्यान न दिया॥ २९॥ कल्याणरूप विदुरजी! अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझनेवाले वेनने जब उन मुनियोंका इस प्रकार अपमान किया, तब अपनी माँगको व्यर्थ हुई देख वे उसपर अत्यन्त कुपित हो गये॥ ३०॥ 'मार डालो! इस स्वभावसे ही दुष्ट पापीको मार डालो! यह यदि जीता रह गया तो कुछ ही दिनोंमें संसारको अवश्य भस्म कर डालेगा॥ ३१॥ यह दुराचारी किसी प्रकार राज-सिंहासनके योग्य नहीं है, क्योंकि यह निर्लज्ज साक्षात् यज्ञपति श्रीविष्णुभगवान्‌की निन्दा करता है॥ ३२॥ अहो! जिनकी कृपासे इसे ऐसा ऐश्वर्य मिला, उन श्रीहरिकी निन्दा अभागे वेनको छोड़कर और कौन कर सकता है'?॥ ३३॥

इस प्रकार अपने छिपे हुए क्रोधको प्रकट कर उन्होंने उसे मारनेका निश्चय कर लिया। वह तो भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण पहले ही मर चुका था, इसलिये केवल हुंकारोंसे ही उन्होंने उसका काम तमाम कर दिया॥ ३४॥ जब मुनिगण अपने-अपने आश्रमोंको चले गये, तब इधर वेनकी शोकाकुला माता सुनीथा मन्त्रादिके बलसे तथा अन्य युक्तियोंसे अपने पुत्रके शवकी रक्षा करने लगी॥ ३५॥

एक दिन वे मुनिगण सरस्वतीके पवित्र जलमें स्नान कर अग्निहोत्रसे निवृत्त हो नदीके तीरपर बैठे हुए हरिचर्चा कर रहे थे॥ ३६॥ उन दिनों लोकोंमें आतंक फैलानेवाले बहुत-से उपद्रव होते देखकर वे आपसमें कहने लगे, 'आजकल पृथ्वीका कोई रक्षक नहीं है; इसलिये चोर-डाकुओंके कारण उसका कुछ अमंगल तो नहीं होनेवाला है?'॥ ३७॥ ऋषिलोग ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उन्होंने सब दिशाओंमें धावा करनेवाले चोरों और डाकुओंके कारण उठी हुई बड़ी भारी धूल देखी॥ ३८॥

१. प्रा० पा०—भेजे। २. प्रा० पा०—देवं। ३. प्रा० पा०—तं। ४. प्रा० पा०—परिरक्षेत। ५. प्रा० पा०—सरित्स्वच्छ जला०। ६. प्रा० पा०—भयान्तरान्।

तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम्।
भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम्॥ ३९
चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम्।
लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः॥ ४०
ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा॥ ४१
नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन् केशवाश्रयाः॥ ४२
विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः।
ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः॥ ४३
काककृष्णोऽतिह्रस्वांगो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः॥ ४४
तं तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम्।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत्॥ ४५
तस्य वंश्यास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः।
येनाहरज्जायमानो वेनकल्मषमुल्बणम्॥ ४६

देखते ही वे समझ गये कि राजा वेनके मर जानेके कारण देशमें अराजकता फैल गयी है, राज्य शक्तिहीन हो गया है और चोर-डाकू बढ़ गये हैं; यह सारा उपद्रव लोगोंका धन लूटनेवाले तथा एक-दूसरेके खूनके प्यासे लुटेरोंका ही है। अपने तेजसे अथवा तपोबलसे लोगोंको ऐसी कुप्रवृत्तिसे रोकनेमें समर्थ होनेपर भी ऐसा करनेमें हिंसादि दोष देखकर उन्होंने इसका कोई निवारण नहीं किया॥ ३९-४०॥ फिर सोचा कि 'ब्राह्मण यदि समदर्शी और शान्तस्वभाव भी हो तो भी दीनोंकी उपेक्षा करनेसे उसका तप उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे फूटे हुए घड़ेमेंसे जल बह जाता है॥ ४१॥ फिर राजर्षि अंगका वंश भी नष्ट नहीं होना चाहिये, क्योंकि इसमें अनेक अमोघ-शक्ति और भगवत्परायण राजा हो चुके हैं'॥ ४२॥ ऐसा निश्चय कर उन्होंने मृत राजाकी जाँघको बड़े जोरसे मथा तो उसमेंसे एक बौना पुरुष उत्पन्न हुआ॥ ४३॥ वह कौएके समान काला था; उसके सभी अंग और खासकर भुजाएँ बहुत छोटी थीं, जबड़े बहुत बड़े, टाँगे छोटी, नाक चपटी, नेत्र लाल और केश ताँबेके-से रंगके थे॥ ४४॥ उसने बड़ी दीनता और नम्रभावसे पूछा कि 'मैं क्या करूँ?' तो ऋषियोंने कहा—'निषीद (बैठ जा)।' इसीसे वह 'निषाद' कहलाया॥ ४५॥ उसने जन्म लेते ही राजा वेनके भयंकर पापोंको अपने ऊपर ले लिया, इसीलिये उसके वंशधर नैषाद भी हिंसा, लूट-पाट आदि पापकर्मोंमें रत रहते हैं; अतः वे गाँव और नगरमें न टिककर वन और पर्वतोंमें ही निवास करते हैं॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते निषादोत्पत्तिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

महाराज पृथुका आविर्भाव और राज्याभिषेक

मैत्रेय उवाच

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इसके बाद ब्राह्मणोंने पुत्रहीन राजा वेनकी भुजाओंका मन्थन किया, तब उनसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ॥ १॥

तद् दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम्॥ २

ऋषय ऊचुः

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी।
इयं च लक्ष्म्याः सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी॥ ३
अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान् प्रथयिता यशः।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः॥ ४
इयं च सुदती देवी गुणभूषणभूषणा।
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती॥ ५
एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया।
इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी॥ ६

मैत्रेय उवाच

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः।
मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वः स्त्रियः॥ ७
शङ्खतूर्यमृदंगाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि।
तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितृणां गणाः॥ ८
ब्रह्मा जगद्‌गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः।
वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः॥ ९
पादयोररविन्दं च तं वै मेने हरेः कलाम्।
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः॥ १०
तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
आभिषेचनिकान्यस्मै आजह्रुः सर्वतो जनाः॥ ११
सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम्॥ १२

ब्रह्मवादी ऋषि उस जोड़ेको उत्पन्न हुआ देख और उसे भगवान्‌का अंश जान बहुत प्रसन्न हुए और बोले॥ २॥

ऋषियोंने कहा—यह पुरुष भगवान् विष्णुकी विश्वपालिनी कलासे प्रकट हुआ है और यह स्त्री उन परम पुरुषकी अनपायिनी (कभी अलग न होनेवाली) शक्ति लक्ष्मीजीका अवतार है॥ ३॥ इनमेंसे जो पुरुष है वह अपने सुयशका प्रथन—विस्तार करनेके कारण परम यशस्वी 'पृथु' नामक सम्राट् होगा। राजाओंमें यही सबसे पहला होगा॥ ४॥ यह सुन्दर दाँतोवाली एवं गुण और आभूषणोंको भी विभूषित करनेवाली सुन्दरी इन पृथुको ही अपना पति बनायेगी। इसका नाम अर्चि होगा॥ ५॥ पृथुके रूपमें साक्षात् श्रीहरिके अंशने ही संसारकी रक्षाके लिये अवतार लिया है और अर्चिके रूपमें, निरन्तर भगवान्‌की सेवामें रहनेवाली उनकी नित्य सहचरी श्रीलक्ष्मीजी ही प्रकट हुई हैं॥ ६॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! उस समय ब्राह्मणलोग पृथुकी स्तुति करने लगे, श्रेष्ठ गन्धर्वोंने गुणगान किया, सिद्धोंने पुष्पोंकी वर्षा की, अप्सराएँ नाचने लगीं॥ ७॥ आकाशमें शंख, तुरही, मृदंग और दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे। समस्त देवता, ऋषि और पितर अपने-अपने लोकोंसे वहाँ आये॥ ८॥ जगद्‌गुरु ब्रह्माजी देवता और देवेश्वरोंके साथ पधारे। उन्होंने वेनकुमार पृथुके दाहिने हाथमें भगवान् विष्णुकी हस्तरेखाएँ और चरणोंमें कमलका चिह्न देखकर उन्हें श्रीहरिका ही अंश समझा; क्योंकि जिसके हाथमें दूसरी रेखाओंसे बिना कटा हुआ चक्रका चिह्न होता है, वह भगवान्‌का ही अंश होता है॥ ९-१०॥

वेदवादी ब्राह्मणोंने महाराज पृथुके अभिषेकका आयोजन किया। सब लोग उसकी सामग्री जुटानेमें लग गये॥ ११॥ उस समय नदी, समुद्र, पर्वत, सर्प, गौ, पक्षी, मृग, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्य सब प्राणियोंने भी उन्हें तरह-तरहके उपहार भेंट किये॥ १२॥

सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः।
पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः॥ १३

सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत महाराज पृथुका विधिवत् राज्याभिषेक हुआ। उस समय अनेकों अलंकारोंसे सजी हुई महारानी अर्चिके साथ वे दूसरे अग्निदेवके सदृश जान पड़ते थे॥ १३॥

तस्मै जहार धनदो हैमं वीर वरासनम्।
वरुणः सलिलस्त्रावमातपत्रं शशिप्रभम्॥ १४
वायुश्च वालव्यजने[1] धर्मः कीर्तिमयीं[2] स्त्रजम्।
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः॥ १५
ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म[3] भारती हारमुत्तमम्।
हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम्॥ १६
दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका।
सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम्॥ १७
अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून्।
भूः पादुके योगमय्यौ[4] द्यौः पुष्पावलिमन्वहम्॥ १८
नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्धानं च खेचराः।
ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम्॥ १९
सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः।
सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे॥ २०

वीर विदुरजी! उन्हें कुबेरने बड़ा ही सुन्दर सोनेका सिंहासन दिया तथा वरुणने चन्द्रमाके समान श्वेत और प्रकाशमय छत्र दिया, जिससे निरन्तर जलकी फुहियाँ झरती रहती थीं॥ १४॥ वायुने दो चँवर, धर्मने कीर्तिमयी माला, इन्द्रने मनोहर मुकुट, यमने दमन करनेवाला दण्ड, ब्रह्माने वेदमय कवच, सरस्वतीने सुन्दर हार, विष्णुभगवान्ने सुदर्शनचक्र, विष्णुप्रिया लक्ष्मीजीने अविचल सम्पत्ति, रुद्रने दस चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त कोषवाली तलवार, अम्बिकाजीने सौ चन्द्राकार चिह्नोंवाली ढाल, चन्द्रमाने अमृतमय अश्व, त्वष्टा (विश्वकर्मा)-ने सुन्दर रथ, अग्निने बकरे और गौके सींगोंका बना हुआ सुदृढ़ धनुष, सूर्यने तेजोमय बाण, पृथ्वीने चरणस्पर्श-मात्रसे अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देनेवाली योगमयी पादुकाएँ, आकाशके अभिमानी द्यौ देवताने नित्य नूतन पुष्पोंकी माला, आकाशविहारी सिद्ध-गन्धर्वादिने नाचने-गाने, बजाने और अन्तर्धान हो जानेकी शक्तियाँ, ऋषियोंने अमोघ आशीर्वाद, समुद्रने अपनेसे उत्पन्न हुआ शंख तथा सातों समुद्र, पर्वत और नदियोंने उनके रथके लिये बेरोक-टोक मार्ग उपहारमें दिये। इसके पश्चात् सूत, मागध और वन्दीजन उनकी स्तुति करनेके लिये उपस्थित हुए॥ १५—२०॥

स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।
मेघनिर्ह्लादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ २१

तब उन स्तुति करनेवालोंका अभिप्राय समझकर वेनपुत्र परम प्रतापी महाराज पृथुने हँसते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा॥ २१॥

पृथुरुवाच

भोः सूत हे[5] मागध सौम्य वन्दिँ-
ल्लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात्।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां
मा मय्यभूवन् वितथा गिरो वः॥ २२

पृथुने कहा—सौम्य सूत, मागध और वन्दीजन! अभी तो लोकमें मेरा कोई भी गुण प्रकट नहीं हुआ। फिर तुम किन गुणोंको लेकर मेरी स्तुति करोगे? मेरे विषयमें तुम्हारी वाणी व्यर्थ नहीं होनी चाहिये। इसलिये मुझसे भिन्न किसी औरकी स्तुति करो॥ २२॥

१. प्रा० पा०—जनं। २. प्रा० पा०—मिव। ३. प्रा० पा०—धर्मं। ४. प्रा० पा०—माया। ५. प्रा० पा०—भो।

तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं
करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे
जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः॥ २३

मृदुभाषियो! कालान्तरमें जब मेरे अप्रकट गुण प्रकट हो जायँ, तब भरपेट अपनी मधुर वाणीसे मेरी स्तुति कर लेना। देखो, शिष्ट पुरुष पवित्रकीर्ति श्रीहरिके गुणानुवादके रहते हुए तुच्छ मनुष्योंकी स्तुति नहीं किया करते॥ २३॥

महद्‌गुणानात्मनि कर्तुमीशः
कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि।
तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो
जनावहासं कुमतिर्न वेद॥ २४

महान् गुणोंको धारण करनेमें समर्थ होनेपर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है, जो उनके न रहनेपर भी केवल सम्भावनामात्रसे स्तुति करनेवालोंद्वारा अपनी स्तुति करायेगा? यदि यह विद्याभ्यास करता तो इसमें अमुक-अमुक गुण हो जाते—इस प्रकारकी स्तुतिसे तो मनुष्यकी वंचना की जाती है। वह मन्दमति यह नहीं समझता कि इस प्रकार तो लोग उसका उपहास ही कर रहे हैं॥ २४॥

प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम्॥ २५

जिस प्रकार लज्जाशील उदार पुरुष अपने किसी निन्दित पराक्रमकी चर्चा होनी बुरी समझते हैं, उसी प्रकार लोकविख्यात समर्थ पुरुष अपनी स्तुतिको भी निन्दित मानते हैं॥ २५॥

वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः।
कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत्॥ २६

सूतगण! अभी हम अपने श्रेष्ठ कर्मोंके द्वारा लोकमें अप्रसिद्ध ही हैं; हमने अबतक कोई भी ऐसा काम नहीं किया है, जिसकी प्रशंसा की जा सके। तब तुमलोगोंसे बच्चोंके समान अपनी कीर्तिका किस प्रकार गान करावें?॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पृथुचरिते पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

वन्दीजनद्वारा महाराज पृथुकी स्तुति

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाराज पृथुने जब इस प्रकार कहा, तब उनके वचनामृतका आस्वादन करके सूत आदि गायकलोग बड़े प्रसन्न हुए। फिर वे मुनियोंकी प्रेरणासे उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे॥ १॥

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवततार मायया।
वेनांगजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः॥ २

'आप साक्षात् देवप्रवर श्रीनारायण ही हैं' जो अपनी मायासे अवतीर्ण हुए हैं; हम आपकी महिमाका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं। आपने जन्म तो राजा वेनके मृतक शरीरसे लिया है, किन्तु आपके पौरुषोंका वर्णन करनेमें साक्षात् ब्रह्मादिकी बुद्धि भी चकरा जाती है॥ २॥

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः
कलावतारस्य कथामृतादृताः।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः
श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि॥ ३

तथापि आपके कथामृतके आस्वादनमें आदर-बुद्धि रखकर मुनियोंके उपदेशके अनुसार उन्हींकी प्रेरणासे हम आपके परम प्रशंसनीय कर्मोंका कुछ विस्तार करना चाहते हैं, आप साक्षात् श्रीहरिके कलावतार हैं और आपकी कीर्ति बड़ी उदार है॥ ३॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन्।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम्॥ ४

एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम्॥ ५

वसु काल उपादत्ते काले चायं विमुंचति।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन् सूर्यवद्विभुः॥ ६

तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रमतामपि।
भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान्॥ ७

देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः।
कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यंजसेन्द्रवत्॥ ८

आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना।
सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा॥ ९

अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा॥ १०

दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत्।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः॥ ११

'ये धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज पृथु लोकको धर्ममें प्रवृत्त करके धर्ममर्यादाकी रक्षा करेंगे तथा उसके विरोधियोंको दण्ड देंगे॥ ४॥ ये अकेले ही समय-समयपर प्रजाके पालन, पोषण और अनुरंजन आदि कार्यके अनुसार अपने शरीरमें भिन्न-भिन्न लोकपालोंकी मूर्तिको धारण करेंगे तथा यज्ञ आदिके प्रचारद्वारा स्वर्गलोक और वृष्टिकी व्यवस्थाद्वारा भूलोक—दोनोंका ही हित साधन करेंगे॥ ५॥ ये सूर्यके समान अलौकिक, महिमान्वित, प्रतापवान् और समदर्शी होंगे। जिस प्रकार सूर्य देवता आठ महीने तपते रहकर जल खींचते हैं और वर्षा-ऋतुमें उसे उड़ेल देते हैं, उसी प्रकार ये कर आदिके द्वारा कभी धन-संचय करेंगे और कभी उसका प्रजाके हितके लिये व्यय कर डालेंगे॥ ६॥ ये बड़े दयालु होंगे। यदि कभी कोई दीन पुरुष इनके मस्तकपर पैर भी रख देगा, तो भी ये पृथ्वीके समान उसके इस अनुचित व्यवहारको सदा सहन करेंगे॥ ७॥ कभी वर्षा न होगी और प्रजाके प्राण संकटमें पड़ जायँगे, तो ये राजवेषधारी श्रीहरि इन्द्रकी भाँति जल बरसाकर अनायास ही उसकी रक्षा कर लेंगे॥ ८॥ ये अपने अमृतमय मुखचन्द्रकी मनोहर मुसकान और प्रेमभरी चितवनसे सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दमग्न कर देंगे॥ ९॥ इनकी गतिको कोई समझ न सकेगा, इनके कार्य भी गुप्त होंगे तथा उन्हें सम्पन्न करनेका ढंग भी बहुत गम्भीर होगा। इनका धन सदा सुरक्षित रहेगा। ये अनन्त माहात्म्य और गुणोंके एकमात्र आश्रय होंगे। इस प्रकार मनस्वी पृथु साक्षात् वरुणके ही समान होंगे॥ १०॥

'महाराज पृथु वेनरूप अरणिके मन्थनसे प्रकट हुए अग्निके समान हैं। शत्रुओंके लिये ये अत्यन्त दुर्धर्ष और दुःसह होंगे। ये उनके समीप रहनेपर भी, सेनादिसे सुरक्षित रहनेके कारण, बहुत दूर रहनेवाले-से होंगे। शत्रु कभी इन्हें हरा न सकेंगे॥ ११॥

अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन् कर्माणि चारणैः।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम्॥ १२
नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः॥ १३
अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात्।
वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः॥ १४
रंजयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः।
अथामुमाहू राजानं मनोरंजनकैः प्रजाः॥ १५
दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः॥ १६
मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः।
प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम्॥ १७
देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्धनः।
मुक्तसंगप्रसंगोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु॥ १८
अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः।
यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं
पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम्॥ १९
अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रे-
र्गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः।
आस्थाय जैत्रं रथमात्तचापः
पर्यस्यते दक्षिणतो यथार्कः॥ २०
अस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र
बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः।
मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं
चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः॥ २१

जिस प्रकार प्राणियोंके भीतर रहनेवाला प्राणरूप सूत्रात्मा शरीरके भीतर-बाहरके समस्त व्यापारोंको देखते रहनेपर भी उदासीन रहता है, उसी प्रकार ये गुप्तचरोंके द्वारा प्राणियोंके गुप्त और प्रकट सभी प्रकारके व्यापार देखते हुए भी अपनी निन्दा और स्तुति आदिके प्रति उदासीनवत् रहेंगे॥ १२॥ ये धर्ममार्गमें स्थित रहकर अपने शत्रुके पुत्रको भी, दण्डनीय न होनेपर, कोई दण्ड न देंगे और दण्डनीय होनेपर तो अपने पुत्रको भी दण्ड देंगे॥ १३॥ भगवान् सूर्य मानसोत्तर पर्वततक जितने प्रदेशको अपनी किरणोंसे प्रकाशित करते हैं, उस सम्पूर्ण क्षेत्रमें इनका निष्कण्टक राज्य रहेगा॥ १४॥ ये अपने कार्योंसे सब लोकोंको सुख पहुँचावेंगे—उनका रंजन करेंगे; इससे उन मनोरंजनात्मक व्यापारोंके कारण प्रजा इन्हें 'राजा' कहेगी॥ १५॥ ये बड़े दृढ़संकल्प, सत्यप्रतिज्ञ, ब्राह्मणभक्त, वृद्धोंकी सेवा करनेवाले, शरणागतवत्सल, सब प्राणियोंको मान देनेवाले और दीनोंपर दया करनेवाले होंगे॥ १६॥ ये परस्त्रीमें माताके समान भक्ति रखेंगे, पत्नीको अपने आधे अंगके समान मानेंगे, प्रजापर पिताके समान प्रेम रखेंगे और ब्रह्मवादियोंके सेवक होंगे॥ १७॥ दूसरे प्राणी इन्हें उतना ही चाहेंगे जितना अपने शरीरको। ये सुहृदोंके आनन्दको बढ़ायेंगे। ये सर्वदा वैराग्यवान् पुरुषोंसे विशेष प्रेम करेंगे और दुष्टोंको दण्डपाणि यमराजके समान सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहेंगे॥ १८॥

'तीनों गुणोंके अधिष्ठाता और निर्विकार साक्षात् श्रीनारायणने ही इनके रूपमें अपने अंशसे अवतार लिया है, जिनमें पण्डितलोग अविद्यावश प्रतीत होनेवाले इस नानात्वको मिथ्या ही समझते हैं॥ १९॥ ये अद्वितीय वीर और एकच्छत्र सम्राट् होकर अकेले ही उदयाचलपर्यन्त समस्त भूमण्डलकी रक्षा करेंगे तथा अपने जयशील रथपर चढ़कर धनुष हाथमें लिये सूर्यके समान सर्वत्र प्रदक्षिणा करेंगे॥ २०॥ उस समय जहाँ-तहाँ सभी लोकपाल और पृथ्वीपाल इन्हें भेंटें समर्पण करेंगे, उनकी स्त्रियाँ इनका गुणगान करेंगी और इन आदिराजको साक्षात् श्रीहरि ही समझेंगी॥ २१॥

अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः
प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम्।
यो लीलयाद्रीन् स्वशरासकोट्या
भिन्दन् समां गामकरोद्यथेन्द्रः॥ २२
विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं
यदाचरत्क्ष्मामविषह्यमाजौ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो
लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः॥ २३
एषोऽश्वमेधान् शतमाजहार
सरस्वती प्रादुरभावि यत्र।
अहारषीद्यस्य हयं पुरन्दरः
शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने॥ २४
एष स्वसद्मोपवने समेत्य
सनत्कुमारं भगवन्तमेकम्।
आराध्य भक्त्यालभतामलं तज्-
ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति॥ २५
तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः।
श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः॥ २६
दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः
स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमान-
महानुभावो भविता पतिर्भुवः॥ २७

ये प्रजापालक राजाधिराज होकर प्रजाके जीवन-निर्वाहके लिये गोरूपधारिणी पृथ्वीका दोहन करेंगे और इन्द्रके समान अपने धनुषके कोनोंसे बातों-की-बातमें पर्वतोंको तोड़-फोड़कर पृथ्वीको समतल कर देंगे॥ २२॥ रणभूमिमें कोई भी इनका वेग नहीं सह सकेगा। जिस समय ये जंगलमें पूँछ उठाकर विचरते हुए सिंहके समान अपने 'आजगव' धनुषका टंकार करते हुए भूमण्डलमें विचरेंगे, उस समय सभी दुष्टजन इधर-उधर छिप जायँगे॥ २३॥ ये सरस्वतीके उद्गमस्थानपर सौ अश्वमेधयज्ञ करेंगे। तब अन्तिम यज्ञानुष्ठानके समय इन्द्र इनके घोड़ेको हरकर ले जायँगे॥ २४॥ अपने महलके बगीचेमें इनकी एक बार भगवान् सनत्कुमारसे भेंट होगी। अकेले उनकी भक्तिपूर्वक सेवा करके ये उस निर्मल ज्ञानको प्राप्त करेंगे, जिससे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है॥ २५॥ इस प्रकार जब इनके पराक्रम जनताके सामने आ जायँगे, तब ये परमपराक्रमी महाराज जहाँ-तहाँ अपने चरित्रकी ही चर्चा सुनेंगे॥ २६॥ इनकी आज्ञाका विरोध कोई भी न कर सकेगा तथा ये सारी दिशाओंको जीतकर और अपने तेजसे प्रजाके क्लेशरूप काँटेको निकालकर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक होंगे। उस समय देवता और असुर भी इनके विपुल प्रभावका वर्णन करेंगे'॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

महाराज पृथुका पृथ्वीपर कुपित होना और पृथ्वीके द्वारा उनकी स्तुति करना

मैत्रेय उवाच

एवं स भगवान् वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः।
छन्दयामास तान् कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार जब वन्दीजनने महाराज पृथुके गुण और कर्मोंका बखान करके उनकी प्रशंसा की, तब उन्होंने भी उनकी बड़ाई करके तथा उन्हें मनचाही वस्तुएँ देकर सन्तुष्ट किया॥ १॥

ब्राह्मणप्रमुखान् वर्णान् भृत्यामात्यपुरोधसः।
पौरांजानपदान् श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत्॥ २

उन्होंने ब्राह्मणादि चारों वर्णों, सेवकों, मन्त्रियों, पुरोहितों, पुरवासियों, देशवासियों, भिन्न-भिन्न व्यवसायियों तथा अन्यान्य आज्ञानुवर्तियोंका भी सत्कार किया॥ २॥

विदुर उवाच

कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी।
यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम्॥ ३
प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम्।
तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत्॥ ४
सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन् ब्रह्मविदुत्तमात्।
लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः॥ ५
यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवान् भगवतः प्रभोः।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम्॥ ६
भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम्॥ ७

सूत उवाच

चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत॥ ८

मैत्रेय उवाच

यदाभिषिक्तः पृथुरंग विप्रै-
रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन्॥ ९
वयं राजंजाठरेणाभितप्ता
यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं
यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः॥ १०
तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं
क्षुधार्दितानां नरदेवदेव।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा
वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः॥ ११

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! पृथ्वी तो अनेक रूप धारण कर सकती है, उसने गौका रूप ही क्यों धारण किया? और जब महाराज पृथुने उसे दुहा, तब बछड़ा कौन बना? और दुहनेका पात्र क्या हुआ?॥ ३॥ पृथ्वी देवी तो पहले स्वभावसे ही ऊँची-नीची थी। उसे उन्होंने समतल किस प्रकार किया और इन्द्र उनके यज्ञसम्बन्धी घोड़ेको क्यों हर ले गये?॥ ४॥ ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवान् सनत्कुमारजीसे ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करके वे राजर्षि किस गतिको प्राप्त हुए?॥ ५॥ पृथुरूपसे सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने ही अवतार ग्रहण किया था; अतः पुण्यकीर्ति श्रीहरिके उस पृथु-अवतारसे सम्बन्ध रखनेवाले जो और भी पवित्र चरित्र हों, वे सभी आप मुझसे कहिये। मैं आपका और श्रीकृष्णचन्द्रका बड़ा अनुरक्त भक्त हूँ॥ ६-७॥

श्रीसूतजी कहते हैं—जब विदुरजीने भगवान् वासुदेवकी कथा कहनेके लिये इस प्रकार प्रेरणा की, तब श्रीमैत्रेयजी प्रसन्नचित्तसे उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे॥ ८॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! ब्राह्मणोंने महाराज पृथुका राज्याभिषेक करके उन्हें प्रजाका रक्षक उद्घोषित किया। इन दिनों पृथ्वी अन्नहीन हो गयी थी, इसलिये भूखके कारण प्रजाजनोंके शरीर सूखकर काँटे हो गये थे। उन्होंने अपने स्वामी पृथुके पास आकर कहा॥ ९॥ 'राजन्! जिस प्रकार कोटरमें सुलगती हुई आगसे पेड़ जल जाता है, उसी प्रकार हम पेटकी भीषण ज्वालासे जले जा रहे हैं। आप शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं और हमारे अन्नदाता प्रभु बनाये गये हैं, इसलिये हम आपकी शरणमें आये हैं॥ १०॥

आप समस्त लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं, आप ही हमारी जीविकाके भी स्वामी हैं। अतः राजराजेश्वर! आप हम क्षुधापीड़ितोंको शीघ्र ही अन्न देनेका प्रबन्ध कीजिये; ऐसा न हो कि अन्न मिलनेसे पहले ही हमारा अन्त हो जाय'॥ ११॥

मैत्रेय उवाच

पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम्।
दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत॥ १२

इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः।
सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा॥ १३

प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधं च तम्।
गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता॥ १४

तामन्वधावत्तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः।
शरं धनुषि संधाय यत्र यत्र पलायते॥ १५

सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः।
धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम्॥ १६

लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः।
त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता॥ १७

उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल।
त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान्॥ १८

स त्वं जिघांससे कस्माद्दीनामकृतकिल्बिषाम्।
अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः॥ १९

प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः।
किमुत त्वद्विधा राजन् करुणा दीनवत्सलाः॥ २०

मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम्।
आत्मानं च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि धास्यसि॥ २१

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कुरुवर! प्रजाका करुणक्रन्दन सुनकर महाराज पृथु बहुत देरतक विचार करते रहे। अन्तमें उन्हें अन्नाभावका कारण मालूम हो गया॥ १२॥ 'पृथ्वीने स्वयं ही अन्न एवं औषधादिको अपने भीतर छिपा लिया है' अपनी बुद्धिसे इस बातका निश्चय करके उन्होंने अपना धनुष उठाया और त्रिपुरविनाशक भगवान् शंकरके समान अत्यन्त क्रोधित होकर पृथ्वीको लक्ष्य बनाकर बाण चढ़ाया॥ १३॥ उन्हें शस्त्र उठाये देख पृथ्वी काँप उठी और जिस प्रकार व्याधके पीछा करनेपर हरिणी भागती है, उसी प्रकार वह डरकर गौका रूप धारण करके भागने लगी॥ १४॥

यह देखकर महाराज पृथुकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे जहाँ-जहाँ पृथ्वी गयी, वहाँ-वहाँ धनुषपर बाण चढ़ाये उसके पीछे लगे रहे॥ १५॥ दिशा, विदिशा, स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जहाँ-जहाँ भी वह दौड़कर जाती, वहीं उसे महाराज पृथु हथियार उठाये अपने पीछे दिखायी देते॥ १६॥ जिस प्रकार मनुष्यको मृत्युसे कोई नहीं बचा सकता, उसी प्रकार उसे त्रिलोकीमें वेनपुत्र पृथुसे बचानेवाला कोई भी न मिला। तब वह अत्यन्त भयभीत होकर दुःखित चित्तसे पीछेकी ओर लौटी॥ १७॥ और महाभाग पृथुजीसे कहने लगी—'धर्मके तत्त्वको जाननेवाले शरणागतवत्सल राजन्! आप तो सभी प्राणियोंकी रक्षा करनेमें तत्पर हैं, आप मेरी भी रक्षा कीजिये॥ १८॥ मैं अत्यन्त दीन और निरपराध हूँ, आप मुझे क्यों मारना चाहते हैं? इसके सिवा आप तो धर्मज्ञ माने जाते हैं; फिर मुझ स्त्रीका वध आप कैसे कर सकेंगे?॥ १९॥ स्त्रियाँ कोई अपराध करें, तो साधारण जीव भी उनपर हाथ नहीं उठाते; फिर आप जैसे करुणामय और दीनवत्सल तो ऐसा कर ही कैसे सकते हैं?॥ २०॥

मैं तो एक सुदृढ़ नौकाके समान हूँ, सारा जगत् मेरे ही आधारपर स्थित हैं। मुझे तोड़कर आप अपनेको और अपनी प्रजाको जलके ऊपर कैसे रखेंगे?'॥ २१॥

पृथुरुवाच

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम्।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु॥ २२
यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते॥ २३
त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक् सृष्टानि स्वयम्भुवा।
न मुंचस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः॥ २४
अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम्।
शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा॥ २५
पुमान् योषिदुत क्लीब आत्मसम्भावनोऽधमः।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः॥ २६
त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः॥ २७
एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम्।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही संजातवेपथुः॥ २८

धरोवाच

नमः परस्मै पुरुषाय मायया
विन्यस्तनानातनवे[1] गुणात्मने।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुत-
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥ २९
येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसङ्ग्रहः।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वरा-
डुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये॥ ३०

महाराज पृथुने कहा—पृथ्वी! तू मेरी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाली है। तू यज्ञमें देवतारूपसे भाग तो लेती है, किन्तु उसके बदलेमें हमें अन्न नहीं देती; इसलिये आज मैं तुझे मार डालूँगा॥ २२॥ तू जो प्रतिदिन हरी-हरी घास खा जाती है और अपने थनका दूध नहीं देती—ऐसी दुष्टता करनेपर तुझे दण्ड देना अनुचित नहीं कहा जा सकता॥ २३॥ तू नासमझ है, तूने पूर्वकालमें ब्रह्माजीके उत्पन्न किये हुए अन्नादिके बीजोंको अपनेमें लीन कर लिया है और अब मेरी भी परवा न करके उन्हें अपने गर्भसे निकालती नहीं॥ २४॥ अब मैं अपने बाणोंसे तुझे छिन्न-भिन्न कर तेरे मेदेसे इन क्षुधातुर और दीन प्रजाजनोंका करुण-क्रन्दन शान्त करूँगा॥ २५॥ जो दुष्ट अपना ही पोषण करनेवाला तथा अन्य प्राणियोंके प्रति निर्दय हो—वह पुरुष, स्त्री अथवा नपुंसक कोई भी हो—उसका मारना राजाओंके लिये न मारनेके ही समान है॥ २६॥ तू बड़ी गर्वीली और मदोन्मत्ता है; इस समय मायासे ही यह गौका रूप बनाये हुए है। मैं बाणोंसे तेरे टुकड़े-टुकड़े करके अपने योगबलसे प्रजाको धारण करूँगा॥ २७॥

इस समय महाराज पृथु कालकी भाँति क्रोधमयी मूर्ति धारण किये हुए थे। उनके ये शब्द सुनकर धरती काँपने लगी और उसने अत्यन्त विनीतभावसे हाथ जोड़कर कहा॥ २८॥

पृथ्वीने कहा—आप साक्षात् परमपुरुष हैं तथा अपनी मायासे अनेक प्रकारके शरीर धारणकर गुणमय जान पड़ते हैं; वास्तवमें आत्मानुभवके द्वारा आप अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवसम्बन्धी अभिमान और उससे उत्पन्न हुए राग-द्वेषादिसे सर्वथा रहित हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ॥ २९॥ आप सम्पूर्ण जगत्के विधाता हैं; आपने ही यह त्रिगुणात्मक सृष्टि रची है और मुझे समस्त जीवोंका आश्रय बनाया है। आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं। प्रभो! जब आप ही अस्त्र-शस्त्र लेकर मुझे मारनेको तैयार हो गये, तब मैं और किसकी शरणमें जाऊँ?॥ ३०॥

१. प्रा० पा०—न्यस्तमायात०।

य एतदादावसृजच्चराचरं
स्वमाययाऽऽत्माश्रययावितर्क्यया।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति॥ ३१
नूनं बतेशस्य समीहितं जनै-
स्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्-
योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः॥ ३२
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये[1]
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे॥ ३३
स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातला-
दभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः॥ ३४
अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि॥ ३५
नूनं जनैरीहितमीश्वराणा-
मस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभि-[2]
स्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः॥ ३६

कल्पके आरम्भमें आपने अपने आश्रित रहनेवाली अनिर्वचनीया मायासे ही इस चराचर जगत्‌की रचना की थी और उस मायाके ही द्वारा आप इसका पालन करनेके लिये तैयार हुए हैं। आप धर्मपरायण हैं; फिर भी मुझ गोरूपधारिणीको किस प्रकार मारना चाहते हैं?॥ ३१ ॥ आप एक होकर भी मायावश अनेक रूप जान पड़ते हैं तथा आपने स्वयं ब्रह्माको रचकर उनसे विश्वकी रचना करायी है। आप साक्षात् सर्वेश्वर हैं, आपकी लीलाओंको अजितेन्द्रिय लोग कैसे जान सकते हैं? उनकी बुद्धि तो आपकी दुर्जय मायासे विक्षिप्त हो रही है॥ ३२ ॥ आप ही पंचभूत, इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ देवता, बुद्धि और अहंकाररूप अपनी शक्तियोंके द्वारा क्रमशः जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं। भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये समय-समयपर आपकी शक्तियोंका आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। आप साक्षात् परमपुरुष और जगद्विधाता हैं, आपको मेरा नमस्कार है ॥ ३३ ॥ अजन्मा प्रभो! आप ही अपने रचे हुए भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप जगत्‌की स्थितिके लिये आदिवराहरूप होकर मुझे रसातलसे जलके बाहर लाये थे॥ ३४॥ इस प्रकार एक बार तो मेरा उद्धार करके आपने धराधर नाम पाया था; आज वही आप वीरमूर्तिसे जलके ऊपर नौकाके समान स्थित मेरे ही आश्रय रहनेवाली प्रजाकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे पैने-पैने बाण चढ़ाकर दूध न देनेके अपराधमें मुझे मारना चाहते हैं॥ ३५ ॥ इस त्रिगुणात्मक सृष्टिकी रचना करनेवाली आपकी मायासे मेरे-जैसे साधारण जीवोंके चित्त मोहग्रस्त हो रहे हैं। मुझ-जैसे लोग तो आपके भक्तोंकी लीलाओंका भी आशय नहीं समझ सकते, फिर आपकी किसी क्रियाका उद्देश्य न समझें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। अतः जो इन्द्रिय-संयमादिके द्वारा वीरोचित यज्ञका विस्तार करते हैं, ऐसे आपके भक्तोंको भी नमस्कार है॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुविजये धरित्रीनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

१. प्रा० पा०—विरुद्ध०। २. प्रा० पा०—चित्तकर्म०।

अथाष्टादशोऽध्यायः

पृथ्वी-दोहन

मैत्रेय उवाच

इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम्।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना॥ १
संनियच्छाभिभो मन्युं[1] निबोध श्रावितं च मे।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः॥ २
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये॥ ३
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः[2] श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥ ४
ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च[3] पुनः पुनः॥ ५
पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः॥ ६
अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः।
चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः॥ ७
नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा।
तत्र योगेन[4] दृष्टेन भवानादातुमर्हति॥ ८
वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव।
धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामाननुरूपं च दोहनम्॥ ९
दोग्धारं च महाबाहो भूतानां भूतभावन।
अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान् वाञ्छते यदि॥ १०

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस समय महाराज पृथुके होठ क्रोधसे काँप रहे थे। उनकी इस प्रकार स्तुति कर पृथ्वीने अपने हृदयको विचारपूर्वक समाहित किया और डरते-डरते उनसे कहा॥ १॥ 'प्रभो! आप अपना क्रोध शान्त कीजिये और मैं जो प्रार्थना करती हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये। बुद्धिमान् पुरुष भ्रमरके समान सभी जगहसे सार ग्रहण कर लेते हैं॥ २॥ तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस लोक और परलोकमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये कृषि, अग्निहोत्र आदि बहुत-से उपाय निकाले और काममें लिये हैं॥ ३॥ उन प्राचीन ऋषियोंके बताये हुए उपायोंका इस समय भी जो पुरुष श्रद्धापूर्वक भलीभाँति आचरण करता है, वह सुगमतासे अभीष्ट फल प्राप्त कर लेता है॥ ४॥ परन्तु जो अज्ञानी पुरुष उनका अनादर करके अपने मनःकल्पित उपायोंका आश्रय लेता है, उसके सभी उपाय और प्रयत्न बार-बार निष्फल होते रहते हैं॥ ५॥ राजन्! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिन धान्य आदिको उत्पन्न किया था, मैंने देखा कि यम-नियमादि व्रतोंका पालन न करनेवाले दुराचारीलोग ही उन्हें खाये जा रहे हैं॥ ६॥ लोकरक्षक! आप राजालोगोंने मेरा पालन और आदर करना छोड़ दिया; इसलिये सब लोग चोरोंके समान हो गये हैं। इसीसे यज्ञके लिये ओषधियोंको मैंने अपनेमें छिपा लिया॥ ७॥ अब अधिक समय हो जानेसे अवश्य ही वे धान्य मेरे उदरमें जीर्ण हो गये हैं; आप उन्हें पूर्वाचार्योंके बतलाये हुए उपायसे निकाल लीजिये॥ ८॥ लोकपालक वीर! यदि आपको समस्त प्राणियोंके अभीष्ट एवं बलकी वृद्धि करनेवाले अन्नकी आवश्यकता है तो आप मेरे योग्य बछड़ा, दोहनपात्र और दुहनेवालेकी व्यवस्था कीजिये; मैं उस बछड़ेके स्नेहसे पिन्हाकर दूधके रूपमें आपको सभी अभीष्ट वस्तुएँ दे दूँगी॥ ९-१०॥

१. प्रा० पा०—क्रोधं। २. प्रा० पा०—अथवा। ३. प्रा० पा०—प्रारब्धा०। ४. प्रा० पा०—दृष्टेन योगेन।

समां च कुरु मां राजन्देववृष्टं यथा पयः।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो॥ ११
इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः॥ १२
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः।
ततोऽन्ये[1] च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम्॥ १३
ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि॥ १४
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन्।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः॥ १५
दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम्।
विधायादूदुहन् क्षीरमयःपात्रे सुरासवम्॥ १६
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं[2] मधु सौभगम्[3]॥ १७
वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः॥ १८
प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम्।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः॥ १९
अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम्।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम्॥ २०
यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम्॥ २१

राजन्! एक बात और है; आपको मुझे समतल करना होगा, जिससे कि वर्षा-ऋतु बीत जानेपर भी मेरे ऊपर इन्द्रका बरसाया हुआ जल सर्वत्र बना रहे—मेरे भीतरकी आर्द्रता सूखने न पावे। यह आपके लिये बहुत मंगलकारक होगा'॥ ११॥

पृथ्वीके कहे हुए ये प्रिय और हितकारी वचन स्वीकार कर महाराज पृथुने स्वायम्भुव मनुको बछड़ा बना अपने हाथमें ही समस्त धान्योंको दुह लिया॥ १२॥ पृथुके समान अन्य विज्ञजन भी सब जगहसे सार ग्रहण कर लेते हैं, अत: उन्होंने भी पृथुजीके द्वारा वशमें की हुई वसुन्धरासे अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुएँ दुह लीं॥ १३॥ ऋषियोंने बृहस्पतिजीको बछड़ा बनाकर इन्द्रिय (वाणी, मन और श्रोत्र) रूप पात्रमें पृथ्वीदेवीसे वेदरूप पवित्र दूध दुहा॥ १४॥ देवताओंने इन्द्रको बछड़ेके रूपमें कल्पना कर सुवर्णमय पात्रमें अमृत, वीर्य (मनोबल), ओज (इन्द्रियबल) और शारीरिक बलरूप दूध दुहा॥ १५॥ दैत्य और दानवोंने असुरश्रेष्ठ प्रह्लादजीको वत्स बनाकर लोहेके पात्रमें मदिरा और आसव (ताड़ी आदि) रूप दूध दुहा॥ १६॥ गन्धर्व और अप्सराओंने विश्वावसुको बछड़ा बनाकर कमलरूप पात्रमें संगीतमाधुर्य और सौन्दर्यरूप दूध दुहा॥ १७॥ श्राद्धके अधिष्ठाता महाभाग पितृगणने अर्यमा नामके पित्रीश्वरको वत्स बनाया तथा मिट्टीके कच्चे पात्रमें श्रद्धापूर्वक कव्य (पितरोंको अर्पित किया जानेवाला अन्न) रूप दूध दुहा॥ १८॥ फिर कपिलदेवजीको बछड़ा बनाकर आकाशरूप पात्रमें सिद्धोंने अणिमादि अष्टसिद्धि तथा विद्याधरोंने आकाशगमन आदि विद्याओंको दुहा॥ १९॥ किम्पुरुषादि अन्य मायावियोंने मयदानवको बछड़ा बनाया तथा अन्तर्धान होना, विचित्र रूप धारण कर लेना आदि संकल्पमयी मायाओंको दुग्धरूपसे दुहा॥ २०॥

इसी प्रकार यक्ष-राक्षस तथा भूत-पिशाचादि मांसाहारियोंने भूतनाथ रुद्रको बछड़ा बनाकर कपालरूप पात्रमें रुधिरासवरूप दूध दुहा॥ २१॥

१. प्रा० पा०—ततः सर्वे। २. प्रा० पा०—गन्धं। ३. प्रा० पा०—ससौभगम्।

तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम्।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः॥ २२

पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम्।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः॥ २३

क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे[1] कलेवरे।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च॥ २४

वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु॥ २५

सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम्॥ २६

एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह॥ २७

ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः॥ २८

चूर्णयन्[2] स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः॥ २९

अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
निवासान् कल्पयांचक्रे तत्र तत्र यथार्हतः॥ ३०

ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान्॥ ३१

बिना फनवाले साँप, फनवाले साँप, नाग और बिच्छू आदि विषैले जन्तुओंने तक्षकको बछड़ा बनाकर मुखरूप पात्रमें विषरूप दूध दुहा॥ २२॥ पशुओंने भगवान् रुद्रके वाहन बैलको वत्स बनाकर वनरूप पात्रमें तृणरूप दूध दुहा। बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले मांसभक्षी जीवोंने सिंहरूप बछड़ेके द्वारा अपने शरीररूप पात्रमें कच्चा मांसरूप दूध दुहा तथा गरुडजीको वत्स बनाकर पक्षियोंने कीट-पतंगादि चर और फलादि अचर पदार्थोंको दुग्धरूपसे दुहा॥ २३-२४॥ वृक्षोंने वटको वत्स बनाकर अनेक प्रकारका रसरूप दूध दुहा और पर्वतोंने हिमालयरूप बछड़ेके द्वारा अपने शिखररूप पात्रोंमें अनेक प्रकारकी धातुओंको दुहा॥ २५॥ पृथ्वी तो सभी अभीष्ट वस्तुओंको देनेवाली है और इस समय वह पृथुजीके अधीन थी। अतः उससे सभीने अपनी-अपनी जातिके मुखियाको बछड़ा बनाकर अलग-अलग पात्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके पदार्थोंको दूधके रूपमें दुह लिया॥ २६॥

कुरुश्रेष्ठ विदुरजी! इस प्रकार पृथु आदि सभी अन्न-भोजियोंने भिन्न-भिन्न दोहन-पात्र और वत्सोंके द्वारा अपने-अपने विभिन्न अन्नरूप दूध पृथ्वीसे दुहे॥ २७॥ इससे महाराज पृथु ऐसे प्रसन्न हुए कि सर्वकामदुहा पृथ्वीके प्रति उनका पुत्रीके समान स्नेह हो गया और उसे उन्होंने अपनी कन्याके रूपमें स्वीकार कर लिया॥ २८॥ फिर राजाधिराज पृथुने अपने धनुषकी नोकसे पर्वतोंको फोड़कर इस सारे भूमण्डलको प्रायः समतल कर दिया॥ २९॥ वे पिताके समान अपनी प्रजाके पालन-पोषणकी व्यवस्थामें लगे हुए थे। उन्होंने इस समतल भूमिमें प्रजावर्गके लिये जहाँ-तहाँ यथायोग्य निवासस्थानोंका विभाग किया॥ ३०॥ अनेकों गाँव, कस्बे, नगर, दुर्ग, अहीरोंकी बस्ती, पशुओंके रहनेके स्थान, छावनियाँ, खानें, किसानोंके गाँव और पहाड़ोंकी तलहटीके गाँव बसाये॥ ३१॥

१. प्रा० पा०—स्वकले०। २. प्रा० पा०—चूर्णयंश्च धनु०।

प्राक्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः॥ ३२

महाराज पृथुसे पहले इस पृथ्वीतलपर पुर-ग्रामादिका विभाग नहीं था; सब लोग अपने-अपने सुभीतेके अनुसार बेखटके जहाँ-तहाँ बस जाते थे॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुविजयेऽष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुके सौ अश्वमेध यज्ञ

मैत्रेय उवाच

अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती॥ १
तदभिप्रेत्य भगवान् कर्मातिशयमात्मनः।
शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम्॥ २
यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान् हरिरीश्वरः।
अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः॥ ३
अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः॥ ४
सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः।
सुनन्दनन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः॥ ५
कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः सनकादयः।
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः॥ ६
यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती।
दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान् यजमानस्य भारत॥ ७
ऊहुः सर्वरसान्नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान्।
तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः॥ ८
सिन्धवो रत्ननिकरान् गिरयोऽन्नं चतुर्विधम्।
उपायनमुपाजह्रुः सर्वे लोकाः सपालकाः॥ ९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! महाराज मनुके ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें, जहाँ सरस्वती नदी पूर्वमुखी होकर बहती है, राजा पृथुने सौ अश्वमेध-यज्ञोंकी दीक्षा ली॥ १॥ यह देखकर भगवान् इन्द्रको विचार हुआ कि इस प्रकार तो पृथुके कर्म मेरे कर्मोंकी अपेक्षा भी बढ़ जायँगे। इसलिये वे उनके यज्ञमहोत्सवको सहन न कर सके॥ २॥ महाराज पृथुके यज्ञमें सबके अन्तरात्मा सर्वलोकपूज्य जगदीश्वर भगवान् हरिने यज्ञेश्वररूपसे साक्षात् दर्शन दिया था॥ ३॥ उनके साथ ब्रह्मा, रुद्र तथा अपने-अपने अनुचरोंके सहित लोकपालगण भी पधारे थे। उस समय गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ प्रभुकी कीर्ति गा रहे थे॥ ४॥ सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, यक्ष, सुनन्द-नन्दादि भगवान्के प्रमुख पार्षद और जो सर्वदा भगवान्की सेवाके लिये उत्सुक रहते हैं—वे कपिल, नारद, दत्तात्रेय एवं सनकादि योगेश्वर भी उनके साथ आये थे॥ ५-६॥ भारत! उस यज्ञमें यज्ञसामग्रियोंको देनेवाली भूमिने कामधेनुरूप होकर यजमानकी सारी कामनाओंको पूर्ण किया था॥ ७॥ नदियाँ दाख और ईख आदि सब प्रकारके रसोंको बहा लाती थीं तथा जिनसे मधु चूता रहता था—ऐसे बड़े-बड़े वृक्ष दूध, दही, अन्न और घृत आदि तरह-तरहकी सामग्रियाँ समर्पण करते थे॥ ८॥ समुद्र बहुत-सी रत्नराशियाँ, पर्वत भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य—चार प्रकारके अन्न तथा लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोक तरह-तरहके उपहार उन्हें समर्पण करते थे॥ ९॥

इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम्।
असूयन् भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत्॥ १०

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम्।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः॥ ११

तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा।
आमुक्तमिव पाखण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः॥ १२

अत्रिणा चोदितो[1] हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः।
अन्वधावत संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ १३

तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम्।
जटिलं भस्मनाच्छन्नं तस्मै बाणं न मुंचति॥ १४

वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवे[2]ऽत्रिरचोदयत्।
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम्॥ १५

एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा।
अन्वद्रवदभिक्रुद्धो रावणं[3] गृध्रराडिव॥ १६

सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट्।
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान्॥ १७

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः।
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो॥ १८

महाराज पृथु तो एकमात्र श्रीहरिको ही अपना प्रभु मानते थे। उनकी कृपासे उस यज्ञानुष्ठानमें उनका बड़ा उत्कर्ष हुआ। किन्तु यह बात देवराज इन्द्रको सहन न हुई और उन्होंने उसमें विघ्न डालनेकी भी चेष्टा की॥ १०॥ जिस समय महाराज पृथु अन्तिम यज्ञद्वारा भगवान् यज्ञपतिकी आराधना कर रहे थे, इन्द्रने ईर्ष्यावश गुप्तरूपसे उनके यज्ञका घोड़ा हर लिया॥ ११॥ इन्द्रने अपनी रक्षाके लिये कवचरूपसे पाखण्डवेष धारण कर लिया था, जो अधर्ममें धर्मका भ्रम उत्पन्न करनेवाला है—जिसका आश्रय लेकर पापी पुरुष भी धर्मात्मा-सा जान पड़ता है। इस वेषमें वे घोड़ेको लिये बड़ी शीघ्रतासे आकाशमार्गसे जा रहे थे कि उनपर भगवान् अत्रिकी दृष्टि पड़ गयी। उनके कहनेसे महाराज पृथुका महारथी पुत्र इन्द्रको मारनेके लिये उनके पीछे दौड़ा और बड़े क्रोधसे बोला, 'अरे खड़ा रह! खड़ा रह'॥ १२-१३॥ इन्द्र सिरपर जटाजूट और शरीरमें भस्म धारण किये हुए थे। उनका ऐसा वेष देखकर पृथुकुमारने उन्हें मूर्तिमान् धर्म समझा, इसलिये उनपर बाण नहीं छोड़ा॥ १४॥ जब वह इन्द्रपर वार किये बिना ही लौट आया, तब महर्षि अत्रिने पुनः उसे इन्द्रको मारनेके लिये आज्ञा दी—'वत्स! इस देवताधम इन्द्रने तुम्हारे यज्ञमें विघ्न डाला है, तुम इसे मार डालो'॥ १५॥

अत्रि मुनिके इस प्रकार उत्साहित करनेपर पृथुकुमार क्रोधमें भर गया। इन्द्र बड़ी तेजीसे आकाशमें जा रहे थे। उनके पीछे वह इस प्रकार दौड़ा, जैसे रावणके पीछे जटायु॥ १६॥ स्वर्गपति इन्द्र उसे पीछे आते देख, उस वेष और घोड़ेको छोड़कर वहीं अन्तर्धान हो गये और वह वीर अपना यज्ञपशु लेकर पिताकी यज्ञशालामें लौट आया॥ १७॥ शक्तिशाली विदुरजी! उसके इस अद्भुत पराक्रमको देखकर महर्षियोंने उसका नाम विजिताश्व रखा॥ १८॥

१. प्रा० पा०—सूचितं। २. प्रा० पा०—हन्तुमत्रिर०। ३. प्रा० पा०—गृध्रराडिव रावणम्।

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः॥ १९
अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा।
कपालखट्वांगधरं वीरो नैनमबाधत॥ २०
अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा।
सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्थावन्तर्हितः स्वराट्॥ २१
वीरश्चाश्वमुपादाय पितृयज्ञमथाव्रजत्।
तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः॥ २२
यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया।
तानि पापस्य खण्डानि लिंगं खण्डमिहोच्यते॥ २३
एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया।
तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम्॥ २४
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु॥ २५
तदभिज्ञाय भगवान् पृथुः पृथुपराक्रमः।
इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः॥ २६
तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम्।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात्॥ २७

यज्ञपशुको चषाल और यूपमें* बाँध दिया गया था। शक्तिशाली इन्द्रने घोर अन्धकार फैला दिया और उसीमें छिपकर वे फिर उस घोड़ेको उसकी सोनेकी जंजीर समेत ले गये॥ १९॥ अत्रि मुनिने फिर उन्हें आकाशमें तेजीसे जाते दिखा दिया, किन्तु उनके पास कपाल और खट्वांग देखकर पृथुपुत्रने उनके मार्गमें कोई बाधा न डाली॥ २०॥ तब अत्रिने राजकुमारको फिर उकसाया और उसने गुस्सेमें भरकर इन्द्रको लक्ष्य बनाकर अपना बाण चढ़ाया। यह देखते ही देवराज उस वेष और घोड़ेको छोड़कर वहीं अन्तर्धान हो गये॥ २१॥ वीर विजिताश्व अपना घोड़ा लेकर पिताकी यज्ञशालामें लौट आया। तबसे इन्द्रके उस निन्दित वेषको मन्दबुद्धि पुरुषोंने ग्रहण कर लिया॥ २२॥ इन्द्रने अश्वहरणकी इच्छासे जो-जो रूप धारण किये थे, वे पापके खण्ड होनेके कारण पाखण्ड कहलाये। यहाँ 'खण्ड' शब्द चिह्नका वाचक है॥ २३॥ इस प्रकार पृथुके यज्ञका विध्वंस करनेके लिये यज्ञपशुको चुराते समय इन्द्रने जिन्हें कई बार ग्रहण करके त्यागा था, उन 'नग्न', 'रक्ताम्बर' तथा 'कापालिक' आदि पाखण्डपूर्ण आचारोंमें मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः मोहित हो जाती है; क्योंकि ये नास्तिकमत देखनेमें सुन्दर हैं और बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे अपने पक्षका समर्थन करते हैं। वास्तवमें ये उपधर्ममात्र हैं। लोग भ्रमवश धर्म मानकर उनमें आसक्त हो जाते हैं॥ २४-२५॥

इन्द्रकी इस कुचालका पता लगनेपर परम पराक्रमी महाराज पृथुको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने अपना धनुष उठाकर उसपर बाण चढ़ाया॥ २६॥ उस समय क्रोधावेशके कारण उनकी ओर देखा नहीं जाता था। जब ऋत्विजोंने देखा कि असह्य पराक्रमी महाराज पृथु इन्द्रका वध करनेको तैयार हैं, तब उन्हें रोकते हुए कहा, 'राजन्! आप तो बड़े बुद्धिमान् हैं, यज्ञदीक्षा ले लेनेपर शास्त्रविहित यज्ञपशुको छोड़कर और किसीका वध करना उचित नहीं है॥ २७॥

* यज्ञमण्डपमें यज्ञपशुको बाँधनेके लिये जो खम्भा होता है , उसे 'यूप' कहते हैं और यूपके आगे रखे हुए वलयाकार काष्ठको 'चषाल' कहते हैं।

वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम्।
अयातयामोपहवैरनन्तरं
प्रसह्य राजन् जुहवाम तेऽहितम्॥ २८

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा।
स्रुग्घस्तांजुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भूः प्रत्यषेधत॥ २९

न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः।
यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनवः सुराः॥ ३०

तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः।
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता॥ ३१

पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात्तर्ह्येकोनशतक्रतुः।
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान्मोक्षधर्मवित्॥ ३२

नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि।
उभावपि हि भद्रं ते उत्तमश्लोकविग्रहौ॥ ३३

मास्मिन्महाराज कृथाः स्म चिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम्॥ ३४

क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः।
धर्मव्यतिकरो यत्र पाखण्डैरिन्द्रनिर्मितैः॥ ३५

एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाखण्डैर्हारिभिर्जनम्।
ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट्॥ ३६

इस यज्ञकार्यमें विघ्न डालनेवाला आपका शत्रु इन्द्र तो आपके सुयशसे ही ईर्ष्यावश निस्तेज हो रहा है। हम अमोघ आवाहन-मन्त्रोंद्वारा उसे यहीं बुला लेते हैं और बलात् अग्निमें हवन किये देते हैं'॥ २८॥

विदुरजी! यजमानसे इस प्रकार सलाह करके उसके याजकोंने क्रोधपूर्वक इन्द्रका आवाहन किया। वे स्रुवाद्वारा आहुति डालना ही चाहते थे कि ब्रह्माजीने वहाँ आकर उन्हें रोक दिया॥ २९॥ वे बोले, 'याजको! तुम्हें इन्द्रका वध नहीं करना चाहिये, यह यज्ञसंज्ञक इन्द्र तो भगवान्‌की ही मूर्ति है। तुम यज्ञद्वारा जिन देवताओंकी आराधना कर रहे हो, वे इन्द्रके ही तो अंग हैं और उसे तुम यज्ञद्वारा मारना चाहते हो॥ ३०॥ पृथुके इस यज्ञानुष्ठानमें विघ्न डालनेके लिये इन्द्रने जो पाखण्ड फैलाया है, वह धर्मका उच्छेदन करनेवाला है। इस बातपर तुम ध्यान दो, अब उससे अधिक विरोध मत करो; नहीं तो वह और भी पाखण्ड मार्गोंका प्रचार करेगा॥ ३१॥ अच्छा, परमयशस्वी महाराज पृथुके निन्यानबे ही यज्ञ रहने दो।' फिर राजर्षि पृथुसे कहा, 'राजन्! आप तो मोक्षधर्मके जाननेवाले हैं; अतः अब आपको इन यज्ञानुष्ठानोंकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३२॥ आपका मंगल हो! आप और इन्द्र—दोनोंकी पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीहरिके शरीर हैं; इसलिये अपने ही स्वरूपभूत इन्द्रके प्रति आपको क्रोध नहीं करना चाहिये॥ ३३॥ आपका यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुआ—इसके लिये आप चिन्ता न करें। हमारी बात आप आदरपूर्वक स्वीकार कीजिये। देखिये, जो मनुष्य विधाताके बिगाड़े हुए कामको बनानेका विचार करता है, उसका मन अत्यन्त क्रोधमें भरकर भयंकर मोहमें फँस जाता है॥ ३४॥ बस, इस यज्ञको बंद कीजिये। इसीके कारण इन्द्रके चलाये हुए पाखण्डोंसे धर्मका नाश हो रहा है; क्योंकि देवताओंमें बड़ा दुराग्रह होता है॥ ३५॥ जरा देखिये तो, जो इन्द्र घोड़ेको चुराकर आपके यज्ञमें विघ्न डाल रहा था, उसीके रचे हुए इन मनोहर पाखण्डोंकी ओर सारी जनता खिंचती चली जा रही है॥ ३६॥

भवान् परित्रातुमिहावतीर्णो
धर्मं जनानां समयानुरूपम्।
वेनापचारादवलुप्तमद्य
तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य॥ ३७
स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते
सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि।
ऐन्द्रीं च मायामुपधर्ममातरं
प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि॥ ३८

आप साक्षात् विष्णुके अंश हैं। वेनके दुराचारसे धर्म लुप्त हो रहा था, उस समयोचित धर्मकी रक्षाके लिये ही आपने उसके शरीरसे अवतार लिया है॥ ३७॥ अतः प्रजापालक पृथुजी! अपने इस अवतारका उद्देश्य विचारकर आप भृगु आदि विश्वरचयिता मुनीश्वरोंका संकल्प पूर्ण कीजिये। यह प्रचण्ड पाखण्ड-पथरूप इन्द्रकी माया अधर्मकी जननी है। आप इसे नष्ट कर डालिये'॥ ३८॥

मैत्रेय उवाच

इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः।
तथा च कृत्वा वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे॥ ३९
कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे।
वरान्ददुस्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिताः॥ ४०
विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः।
आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः॥ ४१
त्वयाऽऽहूता महाबाहो सर्व एव समागताः।
पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः॥ ४२

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—लोकगुरु भगवान् ब्रह्माजीके इस प्रकार समझानेपर प्रबल पराक्रमी महाराज पृथुने यज्ञका आग्रह छोड़ दिया और इन्द्रके साथ प्रीतिपूर्वक सन्धि भी कर ली॥ ३९॥ इसके पश्चात् जब वे यज्ञान्त स्नान करके निवृत्त हुए, तब उनके यज्ञोंसे तृप्त हुए देवताओंने उन्हें अभीष्ट वर दिये॥ ४०॥ आदिराज पृथुने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दीं तथा ब्राह्मणोंने उनके सत्कारसे सन्तुष्ट होकर उन्हें अमोघ आशीर्वाद दिये॥ ४१॥ वे कहने लगे, 'महाबाहो! आपके बुलानेसे जो पितर, देवता, ऋषि और मनुष्यादि आये थे, उन सभीका आपने दान-मानसे खूब सत्कार किया'॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुविजये एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

अथ विंशोऽध्यायः

महाराज पृथुकी यज्ञशालामें श्रीविष्णुभगवान्‌का प्रादुर्भाव

मैत्रेय उवाच

भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक् तमभाषत॥ १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! महाराज पृथुके निन्यानबे यज्ञोंसे यज्ञभोक्ता यज्ञेश्वर भगवान् विष्णुको भी बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने इन्द्रके सहित वहाँ उपस्थित होकर उनसे कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

एष तेऽकारषीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि॥ २

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! (इन्द्रने) तुम्हारे सौ अश्वमेध पूरे करनेके संकल्पमें विघ्न डाला है। अब ये तुमसे क्षमा चाहते हैं, तुम इन्हें क्षमा कर दो॥ २॥

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम्॥ ३

नरदेव! जो श्रेष्ठ मानव साधु और सद्बुद्धि-सम्पन्न होते हैं, वे दूसरे जीवोंसे द्रोह नहीं करते; क्योंकि यह शरीर ही आत्मा नहीं है॥ ३॥

पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया॥ ४

यदि तुम-जैसे लोग भी मेरी मायासे मोहित हो जायँ, तो समझना चाहिये कि बहुत दिनोंतक की हुई ज्ञानीजनोंकी सेवासे केवल श्रम ही हाथ लगा॥ ४॥

अतः काय[1]मिमं विद्वानविद्याकामकर्मभिः।
आरब्ध इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते॥ ५

असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः॥ ६

ज्ञानवान् पुरुष इस शरीरको अविद्या, वासना और कर्मोंका ही पुतला समझकर इसमें आसक्त नहीं होता॥ ५॥ इस प्रकार जो इस शरीरमें ही आसक्त नहीं है, वह विवेकी पुरुष इससे उत्पन्न हुए घर, पुत्र और धन आदिमें भी किस प्रकार ममता रख सकता है॥ ६॥

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः परः॥ ७

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः॥ ८

यह आत्मा एक, शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्गुण, गुणोंका आश्रयस्थान, सर्वव्यापक, आवरणशून्य, सबका साक्षी एवं अन्य आत्मासे रहित है; अतएव शरीरसे भिन्न है॥ ७॥ जो पुरुष इस देहस्थित आत्माको इस प्रकार शरीरसे भिन्न जानता है, वह प्रकृतिसे सम्बन्ध रखते हुए भी उसके गुणोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि उसकी स्थिति मुझ परमात्मामें रहती है॥ ८॥

यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति॥ ९

परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते॥ १०

राजन्! जो पुरुष किसी प्रकारकी कामना न रखकर अपने वर्णाश्रमके धर्मोंद्वारा नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक मेरी आराधना करता है, उसका चित्त धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है॥ ९॥ चित्त शुद्ध होनेपर उसका विषयोंसे सम्बन्ध नहीं रहता तथा उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। फिर तो वह मेरी समतारूप स्थितिको प्राप्त हो जाता है। यही परम शान्ति, ब्रह्म अथवा कैवल्य है॥ १०॥

उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम्।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति शोभनम्॥ ११

जो पुरुष यह जानता है कि शरीर, ज्ञान, क्रिया और मनका साक्षी होनेपर भी कूटस्थ आत्मा उनसे निर्लिप्त ही रहता है, वह कल्याणमय मोक्षपद प्राप्त कर लेता है॥ ११॥

भिन्नस्य लिंगस्य गुणप्रवाहो
द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः।
दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः॥ १२

राजन्! गुणप्रवाहरूप आवागमन तो भूत, इन्द्रिय, इन्द्रियाभिमानी देवता और चिदाभास—इन सबकी समष्टिरूप परिच्छिन्न लिंगशरीरका ही हुआ करता है; इसका सर्वसाक्षी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। मुझमें दृढ़ अनुराग रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सम्पत्ति और विपत्ति प्राप्त होनेपर कभी हर्ष-शोकादि विकारोंके वशीभूत नहीं होते॥ १२॥

१. प्रा० पा०—कार्य०।

समः समानोत्तममध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः।
मयोपक्लृप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम्॥ १३
श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥ १४
एवं द्विजाग्र्यानुमतानुवृत्त-
धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्
द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोकः॥ १५
वरं च मत् कंचन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-
र्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती॥ १६

मैत्रेय उवाच

स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित्।
अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः॥ १७
स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह॥ १८
भगवानथ विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः॥ १९
प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः।
पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम्॥ २०

इसलिये वीरवर! तुम उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषोंमें समानभाव रखकर सुख-दुःखको भी एक-सा समझो तथा मन और इन्द्रियोंको जीतकर मेरे ही द्वारा जुटाये हुए मन्त्री आदि समस्त राजकीय पुरुषोंकी सहायतासे सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करो॥ १३॥ राजाका कल्याण प्रजापालनमें ही है। इससे उसे परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठा भाग मिलता है। इसके विपरीत जो राजा प्रजाकी रक्षा तो नहीं करता; किंतु उससे कर वसूल करता जाता है, उसका सारा पुण्य तो प्रजा छीन लेती है और बदलेमें उसे प्रजाके पापका भागी होना पड़ता है॥ १४॥ ऐसा विचारकर यदि तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सम्मति और पूर्व परम्परासे प्राप्त हुए धर्मको ही मुख्यतः अपना लो और कहीं भी आसक्त न होकर इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक पालन करते रहो तो सब लोग तुमसे प्रेम करेंगे और कुछ ही दिनोंमें तुम्हें घर बैठे ही सनकादि सिद्धोंके दर्शन होंगे॥ १५॥ राजन्! तुम्हारे गुणोंने और स्वभावने मुझको वशमें कर लिया है। अतः तुम्हें जो इच्छा हो, मुझसे वर माँग लो। उन क्षमा आदि गुणोंसे रहित यज्ञ, तप अथवा योगके द्वारा मुझको पाना सरल नहीं है, मैं तो उन्हींके हृदयमें रहता हूँ जिनके चित्तमें समता रहती है॥ १६॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! सर्वलोकगुरु श्रीहरिके इस प्रकार कहनेपर जगद्विजयी महाराज पृथुने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की॥ १७॥ देवराज इन्द्र अपने कर्मसे लज्जित होकर उनके चरणोंपर गिरना ही चाहते थे कि राजाने उन्हें प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया और मनोमालिन्य निकाल दिया॥ १८॥ फिर महाराज पृथुने विश्वात्मा भक्तवत्सल भगवान्का पूजन किया और क्षण-क्षणमें उमड़ते हुए भक्तिभावमें निमग्न होकर प्रभुके चरणकमल पकड़ लिये॥ १९॥ श्रीहरि वहाँसे जाना चाहते थे; किन्तु पृथुके प्रति जो उनका वात्सल्यभाव था उसने उन्हें रोक लिया। वे अपने कमलदलके समान नेत्रोंसे उनकी ओर देखते ही रह गये, वहाँसे जा न सके॥ २०॥

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः।
न किञ्चनोवाच स बाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥ २१
अथावमृज्याश्रुकला[1] विलोकयन्
अतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम्।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते
विन्यस्तहस्ताग्रमुरंगविद्विषः ॥ २२

पृथुरुवाच

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम्।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे न च॥ २३
न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्-
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो[2]
विधत्स्व कर्णायुतमेष[3] मे वरः[4]॥ २४
स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो[5]
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां[6]
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥ २५
यशः शिवं सुश्रव आर्यसंगमे
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत्।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना[7] पशुं
श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया॥ २६

आदिराज महाराज पृथु भी नेत्रोंमें जल भर आनेके कारण न तो भगवान्‌का दर्शन ही कर सके और न तो कण्ठ गद्‌गद हो जानेसे कुछ बोल ही सके। उन्हें हृदयसे आलिंगन कर पकड़े रहे और हाथ जोड़े ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये॥ २१ ॥ प्रभु अपने चरणकमलोंसे पृथ्वीको स्पर्श किये खड़े थे; उनका कराग्रभाग गरुडजीके ऊँचे कंधेपर रखा हुआ था। महाराज पृथु नेत्रोंके आँसू पोंछकर अतृप्त दृष्टिसे उनकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहने लगे॥ २२ ॥

महाराज पृथु बोले—मोक्षपति प्रभो! आप वर देनेवाले ब्रह्मादि देवताओंको भी वर देनेमें समर्थ हैं। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आपसे देहाभिमानियोंके भोगने योग्य विषयोंको कैसे माँग सकता है? वे तो नारकी जीवोंको भी मिलते ही हैं। अतः मैं इन तुच्छ विषयोंको आपसे नहीं माँगता॥ २३ ॥ मुझे तो उस मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं है जिसमें महापुरुषोंके हृदयसे उनके मुखद्वारा निकला हुआ आपके चरणकमलोंका मकरन्द नहीं है—जहाँ आपकी कीर्ति-कथा सुननेका सुख नहीं मिलता। इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपके लीलागुणोंको सुनता ही रहूँ॥ २४॥ पुण्यकीर्ति प्रभो! आपके चरणकमल-मकरन्दरूपी अमृत-कणोंको लेकर महापुरुषोंके मुखसे जो वायु निकलती है, उसीमें इतनी शक्ति होती है कि वह तत्त्वको भूले हुए हम कुयोगियोंको पुनः तत्त्वज्ञान करा देती है। अतएव हमें दूसरे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है॥ २५॥ उत्तम कीर्तिवाले प्रभो! सत्संगमें आपके मंगलमय सुयशको दैववश एक बार भी सुन लेनेपर कोई पशुबुद्धि पुरुष भले ही तृप्त हो जाय; गुणग्राही उसे कैसे छोड़ सकता है? सब प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये स्वयं लक्ष्मीजी भी आपके सुयशको सुनना चाहती हैं॥ २६॥

१. प्रा० पा०—कलां। २. प्रा० पा०—च्युतं विध०। ३. प्रा० पा०—कर्णामृत०। ४. प्रा० पा०—वचः। ५. प्रा० पा०—मुखाच्च्युतो। ६. प्रा० पा०—कर्मणां। ७. प्रा० पा०—विरमेदृते।

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं
गुणालयं पद्मकरेव लालसः।
अप्याव‌योरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः॥ २७
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम्।
करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया॥ २८
भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां
निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे॥ २९
मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत्।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः
कथं पुनः कर्म करोति मोहितः॥ ३०
त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः।
यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्॥ ३१

मैत्रेय उवाच

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन् मयि भक्तिरस्तु ते।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम्॥ ३२

अब लक्ष्मीजीके समान मैं भी अत्यन्त उत्सुकतासे आप सर्वगुणधाम पुरुषोत्तमकी सेवा ही करना चाहता हूँ। किन्तु ऐसा न हो कि एक ही पतिकी सेवा प्राप्त करनेकी होड़ होनेके कारण आपके चरणोंमें ही मनको एकाग्र करनेवाले हम दोनोंमें कलह छिड़ जाय॥ २७॥ जगदीश्वर! जगज्जननी लक्ष्मीजीके हृदयमें मेरे प्रति विरोधभाव होनेकी संभावना तो है ही; क्योंकि जिस आपके सेवाकार्यमें उनका अनुराग है, उसीके लिये मैं भी लालायित हूँ। किन्तु आप दीनोंपर दया करते हैं, उनके तुच्छ कर्मोंको भी बहुत करके मानते हैं। इसलिये मुझे आशा है कि हमारे झगड़ेमें भी आप मेरा ही पक्ष लेंगे। आप तो अपने स्वरूपमें ही रमण करते हैं; आपको भला, लक्ष्मीजीसे भी क्या लेना है॥ २८॥ इसीसे निष्काम महात्मा ज्ञान हो जानेके बाद भी आपका भजन करते हैं। आपमें मायाके कार्य अहंकारादिका सर्वथा अभाव है। भगवन्! मुझे तो आपके चरणकमलोंका निरन्तर चिन्तन करनेके सिवा सत्पुरुषोंका कोई और प्रयोजन ही नहीं जान पड़ता॥ २९॥ मैं भी बिना किसी इच्छाके आपका भजन करता हूँ, आपने जो मुझसे कहा कि 'वर माँग' सो आपकी इस वाणीको तो मैं संसारको मोहमें डालनेवाली ही मानता हूँ। यही क्या, आपकी वेदरूपा वाणीने भी तो जगत्‌को बाँध रखा है। यदि उस वेदवाणीरूप रस्सीसे लोग बँधे न होते, तो वे मोहवश सकाम कर्म क्यों करते?॥ ३०॥ प्रभो! आपकी मायासे ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप आपसे विमुख होकर अज्ञानवश अन्य स्त्री-पुत्रादिकी इच्छा करता है। फिर भी जिस प्रकार पिता पुत्रकी प्रार्थनाकी अपेक्षा न रखकर अपने-आप ही पुत्रका कल्याण करता है, उसी प्रकार आप भी हमारी इच्छाकी अपेक्षा न करके हमारे हितके लिये स्वयं ही प्रयत्न करें॥ ३१॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—आदिराज पृथुके इस प्रकार स्तुति करनेपर सर्वसाक्षी श्रीहरिने उनसे कहा, 'राजन्! तुम्हारी मुझमें भक्ति हो। बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा चित्त इस प्रकार मुझमें लगा हुआ

तत् त्वं कुरु मयाऽऽदिष्टमप्रमत्तः प्रजापते।
मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम्॥ ३३

मैत्रेय उवाच

इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः।
पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम्॥ ३४
देवर्षिपितृगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगाः।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः॥ ३५
यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः॥ ३६
भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत[1]॥ ३७
अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने।
अव्यक्ताय[2] च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ॥ ३८

है। ऐसा होनेपर तो पुरुष सहजमें ही मेरी उस मायाको पार कर लेता है, जिसको छोड़ना या जिसके बन्धनसे छूटना अत्यन्त कठिन है। अब तुम सावधानीसे मेरी आज्ञाका पालन करते रहो। प्रजापालक नरेश! जो पुरुष मेरी आज्ञाका पालन करता है, उसका सर्वत्र मंगल होता है'॥ ३२-३३॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार भगवान्‌ने राजर्षि पृथुके सारगर्भित वचनोंका आदर किया। फिर पृथुने उनकी पूजा की और प्रभु उनपर सब प्रकार कृपा कर वहाँसे चलनेको तैयार हुए॥ ३४॥ महाराज पृथुने वहाँ जो देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, नाग, किन्नर, अप्सरा, मनुष्य और पक्षी आदि अनेक प्रकारके प्राणी एवं भगवान्‌के पार्षद आये थे, उन सभीका भगवद्‌बुद्धिसे भक्तिपूर्वक वाणी और धनके द्वारा हाथ जोड़कर पूजन किया। इसके बाद वे सब अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ३५-३६॥ भगवान् अच्युत भी राजा पृथु एवं उनके पुरोहितोंका चित्त चुराते हुए अपने धामको सिधारे॥ ३७॥ तदनन्तर अपना स्वरूप दिखाकर अन्तर्धान हुए अव्यक्तस्वरूप देवाधिदेव भगवान्‌को नमस्कार करके राजा पृथु भी अपनी राजधानीमें चले आये॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विंशोऽध्यायः॥ २०॥

अथैकविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश

मैत्रेय उवाच

मौक्तिकैः कुसुमस्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः।
महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै॥ १
चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्याचत्वरमार्गवत्।
पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिर्भिरर्चितम्॥ २

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! उस समय महाराज पृथुका नगर सर्वत्र मोतियोंकी लड़ियों, फूलोंकी मालाओं, रंग-बिरंगे वस्त्रों, सोनेके दरवाजों और अत्यन्त सुगन्धित धूपोंसे सुशोभित था॥ १॥ उसकी गलियाँ, चौक और सड़कें चन्दन और अरगजेके जलसे सींच दी गयी थीं तथा उसे पुष्प, अक्षत, फल, यवांकुर, खील और दीपक आदि मांगलिक द्रव्योंसे सजाया गया था॥ २॥

१. प्रा० पा०—प्रत्यगात्पुनः। २. प्रा० पा०—वासुदेवाय देवानां।

सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम्।
तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलंकृतम्॥ ३
प्रजास्तं दीपबलिभिः सम्भृताशेषमंगलैः।
अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः॥ ४
शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम्।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः॥ ५
पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः।
पौरांजानपदांस्तांस्तान् प्रीतः प्रियवरप्रदः॥ ६
स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः
कर्माणि भूयांसि महान्महत्तमः।
कुर्वन् शशासावनिमण्डलं यशः
स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम्॥ ७

सूत उवाच

तदादिराजस्य[१] यशो विजृम्भितं
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम्।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन्॥ ८

विदुर उवाच

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः।
बिभ्रत् स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम्॥ ९
को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो
यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः।
लोकाः सपाला उपजीवन्ति[२] काम-
मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम्॥ १०

वह ठौर-ठौरपर रखे हुए फल-फूलके गुच्छोंसे युक्त केलेके खंभों और सुपारीके पौधोंसे बड़ा ही मनोहर जान पड़ता था तथा सब ओर आम आदि वृक्षोंके नवीन पत्तोंकी बंदनवारोंसे विभूषित था॥ ३॥ जब महाराजने नगरमें प्रवेश किया, तब दीपक, उपहार और अनेक प्रकारकी मांगलिक सामग्री लिये हुए प्रजाजनोंने तथा मनोहर कुण्डलोंसे सुशोभित सुन्दरी कन्याओंने उनकी अगवानी की॥ ४॥ शंख और दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे, ऋत्विजगण वेदध्वनि करने लगे, वन्दीजनोंने स्तुतिगान आरम्भ कर दिया। यह सब देख और सुनकर भी उन्हें किसी प्रकारका अहंकार नहीं हुआ। इस प्रकार वीरवर पृथुने राजमहलमें प्रवेश किया॥ ५॥ मार्गमें जहाँ-तहाँ पुरवासी और देशवासियोंने उनका अभिनन्दन किया। परम यशस्वी महाराजने भी उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अभीष्ट वर देकर सन्तुष्ट किया॥ ६॥ महाराज पृथु महापुरुष और सभीके पूजनीय थे। उन्होंने इसी प्रकारके अनेकों उदार कर्म करते हुए पृथ्वीका शासन किया और अन्तमें अपने विपुल यशका विस्तार कर भगवान्‌का परमपद प्राप्त किया॥ ७॥

सूतजी कहते हैं—मुनिवर शौनकजी! इस प्रकार भगवान् मैत्रेयके मुखसे आदिराज पृथुका अनेक प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न और गुणवानोंद्वारा प्रशंसित विस्तृत सुयश सुनकर परम भागवत विदुरजी-ने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा॥ ८॥

विदुरजी बोले—ब्रह्मन्! ब्राह्मणोंने पृथुका अभिषेक किया। समस्त देवताओंने उन्हें उपहार दिये। उन्होंने अपनी भुजाओंमें वैष्णव तेजको धारण किया और उससे पृथ्वीका दोहन किया॥ ९॥ उनके उस पराक्रमके उच्छिष्टरूप विषयभोगोंसे ही आज भी सम्पूर्ण राजा तथा लोकपालोंके सहित समस्त लोक इच्छानुसार जीवन-निर्वाह करते हैं। भला, ऐसा कौन समझदार होगा जो उनकी पवित्र कीर्ति सुनना न चाहेगा। अतः अभी आप मुझे उनके कुछ और भी पवित्र चरित्र सुनाइये॥ १०॥

१. प्रा० पा०—तदाधिरा०। २. प्रा० पा०—उपयन्ति।

मैत्रेय उवाच

गंगायमुनयोर्नद्योरन्तराक्षेत्रमावसन् ।
आरब्धानेव बुभुजे भोगान् पुण्यजिहासया॥ ११

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः॥ १२

एकदाऽऽसीन्महासत्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम्।
समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम॥ १३

तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः।
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव॥ १४

प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः।
सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः॥ १५

व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः।
आवर्तनाभिरोजस्वी कांचनोरुरुदग्रपात्॥ १६

सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः।
महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च॥ १७

व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः।
कृष्णाजिनधरः श्रीमान् कुशपाणिः कृतोचितः॥ १८

शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत समन्ततः।
ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव॥ १९

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम्।
सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव॥ २०

श्रीमैत्रेयजीने कहा—साधुश्रेष्ठ विदुरजी! महाराज पृथु गंगा और यमुनाके मध्यवर्ती देशमें निवास कर अपने पुण्यकर्मोंके क्षयकी इच्छासे प्रारब्धवश प्राप्त हुए भोगोंको ही भोगते थे॥ ११॥ ब्राह्मणवंश और भगवान्के सम्बन्धी विष्णुभक्तोंको छोड़कर उनका सातों द्वीपोंके सभी पुरुषोंपर अखण्ड एवं अबाध शासन था॥ १२॥ एक बार उन्होंने एक महासत्रकी दीक्षा ली; उस समय वहाँ देवताओं, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंका बहुत बड़ा समाज एकत्र हुआ॥ १३॥ उस समाजमें महाराज पृथुने उन पूजनीय अतिथियोंका यथायोग्य सत्कार किया और फिर उस सभामें, नक्षत्रमण्डलमें चन्द्रमाके समान खड़े हो गये॥ १४॥ उनका शरीर ऊँचा, भुजाएँ भरी और विशाल, रंग गोरा, नेत्र कमलके समान सुन्दर और अरुणवर्ण, नासिका सुघड़, मुख मनोहर, स्वरूप सौम्य, कंधे ऊँचे और मुसकानसे युक्त दन्तपंक्ति सुन्दर थी॥ १५॥ उनकी छाती चौड़ी, कमरका पिछला भाग स्थूल और उदर पीपलके पत्तेके समान सुडौल तथा बल पड़े हुए होनेसे और भी सुन्दर जान पड़ता था। नाभि भँवरके समान गम्भीर थी, शरीर तेजस्वी था, जंघाएँ सुवर्णके समान देदीप्यमान थीं तथा पैरोंके पंजे उभरे हुए थे॥ १६॥ उनके बाल बारीक, घुँघराले, काले और चिकने थे; गरदन शंखके समान उतार-चढ़ाववाली तथा रेखाओंसे युक्त थी और वे उत्तम बहुमूल्य धोती पहने और वैसी ही चादर ओढ़े थे॥ १७॥ दीक्षाके नियमानुसार उन्होंने समस्त आभूषण उतार दिये थे; इसीसे उनके शरीरके अंग-प्रत्यंगकी शोभा अपने स्वाभाविक रूपमें स्पष्ट झलक रही थी। वे शरीरपर कृष्णमृगका चर्म और हाथोंमें कुशा धारण किये हुए थे। इससे उनके शरीरकी कान्ति और भी बढ़ गयी थी। वे अपने सारे नित्यकृत्य यथाविधि सम्पन्न कर चुके थे॥ १८॥ राजा पृथुने मानो सारी सभाको हर्षसे सराबोर करते हुए अपने शीतल एवं स्नेहपूर्ण नेत्रोंसे चारों ओर देखा और फिर अपना भाषण प्रारम्भ किया॥ १९॥ उनका भाषण अत्यन्त सुन्दर, विचित्र पदोंसे युक्त, स्पष्ट, मधुर, गम्भीर एवं निश्शंक था। मानो उस समय वे सबका उपकार करनेके लिये अपने अनुभवका ही अनुवाद कर रहे हों॥ २०॥

राजोवाच

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥ २१

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥ २२

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ॥ २३

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥ २४

तत् प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः ।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २५

यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः ।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ॥ २६

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः ।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः ॥ २७

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः ।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरंगस्यास्मत्पितुः पितुः ॥ २८

ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥ २९

दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥ ३०

राजा पृथुने कहा—सज्जनो! आपका कल्याण हो। आप महानुभाव, जो यहाँ पधारे हैं, मेरी प्रार्थना सुनें—जिज्ञासु पुरुषोंको चाहिये कि संत-समाजमें अपने निश्चयका निवेदन करें ॥ २१ ॥ इस लोकमें मुझे प्रजाजनोंका शासन, उनकी रक्षा, उनकी आजीविकाका प्रबन्ध तथा उन्हें अलग-अलग अपनी मर्यादामें रखनेके लिये राजा बनाया गया है॥ २२॥ अतः इनका यथावत् पालन करनेसे मुझे उन्हीं मनोरथ पूर्ण करनेवाले लोकोंकी प्राप्ति होनी चाहिये, जो वेदवादी मुनियोंके मतानुसार सम्पूर्ण कर्मोंके साक्षी श्रीहरिके प्रसन्न होनेपर मिलते हैं॥ २३॥ जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनेमें लगा रहता है, वह केवल प्रजाके पापका ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है॥ २४॥ अतः प्रिय प्रजाजन! अपने इस राजाका परलोकमें हित करनेके लिये आपलोग परस्पर दोषदृष्टि छोड़कर हृदयसे भगवान्को याद रखते हुए अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते रहिये; क्योंकि आपका स्वार्थ भी इसीमें है और इस प्रकार मुझपर भी आपका बड़ा अनुग्रह होगा॥ २५॥ विशुद्धचित्त देवता, पितर और महर्षिगण! आप भी मेरी इस प्रार्थनाका अनुमोदन कीजिये; क्योंकि कोई भी कर्म हो, मरनेके अनन्तर उसके कर्ता, उपदेष्टा और समर्थकको उसका समान फल मिलता है॥ २६॥ माननीय सज्जनो! किन्हीं श्रेष्ठ महानुभावोंके मतमें तो कर्मोंका फल देनेवाले भगवान् यज्ञपति ही हैं; क्योंकि इहलोक और परलोक दोनों ही जगह कोई-कोई शरीर बड़े तेजोमय देखे जाते हैं॥ २७॥ मनु, उत्तानपाद, महीपति ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, हमारे दादा अंग तथा ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, बलि और इसी कोटिके अन्यान्य महानुभावोंके मतमें तो धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्वर्ग तथा स्वर्ग और अपवर्गके स्वाधीन नियामक, कर्मफलदातारूपसे भगवान् गदाधरकी आवश्यकता है ही। इस विषयमें तो केवल मृत्युके दौहित्र वेन आदि कुछ शोचनीय और धर्मविमूढ़ लोगोंका ही मतभेद है। अतः उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं हो सकता॥ २८—३० ॥

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदांगुष्ठविनिःसृता सरित्॥ ३१
विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-
नसंगविज्ञानविशेषवीर्यवान्।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥ ३२
तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि-
र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः॥ ३३
असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिंगनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः॥ ३४
प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम्।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः॥ ३५
अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं
हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम्।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका
निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रताः॥ ३६
मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-
स्तितिक्षया तपसा विद्यया च।
देदीप्यमानेऽजितदेवतानां
कुले स्वयं राजकुलाद् द्विजानाम्॥ ३७

जिनके चरणकमलोंकी सेवाके लिये निरन्तर बढ़नेवाली अभिलाषा उन्हींके चरणनखसे निकली हुई गंगाजीके समान, संसारतापसे संतप्त जीवोंके समस्त जन्मोंके संचित मनोमलको तत्काल नष्ट कर देती है, जिनके चरणतलका आश्रय लेनेवाला पुरुष सब प्रकारके मानसिक दोषोंको धो डालता तथा वैराग्य और तत्त्वसाक्षात्काररूप बल पाकर फिर इस दुःखमय संसारचक्रमें नहीं पड़ता और जिनके चरणकमल सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं—उन प्रभुको आपलोग अपनी-अपनी आजीविकाके उपयोगी वर्णाश्रमोचित अध्यापनादि कर्मों तथा ध्यान-स्तुति-पूजादि मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाओंके द्वारा भजें। हृदयमें किसी प्रकारका कपट न रखें तथा यह निश्चय रखें कि हमें अपने-अपने अधिकारानुसार इसका फल अवश्य प्राप्त होगा॥ ३१—३३॥

भगवान् स्वरूपतः विशुद्ध विज्ञानघन और समस्त विशेषणोंसे रहित हैं; किन्तु इस कर्ममार्गमें जौ-चावल आदि विविध द्रव्य, शुक्लादि गुण, अवघात (कूटना) आदि क्रिया एवं मन्त्रोंके द्वारा और अर्थ, आशय (संकल्प), लिंग (पदार्थ-शक्ति) तथा ज्योतिष्टोम आदि नामोंसे सम्पन्न होनेवाले, अनेक विशेषणयुक्त यज्ञके रूपमें प्रकाशित होते हैं॥ ३४॥ जिस प्रकार एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें उन्हींके आकारादिके अनुरूप भासती है, उसी प्रकार वे सर्वव्यापक प्रभु परमानन्दस्वरूप होते हुए भी प्रकृति, काल, वासना और अदृष्टसे उत्पन्न हुए शरीरमें विषयाकार बनी हुई बुद्धिमें स्थित होकर उन यज्ञ-यागादि क्रियाओंके फलरूपसे अनेक प्रकारके जान पड़ते हैं॥ ३५॥

अहो! इस पृथ्वीतलपर मेरे जो प्रजाजन यज्ञ-भोक्ताओंके अधीश्वर सर्वगुरु श्रीहरिका एकनिष्ठभावसे अपने-अपने धर्मोंके द्वारा निरन्तर पूजन करते हैं, वे मुझपर बड़ी कृपा करते हैं॥ ३६॥ सहनशीलता, तपस्या और ज्ञान इन विशिष्ट विभूतियोंके कारण वैष्णव और ब्राह्मणोंके वंश स्वभावतः ही उज्ज्वल होते हैं। उनपर राजकुलका तेज, धन, ऐश्वर्य आदि समृद्धियोंके कारण अपना प्रभाव न डाले॥ ३७॥

ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो
नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो
जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः॥ ३८
यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥ ३९
पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम्।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम्॥ ४०
अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः॥ ४१
यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमंगलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते॥ ४२
तेषामहं पादसरोजरेणु-
मार्या वहेयाधिकिरीटमाऽऽयुः।
यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति॥ ४३
गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं
वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च
जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम्॥ ४४

ब्रह्मादि समस्त महापुरुषोंमें अग्रगण्य, ब्राह्मणभक्त, पुराणपुरुष श्रीहरिने भी निरन्तर इन्हींके चरणोंकी वन्दना करके अविचल लक्ष्मी और संसारको पवित्र करनेवाली कीर्ति प्राप्त की है॥ ३८॥ आपलोग भगवान्‌के लोकसंग्रहरूप धर्मका पालन करनेवाले हैं तथा सर्वान्तर्यामी स्वयंप्रकाश ब्राह्मणप्रिय श्रीहरि विप्रवंशकी सेवा करनेसे ही परम सन्तुष्ट होते हैं, अतः आप सभीको सब प्रकारसे विनयपूर्वक ब्राह्मणकुलकी सेवा करनी चाहिये॥ ३९॥ इनकी नित्य सेवा करनेसे शीघ्र ही चित्त शुद्ध हो जानेके कारण मनुष्य स्वयं ही (ज्ञान और अभ्यास आदिके बिना ही) परम शान्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतः लोकमें इन ब्राह्मणोंसे बढ़कर दूसरा कौन है जो हविष्यभोजी देवताओंका मुख हो सके?॥ ४०॥ उपनिषदोंके ज्ञान-परक वचन एकमात्र जिनमें ही गतार्थ होते हैं, वे भगवान् अनन्त इन्द्रादि यज्ञीय देवताओंके नामसे तत्त्वज्ञानियोंद्वारा ब्राह्मणोंके मुखमें श्रद्धापूर्वक हवन किये हुए पदार्थको जैसे चावसे ग्रहण करते हैं, वैसे चेतनाशून्य अग्निमें होमे हुए द्रव्यको नहीं ग्रहण करते॥ ४१॥ सभ्यगण! जिस प्रकार स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्बका भान होता है—उसी प्रकार जिससे इस सम्पूर्ण प्रपंचका ठीक-ठीक ज्ञान होता है, उस नित्य, शुद्ध और सनातन ब्रह्म (वेद)-को जो परमार्थ-तत्त्वकी उपलब्धिके लिये श्रद्धा, तप, मंगलमय आचरण, स्वाध्यायविरोधी वार्तालापके त्याग तथा संयम और समाधिके अभ्यासद्वारा धारण करते हैं, उन ब्राह्मणोंके चरणकमलोंकी धूलिको मैं आयुपर्यन्त अपने मुकुटपर धारण करूँ; क्योंकि उसे सर्वदा सिरपर चढ़ाते रहनेसे मनुष्यके सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण गुण उसकी सेवा करने लगते हैं॥ ४२-४३॥ उस गुणवान्, शीलसम्पन्न, कृतज्ञ और गुरुजनोंकी सेवा करनेवाले पुरुषके पास सारी सम्पदाएँ अपने-आप आ जाती हैं। अतः मेरी तो यही अभिलाषा है कि ब्राह्मणकुल, गोवंश और भक्तोंके सहित श्रीभगवान् मुझपर सदा प्रसन्न रहें॥ ४४॥

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातयः।
तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः॥ ४५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाराज पृथुका यह भाषण सुनकर देवता, पितर और ब्राह्मण आदि सभी साधुजन बड़े प्रसन्न हुए और 'साधु! साधु!' यों कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे॥ ४५॥

पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः।
ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तमः॥ ४६

उन्होंने कहा, 'पुत्रके द्वारा पिता पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है' यह श्रुति यथार्थ है; पापी वेन ब्राह्मणोंके शापसे मारा गया था; फिर भी इनके पुण्यबलसे उसका नरकसे निस्तार हो गया॥ ४६॥

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः।
विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः॥ ४७

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु भी भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण नरकोंमें गिरनेवाला ही था कि अपने पुत्र प्रह्लादके प्रभावसे उन्हें पार कर गया॥ ४७॥

वीरवर्य पितः पृथ्व्याः समाः संजीव शाश्वतीः।
यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैकभर्तरि॥ ४८

वीरवर पृथुजी! आप तो पृथ्वीके पिता ही हैं और सब लोकोंके एकमात्र स्वामी श्रीहरिमें भी आपकी ऐसी अविचल भक्ति है, इसलिये आप अनन्त वर्षोंतक जीवित रहें॥ ४८॥

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति॥ ४९

आपका सुयश बड़ा पवित्र है; आप उदारकीर्ति ब्रह्मण्यदेव श्रीहरिकी कथाओंका प्रचार करते हैं। हमारा बड़ा सौभाग्य है; आज आपको अपने स्वामीके रूपमें पाकर हम अपनेको भगवान्‌के ही राज्यमें समझते हैं॥ ४९॥

नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम्।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम्॥ ५०

स्वामिन्! अपने आश्रितोंको इस प्रकारका श्रेष्ठ उपदेश देना आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि अपनी प्रजाके ऊपर प्रेम रखना तो करुणामय महापुरुषोंका स्वभाव ही होता है॥ ५०॥

अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः॥ ५१

हमलोग प्रारब्धवश विवेकहीन होकर संसारारण्यमें भटक रहे थे; सो प्रभो! आज आपने हमें इस अज्ञानान्धकारके पार पहुँचा दिया॥ ५१॥

नमो विवृद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे।
यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा॥ ५२

आप शुद्ध सत्त्वमय परमपुरुष हैं, जो ब्राह्मणजातिमें प्रविष्ट होकर क्षत्रियोंकी और क्षत्रियजातिमें प्रविष्ट होकर ब्राह्मणोंकी तथा दोनों जातियोंमें प्रतिष्ठित होकर सारे जगत्‌की रक्षा करते हैं। हमारा आपको नमस्कार है॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुको सनकादिका उपदेश

मैत्रेय उवाच

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम्।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः॥ १

तांस्तु सिद्धेश्वरान् राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा।
लोकानपापान् कुर्वत्या सानुगोऽचष्ट लक्षितान्॥ २

तद्दर्शनोद्गतान् प्राणान् प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः।
ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव॥ ३

गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः।
विधिवत्पूजयांचक्रे गृहीताध्यर्हणासनान्॥ ४

तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः।
तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव॥ ५

हाटकासन आसीनान् स्वधिष्ण्येष्विव पावकान्।
श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान्॥ ६

पृथुरुवाच

अहो आचरितं किं मे मंगलं मंगलायनाः।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानां च योगिभिः॥ ७

किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च।
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः॥ ८

नैव लक्षयते लोको लोकान् पर्यटतोऽपि यान्।
यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः॥ ९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—जिस समय प्रजाजन परमपराक्रमी पृथ्वीपाल पृथुकी इस प्रकार प्रार्थना कर रहे थे, उसी समय वहाँ सूर्यके समान तेजस्वी चार मुनीश्वर आये॥ १॥ राजा और उनके अनुचरोंने देखा तथा पहचान लिया कि वे सिद्धेश्वर अपनी दिव्य कान्तिसे सम्पूर्ण लोकोंको पापनिर्मुक्त करते हुए आकाशसे उतरकर आ रहे हैं॥ २॥ राजाके प्राण सनकादिकोंका दर्शन करते ही, जैसे विषयी जीव विषयोंकी ओर दौड़ता है, उनकी ओर चल पड़े—मानो उन्हें रोकनेके लिये ही वे अपने सदस्यों और अनुयायियोंके साथ एकाएक उठकर खड़े हो गये॥ ३॥ जब वे मुनिगण अर्घ्य स्वीकारकर आसनपर विराज गये, तब शिष्टाग्रणी पृथुने उनके गौरवसे प्रभावित हो विनयवश गरदन झुकाये हुए उनकी विधिवत् पूजा की॥ ४॥ फिर उनके चरणोदकको अपने सिरके बालोंपर छिड़का। इस प्रकार शिष्टजनोचित आचारका आदर तथा पालन करके उन्होंने यही दिखाया कि सभी सत्पुरुषोंको ऐसा व्यवहार करना चाहिये॥ ५॥ सनकादि मुनीश्वर भगवान् शंकरके भी अग्रज हैं। सोनेके सिंहासनपर वे ऐसे सुशोभित हुए, जैसे अपने-अपने स्थानोंपर अग्नि देवता। महाराज पृथुने बड़ी श्रद्धा और संयमके साथ प्रेमपूर्वक उनसे कहा॥ ६॥

पृथुजीने कहा—मंगलमूर्ति मुनीश्वरो! आपके दर्शन तो योगियोंको भी दुर्लभ हैं; मुझसे ऐसा क्या पुण्य बना है जिससे स्वतः आपका दर्शन प्राप्त हुआ॥ ७॥ जिसपर ब्राह्मण अथवा अनुचरोंके सहित श्रीशंकर या विष्णुभगवान् प्रसन्न हों, उसके लिये इहलोक और परलोकमें कौन-सी वस्तु दुर्लभ है॥ ८॥ इस दृश्य-प्रपंचके कारण महत्तत्त्वादि यद्यपि सर्वगत हैं, तो भी वे सर्वसाक्षी आत्माको नहीं देख सकते; इसी प्रकार यद्यपि आप समस्त लोकोंमें विचरते रहते हैं, तो भी अनधिकारीलोग आपको देख नहीं पाते॥ ९॥

अधना[1] अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बुतृणभूमीश्वरावराः[2]॥ १०

व्यालालयद्रुमा वै[3] तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः।
यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः॥ ११

स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः।
चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति च[4]॥ १२

कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्।
व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्मभिः॥ १३

भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते।
कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः॥ १४

तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम्।
संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत्॥ १५

व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः॥ १६

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह॥ १७

सनत्कुमार उवाच

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना।
भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी॥ १८

जिनके घरोंमें आप-जैसे पूज्य पुरुष उनके जल, तृण, पृथ्वी, गृहस्वामी अथवा सेवकादि किसी अन्य पदार्थको स्वीकार कर लेते हैं, वे गृहस्थ धनहीन होनेपर भी धन्य हैं॥ १० ॥ जिन घरोंमें कभी भगवद्भक्तोंके परमपवित्र चरणोदकके छींटे नहीं पड़े, वे सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियोंसे भरे होनेपर भी ऐसे वृक्षोंके समान हैं कि जिनपर साँप रहते हैं॥ ११ ॥ मुनीश्वरो! आपका स्वागत है। आपलोग तो बाल्यावस्थासे ही मुमुक्षुओंके मार्गका अनुसरण करते हुए एकाग्रचित्तसे ब्रह्मचर्यादि महान् व्रतोंका बड़ी श्रद्धापूर्वक आचरण कर रहे हैं॥ १२ ॥ स्वामियो! हमलोग अपने कर्मोंके वशीभूत होकर विपत्तियोंके क्षेत्ररूप इस संसारमें पड़े हुए केवल इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंको ही परम पुरुषार्थ मान रहे हैं; सो क्या हमारे निस्तारका भी कोई उपाय है॥ १३ ॥ आपलोगोंसे कुशलप्रश्न करना उचित नहीं है, क्योंकि आप निरन्तर आत्मामें ही रमण करते हैं। आपमें यह कुशल है और यह अकुशल है—इस प्रकारकी वृत्तियाँ कभी होती ही नहीं॥ १४॥ आप संसारानलसे सन्तप्त जीवोंके परम सुहृद् हैं, इसलिये आपमें विश्वास करके मैं यह पूछना चाहता हूँ कि इस संसारमें मनुष्यका किस प्रकार सुगमतासे कल्याण हो सकता है?॥ १५ ॥ यह निश्चय है कि जो आत्मवान् (धीर) पुरुषोंमें 'आत्मा' रूपसे प्रकाशित होते हैं और उपासकोंके हृदयमें अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले हैं, वे अजन्मा भगवान् नारायण ही अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आप-जैसे सिद्ध पुरुषोंके रूपमें इस पृथ्वीपर विचरा करते हैं॥ १६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—राजा पृथुके ये युक्तियुक्त, गम्भीर, परिमित और मधुर वचन सुनकर श्रीसनत्कुमारजी बड़े प्रसन्न हुए और कुछ मुसकराते हुए कहने लगे॥ १७॥

श्रीसनत्कुमारजीने कहा—महाराज! आपने सब कुछ जानते हुए भी समस्त प्राणियोंके कल्याणकी दृष्टिसे बड़ी अच्छी बात पूछी है। सच है, साधुपुरुषोंकी बुद्धि ऐसी ही हुआ करती है॥ १८॥

१. प्रा० पा०—अधन्या। २. प्रा० पा०—श्वराश्चराः। ३. प्रा० पा०—द्रुमाश्चैते। ४. प्रा० पा०—वै।

संगमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम्॥ १९

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः॥ २०

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असंग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्[1]ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥ २१

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाऽऽध्यात्मिकयोगनिष्ठया।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च॥ २२

अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन्
विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥ २३

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च॥ २४

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः॥ २५

सत्पुरुषोंका समागम श्रोता और वक्ता दोनोंको ही अभिमत होता है, क्योंकि उनके प्रश्नोत्तर सभीका कल्याण करते हैं॥ १९ ॥ राजन्! श्रीमधुसूदन भगवान्‌के चरणकमलोंके गुणानुवादमें अवश्य ही आपकी अविचल प्रीति है। हर किसीको इसका प्राप्त होना बहुत कठिन है और प्राप्त हो जानेपर यह हृदयके भीतर रहनेवाले उस वासनारूप मलको सर्वथा नष्ट कर देती है, जो और किसी उपायसे जल्दी नहीं छूटता॥ २० ॥ शास्त्र जीवोंके कल्याणके लिये भलीभाँति विचार करनेवाले हैं; उनमें आत्मासे भिन्न देहादिके प्रति वैराग्य तथा अपने आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्ममें सुदृढ़ अनुराग होना—यही कल्याणका साधन निश्चित किया गया है॥ २१ ॥ शास्त्रोंका यह भी कहना है कि गुरु और शास्त्रके वचनोंमें विश्वास रखनेसे, भागवतधर्मोंका आचरण करनेसे, तत्त्वजिज्ञासासे, ज्ञानयोगकी निष्ठासे, योगेश्वर श्रीहरिकी उपासनासे, नित्यप्रति पुण्यकीर्ति श्रीभगवान्‌की पावन कथाओंको सुननेसे, जो लोग धन और इन्द्रियोंके भोगोंमें ही रत हैं उनकी गोष्ठीमें प्रेम न रखनेसे, उन्हें प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका आसक्तिपूर्वक संग्रह न करनेसे, भगवद्‌गुणामृतका पान करनेके सिवा अन्य समय आत्मामें ही सन्तुष्ट रहते हुए एकान्तसेवनमें प्रेम रखनेसे, किसी भी जीवको कष्ट न देनेसे, निवृत्तिनिष्ठासे, आत्महितका अनुसन्धान करते रहनेसे, श्रीहरिके पवित्र चरित्ररूप श्रेष्ठ अमृतका आस्वादन करनेसे, निष्कामभावसे यम-नियमोंका पालन करनेसे, कभी किसीकी निन्दा न करनेसे, योगक्षेमके लिये प्रयत्न न करनेसे, शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करनेसे, भक्तजनोंके कानोंको सुख देनेवाले श्रीहरिके गुणोंका बार-बार वर्णन करनेसे और बढ़ते हुए भक्तिभावसे मनुष्यका कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण जड प्रपंचसे वैराग्य हो जाता है और आत्मस्वरूप निर्गुण परब्रह्ममें अनायास ही उसकी प्रीति हो जाती है॥ २२—२५ ॥

१. प्रा० पा०—मति।

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं[1]
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः॥ २६

दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे।
परात्मनोर्यद् व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे॥ २७

आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नान्यदा॥ २८

निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः।
आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा॥ २९

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥ ३०

भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः॥ ३१

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात्॥ ३२

परब्रह्ममें सुदृढ़ प्रीति हो जानेपर पुरुष सद्गुरुकी शरण लेता है; फिर ज्ञान और वैराग्यके प्रबल वेगके कारण वासनाशून्य हुए अपने अविद्यादि पाँच प्रकारके क्लेशोंसे युक्त अहंकारात्मक अपने लिंगशरीरको वह उसी प्रकार भस्म कर देता है, जैसे अग्नि लकड़ीसे प्रकट होकर फिर उसीको जला डालती है॥ २६॥ इस प्रकार लिंग देहका नाश हो जानेपर वह उसके कर्तृत्वादि सभी गुणोंसे मुक्त हो जाता है। फिर तो जैसे स्वप्नावस्थामें तरह-तरहके पदार्थ देखनेपर भी उससे जग पड़नेपर उनमेंसे कोई चीज दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार वह पुरुष शरीरके बाहर दिखायी देनेवाले घट-पटादि और भीतर अनुभव होनेवाले सुख-दु:खादिको भी नहीं देखता। इस स्थितिके प्राप्त होनेसे पहले ये पदार्थ ही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें रहकर उनका भेद कर रहे थे॥ २७॥

जबतक अन्त:करणरूप उपाधि रहती है, तभीतक पुरुषको जीवात्मा, इन्द्रियोंके विषय और इन दोनोंका सम्बन्ध करानेवाले अहंकारका अनुभव होता है; इसके बाद नहीं॥ २८॥ बाह्य जगत्में भी देखा जाता है कि जल, दर्पण आदि निमित्तोंके रहनेपर ही अपने बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद दिखायी देता है, अन्य समय नहीं॥ २९॥ जो लोग विषयचिन्तनमें लगे रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ विषयोंमें फँस जाती हैं तथा मनको भी उन्हींकी ओर खींच ले जाती हैं। फिर तो जैसे जलाशयके तीरपर उगे हुए कुशादि अपनी जड़ोंसे उसका जल खींचते रहते हैं, उसी प्रकार वह इन्द्रियासक्त मन बुद्धिकी विचारशक्तिको क्रमशः हर लेता है॥ ३०॥ विचारशक्तिके नष्ट हो जानेपर पूर्वापरकी स्मृति जाती रहती है और स्मृतिका नाश हो जानेपर ज्ञान नहीं रहता। इस ज्ञानके नाशको ही पण्डितजन 'अपने-आप अपना नाश करना' कहते हैं॥ ३१॥ जिसके उद्देश्यसे अन्य सब पदार्थोंमें प्रियताका बोध होता है—उस आत्माका अपनेद्वारा ही नाश होनेसे जो स्वार्थहानि होती है, उससे बढ़कर लोकमें जीवकी और कोई हानि नहीं है॥ ३२॥

१. प्रा० पा०—पाञ्चकोशं।

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम्॥ ३३
न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम्॥ ३४
तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः॥ ३५
परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम्॥ ३६
तत् त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषां च
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम्।
यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः
प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि॥ ३७
यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति
माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये॥ ३८
यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥ ३९
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।
तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥ ४०

धन और इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करना मनुष्यके सभी पुरुषार्थोंका नाश करनेवाला है; क्योंकि इनकी चिन्तासे वह ज्ञान और विज्ञानसे भ्रष्ट होकर वृक्षादि स्थावर योनियोंमें जन्म पाता है॥ ३३॥ इसलिये जिसे अज्ञानान्धकारसे पार होनेकी इच्छा हो, उस पुरुषको विषयोंमें आसक्ति कभी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिमें बड़ी बाधक है॥ ३४॥ इन चार पुरुषार्थोंमें भी सबसे श्रेष्ठ मोक्ष ही माना जाता है; क्योंकि अन्य तीन पुरुषार्थोंमें सर्वदा कालका भय लगा रहता है॥ ३५॥ प्रकृतिमें गुणक्षोभ होनेके बाद जितने भी उत्तम और अधम भाव—पदार्थ प्रकट हुए हैं, उनमें कुशलसे रह सके ऐसा कोई भी नहीं है। कालभगवान् उन सभीके कुशलोंको कुचलते रहते हैं॥ ३६॥

अतः राजन्! जो भगवान् देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहंकारसे आवृत सभी स्थावर-जंगम प्राणियोंके हृदयोंमें जीवके नियामक अन्तर्यामी आत्मारूपसे सर्वत्र साक्षात् प्रकाशित हो रहे हैं—उन्हें तुम 'वह मैं ही हूँ' ऐसा जानो॥ ३७॥ जिस प्रकार मालाका ज्ञान हो जानेपर उसमें सर्पबुद्धि नहीं रहती, उसी प्रकार विवेक होनेपर जिसका कहीं पता नहीं लगता, ऐसा यह मायामय प्रपंच जिसमें कार्य-कारणरूपसे प्रतीत हो रहा है और जो स्वयं कर्मफल कलुषित प्रकृतिसे परे है, उस नित्यमुक्त, निर्मल और ज्ञानस्वरूप परमात्माको मैं प्राप्त हो रहा हूँ॥ ३८॥ संत-महात्मा जिनके चरणकमलोंके अंगुलिदलकी छिटकती हुई छटाका स्मरण करके अहंकाररूप हृदयग्रन्थिको , जो कर्मोंसे गठित है, इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालते हैं कि समस्त इन्द्रियोंका प्रत्याहार करके अपने अन्तःकरणको निर्विषय करनेवाले संन्यासी भी वैसा नहीं कर पाते। तुम उन सर्वाश्रय भगवान् वासुदेवका भजन करो॥ ३९॥ जो लोग मन और इन्द्रियरूप मगरोंसे भरे हुए इस संसारसागरको योगादि दुष्कर साधनोंसे पार करना चाहते हैं, उनका उस पार पहुँचना कठिन ही है; क्योंकि उन्हें कर्णधाररूप श्रीहरिका आश्रय नहीं है। अतः तुम तो भगवान्‌के आराधनीय चरणकमलोंको नौका बनाकर अनायास ही इस दुस्तर समुद्रको पार कर लो॥ ४०॥

मैत्रेय उवाच

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा।
दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः॥ ४१

राजोवाच

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणाऽऽर्तानुकम्पिना।
तमापादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः॥ ४२

निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः।
साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे॥ ४३

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम्॥ ४४

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ ४५

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुंजते क्षत्रियादयः॥ ४६

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवादे
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम्॥ ४७

मैत्रेय उवाच

त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः।
शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभूवन्मिषतां नृणाम्॥ ४८

वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया।
आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः॥ ४९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! ब्रह्माजीके पुत्र आत्मज्ञानी सनत्कुमारजीसे इस प्रकार आत्मतत्त्वका उपदेश पाकर महाराज पृथुने उनकी बहुत प्रशंसा करते हुए कहा॥ ४१॥

राजा पृथुने कहा—भगवन्! दीनदयाल श्रीहरिने मुझपर पहले कृपा की थी, उसीको पूर्ण करनेके लिये आपलोग पधारे हैं॥ ४२॥ आपलोग बड़े ही दयालु हैं। जिस कार्यके लिये आपलोग पधारे थे, उसे आपलोगोंने अच्छी तरह सम्पन्न कर दिया। अब, इसके बदलेमें मैं आपलोगोंको क्या दूँ? मेरे पास तो शरीर और इसके साथ जो कुछ है, वह सब महापुरुषोंका ही प्रसाद है॥ ४३॥ ब्रह्मन्! प्राण, स्त्री, पुत्र सब प्रकारकी सामग्रियोंसे भरा हुआ भवन, राज्य, सेना, पृथ्वी और कोश—यह सब कुछ आप ही लोगोंका है, अतः आपके ही श्रीचरणोंमें अर्पित है॥ ४४॥ वास्तवमें तो सेनापतित्व, राज्य, दण्डविधान और सम्पूर्ण लोकोंके शासनका अधिकार वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंको ही है॥ ४५॥ ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है और अपनी ही वस्तु दान देता है। दूसरे—क्षत्रिय आदि तो उसीकी कृपासे अन्न खानेको पाते हैं॥ ४६॥ आपलोग वेदके पारगामी हैं, आपने अध्यात्मतत्त्वका विचार करके हमें निश्चितरूपसे समझा दिया है कि भगवान्के प्रति इस प्रकारकी अभेद-भक्ति ही उनकी उपलब्धिका प्रधान साधन है। आपलोग परम कृपालु हैं। अतः अपने इस दीनोद्धाररूप कर्मसे ही सर्वदा सन्तुष्ट रहें। आपके इस उपकारका बदला कोई क्या दे सकता है? उसके लिये प्रयत्न करना भी अपनी हँसी कराना ही है॥ ४७॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! फिर आदिराज पृथुने आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ सनकादिकी पूजा की और वे उनके शीलकी प्रशंसा करते हुए सब लोगोंके सामने ही आकाशमार्गसे चले गये॥ ४८॥ महात्माओंमें अग्रगण्य महाराज पृथु उनसे आत्मोपदेश पाकर चित्तकी एकाग्रतासे आत्मामें ही स्थित रहनेके कारण अपनेको कृतकृत्य-सा अनुभव करने लगे॥ ४९॥

कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम्।
यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम्॥ ५०

फलं ब्रह्मणि विन्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः।
कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम्॥ ५१

गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः।
नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहंमतिरर्कवत्॥ ५२

एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन्।
पुत्रानुत्पादयामास पंचार्चिष्यात्मसम्मतान्॥ ५३

विजिताश्वं धूम्रकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम्।
सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथुर्गुणान्॥ ५४

गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः।
मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरंजयन् प्रजाः॥ ५५

राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः।
सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन् प्रतपंश्च भुवो वसु॥ ५६

दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः।
तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम्॥ ५७

वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन्।
समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव॥ ५८

वे ब्रह्मार्पण-बुद्धिसे समय, स्थान, शक्ति, न्याय और धनके अनुसार सभी कर्म करते थे॥ ५०॥ इस प्रकार एकाग्र चित्तसे समस्त कर्मोंका फल परमात्माको अर्पण करके आत्माको कर्मोंका साक्षी एवं प्रकृतिसे अतीत देखनेके कारण वे सर्वथा निर्लिप्त रहे॥ ५१॥ जिस प्रकार सूर्यदेव सर्वत्र प्रकाश करनेपर भी वस्तुओंके गुण-दोषसे निर्लेप रहते हैं, उसी प्रकार सार्वभौम साम्राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न और गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अहंकारशून्य होनेके कारण वे इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं हुए॥ ५२॥

इस प्रकार आत्मनिष्ठामें स्थित होकर सभी कर्तव्यकर्मोंका यथोचित रीतिसे अनुष्ठान करते हुए उन्होंने अपनी भार्या अर्चिके गर्भसे अपने अनुरूप पाँच पुत्र उत्पन्न किये॥ ५३॥ उनके नाम विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण और वृक थे। महाराज पृथु भगवान्‌के अंश थे। वे समय-समयपर, जब-जब आवश्यक होता था, जगत्‌के प्राणियोंकी रक्षाके लिये अकेले ही समस्त लोकपालोंके गुण धारण कर लिया करते थे। अपने उदार मन, प्रिय और हितकर वचन, मनोहर मूर्ति और सौम्य गुणोंके द्वारा प्रजाका रंजन करते रहनेसे दूसरे चन्द्रमाके समान उनका 'राजा' यह नाम सार्थक हुआ। सूर्य जिस प्रकार गरमीमें पृथ्वीका जल खींचकर वर्षाकालमें उसे पुनः पृथ्वीपर बरसा देता है तथा अपनी किरणोंसे सबको ताप पहुँचाता है, उसी प्रकार वे कररूपसे प्रजाका धन लेकर उसे दुष्कालादिके समय मुक्तहस्तसे प्रजाके हितमें लगा देते थे तथा सबपर अपना प्रभाव जमाये रखते थे॥ ५४—५६॥ वे तेजमें अग्निके समान दुर्धर्ष, इन्द्रके समान अजेय, पृथ्वीके समान क्षमाशील और स्वर्गके समान मनुष्योंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करनेवाले थे॥ ५७॥ समय-समयपर प्रजाजनोंको तृप्त करनेके लिये वे मेघके समान उनके अभीष्ट अर्थोंको खुले हाथसे लुटाते रहते थे। वे समुद्रके समान गम्भीर और पर्वतराज सुमेरुके समान धैर्यवान् भी थे॥ ५८॥

धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव।
कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा॥ ५९
मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन सहसौजसा।
अविषह्यतया देवो भगवान् भूतराडिव॥ ६०
कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव।
वात्सल्ये मनुवन्नॄणां प्रभुत्वे भगवानजः॥ ६१
बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः।
भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे॥ ६२
कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव॥ ६३

महाराज पृथु दुष्टोंके दमन करनेमें यमराजके समान, आश्चर्यपूर्ण वस्तुओंके संग्रहमें हिमालयके समान, कोशकी समृद्धि करनेमें कुबेरके समान और धनको छिपानेमें वरुणके समान थे॥ ५९॥ शारीरिक बल, इन्द्रियोंकी पटुता तथा पराक्रममें सर्वत्र गतिशील वायुके समान और तेजकी असह्यतामें भगवान् शंकरके समान थे॥ ६०॥ सौन्दर्यमें कामदेवके समान, उत्साहमें सिंहके समान, वात्सल्यमें मनुके समान और मनुष्योंके आधिपत्यमें सर्वसमर्थ ब्रह्माजीके समान थे॥ ६१॥ ब्रह्मविचारमें बृहस्पति, इन्द्रियजयमें साक्षात् श्रीहरि तथा गौ, ब्राह्मण, गुरुजन एवं भगवद्‌भक्तोंकी भक्ति, लज्जा, विनय, शील एवं परोपकार आदि गुणोंमें अपने ही समान (अनुपम) थे॥ ६२॥ लोग त्रिलोकीमें सर्वत्र उच्च स्वरसे उनकी कीर्तिका गान करते थे, इससे वे स्त्रियोंतकके कानोंमें वैसे ही प्रवेश पाये हुए थे जैसे सत्पुरुषोंके हृदयमें श्रीराम॥ ६३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

राजा पृथुकी तपस्या और परलोकगमन

मैत्रेय उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान्।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः॥ १

जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत्सताम्।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान्॥ २

आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव।
प्रजासु विमनस्स्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम्॥ ३

तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते।
आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा॥ ४

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार महामनस्वी प्रजापति पृथुके स्वयमेव अन्नादि तथा पुर-ग्रामादि सर्गकी व्यवस्था करके स्थावर-जंगम सभीकी आजीविकाका सुभीता कर दिया तथा साधुजनोचित धर्मोंका भी खूब पालन किया। 'मेरी अवस्था कुछ ढल गयी है और जिसके लिये मैंने इस लोकमें जन्म लिया था, उस प्रजारक्षणरूप ईश्वराज्ञाका पालन भी हो चुका है; अतः अब मुझे अन्तिम पुरुषार्थ—मोक्षके लिये प्रयत्न करना चाहिये' यह सोचकर उन्होंने अपने विरहमें रोती हुई अपनी पुत्रीरूपा पृथ्वीका भार पुत्रोंको सौंप दिया और सारी प्रजाको बिलखती छोड़कर वे अपनी पत्नीसहित अकेले ही तपोवनको चल दिये॥ १—३॥ वहाँ भी वे वानप्रस्थ आश्रमके नियमानुसार उसी प्रकार कठोर तपस्यामें लग गये, जैसे पहले गृहस्थाश्रममें अखण्ड व्रतपूर्वक पृथ्वीको विजय करनेमें लगे थे!॥ ४॥

कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित्।
अब्भक्षः कतिचित्पक्षान् वायुभक्षस्ततः परम्॥ ५

ग्रीष्मे पंचतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः।
आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः॥ ६

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः।
आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम्॥ ७

तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्मामलाशयः।
प्राणायामैः संनिरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः॥ ८

सनत्कुमारो भगवान् यदाहाध्यात्मिकं परम्।
योगं तेनैव पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः॥ ९

भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत्॥ १०

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-
सत्त्वात्मनस्तदनु संस्मरणानुपूर्त्या।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम्॥ ११

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-
स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्॥ १२

कुछ दिन तो उन्होंने कन्द-मूल-फल खाकर बिताये, कुछ काल सूखे पत्ते खाकर रहे, फिर कुछ पखवाड़ोंतक जलपर ही रहे और इसके बाद केवल वायुसे ही निर्वाह करने लगे॥ ५॥ वीरवर पृथु मुनिवृत्तिसे रहते थे। गर्मियोंमें उन्होंने पंचाग्नियोंका सेवन किया, वर्षाऋतुमें खुले मैदानमें रहकर अपने शरीरपर जलकी धाराएँ सहीं और जाड़ेमें गलेतक जलमें खड़े रहे। वे प्रतिदिन मिट्टीकी वेदीपर ही शयन करते थे॥ ६॥ उन्होंने शीतोष्णादि सब प्रकारके द्वन्द्वोंको सहा तथा वाणी और मनका संयम करके ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए प्राणोंको अपने अधीन किया। इस प्रकार श्रीकृष्णकी आराधना करनेके लिये उन्होंने उत्तम तप किया॥ ७॥ इस क्रमसे उनकी तपस्या बहुत पुष्ट हो गयी और उसके प्रभावसे कर्ममल नष्ट हो जानेके कारण उनका चित्त सर्वथा शुद्ध हो गया। प्राणायामोंके द्वारा मन और इन्द्रियोंके निरुद्ध हो जानेसे उनका वासनाजनित बन्धन भी कट गया॥ ८॥ तब, भगवान् सनत्कुमारने उन्हें जिस परमोत्कृष्ट अध्यात्मयोगकी शिक्षा दी थी, उसीके अनुसार राजा पृथु पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ९॥ इस तरह भगवत्परायण होकर श्रद्धापूर्वक सदाचारका पालन करते हुए निरन्तर साधन करनेसे परब्रह्म परमात्मामें उनकी अनन्यभक्ति हो गयी॥ १०॥

इस प्रकार भगवदुपासनासे अन्तःकरण शुद्ध-सात्त्विक हो जानेपर निरन्तर भगवच्चिन्तनके प्रभावसे प्राप्त हुई इस अनन्य भक्तिसे उन्हें वैराग्यसहित ज्ञानकी प्राप्ति हुई और फिर उस तीव्र ज्ञानके द्वारा उन्होंने जीवके उपाधिभूत अहंकारको नष्ट कर दिया, जो सब प्रकारके संशय-विपर्ययका आश्रय है॥ ११॥ इसके पश्चात् देहात्मबुद्धिकी निवृत्ति और परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णकी अनुभूति होनेपर अन्य सब प्रकारकी सिद्धि आदिसे भी उदासीन हो जानेके कारण उन्होंने उस तत्त्वज्ञानके लिये भी प्रयत्न करना छोड़ दिया, जिसकी सहायतासे पहले अपने जीवकोशका नाश किया था, क्योंकि जबतक साधकको योगमार्गके द्वारा श्रीकृष्ण-कथामृतमें अनुराग नहीं होता, तबतक केवल योगसाधनासे उसका मोहजनित प्रमाद दूर नहीं होता—भ्रम नहीं मिटता॥ १२॥

एवं स वीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि।
ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम्॥ १३

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयञ्छनैः।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि॥ १४

उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः।
वायुं[1] वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत्॥ १५

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः।
क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम्॥ १६

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम्।
भूतादिनामून्युत्कृष्य महत्यात्मनि सन्दधे॥ १७

तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात्।
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान्।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्[2]प्रभुः॥ १८

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम्।
सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः॥ १९

अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया
शुश्रूषया चा[3]रषदेहयात्रया।
नाविन्दतार्तिं परिकर्शितापि सा
प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः ॥ २०

फिर जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तो वीरवर पृथुने अपने चित्तको दृढ़तापूर्वक परमात्मामें स्थिर कर ब्रह्मभावमें स्थित हो अपना शरीर त्याग दिया॥ १३॥ उन्होंने एड़ीसे गुदाके द्वारको रोककर प्राणवायुको धीरे-धीरे मूलाधारसे ऊपरकी ओर उठाते हुए उसे क्रमशः नाभि, हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तकमें स्थित किया॥ १४॥ फिर उसे और ऊपरकी ओर ले जाते हुए क्रमशः ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर किया। अब उन्हें किसी प्रकारके सांसारिक भोगोंकी लालसा नहीं रही। फिर यथास्थान विभाग करके प्राणवायुको समष्टि वायुमें, पार्थिव शरीरको पृथ्वीमें और शरीरके तेजको समष्टि तेजमें लीन कर दिया॥ १५॥ हृदयाकाशादि देहावच्छिन्न आकाशको महाकाशमें और शरीरगत रुधिरादि जलीय अंशको समष्टि जलमें लीन किया। इसी प्रकार फिर पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें लीन किया॥ १६॥ तदनन्तर मनको [सविकल्प ज्ञानमें जिनके अधीन वह रहता है, उन] इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंको उनके कारणरूप तन्मात्राओंमें और सूक्ष्मभूतों (तन्मात्राओं)-के कारण अहंकारके द्वारा आकाश, इन्द्रिय और तन्मात्राओंको उसी अहंकारमें लीन कर, अहंकारको महत्तत्त्वमें लीन किया॥ १७॥ फिर सम्पूर्ण गुणोंकी अभिव्यक्ति करनेवाले उस महत्तत्त्वको मायोपाधिक जीवमें स्थित किया। तदनन्तर उस मायारूप जीवकी उपाधिको भी उन्होंने ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें स्थित होकर त्याग दिया॥ १८॥

महाराज पृथुकी पत्नी महारानी अर्चि भी उनके साथ वनको गयी थीं। वे बड़ी सुकुमारी थीं, पैरोंसे भूमिका स्पर्श करनेयोग्य भी नहीं थीं॥ १९॥ फिर भी उन्होंने अपने स्वामीके व्रत और नियमादिका पालन करते हुए उनकी खूब सेवा की और मुनिवृत्तिके अनुसार कन्द-मूल आदिसे निर्वाह किया। इससे यद्यपि वे बहुत दुर्बल हो गयी थीं, तो भी प्रियतमके करस्पर्शसे सम्मानित होकर उसीमें आनन्द माननेके कारण उन्हें किसी प्रकार कष्ट नहीं होता था॥ २०॥

१. प्रा० पा०—वायौ वायुं। २. प्रा० पा०—स्थो व्यधात्। ३. प्रा० पा०—कर्षितदेह०।

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः।
आलक्ष्य किंचिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥ २१
विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुता
दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मणः।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रिः परीत्य
विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ ॥ २२
विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम्।
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः ॥ २३
कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन्मन्दरसानुनि।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम् ॥ २४

देव्य ऊचुः

अहो इयं वधूर्धन्या या चैव भूभुजां पतिम्।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव ॥ २५
सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥ २६
तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम्।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥ २७
स वंचितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥ २८

मैत्रेय उवाच

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः।
यं[1] वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताशयः[2] ॥ २९
इत्थंभूतानुभावोऽसौ पृथुः स[3] भगवत्तमः।
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते ॥ ३०

अब पृथ्वीके स्वामी और अपने प्रियतम महाराज पृथुकी देहको जीवनके चेतना आदि सभी धर्मोंसे रहित देख उस सतीने कुछ देर विलाप किया। फिर पर्वतके ऊपर चिता बनाकर उसे उस चितापर रख दिया॥ २१ ॥ इसके बाद उस समयके सारे कृत्य कर नदीके जलमें स्नान किया। अपने परम पराक्रमी पतिको जलांजलि दे आकाशस्थित देवताओंकी वन्दना की तथा तीन बार चिताकी परिक्रमा कर पतिदेवके चरणोंका ध्यान करती हुई अग्निमें प्रवेश कर गयी॥ २२ ॥ परमसाध्वी अर्चिको इस प्रकार अपने पति वीरवर पृथुका अनुगमन करते देख सहस्रों वरदायिनी देवियोंने अपने-अपने पतियोंके साथ उनकी स्तुति की॥ २३ ॥ वहाँ देवताओंके बाजे बजने लगे। उस समय उस मन्दराचलके शिखरपर वे देवांगनाएँ पुष्पोंकी वर्षा करती हुई आपसमें इस प्रकार कहने लगीं॥ २४ ॥

देवियोंने कहा—अहो! यह स्त्री धन्य है! इसने अपने पति राजराजेश्वर पृथुकी मन-वाणी-शरीरसे ठीक उसी प्रकार सेवा की है, जैसे श्रीलक्ष्मीजी यज्ञेश्वर भगवान् विष्णुकी करती हैं॥ २५ ॥ अवश्य ही अपने अचिन्त्य कर्मके प्रभावसे यह सती हमें भी लाँघकर अपने पतिके साथ उच्चतर लोकोंको जा रही है॥ २६ ॥ इस लोकमें कुछ ही दिनोंका जीवन होनेपर भी जो लोग भगवान्‌के परमपदकी प्राप्ति करानेवाला आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये संसारमें कौन पदार्थ दुर्लभ है॥ २७ ॥ अत: जो पुरुष बड़ी कठिनतासे भूलोकमें मोक्षका साधनस्वरूप मनुष्य-शरीर पाकर भी विषयोंमें आसक्त रहता है, वह निश्चय ही आत्मघाती है; हाय! हाय! वह ठगा गया॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! जिस समय देवांगनाएँ इस प्रकार स्तुति कर रही थीं, भगवान्‌के जिस परमधामको आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवत्प्राण महाराज पृथु गये, महारानी अर्चि भी उसी पतिलोकको गयीं॥ २९ ॥ परमभागवत पृथुजी ऐसे ही प्रभावशाली थे। उनके चरित बड़े उदार हैं, मैंने तुम्हारे सामने उनका वर्णन किया॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—यो वा। २. प्रा० पा०—ताश्रयः। ३. प्रा० पा०—सोऽभवदुत्तमः।

य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत्।
श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात्॥ ३१
ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः।
वैश्यः पठन् विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात्॥ ३२
त्रिःकृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवाऽऽदृता।
अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः॥ ३३
अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः।
इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममंगल्यनिवारणम्॥ ३४
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम्।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक्सिद्धिमभीप्सुभिः।
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम्॥ ३५
विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान्।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजानः पृथवे यथा॥ ३६
मुक्तान्यसंगो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन्।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत्पठेत्॥ ३७
वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम्।
अस्मिन् कृतमतिर्मर्त्यः पार्थवीं गतिमाप्नुयात्॥ ३८
अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन्
पृथुचरितं प्रथयन् विमुक्तसंगः।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे
स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः॥ ३९

जो पुरुष इस परम पवित्र चरित्रको श्रद्धापूर्वक (निष्कामभावसे) एकाग्रचित्तसे पढ़ता, सुनता अथवा सुनाता है—वह भी महाराज पृथुके पद—भगवान्के परमधामको प्राप्त होता है॥ ३१ ॥ इसका सकामभावसे पाठ करनेसे ब्राह्मण ब्रह्मतेज प्राप्त करता है, क्षत्रिय पृथ्वीपति हो जाता है, वैश्य व्यापारियोंमें प्रधान हो जाता है और शूद्रमें साधुता आ जाती है॥ ३२ ॥ स्त्री हो अथवा पुरुष—जो कोई इसे आदरपूर्वक तीन बार सुनता है, वह सन्तानहीन हो तो पुत्रवान्, धनहीन हो तो महाधनी, कीर्तिहीन हो तो यशस्वी और मूर्ख हो तो पण्डित हो जाता है। यह चरित मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाला और अमंगलको दूर करनेवाला है॥ ३३-३४॥ यह धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और कलियुगके दोषोंका नाश करनेवाला है। यह धर्मादि चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें भी बड़ा सहायक है; इसलिये जो लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको भलीभाँति सिद्ध करना चाहते हों, उन्हें इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण करना चाहिये॥ ३५ ॥ जो राजा विजयके लिये प्रस्थान करते समय इसे सुनकर जाता है, उसके आगे आ-आकर राजालोग उसी प्रकार भेंटें रखते हैं जैसे पृथुके सामने रखते थे॥ ३६ ॥ मनुष्यको चाहिये कि अन्य सब प्रकारकी आसक्ति छोड़कर भगवान्में विशुद्ध निष्काम भक्ति-भाव रखते हुए महाराज पृथुके इस निर्मल चरितको सुने, सुनावे और पढ़े॥ ३७॥ विदुरजी! मैंने भगवान्के माहात्म्यको प्रकट करनेवाला यह पवित्र चरित्र तुम्हें सुना दिया। इसमें प्रेम करनेवाला पुरुष महाराज पृथुकी-सी गति पाता है॥ ३८॥ जो पुरुष इस पृथु-चरितका प्रतिदिन आदरपूर्वक निष्कामभावसे श्रवण और कीर्तन करता है; उसका जिनके चरण संसारसागरको पार करनेके लिये नौकाके समान हैं, उन श्रीहरिमें सुदृढ़ अनुराग हो जाता है॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

पृथुकी वंशपरम्परा और प्रचेताओंको भगवान् रुद्रका उपदेश

मैत्रेय उवाच

विजिताश्वोऽधिराजाऽऽसीत्पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः।
यवीयोभ्योऽददात्काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः॥ १

हर्यक्षायादिशत्प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम्।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः॥ २

अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धानसंज्ञितः।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम्॥ ३

पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा।
वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः॥ ४

अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत।
य इन्द्रमश्वहर्तारं विद्वानपि न जघ्निवान्॥ ५

राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम्।
मन्यमानो दीर्घसत्रव्याजेन विससर्ज ह॥ ६

तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक्।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना॥ ७

हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट् सुतान्।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम्॥ ८

बर्हिषत् सुमहाभागो हाविर्धानिः प्रजापतिः।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह॥ ९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! महाराज पृथुके बाद उनके पुत्र परम यशस्वी विजिताश्व राजा हुए। उनका अपने छोटे भाइयोंपर बड़ा स्नेह था, इसलिये उन्होंने चारोंको एक-एक दिशाका अधिकार सौंप दिया॥ १॥ राजा विजिताश्वने हर्यक्षको पूर्व, धूम्रकेशको दक्षिण, वृकको पश्चिम और द्रविणको उत्तर दिशाका राज्य दिया॥ २॥ उन्होंने इन्द्रसे अन्तर्धान होनेकी शक्ति प्राप्त की थी, इसलिये उन्हें 'अन्तर्धान' भी कहते थे। उनकी पत्नीका नाम शिखण्डिनी था। उससे उनके तीन सुपुत्र हुए॥ ३॥ उनके नाम पावक, पवमान और शुचि थे। पूर्वकालमें वसिष्ठजीका शाप होनेसे उपर्युक्त नामके अग्नियोंने ही उनके रूपमें जन्म लिया था। आगे चलकर योगमार्गसे ये फिर अग्निरूप हो गये॥ ४॥

अन्तर्धानके नभस्वती नामकी पत्नीसे एक और पुत्र-रत्न हविर्धान प्राप्त हुआ। महाराज अन्तर्धान बड़े उदार पुरुष थे। जिस समय इन्द्र उनके पिताके अश्वमेध-यज्ञका घोड़ा हरकर ले गये थे, उन्होंने पता लग जानेपर भी उनका वध नहीं किया था॥ ५॥ राजा अन्तर्धानने कर लेना, दण्ड देना, जुरमाना वसूल करना आदि कर्तव्योंको बहुत कठोर एवं दूसरोंके लिये कष्टदायक समझकर एक दीर्घकालीन यज्ञमें दीक्षित होनेके बहाने अपना राज-काज छोड़ दिया॥ ६॥ यज्ञकार्यमें लगे रहनेपर भी उन आत्मज्ञानी राजाने भक्तभयभंजन पूर्णतम परमात्माकी आराधना करके सुदृढ़ समाधिके द्वारा भगवान्के दिव्य लोकको प्राप्त किया॥ ७॥

विदुरजी! हविर्धानकी पत्नी हविर्धानीने बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत नामके छः पुत्र पैदा किये॥ ८॥ कुरुश्रेष्ठ विदुरजी! इनमें हविर्धानके पुत्र महाभाग बर्हिषद् यज्ञादि कर्मकाण्ड और योगाभ्यासमें कुशल थे। उन्होंने प्रजापतिका पद प्राप्त किया॥ ९॥

यस्येदं देवयजनमनु यज्ञं वितन्वतः।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम्॥ १०

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम्।
यां वीक्ष्य चारुसर्वांगीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम्।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव॥ ११

विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः ।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः॥ १२

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन्।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः॥ १३

पित्राऽऽदिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन्।
दशवर्षसहस्राणि तपसाऽऽर्चंस्तपस्पतिम्॥ १४

यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः॥ १५

विदुर उवाच

प्रचेतसां गिरित्रेण यथाऽऽसीत्पथि संगमः।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन् वदार्थवत्॥ १६

संगमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम्।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसंगाद्यमभीप्सितम्॥ १७

आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः॥ १८

उन्होंने एक स्थानके बाद दूसरे स्थानमें लगातार इतने यज्ञ किये कि यह सारी भूमि पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए कुशोंसे पट गयी थी (इसीसे आगे चलकर वे 'प्राचीनबर्हि' नामसे विख्यात हुए)॥ १०॥

राजा प्राचीनबर्हिने ब्रह्माजीके कहनेसे समुद्रकी कन्या शतद्रुतिसे विवाह किया था। सर्वांगसुन्दरी किशोरी शतद्रुति सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर विवाह-मण्डपमें जब भाँवर देनेके लिये घूमने लगी, तब स्वयं अग्निदेव भी मोहित होकर उसे वैसे ही चाहने लगे जैसे शुकीको चाहा था॥ ११॥ नव-विवाहिता शतद्रुतिने अपने नूपुरोंकी झनकारसे ही दिशा-विदिशाओंके देवता, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य और नाग—सभीको वशमें कर लिया था॥ १२॥ शतद्रुतिके गर्भसे प्राचीनबर्हिके प्रचेता नामके दस पुत्र हुए। वे सब बड़े ही धर्मज्ञ तथा एक-से नाम और आचरणवाले थे॥ १३॥ जब पिताने उन्हें सन्तान उत्पन्न करनेका आदेश दिया, तब उन सबने तपस्या करनेके लिये समुद्रमें प्रवेश किया। वहाँ दस हजार वर्षतक तपस्या करते हुए उन्होंने तपका फल देनेवाले श्रीहरिकी आराधना की॥ १४॥ घरसे तपस्या करनेके लिये जाते समय मार्गमें श्रीमहादेवजीने उन्हें दर्शन देकर कृपापूर्वक जिस तत्त्वका उपदेश दिया था, उसीका वे एकाग्रतापूर्वक ध्यान, जप और पूजन करते रहे॥ १५॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! मार्गमें प्रचेताओंका श्रीमहादेवजीके साथ किस प्रकार समागम हुआ और उनपर प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उन्हें क्या उपदेश किया, वह सारयुक्त बात आप कृपा करके मुझसे कहिये॥ १६॥ ब्रह्मर्षे! शिवजीके साथ समागम होना तो देहधारियोंके लिये बहुत कठिन है। औरोंकी तो बात ही क्या है—मुनिजन भी सब प्रकारकी आसक्ति छोड़कर उन्हें पानेके लिये उनका निरन्तर ध्यान ही किया करते हैं, किन्तु सहजमें पाते नहीं॥ १७॥ यद्यपि भगवान् शंकर आत्माराम हैं, उन्हें अपने लिये न कुछ करना है, न पाना, तो भी इस लोकसृष्टिकी रक्षाके लिये वे अपनी घोररूपा शक्ति (शिवा)-के साथ सर्वत्र विचरते रहते हैं॥ १८॥

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसाऽऽदाय साधवः।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्यादृतचेतसः॥ १९

समुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन् सुमहत्सरः।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम्॥ २०

नीलरक्तोत्पलाम्भोजकह्लारेन्दीवराकरम्।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवनिकूजितम्॥ २१

मत्तभ्रमरसौस्वर्यहृष्टरोमलताङ्घ्रिपम्।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम्॥ २२

तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम्।
विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदंगपणवाद्यनु॥ २३

तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम्।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः॥ २४

तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम्।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः॥ २५

स तान् प्रपन्नार्तिहरो भगवान्धर्मवत्सलः।
धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान् प्रीतः प्रीतानुवाच ह॥ २६

श्रीरुद्र उवाच

यूयं वेदिषदः पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम्।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम्॥ २७

यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे॥ २८

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! साधुस्वभाव प्रचेतागण पिताकी आज्ञा शिरोधार्य कर तपस्यामें चित्त लगा पश्चिमकी ओर चल दिये॥ १९॥ चलते-चलते उन्होंने समुद्रके समान विशाल एक सरोवर देखा। वह महापुरुषोंके चित्तके समान बड़ा ही स्वच्छ था तथा उसमें रहनेवाले मत्स्यादि जलजीव भी प्रसन्न जान पड़ते थे॥ २०॥ उसमें नीलकमल, लालकमल, रातमें, दिनमें और सायंकालमें खिलनेवाले कमल तथा इन्दीवर आदि अन्य कई प्रकारके कमल सुशोभित थे। उसके तटोंपर हंस, सारस, चकवा और कारण्डव आदि जलपक्षी चहक रहे थे॥ २१॥ उसके चारों ओर तरह-तरहके वृक्ष और लताएँ थीं, उनपर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे। उनकी मधुर ध्वनिसे हर्षित होकर मानो उन्हें रोमांच हो रहा था। कमलकोशके परागपुंज वायुके झकोरोंसे चारों ओर उड़ रहे थे मानो वहाँ कोई उत्सव हो रहा है॥ २२॥ वहाँ मृदंग, पणव आदि बाजोंके साथ अनेकों दिव्य राग-रागिनियोंके क्रमसे गायनकी मधुर ध्वनि सुनकर उन राजकुमारोंको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ २३॥ इतनेमें ही उन्होंने देखा कि देवाधिदेव भगवान् शंकर अपने अनुचरोंके सहित उस सरोवरसे बाहर आ रहे हैं। उनका शरीर तपी हुई सुवर्णराशिके समान कान्तिमान् है, कण्ठ नीलवर्ण है तथा तीन विशाल नेत्र हैं। वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये उद्यत हैं। अनेकों गन्धर्व उनका सुयश गा रहे हैं। उनका सहसा दर्शन पाकर प्रचेताओंको बड़ा कुतूहल हुआ और उन्होंने शंकरजीके चरणोंमें प्रणाम किया॥ २४-२५॥ तब शरणागतभयहारी धर्मवत्सल भगवान् शंकरने अपने दर्शनसे प्रसन्न हुए उन धर्मज्ञ और शीलसम्पन्न राजकुमारोंसे प्रसन्न होकर कहा॥ २६॥

श्रीमहादेवजी बोले—तुमलोग राजा प्राचीनबर्हिके पुत्र हो, तुम्हारा कल्याण हो। तुम जो कुछ करना चाहते हो, वह भी मुझे मालूम है। इस समय तुमलोगोंपर कृपा करनेके लिये ही मैंने तुम्हें इस प्रकार दर्शन दिया है॥ २७॥ जो व्यक्ति अव्यक्त प्रकृति तथा जीवसंज्ञक पुरुष—इन दोनोंके नियामक भगवान् वासुदेवकी साक्षात् शरण लेता है, वह मुझे परम प्रिय है॥ २८॥

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं[1] भागवतोऽथ[2] वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये॥ २९

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्॥ ३०

इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मंगलं परम्।
निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि[3] वः॥ ३१

मैत्रेय उवाच

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह तान् शिवः।
बद्धाञ्जलीन् राजपुत्रान्नारायणपरो वचः॥ ३२

श्रीरुद्र उवाच

जितं त आत्मविद्धुर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे।
भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः॥ ३३

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे॥ ३४

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने॥ ३५

नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने॥ ३६

अपने वर्णाश्रमधर्मका भलीभाँति पालन करनेवाला पुरुष सौ जन्मके बाद ब्रह्माके पदको प्राप्त होता है और इससे भी अधिक पुण्य होनेपर वह मुझे प्राप्त होता है। परन्तु जो भगवान्‌का अनन्य भक्त है, वह तो मृत्युके बाद ही सीधे भगवान् विष्णुके उस सर्वप्रपंचातीत परमपदको प्राप्त हो जाता है, जिसे रुद्ररूपमें स्थित मैं तथा अन्य आधिकारिक देवता अपने-अपने अधिकारकी समाप्तिके बाद प्राप्त करेंगे॥ २९॥ तुमलोग भगवद्भक्त होनेके नाते मुझे भगवान्‌के समान ही प्यारे हो। इसी प्रकार भगवान्‌के भक्तोंको भी मुझसे बढ़कर और कोई कभी प्रिय नहीं होता॥ ३०॥ अब मैं तुम्हें एक बड़ा ही पवित्र, मंगलमय और कल्याणकारी स्तोत्र सुनाता हूँ। इसका तुमलोग शुद्धभावसे जप करना॥ ३१॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—तब नारायणपरायण करुणार्द्रहृदय भगवान् शिवने अपने सामने हाथ जोड़े खड़े हुए उन राजपुत्रोंको यह स्तोत्र सुनाया॥ ३२॥

भगवान् रुद्र स्तुति करने लगे—भगवन्! आपका उत्कर्ष उच्चकोटिके आत्मज्ञानियोंके कल्याणके लिये—निजानन्द लाभके लिये है, उससे मेरा भी कल्याण हो। आप सर्वदा अपने निरतिशय परमानन्द-स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं, ऐसे सर्वात्मक आत्मस्वरूप आपको नमस्कार है॥ ३३॥ आप पद्मनाभ (समस्त लोकोंके आदिकारण) हैं; भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) और इन्द्रियोंके नियन्ता, शान्त, एकरस और स्वयंप्रकाश वासुदेव (चित्तके अधिष्ठाता) भी आप ही हैं; आपको नमस्कार है॥ ३४॥ आप ही सूक्ष्म (अव्यक्त), अनन्त और मुखाग्निके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेवाले अहंकारके अधिष्ठाता संकर्षण तथा जगत्‌के प्रकृष्ट ज्ञानके उद्‌गमस्थान बुद्धिके अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं; आपको नमस्कार है॥ ३५॥ आप ही इन्द्रियोंके स्वामी, मनस्तत्त्वके अधिष्ठाता भगवान् अनिरुद्ध हैं; आपको बार-बार नमस्कार है। आप अपने तेजसे जगत्‌को व्याप्त करनेवाले सूर्यदेव हैं, पूर्ण होनेके कारण आपमें वृद्धि और क्षय नहीं होता; आपको नमस्कार है॥ ३६॥

१. प्रा० पा०—अव्याहतं। २. प्रा० पा०—वतं सवैष्णवं। ३. प्रा० पा०—यद्व०।

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः।
नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे॥ ३७

नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने॥ ३८

सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सहओजोबलाय च॥ ३९

अर्थलिंगाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे॥ ४०

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च॥ ४१

नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने।
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय च॥ ४२

शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचोविभूतये॥ ४३

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम्।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम्॥ ४४

आप स्वर्ग और मोक्षके द्वार तथा निरन्तर पवित्र हृदयमें रहनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप ही सुवर्णरूप वीर्यसे युक्त और चातुर्होत्र कर्मके साधन तथा विस्तार करनेवाले अग्निदेव हैं; आपको नमस्कार है॥ ३७॥ आप पितर और देवताओंके पोषक सोम हैं तथा तीनों वेदोंके अधिष्ठाता हैं; हम आपको नमस्कार करते हैं, आप ही समस्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाले सर्वरस (जल) रूप हैं; आपको नमस्कार है॥ ३८॥ आप समस्त प्राणियोंके देह, पृथ्वी और विराट्स्वरूप हैं तथा त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले मानसिक, ऐन्द्रियिक और शारीरिक शक्तिस्वरूप वायु (प्राण) हैं; आपको नमस्कार है॥ ३९॥ आप ही अपने गुण शब्दके द्वारा—समस्त पदार्थोंका ज्ञान करानेवाले तथा बाहर-भीतरका भेद करनेवाले आकाश हैं तथा आप ही महान् पुण्योंसे प्राप्त होनेवाले परम तेजोमय स्वर्ग-वैकुण्ठादि लोक हैं; आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ ४०॥ आप पितृलोककी प्राप्ति करानेवाले प्रवृत्ति-कर्मरूप और देवलोककी प्राप्तिके साधन निवृत्ति-कर्मरूप हैं तथा आप ही अधर्मके फलस्वरूप दुःखदायक मृत्यु हैं; आपको नमस्कार है॥ ४१॥ नाथ! आप ही पुराणपुरुष तथा सांख्य और योगके अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं; आप सब प्रकारकी कामनाओंकी पूर्तिके कारण, साक्षात् मन्त्रमूर्ति और महान् धर्मस्वरूप हैं; आपकी ज्ञानशक्ति किसी भी प्रकार कुण्ठित होनेवाली नहीं है; आपको नमस्कार है, नमस्कार है॥ ४२॥ आप ही कर्ता, करण और कर्म—तीनों शक्तियोंके एकमात्र आश्रय हैं; आप ही अहंकारके अधिष्ठाता रुद्र हैं; आप ही ज्ञान और क्रियास्वरूप हैं तथा आपसे ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—चार प्रकारकी वाणीकी अभिव्यक्ति होती है; आपको नमस्कार है॥ ४३॥

प्रभो! हमें आपके दर्शनोंकी अभिलाषा है; अतः आपके भक्तजन जिसका पूजन करते हैं और जो आपके निजजनोंको अत्यन्त प्रिय है, अपने उस अनूप रूपकी आप हमें झाँकी कराइये। आपका वह रूप अपने गुणोंसे समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाला है॥ ४४॥

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम्।
चार्वायतचतुर्बाहुं सुजातरुचिराननम्॥ ४५

पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम्।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम्॥ ४६

प्रीतिप्रहसितापांगमलकैरुपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिंजल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम्॥ ४७

स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥ ४८

सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम्।
श्रियानपायिन्या क्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥ ४९

पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसंक्रामयद्विश्वं नाभ्याऽऽवर्तगभीरया॥ ५०

श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुर्दुकूलस्वर्णमेखलम्।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरुनिम्नजानुसुदर्शनम् ॥ ५१

पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम्॥ ५२

वह वर्षाकालीन मेघके समान स्निग्ध श्याम और सम्पूर्ण सौन्दर्योंका सार-सर्वस्व है। सुन्दर चार विशाल भुजाएँ, महामनोहर मुखारविन्द, कमलदलके समान नेत्र, सुन्दर भौंहें, सुघड़ नासिका, मनमोहिनी दन्तपंक्ति, अमोल कपोलयुक्त मनोहर मुखमण्डल और शोभाशाली समान कर्ण-युगल हैं॥ ४५-४६ ॥

प्रीतिपूर्ण उन्मुक्त हास्य, तिरछी चितवन, काली-काली घुँघराली अलकें, कमलकुसुमकी केसरके समान फहराता हुआ पीताम्बर, झिलमिलाते हुए कुण्डल, चमचमाते हुए मुकुट, कंकण, हार, नूपुर और मेखला आदि विचित्र आभूषण तथा शंख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला और कौस्तुभमणिके कारण उसकी अपूर्व शोभा है॥ ४७-४८ ॥

उसके सिंहके समान स्थूल कंधे हैं—जिनपर हार, केयूर एवं कुण्डलादिकी कान्ति झिलमिलाती रहती है—तथा कौस्तुभमणिकी कान्तिसे सुशोभित मनोहर ग्रीवा है। उसका श्यामल वक्ष:स्थल श्रीवत्स-चिह्नके रूपमें लक्ष्मीजीका नित्य निवास होनेके कारण कसौटीकी शोभाको भी मात करता है॥ ४९ ॥

उसका त्रिवलीसे सुशोभित, पीपलके पत्तेके समान सुडौल उदर श्वासके आने-जानेसे हिलता हुआ बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है। उसमें जो भँवरके समान चक्करदार नाभि है, वह इतनी गहरी है कि उससे उत्पन्न हुआ यह विश्व मानो फिर उसीमें लीन होना चाहता है॥ ५० ॥ श्यामवर्ण कटिभागमें पीताम्बर और सुवर्णकी मेखला शोभायमान है। समान और सुन्दर चरण, पिंडली, जाँघ और घुटनोंके कारण आपका दिव्य विग्रह बड़ा ही सुघड़ जान पड़ता है॥ ५१ ॥ आपके चरणकमलोंकी शोभा शरद्-ऋतुके कमल-दलकी कान्तिका भी तिरस्कार करती है। उनके नखोंसे जो प्रकाश निकलता है, वह जीवोंके हृदयान्धकारको तत्काल नष्ट कर देता है। हमें आप कृपा करके भक्तोंके भयहारी एवं आश्रयस्वरूप उसी रूपका दर्शन कराइये। जगद्गुरो! हम अज्ञानावृत प्राणियोंको अपनी प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले आप ही हमारे गुरु हैं॥ ५२ ॥

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम्॥ ५३

भवान् भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम्।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्‌गतिः॥ ५४

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः॥ ५५

यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते।
विश्वं विध्वंसयन् वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा॥ ५६

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य[१] मर्त्यानां किमुताशिषः॥ ५७

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात्संगमोऽनुग्रह एष नस्तव॥ ५८

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत्।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमंजसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम्॥ ५९

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत्।
तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव[२] विस्तृतम्[३]॥ ६०

प्रभो! चित्तशुद्धिकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषको आपके इस रूपका निरन्तर ध्यान करना चाहिये; इसकी भक्ति ही स्वधर्मका पालन करनेवाले पुरुषको अभय करनेवाली है॥ ५३॥ स्वर्गका शासन करनेवाला इन्द्र भी आपको ही पाना चाहता है तथा विशुद्ध आत्मज्ञानियोंकी गति भी आप ही हैं। इस प्रकार आप सभी देहधारियोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं; केवल भक्तिमान् पुरुष ही आपको पा सकते हैं॥ ५४॥ सत्पुरुषोंके लिये भी दुर्लभ अनन्य भक्तिसे भगवान्‌को प्रसन्न करके, जिनकी प्रसन्नता किसी अन्य साधनासे दु:साध्य है, ऐसा कौन होगा जो उनके चरणतलके अतिरिक्त और कुछ चाहेगा॥ ५५॥ जो काल अपने अदम्य उत्साह और पराक्रमसे फड़कती हुए भौंहके इशारेसे सारे संसारका संहार कर डालता है, वह भी आपके चरणोंकी शरणमें गये हुए प्राणीपर अपना अधिकार नहीं मानता॥ ५६॥ ऐसे भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका यदि आधे क्षणके लिये भी समागम हो जाय तो उसके सामने मैं स्वर्ग और मोक्षको कुछ नहीं समझता; फिर मर्त्यलोकके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है॥ ५७॥ प्रभो! आपके चरण सम्पूर्ण पापराशिको हर लेनेवाले हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि जिन लोगोंने आपकी कीर्ति और तीर्थ (गंगाजी)-में आन्तरिक और बाह्य स्नान करके मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकारके पापोंको धो डाला है तथा जो जीवोंके प्रति दया, राग-द्वेषरहित चित्त तथा सरलता आदि गुणोंसे युक्त हैं, उन आपके भक्तजनोंका संग हमें सदा प्राप्त होता रहे। यही हमपर आपकी बड़ी कृपा होगी॥ ५८॥ जिस साधकका चित्त भक्तियोगसे अनुगृहीत एवं विशुद्ध होकर न तो बाह्य विषयोंमें भटकता है और न अज्ञान-गुहारूप प्रकृतिमें ही लीन होता है, वह अनायास ही आपके स्वरूपका दर्शन पा जाता है॥ ५९॥ जिसमें यह सारा जगत् दिखायी देता है और जो स्वयं सम्पूर्ण जगत्‌में भास रहा है, वह आकाशके समान विस्तृत और परम प्रकाशमय ब्रह्मतत्त्व आप ही हैं॥ ६०॥

१. प्रा० पा०—संगानां। २. प्रा० पा०—राकाश इव। ३. प्रा० पा०—विस्तृतः।

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्
बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
तमात्मतन्त्रं भगवन् प्रतीमहि॥ ६१

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः॥ ६२

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते।
महानहं खं मरुदग्निवार्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः॥ ६३

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्त-
र्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः[1]॥ ६४

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः[2]।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥ ६५

भगवन्! आपकी माया अनेक प्रकारके रूप धारण करती है। इसीके द्वारा आप इस प्रकार जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं जैसे यह कोई सद्वस्तु हो। किन्तु इससे आपमें किसी प्रकारका विकार नहीं आता। मायाके कारण दूसरे लोगोंमें ही भेदबुद्धि उत्पन्न होती है, आप परमात्मापर वह अपना प्रभाव डालनेमें असमर्थ होती है। आपको तो हम परम स्वतन्त्र ही समझते हैं॥ ६१॥ आपका स्वरूप पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणके प्रेरकरूपसे उपलक्षित होता है। जो कर्मयोगी पुरुष सिद्धि प्राप्त करनेके लिये तरह-तरहके कर्मोंद्वारा आपके इस सगुण साकार स्वरूपका श्रद्धापूर्वक भलीभाँति पूजन करते हैं, वे ही वेद और शास्त्रोंके सच्चे मर्मज्ञ हैं॥ ६२॥ प्रभो! आप ही अद्वितीय आदिपुरुष हैं। सृष्टिके पूर्व आपकी मायाशक्ति सोयी रहती है। फिर उसीके द्वारा सत्त्व, रज और तमरूप गुणोंका भेद होता है और इसके बाद उन्हीं गुणोंसे महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, देवता, ऋषि और समस्त प्राणियोंसे युक्त इस जगत्‌की उत्पत्ति होती है॥ ६३॥ फिर आप अपनी ही मायाशक्तिसे रचे हुए इन जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जभेदसे चार प्रकारके शरीरोंमें अंशरूपसे प्रवेश कर जाते हैं और जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अपने ही उत्पन्न किये हुए मधुका आस्वादन करती हैं, उसी प्रकार वह आपका अंश उन शरीरोंमें रहकर इन्द्रियोंके द्वारा इन तुच्छ विषयोंको भोगता है। आपके उस अंशको ही पुरुष या जीव कहते हैं॥ ६४॥

प्रभो! आपका तत्त्वज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं अनुमानसे होता है। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर कालस्वरूप आप ही अपने प्रचण्ड एवं असह्य वेगसे पृथ्वी आदि भूतोंको अन्य भूतोंसे विचलित कराकर समस्त लोकोंका संहार कर देते हैं—जैसे वायु अपने असहनीय एवं प्रचण्ड झोंकोंसे मेघोंके द्वारा ही मेघोंको तितर-बितर करके नष्ट कर डालती है॥ ६५॥

१. प्रा० पा०—सारघं पयः। २. प्रा० पा०—कामयानः।

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः॥ ६६
कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश॥ ६७
अथ त्वमसि नो ब्रह्मन् परमात्मन् विपश्चिताम्।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः॥ ६८
इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः॥ ६९
तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम्।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम्॥ ७०
योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः॥ ७१
इदमाह पुरास्माकं भगवान् विश्वसृक्पतिः।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम्॥ ७२
ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः॥ ७३
अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान्।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः॥ ७४

भगवन्! यह मोहग्रस्त जीव प्रमादवश हर समय इसी चिन्तामें रहता है कि 'अमुक कार्य करना है'। इसका लोभ बढ़ गया है और इसे विषयोंकी ही लालसा बनी रहती है। किन्तु आप सदा ही सजग रहते हैं; भूखसे जीभ लपलपाता हुआ सर्प जैसे चूहेको चट कर जाता है, उसी प्रकार आप अपने कालस्वरूपसे उसे सहसा लील जाते हैं॥ ६६॥ आपकी अवहेलना करनेके कारण अपनी आयुको व्यर्थ माननेवाला ऐसा कौन विद्वान् होगा, जो आपके चरणकमलोंको बिसारेगा? इसकी पूजा तो कालकी आशंकासे ही हमारे पिता ब्रह्माजी और स्वायम्भुव आदि चौदह मनुओंने भी बिना कोई विचार किये केवल श्रद्धासे ही की थी॥ ६७॥ ब्रह्मन्! इस प्रकार सारा जगत् रुद्ररूप कालके भयसे व्याकुल है। अतः परमात्मन्! इस तत्त्वको जाननेवाले हमलोगोंके तो इस समय आप ही सर्वथा भयशून्य आश्रय हैं॥ ६८॥

राजकुमारो! तुमलोग विशुद्धभावसे स्वधर्मका आचरण करते हुए भगवान्में चित्त लगाकर मेरे कहे हुए इस स्तोत्रका जप करते रहो; भगवान् तुम्हारा मंगल करेंगे॥ ६९॥ तुमलोग अपने अन्तःकरणमें स्थित उन सर्वभूतान्तर्यामी परमात्मा श्रीहरिका ही बार-बार स्तवन और चिन्तन करते हुए पूजन करो॥ ७०॥ मैंने तुम्हें यह योगादेश नामका स्तोत्र सुनाया है। तुमलोग इसे मनसे धारणकर मुनिव्रतका आचरण करते हुए इसका एकाग्रतासे आदरपूर्वक अभ्यास करो॥ ७१॥ यह स्तोत्र पूर्वकालमें जगद्विस्तारके इच्छुक प्रजापतियोंके पति भगवान् ब्रह्माजीने प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले हम भृगु आदि अपने पुत्रोंको सुनाया था॥ ७२॥ जब हम प्रजापतियोंको प्रजाका विस्तार करनेकी आज्ञा हुई, तब इसीके द्वारा हमने अपना अज्ञान निवृत्त करके अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न की थी॥ ७३॥

अब भी जो भगवत्परायण पुरुष इसका एकाग्र चित्तसे नित्यप्रति जप करेगा, उसका शीघ्र ही कल्याण हो जायगा॥ ७४॥

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम्।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम्॥ ७५
य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम्।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ॥ ७६
विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम्।
मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात्॥ ७७
इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः॥ ७८
गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम्।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो मह-
च्चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम्॥ ७९

इस लोकमें सब प्रकारके कल्याण-साधनोंमें मोक्षदायक ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ है। ज्ञान-नौकापर चढ़ा हुआ पुरुष अनायास ही इस दुस्तर संसारसागरको पार कर लेता है॥ ७५॥

यद्यपि भगवान्‌की आराधना बहुत कठिन है—किन्तु मेरे कहे हुए इस स्तोत्रका जो श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा, वह सुगमतासे ही उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेगा॥ ७६॥ भगवान् ही सम्पूर्ण कल्याणसाधनोंके एकमात्र प्यारे—प्राप्तव्य हैं। अतः मेरे गाये हुए इस स्तोत्रके गानसे उन्हें प्रसन्न करके वह स्थिरचित्त होकर उनसे जो कुछ चाहेगा, प्राप्त कर लेगा॥ ७७॥ जो पुरुष उषःकालमें उठकर इसे श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर सुनता या सुनाता है, वह सब प्रकारके कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥ ७८॥ राजकुमारो! मैंने तुम्हें जो यह परमपुरुष परमात्माका स्तोत्र सुनाया है, इसे एकाग्रचित्तसे जपते हुए तुम महान् तपस्या करो। तपस्या पूर्ण होनेपर इसीसे तुम्हें अभीष्ट फल प्राप्त हो जायगा॥ ७९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे रुद्रगीतं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

पुरंजनोपाख्यानका प्रारम्भ

मैत्रेय उवाच

इति सन्दिश्य भगवान् बार्हिषदैरभिपूजितः।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः॥ १

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले॥ २

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम्।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत्॥ ३

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणाऽऽत्मन ईहसे।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते॥ ४

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार भगवान् शंकरने प्रचेताओंको उपदेश दिया। फिर प्रचेताओंने शंकरजीकी बड़े भक्तिभावसे पूजा की। इसके पश्चात् वे उन राजकुमारोंके सामने ही अन्तर्धान हो गये॥ १॥ सब-के-सब प्रचेता जलमें खड़े रहकर भगवान् रुद्रके बताये स्तोत्रका जप करते हुए दस हजार वर्षतक तपस्या करते रहे॥ २॥ इन दिनों राजा प्राचीनबर्हिका चित्त कर्मकाण्डमें बहुत रम गया था। उन्हें अध्यात्मविद्या-विशारद परम कृपालु नारदजीने उपदेश दिया॥ ३॥ उन्होंने कहा कि 'राजन्! इन कर्मोंके द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण करना चाहते हो? दुःखके आत्यन्तिक नाश और परमानन्दकी प्राप्तिका नाम कल्याण है; वह तो कर्मोंसे नहीं मिलता'॥ ४॥

राजोवाच

न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः॥ ५
गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन् संसारवर्त्मसु॥ ६

नारद उवाच

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः॥ ७
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥ ८
अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम्।
पुरंजनस्य चरितं निबोध गदतो मम॥ ९
आसीत्पुरंजनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः।
तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत्सखाविज्ञातचेष्टितः॥ १०
सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः।
नानुरूपं यदाविन्ददभूत्स विमना इव॥ ११
न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः।
कामान् कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये॥ १२
स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु।
ददर्श नवभिर्द्वार्भिः[1] पुरं लक्षितलक्षणाम्॥ १३
प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः।
स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः संकुलां सर्वतो गृहैः॥ १४

राजाने कहा—महाभाग नारदजी! मेरी बुद्धि कर्ममें फँसी हुई है, इसलिये मुझे परम कल्याणका कोई पता नहीं है। आप मुझे विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दीजिये, जिससे मैं इस कर्मबन्धनसे छूट जाऊँ॥ ५॥ जो पुरुष कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें ही रहता हुआ पुत्र, स्त्री और धनको ही परम पुरुषार्थ मानता है, वह अज्ञानवश संसारारण्यमें ही भटकता रहनेके कारण उस परम कल्याणको प्राप्त नहीं कर सकता॥ ६॥

श्रीनारदजीने कहा—देखो, देखो, राजन्! तुमने यज्ञमें निर्दयतापूर्वक जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है—उन्हें आकाशमें देखो॥ ७॥ ये सब तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुई पीड़ाओंको याद करते हुए बदला लेनेके लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके-से सींगोंसे छेदेंगे॥ ८॥ अच्छा, इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ। वह राजा पुरंजनका चरित्र है, उसे तुम मुझसे सावधान होकर सुनो॥ ९॥

राजन्! पूर्वकालमें पुरंजन नामका एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका अविज्ञात नामक एक मित्र था। कोई भी उसकी चेष्टाओंको समझ नहीं सकता था॥ १०॥ राजा पुरंजन अपने रहनेयोग्य स्थानकी खोजमें सारी पृथ्वीमें घूमा; फिर भी जब उसे कोई अनुरूप स्थान न मिला, तब वह कुछ उदास-सा हो गया॥ ११॥ उसे तरह-तरहके भोगोंकी लालसा थी; उन्हें भोगनेके लिये उसने संसारमें जितने नगर देखे, उनमेंसे कोई भी उसे ठीक न जँचा॥ १२॥

एक दिन उसने हिमालयके दक्षिण तटवर्ती शिखरोंपर कर्मभूमि भारतखण्डमें एक नौ द्वारोंका नगर देखा। वह सब प्रकारके सुलक्षणोंसे सम्पन्न था॥ १३॥ सब ओरसे परकोटों, बगीचों, अटारियों, खाइयों, झरोखों और राजद्वारोंसे सुशोभित था और सोने, चाँदी तथा लोहेके शिखरोंवाले विशाल भवनोंसे खचाखच भरा था॥ १४॥

१. प्रा० पा०—द्वारैः।

नीलस्फटिकवैदूर्यमुक्तामरकतारुणैः ।
क्लृप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव॥ १५

सभाचत्वररथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।
चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः॥ १६

पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले।
नदद्विहंगालिकुलकोलाहलजलाशये ॥ १७

हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना ।
चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि ॥ १८

नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः।
आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः॥ १९

यदृच्छयाऽऽगतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम्।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥ २०

पंचशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः।
अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम्॥ २१

सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम्।
समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम्॥ २२

पिशंगनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम्।
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलतीं नूपुरैर्देवतामिव॥ २३

स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ।
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम्॥ २४

उसके महलोंकी फर्शें नीलम, स्फटिक, वैदूर्य, मोती, पन्ने और लालोंकी बनी हुई थीं। अपनी कान्तिके कारण वह नागोंकी राजधानी भोगवतीपुरीके समान जान पड़ता था॥ १५॥ उसमें जहाँ-तहाँ अनेकों सभा-भवन, चौराहे, सड़कें, क्रीडाभवन, बाजार, विश्राम-स्थान, ध्वजा-पताकाएँ और मूँगेके चबूतरे सुशोभित थे॥ १६॥ उस नगरके बाहर दिव्य वृक्ष और लताओंसे पूर्ण एक सुन्दर बाग था; उसके बीचमें एक सरोवर सुशोभित था। उसके आस-पास अनेकों पक्षी भाँति-भाँतिकी बोली बोल रहे थे तथा भौंरे गुंजार कर रहे थे॥ १७॥ सरोवरके तटपर जो वृक्ष थे, उनकी डालियाँ और पत्ते शीतल झरनोंके जलकणोंसे मिली हुई वासन्ती वायुके झकोरोंसे हिल रहे थे और इस प्रकार वे तटवर्ती भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ १८॥ वहाँके वन्य पशु भी मुनिजनोचित अहिंसादि व्रतोंका पालन करनेवाले थे, इसलिये उनसे किसीको कोई कष्ट नहीं पहुँचता था। वहाँ बार-बार जो कोकिलकी कुहू-ध्वनि होती थी, उससे मार्गमें चलनेवाले बटोहियोंको ऐसा भ्रम होता था मानो वह बगीचा विश्राम करनेके लिये उन्हें बुला रहा है॥ १९॥

राजा पुरंजनने उस अद्भुत वनमें घूमते-घूमते एक सुन्दरीको आते देखा, जो अकस्मात् उधर चली आयी थी। उसके साथ दस सेवक थे, जिनमेंसे प्रत्येक सौ-सौ नायिकाओंका पति था॥ २०॥ एक पाँच फनवाला साँप उसका द्वारपाल था, वही उसकी सब ओरसे रक्षा करता था। वह सुन्दरी भोली-भाली किशोरी थी और विवाहके लिये श्रेष्ठ-पुरुषकी खोजमें थी॥ २१॥ उसकी नासिका, दन्तपंक्ति, कपोल और मुख बहुत सुन्दर थे। उसके समान कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे थे॥ २२॥ उसका रंग साँवला था। कटिप्रदेश सुन्दर था। वह पीले रंगकी साड़ी और सोनेकी करधनी पहने हुए थी तथा चलते समय चरणोंसे नूपुरोंकी झनकार करती जाती थी। अधिक क्या, वह साक्षात् कोई देवी-सी जान पड़ती थी॥ २३॥ वह गजगामिनी बाला किशोरावस्थाकी सूचना देनेवाले अपने गोल-गोल समान और परस्पर सटे हुए स्तनोंको लज्जावश बार-बार अंचलसे ढकती जाती थी॥ २४॥

तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम्।
स्निग्धेनापांगपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा॥ २५
का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति।
इमामुपपुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे॥ २६
क एतेऽनुपथा[1] ये त एकादश महाभटाः।
एता वा[2] ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः॥ २७
त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ[3] वाग्रमा[4] पतिं
विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं
क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात्॥ २८
नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्
पुरीमिमां वीरवरेण साकम्।
अर्हस्यलङ्कर्तुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा॥ २९
यदेष मापांगविखण्डितेन्द्रियं
सव्रीडभावस्मितविभ्रमद्भ्रुवा।
त्वयोपसृष्टो भगवान्मनोभवः
प्रबाधतेऽथानुगृहाण[5] शोभने॥ ३०
त्वदाननं सुभ्रु सुतार[6]लोचनं
व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम्[7]।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते॥ ३१

उसकी प्रेमसे मटकती भौंह और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवनके बाणसे घायल होकर वीर पुरंजनने लज्जायुक्त मुसकानसे और भी सुन्दर लगनेवाली उस देवीसे मधुरवाणीमें कहा॥ २५॥ 'कमलदललोचने'! मुझे बताओ तुम कौन हो, किसकी कन्या हो? साध्वी! इस समय आ कहाँसे रही हो, भीरु! इस पुरीके समीप तुम क्या करना चाहती हो?॥ २६॥ सुभ्रु! तुम्हारे साथ इस ग्यारहवें महान् शूरवीरसे संचालित ये दस सेवक कौन हैं और ये सहेलियाँ तथा तुम्हारे आगे-आगे चलनेवाला यह सर्प कौन है?॥ २७॥ सुन्दरि! तुम साक्षात् लज्जादेवी हो अथवा उमा, रमा और ब्रह्माणीमेंसे कोई हो? यहाँ वनमें मुनियोंकी तरह एकान्तवास करके क्या अपने पतिदेवको खोज रही हो? तुम्हारे प्राणनाथ तो 'तुम उनके चरणोंकी कामना करती हो', इतनेसे ही पूर्णकाम हो जायँगे। अच्छा, यदि तुम साक्षात् कमलादेवी हो, तो तुम्हारे हाथका क्रीड़ाकमल कहाँ गिर गया॥ २८॥

सुभगे! तुम इनमेंसे तो कोई हो नहीं; क्योंकि तुम्हारे चरण पृथ्वीका स्पर्श कर रहे हैं। अच्छा, यदि तुम कोई मानवी ही हो, तो लक्ष्मीजी जिस प्रकार भगवान् विष्णुके साथ वैकुण्ठकी शोभा बढ़ाती हैं, उसी प्रकार तुम मेरे साथ इस श्रेष्ठ पुरीको अलंकृत करो। देखो, मैं बड़ा ही वीर और पराक्रमी हूँ॥ २९॥ परंतु आज तुम्हारे कटाक्षोंने मेरे मनको बेकाबू कर दिया है। तुम्हारी लजीली और रतिभावसे भरी मुसकानके साथ भौंहोंके संकेत पाकर यह शक्तिशाली कामदेव मुझे पीड़ित कर रहा है। इसलिये सुन्दरि! अब तुम्हें मुझपर कृपा करनी चाहिये॥ ३०॥ शुचिस्मिते! सुन्दर भौंहें और सुघड़ नेत्रोंसे सुशोभित तुम्हारा मुखारविन्द इन लंबी-लंबी काली अलकावलियोंसे घिरा हुआ है; तुम्हारे मुखसे निकले हुए वाक्य बड़े ही मीठे और मन हरनेवाले हैं, परंतु वह मुख तो लाजके मारे मेरी ओर होता ही नहीं। जरा ऊँचा करके अपने उस सुन्दर मुखड़ेका मुझे दर्शन तो कराओ'॥ ३१॥

१. प्रा० पा०—एते ते पुरोगा ये। २. प्रा० पा०—एताश्च। ३. प्रा० पा०—श्रीर्भवान्य०। ४. प्रा० पा०—वा उमापतिं। ५. प्रा० पा०—ते मानुगृहाण। ६. प्रा० पा०—सुनास०। ७. प्रा० पा०—संकुलम्।

नारद उवाच

इत्थं पुरंजनं नारी याचमानमधीरवत्।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता॥ ३२
न विदाम वयं सम्यक्कर्तारं पुरुषर्षभ।
आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम्॥ ३३
इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम्।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः॥ ३४
एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन् पुरीम्॥ ३५
दिष्ट्याऽऽगतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान् कामानभीप्ससे।
उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम॥ ३६
इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो।
मयोपनीतान् गृह्णानः कामभोगान् शतं समाः॥ ३७
कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम्।
असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं पशुम्॥ ३८
धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः।
लोका विशोका विरजा यान् न केवलिनो विदुः॥ ३९
पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह।
क्षेम्यं[1] वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन् यद् गृहाश्रमः॥ ४०
का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम्।
न वृणीत प्रियं[2] प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम्[3]॥ ४१

श्रीनारदजीने कहा—वीरवर! जब राजा पुरंजनने अधीर-से होकर इस प्रकार याचना की, तब उस बालाने भी हँसते हुए उसका अनुमोदन किया। वह भी राजाको देखकर मोहित हो चुकी थी॥ ३२॥ वह कहने लगी, 'नरश्रेष्ठ! हमें अपने उत्पन्न करनेवालेका ठीक-ठीक पता नहीं है और न हम अपने या किसी दूसरेके नाम या गोत्रको ही जानती हैं॥ ३३॥ वीरवर! आज हम सब इस पुरीमें हैं—इसके सिवा मैं और कुछ नहीं जानती; मुझे इसका भी पता नहीं है कि हमारे रहनेके लिये यह पुरी किसने बनायी है॥ ३४॥ प्रियवर! ये पुरुष मेरे सखा और स्त्रियाँ मेरी सहेलियाँ हैं तथा जिस समय मैं सो जाती हूँ, यह सर्प जागता हुआ इस पुरीकी रक्षा करता रहता है॥ ३५॥ शत्रुदमन! आप यहाँ पधारे, यह मेरे लिये सौभाग्यकी बात है। आपका मंगल हो। आपको विषय-भोगोंकी इच्छा है, उसकी पूर्तिके लिये मैं अपने साथियोंसहित सभी प्रकारके भोग प्रस्तुत करती रहूँगी॥ ३६॥ प्रभो! इस नौ द्वारोंवाली पुरीमें मेरे प्रस्तुत किये हुए इच्छित भोगोंको भोगते हुए आप सैकड़ों वर्षोंतक निवास कीजिये॥ ३७॥ भला, आपको छोड़कर मैं और किसके साथ रमण करूँगी? दूसरे लोग तो न रति सुखको जानते हैं, न विहित भोगोंको ही भोगते हैं, न परलोकका ही विचार करते हैं और न कल क्या होगा—इसका ही ध्यान रखते हैं, अतएव पशुतुल्य हैं॥ ३८॥ अहो! इस लोकमें गृहस्थाश्रममें ही धर्म, अर्थ, काम, सन्तान-सुख, मोक्ष, सुयश और स्वर्गादि दिव्य लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है। संसारत्यागी यतिजन तो इन सबकी कल्पना भी नहीं कर सकते॥ ३९॥ महापुरुषोंका कथन है कि इस लोकमें पितर, देव, ऋषि, मनुष्य तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके और अपने भी कल्याणका आश्रय एकमात्र गृहस्थाश्रम ही है॥ ४०॥ वीरशिरोमणे! लोकमें मेरी-जैसी कौन स्त्री होगी, जो स्वयं प्राप्त हुए आप-जैसे सुप्रसिद्ध, उदारचित्त और सुन्दर पतिको वरण न करेगी॥ ४१॥

१. प्रा० पा०—क्षेमं। २. प्रा० पा०—पतिं। ३. प्रा० पा०—स्वयम्।

कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयोः
स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत-
स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम्॥ ४२

नारद उवाच

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः।
तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः॥ ४३
उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः।
क्रीडन् परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ॥ ४४
सप्तोपरि कृता द्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां यः कश्चनेश्वरः॥ ४५
पंच द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये॥ ४६
खद्योताऽऽविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते।
विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः॥ ४७
नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम्॥ ४८
मुख्या नाम पुरस्ताद् द्वास्तयाऽऽपणबहूदनौ।
विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः॥ ४९
पितृहूर्नृप पुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरंजनः।
राष्ट्रं दक्षिणपंचालं याति श्रुतधरान्वितः॥ ५०
देवहूर्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण पुरंजनः।
राष्ट्रमुत्तरपंचालं याति श्रुतधरान्वितः॥ ५१
आसुरी नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरंजनः।
ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः॥ ५२
निर्ऋतिर्नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरंजनः।
वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः॥ ५३

महाबाहो! इस पृथ्वीपर आपकी साँप-जैसी गोलाकार सुकोमल भुजाओंमें स्थान पानेके लिये किस कामिनीका चित्त न ललचावेगा? आप तो अपनी मधुर मुसकानमयी करुणापूर्ण दृष्टिसे हम-जैसी अनाथाओंके मानसिक सन्तापको शान्त करनेके लिये ही पृथ्वीमें विचर रहे हैं'॥ ४२॥

श्रीनारदजी कहते हैं—राजन्! उन स्त्री-पुरुषोंने इस प्रकार एक-दूसरेकी बातका समर्थन कर फिर सौ वर्षोंतक उस पुरीमें रहकर आनन्द भोगा॥ ४३॥ गायक लोग सुमधुर स्वरमें जहाँ-तहाँ राजा पुरंजनकी कीर्ति गाया करते थे। जब ग्रीष्म-ऋतु आती, तब वह अनेकों स्त्रियोंके साथ सरोवरमें घुसकर जलक्रीड़ा करता॥ ४४॥ उस नगरमें जो नौ द्वार थे, उनमेंसे सात नगरीके ऊपर और दो नीचे थे। उस नगरका जो कोई राजा होता, उसके पृथक्-पृथक् देशोंमें जानेके लिये ये द्वार बनाये गये थे॥ ४५॥ राजन्! इनमेंसे पाँच पूर्व, एक दक्षिण, एक उत्तर और दो पश्चिमकी ओर थे। उनके नामोंका वर्णन करता हूँ॥ ४६॥ पूर्वकी ओर खद्योता और आविर्मुखी नामके दो द्वार एक ही जगह बनाये गये थे। उनमें होकर राजा पुरंजन अपने मित्र द्युमान्के साथ विभ्राजित नामक देशको जाया करता था॥ ४७॥ इसी प्रकार उस ओर नलिनी और नालिनी नामके दो द्वार और भी एक ही जगह बनाये गये थे। उनसे होकर वह अवधूतके साथ सौरभ नामक देशको जाता था॥ ४८॥ पूर्वदिशाकी ओर मुख्या नामका जो पाँचवाँ द्वार था, उसमें होकर वह रसज्ञ और विपणके साथ क्रमशः बहूदन और आपण नामके देशोंको जाता था॥ ४९॥ पुरीके दक्षिणकी ओर जो पितृहू नामका द्वार था, उसमें होकर राजा पुरंजन श्रुतधरके साथ दक्षिणपांचाल देशको जाता था॥ ५०॥ उत्तरकी ओर जो देवहू नामका द्वार था, उससे श्रुतधरके ही साथ वह उत्तरपांचाल देशको जाता था॥ ५१॥ पश्चिम दिशामें आसुरी नामका दरवाजा था, उसमें होकर वह दुर्मदके साथ ग्रामक देशको जाता था॥ ५२॥ तथा निर्ऋति नामका जो दूसरा पश्चिम द्वार था, उससे लुब्धकके साथ वह वैशस नामके देशको जाता था॥ ५३॥

अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ।
अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च॥ ५४

स यर्ह्यन्तःपुरगतो विषूचीनसमन्वितः।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम्॥ ५५

एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत॥ ५६

क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षति॥ ५७

क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदत्यां रुदति क्वचित्।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनु जल्पति॥ ५८

क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनु तिष्ठति।
अनु शेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम्॥ ५९

क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनु पश्यति।
क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित्॥ ६०

क्वचिच्च शोचतीं जायामनुशोचति दीनवत्।
अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते॥ ६१

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवंचितः।
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा॥ ६२

इस नगरके निवासियोंमें निर्वाक् और पेशस्कृत्—ये दो नागरिक अन्धे थे। राजा पुरंजन आँखवाले नागरिकोंका अधिपति होनेपर भी इन्हींकी सहायतासे जहाँ-तहाँ जाता और सब प्रकारके कार्य करता था॥ ५४॥

जब कभी अपने प्रधान सेवक विषूचीनके साथ अन्त:पुरमें जाता, तब उसे स्त्री और पुत्रोंके कारण होनेवाले मोह, प्रसन्नता एवं हर्ष आदि विकारोंका अनुभव होता॥ ५५॥ उसका चित्त तरह-तरहके कर्मोंमें फँसा हुआ था और काम-परवश होनेके कारण वह मूढ़ रमणीके द्वारा ठगा गया था। उसकी रानी जो-जो काम करती थी, वही वह भी करने लगता था॥ ५६॥ वह जब मद्यपान करती, तब वह भी मदिरा पीता और मदसे उन्मत्त हो जाता था; जब वह भोजन करती, तब आप भी भोजन करने लगता और जब कुछ चबाती, तब आप भी वही वस्तु चबाने लगता था॥ ५७॥ इसी प्रकार कभी उसके गानेपर गाने लगता, रोनेपर रोने लगता, हँसनेपर हँसने लगता और बोलनेपर बोलने लगता॥ ५८॥ वह दौड़ती तो आप भी दौड़ने लगता, खड़ी होती तो आप भी खड़ा हो जाता, सोती तो आप भी उसीके साथ सो जाता और बैठती तो आप भी बैठ जाता॥ ५९॥ कभी वह सुनने लगती तो आप भी सुनने लगता, देखती तो देखने लगता, सूँघती तो सूँघने लगता और किसी चीजको छूती तो आप भी छूने लगता॥ ६०॥ कभी उसकी प्रिया शोकाकुल होती तो आप भी अत्यन्त दीनके समान व्याकुल हो जाता; जब वह प्रसन्न होती, आप भी प्रसन्न हो जाता और उसके आनन्दित होनेपर आप भी आनन्दित हो जाता॥ ६१॥ (इस प्रकार) राजा पुरंजन अपनी सुन्दरी रानीके द्वारा ठगा गया। सारा प्रकृतिवर्ग—परिकर ही उसको धोखा देने लगा। वह मूर्ख विवश होकर इच्छा न होनेपर भी खेलके लिये घरपर पाले हुए बंदरके समान अनुकरण करता रहता॥ ६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पुरंजनोपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

राजा पुरंजनका शिकार खेलने वनमें जाना और रानीका कुपित होना

नारद उवाच

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम्।
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम्॥ १

एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम्।
पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम्॥ २

हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः।
एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम्॥ ३

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः॥ ४

आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः।
न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान्॥ ५

तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान् पशून् वने।
यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते॥ ६

य एवं कर्म नियतं विद्वान् कुर्वीत मानवः।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते॥ ७

अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः॥ ८

तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः।
विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम्॥ ९

श्रीनारदजी कहते हैं—राजन्! एक दिन राजा पुरंजन अपना विशाल धनुष, सोनेका कवच और अक्षय तरकस धारणकर अपने ग्यारहवें सेनापतिके साथ पाँच घोड़ोंके शीघ्रगामी रथमें बैठकर पंचप्रस्थ नामके वनमें गया। उस रथमें दो ईषादण्ड (बंब), दो पहिये, एक धुरी, तीन ध्वजदण्ड, पाँच डोरियाँ, एक लगाम, एक सारथि, एक बैठनेका स्थान, दो जुए, पाँच आयुध और सात आवरण थे। वह पाँच प्रकारकी चालोंसे चलता था तथा उसका साज-बाज सब सुनहरा था॥ १-३॥ यद्यपि राजाके लिये अपनी प्रियाको क्षणभर भी छोड़ना कठिन था, किन्तु उस दिन उसे शिकारका ऐसा शौक लगा कि उसकी भी परवा न कर वह बड़े गर्वसे धनुष-बाण चढ़ाकर आखेट करने लगा॥ ४॥ इस समय आसुरीवृत्ति बढ़ जानेसे उसका चित्त बड़ा कठोर और दयाशून्य हो गया था, इससे उसने अपने तीखे बाणोंसे बहुत-से निर्दोष जंगली जानवरोंका वध कर डाला॥ ५॥ जिसकी मांसमें अत्यन्त आसक्ति हो, वह राजा केवल शास्त्रप्रदर्शित कर्मोंके लिये वनमें जाकर आवश्यकतानुसार अनिषिद्ध पशुओंका वध करे; व्यर्थ पशुहिंसा न करे। शास्त्र इस प्रकार उच्छृंखल प्रवृत्तिको नियन्त्रित करता है॥ ६॥ राजन्! जो विद्वान् इस प्रकार शास्त्रनियत कर्मोंका आचरण करता है, वह उस कर्मानुष्ठानसे प्राप्त हुए ज्ञानके कारणभूत कर्मोंसे लिप्त नहीं होता॥ ७॥ नहीं तो, मनमाना कर्म करनेसे मनुष्य अभिमानके वशीभूत होकर कर्मोंमें बँध जाता है तथा गुण-प्रवाहरूप संसारचक्रमें पड़कर विवेक-बुद्धिके नष्ट हो जानेसे अधम योनियोंमें जन्म लेता है॥ ८॥

पुरंजनके तरह-तरहके पंखोंवाले बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर अनेकों जीव बड़े कष्टके साथ प्राण त्यागने लगे। उसका वह निर्दयतापूर्ण जीव-संहार देखकर सभी दयालु पुरुष बहुत दुःखी हुए। वे इसे सह नहीं सके॥ ९॥

शशान् वराहान् महिषान् गवयान् रुरुशल्यकान्।
मेध्यानन्यांश्च विविधान् विनिघ्नन् श्रममध्यगात्॥ १०

ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान्।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः॥ ११

आत्मानमर्हयांचक्रे धूपालेपस्रगादिभिः।
साध्वलङ्कृतसर्वांगो महिष्यामादधे मनः॥ १२

तृप्तो हृष्टः सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम्॥ १३

अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत्।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा॥ १४

न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः।
यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता।
व्यंगे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत्॥ १५

क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे।
या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे॥ १६

रामा ऊचुः

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति।
भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन्॥ १७

नारद उवाच

पुरंजनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि।
तत्संगोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ॥ १८

सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता।
प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भलिंगमात्मनि नाभ्यगात्॥ १९

इस प्रकार वहाँ खरगोश, सूअर, भैंसे, नीलगाय, कृष्णमृग, साही तथा और भी बहुत-से मेध्य पशुओंका वध करते-करते राजा पुरंजन बहुत थक गया॥ १०॥ तब वह भूख-प्याससे अत्यन्त शिथिल हो वनसे लौटकर राजमहलमें आया। वहाँ उसने यथायोग्य रीतिसे स्नान और भोजनसे निवृत्त हो, कुछ विश्राम करके थकान दूर की॥ ११॥ फिर गन्ध, चन्दन और माला आदिसे सुसज्जित हो सब अंगोंमें सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहने। तब उसे अपनी प्रियाकी याद आयी॥ १२॥ वह भोजनादिसे तृप्त, हृदयमें आनन्दित, मदसे उन्मत्त और कामसे व्यथित होकर अपनी सुन्दरी भार्याको ढूँढ़ने लगा; किन्तु उसे वह कहीं भी दिखायी न दी॥ १३॥

प्राचीनबर्हि! तब उसने चित्तमें कुछ उदास होकर अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे पूछा, 'सुन्दरियो! अपनी स्वामिनीके सहित तुम सब पहलेकी ही तरह कुशलसे हो न?॥ १४॥ क्या कारण है आज इस घरकी सम्पत्ति पहले-जैसी सुहावनी नहीं जान पड़ती? घरमें माता अथवा पतिपरायणा भार्या न हो, तो वह घर बिना पहियेके रथके समान हो जाता है; फिर उसमें कौन बुद्धिमान् दीन पुरुषोंके समान रहना पसंद करेगा॥ १५॥ अतः बताओ, वह सुन्दरी कहाँ है, जो दुःख-समुद्रमें डूबनेपर मेरी विवेक-बुद्धिको पद-पदपर जाग्रत् करके मुझे उस संकटसे उबार लेती है?'॥ १६॥

स्त्रियोंने कहा—नरनाथ! मालूम नहीं आज आपकी प्रियाने क्या ठानी है। शत्रुदमन! देखिये, वे बिना बिछौनेके पृथ्वीपर ही पड़ी हुई हैं॥ १७॥

श्रीनारदजी कहते हैं—राजन्! उस स्त्रीके संगसे राजा पुरंजनका विवेक नष्ट हो चुका था; इसलिये अपनी रानीको पृथ्वीपर अस्त-व्यस्त अवस्थामें पड़ी देखकर वह अत्यन्त व्याकुल हो गया॥ १८॥ उसने दुःखित हृदयसे उसे मधुर वचनोंद्वारा बहुत कुछ समझाया, किन्तु उसे अपनी प्रेयसीके अंदर अपने प्रति प्रणय-कोपका कोई चिह्न नहीं दिखायी दिया॥ १९॥

अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः।
पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्संगलालिताम्॥ २०

पुरंजन उवाच

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराःशुभे।
कृतागस्स्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युंजते॥ २१
परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः।
बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः॥ २२
सा त्वं मुखं सुदति सुभ्र्वनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम्।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम्॥ २३
तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि
योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम्।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-
मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात्॥ २४
वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं
संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम्।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम्॥ २५
तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्त्रस्त पौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये॥ २६

वह मनानेमें भी बहुत कुशल था, इसलिये अब पुरंजनने उसे धीरे-धीरे मनाना आरम्भ किया। उसने पहले उसके चरण छूए और फिर गोदमें बिठाकर बड़े प्यारसे कहने लगा॥ २०॥

पुरंजन बोला—सुन्दरि! वे सेवक तो निश्चय ही बड़े अभागे हैं, जिनके अपराध करनेपर स्वामी उन्हें अपना समझकर शिक्षाके लिये उचित दण्ड नहीं देते॥ २१॥ सेवकको दिया हुआ स्वामीका दण्ड तो उसपर बड़ा अनुग्रह ही होता है। जो मूर्ख हैं, उन्हींको क्रोधके कारण अपने हितकारी स्वामीके किये हुए उस उपकारका पता नहीं चलता॥ २२॥ सुन्दर दन्तावली और मनोहर भौंहोंसे शोभा पानेवाली मनस्विनि! अब यह क्रोध दूर करो और एक बार मुझे अपना समझकर प्रणय-भार तथा लज्जासे झुका हुआ एवं मधुर मुसकानमयी चितवनसे सुशोभित अपना मनोहर मुखड़ा दिखाओ। अहो! भ्रमरपंक्तिके समान नीली अलकावली, उन्नत नासिका और सुमधुर वाणीके कारण तुम्हारा वह मुखारविन्द कैसा मनोमोहक जान पड़ता है॥ २३॥ वीरपत्नि! यदि किसी दूसरेने तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो उसे बताओ; यदि वह अपराधी ब्राह्मणकुलका नहीं है, तो मैं उसे अभी दण्ड देता हूँ। मुझे तो भगवान्‌के भक्तोंको छोड़कर त्रिलोकीमें अथवा उससे बाहर ऐसा कोई नहीं दिखायी देता जो तुम्हारा अपराध करके निर्भय और आनन्दपूर्वक रह सके॥ २४॥ प्रिये! मैंने आजतक तुम्हारा मुख कभी तिलकहीन, उदास, मुरझाया हुआ, क्रोधके कारण डरावना, कान्तिहीन और स्नेहशून्य नहीं देखा; और न कभी तुम्हारे सुन्दर स्तनोंको ही शोकाश्रुओंसे भीगा तथा बिम्बाफलसदृश अधरोंको स्निग्ध केसरकी लालीसे रहित देखा है॥ २५॥ मैं व्यसनवश तुमसे बिना पूछे शिकार खेलने चला गया, इसलिये अवश्य अपराधी हूँ। फिर भी अपना समझकर तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ; कामदेवके विषम बाणोंसे अधीर होकर जो सर्वदा अपने अधीन रहता है, उस अपने प्रिय पतिको उचित कार्यके लिये भला कौन कामिनी स्वीकार नहीं करती॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पुरंजनोपाख्याने षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

पुरंजनपुरीपर चण्डवेगकी चढ़ाई तथा कालकन्याका चरित्र

नारद उवाच

इत्थं पुरंजनं सम्यग्वशमानीय विभ्रमैः।
पुरंजनी महाराज रेमे रमयती पतिम्॥ १
स राजा महिषीं राजन् सुस्नातां रुचिराननाम्।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम्॥ २
तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो
रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं
दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः॥ ३
शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः।
तामेव वीरो मनुते परं यत-
स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत्॥ ४
तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः।
क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः॥ ५
तस्यामजनयत्पुत्रान् पुरंजन्यां पुरंजनः।
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात्॥ ६
दुहितॄर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरंजन्यः प्रजापते॥ ७
स पंचालपतिः पुत्रान् पितृवंशविवर्धनान्।
दारैः संयोजयामास दुहितॄः सदृशैर्वरैः॥ ८
पुत्राणां चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतम्।
यैर्वै पौरंजनो वंशः पंचालेषु समेधितः॥ ९
तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोशानुजीविषु।
निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत॥ १०

श्रीनारदजी कहते हैं—महाराज! इस प्रकार वह सुन्दरी अनेकों नखरोंसे पुरंजनको पूरी तरह अपने वशमें कर उसे आनन्दित करती हुई विहार करने लगी॥ १॥ उसने अच्छी तरह स्नान कर अनेक प्रकारके मांगलिक शृंगार किये तथा भोजनादिसे तृप्त होकर वह राजाके पास आयी। राजाने उस मनोहर मुखवाली राजमहिषीका सादर अभिनन्दन किया॥ २॥ पुरंजनीने राजाका आलिंगन किया और राजाने उसे गले लगाया। फिर एकान्तमें मनके अनुकूल रहस्यकी बातें करते हुए वह ऐसा मोहित हो गया कि उस कामिनीमें ही चित्त लगा रहनेके कारण उसे दिन-रातके भेदसे निरन्तर बीतते हुए कालकी दुस्तर गतिका भी कुछ पता न चला॥ ३॥ मदसे छका हुआ मनस्वी पुरंजन अपनी प्रियाकी भुजापर सिर रखे महामूल्य शय्यापर पड़ा रहता। उसे तो वह रमणी ही जीवनका परम फल जान पड़ती थी। अज्ञानसे आवृत्त हो जानेके कारण उसे आत्मा अथवा परमात्माका कोई ज्ञान न रहा॥ ४॥

राजन्! इस प्रकार कामातुर चित्तसे उसके साथ विहार करते-करते राजा पुरंजनकी जवानी आधे क्षणके समान बीत गयी॥ ५॥ प्रजापते! उस पुरंजनीसे राजा पुरंजनके ग्यारह सौ पुत्र और एक सौ दस कन्याएँ हुईं, जो सभी माता-पिताका सुयश बढ़ानेवाली और सुशीलता, उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न थीं। ये पौरंजनी नामसे विख्यात हुईं। इतनेमें ही उस सम्राट्‌की लंबी आयुका आधा भाग निकल गया॥ ६-७॥ फिर पांचालराज पुरंजनने पितृवंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रोंका वधुओंके साथ और कन्याओंका उनके योग्य वरोंके साथ विवाह कर दिया॥ ८॥ पुत्रोंमेंसे प्रत्येकके सौ-सौ पुत्र हुए। उनसे वृद्धिको प्राप्त होकर पुरंजनका वंश सारे पांचाल देशमें फैल गया॥ ९॥ इन पुत्र, पौत्र, गृह, कोश, सेवक और मन्त्री आदिमें दृढ़ ममता हो जानेसे वह इन विषयोंमें ही बँध गया॥ १०॥

ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः।
देवान् पितॄन् भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान्॥ ११

युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः।
आससाद[1] स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम्॥ १२

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम्॥ १३

गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम्॥ १४

ते चण्डवेगानुचराः पुरंजनपुरं[2] यदा।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः॥ १५

स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः।
पुरंजनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली॥ १६

क्षीयमाणे स्वसम्बन्धे एकस्मिन् बहुभिर्युधा।
चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः॥ १७

स एव पुर्यां मधुभुक् पंचालेषु स्वपार्षदैः।
उपनीतं[3] बलिं गृह्णन् स्त्रीजितो नाविदद्भयम्॥ १८

कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन॥ १९

दौर्भाग्येनात्मनो[4] लोके विश्रुता दुर्भगेति सा।
या तुष्टा राजर्षये तु वृतादात्पूरवे वरम्॥ २०

फिर तुम्हारी तरह उसने भी अनेक प्रकारके भोगोंकी कामनासे यज्ञकी दीक्षा ले तरह-तरहके पशुहिंसामय घोर यज्ञोंसे देवता, पितर और भूतपतियोंकी आराधना की॥ ११॥ इस प्रकार वह जीवनभर आत्माका कल्याण करनेवाले कर्मोंकी ओरसे असावधान और कुटुम्बपालनमें व्यस्त रहा। अन्तमें वृद्धावस्थाका वह समय आ पहुँचा, जो स्त्रीलंपट पुरुषोंको बड़ा अप्रिय होता है॥ १२॥

राजन्! चण्डवेग नामका एक गन्धर्वराज है। उसके अधीन तीन सौ साठ महाबलवान् गन्धर्व रहते हैं॥ १३॥ इनके साथ मिथुनभावसे स्थित कृष्ण और शुक्ल वर्णकी उतनी ही गन्धर्वियाँ भी हैं। ये बारी-बारीसे चक्कर लगाकर भोग-विलासकी सामग्रियोंसे भरी-पूरी नगरीको लूटती रहती हैं॥ १४॥ गन्धर्वराज चण्डवेगके उन अनुचरोंने जब राजा पुरंजनका नगर लूटना आरम्भ किया, तब उन्हें पाँच फनके सर्प प्रजागरने रोका॥ १५॥ यह पुरंजनपुरीकी चौकसी करनेवाला महाबलवान् सर्प सौ वर्षतक अकेला ही उन सात सौ बीस गन्धर्वगन्धर्वियोंसे युद्ध करता रहा॥ १६॥ बहुत-से वीरोंके साथ अकेले ही युद्ध करनेके कारण अपने एकमात्र सम्बन्धी प्रजागरको बलहीन हुआ देख राजा पुरंजनको अपने राष्ट्र और नगरमें रहनेवाले अन्य बान्धवोंके सहित बड़ी चिन्ता हुई॥ १७॥ वह इतने दिनोंतक पांचाल देशके उस नगरमें अपने दूतोंद्वारा लाये हुए करको लेकर विषय-भोगोंमें मस्त रहता था। स्त्रीके वशीभूत रहनेके कारण इस अवश्यम्भावी भयका उसे पता ही न चला॥ १८॥

बर्हिष्मन्! इन्हीं दिनों कालकी एक कन्या वरकी खोजमें त्रिलोकीमें भटकती रही, फिर भी उसे किसीने स्वीकार नहीं किया॥ १९॥ वह कालकन्या (जरा) बड़ी भाग्यहीना थी, इसलिये लोग उसे 'दुर्भगा' कहते थे। एक बार राजर्षि पूरुने पिताको अपना यौवन देनेके लिये अपनी ही इच्छासे उसे वर लिया था, इससे प्रसन्न होकर उसने उन्हें राज्यप्राप्तिका वर दिया था॥ २०॥

१. प्रा० पा०—आससादाथ वै। २. प्रा० पा०—पुरीं। ३. प्रा० पा०—उपानीतं। ४. प्रा० पा०—दौर्भगेन।

कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम्।
वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता॥ २१

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम्।
स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने॥ २२

ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम्।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम्॥ २३

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम्।
सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति॥ २४

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति॥ २५

अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु।
एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्तानानुकम्पते॥ २६

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वरः।
चिकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत॥ २७

मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना।
नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्मताम्॥ २८

त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम्।
याहि मे पृतनायुक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि॥ २९

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव।
चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः॥ ३०

एक दिन मैं ब्रह्मलोकसे पृथ्वीपर आया, तो वह घूमती-घूमती मुझे भी मिल गयी। तब मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी कामातुरा होनेके कारण उसने वरना चाहा॥ २१॥ मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। इसपर उसने अत्यन्त कुपित होकर मुझे यह दुःसह शाप दिया कि 'तुमने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, अतः तुम एक स्थानपर अधिक देर न ठहर सकोगे'॥ २२॥

तब मेरी ओरसे निराश होकर उस कन्याने मेरी सम्मतिसे यवनराज भयके पास जाकर उसका पतिरूपसे वरण किया॥ २३॥ और कहा, 'वीरवर! आप यवनोंमें श्रेष्ठ हैं, मैं आपसे प्रेम करती हूँ और पति बनाना चाहती हूँ। आपके प्रति किया हुआ जीवोंका संकल्प कभी विफल नहीं होता॥ २४॥ जो मनुष्य लोक अथवा शास्त्रकी दृष्टिसे देनेयोग्य वस्तुका दान नहीं करता और जो शास्त्रदृष्टिसे अधिकारी होकर भी ऐसा दान नहीं लेता, वे दोनों ही दुराग्रही और मूढ़ हैं, अतएव शोचनीय हैं॥ २५॥ भद्र! इस समय मैं आपकी सेवामें उपस्थित हुई हूँ, आप मुझे स्वीकार करके अनुगृहीत कीजिये। पुरुषका सबसे बड़ा धर्म दीनोंपर दया करना ही है'॥ २६॥

कालकन्याकी बात सुनकर यवनराजने विधाताका एक गुप्त कार्य करानेकी इच्छासे मुसकराते हुए उससे कहा॥ २७॥ 'मैंने योगदृष्टिसे देखकर तेरे लिये एक पति निश्चय किया है। तू सबका अनिष्ट करनेवाली है, इसलिये किसीको भी अच्छी नहीं लगती और इसीसे लोग तुझे स्वीकार नहीं करते। अतः इस कर्मजनित लोकको तू अलक्षित होकर बलात् भोग। तू मेरी सेना लेकर जा; इसकी सहायतासे तू सारी प्रजाका नाश करनेमें समर्थ होगी, कोई भी तेरा सामना न कर सकेगा॥ २८-२९॥ यह प्रज्वार नामका मेरा भाई है और तू मेरी बहिन बन जा। तुम दोनोंके साथ मैं अव्यक्त गतिसे भयंकर सेना लेकर सारे लोकोंमें विचरूँगा'॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पुरंजनोपाख्याने सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

पुरंजनको स्त्रीयोनिकी प्राप्ति और अविज्ञातके उपदेशसे उसका मुक्त होना

नारद उवाच

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन् दिष्टकारिणः।
प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम्॥ १

त एकदा तु रभसा पुरंजनपुरीं नृप।
रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम्॥ २

कालकन्यापि बुभुजे पुरंजनपुरं बलात्।
ययाभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात्॥ ३

तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतोदिशम्।
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन् सकलां पुरीम्॥ ४

तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरंजनः।
[1]अवापोरुविधांस्तापान् कुटुम्बी ममताकुलः॥ ५

कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः।
नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वयवनैर्बलात्॥ ६

विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान्।
पुत्रान् पौत्रानुगामात्याञ्जायां च गतसौहृदाम्॥ ७

आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पंचालानरिदूषितान्।
दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम्॥ ८

कामानभिलषन्दीनो यातयामांश्च कन्यया।
विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन्॥ ९

श्रीनारदजी कहते हैं— राजन्! फिर भय नामक यवनराजके आज्ञाकारी सैनिक प्रज्वार और कालकन्याके साथ इस पृथ्वीतलपर सर्वत्र विचरने लगे॥ १॥ एक बार उन्होंने बड़े वेगसे बूढ़े साँपसे सुरक्षित और संसारकी सब प्रकारकी सुख-सामग्रीसे सम्पन्न पुरंजनपुरीको घेर लिया॥ २॥ तब, जिसके चंगुलमें फँसकर पुरुष शीघ्र ही निःसार हो जाता है, वह कालकन्या बलात् उस पुरीकी प्रजाको भोगने लगी॥ ३॥ उस समय वे यवन भी कालकन्याके द्वारा भोगी जाती हुई उस पुरीमें चारों ओरसे भिन्न-भिन्न द्वारोंसे घुसकर उसका विध्वंस करने लगे॥ ४॥ पुरीके इस प्रकार पीड़ित किये जानेपर उसके स्वामित्वका अभिमान रखनेवाले तथा ममताग्रस्त, बहुकुटुम्बी राजा पुरंजनको भी नाना प्रकारके क्लेश सताने लगे॥ ५॥

कालकन्याके आलिंगन करनेसे उसकी सारी श्री नष्ट हो गयी तथा अत्यन्त विषयासक्त होनेके कारण वह बहुत दीन हो गया, उसकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी। गन्धर्व और यवनोंने बलात् उसका सारा ऐश्वर्य लूट लिया॥ ६॥ उसने देखा कि सारा नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गया है; पुत्र, पौत्र, भृत्य और अमात्यवर्ग प्रतिकूल होकर अनादर करने लगे हैं; स्त्री स्नेहशून्य हो गयी है, मेरी देहको कालकन्याने वशमें कर रखा है और पांचालदेश शत्रुओंके हाथमें पड़कर भ्रष्ट हो गया है। यह सब देखकर राजा पुरंजन अपार चिन्तामें डूब गया और उसे उस विपत्तिसे छुटकारा पानेका कोई उपाय न दिखायी दिया॥ ७-८॥ कालकन्याने जिन्हें निःसार कर दिया था, उन्हीं भोगोंकी लालसासे वह दीन था। अपनी पारलौकिकी गति और बन्धुजनोंके स्नेहसे वंचित रहकर उसका चित्त केवल स्त्री और पुत्रके लालन-पालनमें ही लगा हुआ था॥ ९॥

---

१. प्रा० पा०—आवापो०।

गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम्।
हातुं प्रचक्रमे राजा[1] तां पुरीमनिकामतः॥ १०

भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः।
ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया॥ ११

तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः।
कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः॥ १२

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत॥ १३

न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः।
गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात्॥ १४

शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः।
यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह॥ १५

दुहितॄः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान्[2]।
स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद् गृहकोशपरिच्छदम्॥ १६

अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही।
दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते॥ १७

लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी।
वर्तिष्यते कथं त्वेषा[3] बालकाननुशोचती॥ १८

ऐसी अवस्थामें उनसे बिछुड़नेकी इच्छा न होनेपर भी उसे उस पुरीको छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ा; क्योंकि उसे गन्धर्व और यवनोंने घेर रखा था तथा कालकन्याने कुचल दिया था॥ १० ॥ इतनेमें ही यवनराज भयके बड़े भाई प्रज्वारने अपने भाईका प्रिय करनेके लिये उस सारी पुरीमें आग लगा दी॥ ११ ॥ जब वह नगरी जलने लगी, तब पुरवासी, सेवकवृन्द, सन्तानवर्ग और कुटुम्बकी स्वामिनीके सहित कुटुम्बवत्सल पुरंजनको बड़ा दुःख हुआ॥ १२ ॥ नगरको कालकन्याके हाथमें पड़ा देख उसकी रक्षा करनेवाले सर्पको भी बड़ी पीड़ा हुई, क्योंकि उसके निवासस्थानपर भी यवनोंने अधिकार कर लिया था और प्रज्वार उसपर भी आक्रमण कर रहा था॥ १३ ॥ जब उस नगरकी रक्षा करनेमें वह सर्वथा असमर्थ हो गया, तब जिस प्रकार जलते हुए वृक्षके कोटरमें रहनेवाला सर्प उससे निकल जाना चाहता है, उसी प्रकार उसने भी महान् कष्टसे काँपते हुए वहाँसे भागनेकी इच्छा की॥ १४ ॥ उसके अंग-प्रत्यंग ढीले पड़ गये थे तथा गन्धर्वोंने उसकी सारी शक्ति नष्ट कर दी थी; अतः जब यवन शत्रुओंने उसे जाते देखकर रोक दिया, तब वह दुःखी होकर रोने लगा॥ १५ ॥

गृहासक्त पुरंजन देह-गेहादिमें मैं-मेरेपनका भाव रखनेसे अत्यन्त बुद्धिहीन हो गया था। स्त्रीके प्रेमपाशमें फँसकर वह बहुत दीन हो गया था। अब जब इनसे बिछुड़नेका समय उपस्थित हुआ, तब वह अपने पुत्री, पुत्र, पौत्र, पुत्रवधू, दामाद, नौकर और घर, खजाना तथा अन्यान्य जिन पदार्थोंमें उसकी ममताभर शेष थी (उनका भोग तो कभीका छूट गया था), उन सबके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगा॥ १६-१७ ॥ 'हाय! मेरी भार्या तो बहुत घर-गृहस्थीवाली है; जब मैं परलोकको चला जाऊँगा, तब यह असहाय होकर किस प्रकार अपना निर्वाह करेगी? इसे इन बाल-बच्चोंकी चिन्ता ही खा जायगी॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—राजन् तां पुरीमभिनिकामतः। २. प्रा० पा०—जामातृमित्रपार्षदान्। ३. प्रा० पा०—त्वेका।

न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा।
मयि रुष्टे सुसंत्रस्ता[1] भर्त्सिते यतवाग्भयात्॥ १९

प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता।
वर्त्मैतद् गृहमेधीयं वीरसूरपि[2] नेष्यति॥ २०

कथं नु दारका दीना दारकीर्वापरायणाः।
वर्तिष्यन्ते मयि गते[3] भिन्ननाव इवोदधौ॥ २१

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम्।
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत॥ २२

पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम्।
अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः॥ २३

पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजंगमः।
यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता॥ २४

विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा।
नाविन्दत्तमसाऽऽविष्टः सखायं सुहृदं पुरः॥ २५

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना।
कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत्॥ २६

अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः।
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासंगदूषितः॥ २७

यह मेरे भोजन किये बिना भोजन नहीं करती थी और स्नान किये बिना स्नान नहीं करती थी, सदा मेरी ही सेवामें तत्पर रहती थी। मैं कभी रूठ जाता था तो यह बड़ी भयभीत हो जाती थी और झिड़कने लगता तो डरके मारे चुप रह जाती थी॥ १९॥ मुझसे कोई भूल हो जाती तो यह मुझे सचेत कर देती थी। मुझमें इसका इतना अधिक स्नेह है कि यदि मैं कभी परदेश चला जाता था तो यह विरहव्यथासे सूखकर काँटा हो जाती थी। यों तो यह वीरमाता है, तो भी मेरे पीछे क्या यह गृहस्थाश्रमका व्यवहार चला सकेगी?॥ २०॥ मेरे चले जानेपर एकमात्र मेरे ही सहारे रहनेवाले ये पुत्र और पुत्री भी कैसे जीवन धारण करेंगे? ये तो बीच समुद्रमें नाव टूट जानेसे व्याकुल हुए यात्रियोंके समान बिलबिलाने लगेंगे'॥ २१॥

यद्यपि ज्ञानदृष्टिसे उसे शोक करना उचित न था, फिर भी अज्ञानवश राजा पुरंजन इस प्रकार दीनबुद्धिसे अपने स्त्री-पुत्रादिके लिये शोकाकुल हो रहा था। इसी समय उसे पकड़नेके लिये वहाँ भय नामक यवनराज आ धमका॥ २२॥ जब यवनलोग उसे पशुके समान बाँधकर अपने स्थानको ले चले, तब उसके अनुचरगण अत्यन्त आतुर और शोकाकुल होकर उसके साथ हो लिये॥ २३॥ यवनोंद्वारा रोका हुआ सर्प भी उस पुरीको छोड़कर इन सबके साथ ही चल दिया। उसके जाते ही सारा नगर छिन्न-भिन्न होकर अपने कारणमें लीन हो गया॥ २४॥ इस प्रकार महाबली यवनराजके बलपूर्वक खींचनेपर भी राजा पुरंजनने अज्ञानवश अपने हितैषी एवं पुराने मित्र अविज्ञातका स्मरण नहीं किया॥ २५॥

उस निर्दय राजाने जिन यज्ञपशुओंकी बलि दी थी, वे उसकी दी हुई पीड़ाको याद करके उसे क्रोधपूर्वक कुठारोंसे काटने लगे॥ २६॥ वह वर्षोंतक विवेकहीन अवस्थामें अपार अन्धकारमें पड़ा निरन्तर कष्ट भोगता रहा। स्त्रीकी आसक्तिसे उसकी यह दुर्गति हुई थी॥ २७॥

१. प्रा० पा०—तु संत्र०। २. प्रा० पा०—रभिनेष्यति। ३. प्रा० पा०—मृते।

तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि॥ २८

उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः।
युधि निर्जित्य राजन्यान् पाण्ड्यः परपुरंजयः॥ २९

तस्यां स जनयांचक्र आत्मजामसितेक्षणाम्।
यवीयसः सप्त सुतान् सप्त द्रविडभूभृतः॥ ३०

एकैकस्याभवत्तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम्।
भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम्॥ ३१

अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम्।
यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः॥ ३२

विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः।
आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम्॥ ३३

हित्वा गृहान् सुतान् भोगान् वैदर्भी मदिरेक्षणा।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम्॥ ३४

तत्र चन्द्रवसा नाम ताम्रपर्णी वटोदका।
तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन्॥ ३५

कन्दाष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः।
वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः॥ ३६

शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये।
सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः॥ ३७

तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः॥ ३८

अन्त समयमें भी पुरंजनको उसीका चिन्तन बना हुआ था। इसलिये दूसरे जन्ममें वह नृपश्रेष्ठ विदर्भराजके यहाँ सुन्दरी कन्या होकर उत्पन्न हुआ॥ २८॥ जब यह विदर्भनन्दिनी विवाहयोग्य हुई, तब विदर्भराजने घोषित कर दिया कि इसे सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी वीर ही ब्याह सकेगा। तब शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले पाण्ड्यनरेश महाराज मलयध्वजने समरभूमिमें समस्त राजाओंको जीतकर उसके साथ विवाह किया॥ २९॥ उससे महाराज मलयध्वजने एक श्यामलोचना कन्या और उससे छोटे सात पुत्र उत्पन्न किये, जो आगे चलकर द्रविडदेशके सात राजा हुए॥ ३०॥ राजन्! फिर उनमेंसे प्रत्येक पुत्रके बहुत-बहुत पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके वंशधर इस पृथ्वीको मन्वन्तरके अन्ततक तथा उसके बाद भी भोगेंगे॥ ३१॥ राजा मलयध्वजकी पहली पुत्री बड़ी व्रतशीला थी। उसके साथ अगस्त्य ऋषिका विवाह हुआ। उससे उनके दृढ़च्युत नामका पुत्र हुआ और दृढ़च्युतके इध्मवाह हुआ॥ ३२॥

अन्तमें राजर्षि मलयध्वज पृथ्वीको पुत्रोंमें बाँटकर भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करनेकी इच्छासे मलय पर्वतपर चले गये॥ ३३॥ उस समय—चन्द्रिका जिस प्रकार चन्द्रदेवका अनुसरण करती है—उसी प्रकार मत्तलोचना वैदर्भीने अपने घर, पुत्र और समस्त भोगोंको तिलांजलि दे पाण्ड्यनरेशका अनुगमन किया॥ ३४॥ वहाँ चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी और वटोदका नामकी तीन नदियाँ थीं। उनके पवित्र जलमें स्नान करके वे प्रतिदिन अपने शरीर और अन्तःकरणको निर्मल करते थे॥ ३५॥ वहाँ रहकर उन्होंने कन्द, बीज, मूल, फल, पुष्प, पत्ते, तृण और जलसे ही निर्वाह करते हुए बड़ा कठोर तप किया। इससे धीरे-धीरे उनका शरीर बहुत सूख गया॥ ३६॥ महाराज मलयध्वजने सर्वत्र समदृष्टि रखकर शीत-उष्ण, वर्षा-वायु, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्वोंको जीत लिया॥ ३७॥ तप और उपासनासे वासनाओंको निर्मूल कर तथा यम-नियमादिके द्वारा इन्द्रिय, प्राण और मनको वशमें करके वे आत्मामें ब्रह्मभावना करने लगे॥ ३८॥

आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः।
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम्॥ ३९

स व्यापकतयाऽऽत्मानं व्यतिरिक्ततयाऽऽत्मनि।
विद्वान् स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह॥ ४०

साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम्॥ ४१

परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथाऽऽत्मनि।
वीक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह॥ ४२

पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम्।
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान् सा पतिदेवता॥ ४३

चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा।
बभावुप पतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम्॥ ४४

अजानती प्रियतमं यदोपरतमंगना।
सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत्॥ ४५

यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं पत्युरर्चती।
आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा॥ ४६

आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः।
स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा॥ ४७

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम्।
दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि॥ ४८

इस प्रकार सौ दिव्य वर्षोंतक स्थाणुके समान निश्चलभावसे एक ही स्थानपर बैठे रहे। भगवान् वासुदेवमें सुदृढ़ प्रेम हो जानेके कारण इतने समयतक उन्हें शरीरादिका भी भान न हुआ॥ ३९॥ राजन्! गुरुस्वरूप साक्षात् श्रीहरिके उपदेश किये हुए तथा अपने अन्तःकरणमें सब ओर स्फुरित होनेवाले विशुद्ध विज्ञानदीपकसे उन्होंने देखा कि अन्तःकरणकी वृत्तिका प्रकाशक आत्मा स्वप्नावस्थाकी भाँति देहादि समस्त उपाधियोंमें व्याप्त तथा उनसे पृथक् भी है। ऐसा अनुभव करके वे सब ओरसे उदासीन हो गये॥ ४०-४१॥ फिर अपनी आत्माको परब्रह्ममें और परब्रह्मको आत्मामें अभिन्नरूपसे देखा और अन्तमें इस अभेद चिन्तनको भी त्यागकर सर्वथा शान्त हो गये॥ ४२॥

राजन्! इस समय पतिपरायणा वैदर्भी सब प्रकारके भोगोंको त्यागकर अपने परमधर्मज्ञ पति मलयध्वजकी सेवा बड़े प्रेमसे करती थी॥ ४३॥ वह चीर-वस्त्र धारण किये रहती, व्रत उपवासादिके कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था और सिरके बाल आपसमें उलझ जानेके कारण उनमें लटें पड़ गयी थीं। उस समय अपने पतिदेवके पास वह अंगारभावको प्राप्त धूमरहित अग्निके समीप अग्निकी शान्त शिखाके समान सुशोभित हो रही थी॥ ४४॥ उसके पति परलोकवासी हो चुके थे, परन्तु पूर्ववत् स्थिर आसनसे विराजमान थे। इस रहस्यको न जाननेके कारण वह उनके पास जाकर उनकी पूर्ववत् सेवा करने लगी॥ ४५॥ चरणसेवा करते समय जब उसे अपने पतिके चरणोंमें गरमी बिलकुल नहीं मालूम हुई, तब तो वह झुंडसे बिछुड़ी हुई मृगीके समान चित्तमें अत्यन्त व्याकुल हो गयी॥ ४६॥ उस बीहड़ वनमें अपनेको अकेली और दीन अवस्थामें देखकर वह बड़ी शोकाकुल हुई और आँसुओंकी धारासे स्तनोंको भिगोती हुई बड़े जोर-जोरसे रोने लगी॥ ४७॥ वह बोली, 'राजर्षे! उठिये, उठिये; समुद्रसे घिरी हुई यह वसुन्धरा लुटेरों और अधार्मिक राजाओंसे भयभीत हो रही है, आप इसकी रक्षा कीजिये'॥ ४८॥

एवं विलपती बाला विपिनेऽनुगता पतिम्।
पतिता पादयोर्भर्तू रुदत्यश्रूण्यवर्तयत्॥ ४९
चितिं[1] दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम्।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे॥ ५०
तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान्।
सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो॥ ५१

ब्राह्मण उवाच

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि।
जानासि[2] किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ[3] ह॥ ५२
अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे।
हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः॥ ५३
हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ।
अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान्॥ ५४
स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम्।
विचरन् पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया॥ ५५
पंचारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम्।
षट्कुलं पंचविपणं पंचप्रकृति स्त्रीधवम्॥ ५६
पंचेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसंग्रहः॥ ५७
विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया।
शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते॥ ५८

पतिके साथ वनमें गयी हुई वह अबला इस प्रकार विलाप करती पतिके चरणोंमें गिर गयी और रो-रोकर आँसू बहाने लगी॥ ४९॥ लकड़ियोंकी चिता बनाकर उसने उसपर पतिका शव रखा और अग्नि लगाकर विलाप करते-करते स्वयं सती होनेका निश्चय किया॥ ५०॥ राजन्! इसी समय उसका कोई पुराना मित्र एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आया। उसने उस रोती हुई अबलाको मधुर वाणीसे समझाते हुए कहा॥ ५१॥

ब्राह्मणने कहा—तू कौन है? किसकी पुत्री है? और जिसके लिये तू शोक कर रही है, वह यह सोया हुआ पुरुष कौन है? क्या तुम मुझे नहीं जानती? मैं वही तेरा मित्र हूँ, जिसके साथ तू पहले विचरा करती थी॥ ५२॥ सखे! क्या तुम्हें अपनी याद आती है, किसी समय मैं तुम्हारा अविज्ञात नामका सखा था? तुम पृथ्वीके भोग भोगनेके लिये निवास-स्थानकी खोजमें मुझे छोड़कर चले गये थे॥ ५३॥ आर्य! पहले मैं और तुम एक-दूसरेके मित्र एवं मानसनिवासी हंस थे। हम दोनों सहस्रों वर्षोंतक बिना किसी निवास-स्थानके ही रहे थे॥ ५४॥ किन्तु मित्र! तुम विषयभोगोंकी इच्छासे मुझे छोड़कर यहाँ पृथ्वीपर चले आये! यहाँ घूमते-घूमते तुमने एक स्त्रीका रचा हुआ स्थान देखा॥ ५५॥ उसमें पाँच बगीचे, नौ दरवाजे, एक द्वारपाल, तीन परकोटे, छः वैश्यकुल और पाँच बाजार थे। वह पाँच उपादान-कारणोंसे बना हुआ था और उसकी स्वामिनी एक स्त्री थी॥ ५६॥ महाराज! इन्द्रियोंके पाँच विषय उसके बगीचे थे, नौ इन्द्रिय-छिद्र द्वार थे; तेज, जल और अन्न—तीन परकोटे थे; मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—छः वैश्यकुल थे; क्रियाशक्तिरूप कर्मेन्द्रियाँ ही बाजार थीं; पाँच भूत ही उसके कभी क्षीण न होनेवाले उपादान कारण थे और बुद्धिशक्ति ही उसकी स्वामिनी थी। यह ऐसा नगर था, जिसमें प्रवेश करनेपर पुरुष ज्ञानशून्य हो जाता है—अपने स्वरूपको भूल जाता है॥ ५७-५८॥

१. प्रा० पा०—चिता। २. प्रा० पा०—किं जानासि। ३. प्रा० पा०—विचरेम हि।

तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः।
तत्संगादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो॥ ५९

भाई! उस नगरमें उसकी स्वामिनीके फंदेमें पड़कर उसके साथ विहार करते-करते तुम भी अपने स्वरूपको भूल गये और उसीके संगसे तुम्हारी यह दुर्दशा हुई है ॥ ५९ ॥

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव।
न पतिस्त्वं पुरंजन्या रुद्धो नवमुखे यया॥ ६०

देखो, तुम न तो विदर्भराजकी पुत्री ही हो और न यह वीर मलयध्वज तुम्हारा पति ही। जिसने तुम्हें नौ द्वारोंके नगरमें बंद किया था, उस पुरंजनीके पति भी तुम नहीं हो॥ ६० ॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम्[1]।
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम्॥ ६१

तुम पहले जन्ममें अपनेको पुरुष समझते थे और अब सती स्त्री मानते हो—यह सब मेरी ही फैलायी हुई माया है। वास्तवमें तुम न पुरुष हो न स्त्री। हम दोनों तो हंस हैं; हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसका अनुभव करो॥ ६१ ॥

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥ ६२

मित्र! जो मैं (ईश्वर) हूँ, वही तुम (जीव) हो। तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और तुम विचारपूर्वक देखो, मैं भी वही हूँ जो तुम हो। ज्ञानी पुरुष हम दोनोंमें कभी थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं देखते॥ ६२ ॥

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः॥ ६३

जैसे एक पुरुष अपने शरीरकी परछाईंको शीशेमें और किसी व्यक्तिके नेत्रमें भिन्न-भिन्न रूपसे देखता है वैसे ही—एक ही आत्मा विद्या और अविद्याकी उपाधिके भेदसे अपनेको ईश्वर और जीवके रूपमें दो प्रकारसे देख रहा है॥ ६३ ॥

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम्॥ ६४

इस प्रकार जब हंस (ईश्वर)-ने उसे सावधान किया, तब वह मानसरोवरका हंस (जीव) अपने स्वरूपमें स्थित हो गया और उसे अपने मित्रके विछोहसे भूला हुआ आत्मज्ञान फिर प्राप्त हो गया॥ ६४ ॥

बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम्।
यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः॥ ६५

प्राचीनबर्हि! मैंने तुम्हें परोक्षरूपसे यह आत्मज्ञानका दिग्दर्शन कराया है; क्योंकि जगत्कर्ता जगदीश्वरको परोक्ष वर्णन ही अधिक प्रिय है॥ ६५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पुरंजनोपाख्यानेऽष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

१. प्रा० पा०—ततः।

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

पुरंजनोपाख्यानका तात्पर्य

प्राचीनबर्हिरुवाच

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते।
कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः॥ १

नारद उवाच

पुरुषं पुरंजनं विद्याद्यद् व्यनक्त्यात्मनः पुरम्।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम्॥ २

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः॥ ३

यदा जिघृक्षन् पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान्।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रिं तत्रामनुत साध्विति॥ ४

बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम्।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् पुमान् भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान्॥ ५

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम्।
सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पंचवृत्तिर्यथोरगः॥ ६

बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम्।
पंचालाः पंच विषया यन्मध्ये नवखं पुरम्॥ ७

अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः॥ ८

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—भगवन्! मेरी समझमें आपके वचनोंका अभिप्राय पूरा-पूरा नहीं आ रहा है। विवेकी पुरुष ही इनका तात्पर्य समझ सकते हैं, हम कर्ममोहित जीव नहीं॥ १॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन्! पुरंजन (नगरका निर्माता) जीव है—जो अपने लिये एक, दो, तीन, चार अथवा बहुत पैरोंवाला या बिना पैरोंका शरीररूप पुर तैयार कर लेता है॥ २॥ उस जीवका सखा जो अविज्ञात नामसे कहा गया है, वह ईश्वर है; क्योंकि किसी भी प्रकारके नाम, गुण अथवा कर्मोंसे जीवोंको उसका पता नहीं चलता॥ ३॥ जीवने जब सुख-दुःखरूप सभी प्राकृत विषयोंको भोगनेकी इच्छा की तब उसने दूसरे शरीरोंकी अपेक्षा नौ द्वार, दो हाथ और दो पैरोंवाला मानव-देह ही पसंद किया॥ ४॥ बुद्धि अथवा अविद्याको ही तुम पुरंजनी नामकी स्त्री जानो; इसीके कारण देह और इन्द्रिय आदिमें मैं-मेरेपनका भाव उत्पन्न होता है और पुरुष इसीका आश्रय लेकर शरीरमें इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता है॥ ५॥ दस इन्द्रियाँ ही उसके मित्र हैं, जिनसे कि सब प्रकारके ज्ञान और कर्म होते हैं। इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ ही उसकी सखियाँ और प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानरूप पाँच वृत्तियोंवाला प्राणवायु ही नगरकी रक्षा करनेवाला पाँच फनका सर्प है॥ ६॥ दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके नायक मनको ही ग्यारहवाँ महाबली योद्धा जानना चाहिये। शब्दादि पाँच विषय ही पांचालदेश हैं, जिसके बीचमें वह नौ द्वारोंवाला नगर बसा हुआ है॥ ७॥

उस नगरमें जो एक-एक स्थानपर दो-दो द्वार बताये गये थे—वे दो नेत्रगोलक, दो नासाछिद्र और दो कर्णछिद्र हैं। इनके साथ मुख, लिंग और गुदा—ये तीन और मिलाकर कुल नौ द्वार हैं; इन्हींमें होकर वह जीव इन्द्रियोंके साथ बाह्य विषयोंमें जाता है॥ ८॥

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पंच पुरः कृताः।
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः॥ ९

पश्चिमे इत्यधोद्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते[1]।
खद्योताऽऽविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते।
रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे[2] चक्षुषेश्वरः॥ १०

नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः॥ ११

आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम्।
पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः॥ १२

प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पंचालसंज्ञितम्।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत्॥ १३

आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निर्ऋतिर्गुद उच्यते॥ १४

वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च॥ १५

अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः॥ १६

इसमें दो नेत्रगोलक, दो नासाछिद्र और एक मुख—ये पाँच पूर्वके द्वार हैं; दाहिने कानको दक्षिणका और बायें कानको उत्तरका द्वार समझना चाहिये॥ ९॥ गुदा और लिंग—ये नीचेके दो छिद्र पश्चिमके द्वार हैं। खद्योता और आविर्मुखी नामके जो दो द्वार एक स्थानपर बतलाये थे, वे नेत्रगोलक हैं तथा रूप विभ्राजित नामका देश है, जिसका इन द्वारोंसे जीव चक्षु-इन्द्रियकी सहायतासे अनुभव करता है। (चक्षु-इन्द्रियोंको ही पहले द्युमान् नामका सखा कहा गया है)॥ १०॥ दोनों नासाछिद्र ही नलिनी और नालिनी नामके द्वार हैं और नासिकाका विषय गन्ध ही सौरभ देश है तथा घ्राणेन्द्रिय अवधूत नामका मित्र है। मुख मुख्य नामका द्वार है। उसमें रहनेवाला वागिन्द्रिय विपण है और रसनेन्द्रिय रसविद् (रसज्ञ) नामका मित्र है॥ ११॥ वाणीका व्यापार आपण है और तरह-तरहका अन्न बहूदन है तथा दाहिना कान पितृहू और बायाँ कान देवहू कहा गया है॥ १२॥ कर्मकाण्डरूप प्रवृत्तिमार्गका शास्त्र और उपासनाकाण्डरूप निवृत्तिमार्गका शास्त्र ही क्रमशः दक्षिण और उत्तर पांचाल देश हैं। इन्हें श्रवणेन्द्रियरूप श्रुतधरकी सहायतासे सुनकर जीव क्रमशः पितृयान और देवयान मार्गोंमें जाता है॥ १३॥ लिंग ही आसुरी नामका पश्चिमी द्वार है, स्त्रीप्रसंग ग्रामक नामका देश है और लिंगमें रहनेवाला उपस्थेन्द्रिय दुर्मद नामका मित्र है। गुदा निर्ऋति नामका पश्चिमी द्वार है॥ १४॥ नरक वैशस नामका देश है और गुदामें स्थित पायु-इन्द्रिय लुब्धक नामका मित्र है। इनके सिवा दो पुरुष अंधे बताये गये थे, उनका रहस्य भी सुनो। वे हाथ और पाँव हैं; इन्हींकी सहायतासे जीव क्रमशः सब काम करता और जहाँ-तहाँ जाता है॥ १५॥ हृदय अन्तःपुर है, उसमें रहनेवाला मन ही विषूचि (विषूचीन) नामका प्रधान सेवक है। जीव उस मनके सत्त्वादि गुणोंके कारण ही प्रसन्नता, हर्षरूप विकार अथवा मोहको प्राप्त होता है॥ १६॥

१. प्रा० पा०—मिहोदिते। २. प्रा० पा०—विचक्षे।

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा।
तथा तथोपद्रष्टाऽऽत्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते॥ १७

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सररयोऽगतिः।
द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पंचासुबन्धुरः॥ १८

मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः।
पंचेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः॥ १९

आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति।
एकादशेन्द्रियचमूः पंचसूनाविनोदकृत्॥ २०

संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः।
तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः।
हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम्॥ २१

कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः॥ २२

आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः।
भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः॥ २३

बुद्धि (राजमहिषी पुरंजनी) जिस-जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें विकारको प्राप्त होती है और जाग्रत्-अवस्थामें इन्द्रियादिको विकृत करती है, उसके गुणोंसे लिप्त होकर आत्मा (जीव) भी उसी-उसी रूपमें उसकी वृत्तियोंका अनुकरण करनेको बाध्य होता है—यद्यपि वस्तुतः वह उनका निर्विकार साक्षीमात्र ही है॥ १७॥ शरीर ही रथ है। उसमें ज्ञानेन्द्रियरूप पाँच घोड़े जुते हुए हैं। देखनेमें संवत्सररूप कालके समान ही उसका अप्रतिहत वेग है, वास्तवमें वह गतिहीन है। पुण्य और पाप—ये दो प्रकारके कर्म ही उसके पहिये हैं, तीन गुण ध्वजा हैं, पाँच प्राण डोरियाँ हैं॥ १८॥ मन बागडोर है, बुद्धि सारथि है, हृदय बैठनेका स्थान है, सुख-दुःखादि द्वन्द्व जुए हैं, इन्द्रियोंके पाँच विषय उसमें रखे हुए आयुध हैं और त्वचा आदि सात धातुएँ उसके आवरण हैं॥ १९॥ पाँच कर्मेन्द्रियाँ उसकी पाँच प्रकारकी गति हैं। इस रथपर चढ़कर रथीरूप यह जीव मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ता है। ग्यारह इन्द्रियाँ उसकी सेना हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको अन्यायपूर्वक ग्रहण करना ही उसका शिकार खेलना है॥ २०॥

जिसके द्वारा कालका ज्ञान होता है, वह संवत्सर ही चण्डवेग नामक गन्धर्वराज है। उसके अधीन जो तीन सौ साठ गन्धर्व बताये गये थे, वे दिन हैं और तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ रात्रि हैं। ये बारी-बारीसे चक्कर लगाते हुए मनुष्यकी आयुको हरते रहते हैं॥ २१॥ वृद्धावस्था ही साक्षात् कालकन्या है, उसे कोई भी पुरुष पसंद नहीं करता। तब मृत्युरूप यवनराजने लोकका संहार करनेके लिये उसे बहिन मानकर स्वीकार कर लिया॥ २२॥ आधि (मानसिक क्लेश) और व्याधि (रोगादि शारीरिक कष्ट) ही उस यवनराजके पैदल चलनेवाले सैनिक हैं तथा प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर शीघ्र ही मृत्युके मुखमें ले जानेवाला शीत और उष्ण दो प्रकारका ज्वर ही प्रज्वार नामका उसका भाई है॥ २३॥

एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः।
क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः॥ २४

प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः।
शेते कामलवान्ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत्॥ २५

यदाऽऽत्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक्॥ २६

गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा[1] यथाकर्माभिजायते॥ २७

शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति[2] कर्हिचित्।
दुःखोदर्कान् क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान् क्वचित्॥ २८

क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं[3] भवः॥ २९

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा॥ ३०

तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन्।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम्॥ ३१

दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया॥ ३२

इस प्रकार यह देहाभिमानी जीव अज्ञानसे आच्छादित होकर अनेक प्रकारके आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक कष्ट भोगता हुआ सौ वर्षतक मनुष्यशरीरमें पड़ा रहता है॥ २४॥ वस्तुतः तो वह निर्गुण है, किन्तु प्राण, इन्द्रिय और मनके धर्मोंको अपनेमें आरोपित कर मैं-मेरेपनके अभिमानसे बँधकर क्षुद्र विषयोंका चिन्तन करता हुआ तरह-तरहके कर्म करता रहता है॥ २५॥ यह यद्यपि स्वयंप्रकाश है, तथापि जबतक सबके परमगुरु आत्मस्वरूप श्रीभगवान्‌के स्वरूपको नहीं जानता, तबतक प्रकृतिके गुणोंमें ही बँधा रहता है॥ २६॥ उन गुणोंका अभिमानी होनेसे वह विवश होकर सात्त्विक, राजस और तामस कर्म करता है तथा उन कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है॥ २७॥ वह कभी तो सात्त्विक कर्मोंके द्वारा प्रकाशबहुल स्वर्गादि लोक प्राप्त करता है, कभी राजसी कर्मोंके द्वारा दुःखमय रजोगुणी लोकोंमें जाता है—जहाँ उसे तरह-तरहके कर्मोंका क्लेश उठाना पड़ता है—और कभी तमोगुणी कर्मोंके द्वारा शोकबहुल तमोमयी योनियोंमें जन्म लेता है॥ २८॥ इस प्रकार अपने कर्म और गुणोंके अनुसार देवयोनि, मनुष्ययोनि अथवा पशु-पक्षीयोनिमें जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक होता है॥ २९॥ जिस प्रकार बेचारा भूखसे व्याकुल कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं डंडा खाता है और कहीं भात खाता है, उसी प्रकार यह जीव चित्तमें नाना प्रकारकी वासनाओंको लेकर ऊँचे-नीचे मार्गसे ऊपर, नीचे अथवा मध्यके लोकोंमें भटकता हुआ अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता रहता है॥ ३०-३१॥

आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे किसी भी एकसे जीवका सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकता। यदि कभी वैसा जान पड़ता है तो वह केवल तात्कालिक निवृत्ति ही है॥ ३२॥

१. प्रा० पा०—च यथा समभिजायते। २. प्रा० पा०—ल्लोकान् प्राप्नोति। ३. प्रा० पा०—कर्तृगुणं।

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः॥ ३३

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम्।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ॥ ३४

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
मनसा लिंगरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा॥ ३५

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा।
संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ॥ ३६

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति॥ ३७

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः॥ ३८

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः।
भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः॥ ३९

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥ ४०

वह ऐसी ही है जैसे कोई सिरपर भारी बोझा ढोकर ले जानेवाला पुरुष उसे कंधेपर रख ले। इसी तरह सभी प्रतिक्रिया (दुःखनिवृत्ति) जाननी चाहिये—यदि किसी उपायसे मनुष्य एक प्रकारके दुःखसे छुट्टी पाता है, तो दूसरा दुःख आकर उसके सिरपर सवार हो जाता है॥ ३३॥ शुद्धहृदय नरेन्द्र! जिस प्रकार स्वप्नमें होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्नसे सर्वथा छूटनेका उपाय नहीं है, उसी प्रकार कर्मफल-भोगसे सर्वथा छूटनेका उपाय केवल कर्म नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म और कर्मफलभोग दोनों ही अविद्यायुक्त होते हैं॥ ३४॥ जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें अपने मनोमय लिंगशरीरसे विचरनेवाले प्राणीको स्वप्नके पदार्थ न होनेपर भी भासते हैं, उसी प्रकार ये दृश्यपदार्थ वस्तुतः न होनेपर भी, जबतक अज्ञान-निद्रा नहीं टूटती, बने ही रहते हैं और जीवको जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्ति नहीं मिलती। (अतः इनकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय एकमात्र आत्म-ज्ञान ही है)॥ ३५॥

राजन्! जिस अविद्याके कारण परमार्थस्वरूप आत्माको यह जन्म-मरणरूप अनर्थपरम्परा प्राप्त हुई है, उसकी निवृत्ति गुरुस्वरूप श्रीहरिमें सुदृढ़ भक्ति होनेपर हो सकती है॥ ३६॥ भगवान् वासुदेवमें एकाग्रतापूर्वक सम्यक् प्रकारसे किया हुआ भक्तिभाव ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव कर देता है॥ ३७॥ राजर्षे! यह भक्तिभाव भगवान्‌की कथाओंके आश्रित रहता है। इसलिये जो श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रतिदिन सुनता या पढ़ता है, उसे बहुत शीघ्र इसकी प्राप्ति हो जाती है॥ ३८॥ राजन्! जहाँ भगवद्‌गुणोंको कहने और सुननेमें तत्पर विशुद्धचित्त भक्तजन रहते हैं, उस साधु-समाजमें सब ओर महापुरुषोंके मुखसे निकले हुए श्रीमधुसूदनभगवान्‌के चरित्ररूप शुद्ध अमृतकी अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं। जो लोग अतृप्त-चित्तसे श्रवणमें तत्पर अपने कर्णकुहरोंद्वारा उस अमृतका छककर पान करते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय, शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते॥ ३९-४०॥

एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम्॥ ४१

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः॥ ४२

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः॥ ४३

अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम्॥ ४४

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम्॥ ४५

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ ४६

तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु॥ ४७

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः॥ ४८

आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कात्स्न्र्येन क्षितिमण्डलम्।
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम्।
तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया॥ ४९

हाय! स्वभावतः प्राप्त होनेवाले इन क्षुधा-पिपासादि विघ्नोंसे सदा घिरा हुआ जीव-समुदाय श्रीहरिके कथामृत-सिन्धुसे प्रेम नहीं करता॥ ४१॥ साक्षात् प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजी, भगवान् शंकर, स्वायम्भुव मनु, दक्षादि प्रजापतिगण, सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ और मैं—ये जितने ब्रह्मवादी मुनिगण हैं, समस्त वाङ्मयके अधिपति होनेपर भी तप, उपासना और समाधिके द्वारा ढूँढ़-ढूँढ़कर हार गये, फिर भी उस सर्वसाक्षी परमेश्वरको आजतक न देख सके॥ ४२—४४॥ वेद भी अत्यन्त विस्तृत हैं, उसका पार पाना हँसी-खेल नहीं है। अनेकों महानुभाव उसकी आलोचना करके मन्त्रोंमें बताये हुए वज्र-हस्तत्वादि गुणोंसे युक्त इन्द्रादि देवताओंके रूपमें, भिन्न-भिन्न कर्मोंके द्वारा, यद्यपि उस परमात्माका ही यजन करते हैं तथापि उसके स्वरूपको वे भी नहीं जानते॥ ४५॥ हृदयमें बार-बार चिन्तन किये जानेपर भगवान् जिस समय जिस जीवपर कृपा करते हैं, उसी समय वह लौकिक व्यवहार एवं वैदिक कर्म-मार्गकी बद्धमूल आस्थासे छुट्टी पा जाता है॥ ४६॥

बर्हिष्मन्! तुम इन कर्मोंमें परमार्थबुद्धि मत करो। ये सुननेमें ही प्रिय जान पड़ते हैं, परमार्थका तो स्पर्श भी नहीं करते। ये जो परमार्थवत् दीख पड़ते हैं, इसमें केवल अज्ञान ही कारण है॥ ४७॥ जो मलिनमति कर्मवादी लोग वेदको कर्मपरक बताते हैं, वे वास्तवमें उसका मर्म नहीं जानते। इसका कारण यही है कि वे अपने स्वरूपभूत लोक (आत्मतत्त्व)-को नहीं जानते, जहाँ साक्षात् श्रीजनार्दन भगवान् विराजमान हैं॥ ४८॥ पूर्वकी ओर अग्रभागवाले कुशाओंसे सम्पूर्ण भूमण्डलको आच्छादित करके अनेकों पशुओंका वध करनेसे तुम बड़े कर्माभिमानी और उद्धत हो गये हो; किन्तु वास्तवमें तुम्हें कर्म या उपासना—किसीके भी रहस्यका पता नहीं है। वास्तवमें कर्म तो वही है, जिससे श्रीहरिको प्रसन्न किया जा सके और विद्या भी वही है, जिससे भगवान्में चित्त लगे॥ ४९॥

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह॥ ५०

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥ ५१

नारद उवाच

प्रश्न एवं हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ।
अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम्॥ ५२

क्षुद्रंचरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम्।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम्॥ ५३

[अस्यार्थः]

सुमनःसधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगण-सामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरा-मतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान्[1] काललव-विशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत[2] एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तःशरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन् भिन्न-हृदयं द्रष्टुमर्हसीति॥ ५४॥

श्रीहरि सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा, नियामक और स्वतन्त्र कारण हैं; अतः उनके चरणतल ही मनुष्योंके एकमात्र आश्रय हैं और उन्हींसे संसारमें सबका कल्याण हो सकता है॥ ५०॥ 'जिससे किसीको अणुमात्र भी भय नहीं होता, वही उसका प्रियतम आत्मा है' ऐसा जो पुरुष जानता है, वही ज्ञानी है और जो ज्ञानी है, वही गुरु एवं साक्षात् श्रीहरि है॥ ५१॥

श्रीनारदजी कहते हैं—पुरुषश्रेष्ठ! यहाँतक जो कुछ कहा गया है, उससे तुम्हारे प्रश्नका उत्तर हो गया। अब मैं एक भलीभाँति निश्चित किया हुआ गुप्त साधन बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो॥ ५२॥ 'पुष्पवाटिकामें अपनी हरिनीके साथ विहार करता हुआ एक हरिन मस्त घूम रहा है, वह दूब आदि छोटे-छोटे अंकुरोंको चर रहा है। उसके कान भौंरोंके मधुर गुंजारमें लग रहे हैं। उसके सामने ही दूसरे जीवोंको मारकर अपना पेट पालनेवाले भेड़िये ताक लगाये खड़े हैं और पीछेसे शिकारी व्याधने बींधनेके लिये उसपर बाण छोड़ दिया है। परन्तु हरिन इतना बेसुध है कि उसे इसका कुछ भी पता नहीं है।' एक बार इस हरिनकी दशापर विचार करो॥ ५३॥

राजन्! इस रूपकका आशय सुनो। यह मृतप्राय हरिन तुम्हीं हो, तुम अपनी दशापर विचार करो। पुष्पोंकी तरह ये स्त्रियाँ केवल देखनेमें सुन्दर हैं, इन स्त्रियोंके रहनेका घर ही पुष्पवाटिका है। इसमें रहकर तुम पुष्पोंके मधु और गन्धके समान क्षुद्र सकाम कर्मोंके फलरूप, जीभ और जननेन्द्रियको प्रिय लगनेवाले भोजन तथा स्त्रीसंग आदि तुच्छ भोगोंको ढूँढ़ रहे हो। स्त्रियोंसे घिरे रहते हो और अपने मनको तुमने उन्हींमें फँसा रखा है। स्त्री-पुत्रोंका मधुर भाषण ही भौंरोंका मधुर गुंजार है, तुम्हारे कान उसीमें अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं। सामने ही भेड़ियोंके झुंडके समान कालके अंश दिन और रात तुम्हारी आयुको हर रहे हैं, परन्तु तुम उनकी कुछ भी परवा न कर गृहस्थीके सुखोंमें मस्त हो रहे हो। तुम्हारे पीछे गुप-चुप लगा हुआ शिकारी काल अपने छिपे हुए बाणसे तुम्हारे हृदयको दूरसे ही बींध डालना चाहता है॥ ५४॥

१. प्रा० पा०—रात्रादीन्कालविशेषान्विगणय्य। २. प्रा० पा०—पृष्ठतः परोक्षमनु।

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते।
जह्यंगनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण॥ ५५

इस प्रकार अपनेको मृगकी-सी स्थितिमें देखकर तुम अपने चित्तको हृदयके भीतर निरुद्ध करो और नदीकी भाँति प्रवाहित होनेवाली श्रवणेन्द्रियकी बाह्य वृत्तिको चित्तमें स्थापित करो (अन्तर्मुखी करो)। जहाँ कामी पुरुषोंकी चर्चा होती रहती है, उस गृहस्थाश्रमको छोड़कर परमहंसोंके आश्रय श्रीहरिको प्रसन्न करो और क्रमशः सभी विषयोंसे विरत हो जाओ॥ ५५॥

राजोवाच

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन् भगवान् यदभाषत।
नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि॥ ५६

संशयोऽत्र तु मे विप्र संछिन्नस्तत्कृतो महान्।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः॥ ५७

कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम्।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते॥ ५८

इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह।
कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते॥ ५९

राजा प्राचीनबर्हिने कहा— भगवन्! आपने कृपा करके मुझे जो उपदेश दिया, उसे मैंने सुना और उसपर विशेषरूपसे विचार भी किया। मुझे कर्मका उपदेश देनेवाले इन आचार्योंको निश्चय ही इसका ज्ञान नहीं है; यदि ये इस विषयको जानते तो मुझे इसका उपदेश क्यों न करते॥ ५६॥ विप्रवर! मेरे उपाध्यायोंने आत्मतत्त्वके विषयमें मेरे हृदयमें जो महान् संशय खड़ा कर दिया था, उसे आपने पूरी तरहसे काट दिया। इस विषयमें इन्द्रियोंकी गति न होनेके कारण मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंको भी मोह हो जाता है॥ ५७॥ वेदवादियोंका कथन जगह-जगह सुना जाता है कि 'पुरुष इस लोकमें जिसके द्वारा कर्म करता है, उस स्थूलशरीरको यहीं छोड़कर परलोकमें कर्मोंसे ही बने हुए दूसरी देहसे उनका फल भोगता है। किन्तु यह बात कैसे हो सकती है?' (क्योंकि उन कर्मोंका कर्ता स्थूलशरीर तो यहीं नष्ट हो जाता है।) इसके सिवा जो-जो कर्म यहाँ किये जाते हैं, वे तो दूसरे ही क्षणमें अदृश्य हो जाते हैं; वे परलोकमें फल देनेके लिये किस प्रकार पुनः प्रकट हो सकते हैं?॥ ५८-५९॥

नारद उवाच

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान्।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिंगेन मनसा स्वयम्॥ ६०

श्रीनारदजीने कहा— राजन्! (स्थूल शरीर तो लिंगशरीरके अधीन है, अतः कर्मोंका उत्तरदायित्व उसीपर है) जिस मनःप्रधान लिंगशरीरकी सहायतासे मनुष्य कर्म करता है, वह तो मरनेके बाद भी उसके साथ रहता ही है; अतः वह परलोकमें अपरोक्षरूपसे स्वयं उसीके द्वारा उनका फल भोगता है॥ ६०॥

शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा॥ ६१

स्वप्नावस्थामें मनुष्य इस जीवित शरीरका अभिमान तो छोड़ देता है, किन्तु इसीके समान अथवा इससे भिन्न प्रकारके पशु-पक्षी आदि शरीरसे वह मनमें संस्काररूपसे स्थित कर्मोंका फल भोगता रहता है॥ ६१॥

ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन्।
गृह्णीयात्तत्पुमान् राद्धं कर्म येन पुनर्भवः॥ ६२

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः॥ ६३

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम्।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि॥ ६४

तेनास्य तादृशं राजँल्लिंगिनो देहसम्भवम्।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति॥ ६५

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥ ६६

अदृष्टमश्रुतं चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते।
यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम्[१]॥ ६७

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः।
आयान्ति वर्गशो[२] यान्ति सर्वे समनसो जनाः॥ ६८

इस मनके द्वारा जीव जिन स्त्री-पुत्रादिको 'ये मेरे हैं' और देहादिको 'यह मैं हूँ' ऐसा कहकर मानता है, उनके किये हुए पाप-पुण्यादिरूप कर्मोंको भी यह अपने ऊपर ले लेता है और उनके कारण इसे व्यर्थ ही फिर जन्म लेना पड़ता है॥ ६२॥ जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनोंकी चेष्टाओंसे उनके प्रेरक चित्तका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार चित्तकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी वृत्तियोंसे पूर्वजन्मके कर्मोंका भी अनुमान होता है (अतः कर्म अदृष्टरूपसे फल देनेके लिये कालान्तरमें मौजूद रहते हैं)॥ ६३॥ कभी-कभी देखा जाता है कि जिस वस्तुका इस शरीरसे कभी अनुभव नहीं किया—जिसे न कभी देखा, न सुना ही—उसका स्वप्नमें, वह जैसी होती है, वैसा ही अनुभव हो जाता है॥ ६४॥ राजन्! तुम निश्चय मानो कि लिंगदेहके अभिमानी जीवको उसका अनुभव पूर्वजन्ममें हो चुका है; क्योंकि जो वस्तु पहले अनुभव की हुई नहीं होती, उसकी मनमें वासना भी नहीं हो सकती॥ ६५॥

राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। मन ही मनुष्यके पूर्वरूपोंको तथा भावी शरीरादिको भी बता देता है और जिनका भावी जन्म होनेवाला नहीं होता, उन तत्त्व-वेत्ताओंकी विदेहमुक्तिका पता भी उनके मनसे ही लग जाता है॥ ६६॥ कभी-कभी स्वप्नमें देश, काल अथवा क्रियासम्बन्धी ऐसी बातें भी देखी जाती हैं, जो पहले कभी देखी या सुनी नहीं गयीं (जैसे पर्वतकी चोटीपर समुद्र, दिनमें तारे अथवा अपना सिर कटा दिखायी देना, इत्यादि)। इनके दीखनेमें निद्रादोषको ही कारण मानना चाहिये॥ ६७॥ मनके सामने इन्द्रियोंसे अनुभव होनेयोग्य पदार्थ ही भोगरूपमें बार-बार आते हैं और भोग समाप्त होनेपर चले जाते हैं; ऐसा कोई पदार्थ नहीं आता, जिसका इन्द्रियोंसे अनुभव ही न हो सके। इसका कारण यही है कि सब जीव मनसहित हैं॥ ६८॥

१. प्रा० पा०—बलाश्रयम्। २. प्रा० पा०—बहुशो।

सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते[१] ॥ ६९

नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते।
यावद् बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान्॥ ७०

सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि॥ ७१

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा[२]।
लिंगं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा॥ ७२

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ७३

एवं पंचविधं लिंगं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥ ७४

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते[३] विमुंचति।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति॥ ७५

साधारणतया तो सब पदार्थोंका क्रमशः ही भान होता है; किन्तु यदि किसी समय भगवच्चिन्तनमें लगा हुआ मन विशुद्ध सत्त्वमें स्थित हो जाय, तो उसमें भगवान्‌का संसर्ग होनेसे एक साथ समस्त विश्वका भी भान हो सकता है—जैसे राहु दृष्टिका विषय न होनेपर भी प्रकाशात्मक चन्द्रमाके संसर्गसे दीखने लगता है॥ ६९॥ राजन्! जबतक गुणोंका परिणाम एवं बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शब्दादि विषयोंका संघात यह अनादि लिंगदेह बना हुआ है, तबतक जीवके अंदर स्थूलदेहके प्रति 'मैं-मेरा' इस भावका अभाव नहीं हो सकता॥ ७०॥ सुषुप्ति, मूर्च्छा, अत्यन्त दुःख तथा मृत्यु और तीव्र ज्वरादिके समय भी इन्द्रियोंकी व्याकुलताके कारण 'मैं' और 'मेरेपन' की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती; किन्तु उस समय भी उनका अभिमान तो बना ही रहता है॥ ७१॥ जिस प्रकार अमावास्याकी रात्रिमें चन्द्रमा रहते हुए भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार युवावस्थामें स्पष्ट प्रतीत होनेवाला यह एकादश इन्द्रियविशिष्ट लिंगशरीर गर्भावस्था और बाल्यकालमें रहते हुए भी इन्द्रियोंका पूर्ण विकास न होनेके कारण प्रतीत नहीं होता॥ ७२॥ जिस प्रकार स्वप्नमें किसी वस्तुका अस्तित्व न होनेपर भी जागे बिना स्वप्नजनित अनर्थकी निवृत्ति नहीं होती—उसी प्रकार सांसारिक वस्तुएँ यद्यपि असत् हैं, तो भी अविद्यावश जीव उनका चिन्तन करता रहता है; इसलिये उसका जन्म-मरणरूप संसारसे छुटकारा नहीं हो पाता॥ ७३॥

इस प्रकार पंचतन्मात्राओंसे बना हुआ तथा सोलह तत्त्वोंके रूपमें विकसित यह त्रिगुणमय संघात ही लिंगशरीर है। यही चेतनाशक्तिसे युक्त होकर जीव कहा जाता है॥ ७४॥ इसीके द्वारा पुरुष भिन्न-भिन्न देहोंको ग्रहण करता और त्यागता है तथा इसीसे उसे हर्ष, शोक, भय, दुःख और सुख आदिका अनुभव होता है॥ ७५॥

१. प्रा० पा०—वेह उप०। २. प्रा० पा०—तथा। ३. प्रा० पा०—देहमुपादत्ते।

यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥ ७६

यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम्।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम्॥ ७७

यदाक्षैश्चरितान् ध्यायन् कर्माण्याचिनुतेऽसकृत्।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः ॥ ७८

अतस्तदपवादार्थं[१] भज सर्वात्मना हरिम्।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥ ७९

मैत्रेय उवाच

भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम्।
प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य[२] सिद्धलोकं ततोऽगमत्॥ ८०

प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे।
आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम्॥ ८१

तत्रैकाग्रमना वीरो गोविन्दचरणाम्बुजम्।
विमुक्तसंगोऽनुभजन् भक्त्या तत्साम्यतामगात्॥ ८२

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ।
यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिंगेन विमुच्यते ॥ ८३

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम्।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः ॥ ८४

जिस प्रकार जोंक, जबतक दूसरे तृणको नहीं पकड़ लेती, तबतक पहलेको नहीं छोड़ती—उसी प्रकार जीव मरणकाल उपस्थित होनेपर भी जबतक देहारम्भक कर्मोंकी समाप्ति होनेपर दूसरा शरीर प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक पहले शरीरके अभिमानको नहीं छोड़ता। राजन्! यह मनःप्रधान लिंगशरीर ही जीवके जन्मादिका कारण है॥ ७६-७७ ॥

जीव जब इन्द्रियजनित भोगोंका चिन्तन करते हुए बार-बार उन्हींके लिये कर्म करता है, तब उन कर्मोंके होते रहनेसे अविद्यावश वह देहादिके कर्मोंमें बँध जाता है॥ ७८ ॥ अतएव उस कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये सम्पूर्ण विश्वको भगवद्रूप देखते हुए सब प्रकार श्रीहरिका भजन करो। उन्हींसे इस विश्वकी उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा उन्हींमें लय होता है॥ ७९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! भक्तश्रेष्ठ श्रीनारदजीने राजा प्राचीनबर्हिको जीव और ईश्वरके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया। फिर वे उनसे विदा लेकर सिद्धलोकको चले गये॥ ८० ॥ तब राजर्षि प्राचीनबर्हि भी प्रजापालनका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर तपस्या करनेके लिये कपिलाश्रमको चले गये॥ ८१ ॥ वहाँ उन वीरवरने समस्त विषयोंकी आसक्ति छोड़ एकाग्र मनसे भक्तिपूर्वक श्रीहरिके चरणकमलोंका चिन्तन करते हुए सारूप्यपद प्राप्त किया॥ ८२ ॥

निष्पाप विदुरजी! देवर्षि नारदके परोक्षरूपसे कहे हुए इस आत्मज्ञानको जो पुरुष सुनेगा या सुनायेगा, वह शीघ्र ही लिंगदेहके बन्धनसे छूट जायगा॥ ८३ ॥ देवर्षि नारदके मुखसे निकला हुआ यह आत्मज्ञान भगवान् मुकुन्दके यशसे सम्बद्ध होनेके कारण त्रिलोकीको पवित्र करनेवाला, अन्तःकरणका शोधक तथा परमात्मपदको प्रकाशित करनेवाला है। जो पुरुष इसकी कथा सुनेगा, वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जायगा और फिर उसे इस संसार-चक्रमें नहीं भटकना पड़ेगा॥ ८४ ॥

१. प्रा० पा०—तदपबाधार्थं। २. प्रा० पा०—नृपमा०।

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम्।
एवं स्त्रियाऽऽश्रमः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः॥ ८५

विदुरजी! गृहस्थाश्रमी पुरंजनके रूपकसे परोक्षरूपमें कहा हुआ यह अद्भुत आत्मज्ञान मैंने गुरुजीकी कृपासे प्राप्त किया था। इसका तात्पर्य समझ लेनेसे बुद्धियुक्त जीवका देहाभिमान निवृत्त हो जाता है तथा उसका 'परलोकमें जीव किस प्रकार कर्मोंका फल भोगता है' यह संशय भी मिट जाता है॥ ८५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे प्राचीनबर्हिर्नारदसंवादो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥*

अथ त्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको श्रीविष्णुभगवान्‌का वरदान

विदुर उवाच

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन् सुताः प्राचीनबर्हिषः।
ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम्॥ १

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ
कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः।
आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया
प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः॥ २

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! आपने राजा प्राचीनबर्हिके जिन पुत्रोंका वर्णन किया था, उन्होंने रुद्रगीतके द्वारा श्रीहरिकी स्तुति करके क्या सिद्धि प्राप्त की?॥ १॥ बार्हस्पत्य! मोक्षाधिपति श्रीनारायणके अत्यन्त प्रिय भगवान् शंकरका अकस्मात् सान्निध्य प्राप्त करके प्रचेताओंने मुक्ति तो प्राप्त की ही होगी; इससे पहले इस लोकमें अथवा परलोकमें भी उन्होंने क्या पाया—वह बतलानेकी कृपा करें॥ २॥

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः।
जपयज्ञेन तपसा पुरंजनमतोषयन्॥ ३

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः।
तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा॥ ४

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृंगमिवाम्बुदः।
पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन् वितिमिरा दिशः॥ ५

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! पिताके आज्ञाकारी प्रचेताओंने समुद्रके अंदर खड़े रहकर रुद्रगीतके जपरूपी यज्ञ और तपस्याके द्वारा समस्त शरीरोंके उत्पादक भगवान् श्रीहरिको प्रसन्न कर लिया॥ ३॥ तपस्या करते-करते दस हजार वर्ष बीत जानेपर पुराणपुरुष श्रीनारायण अपनी मनोहर कान्तिद्वारा उनके तपस्याजनित क्लेशको शान्त करते हुए सौम्य विग्रहसे उनके सामने प्रकट हुए॥ ४॥ गरुड़जीके कंधेपर बैठे हुए श्रीभगवान् ऐसे जान पड़ते थे, मानो सुमेरुके शिखरपर कोई श्याम घटा छायी हो। उनके श्रीअंगमें मनोहर पीताम्बर और कण्ठमें कौस्तुभमणि सुशोभित थी। अपनी दिव्य प्रभासे वे सब दिशाओंका अन्धकार दूर कर रहे थे॥ ५॥

* प्रा० पा०—नारदप्राचीन बर्हि:संवादेऽध्यात्मपारोक्षं नाम।

काशिष्णुना कनकवर्णविभूषणेन
भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रै-
रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः॥ ६

पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या
स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालयाऽऽद्यः।
बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान् प्रपन्नान्
पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः॥ ७

चमकीले सुवर्णमय आभूषणोंसे युक्त उनके कमनीय कपोल और मनोहर मुखमण्डलकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उनके मस्तकपर झिलमिलाता हुआ मुकुट शोभायमान था। प्रभुकी आठ भुजाओंमें आठ आयुध थे; देवता, मुनि और पार्षदगण सेवामें उपस्थित थे तथा गरुडजी किन्नरोंकी भाँति साममय पंखोंकी ध्वनिसे कीर्तिगान कर रहे थे॥ ६॥ उनकी आठ लंबी-लंबी स्थूल भुजाओंके बीचमें लक्ष्मीजीसे स्पर्धा करनेवाली वनमाला विराजमान थी। आदिपुरुष श्रीनारायणने इस प्रकार पधारकर अपने शरणागत प्रचेताओंकी ओर दयादृष्टिसे निहारते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा॥ ७॥

श्रीभगवानुवाच

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः।
सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः॥ ८

योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम्॥ ९

ये तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः।
स्तुवन्त्यहं कामवरान्दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम्॥ १०

यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः।
अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति॥ ११

भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति॥ १२

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजपुत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। तुम सबमें परस्पर बड़ा प्रेम है और स्नेहवश तुम एक ही धर्मका पालन कर रहे हो। तुम्हारे इस आदर्श सौहार्दसे मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। मुझसे वर माँगो॥ ८॥ जो पुरुष सायंकालके समय प्रतिदिन तुम्हारा स्मरण करेगा, उसका अपने भाइयोंमें अपने ही समान प्रेम होगा तथा समस्त जीवोंके प्रति मित्रताका भाव हो जायगा॥ ९॥ जो लोग सायंकाल और प्रातःकाल एकाग्रचित्तसे रुद्रगीतद्वारा मेरी स्तुति करेंगे, उनको मैं अभीष्ट वर और शुद्ध बुद्धि प्रदान करूँगा॥ १०॥ तुमलोगोंने बड़ी प्रसन्नतासे अपने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की है, इससे तुम्हारी कमनीय कीर्ति समस्त लोकोंमें फैल जायगी॥ ११॥ तुम्हारे एक बड़ा ही विख्यात पुत्र होगा। वह गुणोंमें किसी भी प्रकार ब्रह्माजीसे कम नहीं होगा तथा अपनी सन्तानसे तीनों लोकोंको पूर्ण कर देगा॥ १२॥

कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः॥ १३

क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम्।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः॥ १४

राजकुमारो! कण्डु ऋषिके तपोनाशके लिये इन्द्रकी भेजी हुई प्रम्लोचा अप्सरासे एक कमलनयनी कन्या उत्पन्न हुई थी। उसे छोड़कर वह स्वर्गलोकको चली गयी। तब वृक्षोंने उस कन्याको लेकर पाला-पोसा॥ १३॥ जब वह भूखसे व्याकुल होकर रोने लगी तब ओषधियोंके राजा चन्द्रमाने दयावश उसके मुँहमें अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी अँगुली दे दी॥ १४॥

प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता।
तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत माचिरम्॥ १५
अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा।
अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात्पत्न्यर्पिताशया॥ १६
दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः।
भौमान् भोक्ष्यथ भोगान् वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम॥ १७
अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः।
उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः॥ १८
गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः॥ १९
नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः॥ २०

मैत्रेय उवाच

एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं
जनार्दनं प्रांजलयः प्रचेतसः।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला
गिरागृणन् गद्गदया सुहृत्तमम्॥ २१

प्रचेतस ऊचुः

नमो नमः क्लेशविनाशनाय
निरूपितोदारगुणाह्वयाय।
मनोवचोवेगपुरोजवाय
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः॥ २२
शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय।

तुम्हारे पिता आजकल मेरी सेवा (भक्ति)-में लगे हुए हैं; उन्होंने तुम्हें सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी है। अतः तुम शीघ्र ही उस देवोपम सुन्दरी कन्यासे विवाह कर लो॥ १५॥ तुम सब एक ही धर्ममें तत्पर हो और तुम्हारा स्वभाव भी एक-सा ही है; इसलिये तुम्हारे ही समान धर्म और स्वभाववाली वह सुन्दरी कन्या तुम सभीकी पत्नी होगी तथा तुम सभीमें उसका समान अनुराग होगा॥ १६॥ तुमलोग मेरी कृपासे दस लाख दिव्य वर्षोंतक पूर्ण बलवान् रहकर अनेकों प्रकारके पार्थिव और दिव्य भोग भोगोगे॥ १७॥ अन्तमें मेरी अविचल भक्तिसे हृदयका समस्त वासनारूप मल दग्ध हो जानेपर तुम इस लोक तथा परलोकके नरकतुल्य भोगोंसे उपरत होकर मेरे परमधामको जाओगे॥ १८॥ जिन लोगोंके कर्म भगवदर्पणबुद्धिसे होते हैं और जिनका सारा समय मेरी कथावार्ताओंमें ही बीतता है, वे गृहस्थाश्रममें रहें तो भी घर उनके बन्धनका कारण नहीं होते॥ १९॥ वे नित्यप्रति मेरी लीलाएँ सुनते रहते हैं, इसलिये ब्रह्मवादी वक्ताओंके द्वारा मैं ज्ञान-स्वरूप परब्रह्म उनके हृदयमें नित्य नया-नया-सा भासता रहता हूँ और मुझे प्राप्त कर लेनेपर जीवोंको न मोह हो सकता है, न शोक और न हर्ष ही॥ २०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्के दर्शनोंसे प्रचेताओंका रजोगुण-तमोगुण मल नष्ट हो चुका था। जब उनसे सकल पुरुषार्थोंके आश्रय और सबके परम सुहृद् श्रीहरिने इस प्रकार कहा, तब वे हाथ जोड़कर गद्गद वाणीसे कहने लगे॥ २१॥

प्रचेताओंने कहा—प्रभो! आप भक्तोंके क्लेश दूर करनेवाले हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं। वेद आपके उदार गुण और नामोंका निरूपण करते हैं। आपका वेग मन और वाणीके वेगसे भी बढ़कर है तथा आपका स्वरूप सभी इन्द्रियोंकी गतिसे परे है। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं॥ २२॥ आप अपने स्वरूपमें स्थित रहनेके कारण नित्य शुद्ध और शान्त हैं, मनरूप निमित्तके कारण हमें आपमें यह मिथ्या द्वैत भास रहा है। वास्तवमें जगत्की उत्पत्ति,

नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥ २३

स्थिति और लयके लिये आप मायाके गुणोंको स्वीकार करके ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेवरूप धारण करते हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २३॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम्॥ २४

आप विशुद्ध सत्त्वस्वरूप हैं, आपका ज्ञान संसारबन्धनको दूर कर देता है। आप ही समस्त भागवतोंके प्रभु वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, आपको नमस्कार है॥ २४॥

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण॥ २५

आपकी ही नाभिसे ब्रह्माण्डरूप कमल प्रकट हुआ था, आपके कण्ठमें कमलकुसुमोंकी माला सुशोभित है तथा आपके चरण कमलके समान कोमल हैं; कमलनयन! आपको नमस्कार है॥ २५॥

नमः कमलकिंजल्कपिशंगामलवाससे।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे॥ २६

आप कमलकुसुमकी केसरके समान स्वच्छ पीताम्बर धारण किये हुए हैं, समस्त भूतोंके आश्रयस्थान हैं तथा सबके साक्षी हैं; हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २६॥

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम्।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम्॥ २७

भगवन्! आपका यह स्वरूप सम्पूर्ण क्लेशोंकी निवृत्ति करनेवाला है; हम अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेषादि क्लेशोंसे पीड़ितोंके सामने आपने इसे प्रकट किया है। इससे बढ़कर हमपर और क्या कृपा होगी॥ २७॥

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन॥ २८

अमंगलहारी प्रभो! दीनोंपर दया करनेवाले समर्थ पुरुषोंको इतनी ही कृपा करनी चाहिये कि समय-समयपर उन दीनजनोंको 'ये हमारे हैं' इस प्रकार स्मरण कर लिया करें॥ २८॥

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम्।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः॥ २९

इसीसे उनके आश्रितोंका चित्त शान्त हो जाता है। आप तो क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणियोंके भी अन्तःकरणोंमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहते हैं। फिर आपके उपासक हमलोग जो-जो कामनाएँ करते हैं, हमारी उन कामनाओंको आप क्यों न जान लेंगे॥ २९॥

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते।
प्रसन्नो भगवान् येषामपवर्गगुरुर्गतिः॥ ३०

जगदीश्वर! आप मोक्षका मार्ग दिखानेवाले और स्वयं पुरुषार्थस्वरूप हैं। आप हमपर प्रसन्न हैं, इससे बढ़कर हमें और क्या चाहिये। बस, हमारा अभीष्ट वर तो आपकी प्रसन्नता ही है॥ ३०॥

वरं वृणीमहेऽथापि[1] नाथ त्वत्परतः परात्।
न[2] ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे[3]॥ ३१

तथापि, नाथ! हम एक वर आपसे अवश्य माँगते हैं। प्रभो! आप प्रकृति आदिसे परे हैं और आपकी विभूतियोंका भी कोई अन्त नहीं है; इसलिये आप 'अनन्त' कहे जाते हैं॥ ३१॥

---

१. प्रा० पा०—व्यापि। २. प्रा० पा०—न ह्यन्तो यद्वि०। ३. प्रा० पा०—गीयते।

पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारंगोऽन्यन्न सेवते।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि॥ ३२
यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।
तावद्भवत्प्रसंगानां संगः स्यान्नो भवे भवे॥ ३३
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ ३४
यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन॥ ३५
यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः॥ ३६
तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥ ३७
वयं तु साक्षाद्भगवन् भवस्य
प्रियस्य सख्युः क्षणसंगमेन।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो-
र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः॥ ३८
यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च
सर्वाणि भूतान्यनसूययैव॥ ३९
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो
वृणीमहे ते परितोषणाय॥ ४०
मनुः स्वयम्भूर्भगवान् भवश्च
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः
स्तुवन्त्यथो त्वाऽऽत्मसमं गृणीमः॥ ४१

यदि भ्रमरको अनायास ही कल्पवृक्ष मिल जाय, तो क्या वह किसी दूसरे वृक्षका सेवन करेगा? तब आपकी चरणशरणमें आकर अब हम क्या-क्या माँगें॥ ३२॥ हम आपसे केवल यही माँगते हैं कि जबतक आपकी मायासे मोहित होकर हम अपने कर्मानुसार संसारमें भ्रमते रहें, तबतक जन्म-जन्ममें हमें आपके प्रेमी भक्तोंका संग प्राप्त होता रहे॥ ३३॥ हम तो भगवद्‌भक्तोंके क्षणभरके संगके सामने स्वर्ग और मोक्षको भी कुछ नहीं समझते; फिर मानवी भोगोंकी तो बात ही क्या है॥ ३४॥ भगवद्भक्तोंके समाजमें सदा-सर्वदा भगवान्‌की मधुर-मधुर कथाएँ होती रहती हैं, जिनके श्रवणमात्रसे भोगतृष्णा शान्त हो जाती है। वहाँ प्राणियोंमें किसी प्रकारका वैर-विरोध या उद्वेग नहीं रहता ॥ ३५॥ अच्छे-अच्छे कथा-प्रसंगोंद्वारा निष्कामभावसे संन्यासियोंके एकमात्र आश्रय साक्षात् श्रीनारायणदेवका बार-बार गुणगान होता रहता है॥ ३६॥ आपके वे भक्तजन तीर्थोंको पवित्र करनेके उद्देश्यसे पृथ्वीपर पैदल ही विचरते रहते हैं। भला, उनका समागम संसारसे भयभीत हुए पुरुषोंको कैसे रुचिकर न होगा॥ ३७॥

भगवन्! आपके प्रिय सखा भगवान् शंकरके क्षणभरके समागमसे ही आज हमें आपका साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ है। आप जन्म-मरणरूप दुःसाध्य रोगके श्रेष्ठतम वैद्य हैं, अतः अब हमने आपका ही आश्रय लिया है॥ ३८॥ प्रभो! हमने समाहित चित्तसे जो कुछ अध्ययन किया है, निरन्तर सेवा-शुश्रूषा करके गुरु, ब्राह्मण और वृद्धजनोंको प्रसन्न किया है तथा दोषबुद्धि त्यागकर श्रेष्ठ पुरुष, सुहृद्‌गण, बन्धुवर्ग एवं समस्त प्राणियोंकी वन्दना की है और अन्नादिको त्यागकर दीर्घकालतक जलमें खड़े रहकर तपस्या की है, वह सब आप सर्वव्यापक पुरुषोत्तमके सन्तोषका कारण हो—यही वर माँगते हैं॥ ३९-४०॥ स्वामिन्! आपकी महिमाका पार न पाकर भी स्वायम्भुव मनु, स्वयं ब्रह्माजी, भगवान् शंकर तथा तप और ज्ञानसे शुद्धचित्त हुए अन्य पुरुष निरन्तर आपकी स्तुति करते रहते हैं। अतः हम भी अपनी बुद्धिके अनुसार आपका यशोगान करते हैं॥ ४१॥

नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः॥ ४२

आप सर्वत्र समान शुद्ध स्वरूप और परम पुरुष हैं। आप सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेवको हम नमस्कार करते हैं॥ ४२॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः
प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां
ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः॥ ४३
अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः।
वीक्ष्याकुप्यन्द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः॥ ४४
ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये॥ ४५
भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः।
आगतः शमयामास पुत्रान् बर्हिष्मतो नयैः॥ ४६
तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा।
उज्जह्रुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा॥ ४७
ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः॥ ४८
चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः॥ ४९
यो जायमानः सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा।
स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन्॥ ५०
तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च।
युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन्॥ ५१

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! प्रचेताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर शरणागतवत्सल श्रीभगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा—'तथास्तु'। अप्रतिहतप्रभाव श्रीहरिकी मधुर मूर्तिके दर्शनोंसे अभी प्रचेताओंके नेत्र तृप्त नहीं हुए थे, इसलिये वे उन्हें जाने देना नहीं चाहते थे; तथापि वे अपने परमधामको चले गये॥ ४३॥ इसके पश्चात् प्रचेताओंने समुद्रके जलसे बाहर निकलकर देखा कि सारी पृथ्वीको ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंने ढक दिया है, जो मानो स्वर्गका मार्ग रोकनेके लिये ही इतने बढ़ गये थे। यह देखकर वे वृक्षोंपर बड़े कुपित हुए॥ ४४॥ तब उन्होंने पृथ्वीको वृक्ष, लता आदिसे रहित कर देनेके लिये अपने मुखसे प्रचण्ड वायु और अग्निको छोड़ा, जैसे कालाग्निरुद्र प्रलयकालमें छोड़ते हैं॥ ४५॥ जब ब्रह्माजीने देखा कि वे सारे वृक्षोंको भस्म कर रहे हैं, तब वे वहाँ आये और प्राचीनबर्हिके पुत्रोंको उन्होंने युक्तिपूर्वक समझाकर शान्त किया॥ ४६॥ फिर जो कुछ वृक्ष वहाँ बचे थे, उन्होंने डरकर ब्रह्माजीके कहनेसे वह कन्या लाकर प्रचेताओंको दी॥ ४७॥ प्रचेताओंने भी ब्रह्माजीके आदेशसे उस मारिषा नामकी कन्यासे विवाह कर लिया। इसीके गर्भसे ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने, श्रीमहादेवजीकी अवज्ञाके कारण अपना पूर्वशरीर त्यागकर जन्म लिया॥ ४८॥ इन्हीं दक्षने चाक्षुष मन्वन्तर आनेपर, जब कालक्रमसे पूर्वसर्ग नष्ट हो गया, भगवान्‌की प्रेरणासे इच्छानुसार नवीन प्रजा उत्पन्न की॥ ४९॥ इन्होंने जन्म लेते ही अपनी कान्तिसे समस्त तेजस्वियोंका तेज छीन लिया। ये कर्म करनेमें बड़े दक्ष (कुशल) थे, इसीसे इनका नाम 'दक्ष' हुआ॥ ५०॥ इन्हें ब्रह्माजीने प्रजापतियोंके नायकके पदपर अभिषिक्त कर सृष्टिकी रक्षाके लिये नियुक्त किया और इन्होंने मरीचि आदि दूसरे प्रजापतियोंको अपने-अपने कार्यमें नियुक्त किया॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको श्रीनारदजीका उपदेश और उनका परमपद-लाभ

मैत्रेय उवाच

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम्।
स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन् गृहात्॥ १

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा।
प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः॥ २

तान्निर्जितप्राणमनोवचोदृशो
जितासनान् शान्तसमानविग्रहान्।
परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः
सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः॥ ३

तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिनन्द्य[1] च।
पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन्॥ ४

प्रचेतस ऊचुः

स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः।
तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः॥ ५

यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च।
तद् गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः[2] क्षपितं प्रभो॥ ६

तन्नः प्रद्योतयाध्यात्मज्ञानं[3] तत्त्वार्थदर्शनम्।
येनांजसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम्॥ ७

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! दस लाख वर्ष बीत जानेपर जब प्रचेताओंको विवेक हुआ, तब उन्हें भगवान्‌के वाक्योंकी याद आयी और वे अपनी भार्या मारिषाको पुत्रके पास छोड़कर तुरंत घरसे निकल पड़े॥ १॥

वे पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर—जहाँ जाजलि मुनिने सिद्धि प्राप्त की थी—जा पहुँचे और जिससे 'समस्त भूतोंमें एक ही आत्मतत्त्व विराजमान है' ऐसा ज्ञान होता है, उस आत्मविचाररूप ब्रह्मसत्रका संकल्प करके बैठ गये॥ २॥

उन्होंने प्राण, मन, वाणी और दृष्टिको वशमें किया तथा शरीरको निश्चेष्ट, स्थिर और सीधा रखते हुए आसनको जीतकर चित्तको विशुद्ध परब्रह्ममें लीन कर दिया। ऐसी स्थितिमें उन्हें देवता और असुर दोनोंके ही वन्दनीय श्रीनारदजीने देखा॥ ३॥

नारदजीको आया देख प्रचेतागण खड़े हो गये और प्रणाम करके आदर-सत्कारपूर्वक देश-कालानुसार उनकी विधिवत् पूजा की। जब नारदजी सुखपूर्वक बैठ गये, तब वे कहने लगे॥ ४॥

प्रचेताओंने कहा—देवर्षे! आपका स्वागत है, आज बड़े भाग्यसे हमें आपका दर्शन हुआ। ब्रह्मन्! सूर्यके समान आपका घूमना-फिरना भी ज्ञानालोकसे समस्त जीवोंको अभय-दान देनेके लिये ही होता है॥ ५॥

प्रभो! भगवान् शंकर और श्रीविष्णुभगवान्‌ने हमें जो उपदेश दिया था, उसे गृहस्थीमें आसक्त रहनेके कारण हमलोग प्रायः भूल गये हैं॥ ६॥

अतः आप हमारे हृदयोंमें उस परमार्थतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाले अध्यात्मज्ञानको फिर प्रकाशित कर दीजिये, जिससे हम सुगमतासे ही इस दुस्तर संसार-सागरसे पार हो जायँ॥ ७॥

---

१. प्रा० पा०—भिवाद्य च। २. प्रा० पा०—प्रायो नः। ३. प्रा० पा०—ध्यात्मं ज्ञानं।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्नारदो मुनिः।
भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान्॥ ८

नारद उवाच

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह[1] विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥ ९

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह[2] शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः[3]।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥ १०

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा[4]॥ ११

किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥ १२

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्माऽऽत्मदः[5] प्रियः॥ १३

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥ १४

यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वारः
पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति काले।
भूतानि भूमौ स्थिरजंगमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः॥ १५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं— भगवन्मय श्रीनारदजीका चित्त सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगा रहता है। वे प्रचेताओंके इस प्रकार पूछनेपर उनसे कहने लगे॥ ८॥

श्रीनारदजीने कहा— राजाओ! इस लोकमें मनुष्यका वही जन्म, वही कर्म, वही आयु, वही मन और वही वाणी सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरिका सेवन किया जाता है॥ ९॥ जिनके द्वारा अपने स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाले श्रीहरिको प्राप्त न किया जाय, उन माता-पिताकी पवित्रतासे, यज्ञोपवीत-संस्कारसे एवं यज्ञदीक्षासे प्राप्त होनेवाले उन तीन प्रकारके श्रेष्ठ जन्मोंसे, वेदोक्त कर्मोंसे, देवताओंके समान दीर्घ आयुसे, शास्त्रज्ञानसे, तपसे, वाणीकी चतुराईसे, अनेक प्रकारकी बातें याद रखनेकी शक्तिसे, तीव्र बुद्धिसे, बलसे, इन्द्रियोंकी पटुतासे, योगसे, सांख्य (आत्मानात्मविवेक)-से, संन्यास और वेदाध्ययनसे तथा व्रत-वैराग्यादि अन्य कल्याण-साधनोंसे भी पुरुषका क्या लाभ है?॥ १०—१२॥ वास्तवमें समस्त कल्याणोंकी अवधि आत्मा ही है और आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रिय आत्मा हैं॥ १३॥ जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे उसके तना, शाखा, उपशाखा आदि सभीका पोषण हो जाता है और जैसे भोजनद्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌की पूजा ही सबकी पूजा है॥ १४॥ जिस प्रकार वर्षाकालमें जल सूर्यके तापसे उत्पन्न होता है और ग्रीष्म-ऋतुमें उसीकी किरणोंमें पुनः प्रवेश कर जाता है तथा जैसे समस्त चराचर भूत पृथ्वीसे उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें मिल जाते हैं, उसी प्रकार चेतना-चेतनात्मक यह समस्त प्रपंच श्रीहरिसे ही उत्पन्न होता है और उन्हींमें लीन हो जाता है॥ १५॥

१. प्रा० पा०—येन हि। २. प्रा० पा०—भिस्त्रिभिर्वेदैः। ३. प्रा० पा०—शुक्लसा०। ४. प्रा० पा०—रोधसा। ५. प्रा० पा०—रात्मपदः प्रि०।

एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो
द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः॥ १६

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः॥ १७

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाह-
मात्मैकभावेन भजध्वमद्धा॥ १८

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥ १९

अपहतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूतः ।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽय-
न्न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि॥ २०

वस्तुतः यह विश्वात्मा श्रीभगवान्‌का वह शास्त्रप्रसिद्ध सर्वोपाधिरहित स्वरूप ही है। जैसे सूर्यकी प्रभा उससे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार कभी-कभी गन्धर्व-नगरके समान स्फुरित होनेवाला यह जगत् भगवान्‌से भिन्न नहीं है; तथा जैसे जाग्रत् अवस्थामें इन्द्रियाँ क्रियाशील रहती हैं किन्तु सुषुप्तिमें उनकी शक्तियाँ लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह जगत् सर्गकालमें भगवान्‌से प्रकट हो जाता है और कल्पान्त होनेपर उन्हींमें लीन हो जाता है। स्वरूपतः तो भगवान्‌में द्रव्य, क्रिया और ज्ञानरूपी त्रिविध अहंकारके कार्योंकी तथा उनके निमित्तसे होनेवाले भेदभ्रमकी सत्ता है ही नहीं॥ १६॥ नृपतिगण! जैसे बादल, अन्धकार और प्रकाश—ये क्रमशः आकाशसे प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं; किन्तु आकाश इनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ये सत्त्व, रज, और तमोमयी शक्तियाँ कभी परब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं और कभी उसीमें लीन हो जाती हैं। इसी प्रकार इनका प्रवाह चलता रहता है; किन्तु इससे आकाशके समान असंग परमात्मामें कोई विकार नहीं होता॥ १७॥ अतः तुम ब्रह्मादि समस्त लोकपालोंके भी अधीश्वर श्रीहरिको अपनेसे अभिन्न मानते हुए भजो; क्योंकि वे ही समस्त देहधारियोंके एकमात्र आत्मा हैं। वे ही जगत्‌के निमित्तकारण काल, उपादानकारण प्रधान और नियन्ता पुरुषोत्तम हैं तथा अपनी कालशक्तिसे वे ही इस गुणोंके प्रवाहरूप प्रपंचका संहार कर देते हैं॥ १८॥

वे भक्तवत्सल भगवान् समस्त जीवोंपर दया करनेसे, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहनेसे तथा समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके शान्त करनेसे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १९॥ पुत्रैषणा आदि सब प्रकारकी वासनाओंके निकल जानेसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन संतोंके हृदयमें उनके निरन्तर बढ़ते हुए चिन्तनसे खिंचकर अविनाशी श्रीहरि आ जाते हैं और अपनी भक्ताधीनताको चरितार्थ करते हुए हृदयाकाशकी भाँति वहाँसे हटते नहीं॥ २०॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये
विदधति पापमकिंचनेषु सत्सु॥ २१

श्रियमनुचरतीं[१] तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन् विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः[२]।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः॥ २२

भगवान् तो अपनेको (भगवान्‌को) ही सर्वस्व माननेवाले निर्धन पुरुषोंपर ही प्रेम करते हैं; क्योंकि वे परम रसज्ञ हैं—उन अकिंचनोंकी अनन्याश्रया अहैतुकी भक्तिमें कितना माधुर्य होता है, इसे प्रभु अच्छी तरह जानते हैं। जो लोग अपने शास्त्रज्ञान, धन, कुल और कर्मोंके मदसे उन्मत्त होकर, ऐसे निष्किंचन साधुजनोंका तिरस्कार करते हैं, उन दुर्बुद्धियोंकी पूजा तो प्रभु स्वीकार ही नहीं करते॥ २१॥ भगवान् स्वरूपानन्दसे ही परिपूर्ण हैं, उन्हें निरन्तर अपनी सेवामें रहनेवाली लक्ष्मीजी तथा उनकी इच्छा करनेवाले नरपति और देवताओंकी भी कोई परवा नहीं है। इतनेपर भी वे अपने भक्तोंके तो अधीन ही रहते हैं। अहो! ऐसे करुणा-सागर श्रीहरिको कोई भी कृतज्ञ पुरुष थोड़ी देरके लिये भी कैसे छोड़ सकता है?॥ २२॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः।
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः॥ २३

तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम्।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः॥ २४

एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान्।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम्॥ २५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! भगवान् नारदने प्रचेताओंको इस उपदेशके साथ-साथ और भी बहुत-सी भगवत्सम्बन्धी बातें सुनायीं। इसके पश्चात् वे ब्रह्मलोकको चले गये॥ २३॥ प्रचेतागण भी उनके मुखसे सम्पूर्ण जगत्‌के पापरूपी मलको दूर करनेवाले भगवच्चरित्र सुनकर भगवान्‌के चरणकमलोंका ही चिन्तन करने लगे और अन्तमें भगवद्धामको प्राप्त हुए॥ २४॥ इस प्रकार आपने जो मुझसे श्रीनारदजी और प्रचेताओंके भगवत्कथासम्बन्धी संवादके विषयमें पूछा था, वह मैंने आपको सुना दिया॥ २५॥

श्रीशुक उवाच

य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम[३]॥ २६

यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम्।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात्पदम्॥ २७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! यहाँतक स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादके वंशका वर्णन हुआ, अब प्रियव्रतके वंशका विवरण भी सुनो॥ २६॥ राजा प्रियव्रतने श्रीनारदजीसे आत्मज्ञानका उपदेश पाकर भी राज्यभोग किया था तथा अन्तमें इस सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने पुत्रोंमें बाँटकर वे भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हुए थे॥ २७॥

१. प्रा० पा०—मनुसरतस्तदर्थि०। २. प्रा० पा०—यत्सुपूर्णः। ३. प्रा० पा०—नृप सम्मतम्।

इमां तु कौषारविणोपवर्णितां
क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम्।
प्रवृद्धभावोऽश्रुकलाकुलो[१] मुने-
र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः॥ २८

राजन्! इधर श्रीमैत्रेयजीके मुखसे यह भगवद्-गुणानुवादयुक्त पवित्र कथा सुनकर विदुरजी प्रेममग्न हो गये, भक्तिभावका उद्रेक होनेसे उनके नेत्रोंसे पवित्र आँसुओंकी धारा बहने लगी तथा उन्होंने हृदयमें भगवच्चरणोंका स्मरण करते हुए अपना मस्तक मुनिवर मैत्रेयजीके चरणोंपर रख दिया॥ २८॥

विदुर उवाच

सोऽयमद्य महायोगिन् भवता करुणात्मना।
दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः॥ २९

विदुरजी कहने लगे—महायोगिन्! आप बड़े ही करुणामय हैं। आज आपने मुझे अज्ञानान्धकारके उस पार पहुँचा दिया है, जहाँ अकिंचनोंके सर्वस्व श्रीहरि विराजते हैं॥ २९॥

श्रीशुक उवाच

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम्।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः॥ ३०

एतद्यः शृणुयाद्राजन् राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम्।
आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात्॥ ३१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—मैत्रेयजीको उपर्युक्त कृतज्ञता सूचक वचन कहकर तथा प्रणाम कर विदुरजीने उनसे आज्ञा ली और फिर शान्तचित्त होकर अपने बन्धुजनोंसे मिलनेके लिये वे हस्तिनापुर चले गये॥ ३०॥ राजन्! जो पुरुष भगवान्‌के शरणागत परमभागवत राजाओंका यह पवित्र चरित्र सुनेगा, उसे दीर्घ आयु, धन, सुयश, क्षेम, सद्‌गति और ऐश्वर्यकी प्राप्ति होगी॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां
संहितायां चतुर्थस्कन्धे प्रचेतसोपाख्यानं
नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

॥ इति चतुर्थः स्कन्धः समाप्तः॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

१. प्रा० पा०—भावाश्रु०।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

पञ्चमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रियव्रत-चरित्र

राजोवाच

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः॥ १

न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ।
गृहेष्वभिनिवेशोऽयं[1] पुंसां भवितुमर्हति॥ २

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः॥ ३

संशयोऽयं महान् ब्रह्मन्दारागारसुतादिषु।
सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता॥ ४

श्रीशुक उवाच

बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवतपरमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति॥ ५॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—मुने! महाराज प्रियव्रत तो बड़े भगवद्भक्त और आत्माराम थे। उनकी गृहस्थाश्रममें कैसे रुचि हुई, जिसमें फँसनेके कारण मनुष्यको अपने स्वरूपकी विस्मृति होती है और वह कर्मबन्धनमें बँध जाता है?॥ १॥

विप्रवर! निश्चय ही ऐसे निःसंग महापुरुषोंका इस प्रकार गृहस्थाश्रममें अभिनिवेश होना उचित नहीं है॥ २॥

इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं कि जिनका चित्त पुण्यकीर्ति श्रीहरिके चरणोंकी शीतल छायाका आश्रय लेकर शान्त हो गया है, उन महापुरुषोंकी कुटुम्बादिमें कभी आसक्ति नहीं हो सकती॥ ३॥

ब्रह्मन्! मुझे इस बातका बड़ा सन्देह है कि महाराज प्रियव्रतने स्त्री, घर और पुत्रादिमें आसक्त रहकर भी किस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर ली और क्योंकर उनकी भगवान् श्रीकृष्णमें अविचल भक्ति हुई॥ ४॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन्! तुम्हारा कथन बहुत ठीक है। जिनका चित्त पवित्रकीर्ति श्रीहरिके परम मधुर चरणकमल-मकरन्दके रसमें सराबोर हो गया है, वे किसी विघ्न-बाधाके कारण रुकावट आ जानेपर भी भगवद्भक्त परमहंसोंके प्रिय श्रीवासुदेव भगवान्‌के कथाश्रवणरूपी परम कल्याणमय मार्गको प्रायः छोड़ते नहीं॥ ५॥

---

१. प्रा० पा०—निवासोऽयम्।

यर्हि वाव ह राजन् स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो[1] ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवर[2]गुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यद्यपि[3] तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः॥ ६॥

राजन्! राजकुमार प्रियव्रत बड़े भगवद्‌भक्त थे, श्रीनारदजीके चरणोंकी सेवा करनेसे उन्हें सहजमें ही परमार्थतत्त्वका बोध हो गया था। वे ब्रह्मसत्रकी दीक्षा—निरन्तर ब्रह्माभ्यासमें जीवन बितानेका नियम लेनेवाले ही थे कि उसी समय उनके पिता स्वायम्भुव मनुने उन्हें पृथ्वीपालनके लिये शास्त्रमें बताये हुए सभी श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न देख राज्यशासनके लिये आज्ञा दी। किन्तु प्रियव्रत अखण्ड समाधियोगके द्वारा अपनी सारी इन्द्रियों और क्रियाओंको भगवान् वासुदेवके चरणोंमें ही समर्पण कर चुके थे। अतः पिताकी आज्ञा किसी प्रकार उल्लंघन करनेयोग्य न होनेपर भी, यह सोचकर कि राज्याधिकार पाकर मेरा आत्मस्वरूप स्त्री-पुत्रादि असत् प्रपंचसे आच्छादित हो जायगा—राज्य और कुटुम्बकी चिन्तामें फँसकर मैं परमार्थतत्त्वको प्रायः भूल जाऊँगा, उन्होंने उसे स्वीकार न किया॥ ६॥

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य[4] परिबृंहणानुध्यानव्यवसितसकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिल[5]निगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार॥ ७॥ स तत्र[6] तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढै[7]रभिपूज्यमानः पथि पथि च वरूथशः सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प ॥ ८॥ तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे॥ ९॥

आदिदेव स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीको निरन्तर इस गुणमय प्रपंचकी वृद्धिका ही विचार रहता है। वे सारे संसारके जीवोंका अभिप्राय जानते रहते हैं। जब उन्होंने प्रियव्रतकी ऐसी प्रवृत्ति देखी, तब वे मूर्तिमान् चारों वेद और मरीचि आदि पार्षदोंको साथ लिये अपने लोकसे उतरे॥ ७॥ आकाशमें जहाँ-तहाँ विमानोंपर चढ़े हुए इन्द्रादि प्रधान-प्रधान देवताओंने उनका पूजन किया तथा मार्गमें टोलियाँ बाँधकर आये हुए सिद्ध, गन्धर्व, साध्य, चारण और मुनिजनने स्तवन किया। इस प्रकार जगह-जगह आदर-सम्मान पाते वे साक्षात् नक्षत्रनाथ चन्द्रमाके समान गन्धमादनकी घाटीको प्रकाशित करते हुए प्रियव्रतके पास पहुँचे॥ ८॥ प्रियव्रतको आत्मविद्याका उपदेश देनेके लिये वहाँ नारदजी भी आये हुए थे। ब्रह्माजीके वहाँ पहुँचनेपर उनके वाहन हंसको देखकर देवर्षि नारद जान गये कि हमारे पिता भगवान् ब्रह्माजी पधारे हैं; अतः वे स्वायम्भुव मनु और प्रियव्रतके सहित तुरंत खड़े हो गये और सबने उनको हाथ जोड़कर प्रणाम किया॥ ९॥

१. प्रा० पा०—परमात्मतत्त्वो। २. प्रा० पा०—प्रवरगुणैकान्त। ३. प्रा० पा०—न वाभ्यनन्दद्यदपि तदप्रत्याम्नातं। ४. प्रा० पा०—सर्गस्य बृंहणा। ५. प्रा० पा०—रखिलनिजगणपरिवेष्टितः। ६. प्रा० पा०—तत्र गगनतले। ७. प्रा० पा०—ममरपरिवृन्दैरभिपू०।

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतारसुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्।
वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम्॥ ११
न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात्॥ १२
भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदा भयाय।
सुखाय दुःखाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते॥ १३
यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः॥ १४
ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात्।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथ-
श्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः॥ १५
मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेह-
मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः
किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते॥ १६

परीक्षित्! नारदजीने उनकी अनेक प्रकारसे पूजा की और सुमधुर वचनोंमें उनके गुण और अवतारकी उत्कृष्टताका वर्णन किया। तब आदिपुरुष भगवान् ब्रह्माजीने प्रियव्रतकी ओर मन्द मुसकानयुक्त दयादृष्टिसे देखते हुए इस प्रकार कहा॥ १० ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—बेटा! मैं तुमसे सत्य सिद्धान्तकी बात कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। तुम्हें अप्रमेय श्रीहरिके प्रति किसी प्रकारकी दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये। तुम्हीं क्या—हम, महादेवजी, तुम्हारे पिता स्वायम्भुव मनु और तुम्हारे गुरु ये महर्षि नारद भी विवश होकर उन्हींकी आज्ञाका पालन करते हैं॥ ११ ॥ उनके विधानको कोई भी देहधारी न तो तप, विद्या, योगबल या बुद्धिबलसे, न अर्थ या धर्मकी शक्तिसे और न स्वयं या किसी दूसरेकी सहायतासे ही टाल सकता है॥ १२ ॥ प्रियवर! उसी अव्यक्त ईश्वरके दिये हुए शरीरको सब जीव जन्म, मरण, शोक, मोह, भय और सुख-दुःखका भोग करने तथा कर्म करनेके लिये सदा धारण करते हैं॥ १३ ॥

वत्स! जिस प्रकार रस्सीसे नथा हुआ पशु मनुष्योंका बोझ ढोता है, उसी प्रकार परमात्माकी वेदवाणीरूप बड़ी रस्सीमें सत्त्वादि गुण, सात्त्विक आदि कर्म और उनके ब्राह्मणादि वाक्योंकी मजबूत डोरीसे जकड़े हुए हम सब लोग उन्हींके इच्छानुसार कर्ममें लगे रहते हैं और उसके द्वारा उनकी पूजा करते रहते हैं॥ १४ ॥ हमारे गुण और कर्मोंके अनुसार प्रभुने हमें जिस योनिमें डाल दिया है उसीको स्वीकार करके, वे जैसी व्यवस्था करते हैं उसीके अनुसार हम सुख या दुःख भोगते रहते हैं। हमें उनकी इच्छाका उसी प्रकार अनुसरण करना पड़ता है, जैसे किसी अंधेको आँखवाले पुरुषका॥ १५ ॥

मुक्त पुरुष भी प्रारब्धका भोग करता हुआ भगवान्‌की इच्छाके अनुसार अपने शरीरको धारण करता ही है; ठीक वैसे ही जैसे मनुष्यकी निद्रा टूट जानेपर भी स्वप्नमें अनुभव किये हुए पदार्थोंका स्मरण होता है। इस अवस्थामें भी उसको अभिमान नहीं होता और विषयवासनाके जिन संस्कारोंके कारण दूसरा जन्म होता है, उन्हें वह स्वीकार नहीं करता॥ १६ ॥

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥ १७
यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम्।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन्
क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित्॥ १८
त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोश-
दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः।
भुङ्क्ष्वेह भोगान् पुरुषातिदिष्टान्
विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व॥ १९

श्रीशुक उवाच

इति समभिहितो महाभागवतो भगवतः त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनत-शिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह॥ २०॥

भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः प्रियव्रतनारदयोरविषममभिसमीक्षमाणयोरात्म-समवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत्॥ २१॥

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डलस्थिति-गुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषय-विषजलाशयाशाया उपरराम॥ २२॥

जो पुरुष इन्द्रियोंके वशीभूत है, वह वन-वनमें विचरण करता रहे तो भी उसे जन्म-मरणका भय बना ही रहता है; क्योंकि बिना जीते हुए मन और इन्द्रियरूपी उसके छः शत्रु कभी उसका पीछा नहीं छोड़ते। जो बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रियोंको जीतकर अपनी आत्मामें ही रमण करता है, उसका गृहस्थाश्रम भी क्या बिगाड़ सकता है?॥ १७॥ जिसे इन छः शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा हो, वह पहले घरमें रहकर ही उनका अत्यन्त निरोध करते हुए उन्हें वशमें करनेका प्रयत्न करे। किलेमें सुरक्षित रहकर लड़नेवाला राजा अपने प्रबल शत्रुओंको भी जीत लेता है। फिर जब इन शत्रुओंका बल अत्यन्त क्षीण हो जाय, तब विद्वान् पुरुष इच्छानुसार विचर सकता है॥ १८॥ तुम यद्यपि श्रीकमलनाभ भगवान्के चरणकमलकी कलीरूप किलेके आश्रित रहकर इन छहों शत्रुओंको जीत चुके हो, तो भी पहले उन पुराणपुरुषके दिये हुए भोगोंको भोगो; इसके बाद निःसंग होकर अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाना॥ १९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— जब त्रिलोकीके गुरु श्रीब्रह्माजीने इस प्रकार कहा, तो परमभागवत प्रियव्रतने छोटे होनेके कारण नम्रतासे सिर झुका लिया और 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर बड़े आदरपूर्वक उनका आदेश शिरोधार्य किया॥ २०॥ तब स्वायम्भुव मनुने प्रसन्न होकर भगवान् ब्रह्माजीकी विधिवत् पूजा की। इसके पश्चात् वे मन और वाणीके अविषय, अपने आश्रय तथा सर्वव्यवहारातीत परब्रह्मका चिन्तन करते हुए अपने लोकको चले गये। इस समय प्रियव्रत और नारदजी सरल भावसे उनकी ओर देख रहे थे॥ २१॥

मनुजीने इस प्रकार ब्रह्माजीकी कृपासे अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेपर देवर्षि नारदकी आज्ञासे प्रियव्रतको सम्पूर्ण भूमण्डलकी रक्षाका भार सौंप दिया और स्वयं विषयरूपी विषैले जलसे भरे हुए गृहस्थाश्रमरूपी दुस्तर जलाशयकी भोगेच्छासे निवृत्त हो गये॥ २२॥

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां महीतलमनुशशास॥ २३॥ अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयाम्बभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम॥ २४॥

आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः॥ २५॥ एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन्॥ २६॥ तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः॥ २७॥ अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नुत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः॥ २८॥

अब पृथ्वीपति महाराज प्रियव्रत भगवान्‌की इच्छासे राज्यशासनके कार्यमें नियुक्त हुए। जो सम्पूर्ण जगत्‌को बन्धनसे छुड़ानेमें अत्यन्त समर्थ हैं, उन आदिपुरुष श्रीभगवान्‌के चरणयुगलका निरन्तर ध्यान करते रहनेसे यद्यपि उनके रागादि सभी मल नष्ट हो चुके थे और उनका हृदय भी अत्यन्त शुद्ध था, तथापि बड़ोंका मान रखनेके लिये वे पृथ्वीका शासन करने लगे॥ २३॥

तदनन्तर उन्होंने प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह किया। उससे उनके दस पुत्र हुए। वे सब उन्हींके समान शीलवान्, गुणी, कर्मनिष्ठ, रूपवान् और पराक्रमी थे। उनसे छोटी ऊर्जस्वती नामकी एक कन्या भी हुई॥ २४॥

पुत्रोंके नाम आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि थे। ये सब नाम अग्निके भी हैं॥ २५॥

इनमें कवि, महावीर और सवन—ये तीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए। इन्होंने बाल्यावस्थासे आत्मविद्याका अभ्यास करते हुए अन्तमें संन्यासाश्रम ही स्वीकार किया॥ २६॥

इन निवृत्तिपरायण महर्षियोंने संन्यासाश्रममें ही रहते हुए समस्त जीवोंके अधिष्ठान और भवबन्धनसे डरे हुए लोगोंको आश्रय देनेवाले भगवान् वासुदेवके परम सुन्दर चरणारविन्दोंका निरन्तर चिन्तन किया। उससे प्राप्त हुए अखण्ड एवं श्रेष्ठ भक्तियोगसे उनका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो गया और उसमें श्रीभगवान्‌का आविर्भाव हुआ। तब देहादि उपाधिकी निवृत्ति हो जानेसे उनकी आत्माकी सम्पूर्ण जीवोंके आत्मभूत प्रत्यगात्मामें एकीभावसे स्थिति हो गयी॥ २७॥

महाराज प्रियव्रतकी दूसरी भार्यासे उत्तम, तामस और रैवत—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो अपने नामवाले मन्वन्तरोंके अधिपति हुए॥ २८॥

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसम्भृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमानप्रमोद[1]प्रसरणयौषिण्य[2]व्रीडाप्रमुषितहासावलोकरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमानविवेक[3] इवानवबुध्यमान इव महामना बुभुजे॥ २९॥

इस प्रकार कवि आदि तीन पुत्रोंके निवृत्तिपरायण हो जानेपर राजा प्रियव्रतने ग्यारह अर्बुद वर्षोंतक पृथ्वीका शासन किया। जिस समय वे अपनी अखण्ड पुरुषार्थमयी और वीर्यशालिनी भुजाओंसे धनुषकी डोरी खींचकर टंकार करते थे, उस समय डरके मारे सभी धर्मद्रोही न जाने कहाँ छिप जाते थे। प्राणप्रिया बर्हिष्मतीके दिन-दिन बढ़नेवाले आमोद-प्रमोद और अभ्युत्थानादि क्रीडाओंके कारण तथा उसके स्त्री-जनोचित हाव-भाव, लज्जासे संकुचित मन्दहास्य-युक्त चितवन और मनको भानेवाले विनोद आदिसे महामना प्रियव्रत विवेकहीन व्यक्तिकी भाँति आत्म-विस्मृतसे होकर सब भोगोंको भोगने लगे। किन्तु वास्तवमें ये उनमें आसक्त नहीं थे॥ २९॥

यावदवभासयति[4] सुरगिरिमनुपरिक्रामन् भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव तपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन् समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय इव पतङ्गः॥ ३०॥ ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त[5] सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः॥ ३१॥

एक बार इन्होंने जब यह देखा कि भगवान् सूर्य सुमेरुकी परिक्रमा करते हुए लोकालोकपर्यन्त पृथ्वीके जितने भागको आलोकित करते हैं, उसमेंसे आधा ही प्रकाशमें रहता है और आधेमें अन्धकार छाया रहता है, तो उन्होंने इसे पसंद नहीं किया। तब उन्होंने यह संकल्प लेकर कि 'मैं रातको भी दिन बना दूँगा;' सूर्यके समान ही वेगवान् एक ज्योतिर्मय रथपर चढ़कर द्वितीय सूर्यकी ही भाँति उनके पीछे-पीछे पृथ्वीकी सात परिक्रमाएँ कर डालीं। भगवान्‌की उपासनासे इनका अलौकिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था॥ ३०॥

उस समय इनके रथके पहियोंसे जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुए; उनसे पृथ्वीमें सात द्वीप हो गये॥ ३१॥

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन[6] बहिः समन्तत उपक्लृप्ताः ॥ ३२॥

उनके नाम क्रमशः जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इनमेंसे पहले-पहलेकी अपेक्षा आगे-आगेके द्वीपका परिमाण दूना है और ये समुद्रके बाहरी भागमें पृथ्वीके चारों ओर फैले हुए हैं॥ ३२॥

१. प्रा० पा०—प्रमोदमोद प्रसरण०। २. प्रा० पा०—यौषण्यव्रीडाप्रमोदित०। ३. प्रा० पा०—विवेको नावबुध्यमा०। ४. प्रा० पा०—यदेवाभासयति। ५. प्रा० पा०—सप्त सप्त सिन्ध०। ६. प्रा० पा०—द्विगुणेन बहिः समन्ततः।

क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोद-शुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा[१] इवाभ्यन्तरद्वीपसमाना एकैकश्येन[२] यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक्परित[३] उपकल्पितास्तेषु[४] जम्ब्वादिषु बर्हिष्मती-पतिरनुव्रतानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहु[५]-हिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान् [६]यथासंख्येन एकैकस्मिन् एकमेवाधिपतिं विदधे॥ ३३॥ दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद् देवयानी नाम काव्यसुता॥ ३४॥

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम्।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत[७]
यन्नामधेयमधुना स[८] जहाति बन्धम्॥ ३५

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षि-चरणानुशयनानुपतितगुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृत-मिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह॥ ३६॥ अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियै-रविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे तद् अलम् अलम् अमुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार॥ ३७॥

सात समुद्र क्रमशः खारे जल, ईखके रस, मदिरा, घी, दूध, मट्ठे और मीठे जलसे भरे हुए हैं। ये सातों द्वीपोंकी खाइयोंके समान हैं और परिमाणमें अपने भीतरवाले द्वीपके बराबर हैं। इनमेंसे एक-एक क्रमशः अलग-अलग सातों द्वीपोंको बाहरसे घेरकर स्थित हैं।* बर्हिष्मतीपति महाराज प्रियव्रतने अपने अनुगत पुत्र आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्रमेंसे क्रमशः एक-एकको उक्त जम्बू आदि द्वीपोंमेंसे एक-एकका राजा बनाया॥ ३३॥ उन्होंने अपनी कन्या ऊर्जस्वतीका विवाह शुक्राचार्यजीसे किया; उसीसे शुक्रकन्या देवयानीका जन्म हुआ॥ ३४॥ राजन्! जिन्होंने भगवच्चरणारविन्दोंकी रजके प्रभावसे शरीरके भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—इन छः गुणोंको अथवा मनके सहित छः इन्द्रियोंको जीत लिया है, उन भगवद्भक्तोंका ऐसा पुरुषार्थ होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि वर्णबहिष्कृत चाण्डाल आदि नीच योनिका पुरुष भी भगवान्‌के नामका केवल एक बार उच्चारण करनेसे तत्काल संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ३५॥

इस प्रकार अतुलनीय बल-पराक्रमसे युक्त महाराज प्रियव्रत एक बार, अपनेको देवर्षि नारदके चरणोंकी शरणमें जाकर भी पुनः दैववश प्राप्त हुए प्रपंचमें फँस जानेसे अशान्त-सा देख, मन-ही-मन विरक्त होकर इस प्रकार कहने लगे॥ ३६॥ 'ओह! बड़ा बुरा हुआ! मेरी विषयलोलुप इन्द्रियोंने मुझे इस अविद्याजनित विषम विषयरूप अन्धकूपमें गिरा दिया। बस! बस! बहुत हो लिया। हाय! मैं तो स्त्रीका क्रीडामृग ही बन गया! उसने मुझे बंदरकी भाँति नचाया! मुझे धिक्कार है! धिक्कार है!' इस प्रकार उन्होंने अपनेको बहुत कुछ बुरा-भला कहा॥ ३७॥

---

१. प्रा० पा०—द्वीपशिखाभ्यन्तरे द्वीप०। २. प्रा० पा०—एकैकस्येव। ३. प्रा० पा०—पृथक् परिधय उपकल्पिता०। ४. प्रा० पा०—तेषु बर्हिष्मतीपति०। ५. प्रा० पा०—वाह०। ६. प्रा० पा०—यथासंख्यकमेकैकस्मिन्नेकमेवाधि०। ७. प्रा० पा०—सुकृदाददीत। ८. प्रा० पा०—सहजातितत्त्वम्।

* इनका क्रम इस प्रकार समझना चाहिये—पहले जम्बूद्वीप है, उसके चारों ओर क्षार समुद्र है। वह प्लक्षद्वीपसे घिरा हुआ है, उसके चारों ओर ईंखके रसका समुद्र है। उसे शाल्मलिद्वीप घेरे हुए है, उसके चारों ओर मदिराका समुद्र है। फिर कुशद्वीप है, वह घीके समुद्रसे घिरा हुआ है। उसके बाहर क्रौंचद्वीप है, उसके चारों ओर दूधका समुद्र है। फिर शाकद्वीप है, उसे मट्ठेका समुद्र घेरे हुए है। उसके चारों ओर पुष्करद्वीप है, वह मीठे जलके समुद्रसे घिरा हुआ है।

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सह महाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार॥ ३८॥

परमाराध्य श्रीहरिकी कृपासे उनकी विवेकवृत्ति जाग्रत् हो गयी। उन्होंने यह सारी पृथ्वी यथायोग्य अपने अनुगत पुत्रोंको बाँट दी और जिसके साथ उन्होंने तरह-तरहके भोग भोगे थे, उस अपनी राजरानीको साम्राज्यलक्ष्मीके सहित मृतदेहके समान छोड़ दिया तथा हृदयमें वैराग्य धारणकर भगवान्की लीलाओंका चिन्तन करते हुए उसके प्रभावसे श्रीनारदजीके बतलाये हुए मार्गका पुनः अनुसरण करने लगे॥ ३८॥

तस्य ह वा एते श्लोकाः—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम्।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन्॥ ३९

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः।
सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः॥ ४०

भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम्।
यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः॥ ४१

महाराज प्रियव्रतके विषयमें निम्नलिखित लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

'राजा प्रियव्रतने जो कर्म किये, उन्हें सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सिवा और कौन कर सकता है? उन्होंने रात्रिके अन्धकारको मिटानेका प्रयत्न करते हुए अपने रथके पहियोंसे बनी हुई लीकोंसे ही सात समुद्र बना दिये॥ ३९॥ प्राणियोंके सुभीतेके लिये (जिससे उनमें परस्पर झगड़ा न हो) द्वीपोंके द्वारा पृथ्वीके विभाग किये और प्रत्येक द्वीपमें अलग-अलग नदी, पर्वत और वन आदिसे उसकी सीमा निश्चित कर दी॥ ४०॥ वे भगवद्भक्त नारदादिके प्रेमी भक्त थे। उन्होंने पाताललोकके, देवलोकके, मर्त्यलोकके तथा कर्म और योगकी शक्तिसे प्राप्त हुए ऐश्वर्यको भी नरकतुल्य समझा था'॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतविजये प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

आग्नीध्र-चरित्र

श्रीशुक उवाच

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाणः पर्यगोपायत्॥ १॥

स च कदाचित्पितृलोककामः सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्र्येण तपस्व्याराधयाम्बभूव॥ २॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—पिता प्रियव्रतके इस प्रकार तपस्यामें संलग्न हो जानेपर राजा आग्नीध्र उनकी आज्ञाका अनुसरण करते हुए जम्बूद्वीपकी प्रजाका धर्मानुसार पुत्रवत् पालन करने लगे॥ १॥ एक बार वे पितृलोककी कामनासे सत्पुत्रप्राप्तिके लिये पूजाकी सब सामग्री जुटाकर सुरसुन्दरियोंके क्रीडास्थल मन्दराचलकी एक घाटीमें गये और तपस्यामें तत्पर होकर एकाग्रचित्तसे प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजीकी आराधना करने लगे॥ २॥

तदुपलभ्य भगवानादिपुरुषः सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास॥ ३॥ सा च तदाश्रमोपवनमतिरमणीयं विविधनिबिड-विटपिविटपनिकरसंश्लिष्टपुरटलतारूढस्थल-विहङ्गममिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः प्रतिबोध्यमान-सलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुप-कूजितामलजलाशयकमलाकरमुपबभ्राम॥ ४॥

तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविला-सायाश्चानुपदं खणखणायमानरुचिरचरणा-भरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलितनयननलिनमुकुलयुगल-मीषद्विकचय्य व्यचष्ट॥ ५॥ तामेवाविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं दिविज-मनुजमनोनयनाह्लाददुघैर्गतिविहारव्रीडाविनया-वलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य विदधतीं विवरं निजमुख-विगलितामृतासवसहासभाषणामोदमदान्ध-मधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदविन्यासेन वल्गुस्पन्दनस्तनकलशकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच॥ ६॥

आदिदेव भगवान् ब्रह्माजीने उनकी अभिलाषा जान ली। अतः अपनी सभाकी गायिका पूर्वचित्ति नामकी अप्सराको उनके पास भेज दिया॥ ३॥ आग्नीध्रजीके आश्रमके पास एक अति रमणीय उपवन था। वह अप्सरा उसीमें विचरने लगी। उस उपवनमें तरह-तरहके सघन तरुवरोंकी शाखाओंपर स्वर्णलताएँ फैली हुई थीं। उनपर बैठे हुए मयूरादि कई प्रकारके स्थलचारी पक्षियोंके जोड़े सुमधुर बोली बोल रहे थे। उनकी षड्जादि स्वरयुक्त ध्वनि सुनकर सचेत हुए जलकुक्कुट, कारण्डव एवं कलहंस आदि जलपक्षी भाँति-भाँतिसे कूजने लगते थे। इससे वहाँके कमलवनसे सुशोभित निर्मल सरोवर गूँजने लगते थे॥ ४॥

पूर्वचित्तिकी विलासपूर्ण सुललित गतिविधि और पाद विन्यासकी शैलीसे पद-पदपर उसके चरणनूपुरोंकी झनकार हो उठती थी। उसकी मनोहर ध्वनि सुनकर राजकुमार आग्नीध्रने समाधियोगद्वारा मूँदे हुए अपने कमल-कलीके समान सुन्दर नेत्रोंको कुछ-कुछ खोलकर देखा तो पास ही उन्हें वह अप्सरा दिखायी दी। वह भ्रमरीके समान एक-एक फूलके पास जाकर उसे सूँघती थी तथा देवता और मनुष्योंके मन और नयनोंको आह्लादित करनेवाली अपनी विलासपूर्ण गति, क्रीडा-चापल्य, लज्जा एवं विनययुक्त चितवन, सुमधुर वाणी तथा मनोहर अंगावयवोंसे पुरुषोंके हृदयमें कामदेवके प्रवेशके लिये द्वार-सा बना देती थी। जब वह हँस-हँसकर बोलने लगती, तब ऐसा प्रतीत होता मानो उसके मुखसे अमृतमय मादक मधु झर रहा है। उसके निःश्वासके गन्धसे मदान्ध होकर भौंरे उसके मुखकमलको घेर लेते, तब वह उनसे बचनेके लिये जल्दी-जल्दी पैर उठाकर चलती तो उसके कुचकलश, वेणी और करधनी हिलनेसे बड़े ही सुहावने लगते। यह सब देखनेसे भगवान् कामदेवको आग्नीध्रके हृदयमें प्रवेश करनेका अवसर मिल गया और वे उनके अधीन होकर उसे प्रसन्न करनेके लिये पागलकी भाँति इस प्रकार कहने लगे—॥ ५-६॥

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान्मृगयसे विपिने प्रमत्तान्॥ ७
बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन्न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु॥ ८
शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम्।
युष्मच्छिखाविलुलिताः सुमनोऽभिवृष्टीः
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः॥ ९
वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम्।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे
यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते॥ १०
किं सम्भृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता मे।
पङ्कोऽरुणः सुरभिरात्मविषाण ईदृग्
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि॥ ११

'मुनिवर्य! तुम कौन हो, इस पर्वतपर तुम क्या करना चाहते हो? तुम परमपुरुष श्रीनारायणकी कोई माया तो नहीं हो? [भौंहोंकी ओर संकेत करके—] सखे! तुमने ये बिना डोरीके दो धनुष क्यों धारण कर रखे हैं? क्या इनसे तुम्हारा कोई अपना प्रयोजन है अथवा इस संसारारण्यमें मुझ-जैसे मतवाले मृगोंका शिकार करना चाहते हो!॥ ७॥ [कटाक्षोंको लक्ष्य करके—] तुम्हारे ये दो बाण तो बड़े सुन्दर और पैने हैं। अहो! इनके कमलदलके पंख हैं, देखनेमें बड़े शान्त हैं और हैं भी पंखहीन। यहाँ वनमें विचरते हुए तुम इन्हें किसपर छोड़ना चाहते हो? यहाँ तुम्हारा कोई सामना करनेवाला नहीं दिखायी देता। तुम्हारा यह पराक्रम हम-जैसे जड-बुद्धियोंके लिये कल्याणकारी हो॥ ८॥ [भौंरोंकी ओर देखकर—] भगवन्! तुम्हारे चारों ओर जो ये शिष्यगण अध्ययन कर रहे हैं, वे तो निरन्तर रहस्ययुक्त सामगान करते हुए मानो भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं और ऋषिगण जैसे वेदकी शाखाओंका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार ये सब तुम्हारी चोटीसे झड़े हुए पुष्पोंका सेवन कर रहे हैं॥ ९॥ [नूपुरोंके शब्दकी ओर संकेत करके—] ब्रह्मन्! तुम्हारे चरणरूप पिंजड़ोंमें जो तीतर बन्द हैं, उनका शब्द तो सुनायी देता है; परन्तु रूप देखनेमें नहीं आता। [करधनीसहित पीली साड़ीमें अंगकी कान्तिकी उत्प्रेक्षा कर—] तुम्हारे नितम्बोंपर यह कदम्ब-कुसुमोंकी-सी आभा कहाँसे आ गयी? इनके ऊपर तो अंगारोंका मण्डल-सा भी दिखायी देता है। किन्तु तुम्हारा वल्कल-वस्त्र कहाँ है?॥ १०॥ [कुंकुममण्डित कुचोंकी ओर लक्ष्य करके—] द्विजवर! तुम्हारे इन दोनों सुन्दर सींगोंमें क्या भरा हुआ है? अवश्य ही इनमें बड़े अमूल्य रत्न भरे हैं, इसीसे तो तुम्हारा मध्यभाग इतना कृश होनेपर भी तुम इनका बोझ ढो रहे हो। यहाँ जाकर तो मेरी दृष्टि भी मानो अटक गयी है। और सुभग! इन सींगोंपर तुमने यह लाल-लाल लेप-सा क्या लगा रखा है? इसकी गन्धसे तो मेरा सारा आश्रम महक उठा है॥ ११॥

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे
यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ[1] बिभर्ति
बह्वद्भुतं सरसराससुधादि[2] वक्त्रे॥ १२

मित्रवर! मुझे तो तुम अपना देश दिखा दो, जहाँके निवासी अपने वक्ष:स्थलपर ऐसे अद्भुत अवयव धारण करते हैं, जिन्होंने हमारे-जैसे प्राणियोंके चित्तोंको क्षुब्ध कर दिया है तथा मुखमें विचित्र हाव-भाव, सरसभाषण और अधरामृत-जैसी अनूठी वस्तुएँ रखते हैं॥ १२॥

का वाऽऽत्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ।
उद्विग्न मीनयुगलं द्विजपङ्क्तिशोचि-
रासन्नभृङ्गनिकरं सर इन्मुखं ते॥ १३

'प्रियवर! तुम्हारा भोजन क्या है, जिसके खानेसे तुम्हारे मुखसे हवनसामग्रीकी-सी सुगन्ध फैल रही है? मालूम होता है, तुम कोई विष्णुभगवान्‌की कला ही हो; इसीलिये तुम्हारे कानोंमें कभी पलक न मारनेवाले मकरके आकारके दो कुण्डल हैं। तुम्हारा मुख एक सुन्दर सरोवरके समान है। उसमें तुम्हारे चंचल नेत्र भयसे काँपती हुई दो मछलियोंके समान, दन्तपंक्ति हंसोंके समान और घुँघराली अलकावली भौंरोंके समान शोभायमान है॥ १३॥

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन् भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे[3]।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम्॥ १४

तुम जब अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस गेंदको उछालते हो, तब यह दिशा-विदिशाओंमें जाती हुई मेरे नेत्रोंको तो चंचल कर ही देती है, साथ-साथ मेरे मनमें भी खलबली पैदा कर देती है। तुम्हारा बाँका जटाजूट खुल गया है, तुम इसे सँभालते नहीं? अरे, यह धूर्त वायु कैसा दुष्ट है जो बार-बार तुम्हारे नीवी-वस्त्रको उड़ा देता है॥ १४॥

रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम्[4]।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किं वा प्रसीदति स वै भवभावनो मे[5]॥ १५

तपोधन! तपस्वियोंके तपको भ्रष्ट करनेवाला यह अनूप रूप तुमने किस तपके प्रभावसे पाया है? मित्र! आओ, कुछ दिन मेरे साथ रहकर तपस्या करो। अथवा, कहीं विश्वविस्तारकी इच्छासे ब्रह्माजीने ही तो मुझपर कृपा नहीं की है॥ १५॥

न त्वां त्यजामि दयितं[6] द्विजदेवदत्तं
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम्।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः॥ १६

सचमुच, तुम ब्रह्माजीकी ही प्यारी देन हो; अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता। तुममें तो मेरे मन और नयन ऐसे उलझ गये हैं कि अन्यत्र जाना ही नहीं चाहते। सुन्दर सींगोंवाली! तुम्हारा जहाँ मन हो, मुझे भी वहीं ले चलो; मैं तो तुम्हारा अनुचर हूँ और तुम्हारी ये मंगलमयी सखियाँ भी हमारे ही साथ रहें'॥ १६॥

१. प्रा० पा०—उन्नयनैर्बिभर्ति। २. प्रा० पा०—स्मरसराससुधादि। ३. प्रा० पा०—ते। ४. प्रा० पा०—भवतेह लब्धम्। ५. प्रा० पा०—भावनोऽसौ। ६. प्रा० पा०—दयितां।

श्रीशुक उवाच

इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास॥ १७॥ सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपवयःश्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं जम्बूद्वीपपतिना भौमस्वर्गभोगान् बुभुजे॥ १८॥ तस्यामु ह वा आत्मजान् स राजवर आग्नीध्रो नाभिकिम्पुरुषहरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान्नव पुत्रानजनयत्॥ १९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! आग्नीध्र देवताओंके समान बुद्धिमान् और स्त्रियोंको प्रसन्न करनेमें बड़े कुशल थे। उन्होंने इसी प्रकारकी रतिचातुर्यमयी मीठी-मीठी बातोंसे उस अप्सराको प्रसन्न कर लिया॥ १७॥ वीर-समाजमें अग्रगण्य आग्नीध्रकी बुद्धि, शील, रूप, अवस्था, लक्ष्मी और उदारतासे आकर्षित होकर वह उन जम्बूद्वीपाधिपतिके साथ कई हजार वर्षोंतक पृथ्वी और स्वर्गके भोग भोगती रही॥ १८॥ तदनन्तर नृपवर आग्नीध्रने उसके गर्भसे नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नामके नौ पुत्र उत्पन्न किये॥ १९॥

सा सूत्वाथ सुतान्नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे॥ २०॥ आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः॥ २१॥ आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते॥ २२॥ सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितॄर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां श्यामां नारीं भद्रां देववीतिमितिसंज्ञा नवोदवहन्॥ २३॥

इस प्रकार नौ वर्षमें प्रतिवर्ष एकके क्रमसे नौ पुत्र उत्पन्न कर पूर्वचित्ति उन्हें राजभवनमें ही छोड़कर फिर ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हो गयी॥ २०॥ ये आग्नीध्रके पुत्र माताके अनुग्रहसे स्वभावसे ही सुडौल और सबल शरीरवाले थे। आग्नीध्रने जम्बूद्वीपके विभाग करके उन्हींके समान नामवाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्रको सौंप दिया। तब वे सब अपने-अपने वर्षका राज्य भोगने लगे॥ २१॥ महाराज आग्नीध्र दिन-दिन भोगोंको भोगते रहनेपर भी उनसे अतृप्त ही रहे। वे उस अप्सराको ही परम पुरुषार्थ समझते थे। इसलिये उन्होंने वैदिक कर्मोंके द्वारा उसी लोकको प्राप्त किया, जहाँ पितृगण अपने सुकृतोंके अनुसार तरह-तरहके भोगोंमें मस्त रहते हैं॥ २२॥ पिताके परलोक सिधारनेपर नाभि आदि नौ भाइयोंने मेरुकी मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देववीति नामकी नौ कन्याओंसे विवाह किया॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे आग्नीध्रवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

राजा नाभिका चरित्र

श्रीशुक उवाच

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत ॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! आग्नीध्रके पुत्र नाभिके कोई सन्तान न थी, इसलिये उन्होंने अपनी भार्या मेरुदेवीके सहित पुत्रकी कामनासे एकाग्रतापूर्वक भगवान् यज्ञपुरुषका यजन किया॥ १॥

तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार॥ २॥ अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः॥ ३॥

ऋत्विज ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति पुमान् प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम्॥ ४॥ सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते॥ ५॥

यद्यपि सुन्दर अंगोंवाले श्रीभगवान् द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विज्, दक्षिणा और विधि—इन यज्ञके साधनोंसे सहजमें नहीं मिलते, तथापि वे भक्तोंपर तो कृपा करते ही हैं। इसलिये जब महाराज नाभिने श्रद्धापूर्वक विशुद्धभावसे उनकी आराधना की, तब उनका चित्त अपने भक्तका अभीष्ट कार्य करनेके लिये उत्सुक हो गया। यद्यपि उनका स्वरूप सर्वथा स्वतन्त्र है, तथापि उन्होंने प्रवर्ग्यकर्मका अनुष्ठान होते समय उसे मन और नयनोंको आनन्द देनेवाले अवयवोंसे युक्त अति सुन्दर हृदयाकर्षक मूर्तिमें प्रकट किया॥ २॥ उनके श्रीअंगमें रेशमी पीताम्बर था, वक्षःस्थलपर सुमनोहर श्रीवत्सचिह्न सुशोभित था; भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा गलेमें वनमाला और कौस्तुभमणिकी शोभा थी। सम्पूर्ण शरीर अंग-प्रत्यंगकी कान्तिको बढ़ानेवाले किरणजालमण्डित मणिमय मुकुट, कुण्डल, कंकण, करधनी, हार, बाजूबंद और नुपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित था। ऐसे परम तेजस्वी चतुर्भुजमूर्ति पुरुषविशेषको प्रकट हुआ देख ऋत्विज्, सदस्य और यजमान आदि सभी लोग ऐसे आह्लादित हुए जैसे निर्धन पुरुष अपार धनराशि पाकर फूला नहीं समाता। फिर सभीने सिर झुकाकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रभुकी अर्घ्यद्वारा पूजा की और ऋत्विजोंने उनकी स्तुति की॥ ३॥

ऋत्विजोंने कहा—पूज्यतम! हम आपके अनुगत भक्त हैं, आप हमारे पुनः-पुनः पूजनीय हैं। किन्तु हम आपकी पूजा करना क्या जानें? हम तो बार-बार आपको नमस्कार करते हैं—इतना ही हमें महापुरुषोंने सिखाया है। आप प्रकृति और पुरुषसे भी परे हैं। फिर प्राकृत गुणोंके कार्यभूत इस प्रपंचमें बुद्धि फँस जानेसे आपके गुणगानमें सर्वथा असमर्थ ऐसा कौन पुरुष है जो प्राकृत नाम, रूप एवं आकृतिके द्वारा आपके स्वरूपका निरूपण कर सके? आप साक्षात् परमेश्वर हैं॥ ४॥ आपके परम मंगलमय गुण सम्पूर्ण जनताके दुःखोंका दमन करनेवाले हैं। यदि कोई उन्हें वर्णन करनेका साहस भी करेगा, तो केवल उनके एक देशका ही वर्णन कर सकेगा॥ ५॥

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिल-सितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि॥ ६॥

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे॥ ७॥

आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति॥ ८॥

तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन् स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः॥ ९॥ अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत्॥ १०॥

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरत-परिगुणितगुणगण परममङ्गलायनगुणगण-कथनोऽसि॥ ११॥

किन्तु प्रभो! यदि आपके भक्त प्रेम-गद्गद वाणीसे स्तुति करते हुए सामान्य जल, विशुद्ध पल्लव, तुलसी और दूबके अंकुर आदि सामग्रीसे ही आपकी पूजा करते हैं, तो भी आप सब प्रकार सन्तुष्ट हो जाते हैं॥ ६॥

हमें तो अनुरागके सिवा इस द्रव्य-कालादि अनेकों अंगोंवाले यज्ञसे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं दिखलायी देता;॥ ७॥ क्योंकि आपके स्वतः ही क्षण-क्षणमें जो सम्पूर्ण पुरुषार्थोंका फलस्वरूप परमानन्द स्वभावतः ही निरन्तर प्रादुर्भूत होता रहता है, आप साक्षात् उसके स्वरूप ही हैं। इस प्रकार यद्यपि आपको इन यज्ञादिसे कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि अनेक प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धि चाहनेवाले हमलोगोंके लिये तो मनोरथसिद्धिका पर्याप्त साधन यही होना चाहिये॥ ८॥ आप ब्रह्मादि परम पुरुषोंकी अपेक्षा भी परम श्रेष्ठ हैं। हम तो यह भी नहीं जानते कि हमारा परम कल्याण किसमें है, और न हमसे आपकी यथोचित पूजा ही बनी है; तथापि जिस प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष बिना बुलाये भी केवल करुणावश अज्ञानी पुरुषोंके पास चले जाते हैं, उसी प्रकार आप भी हमें मोक्षसंज्ञक अपना परमपद और हमारी अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करनेके लिये अन्य साधारण यज्ञदर्शकोंके समान यहाँ प्रकट हुए हैं॥ ९॥ पूज्यतम! हमें सबसे बड़ा वर तो आपने यही दे दिया कि ब्रह्मादि समस्त वरदायकोंमें श्रेष्ठ होकर भी आप राजर्षि नाभिकी इस यज्ञशालामें साक्षात् हमारे नेत्रोंके सामने प्रकट हो गये! अब हम और वर क्या माँगें?॥ १०॥

प्रभो! आपके गुणगणोंका गान परम मंगलमय है। जिन्होंने वैराग्यसे प्रज्वलित हुई ज्ञानाग्निके द्वारा अपने अन्तःकरणके राग-द्वेषादि सम्पूर्ण मलोंको जला डाला है, अतएव जिनका स्वभाव आपके ही समान शान्त है, वे आत्माराम मुनिगण भी निरन्तर आपके गुणोंका गान ही किया करते हैं॥ ११॥

अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु॥ १२॥

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिव-धनःफलीकरणम्॥ १३॥ को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषरयानावृतप्रकृतिरनुपासित-महच्चरणः॥ १४॥ यदु ह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान् प्रतिवोढुमविदुषाम्॥ १५॥

श्रीशुक उवाच

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवान् अनिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दित-चरणः सदयमिदमाह॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिः वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद् द्विजदेवकुलम्॥ १७॥

अतः हम आपसे यही वर माँगते हैं कि गिरने, ठोकर खाने, छींकने अथवा जँभाई लेने और संकटादिके समय एवं ज्वर और मरणादिकी अवस्थाओंमें आपका स्मरण न हो सकनेपर भी किसी प्रकार आपके सकलकलिमल-विनाशक 'भक्तवत्सल', 'दीनबन्धु' आदि गुणद्योतक नामोंका हम उच्चारण कर सकें॥ १२॥

इसके सिवा, कहनेयोग्य न होनेपर भी एक प्रार्थना और है। आप साक्षात् परमेश्वर हैं; स्वर्ग-अपवर्ग आदि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे आप न दे सकें। तथापि जैसे कोई कंगाल किसी धन लुटानेवाले परम उदार पुरुषके पास पहुँचकर भी उससे भूसा ही माँगे, उसी प्रकार हमारे यजमान ये राजर्षि नाभि सन्तानको ही परम पुरुषार्थ मानकर आपके ही समान पुत्र पानेके लिये आपकी आराधना कर रहे हैं॥ १३॥ यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपकी मायाका पार कोई नहीं पा सकता और न वह किसीके वशमें ही आ सकती है। जिन लोगोंने महापुरुषोंके चरणोंका आश्रय नहीं लिया, उनमें ऐसा कौन है जो उसके वशमें नहीं होता, उसकी बुद्धिपर उसका परदा नहीं पड़ जाता और विषयरूप विषका वेग उसके स्वभावको दूषित नहीं कर देता?॥ १४॥ देवदेव! आप भक्तोंके बड़े-बड़े काम कर देते हैं। हम मन्दमतियोंने कामनावश इस तुच्छ कार्यके लिये आपका आवाहन किया, यह आपका अनादर ही है। किन्तु आप समदर्शी हैं, अतः हम अज्ञानियोंकी इस धृष्टताको आप क्षमा करें॥ १५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! वर्षाधिपति नाभिके पूज्य ऋत्विजोंने प्रभुके चरणोंकी वन्दना करके जब पूर्वोक्त स्तोत्रसे स्तुति की, तब देवश्रेष्ठ श्रीहरिने करुणावश इस प्रकार कहा॥ १६॥

श्रीभगवान्ने कहा—ऋषियो! बड़े असमंजसकी बात है। आप सब सत्यवादी महात्मा हैं, आपने मुझसे यह बड़ा दुर्लभ वर माँगा है कि राजर्षि नाभिके मेरे समान पुत्र हो। मुनियो! मेरे समान तो मैं ही हूँ, क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ। तो भी ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है॥ १७॥

तत आग्नीध्रीयेंऽशकलयावतरिष्यामि आत्मतुल्यमनुपलभमानः ॥ १८ ॥

इसलिये मैं स्वयं ही अपनी अंशकलासे आग्नीध्रनन्दन नाभिके यहाँ अवतार लूँगा, क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखायी नहीं देता ॥ १८ ॥

श्रीशुक उवाच

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् ॥ १९ ॥ बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— महारानी मेरुदेवीके सुनते हुए उसके पतिसे इस प्रकार कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये ॥ १९ ॥ विष्णुदत्त परीक्षित्! उस यज्ञमें महर्षियोंद्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जानेपर श्रीभगवान् महाराज नाभिका प्रिय करनेके लिये उनके रनिवासमें महारानी मेरुदेवीके गर्भसे दिगम्बर संन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियोंका धर्म प्रकट करनेके लिये शुद्धसत्त्वमय विग्रहसे प्रकट हुए ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे नाभिचरिते ऋषभावतारो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ऋषभदेवजीका राज्यशासन

श्रीशुक उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशम[1]वैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा[2] देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः ॥ १ ॥ तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— राजन्! नाभिनन्दनके अंग जन्मसे ही भगवान् विष्णुके वज्र-अंकुश आदि चिह्नोंसे युक्त थे; समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियोंके कारण उनका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृतिवर्ग, प्रजा, ब्राह्मण और देवताओंकी यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वीका शासन करें ॥ १ ॥

उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणोंके कारण महाराज नाभिने उनका नाम 'ऋषभ' (श्रेष्ठ) रखा ॥ २ ॥

तस्य[3] हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान् वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया[4] स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत् ॥ ३ ॥

एक बार भगवान् इन्द्रने ईर्ष्यावश उनके राज्यमें वर्षा नहीं की। तब योगेश्वर भगवान् ऋषभने इन्द्रकी मूर्खतापर हँसते हुए अपनी योगमायाके प्रभावसे अपने वर्ष अजनाभखण्डमें खूब जल बरसाया ॥ ३ ॥

---

१. प्रा० पा०—सौम्योपशम०। २. प्रा० पा०—ब्राह्मणदेवता०। ३. प्रा० पा०—यस्य ही०। ४. प्रा० पा०—प्रेममायया वर्षमजनाभं।

नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन् परां निर्वृतिमुपगतः॥ ४॥

महाराज नाभि अपनी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो गये और अपनी ही इच्छासे मनुष्यशरीर धारण करनेवाले पुराणपुरुष श्रीहरिका सप्रेम लालन करते हुए, उन्हींके लीला-विलाससे मुग्ध होकर 'वत्स! तात!' ऐसा गद्गद-वाणीसे कहते हुए बड़ा सुख मानने लगे॥ ४॥

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह[1] मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन[2] तन्महिमानमवाप॥ ५॥

जब उन्होंने देखा कि मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्रकी जनता ऋषभदेवसे बहुत प्रेम करती है, तो उन्होंने उन्हें धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये राज्याभिषिक्त करके ब्राह्मणोंकी देख-रेखमें छोड़ दिया। आप अपनी पत्नी मेरुदेवीके सहित बदरिकाश्रमको चले गये। वहाँ अहिंसावृत्तिसे, जिससे किसीको उद्वेग न हो ऐसी कौशलपूर्ण तपस्या और समाधियोगके द्वारा भगवान् वासुदेवके नर-नारायणरूपकी आराधना करते हुए समय आनेपर उन्हींके स्वरूपमें लीन हो गये॥ ५॥

यस्य[3] ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—

को[4] नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान्।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा॥ ६

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा॥ ७

पाण्डुनन्दन! राजा नाभिके विषयमें यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

राजर्षि नाभिके उदार कर्मोंका आचरण दूसरा कौन पुरुष कर सकता है—जिनके शुद्ध कर्मोंसे सन्तुष्ट होकर साक्षात् श्रीहरि उनके पुत्र हो गये थे॥ ६॥ महाराज नाभिके समान ब्राह्मणभक्त भी कौन हो सकता है—जिनकी दक्षिणादिसे सन्तुष्ट हुए ब्राह्मणोंने अपने मन्त्रबलसे उन्हें यज्ञशालामें साक्षात् श्रीविष्णुभगवान्‌के दर्शन करा दिये॥ ७॥

अथ ह भगवानृषभदेवः[5] स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास॥ ८॥

भगवान् ऋषभदेवने अपने देश अजनाभखण्डको कर्मभूमि मानकर लोकसंग्रहके लिये कुछ काल गुरुकुलमें वास किया। गुरुदेवको यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थमें प्रवेश करनेके लिये उनकी आज्ञा ली। फिर लोगोंको गृहस्थधर्मकी शिक्षा देनेके लिये देवराज इन्द्रकी दी हुई उनकी कन्या जयन्तीसे विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त्त दोनों प्रकारके शास्त्रोपदिष्ट कर्मोंका आचरण करते हुए उसके गर्भसे अपने ही समान गुणवाले सौ पुत्र उत्पन्न किये॥ ८॥

---

१. प्रा० पा०—सह देव्या। २. प्रा० पा०—काले तन्महिमा०। ३. प्रा० पा०—यत्र। ४. प्रा० पा०—कस्तत्कर्म। ५. प्रा पा—भगवानृषभ: स्व।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति॥ ९॥ तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवतिप्रधानाः॥ १०॥

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥ ११

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद् वर्णयिष्यामः॥ १२॥ यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा[1] ब्राह्मणा बभूवुः॥ १३॥

भगवानृषभसंज्ञ[2] आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव [3] ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं[4] नियमयत्॥ १४॥

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः॥ १५॥ यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं[5] ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास॥ १६॥ द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज॥ १७॥

उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्हींके नामसे लोग इस अजनाभखण्डको 'भारतवर्ष' कहने लगे॥ ९॥ उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट—ये नौ राजकुमार शेष नब्बे भाइयोंसे बड़े एवं श्रेष्ठ थे॥ १०॥ उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—ये नौ राजकुमार भागवतधर्मका प्रचार करनेवाले बड़े भगवद्भक्त थे। भगवान्‌की महिमासे महिमान्वित और परम शान्तिसे पूर्ण इनका पवित्र चरित हम नारद-वसुदेवसंवादके प्रसंगसे आगे (एकादश स्कन्धमें) कहेंगे॥ ११-१२॥ इनसे छोटे जयन्तीके इक्यासी पुत्र पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले, अति विनीत, महान् वेदज्ञ और निरन्तर यज्ञ करनेवाले थे। वे पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेसे शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे॥ १३॥

भगवान् ऋषभदेव, यद्यपि परम स्वतन्त्र होनेके कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकारकी अनर्थपरम्परासे रहित, केवल आनन्दानुभवस्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियोंके समान कर्म करते हुए उन्होंने कालके अनुसार प्राप्त धर्मका आचरण करके उसका तत्त्व न जाननेवाले लोगोंको उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग-सुख और मोक्षका संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रममें लोगोंको नियमित किया॥ १४॥ महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसीका अनुकरण करने लगते हैं॥ १५॥ यद्यपि वे सभी धर्मोंके साररूप वेदके गूढ रहस्यको जानते थे, तो भी ब्राह्मणोंकी बतलायी हुई विधिसे साम-दानादि नीतिके अनुसार ही जनताका पालन करते थे॥ १६॥ उन्होंने शास्त्र और ब्राह्मणोंके उपदेशानुसार भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज् आदिसे सुसम्पन्न सभी प्रकारके सौ-सौ यज्ञ किये॥ १७॥

१. प्रा० पा०—कर्मशुद्धा। २. प्रा० पा०—भगवान्सर्वज्ञ आत्म०। ३. प्रा० पा०—केवल आनन्दा०। ४. प्रा० पा०—लोकानयमयत्। ५. प्रा० पा०—सकलधर्माधर्मं ब्राह्मं।

भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण ॥ १८॥ स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच॥ १९॥

भगवान् ऋषभदेवके शासनकालमें इस देशका कोई भी पुरुष अपने लिये किसीसे भी अपने प्रभुके प्रति दिन-दिन बढ़नेवाले अनुरागके सिवा और किसी वस्तुकी कभी इच्छा नहीं करता था। यही नहीं, आकाशकुसुमादि अविद्यमान वस्तुकी भाँति कोई किसीकी वस्तुकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था॥ १८॥ एक बार भगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देशमें पहुँचे। वहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंकी सभामें उन्होंने प्रजाके सामने ही अपने समाहितचित्त तथा विनय और प्रेमके भारसे सुसंयत पुत्रोंको शिक्षा देनेके लिये इस प्रकार कहा॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ऋषभजीका अपने पुत्रोंको उपदेश देना और स्वयं अवधूतवृत्ति ग्रहण करना

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्॥ १
महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥ २
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥ ३
नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः॥ ४

श्रीऋषभदेवजीने कहा—पुत्रो! इस मर्त्यलोकमें यह मनुष्यशरीर दुःखमय विषयभोग प्राप्त करनेके लिये ही नहीं है। ये भोग तो विष्ठाभोजी सूकर-कूकरादिको भी मिलते ही हैं। इस शरीरसे दिव्य तप ही करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो; क्योंकि इसीसे अनन्त ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है॥ १॥ शास्त्रोंने महापुरुषोंकी सेवाको मुक्तिका और स्त्रीसंगी कामियोंके संगको नरकका द्वार बताया है। महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, परमशान्त, क्रोधहीन, सबके हितचिन्तक और सदाचारसम्पन्न हों॥ २॥ अथवा मुझ परमात्माके प्रेमको ही जो एकमात्र पुरुषार्थ मानते हों, केवल विषयोंकी ही चर्चा करनेवाले लोगोंमें तथा स्त्री, पुत्र और धन आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न घरोंमें जिनकी अरुचि हो और जो लौकिक कार्योंमें केवल शरीरनिर्वाहके लिये ही प्रवृत्त होते हों॥ ३॥ मनुष्य अवश्य प्रमादवश कुकर्म करने लगता है, उसकी वह प्रवृत्ति इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये ही होती है। मैं इसे अच्छा नहीं समझता, क्योंकि इसीके कारण आत्माको यह असत् और दुःखदायक शरीर प्राप्त होता है॥ ४॥

पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः॥ ५
एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥ ६
यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित्।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः॥ ७
पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥ ८
यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत।
तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्मा-
न्मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम्॥ ९
हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या॥ १०
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः॥ ११

जबतक जीवको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा नहीं होती, तभीतक अज्ञानवश देहादिके द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता है। जबतक यह लौकिक-वैदिक कर्मोंमें फँसा रहता है, तबतक मनमें कर्मकी वासनाएँ भी बनी ही रहती हैं और इन्हींसे देहबन्धनकी प्राप्ति होती है॥ ५॥ इस प्रकार अविद्याके द्वारा आत्मस्वरूपके ढक जानेसे कर्मवासनाओंके वशीभूत हुआ चित्त मनुष्यको फिर कर्मोंमें ही प्रवृत्त करता है। अतः जबतक उसको मुझ वासुदेवमें प्रीति नहीं होती, तबतक वह देहबन्धनसे छूट नहीं सकता॥ ६॥ स्वार्थमें पागल जीव जबतक विवेक-दृष्टिका आश्रय लेकर इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको मिथ्या नहीं देखता, तबतक आत्मस्वरूपकी स्मृति खो बैठनेके कारण वह अज्ञानवश विषयप्रधान गृह आदिमें आसक्त रहता है और तरह-तरहके क्लेश उठाता रहता है॥ ७॥

स्त्री और पुरुष—इन दोनोंका जो परस्पर दाम्पत्य-भाव है, इसीको पण्डितजन उनके हृदयकी दूसरी स्थूल एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि कहते हैं। देहाभिमानरूपी एक-एक सूक्ष्म ग्रन्थि तो उनमें अलग-अलग पहलेसे ही है। इसीके कारण जीवको देहेन्द्रियादिके अतिरिक्त घर, खेत, पुत्र, स्वजन और धन आदिमें भी 'मैं' और 'मेरे' पनका मोह हो जाता है॥ ८॥ जिस समय कर्मवासनाओंके कारण पड़ी हुई इसकी यह दृढ़ हृदय-ग्रन्थि ढीली हो जाती है, उसी समय यह दाम्पत्यभावसे निवृत्त हो जाता है और संसारके हेतुभूत अहंकारको त्यागकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो परमपद प्राप्त कर लेता है॥ ९॥ पुत्रो! संसारसागरसे पार होनेमें कुशल तथा धैर्य, उद्यम एवं सत्त्वगुणविशिष्ट पुरुषको चाहिये कि सबके आत्मा और गुरुस्वरूप मुझ भगवान्‌में भक्तिभाव रखनेसे, मेरे परायण रहनेसे, तृष्णाके त्यागसे, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंके सहनेसे 'जीवको सभी योनियोंमें दुःख ही उठाना पड़ता है' इस विचारसे, तत्त्वजिज्ञासासे, तपसे, सकाम कर्मके त्यागसे, मेरे ही लिये कर्म करनेसे, मेरी कथाओंका नित्यप्रति श्रवण करनेसे, मेरे भक्तोंके संग और मेरे गुणोंके कीर्तनसे, वैरत्यागसे, समतासे, शान्तिसे और

अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक्।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
असम्प्रमादेन यमेन वाचाम्॥ १२
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम्॥ १३
कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात्॥ १४
पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान्।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते॥ १५
लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः॥ १६
कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिद्
अविद्यायामन्तरे वर्तमानम्।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम्॥ १७

शरीर तथा घर आदिमें मैं-मेरेपनके भावको त्यागनेकी इच्छासे, अध्यात्मशास्त्रके अनुशीलनसे, एकान्त-सेवनसे, प्राण, इन्द्रिय और मनके संयमसे, शास्त्र और सत्पुरुषोंके वचनमें यथार्थ बुद्धि रखनेसे, पूर्ण ब्रह्मचर्यसे, कर्तव्यकर्मोंमें निरन्तर सावधान रहनेसे, वाणीके संयमसे, सर्वत्र मेरी ही सत्ता देखनेसे, अनुभवज्ञानसहित तत्त्वविचारसे और योगसाधनसे अहंकाररूप अपने लिंगशरीरको लीन कर दे॥ १०—१३॥ मनुष्यको चाहिये कि वह सावधान रहकर अविद्यासे प्राप्त इस हृदयग्रन्थिरूप बन्धनको शास्त्रोक्त रीतिसे इन साधनोंके द्वारा भलीभाँति काट डाले; क्योंकि यही कर्मसंस्कारोंके रहनेका स्थान है। तदनन्तर साधनका भी परित्याग कर दे॥ १४॥

जिसको मेरे लोककी इच्छा हो अथवा जो मेरे अनुग्रहकी प्राप्तिको ही परम पुरुषार्थ मानता हो—वह राजा हो तो अपनी अबोध प्रजाको, गुरु अपने शिष्योंको और पिता अपने पुत्रोंको ऐसी ही शिक्षा दे। अज्ञानके कारण यदि वे उस शिक्षाके अनुसार न चलकर कर्मको ही परम पुरुषार्थ मानते रहें, तो भी उनपर क्रोध न करके उन्हें समझा-बुझाकर कर्ममें प्रवृत्त न होने दे। उन्हें विषयासक्तियुक्त काम्यकर्मोंमें लगाना तो ऐसा ही है, जैसे किसी अंधे मनुष्यको जान-बूझकर गढ़ेमें ढकेल देना। इससे भला, किस पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है॥ १५॥ अपना सच्चा कल्याण किस बातमें है, इसको लोग नहीं जानते; इसीसे वे तरह-तरहकी भोग-कामनाओंमें फँसकर तुच्छ क्षणिक सुखके लिये आपसमें वैर ठान लेते हैं और निरन्तर विषयभोगोंके लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं। वे मूर्ख इस बातपर कुछ भी विचार नहीं करते कि इस वैर-विरोधके कारण नरक आदि अनन्त घोर दुःखोंकी प्राप्ति होगी॥ १६॥ गढ़ेमें गिरनेके लिये उलटे रास्तेसे जाते हुए मनुष्यको जैसे आँखवाला पुरुष उधर नहीं जाने देता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्यको अविद्यामें फँसकर दुःखोंकी ओर जाते देखकर कौन ऐसा दयालु और ज्ञानी पुरुष होगा, जो जान-बूझकर भी उसे उसी राहपर जाने दे या जानेके लिये प्रेरणा करे॥ १७॥

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥ १८
इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं[1] हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः॥ १९
तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम्॥ २०
भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः[2]।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये॥ २१
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु[3] तेषाम्।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः॥ २२
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परं तु[4]।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे॥ २३

जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है॥ १८॥

मेरे इस अवतार-शरीरका रहस्य साधारण जनोंके लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसीमें धर्मकी स्थिति है, मैंने अधर्मको अपनेसे बहुत दूर पीछेकी ओर ढकेल दिया है, इसीसे सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं॥ १९॥ तुम सब मेरे उस शुद्ध सत्त्वमय हृदयसे उत्पन्न हुए हो, इसलिये मत्सर छोड़कर अपने बड़े भाई भरतकी सेवा करो। उसकी सेवा करना मेरी ही सेवा करना है और यही तुम्हारा प्रजापालन भी है॥ २०॥ अन्य सब भूतोंकी अपेक्षा वृक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, उनसे चलनेवाले जीव श्रेष्ठ हैं और उनमें भी कीटादिकी अपेक्षा ज्ञानयुक्त पशु आदि श्रेष्ठ हैं। पशुओंसे मनुष्य, मनुष्योंसे प्रमथगण, प्रमथोंसे गन्धर्व, गन्धर्वोंसे सिद्ध और सिद्धोंसे देवताओंके अनुयायी किन्नरादि श्रेष्ठ हैं॥ २१॥

उनसे असुर, असुरोंसे देवता और देवताओंसे भी इन्द्र श्रेष्ठ हैं। इन्द्रसे भी ब्रह्माजीके पुत्र दक्षादि प्रजापति श्रेष्ठ हैं, ब्रह्माजीके पुत्रोंमें रुद्र सबसे श्रेष्ठ हैं। वे ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ब्रह्माजी उनसे श्रेष्ठ हैं। वे भी मुझसे उत्पन्न हैं और मेरी उपासना करते हैं, इसलिये मैं उनसे भी श्रेष्ठ हूँ। परन्तु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं उन्हें पूज्य मानता हूँ॥ २२॥

[सभामें उपस्थित ब्राह्मणोंको लक्ष्य करके] विप्रगण! दूसरे किसी भी प्राणीको मैं ब्राह्मणोंके समान भी नहीं समझता, फिर उनसे अधिक तो मान ही कैसे सकता हूँ। लोग श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंके मुखमें जो अन्नादि आहुति डालते हैं, उसे मैं जैसी प्रसन्नतासे ग्रहण करता हूँ वैसे अग्निहोत्रमें होम की हुई सामग्रीको स्वीकार नहीं करता॥ २३॥

१. प्रा० पा०—तत्त्वं। २. प्रा० पा०—निबोधनिष्ठाः। ३. प्रा० पा०—सुता हि तेषाम्। ४. प्रा० पा०—परं यत्।

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र॥ २४
मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम्॥ २५
सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे॥ २६
मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि।
विना पुमान् येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत्॥ २७

श्रीशुक उवाच

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज॥ २८॥

जिन्होंने इस लोकमें अध्ययनादिके द्वारा मेरी वेदरूपा अति सुन्दर और पुरातन मूर्तिको धारण कर रखा है तथा जो परम पवित्र सत्त्वगुण, शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा और ज्ञानादि आठ गुणोंसे सम्पन्न हैं—उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कौन हो सकता है॥ २४॥ मैं ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ और अनन्त हूँ तथा स्वर्ग-मोक्ष आदि देनेकी भी सामर्थ्य रखता हूँ; किन्तु मेरे अकिंचन भक्त ऐसे निःस्पृह होते हैं कि वे मुझसे भी कभी कुछ नहीं चाहते; फिर राज्यादि अन्य वस्तुओंकी तो वे इच्छा ही कैसे कर सकते हैं?॥ २५॥

पुत्रो! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतोंको मेरा ही शरीर समझकर शुद्ध बुद्धिसे पद-पदपर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है॥ २६॥ मन, वचन, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका साक्षात् फल मेरा इस प्रकारका पूजन ही है। इसके बिना मनुष्य अपनेको महामोहमय कालपाशसे छुड़ा नहीं सकता॥ २७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! ऋषभदेवजीके पुत्र यद्यपि स्वयं ही सब प्रकार सुशिक्षित थे, तो भी लोगोंको शिक्षा देनेके उद्देश्यसे महाप्रभावशाली परम सुहृद् भगवान् ऋषभने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया। ऋषभदेवजीके सौ पुत्रोंमें भरत सबसे बड़े थे। वे भगवान्‌के परम भक्त और भगवद्भक्तोंके परायण थे। ऋषभदेवजीने पृथ्वीका पालन करनेके लिये उन्हें राजगद्दीपर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियोंके भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित धर्मोंकी शिक्षा देनेके लिये बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीरमात्रका परिग्रह रखा और सब कुछ घरपर रहते ही छोड़ दिया। अब वे वस्त्रोंका भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे। उन्मत्तका-सा वेष था। इस स्थितिमें वे आहवनीय (अग्निहोत्रकी) अग्नियोंको अपनेमें ही लीन करके संन्यासी हो गये और ब्रह्मावर्त देशसे बाहर निकल गये॥ २८॥

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूत-वेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौन-व्रतस्तूष्णीं बभूव॥ २९॥ तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थ-गिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः परि-भूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनाव-मेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तै-स्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपित अहंममाभिमानत्वा-दविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम ॥ ३० ॥ अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुल-बाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दर-स्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमान-शिशिर तारारुणायतनयनरुचिरः सदृश-सुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मित-वदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमान-कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिन-निजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत॥ ३१ ॥

वे सर्वथा मौन हो गये थे, कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे। जड, अंधे, बहरे, गूँगे, पिशाच और पागलोंकी-सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे॥ २९॥ कभी नगरों और गाँवोंमें चले जाते तो कभी खानों, किसानोंकी बस्तियों, बगीचों, पहाड़ी गाँवों, सेनाकी छावनियों, गोशालाओं, अहीरोंकी बस्तियों और यात्रियोंके टिकनेके स्थानोंमें रहते। कभी पहाड़ों, जंगलों और आश्रम आदिमें विचरते। वे किसी भी रास्तेसे निकलते तो जिस प्रकार वनमें विचरनेवाले हाथीको मक्खियाँ सताती हैं, उसी प्रकार मूर्ख और दुष्टलोग उनके पीछे हो जाते और उन्हें तंग करते। कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब कर देते, कोई थूक देते, कोई ढेला मारते, कोई विष्ठा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोड़ते और कोई खोटी-खरी सुनाकर उनका तिरस्कार करते। किन्तु वे इन सब बातोंपर जरा भी ध्यान नहीं देते। इसका कारण यह था कि भ्रमसे सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या शरीरमें उनकी अहंता-ममता तनिक भी नहीं थी। वे कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण प्रपंचके साक्षी होकर अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित थे, इसलिये अखण्ड चित्तवृत्तिसे अकेले ही पृथ्वीपर विचरते रहते थे॥ ३० ॥ यद्यपि उनके हाथ, पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाँहे, कंधे, गले और मुख आदि अंगोंकी बनावट बड़ी ही सुकुमार थी; उनका स्वभावसे ही सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुसकानसे और भी मनोहर जान पड़ता था; नेत्र नवीन कमलदलके समान बड़े ही सुहावने, विशाल एवं कुछ लाली लिये हुए थे; उनकी पुतलियाँ शीतल एवं संतापहारिणी थीं। उन नेत्रोंके कारण वे बड़े मनोहर जान पड़ते थे। कपोल, कान और नासिका छोटे-बड़े न होकर समान एवं सुन्दर थे तथा उनके अस्फुट हास्ययुक्त मनोहर मुखारविन्दकी शोभाको देखकर पुरनारियोंके चित्तमें कामदेवका संचार हो जाता था; तथापि उनके मुखके आगे जो भूरे रंगकी लम्बी-लम्बी घुँघराली लटें लटकी रहती थीं, उनके महान् भार और अवधूतोंके समान धूलिधूसरित देहके कारण वे ग्रहग्रस्त मनुष्यके समान जान पड़ते थे॥ ३१ ॥

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः॥ ३२॥ तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजन समन्तात् सुरभिं चकार॥ ३३॥ एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म॥ ३४॥ इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्॥ ३५॥

जब भगवान् ऋषभदेवने देखा कि यह जनता योगसाधनमें विघ्नरूप है और इससे बचनेका उपाय बीभत्सवृत्तिसे रहना ही है, तब उन्होंने अजगरवृत्ति धारण कर ली। वे लेटे-ही-लेटे खाने-पीने, चबाने और मल-मूत्र त्याग करने लगे। वे अपने त्यागे हुए मलमें लोट-लोटकर शरीरको उससे सान लेते॥ ३२॥

(किन्तु) उनके मलमें दुर्गन्ध नहीं थी, बड़ी सुगन्ध थी। और वायु उस सुगन्धको लेकर उनके चारों ओर दस योजनतक सारे देशको सुगन्धित कर देती थी॥ ३३॥

इसी प्रकार गौ, मृग और काकादिकी वृत्तियोंको स्वीकार कर वे उन्हींके समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्रका त्याग करने लगते थे॥ ३४॥

परीक्षित्! परमहंसोंको त्यागके आदर्शकी शिक्षा देनेके लिये इस प्रकार मोक्षपति भगवान् ऋषभदेवने कई तरहकी योगचर्याओंका आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्दका अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टिमें निरुपाधिकरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा अपने आत्मस्वरूप भगवान् वासुदेवसे किसी प्रकारका भेद नहीं था। इसलिये उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाशगमन, मनोजवित्व (मनकी गतिके समान ही शरीरका भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना), अन्तर्धान, परकायप्रवेश (दूसरेके शरीरमें प्रवेश करना), दूरकी बातें सुन लेना और दूरके दृश्य देख लेना आदि सब प्रकारकी सिद्धियाँ अपने-आप ही सेवा करनेको आयीं; परन्तु उन्होंने उनका मनसे आदर या ग्रहण नहीं किया॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ऋषभदेवजीका देहत्याग

राजोवाच

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरित-ज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव संगच्छन्ते ॥ २ ॥

तथा चोक्तम्—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥ ३

नित्यं ददाति कामस्य च्छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥ ४

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद् बुधः॥ ५

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षित-भगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनु-शिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानम् असंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानु-वृत्तिरुपरराम ॥ ६ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! योगरूप वायुसे प्रज्वलित हुई ज्ञानाग्निसे जिनके रागादि कर्मबीज दग्ध हो गये हैं—उन आत्माराम मुनियोंको दैववश यदि स्वयं ही अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ, तो वे उनके राग-द्वेषादि क्लेशोंका कारण तो किसी प्रकार हो नहीं सकतीं। फिर भगवान् ऋषभने उन्हें स्वीकार क्यों नहीं किया?॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है; किन्तु संसारमें जैसे चालाक व्याध अपने पकड़े हुए मृगका विश्वास नहीं करते, उसी प्रकार बुद्धिमान् लोग इस चंचल चित्तका भरोसा नहीं करते॥ २॥ ऐसा ही कहा भी है—'इस चंचल चित्तसे कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये। इसमें विश्वास करनेसे ही मोहिनीरूपमें फँसकर महादेवजीका चिरकालका संचित तप क्षीण हो गया था॥ ३ ॥ जैसे व्यभिचारिणी स्त्री जार पुरुषोंको अवकाश देकर उनके द्वारा अपनेमें विश्वास रखनेवाले पतिका वध करा देती है—उसी प्रकार जो योगी मनपर विश्वास करते हैं, उनका मन काम और उसके साथी क्रोधादि शत्रुओंको आक्रमण करनेका अवसर देकर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है॥ ४॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और भय आदि शत्रुओंका तथा कर्म-बन्धनका मूल तो यह मन ही है; इसपर कोई भी बुद्धिमान् कैसे विश्वास कर सकता है?॥ ५॥

इसीसे भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालोंके भी भूषणस्वरूप थे, तो भी वे जड पुरुषोंकी भाँति अवधूतोंके-से विविध वेष, भाषा और आचरणसे अपने ईश्वरीय प्रभावको छिपाये रहते थे। अन्तमें उन्होंने योगियोंको देहत्यागकी विधि सिखानेके लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्तःकरणमें अभेदरूपसे स्थित परमात्माको अभिन्नरूपसे देखते हुए वासनाओंकी अनुवृत्तिसे छूटकर लिंगदेहके अभिमानसे भी मुक्त होकर उपराम हो गये॥ ६॥

तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन संक्रममाणः कोङ्कवेङ्क-कुटकान्दक्षिणकर्णाटकान्देशान् यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्यकृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार॥ ७॥ अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्र-दावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह॥ ८॥

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमस-मञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते ॥ ९ ॥ येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यप-व्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नान-अनाचमन-अशौच-केशोल्लुञ्चनादीनि कलिना अधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुष-लोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति॥ १०॥ ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्ध-परम्परयाऽऽश्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥ ११ ॥

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ १२ ॥ तस्यानुगुणान् श्लोकान् गायन्ति—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति॥ १३

इस प्रकार लिंगदेहके अभिमानसे मुक्त भगवान् ऋषभदेवजीका शरीर योगमायाकी वासनासे केवल अभिमानाभासके आश्रय ही इस पृथ्वीतलपर विचरता रहा। वह दैववश कोंक, वेंक और दक्षिण आदि कुटक कर्णाटकके देशोंमें गया और मुँहमें पत्थरका टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्तके समान दिगम्बररूपसे कुटकाचलके वनमें घूमने लगा॥ ७॥ इसी समय झंझावातसे झकझोरे हुए बाँसोंके घर्षणसे प्रबल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वनको अपनी लाल-लाल लपटोंमें लेकर ऋषभदेवजीके सहित भस्म कर दिया॥ ८॥

राजन्! जिस समय कलियुगमें अधर्मकी वृद्धि होगी, उस समय कोंक, वेंक और कुटक देशका मन्दमति राजा अर्हत् वहाँके लोगोंसे ऋषभदेवजीके आश्रमातीत आचरणका वृत्तान्त सुनकर तथा स्वयं उसे ग्रहणकर लोगोंके पूर्वसंचित पापफलरूप होनहारके वशीभूत हो भयरहित स्वधर्म-पथका परित्याग करके अपनी बुद्धिसे अनुचित और पाखण्डपूर्ण कुमार्गका प्रचार करेगा॥ ९ ॥ उससे कलियुगमें देवमायासे मोहित अनेकों अधम मनुष्य अपने शास्त्रविहित शौच और आचारको छोड़ बैठेंगे। अधर्मबहुल कलियुगके प्रभावसे बुद्धिहीन हो जानेके कारण वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि ईश्वरका तिरस्कार करनेवाले पाखण्डधर्मोंको मनमाने ढंगसे स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, ब्राह्मण एवं भगवान् यज्ञपुरुषकी निन्दा करने लगेंगे॥ १०॥ वे अपनी इस नवीन अवैदिक स्वेच्छाकृत प्रवृत्तिमें अन्धपरम्परासे विश्वास करके मतवाले रहनेके कारण स्वयं ही घोर नरकमें गिरेंगे॥ ११॥

भगवान्का यह अवतार रजोगुणसे भरे हुए लोगोंको मोक्षमार्गकी शिक्षा देनेके लिये ही हुआ था॥ १२॥ इसके गुणोंका वर्णन करते हुए लोग इन वाक्योंको कहा करते हैं—'अहो! सात समुद्रोंवाली पृथ्वीके समस्त द्वीप और वर्षोंमें यह भारतवर्ष बड़ी ही पुण्यभूमि है, क्योंकि यहाँके लोग श्रीहरिके मंगलमय अवतार-चरित्रोंका गान करते हैं॥ १३॥

अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः।
कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम्॥ १४
को न्वस्य[१] काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः॥ १५

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं[२] पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो[३] भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते॥ १६॥ यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्त्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते[४] भगवदीयत्वेनैव[५] परिसमाप्तसर्वार्थाः॥ १७॥

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥ १८

अहो! महाराज प्रियव्रतका वंश बड़ा ही उज्ज्वल एवं सुयशपूर्ण है, जिसमें पुराणपुरुष श्रीआदिनारायणने ऋषभावतार लेकर मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले पारमहंस्य धर्मका आचरण किया॥ १४॥ अहो! इन जन्मरहित भगवान् ऋषभदेवके मार्गपर कोई दूसरा योगी मनसे भी कैसे चल सकता है। क्योंकि योगीलोग जिन योगसिद्धियोंके लिये लालायित होकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें इन्होंने अपने-आप प्राप्त होनेपर भी असत् समझकर त्याग दिया था॥ १५॥

राजन्! इस प्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गौओंके परमगुरु भगवान् ऋषभदेवका यह विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया। यह मनुष्योंके समस्त पापोंको हरनेवाला है। जो मनुष्य इस परम मंगलमय पवित्र चरित्रको एकाग्रचित्तसे श्रद्धापूर्वक निरन्तर सुनते या सुनाते हैं, उन दोनोंकी ही भगवान् वासुदेवमें अनन्यभक्ति हो जाती है॥ १६॥ तरह-तरहके पापोंसे पूर्ण, सांसारिक तापोंसे अत्यन्त तपे हुए अपने अन्तःकरणको पण्डितजन इस भक्ति-सरितामें ही नित्य-निरन्तर नहलाते रहते हैं। इससे उन्हें जो परम शान्ति मिलती है, वह इतनी आनन्दमयी होती है कि फिर वे लोग उसके सामने, अपने-ही-आप प्राप्त हुए मोक्षरूप परम पुरुषार्थका भी आदर नहीं करते। भगवान्के निजजन हो जानेसे ही उनके समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं॥ १७॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डवलोगोंके और यदुवंशियोंके रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् और कुलपति थे; यहाँतक कि वे कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। इसी प्रकार भगवान् दूसरे भक्तोंके भी अनेकों कार्य कर सकते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं, परन्तु मुक्तिसे भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहजमें नहीं देते॥ १८॥

१. प्रा० पा०—को ह्यस्य। २. प्रा० पा०—विशुद्धाचरितं पुंसां०। ३. प्रा० पा०—वावहितस्तस्मिन् वासुदेव। ४. प्रा० पा०—नैवाद्रियन्ते। ५. प्रा० पा०—भगवतत्त्वेनैव।

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै॥ १९

निरन्तर विषय-भोगोंकी अभिलाषा करनेके कारण अपने वास्तविक श्रेयसे चिरकालतक बेसुध हुए लोगोंको जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोकका उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होनेवाले आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे सब प्रकारकी तृष्णाओंसे मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार है॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते षष्ठोध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

भरत-चरित्र

श्रीशुक उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे॥ १॥ तस्यामु ह वा आत्मजान् कार्त्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि ॥ २॥ सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति। अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति॥ ३॥

स बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवद् उरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि वर्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्तमानः पर्यपालयत्॥ ४॥ ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाऽऽहृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्य-पशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना ॥ ५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! महाराज भरत बड़े ही भगवद्भक्त थे। भगवान् ऋषभदेवने अपने संकल्पमात्रसे उन्हें पृथ्वीकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त कर दिया। उन्होंने उनकी आज्ञामें स्थित रहकर विश्वरूपकी कन्या पंचजनीसे विवाह किया॥ १॥

जिस प्रकार तामस अहंकारसे शब्दादि पाँच भूततन्मात्र उत्पन्न होते हैं—उसी प्रकार पंचजनीके गर्भसे उनके सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु नामक पाँच पुत्र हुए—जो सर्वथा उन्हींके समान थे। इस वर्षको, जिसका नाम पहले अजनाभवर्ष था, राजा भरतके समयसे ही 'भारतवर्ष' कहते हैं॥ २-३॥

महाराज भरत बहुज्ञ थे। वे अपने-अपने कर्मोंमें लगी हुई प्रजाका अपने बाप-दादोंके समान स्वधर्ममें स्थित रहते हुए अत्यन्त वात्सल्यभावसे पालन करने लगे॥ ४॥ उन्होंने होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजों द्वारा कराये जानेवाले प्रकृति और विकृति* दोनों प्रकारके अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम आदि छोटे-बड़े क्रतुओं (यज्ञों)-से यथासमय श्रद्धापूर्वक यज्ञ और क्रतुरूप श्रीभगवान्का यजन किया॥ ५॥

---

* प्रकृति और विकृति-भेदसे अग्निहोत्रादि क्रतु दो प्रकारके होते हैं। सम्पूर्ण अंगोंसे युक्त क्रतुओंको 'प्रकृति' कहते हैं और जिनमें सब अंग पूर्ण नहीं होते, किसी-न-किसी अंगकी कमी रहती है, उन्हें 'विकृति' कहते हैं।

सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्ग-क्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणा-मर्थनियामकतया साक्षात्कर्तरि परदेवताया भगवति वासुदेव एव[१] भावयमान आत्मनैपुण्य-मृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान् पुरुषा-वयवेष्वभ्यध्यायत् ॥ ६ ॥ एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे[२] ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान[३] उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरया-जायत ॥ ७ ॥

इस प्रकार अंग और क्रियाओंके सहित भिन्न-भिन्न यज्ञोंके अनुष्ठानके समय जब अध्वर्युगण आहुति देनेके लिये हवि हाथमें लेते, तो यजमान भरत उस यज्ञकर्मसे होनेवाले पुण्यरूप फलको यज्ञपुरुष भगवान् वासुदेवके अर्पण कर देते थे। वस्तुतः वे परब्रह्म ही इन्द्रादि समस्त देवताओंके प्रकाशक, मन्त्रोंके वास्तविक प्रतिपाद्य तथा उन देवताओंके भी नियामक होनेसे मुख्य कर्ता एवं प्रधान देव हैं। इस प्रकार अपनी भगवदर्पण बुद्धिरूप कुशलतासे हृदयके राग-द्वेषादि मलोंका मार्जन करते हुए वे सूर्यादि सभी यज्ञभोक्ता देवताओंका भगवान्‌के नेत्रादि अवयवोंके रूपमें चिन्तन करते थे ॥ ६ ॥ इस तरह कर्मकी शुद्धिसे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। तब उन्हें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान, हृदयाकाशमें ही अभिव्यक्त होनेवाले, ब्रह्मस्वरूप एवं महापुरुषोंके लक्षणोंसे उपलक्षित भगवान् वासुदेवमें—जो श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, चक्र, शंख और गदा आदिसे सुशोभित तथा नारदादि निजजनोंके हृदयोंमें चित्रके समान निश्चलभावसे स्थित रहते हैं—दिन-दिन वेगपूर्वक बढ़नेवाली उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त हुई ॥ ७ ॥

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्म-निर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं[४] स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पन्निकेतात्स्वनिकेतात् पुलहाश्रमं[५] प्रवव्राज ॥ ८ ॥ यत्र ह वाव भगवान् हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन संनिधाप्यत इच्छारूपेण ॥ ९ ॥ यत्राश्रमपदान्युभयतो-नाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति ॥ १० ॥

इस प्रकार एक करोड़ वर्ष निकल जानेपर उन्होंने राज्यभोगका प्रारब्ध क्षीण हुआ जानकर अपनी भोगी हुई वंशपरम्परागत सम्पत्तिको यथायोग्य पुत्रोंमें बाँट दिया। फिर अपने सर्वसम्पत्तिसम्पन्न राजमहलसे निकलकर वे पुलहाश्रम (हरिहरक्षेत्र)-में चले आये ॥ ८ ॥ इस पुलहाश्रममें रहनेवाले भक्तोंपर भगवान्‌का बड़ा ही वात्सल्य है। वे आज भी उनसे उनके इष्टरूपमें मिलते रहते हैं ॥ ९ ॥ वहाँ चक्रनदी (गण्डकी) नामकी प्रसिद्ध सरिता चक्राकार शालग्राम-शिलाओंसे, जिनके ऊपर-नीचे दोनों ओर नाभिके समान चिह्न होते हैं, सब ओरसे ऋषियोंके आश्रमोंको पवित्र करती रहती है ॥ १० ॥

१. प्रा० पा०—एवम्। २. प्रा० पा०—कर्मविशुद्धिः सत्त्वस्यान्तर्हृदयाका०। ३. प्रा० पा०—विराजमान०। ४. प्रा० पा०—वसरो विभुज्यमानं तनयेभ्यः पितृ०। ५. प्रा० पा०—पुलहश्रममेष प्र०।

तस्मिन् वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवन विविधकुसुमकिसलय-तुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप ॥ ११ ॥ तयेत्थमविरतपुरुषपरि-चर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्रुतहृदय-शैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलक-कुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धा-वलोकनयन एवं निजरमणारुणचरणारविन्दा-नुध्यानपरिचितभक्तियोगेन परिप्लुत-परमाह्लादगम्भीरहृदयहृदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार॥ १२॥ इत्थं धृतभगवद्व्रतऐणेयाजिनवाससा-नुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच— ॥ १३ ॥

उस पुलहाश्रमके उपवनमें एकान्त स्थानमें अकेले ही रहकर वे अनेक प्रकारके पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल-फलादि उपहारोंसे भगवान्‌की आराधना करने लगे। इससे उनका अन्तःकरण समस्त विषयाभिलाषाओंसे निवृत्त होकर शान्त हो गया और उन्हें परम आनन्द प्राप्त हुआ॥ ११ ॥ इस प्रकार जब वे नियमपूर्वक भगवान्‌की परिचर्या करने लगे, तब उससे प्रेमका वेग बढ़ता गया—जिससे उनका हृदय द्रवीभूत होकर शान्त हो गया, आनन्दके प्रबल वेगसे शरीरमें रोमांच होने लगा तथा उत्कण्ठाके कारण नेत्रोंमें प्रेमके आँसू उमड़ आये, जिससे उनकी दृष्टि रुक गयी। अन्तमें जब अपने प्रियतमके अरुण चरणारविन्दोंके ध्यानसे भक्तियोगका आविर्भाव हुआ, तब परमानन्दसे सराबोर हृदयरूप गम्भीर सरोवरमें बुद्धिके डूब जानेसे उन्हें उस नियमपूर्वक की जानेवाली भगवत्पूजाका भी स्मरण न रहा॥ १२॥ इस प्रकार वे भगवत्सेवाके नियममें ही तत्पर रहते थे, शरीरपर कृष्णमृगचर्म धारण करते थे तथा त्रिकालस्नानके कारण भीगते रहनेसे उनके केश भूरी-भूरी घुँघराली लटोंमें परिणत हो गये थे, जिनसे वे बड़े ही सुहावने लगते थे। वे उदित हुए सूर्यमण्डलमें सूर्यसम्बन्धिनी ऋचाओंद्वारा ज्योतिर्मय परमपुरुष भगवान् नारायणकी आराधना करते और इस प्रकार कहते— ॥ १३ ॥

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः॥ १४

'भगवान् सूर्यका कर्मफलदायक तेज प्रकृतिसे परे है। उसीने संकल्पद्वारा इस जगत्‌की उत्पत्ति की है। फिर वही अन्तर्यामीरूपसे इसमें प्रविष्ट होकर अपनी चित्-शक्तिद्वारा विषयलोलुप जीवोंकी रक्षा करता है। हम उसी बुद्धिप्रवर्त्तक तेजकी शरण लेते हैं'॥ १४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भरतचरिते भगवत्परिचर्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

भरतजीका मृगके मोहमें फँसकर मृगयोनिमें जन्म लेना

श्रीशुक उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेक-नैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त उपविवेश॥ १॥ तत्र तदा राजन् हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम ॥ २॥ तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत्॥ ३॥ तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात् सहसैवोच्चक्राम॥ ४॥

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो गर्भः स्त्रोतसि निपपात॥ ५॥ तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार॥ ६॥

तं त्वेणकुणकं कृपणं स्त्रोतसानूह्यमानमभि-वीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत् ॥ ७॥ तस्य ह वा एणकुणक उच्चैरेतस्मिन् कृतनिजाभिमानस्य अहरहस्तत्पोषणपालन-लालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन्॥ ८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—एक बार भरतजी गण्डकीमें स्नान कर नित्य-नैमित्तिक तथा शौचादि अन्य आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त हो प्रणवका जप करते हुए तीन मुहूर्ततक नदीकी धाराके पास बैठे रहे॥ १॥ राजन्! इसी समय एक हरिनी प्याससे व्याकुल हो जल पीनेके लिये अकेली ही उस नदीके तीरपर आयी॥ २॥ अभी वह जल पी ही रही थी कि पास ही गरजते हुए सिंहकी लोकभयंकर दहाड़ सुनायी पड़ी॥ ३॥ हरिनजाति तो स्वभावसे ही डरपोक होती है। वह पहले ही चौकन्नी होकर इधर-उधर देखती जाती थी। अब ज्यों ही उसके कानमें वह भीषण शब्द पड़ा कि सिंहके डरके मारे उसका कलेजा धड़कने लगा और नेत्र कातर हो गये। प्यास अभी बुझी न थी, किन्तु अब तो प्राणोंपर आ बनी थी। इसलिये उसने भयवश एकाकी नदी पार करनेके लिये छलाँग मारी॥ ४॥

उसके पेटमें गर्भ था, अतः उछलते समय अत्यन्त भयके कारण उसका गर्भ अपने स्थानसे हटकर योनिद्वारसे निकलकर नदीके प्रवाहमें गिर गया॥ ५॥ वह कृष्णमृगपत्नी अकस्मात् गर्भके गिर जाने, लम्बी छलाँग मारने तथा सिंहसे डरी होनेके कारण बहुत पीड़ित हो गयी थी। अब अपने झुंडसे भी उसका बिछोह हो गया, इसलिये वह किसी गुफामें जा पड़ी और वहीं मर गयी॥ ६॥

राजर्षि भरतने देखा कि बेचारा हरिनीका बच्चा अपने बन्धुओंसे बिछुड़कर नदीके प्रवाहमें बह रहा है। इससे उन्हें उसपर बड़ी दया आयी और वे आत्मीयके समान उस मातृहीन बच्चेको अपने आश्रमपर ले आये॥ ७॥ उस मृगछौनेके प्रति भरतजीकी ममता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। वे नित्य उसके खाने-पीनेका प्रबन्ध करने, व्याघ्रादिसे बचाने, लाड़ लड़ाने और पुचकारने आदिकी चिन्तामें ही डूबे रहने लगे। कुछ ही दिनोंमें उनके यम, नियम और भगवत्पूजा आदि आवश्यक कृत्य एक-एक करके छूटने लगे और अन्तमें सभी छूट गये॥ ८॥

अहो बतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगण-सुहृद्बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणं च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन् यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मय्यतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा॥ ९॥ नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद् एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते॥ १०॥

उन्हें ऐसा विचार रहने लगा—'अहो! कैसे खेदकी बात है! इस बेचारे दीन मृगछौनेको कालचक्रके वेगने अपने झुंड, सुहृद् और बन्धुओंसे दूर करके मेरी शरणमें पहुँचा दिया है। यह मुझे ही अपना माता-पिता, भाई-बन्धु और यूथके साथी-संगी समझता है। इसे मेरे सिवा और किसीका पता नहीं है और मुझमें इसका विश्वास भी बहुत है। मैं भी शरणागतकी उपेक्षा करनेमें जो दोष हैं, उन्हें जानता हूँ। इसलिये मुझे अब अपने इस आश्रितका सब प्रकारकी दोषबुद्धि छोड़कर अच्छी तरह पालन-पोषण और प्यार-दुलार करना चाहिये॥ ९॥ निश्चय ही शान्त-स्वभाव और दीनोंकी रक्षा करनेवाले परोपकारी सज्जन ऐसे शरणागतकी रक्षाके लिये अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थकी भी परवाह नहीं करते'॥ १०॥

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्थानाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत्॥ ११॥ कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसालावृकादिभ्यो भयमाशंसमानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति॥ १२॥ पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्वहति एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप॥ १३॥ क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति॥ १४॥

इस प्रकार उस हरिनके बच्चेमें आसक्ति बढ़ जानेसे बैठते, सोते, टहलते, ठहरते और भोजन करते समय भी उनका चित्त उसके स्नेहपाशमें बँधा रहता था॥ ११॥ जब उन्हें कुश, पुष्प, समिधा, पत्र और फल-मूलादि लाने होते तो भेड़ियों और कुत्तोंके भयसे उसे वे साथ लेकर ही वनमें जाते॥ १२॥ मार्गमें जहाँ-तहाँ कोमल घास आदिको देखकर मुग्धभावसे वह हरिणशावक अटक जाता तो वे अत्यन्त प्रेमपूर्ण हृदयसे दयावश उसे अपने कंधेपर चढ़ा लेते। इसी प्रकार कभी गोदमें लेकर और कभी छातीसे लगाकर उसका दुलार करनेमें भी उन्हें बड़ा सुख मिलता॥ १३॥ नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते समय भी राजराजेश्वर भरत बीच-बीचमें उठ-उठकर उस मृगबालकको देखते और जब उसपर उनकी दृष्टि पड़ती, तभी उनके चित्तको शान्ति मिलती। उस समय उसके लिये मंगलकामना करते हुए वे कहने लगते—'बेटा! तेरा सर्वत्र कल्याण हो'॥ १४॥

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन् किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच॥ १५॥

कभी यदि वह दिखायी न देता तो जिसका धन लुट गया हो, उस दीन मनुष्यके समान उनका चित्त अत्यन्त उद्विग्न हो जाता और फिर वे उस हरिनीके बच्चेके विरहसे व्याकुल एवं सन्तप्त हो करुणावश अत्यन्त उत्कण्ठित एवं मोहाविष्ट हो जाते तथा शोकमग्न होकर इस प्रकार कहने लगते॥ १५॥

अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन् सुजन इवागमिष्यति॥ १६॥ अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि॥ १७॥ अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति॥ १८॥ निम्लोचति ह भगवान् सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति॥ १९॥ अपिस्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन्॥ २०॥ क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनाऽऽमीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति॥ २१॥ आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमारवद् अवहितकरणकलाप आस्ते॥ २२॥

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः सविनयकृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य कृपणस्य मम द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां

'अहो! क्या कहा जाय? क्या वह मातृहीन दीन मृगशावक दुष्ट बहेलियेकी-सी बुद्धिवाले मुझ पुण्यहीन अनार्यका विश्वास करके और मुझे अपना मानकर मेरे किये हुए अपराधोंको सत्पुरुषोंके समान भूलकर फिर लौट आयेगा?॥ १६॥ क्या मैं उसे फिर इस आश्रमके उपवनमें भगवान्‌की कृपासे सुरक्षित रहकर निर्विघ्न हरी-हरी दूब चरते देखूँगा?॥ १७॥ ऐसा न हो कि कोई भेड़िया, कुत्ता, गोल बाँधकर विचरनेवाले सूकरादि अथवा अकेले घूमनेवाले व्याघ्रादि ही उसे खा जायँ॥ १८॥ अरे! सम्पूर्ण जगत्‌की कुशलके लिये प्रकट होनेवाले वेदत्रयीरूप भगवान् सूर्य अस्त होना चाहते हैं; किन्तु अभीतक वह मृगीकी धरोहर लौटकर नहीं आयी!॥ १९॥ क्या वह हरिणराजकुमार मुझ पुण्यहीनके पास आकर अपनी भाँति-भाँतिकी मृगशावकोचित मनोहर एवं दर्शनीय क्रीडाओंसे अपने स्वजनोंका शोक दूर करते हुए मुझे आनन्दित करेगा?॥ २०॥ अहो! जब कभी मैं प्रणयकोपसे खेलमें झूठ-मूठ समाधिके बहाने आँखें मूँदकर बैठ जाता, तब वह चकित चित्तसे मेरे पास आकर जलबिन्दुके समान कोमल और नन्हें-नन्हें सींगोंकी नोकसे किस प्रकार मेरे अंगोंको खुजलाने लगता था॥ २१॥ मैं कभी कुशोंपर हवनसामग्री रख देता और वह उन्हें दाँतोंसे खींचकर अपवित्र कर देता तो मेरे डाँटने-डपटनेपर वह अत्यन्त भयभीत होकर उसी समय सारी उछल-कूद छोड़ देता और ऋषिकुमारके समान अपनी समस्त इन्द्रियोंको रोककर चुपचाप बैठ जाता था'॥ २२॥

[फिर पृथ्वीपर उस मृगशावकके खुरके चिह्न देखकर कहने लगते—] 'अहो! इस तपस्विनी धरतीने ऐसा कौन-सा तप किया है जो उस अतिविनीत कृष्णसारकिशोरके छोटे-छोटे सुन्दर, सुखकारी और सुकोमल खुरोंवाले चरणोंके चिह्नोंसे मुझे, जो मैं अपना मृगधन लुट जानेसे अत्यन्त व्याकुल और दीन हो रहा हूँ, उस द्रव्यकी प्राप्तिका मार्ग दिखा रही है और स्वयं अपने शरीरको भी सर्वत्र उन पदचिह्नोंसे

देवयजनं करोति॥ २३॥ अपिस्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति॥ २४॥ किं वाऽऽत्मजविश्लेषज्वर-दवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं शिशिरशान्तानुरागगुणित-निजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति च॥ २५॥

एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारका-भासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यज-हृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगा-रम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषण-पालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मान-महिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत॥ २६॥

तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तम् अभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु

विभूषित कर स्वर्ग और अपवर्गके इच्छुक द्विजोंके लिये यज्ञस्थल* बना रही है॥ २३॥ (चन्द्रमामें मृगका-सा श्याम चिह्न देख उसे अपना ही मृग मानकर कहने लगते—) 'अहो! जिसकी माता सिंहके भयसे मर गयी थी, आज वही मृगशिशु अपने आश्रमसे बिछुड़ गया है। अतः उसे अनाथ देखकर क्या ये दीनवत्सल भगवान् नक्षत्रनाथ दयावश उसकी रक्षा कर रहे हैं?॥ २४॥ [फिर उसकी शीतल किरणोंसे आह्लादित होकर कहने लगते—] 'अथवा अपने पुत्रोंके वियोगरूप दावानलकी विषम ज्वालासे हृदयकमल दग्ध हो जानेके कारण मैंने एक मृगबालकका सहारा लिया था। अब उसके चले जानेसे फिर मेरा हृदय जलने लगा है; इसलिये ये अपनी शीतल, शान्त, स्नेहपूर्ण और वदनसलिलरूपा अमृतमयी किरणोंसे मुझे शान्त कर रहे हैं'॥ २५॥

राजन्! इस प्रकार जिनका पूरा होना सर्वथा असम्भव था, उन विविध मनोरथोंसे भरतका चित्त व्याकुल रहने लगा। अपने मृगशावकके रूपमें प्रतीत होनेवाले प्रारब्धकर्मके कारण तपस्वी भरतजी भगवदाराधनरूप कर्म एवं योगानुष्ठानसे च्युत हो गये। नहीं तो, जिन्होंने मोक्षमार्गमें साक्षात् विघ्नरूप समझकर अपने ही हृदयसे उत्पन्न दुस्त्यज पुत्रादिको भी त्याग दिया था, उन्हींकी अन्यजातीय हरिणशिशुमें ऐसी आसक्ति कैसे हो सकती थी। इस प्रकार राजर्षि भरत विघ्नोंके वशीभूत होकर योगसाधनसे भ्रष्ट हो गये और उस मृगछौनेके पालन-पोषण और लाड़-प्यारमें ही लगे रहकर आत्मस्वरूपको भूल गये। इसी समय जिसका टलना अत्यन्त कठिन है, वह प्रबल वेगशाली कराल काल, चूहेके बिलमें जैसे सर्प घुस आये, उसी प्रकार उनके सिरपर चढ़ आया॥ २६॥ उस समय भी वह हरिणशावक उनके पास बैठा पुत्रके समान शोकातुर हो रहा था। वे उसे इस स्थितिमें देख रहे थे और उनका चित्त उसीमें लग रहा था। इस प्रकारकी आसक्तिमें ही मृगके साथ उनका शरीर भी

* शास्त्रोंमें उल्लेख आता है कि जिस भूमिमें कृष्णमृग विचरते हैं, वह अत्यन्त पवित्र और यज्ञानुष्ठानके योग्य होती है।

न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप ॥ २७॥

तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह ॥ २८॥ अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमननसङ्कीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कार्त्स्न्येन मनस्तत्तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनुपरिसुस्राव॥ २९ ॥

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनः भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम॥ ३०॥

तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कपर्णतृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज॥ ३१ ॥

छूट गया। तदनन्तर उन्हें अन्तकालकी भावनाके अनुसार अन्य साधारण पुरुषोंके समान मृगशरीर ही मिला। किन्तु उनकी साधना पूरी थी, इससे उनकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं हुई॥ २७॥ उस योनिमें भी पूर्वजन्मकी भगवदाराधनाके प्रभावसे अपने मृगरूप होनेका कारण जानकर वे अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे,॥ २८॥ 'अहो! बड़े खेदकी बात है, मैं संयमशील महानुभावोंके मार्गसे पतित हो गया! मैंने तो धैर्यपूर्वक सब प्रकारकी आसक्ति छोड़कर एकान्त और पवित्र वनका आश्रय लिया था। वहाँ रहकर जिस चित्तको मैंने सर्वभूतात्मा श्रीवासुदेवमें, निरन्तर उन्हींके गुणोंका श्रवण, मनन और संकीर्तन करके तथा प्रत्येक पलको उन्हींकी आराधना और स्मरणादिसे सफल करके, स्थिरभावसे पूर्णतया लगा दिया था, मुझ अज्ञानीका वही मन अकस्मात् एक नन्हे-से हरिण-शिशुके पीछे अपने लक्ष्यसे च्युत हो गया!'॥ २९॥

इस प्रकार मृग बने हुए राजर्षि भरतके हृदयमें जो वैराग्य-भावना जाग्रत् हुई, उसे छिपाये रखकर उन्होंने अपनी माता मृगीको त्याग दिया और अपनी जन्मभूमि कालंजर पर्वतसे वे फिर शान्तस्वभाव मुनियोंके प्रिय उसी शालग्रामतीर्थमें, जो भगवान्‌का क्षेत्र है, पुलस्त्य और पुलह ऋषिके आश्रमपर चले आये॥ ३० ॥ वहाँ रहकर भी वे कालकी ही प्रतीक्षा करने लगे। आसक्तिसे उन्हें बड़ा भय लगने लगा था। बस, अकेले रहकर वे सूखे पत्ते, घास और झाड़ियोंद्वारा निर्वाह करते मृगयोनिकी प्राप्ति करानेवाले प्रारब्धके क्षयकी बाट देखते रहे। अन्तमें उन्होंने अपने शरीरका आधा भाग गण्डकीके जलमें डुबाये रखकर उस मृगशरीरको छोड़ दिया॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भरतचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

भरतजीका ब्राह्मणकुलमें जन्म

श्रीशुक उवाच

अथ कस्यचिद् द्विजवरस्याङ्गिरःप्रवरस्य शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययनत्यागसन्तोषतितिक्षा-प्रश्रयविद्यानसूयात्मज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृश-श्रुतशीलाचाररूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनं च यवीयस्यां भार्यायाम्॥ १ ॥ यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः॥ २॥ तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः कर्मबन्धविध्वंसन-श्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानु-स्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्त जडान्ध-बधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य॥ ३॥ तस्यापि ह वा आत्मजस्य विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आसमावर्तनात्संस्कारान् यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनःशौचाचमनादीन् कर्मनियमाननभि-प्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति॥ ४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! आंगिरस गोत्रमें शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग (अतिथि आदिको अन्न देना), सन्तोष, तितिक्षा, विनय, विद्या (कर्मविद्या), अनसूया (दूसरोंके गुणोंमें दोष न ढूँढ़ना), आत्मज्ञान (आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका ज्ञान) एवं आनन्द (धर्मपालनजनित सुख) सभी गुणोंसे सम्पन्न एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। उनकी बड़ी स्त्रीसे उन्हींके समान विद्या, शील, आचार, रूप और उदारता आदि गुणोंवाले नौ पुत्र हुए तथा छोटी पत्नीसे एक ही साथ एक पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ॥ १॥

इन दोनोंमें जो पुरुष था वह परम भागवत राजर्षिशिरोमणि भरत ही थे। वे मृगशरीरका परित्याग करके अन्तिम जन्ममें ब्राह्मण हुए थे—ऐसा महापुरुषोंका कथन है॥ २॥

इस जन्ममें भी भगवान्की कृपासे अपनी पूर्वजन्मपरम्पराका स्मरण रहनेके कारण, वे इस आशंकासे कि कहीं फिर कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय, अपने स्वजनोंके संगसे भी बहुत डरते थे। हर समय जिनका श्रवण, स्मरण और गुणकीर्तन सब प्रकारके कर्मबन्धनको काट देता है, श्रीभगवान्के उन युगल चरणकमलोंको ही हृदयमें धारण किये रहते तथा दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको पागल, मूर्ख, अंधे और बहरेके समान दिखाते॥ ३॥

पिताका तो उनमें भी वैसा ही स्नेह था। इसलिये ब्राह्मणदेवताने अपने पागल पुत्रके भी शास्त्रानुसार समावर्तनपर्यन्त विवाहसे पूर्वके सभी संस्कार करनेके विचारसे उनका उपनयन-संस्कार किया। यद्यपि वे चाहते नहीं थे तो भी 'पिताका कर्तव्य है कि पुत्रको शिक्षा दे' इस शास्त्रविधिके अनुसार उन्होंने इन्हें शौच-आचमन आदि आवश्यक कर्मोंकी शिक्षा दी॥ ४॥

स चापि तदु ह पितृसंनिधावे-वासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन् सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास॥ ५॥

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौप-कुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः॥ ६॥ अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात्॥ ७॥

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्त ॥८॥ स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्त-जडबधिरेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च स कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया

किन्तु भरतजी तो पिताके सामने ही उनके उपदेशके विरुद्ध आचरण करने लगते थे। पिता चाहते थे कि वर्षाकालमें इसे वेदाध्ययन आरम्भ करा दूँ। किन्तु वसन्त और ग्रीष्म ऋतुके चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़—चार महीनोंतक पढ़ाते रहनेपर भी वे इन्हें व्याहृति और शिरोमन्त्रप्रणवके सहित त्रिपदा गायत्री भी अच्छी तरह याद न करा सके॥ ५॥

ऐसा होनेपर भी अपने इस पुत्रमें उनका आत्माके समान अनुराग था। इसलिये उसकी प्रवृत्ति न होनेपर भी वे 'पुत्रको अच्छी तरह शिक्षा देनी चाहिये' इस अनुचित आग्रहसे उसे शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्निकी सेवा आदि ब्रह्मचर्याश्रमके आवश्यक नियमोंकी शिक्षा देते ही रहे। किन्तु अभी पुत्रको सुशिक्षित देखनेका उनका मनोरथ पूरा न हो पाया था और स्वयं भी भगवद्भजनरूप अपने मुख्य कर्तव्यसे असावधान रहकर केवल घरके धंधोंमें ही व्यस्त थे कि सदा सजग रहनेवाले कालभगवान्ने आक्रमण करके उनका अन्त कर दिया॥ ६॥ तब उनकी छोटी भार्या अपने गर्भसे उत्पन्न हुए दोनों बालक अपनी सौतको सौंपकर स्वयं सती होकर पतिलोकको चली गयी॥ ७॥

भरतजीके भाई कर्मकाण्डको सबसे श्रेष्ठ समझते थे। वे ब्रह्मज्ञानरूप पराविद्यासे सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसलिये उन्हें भरतजीका प्रभाव भी ज्ञात नहीं था, वे उन्हें निरा मूर्ख समझते थे। अतः पिताके परलोक सिधारनेपर उन्होंने उन्हें पढ़ाने-लिखानेका आग्रह छोड़ दिया॥ ८॥ भरतजीको मानापमानका कोई विचार न था। जब साधारण नर-पशु उन्हें पागल, मूर्ख अथवा बहरा कहकर पुकारते तब वे भी उसीके अनुरूप भाषण करने लगते। कोई भी उनसे कुछ भी काम कराना चाहते, तो वे उनकी इच्छाके अनुसार कर देते। बेगारके रूपमें, मजदूरीके रूपमें, माँगनेपर अथवा बिना माँगे जो भी थोड़ा-बहुत अच्छा या बुरा अन्न उन्हें मिल जाता, उसीको जीभका जरा भी स्वाद न देखते हुए खा लेते। अन्य किसी कारणसे

वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम्। नित्यनिवृत्तनिमित्त-स्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः॥ ९॥ शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः[1] पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञ[2]यातज्ज्ञजनावमतो विचचार ॥ १०॥ यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत[3] ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु न समं विषमं न्यूनमधिकमिति वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति॥ ११॥

अथ कदाचित्कश्चिद् वृषलपतिर्भद्रकाल्यै[4] पुरुषपशुमालभतापत्यकामः॥ १२॥ तस्य ह दैवमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसाऽऽवृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान् वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन्॥ १३॥

उत्पन्न न होनेवाला स्वतःसिद्ध केवल ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञान उन्हें प्राप्त हो गया था; इसलिये शीतोष्ण, मानापमान आदि द्वन्द्वोंसे होनेवाले सुख-दुःखादिमें उन्हें देहाभिमानकी स्फूर्ति नहीं होती थी॥ ९॥ वे सर्दी, गरमी, वर्षा और आँधीके समय साँड़के समान नंगे पड़े रहते थे। उनके सभी अंग हृष्ट-पुष्ट एवं गठे हुए थे। वे पृथ्वीपर ही पड़े रहते थे, कभी तेल-उबटन आदि नहीं लगाते थे और न कभी स्नान ही करते थे, इससे उनके शरीरपर मैल जम गयी थी। उनका ब्रह्मतेज धूलिसे ढके हुए मूल्यवान् मणिके समान छिप गया था। वे अपनी कमरमें एक मैला-कुचैला कपड़ा लपेटे रहते थे। उनका यज्ञोपवीत भी बहुत ही मैला हो गया था। इसलिये अज्ञानी जनता 'यह कोई द्विज है', 'कोई अधम ब्राह्मण है' ऐसा कहकर उनका तिरस्कार कर दिया करती थी, किन्तु वे इसका कोई विचार न करके स्वच्छन्द विचरते थे॥ १०॥ दूसरोंकी मजदूरी करके पेट पालते देख जब उन्हें उनके भाइयोंने खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया तब वे उस कार्यको भी करने लगे। परन्तु उन्हें इस बातका कुछ भी ध्यान न था कि उन क्यारियोंकी भूमि समतल है या ऊँची-नीची अथवा वह छोटी है या बड़ी। उनके भाई उन्हें चावलकी कनी, खली, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी हुई जले अन्नकी खुरचन—जो कुछ भी दे देते, उसीको वे अमृतके समान खा लेते थे॥ ११॥

किसी समय डाकुओंके सरदारने, जिसके सामन्त शूद्र जातिके थे, पुत्रकी कामनासे भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका संकल्प किया॥ १२॥ उसने जो पुरुष-पशु बलि देनेके लिये पकड़ मँगाया था, वह दैववश उसके फंदेसे निकलकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके सेवक चारों ओर दौड़े; किन्तु अँधेरी रातमें आधी रातके समय कहीं उसका पता न लगा। इसी समय दैवयोगसे अकस्मात् उनकी दृष्टि इन आंगिरसगोत्रीय ब्राह्मणकुमारपर पड़ी, जो वीरासनसे बैठे हुए मृग-वराहादि जीवोंसे खेतोंकी रखवाली कर रहे थे॥ १३॥

१. प्रा० पा०—इवापावृतांग। २. प्रा० पा०—बन्धुरिति संज्ञोऽतज्ज्ञः। ३. प्रा० पा०—वेतन ईहमानः। ४. प्रा० पा०—भद्रकाल्यै पशुमालभता।

अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तृकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वारशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः॥ १४॥

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाऽऽच्छाद्य भूषणालेपस्रक्‌तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्यलाजकिसलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्गपणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः॥ १५॥ अथ वृषलराजपणिः पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालनिशितमुपाददे॥ १६॥

इति तेषां वृषलानां रजस्तमःप्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलावीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालम्भनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली॥ १७॥ भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुंचन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णां

उन्होंने देखा कि यह पशु तो बड़े अच्छे लक्षणोंवाला है, इससे हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध हो जायगा। यह सोचकर उनका मुख आनन्दसे खिल उठा और वे उन्हें रस्सियोंसे बाँधकर चण्डिकाके मन्दिरमें ले आये॥ १४॥

तदनन्तर उन चोरोंने अपनी पद्धतिके अनुसार विधिपूर्वक उनको अभिषेक एवं स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये तथा नाना प्रकारके आभूषण, चन्दन, माला और तिलक आदिसे विभूषित कर अच्छी तरह भोजन कराया। फिर धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर और फल आदि उपहार-सामग्रीके सहित बलिदानकी विधिसे गान, स्तुति और मृदंग एवं ढोल आदिका महान् शब्द करते उस पुरुष-पशुको भद्रकालीके सामने नीचा सिर कराके बैठा दिया॥ १५॥ इसके पश्चात् दस्युराजके पुरोहित बने हुए लुटेरेने उस नर-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये देवीमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक तीक्ष्ण खड्ग उठाया॥ १६॥

चोर स्वभावसे तो रजोगुणी-तमोगुणी थे ही, धनके मदसे उनका चित्त और भी उन्मत्त हो गया था। हिंसामें भी उनकी स्वाभाविक रुचि थी। इस समय तो वे भगवान्‌के अंशस्वरूप ब्राह्मणकुलका तिरस्कार करके स्वच्छन्दतासे कुमार्गकी ओर बढ़ रहे थे। आपत्तिकालमें भी जिस हिंसाका अनुमोदन किया गया है, उसमें भी ब्राह्मणवधका सर्वथा निषेध है, तो भी वे साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हुए वैरहीन तथा समस्त प्राणियोंके सुहृद् एक ब्रह्मर्षिकुमारकी बलि देना चाहते थे। यह भयंकर कुकर्म देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें अति दुःसह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगा और वे एकाएक मूर्तिको फोड़कर प्रकट हो गयीं॥ १७॥ अत्यन्त असहनशीलता और क्रोधके कारण उनकी भौंहें चढ़ी हुई थीं तथा कराल दाढ़ों और चढ़ी हुई लाल आँखोंके कारण उनका चेहरा बड़ा भयानक जान पड़ता था। उनके उस विकराल वेषको देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे इस संसारका संहार कर डालेंगी। उन्होंने क्रोधसे तड़ककर बड़ा भीषण अट्टहास किया और उछलकर उस

गलात्स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिरःकन्दुक-लीलया॥ १८॥ एवमेव खलु महदभिचाराति-क्रमः कार्त्स्न्येनात्मने फलति ॥१९॥ न वा एतद्विष्णुदत्त महदद्भुतं यदसम्भ्रमःस्वशिरश्छेदन आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढ-हृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तै-र्भावैः परिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चि-द्भयमुपसृतानां भागवतपरमहंसानाम्॥ २०॥

अभिमन्त्रित खड्गसे ही उन सारे पापियोंके सिर उड़ा दिये और अपने गणोंके सहित उनके गलेसे बहता हुआ गरम-गरम रुधिररूप आसव पीकर अति उन्मत्त हो ऊँचे स्वरसे गाती और नाचती हुई उन सिरोंको ही गेंद बनाकर खेलने लगीं॥ १८॥ सच है, महापुरुषोंके प्रति किया हुआ अत्याचाररूप अपराध इसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर पड़ता है॥ १९॥ परीक्षित्! जिनकी देहाभिमानरूप सुदृढ़ हृदयग्रन्थि छूट गयी है, जो समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं आत्मा तथा वैरहीन हैं, साक्षात् भगवान् ही भद्रकाली आदि भिन्न-भिन्न रूप धारण करके अपने कभी न चूकनेवाले कालचक्ररूप श्रेष्ठ शस्त्रसे जिनकी रक्षा करते हैं और जिन्होंने भगवान्के निर्भय चरणकमलोंका आश्रय ले रखा है—उन भगवद्भक्त परमहंसोंके लिये अपना सिर कटनेका अवसर आनेपर भी किसी प्रकार व्याकुल न होना—यह कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है॥ २०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे जडभरतचरिते नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

जडभरत और राजा रहूगणकी भेंट

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते[1] रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबि[2]कावाह-पुरुषान्वेषणसमये[3] दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा यु[4]वा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह[5] उवाह शिबिकां स महानुभावः॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! एक बार सिन्धुसौवीर देशका स्वामी राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचा तब उसकी पालकी उठानेवाले कहारोंके जमादारको एक कहारकी आवश्यकता पड़ी। कहारकी खोज करते समय दैववश उसे ये ब्राह्मणदेवता मिल गये। इन्हें देखकर उसने सोचा, 'यह मनुष्य हृष्ट-पुष्ट, जवान और गठीले अंगोंवाला है। इसलिये यह तो बैल या गधेके समान अच्छी तरह बोझा ढो सकता है।' यह सोचकर उसने बेगारमें पकड़े हुए अन्य कहारोंके साथ इन्हें भी बलात् पकड़कर पालकीमें जोड़ दिया। महात्मा भरतजी यद्यपि किसी प्रकार इस कार्यके योग्य नहीं थे, तो भी वे बिना कुछ बोले चुपचाप पालकीको उठा ले चले॥ १॥

१. प्रा० पा०—सिन्धुपते। २. प्रा० पा०—शिबिकावाहक०। ३. प्रा० पा०—पुरुषान्वेषसमये। ४. प्रा० पा०—यावान् संहननांगो। ५. प्रा० पा०—मतदर्पण०।

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति॥ २॥

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपाय-तुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयाम्बभूवुः॥ ३॥ न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः। अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति॥ ४॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसाऽऽवृतमतिराह॥ ५॥ अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान् सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान् सखे नो एवापर एते

वे द्विजवर, कोई जीव पैरोंतले दब न जाय—इस डरसे आगेकी एक बाण पृथ्वी देखकर चलते थे। इसलिये दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं खाता था; अतः जब पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी, तब यह देखकर राजा रहूगणने पालकी उठानेवालोंसे कहा—'अरे कहारो! अच्छी तरह चलो, पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची करके क्यों चलते हो?'॥ २॥

तब अपने स्वामीका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर कहारोंको डर लगा कि कहीं राजा उन्हें दण्ड न दें। इसलिये उन्होंने राजासे इस प्रकार निवेदन किया॥ ३॥ 'महाराज! यह हमारा प्रमाद नहीं है, हम आपकी नियममर्यादाके अनुसार ठीक-ठीक ही पालकी ले चल रहे हैं। यह एक नया कहार अभी-अभी पालकीमें लगाया गया है, तो भी यह जल्दी-जल्दी नहीं चलता। हमलोग इसके साथ पालकी नहीं ले जा सकते'॥ ४॥

कहारोंके ये दीन वचन सुनकर राजा रहूगणने सोचा, 'संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला दोष एक व्यक्तिमें होनेपर भी उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी पुरुषोंमें आ सकता है। इसलिये यदि इसका प्रतीकार न किया गया तो धीरे-धीरे ये सभी कहार अपनी चाल बिगाड़ लेंगे।' ऐसा सोचकर राजा रहूगणको कुछ क्रोध हो आया। यद्यपि उसने महापुरुषोंका सेवन किया था, तथापि क्षत्रियस्वभाववश बलात् उसकी बुद्धि रजोगुणसे व्याप्त हो गयी और वह उन द्विजश्रेष्ठसे, जिनका ब्रह्मतेज भस्मसे ढके हुए अग्निके समान प्रकट नहीं था, इस प्रकार व्यंगसे भरे वचन कहने लगा॥ ५॥ 'अरे भैया! बड़े दुःखकी बात है, अवश्य ही तुम बहुत थक गये हो। ज्ञात होता है, तुम्हारे इन साथियोंने तुम्हें तनिक भी सहारा नहीं लगाया। इतनी दूरसे तुम अकेले ही बड़ी देरसे पालकी ढोते चले आ रहे हो। तुम्हारा शरीर भी तो विशेष मोटा-ताजा और हट्टा-कट्टा नहीं है और मित्र! बुढ़ापेने अलग तुम्हें दबा रखा है।' इस प्रकार बहुत ताना मारनेपर भी वे पहलेकी ही भाँति चुपचाप पालकी उठाये चलते रहे! उन्होंने

संघट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचित-द्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहंममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह॥ ६॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति॥ ७॥

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह ॥ ८॥

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः॥ ९
स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड्भयं कलिरिच्छा जरा च।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति॥ १०

इसका कुछ भी बुरा न माना; क्योंकि उनकी दृष्टिमें तो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणका संघात यह अपना अन्तिम शरीर अविद्याका ही कार्य था। वह विविध अंगोंसे युक्त दिखायी देनेपर भी वस्तुतः था ही नहीं, इसलिये उसमें उनका मैं-मेरेपनका मिथ्या अध्यास सर्वथा निवृत्त हो गया था और वे ब्रह्मरूप हो गये थे॥ ६॥

(किन्तु) पालकी अब भी सीधी चालसे नहीं चल रही है—यह देखकर राजा रहूगण क्रोधसे आग-बबूला हो गया और कहने लगा, 'अरे! यह क्या? क्या तू जीता ही मर गया है? तू मेरा निरादर करके (मेरी) आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है! मालूम होता है, तू सर्वथा प्रमादी है। अरे! जैसे दण्डपाणि यमराज जन-समुदायको उसके अपराधोंके लिये दण्ड देते हैं, उसी प्रकार मैं भी अभी तेरा इलाज किये देता हूँ। तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे'॥ ७॥

रहूगणको राजा होनेका अभिमान था, इसलिये वह इसी प्रकार बहुत-सी अनाप-शनाप बातें बोल गया। वह अपनेको बड़ा पण्डित समझता था, अतः रज-तमयुक्त अभिमानके वशीभूत होकर उसने भगवान्‌के अनन्य प्रीतिपात्र भक्तवर भरतजीका तिरस्कार कर डाला। योगेश्वरोंकी विचित्र कहनी-करनीका तो उसे कुछ पता ही न था। उसकी ऐसी कच्ची बुद्धि देखकर वे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् एवं आत्मा, ब्रह्मभूत ब्राह्मणदेवता मुसकराये और बिना किसी प्रकारका अभिमान किये इस प्रकार कहने लगे॥ ८॥

जडभरतने कहा—राजन्! तुमने जो कुछ कहा वह यथार्थ है। उसमें कोई उलाहना नहीं है। यदि भार नामकी कोई वस्तु है तो ढोनेवालेके लिये है, यदि कोई मार्ग है तो वह चलनेवालेके लिये है। मोटापन भी उसीका है, यह सब शरीरके लिये कहा जाता है, आत्माके लिये नहीं। ज्ञानीजन ऐसी बात नहीं करते॥ ९॥ स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब धर्म देहाभिमानको लेकर उत्पन्न होनेवाले जीवमें रहते हैं; मुझमें इनका लेश भी नहीं है॥ १०॥

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम्।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः॥ ११
विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत्।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन् करवाम किं ते॥ १२
उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन।
अर्थः कियान् भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः॥ १३

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनयन् राजयानमपि तथोवाह ॥ १४॥ स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपति-स्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकार-स्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय उवाच॥ १५॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः॥ १६

राजन्! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही—सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं; क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं। यशस्वी नरेश! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है॥ ११॥ 'तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ' इस प्रकारकी भेदबुद्धिके लिये मुझे व्यवहारके सिवा और कहीं तनिक भी अवकाश नहीं दिखायी देता। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक? फिर भी राजन्! तुम्हें यदि स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ॥ १२॥ वीरवर! मैं मत्त, उन्मत्त और जडके समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ। मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा? यदि मैं वास्तवमें जड और प्रमादी ही हूँ, तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही होगा॥ १३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मुनिवर जडभरत यथार्थ तत्त्वका उपदेश करते हुए इतना उत्तर देकर मौन हो गये। उनका देहात्मबुद्धिका हेतुभूत अज्ञान निवृत्त हो चुका था, इसलिये वे परम शान्त हो गये थे। अतः इतना कहकर भोगद्वारा प्रारब्धक्षय करनेके लिये वे फिर पहलेके ही समान उस पालकीको कन्धेपर लेकर चलने लगे॥ १४॥ सिन्धु-सौवीरनरेश रहूगण भी अपनी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वजिज्ञासाका पूरा अधिकारी था। जब उसने उन द्विजश्रेष्ठके अनेकों योग-ग्रन्थोंसे समर्थित और हृदयकी ग्रन्थिका छेदन करनेवाले ये वाक्य सुने, तब वह तत्काल पालकीसे उतर पड़ा। उसका राजमद सर्वथा दूर हो गया और वह उनके चरणोंमें सिर रखकर अपना अपराध क्षमा कराते हुए इस प्रकार कहने लगा॥ १५॥ 'देव! आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रखा है, बतलाइये इस प्रकार प्रच्छन्नभावसे विचरनेवाले आप कौन हैं? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं? आप किसके पुत्र हैं, आपका कहाँ जन्म हुआ है और यहाँ कैसे आपका पदार्पण हुआ है? यदि आप हमारा कल्याण करने पधारे हैं, तो क्या आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिलजी ही तो नहीं हैं?॥ १६॥

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात्।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा-
च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात्॥ १७

तद् ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम्॥ १८

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां परमं गुरुं वै।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम्॥ १९

स वै भवाल्ँलोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित्।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः॥ २०

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये।
यथासतोदानयनाद्यभावात्
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः॥ २१

स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभिताप-
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात्॥ २२

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम्।

मुझे इन्द्रके वज्रका कोई डर नहीं है, न मैं महादेवजीके त्रिशूलसे डरता हूँ और न यमराजके दण्डसे। मुझे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेरके अस्त्र-शस्त्रोंका भी कोई भय नहीं है; परन्तु मैं ब्राह्मणकुलके अपमानसे बहुत ही डरता हूँ॥ १७॥ अतः कृपया बतलाइये, इस प्रकार अपने विज्ञान और शक्तिको छिपाकर मूर्खोंकी भाँति विचरनेवाले आप कौन हैं? विषयोंसे तो आप सर्वथा अनासक्त जान पड़ते हैं। मुझे आपकी कोई थाह नहीं मिल रही है। साधो! आपके योगयुक्त वाक्योंकी बुद्धिद्वारा आलोचना करनेपर भी मेरा सन्देह दूर नहीं होता॥ १८॥ मैं आत्मज्ञानी मुनियोंके परम गुरु और साक्षात् श्रीहरिकी ज्ञानशक्तिके अवतार योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछनेके लिये जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेनेयोग्य कौन है॥ १९॥ क्या आप वे कपिलमुनि ही हैं, जो लोकोंकी दशा देखनेके लिये इस प्रकार अपना रूप छिपाकर विचर रहे हैं? भला, घरमें आसक्त रहनेवाला विवेकहीन पुरुष योगेश्वरोंकी गति कैसे जान सकता है?॥ २०॥

मैंने युद्धादि कर्मोंमें अपनेको श्रम होते देखा है, इसलिये मेरा अनुमान है कि बोझा ढोने और मार्गमें चलनेसे आपको भी अवश्य ही होता होगा। मुझे तो व्यवहारमार्ग भी सत्य ही जान पड़ता है; क्योंकि मिथ्या घड़ेसे जल लाना आदि कार्य नहीं होता॥ २१॥ (देहादिके धर्मोंका आत्मापर कोई प्रभाव ही नहीं होता, ऐसी बात भी नहीं है) चूल्हेपर रखी हुई बटलोई जब अग्निसे तपने लगती है, तब उसका जल भी खौलने लगता है और फिर उस जलसे चावलका भीतरी भाग भी पक जाता है। इसी प्रकार अपनी उपाधिके धर्मोंका अनुवर्तन करनेके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण और मनकी सन्निधिसे आत्माको भी उनके धर्म श्रमादिका अनुभव होता ही है॥ २२॥ आपने जो दण्डादिकी व्यर्थता बतायी, सो राजा तो प्रजाका शासन और पालन करनेके लिये नियुक्त किया हुआ उसका दास ही है। उसका उन्मत्तादिको दण्ड

स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम्॥ २३
तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः॥ २४
न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ्
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः॥ २५

देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि अपने धर्मका आचरण करना भगवान्‌की सेवा ही है, उसे करनेवाला व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण पापराशिको नष्ट कर देता है॥ २३॥

'दीनबन्धो! राजत्वके अभिमानसे उन्मत्त होकर मैंने आप-जैसे परम साधुकी अवज्ञा की है। अब आप ऐसी कृपादृष्टि कीजिये, जिससे इस साधु-अवज्ञारूप अपराधसे मैं मुक्त हो जाऊँ॥ २४॥ आप देहाभिमानशून्य और विश्वबन्धु श्रीहरिके अनन्य भक्त हैं; इसलिये सबमें समान दृष्टि होनेसे इस मानापमानके कारण आपमें कोई विकार नहीं हो सकता तथापि एक महापुरुषका अपमान करनेके कारण मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् त्रिशूलपाणि महादेवजीके समान प्रभावशाली होनेपर भी, अपने अपराधसे अवश्य थोड़े ही कालमें नष्ट हो जायगा'॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

राजा रहूगणको भरतजीका उपदेश

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां[1] वरिष्ठः।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं[2]
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति॥ १
तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ २
न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्
वरीयसीरपि[3] वाचः समासन्।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात्॥ ३

जडभरतने कहा—राजन्! तुम अज्ञानी होनेपर भी पण्डितोंके समान ऊपर-ऊपरकी तर्क-वितर्कयुक्त बात कह रहे हो। इसलिये श्रेष्ठ ज्ञानियोंमें तुम्हारी गणना नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञानी पुरुष इस अविचारसिद्ध स्वामी-सेवक आदि व्यवहारको तत्त्वविचारके समय सत्यरूपसे स्वीकार नहीं करते॥ १॥ लौकिक व्यवहारके समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है, क्योंकि वेदवाक्य भी अधिकतर गृहस्थजनोचित यज्ञविधिके विस्तारमें ही व्यस्त हैं, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञानकी पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं हुई है॥ २॥ जिसे गृहस्थोचित यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख स्वप्नके समान हेय नहीं जान पड़ता, उसे तत्त्वज्ञान करानेमें साक्षात् उपनिषद्-वाक्य भी समर्थ नहीं है॥ ३॥

१. प्रा० पा०—नात्मविदां वरिष्ठः। २. प्रा० पा०—व्यवहारमेतं। ३. प्रा० पा०—गरीयसीरपि।

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम्।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा॥ ४
स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा।
बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति॥ ५
दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः॥ ६
तावानयं व्यवहारः सदाविः
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य॥ ७
गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात्।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम्।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम्॥ ८
एकादशासन्मनसो हि वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः॥ ९
गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः॥ १०

जबतक मनुष्यका मन सत्त्व, रज अथवा तमोगुणके वशीभूत रहता है, तबतक वह बिना किसी अंकुशके उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंसे शुभाशुभ कर्म कराता रहता है॥ ४॥ यह मन वासनामय, विषयासक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत एवं इन्द्रियरूप सोलह कलाओंमें मुख्य है। यही भिन्न-भिन्न नामोंसे देवता और मनुष्यादिरूप धारण करके शरीररूप उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता और अधमताका कारण होता है॥ ५॥ यह मायामय मन संसारचक्रमें छलनेवाला है, यही अपनी देहके अभिमानी जीवसे मिलकर उसे कालक्रमसे प्राप्त हुए सुख-दुःख और इनसे व्यतिरिक्त मोहरूप अवश्यम्भावी फलोंकी अभिव्यक्ति करता है॥ ६॥ जबतक यह मन रहता है, तभीतक जाग्रत् और स्वप्नावस्थाका व्यवहार प्रकाशित होकर जीवका दृश्य बनता है। इसलिये पण्डितजन मनको ही त्रिगुणमय अधम संसारका और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपदका कारण बताते हैं॥ ७॥

विषयासक्त मन जीवको संसार-संकटमें डाल देता है, विषयहीन होनेपर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त करा देता है। जिस प्रकार घीसे भीगी हुई बत्तीको खानेवाले दीपकसे तो धुएँवाली शिखा निकलती रहती है और जब घी समाप्त हो जाता है तब वह अपने कारण अग्नितत्त्वमें लीन हो जाता है—उसी प्रकार विषय और कर्मोंसे आसक्त हुआ मन तरह-तरहकी वृत्तियोंका आश्रय लिये रहता है और इनसे मुक्त होनेपर वह अपने तत्त्वमें लीन हो जाता है॥ ८॥

वीरवर! पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अहंकार—ये ग्यारह मनकी वृत्तियाँ हैं तथा पाँच प्रकारके कर्म, पाँच तन्मात्र और एक शरीर—ये ग्यारह उनके आधारभूत विषय कहे जाते हैं॥ ९॥ गन्ध, रूप, स्पर्श, रस और शब्द—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं; मलत्याग, सम्भोग, गमन, भाषण और लेना-देना आदि व्यापार—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं तथा शरीरको 'यह मेरा है' इस प्रकार स्वीकार करना अहंकारका विषय है। कुछ लोग अहंकारको मनकी बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीरको बारहवाँ विषय मानते हैं॥ १०॥

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः॥ ११
क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः॥ १२
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥ १३
यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः॥ १४
न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्॥ १५
न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते॥ १६
भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्॥ १७

ये मनकी ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्य (विषय), स्वभाव, आशय (संस्कार), कर्म और कालके द्वारा सैकड़ों, हजारों और करोड़ों भेदोंमें परिणत हो जाती हैं। किन्तु इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञ आत्माकी सत्तासे ही है, स्वतः या परस्पर मिलकर नहीं है॥ ११ ॥ ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो जीवकी ही मायानिर्मित उपाधि है। यह प्रायः संसारबन्धनमें डालनेवाले अविशुद्ध कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है। इसकी उपर्युक्त वृत्तियाँ प्रवाहरूपसे नित्य ही रहती हैं; जाग्रत् और स्वप्नके समय वे प्रकट हो जाती हैं और सुषुप्तिमें छिप जाती हैं। इन दोनों ही अवस्थाओंमें क्षेत्रज्ञ, जो विशुद्ध चिन्मात्र है, मनकी इन वृत्तियोंको साक्षीरूपसे देखता रहता है॥ १२ ॥

यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापक, जगत्का आदिकारण, परिपूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, अजन्मा, ब्रह्मादिका भी नियन्ता और अपने अधीन रहनेवाली मायाके द्वारा सबके अन्तःकरणोंमें रहकर जीवोंको प्रेरित करनेवाला समस्त भूतोंका आश्रयरूप भगवान् वासुदेव है॥ १३ ॥ जिस प्रकार वायु सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंमें प्राणरूपसे प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करती है, उसी प्रकार वह परमेश्वर भगवान् वासुदेव सर्वसाक्षी आत्मस्वरूपसे इस सम्पूर्ण प्रपंचमें ओत-प्रोत है॥ १४ ॥ राजन्! जबतक मनुष्य ज्ञानोदयके द्वारा इस मायाका तिरस्कार कर, सबकी आसक्ति छोड़कर तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतकर आत्मतत्त्वको नहीं जान लेता और जबतक वह आत्माके उपाधिरूप मनको संसार-दुःखका क्षेत्र नहीं समझता, तबतक वह इस लोकमें यों ही भटकता रहता है, क्योंकि यह चित्त उसके शोक, मोह, रोग, राग, लोभ और वैर आदिके संस्कार तथा ममताकी वृद्धि करता रहता है॥ १५-१६ ॥ यह मन ही तुम्हारा बड़ा बलवान् शत्रु है। तुम्हारे उपेक्षा करनेसे इसकी शक्ति और भी बढ़ गयी है। यह यद्यपि स्वयं तो सर्वथा मिथ्या है, तथापि इसने तुम्हारे आत्मस्वरूपको आच्छादित कर रखा है। इसलिये तुम सावधान होकर श्रीगुरु और हरिके चरणोंकी उपासनाके अस्त्रसे इसे मार डालो॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ब्राह्मणरहूगणसंवादे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

रहूगणका प्रश्न और भरतजीका समाधान

रहूगण उवाच

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम्॥ १
ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टे-
र्ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे॥ २
तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम्।
अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-
माख्याहि कौतूहलचेतसो मे॥ ३
यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम्।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे॥ ४

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ५

राजा रहूगणने कहा—भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपने जगत्का उद्धार करनेके लिये ही यह देह धारण की है। योगेश्वर! अपने परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करके आप इस स्थूलशरीरसे उदासीन हो गये हैं तथा एक जड ब्राह्मणके वेषसे अपने नित्यज्ञानमय स्वरूपको जनसाधारणकी दृष्टिसे ओझल किये हुए हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ १॥ ब्रह्मन्! जिस प्रकार ज्वरसे पीड़ित रोगीके लिये मीठी ओषधि और धूपसे तपे हुए पुरुषके लिये शीतल जल अमृततुल्य होता है, उसी प्रकार मेरे लिये, जिसकी विवेकबुद्धिको देहाभिमानरूप विषैले सर्पने डस लिया है, आपके वचन अमृतमय ओषधिके समान हैं॥ २॥ देव! मैं आपसे अपने संशयोंकी निवृत्ति तो पीछे कराऊँगा। पहले तो इस समय आपने जो अध्यात्म-योगमय उपदेश दिया है, उसीको सरल करके समझाइये, उसे समझनेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है॥ ३॥

योगेश्वर! आपने जो यह कहा कि भार उठानेकी क्रिया तथा उससे जो श्रमरूप फल होता है, वे दोनों ही प्रत्यक्ष होनेपर भी केवल व्यवहारमूलके ही हैं, वास्तवमें सत्य नहीं है—वे तत्त्वविचारके सामने कुछ भी नहीं ठहरते—सो इस विषयमें मेरा मन चक्कर खा रहा है, आपके इस कथनका मर्म मेरी समझमें नहीं आ रहा है॥ ४॥

जडभरतने कहा—पृथ्वीपते! यह देह पृथ्वीका विकार है, पाषाणादिसे इसका क्या भेद है? जब यह किसी कारणसे पृथ्वीपर चलने लगता है, तब इसके भारवाही आदि नाम पड़ जाते हैं। इसके दो चरण हैं; उनके ऊपर क्रमशः टखने, पिंडली, घुटने, जाँघ, कमर, वक्षःस्थल, गर्दन और कंधे आदि अंग हैं॥ ५॥

अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते।
यस्मिन् भवान् रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः॥ ६
शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान्
विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः॥ ७
यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम्॥ ८
एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः॥ ९
एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्॥ १०
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥ ११
रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥ १२

कंधोंके ऊपर लकड़ीकी पालकी रखी हुई है; उसमें भी सौवीरराज नामका एक पार्थिव विकार ही है, जिसमें आत्मबुद्धिरूप अभिमान करनेसे तुम 'मैं सिन्धु देशका राजा हूँ' इस प्रबल मदसे अंधे हो रहे हो॥ ६॥ किन्तु इसीसे तुम्हारी कोई श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती, वास्तवमें तो तुम बड़े क्रूर और धृष्ट ही हो। तुमने इन बेचारे दीन-दुःखिया कहारोंको बेगारमें पकड़कर पालकीमें जोत रखा है और फिर महापुरुषोंकी सभामें बढ़-बढ़कर बातें बनाते हो कि मैं लोकोंकी रक्षा करनेवाला हूँ। यह तुम्हें शोभा नहीं देता॥ ७॥ हम देखते हैं कि सम्पूर्ण चराचर भूत सर्वदा पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही लीन होते हैं; अतः उनके क्रियाभेदके कारण जो अलग-अलग नाम पड़ गये हैं—बताओ तो, उनके सिवा व्यवहारका और क्या मूल है?॥ ८॥

इस प्रकार 'पृथ्वी' शब्दका व्यवहार भी मिथ्या ही है; वास्तविक नहीं है; क्योंकि यह अपने उपादानकारण सूक्ष्म परमाणुओंमें लीन हो जाती है। और जिनके मिलनेसे पृथ्वीरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वे परमाणु अविद्यावश मनसे ही कल्पना किये हुए हैं। वास्तवमें उनकी भी सत्ता नहीं है॥ ९॥ इसी प्रकार और भी जो कुछ पतला-मोटा, छोटा-बड़ा, कार्य-कारण तथा चेतन और अचेतन आदि गुणोंसे युक्त द्वैत-प्रपंच है—उसे भी द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामोंवाली भगवान्‌की मायाका ही कार्य समझो॥ १०॥

विशुद्ध परमार्थरूप, अद्वितीय तथा भीतर-बाहरके भेदसे रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तर्वर्ती और सर्वथा निर्विकार है। उसीका नाम 'भगवान्' है और उसीको पण्डितजन 'वासुदेव' कहते हैं॥ ११॥ रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता॥ १२॥

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥ १३

इसका कारण यह है कि महापुरुषोंके समाजमें सदा पवित्रकीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी चर्चा होती रहती है, जिससे विषयवार्ता तो पास ही नहीं फटकने पाती और जब भगवत्कथाका नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकांक्षी पुरुषकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवमें लगा देती है॥ १३॥

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः॥ १४

पूर्वजन्ममें मैं भरत नामका राजा था। ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्‌की आराधनामें ही लगा रहता था; तो भी एक मृगमें आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर अगले जन्ममें मृग बनना पड़ा॥ १४॥

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि॥ १५

किन्तु भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीसे अब मैं जनसंसर्गसे डरकर सर्वदा असंगभावसे गुप्तरूपसे ही विचरता रहता हूँ॥ १५॥

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः॥ १६

सारांश यह है कि विरक्त महापुरुषोंके सत्संगसे प्राप्त ज्ञानरूप खड्गके द्वारा मनुष्यको इस लोकमें ही अपने मोहबन्धनको काट डालना चाहिये। फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ब्राह्मणरहूगणसंवादे द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

भवाटवीका वर्णन और रहूगणका संशयनाश

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक्।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति॥ १

जडभरतने कहा—राजन्! यह जीवसमूह सुखरूप धनमें आसक्त देश-देशान्तरमें घूम-फिरकर व्यापार करनेवाले व्यापारियोंके दलके समान है। इसे मायाने दुस्तर प्रवृत्तिमार्गमें लगा दिया है; इसलिये इसकी दृष्टि सात्त्विक, राजस, तामस भेदसे नाना प्रकारके कर्मोंपर ही जाती है। उन कर्मोंमें भटकता-भटकता यह संसाररूप जंगलमें पहुँच जाता है। वहाँ इसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती॥ १॥

यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः॥ २
प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम्॥ ३
निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम्।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः॥ ४
अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।
अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित्॥ ५
क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः॥ ६
शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन् विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम्।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम्॥ ७
चलन् क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय॥ ८

महाराज! उस जंगलमें छः डाकू हैं। इस वणिक्-समाजका नायक बड़ा दुष्ट है। उसके नेतृत्वमें जब यह वहाँ पहुँचता है, तब ये लुटेरे बलात् इसका सब माल-मत्ता लूट लेते हैं तथा भेड़िये जिस प्रकार भेड़ोंके झुंडमें घुसकर उन्हें खींच ले जाते हैं, उसी प्रकार इसके साथ रहनेवाले गीदड़ ही इसे असावधान देखकर इसके धनको इधर-उधर खींचने लगते हैं॥ २॥ वह जंगल बहुत-सी लता, घास और झाड़-झंखाड़के कारण बहुत दुर्गम हो रहा है। उसमें तीव्र डाँस और मच्छर इसे चैन नहीं लेने देते। वहाँ इसे कभी तो गन्धर्वनगर दीखने लगता है और कभी-कभी चमचमाता हुआ अति चंचल अगिया-बेताल आँखोंके सामने आ जाता है॥ ३॥ यह वणिक्-समुदाय इस वनमें निवासस्थान, जल और धनादिमें आसक्त होकर इधर-उधर भटकता रहता है। कभी बवंडरसे उठी हुई धूलके द्वारा जब सारी दिशाएँ धूमाच्छादित-सी हो जाती हैं और इसकी आँखोंमें भी धूल भर जाती है, तो इसे दिशाओंका ज्ञान भी नहीं रहता॥ ४॥ कभी इसे दिखायी न देनेवाले झींगुरोंका कर्णकटु शब्द सुनायी देता है, कभी उल्लुओंकी बोलीसे इसका चित्त व्यथित हो जाता है। कभी इसे भूख सताने लगती है तो यह निन्दनीय वृक्षोंका ही सहारा टटोलने लगता है और कभी प्याससे व्याकुल होकर मृगतृष्णाकी ओर दौड़ लगाता है॥ ५॥ कभी जलहीन नदियोंकी ओर जाता है, कभी अन्न न मिलनेपर आपसमें एक-दूसरेसे भोजनप्राप्तिकी इच्छा करता है, कभी दावानलमें घुसकर अग्निसे झुलस जाता है और कभी यक्षलोग इसके प्राण खींचने लगते हैं तो यह खिन्न होने लगता है॥ ६॥ कभी अपनेसे अधिक बलवान्लोग इसका धन छीन लेते हैं, तो यह दुःखी होकर शोक और मोहसे अचेत हो जाता है और कभी गन्धर्वनगरमें पहुँचकर घड़ीभरके लिये सब दुःख भूलकर खुशी मनाने लगता है॥ ७॥ कभी पर्वतोंपर चढ़ना चाहता है तो काँटे और कंकड़ोंद्वारा पैर चलनी हो जानेसे उदास हो जाता है। कुटुम्ब बहुत बढ़ जाता है और उदरपूर्तिका साधन नहीं होता तो भूखकी ज्वालासे सन्तप्त होकर अपने ही बन्धु-बान्धवोंपर खीझने लगता है॥ ८॥

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकै-
रन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे॥ ९
कर्हि स्म चित्क्षुद्ररसान् विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः।
तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो[१]
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये॥ १०
क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात्॥ ११
क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ १२
[२]अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन् विपन्नः॥ १३
तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम्॥ १४

कभी अजगर सर्पका ग्रास बनकर वनमें फेंके हुए मुर्देके समान पड़ा रहता है। उस समय इसे कोई सुध-बुध नहीं रहती। कभी दूसरे विषैले जन्तु इसे काटने लगते हैं तो उनके विषके प्रभावसे अंधा होकर किसी अंधे कुएँमें गिर पड़ता है और घोर दुःखमय अन्धकारमें बेहोश पड़ा रहता है॥ ९॥ कभी मधु खोजने लगता है तो मक्खियाँ इसके नाकमें दम कर देती हैं और इसका सारा अभिमान नष्ट हो जाता है। यदि किसी प्रकार अनेकों कठिनाइयोंका सामना करके वह मिल भी गया तो बलात् दूसरे लोग उसे छीन लेते हैं॥ १०॥ कभी शीत, घाम, आँधी और वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है। कभी आपसमें थोड़ा-बहुत व्यापार करता है, तो धनके लोभसे दूसरोंको धोखा देकर उनसे वैर ठान लेता है॥ ११॥ कभी-कभी उस संसारवनमें इसका धन नष्ट हो जाता है तो इसके पास शय्या, आसन, रहनेके लिये स्थान और सैर-सपाटेके लिये सवारी आदि भी नहीं रहते। तब दूसरोंसे याचना करता है; माँगनेपर भी दूसरेसे जब उसे अभिलषित वस्तु नहीं मिलती, तब परायी वस्तुओंपर अनुचित दृष्टि रखनेके कारण इसे बड़ा तिरस्कार सहना पड़ता है॥ १२॥

इस प्रकार व्यावहारिक सम्बन्धके कारण एक-दूसरेसे द्वेषभाव बढ़ जानेपर भी वह वणिक्-समूह आपसमें विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करता है और फिर इस मार्गमें तरह-तरहके कष्ट और धनक्षय आदि संकटोंको भोगते-भोगते मृतकवत् हो जाता है॥ १३॥ साथियोंमेंसे जो-जो मरते जाते हैं, उन्हें जहाँ-का-तहाँ छोड़कर नवीन उत्पन्न हुओंको साथ लिये वह बनिजारोंका समूह बराबर आगे ही बढ़ता रहता है। वीरवर! उनमेंसे कोई भी प्राणी न तो आजतक वापस लौटा है और न किसीने इस संकटपूर्ण मार्गको पार करके परमानन्दमय योगकी ही शरण ली है॥ १४॥

१. प्रा० पा०—तत्रातिकृच्छ्रं प्रति। २. प्रा० पा०—अन्योन्यकर्म।

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति॥ १५

जिन्होंने बड़े-बड़े दिक्पालोंको जीत लिया है, वे धीर-वीर पुरुष भी पृथ्वीमें 'यह मेरी है' ऐसा अभिमान करके आपसमें वैर ठानकर संग्रामभूमिमें जूझ जाते हैं। तो भी उन्हें भगवान् विष्णुका वह अविनाशी पद नहीं मिलता, जो वैरहीन परमहंसोंको प्राप्त होता है॥ १५॥

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः॥ १६

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन् शीलमुपैति वानरान्।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः[1]
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥ १७

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः॥ १८

इस भवाटवीमें भटकनेवाला यह बनिजारोंका दल कभी किसी लताकी डालियोंका आश्रय लेता है और उसपर रहनेवाले मधुरभाषी पक्षियोंके मोहमें फँस जाता है। कभी सिंहोंके समूहसे भय मानकर बगुला, कंक और गिद्धोंसे प्रीति करता है॥ १६॥ जब उनसे धोखा उठाता है, तब हंसोंकी पंक्तिमें प्रवेश करना चाहता है; किन्तु उसे उनका आचार नहीं सुहाता, इसलिये वानरोंमें मिलकर उनके जातिस्वभावके अनुसार दाम्पत्य सुखमें रत रहकर विषयभोगोंसे इन्द्रियोंको तृप्त करता रहता है और एक-दूसरेका मुख देखते-देखते अपनी आयुकी अवधिको भूल जाता है॥ १७॥ वहाँ वृक्षोंमें क्रीडा करता हुआ पुत्र और स्त्रीके स्नेहपाशमें बँध जाता है। इसमें मैथुनकी वासना इतनी बढ़ जाती है कि तरह-तरहके दुर्व्यवहारोंसे दीन होनेपर भी यह विवश होकर अपने बन्धनको तोड़नेका साहस नहीं कर सकता। कभी असावधानीसे पर्वतकी गुफामें गिरने लगता है तो उसमें रहनेवाले हाथीसे डरकर किसी लताके सहारे लटका रहता है॥ १८॥

अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया[2] निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन॥ १९

शत्रुदमन! यदि किसी प्रकार इसे उस आपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है, तो यह फिर अपने गोलमें मिल जाता है। जो मनुष्य मायाकी प्रेरणासे एक बार इस मार्गमें पहुँच जाता है, उसे भटकते-भटकते अन्ततक अपने परम पुरुषार्थका पता नहीं लगता॥ १९॥

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम्॥ २०

रहूगण! तुम भी इसी मार्गमें भटक रहे हो, इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो॥ २०॥

---

१. प्रा० पा०—सुनिर्जितेन्द्रियः। २. प्रा० पा०—मुष्मिन्नंजसा।

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः॥ २१

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥ २२

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम्॥ २३

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं[1] विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव[2] इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार[3]॥ २४॥ सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः[4]॥ २५॥

राजा रहूगणने कहा—अहो! समस्त योनियोंमें यह मनुष्यजन्म ही श्रेष्ठ है। अन्यान्य लोकोंमें प्राप्त होनेवाले देवादि उत्कृष्ट जन्मोंसे भी क्या लाभ है, जहाँ भगवान् हृषीकेशके पवित्र यशसे शुद्ध अन्तःकरणवाले आप-जैसे महात्माओंका अधिकाधिक समागम नहीं मिलता॥ २१॥

आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है। मेरा तो आपके दो घड़ीके सत्संगसे ही सारा कुतर्कमूलक अज्ञान नष्ट हो गया है॥ २२॥

ब्रह्मज्ञानियोंमें जो वयोवृद्ध हों, उन्हें नमस्कार है; जो शिशु हों, उन्हें नमस्कार है; जो युवा हों, उन्हें नमस्कार है। जो क्रीडारत बालक हों, उन्हें भी नमस्कार है। जो ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण अवधूतवेषसे पृथ्वीपर विचरते हैं, उनसे हम-जैसे ऐश्वर्योन्मत्त राजाओंका कल्याण हो॥ २३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—उत्तरानन्दन! इस प्रकार उन परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षिपुत्रने अपना अपमान करनेवाले सिन्धुनरेश रहूगणको भी अत्यन्त करुणावश आत्मतत्त्वका उपदेश दिया। तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की। फिर वे परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे॥ २४॥

उनके सत्संगसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान पाकर सौवीरपति रहूगणने भी अन्तःकरणमें अविद्यावश आरोपित देहात्मबुद्धिको त्याग दिया। राजन्! जो लोग भगवदाश्रित अनन्य भक्तोंकी शरण ले लेते हैं, उनका ऐसा ही प्रभाव होता है—उनके पास अविद्या ठहर नहीं सकती॥ २५॥

१. प्रा० पा०—आत्मस्वतत्त्वं। २. प्रा० पा०—चरणः पूर्णार्णव इव। ३. प्रा० पा०—मिमां चचार। ४. प्रा० पा०—भगवदाश्रितानुभावः।

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः। अथ तदेवैतद्दुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति॥ २६॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—महाभागवत मुनिश्रेष्ठ! आप परम विद्वान् हैं। आपने रूपकादिके द्वारा अप्रत्यक्षरूपसे जीवोंके जिस संसाररूप मार्गका वर्णन किया है, उस विषयकी कल्पना विवेकी पुरुषोंकी बुद्धिने की है; वह अल्पबुद्धिवाले पुरुषोंकी समझमें सुगमतासे नहीं आ सकता। अतः मेरी प्रार्थना है कि इस दुर्बोध विषयको रूपकका स्पष्टीकरण करनेवाले शब्दोंसे खोलकर समझाइये॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

भवाटवीका स्पष्टीकरण

स होवाच

य एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं[1] हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! देहाभिमानी जीवोंके द्वारा सत्त्वादि गुणोंके भेदसे शुभ, अशुभ और मिश्र—तीन प्रकारके कर्म होते रहते हैं। उन कर्मोंके द्वारा ही निर्मित नाना प्रकारके शरीरोंके साथ होनेवाला जो संयोग-वियोगादिरूप अनादि संसार जीवको प्राप्त होता है, उसके अनुभवके छः द्वार हैं—मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। उनसे विवश होकर यह जीवसूह मार्ग भूलकर भयंकर वनमें भटकते हुए धनके लोभी बनिजारोंके समान परमसमर्थ भगवान् विष्णुके आश्रित रहनेवाली मायाकी प्रेरणासे बीहड़ वनके समान दुर्गम मार्गमें पड़कर संसार-वनमें जा पहुँचता है। यह वन श्मशानके समान अत्यन्त अशुभ है। इसमें भटकते हुए उसे अपने शरीरसे किये हुए कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। यहाँ अनेकों विघ्नोंके कारण उसे अपने व्यापारमें सफलता भी नहीं मिलती; तो भी यह उसके श्रमको शान्त करनेवाले श्रीहरि एवं गुरुदेवके चरणारविन्द-मकरन्द-मधुके रसिक भक्त-भ्रमरोंके मार्गका अनुसरण नहीं करता। इस संसार-वनमें मनसहित छः इन्द्रियाँ ही अपने कर्मोंकी दृष्टिसे डाकुओंके समान हैं॥ १॥

१. प्रा० पा०—पोपशमनां।

तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं[1] बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो[2] योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति। तद्धर्म्यं धनं [3]दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राण-सङ्कल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्य अजितात्मनो यथा सार्थस्य[4] विलुम्पन्ति॥ २॥ अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि[5] हरन्ति॥ ३॥ यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः॥ ४॥

तत्र गतो[6] दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमान-बहिःप्राणः क्वचित् परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति॥ ५॥

पुरुष बहुत-सा कष्ट उठाकर जो धन कमाता है, उसका उपयोग धर्ममें होना चाहिये; वही धर्म यदि साक्षात् भगवान् परमपुरुषकी आराधनाके रूपमें होता है तो उसे परलोकमें निःश्रेयसका हेतु बतलाया गया है। किन्तु जिस मनुष्यका बुद्धिरूप सारथि विवेकहीन होता है और मन वशमें नहीं होता, उसके उस धर्मोपयोगी धनको ये मनसहित छः इन्द्रियाँ देखना, स्पर्श करना, सुनना, स्वाद लेना, सूँघना, संकल्प-विकल्प करना और निश्चय करना—इन वृत्तियोंके द्वारा गृहस्थोचित विषयभोगोंमें फँसाकर उसी प्रकार लूट लेती हैं, जिस प्रकार बेईमान मुखियाका अनुगमन करनेवाले एवं असावधान बनिजारोंके दलका धन चोर-डाकू लूट ले जाते हैं॥ २॥ ये ही नहीं, उस संसार-वनमें रहनेवाले उसके कुटुम्बी भी—जो नामसे तो स्त्री-पुत्रादि कहे जाते हैं, किन्तु कर्म जिनके साक्षात् भेड़ियों और गीदड़ोंके समान होते हैं—उस अर्थलोलुप कुटुम्बीके धनको उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसके देखते-देखते इस प्रकार छीन ले जाते हैं, जैसे भेड़िये गड़रियोंसे सुरक्षित भेड़ोंको उठा ले जाते हैं॥ ३॥ जिस प्रकार यदि किसी खेतके बीजोंको अग्निद्वारा जला न दिया गया हो, तो प्रतिवर्ष जोतनेपर भी खेतीका समय आनेपर वह फिर झाड़-झंखाड़, लता और तृण आदिसे गहन हो जाता है—उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी कर्मभूमि है, इसमें भी कर्मोंका सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता, क्योंकि यह घर कामनाओंकी पिटारी है॥ ४॥

उस गृहस्थाश्रममें आसक्त हुए व्यक्तिके धनरूप बाहरी प्राणोंको डाँस और मच्छरोंके समान नीच पुरुषोंसे तथा टिड्डी, पक्षी, चोर और चूहे आदिसे क्षति पहुँचती रहती है। कभी इस मार्गमें भटकते-भटकते यह अविद्या, कामना और कर्मोंसे कलुषित हुए अपने चित्तसे दृष्टिदोषके कारण इस मर्त्यलोकको, जो गन्धर्वनगरके समान असत् है, सत्य समझने लगता है॥ ५॥

१. प्रा० पा०—यत्किंचित्साक्षाद्धर्मौप। २. प्रा० पा०—यत् परमपुरुषा०। ३. प्रा० पा०—दर्शनस्वादनावघ्राणसङ्कल्प-संव्यवसाय०। ४. प्रा० पा०—यथा सार्थिकस्य त०। ५. प्रा० पा०—निमिषतो०। ६. प्रा० पा०—रतो दंशमशकापसदै०।

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः ॥ ६ ॥ क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम्॥ ७॥ अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति॥ ८॥ क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयाऽऽरोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति॥ ९ ॥ क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति॥ १०॥ क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं[1] प्रत्यक्षं परोक्षं वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः॥ ११॥

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्यद्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणाञ्जीवन्मृतान् स्वयं जीवन्म्रियमाण उपधावति॥ १२॥

फिर खान-पान और स्त्री-प्रसंगादि व्यसनोंमें फँसकर मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है॥ ६॥ कभी बुद्धिके रजोगुणसे प्रभावित होनेपर सारे अनर्थोंकी जड़ अग्निके मलरूप सोनेको ही सुखका साधन समझकर उसे पानेके लिये लालायित हो इस प्रकार दौड़-धूप करने लगता है, जैसे वनमें जाड़ेसे ठिठुरता हुआ पुरुष अग्निके लिये व्याकुल होकर उल्मुक पिशाचकी (अगियाबेतालकी) ओर उसे आग समझकर दौड़े॥ ७॥ कभी इस शरीरको जीवित रखनेवाले घर, अन्न-जल और धन आदिमें अभिनिवेश करके इस संसारारण्यमें इधर-उधर दौड़-धूप करता रहता है॥ ८॥ कभी बवंडरके समान आँखोंमें धूल झोंक देनेवाली स्त्री गोदमें बैठा लेती है, तो तत्काल रागान्ध-सा होकर सत्पुरुषोंकी मर्यादाका भी विचार नहीं करता। उस समय नेत्रोंमें रजोगुणकी धूल भर जानेसे बुद्धि ऐसी मलिन हो जाती है कि अपने कर्मोंके साक्षी दिशाओंके देवताओंको भी भुला देता है॥ ९॥ कभी अपने-आप ही एकाध बार विषयोंका मिथ्यात्व जान लेनेपर भी अनादिकालसे देहमें आत्मबुद्धि रहनेसे विवेक-बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण उन मरुमरीचिकातुल्य विषयोंकी ओर ही फिर दौड़ने लगता है॥ १०॥ कभी प्रत्यक्ष शब्द करनेवाले उल्लूके समान शत्रुओंकी और परोक्षरूपसे बोलनेवाले झींगुरोंके समान राजाकी अति कठोर एवं दिलको दहला देनेवाली डरावनी डाँट-डपटसे इसके कान और मनको बड़ी व्यथा होती है॥ ११॥

पूर्वपुण्य क्षीण हो जानेपर यह जीवित ही मुर्देके समान हो जाता है; और जो कारस्कर एवं काकतुण्ड आदि जहरीले फलोंवाले पापवृक्षों, इसी प्रकारकी दूषित लताओं और विषैले कुओंके समान हैं तथा जिनका धन इस लोक और परलोक दोनोंके ही काममें नहीं आता और जो जीते हुए भी मुर्देके समान हैं—उन कृपण पुरुषोंका आश्रय लेता है॥ १२॥

१. प्रा० पा०—परुषसंरभसाटोपं प्रत्यक्षं वा रिपुराज०।

एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्त्रोतः[1]-स्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति॥ १३॥ यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान् वा स खलु भक्षयति॥ १४॥ क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति॥ १५॥ क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसाऽपहृतप्रियतमधनासुःप्रमृतक[2] इव विगतजीवलक्षण आस्ते॥ १६॥

कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति॥ १७॥ क्वचिद् गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति॥ १८॥ क्वचिच्चदुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः[3] स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति॥ १९॥ स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत् किञ्चन वेद शव इवापविद्धः॥ २०॥

कभी असत् पुरुषोंके संगसे बुद्धि बिगड़ जानेके कारण सूखी नदीमें गिरकर दुःखी होनेके समान इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले पाखण्डमें फँस जाता है॥ १३॥

जब दूसरोंको सतानेसे उसे अन्न भी नहीं मिलता, तब वह अपने सगे पिता-पुत्रोंको अथवा पिता या पुत्र आदिका एक तिनका भी जिनके पास देखता है, उनको फाड़ खानेके लिये तैयार हो जाता है॥ १४॥

कभी दावानलके समान प्रिय विषयोंसे शून्य एवं परिणाममें दुःखमय घरमें पहुँचता है, तो वहाँ इष्टजनोंके वियोगादिसे उसके शोककी आग भड़क उठती है; उससे सन्तप्त होकर वह बहुत ही खिन्न होने लगता है॥ १५॥

कभी कालके समान भयंकर राजकुलरूप राक्षस इसके परम प्रिय धनरूप प्राणोंको हर लेता है, तो यह मरे हुएके समान निर्जीव हो जाता है॥ १६॥

कभी मनोरथके पदार्थोंके समान अत्यन्त असत् पिता-पितामह आदि सम्बन्धोंको सत्य समझकर उनके सहवाससे स्वप्नके समान क्षणिक सुखका अनुभव करता है॥ १७॥

गृहस्थाश्रमके लिये जिस कर्मविधिका महान् विस्तार किया गया है, उसका अनुष्ठान किसी पर्वतकी कड़ी चढ़ाईके समान ही है। लोगोंको उस ओर प्रवृत्त देखकर उनकी देखा-देखी जब यह भी उसे पूरा करनेका प्रयत्न करता है, तब तरह-तरहकी कठिनाइयोंसे क्लेशित होकर काँटे और कंकड़ोंसे भरी भूमिमें पहुँचे हुए व्यक्तिके समान दुःखी हो जाता है॥ १८॥

कभी पेटकी असह्य ज्वालासे अधीर होकर अपने कुटुम्बपर ही बिगड़ने लगता है॥ १९॥ फिर जब निद्रारूप अजगरके चंगुलमें फँस जाता है, तब अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें डूबकर सूने वनमें फेंके हुए मुर्देके समान सोया पड़ा रहता है। उस समय इसे किसी बातकी सुधि नहीं रहती॥ २०॥

१. प्रा० पा०—मतिर्विदिक्स्रोतःस्वनेन स्खलन०। २. प्रा० पा०—मृत इव। ३. प्रा० पा०—गृहीतगतसारः।

कदाचिद् भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति॥ २१॥ कर्हि स्म चित्काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये॥ २२॥ अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति॥ २३॥ मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः॥ २४॥ क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते॥ २५॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन् यत्किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात्॥ २६॥

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादयः ॥ २७॥

कभी दुर्जनरूप काटनेवाले जीव इतना काटते—तिरस्कार करते हैं कि इसके गर्वरूप दाँत, जिनसे यह दूसरोंको काटता था, टूट जाते हैं। तब इसे अशान्तिके कारण नींद भी नहीं आती तथा मर्मवेदनाके कारण क्षण-क्षणमें विवेक-शक्ति क्षीण होते रहनेसे अन्तमें अंधेकी भाँति यह नरकरूप अंधे कुएँमें जा गिरता है॥ २१॥

कभी विषयसुखरूप मधुकणोंको ढूँढते-ढूँढते जब यह लुक-छिपकर परस्त्री या परधनको उड़ाना चाहता है, तब उनके स्वामी या राजाके हाथसे मारा जाकर ऐसे नरकमें जा गिरता है जिसका ओर-छोर नहीं है॥ २२॥

इसीसे ऐसा कहते हैं कि प्रवृत्तिमार्गमें रहकर किये हुए लौकिक और वैदिक दोनों ही प्रकारके कर्म जीवको संसारकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं॥ २३॥

यदि किसी प्रकार राजा आदिके बन्धनसे छूट भी गया, तो अन्यायसे अपहरण किये हुए उन स्त्री और धनको देवदत्त नामका कोई दूसरा व्यक्ति छीन लेता है और उससे विष्णुमित्र नामका कोई तीसरा व्यक्ति झटक लेता है। इस प्रकार वे भोग एक पुरुषसे दूसरे पुरुषके पास जाते रहते हैं, एक स्थानपर नहीं ठहरते॥ २४॥

कभी-कभी शीत और वायु आदि अनेकों आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखकी स्थितियोंके निवारण करनेमें समर्थ न होनेसे यह अपार चिन्ताओंके कारण उदास हो जाता है॥ २५॥

कभी परस्पर लेन-देनका व्यवहार करते समय किसी दूसरेका थोड़ा सा—दमड़ीभर अथवा इससे भी कम धन चुरा लेता है तो इस बेईमानीके कारण उससे वैर ठन जाता है॥ २६॥

राजन्! इस मार्गमें पूर्वोक्त विघ्नोंके अतिरिक्त सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा-पिपासा, आधि-व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु आदि और भी अनेकों विघ्न हैं॥ २७॥

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो यद्विहारगृहारम्भाकुल-हृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषिताव-लोकविचेष्टितापहृतहृदय आत्मानमजितात्मा-ऽपारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति॥ २८॥

(इस विघ्नबहुल मार्गमें इस प्रकार भटकता हुआ यह जीव) किसी समय देवमायारूपिणी स्त्रीके बाहुपाशमें पड़कर विवेकहीन हो जाता है। तब उसीके लिये विहारभवन आदि बनवानेकी चिन्तामें ग्रस्त रहता है तथा उसीके आश्रित रहनेवाले पुत्र, पुत्री और अन्यान्य स्त्रियोंके मीठे-मीठे बोल, चितवन और चेष्टाओंमें आसक्त होकर, उन्हींमें चित्त फँस जानेसे वह इन्द्रियोंका दास अपार अन्धकारमय नरकोंमें गिरता है॥ २८॥

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात्परमाण्वादिद्विपरार्धापवर्गकालो-पलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते॥ २९॥ यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्त-कर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानर-जातेः॥ ३०॥

कालचक्र साक्षात् भगवान् विष्णुका आयुध है। वह परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त क्षण-घटी आदि अवयवोंसे युक्त है। वह निरन्तर सावधान रहकर घूमता रहता है, जल्दी-जल्दी बदलनेवाली बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ ही उसका वेग हैं। उसके द्वारा वह ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृणपर्यन्त सभी भूतोंका निरन्तर संहार करता रहता है। कोई भी उसकी गतिमें बाधा नहीं डाल सकता। उससे भय मानकर भी जिनका यह कालचक्र निज आयुध है, उन साक्षात् भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना छोड़कर यह मन्दमति मनुष्य पाखण्डियोंके चक्करमें पड़कर उनके कंक, गिद्ध, बगुला और बटेरके समान आर्यशास्त्रबहिष्कृत देवताओंका आश्रय लेता है—जिनका केवल वेदबाह्य अप्रामाणिक आगमोंने ही उल्लेख किया है॥ २९॥ ये पाखण्डी तो स्वयं ही धोखेमें हैं; जब यह भी उनकी ठगाईमें आकर दुःखी होता है, तब ब्राह्मणोंकी शरण लेता है। किन्तु उपनयन-संस्कारके अनन्तर श्रौत-स्मार्तकर्मोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करना आदि जो उनका शास्त्रोक्त आचार है, वह इसे अच्छा नहीं लगता; इसलिये वेदोक्त आचारके अनुकूल अपनेमें शुद्धि न होनेके कारण यह कर्मशून्य शूद्रकुलमें प्रवेश करता है, जिसका स्वभाव वानरोंके समान केवल कुटुम्बपोषण और स्त्रीसेवन करना ही है॥ ३०॥

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपण-बुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः॥ ३१॥

वहाँ बिना रोक-टोक स्वच्छन्द विहार करनेसे इसकी बुद्धि अत्यन्त दीन हो जाती है और एक-दूसरेका मुख देखना आदि विषय-भोगोंमें फँसकर इसे अपने मृत्युकालका भी स्मरण नहीं होता॥ ३१॥

क्वचिद् द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन् यथा वानरः सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः ॥ ३२ ॥

वृक्षोंके समान जिनका लौकिक सुख ही फल है—उन घरोंमें ही सुख मानकर वानरोंकी भाँति स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त होकर यह अपना सारा समय मैथुनादि विषय-भोगोंमें ही बिता देता है॥ ३२॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दरप्राये॥ ३३ ॥ क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविक-भौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते॥ ३४॥ क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन ॥ ३५॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें पड़कर सुख-दुःख भोगता हुआ यह जीव रोगरूपी गिरि-गुहामें फँसकर उसमें रहनेवाले मृत्युरूप हाथीसे डरता रहता है॥ ३३॥

कभी-कभी शीत, वायु आदि अनेक प्रकारके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति करनेमें जब असफल हो जाता है, तब उस समय अपार विषयोंकी चिन्तासे यह खिन्न हो उठता है॥ ३४॥

कभी आपसमें क्रय-विक्रय आदि व्यापार करनेपर बहुत कंजूसी करनेसे इसे थोड़ा-सा धन हाथ लग जाता है॥ ३५॥

क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोग-विहीनो यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादाने-ऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते ॥ ३६ ॥

कभी धन नष्ट हो जानेसे जब इसके पास सोने, बैठने और खाने आदिकी भी कोई सामग्री नहीं रहती, तब अपने अभीष्ट भोग न मिलनेसे यह उन्हें चोरी आदि बुरे उपायोंसे पानेका निश्चय करता है। इससे इसे जहाँ-तहाँ दूसरोंके हाथसे बहुत अपमानित होना पड़ता है॥ ३६॥

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति॥ ३७॥ एतस्मिन् संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन्

इस प्रकार धनकी आसक्तिसे परस्पर वैरभाव बढ़ जानेपर भी यह अपनी पूर्ववासनाओंसे विवश होकर आपसमें विवाहादि सम्बन्ध करता और छोड़ता रहता है॥ ३७॥

इस संसारमार्गमें चलनेवाला यह जीव अनेक प्रकारके क्लेश और विघ्न-बाधाओंसे बाधित होनेपर भी मार्गमें जिसपर जहाँ आपत्ति आती है अथवा जो कोई मर जाता है; उसे जहाँ-का-तहाँ छोड़ देता है; तथा नये जन्मे हुओंको साथ लगाता है, कभी किसीके लिये शोक करता है, किसीका दुःख देखकर मूर्च्छित हो जाता है, किसीके वियोग होनेकी आशंकासे भयभीत हो उठता है, किसीसे झगड़ने लगता है, कोई आपत्ति आती है तो रोने-चिल्लाने लगता है, कहीं

बिभ्यद्विवदन् क्रन्दन् संहृष्यन्गायन्नह्यमानः साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति ॥ ३८ ॥ यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति ॥ ३९ ॥ यदपि दिगिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धा यां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः ॥ ४० ॥ कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि ॥ ४१ ॥

कोई मनके अनुकूल बात हो गयी तो प्रसन्नताके मारे फूला नहीं समाता, कभी गाने लगता है और कभी उन्हींके लिये बँधनेमें भी नहीं हिचकता। साधुजन इसके पास कभी नहीं आते, यह साधुसंगसे सदा वंचित रहता है। इस प्रकार यह निरन्तर आगे ही बढ़ रहा है। जहाँसे इसकी यात्रा आरम्भ हुई है और जिसे इस मार्गकी अन्तिम अवधि कहते हैं, उस परमात्माके पास यह अभीतक नहीं लौटा है॥ ३८ ॥

परमात्मातक तो योगशास्त्रकी भी गति नहीं है; जिन्होंने सब प्रकारके दण्ड (शासन)-का त्याग कर दिया है, वे निवृत्तिपरायण संयतात्मा मुनिजन ही उसे प्राप्त कर पाते हैं॥ ३९ ॥

जो दिग्गजोंको जीतनेवाले और बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले राजर्षि हैं उनकी भी वहाँतक गति नहीं है। वे संग्रामभूमिमें शत्रुओंका सामना करके केवल प्राणपरित्याग ही करते हैं तथा जिसमें 'यह मेरी है', ऐसा अभिमान करके वैर ठाना था—उस पृथ्वीमें ही अपना शरीर छोड़कर स्वयं परलोकको चले जाते हैं। इस संसारसे वे भी पार नहीं होते॥ ४० ॥

अपने पुण्यकर्मरूप लताका आश्रय लेकर यदि किसी प्रकार यह जीव इन आपत्तियोंसे अथवा नरकसे छुटकारा पा भी जाता है, तो फिर इसी प्रकार संसारमार्गमें भटकता हुआ इस जनसमुदायमें मिल जाता है। यही दशा स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंमें जानेवालोंकी भी है॥ ४१ ॥

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः॥ ४२

राजन्! राजर्षि भरतके विषयमें पण्डितजन ऐसा कहते हैं—'जैसे गरुडजीकी होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार राजर्षि महात्मा भरतके मार्गका कोई अन्य राजा मनसे भी अनुसरण नहीं कर सकता॥ ४२ ॥

यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः॥ ४३

उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरिमें अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादिको युवावस्थामें ही विष्ठाके समान त्याग दिया था; दूसरोंके लिये तो इन्हें त्यागना बहुत ही कठिन है॥ ४३ ॥

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ४४

उन्होंने अति दुस्त्यज पृथ्वी, पुत्र, स्वजन, सम्पत्ति और स्त्रीकी तथा जिसके लिये बड़े-बड़े देवता भी लालायित रहते हैं किन्तु जो स्वयं उनकी दयादृष्टिके लिये उनपर दृष्टिपात करती रहती थी—उस लक्ष्मीकी भी, लेशमात्र इच्छा नहीं की। यह सब उनके लिये उचित ही था; क्योंकि जिन महानुभावोंका चित्त भगवान् मधुसूदनकी सेवामें अनुरक्त हो गया है, उनकी दृष्टिमें मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है॥ ४४॥

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार॥ ४५

उन्होंने मृगशरीर छोड़नेकी इच्छा होनेपर उच्चस्वरसे कहा था कि धर्मकी रक्षा करनेवाले, धर्मानुष्ठानमें निपुण, योगगम्य, सांख्यके प्रतिपाद्य, प्रकृतिके अधीश्वर यज्ञमूर्ति सर्वान्तर्यामी श्रीहरिको नमस्कार है।'॥ ४५॥

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुश‍ृणोति आख्यास्यति अभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति॥ ४६ ॥

राजन्! राजर्षि भरतके पवित्र गुण और कर्मोंकी भक्तजन भी प्रशंसा करते हैं। उनका यह चरित्र बड़ा कल्याणकारी, आयु और धनकी वृद्धि करनेवाला, लोकमें सुयश बढ़ानेवाला और अन्तमें स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है। जो पुरुष इसे सुनता या सुनाता है और इसका अभिनन्दन करता है, उसकी सारी कामनाएँ स्वयं ही पूर्ण हो जाती हैं; दूसरोंसे उसे कुछ भी नहीं माँगना पड़ता॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भरतोपाख्याने पारोक्ष्यविवरणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

भरतके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति॥ १ ॥ तस्माद् वृद्धसेनायां देवताजिन्नाम पुत्रोऽभवत्॥ २ ॥ अथासुर्यां तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुतः परमेष्ठी तस्य सुवर्चलायां प्रतीह उपजातः॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! भरतजीका पुत्र सुमति था, यह पहले कहा जा चुका है। उसने ऋषभदेवजीके मार्गका अनुसरण किया। इसीलिये कलियुगमें बहुत-से पाखण्डी अनार्य पुरुष अपनी दुष्ट बुद्धिसे वेदविरुद्ध कल्पना करके उसे देवता मानेंगे॥ १॥ उसकी पत्नी वृद्धसेनासे देवताजित् नामक पुत्र हुआ॥ २॥ देवताजित्के असुरीके गर्भसे देवद्युम्न, देवद्युम्नके धेनुमतीसे परमेष्ठी और उसके सुवर्चलाके गर्भसे प्रतीह नामका पुत्र हुआ॥ ३॥

य आत्मविद्यामाख्याय स्वयं संशुद्धो महापुरुषमनुसस्मार॥ ४॥ प्रतीहात्सुवर्चलायां प्रतिहर्त्रादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम्॥ ५॥ भूम्न ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावान्नियुत्सायां हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्यां च पृथुषेणस्तस्मान्नक्त आकूत्यां जज्ञे नक्ताद् द्रुतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कलाऽऽत्म-वत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः॥ ६॥ स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलाल-नानुशासनलक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयाऽऽपादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभाविताितशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमानब्रह्मात्मानु-भवोऽपि निरभिमान एवावनिमजूगुपत्॥ ७॥

तस्येमां गाथां पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति॥ ८॥

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते॥ ९
यमभ्यषिञ्चन् परया मुदा सतीः
सत्याशिषो दक्षकन्याः सरिद्भिः।

इसने अन्य पुरुषोंको आत्मविद्याका उपदेशकर स्वयं शुद्धचित्त होकर परमपुरुष श्रीनारायणका साक्षात् अनुभव किया था॥ ४॥ प्रतीहकी भार्या सुवर्चलाके गर्भसे प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और उद्गाता नामके तीन पुत्र हुए। ये यज्ञादि कर्मोंमें बहुत निपुण थे। इनमें प्रतिहर्ताकी भार्या स्तुति थी। उसके गर्भसे अज और भूमा नामके दो पुत्र हुए॥ ५॥ भूमाके ऋषिकुल्यासे उद्गीथ, उसके देवकुल्यासे प्रस्ताव और प्रस्तावके नियुत्साके गर्भसे विभु नामका पुत्र हुआ। विभुके रतिके उदरसे पृथुषेण, पृथुषेणके आकूतिसे नक्त और नक्तके द्रुतिके गर्भसे उदारकीर्ति राजर्षिप्रवर गयका जन्म हुआ। ये जगत्‌की रक्षाके लिये सत्त्वगुणको स्वीकार करनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णुके अंश माने जाते थे। संयमादि अनेकों गुणोंके कारण इनकी महापुरुषोंमें गणना की जाती है॥ ६॥ महाराज गयने प्रजाके पालन, पोषण, रंजन, लाड़-चाव और शासनादि करके तथा तरह-तरहके यज्ञोंका अनुष्ठान करके निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीतिके लिये अपने धर्मोंका आचरण किया। इससे उनके सभी कर्म सर्वश्रेष्ठ परमपुरुष परमात्मा श्रीहरिके अर्पित होकर परमार्थरूप बन गये थे। इससे तथा ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंके चरणोंकी सेवासे उन्हें भक्तियोगकी प्राप्ति हुई। तब निरन्तर भगवच्चिन्तन करके उन्होंने अपना चित्त शुद्ध किया और देहादि अनात्मवस्तुओंसे अहंभाव हटाकर वे अपने आत्माको ब्रह्मरूप अनुभव करने लगे। यह सब होनेपर भी वे निरभिमान होकर पृथ्वीका पालन करते रहे॥ ७॥

परीक्षित्! प्राचीन इतिहासको जाननेवाले महात्माओंने राजर्षि गयके विषयमें यह गाथा कही है॥ ८॥ 'अहो! अपने कर्मोंसे महाराज गयकी बराबरी और कौन राजा कर सकता है? वे साक्षात् भगवान्‌की कला ही थे। उन्हें छोड़कर और कौन इस प्रकार यज्ञोंका विधिवत् अनुष्ठान करनेवाला, मनस्वी, बहुज्ञ, धर्मकी रक्षा करनेवाला, लक्ष्मीका प्रियपात्र, साधुसमाजका शिरोमणि और सत्पुरुषोंका सच्चा सेवक हो सकता है?'॥ ९॥ सत्यसंकल्पवाली परम साध्वी श्रद्धा, मैत्री और दया आदि दक्षकन्याओंने गंगा आदि नदियोंके सहित बड़ी प्रसन्नतासे उनका अभिषेक किया था तथा उनकी इच्छा

यस्य प्रजानां दुदुहे धराऽऽशिषो
निराशिषो गुणवत्सस्नुतोधाः॥ १०
छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामान्
दुदूहुराजह्रुरथो बलिं नृपाः।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण विप्रा
यदाशिषां षष्ठमंशं परेत्य॥ ११
यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा
मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोग-
समर्पितेज्याफलमाजहार ॥ १२
यत्प्रीणनाद्बर्हिषि देवतिर्यङ्
मनुष्यवीरुतृणमाविरिञ्च्यात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य॥ १३

न होनेपर भी वसुन्धराने गौ जिस प्रकार बछड़ेके स्नेहसे पिन्हाकर दूध देती है, उसी प्रकार उनके गुणोंपर रीझकर प्रजाको धन-रत्नादि सभी अभीष्ट पदार्थ दिये थे॥ १०॥ उन्हें कोई कामना न थी, तब भी वेदोक्त कर्मोंने उनको सब प्रकारके भोग दिये, राजाओंने युद्धस्थलमें उनके बाणोंसे सत्कृत होकर नाना प्रकारकी भेंटें दीं तथा ब्राह्मणोंने दक्षिणादि धर्मसे सन्तुष्ट होकर उन्हें परलोकमें मिलनेवाले अपने धर्मफलका छठा अंश दिया॥ ११॥ उनके यज्ञमें बहुत अधिक सोमपान करनेसे इन्द्र उन्मत्त हो गये थे, तथा उनके अत्यन्त श्रद्धा तथा विशुद्ध और निश्चल भक्तिभावसे समर्पित किये हुए यज्ञफलको भगवान् यज्ञपुरुषने साक्षात् प्रकट होकर ग्रहण किया था॥ १२॥ जिनके तृप्त होनेसे ब्रह्माजीसे लेकर देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष एवं तृणपर्यन्त सभी जीव तत्काल तृप्त हो जाते हैं—वे विश्वात्मा श्रीहरि नित्यतृप्त होकर भी राजर्षि गयके यज्ञमें तृप्त हो गये थे। इसलिये उनकी बराबरी कोई दूसरा व्यक्ति कैसे कर सकता है?॥ १३॥

गयाद्गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरवरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुश्चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट॥ १४॥ तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात्सरघायां मधुर्नामाभवन्मधोः सुमनसि वीरव्रतस्ततो भोजायां मन्थुप्रमन्थू जज्ञाते मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो दूषणायां त्वष्टाजनिष्ट त्वष्टुर्विरोचनायां विरजो विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च विषूच्यां किल जातम्॥ १५॥

तत्रायं श्लोकः—
प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा॥ १६

महाराज गयके गयन्तीके गर्भसे चित्ररथ, सुगति और अवरोधन नामक तीन पुत्र हुए। उनमें चित्ररथकी पत्नी ऊर्णासे सम्राट्का जन्म हुआ॥ १४॥ सम्राट्के उत्कलासे मरीचि और मरीचिके बिन्दुमतीसे बिन्दुमान् नामक पुत्र हुआ। उसके सरघासे मधु, मधुके सुमनासे वीरव्रत और वीरव्रतके भोजासे मन्थु और प्रमन्थु नामके दो पुत्र हुए उनमेंसे मन्थुके सत्याके गर्भसे भौवन, भौवनके दूषणाके उदरसे त्वष्टा, त्वष्टाके विरोचनासे विरज और विरजके विषूची नामकी भार्यासे शतजित् आदि सौ पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ॥ १५॥ विरजके विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—'जिस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओंकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार इस प्रियव्रतवंशको इसमें सबसे पीछे उत्पन्न हुए राजा विरजने अपने सुयशसे विभूषित किया था'॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे
प्रियव्रतवंशानुकीर्तनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

भुवनकोशका वर्णन

राजोवाच

उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते ॥ १ ॥ तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लृप्ताः यत एतस्याः सप्तद्वीपविशेष-विकल्पस्त्वया भगवन् खलु सूचित एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि॥ २ ॥ भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदु हैतद् गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति॥ ३ ॥

ऋषिरुवाच

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः॥ ४॥ यो वायं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुत-योजनविशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम्॥ ५॥ यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामानि अष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति॥ ६॥ एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलय-कमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत् सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः॥ ७॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—मुनिवर! जहाँतक सूर्यका प्रकाश है और जहाँतक तारागणके सहित चन्द्रदेव दीख पड़ते हैं, वहाँतक आपने भूमण्डलका विस्तार बतलाया है॥ १ ॥ उसमें भी आपने बतलाया कि महाराज प्रियव्रतके रथके पहियोंकी सात लीकोंसे सात समुद्र बन गये थे, जिनके कारण इस भूमण्डलमें सात द्वीपोंका विभाग हुआ। अतः भगवन्! अब मैं इन सबका परिमाण और लक्षणोंके सहित पूरा विवरण जानना चाहता हूँ॥ २ ॥ क्योंकि जो मन भगवान्‌के इस गुणमय स्थूल विग्रहमें लग सकता है, उसीका उनके वासुदेवसंज्ञक स्वयंप्रकाश निर्गुण ब्रह्मरूप सूक्ष्मतम स्वरूपमें भी लगना सम्भव है। अतः गुरुवर! इस विषयका विशदरूपसे वर्णन करनेकी कृपा कीजिये॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—महाराज! भगवान्‌की मायाके गुणोंका इतना विस्तार है कि यदि कोई पुरुष देवताओंके समान आयु पा ले, तो भी मन या वाणीसे इसका अन्त नहीं पा सकता। इसलिये हम नाम, रूप, परिमाण और लक्षणोंके द्वारा मुख्य-मुख्य बातोंको लेकर ही इस भूमण्डलकी विशेषताओंका वर्णन करेंगे॥ ४॥ यह जम्बूद्वीप—जिसमें हम रहते हैं, भूमण्डलरूप कमलके कोशस्थानीय जो सात द्वीप हैं, उनमें सबसे भीतरका कोश है। इसका विस्तार एक लाख योजन है और यह कमलपत्रके समान गोलाकार है॥ ५ ॥ इसमें नौ-नौ हजार योजन विस्तारवाले नौ वर्ष हैं, जो इनकी सीमाओंका विभाग करनेवाले आठ पर्वतोंसे बँटे हुए हैं॥ ६ ॥ इनके बीचो-बीच इलावृत नामका दसवाँ वर्ष है, जिसके मध्यमें कुलपर्वतोंका राजा मेरुपर्वत है। वह मानो भूमण्डलरूप कमलकी कर्णिका ही है। वह ऊपरसे नीचेतक सारा-का-सारा सुवर्णमय है और एक लाख योजन ऊँचा है। उसका विस्तार शिखरपर बत्तीस हजार और तलैटीमें सोलह हजार योजन है तथा सोलह हजार योजन ही वह भूमिके भीतर घुसा हुआ है अर्थात् भूमिके बाहर उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है॥ ७॥

उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरणमयकुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रपृथव एकैकशः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति॥ ८॥

एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिम्पुरुषभारतानां यथासंख्यम्॥ ९॥ तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्ध-मादनावानीलनिषधायतौ द्विसहस्रं पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते॥ १०॥ मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजन-विस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लृप्ताः॥ ११॥ चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बू-कदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वत-केतव इवाधिसहस्रयोजनोन्नाहास्तावद् विटप-विततयः शतयोजनपरिणाहाः॥ १२॥ ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यद् उपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभावि-कानि भरतर्षभ धारयन्ति॥ १३॥ देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति॥ १४॥ येष्वमरपरिवृढाः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीय-मानमहिमानः किल विहरन्ति॥ १५॥

इलावृतवर्षके उत्तरमें क्रमशः नील, श्वेत और शृंगवान् नामके तीन पर्वत हैं—जो रम्यक, हिरण्मय और कुरु नामके वर्षोंकी सीमा बाँधते हैं। वे पूर्वसे पश्चिमतक खारे पानीके समुद्रतक फैले हुए हैं। उनमेंसे प्रत्येककी चौड़ाई दो हजार योजन है तथा लम्बाईमें पहलेकी अपेक्षा पिछला क्रमशः दशमांशसे कुछ अधिक कम है, चौड़ाई और ऊँचाई तो सभीकी समान है॥ ८॥

इसी प्रकार इलावृतके दक्षिणकी ओर एकके बाद एक निषध, हेमकूट और हिमालय नामके तीन पर्वत हैं। नीलादि पर्वतोंके समान ये भी पूर्व-पश्चिमकी ओर फैले हुए हैं और दस-दस हजार योजन ऊँचे हैं। इनसे क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्षकी सीमाओंका विभाग होता है॥ ९॥ इलावृतके पूर्व और पश्चिमकी ओर—उत्तरमें नील पर्वत और दक्षिणमें निषध पर्वततक फैले हुए गन्धमादन और माल्यवान् नामके दो पर्वत हैं। इनकी चौड़ाई दो-दो हजार योजन है और ये भद्राश्व एवं केतुमाल नामक दो वर्षोंकी सीमा निश्चित करते हैं॥ १०॥ इनके सिवा मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व और कुमुद—ये चार दस-दस हजार योजन ऊँचे और उतने ही चौड़े पर्वत मेरु पर्वतकी आधारभूता थूनियोंके समान बने हुए हैं॥ ११॥ इन चारोंके ऊपर इनकी ध्वजाओंके समान क्रमशः आम, जामुन, कदम्ब और बड़के चार पेड़ हैं। इनमेंसे प्रत्येक ग्यारह सौ योजन ऊँचा है और इतना ही इनकी शाखाओंका विस्तार है। इनकी मोटाई सौ-सौ योजन है॥ १२॥ भरतश्रेष्ठ! इन पर्वतोंपर चार सरोवर भी हैं—जो क्रमशः दूध, मधु, ईखके रस और मीठे जलसे भरे हुए हैं। इनका सेवन करनेवाले यक्ष-किन्नरादि उपदेवोंको स्वभावसे ही योगसिद्धियाँ प्राप्त हैं॥ १३॥ इनपर क्रमशः नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र नामके चार दिव्य उपवन भी हैं॥ १४॥ इनमें प्रधान-प्रधान देवगण अनेकों सुरसुन्दरियोंके नायक बनकर साथ-साथ विहार करते हैं। उस समय गन्धर्वादि उपदेवगण इनकी महिमाका बखान किया करते हैं॥ १५॥

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्यमृतकल्पानि पतन्ति॥ १६॥ तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति॥ १७॥ यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति॥ १८॥ एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानाम् अनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति ॥ १९॥ तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदामरलोकाभरणं जाम्बूनदं नाम सुवर्णं भवति॥ २०॥ यदु ह वाव विबुधादयः सह युवतिभिर्मुकुटकटककटिसूत्राद्याभरणरूपेण खलु धारयन्ति॥ २१॥

मन्दराचलकी गोदमें जो ग्यारह सौ योजन ऊँचा देवताओंका आम्रवृक्ष है, उससे गिरिशिखरके समान बड़े-बड़े और अमृतके समान स्वादिष्ट फल गिरते हैं॥ १६॥ वे जब फटते हैं, तब उनसे बड़ा सुगन्धित और मीठा लाल-लाल रस बहने लगता है। वही अरुणोदा नामकी नदीमें परिणत हो जाता है। यह नदी मन्दराचलके शिखरसे गिरकर अपने जलसे इलावृत वर्षके पूर्वी-भागको सींचती है॥ १७॥

श्रीपार्वतीजीकी अनुचरी यक्षपत्नियाँ इस जलका सेवन करती हैं। इससे उनके अंगोंसे ऐसी सुगन्ध निकलती है कि उन्हें स्पर्श करके बहनेवाली वायु उनके चारों ओर दस-दस योजनतक सारे देशको सुगन्धसे भर देती है॥ १८॥ इसी प्रकार जामुनके वृक्षसे हाथीके समान बड़े-बड़े प्रायः बिना गुठलीके फल गिरते हैं। बहुत ऊँचेसे गिरनेके कारण वे फट जाते हैं। उनके रससे जम्बू नामकी नदी प्रकट होती है, जो मेरुमन्दर पर्वतके दस हजार योजन ऊँचे शिखरसे गिरकर इलावृतके दक्षिण भू-भागको सींचती है॥ १९॥

उस नदीके दोनों किनारोंकी मिट्टी उस रससे भीगकर जब वायु और सूर्यके संयोगसे सूख जाती है, तब वही देवलोकको विभूषित करनेवाला जाम्बूनद नामका सोना बन जाती है॥ २०॥ इसे देवता और गन्धर्वादि अपनी तरुणी स्त्रियोंके सहित मुकुट, कंकण और करधनी आदि आभूषणोंके रूपमें धारण करते हैं॥ २१॥

यस्तु महाकदम्बः सुपार्श्वनिरूढे यास्तस्य कोटरेभ्यो विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपार्श्वशिखरात्पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति[1] ॥ २२॥ या[2] ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो[3] वायुः समन्ताच्छतयोजनमनुवासयति॥ २३॥

सुपार्श्व पर्वतपर जो विशाल कदम्बवृक्ष है, उसके पाँच कोटरोंसे मधुकी पाँच धाराएँ निकलती हैं; उनकी मोटाई पाँच पुरसे जितनी है। ये सुपार्श्वके शिखरसे गिरकर इलावृतवर्षके पश्चिमी भागको अपनी सुगन्धसे सुवासित करती हैं॥ २२॥ जो लोग इनका मधुपान करते हैं, उनके मुखसे निकली हुई वायु अपने चारों ओर सौ-सौ योजनतक इसकी महक फैला देती है॥ २३॥

१. प्रा० पा०—मनुमादयन्ति। २. प्रा० पा०—यो ह्युप। ३. प्रा० पा०—मुखनिःश्वसितो।

एवं कुमुदनिरूढो यः शतवल्शो नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो नीचीनाः पयोदधिमधुघृत-गुडान्नाद्यम्बरशय्यासनाभरणादयः सर्व एव कामदुघा नदाः कुमुदाग्रात्पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति॥ २४॥ यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां वलीपलितक्लमस्वेद-दौर्गन्ध्यजरामयमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादय-स्तापविशेषा भवन्ति यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव॥ २५॥

इसी प्रकार कुमुद पर्वतपर जो शतवल्श नामका वटवृक्ष है, उसकी जटाओंसे नीचेकी ओर बहनेवाले अनेक नद निकलते हैं, वे सब इच्छानुसार भोग देनेवाले हैं। उनसे दूध, दही, मधु, घृत, गुड़, अन्न, वस्त्र, शय्या, आसन और आभूषण आदि सभी पदार्थ मिल सकते हैं। ये सब कुमुदके शिखरसे गिरकर इलावृतके उत्तरी भागको सींचते हैं॥ २४॥ इनके दिये हुए पदार्थोंका उपभोग करनेसे वहाँकी प्रजाकी त्वचामें झुर्रियाँ पड़ जाना, बाल पक जाना, थकान होना, शरीरमें पसीना आना तथा दुर्गन्ध निकलना, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, सर्दी-गरमीकी पीड़ा, शरीरका कान्तिहीन हो जाना तथा अंगोंका टूटना आदि कष्ट कभी नहीं सताते और उन्हें जीवनपर्यन्त पूरा-पूरा सुख प्राप्त होता है॥ २५॥

कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिर-पतङ्गरुचकनिषधशिनीवासकपिलशङ्खवैदूर्य-जारुधिहंसर्षभनागकालञ्जरनारदादयो विंशति-गिरयो मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः॥ २६॥ जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्रमुदगायतौ द्विसहस्रं पृथुतुङ्गौ भवतः। एवमपरेण पवनपारियात्रौ दक्षिणेन कैलासकरवीरौ प्रागायतावेवमुत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरावष्टभिरेतैः परिस्तृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः॥ २७॥ मेरोर्मूर्धनि भगवत आत्म-योनेर्मध्यत उपक्लृप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति॥ २८॥ तामनु परितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लृप्ताः॥ २९॥

राजन्! कमलकी कर्णिकाके चारों ओर जैसे केसर होता है—उसी प्रकार मेरुके मूलदेशमें उसके चारों ओर कुरंग, कुरर, कुसुम्भ, वैकंक, त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रुचक, निषध, शिनीवास, कपिल, शंख, वैदूर्य, जारुधि, हंस, ऋषभ, नाग, कालंजर और नारद आदि बीस पर्वत और हैं॥ २६॥ इनके सिवा मेरुके पूर्वकी ओर जठर और देवकूट नामके दो पर्वत हैं, जो अठारह-अठारह हजार योजन लंबे तथा दो-दो हजार योजन चौड़े और ऊँचे हैं। इसी प्रकार पश्चिमकी ओर पवन और पारियात्र, दक्षिणकी ओर कैलास और करवीर तथा उत्तरकी ओर त्रिशृंग और मकर नामके पर्वत हैं। इन आठ पहाड़ोंसे चारों ओर घिरा हुआ सुवर्णगिरि मेरु अग्निके समान जगमगाता रहता है॥ २७॥ कहते हैं, मेरुके शिखरपर बीचोबीच भगवान् ब्रह्माजीकी सुवर्णमयी पुरी है—जो आकारमें समचौरस तथा करोड़ योजन विस्तारवाली है॥ २८॥ उसके नीचे पूर्वादि आठ दिशा और उपदिशाओंमें उनके अधिपति इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी आठ पुरियाँ हैं। वे अपने-अपने स्वामीके अनुरूप उन्हीं-उन्हीं दिशाओंमें हैं तथा परिमाणमें ब्रह्माजीकी पुरीसे चौथाई हैं॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

गंगाजीका विवरण और भगवान् शंकरकृत संकर्षणदेवकी स्तुति

श्रीशुक उवाच

तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्ट या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिता अखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनामला साक्षाद् भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार यत्तद्विष्णुपदमाहुः ॥ १ ॥ यत्र ह वाव वीरव्रत औत्तानपादिः परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवताचरणारविन्दोदकमिति यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं क्लिद्यमानान्तर्हृदय औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगलकुड्मलविगलितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुलकोऽधुनापि परमादरेण शिरसा बिभर्ति ॥ २ ॥

ततः सप्त ऋषयस्तत्प्रभावाभिज्ञा यां ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावती भगवति सर्वात्मनि वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो मुक्तिमिवागतां मुमुक्षव इव सबहुमानमद्यापि जटाजूटैरुद्वहन्ति ॥ ३ ॥ ततोऽनेकसहस्रकोटिविमानानीकसङ्कुलदेवयानेनावतरन्तीन्दुमण्डलमावार्य ब्रह्मसदने निपतति ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब राजा बलिकी यज्ञशालामें साक्षात् यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णुने त्रिलोकीको नापनेके लिये अपना पैर फैलाया, तब उनके बायें पैरके अँगूठेके नखसे ब्रह्माण्डकटाहका ऊपरका भाग फट गया। उस छिद्रमें होकर जो ब्रह्माण्डसे बाहरके जलकी धारा आयी, वह उस चरणकमलको धोनेसे उसमें लगी हुई केसरके मिलनेसे लाल हो गयी। उस निर्मल धाराका स्पर्श होते ही संसारके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु वह सर्वथा निर्मल ही रहती है। पहले किसी और नामसे न पुकारकर उसे 'भगवत्पदी' ही कहते थे। वह धारा हजारों युग बीतनेपर स्वर्गके शिरोभागमें स्थित ध्रुवलोकमें उतरी, जिसे 'विष्णुपद' भी कहते हैं ॥ १ ॥ वीरव्रत परीक्षित्! उस ध्रुवलोकमें उत्तानपादके पुत्र परम भागवत ध्रुवजी रहते हैं। वे नित्यप्रति बढ़ते हुए भक्तिभावसे 'यह हमारे कुलदेवताका चरणोदक है' ऐसा मानकर आज भी उस जलको बड़े आदरसे सिरपर चढ़ाते हैं। उस समय प्रेमावेशके कारण उनका हृदय अत्यन्त गद्‌गद हो जाता है, उत्कण्ठावश बरबस मुँदे हुए दोनों नयनकमलोंसे निर्मल आँसुओंकी धारा बहने लगती है और शरीरमें रोमांच हो आता है ॥ २ ॥

इसके पश्चात् आत्मनिष्ठ सप्तर्षिगण उनका प्रभाव जाननेके कारण 'यही तपस्याकी आत्यन्तिक सिद्धि है' ऐसा मानकर उसे आज भी इस प्रकार आदरपूर्वक अपने जटाजूटपर वैसे ही धारण करते हैं, जैसे मुमुक्षुजन प्राप्त हुई मुक्तिको। यों ये बड़े ही निष्काम हैं; सर्वात्मा भगवान् वासुदेवकी निश्चल भक्तिको ही अपना परम धन मानकर इन्होंने अन्य सभी कामनाओंको त्याग दिया है, यहाँतक कि आत्मज्ञानको भी ये उसके सामने कोई चीज नहीं समझते ॥ ३ ॥ वहाँसे गंगाजी करोड़ों विमानोंसे घिरे हुए आकाशमें होकर उतरती हैं और चन्द्रमण्डलको आप्लावित करती मेरुके शिखरपर ब्रह्मपुरीमें गिरती हैं ॥ ४ ॥

तत्र चतुर्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्पन्दन्ती नदनदीपतिमेवाभिनिविशति सीतालकनन्दा चक्षुर्भद्रेति॥ ५॥ सीता तु ब्रह्मसदनात्केसराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्ववर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति॥ ६॥

एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती ततोऽनुपरतवेगा केतुमालमभि चक्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति॥ ७॥ भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्गिरिशिखरमतिहाय शृङ्गवतः शृङ्गादवस्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति॥ ८॥ तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटाद्धैमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठयन्ती भारतमभिवर्षं दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति यस्यां स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति॥ ९॥

अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे सन्ति बहुशो मेर्वादिगिरिदुहितरः शतशः॥ १०॥

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति॥ ११॥ एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैकगर्भकलत्राणां तत्र तु त्रेतायुगसमः कालो वर्तते॥ १२॥

वहाँ ये सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नामसे चार धाराओंमें विभक्त हो जाती हैं तथा अलग-अलग चारों दिशाओंमें बहती हुई अन्तमें नद-नदियोंके अधीश्वर समुद्रमें गिर जाती हैं॥ ५॥

इनमें सीता ब्रह्मपुरीसे गिरकर केसराचलोंके सर्वोच्च शिखरोंमें होकर नीचेकी ओर बहती गन्धमादनके शिखरोंपर गिरती है और भद्राश्ववर्षको प्लावित कर पूर्वकी ओर खारे समुद्रमें मिल जाती है॥ ६॥ इसी प्रकार चक्षु माल्यवान्‌के शिखरपर पहुँचकर वहाँसे बेरोक-टोक केतुमालवर्षमें बहती पश्चिमकी ओर क्षारसमुद्रमें जा मिलती है॥ ७॥ भद्रा मेरुपर्वतके शिखरसे उत्तरकी ओर गिरती है तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर जाती अन्तमें शृंगवान्‌के शिखरसे गिरकर उत्तरकुरु देशमें होकर उत्तरकी ओर बहती हुई समुद्रमें मिल जाती है॥ ८॥ अलकनन्दा ब्रह्मपुरीसे दक्षिणकी ओर गिरकर अनेकों गिरिशिखरोंको लाँघती हेमकूट पर्वतपर पहुँचती है, वहाँसे अत्यन्त तीव्र वेगसे हिमालयके शिखरोंको चीरती हुई भारतवर्षमें आती है और फिर दक्षिणकी ओर समुद्रमें जा मिलती है। इसमें स्नान करनेके लिये आनेवाले पुरुषोंको पद-पदपर अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं है॥ ९॥ प्रत्येक वर्षमें मेरु आदि पर्वतोंसे निकली हुई और भी सैकड़ों नद-नदियाँ हैं॥ १०॥

इन सब वर्षोंमें भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। शेष आठ वर्ष तो स्वर्गवासी पुरुषोंके स्वर्गभोगसे बचे हुए पुण्योंको भोगनेके स्थान हैं। इसलिये इन्हें भूलोकके स्वर्ग भी कहते हैं॥ ११॥ वहाँके देवतुल्य मनुष्योंकी मानवी गणनाके अनुसार दस हजार वर्षकी आयु होती है। उनमें दस हजार हाथियोंका बल होता है तथा उनके वज्रसदृश सुदृढ़ शरीरमें जो शक्ति, यौवन और उल्लास होते हैं—उनके कारण वे बहुत समयतक मैथुन आदि विषय भोगते रहते हैं। अन्तमें जब भोग समाप्त होनेपर उनकी आयुका केवल एक वर्ष रह जाता है, तब उनकी स्त्रियाँ गर्भ धारण करती हैं। इस प्रकार वहाँ सर्वदा त्रेतायुगके समान समय बना रहता है॥ १२॥

यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः सर्वर्तुकुसुमस्तबकफलकिसलयश्रियाऽऽनम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशुम्भमानरुचिरकाननाश्रमायतनवर्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु विकचविविधनववनरुहामोद[1]मुदितराजहंसजलकुक्कुटकारण्डवसारसचक्रवाकादिभिर्मधुकरनिकराकृतिभिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां कामकलिलविलासहासलीलावलोका[2]कृष्टमनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति॥ १३॥

वहाँ ऐसे आश्रम, भवन और वर्ष, पर्वतोंकी घाटियाँ हैं जिनके सुन्दर वन-उपवन सभी ऋतुओंके फूलोंके गुच्छे, फल और नूतन पल्लवोंकी शोभाके भारसे झुकी हुई डालियों और लताओंवाले वृक्षोंसे सुशोभित हैं; वहाँ निर्मल जलसे भरे हुए ऐसे जलाशय भी हैं; जिनमें तरह-तरहके नूतन कमल खिले रहते हैं और उन कमलोंकी सुगन्धसे प्रमुदित होकर राजहंस, जलमुर्ग, कारण्डव, सारस और चकवा आदि पक्षी तरह-तरहकी बोली बोलते तथा विभिन्न जातिके मतवाले भौंरे मधुर-मधुर गुंजार करते रहते हैं। इन आश्रमों, भवनों, घाटियों तथा जलाशयोंमें वहाँके देवेश्वरगण परम सुन्दरी देवांगनाओंके साथ उनके कामोन्मादसूचक हास-विलास और लीला-कटाक्षोंसे मन और नेत्रोंके आकृष्ट हो जानेके कारण जलक्रीडादि नाना प्रकारके खेल करते हुए स्वच्छन्द विहार करते हैं तथा उनके प्रधान-प्रधान अनुचरगण अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे उनका आदर-सत्कार करते रहते हैं॥ १३॥

नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि[3] संनिधीयते॥ १४॥ इलावृते तु भगवान् भव एक एव पुमान्न ह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्याः शापनिमित्तज्ञो यत्प्रवेक्ष्यतः स्त्रीभावस्तत्पश्चाद्वक्ष्यामि[4] ॥ १५॥ भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुदसहस्रैरवरुध्यमानो[5] भगवतश्चतुर्मूर्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण संनिधाप्यैतदभिगृणन् भव उपधावति॥ १६॥

इन नवों वर्षोंमें परमपुरुष भगवान् नारायण वहाँके पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये इस समय भी अपनी विभिन्न मूर्तियोंसे विराजमान रहते हैं॥ १४॥ इलावृतवर्षमें एकमात्र भगवान् शंकर ही पुरुष हैं। श्रीपार्वतीजीके शापको जाननेवाला कोई दूसरा पुरुष वहाँ प्रवेश नहीं करता; क्योंकि वहाँ जो जाता है, वही स्त्रीरूप हो जाता है। इस प्रसंगका हम आगे (नवम स्कन्धमें) वर्णन करेंगे॥ १५॥ वहाँ पार्वती एवं उनकी अरबों-खरबों दासियोंसे सेवित भगवान् शंकर परम पुरुष परमात्माकी वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणसंज्ञक चतुर्व्यूह-मूर्तियोंमेंसे अपनी कारणरूपा संकर्षण नामकी तमःप्रधान चौथी मूर्तिका ध्यानस्थित मनोमय विग्रहके रूपमें चिन्तन करते हैं और इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं*॥ १६॥

---

१. प्रा० पा०—मोदमदमुदितराजहंसकलहंसजल०। २. प्रा० पा०—लोकाः स्वैरं विहरन्ति। ३. प्रा० पा०—व्यूहैरात्मनाद्यापि। ४. प्रा० पा०—पश्चाद्वक्ष्यामः। ५. प्रा० पा०—सहस्रैर्व्यवरुद्ध्ययमानो।

* भगवान्का विग्रह शुद्ध चिन्मय ही है परन्तु संहार आदि तामसी कार्योंका हेतु होनेसे इसे तामसी मूर्ति कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुण-
सङ्ख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति॥ १७॥

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम्।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम्॥ १८
न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि-
र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः॥ १९
असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया
क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया
यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः॥ २०
यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं
भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु॥ २१
यस्याद्य आसीद् गुणविग्रहो महान्
विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल।
यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा
वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे॥ २२
एते वयं यस्य वशे महात्मनः
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम्॥ २३

भगवान् शंकर कहते हैं—'ॐ जिनसे सभी गुणोंकी अभिव्यक्ति होती है, उन अनन्त और अव्यक्तमूर्ति ओंकारस्वरूप परमपुरुष श्रीभगवान्‌को नमस्कार है।' 'भजनीय प्रभो! आपके चरणकमल भक्तोंको आश्रय देनेवाले हैं तथा आप स्वयं सम्पूर्ण ऐश्वर्योंके परम आश्रय हैं। भक्तोंके सामने आप अपना भूतभावन स्वरूप पूर्णतया प्रकट कर देते हैं तथा उन्हें संसारबन्धनसे भी मुक्त कर देते हैं, किन्तु अभक्तोंको उस बन्धनमें डालते रहते हैं। आप ही सर्वेश्वर हैं, मैं आपका भजन करता हूँ॥ १७-१८॥ प्रभो! हमलोग क्रोधके आवेगको नहीं जीत सके हैं तथा हमारी दृष्टि तत्काल पापसे लिप्त हो जाती है। परन्तु आप तो संसारका नियमन करनेके लिये निरन्तर साक्षीरूपसे उसके सारे व्यापारोंको देखते रहते हैं। तथापि हमारी तरफ आपकी दृष्टिपर उन मायिक विषयों तथा चित्तकी वृत्तियोंका नाममात्रको भी प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी स्थितिमें अपने मनको वशमें करनेकी इच्छावाला कौन पुरुष आपका आदर न करेगा?॥ १९॥ आप जिन पुरुषोंको मधु-आसवादि पानके कारण अरुणनयन और मतवाले जान पड़ते हैं, वे मायाके वशीभूत होकर ही ऐसा मिथ्या दर्शन करते हैं तथा आपके चरणस्पर्शसे ही चित्त चंचल हो जानेके कारण नागपत्नियाँ लज्जावश आपकी पूजा करनेमें असमर्थ हो जाती हैं॥ २०॥ वेदमन्त्र आपको जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण बताते हैं; परन्तु आप स्वयं इन तीनों विकारोंसे रहित हैं; इसलिये आपको 'अनन्त' कहते हैं। आपके सहस्र मस्तकोंपर यह भूमण्डल सरसोंके दानेके समान रखा हुआ है, आपको तो यह भी नहीं मालूम होता कि वह कहाँ स्थित है॥ २१॥ जिनसे उत्पन्न हुआ मैं अहंकाररूप अपने त्रिगुणमय तेजसे देवता, इन्द्रिय और भूतोंकी रचना करता हूँ—वे विज्ञानके आश्रय भगवान् ब्रह्माजी भी आपके ही महत्तत्त्वसंज्ञक प्रथम गुणमय स्वरूप हैं॥ २२॥ महात्मन्! महत्तत्त्व, अहंकार-इन्द्रियाभिमानी देवता, इन्द्रियाँ और पंचभूत आदि हम सभी डोरीमें बँधे हुए पक्षीके समान आपकी क्रियाशक्तिके वशीभूत रहकर आपकी ही कृपासे इस जगत्‌की रचना करते हैं॥ २३॥

यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने॥ २४

सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टिसे मोहित हुआ यह जीव आपकी ही रची हुई तथा कर्मबन्धनमें बाँधनेवाली मायाको तो कदाचित् जान भी लेता है, किन्तु उससे मुक्त होनेका उपाय उसे सुगमतासे नहीं मालूम होता। इस जगत्की उत्पत्ति और प्रलय भी आपके ही रूप हैं। ऐसे आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ'॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न वर्षोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना संनिधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति॥ १॥

भद्रश्रवस ऊचुः

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति॥ २॥

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति॥ ३
वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम्॥ ४
विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! भद्राश्ववर्षमें धर्मपुत्र भद्रश्रवा और उनके मुख्य-मुख्य सेवक भगवान् वासुदेवकी हयग्रीवसंज्ञक धर्ममयी प्रिय मूर्तिको अत्यन्त समाधिनिष्ठाके द्वारा हृदयमें स्थापित कर इस मन्त्रका जप करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं॥ १॥

भद्रश्रवा और उनके सेवक कहते हैं—'चित्तको विशुद्ध करनेवाले ओंकारस्वरूप भगवान् धर्मको नमस्कार है'॥ २॥

अहो! भगवान्की लीला बड़ी विचित्र है, जिसके कारण यह जीव सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेवाले कालको देखकर भी नहीं देखता और तुच्छ विषयोंका सेवन करनेके लिये पापमय विचारोंकी उधेड़-बुनमें लगा हुआ अपने ही हाथों अपने पुत्र और पितादिकी लाशको जलाकर भी स्वयं जीते रहनेकी इच्छा करता है॥ ३॥ विद्वान् लोग जगत्को नश्वर बताते हैं और सूक्ष्मदर्शी आत्मज्ञानी ऐसा ही देखते भी हैं; तो भी जन्मरहित प्रभो! आपकी मायासे लोग मोहित हो जाते हैं। आप अनादि हैं तथा आपके कृत्य बड़े विस्मयजनक हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ४॥ परमात्मन्! आप अकर्ता और मायाके आवरणसे रहित हैं तो भी जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—ये आपके ही कर्म माने गये हैं। सो ठीक ही है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि सर्वात्मरूपसे आप ही सम्पूर्ण कार्योंके कारण हैं और अपने शुद्धस्वरूपमें इस कार्य-कारणभावसे सर्वथा अतीत हैं॥ ५॥

वेदान् युगान्ते तमसा तिरस्कृतान्
रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति॥ ६

हरिवर्षे चापि भगवान्नरहरिरूपेणास्ते। तद्रूपग्रहणनिमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये। तद्दयितं रूपं महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानव-कुलतीर्थीकरणशीलाचरितः प्रह्लादोऽव्यव-धानानन्यभक्तियोगेन[1] सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदं चोदाहरति॥ ७॥

ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान् रन्धय[2] रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा। अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा ॐ क्ष्रौम्॥ ८॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥ ९

मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्
सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः॥ १०

आपका विग्रह मनुष्य और घोड़ेका संयुक्त रूप है। प्रलयकालमें जब तम:प्रधान दैत्यगण वेदोंको चुरा ले गये थे, तब ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर आपने उन्हें रसातलसे लाकर दिया। ऐसे अमोघ लीला करनेवाले सत्यसंकल्प आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ६॥

हरिवर्षखण्डमें भगवान् नृसिंहरूपसे रहते हैं। उन्होंने यह रूप जिस कारणसे धारण किया था, उसका आगे (सप्तम स्कन्धमें) वर्णन किया जायगा। भगवान्के उस प्रिय रूपकी महाभागवत प्रह्लादजी उस वर्षके अन्य पुरुषोंके सहित निष्काम एवं अनन्य भक्तिभावसे उपासना करते हैं। ये प्रह्लादजी महापुरुषोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं तथा इन्होंने अपने शील और आचरणसे दैत्य और दानवोंके कुलको पवित्र कर दिया है। वे इस मन्त्र तथा स्तोत्रका जप-पाठ करते हैं॥ ७॥—'ओंकारस्वरूप भगवान् श्रीनृसिंहदेवको नमस्कार है। आप अग्नि आदि तेजोंके भी तेज हैं, आपको नमस्कार है। हे वज्रनख! हे वज्रदंष्ट्र! आप हमारे समीप प्रकट होइये, प्रकट होइये; हमारी कर्म-वासनाओंको जला डालिये, जला डालिये। हमारे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कीजिये, नष्ट कीजिये। ॐ स्वाहा। हमारे अन्तः-करणमें अभयदान देते हुए प्रकाशित होइये। ॐ क्ष्रौम्'॥ ८॥ 'नाथ! विश्वका कल्याण हो, दुष्टोंकी बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियोंमें परस्पर सद्भावना हो, सभी एक-दूसरेका हितचिन्तन करें, हमारा मन शुभ मार्गमें प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्काम-भावसे भगवान् श्रीहरिमें प्रवेश करे॥ ९॥

प्रभो! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो; यदि हो तो केवल भगवान्के प्रेमी भक्तोंमें ही। जो संयमी पुरुष केवल शरीर-निर्वाहके योग्य अन्नादिसे सन्तुष्ट रहता है, उसे जितनी शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, वैसी इन्द्रिय-लोलुप पुरुषको नहीं होती॥ १०॥

१. प्रा० पा०—व्यवधानमनन्यभक्ति। २. प्रा० पा०—शयान् तमो ग्रस ॐ।

यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम्।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम्॥ ११

उन भगवद्भक्तोंके संगसे भगवान्के तीर्थतुल्य पवित्र चरित्र सुननेको मिलते हैं, जो उनकी असाधारण शक्ति एवं प्रभावके सूचक होते हैं। उनका बार-बार सेवन करनेवालोंके कानोंके रास्तेसे भगवान् हृदयमें प्रवेश कर जाते हैं और उनके सभी प्रकारके दैहिक और मानसिक मलोंको नष्ट कर देते हैं। फिर भला, उन भगवद्भक्तोंका संग कौन न करना चाहेगा?॥ ११॥

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥ १२

जिस पुरुषकी भगवान्में निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान्का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं? वह तो तरह-तरहके संकल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है॥ १२॥

हरिर्हि साक्षाद्भगवान् शरीरिणा-
मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम्॥ १३

जैसे मछलियोंको जल अत्यन्त प्रिय—उनके जीवनका आधार होता है, उसी प्रकार साक्षात् श्रीहरि ही समस्त देहधारियोंके प्रियतम आत्मा हैं। उन्हें त्यागकर यदि कोई महत्त्वाभिमानी पुरुष घरमें आसक्त रहता है तो उस दशामें स्त्री-पुरुषोंका बड़प्पन केवल आयुको लेकर ही माना जाता है; गुणकी दृष्टिसे नहीं॥ १३॥

तस्माद्रजोरागविषादमन्यु-
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति॥ १४

अतः असुरगण! तुम तृष्णा, राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, इच्छा, भय, दीनता और मानसिक सन्तापके मूल तथा जन्म-मरणरूप संसारचक्रका वहन करनेवाले गृह आदिको त्यागकर भगवान् नृसिंहके निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लो'॥ १४॥

केतुमालेऽपि भगवान् कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितॄणां पुत्राणां तद्वर्षपतीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसंख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्त्रतेजसोद्वेजितमनसां विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते विनिपतन्ति॥ १५॥

केतुमालवर्षमें लक्ष्मीजीका तथा संवत्सर नामक प्रजापतिके पुत्र और पुत्रियोंका प्रिय करनेके लिये भगवान् कामदेवरूपसे निवास करते हैं। उन रात्रिकी अभिमानी देवतारूप कन्याओं और दिवसाभिमानी देवतारूप पुत्रोंकी संख्या मनुष्यकी सौ वर्षकी आयुके दिन और रातके बराबर अर्थात् छत्तीस-छत्तीस हजार वर्ष है और वे ही उस वर्षके अधिपति हैं। वे कन्याएँ परमपुरुष श्रीनारायणके श्रेष्ठ अस्त्र सुदर्शनचक्रके तेजसे डर जाती हैं; इसलिये प्रत्येक वर्षके अन्तमें उनके गर्भ नष्ट होकर गिर जाते हैं॥ १५॥

अतीव सुललितगतिविलासविलसित-रुचिरहासलेशावलोकलीलयाकिञ्चिदुत्तम्भित-सुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते॥ १६॥

तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधि-योगेन रमादेवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहःसु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदं चोदाहरति॥ १७॥

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुणविशेषैर्विलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसां विशेषाणां चाधिपतये षोडशकलायच्छन्दोमयायान्नमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात्॥ १८॥

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषिकेश्वरं स्वतो
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम्।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः॥ १९

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं
समन्ततः पाति भयातुरं जनम्।
स एक एवेतरथा मिथो भयं
नैवात्मलाभादधि मन्यते परम्॥ २०

या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
निकामयेत्साखिलकामलम्पटा ।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
यद्भग्नयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते॥ २१

भगवान् अपने सुललित गति-विलाससे सुशोभित मधुर-मधुर मन्द-मुसकानसे मनोहर लीलापूर्ण चारु चितवनसे कुछ उझके हुए सुन्दर भ्रूमण्डलकी छबीली छटाके द्वारा वदनारविन्दका राशि-राशि सौन्दर्य उँडेलकर सौन्दर्यदेवी श्रीलक्ष्मीको अत्यन्त आनन्दित करते और स्वयं भी आनन्दित होते रहते हैं॥ १६॥ श्रीलक्ष्मीजी परम समाधियोगके द्वारा भगवान्‌के उस मायामय स्वरूपकी रात्रिके समय प्रजापति संवत्सरकी कन्याओंसहित और दिनमें उनके पतियोंके सहित आराधना और वे इस मन्त्रका जप करती हुई भगवान्‌की स्तुति करती हैं॥ १७॥ 'जो इन्द्रियोंके नियन्ता और सम्पूर्ण श्रेष्ठ वस्तुओंके आकर हैं, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और संकल्प-अध्यवसाय आदि चित्तके धर्मों तथा उनके विषयोंके अधीश्वर हैं, ग्यारह इन्द्रिय और पाँच विषय—इन सोलह कलाओंसे युक्त हैं, वेदोक्त कर्मोंसे प्राप्त होते हैं तथा अन्नमय, अमृतमय और सर्वमय हैं—उन मानसिक, ऐन्द्रियक एवं शारीरिक बलस्वरूप परम सुन्दर भगवान् काम-देवको '**ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं**' इन बीजमन्त्रोंके सहित सब ओरसे नमस्कार है'॥ १८॥

'भगवन्! आप इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं। स्त्रियाँ तरह-तरहके कठोर व्रतोंसे आपकी ही आराधना करके अन्य लौकिक पतियोंकी इच्छा किया करती हैं। किन्तु वे उनके प्रिय पुत्र, धन और आयुकी रक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि वे स्वयं ही परतन्त्र हैं॥ १९॥ सच्चा पति (रक्षा करनेवाला या ईश्वर) वही है, जो स्वयं सर्वथा निर्भय हो और दूसरे भयभीत लोगोंकी सब प्रकारसे रक्षा कर सके। ऐसे पति एकमात्र आप ही हैं; यदि एकसे अधिक ईश्वर माने जायँ, तो उन्हें एक-दूसरेसे भय होनेकी सम्भावना है। अतएव आप अपनी प्राप्तिसे बढ़कर और किसी लाभको नहीं मानते॥ २०॥ भगवन्! जो स्त्री आपके चरणकमलोंका पूजन ही चाहती है और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करती—उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं; किन्तु जो किसी एक कामनाको लेकर आपकी उपासना करती है, उसे आप केवल वही वस्तु देते हैं। और जब भोग समाप्त होनेपर वह नष्ट हो जाती है तो उसके लिये उसे सन्तप्त होना पड़ता है॥ २१॥

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित॥ २२

स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम्।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया
क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति॥ २३

रम्यके च भगवतः प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनोः प्राक्प्रदर्शितं स इदानीमपि महता भक्तियोगेनाराधयतीदं चोदाहरति॥ २४॥ ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति॥ २५॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-
न्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम्॥ २६

यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा
हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्य च।
पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते॥ २७

अजित! मुझे पानेके लिये इन्द्रिय-सुखके अभिलाषी ब्रह्मा और रुद्र आदि समस्त सुरासुरगण घोर तपस्या करते रहते हैं; किन्तु आपके चरण-कमलोंका आश्रय लेनेवाले भक्तके सिवा मुझे कोई पा नहीं सकता; क्योंकि मेरा मन तो आपमें ही लगा रहता है॥ २२॥

अच्युत! आप अपने जिस वन्दनीय करकमलको भक्तोंके मस्तकपर रखते हैं, उसे मेरे सिरपर भी रखिये। वरेण्य! आप मुझे केवल श्रीलांछनरूपसे अपने वक्षःस्थलमें ही धारण करते हैं; सो आप सर्वसमर्थ हैं, आप अपनी मायासे जो लीलाएँ करते हैं, उनका रहस्य कौन जान सकता है?॥ २३॥

रम्यकवर्षमें भगवान्‌ने वहाँके अधिपति मनुको पूर्वकालमें अपना परम प्रिय मत्स्यरूप दिखाया था। मनुजी इस समय भी भगवान्‌के उसी रूपकी बड़े भक्तिभावसे उपासना करते हैं और इस मन्त्रका जप करते हुए स्तुति करते हैं—'सत्त्वप्रधान मुख्य प्राण सूत्रात्मा तथा मनोबल, इन्द्रियबल और शरीरबल ओंकारपदके अर्थ सर्वश्रेष्ठ भगवान् महामत्स्यको बार-बार नमस्कार है'॥ २४-२५॥

प्रभो! नट जिस प्रकार कठपुतलियोंको नचाता है, उसी प्रकार आप ब्राह्मणादि नामोंकी डोरीसे सम्पूर्ण विश्वको अपने अधीन करके नचा रहे हैं। अतः आप ही सबके प्रेरक हैं। आपको ब्रह्मादि लोकपालगण भी नहीं देख सकते; तथापि आप समस्त प्राणियोंके भीतर प्राणरूपसे और बाहर वायु-रूपसे निरन्तर संचार करते रहते हैं। वेद ही आपका महान् शब्द है॥ २६॥

एक बार इन्द्रादि इन्द्रियाभिमानी देवताओंको प्राणस्वरूप आपसे डाह हुआ। तब आपके अलग हो जानेपर वे अलग-अलग अथवा आपसमें मिलकर भी मनुष्य, पशु, स्थावर-जंगम आदि जितने शरीर दिखायी देते हैं—उनमेंसे किसीकी बहुत यत्न करनेपर भी रक्षा नहीं कर सके॥ २७॥

भवान् युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम्।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति॥ २८

हिरण्मयेऽपि भगवान्निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्तस्य तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति मन्त्रमिमं चानुजपति॥ २९॥

ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणायानुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते॥ ३०॥

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम्।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्
तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे॥ ३१

जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम्।
द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र-
द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः॥ ३२

यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम-
रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम्।
संख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय ते इति॥ ३३

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान् यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलितभक्तियोगेनोपधावति इमां च परमामुपनिषदमावर्तयति॥ ३४॥

अजन्मा प्रभो! आपने मेरे सहित समस्त औषध और लताओंकी आश्रयरूपा इस पृथ्वीको लेकर बड़ी-बड़ी उत्ताल तरंगोंसे युक्त प्रलयकालीन समुद्रमें बड़े उत्साहसे विहार किया था। आप संसारके समस्त प्राणसमुदायके नियन्ता हैं; मेरा आपको नमस्कार है'॥ २८॥

हिरण्मयवर्षमें भगवान् कच्छपरूप धारण करके रहते हैं। वहाँके निवासियोंके सहित पितृराज अर्यमा भगवान्की उस प्रियतम मूर्तिकी उपासना करते हैं और इस मन्त्रको निरन्तर जपते हुए स्तुति करते हैं॥ २९॥—'जो सम्पूर्ण सत्त्वगुणसे युक्त हैं, जलमें विचरते रहनेके कारण जिनके स्थानका कोई निश्चय नहीं है तथा जो कालकी मर्यादाके बाहर हैं, उन ओंकारस्वरूप सर्वव्यापक सर्वाधार भगवान् कच्छपको बार-बार नमस्कार है'॥ ३०॥

भगवन्! अनेक रूपोंमें प्रतीत होनेवाला यह दृश्यप्रपंच यद्यपि मिथ्या ही निश्चय होता है, इसलिये इसकी वस्तुतः कोई संख्या नहीं है; तथापि यह मायासे प्रकाशित होनेवाला आपका ही रूप है। ऐसे अनिर्वचनीयरूप आपको मेरा नमस्कार है॥ ३१॥

एकमात्र आप ही जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जंगम, स्थावर, देवता, ऋषि, पितृगण, भूत, इन्द्रिय, स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप, ग्रह और तारा आदि विभिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हैं॥ ३२॥ आप असंख्य नाम, रूप और आकृतियोंसे युक्त हैं; कपिलादि विद्वानोंने जो आपमें चौबीस तत्त्वोंकी संख्या निश्चित की है—वह जिस तत्त्वदृष्टिका उदय होनेपर निवृत्त हो जाती है, वह भी वस्तुतः आपका ही स्वरूप है। ऐसे सांख्यसिद्धान्तस्वरूप आपको मेरा नमस्कार है'॥ ३३॥

उत्तर कुरुवर्षमें भगवान् यज्ञपुरुष वराहमूर्ति धारण करके विराजमान हैं। वहाँके निवासियोंके सहित साक्षात् पृथ्वीदेवी उनकी अविचल भक्तिभावसे उपासना करती और इस परमोत्कृष्ट मन्त्रका जप करती हुई स्तुति करती हैं—॥ ३४॥

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते॥ ३५॥

'जिनका तत्त्व मन्त्रोंसे जाना जाता है, जो यज्ञ और क्रतुरूप हैं तथा बड़े-बड़े यज्ञ जिनके अंग हैं— उन ओंकारस्वरूप शुक्लकर्ममय त्रियुगमूर्ति पुरुषोत्तम भगवान् वराहको बार-बार नमस्कार है'॥ ३५॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम्।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने॥ ३६

'ऋत्विज्गण जिस प्रकार अरणिरूप काष्ठखण्डोंमें छिपी हुई अग्निको मन्थनद्वारा प्रकट करते हैं, उसी प्रकार कर्मासक्ति एवं कर्मफलकी कामनासे छिपे हुए जिनके रूपको देखनेकी इच्छासे परमप्रवीण पण्डितजन अपने विवेकयुक्त मनरूप मन्थनकाष्ठसे शरीर एवं इन्द्रियादिको बिलो डालते हैं। इस प्रकार मन्थन करनेपर अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले आपको नमस्कार है॥ ३६॥

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि-
र्मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-
र्निरस्तमायाकृतये नमो नमः॥ ३७

विचार तथा यम-नियमादि योगांगोंके साधनसे जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका हो गयी है— वे महापुरुष द्रव्य (विषय), क्रिया (इन्द्रियोंके व्यापार), हेतु (इन्द्रियाधिष्ठाता देवता), अयन (शरीर), ईश, काल और कर्ता (अहंकार) आदि मायाके कार्योंको देखकर जिनके वास्तविक स्वरूपका निश्चय करते हैं ऐसे मायिक आकृतियोंसे रहित आपको बार-बार नमस्कार है॥ ३७॥

करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः।
माया यथाऽयो भ्रमते तदाश्रयं
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे॥ ३८

जिस प्रकार लोहा जड होनेपर भी चुम्बककी सन्निधिमात्रसे चलने-फिरने लगता है, उसी प्रकार जिन सर्वसाक्षीकी इच्छामात्रसे—जो अपने लिये नहीं, बल्कि समस्त प्राणियोंके लिये होती है— प्रकृति अपने गुणोंके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करती रहती है; ऐसे सम्पूर्ण गुणों एवं कर्मोंके साक्षी आपको नमस्कार है॥ ३८॥

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया जगदादिसूकरः।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति॥ ३९

आप जगत्के कारणभूत आदिसूकर हैं। जिस प्रकार एक हाथी दूसरे हाथीको पछाड़ देता है, उसी प्रकार गजराजके समान क्रीडा करते हुए आप युद्धमें अपने प्रतिद्वन्द्वी हिरण्याक्ष दैत्यको दलित करके मुझे अपनी दाढ़ोंकी नोकपर रखकर रसातलसे प्रलयपयोधिके बाहर निकले थे। मैं आप सर्वशक्तिमान् प्रभुको बार-बार नमस्कार करती हूँ'॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष और भारतवर्षका वर्णन

श्रीशुक उवाच

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसंनिकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह किम्पुरुषैः अविरतभक्तिरुपास्ते॥ १॥

आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति स्वयं चेदं गायति॥ २॥

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय[1] नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति॥ ३॥

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये॥ ४

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! किम्पुरुषवर्षमें श्रीलक्ष्मणजीके बड़े भाई, आदिपुरुष, सीताहृदयाभिराम भगवान् श्रीरामके चरणोंकी सन्निधिके रसिक परम भागवत श्रीहनुमान्‌जी अन्य किन्नरोंके सहित अविचल भक्तिभावसे उनकी उपासना करते हैं॥ १॥

वहाँ अन्य गन्धर्वोंके सहित आर्ष्टिषेण उनके स्वामी भगवान् रामकी परम कल्याणमयी गुणगाथा गाते रहते हैं। श्रीहनुमान्‌जी उसे सुनते हैं और स्वयं भी इस मन्त्रका जप करते हुए इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं॥ २॥

'हम ॐकारस्वरूप पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हैं। आपमें सत्पुरुषोंके लक्षण, शील और आचरण विद्यमान हैं; आप बड़े ही संयतचित्त, लोकाराधनतत्पर, साधुताकी परीक्षाके लिये कसौटीके समान और अत्यन्त ब्राह्मणभक्त हैं। ऐसे महापुरुष महाराज रामको हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है'॥ ३॥

'भगवन्! आप विशुद्ध बोधस्वरूप, अद्वितीय, अपने स्वरूपके प्रकाशसे गुणोंके कार्यरूप जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंका निरास करनेवाले, सर्वान्तरात्मा, परम शान्त, शुद्ध बुद्धिसे ग्रहण किये जानेयोग्य, नाम-रूपसे रहित और अहंकारशून्य हैं; मैं आपकी शरणमें हूँ॥ ४॥

प्रभो! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसोंके वधके लिये ही नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्योंको शिक्षा देना है! अन्यथा, अपने स्वरूपमें ही रमण करनेवाले साक्षात् जगदात्मा जगदीश्वरको सीताजीके वियोगमें इतना दुःख कैसे हो सकता था॥ ५॥

१. प्रा० पा०—वादधिषणाय।

न वै स आत्माऽऽत्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति॥ ६

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि[१] नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥ ७

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति॥ ८

भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य-आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरति॥ ९॥

आप धीर पुरुषोंके आत्मा* और प्रियतम भगवान् वासुदेव हैं; त्रिलोकीकी किसी भी वस्तुमें आपकी आसक्ति नहीं है। आप न तो सीताजीके लिये मोहको ही प्राप्त हो सकते हैं और न लक्ष्मणजीका त्याग ही कर सकते हैं† ॥ ६॥ आपके ये व्यापार केवल लोकशिक्षाके लिये ही हैं। लक्ष्मणाग्रज! उत्तम कुलमें जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि—इनमेंसे कोई भी गुण आपकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकता, यह बात दिखानेके लिये ही आपने इन सब गुणोंसे रहित हम वनवासी वानरोंसे मित्रता की है॥ ७॥ देवता, असुर, वानर अथवा मनुष्य—कोई भी हो, उसे सब प्रकारसे श्रीरामरूप आपका ही भजन करना चाहिये; क्योंकि आप नररूपमें साक्षात् श्रीहरि ही हैं और थोड़े कियेको भी बहुत अधिक मानते हैं। आप ऐसे आश्रितवत्सल हैं कि जब स्वयं दिव्यधामको सिधारे थे, तब समस्त उत्तरकोसलवासियोंको भी अपने साथ ही ले गये थे'॥ ८॥

भारतवर्षमें भी भगवान् दयावश नर-नारायणरूप धारण करके संयमशील पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये अव्यक्तरूपसे कल्पके अन्ततक तप करते रहते हैं। उनकी यह तपस्या ऐसी है कि जिससे धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शान्ति और उपरतिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होकर अन्तमें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हो सकती है॥ ९॥

---

१. प्रा० पा०—सृष्टान्विपिने।

* यहाँ शंका होती है कि भगवान् तो सभीके आत्मा हैं, फिर यहाँ उन्हें आत्मवान् (धीर) पुरुषोंके ही आत्मा क्यों बताया गया? इसका कारण यही है कि सबके आत्मा होते हुए भी उन्हें केवल आत्मज्ञानी पुरुष ही अपने आत्मारूपसे अनुभव करते हैं—अन्य पुरुष नहीं। श्रुतिमें जहाँ-कहीं आत्मसाक्षात्कारकी बात आयी है, वहीं आत्मवेत्ताके लिये 'धीर' शब्दका प्रयोग किया है। जैसे '**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत**' इति '**नः शुश्रुम धीराणाम्**' इत्यादि। इसीलिये यहाँ भी भगवान्को आत्मवान् या धीर पुरुषका आत्मा बताया है।

† एक बार भगवान् श्रीराम एकान्तमें एक देवदूतसे बात कर रहे थे। उस समय लक्ष्मणजी पहरेपर थे और भगवान्की आज्ञा थी कि यदि इस समय कोई भीतर आवेगा तो वह मेरे हाथसे मारा जायगा। इतनेमें ही दुर्वासा मुनि चले आये और उन्होंने लक्ष्मणजीको अपने आनेकी सूचना देनेके लिये भीतर जानेको विवश किया। इससे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बड़े असमंजसमें पड़ गये। तब वसिष्ठजीने कहा कि लक्ष्मणजीके प्राण न लेकर उन्हें त्याग देना चाहिये; क्योंकि अपने प्रियजनका त्याग मृत्युदण्डके समान ही है। इसीसे भगवान्ने उन्हें त्याग दिया।

तं भगवान्नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत्प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति॥ १०॥

ॐ नमो भगवते उपशमशीलाय उपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे[1] आत्मारामाधिपतये नमो नम इति॥ ११॥

गायति चेदम्—

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे॥ १२

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत्।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो
भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः॥ १३

यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन्।
शङ्केत विद्वान् कुकलेवरात्ययाद्
यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम्॥ १४

तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां
त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां
विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति॥ १५

वहाँ भगवान् नारदजी स्वयं श्रीभगवान्के ही कहे हुए सांख्य और योगशास्त्रके सहित भगवन्महिमाको प्रकट करनेवाले पांचरात्रदर्शनका सावर्णि मुनिको उपदेश करनेके लिये भारतवर्षकी वर्णाश्रम-धर्मावलम्बिनी प्रजाके सहित अत्यन्त भक्तिभावसे भगवान् श्रीनर-नारायणकी उपासना करते और इस मन्त्रका जप तथा स्तोत्रको गाकर उनकी स्तुति करते हैं॥ १०॥—'ओंकारस्वरूप, अहंकारसे रहित, निर्धनोंके धन, शान्तस्वभाव ऋषिप्रवर भगवान् नर-नारायणको नमस्कार है। वे परमहंसोंके परम गुरु और आत्मारामोंके अधीश्वर हैं, उन्हें बार-बार नमस्कार है॥ ११॥ यह गाते हैं—

'जो विश्वकी उत्पत्ति आदिमें उनके कर्ता होकर भी कर्तृत्वके अभिमानसे नहीं बँधते, शरीरमें रहते हुए भी उसके धर्म भूख-प्यास आदिके वशीभूत नहीं होते तथा द्रष्टा होनेपर भी जिनकी दृष्टि दृश्यके गुण-दोषोंसे दूषित नहीं होती—उन असंग एवं विशुद्ध साक्षिस्वरूप भगवान् नर-नारायणको नमस्कार है॥ १२॥ योगेश्वर! हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजीने योगसाधनकी सबसे बड़ी कुशलता यही बतलायी है कि मनुष्य अन्तकालमें देहाभिमानको छोड़कर भक्तिपूर्वक आपके प्राकृत गुणरहित स्वरूपमें अपना मन लगावे॥ १३॥ लौकिक और पारलौकिक भोगोंके लालची मूढ पुरुष जैसे पुत्र, स्त्री और धनकी चिन्ता करके मौतसे डरते हैं—उसी प्रकार यदि विद्वान्को भी इस निन्दनीय शरीरके छूटनेका भय ही बना रहा, तो उसका ज्ञानप्राप्तिके लिये किया हुआ सारा प्रयत्न केवल श्रम ही है॥ १४॥ अतः अधोक्षज! आप हमें अपना स्वाभाविक प्रेमरूप भक्तियोग प्रदान कीजिये, जिससे कि प्रभो! इस निन्दनीय शरीरमें आपकी मायाके कारण बद्धमूल हुई दुर्भेद्य अहंता-ममताको हम तुरन्त काट डालें'॥ १५॥

१. प्रा० पा०—परमगुरुवरायात्मारामा०।

भारतेऽप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवो मलयो मङ्गलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोल्लकः[1] सह्यो देवगिरिर्ऋष्यमूकः श्रीशैलो वेङ्कटो महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारियात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुख[2] इन्द्रकीलः कामगिरिरिति चान्ये च शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसङ्ख्याताः॥ १६॥

एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति॥ १७॥ चन्द्रवसा ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्ता तुङ्गभद्रा कृष्णा वेण्या भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिर्ऋषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू रोधस्वती सप्तवती सुषोमा शतद्रूश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्यः॥ १८॥

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति॥ १९॥ योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः॥ २०॥

राजन्! इस भारतवर्षमें भी बहुत-से पर्वत और नदियाँ हैं—जैसे मलय, मंगलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेंकट, महेन्द्र, वारिधार, विन्ध्य, शुक्तिमान्, ऋक्षगिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्धन, रैवतक, ककुभ, नील, गोकामुख, इन्द्रकील और कामगिरि आदि। इसी प्रकार और भी सैकड़ों-हजारों पर्वत हैं। उनके तटप्रान्तोंसे निकलनेवाले नद और नदियाँ भी अगणित हैं॥ १६॥

ये नदियाँ अपने नामोंसे ही जीवको पवित्र कर देती हैं और भारतीय प्रजा इन्हींके जलमें स्नानादि करती है॥ १७॥ उनमेंसे मुख्य-मुख्य नदियाँ ये हैं—चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्ता, तुंगभद्रा, कृष्णा, वेण्या, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धु, अन्ध और शोण नामके नद, महानदी, वेदस्मृति, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी और विश्वा॥ १८॥ इस वर्षमें जन्म लेनेवाले पुरुषोंको ही अपने किये हुए सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंके अनुसार क्रमशः नाना प्रकारकी दिव्य, मानुष और नारकी योनियाँ प्राप्त होती हैं; क्योंकि कर्मानुसार सब जीवोंको सभी योनियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इसी वर्षमें अपने-अपने वर्णके लिये नियत किये हुए धर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करनेसे मोक्षतककी प्राप्ति हो सकती है॥ १९॥ परीक्षित्! सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा, रागादि दोषोंसे रहित, अनिर्वचनीय, निराधार परमात्मा भगवान् वासुदेवमें अनन्य एवं अहैतुक भक्तिभाव ही यह मोक्षपद है। यह भक्तिभाव तभी प्राप्त होता है, जब अनेक प्रकारकी गतियोंको प्रकट करनेवाली अविद्यारूप हृदयकी ग्रन्थि कट जानेपर भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका संग मिलता है॥ २०॥

१. प्रा० पा०—कोल्लः। २. प्रा० पा०—कोकामुखः।

एतदेव हि देवा गायन्ति—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे[१]
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥ २१

देवता भी भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी इस प्रकार महिमा गाते हैं—'अहा! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं॥ २१॥

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥ २२

हमें बड़े कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादि करके जो यह तुच्छ स्वर्गका अधिकार प्राप्त हुआ है—इससे क्या लाभ है? यहाँ तो इन्द्रियोंके भोगोंकी अधिकताके कारण स्मृतिशक्ति छिन जाती है, अतः कभी श्रीनारायणके चरणकमलोंकी स्मृति होती ही नहीं॥ २२॥

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥ २३

यह स्वर्ग तो क्या—जहाँके निवासियोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है किन्तु जहाँसे फिर संसारचक्रमें लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिकी अपेक्षा भी भारतभूमिमें थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने इस मर्त्यशरीरसे किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान्को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर सकता है॥ २३॥

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥ २४

जहाँ भगवत्कथाकी अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहाँ उसके उद्गमस्थान भगवद्भक्त साधुजन निवास नहीं करते और जहाँ नृत्य-गीतादिके साथ बड़े समारोहसे भगवान् यज्ञपुरुषकी पूजा-अर्चा नहीं की जाती—वह चाहे ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिये॥ २४॥

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै[२] यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥ २५

जिन जीवोंने इस भारतवर्षमें ज्ञान (विवेकबुद्धि), तदनुकूल कर्म तथा उस कर्मके उपयोगी द्रव्यादि सामग्रीसे सम्पन्न मनुष्यजन्म पाया है, वे यदि आवागमनके चक्रसे निकलनेका प्रयत्न नहीं करते, तो व्याधकी फाँसीसे छूटकर भी फलादिके लोभसे उसी वृक्षपर विहार करनेवाले वनवासी पक्षियोंके समान फिर बन्धनमें पड़ जाते हैं॥ २५॥

१. प्रा० पा०—तेऽजिरे। २. प्रा० पा०—चेद्।

यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-
र्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः।
एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा
गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः॥ २६

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥ २७

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं[1]
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति॥ २८

श्रीशुक उवाच

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान्॥ २९॥ तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्तनो रमणको मन्दरहरिणः[2] पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति॥ ३०॥ एवं तव भारतोत्तम जम्बूद्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णित इति॥ ३१॥

अहो! इन भारतवासियोंका कैसा सौभाग्य है! जब ये यज्ञमें भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे अलग-अलग भाग रखकर विधि, मन्त्र और द्रव्यादिके योगसे श्रद्धापूर्वक उन्हें हवि प्रदान करते हैं, तब इस प्रकार इन्द्रादि भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारे जानेपर सम्पूर्ण कामनाओंके पूर्ण करनेवाले स्वयं पूर्णकाम श्रीहरि ही प्रसन्न होकर उस हविको ग्रहण करते हैं॥ २६॥ यह ठीक है कि भगवान् सकाम पुरुषोंके माँगनेपर उन्हें अभीष्ट पदार्थ देते हैं, किन्तु यह भगवान्का वास्तविक दान नहीं है; क्योंकि उन वस्तुओंको पा लेनेपर भी मनुष्यके मनमें पुनः कामनाएँ होती ही रहती हैं। इसके विपरीत जो उनका निष्कामभावसे भजन करते हैं, उन्हें तो वे साक्षात् अपने चरणकमल ही दे देते हैं—जो अन्य समस्त इच्छाओंको समाप्त कर देनेवाले हैं॥ २७॥

अतः अबतक स्वर्गसुख भोग लेनेके बाद हमारे पूर्वकृत यज्ञ, प्रवचन और शुभ कर्मोंसे यदि कुछ भी पुण्य बचा हो, तो उसके प्रभावसे हमें इस भारतवर्षमें भगवान्की स्मृतिसे युक्त मनुष्यजन्म मिले; क्योंकि श्रीहरि अपना भजन करनेवालेका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं'॥ २८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! राजा सगरके पुत्रोंने अपने यज्ञके घोड़ेको ढूँढ़ते हुए इस पृथ्वीको चारों ओरसे खोदा था। उससे जम्बूद्वीपके अन्तर्गत ही आठ उपद्वीप और बन गये, ऐसा कुछ लोगोंका कथन है॥ २९॥ वे स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पांचजन्य, सिंहल और लंका हैं॥ ३०॥ भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना था, ठीक वैसा ही तुम्हें यह जम्बूद्वीपके वर्षोंका विभाग सुना दिया॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे जम्बूद्वीपवर्णनं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

१. प्रा० पा०—सृज्यसुखा०। २. प्रा० पा०—मन्दहरिणो।

अथ विंशोऽध्यायः

अन्य छः द्वीपों तथा लोकालोकपर्वतका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अतः परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते॥ १॥ जम्बूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्ब्वाख्येन लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन। प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्याकरो हिरणमय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वस्तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वः स्वं द्वीपं सप्तवर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम॥ २॥ शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेमममृतमभयमिति वर्षाणि तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः॥ ३॥

मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान् सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः। अरुणा नृम्णाऽऽङ्गिरसी सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरा इति महानद्यः। यासां जलोपस्पर्शनविधूतरजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः सहस्रायुषो विबुधोपमसन्दर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते॥ ४॥

प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः।
अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! अब परिमाण, लक्षण और स्थितिके अनुसार प्लक्षादि अन्य द्वीपोंके वर्षविभागका वर्णन किया जाता है॥ १॥ जिस प्रकार मेरु पर्वत जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले खारे जलके समुद्रसे परिवेष्टित है। फिर खाई जिस प्रकार बाहरके उपवनसे घिरी रहती है, उसी प्रकार क्षारसमुद्र भी अपनेसे दूने विस्तारवाले प्लक्षद्वीपसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपमें जितना बड़ा जामुनका पेड़ है, उतने ही विस्तारवाला यहाँ सुवर्णमय प्लक्ष (पाकर)-का वृक्ष है। उसीके कारण इसका नाम प्लक्षद्वीप हुआ है। यहाँ सात जिह्वाओंवाले अग्निदेव विराजते हैं। इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज इध्मजिह्व थे। उन्होंने इसको सात वर्षोंमें विभक्त किया और उन्हें उन वर्षोंके समान ही नामवाले अपने पुत्रोंको सौंप दिया तथा स्वयं अध्यात्मयोगका आश्रय लेकर उपरत हो गये॥ २॥ इन वर्षोंके नाम शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय हैं। इनमें भी सात पर्वत और सात नदियाँ ही प्रसिद्ध हैं॥ ३॥

वहाँ मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल—ये सात मर्यादापर्वत हैं तथा अरुणा, नृम्णा, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा—ये सात महानदियाँ हैं। वहाँ हंस, पतंग, ऊर्ध्वायन और सत्यांग नामके चार वर्ण हैं। उक्त नदियोंके जलमें स्नान करनेसे इनके रजोगुण-तमोगुण क्षीण होते रहते हैं। इनकी आयु एक हजार वर्षकी होती है। इनके शरीरोंमें देवताओंकी भाँति थकावट, पसीना आदि नहीं होता और सन्तानोत्पत्ति भी उन्हींके समान होती है। ये त्रयीविद्याके द्वारा तीनों वेदोंमें वर्णन किये हुए स्वर्गके द्वारभूत आत्मस्वरूप भगवान् सूर्यकी उपासना करते हैं॥ ४॥ वे कहते हैं कि 'जो सत्य (अनुष्ठानयोग्य धर्म) और ऋत (प्रतीत होनेवाले धर्म), वेद और शुभाशुभ फलके अधिष्ठाता हैं—उन पुराणपुरुष विष्णुस्वरूप भगवान् सूर्यकी हम शरणमें जाते हैं'॥ ५॥

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्तते॥ ६॥

प्लक्षः स्वसमानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते॥ ७॥ यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवत-श्छन्दःस्तुतः पतत्त्रिराजस्य सा द्वीपहूतये उपलक्ष्यते॥ ८॥ तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि सप्तवर्षाणि व्यभजत्सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्षं पारिभद्रमाप्यायनमविज्ञातमिति॥ ९॥ तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः स्वरसः शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दो मुकुन्दः पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति। अनुमतिः सिनीवाली सरस्वती कुहू रजनी नन्दा राकेति॥ १०॥ तद्वर्षपुरुषाः श्रुतधरवीर्यधरवसुन्धरेषन्धरसंज्ञा भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते॥ ११॥

स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो विभजन् कृष्णशुक्लयोः।
प्रजानां सर्वासां राजान्धः सोमो न आस्त्विति॥ १२

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः कुशद्वीपो यस्मिन् कुशस्तम्बो देवकृतस्तद्द्वीपाख्याकरो[1] ज्वलन इवापरः स्वशष्परोचिषा दिशो विराजयति[2]॥ १३॥

प्लक्ष आदि पाँच द्वीपोंमें सभी मनुष्योंको जन्मसे ही आयु, इन्द्रिय, मनोबल, इन्द्रियबल, शारीरिक बल, बुद्धि और पराक्रम समानरूपसे सिद्ध रहते हैं॥ ६॥ प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तारवाले इक्षुरसके समुद्रसे घिरा हुआ है। उसके आगे उससे दुगुने परिमाणवाला शाल्मलीद्वीप है, जो उतने ही विस्तारवाले मदिराके सागरसे घिरा है॥ ७॥ प्लक्षद्वीपके पाकरके पेड़के बराबर उसमें शाल्मली (सेमर)-का वृक्ष है। कहते हैं, यही वृक्ष अपने वेदमय पंखोंसे भगवान्‌की स्तुति करनेवाले पक्षिराज भगवान् गरुडका निवासस्थान है तथा यही इस द्वीपके नामकरणका भी हेतु है॥ ८॥ इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज यज्ञबाहु थे। उन्होंने इसके सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन और अविज्ञात नामसे सात विभाग किये और इन्हें इन्हीं नामवाले अपने पुत्रोंको सौंप दिया॥ ९॥ इनमें भी सात वर्षपर्वत और सात ही नदियाँ प्रसिद्ध हैं। पर्वतोंके नाम स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति हैं तथा नदियाँ अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा और राका हैं॥ १०॥ इन वर्षोंमें रहनेवाले श्रुतधर, वीर्यधर, वसुन्धर और इषन्धर नामके चार वर्ण वेदमय आत्मस्वरूप भगवान् चन्द्रमाकी वेदमन्त्रोंसे उपासना करते हैं॥ ११॥ (और कहते हैं—) 'जो कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षमें अपनी किरणोंसे विभाग करके देवता, पितर और सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्न देते हैं, वे चन्द्रदेव हमारे राजा (रंजन करनेवाले) हों'॥ १२॥

इसी प्रकार मदिराके समुद्रसे आगे उससे दूने परिमाणवाला कुशद्वीप है। पूर्वोक्त द्वीपोंके समान यह भी अपने ही समान विस्तारवाले घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें भगवान्‌का रचा हुआ एक कुशोंका झाड़ है, उसीसे इस द्वीपका नाम निश्चित हुआ है। वह दूसरे अग्निदेवके समान अपनी कोमल शिखाओंकी कान्तिसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता रहता है॥ १३॥

१. प्रा० पा०—ख्यायनो ज्वलन। २. प्रा० पा०—विराजति।

तद्द्वीपपतिः प्रैयव्रतो राजन् हिरण्यरेता नाम स्वं द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं तप आतिष्ठत वसुवसुदानदृढरुचिनाभि[१]गुप्तस्तुत्यव्रतविविक्तवामदेवनामभ्यः ॥ १४॥ तेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः[२] सप्त सप्तैव चक्रश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो[३] देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति ॥ १५॥ यासां पयोभिः कुशद्वीपौकसः कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदसरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते॥ १६॥

राजन्! इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज हिरण्यरेता थे। उन्होंने इसके सात विभाग करके उनमेंसे एक-एक अपने सात पुत्र वसु, वसुदान, दृढरुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेवको दे दिया और स्वयं तप करने चले गये॥ १४॥ उनकी सीमाओंको निश्चय करनेवाले सात पर्वत हैं और सात ही नदियाँ हैं। पर्वतोंके नाम चक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण हैं। नदियोंके नाम हैं—रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता और मन्त्रमाला॥ १५॥ इनके जलमें स्नान करके कुशद्वीपवासी कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक वर्णके पुरुष अग्निस्वरूप भगवान् हरिका यज्ञादि कर्मकौशलके द्वारा पूजन करते हैं॥ १६॥

परस्य ब्रह्मणः साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट्।
देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यजेति॥ १७॥

(तथा इस प्रकार स्तुति करते हैं—) 'अग्ने ! आप परब्रह्मको साक्षात् हवि पहुँचानेवाले हैं; अतः भगवान्के अंगभूत देवताओंके यजनद्वारा आप उन परमपुरुषका ही यजन करें'॥ १७॥

तथा घृतोदाद्बहिः क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः स्वमानेन क्षीरोदेन परित उपक्लृप्तो वृतो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन यस्मिन् क्रौञ्चो नाम पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्तक आस्ते॥ १८॥ योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि-क्षीरोदेनासिच्यमानो भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव॥ १९॥ तस्मिन्नपि प्रैयव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे[४] द्वीपे वर्षाणि सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्त रिक्थादान् वर्षपान्निवेश्य स्वयं भगवान् भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम॥ २०॥

राजन्! फिर घृतसमुद्रसे आगे उससे द्विगुण परिमाणवाला क्रौंचद्वीप है। जिस प्रकार कुशद्वीप घृतसमुद्रसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार यह अपने ही समान विस्तारवाले दूधके समुद्रसे घिरा हुआ है। यहाँ क्रौंच नामका एक बहुत बड़ा पर्वत है, उसीके कारण इसका नाम क्रौंचद्वीप हुआ है॥ १८॥ पूर्वकालमें श्रीस्वामिकार्तिकेयजीके शस्त्रप्रहारसे इसका कटिप्रदेश और लता-निकुंजादि क्षत-विक्षत हो गये थे, किन्तु क्षीरसमुद्रसे सींचा जाकर और वरुणदेवसे सुरक्षित होकर यह फिर निर्भय हो गया॥ १९॥ इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज घृतपृष्ठ थे। वे बड़े ज्ञानी थे। उन्होंने इसको सात वर्षोंमें विभक्त कर उनमें उन्हींके समान नामवाले अपने सात उत्तराधिकारी पुत्रोंको नियुक्त किया और स्वयं सम्पूर्ण जीवोंके अन्तरात्मा, परम मंगलमय कीर्तिशाली भगवान् श्रीहरिके पावन पादारविन्दोंकी शरण ली॥ २०॥

१. प्रा० पा०—चिराभिगुप्त०। २. प्रा० पा०—ज्ञाताः सप्तैव चक्र०। ३. प्रा० पा०—पिलो वित्रकूटो। ४. प्रा० पा०—श्वेतद्वीपे।

आमो मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुतास्तेषां वर्षगिरयः सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः शुक्लो वर्धमानो भोजन उपबर्हिणो नन्दो नन्दनः सर्वतोभद्र इति अभया अमृतौघा आर्यका तीर्थवती वृत्तिरूपवती पवित्रवती शुक्लेति॥ २१॥ यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुषऋषभद्रविण-देवकसंज्ञा वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते॥ २२॥

आपः पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवः सुवः।
ता नः पुनीतामीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति ॥ २३॥

एवं पुरस्तात्क्षीरोदात्परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन च दधिमण्डोदेन परीतो यस्मिन् शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यपदेशको यस्य ह महासुरभिगन्धस्तं द्वीपमनुवासयति॥ २४॥

तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान् पुरोजवमनोजवपवमानधूम्रानीक-चित्ररेफबहुरूपविश्वधारसंज्ञान्निधाप्याधिपतीन् स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश॥ २५॥ एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति अनघाऽऽयुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति॥ २६॥

महाराज घृतपृष्ठके आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति—ये सात पुत्र थे। उनके वर्षोंमें भी सात वर्षपर्वत और सात ही नदियाँ कही जाती हैं। पर्वतोंके नाम शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र हैं तथा नदियोंके नाम हैं—अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृत्तिरूपवती, पवित्रवती और शुक्ला॥ २१॥ इनके पवित्र और निर्मल जलका सेवन करनेवाले वहाँके पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक नामक चार वर्णवाले निवासी जलसे भरी हुई अंजलिके द्वारा आपोदेवता (जलके देवता)-की उपासना करते हैं॥ २२॥ (और कहते हैं—) 'हे जलके देवता! तुम्हें परमात्मासे सामर्थ्य प्राप्त है। तुम भूः, भुवः और स्वः—तीनों लोकोंको पवित्र करते हो; क्योंकि स्वरूपसे ही पापोंका नाश करनेवाले हो। हम अपने शरीरसे तुम्हारा स्पर्श करते हैं, तुम हमारे अंगोंको पवित्र करो'॥ २३॥

इसी प्रकार क्षीरसमुद्रसे आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तारवाला शाकद्वीप है, जो अपने ही समान परिमाणवाले मट्ठेके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें शाक नामका एक बहुत बड़ा वृक्ष है, वही इस क्षेत्रके नामका कारण है। उसकी अत्यन्त मनोहर सुगन्धसे सारा द्वीप महकता रहता है॥ २४॥ मेधातिथि नामक उसके अधिपति भी राजा प्रियव्रतके ही पुत्र थे। उन्होंने भी अपने द्वीपको सात वर्षोंमें विभक्त किया और उनमें उन्हींके समान नामवाले अपने पुत्र पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वधारको अधिपतिरूपसे नियुक्त कर स्वयं भगवान् अनन्तमें दत्तचित्त हो तपोवनको चले गये॥ २५॥ इन वर्षोंमें भी सात मर्यादापर्वत और सात नदियाँ ही हैं। पर्वतोंके नाम ईशान, उरुशृंग, बलभद्र, शतकेसर, सहस्रस्रोत, देवपाल और महानस हैं तथा नदियाँ अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पंचपदी, सहस्रस्रुति और निजधृति हैं॥ २६॥

तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रत-नामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूत रजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते॥ २७॥

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशे स्फुटम्॥ २८

एवमेव दधिमण्डोदात्परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपकल्पितः समानेन स्वादूदकेन[1] समुद्रेण बहिरावृतो यस्मिन् बृहत्पुष्करं[2] ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम् ॥ २९॥ तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक[3] [4]एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलोऽयुतयोज-नोच्छ्रायायामो यत्र तु चतसृषु दिक्षु चत्वारि पुराणि लोकपालानामिन्द्रादीनां यदुपरिष्टात्सूर्यरथस्य मेरुं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं[5] देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति॥ ३०॥ तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रैयव्रतो वीतिहोत्रो नामैतस्यात्मजौ रमणकधातकिनामानौ[6] वर्षपती नियुज्य स स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील एवास्ते॥ ३१॥ तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेण कर्मणाऽऽराधयन्तीदं चोदाहरन्ति॥ ३२॥

यत्तत्कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत्।
एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नम इति॥ ३३॥

उस वर्षके ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत और अनुव्रत नामक पुरुष प्राणायामद्वारा अपने रजोगुण-तमोगुणको क्षीण कर महान् समाधिके द्वारा वायुरूप श्रीहरिकी आराधना करते हैं॥ २७॥ (और इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं—) 'जो प्राणादि वृत्तिरूप अपनी ध्वजाओंके सहित प्राणियोंके भीतर प्रवेश करके उनका पालन करते हैं तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् जिनके अधीन है, वे साक्षात् अन्तर्यामी वायुभगवान् हमारी रक्षा करें'॥ २८॥

इसी तरह मट्ठेके समुद्रसे आगे उसके चारों ओर उससे दुगुने विस्तारवाला पुष्करद्वीप है। वह चारों ओरसे अपने ही समान विस्तारवाले मीठे जलके समुद्रसे घिरा है। वहाँ अग्निकी शिखाके समान देदीप्यमान लाखों स्वर्णमय पंखड़ियोंवाला एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है, जो ब्रह्माजीका आसन माना जाता है॥ २९॥ उस द्वीपके बीचोबीच उसके पूर्वीय और पश्चिमीय विभागोंकी मर्यादा निश्चित करनेवाला मानसोत्तर नामका एक ही पर्वत है। यह दस हजार योजन ऊँचा और उतना ही लम्बा है। इसके ऊपर चारों दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंकी चार पुरियाँ हैं। इनपर मेरुपर्वतके चारों ओर घूमनेवाले सूर्यके रथका संवत्सररूप पहिया देवताओंके दिन और रात अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायनके क्रमसे सर्वदा घूमा करता है॥ ३०॥ उस द्वीपका अधिपति प्रियव्रतपुत्र वीतिहोत्र भी अपने पुत्र रमणक और धातकिको दोनों वर्षोंका अधिपति बनाकर स्वयं अपने बड़े भाइयोंके समान भगवत्सेवामें ही तत्पर रहने लगा था॥ ३१॥ वहाँके निवासी ब्रह्मारूप भगवान् हरिकी ब्रह्मसालोक्यादिकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंसे आराधना करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं— ॥ ३२॥ 'जो साक्षात् कर्मफलरूप हैं और एक परमेश्वरमें ही जिनकी पूर्ण स्थिति है तथा जिनकी सब लोग पूजा करते हैं, ब्रह्मज्ञानके साधनरूप उन अद्वितीय और शान्तस्वरूप ब्रह्ममूर्ति भगवान्को मेरा नमस्कार है'॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—दकसमुद्रेण। २. प्रा० पा०—पुष्कर ज्वलन०। ३. प्रा० पा०—सोत्तरो नामैक। ४. प्रा० पा०—प्राचीनयोर्वर्षयो०। ५. प्रा० पा०—चक्रमहोरात्राभ्यां। ६. प्रा० पा०—णकघातकनामानौ।

ऋषिरुवाच

ततः परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्षिप्तः॥ ३४॥ यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः काञ्चन्यन्याऽऽदर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथञ्चित्पुनः प्रत्युपलभ्यते तस्मात्सर्वसत्त्वपरिहृताऽऽसीत्॥ ३५॥ लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकालोकस्यान्तर्वर्तिनावस्थाप्यते॥ ३६॥ स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितो यस्मात्सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनांस्त्रीँल्लोकान् आवितन्वाना न कदाचित्पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः॥ ३७॥

एतावाँल्लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः स तु पञ्चाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य[१] तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः॥ ३८॥ तदुपरिष्टाच्चतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणाधिनिवेशिता[२] ये द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोकस्थितिहेतवः॥ ३९॥ तेषां स्वविभूतीनां लोकपालानां च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान् परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्टमहासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिःस्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्निजभुजदण्डैः[३] सन्धारयमाणस्तस्मिन् गिरिवरे समन्तात्सकललोकस्वस्तय आस्ते॥ ४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! इसके आगे लोकालोक नामका पर्वत है। यह पृथ्वीके सब ओर सूर्य आदिके द्वारा प्रकाशित और अप्रकाशित प्रदेशोंके बीचमें उनका विभाग करनेके लिये स्थित है॥ ३४॥ मेरुसे लेकर मानसोत्तर पर्वततक जितना अन्तर है, उतनी ही भूमि शुद्धोदक समुद्रके उस ओर है। उसके आगे सुवर्णमयी भूमि है, जो दर्पणके समान स्वच्छ है। इसमें गिरी हुई कोई वस्तु फिर नहीं मिलती, इसलिये वहाँ देवताओंके अतिरिक्त और कोई प्राणी नहीं रहता॥ ३५॥ लोकालोकपर्वत सूर्य आदिसे प्रकाशित और अप्रकाशित भूभागोंके बीचमें है, इससे इसका यह नाम पड़ा है॥ ३६॥ इसे परमात्माने त्रिलोकीके बाहर उसके चारों ओर सीमाके रूपमें स्थापित किया है। यह इतना ऊँचा और लम्बा है कि इसके एक ओरसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यसे लेकर ध्रुवपर्यन्त समस्त ज्योतिर्मण्डलकी किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकतीं॥ ३७॥

विद्वानोंने प्रमाण, लक्षण और स्थितिके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका इतना ही विस्तार बतलाया है। यह समस्त भूगोल पचास करोड़ योजन है। इसका चौथाई भाग (अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन विस्तारवाला) यह लोकालोकपर्वत है॥ ३८॥ इसके ऊपर चारों दिशाओंमें समस्त संसारके गुरु स्वयम्भू श्रीब्रह्माजीने सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिके लिये ऋषभ, पुष्करचूड, वामन और अपराजित नामके चार गजराज नियुक्त किये हैं॥ ३९॥ इन दिग्गजोंकी और अपने अंशस्वरूप इन्द्रादि लोकपालोंकी विविध शक्तियोंकी वृद्धि तथा समस्त लोकोंके कल्याणके लिये परम ऐश्वर्यके अधिपति सर्वान्तर्यामी परमपुरुष श्रीहरि अपने विष्वक्सेन आदि पार्षदोंके सहित इस पर्वतपर सब ओर विराजते हैं। वे अपने विशुद्ध सत्त्व (श्रीविग्रह)-को जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि आठ महासिद्धियोंसे सम्पन्न है धारण किये हुए हैं। उनके करकमलोंमें शंख-चक्रादि आयुध सुशोभित हैं॥ ४०॥

१. प्रा० पा०—भूगोलकस्य। २. प्रा० पा०—भिनिवेशिता। ३. प्रा० पा०—भितैर्भुजदण्डैः।

आकल्पमेवं वेषं गत एष भगवानात्मयोगमायया विरचितविविधलोक-यात्रागोपीथायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं यद्बहिर्लोकालोकाचलात्। ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति ॥ ४२ ॥

इस प्रकार अपनी योगमायासे रचे हुए विविध लोकोंकी व्यवस्थाको सुरक्षित रखनेके लिये वे इसी लीलामयरूपसे कल्पके अन्ततक वहाँ सब ओर रहते हैं ॥ ४१ ॥ लोकालोकके अन्तर्वर्ती भूभागका जितना विस्तार है, उसीसे उसके दूसरी ओरके अलोक प्रदेशके परिमाणकी भी व्याख्या समझ लेनी चाहिये। उसके आगे तो केवल योगेश्वरोंकी ही ठीक-ठीक गति हो सकती है ॥ ४२ ॥

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥ ४३

मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः।
हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्डसमुद्भवः ॥ ४४

सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा।
स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥ ४५

देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम्।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥ ४६

राजन्! स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें जो ब्रह्माण्डका केन्द्र है, वही सूर्यकी स्थिति है। सूर्य और ब्रह्माण्डगोलकके बीचमें सब ओरसे पच्चीस करोड़ योजनका अन्तर है ॥ ४३ ॥ सूर्य इस मृत अर्थात् मरे हुए (अचेतन) अण्डमें वैराजरूपसे विराजते हैं, इसीसे इनका नाम 'मार्त्तण्ड' हुआ है। ये 'हिरण्यमय (ज्योतिर्मय) ब्रह्माण्डसे प्रकट हुए हैं, इसलिये इन्हें हिरण्यगर्भ' भी कहते हैं ॥ ४४ ॥ सूर्यके द्वारा ही दिशा, आकाश, द्युलोक (अन्तरिक्षलोक), भूर्लोक, स्वर्ग और मोक्षके प्रदेश, नरक और रसातल तथा अन्य समस्त भागोंका विभाग होता है ॥ ४५ ॥ सूर्य ही देवता, तिर्यक्, मनुष्य, सरीसृप और लता-वृक्षादि समस्त जीवसमूहोंके आत्मा और नेत्रेन्द्रियके अधिष्ठाता हैं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णने समुद्रवर्षसंनिवेशपरिमाणलक्षणो विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

सूर्यके रथ और उसकी गतिका वर्णन

श्रीशुक उवाच

एतावानेव भूवलयस्य संनिवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः ॥ १ ॥

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! परिमाण और लक्षणोंके सहित इस भूमण्डलका कुल इतना ही विस्तार है, सो हमने तुम्हें बता दिया ॥ १ ॥ इसीके अनुसार विद्वान्लोग द्युलोकका भी परिमाण बताते हैं। जिस प्रकार चना-मटर आदिके दो दलोंमेंसे एकका स्वरूप जान लेनेसे दूसरेका भी जाना जा सकता है, उसी प्रकार भूर्लोकके परिमाणसे ही द्युलोकका भी परिमाण जान लेना चाहिये। इन दोनोंके बीचमें अन्तरिक्ष-लोक है। यह इन दोनोंका सन्धिस्थान है ॥ २ ॥

यन्मध्यगतो भगवांस्तपताम्पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा स एष उदगयन-दक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभिर्मान्द्यशैघ्र्यसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमानस्थानेषु यथासवनमभिपद्यमानो मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते॥ ३॥ यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति यदा वृषभादिषु[1] पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्धन्ते[2] ह्रसति च मासि मास्येकैका घटिका रात्रिषु॥ ४॥ यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु वर्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति॥ ५॥ यावद्दक्षिणायनमहानि वर्धन्ते यावदुदगयनं रात्रयः॥ ६॥

इसके मध्यभागमें स्थित ग्रह और नक्षत्रोंके अधिपति भगवान् सूर्य अपने ताप और प्रकाशसे तीनों लोकोंको तपाते और प्रकाशित करते रहते हैं। वे उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत् नामवाली क्रमशः मन्द, शीघ्र और समान गतियोंसे चलते हुए समयानुसार मकरादि राशियोंमें ऊँचे-नीचे और समान स्थानोंमें जाकर दिन-रातको बड़ा, छोटा या समान करते हैं॥ ३॥

जब सूर्यभगवान् मेष या तुला राशिपर आते हैं, तब दिन-रात समान हो जाते हैं; जब वृषादि पाँच राशियोंमें चलते हैं, तब प्रतिमास रात्रियोंमें एक-एक घड़ी कम होती जाती है और उसी हिसाबसे दिन बढ़ते जाते हैं॥ ४॥

जब वृश्चिकादि पाँच राशियोंमें चलते हैं, तब दिन और रात्रियोंमें इसके विपरीत परिवर्तन होता है॥ ५॥

इस प्रकार दक्षिणायन आरम्भ होनेतक दिन बढ़ते रहते हैं और उत्तरायण लगनेतक रात्रियाँ॥ ६॥

एवं नव कोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्तनस्योपदिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्मान्मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानीति भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्दिशम्॥ ७॥ तत्रत्यानां दिवसमध्यङ्गत एव सदाऽऽदित्यस्तपति सव्येनाचलं दक्षिणेन करोति॥ ८॥

इस प्रकार पण्डितजन मानसोत्तर पर्वतपर सूर्यकी परिक्रमाका मार्ग नौ करोड़, इक्यावन लाख योजन बताते हैं। उस पर्वतपर मेरुके पूर्वकी ओर इन्द्रकी देवधानी, दक्षिणमें यमराजकी संयमनी, पश्चिममें वरुणकी निम्लोचनी और उत्तरमें चन्द्रमाकी विभावरी नामकी पुरियाँ हैं। इन पुरियोंमें मेरुके चारों ओर समय-समयपर सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि होते रहते हैं; इन्हींके कारण सम्पूर्ण जीवोंकी प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है॥ ७॥

राजन्! जो लोग सुमेरुपर रहते हैं उन्हें तो सूर्यदेव सदा मध्याह्नकालीन रहकर ही तपाते रहते हैं। वे अपनी गतिके अनुसार अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी ओर जाते हुए यद्यपि मेरुको बायीं ओर रखकर चलते हैं तो भी सारे ज्योतिर्मण्डलको घुमानेवाली निरन्तर दायीं ओर बहती हुई प्रवह वायुद्वारा घुमा दिये जानेसे वे उसे दायीं ओर रखकर चलते जान पड़ते हैं॥ ८॥

१. प्रा० पा०—वृषादिषु। २. प्रा० पा०—विवर्धन्ते।

यत्रोदेति तस्य ह समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति तत्र गतं न पश्यन्ति ये तं समनुपश्येरन्॥ ९॥

यदा चैन्द्र्याः पुर्याः प्रचलते पञ्चदश-घटिकाभिर्याम्यां सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति॥ १०॥ एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीं च पुनस्तथान्ये च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वा निम्लोचन्ति॥ ११॥ एवं मुहूर्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौरो रथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्तते पुरीषु॥ १२॥

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवद् भ्रमन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति॥ १३॥ तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमानेन सम्मितस्तैलयन्त्राक्षवद् ध्रुवे कृतोपरिभागः॥ १४॥

रथनीडस्तु षट्त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीय-भागविशालस्तावान् रविरथयुगो यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिता वहन्ति देवमादित्यम्॥ १५॥

जिस पुरीमें सूर्यभगवान्‌का उदय होता है, उसके ठीक दूसरी ओरकी पुरीमें वे अस्त होते मालूम होंगे और जहाँ वे लोगोंको पसीने-पसीने करके तपा रहे होंगे, उसके ठीक सामनेकी ओर आधी रात होनेके कारण वे उन्हें निद्रावश किये होंगे। जिन लोगोंके मध्याह्नके समय वे स्पष्ट दीख रहे होंगे, वे ही जब सूर्य सौम्यदिशामें पहुँच जायँ, तब उनका दर्शन नहीं कर सकेंगे॥ ९॥

सूर्यदेव जब इन्द्रकी पुरीसे यमराजकी पुरीको चलते हैं, तब पंद्रह घड़ीमें वे सवा दो करोड़ और साढ़े बारह लाख योजनसे कुछ—पचीस हजार योजन—अधिक चलते हैं॥ १०॥ फिर इसी क्रमसे वे वरुण और चन्द्रमाकी पुरियोंको पार करके पुनः इन्द्रकी पुरीमें पहुँचते हैं। इस प्रकार चन्द्रमा आदि अन्य ग्रह भी ज्योतिश्चक्रमें अन्य नक्षत्रोंके साथ-साथ उदित और अस्त होते रहते हैं॥ ११॥ इस प्रकार भगवान् सूर्यका वेदमय रथ एक मुहूर्तमें चौंतीस लाख आठ सौ योजनके हिसाबसे चलता हुआ इन चारों पुरियोंमें घूमता रहता है॥ १२॥

इसका संवत्सर नामका एक चक्र(पहिया) बतलाया जाता है। उसमें मासरूप बारह अरे हैं, ऋतुरूप छः नेमियाँ(हाल) हैं, तीन चौमासेरूप तीन नाभि (आँवन) हैं। इस रथकी धुरीका एक सिरा मेरुपर्वतकी चोटीपर है और दूसरा मानसोत्तर पर्वतपर। इसमें लगा हुआ यह पहिया कोल्हूके पहियेके समान घूमता हुआ मानसोत्तर पर्वतके ऊपर चक्कर लगाता है॥ १३॥ इस धुरीमें—जिसका मूल भाग जुड़ा हुआ है, ऐसी एक धुरी और है। वह लंबाईमें इससे चौथाई है। उसका ऊपरी भाग तैलयन्त्रके धुरेके समान ध्रुवलोकसे लगा हुआ है॥ १४॥

इस रथमें बैठनेका स्थान छत्तीस लाख योजन लंबा और नौ लाख योजन चौड़ा है। इसका जूआ भी छत्तीस लाख योजन ही लंबा है। उसमें अरुण नामके सारथिने गायत्री आदि छन्दोंके-से नामवाले सात घोड़े जोत रखे हैं, वे ही इस रथपर बैठे हुए भगवान् सूर्यको ले चलते हैं॥ १५॥

पुरस्तात्सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि किलास्ते॥ १६॥ तथा वालखिल्या ऋषयः अङ्गुष्ठपर्वमात्राः षष्टिसहस्राणि पुरतः सूर्यं सूक्तवाकाय नियुक्ताः संस्तुवन्ति॥ १७॥

तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं नानानामानं पृथङ्नानानामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते॥ १८॥ लक्षोत्तरं सार्धनवकोटियोजन-परिमण्डलं भूवलयस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं द्विसहस्रयोजनानि स भुङ्क्ते॥ १९॥

सूर्यदेवके आगे उन्हींकी ओर मुँह करके बैठे हुए अरुण उनके सारथिका कार्य करते हैं॥ १६॥ भगवान् सूर्यके आगे अँगूठेके पोरुएके बराबर आकारवाले वालखिल्यादि साठ हजार ऋषि स्वस्तिवाचनके लिये नियुक्त हैं। वे उनकी स्तुति करते रहते हैं॥ १७॥ इनके अतिरिक्त ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस और देवता भी—जो कुल मिलाकर चौदह हैं, किन्तु जोड़ेसे रहनेके कारण सात गण कहे जाते हैं—प्रत्येक मासमें भिन्न-भिन्न नामोंवाले होकर अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे प्रत्येक मासमें भिन्न-भिन्न नाम धारण करनेवाले आत्मस्वरूप भगवान् सूर्यकी दो-दो मिलकर उपासना करते हैं॥ १८॥ इस प्रकार भगवान् सूर्य भूमण्डलके नौ करोड़, इक्यावन लाख योजन लंबे घेरेमेंसे प्रत्येक क्षणमें दो हजार दो योजनकी दूरी पार कर लेते हैं॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ज्योति-श्चक्रसूर्यरथमण्डलवर्णनं नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी स्थिति और गतिका वर्णन

राजोवाच

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवं च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितं चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति॥ १॥

स होवाच

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभि-रुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात्॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपने जो कहा कि यद्यपि भगवान् सूर्य राशियोंकी ओर जाते समय मेरु और ध्रुवको दायीं ओर रखकर चलते मालूम होते हैं, किन्तु वस्तुतः उनकी गति दक्षिणावर्त नहीं होती—इस विषयको हम किस प्रकार समझें?॥ १॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन्! जैसे कुम्हारके घूमते हुए चाकपर बैठकर उसके साथ घूमती हुई चींटी आदिकी अपनी गति उससे भिन्न ही है क्योंकि वह भिन्न-भिन्न समयमें उस चक्रके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें देखी जाती है—उसी प्रकार नक्षत्र और राशियोंसे उपलक्षित कालचक्रमें पड़कर ध्रुव और मेरुको दायें रखकर घूमनेवाले सूर्य आदि ग्रहोंकी गति वास्तवमें उससे भिन्न ही है; क्योंकि वे कालभेदसे भिन्न-भिन्न राशि और नक्षत्रोंमें देख पड़ते हैं॥ २॥

स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति ॥ ३ ॥ तमेतमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातै-र्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति ॥ ४ ॥ अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादश मासान् भुङ्क्ते राशिसंज्ञान् संवत्सरावयवा-न्मासः पक्षद्वयं दिवा नक्तं चेति सपादर्क्ष-द्वयमुपदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः ॥ ५ ॥ अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्यां प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते ॥ ६ ॥ अथ च यावन्नभोमण्डलं स ह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कार्त्स्न्येन सह भुञ्जीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति ॥ ७ ॥

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं सपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते ॥ ८ ॥ अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणां क्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितॄणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवहप्राणो जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्तैर्भुङ्क्ते ॥ ९ ॥

वेद और विद्वान् लोग भी जिनकी गतिको जाननेके लिये उत्सुक रहते हैं, वे साक्षात् आदिपुरुष भगवान् नारायण ही लोकोंके कल्याण और कर्मोंकी शुद्धिके लिये अपने वेदमय विग्रह कालको बारह मासोंमें विभक्त कर वसन्तादि छः ऋतुओंमें उनके यथायोग्य गुणोंका विधान करते हैं॥ ३ ॥ इस लोकमें वर्णाश्रमधर्मका अनुसरण करनेवाले पुरुष वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित छोटे-बड़े कर्मोंसे इन्द्रादि देवताओंके रूपमें और योगके साधनोंसे अन्तर्यामीरूपमें उनकी श्रद्धापूर्वक आराधना करके सुगमतासे ही परम पद प्राप्त कर सकते हैं॥ ४ ॥ भगवान् सूर्य सम्पूर्ण लोकोंके आत्मा हैं। वे पृथ्वी और द्युलोकके मध्यमें स्थित आकाशमण्डलके भीतर कालचक्रमें स्थित होकर बारह मासोंको भोगते हैं, जो संवत्सरके अवयव हैं और मेष आदि राशियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे प्रत्येक मास चन्द्रमानसे शुक्ल और कृष्ण दो पक्षका, पितृमानसे एक रात और एक दिनका तथा सौरमानसे सवा दो नक्षत्रका बताया जाता है। जितने कालमें सूर्यदेव इस संवत्सरका छठा भाग भोगते हैं, उसका वह अवयव 'ऋतु' कहा जाता है॥ ५ ॥ आकाशमें भगवान् सूर्यका जितना मार्ग है, उसका आधा वे जितने समयमें पार कर लेते हैं, उसे एक 'अयन' कहते हैं॥ ६ ॥ तथा जितने समयमें वे अपनी मन्द, तीव्र और समान गतिसे स्वर्ग और पृथ्वीमण्डलके सहित पूरे आकाशका चक्कर लगा जाते हैं, उसे अवान्तर भेदसे संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर अथवा वत्सर कहते हैं॥ ७ ॥

इसी प्रकार सूर्यकी किरणोंसे एक लाख योजन ऊपर चन्द्रमा है। उसकी चाल बहुत तेज है, इसलिये वह सब नक्षत्रोंसे आगे रहता है। यह सूर्यके एक वर्षके मार्गको एक मासमें, एक मासके मार्गको सवा दो दिनोंमें और एक पक्षके मार्गको एक ही दिनमें तै कर लेता है॥ ८ ॥ यह कृष्णपक्षमें क्षीण होती हुई कलाओंसे पितृगणके और शुक्लपक्षमें बढ़ती हुई कलाओंसे देवताओंके दिन-रातका विभाग करता है तथा तीस-तीस मुहूर्तोंमें एक-एक नक्षत्रको पार करता है। अन्नमय और अमृतमय होनेके कारण यही समस्त जीवोंका प्राण और जीवन है॥ ९ ॥

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान्मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्य-भूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायन-शीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति॥ १०॥

तत उपरिष्टात्त्रिलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः॥ ११॥ तत उपरिष्टा-दुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते पुरतः पश्चात्सहैव वार्कस्य शैघ्र्यमान्द्यसाम्या-भिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः॥ १२॥

उशनसा बुधो व्याख्यातस्तत उपरिष्टाद् द्विलक्षयोजनतो बुधः सोमसुत उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृद्यदार्काद् व्यतिरिच्येत तदाति-वाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते॥ १३॥ अत ऊर्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन्द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः॥ १४॥

तत उपरिष्टाद् द्विलक्षयोजनान्तरगतो भगवान् बृहस्पतिरेकैकस्मिन् राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं चरति यदि न वक्रः स्यात्प्रायेणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य॥ १५॥

तत उपरिष्टाद्योजनलक्षद्वयात्प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन् राशौ त्रिंशन्मासान् विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः॥ १६॥

ये जो सोलह कलाओंसे युक्त मनोमय, अन्नमय, अमृतमय पुरुषस्वरूप भगवान् चन्द्रमा हैं—ये ही देवता, पितर, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप और वृक्षादि समस्त प्राणियोंके प्राणोंका पोषण करते हैं; इसलिये इन्हें 'सर्वमय' कहते हैं॥ १०॥

चन्द्रमासे तीन लाख योजन ऊपर अभिजित्के सहित अट्ठाईस नक्षत्र हैं। भगवान्ने इन्हें कालचक्रमें नियुक्त कर रखा है, अतः ये मेरुको दायीं ओर रखकर घूमते रहते हैं॥ ११॥ इनसे दो लाख योजन ऊपर शुक्र दिखायी देता है। यह सूर्यकी शीघ्र, मन्द और समान गतियोंके अनुसार उन्हींके समान कभी आगे, कभी पीछे और कभी साथ-साथ रहकर चलता है। यह वर्षा करनेवाला ग्रह है, इसलिये लोकोंको प्रायः सर्वदा ही अनुकूल रहता है। इसकी गतिसे ऐसा अनुमान होता है कि यह वर्षा रोकनेवाले ग्रहोंको शान्त कर देता है॥ १२॥

शुक्रकी गतिके साथ-साथ बुधकी भी व्याख्या हो गयी—शुक्रके अनुसार ही बुधकी गति भी समझ लेनी चाहिये। यह चन्द्रमाका पुत्र शुक्रसे दो लाख योजन ऊपर है। यह प्रायः मंगलकारी ही है; किन्तु जब सूर्यकी गतिका उल्लंघन करके चलता है, तब बहुत अधिक आँधी, बादल और सूखेके भयकी सूचना देता है॥ १३॥ इससे दो लाख योजन ऊपर मंगल है। वह यदि वक्रगतिसे न चले तो, एक-एक राशिको तीन-तीन पक्षमें भोगता हुआ बारहों राशियोंको पार करता है। यह अशुभ ग्रह है और प्रायः अमंगलका सूचक है॥ १४॥

इसके ऊपर दो लाख योजनकी दूरीपर भगवान् बृहस्पतिजी हैं। ये यदि वक्रगतिसे न चलें, तो एक-एक राशिको एक-एक वर्षमें भोगते हैं। ये प्रायः ब्राह्मणकुलके लिये अनुकूल रहते हैं॥ १५॥

बृहस्पतिसे दो लाख योजन ऊपर शनैश्चर दिखायी देते हैं। ये तीस-तीस महीनेतक एक-एक राशिमें रहते हैं। अतः इन्हें सब राशियोंको पार करनेमें तीस वर्ष लग जाते हैं। ये प्रायः सभीके लिये अशान्तिकारक हैं॥ १६॥

तत उत्तरस्माद‍ृषय एकादशलक्षयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शमनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति॥ १७॥

इनके ऊपर ग्यारह लाख योजनकी दूरीपर कश्यपादि सप्तर्षि दिखायी देते हैं। ये सब लोकोंकी मंगल-कामना करते हुए भगवान् विष्णुके परम पद ध्रुवलोककी प्रदक्षिणा किया करते हैं॥ १७॥

इति श्रीमद्‍भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रवर्णने द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

शिशुमारचक्रका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते तस्येहानुभाव उपवर्णितः॥ १॥ स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसाभगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते॥ २॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! सप्तर्षियोंसे तेरह लाख योजन ऊपर ध्रुवलोक है। इसे भगवान् विष्णुका परम पद कहते हैं। यहाँ उत्तानपादके पुत्र परम भगवद्‍भक्त ध्रुवजी विराजमान हैं। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति कश्यप और धर्म—ये सब एक साथ अत्यन्त आदरपूर्वक इनकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। अब भी कल्पपर्यन्त रहनेवाले लोक इन्हींके आधार स्थित हैं। इनका इस लोकका प्रभाव हम पहले (चौथे स्कन्धमें) वर्णन कर चुके हैं॥ १॥ सदा जागते रहनेवाले अव्यक्तगति भगवान् कालके द्वारा जो ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिर्गण निरन्तर घुमाये जाते हैं, भगवान्ने ध्रुवलोकको ही उन सबके आधारस्तम्भरूपसे नियुक्त किया है। अतः यह एक ही स्थानमें रहकर सदा प्रकाशित होता है॥ २॥

यथा मेढीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिस्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्त्येवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परिचङ्क्रमन्ति नभसि यथा मेघाः श्येनादयो वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति॥ ३॥

जिस प्रकार दायँ चलानेके समय अनाजको खूँदनेवाले पशु छोटी, बड़ी और मध्यम रस्सीमें बँधकर क्रमशः निकट, दूर और मध्यमें रहकर खंभेके चारों ओर मण्डल बाँधकर घूमते रहते हैं, उसी प्रकार सारे नक्षत्र और ग्रहगण बाहर-भीतरके क्रमसे इस कालचक्रमें नियुक्त होकर ध्रुवलोकका ही आश्रय लेकर वायुकी प्रेरणासे कल्पके अन्ततक घूमते रहते हैं। जिस प्रकार मेघ और बाज आदि पक्षी अपने कर्मोंकी सहायतासे वायुके अधीन रहकर आकाशमें उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार ये ज्योतिर्गण भी प्रकृति और पुरुषके संयोगवश अपने-अपने कर्मोंके अनुसार चक्कर काटते रहते हैं, पृथ्वीपर नहीं गिरते॥ ३॥

केचनैतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति॥ ४॥ यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः[१] कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पितस्तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयः। तस्य दक्षिणावर्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राण्युपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये। यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसंख्या भवन्ति। पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः॥ ५॥ पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः[२] श्रोण्योरार्द्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पश्चिमयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासंख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्धनिष्ठा मूलं च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववङ्क्रिषु[३] युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि[४] दक्षिणपार्श्ववङ्क्रिषु[५] प्रातिलोम्येन प्रयुञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत्॥ ६॥ उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ[६] यमो मुखेषु चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशना स्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः॥ ७॥

कोई-कोई पुरुष भगवान्‌की योगमायाके आधारपर स्थित इस ज्योतिश्चक्रका शिशुमार (सूँस)-के रूपमें वर्णन करते हैं॥ ४॥ यह शिशुमार कुण्डली मारे हुए है और इसका मुख नीचेकी ओर है। इसकी पूँछके सिरेपर ध्रुव स्थित है। पूँछके मध्यभागमें प्रजापति, अग्नि, इन्द्र और धर्म हैं। पूँछकी जड़में धाता और विधाता हैं। इसके कटिप्रदेशमें सप्तर्षि हैं। यह शिशुमार दाहिनी ओरको सिकुड़कर कुण्डली मारे हुए है। ऐसी स्थितिमें अभिजित्‌से लेकर पुनर्वसुपर्यन्त जो उत्तरायणके चौदह नक्षत्र हैं, वे इसके दाहिने भागमें हैं और पुष्यसे लेकर उत्तराषाढ़ापर्यन्त जो दक्षिणायनके चौदह नक्षत्र हैं, वे बायें भागमें हैं। लोकमें भी जब शिशुमार कुण्डलाकार होता है, तब उसके दोनों ओरके अंगोंकी संख्या समान रहती है, उसी प्रकार यहाँ नक्षत्र-संख्यामें भी समानता है। इसकी पीठमें अजवीथी (मूल, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नामके तीन नक्षत्रोंका समूह) है और उदरमें आकाशगंगा है॥ ५॥ राजन्! इसके दाहिने और बायें कटितटोंमें पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र हैं, पीछेके दाहिने और बायें चरणोंमें आर्द्रा और आश्लेषा नक्षत्र हैं तथा दाहिने और बायें नथुनोंमें क्रमशः अभिजित् और उत्तराषाढ़ा हैं। इसी प्रकार दाहिने और बायें नेत्रोंमें श्रवण और पूर्वाषाढ़ा एवं दाहिने और बायें कानोंमें धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं। मघा आदि दक्षिणायनके आठ नक्षत्र बायीं पसलियोंमें और विपरीत क्रमसे मृगशिरा आदि उत्तरायणके आठ नक्षत्र दाहिनी पसलियोंमें हैं। शतभिषा और ज्येष्ठा—ये दो नक्षत्र क्रमशः दाहिने और बायें कंधोंकी जगह हैं॥ ६॥ इसकी ऊपरकी थूथनीमें अगस्त्य, नीचेकी ठोडीमें नक्षत्ररूप यम, मुखोंमें मंगल, लिंगप्रदेशमें शनि, ककुद्‌में बृहस्पति, छातीमें सूर्य, हृदयमें नारायण, मनमें चन्द्रमा, नाभिमें शुक्र, स्तनोंमें अश्विनीकुमार, प्राण और अपानमें बुध, गलेमें राहु, समस्त अंगोंमें केतु और रोमोंमें सम्पूर्ण तारागण स्थित हैं॥ ७॥

१. प्रा० पा०—च्छाग्रेऽर्वाक्छिरसः। २. प्रा० पा०—योरार्द्राश्लेषे च। ३. प्रा० पा०—पार्श्ववक्षःसु। ४. प्रा० पा०—मृगशीर्षर्क्षादीन्यु०। ५. प्रा० पा०—क्षिणपार्श्वेषु प्राप्तिलोम्येन शतभिषाज्येष्ठे। ६. प्रा० पा०—उत्तरहनावगस्त्योऽधरहनौ यमो मुखे चा०।

एतदु हैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो ज्योतिर्लोकाय कालाय-नायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति॥ ८॥

राजन्! यह भगवान् विष्णुका सर्वदेवमय स्वरूप है। इसका नित्यप्रति सायंकालके समय पवित्र और मौन होकर दर्शन करते हुए चिन्तन करना चाहिये तथा इस मन्त्रका जप करते हुए भगवान्‌की स्तुति करनी चाहिये—'सम्पूर्ण ज्योतिर्गणोंके आश्रय, कालचक्रस्वरूप, सर्वदेवाधिपति परमपुरुष परमात्माका हम नमस्कारपूर्वक ध्यान करते हैं'॥ ८॥ ग्रह, नक्षत्र और ताराओंके रूपमें भगवान्‌का आधिदैविकरूप प्रकाशित हो रहा है; वह तीनों समय उपर्युक्त मन्त्रका जप करनेवाले पुरुषोंके पाप नष्ट कर देता है। जो पुरुष प्रातः, मध्याह्न और सायं—तीनों काल उनके इस आधिदैविक स्वरूपका नित्यप्रति चिन्तन और वन्दन करता है, उसके उस समय किये हुए पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं॥ ९॥

ग्रहर्क्षताराममयमाधिदैविकं
पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम्।
नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं
नश्येत तत्कालजमाशु पापम्॥ ९

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे शिशुमारसंस्थावर्णनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

राहु आदिकी स्थिति, अतलादि नीचेके लोकोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अधस्तात्सवितुर्योजनायुते स्वर्भानु-र्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वं चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्म कर्माणि चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कुछ लोगोंका कथन है कि सूर्यसे दस हजार योजन नीचे राहु नक्षत्रोंके समान घूमता है। इसने भगवान्‌की कृपासे ही देवत्व और ग्रहत्व प्राप्त किया है, स्वयं यह सिंहिकापुत्र असुराधम होनेके कारण किसी प्रकार इस पदके योग्य नहीं है। इसके जन्म और कर्मोंका हम आगे वर्णन करेंगे॥ १॥

यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्रं सोमस्य त्रयोदशसहस्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद्वैरानुबन्धः सूर्याचन्द्रमसावभि-धावति॥ २॥

सूर्यका जो यह अत्यन्त तपता हुआ मण्डल है, उसका विस्तार दस हजार योजन बतलाया जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमण्डलका विस्तार बारह हजार योजन है और राहुका तेरह हजार योजन। अमृतपानके समय राहु देवताके वेषमें सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें आकर बैठ गया था, उस समय सूर्य और चन्द्रमाने इसका भेद खोल दिया था; उस वैरको याद करके यह अमावास्या और पूर्णिमाके दिन उनपर आक्रमण करता है॥ २॥

तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्तते तदुपरागमिति वदन्ति लोकाः॥ ३॥

ततोऽधस्तात्सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव॥ ४॥ ततोऽधस्ताद्यक्षरक्षः-पिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते॥ ५॥ ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तर इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येनसुपर्णादयः पतत्त्रिप्रवरा उत्पतन्तीति॥ ६॥ उपवर्णितं भूमेर्यथासंनिवेशाव-स्थानमवनेरप्यधस्तात् सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लृप्ता अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति॥ ७॥ एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दभूतिविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानव-काद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धु-सुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति॥ ८॥ येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः पुरो नानामणिप्रवर-प्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्य-चत्वरायतनादिभिर्नागासुरमिथुनपारावतशुक-

यह देखकर भगवान्‌ने सूर्य और चन्द्रमाकी रक्षाके लिये उन दोनोंके पास अपने प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रको नियुक्त कर दिया है। वह निरन्तर घूमता रहता है, इसलिये राहु उसके असह्य तेजसे उद्विग्न और चकितचित्त होकर मुहूर्तमात्र उनके सामने टिककर फिर सहसा लौट आता है। उसके उतनी देर उनके सामने ठहरनेको ही लोग 'ग्रहण' कहते हैं॥ ३॥ राहुसे दस हजार योजन नीचे सिद्ध, चारण और विद्याधर आदिके स्थान हैं॥ ४॥ उनके नीचे जहाँतक वायुकी गति है और बादल दिखायी देते हैं, अन्तरिक्ष लोक है। यह यक्ष, राक्षस, पिशाच, प्रेत और भूतोंका विहारस्थल है॥ ५॥ उससे नीचे सौ योजनकी दूरीपर यह पृथ्वी है। जहाँतक हंस, गिद्ध, बाज और गरुड़ आदि प्रधान-प्रधान पक्षी उड़ सकते हैं, वहींतक इसकी सीमा है॥ ६॥ पृथ्वीके विस्तार और स्थिति आदिका वर्णन तो हो ही चुका है। इसके भी नीचे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल नामके सात भू-विवर (भूगर्भस्थित बिल या लोक) हैं। ये एकके नीचे एक दस-दस हजार योजनकी दूरीपर स्थित हैं और इनमेंसे प्रत्येककी लंबाई-चौड़ाई भी दस-दस हजार योजन ही है॥ ७॥ ये भूमिके बिल भी एक प्रकारके स्वर्ग ही हैं। इनमें स्वर्गसे भी अधिक विषयभोग, ऐश्वर्य, आनन्द, सन्तान-सुख और धन-सम्पत्ति है। यहाँके वैभवपूर्ण भवन, उद्यान और क्रीडास्थलोंमें दैत्य, दानव और नाग तरह-तरहकी मायामयी क्रीडाएँ करते हुए निवास करते हैं। वे सब गार्हस्थ्यधर्मका पालन करनेवाले हैं। उनके स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव और सेवकलोग उनसे बड़ा प्रेम रखते हैं और सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं। उनके भोगोंमें बाधा डालनेकी इन्द्रादिमें भी सामर्थ्य नहीं है॥ ८॥ महाराज! इन बिलोंमें मायावी मयदानवकी बनायी हुई अनेकों पुरियाँ शोभासे जगमगा रही हैं, जो अनेक जातिकी सुन्दर-सुन्दर श्रेष्ठ मणियोंसे रचे हुए चित्र-विचित्र भवन, परकोटे, नगरद्वार, सभाभवन, मन्दिर, बड़े-बड़े आँगन और गृहोंसे सुशोभित हैं; तथा

सारिकाकीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः समलङ्कृताश्चकासति॥ ९॥

उद्यानानि चातितरां मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तबकसुभगकिसलयावनतरुचिर-विटपविटपिनां लताङ्गालिङ्गितानां श्रीभिः समिथुनविविधविहङ्गमजलाशयानाममलजल-पूर्णानां झषकुलोल्लङ्घनक्षुभितनीरनीरजकुमुद-कुवलयकह्लारनीलोत्पललोहितशतपत्रादिवनेषु कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वना-दिभिरिन्द्रियोत्सवैरमरलोकश्रियमतिशयितानि ॥ १०॥ यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभिः कालविभागैरुपलक्ष्यते॥ ११॥

यत्र हि महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वं तमः प्रबाधन्ते॥ १२॥

न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिरसरसायनान्नपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यस्वेदक्लमग्लानिरिति वयोऽव-स्थाश्च भवन्ति॥ १३॥

जिनकी कृत्रिम भूमियों(फर्शों)-पर नाग और असुरोंके जोड़े एवं कबूतर, तोता और मैना आदि पक्षी किलोल करते रहते हैं, ऐसे पातालाधिपतियोंके भव्य भवन उन पुरियोंकी शोभा बढ़ाते हैं॥ ९॥ वहाँके बगीचे भी अपनी शोभासे देवलोकके उद्यानोंकी शोभाको मात करते हैं। उनमें अनेकों वृक्ष हैं, जिनकी सुन्दर डालियाँ फल-फूलोंके गुच्छों और कोमल कोंपलोंके भारसे झुकी रहती हैं तथा जिन्हें तरह-तरहकी लताओंने अपने अंगपाशसे बाँध रखा है। वहाँ जो निर्मल जलसे भरे हुए अनेकों जलाशय हैं, उनमें विविध विहंगोंके जोड़े विलास करते रहते हैं। इन वृक्षों और जलाशयोंकी सुषमासे वे उद्यान बड़ी शोभा पा रहे हैं। उन जलाशयोंमें रहनेवाली मछलियाँ जब खिलवाड़ करती हुई उछलती हैं, तब उनका जल हिल उठता है। साथ ही जलके ऊपर उगे हुए कमल, कुमुद, कुवलय, कह्लार, नीलकमल, लालकमल और शतपत्र कमल आदिके समुदाय भी हिलने लगते हैं। इन कमलोंके वनोंमें रहनेवाले पक्षी अविराम क्रीडा-कौतुक करते हुए भाँति-भाँतिकी बड़ी मीठी बोली बोलते रहते हैं, जिसे सुनकर मन और इन्द्रियोंको बड़ा ही आह्लाद होता है। उस समय समस्त इन्द्रियोंमें उत्सव-सा छा जाता है॥ १०॥ वहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं जाता, इसलिये दिन-रात आदि कालविभागका भी कोई खटका नहीं देखा जाता॥ ११॥ वहाँके सम्पूर्ण अन्धकारको बड़े-बड़े नागोंके मस्तकोंकी मणियाँ ही दूर करती हैं॥ १२॥ इन लोकोंके निवासी जन ओषधि, रस, रसायन, अन्न, पान और स्नानादिका सेवन करते हैं, वे सभी पदार्थ दिव्य होते हैं; इन दिव्य वस्तुओंके सेवनसे उन्हें मानसिक या शारीरिक रोग नहीं होते तथा झुर्रियाँ पड़ जाना, बाल पक जाना, बुढ़ापा आ जाना, देहका कान्तिहीन हो जाना, शरीरमेंसे दुर्गन्ध आना, पसीना चूना, थकावट अथवा शिथिलता आना तथा आयुके साथ शरीरकी अवस्थाओंका बदलना—ये कोई विकार नहीं होते। वे सदा सुन्दर, स्वस्थ, जवान और शक्तिसम्पन्न रहते हैं॥ १३॥

न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात्॥ १४॥ यस्मिन् प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च॥ १५॥

उन पुण्यपुरुषोंकी भगवान्के तेजरूप सुदर्शन चक्रके सिवा और किसी साधनसे मृत्यु नहीं हो सकती॥ १४॥ सुदर्शन चक्रके तो आते ही भयके कारण असुररमणियोंका गर्भस्राव और गर्भपात* हो जाता है॥ १५॥

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्मायाः काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः पुंश्चल्य इति या वै विलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकनानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्ययुतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कत्थते मदान्ध इव॥ १६॥

अतल लोकमें मयदानवका पुत्र असुर बल रहता है। उसने छियानबे प्रकारकी माया रची है। उनमेंसे कोई-कोई आज भी मायावी पुरुषोंमें पायी जाती हैं। उसने एक बार जँभाई ली थी, उस समय उसके मुखसे स्वैरिणी (केवल अपने वर्णके पुरुषोंसे रमण करनेवाली), कामिनी (अन्य वर्णोंके पुरुषोंसे भी समागम करनेवाली) और पुंश्चली (अत्यन्त चंचल स्वभाववाली)—तीन प्रकारकी स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं। ये उस लोकमें रहनेवाले पुरुषोंको हाटक नामका रस पिलाकर सम्भोग करनेमें समर्थ बना लेती हैं और फिर उनके साथ अपनी हाव-भावमयी चितवन, प्रेममयी मुसकान, प्रेमालाप और आलिंगनादिके द्वारा यथेष्ट रमण करती हैं। उस हाटक-रसको पीकर मनुष्य मदान्ध-सा हो जाता है और अपनेको दस हजार हाथियोंके समान बलवान् समझकर 'मैं ईश्वर हूँ, मैं सिद्ध हूँ,' इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें करने लगता है॥ १६॥

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान् हाटकेश्वरः स्वपार्षदभूतगणावृतः[1] प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह मिथुनीभूत[2] आस्ते यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भवयोर्वीर्येण[3] यत्र चित्रभानुर्मातरिश्वना समिध्यमान ओजसा पिबति तन्निष्ठ्यूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह पुरुषीभिर्धारयन्ति॥ १७॥

उसके नीचे वितल लोकमें भगवान् हाटकेश्वर नामक महादेवजी अपने पार्षद भूतगणोंके सहित रहते हैं। वे प्रजापतिकी सृष्टिकी वृद्धिके लिये भवानीके साथ विहार करते रहते हैं। उन दोनोंके तेजसे वहाँ हाटकी नामकी एक श्रेष्ठ नदी निकली है। उसके जलको वायुसे प्रज्वलित अग्नि बड़े उत्साहसे पीता है। वह जो हाटक नामका सोना थूकता है, उससे बने हुए आभूषणोंको दैत्यराजोंके अन्तःपुरोंमें स्त्री-पुरुष सभी धारण करते हैं॥ १७॥

---

१. प्रा० पा०—पारिषदभू०। २. प्रा० पा०—भूय। ३. प्रा० पा०—तयोर्वीर्येण।

* 'आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पंचमषष्ठयोः' अर्थात् चौथे मासतक जो गर्भ गिरता है, उसे 'गर्भस्राव' कहते हैं तथा पाँचवें और छठे मासमें गिरनेसे वह 'गर्भपात' कहलाता है।

ततोऽधस्तात्सुतले उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो[1] भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराधयंस्तमेवभगवन्तमाराधनीयमपगत-साध्वस आस्तेऽधुनापि॥ १८॥ नो एवैतत्साक्षात्कारो[2] भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिकायानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेव तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परया श्रद्धया परमादरसमाहितमनसा सम्प्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यद्बिलनिलयैश्वर्यम्॥ १९॥ यस्य ह वाव क्षुत्पतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते[3]॥ २०॥ तद्भक्तानामात्मवतां सर्वेषामात्मन्यात्मद आत्मतयैव॥ २१॥ न वै भगवान्नूनममुष्यानुजग्राह यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं मायामयभोगैश्वर्यमेवातनुतेति॥ २२॥ यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृत-स्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुणपाशैश्च सम्प्रतिमुक्तो गिरिदर्यां चापविद्ध इति होवाच॥ २३॥

वितलके नीचे सुतल लोक है। उसमें महायशस्वी पवित्रकीर्ति विरोचनपुत्र बलि रहते हैं। भगवान्‌ने इन्द्रका प्रिय करनेके लिये अदितिके गर्भसे वटु-वामनरूपमें अवतीर्ण होकर उनसे तीनों लोक छीन लिये थे। फिर भगवान्‌की कृपासे ही उनका इस लोकमें प्रवेश हुआ। यहाँ उन्हें जैसी उत्कृष्ट सम्पत्ति मिली हुई है, वैसी इन्द्रादिके पास भी नहीं है। अतः वे उन्हीं पूज्यतम प्रभुकी अपने धर्माचरणद्वारा आराधना करते हुए यहाँ आज भी निर्भयतापूर्वक रहते हैं॥ १८॥ राजन्! सम्पूर्ण जीवोंके नियन्ता एवं आत्मस्वरूप परमात्मा भगवान् वासुदेव-जैसे पूज्यतम, पवित्रतम पात्रके आनेपर उन्हें परम श्रद्धा और आदरके साथ स्थिर चित्तसे दिये हुए भूमिदानका यही कोई मुख्य फल नहीं है कि बलिको सुतल लोकका ऐश्वर्य प्राप्त हो गया। यह ऐश्वर्य तो अनित्य है। किन्तु वह भूमिदान तो साक्षात् मोक्षका ही द्वार है॥ १९॥ भगवान्‌का तो छींकने, गिरने और फिसलनेके समय विवश होकर एक बार नाम लेनेसे भी मनुष्य सहसा कर्म-बन्धनको काट देता है, जब कि मुमुक्षुलोग इस कर्मबन्धनको योगसाधन आदि अन्य अनेकों उपायोंका आश्रय लेनेपर बड़े कष्टसे कहीं काट पाते हैं॥ २०॥ अतएव अपने संयमी भक्त और ज्ञानियोंको स्वस्वरूप प्रदान करनेवाले और समस्त प्राणियोंके आत्मा श्रीभगवान्‌को आत्मभावसे किये हुए भूमिदानका यह फल नहीं हो सकता॥ २१॥ भगवान्‌ने यदि बलिको उसके सर्वस्वदानके बदले अपनी विस्मृति करानेवाला यह मायामय भोग और ऐश्वर्य ही दिया तो उन्होंने उसपर यह कोई अनुग्रह नहीं किया॥ २२॥ जिस समय कोई और उपाय न देखकर भगवान्‌ने याचनाके छलसे उसका त्रिलोकीका राज्य छीन लिया और उसके पास केवल उसका शरीरमात्र ही शेष रहने दिया, तब वरुणके पाशोंमें बाँधकर पर्वतकी गुफामें डाल दिये जानेपर उसने कहा था॥ २३॥

१. प्रा० पा०—परिक्षिप्तस्वर्लोकत्रयो। २. प्रा० पा०—यद्येतत्साक्षात्कारो। ३. प्रा० पा०—ऽन्यथेवेहोप०।

नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय[१] वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय[२] स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचतात्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यमतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम्॥ २४॥ यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे न तु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि॥ २५॥ तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीणभगवदनुग्रह[३] उपजिगमिषतीति॥ २६॥ तस्यानुचरितमुपरिष्टाद्विस्तरिष्यते[४] यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयो येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः॥ २७॥

ततोऽधस्तात्तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता पुरारिणा[५] त्रिलोकीशं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो मायाविनामाचार्यो[६] महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते॥ २८॥

'खेद है, यह ऐश्वर्यशाली इन्द्र विद्वान् होकर भी अपना सच्चा स्वार्थ सिद्ध करनेमें कुशल नहीं है। इसने सम्मति लेनेके लिये अनन्यभावसे बृहस्पतिजीको अपना मन्त्री बनाया; फिर भी उनकी अवहेलना करके इसने श्रीविष्णुभगवान्से उनका दास्य न माँगकर उनके द्वारा मुझसे अपने लिये ये भोग ही माँगे। ये तीन लोक तो केवल एक मन्वन्तरतक ही रहते हैं, जो अनन्त कालका एक अवयवमात्र है। भगवान्के कैंकर्यके आगे भला, इन तुच्छ भोगोंका क्या मूल्य है॥ २४॥ हमारे पितामह प्रह्लादजीने—भगवान्के हाथों अपने पिता हिरण्यकशिपुके मारे जानेपर—प्रभुकी सेवाका ही वर माँगा था। भगवान् देना भी चाहते थे, तो भी उनसे दूर करनेवाला समझकर उन्होंने अपने पिताका निष्कण्टक राज्य लेना स्वीकार नहीं किया॥ २५॥ वे बड़े महानुभाव थे। मुझपर तो न भगवान्की कृपा ही है और न मेरी वासनाएँ ही शान्त हुई हैं; फिर मेरे-जैसा कौन पुरुष उनके पास पहुँचनेका साहस कर सकता है?॥ २६॥ राजन्! इस बलिका चरित हम आगे (अष्टम स्कन्धमें) विस्तारसे कहेंगे। अपने भक्तोंके प्रति भगवान्का हृदय दयासे भरा रहता है। इसीसे अखिल जगत्के परम पूजनीय गुरु भगवान् नारायण हाथमें गदा लिये सुतल लोकमें राजा बलिके द्वारपर सदा उपस्थित रहते हैं। एक बार जब दिग्विजय करता हुआ घमंडी रावण वहाँ पहुँचा, तब उसे भगवान्ने अपने पैरके अँगूठेकी ठोकरसे ही लाखों योजन दूर फेंक दिया था॥ २७॥

सुतललोकसे नीचे तलातल है। वहाँ त्रिपुराधिपति दानवराज मय रहता है। पहले तीनों लोकोंको शान्ति प्रदान करनेके लिये भगवान् शंकरने उसके तीनों पुर भस्म कर दिये थे। फिर उन्हींकी कृपासे उसे यह स्थान मिला। वह मायावियोंका परम गुरु है और महादेवजीके द्वारा सुरक्षित है, इसलिये उसे सुदर्शन चक्रसे भी कोई भय नहीं है। वहाँके निवासी उसका बहुत आदर करते हैं॥ २८॥

---

१. प्रा० पा०—मन्त्राय एकान्ततो वृतो बृह०। २. प्रा० पा०—हायोपेन्द्रेणात्मान् माशिषो नो एव तदनुदास्यमति०। ३. प्रा० पा०—ग्रहमुपजि०। ४. प्रा० पा०—मुत्तरस्माद्विस्तरिष्यते यद्भगवान्। ५. प्रा० पा०—त्रिपुरारिणा त्रिलोक्यर्थं। ६. प्रा० पा०—मायानामाचार्यो।

ततोऽधस्तान्महातले काद्रवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम गणः कुहकतक्षक-कालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्त्रिराजाधिपतेः पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः[१] स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित्प्रमत्ता विहरन्ति॥ २९॥

उसके नीचे महातलमें कद्रूसे उत्पन्न हुए अनेक सिरोंवाले सर्पोंका क्रोधवश नामक एक समुदाय रहता है। उनमें कुहक, तक्षक, कालिय और सुषेण आदि प्रधान हैं। उनके बड़े-बड़े फन हैं। वे सदा भगवान्के वाहन पक्षिराज गरुडजीसे डरते रहते हैं; तो भी कभी-कभी अपने स्त्री, पुत्र, मित्र और कुटुम्बके संगसे प्रमत्त होकर विहार करने लगते हैं॥ २९॥

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः कालेया हिरण्यपुरवासिन इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव[२] तेजसा प्रतिहतबलावलेपा[३] बिलेशया इव वसन्ति ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णा-भिरिन्द्राद्बिभ्यति॥ ३०॥

उसके नीचे रसातलमें पणि नामके दैत्य और दानव रहते हैं। ये निवातकवच, कालेय और हिरण्यपुरवासी भी कहलाते हैं। इनका देवताओंसे विरोध है। ये जन्मसे ही बड़े बलवान् और महान् साहसी होते हैं। किन्तु जिनका प्रभाव सम्पूर्ण लोकोंमें फैला हुआ है, उन श्रीहरिके तेजसे बलाभिमान चूर्ण हो जानेके कारण ये सर्पोंके समान लुक-छिपकर रहते हैं तथा इन्द्रकी दूती सरमाके कहे हुए मन्त्रवर्णरूप* वाक्यके कारण सर्वदा इन्द्रसे डरते रहते हैं॥ ३०॥

ततोऽधस्तात्पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेत-धनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा[४] निवसन्ति येषामु ह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति॥ ३१॥

रसातलके नीचे पाताल है। वहाँ शंख, कुलिक, महाशंख, श्वेत, धनंजय, धृतराष्ट्र, शंखचूड, कम्बल, अश्वतर और देवदत्त आदि बड़े क्रोधी और बड़े-बड़े फनोंवाले नाग रहते हैं। इनमें वासुकि प्रधान हैं। उनमेंसे किसीके पाँच, किसीके सात, किसीके दस, किसीके सौ और किसीके हजार सिर हैं। उनके फनोंकी दमकती हुई मणियाँ अपने प्रकाशसे पाताल-लोकका सारा अन्धकार नष्ट कर देती हैं॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे राह्वादिस्थितिबिलस्वर्गमर्यादा निरूपणं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

---

१. प्रा० पा०—मुद्विग्नमनसा स्वक०।

२. प्रा० पा०—हरेरिव।

३. प्रा० पा०—हतावलेपा बिलशया इव वसन्ति ये वै सुरमये०।

४. प्रा० पा०—मर्षाः सन्ति।

* एक कथा आती है कि जब पणि नामक दैत्योंने पृथ्वीको रसातलमें छिपा लिया, तब इन्द्रने उसे ढूँढ़नेके लिये सरमा नामकी एक दूतीको भेजा था। सरमासे दैत्योंने सन्धि करनी चाही, परन्तु सरमाने सन्धि न करके इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहा था—**'हता इन्द्रेण पणयः शयध्वम्'** (हे पणिगण! तुम इन्द्रके हाथसे मरकर पृथ्वीपर सो जाओ, इसी शापके कारण उन्हें सदा इन्द्रका डर लगा रहता है।

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

श्रीसङ्कर्षणदेवका विवरण और स्तुति

श्रीशुक उवाच

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्यातानन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याचक्षते॥ १ ॥

यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते॥ २॥ यस्य ह वा इदं कालेनोपसंजिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिरभ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण साङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन् उदतिष्ठत्॥ ३ ॥ यस्याङ्घ्रिकमलयुगलारुणविशदनखमणिषण्डमण्डलेष्वहिपतयः सह सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनावनमन्तः स्ववदनानि परिस्फुरत्कुण्डलप्रभामण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति॥ ४॥ यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसितविशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानुलेपेनावलिम्पमानास्तदभिमर्शनोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्तदनुरागमदमुदितमदविघूर्णितारुणकरुणावलोकनयनवदनारविन्दं सव्रीडं किल विलोकयन्ति॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! पाताललोकके नीचे तीस हजार योजनकी दूरीपर अनन्त नामसे विख्यात भगवान्‌की तामसी नित्य कला है। यह अहंकाररूपा होनेसे द्रष्टा और दृश्यको खींचकर एक कर देती है, इसलिये पांचरात्र आगमके अनुयायी भक्तजन इसे 'संकर्षण' कहते हैं॥ १॥

इन भगवान् अनन्तके एक हजार मस्तक हैं। उनमेंसे एकपर रखा हुआ यह सारा भूमण्डल सरसोंके दानेके समान दिखायी देता है॥ २॥

प्रलयकाल उपस्थित होनेपर जब इन्हें इस विश्वका उपसंहार करनेकी इच्छा होती है, तब इनकी क्रोधवश घूमती हुई मनोहर भ्रुकुटियोंके मध्यभागसे संकर्षण नामक रुद्र प्रकट होते हैं। उनकी व्यूहसंख्या ग्यारह है। वे सभी तीन नेत्रोंवाले होते हैं और हाथमें तीन नोकोंवाले शूल लिये रहते हैं॥ ३॥ भगवान् संकर्षणके चरणकमलोंके गोल-गोल स्वच्छ और अरुणवर्ण नख मणियोंकी पंक्तिके समान देदीप्यमान हैं। जब अन्य प्रधान-प्रधान भक्तोंके सहित अनेकों नागराज अनन्य भक्तिभावसे उन्हें प्रणाम करते हैं, तब उन्हें उन नखमणियोंमें अपने कुण्डलकान्तिमण्डित कमनीय कपोलोंवाले मनोहर मुखारविन्दोंकी मनमोहिनी झाँकी होती है और उनका मन आनन्दसे भर जाता है॥ ४॥ अनेकों नागराजोंकी कन्याएँ विविध कामनाओंसे उनके अंगमण्डलपर चाँदीके खम्भोंके समान सुशोभित उनकी वलयविलसित लंबी-लंबी श्वेतवर्ण सुन्दर भुजाओंपर अरगजा, चन्दन और कुंकुमपंकका लेप करती हैं। उस समय अंगस्पर्शसे मथित हुए उनके हृदयमें कामका संचार हो जाता है। तब वे उनके मदविह्वल सकरुण अरुण नयनकमलोंसे सुशोभित तथा प्रेममदसे मुदित मुखारविन्दकी ओर मधुर मनोहर मुसकानके साथ सलज्जभावसे निहारने लगती हैं॥ ५॥

स एव भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते॥ ६॥

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधर-मुनिगणैरनवरतमदमुदितविकृतविह्वललोचनः सुललितमुखरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षद-विबुधयूथपतीनपरिम्लानरागनवतुलसिका-मोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकरव्रातमधुरगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान्माहेन्द्रो वारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो बिभर्ति॥ ७॥

य एष एवमनुश्रुतो[१] ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्म[२]वासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति तस्यानुभावान्[३] भगवान् स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास॥ ८॥

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः
सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयाऽऽसन्।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्
नानाधात्कथमु ह वेद तस्य वर्त्म॥ ९

वे अनन्त गुणोंके सागर आदिदेव भगवान् अनन्त अपने अमर्ष (असहनशीलता) और रोषके वेगको रोके हुए वहाँ समस्त लोकोंके कल्याणके लिये विराजमान हैं॥ ६॥

देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और मुनिगण भगवान् अनन्तका ध्यान किया करते हैं। उनके नेत्र निरन्तर प्रेममदसे मुदित, चंचल और विह्वल रहते हैं। वे सुललित वचनामृतसे अपने पार्षद और देवयूथपोंको सन्तुष्ट करते रहते हैं। उनके अंगपर नीलाम्बर और कानोंमें केवल एक कुण्डल जगमगाता रहता है तथा उनका सुभग और सुन्दर हाथ हलकी मूठपर रखा रहता है। वे उदारलीलामय भगवान् संकर्षण गलेमें वैजयन्ती माला धारण किये रहते हैं, जो साक्षात् इन्द्रके हाथी ऐरावतके गलेमें पड़ी हुई सुवर्णकी शृंखलाके समान जान पड़ती है। जिसकी कान्ति कभी फीकी नहीं पड़ती, ऐसी नवीन तुलसीकी गन्ध और मधुर मकरन्दसे उन्मत्त हुए भौंरे निरन्तर मधुर गुंजार करके उसकी शोभा बढ़ाते रहते हैं॥ ७॥

परीक्षित्! इस प्रकार भगवान् अनन्त माहात्म्य-श्रवण और ध्यान करनेसे मुमुक्षुओंके हृदयमें आविर्भूत होकर उनकी अनादिकालीन कर्मवासनाओंसे ग्रथित सत्त्व, रज और तमोगुणात्मक अविद्यामयी हृदयग्रन्थिको तत्काल काट डालते हैं। उनके गुणोंका एक बार ब्रह्माजीके पुत्र भगवान् नारदने तुम्बुरु गन्धर्वके साथ ब्रह्माजीकी सभामें इस प्रकार गान किया था॥ ८॥

जिनकी दृष्टि पड़नेसे ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके हेतुभूत सत्त्वादि प्राकृत गुण अपने-अपने कार्यमें समर्थ होते हैं, जिनका स्वरूप ध्रुव (अनन्त) और अकृत (अनादि) है तथा जो अकेले होते हुए ही इस नानात्मक प्रपंचको अपनेमें धारण किये हुए हैं—उन भगवान् संकर्षणके तत्त्वको कोई कैसे जान सकता है॥ ९॥

१. प्रा० पा०—मनुश्रुतोऽभिध्याय०। २. प्रा० पा०—कर्मणां वा०। ३. प्रा० पा०—भावमुद्वहन् भग०।

मूर्तिं नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं
संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्या-
मादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः॥ १०

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मा-
दार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा।
हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः॥ ११

मूर्धन्यर्पितमणुवत्सहस्रमूर्ध्नो
भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम्।
आनन्त्यादनिमितविक्रमस्य भूम्नः
को वीर्याण्यधिगणयेत्सहस्रजिह्वः॥ १२

एवम्प्रभावो भगवाननन्तो
दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।
मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो
यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति॥ १३

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्मविनिर्मिता यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान् कामयमानैः॥ १४॥ एतावतीर्हि राजन् पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत्कथयाम इति॥ १५॥

जिनमें यह कार्य-कारणरूप सारा प्रपंच भास रहा है तथा अपने निजजनोंका चित्त आकर्षित करनेके लिये की हुई जिनकी वीरतापूर्ण लीलाको परम पराक्रमी सिंहने आदर्श मानकर अपनाया है, उन उदारवीर्य संकर्षण भगवान्ने हमपर बड़ी कृपा करके यह विशुद्ध सत्त्वमय स्वरूप धारण किया है॥ १०॥ जिनके सुने-सुनाये नामका कोई पीड़ित अथवा पतित पुरुष अकस्मात् अथवा हँसीमें भी उच्चारण कर लेता है तो वह पुरुष दूसरे मनुष्योंके भी सारे पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है—ऐसे शेषभगवान्को छोड़कर मुमुक्षु पुरुष और किसका आश्रय ले सकता है?॥ ११॥ यह पर्वत, नदी और समुद्रादिसे पूर्ण सम्पूर्ण भूमण्डल उन सहस्रशीर्षा भगवान्के एक मस्तकपर एक रज:कणके समान रखा हुआ है। वे अनन्त हैं, इसलिये उनके पराक्रमका कोई परिमाण नहीं है। किसीके हजार जीभें हों, तो भी उन सर्वव्यापक भगवान्के पराक्रमोंकी गणना करनेका साहस वह कैसे कर सकता है?॥ १२॥ वास्तवमें उनके वीर्य, अतिशय गुण और प्रभाव असीम हैं। ऐसे प्रभावशाली भगवान् अनन्त रसातलके मूलमें अपनी ही महिमामें स्थित स्वतन्त्र हैं और सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिके लिये लीलासे ही पृथ्वीको धारण किये हुए हैं॥ १३॥

राजन्! भोगोंकी कामनावाले पुरुषोंकी अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली भगवान्की रची हुई ये ही गतियाँ हैं। इन्हें जिस प्रकार मैंने गुरुमुखसे सुना था, उसी प्रकार तुम्हें सुना दिया॥ १४॥ मनुष्यको प्रवृत्तिरूप धर्मके परिणाममें प्राप्त होनेवाली जो परस्पर विलक्षण ऊँची-नीची गतियाँ हैं, वे इतनी ही हैं; इन्हें तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने सुना दिया। अब बताओ और क्या सुनाऊँ?॥ १५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे
भूविवरविध्युपवर्णनं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

नरकोंकी विभिन्न गतियोंका वर्णन

राजोवाच

महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति॥ १॥

ऋषिरुवाच

त्रिगुणत्वात्कर्तुः[1] श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति॥ २॥

अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्तुः[2] श्रद्धाया वैसादृश्यात्कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्यया[3] कृतकामानां तत्परिणामलक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः॥ ३॥

राजोवाच

नरका नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति॥ ४॥

ऋषिरुवाच

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्या-मधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यमग्निष्वा-त्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति॥ ५॥

यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु सम्परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति॥ ६॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—महर्षे! लोगोंको जो ये ऊँची-नीची गतियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें इतनी विभिन्नता क्यों है?॥ १॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन्! कर्म करनेवाले पुरुष सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके होते हैं तथा उनकी श्रद्धाओंमें भी भेद रहता है। इस प्रकार स्वभाव और श्रद्धाके भेदसे उनके कर्मोंकी गतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं और न्यूनाधिकरूपमें ये सभी गतियाँ सभी कर्ताओंको प्राप्त होती हैं॥ २॥

इसी प्रकार निषिद्ध कर्मरूप पाप करनेवालोंको भी उनकी श्रद्धाकी असमानताके कारण समान फल नहीं मिलता। अतः अनादि अविद्याके वशीभूत होकर कामनापूर्वक किये हुए उन निषिद्ध कर्मोंके परिणाममें जो हजारों तरहकी नारकी गतियाँ होती हैं, उनका विस्तारसे वर्णन करेंगे॥ ३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आप जिनका वर्णन करना चाहते हैं, वे नरक इसी पृथ्वीके कोई देशविशेष हैं अथवा त्रिलोकीसे बाहर या इसीके भीतर किसी जगह हैं?॥ ४॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन्! वे त्रिलोकीके भीतर ही हैं तथा दक्षिणकी ओर पृथ्वीसे नीचे जलके ऊपर स्थित हैं। इसी दिशामें अग्निष्वात्त आदि पितृगण रहते हैं, वे अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक अपने वंशधरोंके लिये मंगलकामना किया करते हैं॥ ५॥

उस नरकलोकमें सूर्यके पुत्र पितृराज भगवान् यम अपने सेवकोंके सहित रहते हैं तथा भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन न करते हुए, अपने दूतोंद्वारा वहाँ लाये हुए मृत प्राणियोंको उनके दुष्कर्मोंके अनुसार पापका फल दण्ड देते हैं॥ ६॥

---

१. प्रा० पा०—कर्तृश्रद्धायाः। २. प्रा० पा०—कर्तृश्रद्धायाः। ३. प्रा० पा०—विद्याकामानां।

तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति। अथ तांस्ते राजन्नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तसूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयःपानमिति। किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमयः॥ ७॥

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते अनशनानुदपानदण्डताडनसंतर्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये॥ ८॥ एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति॥ ९॥

यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति ॥१०॥ ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद् रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः॥ ११॥

परीक्षित्! कोई-कोई लोग नरकोंकी संख्या इक्कीस बताते हैं। अब हम नाम, रूप और लक्षणोंके अनुसार उनका क्रमशः वर्णन करते हैं। उनके नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अयःपान। इनके सिवा क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख—ये सात और मिलाकर कुल अट्ठाईस नरक तरह-तरहकी यातनाओंको भोगनेके स्थान हैं॥ ७॥

जो पुरुष दूसरोंके धन, सन्तान अथवा स्त्रियोंका हरण करता है, उसे अत्यन्त भयानक यमदूत कालपाशमें बाँधकर बलात् तामिस्र नरकमें गिरा देते हैं। उस अन्धकारमय नरकमें उसे अन्न-जल न देना, डंडे लगाना और भय दिखलाना आदि अनेक प्रकारके उपायोंसे पीड़ित किया जाता है। इससे अत्यन्त दुःखी होकर वह एकाएक मूर्च्छित हो जाता है॥ ८॥ इसी प्रकार जो पुरुष किसी दूसरेको धोखा देकर उसकी स्त्री आदिको भोगता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें पड़ता है। वहाँकी यातनाओंमें पड़कर वह जड़से कटे हुए वृक्षके समान, वेदनाके मारे सारी सुध-बुध खो बैठता है और उसे कुछ भी नहीं सूझ पड़ता। इसीसे इस नरकको अन्धतामिस्र कहते हैं॥ ९॥

जो पुरुष इस लोकमें 'यह शरीर ही मैं हूँ और ये स्त्री-धनादि मेरे हैं' ऐसी बुद्धिसे दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करके निरन्तर अपने कुटुम्बके ही पालन-पोषणमें लगा रहता है, वह अपना शरीर छोड़नेपर अपने पापके कारण स्वयं ही रौरव नरकमें गिरता है॥ १०॥ इस लोकमें उसने जिन जीवोंको जिस प्रकार कष्ट पहुँचाया होता है परलोकमें यमयातनाका समय आनेपर वे जीव 'रुरु' होकर उसे उसी प्रकार कष्ट पहुँचाते हैं। इसीलिये इस नरकका नाम 'रौरव' है। 'रुरु' सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभाववाले एक जीवका नाम है॥ ११॥

एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा[1] नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः॥ १२॥

ऐसा ही महारौरव नरक है। इसमें वह व्यक्ति जाता है, जो और किसीकी परवा न कर केवल अपने ही शरीरका पालन-पोषण करता है। वहाँ कच्चा मांस खानेवाले रुरु इसे मांसके लोभसे काटते हैं॥ १२॥

यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचरा कुम्भीपाके तप्ततैले-उपरन्धयन्ति॥ १३॥ यस्त्विह पितृविप्रब्रह्मध्रुक् स कालसूत्रसंज्ञके नरके अयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये[2] तप्तखले उपर्यधस्तादग्न्यर्काभ्यामतितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्यां च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते[3] चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि॥ १४॥

जो क्रूर मनुष्य इस लोकमें अपना पेट पालनेके लिये जीवित पशु या पक्षियोंको राँधता है, उस हृदयहीन, राक्षसोंसे भी गये-बीते पुरुषको यमदूत कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तैलमें राँधते हैं॥ १३॥

जो मनुष्य इस लोकमें माता-पिता, ब्राह्मण और वेदसे विरोध करता है, उसे यमदूत कालसूत्र नरकमें ले जाते हैं। इसका घेरा दस हजार योजन है। इसकी भूमि ताँबेकी है। इसमें जो तपा हुआ मैदान है, वह ऊपरसे सूर्य और नीचेसे अग्निके दाहसे जलता रहता है। वहाँ पहुँचाया हुआ पापी जीव भूख-प्याससे व्याकुल हो जाता है और उसका शरीर बाहर-भीतरसे जलने लगता है। उसकी बेचैनी यहाँतक बढ़ती है कि वह कभी बैठता है, कभी लेटता है, कभी छटपटाने लगता है, कभी खड़ा होता है और कभी इधर-उधर दौड़ने लगता है। इस प्रकार उस नर-पशुके शरीरमें जितने रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्षतक उसकी यह दुर्गति होती रहती है॥ १४॥

यस्त्विह[4] वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाखण्डं चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतोधारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाखण्डानुगतं[5] फलं भुङ्क्ते॥ १५॥

जो पुरुष किसी प्रकारकी आपत्ति न आनेपर भी अपने वैदिक मार्गको छोड़कर अन्य पाखण्डपूर्ण धर्मोंका आश्रय लेता है, उसे यमदूत असिपत्रवन नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हैं। जब मारसे बचनेके लिये वह इधर-उधर दौड़ने लगता है, तब उसके सारे अंग तालवनके तलवारके समान पैने पत्तोंसे, जिनमें दोनों ओर धारें होती हैं, टूक-टूक होने लगते हैं। तब वह अत्यन्त वेदनासे 'हाय, मैं मरा!' इस प्रकार चिल्लाता हुआ पद-पदपर मूर्च्छित होकर गिरने लगता है। अपने धर्मको छोड़कर पाखण्डमार्गमें चलनेसे उसे इस प्रकार अपने कुकर्मका फल भोगना पड़ता है॥ १५॥

१. प्रा० पा०—क्रव्यादा रुरवस्तं। २. प्रा० पा०—मये खले। ३. प्रा० पा०—शेतेऽवतिष्ठति। ४. प्रा० पा०—यस्तू ह वै। ५. प्रा० पा०—पाषण्डानुगमनं।

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वा अदण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान्नरकेऽमुत्र सूकरमुखे निपतति तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुखण्ड आर्तस्वरेण स्वनयन् क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः ॥ १६ ॥

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति तत्र हासौ तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृपैर्मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः ॥ १७ ॥

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत्किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति तत्र शतसहस्रयोजने कृमिकुण्डे कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत्तदप्रत्ताप्रहुतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयते ॥ १८ ॥

इस लोकमें जो पुरुष राजा या राजकर्मचारी होकर किसी निरपराध मनुष्यको दण्ड देता है अथवा ब्राह्मणको शरीरदण्ड देता है, वह महापापी मरकर सूकरमुख नरकमें गिरता है। वहाँ जब महाबली यमदूत उसके अंगोंको कुचलते हैं, तब वह कोल्हूमें पेरे जाते हुए गन्नोंके समान पीड़ित होकर, जिस प्रकार इस लोकमें उसके द्वारा सताये हुए निरपराध प्राणी रोते-चिल्लाते थे, उसी प्रकार कभी आर्त स्वरसे चिल्लाता और कभी मूर्च्छित हो जाता है॥ १६ ॥

जो पुरुष इस लोकमें खटमल आदि जीवोंकी हिंसा करता है, वह उनसे द्रोह करनेके कारण अन्धकूप नरकमें गिरता है। क्योंकि स्वयं भगवान्ने ही रक्तपानादि उनकी वृत्ति बना दी है और उन्हें उसके कारण दूसरोंको कष्ट पहुँचनेका ज्ञान भी नहीं है; किन्तु मनुष्यकी वृत्ति भगवान्ने विधि-निषेधपूर्वक बनायी है और उसे दूसरोंके कष्टका ज्ञान भी है। वहाँ वे पशु, मृग, पक्षी, साँप आदि रेंगनेवाले जन्तु, मच्छर, जूँ, खटमल और मक्खी आदि जीव—जिनसे उसने द्रोह किया था—उसे सब ओरसे काटते हैं। इससे उसकी निद्रा और शान्ति भंग हो जाती है और स्थान न मिलनेपर भी वह बेचैनीके कारण उस घोर अन्धकारमें इस प्रकार भटकता रहता है जैसे रोगग्रस्त शरीरमें जीव छटपटाया करता है॥ १७ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें बिना पंचमहायज्ञ किये तथा जो कुछ मिले, उसे बिना किसी दूसरेको दिये स्वयं ही खा लेता है, उसे कौएके समान कहा गया है। वह परलोकमें कृमिभोजन नामक निकृष्ट नरकमें गिरता है। वहाँ एक लाख योजन लंबा-चौड़ा एक कीड़ोंका कुण्ड है। उसीमें उसे भी कीड़ा बनकर रहना पड़ता है और जबतक अपने पापोंका प्रायश्चित्त न करनेवाले उस पापीके—बिना दिये और बिना हवन किये खानेके—दोषका अच्छी तरह शोधन नहीं हो जाता, तबतक वह उसीमें पड़ा-पड़ा कष्ट भोगता रहता है। वहाँ कीड़े उसे नोचते हैं और वह कीड़ोंको खाता है॥ १८ ॥

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः[१] सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति॥ १९॥

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति[२] तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया[३] सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया[४] सूर्म्या॥ २०॥

यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति॥ २१॥

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वा अपाखण्डा धर्मसेतून्[५] भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेश-नखास्थिमेदोमांसवसावाहिन्यामुपतप्यन्ते॥ २२॥

ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचार-नियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्ममलापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति॥ २३॥

राजन्! इस लोकमें जो व्यक्ति चोरी या बरजोरीसे ब्राह्मणके अथवा आपत्तिका समय न होनेपर भी किसी दूसरे पुरुषके सुवर्ण और रत्नादिका हरण करता है, उसे मरनेपर यमदूत सन्दंश नामक नरकमें ले जाकर तपाये हुए लोहेके गोलोंसे दागते हैं और सँड़सीसे उसकी खाल नोचते हैं॥ १९॥ इस लोकमें यदि कोई पुरुष अगम्या स्त्रीके साथ सम्भोग करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे व्यभिचार करती है, तो यमदूत उसे तप्तसूर्मि नामक नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हैं तथा पुरुषको तपाये हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-प्रतिमासे आलिंगन कराते हैं॥ २०॥ जो पुरुष इस लोकमें पशु आदि सभीके साथ व्यभिचार करता है, उसे मृत्युके बाद यमदूत वज्रकण्टकशाल्मली नरकमें गिराते हैं और वज्रके समान कठोर काँटोंवाले सेमरके वृक्षपर चढ़ाकर फिर नीचेकी ओर खींचते हैं॥ २१॥

जो राजा या राजपुरुष इस लोकमें श्रेष्ठ कुलमें जन्म पाकर भी धर्मकी मर्यादाका उच्छेद करते हैं, वे उस मर्यादातिक्रमणके कारण मरनेपर वैतरणी नदीमें पटके जाते हैं। यह नदी नरकोंकी खाईके समान है; उसमें मल, मूत्र, पीब, रक्त, केश, नख, हड्डी, चर्बी, मांस और मज्जा आदि गंदी चीजें भरी हुई हैं। वहाँ गिरनेपर उन्हें इधर-उधरसे जलके जीव नोचते हैं। किन्तु इससे उनका शरीर नहीं छूटता, पापके कारण प्राण उसे वहन किये रहते हैं और वे उस दुर्गतिको अपनी करनीका फल समझकर मन-ही-मन सन्तप्त होते रहते हैं॥ २२॥ जो लोग शौच और आचारके नियमोंका परित्याग कर तथा लज्जाको तिलांजलि देकर इस लोकमें शूद्राओंके साथ सम्बन्ध गाँठकर पशुओंके समान आचरण करते हैं, वे भी मरनेके बाद पीब, विष्ठा, मूत्र, कफ और मलसे भरे हुए पूयोद नामक समुद्रमें गिरकर उन अत्यन्त घृणित वस्तुओंको ही खाते हैं॥ २३॥

१. प्रा० पा०—अश्ममयैरग्नि। २. प्रा० पा०—दपि गच्छति। ३. प्रा० पा०—ताडयेत्तिग्मया। ४. प्रा० पा०—पुरुषमूर्त्या। ५. प्रा० पा०—धर्मसेतुं।

ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगयाविहारा अतीर्थे च मृगान्निघ्नन्ति तानपि सम्परेताल्ँल्लक्ष्यभूतान् यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति॥ २४॥

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिल्ँलोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति॥ २५॥

यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति॥ २६॥

ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान् सार्थान् वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेत्य यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति॥ २७॥

यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्य-विनिमये दाने वा कथञ्चित्स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधःशिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद् गिरिमूर्ध्नः सम्पात्यते यत्र जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत्तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति॥ २८॥

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थोऽपि वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं नीतानामुरसि पदाऽऽक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति॥ २९॥

इस लोकमें जो ब्राह्मणादि उच्च वर्णके लोग कुत्ते या गधे पालते और शिकार आदिमें लगे रहते हैं तथा शास्त्रके विपरीत पशुओंका वध करते हैं, मरनेके पश्चात् वे प्राणरोध नरकमें डाले जाते हैं और वहाँ यमदूत उन्हें लक्ष्य बनाकर बाणोंसे बींधते हैं॥ २४॥ जो पाखण्डीलोग पाखण्डपूर्ण यज्ञोंमें पशुओंका वध करते हैं, उन्हें परलोकमें वैशस (विशसन) नरकमें डालकर वहाँके अधिकारी बहुत पीड़ा देकर काटते हैं॥ २५॥ जो द्विज कामातुर होकर अपनी सवर्णा भार्याको वीर्यपान कराता है, उस पापीको मरनेके बाद यमदूत वीर्यकी नदी (लालभक्ष नामक नरक)-में डालकर वीर्य पिलाते हैं॥ २६॥ जो कोई चोर अथवा राजा या राजपुरुष इस लोकमें किसीके घरमें आग लगा देते हैं, किसीको विष दे देते हैं अथवा गाँवों या व्यापारियोंकी टोलियोंको लूट लेते हैं, उन्हें मरनेके पश्चात् सारमेयादन नामक नरकमें वज्रकी-सी दाढ़ोंवाले सात सौ बीस यमदूत कुत्ते बनकर बड़े वेगसे काटने लगते हैं॥ २७॥ इस लोकमें जो पुरुष किसीकी गवाही देनेमें, व्यापारमें अथवा दानके समय किसी भी तरह झूठ बोलता है, वह मरनेपर आधारशून्य अवीचिमान् नरकमें पड़ता है। वहाँ उसे सौ योजन ऊँचे पहाड़के शिखरसे नीचेको सिर करके गिराया जाता है। उस नरककी पत्थरकी भूमि जलके समान जान पड़ती है। इसीलिये इसका नाम अवीचिमान् है। वहाँ गिराये जानेसे उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर भी प्राण नहीं निकलते, इसलिये इसे बार-बार ऊपर ले जाकर पटका जाता है॥ २८॥

जो ब्राह्मण या ब्राह्मणी अथवा व्रतमें स्थित और कोई भी प्रमादवश मद्यपान करता है तथा जो क्षत्रिय या वैश्य सोमपान* करता है, उन्हें यमदूत अयःपान नामके नरकमें ले जाते हैं और उनकी छातीपर पैर रखकर उनके मुँहमें आगसे गलाया हुआ लोहा डालते हैं॥ २९॥

* क्षत्रियों एवं वैश्योंके लिये शास्त्रमें सोमपानका निषेध है।

अथ च यस्त्विह[1] वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचारवर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरयेऽवाक्शिरा निपातितो दुरन्ता यातना ह्यश्नुते॥ ३०॥

जो पुरुष इस लोकमें निम्न श्रेणीका होकर भी अपनेको बड़ा माननेके कारण जन्म, तप, विद्या, आचार, वर्ण या आश्रममें अपनेसे बड़ोंका विशेष सत्कार नहीं करता, वह जीता हुआ भी मरेके ही समान है। उसे मरनेपर क्षारकर्दम नामके नरकमें नीचेको सिर करके गिराया जाता है और वहाँ उसे अनन्त पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं॥ ३०॥

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो[2] नृपशून् खादन्ति तांश्च ते पशव इव[3] निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव स्वधितिनावदायासृक् पिबन्ति नृत्यन्ति च गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः॥ ३१॥

जो पुरुष इस लोकमें नरमेधादिके द्वारा भैरव, यक्ष, राक्षस आदिका यजन करते हैं और जो स्त्रियाँ पशुओंके समान पुरुषोंको खा जाती हैं, उन्हें वे पशुओंकी तरह मारे हुए पुरुष यमलोकमें राक्षस होकर तरह-तरहकी यातनाएँ देते हैं और रक्षोगण भोजन नामक नरकमें कसाइयोंके समान कुल्हाड़ीसे काट-काटकर उसका लोहू पीते हैं। तथा जिस प्रकार वे मांसभोजी पुरुष इस लोकमें उनका मांस भक्षण करके आनन्दित होते थे, उसी प्रकार वे भी उनका रक्तपान करते और आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं॥ ३१॥

ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपसृतानुपविश्रम्भय्य जिजीविषून् शूलसूत्रादिषूपप्रोतान् क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषु प्रोतात्मानः क्षुत्तृड्भ्यां चाभिहताः कङ्कवटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति॥ ३२॥

इस लोकमें जो लोग वन या गाँवके निरपराध जीवोंको—जो सभी अपने प्राणोंको रखना चाहते हैं—तरह-तरहके उपायोंसे फुसलाकर अपने पास बुला लेते हैं और फिर उन्हें काँटेसे बेधकर या रस्सीसे बाँधकर खिलवाड़ करते हुए तरह-तरहकी पीड़ाएँ देते हैं, उन्हें भी मरनेके पश्चात् यमयातनाओंके समय शूलप्रोत नामक नरकमें शूलोंसे बेधा जाता है। उस समय जब उन्हें भूख-प्यास सताती है और कंक, बटेर आदि तीखी चोंचोंवाले नरकके भयानक पक्षी नोचने लगते हैं, तब अपने किये हुए सारे पाप याद आ जाते हैं॥ ३२॥

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य[4] ग्रसन्ति यथा बिलेशयान्॥ ३३॥

राजन्! इस लोकमें जो सर्पोंके समान उग्रस्वभाव पुरुष दूसरे जीवोंको पीड़ा पहुँचाते हैं, वे मरनेपर दन्दशूक नामके नरकमें गिरते हैं। वहाँ पाँच-पाँच, सात-सात मुँहवाले सर्प उनके समीप आकर उन्हें चूहोंकी तरह निगल जाते हैं॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—यस्त्विहात्मसंभावनेन। २. प्रा० पा०—स्वस्त्रियो नृपशून्। ३. प्रा० पा०—इह। ४. प्रा० पा०—उपश्लिष्य।

ये त्विह वा अन्धावटकुसूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति॥ ३४॥ यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान् वा गृहपतिरसकृदुपगत-मन्युर्दिधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा गृध्राः कङ्ककाकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति ॥ ३५॥

जो व्यक्ति यहाँ दूसरे प्राणियोंको अँधेरी खत्तियों, कोठों या गुफाओंमें डाल देते हैं, उन्हें परलोकमें यमदूत वैसे ही स्थानोंमें डालकर विषैली आगके धूएँमें घोंटते हैं। इसीलिये इस नरकको अवटनिरोधन कहते हैं॥ ३४॥ जो गृहस्थ अपने घर आये अतिथि-अभ्यागतोंकी ओर बार-बार क्रोधमें भरकर ऐसी कुटिल दृष्टिसे देखता है मानों उन्हें भस्म कर देगा, वह जब नरकमें जाता है, तब उस पापदृष्टिके नेत्रोंको गिद्ध, कंक, काक और बटेर आदि वज्रकी-सी कठोर चोंचोंवाले पक्षी बलात् निकाल लेते हैं। इस नरकको पर्यावर्तन कहते हैं॥ ३५॥

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहङ्कृतिस्तिर्यक्-प्रेक्षणः सर्वतोऽभिविशङ्की अर्थव्ययनाश-चिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणसंरक्षणशमलग्रहः सूचीमुखे नरके निपतति यत्र ह वित्तग्रहं पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति॥ ३६॥

इस लोकमें जो व्यक्ति अपनेको बड़ा धनवान् समझकर अभिमानवश सबको टेढ़ी नजरसे देखता है और सभीपर सन्देह रखता है, धनके व्यय और नाशकी चिन्तासे जिसके हृदय और मुँह सूखे रहते हैं, अतः तनिक भी चैन न मानकर जो यक्षके समान धनकी रक्षामें ही लगा रहता है तथा पैसा पैदा करने, बढ़ाने और बचानेमें जो तरह-तरहके पाप करता रहता है, वह नराधम मरनेपर सूचीमुख नरकमें गिरता है। वहाँ उस अर्थपिशाच पापात्माके सारे अंगोंको यमराजके दूत दर्जियोंके समान सूई-धागेसे सीते हैं॥ ३६॥

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतशः सहस्रशस्तेषु सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निविशन्ति॥ ३७॥

राजन्! यमलोकमें इसी प्रकारके सैंकड़ों-हजारों नरक हैं। उनमें जिनका यहाँ उल्लेख हुआ है और जिनके विषयमें कुछ नहीं कहा गया, उन सभीमें सब अधर्मपरायण जीव अपने कर्मोंके अनुसार बारी-बारीसे जाते हैं। इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष स्वर्गादिमें जाते हैं। इस प्रकार नरक और स्वर्गके भोगसे जब इनके अधिकांश पाप और पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब बाकी बचे हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंको लेकर ये फिर इसी लोकमें जन्म लेनेके लिये लौट आते हैं॥ ३७॥

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः। एतावानेवाण्डकोशो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उपगीयते यत्तद्भगवतो नारायणस्य

इन धर्म और अधर्म दोनोंसे विलक्षण जो निवृत्तिमार्ग है, उसका तो पहले (द्वितीय स्कन्धमें) ही वर्णन हो चुका है। पुराणोंमें जिसका चौदह भुवनके रूपमें वर्णन किया गया है, वह ब्रह्माण्डकोश इतना ही है। यह साक्षात् परम पुरुष श्रीनारायणका अपनी मायाके गुणोंसे युक्त अत्यन्त स्थूल स्वरूप है। इसका

साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणमयमनुवर्णितमादृतः पठति शृणोति श्रावयति स उपगेयं भगवतः परमात्मनोऽग्राह्यमपि श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद ॥ ३८ ॥

श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः ।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ॥ ३९

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्र-
पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥ ४०

वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया। परमात्मा भगवान्‌का उपनिषदोंमें वर्णित निर्गुणस्वरूप यद्यपि मन-बुद्धिकी पहुँचके बाहर है तो भी जो पुरुष इस स्थूलरूपका वर्णन आदरपूर्वक पढ़ता, सुनता या सुनाता है, उसकी बुद्धि श्रद्धा और भक्तिके कारण शुद्ध हो जाती है और वह उस सूक्ष्मरूपका भी अनुभव कर सकता है॥ ३८॥

यतिको चाहिये कि भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके रूपोंका श्रवण करके पहले स्थूलरूपमें चित्तको स्थिर करे, फिर धीरे-धीरे वहाँसे हटाकर उसे सूक्ष्ममें लगा दे॥ ३९॥ परीक्षित्! मैंने तुमसे पृथ्वी, उसके अन्तर्गत द्वीप, वर्ष, नदी, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण और लोकोंकी स्थितिका वर्णन किया। यही भगवान्‌का अति अद्‌भुत स्थूलरूप है, जो समस्त जीवसमुदायका आश्रय है॥ ४०॥

इति श्रीमद्‌भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे नरकानुवर्णनं नाम षड्‌विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

॥ इति पञ्चमः स्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

षष्ठः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

अजामिलोपाख्यानका प्रारम्भ

राजोवाच

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा।
क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः॥ १

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! आप पहले (द्वितीय स्कन्धमें) निवृत्तिमार्गका वर्णन कर चुके हैं तथा यह बतला चुके हैं कि उसके द्वारा अर्चिरादि मार्गसे जीव क्रमशः ब्रह्मलोकमें पहुँचता है और फिर ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाता है॥ १॥

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने।
योऽसावलीनप्रकृतेर्गुणसर्गः पुनः पुनः॥ २

मुनिवर! इसके सिवा आपने उस प्रवृत्तिमार्गका भी (तृतीय स्कन्धमें) भलीभाँति वर्णन किया है, जिससे त्रिगुणमय स्वर्ग आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है और प्रकृतिका सम्बन्ध न छूटनेके कारण जीवोंको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें आना पड़ता है॥ २॥

अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः।
मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः॥ ३

आपने यह भी बतलाया कि अधर्म करनेसे अनेक नरकोंकी प्राप्ति होती है और (पाँचवें स्कन्धमें) उनका विस्तारसे वर्णन भी किया। (चौथे स्कन्धमें) आपने उस प्रथम मन्वन्तरका वर्णन किया, जिसके अधिपति स्वायम्भुव मनु थे॥ ३॥

प्रियव्रतोत्तानपदोर्वंशस्तच्चरितानि च।
द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन्॥ ४

साथ ही (चौथे और पाँचवें स्कन्धमें) प्रियव्रत और उत्तानपादके वंशों तथा चरित्रोंका एवं द्वीप, वर्ष, समुद्र, पर्वत, नदी, उद्यान और विभिन्न द्वीपोंके वृक्षोंका भी निरूपण किया॥ ४॥

धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः।
ज्योतिषां विवराणां च यथेदमसृजद्विभुः॥ ५

भूमण्डलकी स्थिति, उसके द्वीप-वर्षादि विभाग, उनके लक्षण तथा परिमाण, नक्षत्रोंकी स्थिति, अतल-वितल आदि भू-विवर (सात-पाताल) और भगवान्‌ने इन सबकी जिस प्रकार सृष्टि की—उसका वर्णन भी सुनाया॥ ५॥

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः।
नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ६

महाभाग! अब मैं वह उपाय जानना चाहता हूँ, जिसके अनुष्ठानसे मनुष्योंको अनेकानेक भयंकर यातनाओंसे पूर्ण नरकोंमें न जाना पड़े। आप कृपा करके उसका उपदेश कीजिये॥ ६॥

श्रीशुक उवाच

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः॥ ७

श्रीशुकदेवजीने कहा—मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे पाप करता है। यदि वह उन पापोंका इसी जन्ममें प्रायश्चित्त न कर ले, तो मरनेके बाद उसे अवश्य ही उन भयंकर यातनापूर्ण नरकोंमें जाना पड़ता है, जिनका वर्णन मैंने तुम्हें (पाँचवें स्कन्धके अन्तमें) सुनाया है॥ ७॥

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यताऽऽत्मना।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित्॥ ८

इसलिये बड़ी सावधानी और सजगताके साथ रोग एवं मृत्युके पहले ही शीघ्र-से-शीघ्र पापोंकी गुरुता और लघुतापर विचार करके उनका प्रायश्चित्त कर डालना चाहिये, जैसे मर्मज्ञ चिकित्सक रोगोंका कारण और उनकी गुरुता-लघुता जानकर झटपट उनकी चिकित्सा कर डालता है॥ ८॥

राजोवाच

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम्।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम्॥ ९

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मनुष्य राजदण्ड, समाजदण्ड आदि लौकिक और शास्त्रोक्त नरकगमन आदि पारलौकिक कष्टोंसे यह जानकर भी कि पाप उसका शत्रु है, पापवासनाओंसे विवश होकर बार-बार वैसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है। ऐसी अवस्थामें उसके पापोंका प्रायश्चित्त कैसे सम्भव है?॥ ९॥

क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति[१] तत्पुनः।
प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत्॥ १०

मनुष्य कभी तो प्रायश्चित्त आदिके द्वारा पापोंसे छुटकारा पा लेता है, कभी फिर उन्हें ही करने लगता है। ऐसी स्थितिमें मैं समझता हूँ कि जैसे स्नान करनेके बाद धूल डाल लेनेके कारण हाथीका स्नान व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही मनुष्यका प्रायश्चित्त करना भी व्यर्थ ही है॥ १०॥

श्रीशुक उवाच

कर्मणा कर्मनिर्हारो[२] न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं[३] विमर्शनम्॥ ११

श्रीशुकदेवजीने कहा—वस्तुतः कर्मके द्वारा ही कर्मका निर्बीज नाश नहीं होता; क्योंकि कर्मका अधिकारी अज्ञानी है। अज्ञान रहते पापवासनाएँ सर्वथा नहीं मिट सकतीं। इसलिये सच्चा प्रायश्चित्त तो तत्त्वज्ञान ही है॥ ११॥

१. प्रा० पा०—क्व वा चरति। २. प्रा० पा०—कर्मनिर्वेगो न चात्यन्तिक। ३. प्रा० पा०—कारत्वा०।

नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि।
एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते॥ १२

तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च॥ १३

देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः।
क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः॥ १४

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥ १५

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया॥ १६

सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः॥ १७

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥ १८

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥ १९

अथ चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे॥ २०

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः॥ २१

जो पुरुष केवल सुपथ्यका ही सेवन करता है, उसे रोग अपने वशमें नहीं कर सकते। वैसे ही परीक्षित्! जो पुरुष नियमोंका पालन करता है, वह धीरे-धीरे पापवासनाओंसे मुक्त हो कल्याणप्रद तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है॥ १२॥

जैसे बाँसोंके झुरमुटमें लगी आग बाँसोंको जला डालती है—वैसे ही धर्मज्ञ और श्रद्धावान् धीर पुरुष तपस्या, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियदमन, मनकी स्थिरता, दान, सत्य, बाहर-भीतरकी पवित्रता तथा यम एवं नियम—इन नौ साधनोंसे मन, वाणी और शरीरद्वारा किये गये बड़े-से-बड़े पापोंको भी नष्ट कर देते हैं॥ १३-१४॥ भगवान्‌की शरणमें रहनेवाले भक्तजन, जो बिरले ही होते हैं, केवल भक्तिके द्वारा अपने सारे पापोंको उसी प्रकार भस्म कर देते हैं, जैसे सूर्य कुहरेको॥ १५॥

परीक्षित्! पापी पुरुषकी जैसी शुद्धि भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेसे और उनके भक्तोंका सेवन करनेसे होती है, वैसी तपस्या आदिके द्वारा नहीं होती॥ १६॥ जगत्‌में यह भक्तिका पंथ ही सर्वश्रेष्ठ, भयरहित और कल्याणस्वरूप है; क्योंकि इस मार्गपर भगवत्परायण, सुशील साधुजन चलते हैं॥ १७॥ परीक्षित्! जैसे शराबसे भरे घड़ेको नदियाँ पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसे ही बड़े-बड़े प्रायश्चित्त बार-बार किये जानेपर भी भगवद्विमुख मनुष्यको पवित्र करनेमें असमर्थ हैं॥ १८॥ जिन्होंने अपने भगवद्गुणानुरागी मन-मधुकरको भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्द-मकरन्दका एक बार पान करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित्त कर लिये। वे स्वप्नमें भी यमराज और उनके पाशधारी दूतोंको नहीं देखते। फिर नरककी तो बात ही क्या है॥ १९॥

परीक्षित्! इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। उसमें भगवान् विष्णु और यमराजके दूतोंका संवाद है। तुम मुझसे उसे सुनो॥ २०॥ कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में एक दासीपति ब्राह्मण रहता था। उसका नाम था अजामिल। दासीके संसर्गसे दूषित होनेके कारण उसका सदाचार नष्ट हो चुका था॥ २१॥

बन्द्यक्षकैतवैश्चोर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः।
बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः॥ २२

एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान्।
कालोऽत्यगान्महान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः॥ २३

तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम्॥ २४

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम्॥ २५

भुञ्जानः प्रपिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रितः।
भोजयन् पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम्॥ २६

स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते।
मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये॥ २७

स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान्।
वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान्॥ २८

दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम्।
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः॥ २९

निशम्य म्रियमाणस्य ब्रुवतो हरिकीर्तनम्।
भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसाऽपतन्॥ ३०

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम्।
यमप्रेष्यान् विष्णुदूता वारयामासुरोजसा॥ ३१

वह पतित कभी बटोहियोंको बाँधकर उन्हें लूट लेता, कभी लोगोंको जूएके छलसे हरा देता, किसीका धन धोखा-धड़ीसे ले लेता तो किसीका चुरा लेता। इस प्रकार अत्यन्त निन्दनीय वृत्तिका आश्रय लेकर वह अपने कुटुम्बका पेट भरता था और दूसरे प्राणियोंको बहुत ही सताता था॥ २२॥ परीक्षित्! इसी प्रकार वह वहाँ रहकर दासीके बच्चोंका लालन-पालन करता रहा। इस प्रकार उसकी आयुका बहुत बड़ा भाग—अट्ठासी वर्ष बीत गया॥ २३॥ बूढ़े अजामिलके दस पुत्र थे। उनमें सबसे छोटेका नाम था 'नारायण'। माँ-बाप उससे बहुत प्यार करते थे॥ २४॥ वृद्ध अजामिलने अत्यन्त मोहके कारण अपना सम्पूर्ण हृदय अपने बच्चे नारायणको सौंप दिया था। वह अपने बच्चेकी तोतली बोली सुन-सुनकर तथा बालसुलभ खेल देख-देखकर फूला नहीं समाता था॥ २५॥

अजामिल बालकके स्नेह-बन्धनमें बँध गया था। जब वह खाता तब उसे भी खिलाता, जब पानी पीता तो उसे भी पिलाता। इस प्रकार वह अतिशय मूढ़ हो गया था, उसे इस बातका पता ही न चला कि मृत्यु मेरे सिरपर आ पहुँची है॥ २६॥

वह मूर्ख इसी प्रकार अपना जीवन बिता रहा था कि मृत्युका समय आ पहुँचा। अब वह अपने पुत्र बालक नारायणके सम्बन्धमें ही सोचने-विचारने लगा॥ २७॥ इतनेमें ही अजामिलने देखा कि उसे ले जानेके लिये अत्यन्त भयावने तीन यमदूत आये हैं। उनके हाथोंमें फाँसी है, मुँह टेढ़े-टेढ़े हैं और शरीरके रोएँ खड़े हुए हैं॥ २८॥ उस समय बालक नारायण वहाँसे कुछ दूरीपर खेल रहा था। यमदूतोंको देखकर अजामिल अत्यन्त व्याकुल हो गया और उसने बहुत ऊँचे स्वरसे पुकारा—'नारायण!'॥ २९॥ भगवान्के पार्षदोंने देखा कि यह मरते समय हमारे स्वामी भगवान् नारायणका नाम ले रहा है, उनके नामका कीर्तन कर रहा है; अतः वे बड़े वेगसे झटपट वहाँ आ पहुँचे॥ ३०॥ उस समय यमराजके दूत दासीपति अजामिलके शरीरमेंसे उसके सूक्ष्मशरीरको खींच रहे थे। विष्णुदूतोंने उन्हें बलपूर्वक रोक दिया॥ ३१॥

ऊचुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः।
के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम्॥ ३२

कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ।
किं देवा उपदेवा वा यूयं किं सिद्धसत्तमाः॥ ३३

सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः।
किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः॥ ३४

सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः।
धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः॥ ३५

दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन रोचिषा।
किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान्नो निषेधथ॥ ३६

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ते यमदूतैस्तैर्वासुदेवोक्तकारिणः।
तान् प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्ह्रादया गिरा॥ ३७

विष्णुदूता ऊचुः

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः।
ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम्॥ ३८

कथंस्विद् ध्रियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम्।
दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहोस्वित्कतिचिन्नृणाम्॥ ३९

यमदूता ऊचुः

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥ ४०

येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः।
गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम्॥ ४१

उनके रोकनेपर यमराजके दूतोंने उनसे कहा—'अरे, धर्मराजकी आज्ञाका निषेध करनेवाले तुमलोग हो कौन?॥ ३२॥ तुम किसके दूत हो, कहाँसे आये हो और इसे ले जानेसे हमें क्यों रोक रहे हो? क्या तुमलोग कोई देवता, उपदेवता अथवा सिद्धश्रेष्ठ हो?॥ ३३॥ हम देखते हैं कि तुम सब लोगोंके नेत्र कमलदलके समान कोमलतासे भरे हैं, तुम पीले-पीले रेशमी वस्त्र पहने हो, तुम्हारे सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल और गलोंमें कमलके हार लहरा रहे हैं॥ ३४॥ सबकी नयी अवस्था है, सुन्दर-सुन्दर चार-चार भुजाएँ हैं, सभीके करकमलोंमें धनुष, तरकश, तलवार, गदा, शंख, चक्र, कमल आदि सुशोभित हैं॥ ३५॥ तुमलोगोंकी अंगकान्तिसे दिशाओंका अन्धकार और प्राकृत प्रकाश भी दूर हो रहा है। हम धर्मराजके सेवक हैं। हमें तुमलोग क्यों रोक रहे हो?'॥ ३६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब यमदूतोंने इस प्रकार कहा, तब भगवान् नारायणके आज्ञाकारी पार्षदोंने हँसकर मेघके समान गम्भीर वाणीसे उनके प्रति यों कहा—॥ ३७॥

भगवान्‌के पार्षदोंने कहा—यमदूतो! यदि तुमलोग सचमुच धर्मराजके आज्ञाकारी हो तो हमें धर्मका लक्षण और धर्मका तत्त्व सुनाओ॥ ३८॥ दण्ड किस प्रकार दिया जाता है? दण्डका पात्र कौन है? मनुष्योंमें सभी पापाचारी दण्डनीय हैं अथवा उनमेंसे कुछ ही?॥ ३९॥

यमदूतोंने कहा—वेदोंने जिन कर्मोंका विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एवं स्वयंप्रकाश ज्ञान हैं—ऐसा हमने सुना है॥ ४०॥ जगत्‌के रजोमय, सत्त्वमय और तमोमय—सभी पदार्थ, सभी प्राणी अपने परम आश्रय भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं। वेद ही उनके गुण, नाम, कर्म और रूप आदिके अनुसार उनका यथोचित विभाजन करते हैं॥ ४१॥

सूर्योऽग्निः खं मरुद्गावः सोमः सन्ध्याहनी दिशः।
कं[1] कुः कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः॥ ४२

एतैरधर्मो[2] विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते।
सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः॥ ४३

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान् न ह्यकर्मकृत्॥ ४४

येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः[3]।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै॥ ४५

यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते।
भूतेषु गुणवैचित्र्यात्तथान्यत्रानुमीयते॥ ४६

वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा।
एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम्॥ ४७

मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति।
अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः॥ ४८

यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि।
न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा॥ ४९

जीव शरीर अथवा मनोवृत्तियोंसे जितने कर्म करता है, उसके साक्षी रहते हैं—सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा, सन्ध्या, रात, दिन, दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल और धर्म॥ ४२॥ इनके द्वारा अधर्मका पता चल जाता है और तब दण्डके पात्रका निर्णय होता है। पापकर्म करनेवाले सभी मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार दण्डनीय होते हैं॥ ४३॥ निष्पाप पुरुषो! जो प्राणी कर्म करते हैं, उनका गुणोंसे सम्बन्ध रहता ही है। इसीलिये सभीसे कुछ पाप और कुछ पुण्य होते ही हैं और देहवान् होकर कोई भी पुरुष कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता॥ ४४॥ इस लोकमें जो मुनष्य जिस प्रकारका और जितना अधर्म या धर्म करता है, वह परलोकमें उसका उतना और वैसा ही फल भोगता है॥ ४५॥

देवशिरोमणियो! सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके भेदके कारण इस लोकमें भी तीन प्रकारके प्राणी दीख पड़ते हैं—पुण्यात्मा, पापात्मा और पुण्य-पाप दोनोंसे युक्त अथवा सुखी, दुःखी और सुख-दुःख दोनोंसे युक्त; वैसे ही परलोकमें भी उनकी त्रिविधताका अनुमान किया जाता है॥ ४६॥ वर्तमान समय ही भूत और भविष्यका अनुमान करा देता है। वैसे ही वर्तमान जन्मके पाप-पुण्य भी भूत और भविष्य-जन्मोंके पाप-पुण्यका अनुमान करा देते हैं॥ ४७॥ हमारे स्वामी अजन्मा भगवान् सर्वज्ञ यमराज सबके अन्तःकरणोंमें ही विराजमान हैं। इसलिये वे अपने मनसे ही सबके पूर्वरूपोंको देख लेते हैं। वे साथ ही उनके भावी स्वरूपका भी विचार कर लेते हैं॥ ४८॥ जैसे सोया हुआ अज्ञानी पुरुष स्वप्नके समय प्रतीत हो रहे कल्पित शरीरको ही अपना वास्तविक शरीर समझता है, सोये हुए अथवा जागनेवाले शरीरको भूल जाता है, वैसे ही जीव भी अपने पूर्वजन्मोंकी याद भूल जाता है और वर्तमान शरीरके सिवा पहले और पिछले शरीरोंके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानता॥ ४९॥

१. प्रा० पा०—कालः स्वयं धर्म इति। २. प्रा० पा०—र्मोऽभिज्ञातः। ३. प्रा० पा०—समर्जितः।

पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान् पञ्च वेदाथ पञ्चभिः।
एकस्तु षोडशेन त्रीन् स्वयं सप्तदशोऽश्नुते॥ ५०

तदेतत् षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत्।
धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम्॥ ५१

देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन् कर्माणि कार्यते।
कोशकार इवात्मानं कर्मणाऽऽच्छाद्य मुह्यति॥ ५२

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात्॥ ५३

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।
यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा॥ ५४

एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः।
आसीत् स एव नचिरादीशसङ्गाद्विलीयते॥ ५५

अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः।
धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवान्मन्त्रविच्छुचिः॥ ५६

गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुर्निरहङ्कृतः।
सर्वभूतसुहृत्साधुर्मितवागनसूयकः ॥ ५७

सिद्धपुरुषो! जीव इस शरीरमें पाँच कर्मेन्द्रियोंसे लेना-देना, चलना-फिरना आदि काम करता है, पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे रूप-रस आदि पाँच विषयोंका अनुभव करता है और सोलहवें मनके साथ सत्रहवाँ वह स्वयं मिलकर अकेले ही मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—इन तीनोंके विषयोंको भोगता है॥ ५०॥ जीवका यह सोलह कला और सत्त्वादि तीन गुणोंवाला लिंगशरीर अनादि है। यही जीवको बार-बार हर्ष, शोक, भय और पीड़ा देनेवाले जन्म-मृत्युके चक्करमें डालता है॥ ५१॥ जो जीव अज्ञानवश काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्त नहीं कर लेता, उसे इच्छा न रहते हुए भी विभिन्न वासनाओंके अनुसार अनेकों कर्म करने पड़ते हैं। वैसी स्थितिमें वह रेशमके कीड़ेके समान अपनेको कर्मके जालमें जकड़ लेता है और इस प्रकार अपने हाथों मोहका शिकार बन जाता है ॥ ५२॥ कोई शरीरधारी जीव बिना कर्म किये कभी एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रत्येक प्राणीके स्वाभाविक गुण बलपूर्वक विवश करके उससे कर्म कराते हैं॥ ५३॥ जीव अपने पूर्वजन्मोंके पाप-पुण्यमय संस्कारोंके अनुसार स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्राप्त करता है। उसकी स्वाभाविक एवं प्रबल वासनाएँ कभी उसे माताके-जैसा (स्त्रीरूप) बना देती हैं, तो कभी पिताके-जैसा (पुरुषरूप)॥ ५४॥ प्रकृतिका संसर्ग होनेसे ही पुरुष अपनेको अपने वास्तविक स्वरूपके विपरीत लिंगशरीर मान बैठा है। यह विपर्यय भगवान्के भजनसे शीघ्र ही दूर हो जाता है॥ ५५॥

देवताओ! आप जानते ही हैं कि यह अजामिल बड़ा शास्त्रज्ञ था। शील, सदाचार और सद्गुणोंका तो यह खजाना ही था। व्रतधारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मन्त्रवेत्ता और पवित्र भी था॥ ५६॥ इसने गुरु, अग्नि, अतिथि और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा की थी। अहंकार तो इसमें था ही नहीं। यह समस्त प्राणियोंका हित चाहता, उपकार करता, आवश्यकताके अनुसार ही बोलता और किसीके गुणोंमें दोष नहीं ढूँढ़ता था॥ ५७॥

एकदासौ वनं यातः पितृसन्देशकृद् द्विजः।
आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान्॥ ५८

दद‍र्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया।
पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया॥ ५९

मत्तया विश्लथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम्।
क्रीडन्तमनु गायन्तं हसन्तमनयान्तिके॥ ६०

दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम्।
जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः॥ ६१

स्तम्भयन्नात्मनाऽऽत्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम्।
न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम्॥ ६२

तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः।
तामेव मनसा ध्यायन् स्वधर्माद्विरराम ह॥ ६३

तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता।
ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा॥ ६४

विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम्।
विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः॥ ६५

यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम्।
बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम्॥ ६६

एक दिन यह ब्राह्मण अपने पिताके आदेशानुसार वनमें गया और वहाँसे फल-फूल, समिधा तथा कुश लेकर घरके लिये लौटा॥ ५८॥ लौटते समय इसने देखा कि एक भ्रष्ट शूद्र, जो बहुत कामी और निर्लज्ज है, शराब पीकर किसी वेश्याके साथ विहार कर रहा है। वेश्या भी शराब पीकर मतवाली हो रही है। नशेके कारण उसकी आँखें नाच रही हैं, वह अर्द्धनग्न अवस्थामें हो रही है। वह शूद्र उस वेश्याके साथ कभी गाता, कभी हँसता और कभी तरह-तरहकी चेष्टाएँ करके उसे प्रसन्न करता है॥ ५९-६०॥ निष्पाप पुरुषो! शूद्रकी भुजाओंमें अंगरागादि कामोद्दीपक वस्तुएँ लगी हुई थीं और वह उनसे उस कुलटाका आलिंगन कर रहा था। अजामिल उन्हें इस अवस्थामें देखकर सहसा मोहित और कामके वश हो गया॥ ६१ ॥ यद्यपि अजामिलने अपने धैर्य और ज्ञानके अनुसार अपने कामवेगसे विचलित मनको रोकनेकी बहुत-बहुत चेष्टाएँ कीं, परन्तु पूरी शक्ति लगा देनेपर भी वह अपने मनको रोकनेमें असमर्थ रहा॥ ६२॥ उस वेश्याको निमित्त बनाकर काम-पिशाचने अजामिलके मनको ग्रस लिया। इसकी सदाचार और शास्त्रसम्बन्धी चेतना नष्ट हो गयी। अब यह मन-ही-मन उसी वेश्याका चिन्तन करने लगा और अपने धर्मसे विमुख हो गया॥ ६३ ॥ अजामिल सुन्दर-सुन्दर वस्त्र-आभूषण आदि वस्तुएँ, जिनसे वह प्रसन्न होती, ले आता। यहाँतक कि इसने अपने पिताकी सारी सम्पत्ति देकर भी उसी कुलटाको रिझाया। यह ब्राह्मण उसी प्रकारकी चेष्टा करता, जिससे वह वेश्या प्रसन्न हो॥ ६४॥ उस स्वच्छन्दचारिणी कुलटाकी तिरछी चितवनने इसके मनको ऐसा लुभा लिया कि इसने अपनी कुलीन नवयुवती और विवाहिता पत्नीतकका परित्याग कर दिया। इसके पापकी भी भला कोई सीमा है॥ ६५॥

यह कुबुद्धि न्यायसे, अन्यायसे जैसे भी जहाँ कहीं भी धन मिलता, वहींसे उठा लाता। उस वेश्याके बड़े कुटुम्बका पालन करनेमें ही यह व्यस्त रहता॥ ६६॥

यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यार्यगर्हितः।
अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात्॥ ६७

इस पापीने शास्त्राज्ञाका उल्लंघन करके स्वच्छन्द आचरण किया है। यह सत्पुरुषोंके द्वारा निन्दित है। इसने बहुत दिनोंतक वेश्याके मल-समान अपवित्र अन्नसे अपना जीवन व्यतीत किया है, इसका सारा जीवन ही पापमय है॥ ६७॥ इसने अबतक अपने पापोंका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं किया है। इसलिये अब हम इस पापीको दण्डपाणि भगवान् यमराजके पास ले जायँगे। वहाँ यह अपने पापोंका दण्ड भोगकर शुद्ध हो जायगा॥ ६८॥

तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम्।
नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुद्ध्यति॥ ६८

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धेऽजामिलोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

विष्णुदूतोंद्वारा भागवतधर्म-निरूपण और अजामिलका परमधामगमन

श्रीशुक उवाच

एवं ते भगवद्दूता यमदूताभिभाषितम्।
उपधार्याथ तान् राजन् प्रत्याहुर्नयकोविदाः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌के नीतिनिपुण एवं धर्मका मर्म जाननेवाले पार्षदोंने यमदूतोंका यह अभिभाषण सुनकर उनसे इस प्रकार कहा॥ १॥

विष्णुदूता ऊचुः

अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम्।
यत्रादण्ड्येष्वपापेषु दण्डो यैर्ध्रियते वृथा॥ २
प्रजानां पितरो ये च शास्तारः साधवः समाः।
यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजाः॥ ३

भगवान्‌के पार्षदोंने कहा—यमदूतो! यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि धर्मज्ञोंकी सभामें अधर्म प्रवेश कर रहा है, क्योंकि वहाँ निरपराध और अदण्डनीय व्यक्तियोंको व्यर्थ ही दण्ड दिया जाता है॥ २॥ जो प्रजाके रक्षक हैं, शासक हैं, समदर्शी और परोपकारी हैं—यदि वे ही प्रजाके प्रति विषमताका व्यवहार करने लगें तो फिर प्रजा किसकी शरण लेगी?॥ ३॥

यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ ४
यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः।
स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः॥ ५
स कथं न्यर्पितात्मानं कृतमैत्रमचेतनम्।
विश्रम्भणीयो भूतानां सघृणो द्रोग्धुमर्हति॥ ६

सत्पुरुष जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वैसा ही करते हैं। वे अपने आचरणके द्वारा जिस कर्मको धर्मानुकूल प्रमाणित कर देते हैं, लोग उसीका अनुकरण करने लगते हैं॥ ४॥ साधारण लोग पशुओंके समान धर्म और अधर्मका स्वरूप न जानकर किसी सत्पुरुषपर विश्वास कर लेते हैं, उसकी गोदमें सिर रखकर निर्भय और निश्चिन्त सो जाते हैं॥ ५॥ वही दयालु सत्पुरुष, जो प्राणियोंका अत्यन्त विश्वासपात्र है और जिसे मित्रभावसे अपना हितैषी समझकर उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया है, उन अज्ञानी जीवोंके साथ कैसे विश्वासघात कर सकता है?॥ ६॥

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥ ७

यमदूतो! इसने कोटि-कोटि जन्मोंकी पाप-राशिका पूरा-पूरा प्रायश्चित्त कर लिया है। क्योंकि इसने विवश होकर ही सही, भगवान्‌के परम कल्याणमय (मोक्षप्रद) नामका उच्चारण तो किया है॥ ७॥

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥ ८

जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरोंका उच्चारण किया, उसी समय केवल उतनेसे ही इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया॥ ८॥

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥ ९

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥ १०

चोर, शराबी, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी, ऐसे लोगोंका संसर्गी; स्त्री, राजा, पिता और गायको मारनेवाला, चाहे जैसा और चाहे जितना बड़ा पापी हो, सभीके लिये यही—इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण* किया जाय; क्योंकि भगवन्नामोंके उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌के गुण, लीला और स्वरूपमें रम जाती है और स्वयं भगवान्‌की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है॥ ९-१०॥

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम्॥ ११

बड़े-बड़े ब्रह्मवादी ऋषियोंने पापोंके बहुत-से प्रायश्चित्त—कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत बतलाये हैं; परन्तु उन प्रायश्चित्तोंसे पापीकी वैसी जड़से शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवान्‌के नामोंका, उनसे गुम्फित पदोंका† उच्चारण करनेसे होती है। क्योंकि वे नाम पवित्रकीर्ति भगवान्‌के गुणोंका ज्ञान करानेवाले हैं॥ ११॥

---

* इस प्रसंगमें 'नाम-व्याहरण' का अर्थ नामोच्चारणमात्र ही है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्।
ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति॥

'मेरे दूर होनेके कारण द्रौपदीने जोर-जोरसे 'गोविन्द, गोविन्द' इस प्रकार करुण क्रन्दन करके मुझे पुकारा। वह ऋण मेरे ऊपर बढ़ गया है और मेरे हृदयसे उसका भार क्षणभरके लिये भी नहीं हटता।

† 'नामपदैः' कहनेका यह अभिप्राय है कि भगवान्‌का केवल नाम 'राम-राम', 'कृष्ण-कृष्ण', 'हरि-हरि', 'नारायण नारायण' अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये—पापोंकी निवृत्तिके लिये पर्याप्त है। 'नमः नमामि' इत्यादि क्रिया जोड़नेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। नामके साथ बहुवचनका प्रयोग—भगवान्‌के नाम बहुत-से हैं, किसीका भी संकीर्तन कर ले, इस अभिप्रायसे है। एक व्यक्ति सब नामोंका उच्चारण करे, इस अभिप्रायसे नहीं। क्योंकि भगवान्‌के नाम अनन्त हैं; सब नामोंका उच्चारण सम्भव ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के एक नामका उच्चारण करनेमात्रसे सब पापोंकी निवृत्ति हो जाती है। पूर्ण विश्वास न होने तथा नामोच्चारणके पश्चात् भी पाप करनेके कारण ही उसका अनुभव नहीं होता।

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः॥ १२

यदि प्रायश्चित्त करनेके बाद भी मन फिरसे कुमार्गमें—पापकी ओर दौड़े, तो वह चरम सीमाका—पूरा-पूरा प्रायश्चित्त नहीं है। इसलिये जो लोग ऐसा प्रायश्चित्त करना चाहें कि जिससे पापकर्मों और वासनाओंकी जड़ ही उखड़ जाय, उन्हें भगवान्के गुणोंका ही गान करना चाहिये; क्योंकि उससे चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है॥ १२॥

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम्।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत्॥ १३

इसलिये यमदूतो! तुमलोग अजामिलको मत ले जाओ। इसने सारे पापोंका प्रायश्चित्त कर लिया है, क्योंकि इसने मरते समय* भगवान्के नामका उच्चारण किया है॥ १३॥

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ १४

पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥ १५

गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः॥ १६

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥ १७

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥ १८

बड़े-बड़े महात्मा पुरुष यह बात जानते हैं कि संकेतमें (किसी दूसरे अभिप्रायसे), परिहासमें, तान अलापनेमें अथवा किसीकी अवहेलना करनेमें भी यदि कोई भगवान्के नामोंका उच्चारण करता है तो, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ १४॥ जो मनुष्य गिरते समय, पैर फिसलते समय, अंग-भंग होते समय और साँपके डँसते, आगमें जलते तथा चोट लगते समय भी विवशतासे 'हरि-हरि' कहकर भगवान्के नामका उच्चारण कर लेता है, वह यमयातनाका पात्र नहीं रह जाता॥ १५॥ महर्षियोंने जान-बूझकर बड़े पापोंके लिये बड़े और छोटे पापोंके लिये छोटे प्रायश्चित्त बतलाये हैं॥ १६॥ इसमें सन्देह नहीं कि उन तपस्या, दान, जप आदि प्रायश्चित्तोंके द्वारा वे पाप नष्ट हो जाते हैं। परन्तु उन पापोंसे मलिन हुआ उसका हृदय शुद्ध नहीं होता। भगवान्के चरणोंकी सेवासे वह भी शुद्ध हो जाता है॥ १७॥ यमदूतो! जैसे जान या अनजानमें ईंधनसे अग्निका स्पर्श हो जाय तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही जान-बूझकर या अनजानमें भगवान्के नामोंका संकीर्तन करनेसे मनुष्यके सारे पाप भस्म हो जाते हैं॥ १८॥

---

* पापकी निवृत्तिके लिये भगवन्नामका एक अंश ही पर्याप्त है, जैसे 'राम' का 'रा'। इसने तो सम्पूर्ण नामका उच्चारण कर लिया। मरते समयका अर्थ ठीक मरनेका क्षण ही नहीं है, क्योंकि मरनेके क्षण जैसे कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि करनेके लिये विधि नहीं हो सकती, वैसे नामोच्चारण भी नहीं है। इसलिये 'म्रियमाण' शब्दका यह अभिप्राय है कि अब आगे इससे कोई पाप होनेकी सम्भावना नहीं है।

यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥ १९

जैसे कोई परम शक्तिशाली अमृतको उसका गुण न जानकर अनजानमें पी ले तो भी वह अवश्य ही पीनेवालेको अमर बना देता है, वैसे ही अनजानमें उच्चारण करनेपर भी भगवान्‌का नाम* अपना फल देकर ही रहता है (वस्तुशक्ति श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं करती)॥ १९॥

* वस्तुकी स्वाभाविक शक्ति इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि यह मुझपर श्रद्धा रखता है कि नहीं, जैसे अग्नि या अमृत।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

'दुष्टचित्त मनुष्यके द्वारा स्मरण किये जानेपर भी भगवान् श्रीहरि पापोंको हर लेते हैं। अनजानमें या अनिच्छासे स्पर्श करनेपर भी अग्नि जलाती ही है।'

भगवान्‌के नामका उच्चारण केवल पापको ही निवृत्त करता है, इसका और कोई फल नहीं है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है; क्योंकि शास्त्रमें कहा है—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

'जिसने हरि'—ये दो अक्षर एक बार भी उच्चारण कर लिये, उसने मोक्ष प्राप्त करनेके लिये परिकर बाँध लिया, फेंट कस ली।' इस वचनसे यह सिद्ध होता है कि भगवन्नाम मोक्षका भी साधन है। मोक्षके साथ-ही-साथ यह धर्म, अर्थ और कामका भी साधन है; क्योंकि ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें त्रिवर्ग-सिद्धिका भी नाम ही कारण बतलाया गया है—

न गङ्गा न गयासेतुर्न काशी न च पुष्करम्। जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः। अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्नरमेधैः सदक्षिणैः। यजितं तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
प्राणप्रयाणपाथेयं संसारव्याधिभेषजम्। दुःखक्लेशपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

'जिसकी जिह्वाके नोकपर 'हरि' ये दो अक्षर बसते हैं, उसे गंगा, गया, सेतुबन्ध, काशी और पुष्करकी कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् उनकी यात्रा, स्नान आदिका फल भगवन्नामसे ही मिल जाता है। जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका अध्ययन कर लिया। जिसने 'हरि' ये दो अक्षर उच्चारण किये, उसने दक्षिणाके सहित अश्वमेध आदि यज्ञोंके द्वारा यजन कर लिया। 'हरि' ये दो अक्षर मृत्युके पश्चात् परलोकके मार्गमें प्रयाण करनेवाले प्राणोंके लिये पाथेय (मार्गके लिये भोजनकी सामग्री) हैं, संसाररूप रोगके लिये सिद्ध औषध हैं और जीवनके दुःख और क्लेशोंके लिये परित्राण हैं।'

इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवन्नाम अर्थ, धर्म, काम—इन तीन वर्गोंका भी साधक है। यह बात 'हरि', 'नारायण' आदि कुछ विशेष नामोंके सम्बन्धमें ही नहीं है, प्रत्युत सभी नामोंके सम्बन्धमें है; क्योंकि स्थान-स्थानपर यह बात सामान्यरूपसे कही गयी है कि अनन्तके नाम, विष्णुके नाम, हरिके नाम इत्यादि। भगवान्‌के सभी नामोंमें एक ही शक्ति है।

नाम-संकीर्तन आदिमें वर्ण-आश्रम आदिका भी नियम नहीं है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः।
यत्र तत्रानुकुर्वन्ति विष्णोर्नामानुकीर्तनम्। सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम्॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदि जहाँ-तहाँ विष्णुभगवान्‌के नामका अनुकीर्तन करते रहते हैं, वे भी समस्त पापोंसे मुक्त होकर सनातन परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

नाम-संकीर्तनमें देश-काल आदिके नियम भी नहीं हैं—

यथा—

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः । परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते॥

× × × ×

न देशनियमो राजन्न कालनियमस्तथा । विद्यते नात्र संदेहो विष्णोर्नामानुकीर्तने॥
कालोऽस्ति यज्ञे दाने वा स्नाने कालोऽस्ति सज्जपे । विष्णुसंकीर्तने कालो नास्त्यत्र पृथिवीपते॥
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्वापि पिबन्भुञ्जञ्जपंस्तथा । कृष्ण कृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात्॥

× × × ×

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा । यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

'देश-कालका नियम नहीं है, शौच-अशौच आदिका निर्णय करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। केवल 'राम-राम' यह संकीर्तन करनेमात्रसे जीव मुक्त हो जाता है। × × × भगवान्‌के नामका संकीर्तन करनेमें न देशका नियम है और न तो कालका। इसमें कोई सन्देह नहीं। राजन्! यज्ञ, दान, तीर्थस्नान अथवा विधिपूर्वक जपके लिये शुद्ध कालकी अपेक्षा है, परन्तु भगवन्नामके इस संकीर्तनमें काल-शुद्धिकी कोई आवश्यकता नहीं है। चलते-फिरते, खड़े रहते—सोते, खाते-पीते और जप करते हुए भी 'कृष्ण-कृष्ण' ऐसा संकीर्तन करके मनुष्य पापके केंचुलसे छूट जाता है। × × अपवित्र हो या पवित्र—सभी अवस्थाओंमें (चाहे किसी भी अवस्थामें) जो कमलनयन भगवान्‌का स्मरण करता है, वह बाहर-भीतर पवित्र हो जाता है।'

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति सद्यस्तु महापातककोटयः॥
सर्वेषामपि यज्ञानां लक्षणानि व्रतानि च । तीर्थस्नानानि सर्वाणि तपांस्यनशनानि च॥
वेदपाठसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवः शतम् । कृष्णनामजपस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

'जिसकी जिह्वापर 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण' यह मंगलमय नाम नृत्य करता रहता है, उसकी कोटि-कोटि महापातकराशि तत्काल भस्म हो जाती है। सारे यज्ञ, लाखों व्रत, सर्वतीर्थ-स्नान, तप, अनेकों उपवास, हजारों वेद-पाठ, पृथ्वीकी सैकड़ों प्रदक्षिणा कृष्णनाम-जपके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकतीं।'

भगवन्नामके कीर्तनमें ही यह फल हो, सो बात नहीं। उनके श्रवण और स्मरणमें भी वही फल है। दशम स्कन्धके अन्तमें कहेंगे 'जिनके नामका स्मरण और उच्चारण अमंगलघ्न है।' शिवगीता और पद्मपुराणमें कहा है—

आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः । व्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति परमां गतिम्॥
प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम् । सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने॥

'भगवान् कहते हैं कि आश्चर्य, भय, शोक, क्षत (चोट लगने) आदिके अवसरपर जो मेरा नाम बोल उठता है, या किसी व्याजसे स्मरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है। मृत्यु या जीवन—चाहे जब कभी भगवान्‌का नाम स्मरण करनेवाले मनुष्योंकी पापराशि तत्काल नष्ट हो जाती है। उन चिदात्मा प्रभुको नमस्कार है।'

'इतिहासोत्तम' में कहा गया है—

श्रुत्वा नामानि तत्रस्थास्तेनोक्तानि हरेर्द्विज । नारका नरकान्मुक्ताः सद्य एव महामुने॥

'महामुनि ब्राह्मणदेव! भक्तराजके मुखसे नरकमें रहनेवाले प्राणियोंने श्रीहरिके नामका श्रवण किया और वे तत्काल नरकसे मुक्त हो गये।'

यज्ञ-यागादिरूप धर्म अपने अनुष्ठानके लिये जिस पवित्र देश, काल, पात्र, शक्ति, सामग्री, श्रद्धा, मन्त्र, दक्षिणा आदिकी अपेक्षा रखता है, इस कलियुगमें उसका सम्पन्न होना अत्यन्त कठिन है। भगवन्नाम-संकीर्तनके द्वारा उसका फल अनायास ही प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् शंकर पार्वतीके प्रति कहते हैं—

ईशोऽहं सर्वजगतां नाम्नां विष्णोर्हि जापकः । सत्यं सत्यं वदाम्येव हरेर्नान्या गतिर्नृणाम्॥

'सम्पूर्ण जगत्‌का स्वामी होनेपर भी मैं विष्णुभगवान्‌के नामका ही जप करता हूँ। मैं तुमसे सत्य-सत्य

श्रीशुक उवाच

त एवं सुविनिर्णीय धर्मं भागवतं नृप।
तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन्॥ २०
इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिके।
यमराज्ञे यथा सर्वमाचचक्षुररिंदम॥ २१
द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः।
ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान् दर्शनोत्सवः॥ २२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार भगवान्‌के पार्षदोंने भागवत-धर्मका पूरा-पूरा निर्णय सुना दिया और अजामिलको यमदूतोंके पाशसे छुड़ाकर मृत्युके मुखसे बचा लिया॥ २०॥ प्रिय परीक्षित्! पार्षदोंकी यह बात सुनकर यमदूत यमराजके पास गये और उन्हें यह सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया॥ २१॥ अजामिल यमदूतोंके फंदेसे छूटकर निर्भय और स्वस्थ हो गया। उसने भगवान्‌के पार्षदोंके दर्शनजनित आनन्दमें मग्न होकर उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया॥ २२॥

कहता हूँ, भगवान्‌को छोड़कर जीवोंके लिये अन्य कर्मकाण्ड आदि कोई भी गति नहीं है।' श्रीमद्‌भागवतमें ही यह बात आगे आनेवाली है कि सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें अर्चा-पूजासे जो फल मिलता है, कलियुगमें वह केवल भगवन्नामसे मिलता है। और भी है कि कलियुग दोषोंका निधि है, परन्तु इसमें एक महान् गुण यह है कि श्रीकृष्ण-संकीर्तनमात्रसे ही जीव बन्धनमुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार एक बारके नामोच्चारणकी भी अनन्त महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है। यहाँ मूल प्रसंगमें ही—'**एकदापि**' कहा गया है; '**सकृदुच्चरितम्**' का उल्लेख किया जा चुका है। बार-बार जो नामोच्चारणका विधान है, वह आगे और पाप न उत्पन्न हो जायँ, इसके लिये है। ऐसे भी वचन मिलते हैं कि भगवान्‌के नामका उच्चारण करनेसे भूत, वर्तमान और भविष्यके सारे ही पाप भस्म हो जाते है, यथा—

वर्तमानं च यत् पापं यद् भूतं यद् भविष्यति। तत्सर्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानलकीर्तनम्॥

फिर भी भगवत्प्रेमी जीवको पापोंके नाशपर अधिक दृष्टि नहीं रखनी चाहिये; उसे तो भक्ति-भावकी दृढ़ताके लिये, भगवान्‌के चरणोंमें अधिकाधिक प्रेम बढ़ता जाय, इस दृष्टिसे अहर्निश नित्य-निरन्तर भगवान्‌के मधुर-मधुर नाम जपते जाना चाहिये। जितनी अधिक निष्कामता होगी, उतनी-ही-उतनी नामकी पूर्णता प्रकट होती जायगी, अनुभवमें आती जायगी।

अनेक तार्किकोंके मनमें यह कल्पना उठती है कि नामकी महिमा वास्तविक नहीं है, अर्थवादमात्र है। उनके मनमें यह धारणा तो हो ही जाती है कि शराबकी एक बूँद भी पतित बनानेके लिये पर्याप्त है, परंतु यह विश्वास नहीं होता कि भगवान्‌का एक नाम भी परम कल्याणकारी है। शास्त्रोंमें भगवन्नाम-महिमाको अर्थवाद समझना पाप बताया है।

पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः। तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि॥

× × × × ×

मन्नामकीर्तनफलं विविधं निशम्य न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम्।
यो मानुषस्तमिह दुःखचये क्षिपामि संसारघोरविविधार्तिनिपीडिताङ्गम्॥

× × × × ×

अर्थवादं हरेर्नाम्नि संभावयति यो नरः। स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम्॥

'जो नराधम पुराणोंमें अर्थवादकी कल्पना करते हैं उनके द्वारा उपार्जित पुण्य वैसे ही हो जाते हैं।'

× × × × × ×

'जो मनुष्य मेरे नाम-कीर्तनके विविध फल सुनकर उसपर श्रद्धा नहीं करता और उसे अर्थवाद मानता है, उसको संसारके विविध घोर तापोंसे पीड़ित होना पड़ता है और उसे मैं अनेक दुःखोंमें डाल देता हूँ।' × × × × 'जो मनुष्य भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी सम्भावना करता है, वह मनुष्योंमें अत्यन्त पापी है और उसे नरकमें गिरना पड़ता है।'

तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः।
सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ॥ २३

अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य दूतानां यमकृष्णयोः।
धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैविद्यं च गुणाश्रयम्॥ २४

भक्तिमान् भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः।
अनुतापो महानासीत्स्मरतोऽशुभमात्मनः॥ २५

अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः।
येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायताऽऽत्मना॥ २६

धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम्।
हित्वा बालां सतीं योऽहं सुरापामसतीमगाम्॥ २७

वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ।
अहो मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत्॥ २८

सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे।
धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः॥ २९

किमिदं स्वप्न आहोस्वित् साक्षाद् दृष्टमिहाद्भुतम्।
क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन् पाशपाणयः॥ ३०

अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः।
व्यमोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः॥ ३१

अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने।
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति॥ ३२

निष्पाप परीक्षित्! भगवान्‌के पार्षदोंने देखा कि अजामिल कुछ कहना चाहता है, तब वे सहसा उसके सामने ही वहीं अन्तर्धान हो गये॥ २३॥ इस अवसरपर अजामिलने भगवान्‌के पार्षदोंसे विशुद्ध भागवत-धर्म और यमदूतोंके मुखसे वेदोक्त सगुण (प्रवृत्तिविषयक) धर्मका श्रवण किया था॥ २४॥ सर्वपापापहारी भगवान्‌की महिमा सुननेसे अजामिलके हृदयमें शीघ्र ही भक्तिका उदय हो गया। अब उसे अपने पापोंको याद करके बड़ा पश्चात्ताप होने लगा॥ २५॥ (अजामिल मन-ही-मन सोचने लगा—) 'अरे, मैं कैसा इन्द्रियोंका दास हूँ! मैंने एक दासीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करके अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया। यह बड़े दुःखकी बात है॥ २६॥ धिक्कार है! मुझे बार-बार धिक्कार है! मैं संतोंके द्वारा निन्दित हूँ, पापात्मा हूँ! मैंने अपने कुलमें कलंकका टीका लगा दिया! हाय-हाय, मैंने अपनी सती एवं अबोध पत्नीका परित्याग कर दिया और शराब पीनेवाली कुलटाका संसर्ग किया॥ २७॥ मैं कितना नीच हूँ! मेरे माँ-बाप बूढ़े और तपस्वी थे। वे सर्वथा असहाय थे, उनकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला और कोई नहीं था। मैंने उनका भी परित्याग कर दिया। ओह! मैं कितना कृतघ्न हूँ॥ २८॥ मैं अब अवश्य ही अत्यन्त भयावने नरकमें गिरूँगा, जिसमें गिरकर धर्मघाती पापात्मा कामी पुरुष अनेकों प्रकारकी यमयातना भोगते हैं॥ २९॥

'मैंने अभी जो अद्भुत दृश्य देखा, क्या यह स्वप्न है? अथवा जाग्रत् अवस्थाका ही प्रत्यक्ष अनुभव है? अभी-अभी जो हाथोंमें फंदा लेकर मुझे खींच रहे थे, वे कहाँ चले गये?॥ ३०॥ अभी-अभी वे मुझे अपने फंदोंमें फँसाकर पृथ्वीके नीचे ले जा रहे थे, परन्तु चार अत्यन्त सुन्दर सिद्धोंने आकर मुझे छुड़ा लिया! वे अब कहाँ चले गये॥ ३१॥ यद्यपि मैं इस जन्मका महापापी हूँ, फिर भी मैंने पूर्वजन्मोंमें अवश्य ही शुभकर्म किये होंगे; तभी तो मुझे इन श्रेष्ठ देवताओंके दर्शन हुए। उनकी स्मृतिसे मेरा हृदय अब भी आनन्दसे भर रहा है॥ ३२॥

अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः।
वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति॥ ३३

क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः।
क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम्॥ ३४

सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः।
यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये॥ ३५

विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम्।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥ ३६

मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्याऽऽत्ममायया।
विक्रीडितो ययैवाहं क्रीडामृग इवाधमः॥ ३७

ममाहमिति देहादौ हित्वामिथ्यार्थधीर्मतिम्।
धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः॥ ३८

श्रीशुक उवाच

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु।
गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः॥ ३९

स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमाश्रितः।
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि॥ ४०

ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि॥ ४१

मैं कुलटागामी और अत्यन्त अपवित्र हूँ। यदि पूर्वजन्ममें मैंने पुण्य न किये होते, तो मरनेके समय मेरी जीभ भगवान्‌के मनोमोहक नामका उच्चारण कैसे कर पाती?॥ ३३॥ कहाँ तो मैं महाकपटी, पापी, निर्लज्ज और ब्रह्मतेजको नष्ट करनेवाला तथा कहाँ भगवान्‌का वह परम मंगलमय 'नारायण' नाम! (सचमुच मैं तो कृतार्थ हो गया)॥ ३४॥ अब मैं अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें करके ऐसा प्रयत्न करूँगा कि फिर अपनेको घोर अन्धकारमय नरकमें न डालूँ॥ ३५॥ अज्ञानवश मैंने अपनेको शरीर समझकर उसके लिये बड़ी-बड़ी कामनाएँ कीं और उनकी पूर्तिके लिये अनेकों कर्म किये। उन्हींका फल है यह बन्धन! अब मैं इसे काटकर समस्त प्राणियोंका हित करूँगा, वासनाओंको शान्त कर दूँगा, सबसे मित्रताका व्यवहार करूँगा, दुःखियोंपर दया करूँगा और पूरे संयमके साथ रहूँगा॥ ३६॥ भगवान्‌की मायाने स्त्रीका रूप धारण करके मुझ अधमको फाँस लिया और क्रीडामृगकी भाँति मुझे बहुत नाच नचाया। अब मैं अपने-आपको उस मायासे मुक्त करूँगा॥ ३७॥

मैंने सत्य वस्तु परमात्माको पहचान लिया है; अतः अब मैं शरीर आदिमें 'मैं' तथा 'मेरे' का भाव छोड़कर भगवन्नामके कीर्तन आदिसे अपने मनको शुद्ध करूँगा और उसे भगवान्‌में लगाऊँगा॥ ३८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उन भगवान्‌के पार्षद महात्माओंका केवल थोड़ी ही देरके लिये सत्संग हुआ था। इतनेसे ही अजामिलके चित्तमें संसारके प्रति तीव्र वैराग्य हो गया। वे सबके सम्बन्ध और मोहको छोड़कर हरद्वार चले गये॥ ३९॥ उस देवस्थानमें जाकर वे भगवान्‌के मन्दिरमें आसनसे बैठ गये और उन्होंने योगमार्गका आश्रय लेकर अपनी सारी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर मनमें लीन कर लिया और मनको बुद्धिमें मिला दिया॥ ४०॥

इसके बाद आत्मचिन्तनके द्वारा उन्होंने बुद्धिको विषयोंसे पृथक् कर लिया तथा भगवान्‌के धाम अनुभवस्वरूप परब्रह्ममें जोड़ दिया॥ ४१॥

यर्ह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत्पुरुषान् पुरः।
उपलभ्योपलब्धान् प्राग्ववन्दे शिरसा द्विजः॥ ४२

हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम्॥ ४३

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः॥ ४४

एवं स विप्लावितसर्वधर्मा
दास्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा।
निपात्यमानो निरये हतव्रतः
सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन्॥ ४५

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात्।
न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो
रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा॥ ४६

य एवं परमं गुह्यमितिहासमघापहम्।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्तयेत्॥ ४७

न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करैः।
यद्यप्यमङ्गलो मर्त्यो विष्णुलोके महीयते॥ ४८

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥ ४९

इस प्रकार जब अजामिलकी बुद्धि त्रिगुणमयी प्रकृतिसे ऊपर उठकर भगवान्के स्वरूपमें स्थित हो गयी, तब उन्होंने देखा कि उनके सामने वे ही चारों पार्षद, जिन्हें उन्होंने पहले देखा था, खड़े हैं। अजामिलने सिर झुकाकर उन्हें नमस्कार किया॥ ४२॥ उनका दर्शन पानेके बाद उन्होंने उस तीर्थस्थानमें गंगाके तटपर अपना शरीर त्याग दिया और तत्काल भगवान्के पार्षदोंका स्वरूप प्राप्त कर लिया॥ ४३॥ अजामिल भगवान्के पार्षदोंके साथ स्वर्णमय विमानपर आरूढ़ होकर आकाशमार्गसे भगवान् लक्ष्मीपतिके निवासस्थान वैकुण्ठको चले गये॥ ४४॥

परीक्षित्! अजामिलने दासीका सहवास करके सारा धर्म-कर्म चौपट कर दिया था। वे अपने निन्दित कर्मके कारण पतित हो गये थे। नियमोंसे च्युत हो जानेके कारण उन्हें नरकमें गिराया जा रहा था। परन्तु भगवान्के एक नामका उच्चारण करनेमात्रसे वे उससे तत्काल मुक्त हो गये॥ ४५॥ जो लोग इस संसारबन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिये अपने चरणोंके स्पर्शसे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले भगवान्के नामसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है; क्योंकि नामका आश्रय लेनेसे मनुष्यका मन फिर कर्मके पचड़ोंमें नहीं पड़ता। भगवन्नामके अतिरिक्त और किसी प्रायश्चित्तका आश्रय लेनेपर मन रजोगुण और तमोगुणसे ग्रस्त ही रहता है तथा पापोंका पूरा-पूरा नाश भी नहीं होता॥ ४६॥

परीक्षित्! यह इतिहास अत्यन्त गोपनीय और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। जो पुरुष श्रद्धा और भक्तिके साथ इसका श्रवण-कीर्तन करता है, वह नरकमें कभी नहीं जाता। यमराजके दूत तो आँख उठाकर उसकी ओर देखतक नहीं सकते। उस पुरुषका जीवन चाहे पापमय ही क्यों न रहा हो, वैकुण्ठलोकमें उसकी पूजा होती है॥ ४७-४८॥ परीक्षित्! देखो—अजामिल-जैसे पापीने मृत्युके समय पुत्रके बहाने भगवान्के नामका उच्चारण किया! उसे भी वैकुण्ठकी प्राप्ति हो गयी! फिर जो लोग श्रद्धाके साथ भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धेऽजामिलोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

यम और यमदूतोंका संवाद

राजोवाच

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं
प्रत्याह किं तान् प्रति धर्मराजः।
एवं हताज्ञो विहतान्मुरारे-
र्नैदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम्॥ १

यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः
कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत्।
एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं
न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम्॥ २

श्रीशुक उवाच

भगवत्पुरुषै राजन् याम्याः प्रतिहतोद्यमाः।
पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम्॥ ३

यमदूता ऊचुः

कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो।
त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः॥ ४

यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिणः।
कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा॥ ५

किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिह कर्मिणाम्।
शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम्॥ ६

अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः।
शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः॥ ७

तस्य ते विहतो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना।
चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्भिता॥ ८

राजा परीक्षित्ने पूछा— भगवन्! देवाधिदेव धर्मराजके वशमें सारे जीव हैं और भगवान्के पार्षदोंने उन्हींकी आज्ञा भंग कर दी तथा उनके दूतोंको अपमानित कर दिया। जब उनके दूतोंने यमपुरीमें जाकर उनसे अजामिलका वृत्तान्त कह सुनाया, तब सब कुछ सुनकर उन्होंने अपने दूतोंसे क्या कहा?॥ १॥ ऋषिवर! मैंने पहले यह बात कभी नहीं सुनी कि किसीने किसी भी कारणसे धर्मराजके शासनका उल्लंघन किया हो। भगवन्! इस विषयमें लोग बहुत सन्देह करेंगे और उसका निवारण आपके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता, ऐसा मेरा निश्चय है॥ २॥

श्रीशुकदेवजीने कहा— परीक्षित्! जब भगवान्के पार्षदोंने यमदूतोंका प्रयत्न विफल कर दिया, तब उन लोगोंने संयमनीपुरीके स्वामी एवं अपने शासक यमराजके पास जाकर निवेदन किया॥ ३॥

यमदूतोंने कहा— प्रभो! संसारके जीव तीन प्रकारके कर्म करते हैं—पाप, पुण्य अथवा दोनोंसे मिश्रित। इन जीवोंको उन कर्मोंका फल देनेवाले शासक संसारमें कितने हैं?॥ ४॥ यदि संसारमें दण्ड देनेवाले बहुत-से शासक हों, तो किसे सुख मिले और किसे दुःख—इसकी व्यवस्था एक-सी न हो सकेगी॥ ५॥ संसारमें कर्म करनेवालोंके अनेक होनेके कारण यदि उनके शासक भी अनेक हों, तो उन शासकोंका शासकपना नाममात्रका ही होगा, जैसे एक सम्राट्के अधीन बहुत-से नाममात्रके सामन्त होते हैं॥ ६॥ इसलिये हम तो ऐसा समझते हैं कि अकेले आप ही समस्त प्राणियों और उनके स्वामियोंके भी अधीश्वर हैं। आप ही मनुष्योंके पाप और पुण्यके निर्णायक, दण्डदाता और शासक हैं॥ ७॥ प्रभो! अबतक संसारमें कहीं भी आपके द्वारा नियत किये हुए दण्डकी अवहेलना नहीं हुई थी; किन्तु इस समय चार अद्भुत सिद्धोंने आपकी आज्ञाका उल्लंघन कर दिया है॥ ८॥

नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान्।
व्यमोचयन् पातकिनं छित्त्वा पाशान् प्रसह्य ते॥ ९

तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम्।
नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम्॥ १०

श्रीशुक उवाच

इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः।
प्रीतः स्वदूतान् प्रत्याह स्मरन् पादाम्बुजं हरेः॥ ११

यम उवाच

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद् यस्य वशे च लोकः॥ १२

यो नामभिर्वाचि जनान्निजायां
बध्नाति तन्त्यामिव दामभिर्गाः।
यस्मै बलिं त इमे नामकर्म-
निबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति॥ १३

अहं महेन्द्रो निर्ऋतिः प्रचेताः
सोमोऽग्निरीशः पवनोऽर्को विरिञ्चः।
आदित्यविश्वे वसवोऽथ साध्या
मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः॥ १४

अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा
भृग्वादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः।
यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः
सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये॥ १५

प्रभो! आपकी आज्ञासे हमलोग एक पापीको यातनागृहकी ओर ले जा रहे थे, परन्तु उन्होंने बलपूर्वक आपके फंदे काटकर उसे छुड़ा दिया॥ ९॥ हम आपसे उनका रहस्य जानना चाहते हैं। यदि आप हमें सुननेका अधिकारी समझें तो कहें। प्रभो! बड़े ही आश्चर्यकी बात हुई कि इधर तो अजामिलके मुँहसे 'नारायण!' यह शब्द निकला और उधर वे 'डरो मत, डरो मत!' कहते हुए झटपट वहाँ आ पहुँचे॥ १०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब दूतोंने इस प्रकार प्रश्न किया, तब देवशिरोमणि प्रजाके शासक भगवान् यमराजने प्रसन्न होकर श्रीहरिके चरणकमलोंका स्मरण करते हुए उनसे कहा॥ ११॥

यमराजने कहा—दूतो! मेरे अतिरिक्त एक और ही चराचर जगत्के स्वामी हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण जगत् सूतमें वस्त्रके समान ओत-प्रोत है। उन्हींके अंश ब्रह्मा, विष्णु और शंकर इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं। उन्हींने इस सारे जगत्को नथे हुए बैलके समान अपने अधीन कर रखा है॥ १२॥ मेरे प्यारे दूतो! जैसे किसान अपने बैलोंको पहले छोटी-छोटी रस्सियोंमें बाँधकर फिर उन रस्सियोंको एक बड़ी आड़ी रस्सीमें बाँध देते हैं, वैसे ही जगदीश्वर भगवान्ने भी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमरूप छोटी-छोटी नामकी रस्सियोंमें बाँधकर फिर सब नामोंको वेदवाणीरूप बड़ी रस्सीमें बाँध रखा है। इस प्रकार सारे जीव नाम एवं कर्मरूप बन्धनमें बँधे हुए भयभीत होकर उन्हें ही अपना सर्वस्व भेंट कर रहे हैं॥ १३॥ दूतो! मैं, इन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, शंकर, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, बारहों आदित्य, विश्वेदेवता, आठों वसु, साध्य, उनचास मरुत्, सिद्ध, ग्यारहों रुद्र, रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित भृगु आदि प्रजापति और बड़े-बड़े देवता—सब-के-सब सत्त्वप्रधान होनेपर भी उनकी मायाके अधीन हैं तथा भगवान् कब क्या किस रूपमें करना चाहते हैं—इस बातको नहीं जानते। तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है॥ १४-१५॥

यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा
हृदा गिरा वासुभृतो विचक्षते।
आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां
चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततः परम्॥ १६
तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः
परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः।
प्रायेण दूता इह वै मनोहरा-
श्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः॥ १७
भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो
मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च॥ १८
धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
कुतश्च विद्याधरचारणादयः॥ १९
स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥ २०
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥ २१
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥ २२
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत॥ २३
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥ २४

दूतो! जिस प्रकार घट, पट आदि रूपवान् पदार्थ अपने प्रकाशक नेत्रको नहीं देख सकते—वैसे ही अन्तःकरणमें अपने साक्षीरूपसे स्थित परमात्माको कोई भी प्राणी इन्द्रिय, मन, प्राण, हृदय या वाणी आदि किसी भी साधनके द्वारा नहीं जान सकता॥ १६॥ वे प्रभु सबके स्वामी और स्वयं परम स्वतन्त्र हैं। उन्हीं मायापति पुरुषोत्तमके दूत उन्हींके समान परम मनोहर रूप, गुण और स्वभावसे सम्पन्न होकर इस लोकमें प्रायः विचरण किया करते हैं॥ १७॥

विष्णुभगवान्के सुरपूजित एवं परम अलौकिक पार्षदोंका दर्शन बड़ा दुर्लभ है। वे भगवान्के भक्तजनोंको उनके शत्रुओंसे, मुझसे और अग्नि आदि सब विपत्तियोंसे सर्वथा सुरक्षित रखते हैं॥ १८॥

स्वयं भगवान्ने ही धर्मकी मर्यादाका निर्माण किया है। उसे न तो ऋषि जानते हैं और न देवता या सिद्धगण ही। ऐसी स्थितिमें मनुष्य, विद्याधर, चारण और असुर आदि तो जान ही कैसे सकते हैं॥ १९॥

भगवान्के द्वारा निर्मित भागवतधर्म परम शुद्ध और अत्यन्त गोपनीय है। उसे जानना बहुत ही कठिन है। जो उसे जान लेता है, वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। दूतो! भागवतधर्मका रहस्य हम बारह व्यक्ति ही जानते हैं—ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, भगवान् शंकर, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्मपितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं (धर्मराज) ॥ २०-२१॥ इस जगत्में जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परम धर्म है कि वे नाम-कीर्तन आदि उपायोंसे भगवान्के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें॥ २२॥ प्रिय दूतो! भगवान्के नामोच्चारणकी महिमा तो देखो, अजामिल-जैसा पापी भी एक बार नामोच्चारण करनेमात्रसे मृत्युपाशसे छुटकारा पा गया॥ २३॥ भगवान्के गुण, लीला और नामोंका भलीभाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है, क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिलने मरनेके समय चंचल चित्तसे अपने पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण किया। इस नामाभासमात्रसे ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, मुक्तिकी प्राप्ति भी हो गयी॥ २४॥

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥ २५

बड़े-बड़े विद्वानोंकी बुद्धि कभी भगवान्‌की मायासे मोहित हो जाती है। वे कर्मोंके मीठे-मीठे फलोंका वर्णन करनेवाली अर्थवादरूपिणी वेदवाणीमें ही मोहित हो जाते हैं और यज्ञ-यागादि बड़े-बड़े कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं तथा इस सुगमातिसुगम भगवन्नामकी महिमाको नहीं जानते। यह कितने खेदकी बात है॥ २५॥

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥ २६

प्रिय दूतो! बुद्धिमान् पुरुष ऐसा विचार कर भगवान् अनन्तमें ही सम्पूर्ण अन्त:करणसे अपना भक्तिभाव स्थापित करते हैं। वे मेरे दण्डके पात्र नहीं हैं। पहली बात तो यह है कि वे पाप करते ही नहीं, परन्तु यदि कदाचित् संयोगवश कोई पाप बन भी जाय, तो उसे भगवान्‌का गुणगान तत्काल नष्ट कर देता है॥ २६॥

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे॥ २७

जो समदर्शी साधु भगवान्‌को ही अपना साध्य और साधन दोनों समझकर उनपर निर्भर हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रोंका प्रेमसे गान करते रहते हैं। मेरे दूतो! भगवान्‌की गदा उनकी सदा रक्षा करती रहती है। उनके पास तुमलोग कभी भूलकर भी मत फटकना। उन्हें दण्ड देनेकी सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् कालमें ही॥ २७॥

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द-
पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलै रसज्ञै-
र्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान्॥ २८

बड़े-बड़े परमहंस दिव्य रसके लोभसे सम्पूर्ण जगत् और शरीर आदिसे भी अपनी अहंता-ममता हटाकर, अकिंचन होकर निरन्तर भगवान् मुकुन्दके पादारविन्दका मकरन्द-रस पान करते रहते हैं। जो दुष्ट उस दिव्य रससे विमुख हैं और नरकके दरवाजे घर-गृहस्थीकी तृष्णाका बोझा बाँधकर उसे ढो रहे हैं, उन्हींको मेरे पास बार-बार लाया करो॥ २८॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥ २९

जिनकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्सेवा-विमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो॥ २९॥

तत् क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो
नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः।

आज मेरे दूतोंने भगवान्‌के पार्षदोंका अपराध करके स्वयं भगवान्‌का ही तिरस्कार किया है। यह मेरा ही अपराध है। पुराणपुरुष भगवान् नारायण हमलोगोंका यह अपराध क्षमा करें। हम अज्ञानी होनेपर भी हैं उनके निजजन और उनकी आज्ञा पानेके लिये अंजलि

स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां
क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने ॥ ३०

बाँधकर सदा उत्सुक रहते हैं। अतः परम महिमान्वित भगवान्‌के लिये यही योग्य है कि वे क्षमा कर दें। मैं उन सर्वान्तर्यामी एकरस अनन्त प्रभुको नमस्कार करता हूँ॥ ३० ॥

तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्।
महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतिम्॥ ३१

[श्रीशुकदेवजी कहते हैं—] परीक्षित्! इसलिये तुम ऐसा समझ लो कि बड़े-से-बड़े पापोंका सर्वोत्तम, अन्तिम और पाप-वासनाओंको भी निर्मूल कर डालनेवाला प्रायश्चित्त यही है कि केवल भगवान्‌के गुणों, लीलाओं और नामोंका कीर्तन किया जाय। इसीसे संसारका कल्याण हो सकता है॥ ३१ ॥

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥ ३२

जो लोग बार-बार भगवान्‌के उदार और कृपापूर्ण चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंसे नहीं होती॥ ३२ ॥

कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण् न पुनर्विसृष्ट-
मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु।
अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टु-
मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात्॥ ३३

जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्द-मकरन्द-रसका लोभी भ्रमर है, वह स्वभावसे ही मायाके आपातरम्य, दुःखद और पहलेसे ही छोड़े हुए विषयोंमें फिर नहीं रमता। किन्तु जो लोग उस दिव्य रससे विमुख हैं, कामनाओंने जिनकी विवेकबुद्धिपर पानी फेर दिया है, वे अपने पापोंका मार्जन करनेके लिये पुनः प्रायश्चित्तरूप कर्म ही करते हैं। इससे होता यह है कि उनके कर्मोंकी वासना मिटती नहीं और वे फिर वैसे ही दोष कर बैठते है॥ ३३ ॥

इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं
संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते।
नैवाच्युताश्रयजनं प्रति शङ्कमाना
द्रष्टुं च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन्॥ ३४

परीक्षित्! जब यमदूतोंने अपने स्वामी धर्मराजके मुखसे इस प्रकार भगवान्‌की महिमा सुनी और उसका स्मरण किया, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। तभीसे वे धर्मराजकी बातपर विश्वास करके अपने नाशकी आशंकासे भगवान्‌के आश्रित भक्तोंके पास नहीं जाते और तो क्या, वे उनकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी डरते हैं॥ ३४ ॥

इतिहासमिमं गुह्यं भगवान् कुम्भसम्भवः।
कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन्॥ ३५

प्रिय परीक्षित्! यह इतिहास परम गोपनीय—अत्यन्त रहस्यमय है। मलयपर्वतपर विराजमान भगवान् अगस्त्यजीने श्रीहरिकी पूजा करते समय मुझे यह सुनाया था॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
यमपुरुषसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

दक्षके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और भगवान्‌का प्रादुर्भाव

राजोवाच

देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम्।
सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे॥ १

तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन् यथा।
अनुसर्गं यया शक्त्या ससर्ज भगवान् परः॥ २

राजा परीक्षित्‌ने पूछा— भगवन्! आपने संक्षेपसे (तीसरे स्कन्धमें) इस बातका वर्णन किया कि स्वायम्भुव मन्वन्तरमें देवता, असुर, मनुष्य, सर्प और पशु-पक्षी आदिकी सृष्टि कैसे हुई॥ १॥ अब मैं उसीका विस्तार जानना चाहता हूँ। प्रकृति आदि कारणोंके भी परम कारण भगवान् अपनी जिस शक्तिसे जिस प्रकार उसके बादकी सृष्टि करते हैं, उसे जाननेकी भी मेरी इच्छा है॥ २॥

सूत उवाच

इति सम्प्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः।
प्रतिनन्द्य महायोगी[1] जगाद मुनिसत्तमाः॥ ३

सूतजी कहते हैं— शौनकादि ऋषियो! परम योगी व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीने राजर्षि परीक्षित्‌का यह सुन्दर प्रश्न सुनकर उनका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा॥ ३॥

श्रीशुक उवाच

यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः।
अन्तःसमुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गां द्रुमैर्वृताम्॥ ४

द्रुमेभ्यः[2] क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यवः।
मुखतो वायुमग्निं च ससृजुस्तद्दिधक्षया॥ ५

ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरूद्वह।
राजोवाच महान् सोमो मन्युं प्रशमयन्निव॥ ६

मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ।
विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः॥ ७

अहो प्रजापतिपतिर्भगवान् हरिरव्ययः।
वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः॥ ८

श्रीशुकदेवजीने कहा— राजा प्राचीनबर्हिके दस लड़के—जिनका नाम प्रचेता था—जब समुद्रसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा कि हमारे पिताके निवृत्तिपरायण हो जानेसे सारी पृथ्वी पेड़ोंसे घिर गयी है॥ ४॥ उन्हें वृक्षोंपर बड़ा क्रोध आया। उनके तपोबलने तो मानो क्रोधकी आगमें आहुति ही डाल दी। बस, उन्होंने वृक्षोंको जला डालनेके लिये अपने मुखसे वायु और अग्निकी सृष्टि की॥ ५॥

परीक्षित्! जब प्रचेताओंकी छोड़ी हुई अग्नि और वायु उन वृक्षोंको जलाने लगी, तब वृक्षोंके राजाधिराज चन्द्रमाने उनका क्रोध शान्त करते हुए इस प्रकार कहा॥ ६॥ 'महाभाग्यवान् प्रचेताओ! ये वृक्ष बड़े दीन हैं। आपलोग इनसे द्रोह मत कीजिये; क्योंकि आप तो प्रजाकी अभिवृद्धि करना चाहते हैं और सभी जानते हैं कि आप प्रजापति हैं॥ ७॥ महात्मा प्रचेताओ! प्रजापतियोंके अधिपति अविनाशी भगवान् श्रीहरिने सम्पूर्ण वनस्पतियों और ओषधियोंको प्रजाके हितार्थ उनके खान-पानके लिये बनाया है॥ ८॥

१. प्रा० पा०—यथायोगी। २. प्रा० पा०—वृक्षेभ्यः।

अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम्।
अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदां च चतुष्पदः॥ ९

यूयं च पित्रान्वादिष्टा[1] देवदेवेन चानघाः।
प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुमर्हथ॥ १०

आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम्।
पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः॥ ११

तोकानां[2] पितरौ बन्धू दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः।
पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत्॥ १२

अन्तर्देहेषु भूतानामात्माऽऽस्ते[3] हरिरीश्वरः।
सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ॥ १३

यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम्।
आत्मजिज्ञासया यच्छेत् स गुणानतिवर्तते॥ १४

अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः।
वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम्॥ १५

इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप।
सोमो राजा ययौ दत्त्वा ते धर्मेणोपयेमिरे॥ १६

संसारमें पाँखोंसे उड़नेवाले चर प्राणियोंके भोजन फल-पुष्पादि अचर पदार्थ हैं। पैरसे चलनेवालोंके घास-तृणादि बिना पैरवाले पदार्थ भोजन हैं; हाथवालोंके वृक्ष-लता आदि बिना हाथवाले और दो पैरवाले मनुष्यादिके लिये धान, गेहूँ आदि अन्न भोजन हैं। चार पैरवाले बैल, ऊँट आदि खेती प्रभृतिके द्वारा अन्नकी उत्पत्तिमें सहायक हैं॥ ९॥ निष्पाप प्रचेताओ! आपके पिता और देवाधिदेव भगवान्ने आपलोगोंको यह आदेश दिया है कि प्रजाकी सृष्टि करो। ऐसी स्थितिमें आप वृक्षोंको जला डालें, यह कैसे उचित हो सकता है॥ १०॥ आपलोग अपना क्रोध शान्त करें और अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदिके द्वारा सेवित सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करें॥ ११॥ जैसे माँ-बाप बालकोंकी, पलकें नेत्रोंकी, पति पत्नीकी, गृहस्थ भिक्षुकोंकी और ज्ञानी अज्ञानियोंकी रक्षा करते हैं और उनका हित चाहते हैं—वैसे ही प्रजाकी रक्षा और हितका उत्तरदायी राजा होता है॥ १२॥ प्रचेताओ! समस्त प्राणियोंके हृदयमें सर्वशक्तिमान् भगवान् आत्माके रूपमें विराजमान हैं। इसलिये आपलोग सभीको भगवान्का निवासस्थान समझें। यदि आप ऐसा करेंगे तो भगवान्को प्रसन्न कर लेंगे॥ १३॥ जो पुरुष हृदयके उबलते हुए भयंकर क्रोधको आत्मविचारके द्वारा शरीरमें ही शान्त कर लेता है, बाहर नहीं निकलने देता, वह कालक्रमसे तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेता है॥ १४॥ प्रचेताओ! इन दीन-हीन वृक्षोंको और न जलाइये; जो कुछ बच रहे हैं, उनकी रक्षा कीजिये। इससे आपका भी कल्याण होगा। इस श्रेष्ठ कन्याका पालन इन वृक्षोंने ही किया है, इसे आपलोग पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये'॥ १५॥

परीक्षित्! वनस्पतियोंके राजा चन्द्रमाने प्रचेताओंको इस प्रकार समझा-बुझाकर उन्हें प्रम्लोचा अप्सराकी सुन्दरी कन्या दे दी और वे वहाँसे चले गये। प्रचेताओंने धर्मानुसार उसका पाणिग्रहण किया॥ १६॥

१. प्रा० पा०—त्वादिष्टा। २. प्रा० पा०—लोकानां पितरौ। ३. प्रा० पा०—भूतानां शास्तास्ते।

तेभ्यस्तस्यां समभवद्दक्षः प्राचेतसः किल।
यस्य प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितास्त्रयः॥ १७

यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः।
रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु॥ १८

मनसैवासृजत्पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः।
देवासुरमनुष्यादीन्नभःस्थलजलौकसः ॥ १९

तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः।
विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद् दुष्करं तपः॥ २०

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम्।
उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम्॥ २१

अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम्।
तुभ्यं तदभिधास्यामि कस्यातुष्यद् यतो हरिः॥ २२

प्रजापतिरुवाच

नमः परायावितथानुभूतये
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-
र्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे॥ २३

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन्।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि॥ २४

उन्हीं प्रचेताओंके द्वारा उस कन्याके गर्भसे प्राचेतस् दक्षकी उत्पत्ति हुई। फिर दक्षकी प्रजा-सृष्टिसे तीनों लोक भर गये॥ १७॥ इनका अपनी पुत्रियोंपर बड़ा प्रेम था। इन्होंने जिस प्रकार अपने संकल्प और वीर्यसे विविध प्राणियोंकी सृष्टि की, वह मैं सुनाता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो॥ १८॥

परीक्षित्! पहले प्रजापति दक्षने जल, थल और आकाशमें रहनेवाले देवता, असुर एवं मनुष्य आदि प्रजाकी सृष्टि अपने संकल्पसे ही की॥ १९॥ जब उन्होंने देखा कि वह सृष्टि बढ़ नहीं रही है, तब उन्होंने विन्ध्याचलके निकटवर्ती पर्वतोंपर जाकर बड़ी घोर तपस्या की॥ २०॥ वहाँ एक अत्यन्त श्रेष्ठ तीर्थ है, उसका नाम है—अघमर्षण। वह सारे पापोंको धो बहाता है। प्रजापति दक्ष उस तीर्थमें त्रिकाल स्नान करते और तपस्याके द्वारा भगवान्की आराधना करते॥ २१॥ प्रजापति दक्षने इन्द्रियातीत भगवान्की 'हंसगुह्य' नामक स्तोत्रसे स्तुति की थी। उसीसे भगवान् उनपर प्रसन्न हुए थे। मैं तुम्हें वह स्तुति सुनाता हूँ॥ २२॥

दक्ष प्रजापतिने इस प्रकार स्तुति की— भगवन्! आपकी अनुभूति, आपकी चित्-शक्ति अमोघ है। आप जीव और प्रकृतिसे परे, उनके नियन्ता और उन्हें सत्तास्फूर्ति देनेवाले हैं। जिन जीवोंने त्रिगुणमयी सृष्टिको ही वास्तविक सत्य समझ रखा है, वे आपके स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सके हैं; क्योंकि आपतक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है—आपकी कोई अवधि, कोई सीमा नहीं है। आप स्वयंप्रकाश और परात्पर हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २३॥ यों तो जीव और ईश्वर एक-दूसरेके सखा हैं तथा इसी शरीरमें इकट्ठे ही निवास करते हैं; परन्तु जीव सर्वशक्तिमान् आपके सख्यभावको नहीं जानता—ठीक वैसे ही, जैसे रूप, रस, गन्ध आदि विषय अपने प्रकाशित करनेवाली नेत्र, घ्राण आदि इन्द्रियवृत्तियोंको नहीं जानते। क्योंकि आप जीव और जगत्के द्रष्टा हैं, दृश्य नहीं। महेश्वर! मैं आपके श्रीचरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥ २४॥

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यं च विदुः परं यत्।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे॥ २५

यदोपरामो मनसो नामरूप-
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात्।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया[1]
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः॥ २६

मनीषिणोऽन्तर्हृदि संनिवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम्॥ २७

स वै ममाशेषविशेषमाया-
निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः॥ २८

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्
स वै गुणापायविसर्गलक्षणः॥ २९

देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणकी वृत्तियाँ, पंचमहाभूत और उनकी तन्मात्राएँ—ये सब जड होनेके कारण अपनेको और अपनेसे अतिरिक्तको भी नहीं जानते। परन्तु जीव इन सबको और इनके कारण सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंको भी जानता है। परन्तु वह भी दृश्य अथवा ज्ञेयरूपसे आपको नहीं जान सकता। क्योंकि आप ही सबके ज्ञाता और अनन्त हैं। इसलिये प्रभो! मैं तो केवल आपकी स्तुति करता हूँ॥ २५॥ जब समाधिकालमें प्रमाण, विकल्प और विपर्ययरूप विविध ज्ञान और स्मरणशक्तिका लोप हो जानेसे इस नाम-रूपात्मक जगत्का निरूपण करनेवाला मन उपरत हो जाता है, उस समय बिना मनके भी केवल सच्चिदानन्दमयी अपनी स्वरूपस्थितिके द्वारा आप प्रकाशित होते रहते हैं। प्रभो! आप शुद्ध हैं और शुद्ध हृदय-मन्दिर ही आपका निवासस्थान है। आपको मेरा नमस्कार है॥ २६॥ जैसे याज्ञिक लोग काष्ठमें छिपे हुए अग्निको 'सामिधेनी' नामके पन्द्रह मन्त्रोंके द्वारा प्रकट करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष अपनी सत्ताईस शक्तियोंके भीतर गूढभावसे छिपे हुए आपको अपनी शुद्ध बुद्धिके द्वारा हृदयमें ही ढूँढ़ निकालते हैं॥ २७॥ जगत्में जितनी भिन्नताएँ देख पड़ती हैं, वे सब मायाकी ही हैं। मायाका निषेध कर देनेपर केवल परम सुखके साक्षात्कारस्वरूप आप ही अवशेष रहते हैं। परन्तु जब विचार करने लगते हैं, तब आपके स्वरूपमें मायाकी उपलब्धि—निर्वचन नहीं हो सकता। अर्थात् माया भी आप ही हैं। अतः सारे नाम और सारे रूप आपके ही हैं। प्रभो! आप मुझपर प्रसन्न होइये। मुझे आत्मप्रसादसे पूर्ण कर दीजिये॥ २८॥ प्रभो! जो कुछ वाणीसे कहा जाता है अथवा जो कुछ मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे ग्रहण किया जाता है, वह आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि वह तो गुणरूप है और आप गुणोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान हैं। आपमें केवल उनकी प्रतीतिमात्र है॥ २९॥

१. प्रा० पा०—स्वसंज्ञया।

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च[१]।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम्॥ ३०

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥ ३१

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो-
रेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः
समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत्॥ ३२

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु॥ ३३

भगवन्! आपमें ही यह सारा जगत् स्थित है; आपसे ही निकला है और आपने—और किसीके सहारे नहीं—अपने-आपसे ही इसका निर्माण किया है। यह आपका ही है और आपके लिये ही है। इसके रूपमें बननेवाले भी आप हैं और बनानेवाले भी आप ही हैं। बनने-बनानेकी विधि भी आप ही हैं। आप ही सबसे काम लेनेवाले भी हैं। जब कार्य और कारणका भेद नहीं था, तब भी आप स्वयंसिद्ध स्वरूपसे स्थित थे। इसीसे आप सबके कारण भी हैं। सच्ची बात तो यह है कि आप जीव-जगत्के भेद और स्वगतभेदसे सर्वथा रहित एक, अद्वितीय हैं। आप स्वयं ब्रह्म हैं। आप मुझपर प्रसन्न हों॥ ३०॥ प्रभो! आपकी ही शक्तियाँ वादी-प्रतिवादियोंके विवाद और संवाद (ऐकमत्य)-का विषय होती हैं और उन्हें बार-बार मोहमें डाल दिया करती हैं। आप अनन्त अप्राकृत कल्याण-गुणगणोंसे युक्त एवं स्वयं अनन्त हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ३१॥ भगवन्! उपासकलोग कहते हैं कि हमारे प्रभु हस्त-पादादिसे युक्त साकार-विग्रह हैं और सांख्यवादी कहते हैं कि भगवान् हस्त-पादादि विग्रहसे रहित—निराकार हैं। यद्यपि इस प्रकार वे एक ही वस्तुके दो परस्परविरोधी धर्मोंका वर्णन करते हैं, परन्तु फिर भी उसमें विरोध नहीं है। क्योंकि दोनों एक ही परम वस्तुमें स्थित हैं। बिना आधारके हाथ-पैर आदिका होना सम्भव नहीं और निषेधकी भी कोई-न-कोई अवधि होनी ही चाहिये। आप वही आधार और निषेधकी अवधि हैं। इसलिये आप साकार, निराकार दोनोंसे ही अविरुद्ध सम परब्रह्म हैं॥ ३२॥ प्रभो! आप अनन्त हैं। आपका न तो कोई प्राकृत नाम है और न कोई प्राकृत रूप; फिर भी जो आपके चरणकमलोंका भजन करते हैं, उनपर अनुग्रह करनेके लिये आप अनेक रूपोंमें प्रकट होकर अनेकों लीलाएँ करते हैं तथा उन-उन रूपों एवं लीलाओंके अनुसार अनेकों नाम धारण कर लेते हैं। परमात्मन्! आप मुझपर कृपा-प्रसाद कीजिये॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—वा०।

य: प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां
यथाशयं देहगतो विभाति।
यथानिल: पार्थिवमाश्रितो गुणं
स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम्॥ ३४

श्रीशुक उवाच

इति स्तुत: संस्तुवत: स तस्मिन्नघमर्षणे।
आविरासीत् कुरुश्रेष्ठ भगवान् भक्तवत्सल:॥ ३५

कृतपाद: सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुज:।
चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनु:पाशगदाधर: ॥ ३६

पीतवासा घनश्याम: प्रसन्नवदनेक्षण:।
वनमालानिवीताङ्गो लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभ:॥ ३७

महाकिरीटकटक: स्फुरन्मकरकुण्डल:।
काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषित: ॥ ३८

त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत् त्रिभुवनेश्वर:।
वृतो नारदनन्दाद्यै: पार्षदै: सुरयूथपै:॥ ३९

स्तूयमानोऽनुगायद्भि: सिद्धगन्धर्वचारणै:।
रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वस:॥ ४०

ननाम दण्डवद् भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापति:।
न किञ्चनोदीरयितुमशकत् तीव्रया मुदा।
आपूरितमनोद्वारैर्ह्रदिन्य इव निर्झरै:॥ ४१

तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम्।
चित्तज्ञ: सर्वभूतानामिदमाह जनार्दन:॥ ४२

लोगोंकी उपासनाएँ प्राय: साधारण कोटिकी होती हैं। अत: आप सबके हृदयमें रहकर उनकी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंके रूपमें प्रतीत होते रहते हैं—ठीक वैसे ही जैसे हवा गन्धका आश्रय लेकर सुगन्धित प्रतीत होती है; परन्तु वास्तवमें सुगन्धित नहीं होती। ऐसे सबकी भावनाओंका अनुसरण करनेवाले प्रभु मेरी अभिलाषा पूर्ण करें॥ ३४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विन्ध्याचलके अघमर्षण तीर्थमें जब प्रजापति दक्षने इस प्रकार स्तुति की, तब भक्तवत्सल भगवान् उनके सामने प्रकट हुए ॥ ३५॥ उस समय भगवान् गरुड़के कंधोंपर चरण रखे हुए थे। विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट आठ भुजाएँ थीं; उनमें चक्र, शंख, तलवार, ढाल, बाण, धनुष, पाश और गदा धारण किये हुए थे॥ ३६॥ वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा था। मुखमण्डल प्रफुल्लित था। नेत्रोंसे प्रसादकी वर्षा हो रही थी। घुटनोंतक वनमाला लटक रही थी। वक्ष:स्थलपर सुनहरी रेखा—श्रीवत्सचिह्न और गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही थी॥ ३७॥ बहुमूल्य किरीट, कंगन, मकराकृति कुण्डल, करधनी, अँगूठी, कड़े, नूपुर और बाजूबंद अपने-अपने स्थानपर सुशोभित थे॥ ३८॥ त्रिभुवनपति भगवान्ने त्रैलोक्यविमोहन रूप धारण कर रखा था। नारद, नन्द, सुनन्द आदि पार्षद उनके चारों ओर खड़े थे। इन्द्र आदि देवेश्वरगण स्तुति कर रहे थे तथा सिद्ध, गन्धर्व और चारण भगवान्के गुणोंका गान कर रहे थे। यह अत्यन्त आश्चर्यमय और अलौकिक रूप देखकर दक्षप्रजापति कुछ सहम गये॥ ३९-४०॥ प्रजापति दक्षने आनन्दसे भरकर भगवान्के चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। जैसे झरनोंके जलसे नदियाँ भर जाती हैं, वैसे ही परमानन्दके उद्रेकसे उनकी एक-एक इन्द्रिय भर गयी और आनन्दपरवश हो जानेके कारण वे कुछ भी बोल न सके॥ ४१॥ परीक्षित्! प्रजापति दक्ष अत्यन्त नम्रतासे झुककर भगवान्के सामने खड़े हो गये। भगवान् सबके हृदयकी बात जानते ही हैं, उन्होंने दक्ष प्रजापतिकी भक्ति और प्रजावृद्धिकी कामना देखकर उनसे यों कहा॥ ४२॥

श्रीभगवानुवाच

प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान्।
यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः॥ ४३

प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः।
ममैष कामो भूतानां यद् भूयासुर्विभूतयः॥ ४४

ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः।
विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः॥ ४५

तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाऽऽकृतिः।
अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः४६

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः।
संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः॥ ४७

मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः।
यदाऽऽसीत् तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः॥ ४८

स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः।
मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः सर्गकर्मणि॥ ४९

अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम्।
नव विश्वसृजो युष्मान् येनादावसृजद्विभुः॥ ५०

एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः।
असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम्॥ ५१

मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः।
मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि॥ ५२

त्वत्तोऽधस्तात् प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया।
मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम्॥ ५३

श्रीभगवान्‌ने कहा—परम भाग्यवान् दक्ष! अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गयी, क्योंकि मुझपर श्रद्धा करनेसे तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति परम प्रेमभावका उदय हो गया है॥ ४३॥ प्रजापते! तुमने इस विश्वकी वृद्धिके लिये तपस्या की है, इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। क्योंकि यह मेरी ही इच्छा है कि जगत्‌के समस्त प्राणी अभिवृद्ध और समृद्ध हों॥ ४४॥ ब्रह्मा, शंकर, तुम्हारे जैसे प्रजापति, स्वायम्भुव आदि मनु तथा इन्द्रादि देवेश्वर—ये सब मेरी विभूतियाँ हैं और सभी प्राणियोंकी अभिवृद्धि करनेवाले हैं॥ ४५॥ ब्रह्मन्! तपस्या मेरा हृदय है, विद्या शरीर है, कर्म आकृति है, यज्ञ अंग हैं, धर्म मन है और देवता प्राण हैं॥ ४६॥ जब यह सृष्टि नहीं थी, तब केवल मैं ही था और वह भी निष्क्रियरूपमें। बाहर-भीतर कहीं भी और कुछ न था। न तो कोई द्रष्टा था और न दृश्य। मैं केवल ज्ञानस्वरूप और अव्यक्त था। ऐसा समझ लो, मानो सब ओर सुषुप्ति-ही-सुषुप्ति छा रही हो॥ ४७॥ प्रिय दक्ष! मैं अनन्त गुणोंका आधार एवं स्वयं अनन्त हूँ। जब गुणमयी मायाके क्षोभसे यह ब्रह्माण्ड-शरीर प्रकट हुआ, तब इसमें अयोनिज आदिपुरुष ब्रह्मा उत्पन्न हुए॥ ४८॥ जब मैंने उनमें शक्ति और चेतनाका संचार किया तब देवशिरोमणि ब्रह्मा सृष्टि करनेके लिये उद्यत हुए। परन्तु उन्होंने अपनेको सृष्टिकार्यमें असमर्थ-सा पाया॥ ४९॥ उस समय मैंने उन्हें आज्ञा दी कि तप करो। तब उन्होंने घोर तपस्या की और उस तपस्याके प्रभावसे पहले-पहल तुम नौ प्रजापतियोंकी सृष्टि की॥ ५०॥

प्रिय दक्ष! देखो, यह पंचजन प्रजापतिकी कन्या असिक्नी है। इसे तुम अपनी पत्नीके रूपमें ग्रहण करो॥ ५१॥ अब तुम गृहस्थोचित स्त्रीसहवासरूप धर्मको स्वीकार करो। यह असिक्नी भी उसी धर्मको स्वीकार करेगी। तब तुम इसके द्वारा बहुत-सी प्रजा उत्पन्न कर सकोगे॥ ५२॥ प्रजापते! अबतक तो मानसी सृष्टि होती थी, परन्तु अब तुम्हारे बाद सारी प्रजा मेरी मायासे स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न होगी तथा मेरी सेवामें तत्पर रहेगी॥ ५३॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान् विश्वभावनः।
स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ ५४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—विश्वके जीवनदाता भगवान् श्रीहरि यह कहकर दक्षके सामने ही इस प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे स्वप्नमें देखी हुई वस्तु स्वप्न टूटते ही लुप्त हो जाती है॥ ५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
षष्ठस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रीनारदजीके उपदेशसे दक्षपुत्रोंकी विरक्ति तथा नारदजीको दक्षका शाप

श्रीशुक उवाच

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद् विभुः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्के शक्तिसंचारसे दक्ष प्रजापति परम समर्थ हो गये थे। उन्होंने पंचजनकी पुत्री असिक्नीसे हर्यश्व नामके दस हजार पुत्र उत्पन्न किये॥ १॥

अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप।
पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम्॥ २

राजन्! दक्षके ये सभी पुत्र एक आचरण और एक स्वभावके थे। जब उनके पिता दक्षने उन्हें सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी, तब वे तपस्या करनेके विचारसे पश्चिम दिशाकी ओर गये॥ २॥

तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः।
सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम्॥ ३

पश्चिम दिशामें सिन्धुनदी और समुद्रके संगमपर नारायण-सर नामका एक महान् तीर्थ है। बड़े-बड़े मुनि और सिद्ध पुरुष वहाँ निवास करते हैं॥ ३॥

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत॥ ४

तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः।
प्रजाविवृद्धये यत्तान् देवर्षिस्तान् ददर्श ह॥ ५

उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः॥ ६

नारायण-सरमें स्नान करते ही हर्यश्वोंके अन्तः-करण शुद्ध हो गये, उनकी बुद्धि भागवतधर्ममें लग गयी। फिर भी अपने पिता दक्षकी आज्ञासे बँधे होनेके कारण वे उग्र तपस्या ही करते रहे। जब देवर्षि नारदने देखा कि भागवतधर्ममें रुचि होनेपर भी ये प्रजावृद्धिके लिये ही तत्पर हैं, तब उन्होंने उनके पास आकर कहा—'अरे हर्यश्वो! तुम प्रजापति हो तो क्या हुआ। वास्तवमें तो तुमलोग मूर्ख ही हो। बतलाओ तो, जब तुमलोगोंने पृथ्वीका अन्त ही नहीं देखा, तब सृष्टि कैसे करोगे? बड़े खेदकी बात है!॥ ४—६॥

तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम्।
बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम्॥ ७

देखो—एक ऐसा देश है, जिसमें एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है, जिससे बाहर निकलनेका रास्ता ही नहीं है। एक ऐसी स्त्री है, जो बहुरूपिणी है। एक ऐसा पुरुष है, जो व्यभिचारिणीका पति है।

नदीमुभयतोवाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम्।
क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमिम्॥ ८

कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः।
अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ॥ ९

एक ऐसी नदी है, जो आगे-पीछे दोनों ओर बहती है। एक ऐसा विचित्र घर है, जो पचीस पदार्थोंसे बना है। एक ऐसा हंस है, जिसकी कहानी बड़ी विचित्र है। एक ऐसा चक्र है, जो छुरे एवं वज्रसे बना हुआ है और अपने-आप घूमता रहता है। मूर्ख हर्यश्वो! जबतक तुमलोग अपने सर्वज्ञ पिताके उचित आदेशको समझ नहीं लोगे और इन उपर्युक्त वस्तुओंको देख नहीं लोगे, तबतक उनके आज्ञानुसार सृष्टि कैसे कर सकोगे?'॥ ७—९॥

श्रीशुक उवाच

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया।
वाचः[1]कूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया॥ १०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! हर्यश्व जन्मसे ही बड़े बुद्धिमान् थे। वे देवर्षि नारदकी यह पहेली, ये गूढ़ वचन सुनकर अपनी बुद्धिसे स्वयं ही विचार करने लगे—॥ १०॥

भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम्।
अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत्[2]॥ ११

एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान् स्वाश्रयः परः।
तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १२

पुमान् नैवैति यद् गत्वा बिलस्वर्गं[3] गतो यथा।
प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १३

नानारूपाऽऽत्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता।
तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १४

'(देवर्षि नारदका कहना तो सच है) यह लिंगशरीर ही जिसे साधारणतः जीव कहते हैं, पृथ्वी है और यही आत्माका अनादि बन्धन है। इसका अन्त (विनाश) देखे बिना मोक्षके अनुपयोगी कर्मोंमें लगे रहनेसे क्या लाभ है?॥ ११॥ सचमुच ईश्वर एक ही है। वह जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं और उनके अभिमानियोंसे भिन्न, उनका साक्षी तुरीय है। वही सबका आश्रय है, परन्तु उसका आश्रय कोई नहीं है। वही भगवान् हैं। उस प्रकृति आदिसे अतीत, नित्यमुक्त परमात्माको देखे बिना भगवान्के प्रति असमर्पित कर्मोंसे जीवको क्या लाभ है?॥ १२॥ जैसे मनुष्य बिलरूप पातालमें प्रवेश करके वहाँसे नहीं लौट पाता—वैसे ही जीव जिसको प्राप्त होकर फिर संसारमें नहीं लौटता, जो स्वयं अन्तर्ज्योतिःस्वरूप है, उस परमात्माको जाने बिना विनाशवान् स्वर्ग आदि फल देनेवाले कर्मोंको करनेसे क्या लाभ है?॥ १३॥

यह अपनी बुद्धि ही बहुरूपिणी और सत्त्व, रज आदि गुणोंको धारण करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है। इस जीवनमें इसका अन्त जाने बिना—विवेक प्राप्त किये बिना अशान्तिको अधिकाधिक बढ़ानेवाले कर्म करनेका प्रयोजन ही क्या है?॥ १४॥

१. प्रा० पा०—तद्वाचःकूटं देवर्षेः। २. प्रा० पा०—किं नु स्यात्कर्म०। ३. प्रा० पा०—बिलं सर्गं।

तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत्।
तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १५

यह बुद्धि ही कुलटा स्त्रीके समान है। इसके संगसे जीवरूप पुरुषका ऐश्वर्य—इसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी है। इसीके पीछे-पीछे वह कुलटा स्त्रीके पतिकी भाँति न जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा है। इसकी विभिन्न गतियों, चालोंको जाने बिना ही विवेकरहित कर्मोंसे क्या सिद्धि मिलेगी?॥ १५॥

सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम्।
मत्तस्य तामविज्ञस्य[1] किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १६

माया ही दोनों ओर बहनेवाली नदी है। यह सृष्टि भी करती है और प्रलय भी। जो लोग इससे निकलनेके लिये तपस्या, विद्या आदि तटका सहारा लेने लगते हैं, उन्हें रोकनेके लिये क्रोध, अहंकार आदिके रूपमें वह और भी वेगसे बहने लगती है। जो पुरुष उसके वेगसे विवश एवं अनभिज्ञ है, वह मायिक कर्मोंसे क्या लाभ उठावेगा?॥ १६॥

पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पणम्[2]।
अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १७

ये पचीस तत्त्व ही एक अद्भुत घर है। पुरुष उनका आश्चर्यमय आश्रय है। वही समस्त कार्य-कारणात्मक जगत्‌का अधिष्ठाता है। यह बात न जानकर सच्चा स्वातन्त्र्य प्राप्त किये बिना झूठी स्वतन्त्रतासे किये जानेवाले कर्म व्यर्थ ही हैं॥ १७॥

ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम्।
विविक्तपदमज्ञाय[3] किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १८

भगवान्‌का स्वरूप बतलानेवाला शास्त्र हंसके समान नीर-क्षीर-विवेकी है। वह बन्ध-मोक्ष, चेतन और जडको अलग-अलग करके दिखा देता है। ऐसे अध्यात्मशास्त्ररूप हंसका आश्रय छोड़कर उसे जाने बिना बहिर्मुख बनानेवाले कर्मोंसे लाभ ही क्या है?॥ १८॥

कालचक्रं भ्रमिस्तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत्।
स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १९

यह काल ही एक चक्र है। यह निरन्तर घूमता रहता है। इसकी धार छुरे और वज्रके समान तीखी है और यह सारे जगत्‌को अपनी ओर खींच रहा है। इसको रोकनेवाला कोई नहीं, यह परम स्वतन्त्र है। यह बात न जानकर कर्मोंके फलको नित्य समझकर जो लोग सकामभावसे उनका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें उन अनित्य कर्मोंसे क्या लाभ होगा?॥ १९॥

१. प्रा० पा०—तदविज्ञस्य। २. प्रा० पा०—दर्शनम्। ३. प्रा० पा०—रूपम०।

शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम्।
कथं तदनुरूपाय गुणविश्रम्भ्युपक्रमेत्॥ २०

इति व्यवसिता राजन् हर्यश्वा एकचेतसः।
प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम्॥ २१

स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः॥ २२

नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम्।
अन्वतप्यत कः शोचन् सुप्रजस्त्वं शुचां पदम्॥ २३

स[1] भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः।
पुत्रानजनयद् दक्षः शबलाश्वान् सहस्रशः॥ २४

तेऽपि पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः।
नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः॥ २५

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः।
जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तेऽत्र महत् तपः॥ २६

अब्भक्षाः कतिचिन्मासान् कतिचिद्वायुभोजनाः।
आराधयन् मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम्॥ २७

ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने।
विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय महाहंसाय धीमहि॥ २८

शास्त्र ही पिता है; क्योंकि दूसरा जन्म शास्त्रके द्वारा ही होता है और उसका आदेश कर्मोंमें लगना नहीं, उनसे निवृत्त होना है। इसे जो नहीं जानता, वह गुणमय शब्द आदि विषयोंपर विश्वास कर लेता है। अब वह कर्मोंसे निवृत्त होनेकी आज्ञाका पालन भला कैसे कर सकता है?'॥ २०॥ परीक्षित्! हर्यश्वोंने एक मतसे यही निश्चय किया और नारदजीकी परिक्रमा करके वे उस मोक्षपथके पथिक बन गये, जिसपर चलकर फिर लौटना नहीं पड़ता॥ २१॥ इसके बाद देवर्षि नारद स्वरब्रह्ममें—संगीतलहरीमें अभिव्यक्त हुए, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंमें अपने चित्तको अखण्डरूपसे स्थिर करके लोक-लोकान्तरोंमें विचरने लगे॥ २२॥

परीक्षित्! जब दक्षप्रजापतिको मालूम हुआ कि मेरे शीलवान् पुत्र नारदके उपदेशसे कर्तव्यच्युत हो गये हैं, तब वे शोकसे व्याकुल हो गये। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। सचमुच अच्छी सन्तानका होना भी शोकका ही कारण है॥ २३॥ ब्रह्माजीने दक्षप्रजापतिको बड़ी सान्त्वना दी। तब उन्होंने पंचजन-नन्दिनी असिक्नीके गर्भसे एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये। उनका नाम था शबलाश्व॥ २४॥ वे भी अपने पिता दक्षप्रजापतिकी आज्ञा पाकर प्रजासृष्टिके उद्देश्यसे तप करनेके लिये उसी नारायणसरोवरपर गये, जहाँ जाकर उनके बड़े भाइयोंने सिद्धि प्राप्त की थी॥ २५॥ शबलाश्वोंने वहाँ जाकर उस सरोवरमें स्नान किया। स्नानमात्रसे ही उनके अन्तःकरणके सारे मल धुल गये। अब वे परब्रह्मस्वरूप प्रणवका जप करते हुए महान् तपस्यामें लग गये॥ २६॥ कुछ महीनोंतक केवल जल और कुछ महीनोंतक केवल हवा पीकर ही उन्होंने 'हम नमस्कारपूर्वक ओंकारस्वरूप भगवान् नारायणका ध्यान करते हैं, जो विशुद्धचित्तमें निवास करते हैं सबके अन्तर्यामी हैं तथा सर्वव्यापक एवं परमहंसस्वरूप हैं।'—इस मन्त्रका अभ्यास करते हुए मन्त्राधिपति भगवान्की आराधना की॥ २७-२८॥

१. प्रा० पा०—ततः स पाञ्च०।

इति तानपि राजेन्द्र प्रतिसर्गधियो मुनिः।
उपेत्य नारदः प्राह वाचःकूटानि पूर्ववत्॥ २९

दाक्षायणाः संश्रृणुत गदतो निगमं मम।
अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलाः॥ ३०

भ्रातॄणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित्।
स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते॥ ३१

एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः।
तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातॄणामेव मारिष॥ ३२

सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः।
नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव॥ ३३

एतस्मिन् काल उत्पातान् बहून् पश्यन् प्रजापतिः।
पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाशृणोत्॥ ३४

चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः।
देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः॥ ३५

दक्ष उवाच

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया।
असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः॥ ३६

ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम्।
विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः॥ ३७

परीक्षित्! इस प्रकार दक्षके पुत्र शबलाश्व प्रजासृष्टिके लिये तपस्यामें संलग्न थे। उनके पास भी देवर्षि नारद आये और उन्होंने पहलेके समान ही कूट वचन कहे॥ २९॥ उन्होंने कहा—'दक्षप्रजापतिके पुत्रो! मैं तुमलोगोंको जो उपदेश देता हूँ, उसे सुनो। तुमलोग तो अपने भाइयोंसे बड़ा प्रेम करते हो। इसलिये उनके मार्गका अनुसन्धान करो॥ ३०॥ जो धर्मज्ञ भाई अपने बड़े भाइयोंके श्रेष्ठ मार्गका अनुसरण करता है, वही सच्चा भाई है! वह पुण्यवान् पुरुष परलोकमें मरुद्गणोंके साथ आनन्द भोगता है॥ ३१॥ परीक्षित्! शबलाश्वोंको इस प्रकार उपदेश देकर देवर्षि नारद वहाँसे चले गये और उन लोगोंने भी अपने भाइयोंके मार्गका ही अनुगमन किया; क्योंकि नारदजीका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता॥ ३२॥ वे उस पथके पथिक बने, जो अन्तर्मुखी वृत्तिसे प्राप्त होनेयोग्य, अत्यन्त सुन्दर और भगवत्प्राप्तिके अनुकूल है। वे बीती हुई रात्रियोंके समान न तो उस मार्गसे अबतक लौटे हैं और न आगे लौटेंगे ही॥ ३३॥

दक्षप्रजापतिने देखा कि आजकल बहुत-से अशकुन हो रहे हैं। उनके चित्तमें पुत्रोंके अनिष्टकी आशंका हो आयी। इतनेमें ही उन्हें मालूम हुआ कि पहलेकी भाँति अबकी बार भी नारदजीने मेरे पुत्रोंको चौपट कर दिया॥ ३४॥ उन्हें अपने पुत्रोंकी कर्तव्यच्युतिसे बड़ा शोक हुआ और वे नारदजीपर बड़े क्रोधित हुए। उनके मिलनेपर क्रोधके मारे दक्षप्रजापतिके होठ फड़कने लगे और वे आवेशमें भरकर नारदजीसे बोले॥ ३५॥

दक्षप्रजापतिने कहा—ओ दुष्ट! तुमने झूठमूठ साधुओंका बाना पहन रखा है। हमारे भोले-भाले बालकोंको भिक्षुकोंका मार्ग दिखाकर तुमने हमारा बड़ा अपकार किया है॥ ३६॥

अभी उन्होंने ब्रह्मचर्यसे ऋषि-ऋण, यज्ञसे देव-ऋण और पुत्रोत्पत्तिसे पितृ-ऋण नहीं उतारा था। उन्हें अभी कर्मफलकी नश्वरताके सम्बन्धमें भी कुछ विचार नहीं था। परन्तु पापात्मन्! तुमने उनके दोनों लोकोंका सुख चौपट कर दिया॥ ३७॥

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः॥ ३८

सचमुच तुम्हारे हृदयमें दयाका नाम भी नहीं है। तुम इस प्रकार बच्चोंकी बुद्धि बिगाड़ते फिरते हो। तुमने भगवान्‌के पार्षदोंमें रहकर उनकी कीर्तिमें कलंक ही लगाया। सचमुच तुम बड़े निर्लज्ज हो॥ ३८॥

ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातराः।
ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम्॥ ३९

मैं जानता हूँ कि भगवान्‌के पार्षद सदा-सर्वदा दुःखी प्राणियोंपर दया करनेके लिये व्यग्र रहते हैं। परन्तु तुम प्रेमभावका विनाश करनेवाले हो। तुम उन लोगोंसे भी वैर करते हो, जो किसीसे वैर नहीं करते॥ ३९॥

नेत्थं पुंसां विरागः स्यात् त्वया केवलिना मृषा।
मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम्॥ ४०

यदि तुम ऐसा समझते हो कि वैराग्यसे ही स्नेहपाश—विषयासक्तिका बन्धन कट सकता है, तो तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है; क्योंकि तुम्हारे जैसे झूठमूठ वैराग्यका स्वाँग भरनेवालोंसे किसीको वैराग्य नहीं हो सकता॥ ४०॥

नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः॥ ४१

नारद! मनुष्य विषयोंका अनुभव किये बिना उनकी कटुता नहीं जान सकता। इसलिये उनकी दुःखरूपताका अनुभव होनेपर स्वयं जैसा वैराग्य होता है, वैसा दूसरोंके बहकानेसे नहीं होता॥ ४१॥

यन्नस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम्।
कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम्॥ ४२

हमलोग सद्‌गृहस्थ हैं, अपनी धर्ममर्यादाका पालन करते हैं। एक बार पहले भी तुमने हमारा असह्य अपकार किया था। तब हमने उसे सह लिया॥ ४२॥

तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम्॥ ४३

तुम तो हमारी वंशपरम्पराका उच्छेद करनेपर ही उतारू हो रहे हो। तुमने फिर हमारे साथ वही दुष्टताका व्यवहार किया। इसलिये मूढ़! जाओ, लोक-लोकान्तरोंमें भटकते रहो। कहीं भी तुम्हारे लिये ठहरनेको ठौर नहीं होगी॥ ४३॥

श्रीशुक उवाच

प्रतिजग्राह तद्बाढं नारदः साधुसम्मतः।
एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्॥ ४४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! संतशिरोमणि देवर्षि नारदने 'बहुत अच्छा' कहकर दक्षका शाप स्वीकार कर लिया। संसारमें बस, साधुता इसीका नाम है कि बदला लेनेकी शक्ति रहनेपर भी दूसरेका किया हुआ अपकार सह लिया जाय॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे नारदशापो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

दक्षप्रजापतिकी साठ कन्याओंके वंशका विवरण

श्रीशुक उवाच

ततः प्राचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयम्भुवा।
षष्टिं संजनयामास दुहितॄः पितृवत्सलाः॥ १
दश धर्माय कायेन्दोर्द्विषट् त्रिणव दत्तवान्।
भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापराः॥ २
नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानां च मे शृणु।
यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः॥ ३
भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती।
वसुर्मुहूर्ता सङ्कल्पा धर्मपत्न्यः सुतान् शृणु॥ ४
भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप।
विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्नवः॥ ५
ककुभः सङ्कटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः।
भुवो दुर्गाणि जामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत्॥ ६
विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजांस्तान् प्रचक्षते।
साध्योगणस्तु साध्याया अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः॥ ७
मरुत्वांश्च जयन्तश्च मरुत्वत्यां बभूवतुः।
जयन्तो वासुदेवांश उपेन्द्र इति यं विदुः॥ ८
मौहूर्तिका देवगणा मुहूर्तायाश्च जज्ञिरे।
ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम्॥ ९
सङ्कल्पायाश्च सङ्कल्पः कामः सङ्कल्पजः स्मृतः।
वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु॥ १०
द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वसुर्विभावसुः।
द्रोणस्याभिमतेः पत्न्या हर्षशोकभयादयः॥ ११
प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः।
ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः॥ १२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! तदनन्तर ब्रह्माजीके बहुत अनुनय-विनय करनेपर दक्षप्रजापतिने अपनी पत्नी असिक्नीके गर्भसे साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। वे सभी अपने पिता दक्षसे बहुत प्रेम करती थीं॥ १॥ दक्षप्रजापतिने उनमेंसे दस कन्याएँ धर्मको, तेरह कश्यपको, सत्ताईस चन्द्रमाको, दो भूतको, दो अंगिराको, दो कृशाश्वको और शेष चार तार्क्ष्यनामधारी कश्यपको ही ब्याह दीं॥ २॥ परीक्षित्! तुम इन दक्षकन्याओं और इनकी सन्तानोंके नाम मुझसे सुनो। इन्हींकी वंशपरम्परा तीनों लोकोंमें फैली हुई है॥ ३॥

धर्मकी दस पत्नियाँ थीं—भानु, लम्बा, ककुभ्, जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता और संकल्पा। इनके पुत्रोंके नाम सुनो॥ ४॥ राजन्! भानुका पुत्र देवऋषभ और उसका इन्द्रसेन था। लम्बाका पुत्र हुआ विद्योत और उसके मेघगण॥ ५॥ ककुभ्का पुत्र हुआ संकट, उसका कीकट और कीकटके पुत्र हुए पृथ्वीके सम्पूर्ण दुर्गों (किलों)-के अभिमानी देवता। जामिके पुत्रका नाम था स्वर्ग और उसका पुत्र हुआ नन्दी॥ ६॥ विश्वाके विश्वेदेव हुए। उनके कोई सन्तान न हुई। साध्यासे साध्यगण हुए और उनका पुत्र हुआ अर्थसिद्धि॥ ७॥

मरुत्वतीके दो पुत्र हुए—मरुत्वान् और जयन्त। जयन्त भगवान् वासुदेवके अंश हैं, जिन्हें लोग उपेन्द्र भी कहते हैं॥ ८॥ मुहूर्तासे मूहूर्तके अभिमानी देवता उत्पन्न हुए। ये अपने-अपने मूहूर्तमें जीवोंको उनके कर्मानुसार फल देते हैं॥ ९॥ संकल्पाका पुत्र हुआ संकल्प और उसका काम। वसुके पुत्र आठों वसु हुए। उनके नाम मुझसे सुनो॥ १०॥ द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु। द्रोणकी पत्नीका नाम है अभिमति। उससे हर्ष, शोक, भय आदिके अभिमानी देवता उत्पन्न हुए॥ ११॥ प्राणकी पत्नी ऊर्जस्वतीके गर्भसे सह, आयु और पुरोजव नामके तीन पुत्र हुए। ध्रुवकी पत्नी धरणीने अनेक नगरोंके अभिमानी देवता उत्पन्न किये॥ १२॥

अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः।
अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः॥ १३

स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः।
दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला॥ १४

वसोराङ्गिरसीपुत्रो विश्वकर्मा कृतीपतिः।
ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद् विश्वे साध्या मनोः सुताः॥ १५

विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम्।
पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु॥ १६

सरूपासूत भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः।
रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः॥ १७

अजैकपादहिर्बुध्न्यो बहुरूपो महानिति।
रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोरा भूतविनायकाः॥ १८

प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितॄनथ।
अथर्वाङ्गिरसं वेदं पुत्रत्वे चाकरोत् सती॥ १९

कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूम्रकेशमजीजनत्।
धिषणायां वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम्॥ २०

तार्क्ष्यस्य विनता कद्रूः पतङ्गी यामिनीति च।
पतङ्ग्यसूत पतगान् यामिनी शलभानथ॥ २१

सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद् यज्ञेशवाहनम्।
सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः॥ २२

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत।
दक्षशापात् सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः॥ २३

अर्ककी पत्नी वासनाके गर्भसे तर्ष (तृष्णा) आदि पुत्र हुए। अग्नि नामक वसुकी पत्नी धाराके गर्भसे द्रविणक आदि बहुत-से पुत्र उत्पन्न हुए॥ १३॥ कृत्तिकापुत्र स्कन्द भी अग्निसे ही उत्पन्न हुए। उनसे विशाख आदिका जन्म हुआ। दोषकी पत्नी शर्वरीके गर्भसे शिशुमारका जन्म हुआ। वह भगवान्‌का कलावतार है॥ १४॥ वसुकी पत्नी आङ्गिरसीसे शिल्पकलाके अधिपति विश्वकर्माजी हुए। विश्वकर्माके उनकी भार्या कृतीके गर्भसे चाक्षुष मनु हुए और उनके पुत्र विश्वेदेव एवं साध्यगण हुए॥ १५॥ विभावसुकी पत्नी उषासे तीन पुत्र हुए—व्युष्ट, रोचिष् और आतप। उनमेंसे आतपके पंचयाम (दिवस) नामक पुत्र हुआ, उसीके कारण सब जीव अपने-अपने कार्योंमें लगे रहते हैं॥ १६॥ भूतकी पत्नी दक्षनन्दिनी सरूपाने कोटि-कोटि रुद्रगण उत्पन्न किये। इनमें रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, बहुरूप, और महान्—ये ग्यारह मुख्य हैं। भूतकी दूसरी पत्नी भूतासे भयंकर भूत और विनायकादिका जन्म हुआ। ये सब ग्यारहवें प्रधान रुद्र महान्‌के पार्षद हुए॥ १७-१८॥

अंगिरा प्रजापतिकी प्रथम पत्नी स्वधाने पितृगणको उत्पन्न किया और दूसरी पत्नी सतीने अथर्वांगिरस नामक वेदको ही पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया॥ १९॥ कृशाश्वकी पत्नी अर्चिसे धूम्रकेशका जन्म हुआ और धिषणासे चार पुत्र हुए—वेदशिरा, देवल, वयुन और मनु॥ २०॥ तार्क्ष्यनामधारी कश्यपकी चार स्त्रियाँ थीं—विनता, कद्रू, पतंगी और यामिनी। पतंगीसे पक्षियोंका और यामिनीसे शलभों (पतिंगों)-का जन्म हुआ॥ २१॥ विनताके पुत्र गरुड़ हुए, ये ही भगवान् विष्णुके वाहन हैं। विनताके ही दूसरे पुत्र अरुण हैं, जो भगवान् सूर्यके सारथि हैं। कद्रूसे अनेकों नाग उत्पन्न हुए॥ २२॥

परीक्षित्! कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्राभिमानिनी देवियाँ चन्द्रमाकी पत्नियाँ हैं। रोहिणीसे विशेष प्रेम करनेके कारण चन्द्रमाको दक्षने शाप दे दिया, जिससे उन्हें क्षयरोग हो गया था। उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई॥ २३॥

पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः ।
शृणु नामानि लोकानां मातॄणां शङ्कराणि च ॥ २४
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ॥ २५
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः ।
तिमेर्यादोगणा आसन् श्वापदाः सरमासुताः ॥ २६
सुरभेर्महिषागावो ये चान्ये द्विशफा नृप ।
ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः ॥ २७
दन्दशूकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशात्मजाः ।
इलाया भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः ॥ २८
अरिष्टायाश्च गन्धर्वाः काष्ठाया द्विशफेतराः ।
सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकान् शृणु ॥ २९
द्विमूर्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः ।
अयोमुखः शङ्कुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः ॥ ३०
पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापनः ।
धूम्रकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च दुर्जयः ॥ ३१
स्वर्भानोः सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचिः किल ।
वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली ॥ ३२
वैश्वानरसुता याश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः ।
उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ॥ ३३
उपदानवीं हिरण्याक्षः क्रतुर्हयशिरां नृप ।
पुलोमां कालकां च द्वे वैश्वानरसुते तु कः ॥ ३४
उपयेमेऽथ भगवान् कश्यपो ब्रह्मचोदितः ।
पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः ॥ ३५
तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता ।
जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः ॥ ३६

उन्होंने दक्षको फिरसे प्रसन्न करके कृष्णपक्षकी क्षीण कलाओंके शुक्लपक्षमें पूर्ण होनेका वर तो प्राप्त कर लिया, (परन्तु नक्षत्राभिमानी देवियोंसे उन्हें कोई सन्तान न हुई) अब तुम कश्यपपत्नियोंके मंगलमय नाम सुनो। वे लोकमाताएँ हैं। उन्हींसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। उनके नाम हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि। इनमें तिमिके पुत्र हैं—जलचर जन्तु और सरमाके बाघ आदि हिंसक जीव॥ २४—२६॥ सुरभिके पुत्र हैं—भैंस, गाय तथा दूसरे दो खुरवाले पशु। ताम्राकी सन्तान हैं—बाज, गीध आदि शिकारी पक्षी। मुनिसे अप्सराएँ उत्पन्न हुईं॥ २७॥ क्रोधवशाके पुत्र हुए—साँप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु। इलासे वृक्ष, लता आदि पृथ्वीमें उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियाँ और सुरसासे यातुधान (राक्षस) ॥ २८॥ अरिष्टासे गन्धर्व और काष्ठासे घोड़े आदि एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। दनुके इकसठ पुत्र हुए। उनमें प्रधान-प्रधानके नाम सुनो॥ २९॥

द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शंकुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोमा, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति और दुर्जय॥ ३०-३१॥ स्वर्भानुकी कन्या सुप्रभासे नमुचिने और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे महाबली नहुषनन्दन ययातिने विवाह किया॥ ३२॥ दनुके पुत्र वैश्वानरकी चार सुन्दरी कन्याएँ थीं। इनके नाम थे—उपदानवी, हयशिरा, पुलोमा और कालका॥ ३३॥ इनमेंसे उपदानवीके साथ हिरण्याक्षका और हयशिराके साथ क्रतुका विवाह हुआ। ब्रह्माजीकी आज्ञासे प्रजापति भगवान् कश्यपने ही वैश्वानरकी शेष दो पुत्रियों—पुलोमा और कालकाके साथ विवाह किया। उनसे पौलोम और कालकेय नामके साठ हजार रणवीर दानव हुए। इन्हींका दूसरा नाम निवातकवच था। ये यज्ञकर्ममें विघ्न डालते थे, इसलिये परीक्षित्! तुम्हारे दादा अर्जुनने अकेले ही उन्हें इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये मार डाला। यह उन दिनोंकी बात है, जब अर्जुन स्वर्गमें गये हुए थे॥ ३४—३६॥

विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतं चैकमजीजनत्।
राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागतः॥ ३७

अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः।
यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावतरद् विभुः॥ ३८

विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः॥ ३९

विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयत वै मनुम्।
मिथुनं च महाभागा यमं देवं यमीं तथा।
सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि॥ ४०

छाया शनैश्चरं लेभे सावर्णिं च मनुं ततः।
कन्यां च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम्॥ ४१

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः।
यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता॥ ४२

पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत् पुरा।
योऽसौ दक्षाय कुपितं जहास विवृतद्विजः॥ ४३

त्वष्टुर्दैत्यानुजा भार्या रचना नाम कन्यका।
संनिवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान्॥ ४४

तं वव्रिरे सुरगणा स्वस्त्रीयं द्विषतामपि।
विमतेन परित्यक्ता गुरुणाऽऽङ्गिरसेन यत्॥ ४५

विप्रचित्तिकी पत्नी सिंहिकाके गर्भसे एक सौ एक पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सबसे बड़ा था राहु, जिसकी गणना ग्रहोंमें हो गयी। शेष सौ पुत्रोंका नाम केतु था॥ ३७॥ परीक्षित्! अब क्रमशः अदितिकी वंशपरम्परा सुनो। इस वंशमें सर्वव्यापक देवाधिदेव नारायणने अपने अंशसे वामनरूपमें अवतार लिया था॥ ३८॥ अदितिके पुत्र थे—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, इन्द्र और त्रिविक्रम (वामन)। यही बारह आदित्य कहलाये॥ ३९॥ विवस्वान्की पत्नी महाभाग्यवती संज्ञाके गर्भसे श्राद्धदेव (वैवस्वत) मनु एवं यम-यमीका जोड़ा पैदा हुआ! संज्ञाने ही घोड़ीका रूप धारण करके भगवान् सूर्यके द्वारा भूलोकमें दोनों अश्विनीकुमारोंको जन्म दिया॥ ४०॥

विवस्वान्की दूसरी पत्नी थी छाया। उसके शनैश्चर और सावर्णि मनु नामके दो पुत्र तथा तपती नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। तपतीने संवरणको पतिरूपमें वरण किया॥ ४१॥ अर्यमाकी पत्नी मातृका थी। उसके गर्भसे चर्षणी नामक पुत्र हुए। वे कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे युक्त थे। इसलिये ब्रह्माजीने उन्हींके आधारपर मनुष्यजातिकी (ब्राह्मणादि वर्णोंकी) कल्पना की॥ ४२॥ पूषाके कोई सन्तान न हुई। प्राचीनकालमें जब शिवजी दक्षपर क्रोधित हुए थे, तब पूषा दाँत दिखाकर हँसने लगे थे; इसलिये वीरभद्रने इनके दाँत तोड़ दिये थे। तबसे पूषा पिसा हुआ अन्न ही खाते हैं॥ ४३॥ दैत्योंकी छोटी बहिन कुमारी रचना त्वष्टाकी पत्नी थी। रचनाके गर्भसे दो पुत्र हुए—संनिवेश और पराक्रमी विश्वरूप॥ ४४॥ इस प्रकार विश्वरूप यद्यपि शत्रुओंके भानजे थे—फिर भी जब देवगुरु बृहस्पतिजीने इन्द्रसे अपमानित होकर देवताओंका परित्याग कर दिया, तब देवताओंने विश्वरूपको ही अपना पुरोहित बनाया था॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
षष्ठस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

बृहस्पतिजीके द्वारा देवताओंका त्याग और विश्वरूपका देवगुरुके रूपमें वरण

राजोवाच

कस्य हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः।
एतदाचक्ष्व भगवञ्छिष्याणामक्रमं गुरौ॥ १

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! देवाचार्य बृहस्पतिजीने अपने प्रिय शिष्य देवताओंको किस कारण त्याग दिया था? देवताओंने अपने गुरुदेवका ऐसा कौन-सा अपराध कर दिया था, आप कृपा करके मुझे बतलाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः।
मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैर्ऋभुभिर्नृप॥ २

विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः।
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः॥ ३

विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः।
निषेव्यमाणो मघवान् स्तूयमानश्च भारत॥ ४

उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः।
पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा॥ ५

युक्तश्चान्यैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः।
विराजमानः पौलोम्या सहार्धासनया भृशम्॥ ६

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन्! इन्द्रको त्रिलोकीका ऐश्वर्य पाकर घमण्ड हो गया था। इस घमण्डके कारण वे धर्ममर्यादाका, सदाचारका उल्लंघन करने लगे थे। एक दिनकी बात है, वे भरी सभामें अपनी पत्नी शचीके साथ ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए थे, उनचास मरुद्‌गण, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, आदित्य, ऋभुगण, विश्वेदेव, साध्यगण और दोनों अश्विनीकुमार उनकी सेवामें उपस्थित थे। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, ब्रह्मवादी मुनिगण, विद्याधर, अप्सराएँ, किन्नर, पक्षी और नाग उनकी सेवा और स्तुति कर रहे थे। सब ओर ललित स्वरसे देवराज इन्द्रकी कीर्तिका गान हो रहा था। ऊपरकी ओर चन्द्रमण्डलके समान सुन्दर श्वेत छत्र शोभायमान था। चँवर, पंखे आदि महाराजोचित सामग्रियाँ यथास्थान सुसज्जित थीं। इस दिव्य समाजमें देवराज बड़े ही सुशोभित हो रहे थे॥ २—६॥ इसी समय देवराज इन्द्र और समस्त देवताओंके परम आचार्य बृहस्पतिजी वहाँ आये। उन्हें सुर-असुर सभी नमस्कार करते हैं। इन्द्रने देख लिया कि वे सभामें आये हैं, परन्तु वे न तो खड़े हुए और न आसन आदि देकर गुरुका सत्कार ही किया। यहाँतक कि वे अपने आसनसे हिले-डुलेतक नहीं॥ ७-८॥ त्रिकालदर्शी समर्थ बृहस्पतिजीने देखा कि यह ऐश्वर्यमदका दोष है! बस, वे झटपट वहाँसे निकलकर चुपचाप अपने घर चले आये॥ ९॥ परीक्षित्! उसी समय देवराज इन्द्रको चेत हुआ। वे समझ गये कि मैंने अपने गुरुदेवकी अवहेलना की है। वे भरी सभामें स्वयं ही अपनी निन्दा करने लगे॥ १०॥

स यदा परमाचार्यं देवानामात्मनश्च ह।
नाभ्यनन्दत संप्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः॥ ७

वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम्।
नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम्॥ ८

ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः।
आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वान् श्रीमदविक्रियाम्॥ ९

तर्ह्येव प्रतिबुद्ध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः।
गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना॥ १०

अहो बत ममासाधु कृतं वै दभ्रबुद्धिना।
यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः॥ ११

को गृध्येत् पण्डितो लक्ष्मीं त्रिविष्टपपतेरपि।
ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः॥ १२

ये पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन् न कञ्चन।
प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदुः॥ १३

तेषां कुपथदेष्टॄणां पततां तमसि ह्यधः।
ये श्रद्दध्युर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव॥ १४

अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम्।
प्रसादयिष्ये निशठः शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन्॥ १५

एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान् गृहात्।
बृहस्पतिर्गतोऽदृष्टां गतिमध्यात्ममायया॥ १६

गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन् भगवान् स्वराट्।
ध्यायन् धिया सुरैर्युक्तः शर्म नालभतात्मनः॥ १७

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम्।
देवान् प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः॥ १८

तैर्विसृष्टेषुभिस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्नाङ्गोरुबाहवः।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः॥ १९

तांस्तथाभ्यर्दितान् वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः।
कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन्॥ २०

'हाय-हाय! बड़े खेदकी बात है कि भरी सभामें मूर्खतावश मैंने ऐश्वर्यके नशेमें चूर होकर अपने गुरुदेवका तिरस्कार कर दिया। सचमुच मेरा यह कर्म अत्यन्त निन्दनीय है॥ ११॥ भला, कौन विवेकी पुरुष इस स्वर्गकी राजलक्ष्मीको पानेकी इच्छा करेगा? देखो तो सही, आज इसीने मुझ देवराजको भी असुरोंके-से रजोगुणी भावसे भर दिया॥ १२॥ जो लोग यह कहते हैं कि सार्वभौम राजसिंहासनपर बैठा हुआ सम्राट् किसीके आनेपर राजसिंहासनसे न उठे, वे धर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जानते॥ १३॥ ऐसा उपदेश करनेवाले कुमार्गकी ओर ले जानेवाले हैं। वे स्वयं घोर नरकमें गिरते हैं। उनकी बातपर जो लोग विश्वास करते हैं, वे पत्थरकी नावकी तरह डूब जाते हैं॥ १४॥ मेरे गुरुदेव बृहस्पतिजी ज्ञानके अथाह समुद्र हैं। मैंने बड़ी शठता की। अब मैं उनके चरणोंमें अपना माथा टेककर उन्हें मनाऊँगा'॥ १५॥

परीक्षित्! देवराज इन्द्र इस प्रकार सोच ही रहे थे कि भगवान् बृहस्पतिजी अपने घरसे निकलकर योगबलसे अन्तर्धान हो गये॥ १६॥ देवराज इन्द्रने अपने गुरुदेवको बहुत ढूँढ़ा-ढुँढ़वाया; परन्तु उनका कहीं पता न चला। तब वे गुरुके बिना अपनेको सुरक्षित न समझकर देवताओंके साथ अपनी बुद्धिके अनुसार स्वर्गकी रक्षाका उपाय सोचने लगे, परन्तु वे कुछ भी सोच न सके! उनका चित्त अशान्त ही बना रहा॥ १७॥ परीक्षित्! दैत्योंको भी देवगुरु बृहस्पति और देवराज इन्द्रकी अनबनका पता लग गया। तब उन मदोन्मत्त और आततायी असुरोंने अपने गुरु शुक्राचार्यके आदेशानुसार देवताओंपर विजय पानेके लिये धावा बोल दिया॥ १८॥ उन्होंने देवताओंपर इतने तीखे-तीखे बाणोंकी वर्षा की कि उनके मस्तक, जंघा, बाहु आदि अंग कट-कटकर गिरने लगे। तब इन्द्रके साथ सभी देवता सिर झुकाकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये॥ १९॥ स्वयम्भू एवं समर्थ ब्रह्माजीने देखा कि देवताओंकी तो सचमुच बड़ी दुर्दशा हो रही है। अतः उनका हृदय अत्यन्त करुणासे भर गया। वे देवताओंको धीरज बँधाते हुए कहने लगे॥ २०॥

ब्रह्मोवाच

अहो बत सुरश्रेष्ठ ह्यभद्रं वः कृतं महत्।
ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत॥ २१

तस्यायमनयस्यासीत् परेभ्यो वः पराभवः।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत् सुराः॥ २२

मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात्।
सम्प्रत्युपचितान् भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः।
आददीरन् निलयनं ममापि भृगुदेवताः॥ २३

त्रिविष्टपं किं गणयन्त्यभेद्य-
मन्त्रा भृगूणामनुशिक्षितार्थाः।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां
भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम्॥ २४

तद् विश्वरूपं भजताशु विप्रं
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम्।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म॥ २५

श्रीशुक उवाच

त एवमुदिता राजन् ब्रह्मणा विगतज्वराः।
ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन्॥ २६

देवा ऊचुः

वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते।
कामः सम्पाद्यतां तात पितॄणां समयोचितः॥ २७

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! यह बड़े खेदकी बात है। सचमुच तुमलोगोंने बहुत बुरा काम किया। हरे, हरे! तुमलोगोंने ऐश्वर्यके मदसे अंधे होकर ब्रह्मज्ञानी, वेदज्ञ एवं संयमी ब्राह्मणका सत्कार नहीं किया॥ २१॥ देवताओ! तुम्हारी उसी अनीतिका यह फल है कि आज समृद्धिशाली होनेपर भी तुम्हें अपने निर्बल शत्रुओंके सामने नीचा देखना पड़ा॥ २२॥ देवराज! देखो, तुम्हारे शत्रु भी पहले अपने गुरुदेव शुक्राचार्यका तिरस्कार करनेके कारण अत्यन्त निर्बल हो गये थे, परन्तु अब भक्तिभावसे उनकी आराधना करके वे फिर धन-जनसे सम्पन्न हो गये हैं। देवताओ! मुझे तो ऐसा मालूम पड़ रहा है कि शुक्राचार्यको अपना आराध्यदेव माननेवाले ये दैत्यलोग कुछ दिनोंमें मेरा ब्रह्मलोक भी छीन लेंगे॥ २३॥ भृगुवंशियोंने इन्हें अर्थशास्त्रकी पूरी-पूरी शिक्षा दे रखी है। ये जो कुछ करना चाहते हैं, उसका भेद तुमलोगोंको नहीं मिल पाता। उनकी सलाह बहुत गुप्त होती है। ऐसी स्थितिमें वे स्वर्गको तो समझते ही क्या हैं, वे चाहे जिस लोकको जीत सकते हैं। सच है, जो श्रेष्ठ मनुष्य ब्राह्मण, गोविन्द और गौओंको अपना सर्वस्व मानते हैं और जिनपर उनकी कृपा रहती है, उनका कभी अमंगल नहीं होता॥ २४॥ इसलिये अब तुमलोग शीघ्र ही त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके पास जाओ और उन्हींकी सेवा करो। वे सच्चे ब्राह्मण, तपस्वी और संयमी हैं। यदि तुमलोग उनके असुरोंके प्रति प्रेमको क्षमा कर सकोगे और उनका सम्मान करोगे, तो वे तुम्हारा काम बना देंगे॥ २५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब ब्रह्माजीने देवताओंसे इस प्रकार कहा, तब उनकी चिन्ता दूर हो गयी। वे त्वष्टाके पुत्र विश्वरूप ऋषिके पास गये और उन्हें हृदयसे लगाकर यों कहने लगे॥ २६॥

देवताओंने कहा—बेटा विश्वरूप! तुम्हारा कल्याण हो। हम तुम्हारे आश्रमपर अतिथिके रूपमें आये हैं। हम एक प्रकारसे तुम्हारे पितर हैं। इसलिये तुम हमलोगोंकी समयोचित्त अभिलाषा पूर्ण करो॥ २७॥

पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम्।
अपि पुत्रवतां ब्रह्मन् किमुत ब्रह्मचारिणाम्॥ २८

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात् क्षितेस्तनुः॥ २९

दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम्।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥ ३०

तस्मात् पितॄणामार्तानामार्तिं परपराभवम्।
तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि॥ ३१

वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम्।
यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा॥ ३२

न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम्।
छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन् वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम्॥ ३३

ऋषिरुवाच

अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरोहित्ये महातपाः।
स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः श्लक्ष्णया गिरा॥ ३४

विश्वरूप उवाच

विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्च उपव्ययम्।
कथं नु मद्विधो नाथा लोकेशैरभियाचितम्।
प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः स एव स्वार्थ उच्यते॥ ३५

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनं
तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः।

जिन्हें सन्तान हो गयी हो, उन सत्पुत्रोंका भी सबसे बड़ा धर्म यही है कि वे अपने पिता तथा अन्य गुरुजनोंकी सेवा करें। फिर जो ब्रह्मचारी हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है॥ २८॥ वत्स! आचार्य वेदकी, पिता ब्रह्माजीकी, भाई इन्द्रकी और माता साक्षात् पृथ्वीकी मूर्ति होती है॥ २९॥ (इसी प्रकार) बहिन दयाकी, अतिथि धर्मकी, अभ्यागत अग्निकी और जगत्‌के सभी प्राणी अपने आत्माकी ही मूर्ति—आत्मस्वरूप होते हैं॥ ३०॥ पुत्र! हम तुम्हारे पितर हैं। इस समय शत्रुओंने हमें जीत लिया है। हम बड़े दुःखी हो रहे हैं। तुम अपने तपोबलसे हमारा यह दुःख, दारिद्र्य, पराजय टाल दो। पुत्र! तुम्हें हमलोगोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये॥ ३१॥ तुम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण हो, अतः जन्मसे ही हमारे गुरु हो। हम तुम्हें आचार्यके रूपमें वरण करके तुम्हारी शक्तिसे अनायास ही शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेंगे॥ ३२॥

पुत्र! आवश्यकता पड़नेपर अपनेसे छोटोंका पैर छूना भी निन्दनीय नहीं है। वेदज्ञानको छोड़कर केवल अवस्था बड़प्पनका कारण भी नहीं है॥ ३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवताओंने इस प्रकार विश्वरूपसे पुरोहिती करनेकी प्रार्थना की, तब परम तपस्वी विश्वरूपने प्रसन्न होकर उनसे अत्यन्त प्रिय और मधुर शब्दोंमें कहा॥ ३४॥

विश्वरूपने कहा—पुरोहितीका काम ब्रह्मतेजको क्षीण करनेवाला है। इसलिये धर्मशील महात्माओंने उसकी निन्दा की है। किन्तु आप मेरे स्वामी हैं और लोकेश्वर होकर भी मुझसे उसके लिये प्रार्थना कर रहे हैं। ऐसी स्थितिमें मेरे-जैसा व्यक्ति भला, आपलोगोंको कोरा जवाब कैसे दे सकता है? मैं तो आपलोगोंका सेवक हूँ। आपकी आज्ञाओंका पालन करना ही मेरा स्वार्थ है॥ ३५॥

देवगण! हम अकिंचन हैं। खेती कट जानेपर अथवा अनाजकी हाट उठ जानेपर उसमेंसे गिरे हुए कुछ दाने चुन लाते हैं और उसीसे अपने देवकार्य तथा पितृकार्य सम्पन्न कर लेते हैं। लोकपालो! इस प्रकार जब मेरी जीविका चल ही रही है, तब मैं पुरोहितीकी

कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः
पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः॥ ३६

निन्दनीय वृत्ति क्यों करूँ? उससे तो केवल वे ही लोग प्रसन्न होते हैं, जिनकी बुद्धि बिगड़ गयी है॥ ३६॥

तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभिः प्रार्थितं कियत्।
भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये॥ ३७

जो काम आपलोग मुझसे कराना चाहते हैं वह निन्दनीय है—फिर भी मैं आपके कामसे मुँह नहीं मोड़ सकता; क्योंकि आपलोगोंकी माँग ही कितनी है। इसलिये आपलोगोंका मनोरथ मैं तन-मन-धनसे पूरा करूँगा॥ ३७॥

श्रीशुक उवाच

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः।
पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना॥ ३८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विश्वरूप बड़े तपस्वी थे। देवताओंसे ऐसी प्रतिज्ञा करके उनके वरण करनेपर वे बड़ी लगनके साथ उनकी पुरोहिती करने लगे॥ ३८॥

सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया।
आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः॥ ३९

यद्यपि शुक्राचार्यने अपने नीतिबलसे असुरोंकी सम्पत्ति सुरक्षित कर दी थी, फिर भी समर्थ विश्वरूपने वैष्णवी विद्याके प्रभावसे उनसे वह सम्पत्ति छीनकर देवराज इन्द्रको दिला दी॥ ३९॥

यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः।
तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः॥ ४०

राजन्! जिस विद्यासे सुरक्षित होकर इन्द्रने असुरोंकी सेनापर विजय प्राप्त की थी, उसका उदारबुद्धि विश्वरूपने ही उन्हें उपदेश किया था॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

नारायणकवचका उपदेश

राजोवाच

यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान् रिपुसैनिकान्।
क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम्॥ १
भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम्।
यथाऽऽततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे॥ २

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! देवराज इन्द्रने जिससे सुरक्षित होकर शत्रुओंकी चतुरंगिणी सेनाको खेल-खेलमें—अनायास ही जीतकर त्रिलोकीकी राजलक्ष्मीका उपभोग किया, आप उस नारायणकवचको मुझे सुनाइये और यह भी बतलाइये कि उन्होंने उससे सुरक्षित होकर रणभूमिमें किस प्रकार आक्रमणकारी शत्रुओंपर विजय प्राप्त की॥ १-२॥

श्रीशुक उवाच

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते।
नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु॥ ३

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! जब देवताओंने विश्वरूपको पुरोहित बना लिया, तब देवराज इन्द्रके प्रश्न करनेपर विश्वरूपने उन्हें नारायणकवचका उपदेश किया। तुम एकाग्रचित्तसे उसका श्रवण करो॥ ३॥

विश्वरूप उवाच

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः॥ ४

विश्वरूपने कहा—देवराज इन्द्र! भयका अवसर उपस्थित होनेपर नारायणकवच धारण करके अपने शरीरकी रक्षा कर लेनी चाहिये। उसकी विधि यह है

नारायणमयं वर्म सन्नह्येद् भय आगते।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि॥ ५

मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोङ्कारादीनि विन्यसेत्।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा॥ ६

करन्यासं ततः कुर्याद् द्वादशाक्षरविद्यया।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७

न्यसेद्धृदय ओङ्कारं विकारमनु मूर्धनि।
षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया दिशेत्॥ ८

वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद् बुधः॥ ९

सविसर्गं फडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत्।
ॐ विष्णवे नम इति॥ १०

आत्मानं परमं ध्यायेद् ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम्।
विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत्॥ ११

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां
न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे।
दरारिचर्मासिगदेषुचाप-
पाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः॥ १२

जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्ति-
र्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात्।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्
त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः॥ १३

कि पहले हाथ-पैर धोकर आचमन करे, फिर हाथमें कुशकी पवित्री धारण करके उत्तर मुँह बैठ जाय। इसके बाद कवचधारणपर्यन्त और कुछ न बोलनेका निश्चय करके पवित्रतासे '**ॐ नमो नारायणाय**' और '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'—इन मन्त्रोंके द्वारा हृदयादि अंगन्यास तथा अंगुष्ठादि करन्यास करे। पहले '**ॐ नमो नारायणाय**' इस अष्टाक्षर मन्त्रके ॐ आदि आठ अक्षरोंका क्रमशः पैरों, घुटनों, जाँघों, पेट, हृदय, वक्षःस्थल, मुख और सिरमें न्यास करे। अथवा पूर्वोक्त मन्त्रके मकारसे लेकर ॐकारपर्यन्त आठ अक्षरोंका सिरसे आरम्भ करके उन्हीं आठ अंगोंमें विपरीत क्रमसे न्यास करे ॥ ४—६ ॥

तदनन्तर '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रके ॐ आदि बारह अक्षरोंका दायीं तर्जनीसे बायीं तर्जनीतक दोनों हाथकी आठ अँगुलियों और दोनों अँगूठोंकी दो-दो गाँठोंमें न्यास करे॥ ७॥ फिर '**ॐ विष्णवे नमः**' इस मन्त्रके पहले अक्षर 'ॐ' का हृदयमें 'वि' का ब्रह्मरन्ध्रमें, 'ष्' का भौंहोंके बीचमें, 'ण' का चोटीमें, 'वे' का दोनों नेत्रोंमें और 'न' का शरीरकी सब गाँठोंमें न्यास करे। तदनन्तर '**ॐ मः अस्त्राय फट्**' कहकर दिग्बन्ध करे। इस प्रकार न्यास करनेसे इस विधिको जाननेवाला पुरुष मन्त्रस्वरूप हो जाता है॥ ८—१० ॥ इसके बाद समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण इष्टदेव भगवान्का ध्यान करे और अपनेको भी तद्रूप ही चिन्तन करे। तत्पश्चात् विद्या, तेज और तपःस्वरूप इस कवचका पाठ करे— ॥ ११ ॥

'भगवान् श्रीहरि गरुड़जीकी पीठपर अपने चरणकमल रखे हुए हैं। अणिमादि आठों सिद्धियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। आठ हाथोंमें शंख, चक्र, ढाल, तलवार, गदा, बाण, धनुष और पाश (फंदा) धारण किये हुए हैं। वे ही ॐकारस्वरूप प्रभु सब प्रकारसे, सब ओरसे मेरी रक्षा करें॥ १२॥ मत्स्यमूर्ति भगवान् जलके भीतर जलजन्तुओंसे और वरुणके पाशसे मेरी रक्षा करें। मायासे ब्रह्मचारीका रूप धारण करनेवाले वामनभगवान् स्थलपर और विश्वरूप श्रीत्रिविक्रमभगवान् आकाशमें मेरी रक्षा करें॥ १३॥

दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः
पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं
दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥ १४
रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः
स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः ।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे
सलक्ष्मणोऽव्याद् भरताग्रजोऽस्मान् ॥ १५
मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादा-
न्नारायणः पातु नरश्च हासात् ।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः
पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥ १६
सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा-
द्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात् ।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात्
कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात् ॥ १७

जिनके घोर अट्टहाससे सब दिशाएँ गूँज उठी थीं और गर्भवती दैत्यपत्नियोंके गर्भ गिर गये थे, वे दैत्य-यूथपतियोंके शत्रु भगवान् नृसिंह किले, जंगल, रणभूमि आदि विकट स्थानोंमें मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥ अपनी दाढ़ोंपर पृथ्वीको धारण करनेवाले यज्ञमूर्ति वराहभगवान् मार्गमें, परशुरामजी पर्वतोंके शिखरोंपर और लक्ष्मणजीके सहित भरतके बड़े भाई भगवान् रामचन्द्र प्रवासके समय मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥ भगवान् नारायण मारण-मोहन आदि भयंकर अभिचारों और सब प्रकारके प्रमादोंसे मेरी रक्षा करें। ऋषिश्रेष्ठ नर गर्वसे, योगेश्वर भगवान् दत्तात्रेय योगके विघ्नोंसे और त्रिगुणाधिपति भगवान् कपिल कर्मबन्धनोंसे मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥ परमर्षि सनत्कुमार कामदेवसे, हयग्रीवभगवान् मार्गमें चलते समय देवमूर्तियोंको नमस्कार आदि न करनेके अपराधसे, देवर्षि नारद सेवापराधोंसे* और भगवान् कच्छप सब प्रकारके नरकोंसे मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

* बत्तीस प्रकारके सेवापराध माने गये हैं—१-सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्के मन्दिरमें जाना। २-रथयात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना। ३-श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना। ४-अशुचि-अवस्थामें दर्शन करना। ५-एक हाथसे प्रणाम करना। ६-परिक्रमा करते समय भगवान्के सामने आकर कुछ न रुककर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना। ७-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना। ८-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना। ९-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने सोना। १०-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना। ११-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना। १२-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना। १३-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना। १४-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना। १५-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने कलह करना। १६-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना। १७-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना। १८-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना। १९-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना। २०-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना। २१-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना। २२-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना। २३-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना। २४-शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्की सेवा-पूजा करना। २५-श्रीभगवान्को निवेदित किये बिना किसी भी वस्तुका खाना-पीना। २६-जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्को न चढ़ाना। २७-किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्के व्यंजनादिके लिये देना। २८-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना। २९-श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना। ३०-गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना और ३१-अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना। ३२-किसी भी देवताकी निन्दा करना।

धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्याद्
द्वन्द्वाद् भयादृषभो निर्जितात्मा।
यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद्
बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः॥ १८
द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्
बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात्।
कल्किः कलेः कालमलात् प्रपातु
धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥ १९
मां केशवो गदया प्रातरव्याद्
गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्ति-
र्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः॥ २०
देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा
सायं त्रिधामावतु माधवो माम्।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे
निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः॥ २१
श्रीवत्सधामापररात्र ईशः
प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते
विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्तिः॥ २२
चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि
भ्रमत् समन्ताद् भगवत्प्रयुक्तम्।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु
कक्षं यथा वातसखो हुताशः॥ २३
गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन्॥ २४

भगवान् धन्वन्तरि कुपथ्यसे, जितेन्द्रिय भगवान् ऋषभदेव सुख-दुःख आदि भयदायक द्वन्द्वोंसे, यज्ञभगवान् लोकापवादसे, बलरामजी मनुष्यकृत कष्टोंसे और श्रीशेषजी क्रोधवश नामक सर्पोंके गणसे मेरी रक्षा करें॥ १८॥ भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी अज्ञानसे तथा बुद्धदेव पाखण्डियोंसे और प्रमादसे मेरी रक्षा करें। धर्मरक्षाके लिये महान् अवतार धारण करनेवाले भगवान् कल्कि पापबहुल कलिकालके दोषोंसे मेरी रक्षा करें॥ १९॥ प्रातःकाल भगवान् केशव अपनी गदा लेकर, कुछ दिन चढ़ आनेपर भगवान् गोविन्द अपनी बाँसुरी लेकर, दोपहरके पहले भगवान् नारायण अपनी तीक्ष्ण शक्ति लेकर और दोपहरको भगवान् विष्णु चक्रराज सुदर्शन लेकर मेरी रक्षा करें॥ २०॥ तीसरे पहरमें भगवान् मधुसूदन अपना प्रचण्ड धनुष लेकर मेरी रक्षा करें। सायंकालमें ब्रह्मा आदि त्रिमूर्तिधारी माधव, सूर्यास्तके बाद हृषीकेश, अर्धरात्रिके पूर्व तथा अर्धरात्रिके समय अकेले भगवान् पद्मनाभ मेरी रक्षा करें॥ २१॥ रात्रिके पिछले प्रहरमें श्रीवत्सलांछन श्रीहरि, उषाकालमें खड्गधारी भगवान् जनार्दन, सूर्योदयसे पूर्व श्रीदामोदर और सम्पूर्ण सन्ध्याओंमें कालमूर्ति भगवान् विश्वेश्वर मेरी रक्षा करें॥ २२॥

'सुदर्शन! आपका आकार चक्र (रथके पहिये)-की तरह है। आपके किनारेका भाग प्रलयकालीन अग्निके समान अत्यन्त तीव्र है। आप भगवान्‌की प्रेरणासे सब ओर घूमते रहते हैं। जैसे आग वायुकी सहायतासे सूखे घास-फूसको जला डालती है, वैसे ही आप हमारी शत्रु-सेनाको शीघ्र-से-शीघ्र जला दीजिये, जला दीजिये॥ २३॥ कौमोदकी गदा! आपसे छूटनेवाली चिनगारियोंका स्पर्श वज्रके समान असह्य है। आप भगवान् अजितकी प्रिया हैं और मैं उनका सेवक हूँ। इसलिये आप कूष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत और प्रेतादि ग्रहोंको अभी कुचल डालिये, कुचल डालिये तथा मेरे शत्रुओंको चूर-चूर कर दीजिये॥ २४॥

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृ-
पिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो
भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन्॥ २५
त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्य-
मीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय
द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम्॥ २६
यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा॥ २७
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात्।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः॥ २८
गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः।
रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः॥ २९
सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः।
बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः॥ ३०
यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत्।
सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः॥ ३१
यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम्।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया॥ ३२
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः।
पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः॥ ३३
विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्ता-
दन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः।
प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन
स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः॥ ३४

शंखश्रेष्ठ! आप भगवान् श्रीकृष्णके फूँकनेसे भयंकर शब्द करके मेरे शत्रुओंका दिल दहला दीजिये एवं यातुधान, प्रमथ, प्रेत, मातृका, पिशाच तथा ब्रह्मराक्षस आदि भयावने प्राणियोंको यहाँसे झटपट भगा दीजिये॥ २५॥ भगवान्की प्यारी तलवार! आपकी धार बहुत तीक्ष्ण है। आप भगवान्की प्रेरणासे मेरे शत्रुओंको छिन्न-भिन्न कर दीजिये। भगवान्की प्यारी ढाल! आपमें सैकड़ों चन्द्राकार मण्डल हैं। आप पाप-दृष्टि पापात्मा शत्रुओंकी आँखें बंद कर दीजिये और उन्हें सदाके लिये अंधा बना दीजिये॥ २६॥

सूर्य आदि ग्रह, धूमकेतु (पुच्छलतारे) आदि केतु, दुष्ट मनुष्य, सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु, दाढ़ोंवाले हिंसक पशु, भूत-प्रेत आदि तथा पापी प्राणियोंसे हमें जो-जो भय हों और जो-जो हमारे मंगलके विरोधी हों—वे सभी भगवान्के नाम, रूप तथा आयुधोंका कीर्तन करनेसे तत्काल नष्ट हो जायँ॥ २७-२८॥ बृहद्, रथन्तर आदि सामवेदीय स्तोत्रोंसे जिनकी स्तुति की जाती है, वे वेदमूर्ति भगवान् गरुड और विष्वक्सेनजी अपने नामोच्चारणके प्रभावसे हमें सब प्रकारकी विपत्तियोंसे बचायें॥ २९॥ श्रीहरिके नाम, रूप, वाहन, आयुध और श्रेष्ठ पार्षद हमारी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंको सब प्रकारकी आपत्तियोंसे बचायें॥ ३०॥

'जितना भी कार्य अथवा कारणरूप जगत् है, वह वास्तवमें भगवान् ही हैं'—इस सत्यके प्रभावसे हमारे सारे उपद्रव नष्ट हो जायँ॥ ३१॥ जो लोग ब्रह्म और आत्माकी एकताका अनुभव कर चुके हैं, उनकी दृष्टिमें भगवान्का स्वरूप समस्त विकल्पों—भेदोंसे रहित है; फिर भी वे अपनी माया-शक्तिके द्वारा भूषण, आयुध और रूप नामक शक्तियोंको धारण करते हैं, यह बात निश्चितरूपसे सत्य है। इस कारण सर्वज्ञ, सर्वव्यापक भगवान् श्रीहरि सदा-सर्वत्र सब स्वरूपोंसे हमारी रक्षा करें॥ ३२-३३॥

जो अपने भयंकर अट्टाहाससे सब लोगोंके भयको भगा देते हैं और अपने तेजसे सबका तेज ग्रस लेते हैं, वे भगवान् नृसिंह दिशा-विदिशामें, नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर—सब ओर हमारी रक्षा करें'॥ ३४॥

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम्।
विजेष्यस्यञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान्॥ ३५

एतद् धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा।
पदा वा संस्पृशेत् सद्यः साध्वसात् स विमुच्यते॥ ३६

न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्।
राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित्॥ ३७

इमां विद्यां पुरा कश्चित् कौशिको धारयन् द्विजः।
योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि॥ ३८

तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा।
ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः॥ ३९

गगनान्न्यपतत् सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः।
स वालखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः।
प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात्॥ ४०

श्रीशुक उवाच

य इदं शृणुयात् काले यो धारयति चादृतः।
तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात्॥ ४१

एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः।
त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान्॥ ४२

देवराज इन्द्र! मैंने तुम्हें यह नारायणकवच सुना दिया। इस कवचसे तुम अपनेको सुरक्षित कर लो। बस, फिर तुम अनायास ही सब दैत्य-यूथपतियोंको जीत लोगे॥ ३५॥ इस नारायणकवचको धारण करनेवाला पुरुष जिसको भी अपने नेत्रोंसे देख लेता अथवा पैरसे छू देता है, वह तत्काल समस्त भयोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३६॥ जो इस वैष्णवी विद्याको धारण कर लेता है, उसे राजा, डाकू, प्रेत-पिशाचादि और बाघ आदि हिंसक जीवोंसे कभी किसी प्रकारका भय नहीं होता॥ ३७॥

देवराज! प्राचीन कालकी बात है, एक कौशिकगोत्री ब्राह्मणने इस विद्याको धारण करके योगधारणासे अपना शरीर मरुभूमिमें त्याग दिया॥ ३८॥ जहाँ उस ब्राह्मणका शरीर पड़ा था, उसके ऊपरसे एक दिन गन्धर्वराज चित्ररथ अपनी स्त्रियोंके साथ विमानपर बैठकर निकले ॥ ३९॥ वहाँ आते ही वे नीचेकी ओर सिर किये विमानसहित आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े। इस घटनासे उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। जब उन्हें वालखिल्य मुनियोंने बतलाया कि यह नारायणकवच धारण करनेका प्रभाव है, तब उन्होंने उस ब्राह्मण देवताकी हड्डियोंको ले जाकर पूर्ववाहिनी सरस्वती नदीमें प्रवाहित कर दिया और फिर स्नान करके वे अपने लोकको गये॥ ४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जो पुरुष इस नारायणकवचको समयपर सुनता है और जो आदरपूर्वक इसे धारण करता है, उसके सामने सभी प्राणी आदरसे झुक जाते हैं और वह सब प्रकारके भयोंसे मुक्त हो जाता है॥ ४१॥ परीक्षित्! शतक्रतु इन्द्रने आचार्य विश्वरूपजीसे यह वैष्णवी विद्या प्राप्त करके रणभूमिमें असुरोंको जीत लिया और वे त्रैलोक्यलक्ष्मीका उपभोग करने लगे॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
नारायणवर्मकथनं नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

विश्वरूपका वध, वृत्रासुरद्वारा देवताओंकी हार और भगवान्‌की प्रेरणासे देवताओंका दधीचि ऋषिके पास जाना

श्रीशुक उवाच

तस्यासन् विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम॥ १

स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः।
अवदद् यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप॥ २

स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति।
यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः॥ ३

तद् देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद् रुषा॥ ४

सोमपीथं तु यत् तस्य शिर आसीत् कपिञ्जलः।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत् स तित्तिरिः॥ ५

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः॥ ६

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै।
ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते॥ ७

तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः।
तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! हमने सुना है कि विश्वरूपके तीन सिर थे। वे एक मुँहसे सोमरस तथा दूसरेसे सुरा पीते थे और तीसरेसे अन्न खाते थे॥ १॥ उनके पिता त्वष्टा आदि बारह आदित्य देवता थे, इसलिये वे यज्ञके समय प्रत्यक्षरूपमें ऊँचे स्वरसे बोलकर बड़े विनयके साथ देवताओंको आहुति देते थे॥ २॥

साथ ही वे छिप-छिपकर असुरोंको भी आहुति दिया करते थे। उनकी माता असुरकुलकी थीं, इसीलिये वे मातृस्नेहके वशीभूत होकर यज्ञ करते समय उस प्रकार असुरोंको भाग पहुँचाया करते थे॥ ३॥ देवराज इन्द्रने देखा कि इस प्रकार वे देवताओंका अपराध और धर्मकी ओटमें कपट कर रहे हैं। इससे इन्द्र डर गये और क्रोधमें भरकर उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उनके तीनों सिर काट लिये॥ ४॥ विश्वरूपका सोमरस पीनेवाला सिर पपीहा, सुरापान करनेवाला गौरैया और अन्न खानेवाला तीतर हो गया॥ ५॥ इन्द्र चाहते तो विश्वरूपके वधसे लगी हुई हत्याको दूर कर सकते थे; परन्तु उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा, वरं हाथ जोड़कर उसे स्वीकार कर लिया तथा एक वर्षतक उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं किया। तदनन्तर सब लोगोंके सामने अपनी शुद्धि प्रकट करनेके लिये उन्होंने अपनी ब्रह्महत्याको चार हिस्सोंमें बाँटकर पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंको दे दिया॥ ६॥ परीक्षित्! पृथ्वीने बदलेमें यह वरदान लेकर कि जहाँ कहीं गड्ढा होगा, वह समयपर अपने-आप भर जायगा, इन्द्रकी ब्रह्महत्याका चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। वही ब्रह्महत्या पृथ्वीमें कहीं-कहीं ऊसरके रूपमें दिखायी पड़ती है॥ ७॥ दूसरा चतुर्थांश वृक्षोंने लिया। उन्हें यह वर मिला कि उनका कोई हिस्सा कट जानेपर फिर जम जायगा। उनमें अब भी गोंदके रूपमें ब्रह्महत्या दिखायी पड़ती है॥ ८॥

शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः।
रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते॥ ९

द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम्।
तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन्॥ १०

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व माचिरं जहि विद्विषम्॥ ११

अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा॥ १२

विष्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने।
दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम्॥ १३

तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम्॥ १४

देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी।
नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम्॥ १५

दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम्।
लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम्॥ १६

महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश॥ १७

येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः॥ १८

स्त्रियोंने यह वर पाकर कि वे सर्वदा पुरुषका सहवास कर सकें, ब्रह्महत्याका तीसरा चतुर्थांश स्वीकार किया। उनकी ब्रह्महत्या प्रत्येक महीनेमें रजके रूपसे दिखायी पड़ती है॥ ९॥ जलने यह वर पाकर कि खर्च करते रहनेपर भी निर्झर आदिके रूपमें तुम्हारी बढ़ती ही होती रहेगी, ब्रह्महत्याका चौथा चतुर्थांश स्वीकार किया। फेन, बुद्बुद आदिके रूपमें वही ब्रह्महत्या दिखायी पड़ती है। अतएव मनुष्य उसे हटाकर जल ग्रहण किया करते हैं॥ १०॥

विश्वरूपकी मृत्युके बाद उनके पिता त्वष्टा 'हे इन्द्रशत्रो! तुम्हारी अभिवृद्धि हो और शीघ्र-से-शीघ्र तुम अपने शत्रुको मार डालो'—इस मन्त्रसे इन्द्रका शत्रु उत्पन्न करनेके लिये हवन करने लगे॥ ११॥ यज्ञ समाप्त होनेपर अन्वाहार्य-पचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि)-से एक बड़ा भयावना दैत्य प्रकट हुआ। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो लोकोंका नाश करनेके लिये प्रलयकालीन विकराल काल ही प्रकट हुआ हो॥ १२॥ परीक्षित्! वह प्रतिदिन अपने शरीरके सब ओर बाणके बराबर बढ़ जाया करता था। वह जले हुए पहाड़के समान काला और बड़े डील-डौलका था। उसके शरीरमेंसे सन्ध्याकालीन बादलोंके समान दीप्ति निकलती रहती थी॥ १३॥ उसके सिरके बाल और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए ताँबेके समान लाल रंगके तथा नेत्र दोपहरके सूर्यके समान प्रचण्ड थे॥ १४॥ चमकते हुए तीन नोकोंवाले त्रिशूलको लेकर जब वह नाचने, चिल्लाने और कूदने लगता था, उस समय पृथ्वी काँप उठती थी और ऐसा जान पड़ता था कि उस त्रिशूलपर उसने अन्तरिक्षको उठा रखा है॥ १५॥ वह बार-बार जँभाई लेता था। इससे जब उसका कन्दराके समान गम्भीर मुँह खुल जाता, तब जान पड़ता कि वह सारे आकाशको पी जायगा, जीभसे सारे नक्षत्रोंको चाट जायगा और अपनी विशाल एवं विकराल दाढ़ोंवाले मुँहसे तीनों लोकोंको निगल जायगा। उसके भयावने रूपको देखकर सब लोग डर गये और इधर-उधर भागने लगे॥ १६-१७॥ परीक्षित्! त्वष्टाके तमोगुणी पुत्रने सारे लोकोंको घेर लिया था। इसीसे उस पापी और अत्यन्त क्रूर पुरुषका नाम वृत्रासुर पड़ा॥ १८॥

तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः।
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत् तानि कृत्स्नशः॥ १९

ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः॥ २०

देवा ऊचुः

वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका
ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ
बिभेति यस्मादरणं ततो नः॥ २१

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥ २२

यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं
मनुर्यथाऽऽबध्य ततार दुर्गम्।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद् दुरन्तात्
त्राताऽऽश्रितान् वारिचरोऽपि नूनम्॥ २३

पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-
स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले।
एकोऽरविन्दात् पतितस्ततार
तस्माद् भयाद् येन स नोऽस्तु पारः॥ २४

य एक ईशो निजमायया नः
ससर्ज येनानु सृजाम विश्वम्।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः॥ २५

बड़े-बड़े देवता अपने-अपने अनुयायियोंके सहित एक साथ ही उसपर टूट पड़े तथा अपने-अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार करने लगे। परन्तु वृत्रासुर उनके सारे अस्त्र-शस्त्रोंको निगल गया॥ १९॥ अब तो देवताओंके आश्चर्यकी सीमा न रही। उनका प्रभाव जाता रहा। वे सब-के-सब दीन-हीन और उदास हो गये तथा एकाग्रचित्तसे अपने हृदयमें विराजमान आदिपुरुष श्रीनारायणकी शरणमें गये॥ २०॥

देवताओंने भगवान्‌से प्रार्थना की—वायु, आकाश, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत, इनसे बने हुए तीनों लोक उनके अधिपति ब्रह्मादि तथा हम सब देवता जिस कालसे डरकर उसे पूजा-सामग्रीकी भेंट दिया करते हैं, वही काल भगवान्‌से भयभीत रहता है। इसलिये अब भगवान् ही हमारे रक्षक हैं॥ २१॥ प्रभो! आपके लिये कोई नयी बात न होनेके कारण कुछ भी देखकर आप विस्मित नहीं होते। आप अपने स्वरूपके साक्षात्कारसे ही सर्वथा पूर्णकाम, सम एवं शान्त हैं। जो आपको छोड़कर किसी दूसरेकी शरण लेता है, वह मूर्ख है। वह मानो कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करना चाहता है॥ २२॥ वैवस्वत मनु पिछले कल्पके अन्तमें जिनके विशाल सींगमें पृथ्वीरूप नौकाको बाँधकर अनायास ही प्रलयकालीन संकटसे बच गये, वे ही मत्स्यभगवान् हम शरणागतोंको वृत्रासुरके द्वारा उपस्थित किये हुए दुस्तर भयसे अवश्य बचायेंगे॥ २३॥ प्राचीन कालमें प्रचण्ड पवनके थपेड़ोंसे उठी हुई उत्ताल तरंगोंकी गर्जनाके कारण ब्रह्माजी भगवान्‌के नाभिकमलसे अत्यन्त भयानक प्रलयकालीन जलमें गिर पड़े थे। यद्यपि वे असहाय थे, तथापि जिनकी कृपासे वे उस विपत्तिसे बच सके, वे ही भगवान् हमें इस संकटसे पार करें॥ २४॥ उन्हीं प्रभुने अद्वितीय होनेपर भी अपनी मायासे हमारी रचना की और उन्हींके अनुग्रहसे हमलोग सृष्टिकार्यका संचालन करते हैं। यद्यपि वे हमारे सामने ही सब प्रकारकी चेष्टाएँ कर-करा रहे हैं, तथापि 'हम स्वतन्त्र ईश्वर हैं'—अपने इस अभिमानके कारण हमलोग उनके स्वरूपको देख नहीं पाते॥ २५॥

यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्
देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
कृत्वाऽऽत्मसात् पाति युगे युगे च॥ २६

तमेव देवं वयमात्मदैवतं
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा॥ २७

श्रीशुक उवाच

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम्[१]।
प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः॥ २८

आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ।
पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥ २९

दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः।
दण्डवत् पतिता राजञ्छनैरुत्थाय तुष्टुवुः॥ ३०

देवा ऊचुः

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः।
नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये॥ ३१

यत् ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम्।
नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति॥ ३२

वे प्रभु जब देखते हैं कि देवता अपने शत्रुओंसे बहुत पीड़ित हो रहे हैं, तब वे वास्तवमें निर्विकार रहनेपर भी अपनी मायाका आश्रय लेकर देवता, ऋषि, पशु-पक्षी और मनुष्यादि योनियोंमें अवतार लेते हैं, तथा युग-युगमें हमें अपना समझकर हमारी रक्षा करते हैं॥ २६ ॥ वे ही सबके आत्मा और परमाराध्य देव हैं। वे ही प्रकृति और पुरुषरूपसे विश्वके कारण हैं। वे विश्वसे पृथक् भी हैं और विश्वरूप भी हैं। हम सब उन्हीं शरणागतवत्सल भगवान् श्रीहरिकी शरण ग्रहण करते हैं। उदारशिरोमणि प्रभु अवश्य ही अपने निजजन हम देवताओंका कल्याण करेंगे॥ २७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज! जब देवताओंने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति की, तब स्वयं शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् उनके सामने पश्चिमकी ओर (अन्तर्देशमें) प्रकट हुए॥ २८ ॥ भगवान्‌के नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए थे। उनके साथ सोलह पार्षद उनकी सेवामें लगे हुए थे। वे देखनेमें सब प्रकारसे भगवान्‌के समान ही थे। केवल उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न और गलेमें कौस्तुभमणि नहीं थी॥ २९ ॥ परीक्षित्! भगवान्‌का दर्शन पाकर सभी देवता आनन्दसे विह्वल हो गये। उन लोगोंने धरतीपर लोटकर साष्टांग दण्डवत् किया और फिर धीरे-धीरे उठकर वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ ३० ॥

देवताओंने कहा—भगवन्! यज्ञमें स्वर्गादि देनेकी शक्ति तथा उनके फलकी सीमा निश्चित करनेवाले काल भी आप ही हैं। यज्ञमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंको आप चक्रसे छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। इसलिये आपके नामोंकी कोई सीमा नहीं है। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं॥ ३१ ॥ विधातः! सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके अनुसार जो उत्तम, मध्यम और निकृष्ट गतियाँ प्राप्त होती हैं, उनके नियामक आप ही हैं। आपके परमपदका वास्तविक स्वरूप इस कार्यरूप जगत्‌का कोई आधुनिक प्राणी नहीं जान सकता॥ ३२ ॥

१. प्रा० पा०—मधिति०।

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन् नारायण वासुदेव आदिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेण आत्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटित-तमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्॥ ३३॥ दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि॥ ३४॥ अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलमुपाददात्याहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः॥ ३५॥

न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगणे ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्क-विचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तः-

भगवन्! नारायण! वासुदेव! आप आदि पुरुष (जगत्‌के परम कारण) और महापुरुष (पुरुषोत्तम) हैं। आपकी महिमा असीम है। आप परम मंगलमय, परम कल्याण-स्वरूप और परम दयालु हैं। आप ही सारे जगत्‌के आधार एवं अद्वितीय हैं, केवल आप ही सारे जगत्‌के स्वामी हैं। आप सर्वेश्वर हैं तथा सौन्दर्य और मृदुलताकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीके परम पति हैं। प्रभो! परमहंस परिव्राजक विरक्त महात्मा जब आत्मसंयमरूप परम समाधिसे भलीभाँति आपका चिन्तन करते हैं, तब उनके शुद्ध हृदयमें परमहंसोंके धर्म वास्तविक भगवद्भजनका उदय होता है। इससे उनके हृदयके अज्ञानरूप किवाड़ खुल जाते हैं और उनके आत्मलोकमें आप आत्मानन्दके रूपमें बिना किसी आवरणके प्रकट हो जाते हैं और वे आपका अनुभव करके निहाल हो जाते हैं। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं॥ ३३॥ भगवन्! आपकी लीलाका रहस्य जानना बड़ा ही कठिन है। क्योंकि आप बिना किसी आश्रय और प्राकृत शरीरके हमलोगोंके सहयोगकी अपेक्षा न करके निर्गुण और निर्विकार होनेपर भी स्वयं ही इस सगुण जगत्‌की सृष्टि, रक्षा और संहार करते हैं॥ ३४॥ भगवन्! हमलोग यह बात भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाते कि सृष्टिकर्ममें आप देवदत्त आदि किसी व्यक्तिके समान गुणोंके कार्यरूप इस जगत्‌में जीवरूपसे प्रकट हो जाते हैं और कर्मोंके अधीन होकर अपने किये अच्छे-बुरे कर्मोंका फल भोगते हैं, अथवा आप आत्माराम, शान्तस्वभाव एवं सबसे उदासीन—साक्षीमात्र रहते हैं तथा सबको समान देखते हैं॥ ३५॥ हम तो यह समझते हैं कि यदि आपमें ये दोनों बातें रहें तो भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आप स्वयं भगवान् हैं। आपके गुण अगणित हैं, महिमा अगाध है और आप सर्वशक्तिमान् हैं। आधुनिक लोग अनेकों प्रकारके विकल्प, वितर्क, विचार, झूठे प्रमाण और कुतर्कपूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन करके अपने हृदयको दूषित कर लेते हैं और यही कारण है कि वे दुराग्रही हो जाते हैं। आपमें उनके वाद-विवादके लिये अवसर ही नहीं

करणाश्रयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् ॥ ३६ ॥

है। आपका वास्तविक स्वरूप समस्त मायामय पदार्थोंसे परे, केवल है। जब आप उसीमें अपनी मायाको छिपा लेते हैं, तब ऐसी कौन-सी बात है जो आपमें नहीं हो सकती? इसलिये आप साधारण पुरुषोंके समान कर्ता-भोक्ता भी हो सकते हैं और महापुरुषोंके समान उदासीन भी। इसका कारण यह है कि न तो आपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व है और न तो उदासीनता ही। आप तो दोनोंसे विलक्षण, अनिर्वचनीय हैं॥ ३६ ॥

समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्॥ ३७॥

जैसे एक ही रस्सीका टुकड़ा भ्रान्त पुरुषोंको सर्प, माला, धारा आदिके रूपमें प्रतीत होता है, किन्तु जानकारको रस्सीके रूपमें—वैसे ही आप भी भ्रान्तबुद्धिवालोंको कर्ता, भोक्ता आदि अनेक रूपोंमें दीखते हैं और ज्ञानीको शुद्ध सच्चिदानन्दके रूपमें। आप सभीकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं॥ ३७॥

स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः॥ ३८॥

विचारपूर्वक देखनेसे मालूम होता है कि आप ही समस्त वस्तुओंमें वस्तुत्वके रूपसे विराजमान हैं, सबके स्वामी हैं और सम्पूर्ण जगत्के कारण ब्रह्मा, प्रकृति आदिके भी कारण हैं। आप सबके अन्तर्यामी अन्तरात्मा हैं; इसलिये जगत्में जितने भी गुण-दोष प्रतीत हो रहे हैं, उन सबकी प्रतीतियाँ अपने अधिष्ठानस्वरूप आपका ही संकेत करती हैं और श्रुतियोंने समस्त पदार्थोंका निषेध करके अन्तमें निषेधकी अवधिके रूपमें केवल आपको ही शेष रखा है॥ ३८॥

अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति

मधुसूदन! आपकी अमृतमयी महिमा रसका अनन्त समुद्र है। उसके नन्हे-से सीकरका भी, अधिक नहीं—एक बार भी स्वाद चख लेनेसे हृदयमें नित्य-निरन्तर परमानन्दकी धारा बहने लगती है। उसके कारण अबतक जगत्में विषय-भोगोंके जितने भी लेशमात्र, प्रतीतिमात्र सुखका अनुभव हुआ है या परलोक आदिके विषयमें सुना गया है, वह सब-का-सब जिन्होंने भुला दिया है, समस्त प्राणियोंके परम प्रियतम, हितैषी, सुहृद् और सर्वात्मा आप ऐश्वर्य-निधि परमेश्वरमें जो अपने मनको नित्य-निरन्तर लगाये रखते और आपके चिन्तनका ही सुख लूटते

सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्तः॥ ३९॥

त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रित-जलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे॥ ४०॥

अस्माकं तावकानां तव नतानां तत ततामह तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्ध-हृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्कृताना-मनुकम्पानुरंजितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापम् अनघ अर्हसि शमयितुम्॥ ४१॥

अथ भगवंस्तवास्माभिरखिल-जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमाया-विनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधान-रूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं

रहते हैं, वे आपके अनन्यप्रेमी परम भक्त पुरुष ही अपने स्वार्थ और परमार्थमें निपुण हैं। मधुसूदन! आपके वे प्यारे और सुहृद् भक्तजन भला, आपके चरणकमलोंका सेवन कैसे त्याग सकते हैं, जिससे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है॥ ३९॥ प्रभो! आप त्रिलोकीके आत्मा और आश्रय हैं। आपने अपने तीन पगोंसे सारे जगत्‌को नाप लिया था और आप ही तीनों लोकोंके संचालक हैं। आपकी महिमा त्रिलोकीका मन हरण करनेवाली है। इसमें सन्देह नहीं कि दैत्य, दानव आदि असुर भी आपकी ही विभूतियाँ हैं। तथापि यह उनकी उन्नतिका समय नहीं है—यह सोचकर आप अपनी योगमायासे देवता, मनुष्य, पशु, नृसिंह आदि मिश्रित और मत्स्य आदि जलचरोंके रूपमें अवतार ग्रहण करते और उनके अपराधके अनुसार उन्हें दण्ड देते हैं। दण्डधारी प्रभो! यदि जँचे तो आप उन्हीं असुरोंके समान इस वृत्रासुरका भी नाश कर डालिये॥ ४०॥ भगवन्! आप हमारे पिता, पितामह—सब कुछ हैं। हम आपके निजजन हैं और निरन्तर आपके सामने सिर झुकाये रहते हैं। आपके चरणकमलोंका ध्यान करते-करते हमारा हृदय उन्हींके प्रेमबन्धनसे बँध गया है। आपने हमारे सामने अपना दिव्यगुणोंसे युक्त साकार विग्रह प्रकट करके हमें अपनाया है। इसलिये प्रभो! हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि आप अपनी दयाभरी, विशद, सुन्दर और शीतल मुसकानयुक्त चितवनसे तथा अपने मुखारविन्दसे टपकते हुए मनोहर वाणीरूप सुमधुर सुधाबिन्दुसे हमारे हृदयका ताप शान्त कीजिये, हमारे अन्तरकी जलन बुझाइये॥ ४१॥ प्रभो! जिस प्रकार अग्निकी ही अंशभूत चिनगारियाँ आदि अग्निको प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं, वैसे ही हम भी आपको अपना कोई भी स्वार्थ-परमार्थ निवेदन करनेमें असमर्थ हैं। आपसे भला, कहना ही क्या है! क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाली दिव्य मायाके साथ विनोद करते रहते हैं तथा समस्त जीवोंके अन्तःकरणमें ब्रह्म और अन्तर्यामीके रूपमें

तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात्परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वा अर्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद् विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः ॥ ४२ ॥

अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥ ४३ ॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम्।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥ ४४

हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-
वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥ ४५

श्रीशुक उवाच

अथैवमीडितो राजन् सादरं त्रिदशैर्हरिः।
स्वमुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥ ४६

श्रीभगवानुवाच

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठा मदुपस्थानविद्यया।
आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥ ४७

किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः।
मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥ ४८

विराजमान रहते हैं। केवल इतना ही नहीं, उनके बाहर भी प्रकृतिके रूपसे आप ही विराजमान हैं। जगत्में जितने भी देश, काल, शरीर और अवस्था आदि हैं, उनके उपादान और प्रकाशकके रूपमें आप ही उनका अनुभव करते रहते हैं। आप सभी वृत्तियोंके साक्षी हैं। आप आकाशके समान सर्वगत हैं, निर्लिप्त हैं। आप स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं ॥ ४२ ॥ अतएव हम अपना अभिप्राय आपसे निवेदन करें—इसकी अपेक्षा न रखकर जिस अभिलाषासे हमलोग यहाँ आये हैं, उसे पूर्ण कीजिये। आप अचिन्त्य ऐश्वर्यसम्पन्न और जगत्के परमगुरु हैं। हम आपके चरणकमलोंकी छत्रछायामें आये हैं, जो विविध पापोंके फलस्वरूप जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकनेकी थकावटको मिटानेवाली है ॥ ४३ ॥ सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण! वृत्रासुरने हमारे प्रभाव और अस्त्र-शस्त्रोंको तो निगल ही लिया है। अब वह तीनों लोकोंको भी ग्रस रहा है आप उसे मार डालिये ॥ ४४ ॥ प्रभो! आप शुद्धस्वरूप हृदयस्थित शुद्ध ज्योतिर्मय आकाश, सबके साक्षी, अनादि, अनन्त और उज्ज्वल कीर्तिसम्पन्न हैं। संतलोग आपका ही संग्रह करते हैं। संसारके पथिक जब घूमते-घूमते आपकी शरणमें आ पहुँचते हैं, तब अन्तमें आप उन्हें परमानन्दस्वरूप अभीष्ट फल देते हैं और इस प्रकार उनके जन्म-जन्मान्तरके कष्टको हर लेते हैं। प्रभो! हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ४५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवताओंने बड़े आदरके साथ इस प्रकार भगवान्का स्तवन किया, तब वे अपनी स्तुति सुनकर बहुत प्रसन्न हुए तथा उनसे कहने लगे ॥ ४६ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—श्रेष्ठ देवताओ! तुमलोगोंने स्तुतियुक्त ज्ञानसे मेरी उपासना की है, इससे मैं तुमलोगोंपर प्रसन्न हूँ। इस स्तुतिके द्वारा जीवोंको अपने वास्तविक स्वरूपकी स्मृति और मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ४७ ॥ देवशिरोमणियो! मेरे प्रसन्न हो जानेपर कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। तथापि मेरे अनन्यप्रेमी तत्त्ववेत्ता भक्त मुझसे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते ॥ ४८ ॥

न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक्।
तस्य तानिच्छतो यच्छेद् यदि सोऽपि तथाविधः॥ ४९

जो पुरुष जगत्‌के विषयोंको सत्य समझता है, वह नासमझ अपने वास्तविक कल्याणको नहीं जानता। यही कारण है कि वह विषय चाहता है; परन्तु यदि कोई जानकार उसे उसकी इच्छित वस्तु दे देता है, तो वह भी वैसा ही नासमझ है॥ ४९॥

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः॥ ५०

जो पुरुष मुक्तिका स्वरूप जानता है, वह अज्ञानीको भी कर्मोंमें फँसनेका उपदेश नहीं देता—जैसे रोगीके चाहते रहनेपर भी सद्वैद्य उसे कुपथ्य नहीं देता॥ ५०॥ देवराज इन्द्र! तुमलोगोंका कल्याण हो।

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम्॥ ५१

अब देर मत करो। ऋषिशिरोमणि दधीचिके पास जाओ और उनसे उनका शरीर—जो उपासना, व्रत तथा तपस्याके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गया है—माँग लो॥ ५१॥ दधीचि ऋषिको शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान है। अश्विनीकुमारोंको घोड़ेके सिरसे उपदेश करनेके कारण उनका एक नाम 'अश्वशिर'* भी है। उनकी उपदेश की हुई आत्मविद्याके प्रभावसे ही दोनों अश्विनीकुमार जीवन्मुक्त हो गये॥ ५२॥

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
यद् वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात्॥ ५२

दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम्।
विश्वरूपाय यत् प्रादात् त्वष्टा यत् त्वमधास्ततः॥ ५३

अथर्ववेदी दधीचि ऋषिने ही पहले-पहल मेरे स्वरूपभूत अभेद्य नारायणकवचका त्वष्टाको उपदेश किया था। त्वष्टाने वही विश्वरूपको दिया और विश्वरूपसे तुम्हें मिला॥ ५३॥ दधीचि ऋषि धर्मके परम मर्मज्ञ हैं। वे तुमलोगोंको अश्विनीकुमारके माँगनेपर, अपने शरीरके अंग अवश्य दे देंगे। इसके बाद विश्वकर्माके द्वारा उन अंगोंसे एक श्रेष्ठ आयुध तैयार करा लेना। देवराज! मेरी शक्तिसे युक्त होकर तुम उसी शस्त्रके द्वारा वृत्रासुरका सिर काट लोगे॥ ५४॥

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः।
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेज उपबृंहितः॥ ५४

* यह कथा इस प्रकार है—दधीचि ऋषिको प्रवर्ग्य (यज्ञकर्मविशेष) और ब्रह्मविद्याका उत्तम ज्ञान है—यह जानकर एक बार उनके पास अश्विनीकुमार आये और उनसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की। दधीचि मुनिने कहा—'इस समय मैं एक कार्यमें लगा हुआ हूँ, इसलिये फिर किसी समय आना।' इसपर अश्विनीकुमार चले गये। उनके जाते ही इन्द्रने आकर कहा—'मुने! अश्विनीकुमार वैद्य हैं, उन्हें तुम ब्रह्मविद्याका उपदेश मत करना। यदि तुम मेरी बात न मानकर उन्हें उपदेश करोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट डालूँगा।' जब ऐसा कहकर इन्द्र चले गये, तब अश्विनीकुमारोंने आकर फिर वही प्रार्थना की। मुनिने इन्द्रका सब वृत्तान्त सुनाया। इसपर अश्विनीकुमारोंने कहा—'हम पहले ही आपका यह सिर काटकर घोड़ेका सिर जोड़ देंगे, उससे आप हमें उपदेश करें और जब इन्द्र आपका घोड़ेका सिर काट देंगे तब हम फिर असली सिर जोड़ देंगे।' मुनिने मिथ्या-भाषणके भयसे उनका कथन स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अश्वमुखसे उपदेश की जानेके कारण ब्रह्मविद्याका नाम 'अश्वशिरा' पड़ा।

तस्मिन् विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः।
भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान्॥ ५५

देवताओ! वृत्रासुरके मर जानेपर तुम लोगोंको फिरसे तेज, अस्त्र-शस्त्र और सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जायँगी। तुम्हारा कल्याण अवश्यम्भावी है; क्योंकि मेरे शरणागतोंको कोई सता नहीं सकता॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

देवताओंद्वारा दधीचि ऋषिकी अस्थियोंसे वज्र-निर्माण और वृत्रासुरकी सेनापर आक्रमण

श्रीशुक उवाच

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान् विश्वभावनः।
पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ १

तथाभियाचितो देवैर्ऋषिराथर्वणो महान्।
मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत॥ २

अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम्।
संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः॥ ३

जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः।
क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे॥ ४

देवा ऊचुः

किं नु तद् दुस्त्यजं ब्रह्मन् पुंसां भूतानुकम्पिनाम्।
भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम्॥ ५

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसंकटम्।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विश्वके जीवनदाता श्रीहरि इन्द्रको इस प्रकार आदेश देकर देवताओंके सामने वहीं-के-वहीं अन्तर्धान हो गये॥ १॥ अब देवताओंने उदारशिरोमणि अथर्ववेदी दधीचि ऋषिके पास जाकर भगवान्‌के आज्ञानुसार याचना की। देवताओंकी याचना सुनकर दधीचि ऋषिको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने हँसकर देवताओंसे कहा—॥ २॥ 'देवताओ! आपलोगोंको सम्भवतः यह बात नहीं मालूम है कि मरते समय प्राणियोंको बड़ा कष्ट होता है। उन्हें जबतक चेत रहता है, बड़ी असह्य पीड़ा सहनी पड़ती है और अन्तमें वे मूर्च्छित हो जाते हैं॥ ३॥ जो जीव जगत्‌में जीवित रहना चाहते हैं, उनके लिये शरीर बहुत ही अनमोल, प्रियतम एवं अभीष्ट वस्तु है। ऐसी स्थितिमें स्वयं विष्णुभगवान् भी यदि जीवसे उसका शरीर माँगें तो कौन उसे देनेका साहस करेगा॥ ४॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! आप-जैसे उदार और प्राणियोंपर दया करनेवाले महापुरुष, जिनके कर्मोंकी बड़े-बड़े यशस्वी महानुभाव भी प्रशंसा करते हैं, प्राणियोंकी भलाईके लिये कौन-सी वस्तु निछावर नहीं कर सकते॥ ५॥ भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि माँगनेवाले लोग स्वार्थी होते हैं। उनमें देनेवालोंकी कठिनाईका विचार करनेकी बुद्धि नहीं होती। यदि उनमें इतनी समझ होती तो वे माँगते ही क्यों। इसी प्रकार दाता भी माँगनेवालेकी विपत्ति नहीं जानता। अन्यथा उसके मुँहसे कदापि नाहीं न निकलती (इसलिये आप हमारी विपत्ति समझकर हमारी याचना पूर्ण कीजिये।)॥ ६॥

ऋषिरुवाच

धर्मं वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः।
एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं संत्यजाम्यहम्॥ ७

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि॥ ८

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥ ९

अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः॥ १०

श्रीशुक उवाच

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम्।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ॥ ११

यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग् ध्वस्तबन्धनः।
आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम्॥ १२

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा।
मुनेः शुक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः॥ १३

वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव॥ १४

वृत्रमभ्यद्रवच्छेत्तुमसुरानीकयूथपैः।
पर्यस्तमोजसा राजन् क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम्॥ १५

दधीचि ऋषिने कहा—देवताओ! मैंने आपलोगोंके मुँहसे धर्मकी बात सुननेके लिये ही आपकी माँगके प्रति उपेक्षा दिखलायी थी। यह लीजिये, मैं अपने प्यारे शरीरको आप लोगोंके लिये अभी छोड़े देता हूँ। क्योंकि एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है॥ ७॥ देवशिरोमणियो! जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुःखी प्राणियोंपर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यशका सम्पादन नहीं करता, वह जड़ पेड़-पौधोंसे भी गया-बीता है॥ ८॥ बड़े-बड़े महात्माओंने इस अविनाशी धर्मकी उपासना की है। उसका स्वरूप बस, इतना ही है कि मनुष्य किसी भी प्राणीके दुःखमें दुःखका अनुभव करे और सुखमें सुखका॥ ९॥ जगत्के धन, जन और शरीर आदि पदार्थ क्षणभंगुर हैं। ये अपने किसी काम नहीं आते, अन्तमें दूसरोंके ही काम आयेंगे। ओह! यह कैसी कृपणता है, कितने दुःखकी बात है कि यह मरणधर्मा मनुष्य इनके द्वारा दूसरोंका उपकार नहीं कर लेता॥ १०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अथर्ववेदी महर्षि दधीचिने ऐसा निश्चय करके अपनेको परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान्में लीन करके अपना स्थूल शरीर त्याग दिया॥ ११॥ उनके इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि संयत थे, दृष्टि तत्त्वमयी थी, उनके सारे बन्धन कट चुके थे। अतः जब वे भगवान्से अत्यन्त युक्त होकर स्थित हो गये, तब उन्हें इस बातका पता ही न चला कि मेरा शरीर छूट गया॥ १२॥

भगवान्की शक्ति पाकर इन्द्रका बल-पौरुष उन्नतिकी सीमापर पहुँच गया। अब विश्वकर्माजीने दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे वज्र बनाकर उन्हें दिया और वे उसे हाथमें लेकर ऐरावत हाथीपर सवार हुए। उनके साथ-साथ सभी देवतालोग तैयार हो गये। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि देवराज इन्द्रकी स्तुति करने लगे। अब उन्होंने त्रिलोकीको हर्षित करते हुए वृत्रासुरका वध करनेके लिये उसपर पूरी शक्ति लगाकर धावा बोल दिया—ठीक वैसे ही, जैसे भगवान् रुद्र क्रोधित होकर स्वयं कालपर ही आक्रमण कर रहे हों। परीक्षित्! वृत्रासुर भी दैत्य-सेनापतियोंकी बहुत बड़ी सेनाके साथ मोर्चेपर डटा हुआ था॥ १३—१५॥

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः।
त्रेतामुखे नर्मदायामभवत् प्रथमे युगे॥ १६
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः।
मरुद्भिर्ऋभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम्॥ १७
दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया।
नामृष्यन्नसुरा राजन् मृधे वृत्रपुरःसराः॥ १८
नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्धा ऋषभोऽम्बरः।
हयग्रीवः शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुखः॥ १९
पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कलः।
दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः॥ २०
सुमालिमालिप्रमुखाः कार्तस्वरपरिच्छदाः।
प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम्॥ २१
अभ्यर्दयन्नसंभ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः।
गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः॥ २२
शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः।
सर्वतोऽवाकिरन् शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान्॥ २३
न तेऽदृश्यन्त संछन्नाः शरजालैः समन्ततः।
पुङ्खानुपुङ्खपतितैर्ज्योतींषीव नभोघनैः॥ २४
न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यासेदुः सुरसैनिकान्।
छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा॥ २५
अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः।
अभ्यवर्षन् सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत्॥ २६
तानक्षतान् स्वस्तिमतो निशाम्य
शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गै-
रविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥ २७

जो वैवस्वत मन्वन्तर इस समय चल रहा है, इसकी पहली चतुर्युगीका त्रेतायुग अभी आरम्भ ही हुआ था। उसी समय नर्मदातटपर देवताओंका दैत्योंके साथ यह भयंकर संग्राम हुआ॥ १६॥ उस समय देवराज इन्द्र हाथमें वज्र लेकर रुद्र, वसु, आदित्य, दोनों अश्विनीकुमार, पितृगण, अग्नि, मरुद्गण, ऋभुगण, साध्यगण और विश्वेदेव आदिके साथ अपनी कान्तिसे शोभायमान हो रहे थे। वृत्रासुर आदि दैत्य उनको अपने सामने आया देख और भी चिढ़ गये॥ १७-१८॥ तब नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, अम्बर, हयग्रीव, शंकुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति, उत्कल, सुमाली, माली आदि हजारों दैत्य-दानव एवं यक्ष-राक्षस स्वर्णके साज-सामानसे सुसज्जित होकर देवराज इन्द्रकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोकने लगे। परीक्षित्! उस समय देवताओंकी सेना स्वयं मृत्युके लिये भी अजेय थी॥ १९—२१॥ वे घमंडी असुर सिंहनाद करते हुए बड़ी सावधानीसे देवसेनापर प्रहार करने लगे। उन लोगोंने गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर, तोमर, शूल, फरसे, तलवार, शतघ्नी (तोप), भुशुण्डि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछारसे देवताओंको सब ओरसे ढक दिया॥ २२-२३॥ एक-पर-एक इतने बाण चारों ओरसे आ रहे थे कि उनसे ढक जानेके कारण देवता दिखलायी भी नहीं पड़ते थे—जैसे बादलोंसे ढक जानेपर आकाशके तारे नहीं दिखायी देते॥ २४॥ परीक्षित्! वह शस्त्रों और अस्त्रोंकी वर्षा देवसैनिकोंको छूतक न सकी। उन्होंने अपने हस्तलाघवसे आकाशमें ही उनके हजार-हजार टुकड़े कर दिये॥ २५॥ जब असुरोंके अस्त्र-शस्त्र समाप्त हो गये, तब वे देवताओंकी सेनापर पर्वतोंके शिखर, वृक्ष और पत्थर बरसाने लगे। परन्तु देवताओंने उन्हें पहलेकी ही भाँति काट गिराया॥ २६॥

परीक्षित्! जब वृत्रासुरके अनुयायी असुरोंने देखा कि उनके असंख्य अस्त्र-शस्त्र भी देव-सेनाका कुछ न बिगाड़ सके—यहाँतक कि वृक्षों, चट्टानों और पहाड़ोंके बड़े-बड़े शिखरोंसे भी उनके शरीरपर खरोंचतक नहीं आयी, सब-के-सब सकुशल हैं—

सर्वे प्रयासा अभवन् विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता रुशती रूक्षवाचः॥ २८

तब तो वे बहुत डर गये! दैत्यलोग देवताओंको पराजित करनेके लिये जो-जो प्रयत्न करते, वे सब-के-सब निष्फल हो जाते—ठीक वैसे ही, जैसे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित भक्तोंपर क्षुद्र मनुष्योंके कठोर और अमंगलमय दुर्वचनोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता॥ २७-२८॥

ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः।
पलायनायाजिमुखे विसृज्य
पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः॥ २९

भगवद्विमुख असुर अपना प्रयत्न व्यर्थ देखकर उत्साहरहित हो गये। उनका वीरताका घमंड जाता रहा। अब वे अपने सरदार वृत्रासुरको युद्धभूमिमें ही छोड़कर भाग खड़े हुए; क्योंकि देवताओंने उनका सारा बल-पौरुष छीन लिया था॥ २९॥

वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान् मनस्वी
प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत्।
पलायितं प्रेक्ष्य बलं च भग्नं
भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः॥ ३०

जब धीर-वीर वृत्रासुरने देखा कि मेरे अनुयायी असुर भाग रहे हैं और अत्यन्त भयभीत होकर मेरी सेना भी तहस-नहस और तितर-बितर हो रही है, तब वह हँसकर कहने लगा॥ ३०॥

कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विना-
मुवाच वाचं पुरुषप्रवीरः।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्
मयानर्वञ्छम्बर मे शृणुध्वम्॥ ३१

वीरशिरोमणि वृत्रासुरने समयानुसार वीरोचित वाणीसे विप्रचित्ति, नमुचि, पुलोमा, मय, अनर्वा, शम्बर आदि दैत्योंको सम्बोधित करके कहा—'असुरो! भागो मत, मेरी एक बात सुन लो॥ ३१॥

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता।
लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम्॥ ३२

इसमें सन्देह नहीं कि जो पैदा हुआ है, उसे एक-न-एक दिन अवश्य मरना पड़ेगा। इस जगत्में विधाताने मृत्युसे बचनेका कोई उपाय नहीं बताया है। ऐसी स्थितिमें यदि मृत्युके द्वारा स्वर्गादि लोक और सुयश भी मिल रहा हो तो ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो उस उत्तम मृत्युको न अपनायेगा॥ ३२॥

द्वौ संमताविह मृत्यू दुरापौ
यद् ब्रह्मसंधारणया जितासुः।
कलेवरं योगरतो विजह्याद्
यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥ ३३

संसारमें दो प्रकारकी मृत्यु परम दुर्लभ और श्रेष्ठ मानी गयी है—एक तो योगी पुरुषका अपने प्राणोंको वशमें करके ब्रह्मचिन्तनके द्वारा शरीरका परित्याग और दूसरा युद्धभूमिमें सेनाके आगे रहकर बिना पीठ दिखाये जूझ मरना (तुमलोग भला, ऐसा शुभ अवसर क्यों खो रहे हो)'॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
इन्द्रवृत्रासुरयुद्धवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

वृत्रासुरकी वीरवाणी और भगवत्प्राप्ति

श्रीशुक उवाच

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः।
नैवागृह्णन् भयत्रस्ताः पलायनपरा नृप॥ १

विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः।
कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत्॥ २

दृष्ट्वातप्यत संक्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः।
तान्निवार्यौजसा राजन् निर्भर्त्स्येदमुवाच ह॥ ३

किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः।
न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम्॥ ४

यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि।
अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद् ग्राम्यसुखे स्पृहा॥ ५

एवं सुरगणान् क्रुद्धो भीषयन् वपुषा रिपून्।
व्यनदत् सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः॥ ६

तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै।
निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः॥ ७

ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं
निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः।
गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा
नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! असुरसेना भयभीत होकर भाग रही थी। उसके सैनिक इतने अचेत हो रहे थे कि उन्होंने अपने स्वामीके धर्मानुकूल वचनोंपर भी ध्यान न दिया॥ १॥ वृत्रासुरने देखा कि समयकी अनुकूलताके कारण देवतालोग असुरोंकी सेनाको खदेड़ रहे हैं और वह इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो रही है, मानो बिना नायककी हो॥ २॥

राजन्! यह देखकर वृत्रासुर असहिष्णुता और क्रोधके मारे तिलमिला उठा। उसने बलपूर्वक देवसेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया और उन्हें डाँटकर ललकारते हुए कहा— ॥ ३॥ 'क्षुद्र देवताओ! रणभूमिमें पीठ दिखानेवाले कायर असुरोंपर पीछेसे प्रहार करनेमें क्या लाभ है। ये लोग तो अपने माँ-बापके मल-मूत्र हैं। परन्तु अपनेको शूरवीर माननेवाले तुम्हारे-जैसे पुरुषोंके लिये भी तो डरपोकोंको मारना कोई प्रशंसाकी बात नहीं है और न इससे तुम्हें स्वर्ग ही मिल सकता है॥ ४॥ यदि तुम्हारे मनमें युद्ध करनेकी शक्ति और उत्साह है तथा अब जीवित रहकर विषय-सुख भोगनेकी लालसा नहीं है, तो क्षणभर मेरे सामने डट जाओ और युद्धका मजा चख लो'॥ ५॥

परीक्षित्! वृत्रासुर बड़ा बली था। वह अपने डील-डौलसे ही शत्रु देवताओंको भयभीत करने लगा। उसने क्रोधमें भरकर इतने जोरका सिंहनाद किया कि बहुत-से लोग तो उसे सुनकर ही अचेत हो गये॥ ६॥ वृत्रासुरकी भयानक गर्जनासे सब-के-सब देवता मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो उनपर बिजली गिर गयी हो॥ ७॥ अब जैसे मदोन्मत्त गजराज नरकटका वन रौंद डालता है, वैसे ही रणबाँकुरा वृत्रासुर हाथमें त्रिशूल लेकर भयसे नेत्र बंद किये पड़ी हुई देवसेनाको पैरोंसे कुचलने लगा। उसके वेगसे धरती डगमगाने लगी॥ ८॥

विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः
स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम्।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां
जग्राह वामेन करेण लीलया॥ ९
स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया
महेन्द्रवाहं गदयोग्रविक्रमः।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन् मृधे
तत्कर्म सर्वे समपूजयन्नृप॥ १०
ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो
विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा।
अपासरद् भिन्नमुखः सहेन्द्रो
मुञ्चन्नसृक् सप्तधनुर्भृशार्तः॥ ११
न सन्नवाहाय विषण्णचेतसे
प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा।
इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्श-
वीतव्यथक्षतवाहोऽवतस्थे ॥ १२
स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं
वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य।
स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः
शोकेन मोहेन हसञ्जगाद॥ १३

वृत्र उवाच

दिष्ट्या भवान् मे समवस्थितो रिपु-
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृषद्धृदाचिरात् ॥ १४
यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजाते-
र्गुरोरपापस्य च दीक्षितस्य।
विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत्
पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः॥ १५

वज्रपाणि देवराज इन्द्र उसकी यह करतूत सह न सके। जब वह उनकी ओर झपटा, तब उन्होंने और भी चिढ़कर अपने शत्रुपर एक बहुत बड़ी गदा चलायी। अभी वह असह्य गदा वृत्रासुरके पास पहुँची भी न थी कि उसने खेल-ही खेलमें बायें हाथसे उसे पकड़ लिया॥ ९॥ राजन्! परम पराक्रमी वृत्रासुरने क्रोधसे आग-बबूला होकर उसी गदासे इन्द्रके वाहन ऐरावतके सिरपर बड़े जोरसे गरजते हुए प्रहार किया। उसके इस कार्यकी सभी लोग बड़ी प्रशंसा करने लगे॥ १०॥ वृत्रासुरकी गदाके आघातसे ऐरावत हाथी वज्राहत पर्वतके समान तिलमिला उठा। सिर फट जानेसे वह अत्यन्त व्याकुल हो गया और खून उगलता हुआ इन्द्रको लिये हुए ही अट्ठाईस हाथ पीछे हट गया॥ ११॥ देवराज इन्द्र अपने वाहन ऐरावतके मूर्च्छित हो जानेसे स्वयं भी विषादग्रस्त हो गये। यह देखकर युद्धधर्मके मर्मज्ञ वृत्रासुरने उनके ऊपर फिरसे गदा नहीं चलायी। तबतक इन्द्रने अपने अमृतस्रावी हाथके स्पर्शसे घायल ऐरावतकी व्यथा मिटा दी और वे फिर रणभूमिमें आ डटे॥ १२॥ परीक्षित्! जब वृत्रासुरने देखा कि मेरे भाई विश्वरूपका वध करनेवाला शत्रु इन्द्र युद्धके लिये हाथमें वज्र लेकर फिर सामने आ गया है, तब उसे उनके उस क्रूर पापकर्मका स्मरण हो आया और वह शोक और मोहसे युक्त हो हँसता हुआ उनसे कहने लगा॥ १३॥

वृत्रासुर बोला—आज मेरे लिये बड़े सौभाग्यका दिन है कि तुम्हारे-जैसा शत्रु—जिसने विश्वरूपके रूपमें ब्राह्मण, अपने गुरु एवं मेरे भाईकी हत्या की है—मेरे सामने खड़ा है। अरे दुष्ट! अब शीघ्र-से-शीघ्र मैं तेरे पत्थरके समान कठोर हृदयको अपने शूलसे विदीर्ण करके भाईसे उऋण होऊँगा। अहा! यह मेरे लिये कैसे आनन्दकी बात होगी॥ १४॥ इन्द्र! तूने मेरे आत्मवेत्ता और निष्पाप बड़े भाईके, जो ब्राह्मण होनेके साथ ही यज्ञमें दीक्षित और तुम्हारा गुरु था, विश्वास दिलाकर तलवारसे तीनों सिर उतार लिये—ठीक वैसे ही जैसे स्वर्गकामी निर्दय मनुष्य यज्ञमें पशुका सिर काट डालता है॥ १५॥

ह्रीश्रीदयाकीर्तिभिरुज्झितं त्वां
स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम्।
कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेह-
मस्पृष्टवह्निं समदन्ति गृध्राः॥ १६
अन्येऽनु ये त्वेह नृशंसमज्ञा
ये ह्युद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम्।
तैर्भूतनाथान् सगणान् निशात-
त्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥ १७
अथो हरे मे कुलिशेन वीर
हर्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह।
तत्रानृणो भूतबलिं विधाय
मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये॥ १८
सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं
पुरः स्थिते वैरिणि मय्यमोघम्।
मा संशयिष्ठा न गदेव वज्रं
स्यान्निष्फलं कृपणार्थेव याच्ञा॥ १९
नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा
हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो
यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः॥ २०
अहं समाधाय मनो यथाऽऽह
सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो
गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः॥ २१
पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां
याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम्।
न राति यद् द्वेष उद्वेग आधि-
र्मदः कलिर्व्यसनं संप्रयासः॥ २२

दया, लज्जा, लक्ष्मी और कीर्ति तुझे छोड़ चुकी है। तूने ऐसे-ऐसे नीच कर्म किये हैं, जिनकी निन्दा मनुष्योंकी तो बात ही क्या—राक्षसतक करते हैं। आज मेरे त्रिशूलसे तेरा शरीर टूक-टूक हो जायगा। बड़े कष्टसे तेरी मृत्यु होगी। तेरे-जैसे पापीको आग भी नहीं जलायेगी, तुझे तो गीध नोंच-नोंचकर खायेंगे॥ १६॥ ये अज्ञानी देवता तेरे-जैसे नीच और क्रूरके अनुयायी बनकर मुझपर शस्त्रोंसे प्रहार कर रहे हैं। मैं अपने तीखे त्रिशूलसे उनकी गरदन काट डालूँगा और उनके द्वारा गणोंके सहित भैरवादि भूतनाथोंको बलि चढ़ाऊँगा॥ १७॥

वीर इन्द्र! यह भी सम्भव है कि तू मेरी सेनाको छिन्न-भिन्न करके अपने वज्रसे मेरा सिर काट ले। तब तो मैं अपने शरीरकी बलि पशु-पक्षियोंको समर्पित करके, कर्म-बन्धनसे मुक्त हो महापुरुषोंकी चरणरजका आश्रय ग्रहण करूँगा—जिस लोकमें महापुरुष जाते हैं, वहाँ पहुँच जाऊँगा॥ १८॥ देवराज! मैं तेरे सामने खड़ा हूँ, तेरा शत्रु हूँ; अब तू मुझपर अपना अमोघ वज्र क्यों नहीं छोड़ता? तू यह सन्देह न कर कि जैसे तेरी गदा निष्फल हो गयी, कृपण पुरुषसे की हुई याचनाके समान यह वज्र भी वैसे ही निष्फल हो जायगा॥ १९॥ इन्द्र! तेरा यह वज्र श्रीहरिके तेज और दधीचि ऋषिकी तपस्यासे शक्तिमान् हो रहा है। विष्णुभगवान्ने मुझे मारनेके लिये तुझे आज्ञा भी दी है। इसलिये अब तू उसी वज्रसे मुझे मार डाल। क्योंकि जिस पक्षमें भगवान् श्रीहरि हैं, उधर ही विजय, लक्ष्मी और सारे गुण निवास करते हैं॥ २०॥ देवराज! भगवान् संकर्षणके आज्ञानुसार मैं अपने मनको उनके चरणकमलोंमें लीन कर दूँगा। तेरे वज्रका वेग मुझे नहीं, मेरे विषय-भोगरूप फंदेको काट डालेगा और मैं शरीर त्यागकर मुनिजनोचित गति प्राप्त करूँगा॥ २१॥ जो पुरुष भगवान्से अनन्यप्रेम करते हैं—उनके निजजन हैं—उन्हें वे स्वर्ग, पृथ्वी अथवा रसातलकी सम्पत्तियाँ नहीं देते। क्योंकि उनसे परमानन्दकी उपलब्धि तो होती ही नहीं; उलटे द्वेष, उद्वेग, अभिमान, मानसिक पीड़ा, कलह, दुःख और परिश्रम ही हाथ लगते हैं॥ २२॥

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्-
पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥ २३

इन्द्र! हमारे स्वामी अपने भक्तके अर्थ, धर्म एवं कामसम्बन्धी प्रयासको व्यर्थ कर दिया करते हैं और सच पूछो तो इसीसे भगवान्‌की कृपाका अनुमान होता है। क्योंकि उनका ऐसा कृपा-प्रसाद अकिंचन भक्तोंके लिये ही अनुभवगम्य है, दूसरोंके लिये तो अत्यन्त दुर्लभ ही है॥ २३॥

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥ २४

(भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—) 'प्रभो! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि अनन्यभावसे आपके चरणकमलोंके आश्रित सेवकोंकी सेवा करनेका अवसर मुझे अगले जन्ममें भी प्राप्त हो। प्राणवल्लभ! मेरा मन आपके मंगलमय गुणोंका स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उन्हींका गान करे और शरीर आपकी सेवामें ही संलग्न रहे॥ २४॥

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समंजस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ २५

सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकच्छत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता॥ २५॥ जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है॥ २६॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥ २६

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥ २७

प्रभो! मैं मुक्ति नहीं चाहता। मेरे कर्मोंके फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकना पड़े, इसकी परवा नहीं। परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनिमें जन्मूँ, वहाँ-वहाँ भगवान्‌के प्यारे भक्तजनोंसे मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न हो'॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
वृत्रस्येन्द्रोपदेशो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध

ऋषिरुवाच

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ
मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः।
शूलं प्रगृह्याभ्यपतत् सुरेन्द्रं
यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु॥ १
ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-
माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः।
क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो
हतोऽसि पापेति रुषा जगाद॥ २
ख आपतत् तद् विचलद् ग्रहोल्कव-
न्निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद्
भुजं च तस्योरगराजभोगम्॥ ३
छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम्।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं
वज्रं च हस्तान्न्यपतन्मघोनः॥ ४
वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत् पुरुहूतसंकटं
निरीक्ष्य हा हेति विचुक्रुशुर्भृशम्॥ ५
इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः॥ ६
युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां
जयः सदैकत्र न वै परात्मनाम्।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम्॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! वृत्रासुर रणभूमिमें अपना शरीर छोड़ना चाहता था, क्योंकि उसके विचारसे इन्द्रपर विजय प्राप्त करके स्वर्ग पानेकी अपेक्षा मरकर भगवान्‌को प्राप्त करना श्रेष्ठ था। इसलिये जैसे प्रलयकालीन जलमें कैटभासुर भगवान् विष्णुपर चोट करनेके लिये दौड़ा था, वैसे ही वह भी त्रिशूल उठाकर इन्द्रपर टूट पड़ा॥ १॥ वीर वृत्रासुरने प्रलयकालीन अग्निकी लपटोंके समान तीखी नोकोंवाले त्रिशूलको घुमाकर बड़े वेगसे इन्द्रपर चलाया और अत्यन्त क्रोधसे सिंहनाद करके बोला—'पापी इन्द्र! अब तू बच नहीं सकता'॥ २॥

इन्द्रने यह देखकर कि वह भयंकर त्रिशूल ग्रह और उल्काके समान चक्कर काटता हुआ आकाशमें आ रहा है, किसी प्रकारकी अधीरता नहीं प्रकट की और उस त्रिशूलके साथ ही वासुकिनागके समान वृत्रासुरकी विशाल भुजा अपने सौ गाँठोंवाले वज्रसे काट डाली॥ ३॥ एक बाँह कट जानेपर वृत्रासुरको बहुत क्रोध हुआ। उसने वज्रधारी इन्द्रके पास जाकर उनकी ठोड़ीमें और गजराज ऐरावतपर परिघसे ऐसा प्रहार किया कि उनके हाथसे वह वज्र गिर पड़ा॥ ४॥

वृत्रासुरके इस अत्यन्त अलौकिक कार्यको देखकर देवता, असुर, चारण, सिद्धगण आदि सभी प्रशंसा करने लगे। परन्तु इन्द्रका संकट देखकर वे ही लोग बार-बार 'हाय-हाय!' कहकर चिल्लाने लगे॥ ५॥ परीक्षित्! वह वज्र इन्द्रके हाथसे छूटकर वृत्रासुरके पास ही जा पड़ा था। इसलिये लज्जित होकर इन्द्रने उसे फिर नहीं उठाया। तब वृत्रासुरने कहा—'इन्द्र! तुम वज्र उठाकर अपने शत्रुको मार डालो। यह विषाद करनेका समय नहीं है॥ ६॥ (देखो—) सर्वज्ञ, सनातन, आदिपुरुष भगवान् ही जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेमें समर्थ हैं। उनके अतिरिक्त देहाभिमानी और युद्धके लिये उत्सुक आततायियोंको सर्वदा जय ही नहीं मिलती। वे कभी जीतते हैं तो कभी हारते हैं॥ ७॥

लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे।
द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम्॥ ८

ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम्॥ ९

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः॥ १०

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात्॥ ११

अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम्।
भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम्॥ १२

आयुः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यमाशिषः पुरुषस्य याः।
भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्ययाः॥ १३

तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि ।
समः स्यात् सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा॥ १४

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद न स बध्यते॥ १५

पश्य मां निर्जितं शक्र वृक्णायुधभुजं मृधे।
घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया॥ १६

प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः।
अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः॥ १७

ये सब लोक और लोकपाल जालमें फँसे हुए पक्षियोंकी भाँति जिसकी अधीनतामें विवश होकर चेष्टा करते हैं, वह काल ही सबकी जय-पराजयका कारण है॥ ८॥ वही काल मनुष्यके मनोबल, इन्द्रियबल, शरीरबल, प्राण, जीवन और मृत्युके रूपमें स्थित है। मनुष्य उसे न जानकर जड़ शरीरको ही जय-पराजय आदिका कारण समझता है॥ ९॥ इन्द्र! जैसे काठकी पुतली और यन्त्रका हरिण नचानेवालेके हाथमें होते हैं, वैसे ही तुम समस्त प्राणियोंको भगवान्‌के अधीन समझो॥ १०॥

भगवान्‌के कृपा-प्रसादके बिना पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण-चतुष्टय—ये कोई भी इस विश्वकी उत्पत्ति आदि करनेमें समर्थ नहीं हो सकते॥ ११॥ जिसे इस बातका पता नहीं है कि भगवान् ही सबका नियन्त्रण करते हैं, वही इस परतन्त्र जीवको स्वतन्त्र कर्ता-भोक्ता मान बैठता है। वस्तुतः स्वयं भगवान् ही प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंकी रचना और उन्हींके द्वारा उनका संहार करते हैं॥ १२॥ जिस प्रकार इच्छा न होनेपर भी समय विपरीत होनेसे मनुष्यको मृत्यु और अपयश आदि प्राप्त होते हैं—वैसे ही समयकी अनुकूलता होनेपर इच्छा न होनेपर भी उसे आयु, लक्ष्मी, यश और ऐश्वर्य आदि भोग भी मिल जाते हैं॥ १३॥ इसलिये यश-अपयश, जय-पराजय, सुख-दुःख, जीवन-मरण—इनमेंसे किसी एककी इच्छा-अनिच्छा न रखकर सभी परिस्थितियोंमें समभावसे रहना चाहिये—हर्ष-शोकके वशीभूत नहीं होना चाहिये॥ १४॥ सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं; अतः जो पुरुष आत्माको उनका साक्षीमात्र जानता है, वह उनके गुण-दोषसे लिप्त नहीं होता॥ १५॥ देवराज इन्द्र! मुझे भी तो देखो; तुमने मेरा हाथ और शस्त्र काटकर एक प्रकारसे मुझे परास्त कर दिया है, फिर भी मैं तुम्हारे प्राण लेनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न कर ही रहा हूँ॥ १६॥ यह युद्ध क्या है, एक जूएका खेल। इसमें प्राणकी बाजी लगती है, बाणोंके पासे डाले जाते हैं और वाहन ही चौसर हैं। इसमें पहलेसे यह बात नहीं मालूम होती कि कौन जीतेगा और कौन हारेगा॥ १७॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत्।
गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः॥ १८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वृत्रासुरके ये सत्य एवं निष्कपट वचन सुनकर इन्द्रने उनका आदर किया और अपना वज्र उठा लिया। इसके बाद बिना किसी प्रकारका आश्चर्य किये मुसकराते हुए वे कहने लगे—॥ १८॥

इन्द्र उवाच

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी।
भक्तः सर्वात्मनाऽऽत्मानं सुहृदं जगदीश्वरम्॥ १९

भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम्।
यद् विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः॥ २०

खल्विदं महदाश्चर्यं यद् रजःप्रकृतेस्तव।
वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः॥ २१

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥ २२

देवराज इन्द्रने कहा—अहो दानवराज! सचमुच तुम सिद्ध पुरुष हो। तभी तो तुम्हारा धैर्य, निश्चय और भगवद्भाव इतना विलक्षण है। तुमने समस्त प्राणियोंके सुहृद् आत्मस्वरूप जगदीश्वरकी अनन्यभावसे भक्ति की है॥ १९॥

अवश्य ही तुम लोगोंको मोहित करनेवाली भगवान्‌की मायाको पार कर गये हो। तभी तो तुम असुरोचित भाव छोड़कर महापुरुष हो गये हो॥ २०॥ अवश्य ही यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुम रजोगुणी प्रकृतिके हो तो भी विशुद्ध सत्त्वस्वरूप भगवान् वासुदेवमें तुम्हारी बुद्धि दृढ़तासे लगी हुई है॥ २१॥ जो परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें प्रेममय भक्तिभाव रखता है, उसे जगत्‌के भोगोंकी क्या आवश्यकता है। जो अमृतके समुद्रमें विहार कर रहा है, उसे क्षुद्र गड्ढोंके जलसे प्रयोजन ही क्या हो सकता है॥ २२॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप।
युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधाम्पती॥ २३

आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः।
इन्द्राय प्राहिणोद् घोरं वामहस्तेन मारिष॥ २४

स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम्।
चिच्छेद युगपद् देवो वज्रेण शतपर्वणा॥ २५

दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः।
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद् भ्रष्टो वज्रिणा हतः॥ २६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार योद्धाओंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी देवराज इन्द्र और वृत्रासुर धर्मका तत्त्व जाननेकी अभिलाषासे एक-दूसरेके साथ बातचीत करते हुए आपसमें युद्ध करने लगे॥ २३॥ राजन्! अब शत्रुसूदन वृत्रासुरने बायें हाथसे फौलादका बना हुआ एक बहुत भयावना परिघ उठाकर आकाशमें घुमाया और उससे इन्द्रपर प्रहार किया॥ २४॥ किन्तु देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वह परिघ तथा हाथीकी सूँडके समान लंबी भुजा अपने सौ गाँठोंवाले वज्रसे एक साथ ही काट गिरायी॥ २५॥ जड़से दोनों भुजाओंके कट जानेपर वृत्रासुरके बायें और दायें दोनों कंधोंसे खूनकी धारा बहने लगी। उस समय वह ऐसा जान पड़ा, मानो इन्द्रके वज्रकी चोटसे पंख कट जानेपर कोई पर्वत ही आकाशसे गिरा हो॥ २६॥

कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम्।
नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया॥ २७

दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम्।
अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन्॥ २८

गिरिराट् पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन् महीम्।
जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम्॥ २९

महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम्।
वृत्रग्रस्तं तमालक्ष्य सप्रजापतयः सुराः।
हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुक्रुशुः समहर्षयः॥ ३०

निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः।
महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च॥ ३१

भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद् विभुः।
उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृंगमिवौजसा॥ ३२

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः
कृन्तन् समन्तात् परिवर्तमानः।
न्यपातयत् तावदहर्गणेन
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये॥ ३३

तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-
र्गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः।
वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना
मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन्॥ ३४

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम।
पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यत॥ ३५

अब पैरोंसे चलने-फिरनेवाले पर्वतराजके समान अत्यन्त दीर्घकाय वृत्रासुरने अपनी ठोड़ीको धरतीसे और ऊपरके होठको स्वर्गसे लगाया तथा आकाशके समान गहरे मुँह, साँपके समान भयावनी जीभ एवं मृत्युके समान कराल दाढ़ोंसे मानो त्रिलोकीको निगलता, अपने पैरोंकी चोटसे पृथ्वीको रौंदता और प्रबल वेगसे पर्वतोंको उलटता-पलटता वह इन्द्रके पास आया और उन्हें उनके वाहन ऐरावत हाथीके सहित इस प्रकार लील गया, जैसे कोई परम पराक्रमी और अत्यन्त बलवान् अजगर हाथीको निगल जाय। प्रजापतियों और महर्षियोंके साथ देवताओंने जब देखा कि वृत्रासुर इन्द्रको निगल गया, तब तो वे अत्यन्त दुःखी हो गये तथा 'हाय-हाय! बड़ा अनर्थ हो गया।' यों कहकर विलाप करने लगे ॥ २७-३० ॥ बल दैत्यका संहार करनेवाले देवराज इन्द्रने महापुरुष-विद्या (नारायणकवच)-से अपनेको सुरक्षित कर रखा था और उनके पास योगमायाका बल था ही। इसलिये वृत्रासुरके निगल लेनेपर—उसके पेटमें पहुँचकर भी वे मरे नहीं॥ ३१ ॥ उन्होंने अपने वज्रसे उसकी कोख फाड़ डाली और उसके पेटसे निकलकर बड़े वेगसे उसका पर्वत-शिखरके समान ऊँचा सिर काट डाला॥ ३२ ॥ सूर्यादि ग्रहोंकी उत्तरायण-दक्षिणायनरूप गतिमें जितना समय लगता है, उतने दिनोंमें अर्थात् एक वर्षमें वृत्रवधका योग उपस्थित होनेपर घूमते हुए उस तीव्र वेगशाली वज्रने उसकी गरदनको सब ओरसे काटकर भूमिपर गिरा दिया॥ ३३ ॥

उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। महर्षियोंके साथ गन्धर्व, सिद्ध आदि वृत्रघाती इन्द्रका पराक्रम सूचित करनेवाले मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करके बड़े आनन्दके साथ उनपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ ३४ ॥ शत्रुदमन परीक्षित्! उस समय वृत्रासुरके शरीरसे उसकी आत्मज्योति बाहर निकली और इन्द्र आदि सब लोगोंके देखते-देखते सर्वलोकातीत भगवान्के स्वरूपमें लीन हो गयी॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे वृत्रवधो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

इन्द्रपर ब्रह्महत्याका आक्रमण

श्रीशुक उवाच

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद।
सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः॥ १

देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः स्वयम्।
प्रतिजग्मुःस्वधिष्ण्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः॥ २

राजोवाच

इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने।
येनासन् सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत्॥ ३

श्रीशुक उवाच

वृत्रविक्रमसंविग्नाः सर्वे देवाः सहर्षिभिः।
तद्वधायार्थयन्निन्द्रं नैच्छद् भीतो बृहद्वधात्॥ ४

इन्द्र उवाच

स्त्रीभूजलद्रुमैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम्।
विभक्तमनुगृह्णद्‌भिर्वृत्रहत्यां क्व मार्ज्म्यहम्॥ ५

श्रीशुक उवाच

ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन्।
याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मा स्म भैः॥ ६

हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम्।
इष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात्॥ ७

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाऽऽचार्यहाघवान्।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन् यस्य कीर्तनात्॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महादानी परीक्षित्! वृत्रासुरकी मृत्युसे इन्द्रके अतिरिक्त तीनों लोक और लोकपाल तत्क्षण परम प्रसन्न हो गये। उनका भय, उनकी चिन्ता जाती रही॥ १॥ युद्ध समाप्त होनेपर देवता, ऋषि, पितर, भूत, दैत्य और देवताओंके अनुचर गन्धर्व आदि इन्द्रसे बिना पूछे ही अपने-अपने लोकको लौट गये। इसके पश्चात् ब्रह्मा, शंकर और इन्द्र आदि भी चले गये॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मैं देवराज इन्द्रकी अप्रसन्नताका कारण सुनना चाहता हूँ। जब वृत्रासुरके वधसे सभी देवता सुखी हुए, तब इन्द्रको दुःख होनेका क्या कारण था?॥ ३॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! जब वृत्रासुरके पराक्रमसे सभी देवता और ऋषि-महर्षि अत्यन्त भयभीत हो गये, तब उन लोगोंने उसके वधके लिये इन्द्रसे प्रार्थना की; परन्तु वे ब्रह्महत्याके भयसे उसे मारना नहीं चाहते थे॥ ४॥

देवराज इन्द्रने उन लोगोंसे कहा—देवताओ और ऋषियो! मुझे विश्वरूपके वधसे जो ब्रह्महत्या लगी थी, उसे तो स्त्री, पृथ्वी, जल और वृक्षोंने कृपा करके बाँट लिया। अब यदि मैं वृत्रका वध करूँ तो उसकी हत्यासे मेरा छुटकारा कैसे होगा?॥ ५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—देवराज इन्द्रकी बात सुनकर ऋषियोंने उनसे कहा—'देवराज! तुम्हारा कल्याण हो, तुम तनिक भी भय मत करो। क्योंकि हम अश्वमेध यज्ञ कराकर तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त कर देंगे॥ ६॥ अश्वमेध यज्ञके द्वारा सबके अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमात्मा नारायणदेवकी आराधना करके तुम सम्पूर्ण जगत्‌का वध करनेके पापसे भी मुक्त हो सकोगे; फिर वृत्रासुरके वधकी तो बात ही क्या है॥ ७॥ देवराज! भगवान्‌के नाम-कीर्तनमात्रसे ही ब्राह्मण, पिता, गौ, माता, आचार्य आदिकी हत्या करनेवाले महापापी, कुत्तेका मांस खानेवाले चाण्डाल और कसाई भी शुद्ध हो जाते हैं॥ ८॥

तमश्वमेधेन महामखेन
श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन ।
हत्वापि सब्रह्म चराचरं त्वं
न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण॥ ९

श्रीशुक उवाच

एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम्।
ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम्॥ १०

तयेन्द्रः स्मासहत् तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत्।
ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः॥ ११

तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम्।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम्॥ १२

विकीर्य पलितान् केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम्।
मीनगन्ध्यसुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम्॥ १३

नभो गतो दिशः सर्वाः सहस्राक्षो विशाम्पते।
प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम्॥ १४

स आवसत्पुष्करनालतन्तू-
नलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः।
वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः
स चिन्तयन् ब्रह्मवधाद् विमोक्षम्॥ १५

तावत्त्रिणाकं नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।

हमलोग 'अश्वमेध' नामक महायज्ञका अनुष्ठान करेंगे। उसके द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की आराधना करके तुम ब्रह्मापर्यन्त समस्त चराचर जगत्‌की हत्याके भी पापसे लिप्त नहीं होगे। फिर इस दुष्टको दण्ड देनेके पापसे छूटनेकी तो बात ही क्या है॥ ९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! इस प्रकार ब्राह्मणोंसे प्रेरणा प्राप्त करके देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था। अब उसके मारे जानेपर ब्रह्महत्या इन्द्रके पास आयी॥ १०॥ उसके कारण इन्द्रको बड़ा क्लेश, बड़ी जलन सहनी पड़ी। उन्हें एक क्षणके लिये भी चैन नहीं पड़ता था। सच है, जब किसी संकोची सज्जनपर कलंक लग जाता है, तब उसके धैर्य आदि गुण भी उसे सुखी नहीं कर पाते॥ ११॥ देवराज इन्द्रने देखा कि ब्रह्महत्या साक्षात् चाण्डालीके समान उनके पीछे-पीछे दौड़ी आ रही है। बुढ़ापेके कारण उसके सारे अंग काँप रहे हैं और क्षयरोग उसे सता रहा है। उसके सारे वस्त्र खूनसे लथपथ हो रहे हैं॥ १२॥ वह अपने सफेद-सफेद बालोंको बिखेरे 'ठहर जा! ठहर जा!!' इस प्रकार चिल्लाती आ रही है। उसके श्वासके साथ मछलीकी-सी दुर्गन्ध आ रही है, जिसके कारण मार्ग भी दूषित होता जा रहा है॥ १३॥ राजन्! देवराज इन्द्र उसके भयसे दिशाओं और आकाशमें भागते फिरे। अन्तमें कहीं भी शरण न मिलनेके कारण उन्होंने पूर्व और उत्तरके कोनेमें स्थित मानसरोवरमें शीघ्रतासे प्रवेश किया॥ १४॥ देवराज इन्द्र मानसरोवरके कमलनालके तन्तुओंमें एक हजार वर्षोंतक छिपकर निवास करते रहे और सोचते रहे कि ब्रह्महत्यासे मेरा छुटकारा कैसे होगा। इतने दिनोंतक उन्हें भोजनके लिये किसी प्रकारकी सामग्री न मिल सकी। क्योंकि वे अग्निदेवताके मुखसे भोजन करते हैं और अग्निदेवता जलके भीतर कमलतन्तुओंमें जा नहीं सकते थे॥ १५॥

जबतक देवराज इन्द्र कमलतन्तुओंमें रहे, तबतक अपनी विद्या, तपस्या और योगबलके प्रभावसे राजा नहुष स्वर्गका शासन करते रहे। परन्तु जब उन्होंने सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे अंधे होकर इन्द्रपत्नी

स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या॥ १६
ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत
ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजा-
स्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या॥ १७
तं च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत।
यथावद्दीक्षयाञ्चक्रुः पुरुषाराधनेन ह॥ १८
अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि।
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः॥ १९
स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना॥ २०
स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपापः॥ २१
इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां
प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्तनम्।
भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं
महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वतः॥ २२
पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधाः
शृण्वन्त्यथो पर्वणि पर्वणीन्द्रियम्।
धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं
रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथाऽऽयुषम्॥ २३

शचीके साथ अनाचार करना चाहा, तब शचीने उनसे ऋषियोंका अपराध करवाकर उन्हें शाप दिला दिया—जिससे वे साँप हो गये॥ १६॥ तदनन्तर जब सत्यके परम पोषक भगवान्‌का ध्यान करनेसे इन्द्रके पाप नष्टप्राय हो गये, तब ब्राह्मणोंके बुलवानेपर वे पुनः स्वर्गलोकमें गये। कमलवनविहारिणी विष्णुपत्नी लक्ष्मीजी इन्द्रकी रक्षा कर रही थीं और पूर्वोत्तर दिशाके अधिपति रुद्रने पापको पहले ही निस्तेज कर दिया था, जिससे वह इन्द्रपर आक्रमण नहीं कर सका॥ १७॥

परीक्षित्! इन्द्रके स्वर्गमें आ जानेपर ब्रह्मर्षियोंने वहाँ आकर भगवान्‌की आराधनाके लिये इन्द्रको अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा दी, उनसे अश्वमेध यज्ञ कराया॥ १८॥ जब वेदवादी ऋषियोंने उनसे अश्वमेध यज्ञ कराया तथा देवराज इन्द्रने उस यज्ञके द्वारा सर्वदेवस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान्‌की आराधना की, तब भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे वृत्रासुरके वधकी वह बहुत बड़ी पापराशि इस प्रकार भस्म हो गयी, जैसे सूर्योदयसे कुहरेका नाश हो जाता है॥ १९-२०॥ जब मरीचि आदि मुनीश्वरोंने उनसे विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ कराया, तब उसके द्वारा सनातन पुरुष यज्ञपति भगवान्‌की आराधना करके इन्द्र सब पापोंसे छूट गये और पूर्ववत् फिर पूजनीय हो गये॥ २१॥

परीक्षित्! इस श्रेष्ठ आख्यानमें इन्द्रकी विजय, उनकी पापोंसे मुक्ति और भगवान्‌के प्यारे भक्त वृत्रासुरका वर्णन हुआ है। इसमें तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले भगवान्‌के अनुग्रह आदि गुणोंका संकीर्तन है। यह सारे पापोंको धो बहाता है और भक्तिको बढ़ाता है॥ २२॥ बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि वे इस इन्द्रसम्बन्धी आख्यानको सदा-सर्वदा पढ़ें और सुनें। विशेषतः पर्वोंके अवसरपर तो अवश्य ही इसका सेवन करें। यह धन और यशको बढ़ाता है, सारे पापोंसे छुड़ाता है, शत्रुपर विजय प्राप्त कराता है, तथा आयु और मंगलकी अभिवृद्धि करता है॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
इन्द्रविजयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

वृत्रासुरका पूर्वचरित्र

परीक्षिदुवाच

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः।
नारायणे भगवति कथमासीद् दृढा मतिः॥ १

देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम्।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते॥ २

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः॥ ३

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति॥ ४

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥ ५

वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः।
इत्थं दृढमतिः कृष्ण आसीत् संग्राम उल्बणे॥ ६

अत्र नः संशयो भूयाञ्छ्रोतुं कौतूहलं प्रभो।
यः पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत्॥ ७

सूत उवाच

परीक्षितोऽथ संप्रश्नं भगवान् बादरायणिः।
निशम्य श्रद्दधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत्॥ ८

श्रीशुक उवाच

शृणुष्वावहितो राजन्नितिहासमिमं यथा।
श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद्देवलादपि॥ ९

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! वृत्रासुरका स्वभाव तो बड़ा रजोगुणी-तमोगुणी था। वह देवताओंको कष्ट पहुँचाकर पाप भी करता ही था। ऐसी स्थितिमें भगवान् नारायणके चरणोंमें उसकी सुदृढ़ भक्ति कैसे हुई?॥ १॥ हम देखते हैं कि प्रायः शुद्ध सत्त्वमय देवता और पवित्रहृदय ऋषि भी भगवान्‌की परम प्रेममयी अनन्य भक्तिसे वंचित ही रह जाते हैं। सचमुच भगवान्‌की भक्ति बड़ी दुर्लभ है॥ २॥ भगवन्! इस जगत्‌के प्राणी पृथ्वीके धूलिकणोंके समान ही असंख्य हैं। उनमेंसे कुछ मनुष्य आदि श्रेष्ठ जीव ही अपने कल्याणकी चेष्टा करते हैं॥ ३॥ ब्रह्मन्! उनमें भी संसारसे मुक्ति चाहनेवाले तो बिरले ही होते हैं और मोक्ष चाहनेवाले हजारोंमें मुक्ति या सिद्धि लाभ तो कोई-सा ही कर पाता है॥ ४॥ महामुने! करोड़ों सिद्ध एवं मुक्त पुरुषोंमें भी वैसे शान्तचित्त महापुरुषका मिलना तो बहुत ही कठिन है, जो एकमात्र भगवान्‌के ही परायण हो॥ ५॥

ऐसी अवस्थामें वह वृत्रासुर, जो सब लोगोंको सताता था और बड़ा पापी था, उस भयंकर युद्धके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्णमें अपनी वृत्तियोंको इस प्रकार दृढ़तासे लगा सका—इसका क्या कारण है?॥ ६॥ प्रभो! इस विषयमें हमें बहुत अधिक सन्देह है और सुननेका बड़ा कौतूहल भी है। अहो, वृत्रासुरका बल-पौरुष कितना महान् था कि उसने रणभूमिमें देवराज इन्द्रको भी सन्तुष्ट कर दिया॥ ७॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! भगवान् शुकदेवजीने परम श्रद्धालु राजर्षि परीक्षित्‌का यह श्रेष्ठ प्रश्न सुनकर उनका अभिनन्दन करते हुए यह बात कही॥ ८॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! तुम सावधान होकर यह इतिहास सुनो। मैंने इसे अपने पिता व्यासजी, देवर्षि नारद और महर्षि देवलके मुँहसे भी विधिपूर्वक सुना है॥ ९॥

आसीद्राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृप।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत् कामधुङ्मही ॥ १०

तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन्।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥ ११

रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः।
सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता वन्ध्यापतेरभूत् ॥ १२

न तस्य संपदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः।
सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन् प्रीतिहेतवः ॥ १३

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥ १४

तं पूजयित्वा विधिवत्प्रत्युत्थानार्हणादिभिः।
कृतातिथ्यमुपासीदत्सुखासीनं समाहितः ॥ १५

महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ।
प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत् ॥ १६

अङ्गिरा उवाच

अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथाऽऽत्मनः।
यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान् राजापि सप्तभिः ॥ १७

आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात्।
राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः ॥ १८

प्राचीन कालकी बात है, शूरसेन देशमें चक्रवर्ती सम्राट् महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे। उनके राज्यमें पृथ्वी स्वयं ही प्रजाकी इच्छाके अनुसार अन्न-रस दे दिया करती थी॥ १० ॥ उनके एक करोड़ रानियाँ थीं और ये स्वयं सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ भी थे। परन्तु उन्हें उनमेंसे किसीके भी गर्भसे कोई सन्तान न हुई॥ ११ ॥ यों महाराज चित्रकेतुको किसी बातकी कमी न थी। सुन्दरता, उदारता, युवावस्था, कुलीनता, विद्या, ऐश्वर्य और सम्पत्ति आदि सभी गुणोंसे वे सम्पन्न थे। फिर भी उनकी पत्नियाँ बाँझ थीं, इसलिये उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी॥ १२ ॥ वे सारी पृथ्वीके एकछत्र सम्राट् थे, बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ थीं तथा सारी पृथ्वी उनके वशमें थी। सब प्रकारकी सम्पत्तियाँ उनकी सेवामें उपस्थित थीं, परन्तु वे सब वस्तुएँ उन्हें सुखी न कर सकीं॥ १३ ॥ एक दिन शाप और वरदान देनेमें समर्थ अंगिरा ऋषि स्वच्छन्दरूपसे विभिन्न लोकोंमें विचरते हुए राजा चित्रकेतुके महलमें पहुँच गये॥ १४॥ राजाने प्रत्युत्थान और अर्घ्य आदिसे उनकी विधिपूर्वक पूजा की। आतिथ्य-सत्कार हो जानेके बाद जब अंगिरा ऋषि सुखपूर्वक आसनपर विराज गये, तब राजा चित्रकेतु भी शान्तभावसे उनके पास ही बैठ गये॥ १५ ॥ महाराज! महर्षि अंगिराने देखा कि यह राजा बहुत विनयी है और मेरे पास पृथ्वीपर बैठकर मेरी भक्ति कर रहा है। तब उन्होंने चित्रकेतुको सम्बोधित करके उसे आदर देते हुए यह बात कही॥ १६ ॥

अंगिरा ऋषिने कहा—राजन्! तुम अपनी प्रकृतियों—गुरु, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना और मित्रके साथ सकुशल तो हो न? जैसे जीव महत्तत्त्वादि सात आवरणोंसे घिरा रहता है, वैसे ही राजा भी इन सात प्रकृतियोंसे घिरा रहता है। उनके कुशलसे ही राजाकी कुशल है॥ १७॥ नरेन्द्र! जिस प्रकार राजा अपनी उपर्युक्त प्रकृतियोंके अनुकूल रहनेपर ही राज्यसुख भोग सकता है, वैसे ही प्रकृतियाँ भी अपनी रक्षाका भार राजापर छोड़कर सुख और समृद्धि लाभ कर सकती हैं॥ १८ ॥

अपि दाराः प्रजामात्या भृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः।
पौरा जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्तिनः॥ १९

यस्यात्मानुवशश्चेत्स्यात्सर्वे तद्वशगा इमे।
लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः॥ २०

आत्मनः प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा।
लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम्॥ २१

एवं विकल्पितो राजन् विदुषा मुनिनापि सः।
प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम्॥ २२

चित्रकेतुरुवाच

भगवन् किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः।
योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तः शरीरिषु॥ २३

तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मन्नात्मनि चिन्तितम्।
भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया॥ २४

लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे॥ २५

ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद् विधेहि नः॥ २६

राजन्! तुम्हारी रानियाँ, प्रजा, मन्त्री (सलाहकार), सेवक, व्यापारी, अमात्य (दीवान), नागरिक, देशवासी, मण्डलेश्वर राजा और पुत्र तुम्हारे वशमें तो हैं न?॥ १९॥ सच्ची बात तो यह है कि जिसका मन अपने वशमें है, उसके ये सभी वशमें होते हैं। इतना ही नहीं, सभी लोक और लोकपाल भी बड़ी सावधानीसे उसे भेंट देकर उसकी प्रसन्नता चाहते हैं॥ २०॥ परन्तु मैं देख रहा हूँ कि तुम स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो। तुम्हारी कोई कामना अपूर्ण है। तुम्हारे मुँहपर किसी आन्तरिक चिन्ताके चिह्न झलक रहे हैं। तुम्हारे इस असन्तोषका कारण कोई और है या स्वयं तुम्हीं हो?॥ २१॥

परीक्षित्! महर्षि अंगिरा यह जानते थे कि राजाके मनमें किस बातकी चिन्ता है। फिर भी उन्होंने उनसे चिन्ताके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्न पूछे। चित्रकेतुको सन्तानकी कामना थी। अतः महर्षिके पूछनेपर उन्होंने विनयसे झुककर निवेदन किया॥ २२॥

सम्राट् चित्रकेतुने कहा—भगवन्! जिन योगियोंके तपस्या, ज्ञान, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा सारे पाप नष्ट हो चुके हैं—उनके लिये प्राणियोंके बाहर या भीतरकी ऐसी कौन-सी बात है, जिसे वे न जानते हों॥ २३॥ ऐसा होनेपर भी जब आप सब कुछ जान-बूझकर मुझसे मेरे मनकी चिन्ता पूछ रहे हैं, तब मैं आपकी आज्ञा और प्रेरणासे अपनी चिन्ता आपके चरणोंमें निवेदन करता हूँ॥ २४॥ मुझे पृथ्वीका साम्राज्य, ऐश्वर्य और सम्पत्तियाँ, जिनके लिये लोकपाल भी लालायित रहते हैं, प्राप्त हैं। परन्तु सन्तान न होनेके कारण मुझे इन सुखभोगोंसे उसी प्रकार तनिक भी शान्ति नहीं मिल रही है, जैसे भूखे-प्यासे प्राणीको अन्न-जलके सिवा दूसरे भोगोंसे॥ २५॥ महाभाग्यवान् महर्षे! मैं तो दुःखी हूँ ही, पिण्डदान न मिलनेकी आशंकासे मेरे पितर भी दुःखी हो रहे हैं। अब आप हमें सन्तान-दान करके परलोकमें प्राप्त होनेवाले घोर नरकसे उबारिये और ऐसी व्यवस्था कीजिये कि मैं लोक-परलोकके सब दुःखोंसे छुटकारा पा लूँ॥ २६॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्थितः स भगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः।
श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद् विभुः॥ २७

ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणां च भारत।
नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद् द्विजः॥ २८

अथाह नृपतिं राजन् भवितैकस्तवात्मजः।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ॥ २९

सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत्।
गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम्॥ ३०

तस्या अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोडुपः।
ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप॥ ३१

अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायत।
जनयन् शूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम्॥ ३२

हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलङ्कृतः।
वाचयित्वाऽऽशिषो विप्रैः कारयामास जातकम्॥ ३३

तेभ्यो हिरण्यं रजतं वासांस्याभरणानि च।
ग्रामान् हयान् गजान् प्रादाद् धेनूनामर्बुदानि षट्॥ ३४

ववर्ष काममन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः॥ ३५

कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः।
यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहोऽन्ववर्धत॥ ३६

मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः।
कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत्॥ ३७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब राजा चित्रकेतुने इस प्रकार प्रार्थना की, तब सर्वसमर्थ एवं परम कृपालु ब्रह्मपुत्र भगवान् अंगिराने त्वष्टा देवताके योग्य चरु निर्माण करके उससे उनका यजन किया॥ २७॥ परीक्षित्! राजा चित्रकेतुकी रानियोंमें सबसे बड़ी और सद्‌गुणवती महारानी कृतद्युति थीं। महर्षि अंगिराने उन्हींको यज्ञका अवशेष प्रसाद दिया॥ २८॥ और राजा चित्रकेतुसे कहा—'राजन्! तुम्हारी पत्नीके गर्भसे एक पुत्र होगा, जो तुम्हें हर्ष और शोक दोनों ही देगा।' यों कहकर अंगिरा ऋषि चले गये॥ २९॥ उस यज्ञावशेष प्रसादके खानेसे ही महारानी कृतद्युतिने महाराज चित्रकेतुके द्वारा गर्भ धारण किया, जैसे कृत्तिकाने अपने गर्भमें अग्निकुमारको धारण किया था॥ ३०॥ राजन्! शूरसेन देशके राजा चित्रकेतुके तेजसे कृतद्युतिका गर्भ शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान दिनोंदिन क्रमशः बढ़ने लगा॥ ३१॥

तदनन्तर समय आनेपर महारानी कृतद्युतिके गर्भसे एक सुन्दर पुत्रका जन्म हुआ। उसके जन्मका समाचार पाकर शूरसेन देशकी प्रजा बहुत ही आनन्दित हुई॥ ३२॥ सम्राट् चित्रकेतुके आनन्दका तो कहना ही क्या था। वे स्नान करके पवित्र हुए। फिर उन्होंने वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर और आशीर्वाद लेकर पुत्रका जातकर्म-संस्कार करवाया॥ ३३॥ उन्होंने उन ब्राह्मणोंको सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, गाँव, घोड़े, हाथी और छः अर्बुद गौएँ दान कीं॥ ३४॥ उदारशिरोमणि राजा चित्रकेतुने पुत्रके धन, यश और आयुकी वृद्धिके लिये दूसरे लोगोंको भी मुँहमाँगी वस्तुएँ दीं—ठीक उसी प्रकार जैसे मेघ सभी जीवोंका मनोरथ पूर्ण करता है॥ ३५॥ परीक्षित्! जैसे यदि किसी कंगालको बड़ी कठिनाईसे कुछ धन मिल जाता है तो उसमें उसकी आसक्ति हो जाती है, वैसे ही बहुत कठिनाईसे प्राप्त हुए उस पुत्रमें राजर्षि चित्रकेतुका स्नेहबन्धन दिनोंदिन दृढ़ होने लगा॥ ३६॥ माता कृतद्युतिको भी अपने पुत्रपर मोहके कारण बहुत ही स्नेह था। परन्तु उनकी सौत रानियोंके मनमें पुत्रकी कामनासे और भी जलन होने लगी॥ ३७॥

चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति।
न तथान्येषु सञ्जज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम्॥ ३८

ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया।
आनपत्येन दुःखेन राज्ञोऽनादरणेन च॥ ३९

धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसम्मताम्।
सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम्॥ ४०

दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया।
अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः॥ ४१

एवं सन्दह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा।
राज्ञोऽसम्मतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत्॥ ४२

विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति॥ ४३

कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत्।
सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद् गृहे॥ ४४

शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी।
पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत्॥ ४५

सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम्।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद्भुवि॥ ४६

प्रतिदिन बालकका लाड़-प्यार करते रहनेके कारण सम्राट् चित्रकेतुका जितना प्रेम बच्चेकी माँ कृतद्युतिमें था, उतना दूसरी रानियोंमें न रहा॥ ३८॥ इस प्रकार एक तो वे रानियाँ सन्तान न होनेके कारण ही दुःखी थीं, दूसरे राजा चित्रकेतुने उनकी उपेक्षा कर दी। अतः वे डाहसे अपनेको धिक्कारने और मन-ही-मन जलने लगीं॥ ३९॥

वे आपसमें कहने लगीं—'अरी बहिनो! पुत्रहीन स्त्री बहुत ही अभागिनी होती है। पुत्रवाली सौतें तो दासीके समान उसका तिरस्कार करती हैं। और तो और, स्वयं पतिदेव ही उसे पत्नी करके नहीं मानते। सचमुच पुत्रहीन स्त्री धिक्कारके योग्य है॥ ४०॥ भला, दासियोंको क्या दुःख है? वे तो अपने स्वामीकी सेवा करके निरन्तर सम्मान पाती रहती हैं। परन्तु हम अभागिनी तो इस समय उनसे भी गयी-बीती हो रही हैं और दासियोंकी दासीके समान बार-बार तिरस्कार पा रही हैं॥ ४१॥ परीक्षित्! इस प्रकार वे रानियाँ अपनी सौतकी गोद भरी देखकर जलती रहती थीं और राजा भी उनकी ओरसे उदासीन हो गये थे। फलतः उनके मनमें कृतद्युतिके प्रति बहुत अधिक द्वेष हो गया॥ ४२॥ द्वेषके कारण रानियोंकी बुद्धि मारी गयी। उनके चित्तमें क्रूरता छा गयी। उन्हें अपने पति चित्रकेतुका पुत्र-स्नेह सहन न हुआ। इसलिये उन्होंने चिढ़कर नन्हेसे राजकुमारको विष दे दिया॥ ४३॥ महारानी कृतद्युतिको सौतोंकी इस घोर पापमयी करतूतका कुछ भी पता न था। उन्होंने दूरसे देखकर समझ लिया कि बच्चा सो रहा है। इसलिये वे महलमें इधर-उधर डोलती रहीं॥ ४४॥ बुद्धिमती रानीने यह देखकर कि बच्चा बहुत देरसे सो रहा है, धायसे कहा—'कल्याणि! मेरे लालको ले आ'॥ ४५॥ धायने सोते हुए बालकके पास जाकर देखा कि उसके नेत्रोंकी पुतलियाँ उलट गयी हैं। प्राण, इन्द्रिय और जीवात्माने भी उसके शरीरसे विदा ले ली है। यह देखते ही 'हाय रे! मैं मारी गयी!' इस प्रकार कहकर वह धरतीपर गिर पड़ी॥ ४६॥

तस्यास्तदाऽऽकर्ण्य भृशातुरं स्वरं
घ्नन्त्याः कराभ्यामुर उच्चकैरपि।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयाऽऽत्मजान्तिकं
ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम्॥ ४७
पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा
मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा॥ ४८
ततो नृपान्तःपुरवर्तिनो जना
नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम्।
आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखिता-
स्ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः॥ ४९
श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं
विनष्टदृष्टिः प्रपतन् स्खलन् पथि।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं
विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥ ५०
पपात बालस्य स पादमूले
मृतस्य विस्रस्तशिरोरुहाम्बरः।
दीर्घं श्वसन् बाष्पकलोपरोधतो
निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम्॥ ५१
पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम्।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं
सती दधाना विललाप चित्रधा॥ ५२
स्तनद्वयं कुङ्कुमगन्धमण्डितं
निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः।
विकीर्य केशान् विगलत्स्रजः सुतं
शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम्॥ ५३
अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो
यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परेऽनुजीवत्यपरस्य या मृति-
र्विपर्ययश्चेत्त्वमसि ध्रुवः परः॥ ५४

धाय अपने दोनों हाथोंसे छाती पीट-पीटकर बड़े आर्तस्वरमें जोर-जोरसे रोने लगी। उसका रोना सुनकर महारानी कृतद्युति जल्दी-जल्दी अपने पुत्रके शयनगृहमें पहुँचीं और उन्होंने देखा कि मेरा छोटा-सा बच्चा अकस्मात् मर गया है॥ ४७॥ तब वे अत्यन्त शोकके कारण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। उनके सिरके बाल बिखर गये और शरीरपरके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये॥ ४८॥ तदनन्तर महारानीका रुदन सुनकर रनिवासके सभी स्त्री-पुरुष वहाँ दौड़ आये और सहानुभूतिवश अत्यन्त दुःखी होकर रोने लगे। वे हत्यारी रानियाँ भी वहाँ आकर झूठमूठ रोनेका ढोंग करने लगीं॥ ४९॥

जब राजा चित्रकेतुको पता लगा कि मेरे पुत्रकी अकारण ही मृत्यु हो गयी है, तब अत्यन्त स्नेहके कारण शोकके आवेगसे उनकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया। वे धीरे-धीरे अपने मन्त्रियों और ब्राह्मणोंके साथ मार्गमें गिरते-पड़ते मृत बालकके पास पहुँचे और मूर्च्छित होकर उसके पैरोंके पास गिर पड़े। उनके केश और वस्त्र इधर-उधर बिखर गये। वे लंबी-लंबी साँस लेने लगे। आँसुओंकी अधिकतासे उनका गला रुँध गया और वे कुछ भी बोल न सके॥ ५०-५१॥ पतिप्राणा रानी कृतद्युति अपने पति चित्रकेतुको अत्यन्त शोकाकुल और इकलौते नन्हे-से बच्चेको मरा हुआ देख भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगीं। उनका यह दुःख देखकर मन्त्री आदि सभी उपस्थित मनुष्य शोकग्रस्त हो गये॥ ५२॥ महारानीके नेत्रोंसे इतने आँसू बह रहे थे कि वे उनकी आँखोंका अंजन लेकर केसर और चन्दनसे चर्चित वक्षःस्थलको भिगोने लगे। उनके बाल बिखर रहे थे तथा उनमें गुँथे हुए फूल गिर रहे थे। इस प्रकार वे पुत्रके लिये कुररी पक्षीके समान उच्चस्वरमें विविध प्रकारसे विलाप कर रही थीं॥ ५३॥ वे कहने लगीं—'अरे विधाता! सचमुच तू बड़ा मूर्ख है, जो अपनी सृष्टिके प्रतिकूल चेष्टा करता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि बूढ़े-बूढ़े तो जीते रहें और बालक मर जायँ। यदि वास्तवमें तेरे स्वभावमें ऐसी ही विपरीतता है, तब तो तू जीवोंका अमर शत्रु है॥ ५४॥

न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः
शरीरिणामस्तु तदाऽऽत्मकर्मभिः।
यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये
स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि॥ ५५

यदि संसारमें प्राणियोंके जीवन-मरणका कोई क्रम न रहे, तो वे अपने प्रारब्धके अनुसार जन्मते-मरते रहेंगे। फिर तेरी आवश्यकता ही क्या है। तूने सम्बन्धियोंमें स्नेह-बन्धन तो इसीलिये डाल रखा है कि वे तेरी सृष्टिको बढ़ायें? परन्तु तू इस प्रकार बच्चोंको मारकर अपने किये-करायेपर अपने हाथों पानी फेर रहा है'॥ ५५॥ फिर वे अपने मृत पुत्रकी ओर देखकर कहने लगीं—'बेटा! मैं तुम्हारे बिना अनाथ और दीन हो रही हूँ। मुझे छोड़कर इस प्रकार चले जाना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। तनिक आँख खोलकर देखो तो सही, तुम्हारे पिताजी तुम्हारे वियोगमें कितने शोक-सन्तप्त हो रहे हैं। बेटा! जिस घोर नरकको निःसन्तान पुरुष बड़ी कठिनाईसे पार कर पाते हैं, उसे हम तुम्हारे सहारे अनायास ही पार कर लेंगे। अरे बेटा! तुम इस यमराजके साथ दूर मत जाओ। यह तो बड़ा ही निर्दयी है॥ ५६॥

त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां
त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम्।
अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं यद्
ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम्॥ ५६

उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्या-
स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम्।
सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान् परीतो
भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानाम्॥ ५७

मेरे प्यारे लल्ला! ओ राजकुमार! उठो! बेटा! देखो, तुम्हारे साथी बालक तुम्हें खेलनेके लिये बुला रहे हैं। तुम्हें सोते-सोते बहुत देर हो गयी, अब भूख लगी होगी। उठो, कुछ खा लो। और कुछ नहीं तो मेरा दूध ही पी लो और अपने स्वजन-सम्बन्धी हमलोगोंका शोक दूर करो॥ ५७॥ प्यारे लाल! आज मैं तुम्हारे मुखारविन्दपर वह भोली-भाली मुसकराहट और आनन्दभरी चितवन नहीं देख रही हूँ। मैं बड़ी अभागिनी हूँ। हाय-हाय! अब भी मुझे तुम्हारी सुमधुर तोतली बोली नहीं सुनायी दे रही है। क्या सचमुच निठुर यमराज तुम्हें उस परलोकमें ले गया, जहाँसे फिर कोई लौटकर नहीं आता?॥ ५८॥

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम्।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकं
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते॥ ५८

श्रीशुक उवाच

विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः।
चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह॥ ५९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब सम्राट् चित्रकेतुने देखा कि मेरी रानी अपने मृत पुत्रके लिये इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विलाप कर रही है, तब वे शोकसे अत्यन्त सन्तप्त हो फूट-फूटकर रोने लगे॥ ५९॥ राजा-रानीके इस प्रकार विलाप करनेपर उनके अनुगामी स्त्री-पुरुष भी दुःखित होकर रोने लगे। इस प्रकार सारा नगर ही शोकसे अचेत-सा हो गया॥ ६०॥

तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः।
रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम्॥ ६०

एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम्।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम मुनिराजगाम सनारदः॥ ६१

राजन्! महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारदने देखा कि राजा चित्रकेतु पुत्रशोकके कारण चेतनाहीन हो रहे हैं, यहाँतक कि उन्हें समझानेवाला भी कोई नहीं है। तब वे दोनों वहाँ आये॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुविलापो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

चित्रकेतुको अंगिरा और नारदजीका उपदेश

श्रीशुक उवाच

ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम्।
शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः॥ १

कोऽयं स्यात् तव राजेन्द्र भवान् यमनुशोचति।
त्वं चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम्॥ २

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्त्रोतोवेगेन वालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥ ३

यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च।
एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीशमायया॥ ४

वयं च त्वं च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचराः।
जन्ममृत्योर्यथा पश्चात् प्राङ्नैवमधुनापि भोः॥ ५

भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्त्यजः।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत्॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा चित्रकेतु शोकग्रस्त होकर मुर्देके समान अपने मृत पुत्रके पास ही पड़े हुए थे। अब महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद उन्हें सुन्दर-सुन्दर उक्तियोंसे समझाने लगे॥ १॥ उन्होंने कहा—राजेन्द्र! जिसके लिये तुम इतना शोक कर रहे हो, वह बालक इस जन्म और पहलेके जन्मोंमें तुम्हारा कौन था? उसके तुम कौन थे? और अगले जन्मोंमें भी उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा?॥ २॥

जैसे जलके वेगसे बालूके कण एक-दूसरेसे जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही समयके प्रवाहमें प्राणियोंका भी मिलन और बिछोह होता रहता है॥ ३॥ राजन्! जैसे कुछ बीजोंसे दूसरे बीज उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही भगवान्की मायासे प्रेरित होकर प्राणियोंसे अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं॥ ४॥ राजन्! हम, तुम और हमलोगोंके साथ इस जगत्में जितने भी चराचर प्राणी वर्तमान हैं—वे सब अपने जन्मके पहले नहीं थे और मृत्युके पश्चात् नहीं रहेंगे। इससे सिद्ध है कि इस समय भी उनका अस्तित्व नहीं है। क्योंकि सत्य वस्तु तो सब समय एक-सी रहती है॥ ५॥ भगवान् ही समस्त प्राणियोंके अधिपति हैं। उनमें जन्म-मृत्यु आदि विकार बिलकुल नहीं है। उन्हें न किसीकी इच्छा है और न अपेक्षा। वे अपने-आप परतन्त्र प्राणियोंकी सृष्टि कर लेते हैं और उनके द्वारा अन्य प्राणियोंकी रचना, पालन तथा संहार करते हैं—ठीक वैसे ही जैसे बच्चे घर-घरौंदे, खेल-खिलौने बना-बनाकर बिगाड़ते रहते हैं॥ ६॥

देहेन देहिनो राजन् देहाद्देहोऽभिजायते।
बीजादेव यथा बीजं देह्यर्थ इव शाश्वतः॥ ७
देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः॥ ८

श्रीशुक उवाच

एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः।
प्रमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत॥ ९

राजोवाच

कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम्।
अवधूतेन वेषेण गूढाविह समागतौ॥ १०
चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः।
मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः॥ ११
कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः।
अपान्तरतमो व्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः॥ १२
वसिष्ठो भगवान् रामः कपिलो बादरायणिः।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातूकर्ण्यस्तथाऽऽरुणिः॥ १३
रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः।
ऋषिर्वेदशिरा बोध्यो[1] मुनिः पञ्चशिरास्तथा[2]॥ १४
हिरण्यनाभः कौसल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः।
एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः॥ १५
तस्माद्युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभू।
अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम्॥ १६

राजन्! जैसे एक बीजसे दूसरा बीज उत्पन्न होता है, वैसे ही पिताकी देहद्वारा माताकी देहसे पुत्रकी देह उत्पन्न होती है। पिता-माता और पुत्र जीवके रूपमें देही हैं और बाह्यदृष्टिसे केवल शरीर। उनमें देही जीव घट आदि कार्योंमें पृथ्वीके समान नित्य है॥ ७॥ राजन्! जैसे एक ही मृत्तिकारूप वस्तुमें घटत्व आदि जाति और घट आदि व्यक्तियोंका विभाग केवल कल्पनामात्र है, उसी प्रकार यह देही और देहका विभाग भी अनादि एवं अविद्या-कल्पित है*॥ ८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारदने इस प्रकार राजा चित्रकेतुको समझाया-बुझाया, तब उन्होंने कुछ धीरज धारण करके शोकसे मुरझाये हुए मुखको हाथसे पोंछा और उनसे कहा—॥ ९॥

राजा चित्रकेतु बोले—आप दोनों परम ज्ञानवान् और महान्से भी महान् जान पड़ते हैं तथा अपनेको अवधूतवेषमें छिपाकर यहाँ आये हैं। कृपा करके बतलाइये, आपलोग हैं कौन?॥ १०॥ मैं जानता हूँ कि बहुत-से भगवान्के प्यारे ब्रह्मवेत्ता मेरे-जैसे विषयासक्त प्राणियोंको उपदेश करनेके लिये उन्मत्तका-सा वेष बनाकर पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करते हैं॥ ११॥ सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अंगिरा, देवल, असित, अपान्तरतम व्यास, मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिलदेव, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरि, पतंजलि, वेदशिरा, बोध्यमुनि, पंचशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्य, श्रुतदेव और ऋतध्वज—ये सब तथा दूसरे सिद्धेश्वर ऋषि-मुनि ज्ञानदान करनेके लिये पृथ्वीपर विचरते रहते हैं॥ १२—१५॥ स्वामियो! मैं विषयभोगोंमें फँसा हुआ, मूढ़बुद्धि ग्राम्य पशु हूँ और अज्ञानके घोर अन्धकारमें डूब रहा हूँ। आपलोग मुझे ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशके केन्द्रमें लाइये॥ १६॥

---

१. प्रा० पा०—धौम्यो। २. प्रा० पा०—शिखस्तथा।

* अनित्य होनेके कारण शरीर असत्य है और शरीर असत्य होनेके कारण उनके भिन्न-भिन्न अभिमानी भी असत्य ही हैं। त्रिकालाबाधित सत्य तो एकमात्र परमात्मा ही हैं। अतः शोक करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

अङ्गिरा उवाच

अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप।
एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः॥ १७

इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे।
अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम्॥ १८

अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो।
ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसीदितुमर्हति॥ १९

तदैव[1] ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः।
ज्ञात्वान्याभिनिवेशं[2] ते पुत्रमेव ददावहम्॥ २०

अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते।
एवं दारा गृहा रायो[3] विविधैश्वर्यसम्पदः॥ २१

शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः।
मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्याः सुहृज्जनाः॥ २२

सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः॥ २३

दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः।
कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन्॥ २४

अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।
देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः॥ २५

महर्षि अंगिराने कहा—राजन्! जिस समय तुम पुत्रके लिये बहुत लालायित थे, तब मैंने ही तुम्हें पुत्र दिया था। मैं अंगिरा हूँ। ये जो तुम्हारे सामने खड़े हैं, स्वयं ब्रह्माजीके पुत्र सर्वसमर्थ देवर्षि नारद हैं॥ १७॥ जब हमलोगोंने देखा कि तुम पुत्रशोकके कारण बहुत ही घने अज्ञानान्धकारमें डूब रहे हो, तब सोचा कि तुम भगवान्‌के भक्त हो, शोक करनेयोग्य नहीं हो। अतः तुमपर अनुग्रह करनेके लिये ही हम दोनों यहाँ आये हैं। राजन्! सच्ची बात तो यह है कि जो भगवान् और ब्राह्मणोंका भक्त है, उसे किसी अवस्थामें शोक नहीं करना चाहिये॥ १८-१९॥

जिस समय पहले-पहल मैं तुम्हारे घर आया था, उसी समय मैं तुम्हें परम ज्ञानका उपदेश देता; परन्तु मैंने देखा कि अभी तो तुम्हारे हृदयमें पुत्रकी उत्कट लालसा है, इसलिये उस समय तुम्हें ज्ञान न देकर मैंने पुत्र ही दिया॥ २०॥ अब तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानोंको कितना दुःख होता है। यही बात स्त्री, घर, धन, विविध प्रकारके ऐश्वर्य, सम्पत्तियाँ, शब्द-रूप-रस आदि विषय, राज्यवैभव, पृथ्वी, राज्य, सेना, खजाना, सेवक, अमात्य, सगे-सम्बन्धी, इष्ट-मित्र सबके लिये हैं; क्योंकि ये सब-के-सब अनित्य हैं॥ २१-२२॥ शूरसेन! अतएव ये सभी शोक, मोह, भय और दुःखके कारण हैं, मनके खेल-खिलौने हैं, सर्वथा कल्पित और मिथ्या हैं; क्योंकि ये न होनेपर भी दिखायी पड़ रहे हैं। यही कारण है कि ये एक क्षण दीखनेपर भी दूसरे क्षण लुप्त हो जाते हैं। ये गन्धर्वनगर, स्वप्न, जादू और मनोरथकी वस्तुओंके समान सर्वथा असत्य हैं। जो लोग कर्म-वासनाओंसे प्रेरित होकर विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं; उन्हींका मन अनेक प्रकारके कर्मोंकी सृष्टि करता है॥ २३-२४॥ जीवात्माका यह देह—जो पंचभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंका संघात है—जीवको विविध प्रकारके क्लेश और सन्ताप देनेवाली कही जाती है॥ २५॥

१. प्रा० पा०—तत्रैव। २. प्रा० पा०—ज्ञात्वात्माभि०। ३. प्रा० पा०—रामा।

तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः।
द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश॥ २६

इसलिये तुम अपने मनको विषयोंमें भटकनेसे रोककर शान्त करो, स्वस्थ करो और फिर उस मनके द्वारा अपने वास्तविक स्वरूपका विचार करो तथा इस द्वैत-भ्रममें नित्यत्वकी बुद्धि छोड़कर परम शान्तिस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाओ॥ २६॥

नारद उवाच

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम।
यां धारयन् सप्तरात्राद् द्रष्टा सङ्कर्षणं प्रभुम्॥ २७

यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे
शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं
प्रापुर्भवानपि परं नचिरादुपैति॥ २८

देवर्षि नारदने कहा—राजन्! तुम एकाग्रचित्तसे मुझसे यह मन्त्रोपनिषद् ग्रहण करो। इसे धारण करनेसे सात रातमें ही तुम्हें भगवान् संकर्षणका दर्शन होगा॥ २७॥ नरेन्द्र! प्राचीन कालमें भगवान् शंकर आदिने श्रीसंकर्षणदेवके ही चरणकमलोंका आश्रय लिया था। इससे उन्होंने द्वैतभ्रमका परित्याग कर दिया और उनकी उस महिमाको प्राप्त हुए जिससे बढ़कर तो कोई है ही नहीं, समान भी नहीं है। तुम भी बहुत शीघ्र ही भगवान्‌के उसी परमपदको प्राप्त कर लोगे॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
चित्रकेतुसान्त्वनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

चित्रकेतुका वैराग्य तथा संकर्षणदेवके दर्शन

श्रीशुक उवाच

अथ देवऋषी राजन् सम्परेतं नृपात्मजम्।
दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! तदनन्तर देवर्षि नारदने मृत राजकुमारके जीवात्माको शोकाकुल स्वजनोंके सामने प्रत्यक्ष बुलाकर कहा॥ १॥

नारद उवाच

जीवात्मन् पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते।
सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम्॥ २

देवर्षि नारदने कहा—जीवात्मन्! तुम्हारा कल्याण हो। देखो, तुम्हारे माता-पिता, सुहृद्-सम्बन्धी तुम्हारे वियोगसे अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं॥ २॥

कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः।
भुङ्क्ष्व भोगान् पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम्॥ ३

इसलिये तुम अपने शरीरमें आ जाओ और शेष आयु अपने सगे-सम्बन्धियोंके साथ ही रहकर व्यतीत करो। अपने पिताके दिये हुए भोगोंको भोगो और राजसिंहासनपर बैठो॥ ३॥

जीव उवाच

कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन्।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु॥ ४

जीवात्माने कहा—देवर्षिजी! मैं अपने कर्मोंके अनुसार देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें न जाने कितने जन्मोंसे भटक रहा हूँ। उनमेंसे ये लोग किस जन्ममें मेरे माता-पिता हुए?॥ ४॥

बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः।
सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः॥ ५

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु॥ ६

नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु।
यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि॥ ७

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः।
यावद्यत्रोपलभ्येत तावत्स्वत्वं हि तस्य तत् ॥ ८

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक्।
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजति प्रभुः॥ ९

न ह्यस्यातिप्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तॄणां गुणदोषयोः॥ १०

नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम्।
उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः॥ ११

श्रीशुक उवाच

इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा।
विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वाऽऽत्मस्नेहशृङ्खलाम्॥ १२

निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचिताः क्रियाः।
तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम्॥ १३

विभिन्न जन्मोंमें सभी एक-दूसरेके भाई-बन्धु, नाती-गोती, शत्रु-मित्र, मध्यस्थ, उदासीन और द्वेषी होते रहते हैं॥ ५॥ जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ एक व्यापारीसे दूसरेके पास जाती-आती रहती हैं, वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है॥ ६॥ इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक दिन ठहरनेवाले सुवर्ण आदि पदार्थोंका सम्बन्ध भी मनुष्योंके साथ स्थायी नहीं, क्षणिक ही होता है; और जबतक जिसका जिस वस्तुसे सम्बन्ध रहता है, तभीतक उसकी उस वस्तुसे ममता भी रहती है॥ ७॥ जीव नित्य और अहंकाररहित है। वह गर्भमें आकर जबतक जिस शरीरमें रहता है, तभीतक उस शरीरको अपना समझता है॥ ८॥ यह जीव नित्य अविनाशी, सूक्ष्म (जन्मादिरहित), सबका आश्रय और स्वयंप्रकाश है। इसमें स्वरूपतः जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नहीं हैं। फिर भी यह ईश्वररूप होनेके कारण अपनी मायाके गुणोंसे ही अपने-आपको विश्वके रूपमें प्रकट कर देता है॥ ९॥ इसका न तो कोई अत्यन्त प्रिय है और न अप्रिय, न अपना और न पराया। क्योंकि गुण-दोष (हित-अहित) करनेवाले मित्र-शत्रु आदिकी भिन्न-भिन्न बुद्धि-वृत्तियोंका यह अकेला ही साक्षी है; वास्तवमें यह अद्वितीय है॥ १०॥ यह आत्मा कार्य-कारणका साक्षी और स्वतन्त्र है। इसलिये यह शरीर आदिके गुण-दोष अथवा कर्मफलको ग्रहण नहीं करता, सदा उदासीनभावसे स्थित रहता है॥ ११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वह जीवात्मा इस प्रकार कहकर चला गया। उसके सगे-सम्बन्धी उसकी बात सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उनका स्नेह-बन्धन कट गया और उसके मरनेका शोक भी जाता रहा॥ १२॥ इसके बाद जातिवालोंने बालककी मृत देहको ले जाकर तत्कालोचित संस्कार और और्ध्वदैहिक क्रियाएँ पूर्ण कीं और उस दुस्त्यज स्नेहको छोड़ दिया, जिसके कारण शोक, मोह, भय और दुःखकी प्राप्ति होती है॥ १३॥

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम्।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम्॥ १४

स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः।
गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः॥ १५

कालिन्द्यां विधिवत् स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः।
मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत॥ १६

अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने।
भगवान्नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह॥ १७

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥ १८

नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये॥ १९

आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः।
हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये॥ २०

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः॥ २१

परीक्षित्! जिन रानियोंने बच्चेको विष दिया था, वे बालहत्याके कारण श्रीहीन हो गयी थीं और लज्जाके मारे आँखतक नहीं उठा सकती थीं। उन्होंने अंगिरा ऋषिके उपदेशको याद करके (मात्सर्यहीन हो) यमुनाजीके तटपर ब्राह्मणोंके आदेशानुसार बालहत्याका प्रायश्चित्त किया॥ १४॥ परीक्षित्! इस प्रकार अंगिरा और नारदजीके उपदेशसे विवेकबुद्धि जाग्रत् हो जानेके कारण राजा चित्रकेतु घर-गृहस्थीके अँधेरे कुएँसे उसी प्रकार बाहर निकल पड़े, जैसे कोई हाथी तालाबके कीचड़से निकल आये॥ १५॥ उन्होंने यमुनाजीमें विधिपूर्वक स्नान करके तर्पण आदि धार्मिक क्रियाएँ कीं। तदनन्तर संयतेन्द्रिय और मौन होकर उन्होंने देवर्षि नारद और महर्षि अंगिराके चरणोंकी वन्दना की॥ १६॥ भगवान् नारदने देखा कि चित्रकेतु जितेन्द्रिय, भगवद्भक्त और शरणागत हैं। अतः उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उन्हें इस विद्याका उपदेश किया॥ १७॥

(देवर्षि नारदने यों उपदेश किया—) 'ॐकारस्वरूप भगवन्! आप वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणके रूपमें क्रमशः चित्त, बुद्धि, मन और अहंकारके अधिष्ठाता हैं। मैं आपके इस चतुर्व्यूहरूपका बार-बार नमस्कारपूर्वक ध्यान करता हूँ॥ १८॥ आप विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हैं। आपकी मूर्ति परमानन्दमयी है। आप अपने स्वरूपभूत आनन्दमें ही मग्न और परम शान्त हैं। द्वैतदृष्टि आपको छूतक नहीं सकती। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ १९॥ अपने स्वरूपभूत आनन्दकी अनुभूतिसे ही आपने मायाजनित राग-द्वेष आदि दोषोंका तिरस्कार कर रखा है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप सबकी समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक, परम महान् और विराट्स्वरूप हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २०॥ मनसहित वाणी आपतक न पहुँचकर बीचसे ही लौट आती है। उसके उपरत हो जानेपर जो अद्वितीय, नाम-रूपरहित, चेतनमात्र और कार्य-कारणसे परेकी वस्तु रह जाती है—वह हमारी रक्षा करे॥ २१॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते।
मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः॥ २२

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम्॥ २३

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।
नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद् द्रष्ट्रपदेशमेति॥ २४

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकर-करकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परम परमेष्ठिन्नमस्ते॥ २५॥

श्रीशुक उवाच

भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः।
ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो॥ २६

चित्रकेतुस्तु विद्यां तां यथा नारदभाषिताम्।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः॥ २७

ततश्च सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया।
विद्याधराधिपत्यं स लेभेऽप्रतिहतं नृपः॥ २८

ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः।
जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम्॥ २९

यह कार्य-कारणरूप जगत् जिनसे उत्पन्न होता है, जिनमें स्थित है और जिनमें लीन होता है तथा जो मिट्टीकी वस्तुओंमें व्याप्त मृत्तिकाके समान सबमें ओत-प्रोत हैं—उन परब्रह्मस्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २२॥ यद्यपि आप आकाशके समान बाहर-भीतर एकरस व्याप्त हैं, तथापि आपको मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी ज्ञानशक्तिसे नहीं जान सकतीं और प्राण तथा कर्मेन्द्रियाँ अपनी क्रियारूप शक्तिसे स्पर्श भी नहीं कर सकतीं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २३॥ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाओंमें आपके चैतन्यांशसे युक्त होकर ही अपना-अपना काम करते हैं तथा सुषुप्ति और मूर्च्छाकी अवस्थाओंमें आपके चैतन्यांशसे युक्त न होनेके कारण अपना-अपना काम करनेमें असमर्थ हो जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे लोहा अग्निसे तप्त होनेपर जला सकता है, अन्यथा नहीं। जिसे 'द्रष्टा' कहते हैं, वह भी आपका ही एक नाम है; जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें आप उसे स्वीकार कर लेते हैं। वास्तवमें आपसे पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं है॥ २४॥ ॐकारस्वरूप महाप्रभावशाली महाविभूतिपति भगवान् महापुरुषको नमस्कार है। श्रेष्ठ भक्तोंका समुदाय अपने करकमलोंकी कलियोंसे आपके युगल चरणकमलोंकी सेवामें संलग्न रहता है। प्रभो! आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ'॥ २५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवर्षि नारद अपने शरणागत भक्त चित्रकेतुको इस विद्याका उपदेश करके महर्षि अंगिराके साथ ब्रह्मलोकको चले गये॥ २६॥ राजा चित्रकेतुने देवर्षि नारदके द्वारा उपदिष्ट विद्याका उनके आज्ञानुसार सात दिनतक केवल जल पीकर बड़ी एकाग्रताके साथ अनुष्ठान किया॥ २७॥ तदनन्तर उस विद्याके अनुष्ठानसे सात रातके पश्चात् राजा चित्रकेतुको विद्याधरोंका अखण्ड आधिपत्य प्राप्त हुआ॥ २८॥ इसके बाद कुछ ही दिनोंमें इस विद्याके प्रभावसे उनका मन और भी शुद्ध हो गया। अब वे देवाधिदेव भगवान् शेषजीके चरणोंके समीप पहुँच गये॥ २९॥

मृणालगौरं शितिवाससं स्फुर-
त्किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं
ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम्॥ ३०

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वच्छामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः[1] ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम् ॥ ३१

स उत्तमश्लोकपदाब्जविष्टरं
प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्मुहुः[2] ।
प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो
नैवाशकत्तं प्रसमीडितुं चिरम्॥ ३२

ततः समाधाय मनो मनीषया
बभाष एतत्प्रतिलब्धवागसौ।
नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्तनं
जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम्॥ ३३

चित्रकेतुरुवाच

अजित जितः सममतिभिः
साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता।
विजितास्तेऽपि च भजता-
मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः॥ ३४

तव विभवः खलु भगवन्
जगदुदयस्थितिलयादीनि[3] ।
विश्वसृजस्तेंऽशांशा-
स्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या॥ ३५

उन्होंने देखा कि भगवान् शेषजी सिद्धेश्वरोंके मण्डलमें विराजमान हैं। उनका शरीर कमलनालके समान गौरवर्ण है। उसपर नीले रंगका वस्त्र फहरा रहा है। सिरपर किरीट, बाँहोंमें बाजूबंद, कमरमें करधनी और कलाईमें कंगन आदि आभूषण चमक रहे हैं। नेत्र रतनारे हैं और मुखपर प्रसन्नता छा रही है॥ ३०॥ भगवान् शेषका दर्शन करते ही राजर्षि चित्रकेतुके सारे पाप नष्ट हो गये। उनका अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल हो गया। हृदयमें भक्तिभावकी बाढ़ आ गयी। नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक आये। शरीरका एक-एक रोम खिल उठा। उन्होंने ऐसी ही स्थितिमें आदिपुरुष भगवान् शेषको नमस्कार किया॥ ३१॥ उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू टप-टप गिरते जा रहे थे। इससे भगवान् शेषके चरण रखनेकी चौकी भीग गयी। प्रेमोद्रेकके कारण उनके मुँहसे एक अक्षर भी न निकल सका। वे बहुत देरतक शेषभगवान्‌की कुछ भी स्तुति न कर सके॥ ३२॥ थोड़ी देर बाद उन्हें बोलनेकी कुछ-कुछ शक्ति प्राप्त हुई। उन्होंने विवेकबुद्धिसे मनको समाहित किया और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी बाह्यवृत्तिको रोका। फिर उन जगद्गुरुकी, जिनके स्वरूपका पांचरात्र आदि भक्तिशास्त्रोंमें वर्णन किया गया है, इस प्रकार स्तुति की॥ ३३॥

चित्रकेतुने कहा—अजित! जितेन्द्रिय एवं समदर्शी साधुओंने आपको जीत लिया है। आपने भी अपने सौन्दर्य, माधुर्य, कारुण्य आदि गुणोंसे उनको अपने वशमें कर लिया है। अहो, आप धन्य हैं! क्योंकि जो निष्कामभावसे आपका भजन करते हैं, उन्हें आप करुणापरवश होकर अपने-आपको भी दे डालते हैं॥ ३४॥ भगवन्! जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आपके लीला-विलास हैं। विश्वनिर्माता ब्रह्मा आदि आपके अंशके भी अंश हैं। फिर भी वे पृथक्-पृथक् अपनेको जगत्कर्ता मानकर झूठमूठ एक-दूसरेसे स्पर्धा करते हैं॥ ३५॥

१. प्रा० पा०—मुहुः। २. प्रा० पा०—सेवय०। ३. प्रा० पा०—लयावनादीनि।

परमाणुपरममहतो-
स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां
यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि॥ ३६

क्षित्यादिभिरेष किलावृतः
सप्तभिर्दशगुणोत्तरैराण्डकोशः।
यत्र पतत्यणुकल्पः
सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः॥ ३७

विषयतृषो नरपशवो
य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम्।
तेषामाशिष ईश
तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम्॥ ३८

कामधियस्त्वयि रचिता
न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि।
ज्ञानात्मन्यगुणमये
गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि॥ ३९

जितमजित तदा भवता
यदाऽऽह भागवतं धर्ममनवद्यम्।
निष्किञ्चना ये मुनय
आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय॥ ४०

विषममतिर्न यत्र नृणां
त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र।
विषमधिया रचितो यः
स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः॥ ४१

नन्हे-से-नन्हे परमाणुसे लेकर बड़े-से-बड़े महत्तत्त्वपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओंके आदि, अन्त और मध्यमें आप ही विराजमान हैं तथा स्वयं आप आदि, अन्त और मध्यसे रहित हैं। क्योंकि किसी भी पदार्थके आदि और अन्तमें जो वस्तु रहती है, वही मध्यमें भी रहती है॥ ३६॥ यह ब्रह्माण्डकोष, जो पृथ्वी आदि एक-से-एक दसगुने सात आवरणोंसे घिरा हुआ है, अपने ही समान दूसरे करोड़ों ब्रह्माण्डोंके सहित आपमें एक परमाणुके समान घूमता रहता है और फिर भी उसे आपकी सीमाका पता नहीं है। इसलिये आप अनन्त हैं॥ ३७॥ जो नरपशु केवल विषयभोग ही चाहते हैं, वे आपका भजन न करके आपके विभूतिस्वरूप इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं। प्रभो! जैसे राजकुलका नाश होनेके पश्चात् उसके अनुयायियोंकी जीविका भी जाती रहती है, वैसे ही क्षुद्र उपास्यदेवोंका नाश होनेपर उनके दिये हुए भोग भी नष्ट हो जाते हैं॥ ३८॥ परमात्मन्! आप ज्ञानस्वरूप और निर्गुण हैं। इसलिये आपके प्रति की हुई सकाम भावना भी अन्यान्य कर्मोंके समान जन्म-मृत्युरूप फल देनेवाली नहीं होती, जैसे भुने हुए बीजोंसे अंकुर नहीं उगते। क्योंकि जीवको जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं, वे सत्त्वादि गुणोंसे ही होते हैं, निर्गुणसे नहीं॥ ३९॥ हे अजित! जिस समय आपने विशुद्ध भागवतधर्मका उपदेश किया था, उसी समय आपने सबको जीत लिया। क्योंकि अपने पास कुछ भी संग्रह-परिग्रह न रखनेवाले, किसी भी वस्तुमें अहंता-ममता न करनेवाले आत्माराम सनकादि परमर्षि भी परम साम्य और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये उसी भागवतधर्मका आश्रय लेते हैं॥ ४०॥ वह भागवतधर्म इतना शुद्ध है कि उसमें सकाम धर्मोंके समान मनुष्योंकी वह विषमबुद्धि नहीं होती कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह तू है और यह तेरा है।' इसके विपरीत जिस धर्मके मूलमें ही विषमताका बीज बो दिया जाता है, वह तो अशुद्ध, नाशवान् और अधर्मबहुल होता है॥ ४१॥

कः क्षेमो निजपरयोः
 कियानर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण।
स्वद्रोहात् तव कोपः
 परसम्पीडया च तथाधर्मः॥ ४२
न व्यभिचरति तवेक्षा
 यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बे-
 ष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः॥ ४३
न हि भगवन्नघटितमिदं
 त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः[1]।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्
 पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात्॥ ४४
अथ भगवन् वयमधुना
 त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः।
सुरऋषिणा यदुदितं
 तावकेन[2] कथमन्यथा भवति॥ ४५
विदितमनन्त समस्तं
 तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।
विज्ञाप्यं परमगुरोः
 कियदिव सवितुरिव खद्योतैः॥ ४६
नमस्तुभ्यं भगवते
 सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय।
दुरवसितात्मगतये
 कुयोगिनां भिदा परमहंसाय॥ ४७
यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
 यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि
 तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने॥ ४८

सकाम धर्म अपना और दूसरेका भी अहित करनेवाला है। उससे अपना या पराया—किसीका कोई भी प्रयोजन और हित सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत सकाम धर्मसे जब अनुष्ठान करनेवालेका चित्त दुखता है, तब आप रुष्ट होते हैं और जब दूसरेका चित्त दुखता है, तब वह धर्म नहीं रहता—अधर्म हो जाता है॥ ४२ ॥ भगवन्! आपने जिस दृष्टिसे भागवतधर्मका निरूपण किया है, वह कभी परमार्थसे विचलित नहीं होती। इसलिये जो संत पुरुष चर-अचर समस्त प्राणियोंमें समदृष्टि रखते हैं, वे ही उसका सेवन करते हैं॥ ४३ ॥ भगवन्! आपके दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके सारे पाप क्षीण हो जाते हैं, यह कोई असम्भव बात नहीं है; क्योंकि आपका नाम एक बार सुननेसे ही नीच चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है॥ ४४ ॥ भगवन्! इस समय आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे अन्तःकरणका सारा मल धुल गया है, सो ठीक ही है। क्योंकि आपके अनन्यप्रेमी भक्त देवर्षि नारदजीने जो कुछ कहा है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है॥ ४५ ॥ हे अनन्त! आप सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हैं। अतएव संसारमें प्राणी जो कुछ करते हैं, वह सब आप जानते ही रहते हैं। इसलिये जैसे जुगनू सूर्यको प्रकाशित नहीं कर सकता, वैसे ही परमगुरु आपसे मैं क्या निवेदन करूँ॥ ४६ ॥ भगवन्! आपकी ही अध्यक्षतामें सारे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। कुयोगीजन भेददृष्टिके कारण आपका वास्तविक स्वरूप नहीं जान पाते। आपका स्वरूप वास्तवमें अत्यन्त शुद्ध है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ४७ ॥ आपकी चेष्टासे शक्ति प्राप्त करके ही ब्रह्मा आदि लोकपालगण चेष्टा करनेमें समर्थ होते हैं। आपकी दृष्टिसे जीवित होकर ही ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं। यह भूमण्डल आपके सिरपर सरसोंके दानेके समान जान पड़ता है। मैं आप सहस्रशीर्षा भगवान्‌को बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ ४८ ॥

१. प्रा० पा०—त्वद्दर्शिनानृ०। २. प्रा० पा०—तत्केन।

श्रीशुक उवाच

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत।
विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरूद्वह॥ ४९

श्रीभगवानुवाच

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम्।
संसिद्धोऽसि तया राजन् विद्यया दर्शनाच्च मे॥ ५०

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः।
शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू॥ ५१

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि सन्ततम्।
उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम्॥ ५२

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः॥ ५३

एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत्॥ ५४

येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा।
सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम्॥ ५५

उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः।
अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत् परम्॥ ५६

यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः।
ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः॥ ५७

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम्।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात्॥ ५८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब विद्याधरोंके अधिपति चित्रकेतुने अनन्तभगवान्‌की इस प्रकार स्तुति की, तब उन्होंने प्रसन्न होकर उनसे कहा॥ ४९॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—चित्रकेतो! देवर्षि नारद और महर्षि अंगिराने तुम्हें मेरे सम्बन्धमें जिस विद्याका उपदेश दिया है, उससे और मेरे दर्शनसे तुम भलीभाँति सिद्ध हो चुके हो॥ ५०॥ मैं ही समस्त प्राणियोंके रूपमें हूँ, मैं ही उनका आत्मा हूँ और मैं ही पालनकर्ता भी हूँ। शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म दोनों ही मेरे सनातन रूप हैं॥ ५१॥ आत्मा कार्य-कारणात्मक जगत्‌में व्याप्त है और कार्य-कारणात्मक जगत् आत्मामें स्थित है तथा इन दोनोंमें मैं अधिष्ठानरूपसे व्याप्त हूँ और मुझमें ये दोनों कल्पित हैं॥ ५२॥ जैसे स्वप्नमें सोया हुआ पुरुष स्वप्नान्तर होनेपर सम्पूर्ण जगत्‌को अपनेमें ही देखता है और स्वप्नान्तर टूट जानेपर स्वप्नमें ही जागता है तथा अपनेको संसारके एक कोनेमें स्थित देखता है, परन्तु वास्तवमें वह भी स्वप्न ही है, वैसे ही जीवकी जाग्रत् आदि अवस्थाएँ परमेश्वरकी ही माया हैं—यों जानकर सबके साक्षी मायातीत परमात्माका ही स्मरण करना चाहिये॥ ५३-५४॥ सोया हुआ पुरुष जिसकी सहायतासे अपनी निद्रा और उसके अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करता है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ; उसे तुम अपनी आत्मा समझो॥ ५५॥ पुरुष निद्रा और जागृति—इन दोनों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला है। वह उन अवस्थाओंमें अनुगत होनेपर भी वास्तवमें उनसे पृथक् है। वह सब अवस्थाओंमें रहनेवाला अखण्ड एकरस ज्ञान ही ब्रह्म है, वही परब्रह्म है॥ ५६॥ जब जीव मेरे स्वरूपको भूल जाता है, तब वह अपनेको अलग मान बैठता है; इसीसे उसे संसारके चक्करमें पड़ना पड़ता है और जन्म-पर-जन्म तथा मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती है॥ ५७॥ यह मनुष्ययोनि ज्ञान और विज्ञानका मूल स्रोत है। जो इसे पाकर भी अपने आत्मस्वरूप परमात्माको नहीं जान लेता, उसे कहीं किसी भी योनिमें शान्ति नहीं मिल सकती॥ ५८॥

स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम्।
अभयं चाप्यनीहायां सङ्कल्पाद्विरमेत्कविः॥ ५९

सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः।
ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च॥ ६०

एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम्।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम्॥ ६१

दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा।
ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत्॥ ६२

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥ ६३

त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि॥ ६४

श्रीशुक उवाच

आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः।
पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः॥ ६५

राजन्! सांसारिक सुखके लिये जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उनमें श्रम है, क्लेश है और जिस परम सुखके उद्देश्यसे वे की जाती हैं, उसके ठीक विपरीत परम दुःख देती हैं; किन्तु कर्मोंसे निवृत्त हो जानेमें किसी प्रकारका भय नहीं है—यह सोचकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि किसी प्रकारके कर्म अथवा उनके फलोंका संकल्प न करे॥ ५९॥ जगत्के सभी स्त्री-पुरुष इसलिये कर्म करते हैं कि उन्हें सुख मिले और उनका दुःखोंसे पिण्ड छूटे; परन्तु उन कर्मोंसे न तो उनका दुःख दूर होता है और न उन्हें सुखकी ही प्राप्ति होती है॥ ६०॥

जो मनुष्य अपनेको बहुत बड़ा बुद्धिमान् मानकर कर्मके पचड़ोंमें पड़े हुए हैं, उनको विपरीत फल मिलता है—यह बात समझ लेनी चाहिये; साथ ही यह भी जान लेना चाहिये कि आत्माका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं तथा इनके अभिमानियोंसे विलक्षण है॥ ६१॥ यह जानकर इस लोकमें देखे और परलोकके सुने हुए विषय-भोगोंसे विवेकबुद्धिके द्वारा अपना पिण्ड छुड़ा ले और ज्ञान तथा विज्ञानमें ही सन्तुष्ट रहकर मेरा भक्त हो जाय॥ ६२॥

जो लोग योगमार्गका तत्त्व समझनेमें निपुण हैं, उनको भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ और परमार्थ केवल इतना ही है कि वह ब्रह्म और आत्माकी एकताका अनुभव कर ले॥ ६३॥ राजन्! यदि तुम मेरे इस उपदेशको सावधान होकर श्रद्धाभावसे धारण करोगे तो ज्ञान एवं विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही सिद्ध हो जाओगे॥ ६४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जगद्गुरु विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि चित्रकेतुको इस प्रकार समझा-बुझाकर उनके सामने ही वहाँसे अन्तर्धान हो गये॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतोः परमात्मदर्शनं नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

चित्रकेतुको पार्वतीजीका शाप

श्रीशुक उवाच

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः।
विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगनेचरः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विद्याधर चित्रकेतु, जिस दिशामें भगवान् संकर्षण अन्तर्धान हुए थे, उसे नमस्कार करके आकाशमार्गसे स्वच्छन्द विचरने लगे॥ १॥

स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः।
स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः॥ २

कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु।
रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरम्॥ ३

महायोगी चित्रकेतु करोड़ों वर्षोंतक सब प्रकारके संकल्पोंको पूर्ण करनेवाली सुमेरु पर्वतकी घाटियोंमें विहार करते रहे। उनके शरीरका बल और इन्द्रियोंकी शक्ति अक्षुण्ण रही। बड़े-बड़े मुनि, सिद्ध, चारण उनकी स्तुति करते रहते। उनकी प्रेरणासे विद्याधरोंकी स्त्रियाँ उनके पास सर्वशक्तिमान् भगवान्के गुण और लीलाओंका गान करती रहतीं॥ २-३॥

एकदा स[1] विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता।
गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः॥ ४

आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि।
उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके॥ ५

एक दिन चित्रकेतु भगवान्के दिये हुए तेजोमय विमानपर सवार होकर कहीं जा रहे थे। इसी समय उन्होंने देखा कि भगवान् शङ्कर बड़े-बड़े मुनियोंकी सभामें सिद्ध-चारणोंके बीच बैठे हुए हैं और साथ ही भगवती पार्वतीको अपनी गोदमें बैठाकर एक हाथसे उन्हें आलिंगन किये हुए हैं, यह देखकर चित्रकेतु विमानपर चढ़े हुए ही उनके पास चले गये और भगवती पार्वतीको सुना-सुनाकर जोरसे हँसने और कहने लगे॥ ४-५॥

चित्रकेतुरुवाच

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम्।
आस्ते[2] मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया॥ ६

चित्रकेतुने कहा—अहो! ये सारे जगत्के धर्मशिक्षक और गुरुदेव हैं। ये समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ हैं। इनकी यह दशा है कि भरी सभामें अपनी पत्नीको शरीरसे चिपकाकर बैठे हुए हैं॥ ६॥

जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादिसभापतिः।
अङ्कीकृत्य स्त्रियं चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा॥ ७

जटाधारी, बहुत बड़े तपस्वी एवं ब्रह्मवादियोंके सभापति होकर भी साधारण पुरुषके समान निर्लज्जतासे गोदमें स्त्री लेकर बैठे हैं॥ ७॥

प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति।
अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम्॥ ८

प्रायः साधारण पुरुष भी एकान्तमें ही स्त्रियोंके साथ उठते-बैठते हैं, परन्तु ये इतने बड़े व्रतधारी होकर भी उसे भरी सभामें लिये बैठे हैं॥ ८॥

१. प्रा० पा०—स्ववि०। २. प्रा० पा०—आर्यमुख्यः सत्सभायां।

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप।
तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः॥ ९

इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम्।
रुषाऽऽह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने॥ १०

पार्वत्युवाच

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः।
अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानां च विप्रकृत्॥ ११

न वेद धर्मं किल पद्मयोनि-
र्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः।
न वै कुमारः कपिलो मनुश्च
ये नो निषेधन्त्यतिवर्तिनं हरम्॥ १२

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं
जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम्।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः॥ १३

नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम्।
सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम्॥ १४

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते।
यथेह भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम्॥ १५

श्रीशुक उवाच

एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः।
प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत॥ १६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् शंकरकी बुद्धि अगाध है। चित्रकेतुका यह कटाक्ष सुनकर वे हँसने लगे, कुछ भी बोले नहीं। उस सभामें बैठे हुए उनके अनुयायी सदस्य भी चुप रहे। चित्रकेतुको भगवान् शंकरका प्रभाव नहीं मालूम था। इसीसे वे उनके लिये बहुत कुछ बुरा-भला बक रहे थे। उन्हें इस बातका घमण्ड हो गया था कि 'मैं जितेन्द्रिय हूँ।' पार्वतीजीने उनकी यह धृष्टता देखकर क्रोधसे कहा— ॥ ९-१० ॥

पार्वतीजी बोलीं—अहो! हम-जैसे दुष्ट और निर्लज्जोंका दण्डके बलपर शासन एवं तिरस्कार करनेवाला प्रभु इस संसारमें यही है क्या?॥ ११ ॥ जान पड़ता है कि ब्रह्माजी, भृगु, नारद आदि उनके पुत्र, सनकादि परमर्षि, कपिलदेव और मनु आदि बड़े-बड़े महापुरुष धर्मका रहस्य नहीं जानते। तभी तो वे धर्ममर्यादाका उल्लंघन करनेवाले भगवान् शिवको इस कामसे नहीं रोकते॥ १२ ॥

ब्रह्मा आदि समस्त महापुरुष जिनके चरणकमलोंका ध्यान करते रहते हैं, उन्हीं मंगलोंको मंगल बनानेवाले साक्षात् जगद्गुरु भगवान्का और उनके अनुयायी महात्माओंका इस अधम क्षत्रियने तिरस्कार किया है और शासन करनेकी चेष्टा की है। इसलिये यह ढीठ सर्वथा दण्डका पात्र है॥ १३ ॥

इसे अपने बड़प्पनका घमण्ड है। यह मूर्ख भगवान् श्रीहरिके उन चरणकमलोंमें रहनेयोग्य नहीं है, जिनकी उपासना बड़े-बड़े सत्पुरुष किया करते हैं॥ १४ ॥

[चित्रकेतुको सम्बोधन कर] अतः दुर्मते! तुम पापमय असुरयोनिमें जाओ। ऐसा होनेसे बेटा! तुम फिर कभी किसी महापुरुषका अपराध नहीं कर सकोगे॥ १५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब पार्वतीजीने इस प्रकार चित्रकेतुको शाप दिया, तब वे विमानसे उतर पड़े और सिर झुकाकर उन्हें प्रसन्न करने लगे॥ १६ ॥

चित्रकेतुरुवाच

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके।
देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत्॥ १७

संसारचक्र एतस्मिञ्जन्तुरज्ञानमोहितः।
भ्राम्यन् सुखं च दुःखं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा॥ १८

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः।
कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च॥ १९

गुणप्रवाह एतस्मिन् कः शापः को न्वनुग्रहः।
कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा॥ २०

एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया।
एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः॥ २१

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो
न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य
सुखे न रागः कुत एव रोषः॥ २२

तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते॥ २३

अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि।
यन्मन्यसे असाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति॥ २४

श्रीशुक उवाच

इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम।
जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः॥ २५

चित्रकेतुने कहा—माता पार्वतीजी! मैं बड़ी प्रसन्नतासे अपने दोनों हाथ जोड़कर आपका शाप स्वीकार करता हूँ। क्योंकि देवतालोग मनुष्योंके लिये जो कुछ कह देते हैं, वह उनके प्रारब्धानुसार मिलनेवाले फलकी पूर्वसूचनामात्र होती है॥ १७॥

देवि! यह जीव अज्ञानसे मोहित हो रहा है और इसी कारण इस संसारचक्रमें भटकता रहता है तथा सदा-सर्वदा सर्वत्र सुख और दुःख भोगता रहता है॥ १८॥ माताजी! सुख और दुःखको देनेवाला न तो अपना आत्मा है और न कोई दूसरा। जो अज्ञानी हैं, वे ही अपनेको अथवा दूसरेको सुख-दुःखका कर्ता माना करते हैं॥ १९॥ यह जगत् सत्त्व, रज आदि गुणोंका स्वाभाविक प्रवाह है। इसमें क्या शाप, क्या अनुग्रह, क्या स्वर्ग, क्या नरक और क्या सुख, क्या दुःख॥ २०॥

एकमात्र परिपूर्णतम भगवान् ही बिना किसीकी सहायताके अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाके द्वारा समस्त प्राणियोंकी तथा उनके बन्धन, मोक्ष और सुख-दुःखकी रचना करते हैं॥ २१॥ माताजी! भगवान् श्रीहरि सबमें सम और माया आदि मलसे रहित हैं। उनका कोई प्रिय-अप्रिय, जाति-बन्धु, अपना-पराया नहीं है। जब उनका सुखमें राग ही नहीं है, तब उनमें रागजन्य क्रोध तो हो ही कैसे सकता है॥ २२॥

तथापि उनकी मायाशक्तिके कार्य पाप और पुण्य ही प्राणियोंके सुख-दुःख, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष, मृत्यु-जन्म और आवागमनके कारण बनते हैं॥ २३॥ पतिप्राणा देवि! मैं शापसे मुक्त होनेके लिये आपको प्रसन्न नहीं कर रहा हूँ। मैं तो यह चाहता हूँ कि आपको मेरी जो बात अनुचित प्रतीत हुई हो, उसके लिये क्षमा करें॥ २४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विद्याधर चित्रकेतु भगवान् शंकर और पार्वतीजीको इस प्रकार प्रसन्न करके उनके सामने ही विमानपर सवार होकर वहाँसे चले गये। इससे उन लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ॥ २५॥

ततस्तु भगवान् रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत्।
देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानां च शृण्वताम् ॥ २६

श्रीरुद्र उवाच

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम्॥ २७

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥ २८

देहिनां देहसंयोगाद् द्वन्द्वानीश्वरलीलया।
सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च॥ २९

अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि।
गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत्कृतः॥ ३०

वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम्।
ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेह कश्चिद् व्यपाश्रयः॥ ३१

नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ
न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः।
विदाम यस्येहितमंशकांशका
न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः॥ ३२

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः॥ ३३

तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः।
सर्वत्र समदृक् शान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः॥ ३४

तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु।
महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु॥ ३५

तब भगवान् शंकरने देवता, ऋषि, दैत्य, सिद्ध और पार्षदोंके सामने ही भगवती पार्वतीजीसे यह बात कही॥ २६॥

भगवान् शंकरने कहा—सुन्दरि! दिव्यलीला-विहारी भगवान्के निःस्पृह और उदारहृदय दासानुदासोंकी महिमा तुमने अपनी आँखों देख ली॥ २७॥

जो लोग भगवान्के शरणागत होते हैं, वे किसीसे भी नहीं डरते। क्योंकि उन्हें स्वर्ग, मोक्ष और नरकोंमें भी एक ही वस्तुके—केवल भगवान्के ही समानभावसे दर्शन होते हैं॥ २८॥ जीवोंको भगवान्की लीलासे ही देहका संयोग होनेके कारण सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं॥ २९॥ जैसे स्वप्नमें भेद-भ्रमसे सुख-दुःख आदिकी प्रतीति होती है और जाग्रत्-अवस्थामें भ्रमवश मालामें ही सर्पबुद्धि हो जाती है—वैसे ही मनुष्य अज्ञानवश आत्मामें देवता, मनुष्य आदिका भेद तथा गुण-दोष आदिकी कल्पना कर लेता है॥ ३०॥ जिनके पास ज्ञान और वैराग्यका बल है और जो भगवान् वासुदेवके चरणोंमें भक्तिभाव रखते हैं, उनके लिये इस जगत्में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे वे हेय या उपादेय समझकर राग-द्वेष करें॥ ३१॥ मैं, ब्रह्माजी, सनकादि, नारद, ब्रह्माजीके पुत्र भृगु आदि मुनि और बड़े-बड़े देवता—कोई भी भगवान्की लीलाका रहस्य नहीं जान पाते। ऐसी अवस्थामें जो उनके नन्हे-से-नन्हे अंश हैं और अपनेको उनसे अलग ईश्वर मान बैठे हैं, वे उनके स्वरूपको जान ही कैसे सकते हैं?॥ ३२॥ भगवान्को न कोई प्रिय है और न अप्रिय। उनका न कोई अपना है और न पराया। वे सभी प्राणियोंके आत्मा हैं, इसलिये सभी प्राणियोंके प्रियतम हैं॥ ३३॥ प्रिये! यह परम भाग्यवान् चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर, शान्त एवं समदर्शी है और मैं भी भगवान् श्रीहरिका ही प्रिय हूँ॥ ३४॥ इसलिये तुम्हें भगवान्के प्यारे भक्त, शान्त, समदर्शी, महात्मा पुरुषोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं करना चाहिये॥ ३५॥

श्रीशुक उवाच

इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम्।
बभूव शान्तधी राजन् देवी विगतविस्मया॥ ३६

इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः।
मूर्ध्ना सञ्जगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम्॥ ३७

जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥ ३८

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः॥ ३९

इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः।
माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते॥ ४०

य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया[1] वाग्यतः पठेत्।
इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम्॥ ४१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् शंकरका यह भाषण सुनकर भगवती पार्वतीकी चित्तवृत्ति शान्त हो गयी और उनका विस्मय जाता रहा॥ ३६॥ भगवान्के परमप्रेमी भक्त चित्रकेतु भी भगवती पार्वतीको बदलेमें शाप दे सकते थे, परन्तु उन्होंने उन्हें शाप न देकर उनका शाप सिर चढ़ा लिया! यही साधु पुरुषका लक्षण है॥ ३७॥

यही विद्याधर चित्रकेतु दानवयोनिका आश्रय लेकर त्वष्टाके दक्षिणाग्निसे पैदा हुए। वहाँ इनका नाम वृत्रासुर हुआ और वहाँ भी ये भगवत्-स्वरूपके ज्ञान एवं भक्तिसे परिपूर्ण ही रहे॥ ३८॥ तुमने मुझसे पूछा था कि वृत्रासुरका दैत्ययोनिमें जन्म क्यों हुआ और उसे भगवान्की ऐसी भक्ति कैसे प्राप्त हुई। उसका पूरा-पूरा विवरण मैंने तुम्हें सुना दिया॥ ३९॥ महात्मा चित्रकेतुका यह पवित्र इतिहास केवल उनका ही नहीं, समस्त विष्णुभक्तोंका माहात्म्य है; इसे जो सुनता है, वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥ ४०॥ जो पुरुष प्रातःकाल उठकर मौन रहकर श्रद्धाके साथ भगवान्का स्मरण करते हुए इस इतिहासका पाठ करता है, उसे परमगतिकी प्राप्ति होती है॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
चित्रकेतुशापो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अदिति और दितिकी सन्तानोंकी तथा मरुद्गणोंकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीशुक उवाच

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम्।
अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान्॥ १

सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम्।
आशिषं च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम्॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! सविताकी पत्नी पृश्निके गर्भसे आठ सन्तानें हुईं—सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य और पंचमहायज्ञ॥ १॥ भगकी पत्नी सिद्धिने महिमा, विभु और प्रभु—ये तीन पुत्र और आशिष् नामकी एक कन्या उत्पन्न की। यह कन्या बड़ी सुन्दरी और सदाचारिणी थी॥ २॥

१. प्रा० पा०—श्रद्धावान्।

धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा।
सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात्॥ ३

अग्नीन् पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः।
चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्यां जातो भृगुः पुनः॥ ४

वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत्किल।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोर्ऋषी॥ ५

रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम्।
रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात्॥ ६

पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन् पुत्रानिति नः श्रुतम्।
जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः॥ ७

उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः।
कीर्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन् सौभगादयः॥ ८

तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मनः।
पश्चाद्वक्ष्यामहेऽदित्यां यथा वावततार ह॥ ९

अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्तयामि ते।
यत्र भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च॥ १०

दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ।
हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ॥ ११

धाताकी चार पत्नियाँ थीं—कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति। उनसे क्रमशः सायं, दर्श, प्रातः और पूर्णमास—ये चार पुत्र हुए॥ ३॥

धाताके छोटे भाईका नाम था—विधाता, उनकी पत्नी क्रिया थी। उससे पुरीष्य नामके पाँच अग्नियोंकी उत्पत्ति हुई। वरुणजीकी पत्नीका नाम चर्षणी था। उससे भृगुजीने पुनः जन्म ग्रहण किया। इसके पहले वे ब्रह्माजीके पुत्र थे॥ ४॥

महायोगी वाल्मीकिजी भी वरुणके पुत्र थे। वल्मीकसे पैदा होनेके कारण ही उनका नाम वाल्मीकि पड़ गया था। उर्वशीको देखकर मित्र और वरुण दोनोंका वीर्य स्खलित हो गया था। उसे उन लोगोंने घड़ेमें रख दिया। उसीसे मुनिवर अगस्त्य और वसिष्ठजीका जन्म हुआ। मित्रकी पत्नी थी रेवती। उसके तीन पुत्र हुए—उत्सर्ग, अरिष्ट और पिप्पल ॥ ५-६॥ प्रिय परीक्षित्! देवराज इन्द्रकी पत्नी थीं पुलोमनन्दिनी शची। उनसे हमने सुना है, उन्होंने तीन पुत्र उत्पन्न किये—जयन्त, ऋषभ और मीढ्वान्॥ ७॥ स्वयं भगवान् विष्णु ही (बलिपर अनुग्रह करने और इन्द्रका राज्य लौटानेके लिये) मायासे वामन (उपेन्द्र)-के रूपमें अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने तीन पग पृथ्वी माँगकर तीनों लोक नाप लिये थे। उनकी पत्नीका नाम था कीर्ति। उससे बृहच्छ्लोक नामका पुत्र हुआ। उसके सौभग आदि कई सन्तानें हुईं॥ ८॥ कश्यपनन्दन भगवान् वामनने माता अदितिके गर्भसे क्यों जन्म लिया और इस अवतारमें उन्होंने कौन-से गुण, लीलाएँ और पराक्रम प्रकट किये—इसका वर्णन मैं आगे (आठवें स्कन्धमें) करूँगा॥ ९॥

प्रिय परीक्षित्! अब मैं कश्यपजीकी दूसरी पत्नी दितिसे उत्पन्न होनेवाली उस सन्तानपरम्पराका वर्णन सुनाता हूँ, जिसमें भगवान्‌के प्यारे भक्त श्रीप्रह्लादजी और बलिका जन्म हुआ॥ १०॥ दितिके दैत्य और दानवोंके वन्दनीय दो ही पुत्र हुए—हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। इनकी संक्षिप्त कथा मैं तुम्हें (तीसरे स्कन्धमें) सुना चुका हूँ॥ ११॥

हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी।
जम्भस्य तनया दत्ता सुषुवे चतुरः सुतान्॥ १२

संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं[1] प्रह्लादमेव च।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत्॥ १३

शिरोऽहरद्यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम्।
संह्लादस्य कृतिर्भार्यासूत[2] पञ्चजनं ततः॥ १४

ह्लादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम्।
योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः॥ १५

अनुह्लादस्य सूर्म्यायां[3] बाष्कलो महिषस्तथा।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यास्तस्याभवद्बलिः॥ १६

बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत्।
तस्यानुभावः सुश्लोक्यः पश्चादेवाभिधास्यते॥ १७

बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम्।
यत्पार्श्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः॥ १८

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः।
त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम्॥ १९

राजोवाच

कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो।
इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत्साधु कृतं हि तैः॥ २०

इमे श्रद्दधते ब्रह्मन्नृषयो हि मया सह।
परिज्ञानाय भगवंस्तन्नो व्याख्यातुमर्हसि॥ २१

हिरण्यकशिपुकी पत्नी दानवी कयाधु थी। उसके पिता जम्भने उसका विवाह हिरण्यकशिपुसे कर दिया था। कयाधुके चार पुत्र हुए—संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद। इनकी सिंहिका नामकी एक बहिन भी थी। उसका विवाह विप्रचित्ति नामक दानवसे हुआ। उससे राहु नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई॥ १२-१३ ॥ यह वही राहु है, जिसका सिर अमृतपानके समय मोहिनीरूपधारी भगवान्ने चक्रसे काट लिया था। संह्लादकी पत्नी थी कृति। उससे पंचजन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥ १४॥

ह्लादकी पत्नी थी धमनि। उसके दो पुत्र हुए—वातापि और इल्वल। इस इल्वलने ही महर्षि अगस्त्यके आतिथ्यके समय वातापिको पकाकर उन्हें खिला दिया था॥ १५॥ अनुह्लादकी पत्नी सूर्म्या थी, उसके दो पुत्र हुए—बाष्कल और महिषासुर। प्रह्लादका पुत्र था विरोचन। उसकी पत्नी देवीके गर्भसे दैत्यराज बलिका जन्म हुआ॥ १६॥ बलिकी पत्नीका नाम अशना था। उससे बाण आदि सौ पुत्र हुए। दैत्यराज बलिकी महिमा गान करनेयोग्य है। उसे मैं आगे (आठवें स्कन्धमें) सुनाऊँगा॥ १७॥ बलिका पुत्र बाणासुर भगवान् शंकरकी आराधना करके उनके गणोंका मुखिया बन गया। आज भी भगवान् शंकर उसके नगरकी रक्षा करनेके लिये उसके पास ही रहते हैं॥ १८॥ दितिके हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षके अतिरिक्त उनचास पुत्र और थे। उन्हें मरुद्गण कहते हैं। वे सब निःसन्तान रहे। देवराज इन्द्रने उन्हें अपने ही समान देवता बना लिया॥ १९॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! मरुद्गणने ऐसा कौन-सा सत्कर्म किया था, जिसके कारण वे अपने जन्मजात असुरोचित भावको छोड़ सके और देवराज इन्द्रके द्वारा देवता बना लिये गये?॥ २०॥ ब्रह्मन्! मेरे साथ यहाँकी सभी ऋषिमण्डली यह बात जाननेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रही है। अतः आप कृपा करके विस्तारसे वह रहस्य बतलाइये॥ २१॥

१. प्रा० पा०—प्रह्लादं ह्लादमेव च। २. प्रा० पा०—सती। ३. प्रा० पा०—सूर्यायां।

सूत उवाच

तद्विष्णुरातस्य स बादरायणि-
र्वचो निशम्यादृतमल्पमर्थवत्[१]।
सभाजयन्[२] संनिभृतेन चेतसा
जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः॥ २२

सूतजी कहते हैं— शौनकजी! राजा परीक्षित्‌का प्रश्न थोड़े शब्दोंमें बड़ा सारगर्भित था। उन्होंने बड़े आदरसे पूछा भी था। इसलिये सर्वज्ञ श्रीशुकदेवजी महाराजने बड़े ही प्रसन्न चित्तसे उनका अभिनन्दन करके यों कहा॥ २२॥

श्रीशुक उवाच

हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना।
मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत्॥ २३

कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम्।
अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम्॥ २४

कृमिविड्भस्मसंज्ञाऽऽसीद्यस्येशाभिहितस्य च।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ २५

आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः।
मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद्येन सुतो हि मे॥ २६

इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत्प्रियम्।
शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च॥ २७

भक्त्या परमया राजन् मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः।
मनो जग्राह भावज्ञा सुस्मितापाङ्गवीक्षणैः॥ २८

एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि विदग्धया।
बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति॥ २९

श्रीशुकदेवजी कहने लगे— परीक्षित्! भगवान् विष्णुने इन्द्रका पक्ष लेकर दितिके दोनों पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षको मार डाला। अतः दिति शोककी आगसे उद्दीप्त क्रोधसे जलकर इस प्रकार सोचने लगी॥ २३॥

'सचमुच इन्द्र बड़ा विषयी, क्रूर और निर्दयी है। राम! राम! उसने अपने भाइयोंको ही मरवा डाला। वह दिन कब होगा, जब मैं भी उस पापीको मरवाकर आरामसे सोऊँगी॥ २४॥

लोग राजाओंके, देवताओंके शरीरको 'प्रभु' कहकर पुकारते हैं; परन्तु एक दिन वह कीड़ा, विष्ठा या राखका ढेर हो जाता है, इसके लिये जो दूसरे प्राणियोंको सताता है, उसे अपने सच्चे स्वार्थ या परमार्थका पता नहीं है; क्योंकि इससे तो नरकमें जाना पड़ेगा॥ २५॥ मैं समझती हूँ इन्द्र अपने शरीरको नित्य मानकर मतवाला हो रहा है। उसे अपने विनाशका पता ही नहीं है। अब मैं वह उपाय करूँगी, जिससे मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो इन्द्रका घमण्ड चूर-चूर कर दे'॥ २६॥ दिति अपने मनमें ऐसा विचार करके सेवा-शुश्रूषा, विनय-प्रेम और जितेन्द्रियता आदिके द्वारा निरन्तर अपने पतिदेव कश्यपजीको प्रसन्न रखने लगी॥ २७॥ वह अपने पतिदेवके हृदयका एक-एक भाव जानती रहती थी और परम प्रेमभाव, मनोहर एवं मधुर भाषण तथा मुसकानभरी तिरछी चितवनसे उनका मन अपनी ओर आकर्षित करती रहती थी॥ २८॥ कश्यपजी महाराज बड़े विद्वान् और विचारवान् होनेपर भी चतुर दितिकी सेवासे मोहित हो गये और उन्होंने विवश होकर यह स्वीकार कर लिया कि 'मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा।' स्त्रियोंके सम्बन्धमें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है॥ २९॥

१. प्रा० पा०—मर्थदृक्। २. प्रा० पा०—जयंस्तं निभृतेन तेजसा।

विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः।
स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता॥ ३०

एवं शुश्रूषितस्तात भगवान् कश्यपः स्त्रिया।
प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च॥ ३१

कश्यप उवाच

वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते।
स्त्रिया भर्तरि सुप्रीते कः काम इह चागमः॥ ३२

पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम्।
मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः॥ ३३

स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः।
इज्यते भगवान् पुम्भिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक्॥ ३४

तस्मात्पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे।
यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम्॥ ३५

सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः।
तत्ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम्॥ ३६

दितिरुवाच

वरदो[1] यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।
अमृत्युं मृतपुत्राहं[2] येन मे घातितौ सुतौ॥ ३७

सृष्टिके प्रभातमें ब्रह्माजीने देखा कि सभी जीव असंग हो रहे हैं, तब उन्होंने अपने आधे शरीरसे स्त्रियोंकी रचना की और स्त्रियोंने पुरुषोंकी मति अपनी ओर आकर्षित कर ली॥ ३०॥ हाँ, तो भैया! मैं कह रहा था कि दितिने भगवान् कश्यपकी बड़ी सेवा की। इससे वे उसपर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने दितिका अभिनन्दन करते हुए उससे मुसकराकर कहा॥ ३१॥

कश्यपजीने कहा—अनिन्द्यसुन्दरी प्रिये! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो। पतिके प्रसन्न हो जानेपर पत्नीके लिये लोक या परलोकमें कौन-सी अभीष्ट वस्तु दुर्लभ है॥ ३२॥ शास्त्रोंमें यह बात स्पष्ट कही गयी है कि पति ही स्त्रियोंका परमाराध्य इष्टदेव है। प्रिये! लक्ष्मीपति भगवान् वासुदेव ही समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं॥ ३३॥

विभिन्न देवताओंके रूपमें नाम और रूपके भेदसे उन्हींकी कल्पना हुई है। सभी पुरुष—चाहे किसी भी देवताकी उपासना करें—उन्हींकी उपासना करते हैं। ठीक वैसे ही स्त्रियोंके लिये भगवान्‌ने पतिका रूप धारण किया है। वे उनकी उसी रूपमें पूजा करती हैं॥ ३४॥ इसलिये प्रिये! अपना कल्याण चाहनेवाली पतिव्रता स्त्रियाँ अनन्य प्रेमभावसे अपने पतिदेवकी ही पूजा करती हैं; क्योंकि पतिदेव ही उनके परम प्रियतम आत्मा और ईश्वर हैं॥ ३५॥ कल्याणी! तुमने बड़े प्रेमभावसे, भक्तिसे मेरी वैसी ही पूजा की है। अब मैं तुम्हारी सब अभिलाषाएँ पूर्ण कर दूँगा। असतियोंके जीवनमें ऐसा होना अत्यन्त दुर्लभ है॥ ३६॥

दितिने कहा—ब्रह्मन्! इन्द्रने विष्णुके हाथों मेरे दो पुत्र मरवाकर मुझे निपूती बना दिया है। इसलिये यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना चाहते हैं तो कृपा करके एक ऐसा अमर पुत्र दीजिये, जो इन्द्रको मार डाले॥ ३७॥

१. प्रा० पा०—दोऽसि यदि ब्रह्म०। २. प्रा० पा०—हतपुत्रा।

निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत।
अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः॥ ३८

अहो अद्येन्द्रियारामो योषिन्मय्येह मायया।
गृहीतचेताः कृपणः पतिष्ये नरके ध्रुवम्॥ ३९

कोऽतिक्रमोऽनुवर्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः।
धिङ् मां बताबुधं स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः॥ ४०

शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥ ४१

न हि कश्चित्प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम्।
पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च॥ ४२

प्रतिश्रुतं ददामीति वचस्तन्न मृषा भवेत्।
वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते॥ ४३

इति संचिन्त्य भगवान्मारीचः कुरुनन्दन।
उवाच किञ्चित् कुपित आत्मानं च विगर्हयन्॥ ४४

कश्यप उवाच

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि॥ ४५

परीक्षित्! दितिकी बात सुनकर कश्यपजी खिन्न होकर पछताने लगे। वे मन-ही-मन कहने लगे—'हाय! हाय! आज मेरे जीवनमें बहुत बड़े अधर्मका अवसर आ पहुँचा॥ ३८॥ देखो तो सही, अब मैं इन्द्रियोंके विषयोंमें सुख मानने लगा हूँ। स्त्रीरूपिणी मायाने मेरे चित्तको अपने वशमें कर लिया है। हाय! हाय! आज मैं कितनी दीन-हीन अवस्थामें हूँ। अवश्य ही अब मुझे नरकमें गिरना पड़ेगा॥ ३९॥ इस स्त्रीका कोई दोष नहीं है; क्योंकि इसने अपने जन्मजात स्वभावका ही अनुसरण किया है। दोष मेरा है—जो मैं अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें न रख सका, अपने सच्चे स्वार्थ और परमार्थको न समझ सका। मुझ मूढको बार-बार धिक्कार है॥ ४०॥ सच है, स्त्रियोंके चरित्रको कौन जानता है। इनका मुँह तो ऐसा होता है जैसे शरद्ऋतुका खिला हुआ कमल। बातें सुननेमें ऐसी मीठी होती हैं, मानो अमृत घोल रखा हो। परन्तु हृदय, वह तो इतना तीखा होता है कि मानो छुरेकी पैनी धार हो॥ ४१॥

इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियाँ अपनी लालसाओंकी कठपुतली होती हैं। सच पूछो तो वे किसीसे प्यार नहीं करतीं। स्वार्थवश वे अपने पति, पुत्र और भाईतकको मार डालती हैं या मरवा डालती हैं॥ ४२॥ अब तो मैं कह चुका हूँ कि जो तुम माँगोगी, दूँगा। मेरी बात झूठी नहीं होनी चाहिये। परन्तु इन्द्र भी वध करनेयोग्य नहीं है। अच्छा, अब इस विषयमें मैं यह युक्ति करता हूँ'॥ ४३॥

प्रिय परीक्षित्! सर्वसमर्थ कश्यपजीने इस प्रकार मन-ही-मन अपनी भर्त्सना करके दोनों बात बनानेका उपाय सोचा और फिर तनिक रुष्ट होकर दितिसे कहा॥ ४४॥

कश्यपजी बोले—कल्याणी! यदि तुम मेरे बतलाये हुए व्रतका एक वर्षतक विधिपूर्वक पालन करोगी तो तुम्हें इन्द्रको मारनेवाला पुत्र प्राप्त होगा। परन्तु यदि किसी प्रकार नियमोंमें त्रुटि हो गयी तो वह देवताओंका मित्र बन जायगा॥ ४५॥

दितिरुवाच

धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन्ब्रूहि कार्याणि यानि मे।
यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यानि तु॥ ४६

दितिने कहा—ब्रह्मन्! मैं उस व्रतका पालन करूँगी। आप बतलाइये कि मुझे क्या-क्या करना चाहिये, कौन-कौनसे काम छोड़ देने चाहिये और कौन-से काम ऐसे हैं, जिनसे व्रत भंग नहीं होता॥ ४६॥

कश्यप उवाच

न हिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत्।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम्॥ ४७

नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न सम्भाषेत दुर्जनैः।
न वसीताधौतवासः स्रजं च विधृतां क्वचित्॥ ४८

नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च सामिषं वृषलाहृतम्।
भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेदञ्जलिना त्वपः॥ ४९

नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्धजा।
अनर्चितासंयतवाङ्नासंवीता बहिश्चरेद्॥ ५०

नाधौतपादाप्रयता नार्द्रपान्नो[१] उदक्शिराः।
शयीत नापराङ्नान्यैर्न[२] नग्ना न च सन्ध्ययोः॥ ५१

धौतवासाः शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्गोविप्रान् श्रियमच्युतम्॥ ५२

स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत्स्रग्गन्धबलिमण्डनैः।
पतिं चार्च्योपतिष्ठेत ध्यायेत्कोष्ठगतं च तम्॥ ५३

सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम्।
धारयिष्यसि चेत्तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः॥ ५४

कश्यपजीने उत्तर दिया—प्रिये! इस व्रतमें किसी भी प्राणीको मन, वाणी या क्रियाके द्वारा सताये नहीं, किसीको शाप या गाली न दे, झूठ न बोले, शरीरके नख और रोएँ न काटे और किसी भी अशुभ वस्तुका स्पर्श न करे॥ ४७॥ जलमें घुसकर स्नान न करे, क्रोध न करे, दुर्जनोंसे बातचीत न करे, बिना धुला वस्त्र न पहने और किसीकी पहनी हुई माला न पहने॥ ४८॥ जूठा न खाय, भद्रकालीका प्रसाद या मांसयुक्त अन्नका भोजन न करे। शूद्रका लाया हुआ और रजस्वलाका देखा हुआ अन्न भी न खाय और अंजलिसे जलपान न करे॥ ४९॥ जूठे मुँह, बिना आचमन किये, सन्ध्याके समय, बाल खोले हुए, बिना शृंगारके, वाणीका संयम किये बिना और बिना चद्दर ओढ़े घरसे बाहर न निकले॥ ५०॥

बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्थामें गीले पाँवोंसे, उत्तर या पश्चिम सिर करके, दूसरेके साथ, नग्नावस्थामें तथा सुबह-शाम सोना नहीं चाहिये॥ ५१॥ इस प्रकार इन निषिद्ध कर्मोंका त्याग करके सर्वदा पवित्र रहे, धुला वस्त्र धारण करे और सभी सौभाग्यके चिह्नोंसे सुसज्जित रहे। प्रातःकाल कलेवा करनेके पहले ही गाय, ब्राह्मण, लक्ष्मीजी और भगवान् नारायणकी पूजा करे॥ ५२॥

इसके बाद पुष्पमाला, चन्दनादि सुगन्धद्रव्य, नैवेद्य और आभूषणादिसे सुहागिनी स्त्रियोंकी पूजा करे तथा पतिकी पूजा करके उसकी सेवामें संलग्न रहे और यह भावना करती रहे कि पतिका तेज मेरी कोखमें स्थित है॥ ५३॥ प्रिये! इस व्रतका नाम 'पुंसवन' है। यदि एक वर्षतक तुम इसे बिना किसी त्रुटिके पालन कर सकोगी तो तुम्हारी कोखसे इन्द्रघाती पुत्र उत्पन्न होगा॥ ५४॥

१. प्रा० पा०—नार्द्रपादा। २. प्रा० पा०—नापराह्णे वै नग्ना च न च।

वाढमित्यभिप्रेत्याथ[१] दिती राजन् महामनाः।
काश्यपं[२] गर्भमाधत्त व्रतं चाञ्जो[३] दधार सा॥ ५५

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः[४]॥ ५६

नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान्।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत्॥ ५७

एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप।
प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्मो मृगहेव मृगाकृतिः॥ ५८

नाध्यगच्छद्व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते।
चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवं त्विह॥ ५९

एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता।
अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता॥ ६०

लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया॥ ६१

चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम्।
रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान् पुनः॥ ६२

परीक्षित्! दिति बड़ी मनस्विनी और दृढ़ निश्चयवाली थी। उसने 'बहुत ठीक' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। अब दिति अपनी कोखमें भगवान् कश्यपका वीर्य और जीवनमें उनका बतलाया हुआ व्रत धारण करके अनायास ही नियमोंका पालन करने लगी॥ ५५॥ प्रिय परीक्षित्! देवराज इन्द्र अपनी मौसी दितिका अभिप्राय जान बड़ी बुद्धिमानीसे अपना वेष बदलकर दितिके आश्रमपर आये और उसकी सेवा करने लगे॥ ५६॥ वे दितिके लिये प्रतिदिन समय-समयपर वनसे फूल-फल, कन्द-मूल, समिधा, कुश, पत्ते, दूब, मिट्टी और जल लाकर उसकी सेवामें समर्पित करते॥ ५७॥

राजन्! जिस प्रकार बहेलिया हरिनको मारनेके लिये हरिनकी-सी सूरत बनाकर उसके पास जाता है, वैसे ही देवराज इन्द्र भी कपटवेष धारण करके व्रतपरायणा दितिके व्रतपालनकी त्रुटि पकड़नेके लिये उसकी सेवा करने लगे॥ ५८॥ सर्वदा पैनी दृष्टि रखनेपर भी उन्हें उसके व्रतमें किसी प्रकारकी त्रुटि न मिली और वे पूर्ववत् उसकी सेवा-टहलमें लगे रहे। अब तो इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—मैं ऐसा कौन-सा उपाय करूँ, जिससे मेरा कल्याण हो?॥ ५९॥

दिति व्रतके नियमोंका पालन करते-करते बहुत दुर्बल हो गयी थी। विधाताने भी उसे मोहमें डाल दिया। इसलिये एक दिन सन्ध्याके समय जूठे मुँह, बिना आचमन किये और बिना पैर धोये ही वह सो गयी॥ ६०॥ योगेश्वर इन्द्रने देखा कि यह अच्छा अवसर हाथ लगा। वे योगबलसे झटपट सोयी हुई दितिके गर्भमें प्रवेश कर गये॥ ६१॥ उन्होंने वहाँ जाकर सोनेके समान चमकते हुए गर्भके वज्रके द्वारा सात टुकड़े कर दिये। जब वह गर्भ रोने लगा, तब उन्होंने 'मत रो, मत रो' यह कहकर सातों टुकड़ोंमेंसे एक-एकके और भी सात टुकड़े कर दिये॥ ६२॥

१. प्रा० पा०—त्यभ्युपेत्या०। २. प्रा० पा०—श्यपाद्गर्भ०। ३. प्रा० पा०—राजन्। ४. प्रा० पा०—चरद्धरिः।

ते तमूचुः पाट्यमानाः सर्वे प्राञ्जलयो नृप।
नो जिघांससि किमिन्द्र भ्रातरो मरुतस्तव॥ ६३

मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः।
अनन्यभावान् पार्षदानात्मनो मरुतां गणान्॥ ६४

न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया।
बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान्॥ ६५

सकृदिष्ट्वाऽऽदिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम्।
संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः॥ ६६

सजूरिन्द्रेण पञ्चाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन्।
व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः॥ ६७

दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान्।
इन्द्रेण सहितान् देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता॥ ६८

अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम्।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत्सुदुष्करम्॥ ६९

एकः सङ्कल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन् कथम्।
यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा॥ ७०

इन्द्र उवाच

अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्यागतोऽन्तिकम्।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मवित्॥ ७१

राजन्! जब इन्द्र उनके टुकड़े-टुकड़े करने लगे, तब उन सबोंने हाथ जोड़कर इन्द्रसे कहा—'देवराज! तुम हमें क्यों मार रहे हो? हम तो तुम्हारे भाई मरुद्गण हैं'॥ ६३॥ तब इन्द्रने अपने भावी अनन्यप्रेमी पार्षद मरुद्गणसे कहा—'अच्छी बात है, तुमलोग मेरे भाई हो। अब मत डरो!'॥ ६४॥ परीक्षित्! जैसे अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ, वैसे ही भगवान् श्रीहरिकी कृपासे दितिका वह गर्भ वज्रके द्वारा टुकड़े-टुकड़े होनेपर भी मरा नहीं॥ ६५॥ इसमें तनिक भी आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि जो मनुष्य एक बार भी आदि पुरुष भगवान् नारायणकी आराधना कर लेता है, वह उनकी समानता प्राप्त कर लेता है; फिर दितिने तो कुछ ही दिन कम एक वर्षतक भगवान्‌की आराधना की थी॥ ६६॥ अब वे उनचास मरुद्गण इन्द्रके साथ मिलकर पचास हो गये। इन्द्रने भी सौतेली माताके पुत्रोंके साथ शत्रुभाव न रखकर उन्हें सोमपायी देवता बना लिया॥ ६७॥ जब दितिकी आँख खुली, तब उसने देखा कि उसके अग्निके समान तेजस्वी उनचास बालक इन्द्रके साथ हैं। इससे सुन्दर स्वभाववाली दितिको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ६८॥ उसने इन्द्रको सम्बोधन करके कहा—'बेटा! मैं इस इच्छासे इस अत्यन्त कठिन व्रतका पालन कर रही थी कि तुम अदितिके पुत्रोंको भयभीत करनेवाला पुत्र उत्पन्न हो॥ ६९॥

मैंने केवल एक ही पुत्रके लिये संकल्प किया था, फिर ये उनचास पुत्र कैसे हो गये? बेटा इन्द्र! यदि तुम्हें इसका रहस्य मालूम हो, तो सच-सच मुझे बतला दो। झूठ न बोलना'॥ ७०॥

इन्द्रने कहा—माता! मुझे इस बातका पता चल गया था कि तुम किस उद्देश्यसे व्रत कर रही हो। इसीलिये अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके उद्देश्यसे मैं स्वर्ग छोड़कर तुम्हारे पास आया। मेरे मनमें तनिक भी धर्मभावना नहीं थी। इसीसे तुम्हारे व्रतमें त्रुटि होते ही मैंने उस गर्भके टुकड़े-टुकड़े कर दिये॥ ७१॥

कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन् सप्त कुमारकाः।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मम्रिरे॥ ७२

पहले मैंने उसके सात टुकड़े किये थे। तब वे सातों टुकड़े सात बालक बन गये। इसके बाद मैंने फिर एक-एकके सात-सात टुकड़े कर दिये। तब भी वे न मरे, बल्कि उनचास हो गये॥ ७२॥

ततस्तत्परमाश्चर्यं वीक्ष्याध्यवसितं मया।
महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यनुषङ्गिणी॥ ७३

यह परम आश्चर्यमयी घटना देखकर मैंने ऐसा निश्चय किया कि परमपुरुष भगवान्‌की उपासनाकी यह कोई स्वाभाविक सिद्धि है॥ ७३॥

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः॥ ७४

जो लोग निष्कामभावसे भगवान्‌की आराधना करते हैं और दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या, मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, वे ही अपने स्वार्थ और परमार्थमें निपुण हैं॥ ७४॥

आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम्।
को वृणीते गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत्॥ ७५

भगवान् जगदीश्वर सबके आराध्यदेव और अपने आत्मा ही हैं। वे प्रसन्न होकर अपने-आपतकका दान कर देते हैं। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो उनकी आराधना करके विषयभोगोंका वरदान माँगे। माताजी! ये विषयभोग तो नरकमें भी मिल सकते हैं॥ ७५॥

तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि।
क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भो मृतोत्थितः॥ ७६

मेरी स्नेहमयी जननी! तुम सब प्रकार मेरी पूज्या हो। मैंने मूर्खतावश बड़ी दुष्टताका काम किया है। तुम मेरे अपराधको क्षमा कर दो। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा गर्भ खण्ड-खण्ड हो जानेसे एक प्रकार मर जानेपर भी फिरसे जीवित हो गया॥ ७६॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः॥ ७७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! दिति देवराज इन्द्रके शुद्धभावसे सन्तुष्ट हो गयी। उससे आज्ञा लेकर देवराज इन्द्रने मरुद्‌गणोंके साथ उसे नमस्कार किया और स्वर्गमें चले गये॥ ७७॥

एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते॥ ७८

राजन्! यह मरुद्‌गणका जन्म बड़ा ही मंगलमय है। इसके विषयमें तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर समग्ररूपसे मैंने तुम्हें दे दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?॥ ७८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे मरुदुत्पत्तिकथनं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

पुंसवन-व्रतकी विधि

राजोवाच

व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन् भवता यदुदीरितम्।
तस्य वेदितुमिच्छामि येन विष्णुः प्रसीदति॥ १

श्रीशुक उवाच

शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया।
आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः॥ २

निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च।
स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालङ्कृताम्बरे।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्भगवन्तं श्रिया सह॥ ३

अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते।
महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये॥ ४

यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिनौजसा।
जुष्ट ईश गुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान् प्रभुः॥ ५

विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे।
प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते॥ ६

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहराणीति। अनेनाहरहर्मन्त्रेण विष्णोरावाहनार्घ्य-

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपने अभी-अभी पुंसवन-व्रतका वर्णन किया है और कहा है कि उससे भगवान् विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं। सो अब मैं उसकी विधि जानना चाहता हूँ॥ १॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! यह पुंसवन-व्रत समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। स्त्रीको चाहिये कि वह अपने पतिदेवकी आज्ञा लेकर मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदासे इसका आरम्भ करे॥ २॥ पहले मरुद्‌गणके जन्मकी कथा सुनकर ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले। फिर प्रतिदिन सबेरे दाँतुन आदिसे दाँत साफ करके स्नान करे, दो श्वेत वस्त्र धारण करे और आभूषण भी पहन ले। प्रातःकाल कुछ भी खानेसे पहले ही भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी पूजा करे॥ ३॥ (इस प्रकार प्रार्थना करे—) 'प्रभो! आप पूर्णकाम हैं। अतएव आपको किसीसे भी कुछ लेना-देना नहीं है। आप समस्त विभूतियोंके स्वामी और सकल-सिद्धिस्वरूप हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ॥ ४॥ मेरे आराध्यदेव! आप कृपा, विभूति, तेज, महिमा और वीर्य आदि समस्त गुणोंसे नित्ययुक्त हैं। इन्हीं भगों—ऐश्वर्योंसे नित्ययुक्त रहनेके कारण आपको भगवान् कहते हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं॥ ५॥ माता लक्ष्मीजी! आप भगवान्‌की अर्द्धांगिनी और महामाया-स्वरूपिणी हैं। भगवान्‌के सारे गुण आपमें निवास करते हैं। महाभाग्यवती जगन्माता! आप मुझपर प्रसन्न हों। मैं आपको नमस्कार करती हूँ'॥ ६॥

परीक्षित्! इस प्रकार स्तुति करके एकाग्रचित्तसे **'ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहराणि।'** 'ओंकारस्वरूप, महानुभाव, समस्त महाविभूतियोंके स्वामी भगवान् पुरुषोत्तमको और उनकी महाविभूतियोंको मैं नमस्कार करती हूँ और उन्हें पूजोपहारकी सामग्री समर्पण करती हूँ'—इस मन्त्रके द्वारा प्रतिदिन स्थिर

पाद्योपस्पर्शनस्नानवासउपवीतविभूषणगन्धपुष्प-धूपदीपोपहाराद्युपचारांश्च समाहित उपाहरेत्॥ ७॥

चित्तसे विष्णुभगवान्‌का आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि निवेदन करके पूजन करे॥ ७॥

हविःशेषं तु जुहुयादनले द्वादशाहुतीः।
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहेति॥ ८

जो नैवेद्य बच रहे, उससे '**ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा।**' 'महान् ऐश्वर्योंके अधिपति भगवान् पुरुषोत्तमको नमस्कार है। मैं उन्हींके लिये इस हविष्यका हवन कर रही हूँ।'—यह मन्त्र बोलकर अग्निमें बारह आहुतियाँ दे॥ ८॥

श्रियं विष्णुं च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ।
भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत्सर्वसम्पदः॥ ९

परीक्षित्! जो सब प्रकारकी सम्पत्तियोंको प्राप्त करना चाहता हो, उसे चाहिये कि प्रतिदिन भक्तिभावसे भगवान् लक्ष्मीनारायणकी पूजा करे; क्योंकि वे ही दोनों समस्त अभिलाषाओंके पूर्ण करनेवाले एवं श्रेष्ठ वरदानी हैं॥ ९॥

प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ भक्तिप्रह्वेण चेतसा।
दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत्॥ १०

इसके बाद भक्तिभावसे भरकर बड़ी नम्रतासे भगवान्‌को साष्टांग दण्डवत् करे। दस बार पूर्वोक्त मन्त्रका जप करे और फिर इस स्तोत्रका पाठ करे—॥ १०॥

युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम्।
इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया॥ ११

'हे लक्ष्मीनारायण! आप दोनों सर्वव्यापक और सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के अन्तिम कारण हैं—आपका और कोई कारण नहीं है। भगवन्! माता लक्ष्मीजी आपकी मायाशक्ति हैं। ये ही स्वयं अव्यक्त प्रकृति भी हैं। इनका पार पाना अत्यन्त कठिन है॥ ११॥

तस्या अधीश्वरः साक्षात्त्वमेव पुरुषः परः।
त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग्भवान्॥ १२

प्रभो! आप ही इन महामायाके अधीश्वर हैं और आप ही स्वयं परमपुरुष हैं। आप समस्त यज्ञ हैं और ये हैं यज्ञ-क्रिया। आप फलके भोक्ता हैं और ये हैं उसको उत्पन्न करनेवाली क्रिया॥ १२॥

गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग्भवान्।
त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशया।
नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः॥ १३

माता लक्ष्मीजी तीनों गुणोंकी अभिव्यक्ति हैं और आप उन्हें व्यक्त करनेवाले और उनके भोक्ता हैं। आप समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं और लक्ष्मीजी शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण हैं। माता लक्ष्मीजी नाम एवं रूप हैं और आप नाम-रूप दोनोंके प्रकाशक तथा आधार हैं॥ १३॥

यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ।
तथा म उत्तमश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः॥ १४

प्रभो! आपकी कीर्ति पवित्र है। आप दोनों ही त्रिलोकीके वरदानी परमेश्वर हैं। अतः मेरी बड़ी-बड़ी आशा-अभिलाषाएँ आपकी कृपासे पूर्ण हों'॥ १४॥

इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह।
तन्निःसार्योपहरणं दत्त्वाऽऽचमनमर्चयेत्॥ १५
ततः स्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा।
यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम्॥ १६
पतिं च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा।
प्रियैस्तैस्तैरुपनमेत् प्रेमशीलः स्वयं पतिः।
बिभृयात् सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च॥ १७
कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि।
पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत् समाहितः॥ १८
विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात् कथञ्चन।
विप्रान् स्त्रियो वीरवतीः स्रग्गन्धबलिमण्डनैः।
अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थितः॥ १९
उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः।
अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामर्द्धये तथा॥ २०
एतेन पूजाविधिना मासान् द्वादश हायनम्।
नीत्वाथोपचरेत्साध्वी कार्तिके चरमेऽहनि॥ २१
श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत्।
पयःश‍ृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा।
पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः॥ २२
आशिषः शिरसाऽऽदाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः।
प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया॥ २३

परीक्षित्! इस प्रकार परम वरदानी भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी स्तुति करके वहाँसे नैवेद्य हटा दे और आचमन कराके पूजा करे॥ १५॥ तदनन्तर भक्तिभावभरित हृदयसे भगवान्‌की स्तुति करे और यज्ञावशेषको सूँघकर फिर भगवान्‌की पूजा करे॥ १६॥ भगवान्‌की पूजाके बाद अपने पतिको साक्षात् भगवान् समझकर परम प्रेमसे उनकी प्रिय वस्तुएँ सेवामें उपस्थित करे। पतिका भी यह कर्तव्य है कि वह आन्तरिक प्रेमसे अपनी पत्नीके प्रिय पदार्थ ला-लाकर उसे दे और उसके छोटे-बड़े सब प्रकारके काम करता रहे॥ १७॥ परीक्षित्! पति-पत्नीमेंसे एक भी कोई काम करता है, तो उसका फल दोनोंको होता है। इसलिये यदि पत्नी (रजोधर्म आदिके समय) यह व्रत करनेके अयोग्य हो जाय तो बड़ी एकाग्रता और सावधानीसे पतिको ही इसका अनुष्ठान करना चाहिये॥ १८॥ यह भगवान् विष्णुका व्रत है। इसका नियम लेकर बीचमें कभी नहीं छोड़ना चाहिये। जो भी यह नियम ग्रहण करे, वह प्रतिदिन माला, चन्दन, नैवेद्य और आभूषण आदिसे भक्तिपूर्वक ब्राह्मण और सुहागिनी स्त्रियोंका पूजन करे तथा भगवान् विष्णुकी भी पूजा करे॥ १९॥ इसके बाद भगवान्‌को उनके धाममें पधरा दे, विसर्जन कर दे। तदनन्तर आत्म-शुद्धि और समस्त अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये पहलेसे ही उन्हें निवेदित किया हुआ प्रसाद ग्रहण करे॥ २०॥

साध्वी स्त्री इस विधिसे बारह महीनोंतक—पूरे सालभर इस व्रतका आचरण करके मार्गशीर्षकी अमावास्याको उद्यापनसम्बन्धी उपवास और पूजन आदि करे॥ २१॥ उस दिन प्रातःकाल ही स्नान करके पूर्ववत् विष्णुभगवान्‌का पूजन करे और उसका पति पाकयज्ञकी विधिसे घृतमिश्रित खीरकी अग्निमें बारह आहुति दे॥ २२॥

इसके बाद जब ब्राह्मण प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दें, तो बड़े आदरसे सिर झुकाकर उन्हें स्वीकार करे। भक्तिभावसे माथा टेककर उनके चरणोंमें प्रणाम करे और उनकी आज्ञा लेकर भोजन करे॥ २३॥

आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः।
दद्यात्पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजस्त्वं सुसौभगम्॥ २४

पहले आचार्यको भोजन कराये, फिर मौन होकर भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं भोजन करे। इसके बाद हवनसे बची हुई घृतमिश्रित खीर अपनी पत्नीको दे। वह प्रसाद स्त्रीको सत्पुत्र और सौभाग्य दान करनेवाला होता है॥ २४॥

एतच्चरित्वा विधिवद्व्रतं विभो-
रभीप्सितार्थं लभते पुमानिह।
स्त्री त्वेतदास्थाय लभेत सौभगं
श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम्॥ २५

कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं
वरं त्ववीरा हतकिल्बिषा गतिम्।
मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी
सुदुर्भगा सुभगा रूपमग्र्यम्॥ २६

विन्देद् विरूपा विरुजा विमुच्यते
य आमयावीन्द्रियकल्पदेहम्।
एतत्पठन्नभ्युदये च कर्म-
ण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम्॥ २७

तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान्
होमावसाने हुतभुक् श्रीर्हरिश्च।
राजन् महन्मरुतां जन्म पुण्यं
दितेर्व्रतं चाभिहितं महत्ते॥ २८

परीक्षित्! भगवान्‌के इस पुंसवन-व्रतका जो मनुष्य विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है, उसे यहीं उसकी मनचाही वस्तु मिल जाती है। स्त्री इस व्रतका पालन करके सौभाग्य, सम्पत्ति, सन्तान, यश और गृह प्राप्त करती है तथा उसका पति चिरायु हो जाता है॥ २५॥ इस व्रतका अनुष्ठान करनेवाली कन्या समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त पति प्राप्त करती है और विधवा इस व्रतसे निष्पाप होकर वैकुण्ठमें जाती है। जिसके बच्चे मर जाते हों, वह स्त्री इसके प्रभावसे चिरायु पुत्र प्राप्त करती है। धनवती किन्तु अभागिनी स्त्रीको सौभाग्य प्राप्त होता है और कुरूपाको श्रेष्ठ रूप मिल जाता है। रोगी इस व्रतके प्रभावसे रोगमुक्त होकर बलिष्ठ शरीर और श्रेष्ठ इन्द्रियशक्ति प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य मांगलिक श्राद्धकर्मोंमें इसका पाठ करता है, उसके पितर और देवता अनन्त तृप्ति लाभ करते हैं॥ २६-२७॥ वे सन्तुष्ट होकर हवनके समाप्त होनेपर व्रतीकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण कर देते हैं। ये सब तो सन्तुष्ट होते ही हैं, समस्त यज्ञोंके एकमात्र भोक्ता भगवान् लक्ष्मीनारायण भी सन्तुष्ट हो जाते हैं और व्रतीकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं। परीक्षित्! मैंने तुम्हें मरुद्गणकी आदरणीय और पुण्यप्रद जन्म-कथा सुनायी और साथ ही दितिके श्रेष्ठ पुंसवन-व्रतका वर्णन भी सुना दिया॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां
पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रतकथनं
नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

इति षष्ठः स्कन्धः समाप्तः।

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

सप्तमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

नारद-युधिष्ठिर-संवाद और जय-विजयकी कथा

राजोवाच

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम्।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा॥ १

न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि॥ २

इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान् प्रति।
संशयः सुमहाञ्जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति॥ ३

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम्।
यद् भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम्॥ ४

गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम्॥ ५

निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः॥ ६

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! भगवान् तो स्वभावसे ही भेदभावसे रहित हैं—सम हैं, समस्त प्राणियोंके प्रिय और सुहृद् हैं; फिर उन्होंने, जैसे कोई साधारण मनुष्य भेदभावसे अपने मित्रका पक्ष ले और शत्रुओंका अनिष्ट करे, उसी प्रकार इन्द्रके लिये दैत्योंका वध क्यों किया?॥ १॥ वे स्वयं परिपूर्ण कल्याणस्वरूप हैं, इसीलिये उन्हें देवताओंसे कुछ लेना-देना नहीं है। तथा निर्गुण होनेके कारण दैत्योंसे कुछ वैर-विरोध और उद्वेग भी नहीं है॥ २॥ भगवत्प्रेमके सौभाग्यसे सम्पन्न महात्मन्! हमारे चित्तमें भगवान्‌के समत्व आदि गुणोंके सम्बन्धमें बड़ा भारी सन्देह हो रहा है। आप कृपा करके उसे मिटाइये॥ ३॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—महाराज! भगवान्‌के अद्भुत चरित्रके सम्बन्धमें तुमने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया; क्योंकि ऐसे प्रसंग प्रह्लाद आदि भक्तोंकी महिमासे परिपूर्ण होते हैं, जिसके श्रवणसे भगवान्‌की भक्ति बढ़ती है॥ ४॥ इस परम पुण्यमय प्रसंगको नारदादि महात्मागण बड़े प्रेमसे गाते रहते हैं। अब मैं अपने पिता श्रीकृष्ण-द्वैपायन मुनिको नमस्कार करके भगवान्‌की लीला-कथाका वर्णन करता हूँ॥ ५॥ वास्तवमें भगवान् निर्गुण, अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृतिसे परे हैं। ऐसा होनेपर भी अपनी मायाके गुणोंको स्वीकार करके वे बाध्य-बाधकभावको अर्थात् मरने और मारनेवाले दोनोंके परस्पर-विरोधी रूपोंको ग्रहण करते हैं॥ ६॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
न तेषां युगपद्राजन् ह्रास उल्लास एव वा॥ ७

जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान्।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत्॥ ८

ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते।
विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः॥ ९

यदा सिसृक्षुः पुर[१] आत्मनः परो
रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ॥ १०

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं
प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत्।
य एष राजन्नपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः।
तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो
रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः॥ ११

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा।
प्रीत्या महाक्रतौ राजन् पृच्छतेऽजातशत्रवे॥ १२

दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः[२]॥ १३

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिके गुण हैं, परमात्माके नहीं। परीक्षित्! इन तीनों गुणोंकी भी एक साथ ही घटती-बढ़ती नहीं होती॥ ७॥ भगवान् समय-समयके अनुसार गुणोंको स्वीकार करते हैं। सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय देवता और ऋषियोंका, रजोगुणकी वृद्धिके समय दैत्योंका और तमोगुणकी वृद्धिके समय वे यक्ष एवं राक्षसोंको अपनाते और उनका अभ्युदय करते हैं॥ ८॥ जैसे व्यापक अग्नि काष्ठ आदि भिन्न-भिन्न आश्रयोंमें रहनेपर भी उनसे अलग नहीं जान पड़ती, परन्तु मन्थन करनेपर वह प्रकट हो जाती है—वैसे ही परमात्मा सभी शरीरोंमें रहते हैं, अलग नहीं जान पड़ते। परन्तु विचारशील पुरुष हृदयमन्थन करके—उनके अतिरिक्त सभी वस्तुओंका बाध करके अन्ततः अपने हृदयमें ही अन्तर्यामीरूपसे उन्हें प्राप्त कर लेते हैं॥ ९॥ जब परमेश्वर अपने लिये शरीरोंका निर्माण करना चाहते हैं, तब अपनी मायासे रजोगुणकी अलग सृष्टि करते हैं। जब वे विचित्र योनियोंमें रमण करना चाहते हैं, तब सत्त्वगुणकी सृष्टि करते हैं और जब वे शयन करना चाहते हैं, तब तमोगुणको बढ़ा देते हैं॥ १०॥ परीक्षित्! भगवान् सत्यसंकल्प हैं। वे ही जगत्की उत्पत्तिके निमित्तभूत प्रकृति और पुरुषके सहकारी एवं आश्रयकालकी सृष्टि करते हैं। इसलिये वे कालके अधीन नहीं, काल ही उनके अधीन है। राजन्! ये कालस्वरूप ईश्वर जब सत्त्वगुणकी वृद्धि करते हैं, तब सत्त्वमय देवताओंका बल बढ़ाते हैं और तभी वे परमयशस्वी देवप्रिय परमात्मा देवविरोधी रजोगुणी एवं तमोगुणी दैत्योंका संहार करते हैं। वस्तुतः वे सम ही हैं॥ ११॥

राजन्! इसी विषयमें देवर्षि नारदने बड़े प्रेमसे एक इतिहास कहा था। यह उस समयकी बात है, जब राजसूय यज्ञमें तुम्हारे दादा युधिष्ठिरने उनसे इस सम्बन्धमें एक प्रश्न किया था॥ १२॥ उस महान् राजसूय यज्ञमें राजा युधिष्ठिरने अपनी आँखोंके सामने बड़ी आश्चर्य-जनक घटना देखी कि चेदिराज शिशुपाल सबके देखते-देखते भगवान् श्रीकृष्णमें समा गया॥ १३॥

१. प्रा० पा०—पुनरात्मनः। २. प्रा० पा०—भूभृतः।

तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम्॥ १४

वहीं देवर्षि नारद भी बैठे हुए थे। इस घटनासे आश्चर्यचकित होकर राजा युधिष्ठिरने बड़े-बड़े मुनियोंसे भरी हुई सभामें; उस यज्ञमण्डपमें ही देवर्षि नारदसे यह प्रश्न किया॥ १४॥

युधिष्ठिर उवाच

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्दुर्लभैकान्तिनामपि।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः॥ १५

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने।
भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः॥ १६

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात्।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्त्रश्च दुर्मतिः॥ १७

शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम्।
श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः॥ १८

कथं तस्मिन् भगवति दुरवग्राहधामनि।
पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा॥ १९

एतद् भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना।
ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवांस्तत्र कारणम्॥ २०

युधिष्ठिरने पूछा—अहो! यह तो बड़ी विचित्र बात है। परमतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णमें समा जाना तो बड़े-बड़े अनन्य भक्तोंके लिये भी दुर्लभ है; फिर भगवान्से द्वेष करनेवाले शिशुपालको यह गति कैसे मिली?॥ १५॥ नारदजी! इसका रहस्य हम सभी जानना चाहते हैं। पूर्वकालमें भगवान्की निन्दा करनेके कारण ऋषियोंने राजा वेनको नरकमें डाल दिया था॥ १६॥ यह दमघोषका लड़का पापात्मा शिशुपाल और दुर्बुद्धि दन्तवक्त्र—दोनों ही जबसे तुतलाकर बोलने लगे थे, तबसे अबतक भगवान्से द्वेष ही करते रहे हैं॥ १७॥ अविनाशी परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णको ये पानी पी-पीकर गाली देते रहे हैं। परन्तु इसके फलस्वरूप न तो इनकी जीभमें कोढ़ ही हुआ और न इन्हें घोर अन्धकारमय नरककी ही प्राप्ति हुई॥ १८॥ प्रत्युत जिन भगवान्की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, उन्हींमें ये दोनों सबके देखते-देखते अनायास ही लीन हो गये—इसका क्या कारण है?॥ १९॥ हवाके झोंकेसे लड़खड़ाती हुई दीपककी लौके समान मेरी बुद्धि इस विषयमें बहुत आगा-पीछा कर रही है। आप सर्वज्ञ हैं, अतः इस अद्भुत घटनाका रहस्य समझाइये॥ २०॥

श्रीशुक उवाच

राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः।
तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः॥ २१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सर्वसमर्थ देवर्षि नारद राजाके ये प्रश्न सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने युधिष्ठिरको सम्बोधित करके भरी सभामें सबके सुनते हुए यह कथा कही॥ २१॥

नारद उवाच

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम्॥ २२

हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव॥ २३

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर! निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार—इस शरीरके ही तो होते हैं। इस शरीरकी कल्पना प्रकृति और पुरुषका ठीक-ठीक विवेक न होनेके कारण ही हुई है॥ २२॥ जब इस शरीरको ही अपना आत्मा मान लिया जाता है, तब 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसा भाव बन जाता है। यही सारे भेदभावका मूल है। इसीके कारण ताड़ना और दुर्वचनोंसे पीड़ा होती है॥ २३॥

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात्प्राणिनां वधः।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः।
परस्य दमकर्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते॥ २४

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्॥ २५

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥ २६

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन्।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्॥ २७

एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया॥ २८

कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥ २९

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥ ३०

कतमोऽपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्॥ ३१

जिस शरीरमें अभिमान हो जाता है कि 'यह मैं हूँ', उस शरीरके वधसे प्राणियोंको अपना वध जान पड़ता है। किन्तु भगवान्‌में तो जीवोंके समान ऐसा अभिमान है नहीं; क्योंकि वे सर्वात्मा हैं, अद्वितीय हैं। वे जो दूसरोंको दण्ड देते हैं—वह भी उनके कल्याणके लिये ही, क्रोधवश अथवा द्वेषवश नहीं। तब भगवान्‌के सम्बन्धमें हिंसाकी कल्पना तो की ही कैसे जा सकती है॥ २४॥ इसलिये चाहे सुदृढ़ वैरभावसे या वैरहीन भक्तिभावसे, भयसे, स्नेहसे अथवा कामनासे—कैसे भी हो, भगवान्‌में अपना मन पूर्णरूपसे लगा देना चाहिये। भगवान्‌की दृष्टिसे इन भावोंमें कोई भेद नहीं है॥ २५॥

युधिष्ठिर! मेरा तो ऐसा दृढ़ निश्चय है कि मनुष्य वैरभावसे भगवान्‌में जितना तन्मय हो जाता है, उतना भक्तियोगसे नहीं होता॥ २६॥ भृंगी कीड़ेको लाकर भीतपर अपने छिद्रमें बंद कर देता है और वह भय तथा उद्वेगसे भृंगीका चिन्तन करते-करते उसके-जैसा ही हो जाता है॥ २७॥ यही बात भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी है। लीलाके द्वारा मनुष्य मालूम पड़ते हुए ये सर्वशक्तिमान् भगवान् ही तो हैं। इनसे वैर करनेवाले भी इनका चिन्तन करते-करते पापरहित होकर इन्हींको प्राप्त हो गये॥ २८॥ एक नहीं, अनेकों मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर एवं अपने सारे पाप धोकर उसी प्रकार भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे॥ २९॥ महाराज! गोपियोंने भगवान्‌से मिलनके तीव्र काम अर्थात् प्रेमसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगोंने स्नेहसे और हमलोगोंने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है॥ ३०॥ भक्तोंके अतिरिक्त जो पाँच प्रकारके भगवान्‌का चिन्तन करनेवाले हैं, उनमेंसे राजा वेनकी तो किसीमें भी गणना नहीं होती (क्योंकि उसने किसी भी प्रकारसे भगवान्‌में मन नहीं लगाया था)। सारांश यह कि चाहे जैसे हो, अपना मन भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय कर देना चाहिये॥ ३१॥

मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ॥ ३२

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः॥ ३३

देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ ३४

नारद उवाच

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णोर्लोकं यदृच्छया।
सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम्॥ ३५

पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।
दिग्वाससःशिशून् मत्वा द्वाःस्थौ तान् प्रत्यषेधताम्॥ ३६

अशपन् कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः।
रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः।
पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः॥ ३७

एवं शप्तौ स्वभवनात् पतन्तौ तैः कृपालुभिः।
प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम्॥ ३८

जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः॥ ३९

हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा।
हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः॥ ४०

महाराज! फिर तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दन्तवक्त्र दोनों ही विष्णुभगवान्के मुख्य पार्षद थे। ब्राह्मणोंके शापसे इन दोनोंको अपने पदसे च्युत होना पड़ा था॥ ३२॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—नारदजी! भगवान्के पार्षदोंको भी प्रभावित करनेवाला वह शाप किसने दिया था तथा वह कैसा था? भगवान्के अनन्य प्रेमी फिर जन्म-मृत्युमय संसारमें आयें, यह बात तो कुछ अविश्वसनीय-सी मालूम पड़ती है॥ ३३॥ वैकुण्ठके रहनेवाले लोग प्राकृत शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंसे रहित होते हैं। उनका प्राकृत शरीरसे सम्बन्ध किस प्रकार हुआ, यह बात आप अवश्य सुनाइये॥ ३४॥

नारदजीने कहा—एक दिन ब्रह्माके मानसपुत्र सनकादि ऋषि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्द विचरण करते हुए वैकुण्ठमें जा पहुँचे॥ ३५॥

यों तो वे सबसे प्राचीन हैं, परन्तु जान पड़ते हैं ऐसे मानो पाँच-छः बरसके बच्चे हों। वस्त्र भी नहीं पहनते। उन्हें साधारण बालक समझकर द्वारपालोंने उनको भीतर जानेसे रोक दिया॥ ३६॥ इसपर वे क्रोधित-से हो गये और उन्होंने द्वारपालोंको यह शाप दिया कि 'मूर्खो! भगवान् विष्णुके चरण तो रजोगुण और तमोगुणसे रहित हैं। तुम दोनों इनके समीप निवास करनेयोग्य नहीं हो। इसलिये शीघ्र ही तुम यहाँसे पापमयी असुरयोनिमें जाओ'॥ ३७॥ उनके इस प्रकार शाप देते ही जब वे वैकुण्ठसे नीचे गिरने लगे, तब उन कृपालु महात्माओंने कहा—'अच्छा, तीन जन्मोंमें इस शापको भोगकर तुमलोग फिर इसी वैकुण्ठमें आ जाना'॥ ३८॥

युधिष्ठिर! वे ही दोनों दितिके पुत्र हुए। उनमें बड़ेका नाम हिरण्यकशिपु था और उससे छोटेका हिरण्याक्ष। दैत्य और दानवोंके समाजमें यही दोनों सर्वश्रेष्ठ थे॥ ३९॥ विष्णुभगवान्ने नृसिंहका रूप धारण करके हिरण्यकशिपुको और पृथ्वीका उद्धार करनेके समय वराहावतार ग्रहण करके हिरण्याक्षको मारा॥ ४०॥

हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम्।
जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे॥ ४१

हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको भगवत्प्रेमी होनेके कारण मार डालना चाहा और इसके लिये उन्हें बहुत-सी यातनाएँ दीं॥ ४१॥

[1]सर्वभूतात्मभूतं तं प्रशान्तं समदर्शनम्।
भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः॥ ४२

परन्तु प्रह्लाद सर्वात्मा भगवान्‌के परम प्रिय हो चुके थे, समदर्शी हो चुके थे। उनके हृदयमें अटल शान्ति थी। भगवान्‌के प्रभावसे वे सुरक्षित थे। इसलिये तरह-तरहसे चेष्टा करनेपर भी हिरण्यकशिपु उनको मार डालनेमें समर्थ न हुआ॥ ४२॥

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ[2]॥ ४३

युधिष्ठिर! वे ही दोनों विश्रवा मुनिके द्वारा केशिनी (कैकसी)-के गर्भसे राक्षसोंके रूपमें पैदा हुए। उनका नाम था रावण और कुम्भकर्ण। उनके उत्पातोंसे सब लोकोंमें आग-सी लग गयी थी॥ ४३॥

तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात् प्रभो॥ ४४

उस समय भी भगवान्‌ने उन्हें शापसे छुड़ानेके लिये रामरूपसे उनका वध किया। युधिष्ठिर! मार्कण्डेय मुनिके मुखसे तुम भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनोगे॥ ४४॥

तावेव क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्त्रात्मजौ तव।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ॥ ४५

वे ही दोनों जय-विजय इस जन्ममें तुम्हारी मौसीके लड़के शिशुपाल और दन्तवक्त्रके रूपमें क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए थे। भगवान् श्रीकृष्णके चक्रका स्पर्श प्राप्त हो जानेसे उनके सारे पाप नष्ट हो गये और वे सनकादिके शापसे मुक्त हो गये॥ ४५॥

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥ ४६

वैरभावके कारण निरन्तर ही वे भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन किया करते थे। उसी तीव्र तन्मयताके फलस्वरूप वे भगवान्‌को प्राप्त हो गये और पुनः उनके पार्षद होकर उन्हींके समीप चले गये॥ ४६॥

युधिष्ठिर उवाच

विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि।
ब्रूहि मे भगवन्येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता॥ ४७

युधिष्ठिरजीने पूछा—भगवन्! हिरण्यकशिपुने अपने स्नेहभाजन पुत्र प्रह्लादसे इतना द्वेष क्यों किया? फिर प्रह्लाद तो महात्मा थे। साथ ही यह भी बतलाइये कि किस साधनसे प्रह्लाद भगवन्मय हो गये॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरितोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

१. प्रा० पा०—तं सर्वभूतसुहृदं प्रशा०। २. प्रा० पा०—तापकौ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

हिरण्याक्षका वध होनेपर हिरण्यकशिपुका अपनी माता और कुटुम्बियोंको समझाना

नारद उवाच

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना[१]।
हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद्रुषा शुचा॥ १

आह चेदं रुषा घूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः।
कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन्[२] धूम्रमम्बरम् ॥ २

करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्य[३]भ्रुकुटीमुखः।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत्॥ ३

भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धंस्त्र्यक्ष शम्बर।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल॥ ४

विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन् शकुनादयः।
शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम्॥ ५

सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत्।
पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः[४]॥ ६

तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः॥ ७

मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै।
रुधिरप्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः॥ ८

तस्मिन् कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ।
विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः॥ ९

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर! जब भगवान्‌ने वराहावतार धारण करके हिरण्याक्षको मार डाला, तब भाईके इस प्रकार मारे जानेपर हिरण्यकशिपु रोषसे जल-भुन गया और शोकसे सन्तप्त हो उठा॥ १॥ वह क्रोधसे काँपता हुआ अपने दाँतोंसे बार-बार होठ चबाने लगा। क्रोधसे दहकती हुई आँखोंकी आगके धूएँसे धूमिल हुए आकाशकी ओर देखता हुआ वह कहने लगा॥ २॥ उस समय विकराल दाढ़ों, आग उगलनेवाली उग्र दृष्टि और चढ़ी हुई भौंहोंके कारण उसका मुँह देखा न जाता था। भरी सभामें त्रिशूल उठाकर उसने द्विमूर्धा, त्र्यक्ष, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव, नमुचि, पाक, इल्वल, विप्रचित्ति, पुलोमा और शकुन आदिको सम्बोधन करके कहा—'दैत्यो और दानवो! तुम सब लोग मेरी बात सुनो और उसके बाद जैसे मैं कहता हूँ, वैसे करो॥ ३—५॥ तुम्हें यह ज्ञात है कि मेरे क्षुद्र शत्रुओंने मेरे परम प्यारे और हितैषी भाईको विष्णुसे मरवा डाला है। यद्यपि वह देवता और दैत्य दोनोंके प्रति समान है, तथापि दौड़-धूप और अनुनय-विनय करके देवताओंने उसे अपने पक्षमें कर लिया है॥ ६॥

यह विष्णु पहले तो बड़ा शुद्ध और निष्पक्ष था। परन्तु अब मायासे वराह आदि रूप धारण करने लगा है और अपने स्वभावसे च्युत हो गया है। बच्चेकी तरह जो उसकी सेवा करे, उसीकी ओर हो जाता है। उसका चित्त स्थिर नहीं है॥ ७॥ अब मैं अपने इस शूलसे उसका गला काट डालूँगा और उसके खूनकी धारासे अपने रुधिरप्रेमी भाईका तर्पण करूँगा। तब कहीं मेरे हृदयकी पीड़ा शान्त होगी॥ ८॥ उस मायावी शत्रुके नष्ट होनेपर, पेड़की जड़ कट जानेपर डालियोंकी तरह सब देवता अपने-आप सूख जायँगे। क्योंकि उनका जीवन तो विष्णु ही है॥ ९॥

---

१. प्रा० पा०—रूपिणा। २. प्रा० पा०—निरीक्ष्य धू०। ३. प्रा० पा०—क्ष्यो भ्रु०। ४. प्रा० पा०—पधारितैः।

तावद्यात भुवं यूयं विप्रक्षत्रसमेधिताम्।
सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः॥ १०

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान्।
देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम्॥ ११

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत॥ १२

इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाऽऽदृताः।
तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः॥ १३

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।
खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च॥ १४

केचित्खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान्।
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान् केचित्परशुपाणयः।
प्रादहन् शरणान्यन्ये प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः॥ १५

एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः।
दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः॥ १६

हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः।
कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत्॥ १७

शकुनिं शम्बरं धृष्टं भूतसन्तापनं वृकम्।
कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम्॥ १८

तन्मातरं रुषाभानुं दितिं च जननीं गिरा।
श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर॥ १९

इसलिये तुमलोग इसी समय पृथ्वीपर जाओ। आजकल वहाँ ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी बहुत बढ़ती हो गयी है। वहाँ जो लोग तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और दानादि शुभ कर्म कर रहे हों, उन सबको मार डालो॥ १०॥ विष्णुकी जड़ है द्विजातियोंका धर्म-कर्म; क्योंकि यज्ञ और धर्म ही उसके स्वरूप हैं। देवता, ऋषि, पितर, समस्त प्राणी और धर्मका वही परम आश्रय है॥ ११॥ जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, गाय, वेद, वर्णाश्रम और धर्म-कर्म हों, उन-उन देशोंमें तुमलोग जाओ, उन्हें जला दो, उजाड़ डालो'॥ १२॥

दैत्य तो स्वभावसे ही लोगोंको सताकर सुखी होते हैं। दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी आज्ञा उन्होंने बड़े आदरसे सिर झुकाकर स्वीकार की और उसीके अनुसार जनताका नाश करने लगे॥ १३॥ उन्होंने नगर, गाँव, गौओंके रहनेके स्थान, बगीचे, खेत, टहलनेके स्थान, ऋषियोंके आश्रम, रत्न आदिकी खानें, किसानोंकी बस्तियाँ, तराईके गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ और व्यापारके केन्द्र बड़े-बड़े नगर जला डाले॥ १४॥

कुछ दैत्योंने खोदनेके शस्त्रोंसे बड़े-बड़े पुल, परकोटे और नगरके फाटकोंको तोड़-फोड़ डाला तथा दूसरोंने कुल्हाड़ियोंसे फले-फूले, हरे-भरे पेड़ काट डाले। कुछ दैत्योंने जलती हुई लकड़ियोंसे लोगोंके घर जला दिये॥ १५॥ इस प्रकार दैत्योंने निरीह प्रजाका बड़ा उत्पीड़न किया। उस समय देवतालोग स्वर्ग छोड़कर छिपे रूपसे पृथ्वीमें विचरण करते थे॥ १६॥

युधिष्ठिर! भाईकी मृत्युसे हिरण्यकशिपुको बड़ा दुःख हुआ था। जब उसने उसकी अन्त्येष्टि क्रियासे छुट्टी पा ली, तब शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु और उत्कच अपने इन भतीजोंको सान्त्वना दी॥ १७-१८॥

उनकी माता रुषाभानुको और अपनी माता दितिको देश-कालके अनुसार मधुर वाणीसे समझाते हुए कहा॥ १९॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम्।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः॥ २०

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते।
दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः॥ २१

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान्॥ २२

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः॥ २३

एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान्।
याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव॥ २४

एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना।
एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः॥ २५

सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः।
अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च॥ २६

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत॥ २७

उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः।
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत॥ २८

हिरण्यकशिपुने कहा—मेरी प्यारी माँ, बहू और पुत्रो! तुम्हें वीर हिरण्याक्षके लिये किसी प्रकारका शोक नहीं करना चाहिये। वीर पुरुष तो ऐसा चाहते ही हैं कि लड़ाईके मैदानमें अपने शत्रुके सामने उसके दाँत खट्टे करके प्राण त्याग करें; वीरोंके लिये ऐसी ही मृत्यु श्लाघनीय होती है॥ २०॥ देवि! जैसे प्याऊपर बहुत-से लोग इकट्ठे हो जाते हैं, परन्तु उनका मिलना-जुलना थोड़ी देरके लिये ही होता है—वैसे ही अपने कर्मोंके फेरसे दैववश जीव भी मिलते और बिछुड़ते हैं॥ २१॥ वास्तवमें आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ और देह-इन्द्रिय आदिसे पृथक् है। वह अपनी अविद्यासे ही देह आदिकी सृष्टि करके भोगोंके साधन सूक्ष्मशरीरको स्वीकार करता है॥ २२॥ जैसे हिलते हुए पानीके साथ उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले वृक्ष भी हिलते-से जान पड़ते हैं और घुमायी जाती हुई आँखके साथ सारी पृथ्वी ही घूमती-सी दिखायी देती है, कल्याणी! वैसे ही विषयोंके कारण मन भटकने लगता है और वास्तवमें निर्विकार होनेपर भी उसीके समान आत्मा भी भटकता हुआ-सा जान पड़ता है। उसका स्थूल और सूक्ष्म- शरीरोंसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वह सम्बन्धी-सा जान पड़ता है॥ २३-२४॥ सब प्रकारसे शरीररहित आत्माको शरीर समझ लेना—यही तो अज्ञान है। इसीसे प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुओंका मिलना और बिछुड़ना होता है। इसीसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध हो जानेके कारण संसारमें भटकना पड़ता है॥ २५॥ जन्म, मृत्यु, अनेकों प्रकारके शोक, अविवेक, चिन्ता और विवेककी विस्मृति—सबका कारण यह अज्ञान ही है॥ २६॥ इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास मरे हुए मनुष्यके सम्बन्धियोंके साथ यमराजकी बातचीत है। तुमलोग ध्यानसे उसे सुनो॥ २७॥

उशीनर देशमें एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका नाम था सुयज्ञ। लड़ाईमें शत्रुओंने उसे मार डाला। उस समय उसके भाई-बन्धु उसे घेरकर बैठ गये॥ २८॥

विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम्।
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम्॥ २९

प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम्।
रजः कुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे॥ ३०

उसका जड़ाऊ कवच छिन्न-भिन्न हो गया था। गहने और मालाएँ तहस-नहस हो गयी थीं। बाणोंकी मारसे कलेजा फट गया था। शरीर खूनसे लथपथ था। बाल बिखर गये थे। आँखें धँस गयी थीं। क्रोधके मारे दाँतोंसे उसके होठ दबे हुए थे। कमलके समान मुख धूलसे ढक गया था। युद्धमें उसके शस्त्र और बाँहें कट गयी थीं॥ २९-३०॥

उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः।
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं
घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन्॥ ३१

रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं
सिञ्चन्त्य अस्त्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं[1] नृणां
सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे॥ ३२

रानियोंको दैववश अपने पतिदेव उशीनर नरेशकी यह दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। वे 'हा नाथ! हम अभागिनें तो बेमौत मारी गयीं।' यों कहकर बार-बार जोरसे छाती पीटती हुई अपने स्वामीके चरणोंके पास गिर पड़ीं॥ ३१॥ वे जोर-जोरसे इतना रोने लगीं कि उनके कुच-कुंकुमसे मिलकर बहते हुए लाल-लाल आँसुओंने प्रियतमके पादपद्म पखार दिये। उनके केश और गहने इधर-उधर बिखर गये। वे करुण-क्रन्दनके साथ विलाप कर रही थीं, जिसे सुनकर मनुष्योंके हृदयमें शोकका संचार हो जाता था॥ ३२॥

अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो
भवान् प्रणीतो दृगगोचरां दशाम्।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः॥ ३३

त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः
शुश्रूषतीनां दिश[2] यत्र यास्यसि॥ ३४

'हाय! विधाता बड़ा क्रूर है। स्वामिन्! उसीने आज आपको हमारी आँखोंसे ओझल कर दिया। पहले तो आप समस्त देशवासियोंके जीवनदाता थे। आज उसीने आपको ऐसा बना दिया कि आप हमारा शोक बढ़ा रहे हैं॥ ३३॥ पतिदेव! आप हमसे बड़ा प्रेम करते थे, हमारी थोड़ी-सी सेवाको भी बड़ी करके मानते थे। हाय! अब आपके बिना हम कैसे रह सकेंगी। हम आपके चरणोंकी चेरी हैं। वीरवर! आप जहाँ जा रहे हैं, वहीं चलनेकी हमें भी आज्ञा दीजिये'॥ ३४॥

एवं विलपतीनां वै परि[3]गृह्य मृतं पतिम्।
अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं संन्यवर्तत॥ ३५

तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम्।
आह तान् बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः॥ ३६

वे अपने पतिकी लाश पकड़कर इसी प्रकार विलाप करती रहीं। उस मुर्देको वहाँसे दाहके लिये जाने देनेकी उनकी इच्छा नहीं होती थी। इतनेमें ही सूर्यास्त हो गया॥ ३५॥ उस समय उशीनरराजाके सम्बन्धियोंने जो विलाप किया था, उसे सुनकर वहाँ स्वयं यमराज बालकके वेषमें आये और उन्होंने उन लोगोंसे कहा—॥ ३६॥

१. प्रा० पा०—नृणां शुचं। २. प्रा० पा०—दिशि। ३. प्रा० पा०—प्रति।

यम उवाच

अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः।
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम्॥ ३७

अहो वयं धन्यतमा यदत्र
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे॥ ३८

य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः।
तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः॥ ३९

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति॥ ४०

भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः।
न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थित-
स्तस्या गुणैरन्यतमो निबध्यते॥ ४१

इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम्।
यथौदकैः पार्थिवतैजसैर्जनः
कालेन जातो विकृतो विनश्यति॥ ४२

यमराज बोले—बड़े आश्चर्यकी बात है! ये लोग तो मुझसे सयाने हैं। बराबर लोगोंका मरना-जीना देखते हैं, फिर भी इतने मूढ़ हो रहे हैं। अरे! यह मनुष्य जहाँसे आया था, वहीं चला गया। इन लोगोंको भी एक-न-एक दिन वहीं जाना है। फिर झूठमूठ ये लोग इतना शोक क्यों करते हैं?॥ ३७॥ हम तो तुमसे लाखगुने अच्छे हैं, परम धन्य हैं; क्योंकि हमारे माँ-बापने हमें छोड़ दिया है। हमारे शरीरमें पर्याप्त बल भी नहीं है, फिर भी हमें कोई चिन्ता नहीं है। भेड़िये आदि हिंसक जन्तु हमारा बाल भी बाँका नहीं कर पाते। जिसने गर्भमें रक्षा की थी, वही इस जीवनमें भी हमारी रक्षा करता रहता है॥ ३८॥ देवियो! जो अविनाशी ईश्वर अपनी मौजसे इस जगत्को बनाता है, रखता है और बिगाड़ देता है—उस प्रभुका यह एक खिलौनामात्र है। वह इस चराचर जगत्को दण्ड या पुरस्कार देनेमें समर्थ है॥ ३९॥ भाग्य अनुकूल हो तो रास्तेमें गिरी हुई वस्तु भी ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती है। परन्तु भाग्यके प्रतिकूल होनेपर घरके भीतर तिजोरीमें रखी हुई वस्तु भी खो जाती है। जीव बिना किसी सहारेके दैवकी दयादृष्टिसे जंगलमें भी बहुत दिनोंतक जीवित रहता है, परंतु दैवके विपरीत होनेपर घरमें सुरक्षित रहनेपर भी मर जाता है॥ ४०॥

रानियो! सभी प्राणियोंकी मृत्यु अपने पूर्वजन्मोंकी कर्मवासनाके अनुसार समयपर होती है और उसीके अनुसार उनका जन्म भी होता है। परन्तु आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न है, इसलिये वह उसमें रहनेपर भी उसके जन्म-मृत्यु आदि धर्मोंसे अछूता ही रहता है॥ ४१॥ जैसे मनुष्य अपने मकानको अपनेसे अलग और मिट्टीका समझता है, वैसे ही यह शरीर भी अलग और मिट्टीका है। मोहवश वह इसे अपना समझ बैठता है। जैसे बुलबुले आदि पानीके विकार, घड़े आदि मिट्टीके विकार और गहने आदि स्वर्णके विकार समयपर बनते हैं, रूपान्तरित होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्हीं तीनोंके विकारसे बना हुआ यह शरीर भी समयपर बन-बिगड़ जाता है॥ ४२॥

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान् सर्वगुणाश्रयः परः॥ ४३

जैसे काठमें रहनेवाली व्यापक अग्नि स्पष्ट ही उससे अलग है, जैसे देहमें रहनेपर भी वायुका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे आकाश सब जगह एक-सा रहनेपर भी किसीके दोष-गुणसे लिप्त नहीं होता—वैसे ही समस्त देहेन्द्रियोंमें रहनेवाला और उनका आश्रय आत्मा भी उनसे अलग और निर्लिप्त है॥ ४३॥

सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ।
यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित्॥ ४४

मूर्खो! जिसके लिये तुम सब शोक कर रहे हो, वह सुयज्ञ नामका शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है। तुमलोग इसीको देखते थे। इसमें जो सुननेवाला और बोलनेवाला था, वह तो कभी किसीको नहीं दिखायी पड़ता था। फिर आज भी नहीं दिखायी दे रहा है, तो शोक क्यों?॥ ४४॥ (तुम्हारी यह मान्यता कि 'प्राण ही बोलने या सुननेवाला था, सो निकल गया' मूर्खतापूर्ण है; क्योंकि सुषुप्तिके समय प्राण तो रहता है, पर न वह बोलता है न सुनता है।) शरीरमें सब इन्द्रियोंकी चेष्टाका हेतुभूत जो महाप्राण है, वह प्रधान होनेपर भी बोलने या सुननेवाला नहीं है; क्योंकि वह जड है। देह और इन्द्रियोंके द्वारा सब पदार्थोंका द्रष्टा जो आत्मा है, वह शरीर और प्राण दोनोंसे पृथक् है॥ ४५॥

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः॥ ४५

यद्यपि वह परिच्छिन्न नहीं है, व्यापक है—फिर भी पंचभूत, इन्द्रिय और मनसे युक्त नीचे-ऊँचे (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) शरीरोंको ग्रहण करता और अपने विवेकबलसे मुक्त भी हो जाता है। वास्तवमें वह इन सबसे अलग है॥ ४६॥

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः।
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा॥ ४६

जबतक वह पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन—इन सत्रह तत्त्वोंसे बने हुए लिंगशरीरसे युक्त रहता है, तभीतक कर्मोंसे बँधा रहता है और इस बन्धनके कारण ही मायासे होनेवाले मोह और क्लेश बराबर उसके पीछे पड़े रहते हैं॥ ४७॥

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत् कर्म निबन्धनम्।
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते॥ ४७

प्रकृतिके गुणों और उनसे बनी हुई वस्तुओंको सत्य समझना अथवा कहना झूठमूठका दुराग्रह है। मनोरथके समयकी कल्पित और स्वप्नके समयकी दीख पड़नेवाली वस्तुओंके समान इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है, सब मिथ्या है॥ ४८॥

वितथाभिनिवेशोऽयं यद् गुणेष्वर्थदृग्वचः।
यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा॥ ४८

अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः।
नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति॥ ४९

लुब्धको विपिने कश्चित्पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः।
वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन्॥ ५०

कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत्समदृश्यत।
तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता॥ ५१

सासज्जत शिचस्तन्त्यां महिषी कालयन्त्रिता।
कुलिङ्गस्तां तथाऽऽपन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः।
स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत्॥ ५२

अहो अकरुणो देवः स्त्रियाऽऽकरुणया विभुः।
कृपणं मानुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति॥ ५३

कामं नयतु मां देवः किमर्धेनात्मनो हि मे।
दीनेन जीवता दुःखमनेन विधुरायुषा॥ ५४

कथं त्वजातपक्षांस्तान् मातृहीनान् बिभर्म्यहम्।
मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः॥ ५५

एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्
प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम्।
स एव तं शाकुनिकः शरेण
विव्याध कालप्रहितो विलीनः॥ ५६

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि॥ ५७

इसलिये शरीर और आत्माका तत्त्व जाननेवाले पुरुष न तो अनित्य शरीरके लिये शोक करते हैं और न नित्य आत्माके लिये ही। परन्तु ज्ञानकी दृढ़ता न होनेके कारण जो लोग शोक करते रहते हैं, उनका स्वभाव बदलना बहुत कठिन है॥ ४९॥

किसी जंगलमें एक बहेलिया रहता था। वह बहेलिया क्या था, विधाताने मानो उसे पक्षियोंके कालरूपमें ही रच रखा था। जहाँ-कहीं भी वह जाल फैला देता और ललचाकर चिड़ियोंको फँसा लेता॥ ५०॥ एक दिन उसने कुलिंग पक्षीके एक जोड़ेको चारा चुगते देखा। उनमेंसे उस बहेलियेने मादा पक्षीको तो शीघ्र ही फँसा लिया॥ ५१॥ कालवश वह जालके फंदोंमें फँस गयी। नर पक्षीको अपनी मादाकी विपत्तिको देखकर बड़ा दुःख हुआ। वह बेचारा उसे छुड़ा तो सकता न था, स्नेहसे उस बेचारीके लिये विलाप करने लगा॥ ५२॥ उसने कहा—'यों तो विधाता सब कुछ कर सकता है। परन्तु है वह बड़ा निर्दयी। यह मेरी सहचरी एक तो स्त्री है, दूसरे मुझ अभागेके लिये शोक करती हुई बड़ी दीनतासे छटपटा रही है। इसे लेकर वह करेगा क्या॥ ५३॥ उसकी मौज हो तो मुझे ले जाय। इसके बिना मैं अपना यह अधूरा विधुर जीवन, जो दीनता और दुःखसे भरा हुआ है, लेकर क्या करूँगा॥ ५४॥ अभी मेरे अभागे बच्चोंके पर भी नहीं जमे हैं। स्त्रीके मर जानेपर उन मातृहीन बच्चोंको मैं कैसे पालूँगा? ओह! घोंसलेमें वे अपनी माँकी बाट देख रहे होंगे'॥ ५५॥ इस तरह वह पक्षी बहुत-सा विलाप करने लगा। अपनी सहचरीके वियोगसे वह आतुर हो रहा था। आँसुओंके मारे उसका गला रुँध गया था। तबतक कालकी प्रेरणासे पास ही छिपे हुए उसी बहेलियेने ऐसा बाण मारा कि वह भी वहींपर लोट गया॥ ५६॥ मूर्ख रानियो! तुम्हारी भी यही दशा होनेवाली है। तुम्हें अपनी मृत्यु तो दीखती नहीं और इसके लिये रो-पीट रही हो! यदि तुमलोग सौ बरसतक इसी तरह शोकवश छाती पीटती रहो, तो भी अब तुम इसे नहीं पा सकोगी॥ ५७॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

बाल[1] एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः।
ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम्॥ ५८

हिरण्यकशिपुने कहा—उस छोटेसे बालककी ऐसी ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर सब-के-सब दंग रह गये। उशीनर-नरेशके भाई-बन्धु और स्त्रियोंने यह बात समझ ली कि समस्त संसार और इसके सुख-दुःख अनित्य एवं मिथ्या हैं॥ ५८॥

यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत।
ज्ञातयोऽपि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत्साम्परायिकम्॥ ५९

यमराज यह उपाख्यान सुनाकर वहीं अन्तर्धान हो गये। भाई-बन्धुओंने भी सुयज्ञकी अन्त्येष्टि-क्रिया की॥ ५९॥

ततः[2] शोचत मा यूयं परं[3] चात्मानमेव च।
क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा।
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम्॥ ६०

इसलिये तुमलोग भी अपने लिये या किसी दूसरेके लिये शोक मत करो। इस संसारमें कौन अपना है और कौन अपनेसे भिन्न? क्या अपना है और क्या पराया? प्राणियोंको अज्ञानके कारण ही यह अपने-परायेका दुराग्रह हो रहा है, इस भेद-बुद्धिका और कोई कारण नहीं है॥ ६०॥

नारद उवाच

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा।
पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत्॥ ६१

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर! अपनी पुत्रवधूके साथ दितिने हिरण्यकशिपुकी यह बात सुनकर उसी क्षण पुत्रशोकका त्याग कर दिया और अपना चित्त परमतत्त्वस्वरूप परमात्मामें लगा दिया॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
दितिशोकापनयनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुकी तपस्या और वरप्राप्ति

नारद उवाच

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम्।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत॥ १

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर! अब हिरण्यकशिपुने यह विचार किया कि 'मैं अजेय, अजर, अमर और संसारका एकछत्र सम्राट् बन जाऊँ, जिससे कोई मेरे सामने खड़ातक न हो सके'॥ १॥

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम्।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः॥ २

इसके लिये वह मन्दराचलकी एक घाटीमें जाकर अत्यन्त दारुण तपस्या करने लगा। वहाँ हाथ ऊपर उठाकर आकाशकी ओर देखता हुआ वह पैरके अँगूठेके बल पृथ्वीपर खड़ा हो गया॥ २॥

जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभिः।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवाः स्थानानि भेजिरे॥ ३

उसकी जटाएँ ऐसी चमक रही थीं, जैसे प्रलयकालके सूर्यकी किरणें। जब वह इस प्रकार तपस्यामें संलग्न हो गया, तब देवतालोग अपने-अपने स्थानों और पदोंपर पुनः प्रतिष्ठित हो गये॥ ३॥

१. प्रा० पा०—काल। २. प्रा० पा०—अतः। ३. प्रा० पा०—परमात्मानमेव च।

तस्य मूर्ध्नः समुद्भूतः सधूमोऽग्निस्तपोमयः।
तिर्यगूर्ध्वमधोलोकानतपद्विष्वगीरितः ॥ ४

चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्वीपाद्रिश्चचाल भूः।
निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश॥ ५

तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः।
धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते॥ ६

दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः।
तस्य चोपशमं भूमन् विधेहि यदि मन्यसे।
लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्तवा[1]भिभूः॥ ७

तस्यायं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः।
श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि निवेदितः॥ ८

सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना।
अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम्॥ ९

तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना।
कालात्मनोश्च नित्यत्वात्साधयिष्ये तथाऽऽत्मनः॥ १०

अन्यथे[2]दं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा।
किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः॥ ११

बहुत दिनोंतक तपस्या करनेके बाद उसकी तपस्याकी आग धूएँके साथ सिरसे निकलने लगी। वह चारों ओर फैल गयी और ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलके लोकोंको जलाने लगी॥ ४॥ उसकी लपटसे नदी और समुद्र खौलने लगे। द्वीप और पर्वतोंके सहित पृथ्वी डगमगाने लगी। ग्रह और तारे टूट-टूटकर गिरने लगे तथा दसों दिशाओंमें मानो आग लग गयी॥ ५॥

हिरण्यकशिपुकी उस तपोमयी आगकी लपटोंसे स्वर्गके देवता भी जलने लगे। वे घबराकर स्वर्गसे ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीसे प्रार्थना करने लगे—'हे देवताओंके भी आराध्यदेव जगत्पति ब्रह्माजी! हमलोग हिरण्यकशिपुके तपकी ज्वालासे जल रहे हैं। अब हम स्वर्गमें नहीं रह सकते। हे अनन्त! हे सर्वाध्यक्ष! यदि आप उचित समझें तो अपनी सेवा करनेवाली जनताका नाश होनेके पहले ही यह ज्वाला शान्त कर दीजिये॥ ६-७॥ भगवन्! आप सब कुछ जानते ही हैं, फिर भी हम अपनी ओरसे आपसे यह निवेदन कर देते हैं कि वह किस अभिप्रायसे यह घोर तपस्या कर रहा है। सुनिये, उसका विचार है कि 'जैसे ब्रह्माजी अपनी तपस्या और योगके प्रभावसे इस चराचर जगत्की सृष्टि करके सब लोकोंसे ऊपर सत्यलोकमें विराजते हैं, वैसे ही मैं भी अपनी उग्र तपस्या और योगके प्रभावसे वही पद और स्थान प्राप्त कर लूँगा। क्योंकि समय असीम है और आत्मा नित्य है। एक जन्ममें नहीं, अनेक जन्म; एक युगमें न सही, अनेक युगोंमें॥ ८—१०॥ अपनी तपस्याकी शक्तिसे मैं पाप-पुण्यादिके नियमोंको पलटकर इस संसारमें ऐसा उलट-फेर कर दूँगा, जैसा पहले कभी नहीं था। वैष्णवादि पदोंमें तो रखा ही क्या है। क्योंकि कल्पके अन्तमें उन्हें भी कालके गालमें चला जाना पड़ता है'*॥ ११॥

१. प्रा० पा०—स्तथा विभो। २. प्रा० पा०—अन्यथैव।

* यद्यपि वैष्णवपद (वैकुण्ठादि नित्यधाम) अविनाशी हैं, परन्तु हिरण्यकशिपु अपनी आसुरी बुद्धिके कारण उनको कल्पके अन्तमें नष्ट होनेवाला ही मानता था। तामसी बुद्धिमें सब बातें विपरीत ही दीखा करती हैं।

इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः।
विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर॥ १२

तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते।
भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च॥ १३

इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप।
परीतो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम्॥ १४

न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः।
पिपीलिकाभिराचीर्णमेदस्त्वङ्मांसशोणितम् ॥ १५

तपन्तं तपसा लोकान् यथाभ्रापिहितं रविम्।
विलक्ष्य विस्मितः प्राह प्रहसन् हंसवाहनः॥ १६

ब्रह्मोवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपःसिद्धोऽसि काश्यप।
वरदोऽहमनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः॥ १७

अद्राक्षमहमेतत्ते हृत्सारं महदद्भुतम्।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते॥ १८

नैतत्पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे।
निरम्बुर्धारयेत्प्राणान् को वै दिव्यसमाः शतम्॥ १९

व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम्।
तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन॥ २०

ततस्त आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव।
मर्त्यस्य ते अमर्त्यस्य दर्शनं नाफलं मम॥ २१

नारद उवाच

इत्युक्त्वाऽऽदिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः।
कमण्डलुजलेनौक्षद्दिव्येनामोघराधसा ॥ २२

हमने सुना है कि ऐसा हठ करके ही वह घोर तपस्यामें जुटा हुआ है। आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं। अब आप जो उचित समझें, वही करें॥ १२॥ ब्रह्माजी! आपका यह सर्वश्रेष्ठ परमेष्ठि-पद ब्राह्मण एवं गौओंकी वृद्धि, कल्याण, विभूति, कुशल और विजयके लिये है। (यदि यह हिरण्यकशिपुके हाथमें चला गया, तो सज्जनोंपर संकटोंका पहाड़ टूट पड़ेगा)'॥ १३॥ युधिष्ठिर! जब देवताओंने भगवान् ब्रह्माजीसे इस प्रकार निवेदन किया, तब वे भृगु और दक्ष आदि प्रजापतियोंके साथ हिरण्यकशिपुके आश्रमपर गये॥ १४॥ वहाँ जानेपर पहले तो वे उसे देख ही न सके; क्योंकि दीमककी मिट्टी, घास और बाँसोंसे उसका शरीर ढक गया था। चींटियाँ उसकी मेदा, त्वचा, मांस और खून चाट गयी थीं॥ १५॥ बादलोंसे ढके हुए सूर्यके समान वह अपनी तपस्याके तेजसे लोकोंको तपा रहा था। उसको देखकर ब्रह्माजी भी विस्मित हो गये। उन्होंने हँसते हुए कहा॥ १६॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा हिरण्यकशिपु! उठो, उठो। तुम्हारा कल्याण हो। कश्यपनन्दन! अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गयी। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, बेखटके माँग लो॥ १७॥ मैंने तुम्हारे हृदयका अद्भुत बल देखा। अरे, डाँसोंने तुम्हारी देह खा डाली है। फिर भी तुम्हारे प्राण हड्डियोंके सहारे टिके हुए हैं॥ १८॥

ऐसी कठिन तपस्या न तो पहले किसी ऋषिने की थी और न आगे ही कोई करेगा। भला ऐसा कौन है जो देवताओंके सौ वर्षतक बिना पानीके जीता रहे॥ १९॥ बेटा हिरण्यकशिपु! तुम्हारा यह काम बड़े-बड़े धीर पुरुष भी कठिनतासे कर सकते हैं। तुमने इस तपोनिष्ठासे मुझे अपने वशमें कर लिया है॥ २०॥ दैत्यशिरोमणे! इसीसे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें जो कुछ माँगो, दिये देता हूँ। तुम हो मरनेवाले और मैं हूँ अमर! अतः तुम्हें मेरा यह दर्शन निष्फल नहीं हो सकता॥ २१॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इतना कहकर ब्रह्माजीने उसके चींटियोंसे खाये हुए शरीरपर अपने कमण्डलुका दिव्य एवं अमोघ प्रभावशाली जल छिड़क दिया॥ २२॥

स तत्कीचकवल्मीकात् सहओजोबलान्वितः।
सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा।
उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः॥ २३

स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमवस्थितम्।
ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः॥ २४

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम्।
हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो गिरा गद्गदयागृणात्॥ २५

हिरण्यकशिपुरुवाच

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसाऽऽवृतम्।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा॥ २६

आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति।
रजः सत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः॥ २७

नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे॥ २८

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम्।
चित्तस्य चित्तेर्मनइन्द्रियाणां
पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः॥ २९

त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा
त्रय्या चातुर्होत्रकविद्यया च।
त्वमेक आत्माऽऽत्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा॥ ३०

जैसे लकड़ीके ढेरमेंसे आग जल उठे, वैसे ही वह जल छिड़कते ही बाँस और दीमकोंकी मिट्टीके बीचसे उठ खड़ा हुआ। उस समय उसका शरीर सब अवयवोंसे पूर्ण एवं बलवान् हो गया था, इन्द्रियोंमें शक्ति आ गयी थी और मन सचेत हो गया था। सारे अंग वज्रके समान कठोर एवं तपाये हुए सोनेकी तरह चमकीले हो गये थे। वह नवयुवक होकर उठ खड़ा हुआ॥ २३॥ उसने देखा कि आकाशमें हंसपर चढ़े हुए ब्रह्माजी खड़े हैं। उन्हें देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ। अपना सिर पृथ्वीपर रखकर उसने उनको नमस्कार किया॥ २४॥ फिर अंजलि बाँधकर नम्रभावसे खड़ा हुआ और बड़े प्रेमसे अपने निर्निमेष नयनोंसे उन्हें देखता हुआ गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगा। उस समय उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू उमड़ रहे थे और सारा शरीर पुलकित हो रहा था॥ २५॥

हिरण्यकशिपुने कहा—कल्पके अन्तमें यह सारी सृष्टि कालके द्वारा प्रेरित तमोगुणसे, घने अन्धकारसे ढक गयी थी। उस समय स्वयंप्रकाशस्वरूप आपने अपने तेजसे पुनः इसे प्रकट किया॥ २६॥ आप ही अपने त्रिगुणमय रूपसे इसकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं। आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके आश्रय हैं। आप ही सबसे परे और महान् हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २७॥ आप ही जगत्के मूल कारण हैं। ज्ञान और विज्ञान आपकी मूर्ति हैं। प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि विकारोंके द्वारा आपने अपनेको प्रकट किया है॥ २८॥ आप मुख्यप्राण सूत्रात्माके रूपसे चराचर जगत्को अपने नियन्त्रणमें रखते हैं। आप ही प्रजाके रक्षक भी हैं। भगवन्! चित्त, चेतना, मन और इन्द्रियोंके स्वामी आप ही हैं। पंचभूत, शब्दादि विषय और उनके संस्कारोंके रचयिता भी महत्तत्त्वके रूपमें आप ही हैं॥ २९॥ जो वेद होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—इन ऋत्विजोंसे होनेवाले यज्ञका प्रतिपादन करते हैं, वे आपके ही शरीर हैं। उन्हींके द्वारा अग्निष्टोम आदि सात यज्ञोंका आप विस्तार करते हैं। आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा हैं। क्योंकि आप अनादि, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं॥ ३०॥

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा॥ ३१
त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-
देजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्त्रिपृष्ठः॥ ३२
व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः॥ ३३
अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः॥ ३४
यदि दास्यस्यभिमतान् वरान्मे वरदोत्तम।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो॥ ३५
नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि॥ ३६
व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम्॥ ३७
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथाऽऽत्मनः।
तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित्॥ ३८

आप ही काल हैं। आप प्रतिक्षण सावधान रहकर अपने क्षण, लव आदि विभागोंके द्वारा लोगोंकी आयु क्षीण करते रहते हैं। फिर भी आप निर्विकार हैं। क्योंकि आप ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर, अजन्मा, महान् और सम्पूर्ण जीवोंके जीवनदाता अन्तरात्मा हैं॥ ३१॥ प्रभो! कार्य, कारण, चल और अचल ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो आपसे भिन्न हो। समस्त विद्या और कलाएँ आपके शरीर हैं। आप त्रिगुणमयी मायासे अतीत स्वयं ब्रह्म हैं। यह स्वर्णमय ब्रह्माण्ड आपके गर्भमें स्थित है। आप इसे अपनेमेंसे ही प्रकट करते हैं॥ ३२॥ प्रभो! यह व्यक्त ब्रह्माण्ड आपका स्थूल शरीर है। इससे आप इन्द्रिय, प्राण और मनके विषयोंका उपभोग करते हैं। किन्तु उस समय भी आप अपने परम ऐश्वर्यमय स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। वस्तुतः आप पुराणपुरुष, स्थूल-सूक्ष्मसे परे ब्रह्मस्वरूप ही हैं॥ ३३॥ आप अपने अनन्त और अव्यक्त स्वरूपसे सारे जगत्में व्याप्त हैं। चेतन और अचेतन दोनों ही आपकी शक्तियाँ हैं। भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ३४॥

प्रभो! आप समस्त वरदाताओंमें श्रेष्ठ हैं। यदि आप मुझे अभीष्ट वर देना चाहते हैं, तो ऐसा वर दीजिये कि आपके बनाये हुए किसी भी प्राणीसे—चाहे वह मनुष्य हो या पशु, प्राणी हो या अप्राणी, देवता हो या दैत्य अथवा नागादि किसीसे भी मेरी मृत्यु न हो। भीतर-बाहर, दिनमें, रात्रिमें, आपके बनाये प्राणियोंके अतिरिक्त और भी किसी जीवसे, अस्त्र-शस्त्रसे, पृथ्वी या आकाशमें—कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्धमें कोई मेरा सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियोंका एकच्छत्र सम्राट् होऊँ॥ ३५—३७॥ इन्द्रादि समस्त लोकपालोंमें जैसी आपकी महिमा है, वैसी ही मेरी भी हो। तपस्वियों और योगियोंको जो अक्षय ऐश्वर्य प्राप्त है, वही मुझे भी दीजिये॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
हिरण्यकशिपोर्वरयाचनं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुके अत्याचार और प्रह्लादके गुणोंका वर्णन

नारद उवाच

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ।
प्रादात्तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान्॥ १

ब्रह्मोवाच

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान् वृणीषे वरान् मम।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान् यदपि दुर्लभान्॥ २

ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः॥ ३

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः।
भगवत्यकरोद् द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन्॥ ४

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः।
देवासुरमनुष्येन्द्रान् गन्धर्वगरुडोरगान्॥ ५

सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन् पितृपतीन् मनून्।
यक्षरक्षःपिशाचेशान् प्रेतभूतपतीनथ॥ ६

सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित्।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा॥ ७

देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिविष्टपम्।
महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा।
त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत्॥ ८

यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः।
यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः॥ ९

यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च।
पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः॥ १०

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीसे इस प्रकारके अत्यन्त दुर्लभ वर माँगे, तब उन्होंने उसकी तपस्यासे प्रसन्न होनेके कारण उसे वे वर दे दिये॥ १॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा! तुम जो वर मुझसे माँग रहे हो, वे जीवोंके लिये बहुत ही दुर्लभ हैं; परन्तु दुर्लभ होनेपर भी मैं तुम्हें वे सब वर दिये देता हूँ॥ २॥

[नारदजी कहते हैं—] ब्रह्माजीके वरदान कभी झूठे नहीं होते। वे समर्थ एवं भगवद्रूप ही हैं। वरदान मिल जानेके बाद हिरण्यकशिपुने उनकी पूजा की। तत्पश्चात् प्रजापतियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे अपने लोकको चले गये॥ ३॥ ब्रह्माजीसे वर प्राप्त करनेपर हिरण्यकशिपुका शरीर सुवर्णके समान कान्तिमान् एवं हृष्ट-पुष्ट हो गया। वह अपने भाईकी मृत्युका स्मरण करके भगवान्‌से द्वेष करने लगा॥ ४॥ उस महादैत्यने समस्त दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर, नरपति, गन्धर्व, गरुड़, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितरोंके अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचराज, प्रेत, भूतपति एवं समस्त प्राणियोंके राजाओंको जीतकर अपने वशमें कर लिया। यहाँतक कि उस विश्व-विजयी दैत्यने लोकपालोंकी शक्ति और स्थान भी छीन लिये॥ ५—७॥ अब वह नन्दनवन आदि दिव्य उद्यानोंके सौन्दर्यसे युक्त स्वर्गमें ही रहने लगा था। स्वयं विश्वकर्माका बनाया हुआ इन्द्रका भवन ही उसका निवासस्थान था। उस भवनमें तीनों लोकोंका सौन्दर्य मूर्तिमान् होकर निवास करता था। वह सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे सम्पन्न था॥ ८॥ उस महलमें मूँगेकी सीढ़ियाँ, पन्नेकी गचें, स्फटिकमणिकी दीवारें, वैदूर्यमणिके खंभे और माणिककी कुर्सियाँ थीं। रंग-बिरंगे चँदोवे तथा दूधके फेनके समान शय्याएँ, जिनपर मोतियोंकी झालरें लगी हुई थीं, शोभायमान हो रही थीं॥ ९-१०॥

कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्य इतस्ततः।
रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम्॥ ११

तस्मिन्महेन्द्रभवने महाबलो[1]
महामना निर्जितलोक एकराट्।
रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः
प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः ॥ १२

तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः ।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम्॥ १३

जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः[2] ।
गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहु-
र्विद्याधरा अप्सरसश्च पाण्डव॥ १४

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा॥ १५

अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही।
तथा कामदुघा द्यौस्तु नानाश्चर्यपदं नभः॥ १६

रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥ १७

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान् द्रुमाः।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान्॥ १८

सर्वांगसुन्दरी अप्सराएँ अपने नूपुरोंसे रुन-झुन ध्वनि करती हुई रत्नमय भूमिपर इधर-उधर टहला करती थीं और कहीं-कहीं उसमें अपना सुन्दर मुख देखने लगती थीं॥ ११॥ उस महेन्द्रके महलमें महाबली और महामनस्वी हिरण्यकशिपु सब लोकोंको जीतकर, सबका एकच्छत्र सम्राट् बनकर बड़ी स्वतन्त्रतासे विहार करने लगा। उसका शासन इतना कठोर था कि उससे भयभीत होकर देव-दानव उसके चरणोंकी वन्दना करते रहते थे॥ १२॥ युधिष्ठिर! वह उत्कट गन्धवाली मदिरा पीकर मतवाला रहा करता था। उसकी आँखें लाल-लाल और चढ़ी हुई रहतीं। उस समय तपस्या, योग, शारीरिक और मानसिक बलका वह भंडार था। ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके सिवा और सभी देवता अपने हाथोंमें भेंट ले-लेकर उसकी सेवामें लगे रहते॥ १३॥ जब वह अपने पुरुषार्थसे इन्द्रासनपर बैठ गया, तब युधिष्ठिर! विश्वावसु, तुम्बुरु तथा हम सभी लोग उसके सामने गान करते थे। गन्धर्व, सिद्ध, ऋषिगण, विद्याधर और अप्सराएँ बार-बार उसकी स्तुति करती थीं॥ १४॥

युधिष्ठिर! वह इतना तेजस्वी था कि वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुष जो बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ करते, उनके यज्ञोंकी आहुति वह स्वयं छीन लेता॥ १५॥ पृथ्वीके सातों द्वीपोंमें उसका अखण्ड राज्य था। सभी जगह बिना ही जोते-बोये धरतीसे अन्न पैदा होता था। वह जो कुछ चाहता, अन्तरिक्षसे उसे मिल जाता तथा आकाश उसे भाँति-भाँतिकी आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखा-दिखाकर उसका मनोरंजन करता था॥ १६॥ इसी प्रकार खारे पानी, सुरा, घृत, इक्षुरस, दधि, दुग्ध और मीठे पानीके समुद्र भी अपनी पत्नी नदियोंके साथ तरंगोंके द्वारा उसके पास रत्नराशि पहुँचाया करते थे॥ १७॥ पर्वत अपनी घाटियोंके रूपमें उसके लिये खेलनेका स्थान जुटाते और वृक्ष सब ऋतुओंमें फूलते-फलते। वह अकेला ही सब लोकपालोंके विभिन्न गुणोंको धारण करता॥ १८॥

१. प्रा० पा०—महासुरो महाबलो नि०। २. प्रा० पा०—रुनारदादयः।

स इत्थं निर्जितककुबेकराड् विषयान् प्रियान्।
यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः॥ १९

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
कालो महान् व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः॥ २०

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम्॥ २१

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः॥ २२

इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः।
उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः॥ २३

तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिःस्वना।
सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी॥ २४

मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः।
मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये॥ २५

ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य च।
तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत॥ २६

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥ २७

निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम्॥ २८

इस प्रकार दिग्विजयी और एकच्छत्र सम्राट् होकर वह अपनेको प्रिय लगनेवाले विषयोंका स्वच्छन्द उपभोग करने लगा। परन्तु इतने विषयोंसे भी उसकी तृप्ति न हो सकी। क्योंकि अन्ततः वह इन्द्रियोंका दास ही तो था॥ १९॥

युधिष्ठिर! इस रूपमें भी वह भगवान्‌का वही पार्षद है, जिसे सनकादिकोंने शाप दिया था। वह ऐश्वर्यके मदसे मतवाला हो रहा था तथा घमंडमें चूर होकर शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लंघन कर रहा था। देखते-ही-देखते उसके जीवनका बहुत-सा समय बीत गया॥ २०॥ उसके कठोर शासनसे सब लोक और लोकपाल घबरा गये। जब उन्हें और कहीं किसीका आश्रय न मिला, तब उन्होंने भगवान्‌की शरण ली॥ २१॥ (उन्होंने मन-ही-मन कहा—) 'जहाँ सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरि निवास करते हैं और जिसे प्राप्त करके शान्त एवं निर्मल संन्यासी महात्मा फिर लौटते नहीं, भगवान्‌के उस परम धामको हम नमस्कार करते हैं'॥ २२॥ इस भावसे अपनी इन्द्रियोंका संयम और मनको समाहित करके उन लोगोंने खाना-पीना और सोना छोड़ दिया तथा निर्मल हृदयसे भगवान्‌की आराधना की॥ २३॥ एक दिन उन्हें मेघके समान गम्भीर आकाशवाणी सुनायी पड़ी। उसकी ध्वनिसे दिशाएँ गूँज उठीं। साधुओंको अभय देनेवाली वह वाणी यों थी—॥ २४॥ 'श्रेष्ठ देवताओ! डरो मत। तुम सब लोगोंका कल्याण हो। मेरे दर्शनसे प्राणियोंको परम कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है॥ २५॥ इस नीच दैत्यकी दुष्टताका मुझे पहलेसे ही पता है। मैं इसको मिटा दूँगा। अभी कुछ दिनोंतक समयकी प्रतीक्षा करो॥ २६॥

कोई भी प्राणी जब देवता, वेद, गाय, ब्राह्मण, साधु, धर्म और मुझसे द्वेष करने लगता है, तब शीघ्र ही उसका विनाश हो जाता है॥ २७॥ जब यह अपने वैरहीन, शान्त और महात्मा पुत्र प्रह्लादसे द्रोह करेगा—उसका अनिष्ट करना चाहेगा, तब वरके कारण शक्तिसम्पन्न होनेपर भी इसे मैं अवश्य मार डालूँगा।'॥ २८॥

नारद उवाच

इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम्॥ २९

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः॥ ३०

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकः प्रियसुहृत्तमः॥ ३१

दासवत्संनतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः।
भ्रातृवत्सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः॥ ३२

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः
श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक्।
दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा
प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः॥ ३३

यस्मिन्महद्गुणा राजन् गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः।
न तेऽधुनापिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे॥ ३४

यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप।
प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः॥ ३५

नारदजी कहते हैं—सबके हृदयमें ज्ञानका संचार करनेवाले भगवान्‌ने जब देवताओंको यह आदेश दिया, तब वे उन्हें प्रणाम करके लौट आये। उनका सारा उद्वेग मिट गया और उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि हिरण्यकशिपु मर गया॥ २९॥

युधिष्ठिर! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके बड़े ही विलक्षण चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद यों तो सबसे छोटे थे, परन्तु गुणोंमें सबसे बड़े थे। वे बड़े संतसेवी थे॥ ३०॥ ब्राह्मणभक्त, सौम्यस्वभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय थे तथा समस्त प्राणियोंके साथ अपने ही समान समताका बर्ताव करते और सबके एकमात्र प्रिय और सच्चे हितैषी थे॥ ३१॥ बड़े लोगोंके चरणोंमें सेवककी तरह झुककर रहते थे। गरीबोंपर पिताके समान स्नेह रखते थे। बराबरीवालोंसे भाईके समान प्रेम करते और गुरुजनोंमें भगवद्भाव रखते थे। विद्या, धन, सौन्दर्य और कुलीनतासे सम्पन्न होनेपर भी घमंड और हेकड़ी उन्हें छूतक नहीं गयी थी॥ ३२॥ बड़े-बड़े दुःखोंमें भी वे तनिक भी घबराते न थे। लोक-परलोकके विषयोंको उन्होंने देखा-सुना तो बहुत था, परन्तु वे उन्हें निःसार और असत्य समझते थे। इसलिये उनके मनमें किसी भी वस्तुकी लालसा न थी। इन्द्रिय, प्राण, शरीर और मन उनके वशमें थे। उनके चित्तमें कभी किसी प्रकारकी कामना नहीं उठती थी। जन्मसे असुर होनेपर भी उनमें आसुरी सम्पत्तिका लेश भी नहीं था॥ ३३॥ जैसे भगवान्‌के गुण अनन्त हैं, वैसे ही प्रह्लादके श्रेष्ठ गुणोंकी भी कोई सीमा नहीं है। महात्मालोग सदासे उनका वर्णन करते और उन्हें अपनाते आये हैं। तथापि वे आज भी ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं॥ ३४॥ युधिष्ठिर! यों तो देवता उनके शत्रु हैं; परन्तु फिर भी भक्तोंका चरित्र सुननेके लिये जब उन लोगोंकी सभा होती है, तब वे दूसरे भक्तोंको प्रह्लादके समान कहकर उनका सम्मान करते हैं। फिर आप-जैसे अजातशत्रु भगवद्भक्त उनका आदर करेंगे, इसमें तो सन्देह ही क्या है॥ ३५॥

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः॥ ३६

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्॥ ३७

आसीनः पर्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिबन् ब्रुवन्।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः॥ ३८

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥ ३९

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥ ४०

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः॥ ४१

स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
र्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनान्यमनःशमं व्यधात्॥ ४२

उनकी महिमाका वर्णन करनेके लिये अगणित गुणोंके कहने-सुननेकी आवश्यकता नहीं। केवल एक ही गुण—भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें स्वाभाविक, जन्मजात प्रेम उनकी महिमाको प्रकट करनेके लिये पर्याप्त है॥ ३६॥

युधिष्ठिर! प्रह्लाद बचपनमें ही खेल-कूद छोड़कर भगवान्के ध्यानमें जडवत् तन्मय हो जाया करते। भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रहरूप ग्रहने उनके हृदयको इस प्रकार खींच लिया था कि उन्हें जगत्की कुछ सुध-बुध ही न रहती॥ ३७॥ उन्हें ऐसा जान पड़ता कि भगवान् मुझे अपनी गोदमें लेकर आलिंगन कर रहे हैं। इसलिये उन्हें सोते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते और बातचीत करते समय भी इन बातोंका ध्यान बिलकुल न रहता॥ ३८॥ कभी-कभी भगवान् मुझे छोड़कर चले गये, इस भावनामें उनका हृदय इतना डूब जाता कि वे जोर-जोरसे रोने लगते। कभी मन-ही-मन उन्हें अपने सामने पाकर आनन्दोद्रेकसे ठठाकर हँसने लगते। कभी उनके ध्यानके मधुर आनन्दका अनुभव करके जोरसे गाने लगते॥ ३९॥ वे कभी उत्सुक हो बेसुरा चिल्ला पड़ते। कभी-कभी लोक-लज्जाका त्याग करके प्रेममें छककर नाचने भी लगते थे। कभी-कभी उनकी लीलाके चिन्तनमें इतने तल्लीन हो जाते कि उन्हें अपनी याद ही न रहती, उन्हींका अनुकरण करने लगते॥ ४०॥ कभी भीतर-ही-भीतर भगवान्का कोमल संस्पर्श अनुभव करके आनन्दमें मग्न हो जाते और चुपचाप शान्त होकर बैठ रहते। उस समय उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता। अधखुले नेत्र अविचल प्रेम और आनन्दके आँसुओंसे भरे रहते॥ ४१॥ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी यह भक्ति अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओंके संगसे ही प्राप्त होती है। इसके द्वारा वे स्वयं तो परमानन्दमें मग्न रहते ही थे; जिन बेचारोंका मन कुसंगके कारण अत्यन्त दीन-हीन हो रहा था, उन्हें भी बार-बार शान्ति प्रदान करते थे॥ ४२॥

तस्मिन्महाभागवते महाभागे महात्मनि।
हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे॥ ४३

युधिष्ठिर! प्रह्लाद भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त, परम भाग्यवान् और ऊँची कोटिके महात्मा थे। हिरण्यकशिपु ऐसे साधु पुत्रको भी अपराधी बतलाकर उनका अनिष्ट करनेकी चेष्टा करने लगा॥ ४३॥

युधिष्ठिर उवाच

देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत।
यदात्मजाय शुद्धाय पितादात् साधवे ह्यघम्॥ ४४

पुत्रान् विप्रतिकूलान् स्वान् पितरः पुत्रवत्सलाः।
उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो यथा॥ ४५

किमुतानुवशान् साधूंस्तादृशान् गुरुदेवतान्।
एतत् कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो।
पितुः पुत्राय यद् द्वेषो मरणाय प्रयोजितः॥ ४६

युधिष्ठिरने पूछा—नारदजी! आपका व्रत अखण्ड है। अब हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि हिरण्यकशिपुने पिता होकर भी ऐसे शुद्धहृदय महात्मा पुत्रसे द्रोह क्यों किया॥ ४४॥ पिता तो स्वभावसे ही अपने पुत्रोंसे प्रेम करते हैं। यदि पुत्र कोई उलटा काम करता है, तो वे उसे शिक्षा देनेके लिये ही डाँटते हैं, शत्रुकी तरह वैर-विरोध तो नहीं करते॥ ४५॥

फिर प्रह्लादजी-जैसे अनुकूल, शुद्धहृदय एवं गुरुजनोंमें भगवद्भाव करनेवाले पुत्रोंसे भला, कोई द्वेष कर ही कैसे सकता है। नारदजी! आप सब कुछ जानते हैं। हमें यह जानकर बड़ा कौतूहल हो रहा है कि पिताने द्वेषके कारण पुत्रको मार डालना चाहा। आप कृपा करके मेरा यह कुतूहल शान्त कीजिये॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरिते चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादजीके वधका प्रयत्न

नारद उवाच

पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः।
शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके॥ १

तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम्।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान्॥ २

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! दैत्योंने भगवान् श्रीशुक्राचार्यजीको अपना पुरोहित बनाया था। उनके दो पुत्र थे—शण्ड और अमर्क। वे दोनों राजमहलके पास ही रहकर हिरण्यकशिपुके द्वारा भेजे हुए नीतिनिपुण बालक प्रह्लादको और दूसरे पढ़ानेयोग्य दैत्य-बालकोंको राजनीति, अर्थनीति आदि पढ़ाया करते थे॥ १-२॥

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनु पपाठ च।
न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम्॥ ३

प्रह्लाद गुरुजीका पढ़ाया हुआ पाठ सुन लेते थे और उसे ज्यों-का-त्यों उन्हें सुना भी दिया करते थे। किन्तु वे उसे मनसे अच्छा नहीं समझते थे। क्योंकि उस पाठका मूल आधार था अपने और परायेका झूठा आग्रह॥ ३॥

एकदासुरराट् पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान्॥ ४

प्रह्लाद उवाच

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥ ५

नारद उवाच

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः।
जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः॥ ६

सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः।
विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा॥ ७

गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः।
प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः॥ ८

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः॥ ९

बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत्।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन॥ १०

प्रह्लाद उवाच

स्वः परश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः॥ ११

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती॥ १२

युधिष्ठिर! एक दिन हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको बड़े प्रेमसे गोदमें लेकर पूछा—'बेटा! बताओ तो सही, तुम्हें कौन-सी बात अच्छी लगती है?'॥ ४॥

प्रह्लादजीने कहा—पिताजी! संसारके प्राणी 'मैं' और 'मेरे' के झूठे आग्रहमें पड़कर सदा ही अत्यन्त उद्विग्न रहते हैं। ऐसे प्राणियोंके लिये मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने अधःपतनके मूल कारण, घाससे ढके हुए अँधेरे कूएँके समान इस घरको छोड़कर वनमें चले जायँ और भगवान् श्रीहरिकी शरण ग्रहण करें॥ ५॥

नारदजी कहते हैं—प्रह्लादजीके मुँहसे शत्रुपक्षकी प्रशंसासे भरी बात सुनकर हिरण्यकशिपु ठठाकर हँस पड़ा। उसने कहा—'दूसरोंके बहकानेसे बच्चोंकी बुद्धि यों ही बिगड़ जाया करती है॥ ६॥ जान पड़ता है गुरुजीके घरपर विष्णुके पक्षपाती कुछ ब्राह्मण वेष बदलकर रहते हैं। बालककी भलीभाँति देख-रेख की जाय, जिससे अब इसकी बुद्धि बहकने न पाये॥ ७॥

जब दैत्योंने प्रह्लादको गुरुजीके घर पहुँचा दिया, तब पुरोहितोंने उनको बहुत पुचकारकर और फुसलाकर बड़ी मधुर वाणीसे पूछा॥ ८॥ बेटा प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। ठीक-ठीक बतलाना। देखो, झूठ न बोलना। यह तुम्हारी बुद्धि उलटी कैसे हो गयी? और किसी बालककी बुद्धि तो ऐसी नहीं हुई॥ ९॥ कुलनन्दन प्रह्लाद! बताओ तो बेटा! हम तुम्हारे गुरुजन यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारी बुद्धि स्वयं ऐसी हो गयी या किसीने सचमुच तुमको बहका दिया है?॥ १०॥

प्रह्लादजीने कहा—जिन मनुष्योंकी बुद्धि मोहसे ग्रस्त हो रही है, उन्हींको भगवान्की मायासे यह झूठा दुराग्रह होता देखा गया है कि यह 'अपना' है और यह 'पराया'। उन मायापति भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ॥ ११॥ वे भगवान् ही जब कृपा करते हैं, तब मनुष्योंकी पाशविक बुद्धि नष्ट होती है। इस पशुबुद्धिके कारण ही तो 'यह मैं हूँ और यह मुझसे भिन्न है' इस प्रकारका झूठा भेदभाव पैदा होता है॥ १२॥

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-
दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो
ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम्॥ १३

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥ १४

नारद उवाच

एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः।
तं निर्भर्त्स्य[1]ाथ कुपितः स दीनो राजसेवकः॥ १५

आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः।
कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः॥ १६

दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः।
[2]यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः॥ १७

इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः।
प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम्॥ १८

तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम्।
दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम्॥ १९

पादयोः[3] पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषासुरः।
परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृतिम्॥ २०

वही परमात्मा यह आत्मा है। अज्ञानीलोग अपने और परायेका भेद करके उसीका वर्णन किया करते हैं। उनका न जानना भी ठीक ही है; क्योंकि उसके तत्त्वको जानना बहुत कठिन है और ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े वेदज्ञ भी उसके विषयमें मोहित हो जाते हैं। वही परमात्मा आपलोगोंके शब्दोंमें मेरी बुद्धि 'बिगाड़' रहा है॥ १३॥ गुरुजी! जैसे चुम्बकके पास लोहा स्वयं खिंच आता है, वैसे ही चक्रपाणिभगवान्की स्वच्छन्द इच्छाशक्तिसे मेरा चित्त भी संसारसे अलग होकर उनकी ओर बरबस खिंच जाता है॥ १४॥

नारदजी कहते हैं—परमज्ञानी प्रह्लाद अपने गुरुजीसे इतना कहकर चुप हो गये। पुरोहित बेचारे राजाके सेवक एवं पराधीन थे। वे डर गये। उन्होंने क्रोधसे प्रह्लादको झिड़क दिया और कहा— ॥ १५॥ 'अरे, कोई मेरा बेंत तो लाओ। यह हमारी कीर्तिमें कलंक लगा रहा है। इस दुर्बुद्धि कुलांगारको ठीक करनेके लिये चौथा उपाय दण्ड ही उपयुक्त होगा॥ १६॥ दैत्यवंशके चन्दनवनमें यह काँटेदार बबूल कहाँसे पैदा हुआ? जो विष्णु इस वनकी जड़ काटनेमें कुल्हाड़ेका काम करते हैं, यह नादान बालक उन्हींकी बेंट बन रहा है; सहायक हो रहा है॥ १७॥ इस प्रकार गुरुजीने तरह-तरहसे डाँट-डपटकर प्रह्लादको धमकाया और अर्थ, धर्म एवं कामसम्बन्धी शिक्षा दी॥ १८॥ कुछ समयके बाद जब गुरुजीने देखा कि प्रह्लादने साम, दान, भेद और दण्डके सम्बन्धकी सारी बातें जान ली हैं, तब वे उन्हें उनकी माके पास ले गये। माताने बड़े लाड़-प्यारसे उन्हें नहला-धुलाकर अच्छी तरह गहने कपड़ोंसे सजा दिया। इसके बाद वे उन्हें हिरण्यकशिपुके पास ले गये॥ १९॥ प्रह्लाद अपने पिताके चरणोंमें लोट गये। हिरण्यकशिपुने उन्हें आशीर्वाद दिया और दोनों हाथोंसे उठाकर बहुत देरतक गलेसे लगाये रखा। उस समय दैत्यराजका हृदय आनन्दसे भर रहा था॥ २०॥

१. प्रा० पा०—तं सुनिर्भर्त्स्य कु०। २. प्रा० पा०—तन्मू०। ३. प्रा० पा०—प्रणतं पादयोर्बालं।

आरोप्याङ्कमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः।
आसिञ्चन् विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर॥ २१

हिरण्यकशिपुरुवाच

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम्।
कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान्॥ २२

प्रह्राद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ २३

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥ २४

निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा।
गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः॥ २५

ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयतासता।
असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते॥ २६

सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः।
तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव॥ २७

गुरुपुत्र उवाच

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्
नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः॥ २८

नारद उवाच

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम्।
न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः॥ २९

युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपुने प्रसन्नमुख प्रह्लादको अपनी गोदमें बैठाकर उनका सिर सूँघा। उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू गिर-गिरकर प्रह्लादके शरीरको भिगोने लगे। उसने अपने पुत्रसे पूछा॥ २१॥

हिरण्यकशिपुने कहा— चिरंजीव बेटा प्रह्लाद! इतने दिनोंमें तुमने गुरुजीसे जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमेंसे कोई अच्छी-सी बात हमें सुनाओ॥ २२॥

प्रह्लादजीने कहा— पिताजी! विष्णुभगवान्‌की भक्तिके नौ भेद हैं—भगवान्‌के गुण-लीला-नाम आदिका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उनके रूप-नाम आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। यदि भगवान्‌के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय, तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ॥ २३-२४॥ प्रह्लादकी यह बात सुनते ही क्रोधके मारे हिरण्यकशिपुके ओठ फड़कने लगे। उसने गुरुपुत्रसे कहा—॥ २५॥ रे नीच ब्राह्मण! यह तेरी कैसी करतूत है; दुर्बुद्धि! तूने मेरी कुछ भी परवाह न करके इस बच्चेको कैसी निस्सार शिक्षा दे दी? अवश्य ही तू हमारे शत्रुओंके आश्रित है॥ २६॥ संसारमें ऐसे दुष्टोंकी कमी नहीं है, जो मित्रका बाना धारणकर छिपे-छिपे शत्रुका काम करते हैं। परन्तु उनकी कलई ठीक वैसे ही खुल जाती है, जैसे छिपकर पाप करनेवालोंका पाप समयपर रोगके रूपमें प्रकट होकर उनकी पोल खोल देता है॥ २७॥

गुरुपुत्रने कहा— इन्द्रशत्रो! आपका पुत्र जो कुछ कह रहा है, वह मेरे या और किसीके बहकानेसे नहीं कह रहा है। राजन्! यह तो इसकी जन्मजात स्वाभाविक बुद्धि है। आप क्रोध शान्त कीजिये। व्यर्थमें हमें दोष न लगाइये॥ २८॥

नारदजी कहते हैं— युधिष्ठिर! जब गुरुजीने ऐसा उत्तर दिया, तब हिरण्यकशिपुने फिर प्रह्लादसे पूछा—'क्यों रे! यदि तुझे ऐसी अहित करनेवाली खोटी बुद्धि गुरुमुखसे नहीं मिली तो बता, कहाँसे प्राप्त हुई?'॥ २९॥

प्रह्राद उवाच

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥ ३०

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना
वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥ ३१

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां[१] न वृणीत यावत्॥ ३२

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले॥ ३३

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूत[२]लोचनः।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः॥ ३४

अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः।
पितृव्यहन्तुर्यः पादौ विष्णोर्दासवदर्चति॥ ३५

विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु करिष्यत्यसमञ्जसः।
सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः॥ ३६

प्रह्लादजीने कहा—पिताजी! संसारके लोग तो पिसे हुएको पीस रहे हैं, चबाये हुएको चबा रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण वे भोगे हुए विषयोंको ही फिर-फिर भोगनेके लिये संसाररूप घोर नरककी ओर जा रहे हैं। ऐसे गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि अपने-आप किसीके सिखानेसे अथवा अपने ही जैसे लोगोंके संगसे भगवान् श्रीकृष्णमें नहीं लगती ॥ ३० ॥ जो इन्द्रियोंसे दीखनेवाले बाह्य विषयोंको परम इष्ट समझकर मूर्खतावश अन्धोंके पीछे अन्धोंकी तरह गड्ढेमें गिरनेके लिये चले जा रहे हैं और वेदवाणीरूप रस्सीके—काम्यकर्मोंके दीर्घ बन्धनमें बँधे हुए हैं, उनको यह बात मालूम नहीं कि हमारे स्वार्थ और परमार्थ भगवान् विष्णु ही हैं—उन्हींकी प्राप्तिसे हमें सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है॥ ३१ ॥ जिनकी बुद्धि भगवान्‌के चरणकमलोंका स्पर्श कर लेती है, उनके जन्म-मृत्युरूप अनर्थका सर्वथा नाश हो जाता है। परन्तु जो लोग अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओंके चरणोंकी धूलमें स्नान नहीं कर लेते, उनकी बुद्धि काम्यकर्मोंका पूरा सेवन करनेपर भी भगवच्चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती॥ ३२ ॥

प्रह्लादजी इतना कहकर चुप हो गये। हिरण्यकशिपुने क्रोधके मारे अन्धा होकर उन्हें अपनी गोदसे उठाकर भूमिपर पटक दिया॥ ३३ ॥ प्रह्लादकी बातको वह सह न सका। रोषके मारे उसके नेत्र लाल हो गये। वह कहने लगा—'दैत्यो! इसे यहाँसे बाहर ले जाओ और तुरंत मार डालो। यह मार ही डालने योग्य है॥ ३४॥ देखो तो सही—जिसने इसके चाचाको मार डाला, अपने सुहृद्-स्वजनोंको छोड़कर यह नीच दासके समान उसी विष्णुके चरणोंकी पूजा करता है! हो-न-हो, इसके रूपमें मेरे भाईको मारनेवाला विष्णु ही आ गया है॥ ३५॥ अब यह विश्वासके योग्य नहीं है। पाँच बरसकी अवस्थामें ही जिसने अपने माता-पिताके दुस्त्यज वात्सल्यस्नेहको भुला दिया—वह कृतघ्न भला विष्णुका ही क्या हित करेगा॥ ३६ ॥

१. प्रा० पा०—नानामवृणीत। २. प्रा० पा०—कषायीकृत०।

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं
स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः ।
छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं
शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात्॥ ३७

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः ।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम्॥ ३८

नैर्ऋतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः ।
तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः॥ ३९

नदन्तो भैरवान्नादांश्छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।
आसीनं चाहनन् शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु॥ ४०

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः॥ ४१

प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः ।
चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठिर॥ ४२

दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च[१] अभिचारावपातनैः ।
मायाभिः संनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः॥ ४३

कोई दूसरा भी यदि औषधके समान भलाई करे तो वह एक प्रकारसे पुत्र ही है। पर यदि अपना पुत्र भी अहित करने लगे तो रोगके समान वह शत्रु है। अपने शरीरके ही किसी अंगसे सारे शरीरको हानि होती हो तो उसको काट डालना चाहिये। क्योंकि उसे काट देनेसे शेष शरीर सुखसे जी सकता है॥ ३७॥ यह स्वजनका बाना पहनकर मेरा कोई शत्रु ही आया है। जैसे योगीकी भोगलोलुप इन्द्रियाँ उसका अनिष्ट करती हैं, वैसे ही यह मेरा अहित करनेवाला है। इसलिये खाने, सोने, बैठने आदिके समय किसी भी उपायसे इसे मार डालो'॥ ३८॥

जब हिरण्यकशिपुने दैत्योंको इस प्रकार आज्ञा दी, तब तीखी दाढ़, विकराल वदन, लाल-लाल दाढ़ी-मूँछ एवं केशोंवाले दैत्य हाथोंमें त्रिशूल ले-लेकर 'मारो, काटो'—इस प्रकार बड़े जोरसे चिल्लाने लगे। प्रह्लाद चुपचाप बैठे हुए थे और दैत्य उनके सभी मर्मस्थानोंमें शूलसे घाव कर रहे थे॥ ३९-४०॥

उस समय प्रह्लादजीका चित्त उन परमात्मामें लगा हुआ था, जो मन-वाणीके अगोचर, सर्वात्मा, समस्त शक्तियोंके आधार एवं परब्रह्म हैं। इसलिये उनके सारे प्रहार ठीक वैसे ही निष्फल हो गये, जैसे भाग्यहीनोंके बड़े-बड़े उद्योग-धंधे व्यर्थ होते हैं॥ ४१॥

युधिष्ठिर! जब शूलोंकी मारसे प्रह्लादके शरीरपर कोई असर नहीं हुआ, तब हिरण्यकशिपुको बड़ी शंका हुई। अब वह प्रह्लादको मार डालनेके लिये बड़े हठसे भाँति-भाँतिके उपाय करने लगा॥ ४२॥

उसने उन्हें बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर साँपोंसे डँसवाया, पुरोहितोंसे कृत्या राक्षसी उत्पन्न करायी, पहाड़की चोटीसे नीचे डलवा दिया, शम्बरासुरसे अनेकों प्रकारकी मायाका प्रयोग करवाया, अँधेरी कोठरियोंमें बंद करा दिया, विष पिलाया और खाना बंद कर दिया॥ ४३॥

१. प्रा० पा०—शूकेन्द्रैरभिचाराभिपात०।

हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम्।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत॥ ४४

बर्फीली जगह, दहकती हुई आग और समुद्रमें बारी-बारीसे डलवाया, आँधीमें छोड़ दिया तथा पर्वतोंके नीचे दबवा दिया; परन्तु इनमेंसे किसी भी उपायसे वह अपने पुत्र निष्पाप प्रह्लादका बाल भी बाँका न कर सका। अपनी विवशता देखकर हिरण्यकशिपुको बड़ी चिन्ता हुई। उसे प्रह्लादको मारनेके लिये और कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा॥ ४४॥

एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः।
तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा॥ ४५

वह सोचने लगा—'इसे मैंने बहुत कुछ बुरा-भला कहा, मार डालनेके बहुत-से उपाय किये। परन्तु यह मेरे द्रोह और दुर्व्यवहारोंसे बिना किसीकी सहायतासे अपने प्रभावसे ही बचता गया॥ ४५॥

वर्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम्।
न विस्मरति मेऽनार्यं शुनःशेप इव प्रभुः॥ ४६

यह बालक होनेपर भी समझदार है और मेरे पास ही निःशंक भावसे रहता है। हो-न-हो इसमें कुछ सामर्थ्य अवश्य है। जैसे शुनःशेप* अपने पिताकी करतूतोंसे उसका विरोधी हो गया था, वैसे ही यह भी मेरे किये अपकारोंको न भूलेगा॥ ४६॥

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः।
नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा॥ ४७

न तो यह किसीसे डरता है और न इसकी मृत्यु ही होती है। इसकी शक्तिकी थाह नहीं है। अवश्य ही इसके विरोधसे मेरी मृत्यु होगी। सम्भव है, न भी हो'॥ ४७॥

इति तं चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम्।
शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः॥ ४८

इस प्रकार सोच-विचार करते-करते उसका चेहरा कुछ उतर गया। शुक्राचार्यके पुत्र शण्ड और अमर्कने जब देखा कि हिरण्यकशिपु तो मुँह लटकाकर बैठा हुआ है, तब उन्होंने एकान्तमें जाकर उससे यह बात कही— ॥ ४८॥

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवो-
विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम्।
न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्महे[१]
न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम्॥ ४९

'स्वामी! आपने अकेले ही तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त कर ली। आपके भौंहें टेढ़ी करनेपर ही सारे लोकपाल काँप उठते हैं। हमारे देखनेमें तो आपके लिये चिन्ताकी कोई बात नहीं है। भला, बच्चोंके खिलवाड़में भी भलाई-बुराई सोचनेकी कोई बात है॥ ४९॥

१. प्रा० पा०—विद्महे।

* शुनःशेप अजीगर्तका मँझला पुत्र था। उसे पिताने वरुणके यज्ञमें बलि देनेके लिये हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहिताश्वके हाथ बेच दिया था तब उसके मामा विश्वामित्रजीने उसकी रक्षा की; और वह अपने पितासे विरुद्ध होकर उनके विपक्षी विश्वामित्रजीके ही गोत्रमें हो गया। यह कथा आगे 'नवम स्कन्ध' के सातवें अध्यायमें आवेगी।

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा
निधेहि भीतो न पलायते यथा।
बुद्धिश्च पुंसो वयसाऽऽर्यसेवया
यावद् गुरुर्भार्गव आगमिष्यति॥ ५०

जबतक हमारे पिता शुक्राचार्यजी नहीं आ जाते, तबतक यह डरकर कहीं भाग न जाय। इसलिये इसे वरुणके पाशोंसे बाँध रखिये। प्राय: ऐसा होता है कि अवस्थाकी वृद्धिके साथ-साथ और गुरुजनोंकी सेवासे बुद्धि सुधर जाया करती है'॥ ५०॥

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत्।
धर्मा ह्यस्योपदेष्टव्या राज्ञां ये गृहमेधिनाम्॥ ५१

धर्ममर्थं च कामं च नितरां चानुपूर्वशः।
प्रह्लादायोचतू राजन् प्रश्रितावनताय च॥ ५२

यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम्।
न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम्॥ ५३

यदाऽऽचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु।
वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः॥ ५४

अथ तान् श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः।
उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव॥ ५५

ते तु तद्गौरवात्सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः।
बाला न दूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः॥ ५६

पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः।
तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः॥ ५७

हिरण्यकशिपुने 'अच्छा, ठीक है' कहकर गुरुपुत्रोंकी सलाह मान ली और कहा कि 'इसे उन धर्मोंका उपदेश करना चाहिये, जिनका पालन गृहस्थ नरपति किया करते हैं'॥ ५१॥ युधिष्ठिर! इसके बाद पुरोहित उन्हें लेकर पाठशालामें गये और क्रमशः धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थोंकी शिक्षा देने लगे। प्रह्लाद वहाँ अत्यन्त नम्र सेवककी भाँति रहते थे॥ ५२॥ परन्तु गुरुओंकी वह शिक्षा प्रह्लादको अच्छी न लगी। क्योंकि गुरुजी उन्हें केवल अर्थ, धर्म और कामकी ही शिक्षा देते थे। यह शिक्षा केवल उन लोगोंके लिये है, जो राग-द्वेष आदि द्वन्द्व और विषयभोगोंमें रस ले रहे हों॥ ५३॥ एक दिन गुरुजी गृहस्थीके कामसे कहीं बाहर चले गये थे। छुट्टी मिल जानेके कारण समवयस्क बालकोंने प्रह्लादजीको खेलनेके लिये पुकारा॥ ५४॥ प्रह्लादजी परम ज्ञानी थे, उनका प्रेम देखकर उन्होंने उन बालकोंको ही बड़ी मधुर वाणीसे पुकारकर अपने पास बुला लिया। उनसे उनके जन्म-मरणकी गति भी छिपी नहीं थी। उनपर कृपा करके हँसते हुए-से उन्हें उपदेश करने लगे॥ ५५॥ युधिष्ठिर! वे सब अभी बालक ही थे, इसलिये राग-द्वेषपरायण विषयभोगी पुरुषोंके उपदेशोंसे और चेष्टाओंसे उनकी बुद्धि अभी दूषित नहीं हुई थी। इसीसे, और प्रह्लादजीके प्रति आदर-बुद्धि होनेसे उन सबने अपनी खेल-कूदकी सामग्रियोंको छोड़ दिया तथा प्रह्लादजीके पास जाकर उनके चारों ओर बैठ गये और उनके उपदेशमें मन लगाकर बड़े प्रेमसे एकटक उनकी ओर देखने लगे। भगवान्के परम प्रेमी भक्त प्रह्लादका हृदय उनके प्रति करुणा और मैत्रीके भावसे भर गया तथा वे उनसे कहने लगे॥ ५६-५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रह्लादजीका असुर-बालकोंको उपदेश

प्रह्लाद उवाच

कौमार[१] आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥ १

यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत्॥ २

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः॥ ३

तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥ ४

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥ ५

प्रह्लादजीने कहा—मित्रो! इस संसारमें मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय; इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको बुढ़ापे या जवानीके भरोसे न रहकर बचपनमें ही भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले साधनोंका अनुष्ठान कर लेना चाहिये॥ १॥ इस मनुष्य-जन्ममें श्रीभगवान्‌के चरणोंकी शरण लेना ही जीवनकी एकमात्र सफलता है। क्योंकि भगवान् समस्त प्राणियोंके स्वामी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं॥ २॥ भाइयो! इन्द्रियोंसे जो सुख भोगा जाता है, वह तो—जीव चाहे जिस योनिमें रहे—प्रारब्धके अनुसार सर्वत्र वैसे ही मिलता रहता है, जैसे बिना किसी प्रकारका प्रयत्न किये, निवारण करनेपर भी दुःख मिलता है॥ ३॥ इसलिये सांसारिक सुखके उद्देश्यसे प्रयत्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्वयं मिलनेवाली वस्तुके लिये परिश्रम करना आयु और शक्तिको व्यर्थ गँवाना है। जो इनमें उलझ जाते हैं, उन्हें भगवान्‌के परम कल्याणस्वरूप चरणकमलोंकी प्राप्ति नहीं होती॥ ४॥ हमारे सिरपर अनेकों प्रकारके भय सवार रहते हैं। इसलिये यह शरीर—जो भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है—जबतक रोग-शोकादिग्रस्त होकर मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये॥ ५॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें प्रह्लादके वाक्यमें '**कौमार आचरेत्प्राज्ञो**' इस श्लोकके पहले पाँच श्लोक और अधिक हैं। ये पाँच श्लोक भागवतके विख्यात टीकाकार श्रीविजयध्वजजीने भी माने हैं और उन्होंने उनपर टीका भी लिखी है। प्राचीन प्रतिका लेख कहीं-कहीं अस्पष्ट और खण्डित होनेके कारण ये पाँच श्लोक शुद्ध रूपमें नहीं लिये जा सके, अतः उनको विजयध्वजकी टीकाके अनुसार शुद्ध करके यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

हन्तार्भका मे शृणुत वचो वः सर्वतः शिवम्। वयस्यान् पश्यत मृतान् क्रीडान्धा मा प्रमाद्यथ॥
न पुरा विवशं बाला आत्मनोऽर्थे प्रियैषिणः। गुरूक्तमपि न ग्राह्यं यदनर्थेऽर्थकल्पनम्॥
यदुक्त्या न प्रबुद्ध्येत सुप्तस्त्वज्ञाननिद्रया। न श्रद्दध्यान्मतं तस्य यथान्धो ह्यन्धनायकः॥
कः शत्रुः क उदासीनः किं मित्रं चेह आत्मनः। भवत्स्वपि नयैः किं स्याद्दैवं सम्पद्विपत्पदम्॥
यो न हिंस्याद्धर्मकाममात्मानं स्वजने वशः। पुनः श्रीलोकयोर्हेतुः स मुक्तान्ध्योऽतिदुर्लभः॥

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः॥ ६

मनुष्यकी पूरी आयु सौ वर्षकी है। जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर लिया है, उनकी आयुका आधा हिस्सा तो यों ही बीत जाता है। क्योंकि वे रातमें घोर तमोगुण—अज्ञानसे ग्रस्त होकर सोते रहते हैं॥ ६॥

मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः।
जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः॥ ७

बचपनमें उन्हें अपने हित-अहितका ज्ञान नहीं रहता, कुछ बड़े होनेपर कुमार अवस्थामें वे खेल-कूदमें लग जाते हैं। इस प्रकार बीस वर्षका तो पता ही नहीं चलता। जब बुढ़ापा शरीरको ग्रस लेता है, तब अन्तके बीस वर्षोंमें कुछ करने-धरनेकी शक्ति ही नहीं रह जाती॥ ७॥

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि॥ ८

रह गयी बीचकी कुछ थोड़ी-सी आयु। उसमें कभी न पूरी होनेवाली बड़ी-बड़ी कामनाएँ हैं, बलात् पकड़ रखनेवाला मोह है और घर-द्वारकी वह आसक्ति है, जिससे जीव इतना उलझ जाता है कि उसे कुछ कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान ही नहीं रहता। इस प्रकार बची-खुची आयु भी हाथसे निकल जाती है॥ ८॥

को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम्॥ ९

दैत्यबालको! जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, ऐसा कौन-सा पुरुष होगा, जो घर-गृहस्थीमें आसक्त और माया-ममताकी मजबूत फाँसीमें फँसे हुए अपने-आपको उससे छुड़ानेका साहस कर सके॥ ९॥

कोन्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक्॥ १०

जिसे चोर, सेवक एवं व्यापारी अपने अत्यन्त प्यारे प्राणोंकी भी बाजी लगाकर संग्रह करते हैं और इसलिये उन्हें जो प्राणोंसे भी अधिक वांछनीय है—उस धनकी तृष्णाको भला कौन त्याग सकता है॥ १०॥

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान्।
सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनां
कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः॥ ११

जो अपनी प्रियतमा पत्नीके एकान्त सहवास, उसकी प्रेमभरी बातों और मीठी-मीठी सलाहपर अपनेको निछावर कर चुका है, भाई-बन्धु और मित्रोंके स्नेह-पाशमें बँध चुका है और नन्हें-नन्हें शिशुओंकी तोतली बोलीपर लुभा चुका है—भला, वह उन्हें कैसे छोड़ सकता है॥ ११॥

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या[1]
भ्रातॄन् स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ।
गृहान् मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च
वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान्॥ १२

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभादवितृप्तकामः।
औपस्थ्यजैह्व्यं बहु मन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः॥ १३

कुटुम्बपोषाय वियन् निजायु-
र्न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः॥ १४

वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः।
प्रेत्येह चाथाप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी॥ १५

विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णन्स्वलोकाय न कल्पते वै।
यः[2] स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः॥ १६

जो अपनी ससुराल गयी हुई प्रिय पुत्रियों, पुत्रों, भाई-बहिनों और दीन अवस्थाको प्राप्त पिता-माता, बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य सामग्रियोंसे सजे हुए घरों, कुलपरम्परागत जीविकाके साधनों तथा पशुओं और सेवकोंके निरन्तर स्मरणमें रम गया है, वह भला-उन्हें कैसे छोड़ सकता है॥ १२॥ जो जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रियके सुखोंको ही सर्वस्व मान बैठा है, जिसकी भोगवासनाएँ कभी तृप्त नहीं होतीं, जो लोभवश कर्म-पर-कर्म करता हुआ रेशमके कीड़ेकी तरह अपनेको और भी कड़े बन्धनमें जकड़ता जा रहा है और जिसके मोहकी कोई सीमा नहीं है—वह उनसे किस प्रकार विरक्त हो सकता है और कैसे उनका त्याग कर सकता है॥ १३॥ यह मेरा कुटुम्ब है, इस भावसे उसमें वह इतना रम जाता है कि उसीके पालन-पोषणके लिये अपनी अमूल्य आयुको गवाँ देता है और उसे यह भी नहीं जान पड़ता कि मेरे जीवनका वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो रहा है। भला, इस प्रमादकी भी कोई सीमा है। यदि इन कामोंमें कुछ सुख मिले तो भी एक बात है; परन्तु यहाँ तो जहाँ-जहाँ वह जाता है, वहीं-वहीं दैहिक, दैविक और भौतिक ताप उसके हृदयको जलाते ही रहते हैं। फिर भी वैराग्यका उदय नहीं होता। कितनी विडम्बना है। कुटुम्बकी ममताके फेरमें पड़कर वह इतना असावधान हो जाता है, उसका मन धनके चिन्तनमें सदा इतना लवलीन रहता है कि वह दूसरेका धन चुरानेके लौकिक-पारलौकिक दोषोंको जानता हुआ भी कामनाओंको वशमें न कर सकनेके कारण इन्द्रियोंके भोगकी लालसासे चोरी कर ही बैठता है॥ १४-१५॥ भाइयो! जो इस प्रकार अपने कुटुम्बियोंके पेट पालनेमें ही लगा रहता है—कभी भगवद्भजन नहीं करता—वह विद्वान् हो, तो भी उसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि अपने-परायेका भेद-भाव रहनेके कारण उसे भी अज्ञानियोंके समान ही तमःप्रधान गति प्राप्त होती है॥ १६॥

१. प्रा० पा०—दुहितॄश्च स्वसॄर्भ्रातॄन् कलत्रान् पित०। २. प्रा० पा०—यत्स्वी०।

यतो न कश्चित् क्व च कुत्रचिद् वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः॥ १७

ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
उपेत नारायणमादिदेवं
स[1] मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः॥ १८

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥ १९

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ[2] महत्सु च॥ २०

गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा[3]।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः॥ २१

प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण[4] च स्वयम्।
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः॥ २२

केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया॥ २३

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥ २४

जो कामिनियोंके मनोरंजनका सामान—उनका क्रीडामृग बन रहा है और जिसने अपने पैरोंमें सन्तानकी बेड़ी जकड़ ली है, वह बेचारा गरीब—चाहे कोई भी हो, कहीं भी हो—किसी भी प्रकारसे अपना उद्धार नहीं कर सकता॥ १७॥ इसलिये भाइयो! तुमलोग विषयासक्त दैत्योंका संग दूरसे ही छोड़ दो और आदिदेव भगवान् नारायणकी शरण ग्रहण करो! क्योंकि जिन्होंने संसारकी आसक्ति छोड़ दी है, उन महात्माओंके वे ही परम प्रियतम और परम गति हैं॥ १८॥

मित्रो! भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये कोई बहुत परिश्रम या प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि वे समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं और सर्वत्र सबकी सत्ताके रूपमें स्वयंसिद्ध वस्तु हैं॥ १९॥

ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक छोटे-बड़े समस्त प्राणियोंमें, पंचभूतोंसे बनी हुई वस्तुओंमें, पंचभूतोंमें, सूक्ष्म तन्मात्राओंमें, महत्तत्त्वमें, तीनों गुणोंमें और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृतिमें एक ही अविनाशी परमात्मा विराजमान हैं। वे ही समस्त सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्योंकी खान हैं॥ २०-२१॥

वे ही अन्तर्यामी द्रष्टाके रूपमें हैं और वे ही दृश्य जगत्के रूपमें भी हैं। सर्वथा अनिर्वचनीय तथा विकल्परहित होनेपर भी द्रष्टा और दृश्य, व्याप्य और व्यापकके रूपमें उनका निर्वचन किया जाता है। वस्तुतः उनमें एक भी विकल्प नहीं है॥ २२॥

वे केवल अनुभवस्वरूप, आनन्दस्वरूप एकमात्र परमेश्वर ही हैं। गुणमयी सृष्टि करनेवाली मायाके द्वारा ही उनका ऐश्वर्य छिप रहा है। इसके निवृत्त होते ही उनके दर्शन हो जाते हैं॥ २३॥

इसलिये तुमलोग अपने दैत्यपनेका, आसुरी सम्पत्तिका त्याग करके समस्त प्राणियोंपर दया करो। प्रेमसे उनकी भलाई करो। इसीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं॥ २४॥

१. प्रा० पा०—संमुक्त०। २. प्रा० पा०—सूक्ष्मेषु च मह०। ३. प्रा० पा०—यथा। ४. प्रा० पा०—कालरूपेण।

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः॥ २५

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥ २६

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्॥ २७

श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम्।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद् देवदर्शनात्॥ २८

दैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्लाद त्वं वयं चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम्।
एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ॥ २९

बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः।
छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विश्रम्भकारणम्॥ ३०

आदिनारायण अनन्तभगवान्‌के प्रसन्न हो जानेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो नहीं मिल जाती? लोक और परलोकके लिये जिन धर्म, अर्थ आदिकी आवश्यकता बतलायी जाती है—वे तो गुणोंके परिणामसे बिना प्रयासके स्वयं ही मिलनेवाले हैं। जब हम श्रीभगवान्‌के चरणामृतका सेवन करने और उनके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेमें लगे हैं, तब हमें मोक्षकी भी क्या आवश्यकता है॥ २५॥ यों शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंका भी वर्णन है। आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, न्याय (तर्कशास्त्र), दण्डनीति और जीविकाके विविध साधन—ये सभी वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं; परन्तु यदि ये अपने परम हितैषी, परम पुरुष भगवान् श्रीहरिको आत्मसमर्पण करनेमें सहायक हैं, तभी मैं इन्हें सत्य (सार्थक) मानता हूँ। अन्यथा ये सब-के-सब निरर्थक हैं॥ २६॥ यह निर्मल ज्ञान जो मैंने तुम लोगोंको बतलाया है, बड़ा ही दुर्लभ है। इसे पहले नर-नारायणने नारदजीको उपदेश किया था और यह ज्ञान उन सब लोगोंको प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने भगवान्‌के अनन्यप्रेमी एवं अकिंचन भक्तोंके चरणकमलोंकी धूलिसे अपने शरीरको नहला लिया है॥ २७॥ यह विज्ञानसहित ज्ञान विशुद्ध भागवतधर्म है। इसे मैंने भगवान्‌का दर्शन करानेवाले देवर्षि नारदजीके मुँहसे ही पहले-पहल सुना था॥ २८॥

प्रह्लादजीके सहपाठियोंने पूछा—प्रह्लादजी! इन दोनों गुरुपुत्रोंको छोड़कर और किसी गुरुको तो न तुम जानते हो और न हम। ये ही हम सब बालकोंके शासक हैं॥ २९॥ तुम एक तो अभी छोटी अवस्थाके हो और दूसरे जन्मसे ही महलमें अपनी माँके पास रहे हो। तुम्हारा महात्मा नारदजीसे मिलना कुछ असंगत-सा जान पड़ता है। प्रियवर! यदि इस विषयमें विश्वास दिलानेवाली कोई बात हो तो तुम उसे कहकर हमारी शंका मिटा दो॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रह्लादजीद्वारा माताके गर्भमें प्राप्त हुए नारदजीके उपदेशका वर्णन

नारद उवाच

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः।
उवाच स्मयमानस्तान्स्मरन् मदनुभाषितम्॥ १

प्रह्लाद उवाच

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम्।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति॥ २

पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः।
पापेन पापोऽभक्षीति वादिनो वासवादयः॥ ३

तेषामति[1]बलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः।
वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतोदिशम्॥ ४

कलत्रपुत्रमित्राप्तान्गृहान्पशुपरिच्छदान् ।
नावेक्षमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः॥ ५

व्यलुम्पन् राजशिबिरममरा जय[2]काङ्क्षिणः।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत्॥ ६

नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव।
यदृच्छयाऽऽगतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि॥ ७

प्राह मैनां सुरपते नेतु[3]मर्हस्यनागसम्।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम्॥ ८

इन्द्र उवाच

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः।
आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः॥ ९

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब दैत्यबालकोंने इस प्रकार प्रश्न किया, तब भगवान्के परम प्रेमी भक्त प्रह्लादजीको मेरी बातका स्मरण हो आया। कुछ मुसकराते हुए उन्होंने उनसे कहा॥ १॥

प्रह्लादजीने कहा—जब हमारे पिताजी तपस्या करनेके लिये मन्दराचलपर चले गये, तब इन्द्रादि देवताओंने दानवोंसे युद्ध करनेका बहुत बड़ा उद्योग किया॥ २॥ वे इस प्रकार कहने लगे कि जैसे चींटियाँ साँपको चाट जाती हैं, वैसे ही लोगोंको सतानेवाले पापी हिरण्यकशिपुको उसका पाप ही खा गया॥ ३॥ जब दैत्य सेनापतियोंको देवताओंकी भारी तैयारीका पता चला, तब उनका साहस जाता रहा। वे उनका सामना नहीं कर सके। मार खाकर स्त्री, पुत्र, मित्र, गुरुजन, महल, पशु और साज-सामानकी कुछ भी चिन्ता न करके वे अपने प्राण बचानेके लिये बड़ी जल्दीमें सब-के-सब इधर-उधर भाग गये॥ ४-५॥ अपनी जीत चाहनेवाले देवताओंने राजमहलमें लूट-खसोट मचा दी। यहाँतक कि इन्द्रने राजरानी मेरी माता कयाधूको भी बन्दी बना लिया॥ ६॥ मेरी मा भयसे घबराकर कुररी पक्षीकी भाँति रो रही थी और इन्द्र उसे बलात् लिये जा रहे थे। दैववश देवर्षि नारद उधर आ निकले और उन्होंने मार्गमें मेरी माको देख लिया॥ ७॥ उन्होंने कहा—'देवराज! यह निरपराध है। इसे ले जाना उचित नहीं। महाभाग! इस सती-साध्वी परनारीका तिरस्कार मत करो। इसे छोड़ दो, तुरंत छोड़ दो!'॥ ८॥

इन्द्रने कहा—इसके पेटमें देवद्रोही हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रभावशाली वीर्य है। प्रसवपर्यन्त यह मेरे पास रहे, बालक हो जानेपर उसे मारकर मैं इसे छोड़ दूँगा॥ ९॥

१. प्रा० पा०—मपि। २. प्रा० पा०—जितकाशिनः। ३. प्रा० पा०—हर्तुम०।

नारद उवाच

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्।
त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली॥ १०

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन्वचः।
अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य[1] दिवं ययौ॥ ११

ततो नो मातरमृषिः समानीय निजाश्रमम्।
आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत् ते भर्तुरागमः॥ १२

तथेत्यवात्सीद् देवर्षेरन्ति साप्यकुतोभया[2]।
यावद् दैत्यपतिर्घोरात् तपसो न न्यवर्तत॥ १३

ऋषिं पर्यचरत् तत्र भक्त्या परमया सती।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये॥ १४

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुर्भयमीश्वरः[3]।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्॥ १५

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः॥ १६

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा॥ १७

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना॥ १८

नारदजीने कहा—'इसके गर्भमें भगवान्‌का साक्षात् परम प्रेमी भक्त और सेवक, अत्यन्त बली और निष्पाप महात्मा है। तुममें उसको मारनेकी शक्ति नहीं है'॥ १०॥ देवर्षि नारदकी यह बात सुनकर उसका सम्मान करते हुए इन्द्रने मेरी माताको छोड़ दिया। और फिर इसके गर्भमें भगवद्भक्त है, इस भावसे उन्होंने मेरी माताकी प्रदक्षिणा की तथा अपने लोकमें चले गये॥ ११॥

इसके बाद देवर्षि नारदजी मेरी माताको अपने आश्रमपर लिवा गये और उसे समझा-बुझाकर कहा कि—'बेटी! जबतक तुम्हारा पति तपस्या करके लौटे, तबतक तुम यहीं रहो'॥ १२॥ 'जो आज्ञा' कहकर वह निर्भयतासे देवर्षि नारदके आश्रमपर ही रहने लगी और तबतक रही, जबतक मेरे पिता घोर तपस्यासे लौटकर नहीं आये॥ १३॥ मेरी गर्भवती माता मुझ गर्भस्थ शिशुकी मंगलकामनासे और इच्छित समयपर (अर्थात् मेरे पिताके लौटनेके बाद) सन्तान उत्पन्न करनेकी कामनासे बड़े प्रेम तथा भक्तिके साथ नारदजीकी सेवा-शुश्रूषा करती रही॥ १४॥

देवर्षि नारदजी बड़े दयालु और सर्वसमर्थ हैं। उन्होंने मेरी माँको भागवतधर्मका रहस्य और विशुद्ध ज्ञान—दोनोंका उपदेश किया। उपदेश करते समय उनकी दृष्टि मुझपर भी थी॥ १५॥ बहुत समय बीत जानेके कारण और स्त्री होनेके कारण भी मेरी माताको तो अब उस ज्ञानकी स्मृति नहीं रही, परन्तु देवर्षिकी विशेष कृपा होनेके कारण मुझे उसकी विस्मृति नहीं हुई॥ १६॥ यदि तुमलोग मेरी इस बातपर श्रद्धा करो तो तुम्हें भी वह ज्ञान हो सकता है। क्योंकि श्रद्धासे स्त्री और बालकोंकी बुद्धि भी मेरे ही समान शुद्ध हो सकती है॥ १७॥ जैसे ईश्वरमूर्ति कालकी प्रेरणासे वृक्षोंके फल लगते, ठहरते, बढ़ते, पकते, क्षीण होते और नष्ट हो जाते हैं—वैसे ही जन्म, अस्तित्वकी अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—ये छः भाव-विकार शरीरमें ही देखे जाते हैं, आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है॥ १८॥

१. प्रा० पा०—परित्यज्य। २. प्रा० पा०—रन्तिके साकुतो०। ३. प्रा० पा०—दादभ०।

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥ १९

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥ २०

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः
क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।
क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगै-
रध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत॥ २१

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद् गुणाः।
विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात्॥ २२

देहस्तु सर्वसंघातो जगत् तस्थुरिति द्विधा।
अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत् त्यजन्॥ २३

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशताऽऽत्मना।
सर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः॥ २४

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥ २५

एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः।
स्वरूपमात्मनो बुध्येद् गन्धैर्वायुमिवान्वयात्॥ २६

एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते॥ २७

आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असंग तथा आवरणरहित है॥ १९॥ ये बारह आत्माके उत्कृष्ट लक्षण हैं। इनके द्वारा आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषको चाहिये कि शरीर आदिमें अज्ञानके कारण जो 'मैं' और 'मेरे' का झूठा भाव हो रहा है, उसे छोड़ दे॥ २०॥ जिस प्रकार सुवर्णकी खानोंमें पत्थरमें मिले हुए सुवर्णको उसके निकालनेकी विधि जाननेवाला स्वर्णकार उन विधियोंसे उसे प्राप्त कर लेता है, वैसे ही अध्यात्मतत्त्वको जाननेवाला पुरुष आत्मप्राप्तिके उपायोंद्वारा अपने शरीररूप क्षेत्रमें ही ब्रह्मपदका साक्षात्कार कर लेता है॥ २१॥

आचार्योंने मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ—इन आठ तत्त्वोंको प्रकृति बतलाया है। उनके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम तथा उनके विकार हैं सोलह—दस इन्द्रियाँ, एक मन और पंचमहाभूत। इन सबमें एक पुरुषतत्त्व अनुगत है॥ २२॥ इन सबका समुदाय ही देह है। यह दो प्रकारका है—स्थावर और जंगम। इसीमें अन्त:करण, इन्द्रिय आदि अनात्मवस्तुओंका 'यह आत्मा नहीं है'—इस प्रकार बाध करते हुए आत्माको ढूँढ़ना चाहिये॥ २३॥ आत्मा सबमें अनुगत है, परन्तु है वह सबसे पृथक्। इस प्रकार शुद्ध बुद्धिसे धीरे-धीरे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और उसके प्रलयपर विचार करना चाहिये। उतावली नहीं करनी चाहिये॥ २४॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियोंका जिसके द्वारा अनुभव होता है—वही सबसे अतीत, सबका साक्षी परमात्मा है॥ २५॥ जैसे गन्धसे उसके आश्रय वायुका ज्ञान होता है, वैसे ही बुद्धिकी इन कर्मजन्य एवं बदलनेवाली तीनों अवस्थाओंके द्वारा इनमें साक्षीरूपसे अनुगत आत्माको जाने॥ २६॥ गुणों और कर्मोंके कारण होनेवाला जन्म-मृत्युका यह चक्र आत्माको शरीर और प्रकृतिसे पृथक् न करनेके कारण ही है। यह अज्ञानमूलक एवं मिथ्या है। फिर भी स्वप्नके समान जीवको इसकी प्रतीति हो रही है॥ २७॥

तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्।
बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः॥ २८

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरंजसा रतिः॥ २९

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥ ३०

श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः॥ ३१

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥ ३२

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।
वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिम्॥ ३३

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥ ३४

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥ ३५

इसलिये तुमलोगोंको सबसे पहले इन गुणोंके अनुसार होनेवाले कर्मोंका बीज ही नष्ट कर देना चाहिये। इससे बुद्धि-वृत्तियोंका प्रवाह निवृत्त हो जाता है। इसीको दूसरे शब्दोंमें योग या परमात्मासे मिलन कहते हैं॥ २८॥ यों तो इन त्रिगुणात्मक कर्मोंकी जड़ उखाड़ फेंकनेके लिये अथवा बुद्धि-वृत्तियोंका प्रवाह बंद कर देनेके लिये सहस्रों साधन हैं; परन्तु जिस उपायसे और जैसे सर्वशक्तिमान् भगवान्में स्वाभाविक निष्काम प्रेम हो जाय, वही उपाय सर्वश्रेष्ठ है। यह बात स्वयं भगवान्ने कही है॥ २९॥ गुरुकी प्रेमपूर्वक सेवा, अपनेको जो कुछ मिले वह सब प्रेमसे भगवान्को समर्पित कर देना, भगवत्प्रेमी महात्माओंका सत्संग, भगवान्की आराधना, उनकी कथावार्तामें श्रद्धा, उनके गुण और लीलाओंका कीर्तन, उनके चरणकमलोंका ध्यान और उनके मन्दिरमूर्ति आदिका दर्शन-पूजन आदि साधनोंसे भगवान्में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है॥ ३०-३१॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें विराजमान हैं—ऐसी भावनासे यथाशक्ति सभी प्राणियोंकी इच्छा पूर्ण करे और हृदयसे उनका सम्मान करे॥ ३२॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके जो लोग इस प्रकार भगवान्की साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें उस भक्तिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्यप्रेमकी प्राप्ति हो जाती है॥ ३३॥

जब भगवान्के लीलाशरीरोंसे किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुपम गुण और चरित्रोंको श्रवण करके अत्यन्त आनन्दके उद्रेकसे मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, आँसुओंके मारे कण्ठ गद्गद हो जाता है और वह संकोच छोड़कर जोर-जोरसे गाने-चिल्लाने और नाचने लगता है; जिस समय वह ग्रहग्रस्त पागलकी तरह कभी हँसता है, कभी करुण-क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे लोगोंकी वन्दना करने लगता है; जब वह भगवान्में ही तन्मय हो जाता है, बार-बार लंबी साँस खींचता है और संकोच छोड़कर 'हरे! जगत्पते!! नारायण'!!! कहकर पुकारने लगता है—तब भक्तियोगके महान् प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥ ३६

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्।
तद् ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥ ३७

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः॥ ३८

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः॥ ३९

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः।
तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
भक्त्यैकयेशं भजतात्मलब्धये॥ ४०

यदध्यर्थ्येह[१] कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम्॥ ४१

भगवद्भावकी ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार—भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मृत्युके बीजोंका खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लेता है॥ ३४—३६॥

इस अशुभ संसारके दलदलमें फँसकर अशुभमय हो जानेवाले जीवके लिये भगवान्‌की यह प्राप्ति संसारके चक्करको मिटा देनेवाली है। इसी वस्तुको कोई विद्वान् ब्रह्म और कोई निर्वाण-सुखके रूपमें पहचानते हैं। इसलिये मित्रो! तुमलोग अपने-अपने हृदयमें हृदयेश्वर भगवान्‌का भजन करो॥ ३७॥

असुरकुमारो! अपने हृदयमें ही आकाशके समान नित्य विराजमान भगवान्‌का भजन करनेमें कौन-सा विशेष परिश्रम है। वे समानरूपसे समस्त प्राणियोंके अत्यन्त प्रेमी मित्र हैं; और तो क्या, अपने आत्मा ही हैं। उनको छोड़कर भोगसामग्री इकट्ठी करनेके लिये भटकना—राम! राम! कितनी मूर्खता है॥ ३८॥

अरे भाई! धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी, खजाना और भाँति-भाँतिकी विभूतियाँ—और तो क्या, संसारका समस्त धन तथा भोगसामग्रियाँ इस क्षणभंगुर मनुष्यको क्या सुख दे सकती हैं। वे स्वयं ही क्षणभंगुर हैं॥ ३९॥ जैसे इस लोककी सम्पत्ति प्रत्यक्ष ही नाशवान् है, वैसे ही यज्ञोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नाशवान् और आपेक्षिक—एक-दूसरेसे छोटे-बड़े, नीचे-ऊँचे हैं। इसलिये वे भी निर्दोष नहीं हैं। निर्दोष हैं केवल परमात्मा। न किसीने उनमें दोष देखा है और न सुना है; अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये अनन्य भक्तिसे उन्हीं परमेश्वरका भजन करना चाहिये॥ ४०॥

इसके सिवा अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाला पुरुष इस लोकमें जिस उद्देश्यसे बार-बार बहुत-से कर्म करता है, उस उद्देश्यकी प्राप्ति तो दूर रही—उलटा उसे उसके विपरीत ही फल मिलता है और निस्सन्देह मिलता है॥ ४१॥

१. प्रा० पा०—यदर्थ इह।

सुखाय दुःखमोक्षाय सङ्कल्प इह कर्मिणः।
सदाऽऽप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः॥ ४२

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च॥ ४३

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।
राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः॥ ४४

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः॥ ४५

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः।
निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः॥ ४६

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना।
कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः॥ ४७

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।
भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम्॥ ४८

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः॥ ४९

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्॥ ५०

कर्ममें प्रवृत्त होनेके दो ही उद्देश्य होते हैं—सुख पाना और दुःखसे छूटना। परन्तु जो पहले कामना न होनेके कारण सुखमें निमग्न रहता था, उसे ही अब कामनाके कारण यहाँ सदा-सर्वदा दुःख ही भोगना पड़ता है॥ ४२॥ मनुष्य इस लोकमें सकाम कर्मोंके द्वारा जिस शरीरके लिये भोग प्राप्त करना चाहता है, वह शरीर ही पराया—स्यार-कुत्तोंका भोजन और नाशवान् है। कभी वह मिल जाता है तो कभी बिछुड़ जाता है॥ ४३॥ जब शरीरकी ही यह दशा है—तब इससे अलग रहनेवाले पुत्र, स्त्री, महल, धन, सम्पत्ति, राज्य, खजाने, हाथी-घोड़े, मन्त्री, नौकर-चाकर, गुरुजन और दूसरे अपने कहलानेवालोंकी तो बात ही क्या है॥ ४४॥ ये तुच्छ विषय शरीरके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। ये जान तो पड़ते हैं पुरुषार्थके समान, परन्तु हैं वास्तवमें अनर्थरूप ही। आत्मा स्वयं ही अनन्त आनन्दका महान् समुद्र है। उसके लिये इन वस्तुओंकी क्या आवश्यकता है?॥ ४५॥ भाइयो! तनिक विचार तो करो—जो जीव गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त सभी अवस्थाओंमें अपने कर्मोंके अधीन होकर क्लेश-ही-क्लेश भोगता है, उसका इस संसारमें स्वार्थ ही क्या है॥ ४६॥ यह जीव सूक्ष्मशरीरको ही अपना आत्मा मानकर उसके द्वारा अनेकों प्रकारके कर्म करता है और कर्मोंके कारण ही फिर शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्मकी परम्परा चल पड़ती है। और ऐसा होता है अविवेकके कारण॥ ४७॥ इसलिये निष्कामभावसे निष्क्रिय आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरिका भजन करना चाहिये। अर्थ, धर्म और काम—सब उन्हींके आश्रित हैं, बिना उनकी इच्छाके नहीं मिल सकते॥ ४८॥ भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंके ईश्वर, आत्मा और परम प्रियतम हैं। वे अपने ही बनाये हुए पंचभूत और सूक्ष्मभूत आदिके द्वारा निर्मित शरीरोंमें जीवके नामसे कहे जाते हैं॥ ४९॥ देवता, दैत्य, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व—कोई भी क्यों न हो—जो भगवान्‌के चरणकमलोंका सेवन करता है, वह हमारे ही समान कल्याणका भाजन होता है॥ ५०॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥ ५१

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥ ५२

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥ ५३

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥ ५४

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥ ५५

दैत्यबालको! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बना-मात्र हैं॥ ५१-५२॥ इसलिये दानव-बन्धुओ! समस्त प्राणियोंको अपने समान ही समझकर सर्वत्र विराजमान, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की भक्ति करो॥ ५३॥ भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, गोपालक अहीर, पक्षी, मृग और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो गये हैं॥ ५४॥ इस संसारमें या मनुष्य-शरीरमें जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ अर्थात् एकमात्र परमार्थ इतना ही है कि वह भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्यभक्ति प्राप्त करे। उस भक्तिका स्वरूप है सर्वदा, सर्वत्र सब वस्तुओंमें भगवान्‌का दर्शन॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते दैत्यपुत्रानुशासनं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

नृसिंहभगवान्‌का प्रादुर्भाव, हिरण्यकशिपुका वध एवं ब्रह्मादि देवताओंद्वारा भगवान्‌की स्तुति

नारद उवाच

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम्।
जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम्॥ १

अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम्।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद् यथा॥ २

श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यो दुःसहं तनयानयम्।
कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे॥ ३

नारदजी कहते हैं—प्रह्लादजीका प्रवचन सुनकर दैत्यबालकोंने उसी समयसे निर्दोष होनेके कारण, उनकी बात पकड़ ली। गुरुजीकी दूषित शिक्षाकी ओर उन्होंने ध्यान ही न दिया॥ १॥

जब गुरुजीने देखा कि उन सभी विद्यार्थियोंकी बुद्धि एकमात्र भगवान्‌में स्थिर हो रही है, तब वे बहुत घबराये और तुरंत हिरण्यकशिपुके पास जाकर निवेदन किया॥ २॥

अपने पुत्र प्रह्लादकी इस असह्य और अप्रिय अनीतिको सुनकर क्रोधके मारे उसका शरीर थर-थर काँपने लगा। अन्तमें उसने यही निश्चय किया कि प्रह्लादको अब अपने ही हाथसे मार डालना चाहिये॥ ३॥

क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम्।
आहेक्षमाणः पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा॥ ४

प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम्।
सर्पः पदाहत इव श्वसन्प्रकृतिदारुणः॥ ५

हे दुर्विनीत मन्दात्मन्कुलभेदकराधम।
स्तब्धं मच्छासनोद्धृतं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम्॥ ६

क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किम्बलोऽत्यगाः॥ ७

प्रह्लाद उवाच

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥ ८

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजःसहःसत्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥ ९

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात्
तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम्॥ १०

दस्यून्पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो
मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां
साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे॥ ११

मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले प्रह्लादजी बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर चुपचाप हिरण्यकशिपुके सामने खड़े थे और तिरस्कारके सर्वथा अयोग्य थे। परन्तु हिरण्यकशिपु स्वभावसे ही क्रूर था। वह पैरकी चोट खाये हुए साँपकी तरह फुफकारने लगा। उसने उनकी ओर पापभरी टेढ़ी नजरसे देखा और कठोर वाणीसे डाँटते हुए कहा— ॥ ४-५ ॥ 'मूर्ख! तू बड़ा उद्दण्ड हो गया है। स्वयं तो नीच है ही, अब हमारे कुलके और बालकोंको भी फोड़ना चाहता है! तूने बड़ी ढिठाईसे मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया है। आज ही तुझे यमराजके घर भेजकर इसका फल चखाता हूँ॥ ६ ॥ मैं तनिक-सा क्रोध करता हूँ तो तीनों लोक और उनके लोकपाल काँप उठते हैं। फिर मूर्ख! तूने किसके बल-बूतेपर निडरकी तरह मेरी आज्ञाके विरुद्ध काम किया है?'॥ ७ ॥

प्रह्लादजीने कहा—दैत्यराज! ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब छोटे-बड़े, चर-अचर जीवोंको भगवान्ने ही अपने वशमें कर रखा है। न केवल मेरे और आपके, बल्कि संसारके समस्त बलवानोंके बल भी केवल वही हैं॥ ८ ॥ वे ही महापराक्रमी सर्वशक्तिमान् प्रभु काल हैं तथा समस्त प्राणियोंके इन्द्रियबल, मनोबल, देहबल, धैर्य एवं इन्द्रिय भी वही हैं। वही परमेश्वर अपनी शक्तियोंके द्वारा इस विश्वकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं। वे ही तीनों गुणोंके स्वामी हैं॥ ९ ॥ आप अपना यह आसुर भाव छोड़ दीजिये। अपने मनको सबके प्रति समान बनाइये। इस संसारमें अपने वशमें न रहनेवाले कुमार्गगामी मनके अतिरिक्त और कोई शत्रु नहीं है। मनमें सबके प्रति समताका भाव लाना ही भगवान्की सबसे बड़ी पूजा है॥ १० ॥ जो लोग अपना सर्वस्व लूटनेवाले इन छः इन्द्रियरूपी डाकुओंपर तो पहले विजय नहीं प्राप्त करते और ऐसा मानने लगते हैं कि हमने दसों दिशाएँ जीत लीं, वे मूर्ख हैं। हाँ, जिस ज्ञानी एवं जितेन्द्रिय महात्माने समस्त प्राणियोंके प्रति समताका भाव प्राप्त कर लिया, उसके अज्ञानसे पैदा होनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु भी मर-मिट जाते हैं; फिर बाहरके शत्रु तो रहें ही कैसे॥ ११ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे।
मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विप्लवा गिरः॥ १२

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥ १३

सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते।
गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम्॥ १४

एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन्रुषा
सुतं महाभागवतं महासुरः।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्
स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना॥ १५

तदैव तस्मिन् निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे॥ १६

स[1] विक्रमन् पुत्रवधेप्सुरोजसा
निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम्।
अन्तःसभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्रसुर्येन[2] सुरारियूथपाः॥ १७

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ १८

हिरण्यकशिपुने कहा—रे मन्दबुद्धि! तेरे बहकनेकी भी अब हद हो गयी है। यह बात स्पष्ट है कि अब तू मरना चाहता है। क्योंकि जो मरना चाहते हैं, वे ही ऐसी बेसिर-पैरकी बातें बका करते हैं॥ १२॥ अभागे! तूने मेरे सिवा जो और किसीको जगत्का स्वामी बतलाया है, सो देखूँ तो तेरा वह जगदीश्वर कहाँ है। अच्छा, क्या कहा, वह सर्वत्र है? तो इस खंभेमें क्यों नहीं दीखता?॥ १३॥ अच्छा, तुझे इस खंभेमें भी दिखायी देता है! अरे, तू क्यों इतनी डींग हाँक रहा है? मैं अभी-अभी तेरा सिर धड़से अलग किये देता हूँ। देखता हूँ तेरा वह सर्वस्व हरि, जिसपर तुझे इतना भरोसा है, तेरी कैसे रक्षा करता है॥ १४॥ इस प्रकार वह अत्यन्त बलवान् महादैत्य भगवान्के परम प्रेमी प्रह्लादको बार-बार झिड़कियाँ देता और सताता रहा। जब क्रोधके मारे वह अपनेको रोक न सका, तब हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा और बड़े जोरसे उस खंभेको एक घूँसा मारा॥ १५॥ उसी समय उस खंभेमें एक बड़ा भयंकर शब्द हुआ। ऐसा जान पड़ा मानो यह ब्रह्माण्ड ही फट गया हो। वह ध्वनि जब लोकपालोंके लोकमें पहुँची, तब उसे सुनकर ब्रह्मादिको ऐसा जान पड़ा, मानो उनके लोकोंका प्रलय हो रहा हो॥ १६॥ हिरण्यकशिपु प्रह्लादको मार डालनेके लिये बड़े जोरसे झपटा था; परन्तु दैत्यसेनापतियोंको भी भयसे कँपा देनेवाले उस अद्भुत और अपूर्व घोर शब्दको सुनकर वह घबराया हुआ-सा देखने लगा कि यह शब्द करनेवाला कौन है? परन्तु उसे सभाके भीतर कुछ भी दिखायी न पड़ा॥ १७॥

इसी समय अपने सेवक प्रह्लाद और ब्रह्माकी वाणी सत्य करने और समस्त पदार्थोंमें अपनी व्यापकता दिखानेके लिये सभाके भीतर उसी खंभेमें बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए। वह रूप न तो पूरा-पूरा सिंहका ही था और न मनुष्यका ही॥ १८॥

१. प्रा० पा०—सोऽतिक्रमन्। २. प्रा० पा०—सुस्तत्र।

स सत्त्वमेनं परितोऽपि पश्यन्
स्तम्भस्य मध्यादनु निर्जिहानम्।
नायं मृगो नापि नरो विचित्र-
महो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम्॥ १९
मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो
नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम्।
प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेसरजृम्भिताननम् ॥ २०
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल-
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम्।
स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम्॥ २१
दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर-
ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् ।
चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहै-
र्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम्॥ २२
दुरासदं सर्वनिजेतरायुध-
प्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम् ।
प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम्॥ २३
एवं ब्रुवं[१]स्त्वभ्यपतद् गदायुधो
नदन् नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः।
अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो
यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा॥ २४

जिस समय हिरण्यकशिपु शब्द करनेवालेकी इधर-उधर खोज कर रहा था, उसी समय खंभेके भीतरसे निकलते हुए उस अद्भुत प्राणीको उसने देखा। वह सोचने लगा—अहो, यह न तो मनुष्य है और न पशु; फिर यह नृसिंहके रूपमें कौन-सा अलौकिक जीव है!॥ १९ ॥ जिस समय हिरण्यकशिपु इस उधेड़-बुनमें लगा हुआ था, उसी समय उसके बिलकुल सामने ही नृसिंहभगवान् खड़े हो गये। उनका वह रूप अत्यधिक भयावना था। तपाये हुए सोनेके समान पीली-पीली भयानक आँखें थीं। जँभाई लेनेसे गरदनके बाल इधर-उधर लहरा रहे थे॥ २० ॥ दाढ़ें बड़ी विकराल थीं। तलवारकी तरह लपलपाती हुई छूरेकी धारके समान तीखी जीभ थी। टेढ़ी भौंहोंसे उनका मुख और भी दारुण हो रहा था। कान निश्चल एवं ऊपरकी ओर उठे हुए थे। फूली हुई नासिका और खुला हुआ मुँह पहाड़की गुफाके समान अद्भुत जान पड़ता था। फटे हुए जबड़ोंसे उसकी भयंकरता बहुत बढ़ गयी थी॥ २१ ॥ विशाल शरीर स्वर्गका स्पर्श कर रहा था। गरदन कुछ नाटी और मोटी थी। छाती चौड़ी और कमर बहुत पतली थी। चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफेद रोएँ सारे शरीरपर चमक रहे थे, चारों ओर सैकड़ों भुजाएँ फैली हुई थीं, जिनके बड़े-बड़े नख आयुधका काम देते थे॥ २२ ॥ उनके पास फटकनेतकका साहस किसीको न होता था। चक्र आदि अपने निज आयुध तथा वज्र आदि अन्य श्रेष्ठ शस्त्रोंके द्वारा उन्होंने सारे दैत्य-दानवोंको भगा दिया। हिरण्यकशिपु सोचने लगा—हो-न-हो महामायावी विष्णुने ही मुझे मार डालनेके लिये यह ढंग रचा है; परन्तु इसकी इन चालोंसे हो ही क्या सकता है॥ २३ ॥ इस प्रकार कहता और सिंहनाद करता हुआ दैत्यराज हिरण्यकशिपु हाथमें गदा लेकर नृसिंहभगवान्पर टूट पड़ा। परन्तु जैसे पतिंगा आगमें गिरकर अदृश्य हो जाता है, वैसे ही वह दैत्य भगवान्के तेजके भीतर जाकर लापता हो गया॥ २४॥

१. प्रा० पा०—वंश्चाभ्य०।

न तद् विचित्रं खलु सत्त्वधामनि
स्वतेजसा यो नु पुरापिबत् तमः।
ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया॥ २५

तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत्।
स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो
विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः॥ २६

असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा
घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः।
तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं
यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः[१]।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी
प्रगृह्य वेगेन जितश्रमो मृधे॥ २७

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभि-
श्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं[२]
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः॥ २८

विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।
द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम्॥ २९

समस्त शक्ति और तेजके आश्रय भगवान्‌के सम्बन्धमें ऐसी घटना कोई आश्चर्यजनक नहीं है; क्योंकि सृष्टिके प्रारम्भमें उन्होंने अपने तेजसे प्रलयके निमित्तभूत तमोगुणरूपी घोर अन्धकारको भी पी लिया था। तदनन्तर वह दैत्य बड़े क्रोधसे लपका और अपनी गदाको बड़े जोरसे घुमाकर उसने नृसिंहभगवान्‌पर प्रहार किया॥ २५॥ प्रहार करते समय ही—जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेते हैं, वैसे ही भगवान्‌ने गदासहित उस दैत्यको पकड़ लिया। वे जब उसके साथ खिलवाड़ करने लगे, तब वह दैत्य उनके हाथसे वैसे ही निकल गया, जैसे क्रीडा करते हुए गरुड़के चंगुलसे साँप छूट जाय॥ २६॥ युधिष्ठिर! उस समय सब-के-सब लोकपाल बादलोंमें छिपकर इस युद्धको देख रहे थे। उनका स्वर्ग तो हिरण्यकशिपुने पहले ही छीन लिया था। जब उन्होंने देखा कि वह भगवान्‌के हाथसे छूट गया, तब वे और भी डर गये। हिरण्यकशिपुने भी यही समझा कि नृसिंहने मेरे बलवीर्यसे डरकर ही मुझे अपने हाथसे छोड़ दिया है। इस विचारसे उसकी थकान जाती रही और वह युद्धके लिये ढाल-तलवार लेकर फिर उनकी ओर दौड़ पड़ा॥ २७॥ उस समय वह बाजकी तरह बड़े वेगसे ऊपर-नीचे उछल-कूदकर इस प्रकार ढाल-तलवारके पैंतरे बदलने लगा कि जिससे उसपर आक्रमण करनेका अवसर ही न मिले। तब भगवान्‌ने बड़े ऊँचे स्वरसे प्रचण्ड और भयंकर अट्टहास किया, जिससे हिरण्यकशिपुकी आँखें बंद हो गयीं। फिर बड़े वेगसे झपटकर भगवान्‌ने उसे वैसे ही पकड़ लिया, जैसे साँप चूहेको पकड़ लेता है। जिस हिरण्यकशिपुके चमड़ेपर वज्रकी चोटसे भी खरोंच नहीं आयी थी, वही अब उनके पंजेसे निकलनेके लिये जोरसे छटपटा रहा था। भगवान्‌ने सभाके दरवाजेपर ले जाकर उसे अपनी जाँघोंपर गिरा लिया और खेल-खेलमें अपने नखोंसे उसे उसी प्रकार फाड़ डाला, जैसे गरुड़ महाविषधर साँपको चीर डालते हैं॥ २८-२९॥

१. प्रा० पा०—हामना:। २. प्रा० पा०—खरकेसरोल्बणो।

संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो
व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया।
असृग्लवाक्तारुणकेसराननो
यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः॥ ३०

नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं
विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान्।
अहन् समन्तान्नखशस्त्रपार्ष्णिभि-
र्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्रशः॥ ३१

सटावधूता जलदाः परापतन्
ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
र्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः॥ ३२

द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे॥ ३३

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने संभृततेजसं विभुम्।
अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन॥ ३४

निशम्य लोकत्रयमस्तकज्वरं
तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे।
प्रहर्षवेगोत्कलितानना मुहुः
प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः॥ ३५

उस समय उनकी क्रोधसे भरी विकराल आँखोंकी ओर देखा नहीं जाता था। वे अपनी लपलपाती हुई जीभसे फैले हुए मुँहके दोनों कोने चाट रहे थे। खूनके छींटोंसे उनका मुँह और गरदनके बाल लाल हो रहे थे। हाथीको मारकर गलेमें आँतोंकी माला पहने हुए मृगराजके समान उनकी शोभा हो रही थी॥ ३०॥ उन्होंने अपने तीखे नखोंसे हिरण्यकशिपुका कलेजा फाड़कर उसे जमीनपर पटक दिया। उस समय हजारों दैत्य-दानव हाथोंमें शस्त्र लेकर भगवान्‌पर प्रहार करनेके लिये आये। पर भगवान्‌ने अपनी भुजारूपी सेनासे, लातोंसे और नखरूपी शस्त्रोंसे चारों ओर खदेड़-खदेड़कर उन्हें मार डाला॥ ३१॥

युधिष्ठिर! उस समय भगवान् नृसिंहके गरदनके बालोंकी फटकारसे बादल तितर-बितर होने लगे। उनके नेत्रोंकी ज्वालासे सूर्य आदि ग्रहोंका तेज फीका पड़ गया। उनके श्वासके धक्केसे समुद्र क्षुब्ध हो गये। उनके सिंहनादसे भयभीत होकर दिग्गज चिग्घाड़ने लगे॥ ३२॥ उनके गरदनके बालोंसे टकराकर देवताओंके विमान अस्त-व्यस्त हो गये। स्वर्ग डगमगा गया। उनके पैरोंकी धमकसे भूकम्प आ गया, वेगसे पर्वत उड़ने लगे और उनके तेजकी चकाचौंधसे आकाश तथा दिशाओंका दीखना बंद हो गया॥ ३३॥ इस समय नृसिंहभगवान्‌का सामना करनेवाला कोई दिखायी न पड़ता था। फिर भी उनका क्रोध अभी बढ़ता ही जा रहा था। वे हिरण्यकशिपुकी राजसभामें ऊँचे सिंहासनपर जाकर विराज गये। उस समय उनके अत्यन्त तेजपूर्ण और क्रोधभरे भयंकर चेहरेको देखकर किसीका भी साहस न हुआ कि उनके पास जाकर उनकी सेवा करे॥ ३४॥

युधिष्ठिर! जब स्वर्गकी देवियोंको यह शुभ समाचार मिला कि तीनों लोकोंके सिरकी पीड़ाका मूर्तिमान् स्वरूप हिरण्यकशिपु युद्धमें भगवान्‌के हाथों मार डाला गया, तब आनन्दके उल्लाससे उनके चेहरे खिल उठे। वे बार-बार भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं॥ ३५॥

तदा विमानावलिभिर्नभस्तलं
दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम्।
सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे
गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः॥ ३६

तत्रोपव्रज्य विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः।
ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः॥ ३७

मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः।
यक्षाः किम्पुरुषास्तात वेतालाः सिद्धकिन्नराः॥ ३८

ते विष्णुपार्षदाः सर्वे सुनन्दकुमुदादयः।
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम्।
ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक्॥ ३९

ब्रह्मोवाच

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये
विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः
स्वलीलया संदधतेऽव्ययात्मने॥ ४०

श्रीरुद्र उवाच

कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः।
तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल॥ ४१

इन्द्र उवाच

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम्॥ ४२

आकाशमें विमानोंसे आये हुए भगवान्‌के दर्शनार्थी देवताओंकी भीड़ लग गयी। देवताओंके ढोल और नगारे बजने लगे। गन्धर्वराज गाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं॥ ३६॥ तात! इसी समय ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर आदि देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर, महानाग, मनु, प्रजापति, गन्धर्व, अप्सराएँ, चारण, यक्ष, किम्पुरुष, वेताल, सिद्ध, किन्नर और सुनन्द-कुमुद आदि भगवान्‌के सभी पार्षद उनके पास आये। उन लोगोंने सिरपर अंजलि बाँधकर सिंहासनपर विराजमान अत्यन्त तेजस्वी नृसिंहभगवान्‌की थोड़ी दूरसे अलग-अलग स्तुति की॥ ३७—३९॥

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो! आप अनन्त हैं। आपकी शक्तिका कोई पार नहीं पा सकता। आपका पराक्रम विचित्र और कर्म पवित्र हैं। यद्यपि गुणोंके द्वारा आप लीलासे ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, पालन और प्रलय यथोचित ढंगसे करते हैं—फिर भी आप उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, स्वयं निर्विकार रहते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ४०॥

श्रीरुद्रने कहा—आपके क्रोध करनेका समय तो कल्पके अन्तमें होता है। यदि इस तुच्छ दैत्यको मारनेके लिये ही आपने क्रोध किया है तो वह भी मारा जा चुका। उसका पुत्र आपकी शरणमें आया है। भक्तवत्सल प्रभो! आप अपने इस भक्तकी रक्षा कीजिये॥ ४१॥

इन्द्रने कहा—पुरुषोत्तम! आपने हमारी रक्षा की है। आपने हमारे जो यज्ञभाग लौटाये हैं, वे वास्तवमें आप (अन्तर्यामी)-के ही हैं। दैत्योंके आतंकसे संकुचित हमारे हृदयकमलको आपने प्रफुल्लित कर दिया। वह भी आपका ही निवासस्थान है। यह जो स्वर्गादिका राज्य हमलोगोंको पुनः प्राप्त हुआ है, यह सब कालका ग्रास है। जो आपके सेवक हैं, उनके लिये यह है ही क्या? स्वामिन्! जिन्हें आपकी सेवाकी चाह है, वे मुक्तिका भी आदर नहीं करते। फिर अन्य भोगोंकी तो उन्हें आवश्यकता ही क्या है॥ ४२॥

ऋषय ऊचुः

त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्ज।
तद् विप्रलुप्तममुनाद्य शरण्यपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः॥ ४३

पितर ऊचुः

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत् तिलाम्बु[१]।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद् य आर्च्छत्
तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे॥ ४४

सिद्धा ऊचुः

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधु-
रहारषीद् योगतपोबलेन।
नानादर्पं तं नखैर्निर्ददार
तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह॥ ४५

विद्याधरा ऊचुः

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां[२]
न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः।
स येन संख्ये पशुवद्धतस्तं
मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम्॥ ४६

नागा ऊचुः

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः।
तद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते॥ ४७

ऋषियोंने कहा—पुरुषोत्तम! आपने तपस्याके द्वारा ही अपनेमें लीन हुए जगत्‌की फिरसे रचना की थी और कृपा करके उसी आत्मतेजःस्वरूप श्रेष्ठ तपस्याका उपदेश आपने हमारे लिये भी किया था। इस दैत्यने उसी तपस्याका उच्छेद कर दिया था। शरणागतवत्सल! उस तपस्याकी रक्षाके लिये अवतार ग्रहण करके आपने हमारे लिये फिरसे उसी उपदेशका अनुमोदन किया है॥ ४३॥

पितरोंने कहा—प्रभो! हमारे पुत्र हमारे लिये पिण्डदान करते थे, यह उन्हें बलात् छीनकर खा जाया करता था। जब वे पवित्र तीर्थमें या संक्रान्ति आदिके अवसरपर नैमित्तिक तर्पण करते या तिलांजलि देते, तब उसे भी यह पी जाता। आज आपने अपने नखोंसे उसका पेट फाड़कर वह सब-का-सब लौटाकर मानो हमें दे दिया। आप समस्त धर्मोंके एकमात्र रक्षक हैं। नृसिंहदेव! हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ४४॥

सिद्धोंने कहा—नृसिंहदेव! इस दुष्टने अपने योग और तपस्याके बलसे हमारी योगसिद्ध गति छीन ली थी। अपने नखोंसे आपने उस घमंडीको फाड़ डाला है। हम आपके चरणोंमें विनीतभावसे नमस्कार करते हैं॥ ४५॥

विद्याधरोंने कहा—यह मूर्ख हिरण्यकशिपु अपने बल और वीरताके घमंडमें चूर था। यहाँतक कि हम लोगोंने विविध धारणाओंसे जो विद्या प्राप्त की थी, उसे इसने व्यर्थ कर दिया था। आपने युद्धमें यज्ञपशुकी तरह इसको नष्ट कर दिया। अपनी लीलासे नृसिंह बने हुए आपको हम नित्य-निरन्तर प्रणाम करते हैं॥ ४६॥

नागोंने कहा—इस पापीने हमारी मणियों और हमारी श्रेष्ठ और सुन्दर स्त्रियोंको भी छीन लिया था। आज उसकी छाती फाड़कर आपने हमारी पत्नियोंको बड़ा आनन्द दिया है। प्रभो! हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ४७॥

१. प्रा० पा०—पि तिलाम्बुमिश्रम्। २. प्रा० पा०—नुरुद्धां।

मनव ऊचुः

मनवो वयं तव निदेशकारिणो
दितिजेन देव परिभूतसेतवः।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो
करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान्॥ ४८

प्रजापतय ऊचुः

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा
न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते
जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः॥ ४९

गन्धर्वा ऊचुः

वयं विभो ते नटनाट्यगायका
येनात्मसाद् वीर्यबलौजसा कृताः।
स एष[1] नीतो भवता दशामिमां
किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते॥ ५०

चारणा ऊचुः

हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः॥ ५१

यक्षा ऊचुः

वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त[2] इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम्।
स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते
नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश॥ ५२

किम्पुरुषा ऊचुः

वयं किम्पुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः।
अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा[3]॥ ५३

मनुओंने कहा—देवाधिदेव! हम आपके आज्ञाकारी मनु हैं। इस दैत्यने हमलोगोंकी धर्ममर्यादा भंग कर दी थी। आपने उस दुष्टको मारकर बड़ा उपकार किया है। प्रभो! हम आपके सेवक हैं। आज्ञा कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें?॥ ४८॥

प्रजापतियोंने कहा—परमेश्वर! आपने हमें प्रजापति बनाया था। परन्तु इसके रोक देनेसे हम प्रजाकी सृष्टि नहीं कर पाते थे। आपने इसकी छाती फाड़ डाली और यह जमीनपर सर्वदाके लिये सो गया। सत्त्वमय मूर्ति धारण करनेवाले प्रभो! आपका यह अवतार संसारके कल्याणके लिये है॥ ४९॥

गन्धर्वोंने कहा—प्रभो! हम आपके नाचनेवाले, अभिनय करनेवाले और संगीत सुनानेवाले सेवक हैं। इस दैत्यने अपने बल, वीर्य और पराक्रमसे हमें अपना गुलाम बना रखा था। उसे आपने इस दशाको पहुँचा दिया। सच है, कुमार्गसे चलनेवालेका भी क्या कभी कल्याण हो सकता है?॥ ५०॥

चारणोंने कहा—प्रभो! आपने सज्जनोंके हृदयको पीड़ा पहुँचानेवाले इस दुष्टको समाप्त कर दिया। इसलिये हम आपके उन चरणकमलोंकी शरणमें हैं, जिनके प्राप्त होते ही जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रसे छुटकारा मिल जाता है॥ ५१॥

यक्षोंने कहा—भगवन्! अपने श्रेष्ठ कर्मोंके कारण हमलोग आपके सेवकोंमें प्रधान गिने जाते थे। परन्तु हिरण्यकशिपुने हमें अपनी पालकी ढोनेवाला कहार बना लिया। प्रकृतिके नियामक परमात्मा! इसके कारण होनेवाले अपने निजजनोंके कष्ट जानकर ही आपने इसे मार डाला है॥ ५२॥

किम्पुरुषोंने कहा—हमलोग अत्यन्त तुच्छ किम्पुरुष हैं और आप सर्वशक्तिमान् महापुरुष हैं। जब सत्पुरुषोंने इसका तिरस्कार किया—इसे धिक्कारा, तभी आज आपने इस कुपुरुष—असुराधमको नष्ट कर दिया॥ ५३॥

१. प्रा० पा०—एव। २. प्रा० पा०—रिह च दिति०। ३. प्रा० पा०—भिः सदा।

वैतालिका ऊचुः

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो
गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे।
यस्तां व्यनैषीद् भृशमेष दुर्जनो
दिष्ट्या हतस्ते भगवन्यथाऽऽमयः॥ ५४

वैतालिकोंने कहा—भगवन्! बड़ी-बड़ी सभाओं और ज्ञानयज्ञोंमें आपके निर्मल यशका गान करके हम बड़ी प्रतिष्ठा-पूजा प्राप्त करते थे। इस दुष्टने हमारी वह आजीविका ही नष्ट कर दी थी। बड़े सौभाग्यकी बात है कि महारोगके समान इस दुष्टको आपने जड़मूलसे उखाड़ दिया॥ ५४॥

किन्नरा ऊचुः

वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा
दितिजेन विष्टिममुनानु कारिताः।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो
नरसिंह नाथ विभवाय नो भव॥ ५५

किन्नरोंने कहा—हम किन्नरगण आपके सेवक हैं। यह दैत्य हमसे बेगारमें ही काम लेता था। भगवन्! आपने कृपा करके आज इस पापीको नष्ट कर दिया। प्रभो! आप इसी प्रकार हमारा अभ्युदय करते रहें॥ ५५॥

विष्णुपार्षदा[1] ऊचुः

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते
दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-
स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः॥ ५६

भगवान्के पार्षदोंने कहा—शरणागतवत्सल! सम्पूर्ण लोकोंको शान्ति प्रदान करनेवाला आपका यह अलौकिक नृसिंहरूप हमने आज ही देखा है। भगवन्! यह दैत्य आपका वही आज्ञाकारी सेवक था, जिसे सनकादिने शाप दे दिया था। हम समझते हैं, आपने कृपा करके इसके उद्धारके लिये ही इसका वध किया है॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते दैत्यराजवधे नृसिंहस्तवो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

प्रह्लादजीके द्वारा नृसिंहभगवान्की स्तुति

नारद उवाच

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरःसराः।
नोपैतुमशकन्मन्युसंरम्भं सुदुरासदम्॥ १

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार ब्रह्मा, शंकर आदि सभी देवगण नृसिंहभगवान्के क्रोधावेशको शान्त न कर सके और न उनके पास जा सके। किसीको उसका ओर-छोर नहीं दीखता था॥ १॥

साक्षाच्छ्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम्।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता॥ २

देवताओंने उन्हें शान्त करनेके लिये स्वयं लक्ष्मीजीको भेजा। उन्होंने जाकर जब नृसिंहभगवान्का वह महान् अद्भुत रूप देखा, तब भयवश वे भी उनके पासतक न जा सकीं। उन्होंने ऐसा अनूठा रूप न कभी देखा और न सुना ही था॥ २॥

१. प्रा० पा०—पारिषदा।

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके।
तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम्॥ ३

तथेति शनकै राजन्महाभागवतोऽर्भकः।
उपेत्य[1] भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः॥ ४

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां[2] कृताभयम्॥ ५

स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः
सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः॥ ६

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः।
प्रेमगद्गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः॥ ७

प्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः॥ ८

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभाव[3]बलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय॥ ९

तब ब्रह्माजीने अपने पास ही खड़े प्रह्लादको यह कहकर भेजा कि 'बेटा! तुम्हारे पितापर ही तो भगवान् कुपित हुए थे। अब तुम्हीं उनके पास जाकर उन्हें शान्त करो'॥ ३॥ भगवान्के परम प्रेमी प्रह्लाद 'जो आज्ञा' कहकर और धीरेसे भगवान्के पास जाकर हाथ जोड़ पृथ्वीपर साष्टांग लोट गये॥ ४॥ नृसिंहभगवान्ने देखा कि नन्हा-सा बालक मेरे चरणोंके पास पड़ा हुआ है। उनका हृदय दयासे भर गया। उन्होंने प्रह्लादको उठाकर उनके सिरपर अपना वह करकमल रख दिया, जो कालसर्पसे भयभीत पुरुषोंको अभयदान करनेवाला है॥ ५॥

भगवान्के करकमलोंका स्पर्श होते ही उनके बचे-खुचे अशुभ संस्कार भी झड़ गये। तत्काल उन्हें परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया। उन्होंने बड़े प्रेम और आनन्दमें मग्न होकर भगवान्के चरणकमलोंको अपने हृदयमें धारण किया। उस समय उनका सारा शरीर पुलकित हो गया, हृदयमें प्रेमकी धारा प्रवाहित होने लगी और नेत्रोंसे आनन्दाश्रु झरने लगे॥ ६॥ प्रह्लादजी भावपूर्ण हृदय और निर्निमेष नयनोंसे भगवान्को देख रहे थे। भावसमाधिसे स्वयं एकाग्र हुए मनके द्वारा उन्होंने भगवान्के गुणोंका चिन्तन करते हुए प्रेमगद्गद वाणीसे स्तुति की॥ ७॥

प्रह्लादजीने कहा—ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि-मुनि और सिद्ध पुरुषोंकी बुद्धि निरन्तर सत्त्वगुणमें ही स्थित रहती है। फिर भी वे अपनी धारा-प्रवाह स्तुति और अपने विविध गुणोंसे आपको अबतक भी सन्तुष्ट नहीं कर सके। फिर मैं तो घोर असुर-जातिमें उत्पन्न हुआ हूँ! क्या आप मुझसे सन्तुष्ट हो सकते हैं?॥ ८॥ मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये सभी गुण परमपुरुष भगवान्को सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं—परन्तु भक्तिसे तो भगवान् गजेन्द्रपर भी सन्तुष्ट हो गये थे॥ ९॥

१. प्रा० पा०—उत्पत्य। २. प्रा० पा०—हिनिर्दिष्टधि०। ३. प्रा० पा०—प्रताप०।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥ १०

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥ ११

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम्।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन॥ १२

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः॥ १३

तद् यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या।
लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति॥ १४

मेरी समझसे इन बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रखे हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है और बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता॥ १०॥ सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूपके साक्षात्कारसे ही परिपूर्ण हैं। उन्हें अपने लिये क्षुद्र पुरुषोंसे पूजा ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे करुणावश ही भोले भक्तोंके हितके लिये उनके द्वारा की हुई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुखका सौन्दर्य दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बको भी सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान्‌के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है॥ ११॥ इसलिये सर्वथा अयोग्य और अनधिकारी होनेपर भी मैं बिना किसी शंकाके अपनी बुद्धिके अनुसार सब प्रकारसे भगवान्‌की महिमाका वर्णन कर रहा हूँ। इस महिमाके गानका ही ऐसा प्रभाव है कि अविद्यावश संसारचक्रमें पड़ा हुआ जीव तत्काल पवित्र हो जाता है॥ १२॥

भगवन्! आप सत्त्वगुणके आश्रय हैं। ये ब्रह्मा आदि सभी देवता आपके आज्ञाकारी भक्त हैं। ये हम दैत्योंकी तरह आपसे द्वेष नहीं करते। प्रभो! आप बड़े-बड़े सुन्दर-सुन्दर अवतार ग्रहण करके इस जगत्‌के कल्याण एवं अभ्युदयके लिये तथा उसे आत्मानन्दकी प्राप्ति करानेके लिये अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करते हैं॥ १३॥ जिस असुरको मारनेके लिये आपने क्रोध किया था, वह मारा जा चुका। अब आप अपना क्रोध शान्त कीजिये। जैसे बिच्छू और साँपकी मृत्युसे सज्जन भी सुखी ही होते हैं, वैसे ही इस दैत्यके संहारसे सभी लोगोंको बड़ा सुख मिला है। अब सब आपके शान्त स्वरूपके दर्शनकी बाट जोह रहे हैं। नृसिंहदेव! भयसे मुक्त होनेके लिये भक्तजन आपके इस रूपका स्मरण करेंगे॥ १४॥

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्त्रजः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णा-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात्॥ १५

त्रस्तोऽस्म्यहं[1] कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनाद्[2] ग्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु॥ १६

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम्॥ १७

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः॥ १८

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्॥ १९

परमात्मन्! आपका मुख बड़ा भयावना है। आपकी जीभ लपलपा रही है। आँखें सूर्यके समान हैं। भौंहें चढ़ी हुई हैं। बड़ी पैनी दाढ़ें हैं। आँतोंकी माला, खूनसे लथपथ गरदनके बाल, बर्छेकी तरह सीधे खड़े कान और दिग्गजोंको भी भयभीत कर देनेवाला सिंहनाद एवं शत्रुओंको फाड़ डालनेवाले आपके इन नखोंको देखकर मैं तनिक भी भयभीत नहीं हुआ हूँ॥ १५॥ दीनबन्धो! मैं भयभीत हूँ तो केवल इस असह्य और उग्र संसारचक्रमें पिसनेसे। मैं अपने कर्मपाशोंसे बँधकर इन भयंकर जन्तुओंके बीचमें डाल दिया गया हूँ। मेरे स्वामी! आप प्रसन्न होकर मुझे कब अपने उन चरणकमलोंमें बुलायेंगे, जो समस्त जीवोंकी एकमात्र शरण और मोक्षस्वरूप हैं?॥ १६॥ अनन्त! मैं जिन-जिन योनियोंमें गया, उन सभी योनियोंमें प्रियके वियोग और अप्रियके संयोगसे होनेवाले शोककी आगमें झुलसता रहा। उन दुःखोंको मिटानेकी जो दवा है, वह भी दुःखरूप ही है। मैं न जाने कबसे अपनेसे अतिरिक्त वस्तुओंको आत्मा समझकर इधर-उधर भटक रहा हूँ। अब आप ऐसा साधन बतलाइये जिससे कि आपकी सेवा-भक्ति प्राप्त कर सकूँ॥ १७॥ प्रभो! आप हमारे प्रिय हैं। अहैतुक हितैषी सुहृद् हैं। आप ही वास्तवमें सबके परमाराध्य हैं। मैं ब्रह्माजीके द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाओंका गान करता हुआ बड़ी सुगमतासे रागादि प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर इस संसारकी कठिनाइयोंको पार कर जाऊँगा; क्योंकि आपके चरणयुगलोंमें रहनेवाले भक्त परमहंस महात्माओंका संग तो मुझे मिलता ही रहेगा॥ १८॥ भगवान् नृसिंह! इस लोकमें दुःखी जीवोंका दुःख मिटानेके लिये जो उपाय माना जाता है, वह आपके उपेक्षा करनेपर एक क्षणके लिये ही होता है। यहाँतक कि मा-बाप बालककी रक्षा नहीं कर सकते, ओषधि रोग नहीं मिटा सकती और समुद्रमें डूबते हुएको नौका नहीं बचा सकती॥ १९॥

१. प्रा० पा०—स्म्यलं। २. प्रा० पा०—गहनाद्।

यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम्॥ २०

सत्त्वादि गुणोंके कारण भिन्न-भिन्न स्वभावके जितने भी ब्रह्मादि श्रेष्ठ और कालादि कनिष्ठ कर्ता हैं, उनको प्रेरित करनेवाले आप ही हैं। वे आपकी प्रेरणासे जिस आधारमें स्थित होकर जिस निमित्तसे जिन मिट्टी आदि उपकरणोंसे जिस समय जिन साधनोंके द्वारा जिस अदृष्ट आदिकी सहायतासे जिस प्रयोजनके उद्देश्यसे जिस विधिसे जो कुछ उत्पन्न करते हैं या रूपान्तरित करते हैं, वे सब और वह सब आपका ही स्वरूप है॥ २०॥

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः॥ २१

पुरुषकी अनुमतिसे कालके द्वारा गुणोंमें क्षोभ होनेपर माया मनःप्रधान लिंगशरीरका निर्माण करती है। यह लिंगशरीर बलवान्, कर्ममय एवं अनेक नाम-रूपोंमें आसक्त—छन्दोमय है। यही अविद्याके द्वारा कल्पित मन, दस इन्द्रिय और पाँच तन्मात्रा—इन सोलह विकाररूप अरोंसे युक्त संसार-चक्र है। जन्मरहित प्रभो! आपसे भिन्न रहकर ऐसा कौन पुरुष है, जो इस मनरूप संसारचक्रको पार कर जाय?॥ २१॥

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम्॥ २२

सर्वशक्तिमान् प्रभो! माया इस सोलह अरोंवाले संसारचक्रमें डालकर ईखके समान मुझे पेर रही है। आप अपनी चैतन्यशक्तिसे बुद्धिके समस्त गुणोंको सर्वदा पराजित रखते हैं और कालरूपसे सम्पूर्ण साध्य और साधनोंको अपने अधीन रखते हैं। मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे इससे बचाकर अपनी सन्निधिमें खींच लीजिये॥ २२॥

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम्।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः॥ २३

भगवन्! जिनके लिये संसारीलोग बड़े लालायित रहते हैं, स्वर्गमें मिलनेवाली समस्त लोकपालोंकी वह आयु, लक्ष्मी और ऐश्वर्य मैंने खूब देख लिये। जिस समय मेरे पिता तनिक क्रोध करके हँसते थे और उससे उनकी भौंहें थोड़ी टेढ़ीं हो जाती थीं, तब उन स्वर्गकी सम्पत्तियोंके लिये कहीं ठिकाना नहीं रह जाता था, वे लुटती फिरती थीं। किन्तु आपने मेरे उन पिताको भी मार डाला॥ २३॥

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्॥ २४

इसलिये मैं ब्रह्मलोकतककी आयु, लक्ष्मी, ऐश्वर्य और वे इन्द्रियभोग, जिन्हें संसारके प्राणी चाहा करते हैं, नहीं चाहता; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अत्यन्त शक्तिशाली कालका रूप धारण करके आपने उन्हें ग्रस रखा है। इसलिये मुझे आप अपने दासोंकी सन्निधिमें ले चलिये॥ २४॥

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः[1]।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः॥ २५

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः॥ २६

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम्॥ २७

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात्।
कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्॥ २८

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम्।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु[2]-
स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि॥ २९

विषयभोगकी बातें सुननेमें ही अच्छी लगती हैं, वास्तवमें वे मृगतृष्णाके जलके समान नितान्त असत्य हैं और यह शरीर भी, जिससे वे भोग भोगे जाते हैं, अगणित रोगोंका उद्‌गमस्थान है। कहाँ वे मिथ्या विषयभोग और कहाँ यह रोगयुक्त शरीर! इन दोनोंकी क्षणभंगुरता और असारता जानकर भी मनुष्य इनसे विरक्त नहीं होता। वह कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले भोगके नन्हें-नन्हें मधुविन्दुओंसे अपनी कामनाकी आग बुझानेकी चेष्टा करता है!॥ २५॥ प्रभो! कहाँ तो इस तमोगुणी असुरवंशमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं, और कहाँ आपकी अनन्त कृपा! धन्य है! आपने अपना परम प्रसादस्वरूप और सकलसन्तापहारी वह करकमल मेरे सिरपर रखा है, जिसे आपने ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीजीके सिरपर भी कभी नहीं रखा॥ २६॥ दूसरे संसारी जीवोंके समान आपमें छोटे-बड़ेका भेदभाव नहीं है; क्योंकि आप सबके आत्मा और अकारण प्रेमी हैं। फिर भी कल्पवृक्षके समान आपका कृपा-प्रसाद भी सेवन-भजनसे ही प्राप्त होता है। सेवाके अनुसार ही जीवोंपर आपकी कृपाका उदय होता है, उसमें जातिगत उच्चता या नीचता कारण नहीं है॥ २७॥ भगवन्! यह संसार एक ऐसा अँधेरा कुआँ है, जिसमें कालरूप सर्प डँसनेके लिये सदा तैयार रहता है। विषय-भोगोंकी इच्छावाले पुरुष उसीमें गिरे हुए हैं। मैं भी संगवश उसके पीछे उसीमें गिरने जा रहा था। परन्तु भगवन्! देवर्षि नारदने मुझे अपनाकर बचा लिया। तब भला, मैं आपके भक्तजनोंकी सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ॥ २८॥ अनन्त! जिस समय मेरे पिताने अन्याय करनेके लिये कमर कसकर हाथमें खड्ग ले लिया और वह कहने लगा कि 'यदि मेरे सिवा कोई और ईश्वर है तो तुझे बचा ले, मैं तेरा सिर काटता हूँ', उस समय आपने मेरे प्राणोंकी रक्षा की और मेरे पिताका वध किया। मैं तो समझता हूँ कि आपने अपने प्रेमी भक्त सनकादि ऋषियोंका वचन सत्य करनेके लिये ही वैसा किया था॥ २९॥

१. प्रा० पा०—विमोहः। २. प्रा० पा०—दसून् बिभित्सु०।

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत् त्व-
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः॥ ३०

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था।
यद् यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद् वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः॥ ३१

न्यस्येदमात्मनि जगद् विलयाम्बुमध्ये
शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्र-
स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे॥ ३२

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम्।
अम्भस्यनन्तशयनाद् विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम्॥ ३३

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमु होपलभेत बीजम्॥ ३४

भगवन्! यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र आप ही हैं। क्योंकि इसके आदिमें आप ही कारणरूपसे थे, अन्तमें आप ही अवधिके रूपमें रहेंगे और बीचमें इसकी प्रतीतिके रूपमें भी केवल आप ही हैं। आप अपनी मायासे गुणोंके परिणाम-स्वरूप इस जगत्की सृष्टि करके इसमें पहलेसे विद्यमान रहनेपर भी प्रवेशकी लीला करते हैं और उन गुणोंसे युक्त होकर अनेक मालूम पड़ रहे हैं॥ ३० ॥ भगवन्! यह जो कुछ कार्य-कारणके रूपमें प्रतीत हो रहा है, वह सब आप ही हैं और इससे भिन्न भी आप ही हैं। अपने-परायेका भेद-भाव तो अर्थहीन शब्दोंकी माया है; क्योंकि जिससे जिसका जन्म, स्थिति, लय और प्रकाश होता है, वह उसका स्वरूप ही होता है—जैसे बीज और वृक्ष कारण और कार्यकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न हैं, तो भी गन्ध-तन्मात्रकी दृष्टिसे दोनों एक ही हैं॥ ३१ ॥

भगवन्! आप इस सम्पूर्ण विश्वको स्वयं ही अपनेमें समेटकर आत्मसुखका अनुभव करते हुए निष्क्रिय होकर प्रलयकालीन जलमें शयन करते हैं। उस समय अपने स्वयं-सिद्ध योगके द्वारा बाह्य दृष्टिको बंद कर आप अपने स्वरूपके प्रकाशमें निद्राको विलीन कर लेते हैं और तुरीय ब्रह्मपदमें स्थित रहते हैं। उस समय आप न तो तमोगुणसे ही युक्त होते और न तो विषयोंको ही स्वीकार करते हैं॥ ३२ ॥ आप अपनी कालशक्तिसे प्रकृतिके गुणोंको प्रेरित करते हैं, इसलिये यह ब्रह्माण्ड आपका ही शरीर है। पहले यह आपमें ही लीन था। जब प्रलयकालीन जलके भीतर शेषशय्यापर शयन करनेवाले आपने योगनिद्राकी समाधि त्याग दी, तब वटके बीजसे विशाल वृक्षके समान आपकी नाभिसे ब्रह्माण्डकमल उत्पन्न हुआ॥ ३३ ॥ उसपर सूक्ष्मदर्शी ब्रह्माजी प्रकट हुए। जब उन्हें कमलके सिवा और कुछ भी दिखायी न पड़ा, तब अपनेमें बीजरूपसे व्याप्त आपको वे न जान सके और आपको अपनेसे बाहर समझकर जलके भीतर घुसकर सौ वर्षतक ढूँढ़ते रहे। परन्तु वहाँ उन्हें कुछ नहीं मिला। यह ठीक ही है, क्योंकि अंकुर उग आनेपर उसमें व्याप्त बीजको कोई बाहर अलग कैसे देख सकता है॥ ३४॥

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श॥ ३५

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम्।
मायामयं सदुपलक्षितसंनिवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः॥ ३६

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं च बिभ्रद्
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ।
हत्वाऽऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति॥ ३७

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥ ३८

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम्।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः॥ ३९

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।

ब्रह्माको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हारकर कमलपर बैठ गये। बहुत समय बीतनेपर तीव्र तपस्या करनेसे जब उनका हृदय शुद्ध हो गया, तब उन्हें भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप अपने शरीरमें ही ओत-प्रोतरूपसे स्थित आपके सूक्ष्मरूपका साक्षात्कार हुआ—ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वीमें व्याप्त उसकी अति सूक्ष्म तन्मात्रा गन्धका होता है॥ ३५॥

विराट् पुरुष सहस्रों मुख, चरण, सिर, हाथ, जंघा, नासिका, मुख, कान, नेत्र, आभूषण और आयुधोंसे सम्पन्न था। चौदहों लोक उसके विभिन्न अंगोंके रूपमें शोभायमान थे। वह भगवान्‌की एक लीलामयी मूर्ति थी। उसे देखकर ब्रह्माजीको बड़ा आनन्द हुआ॥ ३६॥ रजोगुण और तमोगुणरूप मधु और कैटभ नामके दो बड़े बलवान् दैत्य थे। जब वे वेदोंको चुराकर ले गये, तब आपने हयग्रीव-अवतार ग्रहण किया और उन दोनोंको मारकर सत्त्वगुणरूप श्रुतियाँ ब्रह्माजीको लौटा दीं। वह सत्त्वगुण ही आपका अत्यन्त प्रिय शरीर है—महात्मालोग इस प्रकार वर्णन करते हैं॥ ३७॥ पुरुषोत्तम! इस प्रकार आप मनुष्य, पशु-पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्य आदि अवतार लेकर लोकोंका पालन तथा विश्वके द्रोहियोंका संहार करते हैं। इन अवतारोंके द्वारा आप प्रत्येक युगमें उसके धर्मोंकी रक्षा करते हैं। कलियुगमें आप छिपकर गुप्तरूपसे ही रहते हैं, इसीलिये आपका एक नाम 'त्रियुग' भी है॥ ३८॥

वैकुण्ठनाथ! मेरे मनकी बड़ी दुर्दशा है। वह पाप-वासनाओंसे तो कलुषित है ही, स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट है। वह प्रायः ही कामनाओंके कारण आतुर रहता है और हर्ष-शोक, भय एवं लोक-परलोक, धन, पत्नी, पुत्र आदिकी चिन्ताओंसे व्याकुल रहता है। इसे आपकी लीला-कथाओंमें तो रस ही नहीं मिलता। इसके मारे मैं दीन हो रहा हूँ। ऐसे मनसे मैं आपके स्वरूपका चिन्तन कैसे करूँ?॥ ३९॥ अच्युत! यह कभी न अघानेवाली जीभ मुझे स्वादिष्ट रसोंकी ओर खींचती रहती है। जननेन्द्रिय सुन्दरी स्त्रीकी ओर, त्वचा सुकोमल स्पर्शकी ओर, पेट भोजनकी ओर, कान मधुर संगीतकी ओर, नासिका भीनी-भीनी सुगन्धकी ओर और ये चपल नेत्र सौन्दर्यकी ओर मुझे

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
बर्ह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ ४०

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम्।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य॥ ४१

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः॥ ४२

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्॥ ४३

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥ ४४

खींचते रहते हैं। इनके सिवा कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयोंकी ओर ले जानेको जोर लगाती ही रहती हैं। मेरी तो वह दशा हो रही है, जैसे किसी पुरुषकी बहुत-सी पत्नियाँ उसे अपने-अपने शयनगृहमें ले जानेके लिये चारों ओरसे घसीट रही हों॥ ४०॥ इस प्रकार यह जीव अपने कर्मोंके बन्धनमें पड़कर इस संसाररूप वैतरणी नदीमें गिरा हुआ है। जन्मसे मृत्यु, मृत्युसे जन्म और दोनोंके द्वारा कर्मभोग करते-करते यह भयभीत हो गया है। यह अपना है, यह पराया है—इस प्रकारके भेद-भावसे युक्त होकर किसीसे मित्रता करता है तो किसीसे शत्रुता। आप इस मूढ़ जीव-जातिकी यह दुर्दशा देखकर करुणासे द्रवित हो जाइये। इस भव-नदीसे सर्वदा पार रहनेवाले भगवन्! इन प्राणियोंको भी अब पार लगा दीजिये॥ ४१॥ जगद्गुरो! आप इस सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति तथा पालन करनेवाले हैं। ऐसी अवस्थामें इन जीवोंको इस भव-नदीके पार उतार देनेमें आपको क्या प्रयास है? दीनजनोंके परमहितैषी प्रभो! भूले-भटके मूढ़ ही महान् पुरुषोंके विशेष अनुग्रहपात्र होते हैं। हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम आपके प्रियजनोंकी सेवामें लगे रहते हैं, इसलिये पार जानेकी हमें कभी चिन्ता ही नहीं होती॥ ४२॥ परमात्मन्! इस भव-वैतरणीसे पार उतरना दूसरे लोगोंके लिये अवश्य ही कठिन है, परन्तु मुझे तो इससे तनिक भी भय नहीं है। क्योंकि मेरा चित्त इस वैतरणीमें नहीं, आपकी उन लीलाओंके गानमें मग्न रहता है, जो स्वर्गीय अमृतको भी तिरस्कृत करनेवाली—परमामृतस्वरूप हैं। मैं उन मूढ़ प्राणियोंके लिये शोक कर रहा हूँ, जो आपके गुणगानसे विमुख रहकर इन्द्रियोंके विषयोंका मायामय झूठा सुख प्राप्त करनेके लिये अपने सिरपर सारे संसारका भार ढोते रहते हैं॥ ४३॥ मेरे स्वामी! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तो प्रायः अपनी मुक्तिके लिये निर्जन वनमें जाकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं। वे दूसरोंकी भलाईके लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते। परन्तु मेरी दशा तो दूसरी ही हो रही है। मैं इन भूले हुए असहाय गरीबोंको छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता। और इन भटकते हुए प्राणियोंके लिये आपके सिवा और कोई सहारा भी नहीं दिखायी पड़ता॥ ४४॥

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥ ४५

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥ ४६

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात्॥ ४७

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्॥ ४८

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्॥ ४९

घरमें फँसे हुए लोगोंको जो मैथुन आदिका सुख मिलता है, वह अत्यन्त तुच्छ एवं दुःखरूप ही है— जैसे कोई दोनों हाथोंसे खुजला रहा हो तो उस खुजलीमें पहले उसे कुछ थोड़ा-सा सुख मालूम पड़ता है, परन्तु पीछेसे दुःख-ही-दुःख होता है। किंतु ये भूले हुए अज्ञानी मनुष्य बहुत दुःख भोगनेपर भी इन विषयोंसे अघाते नहीं। इसके विपरीत धीर पुरुष जैसे खुजलाहटको सह लेते हैं, वैसे ही कामादि वेगोंको भी सह लेते हैं। सहनेसे ही उनका नाश होता है॥ ४५॥ पुरुषोत्तम! मोक्षके दस साधन प्रसिद्ध हैं— मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-श्रवण, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्मपालन, युक्तियोंसे शास्त्रोंकी व्याख्या, एकान्तसेवन, जप और समाधि। परन्तु जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उनके लिये ये सब जीविकाके साधन—व्यापारमात्र रह जाते हैं। और दम्भियोंके लिये तो जबतक उनकी पोल खुलती नहीं, तभीतक ये जीवननिर्वाहके साधन रहते हैं और भंडाफोड़ हो जानेपर वह भी नहीं॥ ४६॥ वेदोंने बीज और अंकुरके समान आपके दो रूप बताये हैं—कार्य और कारण। वास्तवमें आप प्राकृत रूपसे रहित हैं। परन्तु इन कार्य और कारणरूपोंको छोड़कर आपके ज्ञानका कोई और साधन भी नहीं है। काष्ठ-मन्थनके द्वारा जिस प्रकार अग्नि प्रकट की जाती है, उसी प्रकार योगीजन भक्तियोगकी साधनासे आपको कार्य और कारण दोनोंमें ही ढूँढ़ निकालते हैं। क्योंकि वास्तवमें ये दोनों आपसे पृथक् नहीं हैं, आपके स्वरूप ही हैं॥ ४७॥ अनन्त प्रभो! वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, पंचतन्मात्राएँ, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकार, सम्पूर्ण जगत् एवं सगुण और निर्गुण—सब कुछ केवल आप ही हैं। और तो क्या, मन और वाणीके द्वारा जो कुछ निरूपण किया गया है, वह सब आपसे पृथक् नहीं है॥ ४८॥ समग्र कीर्तिके आश्रय भगवन्! ये सत्त्वादि गुण और इन गुणोंके परिणाम महत्तत्त्वादि, देवता, मनुष्य एवं मन आदि कोई भी आपका स्वरूप जाननेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि ये सब आदि-अन्तवाले हैं और आप अनादि एवं अनन्त हैं। ऐसा विचार करके ज्ञानीजन शब्दोंकी मायासे उपरत हो जाते हैं॥ ४९॥

तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत॥ ५०

परम पूज्य! आपकी सेवाके छः अंग हैं—नमस्कार, स्तुति, समस्त कर्मोंका समर्पण, सेवा-पूजा, चरणकमलोंका चिन्तन और लीला-कथाका श्रवण। इस षडंगसेवाके बिना आपके चरणकमलोंकी भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? और भक्तिके बिना आपकी प्राप्ति कैसे होगी? प्रभो! आप तो अपने परम प्रिय भक्तजनोंके, परमहंसोंके ही सर्वस्व हैं॥ ५० ॥

नारद उवाच

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः।
प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत॥ ५१

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार भक्त प्रह्लादने बड़े प्रेमसे प्रकृति और प्राकृत गुणोंसे रहित भगवान्के स्वरूपभूत गुणोंका वर्णन किया। इसके बाद वे भगवान्के चरणोंमें सिर झुकाकर चुप हो गये। नृसिंहभगवान्का क्रोध शान्त हो गया और वे बड़े प्रेम तथा प्रसन्नतासे बोले॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्॥ ५२

श्रीनृसिंहभगवान्ने कहा—परम कल्याण-स्वरूप प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। दैत्यश्रेष्ठ! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे माँग लो। मैं जीवोंकी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला हूँ॥ ५२ ॥

मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति॥ ५३

आयुष्मन्! जो मुझे प्रसन्न नहीं कर लेता, उसे मेरा दर्शन मिलना बहुत ही कठिन है। परन्तु जब मेरे दर्शन हो जाते हैं, तब फिर प्राणीके हृदयमें किसी प्रकारकी जलन नहीं रह जाती॥ ५३ ॥

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः।
श्रेयस्कामा महाभागाः सर्वासामाशिषां पतिम्॥ ५४

मैं समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ। इसलिये सभी कल्याणकामी परम भाग्यवान् साधुजन जितेन्द्रिय होकर अपनी समस्त वृत्तियोंसे मुझे प्रसन्न करनेका ही यत्न करते हैं॥ ५४ ॥

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः।
एकान्तित्वाद् भगवति नैच्छत् तानसुरोत्तमः॥ ५५

असुरकुलभूषण प्रह्लादजी भगवान्के अनन्य प्रेमी थे। इसलिये बड़े-बड़े लोगोंको प्रलोभनमें डालनेवाले वरोंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी उन्होंने उनकी इच्छा नहीं की॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरिते भगवत्स्तवो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

प्रह्लादजीके राज्याभिषेक और त्रिपुरदहनकी कथा

नारद उवाच

भक्तियोगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह॥ १

प्रह्लाद उवाच

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्याऽऽसक्तं कामेषु[1] तैर्वरैः।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥ २

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत्।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो॥ ३

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत[2] करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥ ४

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥ ५

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव[3]॥ ६

यदि रासीश[4] मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥ ७

नारदजी कहते हैं—प्रह्लादजीने बालक होनेपर भी यही समझा कि वरदान माँगना प्रेम-भक्तिका विघ्न है; इसलिये कुछ मुसकराते हुए वे भगवान्से बोले॥ १॥

प्रह्लादजीने कहा—प्रभो! मैं जन्मसे ही विषय-भोगोंमें आसक्त हूँ, अब मुझे इन वरोंके द्वारा आप लुभाइये नहीं। मैं उन भोगोंके संगसे डरकर, उनके द्वारा होनेवाली तीव्र वेदनाका अनुभव कर उनसे छूटनेकी अभिलाषासे ही आपकी शरणमें आया हूँ॥ २॥ भगवन्! मुझमें भक्तके लक्षण हैं या नहीं—यह जाननेके लिये आपने अपने भक्तको वरदान माँगनेकी ओर प्रेरित किया है। ये विषय-भोग हृदयकी गाँठको और भी मजबूत करनेवाले तथा बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं॥ ३॥ जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं। (अपने भक्तको भोगोंमें फँसानेवाला वर कैसे दे सकते हैं?) आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं; वह तो लेन-देन करनेवाला निरा बनिया है॥ ४॥ जो स्वामीसे अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं; और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं॥ ५॥ मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं॥ ६॥ मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अंकुरित ही न हो॥ ७॥

१. प्रा० पा०—नैतेषु। २. प्रा० पा०—घटते। ३. प्रा० पा०—रिह। ४. प्रा० पा०—दास्यसि।

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥ ८

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥ ९

नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने॥ १०

नृसिंह उवाच

नैकान्तिनो मे मयि जात्विहाशिष
आशासतेऽमुत्र च ये भवद्विधाः।
अथापि मन्वन्तरमेतदत्र
दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान्॥ ११

कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्व-
मावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम्।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं
यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन्॥ १२

भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं
कलेवरं कालजवेन हित्वा।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः॥ १३

य एतत् कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः।
त्वां च मां च स्मरन्काले कर्मबन्धात् प्रमुच्यते॥ १४

प्रह्लाद उवाच

वरं वरय एतत् ते वरदेशान्महेश्वर।
यदनिन्दत् पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम्॥ १५

विद्धामर्षाशयः साक्षात् सर्वलोकगुरुं प्रभुम्।
भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान्॥ १६

हृदयमें किसी भी कामनाके उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं॥ ८॥ कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है॥ ९॥ भगवन्! आपको नमस्कार है। आप सबके हृदयमें विराजमान, उदारशिरोमणि स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं। अद्भुत नृसिंहरूपधारी श्रीहरिके चरणोंमें मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ॥ १०॥

श्रीनृसिंहभगवान्ने कहा—प्रह्लाद! तुम्हारे-जैसे मेरे एकान्तप्रेमी इस लोक अथवा परलोककी किसी भी वस्तुके लिये कभी कोई कामना नहीं करते। फिर भी अधिक नहीं, केवल एक मन्वन्तरतक मेरी प्रसन्नताके लिये तुम इस लोकमें दैत्याधिपतियोंके समस्त भोग स्वीकार कर लो॥ ११॥ समस्त प्राणियोंके हृदयमें यज्ञोंके भोक्ता ईश्वरके रूपमें मैं ही विराजमान हूँ। तुम अपने हृदयमें मुझे देखते रहना और मेरी लीला-कथाएँ, जो तुम्हें अत्यन्त प्रिय हैं, सुनते रहना। समस्त कर्मोंके द्वारा मेरी ही आराधना करना और इस प्रकार अपने प्रारब्ध-कर्मका क्षय कर देना॥ १२॥ भोगके द्वारा पुण्यकर्मोंके फल और निष्काम पुण्यकर्मोंके द्वारा पापका नाश करते हुए समयपर शरीरका त्याग करके समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर तुम मेरे पास आ जाओगे। देवलोकमें भी लोग तुम्हारी विशुद्ध कीर्तिका गान करेंगे॥ १३॥ तुम्हारे द्वारा की हुई मेरी इस स्तुतिका जो मनुष्य कीर्तन करेगा और साथ ही मेरा और तुम्हारा स्मरण भी करेगा, वह समयपर कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जायगा॥ १४॥

प्रह्लादजीने कहा—महेश्वर! आप वर देनेवालोंके स्वामी हैं। आपसे मैं एक वर और माँगता हूँ। मेरे पिताने आपके ईश्वरीय तेजको और सर्वशक्तिमान् चराचरगुरु स्वयं आपको न जानकर आपकी बड़ी निन्दा की है। 'इस विष्णुने मेरे भाईको मार डाला है' ऐसी मिथ्यादृष्टि रखनेके कारण पिताजी क्रोधके वेगको सहन करनेमें असमर्थ हो गये थे। इसीसे उन्होंने आपका भक्त होनेके कारण मुझसे भी द्रोह किया॥ १५-१६॥

तस्मात् पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादघात्।
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल॥ १७

श्रीभगवानुवाच

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः॥ १८

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः॥ १९

सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन।
उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावेन गतस्पृहाः॥ २०

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।
भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥ २१

कुरु त्वं प्रेतकार्याणि पितुः पूतस्य सर्वशः।
मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान्यास्यति सुप्रजाः॥ २२

पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः।
मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः॥ २३

नारद उवाच

प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत्साम्परायिकम्।
यथाऽऽह भगवान् राजन्नभिषिक्तो द्विजोत्तमैः॥ २४

प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम्।
स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः॥ २५

ब्रह्मोवाच

देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज।
दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसन्तापनोऽसुरः॥ २६

दीनबन्धो! यद्यपि आपकी दृष्टि पड़ते ही वे पवित्र हो चुके, फिर भी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि उस जल्दी नाश न होनेवाले दुस्तर दोषसे मेरे पिता शुद्ध हो जायँ॥ १७॥

श्रीनृसिंहभगवान्ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद! तुम्हारे पिता स्वयं पवित्र होकर तर गये, इसकी तो बात ही क्या है, यदि उनकी इक्कीस पीढ़ियोंके पितर होते तो उन सबके साथ भी वे तर जाते; क्योंकि तुम्हारे-जैसा कुलको पवित्र करनेवाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ॥ १८॥ मेरे शान्त, समदर्शी और सुखसे सदाचार पालन करनेवाले प्रेमी भक्तजन जहाँ-जहाँ निवास करते हैं, वे स्थान चाहे कीकट ही क्यों न हों, पवित्र हो जाते हैं॥ १९॥ दैत्यराज! मेरे भक्तिभावसे जिनकी कामनाएँ नष्ट हो गयी हैं, वे सर्वत्र आत्मभाव हो जानेके कारण छोटे-बड़े किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कष्ट नहीं पहुँचाते॥ २०॥ संसारमें जो लोग तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे भी मेरे भक्त हो जायँगे। बेटा! तुम मेरे सभी भक्तोंके आदर्श हो॥ २१॥ यद्यपि मेरे अंगोंका स्पर्श होनेसे तुम्हारे पिता पूर्णरूपसे पवित्र हो गये हैं, तथापि तुम उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया करो। तुम्हारे-जैसी सन्तानके कारण उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी॥ २२॥ वत्स! तुम अपने पिताके पदपर स्थित हो जाओ और वेदवादी मुनियोंकी आज्ञाके अनुसार मुझमें अपना मन लगाकर और मेरी शरणमें रहकर मेरी सेवाके लिये ही अपने सारे कार्य करो॥ २३॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! भगवान्की आज्ञाके अनुसार प्रह्लादजीने अपने पिताकी अन्त्येष्टि-क्रिया की, इसके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उनका राज्याभिषेक किया॥ २४॥ इसी समय देवता, ऋषि आदिके साथ ब्रह्माजीने नृसिंहभगवान्को प्रसन्नवदन देखकर पवित्र वचनोंके द्वारा उनकी स्तुति की और उनसे यह बात कही॥ २५॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओंके आराध्यदेव! आप सर्वान्तर्यामी, जीवोंके जीवनदाता और मेरे भी पिता हैं। यह पापी दैत्य लोगोंको बहुत ही सता रहा था। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने इसे मार डाला॥ २६॥

योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभिः।
तपोयोगबलोन्नद्धः[१] समस्तनिगमानहन्॥ २७

दिष्ट्यास्य[२] तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः।
त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां[३] समितोऽधुना॥ २८

एतद् वपुस्ते भगवन्ध्यायतः प्रयतात्मनः।
सर्वतो गोप्तृ संत्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः॥ २९

नृसिंह उवाच

मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव।
वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा॥ ३०

नारद उवाच

इत्युक्त्वा भगवानाराजंस्तत्रैवान्तर्दधे हरिः।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना॥ ३१

ततः सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम्।
भवं प्रजापतीन्देवान्प्रह्लादो भगवत्कलाः॥ ३२

ततः काव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादमकरोत् पतिम्॥ ३३

प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः।
स्वधामानि ययू राजन्ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः॥ ३४

एवं तौ पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः।
हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ॥ ३५

मैंने इसे वर दे दिया था कि मेरी सृष्टिका कोई भी प्राणी तुम्हारा वध न कर सकेगा। इससे यह मतवाला हो गया था। तपस्या, योग और बलके कारण उच्छृङ्खल होकर इसने वेदविधियोंका उच्छेद कर दिया था॥ २७॥ यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि इसके पुत्र परमभागवत शुद्धहृदय नन्हे-से शिशु प्रह्लादको आपने मृत्युके मुखसे छुड़ा दिया; तथा यह भी बड़े आनन्द और मंगलकी बात है कि वह अब आपकी शरणमें है॥ २८॥ भगवन्! आपके इस नृसिंहरूपका ध्यान जो कोई एकाग्र मनसे करेगा, उसे यह सब प्रकारके भयोंसे बचा लेगा। यहाँतक कि मारनेकी इच्छासे आयी हुई मृत्यु भी उसका कुछ न बिगाड़ सकेगी॥ २९॥

श्रीनृसिंहभगवान् बोले—ब्रह्माजी! आप दैत्योंको ऐसा वर न दिया करें। जो स्वभावसे ही क्रूर हैं, उनको दिया हुआ वर तो वैसा ही है जैसा साँपोंको दूध पिलाना॥ ३०॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! नृसिंहभगवान् इतना कहकर और ब्रह्माजीके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करके वहीं अन्तर्धान—समस्त प्राणियोंके लिये अदृश्य हो गये॥ ३१॥ इसके बाद प्रह्लादजीने भगवत्स्वरूप ब्रह्मा-शंकरकी तथा प्रजापति और देवताओंकी पूजा करके उन्हें माथा टेककर प्रणाम किया॥ ३२॥ तब शुक्राचार्य आदि मुनियोंके साथ ब्रह्माजीने प्रह्लादजीको समस्त दानव और दैत्योंका अधिपति बना दिया॥ ३३॥ फिर ब्रह्मादि देवताओंने प्रह्लादका अभिनन्दन किया और उन्हें शुभाशीर्वाद दिये। प्रह्लादजीने भी यथायोग्य सबका सत्कार किया और वे लोग अपने-अपने लोकोंको चले गये॥ ३४॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार भगवान्‌के वे दोनों पार्षद जय और विजय दितिके पुत्र दैत्य हो गये थे। वे भगवान्‌से वैरभाव रखते थे। उनके हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌ने उनका उद्धार करनेके लिये उन्हें मार डाला॥ ३५॥

१. प्रा० पा०—बलोन्मत्तः। २. प्रा० पा०—ते। ३. प्रा० पा०—तन्नियतोऽधुना।

पुनश्च विप्रशापेन राक्षसौ तौ बभूवतुः।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः॥ ३६

शयानौ युधि निर्भिन्नहृदयौ रामसायकैः।
तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि॥ ३७

ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः॥ ३८

एनः पूर्वकृतं यत् तद् राजानः कृष्णवैरिणः।
जहुस्त्वन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा॥ ३९

यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाभिदा।
नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः॥ ४०

आख्यातं सर्वमेतत् ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान्।
दमघोषसुतादीनां हरेः सात्म्यमपि द्विषाम्॥ ४१

एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः।
अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः॥ ४२

प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च।
भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथात्म्यं चास्य वै हरेः॥ ४३

सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम्।
परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान्॥ ४४

धर्मो भागवतानां च भगवान्येन गम्यते।
आख्यानेऽस्मिन्समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः॥ ४५

य एतत् पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम्।
कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते॥ ४६

ऋषियोंके शापके कारण उनकी मुक्ति नहीं हुई, वे फिरसे कुम्भकर्ण और रावणके रूपमें राक्षस हुए। उस समय भगवान् श्रीरामके पराक्रमसे उनका अन्त हुआ॥ ३६॥ युद्धमें भगवान् रामके बाणोंसे उनका कलेजा फट गया। वहीं पड़े-पड़े पूर्वजन्मकी भाँति भगवान्का स्मरण करते-करते उन्होंने अपने शरीर छोड़े॥ ३७॥ वे ही अब इस युगमें शिशुपाल और दन्तवक्त्रके रूपमें पैदा हुए थे। भगवान्के प्रति वैरभाव होनेके कारण तुम्हारे सामने ही वे उनमें समा गये॥ ३८॥ युधिष्ठिर! श्रीकृष्णसे शत्रुता रखनेवाले सभी राजा अन्तसमयमें श्रीकृष्णके स्मरणसे तद्रूप होकर अपने पूर्वकृत पापोंसे सदाके लिये मुक्त हो गये। जैसे भृंगीके द्वारा पकड़ा हुआ कीड़ा भयसे ही उसका स्वरूप प्राप्त कर लेता है॥ ३९॥ जिस प्रकार भगवान्के प्यारे भक्त अपनी भेद-भावरहित अनन्य भक्तिके द्वारा भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही शिशुपाल आदि नरपति भी भगवान्के वैरभावजनित अनन्य चिन्तनसे भगवान्के सारूप्यको प्राप्त हो गये॥ ४०॥

युधिष्ठिर! तुमने मुझसे पूछा था कि भगवान्से द्वेष करनेवाले शिशुपाल आदिको उनके सारूप्यकी प्राप्ति कैसे हुई। उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया॥ ४१॥ ब्रह्मण्यदेव परमात्मा श्रीकृष्णका यह परम पवित्र अवतार-चरित्र है। इसमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु इन दोनों दैत्योंके वधका वर्णन है॥ ४२॥ इस प्रसंगमें भगवान्के परम भक्त प्रह्लादका चरित्र, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके स्वामी श्रीहरिके यथार्थ स्वरूप तथा उनके दिव्य गुण एवं लीलाओंका वर्णन है। इस आख्यानमें देवता और दैत्योंके पदोंमें कालक्रमसे जो महान् परिवर्तन होता है, उसका भी निरूपण किया गया है॥ ४३-४४॥

जिसके द्वारा भगवान्की प्राप्ति होती है, उस भागवत-धर्मका भी वर्णन है। अध्यात्मके सम्बन्धमें भी सभी जाननेयोग्य बातें इसमें हैं॥ ४५॥ भगवान्के पराक्रमसे पूर्ण इस पवित्र आख्यानको जो कोई पुरुष श्रद्धासे कीर्तन करता और सुनता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ४६॥

एतद् य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम्[1]॥ ४७

जो मनुष्य परम पुरुष परमात्माकी यह श्रीनृसिंह-लीला, सेनापतियोंसहित हिरण्यकशिपुका वध और संतशिरोमणि प्रह्लादजीका पावन प्रभाव एकाग्र मनसे पढ़ता और सुनता है, वह भगवान्‌के अभयपद वैकुण्ठको प्राप्त होता है॥ ४७॥

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति[2]।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥ ४८

युधिष्ठिर! इस मनुष्यलोकमें तुमलोगोंके भाग्य अत्यन्त प्रशंसनीय हैं, क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यका रूप धारण करके गुप्तरूपसे निवास करते हैं। इसीसे सारे संसारको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं॥ ४८॥

स[3] वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च॥ ४९

बड़े-बड़े महापुरुष निरन्तर जिनको ढूँढ़ते रहते हैं, जो मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभव-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा हैं—वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं॥ ४९॥

न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्[4]।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥ ५०

शंकर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे यह हैं'—इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके, फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं। हम तो मौन, भक्ति और संयमके द्वारा ही उनकी पूजा करते हैं। कृपया हमारी यह पूजा स्वीकार करके भक्तवत्सल भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ५०॥

स एष भगवान्राजन्व्यतनोद् विहतं यशः।
पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना॥ ५१

युधिष्ठिर! यही एकमात्र आराध्यदेव हैं। प्राचीन कालमें बहुत बड़े मायावी मयासुरने जब रुद्रदेवकी कमनीय कीर्तिमें कलंक लगाना चाहा था, तब इन्हीं भगवान् श्रीकृष्णने फिरसे उनके यशकी रक्षा और विस्तार किया था॥ ५१॥

राजोवाच

कस्मिन् कर्मणि देवस्य मयोऽहञ्जगदीशितुः।
यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम्॥ ५२

राजा युधिष्ठिरने पूछा—नारदजी! मयदानव किस कार्यमें जगदीश्वर रुद्रदेवका यश नष्ट करना चाहता था और भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकार उनके यशकी रक्षा की? आप कृपा करके बतलाइये॥ ५२॥

नारद उवाच

निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः॥ ५३

नारदजीने कहा—एक बार इन्हीं भगवान् श्रीकृष्णसे शक्ति प्राप्त करके देवताओंने युद्धमें असुरोंको जीत लिया था। उस समय सब-के-सब असुर मायावियोंके परमगुरु मयदानवकी शरणमें गये॥ ५३॥

१. प्रा० पा०—लोकान्। २. प्रा० पा०—यान्ति। ३. प्रा० पा०—सर्वाश्रयं ब्रह्म। ४. प्रा० पा०—वस्तु तदानुव०।

स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौप्यायसीर्विभुः।
दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः॥ ५४

ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन् सेश्वरान् नृप।
स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः॥ ५५

ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं विभो।
त्राहि नस्तावकान्देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः॥ ५६

अथानुगृह्य भगवान्मा भैष्टेति सुरान्विभुः।
शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वस्त्रं व्यमुञ्चत॥ ५७

ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात्।
यथा मयूखसंदोहा नादृश्यन्त पुरो यतः॥ ५८

तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः।
तानानीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत्॥ ५९

सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः।
उत्तस्थुर्मेघदलना वैद्युता इव वह्नयः॥ ६०

विलोक्य भग्नसङ्कल्पं विमनस्कं वृषध्वजम्।
तदायं भगवान्विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत्॥ ६१

वत्स आसीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः।
प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ॥ ६२

शक्तिशाली मयासुरने सोने, चाँदी और लोहेके तीन विमान बना दिये। वे विमान क्या थे, तीन पुर ही थे। वे इतने विलक्षण थे कि उनका आना-जाना जान नहीं पड़ता था। उनमें अपरिमित सामग्रियाँ भरी हुई थीं॥ ५४॥ युधिष्ठिर! दैत्यसेनापतियोंके मनमें तीनों लोक और लोकपतियोंके प्रति वैरभाव तो था ही, अब उसकी याद करके उन तीनों विमानोंके द्वारा वे उनमें छिपे रहकर सबका नाश करने लगे॥ ५५॥ तब लोकपालोंके साथ सारी प्रजा भगवान् शंकरकी शरणमें गयी और उनसे प्रार्थना की कि 'प्रभो! त्रिपुरमें रहनेवाले असुर हमारा नाश कर रहे हैं। हम आपके हैं; अतः देवाधिदेव! आप हमारी रक्षा कीजिये'॥ ५६॥

उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् शंकरने कृपापूर्ण शब्दोंमें कहा—'डरो मत।' फिर उन्होंने अपने धनुषपर बाण चढ़ाकर तीनों पुरोंपर छोड़ दिया॥ ५७॥

उनके उस बाणसे सूर्यमण्डलसे निकलनेवाली किरणोंके समान अन्य बहुत-से बाण निकले। उनमेंसे मानो आगकी लपटें निकल रही थीं। उनके कारण उन पुरोंका दीखना बंद हो गया॥ ५८॥

उनके स्पर्शसे सभी विमानवासी निष्प्राण होकर गिर पड़े। महामायावी मय बहुत-से उपाय जानता था, वह उन दैत्योंको उठा लाया और अपने बनाये हुए अमृतके कुएँमें डाल दिया॥ ५९॥

उस सिद्ध अमृत-रसका स्पर्श होते ही असुरोंका शरीर अत्यन्त तेजस्वी और वज्रके समान सुदृढ़ हो गया। वे बादलोंको विदीर्ण करनेवाली बिजलीकी आगकी तरह उठ खड़े हुए॥ ६०॥

इन्हीं भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि महादेवजी तो अपना संकल्प पूरा न होनेके कारण उदास हो गये हैं, तब उन असुरोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इन्होंने एक युक्ति की॥ ६१॥

यही भगवान् विष्णु उस समय गौ बन गये और ब्रह्माजी बछड़ा बने। दोनों ही मध्याह्नके समय उन तीनों पुरोंमें गये और उस सिद्धरसके कुएँका सारा अमृत पी गये॥ ६२॥

तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन्विमोहिताः।
तद् विज्ञाय महायोगी रसपालानिदं जगौ॥ ६३

स्वयं विशोकः शोकार्तान्स्मरन्दैवगतिं च ताम्।
देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन॥ ६४

आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः।
अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधानिकं व्यधात्॥ ६५

यद्यपि उसके रक्षक दैत्य इन दोनोंको देख रहे थे, फिर भी भगवान्‌की मायासे वे इतने मोहित हो गये कि इन्हें रोक न सके। जब उपाय जाननेवालोंमें श्रेष्ठ मयासुरको यह बात मालूम हुई, तब भगवान्‌की इस लीलाका स्मरण करके उसे कोई शोक न हुआ। शोक करनेवाले अमृत-रक्षकोंसे उसने कहा—'भाई! देवता, असुर, मनुष्य अथवा और कोई भी प्राणी अपने, पराये अथवा दोनोंके लिये जो प्रारब्धका विधान है, उसे मिटा नहीं सकता। जो होना था, हो गया। शोक करके क्या करना है?' इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपनी शक्तियोंके द्वारा भगवान् शंकरके युद्धकी सामग्री तैयार की॥ ६३—६५॥

धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः।
रथं सूतं ध्वजं वाहान्धनुर्वर्म शरादि यत्॥ ६६

उन्होंने धर्मसे रथ, ज्ञानसे सारथि, वैराग्यसे ध्वजा, ऐश्वर्यसे घोड़े, तपस्यासे धनुष, विद्यासे कवच, क्रियासे बाण और अपनी अन्यान्य शक्तियोंसे अन्यान्य वस्तुओंका निर्माण किया॥ ६६॥

सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे।
शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः॥ ६७

ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप।
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः॥ ६८

इन सामग्रियोंसे सज-धजकर भगवान् शंकर रथपर सवार हुए एवं धनुष-बाण धारण किया। भगवान् शंकरने अभिजित् मुहूर्तमें धनुषपर बाण चढ़ाया और उन तीनों दुर्भेद्य विमानोंको भस्म कर दिया। युधिष्ठिर! उसी समय स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। सैकड़ों विमानोंकी भीड़ लग गयी॥ ६७-६८॥

देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः।
अवाकिरञ्जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः॥ ६९

देवता, ऋषि, पितर और सिद्धेश्वर आनन्दसे जय-जयकार करते हुए पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं॥ ६९॥

एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्त्रो भगवान्पुरहा नृप।
ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वधाम प्रत्यपद्यत॥ ७०

युधिष्ठिर! इस प्रकार उन तीनों पुरोंको जलाकर भगवान् शंकरने 'पुरारि'की पदवी प्राप्त की और ब्रह्मादिकोंकी स्तुति सुनते हुए अपने धामको चले गये॥ ७०॥

एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः।
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो-
र्लोकान् पुनानान्यपरं वदामि किम्॥ ७१

आत्मस्वरूप जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार अपनी मायासे जो मनुष्योंकी-सी लीलाएँ करते हैं, ऋषिलोग उन्हीं अनेकों लोकपावन लीलाओंका गान किया करते हैं। बताओ, अब मैं तुम्हें और क्या सुनाऊँ?॥ ७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे त्रिपुरविजयो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

मानवधर्म, वर्णधर्म और स्त्रीधर्मका निरूपण

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं
महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदा युतः
पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः॥ १

युधिष्ठिर उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान्विन्दते परम्॥ २
भवान्प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः।
सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः॥ ३
नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे॥ ४

नारद उवाच

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्॥ ५
योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे॥ ६
धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति॥ ७
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥ ८
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥ ९
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥ १०
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥ ११

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— भगवन्मय प्रह्लादजीके साधुसमाजमें सम्मानित पवित्र चरित्र सुनकर संतशिरोमणि युधिष्ठिरको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने नारदजीसे और भी पूछा॥ १॥

युधिष्ठिरजीने कहा— भगवन्! अब मैं वर्ण और आश्रमोंके सदाचारके साथ मनुष्योंके सनातनधर्मका श्रवण करना चाहता हूँ, क्योंकि धर्मसे ही मनुष्यको ज्ञान, भगवत्प्रेम और साक्षात् परम पुरुष भगवान्‌की प्राप्ति होती है॥ २॥ आप स्वयं प्रजापति ब्रह्माजीके पुत्र हैं और नारदजी! आपकी तपस्या, योग एवं समाधिके कारण वे अपने दूसरे पुत्रोंकी अपेक्षा आपका अधिक सम्मान भी करते हैं॥ ३॥ आपके समान नारायण-परायण, दयालु, सदाचारी और शान्त ब्राह्मण धर्मके गुप्त-से-गुप्त रहस्यको जैसा यथार्थरूपसे जानते हैं, दूसरे लोग वैसा नहीं जानते॥ ४॥

नारदजीने कहा— युधिष्ठिर! अजन्मा भगवान् ही समस्त धर्मोंके मूल कारण हैं। वही प्रभु चराचर जगत्‌के कल्याणके लिये धर्म और दक्षपुत्री मूर्तिके द्वारा अपने अंशसे अवतीर्ण होकर बदरिकाश्रममें तपस्या कर रहे हैं। उन नारायणभगवान्‌को नमस्कार करके उन्हींके मुखसे सुने हुए सनातनधर्मका मैं वर्णन करता हूँ॥ ५-६॥ युधिष्ठिर! सर्ववेदस्वरूप भगवान् श्रीहरि, उनका तत्त्व जाननेवाले महर्षियोंकी स्मृतियाँ और जिससे आत्मग्लानि न होकर आत्मप्रसादकी उपलब्धि हो, वह कर्म धर्मके मूल हैं॥ ७॥

युधिष्ठिर! धर्मके ये तीस लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उलटा ही होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति॥ १२

भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार; उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह तीस प्रकारका आचरण सभी मनुष्योंका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं॥ ८—१२॥

संस्कारा यदविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः॥ १३

धर्मराज! जिनके वंशमें अखण्डरूपसे संस्कार होते आये हैं और जिन्हें ब्रह्माजीने संस्कारके योग्य स्वीकार किया है, उन्हें द्विज कहते हैं। जन्म और कर्मसे शुद्ध द्विजोंके लिये यज्ञ, अध्ययन, दान और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंके विशेष कर्मोंका विधान है॥ १३॥

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः॥ १४

अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना और यज्ञ करना, यज्ञ कराना—ये छः कर्म ब्राह्मणके हैं। क्षत्रियको दान नहीं लेना चाहिये। प्रजाकी रक्षा करनेवाले क्षत्रियका जीवन-निर्वाह ब्राह्मणके सिवा और सबसे यथायोग्य कर तथा दण्ड (जुर्माना) आदिके द्वारा होता है॥ १४॥

वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥ १५

वैश्यको सर्वदा ब्राह्मणवंशका अनुयायी रहकर गोरक्षा, कृषि एवं व्यापारके द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिये। शूद्रका धर्म है द्विजातियोंकी सेवा। उसकी जीविकाका निर्वाह उसका स्वामी करता है॥ १५॥

वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम्[१]।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा॥ १६

ब्राह्मणके जीवन-निर्वाहके साधन चार प्रकारके हैं—वार्ता[१], शालीन,[२] यायावर[३] और शिलोञ्छन[४]। इनमेंसे पीछे-पीछेकी वृत्तियाँ अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हैं॥ १६॥

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः।
ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः॥ १७

निम्नवर्णका पुरुष बिना आपत्तिकालके उत्तम वर्णकी वृत्तियोंका अवलम्बन न करे। क्षत्रिय दान लेना छोड़कर ब्राह्मणकी शेष पाँचों वृत्तियोंका अवलम्बन ले सकता है। आपत्तिकालमें सभी सब वृत्तियोंको स्वीकार कर सकते हैं॥ १७॥

---

१. प्रा० पा०—शालीना यावज्जीवं शिलोञ्छनम्।

१. यज्ञाध्ययनादि कराकर धन लेना। २. बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसीमें निर्वाह करना। ३. नित्यप्रति धान्यादि माँग लाना। ४. किसानके खेत काटकर अन्न घरको ले जानेपर पृथ्वीपर जो कण पड़े रह जाते हैं, उन्हें 'शिल' तथा बाजारमें पड़े हुए अन्नके दानोंको 'उञ्छ' कहते हैं। उन शिल और उञ्छोंको बीनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छन' वृत्ति है।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कथञ्चन॥ १८

ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम्।
मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥ १९

सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम्।
वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः॥ २०

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्॥ २१

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्॥ २२

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम्॥ २३

शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्॥ २४

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्॥ २५

संमार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा॥ २६

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्॥ २७

ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिका आश्रय ले, परन्तु श्वानवृत्तिका अवलम्बन कभी न करे॥ १८॥ बाजारमें पड़े हुए अन्न (उञ्छ) तथा खेतोंमें पड़े हुए अन्न (शिल)-को बीनकर 'शिलोञ्छ' वृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना 'ऋत' है। बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसी अयाचित (शालीन) वृत्तिके द्वारा जीवन-निर्वाह करना 'अमृत' है। नित्य माँगकर लाना अर्थात् 'यायावर' वृत्तिके द्वारा जीवन-यापन करना 'मृत' है। कृषि आदिके द्वारा 'वार्ता' वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करना 'प्रमृत' है॥ १९॥ वाणिज्य 'सत्यानृत' है और निम्नवर्णकी सेवा करना 'श्वानवृत्ति' है। ब्राह्मण और क्षत्रियको इस अन्तिम निन्दित वृत्तिका कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये। क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय और क्षत्रिय (राजा) सर्वदेवमय है॥ २०॥ शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य—ये ब्राह्मणके लक्षण हैं॥ २१॥

युद्धमें उत्साह, वीरता, धीरता, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, अनुग्रह और प्रजाकी रक्षा करना—ये क्षत्रियके लक्षण हैं॥ २२॥ देवता, गुरु और भगवान्‌के प्रति भक्ति, अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंकी रक्षा करना; आस्तिकता, उद्योगशीलता और व्यावहारिक निपुणता—ये वैश्यके लक्षण हैं॥ २३॥ उच्च वर्णोंके सामने विनम्र रहना, पवित्रता, स्वामीकी निष्कपट सेवा, वैदिक मन्त्रोंसे रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ, ब्राह्मणोंकी रक्षा करना—ये शूद्रके लक्षण हैं॥ २४॥

पतिकी सेवा करना, उसके अनुकूल रहना, पतिके सम्बन्धियोंको प्रसन्न रखना और सर्वदा पतिके नियमोंकी रक्षा करना—ये पतिको ही ईश्वर माननेवाली पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म हैं॥ २५॥ साध्वी स्त्रीको चाहिये कि झाड़ने-बुहारने, लीपने तथा चौक पूरने आदिसे घरको और मनोहर वस्त्राभूषणोंसे अपने शरीरको अलंकृत रखे। सामग्रियोंको साफ-सुथरी रखे॥ २६॥ अपने पतिदेवकी छोटी-बड़ी इच्छाओंको समयके अनुसार पूर्ण करे। विनय, इन्द्रिय-संयम, सत्य एवं प्रिय वचनोंसे प्रेमपूर्वक पतिदेवकी सेवा करे॥ २७॥

संतुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्॥ २८

जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहे; किसी भी वस्तुके लिये ललचावे नहीं। सभी कार्योंमें चतुर एवं धर्मज्ञ हो। सत्य और प्रिय बोले। अपने कर्तव्यमें सावधान रहे। पवित्रता और प्रेमसे परिपूर्ण रहकर, यदि पति पतित न हो तो, उसका सहवास करे॥ २८॥

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥ २९

जो लक्ष्मीजीके समान पतिपरायणा होकर अपने पतिकी उसे साक्षात् भगवान्का स्वरूप समझकर सेवा करती है, उसके पतिदेव वैकुण्ठलोकमें भगवत्सारूप्यको प्राप्त होते हैं और वह लक्ष्मीजीके समान उनके साथ आनन्दित होती है॥ २९॥

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनाम्॥ ३०

युधिष्ठिर! जो चोरी तथा अन्यान्य पाप-कर्म नहीं करते—उन अन्त्यज तथा चाण्डाल आदि अन्तेवसायी वर्णसंकर जातियोंकी वृत्तियाँ वे ही हैं, जो कुल-परम्परासे उनके यहाँ चली आयी हैं॥ ३०॥

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन्प्रेत्य चेह च शर्मकृत्॥ ३१

वेददर्शी ऋषि-मुनियोंने युग-युगमें प्रायः मनुष्योंके स्वभावके अनुसार धर्मकी व्यवस्था की है। वही धर्म उनके लिये इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी है॥ ३१॥

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥ ३२

जो स्वाभाविक वृत्तिका आश्रय लेकर अपने स्वधर्मका पालन करता है, वह धीरे-धीरे उन स्वाभाविक कर्मोंसे भी ऊपर उठ जाता है और गुणातीत हो जाता है॥ ३२॥

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात्।
न कल्पते पुनः सूत्यै उप्तं बीजं च नश्यति॥ ३३

एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया।
विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत् कामबिन्दुभिः॥ ३४

महाराज! जिस प्रकार बार-बार बोनेसे खेत स्वयं ही शक्तिहीन हो जाता है और उसमें अंकुर उगना बंद हो जाता है, यहाँतक कि उसमें बोया हुआ बीज भी नष्ट हो जाता है—उसी प्रकार यह चित्त, जो वासनाओंका खजाना है, विषयोंका अत्यन्त सेवन करनेसे स्वयं ही ऊब जाता है। परन्तु स्वल्प भोगोंसे ऐसा नहीं होता। जैसे एक-एक बूँद घी डालनेसे आग नहीं बुझती, परन्तु एक ही साथ अधिक घी पड़ जाय तो वह बुझ जाती है॥ ३३-३४॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥ ३५

जिस पुरुषके वर्णको बतलानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझना चाहिये॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमोंके नियम

नारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन्दान्तो गुरोर्हितम्।
आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः॥ १

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।
उभे सन्ध्ये च यतवाग् जपन्ब्रह्म समाहितः॥ २

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत्॥ ३

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम्॥ ४

सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत्।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित्॥ ५

सुशीलो मितभुग् दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च॥ ६

वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः॥ ७

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा॥ ८

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्॥ ९

नारदजी कहते हैं—धर्मराज! गुरुकुलमें निवास करनेवाला ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखकर दासके समान अपनेको छोटा माने, गुरुदेवके चरणोंमें सुदृढ़ अनुराग रखे और उनके हितके कार्य करता रहे॥ १॥ सायंकाल और प्रातःकाल गुरु, अग्नि, सूर्य और श्रेष्ठ देवताओंकी उपासना करे और मौन होकर एकाग्रतासे गायत्रीका जप करता हुआ दोनों समयकी सन्ध्या करे॥ २॥

गुरुजी जब बुलावें तभी पूर्णतया अनुशासनमें रहकर उनसे वेदोंका स्वाध्याय करे। पाठके प्रारम्भ और अन्तमें उनके चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करे॥ ३॥ शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा हाथमें कुश धारण करे॥ ४॥ सायंकाल और प्रातःकाल भिक्षा माँगकर लावे और उसे गुरुजीको समर्पित कर दे। वे आज्ञा दें, तब भोजन करे और यदि कभी आज्ञा न दें तो उपवास कर ले॥ ५॥

अपने शीलकी रक्षा करे। थोड़ा खाये। अपने कामोंको निपुणताके साथ करे। श्रद्धा रखे और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखे। स्त्री और स्त्रियोंके वशमें रहनेवालोंके साथ जितनी आवश्यकता हो, उतना ही व्यवहार करे॥ ६॥ जो गृहस्थ नहीं है और ब्रह्मचर्यका व्रत लिये हुए है, उसे स्त्रियोंकी चर्चासे ही अलग रहना चाहिये। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं। ये प्रयत्नपूर्वक साधन करनेवालोंके मनको भी क्षुब्ध करके खींच लेती हैं॥ ७॥ युवक ब्रह्मचारी युवती गुरुपत्नियोंसे बाल सुलझवाना, शरीर मलवाना, स्नान करवाना, उबटन लगवाना इत्यादि कार्य न करावे॥ ८॥ स्त्रियाँ आगके समान हैं और पुरुष घीके घड़ेके समान। एकान्तमें तो अपनी कन्याके साथ भी न रहना चाहिये। जब वह एकान्तमें न हो, तब भी आवश्यकताके अनुसार ही उसके पास रहना चाहिये॥ ९॥

कल्पयित्वाऽऽत्मना यावदाभासमिदमीश्वरः।
द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः॥ १०

जबतक यह जीव आत्मसाक्षात्कारके द्वारा इन देह और इन्द्रियोंको प्रतीतिमात्र निश्चय करके स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तबतक 'मैं पुरुष हूँ और यह स्त्री है'—यह द्वैत नहीं मिटता और तबतक यह भी निश्चित है कि ऐसे पुरुष यदि स्त्रीके संसर्गमें रहेंगे, तो उनकी उनमें भोग्यबुद्धि हो ही जायगी॥ १०॥

एतत् सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि।
गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः[1]॥ ११

ये सब शील-रक्षादि गुण गृहस्थके लिये और संन्यासीके लिये भी विहित हैं। गृहस्थके लिये गुरुकुलमें रहकर गुरुकी सेवा-शुश्रूषा वैकल्पिक है, क्योंकि ऋतुगमनके कारण उसे वहाँसे अलग भी होना पड़ता है॥ ११॥

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं[2] मधु।
स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥ १२

जो ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करें, उन्हें चाहिये कि वे सुरमा या तेल न लगावें। उबटन न मलें। स्त्रियोंके चित्र न बनावें। मांस और मद्यसे कोई सम्बन्ध न रखें। फूलोंके हार, इत्र-फुलेल, चन्दन और आभूषणोंका त्याग कर दें॥ १२॥

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च।
त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम्॥ १३

इस प्रकार गुरुकुलमें निवास करके द्विजातिको अपनी शक्ति और आवश्यकताके अनुसार वेद, उनके अंग—शिक्षा, कल्प आदि और उपनिषदोंका अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥ १३॥

दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः।
गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत्॥ १४

फिर यदि सामर्थ्य हो तो गुरुको मुँहमाँगी दक्षिणा देनी चाहिये। इसके बाद उनकी आज्ञासे गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे या आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उसी आश्रममें रहे॥ १४॥

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम्।
भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत्॥ १५

यद्यपि भगवान् स्वरूपतः सर्वत्र एकरस स्थित हैं, अतएव उनका कहीं प्रवेश करना या निकलना नहीं हो सकता—फिर भी अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें अपने आश्रित जीवोंके साथ वे विशेषरूपसे विराजमान हैं। इसलिये उनपर सदा दृष्टि जमी रहनी चाहिये॥ १५॥

एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही।
चरन्विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ १६

इस प्रकार आचरण करनेवाला ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी अथवा गृहस्थ विज्ञानसम्पन्न होकर परब्रह्मतत्त्वका अनुभव प्राप्त कर लेता है॥ १६॥

१. प्रा० पा०—कामिनः। २. प्रा० पा०—लोकामिषं।

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान्मुनिसम्मतान्[1]।
[2]यानातिष्ठन् मुनिर्गच्छेदृषिलोकमिहाञ्जसा[3]॥ १७

अब मैं ऋषियोंके मतानुसार वानप्रस्थ-आश्रमके नियम बतलाता हूँ। इनका आचरण करनेसे वानप्रस्थ-आश्रमीको अनायास ही ऋषियोंके लोक महर्लोककी प्राप्ति हो जाती है॥ १७॥

न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः।
अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत्॥ १८

वानप्रस्थ-आश्रमीको जोती हुई भूमिमें उत्पन्न होनेवाले चावल, गेहूँ आदि अन्न नहीं खाने चाहिये। बिना जोते पैदा हुआ अन्न भी यदि असमयमें पका हो, तो उसे भी न खाना चाहिये। आगसे पकाया हुआ या कच्चा अन्न भी न खाय। केवल सूर्यके तापसे पके हुए कन्द, मूल, फल आदिका ही सेवन करे॥ १८॥

वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत्[4] कालचोदितान्।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत्॥ १९

जंगलोंमें अपने-आप पैदा हुए धान्योंसे नित्य-नैमित्तिक चरु और पुरोडाशका हवन करे। जब नये-नये अन्न, फल, फूल आदि मिलने लगें, तब पहलेके इकट्ठे किये हुए अन्नका परित्याग कर दे॥ १९॥

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम्[5]।
श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट्[6] स्वयम्॥ २०

अग्निहोत्रके अग्निकी रक्षाके लिये ही घर, पर्णकुटी अथवा पहाड़की गुफाका आश्रय ले। स्वयं शीत, वायु, अग्नि, वर्षा और घामका सहन करे॥ २०॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत्।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान्॥ २१

सिरपर जटा धारण करे और केश, रोम, नख एवं दाढ़ी-मूँछ न कटवाये तथा मैलको भी शरीरसे अलग न करे। कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड, वल्कल-वस्त्र और अग्निहोत्रकी सामग्रियोंको अपने पास रखे॥ २१॥

चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः॥ २२

विचारवान् पुरुषको चाहिये कि बारह, आठ, चार, दो या एक वर्षतक वानप्रस्थ-आश्रमके नियमोंका पालन करे। ध्यान रहे कि कहीं अधिक तपस्याका क्लेश सहन करनेसे बुद्धि बिगड़ न जाय॥ २२॥

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा[7]।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम्॥ २३

वानप्रस्थी पुरुष जब रोग अथवा बुढ़ापेके कारण अपने कर्म पूरे न कर सके और वेदान्त-विचार करनेकी भी सामर्थ्य न रहे, तब उसे अनशन आदि व्रत करने चाहिये॥ २३॥

१. प्रा० पा०—संगतान्। २. प्रा० पा०—तथाति०। ३. प्रा० पा०—हौजसा। ४. प्रा० पा०—पेन्नित्यनोदितान्। ५. प्रा० पा०—कन्दरम्। ६. प्रा० पा०—तपमाश्रयम्। ७. प्रा० पा०—योत वा।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य संन्यस्याहंममात्मताम्।
कारणेषु न्यसेत् सम्यक् संघातं तु यथार्हतः॥ २४

अनशनके पूर्व ही वह अपने आहवनीय आदि अग्नियोंको अपनी आत्मामें लीन कर ले। 'मैंपन' और 'मेरेपन' का त्याग करके शरीरको उसके कारणभूत तत्त्वोंमें यथायोग्य भलीभाँति लीन करे॥ २४॥

खे खानि वायौ निःश्वासांस्तेजस्यूष्माणमात्मवान्।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम्॥ २५

जितेन्द्रिय पुरुष अपने शरीरके छिद्राकाशोंको आकाशमें, प्राणोंको वायुमें, गरमीको अग्निमें, रक्त, कफ, पीब आदि जलीय तत्त्वोंको जलमें और हड्डी आदि ठोस वस्तुओंको पृथ्वीमें लीन करे॥ २५॥

वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि।
पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ॥ २६

मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत्।
दिक्षु श्रोत्रं सनादेन स्पर्शमध्यात्मनि[1] त्वचम्॥ २७

रूपाणि चक्षुषा राजन् ज्योतिष्यभिनिवेशयेत्[2]।
अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत्॥ २८

इसी प्रकार वाणी और उसके कर्म भाषणको उसके अधिष्ठातृदेवता अग्निमें, हाथ और उसके द्वारा होनेवाले कला-कौशलको इन्द्रमें, चरण और उसकी गतिको कालस्वरूप विष्णुमें, रति और उपस्थको प्रजापतिमें एवं पायु और मलोत्सर्गको उनके आश्रयके अनुसार मृत्युमें लीन कर दे। श्रोत्र और उसके द्वारा सुने जानेवाले शब्दको दिशाओंमें, स्पर्श और त्वचाको वायुमें, नेत्रसहित रूपको ज्योतिमें, मधुर आदि रसके सहित* रसनेन्द्रियको जलमें और युधिष्ठिर! घ्राणेन्द्रिय एवं उसके द्वारा सूँघे जानेवाले गन्धको पृथ्वीमें लीन कर दे॥ २६—२८॥

मनो मनोरथैश्चन्द्रे[3] बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे।
कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहंममताक्रिया।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे॥ २९

मनोरथोंके साथ मनको चन्द्रमामें, समझमें आनेवाले पदार्थोंके सहित बुद्धिको ब्रह्मामें तथा अहंता और ममतारूप क्रिया करनेवाले अहंकारको उसके कर्मोंके साथ रुद्रमें लीन कर दे। इसी प्रकार चेतना-सहित चित्तको क्षेत्रज्ञ (जीव)-में और गुणोंके कारण विकारी-से प्रतीत होनेवाले जीवको परब्रह्ममें लीन कर दे॥ २९॥

---

१. प्रा० पा० स्पर्शेनाध्यात्मचिन्तनम्। २. प्रा० पा०—ज्योतिःष्व०। ३. प्रा० पा०—मनोरथे शुद्धे बुद्धौ वाचं तथार्पयेत्।

* यहाँ मूलमें 'प्रचेतसा' पद है, जिसका अर्थ 'वरुणके सहित' होता है। वरुण रसनेन्द्रियके अधिष्ठाता हैं। श्रीधर-स्वामीने भी इसी मतको स्वीकार किया है। परन्तु इस प्रसंगमें सर्वत्र इन्द्रिय और उसके विषयका अधिष्ठातृदेवमें लय करना बताया गया है, फिर रसनेन्द्रियके लिये ही नया क्रम युक्तियुक्त नहीं जँचता। इसलिये यहाँ श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके मतानुसार 'प्रचेतसा' पदका ('प्रकृष्टं चेतो यत्र स प्रचेतो मधुरादिरसस्तेन'—जिसकी ओर चित्त अधिक आकृष्ट हो, वह मधुरादि रस 'प्रचेतस्' है, उसके सहित) इस विग्रहके अनुसार प्रस्तुत अर्थ किया गया है और यही युक्तियुक्त मालूम होता है।

अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम्।
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च[1] तत्॥ ३०

साथ ही पृथ्वीका जलमें, जलका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका अहंकारमें, अहंकारका महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वका अव्यक्तमें और अव्यक्तका अविनाशी परमात्मामें लय कर दे॥ ३०॥

इत्यक्षरतयाऽऽत्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्।
ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः॥ ३१

इस प्रकार अविनाशी परमात्माके रूपमें अवशिष्ट जो चिद्वस्तु है, वह आत्मा है, वह मैं हूँ—यह जानकर अद्वितीय भावमें स्थित हो जाय। जैसे अपने आश्रय काष्ठादिके भस्म हो जानेपर अग्नि शान्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, वैसे ही वह भी उपरत हो जाय॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो
नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

यतिधर्मका निरूपण और अवधूत-प्रह्लाद-संवाद

नारद उवाच

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य[2] देहमात्रावशेषितः।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम्॥ १

नारदजी कहते हैं— धर्मराज! यदि वानप्रस्थीमें ब्रह्मविचारका सामर्थ्य हो, तो शरीरके अतिरिक्त और सब कुछ छोड़कर वह संन्यास ले ले; तथा किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान और समयकी अपेक्षा न रखकर एक गाँवमें एक ही रात ठहरनेका नियम लेकर पृथ्वीपर विचरण करे॥ १॥

बिभृयाद् यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डलिङ्गादेरन्यत्[3] किञ्चिदनापदि॥ २

यदि वह वस्त्र पहने तो केवल कौपीन, जिससे उसके गुप्त अंग ढक जायँ। और जबतक कोई आपत्ति न आवे, तबतक दण्ड तथा अपने आश्रमके चिह्नोंके सिवा अपनी त्यागी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण न करे॥ २॥

एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः॥ ३

संन्यासीको चाहिये कि वह समस्त प्राणियोंका हितैषी हो, शान्त रहे, भगवत्परायण रहे और किसीका आश्रय न लेकर अपने-आपमें ही रमे एवं अकेला ही विचरे॥ ३॥

१. प्रा० पा०—तु। २. प्रा० पा०—परित्यज्य। ३. प्रा० पा०—लिङ्गदण्डादे०।

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये॥ ४

सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक्।
पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः॥ ५

नाभिनन्देद् ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम्।
कालं परं प्रतीक्षेत[1] भूतानां प्रभवाप्ययम्॥ ६

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत् तर्कान्पक्षं कं[2] च न संश्रयेत्॥ ७

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥ ८

न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत्॥ ९

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत्।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥ १०

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च॥ ११

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि।
रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम्॥ १२

ददर्श लोकान्विचरँल्लोकतत्त्वविवित्सया।
वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः॥ १३

इस सम्पूर्ण विश्वको कार्य और कारणसे अतीत परमात्मामें अध्यस्त जाने और कार्य-कारणस्वरूप इस जगत्में ब्रह्मस्वरूप अपने आत्माको परिपूर्ण देखे॥ ४॥ आत्मदर्शी संन्यासी सुषुप्ति और जागरणकी सन्धिमें अपने स्वरूपका अनुभव करे और बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही केवल माया हैं, वस्तुतः कुछ नहीं—ऐसा समझे॥ ५॥ न तो शरीरकी अवश्य होनेवाली मृत्युका अभिनन्दन करे और न अनिश्चित जीवनका। केवल समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशके कारण कालकी प्रतीक्षा करता रहे॥ ६॥ असत्य—अनात्मवस्तुका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंसे प्रीति न करे। अपने जीवन-निर्वाहके लिये कोई जीविका न करे, केवल वाद-विवादके लिये कोई तर्क न करे और संसारमें किसीका पक्ष न ले॥ ७॥ शिष्य-मण्डली न जुटावे, बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करे, व्याख्यान न दे और बड़े-बड़े कामोंका आरम्भ न करे॥ ८॥ शान्त, समदर्शी एवं महात्मा संन्यासीके लिये किसी आश्रमका बन्धन धर्मका कारण नहीं है। वह अपने आश्रमके चिह्नोंको धारण करे, चाहे छोड़ दे॥ ९॥ उसके पास कोई आश्रमका चिह्न न हो, परन्तु वह आत्मानुसन्धानमें मग्न हो। हो तो अत्यन्त विचारशील, परन्तु जान पड़े पागल और बालककी तरह। वह अत्यन्त प्रतिभाशील होनेपर भी साधारण मनुष्योंकी दृष्टिसे ऐसा जान पड़े मानो कोई गूँगा है॥ १०॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करते हैं। वह है दत्तात्रेय मुनि और भक्तराज प्रह्लादका संवाद॥ ११॥ एक बार भगवान्‌के परम प्रेमी प्रह्लादजी कुछ मन्त्रियोंके साथ लोगोंके हृदयकी बात जाननेकी इच्छासे लोकोंमें विचरण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि सह्य पर्वतकी तलहटीमें कावेरी नदीके तटपर पृथ्वीपर ही एक मुनि पड़े हुए हैं। उनके शरीरकी निर्मल ज्योति अंगोंके धूलि-धूसरित होनेके कारण ढकी हुई थी॥ १२-१३॥

१. प्रा० पा०—परीक्षेत। २. प्रा० पा०—कञ्चन नाश्रयेत्।

कर्मणाऽऽकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः।
न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च॥ १४

तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत् पादयोः शिरसा स्पृशन्।
विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥ १५

बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान्यथा।
वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा॥ १६

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य
ब्रह्मन् नु हार्थो यत एव भोगः।
अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः
पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत्॥ १७

कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः।
लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा॥ १८

नारद उवाच

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः।
स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः॥ १९

ब्राह्मण उवाच

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान् नन्वार्यसम्मतः।
ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा॥ २०

यस्य नारायणो देवो भगवान्हृद्गतः सदा।
भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत्॥ २१

उनके कर्म, आकार, वाणी और वर्ण-आश्रम आदिके चिह्नोंसे लोग यह नहीं समझ सकते थे कि वे कोई सिद्ध पुरुष हैं या नहीं॥ १४॥ भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त प्रह्लादजीने अपने सिरसे उनके चरणोंका स्पर्श करके प्रणाम किया और विधिपूर्वक उनकी पूजा करके जाननेकी इच्छासे यह प्रश्न किया॥ १५॥ 'भगवन्! आपका शरीर उद्योगी और भोगी पुरुषोंके समान हृष्ट-पुष्ट है। संसारका यह नियम है कि उद्योग करनेवालोंको धन मिलता है, धनवालोंको ही भोग प्राप्त होता है और भोगियोंका ही शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है। और कोई दूसरा कारण तो हो नहीं सकता॥ १६॥ भगवन्! आप कोई उद्योग तो करते नहीं, यों ही पड़े रहते हैं। इसलिये आपके पास धन है नहीं। फिर आपको भोग कहाँसे प्राप्त होंगे? ब्राह्मणदेवता! बिना भोगके ही आपका यह शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट कैसे है? यदि हमारे सुननेयोग्य हो, तो अवश्य बतलाइये॥ १७॥ आप विद्वान्, समर्थ और चतुर हैं। आपकी बातें बड़ी अद्‌भुत और प्रिय होती हैं। ऐसी अवस्थामें आप सारे संसारको कर्म करते हुए देखकर भी समभावसे पड़े हुए हैं, इसका क्या कारण है?'॥ १८॥

नारदजी कहते हैं—धर्मराज! जब प्रह्लादजीने महामुनि दत्तात्रेयजीसे इस प्रकार प्रश्न किया, तब वे उनकी अमृतमयी वाणीके वशीभूत हो मुसकराते हुए बोले॥ १९॥

दत्तात्रेयजीने कहा—दैत्यराज! सभी श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारा सम्मान करते हैं। मनुष्योंको कर्मोंकी प्रवृत्ति और उनकी निवृत्तिका क्या फल मिलता है, यह बात तुम अपनी ज्ञानदृष्टिसे जानते ही हो॥ २०॥ तुम्हारी अनन्य भक्तिके कारण देवाधिदेव भगवान् नारायण सदा तुम्हारे हृदयमें विराजमान रहते हैं और जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, वैसे ही वे तुम्हारे अज्ञानको नष्ट करते रहते हैं॥ २१॥

अथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम्।
सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छताम्॥ २२

तो भी प्रह्लाद! मैंने जैसा कुछ जाना है, उसके अनुसार मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ। क्योंकि आत्मशुद्धिके अभिलाषियोंको तुम्हारा सम्मान अवश्य करना चाहिये॥ २२॥

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूरया।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः॥ २३

यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन्।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च॥ २४

अत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम्॥ २५

प्रह्लादजी! तृष्णा एक ऐसी वस्तु है, जो इच्छानुसार भोगोंके प्राप्त होनेपर भी पूरी नहीं होती। उसीके कारण जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकना पड़ता है। तृष्णाने मुझसे न जाने कितने कर्म करवाये और उनके कारण न जाने कितनी योनियोंमें मुझे डाला॥ २३॥ कर्मोंके कारण अनेकों योनियोंमें भटकते-भटकते दैववश मुझे यह मनुष्ययोनि मिली है, जो स्वर्ग, मोक्ष, तिर्यग्योनि तथा इस मानवदेहकी भी प्राप्तिका द्वार है—इसमें पुण्य करें तो स्वर्ग, पाप करें तो पशु-पक्षी आदिकी योनि, निवृत्त हो जायँ तो मोक्ष और दोनों प्रकारके कर्म किये जायँ तो फिर मनुष्ययोनिकी ही प्राप्ति हो सकती है॥ २४॥ परन्तु मैं देखता हूँ कि संसारके स्त्री-पुरुष कर्म तो करते हैं सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये, किन्तु उसका फल उलटा होता ही है—वे और भी दुःखमें पड़ जाते हैं। इसीलिये मैं कर्मोंसे उपरत हो गया हूँ॥ २५॥

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः।
मनःसस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन्॥ २६

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान्।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम्॥ २७

जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया।
मृगतृष्णामुपाधावेद् यथान्यत्रार्थदृक् स्वतः॥ २८

देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः॥ २९

सुख ही आत्माका स्वरूप है। समस्त चेष्टाओंकी निवृत्ति ही उसका शरीर—उसके प्रकाशित होनेका स्थान है। इसलिये समस्त भोगोंको मनोराज्यमात्र समझकर मैं अपने प्रारब्धको भोगता हुआ पड़ा रहता हूँ॥ २६॥ मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ अर्थात् वास्तविक सुखको, जो अपना स्वरूप ही है, भूलकर इस मिथ्या द्वैतको सत्य मानता हुआ अत्यन्त भयंकर और विचित्र जन्मों और मृत्युओंमें भटकता रहता है॥ २७॥ जैसे अज्ञानी मनुष्य जलमें उत्पन्न तिनके और सेवारसे ढके हुए जलको जल न समझकर जलके लिये मृगतृष्णाकी ओर दौड़ता है, वैसे ही अपनी आत्मासे भिन्न वस्तुमें सुख समझनेवाला पुरुष आत्माको छोड़कर विषयोंकी ओर दौड़ता है॥ २८॥ प्रह्लादजी! शरीर आदि तो प्रारब्धके अधीन हैं। उनके द्वारा जो अपने लिये सुख पाना और दुःख मिटाना चाहता है, वह कभी अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकता। उसके बार-बार किये हुए सारे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं॥ २९॥

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम्॥ ३०

मनुष्य सर्वदा शारीरिक, मानसिक आदि दु:खोंसे आक्रान्त ही रहता है। मरणशील तो है ही, यदि उसने बड़े श्रम और कष्टसे कुछ धन और भोग प्राप्त कर भी लिया तो क्या लाभ है?॥ ३०॥

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम्।
भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम्॥ ३१

लोभी और इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले धनियोंका दु:ख तो मैं देखता ही रहता हूँ। भयके मारे उन्हें नींद नहीं आती। सबपर उनका सन्देह बना रहता है॥ ३१॥

राजतश्चोरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्॥ ३२

जो जीवन और धनके लोभी हैं—वे राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु-पक्षी, याचक और कालसे, यहाँतक कि 'कहीं मैं भूल न कर बैठूँ, अधिक न खर्च कर दूँ'—इस आशंकासे अपने-आप भी सदा डरते रहते हैं॥ ३२॥

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां[1] प्राणार्थयोर्बुधः॥ ३३

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि जिसके कारण शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता और श्रम आदिका शिकार होना पड़ता है—उस धन और जीवनकी स्पृहाका त्याग कर दे॥ ३३॥

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ।
वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम्॥ ३४

इस लोकमें मेरे सबसे बड़े गुरु हैं—अजगर और मधुमक्खी। उनकी शिक्षासे हमें वैराग्य और सन्तोषकी प्राप्ति हुई है॥ ३४॥

विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात्।
कृच्छ्राप्तं मधुवद् वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत्पतिम्॥ ३५

मधुमक्खी जैसे मधु इकट्ठा करती है, वैसे ही लोग बड़े कष्टसे धन-संचय करते हैं; परन्तु दूसरा ही कोई उस धन-राशिके स्वामीको मारकर उसे छीन लेता है। इससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की कि विषय-भोगोंसे विरक्त ही रहना चाहिये॥ ३५॥

अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम्।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान्॥ ३६

मैं अजगरके समान निश्चेष्ट पड़ा रहता हूँ और दैववश जो कुछ मिल जाता है, उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ और यदि कुछ नहीं मिलता, तो बहुत दिनोंतक धैर्य धारण कर यों ही पड़ा रहता हूँ॥ ३६॥

क्वचिदल्पं क्वचिद् भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा।
क्वचिद् भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत[2] क्वचित्॥ ३७

कभी थोड़ा अन्न खा लेता हूँ तो कभी बहुत; कभी स्वादिष्ट तो कभी नीरस—बेस्वाद; और कभी अनेकों गुणोंसे युक्त, तो कभी सर्वथा गुणहीन॥ ३७॥

श्रद्धयोपाहृतं[3] क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्।
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद् दिवा नक्तं यदृच्छया॥ ३८

कभी बड़ी श्रद्धासे प्राप्त हुआ अन्न खाता हूँ तो कभी अपमानके साथ और किसी-किसी समय अपने-आप ही मिल जानेपर कभी दिनमें, कभी रातमें और कभी एक बार भोजन करके भी दुबारा कर लेता हूँ॥ ३८॥

१. प्रा० पा०—स्पृहाः। २. प्रा० पा०—हीनं ततः क्व०। ३. प्रा० पा०—योगगतं चापि।

क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम्॥ ३९

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु।
क्वचित् प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया॥ ४०

क्वचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलंकृतः।
रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद् विभो॥ ४१

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि॥ ४२

विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे।
मनो वैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोत्यनु॥ ४३

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ्मुनिः।
ततो निरीहो विरमेत् स्वानुभूत्याऽऽत्मनि स्थितः॥ ४४

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम्।
व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः॥ ४५

नारद उवाच

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः।
पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम्॥ ४६

मैं अपने प्रारब्धके भोगमें ही सन्तुष्ट रहता हूँ। इसलिये मुझे रेशमी या सूती, मृगचर्म या चीर, वल्कल या और कुछ—जैसा भी वस्त्र मिल जाता है, वैसा ही पहन लेता हूँ॥ ३९॥ कभी मैं पृथ्वी, घास, पत्ते, पत्थर या राखके ढेरपर ही पड़ा रहता हूँ, तो कभी दूसरोंकी इच्छासे महलोंमें पलँगों और गद्दोंपर सो लेता हूँ॥ ४०॥ दैत्यराज! कभी नहा-धोकर, शरीरमें चन्दन लगाकर सुन्दर वस्त्र, फूलोंके हार और गहने पहन रथ, हाथी और घोड़ेपर चढ़कर चलता हूँ, तो कभी पिशाचके समान बिलकुल नंग-धड़ंग विचरता हूँ॥ ४१॥ मनुष्योंके स्वभाव भिन्न-भिन्न होते ही हैं। अतः न तो मैं किसीकी निन्दा करता हूँ और न स्तुति ही। मैं केवल इनका परम कल्याण और परमात्मासे एकता चाहता हूँ॥ ४२॥

सत्यका अनुसन्धान करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि जो नाना प्रकारके पदार्थ और उनके भेद-विभेद मालूम पड़ रहे हैं, उनको चित्तवृत्तिमें हवन कर दे। चित्तवृत्तिको इन पदार्थोंके सम्बन्धमें विविध भ्रम उत्पन्न करनेवाले मनमें, मनको सात्त्विक अहंकारमें और सात्त्विक अहंकारको महत्तत्त्वके द्वारा मायामें हवन कर दे। इस प्रकार ये सब भेद-विभेद और उनका कारण माया ही है, ऐसा निश्चय करके फिर उस मायाको आत्मानुभूतिमें स्वाहा कर दे। इस प्रकार आत्मसाक्षात्कारके द्वारा आत्मस्वरूपमें स्थित होकर निष्क्रिय एवं उपरत हो जाय॥ ४३-४४॥ प्रह्लादजी! मेरी यह आत्मकथा अत्यन्त गुप्त एवं लोक और शास्त्रसे परेकी वस्तु है। तुम भगवान्‌के अत्यन्त प्रेमी हो, इसलिये मैंने तुम्हारे प्रति इसका वर्णन किया है॥ ४५॥

नारदजी कहते हैं—महाराज! प्रह्लादजीने दत्तात्रेय मुनिसे परमहंसोंके इस धर्मका श्रवण करके उनकी पूजा की और फिर उनसे विदा लेकर बड़ी प्रसन्नतासे अपनी राजधानीके लिये प्रस्थान किया॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
युधिष्ठिरनारदसंवादे यतिधर्मे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गृहस्थसम्बन्धी सदाचार

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा।
याति देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः॥ १

नारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन्गृहोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्॥ २

शृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम्।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः॥ ३

सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥ ४

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥ ५

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥ ६

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत् सर्वमुपभुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥ ७

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ ८

राजा युधिष्ठिरने पूछा—देवर्षि नारदजी! मेरे जैसा गृहासक्त गृहस्थ बिना विशेष परिश्रमके इस पदको किस साधनसे प्राप्त कर सकता है, आप कृपा करके मुझे बतलाइये॥ १॥

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर! मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहे और गृहस्थधर्मके अनुसार सब काम करे, परन्तु उन्हें भगवान्‌के प्रति समर्पित कर दे और बड़े-बड़े संत-महात्माओंकी सेवा भी करे॥ २॥ अवकाशके अनुसार विरक्त पुरुषोंमें निवास करे और बार-बार श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के अवतारोंकी लीला-सुधाका पान करता रहे॥ ३॥ जैसे स्वप्न टूट जानेपर मनुष्य स्वप्नके सम्बन्धियोंसे आसक्त नहीं रहता—वैसे ही ज्यों-ज्यों सत्संगके द्वारा बुद्धि शुद्ध हो, त्यों-ही-त्यों शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिकी आसक्ति स्वयं छोड़ता चले। क्योंकि एक-न-एक दिन ये छूटनेवाले ही हैं॥ ४॥ बुद्धिमान् पुरुषको आवश्यकताके अनुसार ही घर और शरीरकी सेवा करनी चाहिये, अधिक नहीं। भीतरसे विरक्त रहे और बाहरसे रागीके समान लोगोंमें साधारण मनुष्यों-जैसा ही व्यवहार करे॥ ५॥ माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-मित्र, जातिवाले और दूसरे जो कुछ कहें अथवा जो कुछ चाहें, भीतरसे ममता न रखकर उनका अनुमोदन कर दे॥ ६॥

बुद्धिमान् पुरुष वर्षा आदिके द्वारा होनेवाले अन्नादि, पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण आदि, अकस्मात् प्राप्त होनेवाले द्रव्य आदि तथा और सब प्रकारके धन भगवान्‌के ही दिये हुए हैं—ऐसा समझकर प्रारब्धके अनुसार उनका उपभोग करता हुआ संचय न करे, उन्हें पूर्वोक्त साधुसेवा आदि कर्मोंमें लगा दे॥ ७॥ मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये॥ ८॥

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत्॥ ९

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम्॥ १०

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान्संविभजेद् यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः॥ ११

जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद् वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः॥ १२

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम्।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः॥ १३

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात्॥ १४

देवानृषीन् नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्॥ १५

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत्॥ १६

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक्।
इज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः॥ १७

हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, सरीसृप (रेंगकर चलनेवाले प्राणी), पक्षी और मक्खी आदिको अपने पुत्रके समान ही समझे। उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है॥ ९॥ गृहस्थ मनुष्योंको भी धर्म, अर्थ और कामके लिये बहुत कष्ट नहीं उठाना चाहिये; बल्कि देश, काल और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तोष करना चाहिये॥ १०॥ अपनी समस्त भोग-सामग्रियोंको कुत्ते, पतित और चाण्डालपर्यन्त सब प्राणियोंको यथायोग्य बाँटकर ही अपने काममें लाना चाहिये। और तो क्या, अपनी स्त्रीको भी—जिसे मनुष्य समझता है कि यह मेरी है—अतिथि आदिकी निर्दोष सेवामें नियुक्त रखे॥ ११॥ लोग स्त्रीके लिये अपने प्राणतक दे डालते हैं। यहाँतक कि अपने मा-बाप और गुरुको भी मार डालते हैं। उस स्त्रीपरसे जिसने अपनी ममता हटा ली, उसने स्वयं नित्यविजयी भगवान्पर भी विजय प्राप्त कर ली॥ १२॥ यह शरीर अन्तमें कीड़े, विष्ठा या राखकी ढेरी होकर रहेगा। कहाँ तो यह तुच्छ शरीर और इसके लिये जिसमें आसक्ति होती है वह स्त्री, और कहाँ अपनी महिमासे आकाशको भी ढक रखनेवाला अनन्त आत्मा!॥ १३॥ गृहस्थको चाहिये कि प्रारब्धसे प्राप्त और पंचयज्ञ आदिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना जीवन-निर्वाह करे। जो बुद्धिमान् पुरुष इसके सिवा और किसी वस्तुमें स्वत्व नहीं रखते, उन्हें संतोंका पद प्राप्त होता है॥ १४॥

अपनी वर्णाश्रमविहित वृत्तिके द्वारा प्राप्त सामग्रियोंसे प्रतिदिन देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत और पितृगणका तथा अपने आत्माका पूजन करना चाहिये। यह एक ही परमेश्वरकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें आराधना है॥ १५॥ यदि अपनेको अधिकार आदि यज्ञके लिये आवश्यक सब वस्तुएँ प्राप्त हों तो बड़े-बड़े यज्ञ या अग्निहोत्र आदिके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनी चाहिये॥ १६॥ युधिष्ठिर! वैसे तो समस्त यज्ञोंके भोक्ता भगवान् ही हैं; परन्तु ब्राह्मणके मुखमें अर्पित किये हुए हविष्यान्नसे उनकी जैसी तृप्ति होती है, वैसी अग्निके मुखमें हवन करनेसे नहीं॥ १७॥

तस्माद् ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु॥ १८

कुर्यादापरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः।
श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनां च वित्तवान्॥ १९

अयने विषुवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये।
चन्द्रादित्योपरागे च द्वादशीश्रवणेषु च॥ २०

तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके।
चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा॥ २१

माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे।
राकया चानुमत्या वा मासर्क्षाणि युतान्यपि॥ २२

द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः।
तिसृष्वेकादशी वासु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक्॥ २३

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः।
कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः॥ २४

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम्।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद् दत्तं तद्ध्यनश्वरम्॥ २५

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा।
प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप॥ २६

इसलिये ब्राह्मण, देवता, मनुष्य आदि सभी प्राणियोंमें यथायोग्य, उनके उपयुक्त सामग्रियोंके द्वारा सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। इनमें प्रधानता ब्राह्मणोंकी ही है॥ १८॥ धनी द्विजको अपने धनके अनुसार आश्विन मासके कृष्णपक्षमें अपने माता-पिता तथा उनके बन्धुओं (पितामह, मातामह आदि)-का भी महालय श्राद्ध करना चाहिये॥ १९॥ इसके सिवा अयन (कर्क एवं मकरकी संक्रान्ति), विषुव (तुला और मेषकी संक्रान्ति), व्यतीपात, दिनक्षय, चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहणके समय, द्वादशीके दिन, श्रवण, धनिष्ठा और अनुराधा नक्षत्रोंमें, वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया), कार्तिक शुक्ला नवमी (अक्षय नवमी), अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन—इन चार महीनोंकी कृष्णाष्टमी, माघशुक्ला सप्तमी, माघकी मघा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा और प्रत्येक महीनेकी वह पूर्णिमा, जो अपने मास-नक्षत्र, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, आदिसे युक्त हो—चाहे चन्द्रमा पूर्ण हों या अपूर्ण; द्वादशी तिथिका अनुराधा, श्रवण, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा और उत्तराभाद्रपदाके साथ योग, एकादशी तिथिका तीनों उत्तरा नक्षत्रोंसे योग अथवा जन्म-नक्षत्र या श्रवण नक्षत्रसे योग—ये सारे समय पितृगणोंका श्राद्ध करने योग्य एवं श्रेष्ठ हैं। ये योग केवल श्राद्धके लिये ही नहीं, सभी पुण्यकर्मोंके लिये उपयोगी हैं। ये कल्याणकी साधनाके उपयुक्त और शुभकी अभिवृद्धि करनेवाले हैं। इन अवसरोंपर अपनी पूरी शक्ति लगाकर शुभ कर्म करने चाहिये। इसीमें जीवनकी सफलता है॥ २०—२४॥ इन शुभ संयोगोंमें जो स्नान, जप, होम, व्रत तथा देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा की जाती है अथवा जो कुछ देवता, पितर, मनुष्य एवं प्राणियोंको समर्पित किया जाता है, उसका फल अक्षय होता है॥ २५॥

युधिष्ठिर! इसी प्रकार स्त्रीके पुंसवन आदि, सन्तानके जातकर्मादि तथा अपने यज्ञ-दीक्षा आदि संस्कारोंके समय, शव-दाहके दिन या वार्षिक श्राद्धके उपलक्ष्यमें अथवा अन्य मांगलिक कर्मोंमें दान आदि शुभकर्म करने चाहिये॥ २६॥

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान्।
स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते॥ २७

बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम्।
यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम्॥ २८

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम्।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः॥ २९

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत।
कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः॥ ३०

नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा॥ ३१

नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः।
सर्वे कुलाचला राजन्महेन्द्रमलयादयः॥ ३२

एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये।
एतान्देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः॥ ३३

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम्॥ ३४

देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।
राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः॥ ३५

जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्॥ ३६

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ॥ ३७

युधिष्ठिर! अब मैं उन स्थानोंका वर्णन करता हूँ, जो धर्म आदि श्रेयकी प्राप्ति करानेवाले हैं। सबसे पवित्र देश वह है, जिसमें सत्पात्र मिलते हों॥ २७॥

जिनमें यह सारा चर और अचर जगत् स्थित है, उन भगवान्‌की प्रतिमा जिस देशमें हो, जहाँ तप, विद्या एवं दया आदि गुणोंसे युक्त ब्राह्मणोंके परिवार निवास करते हों तथा जहाँ-जहाँ भगवान्‌की पूजा होती हो और पुराणोंमें प्रसिद्ध गंगा आदि नदियाँ हों, वे सभी स्थान परम कल्याणकारी हैं॥ २८-२९॥

पुष्कर आदि सरोवर, सिद्ध पुरुषोंके द्वारा सेवित क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम (शालग्राम क्षेत्र), नैमिषारण्य, फाल्गुनक्षेत्र, सेतुबन्ध, प्रभास, द्वारका, काशी, मथुरा, पम्पासर, बिन्दुसरोवर, बदरिकाश्रम, अलकनन्दा, भगवान् सीतारामजीके आश्रम—अयोध्या, चित्रकूटादि, महेन्द्र और मलय आदि समस्त कुलपर्वत और जहाँ-जहाँ भगवान्‌के अर्चावतार हैं—वे सब-के-सब देश अत्यन्त पवित्र हैं। कल्याणकामी पुरुषको बार-बार इन देशोंका सेवन करना चाहिये। इन स्थानोंपर जो पुण्यकर्म किये जाते हैं, मनुष्योंको उनका हजारगुना फल मिलता है॥ ३०—३३॥

युधिष्ठिर! पात्रनिर्णयके प्रसंगमें पात्रके गुणोंको जाननेवाले विवेकी पुरुषोंने एकमात्र भगवान्‌को ही सत्पात्र बतलाया है। यह चराचर जगत् उन्हींका स्वरूप है॥ ३४॥

अभी तुम्हारे इसी यज्ञकी बात है; देवता, ऋषि, सिद्ध और सनकादिकोंके रहनेपर भी अग्रपूजाके लिये भगवान् श्रीकृष्णको ही पात्र समझा गया॥ ३५॥

असंख्य जीवोंसे भरपूर इस ब्रह्माण्डरूप महावृक्षके एकमात्र मूल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। इसलिये उनकी पूजासे समस्त जीवोंकी आत्मा तृप्त हो जाती है॥ ३६॥

उन्होंने मनुष्य, पशु-पक्षी, ऋषि और देवता आदिके शरीररूप पुरोंकी रचना की है तथा वे ही इन पुरोंमें जीवरूपसे शयन भी करते हैं। इसीसे उनका एक नाम 'पुरुष' भी है॥ ३७॥

तेष्वेषु भगवान् राजंस्तारतम्येन वर्तते।
तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते॥ ३८

युधिष्ठिर! एकरस रहते हुए भी भगवान् इन मनुष्यादि शरीरोंमें उनकी विभिन्नताके कारण न्यूनाधिकरूपसे प्रकाशमान हैं। इसलिये पशु-पक्षी आदि शरीरोंकी अपेक्षा मनुष्य ही श्रेष्ठ पात्र हैं और मनुष्योंमें भी, जिसमें भगवान्का अंश—तप-योगादि जितना ही अधिक पाया जाता है, वह उतना ही श्रेष्ठ है॥ ३८॥

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता॥ ३९

युधिष्ठिर! त्रेता आदि युगोंमें जब विद्वानोंने देखा कि मनुष्य परस्पर एक-दूसरेका अपमान आदि करते हैं, तब उन लोगोंने उपासनाकी सिद्धिके लिये भगवान्की प्रतिमाकी प्रतिष्ठा की॥ ३९॥

ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्॥ ४०

तभीसे कितने ही लोग बड़ी श्रद्धा और सामग्रीसे प्रतिमामें ही भगवान्की पूजा करते हैं। परन्तु जो मनुष्यसे द्वेष करते हैं, उन्हें प्रतिमाकी उपासना करनेपर भी सिद्धि नहीं मिल सकती॥ ४०॥

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥ ४१

युधिष्ठिर! मनुष्योंमें भी ब्राह्मण विशेष सुपात्र माना गया है। क्योंकि वह अपनी तपस्या, विद्या और सन्तोष आदि गुणोंसे भगवान्के वेदरूप शरीरको धारण करता है॥ ४१॥

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्कृष्णस्य जगदात्मनः।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत्॥ ४२

महाराज! हमारी और तुम्हारी तो बात ही क्या—ये जो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं, इनके भी इष्टदेव ब्राह्मण ही हैं। क्योंकि उनके चरणोंकी धूलसे तीनों लोक पवित्र होते रहते हैं॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे सदाचारनिर्णयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

गृहस्थोंके लिये मोक्षधर्मका वर्णन

नारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः॥ १

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कुछ ब्राह्मणोंकी निष्ठा कर्ममें, कुछकी तपस्यामें, कुछकी वेदोंके स्वाध्याय और प्रवचनमें, कुछकी आत्मज्ञानके सम्पादनमें तथा कुछकी योगमें होती है॥ १॥

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः॥ २

गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि श्राद्ध अथवा देवपूजाके अवसरपर अपने कर्मका अक्षय फल प्राप्त करनेके लिये ज्ञाननिष्ठ पुरुषको ही हव्य-कव्यका दान करे। यदि वह न मिले तो योगी, प्रवचनकार आदिको यथायोग्य और यथाक्रम देना चाहिये॥ २॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम्॥ ३

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च।
सम्यग् भवन्ति नैतानि[१] विस्तरात् स्वजनार्पणात्॥ ४

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं[२] हरिदैवतम्।
श्रद्धया विधिवत् पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम्॥ ५

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन्पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम्॥ ६

देवकार्यमें दो और पितृकार्यमें तीन अथवा दोनोंमें एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। अत्यन्त धनी होनेपर भी श्राद्धकर्ममें अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये॥ ३॥ क्योंकि सगे-सम्बन्धी आदि स्वजनोंको देनेसे और विस्तार करनेसे देश-कालोचित श्रद्धा, पदार्थ, पात्र और पूजन आदि ठीक-ठीक नहीं हो पाते॥ ४॥ देश और कालके प्राप्त होनेपर ऋषि-मुनियोंके भोजन करनेयोग्य शुद्ध हविष्यान्न भगवान्को भोग लगाकर श्रद्धासे विधिपूर्वक योग्य पात्रको देना चाहिये। वह समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और अक्षय होता है॥ ५॥ देवता, ऋषि, पितर, अन्य प्राणी, स्वजन और अपने-आपको भी अन्नका विभाजन करनेके समय परमात्मस्वरूप ही देखे॥ ६॥

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया॥ ७

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य[३] यः॥ ८

एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ ९

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब् ध्रुवम्॥ १०

तस्माद् दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित्।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः॥ ११

धर्मका मर्म जाननेवाला पुरुष श्राद्धमें मांसका अर्पण न करे और न स्वयं ही उसे खाय; क्योंकि पितरोंको ऋषि-मुनियोंके योग्य हविष्यान्नसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशु-हिंसासे नहीं होती॥ ७॥ जो लोग सद्धर्मपालनकी अभिलाषा रखते हैं, उनके लिये इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है कि किसी भी प्राणीको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकारका कष्ट न दिया जाय॥ ८॥ इसीसे कोई-कोई यज्ञतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी ज्ञानके द्वारा प्रज्वलित आत्मसंयमरूप अग्निमें इन कर्ममय यज्ञोंका हवन कर देते हैं और बाह्य कर्म-कलापोंसे उपरत हो जाते हैं॥ ९॥ जब कोई इन द्रव्यमय यज्ञोंसे यजन करना चाहता है, तब सभी प्राणी डर जाते हैं; वे सोचने लगते हैं कि यह अपने प्राणोंका पोषण करनेवाला निर्दयी मूर्ख मुझे अवश्य मार डालेगा॥ १०॥ इसलिये धर्मज्ञ मनुष्यको यही उचित है कि प्रतिदिन प्रारब्धके द्वारा प्राप्त मुनिजनोचित हविष्यान्नसे ही अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करे तथा उसीसे सर्वदा सन्तुष्ट रहे॥ ११॥

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥ १२

अधर्मकी पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल। धर्मज्ञ पुरुष अधर्मके समान ही इनका भी त्याग कर दे॥ १२॥

१. प्रा० पा०—भूतानि। २. प्रा० पा०—मुच्यते दैवसङ्गतम्। ३. प्रा० पा०—क्कायकर्मभिः।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः॥ १३

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये॥ १४

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम्।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा॥ १५

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥ १६

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया[1] दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥ १७

सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्ततापि वारिणा।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद् गृहपालायते जनः॥ १८

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते॥ १९

कामस्यान्तं च[2] क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥ २०

जिस कार्यको धर्मबुद्धिसे करनेपर भी अपने धर्ममें बाधा पड़े, वह 'विधर्म' है। किसी अन्यके द्वारा अन्य पुरुषके लिये उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' है। पाखण्ड या दम्भका नाम 'उपधर्म' अथवा 'उपमा' है। शास्त्रके वचनोंका दूसरे प्रकारका अर्थ कर देना 'छल' है॥ १३॥ मनुष्य अपने आश्रमके विपरीत स्वेच्छासे जिसे धर्म मान लेता है, वह 'आभास' है। अपने-अपने स्वभावके अनुकूल जो वर्णाश्रमोचित धर्म हैं, वे भला किसे शान्ति नहीं देते॥ १४॥ धर्मात्मा पुरुष निर्धन होनेपर भी धर्मके लिये अथवा शरीर-निर्वाहके लिये धन प्राप्त करनेकी चेष्टा न करे। क्योंकि जैसे बिना किसी प्रकारकी चेष्टा किये अजगरकी जीविका चलती ही है, वैसे ही निवृत्ति-परायण पुरुषकी निवृत्ति ही उसकी जीविकाका निर्वाह कर देती है॥ १५॥

जो सुख अपनी आत्मामें रमण करनेवाले निष्क्रिय सन्तोषी पुरुषको मिलता है, वह उस मनुष्यको भला कैसे मिल सकता है, जो कामना और लोभसे धनके लिये हाय-हाय करता हुआ इधर-उधर दौड़ता फिरता है॥ १६॥ जैसे पैरोंमें जूता पहनकर चलनेवालेको कंकड़ और काँटोंसे कोई डर नहीं होता—वैसे ही जिसके मनमें सन्तोष है, उसके लिये सर्वदा और सब कहीं सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं॥ १७॥ युधिष्ठिर! न जाने क्यों मनुष्य केवल जलमात्रसे ही सन्तुष्ट रहकर अपने जीवनका निर्वाह नहीं कर लेता। अपितु रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियके फेरमें पड़कर यह बेचारा घरकी चौकसी करनेवाले कुत्तेके समान हो जाता है॥ १८॥ जो ब्राह्मण सन्तोषी नहीं है, इन्द्रियोंकी लोलुपताके कारण उसके तेज, विद्या, तपस्या और यश क्षीण हो जाते हैं और वह विवेक भी खो बैठता है॥ १९॥ भूख और प्यास मिट जानेपर खाने-पीनेकी कामनाका अन्त हो जाता है। क्रोध भी अपना काम पूरा करके शान्त हो जाता है। परन्तु यदि मनुष्य पृथ्वीकी समस्त दिशाओंको जीत ले और भोग ले, तब भी लोभका अन्त नहीं होता॥ २०॥

१. प्रा० पा०—शिवमया। २. प्रा० पा०—हि।

पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः॥ २१

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥ २२

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥ २३

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥ २४

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥ २५

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥ २६

एष वै भगवान्साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम्॥ २७

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥ २८

अनेक विषयोंके ज्ञाता, शंकाओंका समाधान करके चित्तमें शास्त्रोक्त अर्थको बैठा देनेवाले और विद्वत्सभाओंके सभापति बड़े-बड़े विद्वान् भी असन्तोषके कारण गिर जाते हैं॥ २१॥

धर्मराज! संकल्पोंके परित्यागसे कामको, कामनाओंके त्यागसे क्रोधको, संसारी लोग जिसे 'अर्थ' कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभको और तत्त्वके विचारसे भयको जीत लेना चाहिये॥ २२॥ अध्यात्मविद्यासे शोक और मोहपर, संतोंकी उपासनासे दम्भपर, मौनके द्वारा योगके विघ्नोंपर और शरीर-प्राण आदिको निश्चेष्ट करके हिंसापर विजय प्राप्त करनी चाहिये॥ २३॥ आधिभौतिक दुःखको दयाके द्वारा, आधिदैविक वेदनाको समाधिके द्वारा और आध्यात्मिक दुःखको योगबलसे एवं निद्राको सात्त्विक भोजन, स्थान, संग आदिके सेवनसे जीत लेना चाहिये॥ २४॥ सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण एवं तमोगुणपर और उपरतिके द्वारा सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। श्रीगुरुदेवकी भक्तिके द्वारा साधक इन सभी दोषोंपर सुगमतासे विजय प्राप्त कर सकता है॥ २५॥ हृदयमें ज्ञानका दीपक जलानेवाले गुरुदेव साक्षात् भगवान् ही हैं। जो दुर्बुद्धि पुरुष उन्हें मनुष्य समझता है, उसका समस्त शास्त्र-श्रवण हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है॥ २६॥ बड़े-बड़े योगेश्वर जिनके चरणकमलोंका अनुसन्धान करते रहते हैं, प्रकृति और पुरुषके अधीश्वर वे स्वयं भगवान् ही गुरुदेवके रूपमें प्रकट हैं। इन्हें लोग भ्रमसे मनुष्य मानते हैं॥ २७॥

शास्त्रोंमें जितने भी नियमसम्बन्धी आदेश हैं, उनका एकमात्र तात्पर्य यही है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली जाय अथवा पाँचों इन्द्रिय और मन—ये छः वशमें हो जायँ। ऐसा होनेपर भी यदि उन नियमोंके द्वारा भगवान्के ध्यान-चिन्तन आदिकी प्राप्ति नहीं होती, तो उन्हें केवल श्रम-ही-श्रम समझना चाहिये॥ २८॥

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।
अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः॥ २९

जैसे खेती, व्यापार आदि और उनके फल भी योग-साधनाके फल भगवत्प्राप्ति या मुक्तिको नहीं दे सकते—वैसे ही दुष्ट पुरुषके श्रौत-स्मार्त कर्म भी कल्याणकारी नहीं होते, प्रत्युत उलटा फल देते हैं॥ २९॥

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः॥ ३०

जो पुरुष अपने मनपर विजय प्राप्त करनेके लिये उद्यत हो, वह आसक्ति और परिग्रहका त्याग करके संन्यास ग्रहण करे। एकान्तमें अकेला ही रहे और भिक्षा-वृत्तिसे शरीर-निर्वाहमात्रके लिये स्वल्प और परिमित भोजन करे॥ ३०॥

देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः।
स्थिरं समं सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति॥ ३१

युधिष्ठिर! पवित्र और समान भूमिपर अपना आसन बिछाये और सीधे स्थिर-भावसे समान और सुखकर आसनसे उसपर बैठकर ॐ कारका जप करे॥ ३१॥

प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात् पूरकुम्भकरेचकैः।
यावन्मनस्त्यजेत् कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः॥ ३२

जबतक मन संकल्प-विकल्पोंको छोड़ न दे, तबतक नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर पूरक, कुम्भक और रेचकद्वारा प्राण तथा अपानकी गतिको रोके॥ ३२॥

यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत्।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः॥ ३३

कामकी चोटसे घायल चित्त इधर-उधर चक्कर काटता हुआ जहाँ-जहाँ जाय, विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह वहाँ-वहाँसे उसे लौटा लाये और धीरे-धीरे हृदयमें रोके॥ ३३॥

एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत्॥ ३४

जब साधक निरन्तर इस प्रकारका अभ्यास करता है, तब ईंधनके बिना जैसे अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही थोड़े समयमें उसका चित्त शान्त हो जाता है॥ ३४॥

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्॥ ३५

इस प्रकार जब काम-वासनाएँ चोट करना बंद कर देती हैं और समस्त वृत्तियाँ अत्यन्त शान्त हो जाती हैं, तब चित्त ब्रह्मानन्दके संस्पर्शमें मग्न हो जाता है और फिर उसका कभी उत्थान नहीं होता॥ ३५॥

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥ ३६

जो संन्यासी पहले तो धर्म, अर्थ और कामके मूल कारण गृहस्थाश्रमका परित्याग कर देता है और फिर उन्हींका सेवन करने लगता है, वह निर्लज्ज अपने उगले हुएको खानेवाला कुत्ता ही है॥ ३६॥

यैः स्वदेहः स्मृतो नात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मसात्।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः॥ ३७

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता॥ ३८

आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥ ३९

आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥ ४०

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्॥ ४१

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्॥ ४२

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः॥ ४३

रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित्॥ ४४

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।

जिन्होंने अपने शरीरको अनात्मा, मृत्युग्रस्त और विष्ठा, कृमि एवं राख समझ लिया था—वे ही मूढ़ फिर उसे आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं॥ ३७॥

कर्मत्यागी गृहस्थ, व्रतत्यागी ब्रह्मचारी, गाँवमें रहनेवाला तपस्वी (वानप्रस्थ) और इन्द्रियलोलुप संन्यासी—ये चारों आश्रमके कलंक हैं और व्यर्थ ही आश्रमोंका ढोंग करते हैं। भगवान्‌की मायासे विमोहित उन मूढ़ोंपर तरस खाकर उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिये॥ ३८-३९॥

आत्मज्ञानके द्वारा जिसकी सारी वासनाएँ निर्मूल हो गयी हैं और जिसने अपने आत्माको परब्रह्मस्वरूप जान लिया है, वह किस विषयकी इच्छा और किस भोक्ताकी तृप्तिके लिये इन्द्रियलोलुप होकर अपने शरीरका पोषण करेगा?॥ ४०॥

उपनिषदोंमें कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंका स्वामी मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथि है, चित्त ही भगवान्‌के द्वारा निर्मित बाँधनेकी विशाल रस्सी है, दस प्राण धुरी हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीव रथी कहा गया है। ॐ कार ही उस रथीका धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण और परमात्मा लक्ष्य है। (इस ॐ कारके द्वारा अन्तरात्माको परमात्मामें लीन कर देना चाहिये)॥ ४१-४२॥

राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, दूसरेके गुणोंमें दोष निकालना, छल, हिंसा, दूसरेकी उन्नति देखकर जलना, तृष्णा, प्रमाद, भूख और नींद—ये सब, और ऐसे ही जीवोंके और भी बहुत-से शत्रु हैं। उनमें रजोगुण और तमोगुणप्रधान वृत्तियाँ अधिक हैं, कहीं-कहीं कोई-कोई सत्त्वगुणप्रधान ही होती हैं॥ ४३-४४॥

यह मनुष्य-शरीररूप रथ जबतक अपने वशमें है और इसके इन्द्रिय मन-आदि सारे साधन अच्छी दशामें विद्यमान हैं, तभीतक श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा-पूजासे शान धरायी हुई ज्ञानकी तीखी तलवार

ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं[1] विजह्यात्॥ ४५

नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति॥ ४६

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत[2] प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥ ४७

हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः[3] सुतः॥ ४८

एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च।
पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम्॥ ४९

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः।
अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः॥ ५०

अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः।
एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते॥ ५१

लेकर भगवान्‌के आश्रयसे इन शत्रुओंका नाश करके अपने स्वाराज्य-सिंहासनपर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्तभावसे इस शरीरका भी परित्याग कर दे॥ ४५॥ नहीं तो, तनिक भी प्रमाद हो जानेपर ये इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखनेवाला बुद्धिरूप सारथि रथके स्वामी जीवको उलटे रास्ते ले जाकर विषयरूपी लुटेरोंके हाथोंमें डाल देंगे। वे डाकू सारथि और घोड़ोंके सहित इस जीवको मृत्युसे अत्यन्त भयावने घोर अन्धकारमय संसारके कुएँमें गिरा देंगे॥ ४६॥

वैदिक कर्म दो प्रकारके हैं—एक तो वे जो वृत्तियोंको उनके विषयोंकी ओर ले जाते हैं—प्रवृत्तिपरक और दूसरे वे जो वृत्तियोंको उनके विषयोंकी ओरसे लौटाकर शान्त एवं आत्म-साक्षात्कारके योग्य बना देते हैं—निवृत्तिपरक। प्रवृत्ति-परक कर्ममार्गसे बार-बार जन्म-मृत्युकी प्राप्ति होती है और निवृत्तिपरक भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्गके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति होती है॥ ४७॥ श्येनयागादि हिंसामय कर्म, अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग, वैश्वदेव, बलिहरण आदि द्रव्यमय कर्म 'इष्ट' कहलाते हैं और देवालय, बगीचा, कुआँ आदि बनवाना तथा प्याऊ आदि लगाना 'पूर्तकर्म' हैं। ये सभी प्रवृत्तिपरक कर्म हैं और सकामभावसे युक्त होनेपर अशान्तिके ही कारण बनते हैं॥ ४८-४९॥ प्रवृत्तिपरायण पुरुष मरनेपर चरु-पुरोडाशादि यज्ञ-सम्बन्धी द्रव्योंके सूक्ष्मभागसे बना हुआ शरीर धारणकर धूमाभिमानी देवताओंके पास जाता है। फिर क्रमशः रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके अभिमानी देवताओंके पास जाकर चन्द्रलोकमें पहुँचता है। वहाँसे भोग समाप्त होनेपर अमावस्याके चन्द्रमाके समान क्षीण होकर वृष्टिद्वारा क्रमशः ओषधि, लता, अन्न और वीर्यके रूपमें परिणत होकर पितृयान-मार्गसे पुनः संसारमें ही जन्म लेता है॥ ५०-५१॥

१. प्रा० पा०—उपशान्तमतिर्विजह्यात्। २. प्रा० पा०—आवर्तते। ३. प्रा० पा०—पशुस्ततः।

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति॥ ५२

युधिष्ठिर! गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार जिनके होते हैं, उनको 'द्विज' कहते हैं। (उनमेंसे कुछ तो पूर्वोक्त प्रवृत्तिमार्गका अनुष्ठान करते हैं और कुछ आगे कहे जानेवाले निवृत्तिमार्गका।) निवृत्तिपरायण पुरुष इष्ट, पूर्त्त आदि कर्मोंसे होने-वाले समस्त यज्ञोंको विषयोंका ज्ञान करानेवाले इन्द्रियोंमें हवन कर देता है॥ ५२॥

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मनः।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।
ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम्॥ ५३

इन्द्रियोंको दर्शनादि-संकल्परूप मनमें, वैकारिक मनको परा वाणीमें और परा वाणीको वर्णसमुदायमें, वर्णसमुदायको 'अ उ म्' इन तीन स्वरोंके रूपमें रहनेवाले ॐ कारमें, ॐ कारको बिन्दुमें, बिन्दुको नादमें, नादको सूत्रात्मारूप प्राणमें तथा प्राणको ब्रह्ममें लीन कर देता है॥ ५३॥

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्।
विश्वश्च[1] तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात्॥ ५४

वह निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी क्रमशः अग्नि, सूर्य, दिन, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णमासी और उत्तरायणके अभिमानी देवताओंके पास जाकर ब्रह्मलोकमें पहुँचता है और वहाँके भोग समाप्त होनेपर वह स्थूलोपाधिक 'विश्व' अपनी स्थूल उपाधिको सूक्ष्ममें लीन करके सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' हो जाता है। फिर सूक्ष्म उपाधिको कारणमें लय करके कारणोपाधिक 'प्राज्ञ' रूपसे स्थित होता है; फिर सबके साक्षीरूपसे सर्वत्र अनुगत होनेके कारण साक्षीके ही स्वरूपमें कारणोपाधिका लय करके 'तुरीय' रूपसे स्थित होता है। इस प्रकार दृश्योंका लय हो जानेपर वह शुद्ध आत्मा रह जाता है। यही मोक्षपद है॥ ५४॥

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते॥ ५५

इसे 'देवयान' मार्ग कहते हैं। इस मार्गसे जानेवाला आत्मोपासक संसारकी ओरसे निवृत्त होकर क्रमशः एकसे दूसरे देवताके पास होता हुआ ब्रह्मलोकमें जाकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह प्रवृत्तिमार्गीके समान फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ता॥ ५५॥

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि[2] न मुह्यति॥ ५६

ये पितृयान और देवयान दोनों ही वेदोक्त मार्ग हैं। जो शास्त्रीय दृष्टिसे इन्हें तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीरमें स्थित रहता हुआ भी मोहित नहीं होता॥ ५६॥

१. प्रा० पा०—विश्वोऽथ। २. प्रा० पा०—तत्रस्थोऽपि।

आदावन्ते जनानां सद् बहिरन्तः परावरम्।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम्॥ ५७

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम्॥ ५८

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि।
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ्नान्वितो मृषा॥ ५९

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः॥ ६०

स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद् विकल्पे सति वस्तुनः।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता॥ ६१

पैदा होनेवाले शरीरोंके पहले भी कारणरूपसे और उनका अन्त हो जानेपर भी उनकी अवधिरूपसे जो स्वयं विद्यमान रहता है, जो भोगरूपसे बाहर और भोक्तारूपसे भीतर है तथा ऊँच और नीच, जानना और जाननेका विषय, वाणी और वाणीका विषय, अन्धकार और प्रकाश आदि वस्तुओंके रूपमें जो कुछ भी उपलब्ध होता है, वह सब स्वयं यह तत्त्ववेत्ता ही है। इसीसे मोह उसका स्पर्श नहीं कर सकता॥ ५७॥ दर्पण आदिमें दीख पड़नेवाला प्रतिबिम्ब विचार और युक्तिसे बाधित है, उसका उनमें अस्तित्व है नहीं; फिर भी वस्तुके रूपमें तो वह दीखता ही है। वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा दीखनेवाला वस्तुओंका भेद-भाव भी विचार, युक्ति और आत्मानुभवसे असम्भव होनेके कारण वस्तुतः न होनेपर भी सत्य-सा प्रतीत होता है॥ ५८॥ पृथ्वी आदि पंचभूतोंसे इस शरीरका निर्माण नहीं हुआ है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो न तो वह उन पंचभूतोंका संघात है और न विकार या परिणाम ही। क्योंकि यह अपने अवयवोंसे न तो पृथक् है और न उनमें अनुगत ही है, अतएव मिथ्या है॥ ५९॥ इसी प्रकार शरीरके कारणरूप पंचभूत भी अवयवी होनेके कारण अपने अवयवों—सूक्ष्मभूतोंसे भिन्न नहीं हैं, अवयवरूप ही हैं। जब बहुत खोज-बीन करनेपर भी अवयवोंके अतिरिक्त अवयवीका अस्तित्व नहीं मिलता—वह असत् ही सिद्ध होता है, तब अपने-आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि ये अवयव भी असत्य ही हैं॥ ६०॥ जबतक अज्ञानके कारण एक ही परमतत्त्वमें अनेक वस्तुओंके भेद मालूम पड़ते रहते हैं, तबतक यह भ्रम भी रह सकता है कि जो वस्तुएँ पहले थीं, वे अब भी हैं और स्वप्नमें भी जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके अलग-अलग अनुभव होते ही हैं तथा उनमें भी विधि-निषेधके शास्त्र रहते हैं—वैसे ही जबतक इन भिन्नताओंके अस्तित्वका मोह बना हुआ है, तबतक यहाँ भी विधि-निषेधके शास्त्र हैं ही॥ ६१॥

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः॥ ६२

कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्।
अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते॥ ६३

यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम्।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते॥ ६४

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते॥ ६५

यद् यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप।
स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि॥ ६६

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः॥ ६७

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा-
दापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा-
नहार्षीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून्॥ ६८

अहं पुराभवं कश्चिद् गन्धर्व उपबर्हणः।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः॥ ६९

रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु पुरुलम्पटः॥ ७०

जो विचारशील पुरुष स्वानुभूतिसे आत्माके त्रिविध अद्वैतका साक्षात्कार करते हैं—वे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्यके भेदरूप स्वप्नको मिटा देते हैं। ये अद्वैत तीन प्रकारके हैं—भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत॥ ६२॥ जैसे वस्त्र सूतरूप ही होता है, वैसे ही कार्य भी कारणमात्र ही है। क्योंकि भेद तो वास्तवमें है नहीं। इस प्रकार सबकी एकताका विचार 'भावाद्वैत' है॥ ६३॥ युधिष्ठिर! मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले सब कर्म स्वयं परब्रह्म परमात्मामें ही हो रहे हैं, उसीमें अध्यस्त हैं—इस भावसे समस्त कर्मोंको समर्पित कर देना 'क्रियाद्वैत' है॥ ६४॥ स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धी एवं संसारके अन्य समस्त प्राणियोंके तथा अपने स्वार्थ और भोग एक ही हैं, उनमें अपने और परायेका भेद नहीं है—इस प्रकारका विचार 'द्रव्याद्वैत' है॥ ६५॥

युधिष्ठिर! जिस पुरुषके लिये जिस द्रव्यको जिस समय जिस उपायसे जिससे ग्रहण करना शास्त्राज्ञाके विरुद्ध न हो, उसे उसीसे अपने सब कार्य सम्पन्न करने चाहिये; आपत्तिकालको छोड़कर इससे अन्यथा नहीं करना चाहिये॥ ६६॥ महाराज! भगवद्भक्त मनुष्य वेदमें कहे हुए इन कर्मोंके तथा अन्यान्य स्वकर्मोंके अनुष्ठानसे घरमें रहते हुए भी श्रीकृष्णकी गतिको प्राप्त करता है॥ ६७॥ युधिष्ठिर! जैसे तुम अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा और सहायतासे बड़ी-बड़ी कठिन विपत्तियोंसे पार हो गये हो और उन्हींके चरणकमलोंकी सेवासे समस्त भूमण्डलको जीतकर तुमने बड़े-बड़े राजसूय आदि यज्ञ किये हैं॥ ६८॥

पूर्वजन्ममें इसके पहलेके महाकल्पमें मैं एक गन्धर्व था। मेरा नाम था उपबर्हण और गन्धर्वोंमें मेरा बड़ा सम्मान था॥ ६९॥ मेरी सुन्दरता, सुकुमारता और मधुरता अपूर्व थी। मेरे शरीरमेंसे सुगन्धि निकला करती और देखनेमें मैं बहुत अच्छा लगता। स्त्रियाँ मुझसे बहुत प्रेम करतीं और मैं सदा प्रमादमें ही रहता। मैं अत्यन्त विलासी था॥ ७०॥

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने॥ ७१

अहं च गायंस्तद्विद्वान् स्त्रीभिः परिवृतो गतः।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः॥ ७२

तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम्।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम्॥ ७३

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः।
गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात्॥ ७४

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥ ७५

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च॥ ७६

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥ ७७

एक बार देवताओंके यहाँ ज्ञानसत्र हुआ। उसमें बड़े-बड़े प्रजापति आये थे। भगवान्‌की लीलाका गान करनेके लिये उन लोगोंने गन्धर्व और अप्सराओंको बुलाया॥ ७१॥ मैं जानता था कि वह संतोंका समाज है और वहाँ भगवान्‌की लीलाका ही गान होता है। फिर भी मैं स्त्रियोंके साथ लौकिक गीतोंका गान करता हुआ उन्मत्तकी तरह वहाँ जा पहुँचा। देवताओंने देखा कि यह तो हम लोगोंका अनादर कर रहा है। उन्होंने अपनी शक्तिसे मुझे शाप दे दिया कि 'तुमने हमलोगोंकी अवहेलना की है, इसलिये तुम्हारी सारी सौन्दर्य-सम्पत्ति नष्ट हो जाय और तुम शीघ्र ही शूद्र हो जाओ'॥ ७२॥ उनके शापसे मैं दासीका पुत्र हुआ। किन्तु उस शूद्र-जीवनमें किये हुए महात्माओंके सत्संग और सेवा-शुश्रूषाके प्रभावसे मैं दूसरे जन्ममें ब्रह्माजीका पुत्र हुआ॥ ७३॥ संतोंकी अवहेलना और सेवाका यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। संत-सेवासे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। मैंने तुम्हें गृहस्थोंका पापनाशक धर्म बतला दिया। इस धर्मके आचरणसे गृहस्थ भी अनायास ही संन्यासियोंको मिलनेवाला परमपद प्राप्त कर लेता है॥ ७४॥

युधिष्ठिर! इस मनुष्यलोकमें तुमलोगोंके भाग्य अत्यन्त प्रशंसनीय हैं; क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यका रूप धारण करके गुप्तरूपसे निवास करते हैं। इसीसे सारे संसारको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं॥ ७५॥ बड़े-बड़े महापुरुष निरन्तर जिनको ढूँढ़ते रहते हैं, जो मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभव-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा हैं—वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं॥ ७६॥

शंकर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे यह हैं'—इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके। फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं। हम मौन, भक्ति और संयमके द्वारा ही उनकी पूजा करते हैं। कृपया हमारी यह पूजा स्वीकार करके भक्तवत्सल भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ७७॥

श्रीशुक उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः।
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः॥ ७८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवर्षि नारदका यह प्रवचन सुनकर राजा युधिष्ठिरको अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने प्रेम-विह्वल होकर देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की॥ ७८॥

कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः।
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः॥ ७९

देवर्षि नारद भगवान् श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिरसे विदा लेकर और उनके द्वारा सत्कार पाकर चले गये। भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, यह सुनकर युधिष्ठिरके आश्चर्यकी सीमा न रही॥ ७९॥

इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः।
देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः॥ ८०

परीक्षित्! इस प्रकार मैंने तुम्हें दक्षपुत्रियोंके वंशोंका अलग-अलग वर्णन सुनाया। उन्हींके वंशमें देवता, असुर, मनुष्य आदि और सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि हुई है॥ ८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

॥ इति सप्तमः स्कन्धः समाप्तः॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

अष्टमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

मन्वन्तरोंका वर्णन

राजोवाच

स्वायम्भु[१]वस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः।
[२]यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान्वदस्व नः॥ १

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—गुरुदेव! स्वायम्भुव मनुका वंश-विस्तार मैंने सुन लिया। इसी वंशमें उनकी कन्याओंके द्वारा मरीचि आदि प्रजापतियोंने अपनी वंशपरम्परा चलायी थी। अब आप हमसे दूसरे मनुओंका वर्णन कीजिये॥ १॥

यत्र[३] यत्र हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः।
गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानि नो वद शृण्वताम्॥ २

ब्रह्मन्! ज्ञानी महात्मा जिस-जिस मन्वन्तरमें महामहिम भगवान्‌के जिन-जिन अवतारों और लीलाओंका वर्णन करते हैं, उन्हें आप अवश्य सुनाइये। हम बड़ी श्रद्धासे उनका श्रवण करना चाहते हैं॥ २॥

[४]यद्यस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन्भगवान्विश्वभावनः।
कृतवान्कुरुते [५]कर्ता ह्यतीतेऽनागतेऽद्य वा॥ ३

भगवन्! विश्वभावनभगवान् बीते हुए मन्वन्तरोंमें जो-जो लीलाएँ कर चुके हैं, वर्तमान मन्वन्तरमें जो कर रहे हैं और आगामी मन्वन्तरोंमें जो कुछ करेंगे, वह सब हमें सुनाइये॥ ३॥

ऋषिरुवाच

मनवोऽस्मिन्व्यतीताः [६]षट् कल्पे स्वायम्भुवादयः।
[७]आद्यस्ते कथितो यत्र देवादीनां च सम्भवः॥ ४

श्रीशुकदेवजीने कहा—इस कल्पमें स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। उनमेंसे पहले मन्वन्तरका मैंने वर्णन कर दिया, उसीमें देवता आदिकी उत्पत्ति हुई थी॥ ४॥

आकूत्यां देवहूत्यां च[८] दुहित्रोस्तस्य वै मनोः।
[९]धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान्पुत्रतां गतः॥ ५

स्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूतिसे यज्ञपुरुषके रूपमें धर्मका उपदेश करनेके लिये तथा देवहूतिसे कपिलके रूपमें ज्ञानका उपदेश करनेके लिये भगवान्‌ने उनके पुत्ररूपसे अवतार ग्रहण किया था॥ ५॥

---

१. प्रा० पा०—वस्य च गुरो। २. प्राचीन प्रतिमें 'यत्र विश्वसृजां सर्गो...' इस उत्तरार्धके स्थानपर 'अत्र धर्माश्च विविधाश्चातुर्वर्ण्याश्रिताः शुभाः' ऐसा पाठ है। ३. प्रा० पा०—मन्वन्तरे हरे०। ४. प्रा० पा०—सर्वमन्वन्तरे। ५. प्रा० पा०—चान्यमतीते। ६. प्रा० पा०—ये। ७. प्रा० पा०—आद्यः स। ८. प्रा० पा०—नु। ९. प्राचीन प्रतिमें 'धर्मज्ञानोपदेशार्थं…' से लेकर '…कपिलस्यानुवर्णितम्' यहाँतकका पाठ इस प्रकार है—'उत्पत्तिः सर्वजन्तूनां वर्णिता पुरुषर्षभ। चरितं पुण्यकीर्तेश्च कपिलस्यानुवर्णितम्॥'

कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम्।
आख्यास्ये भगवान्यज्ञो यच्चकार कुरूद्वह॥ ६

विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः।
विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत्॥ ७

सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन्।
तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह[१] भारत॥ ८

मनुरुवाच

येन[२] चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद[३] सः॥ ९

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १०

यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत॥ ११

न[४] यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः।
विश्वस्यामूनि यद् यस्माद् विश्वं च तदृतं महत्॥ १२

परीक्षित्! भगवान् कपिलका वर्णन मैं पहले ही (तीसरे स्कन्धमें) कर चुका हूँ। अब भगवान् यज्ञपुरुषने आकूतिके गर्भसे अवतार लेकर जो कुछ किया, उसका वर्णन करता हूँ॥ ६॥ परीक्षित्! भगवान् स्वायम्भुव मनुने समस्त कामनाओं और भोगोंसे विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया। वे अपनी पत्नी शतरूपाके साथ तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये॥ ७॥ परीक्षित्! उन्होंने सुनन्दा नदीके किनारे पृथ्वीपर एक पैरसे खड़े रहकर सौ वर्षतक घोर तपस्या की। तपस्या करते समय वे प्रतिदिन इस प्रकार भगवान्की स्तुति करते थे॥ ८॥

मनुजी कहा करते थे—जिनकी चेतनाके स्पर्शमात्रसे यह विश्व चेतन हो जाता है, किन्तु यह विश्व जिन्हें चेतनाका दान नहीं कर सकता; जो इसके सो जानेपर प्रलयमें भी जागते रहते हैं, जिनको यह नहीं जान सकता, परन्तु जो इसे जानते हैं—वही परमात्मा हैं॥ ९॥ यह सम्पूर्ण विश्व और इस विश्वमें रहनेवाले समस्त चर-अचर प्राणी—सब उन परमात्मासे ही ओतप्रोत हैं। इसलिये संसारके किसी भी पदार्थमें मोह न करके उसका त्याग करते हुए ही जीवन-निर्वाहमात्रके लिये उपभोग करना चाहिये। तृष्णाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। भला, ये संसारकी सम्पत्तियाँ किसकी हैं?॥ १०॥ भगवान् सबके साक्षी हैं। उन्हें बुद्धि-वृत्तियाँ या नेत्र आदि इन्द्रियाँ नहीं देख सकतीं। परन्तु उनकी ज्ञानशक्ति अखण्ड है। समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाले उन्हीं स्वयंप्रकाश असंग परमात्माकी शरण ग्रहण करो॥ ११॥ जिनका न आदि है न अन्त, फिर मध्य तो होगा ही कहाँसे? जिनका न कोई अपना है और न पराया और न बाहर है न भीतर, वे विश्वके आदि, अन्त, मध्य, अपने-पराये, बाहर और भीतर—सब कुछ हैं। उन्हींकी सत्तासे विश्वकी सत्ता है। वही अनन्त वास्तविक सत्य परब्रह्म हैं॥ १२॥

१. प्रा० पा०—माह स। २. प्राचीन प्रतिमें 'येन चेतयते विश्वं…' इस पूर्वार्धके स्थानपर 'वासुदेवो वसत्येष सर्वदेहेष्वनन्यदृक्' ऐसा पाठ है। ३. प्रा० पा०—मेधसा। ४. प्राचीन प्रतिमें 'न यस्याद्यन्तौ…' से लेकर '…तदृतं महत्' यहाँतकका पाठ इस प्रकार है—'न यस्यादिस्तथा मध्यं देवदेवस्य चात्मनः। सर्वस्य मूलभूतोऽसौ भूता येऽनन्तरं यतः॥'

स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः[१] स्वयंज्योतिरजः पुराणः।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयाऽऽत्मशक्त्या
तां[२] विद्ययोदस्य निरीह आस्ते॥ १३

वही परमात्मा विश्वरूप हैं। उनके अनन्त नाम हैं। वे सर्वशक्तिमान् सत्य, स्वयंप्रकाश, अजन्मा और पुराणपुरुष हैं। वे अपनी मायाशक्तिके द्वारा ही विश्वसृष्टिके जन्म आदिको स्वीकार कर लेते हैं और अपनी विद्याशक्तिके द्वारा उसका त्याग करके निष्क्रिय, सत्स्वरूपमात्र रहते हैं॥ १३॥

[३]अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते॥ १४

इसीसे ऋषि-मुनि नैष्कर्म्यस्थिति अर्थात् ब्रह्मसे एकत्व प्राप्त करनेके लिये पहले कर्मयोगका अनुष्ठान करते हैं। प्रायः कर्म करनेवाला पुरुष ही अन्तमें निष्क्रिय होकर कर्मोंसे छुट्टी पा लेता है॥ १४॥

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विषज्जते।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम्॥ १५

यों तो सर्वशक्तिमान् भगवान् भी कर्म करते हैं, परन्तु वे आत्मलाभसे पूर्णकाम होनेके कारण उन कर्मोंमें आसक्त नहीं होते। अतः उन्हींका अनुसरण करके अनासक्त रहकर कर्म करनेवाले भी कर्मबन्धनसे मुक्त ही रहते हैं॥ १५॥

[४]तमीहमानं निरहङ्कृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्।
नॄन् शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम्॥ १६

भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिये उनमें अहंकारका लेश भी नहीं है। वे सर्वतः परिपूर्ण हैं, इसलिये उन्हें किसी वस्तुकी कामना नहीं है। वे बिना किसीकी प्रेरणाके स्वच्छन्दरूपसे ही कर्म करते हैं। वे अपनी ही बनायी हुई मर्यादामें स्थित रहकर अपने कर्मोंके द्वारा मनुष्योंको शिक्षा देते हैं। वे ही समस्त धर्मोंके प्रवर्तक और उनके जीवनदाता हैं। मैं उन्हीं प्रभुकी शरणमें हूँ॥ १६॥

श्रीशुक उवाच

इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम्।
दृष्ट्वासुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा॥ १७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक बार स्वायम्भुव मनु एकाग्रचित्तसे इस मन्त्रमय उपनिषत्-स्वरूप श्रुतिका पाठ कर रहे थे। उन्हें नींदमें अचेत होकर बड़बड़ाते जान भूखे असुर और राक्षस खा डालनेके लिये उनपर टूट पड़े॥ १७॥

तांस्तथावसितान् वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः।
यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत् त्रिविष्टपम्॥ १८

यह देखकर अन्तर्यामी भगवान् यज्ञपुरुष अपने पुत्र याम नामक देवताओंके साथ वहाँ आये। उन्होंने उन खा डालनेके निश्चयसे आये हुए असुरोंका संहार कर डाला और फिर वे इन्द्रके पदपर प्रतिष्ठित होकर स्वर्गका शासन करने लगे॥ १८॥

१. प्रा० पा०—सर्वस्य गोप्ता त्वजरः पुराणः। २. प्रा० पा०—तं वै विदित्वा तु। ३. प्रा० पा०—अथ यत्रर्षयः। ४. प्रा० पा०—आनन्दमेकं परमं सनातनं।

स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत्।
द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः॥ १९
तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद् देवाश्च तुषितादयः।
ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥ २०
ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत्।
तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः॥ २१
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः।
अन्वशिक्षन्[1]व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः॥ २२

परीक्षित्! दूसरे मनु हुए स्वारोचिष। वे अग्निके पुत्र थे। उनके पुत्रोंके नाम थे—द्युमान्, सुषेण और रोचिष्मान् आदि॥ १९॥ उस मन्वन्तरमें इन्द्रका नाम था रोचन, प्रधान देवगण थे तुषित आदि। ऊर्जस्तम्भ आदि वेदवादीगण सप्तर्षि थे॥ २०॥ उस मन्वन्तरमें वेदशिरा नामके ऋषिकी पत्नी तुषिता थीं। उनके गर्भसे भगवान्ने अवतार ग्रहण किया और विभु नामसे प्रसिद्ध हुए॥ २१॥ वे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे। उन्हींके आचरणसे शिक्षा ग्रहण करके अठासी हजार व्रतनिष्ठ ऋषियोंने भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया॥ २२॥

तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः।
पवनः सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप[2]॥ २३
वसिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः।
सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित्॥ २४
धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान्पुरुषोत्तमः।
सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह॥ २५
सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान्।
भूतद्रुहो भूतगणांस्त्ववधीत् सत्यजित्सखः॥ २६

तीसरे मनु थे उत्तम। वे प्रियव्रतके पुत्र थे। उनके पुत्रोंके नाम थे—पवन, सृंजय, यज्ञहोत्र आदि॥ २३॥ उस मन्वन्तरमें वसिष्ठजीके प्रमद आदि सात पुत्र सप्तर्षि थे। सत्य, वेदश्रुत और भद्र नामक देवताओंके प्रधान गण थे और इन्द्रका नाम था सत्यजित्॥ २४॥ उस समय धर्मकी पत्नी सूनृताके गर्भसे पुरुषोत्तमभगवान्ने सत्यसेनके नामसे अवतार ग्रहण किया था। उनके साथ सत्यव्रत नामके देवगण भी थे॥ २५॥ उस समयके इन्द्र सत्यजित्के सखा बनकर भगवान्ने असत्यपरायण, दुःशील और दुष्ट यक्षों, राक्षसों एवं जीवद्रोही भूतगणोंका संहार किया॥ २६॥

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः।
पृथुः[3] ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः॥ २७
सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे॥ २८
देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा॥ २९
तत्रापि जज्ञे भगवान्हरिण्यां हरिमेधसः।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात्॥ ३०

चौथे मनुका नाम था तामस। वे तीसरे मनु उत्तमके सगे भाई थे। उनके पृथु, ख्याति, नर, केतु इत्यादि दस पुत्र थे॥ २७॥ सत्यक, हरि और वीर नामक देवताओंके प्रधान गण थे। इन्द्रका नाम था त्रिशिख। उस मन्वन्तरमें ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे॥ २८॥ परीक्षित्! उस तामस नामके मन्वन्तरमें विधृतिके पुत्र वैधृति नामके और भी देवता हुए। उन्होंने समयके फेरसे नष्टप्राय वेदोंको अपनी शक्तिसे बचाया था, इसीलिये ये 'वैधृति' कहलाये॥ २९॥ इस मन्वन्तरमें हरिमेधा ऋषिकी पत्नी हरिणीके गर्भसे हरिके रूपमें भगवान्ने अवतार ग्रहण किया। इसी अवतारमें उन्होंने ग्राहसे गजेन्द्रकी रक्षा की थी॥ ३०॥

---

१. प्रा० पा०—शिक्षन्सुतं। २. प्रा० पा०—नृपाः। ३. प्रा० पा०—वृषः।

राजोवाच

बादरायण एतत् ते श्रोतुमिच्छामहे वयम्।
हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममूमुचत्॥ ३१

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—मुनिवर! हम आपसे यह सुनना चाहते हैं कि भगवान्‌ने गजेन्द्रको ग्राहके फंदेसे कैसे छुड़ाया था॥ ३१॥

तत्कथा सुमहत् पुण्यं धन्यं[१] स्वस्त्ययनं शुभम्[२]।
यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान्गीयते हरिः॥ ३२

सब कथाओंमें वही कथा परम पुण्यमय, प्रशंसनीय, मंगलकारी और शुभ है, जिसमें महात्माओंके द्वारा गान किये हुए भगवान् श्रीहरिके पवित्र यशका वर्णन रहता है॥ ३२॥

सूत उवाच

परीक्षितैवं स तु बादरायणिः
प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः।
उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं
मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम्॥ ३३

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! राजा परीक्षित् आमरण अनशन करके कथा सुननेके लिये ही बैठे हुए थे। उन्होंने जब श्रीशुकदेवजी महाराजको इस प्रकार कथा कहनेके लिये प्रेरित किया, तब वे बड़े आनन्दित हुए और प्रेमसे परीक्षित्‌का अभिनन्दन करके मुनियोंकी भरी सभामें कहने लगे॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां अष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुचरिते प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ग्राहके द्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना

श्रीशुक उवाच

आसीद् गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः।
क्षीरोदेनावृतः श्रीमान्योजनायुतमुच्छ्रितः॥ १

[३]तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम्।
दिशः खं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः॥ २

अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥ ३

स चावनिज्यमानाङ्‌घ्रिः समन्तात् पयऊर्मिभिः।
करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः॥ ४

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! क्षीरसागरमें त्रिकूट नामका एक प्रसिद्ध सुन्दर एवं श्रेष्ठ पर्वत था। वह दस हजार योजन ऊँचा था॥ १॥ उसकी लंबाई-चौड़ाई भी चारों ओर इतनी ही थी। उसके चाँदी, लोहे और सोनेके तीन शिखरोंकी छटासे समुद्र, दिशाएँ और आकाश जगमगाते रहते थे॥ २॥ और भी उसके कितने ही शिखर ऐसे थे जो रत्नों और धातुओंकी रंग-बिरंगी छटा दिखाते हुए सब दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। उनमें विविध जातिके वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ थीं। झरनोंकी झर-झरसे वह गुंजायमान होता रहता था॥ ३॥ सब ओरसे समुद्रकी लहरें आ-आकर उस पर्वतके निचले भागसे टकरातीं, उस समय ऐसा जान पड़ता मानो वे पर्वतराजके पाँव पखार रही हों। उस पर्वतके हरे पन्नेके पत्थरोंसे वहाँकी भूमि ऐसी साँवली हो गयी थी, जैसे उसपर हरी-भरी दूब लग रही हो॥ ४॥

१. प्रा० पा०—धर्म्यं। २. प्रा० पा०—शिवम्। ३. प्रा० पा०—तावान् सुविस्तृतो ह्यासीत्।

सिद्धचारणगन्धर्वविद्याधरमहोरगैः ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्‌भिर्जुष्टकन्दरः ॥ ५
यत्र संगीतसन्नादैर्नदद्‌गुहममर्षया ।
अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥ ६
नानारण्यपशुव्रातसङ्कुलद्रोण्यलङ्कृतः ।
चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः ॥ ७
सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः ।
देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्ब्वनिलैर्युतः ॥ ८
तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः ।
उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥ ९
सर्वतोऽलङ्कृतं दिव्यैर्नित्यं पुष्पफलद्रुमैः ।
मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः ॥ १०
चूतैः प्रियालैः पनसैराम्रैराम्रातकैरपि ।
क्रमुकैर्नालिकेरैश्च खर्जूरैर्बीजपूरकैः ॥ ११
मधूकैः सालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः ।
अरिष्टोदुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुकचन्दनैः ॥ १२
पिचुमन्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः ।
द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिर्बदर्यक्षाभयामलैः ॥ १३
बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः ।
तस्मिन्सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम् ॥ १४
कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोर्जितम् ।
मत्तषट्‌पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः ॥ १५
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि ।
जलकुक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥ १६

उसकी कन्दराओंमें सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किन्नर और अप्सराएँ आदि विहार करनेके लिये प्रायः बने ही रहते थे॥ ५॥ जब उसके संगीतकी ध्वनि चट्टानोंसे टकराकर गुफाओंमें प्रतिध्वनित होने लगती थी, तब बड़े-बड़े गर्वीले सिंह उसे दूसरे सिंहकी ध्वनि समझकर सह न पाते और अपनी गर्जनासे उसे दबा देनेके लिये और जोरसे गरजने लगते थे॥ ६॥

उस पर्वतकी तलहटी तरह-तरहके जंगली जानवरोंके झुंडोंसे सुशोभित रहती थी। अनेकों प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए देवताओंके उद्यानमें सुन्दर-सुन्दर पक्षी मधुर कण्ठसे चहकते रहते थे॥ ७॥ उसपर बहुत-सी नदियाँ और सरोवर भी थे। उनका जल बड़ा निर्मल था। उनके पुलिनपर मणियोंकी बालू चमकती रहती थी। उनमें देवांगनाएँ स्नान करती थीं जिससे उनका जल अत्यन्त सुगन्धित हो जाता था। उसकी सुरभि लेकर भीनी-भीनी वायु चलती रहती थी॥ ८॥

पर्वतराज त्रिकूटकी तराईमें भगवत्प्रेमी महात्मा भगवान् वरुणका एक उद्यान था। उसका नाम था ऋतुमान्। उसमें देवांगनाएँ क्रीडा करती रहती थीं॥ ९॥

उसमें सब ओर ऐसे दिव्य वृक्ष शोभायमान थे, जो फलों और फूलोंसे सर्वदा लदे ही रहते थे। उस उद्यानमें मन्दार, पारिजात, गुलाब, अशोक, चम्पा, तरह-तरहके आम, प्रियाल, कटहल, आमड़ा, सुपारी, नारियल, खजूर, बिजौरा, महुआ, साखू, ताड़, तमाल, असन, अर्जुन, रीठा, गूलर, पाकर, बरगद, पलास, चन्दन, नीम, कचनार, साल, देवदारु, दाख, ईख, केला, जामुन, बेर, रुद्राक्ष, हर्रे, आँवला, बेल, कैथ, नीबू और भिलावे आदिके वृक्ष लहराते रहते थे। उस उद्यानमें एक बड़ा भारी सरोवर था। उसमें सुनहले कमल खिल रहे थे॥ १०—१४॥ और भी विविध जातिके कुमुद, उत्पल, कह्लार, शतदल आदि कमलोंकी अनूठी छटा छिटक रही थी। मतवाले भौंरे गूँज रहे थे। मनोहर पक्षी कलरव कर रहे थे। हंस, कारण्डव, चक्रवाक और सारस दल-के-दल भरे हुए थे। पनडुब्बी, बतख और पपीहे कूज रहे थे। मछली और कछुओंके

मत्स्यकच्छपसञ्चारचलत्पद्मरजःपयः[1] ।
कदम्बवेतसनलनीपवञ्जुलकैर्वृतम्[2] ॥ १७
कुन्दैः कुरबकाशोकैः शिरीषैः कुटजेङ्गुदैः[3] ।
कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नागजातिभिः ॥ १८
मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः ।
शोभितं तीरजैश्चान्यैर्नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः ॥ १९
तत्रैकदा तद्‌गिरिकाननाश्रयः
करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन् ।
सकण्टकान् कीचकवेणुवेत्रवद्
विशालगुल्मं प्ररुजन्वनस्पतीन् ॥ २०
यद्‌गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा
व्याघ्रादयो व्यालमृगाः सखड्गाः ।
महोरगाश्चापि भयाद् द्रवन्ति
सगौरकृष्णाः शरभाश्चमर्यः ॥ २१
वृका वराहा महिषर्क्षशल्या
गोपुच्छसालावृकमर्कटाश्च ।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादय-
श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण ॥ २२
स घर्मतप्तः करिभिः करेणुभि-
र्वृतो मदच्युत्कलभैरनुद्रुतः ।
गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पयन्
निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ॥ २३
सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं
जिघ्रन्विदूरान्मदविह्वलेक्षणः ।
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन तत्
सरोवराभ्याशमथागमद् द्रुतम् ॥ २४

चलनेसे कमलके फूल हिल जाते थे, जिससे उनका पराग झड़कर जलको सुन्दर और सुगन्धित बना देता था। कदम्ब, बेंत, नरकुल, कदम्बलता, बेन आदि वृक्षोंसे वह घिरा था॥ १५—१७॥

कुन्द, कुरबक (कटसरैया), अशोक, सिरस, वनमल्लिका, लिसौड़ा, हरसिंगार, सोनजूही, नाग, पुन्नाग, जाती, मल्लिका, शतपत्र, माधवी और मोगरा आदि सुन्दर-सुन्दर पुष्पवृक्ष एवं तटके दूसरे वृक्षोंसे भी—जो प्रत्येक ऋतुमें हरे-भरे रहते थे—वह सरोवर शोभायमान रहता था॥ १८-१९॥

उस पर्वतके घोर जंगलमें बहुत-सी हथिनियोंके साथ एक गजेन्द्र निवास करता था। वह बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथियोंका सरदार था। एक दिन वह उसी पर्वतपर अपनी हथिनियोंके साथ काँटेवाले कीचक, बाँस, बेंत, बड़ी-बड़ी झाड़ियों और पेड़ोंको रौंदता हुआ घूम रहा था॥ २०॥ उसकी गन्धमात्रसे सिंह, हाथी, बाघ, गैंड़े आदि हिंस्र जन्तु, नाग तथा काले-गोरे शरभ और चमरी गाय आदि डरकर भाग जाया करते थे॥ २१॥ और उसकी कृपासे भेड़िये, सूअर, भैंसे, रीछ, शल्य, लंगूर तथा कुत्ते, बंदर, हरिन और खरगोश आदि क्षुद्र जीव सब कहीं निर्भय विचरते रहते थे॥ २२॥ उसके पीछे-पीछे हाथियोंके छोटे-छोटे बच्चे दौड़ रहे थे। बड़े-बड़े हाथी और हथिनियाँ भी उसे घेरे हुए चल रही थीं। उसकी धमकसे पहाड़ एकबारगी काँप उठता था। उसके गण्डस्थलसे टपकते हुए मदका पान करनेके लिये साथ-साथ भौंरे उड़ते जा रहे थे। मदके कारण उसके नेत्र विह्वल हो रहे थे। बड़े जोरकी धूप थी, इसलिये वह व्याकुल हो गया और उसे तथा उसके साथियोंको प्यास भी सताने लगी। उस समय दूरसे ही कमलके परागसे सुवासित वायुकी गन्ध सूँघकर वह उसी सरोवरकी ओर चल पड़ा, जिसकी शीतलता और सुगन्ध लेकर वायु आ रही थी। थोड़ी ही देरमें वेगसे चलकर वह सरोवरके तटपर जा पहुँचा॥ २३-२४॥

१. प्रा० पा०—त्पङ्करजः। २. प्रा० पा०—लसद्विविधैः पुलिनैर्वृतम्। ३. प्रा० पा०—कुटजद्रुमैः।

विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं
हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम् ।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृत-
मात्मानमद्भिः स्नपयन्गतक्लमः॥ २५

उस सरोवरका जल अत्यन्त निर्मल एवं अमृतके समान मधुर था। सुनहले और अरुण कमलोंकी केसरसे वह महक रहा था। गजेन्द्रने पहले तो उसमें घुसकर अपनी सूँड़से उठा-उठा जी भरकर जल पिया, फिर उस जलमें स्नान करके अपनी थकान मिटायी॥ २५॥

स्वपुष्करेणोद्धृतशीकराम्बुभि-
र्निपाययन्संस्नपयन्यथा गृही।
घृणी करेणूः कलभांश्च दुर्मदो
नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया॥ २६

गजेन्द्र गृहस्थ पुरुषोंकी भाँति मोहग्रस्त होकर अपनी सूँड़से जलकी फुहारें छोड़-छोड़कर साथकी हथिनियों और बच्चोंको नहलाने लगा तथा उनके मुँहमें सूँड़ डालकर जल पिलाने लगा। भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ गजेन्द्र उन्मत्त हो रहा था। उस बेचारेको इस बातका पता ही न था कि मेरे सिरपर बहुत बड़ी विपत्ति मँडरा रही है॥ २६॥

तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो
ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत्।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे॥ २७

परीक्षित्! गजेन्द्र जिस समय इतना उन्मत्त हो रहा था, उसी समय प्रारब्धकी प्रेरणासे एक बलवान् ग्राहने क्रोधमें भरकर उसका पैर पकड़ लिया। इस प्रकार अकस्मात् विपत्तिमें पड़कर उस बलवान् गजेन्द्रने अपनी शक्तिके अनुसार अपनेको छुड़ानेकी बड़ी चेष्टा की, परन्तु छुड़ा न सका॥ २७॥

तथाऽऽतुरं यूथपतिं करेणवो
विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा।
विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः
पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन्॥ २८

दूसरे हाथी, हथिनियों और उनके बच्चोंने देखा कि उनके स्वामीको बलवान् ग्राह बड़े वेगसे खींच रहा है और वे बहुत घबरा रहे हैं। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बड़ी विकलतासे चिग्घाड़ने लगे। बहुतोंने उसे सहायता पहुँचाकर जलसे बाहर निकाल लेना चाहा, परन्तु इसमें भी वे असमर्थ ही रहे॥ २८॥

नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयो-
र्विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः।
समाः सहस्रं व्यगमन् महीपते
सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ॥ २९

गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुए थे। कभी गजेन्द्र ग्राहको बाहर खींच लाता तो कभी ग्राह गजेन्द्रको भीतर खींच ले जाता। परीक्षित्! इस प्रकार उनको लड़ते-लड़ते एक हजार वर्ष बीत गये और दोनों ही जीते रहे। यह घटना देखकर देवता भी आश्चर्यचकित हो गये॥ २९॥

ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां
कालेन दीर्घेण महानभूद् व्ययः।

अन्तमें बहुत दिनोंतक बार-बार जलमें खींचे जानेसे गजेन्द्रका शरीर शिथिल पड़ गया। न तो उसके शरीरमें बल रह गया और न मनमें उत्साह।

विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो
विपर्ययोऽभूत् सकलं जलौकसः॥ ३०
इत्थं गजेन्द्रः स यदाऽऽप संकटं
प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं
दध्याविमां[1] बुद्धिमथाभ्यपद्यत॥ ३१
न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः
कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम्।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
ऽप्यहं च तं यामि परं परायणम्॥ ३२
यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥ ३३

शक्ति भी क्षीण हो गयी। इधर ग्राह तो जलचर ही ठहरा। इसलिये उसकी शक्ति क्षीण होनेके स्थानपर बढ़ गयी, वह बड़े उत्साहसे और भी बल लगाकर गजेन्द्रको खींचने लगा॥ ३०॥

इस प्रकार देहाभिमानी गजेन्द्र अकस्मात् प्राणसंकटमें पड़ गया और अपनेको छुड़ानेमें सर्वथा असमर्थ हो गया। बहुत देरतक उसने अपने छुटकारेके उपायपर विचार किया, अन्तमें वह इस निश्चयपर पहुँचा॥ ३१॥

'यह ग्राह विधाताकी फाँसी ही है। इसमें फँसकर मैं आतुर हो रहा हूँ। जब मुझे मेरे बराबरके हाथी भी इस विपत्तिसे न उबार सके तब ये बेचारी हथिनियाँ तो छुड़ा ही कैसे सकती हैं। इसलिये अब मैं सम्पूर्ण विश्वके एकमात्र आश्रय भगवान्‌की ही शरण लेता हूँ॥ ३२॥

काल बड़ा बली है। यह साँपके समान बड़े प्रचण्ड वेगसे सबको निगल जानेके लिये दौड़ता ही रहता है। इससे अत्यन्त भयभीत होकर जो कोई भगवान्‌की शरणमें चला जाता है, उसे वे प्रभु अवश्य-अवश्य बचा लेते हैं। उनके भयसे भीत होकर मृत्यु भी अपना काम ठीक-ठीक पूरा करता है। वही प्रभु सबके आश्रय हैं। मैं उन्हींकी शरण ग्रहण करता हूँ'॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णने गजेन्द्रोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

गजेन्द्रके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और उसका संकटसे मुक्त होना

श्रीशुक उवाच

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपनी बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके गजेन्द्रने अपने मनको हृदयमें एकाग्र किया और फिर पूर्वजन्ममें सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्रके जपद्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगा॥ १॥

१. प्रा० पा०—दैवादिमां।

गजेन्द्र उवाच

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि॥ २

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥ ३

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
क्वचिद् विभातं क्व च तत् तिरोहितम्।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः॥ ४

कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो
लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु।
तमस्तदाऽऽसीद् गहनं गभीरं
यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः॥ ५

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु॥ ६

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः॥ ७

गजेन्द्रने कहा—जो जगत्‌के मूल कारण हैं और सबके हृदयमें पुरुषके रूपमें विराजमान हैं एवं समस्त जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं, जिनके कारण इस संसारमें चेतनताका विस्तार होता है—उन भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ, प्रेमसे उनका ध्यान करता हूँ॥ २॥ यह संसार उन्हींमें स्थित है, उन्हींकी सत्तासे प्रतीत हो रहा है, वे ही इसमें व्याप्त हो रहे हैं और स्वयं वे ही इसके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। यह सब होनेपर भी वे इस संसार और इसके कारण—प्रकृतिसे सर्वथा परे हैं। उन स्वयंप्रकाश, स्वयंसिद्ध सत्तात्मक भगवान्‌की मैं शरण ग्रहण करता हूँ॥ ३॥ यह विश्वप्रपंच उन्हींकी मायासे उनमें अध्यस्त है। यह कभी प्रतीत होता है, तो कभी नहीं। परन्तु उनकी दृष्टि ज्यों-की-त्यों—एक-सी रहती है। वे इसके साक्षी हैं और उन दोनोंको ही देखते रहते हैं। वे सबके मूल हैं और अपने मूल भी वही हैं। कोई दूसरा उनका कारण नहीं है। वे ही समस्त कार्य और कारणोंसे अतीत प्रभु मेरी रक्षा करें॥ ४॥ प्रलयके समय लोक, लोकपाल और इन सबके कारण सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाते हैं। उस समय केवल अत्यन्त घना और गहरा अन्धकार-ही-अन्धकार रहता है। परन्तु अनन्त परमात्मा उससे सर्वथा परे विराजमान रहते हैं। वे ही प्रभु मेरी रक्षा करें॥ ५॥ उनकी लीलाओंका रहस्य जानना बहुत ही कठिन है। वे नटकी भाँति अनेकों वेष धारण करते हैं। उनके वास्तविक स्वरूपको न तो देवता जानते हैं और न ऋषि ही; फिर दूसरा ऐसा कौन प्राणी है जो वहाँतक जा सके और उसका वर्णन कर सके? वे प्रभु मेरी रक्षा करें॥ ६॥ जिनके परम मंगलमय स्वरूपका दर्शन करनेके लिये महात्मागण संसारकी समस्त आसक्तियोंका परित्याग कर देते हैं और वनमें जाकर अखण्डभावसे ब्रह्मचर्य आदि अलौकिक व्रतोंका पालन करते हैं तथा अपने आत्माको सबके हृदयमें विराजमान देखकर स्वाभाविक ही सबकी भलाई करते हैं—वे ही मुनियोंके सर्वस्व भगवान् मेरे सहायक हैं; वे ही मेरी गति हैं॥ ७॥

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नामरूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसंभवाय यः
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति॥ ८

न उनके जन्म-कर्म हैं और न नाम-रूप; फिर उनके सम्बन्धमें गुण और दोषकी तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है? फिर भी विश्वकी सृष्टि और संहार करनेके लिये समय-समयपर वे उन्हें अपनी मायासे स्वीकार करते हैं॥ ८॥

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥ ९

उन्हीं अनन्त शक्तिमान् सर्वैश्वर्यमय परब्रह्म परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ। वे अरूप होनेपर भी बहुरूप हैं। उनके कर्म अत्यन्त आश्चर्यमय हैं। मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥ ९॥

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि॥ १०

स्वयंप्रकाश, सबके साक्षी परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ। जो मन, वाणी और चित्तसे अत्यन्त दूर हैं—उन परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १०॥

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे॥ ११

विवेकी पुरुष कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पणके द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके जिन्हें प्राप्त करते हैं तथा जो स्वयं तो नित्यमुक्त, परमानन्द एवं ज्ञानस्वरूप हैं ही, दूसरोंको कैवल्य-मुक्ति देनेकी सामर्थ्य भी केवल उन्हींमें है—उन प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ११॥

नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च॥ १२

जो सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंका धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था भी धारण करते हैं, उन भेदरहित समभावसे स्थित एवं ज्ञानघन प्रभुको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ १२॥

क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।
पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः॥ १३

आप सबके स्वामी, समस्त क्षेत्रोंके एकमात्र ज्ञाता एवं सर्वसाक्षी हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप स्वयं ही अपने कारण हैं। पुरुष और मूल प्रकृतिके रूपमें भी आप ही हैं। आपको मेरा बार-बार नमस्कार॥ १३॥

सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः॥ १४

आप समस्त इन्द्रिय और उनके विषयोंके द्रष्टा हैं, समस्त प्रतीतियोंके आधार हैं। अहंकार आदि छायारूप असत् वस्तुओंके द्वारा आपका ही अस्तित्व प्रकट होता है। समस्त वस्तुओंकी सत्ताके रूपमें भी केवल आप ही भास रहे हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ १४॥

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय
निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय
नमोऽपवर्गाय परायणाय॥ १५

गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम-
स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि॥ १६

मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते॥ १७

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥ १८

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम्॥ १९

आप सबके मूल कारण हैं, आपका कोई कारण नहीं है। तथा कारण होनेपर भी आपमें विकार या परिणाम नहीं होता, इसलिये आप अनोखे कारण हैं। आपको मेरा बार-बार नमस्कार! जैसे समस्त नदी-झरने आदिका परम आश्रय समुद्र है, वैसे ही आप समस्त वेद और शास्त्रोंके परम तात्पर्य हैं। आप मोक्षस्वरूप हैं और समस्त संत आपकी ही शरण ग्रहण करते हैं; अतः आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १५॥ जैसे यज्ञके काष्ठ अरणिमें अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही आपने अपने ज्ञानको गुणोंकी मायासे ढक रखा है। गुणोंमें क्षोभ होनेपर उनके द्वारा विविध प्रकारकी सृष्टिरचनाका आप संकल्प करते हैं। जो लोग कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पणके द्वारा आत्मतत्त्वकी भावना करके वेद-शास्त्रोंसे ऊपर उठ जाते हैं, उनके आत्माके रूपमें आप स्वयं ही प्रकाशित हो जाते हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १६॥

जैसे कोई दयालु पुरुष फंदेमें पड़े हुए पशुका बन्धन काट दे, वैसे ही आप मेरे-जैसे शरणागतोंकी फाँसी काट देते हैं। आप नित्यमुक्त हैं, परम करुणामय हैं और भक्तोंका कल्याण करनेमें आप कभी आलस्य नहीं करते। आपके चरणोंमें मेरा नमस्कार है। समस्त प्राणियोंके हृदयमें अपने अंशके द्वारा अन्तरात्माके रूपमें आप उपलब्ध होते रहते हैं। आप सर्वैश्वर्यपूर्ण एवं अनन्त हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १७॥ जो लोग शरीर, पुत्र, गुरुजन, गृह, सम्पत्ति और स्वजनोंमें आसक्त हैं—उन्हें आपकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। क्योंकि आप स्वयं गुणोंकी आसक्तिसे रहित हैं। जीवन्मुक्त पुरुष अपने हृदयमें आपका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। उन सर्वैश्वर्यपूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ॥ १८॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामनासे मनुष्य उन्हींका भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं, वे उनको सभी प्रकारका सुख देते हैं और अपने ही जैसा अविनाशी पार्षद शरीर भी देते हैं। वे ही परम दयालु प्रभु मेरा उद्धार करें॥ १९॥

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः॥ २०

जिनके अनन्यप्रेमी भक्तजन उन्हींकी शरणमें रहते हुए उनसे किसी भी वस्तुकी—यहाँतक कि मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते, केवल उनकी परम दिव्य मंगलमयी लीलाओंका गान करते हुए आनन्दके समुद्रमें निमग्न रहते हैं॥ २०॥

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम्।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे॥ २१

जो अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म हैं; जो अत्यन्त निकट रहनेपर भी बहुत दूर जान पड़ते हैं; जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोगके द्वारा प्राप्त होते हैं—उन्हीं आदिपुरुष, अनन्त एवं परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माकी मैं स्तुति करता हूँ॥ २१॥

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः॥ २२

यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः॥ २३

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः॥ २४

जिनकी अत्यन्त छोटी कलासे अनेकों नाम-रूपके भेद-भावसे युक्त ब्रह्मा आदि देवता, वेद और चराचर लोकोंकी सृष्टि हुई है, जैसे धधकती हुई आगसे लपटें और प्रकाशमान सूर्यसे उनकी किरणें बार-बार निकलती और लीन होती रहती हैं, वैसे ही जिन स्वयंप्रकाश परमात्मासे बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर—जो गुणोंके प्रवाहरूप हैं—बार-बार प्रकट होते तथा लीन हो जाते हैं, वे भगवान् न देवता हैं और न असुर। वे मनुष्य और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। न वे स्त्री हैं, न पुरुष और न नपुंसक। वे कोई साधारण या असाधारण प्राणी भी नहीं हैं। न वे गुण हैं और न कर्म, न कार्य हैं और न तो कारण ही। सबका निषेध हो जानेपर जो कुछ बचा रहता है, वही उनका स्वरूप है तथा वे ही सब कुछ हैं। वे ही परमात्मा मेरे उद्धारके लिये प्रकट हों॥ २२—२४॥

जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम्॥ २५

मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथीकी योनि बाहर और भीतर—सब ओरसे अज्ञानरूप आवरणके द्वारा ढकी हुई है, इसको रखकर करना ही क्या है? मैं तो आत्मप्रकाशको ढकनेवाले उस अज्ञानरूप आवरणसे छूटना चाहता हूँ, जो कालक्रमसे अपने-आप नहीं छूट सकता, जो केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञानके द्वारा ही नष्ट होता है॥ २५॥

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम्।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम्॥ २६

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्॥ २७

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग-
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥ २८

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम्।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम्[1]॥ २९

श्रीशुक उवाच

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्॥ ३०

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः॥ ३१

इसलिये मैं उन परब्रह्म परमात्माकी शरणमें हूँ जो विश्वरहित होनेपर भी विश्वके रचयिता और विश्वस्वरूप हैं—साथ ही जो विश्वकी अन्तरात्माके रूपमें विश्वरूप सामग्रीसे क्रीड़ा भी करते रहते हैं, उन अजन्मा परमपदस्वरूप ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २६॥

योगीलोग योगके द्वारा कर्म, कर्मवासना और कर्मफलको भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदयमें जिन योगेश्वरभगवान्‌का साक्षात्कार करते हैं—उन प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २७॥

प्रभो! आपकी तीन शक्तियों—सत्त्व, रज और तमके रागादि वेग असह्य हैं। समस्त इन्द्रियों और मनके विषयोंके रूपमें भी आप ही प्रतीत हो रहे हैं। इसलिये जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वे तो आपकी प्राप्तिका मार्ग भी नहीं पा सकते। आपकी शक्ति अनन्त है। आप शरणागतवत्सल हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ २८॥

आपकी माया अहंबुद्धिसे आत्माका स्वरूप ढक गया है, इसीसे यह जीव अपने स्वरूपको नहीं जान पाता। आपकी महिमा अपार है। उन सर्वशक्तिमान् एवं माधुर्यनिधि भगवान्‌की मैं शरणमें हूँ॥ २९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! गजेन्द्रने बिना किसी भेदभावके निर्विशेषरूपसे भगवान्‌की स्तुति की थी, इसलिये भिन्न-भिन्न नाम और रूपको अपना स्वरूप माननेवाले ब्रह्मा आदि देवता उसकी रक्षा करनेके लिये नहीं आये। उस समय सर्वात्मा होनेके कारण सर्वदेवस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये॥ ३०॥

विश्वके एकमात्र आधार भगवान्‌ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। अतः उसकी स्तुति सुनकर वेदमय गरुड़पर सवार हो चक्रधारी भगवान् बड़ी शीघ्रतासे वहाँके लिये चल पड़े, जहाँ गजेन्द्र अत्यन्त संकटमें पड़ा हुआ था। उनके साथ स्तुति करते हुए देवता भी आये॥ ३१॥

१. प्रा पा—वन्तं नतोऽस्म्यहम्।

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥ ३२

सरोवरके भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। जब उसने देखा कि आकाशमें गरुड़पर सवार होकर हाथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ रहे हैं, तब अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपरको उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको नमस्कार है'॥ ३२॥

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्॥ ३३

जब भगवान्ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है, तब वे एकबारगी गरुड़को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्रके साथ ही ग्राहको भी बड़ी शीघ्रतासे सरोवरसे बाहर निकाल लाये। फिर सब देवताओंके सामने ही भगवान् श्रीहरिने चक्रसे ग्राहका मुँह फाड़ डाला और गजेन्द्रको छुड़ा लिया॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
गजेन्द्रमोक्षणे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

गज और ग्राहका पूर्वचरित्र तथा उनका उद्धार

श्रीशुक उवाच

तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः।
मुमुचुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उस समय ब्रह्मा, शंकर आदि देवता, ऋषि और गन्धर्व श्रीहरि भगवान्के इस कर्मकी प्रशंसा करने लगे तथा उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ १॥

नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः।
ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम्॥ २

स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, गन्धर्व नाचने-गाने लगे, ऋषि, चारण और सिद्धगण भगवान् पुरुषोत्तमकी स्तुति करने लगे॥ २॥

योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक्।
मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः॥ ३

इधर वह ग्राह तुरंत ही परम आश्चर्यमय दिव्य शरीरसे सम्पन्न हो गया। यह ग्राह इसके पहले 'हूहू' नामका एक श्रेष्ठ गन्धर्व था। देवलके शापसे उसे यह गति प्राप्त हुई थी। अब भगवान्की कृपासे वह मुक्त हो गया॥ ३॥

प्रणम्य शिरसाधीशमुत्तमश्लोकमव्ययम्।
अगायत यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम्॥ ४

उसने सर्वेश्वर भगवान्के चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया, इसके बाद वह भगवान्के सुयशका गान करने लगा। वास्तवमें अविनाशी भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ कीर्तिसे सम्पन्न हैं। उन्हींके गुण और मनोहर लीलाएँ गान करनेयोग्य हैं॥ ४॥

सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम्।
लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः॥ ५

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः॥ ६

स वै पूर्वमभूद् राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः॥ ७

स एकदाऽऽराधनकाल आत्मवान्
गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम्।
जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं
समर्चयामास कुलाचलाश्रमः॥ ८

यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः
समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः।
तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं
रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह॥ ९

तस्मा इमं शापमदादसाधु-
रयं दुरात्माकृतबुद्धिरद्य।
विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं
यथा गजः स्तब्धमतिः स एव॥ १०

श्रीशुक उवाच

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान् नृप सानुगः।
इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्टं तदुपधारयन्॥ ११

आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीम्।
हर्यर्चनानुभावेन यद्‌गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः॥ १२

भगवान्‌के कृपापूर्ण स्पर्शसे उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये। उसने भगवान्‌की परिक्रमा करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया और सबके देखते-देखते अपने लोककी यात्रा की॥ ५॥

गजेन्द्र भी भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त होते ही अज्ञानके बन्धनसे मुक्त हो गया। उसे भगवान्‌का ही रूप प्राप्त हो गया। वह पीताम्बरधारी एवं चतुर्भुज बन गया॥ ६॥

गजेन्द्र पूर्वजन्ममें द्रविडदेशका पाण्ड्यवंशी राजा था। उसका नाम था इन्द्रद्युम्न। वह भगवान्‌का एक श्रेष्ठ उपासक एवं अत्यन्त यशस्वी था॥ ७॥

एक बार राजा इन्द्रद्युम्न राजपाट छोड़कर मलयपर्वतपर रहने लगे थे। उन्होंने जटाएँ बढ़ा लीं, तपस्वीका वेष धारण कर लिया। एक दिन स्नानके बाद पूजाके समय मनको एकाग्र करके एवं मौनव्रती होकर वे सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आराधना कर रहे थे॥ ८॥

उसी समय दैवयोगसे परम यशस्वी अगस्त्य मुनि अपनी शिष्यमण्डलीके साथ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि यह प्रजापालन और गृहस्थोचित अतिथिसेवा आदि धर्मका परित्याग करके तपस्वियोंकी तरह एकान्तमें चुपचाप बैठकर उपासना कर रहा है, इसलिये वे राजा इन्द्रद्युम्नपर क्रुद्ध हो गये॥ ९॥

उन्होंने राजाको यह शाप दिया—'इस राजाने गुरुजनोंसे शिक्षा नहीं ग्रहण की है, अभिमानवश परोपकारसे निवृत्त होकर मनमानी कर रहा है। ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला यह हाथीके समान जडबुद्धि है, इसलिये इसे वही घोर अज्ञानमयी हाथीकी योनि प्राप्त हो'॥ १०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! शाप एवं वरदान देनेमें समर्थ अगस्त्य ऋषि इस प्रकार शाप देकर अपनी शिष्यमण्डलीके साथ वहाँसे चले गये। राजर्षि इन्द्रद्युम्नने यह समझकर सन्तोष किया कि यह मेरा प्रारब्ध ही था॥ ११॥ इसके बाद आत्माकी विस्मृति करा देनेवाली हाथीकी योनि उन्हें प्राप्त हुई। परन्तु भगवान्‌की आराधनाका ऐसा प्रभाव है कि हाथी होनेपर भी उन्हें भगवान्‌की स्मृति हो ही गयी॥ १२॥

एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभ-
स्तेनापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः।
गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमान-
कर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात्॥ १३

भगवान् श्रीहरिने इस प्रकार गजेन्द्रका उद्धार करके उसे अपना पार्षद बना लिया। गन्धर्व, सिद्ध, देवता उनकी इस लीलाका गान करने लगे और वे पार्षदरूप गजेन्द्रको साथ ले गरुड़पर सवार होकर अपने अलौकिक धामको चले गये॥ १३॥

एतन्महाराज तवेरितो मया
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम्।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम्॥ १४
यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः।
शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये॥ १५
इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम।
शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः॥ १६

कुरुवंशशिरोमणि परीक्षित्! मैंने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा तथा गजेन्द्रके उद्धारकी कथा तुम्हें सुना दी। यह प्रसंग सुननेवालोंके कलिमल और दुःस्वप्नको मिटानेवाला एवं यश, उन्नति और स्वर्ग देनेवाला है॥ १४॥ इसीसे कल्याणकामी द्विजगण दुःस्वप्न आदिकी शान्तिके लिये प्रातःकाल जगते ही पवित्र होकर इसका पाठ करते हैं॥ १५॥ परीक्षित्! गजेन्द्रकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर सर्वव्यापक एवं सर्वभूतस्वरूप श्रीहरिभगवान्ने सब लोगोंके सामने ही उसे यह बात कही थी॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम्।
वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान्॥ १७
शृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च।
क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपं च भास्वरम्॥ १८
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम।
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम्॥ १९
शेषं च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयाम्।
ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च॥ २०
मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे।
कर्माण्यनन्तपुण्यानि सूर्यं सोमं हुताशनम्॥ २१
प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान् धर्ममव्ययम्।
दाक्षायणीर्धर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि॥ २२
गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिन्दीं सितवारणम्।
ध्रुवं ब्रह्मऋषीन्सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान्॥ २३
उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलात्॥ २४

श्रीभगवान्ने कहा—जो लोग रातके पिछले पहरमें उठकर इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एकाग्र चित्तसे मेरा, तेरा तथा इस सरोवर, पर्वत एवं कन्दरा, वन, बेंत, कीचक और बाँसके झुरमुट, यहाँके दिव्य वृक्ष तथा पर्वतशिखर, मेरे, ब्रह्माजी और शिवजीके निवासस्थान, मेरे प्यारे धाम क्षीरसागर, प्रकाशमय श्वेतद्वीप, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला, मेरी कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पांचजन्य शंख, पक्षिराज गरुड़, मेरे सूक्ष्म कलास्वरूप शेषजी, मेरे आश्रयमें रहनेवाली लक्ष्मीदेवी, ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, शंकरजी तथा भक्तराज प्रह्लाद, मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतारोंमें किये हुए मेरे अनन्त पुण्यमय चरित्र, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, ॐकार, सत्य, मूलप्रकृति, गौ, ब्राह्मण, अविनाशी सनातनधर्म, सोम, कश्यप और धर्मकी पत्नी दक्षकन्याएँ, गंगा, सरस्वती, अलकनन्दा, यमुना, ऐरावत हाथी, भक्तशिरोमणि ध्रुव, सात ब्रह्मर्षि और पवित्रकीर्ति (नल, युधिष्ठिर, जनक आदि) महापुरुषोंका स्मरण करते हैं—वे समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; क्योंकि ये सब-के-सब मेरे ही रूप हैं॥ १७—२४॥

ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम्॥ २५

प्यारे गजेन्द्र! जो लोग ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर तुम्हारी की हुई स्तुतिसे मेरा स्तवन करेंगे, मृत्युके समय उन्हें मैं निर्मल बुद्धिका दान करूँगा॥ २५॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य हृषीकेशः प्रध्माय जलजोत्तमम्।
हर्षयन्विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम्॥ २६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा कहकर देवताओंको आनन्दित करते हुए अपना श्रेष्ठ शंख बजाया और गरुड़पर सवार हो गये॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
गजेन्द्रमोक्षणं[1] नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाना और ब्रह्माकृत भगवान्‌की स्तुति

श्रीशुक उवाच

[2]राजन्नुदितमेतत् ते हरेः कर्माघनाशनम्।
गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌की यह गजेन्द्रमोक्षकी पवित्र लीला समस्त पापोंका नाश करनेवाली है। इसे मैंने तुम्हें सुना दिया। अब रैवत मन्वन्तरकी कथा सुनो॥ १॥

पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः।
बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता अर्जुनपूर्वकाः॥ २

पाँचवें मनुका नाम था रैवत। वे चौथे मनु तामसके सगे भाई थे। उनके अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि कई पुत्र थे॥ २॥

विभुरिन्द्रः सुरगणा राजन्भूतरयादयः।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः॥ ३

उस मन्वन्तरमें इन्द्रका नाम था विभु और भूतरय आदि देवताओंके प्रधान गण थे। परीक्षित्! उस समय हिरण्यरोमा, वेदशिरा, ऊर्ध्वबाहु आदि सप्तर्षि थे॥ ३॥

पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान्स्वयम्॥ ४

उनमें शुभ्र ऋषिकी पत्नीका नाम था विकुण्ठा। उन्हींके गर्भसे वैकुण्ठ नामक श्रेष्ठ देवताओंके साथ अपने अंशसे स्वयं भगवान्ने वैकुण्ठ नामक अवतार धारण किया॥ ४॥

वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया॥ ५

उन्हींने लक्ष्मीदेवीकी प्रार्थनासे उनको प्रसन्न करनेके लिये वैकुण्ठधामकी रचना की थी। वह लोक समस्त लोकोंमें श्रेष्ठ है॥ ५॥

---

१. प्रा० पा०—मन्वन्तरानुवर्णने गजेन्द्रमोक्षोपाख्याने चतु०। २. प्रा० पा०—राजंश्चरितमेतत्ते।

तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः।
भौमान् रेणून्स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद् गुणान्॥ ६

षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः।
पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥ ७

इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः।
मुनयस्तत्र वै राजन्हविष्मद्वीरकादयः॥ ८

तत्रापि देवः सम्भूत्यां वैराजस्याभवत् सुतः।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः॥ ९

पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः॥ १०

राजोवाच

यथा भगवता ब्रह्मन्मथितः क्षीरसागरः।
यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना॥ ११

यथामृतं सुरैः प्राप्तं किञ्चान्यदभवत् ततः।
एतद् भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम्॥ १२

त्वया सङ्कथ्यमानेन महिम्ना सात्वतां पतेः।
नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम्॥ १३

सूत उवाच

सम्पृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः।
अभिनन्द्य हरेर्वीर्यमभ्याचष्टुं प्रचक्रमे॥ १४

श्रीशुक उवाच

यदा युद्धेऽसुरैर्देवा बाध्यमानाः शितायुधैः।
गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन्स्म भूयशः॥ १५

उन वैकुण्ठनाथके कल्याणमय गुण और प्रभावका वर्णन मैं संक्षेपसे (तीसरे स्कन्धमें) कर चुका हूँ। भगवान् विष्णुके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन तो वह करे, जिसने पृथ्वीके परमाणुओंकी गिनती कर ली हो॥ ६॥ छठे मनु चक्षुके पुत्र चाक्षुष थे। उनके पूरु, पूरुष, सुद्युम्न आदि कई पुत्र थे॥ ७॥ इन्द्रका नाम था मन्त्रद्रुम और प्रधान देवगण थे आप्य आदि। उस मन्वन्तरमें हविष्यमान् और वीरक आदि सप्तर्षि थे॥ ८॥ जगत्पति भगवान्ने उस समय भी वैराजकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे अजित नामका अंशावतार ग्रहण किया था॥ ९॥ उन्होंने ही समुद्रमन्थन करके देवताओंको अमृत पिलाया था, तथा वे ही कच्छपरूप धारण करके मन्दराचलकी मथानीके आधार बने थे॥ १०॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! भगवान्ने क्षीरसागरका मन्थन कैसे किया? उन्होंने कच्छपरूप धारण करके किस कारण और किस उद्देश्यसे मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया?॥ ११॥ देवताओंको उस समय अमृत कैसे मिला? और भी कौन-कौन-सी वस्तुएँ समुद्रसे निकलीं? भगवान्की यह लीला बड़ी ही अद्भुत है, आप कृपा करके अवश्य सुनाइये॥ १२॥ आप भक्तवत्सल भगवान्की महिमाका ज्यों-ज्यों वर्णन करते हैं, त्यों-ही-त्यों मेरा हृदय उसको और भी सुननेके लिये उत्सुक होता जा रहा है। अघानेका तो नाम ही नहीं लेता। क्यों न हो, बहुत दिनोंसे यह संसारकी ज्वालाओंसे जलता जो रहा है॥ १३॥

सूतजीने कहा—शौनकादि ऋषियो! भगवान् श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्के इस प्रश्नका अभिनन्दन करते हुए भगवान्की समुद्र-मन्थन-लीलाका वर्णन आरम्भ किया॥ १४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जिस समयकी यह बात है, उस समय असुरोंने अपने तीखे शस्त्रोंसे देवताओंको पराजित कर दिया था। उस युद्धमें बहुतोंके तो प्राणोंपर ही बन आयी, वे रणभूमिमें गिरकर फिर उठ न सके॥ १५॥

यदा दुर्वाससः शापात् सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप।
निःश्रीकाश्चाभवंस्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः॥ १६
निशाम्यैतत् सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः।
नाध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चयम्॥ १७
ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्धनि सर्वशः।
सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने॥ १८
स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन् निःसत्त्वान्विगतप्रभान्।
लोकानमङ्गलप्रायानसुरानयथा विभुः॥ १९
समाहितेन मनसा संस्मरन्पुरुषं परम्।
उवाचोत्फुल्लवदनो देवान्स भगवान्परः॥ २०

अहं भवो यूयमथोऽसुरादयो
मनुष्यतिर्यग्द्रुमघर्मजातयः।
यस्यावतारांशकलाविसर्जिता
व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम्॥ २१
न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो
नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः।
अथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं
धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले॥ २२
अयं च तस्य स्थितिपालनक्षणः
सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम्।
तस्माद् व्रजामः शरणं जगद्गुरुं
स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रियः॥ २३

दुर्वासाके शापसे* तीनों लोक और स्वयं इन्द्र भी श्रीहीन हो गये थे। यहाँतक कि यज्ञ-यागादि धर्म-कर्मोंका भी लोप हो गया था॥ १६॥ यह सब दुर्दशा देखकर इन्द्र, वरुण आदि देवताओंने आपसमें बहुत कुछ सोचा-विचारा; परन्तु अपने विचारोंसे वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके॥ १७॥ तब वे सब-के-सब सुमेरुके शिखरपर स्थित ब्रह्माजीकी सभामें गये और वहाँ उन लोगोंने बड़ी नम्रतासे ब्रह्माजीकी सेवामें अपनी परिस्थितिका विस्तृत विवरण उपस्थित किया॥ १८॥ ब्रह्माजीने स्वयं देखा कि इन्द्र, वायु आदि देवता श्रीहीन एवं शक्तिहीन हो गये हैं। लोगोंकी परिस्थिति बड़ी विकट, संकटग्रस्त हो गयी है और असुर इसके विपरीत फल-फूल रहे हैं॥ १९॥

समर्थ ब्रह्माजीने अपना मन एकाग्र करके परम पुरुष भगवान्‌का स्मरण किया; फिर थोड़ी देर रुककर प्रफुल्लित मुखसे देवताओंको सम्बोधित करते हुए कहा॥ २०॥ 'देवताओ! मैं, शंकरजी, तुमलोग तथा असुर, दैत्य, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष और स्वेदज आदि समस्त प्राणी जिनके विराट् रूपके एक अत्यन्त स्वल्पातिस्वल्प अंशसे रचे गये हैं—हमलोग उन अविनाशी प्रभुकी ही शरण ग्रहण करें॥ २१॥

यद्यपि उनकी दृष्टिमें न कोई वधका पात्र है और न रक्षाका, उनके लिये न तो कोई उपेक्षणीय है न कोई आदरका पात्र ही—फिर भी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके लिये समय-समयपर वे रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको स्वीकार किया करते हैं॥ २२॥ उन्होंने इस समय प्राणियोंके कल्याणके लिये सत्त्वगुणको स्वीकार कर रखा है। इसलिये यह जगत्‌की स्थिति और रक्षाका अवसर है। अतः हम सब उन्हीं जगद्गुरु परमात्माकी शरण ग्रहण करते हैं। वे देवताओंके प्रिय हैं और देवता उनके प्रिय। इसलिये हम निजजनोंका वे अवश्य ही कल्याण करेंगे॥ २३॥

* यह प्रसंग विष्णुपुराणमें इस प्रकार आया है। एक बार श्रीदुर्वासाजी वैकुण्ठलोकसे आ रहे थे। मार्गमें ऐरावतपर चढ़े देवराज इन्द्र मिले। उन्हें त्रिलोकाधिपति जानकर दुर्वासाजीने भगवान्‌के प्रसादकी माला दी; किन्तु इन्द्रने ऐश्वर्यके मदसे उसका कुछ भी आदर न कर उसे ऐरावतके मस्तकपर डाल दिया। ऐरावतने उसे सूँड़में लेकर पैरोंसे कुचल डाला। इससे दुर्वासाजीने क्रोधित होकर शाप दिया कि तू तीनों लोकोंसहित शीघ्र ही श्रीहीन हो जायगा।

श्रीशुक उवाच

इत्याभाष्य सुरान्वेधाः सह देवैररिन्दम।
अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम्॥ २४

तत्रादृष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै विभो।
स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः॥ २५

ब्रह्मोवाच

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं
नमामहे देववरं वरेण्यम्॥ २६

विपश्चितं प्राणमनोधियात्मना-
मर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम् ।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ
तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे[१]॥ २७

अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं
मनोमयं पञ्चदशारमाशु।
त्रिणाभि विद्युच्चलमष्टनेमि
यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये॥ २८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवताओंसे यह कहकर ब्रह्माजी देवताओंको साथ लेकर भगवान् अजितके निजधाम वैकुण्ठमें गये। वह धाम तमोमयी प्रकृतिसे परे है॥ २४॥ इन लोगोंने भगवान्‌के स्वरूप और धामके सम्बन्धमें पहलेसे ही बहुत कुछ सुन रखा था, परन्तु वहाँ जानेपर उन लोगोंको कुछ दिखायी न पड़ा। इसलिये ब्रह्माजी एकाग्र मनसे वेदवाणीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ २५॥

ब्रह्माजी बोले—भगवन्! आप निर्विकार, सत्य, अनन्त, आदिपुरुष, सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान, अखण्ड एवं अतर्क्य हैं। मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ आप पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं। वाणी आपका निरूपण नहीं कर सकती। आप समस्त देवताओंके आराधनीय और स्वयंप्रकाश हैं। हम सब आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं॥ २६॥

आप प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारके ज्ञाता हैं। इन्द्रियाँ और उनके विषय दोनों ही आपके द्वारा प्रकाशित होते हैं। अज्ञान आपका स्पर्श नहीं कर सकता। प्रकृतिके विकार मरने-जीनेवाले शरीरसे भी आप रहित हैं। जीवके दोनों पक्ष—अविद्या और विद्या आपमें बिलकुल ही नहीं हैं। आप अविनाशी और सुखस्वरूप हैं। सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें तो आप प्रकटरूपसे ही विराजमान रहते हैं। हम सब आपकी शरण ग्रहण करते हैं॥ २७॥

यह शरीर जीवका एक मनोमय चक्र (रथका पहिया) है। दस इन्द्रिय और पाँच प्राण—ये पंद्रह इसके अरे हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण इसकी नाभि हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये आठ इसमें नेमि (पहियेका घेरा) हैं। स्वयं माया इसका संचालन करती है और यह बिजलीसे भी अधिक शीघ्रगामी है। इस चक्रके धुरे हैं स्वयं परमात्मा। वे ही एकमात्र सत्य हैं। हम उनकी शरणमें हैं॥ २८॥

१. प्रा० पा०—नमामहे।

य[1] एकवर्णं तमसः परं त-
दलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेन-
मुपासते योगरथेन धीराः॥ २९

जो एकमात्र ज्ञानस्वरूप, प्रकृतिसे परे एवं अदृश्य हैं; जो समस्त वस्तुओंके मूलमें स्थित अव्यक्त हैं और देश, काल अथवा वस्तुसे जिनका पार नहीं पाया जा सकता—वही प्रभु इस जीवके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहते हैं। विचारशील मनुष्य भक्तियोगके द्वारा उन्हींकी आराधना करते हैं॥ २९॥

न यस्य कश्चातितितर्ति मायां
यया जनो मुह्यति वेद नार्थम्।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं
नमाम भूतेषु समं चरन्तम्॥ ३०

जिस मायासे मोहित होकर जीव अपने वास्तविक लक्ष्य अथवा स्वरूपको भूल गया है, वह उन्हींकी है और कोई भी उसका पार नहीं पा सकता। परन्तु सर्वशक्तिमान् प्रभु अपनी उस माया तथा उसके गुणोंको अपने वशमें करके समस्त प्राणियोंके हृदयमें समभावसे विचरण करते रहते हैं। जीव अपने पुरुषार्थसे नहीं, उनकी कृपासे ही उन्हें प्राप्त कर सकता है। हम उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं॥ ३०॥

इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा
सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे
कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः॥ ३१

यों तो हम देवता एवं ऋषिगण भी उनके परम प्रिय सत्त्वमय शरीरसे ही उत्पन्न हुए हैं, फिर भी उनके बाहर-भीतर एकरस प्रकट वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते। तब रजोगुण एवं तमोगुणप्रधान असुर आदि तो उन्हें जान ही कैसे सकते हैं? उन्हीं प्रभुके चरणोंमें हम नमस्कार करते हैं॥ ३१॥

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः॥ ३२

उन्हींकी बनायी हुई यह पृथ्वी उनका चरण है। इसी पृथ्वीपर जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी रहते हैं। वे परम स्वतन्त्र, परम ऐश्वर्यशाली पुरुषोत्तम परब्रह्म हमपर प्रसन्न हों॥ ३२॥

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं
सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः।
लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः॥ ३३

यह परम शक्तिशाली जल उन्हींका वीर्य है। इसीसे तीनों लोक और समस्त लोकोंके लोकपाल उत्पन्न होते, बढ़ते और जीवित रहते हैं। वे परम ऐश्वर्यशाली परब्रह्म हमपर प्रसन्न हों॥ ३३॥

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्ध[2] आयुः।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः[3] स महाविभूतिः॥ ३४

श्रुतियाँ कहती हैं कि चन्द्रमा उस प्रभुका मन है। यह चन्द्रमा समस्त देवताओंका अन्न, बल एवं आयु है। वही वृक्षोंका सम्राट् एवं प्रजाकी वृद्धि करनेवाला है। ऐसे मनको स्वीकार करनेवाले परम ऐश्वर्यशाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों॥ ३४॥

१. प्रा० पा०—यदेकवर्णं मनसः परं। २. प्रा० पा०—मन्नमायुः। ३. प्रा० पा०—ब्रह्म महा०।

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन् स्वधातून्
प्रसीदतां नः[1] स महाविभूतिः॥ ३५

अग्नि प्रभुका मुख है। इसकी उत्पत्ति ही इसलिये हुई है कि वेदके यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड पूर्णरूपसे सम्पन्न हो सकें। यह अग्नि ही शरीरके भीतर जठराग्निरूपसे और समुद्रके भीतर बड़वानलके रूपसे रहकर उनमें रहनेवाले अन्न, जल आदि धातुओंका पाचन करता रहता है और समस्त द्रव्योंकी उत्पत्ति भी उसीसे हुई है। ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ३५॥

यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३६

जिनके द्वारा जीव देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, जो वेदोंकी साक्षात् मूर्ति और भगवान्के ध्यान करनेयोग्य धाम हैं, जो पुण्यलोकस्वरूप होनेके कारण मुक्तिके द्वार एवं अमृतमय हैं और कालरूप होनेके कारण मृत्यु भी हैं—ऐसे सूर्य जिनके नेत्र हैं, वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ३६॥

प्राणादभूद् यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३७

प्रभुके प्राणसे ही चराचरका प्राण तथा उन्हें मानसिक, शारीरिक और इन्द्रियसम्बन्धी बल देनेवाला वायु प्रकट हुआ है। वह चक्रवर्ती सम्राट् है, तो इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता हम सब उसके अनुचर। ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ३७॥

श्रोत्राद् दिशो यस्य हृदश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३८

जिनके कानोंसे दिशाएँ, हृदयसे इन्द्रियगोलक और नाभिसे वह आकाश उत्पन्न हुआ है, जो पाँचों प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान), दसों इन्द्रिय, मन, पाँचों असु (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय) एवं शरीरका आश्रय है—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ३८॥

बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
न्मन्योर्गिरीशो[2] धिषणाद् विरिञ्चः।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३९

जिनके बलसे इन्द्र, प्रसन्नतासे समस्त देवगण, क्रोधसे शङ्कर, बुद्धिसे ब्रह्मा, इन्द्रियोंसे वेद और ऋषि तथा लिंगसे प्रजापति उत्पन्न हुए हैं—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ३९॥

श्रीर्वक्षसः पितरश्छायायाऽऽसन्
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत्।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ४०

जिनके वक्षःस्थलसे लक्ष्मी, छायासे पितृगण, स्तनसे धर्म, पीठसे अधर्म, सिरसे आकाश और विहारसे अप्सराएँ प्रकट हुई हैं, वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ४०॥

१. प्रा० पा०—ब्रह्म महा०। २. प्रा० पा०—र्गिरित्रो।

विप्रो मुखं[1] ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं[2] च।
[3]ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ४१

जिनके मुखसे ब्राह्मण और अत्यन्त रहस्यमय वेद, भुजाओंसे क्षत्रिय और बल, जंघाओंसे वैश्य और उनकी वृत्ति—व्यापारकुशलता तथा चरणोंसे वेदबाह्य शूद्र और उनकी सेवा आदि वृत्ति प्रकट हुई है—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ४१॥

लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद् द्युति-
र्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ४२

जिनके अधरसे लोभ और ओष्ठसे प्रीति, नासिकासे कान्ति, स्पर्शसे पशुओंका प्रिय काम, भौंहोंसे यम और नेत्रके रोमोंसे कालकी उत्पत्ति हुई है—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ४२॥

द्रव्यं वयः कर्म गुणान्विशेषं
यद्योगमायाविहितान्वदन्ति।
यद् दुर्विभाव्यं प्रबुधापबाधं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ४३

पंचभूत, काल, कर्म, सत्त्वादि गुण और जो कुछ विवेकी पुरुषोंके द्वारा बाधित किये जानेयोग्य निर्वचनीय या अनिर्वचनीय विशेष पदार्थ हैं, वे सब-के-सब भगवान्की योगमायासे ही बने हैं—ऐसा शास्त्र कहते हैं। वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥ ४३॥

नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये
स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभि-
र्न सज्जमानाय नभस्वदूतये॥ ४४

जो मायानिर्मित गुणोंमें दर्शनादि वृत्तियोंके द्वारा आसक्त नहीं होते, जो वायुके समान सदा-सर्वदा असंग रहते हैं, जिनमें समस्त शक्तियाँ शान्त हो गयी हैं—उन अपने आत्मानन्दके लाभसे परिपूर्ण आत्मस्वरूप भगवान्को हमारे नमस्कार हैं॥ ४४॥

स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम्।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम्॥ ४५

प्रभो! हम आपके शरणागत हैं और चाहते हैं कि मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त आपका मुखकमल अपने इन्हीं नेत्रोंसे देखें। आप कृपा करके हमें उसका दर्शन कराइये॥ ४५॥

तैस्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले काले स्वयं विभो।
कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत् करोति हि॥ ४६

प्रभो! आप समय-समयपर स्वयं ही अपनी इच्छासे अनेकों रूप धारण करते हैं और जो काम हमारे लिये अत्यन्त कठिन होता है, उसे आप सहजमें ही कर देते हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं, आपके लिये इसमें कौन-सी कठिनाई है॥ ४६॥

क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा।
देहिनां विषयार्तानां न तथैवार्पितं त्वयि॥ ४७

विषयोंके लोभमें पड़कर जो देहाभिमानी दुःख भोग रहे हैं, उन्हें कर्म करनेमें परिश्रम और क्लेश तो बहुत अधिक होता है; परन्तु फल बहुत कम निकलता है। अधिकांशमें तो उनके विफलता ही हाथ लगती है। परन्तु जो कर्म आपको समर्पित किये जाते हैं, उनके करनेके समय ही परम सुख मिलता है। वे स्वयं फलरूप ही हैं॥ ४७॥

१. प्रा० पा०—मुखाद्। २. प्रा० पा०—करयो०। ३. प्रा० पा०—ऊर्वोर्विशोऽङ्घ्रेरभवच्च शूद्रः।

नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः।
कल्पते पुरुषस्यैष स ह्यात्मा दयितो हितः[१]॥ ४८

भगवान्‌को समर्पित किया हुआ छोटे-से-छोटा कर्माभास भी कभी विफल नहीं होता। क्योंकि भगवान् जीवके परम हितैषी, परम प्रियतम और आत्मा ही हैं॥ ४८॥

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥ ४९

जैसे वृक्षकी जड़को पानीसे सींचना उसकी बड़ी-बड़ी शाखाओं और छोटी-छोटी डालियोंको भी सींचना है, वैसे ही सर्वात्मा भगवान्‌की आराधना सम्पूर्ण प्राणियोंकी और अपनी भी आराधना है॥ ४९॥

नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम्॥ ५०

जो तीनों काल और उससे परे भी एकरस स्थित हैं, जिनकी लीलाओंका रहस्य तर्क-वितर्कके परे है, जो स्वयं गुणोंसे परे रहकर भी सब गुणोंके स्वामी हैं तथा इस समय सत्त्वगुणमें स्थित हैं—ऐसे आपको हम बार-बार नमस्कार करते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे-ऽमृतमथने पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

देवताओं और दैत्योंका मिलकर समुद्रमन्थनके लिये उद्योग करना

श्रीशुक उवाच

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान् हरिरीश्वरः।
तेषामाविरभूद् राजन्सहस्रार्कोदयद्युतिः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवताओंने सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे उनके बीचमें ही प्रकट हो गये। उनके शरीरकी प्रभा ऐसी थी, मानो हजारों सूर्य एक साथ ही उग गये हों॥ १॥

तेनैव महसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः।
नापश्यन्खं दिशः क्षोणिमात्मानं च कुतो विभुम्॥ २

भगवान्‌की उस प्रभासे सभी देवताओंकी आँखें चौंधिया गयीं। वे भगवान्‌को तो क्या—आकाश, दिशाएँ, पृथ्वी और अपने शरीरको भी न देख सके॥ २॥

विरिञ्चो भगवान् दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम्।
स्वच्छां मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम्॥ ३

तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा।
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीं सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम्॥ ४

महामणिकिरीटेन केयूराभ्यां च भूषिताम्।
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम्॥ ५

केवल भगवान् शंकर और ब्रह्माजीने उस छबिका दर्शन किया। बड़ी ही सुन्दर झाँकी थी। मरकतमणि (पन्ने)-के समान स्वच्छ श्यामल शरीर, कमलके भीतरी भागके समान सुकुमार नेत्रोंमें लाल-लाल डोरियाँ और चमकते हुए सुनहले रंगका रेशमी पीताम्बर! सर्वांगसुन्दर शरीरके रोम-रोमसे प्रसन्नता फूटी पड़ती थी। धनुषके समान टेढ़ी भौंहें और बड़ा ही सुन्दर मुख। सिरपर महामणिमय किरीट और भुजाओंमें बाजूबंद। कानोंके झलकते हुए कुण्डलोंकी चमक पड़नेसे कपोल और भी सुन्दर हो उठते थे,

१. प्रा० पा०—विभुः।

काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम् ।
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम्॥ ६

सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्तिमद्भिरुपासिताम्।
तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम्।
सर्वामरगणैः साकं सर्वाङ्गैरवनिं गतैः॥ ७

ब्रह्मोवाच

अजातजन्मस्थितिसंयमाया-
गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने
महानुभावाय नमो नमस्ते॥ ८

रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं
श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्
पश्याम्यमुष्मिन् नु ह विश्वमूर्तौ॥ ९

त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत्
त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात्॥ १०

त्वं माययाऽऽत्माश्रयया स्वयेदं
निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो
गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः॥ ११

यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु
भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम्।

जिससे मुखकमल खिल उठता था। कमरमें करधनीकी लड़ियाँ, हाथोंमें कंगन, गलेमें हार और चरणोंमें नूपुर शोभायमान थे। वक्षःस्थलपर लक्ष्मी और गलेमें कौस्तुभमणि तथा वनमाला सुशोभित थीं॥ ३—६ ॥

भगवान्के निज अस्त्र सुदर्शन चक्र आदि मूर्तिमान् होकर उनकी सेवा कर रहे थे। सभी देवताओंने पृथ्वीपर गिरकर साष्टांग प्रणाम किया फिर सारे देवताओंको साथ ले शंकरजी तथा ब्रह्माजी परम पुरुष भगवान्की स्तुति करने लगे॥ ७॥

ब्रह्माजीने कहा—जो जन्म, स्थिति और प्रलयसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, जो प्राकृत गुणोंसे रहित एवं मोक्षस्वरूप परमानन्दके महान् समुद्र हैं, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं और जिनका स्वरूप अनन्त है—उनपर ऐश्वर्यशाली प्रभुको हमलोग बार-बार नमस्कार करते हैं॥ ८॥

पुरुषोत्तम! अपना कल्याण चाहनेवाले साधक वेदोक्त एवं पांचरात्रोक्त विधिसे आपके इसी स्वरूपकी उपासना करते हैं। मुझे भी रचनेवाले प्रभो! आपके इस विश्वमय स्वरूपमें मुझे समस्त देवगणोंके सहित तीनों लोक दिखायी दे रहे हैं॥ ९॥

आपमें ही पहले यह जगत् लीन था, मध्यमें भी यह आपमें ही स्थित है और अन्तमें भी यह पुनः आपमें ही लीन हो जायगा। आप स्वयं कार्य-कारणसे परे परम स्वतन्त्र हैं। आप ही इस जगत्के आदि, अन्त और मध्य हैं—वैसे ही जैसे घड़ेका आदि, मध्य और अन्त मिट्टी है॥ १०॥

आप अपने ही आश्रय रहनेवाली अपनी मायासे इस संसारकी रचना करते हैं और इसमें फिरसे प्रवेश करके अन्तर्यामीके रूपमें विराजमान होते हैं। इसीलिये विवेकी और शास्त्रज्ञ पुरुष बड़ी सावधानीसे अपने मनको एकाग्र करके इन गुणोंकी, विषयोंकी भीड़में भी आपके निर्गुण स्वरूपका ही साक्षात्कार करते हैं॥ ११॥

जैसे मनुष्य युक्तिके द्वारा लकड़ीसे आग, गौसे अमृतके समान दूध, पृथ्वीसे अन्न तथा जल और व्यापारसे अपनी आजीविका प्राप्त कर लेते हैं—वैसे

योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां
गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति॥ १२

तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं
सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य सर्वे
गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः॥ १३

स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला
वयं यदर्थास्तव पादमूलम्।
समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्
किं वान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः॥ १४

अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये
दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते।
किं वा विदामेश पृथग्विभाता
विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम्॥ १५

श्रीशुक उवाच

एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्तद्
विज्ञाय तेषां हृदयं तथैव।
जगाद जीमूतगभीरया गिरा
बद्धाञ्जलीन्संवृतसर्वकारकान्[१] ॥ १६

एक एवेश्वरस्तस्मिन्[२]सुरकार्ये सुरेश्वरः।
विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः[३]॥ १७

ही विवेकी पुरुष भी अपनी शुद्ध बुद्धिसे भक्तियोग, ज्ञानयोग आदिके द्वारा आपको इन विषयोंमें ही प्राप्त कर लेते हैं और अपनी अनुभूतिके अनुसार आपका वर्णन भी करते हैं॥ १२॥

कमलनाभ! जिस प्रकार दावाग्निसे झुलसता हुआ हाथी गंगाजलमें डुबकी लगाकर सुख और शान्तिका अनुभव करने लगता है, वैसे ही आपके आविर्भावसे हमलोग परम सुखी और शान्त हो गये हैं। स्वामी! हमलोग बहुत दिनोंसे आपके दर्शनोंके लिये अत्यन्त लालायित हो रहे थे॥ १३॥

आप ही हमारे बाहर और भीतरके आत्मा हैं। हम सब लोकपाल जिस उद्देश्यसे आपके चरणोंकी शरणमें आये हैं, उसे आप कृपा करके पूर्ण कीजिये। आप सबके साक्षी हैं, अत: इस विषयमें हमलोग आपसे और क्या निवेदन करें॥ १४॥

प्रभो! मैं, शंकरजी, अन्य देवता, ऋषि और दक्ष आदि प्रजापति—सब-के-सब अग्निसे अलग हुई चिनगारीकी तरह आपके ही अंश हैं और अपनेको आपसे अलग मानते हैं। ऐसी स्थितिमें प्रभो! हमलोग समझ ही क्या सकते हैं। ब्राह्मण और देवताओंके कल्याणके लिये जो कुछ करना आवश्यक हो, उसका आदेश आप ही दीजिये और आप वैसा स्वयं कर भी लीजिये॥ १५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्मा आदि देवताओंने इस प्रकार स्तुति करके अपनी सारी इन्द्रियाँ रोक लीं और सब बड़ी सावधानीके साथ हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उनकी स्तुति सुनकर और उसी प्रकार उनके हृदयकी बात जानकर भगवान् मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले॥ १६॥

परीक्षित्! समस्त देवताओंके तथा जगत्के एकमात्र स्वामी भगवान् अकेले ही उनका सब कार्य करनेमें समर्थ थे, फिर भी समुद्रमन्थन आदि लीलाओंके द्वारा विहार करनेकी इच्छासे वे देवताओंको सम्बोधित करके इस प्रकार कहने लगे॥ १७॥

१. प्रा० पा०—कायान्। २. प्रा० पा०—एव वृतस्तस्मि०। ३. प्रा० पा०—समुद्रमथनादिभि:।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम्।
शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद् यथा सुराः॥ १८

यात दानवदैतेयैस्तावत् सन्धिर्विधीयताम्।
कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद् वो भव आत्मनः॥ १९

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे।
अहिमूषकवद् देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः[१]॥ २०

अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम्।
यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत्॥ २१

क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः[२]।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु[३] वासुकिम्॥ २२

सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः।
क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः॥ २३

यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः।
न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा॥ २४

न भेतव्यं कालकूटाद् विषाज्जलधिसम्भवात्।
लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु[४] वस्तुषु॥ २५

श्रीशुक उवाच

इति देवान्समादिश्य भगवान्पुरुषोत्तमः।
तेषामन्तर्दधे राजन्स्वच्छन्दगतिरीश्वरः॥ २६

श्रीभगवान्ने कहा—ब्रह्मा, शंकर और देवताओ! तुमलोग सावधान होकर मेरी सलाह सुनो। तुम्हारे कल्याणका यही उपाय है॥ १८॥ इस समय असुरोंपर कालकी कृपा है। इसलिये जबतक तुम्हारे अभ्युदय और उन्नतिका समय नहीं आता, तबतक तुम दैत्य और दानवोंके पास जाकर उनसे सन्धि कर लो॥ १९॥ देवताओ! कोई बड़ा कार्य करना हो तो शत्रुओंसे भी मेल-मिलाप कर लेना चाहिये। यह बात अवश्य है कि काम बन जानेपर उनके साथ साँप और चूहेवाला बर्ताव कर सकते हैं*॥ २०॥ तुमलोग बिना विलम्बके अमृत निकालनेका प्रयत्न करो। उसे पी लेनेपर मरनेवाला प्राणी भी अमर हो जाता है॥ २१॥ पहले क्षीरसागरमें सब प्रकारके घास, तिनके, लताएँ और ओषधियाँ डाल दो। फिर तुमलोग मन्दराचलकी मथानी और वासुकि नागकी नेती बनाकर मेरी सहायतासे समुद्रका मन्थन करो। अब आलस्य और प्रमादका समय नहीं है। देवताओ! विश्वास रखो—दैत्योंको तो मिलेगा केवल श्रम और क्लेश, परन्तु फल मिलेगा तुम्हीं लोगोंको॥ २२-२३॥ देवताओ! असुरलोग तुमसे जो-जो चाहें, सब स्वीकार कर लो। शान्तिसे सब काम बन जाते हैं, क्रोध करनेसे कुछ नहीं होता॥ २४॥

पहले समुद्रसे कालकूट विष निकलेगा, उससे डरना नहीं। और किसी भी वस्तुके लिये कभी भी लोभ न करना। पहले तो किसी वस्तुकी कामना ही नहीं करनी चाहिये, परन्तु यदि कामना हो और वह पूरी न हो तो क्रोध तो करना ही नहीं चाहिये॥ २५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवताओंको यह आदेश देकर पुरुषोत्तम भगवान् उनके बीचमें ही अन्तर्धान हो गये। वे सर्वशक्तिमान् एवं परम स्वतन्त्र जो ठहरे। उनकी लीलाका रहस्य कौन समझे॥ २६॥

---

१. प्रा० पा०—गताः। २. प्रा० पा०—जलौषधीः। ३. प्रा० पा०—च। ४. प्रा० पा०—कामः स्ववस्तुषु।

* किसी मदारीकी पिटारीमें साँप तो पहलेसे था ही, संयोगवश उसमें एक चूहा भी जा घुसा। चूहेके भयभीत होनेपर साँपने उसे प्रेमसे समझाया कि तुम पिटारीमें छेद कर दो, फिर हम दोनों भाग निकलेंगे। पहले तो साँपकी इस बातपर चूहेको विश्वास न हुआ, परन्तु पीछे उसने पिटारीमें छेद कर दिया। इस प्रकार काम बन जानेपर साँप चूहेको निगल गया और पिटारीसे निकल भागा।

अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः।
भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः॥ २७

उनके चले जानेपर ब्रह्मा और शंकरने फिरसे भगवान्‌को नमस्कार किया और वे अपने-अपने लोकोंको चले गये, तदनन्तर इन्द्रादि देवता राजा बलिके पास गये॥ २७॥

दृष्ट्वारीनप्यसंयत्तान् जातक्षोभान्स्वनायकान्।
न्यषेधद् दैत्यराट् श्लोक्यः सन्धिविग्रहकालवित्॥ २८

ते वैरोचनिमासीनं गुप्तं चासुरयूथपैः।
श्रिया परमया जुष्टं जिताशेषमुपागमन्॥ २९

देवताओंको बिना अस्त्र-शस्त्रके सामने आते देख दैत्यसेनापतियोंके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने देवताओंको पकड़ लेना चाहा। परन्तु दैत्यराज बलि सन्धि और विरोधके अवसरको जाननेवाले एवं पवित्र कीर्तिसे सम्पन्न थे। उन्होंने दैत्योंको वैसा करनेसे रोक दिया॥ २८॥ इसके बाद देवतालोग बलिके पास पहुँचे। बलिने तीनों लोकोंको जीत लिया था। वे समस्त सम्पत्तियोंसे सेवित एवं असुरसेनापतियोंसे सुरक्षित होकर अपने राजसिंहासनपर बैठे हुए थे॥ २९॥

महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः।
अभ्यभाषत तत् सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात्॥ ३०

तद[1]रोचत दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधिपाः।
शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः॥ ३१

ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः।
उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परन्तप॥ ३२

बुद्धिमान् इन्द्रने बड़ी मधुर वाणीसे समझाते हुए राजा बलिसे वे सब बातें कहीं, जिनकी शिक्षा स्वयं भगवान्‌ने उन्हें दी थी॥ ३०॥ वह बात दैत्यराज बलिको जँच गयी। वहाँ बैठे हुए दूसरे सेनापति शम्बर, अरिष्टनेमि और त्रिपुरनिवासी असुरोंको भी यह बात बहुत अच्छी लगी॥ ३१॥ तब देवता और असुरोंने आपसमें सन्धि समझौता करके मित्रता कर ली और परीक्षित्! वे सब मिलकर अमृत मन्थनके लिये पूर्ण उद्योग करने लगे॥ ३२॥

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः।
नदन्त उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः॥ ३३

दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः।
अपारयन्तस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि॥ ३४

इसके बाद उन्होंने अपनी शक्तिसे मन्दराचलको उखाड़ लिया और ललकारते तथा गरजते हुए उसे समुद्रतटकी ओर ले चले। उनकी भुजाएँ परिघके समान थीं, शरीरमें शक्ति थी और अपने-अपने बलका घमंड तो था ही॥ ३३॥ परन्तु एक तो वह मन्दरपर्वत ही बहुत भारी था और दूसरे उसे ले जाना भी बहुत दूर था। इससे इन्द्र, बलि आदि सब-के-सब हार गये। जब ये किसी प्रकार भी मन्दराचलको आगे न ले जा सके, तब विवश होकर उन्होंने उसे रास्तेमें ही पटक दिया॥ ३४॥

निपतन्स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान्।
चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः॥ ३५

वह सोनेका पर्वत मन्दराचल बड़ा भारी था। गिरते समय उसने बहुत-से देवता और दानवोंको चकनाचूर कर डाला॥ ३५॥

१. प्रा० पा०—तत्त्वरो०।

तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान्।
विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः॥ ३६

उन देवता और असुरोंके हाथ, कमर और कंधे टूट ही गये थे, मन भी टूट गया। उनका उत्साह भंग हुआ देख गरुड़पर चढ़े हुए भगवान् सहसा वहीं प्रकट हो गये॥ ३६॥

गिरिपातविनिष्पिष्टान्विलोक्यामरदानवान्।
ईक्षया जीवयामास निर्जरान् निर्व्रणान्यथा॥ ३७

उन्होंने देखा कि देवता और असुर पर्वतके गिरनेसे पिस गये हैं। अतः उन्होंने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे देवताओंको इस प्रकार जीवित कर दिया, मानो उनके शरीरमें बिलकुल चोट ही न लगी हो॥ ३७॥

गिरिं चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया।
आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः॥ ३८

इसके बाद उन्होंने खेल-ही-खेलमें एक हाथसे उस पर्वतको उठाकर गरुड़पर रख लिया और स्वयं भी सवार हो गये। फिर देवता और असुरोंके साथ उन्होंने समुद्रतटकी यात्रा की॥ ३८॥

अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् सुपर्णः पततां वरः।
ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः॥ ३९

पक्षिराज गरुड़ने समुद्रके तटपर पर्वतको उतार दिया। फिर भगवान्के विदा करनेपर गरुड़जी वहाँसे चले गये॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने मन्दराचलानयनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

समुद्रमन्थनका आरम्भ और भगवान् शंकरका विषपान

श्रीशुक उवाच

ते नागराजमामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम्।
परिवीय गिरौ तस्मिन् नेत्रमब्धिं मुदान्विताः॥ १

आरेभिरे सुसंयत्ता[१] अमृतार्थं कुरूद्वह।
हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन्॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवता और असुरोंने नागराज वासुकिको यह वचन देकर कि समुद्रमन्थनसे प्राप्त होनेवाले अमृतमें तुम्हारा भी हिस्सा रहेगा, उन्हें भी सम्मिलित कर लिया। इसके बाद उन लोगोंने वासुकि नागको नेतीके समान मन्दराचलमें लपेटकर भलीभाँति उद्यत हो बड़े उत्साह और आनन्दसे अमृतके लिये समुद्रमन्थन प्रारम्भ किया। उस समय पहले-पहल अजितभगवान् वासुकिके मुखकी ओर लग गये, इसलिये देवता भी उधर ही आ जुटे॥ १-२॥

तन्नैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम्।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम्॥ ३

परन्तु भगवान्की यह चेष्टा दैत्यसेनापतियोंको पसंद न आयी। उन्होंने कहा कि 'पूँछ तो साँपका अशुभ अंग है, हम उसे नहीं पकड़ेंगे॥ ३॥

१. प्रा० पा०—सुरा यत्ता अमृतार्थाः।

स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः।
इति तूष्णीं स्थितान्दैत्यान् विलोक्य पुरुषोत्तमः।
स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः॥ ४

कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः।
ममन्थुः परमायत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम्॥ ५

मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत्।
ध्रियमाणोऽपि[1] बलिभिर्गौरवात् पाण्डुनन्दन॥ ६

ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः।
आसन् स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा॥ ७

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥ ८

तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः
समुत्थिता[2] निर्मथितुं सुरासुराः।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन-
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान्॥ ९

सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं
परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः।
बिभ्रत् तदावर्तन[3]मादिकच्छपो
मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः॥ १०

हमने वेद-शास्त्रोंका विधिपूर्वक अध्ययन किया है, ऊँचे वंशमें हमारा जन्म हुआ है और वीरताके बड़े-बड़े काम हमने किये हैं। हम देवताओंसे किस बातमें कम हैं?' यह कहकर वे लोग चुपचाप एक ओर खड़े हो गये। उनकी यह मनोवृत्ति देखकर भगवान्‌ने मुसकराकर वासुकिका मुँह छोड़ दिया और देवताओंके साथ उन्होंने पूँछ पकड़ ली॥ ४॥ इस प्रकार अपना-अपना स्थान निश्चित करके देवता और असुर अमृतप्राप्तिके लिये पूरी तैयारीसे समुद्रमन्थन करने लगे॥ ५॥

परीक्षित्! जब समुद्रमन्थन होने लगा, तब बड़े-बड़े बलवान् देवता और असुरोंके पकड़े रहनेपर भी अपने भारकी अधिकता और नीचे कोई आधार न होनेके कारण मन्दराचल समुद्रमें डूबने लगा॥ ६॥ इस प्रकार अत्यन्त बलवान् दैवके द्वारा अपना सब किया-कराया मिट्टीमें मिलते देख उनका मन टूट गया। सबके मुँहपर उदासी छा गयी॥ ७॥ उस समय भगवान्‌ने देखा कि यह तो विघ्नराजकी करतूत है। इसलिये उन्होंने उसके निवारणका उपाय सोचकर अत्यन्त विशाल एवं विचित्र कच्छपका रूप धारण किया और समुद्रके जलमें प्रवेश करके मन्दराचलको ऊपर उठा दिया। भगवान्‌की शक्ति अनन्त है। वे सत्यसंकल्प हैं। उनके लिये यह कौन-सी बड़ी बात थी॥ ८॥ देवता और असुरोंने देखा कि मन्दराचल तो ऊपर उठ आया है, तब वे फिरसे समुद्र-मन्थनके लिये उठ खड़े हुए। उस समय भगवान्‌ने जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन फैली हुई अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण कर रखा था॥ ९॥ परीक्षित्! जब बड़े-बड़े देवता और असुरोंने अपने बाहुबलसे मन्दराचलको प्रेरित किया, तब वह भगवान्‌की पीठपर घूमने लगा। अनन्त शक्तिशाली आदिकच्छप भगवान्‌को उस पर्वतका चक्कर लगाना ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई उनकी पीठ खुजला रहा हो॥ १०॥

१. प्रा० पा०—ऽतिबलि०। २. प्रा० पा०—समुद्यता। ३. प्रा० पा०—तदामन्थन०।

तथासुरानाविशदासुरेण
रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन्।
उद्दीपयन् देवगणांश्च विष्णु-
र्दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः॥ ११

उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य
आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः।
तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यै-
रभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः॥ १२

उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः
परेण ते प्राविशता समेधिताः।
ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा
महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम्॥ १३

अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुख-
श्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः।
पौलोमकालेयबलील्वलादयो
दावाग्निदग्धाः सरला इवाभवन्॥ १४

देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभान्
धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान्।
समभ्यवर्षन्भगवद्वशा घना
ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः॥ १५

मथ्यमानात् तथा सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः।
यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाजितः स्वयम्॥ १६

साथ ही समुद्रमन्थन सम्पन्न करनेके लिये भगवान्ने असुरोंमें उनकी शक्ति और बलको बढ़ाते हुए असुररूपसे प्रवेश किया। वैसे ही उन्होंने देवताओंको उत्साहित करते हुए उनमें देवरूपसे प्रवेश किया और वासुकिनागमें निद्राके रूपसे॥ ११॥

इधर पर्वतके ऊपर दूसरे पर्वतके समान बनकर सहस्रबाहु भगवान् अपने हाथोंसे उसे दबाकर स्थित हो गये। उस समय आकाशमें ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि उनकी स्तुति और उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ १२॥ इस प्रकार भगवान्ने पर्वतके ऊपर उसको दबा रखनेवालेके रूपमें, नीचे उसके आधार कच्छपके रूपमें, देवता और असुरोंके शरीरमें उनकी शक्तिके रूपमें, पर्वतमें दृढ़ताके रूपमें और नेती बने हुए वासुकिनागमें निद्राके रूपमें—जिससे उसे कष्ट न हो—प्रवेश करके सब ओरसे सबको शक्तिसम्पन्न कर दिया। अब वे अपने बलके मदसे उन्मत्त होकर मन्दराचलके द्वारा बड़े वेगसे समुद्रमन्थन करने लगे। उस समय समुद्र और उसमें रहनेवाले मगर, मछली आदि जीव क्षुब्ध हो गये॥ १३॥

नागराज वासुकिके हजारों कठोर नेत्र, मुख और श्वासोंसे विषकी आग निकलने लगी। उनके धूएँसे पौलोम, कालेय, बलि, इल्वल आदि असुर निस्तेज हो गये। उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो दावानलसे झुलसे हुए साखूके पेड़ खड़े हों॥ १४॥

देवता भी उससे न बच सके। वासुकिके श्वासकी लपटोंसे उनका भी तेज फीका पड़ गया। वस्त्र, माला, कवच एवं मुख धूमिल हो गये। उनकी यह दशा देखकर भगवान्‌की प्रेरणासे बादल देवताओंके ऊपर वर्षा करने लगे एवं वायु समुद्रकी तरंगोंका स्पर्श करके शीतलता और सुगन्धिका संचार करने लगी॥ १५॥

इस प्रकार देवता और असुरोंके समुद्रमन्थन करनेपर भी जब अमृत न निकला, तब स्वयं अजितभगवान् समुद्रमन्थन करने लगे॥ १६॥

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्यु-
न्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा
मथ्नन् मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथो धृताद्रिः॥ १७

निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः।
सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्
तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात्॥ १८

तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा
अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम्॥ १९

विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या
भवाय देव्याभिमतं मुनीनाम्।
आसीनमद्रावपवर्गहेतो-
स्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः॥ २०

प्रजापतय ऊचुः

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद् विषात्॥ २१

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम्॥ २२

मेघके समान साँवले शरीरपर सुनहला पीताम्बर, कानोंमें बिजलीके समान चमकते हुए कुण्डल, सिरपर लहराते हुए घुँघराले बाल, नेत्रोंमें लाल-लाल रेखाएँ और गलेमें वनमाला सुशोभित हो रही थी। सम्पूर्ण जगत्‌को अभयदान करनेवाले अपने विश्वविजयी भुजदण्डोंसे वासुकिनागको पकड़कर तथा कूर्मरूपसे पर्वतको धारणकर जब भगवान् मन्दराचलकी मथानीसे समुद्रमन्थन करने लगे, उस समय वे दूसरे पर्वतराजके समान बड़े ही सुन्दर लग रहे थे॥ १७॥ जब अजितभगवान्‌ने इस प्रकार समुद्र मन्थन किया, तब समुद्रमें बड़ी खलबली मच गयी। मछली, मगर, साँप और कछुए भयभीत होकर ऊपर आ गये और इधर-उधर भागने लगे। तिमि-तिमिंगिल आदि मच्छ, समुद्री हाथी और ग्राह व्याकुल हो गये। उसी समय पहले-पहल हालाहल नामका अत्यन्त उग्र विष निकला॥ १८॥

वह अत्यन्त उग्र विष दिशा-विदिशामें, ऊपर-नीचे सर्वत्र उड़ने और फैलने लगा। इस असह्य विषसे बचनेका कोई उपाय भी तो न था। भयभीत होकर सम्पूर्ण प्रजा और प्रजापति किसीके द्वारा त्राण न मिलनेपर भगवान् सदाशिवकी शरणमें गये॥ १९॥ भगवान् शंकर सतीजीके साथ कैलास पर्वतपर विराजमान थे। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनकी सेवा कर रहे थे। वे वहाँ तीनों लोकोंके अभ्युदय और मोक्षके लिये तपस्या कर रहे थे। प्रजापतियोंने उनका दर्शन करके उनकी स्तुति करते हुए उन्हें प्रणाम किया॥ २०॥

प्रजापतियोंने भगवान् शंकरकी स्तुति की— देवताओंके आराध्यदेव महादेव! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा और उनके जीवनदाता हैं। हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। त्रिलोकीको भस्म करनेवाले इस उग्र विषसे आप हमारी रक्षा कीजिये॥ २१॥ सारे जगत्‌को बाँधने और मुक्त करनेमें एकमात्र आप ही समर्थ हैं। इसलिये विवेकी पुरुष आपकी ही आराधना करते हैं। क्योंकि आप शरणागतकी पीड़ा नष्ट करनेवाले एवं जगद्गुरु हैं॥ २२॥

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो।
धत्से यदा स्वदृग् भूमन्ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्॥ २३

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः।
नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा[१] जगदीश्वरः॥ २४

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा
प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्म-
स्त्वय्यक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति॥ २५

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा[२]
क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम्।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम्॥ २६

नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्
सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा
सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते॥ २७

कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते।
छन्दांसि साक्षात् तव सप्त धातव-
स्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः॥ २८

प्रभो! अपनी गुणमयी शक्तिसे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेके लिये आप अनन्त, एकरस होनेपर भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नाम धारण कर लेते हैं॥ २३॥ आप स्वयंप्रकाश हैं। इसका कारण यह है कि आप परम रहस्यमय ब्रह्मतत्त्व हैं। जितने भी देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सत् अथवा असत् चराचर प्राणी हैं—उनको जीवनदान देनेवाले आप ही हैं। आपके अतिरिक्त सृष्टि भी और कुछ नहीं है। क्योंकि आप आत्मा हैं। अनेक शक्तियोंके द्वारा आप ही जगत्‌रूपमें भी प्रतीत हो रहे हैं। क्योंकि आप ईश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं॥ २४॥ समस्त वेद आपसे ही प्रकट हुए हैं। इसलिये आप समस्त ज्ञानोंके मूल स्रोत स्वत:सिद्ध ज्ञान हैं। आप ही जगत्के आदिकारण महत्तत्त्व और त्रिविध अहंकार हैं एवं आप ही प्राण, इन्द्रिय, पंचमहाभूत तथा शब्दादि विषयोंके भिन्न-भिन्न स्वभाव और उनके मूल कारण हैं। आप स्वयं ही प्राणियोंकी वृद्धि और ह्रास करनेवाले काल हैं, उनका कल्याण करनेवाले यज्ञ हैं एवं सत्य और मधुर वाणी हैं। धर्म भी आपका ही स्वरूप है। आप ही 'अ, उ, म्' इन तीनों अक्षरोंसे युक्त प्रणव हैं अथवा त्रिगुणात्मिका प्रकृति हैं—ऐसा वेदवादी महात्मा कहते हैं॥ २५॥ सर्वदेवस्वरूप अग्नि आपका मुख है। तीनों लोकोंके अभ्युदय करनेवाले शंकर! यह पृथ्वी आपका चरणकमल है। आप अखिल देवस्वरूप हैं। यह काल आपकी गति है, दिशाएँ कान हैं और वरुण रसनेन्द्रिय है॥ २६॥ आकाश नाभि है, वायु श्वास है, सूर्य नेत्र हैं और जल वीर्य है। आपका अहंकार नीचे-ऊँचे सभी जीवोंका आश्रय है। चन्द्रमा मन है और प्रभो! स्वर्ग आपका सिर है॥ २७॥ वेदस्वरूप भगवन्! समुद्र आपकी कोख हैं। पर्वत हड्डियाँ हैं। सब प्रकारकी ओषधियाँ और घास आपके रोम हैं। गायत्री आदि छन्द आपकी सातों धातुएँ हैं और सभी प्रकारके धर्म आपके हृदय हैं॥ २८॥

१. प्रा० पा०—राभासे त्व०। २. प्रा० पा०—देवतात्मन्।

मुखानि पंचोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत् तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं[1]
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते॥ २९

छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो
नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि।
सांख्यात्मनः[2] शास्त्रकृतस्तवेक्षा
छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः॥ ३०

न ते गिरित्राखिललोकपाल-
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च
सत्त्वं न यद् ब्रह्म निरस्तभेदम्॥ ३१

कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक-
भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न[3] तत् ते।
यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र-
वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद॥ ३२

ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि-
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम्।
[4]कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने
ते [5]नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः॥ ३३

स्वामिन्! सद्योजातादि पाँच उपनिषद् ही आपके तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान नामक पाँच मुख हैं। उन्हींके पदच्छेदसे अड़तीस कलात्मक मन्त्र निकले हैं। आप जब समस्त प्रपंचसे उपरत होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, तब उसी स्थितिका नाम होता है 'शिव'। वास्तवमें वही स्वयंप्रकाश परमार्थतत्त्व है॥ २९॥ अधर्मकी दम्भ-लोभ आदि तरंगोंमें आपकी छाया है जिनसे विविध प्रकारकी सृष्टि होती है, वे सत्त्व, रज और तम—आपके तीन नेत्र हैं। प्रभो! गायत्री आदि छन्दरूप सनातन वेद ही आपका विचार है। क्योंकि आप ही सांख्य आदि समस्त शास्त्रोंके रूपमें स्थित हैं और उनके कर्ता भी हैं॥ ३०॥ भगवन्! आपका परम ज्योतिर्मय स्वरूप स्वयं ब्रह्म है। उसमें न तो रजोगुण, तमोगुण एवं सत्त्वगुण हैं और न किसी प्रकारका भेदभाव ही। आपके उस स्वरूपको सारे लोकपाल—यहाँतक कि ब्रह्मा, विष्णु और देवराज इन्द्र भी नहीं जान सकते॥ ३१॥ आपने कामदेव, दक्षके यज्ञ, त्रिपुरासुर और कालकूट विष (जिसको आप अभी-अभी अवश्य पी जायँगे) और अनेक जीवद्रोही असुरोंको नष्ट कर दिया है। परन्तु यह कहनेसे आपकी कोई स्तुति नहीं होती। क्योंकि प्रलयके समय आपका बनाया हुआ यह विश्व आपके ही नेत्रसे निकली हुई आगकी चिनगारी एवं लपटसे जलकर भस्म हो जाता है और आप इस प्रकार ध्यानमग्न रहते हैं कि आपको इसका पता ही नहीं चलता॥ ३२॥ जीवन्मुक्त आत्माराम पुरुष अपने हृदयमें आपके युगल चरणोंका ध्यान करते रहते हैं तथा आप स्वयं भी निरन्तर ज्ञान और तपस्यामें ही लीन रहते हैं। फिर भी सतीके साथ रहते देखकर जो आपको आसक्त एवं श्मशानवासी होनेके कारण उग्र अथवा निष्ठुर बतलाते हैं—वे मूर्ख आपकी लीलाओंका रहस्य भला क्या जानें। उनका वैसा कहना निर्लज्जतासे भरा है॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—परमात्मतत्त्वं। २. प्रा० पा०—मोक्षात्मनः। ३. प्रा० पा०—नमस्ते। ४. प्रा० पा०—कथन्नु उग्रतपसि निर०। ५. प्रा० पा०—भूतमूर्ति०।

तत् तस्य ते सदसतोः परतः परस्य
नाञ्जःस्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु
तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम्॥ ३४

एतत् परं [1]प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर।
मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः॥ ३५

श्रीशुक उवाच

तद्वीक्ष्य व्यसनं [2]तासां कृपया भृशपीडितः।
सर्वभूतसुहृद् देव इदमाह [3]सतीं प्रियाम्॥ ३६

श्रीशिव उवाच

अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम्।
क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम्॥ ३७

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे।
एतावान्हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्॥ ३८

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया॥ ३९

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।
प्रीते हरौ भगवति [4]प्रीयेऽहं सचराचरः।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे॥ ४०

इस कार्य और कारणरूप जगत्से परे माया है और मायासे भी अत्यन्त परे आप हैं। इसलिये प्रभो! आपके अनन्त स्वरूपका साक्षात् ज्ञान प्राप्त करनेमें सहसा ब्रह्मा आदि भी समर्थ नहीं होते, फिर स्तुति तो कर ही कैसे सकते हैं। ऐसी अवस्थामें उनके पुत्रोंके पुत्र हमलोग कह ही क्या सकते हैं। फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार हमने आपका कुछ गुणगान किया है॥ ३४॥ हमलोग तो केवल आपके इसी लीलाविहारी रूपको देख रहे हैं। आपके परम स्वरूपको हम नहीं जानते। महेश्वर! यद्यपि आपकी लीलाएँ अव्यक्त हैं, फिर भी संसारका कल्याण करनेके लिये आप व्यक्तरूपसे भी रहते हैं॥ ३५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! प्रजाका यह संकट देखकर समस्त प्राणियोंके अकारण बन्धु देवाधिदेव भगवान् शंकरके हृदयमें कृपावश बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने अपनी प्रिया सतीसे यह बात कही॥ ३६॥

शिवजीने कहा—देवि! यह बड़े खेदकी बात है। देखो तो सही, समुद्रमन्थनसे निकले हुए कालकूट विषके कारण प्रजापर कितना बड़ा दुःख आ पड़ा है॥ ३७॥ ये बेचारे किसी प्रकार अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहते हैं। इस समय मेरा यह कर्तव्य है कि मैं इन्हें निर्भय कर दूँ। जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है, उनके जीवनकी सफलता इसीमें है कि वे दीन-दुःखियोंकी रक्षा करें॥ ३८॥ सज्जन पुरुष अपने क्षणभंगुर प्राणोंकी बलि देकर भी दूसरे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा करते हैं। कल्याणि! अपने ही मोहकी मायामें फँसकर संसारके प्राणी मोहित हो रहे हैं और एक-दूसरेसे वैरकी गाँठ बाँधे बैठे हैं॥ ३९॥ उनके ऊपर जो कृपा करता है, उसपर सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तब चराचर जगत्के साथ मैं भी प्रसन्न हो जाता हूँ। इसलिये अभी-अभी मैं इस विषको भक्षण करता हूँ, जिससे मेरी प्रजाका कल्याण हो॥ ४०॥

१. प्रा० पा०—प्रार्थयामो। २. प्रा० पा०—तेषां। ३. प्रा० पा०—प्रियां सतीम्। ४. प्रा० पा०—संप्रीयेत चराचरम्।

श्रीशुक उवाच

एवमामन्त्र्य भगवान्भवानीं विश्वभावनः।
तद् विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत॥ ४१

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः[1]॥ ४२

तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम्॥ ४३

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥ ४४

निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीढुषः।
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे॥ ४५

प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत् किञ्चिज्जगृहुः स्म तत्।
वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे॥ ४६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—विश्वके जीवनदाता भगवान् शंकर इस प्रकार सती देवीसे प्रस्ताव करके उस विषको खानेके लिये तैयार हो गये। देवी तो उनका प्रभाव जानती ही थीं, उन्होंने हृदयसे इस बातका अनुमोदन किया॥ ४१॥

भगवान् शंकर बड़े कृपालु हैं। उन्हींकी शक्तिसे समस्त प्राणी जीवित रहते हैं। उन्होंने उस तीक्ष्ण हालाहल विषको अपनी हथेलीपर उठाया और भक्षण कर गये॥ ४२॥ वह विष जलका पाप—मल था। उसने शंकरजीपर भी अपना प्रभाव प्रकट कर दिया, उससे उनका कण्ठ नीला पड़ गया, परन्तु वह तो प्रजाका कल्याण करनेवाले भगवान् शंकरके लिये भूषणरूप हो गया॥ ४३॥ परोपकारी सज्जन प्रायः प्रजाका दुःख टालनेके लिये स्वयं दुःख झेला ही करते हैं। परन्तु यह दुःख नहीं है, यह तो सबके हृदयमें विराजमान भगवान्‌की परम आराधना है॥ ४४॥

देवाधिदेव भगवान् शंकर सबकी कामना पूर्ण करनेवाले हैं। उनका यह कल्याणकारी अद्‌भुत कर्म सुनकर सम्पूर्ण प्रजा, दक्षकन्या सती, ब्रह्माजी और स्वयं विष्णुभगवान् भी उनकी प्रशंसा करने लगे॥ ४५॥ जिस समय भगवान् शंकर विषपान कर रहे थे, उस समय उनके हाथसे थोड़ा-सा विष टपक पड़ा था। उसे बिच्छू, साँप तथा अन्य विषैले जीवोंने एवं विषैली ओषधियोंने ग्रहण कर लिया॥ ४६॥

इति श्रीमद्‌भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे-
ऽमृतमथने सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

समुद्रसे अमृतका प्रकट होना और भगवान्‌का मोहिनी-अवतार ग्रहण करना

श्रीशुक उवाच

पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः।
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार जब भगवान् शंकरने विष पी लिया, तब देवता और असुरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे फिर नये उत्साहसे समुद्र मथने लगे। तब समुद्रसे कामधेनु प्रकट हुई॥ १॥

१. प्रा० पा०—भक्तवत्सलः।

तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः।
यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय[1] हविषे नृप॥ २

वह अग्निहोत्रकी सामग्री उत्पन्न करनेवाली थी। इसलिये ब्रह्मलोकतक पहुँचानेवाले यज्ञके लिये उपयोगी पवित्र घी, दूध आदि प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मवादी ऋषियोंने उसे ग्रहण किया॥ २॥

तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः।
तस्मिन्बलिः स्पृहां चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया॥ ३

उसके बाद उच्चैःश्रवा नामका घोड़ा निकला। वह चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णका था। बलिने उसे लेनेकी इच्छा प्रकट की। इन्द्रने उसे नहीं चाहा; क्योंकि भगवान्‌ने उन्हें पहलेसे ही सिखा रखा था॥ ३॥

तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन्[2]भगवतो महिम्॥ ४

तदनन्तर ऐरावत नामका श्रेष्ठ हाथी निकला। उसके बड़े-बड़े चार दाँत थे, जो उज्ज्वलवर्ण कैलासकी शोभाको भी मात करते थे॥ ४॥

कौस्तुभाख्यमभूद् रत्नं पद्मरागो महोदधेः।
तस्मिन्हरिः स्पृहां चक्रे वक्षोऽलङ्करणे मणौ॥ ५

तत्पश्चात् कौस्तुभ नामक पद्मराग मणि समुद्रसे निकली। उस मणिको अपने हृदयपर धारण करनेके लिये अजितभगवान्‌ने लेना चाहा॥ ५॥

ततोऽभवत् पारिजातः सुरलोकविभूषणम्।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद् भुवि यथा भवान्॥ ६

परीक्षित्! इसके बाद स्वर्गलोककी शोभा बढ़ानेवाला कल्पवृक्ष निकला। वह याचकोंकी इच्छाएँ उनकी इच्छित वस्तु देकर वैसे ही पूर्ण करता रहता है, जैसे पृथ्वीपर तुम सबकी इच्छाएँ पूर्ण करते हो॥ ६॥

ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः[3] सुवाससः।
रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः॥ ७

तत्पश्चात् अप्सराएँ प्रकट हुईं। वे सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित एवं गलेमें स्वर्णहार पहने हुए थीं। वे अपनी मनोहर चाल और विलासभरी चितवनसे देवताओंको सुख पहुँचानेवाली हुईं॥ ७॥

ततश्चाविरभूत् साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत् सौदामनी यथा॥ ८

इसके बाद शोभाकी मूर्ति स्वयं भगवती लक्ष्मीदेवी प्रकट हुईं। वे भगवान्‌की नित्यशक्ति हैं। उनकी बिजलीके समान चमकीली छटासे दिशाएँ जगमगा उठीं॥ ८॥

तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः।
रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः॥ ९

उनके सौन्दर्य, औदार्य, यौवन, रूप-रंग और महिमासे सबका चित्त खिंच गया। देवता, असुर, मनुष्य—सभीने चाहा कि ये हमें मिल जायँ॥ ९॥

तस्या आसनमानिन्ये महेन्द्रो महदद्भुतम्।
मूर्तिमत्यः सरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भैर्जलं शुचिः॥ १०

स्वयं इन्द्र अपने हाथों उनके बैठनेके लिये बड़ा विचित्र आसन ले आये। श्रेष्ठ नदियोंने मूर्तिमान् होकर उनके अभिषेकके लिये सोनेके घड़ोंमें भर-भरकर पवित्र जल ला दिया॥ १०॥

आभिषेचनिका भूमिराहरत् सकलौषधीः।
गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ॥ ११

पृथ्वीने अभिषेकके योग्य सब ओषधियाँ दीं। गौओंने पंचगव्य और वसन्त ऋतुने चैत्र-वैशाखमें होनेवाले सब फूल-फल उपस्थित कर दिये॥ ११॥

१. प्रा० पा०—मेध्यस्य। २. प्रा० पा०—हरञ्छृङ्गव०। ३. प्रा० पा०—निष्कग्रीवाः।

ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुरभिषेकं यथाविधि।
जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नट्यश्च[1] ननृतुर्जगुः॥ १२

मेघा मृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान्।
व्यनादयञ्छङ्खवेणुवीणास्तुमुलनिःस्वनान्॥ १३

ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम्।
दिगिभाः पूर्णकलशैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः॥ १४

समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत्।
वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम्॥ १५

भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः।
हारं सरस्वती पद्ममजो नागाश्च कुण्डले॥ १६

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं
नदद्विरेफां परिगृह्य पाणिना।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं
सव्रीडहासं दधती सुशोभनम्॥ १७

स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं
निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम्।
ततस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितै-
र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ॥ १८

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम्[2]।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारण-
त्रैविष्टपेयादिषु नान्वविन्दत॥ १९

इन सामग्रियोंसे ऋषियोंने विधिपूर्वक उनका अभिषेक सम्पन्न किया। गन्धर्वोंने मंगलमय संगीतकी तान छेड़ दी। नर्तकियाँ नाच-नाचकर गाने लगीं॥ १२॥ बादल सदेह होकर मृदंग, डमरू, ढोल, नगारे, नरसिंगे, शंख, वेणु और वीणा बड़े जोरसे बजाने लगे॥ १३॥ तब भगवती लक्ष्मीदेवी हाथमें कमल लेकर सिंहासनपर विराजमान हो गयीं। दिग्गजोंने जलसे भरे कलशोंसे उनको स्नान कराया। उस समय ब्राह्मणगण वेदमन्त्रोंका पाठ कर रहे थे॥ १४॥

समुद्रने पीले रेशमी वस्त्र उनको पहननेके लिये दिये। वरुणने ऐसी वैजयन्ती माला समर्पित की, जिसकी मधुमय सुगन्धसे भौंरे मतवाले हो रहे थे॥ १५॥ प्रजापति विश्वकर्माने भाँति-भाँतिके गहने, सरस्वतीने मोतियोंका हार, ब्रह्माजीने कमल और नागोंने दो कुण्डल समर्पित किये॥ १६॥

इसके बाद लक्ष्मीजी ब्राह्मणोंके स्वस्त्ययन-पाठ कर चुकनेपर अपने हाथोंमें कमलकी माला लेकर उसे सर्वगुणसम्पन्न पुरुषके गलेमें डालने चलीं। मालाके आसपास उसकी सुगन्धसे मतवाले हुए भौंरे गुंजार कर रहे थे। उस समय लक्ष्मीजीके मुखकी शोभा अवर्णनीय हो रही थी। सुन्दर कपोलोंपर कुण्डल लटक रहे थे। लक्ष्मीजी कुछ लज्जाके साथ मन्द-मन्द मुसकरा रही थीं॥ १७॥ उनकी कमर बहुत पतली थी। दोनों स्तन बिल्कुल सटे हुए और सुन्दर थे। उनपर चन्दन और केसरका लेप किया हुआ था। जब वे इधर-उधर चलती थीं, तब उनके पायजेबसे बड़ी मधुर झनकार निकलती थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई सोनेकी लता इधर-उधर घूम-फिर रही है॥ १८॥ वे चाहती थीं कि मुझे कोई निर्दोष और समस्त उत्तम गुणोंसे नित्ययुक्त अविनाशी पुरुष मिले तो मैं उसे अपना आश्रय बनाऊँ, वरण करूँ। परन्तु गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण, देवता आदिमें कोई भी वैसा पुरुष उन्हें न मिला॥ १९॥

१. प्रा० पा०—नार्यश्च। २. प्रा० पा०—चारस०।

नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित् तच्च न सङ्गवर्जितम्।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतोव्यपाश्रयः॥ २०

धर्मः क्वचित् तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः क्वचित् तत्र न मुक्तिकारणम्।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः॥ २१

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं
क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः
सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम्॥ २२

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-
र्वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम्[१]।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम्॥ २३

तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां
माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम
सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता॥ २४

(वे मन-ही-मन सोचने लगीं कि) कोई तपस्वी तो हैं, परन्तु उन्होंने क्रोधपर विजय नहीं प्राप्त की है। किन्हींमें ज्ञान तो है, परन्तु वे पूरे अनासक्त नहीं हैं। कोई-कोई हैं तो बड़े महत्त्वशाली, परन्तु वे कामको नहीं जीत सके हैं। किन्हींमें ऐश्वर्य भी बहुत है; परन्तु वह ऐश्वर्य ही किस कामका, जब उन्हें दूसरोंका आश्रय लेना पड़ता है॥ २०॥ किन्हींमें धर्माचरण तो है; परन्तु प्राणियोंके प्रति वे प्रेमका पूरा बर्ताव नहीं करते। त्याग तो है, परन्तु केवल त्याग ही तो मुक्तिका कारण नहीं है। किन्हीं-किन्हींमें वीरता तो अवश्य है, परन्तु वे भी कालके पंजेसे बाहर नहीं हैं। अवश्य ही कुछ महात्माओंमें विषयासक्ति नहीं है, परन्तु वे तो निरन्तर अद्वैत-समाधिमें ही तल्लीन रहते हैं॥ २१॥ किसी-किसी ऋषिने आयु तो बहुत लंबी प्राप्त कर ली है, परन्तु उनका शील-मंगल भी मेरे योग्य नहीं है। किन्हींमें शील-मंगल भी है परन्तु उनकी आयुका कुछ ठिकाना नहीं। अवश्य ही किन्हींमें दोनों ही बातें हैं, परन्तु वे अमंगल-वेषमें रहते हैं। रहे एक भगवान् विष्णु—उनमें सभी मंगलमय गुण नित्य निवास करते हैं, परन्तु वे मुझे चाहते ही नहीं॥ २२॥

इस प्रकार सोच-विचारकर अन्तमें श्रीलक्ष्मीजीने अपने चिर अभीष्ट भगवान्‌को ही वरके रूपमें चुना; क्योंकि उनमें समस्त सद्‌गुण नित्य निवास करते हैं। प्राकृत गुण उनका स्पर्श नहीं कर सकते और अणिमा आदि समस्त गुण उनको चाहा करते हैं; परन्तु वे किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखते। वास्तवमें लक्ष्मीजीके एकमात्र आश्रय भगवान् ही हैं। इसीसे उन्होंने उन्हींको वरण किया॥ २३॥ लक्ष्मीजीने भगवान्‌के गलेमें वह नवीन कमलोंकी सुन्दर माला पहना दी, जिसके चारों ओर झुंड-के-झुंड मतवाले मधुकर गुंजार कर रहे थे। इसके बाद लज्जापूर्ण मुसकान और प्रेमपूर्ण चितवनसे अपने निवासस्थान उनके वक्षःस्थलको देखती हुई वे उनके पास ही खड़ी हो गयीं॥ २४॥

१. प्रा० पा०—श्रयसद्‌गुणा०।

तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षोनिवासमकरोत् परमं विभूतेः।
श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन
यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान्॥ २५

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः।
देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत्॥ २६

ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम्।
ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः॥ २७

श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः।
शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम्॥ २८

निःसत्त्वा लोलुपा राजन् निरुद्योगा गतत्रपाः।
यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः॥ २९

अथासीद् वारुणी देवी कन्या कमललोचना।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते॥ ३०

अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः॥ ३१

दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः॥ ३२

पीतवासा महोरस्कः[1] सुमृष्टमणिकुण्डलः।
स्निग्ध[2]कुञ्चितकेशान्तः सुभगः[3] सिंहविक्रमः॥ ३३

अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः।
स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः॥ ३४

जगत्पिता भगवान्ने जगज्जननी, समस्त सम्पत्तियोंकी अधिष्ठातृदेवता श्रीलक्ष्मीजीको अपने वक्षःस्थलपर ही सर्वदा निवास करनेका स्थान दिया। लक्ष्मीजीने वहाँ विराजमान होकर अपनी करुणाभरी चितवनसे तीनों लोक, लोकपति और अपनी प्यारी प्रजाकी अभिवृद्धि की॥ २५॥ उस समय शंख, तुरही, मृदंग आदि बाजे बजने लगे। गन्धर्व अप्सराओंके साथ नाचने-गाने लगे। इससे बड़ा भारी शब्द होने लगा॥ २६॥ ब्रह्मा, रुद्र, अंगिरा आदि सब प्रजापति पुष्पवर्षा करते हुए भगवान्के गुण, स्वरूप और लीला आदिके यथार्थ वर्णन करनेवाले मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे॥ २७॥ देवता, प्रजापति और प्रजा—सभी लक्ष्मीजीकी कृपादृष्टिसे शील आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न होकर बहुत सुखी हो गये॥ २८॥ परीक्षित्! इधर जब लक्ष्मीजीने दैत्य और दानवोंकी उपेक्षा कर दी, तब वे लोग निर्बल, उद्योगरहित, निर्लज्ज और लोभी हो गये॥ २९॥ इसके बाद समुद्रमन्थन करनेपर कमलनयनी कन्याके रूपमें वारुणीदेवी प्रकट हुईं। भगवान्की अनुमतिसे दैत्योंने उसे ले लिया॥ ३०॥

तदनन्तर महाराज! देवता और असुरोंने अमृतकी इच्छासे जब और भी समुद्रमन्थन किया, तब उसमेंसे एक अत्यन्त अलौकिक पुरुष प्रकट हुआ॥ ३१॥ उसकी भुजाएँ लंबी एवं मोटी थीं। उसका गला शङ्खके समान उतार-चढ़ाववाला था और आँखोंमें लालिमा थी। शरीरका रंग बड़ा सुन्दर साँवला-साँवला था। गलेमें माला, अंग-अंग सब प्रकारके आभूषणोंसे सुसज्जित, शरीरपर पीताम्बर, कानोंमें चमकीले मणियोंके कुण्डल, चौड़ी छाती, तरुण अवस्था, सिंहके समान पराक्रम, अनुपम सौन्दर्य, चिकने और घुँघराले बाल लहराते हुए उस पुरुषकी छबि बड़ी अनोखी थी॥ ३२-३३॥ उसके हाथोंमें कंगन और अमृतसे भरा हुआ कलश था। वह साक्षात् विष्णुभगवान्के अंशांश अवतार थे॥ ३४॥

१. प्रा० पा०—महास्कन्धः। २. प्रा० पा०—नील०। ३. प्रा० पा०—शुभाङ्गः।

धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक्।
तमालोक्यासुराः सर्वे कलशं चामृताभृतम्॥ ३५

लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलशं तरसाहरन्।
नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन्कलशेऽमृतभाजने॥ ३६

विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः।
इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान्भृत्यकामकृत्।
मा खिद्यत मिथोऽर्थं वः साधयिष्ये स्वमायया॥ ३७

मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो॥ ३८

देवाः स्वं भागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः।
सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः॥ ३९

इति स्वान्प्रत्यषेधन्वै दैतेया जातमत्सराः।
दुर्बलाः प्रबलान् राजन् गृहीतकलशान् मुहुः॥ ४०

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम्॥ ४१

प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम्।
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम्॥ ४२

नवयौवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम्।
मुखामोदानुरक्तालिझङ्कारोद्विग्नलोचनम्॥ ४३

वे ही आयुर्वेदके प्रवर्तक और यज्ञभोक्ता धन्वन्तरिके नामसे सुप्रसिद्ध हुए। जब दैत्योंकी दृष्टि उनपर तथा उनके हाथमें अमृतसे भरे हुए कलशपर पड़ी, तब उन्होंने शीघ्रतासे बलात् उस अमृतके कलशको छीन लिया। वे तो पहलेसे ही इस ताकमें थे कि किसी तरह समुद्रमन्थनसे निकली हुई सभी वस्तुएँ हमें मिल जायँ। जब असुर उस अमृतसे भरे कलशको छीन ले गये, तब देवताओंका मन विषादसे भर गया। अब वे भगवान्की शरणमें आये। उनकी दीन दशा देखकर भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्ने कहा—'देवताओ! तुमलोग खेद मत करो। मैं अपनी मायासे उनमें आपसकी फूट डालकर अभी तुम्हारा काम बना देता हूँ'॥ ३५—३७॥

परीक्षित्! अमृतलोलुप दैत्योंमें उसके लिये आपसमें झगड़ा खड़ा हो गया। सभी कहने लगे 'पहले मैं पीऊँगा, पहले मैं; तुम नहीं, तुम नहीं'॥ ३८॥ उनमें जो दुर्बल थे, वे उन बलवान् दैत्योंका विरोध करने लगे, जिन्होंने कलश छीनकर अपने हाथमें कर लिया था, वे ईर्ष्यावश धर्मकी दुहाई देकर उनको रोकने और बार-बार कहने लगे कि 'भाई! देवताओंने भी हमारे बराबर ही परिश्रम किया है, उनको भी यज्ञभागके समान इसका भाग मिलना ही चाहिये। यही सनातनधर्म है'॥ ३९-४०॥ इस प्रकार इधर दैत्योंमें 'तू-तू, मैं-मैं' हो रही थी और उधर सभी उपाय जाननेवालोंके स्वामी चतुरशिरोमणि भगवान्ने अत्यन्त अद्भुत और अवर्णनीय स्त्रीका रूप धारण किया॥ ४१॥

शरीरका रंग नील कमलके समान श्याम एवं देखने ही योग्य था। अंग-प्रत्यंग बड़े ही आकर्षक थे। दोनों कान बराबर और कर्णफूलसे सुशोभित थे। सुन्दर कपोल, ऊँची नासिका और रमणीय मुख॥ ४२॥ नयी जवानीके कारण स्तन उभरे हुए थे और उन्हींके भारसे कमर पतली हो गयी थी। मुखसे निकलती हुई सुगन्धके प्रेमसे गुनगुनाते हुए भौंरे उसपर टूटे पड़ते थे, जिससे नेत्रोंमें कुछ घबराहटका भाव आ जाता था॥ ४३॥

बिभ्रत् स्वकेशभारेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम्।
सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम्॥ ४४

अपने लंबे केशपाशोंमें उन्होंने खिले हुए बेलेके पुष्पोंकी माला गूँथ रखी थी। सुन्दर गलेमें कण्ठके आभूषण और सुन्दर भुजाओंमें बाजूबंद सुशोभित थे॥ ४४॥

विरजाम्बरसंवीतनितम्बद्वीपशोभया ।
काञ्च्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरम्॥ ४५

इनके चरणोंके नूपुर मधुर ध्वनिसे रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे और स्वच्छ साड़ीसे ढके नितम्बद्वीपपर शोभायमान करधनी अपनी अनूठी छटा छिटका रही थी॥ ४५॥

सव्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः ।
दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्दीपयन् मुहुः॥ ४६

अपनी सलज्ज मुसकान, नाचती हुई तिरछी भौंहें और विलासभरी चितवनसे मोहिनी-रूपधारी भगवान् दैत्यसेनापतियोंके चित्तमें बार-बार कामोद्दीपन करने लगे॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे भगवन्मायोपलम्भनं नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

मोहिनीरूपसे भगवान्‌के द्वारा अमृत बाँटा जाना

श्रीशुक उवाच

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः।
क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! असुर आपसके सद्भाव और प्रेमको छोड़कर एक-दूसरेकी निन्दा कर रहे थे और डाकूकी तरह एक-दूसरेके हाथसे अमृतका कलश छीन रहे थे। इसी बीचमें उन्होंने देखा कि एक बड़ी सुन्दरी स्त्री उनकी ओर चली आ रही है॥ १॥

अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः।
इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः॥ २

वे सोचने लगे—'कैसा अनुपम सौन्दर्य है। शरीरमेंसे कितनी अद्भुत छटा छिटक रही है! तनिक इसकी नयी उम्र तो देखो!' बस, अब वे आपसकी लाग-डाँट भूलकर उसके पास दौड़ गये। उन लोगोंने काममोहित होकर उससे पूछा—॥ २॥

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि।
कस्यासि वद वामोरु मथ्नन्तीव[1] मनांसि नः॥ ३

'कमलनयनी! तुम कौन हो? कहाँसे आ रही हो? क्या करना चाहती हो? सुन्दरी! तुम किसकी कन्या हो? तुम्हें देखकर हमारे मनमें खलबली मच गयी है॥ ३॥

न वयं त्वामरैर्दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः।
नास्पृष्टपूर्वां जानीमो लोकेशैश्च[2] कुतो नृभिः॥ ४

हम समझते हैं कि अबतक देवता, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, चारण और लोकपालोंने भी तुम्हें स्पर्शतक न किया होगा। फिर मनुष्य तो तुम्हें कैसे छू पाते?॥ ४॥

१. प्रा० पा०—मथ्नासीव। २. प्रा० पा०—योगेशैश्च।

नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेषितासि शरीरिणाम्।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम्॥ ५

सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि।
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे॥ ६

वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः।
विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत्॥ ७

इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरिः।
प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत्॥ ८

श्रीभगवानुवाच

कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः।
विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि॥ ९

सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः।
सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम्॥ १०

श्रीशुक उवाच

इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः।
जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम्॥ ११

ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा।
यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा
कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम्॥ १२

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यासुरपुङ्गवाः।
अप्रमाणविदस्तस्यास्तत् तथेत्यन्वमंसत॥ १३

सुन्दरी! अवश्य ही विधाताने दया करके शरीरधारियोंकी सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं मनको तृप्त करनेके लिये तुम्हें यहाँ भेजा है॥ ५॥ मानिनी! वैसे हमलोग एक ही जातिके हैं। फिर भी हम सब एक ही वस्तु चाह रहे हैं, इसलिये हममें डाह और वैरकी गाँठ पड़ गयी है। सुन्दरी! तुम हमारा झगड़ा मिटा दो॥ ६॥ हम सभी कश्यपजीके पुत्र होनेके नाते सगे भाई हैं। हमलोगोंने अमृतके लिये बड़ा पुरुषार्थ किया है। तुम न्यायके अनुसार निष्पक्षभावसे इसे बाँट दो, जिससे फिर हमलोगोंमें किसी प्रकारका झगड़ा न हो'॥ ७॥ असुरोंने जब इस प्रकार प्रार्थना की, तब लीलासे स्त्रीवेष धारण करनेवाले भगवान्‌ने तनिक हँसकर और तिरछी चितवनसे उनकी ओर देखते हुए कहा— ॥ ८॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—आपलोग महर्षि कश्यपके पुत्र हैं और मैं हूँ कुलटा। आपलोग मुझपर न्यायका भार क्यों डाल रहे हैं? विवेकी पुरुष स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंका कभी विश्वास नहीं करते॥ ९॥

दैत्यो! कुत्ते और व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी मित्रता स्थायी नहीं होती। वे दोनों ही सदा नये-नये शिकार ढूँढ़ा करते हैं॥ १०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मोहिनीकी परिहासभरी वाणीसे दैत्योंके मनमें और भी विश्वास हो गया। उन लोगोंने रहस्यपूर्ण भावसे हँसकर अमृतका कलश मोहिनीके हाथमें दे दिया॥ ११॥

भगवान्‌ने अमृतका कलश अपने हाथमें लेकर तनिक मुसकराते हुए मीठी वाणीसे कहा—'मैं उचित या अनुचित जो कुछ भी करूँ, वह सब यदि तुमलोगोंको स्वीकार हो तो मैं यह अमृत बाँट सकती हूँ'॥ १२॥

बड़े-बड़े दैत्योंने मोहिनीकी यह मीठी बात सुनकर उसकी बारीकी नहीं समझी, इसलिये सबने एक स्वरसे कह दिया 'स्वीकार है।' इसका कारण यह था कि उन्हें मोहिनीके वास्तविक स्वरूपका पता नहीं था॥ १३॥

अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम्।
दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः॥ १४

यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते।
कुशेषु प्राविशन्सर्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः॥ १५

प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च।
धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः॥ १६

तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूल-
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविवेश॥ १७

तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्ण-
नासाकपोलवदनां परदेवताख्याम्।
संवीक्ष्य सम्मुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन
देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम्॥ १८

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम्।
मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः॥ १९

कल्पयित्वा पृथक् पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः।
तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु॥ २०

दैत्यान्गृहीतकलशो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः।
दूरस्थान् पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम्॥ २१

इसके बाद एक दिनका उपवास करके सबने स्नान किया। हविष्यसे अग्निमें हवन किया। गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंको घास-चारा, अन्न-धनादिका यथायोग्य दान दिया तथा ब्राह्मणोंसे स्वस्त्ययन कराया॥ १४॥ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सबने नये-नये वस्त्र धारण किये और इसके बाद सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण करके सब-के-सब उन कुशासनोंपर बैठ गये, जिनका अगला हिस्सा पूर्वकी ओर था॥ १५॥ जब देवता और दैत्य दोनों ही धूपसे सुगन्धित, मालाओं और दीपकोंसे सजे-सजाये भव्य भवनमें पूर्वकी ओर मुँह करके बैठ गये, तब हाथमें अमृतका कलश लेकर मोहिनी सभामण्डपमें आयी। वह एक बड़ी सुन्दर साड़ी पहने हुए थी। नितम्बोंके भारके कारण वह धीरे-धीरे चल रही थी। आँखें मदसे विह्वल हो रही थीं। कलशके समान स्तन और गजशावककी सूँड़के समान जंघाएँ थीं। उसके स्वर्णनूपुर अपनी झनकारसे सभाभवनको मुखरित कर रहे थे॥ १६-१७॥ सुन्दर कानोंमें सोनेके कुण्डल थे और उसकी नासिका, कपोल तथा मुख बड़े ही सुन्दर थे। स्वयं परदेवता भगवान् मोहिनीके रूपमें ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीजीकी कोई श्रेष्ठ सखी वहाँ आ गयी हो। मोहिनीने अपनी मुसकानभरी चितवनसे देवता और दैत्योंकी ओर देखा, तो वे सब-के-सब मोहित हो गये। उस समय उनके स्तनोंपरसे अंचल कुछ खिसक गया था॥ १८॥ भगवान्ने मोहिनीरूपमें यह विचार किया कि असुर तो जन्मसे ही क्रूर स्वभाववाले हैं। इनको अमृत पिलाना सर्पोंको दूध पिलानेके समान बड़ा अन्याय होगा। इसलिये उन्होंने असुरोंको अमृतमें भाग नहीं दिया॥ १९॥ भगवान्ने देवता और असुरोंकी अलग-अलग पंक्तियाँ बना दीं और फिर दोनोंको कतार बाँधकर अपने-अपने दलमें बैठा दिया॥ २०॥ इसके बाद अमृतका कलश हाथमें लेकर भगवान् दैत्योंके पास चले गये। उन्हें हाव-भाव और कटाक्षसे मोहित करके दूर बैठे हुए देवताओंके पास आ गये तथा उन्हें वह अमृत पिलाने लगे, जिसे पी लेनेपर बुढ़ापे और मृत्युका नाश हो जाता है॥ २१॥

ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप।
तूष्णीमासन्कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया॥ २२

परीक्षित्! असुर अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन कर रहे थे। उनका स्नेह भी हो गया था और वे स्त्रीसे झगड़नेमें अपनी निन्दा भी समझते थे। इसलिये वे चुपचाप बैठे रहे॥ २२॥

तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः।
बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम्॥ २३

मोहिनीमें उनका अत्यन्त प्रेम हो गया था। वे डर रहे थे कि उससे हमारा प्रेमसम्बन्ध टूट न जाय। मोहिनीने भी पहले उन लोगोंका बड़ा सम्मान किया था, इससे वे और भी बँध गये थे। यही कारण है कि उन्होंने मोहिनीको कोई अप्रिय बात नहीं कही॥ २३॥

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि।
प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः॥ २४

जिस समय भगवान् देवताओंको अमृत पिला रहे थे, उसी समय राहु दैत्य देवताओंका वेष बनाकर उनके बीचमें आ बैठा और देवताओंके साथ उसने भी अमृत पी लिया। परन्तु तत्क्षण चन्द्रमा और सूर्यने उसकी पोल खोल दी॥ २४॥

चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः।
हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत्॥ २५

अमृत पिलाते-पिलाते ही भगवान्ने अपने तीखी धारवाले चक्रसे उसका सिर काट डाला। अमृतका संसर्ग न होनेसे उसका धड़ नीचे गिर गया॥ २५॥

शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत्।
यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः॥ २६

परन्तु सिर अमर हो गया और ब्रह्माजीने उसे 'ग्रह' बना दिया। वही राहु पर्वके दिन (पूर्णिमा और अमावस्याको) वैर-भावसे बदला लेनेके लिये चन्द्रमा तथा सूर्यपर आक्रमण किया करता है॥ २६॥

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवाँल्लोकभावनः।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः[1]॥ २७

जब देवताओंने अमृत पी लिया, तब समस्त लोकोंको जीवनदान करनेवाले भगवान्ने बड़े-बड़े दैत्योंके सामने ही मोहिनीरूप त्यागकर अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया॥ २७॥

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः।
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपु-
र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः॥ २८

परीक्षित्! देखो—देवता और दैत्य दोनोंने एक ही समय एक स्थानपर एक प्रयोजन तथा एक वस्तुके लिये एक विचारसे एक ही कर्म किया था, परन्तु फलमें बड़ा भेद हो गया। उनमेंसे देवताओंने बड़ी सुगमतासे अपने परिश्रमका फल—अमृत प्राप्त कर लिया, क्योंकि उन्होंने भगवान्के चरणकमलोंकी रजका आश्रय लिया था। परन्तु उससे विमुख होनेके कारण परिश्रम करनेपर भी असुरगण अमृतसे वंचित ही रहे॥ २८॥

१. प्रा० पा०—प्रभुः।

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥ २९

मनुष्य अपने प्राण, धन, कर्म, मन और वाणी आदिसे शरीर एवं पुत्र आदिके लिये जो कुछ करता है—वह व्यर्थ ही होता है; क्योंकि उसके मूलमें भेदबुद्धि बनी रहती है। परन्तु उन्हीं प्राण आदि वस्तुओंके द्वारा भगवान्‌के लिये जो कुछ किया जाता है, वह सब भेदभावसे रहित होनेके कारण अपने शरीर, पुत्र और समस्त संसारके लिये सफल हो जाता है। जैसे वृक्षकी जड़में पानी देनेसे उसका तना, टहनियाँ और पत्ते—सब-के-सब सिंच जाते हैं, वैसे ही भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे वे सबके लिये हो जाते हैं॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

देवासुर-संग्राम

श्रीशुक उवाच

इति दानवदैतेया नाविन्दन्नमृतं नृप।
युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः॥ १

साधयित्वामृतं राजन्पाययित्वा स्वकान्सुरान्।
पश्यतां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः॥ २

सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः।
अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान्प्रत्युद्यतायुधाः॥ ३

ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः।
प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः॥ ४

तत्र दैवासुरो नाम रणः परमदारुणः।
रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! यद्यपि दानवों और दैत्योंने बड़ी सावधानीसे समुद्रमन्थनकी चेष्टा की थी, फिर भी भगवान्‌से विमुख होनेके कारण उन्हें अमृतकी प्राप्ति नहीं हुई॥ १॥ राजन्! भगवान्‌ने समुद्रको मथकर अमृत निकाला और अपने निजजन देवताओंको पिला दिया। फिर सबके देखते-देखते वे गरुड़पर सवार हुए और वहाँसे चले गये॥ २॥ जब दैत्योंने देखा कि हमारे शत्रुओंको तो बड़ी सफलता मिली तब वे उनकी बढ़ती सह न सके। उन्होंने तुरंत अपने हथियार उठाये और देवताओंपर धावा बोल दिया॥ ३॥ इधर देवताओंने एक तो अमृत पीकर विशेष शक्ति प्राप्त कर ली थी और दूसरे उन्हें भगवान्‌के चरणकमलोंका आश्रय था ही। बस, वे भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो दैत्योंसे भिड़ गये॥ ४॥ परीक्षित्! क्षीरसागरके तटपर बड़ा ही रोमांचकारी और अत्यन्त भयंकर संग्राम हुआ। देवता और दैत्योंकी वह घमासान लड़ाई ही 'देवासुर-संग्राम' के नामसे कही जाती है॥ ५॥

तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे।
समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः॥ ६
शङ्खतूर्यमृदङ्गानां भेरीडमरिणां[1] महान्।
हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निःस्वनोऽभवत्॥ ७
रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः।
हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे॥ ८
उष्ट्रैः केचिदिभैः केचिदपरे युयुधुः खरैः।
केचिद् गौरमृगैर्ऋक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः॥ ९
गृध्रैः कङ्कैर्बकैरन्ये श्येनभासैस्तिमिङ्गिलैः।
शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गवयारुणैः॥ १०
शिवाभिराखुभिः केचित् कृकलासैः शशैर्नरैः[2]।
बस्तैरेके[3] कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च सूकरैः॥ ११
अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः।
सेनयोरुभयो राजन्विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः॥ १२
चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः।
महाधनैर्वज्रदण्डैर्व्यजनैर्बार्हचामरैः[4] ॥ १३
वातोद्धूतोत्तरोष्णीषैरर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः ।
स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः॥ १४
देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन।
रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ॥ १५
वैरोचनो बलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः।
यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम्॥ १६

दोनों ही एक-दूसरेके प्रबल शत्रु हो रहे थे, दोनों ही क्रोधसे भरे हुए थे। एक-दूसरेको आमने-सामने पाकर तलवार, बाण और अन्य अनेकानेक अस्त्र-शस्त्रोंसे परस्पर चोट पहुँचाने लगे॥ ६॥ उस समय लड़ाईमें शङ्ख, तुरही, मृदंग, नगारे और डमरू बड़े जोरसे बजने लगे; हाथियोंकी चिग्घाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथोंकी घरघराहट और पैदल सेनाकी चिल्लाहटसे बड़ा कोलाहल मच गया॥ ७॥ रणभूमिमें रथियोंके साथ रथी, पैदलके साथ पैदल, घुड़सवारोंके साथ घुड़सवार एवं हाथीवालोंके साथ हाथीवाले भिड़ गये॥ ८॥ उनमेंसे कोई-कोई वीर ऊँटोंपर, हाथियोंपर और गधोंपर चढ़कर लड़ रहे थे तो कोई-कोई गौरमृग, भालू, बाघ और सिंहोंपर॥ ९॥ कोई-कोई सैनिक गिद्ध, कंक, बगुले, बाज और भास पक्षियोंपर चढ़े हुए थे तो बहुत-से तिमिङ्गिल मच्छ, शरभ, भैंसे, गैंड़े, बैल, नीलगाय और जंगली साँड़ोंपर सवार थे॥ १०॥

किसी-किसीने सियारिन, चूहे, गिरगिट और खरहोंपर ही सवारी कर ली थी तो बहुत-से मनुष्य, बकरे, कृष्णसार मृग, हंस और सूअरोंपर चढ़े थे॥ ११॥ इस प्रकार जल, स्थल एवं आकाशमें रहनेवाले तथा देखनेमें भयंकर शरीरवाले बहुत-से प्राणियोंपर चढ़कर कई दैत्य दोनों सेनाओंमें आगे-आगे घुस गये॥ १२॥

परीक्षित्! उस समय रंग-बिरंगी पताकाओं, स्फटिक मणिके समान श्वेत निर्मल छत्रों, रत्नोंसे जड़े हुए दण्डवाले बहुमूल्य पंखों, मोरपंखों, चँवरों और वायुसे उड़ते हुए दुपट्टों, पगड़ी, कलँगी, कवच, आभूषण तथा सूर्यकी किरणोंसे अत्यन्त दमकते हुए उज्ज्वल शस्त्रों एवं वीरोंकी पंक्तियोंके कारण देवता और असुरोंकी सेनाएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं, मानो जल-जन्तुओंसे भरे हुए दो महासागर लहरा रहे हों॥ १३—१५॥ परीक्षित्! रणभूमिमें दैत्योंके सेनापति विरोचनपुत्र बलि मय दानवके बनाये हुए वैहायस नामक विमानपर सवार हुए। वह विमान चलानेवालेकी जहाँ इच्छा होती थी, वहीं चला जाता था॥ १६॥

१. प्रा० पा०—भेरीणां निःस्वनो। २. प्रा० पा०—नरैः खगैः। ३. प्रा० पा०—मृगैरन्ये। ४. प्रा० पा०—महायुधैर्वज्र०।

सर्वसाङ्ग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम्॥ १७

आस्थितस्तद् विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः।
वालव्यजनछत्राग्र्यै रेजे चन्द्र इवोदये॥ १८

तस्यासन्सर्वतो यानैर्यूथानां पतयोऽसुराः।
नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः॥ १९

द्विमूर्धा कालनाभोऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः।
शकुनिर्भूतसंतापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः॥ २०

हयग्रीवः शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः।
तारकश्चक्रदृक् शुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः॥ २१

अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः।
अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः॥ २२

अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः।
सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः॥ २३

सिंहनादान्विमुञ्चन्तः शङ्खान्दध्मुर्महारवान्।
दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान्बलभित् कुपितो भृशम्॥ २४

ऐरावतं दिक्करिणमारूढः शुशुभे स्वराट्।
यथा स्त्रवत्प्रस्त्रवणमुदयाद्रिमहर्पतिः॥ २५

तस्यासन्सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः।
लोकपालाः सह गणैर्वाय्वग्निवरुणादयः॥ २६

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः॥ २७

युद्धकी समस्त सामग्रियाँ उसमें सुसज्जित थीं। परीक्षित्! वह इतना आश्चर्यमय था कि कभी दिखलायी पड़ता तो कभी अदृश्य हो जाता। वह इस समय कहाँ है—जब इस बातका अनुमान भी नहीं किया जा सकता था तब बतलाया तो कैसे जा सकता था॥ १७॥ उसी श्रेष्ठ विमानपर राजा बलि सवार थे। सभी बड़े-बड़े सेनापति उनको चारों ओरसे घेरे हुए थे। उनपर श्रेष्ठ चमर डुलाये जा रहे थे और छत्र तना हुआ था। उस समय बलि ऐसे जान पड़ते थे, जैसे उदयाचलपर चन्द्रमा॥ १८॥ उनके चारों ओर अपने-अपने विमानोंपर सेनाकी छोटी-छोटी टुकड़ियोंके स्वामी नमुचि, शम्बर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्ताप, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव, शंकुशिरा, कपिल, मेघदुन्दुभि, तारक, चक्राक्ष, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, त्रिपुराधिपति मय, पौलोम कालेय और निवातकवच आदि स्थित थे॥ १९— २२॥ ये सब-के-सब समुद्रमन्थनमें सम्मिलित थे। परन्तु इन्हें अमृतका भाग नहीं मिला, केवल क्लेश ही हाथ लगा था। इन सब असुरोंने एक नहीं, अनेक बार युद्धमें देवताओंको पराजित किया था॥ २३॥ इसलिये वे बड़े उत्साहसे सिंहनाद करते हुए अपने घोर स्वरवाले शंख बजाने लगे। इन्द्रने देखा कि हमारे शत्रुओंका मन बढ़ रहा है, ये मदोन्मत्त हो रहे हैं; तब उन्हें बड़ा क्रोध आया॥ २४॥ वे अपने वाहन ऐरावत नामक दिग्गजपर सवार हुए। उसके कपोलोंसे मद बह रहा था। इसलिये इन्द्रकी ऐसी शोभा हुई, मानो भगवान् सूर्य उदयाचलपर आरूढ़ हों और उससे अनेकों झरने बह रहे हों॥ २५॥ इन्द्रके चारों ओर अपने-अपने वाहन, ध्वजा और आयुधोंसे युक्त देवगण एवं अपने-अपने गणोंके साथ वायु, अग्नि, वरुण आदि लोकपाल हो लिये॥ २६॥ दोनों सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हो गयीं। दो-दोकी जोड़ियाँ बनाकर वे लोग लड़ने लगे। कोई आगे बढ़ रहा था, तो कोई नाम ले-लेकर ललकार रहा था। कोई-कोई मर्मभेदी वचनोंके द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वीको धिक्कार रहा था॥ २७॥

युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत।
वरुणो हेतिनायुध्यन्मित्रो राजन्प्रहेतिना॥ २८
यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै।
शम्बरो युयुधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः॥ २९
अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा।
सूर्यो बलिसुतैर्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च॥ ३०
राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः।
निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी॥ ३१
वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः।
इल्वलः सह वातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिन्दम॥ ३२
कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह।
बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः॥ ३३
मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः।
विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह॥ ३४
त एवमाजावसुराः सुरेन्द्रा
द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमानाः।
अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा
जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः॥ ३५
भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः
शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि।
निस्त्रिंशभल्लैः परिघैः समुद्गरैः
सभिन्दिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः॥ ३६
गजास्तुरङ्गाः सरथाः पदातयः
सारोहवाहा विविधा विखण्डिताः।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रय-
श्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणाः॥ ३७
तेषां पदाघातरथाङ्गचूर्णिता-
दायोधनादुल्बण उत्थितस्तदा।
रेणुर्दिशः खं द्युमणिं च छादयन्
न्यवर्ततासृक्स्रुतिभिः परिप्लुतात्॥ ३८

बलि इन्द्रसे, स्वामिकार्तिक तारकासुरसे, वरुण हेतिसे और मित्र प्रहेतिसे भिड़ गये॥ २८॥ यमराज कालनाभसे, विश्वकर्मा मयसे, शम्बरासुर त्वष्टासे तथा सविता विरोचनसे लड़ने लगे॥ २९॥ नमुचि अपराजितसे, अश्विनीकुमार वृषपर्वासे तथा सूर्यदेव बलिके बाण आदि सौ पुत्रोंसे युद्ध करने लगे॥ ३०॥ राहुके साथ चन्द्रमा और पुलोमाके साथ वायुका युद्ध हुआ। भद्रकालीदेवी निशुम्भ और शुम्भपर झपट पड़ीं॥ ३१॥ परीक्षित्! जम्भासुरसे महोदवजीकी, महिषासुरसे अग्निदेवकी और वातापि तथा इल्वलसे ब्रह्माके पुत्र मरीचि आदिकी ठन गयी॥ ३२॥

दुर्मर्षकी कामदेवसे, उत्कलकी मातृगणोंसे, शुक्राचार्यकी बृहस्पतिसे और नरकासुरकी शनैश्चरसे लड़ाई होने लगी॥ ३३॥ निवातकवचोंके साथ मरुद्गण, कालेयोंके साथ वसुगण, पौलोमोंके साथ विश्वेदेवगण तथा क्रोधवशोंके साथ रुद्रगणका संग्राम होने लगा॥ ३४॥

इस प्रकार असुर और देवता रणभूमिमें द्वन्द्व युद्ध और सामूहिक आक्रमणद्वारा एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर विजयकी इच्छासे उत्साहपूर्वक तीखे बाण, तलवार और भालोंसे प्रहार करने लगे। वे तरह-तरहसे युद्ध कर रहे थे॥ ३५॥ भुशुण्डि, चक्र, गदा, ऋष्टि, पट्टिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, फरसा, तलवार, भाले, मुद्गर, परिघ और भिन्दिपालसे एक-दूसरेका सिर काटने लगे॥ ३६॥ उस समय अपने सवारोंके साथ हाथी, घोड़े, रथ आदि अनेकों प्रकारके वाहन और पैदल सेना छिन्न-भिन्न होने लगी। किसीकी भुजा, किसीकी जङ्घा, किसीकी गरदन और किसीके पैर कट गये तो किसी-किसीकी ध्वजा, धनुष, कवच और आभूषण ही टुकड़े-टुकड़े हो गये॥ ३७॥ उनके चरणोंकी धमक और रथके पहियोंकी रगड़से पृथ्वी खुद गयी। उस समय रणभूमिसे ऐसी प्रचण्ड धूल उठी कि उसने दिशा, आकाश और सूर्यको भी ढक दिया। परन्तु थोड़ी ही देरमें खूनकी धारासे भूमि आप्लावित हो गयी और कहीं धूलका नाम भी न रहा॥ ३८॥

शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः
संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः।
महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः
सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ॥ ३९

कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः।
उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान् मृधे॥ ४०

बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः।
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमार्च्छयत्[1]॥ ४१

स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान्हसन्निव॥ ४२

तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे।
तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः॥ ४३

ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः[2]।
यद्[3] यच्छस्त्रं समादद्यात्सर्वं तदच्छिनद् विभुः॥ ४४

ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्धानगतोऽसुरः।
ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो॥ ४५

ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्निना।
शिलाः सटङ्कशिखराश्चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम्॥ ४६

तदनन्तर लड़ाईका मैदान कटे हुए सिरोंसे भर गया। किसीके मुकुट और कुण्डल गिर गये थे, तो किसीकी आँखोंसे क्रोधकी मुद्रा प्रकट हो रही थी। किसी-किसीने अपने दाँतोंसे होंठ दबा रखा था। बहुतोंकी आभूषणों और शस्त्रोंसे सुसज्जित लंबी-लंबी भुजाएँ कटकर गिरी हुई थीं और बहुतोंकी मोटी-मोटी जाँघें कटी हुई पड़ी थीं। इस प्रकार वह रणभूमि बड़ी भीषण दीख रही थी॥ ३९॥ तब वहाँ बहुत-से धड़ अपने कटकर गिरे हुए सिरोंके नेत्रोंसे देखकर हाथोंमें हथियार उठा वीरोंकी ओर दौड़ने और उछलने लगे॥ ४०॥

राजा बलिने दस बाण इन्द्रपर, तीन उनके वाहन ऐरावतपर, चार ऐरावतके चार चरण-रक्षकोंपर और एक मुख्य महावतपर—इस प्रकार कुल अठारह बाण छोड़े॥ ४१॥ इन्द्रने देखा कि बलिके बाण तो हमें घायल करना ही चाहते हैं। तब उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उतने ही तीखे भल्ल नामक बाणोंसे उनको वहाँतक पहुँचनेके पहले ही हँसते-हँसते काट डाला॥ ४२॥ इन्द्रकी यह प्रशंसनीय फुर्ती देखकर राजा बलि और भी चिढ़ गये। उन्होंने एक बहुत बड़ी शक्ति, जो बड़े भारी लूकेके समान जल रही थी, उठायी। किन्तु अभी वह उनके हाथमें ही थी—छूटने नहीं पायी थी कि इन्द्रने उसे भी काट डाला॥ ४३॥ इसके बाद बलिने एकके पीछे एक क्रमशः शूल, प्रास, तोमर और शक्ति उठायी। परन्तु वे जो-जो शस्त्र हाथमें उठाते, इन्द्र उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर डालते। इस हस्तलाघवसे इन्द्रका ऐश्वर्य और भी चमक उठा॥ ४४॥

परीक्षित्! अब इन्द्रकी फुर्तीसे घबराकर पहले तो बलि अन्तर्धान हो गये, फिर उन्होंने आसुरी मायाकी सृष्टि की। तुरंत ही देवताओंकी सेनाके ऊपर एक पर्वत प्रकट हुआ॥ ४५॥ उस पर्वतसे दावाग्निसे जलते हुए वृक्ष और टाँकी-जैसी तीखी धारवाले शिखरोंके साथ नुकीली शिलाएँ गिरने लगीं। इससे देवताओंकी सेना चकनाचूर होने लगी॥ ४६॥

---

१. प्रा० पा०—मर्पयत्। २. प्रा० पा०—यष्टयः। ३. प्रा० पा०—यद्यद्दुर्मर्ष आदद्यात्०।

महोरगाः समुत्पेतुर्दन्दशूकाः सवृश्चिकाः।
सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजान्॥ ४७

यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः।
छिन्धि भिन्धीति वादिन्यस्तथा रक्षोगणाः प्रभो॥ ४८

ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः।
अङ्गारान्मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्नवः॥ ४९

सृष्टो दैत्येन सुमहान्वह्निः श्वसनसारथिः।
सांवर्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमधाक्॥ ५०

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्रत्यदृश्यत।
प्रचण्डवातैरुद्धूततरङ्गावर्तभीषणः॥ ५१

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीषणैः।
सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः॥ ५२

न[1] तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप।
ध्यातः प्रादुरभूत् तत्र[2] भगवान्विश्वभावनः॥ ५३

ततः सुपर्णांसकृताङ्घ्रिपल्लवः
पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः।
अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लस-
च्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः॥ ५४

तत्पश्चात् बड़े-बड़े साँप, दन्दशूक, बिच्छू और अन्य विषैले जीव उछल-उछलकर काटने और डंक मारने लगे। सिंह, बाघ और सूअर देवसेनाके बड़े-बड़े हाथियोंको फाड़ने लगे॥ ४७॥ परीक्षित्! हाथोंमें शूल लिये 'मारो-काटो' इस प्रकार चिल्लाती हुई सैकड़ों नंग-धड़ंग राक्षसियाँ और राक्षस भी वहाँ प्रकट हो गये॥ ४८॥ कुछ ही क्षण बाद आकाशमें बादलोंकी घनघोर घटाएँ मँडराने लगीं, उनके आपसमें टकरानेसे बड़ी गहरी और कठोर गर्जना होने लगी, बिजलियाँ चमकने लगीं और आँधीके झकझोरनेसे बादल अंगारोंकी वर्षा करने लगे॥ ४९॥ दैत्यराज बलिने प्रलयकी अग्निके समान बड़ी भयानक आगकी सृष्टि की। वह बात-की-बातमें वायुकी सहायतासे देवसेनाको जलाने लगी॥ ५०॥ थोड़ी ही देरमें ऐसा जान पड़ा कि प्रबल आँधीके थपेड़ोंसे समुद्रमें बड़ी-बड़ी लहरें और भयानक भँवर उठ रहे हैं और वह अपनी मर्यादा छोड़कर चारों ओरसे देवसेनाको घेरता हुआ उमड़ा आ रहा है॥ ५१॥

इस प्रकार जब उन भयानक असुरोंने बहुत बड़ी मायाकी सृष्टि की और स्वयं अपनी मायाके प्रभावसे छिप रहे—न दीखनेके कारण उनपर प्रहार भी नहीं किया जा सकता था तब देवताओंके सैनिक बहुत दुःखी हो गये॥ ५२॥ परीक्षित्! इन्द्र आदि देवताओंने उनकी मायाका प्रतीकार करनेके लिये बहुत कुछ सोचा-विचारा, परन्तु उन्हें कुछ न सूझा। तब उन्होंने विश्वके जीवनदाता भगवान्‌का ध्यान किया और ध्यान करते ही वे वहीं प्रकट हो गये॥ ५३॥ बड़ी ही सुन्दर झाँकी थी। गरुडके कंधेपर उनके चरण-कमल विराजमान थे। नवीन कमलके समान बड़े ही कोमल नेत्र थे। पीताम्बर धारण किये हुए थे। आठ भुजाओंमें आठ आयुध, गलेमें कौस्तुभमणि, मस्तकपर अमूल्य मुकुट एवं कानोंमें कुण्डल झलमला रहे थे। देवताओंने अपने नेत्रोंसे भगवान्‌की इस छबिका दर्शन किया॥ ५४॥

१. प्रा० पा०—नैतत्। २. प्रा० पा०—तस्मिन्।

तस्मिन्प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा
माया विनेशुर्महिना महीयसः।
स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्॥ ५५

परम पुरुष परमात्माके प्रकट होते ही उनके प्रभावसे असुरोंकी वह कपटभरी माया विलीन हो गयी—ठीक वैसे ही जैसे जग जानेपर स्वप्नकी वस्तुओंका पता नहीं चलता। ठीक ही है, भगवान्‌की स्मृति समस्त विपत्तियोंसे मुक्त कर देती है॥ ५५॥

दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाह
आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः।
तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद् गृहीत्वा
तेनाहनन्नृप सवाहमरिं त्र्यधीशः॥ ५६

इसके बाद कालनेमि दैत्यने देखा कि लड़ाईके मैदानमें गरुडवाहन भगवान् आ गये हैं तब उसने अपने सिंहपर बैठे-ही-बैठे बड़े वेगसे उनके ऊपर एक त्रिशूल चलाया। वह गरुडके सिरपर लगनेवाला ही था कि खेल-खेलमें भगवान्‌ने उसे पकड़ लिया और उसी त्रिशूलसे उसके चलानेवाले कालनेमि दैत्य तथा उसके वाहनको मार डाला॥ ५६॥

माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्य-
च्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम्।
आहत्य तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं
तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाऽऽद्यः॥ ५७

माली और सुमाली—दो दैत्य बड़े बलवान् थे, भगवान्‌ने युद्धमें अपने चक्रसे उनके सिर भी काट डाले और वे निर्जीव होकर गिर पड़े। तदनन्तर माल्यवान्‌ने अपनी प्रचण्ड गदासे गरुड़पर बड़े वेगके साथ प्रहार किया। परन्तु गर्जना करते हुए माल्यवान्‌के प्रहार करते-न-करते ही भगवान्‌ने चक्रसे उसके सिरको भी धड़से अलग कर दिया॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे देवासुरसंग्रामे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

देवासुर-संग्रामकी समाप्ति

श्रीशुक उवाच

अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः
परस्य पुंसः परयानुकम्पया।
जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादय-
स्तांस्तान्रणे यैरभिसंहताः पुरा॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! परम पुरुष भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे देवताओंकी घबराहट जाती रही, उनमें नवीन उत्साहका संचार हो गया। पहले इन्द्र, वायु आदि देवगण रणभूमिमें जिन-जिन दैत्योंसे आहत हुए थे, उन्हींके ऊपर अब वे पूरी शक्तिसे प्रहार करने लगे॥ १॥

वैरोचनाय संरब्धो भगवान्पाकशासनः।
उदयच्छद् यदा वज्रं प्रजा हाहेति चुक्रुशुः॥ २

परम ऐश्वर्यशाली इन्द्रने बलिसे लड़ते-लड़ते जब उनपर क्रोध करके वज्र उठाया तब सारी प्रजामें हाहाकार मच गया॥ २॥

वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम्।
मनस्विनं सुसम्पन्नं विचरन्तं महामृधे॥ ३

बलि अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर बड़े उत्साहसे युद्धभूमिमें बड़ी निर्भयतासे डटकर विचर रहे थे। उनको अपने सामने ही देखकर हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्रने उनका तिरस्कार करके कहा—॥ ३॥

नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान् नो जिगीषसि।
जित्वा बालान् निबद्धाक्षान् नटो हरति तद्धनम्॥ ४

आरुरुक्षन्ति मायाभिरुत्सिसृप्सन्ति ये दिवम्।
तान्दस्यून्विधुनोम्यज्ञान्पूर्वस्माच्च पदादधः॥ ५

सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा।
शिरो हरिष्ये मन्दात्मन्घटस्व ज्ञातिभिः सह॥ ६

बलिरुवाच

सङ्ग्रामे वर्तमानानां कालचोदितकर्मणाम्।
कीर्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात्॥ ७

तदिदं कालरशनं जनाः पश्यन्ति सूरयः।
न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः॥ ८

न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम्।
गिरो वः साधुशोच्यानां गृह्णीमो मर्मताडनाः॥ ९

श्रीशुक उवाच

इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः।
आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराहतं पुनः॥ १०

एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना।
नामृष्यत् तदधिक्षेपं तोत्राहत इव द्विपः॥ ११

प्राहरत् कुलिशं तस्मा अमोघं परमर्दनः।
सयानो न्यपतद् भूमौ छिन्नपक्ष इवाचलः॥ १२

'मूर्ख! जैसे नट बच्चोंकी आँखें बाँधकर अपने जादूसे उनका धन ऐंठ लेता है वैसे ही तू मायाकी चालोंसे हमपर विजय प्राप्त करना चाहता है। तुझे पता नहीं कि हमलोग मायाके स्वामी हैं, वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती॥ ४॥ जो मूर्ख मायाके द्वारा स्वर्गपर अधिकार करना चाहते हैं और उसको लाँघकर ऊपरके लोकोंमें भी धाक जमाना चाहते हैं—उन लुटेरे मूर्खोंको मैं उनके पहले स्थानसे भी नीचे पटक देता हूँ॥ ५॥ नासमझ! तूने मायाकी बड़ी-बड़ी चालें चली है। देख, आज मैं अपने सौ धारवाले वज्रसे तेरा सिर धड़से अलग किये देता हूँ। तू अपने भाई-बन्धुओंके साथ जो कुछ कर सकता हो, करके देख ले'॥ ६॥

बलिने कहा—इन्द्र! जो लोग कालशक्तिकी प्रेरणासे अपने कर्मके अनुसार युद्ध करते हैं—उन्हें जीत या हार, यश या अपयश अथवा मृत्यु मिलती ही है॥ ७॥ इसीसे ज्ञानीजन इस जगत्‌को कालके अधीन समझकर न तो विजय होनेपर हर्षसे फूल उठते हैं और न तो अपकीर्ति, हार अथवा मृत्युसे शोकके ही वशीभूत होते हैं। तुमलोग इस तत्त्वसे अनभिज्ञ हो॥ ८॥

तुम लोग अपनेको जय-पराजय आदिका कारण—कर्ता मानते हो, इसलिये महात्माओंकी दृष्टिसे तुम शोचनीय हो। हम तुम्हारे मर्मस्पर्शी वचनको स्वीकार ही नहीं करते, फिर हमें दुःख क्यों होने लगा?॥ ९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वीर बलिने इन्द्रको इस प्रकार फटकारा। बलिकी फटकारसे इन्द्र कुछ झेंप गये। तबतक वीरोंका मान मर्दन करनेवाले बलिने अपने धनुषको कानतक खींच-खींचकर बहुत-से बाण मारे॥ १०॥ सत्यवादी देवशत्रु बलिने इस प्रकार इन्द्रका अत्यन्त तिरस्कार किया। अब तो इन्द्र अंकुशसे मारे हुए हाथीकी तरह और भी चिढ़ गये। बलिका आक्षेप वे सहन न कर सके॥ ११॥ शत्रुघाती इन्द्रने बलिपर अपने अमोघ वज्रका प्रहार किया। उसकी चोटसे बलि पंख कटे हुए पर्वतके समान अपने विमानके साथ पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १२॥

सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः सुहृत्।
अभ्ययात् सौहृदं सख्युर्हतस्यापि समाचरन्॥ १३

स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा।
जत्रावताडयच्छक्रं गजं च सुमहाबलः[1]॥ १४

गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः।
जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं[2] परमं ययौ॥ १५

ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः।
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः॥ १६

तस्य तत् पूजयन् कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः।
शूलेन ज्वलता तं तु स्मयमानोऽहनन्मृधे॥ १७

सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः।
इन्द्रो जम्भस्य संक्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः॥ १८

जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः।
नमुचिश्च[3] बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः[4]॥ १९

वचोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु।
शरैरवाकिरन् मेघा धाराभिरिव पर्वतम्॥ २०

हरीन्दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बलः शरैः।
तावद्भिरर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान्॥ २१

शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक्।
सकृत्सन्धानमोक्षेण तदद्भुतमभूद् रणे॥ २२

नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः।
आहत्य व्यनदत्संख्ये सतोय इव तोयदः॥ २३

बलिका एक बड़ा हितैषी और घनिष्ठ मित्र जम्भासुर था। अपने मित्रके गिर जानेपर भी उनको मारनेका बदला लेनेके लिये वह इन्द्रके सामने आ खड़ा हुआ॥ १३॥ सिंहपर चढ़कर वह इन्द्रके पास पहुँच गया और बड़े वेगसे अपनी गदा उठाकर उनके जत्रुस्थान (हँसली)-पर प्रहार किया। साथ ही उस महाबलीने ऐरावतपर भी एक गदा जमायी॥ १४॥ गदाकी चोटसे ऐरावतको बड़ी पीड़ा हुई, उसने व्याकुलतासे घुटने टेक दिये और फिर मूर्च्छित हो गया!॥ १५॥ उसी समय इन्द्रका सारथि मातलि हजार घोड़ोंसे जुता हुआ रथ ले आया और शक्तिशाली इन्द्र ऐरावतको छोड़कर तुरंत रथपर सवार हो गये॥ १६॥ दानवश्रेष्ठ जम्भने रणभूमिमें मातलिके इस कामकी बड़ी प्रशंसा की और मुसकराकर चमकता हुआ त्रिशूल उसके ऊपर चलाया॥ १७॥ मातलिने धैर्यके साथ इस असह्य पीड़ाको सह लिया। तब इन्द्रने क्रोधित होकर अपने वज्रसे जम्भका सिर काट डाला॥ १८॥

देवर्षि नारदसे जम्भासुरकी मृत्युका समाचार जानकर उसके भाई-बन्धु नमुचि, बल और पाक झटपट रणभूमिमें आ पहुँचे॥ १९॥ अपने कठोर और मर्मस्पर्शी वाणीसे उन्होंने इन्द्रको बहुत कुछ बुरा-भला कहा और जैसे बादल पहाड़पर मूसलधार पानी बरसाते हैं, वैसे ही उनके ऊपर बाणोंकी झड़ी लगा दी॥ २०॥ बलने बड़े हस्तलाघवसे एक साथ ही एक हजार बाण चलाकर इन्द्रके एक हजार घोड़ोंको घायल कर दिया॥ २१॥ पाकने सौ बाणोंसे मातलिको और सौ बाणोंसे रथके एक-एक अंगको छेद डाला। युद्धभूमिमें यह बड़ी अद्भुत घटना हुई कि एक ही बार इतने बाण उसने चढ़ाये और चलाये॥ २२॥ नमुचिने बड़े-बड़े पंद्रह बाणोंसे, जिनमें सोनेके पंख लगे हुए थे, इन्द्रको मारा और युद्धभूमिमें वह जलसे भरे बादलके समान गरजने लगा॥ २३॥

१. प्रा० पा०—बलम्। २. प्रा० पा०—लं च परं ययौ। ३. प्रा० पा०—मुचिः सबलः। ४. प्रा० पा०—पेतुश्च रोषिताः।

सर्वतः शरकूटेन शक्रं सरथसारथिम्।
छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः॥ २४

अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला
विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः।
अनायकाः शत्रुबलेन निर्जिता
वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे॥ २५

ततस्तुराषाडिषुबद्धपञ्जराद्
विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः।
बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचयन्
स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये॥ २६

निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां रणे।
उदयच्छद् रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा॥ २७

स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः।
ज्ञातीनां पश्यतां राजञ्जहार जनयन्भयम्॥ २८

नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः।
जिघांसुरिन्द्रं नृपते चकार परमोद्यमम्॥ २९

अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम्।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन्।
प्राहिणोद् देवराजाय निनदन्[१] मृगराडिव॥ ३०

तदापतद् गगनतले महाजवं
विचिच्छिदे हरिरिषुभिः सहस्रधा।
तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे
रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन्॥ ३१

जैसे वर्षाकालके बादल सूर्यको ढक लेते हैं, वैसे ही असुरोंने बाणोंकी वर्षासे इन्द्र और उनके रथ तथा सारथिको भी चारों ओरसे ढक दिया॥ २४॥ इन्द्रको न देखकर देवता और उनके अनुचर अत्यन्त विह्वल होकर रोने-चिल्लाने लगे। एक तो शत्रुओंने उन्हें हरा दिया था और दूसरे अब उनका कोई सेनापति भी न रह गया था। उस समय देवताओंकी ठीक वैसी ही अवस्था हो रही थी, जैसे बीच समुद्रमें नाव टूट जानेपर व्यापारियोंकी होती है॥ २५॥ परन्तु थोड़ी ही देरमें शत्रुओंके बनाये हुए बाणोंके पिंजड़ेसे घोड़े, रथ, ध्वजा और सारथिके साथ इन्द्र निकल आये। जैसे प्रातःकाल सूर्य अपनी किरणोंसे दिशा, आकाश और पृथ्वीको चमका देते हैं, वैसे ही इन्द्रके तेजसे सब-के-सब जगमगा उठे॥ २६॥ वज्रधारी इन्द्रने देखा कि शत्रुओंने रणभूमिमें हमारी सेनाको रौंद डाला है, तब उन्होंने बड़े क्रोधसे शत्रुको मार डालनेके लिये वज्रसे आक्रमण किया॥ २७॥ परीक्षित्! उस आठ धारवाले पैने वज्रसे उन दैत्योंके भाई-बन्धुओंको भी भयभीत करते हुए उन्होंने बल और पाकके सिर काट लिये॥ २८॥

परीक्षित्! अपने भाइयोंको मरा हुआ देख नमुचिको बड़ा शोक हुआ। वह क्रोधके कारण आपेसे बाहर होकर इन्द्रको मार डालनेके लिये जी-जानसे प्रयास करने लगा॥ २९॥ 'इन्द्र! अब तुम बच नहीं सकते'—इस प्रकार ललकारते हुए एक त्रिशूल उठाकर वह इन्द्रपर टूट पड़ा। वह त्रिशूल फौलादका बना हुआ था, सोनेके आभूषणोंसे विभूषित था और उसमें घण्टे लगे हुए थे। नमुचिने क्रोधके मारे सिंहके समान गरजकर इन्द्रपर वह त्रिशूल चला दिया॥ ३०॥ परीक्षित्! इन्द्रने देखा कि त्रिशूल बड़े वेगसे मेरी ओर आ रहा है। उन्होंने अपने बाणोंसे आकाशमें ही उसके हजारों टुकड़े कर दिये और इसके बाद देवराज इन्द्रने बड़े क्रोधसे उसका सिर काट लेनेके लिये उसकी गर्दनपर वज्र मारा॥ ३१॥

१. प्रा० पा०—विन०।

न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो
बिभेद यः सुरपतिनौजसेरितः।
तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभित्
तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा॥ ३२

तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः।
किमिदं दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम्॥ ३३

येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्रजात्यये[1]।
कृतो [2]निविशतां भारैः पतत्त्रैः पततां भुवि॥ ३४

तपःसारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः।
अन्ये चापि[3] बलोपेताः सर्वास्त्रैरक्षतत्वचः॥ ३५

सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके।
नाहं तदाददे दण्डं[4] ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम्॥ ३६

इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी।
नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः॥ ३७

मयास्मै यद् वरो दत्तो मृत्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः।
अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्ते उपायो मघवन् रिपोः॥ ३८

तां दैवीं गिरमाकर्ण्य मघवान्सुसमाहितः।
ध्यायन् फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम्॥ ३९

न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः।
तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकिरन्विभुम्॥ ४०

यद्यपि इन्द्रने बड़े वेगसे वह वज्र चलाया था, परन्तु उस यशस्वी वज्रसे उसके चमड़ेपर खरोंचतक नहीं आयी। यह बड़ी आश्चर्यजनक घटना हुई कि जिस वज्रने महाबली वृत्रासुरका शरीर टुकड़े-टुकड़े कर डाला था, नमुचिके गलेकी त्वचाने उसका तिरस्कार कर दिया॥ ३२॥ जब वज्र नमुचिका कुछ न बिगाड़ सका, तब इन्द्र उससे डर गये। वे सोचने लगे कि 'दैवयोगसे संसारभरको संशयमें डालनेवाली यह कैसी घटना हो गयी!॥ ३३॥ पहले युगमें जब ये पर्वत पाँखोंसे उड़ते थे और घूमते-फिरते भारके कारण पृथ्वीपर गिर पड़ते थे, तब प्रजाका विनाश होते देखकर इसी वज्रसे मैंने उन पहाड़ोंकी पाँखें काट डाली थीं॥ ३४॥ त्वष्टाकी तपस्याका सार ही वृत्रासुरके रूपमें प्रकट हुआ था! उसे भी मैंने इसी वज्रके द्वारा काट डाला था। और भी अनेकों दैत्य, जो बहुत बलवान् थे और किसी अस्त्र-शस्त्रसे जिनके चमड़ेको भी चोट नहीं पहुँचायी जा सकी थी, इसी वज्रसे मैंने मृत्युके घाट उतार दिये थे॥ ३५॥ वही मेरा वज्र मेरे प्रहार करनेपर भी इस तुच्छ असुरको न मार सका, अतः अब मैं इसे अंगीकार नहीं कर सकता। यह ब्रह्मतेजसे बना है तो क्या हुआ, अब तो निकम्मा हो चुका है'॥ ३६॥ इस प्रकार इन्द्र विषाद करने लगे। उसी समय यह आकाशवाणी हुई—''यह दानव न तो सूखी वस्तुसे मर सकता है, न गीलीसे॥ ३७॥ इसे मैं वर दे चुका हूँ कि 'सूखी या गीली वस्तुसे तुम्हारी मृत्यु न होगी।' इसलिये इन्द्र! इस शत्रुको मारनेके लिये अब तुम कोई दूसरा उपाय सोचो!''॥ ३८॥

उस आकाशवाणीको सुनकर देवराज इन्द्र बड़ी एकाग्रतासे विचार करने लगे। सोचते-सोचते उन्हें सूझ गया कि समुद्रका फेन तो सूखा भी है, गीला भी;॥ ३९॥ इसलिये न उसे सूखा कह सकते हैं, न गीला। अतः इन्द्रने उस न सूखे और न गीले समुद्रफेनसे नमुचिका सिर काट डाला। उस समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भगवान् इन्द्रपर पुष्पोंकी वर्षा और उनकी स्तुति करने लगे॥ ४०॥

१. प्रा० पा०—जाक्षये। २. प्रा० पा०—वि०। ३. प्रा० पा०—चातिबलो०। ४. प्रा० पा०—वज्रं।

गन्धर्वमुख्यौ जगतुर्विश्वावसुपरावसू।
देवदुन्दुभयो नेदुर्नर्तक्यो ननृतुर्मुदा॥ ४१

गन्धर्वशिरोमणि विश्वावसु तथा परावसु गान करने लगे, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और नर्तकियाँ आनन्दसे नाचने लगीं॥ ४१॥

अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वान्वाय्वग्निवरुणादयः।
सूदयामासुरस्त्रौघैर्मृगान्केसरिणो यथा॥ ४२

इसी प्रकार वायु, अग्नि, वरुण आदि दूसरे देवताओंने भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंसे विपक्षियोंको वैसे ही मार गिराया जैसे सिंह हरिनोंको मार डालते हैं॥ ४२॥

ब्रह्मणा प्रेषितो देवान्देवर्षिर्नारदो नृप।
वारयामास विबुधान्दृष्ट्वा दानवसंक्षयम्॥ ४३

परीक्षित्! इधर ब्रह्माजीने देखा कि दानवोंका तो सर्वथा नाश हुआ जा रहा है। तब उन्होंने देवर्षि नारदको देवताओंके पास भेजा और नारदजीने वहाँ जाकर देवताओंको लड़नेसे रोक दिया॥ ४३॥

नारद उवाच

भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः।
श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत विग्रहात्॥ ४४

नारदजीने कहा—देवताओ! भगवान्‌की भुजाओंकी छत्रछायामें रहकर आपलोगोंने अमृत प्राप्त कर लिया है और लक्ष्मीजीने भी अपनी कृपा-कोरसे आपकी अभिवृद्धि की है, इसलिये आपलोग अब लड़ाई बंद कर दें॥ ४४॥

श्रीशुक उवाच

संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्वचः।
उपगीयमानानुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपम्॥ ४५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—देवताओंने देवर्षि नारदकी बात मानकर अपने क्रोधके वेगको शान्त कर लिया और फिर वे सब-के-सब अपने लोक स्वर्गको चले गये। उस समय देवताओंके अनुचर उनके यशका गान कर रहे थे॥ ४५॥

येऽवशिष्टा रणे तस्मिन् नारदानुमतेन ते।
बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन्॥ ४६

युद्धमें बचे हुए दैत्योंने देवर्षि नारदकी सम्मतिसे वज्रकी चोटसे मरे हुए बलिको लेकर अस्ताचलकी यात्रा की॥ ४६॥

तत्राविनष्टावयवान् विद्यमानशिरोधरान्।
उशना जीवयामास संजीविन्या स्वविद्यया॥ ४७

वहाँ शुक्राचार्यने अपनी संजीवनी विद्यासे उन असुरोंको जीवित कर दिया, जिनके गरदन आदि अंग कटे नहीं थे, बच रहे थे॥ ४७॥

बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः।
पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः॥ ४८

शुक्राचार्यके स्पर्श करते ही बलिकी इन्द्रियोंमें चेतना और मनमें स्मरणशक्ति आ गयी। बलि यह बात समझते थे कि संसारमें जीवन-मृत्यु, जय-पराजय आदि उलट-फेर होते ही रहते हैं। इसलिये पराजित होनेपर भी उन्हें किसी प्रकारका खेद नहीं हुआ॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे देवासुरसंग्रामे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

मोहिनीरूपको देखकर महादेवजीका मोहित होना

श्रीबादरायणिरुवाच

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान्।
मोहयित्वा सुरगणान्हरिः सोममपाययत्॥ १

वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः।
सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः॥ २

सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः।
सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य[१] स्मयन्हरिम्॥ ३

श्रीमहादेव उवाच

देवदेव जगद्व्यापिञ्जगदीश जगन्मय।
सर्वेषामपि[२] भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः॥ ४

आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः।
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्म चिद् भवान्॥ ५

तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः।
विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते॥ ६

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-
मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत्[३]।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् शंकरने यह सुना कि श्रीहरिने स्त्रीका रूप धारण करके असुरोंको मोहित कर लिया और देवताओंको अमृत पिला दिया, तब वे सतीदेवीके साथ बैलपर सवार हो समस्त भूतगणोंको लेकर वहाँ गये, जहाँ भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं॥ १-२॥ भगवान् श्रीहरिने बड़े प्रेमसे गौरी-शंकरभगवान्का स्वागत-सत्कार किया। वे भी सुखसे बैठकर भगवान्का सम्मान करके मुसकराते हुए बोले॥ ३॥

श्रीमहादेवजीने कहा—समस्त देवोंके आराध्यदेव! आप विश्वव्यापी, जगदीश्वर एवं जगत्स्वरूप हैं। समस्त चराचर पदार्थोंके मूल कारण, ईश्वर और आत्मा भी आप ही हैं॥ ४॥

इस जगत्के आदि, अन्त और मध्य आपसे ही होते हैं; परन्तु आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं। आपके अविनाशी स्वरूपमें द्रष्टा, दृश्य, भोक्ता और भोग्यका भेदभाव नहीं है। वास्तवमें आप सत्य, चिन्मात्र ब्रह्म ही हैं॥ ५॥

कल्याणकामी महात्मालोग इस लोक और परलोक दोनोंकी आसक्ति एवं समस्त कामनाओंका परित्याग करके आपके चरणकमलोंकी ही आराधना करते हैं॥ ६॥

आप अमृतस्वरूप, समस्त प्राकृत गुणोंसे रहित, शोककी छायासे भी दूर, स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म हैं। आप केवल आनन्दस्वरूप हैं। आप निर्विकार हैं। आपसे भिन्न कुछ नहीं है, परन्तु आप सबसे भिन्न हैं। आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं। आप समस्त जीवोंके शुभाशुभ कर्मका फल देनेवाले स्वामी हैं। परन्तु यह बात भी जीवोंकी अपेक्षासे ही कही जाती है; वास्तवमें आप सबकी अपेक्षासे रहित, अनपेक्ष हैं॥ ७॥

१. प्रा० पा०—प्रतिगृह्य। २. प्रा० पा०—मसि भूतानां त्व०। ३. प्रा० पा०—मनन्तमन्यत्।

एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयं च
स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः।
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
यस्माद् गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य॥ ८

त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम्।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां
केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम्॥ ९

नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः॥ १०

स त्वं समीहितमदः स्थितिजन्मनाशं
भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ।
वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से॥ ११

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः।
सोऽहं तद् द्रष्टुमिच्छामि यत् ते योषिद्वपुर्धृतम्॥ १२

येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः।
तद् दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः॥ १३

स्वामिन्! कार्य और कारण, द्वैत और अद्वैत—जो कुछ है, वह सब एकमात्र आप ही हैं; ठीक वैसे ही जैसे आभूषणोंके रूपमें स्थित सुवर्ण और मूल सुवर्णमें कोई अन्तर नहीं है,—दोनों एक ही वस्तु हैं। लोगोंने आपके वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण आपमें नाना प्रकारके भेदभाव और विकल्पोंकी कल्पना कर रखी है। यही कारण है कि आपमें किसी प्रकारकी उपाधि न होनेपर भी गुणोंको लेकर भेदकी प्रतीति होती है॥ ८॥

प्रभो! कोई-कोई आपको ब्रह्म समझते हैं, तो दूसरे आपको धर्म कहकर वर्णन करते हैं। इसी प्रकार कोई आपको प्रकृति और पुरुषसे परे परमेश्वर मानते हैं तो कोई विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—इन नौ शक्तियोंसे युक्त परम पुरुष तथा दूसरे क्लेश-कर्म आदिके बन्धनसे रहित, पूर्वजोंके भी पूर्वज, अविनाशी पुरुषविशेषके रूपमें मानते हैं॥ ९॥ प्रभो! मैं, ब्रह्मा और मरीचि आदि ऋषि—जो सत्त्वगुणकी सृष्टिके अन्तर्गत हैं—जब आपकी बनायी हुई सृष्टिका भी रहस्य नहीं जान पाते, तब आपको तो जान ही कैसे सकते हैं। फिर जिनका चित्त मायाने अपने वशमें कर रखा है और जो सर्वदा रजोगुणी और तमोगुणी कर्मोंमें लगे रहते हैं, वे असुर और मनुष्य आदि तो भला जानेंगे ही क्या॥ १०॥ प्रभो! आप सर्वात्मक एवं ज्ञानस्वरूप हैं। इसीलिये वायुके समान आकाशमें अदृश्य रहकर भी आप सम्पूर्ण चराचर जगत्में सदा-सर्वदा विद्यमान रहते हैं तथा इसकी चेष्टा, स्थिति, जन्म, नाश, प्राणियोंके कर्म एवं संसारके बन्धन, मोक्ष—सभीको जानते हैं॥ ११॥ प्रभो! आप जब गुणोंको स्वीकार करके लीला करनेके लिये बहुत-से अवतार ग्रहण करते हैं, तब मैं उनका दर्शन करता ही हूँ। अब मैं आपके उस अवतारका भी दर्शन करना चाहता हूँ, जो आपने स्त्रीरूपमें ग्रहण किया था॥ १२॥ जिससे दैत्योंको मोहित करके आपने देवताओंको अमृत पिलाया, स्वामिन्! उसीको देखनेके लिये हम सब आये हैं। हमारे मनमें उसके दर्शनका बड़ा कौतूहल है॥ १३॥

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवान् शूलपाणिना।
प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत॥ १४

श्रीभगवानुवाच

कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया कृतः।
पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने॥ १५

तत्तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम।
कामिनां बहु मन्तव्यं सङ्कल्पप्रभवोदयम्॥ १६

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत।
सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया॥ १७

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं
विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद्
दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम्॥ १८

आवर्तनोद्वर्तनकम्पितस्तन-
प्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे।
प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्-
पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः॥ १९

दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं
प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम्।
स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्-
कपोलनीलालकमण्डिताननाम्॥ २०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान् शंकरने विष्णुभगवान्से यह प्रार्थना की, तब वे गम्भीरभावसे हँसकर शंकरजीसे बोले॥ १४॥

श्रीविष्णुभगवान्ने कहा—शंकरजी! उस समय अमृतका कलश दैत्योंके हाथमें चला गया था। अतः देवताओंका काम बनानेके लिये और दैत्योंका मन एक नये कौतूहलकी ओर खींच लेनेके लिये ही मैंने वह स्त्रीरूप धारण किया था॥ १५॥ देवशिरोमणे! आप उसे देखना चाहते हैं, इसलिये मैं आपको वह रूप दिखाऊँगा। परन्तु वह रूप तो कामी पुरुषोंका ही आदरणीय है, क्योंकि वह कामभावको उत्तेजित करनेवाला है॥ १६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस तरह कहते-कहते विष्णुभगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये और भगवान् शंकर सती देवीके साथ चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हुए वहीं बैठे रहे॥ १७॥ इतनेमें ही उन्होंने देखा कि सामने एक बड़ा सुन्दर उपवन है। उसमें भाँति-भाँतिके वृक्ष लग रहे हैं, जो रंग-बिरंगे फूल और लाल-लाल कोंपलोंसे भरे-पूरे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि उस उपवनमें एक सुन्दरी स्त्री गेंद उछाल-उछालकर खेल रही है। वह बड़ी ही सुन्दर साड़ी पहने हुए है और उसकी कमरमें करधनीकी लड़ियाँ लटक रही हैं॥ १८॥ गेंदके उछालने और लपककर पकड़नेसे उसके स्तन और उनपर पड़े हुए हार हिल रहे हैं। ऐसा जान पड़ता था, मानो इनके भारसे उसकी पतली कमर पग-पगपर टूटते-टूटते बच जाती है। वह अपने लाल-लाल पल्लवोंके समान सुकुमार चरणोंसे बड़ी कलाके साथ ठुमुक-ठुमुक चल रही थी॥ १९॥ उछलता हुआ गेंद जब इधर-उधर छलक जाता था, तब वह लपककर उसे रोक लेती थी। इससे उसकी बड़ी-बड़ी चंचल आँखें कुछ उद्विग्न-सी हो रही थीं। उसके कपोलोंपर कानोंके कुण्डलोंकी आभा जगमगा रही थी और घुँघराली काली-काली अलकें उनपर लटक आती थीं, जिससे मुख और भी उल्लसित हो उठता था॥ २०॥

श्लथद् दुकूलं कबरीं च विच्युतां
सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं
विमोहयन्तीं जगदात्ममायया॥ २१

तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्-
व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः।
स्त्रीप्रेक्षणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा
नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद॥ २२

तस्याः कराग्रात् स तु कन्दुको यदा
गतो विदूरं तमनुव्रजत्स्त्रियाः।
वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्
भवस्य देवस्य किलानुपश्यतः॥ २३

एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम्।
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विषज्जन्त्यां भवः किल॥ २४

तयापहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः[१]।
भवान्या अपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ॥ २५

सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम्।
निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नान्वतिष्ठत॥ २६

तामन्वगच्छद् भगवान् भवः प्रमुषितेन्द्रियः।
कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः॥ २७

सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम्।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे॥ २८

जब कभी साड़ी सरक जाती और केशोंकी वेणी खुलने लगती, तब अपने अत्यन्त सुकुमार बायें हाथसे वह उन्हें सम्हाल-सँवार लिया करती। उस समय भी वह दाहिने हाथसे गेंद उछाल-उछालकर सारे जगत्‌को अपनी मायासे मोहित कर रही थी॥ २१॥ गेंदसे खेलते-खेलते उसने तनिक सलज्जभावसे मुसकराकर तिरछी नजरसे शंकरजीकी ओर देखा। बस, उनका मन हाथसे निकल गया। वे मोहिनीको निहारने और उसकी चितवनके रसमें डूबकर इतने विह्वल हो गये कि उन्हें अपने-आपकी भी सुधि न रही। फिर पास बैठी हुई सती और गणोंकी तो याद ही कैसे रहती॥ २२॥ एक बार मोहिनीके हाथसे उछलकर गेंद थोड़ी दूर चला गया। वह भी उसीके पीछे दौड़ी। उसी समय शंकरजीके देखते-देखते वायुने उसकी झीनी-सी साड़ी करधनीके साथ ही उड़ा ली॥ २३॥

मोहिनीका एक-एक अंग बड़ा ही रुचिकर और मनोरम था। जहाँ आँखें लग जातीं, लगी ही रहतीं। यही नहीं, मन भी वहीं रमण करने लगता। उसको इस दशामें देखकर भगवान् शंकर उसकी ओर अत्यन्त आकृष्ट हो गये। उन्हें मोहिनी भी अपने प्रति आसक्त जान पड़ती थी॥ २४॥ उसने शंकरजीका विवेक छीन लिया। वे उसके हाव-भावोंसे कामातुर हो गये और भवानीके सामने ही लज्जा छोड़कर उसकी ओर चल पड़े॥ २५॥

मोहिनी वस्त्रहीन तो पहले ही हो चुकी थी, शंकरजीको अपनी ओर आते देख बहुत लज्जित हो गयी। वह एक वृक्षसे दूसरे वृक्षकी आड़में जाकर छिप जाती और हँसने लगती। परन्तु कहीं ठहरती न थी॥ २६॥ भगवान् शंकरकी इन्द्रियाँ अपने वशमें नहीं रहीं, वे कामवश हो गये थे; अतः हथिनीके पीछे हाथीकी तरह उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे॥ २७॥ उन्होंने अत्यन्त वेगसे उसका पीछा करके पीछेसे उसका जूड़ा पकड़ लिया और उसकी इच्छा न होनेपर भी उसे दोनों भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया॥ २८॥

१. प्रा० पा०—स्तद्गत०।

सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा।
इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा॥ २९

आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात्।
प्राद्रवत्सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता॥ ३०

तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः।
प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः॥ ३१

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनु धावतः॥ ३२

यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपते॥ ३३

सरित्सरस्सु शैलेषु वनेषूपवनेषु च।
यत्र क्व चासन्नृषयस्तत्र संनिहितो हरः॥ ३४

स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया।
जडीकृतं[१] नृपश्रेष्ठ संन्यवर्तत कश्मलात्॥ ३५

अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः।
अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदु हाद्भुतम्॥ ३६

तमविक्लवमव्रीडमालक्ष्य[२] मधुसूदनः।
उवाच परमप्रीतो बिभ्रत्स्वां पौरुषीं तनुम्॥ ३७

श्रीभगवानुवाच

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना[३] स्थितः।
यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया॥ ३८

जैसे हाथी हथिनीका आलिंगन करता है, वैसे ही भगवान् शंकरने उसका आलिंगन किया। वह इधर-उधर खिसककर छुड़ानेकी चेष्टा करने लगी, इसी छीना-झपटीमें उसके सिरके बाल बिखर गये॥ २९॥ वास्तवमें वह सुन्दरी भगवान्‌की रची हुई माया ही थी, इससे उसने किसी प्रकार शंकरजीके भुजपाशसे अपनेको छुड़ा लिया और बड़े वेगसे भागी॥ ३०॥ भगवान् शंकर भी उन मोहिनीवेषधारी अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो उनके शत्रु कामदेवने इस समय उनपर विजय प्राप्त कर ली है॥ ३१॥ कामुक हथिनीके पीछे दौड़नेवाले मदोन्मत्त हाथीके समान वे मोहिनीके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। यद्यपि भगवान् शंकरका वीर्य अमोघ है, फिर भी मोहिनीकी मायासे वह स्खलित हो गया॥ ३२॥ भगवान् शंकरका वीर्य पृथ्वीपर जहाँ-जहाँ गिरा, वहाँ-वहाँ सोने-चाँदीकी खानें बन गयीं॥ ३३॥ परीक्षित्! नदी, सरोवर, पर्वत, वन और उपवनमें एवं जहाँ-जहाँ ऋषि-मुनि निवास करते थे, वहाँ वहाँ मोहिनीके पीछे-पीछे भगवान् शंकर गये थे॥ ३४॥ परीक्षित्! वीर्यपात हो जानेके बाद उन्हें अपनी स्मृति हुई। उन्होंने देखा कि अरे, भगवान्‌की मायाने तो मुझे खूब छकाया! वे तुरंत उस दुःखद प्रसंगसे अलग हो गये॥ ३५॥ इसके बाद आत्मस्वरूप सर्वात्मा भगवान्‌की यह महिमा जानकर उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वे जानते थे कि भला, भगवान्‌की शक्तियोंका पार कौन पा सकता है॥ ३६॥ भगवान्‌ने देखा कि भगवान् शंकरको इससे विषाद या लज्जा नहीं हुई है, तब वे पुरुषशरीर धारण करके फिर प्रकट हो गये और बड़ी प्रसन्नतासे उनसे कहने लगे॥ ३७॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—देवशिरोमणे! मेरी स्त्रीरूपिणी मायासे विमोहित होकर भी आप स्वयं ही अपनी निष्ठामें स्थित हो गये। यह बड़े ही आनन्दकी बात है॥ ३८॥

---

१. प्रा० पा०—जडीकृतो। २. प्रा० पा०—मालोक्य। ३. प्रा० पा०—मात्मनि।

को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्।
तांस्तान्विसृजतीं भावान्दुस्तरामकृतात्मभिः॥ ३९

सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति।
मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः॥ ४०

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन् श्रीवत्साङ्केन सत्कृतः।
आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ॥ ४१

आत्मांशभूतां[१] तां मायां भवानीं भगवान्भवः।
शंसतामृषिमुख्यानां प्रीत्याऽऽचष्टाथ[२] भारत॥ ४२

अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां
परस्य पुंसः परदेवतायाः।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये
ययावशोऽन्ये[३] किमुतास्वतन्त्राः॥ ४३

यं[४] मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात्[५]
समासहस्रान्त उपारतं[६] वै।
स एष[७] साक्षात् पुरुषः पुराणो
न यत्र कालो विशते न वेदः॥ ४४

श्रीशुक उवाच

इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः।
सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः॥ ४५

मेरी माया अपार है। वह ऐसे-ऐसे हाव-भाव रचती है कि अजितेन्द्रिय पुरुष तो किसी प्रकार उससे छुटकारा पा ही नहीं सकते। भला, आपके अतिरिक्त ऐसा कौन पुरुष है, जो एक बार मेरी मायाके फंदेमें फँसकर फिर स्वयं ही उससे निकल सके॥ ३९॥ यद्यपि मेरी यह गुणमयी माया बड़ों-बड़ोंको मोहित कर देती है, फिर भी अब यह आपको कभी मोहित नहीं करेगी। क्योंकि सृष्टि आदिके लिये समयपर उसे क्षोभित करनेवाला काल मैं ही हूँ, इसलिये मेरी इच्छाके विपरीत वह रजोगुण आदिकी सृष्टि नहीं कर सकती॥ ४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार भगवान् विष्णुने भगवान् शंकरका सत्कार किया। तब उनसे विदा लेकर एवं परिक्रमा करके वे अपने गणोंके साथ कैलासको चले गये॥ ४१॥ भरतवंशशिरोमणे! भगवान् शंकरने बड़े-बड़े ऋषियोंकी सभामें अपनी अर्द्धांगिनी सती देवीसे अपने विष्णुरूपकी अंशभूता मायामयी मोहिनीका इस प्रकार बड़े प्रेमसे वर्णन किया॥ ४२॥ 'देवि! तुमने परम पुरुष परमेश्वर भगवान् विष्णुकी माया देखी? देखो, यों तो मैं समस्त कलाकौशल, विद्या आदिका स्वामी और स्वतन्त्र हूँ, फिर भी उस मायासे विवश होकर मोहित हो जाता हूँ। फिर दूसरे जीव तो परतन्त्र हैं ही; अतः वे मोहित हो जायँ—इसमें कहना ही क्या है॥ ४३॥ जब मैं एक हजार वर्षकी समाधिसे उठा था, तब तुमने मेरे पास आकर पूछा था कि तुम किसकी उपासना करते हो। वे यही साक्षात् सनातन पुरुष हैं। न तो काल ही इन्हें अपनी सीमामें बाँध सकता है और न वेद ही इनका वर्णन कर सकता है। इनका वास्तविक स्वरूप अनन्त और अनिर्वचनीय है'॥ ४४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! मैंने विष्णुभगवान्की यह ऐश्वर्यपूर्ण लीला तुमको सुनायी, जिसमें समुद्रमन्थनके समय अपनी पीठपर मन्दराचल धारण करनेवाले भगवान्का वर्णन है॥ ४५॥

१. प्रा० पा०—आत्मानुरूपां। २. प्रा० पा०—प्रत्यक्षमभिभाषत। ३. प्रा० पा०—ययाञ्जसा वै किमुतापरो यः। ४. प्रा० पा०—यन्माम०। ५. प्रा० पा०—योगं। ६. प्रा० पा०—उपारमद्वै। ७. प्रा० पा०—एव।

एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो
न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित्।
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं
समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥ ४६

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना-
नमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन्यः सुरारीं-
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥ ४७

जो पुरुष बार-बार इसका कीर्तन और श्रवण करता है, उसका उद्योग कभी और कहीं निष्फल नहीं होता। क्योंकि पवित्रकीर्ति भगवान्‌के गुण और लीलाओंका गान संसारके समस्त क्लेश और परिश्रमको मिटा देनेवाला है॥ ४६॥ दुष्ट पुरुषोंको भगवान्‌के चरणकमलोंकी प्राप्ति कभी हो नहीं सकती। वे तो भक्तिभावसे युक्त पुरुषको ही प्राप्त होते हैं। इसीसे उन्होंने स्त्रीका मायामय रूप धारण करके दैत्योंको मोहित किया और अपने चरणकमलोंके शरणागत देवताओंको समुद्रमन्थनसे निकले हुए अमृतका पान कराया। केवल उन्हींकी बात नहीं—चाहे जो भी उनके चरणोंकी शरण ग्रहण करे, वे उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। मैं उन प्रभुके चरणकमलोंमें नमस्कार करता हूँ॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे शङ्करमोहनं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

आगामी सात मन्वन्तरोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विवस्वान्‌के पुत्र यशस्वी श्राद्धदेव ही सातवें (वैवस्वत) मनु हैं। यह वर्तमान मन्वन्तर ही उनका कार्यकाल है। उनकी सन्तानका वर्णन मैं करता हूँ॥ १॥

इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते॥ २
करूषश्च पृषध्रश्च दशमो वसुमान्स्मृतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप॥ ३

वैवस्वत मनुके दस पुत्र हैं—इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करूष, पृषध्र और वसुमान॥ २-३॥

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः॥ ४

परीक्षित्! इस मन्वन्तरमें आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार और ऋभु—ये देवताओंके प्रधान गण हैं और पुरन्दर उनका इन्द्र है॥ ४॥

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः॥ ५
अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक्॥ ६

कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज—ये सप्तर्षि हैं॥ ५॥ इस मन्वन्तरमें भी कश्यपकी पत्नी अदितिके गर्भसे आदित्योंके छोटे भाई वामनके रूपमें भगवान् विष्णुने अवतार ग्रहण किया था॥ ६॥

संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वन्तराणि ते।
भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च॥ ७

विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव॥ ८

तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुताञ्छृणु॥ ९

सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ॥ १०

अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः।
निर्मोक[1]विरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप[2]॥ ११

तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः।
तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति॥ १२

दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम्।
राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति॥ १३

योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः।
निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनाऽऽस्ते स्वराडिव॥ १४

गालवो दीप्तिमान् रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा।
ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान्बादरायणः॥ १५

इमे सप्तर्षयस्तत्र[3] भविष्यन्ति स्वयोगतः।
इदानीमासते राजन् स्वे स्व आश्रममण्डले॥ १६

परीक्षित्! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे तुम्हें सात मन्वन्तरोंका वर्णन सुनाया; अब भगवान्‌की शक्तिसे युक्त अगले (आनेवाले) सात मन्वन्तरोंका वर्णन करता हूँ॥ ७॥

परीक्षित्! यह तो मैं तुम्हें पहले (छठे स्कन्धमें) बता चुका हूँ कि विवस्वान् (भगवान् सूर्य)-की दो पत्नियाँ थीं—संज्ञा और छाया। ये दोनों ही विश्वकर्माकी पुत्री थीं॥ ८॥ कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि उनकी एक तीसरी पत्नी बडवा भी थी। (मेरे विचारसे तो संज्ञाका ही नाम बडवा हो गया था।) उन सूर्यपत्नियोंमें संज्ञासे तीन सन्तानें हुईं—यम, यमी और श्राद्धदेव। छायाके भी तीन सन्तानें हुईं—सावर्णि, शनैश्चर और तपती नामकी कन्या जो संवरणकी पत्नी हुई। जब संज्ञाने वडवाका रूप धारण कर लिया, तब उससे दोनों अश्विनीकुमार हुए॥ ९-१०॥

आठवें मन्वन्तरमें सावर्णि मनु होंगे। उनके पुत्र होंगे निर्मोक, विरजस्क आदि॥ ११॥ परीक्षित्! उस समय सुतपा, विरजा और अमृतप्रभ नामक देवगण होंगे। उन देवताओंके इन्द्र होंगे विरोचनके पुत्र बलि॥ १२॥

विष्णुभगवान्‌ने वामन अवतार ग्रहण करके इन्हींसे तीन पग पृथ्वी माँगी थी; परन्तु इन्होंने उनको सारी त्रिलोकी दे दी। राजा बलिको एक बार तो भगवान्‌ने बाँध दिया था, परन्तु फिर प्रसन्न होकर उन्होंने इनको स्वर्गसे भी श्रेष्ठ सुतल लोकका राज्य दे दिया। वे इस समय वहीं इन्द्रके समान विराजमान हैं। आगे चलकर ये ही इन्द्र होंगे और समस्त ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण इन्द्रपदका भी परित्याग करके परम सिद्धि प्राप्त करेंगे॥ १३-१४॥

गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृंग और हमारे पिता भगवान् व्यास—ये आठवें मन्वन्तरमें सप्तर्षि होंगे। इस समय ये लोग योगबलसे अपने-अपने आश्रममण्डलमें स्थित हैं॥ १५-१६॥

१. प्रा० पा०—निर्मोह०। २. प्रा० पा०—नृपाः। ३. प्रा० पा०—स्तस्मिन्।

देवगुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः।
स्थानं पुरन्दराद् हृत्वा बलये दास्यतीश्वरः॥ १७
नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसम्भवः।
भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप॥ १८
पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः।
द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः॥ १९
आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला।
भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः॥ २०
दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान्।
तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः॥ २१
हविष्मान्सुकृतिः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः।
सुवासनविरुद्धाद्या देवाः शम्भुः सुरेश्वरः॥ २२
विष्वक्सेनो विषूच्यां तु शम्भोः सख्यं करिष्यति।
जातः स्वांशेन भगवान्गृहे विश्वसृजो विभुः॥ २३
मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान्।
अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश॥ २४
विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः।
इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः॥ २५
आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः।
वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति॥ २६
भविता रुद्रसावर्णी राजन्द्वादशमो मनुः।
देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः॥ २७
ऋतधामा च तत्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः।
ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः॥ २८
स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः।
अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः॥ २९

देवगुह्यकी पत्नी सरस्वतीके गर्भसे सार्वभौम नामक भगवान्‌का अवतार होगा। ये ही प्रभु पुरन्दर इन्द्रसे स्वर्गका राज्य छीनकर राजा बलिको दे देंगे॥ १७॥ परीक्षित्! वरुणके पुत्र दक्षसावर्णि नवें मनु होंगे। भूतकेतु, दीप्तकेतु आदि उनके पुत्र होंगे॥ १८॥ पार, मरीचिगर्भ आदि देवताओंके गण होंगे और अद्भुत नामके इन्द्र होंगे। उस मन्वन्तरमें द्युतिमान् आदि सप्तर्षि होंगे॥ १९॥ आयुष्मान्‌की पत्नी अम्बुधाराके गर्भसे ऋषभके रूपमें भगवान्‌का कलावतार होगा। अद्भुत नामक इन्द्र उन्हींकी दी हुई त्रिलोकीका उपभोग करेंगे॥ २०॥

दसवें मनु होंगे उपश्लोकके पुत्र ब्रह्मसावर्णि। उनमें समस्त सद्गुण निवास करेंगे। भूरिषेण आदि उनके पुत्र होंगे और हविष्मान्, सुकृति, सत्य, जय, मूर्ति आदि सप्तर्षि। सुवासन, विरुद्ध आदि देवताओंके गण होंगे और इन्द्र होंगे शम्भु॥ २१-२२॥

विश्वसृज्‌की पत्नी विषूचिके गर्भसे भगवान् विष्वक्सेनके रूपमें अंशावतार ग्रहण करके शम्भु नामक इन्द्रसे मित्रता करेंगे॥ २३॥

ग्यारहवें मनु होंगे अत्यन्त संयमी धर्मसावर्णि। उनके सत्य, धर्म आदि दस पुत्र होंगे॥ २४॥ विहंगम, कामगम, निर्वाणरुचि आदि देवताओंके गण होंगे। अरुणादि सप्तर्षि होंगे और वैधृत नामके इन्द्र होंगे॥ २५॥ आर्यककी पत्नी वैधृताके गर्भसे धर्मसेतुके रूपमें भगवान्‌का अंशावतार होगा और उसी रूपमें वे त्रिलोकीकी रक्षा करेंगे॥ २६॥

परीक्षित्! बारहवें मनु होंगे रुद्रसावर्णि। उनके देववान्, उपदेव और देवश्रेष्ठ आदि पुत्र होंगे॥ २७॥ उस मन्वन्तरमें ऋतुधामा नामक इन्द्र होंगे और हरित आदि देवगण। तपोमूर्ति, तपस्वी आग्नीध्रक आदि सप्तर्षि होंगे॥ २८॥

सत्यसहाकी पत्नी सूनृताके गर्भसे स्वधामके रूपमें भगवान्‌का अंशावतार होगा और उसी रूपमें भगवान् उस मन्वन्तरका पालन करेंगे॥ २९॥

मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान्।
चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः॥ ३०
देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः।
निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा॥ ३१
देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः।
योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति॥ ३२
मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति।
उरुगम्भीरबुद्ध्याद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः॥ ३३
पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति।
अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः॥ ३४
सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः।
वितानायां महाराज क्रियातन्तूनिवतायिता॥ ३५
राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते।
प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्त्रपर्ययः॥ ३६

तेरहवें मनु होंगे परम जितेन्द्रिय देवसावर्णि। चित्रसेन, विचित्र आदि उनके पुत्र होंगे॥ ३०॥ सुकर्म और सुत्राम आदि देवगण होंगे तथा इन्द्रका नाम होगा दिवस्पति। उस समय निर्मोक और तत्त्वदर्श आदि सप्तर्षि होंगे॥ ३१॥

देवहोत्रकी पत्नी बृहतीके गर्भसे योगेश्वरके रूपमें भगवान्‌का अंशावतार होगा और उसी रूपमें भगवान् दिवस्पतिको इन्द्रपद देंगे॥ ३२॥

महाराज! चौदहवें मनु होंगे इन्द्रसावर्णि। उरु, गम्भीर, बुद्धि आदि उनके पुत्र होंगे॥ ३३॥ उस समय पवित्र, चाक्षुष आदि देवगण होंगे और इन्द्रका नाम होगा शुचि। अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध और मागध आदि सप्तर्षि होंगे॥ ३४॥ उस समय सत्रायणकी पत्नी वितानाके गर्भसे बृहद्भानुके रूपमें भगवान् अवतार ग्रहण करेंगे तथा कर्मकाण्डका विस्तार करेंगे॥ ३५॥

परीक्षित्! ये चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों ही कालमें चलते रहते हैं। इन्हींके द्वारा एक सहस्र चतुर्युगीवाले कल्पके समयकी गणना की जाती है॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

मनु आदिके पृथक्-पृथक् कर्मोंका निरूपण

राजोवाच

मन्वन्तरेषु भगवन्यथा मन्वादयस्त्विमे।
यस्मिन्कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे॥ १

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपके द्वारा वर्णित ये मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि आदि अपने-अपने मन्वन्तरमें किसके द्वारा नियुक्त होकर कौन-कौन-सा काम किस प्रकार करते हैं—यह आप कृपा करके मुझे बतलाइये॥ १॥

ऋषिरुवाच

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते।
इन्द्राः सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि और देवता—सबको नियुक्त करनेवाले स्वयं भगवान् ही हैं॥ २॥

यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्यस्तनवो नृप[1]।
मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः॥ ३

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान्यथा।
तपसा ऋषयोऽपश्यन्यतो धर्मः सनातनः॥ ४

ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः।
युक्ताः सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप॥ ५

पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः।
यज्ञभागभुजो देवा ये च तत्रा[2]न्विताश्च तैः॥ ६

इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमूर्जिताम्।
भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन् कामं लोके प्रवर्षति॥ ७

ज्ञानं चानुयुगं ब्रूते हरिः सि[3]द्धस्वरूपधृक्।
ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक्॥ ८

सर्गं[4] प्रजेशरूपेण दस्यू[5]न्हन्यात् स्वराड्वपुः।
कालरूपेण सर्वेषामभावाय पृथग्गुणः॥ ९

स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया।
विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते॥ १०

एतत् कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम्।
यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः॥ ११

राजन्! भगवान्‌के जिन यज्ञपुरुष आदि अवतारशरीरोंका वर्णन मैंने किया है, उन्हींकी प्रेरणासे मनु आदि विश्व-व्यवस्थाका संचालन करते हैं॥ ३॥ चतुर्युगीके अन्तमें समयके उलट-फेरसे जब श्रुतियाँ नष्टप्राय हो जाती हैं, तब सप्तर्षिगण अपनी तपस्यासे पुनः उनका साक्षात्कार करते हैं। उन श्रुतियोंसे ही सनातनधर्मकी रक्षा होती है॥ ४॥ राजन्! भगवान्‌की प्रेरणासे अपने-अपने मन्वन्तरमें बड़ी सावधानीसे सब-के-सब मनु पृथ्वीपर चारों चरणसे परिपूर्ण धर्मका अनुष्ठान करवाते हैं॥ ५॥ मनुपुत्र मन्वन्तरभर काल और देश दोनोंका विभाग करके प्रजापालन तथा धर्मपालनका कार्य करते हैं। पंच-महायज्ञ आदि कर्मोंमें जिन ऋषि, पितर, भूत और मनुष्य आदिका सम्बन्ध है—उनके साथ देवता उस मन्वन्तरमें यज्ञका भाग स्वीकार करते हैं॥ ६॥ इन्द्र भगवान्‌की दी हुई त्रिलोकीकी अतुल सम्पत्तिका उपभोग और प्रजाका पालन करते हैं। संसारमें यथेष्ट वर्षा करनेका अधिकार भी उन्हींको है॥ ७॥ भगवान् युग-युगमें सनक आदि सिद्धोंका रूप धारण करके ज्ञानका, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंका रूप धारण करके कर्मका और दत्तात्रेय आदि योगेश्वरोंके रूपमें योगका उपदेश करते हैं॥ ८॥ वे मरीचि आदि प्रजापतियोंके रूपमें सृष्टिका विस्तार करते हैं, सम्राट्‌के रूपमें लुटेरोंका वध करते हैं और शीत, उष्ण आदि विभिन्न गुणोंको धारण करके कालरूपसे सबको संहारकी ओर ले जाते हैं॥ ९॥ नाम और रूपकी मायासे प्राणियोंकी बुद्धि विमूढ़ हो रही है। इसलिये वे अनेक प्रकारके दर्शनशास्त्रोंके द्वारा महिमा तो भगवान्‌की ही गाते हैं, परन्तु उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान पाते॥ १०॥ परीक्षित्! इस प्रकार मैंने तुम्हें महाकल्प और अवान्तर कल्पका परिमाण सुना दिया। पुराणतत्त्वके विद्वानोंने प्रत्येक अवान्तर कल्पमें चौदह मन्वन्तर बतलाये हैं॥ ११॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

१. प्रा० पा०—नृपाः। २. प्रा० पा०—यत्रा०। ३. प्रा० पा०—सर्वस्व०। ४. प्रा० पा०—सर्गे। ५. प्रा० पा०—हन्ता स्व०।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

राजा बलिकी स्वर्गपर विजय

राजोवाच

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत।
भूत्वेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम्॥ १
एतद् वेदितुमिच्छामो महत् कौतूहलं हि नः।
यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः॥ २

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! श्रीहरि स्वयं ही सबके स्वामी हैं। फिर उन्होंने दीन-हीनकी भाँति राजा बलिसे तीन पग पृथ्वी क्यों माँगी? तथा जो कुछ वे चाहते थे, वह मिल जानेपर भी उन्होंने बलिको बाँधा क्यों?॥ १॥ मेरे हृदयमें इस बातका बड़ा कौतूहल है कि स्वयं परिपूर्ण यज्ञेश्वरभगवान्‌के द्वारा याचना और निरपराधका बन्धन—ये दोनों ही कैसे सम्भव हुए? हमलोग यह जानना चाहते हैं॥ २॥

श्रीशुक उवाच

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो
हीन्द्रेण राजन्भृगुभिः स जीवितः।
सर्वात्मना तानभजद् भृगून्बलिः
शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन॥ ३
तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा
अयाजयन्विश्वजिता त्रिणाकम्।
जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य
महाभिषेकेण महानुभावाः॥ ४
ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो
हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः।
ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो
हुताशनादास हविर्भिरिष्टात्॥ ५
धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं
तूणावरिक्तौ कवचं च दिव्यम्।
पितामहस्तस्य ददौ च माला-
मम्लानपुष्पां जलजं च शुक्रः॥ ६
एवं स विप्रार्जितयोधनार्थ-
स्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान्।
प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः
प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार॥ ७

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! जब इन्द्रने बलिको पराजित करके उनकी सम्पत्ति छीन ली और उनके प्राण भी ले लिये, तब भृगुनन्दन शुक्राचार्यने उन्हें अपनी संजीवनी विद्यासे जीवित कर दिया। इसपर शुक्राचार्यजीके शिष्य महात्मा बलिने अपना सर्वस्व उनके चरणोंपर चढ़ा दिया और वे तन-मनसे गुरुजीके साथ ही समस्त भृगुवंशी ब्राह्मणोंकी सेवा करने लगे॥ ३॥ इससे प्रभावशाली भृगुवंशी ब्राह्मण उनपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वर्गपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छावाले बलिका महाभिषेककी विधिसे अभिषेक करके उनसे विश्वजित् नामका यज्ञ कराया॥ ४॥ यज्ञकी विधिसे हविष्योंके द्वारा जब अग्निदेवताकी पूजा की गयी, तब यज्ञकुण्डमेंसे सोनेकी चद्दरसे मढ़ा हुआ एक बड़ा सुन्दर रथ निकला। फिर इन्द्रके घोड़ों-जैसे हरे रंगके घोड़े और सिंहके चिह्नसे युक्त रथपर लगानेकी ध्वजा निकली॥ ५॥ साथ ही सोनेके पत्रसे मढ़ा हुआ दिव्य धनुष, कभी खाली न होनेवाले दो अक्षय तरकश और दिव्य कवच भी प्रकट हुए। दादा प्रह्लादजीने उन्हें एक ऐसी माला दी, जिसके फूल कभी कुम्हलाते न थे तथा शुक्राचार्यने एक शंख दिया॥ ६॥ इस प्रकार ब्राह्मणोंकी कृपासे युद्धकी सामग्री प्राप्त करके उनके द्वारा स्वस्तिवाचन हो जानेपर राजा बलिने उन ब्राह्मणोंकी प्रदक्षिणा की और नमस्कार किया। इसके बाद उन्होंने प्रह्लादजीसे सम्भाषण करके उनके चरणोंमें नमस्कार किया॥ ७॥

अथारुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः।
सुस्त्रग्धरोऽथ संनह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः॥ ८

हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः।
रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट्॥ ९

तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः।
पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भि परिधीनिव॥ १०

वृतो विकर्षन् महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः।
ययाविन्द्रपुरीं[1] स्वृद्धां कम्पयन्निव रोदसी॥ ११

रम्यामुपवनोद्यानैः[2] श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः॥ १२

प्रवालफलपुष्पोरुभारशाखामरद्रुमैः।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः।
नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदाः सुरसेविताः॥ १३

आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया।
प्राकारेणाग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च॥ १४

रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः।
जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम्॥ १५

फिर वे भृगुवंशी ब्राह्मणोंके दिये हुए दिव्य रथपर सवार हुए। जब महारथी राजा बलिने कवच धारण कर धनुष, तलवार, तरकश आदि शस्त्र ग्रहण कर लिये और दादाकी दी हुई सुन्दर माला धारण कर ली, तब उनकी बड़ी शोभा हुई॥ ८॥ उनकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद और कानोंमें मकराकृति कुण्डल जगमगा रहे थे। उनके कारण रथपर बैठे हुए वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो अग्निकुण्डमें अग्नि प्रज्वलित हो रही हो॥ ९॥ उनके साथ उन्हींके समान ऐश्वर्य, बल और विभूतिवाले दैत्यसेनापति अपनी-अपनी सेना लेकर हो लिये। ऐसा जान पड़ता था मानो वे आकाशको पी जायँगे और अपने क्रोधभरे प्रज्वलित नेत्रोंसे समस्त दिशाओंको, क्षितिजको भस्म कर डालेंगे॥ १०॥ राजा बलिने इस बहुत बड़ी आसुरी सेनाको लेकर उसका युद्धके ढंगसे संचालन किया तथा आकाश और अन्तरिक्षको कँपाते हुए सकल ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण इन्द्रपुरी अमरावतीपर चढ़ाई की॥ ११॥

देवताओंकी राजधानी अमरावतीमें बड़े सुन्दर-सुन्दर नन्दन वन आदि उद्यान और उपवन हैं। उन उद्यानों और उपवनोंमें पक्षियोंके जोड़े चहकते रहते हैं। मधुलोभी भौंरे मतवाले होकर गुनगुनाते रहते हैं॥ १२॥ लाल-लाल नये-नये पत्तों, फलों और पुष्पोंसे कल्पवृक्षोंकी शाखाएँ लदी रहती हैं। वहाँके सरोवरोंमें हंस, सारस, चकवे और बतखोंकी भीड़ लगी रहती है। उन्हींमें देवताओंके द्वारा सम्मानित देवांगनाएँ जलक्रीडा करती रहती हैं॥ १३॥ ज्योतिर्मय आकाशगंगाने खाईकी भाँति अमरावतीको चारों ओरसे घेर रखा है। उसके चारों ओर बहुत ऊँचा सोनेका परकोटा बना हुआ है, जिसमें स्थान-स्थानपर बड़ी-बड़ी अटारियाँ बनी हुई हैं॥ १४॥ सोनेके किवाड़ द्वार-द्वारपर लगे हुए हैं और स्फटिकमणिके गोपुर (नगरके बाहरी फाटक) हैं। उसमें अलग-अलग बड़े-बड़े राजमार्ग हैं। स्वयं विश्वकर्माने ही उस पुरीका निर्माण किया है॥ १५॥

१. प्रा० पा०—रीमृद्धां। २. प्रा० पा०—रम्यां नृप गृहोद्यानैः।

सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानैर्न्यर्बुदैर्युताम्।
शृङ्गाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥ १६

यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः।
भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः॥ १७

सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम्।
यत्रामोदमुपादाय मार्ग आवाति मारुतः॥ १८

हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगन्धिना ।
पाण्डुरेण प्रतिच्छन्नमार्गे यान्ति सुरप्रियाः॥ १९

मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभि-
र्नानापताकावलभीभिरावृताम् ।
शिखण्डिपारावतभृङ्गनादितां
वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम् ॥ २०

मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनैः
सतालवीणामुरजर्ष्टिवेणुभिः ।
नृत्यैः सवाद्यैरुपदेवगीतकै-
र्मनोरमां स्वप्रभया जितप्रभाम्॥ २१

यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः खला भूतद्रुहः शठाः।
मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीना व्रजन्ति यत्॥ २२

तां देवधानीं स वरूथिनीपति-
र्बहिः समन्ताद् रुरुधे पृतन्यया।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं
दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम्॥ २३

मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम्।
सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह॥ २४

सभाके स्थान, खेलके चबूतरे और रथ चलनेके बड़े-बड़े मार्गोंसे वह शोभायमान है। दस करोड़ विमान उसमें सर्वदा विद्यमान रहते हैं और मणियोंके बड़े-बड़े चौराहे एवं हीरे और मूँगेकी वेदियाँ बनी हुई हैं॥ १६॥ वहाँकी स्त्रियाँ सर्वदा सोलह वर्षकी-सी रहती हैं, उनका यौवन और सौन्दर्य स्थिर रहता है। वे निर्मल वस्त्र पहनकर अपने रूपकी छटासे इस प्रकार देदीप्यमान होती हैं, जैसे अपनी ज्वालाओंसे अग्नि ॥ १७॥

देवांगनाओंके जूड़ेसे गिरे हुए नवीन सौगन्धित पुष्पोंकी सुगन्ध लेकर वहाँके मार्गोंमें मन्द-मन्द हवा चलती रहती है॥ १८॥ सुनहली खिड़कियोंमेंसे अगरकी सुगन्धसे युक्त सफेद धूआँ निकल-निकलकर वहाँके मार्गोंको ढक दिया करता है। उसी मार्गसे देवांगनाएँ जाती-आती हैं॥ १९॥ स्थान-स्थानपर मोतियोंकी झालरोंसे सजाये हुए चँदोवे तने रहते हैं। सोनेकी मणिमय पताकाएँ फहराती रहती हैं। छज्जोंपर अनेकों झंडियाँ लहराती रहती हैं। मोर, कबूतर और भौंरे कलगान करते रहते हैं। देवांगनाओंके मधुर संगीतसे वहाँ सदा ही मंगल छाया रहता है॥ २०॥ मृदंग, शंख, नगारे, ढोल, वीणा, वंशी, मँजीरे और ऋष्टियाँ बजती रहती हैं। गन्धर्व बाजोंके साथ गाया करते हैं और अप्सराएँ नाचा करती हैं। इनसे अमरावती इतनी मनोहर जान पड़ती है, मानो उसने अपनी छटासे छटाकी अधिष्ठात्री देवीको भी जीत लिया है॥ २१॥ उस पुरीमें अधर्मी, दुष्ट, जीवद्रोही, ठग, मानी, कामी और लोभी नहीं जा सकते। जो इन दोषोंसे रहित हैं, वे ही वहाँ जाते हैं॥ २२॥ असुरोंकी सेनाके स्वामी राजा बलिने अपनी बहुत बड़ी सेनासे बाहरकी ओर सब ओरसे अमरावतीको घेर लिया और इन्द्रपत्नियोंके हृदयमें भयका संचार करते हुए उन्होंने शुक्राचार्यजीके दिये हुए महान् शंखको बजाया। उस शंखकी ध्वनि सर्वत्र फैल गयी॥ २३॥ इन्द्रने देखा कि बलिने युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की है। अतः सब देवताओंके साथ वे अपने गुरु बृहस्पतिजीके पास गये और उनसे बोले— ॥ २४॥

भगवन्नुद्यमो भूयान्बलेर्नः पूर्ववैरिणः।
अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत्तेजसोर्जितः॥ २५

नैनं कश्चित् कुतो वापि प्रतिव्योढुमधीश्वरः।
पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश।
दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरिवोत्थितः॥ २६

ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्रिपोः।
ओजः सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः॥ २७

गुरुरुवाच

जानामि मघवञ्छत्रोरुन्नतेरस्य कारणम्।
शिष्यायोपभृतं[१] तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः॥ २८

भवद्विधो भवान्वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम्।
नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः॥ २९

तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम्।
यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः॥ ३०

एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः।
तेषामेवापमानेन[२] सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति॥ ३१

एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः॥ ३२

देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनः पुरीम्।
देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम्॥ ३३

'भगवन्! मेरे पुराने शत्रु बलिने इस बार युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हमलोग उनका सामना नहीं कर सकेंगे। पता नहीं, किस शक्तिसे इनकी इतनी बढ़ती हो गयी है॥ २५॥ मैं देखता हूँ कि इस समय बलिको कोई भी किसी प्रकारसे रोक नहीं सकता। वे प्रलयकी आगके समान बढ़ गये हैं और जान पड़ता है, मुखसे इस विश्वको पी जायँगे, जीभसे दसों दिशाओंको चाट जायँगे और नेत्रोंकी ज्वालासे दिशाओंको भस्म कर देंगे॥ २६॥ आप कृपा करके मुझे बतलाइये कि मेरे शत्रुकी इतनी बढ़तीका, जिसे किसी प्रकार भी दबाया नहीं जा सकता, क्या कारण है? इसके शरीर, मन और इन्द्रियोंमें इतना बल और इतना तेज कहाँसे आ गया है कि इसने इतनी बड़ी तैयारी करके चढ़ाई की है'॥ २७॥

देवगुरु बृहस्पतिजीने कहा—'इन्द्र! मैं तुम्हारे शत्रु बलिकी उन्नतिका कारण जानता हूँ। ब्रह्मवादी भृगुवंशियोंने अपने शिष्य बलिको महान् तेज देकर शक्तियोंका खजाना बना दिया है॥ २८॥ सर्वशक्तिमान् भगवान्को छोड़कर तुम या तुम्हारे-जैसा और कोई भी बलिके सामने उसी प्रकार नहीं ठहर सकता, जैसे कालके सामने प्राणी॥ २९॥ इसलिये तुमलोग स्वर्गको छोड़कर कहीं छिप जाओ और उस समयकी प्रतीक्षा करो, जब तुम्हारे शत्रुका भाग्यचक्र पलटे॥ ३०॥ इस समय ब्राह्मणोंके तेजसे बलिकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। उसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी है। जब यह उन्हीं ब्राह्मणोंका तिरस्कार करेगा, तब अपने परिवार-परिकरके साथ नष्ट हो जायगा'॥ ३१॥ बृहस्पतिजी देवताओंके समस्त स्वार्थ और परमार्थके ज्ञाता थे। उन्होंने जब इस प्रकार देवताओंको सलाह दी, तब वे स्वेच्छानुसार रूप धारण करके स्वर्ग छोड़कर चले गये॥ ३२॥ देवताओंके छिप जानेपर विरोचननन्दन बलिने अमरावतीपुरीपर अपना अधिकार कर लिया और फिर तीनों लोकोंको जीत लिया॥ ३३॥

१. प्रा० पा०—धृतं। २. प्रा० पा०—मेवावमा०।

तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः।
शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन्॥ ३४

जब बलि विश्वविजयी हो गये, तब शिष्यप्रेमी भृगुवंशियोंने अपने अनुगत शिष्यसे सौ अश्वमेध यज्ञ करवाये॥ ३४॥

ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुताम्।
कीर्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेज उडुराडिव॥ ३५

उन यज्ञोंके प्रभावसे बलिकी कीर्तिकौमुदी तीनों लोकोंसे बाहर भी दसों दिशाओंमें फैल गयी और वे नक्षत्रोंके राजा चन्द्रमाके समान शोभायमान हुए॥ ३५॥

बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां द्विजदेवोपलम्भिताम्।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः॥ ३६

ब्राह्मण-देवताओंकी कृपासे प्राप्त समृद्ध राज्य-लक्ष्मीका वे बड़ी उदारतासे उपभोग करने लगे और अपनेको कृतकृत्य-सा मानने लगे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

कश्यपजीके द्वारा अदितिको पयोव्रतका उपदेश

श्रीशुक उवाच

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवता इस प्रकार भागकर छिप गये और दैत्योंने स्वर्गपर अधिकार कर लिया; तब देवमाता अदितिको बड़ा दुःख हुआ। वे अनाथ-सी हो गयीं॥ १॥

एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात्।
निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात्॥ २

एक बार बहुत दिनोंके बाद जब परमप्रभावशाली कश्यप मुनिकी समाधि टूटी, तब वे अदितिके आश्रमपर आये। उन्होंने देखा कि न तो वहाँ सुख-शान्ति है और न किसी प्रकारका उत्साह या सजावट ही॥ २॥

स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः।
सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरूद्वह॥ ३

परीक्षित्! जब वे वहाँ जाकर आसनपर बैठ गये और अदितिने विधिपूर्वक उनका सत्कार कर लिया, तब वे अपनी पत्नी अदितिसे—जिसके चेहरेपर बड़ी उदासी छायी हुई थी, बोले—॥ ३॥

अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनाऽऽगतम्।
न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः॥ ४

'कल्याणी! इस समय संसारमें ब्राह्मणोंपर कोई विपत्ति तो नहीं आयी है? धर्मका पालन तो ठीक-ठीक होता है? कालके कराल गालमें पड़े हुए लोगोंका कुछ अमंगल तो नहीं हो रहा है?॥ ४॥

अपि वाकुशलं किञ्चिद् गृहेषु गृहमेधिनि।
धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम्॥ ५

प्रिये! गृहस्थाश्रम तो, जो लोग योग नहीं कर सकते, उन्हें भी योगका फल देनेवाला है। इस गृहस्थाश्रममें रहकर धर्म, अर्थ और कामके सेवनमें किसी प्रकारका विघ्न तो नहीं हो रहा है?॥ ५॥

अपि वातिथयोऽभ्येत्य कुटुम्बासक्तया त्वया।
गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित्॥ ६

गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः॥ ७

अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति।
त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित्॥ ८

यत्पूजया कामदुघान्याति लोकान्गृहान्वितः।
ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम्॥ ९

अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि।
लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम्॥ १०

अदितिरुवाच

भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन्धर्मस्यास्य जनस्य च।
त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन्गृहा इमे॥ ११

अग्नयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च लिप्सवः।
सर्वं भगवतो ब्रह्मन्ननुध्यानान्न रिष्यति॥ १२

को नु मे भगवन्कामो न सम्पद्येत मानसः।
यस्या भवान्प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान्प्रभाषते॥ १३

तवैव मारीच मनःशरीरजाः
प्रजा इमाः सत्त्वरजस्तमोजुषः।
समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो
तथापि भक्तं भजते महेश्वरः॥ १४

यह भी सम्भव है कि तुम कुटुम्बके भरण-पोषणमें व्यग्र रही हो, अतिथि आये हों और तुमसे बिना सम्मान पाये ही लौट गये हों; तुम खड़ी होकर उनका सत्कार करनेमें भी असमर्थ रही हो। इसीसे तो तुम उदास नहीं हो रही हो?॥ ६॥ जिन घरोंमें आये हुए अतिथिका जलसे भी सत्कार नहीं किया जाता और वे ऐसे ही लौट जाते हैं, वे घर अवश्य ही गीदड़ोंके घरके समान हैं॥ ७॥ प्रिये! सम्भव है, मेरे बाहर चले जानेपर कभी तुम्हारा चित्त उद्विग्न रहा हो और समयपर तुमने हविष्यसे अग्नियोंमें हवन न किया हो॥ ८॥ सर्वदेवमय भगवान्‌के मुख हैं—ब्राह्मण और अग्नि। गृहस्थ पुरुष यदि इन दोनोंकी पूजा करता है तो उसे उन लोकोंकी प्राप्ति होती है, जो समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं॥ ९॥ प्रिये! तुम तो सर्वदा प्रसन्न रहती हो; परन्तु तुम्हारे बहुत-से लक्षणोंसे मैं देख रहा हूँ कि इस समय तुम्हारा चित्त अस्वस्थ है। तुम्हारे सब लड़के तो कुशल-मंगलसे हैं न?'॥ १०॥

अदितिने कहा—भगवन्! ब्राह्मण, गौ, धर्म और आपकी यह दासी—सब सकुशल हैं। मेरे स्वामी! यह गृहस्थ-आश्रम ही अर्थ, धर्म और कामकी साधनामें परम सहायक है॥ ११॥ प्रभो! आपके निरन्तर स्मरण और कल्याण-कामनासे अग्नि, अतिथि, सेवक, भिक्षुक और दूसरे याचकोंका भी मैंने तिरस्कार नहीं किया है॥ १२॥ भगवन्! जब आप-जैसे प्रजापति मुझे इस प्रकार धर्मपालनका उपदेश करते है; तब भला मेरे मनकी ऐसी कौन-सी कामना है जो पूरी न हो जाय?॥ १३॥ आर्यपुत्र! समस्त प्रजा—वह चाहे सत्त्वगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी हो—आपकी ही सन्तान है। कुछ आपके संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं और कुछ शरीरसे। भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि आप सब सन्तानोंके प्रति—चाहे असुर हों या देवता—एक-सा भाव रखते हैं, सम हैं। तथापि स्वयं परमेश्वर भी अपने भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण किया करते हैं॥ १४॥

तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत।
हृतश्रियो हृतस्थानान्सपत्नैः पाहि नः प्रभो॥ १५

परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे।
ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम॥ १६

यथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन् ममात्मजाः।
तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम॥ १७

मेरे स्वामी! मैं आपकी दासी हूँ। आप मेरी भलाईके सम्बन्धमें विचार कीजिये। मर्यादापालक प्रभो! शत्रुओंने हमारी सम्पत्ति और रहनेका स्थानतक छीन लिया है। आप हमारी रक्षा कीजिये॥ १५॥ बलवान् दैत्योंने मेरे ऐश्वर्य, धन, यश और पद छीन लिये हैं तथा हमें घरसे बाहर निकाल दिया है। इस प्रकार मैं दुःखके समुद्रमें डूब रही हूँ॥ १६॥ आपसे बढ़कर हमारी भलाई करनेवाला और कोई नहीं है। इसलिये मेरे हितैषी स्वामी! आप सोच-विचारकर अपने संकल्पसे ही मेरे कल्याणका कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे कि मेरे पुत्रोंको वे वस्तुएँ फिरसे प्राप्त हो जायँ॥ १७॥

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव।
अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत्॥ १८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार अदितिने जब कश्यपजीसे प्रार्थना की, तब वे कुछ विस्मित-से होकर बोले—'बड़े आश्चर्यकी बात है। भगवान्की माया भी कैसी प्रबल है! यह सारा जगत् स्नेहकी रज्जुसे बँधा हुआ है॥ १८॥

क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्वचात्मा प्रकृतेः परः।
कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्॥ १९

कहाँ यह पंचभूतोंसे बना हुआ अनात्मा शरीर और कहाँ प्रकृतिसे परे आत्मा? न किसीका कोई पति है, न पुत्र है और न तो सम्बन्धी ही है। मोह ही मनुष्यको नचा रहा है॥ १९॥

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम्।
सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम्॥ २०

प्रिये! तुम सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान, अपने भक्तोंके दुःख मिटानेवाले जगद्गुरु भगवान् वासुदेवकी आराधना करो॥ २०॥

स विधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकम्पनः।
अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति[1] मतिर्मम॥ २१

वे बड़े दीनदयालु हैं। अवश्य ही श्रीहरि तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण करेंगे। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि भगवान्की भक्ति कभी व्यर्थ नहीं होती। इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है'॥ २१॥

अदितिरुवाच

केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जगत्पतिम्।
यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात् स मनोरथम्॥ २२

आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम्।
आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः॥ २३

अदितिने पूछा—भगवन्! मैं जगदीश्वरभगवान्की आराधना किस प्रकार करूँ, जिससे वे सत्यसंकल्प प्रभु मेरा मनोरथ पूर्ण करें॥ २२॥ पतिदेव! मैं अपने पुत्रोंके साथ बहुत ही दुःख भोग रही हूँ। जिससे वे शीघ्र ही मुझपर प्रसन्न हो जायँ, उनकी आराधनाकी वही विधि मुझे बतलाइये॥ २३॥

१. प्रा० पा०—द्भक्तिः परा चेति मति०।

कश्यप उवाच

एतन्मे भगवान्पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः।
यदाह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम्॥ २४

फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतः।
अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः॥ २५

सिनीवाल्यां मृदाऽऽलिप्य स्नायात् क्रोडविदीर्णया।
यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत्॥ २६

त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता।
उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय॥ २७

निर्वर्तितात्मनियमो देवमर्चेत् समाहितः।
अर्चायां स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि॥ २८

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे।
सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे॥ २९

नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च।
चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसंख्यानहेतवे॥ ३०

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः॥ ३१

नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः॥ ३२

कश्यपजीने कहा—देवि! जब मुझे सन्तानकी कामना हुई थी, तब मैंने भगवान् ब्रह्माजीसे यही बात पूछी थी। उन्होंने मुझे भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाले जिस व्रतका उपदेश किया था, वही मैं तुम्हें बतलाता हूँ॥ २४॥ फाल्गुनके शुक्लपक्षमें बारह दिनतक केवल दूध पीकर रहे और परम भक्तिसे भगवान् कमलनयनकी पूजा करे॥ २५॥ अमावस्याके दिन यदि मिल सके तो सूअरकी खोदी हुई मिट्टीसे अपना शरीर मलकर नदीमें स्नान करे। उस समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिये॥ २६॥

हे देवि! प्राणियोंको स्थान देनेकी इच्छासे वराहभगवान्‌ने रसातलसे तुम्हारा उद्धार किया था। तुम्हें मेरा नमस्कार है। तुम मेरे पापोंको नष्ट कर दो॥ २७॥ इसके बाद अपने नित्य और नैमित्तिक नियमोंको पूरा करके एकाग्रचित्तसे मूर्ति, वेदी, सूर्य, जल, अग्नि और गुरुदेवके रूपमें भगवान्‌की पूजा करे॥ २८॥ (और इस प्रकार स्तुति करे—) 'प्रभो! आप सर्वशक्तिमान् हैं। अन्तर्यामी और आराधनीय हैं। समस्त प्राणी आपमें और आप समस्त प्राणियोंमें निवास करते हैं। इसीसे आपको 'वासुदेव' कहते हैं। आप समस्त चराचर जगत् और उसके कारणके भी साक्षी हैं। भगवन्! मेरा आपको नमस्कार है॥ २९॥ आप अव्यक्त और सूक्ष्म हैं। प्रकृति और पुरुषके रूपमें भी आप ही स्थित हैं। आप चौबीस गुणोंके जाननेवाले और गुणोंकी संख्या करनेवाले सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक हैं। आपको मेरा नमस्कार है॥ ३०॥ आप वह यज्ञ हैं, जिसके प्रायणीय और उदयनीय—ये दो कर्म सिर हैं। प्रातः, मध्याह्न और सायं—ये तीन सवन ही तीन पाद हैं। चारों वेद चार सींग हैं। गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं। यह धर्ममय वृषभरूप यज्ञ वेदोंके द्वारा प्रतिपादित है और इसकी आत्मा हैं स्वयं आप! आपको मेरा नमस्कार है॥ ३१॥ आप ही लोककल्याणकारी शिव और आप ही प्रलयकारी रुद्र हैं। समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले भी आप ही हैं। आपको मेरा बार-बार नमस्कार है। आप समस्त विद्याओंके अधिपति एवं भूतोंके स्वामी हैं। आपको मेरा नमस्कार॥ ३२॥

नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय[1] जगदात्मने।
योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे॥ ३३
नमस्त आदिदेवाय साक्षिभूताय[2] ते नमः।
नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः॥ ३४
नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे॥ ३५
त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते॥ ३६
अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः[3]।
स्पृहयन्त इवामोदं भगवान्मे प्रसीदताम्॥ ३७
एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम्।
अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः॥ ३८
अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नपयेद् विभुम्।
वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद् द्वादशाक्षरविद्यया॥ ३९
शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति।
ससर्पिः सगुडं दत्त्वा जुहुयान्मूलविद्यया॥ ४०
निवेदितं तद् भक्ताय दद्याद् भुञ्जीत वा स्वयम्।
दत्त्वाऽऽचमनमर्चित्वा ताम्बूलं च निवेदयेत्॥ ४१
जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम्।
कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद् दण्डवन्मुदा॥ ४२
कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्वासयेत् ततः।
द्व्यवरान्भोजयेद् विप्रान्पायसेन यथोचितम्॥ ४३

आप ही सबके प्राण और आप ही इस जगत्‌के स्वरूप भी हैं। आप योगके कारण तो हैं ही स्वयं योग और उससे मिलनेवाला ऐश्वर्य भी आप ही हैं। हे हिरण्यगर्भ! आपके लिये मेरे नमस्कार॥ ३३॥ आप ही आदिदेव हैं। सबके साक्षी हैं। आप ही नरनारायण ऋषिके रूपमें प्रकट स्वयं भगवान् हैं। आपको मेरा नमस्कार॥ ३४॥ आपका शरीर मरकतमणिके समान साँवला है। समस्त सम्पत्ति और सौन्दर्यकी देवी लक्ष्मी आपकी सेविका हैं। पीताम्बरधारी केशव! आपको मेरा बार-बार नमस्कार॥ ३५॥ आप सब प्रकारके वर देनेवाले हैं। वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। तथा जीवोंके एकमात्र वरणीय हैं। यही कारण है कि धीर विवेकी पुरुष अपने कल्याणके लिये आपके चरणोंकी रजकी उपासना करते हैं॥ ३६॥ जिनके चरणकमलोंकी सुगन्ध प्राप्त करनेकी लालसासे समस्त देवता और स्वयं लक्ष्मीजी भी सेवामें लगी रहती हैं, वे भगवान् मुझपर प्रसन्न हों'॥ ३७॥

प्रिये! भगवान् हृषीकेशका आवाहन पहले ही कर ले। फिर इन मन्त्रोंके द्वारा पाद्य, आचमन आदिके साथ श्रद्धापूर्वक मन लगाकर पूजा करे॥ ३८॥ गन्ध, माला आदिसे पूजा करके भगवान्‌को दूधसे स्नान करावे। उसके बाद वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पाद्य, आचमन, गन्ध, धूप आदिके द्वारा द्वादशाक्षर मन्त्रसे भगवान्‌की पूजा करे॥ ३९॥ यदि सामर्थ्य हो तो दूधमें पकाये हुए तथा घी और गुड़ मिले हुए शालिके चावलका नैवेद्य लगावे और उसीका द्वादशाक्षर मन्त्रसे हवन करे॥ ४०॥ उस नैवेद्यको भगवान्‌के भक्तोंमें बाँट दे या स्वयं पा ले। आचमन और पूजाके बाद ताम्बूल निवेदन करे॥ ४१॥ एक सौ आठ बार द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करे और स्तुतियोंके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करे। प्रदक्षिणा करके बड़े प्रेम और आनन्दसे भूमिपर लोटकर दण्डवत्-प्रणाम करे॥ ४२॥ निर्माल्यको सिरसे लगाकर देवताका विसर्जन करे। कम-से-कम दो ब्राह्मणोंको यथोचित रीतिसे खीरका भोजन करावे॥ ४३॥

१. प्रा० पा०—देवाय। २. प्रा० पा०—देवदेवाय ते। ३. प्रा० पा०—यत्पा०।

भुञ्जीत तैरनुज्ञातः शेषं सेष्टः सभाजितैः।
ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वोभूते प्रथमेऽहनि॥ ४४

स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः।
पयसा स्नापयित्वार्चेद् यावद्व्रतसमापनम्॥ ४५

दक्षिणा आदिसे उनका सत्कार करे। इसके बाद उनसे आज्ञा लेकर अपने इष्ट-मित्रोंके साथ बचे हुए अन्नको स्वयं ग्रहण करे। उस दिन ब्रह्मचर्यसे रहे और दूसरे दिन प्रातःकाल ही स्नान आदि करके पवित्रतापूर्वक पूर्वोक्त विधिसे एकाग्र होकर भगवान्‌की पूजा करे। इस प्रकार जबतक व्रत समाप्त न हो, तबतक दूधसे स्नान कराकर प्रतिदिन भगवान्‌की पूजा करे॥ ४४-४५॥

पयोभक्षो व्रतमिदं चरेद् विष्ण्वर्चनादृतः।
पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत्॥ ४६

भगवान्‌की पूजामें आदर-बुद्धि रखते हुए केवल पयोव्रती रहकर यह व्रत करना चाहिये। पूर्ववत् प्रतिदिन हवन और ब्राह्मण भोजन भी कराना चाहिये॥ ४६॥

एवं त्वहरहः कुर्याद् द्वादशाहं पयोव्रतः।
हरेराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम्॥ ४७

इस प्रकार पयोव्रती रहकर बारह दिनतक प्रतिदिन भगवान्‌की आराधना, होम और पूजा करे तथा ब्राह्मण-भोजन कराता रहे॥ ४७॥

प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशी।
ब्रह्मचर्यमधःस्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत्॥ ४८

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशीपर्यन्त ब्रह्मचर्यसे रहे, पृथ्वीपर शयन करे और तीनों समय स्नान करे॥ ४८॥

वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः॥ ४९

झूठ न बोले। पापियोंसे बात न करे। पापकी बात न करे। छोटे-बड़े सब प्रकारके भोगोंका त्याग कर दे। किसी भी प्राणीको किसी प्रकारसे कष्ट न पहुँचावे। भगवान्‌की आराधनामें लगा ही रहे॥ ४९॥

त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः।
कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः॥ ५०

त्रयोदशीके दिन विधि जाननेवाले ब्राह्मणोंके द्वारा शास्त्रोक्त विधिसे भगवान् विष्णुको पंचामृतस्नान करावे॥ ५०॥

पूजां च महतीं कुर्याद् वित्तशाठ्यविवर्जितः।
चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे॥ ५१

उस दिन धनका संकोच छोड़कर भगवान्‌की बहुत बड़ी पूजा करनी चाहिये और दूधमें चरु (खीर) पकाकर विष्णुभगवान्‌को अर्पित करना चाहिये॥ ५१॥

शृतेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः।
नैवेद्यं चातिगुणवद् दद्यात्पुरुषतुष्टिदम्॥ ५२

अत्यन्त एकाग्रचित्तसे उसी पकाये हुए चरुके द्वारा भगवान्‌का यजन करना चाहिये और उनको प्रसन्न करनेवाला गुणयुक्त तथा स्वादिष्ट नैवेद्य अर्पण करना चाहिये॥ ५२॥

आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः।
तोषयेदृत्विजश्चैव तद्विद्ध्याराधनं हरेः॥ ५३

इसके बाद ज्ञानसम्पन्न आचार्य और ऋत्विजोंको वस्त्र, आभूषण और गौ आदि देकर सन्तुष्ट करना चाहिये। प्रिये! इसे भी भगवान्‌की ही आराधना समझो॥ ५३॥

भोजयेत् तान् गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते।
अन्यांश्च ब्राह्मणाञ्छक्त्या[१] ये च तत्र समागताः॥ ५४

प्रिये! आचार्य और ऋत्विजोंको शुद्ध, सात्त्विक और गुणयुक्त भोजन कराना ही चाहिये; दूसरे ब्राह्मण और आये हुए अतिथियोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार भोजन कराना चाहिये॥ ५४॥

दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः।
अन्नाद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत्समुपागतान्॥ ५५

भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनान्धकृपणेषु[२] च।
विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान्भुञ्जीत सह बन्धुभिः॥ ५६

गुरु और ऋत्विजोंको यथायोग्य दक्षिणा देनी चाहिये। जो चाण्डाल आदि अपने-आप वहाँ आ गये हों, उन सभीको तथा दीन, अंधे और असमर्थ पुरुषोंको भी अन्न आदि देकर सन्तुष्ट करना चाहिये। जब सब लोग खा चुकें, तब उन सबके सत्कारको भगवान्‌की प्रसन्नताका साधन समझते हुए अपने भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं भोजन करे॥ ५५-५६॥

नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः।
कारयेत्तत्कथाभिश्च[३] पूजां भगवतोऽन्वहम्॥ ५७

प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशीतक प्रतिदिन नाच-गान, बाजे-गाजे, स्तुति, स्वस्तिवाचन और भगवत्कथाओंसे भगवान्‌की पूजा करे-करावे॥ ५७॥

एतत्पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम्।
पितामहेनाभिहितं मया[४] ते समुदाहृतम्॥ ५८

प्रिये! यह भगवान्‌की श्रेष्ठ आराधना है। इसका नाम है 'पयोव्रत'। ब्रह्माजीने मुझे जैसा बताया था, वैसा ही मैंने तुम्हें बता दिया॥ ५८॥

त्वं चानेन महाभागे सम्यक्चीर्णेन केशवम्।
आत्मना शुद्धभावेन नियतात्मा[५] भजाव्ययम्॥ ५९

देवि! तुम भाग्यवती हो। अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके शुद्ध भाव एवं श्रद्धापूर्ण चित्तसे इस व्रतका भलीभाँति अनुष्ठान करो और इसके द्वारा अविनाशी भगवान्‌की आराधना करो॥ ५९॥

अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम्।
तपःसारमिदं भद्रे दानं चेश्वरतर्पणम्॥ ६०

कल्याणी! यह व्रत भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेवाला है, इसलिये इसका नाम है 'सर्वयज्ञ' और 'सर्वव्रत'। यह समस्त तपस्याओंका सार और मुख्य दान है॥ ६०॥

त एव नियमाः साक्षात्त एव च यमोत्तमाः।
तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः॥ ६१

जिनसे भगवान् प्रसन्न हों—वे ही सच्चे नियम हैं, वे ही उत्तम यम हैं, वे ही वास्तवमें तपस्या, दान, व्रत और यज्ञ हैं॥ ६१॥

तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धया चर।
भगवान्परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति॥ ६२

इसलिये देवि! संयम और श्रद्धासे तुम इस व्रतका अनुष्ठान करो। भगवान् शीघ्र ही तुमपर प्रसन्न होंगे और तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे॥ ६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽदिति-
पयोव्रतकथनं नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

१. प्रा० पा०—मुक्तान्। २. प्रा० पा०—कृपणादिषु। ३. प्रा० पा०—'त्सत्कथा०। ४. प्रा० पा०—मम। ५. प्रा० पा०—भजनीयं।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

भगवान्‌का प्रकट होकर अदितिको वर देना

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता सादिती राजन्स्वभर्त्रा कश्यपेन वै।
अन्वतिष्ठद् व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता॥ १
चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम्।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान्मनसा बुद्धिसारथिः॥ २
मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम्॥ ३
तस्याः प्रादुरभूत्तात भगवानादिपूरुषः।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः॥ ४
तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम्।
ननाम भुवि कायेन दण्डवत् प्रीतिविह्वला॥ ५

सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता
नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा।
बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृति-
स्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः॥ ६
प्रीत्या शनैर्गद्‌गदया गिरा हरिं
तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा
रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्॥ ७

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपने पतिदेव महर्षि कश्यपजीका उपदेश प्राप्त करके अदितिने बड़ी सावधानीसे बारह दिनतक इस व्रतका अनुष्ठान किया॥ १॥ बुद्धिको सारथि बनाकर मनकी लगामसे उसने इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़ोंको अपने वशमें कर लिया और एकनिष्ठ बुद्धिसे वह पुरुषोत्तम भगवान्‌का चिन्तन करती रही॥ २॥ उसने एकाग्र बुद्धिसे अपने मनको सर्वात्मा भगवान् वासुदेवमें पूर्णरूपसे लगाकर पयोव्रतका अनुष्ठान किया॥ ३॥ तब पुरुषोत्तमभगवान् उसके सामने प्रकट हुए। परीक्षित्! वे पीताम्बर धारण किये हुए थे, चार भुजाएँ थीं और शंख, चक्र, गदा लिये हुए थे॥ ४॥ अपने नेत्रोंके सामने भगवान्‌को सहसा प्रकट हुए देख अदिति सादर उठ खड़ी हुई और फिर प्रेमसे विह्वल होकर उसने पृथ्वीपर लोटकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया॥ ५॥ फिर उठकर, हाथ जोड़, भगवान्‌की स्तुति करनेकी चेष्टा की; परन्तु नेत्रोंमें आनन्दके आँसू उमड़ आये, उससे बोला न गया। सारा शरीर पुलकित हो रहा था, दर्शनके आनन्दोल्लाससे उसके अंगोंमें कम्प होने लगा था, वह चुपचाप खड़ी रही॥ ६॥ परीक्षित्! देवी अदिति अपने प्रेमपूर्ण नेत्रोंसे लक्ष्मीपति, विश्वपति, यज्ञेश्वर-भगवान्‌को इस प्रकार देख रही थी, मानो वह उन्हें पी जायगी। फिर बड़े प्रेमसे, गद्‌गद वाणीसे, धीरे-धीरे उसने भगवान्‌की स्तुति की॥ ७॥

अदितिने कहा—आप यज्ञके स्वामी हैं और स्वयं यज्ञ भी आप ही हैं। अच्युत! आपके चरण-कमलोंका आश्रय लेकर लोग भवसागरसे तर जाते हैं। आपके यशकीर्तनका श्रवण भी संसारसे तारनेवाला है। आपके नामोंके श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है। आदिपुरुष! जो आपकी शरणमें आ जाता है, उसकी सारी विपत्तियोंका आप नाश कर देते हैं। भगवन्! आप दीनोंके स्वामी हैं। आप हमारा कल्याण कीजिये॥ ८॥

विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते॥ ९

आपु: परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
द्यौर्भूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः॥ १०

आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं और विश्वरूप भी आप ही हैं। अनन्त होनेपर भी स्वच्छन्दतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं। आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधके द्वारा आप हृदयके अन्धकारको नष्ट करते रहते हैं। भगवन्! मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ ९॥ प्रभो! अनन्त! जब आप प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी दीर्घ आयु, उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु, अतुलित धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, योगकी समस्त सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और केवल ज्ञानतक प्राप्त हो जाता है। फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ १०॥

श्रीशुक उवाच

अदित्यैवं स्तुतो राजन्भगवान्पुष्करेक्षणः।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत॥ ११

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब अदितिने इस प्रकार कमलनयनभगवान्‌की स्तुति की, तब समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहकर उनकी गति-विधि जाननेवाले भगवान्‌ने यह बात कही॥ ११॥

श्रीभगवानुवाच

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम्।
यत् सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः॥ १२

तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान्।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम्॥ १३

इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम्।
स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः॥ १४

आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशः श्रियः।
नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि॥ १५

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा
अपारणीया इति देवि मे मतिः।
यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता
न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति॥ १६

श्रीभगवान्‌ने कहा—देवताओंकी जननी अदिति! तुम्हारी चिरकालीन अभिलाषाको मैं जानता हूँ। शत्रुओंने तुम्हारे पुत्रोंकी सम्पत्ति छीन ली है, उन्हें उनके लोक (स्वर्ग)-से खदेड़ दिया है॥ १२॥ तुम चाहती हो कि युद्धमें तुम्हारे पुत्र उन मतवाले और बली असुरोंको जीतकर विजयलक्ष्मी प्राप्त करें, तब तुम उनके साथ भगवान्‌की उपासना करो॥ १३॥ तुम्हारी इच्छा यह भी है कि तुम्हारे इन्द्रादि पुत्र जब शत्रुओंको मार डालें, तब तुम उनकी रोती हुई दुःखी स्त्रियोंको अपनी आँखों देख सको॥ १४॥ अदिति! तुम चाहती हो कि तुम्हारे पुत्र धन और शक्तिसे समृद्ध हो जायँ, उनकी कीर्ति और ऐश्वर्य उन्हें फिरसे प्राप्त हो जायँ तथा वे स्वर्गपर अधिकार जमाकर पूर्ववत् विहार करें॥ १५॥ परन्तु देवि! वे असुरसेनापति इस समय जीते नहीं जा सकते, ऐसा मेरा निश्चय है; क्योंकि ईश्वर और ब्राह्मण इस समय उनके अनुकूल हैं। इस समय उनके साथ यदि लड़ाई छेड़ी जायगी, तो उससे सुख मिलनेकी आशा नहीं है॥ १६॥

अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः
सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते।
ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा
श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात्॥ १७
त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये
पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान्
गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः॥ १८

उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम्।
मां च भावयती पत्यावेवंरूपमवस्थितम्॥ १९
नैतत् परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम्॥ २०

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत।
अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः॥ २१
उपाधावत् पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत्।
स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत॥ २२
प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः।
सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसंभृतम्।
समाहितमना राजन्दारुण्यग्निं यथानिलः॥ २३
अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम्।
हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः॥ २४

ब्रह्मोवाच

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः॥ २५

फिर भी देवि! तुम्हारे इस व्रतके अनुष्ठानसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिये मुझे इस सम्बन्धमें कोई-न-कोई उपाय सोचना ही पड़ेगा। क्योंकि मेरी आराधना व्यर्थ तो होनी नहीं चाहिये। उससे श्रद्धाके अनुसार फल अवश्य मिलता है॥ १७॥

तुमने अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये ही विधि-पूर्वक पयोव्रतसे मेरी पूजा एवं स्तुति की है। अतः मैं अंशरूपसे कश्यपके वीर्यमें प्रवेश करूँगा और तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारी सन्तानकी रक्षा करूँगा॥ १८॥

कल्याणी! तुम अपने पति कश्यपमें मुझे इसी रूपमें स्थित देखो और उन निष्पाप प्रजापतिकी सेवा करो॥ १९॥ देवि! देखो, किसीके पूछनेपर भी यह बात दूसरेको मत बतलाना। देवताओंका रहस्य जितना गुप्त रहता है, उतना ही सफल होता है॥ २०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इतना कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। उस समय अदिति यह जानकर कि स्वयं भगवान् मेरे गर्भसे जन्म लेंगे, अपनी कृतकृत्यताका अनुभव करने लगी। भला, यह कितनी दुर्लभ बात है! वह बड़े प्रेमसे अपने पतिदेव कश्यपकी सेवा करने लगी। कश्यपजी सत्यदर्शी थे, उनके नेत्रोंसे कोई बात छिपी नहीं रहती थी। अपने समाधि-योगसे उन्होंने जान लिया कि भगवान्का अंश मेरे अंदर प्रविष्ट हो गया है। जैसे वायु काठमें अग्निका आधान करती है, वैसे ही कश्यपजीने समाहित चित्तसे अपनी तपस्याके द्वारा चिर-संचित वीर्यका अदितिमें आधान किया॥ २१—२३॥

जब ब्रह्माजीको यह बात मालूम हुई कि अदितिके गर्भमें तो स्वयं अविनाशी भगवान् आये हैं, तब वे भगवान्के रहस्यमय नामोंसे उनकी स्तुति करने लगे॥ २४॥

ब्रह्माजीने कहा—समग्र कीर्तिके आश्रय भगवन्! आपकी जय हो। अनन्त शक्तियोंके अधिष्ठान! आपके चरणोंमें नमस्कार है। ब्रह्मण्यदेव! त्रिगुणोंके नियामक! आपके चरणोंमें मेरे बार-बार प्रणाम हैं॥ २५॥

नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे।
त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे॥ २६

त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्य-
मनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः।
कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं
स्त्रोतो यथान्तःपतितं गभीरम्॥ २७

त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां
प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां
परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु॥ २८

पृश्निके पुत्ररूपमें उत्पन्न होनेवाले! वेदोंके समस्त ज्ञानको अपने अंदर रखनेवाले प्रभो! वास्तवमें आप ही सबके विधाता हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। ये तीनों लोक आपकी नाभिमें स्थित हैं। तीनों लोकोंसे परे वैकुण्ठमें आप निवास करते हैं। जीवोंके अन्तःकरणमें आप सर्वदा विराजमान रहते हैं। ऐसे सर्वव्यापक विष्णुको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २६॥ प्रभो! आप ही संसारके आदि, अन्त और इसलिये मध्य भी हैं। यही कारण है कि वेद अनन्तशक्ति पुरुषके रूपमें आपका वर्णन करते हैं। जैसे गहरा स्रोत अपने भीतर पड़े हुए तिनकेको बहा ले जाता है, वैसे ही आप कालरूपसे संसारका धाराप्रवाह संचालन करते रहते हैं॥ २७॥ आप चराचर प्रजा और प्रजापतियोंको भी उत्पन्न करनेवाले मूल कारण हैं। देवाधिदेव! जैसे जलमें डूबते हुएके लिये नौका ही सहारा है, वैसे ही स्वर्गसे भगाये हुए देवताओंके लिये एकमात्र आप ही आश्रय हैं॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

वामनभगवान्‌का प्रकट होकर राजा बलिकी यज्ञशालामें पधारना

श्रीशुक उवाच

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम्।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः॥ १

श्यामावदातो झषराजकुण्डल-
त्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान्।
श्रीवत्सवक्षा वलयाङ्गदोल्लस-
त्किरीटकाञ्चीगुणचारुनूपुरः॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार जब ब्रह्माजीने भगवान्‌की शक्ति और लीलाकी स्तुति की, तब जन्म-मृत्युरहित भगवान् अदितिके सामने प्रकट हुए। भगवान्‌के चार भुजाएँ थीं; उनमें वे शंख, गदा, कमल और चक्र धारण किये हुए थे। कमलके समान कोमल और बड़े-बड़े नेत्र थे। पीताम्बर शोभायमान हो रहा था॥ १॥ विशुद्ध श्यामवर्णका शरीर था। मकराकृति कुण्डलोंकी कान्तिसे मुखकमलकी शोभा और भी उल्लसित हो रही थी। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, हाथोंमें कंगन और भुजाओंमें बाजूबंद, सिरपर किरीट, कमरमें करधनीकी लड़ियाँ और चरणोंमें सुन्दर नूपुर जगमगा रहे थे॥ २॥

मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया
विराजितः श्रीवनमालया हरिः।
प्रजापतेर्वेश्मतमः स्वरोचिषा
विनाशयन् कण्ठनिविष्टकौस्तुभः॥ ३

दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा
प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः।
द्यौरन्तरिक्षं क्षितिरग्निजिह्वा
गावो द्विजाः संजहृषुर्नगाश्च॥ ४

श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः।
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम्॥ ५

द्वादश्यां सवितातिष्ठन्मध्यंदिनगतो नृप।
विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः॥ ६

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः।
चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत्॥ ७

प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन्गन्धर्वप्रवरा जगुः।
तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्नयः॥ ८

सिद्धविद्याधरगणाः सकिम्पुरुषकिन्नराः।
चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णा भुजगोत्तमाः॥ ९

गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः।
आदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन्॥ १०

दृष्ट्वादितिस्तं निजगर्भसम्भवं
परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता।
गृहीतदेहं निजयोगमायया
प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः॥ ११

भगवान् गलेमें अपनी स्वरूपभूत वनमाला धारण किये हुए थे, जिसके चारों ओर झुंड-के-झुंड भौंरे गुंजार कर रहे थे। उनके कण्ठमें कौस्तुभमणि सुशोभित थी। भगवान्‌की अंगकान्तिसे प्रजापति कश्यपजीके घरका अन्धकार नष्ट हो गया॥ ३॥ उस समय दिशाएँ निर्मल हो गयीं। नदी और सरोवरोंका जल स्वच्छ हो गया। प्रजाके हृदयमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। सब ऋतुएँ एक साथ अपना-अपना गुण प्रकट करने लगीं। स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, देवता, गौ, द्विज और पर्वत—इन सबके हृदयमें हर्षका संचार हो गया॥ ४॥

परीक्षित्! जिस समय भगवान्‌ने जन्म ग्रहण किया, उस समय चन्द्रमा श्रवण नक्षत्रपर थे। भाद्रपद मासके शुक्लपक्षकी श्रवणनक्षत्रवाली द्वादशी थी। अभिजित् मुहूर्तमें भगवान्‌का जन्म हुआ था। सभी नक्षत्र और तारे भगवान्‌के जन्मको मंगलमय सूचित कर रहे थे॥ ५॥ परीक्षित्! जिस तिथिमें भगवान्‌का जन्म हुआ था, उसे 'विजया द्वादशी' कहते हैं। जन्मके समय सूर्य आकाशके मध्यभागमें स्थित थे॥ ६॥ भगवान्‌के अवतारके समय शंख, ढोल, मृदंग, डफ और नगाड़े आदि बाजे बजने लगे। इन तरह-तरहके बाजों और तुरहियोंकी तुमुल ध्वनि होने लगी॥ ७॥

अप्सराएँ प्रसन्न होकर नाचने लगीं। श्रेष्ठ गन्धर्व गाने लगे। मुनि, देवता, मनु, पितर और अग्नि स्तुति करने लगे॥ ८॥ सिद्ध, विद्याधर, किम्पुरुष, किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, पक्षी, मुख्य-मुख्य नागगण और देवताओंके अनुचर नाचने-गाने एवं भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे तथा उन लोगोंने अदितिके आश्रमको पुष्पोंकी वर्षासे ढक दिया॥ ९-१०॥

जब अदितिने अपने गर्भसे प्रकट हुए परम पुरुष परमात्माको देखा, तो वह अत्यन्त आश्चर्य-चकित और परमानन्दित हो गयी। प्रजापति कश्यपजी भी भगवान्‌को अपनी योगमायासे शरीर धारण किये हुए देख विस्मित हो गये और कहने लगे 'जय हो! जय हो'॥ ११॥

यत् तद् वपुर्भाति विभूषणायुधै—
रव्यक्तचिद् व्यक्तमधारयद्धरिः।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः
सम्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः॥ १२

परीक्षित्! भगवान् स्वयं अव्यक्त एवं चित्स्वरूप हैं। उन्होंने जो परम कान्तिमय आभूषण एवं आयुधोंसे युक्त वह शरीर ग्रहण किया था, उसी शरीरसे, कश्यप और अदितिके देखते-देखते वामन ब्रह्मचारीका रूप धारण कर लिया—ठीक वैसे ही, जैसे नट अपना वेष बदल ले। क्यों न हो, भगवान्की लीला तो अद्भुत है ही॥ १२॥

तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम्॥ १३

तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सवितात्रवीत्।
बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात्॥ १४

ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः।
कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः पतेः॥ १५

कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान्सप्तर्षयो ददुः।
अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः॥ १६

तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात्।
भिक्षां भगवती साक्षादुमादादम्बिका सती॥ १७

भगवान्को वामन ब्रह्मचारीके रूपमें देखकर महर्षियोंको बड़ा आनन्द हुआ। उन लोगोंने कश्यप प्रजापतिको आगे करके उनके जातकर्म आदि संस्कार करवाये॥ १३॥ जब उनका उपनयन-संस्कार होने लगा, तब गायत्रीके अधिष्ठातृ-देवता स्वयं सविताने उन्हें गायत्रीका उपदेश किया। देवगुरु बृहस्पतिजीने यज्ञोपवीत और कश्यपने मेखला दी॥ १४॥ पृथ्वीने कृष्णमृगका चर्म, वनके स्वामी चन्द्रमाने दण्ड, माता अदितिने कौपीन और कटिवस्त्र एवं आकाशके अभिमानी देवताने वामनवेषधारी भगवान्को छत्र दिया॥ १५॥ परीक्षित्! अविनाशी प्रभुको ब्रह्माजीने कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुश और सरस्वतीने रुद्राक्षकी माला समर्पित की॥ १६॥ इस रीतिसे जब वामन-भगवान्का उपनयन-संस्कार हुआ, तब यक्षराज कुबेरने उनको भिक्षाका पात्र और सतीशिरोमणि जगज्जननी स्वयं भगवती उमाने भिक्षा दी॥ १७॥

स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां संभावितो वटुः।
ब्रह्मर्षिगणसञ्जुष्टामत्यरोचत मारिषः॥ १८

समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परिसमूहनम्।
परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद् द्विजः॥ १९

इस प्रकार जब सब लोगोंने वटुवेषधारी भगवान्का सम्मान किया, तब वे ब्रह्मर्षियोंसे भरी हुई सभामें अपने ब्रह्मतेजके कारण अत्यन्त शोभायमान हुए॥ १८॥ इसके बाद भगवान्ने स्थापित और प्रज्वलित अग्निका कुशोंसे परिसमूहन और परिस्तरण करके पूजा की और समिधाओंसे हवन किया॥ १९॥

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं
बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः।
जगाम तत्राखिलसारसंभृतो
भारेण गां सन्नमयन्पदे पदे॥ २०

परीक्षित्! उसी समय भगवान्ने सुना कि सब प्रकारकी सामग्रियोंसे सम्पन्न यशस्वी बलि भृगुवंशी ब्राह्मणोंके आदेशानुसार बहुत-से अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं, तब उन्होंने वहाँके लिये यात्रा की। भगवान् समस्त शक्तियोंसे युक्त हैं। उनके चलनेके समय उनके भारसे पृथ्वी पग-पगपर झुकने लगी॥ २०॥

तं नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षताराददुदितं यथा रविम्॥ २१

त ऋत्विजो यजमानः सदस्या
हतत्विषो वामनतेजसा नृप।
सूर्यः किलायात्युत वा विभावसुः
सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः॥ २२

इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा
वितर्क्यमाणो भगवान्स वामनः।
छत्रं सदण्डं सजलं कमण्डलुं
विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम्॥ २३

मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम्।
जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम्॥ २४

प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः।
प्रत्यगृह्णन्समुत्थाय संक्षिप्तास्तस्य तेजसा॥ २५

यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम्।
रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत्॥ २६

स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भगवतो बलिः।
अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गमनोरमम्॥ २७

तत्पादशौचं जनकल्मषापहं
स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात् सुमङ्गलम्।
यद् देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलि-
र्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या॥ २८

नर्मदा नदीके उत्तर तटपर 'भृगुकच्छ' नामका एक बड़ा सुन्दर स्थान है। वहीं बलिके भृगुवंशी ऋत्विज् श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करा रहे थे। उन लोगोंने दूरसे ही वामनभगवान्‌को देखा, तो उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो साक्षात् सूर्यदेवका उदय हो रहा हो॥ २१॥ परीक्षित्! वामनभगवान्‌के तेजसे ऋत्विज्, यजमान और सदस्य—सब-के-सब निस्तेज हो गये। वे लोग सोचने लगे कि कहीं यज्ञ देखनेके लिये सूर्य, अग्नि अथवा सनत्कुमार तो नहीं आ रहे हैं॥ २२॥ भृगुके पुत्र शुक्राचार्य आदि अपने शिष्योंके साथ इसी प्रकार अनेकों कल्पनाएँ कर रहे थे। उसी समय हाथमें छत्र, दण्ड और जलसे भरा कमण्डलु लिये हुए वामनभगवान्‌ने अश्वमेध यज्ञके मण्डपमें प्रवेश किया॥ २३॥ वे कमरमें मूँजकी मेखला और गलेमें यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। बगलमें मृगचर्म था और सिरपर जटा थी। इसी प्रकार बौने ब्राह्मणके वेषमें अपनी मायासे ब्रह्मचारी बने हुए भगवान्‌ने जब उनके यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया, तब भृगुवंशी ब्राह्मण उन्हें देखकर अपने शिष्योंके साथ उनके तेजसे प्रभावित एवं निष्प्रभ हो गये। वे सब-के-सब अग्नियोंके साथ उठ खड़े हुए और उन्होंने वामनभगवान्‌का स्वागत-सत्कार किया॥ २४-२५॥ भगवान्‌के लघुरूपके अनुरूप सारे अंग छोटे-छोटे बड़े ही मनोरम एवं दर्शनीय थे। उन्हें देखकर बलिको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने वामनभगवान्‌को एक उत्तम आसन दिया॥ २६॥

फिर स्वागत-वाणीसे उनका अभिनन्दन करके पाँव पखारे और संगरहित महापुरुषोंको भी अत्यन्त मनोहर लगनेवाले वामनभगवान्‌की पूजा की॥ २७॥ भगवान्‌के चरणकमलोंका धोवन परम मंगलमय है। उससे जीवोंके सारे पाप-ताप धुल जाते हैं। स्वयं देवाधिदेव चन्द्रमौलि भगवान् शंकरने अत्यन्त भक्ति-भावसे उसे अपने सिरपर धारण किया था। आज वही चरणामृत धर्मके मर्मज्ञ राजा बलिको प्राप्त हुआ। उन्होंने बड़े प्रेमसे उसे अपने मस्तकपर रखा॥ २८॥

बलिरुवाच

स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन्किं करवाम ते।
ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षान्मन्ये त्वाऽऽर्य वपुर्धरम्॥ २९
अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम्।
अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद् भवानागतो गृहान्॥ ३०
अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि
द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः।
हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो
तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव॥ ३१
यद् यद् वटो वाञ्छसि तत्प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये।
गां काञ्चनं गुणवद् धाम मृष्टं
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम्।
ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा
रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ॥ ३२

बलिने कहा—ब्राह्मणकुमार! आप भले पधारे। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आर्य! ऐसा जान पड़ता है कि बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंकी तपस्या ही स्वयं मूर्तिमान् होकर मेरे सामने आयी है॥ २९ ॥ आज आप मेरे घर पधारे, इससे मेरे पितर तृप्त हो गये। आज मेरा वंश पवित्र हो गया। आज मेरा यह यज्ञ सफल हो गया॥ ३० ॥ ब्राह्मणकुमार! आपके पाँव पखारनेसे मेरे सारे पाप धुल गये और विधिपूर्वक यज्ञ करनेसे, अग्निमें आहुति डालनेसे जो फल मिलता, वह अनायास ही मिल गया। आपके इन नन्हे-नन्हे चरणों और इनके धोवनसे पृथ्वी पवित्र हो गयी॥ ३१ ॥ ब्राह्मणकुमार! ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ चाहते हैं। परम पूज्य ब्रह्मचारीजी! आप जो चाहते हों—गाय, सोना, सामग्रियोंसे सुसज्जित घर, पवित्र अन्न, पीनेकी वस्तु, विवाहके लिये ब्राह्मणकी कन्या, सम्पत्तियोंसे भरे हुए गाँव, घोड़े, हाथी, रथ—वह सब आप मुझसे माँग लीजिये। अवश्य ही वह सब मुझसे माँग लीजिये॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
वामनप्रादुर्भावे बलिवामनसंवादेऽष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

भगवान् वामनका बलिसे तीन पग पृथ्वी माँगना, बलिका वचन देना और शुक्राचार्यजीका उन्हें रोकना

श्रीशुक उवाच

इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तं ससूनृतम्।
निशम्य भगवान्प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजा बलिके ये वचन धर्मभावसे भरे और बड़े मधुर थे। उन्हें सुनकर भगवान् वामनने बड़ी प्रसन्नतासे उनका अभिनन्दन किया और कहा॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम्।
यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः॥ २

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! आपने जो कुछ कहा, वह आपकी कुलपरम्पराके अनुरूप, धर्मभावसे परिपूर्ण, यशको बढ़ानेवाला और अत्यन्त मधुर है। क्यों न हो, परलोकहितकारी धर्मके सम्बन्धमें आप भृगुपुत्र शुक्राचार्यको परम प्रमाण जो मानते हैं। साथ ही अपने कुलवृद्ध पितामह परम शान्त प्रह्लादजीकी आज्ञा भी तो आप वैसे ही मानते हैं॥ २॥

न ह्येतस्मिन्कुले कश्चिन्निःसत्त्वः कृपणः पुमान्।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वादाता द्विजातये॥ ३

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः
पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृपाः।
युष्मत्कुले यद्यशसामलेन
प्रह्लाद उद्भाति यथोडुपः खे॥ ४

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम्।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः॥ ५

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतम्।
नात्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन्॥ ६

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा।
हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः॥ ७

तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत्।
चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः॥ ८

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि परागदृशः॥ ९

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीर-
माधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेह-
स्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः॥ १०

आपकी वंशपरम्परामें कोई धैर्यहीन अथवा कृपण पुरुष कभी हुआ ही नहीं। ऐसा भी कोई नहीं हुआ, जिसने ब्राह्मणको कभी दान न दिया हो अथवा जो एक बार किसीको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके बादमें मुकर गया हो॥ ३॥ दानके अवसरपर याचकोंकी याचना सुनकर और युद्धके अवसरपर शत्रुके ललकारनेपर उनकी ओरसे मुँह मोड़ लेनेवाला कायर आपके वंशमें कोई भी नहीं हुआ। क्यों न हो, आपकी कुलपरम्परामें प्रह्लाद अपने निर्मल यशसे वैसे ही शोभायमान होते हैं, जैसे आकाशमें चन्द्रमा॥ ४॥ आपके कुलमें ही हिरण्याक्ष-जैसे वीरका जन्म हुआ था। वह वीर जब हाथमें गदा लेकर अकेला ही दिग्विजयके लिये निकला, तब सारी पृथ्वीमें घूमनेपर भी उसे अपनी जोड़का कोई वीर न मिला॥ ५॥ जब विष्णुभगवान् जलमेंसे पृथ्वीका उद्धार कर रहे थे, तब वह उनके सामने आया और बड़ी कठिनाईसे उन्होंने उसपर विजय प्राप्त की। परन्तु उसके बहुत बाद भी उन्हें बार-बार हिरण्याक्षकी शक्ति और बलका स्मरण हो आया करता था और उसे जीत लेनेपर भी वे अपनेको विजयी नहीं समझते थे॥ ६॥ जब हिरण्याक्षके भाई हिरण्यकशिपुको उसके वधका वृत्तान्त मालूम हुआ, तब वह अपने भाईका वध करनेवालेको मार डालनेके लिये क्रोध करके भगवान्‌के निवासस्थान वैकुण्ठधाममें पहुँचा॥ ७॥

विष्णुभगवान् माया रचनेवालोंमें सबसे बड़े हैं और समयको खूब पहचानते हैं। जब उन्होंने देखा कि हिरण्यकशिपु तो हाथमें शूल लेकर कालकी भाँति मेरे ही ऊपर धावा कर रहा है, तब उन्होंने विचार किया॥ ८॥ 'जैसे संसारके प्राणियोंके पीछे मृत्यु लगी रहती है—वैसे ही मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, वहीं-वहीं यह मेरा पीछा करेगा। इसलिये मैं इसके हृदयमें प्रवेश कर जाऊँ, जिससे यह मुझे देख न सके; क्योंकि यह तो बहिर्मुख है, बाहरकी वस्तुएँ ही देखता है॥ ९॥ असुरशिरोमणे! जिस समय हिरण्यकशिपु उनपर झपट रहा था, उसी समय ऐसा निश्चय करके डरसे काँपते हुए विष्णुभगवान्‌ने अपने शरीरको सूक्ष्म बना लिया और उसके प्राणोंके द्वारा नासिकामेंसे होकर हृदयमें जा बैठे॥ १०॥

स तन्निकेतं परिमृश्य शून्य-
मपश्यमानः कुपितो ननाद।
क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान्समुद्रान्
विष्णुं विचिन्वन् न ददर्श वीरः॥ ११

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत्।
भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान्॥ १२

वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम्।
अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः॥ १३

पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान् द्विजवत्सलः।
स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात् स याचितः॥ १४

भवानाचरितान्धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः।
ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः॥ १५

तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात्।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमितानि पदा मम॥ १६

नान्यत् ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात्।
नैनः प्राप्नोति वै विद्वान्यावदर्थप्रतिग्रहः॥ १७

बलिरुवाच

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसंमताः।
त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा॥ १८

मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम्॥ १९

हिरण्यकशिपुने उनके लोकको भलीभाँति छान डाला, परन्तु उनका कहीं पता न चला। इसपर क्रोधित होकर वह सिंहनाद करने लगा। उस वीरने पृथ्वी, स्वर्ग, दिशा, आकाश, पाताल और समुद्र—सब कहीं विष्णुभगवान्‌को ढूँढ़ा, परन्तु वे कहीं भी उसे दिखायी न दिये॥ ११॥ उनको कहीं न देखकर वह कहने लगा—मैंने सारा जगत् छान डाला, परन्तु वह मिला नहीं। अवश्य ही वह भ्रातृघाती उस लोकमें चला गया, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता॥ १२॥ बस, अब उससे वैरभाव रखनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वैर तो देहके साथ ही समाप्त हो जाता है। क्रोधका कारण अज्ञान है और अहंकारसे उसकी वृद्धि होती है॥ १३॥ राजन्! आपके पिता प्रह्लादनन्दन विरोचन बड़े ही ब्राह्मणभक्त थे। यहाँतक कि उनके शत्रु देवताओंने ब्राह्मणोंका वेष बनाकर उनसे उनकी आयुका दान माँगा और उन्होंने ब्राह्मणोंके छलको जानते हुए भी अपनी आयु दे डाली॥ १४॥ आप भी उसी धर्मका आचरण करते हैं, जिसका शुक्राचार्य आदि गृहस्थ ब्राह्मण, आपके पूर्वज प्रह्लाद और दूसरे यशस्वी वीरोंने पालन किया है॥ १५॥ दैत्येन्द्र! आप मुँहमाँगी वस्तु देनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। इसीसे मैं आपसे थोड़ी-सी पृथ्वी—केवल अपने पैरोंसे तीन डग माँगता हूँ॥ १६॥ माना कि आप सारे जगत्‌के स्वामी और बड़े उदार हैं, फिर भी मैं आपसे इससे अधिक नहीं चाहता। विद्वान् पुरुषको केवल अपनी आवश्यकताके अनुसार ही दान स्वीकार करना चाहिये। इससे वह प्रतिग्रहजन्य पापसे बच जाता है॥ १७॥

राजा बलिने कहा—ब्राह्मणकुमार! तुम्हारी बातें तो वृद्धों-जैसी हैं, परन्तु तुम्हारी बुद्धि अभी बच्चोंकी-सी ही है। अभी तुम हो भी तो बालक ही न, इसीसे अपना हानि-लाभ नहीं समझ रहे हो॥ १८॥ मैं तीनों लोकोंका एकमात्र अधिपति हूँ और द्वीप-का-द्वीप दे सकता हूँ। जो मुझे अपनी वाणीसे प्रसन्न कर ले और मुझसे केवल तीन डग भूमि माँगे—वह भी क्या बुद्धिमान् कहा जा सकता है?॥ १९॥

न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।
तस्माद् वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे॥ २०

ब्रह्मचारीजी! जो एक बार कुछ माँगनेके लिये मेरे पास आ गया, उसे फिर कभी किसीसे कुछ माँगनेकी आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये। अत: अपनी जीविका चलानेके लिये तुम्हें जितनी भूमिकी आवश्यकता हो, उतनी मुझसे माँग लो॥ २०॥

श्रीभगवानुवाच

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम्।
न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप॥ २१

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! संसारके सब-के-सब प्यारे विषय एक मनुष्यकी कामनाओंको भी पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हैं, यदि वह अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला—सन्तोषी न हो॥ २१॥

त्रिभिः क्रमैरसंतुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते।
नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया॥ २२

जो तीन पग भूमिसे सन्तोष नहीं कर लेता, उसे नौ वर्षोंसे युक्त एक द्वीप भी दे दिया जाय तो भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि उसके मनमें सातों द्वीप पानेकी इच्छा बनी ही रहेगी॥ २२॥

सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः।
अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम्॥ २३

मैंने सुना है कि पृथु, गय आदि नरेश सातों द्वीपोंके अधिपति थे; परन्तु उतने धन और भोगकी सामग्रियोंके मिलनेपर भी वे तृष्णाका पार न पा सके॥ २३॥

यदृच्छयोपपन्नेन संतुष्टो वर्तते सुखम्।
नासंतुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः॥ २४

जो कुछ प्रारब्धसे मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट हो रहनेवाला पुरुष अपना जीवन सुखसे व्यतीत करता है। परन्तु अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला तीनों लोकोंका राज्य पानेपर भी दु:खी ही रहता है। क्योंकि उसके हृदयमें असन्तोषकी आग धधकती रहती है॥ २४॥

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसंतोषोऽर्थकामयोः।
यदृच्छयोपपन्नेन संतोषो मुक्तये स्मृतः॥ २५

धन और भोगोंसे सन्तोष न होना ही जीवके जन्म-मृत्युके चक्करमें गिरनेका कारण है। तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तोष कर लेना मुक्तिका कारण है॥ २५॥

यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते।
तत् प्रशाम्यत्यसंतोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः॥ २६

जो ब्राह्मण स्वयंप्राप्त वस्तुसे ही सन्तुष्ट हो रहता है, उसके तेजकी वृद्धि होती है। उसके असन्तोषी हो जानेपर उसका तेज वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे जलसे अग्नि॥ २६॥

तस्मात् त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद् वरदर्षभात्।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम्॥ २७

इसमें सन्देह नहीं कि आप मुँहमाँगी वस्तु देनेवालोंमें शिरोमणि हैं। इसलिये मैं आपसे केवल तीन पग भूमि ही माँगता हूँ। इतनेसे ही मेरा काम बन जायगा। धन उतना ही संग्रह करना चाहिये, जितनेकी आवश्यकता हो॥ २७॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम्।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम्॥ २८

विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम्।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः॥ २९

शुक्र उवाच

एष वैरोचने साक्षाद् भगवान्विष्णुरव्ययः।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः॥ ३०

प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः॥ ३१

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम्।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः॥ ३२

त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकान्विश्वकायः क्रमिष्यति।
सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम्॥ ३३

क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः।
खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः॥ ३४

निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान्॥ ३५

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः॥ ३६

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते॥ ३७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर राजा बलि हँस पड़े। उन्होंने कहा—'अच्छी बात है; जितनी तुम्हारी इच्छा हो, उतनी ही ले लो।' यों कहकर वामनभगवान्‌को तीन पग पृथ्वीका संकल्प करनेके लिये उन्होंने जलपात्र उठाया॥ २८॥ शुक्राचार्यजी सब कुछ जानते थे। उनसे भगवान्‌की यह लीला भी छिपी नहीं थी। उन्होंने राजा बलिको पृथ्वी देनेके लिये तैयार देखकर उनसे कहा॥ २९॥

शुक्राचार्यजीने कहा—विरोचनकुमार! ये स्वयं अविनाशी भगवान् विष्णु हैं। देवताओंका काम बनानेके लिये कश्यपकी पत्नी अदितिके गर्भसे अवतीर्ण हुए हैं॥ ३०॥ तुमने यह अनर्थ न जानकर कि ये मेरा सब कुछ छीन लेंगे, इन्हें दान देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है। यह तो दैत्योंपर बहुत बड़ा अन्याय होने जा रहा है। इसे मैं ठीक नहीं समझता॥ ३१॥ स्वयं भगवान् ही अपनी योगमायासे यह ब्रह्मचारी बनकर बैठे हुए हैं। ये तुम्हारा राज्य, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज और विश्वविख्यात कीर्ति—सब कुछ तुमसे छीनकर इन्द्रको दे देंगे॥ ३२॥ ये विश्वरूप हैं। तीन पगमें तो ये सारे लोकोंको नाप लेंगे। मूर्ख! जब तुम अपना सर्वस्व ही विष्णुको दे डालोगे, तो तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसे होगा॥ ३३॥ ये विश्वव्यापक भगवान् एक पगमें पृथ्वी और दूसरे पगमें स्वर्गको नाप लेंगे। इनके विशाल शरीरसे आकाश भर जायगा। तब इनका तीसरा पग कहाँ जायगा?॥ ३४॥ तुम उसे पूरा न कर सकोगे। ऐसी दशामें मैं समझता हूँ कि प्रतिज्ञा करके पूरा न कर पानेके कारण तुम्हें नरकमें ही जाना पड़ेगा। क्योंकि तुम अपनी की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेमें सर्वथा असमर्थ होओगे॥ ३५॥ विद्वान् पुरुष उस दानकी प्रशंसा नहीं करते, जिसके बाद जीवन-निर्वाहके लिये कुछ बचे ही नहीं। जिसका जीवन-निर्वाह ठीक-ठीक चलता है—वही संसारमें दान, यज्ञ, तप और परोपकारके कर्म कर सकता है॥ ३६॥ जो मनुष्य अपने धनको पाँच भागोंमें बाँट देता है—कुछ धर्मके लिये, कुछ यशके लिये, कुछ धनकी अभिवृद्धिके लिये, कुछ भोगोंके लिये और कुछ अपने स्वजनोंके लिये—वही इस लोक और परलोक दोनोंमें ही सुख पाता है॥ ३७॥

अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम।
सत्यमोमिति यत् प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत्॥ ३८

असुरशिरोमणे! यदि तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा टूट जानेकी चिन्ता हो, तो मैं इस विषयमें तुम्हें कुछ ऋग्वेदकी श्रुतियोंका आशय सुनाता हूँ, तुम सुनो। श्रुति कहती है—'किसीको कुछ देनेकी बात स्वीकार कर लेना सत्य है और नकार जाना अर्थात् अस्वीकार कर देना असत्य है॥ ३८॥

सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते।
वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः॥ ३९

यह शरीर एक वृक्ष है और सत्य इसका फल-फूल है। परन्तु यदि वृक्ष ही न रहे तो फल-फूल कैसे रह सकते हैं? क्योंकि नकार जाना, अपनी वस्तु दूसरेको न देना, दूसरे शब्दोंमें अपना संग्रह बचाये रखना—यही शरीररूप वृक्षका मूल है॥ ३९॥

तद् यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात्।
एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः॥ ४०

जैसे जड़ न रहनेपर वृक्ष सूखकर थोड़े ही दिनोंमें गिर जाता है, उसी प्रकार यदि धन देनेसे अस्वीकार न किया जाय तो यह जीवन सूख जाता है—इसमें सन्देह नहीं॥ ४०॥

पराग् रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत् तदोमिति।
यत् किञ्चिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान्।
भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नालं कामेन चात्मने॥ ४१

'हाँ मैं दूँगा'—यह वाक्य ही धनको दूर हटा देता है। इसलिये इसका उच्चारण ही अपूर्ण अर्थात् धनसे खाली कर देनेवाला है। यही कारण है कि जो पुरुष 'हाँ मैं दूँगा'—ऐसा कहता है, वह धनसे खाली हो जाता है। जो याचकको सब कुछ देना स्वीकार कर लेता है, वह अपने लिये भोगकी कोई सामग्री नहीं रख सकता॥ ४१॥

अथैतत् पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः।
सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः॥ ४२

इसके विपरीत 'मैं नहीं दूँगा'—यह जो अस्वीकारात्मक असत्य है, वह अपने धनको सुरक्षित रखने तथा पूर्ण करनेवाला है। परन्तु ऐसा सब समय नहीं करना चाहिये। जो सबसे, सभी वस्तुओंके लिये नहीं करता रहता है, उसकी अपकीर्ति हो जाती है। वह तो जीवित रहनेपर भी मृतकके समान ही है॥ ४२॥

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥ ४३

स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिये, हास-परिहासमें, विवाहमें, कन्या आदिकी प्रशंसा करते समय, अपनी जीविकाकी रक्षाके लिये, प्राणसंकट उपस्थित होनेपर, गौ और ब्राह्मणके हितके लिये तथा किसीको मृत्युसे बचानेके लिये असत्य-भाषण भी उतना निन्दनीय नहीं है॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
वामनप्रादुर्भावे एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

अथ विंशोऽध्यायः

भगवान् वामनजीका विराट्‌रूप होकर दो ही पगसे पृथ्वी और स्वर्गको नाप लेना

श्रीशुक उवाच

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः।
तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब कुलगुरु शुक्राचार्यने इस प्रकार कहा, तब आदर्श गृहस्थ राजा बलिने एक क्षण चुप रहकर बड़ी विनय और सावधानीसे शुक्राचार्यजीके प्रति यों कहा॥ १॥

बलिरुवाच

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥ २

राजा बलिने कहा—भगवन्! आपका कहना सत्य है। गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंके लिये वही धर्म है जिससे अर्थ, काम, यश और आजीविकामें कभी किसी प्रकार बाधा न पड़े॥ २॥

स चाहं वित्तलोभेन[1] प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा॥ ३

परन्तु गुरुदेव! मैं प्रह्लादजीका पौत्र हूँ और एक बार देनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अत: अब मैं धनके लोभसे ठगकी भाँति इस ब्राह्मणसे कैसे कहूँ कि 'मैं तुम्हें नहीं दूँगा'॥ ३॥

न ह्यसत्यात् परोऽधर्म इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम्॥ ४

इस पृथ्वीने कहा है कि 'असत्यसे बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। मैं सब कुछ सहनेमें समर्थ हूँ, परन्तु झूठे मनुष्यका भार मुझसे नहीं सहा जाता'॥ ४॥

नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात्।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलम्भनात्॥ ५

मैं नरकसे, दरिद्रतासे, दु:खके समुद्रसे, अपने राज्यके नाशसे और मृत्युसे भी उतना नहीं डरता, जितना ब्राह्मणसे प्रतिज्ञा करके उसे धोखा देनेसे डरता हूँ॥ ५॥

यद् यद्धास्यति लोकेऽस्मिन्संपरेतं धनादिकम्।
तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत्॥ ६

इस संसारमें मर जानेके बाद धन आदि जो-जो वस्तुएँ साथ छोड़ देती हैं, यदि उनके द्वारा दान आदिसे ब्राह्मणोंको भी सन्तुष्ट न किया जा सका, तो उनके त्यागका लाभ ही क्या रहा?॥ ६॥

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।
दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु॥ ७

दधीचि, शिबि आदि महापुरुषोंने अपने परम प्रिय दुस्त्यज प्राणोंका दान करके भी प्राणियोंकी भलाई की है। फिर पृथ्वी आदि वस्तुओंको देनेमें सोच-विचार करनेकी क्या आवश्यकता है?॥ ७॥

यैरियं बुभुजे ब्रह्मन्दैत्येन्द्रैरनिवर्तिभिः।
तेषां कालोऽग्रसील्लोकान् न यशोऽधिगतं भुवि॥ ८

ब्रह्मन्! पहले युगमें बड़े-बड़े दैत्यराजोंने इस पृथ्वीका उपभोग किया है। पृथ्वीमें उनका सामना करनेवाला कोई नहीं था। उनके लोक और परलोकको तो काल खा गया, परन्तु उनका यश अभी पृथ्वीपर ज्यों-का-त्यों बना हुआ है॥ ८॥

---

१. प्रा० पा०—वृत्तिलोभेन।

सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः।
न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः॥ ९

मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं
यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः।
कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां
ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम्॥ १०

यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने॥ ११

यदप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम्॥ १२

एष वा उत्तमश्लोको न जिहासति यद् यशः।
हत्वा मैनां हरेद् युद्धे शयीत निहतो मया॥ १३

श्रीशुक उवाच

एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः।
शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम्॥ १४

दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद् भ्रश्यसे श्रियः॥ १५

एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान्।
वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम्॥ १६

गुरुदेव! ऐसे लोग संसारमें बहुत हैं, जो युद्धमें पीठ न दिखाकर अपने प्राणोंकी बलि चढ़ा देते हैं; परन्तु ऐसे लोग बहुत दुर्लभ हैं, जो सत्पात्रके प्राप्त होनेपर श्रद्धाके साथ धनका दान करें॥ ९॥ गुरुदेव! यदि उदार और करुणाशील पुरुष अपात्र याचककी कामना पूर्ण करके दुर्गति भोगता है, तो वह दुर्गति भी उसके लिये शोभाकी बात होती है। फिर आप-जैसे ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंको दान करनेसे दुःख प्राप्त हो तो उसके लिये क्या कहना है। इसलिये मैं इस ब्रह्मचारीकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करूँगा॥ १०॥ महर्षे! वेदविधिके जाननेवाले आपलोग बड़े आदरसे यज्ञ-यागादिके द्वारा जिनकी आराधना करते हैं—वे वरदानी विष्णु ही इस रूपमें हों अथवा कोई दूसरा हो, मैं इनकी इच्छाके अनुसार इन्हें पृथ्वीका दान करूँगा॥ ११॥ यदि मेरे अपराध न करनेपर भी ये अधर्मसे मुझे बाँध लेंगे, तब भी मैं इनका अनिष्ट नहीं चाहूँगा। क्योंकि मेरे शत्रु होनेपर भी इन्होंने भयभीत होकर ब्राह्मणका शरीर धारण किया है॥ १२॥ यदि ये पवित्रकीर्ति भगवान् विष्णु ही हैं तो अपना यश नहीं खोना चाहेंगे (अपनी माँगी हुई वस्तु लेकर ही रहेंगे)'। मुझे युद्धमें मारकर भी पृथ्वी छीन सकते हैं और यदि कदाचित् ये कोई दूसरे ही हैं, तो मेरे बाणोंकी चोटसे सदाके लिये रणभूमिमें सो जायँगे॥ १३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब शुक्राचार्यजीने देखा कि मेरा यह शिष्य गुरुके प्रति अश्रद्धालु है तथा मेरी आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है, तब दैवकी प्रेरणासे उन्होंने राजा बलिको शाप दे दिया—यद्यपि वे सत्यप्रतिज्ञ और उदार होनेके कारण शापके पात्र नहीं थे॥ १४॥ शुक्राचार्यजीने कहा—'मूर्ख! तू है तो अज्ञानी, परन्तु अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता है। तू मेरी उपेक्षा करके गर्व कर रहा है। तूने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है। इसलिये शीघ्र ही तू अपनी लक्ष्मी खो बैठेगा'॥ १५॥ राजा बलि बड़े महात्मा थे। अपने गुरुदेवके शाप देनेपर भी वे सत्यसे नहीं डिगे। उन्होंने वामनभगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा की और हाथमें जल लेकर तीन पग भूमिका सङ्कल्प कर दिया॥ १६॥

विन्ध्यावलिस्तदाऽऽगत्य पत्नी जालकमालिनी।
आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम्॥ १७
यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत् पादयुगं मुदा।
अवनिज्यावहन्मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः॥ १८
तदाऽसुरेन्द्रं दिवि देवतागणा
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः।
तत्कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं
प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः॥ १९
नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो
गन्धर्वकिम्पूरुषकिन्नरा[1] जगुः।
मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं
विद्वानदाद् यद् रिपवे जगत्त्रयम्॥ २०
तद् वामनं रूपमवर्धताद्भुतं
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम्।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत॥ २१
काये बलिस्तस्य महाविभूतेः
सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत्।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके
भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम्॥ २२
रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयो-
र्महीं महीध्रान्पुरुषस्य जङ्घयोः।
पतत्त्रिणो जानुनि विश्वमूर्ते-
रूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः॥ २३
सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत्
प्रजापतीञ्जघने आत्ममुख्यान्।
नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्तसिन्धू-
नुरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालाम्[2]॥ २४

उसी समय राजा बलिकी पत्नी विन्ध्यावली, जो मोतियोंके गहनोंसे सुसज्जित थी, वहाँ आयी। उसने अपने हाथों वामनभगवान्‌के चरण पखारनेके लिये जलसे भरा सोनेका कलश लाकर दिया॥ १७॥

बलिने स्वयं बड़े आनन्दसे उनके सुन्दर-सुन्दर युगल चरणोंको धोया और उनके चरणोंका वह विश्वपावन जल अपने सिरपर चढ़ाया॥ १८॥

उस समय आकाशमें स्थित देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध, चारण—सभी लोग राजा बलिके इस अलौकिक कार्य तथा सरलताकी प्रशंसा करते हुए बड़े आनन्दसे उनके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ १९॥

एक साथ ही हजारों दुन्दुभियाँ बार-बार बजने लगीं। गन्धर्व, किम्पुरुष और किन्नर गान करने लगे—'अहो धन्य है! इन उदारशिरोमणि बलिने ऐसा काम कर दिखाया, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। देखो तो सही, इन्होंने जान-बूझकर अपने शत्रुको तीनों लोकोंका दान कर दिया!'॥ २०॥

इसी समय एक बड़ी अद्‌भुत घटना घट गयी। अनन्त भगवान्‌का वह त्रिगुणात्मक वामनरूप बढ़ने लगा। वह यहाँतक बढ़ा कि पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषि—सब-के-सब उसीमें समा गये॥ २१॥

ऋत्विज्, आचार्य और सदस्योंके साथ बलिने समस्त ऐश्वर्योंके एकमात्र स्वामी भगवान्‌के उस त्रिगुणात्मक शरीरमें पंचभूत, इन्द्रिय, उनके विषय, अन्त:करण और जीवोंके साथ वह सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत् देखा॥ २२॥

राजा बलिने विश्वरूपभगवान्‌के चरणतलमें रसातल, चरणोंमें पृथ्वी, पिंडलियोंमें पर्वत, घुटनोंमें पक्षी और जाँघोंमें मरुद्‌गणको देखा॥ २३॥

इसी प्रकार भगवान्‌के वस्त्रोंमें सन्ध्या, गुह्य-स्थानोंमें प्रजापतिगण, जघनस्थलमें अपनेसहित समस्त असुरगण, नाभिमें आकाश, कोखमें सातों समुद्र और वक्ष:स्थलमें नक्षत्रसमूह देखे॥ २४॥

१. प्रा० पा०—र्वविद्याधरकिन्न०। २. प्रा० पा०—चर्षि०।

हृद्यङ्ग धर्मं स्तनयोर्मुरारे-
ऋर्तं च सत्यं च मनस्यथेन्दुम्।
श्रियं च वक्षस्यरविन्दहस्तां
कण्ठे च सामानि समस्तरेफान्॥ २५
इन्द्रप्रधानानमरान्भुजेषु
तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि।
केशेषु मेघाञ्छ्वसनं नासिकाया-
मक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम्॥ २६
वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशं
भ्रुवोर्निषेधं च विधिं च पक्ष्मसु।
अहश्च रात्रिं च परस्य पुंसो
मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम्॥ २७
स्पर्शे च कामं नृप रेतसोऽम्भः
पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम्।
छायासु मृत्युं हसिते च मायां
तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥ २८
नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु
बुद्धावजं देवगणानृषींश्च।
प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि
सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः॥ २९
सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य
सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग।
सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो
धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम्॥ ३०
पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः
कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी।
विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्त-
स्तूणोत्तमावक्षयसायकौ च॥ ३१
सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं
पार्षदमुख्याः सहलोकपालाः।
स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डल-
श्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥ ३२

उन लोगोंको भगवान्‌के हृदयमें धर्म, स्तनोंमें ऋत (मधुर) और सत्य वचन, मनमें चन्द्रमा, वक्षः-स्थलपर हाथोंमें कमल लिये लक्ष्मीजी, कण्ठमें सामवेद और सम्पूर्ण शब्दसमूह उन्हें दीखे॥ २५॥

बाहुओंमें इन्द्रादि समस्त देवगण, कानोंमें दिशाएँ, मस्तकमें स्वर्ग, केशोंमें मेघमाला, नासिकामें वायु, नेत्रोंमें सूर्य और मुखमें अग्नि दिखायी पड़े॥ २६॥

वाणीमें वेद, रसनामें वरुण, भौंहोंमें विधि और निषेध, पलकोंमें दिन और रात। विश्वरूपके ललाटमें क्रोध और नीचेके ओठमें लोभके दर्शन हुए॥ २७॥

परीक्षित्! उनके स्पर्शमें काम, वीर्यमें जल, पीठमें अधर्म, पदविन्यासमें यज्ञ, छायामें मृत्यु, हँसीमें माया और शरीरके रोमोंमें सब प्रकारकी ओषधियाँ थीं॥ २८॥

उनकी नाड़ियोंमें नदियाँ, नखोंमें शिलाएँ और बुद्धिमें ब्रह्मा, देवता एवं ऋषिगण दीख पड़े। इस प्रकार वीरवर बलिने भगवान्‌की इन्द्रियों और शरीरमें सभी चराचर प्राणियोंका दर्शन किया॥ २९॥

परीक्षित्! सर्वात्मा भगवान्‌में यह सम्पूर्ण जगत् देखकर सब-के-सब दैत्य अत्यन्त भयभीत हो गये। इसी समय भगवान्‌के पास असह्य तेजवाला सुदर्शन चक्र, गरजते हुए मेघके समान भयंकर टंकार करनेवाला शार्ङ्गधनुष, बादलकी तरह गम्भीर शब्द करनेवाला पांचजन्य शंख, विष्णुभगवान्‌की अत्यन्त वेगवती कौमोदकी गदा, सौ चन्द्राकार चिह्नोंवाली ढाल और विद्याधर नामकी तलवार, अक्षय बाणोंसे भरे दो तरकश तथा लोकपालोंके सहित भगवान्‌के सुनन्द आदि पार्षदगण सेवा करनेके लिये उपस्थित हो गये। उस समय भगवान्‌की बड़ी शोभा हुई। मस्तकपर मुकुट, बाहुओंमें बाजूबंद, कानोंमें मकराकृति कुण्डल, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सचिह्न, गलेमें कौस्तुभमणि, कमरमें मेखला और कंधेपर पीताम्बर शोभायमान हो रहा था॥ ३०-३२॥

मधुव्रतस्त्रग्वनमालया वृतो
रराज राजन्भगवानुरुक्रमः।
क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः॥ ३३
पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि।
उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो
महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः॥ ३४

वे पाँच प्रकारके पुष्पोंकी बनी वनमाला धारण किये हुए थे, जिसपर मधुलोभी भौंरे गुंजार कर रहे थे। उन्होंने अपने एक पगसे बलिकी सारी पृथ्वी नाप ली, शरीरसे आकाश और भुजाओंसे दिशाएँ घेर लीं; दूसरे पगसे उन्होंने स्वर्गको भी नाप लिया। तीसरा पैर रखनेके लिये बलिकी तनिक-सी भी कोई वस्तु न बची। भगवान्‌का वह दूसरा पग ही ऊपरकी ओर जाता हुआ महर्लोक, जनलोक और तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें पहुँच गया॥ ३३-३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
विश्वरूपदर्शनं नाम विंशतितमोऽध्यायः॥ २०॥

अथैकविंशोऽध्यायः

बलिका बाँधा जाना

श्रीशुक उवाच

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभि-
र्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात्।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः
सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌का चरणकमल सत्यलोकमें पहुँच गया। उसके नखचन्द्रकी छटासे सत्यलोककी आभा फीकी पड़ गयी। स्वयं ब्रह्मा भी उसके प्रकाशमें डूब-से गये। उन्होंने मरीचि आदि ऋषियों, सनन्दन आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों एवं बड़े-बड़े योगियोंके साथ भगवान्‌के चरणकमलकी अगवानी की॥ १॥

वेदोपवेदा नियमान्विता यमा-
स्तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः।
ये चापरे योगसमीरदीपित-
ज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः।
ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः
स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम्॥ २

वेद, उपवेद, नियम, यम, तर्क, इतिहास, वेदांग और पुराण-संहिताएँ—जो ब्रह्मलोकमें मूर्तिमान् होकर निवास करते हैं—तथा जिन लोगोंने योगरूप वायुसे ज्ञानाग्निको प्रज्वलित करके कर्ममलको भस्म कर डाला है, वे महात्मा, सबने भगवान्‌के चरणकी वन्दना की। इसी चरणकमलके स्मरणकी महिमासे ये सब कर्मके द्वारा प्राप्त न होनेयोग्य ब्रह्माजीके धाममें पहुँचे हैं॥ २॥

अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णो-
रुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम्।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा
यन्नाभिपङ्केरुहसंभवः स्वयम्॥ ३

भगवान् ब्रह्माकी कीर्ति बड़ी पवित्र है। वे विष्णुभगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं। अगवानी करनेके बाद उन्होंने स्वयं विश्वरूपभगवान्‌के ऊपर उठे हुए चरणका अर्घ्यपाद्यसे पूजन किया, प्रक्षालन किया। पूजा करके बड़े प्रेम और भक्तिसे उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की॥ ३॥

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥ ४

ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः।
सानुगा बलिमाजह्रुः संक्षिप्तात्मविभूतये॥ ५

तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः।
धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलाङ्कुरैः॥ ६

स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः।
नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः॥ ७

जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः।
विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत्॥ ८

महीं सर्वां हृतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्ञया।
ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः॥ ९

न वा अयं ब्रह्मबन्धुर्विष्णुर्मायाविनां वरः।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति॥ १०

अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि॥ ११

सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः।
नानृतं भाषितुं शक्यं ब्रह्मण्यस्य दयावतः॥ १२

परीक्षित्! ब्रह्माके कमण्डलुका वही जल विश्वरूप भगवान्‌के पाँव पखारनेसे पवित्र होनेके कारण उन गंगाजीके रूपमें परिणत हो गया, जो आकाशमार्गसे पृथ्वीपर गिरकर तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं। ये गंगाजी क्या हैं, भगवान्‌की मूर्तिमान् उज्ज्वल कीर्ति॥ ४॥

जब भगवान्‌ने अपने स्वरूपको कुछ छोटा कर लिया, अपनी विभूतियोंको कुछ समेट लिया, तब ब्रह्मा आदि लोकपालोंने अपने अनुचरोंके साथ बड़े आदरभावसे अपने स्वामी भगवान्‌को अनेकों प्रकारकी भेंटें समर्पित कीं॥ ५॥ उन लोगोंने जल-उपहार, माला, दिव्य गन्धोंसे भरे अंगराग, सुगन्धित धूप, दीप, खील, अक्षत, फल, अंकुर, भगवान्‌की महिमा और प्रभावसे युक्त स्तोत्र, जयघोष, नृत्य, बाजे-गाजे, गान एवं शंख और दुन्दुभिके शब्दोंसे भगवान्‌की आराधना की॥ ६-७॥ उस समय ऋक्षराज जाम्बवान् मनके समान वेगसे दौड़कर सब दिशाओंमें भेरी बजा-बजाकर भगवान्‌की मंगलमय विजयकी घोषणा कर आये॥ ८॥

दैत्योंने देखा कि वामनजीने तीन पग पृथ्वी माँगनेके बहाने सारी पृथ्वी ही छीन ली। तब वे सोचने लगे कि हमारे स्वामी बलि इस समय यज्ञमें दीक्षित हैं, वे तो कुछ कहेंगे नहीं। इसलिये बहुत चिढ़कर वे आपसमें कहने लगे॥ ९॥ 'अरे, यह ब्राह्मण नहीं है। यह सबसे बड़ा मायावी विष्णु है। ब्राह्मणके रूपमें छिपकर यह देवताओंका काम बनाना चाहता है॥ १०॥ जब हमारे स्वामी यज्ञमें दीक्षित होकर किसीको किसी प्रकारका दण्ड देनेके लिये उपरत हो गये हैं, तब इस शत्रुने ब्रह्मचारीका वेष बनाकर पहले तो याचना की और पीछे हमारा सर्वस्व हरण कर लिया॥ ११॥ यों तो हमारे स्वामी सदा ही सत्यनिष्ठ हैं, परन्तु यज्ञमें दीक्षित होनेपर वे इस बातका विशेष ध्यान रखते हैं। वे ब्राह्मणोंके बड़े भक्त हैं तथा उनके हृदयमें दया भी बहुत है। इसलिये वे कभी झूठ नहीं बोल सकते॥ १२॥

तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं च नः।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः॥ १३

ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः।
अनिच्छतो बले राजन् प्राद्रवन् जातमन्यवः॥ १४

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप।
प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः॥ १५

नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलो बलः।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्त्रिराट्॥ १६

जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः।
सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीम्॥ १७

हन्यमानान् स्वकान् दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः।
वारयामास संरब्धान् काव्यशापमनुस्मरन्॥ १८

हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः।
मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत्॥ १९

यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान्॥ २०

यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।
स एव भगवानद्य वर्तते तद्विपर्ययम्॥ २१

बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः॥ २२

भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः॥ २३

ऐसी अवस्थामें हमलोगोंका यही धर्म है कि इस शत्रुको मार डालें। इससे हमारे स्वामी बलिकी सेवा भी होती है।' यों सोचकर राजा बलिके अनुचर असुरोंने अपने-अपने हथियार उठा लिये॥ १३॥ परीक्षित्! राजा बलिकी इच्छा न होनेपर भी वे सब बड़े क्रोधसे शूल, पट्टिश आदि ले-लेकर वामन-भगवान्‌को मारनेके लिये टूट पड़े॥ १४॥ परीक्षित्! जब विष्णुभगवान्‌के पार्षदोंने देखा कि दैत्योंके सेनापति आक्रमण करनेके लिये दौड़े आ रहे हैं, तब उन्होंने हँसकर अपने-अपने शस्त्र उठा लिये और उन्हें रोक दिया॥ १५॥ नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त और सात्वत—ये सभी भगवान्‌के पार्षद दस-दस हजार हाथियोंका बल रखते हैं। वे असुरोंकी सेनाका संहार करने लगे॥ १६-१७॥ जब राजा बलिने देखा कि भगवान्‌के पार्षद मेरे सैनिकोंको मार रहे हैं और वे भी क्रोधमें भरकर उनसे लड़नेके लिये तैयार हो रहे हैं, तो उन्होंने शुक्राचार्यके शापका स्मरण करके उन्हें युद्ध करनेसे रोक दिया॥ १८॥ उन्होंने विप्रचित्ति, राहु, नेमि आदि दैत्योंको सम्बोधित करके कहा—'भाइयो! मेरी बात सुनो। लड़ो मत, वापस लौट आओ। यह समय हमारे कार्यके अनुकूल नहीं है॥ १९॥ दैत्यो! जो काल समस्त प्राणियोंको सुख और दुःख देनेकी सामर्थ्य रखता है—उसे यदि कोई पुरुष चाहे कि मैं अपने प्रयत्नोंसे दबा दूँ, तो यह उसकी शक्तिसे बाहर है॥ २०॥ जो पहले हमारी उन्नति और देवताओंकी अवनतिके कारण हुए थे, वही कालभगवान् अब उनकी उन्नति और हमारी अवनतिके कारण हो रहे हैं॥ २१॥ बल, मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, ओषधि और सामादि उपाय—इनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा अथवा सबके द्वारा मनुष्य कालपर विजय नहीं प्राप्त कर सकता॥ २२॥ जब दैव तुमलोगोंके अनुकूल था, तब तुमलोगोंने भगवान्‌के इन पार्षदोंको कई बार जीत लिया था। पर देखो, आज वे ही युद्धमें हमपर विजय प्राप्त करके सिंहनाद कर रहे हैं॥ २३॥

एतान् वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते॥ २४

यदि दैव हमारे अनुकूल हो जायगा, तो हम भी इन्हें जीत लेंगे। इसलिये उस समयकी प्रतीक्षा करो, जो हमारी कार्य-सिद्धिके लिये अनुकूल हो'॥ २४॥

श्रीशुक उवाच

पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः।
रसां निविविशू राजन् विष्णुपार्षदताडिताः॥ २५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपने स्वामी बलिकी बात सुनकर भगवान्‌के पार्षदोंसे हारे हुए दानव और दैत्यसेनापति रसातलमें चले गये॥ २५॥

अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम्।
बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ॥ २६

उनके जानेके बाद भगवान्‌के हृदयकी बात जानकर पक्षिराज गरुडने वरुणके पाशोंसे बलिको बाँध दिया। उस दिन उनके अश्वमेध यज्ञमें सोमपान होनेवाला था॥ २६॥

हाहाकारो महानासीद् रोदस्योः सर्वतोदिशम्।
गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना॥ २७

जब सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने बलिको इस प्रकार बँधवा दिया, तब पृथ्वी, आकाश और समस्त दिशाओंमें लोग 'हाय-हाय!' करने लगे॥ २७॥

तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः।
नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप॥ २८

यद्यपि बलि वरुणके पाशोंसे बँधे हुए थे, उनकी सम्पत्ति भी उनके हाथोंसे निकल गयी थी—फिर भी उनकी बुद्धि निश्चयात्मक थी और सब लोग उनके उदार यशका गान कर रहे थे। परीक्षित्! उस समय भगवान्‌ने बलिसे कहा॥ २८॥

पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर।
द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय॥ २९

'असुर! तुमने मुझे पृथ्वीके तीन पग दिये थे; दो पगमें तो मैंने सारी त्रिलोकी नाप ली, अब तीसरा पग पूरा करो॥ २९॥

यावत् तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः।
यावद् वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव॥ ३०

जहाँतक सूर्यकी गरमी पहुँचती है, जहाँतक नक्षत्रों और चन्द्रमाकी किरणें पहुँचती हैं और जहाँतक बादल जाकर बरसते हैं—वहाँतककी सारी पृथ्वी तुम्हारे अधिकारमें थी॥ ३०॥

पदैकेन मया क्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस्तनोः।
स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना॥ ३१

तुम्हारे देखते-ही-देखते मैंने अपने एक पैरसे भूर्लोक, शरीरसे आकाश और दिशाएँ एवं दूसरे पैरसे स्वर्लोक नाप लिया है। इस प्रकार तुम्हारा सब कुछ मेरा हो चुका है॥ ३१॥

प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते।
विश त्वं निरयं तस्माद् गुरुणा चानुमोदितः॥ ३२

फिर भी तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे पूरा न कर सकनेके कारण अब तुम्हें नरकमें रहना पड़ेगा। तुम्हारे गुरुकी तो इस विषयमें सम्मति है ही; अब जाओ, तुम नरकमें प्रवेश करो॥ ३२॥

वृथा मनोरथस्तस्य दूरे स्वर्गः पतत्यधः।
प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते॥ ३३

जो याचकको देनेकी प्रतिज्ञा करके मुकर जाता है और इस प्रकार उसे धोखा देता है, उसके सारे मनोरथ व्यर्थ होते हैं। स्वर्गकी बात तो दूर रही, उसे नरकमें गिरना पड़ता है॥ ३३॥

विप्रलब्धो ददामीति त्वयाहं चाढ्यमानिना।
तद् व्यलीकफलं भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित् समाः॥ ३४

तुम्हें इस बातका बड़ा घमंड था कि मैं बड़ा धनी हूँ। तुमने मुझसे 'दूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर धोखा दे दिया। अब तुम कुछ वर्षोंतक इस झूठका फल नरक भोगो'॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिनिग्रहो नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

बलिके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और भगवान्‌का उसपर प्रसन्न होना

श्रीशुक उवाच

एवं विप्रकृतो राजन् बलिर्भगवतासुरः।
भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविक्लवं वचः॥ १

बलिरुवाच

यद्युत्तमश्लोक भवान् ममेरितं
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्॥ २

बिभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो
न पाशबन्धाद् व्यसनाद् दुरत्ययात्।
नैवार्थकृच्छ्राद् भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादाद् भृशमुद्विजे यथा॥ ३

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम्।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि॥ ४

त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत्॥ ५

यस्मिन् वैरानुबन्धेन रूढेन विबुधेतराः।
बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार भगवान्‌ने असुरराज बलिका बड़ा तिरस्कार किया और उन्हें धैर्यसे विचलित करना चाहा। परन्तु वे तनिक भी विचलित न हुए, बड़े धैर्यसे बोले॥ १॥

दैत्यराज बलिने कहा—देवताओंके आराध्यदेव! आपकी कीर्ति बड़ी पवित्र है। क्या आप मेरी बातको असत्य समझते हैं? ऐसा नहीं है। मैं उसे सत्य कर दिखाता हूँ। आप धोखेमें नहीं पड़ेंगे। आप कृपा करके अपना तीसरा पग मेरे सिरपर रख दीजिये॥ २॥ मुझे नरकमें जानेका अथवा राज्यसे च्युत होनेका भय नहीं है। मैं पाशमें बँधने अथवा अपार दुःखमें पड़नेसे भी नहीं डरता। मेरे पास फूटी कौड़ी भी न रहे अथवा आप मुझे घोर दण्ड दें—यह भी मेरे भयका कारण नहीं है। मैं डरता हूँ तो केवल अपनी अपकीर्तिसे!॥ ३॥ अपने पूजनीय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ दण्ड तो जीवमात्रके लिये अत्यन्त वाञ्छनीय है। क्योंकि वैसा दण्ड माता, पिता, भाई और सुहृद् भी मोहवश नहीं दे पाते॥ ४॥ आप छिपे रूपसे अवश्य ही हम असुरोंको श्रेष्ठ शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हमारे परम गुरु हैं। जब हमलोग धन, कुलीनता, बल आदिके मदसे अंधे हो जाते हैं, तब आप उन वस्तुओंको हमसे छीनकर हमें नेत्रदान करते हैं॥ ५॥ आपसे हमलोगोंका जो उपकार होता है, उसे मैं क्या बताऊँ? अनन्यभावसे योग करनेवाले योगीगण जो सिद्धि प्राप्त करते हैं, वही सिद्धि बहुत-से असुरोंको आपके साथ दृढ़ वैरभाव करनेसे ही प्राप्त हो गयी है॥ ६॥

तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा।
बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे॥ ७

पितामहो मे भवदीयसंमतः
प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः।
भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं
संप्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा॥ ८

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया
मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः॥ ९

इत्थं स निश्चित्य पितामहो महा-
नगाधबोधो भवतः पादपद्मम्।
ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनाद्
भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तमः॥ १०

अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं
दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः।
इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं
ययाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते॥ ११

श्रीशुक उवाच

तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः॥ १२

तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया
विराजमानं नलिनायतेक्षणम्।
प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं
प्रलम्बबाहुं सुभगं समैक्षत॥ १३

जिनकी ऐसी महिमा, ऐसी अनन्त लीलाएँ हैं, वही आप मुझे दण्ड दे रहे हैं और वरुणपाशसे बाँध रहे हैं। इसकी न तो मुझे कोई लज्जा है और न किसी प्रकारकी व्यथा ही॥ ७॥ प्रभो! मेरे पितामह प्रह्लादजीकी कीर्ति सारे जगत्में प्रसिद्ध है। वे आपके भक्तोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। उनके पिता हिरण्यकशिपुने आपसे वैर-विरोध रखनेके कारण उन्हें अनेकों प्रकारके दुःख दिये। परन्तु वे आपके ही परायण रहे, उन्होंने अपना जीवन आपपर ही निछावर कर दिया॥ ८॥ उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि शरीरको लेकर क्या करना है, जब यह एक-न-एक दिन साथ छोड़ ही देता है। जो धन-सम्पत्ति लेनेके लिये स्वजन बने हुए हैं, उन डाकुओंसे अपना स्वार्थ ही क्या है? पत्नीसे भी क्या लाभ है, जब वह जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें डालनेवाली ही है। जब मर ही जाना है, तब घरसे मोह करनेमें भी क्या स्वार्थ है? इन सब वस्तुओंमें उलझ जाना तो केवल अपनी आयु खो देना है॥ ९॥ ऐसा निश्चय करके मेरे पितामह प्रह्लादजीने, यह जानते हुए भी कि आप लौकिक दृष्टिसे उनके भाई-बन्धुओंके नाश करनेवाले शत्रु हैं, फिर आपके ही भयरहित एवं अविनाशी चरणकमलोंकी शरण ग्रहण की थी। क्यों न हो—वे संसारसे परम विरक्त, अगाध बोधसम्पन्न, उदारहृदय एवं संत-शिरोमणि जो हैं॥ १०॥ आप उस दृष्टिसे मेरे भी शत्रु हैं, फिर भी विधाताने मुझे बलात् ऐश्वर्य-लक्ष्मीसे अलग करके आपके पास पहुँचा दिया है। अच्छा ही हुआ; क्योंकि ऐश्वर्य-लक्ष्मीके कारण जीवकी बुद्धि जड हो जाती है और वह यह नहीं समझ पाता कि 'मेरा यह जीवन मृत्युके पंजेमें पड़ा हुआ और अनित्य है'॥ ११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा बलि इस प्रकार कह ही रहे थे कि उदय होते हुए चन्द्रमाके समान भगवान्के प्रेमपात्र प्रह्लादजी वहाँ आ पहुँचे॥ १२॥ राजा बलिने देखा कि मेरे पितामह बड़े श्रीसम्पन्न हैं। कमलके समान कोमल नेत्र हैं, लंबी-लंबी भुजाएँ हैं, सुन्दर ऊँचे और श्यामल शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए हैं॥ १३॥

तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः
समर्हणं नोपजहार पूर्ववत्।
ननाम मूर्ध्नाश्रुविलोललोचनः
सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह॥ १४

स तत्र हासीनमुदीक्ष्य सत्पतिं
सुनन्दनन्दाद्यनुगैरुपासितम्।
उपेत्य भूमौ शिरसा महामना
ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः॥ १५

प्रह्लाद उवाच

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं
हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो
विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात्॥ १६

यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-
स्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा।
तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै
नारायणायाखिललोकसाक्षिणे॥ १७

श्रीशुक उवाच

तस्यानुशृण्वतो राजन् प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः।
हिरण्यगर्भो भगवानुवाच मधुसूदनम्॥ १८

बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला।
प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप॥ १९

विन्ध्यावलिरुवाच

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः॥ २०

बलि इस समय वरुणपाशमें बँधे हुए थे। इसलिये प्रह्लादजीके आनेपर जैसे पहले वे उनकी पूजा किया करते थे, उस प्रकार न कर सके। उनके नेत्र आँसुओंसे चंचल हो उठे, लज्जाके मारे मुँह नीचा हो गया। उन्होंने केवल सिर झुकाकर उन्हें नमस्कार किया॥ १४॥ प्रह्लादजीने देखा कि भक्तवत्सल भगवान् वहीं विराजमान हैं और सुनन्द, नन्द आदि पार्षद उनकी सेवा कर रहे हैं। प्रेमके उद्रेकसे प्रह्लादजीका शरीर पुलकित हो गया, उनकी आँखोंमें आँसू छलक आये। वे आनन्दपूर्ण हृदयसे सिर झुकाये अपने स्वामीके पास गये और पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया॥ १५॥

प्रह्लादजीने कहा—प्रभो! आपने ही बलिको यह ऐश्वर्यपूर्ण इन्द्रपद दिया था, अब आज आपने ही उसे छीन लिया। आपका देना जैसा सुन्दर है, वैसा ही सुन्दर लेना भी! मैं समझता हूँ कि आपने इसपर बड़ी भारी कृपा की है, जो आत्माको मोहित करनेवाली राज्यलक्ष्मीसे इसे अलग कर दिया॥ १६॥ प्रभो! लक्ष्मीके मदसे तो विद्वान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। उसके रहते भला, अपने वास्तविक स्वरूपको ठीक-ठीक कौन जान सकता है? अतः उस लक्ष्मीको छीनकर महान् उपकार करनेवाले, समस्त जगत्के महान् ईश्वर, सबके हृदयमें विराजमान और सबके परम साक्षी श्रीनारायणदेवको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! प्रह्लादजी अंजलि बाँधकर खड़े थे। उनके सामने ही भगवान् ब्रह्माजीने वामनभगवान्से कुछ कहना चाहा॥ १८॥ परन्तु इतनेमें ही राजा बलिकी परम साध्वी पत्नी विन्ध्यावलीने अपने पतिको बँधा देखकर भयभीत हो भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़, मुँह नीचा कर वह भगवान्से बोली॥ १९॥

विन्ध्यावलीने कहा—प्रभो! आपने अपनी क्रीडाके लिये ही इस सम्पूर्ण जगत्की रचना की है। जो लोग कुबुद्धि हैं, वे ही अपनेको इसका स्वामी मानते हैं। जब आप ही इसके कर्ता, भर्ता और संहर्ता हैं, तब आपकी मायासे मोहित होकर अपनेको झूठमूठ कर्ता माननेवाले निर्लज्ज आपको समर्पण क्या करेंगे?॥ २०॥

ब्रह्मोवाच

भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय।
मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम्॥ २१

कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये।
निवेदितं च सर्वस्वमात्माविक्लवया धिया॥ २२

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत्॥ २३

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते॥ २४

यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन् निजकर्मभिः।
नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत्॥ २५

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः॥ २६

मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः।
सर्वश्रेयः प्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः॥ २७

एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्धनः।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति॥ २८

ब्रह्माजीने कहा—समस्त प्राणियोंके जीवनदाता, उनके स्वामी और जगत्स्वरूप देवाधिदेव प्रभो! अब आप इसे छोड़ दीजिये। आपने इसका सर्वस्व ले लिया है, अतः अब यह दण्डका पात्र नहीं है॥ २१॥ इसने अपनी सारी भूमि और पुण्यकर्मोंसे उपार्जित स्वर्ग आदि लोक, अपना सर्वस्व तथा आत्मातक आपको समर्पित कर दिया है एवं ऐसा करते समय इसकी बुद्धि स्थिर रही है, यह धैर्यसे च्युत नहीं हुआ है॥ २२॥ प्रभो! जो मनुष्य सच्चे हृदयसे कृपणता छोड़कर आपके चरणोंमें जलका अर्घ्य देता है और केवल दूर्वादलसे भी आपकी सच्ची पूजा करता है, उसे भी उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है। फिर बलिने तो बड़ी प्रसन्नतासे धैर्य और स्थिरतापूर्वक आपको त्रिलोकीका दान कर दिया है। तब यह दुःखका भागी कैसे हो सकता है?॥ २३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ब्रह्माजी! मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन छीन लिया करता हूँ। क्योंकि जब मनुष्य धनके मदसे मतवाला हो जाता है, तब मेरा और लोगोंका तिरस्कार करने लगता है॥ २४॥ यह जीव अपने कर्मोंके कारण विवश होकर अनेक योनियोंमें भटकता रहता है, जब कभी मेरी बड़ी कृपासे मनुष्यका शरीर प्राप्त करता है॥ २५॥ मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर यदि कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदिके कारण घमंड न हो जाय तो समझना चाहिये कि मेरी बड़ी ही कृपा है॥ २६॥ कुलीनता आदि बहुत-से ऐसे कारण हैं, जो अभिमान और जडता आदि उत्पन्न करके मनुष्यको कल्याणके समस्त साधनोंसे वंचित कर देते हैं; परन्तु जो मेरे शरणागत होते हैं, वे इनसे मोहित नहीं होते॥ २७॥ यह बलि दानव और दैत्य दोनों ही वंशोंमें अग्रगण्य और उनकी कीर्ति बढ़ानेवाला है। इसने उस मायापर विजय प्राप्त कर ली है, जिसे जीतना अत्यन्त कठिन है। तुम देख ही रहे हो, इतना दुःख भोगनेपर भी यह मोहित नहीं हुआ॥ २८॥

क्षीणरिक्थश्च्युतः[1] स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः॥ २९

गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक्॥ ३०

इसका धन छीन लिया, राजपदसे अलग कर दिया, तरह-तरहके आक्षेप किये, शत्रुओंने बाँध लिया, भाई-बन्धु छोड़कर चले गये, इतनी यातनाएँ भोगनी पड़ीं—यहाँतक कि गुरुदेवने भी इसको डाँटा-फटकारा और शापतक दे दिया। परन्तु इस दृढव्रतीने अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। मैंने इससे छलभरी बातें कीं, मनमें छल रखकर धर्मका उपदेश किया; परन्तु इस सत्यवादीने अपना धर्म न छोड़ा॥ २९-३०॥

एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः[2]॥ ३१

अतः मैंने इसे वह स्थान दिया है, जो बड़े-बड़े देवताओंको भी बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है। सावर्णि मन्वन्तरमें यह मेरा परम भक्त इन्द्र होगा॥ ३१॥

तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम्।
यन्नाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः।
नोपसर्गा निवसतां संभवन्ति ममेक्षया॥ ३२

तबतक यह विश्वकर्माके बनाये हुए सुतललोकमें रहे। वहाँ रहनेवाले लोग मेरी कृपादृष्टिका अनुभव करते हैं। इसलिये उन्हें शारीरिक अथवा मानसिक रोग, थकावट, तन्द्रा, बाहरी या भीतरी शत्रुओंसे पराजय और किसी प्रकारके विघ्नोंका सामना नहीं करना पड़ता॥ ३२॥

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः॥ ३३

[बलिको सम्बोधित कर] महाराज इन्द्रसेन! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपने भाई-बन्धुओंके साथ उस सुतललोकमें जाओ जिसे स्वर्गके देवता भी चाहते रहते हैं॥ ३३॥

न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे।
त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति॥ ३४

बड़े-बड़े लोकपाल भी अब तुम्हें पराजित नहीं कर सकेंगे, दूसरोंकी तो बात ही क्या है! जो दैत्य तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन करेंगे, मेरा चक्र उनके टुकड़े-टुकड़े कर देगा॥ ३४॥

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान्॥ ३५

मैं तुम्हारी, तुम्हारे अनुचरोंकी और भोगसामग्रीकी भी सब प्रकारके विघ्नोंसे रक्षा करूँगा। वीर बलि! तुम मुझे वहाँ सदा-सर्वदा अपने पास ही देखोगे॥ ३५॥

तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात् ते भाव आसुरः।
दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति॥ ३६

दानव और दैत्योंके संसर्गसे तुम्हारा जो कुछ आसुरभाव होगा वह मेरे प्रभावसे तुरंत दब जायगा और नष्ट हो जायगा॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिवामनसंवादो नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

१. प्रा० पा०—क्षीणो विध्वंसितः स्था०। २. प्रा० पा०—ममाश्रयः।

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

बलिका बन्धनसे छूटकर सुतललोकको जाना

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं
महानुभावोऽखिलसाधुसंमतः ।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो
भक्त्युद्गलो गद्गदया गिराब्रवीत्॥ १

बलिरुवाच

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः
प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरै-
रलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा हरिमानम्य ब्रह्माणं सभवं ततः।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः॥ ३
एवमिन्द्राय भगवान् प्रत्यानीय त्रिविष्टपम्।
पूरयित्वादितेः काममशासत् सकलं जगत्॥ ४
लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम्।
निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्राद इदमब्रवीत्॥ ५

प्रह्राद उवाच

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं
न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो
विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः॥ ६
यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन
ब्रह्मादयः शरणदाश्नुवते विभूतीः।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब सनातन पुरुष भगवान्‌ने इस प्रकार कहा, तो साधुओंके आदरणीय महानुभाव दैत्यराजके नेत्रोंमें आँसू छलक आये। प्रेमके उद्रेकसे उनका गला भर आया। वे हाथ जोड़कर गद्‌गद वाणीसे भगवान्‌से कहने लगे॥ १॥

बलिने कहा—प्रभो! मैंने तो आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, केवल प्रणाम करनेमात्रकी चेष्टाभर की। उसीसे मुझे वह फल मिला, जो आपके चरणोंके शरणागत भक्तोंको प्राप्त होता है। बड़े-बड़े लोकपाल और देवताओंपर आपने जो कृपा कभी नहीं की वह मुझ-जैसे नीच असुरको सहज ही प्राप्त हो गयी॥ २॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! यों कहते ही बलि वरुणके पाशोंसे मुक्त हो गये। तब उन्होंने भगवान्, ब्रह्माजी और शंकरजीको प्रणाम किया और इसके बाद बड़ी प्रसन्नतासे असुरोंके साथ सुतल लोककी यात्रा की॥ ३॥ इस प्रकार भगवान्‌ने बलिसे स्वर्गका राज्य लेकर इन्द्रको दे दिया, अदितिकी कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र बनकर वे सारे जगत्‌का शासन करने लगे॥ ४॥ जब प्रह्लादने देखा कि मेरे वंशधर पौत्र राजा बलि बन्धनसे छूट गये और उन्हें भगवान्‌का कृपा-प्रसाद प्राप्त हो गया तो वे भक्ति-भावसे भर गये। उस समय उन्होंने भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति की॥ ५॥

प्रह्लादजीने कहा—प्रभो! यह कृपाप्रसाद तो कभी ब्रह्माजी, लक्ष्मीजी और शंकरजीको भी नहीं प्राप्त हुआ तब दूसरोंकी बात ही क्या है। अहो! विश्ववन्द्य ब्रह्मा आदि भी जिनके चरणोंकी वन्दना करते रहते हैं, वही आप हम असुरोंके दुर्गपाल—किलेदार हो गये॥ ६॥ शरणागतवत्सल प्रभो! ब्रह्मा आदि लोकपाल आपके चरणकमलोंका मकरन्द-रस सेवन करनेके कारण सृष्टिरचनाकी शक्ति आदि अनेक विभूतियाँ प्राप्त करते हैं। हमलोग तो जन्मसे

कस्माद् वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते
दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः॥ ७
चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः॥ ८

ही खल और कुमार्गगामी हैं, हमपर आपकी ऐसी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि कैसे हो गयी, जो आप हमारे द्वारपाल ही बन गये॥ ७॥ आपने अपनी योगमायासे खेल-ही-खेलमें त्रिभुवनकी रचना कर दी। आप सर्वज्ञ, सर्वात्मा और समदर्शी हैं। फिर भी आपकी लीलाएँ बड़ी विलक्षण जान पड़ती हैं। आपका स्वभाव कल्प-वृक्षके समान है; क्योंकि आप अपने भक्तोंसे अत्यन्त प्रेम करते है। इसीसे कभी-कभी उपासकोंके प्रति पक्षपात और विमुखोंके प्रति निर्दयता भी आपमें देखी जाती है॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम्।
मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह॥ ९
नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।
मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥ १०

श्रीभगवान्ने कहा—बेटा प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भी सुतल लोकमें जाओ। वहाँ अपने पौत्र बलिके साथ आनन्दपूर्वक रहो और जाति-बन्धुओंको सुखी करो॥ ९॥

वहाँ तुम मुझे नित्य ही गदा हाथमें लिये खड़ा देखोगे। मेरे दर्शनके परमानन्दमें मग्न रहनेके कारण तुम्हारे सारे कर्मबन्धन नष्ट हो जायँगे॥ १०॥

श्रीशुक उवाच

आज्ञां भगवतो राजन् प्रह्लादो बलिना सह।
बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृताञ्जलिः॥ ११
परिक्रम्यादिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः।
प्रणतस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम्॥ १२
अथाहोशनसं राजन् हरिर्नारायणोऽन्तिके।
आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम्॥ १३
ब्रह्मन् संतनु शिष्यस्य कर्मच्छिद्रं वितन्वतः।
यत् तत् कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत्॥ १४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! समस्त दैत्यसेनाके स्वामी विशुद्धबुद्धि प्रह्लादजीने 'जो आज्ञा' कहकर, हाथ जोड़, भगवान्का आदेश मस्तकपर चढ़ाया। फिर उन्होंने बलिके साथ आदिपुरुष भगवान्की परिक्रमा की, उन्हें प्रणाम किया और उनसे अनुमति लेकर सुतल लोककी यात्रा की॥ ११-१२॥ परीक्षित्! उस समय भगवान् श्रीहरिने ब्रह्मवादी ऋत्विजोंकी सभामें अपने पास ही बैठे हुए शुक्राचार्यजीसे कहा॥ १३॥ 'ब्रह्मन्! आपका शिष्य यज्ञ कर रहा था। उसमें जो त्रुटि रह गयी है, उसे आप पूर्ण कर दीजिये। क्योंकि कर्म करनेमें जो कुछ भूल-चूक हो जाती है, वह ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टिसे सुधर जाती है'॥ १४॥

शुक्र उवाच

कुतस्तत्कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान्।
यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः॥ १५
मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥ १६

शुक्राचार्यजीने कहा—भगवन्! जिसने अपना समस्त कर्म समर्पित करके सब प्रकारसे यज्ञेश्वर यज्ञ-पुरुष आपकी पूजा की है—उसके कर्ममें कोई त्रुटि, कोई विषमता कैसे रह सकती है?॥ १५॥ क्योंकि मन्त्रोंकी, अनुष्ठान-पद्धतिकी, देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नामसंकीर्तनमात्रसे सुधर जाती हैं; आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है॥ १६॥

तथापि वदतो भूमन् करिष्याम्यनुशासनम्।
एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत् तवाज्ञानुपालनम्॥ १७

श्रीशुक उवाच

अभिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति।
यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह॥ १८
एवं बलेर्महीं राजन् भिक्षित्वा वामनो हरिः।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत् परैर्हृतम्॥ १९
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः।
दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च॥ २०
कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च।
लोकानां लोकपालानामकरोद् वामनं पतिम्॥ २१
वेदानां सर्वदेवानां धर्मस्य यशसः श्रियः।
मङ्गलानां व्रतानां च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः॥ २२
उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे पतिं सर्वविभूतये।
तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप॥ २३
ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम्।
लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः॥ २४
प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः।
श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः॥ २५
ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप।
पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये॥ २६
सुमहत् कर्म तद् विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम्।
धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिं च शशंसिरे॥ २७
सर्वमेतन्मयाऽऽख्यातं भवतः कुलनन्दन।
उरुक्रमस्य चरितं श्रोतॄणामघमोचनम्॥ २८

तथापि अनन्त! जब आप स्वयं कह रहे हैं, तब मैं आपकी आज्ञाका अवश्य पालन करूँगा। मनुष्यके लिये सबसे बड़ा कल्याणका साधन यही है कि वह आपकी आज्ञाका पालन करे॥ १७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् शुक्राचार्यने भगवान् श्रीहरिकी यह आज्ञा स्वीकार करके दूसरे ब्रह्मर्षियोंके साथ, बलिके यज्ञमें जो कमी रह गयी थी, उसे पूर्ण किया॥ १८॥

परीक्षित्! इस प्रकार वामनभगवान्ने बलिसे पृथ्वीकी भिक्षा माँगकर अपने बड़े भाई इन्द्रको स्वर्गका राज्य दिया, जिसे उनके शत्रुओंने छीन लिया था॥ १९॥ इसके बाद प्रजापतियोंके स्वामी ब्रह्माजीने देवर्षि, पितर, मनु, दक्ष, भृगु, अंगिरा, सनत्कुमार और शंकरजीके साथ कश्यप एवं अदितिकी प्रसन्नताके लिये तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अभ्युदयके लिये समस्त लोक और लोकपालोंके स्वामीके पदपर वामनभगवान्का अभिषेक कर दिया॥ २०-२१॥

परीक्षित्! वेद, समस्त देवता, धर्म, यश, लक्ष्मी, मंगल, व्रत, स्वर्ग और अपवर्ग—सबके रक्षकके रूपमें सबके परम कल्याणके लिये सर्वशक्तिमान् वामन-भगवान्को उन्होंने उपेन्द्रका पद दिया। उस समय सभी प्राणियोंको अत्यन्त आनन्द हुआ॥ २२-२३॥ इसके बाद ब्रह्माजीकी अनुमतिसे लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्रने वामनभगवान्को सबसे आगे विमानपर बैठाया और अपने साथ स्वर्ग लिवा ले गये॥ २४॥ इन्द्रको एक तो त्रिभुवनका राज्य मिल गया और दूसरे, वामनभगवान्के करकमलोंकी छत्रछाया! सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्यलक्ष्मी उनकी सेवा करने लगी और वे निर्भय होकर आनन्दोत्सव मनाने लगे॥ २५॥ ब्रह्मा, शंकर, सनत्कुमार, भृगु आदि मुनि, पितर, सारे भूत, सिद्ध और विमानारोही देवगण भगवान्के इस परम अद्भुत एवं अत्यन्त महान् कर्मका गान करते हुए अपने-अपने लोकको चले गये और सबने अदितिकी भी बड़ी प्रशंसा की॥ २६-२७॥ परीक्षित्! तुम्हें मैंने भगवान्की यह सब लीला सुनायी। इससे सुननेवालोंके सारे पाप छूट जाते हैं॥ २८॥

पारं महिम्न उरु विक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः।
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य
इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य॥ २९

भगवान्की लीलाएँ अनन्त हैं, उनकी महिमा अपार है। जो मनुष्य उसका पार पाना चाहता है वह मानो पृथ्वीके परमाणुओंको गिन डालना चाहता है। भगवान्के सम्बन्धमें मन्त्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठने वेदोंमें कहा है कि 'ऐसा पुरुष न कभी हुआ, न है और न होगा जो भगवान्की महिमाका पार पा सके'॥ २९॥

य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
अवतारानुचरितं शृण्वन् याति परां गतिम्॥ ३०

क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे।
यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः॥ ३१

देवताओंके आराध्यदेव अद्भुतलीलाधारी वामन-भगवान्के अवतारचरित्रका जो श्रवण करता है, उसे परम गतिकी प्राप्ति होती है॥ ३०॥ देवयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ किसी भी कर्मका अनुष्ठान करते समय जहाँ-जहाँ भगवान्की इस लीलाका कीर्तन होता है वह कर्म सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है। यह बड़े-बड़े महात्माओंका अनुभव है॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
वामनावतारचरिते त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

भगवान्के मत्स्यावतारकी कथा

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम्॥ १

यदर्थमदधाद् रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम्।
तमःप्रकृति दुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः॥ २

एतन्नो भगवन् सर्वं यथावद् वक्तुमर्हसि।
उत्तमश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम्॥ ३

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवान्के कर्म बड़े अद्भुत हैं। उन्होंने एक बार अपनी योगमायासे मत्स्यावतार धारण करके बड़ी सुन्दर लीला की थी, मैं उनके उसी आदि-अवतारकी कथा सुनना चाहता हूँ॥ १॥ भगवन्! मत्स्ययोनि एक तो यों ही लोकनिन्दित है, दूसरे तमोगुणी और असह्य परतन्त्रतासे युक्त भी है। सर्वशक्तिमान् होनेपर भी भगवान्ने कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवकी तरह यह मत्स्यका रूप क्यों धारण किया?॥ २॥ भगवन्! महात्माओंके कीर्तनीय भगवान्का चरित्र समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है। आप कृपा करके उनकी वह सब लीला हमारे सामने पूर्णरूपसे वर्णन कीजिये॥ ३॥

सूत उवाच

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान् बादरायणिः।
उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत् कृतम्॥ ४

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! जब राजा परीक्षित्ने भगवान् श्रीशुकदेवजीसे यह प्रश्न किया, तब उन्होंने विष्णुभगवान्का वह चरित्र जो उन्होंने मत्स्यावतार धारण करके किया था, वर्णन किया॥ ४॥

श्रीशुक उवाच

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि॥ ५

उच्चावचेषु भूतेषु चरन् वायुरिवेश्वरः।
नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः॥ ६

आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप॥ ७

कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली।
मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत्॥ ८

ज्ञात्वा तद् दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम्।
दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः॥ ९

तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान्।
नारायणपरोऽतप्यत् तपः स सलिलाशनः॥ १०

योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः॥ ११

एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम्।
तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत॥ १२

सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत।
उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः॥ १३

तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृपम्।
यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल।
कथं विसृजसे राजन् भीतामस्मिन् सरिज्जले॥ १४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! यों तो भगवान् सबके एकमात्र प्रभु हैं; फिर भी वे गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, वेद, धर्म और अर्थकी रक्षाके लिये शरीर धारण किया करते हैं॥ ५॥

वे सर्वशक्तिमान् प्रभु वायुकी तरह नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े सभी प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे लीला करते रहते हैं। परन्तु उन-उन प्राणियोंके बुद्धिगत गुणोंसे वे छोटे-बड़े या ऊँचे-नीचे नहीं हो जाते। क्योंकि वे वास्तवमें समस्त प्राकृत गुणोंसे रहित—निर्गुण हैं॥ ६॥ परीक्षित्! पिछले कल्पके अन्तमें ब्रह्माजीके सो जानेके कारण ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय हुआ था। उस समय भूर्लोक आदि सारे लोक समुद्रमें डूब गये थे॥ ७॥ प्रलयकाल आ जानेके कारण ब्रह्माजीको नींद आ रही थी, वे सोना चाहते थे। उसी समय वेद उनके मुखसे निकल पड़े और उनके पास ही रहनेवाले हयग्रीव नामक बली दैत्यने उन्हें योगबलसे चुरा लिया॥ ८॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने दानवराज हयग्रीवकी यह चेष्टा जान ली । इसलिये उन्होंने मत्स्यावतार ग्रहण किया॥ ९॥

परीक्षित्! उस समय सत्यव्रत नामके एक बड़े उदार एवं भगवत्परायण राजर्षि केवल जल पीकर तपस्या कर रहे थे॥ १०॥ वही सत्यव्रत वर्तमान महाकल्पमें विवस्वान् (सूर्य)-के पुत्र श्राद्धदेवके नामसे विख्यात हुए और उन्हें भगवान्ने वैवस्वत मनु बना दिया॥ ११॥ एक दिन वे राजर्षि कृतमाला नदीमें जलसे तर्पण कर रहे थे। उसी समय उनकी अंजलिके जलमें एक छोटी-सी मछली आ गयी॥ १२॥ परीक्षित्! द्रविडदेशके राजा सत्यव्रतने अपनी अंजलिमें आयी हुई मछलीको जलके साथ ही फिरसे नदीमें डाल दिया॥ १३॥ उस मछलीने बड़ी करुणाके साथ परम दयालु राजा सत्यव्रतसे कहा—'राजन्! आप बड़े दीनदयालु हैं। आप जानते ही हैं कि जलमें रहनेवाले जन्तु अपनी जातिवालोंको भी खा डालते हैं। मैं उनके भयसे अत्यन्त व्याकुल हो रही हूँ। आप मुझे फिर इसी नदीके जलमें क्यों छोड़ रहे हैं?॥ १४॥

तमात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम्।
अजानन् रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे॥ १५

तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः।
कलशाप्सु निधायैनां दयालुर्निन्य आश्रमम्॥ १६

सा तु तत्रैकरात्रेण वर्धमाना कमण्डलौ।
अलब्ध्वाऽऽत्मावकाशं वा इदमाह महीपतिम्॥ १७

नाहं कमण्डलावस्मिन् कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे।
कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम्॥ १८

स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके।
तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन हस्तत्रयमवर्धत॥ १९

न म एतदलं राजन् सुखं वस्तुमुदञ्चनम्।
पृथु देहि पदं मह्यं यत् त्वाहं शरणं गता॥ २०

तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन् सरोवरे।
तदावृत्यात्मना सोऽयं महामीनोऽन्ववर्धत॥ २१

नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः।
निधेहि रक्षायोगेन ह्रदे मामविदासिनि॥ २२

इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि।
जलाशये सम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम्॥ २३

क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः।
अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि॥ २४

राजा सत्यव्रतको इस बातका पता नहीं था कि स्वयं भगवान् मुझपर प्रसन्न होकर कृपा करनेके लिये मछलीके रूपमें पधारे हैं। इसलिये उन्होंने उस मछलीकी रक्षाका मन-ही-मन संकल्प किया॥ १५॥
राजा सत्यव्रतने उस मछलीकी अत्यन्त दीनतासे भरी बात सुनकर बड़ी दयासे उसे अपने पात्रके जलमें रख लिया और अपने आश्रमपर ले आये॥ १६॥

आश्रमपर लानेके बाद एक रातमें ही वह मछली उस कमण्डलुमें इतनी बढ़ गयी कि उसमें उसके लिये स्थान ही न रहा। उस समय मछलीने राजासे कहा॥ १७॥
'अब तो इस कमण्डलुमें मैं कष्टपूर्वक भी नहीं रह सकती; अतः मेरे लिये कोई बड़ा-सा स्थान नियत कर दें, जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ'॥ १८॥
राजा सत्यव्रतने मछलीको कमण्डलुसे निकालकर एक बहुत बड़े पानीके मटकेमें रख दिया। परन्तु वहाँ डालनेपर वह मछली दो ही घड़ीमें तीन हाथ बढ़ गयी॥ १९॥
फिर उसने राजा सत्यव्रतसे कहा—'राजन्! अब यह मटका भी मेरे लिये पर्याप्त नहीं है। इसमें मैं सुखपूर्वक नहीं रह सकती। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, इसलिये मेरे रहनेयोग्य कोई बड़ा-सा स्थान मुझे दो'॥ २०॥
परीक्षित्! सत्यव्रतने वहाँसे उस मछलीको उठाकर एक सरोवरमें डाल दिया। परन्तु वह थोड़ी ही देरमें इतनी बढ़ गयी कि उसने एक महामत्स्यका आकार धारण कर उस सरोवरके जलको घेर लिया॥ २१॥
और कहा—'राजन्! मैं जलचर प्राणी हूँ। इस सरोवरका जल भी मेरे सुखपूर्वक रहनेके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये आप मेरी रक्षा कीजिये और मुझे किसी अगाध सरोवरमें रख दीजिये,॥ २२॥
मत्स्यभगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर वे एक-एक करके उन्हें कई अटूट जलवाले सरोवरोंमें ले गये; परन्तु जितना बड़ा सरोवर होता, उतने ही बड़े वे बन जाते। अन्तमें उन्होंने उन लीलामत्स्यको समुद्रमें छोड़ दिया॥ २३॥
समुद्रमें डालते समय मत्स्यभगवान्‌ने सत्यव्रतसे कहा—'वीर! समुद्रमें बड़े-बड़े बली मगर आदि रहते हैं, वे मुझे खा जायँगे, इसलिये आप मुझे समुद्रके जलमें मत छोड़िये'॥ २४॥

एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गुभारतीम्।
तमाह को भवानस्मान् मत्स्यरूपेण मोहयन्॥ २५

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च।
यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः॥ २६

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम्॥ २७

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर।
भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो॥ २८

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः।
ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम्॥ २९

न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं
मृषा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सता-
मदीदृशो यद् वपुरद्भुतं हि नः॥ ३०

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः
सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये।
विहर्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवी-
च्चिकीर्षुरेकान्तजनप्रियः प्रियम्॥ ३१

श्रीभगवानुवाच

सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम।
निमङ्‌क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्॥ ३२

त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा।
उपस्थास्यति नौः काचिद् विशाला त्वां मयेरिता॥ ३३

मत्स्यभगवान्‌की यह मधुर वाणी सुनकर राजा सत्यव्रत मोहमुग्ध हो गये। उन्होंने कहा—'मत्स्यका रूप धारण करके मुझे मोहित करनेवाले आप कौन हैं?॥ २५॥ आपने एक ही दिनमें चार सौ कोसके विस्तारका सरोवर घेर लिया। आजतक ऐसी शक्ति रखनेवाला जलचर जीव तो न मैंने कभी देखा था और न सुना ही था॥ २६॥ अवश्य ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं। जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही आपने जलचरका रूप धारण किया है॥ २७॥

पुरुषोत्तम! आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्वामी हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। प्रभो! हम शरणागत भक्तोंके लिये आप ही आत्मा और आश्रय हैं॥ २८॥ यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये ही होते हैं, तथापि मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने यह रूप किस उद्देश्यसे ग्रहण किया है॥ २९॥

कमलनयन प्रभो! जैसे देहादि अनात्मपदार्थोंमें अपनेपनका अभिमान करनेवाले संसारी पुरुषोंका आश्रय व्यर्थ होता है, उस प्रकार आपके चरणोंकी शरण तो व्यर्थ हो नहीं सकती; क्योंकि आप सबके अहैतुक प्रेमी, परम प्रियतम और आत्मा हैं। आपने इस समय जो रूप धारण करके हमें दर्शन दिया है, यह बड़ा ही अद्‌भुत है॥ ३०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् अपने अनन्य प्रेमी भक्तोंपर अत्यन्त प्रेम करते हैं। जब जगत्पति मत्स्यभगवान्‌ने अपने प्यारे भक्त राजर्षि सत्यव्रतकी यह प्रार्थना सुनी तो उनका प्रिय और हित करनेके लिये, साथ ही कल्पान्तके प्रलयकालीन समुद्रमें विहार करनेके लिये उनसे कहा॥ ३१॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—सत्यव्रत! आजसे सातवें दिन भूर्लोक आदि तीनों लोक प्रलयके समुद्रमें डूब जायँगे॥ ३२॥ उस समय जब तीनों लोक प्रलयकालकी जलराशिमें डूबने लगेंगे, तब मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पास एक बहुत बड़ी नौका आयेगी॥ ३३॥

त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च।
सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ ३४

आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः।
एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा॥ ३५

दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा।
उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना॥ ३६

अहं त्वामृषिभिः साकं सहनावमुदन्वति।
विकर्षन् विचरिष्यामि यावद् ब्राह्मी निशा प्रभो॥ ३७

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि॥ ३८

इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत।
सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत्॥ ३९

आस्तीर्य दर्भान् प्राक्कूलान् राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः।
निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन् मत्स्यरूपिणः॥ ४०

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन् महीम्।
वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत॥ ४१

ध्यायन् भगवदादेशं ददृशे नावमागताम्।
तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः॥ ४२

तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन् ध्यायस्व केशवम्।
स वै नः संकटादस्मादविता शं विधास्यति॥ ४३

उस समय तुम समस्त प्राणियोंके सूक्ष्मशरीरोंको लेकर सप्तर्षियोंके साथ उस नौकापर चढ़ जाना और समस्त धान्य तथा छोटे-बड़े अन्य प्रकारके बीजोंको साथ रख लेना॥ ३४॥ उस समय सब ओर एकमात्र महासागर लहराता होगा। प्रकाश नहीं होगा। केवल ऋषियोंकी दिव्य ज्योतिके सहारे ही बिना किसी प्रकारकी विकलताके तुम उस बड़ी नावपर चढ़कर चारों ओर विचरण करना॥ ३५॥ जब प्रचण्ड आँधी चलनेके कारण नाव डगमगाने लगेगी, तब मैं इसी रूपमें वहाँ आ जाऊँगा और तुम लोग वासुकिनागके द्वारा उस नावको मेरे सींगमें बाँध देना॥ ३६॥

सत्यव्रत! इसके बाद जबतक ब्रह्माजीकी रात रहेगी तबतक मैं ऋषियोंके साथ तुम्हें उस नावमें बैठाकर उसे खींचता हुआ समुद्रमें विचरण करूँगा॥ ३७॥ उस समय जब तुम प्रश्न करोगे तब मैं तुम्हें उपदेश दूँगा। मेरे अनुग्रहसे मेरी वास्तविक महिमा, जिसका नाम 'परब्रह्म' है, तुम्हारे हृदयमें प्रकट हो जायगी और तुम उसे ठीक-ठीक जान लोगे॥ ३८॥

भगवान् राजा सत्यव्रतको यह आदेश देकर अन्तर्धान हो गये। अतः अब राजा सत्यव्रत उसी समयकी प्रतीक्षा करने लगे, जिसके लिये भगवान्‌ने आज्ञा दी थी॥ ३९॥ कुशोंका अग्रभाग पूर्वकी ओर करके राजर्षि सत्यव्रत उनपर पूर्वोत्तर मुखसे बैठ गये और मत्स्यरूप भगवान्‌के चरणोंका चिन्तन करने लगे॥ ४०॥

इतनेमें ही भगवान्‌का बताया हुआ वह समय आ पहुँचा। राजाने देखा कि समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर बढ़ रहा है। प्रलयकालके भयङ्कर मेघ वर्षा करने लगे। देखते-ही-देखते सारी पृथ्वी डूबने लगी॥ ४१॥ तब राजाने भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण किया और देखा कि नाव भी आ गयी है। तब वे धान्य तथा अन्य बीजोंको लेकर सप्तर्षियोंके साथ उसपर सवार हो गये॥ ४२॥ सप्तर्षियोंने बड़े प्रेमसे राजा सत्यव्रतसे कहा—'राजन्! तुम भगवान्‌का ध्यान करो। वे ही हमें इस संकटसे बचायेंगे और हमारा कल्याण करेंगे'॥ ४३॥

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे।
एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः॥ ४४

निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम्॥ ४५

राजोवाच

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद-
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयु-
र्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान्॥ ४६

जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम्।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं
ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः॥ ४७

यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं
पुमान् विजह्यान्मलमात्मनस्तमः।
भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो
भूयात् स ईशः परमो गुरोर्गुरुः॥ ४८

न यत्प्रसादायुतभागलेश-
मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम्।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस-
स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये॥ ४९

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम्॥ ५०

उनकी आज्ञासे राजाने भगवान्का ध्यान किया। उसी समय उस महान् समुद्रमें मत्स्यके रूपमें भगवान् प्रकट हुए। मत्स्यभगवान्का शरीर सोनेके समान देदीप्यमान था और शरीरका विस्तार था चार लाख कोस। उनके शरीरमें एक बड़ा भारी सींग भी था॥ ४४॥ भगवान्ने पहले जैसी आज्ञा दी थी, उसके अनुसार वह नौका वासुकिनागके द्वारा भगवान्के सींगमें बाँध दी गयी और राजा सत्यव्रतने प्रसन्न होकर भगवान्की स्तुति की॥ ४५॥

राजा सत्यव्रतने कहा—प्रभो! संसारके जीवोंका आत्मज्ञान अनादि अविद्यासे ढक गया है। इसी कारण वे संसारके अनेकानेक क्लेशोंके भारसे पीड़ित हो रहे हैं। जब अनायास ही आपके अनुग्रहसे वे आपकी शरणमें पहुँच जाते हैं तब आपको प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये हमें बन्धनसे छुड़ाकर वास्तविक मुक्ति देनेवाले परम गुरु आप ही हैं॥ ४६॥

यह जीव अज्ञानी है, अपने ही कर्मोंसे बँधा हुआ है। वह सुखकी इच्छासे दुःखप्रद कर्मोंका अनुष्ठान करता है। जिनकी सेवासे उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है वे ही मेरे परम गुरु आप मेरे हृदयकी गाँठ काट दें॥ ४७॥ जैसे अग्निमें तपानेसे सोने-चाँदीके मल दूर हो जाते हैं और उनका सच्चा स्वरूप निखर आता है, वैसे ही आपकी सेवासे जीव अपने अन्तःकरणका अज्ञानरूप मल त्याग देता है और अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाता है। आप सर्वशक्तिमान् अविनाशी प्रभु ही हमारे गुरुजनोंके भी परम गुरु हैं। अतः आप ही हमारे भी गुरु बनें॥ ४८॥ जितने भी देवता, गुरु और संसारके दूसरे जीव हैं—वे सब यदि स्वतन्त्ररूपसे एक साथ मिलकर भी कृपा करें, तो आपकी कृपाके दस हजारवें अंशके अंशकी भी बराबरी नहीं कर सकते। प्रभो! आप ही सर्वशक्तिमान् हैं। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ ४९॥ जैसे कोई अंधा अंधेको ही अपना पथप्रदर्शक बना ले, वैसे ही अज्ञानी जीव अज्ञानीको ही अपना गुरु बनाते हैं। आप सूर्यके समान स्वयंप्रकाश और समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। हम आत्मतत्त्वके जिज्ञासु आपको ही गुरुके रूपमें वरण करते हैं॥ ५०॥

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं[1]
यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः।
त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा
प्रपद्यते येन जनो निजं पदम्॥ ५१

अज्ञानी मनुष्य अज्ञानियोंको जिस ज्ञानका उपदेश करता है वह तो अज्ञान ही है। उसके द्वारा संसाररूप घोर अन्धकारकी अधिकाधिक प्राप्ति होती है। परन्तु आप तो उस अविनाशी और अमोघ ज्ञानका उपदेश करते हैं जिससे मनुष्य अनायास ही अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त कर लेता है॥ ५१॥

त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरो
ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः[2]।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधी-
र्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः॥ ५२

आप सारे लोकके सुहृद्, प्रियतम, ईश्वर और आत्मा हैं। गुरु, उसके द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान और अभीष्टकी सिद्धि भी आपका ही स्वरूप है। फिर भी कामनाओंके बन्धनमें जकड़े जाकर लोग अंधे हो रहे हैं। उन्हें इस बातका पता ही नहीं है कि आप उनके हृदयमें ही विराजमान् हैं॥ ५२॥

तं त्वामहं देववरं[3] वरेण्यं
प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन् वचोभि-
र्ग्रन्थीन् हृदय्यान् विवृणु स्वमोकः॥ ५३

आप देवताओंके भी आराध्यदेव, परम पूजनीय परमेश्वर हैं। मैं आपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आपकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! आप परमार्थको प्रकाशित करनेवाली अपनी वाणीके द्वारा मेरे हृदयकी ग्रन्थि काट डालिये और अपने स्वरूपको प्रकाशित कीजिये॥ ५३॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत्॥ ५४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब राजा सत्यव्रतने इस प्रकार प्रार्थना की; तब मत्स्यरूपधारी पुरुषोत्तमभगवान्ने प्रलयके समुद्रमें विहार करते हुए उन्हें आत्मतत्त्वका उपदेश किया॥ ५४॥

पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोग[4]क्रियावतीम्।
सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः॥ ५५

भगवान्ने राजर्षि सत्यव्रतको अपने स्वरूपके सम्पूर्ण रहस्यका वर्णन करते हुए ज्ञान, भक्ति और कर्मयोगसे परिपूर्ण दिव्य पुराणका उपदेश किया, जिसको 'मत्स्यपुराण' कहते हैं॥ ५५॥

अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम्।
नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम्॥ ५६

सत्यव्रतने ऋषियोंके साथ नावमें बैठे हुए ही सन्देहरहित होकर भगवान्के द्वारा उपदिष्ट सनातन ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्वका श्रवण किया॥ ५६॥

अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे।
हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः॥ ५७

इसके बाद जब पिछले प्रलयका अन्त हो गया और ब्रह्माजीकी नींद टूटी, तब भगवान्ने हयग्रीव असुरको मारकर उससे वेद छीन लिये और ब्रह्माजीको दे दिये॥ ५७॥

१. प्रा० पा०—गतिं। २. प्रा० पा०—सिद्धिदः। ३. प्रा० पा०—देवदेवं। ४. प्रा० पा०—समन्विताम्।

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः[1]।
विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासीद् वैवस्वतो मनुः॥ ५८

सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः।
संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात्॥ ५९

अवतारो हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः।
सङ्कल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम्॥ ६०

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि॥ ६१

भगवान्‌की कृपासे राजा सत्यव्रत ज्ञान और विज्ञानसे संयुक्त होकर इस कल्पमें वैवस्वत मनु हुए॥ ५८॥ अपनी योगमायासे मत्स्यरूप धारण करनेवाले भगवान् विष्णु और राजर्षि सत्यव्रतका यह संवाद एवं श्रेष्ठ आख्यान सुनकर मनुष्य सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ५९॥

जो मनुष्य भगवान्‌के इस अवतारका प्रतिदिन कीर्तन करता है, उसके सारे संकल्प सिद्ध हो जाते हैं और उसे परमगतिकी प्राप्ति होती है॥ ६०॥ प्रलयकालीन समुद्रमें जब ब्रह्माजी सो गये थे, उनकी सृष्टिशक्ति लुप्त हो चुकी थी, उस समय उनके मुखसे निकली हुई श्रुतियोंको चुराकर हय-ग्रीव दैत्य पातालमें ले गया था। भगवान्‌ने उसे मारकर वे श्रुतियाँ ब्रह्माजीको लौटा दीं एवं सत्यव्रत तथा सप्तर्षियोंको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश किया। उन समस्त जगत्‌के परम कारण लीलामत्स्यभगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मत्स्यावतारचरितानुवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

॥ इत्यष्टमः स्कन्धः समाप्तः॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

---

१. प्रा० पा०—सम्मतः।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्रम्

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥ १ ॥
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।
जिह्वे पिबस्वामृतमेतदेव गोविन्द दामोदर माधवेति॥ २ ॥
विक्रेतुकामाखिलगोपकन्या मुरारिपादार्पितचित्तवृत्तिः।
दध्यादिकं मोहवशादवोचद् गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ३ ॥
गृहे गृहे गोपवधू-कदम्बाः सर्वे मिलित्वा समवाप्य योगम्।
पुण्यानि नामानि पठन्ति नित्यं गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ४ ॥
सुखं शयाना निलये निजेऽपि नामानि विष्णोः प्रवदन्ति मर्त्याः।
ते निश्चितं तन्मयतां व्रजन्ति गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ५ ॥
जिह्वे सदैवं भज सुन्दराणि नामानि कृष्णस्य मनोहराणि।
समस्त-भक्तार्ति-विनाशनानि गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ६ ॥
सुखावसाने इदमेव सारं दुःखावसाने इदमेव ज्ञेयम्।
देहावसाने इदमेव जाप्यं गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ७ ॥
जिह्वे रसज्ञे मधुर-प्रिये त्वं सत्यं हितं त्वां परमं वदामि।
आवर्णयेथा मधुराक्षराणि गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ८ ॥
त्वामेव याचे मम देहि जिह्वे समागते दण्डधरे कृतान्ते।
वक्तव्यमेवं मधुरं सुभक्त्या गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ९ ॥
श्रीकृष्ण राधावर गोकुलेश गोपाल गोवर्धन नाथ विष्णो।
जिह्वे पिबस्वामृतमेतदेव गोविन्द दामोदर माधवेति॥१०॥

षट्पदी

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥ १ ॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे॥ २ ॥

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥ ३ ॥
उद्धृतनग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे।
दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः॥ ४ ॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवतावता सदा वसुधाम्।
परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम्॥ ५ ॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द।
भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे॥ ६ ॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु॥ ७ ॥

इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं षट्पदीस्तोत्रं सम्पूर्णम्।

कैवल्याष्टकम्

मधुरं मधुरेभ्योऽपि मङ्गलेभ्योऽपि मङ्गलम्।
पावनं पावनेभ्योऽपि हरेर्नामैव केवलम्॥ १ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वं मायामयं जगत्।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं हरेर्नामैव केवलम्॥ २ ॥
स गुरुः स पिता चापि सा माता बान्धवोऽपि सः।
शिक्षयेच्चेत्सदा स्मर्तुं हरेर्नामैव केवलम्॥ ३ ॥
निःश्वासे न हि विश्वासः कदा रुद्धो भविष्यति।
कीर्तनीयमतो बाल्याद्धरेर्नामैव केवलम्॥ ४ ॥
हरिः सदा वसेत्तत्र यत्र भागवता जनाः।
गायन्ति भक्तिभावेन हरेर्नामैव केवलम्॥ ५ ॥
अहो दुःखं महादुःखं दुःखाद् दुःखतरं यतः।
काचार्थं विस्मृतं रत्नं हरेर्नामैव केवलम्॥ ६ ॥
दीयतां दीयतां कर्णो नीयतां नीयतां वचः।
गीयतां गीयतां नित्यं हरेर्नामैव केवलम्॥ ७ ॥
तृणीकृत्य जगत्सर्वं राजते सकलोपरि।
चिदानन्दमयं शुद्धं हरेर्नामैव केवलम्॥ ८ ॥

इति श्रीकैवल्याष्टकं सम्पूर्णम्।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवतकी आरती

आरति अतिपावन पुरानकी।
धर्म-भक्ति-विज्ञान-खानकी॥ टेक ॥

महापुरान भागवत निरमल।
शुक-मुख-विगलित निगम-कल्प-फल।
परमानन्द-सुधा-रसमय कल।
लीला-रति-रस रसनिधानकी॥ आरति० ॥

कलि-मल-मथनि त्रिताप-निवारिनि।
जन्म-मृत्युमय भव-भय-हारिनि।
सेवत सतत सकल सुख-कारिनि।
सुमहौषधि हरि-चरित-गानकी॥ आरति० ॥

विषय-विलास-विमोह-विनाशिनि।
विमल विराग विवेक विकाशिनि।
भगवत्-तत्त्व-रहस्य-प्रकाशिनि।
परम ज्योति परमात्म-ज्ञानकी॥ आरति० ॥

परमहंस-मुनि-मन उल्लासिनि।
रसिक-हृदय रस-रास विलासिनि।
भुक्ति मुक्ति रति प्रेम सुदासिनि।
कथा अकिञ्चनप्रिय सुजानकी॥ आरति० ॥

॥ श्रीहरिः ॥

महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

श्रीमद्भागवतमहापुराण

[सचित्र, सरल हिन्दी-व्याख्यासहित]

(द्वितीय-खण्ड)

[स्कन्ध ९ से १२ तक]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

एकादश स्कन्ध

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

नवमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुके पुत्र राजा सुद्युम्नकी कथा

राजोवाच

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च॥ १
योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः।
ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया॥ २
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम्।
त्वत्तस्तस्य सुताश्चोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः॥ ३
तेषां वंशं पृथग् ब्रह्मन् वंश्यानुचरितानि[1] च।
कीर्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः॥ ४
ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये।
तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद[2] विक्रमान्॥ ५

सूत उवाच

एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम्।
पृष्टः प्रोवाच भगवाञ्छुकः परमधर्मवित्॥ ६

श्रीशुक उवाच

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतप।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि॥ ७
परावरेषां भूतानामात्मा[3] यः पुरुषः परः।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन॥ ८

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपने सब मन्वन्तरों और उनमें अनन्त शक्तिशाली भगवान्‌के द्वारा किये हुए ऐश्वर्यपूर्ण चरित्रोंका वर्णन किया और मैंने उनका श्रवण भी किया॥ १॥ आपने कहा कि पिछले कल्पके अन्तमें द्रविड़ देशके स्वामी राजर्षि सत्यव्रतने भगवान्‌की सेवासे ज्ञान प्राप्त किया और वही इस कल्पमें वैवस्वत मनु हुए। आपने उनके इक्ष्वाकु आदि नरपति पुत्रोंका भी वर्णन किया॥ २-३॥ ब्रह्मन्! अब आप कृपा करके उनके वंश और वंशमें होनेवालोंका अलग-अलग चरित्र वर्णन कीजिये। महाभाग! हमारे हृदयमें सर्वदा ही कथा सुननेकी उत्सुकता बनी रहती है॥ ४॥ वैवस्वत मनुके वंशमें जो हो चुके हों, इस समय विद्यमान हों और आगे होनेवाले हों—उन सब पवित्रकीर्ति पुरुषोंके पराक्रमका वर्णन कीजिये॥ ५॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! ब्रह्मवादी ऋषियोंकी सभामें राजा परीक्षित्‌ने जब यह प्रश्न किया, तब धर्मके परम मर्मज्ञ भगवान् श्रीशुकदेवजीने कहा॥ ६॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! तुम मनुवंशका वर्णन संक्षेपसे सुनो। विस्तारसे तो सैकड़ों वर्षमें भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ७॥ जो परम पुरुष परमात्मा छोटे-बड़े सभी प्राणियोंके आत्मा हैं, प्रलयके समय केवल वही थे; यह विश्व तथा और

१. वंश्यादिचरि०। २. त्वमनुक्रमात्। ३. मात्मैष पु०।

तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोशो हिरण्मयः।
तस्मिंजज्ञे महाराज स्वयंभूश्चतुराननः॥ ९

मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः।
दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत् सुतः॥ १०

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्॥ ११

इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान्।
नरिष्यन्तं पृषध्रं[1] च नभगं च कविं विभुः॥ १२

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान् किल।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभुः॥ १३

तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता॥ १४

प्रेषितोऽध्वर्युणा होता ध्यायंस्तत् सुसमाहितः।
[2]हविषि व्यचरत् तेन वषट्कारं गृणन्द्विजः॥ १५

होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत्।
तां विलोक्य मनुः प्राह नातिहृष्टमना गुरुम्॥ १६

भगवन् किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम्।
विपर्ययमहो कष्टं मैवं स्याद् ब्रह्मविक्रिया॥ १७

यूयं मन्त्रविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः।
कुतः संकल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव॥ १८

कुछ भी नहीं था॥ ८॥ महाराज! उनकी नाभिसे एक सुवर्णमय कमलकोष प्रकट हुआ। उसीमें चतुर्मुख ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ॥ ९॥ ब्रह्माजीके मनसे मरीचि और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। उनकी धर्मपत्नी दक्षनन्दिनी अदितिसे विवस्वान् (सूर्य)-का जन्म हुआ॥ १०॥ विवस्वान्की संज्ञा नामक पत्नीसे श्राद्धदेव मनुका जन्म हुआ। परीक्षित्! परम मनस्वी राजा श्राद्धदेवने अपनी पत्नी श्रद्धाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न किये। उनके नाम थे—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि॥ ११-१२॥

वैवस्वत मनु पहले सन्तानहीन थे। उस समय सर्वसमर्थ भगवान् वसिष्ठने उन्हें सन्तानप्राप्ति करानेके लिये मित्रावरुणका यज्ञ कराया था॥ १३॥ यज्ञके आरम्भमें केवल दूध पीकर रहनेवाली वैवस्वत मनुकी धर्मपत्नी श्रद्धाने अपने होताके पास जाकर प्रणामपूर्वक याचना की कि मुझे कन्या ही प्राप्त हो॥ १४॥ तब अध्वर्युकी प्रेरणासे होता बने हुए ब्राह्मणने श्रद्धाके कथनका स्मरण करके एकाग्र चित्तसे वषट्कारका उच्चारण करते हुए यज्ञकुण्डमें आहुति दी॥ १५॥ जब होताने इस प्रकार विपरीत कर्म किया, तब यज्ञके फलस्वरूप पुत्रके स्थानपर इला नामकी कन्या हुई। उसे देखकर श्राद्धदेव मनुका मन कुछ विशेष प्रसन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपने गुरु वसिष्ठजीसे कहा— ॥ १६॥ 'भगवन्! आपलोग तो ब्रह्मवादी हैं, आपका कर्म इस प्रकार विपरीत फल देनेवाला कैसे हो गया? अरे, यह तो बड़े दुःखकी बात है। वैदिक कर्मका ऐसा विपरीत फल तो कभी नहीं होना चाहिये॥ १७॥ आप लोगोंका मन्त्रज्ञान तो पूर्ण है ही; इसके अतिरिक्त आपलोग जितेन्द्रिय भी हैं तथा तपस्याके कारण निष्पाप हो चुके हैं। देवताओंमें असत्यकी प्राप्तिके समान आपके संकल्पका यह उलटा फल कैसे हुआ?'॥ १८॥

१. पृथुं वस्वं नाभागं। २. गृहीते हविषि वाचं वष०।

तन्निशम्य वचस्तस्य भगवान् प्रपितामहः।
होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम्॥ १९
एतत् संकल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः।
तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजास्त्वं स्वतेजसा॥ २०
एवं व्यवसितो राजन् भगवान् स महायशाः।
अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया॥ २१
तस्मै कामवरं[1] तुष्टो भगवान् हरिरीश्वरः।
ददाविलाभवत् तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः॥ २२
स एकदा महाराज विचरन् मृगयां वने।
वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य[2] सैन्धवम्॥ २३
प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान्।
दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमुत्तराम्॥ २४
स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह।
यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया॥ २५
तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा।
अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप॥ २६
तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिंगविपर्ययम्।
दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन् वीक्षमाणाः परस्परम्॥ २७

राजोवाच

कथमेवंगुणो देशः केन वा भगवन् कृतः।
प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः॥ २८

श्रीशुक उवाच

एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः।
दिशो वितिमिराभासाः कुर्वन्तः समुपागमन्॥ २९

परीक्षित्! हमारे वृद्धप्रपितामह भगवान् वसिष्ठने उनकी यह बात सुनकर जान लिया कि होताने विपरीत संकल्प किया है। इसलिये उन्होंने वैवस्वत मनुसे कहा— ॥ १९ ॥ 'राजन्! तुम्हारे होताके विपरीत संकल्पसे ही हमारा संकल्प ठीक-ठीक पूरा नहीं हुआ। फिर भी अपने तपके प्रभावसे मैं तुम्हें श्रेष्ठ पुत्र दूँगा'॥ २० ॥

परीक्षित्! परम यशस्वी भगवान् वसिष्ठने ऐसा निश्चय करके उस इला नामकी कन्याको ही पुरुष बना देनेके लिये पुरुषोत्तम भगवान् नारायणकी स्तुति की॥ २१ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने सन्तुष्ट होकर उन्हें मुँहमाँगा वर दिया, जिसके प्रभावसे वह कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गयी॥ २२ ॥

महाराज! एक बार राजा सुद्युम्न शिकार खेलनेके लिये सिन्धुदेशके घोड़ेपर सवार होकर कुछ मन्त्रियोंके साथ वनमें गये॥ २३ ॥ वीर सुद्युम्न कवच पहनकर और हाथमें सुन्दर धनुष एवं अत्यन्त अद्भुत बाण लेकर हरिनोंका पीछा करते हुए उत्तर दिशामें बहुत आगे बढ़ गये॥ २४॥ अन्तमें सुद्युम्न मेरुपर्वतकी तलहटीके एक वनमें चले गये। उस वनमें भगवान् शंकर पार्वतीके साथ विहार करते रहते हैं॥ २५ ॥ उसमें प्रवेश करते ही वीरवर सुद्युम्नने देखा कि मैं स्त्री हो गया हूँ और घोड़ा घोड़ी हो गया है॥ २६ ॥ परीक्षित्! साथ ही उनके सब अनुचरोंने भी अपनेको स्त्रीरूपमें देखा। वे सब एक-दूसरेका मुँह देखने लगे, उनका चित्त बहुत उदास हो गया॥ २७॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! उस भूखण्डमें ऐसा विचित्र गुण कैसे आ गया? किसने उसे ऐसा बना दिया था? आप कृपा कर हमारे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये; क्योंकि हमें बड़ा कौतूहल हो रहा है॥ २८॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! एक दिन भगवान् शंकरका दर्शन करनेके लिये बड़े-बड़े व्रतधारी ऋषि अपने तेजसे दिशाओंका अन्धकार मिटाते हुए उस वनमें गये॥ २९॥

---

१. काम्य०। २. रथ०।

तान् विलोक्याम्बिका देवी विवासा व्रीडिता भृशम्।
भर्तुरंकात् समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात्॥ ३०

ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसंगं रममाणयोः।
निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमम्॥ ३१

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया।
स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद् भवेदिति॥ ३२

तत ऊर्ध्वं वनं तद् वै पुरुषा वर्जयन्ति हि।
सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद् वनम्॥ ३३

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम्।
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान् बुधः॥ ३४

सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम्।
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम्॥ ३५

एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः।
सस्मार स्वकुलाचार्यं वसिष्ठमिति शुश्रुम॥ ३६

स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः।
सुद्युम्नस्याशयन् पुंस्त्वमुपाधावत शंकरम्॥ ३७

तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन्।
स्वां च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशाम्पते॥ ३८

मासं पुमान् स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः।
इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम्॥ ३९

उस समय अम्बिका देवी वस्त्रहीन थीं। ऋषियोंको सहसा आया देख वे अत्यन्त लज्जित हो गयीं। झटपट उन्होंने भगवान् शंकरकी गोदसे उठकर वस्त्र धारण कर लिया॥ ३०॥

ऋषियोंने भी देखा कि भगवान् गौरी-शंकर इस समय विहार कर रहे हैं, इसलिये वहाँसे लौटकर वे भगवान् नर-नारायणके आश्रमपर चले गये॥ ३१॥ उसी समय भगवान् शंकरने अपनी प्रिया भगवती अम्बिकाको प्रसन्न करनेके लिये कहा कि 'मेरे सिवा जो भी पुरुष इस स्थानमें प्रवेश करेगा, वही स्त्री हो जायेगा'॥ ३२॥ परीक्षित्! तभीसे पुरुष उस स्थानमें प्रवेश नहीं करते। अब सुद्युम्न स्त्री हो गये थे। इसलिये वे अपने स्त्री बने हुए अनुचरोंके साथ एक वनसे दूसरे वनमें विचरने लगे॥ ३३॥

उसी समय शक्तिशाली बुधने देखा कि मेरे आश्रमके पास ही बहुत-सी स्त्रियोंसे घिरी हुई एक सुन्दरी स्त्री विचर रही है। उन्होंने इच्छा की कि यह मुझे प्राप्त हो जाय॥ ३४॥ उस सुन्दरी स्त्रीने भी चन्द्रकुमार बुधको पति बनाना चाहा। इसपर बुधने उसके गर्भसे पुरूरवा नामका पुत्र उत्पन्न किया॥ ३५॥ इस प्रकार मनुपुत्र राजा सुद्युम्न स्त्री हो गये। ऐसा सुनते हैं कि उन्होंने उस अवस्थामें अपने कुलपुरोहित वसिष्ठजीका स्मरण किया॥ ३६॥

सुद्युम्नकी यह दशा देखकर वसिष्ठजीके हृदयमें कृपावश अत्यन्त पीड़ा हुई। उन्होंने सुद्युम्नको पुनः पुरुष बना देनेके लिये भगवान् शंकरकी आराधना की॥ ३७॥ भगवान् शंकर वसिष्ठजीपर प्रसन्न हुए। परीक्षित्! उन्होंने उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये अपनी वाणीको सत्य रखते हुए ही यह बात कही—॥ ३८॥

'वसिष्ठ! तुम्हारा यह यजमान एक महीनेतक पुरुष रहेगा और एक महीनेतक स्त्री। इस व्यवस्थासे सुद्युम्न इच्छानुसार पृथ्वीका पालन करे'॥ ३९॥

आचार्यानुग्रहात् कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया।
पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन् स्म तं प्रजाः॥ ४०
तस्योत्कलो गयो राजन् विमलश्च सुतास्त्रयः।
दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्मवत्सलाः॥ ४१
ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः।
पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम्॥ ४२

इस प्रकार वसिष्ठजीके अनुग्रहसे व्यवस्था-पूर्वक अभीष्ट पुरुषत्व लाभ करके सुद्युम्न पृथ्वीका पालन करने लगे। परंतु प्रजा उनका अभिनन्दन नहीं करती थी॥ ४०॥ उनके तीन पुत्र हुए—उत्कल, गय और विमल। परीक्षित्! वे सब दक्षिणापथके राजा हुए॥ ४१॥

बहुत दिनोंके बाद वृद्धावस्था आनेपर प्रतिष्ठान नगरीके अधिपति सुद्युम्नने अपने पुत्र पुरूरवाको राज्य दे दिया और स्वयं तपस्या करनेके लिये वनकी यात्रा की॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे इलोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

पृषध्र आदि मनुके पाँच पुत्रोंका वंश

श्रीशुक उवाच

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते।
पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः॥ १

ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम्।
इक्ष्वाकुपूर्वजान् पुत्राँल्लेभे स्वसदृशान् दश॥ २

पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः।
पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः॥ ३

एकदा प्राविशद् गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति।
शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे॥ ४

एकां जग्राह बलवान् सा चुक्रोश भयातुरा।
तस्यास्तत् क्रन्दितं श्रुत्वा पृषध्रोऽभिससार ह॥ ५

खड्गमादाय तरसा प्रलीनोडुगणे निशि।
अजानन्नहनद् बभ्रोः शिरः शार्दूलशंकया॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार जब सुद्युम्न तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये, तब वैवस्वत मनुने पुत्रकी कामनासे यमुनाके तटपर सौ वर्षतक तपस्या की॥ १॥ इसके बाद उन्होंने सन्तानके लिये सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी आराधना की और अपने ही समान दस पुत्र प्राप्त किये, जिनमें सबसे बड़े इक्ष्वाकु थे॥ २॥

उन मनुपुत्रोंमेंसे एकका नाम था पृषध्र। गुरु वसिष्ठजीने उसे गायोंकी रक्षामें नियुक्त कर रखा था, अतः वह रात्रिके समय बड़ी सावधानीसे वीरासनसे बैठा रहता और गायोंकी रक्षा करता॥ ३॥ एक दिन रातमें वर्षा हो रही थी। उस समय गायोंके झुंडमें एक बाघ घुस आया। उससे डरकर सोयी हुई गौएँ उठ खड़ी हुईं। वे गोशालामें ही इधर-उधर भागने लगीं॥ ४॥ बलवान् बाघने एक गायको पकड़ लिया। वह अत्यन्त भयभीत होकर चिल्लाने लगी। उसका वह क्रन्दन सुनकर पृषध्र गायके पास दौड़ आया॥ ५॥ एक तो रातका समय और दूसरे घनघोर घटाओंसे आच्छादित होनेके कारण तारे भी नहीं दीखते थे। उसने हाथमें तलवार उठाकर अनजानमें ही बड़े वेगसे गायका सिर काट दिया। वह समझ रहा था कि यही बाघ है॥ ६॥

व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः।
निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन्॥ ७

मन्यमानो हतं व्याघ्रं पृषध्रः परवीरहा।
अद्राक्षीत् स्वहतां बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः॥ ८

तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः।
न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना॥ ९

एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्णात् कृतांजलिः।
अधारयद् व्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम्॥ १०

वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले।
एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत् समः॥ ११

विमुक्तसंगः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः॥ १२

आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः[1] समाहितः।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः॥ १३

एवंवृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम्।
तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः॥ १४

कविः कनीयान् विषयेषु निःस्पृहो
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम्।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं
विवेश कैशोरवयाः परं गतः॥ १५

तलवारकी नोकसे बाघका भी कान कट गया, वह अत्यन्त भयभीत होकर रास्तेमें खून गिराता हुआ वहाँसे निकल भागा॥ ७॥ शत्रुदमन पृषध्रने यह समझा कि बाघ मर गया। परंतु रात बीतनेपर उसने देखा कि मैंने तो गायको ही मार डाला है, इससे उसे बड़ा दुःख हुआ॥ ८॥

यद्यपि पृषध्रने जान-बूझकर अपराध नहीं किया था, फिर भी कुलपुरोहित वसिष्ठजीने उसे शाप दिया कि 'तुम इस कर्मसे क्षत्रिय नहीं रहोगे; जाओ, शूद्र हो जाओ'॥ ९॥ पृषध्रने अपने गुरुदेवका यह शाप अंजलि बाँधकर स्वीकार किया और इसके बाद सदाके लिये मुनियोंको प्रिय लगनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण किया॥ १०॥

वह समस्त प्राणियोंका अहेतुक हितैषी एवं सबके प्रति समान भावसे युक्त होकर भक्तिके द्वारा परम विशुद्ध सर्वात्मा भगवान् वासुदेवका अनन्य प्रेमी हो गया॥ ११॥ उसकी सारी आसक्तियाँ मिट गयीं। वृत्तियाँ शान्त हो गयीं। इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं। वह कभी किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह नहीं रखता था। जो कुछ दैववश प्राप्त हो जाता, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह कर लेता॥ १२॥

वह आत्मज्ञानसे सन्तुष्ट एवं अपने चित्तको परमात्मामें स्थित करके प्रायः समाधिस्थ रहता। कभी-कभी जड, अंधे और बहरेके समान पृथ्वीपर विचरण करता॥ १३॥

इस प्रकारका जीवन व्यतीत करता हुआ वह एक दिन वनमें गया। वहाँ उसने देखा कि दावानल धधक रहा है। मननशील पृषध्र अपनी इन्द्रियोंको उसी अग्निमें भस्म करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गया॥ १४॥

मनुका सबसे छोटा पुत्र था कवि। विषयोंसे वह अत्यन्त निःस्पृह था। वह राज्य छोड़कर अपने बन्धुओंके साथ वनमें चला गया और अपने हृदयमें स्वयंप्रकाश परमात्माको विराजमान कर किशोर अवस्थामें ही परम पदको प्राप्त हो गया॥ १५॥

१. ज्ञानहृष्टः।

करूषान्मानवादासन् कारूषाः क्षत्रजातयः।
उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः॥ १६
धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ।
नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः॥ १७
वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता।
कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम्॥ १८
चित्रसेनो नरिष्यन्तादृक्षस्तस्य सुतोऽभवत्।
तस्य मीढ्वांस्ततः कूर्च इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः॥ १९
वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात् तस्य सत्यश्रवा अभूत्।
उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत्॥ २०
ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत् सुतः।
कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः॥ २१
ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप।
नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः शृणु॥ २२
नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः।
भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात्॥ २३
वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं विदुः।
खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः॥ २४
विविंशतिसुतो रम्भः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः।
करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप॥ २५
तस्यावीक्षित् सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत्।
संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यंगिरःसुतः॥ २६
मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन।
सर्वं हिरण्मयं त्वासीद् यत् किञ्चिच्चास्य[1] शोभनम्॥ २७

मनुपुत्र करूषसे कारूष नामक क्षत्रिय उत्पन्न हुए। वे बड़े ही ब्राह्मणभक्त, धर्मप्रेमी एवं उत्तरापथके रक्षक थे॥ १६॥

धृष्टके धार्ष्ट नामक क्षत्रिय हुए। अन्तमें वे इस शरीरसे ही ब्राह्मण बन गये। नृगका पुत्र हुआ सुमति, उसका पुत्र भूतज्योति और भूतज्योतिका पुत्र वसु था॥ १७॥ वसुका पुत्र प्रतीक और प्रतीकका पुत्र ओघवान्। ओघवान्के पुत्रका नाम भी ओघवान् ही था। उनके एक ओघवती नामकी कन्या भी थी, जिसका विवाह सुदर्शनसे हुआ॥ १८॥ मनुपुत्र नरिष्यन्तसे चित्रसेन, उससे ऋक्ष, ऋक्षसे मीढ्वान्, मीढ्वान्से कूर्च और उससे इन्द्रसेनकी उत्पत्ति हुई॥ १९॥ इन्द्रसेनसे वीतिहोत्र, उससे सत्यश्रवा, सत्यश्रवासे उरुश्रवा और उससे देवदत्तकी उत्पत्ति हुई॥ २०॥

देवदत्तके अग्निवेश्य नामक पुत्र हुए, जो स्वयं अग्निदेव ही थे। आगे चलकर वे ही कानीन एवं महर्षि जातूकर्ण्यके नामसे विख्यात हुए॥ २१॥ परीक्षित्! ब्राह्मणोंका 'आग्निवेश्यायन' गोत्र उन्हींसे चला है। इस प्रकार नरिष्यन्तके वंशका मैंने वर्णन किया, अब दिष्टका वंश सुनो॥ २२॥ दिष्टके पुत्रका नाम था नाभाग। यह उस नाभागसे अलग है, जिसका मैं आगे वर्णन करूँगा। वह अपने कर्मके कारण वैश्य हो गया। उसका पुत्र हुआ भलन्दन और उसका वत्सप्रीति॥ २३॥ वत्सप्रीतिका प्रांशु और प्रांशुका पुत्र हुआ प्रमति। प्रमतिके खनित्र, खनित्रके चाक्षुष और उनके विविंशति हुए॥ २४॥ विविंशतिके पुत्र रम्भ और रम्भके पुत्र खनिनेत्र—दोनों ही परम धार्मिक हुए। उनके पुत्र करन्धम और करन्धमके अवीक्षित्। महाराज परीक्षित्! अवीक्षित्के पुत्र मरुत्त चक्रवर्ती राजा हुए। उनसे अंगिराके पुत्र महायोगी संवर्त्त ऋषिने यज्ञ कराया था॥ २५-२६॥ मरुत्तका यज्ञ जैसा हुआ वैसा और किसीका नहीं हुआ। उस यज्ञके समस्त छोटे-बड़े पात्र अत्यन्त सुन्दर एवं सोनेके बने हुए थे॥ २७॥

१. च्चात्र।

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः॥ २८
मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद् राज्यवर्धनः।
सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः॥ २९
तत्सुतः केवलस्तस्माद् बन्धुमान् वेगवांस्ततः।
बन्धुस्तस्याभवद् यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः॥ ३०
तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम्।
वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेडविडाभवत्॥ ३१
तस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम्।
प्रादाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरात् पितुः॥ ३२
विशालः शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च तत्सुताः।
विशालो वंशकृद् राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्॥ ३३
हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः।
तत्पुत्रात् संयमादासीत् कृशाश्वः सहदेवजः॥ ३४
कृशाश्वात् सोमदत्तोऽभूद् योऽश्वमेधैरिडस्पतिम्।
इष्ट्वा पुरुषमापाग्र्यां गतिं योगेश्वराश्रितः॥ ३५
सौमदत्तिस्तु सुमतिस्तत्सुतो जनमेजयः।
एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः॥ ३६

उस यज्ञमें इन्द्र सोमपान करके मतवाले हो गये थे और दक्षिणाओंसे ब्राह्मण तृप्त हो गये थे। उसमें परसनेवाले थे मरुद्गण और विश्वेदेव सभासद् थे॥ २८॥ मरुत्तके पुत्रका नाम था दम। दमसे राज्यवर्धन, उससे सुधृति और सुधृतिसे नर नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई॥ २९॥ नरसे केवल, केवलसे बन्धुमान्, बन्धुमान्से वेगवान्, वेगवान्से बन्धु और बन्धुसे राजा तृणबिन्दुका जन्म हुआ॥ ३०॥

तृणबिन्दु आदर्श गुणोंके भण्डार थे। अप्सराओंमें श्रेष्ठ अलम्बुषा देवीने उनको वरण किया, जिससे उनके कई पुत्र और इडविडा नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई॥ ३१॥ मुनिवर विश्रवाने अपने योगेश्वर पिता पुलस्त्यजीसे उत्तम विद्या प्राप्त करके इडविडाके गर्भसे लोकपाल कुबेरको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया॥ ३२॥ महाराज तृणबिन्दुके अपनी धर्मपत्नीसे तीन पुत्र हुए—विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु। उनमेंसे राजा विशाल वंशधर हुए और उन्होंने वैशाली नामकी नगरी बसायी॥ ३३॥ विशालसे हेमचन्द्र, हेमचन्द्रसे धूम्राक्ष, धूम्राक्षसे संयम और संयमसे दो पुत्र हुए—कृशाश्व और देवज॥ ३४॥ कृशाश्वके पुत्रका नाम था सोमदत्त। उसने अश्वमेध यज्ञोंके द्वारा यज्ञपति भगवान्की आराधना की और योगेश्वर संतोंका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त की॥ ३५॥ सोमदत्तका पुत्र हुआ सुमति और सुमतिसे जनमेजय। ये सब तृणबिन्दुकी कीर्तिको बढ़ानेवाले विशालवंशी राजा हुए॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

महर्षि च्यवन और सुकन्याका चरित्र, राजा शर्यातिका वंश

श्रीशुक उवाच

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह।
यो वा अंगिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मनुपुत्र राजा शर्याति वेदोंका निष्ठावान् विद्वान् था। उसने अंगिरागोत्रके ऋषियोंके यज्ञमें दूसरे दिनका कर्म बतलाया था॥ १॥

सुकन्या नाम तस्यासीत् कन्या कमललोचना।
तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम्॥ २

सा सखीभिः परिवृता विचिन्वत्यङ्घ्रिपान् वने।
वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी॥ ३

ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै।
अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्रावासृक् ततो बहु॥ ४

शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत् सैनिकानां च तत्क्षणात्।
राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान् विस्मितोऽब्रवीत्॥ ५

अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम्।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम्॥ ६

सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित् कृतं मया।
द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन वै॥ ७

दुहितुस्तद् वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः।
मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः॥ ८

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद् दुहितरं मुनेः।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात् समाहितः॥ ९

सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम्।
प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः॥ १०

कस्यचित् त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ।
तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ॥ ११

ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः।
क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यदीप्सितम्॥ १२

उसकी एक कमललोचना कन्या थी। उसका नाम था सुकन्या। एक दिन राजा शर्याति अपनी कन्याके साथ वनमें घूमते-घूमते च्यवन ऋषिके आश्रमपर जा पहुँचे॥ २॥ सुकन्या अपनी सखियोंके साथ वनमें घूम-घूमकर वृक्षोंका सौन्दर्य देख रही थी। उसने एक स्थानपर देखा कि बाँबी (दीमकोंकी एकत्रित की हुई मिट्टी)-के छेदमेंसे जुगनूकी तरह दो ज्योतियाँ दीख रही हैं॥ ३॥ दैवकी कुछ ऐसी ही प्रेरणा थी, सुकन्याने बालसुलभ चपलतासे एक काँटेके द्वारा उन ज्योतियोंको बेध दिया। इससे उनमेंसे बहुत-सा खून बह चला॥ ४॥ उसी समय राजा शर्यातिके सैनिकोंका मल-मूत्र रुक गया। राजर्षि शर्यातिको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने अपने सैनिकोंसे कहा॥ ५॥ 'अरे, तुम-लोगोंने कहीं महर्षि च्यवनजीके प्रति कोई अनुचित व्यवहार तो नहीं कर दिया? मुझे तो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि हमलोगोंमेंसे किसी-न-किसीने उनके आश्रममें कोई अनर्थ किया है'॥ ६॥ तब सुकन्याने अपने पितासे डरते-डरते कहा कि 'पिताजी! मैंने कुछ अपराध अवश्य किया है। मैंने अनजानमें दो ज्योतियोंको काँटेसे छेद दिया है'॥ ७॥ अपनी कन्याकी यह बात सुनकर शर्याति घबरा गये। उन्होंने धीरे-धीरे स्तुति करके बाँबीमें छिपे हुए च्यवन मुनिको प्रसन्न किया॥ ८॥ तदनन्तर च्यवन मुनिका अभिप्राय जानकर उन्होंने अपनी कन्या उन्हें समर्पित कर दी और इस संकटसे छूटकर बड़ी सावधानीसे उनकी अनुमति लेकर वे अपनी राजधानीमें चले आये॥ ९॥ इधर सुकन्या परम क्रोधी च्यवन मुनिको अपने पतिके रूपमें प्राप्त करके बड़ी सावधानीसे उनकी सेवा करती हुई उन्हें प्रसन्न करने लगी। वह उनकी मनोवृत्तिको जानकर उसके अनुसार ही बर्ताव करती थी॥ १०॥ कुछ समय बीत जानेपर उनके आश्रमपर दोनों अश्विनीकुमार आये। च्यवन मुनिने उनका यथोचित सत्कार किया और कहा कि 'आप दोनों समर्थ हैं, इसलिये मुझे युवा-अवस्था प्रदान कीजिये। मेरा रूप एवं अवस्था ऐसी कर दीजिये, जिसे युवती स्त्रियाँ चाहती हैं। मैं जानता हूँ कि आपलोग सोमपानके अधिकारी नहीं हैं, फिर भी मैं आपको यज्ञमें सोमरसका भाग दूँगा'॥ ११-१२॥

बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ।
निमज्जतां भवानस्मिन् ह्रदे सिद्धविनिर्मिते॥ १३

इत्युक्त्वा जरया ग्रस्तदेहो धमनिसन्ततः।
ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविप्रियः॥ १४

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीच्या[1] वनिताप्रियाः।
पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपाः सुवाससः॥ १५

तान् निरीक्ष्य वरारोहा स[2]रूपान् सूर्यवर्चसः।
अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ शरणं ययौ॥ १६

दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ।
ऋषिमामन्त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम्॥ १७

यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं गतः।
ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम्॥ १८

राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम्।
[3]आशिषश्चाप्रयुंजानो नातिप्रीतमना इव॥ १९

चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया
प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः।
यत् त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं
विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम्॥ २०

कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां
कुलप्रसूते कुलदूषणं त्विदम्।
बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं
पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः॥ २१

वैद्यशिरोमणि अश्विनीकुमारोंने महर्षि च्यवनका अभिनन्दन करके कहा, 'ठीक है।' और इसके बाद उनसे कहा कि 'यह सिद्धोंके द्वारा बनाया हुआ कुण्ड है, आप इसमें स्नान कीजिये'॥ १३॥ च्यवन मुनिके शरीरको बुढ़ापेने घेर रखा था। सब ओर नसें दीख रही थीं, झुर्रियाँ पड़ जाने एवं बाल पक जानेके कारण वे देखनेमें बहुत भद्दे लगते थे। अश्विनीकुमारोंने उन्हें अपने साथ लेकर कुण्डमें प्रवेश किया॥ १४॥ उसी समय कुण्डसे तीन पुरुष बाहर निकले। वे तीनों ही कमलोंकी माला, कुण्डल और सुन्दर वस्त्र पहने एक-से मालूम होते थे। वे बड़े ही सुन्दर एवं स्त्रियोंको प्रिय लगनेवाले थे॥ १५॥ परम साध्वी सुन्दरी सुकन्याने जब देखा कि ये तीनों ही एक आकृतिके तथा सूर्यके समान तेजस्वी हैं, तब अपने पतिको न पहचानकर उसने अश्विनीकुमारोंकी शरण ली॥ १६॥ उसके पातिव्रत्यसे अश्विनीकुमार बहुत सन्तुष्ट हुए। उन्होंने उसके पतिको बतला दिया और फिर च्यवन मुनिसे आज्ञा लेकर विमानके द्वारा वे स्वर्गको चले गये॥ १७॥

कुछ समयके बाद यज्ञ करनेकी इच्छासे राजा शर्याति च्यवन मुनिके आश्रमपर आये। वहाँ उन्होंने देखा कि उनकी कन्या सुकन्याके पास एक सूर्यके समान तेजस्वी पुरुष बैठा हुआ है॥ १८॥ सुकन्याने उनके चरणोंकी वन्दना की। शर्यातिने उसे आशीर्वाद नहीं दिया और कुछ अप्रसन्न-से होकर बोले॥ १९॥ 'दुष्टे! यह तूने क्या किया? क्या तूने सबके वन्दनीय च्यवन मुनिको धोखा दे दिया? अवश्य ही तूने उनको बूढ़ा और अपने कामका न समझकर छोड़ दिया और अब तू इस राह चलते जार पुरुषकी सेवा कर रही है॥ २०॥ तेरा जन्म तो बड़े ऊँचे कुलमें हुआ था। यह उलटी बुद्धि तुझे कैसे प्राप्त हुई? तेरा यह व्यवहार तो कुलमें कलंक लगानेवाला है। अरे राम-राम! तू निर्लज्ज होकर जार पुरुषकी सेवा कर रही है और इस प्रकार अपने पिता और पति दोनोंके वंशको घोर नरकमें ले जा रही है'॥ २१॥

१. रापीच्या। २. पुरुषान् सू०। ३. आशिषो न प्रयु०।

एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता।
उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः॥ २२

शशंस पित्रे तत् सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम्।
विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिषस्वजे॥ २३

सोमेन याजयन् वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत्।
असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा॥ २४

हन्तुं तमाददे वज्रं सद्योमन्युरमर्षितः।
सवज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः॥ २५

अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः।
भिषजाविति यत् पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ॥ २६

उत्तानबर्हिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः।
शर्यातेरभवन् पुत्रा आनर्ताद् रेवतोऽभवत्॥ २७

सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम्।
आस्थितोऽभुङ्क्त विषयानानर्तादीनरिन्दम॥ २८

तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम्।
ककुद्मी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः॥ २९

कन्यावरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम्।
आवर्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणम्॥ ३०

तदन्त आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत्।
तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह॥ ३१

राजा शर्यातिके इस प्रकार कहनेपर पवित्र मुसकानवाली सुकन्याने मुसकराकर कहा—'पिताजी! ये आपके जामाता स्वयं भृगुनन्दन महर्षि च्यवन ही हैं'॥ २२॥ इसके बाद उसने अपने पितासे महर्षि च्यवनके यौवन और सौन्दर्यकी प्राप्तिका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वह सब सुनकर राजा शर्याति अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने बड़े प्रेमसे अपनी पुत्रीको गलेसे लगा लिया॥ २३॥

महर्षि च्यवनने वीर शर्यातिसे सोमयज्ञका अनुष्ठान करवाया और सोमपानके अधिकारी न होनेपर भी अपने प्रभावसे अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया॥ २४॥ इन्द्र बहुत जल्दी क्रोध कर बैठते हैं। इसलिये उनसे यह सहा न गया। उन्होंने चिढ़कर शर्यातिको मारनेके लिये वज्र उठाया। महर्षि च्यवनने वज्रके साथ उनके हाथको वहीं स्तम्भित कर दिया॥ २५॥

तब सब देवताओंने अश्विनीकुमारोंको सोमका भाग देना स्वीकार कर लिया। उन लोगोंने वैद्य होनेके कारण पहले अश्विनीकुमारोंका सोमपानसे बहिष्कार कर रखा था॥ २६॥

परीक्षित्! शर्यातिके तीन पुत्र थे—उत्तानबर्हि, आनर्त और भूरिषेण। आनर्तसे रेवत हुए॥ २७॥ महाराज! रेवतने समुद्रके भीतर कुशस्थली नामकी एक नगरी बसायी थी। उसीमें रहकर वे आनर्त आदि देशोंका राज्य करते थे॥ २८॥

उनके सौ श्रेष्ठ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े थे ककुद्मी। ककुद्मी अपनी कन्या रेवतीको लेकर उसके लिये वर पूछनेके उद्देश्यसे ब्रह्माजीके पास गये। उस समय ब्रह्मलोकका रास्ता ऐसे लोगोंके लिये बेरोक-टोक था। ब्रह्मलोकमें गाने-बजानेकी धूम मची हुई थी। बातचीतके लिये अवसर न मिलनेके कारण वे कुछ क्षण वहीं ठहर गये॥ २९-३०॥

उत्सवके अन्तमें ब्रह्माजीको नमस्कार करके उन्होंने अपना अभिप्राय निवेदन किया। उनकी बात सुनकर भगवान् ब्रह्माजीने हँसकर उनसे कहा—॥ ३१॥

अहो राजन् निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः।
तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणां गोत्राणि च न शृण्महे॥ ३२

'महाराज! तुमने अपने मनमें जिन लोगोंके विषयमें सोच रखा था, वे सब तो कालके गालमें चले गये। अब उनके पुत्र, पौत्र अथवा नातियोंकी तो बात ही क्या है, गोत्रोंके नाम भी नहीं सुनायी पड़ते॥ ३२॥

कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः।
तद् गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः॥ ३३

कन्यारत्नमिदं राजन् नररत्नाय देहि भोः।
भुवो भारावताराय भगवान् भूतभावनः॥ ३४

अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्तनः।
इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याजं नृपः स्वपुरमागतः।
त्यक्तं पुण्यजनत्रासाद् भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः॥ ३५

इस बीचमें सत्ताईस चतुर्युगीका समय बीत चुका है। इसलिये तुम जाओ। इस समय भगवान् नारायणके अंशावतार महाबली बलदेवजी पृथ्वीपर विद्यमान हैं॥ ३३॥ राजन्! उन्हीं नररत्नको यह कन्यारत्न तुम समर्पित कर दो। जिनके नाम, लीला आदिका श्रवण-कीर्तन बड़ा ही पवित्र है—वे ही प्राणियोंके जीवनसर्वस्व भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अपने अंशसे अवतीर्ण हुए हैं।' राजा ककुद्मीने ब्रह्माजीका यह आदेश प्राप्त करके उनके चरणोंकी वन्दना की और अपने नगरमें चले आये। उनके वंशजोंने यक्षोंके भयसे वह नगरी छोड़ दी थी और जहाँ-तहाँ यों ही निवास कर रहे थे॥ ३४-३५॥

सुतां दत्त्वानवद्यांगीं बलाय बलशालिने।
बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम्॥ ३६

राजा ककुद्मीने अपनी सर्वांगसुन्दरी पुत्री परम बलशाली बलरामजीको सौंप दी और स्वयं तपस्या करनेके लिये भगवान् नर-नारायणके आश्रम बदरीवनकी ओर चल दिये॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

नाभाग और अम्बरीषकी कथा

श्रीशुक उवाच

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम्।
यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मनुपुत्र नभगका पुत्र था नाभाग। जब वह दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यका पालन करके लौटा, तब बड़े भाइयोंने अपनेसे छोटे किन्तु विद्वान् भाईको हिस्सेमें केवल पिताको ही दिया (सम्पत्ति तो उन्होंने पहले ही आपसमें बाँट ली थी)॥ १॥

भ्रातरोऽभाङ्क्त किं मह्यं भजाम पितरं तव।
त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः॥ २

उसने अपने भाइयोंसे पूछा—'भाइयो! आपलोगोंने मुझे हिस्सेमें क्या दिया है?' तब उन्होंने उत्तर दिया कि 'हम तुम्हारे हिस्सेमें पिताजीको ही तुम्हें देते हैं।' उसने अपने पितासे जाकर कहा—'पिताजी! मेरे बड़े भाइयोंने हिस्सेमें मेरे लिये आपको ही दिया है।' पिताने कहा—'बेटा! तुम उनकी बात न मानो॥ २॥

इमे अंगिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः।
षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि॥ ३

देखो, ये बड़े बुद्धिमान् आंगिरसगोत्रके ब्राह्मण इस समय एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। परन्तु मेरे विद्वान् पुत्र! वे प्रत्येक छठे दिन अपने कर्ममें भूल कर बैठते हैं॥ ३॥

तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः॥ ४

दास्यन्ति तेऽथ तान् गच्छ तथा स कृतवान् यथा।
तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषितम्[1]॥ ५

तुम उन महात्माओंके पास जाकर उन्हें वैश्वदेवसम्बन्धी दो सूक्त बतला दो; जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे, तब यज्ञसे बचा हुआ अपना सारा धन तुम्हें दे देंगे। इसलिये अब तुम उन्हींके पास चले जाओ।' उसने अपने पिताके आज्ञानुसार वैसा ही किया। उन आंगिरसगोत्री ब्राह्मणोंने भी यज्ञका बचा हुआ धन उसे दे दिया और वे स्वर्गमें चले गये॥ ४-५॥

तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु॥ ६

जब नाभाग उस धनको लेने लगा, तब उत्तर दिशासे एक काले रंगका पुरुष आया। उसने कहा—'इस यज्ञभूमिमें जो कुछ बचा हुआ है, वह सब धन मेरा है'॥ ६॥

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः।
स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान् पितरं तथा॥ ७

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित्।
चक्रुर्विभागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति॥ ८

नाभागने कहा—'ऋषियोंने यह धन मुझे दिया है, इसलिये मेरा है।' इसपर उस पुरुषने कहा—'हमारे विवादके विषयमें तुम्हारे पितासे ही प्रश्न किया जाय।' तब नाभागने जाकर पितासे पूछा॥ ७॥ पिताने कहा—'एक बार दक्षप्रजापतिके यज्ञमें ऋषिलोग यह निश्चय कर चुके हैं कि यज्ञभूमिमें जो कुछ बच रहता है, वह सब रुद्रदेवका हिस्सा है। इसलिये वह धन तो महादेवजीको ही मिलना चाहिये'॥ ८॥

नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम्।
इत्याह मे पिता ब्रह्मञ्छिरसा त्वां प्रसादये॥ ९

यत् ते पितावदद् धर्मं त्वं च सत्यं प्रभाषसे।
ददामि ते मन्त्रदृशे ज्ञानं ब्रह्म सनातनम्॥ १०

नाभागने जाकर उन काले रंगके पुरुष रुद्रभगवान्को प्रणाम किया और कहा कि 'प्रभो! यज्ञभूमिकी सभी वस्तुएँ आपकी हैं, मेरे पिताने ऐसा ही कहा है। भगवन्! मुझसे अपराध हुआ, मैं सिर झुकाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ'॥ ९॥ तब भगवान् रुद्रने कहा—'तुम्हारे पिताने धर्मके अनुकूल निर्णय दिया है और तुमने भी मुझसे सत्य ही कहा है। तुम वेदोंका अर्थ तो पहलेसे ही जानते हो। अब मैं तुम्हें सनातन ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान देता हूँ॥ १०॥

---

१. शेषणम्।

गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रे परिशेषितम्।
इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान् सत्यवत्सलः॥ ११

य एतत् संस्मरेत् प्रातः सायं च सुसमाहितः।
कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिं चैव तथाऽऽत्मनः॥ १२

नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती।
नास्पृशद् ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित्॥ १३

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः।
न प्राभूद् यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः॥ १४

श्रीशुक उवाच

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम्।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि॥ १५

मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान्॥ १६

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम्॥ १७

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥ १८

मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥ १९

यहाँ यज्ञमें बचा हुआ मेरा जो अंश है, यह धन भी मैं तुम्हें ही दे रहा हूँ; तुम इसे स्वीकार करो।' इतना कहकर सत्यप्रेमी भगवान् रुद्र अन्तर्धान हो गये॥ ११॥ जो मनुष्य प्रातः और सायंकाल एकाग्रचित्तसे इस आख्यानका स्मरण करता है वह प्रतिभाशाली एवं वेदज्ञ तो होता ही है, साथ ही अपने स्वरूपको भी जान लेता है॥ १२॥ नाभागके पुत्र हुए अम्बरीष। वे भगवान्‌के बड़े प्रेमी एवं उदार धर्मात्मा थे। जो ब्रह्मशाप कभी कहीं रोका नहीं जा सका, वह भी अम्बरीषका स्पर्श न कर सका॥ १३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मैं परमज्ञानी राजर्षि अम्बरीषका चरित्र सुनना चाहता हूँ। ब्राह्मणने क्रोधित होकर उन्हें ऐसा दण्ड दिया जो किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता; परन्तु वह भी उनका कुछ न बिगाड़ सका॥ १४॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! अम्बरीष बड़े भाग्यवान् थे। पृथ्वीके सातों द्वीप, अचल सम्पत्ति और अतुलनीय ऐश्वर्य उनको प्राप्त था। यद्यपि ये सब साधारण मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएँ हैं, फिर भी वे इन्हें स्वप्नतुल्य समझते थे। क्योंकि वे जानते थे कि जिस धन-वैभवके लोभमें पड़कर मनुष्य घोर नरकमें जाता है, वह केवल चार दिनकी चाँदनी है। उसका दीपक तो बुझा-बुझाया है॥ १५-१६॥ भगवान् श्रीकृष्णमें और उनके प्रेमी साधुओंमें उनका परम प्रेम था। उस प्रेमके प्राप्त हो जानेपर तो यह सारा विश्व और इसकी समस्त सम्पत्तियाँ मिट्टीके ढेलेके समान जान पड़ती हैं॥ १७॥ उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दयुगलमें, वाणीको भगवद्गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरि-मन्दिरके मार्जन-सेचनमें और अपने कानोंको भगवान् अच्युतकी मंगलमयी कथाके श्रवणमें लगा रखा था॥ १८॥ उन्होंने अपने नेत्र मुकुन्दमूर्ति एवं मन्दिरोंके दर्शनोंमें, अंग-संग भगवद्भक्तोंके शरीरस्पर्शमें, नासिका उनके चरणकमलोंपर चढ़ी श्रीमती तुलसीके दिव्य गन्धमें और रसना (जिह्वा)-को भगवान्‌के प्रति अर्पित नैवेद्य-प्रसादमें संलग्न कर दिया था॥ १९॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥ २०

एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह॥ २१

ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं
महाविभूत्योपचितांगदक्षिणैः ।
ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभि-[१]
र्धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम्॥ २२

यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः।
तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः॥ २३

स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः।
शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम्॥ २४

समर्द्धयन्ति तान् कामाः स्वाराज्यपरिभावि[२]ताः।
दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः[३]॥ २५

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः।
स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् संगान् सर्वाञ्छनैर्जहौ॥ २६

अम्बरीषके पैर भगवान्‌के क्षेत्र आदिकी पैदल यात्रा करनेमें ही लगे रहते और वे सिरसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी वन्दना किया करते। राजा अम्बरीषने माला, चन्दन आदि भोग-सामग्रीको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर दिया था। भोगनेकी इच्छासे नहीं, बल्कि इसलिये कि इससे वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्रकीर्ति भगवान्‌के निज-जनोंमें ही निवास करता है॥ २०॥ इस प्रकार उन्होंने अपने सारे कर्म यज्ञपुरुष, इन्द्रियातीत भगवान्‌के प्रति उन्हें सर्वात्मा एवं सर्वस्वरूप समझकर समर्पित कर दिये थे और भगवद्भक्त ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अनुसार वे इस पृथ्वीका शासन करते थे॥ २१॥ उन्होंने 'धन्व' नामके निर्जल देशमें सरस्वती नदीके प्रवाहके सामने वसिष्ठ, असित, गौतम आदि भिन्न-भिन्न आचार्योंद्वारा महान् ऐश्वर्यके कारण सर्वांगपरिपूर्ण तथा बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके यज्ञाधिपति भगवान्‌की आराधना की थी॥ २२॥ उनके यज्ञोंमें देवताओंके साथ जब सदस्य और ऋत्विज् बैठ जाते थे, तब उनकी पलकें नहीं पड़ती थीं और वे अपने सुन्दर वस्त्र और वैसे ही रूपके कारण देवताओंके समान दिखायी पड़ते थे॥ २३॥ उनकी प्रजा महात्माओंके द्वारा गाये हुए भगवान्‌के उत्तम चरित्रोंका किसी समय बड़े प्रेमसे श्रवण करती और किसी समय उनका गान करती। इस प्रकार उनके राज्यके मनुष्य देवताओंके अत्यन्त प्यारे स्वर्गकी भी इच्छा नहीं करते॥ २४॥ वे अपने हृदयमें अनन्त प्रेमका दान करनेवाले श्रीहरिका नित्य-निरन्तर दर्शन करते रहते थे। इसलिये उन लोगोंको वह भोग-सामग्री भी हर्षित नहीं कर पाती थी, जो बड़े-बड़े सिद्धोंको भी दुर्लभ है। वे वस्तुएँ उनके आत्मानन्दके सामने अत्यन्त तुच्छ और तिरस्कृत थीं॥ २५॥ राजा अम्बरीष इस प्रकार तपस्यासे युक्त भक्तियोग और प्रजापालनरूप स्वधर्मके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न करने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग कर दिया॥ २६॥

१. भिः स्वर्धुन्यभिस्रोतवतीं सर०। २. वेष्टिताः। ३. पश्यताम्।

गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु
द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिपत्तिषु[1] ।
अक्षय्यरत्नाभरणायुधादि-
ष्वनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम् ॥ २७

तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम्।
एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भृत्याभिरक्षणम्[2]॥ २८

आरिराधयिषुः[3] कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया।
युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम्॥ २९

व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः।
स्नातः कदाचित् कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत्॥ ३०

महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा।
अभिषिच्याम्बराकल्पैर्[4]गन्धमाल्यार्हणादिभिः ॥ ३१

तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम्।
ब्राह्मणांश्च महाभागान् सिद्धार्थानपि भक्तितः॥ ३२

गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम्।
पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम्॥ ३३

प्राहिणोत् साधु विप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट्।
भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम्[5]॥ ३४

घर, स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, बड़े-बड़े हाथी, रथ, घोड़े एवं पैदलोंकी चतुरंगिणी सेना, अक्षय रत्न, आभूषण और आयुध आदि समस्त वस्तुओं तथा कभी समाप्त न होनेवाले कोशोंके सम्बन्धमें उनका ऐसा दृढ़ निश्चय था कि वे सब-के-सब असत्य हैं॥ २७॥ उनकी अनन्य प्रेममयी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उनकी रक्षाके लिये सुदर्शन चक्रको नियुक्त कर दिया था, जो विरोधियोंको भयभीत करनेवाला एवं भगवद्भक्तोंकी रक्षा करनेवाला है॥ २८॥

राजा अम्बरीषकी पत्नी भी उन्हींके समान धर्मशील, संसारसे विरक्त एवं भक्तिपरायण थीं। एक बार उन्होंने अपनी पत्नीके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करनेके लिये एक वर्षतक द्वादशीप्रधान एकादशी-व्रत करनेका नियम ग्रहण किया॥ २९॥ व्रतकी समाप्ति होनेपर कार्तिक महीनेमें उन्होंने तीन रातका उपवास किया और एक दिन यमुनाजीमें स्नान करके मधुवनमें भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की॥ ३०॥ उन्होंने महाभिषेककी विधिसे सब प्रकारकी सामग्री और सम्पत्तिद्वारा भगवान्‌का अभिषेक किया और हृदयसे तन्मय होकर वस्त्र, आभूषण, चन्दन, माला एवं अर्घ्य आदिके द्वारा उनकी पूजा की। यद्यपि महाभाग्यवान् ब्राह्मणोंको इस पूजाकी कोई आवश्यकता नहीं थी, स्वयं ही उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं—वे सिद्ध थे—तथापि राजा अम्बरीषने भक्ति-भावसे उनका पूजन किया। तत्पश्चात् पहले ब्राह्मणोंको स्वादिष्ट और अत्यन्त गुणकारी भोजन कराकर उन लोगोंके घर साठ करोड़ गौएँ सुसज्जित करके भेज दीं। उन गौओंके सींग सुवर्णसे और खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे। सुन्दर-सुन्दर वस्त्र उन्हें ओढ़ा दिये गये थे। वे गौएँ बड़ी सुशील, छोटी अवस्थाकी, देखनेमें सुन्दर, बछड़ेवाली और खूब दूध देनेवाली थीं। उनके साथ दुहनेकी उपयुक्त सामग्री भी उन्होंने भेजवा दी थी॥ ३१—३४॥

१. जिवस्तुषु। २. भूताभि०। ३. षुर्विष्णुं। ४. र्लब्ध०। ५. गुणवन्मधु।

लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत्॥ ३५

तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः।
ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः॥ ३६

प्रतिनन्द्य स तद्याच्ञां[1] कर्तुमावश्यकं गतः।
[2]निममज्ज बृहद् ध्यायन् कालिन्दीसलिले शुभे[3]॥ ३७

मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति।
चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसंकटे॥ ३८

ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे।
यत् कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत्॥ ३९

अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम्।
प्राहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत्॥ ४०

इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन् मनसाच्युतम्।
प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः॥ ४१

दुर्वासा यमुनाकूलात् कृतावश्यक आगतः।
राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया॥ ४२

जब ब्राह्मणोंको सब कुछ मिल चुका, तब राजाने उन लोगोंसे आज्ञा लेकर व्रतका पारण करनेकी तैयारी की। उसी समय शाप और वरदान देनेमें समर्थ स्वयं दुर्वासाजी भी उनके यहाँ अतिथिके रूपमें पधारे॥ ३५॥

राजा अम्बरीष उन्हें देखते ही उठकर खड़े हो गये, आसन देकर बैठाया और विविध सामग्रियोंसे अतिथिके रूपमें आये हुए दुर्वासाजीकी पूजा की। उनके चरणोंमें प्रणाम करके अम्बरीषने भोजनके लिये प्रार्थना की॥ ३६॥

दुर्वासाजीने अम्बरीषकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और इसके बाद आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये वे नदीतटपर चले गये। वे ब्रह्मका ध्यान करते हुए यमुनाके पवित्र जलमें स्नान करने लगे॥ ३७॥ इधर द्वादशी केवल घड़ीभर शेष रह गयी थी। धर्मज्ञ अम्बरीषने धर्म-संकटमें पड़कर ब्राह्मणोंके साथ परामर्श किया॥ ३८॥ उन्होंने कहा—'ब्राह्मण-देवताओ! ब्राह्मणको बिना भोजन कराये स्वयं खा लेना और द्वादशी रहते पारण न करना—दोनों ही दोष हैं। इसलिये इस समय जैसा करनेसे मेरी भलाई हो और मुझे पाप न लगे, ऐसा काम करना चाहिये॥ ३९॥

तब ब्राह्मणोंके साथ विचार करके उन्होंने कहा—'ब्राह्मणो! श्रुतियोंमें ऐसा कहा गया है कि जल पी लेना भोजन करना भी है, नहीं भी करना है। इसलिये इस समय केवल जलसे पारण किये लेता हूँ॥ ४०॥

ऐसा निश्चय करके मन-ही-मन भगवान्‌का चिन्तन करते हुए राजर्षि अम्बरीषने जल पी लिया और परीक्षित्! वे केवल दुर्वासाजीके आनेकी बाट देखने लगे॥ ४१॥ दुर्वासाजी आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होकर यमुनातटसे लौट आये। जब राजाने आगे बढ़कर उनका अभिनन्दन किया तब उन्होंने अनुमानसे ही समझ लिया कि राजाने पारण कर लिया है॥ ४२॥

१. तद्वाक्यं। २. निर्म०। ३. शुचौ।

मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः।
बुभुक्षितश्च सुतरां कृतांजलिमभाषत॥ ४३

उस समय दुर्वासाजी बहुत भूखे थे। इसलिये यह जानकर कि राजाने पारण कर लिया है, वे क्रोधसे थर-थर काँपने लगे। भौंहोंके चढ़ जानेसे उनका मुँह विकट हो गया। उन्होंने हाथ जोड़कर खड़े अम्बरीषसे डाँटकर कहा॥ ४३॥

अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य[1] पश्यत।
धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः[2]॥ ४४

'अहो! देखो तो सही, यह कितना क्रूर है! यह धनके मदमें मतवाला हो रहा है। भगवान्‌की भक्ति तो इसे छूतक नहीं गयी और यह अपनेको बड़ा समर्थ मानता है। आज इसने धर्मका उल्लंघन करके बड़ा अन्याय किया है॥ ४४॥

यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च।
अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम्॥ ४५

देखो, मैं इसका अतिथि होकर आया हूँ। इसने अतिथि-सत्कार करनेके लिये मुझे निमन्त्रण भी दिया है, किन्तु फिर भी मुझे खिलाये बिना ही खा लिया है। अच्छा देख, 'तुझे अभी इसका फल चखाता हूँ'॥ ४५॥

एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः।
तया[3] स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम्॥ ४६

यों कहते-कहते वे क्रोधसे जल उठे। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ी और उससे अम्बरीषको मार डालनेके लिये एक कृत्या उत्पन्न की। वह प्रलयकालकी आगके समान दहक रही थी॥ ४६॥

तामापतन्तीं ज्वलन्तीमसिहस्तां[4] पदा भुवम्।
वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः॥ ४७

वह आगके समान जलती हुई, हाथमें तलवार लेकर राजा अम्बरीषपर टूट पड़ी। उस समय उसके पैरोंकी धमकसे पृथ्वी काँप रही थी। परन्तु राजा अम्बरीष उसे देखकर उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे एक पग भी नहीं हटे, ज्यों-के-त्यों खड़े रहे॥ ४७॥

प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना।
ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः॥ ४८

परमपुरुष परमात्माने अपने सेवककी रक्षाके लिये पहलेसे ही सुदर्शन चक्रको नियुक्त कर रखा था। जैसे आग क्रोधसे गुर्राते हुए साँपको भस्म कर देती है, वैसे ही चक्रने दुर्वासाजीकी कृत्याको जलाकर राखका ढेर कर दिया॥ ४८॥

तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य[5] स्वप्रयासं च निष्फलम्।
दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया॥ ४९

जब दुर्वासाजीने देखा कि मेरी बनायी हुई कृत्या तो जल रही है और चक्र मेरी ओर आ रहा है, तब वे भयभीत हो अपने प्राण बचानेके लिये जी छोड़कर एकाएक भाग निकले॥ ४९॥

१. श्रिया मत्तस्य। २. स्येष्टमानिनः। ३. तपसा नि०। ४. लन्तीमसि०। ५. द्रवमुद्वी०।

तमन्वधावद् भगवद्रथांगं
दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम्।
तथानुषक्तं[1] मुनिरीक्षमाणो
गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः॥ ५०
दिशो नभः क्ष्मां विवरान् समुद्रा-
ल्ँलोकान् सपालांस्त्रिदिवं गतः सः।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श॥ ५१
अलब्धनाथः स यदा कुतश्चित्
संत्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
देवं विरिंचं समगाद् विधात-
स्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम्॥ ५२

ब्रह्मोवाच

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्
क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे।
भ्रूभंगमात्रेण हि संदिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति॥ ५३
अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः
प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः॥ ५४
प्रत्याख्यातो विरिंचेन विष्णुचक्रोपतापितः।
दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम्॥ ५५

श्रीरुद्र उवाच

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि
यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः
सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः॥ ५६

जैसे ऊँची-ऊँची लपटोंवाला दावानल साँपके पीछे दौड़ता है, वैसे ही भगवान्का चक्र उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। जब दुर्वासाजीने देखा कि चक्र तो मेरे पीछे लग गया है, तब सुमेरु पर्वतकी गुफामें प्रवेश करनेके लिये वे उसी ओर दौड़ पड़े॥ ५०॥

दुर्वासाजी दिशा, आकाश, पृथ्वी, अतल-वितल आदि नीचेके लोक, समुद्र, लोकपाल और उनके द्वारा सुरक्षित लोक एवं स्वर्गतकमें गये; परन्तु जहाँ-जहाँ वे गये, वहीं-वहीं उन्होंने असह्य तेज-वाले सुदर्शन चक्रको अपने पीछे लगा देखा॥ ५१॥ जब उन्हें कहीं भी कोई रक्षक न मिला तब तो वे और भी डर गये। अपने लिये त्राण ढूँढ़ते हुए वे देवशिरोमणि ब्रह्माजीके पास गये और बोले—'ब्रह्माजी! आप स्वयम्भू हैं। भगवान्के इस तेजोमय चक्रसे मेरी रक्षा कीजिये'॥ ५२॥

ब्रह्माजीने कहा—'जब मेरी दो परार्धकी आयु समाप्त होगी और कालस्वरूप भगवान् अपनी यह सृष्टिलीला समेटने लगेंगे और इस जगत्को जलाना चाहेंगे, उस समय उनके भ्रूभंगमात्रसे यह सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायगा॥ ५३॥ मैं, शंकरजी, दक्ष-भृगु आदि प्रजा-पति, भूतेश्वर, देवेश्वर आदि सब जिनके बनाये नियमोंमें बँधे हैं तथा जिनकी आज्ञा शिरोधार्य करके हमलोग संसारका हित करते हैं, (उनके भक्तके द्रोहीको बचानेके लिये हम समर्थ नहीं हैं)'॥ ५४॥

जब ब्रह्माजीने इस प्रकार दुर्वासाको निराश कर दिया, तब भगवान्के चक्रसे संतप्त होकर वे कैलासवासी भगवान् शंकरकी शरणमें गये॥ ५५॥

श्रीमहादेवजीने कहा—'दुर्वासाजी! जिन अनन्त परमेश्वरमें ब्रह्मा-जैसे जीव और उनके उपाधिभूत कोश, इस ब्रह्माण्डके समान ही अनेकों ब्रह्माण्ड समयपर पैदा होते हैं और समय आनेपर फिर उनका पता भी नहीं चलता, जिनमें हमारे-जैसे हजारों चक्कर काटते रहते हैं—उन प्रभुके सम्बन्धमें हम कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते॥ ५६॥

१. थावसक्तं।

अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः।
कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः॥ ५७
मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः।
विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययाऽऽवृताः॥ ५८

मैं, सनत्कुमार, नारद, भगवान् ब्रह्मा, कपिलदेव, अपान्तरतम, देवल, धर्म, आसुरि तथा मरीचि आदि दूसरे सर्वज्ञ सिद्धेश्वर—ये हम सभी भगवान्की मायाको नहीं जान सकते। क्योंकि हम उसी मायाके घेरेमें हैं॥ ५७-५८॥

तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः।
तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति॥ ५९

यह चक्र उन विश्वेश्वरका शस्त्र है। यह हमलोगोंके लिये असह्य है। तुम उन्हींकी शरणमें जाओ। वे भगवान् ही तुम्हारा मंगल करेंगे'॥ ५९॥

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह॥ ६०

वहाँसे भी निराश होकर दुर्वासा भगवान्के परमधाम वैकुण्ठमें गये। लक्ष्मीपति भगवान् लक्ष्मीके साथ वहीं निवास करते हैं॥ ६०॥

संदह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना
तत्पादमूले पतितः सवेपथुः।
आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो
कृतागसं माव[1] हि विश्वभावन॥ ६१

दुर्वासाजी भगवान्के चक्रकी आगसे जल रहे थे। वे काँपते हुए भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े। उन्होंने कहा—'हे अच्युत! हे अनन्त! आप संतोंके एकमात्र वाञ्छनीय हैं। प्रभो! विश्वके जीवनदाता! मैं अपराधी हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये॥ ६१॥

अजानता ते परमानुभावं
कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम्।
विधेहि तस्यापचितिं विधात-
र्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि॥ ६२

आपका परम प्रभाव न जाननेके कारण ही मैंने आपके प्यारे भक्तका अपराध किया है। प्रभो! आप मुझे उससे बचाइये। आपके तो नामका ही उच्चारण करनेसे नारकी जीव भी मुक्त हो जाता है'॥ ६२॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ ६३

श्रीभगवान्ने कहा—दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे॥ ६३॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥ ६४

ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। इसलिये अपने साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धांगिनी विनाशरहित लक्ष्मीको॥ ६४॥

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ ६५

जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ?॥ ६५॥

---

१. मामव विश्व।

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः[१]।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ ६६

जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं॥ ६६॥

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥ ६७

मेरे अनन्यप्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है॥ ६७॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्[२]।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ ६८

दुर्वासाजी! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता॥ ६८॥

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत्।
अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान्।
साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम्॥ ६९

दुर्वासाजी! सुनिये, मैं आपको एक उपाय बताता हूँ। जिसका अनिष्ट करनेसे आपको इस विपत्तिमें पड़ना पड़ा है, आप उसीके पास जाइये। निरपराध साधुओंके अनिष्टकी चेष्टासे अनिष्ट करनेवालेका ही अमंगल होता है॥ ६९॥

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे।
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा॥ ७०

इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणोंके लिये तपस्या और विद्या परम कल्याणके साधन हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण उद्दण्ड और अन्यायी हो जाय तो वे ही दोनों उलटा फल देने लगते हैं॥ ७०॥

ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥ ७१

दुर्वासाजी! आपका कल्याण हो। आप नाभाग-नन्दन परम भाग्यशाली राजा अम्बरीषके पास जाइये और उनसे क्षमा माँगिये। तब आपको शान्ति मिलेगी॥ ७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे-
ऽम्बरीषचरिते चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

१. दर्शिनः। २. ह्यहम्।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

दुर्वासाजीकी दुःखनिवृत्ति

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान्‌ने इस प्रकार आज्ञा दी तब सुदर्शन चक्रकी ज्वालासे जलते हुए दुर्वासा लौटकर राजा अम्बरीषके पास आये और उन्होंने अत्यन्त दुःखी होकर राजाके पैर पकड़ लिये॥ १॥

तस्य सोद्यमनं[1] वीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः[2]।
अस्तावीत् तद्धरेरस्त्रं कृपया पीडितो भृशम्॥ २

दुर्वासाजीकी यह चेष्टा देखकर और उनके चरण पकड़नेसे लज्जित होकर राजा अम्बरीष भगवान्‌के चक्रकी स्तुति करने लगे। उस समय उनका हृदय दयावश अत्यन्त पीड़ित हो रहा था॥ २॥

अम्बरीष उवाच

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च॥ ३

अम्बरीषने कहा—प्रभो सुदर्शन! आप अग्निस्वरूप हैं। आप ही परम समर्थ सूर्य हैं। समस्त नक्षत्रमण्डलके अधिपति चन्द्रमा भी आपके स्वरूप हैं। जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, पंचतन्मात्रा और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके रूपमें भी आप ही हैं॥ ३॥

सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय।
सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते॥ ४

भगवान्‌के प्यारे, हजार दाँतवाले चक्रदेव! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको नष्ट कर देनेवाले एवं पृथ्वीके रक्षक! आप इन ब्राह्मणकी रक्षा कीजिये॥ ४॥

त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक्।
त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम्॥ ५

आप ही धर्म हैं, मधुर एवं सत्य वाणी हैं; आप ही समस्त यज्ञोंके अधिपति और स्वयं यज्ञ भी हैं। आप समस्त लोकोंके रक्षक एवं सर्वलोकस्वरूप भी हैं। आप परमपुरुष परमात्माके श्रेष्ठ तेज हैं॥ ५॥

नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे
ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे।
त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे।
मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे॥ ६

सुनाभ! आप समस्त धर्मोंकी मर्यादाके रक्षक हैं। अधर्मका आचरण करनेवाले असुरोंको भस्म करनेके लिये आप साक्षात् अग्नि हैं। आप ही तीनों लोकोंके रक्षक एवं विशुद्ध तेजोमय हैं। आपकी गति मनके वेगके समान है और आपके कर्म अद्भुत हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आपकी स्तुति करता हूँ॥ ६॥

---

१. तद्व्यसनं। २. स्पर्शेन लज्जि०।

त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं
तमः प्रकाशश्च धृतो महात्मनाम्।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते
त्वद्रूपमेतत् सदसत् परावरम्॥ ७

यदा विसृष्टस्त्वमनंजनेन वै
बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम्।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि
वृक्णन्नजस्त्रं प्रधने विराजसे॥ ८

स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये
निरूपितः सर्वसहो गदाभृता।
विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे
विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः॥ ९

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।
कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः॥ १०

यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥ ११

श्रीशुक उवाच

इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम्।
अशाम्यत् सर्वतो विप्रं प्रदहद् राजयाच्ञया॥ १२

स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः।
प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः॥ १३

दुर्वासा उवाच

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।
कृतागसोऽपि यद् राजन् मंगलानि समीहसे॥ १४

वेदवाणीके अधीश्वर! आपके धर्ममय तेजसे अन्धकारका नाश होता है और सूर्य आदि महापुरुषोंके प्रकाशकी रक्षा होती है। आपकी महिमाका पार पाना अत्यन्त कठिन है। ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़ेके भेदभावसे युक्त यह समस्त कार्य-कारणात्मक संसार आपका ही स्वरूप है॥ ७॥ सुदर्शन चक्र! आपपर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता। जिस समय निरंजनभगवान् आपको चलाते हैं और आप दैत्य एवं दानवोंकी सेनामें प्रवेश करते हैं, उस समय युद्धभूमिमें उनकी भुजा, उदर, जंघा, चरण और गरदन आदि निरन्तर काटते हुए आप अत्यन्त शोभायमान होते हैं॥ ८॥ विश्वके रक्षक! आप रणभूमिमें सबका प्रहार सह लेते हैं, आपका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। गदाधारी भगवान्ने दुष्टोंके नाशके लिये ही आपको नियुक्त किया है। आप कृपा करके हमारे कुलके भाग्योदयके लिये दुर्वासाजीका कल्याण कीजिये। हमारे ऊपर यह आपका महान् अनुग्रह होगा॥ ९ ॥ यदि मैंने कुछ भी दान किया हो, यज्ञ किया हो अथवा अपने धर्मका पालन किया हो, यदि हमारे वंशके लोग ब्राह्मणोंको ही अपना आराध्यदेव समझते रहे हों, तो दुर्वासाजीकी जलन मिट जाय॥ १० ॥ भगवान् समस्त गुणोंके एक-मात्र आश्रय हैं। यदि मैंने समस्त प्राणियोंके आत्माके रूपमें उन्हें देखा हो और वे मुझपर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजीके हृदयकी सारी जलन मिट जाय॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब राजा अम्बरीषने दुर्वासाजीको सब ओरसे जलानेवाले भगवान्के सुदर्शन चक्रकी इस प्रकार स्तुति की, तब उनकी प्रार्थनासे चक्र शान्त हो गया॥ १२ ॥ जब दुर्वासा चक्रकी आगसे मुक्त हो गये और उनका चित्त स्वस्थ हो गया, तब वे राजा अम्बरीषको अनेकानेक उत्तम आशीर्वाद देते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे॥ १३ ॥

दुर्वासाजीने कहा—धन्य है! आज मैंने भगवान्के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा। राजन्! मैंने आपका अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिये मंगल-कामना ही कर रहे हैं॥ १४॥

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम्।
यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः॥ १५

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥ १६

राजन्ननुगृहीतोऽहं[1] त्वयातिकरुणात्मना।
मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः॥ १७

राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया।
चरणावुपसंगृह्य प्रसाद्य समभोजयत्॥ १८

सोऽशित्वाऽऽदृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम्।
तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम्॥ १९

प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै।
दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥ २०

कर्मावदातमेतत् ते गायन्ति स्वःस्त्रियो मुहुः।
कीर्तिं[2] परमपुण्यां च कीर्तयिष्यति भूरियम्॥ २१

श्रीशुक उवाच

एवं संकीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः।
ययौ विहायसाऽऽमन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम्॥ २२

जिन्होंने भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरिके चरण-कमलोंको दृढ़ प्रेमभावसे पकड़ लिया है—उन साधुपुरुषोंके लिये कौन-सा कार्य कठिन है? जिनका हृदय उदार है, वे महात्मा भला, किस वस्तुका परित्याग नहीं कर सकते?॥ १५॥ जिनके मंगलमय नामोंके श्रवणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है—उन्हीं तीर्थपाद भगवान्के चरणकमलोंके जो दास हैं, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह जाता है?॥ १६॥

महाराज अम्बरीष! आपका हृदय करुणाभावसे परिपूर्ण है। आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया। अहो, आपने मेरे अपराधको भुलाकर मेरे प्राणोंकी रक्षा की है!॥ १७॥

परीक्षित्! जबसे दुर्वासाजी भागे थे, तबसे अबतक राजा अम्बरीषने भोजन नहीं किया था। वे उनके लौटनेकी बाट देख रहे थे। अब उन्होंने दुर्वासाजीके चरण पकड़ लिये और उन्हें प्रसन्न करके विधिपूर्वक भोजन कराया॥ १८॥

राजा अम्बरीष बड़े आदरसे अतिथिके योग्य सब प्रकारकी भोजन-सामग्री ले आये। दुर्वासाजी भोजन करके तृप्त हो गये। अब उन्होंने आदरसे कहा—'राजन्! अब आप भी भोजन कीजिये॥ १९॥ अम्बरीष! आप भगवान्के परम प्रेमी भक्त हैं। आपके दर्शन, स्पर्श, बातचीत और मनको भगवान्की ओर प्रवृत्त करनेवाले आतिथ्यसे मैं अत्यन्त प्रसन्न और अनुगृहीत हुआ हूँ॥ २०॥ स्वर्गकी देवांगनाएँ बार-बार आपके इस उज्ज्वल चरित्रका गान करेंगी। यह पृथ्वी भी आपकी परम पुण्यमयी कीर्तिका संकीर्तन करती रहेगी'॥ २१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—दुर्वासाजीने बहुत ही सन्तुष्ट होकर राजा अम्बरीषके गुणोंकी प्रशंसा की और उसके बाद उनसे अनुमति लेकर आकाशमार्गसे उस ब्रह्मलोककी यात्रा की जो केवल निष्काम कर्मसे ही प्राप्त होता है॥ २२॥

१. तोऽस्मि। २. कीर्तिं तां परमां पुण्यां कीर्त०।

संवत्सरोऽत्यगात् तावद् यावता नागतो गतः।
मुनिस्तद्दर्शनाकांक्षो राजाऽब्भक्षो बभूव ह॥ २३

परीक्षित्! जब सुदर्शन चक्रसे भयभीत होकर दुर्वासाजी भगे थे, तबसे लेकर उनके लौटनेतक एक वर्षका समय बीत गया। इतने दिनोंतक राजा अम्बरीष उनके दर्शनकी आकांक्षासे केवल जल पीकर ही रहे॥ २३॥

गते[1] च दुर्वाससि सोऽम्बरीषो
द्विजोपयोगा[2]तिपवित्रमाहरत्।
ऋषेर्विमोक्षं व्यसनं च बुद्ध्वा
मेने स्ववीर्यं च परानुभावम्[3]॥ २४

जब दुर्वासाजी चले गये, तब उनके भोजनसे बचे हुए अत्यन्त पवित्र अन्नका उन्होंने भोजन किया। अपने कारण दुर्वासाजीका दुःखमें पड़ना और फिर अपनी ही प्रार्थनासे उनका छूटना—इन दोनों बातोंको उन्होंने अपने द्वारा होनेपर भी भगवान्‌की ही महिमा समझा॥ २४॥

एवंविधानेकगुणः स राजा
परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे।
क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं
ययाऽऽविरिञ्च्यान् निरयांश्चकार॥ २५

राजा अम्बरीषमें ऐसे-ऐसे अनेकों गुण थे। अपने समस्त कर्मोंके द्वारा वे परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान्‌में भक्तिभावकी अभिवृद्धि करते रहते थे। उस भक्तिके प्रभावसे उन्होंने ब्रह्मलोकतकके समस्त भोगोंको नरकके समान समझा॥ २५॥

अथाम्बरीषस्तनयेषु राज्यं
समानशीलेषु विसृज्य धीरः[4]।
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे
मनो दधद् ध्वस्तगुणप्रवाहः॥ २६

तदनन्तर राजा अम्बरीषने अपने ही समान भक्त पुत्रोंपर राज्यका भार छोड़ दिया और स्वयं वे वनमें चले गये। वहाँ वे बड़ी धीरताके साथ आत्मस्वरूप भगवान्‌में अपना मन लगाकर गुणोंके प्रवाहरूप संसारसे मुक्त हो गये॥ २६॥

इत्येतत् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः।
संकीर्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भगवतो भवेत्॥ २७

परीक्षित्! महाराज अम्बरीषका यह परम पवित्र आख्यान है। जो इसका संकीर्तन और स्मरण करता है, वह भगवान्‌का भक्त हो जाता है॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धेऽम्बरीषचरितं[5] नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

इक्ष्वाकुके वंशका वर्णन, मान्धाता और सौभरि ऋषिकी कथा

श्रीशुक उवाच

विरूपः केतुमाञ्छम्भुरम्बरीषसुतास्त्रयः।
विरूपात् पृषदश्वोऽभूत् तत्पुत्रस्तु रथीतरः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अम्बरीषके तीन पुत्र थे—विरूप, केतुमान् और शम्भु। विरूपसे पृषदश्व और उसका पुत्र रथीतर हुआ॥ १॥

रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः।
अंगिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान्॥ २

रथीतर सन्तानहीन था। वंश परम्पराकी रक्षाके लिये उसने अंगिरा ऋषिसे प्रार्थना की, उन्होंने उसकी पत्नीसे ब्रह्मतेजसे सम्पन्न कई पुत्र उत्पन्न किये॥ २॥

१. गतेऽथ। २. गाभिपवि०। ३. महानुभावम्। ४. वीरः। ५. चरिते।

एते क्षेत्रे[1] प्रसूता वै पुनस्त्वांगिरसाः स्मृताः।
रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः॥ ३

क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः।
तस्य पुत्रशतज्ज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः॥ ४

तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप।
पंचविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्ये परेऽन्यतः॥ ५

स एकदाष्टकाश्राद्धे इक्ष्वाकुः सुतमादिशत्।
मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ माचिरम्॥ ६

तथेति स वनं गत्वा मृगान् हत्वा क्रियार्हणान्[2]।
श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशं चाददपस्मृतिः॥ ७

शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः।
चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम्॥ ८

ज्ञात्वा पुत्रस्य तत् कर्म गुरुणाभिहितं नृपः।
देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा॥ ९

स तु विप्रेण संवादं जापकेन समाचरन्।
त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत् परम्॥ १०

पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम्।
शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः॥ ११

यद्यपि ये सब रथीतरकी भार्यासे उत्पन्न हुए थे, इसलिये इनका गोत्र वही होना चाहिये था जो रथीतरका था, फिर भी वे आंगिरस ही कहलाये। ये ही रथीतर-वंशियोंके प्रवर (कुलमें सर्वश्रेष्ठ पुरुष) कहलाये। क्योंकि ये क्षत्रोपेत ब्राह्मण थे—क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों गोत्रोंसे इनका सम्बन्ध था॥ ३॥

परीक्षित्! एक बार मनुजीके छींकनेपर उनकी नासिकासे इक्ष्वाकु नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। इक्ष्वाकुके सौ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़े तीन थे—विकुक्षि, निमि और दण्डक॥ ४॥ परीक्षित्! उनसे छोटे पचीस पुत्र आर्यावर्तके पूर्वभागके और पचीस पश्चिमभागके तथा उपर्युक्त तीन मध्यभागके अधिपति हुए। शेष सैंतालीस दक्षिण आदि अन्य प्रान्तोंके अधिपति हुए॥ ५॥ एक बार राजा इक्ष्वाकुने अष्टका-श्राद्धके समय अपने बड़े पुत्रको आज्ञा दी—'विकुक्षे! शीघ्र ही जाकर श्राद्धके योग्य पवित्र पशुओंका मांस लाओ'॥ ६॥ वीर विकुक्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर वनकी यात्रा की। वहाँ उसने श्राद्धके योग्य बहुत-से पशुओंका शिकार किया। वह थक तो गया ही था, भूख भी लग आयी थी; इसलिये यह बात भूल गया कि श्राद्धके लिये मारे हुए पशुको स्वयं न खाना चाहिये। उसने एक खरगोश खा लिया॥ ७॥ विकुक्षिने बचा हुआ मांस लाकर अपने पिताको दिया। इक्ष्वाकुने अब अपने गुरुसे उसे प्रोक्षण करनेके लिये कहा, तब गुरुजीने बताया कि यह मांस तो दूषित एवं श्राद्धके अयोग्य है॥ ८॥ परीक्षित्! गुरुजीके कहनेपर राजा इक्ष्वाकुको अपने पुत्रकी करतूतका पता चल गया। उन्होंने शास्त्रीय विधिका उल्लंघन करनेवाले पुत्रको क्रोधवश अपने देशसे निकाल दिया॥ ९॥ तदनन्तर राजा इक्ष्वाकुने अपने गुरुदेव वसिष्ठसे ज्ञानविषयक चर्चा की। फिर योगके द्वारा शरीरका परित्याग करके उन्होंने परमपद प्राप्त किया॥ १०॥ पिताका देहान्त हो जानेपर विकुक्षि अपनी राजधानीमें लौट आया और इस पृथ्वीका शासन करने लगा। उसने बड़े-बड़े यज्ञोंसे भगवान्‌की आराधना की और संसारमें शशादके नामसे प्रसिद्ध हुआ॥ ११॥

१. क्षेत्रप्रसू०। २. ह्यपाहरन्।



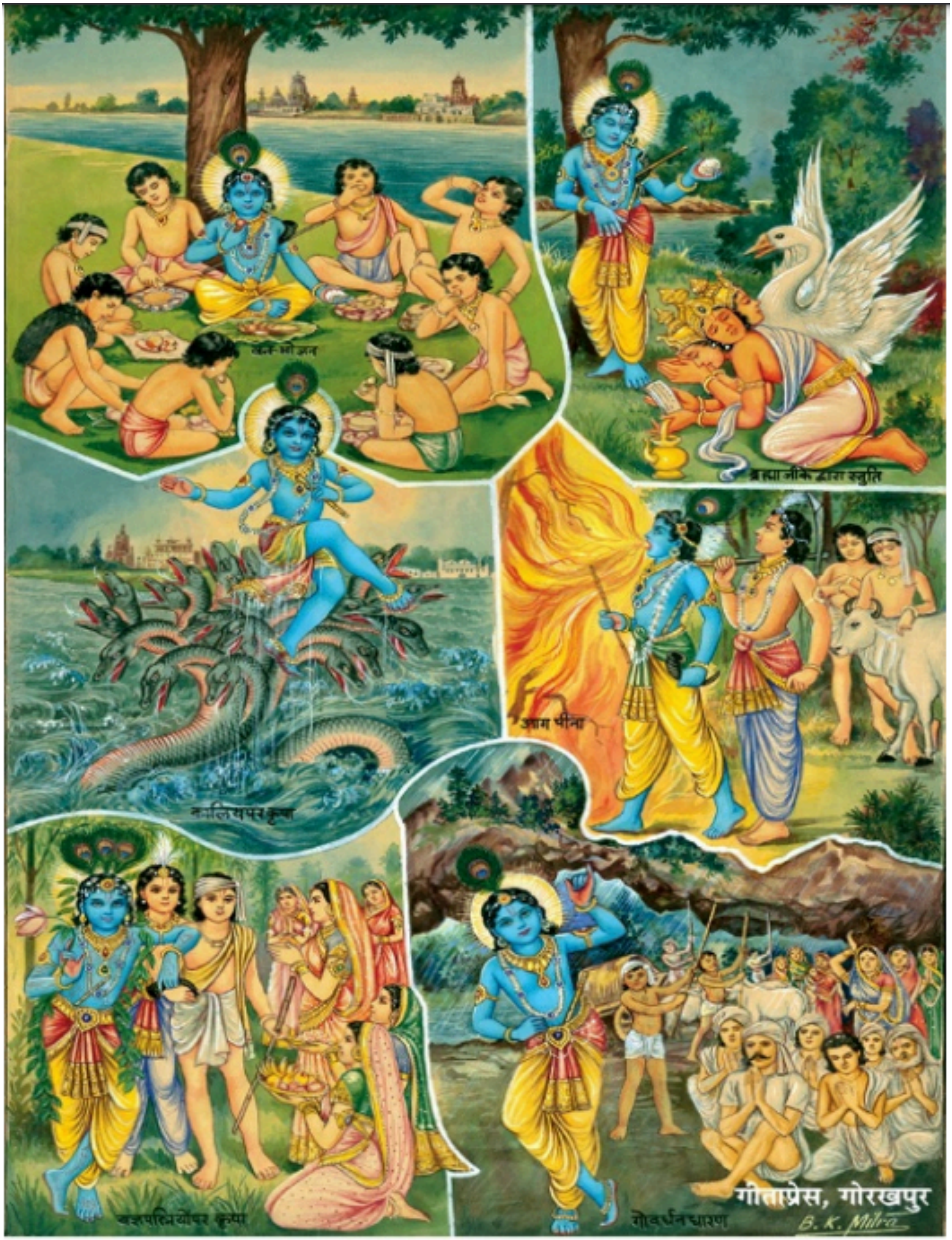
राजा भगीरथकी प्रार्थनापर भगवान् शिवका गङ्गाको अपने सिरपर धारण करना
Entreated by Bhagīratha Lord Śiva holds Gaṅgā on his head



मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम
Lord Rāma the Maryādāpuruṣottama



भगवान् श्रीकृष्णके बालचरित्र (क)
Childly pranks of Lord Śrī Kṛṣṇa (A)



भगवान् श्रीकृष्णके बालचरित्र (ख)

Childly pranks of Lord Śrī Kṛṣṇa (B)



जरासन्धके कारागारसे राजाओंकी मुक्ति

The release of kings from the prison of Jarāsandha



शाल्व-संग्राम

Battle with Śālva



दन्तवक्त्र और विदूरथका उद्धार

Liberation of Dantavaktra and Vidūratha



माता देवकीके मृत पुत्रोंको वापस लाना

Restoration of dead sons of Devakī



यदुकुलके विनाशका शाप

Curse for the annihilation of Yadu dynasty



परमधाम-गमनके पूर्वकी झाँकी

The glimpse of final departure of Lord

पुरंजयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः।
ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः[1] शृणु नामानि कर्मभिः॥ १२

कृतान्त आसीत् समरो देवानां सह दानवैः।
पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः॥ १३

वचनाद् देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः।
वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः॥ १४

स संनद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखाञ्छितान्।
स्तूयमानः[2] समारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः॥ १५

तेजसाऽऽप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य परात्मनः।
प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत् त्रिदशैः पुरम्॥ १६

तैस्तस्य चाभूत् प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम्।
यमाय भल्लैरनयद् दैत्यान् येऽभिययुर्मृधे॥ १७

तस्येषुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम्।
विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम्॥ १८

जित्वा पुरं धनं सर्वं सश्रीकं वज्रपाणये।
प्रत्ययच्छत् स राजर्षिरिति नामभिराहृतः॥ १९

पुरंजयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः।
विश्वरन्धिस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वश्च तत्सुतः॥ २०

शाबस्तस्तत्सुतो येन शाबस्ती निर्ममे पुरी।
बृहदश्वस्तु शाबस्तिस्ततः कुवलयाश्वकः॥ २१

विकुक्षिके पुत्रका नाम था पुरंजय। उसीको कोई 'इन्द्रवाह' और कोई 'ककुत्स्थ' कहते हैं। जिन कर्मोंके कारण उसके ये नाम पड़े थे, उन्हें सुनो॥ १२॥

सत्ययुगके अन्तमें देवताओंका दानवोंके साथ घोर संग्राम हुआ था। उसमें सब-के-सब देवता दैत्योंसे हार गये। तब उन्होंने वीर पुरंजयको सहायताके लिये अपना मित्र बनाया॥ १३॥ पुरंजयने कहा कि 'यदि देवराज इन्द्र मेरे वाहन बनें तो मैं युद्ध कर सकता हूँ।' पहले तो इन्द्रने अस्वीकार कर दिया, परन्तु देवताओंके आराध्यदेव सर्वशक्तिमान् विश्वात्मा भगवान्की बात मानकर पीछे वे एक बड़े भारी बैल बन गये॥ १४॥ सर्वान्तर्यामी भगवान् विष्णुने अपनी शक्तिसे पुरंजयको भर दिया। उन्होंने कवच पहनकर दिव्य धनुष और तीखे बाण ग्रहण किये। इसके बाद बैलपर चढ़कर वे उसके ककुद् (डील)-के पास बैठ गये। जब इस प्रकार वे युद्धके लिये तत्पर हुए तब देवता उनकी स्तुति करने लगे। देवताओंको साथ लेकर उन्होंने पश्चिमकी ओरसे दैत्योंका नगर घेर लिया॥ १५-१६॥ वीर पुरंजयका दैत्योंके साथ अत्यन्त रोमांचकारी घोर संग्राम हुआ। युद्धमें जो-जो दैत्य उनके सामने आये पुरंजयने बाणोंके द्वारा उन्हें यमराजके हवाले कर दिया॥ १७॥ उनके बाणोंकी वर्षा क्या थी, प्रलयकालकी धधकती हुई आग थी। जो भी उसके सामने आता, छिन्न-भिन्न हो जाता। दैत्योंका साहस जाता रहा। वे रणभूमि छोड़कर अपने-अपने घरोंमें घुस गये॥ १८॥ पुरंजयने उनका नगर, धन और ऐश्वर्य—सब कुछ जीतकर इन्द्रको दे दिया। इसीसे उन राजर्षिको पुर जीतनेके कारण 'पुरंजय', इन्द्रको वाहन बनानेके कारण 'इन्द्रवाह' और बैलके ककुद्पर बैठनेके कारण 'ककुत्स्थ' कहा जाता है॥ १९॥

पुरंजयका पुत्र था अनेना। उसका पुत्र पृथु हुआ। पृथुके विश्वरन्धि, उसके चन्द्र और चन्द्रके युवनाश्व॥ २०॥ युवनाश्वके पुत्र हुए शाबस्त, जिन्होंने

१. च प्रोक्तः। २. स गन्धर्वैः।

यः प्रियार्थमुतंकस्य धुन्धुनामासुरं बली।
सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद् वृतः॥ २२

धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः।
धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः॥ २३

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत।
दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तत्सुतः स्मृतः॥ २४

बर्हणाश्वो[१] निकुम्भस्य कृशाश्वोऽथास्य[२] सेनजित्।
युवनाश्वोऽभवत् तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः॥ २५

भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः।
इष्टिं स्म वर्तयांचक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः॥ २६

राजा तद् यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः।
दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मन्त्रजलं स्वयम्॥ २७

उत्थितास्ते निशाम्याथ व्युदकं कलशं प्रभो।
पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम्॥ २८

राज्ञा पीतं विदित्वाथ ईश्वरप्रहितेन ते।
ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम्॥ २९

ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम्।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान[३] ह॥ ३०

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम्।
मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात्॥ ३१

शाबस्तीपुरी बसायी। शाबस्तके बृहदश्व और उसके कुवलयाश्व हुए॥ २१॥ ये बड़े बली थे। इन्होंने उतंक ऋषिको प्रसन्न करनेके लिये अपने इक्कीस हजार पुत्रोंको साथ लेकर धुन्धु नामक दैत्यका वध किया॥ २२॥ इसीसे उनका नाम हुआ 'धुन्धुमार'। धुन्धु दैत्यके मुखकी आगसे उनके सब पुत्र जल गये। केवल तीन ही बच रहे थे॥ २३॥ परीक्षित्! बचे हुए पुत्रोंके नाम थे—दृढाश्व, कपिलाश्व और भद्राश्व। दृढाश्वसे हर्यश्व और उससे निकुम्भका जन्म हुआ॥ २४॥

निकुम्भके बर्हणाश्व, उसके कृशाश्व, कृशाश्वके सेनजित् और सेनजित्के युवनाश्व नामक पुत्र हुआ। युवनाश्व सन्तानहीन था, इसलिये वह बहुत दुःखी होकर अपनी सौ स्त्रियोंके साथ वनमें चला गया। वहाँ ऋषियोंने बड़ी कृपा करके युवनाश्वसे पुत्र-प्राप्तिके लिये बड़ी एकाग्रताके साथ इन्द्रदेवताका यज्ञ कराया॥ २५-२६॥ एक दिन राजा युवनाश्वको रात्रिके समय बड़ी प्यास लगी। वह यज्ञशालामें गया, किन्तु वहाँ देखा कि ऋषिलोग तो सो रहे हैं। तब जल मिलनेका और कोई उपाय न देख उसने वह मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल ही पी लिया॥ २७॥ परीक्षित्! जब प्रातःकाल ऋषिलोग सोकर उठे और उन्होंने देखा कि कलशमें तो जल ही नहीं है, तब उन लोगोंने पूछा कि 'यह किसका काम है? पुत्र उत्पन्न करनेवाला जल किसने पी लिया?'॥ २८॥ अन्तमें जब उन्हें यह मालूम हुआ कि भगवान्की प्रेरणासे राजा युवनाश्वने ही उस जलको पी लिया है तो उन लोगोंने भगवान्के चरणोंमें नमस्कार किया और कहा—'धन्य है! भगवान्का बल ही वास्तवमें बल है'॥ २९॥ इसके बाद प्रसवका समय आनेपर युवनाश्वकी दाहिनी कोख फाड़कर उसके एक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ॥ ३०॥ उसे रोते देख ऋषियोंने कहा—'यह बालक दूधके लिये बहुत रो रहा है; अतः किसका दूध पियेगा?' तब इन्द्रने कहा, 'मेरा पियेगा' '(मां धाता)' 'बेटा! तू रो मत।' यह कहकर इन्द्रने अपनी तर्जनी अँगुली

१. बार्हश्वासो। २. शाश्वश्चास्य। ३. ह्यजायत।

न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः।
युवनाश्वोऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात्॥ ३२

त्रसद्दस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम तस्य[1] वै।
यस्मात् त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः॥ ३३

यौवनाश्वोऽथ मान्धाता चक्रवर्त्यवनीं प्रभुः।
सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा॥ ३४

ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद् भूरिदक्षिणैः।
सर्वदेवमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम्॥ ३५

द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः।
धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद् यदात्मकम्॥ ३६

यावत् सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥ ३७

शशबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्याम[2]धान्नृपः।
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दं च योगिनम्।
तेषां स्वसारः पंचाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम्॥ ३८

यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परंतपः।
निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः॥ ३९

जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत।
सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे॥ ४०

उसके मुँहमें डाल दी॥ ३१॥ ब्राह्मण और देवताओंके प्रसादसे उस बालकके पिता युवनाश्वकी भी मृत्यु नहीं हुई। वह वहीं तपस्या करके मुक्त हो गया॥ ३२॥ परीक्षित्! इन्द्रने उस बालकका नाम रखा त्रसद्दस्यु, क्योंकि रावण आदि दस्यु (लुटेरे) उससे उद्विग्न एवं भयभीत रहते थे॥ ३३॥ युवनाश्वके पुत्र मान्धाता (त्रसद्दस्यु) चक्रवर्ती राजा हुए। भगवान्के तेजसे तेजस्वी होकर उन्होंने अकेले ही सातों द्वीपवाली पृथ्वीका शासन किया॥ ३४॥ वे यद्यपि आत्मज्ञानी थे, उन्हें कर्म-काण्डकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी—फिर भी उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे उन यज्ञस्वरूप प्रभुकी आराधना की जो स्वयंप्रकाश, सर्वदेवस्वरूप, सर्वात्मा एवं इन्द्रियातीत हैं॥ ३५॥ भगवान्के अतिरिक्त और है ही क्या? यज्ञकी सामग्री, मन्त्र, विधि-विधान, यज्ञ, यजमान, ऋत्विज्, धर्म, देश और काल—यह सब-का-सब भगवान्का ही स्वरूप तो है॥ ३६॥ परीक्षित्! जहाँसे सूर्यका उदय होता है और जहाँ वे अस्त होते हैं, वह सारा-का-सारा भूभाग युवनाश्वके पुत्र मान्धाताके ही अधिकारमें था॥ ३७॥

राजा मान्धाताकी पत्नी शशबिन्दुकी पुत्री बिन्दुमती थी। उसके गर्भसे उनके तीन पुत्र हुए—पुरुकुत्स, अम्बरीष (ये दूसरे अम्बरीष हैं) और योगी मुचुकुन्द। इनकी पचास बहनें थीं। उन पचासोंने अकेले सौभरि ऋषिको पतिके रूपमें वरण किया॥ ३८॥ परम तपस्वी सौभरिजी एक बार यमुनाजलमें डुबकी लगाकर तपस्या कर रहे थे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक मत्स्यराज अपनी पत्नियोंके साथ बहुत सुखी हो रहा है॥ ३९॥ उसके इस सुखको देखकर ब्राह्मण सौभरिके मनमें भी विवाह करनेकी इच्छा जग उठी और उन्होंने राजा मान्धाताके पास आकर उनकी पचास कन्याओंमेंसे एक कन्या माँगी। राजाने कहा—'ब्रह्मन्! कन्या स्वयंवरमें आपको चुन ले तो आप उसे ले लीजिये'॥ ४०॥

१. यस्य। २. मजीजनत्।

स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसम्मतः ।
वलीपलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥ ४१

साधयिष्ये तथाऽऽत्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितम् ।
किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥ ४२

मुनिः प्रवेशितः क्षत्त्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् ।
वृतश्च राजकन्याभिरेकः पंचाशता वरः ॥ ४३

तासां कलिरभूद् भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् ।
ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसाम् ॥ ४४

स बह्वृचस्ताभिरपारणीय-
तपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भः-
सरस्सु सौगन्धिककाननेषु ॥ ४५

महार्हशय्यासनवस्त्रभूषण-
स्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ।
स्वलंकृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा
रेमेऽनुगायद्द्विजभृंगवन्दिषु ॥ ४६

यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः ।
विस्मितः स्तम्भमजहात् सार्वभौमश्रियान्वितम् ॥ ४७

एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः ।
सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥ ४८

सौभरि ऋषि राजा मान्धाताका अभिप्राय समझ गये। उन्होंने सोचा कि 'राजाने इसलिये मुझे ऐसा सूखा जवाब दिया है कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, बाल पक गये हैं और सिर काँपने लगा है! अब कोई स्त्री मुझसे प्रेम नहीं कर सकती ॥ ४१ ॥ अच्छी बात है! मैं अपनेको ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याएँ तो क्या, देवांगनाएँ भी मेरे लिये लालायित हो जायँगी।' ऐसा सोचकर समर्थ सौभरिजीने वैसा ही किया ॥ ४२ ॥

फिर क्या था, अन्तःपुरके रक्षकने सौभरि मुनिको कन्याओंके सजे-सजाये महलमें पहुँचा दिया। फिर तो उन पचासों राजकन्याओंने एक सौभरिको ही अपना पति चुन लिया ॥ ४३ ॥ उन कन्याओंका मन सौभरिजीमें इस प्रकार आसक्त हो गया कि वे उनके लिये आपसके प्रेमभावको तिलांजलि देकर परस्पर कलह करने लगीं और एक-दूसरीसे कहने लगी कि 'ये तुम्हारे योग्य नहीं, मेरे योग्य हैं ॥ ४४ ॥ ऋग्वेदी सौभरिने उन सभीका पाणिग्रहण कर लिया। वे अपनी अपार तपस्याके प्रभावसे बहुमूल्य सामग्रियोंसे सुसज्जित, अनेकों उपवनों और निर्मल जलसे परिपूर्ण सरोवरोंसे युक्त एवं सौगन्धिक पुष्पोंके बगीचोंसे घिरे महलोंमें बहुमूल्य शय्या, आसन, वस्त्र, आभूषण, स्नान, अनुलेपन, सुस्वादु भोजन और पुष्पमालाओंके द्वारा अपनी पत्नियोंके साथ विहार करने लगे। सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये स्त्री-पुरुष सर्वदा उनकी सेवामें लगे रहते। कहीं पक्षी चहकते रहते तो कहीं भौंरे गुंजार करते रहते और कहीं-कहीं वन्दीजन उनकी विरदावलीका बखान करते रहते ॥ ४५-४६ ॥ सप्तद्वीपवती पृथ्वीके स्वामी मान्धाता सौभरिजीकी इस गृहस्थीका सुख देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उनका यह गर्व कि मैं सार्वभौम सम्पत्तिका स्वामी हूँ, जाता रहा ॥ ४७ ॥ इस प्रकार सौभरिजी गृहस्थीके सुखमें रम गये और अपनी नीरोग इन्द्रियोंसे अनेकों विषयोंका सेवन करते रहे। फिर भी जैसे घीकी बूँदोंसे

स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः।
ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसंगसमुत्थितम्॥ ४९

अहो इमं पश्यत मे[1] विनाशं
तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसंगात्
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत्॥ ५०

संगं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युंजीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसंगः॥ ५१

एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसंगात्
पंचाशदासमुत पंचसहस्रसर्गः।
नान्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां
मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः॥ ५२

एवं वसन् गृहे कालं[2] विरक्तो न्यासमास्थितः।
वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः॥ ५३

तत्र तप्त्वा तपस्तीक्ष्णमात्मकर्शनमात्मवान्[3][4]।
सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि॥ ५४

आग तृप्त नहीं होती, वैसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ॥ ४८॥

ऋग्वेदाचार्य सौभरिजी एक दिन स्वस्थ चित्तसे बैठे हुए थे। उस समय उन्होंने देखा कि मत्स्यराजके क्षणभरके संगसे मैं किस प्रकार अपनी तपस्या तथा अपना आपातक खो बैठा॥ ४९॥ वे सोचने लगे—'अरे, मैं तो बड़ा तपस्वी था। मैंने भलीभाँति अपने व्रतोंका अनुष्ठान भी किया था। मेरा यह अधःपतन तो देखो! मैंने दीर्घकालसे अपने ब्रह्मतेजको अक्षुण्ण रखा था, परन्तु जलके भीतर विहार करती हुई एक मछलीके संसर्गसे मेरा वह ब्रह्मतेज नष्ट हो गया॥ ५०॥ अतः जिसे मोक्षकी इच्छा है, उस पुरुषको चाहिये कि वह भोगी प्राणियोंका संग सर्वथा छोड़ दे और एक क्षणके लिये भी अपनी इन्द्रियोंको बहिर्मुख न होने दे। अकेला ही रहे और एकान्तमें अपने चित्तको सर्वशक्तिमान् भगवान्‌में ही लगा दे। यदि संग करनेकी आवश्यकता ही हो तो भगवान्‌के अनन्यप्रेमी निष्ठावान् महात्माओंका ही संग करे॥ ५१॥ मैं पहले एकान्तमें अकेला ही तपस्यामें संलग्न था। फिर जलमें मछलीका संग होनेसे विवाह करके पचास हो गया और फिर सन्तानोंके रूपमें पाँच हजार। विषयोंमें सत्यबुद्धि होनेसे मायाके गुणोंने मेरी बुद्धि हर ली। अब तो लोक और परलोकके सम्बन्धमें मेरा मन इतनी लालसाओंसे भर गया है कि मैं किसी तरह उनका पार ही नहीं पाता॥ ५२॥ इस प्रकार विचार करते हुए वे कुछ दिनोंतक तो घरमें ही रहे। फिर विरक्त होकर उन्होंने संन्यास ले लिया और वे वनमें चले गये। अपने पतिको ही सर्वस्व माननेवाली उनकी पत्नियोंने भी उनके साथ ही वनकी यात्रा की॥ ५३॥ वहाँ जाकर परम संयमी सौभरिजीने बड़ी घोर तपस्या की, शरीरको सुखा दिया तथा आहवनीय आदि अग्नियोंके साथ ही अपने-आपको परमात्मामें

१. संगदोषं। २. कामं। ३. तीव्र०। ४. वित्।

ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम्।
अन्वीयुस्तत्प्रभावेण अग्निं शान्तमिवार्चिषः॥ ५५

लीन कर दिया॥ ५४॥ परीक्षित्! उनकी पत्नियोंने जब अपने पति सौभरि मुनिकी आध्यात्मिक गति देखी, तब जैसे ज्वालाएँ शान्त अग्निमें लीन हो जाती हैं—वैसे ही वे उनके प्रभावसे सती होकर उन्हींमें लीन हो गयीं, उन्हींकी गतिको प्राप्त हुईं॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे सौभर्याख्याने षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजा त्रिशङ्कु और हरिश्चन्द्रकी कथा

श्रीशुक उवाच

मान्धातुः पुत्रप्रवरो योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः।
पितामहेन प्रवृतो यौवनाश्वश्च[1] तत्सुतः।
हारीतस्[2]तस्य पुत्रोऽभून्मान्धातृप्रवरा इमे॥ १

नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः।
तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया॥ २

गन्धर्वानवधीत् तत्र वध्यान् वै विष्णुशक्तिधृक्[3]।
नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम्॥ ३

त्रसद्दस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत्।
हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मादरुणोऽथ त्रिबन्धनः॥ ४

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशंकुरिति विश्रुतः।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद् गुरोः कौशिकतेजसा॥ ५

सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात्॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मैं वर्णन कर चुका हूँ कि मान्धाताके पुत्रोंमें सबसे श्रेष्ठ अम्बरीष थे। उनके दादा युवनाश्वने उन्हें पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया। उनका पुत्र हुआ यौवनाश्व और यौवनाश्वका हारीत। मान्धाताके वंशमें ये तीन अवान्तर गोत्रोंके प्रवर्तक हुए॥ १॥ नागोंने अपनी बहिन नर्मदाका विवाह पुरुकुत्ससे कर दिया था। नागराज वासुकिकी आज्ञासे नर्मदा अपने पतिको रसातलमें ले गयी॥ २॥ वहाँ भगवान्‌की शक्तिसे सम्पन्न होकर पुरुकुत्सने वध करनेयोग्य गन्धर्वोंको मार डाला। इसपर नागराजने प्रसन्न होकर पुरुकुत्सको वर दिया कि जो इस प्रसंगका स्मरण करेगा, वह सर्पोंसे निर्भय हो जायगा॥ ३॥ राजा पुरुकुत्सका पुत्र त्रसद्दस्यु था। उसके पुत्र हुए अनरण्य। अनरण्यके हर्यश्व, उसके अरुण और अरुणके त्रिबन्धन हुए॥ ४॥ त्रिबन्धनके पुत्र सत्यव्रत हुए। यही सत्यव्रत त्रिशंकुके नामसे विख्यात हुए। यद्यपि त्रिशंकु अपने पिता और गुरुके शापसे चाण्डाल हो गये थे, परन्तु विश्वामित्रजीके प्रभावसे वे सशरीर स्वर्गमें चले गये। देवताओंने उन्हें वहाँसे ढकेल दिया और वे नीचेको सिर किये हुए गिर पड़े; परन्तु विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे उन्हें आकाशमें ही स्थिर कर दिया। वे अब भी आकाशमें लटके हुए दीखते हैं॥ ५-६॥

१. युव०। २. हरीत०। ३. क्तिभृत्।

त्रैशंकवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
यन्निमित्तमभूद् युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम्॥ ७

सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः।
वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो॥ ८

यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति।
तथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः॥ ९

जातः सुतो ह्यनेनांग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत्।
यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति॥ १०

निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।
दन्ताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति॥ ११

जाता दन्ता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्।
यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेध्यो भवेदिति॥ १२

पशोर्निपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।
यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः शुचिः॥ १३

पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्।
सान्नाहिको यदा राजन् राजन्योऽथ पशुः शुचिः॥ १४

इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा।
कालं वंचयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत॥ १५

रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम्।
प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत॥ १६

त्रिशंकुके पुत्र थे हरिश्चन्द्र। उनके लिये विश्वामित्र और वसिष्ठ एक-दूसरेको शाप देकर पक्षी हो गये और बहुत वर्षोंतक लड़ते रहे॥ ७॥ हरिश्चन्द्रके कोई सन्तान न थी। इससे वे बहुत उदास रहा करते थे। नारदके उपदेशसे वे वरुणदेवताकी शरणमें गये और उनसे प्रार्थना की कि 'प्रभो! मुझे पुत्र प्राप्त हो॥ ८॥ महाराज! यदि मेरे वीर पुत्र होगा तो मैं उसीसे आपका यजन करूँगा।' वरुणने कहा—'ठीक है।' तब वरुणकी कृपासे हरिश्चन्द्रके रोहित नामका पुत्र हुआ॥ ९॥ पुत्र होते ही वरुणने आकर कहा—'हरिश्चन्द्र! तुम्हें पुत्र प्राप्त हो गया। अब इसके द्वारा मेरा यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब आपका यह यज्ञपशु (रोहित) दस दिनसे अधिकका हो जायगा, तब यज्ञके योग्य होगा'॥ १०॥ दस दिन बीतनेपर वरुणने आकर फिर कहा—'अब मेरा यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब आपके यज्ञपशुके मुँहमें दाँत निकल आयेंगे, तब वह यज्ञके योग्य होगा'॥ ११॥ दाँत उग आनेपर वरुणने कहा—'अब इसके दाँत निकल आये, मेरा यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दूधके दाँत गिर जायँगे, तब यह यज्ञके योग्य होगा'॥ १२॥ दूधके दाँत गिर जानेपर वरुणने कहा—'अब इस यज्ञपशुके दाँत गिर गये, मेरा यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दुबारा दाँत आ जायँगे, तब यह पशु यज्ञके योग्य हो जायगा'॥ १३॥ दाँतोंके फिर उग आनेपर वरुणने कहा—'अब मेरा यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'वरुणजी महाराज! क्षत्रियपशु तब यज्ञके योग्य होता है जब वह कवच धारण करने लगे'॥ १४॥ परीक्षित्! इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र पुत्रके प्रेमसे हीला-हवाला करके समय टालते रहे। इसका कारण यह था कि पुत्र-स्नेहकी फाँसीने उनके हृदयको जकड़ लिया था। वे जो-जो समय बताते वरुणदेवता उसीकी बाट देखते॥ १५॥ जब रोहितको इस बातका पता चला कि पिताजी तो मेरा बलिदान करना चाहते हैं, तब वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये हाथमें धनुष लेकर वनमें चला गया॥ १६॥

पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम्।
रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत॥ १७

भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः।
रोहितायादिशच्छक्रः सोऽप्यरण्येऽवसत् समाम्॥ १८

एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पंचमे तथा।
अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाऽऽह वृत्रहा॥ १९

षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम्।
उपव्रजन्नजीगर्तादक्रीणान्मध्यमं सुतम्॥ २०

शुनःशेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत।
ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः॥ २१

मुक्तोदरोऽयजद् देवान् वरुणादीन् महत्कथः।
विश्वामित्रोऽभवत् तस्मिन् होता चाध्वर्युरात्मवान्॥ २२

जमदग्निरभूद् ब्रह्मा वसिष्ठोऽयास्यसामगः।
तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम्॥ २३

शुनःशेपस्य माहात्म्यमुपरिष्टात् प्रचक्ष्यते।
सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः॥ २४

विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम्।
मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेन तत्॥ २५

खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि।
तस्मिन् ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहन्॥ २६

कुछ दिनके बाद उसे मालूम हुआ कि वरुणदेवताने रुष्ट होकर मेरे पिताजीपर आक्रमण किया है—जिसके कारण वे महोदर रोगसे पीड़ित हो रहे हैं, तब रोहित अपने नगरकी ओर चल पड़ा। परन्तु इन्द्रने आकर उसे रोक दिया॥ १७॥ उन्होंने कहा—'बेटा रोहित! यज्ञपशु बनकर मरनेकी अपेक्षा तो पवित्र तीर्थ और क्षेत्रोंका सेवन करते हुए पृथ्वीमें विचरना ही अच्छा है।' इन्द्रकी बात मानकर वह एक वर्षतक और वनमें ही रहा॥ १८॥

इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें वर्ष भी रोहितने अपने पिताके पास जानेका विचार किया; परन्तु बूढ़े ब्राह्मणका वेश धारण कर हर बार इन्द्र आते और उसे रोक देते॥ १९॥ इस प्रकार छः वर्षतक रोहित वनमें ही रहा। सातवें वर्ष जब वह अपने नगरको लौटने लगा, तब उसने अजीगर्तसे उनके मझले पुत्र शुनःशेपको मोल ले लिया और उसे यज्ञपशु बनानेके लिये अपने पिताको सौंपकर उनके चरणोंमें नमस्कार किया। तब परम यशस्वी एवं श्रेष्ठ चरित्रवाले राजा हरिश्चन्द्रने महोदर रोगसे छूटकर पुरुषमेध यज्ञद्वारा वरुण आदि देवताओंका यजन किया। उस यज्ञमें विश्वामित्रजी होता हुए। परम संयमी जमदग्निने अध्वर्युका काम किया। वसिष्ठजी ब्रह्मा बने और अयास्य मुनि सामगान करनेवाले उद्गाता बने। उस समय इन्द्रने प्रसन्न होकर हरिश्चन्द्रको एक सोनेका रथ दिया था॥ २०—२३॥

परीक्षित्! आगे चलकर मैं शुनःशेपका माहात्म्य वर्णन करूँगा। हरिश्चन्द्रको अपनी पत्नीके साथ सत्यमें दृढ़तापूर्वक स्थित देखकर विश्वामित्रजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें उस ज्ञानका उपदेश किया जिसका कभी नाश नहीं होता। उसके अनुसार राजा हरिश्चन्द्रने अपने मनको पृथ्वीमें, पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें स्थिर करके, आकाशको अहंकारमें लीन कर दिया। फिर अहंकारको महत्तत्त्वमें लीन करके उसमें ज्ञान-कलाका ध्यान किया और उससे अज्ञानको भस्म कर दिया॥ २४—२६॥

हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा।
अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः॥ २७

इसके बाद निर्वाण-सुखकी अनुभूतिसे उस ज्ञान-कलाका भी परित्याग कर दिया और समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर वे अपने उस स्वरूपमें स्थित हो गये, जो न तो किसी प्रकार बतलाया जा सकता है और न उसके सम्बन्धमें किसी प्रकारका अनुमान ही किया जा सकता है॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे
हरिश्चन्द्रोपाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

सगर-चरित्र

श्रीशुक[1] उवाच

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद् विनिर्मिता।
चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः॥ १

[2]भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तस्यापि बाहुकः।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत्॥ २

वृद्धं तं पंचतां प्राप्तं महिष्यनु मरिष्यती।
और्वेण जानताऽऽत्मानं प्रजावन्तं निवारिता॥ ३

आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह।
सह[3] तेनैव संजातः सगराख्यो महायशाः॥ ४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—रोहितका पुत्र था हरित। हरितसे चम्प हुआ। उसीने चम्पापुरी बसायी थी। चम्पसे सुदेव और उसका पुत्र विजय हुआ॥ १॥ विजयका भरुक, भरुकका वृक और वृकका पुत्र हुआ बाहुक। शत्रुओंने बाहुकसे राज्य छीन लिया, तब वह अपनी पत्नीके साथ वनमें चला गया॥ २॥ वनमें जानेपर बुढ़ापेके कारण जब बाहुककी मृत्यु हो गयी, तब उसकी पत्नी भी उसके साथ सती होनेको उद्यत हुई। परन्तु महर्षि और्वको यह मालूम था कि इसे गर्भ है। इसलिये उन्होंने उसे सती होनेसे रोक दिया॥ ३॥ जब उसकी सौतोंको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने उसे भोजनके साथ गर (विष) दे दिया। परन्तु गर्भपर उस विषका कोई प्रभाव नहीं पड़ा; बल्कि उस विषको लिये हुए ही एक बालकका जन्म हुआ जो गरके साथ पैदा होनेके कारण 'सगर' कहलाया। सगर बड़े यशस्वी राजा हुए॥ ४॥

सगरश्चक्रवर्त्यासीत् सागरो यत्सुतैः कृतः।
यस्तालजंघान् यवनाञ्छकान् हैहयबर्बरान्॥ ५

नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः।
मुण्डाञ्छ्मश्रुधरान् कांश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान्॥ ६

सगर चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्हींके पुत्रोंने पृथ्वी खोदकर समुद्र बना दिया था। सगरने अपने गुरुदेव और्वकी आज्ञा मानकर तालजंघ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जातिके लोगोंका वध नहीं किया, बल्कि उन्हें विरूप बना दिया। उनमेंसे कुछके सिर मुड़वा दिये, कुछके मूँछ-दाढ़ी रखवा दी, कुछको खुले बालोंवाला बना दिया तो कुछको आधा मुँडवा दिया॥ ५-६॥

१. बादरायणिरुवाच। २. करुक०। ३. न हतस्तेन।

अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान्।
सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम्॥ ७

औौर्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम्।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः॥ ८

सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः।
हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन् महीम्॥ ९

प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके।
एष वाजिहरश्चौर आस्ते मीलितलोचनः॥ १०

हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्त्रिणः।
उदायुधा अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः॥ ११

स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः।
महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात्॥ १२

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः॥ १३

यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौ-
र्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम्।
भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः
परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः॥ १४

कुछ लोगोंको सगरने केवल वस्त्र ओढ़नेकी ही आज्ञा दी, पहननेकी नहीं। और कुछको केवल लँगोटी पहननेको ही कहा, ओढ़नेको नहीं। इसके बाद राजा सगरने और्व ऋषिके उपदेशानुसार अश्वमेध यज्ञके द्वारा सम्पूर्ण वेद एवं देवतामय, आत्मस्वरूप, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आराधना की। उसके यज्ञमें जो घोड़ा छोड़ा गया था, उसे इन्द्रने चुरा लिया॥ ७-८॥ उस समय महारानी सुमतिके गर्भसे उत्पन्न सगरके पुत्रोंने अपने पिताके आज्ञानुसार घोड़ेके लिये सारी पृथ्वी छान डाली। जब उन्हें कहीं घोड़ा न मिला, तब उन्होंने बड़े घमण्डसे सब ओरसे पृथ्वीको खोद डाला॥ ९॥ खोदते-खोदते उन्हें पूर्व और उत्तरके कोनेपर कपिलमुनिके पास अपना घोड़ा दिखायी दिया। घोड़ेको देखकर वे साठ हजार राजकुमार शस्त्र उठाकर यह कहते हुए उनकी ओर दौड़ पड़े कि 'यही हमारे घोड़ेको चुरानेवाला चोर है। देखो तो सही, इसने इस समय कैसे आँखें मूँद रखी हैं! यह पापी है। इसको मार डालो, मार डालो!' उसी समय कपिलमुनिने अपनी पलकें खोलीं॥ १०-११॥ इन्द्रने राजकुमारोंकी बुद्धि हर ली थी, इसीसे उन्होंने कपिलमुनि-जैसे महापुरुषका तिरस्कार किया। इस तिरस्कारके फलस्वरूप उनके शरीरमें ही आग जल उठी जिससे क्षणभरमें ही वे सब-के-सब जलकर खाक हो गये॥ १२॥ परीक्षित्! सगरके लड़के कपिलमुनिके क्रोधसे जल गये, ऐसा कहना उचित नहीं है। वे तो शुद्ध सत्त्वगुणके परम आश्रय हैं। उनका शरीर तो जगत्‌को पवित्र करता रहता है। उनमें भला क्रोधरूप तमोगुणकी सम्भावना कैसे की जा सकती है। भला, कहीं पृथ्वीकी धूलका भी आकाशसे सम्बन्ध होता है?॥ १३॥ यह संसार-सागर एक मृत्युमय पथ है। इसके पार जाना अत्यन्त कठिन है। परन्तु कपिलमुनिने इस जगत्‌में सांख्यशास्त्रकी एक ऐसी दृढ़ नाव बना दी है जिससे मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला कोई भी व्यक्ति उस समुद्रके पार जा

योऽसमंजस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः।
तस्य पुत्रोंऽशुमान् नाम पितामहहिते रतः॥ १५

असमंजस आत्मानं दर्शयन्नसमंजसम्।
जातिस्मरः पुरा संगाद् योगी योगाद् विचालितः॥ १६

आचरन् गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम्।
सरय्वां क्रीडतो बालान् प्रास्यदुद्वेजयञ्जनम्॥ १७

एवंवृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै।
योगैश्वर्येण बालांस्तान् दर्शयित्वा ततो ययौ॥ १८

अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान् पुनरागतान्।
दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् राजा चाप्यन्वतप्यत[१]॥ १९

अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरंगान्वेषणे ययौ।
पितृव्यखातानुपथं भस्मान्ति ददृशे हयम्॥ २०

तत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम्।
अस्तौत् समाहितमनाः प्रांजलिः प्रणतो महान्॥ २१

अंशुमानुवाच

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधी-
विसर्गसृष्टा[२] वयमप्रकाशाः॥ २२

सकता है। वे केवल परम ज्ञानी ही नहीं, स्वयं परमात्मा हैं। उनमें भला, यह शत्रु है और यह मित्र—इस प्रकारकी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १४॥

सगरकी दूसरी पत्नीका नाम था केशिनी। उसके गर्भसे उन्हें असमंजस नामका पुत्र हुआ था। असमंजसके पुत्रका नाम था अंशुमान्। वह अपने दादा सगरकी आज्ञाओंके पालन तथा उन्हींकी सेवामें लगा रहता॥ १५॥ असमंजस पहले जन्ममें योगी थे। संगके कारण वे योगसे विचलित हो गये थे, परन्तु अब भी उन्हें अपने पूर्वजन्मका स्मरण बना हुआ था। इसलिये वे ऐसे काम किया करते थे, जिनसे भाई-बन्धु उन्हें प्रिय न समझें। वे कभी-कभी तो अत्यन्त निन्दित कर्म कर बैठते और अपनेको पागल-सा दिखलाते—यहाँतक कि खेलते हुए बच्चोंको सरयूमें डाल देते! इस प्रकार उन्होंने लोगोंको उद्विग्न कर दिया था॥ १६-१७॥ अन्तमें उनकी ऐसी करतूत देखकर पिताने पुत्र-स्नेहको तिलांजलि दे दी और उन्हें त्याग दिया। तदनन्तर असमंजसने अपने योगबलसे उन सब बालकोंको जीवित कर दिया और अपने पिताको दिखाकर वे वनमें चले गये॥ १८॥ अयोध्याके नागरिकोंने जब देखा कि हमारे बालक तो फिर लौट आये तब उन्हें असीम आश्चर्य हुआ और राजा सगरको भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ॥ १९॥ इसके बाद राजा सगरकी आज्ञासे अंशुमान् घोड़ेको ढूँढ़नेके लिये निकले। उन्होंने अपने चाचाओंके द्वारा खोदे हुए समुद्रके किनारे-किनारे चलकर उनके शरीरके भस्मके पास ही घोड़ेको देखा॥ २०॥ वहीं भगवान्के अवतार कपिलमुनि बैठे हुए थे। उनको देखकर उदारहृदय अंशुमान्ने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर एकाग्र मनसे उनकी स्तुति की॥ २१॥

अंशुमान्ने कहा—भगवन्! आप अजन्मा ब्रह्माजीसे भी परे हैं। इसीलिये वे आपको प्रत्यक्ष नहीं देख पाते। देखनेकी बात तो अलग रही—वे समाधि करते-करते एवं युक्ति लड़ाते-लड़ाते हार गये, किन्तु

१. चाथान्व०। २. सृष्टावयवप्रकाशकाः।

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना
गुणान् वि[1]पश्यन्त्युत वा तमश्च।
यन्मायया मोहितचेतसस्ते
विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः॥ २३

तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव-
प्रध्वस्तमायागु[2]णभेदमोहैः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं
कथं हि मूढः परिभावयामि॥ २४

प्रशान्तमायागुणकर्मलिंग-
मनामरूपं सदसद्वि[3]मुक्तम्।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं[4]
नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम्॥ २५

त्व[5]न्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु।
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः॥ २६

अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात्॥ २७

श्रीशुक उवाच

इत्थं गीतानुभावस्तं भगवान् कपिलो मुनिः।
अंशुमन्तमुवाचेदमनुगृह्य धिया नृप॥ २८

आजतक आपको समझ भी नहीं पाये। हमलोग तो उनके मन, शरीर और बुद्धिसे होनेवाली सृष्टिके द्वारा बने हुए अज्ञानी जीव हैं। तब भला, हम आपको कैसे समझ सकते हैं॥ २२॥ संसारके शरीरधारी सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुण-प्रधान हैं। वे जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें केवल गुणमय पदार्थों, विषयोंको और सुषुप्ति-अवस्थामें केवल अज्ञान-ही-अज्ञान देखते हैं। इसका कारण यह है कि वे आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। वे बहिर्मुख होनेके कारण बाहरकी वस्तुओंको तो देखते हैं, पर अपने ही हृदयमें स्थित आपको नहीं देख पाते॥ २३॥ आप एकरस, ज्ञानघन हैं। सनन्दन आदि मुनि, जो आत्मस्वरूपके अनुभवसे मायाके गुणोंके द्वारा होनेवाले भेदभावको और उसके कारण अज्ञानको नष्ट कर चुके हैं, आपका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। मायाके गुणोंमें ही भूला हुआ मैं मूढ़ किस प्रकार आपका चिन्तन करूँ?॥ २४॥ माया, उसके गुण और गुणोंके कारण होनेवाले कर्म एवं कर्मोंके संस्कारसे बना हुआ लिंगशरीर आपमें है ही नहीं। न तो आपका नाम है और न तो रूप। आपमें न कार्य है और न तो कारण। आप सनातन आत्मा हैं। ज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही आपने यह शरीर धारण कर रखा है। हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २५॥ प्रभो! यह संसार आपकी मायाकी करामात है। इसको सत्य समझकर काम, लोभ, ईर्ष्या और मोहसे लोगोंका चित्त शरीर तथा घर आदिमें भटकने लगता है। लोग इसीके चक्करमें फँस जाते हैं॥ २६॥ समस्त प्राणियोंके आत्मा प्रभो! आज आपके दर्शनसे मेरे मोहकी वह दृढ़ फाँसी कट गयी जो कामना, कर्म और इन्द्रियोंको जीवनदान देती है॥ २७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब अंशुमान्ने भगवान् कपिलमुनिके प्रभावका इस प्रकार गान किया, तब उन्होंने मन-ही-मन अंशुमान्पर बड़ा अनुग्रह किया और कहा॥ २८॥

१. प्रपश्य०। २. मयमोहभेदैः। ३. द्वियुक्तम्। ४. तलिंगं। ५. यत्त्वया रचि०।

श्रीभगवानुवाच

अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव।
इमे च पितरो दग्धा गंगाम्भोऽर्हन्ति नेतरत्॥ २९
तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत्।
सगरस्तेन पशुना क्रतुशेषं समापयत्॥ ३०
राज्यमंशुमति न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धनः।
औौर्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम्॥ ३१

श्रीभगवान्ने कहा—'बेटा! यह घोड़ा तुम्हारे पितामहका यज्ञपशु है। इसे तुम ले जाओ। तुम्हारे जले हुए चाचाओंका उद्धार केवल गंगाजलसे होगा, और कोई उपाय नहीं है'॥ २९॥ अंशुमान्ने बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रसन्न करके उनकी परिक्रमा की और वे घोड़ेको ले आये। सगरने उस यज्ञपशुके द्वारा यज्ञकी शेष क्रिया समाप्त की॥ ३०॥

तब राजा सगरने अंशुमान्को राज्यका भार सौंप दिया और वे स्वयं विषयोंसे निःस्पृह एवं बन्धनमुक्त हो गये। उन्होंने महर्षि और्वके बतलाये हुए मार्गसे परमपदकी प्राप्ति की॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे सगरोपाख्यानेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

भगीरथ-चरित्र और गंगावतरण

श्रीशुक उवाच

अंशुमांश्च तपस्तेपे गंगानयनकाम्यया।
कालं महान्तं नाशक्नोत् ततः कालेन संस्थितः॥ १

दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान्।
भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत् तपः॥ २

दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते।
इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः॥ ३

कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले।
अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम्॥ ४

किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम्।
मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यताम्॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अंशुमान्ने गंगाजीको लानेकी कामनासे बहुत वर्षोंतक घोर तपस्या की; परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली, समय आनेपर उनकी मृत्यु हो गयी॥ १॥ अंशुमान्के पुत्र दिलीपने भी वैसी ही तपस्या की; परन्तु वे भी असफल ही रहे, समयपर उनकी भी मृत्यु हो गयी। दिलीपके पुत्र थे भगीरथ। उन्होंने बहुत बड़ी तपस्या की॥ २॥ उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवती गंगाने उन्हें दर्शन दिया और कहा कि—'मैं तुम्हें वर देनेके लिये आयी हूँ।' उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने बड़ी नम्रतासे अपना अभिप्राय प्रकट किया कि 'आप मर्त्यलोकमें चलिये'॥ ३॥

[गंगाजीने कहा—] 'जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ उस समय मेरे वेगको कोई धारण करनेवाला होना चाहिये। भगीरथ! ऐसा न होनेपर मैं पृथ्वीको फोड़कर रसातलमें चली जाऊँगी॥ ४॥ इसके अतिरिक्त इस कारणसे भी मैं पृथ्वीपर नहीं जाऊँगी कि लोग मुझमें अपने पाप धोयेंगे। फिर मैं उस पापको कहाँ धोऊँगी। भगीरथ! इस विषयमें तुम स्वयं विचार कर लो'॥ ५॥

भगीरथ उवाच

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥ ६

धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम् ।
यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु ॥ ७

इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसातोषयच्छिवम् ।
कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशः[1] समतुष्यत ॥ ८

तथेति राज्ञाभिहितं सर्वलोकहितः शिवः ।
दधारावहितो गंगां पादपूतजलां हरेः ॥ ९

भगीरथः[2] स राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम् ।
यत्र स्वपितॄणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते ॥ १०

रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती ।
देशान् पुनन्ती निर्दग्धानासिंचत् सगरात्मजान् ॥ ११

यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि ।
सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः ॥ १२

भस्मीभूतांगसंगेन स्वर्याताः सगरात्मजाः ।
किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥ १३

भगीरथने कहा—'माता! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रकी कामनाका संन्यास कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने-आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी सज्जन हैं—वे अपने अंगस्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे। क्योंकि उनके हृदयमें अघरूप अघासुरको मारनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं॥ ६ ॥ समस्त प्राणियोंके आत्मा रुद्रदेव तुम्हारा वेग धारण कर लेंगे। क्योंकि जैसे साड़ी सूतोंमें ओत-प्रोत है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान् रुद्रमें ही ओत-प्रोत है'॥ ७॥ परीक्षित्! गंगाजीसे इस प्रकार कहकर राजा भगीरथने तपस्याके द्वारा भगवान् शंकरको प्रसन्न किया। थोड़े ही दिनोंमें महादेवजी उनपर प्रसन्न हो गये॥ ८॥ भगवान् शंकर तो सम्पूर्ण विश्वके हितैषी हैं, राजाकी बात उन्होंने 'तथास्तु' कहकर स्वीकार कर ली। फिर शिवजीने सावधान होकर गंगाजीको अपने सिरपर धारण किया। क्यों न हो, भगवान्‌के चरणोंका सम्पर्क होनेके कारण गंगाजीका जल परम पवित्र जो है॥ ९ ॥ इसके बाद राजर्षि भगीरथ त्रिभुवनपावनी गंगाजीको वहाँ ले गये जहाँ उनके पितरोंके शरीर राखके ढेर बने पड़े थे॥ १० ॥ वे वायुके समान वेगसे चलनेवाले रथपर सवार होकर आगे-आगे चल रहे थे और उनके पीछे-पीछे मार्गमें पड़नेवाले देशोंको पवित्र करती हुई गंगाजी दौड़ रही थीं। इस प्रकार गंगासागर-संगमपर पहुँचकर उन्होंने सगरके जले हुए पुत्रोंको अपने जलमें डुबा दिया॥ ११ ॥ यद्यपि सगरके पुत्र ब्राह्मणके तिरस्कारके कारण भस्म हो गये थे, इसलिये उनके उद्धारका कोई उपाय न था—फिर भी केवल शरीरकी राखके साथ गंगाजलका स्पर्श हो जानेसे ही वे स्वर्गमें चले गये॥ १२ ॥ परीक्षित्! जब गंगाजलसे शरीरकी राखका स्पर्श हो जानेसे सगरके पुत्रोंको स्वर्गकी प्राप्ति हो गयी तब जो लोग श्रद्धाके साथ नियम लेकर श्रीगंगाजीका सेवन करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ १३ ॥

१. शश्चानुतु०। २. रथोऽथ रा०।

न ह्येतत् परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः॥ १४

संनिवेश्य मनो यस्मिञ्छ्रद्धया मुनयोऽमलाः।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम्॥ १५

मैंने गंगाजीकी महिमाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। क्योंकि गंगाजी भगवान्‌के उन चरणकमलोंसे निकली हैं, जिनका श्रद्धाके साथ चिन्तन करके बड़े-बड़े मुनि निर्मल हो जाते हैं और तीनों गुणोंके कठिन बन्धनको काटकर तुरन्त भगवत्स्वरूप बन जाते हैं। फिर गंगाजी संसारका बन्धन काट दें, इसमें कौन बड़ी बात है॥ १४-१५॥

श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत्।
सिन्धुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत्॥ १६

ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात्।
दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः॥ १७

ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप।
आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित्।
वसिष्ठशापाद् रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा॥ १८

भगीरथका पुत्र था श्रुत, श्रुतका नाभ। यह नाभ पूर्वोक्त नाभसे भिन्न है। नाभका पुत्र था सिन्धुद्वीप और सिन्धुद्वीपका अयुतायु। अयुतायुके पुत्रका नाम था ऋतुपर्ण। वह नलका मित्र था। उसने नलको पासा फेंकनेकी विद्याका रहस्य बतलाया था और बदलेमें उससे अश्व-विद्या सीखी थी। ऋतुपर्णका पुत्र सर्वकाम हुआ॥ १६-१७॥ परीक्षित्! सर्वकामके पुत्रका नाम था सुदास। सुदासके पुत्रका नाम था सौदास और सौदासकी पत्नीका नाम था मदयन्ती। सौदासको ही कोई-कोई मित्रसह कहते हैं और कहीं-कहीं उसे कल्माषपाद भी कहा गया है। वह वसिष्ठके शापसे राक्षस हो गया था और फिर अपने कर्मोंके कारण सन्तानहीन हुआ॥ १८॥

राजोवाच

किं निमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य महात्मनः।
एतद् वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि॥ १९

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! हम यह जानना चाहते हैं कि महात्मा सौदासको गुरु वसिष्ठजीने शाप क्यों दिया। यदि कोई गोपनीय बात न हो तो कृपया बतलाइये॥ १९॥

श्रीशुक उवाच

सौदासो मृगयां कञ्चिच्चरन् रक्षो जघान ह।
मुमोच भ्रातरं सोऽथ गतः प्रतिचिकीर्षया॥ २०

स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे।
गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम्॥ २१

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! एक बार राजा सौदास शिकार खेलने गये हुए थे। वहाँ उन्होंने किसी राक्षसको मार डाला और उसके भाईको छोड़ दिया। उसने राजाके इस कामको अन्याय समझा और उनसे भाईकी मृत्युका बदला लेनेके लिये वह रसोइयेका रूप धारण करके उनके घर गया। जब एक दिन भोजन करनेके लिये गुरु वसिष्ठजी राजाके यहाँ आये, तब उसने मनुष्यका मांस राँधकर उन्हें परस दिया॥ २०-२१॥

परिवेक्ष्यमाणं भगवान् विलोक्याभक्ष्यमंजसा।
राजानमशपत् क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि॥ २२

रक्षःकृतं तद् विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम्।
सोऽप्यपोऽञ्जलिनाऽऽदाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः॥ २३

वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ।
दिशः खमवनीं सर्वं पश्यंजीवमयं नृपः॥ २४

राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः।
व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ॥ २५

क्षुधार्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत्।
न भवान् राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः॥ २६

मदयन्त्याः पतिर्वीर नाधर्मं कर्तुमर्हसि[१]।
देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम्॥ २७

देहोऽयं मानुषो राजन् पुरुषस्याखिलार्थदः।
तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते॥ २८

एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः।
आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम्।
सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः॥ २९

जब सर्वसमर्थ वसिष्ठजीने देखा कि परोसी जानेवाली वस्तु तो नितान्त अभक्ष्य है, तब उन्होंने क्रोधित होकर राजाको शाप दिया कि 'जा, इस कामसे तू राक्षस हो जायगा'॥ २२॥ जब उन्हें यह बात मालूम हुई कि यह काम तो राक्षसका है—राजाका नहीं, तब उन्होंने उस शापको केवल बारह वर्षके लिये कर दिया। उस समय राजा सौदास भी अपनी अंजलिमें जल लेकर गुरु वसिष्ठको शाप देनेके लिये उद्यत हुए॥ २३॥ परन्तु उनकी पत्नी मदयन्तीने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया। इसपर सौदासने विचार किया कि 'दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी—सब-के-सब तो जीवमय ही हैं। तब यह तीक्ष्ण जल कहाँ छोड़ूँ?' अन्तमें उन्होंने उस जलको अपने पैरोंपर डाल लिया। [इसीसे उनका नाम 'मित्रसह' हुआ]॥ २४॥ उस जलसे उनके पैर काले पड़ गये थे, इसलिये उनका नाम 'कल्माषपाद' भी हुआ। अब वे राक्षस हो चुके थे। एक दिन राक्षस बने हुए राजा कल्माषपादने एक वनवासी ब्राह्मण-दम्पतिको सहवासके समय देख लिया॥ २५॥ कल्माषपादको भूख तो लगी ही थी, उसने ब्राह्मणको पकड़ लिया। ब्राह्मण-पत्नीकी कामना अभी पूर्ण नहीं हुई थी। उसने कहा—'राजन्! आप राक्षस नहीं हैं। आप महारानी मदयन्तीके पति और इक्ष्वाकुवंशके वीर महारथी हैं। आपको ऐसा अधर्म नहीं करना चाहिये। मुझे सन्तानकी कामना है और इस ब्राह्मणकी भी कामनाएँ अभी पूर्ण नहीं हुई हैं इसलिये आप मुझे मेरा यह ब्राह्मण पति दे दीजिये॥ २६-२७॥ राजन्! यह मनुष्य-शरीर जीवको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाला है। इसलिये वीर! इस शरीरको नष्ट कर देना सभी पुरुषार्थोंकी हत्या कही जाती है॥ २८॥ फिर यह ब्राह्मण तो विद्वान् है। तपस्या, शील और बड़े-बड़े गुणोंसे सम्पन्न है। यह

१. ति।

सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद् विभो।
कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मजः॥ ३०

तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः।
कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते[1] सन्मतो भवान्॥ ३१

यद्ययं क्रियते भक्षस्तर्हि मां खाद पूर्वतः।
न जीविष्ये विना येन क्षणं च मृतकं यथा॥ ३२

एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत्।
व्याघ्रः पशुमिवाखादत् सौदासः शापमोहितः॥ ३३

ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम्।
शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत् कुपिता सती॥ ३४

यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्तायाः पतिस्त्वया।
तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः॥ ३५

एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा।
तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्तुर्गतिं[2] गता॥ ३६

विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः।
विज्ञाय[3] ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः॥ ३७

उन पुरुषोत्तम परब्रह्मकी समस्त प्राणियोंके आत्माके रूपमें आराधना करना चाहता है, जो समस्त पदार्थोंमें विद्यमान रहते हुए भी उनके पृथक्-पृथक् गुणोंसे छिपे हुए हैं॥ २९ ॥ राजन्! आप शक्तिशाली हैं। आप धर्मका मर्म भलीभाँति जानते हैं। जैसे पिताके हाथों पुत्रकी मृत्यु उचित नहीं, वैसे ही आप-जैसे श्रेष्ठ राजर्षिके हाथों मेरे श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि पतिका वध किसी प्रकार उचित नहीं है॥ ३० ॥ आपका साधु-समाजमें बड़ा सम्मान है। भला आप मेरे परोपकारी, निरपराध, श्रोत्रिय एवं ब्रह्मवादी पतिका वध कैसे ठीक समझ रहे हैं? ये तो गौके समान निरीह हैं॥ ३१ ॥ फिर भी यदि आप इन्हें खा ही डालना चाहते हैं, तो पहले मुझे खा डालिये। क्योंकि अपने पतिके बिना मैं मुर्देके समान हो जाऊँगी और एक क्षण भी जीवित न रह सकूँगी'॥ ३२ ॥ ब्राह्मणपत्नी बड़ी ही करुणापूर्ण वाणीमें इस प्रकार कहकर अनाथकी भाँति रोने लगी। परन्तु सौदासने शापसे मोहित होनेके कारण उसकी प्रार्थनापर कुछ भी ध्यान न दिया और वह उस ब्राह्मणको वैसे ही खा गया, जैसे बाघ किसी पशुको खा जाय॥ ३३ ॥ जब ब्राह्मणीने देखा कि राक्षसने मेरे गर्भाधानके लिये उद्यत पतिको खा लिया, तब उसे बड़ा शोक हुआ। सती ब्राह्मणीने क्रोध करके राजाको शाप दे दिया॥ ३४ ॥ 'रे पापी! मैं अभी कामसे पीड़ित हो रही थी। ऐसी अवस्थामें तूने मेरे पतिको खा डाला है। इसलिये मूर्ख! जब तू स्त्रीसे सहवास करना चाहेगा, तभी तेरी मृत्यु हो जायगी, यह बात मैं तुझे सुझाये देती हूँ'॥ ३५ ॥ इस प्रकार मित्रसहको शाप देकर ब्राह्मणी अपने पतिकी अस्थियोंको धधकती हुई चितामें डालकर स्वयं भी सती हो गयी और उसने वही गति प्राप्त की, जो उसके पतिदेवको मिली थी। क्यों न हो, वह अपने पतिको छोड़कर और किसी लोकमें जाना भी तो नहीं चाहती थी॥ ३६ ॥

बारह वर्ष बीतनेपर राजा सौदास शापसे मुक्त हो गये। जब वे सहवासके लिये अपनी पत्नीके पास गये,

१. बभ्रोर्धर्मज्ञो मन्यते भवान्। २. भर्तृगतिं। ३. विज्ञाप्य।

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः[1]।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात्॥ ३८

सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते॥ ३९

अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः।
नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत्॥ ४०

ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडविडस्ततः[2]।
राजा विश्वसहो यस्य खट्वांगश्चक्रवर्त्यभूत्॥ ४१

यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद् युधि दुर्जयः।
मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं संदधे मनः॥ ४२

न मे ब्रह्मकुलात् प्राणाः कुलदैवान्न चात्मजाः।
न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः॥ ४३

न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित्।
नापश्यमुत्तमश्लोकादन्यत् किंचन वस्त्वहम्॥ ४४

देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः।
न वृणे तमहं कामं भूतभावनभावनः॥ ४५

ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम्।
न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे॥ ४६

तब उसने इन्हें रोक दिया। क्योंकि उसे उस ब्राह्मणीके शापका पता था॥ ३७॥ इसके बाद उन्होंने स्त्री-सुखका बिलकुल परित्याग ही कर दिया। इस प्रकार अपने कर्मके फलस्वरूप वे सन्तानहीन हो गये। तब वसिष्ठजीने उनके कहनेसे मदयन्तीको गर्भाधान कराया॥ ३८ ॥ मदयन्ती सात वर्षतक गर्भ धारण किये रही, परन्तु बच्चा पैदा नहीं हुआ। तब वसिष्ठजीने पत्थरसे उसके पेटपर आघात किया। इससे जो बालक हुआ, वह अश्म (पत्थर) की चोटसे पैदा होनेके कारण 'अश्मक' कहलाया॥ ३९ ॥ अश्मकसे मूलकका जन्म हुआ। जब परशुरामजी पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर रहे थे, तब स्त्रियोंने उसे छिपाकर रख लिया था। इसीसे उसका एक नाम 'नारीकवच' भी हुआ। उसे मूलक इसलिये कहते हैं कि वह पृथ्वीके क्षत्रियहीन हो जानेपर उस वंशका मूल (प्रवर्तक) बना॥ ४० ॥ मूलकके पुत्र हुए दशरथ, दशरथके ऐडविड और ऐडविडके राजा विश्वसह। विश्वसहके पुत्र ही चक्रवर्ती सम्राट् खट्वांग हुए॥ ४१ ॥ युद्धमें उन्हें कोई जीत नहीं सकता था। उन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे दैत्योंका वध किया था। जब उन्हें देवताओंसे यह मालूम हुआ कि अब मेरी आयु केवल दो ही घड़ी बाकी है, तब वे अपनी राजधानी लौट आये और अपने मनको उन्होंने भगवान्‌में लगा दिया॥ ४२ ॥ वे मन-ही-मन सोचने लगे कि 'मेरे कुलके इष्ट देवता हैं ब्राह्मण! उनसे बढ़कर मेरा प्रेम अपने प्राणोंपर भी नहीं है। पत्नी, पुत्र, लक्ष्मी, राज्य और पृथ्वी भी मुझे उतने प्यारे नहीं लगते॥ ४३ ॥ मेरा मन बचपनमें भी कभी अधर्मकी ओर नहीं गया। मैंने पवित्रकीर्ति भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु कहीं नहीं देखी॥ ४४॥ तीनों लोकोंके स्वामी देवताओंने मुझे मुँहमाँगा वर देनेको कहा। परन्तु मैंने उन भोगोंकी लालसा बिलकुल नहीं की। क्योंकि समस्त प्राणियोंके जीवनदाता श्रीहरिकी भावनामें ही मैं मग्न हो रहा था॥ ४५ ॥ जिन देवताओंकी इन्द्रियाँ और मन विषयोंमें

१. प्रजः। २. ऐलिविलः।

अथेशमायारचितेषु संगं
गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु।
रूढं प्रकृत्याऽऽत्मनि विश्वकर्तु-
र्भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये॥ ४७

भटक रहे हैं, वे सत्त्वगुणप्रधान होनेपर भी अपने हृदयमें विराजमान, सदा-सर्वदा प्रियतमके रूपमें रहनेवाले अपने आत्मस्वरूप भगवान्‌को नहीं जानते। फिर भला जो रजोगुणी और तमोगुणी हैं, वे तो जान ही कैसे सकते हैं॥ ४६॥ इसलिये अब इन विषयोंमें मैं नहीं रमता। ये तो मायाके खेल हैं। आकाशमें झूठ-मूठ प्रतीत होनेवाले गन्धर्वनगरोंसे बढ़कर इनकी सत्ता नहीं है। ये तो अज्ञानवश चित्तपर चढ़ गये थे। संसारके सच्चे रचयिता भगवान्‌की भावनामें लीन होकर मैं विषयोंको छोड़ रहा हूँ और केवल उन्हींकी शरण ले रहा हूँ॥ ४७॥

इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया।
हित्वान्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमाश्रितः॥ ४८

परीक्षित्! भगवान्‌ने राजा खट्वांगकी बुद्धिको पहलेसे ही अपनी ओर आकर्षित कर रखा था। इसीसे वे अन्त समयमें ऐसा निश्चय कर सके। अब उन्होंने शरीर आदि अनात्म पदार्थोंमें जो अज्ञानमूलक आत्मभाव था, उसका परित्याग कर दिया और अपने वास्तविक आत्मस्वरूपमें स्थित हो गये॥ ४८॥

यत् तद् ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम्।
भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः॥ ४९

वह स्वरूप साक्षात् परब्रह्म है। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, शून्यके समान ही है। परन्तु वह शून्य नहीं, परम सत्य है। भक्तजन उसी वस्तुको 'भगवान् वासुदेव' इस नामसे वर्णन करते हैं॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे
सूर्यवंशानुवर्णने नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामकी लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

खट्वांगाद् दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् पृथुश्रवाः।
अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! खट्वांगके पुत्र दीर्घबाहु और दीर्घबाहुके परम यशस्वी पुत्र रघु हुए। रघुके अज और अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए॥ १॥

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया॥ २

देवताओंकी प्रार्थनासे साक्षात् परमब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीहरि ही अपने अंशांशसे चार रूप धारण करके राजा दशरथके पुत्र हुए। उनके नाम थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न॥ २॥

तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः॥ ३

परीक्षित्! सीतापति भगवान् श्रीरामका चरित्र तो तत्त्वदर्शी ऋषियोंने बहुत कुछ वर्णन किया है और तुमने अनेक बार उसे सुना भी है॥ ३॥

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं
पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो
यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषा-
ऽऽरोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः
कोसलेन्द्रोऽवतान्नः ॥ ४

भगवान् श्रीरामने अपने पिता राजा दशरथके सत्यकी रक्षाके लिये राजपाट छोड़ दिया और वे वन-वनमें फिरते रहे। उनके चरणकमल इतने सुकुमार थे कि परम सुकुमारी श्रीजानकीजीके करकमलोंका स्पर्श भी उनसे सहन नहीं होता था। वे ही चरण जब वनमें चलते-चलते थक जाते, तब हनूमान् और लक्ष्मण उन्हें दबा-दबाकर उनकी थकावट मिटाते। शूर्पणखाको नाक-कान काटकर विरूप कर देनेके कारण उन्हें अपनी प्रियतमा श्रीजानकीजीका वियोग भी सहना पड़ा। इस वियोगके कारण क्रोधवश उनकी भौंहें तन गयीं, जिन्हें देखकर समुद्रतक भयभीत हो गया। इसके बाद उन्होंने समुद्रपर पुल बाँधा और लंकामें जाकर दुष्ट राक्षसोंके जंगलको दावाग्निके समान दग्ध कर दिया। वे कोसलनरेश हमारी रक्षा करें॥ ४॥

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुंगवाः॥ ५

भगवान् श्रीरामने विश्वामित्रके यज्ञमें लक्ष्मणके सामने ही मारीच आदि राक्षसोंको मार डाला। वे सब बड़े-बड़े राक्षसोंकी गिनतीमें थे॥ ५॥ परीक्षित्! जनकपुरमें सीताजीका स्वयंवर हो रहा था। संसारके चुने हुए वीरोंकी सभामें भगवान् शंकरका वह भयंकर धनुष रखा हुआ था। वह इतना भारी था कि तीन सौ वीर बड़ी कठिनाईसे उसे स्वयंवरसभामें ला सके थे। भगवान् श्रीरामने उस धनुषको बात-की-बातमें उठाकर उसपर डोरी चढ़ा दी और खींचकर बीचोबीचसे उसके दो टुकड़े कर दिये—ठीक वैसे ही, जैसे हाथीका बच्चा खेलते-खेलते ईख तोड़ डाले॥ ६॥

यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं
सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम्।
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं
सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये॥ ६

भगवान्ने जिन्हें अपने वक्षःस्थलपर स्थान देकर सम्मानित किया है, वे श्रीलक्ष्मीजी ही सीताके नामसे जनकपुरमें अवतीर्ण हुई थीं। वे गुण, शील, अवस्था, शरीरकी गठन और सौन्दर्यमें सर्वथा भगवान् श्रीरामके अनुरूप थीं। भगवान्ने धनुष तोड़कर उन्हें प्राप्त कर लिया। अयोध्याको लौटते समय मार्गमें उन परशुरामजीसे भेंट हुई जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको राजवंशके बीजसे भी रहित कर दिया था। भगवान्ने उनके बढ़े हुए गर्वको नष्ट कर दिया॥ ७॥

जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां
सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम्।
मार्गे व्रजन् भृगुपतेर्व्यनयत् प्ररूढं
दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराजबीजाम्॥ ७

यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं
त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसंगः॥ ८

रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धे-
स्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून्।
जघ्ने चतुर्दशसहस्त्रमपारणीय-
कोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम्॥ ९

सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन
सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण।
जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाऽऽश्रमतोऽपकृष्टो
मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः॥ १०

रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्षं
वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।
भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः
स्त्रीसंगिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार॥ ११

दग्ध्वाऽऽत्मकृत्यहतकृत्यमहन् कबन्धं
सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः।

इसके बाद पिताके वचनको सत्य करनेके लिये उन्होंने वनवास स्वीकार किया। यद्यपि महाराज दशरथने अपनी पत्नीके अधीन होकर ही उसे वैसा वचन दिया था, फिर भी वे सत्यके बन्धनमें बँध गये थे। इसलिये भगवान्‌ने अपने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की। उन्होंने प्राणोंके समान प्यारे राज्य, लक्ष्मी, प्रेमी, हितैषी, मित्र और महलोंको वैसे ही छोड़कर अपनी पत्नीके साथ यात्रा की, जैसे मुक्तसंग योगी प्राणोंको छोड़ देता है॥ ८॥ वनमें पहुँचकर भगवान्‌ने राक्षसराज रावणकी बहिन शूर्पणखाको विरूप कर दिया। क्योंकि उसकी बुद्धि बहुत ही कलुषित, कामवासनाके कारण अशुद्ध थी। उसके पक्षपाती खर, दूषण, त्रिशिरा आदि प्रधान-प्रधान भाइयोंको—जो संख्यामें चौदह हजार थे—हाथमें महान् धनुष लेकर भगवान् श्रीरामने नष्ट कर डाला; और अनेक प्रकारकी कठिनाइयोंसे परिपूर्ण वनमें वे इधर-उधर विचरते हुए निवास करते रहे॥ ९॥ परीक्षित्! जब रावणने सीताजीके रूप, गुण, सौन्दर्य आदिकी बात सुनी तो उसका हृदय कामवासनासे आतुर हो गया। उसने अद्‌भुत हरिनके वेषमें मारीचको उनकी पर्णकुटीके पास भेजा। वह धीरे-धीरे भगवान्‌को वहाँसे दूर ले गया। अन्तमें भगवान्‌ने अपने बाणसे उसे बात-की-बातमें वैसे ही मार डाला, जैसे दक्षप्रजापतिको वीरभद्रने मारा था॥ १०॥ जब भगवान् श्रीराम जंगलमें दूर निकल गये, तब (लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमें) नीच राक्षस रावणने भेड़ियेके समान विदेहनन्दिनी सुकुमारी श्रीसीताजीको हर लिया। तदनन्तर वे अपनी प्राणप्रिया सीताजीसे बिछुड़कर अपने भाई लक्ष्मणके साथ वन-वनमें दीनकी भाँति घूमने लगे। और इस प्रकार उन्होंने यह शिक्षा दी कि 'जो स्त्रियोंमें आसक्ति रखते हैं, उनकी यही गति होती है'॥ ११॥ इसके बाद भगवान्‌ने उस जटायुका दाह-संस्कार किया, जिसके सारे कर्मबन्धन भगवत्सेवारूप कर्मसे पहले ही भस्म हो चुके थे। फिर भगवान्‌ने कबन्धका संहार किया और इसके अनन्तर सुग्रीव आदि वानरोंसे मित्रता करके

बुद्ध्वाथ वालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यै-
वेंलामगात् स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ॥ १२

यद्रोषविभ्रम[1]विवृत्तकटाक्षपात-
संभ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी
पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥ १३

न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन्[2]
कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम्।
यत्सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा
मन्योश्च भूतपतयः स भवान् गुणेशः ॥ १४

कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं
त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम्।
बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै
गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः ॥ १५

बद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः
सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गैः।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै-[3]
र्लङ्कां विभीषणदृशाऽऽविशदग्रदग्धाम् ॥ १६

वालिका वध किया, तदनन्तर वानरोंके द्वारा अपनी प्राणप्रियाका पता लगवाया। ब्रह्मा और शंकर जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं वे भगवान् श्रीराम मनुष्यकी-सी लीला करते हुए बंदरोंकी सेनाके साथ समुद्रतटपर पहुँचे ॥ १२ ॥ (वहाँ उपवास और प्रार्थनासे जब समुद्रपर कोई प्रभाव न पड़ा, तब) भगवान्ने क्रोधकी लीला करते हुए अपनी उग्र एवं टेढ़ी नजर समुद्रपर डाली। उसी समय समुद्रके बड़े-बड़े मगर और मच्छ खलबला उठे। डर जानेके कारण समुद्रकी सारी गर्जना शान्त हो गयी। तब समुद्र शरीरधारी बनकर और अपने सिरपर बहुत-सी भेंटें लेकर भगवान्के चरणकमलोंकी शरणमें आया और इस प्रकार कहने लगा ॥ १३ ॥ 'अनन्त! हम मूर्ख हैं; इसलिये आपके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते। जानें भी कैसे? आप समस्त जगत्के एकमात्र स्वामी, आदिकारण एवं जगत्के समस्त परिवर्तनोंमें एकरस रहनेवाले हैं। आप समस्त गुणोंके स्वामी हैं। इसलिये जब आप सत्त्वगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब देवताओंकी, रजोगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब प्रजापतियोंकी और तमोगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब आपके क्रोधसे रुद्रगणकी उत्पत्ति होती है ॥ १४ ॥ वीरशिरोमणे! आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझे पार कर जाइये और त्रिलोकीको रुलानेवाले विश्रवाके कुपूत रावणको मारकर अपनी पत्नीको फिरसे प्राप्त कीजिये। परन्तु आपसे मेरी एक प्रार्थना है। आप यहाँ मुझपर एक पुल बाँध दीजिये। इससे आपके यशका विस्तार होगा और आगे चलकर जब बड़े-बड़े नरपति दिग्विजय करते हुए यहाँ आयेंगे, तब वे आपके यशका गान करेंगे' ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीरामजीने अनेकानेक पर्वतोंके शिखरोंसे समुद्रपर पुल बाँधा। जब बड़े-बड़े बन्दर अपने हाथोंसे पर्वत उठा-उठाकर लाते थे, तब उनके वृक्ष और बड़ी-बड़ी चट्टानें थर-थर काँपने लगती थीं। इसके बाद विभीषणकी सलाहसे भगवान्ने सुग्रीव, नील, हनूमान् आदि प्रमुख वीरों और वानरीसेनाके साथ लंकामें प्रवेश किया। वह तो श्रीहनूमान्जीके द्वारा पहले ही जलायी जा चुकी थी ॥ १६ ॥

१. मकटाक्षविटंकपात०। २. नूनं। ३. रनेकै०।

सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठ-[1]
श्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटंका ।
निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भ-
शृंगाटका गजकुलैर्ह्रदिनीव घूर्णा॥ १७

उस समय वानरराजकी सेनाने लंकाके सैर करने और खेलनेके स्थान, अन्नके गोदाम, खजाने, दरवाजे, फाटक, सभाभवन, छज्जे और पक्षियोंके रहनेके स्थानतकको घेर लिया। उन्होंने वहाँकी वेदी, ध्वजाएँ, सोनेके कलश और चौराहे तोड़-फोड़ डाले। उस समय लंका ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे झुंड-के-झुंड हाथियोंने किसी नदीको मथ डाला हो॥ १७॥

रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ-
धूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तनरान्तकादीन् ।
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकम्पनादीन्
सर्वानुगान् समहिनोदथ कुम्भकर्णम्॥ १८

यह देखकर राक्षसराज रावणने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक, प्रहस्त, अतिकाय, विकम्पन आदि अपने सब अनुचरों, पुत्र मेघनाद और अन्तमें भाई कुम्भकर्णको भी युद्ध करनेके लिये भेजा॥ १८॥

तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप-
प्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद-
नीलांगदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽगात्॥ १९

राक्षसोंकी वह विशाल सेना तलवार, त्रिशूल, धनुष, प्रास, ऋष्टि, शक्ति, बाण, भाले, खड्ग आदि शस्त्र-अस्त्रोंसे सुरक्षित और अत्यन्त दुर्गम थी। भगवान् श्रीरामने सुग्रीव, लक्ष्मण, हनूमान्, गन्धमादन, नील, अंगद, जाम्बवान् और पनस आदि वीरोंको अपने साथ लेकर राक्षसोंकी सेनाका सामना किया॥ १९॥

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे
द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः ।
जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरंगदाद्याः
सीताभिमर्शहतमंगलरावणेशान्॥ २०

रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामके अंगद आदि सब सेनापति राक्षसोंकी चतुरंगिणी सेना—हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदलोंके साथ द्वन्द्वयुद्धकी रीतिसे भिड़ गये और राक्षसोंको वृक्ष, पर्वतशिखर, गदा और बाणोंसे मारने लगे। उनका मारा जाना तो स्वाभाविक ही था। क्योंकि वे उसी रावणके अनुचर थे, जिसका मंगल श्रीसीताजीको स्पर्श करनेके कारण पहले ही नष्ट हो चुका था॥ २०॥

रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट
आरुह्य यानकमथाभिससार रामम्[2]।
स्वःस्यन्दने द्युमति[3] मातलिनोपनीते
विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः॥ २१

जब राक्षसराज रावणने देखा कि मेरी सेनाका तो नाश हुआ जा रहा है, तब वह क्रोधमें भरकर पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो भगवान् श्रीरामके सामने आया। उस समय इन्द्रका सारथि मातलि बड़ा ही तेजस्वी दिव्य रथ लेकर आया और उसपर भगवान् श्रीरामजी विराजमान हुए। रावण अपने तीखे बाणोंसे उनपर प्रहार करने लगा॥ २१॥

१. कोष०। २. पालक०। ३. महति।

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः
कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत्[१] ते।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलंघ्यवीर्यः॥ २२

भगवान् श्रीरामजीने रावणसे कहा—'नीच राक्षस! तुम कुत्तेकी तरह हमारी अनुपस्थितिमें हमारी प्राणप्रिया पत्नीको हर लाये! तुमने दुष्टताकी हद कर दी! तुम्हारे-जैसा निर्लज्ज तथा निन्दनीय और कौन होगा। जैसे कालको कोई टाल नहीं सकता—कर्तापनके अभिमानीको वह फल दिये बिना रह नहीं सकता, वैसे ही आज मैं तुम्हें तुम्हारी करनीका फल चखाता हूँ'॥ २२॥

एवं क्षिपन् धनुषि संधितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद।
सोऽसृग् वमन् दशमुखैर्न्यपतद् विमाना-
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः॥ २३

इस प्रकार रावणको फटकारते हुए भगवान् श्रीरामने अपने धनुषपर चढ़ाया हुआ बाण उसपर छोड़ा। उस बाणने वज्रके समान उसके हृदयको विदीर्ण कर दिया। वह अपने दसों मुखोंसे खून उगलता हुआ विमानसे गिर पड़ा—ठीक वैसे ही, जैसे पुण्यात्मालोग भोग समाप्त होनेपर स्वर्गसे गिर पड़ते हैं। उस समय उसके पुरजन-परिजन 'हाय-हाय' करके चिल्लाने लगे॥ २३॥

ततो निष्क्रम्य लंकाया यातुधान्यः सहस्रशः।
मन्दोदर्या समं तस्मिन् प्ररुदत्य[२] उपाद्रवन्॥ २४

तदनन्तर हजारों राक्षसियाँ मन्दोदरीके साथ रोती हुई लंकासे निकल पड़ीं और रणभूमिमें आयीं॥ २४॥

स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान्।
रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना॥ २५

उन्होंने देखा कि उनके स्वजन-सम्बन्धी लक्ष्मणजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पड़े हुए हैं। वे अपने हाथों अपनी छाती पीट-पीटकर और अपने सगे-सम्बन्धियोंको हृदयसे लगा-लगाकर ऊँचे स्वरसे विलाप करने लगीं॥ २५॥

हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण।
कं यायाच्छरणं लंका त्वद्विहीना परार्दिता॥ २६

हाय-हाय! स्वामी! आज हम सब बेमौत मारी गयीं। एक दिन वह था, जब आपके भयसे समस्त लोकोंमें त्राहि-त्राहि मच जाती थी। आज वह दिन आ पहुँचा कि आपके न रहनेसे हमारे शत्रु लंकाकी दुर्दशा कर रहे हैं और यह प्रश्न उठ रहा है कि अब लंका किसके अधीन रहेगी॥ २६॥

नैवं वेद महाभाग भवान् कामवशं गतः।
तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम्॥ २७

आप सब प्रकारसे सम्पन्न थे, किसी भी बातकी कमी न थी। परन्तु आप कामके वश हो गये और यह नहीं सोचा कि सीताजी कितनी तेजस्विनी हैं और उनका कितना प्रभाव है। आपकी यही भूल आपकी इस दुर्दशाका कारण बन गयी॥ २७॥

१. स्वयन्ते। २. रुदत्यस्ता०।

कृतैषा विधवा लंका वयं च कुलनन्दन।
देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे॥ २८

श्रीशुक उवाच

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोसलेन्द्रानुमोदितः।
पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम्॥ २९

ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे[1]।
क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमास्थिताम्॥ ३०

रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत।
आत्मसंदर्शनाह्लादविकसन्मुखपंकजाम्॥ ३१

आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः।
विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम्॥ ३२

लंकामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम्।
अवकीर्यमाणः कुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि॥ ३३

उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा।
गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम्॥ ३४

महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम्।
भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः॥ ३५

पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम्[2]।
नन्दिग्रामात् स्वशिबिराद् गीतवादित्रनिःस्वनैः॥ ३६

ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः[3]।
स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः॥ ३७

कभी आपके कामोंसे हम सब और समस्त राक्षसवंश आनन्दित होता था और आज हम सब तथा यह सारी लंका नगरी विधवा हो गयी। आपका वह शरीर, जिसके लिये आपने सब कुछ कर डाला, आज गीधोंका आहार बन रहा है और अपने आत्माको आपने नरकका अधिकारी बना डाला। यह सब आपकी ही नासमझी और कामुकताका फल है॥ २८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कोसलाधीश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे विभीषणने अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका पितृयज्ञकी विधिसे शास्त्रके अनुसार अन्त्येष्टिकर्म किया॥ २९॥ इसके बाद भगवान् श्रीरामने अशोक-वाटिकाके आश्रममें अशोक वृक्षके नीचे बैठी हुई श्रीसीताजीको देखा। वे उन्हींके विरहकी व्याधिसे पीड़ित एवं अत्यन्त दुर्बल हो रही थीं॥ ३०॥ अपनी प्राणप्रिया अर्धांगिनी श्रीसीताजीको अत्यन्त दीन अवस्थामें देखकर श्रीरामका हृदय प्रेम और कृपासे भर आया। इधर भगवान्का दर्शन पाकर सीताजीका हृदय प्रेम और आनन्दसे परिपूर्ण हो गया, उनका मुखकमल खिल उठा॥ ३१॥ भगवान्ने विभीषणको राक्षसोंका स्वामित्व, लंकापुरीका राज्य और एक कल्पकी आयु दी और इसके बाद पहले सीताजीको विमानपर बैठाकर अपने दोनों भाई लक्ष्मण तथा सुग्रीव एवं सेवक हनूमान्जीके साथ स्वयं भी विमानपर सवार हुए। इस प्रकार चौदह वर्षका व्रत पूरा हो जानेपर उन्होंने अपने नगरकी यात्रा की। उस समय मार्गमें ब्रह्मा आदि लोकपालगण उनपर बड़े प्रेमसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ ३२-३३॥

इधर तो ब्रह्मा आदि बड़े आनन्दसे भगवान्की लीलाओंका गान कर रहे थे और उधर जब भगवान्को यह मालूम हुआ कि भरतजी केवल गोमूत्रमें पकाया हुआ जौका दलिया खाते हैं, वल्कल पहनते हैं और पृथ्वीपर डाभ बिछाकर सोते हैं एवं उन्होंने जटाएँ बढ़ा रखी हैं, तब वे बहुत दुःखी हुए। उनकी दशाका स्मरण कर परम करुणाशील भगवान्का हृदय भर आया। जब भरतको मालूम हुआ कि मेरे बड़े भाई भगवान् श्रीरामजी आ रहे हैं, तब वे पुरवासी, मन्त्री

१. कावने। २. प्रत्युद्गतो। ३. शंसद्भि०।

सदश्वै रुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटवर्मभिः।
श्रेणीभिर्वारमुख्याभिर्भृत्यैश्चैव पदानुगैः॥ ३८

पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च।
पादयोर्न्यपतत्[१] प्रेम्णा प्रक्लिन्नहृदयेक्षणः॥ ३९

पादुके न्यस्य पुरतः प्रांजलिर्बाष्पलोचनः।
तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन् नेत्रजैर्जलैः॥ ४०

रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हसत्तमाः।
तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः॥ ४१

धुन्वन्त उत्तरासंगान् पतिं वीक्ष्य चिरागतम्।
उत्तराः कोसला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा॥ ४२

पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे।
विभीषणः ससुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः॥ ४३

धनुर्निषंगाञ्छत्रुघ्नः[२] सीता तीर्थकमण्डलुम्।
अबिभ्रदंगदः खड्गं हैमं चर्मर्क्षराण् नृप॥ ४४

और पुरोहितोंको साथ लेकर एवं भगवान्‌की पादुकाएँ सिरपर रखकर उनकी अगवानीके लिये चले। जब भरतजी अपने रहनेके स्थान नन्दिग्रामसे चले, तब लोग उनके साथ-साथ मंगलगान करते, बाजे बजाते चलने लगे। वेदवादी ब्राह्मण बार-बार वेदमन्त्रोंका उच्चारण करने लगे और उसकी ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी। सुनहरी कामदार पताकाएँ फहराने लगीं। सोनेसे मढ़े हुए तथा रंग-बिरंगी ध्वजाओंसे सजे हुए रथ, सुनहले साजसे सजाये हुए सुन्दर घोड़े तथा सोनेके कवच पहने हुए सैनिक उनके साथ-साथ चलने लगे। सेठ-साहूकार, श्रेष्ठ वारांगनाएँ, पैदल चलनेवाले सेवक और महाराजाओंके योग्य छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ उनके साथ चल रही थीं। भगवान्‌को देखते ही प्रेमके उद्रेकसे भरतजीका हृदय गद्‌गद हो गया, नेत्रोंमें आँसू छलक आये, वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े॥ ३४—३९ ॥ उन्होंने प्रभुके सामने उनकी पादुकाएँ रख दीं और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहती जा रही थी। भगवान्‌ने अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर बहुत देरतक भरतजीको हृदयसे लगाये रखा। भगवान्‌के नेत्रजलसे भरतजीका स्नान हो गया॥ ४० ॥ इसके बाद सीताजी और लक्ष्मणजीके साथ भगवान् श्रीरामजीने ब्राह्मण और पूजनीय गुरुजनोंको नमस्कार किया तथा सारी प्रजाने बड़े प्रेमसे सिर झुकाकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया॥ ४१ ॥ उस समय उत्तरकोसल देशकी रहनेवाली समस्त प्रजा अपने स्वामी भगवान्‌को बहुत दिनोंके बाद आये देख अपने दुपट्टे हिला-हिलाकर पुष्पोंकी वर्षा करती हुई आनन्दसे नाचने लगी॥ ४२॥ भरतजीने भगवान्‌की पादुकाएँ लीं, विभीषणने श्रेष्ठ चँवर, सुग्रीवने पंखा और श्री-हनूमान्‌जीने श्वेत छत्र ग्रहण किया॥ ४३ ॥ परीक्षित्! शत्रुघ्नजीने धनुष और तरकस, सीताजीने तीर्थोंके जलसे भरा कमण्डलु, अंगदने सोनेका खड्‌ग और जाम्बवान्‌ने ढाल ले ली॥ ४४॥

१. तन्मूर्ध्ना। २. ङ्गं शत्रु०।

पुष्पकस्थोऽन्वितः[1] स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ।
विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः ॥ ४५

इन लोगोंके साथ भगवान् पुष्पक विमानपर विराजमान हो गये, चारों तरफ यथास्थान स्त्रियाँ बैठ गयीं, वन्दीजन स्तुति करने लगे। उस समय पुष्पक विमानपर भगवान् श्रीरामकी ऐसी शोभा हुई, मानो ग्रहोंके साथ चन्द्रमा उदय हो रहे हों॥ ४५॥

भ्रातृभिर्नन्दितः सोऽपि सोत्सवां प्राविशत् पुरीम् ।
प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः[2] स्वमातरम् ॥ ४६

गुरून् वयस्यावरजान् पूजितः प्रत्यपूजयत् ।
वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत् समुपेयतुः ॥ ४७

इस प्रकार भगवान्ने भाइयोंका अभिनन्दन स्वीकार करके उनके साथ अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया। उस समय वह पुरी आनन्दोत्सवसे परिपूर्ण हो रही थी। राजमहलमें प्रवेश करके उन्होंने अपनी माता कौसल्या, अन्य माताओं, गुरुजनों, बराबरके मित्रों और छोटोंका यथायोग्य सम्मान किया तथा उनके द्वारा किया हुआ सम्मान स्वीकार किया। श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीने भी भगवान्के साथ-साथ सबके प्रति यथायोग्य व्यवहार किया॥ ४६-४७॥

पुत्रान् स्वमातरस्तास्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः ।
आरोप्याङ्केऽभिषिंचन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः ॥ ४८

उस समय जैसे मृतक शरीरमें प्राणोंका संचार हो जाय, वैसे ही माताएँ अपने पुत्रोंके आगमनसे हर्षित हो उठीं। उन्होंने उनको अपनी गोदमें बैठा लिया और अपने आँसुओंसे उनका अभिषेक किया। उस समय उनका सारा शोक मिट गया॥ ४८॥

जटा निर्मुच्य विधिवत् कुलवृद्धैः समं गुरुः ।
अभ्यषिंचद् यथैवेन्द्रं चतुः[3]सिन्धुजलादिभिः ॥ ४९

इसके बाद वसिष्ठजीने दूसरे गुरुजनोंके साथ विधि-पूर्वक भगवान्की जटा उतरवायी और बृहस्पतिने जैसे इन्द्रका अभिषेक किया था, वैसे ही चारों समुद्रोंके जल आदिसे उनका अभिषेक किया॥ ४९॥

एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्त्रग्व्यलंकृतः ।
स्वलंकृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ ॥ ५०

इस प्रकार सिरसे स्नान करके भगवान् श्रीरामने सुन्दर वस्त्र, पुष्पमालाएँ और अलंकार धारण किये। सभी भाइयों और श्रीजानकीजीने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और अलंकार धारण किये। उनके साथ भगवान् श्रीरामजी अत्यन्त शोभायमान हुए॥ ५०॥

अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः ।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ।
जुगोप पितृवद् रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥ ५१

भरतजीने उनके चरणोंमें गिरकर उन्हें प्रसन्न किया और उनके आग्रह करनेपर भगवान् श्रीरामने राजसिंहासन स्वीकार किया। इसके बाद वे अपने-अपने धर्ममें तत्पर तथा वर्णाश्रमके आचारको निभानेवाली प्रजाका पिताके समान पालन करने लगे। उनकी प्रजा भी उन्हें अपना पिता ही मानती थी॥ ५१॥

१. स्थो वृतः। २. पत्नीं। ३. चतुर्भिः सागराम्बुभिः।

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥ ५२

वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः।
सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ॥ ५३

[1]नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे॥ ५४

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥ ५५

प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती।
धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः॥ ५६

परीक्षित्! जब समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाले परम धर्मज्ञ भगवान् श्रीराम राजा हुए तब था तो त्रेतायुग, परन्तु मालूम होता था मानो सत्ययुग ही है॥ ५२॥ परीक्षित्! उस समय वन, नदी, पर्वत, वर्ष, द्वीप और समुद्र—सब-के-सब प्रजाके लिये कामधेनुके समान समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले बन रहे थे॥ ५३॥ इन्द्रियातीत भगवान् श्रीरामके राज्य करते समय किसीको मानसिक चिन्ता या शारीरिक रोग नहीं होते थे। बुढ़ापा, दुर्बलता, दुःख, शोक, भय और थकावट नाममात्रके लिये भी नहीं थे। यहाँतक कि जो मरना नहीं चाहते थे, उनकी मृत्यु भी नहीं होती थी॥ ५४॥ भगवान् श्रीरामने एकपत्नीका व्रत धारण कर रखा था, उनके चरित्र अत्यन्त पवित्र एवं राजर्षियोंके-से थे। वे गृहस्थोचित स्वधर्मकी शिक्षा देनेके लिये स्वयं उस धर्मका आचरण करते थे॥ ५५॥ सती-शिरोमणि सीताजी अपने पतिके हृदयका भाव जानती रहतीं। वे प्रेमसे, सेवासे, शीलसे, अत्यन्त विनयसे तथा अपनी बुद्धि और लज्जा आदि गुणोंसे अपने पति भगवान् श्रीरामजीका चित्त चुराती रहती थीं॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे
रामचरिते[2] दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामकी शेष लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः[3]।
सर्वदेवमयं[4] देवमीज आचार्यवान् मखैः॥ १
होत्रेऽददाद्[5] दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः।
अध्वर्यवे प्रतीचीं च उदीचीं सामगाय सः॥ २
आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः॥ ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीरामने गुरु वसिष्ठजीको अपना आचार्य बनाकर उत्तम सामग्रियोंसे युक्त यज्ञोंके द्वारा अपने-आप ही अपने सर्वदेवस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्माका यजन किया॥ १॥ उन्होंने होताको पूर्व दिशा, ब्रह्माको दक्षिण, अध्वर्युको पश्चिम और उद्गाताको उत्तर दिशा दे दी॥ २॥ उनके बीचमें जितनी भूमि बच रही थी, वह उन्होंने आचार्यको दे दी। उनका यह निश्चय था कि सम्पूर्ण भूमण्डलका एकमात्र अधिकारी निःस्पृह ब्राह्मण ही है॥ ३॥

१. नाधिर्व्याधिर्जरा ग्लानिर्दुःख०। २. रामानुचरितं नाम। ३. कल्पकः। ४. मयो। ५. होत्रे तदादिशत्प्राचीं।

इत्ययं तदलंकारवासोभ्यामवशेषितः।
तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमंगल्यावशेषिता॥ ४

इस प्रकार सारे भूमण्डलका दान करके उन्होंने अपने शरीरके वस्त्र और अलंकार ही अपने पास रखे। इसी प्रकार महारानी सीताजीके पास भी केवल मांगलिक वस्त्र और आभूषण ही बच रहे॥ ४॥

ते तु ब्रह्मण्यदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम्।
प्रीताः क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे॥ ५

जब आचार्य आदि ब्राह्मणोंने देखा कि भगवान् श्रीराम तो ब्राह्मणोंको ही अपना इष्टदेव मानते हैं, उनके हृदयमें ब्राह्मणोंके प्रति अनन्त स्नेह है, तब उनका हृदय प्रेमसे द्रवित हो गया। उन्होंने प्रसन्न होकर सारी पृथ्वी भगवान्को लौटा दी और कहा॥ ५॥

अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन् भुवनेश्वर।
यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा॥ ६

'प्रभो! आप सब लोकोंके एकमात्र स्वामी हैं। आप तो हमारे हृदयके भीतर रहकर अपनी ज्योतिसे अज्ञानान्धकारका नाश कर रहे हैं। ऐसी स्थितिमें भला, आपने हमें क्या नहीं दे रखा है॥ ६॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये॥ ७

आपका ज्ञान अनन्त है। पवित्र कीर्तिवाले पुरुषोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं। उन महात्माओंको, जो किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुँचाते, आपने अपने चरणकमल दे रखे हैं। ऐसा होनेपर भी आप ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव मानते हैं। भगवन्! आपके इस रामरूपको हम नमस्कार करते हैं'॥ ७॥

कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः।
चरन् वाचोऽश्रृणोद् रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित्॥ ८

परीक्षित्! एक बार अपनी प्रजाकी स्थिति जाननेके लिये भगवान् श्रीरामजी रातके समय छिपकर बिना किसीको बतलाये घूम रहे थे। उस समय उन्होंने किसीकी यह बात सुनी। वह अपनी पत्नीसे कह रहा था॥ ८॥

नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम्।
स्त्रीलोभी बिभृयात् सीतां रामो नाहं भजे पुनः॥ ९

'अरी! तू दुष्ट और कुलटा है। तू पराये घरमें रह आयी है। स्त्री-लोभी राम भले ही सीताको रख लें, परन्तु मैं तुझे फिर नहीं रख सकता'॥ ९॥

इति लोकाद् बहुमुखाद् दुराराध्यादसंविदः।
पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम्॥ १०

सचमुच सब लोगोंको प्रसन्न रखना टेढ़ी खीर है। क्योंकि मूर्खोंकी तो कमी नहीं है। जब भगवान् श्रीरामने बहुतोंके मुँहसे ऐसी बात सुनी, तो वे लोकापवादसे कुछ भयभीत-से हो गये। उन्होंने श्रीसीताजीका परित्याग कर दिया और वे वाल्मीकि मुनिके आश्रममें रहने लगीं॥ १०॥

अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ।
कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः॥ ११

सीताजी उस समय गर्भवती थीं। समय आनेपर उन्होंने एक साथ ही दो पुत्र उत्पन्न किये। उनके नाम हुए—कुश और लव। वाल्मीकि मुनिने उनके जात-कर्मादि संस्कार किये॥ ११॥

अंगदश्चित्रकेतुश्च[1] लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ।
तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते॥ १२

सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः।
गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम्॥ १३

तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत्।
शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम्।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम्॥ १४

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह॥ १५

तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद् रोद्धुमीश्वरः॥ १६

स्त्रीपुंप्रसंग एतादृक्सर्वत्र[2] त्रासमावहः।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः॥ १७

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम्॥ १८

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः॥ १९

नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्त-
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः[3]
किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥ २०

लक्ष्मणजीके दो पुत्र हुए—अंगद और चित्रकेतु। परीक्षित्! इसी प्रकार भरतजीके भी दो ही पुत्र थे—तक्ष और पुष्कल॥ १२॥ तथा शत्रुघ्नके भी दो पुत्र हुए—सुबाहु और श्रुतसेन। भरतजीने दिग्विजयमें करोड़ों गन्धर्वोंका संहार किया॥ १३॥ उन्होंने उनका सब धन लाकर अपने बड़े भाई भगवान् श्रीरामकी सेवामें निवेदन किया। शत्रुघ्नजीने मधुवनमें मधुके पुत्र लवण नामक राक्षसको मारकर वहाँ मथुरा नामकी पुरी बसायी॥ १४॥ भगवान् श्रीरामके द्वारा निर्वासित सीताजीने अपने पुत्रोंको वाल्मीकिजीके हाथोंमें सौंप दिया और भगवान् श्रीरामके चरणकमलोंका ध्यान करती हुई वे पृथ्वीदेवीके लोकमें चली गयीं॥ १५॥ यह समाचार सुनकर भगवान् श्रीरामने अपने शोका-वेशको बुद्धिके द्वारा रोकना चाहा, परन्तु परम समर्थ होनेपर भी वे उसे रोक न सके। क्योंकि उन्हें जानकीजीके पवित्र गुण बार-बार स्मरण हो आया करते थे॥ १६॥ परीक्षित्! यह स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध सब कहीं इसी प्रकार दुःखका कारण है। यह बात बड़े-बड़े समर्थ लोगोंके विषयमें भी ऐसी ही है, फिर गृहासक्त विषयी पुरुषके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ १७॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामने ब्रह्मचर्य धारण करके तेरह हजार वर्षतक अखण्डरूपसे अग्निहोत्र किया॥ १८॥ तदनन्तर अपना स्मरण करनेवाले भक्तोंके हृदयमें अपने उन चरणकमलोंको स्थापित करके, जो दण्डकवनके काँटोंसे बिंध गये थे, अपने स्वयंप्रकाश परम ज्योतिर्मय धाममें चले गये॥ १९॥

परीक्षित्! भगवान्‌के समान प्रतापशाली और कोई नहीं है, फिर उनसे बढ़कर तो हो ही कैसे सकता है। उन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे ही यह लीला-विग्रह धारण किया था। ऐसी स्थितिमें रघुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीरामके लिये यह कोई बड़े गौरवकी बात नहीं है कि उन्होंने अस्त्र-शस्त्रोंसे राक्षसोंको मार डाला या समुद्रपर पुल बाँध दिया। भला, उन्हें शत्रुओंको मारनेके लिये बंदरोंकी सहायताकी भी आवश्यकता थी क्या? यह सब उनकी लीला ही है॥ २०॥

१. दश्चन्द्रके०। २. सर्वत्रोत्तापमावहत्। ३. स्त्रपाणेः।

यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥ २१

भगवान् श्रीरामका निर्मल यश समस्त पापोंको नष्ट कर देनेवाला है। वह इतना फैल गया है कि दिग्गजोंका श्यामल शरीर भी उसकी उज्ज्वलतासे चमक उठता है। आज भी बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि राजाओंकी सभामें उसका गान करते रहते हैं। स्वर्गके देवता और पृथ्वीके नरपति अपने कमनीय किरीटोंसे उनके चरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं। मैं उन्हीं रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ २१॥

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥ २२

जिन्होंने भगवान् श्रीरामका दर्शन और स्पर्श किया, उनका सहवास अथवा अनुगमन किया—वे सब-के-सब तथा कोसलदेशके निवासी भी उसी लोकमें गये, जहाँ बड़े-बड़े योगी योग-साधनाके द्वारा जाते हैं॥ २२॥

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन्।
आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते॥ २३

जो पुरुष अपने कानोंसे भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनता है—उसे सरलता, कोमलता आदि गुणोंकी प्राप्ति होती है। परीक्षित्! केवल इतना ही नहीं, वह समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥ २३॥

राजोवाच

कथं स भगवान् रामो भ्रातॄन् वा स्वयमात्मनः।
तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे॥ २४

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवान् श्रीराम स्वयं अपने भाइयोंके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते थे? तथा भरत आदि भाई, प्रजाजन और अयोध्यावासी भगवान् श्रीरामके प्रति कैसा बर्ताव करते थे?॥ २४॥

श्रीशुक उवाच

अथादिशद् दिग्विजये भ्रातॄंस्त्रिभुवनेश्वरः।
आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः॥ २५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—त्रिभुवनपति महाराज श्रीरामने राजसिंहासन स्वीकार करनेके बाद अपने भाइयोंको दिग्विजयकी आज्ञा दी और स्वयं अपने निजजनोंको दर्शन देते हुए अपने अनुचरोंके साथ वे पुरीकी देख-रेख करने लगे॥ २५॥

आसिक्तमार्गां गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः।
स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिव॥ २६

उस समय अयोध्यापुरीके मार्ग सुगन्धित जल और हाथियोंके मदकणोंसे सिंचे रहते। ऐसा जान पड़ता, मानो यह नगरी अपने स्वामी भगवान् श्रीरामको देखकर अत्यन्त मतवाली हो रही है॥ २६॥

प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु ।
विन्यस्तहेमकलशैः पताकाभिश्च मण्डिताम्॥ २७

उसके महल, फाटक, सभाभवन, विहार और देवालय आदिमें सुवर्णके कलश रखे हुए थे और स्थान-स्थानपर पताकाएँ फहरा रही थीं॥ २७॥

पूगैः सवृन्तै रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम्।
आदर्शैरंशुकैः स्त्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम्॥ २८

वह डंठलसमेत सुपारी, केलेके खंभे और सुन्दर वस्त्रोंके पट्टोंसे सजायी हुई थी। दर्पण, वस्त्र और पुष्पमालाओंसे तथा मांगलिक चित्रकारियों और बंदनवारोंसे सारी नगरी जगमगा रही थी॥ २८॥

तमुपेयुस्तत्र[१] तत्र पौरा अर्हणपाणयः।
आशिषो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम्[२]॥ २९

नगरवासी अपने हाथोंमें तरह-तरहकी भेंटें लेकर भगवान्‌के पास आते और उनसे प्रार्थना करते कि 'देव! पहले आपने ही वराहरूपसे पृथ्वीका उद्धार किया था; अब आप ही इसका पालन कीजिये॥ २९॥

ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं
दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः।
आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचन-
मतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन्॥ ३०

परीक्षित्! उस समय जब प्रजाको मालूम होता कि बहुत दिनोंके बाद भगवान् श्रीरामजी इधर पधारे हैं, तब सभी स्त्री-पुरुष उनके दर्शनकी लालसासे घर-द्वार छोड़कर दौड़ पड़ते। वे ऊँची-ऊँची अटारियोंपर चढ़ जाते और अतृप्त नेत्रोंसे कमलनयन भगवान्‌को देखते हुए उनपर पुष्पोंकी वर्षा करते॥ ३०॥

अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः।
अनन्ताखिलकोशाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम्॥ ३१

विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः ।
स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भ्रातस्फटिकभित्तिभिः॥ ३२

इस प्रकार प्रजाका निरीक्षण करके भगवान् फिर अपने महलोंमें आ जाते । उनके वे महल पूर्ववर्ती राजाओंके द्वारा सेवित थे। उनमें इतने बड़े-बड़े सब प्रकारके खजाने थे, जो कभी समाप्त नहीं होते थे। वे बड़ी-बड़ी बहुमूल्य बहुत-सी सामग्रियोंसे सुसज्जित थे॥ ३१॥ महलोंके द्वार तथा देहलियाँ मूँगेकी बनी हुई थीं। उनमें जो खंभे थे, वे वैदूर्यमणिके थे। मरकतमणिके बड़े सुन्दर-सुन्दर फर्श थे, तथा स्फटिकमणिकी दीवारें चमकती रहती थीं॥ ३२॥

चित्रस्त्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः।
मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कान्तकामोपपत्तिभिः॥ ३३

धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः[३]।
स्त्रीपुम्भिः सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः॥ ३४

रंग-बिरंगी मालाओं, पताकाओं, मणियोंकी चमक, शुद्ध चेतनके समान उज्ज्वल मोती, सुन्दर-सुन्दर भोग-सामग्री, सुगन्धित धूप-दीप तथा फूलोंके गहनोंसे वे महल खूब सजाये हुए थे। आभूषणोंको भी भूषित करनेवाले देवताओंके समान स्त्री-पुरुष उसकी सेवामें लगे रहते थे॥ ३३-३४॥

तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल॥ ३५

परीक्षित्! भगवान् श्रीरामजी आत्माराम जितेन्द्रिय पुरुषोंके शिरोमणि थे। उसी महलमें वे अपनी प्राणप्रिया प्रेममयी पत्नी श्रीसीताजीके साथ विहार करते थे॥ ३५॥

१. युस्ततस्तत्र। २. त्वयाऽऽवृताम्। ३. मण्डलैः।

बुभुजे च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन्।
वर्षपूगान् बहून् नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः॥ ३६

सभी स्त्री-पुरुष जिनके चरणकमलोंका ध्यान करते रहते हैं, वे ही भगवान् श्रीराम बहुत वर्षोंतक धर्मकी मर्यादाका पालन करते हुए समयानुसार भोगोंका उपभोग करते रहे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे श्रीरामोपाख्याने एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

इक्ष्वाकुवंशके शेष राजाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः।
पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाभवत्ततः॥ १
देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः।
ततो बलस्थलस्तस्माद् वज्रनाभोऽर्कसंभवः॥ २
खगणस्तत्सुतस्तस्माद् विधृतिश्चाभवत् सुतः।[1]
ततो हिरण्यनाभोऽभूद् योगाचार्यस्तु जैमिनेः॥ ३
शिष्यः कौसल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद् यतः।
योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदकम्[2]॥ ४
पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत्।
सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः॥ ५
योऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः।
कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः॥ ६
तस्मात्[3] प्रसुश्रुतस्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः।
महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद् विश्वसाह्वोऽन्वजायत॥ ७
ततः[4] प्रसेनजित् तस्मात् तक्षको भविता पुनः।
ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कुशका पुत्र हुआ अतिथि, उसका निषध, निषधका नभ, नभका पुण्डरीक और पुण्डरीकका क्षेमधन्वा॥ १॥ क्षेमधन्वाका देवानीक, देवानीकका अनीह, अनीहका पारियात्र, पारियात्रका बलस्थल और बलस्थलका पुत्र हुआ वज्रनाभ। यह सूर्यका अंश था॥ २॥

वज्रनाभसे खगण, खगणसे विधृति और विधृतिसे हिरण्यनाभकी उत्पत्ति हुई। वह जैमिनिका शिष्य और योगाचार्य था॥ ३॥ कोसलदेशवासी याज्ञवल्क्य ऋषिने उसकी शिष्यता स्वीकार करके उससे अध्यात्मयोगकी शिक्षा ग्रहण की थी। वह योग हृदयकी गाँठ काट देनेवाला तथा परम सिद्धि देनेवाला है॥ ४॥

हिरण्यनाभका पुष्य, पुष्यका ध्रुवसन्धि, ध्रुवसन्धिका सुदर्शन, सुदर्शनका अग्निवर्ण, अग्निवर्णका शीघ्र और शीघ्रका पुत्र हुआ मरु॥ ५॥ मरुने योगसाधनासे सिद्धि प्राप्त कर ली और वह इस समय भी कलाप नामक ग्राममें रहता है। कलियुगके अन्तमें सूर्यवंशके नष्ट हो जानेपर वह उसे फिरसे चलायेगा॥ ६॥

मरुसे प्रसुश्रुत, उससे सन्धि और सन्धिसे अमर्षणका जन्म हुआ। अमर्षणका महस्वान् और महस्वान्का विश्वसाह्व॥ ७॥ विश्वसाह्वका प्रसेनजित्, प्रसेनजित्का तक्षक और तक्षकका पुत्र बृहद्बल हुआ। परीक्षित्! इसी बृहद्बलको तुम्हारे पिता अभिमन्युने युद्धमें मार डाला था॥ ८॥

१-विसृष्टिश्चाभवत्ततः। २. दनम्। ३. तस्मात् प्रश्रुतपुत्रस्तु सन्धि०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'ततः..पुनः' यह पूर्वार्ध नहीं है, इसके स्थानपर वर्तमान प्रतिमें आया हुआ 'भविता...मित्रजित्' यह बारहवाँ श्लोक दिया है, इसमें भी 'मरुदेवो' के स्थानमें 'मनुदेवो' पाठ है।

एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान्।
बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम बृहद्रणः॥ ९
उरुक्रियस्ततस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति।
प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः॥ १०
सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान्।
प्रतीकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः॥ ११
भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः।
तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित्॥ १२
बृहद्राजस्तु[१] तस्यापि बर्हिस्तस्मात् कृतंजयः।
रणंजयस्तस्य सुतः संजयो भविता ततः॥ १३
तस्माच्छाक्योऽथ[२] शुद्धोदो लांगलस्तत्सुतः स्मृतः।
ततः प्रसेनजित् तस्मात् क्षुद्रको भविता ततः॥ १४
रणको भविता तस्मात् सुरथस्तनयस्ततः।
सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः[३]॥ १५
इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥ १६

परीक्षित्! इक्ष्वाकुवंशके इतने नरपति हो चुके हैं। अब आनेवालोंके विषयमें सुनो। बृहद्बलका पुत्र होगा बृहद्रण॥ ९॥ बृहद्रणका उरुक्रिय, उसका वत्सवृद्ध, वत्सवृद्धका प्रतिव्योम, प्रतिव्योमका भानु और भानुका पुत्र होगा सेनापति दिवाक॥ १०॥ दिवाकका वीर सहदेव, सहदेवका बृहदश्व, बृहदश्वका भानुमान्, भानुमान्का प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्वका पुत्र होगा सुप्रतीक॥ ११॥ सुप्रतीकका मरुदेव, मरुदेवका सुनक्षत्र, सुनक्षत्रका पुष्कर, पुष्करका अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षका सुतपा और उसका पुत्र होगा अमित्रजित्॥ १२॥ अमित्रजित्से बृहद्राज, बृहद्राजसे बर्हि, बर्हिसे कृतंजय, कृतंजयसे रणंजय और उससे संजय होगा॥ १३॥ संजयका शाक्य, उसका शुद्धोद और शुद्धोदका लांगल, लांगलका प्रसेनजित् और प्रसेनजित्का पुत्र क्षुद्रक होगा॥ १४॥ क्षुद्रकसे रणक, रणकसे सुरथ और सुरथसे इस वंशके अन्तिम राजा सुमित्रका जन्म होगा। ये सब बृहद्बलके वंशधर होंगे॥ १५॥ इक्ष्वाकुका यह वंश सुमित्रतक ही रहेगा। क्योंकि सुमित्रके राजा होनेपर कलियुगमें यह वंश समाप्त हो जायगा॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे इक्ष्वाकुवंशवर्णनं[४] नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

राजा निमिके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्ठमवृतर्त्विजम्।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः॥ १
तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय।
तूष्णीमासीद् गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम्॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इक्ष्वाकुके पुत्र थे निमि। उन्होंने यज्ञ आरम्भ करके महर्षि वसिष्ठको ऋत्विज्के रूपमें वरण किया। वसिष्ठजीने कहा कि 'राजन्! इन्द्र अपने यज्ञके लिये मुझे पहले ही वरण कर चुके हैं॥ १॥ उनका यज्ञ पूरा करके मैं तुम्हारे पास आऊँगा। तबतक तुम मेरी प्रतीक्षा करना।' यह बात सुनकर राजा निमि चुप हो रहे और वसिष्ठजी इन्द्रका यज्ञ कराने चले गये॥ २॥

१. बृहद्भुजस्तु। २. तस्मात्साध्योऽथ। ३. लाः स्मृताः। ४. वंशानुकथने श्रीरामचरिते।

निमिश्चलमिदं विद्वान् सत्रमारभतात्मवान्।
ऋत्विग्भिरपरैस्तावन्नागमद् यावता गुरुः॥ ३

शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः।
अशपत् पतताद् देहो निमेः पण्डितमानिनः॥ ४

निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने।
तवापि पतताद् देहो लोभाद् धर्ममजानतः॥ ५

इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः।
मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः॥ ६

गन्धवस्तुषु तद्देहं[१] निधाय मुनिसत्तमाः।
समाप्ते सत्रयागेऽथ देवानूचुः समागतान्॥ ७

राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि।
तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भून्मे देहबन्धनम्॥ ८

यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः।
भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः॥ ९

देहं नावरुरुत्सेऽहं दुःखशोकभ[२]यावहम्।
सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा॥ १०

विचारवान् निमिने यह सोचकर कि जीवन तो क्षणभंगुर है, विलम्ब करना उचित न समझा और यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। जबतक गुरु वसिष्ठजी न लौटें, तबतकके लिये उन्होंने दूसरे ऋत्विजोंको वरण कर लिया॥ ३॥ गुरु वसिष्ठजी जब इन्द्रका यज्ञ सम्पन्न करके लौटे तो उन्होंने देखा कि उनके शिष्य निमिने तो उनकी बात न मानकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया है। उस समय उन्होंने शाप दिया कि 'निमिको अपनी विचारशीलता और पाण्डित्यका बड़ा घमंड है, इसलिये इसका शरीरपात हो जाय'॥ ४॥ निमिकी दृष्टिमें गुरु वसिष्ठका यह शाप धर्मके अनुकूल नहीं, प्रतिकूल था। इसलिये उन्होंने भी शाप दिया कि 'आपने लोभवश अपने धर्मका आदर नहीं किया, इसलिये आपका शरीर भी गिर जाय'॥ ५॥ यह कहकर आत्मविद्यामें निपुण निमिने अपने शरीरका त्याग कर दिया। परीक्षित्! इधर हमारे वृद्ध प्रपितामह वसिष्ठजीने भी अपना शरीर त्यागकर मित्रावरुणके द्वारा उर्वशीके गर्भसे जन्म ग्रहण किया॥ ६॥ राजा निमिके यज्ञमें आये हुए श्रेष्ठ मुनियोंने राजाके शरीरको सुगन्धित वस्तुओंमें रख दिया। जब सत्रयागकी समाप्ति हुई और देवतालोग आये, तब उन लोगोंने उनसे प्रार्थना की॥ ७॥ 'महानुभावो! आपलोग समर्थ हैं। यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमिका यह शरीर पुनः जीवित हो उठे।' देवताओंने कहा—'ऐसा ही हो।' उस समय निमिने कहा—'मुझे देहका बन्धन नहीं चाहिये॥ ८॥ विचारशील मुनिजन अपनी बुद्धिको पूर्णरूपसे श्रीभगवान्में ही लगा देते हैं और उन्हींके चरणकमलोंका भजन करते हैं। एक-न-एक दिन यह शरीर अवश्य ही छूटेगा—इस भयसे भीत होनेके कारण वे इस शरीरका कभी संयोग ही नहीं चाहते; वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं॥ ९॥ अतः मैं अब दुःख, शोक और भयके मूल कारण इस शरीरको धारण करना नहीं चाहता। जैसे जलमें मछलीके लिये सर्वत्र ही मृत्युके अवसर हैं, वैसे ही इस शरीरके लिये भी सब कहीं मृत्यु-ही-मृत्यु है'॥ १०॥

१. तं देहं। २. याश्रयात्।

देवा ऊचुः

विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्।
उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः॥ ११
अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः।
देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत॥ १२
जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥ १३
तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्धनः।
ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो[1] महीपते॥ १४
तस्माद् बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता।
सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः॥ १५
मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः[2] कृतिरथो यतः।
देवमीढस्तस्य सुतो विश्रुतोऽथ[3] महाधृतिः॥ १६
कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमाथ[4] तत्सुतः।
स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत॥ १७
ततः सीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम्।
सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः स्मृतः॥ १८
कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः।
धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ॥ १९
कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात्।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः॥ २०
खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद्द्रुतः।
भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः॥ २१

देवताओंने कहा—'मुनियो! राजा निमि बिना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंमें अपनी इच्छाके अनुसार निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्मशरीरसे भगवान्‌का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरनेसे उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा॥ ११॥ इसके बाद महर्षियोंने यह सोचकर कि 'राजाके न रहनेपर लोगोंमें अराजकता फैल जायगी' निमिके शरीरका मन्थन किया। उस मन्थनसे एक कुमार उत्पन्न हुआ॥ १२॥ जन्म लेनेके कारण उसका नाम हुआ जनक। विदेहसे उत्पन्न होनेके कारण 'वैदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उसी बालकका नाम 'मिथिल' हुआ। उसीने मिथिलापुरी बसायी॥ १३॥

परीक्षित्! जनकका उदावसु, उसका नन्दिवर्धन, नन्दिवर्धनका सुकेतु, उसका देवरात, देवरातका बृहद्रथ, बृहद्रथका महावीर्य, महावीर्यका सुधृति, सुधृतिका धृष्टकेतु, धृष्टकेतुका हर्यश्व और उसका मरु नामक पुत्र हुआ॥ १४-१५॥

मरुसे प्रतीपक, प्रतीपकसे कृतिरथ, कृतिरथसे देवमीढ, देवमीढसे विश्रुत और विश्रुतसे महाधृतिका जन्म हुआ॥ १६॥ महाधृतिका कृतिरात, कृतिरातका महारोमा, महारोमाका स्वर्णरोमा और स्वर्णरोमाका पुत्र हुआ ह्रस्वरोमा॥ १७॥ इसी ह्रस्वरोमाके पुत्र महाराज सीरध्वज थे। वे जब यज्ञके लिये धरती जोत रहे थे, तब उनके सीर (हल) के अग्रभाग (फाल)-से सीताजीकी उत्पत्ति हुई। इसीसे उनका नाम 'सीरध्वज' पड़ा॥ १८॥ सीरध्वजके कुशध्वज, कुशध्वजके धर्मध्वज और धर्मध्वजके दो पुत्र हुए—कृतध्वज और मितध्वज॥ १९॥ कृतध्वजके केशिध्वज और मितध्वजके खाण्डिक्य हुए। परीक्षित्! केशिध्वज आत्मविद्यामें बड़ा प्रवीण था॥ २०॥

खाण्डिक्य था कर्मकाण्डका मर्मज्ञ। वह केशिध्वजसे भयभीत होकर भाग गया। केशिध्वजका पुत्र भानुमान् और भानुमान्‌का शतद्युम्न था॥ २१॥

---

१. रीषो। २. प्रतिरथस्त०। ३. विश्वनाथो मरुत्कृतिः। ४. विरुतस्तत्सुतस्तस्मा०।

शुचिस्तत्तनयस्तस्मात् सनद्वाजस्ततोऽभवत्।
ऊर्ध्वकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः॥ २२

अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः।
ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमधिर्मिथिलाधिपः॥ २३

तस्मात् समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः॥ २४

वस्वनन्तोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत् सुभाषणः।
श्रुतस्ततो जयस्तस्माद् विजयोऽस्मादृतः सुतः॥ २५

शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो धृतिस्ततः।
बहुलाश्वो धृतेस्तस्य कृतिरस्य महावशी॥ २६

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि॥ २७

शतद्युम्नसे शुचि, शुचिसे सनद्वाज, सनद्वाजसे ऊर्ध्वकेतु, ऊर्ध्वकेतुसे अज, अजसे पुरुजित्, पुरुजित्से अरिष्टनेमि, अरिष्टनेमिसे श्रुतायु, श्रुतायुसे सुपार्श्वक, सुपार्श्वकसे चित्ररथ और चित्ररथसे मिथिलापति क्षेमधिका जन्म हुआ॥ २२-२३॥ क्षेमधिसे समरथ, समरथसे सत्यरथ, सत्यरथसे उपगुरु और उपगुरुसे उपगुप्त नामक पुत्र हुआ। यह अग्निका अंश था॥ २४॥ उपगुप्तका वस्वनन्त, वस्वनन्तका युयुध, युयुधका सुभाषण, सुभाषणका श्रुत, श्रुतका जय, जयका विजय और विजयका ऋत नामक पुत्र हुआ॥ २५॥ ऋतका शुनक, शुनकका वीतहव्य, वीतहव्यका धृति, धृतिका बहुलाश्व, बहुलाश्वका कृति और कृतिका पुत्र हुआ महावशी॥ २६॥

परीक्षित्! ये मिथिलके वंशमें उत्पन्न सभी नरपति 'मैथिल' कहलाते हैं। ये सब-के-सब आत्म-ज्ञानसे सम्पन्न एवं गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त थे। क्यों न हो, याज्ञवल्क्य आदि बड़े-बड़े योगेश्वरोंकी इनपर महान् कृपा जो थी॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे
निमिवंशानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

चन्द्रवंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः॥ १

सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात्।
जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः॥ २

तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल।
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः॥ ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब मैं तुम्हें चन्द्रमाके पावन वंशका वर्णन सुनाता हूँ। इस वंशमें पुरूरवा आदि बड़े-बड़े पवित्रकीर्ति राजाओंका कीर्तन किया जाता है॥ १॥

सहस्रों सिरवाले विराट् पुरुष नारायणके नाभि-सरोवरके कमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजीके पुत्र हुए अत्रि। वे अपने गुणोंके कारण ब्रह्माजीके समान ही थे॥ २॥ उन्हीं अत्रिके नेत्रोंसे अमृतमय चन्द्रमाका जन्म हुआ। ब्रह्माजीने चन्द्रमाको ब्राह्मण, ओषधि और नक्षत्रोंका अधिपति बना दिया॥ ३॥

सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद् बलात्॥ ४

यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात्।
नात्यजत् तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः॥ ५

शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्[1] सासुरोडुपम्।
हरो गुरुसुतं स्नेहात् सर्वभूतगणावृतः॥ ६

सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वयात्।
सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः॥ ७

निवेदितोऽथांगिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत्[2]।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत् पतिः॥ ८

त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः।
नाहं त्वां भस्मसात् कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकः सति॥ ९

तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम्।
स्पृहामांगिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च॥ १०

ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन् विवदमानयोः।
पप्रच्छुर्ऋषयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा॥ ११

उन्होंने तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त की और राजसूय यज्ञ किया। इससे उनका घमंड बढ़ गया और उन्होंने बलपूर्वक बृहस्पतिकी पत्नी ताराको हर लिया॥ ४॥ देवगुरु बृहस्पतिने अपनी पत्नीको लौटा देनेके लिये उनसे बार-बार याचना की, परन्तु वे इतने मतवाले हो गये थे कि उन्होंने किसी प्रकार उनकी पत्नीको नहीं लौटाया। ऐसी परिस्थितिमें उसके लिये देवता और दानवमें घोर संग्राम छिड़ गया॥ ५॥ शुक्राचार्यजीने बृहस्पतिजीके द्वेषसे असुरोंके साथ चन्द्रमाका पक्ष ले लिया और महादेवजीने स्नेहवश समस्त भूतगणोंके साथ अपने विद्यागुरु अंगिराजीके पुत्र बृहस्पतिका पक्ष लिया॥ ६॥ देवराज इन्द्रने भी समस्त देवताओंके साथ अपने गुरु बृहस्पतिजीका ही पक्ष लिया। इस प्रकार ताराके निमित्तसे देवता और असुरोंका संहार करनेवाला घोर संग्राम हुआ॥ ७॥

तदनन्तर अंगिरा ऋषिने ब्रह्माजीके पास जाकर यह युद्ध बंद करानेकी प्रार्थना की। इसपर ब्रह्माजीने चन्द्रमाको बहुत डाँटा-फटकारा और ताराको उसके पति बृहस्पतिजीके हवाले कर दिया। जब बृहस्पतिजीको यह मालूम हुआ कि तारा तो गर्भवती है, तब उन्होंने कहा— ॥ ८॥ 'दुष्टे! मेरे क्षेत्रमें यह तो किसी दूसरेका गर्भ है। इसे तू अभी त्याग दे, तुरन्त त्याग दे। डर मत, मैं तुझे जलाऊँगा नहीं। क्योंकि एक तो तू स्त्री है और दूसरे मुझे भी सन्तानकी कामना है। देवी होनेके कारण तू निर्दोष भी है ही'॥ ९॥ अपने पतिकी बात सुनकर तारा अत्यन्त लज्जित हुई। उसने सोनेके समान चमकता हुआ एक बालक अपने गर्भसे अलग कर दिया। उस बालकको देखकर बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ही मोहित हो गये और चाहने लगे कि यह हमें मिल जाय॥ १०॥ अब वे एक-दूसरेसे इस प्रकार जोर-जोरसे झगड़ा करने लगे कि 'यह तुम्हारा नहीं, मेरा है।' ऋषियों और देवताओंने तारासे पूछा कि 'यह किसका लड़का है।' परन्तु ताराने लज्जावश कोई उत्तर न दिया॥ ११॥

१. हीदसुरोदयम्। २. विश्वराट्।

कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया।
किं न वोचस्यसद्वृत्ते आत्मावद्यं वदाशु मे॥ १२

बालकने अपनी माताकी झूठी लज्जासे क्रोधित होकर कहा—'दुष्टे! तू बतलाती क्यों नहीं? तू अपना कुकर्म मुझे शीघ्र-से-शीघ्र बतला दे'॥ १२॥

ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन्।
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत्॥ १३

उसी समय ब्रह्माजीने ताराको एकान्तमें बुलाकर बहुत कुछ समझा-बुझाकर पूछा। तब ताराने धीरेसे कहा कि 'चन्द्रमाका।' इसलिये चन्द्रमाने उस बालकको ले लिया॥ १३॥

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप।
बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण् मुदम्॥ १४

परीक्षित्! ब्रह्माजीने उस बालकका नाम रखा 'बुध', क्योंकि उसकी बुद्धि बड़ी गम्भीर थी। ऐसा पुत्र प्राप्त करके चन्द्रमाको बहुत आनन्द हुआ॥ १४॥

ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः।
तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान्॥ १५

श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणा।
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता॥ १६

परीक्षित्! बुधके द्वारा इलाके गर्भसे पुरूरवाका जन्म हुआ। इसका वर्णन मैं पहले ही कर चुका हूँ। एक दिन इन्द्रकी सभामें देवर्षि नारदजी पुरूरवाके रूप, गुण, उदारता, शील-स्वभाव, धन-सम्पत्ति और पराक्रमका गान कर रहे थे। उन्हें सुनकर उर्वशीके हृदयमें कामभावका उदय हो आया और उससे पीड़ित होकर वह देवांगना पुरूरवाके पास चली आयी॥ १५-१६॥

मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम्।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम्।
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके॥ १७

यद्यपि उर्वशीको मित्रावरुणके शापसे ही मृत्युलोकमें आना पड़ा था, फिर भी पुरुषशिरोमणि पुरूरवा मूर्तिमान् कामदेवके समान सुन्दर हैं—यह सुनकर सुर-सुन्दरी उर्वशीने धैर्य धारण किया और वह उनके पास चली आयी॥ १७॥

स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः॥ १८

देवांगना उर्वशीको देखकर राजा पुरूरवाके नेत्र हर्षसे खिल उठे। उनके शरीरमें रोमांच हो आया। उन्होंने बड़ी मीठी वाणीसे कहा—॥ १८॥

राजोवाच

स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम्।
संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः॥ १९

राजा पुरूरवाने कहा—सुन्दरी! तुम्हारा स्वागत है। बैठो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? तुम मेरे साथ विहार करो और हम दोनोंका यह विहार अनन्त कालतक चलता रहे॥ १९॥

उर्वश्युवाच

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर।
यदंगान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया॥ २०

उर्वशीने कहा—'राजन्! आप सौन्दर्यके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। भला, ऐसी कौन कामिनी है जिसकी दृष्टि और मन आपमें आसक्त न हो जाय? क्योंकि आपके समीप आकर मेरा मन रमणकी इच्छासे अपना धैर्य खो बैठा है॥ २०॥

एतावुरणकौ राजन् न्यासौ रक्षस्व मानद।
संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः॥ २१

घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात्।
विवाससं तत् तथेति प्रतिपेदे महामनाः॥ २२

अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम्।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम्॥ २३

तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः।
रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु॥ २४

रममाणस्तया देव्या पद्मकिंजल्कगन्धया।
तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान् बहून्॥ २५

अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान् समचोदयत्।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते॥ २६

ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते।
उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया॥ २७

निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः।
हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना॥ २८

यद्विश्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः।
यः शेते निशि संत्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान्॥ २९

राजन्! जो पुरुष रूप-गुण आदिके कारण प्रशंसनीय होता है, वही स्त्रियोंको अभीष्ट होता है। अतः मैं आपके साथ अवश्य विहार करूँगी। परन्तु मेरे प्रेमी महाराज! मेरी एक शर्त है। मैं आपको धरोहरके रूपमें भेड़के दो बच्चे सौंपती हूँ। आप इनकी रक्षा करना॥ २१॥ वीरशिरोमणे! मैं केवल घी खाऊँगी और मैथुनके अतिरिक्त और किसी भी समय आपको वस्त्रहीन न देख सकूँगी।' परम मनस्वी पुरुरवाने 'ठीक है'—ऐसा कहकर उसकी शर्त स्वीकार कर ली॥ २२॥ और फिर उर्वशीसे कहा—'तुम्हारा यह सौन्दर्य अद्‌भुत है। तुम्हारा भाव अलौकिक है। यह तो सारी मनुष्यसृष्टिको मोहित करनेवाला है। और देवि! कृपा करके तुम स्वयं यहाँ आयी हो। फिर कौन ऐसा मनुष्य है जो तुम्हारा सेवन न करेगा?॥ २३॥

परीक्षित्! तब उर्वशी कामशास्त्रोक्त पद्धतिसे पुरुषश्रेष्ठ पुरूरवाके साथ विहार करने लगी। वे भी देवताओंकी विहारस्थली चैत्ररथ, नन्दनवन आदि उपवनोंमें उसके साथ स्वच्छन्द विहार करने लगे॥ २४॥ देवी उर्वशीके शरीरसे कमल-केसरकी-सी सुगन्ध निकला करती थी। उसके साथ राजा पुरूरवाने बहुत वर्षोंतक आनन्द-विहार किया। वे उसके मुखकी सुरभिसे अपनी सुध-बुध खो बैठते थे॥ २५॥ इधर जब इन्द्रने उर्वशीको नहीं देखा, तब उन्होंने गन्धर्वोंको उसे लानेके लिये भेजा और कहा—'उर्वशीके बिना मुझे यह स्वर्ग फीका जान पड़ता है'॥ २६॥ वे गन्धर्व आधी रातके समय घोर अन्धकारमें वहाँ गये और उर्वशीके दोनों भेड़ोंको, जिन्हें उसने राजाके पास धरोहर रखा था, चुराकर चलते बने॥ २७॥ उर्वशीने जब गन्धर्वोंके द्वारा ले जाये जाते हुए अपने पुत्रके समान प्यारे भेड़ोंकी 'बें-बें' सुनी, तब वह कह उठी कि 'अरे, इस कायरको अपना स्वामी बनाकर मैं तो मारी गयी। यह नपुंसक अपनेको बड़ा वीर मानता है। यह मेरे भेड़ोंको भी न बचा सका॥ २८॥ इसीपर विश्वास करनेके कारण लुटेरे मेरे बच्चोंको लूटकर लिये जा रहे हैं। मैं तो मर गयी। देखो तो सही, यह दिनमें तो मर्द बनता है और रातमें स्त्रियोंकी तरह डरकर सोया रहता है'॥ २९॥

इति वाक्सायकैर्विद्धः प्रतोत्त्रैरिव कुंजरः।
निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवद् रुषा॥ ३०

ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः[१]।
आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम्॥ ३१

ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन् विमना इव।
तच्चित्तो विह्वलः[२] शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम्॥ ३२

स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यां च तत्सखीः।
पंच प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः॥ ३३

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै॥ ३४

सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया।
खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम्॥ ३५

उर्वश्युवाच

मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे।
क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा॥ ३६

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः[३] प्रियसाहसाः।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत॥ ३७

परीक्षित्! जैसे कोई हाथीको अंकुशसे बेध डाले, वैसे ही उर्वशीने अपने वचन-बाणोंसे राजाको बींध दिया। राजा पुरूरवाको बड़ा क्रोध आया और हाथमें तलवार लेकर वस्त्रहीन अवस्थामें ही वे उस ओर दौड़ पड़े॥ ३०॥ गन्धर्वोंने उनके झपटते ही भेड़ोंको तो वहीं छोड़ दिया और स्वयं बिजलीकी तरह चमकने लगे। जब राजा पुरूरवा भेड़ोंको लेकर लौटे, तब उर्वशीने उस प्रकाशमें उन्हें वस्त्रहीन अवस्थामें देख लिया। (बस, वह उसी समय उन्हें छोड़कर चली गयी)॥ ३१॥

परीक्षित्! राजा पुरूरवाने जब अपने शयनागारमें अपनी प्रियतमा उर्वशीको नहीं देखा तो वे अनमने हो गये। उनका चित्त उर्वशीमें ही बसा हुआ था। वे उसके लिये शोकसे विह्वल हो गये और उन्मत्तकी भाँति पृथ्वीमें इधर-उधर भटकने लगे॥ ३२॥ एक दिन कुरुक्षेत्रमें सरस्वती नदीके तटपर उन्होंने उर्वशी और उसकी पाँच प्रसन्नमुखी सखियोंको देखा और बड़ी मीठी वाणीसे कहा— ॥ ३३॥ 'प्रिये! तनिक ठहर जाओ। एक बार मेरी बात मान लो। निष्ठुरे! अब आज तो मुझे सुखी किये बिना मत जाओ। क्षणभर ठहरो; आओ हम दोनों कुछ बातें तो कर लें॥ ३४॥ देवि! अब इस शरीरपर तुम्हारा कृपा-प्रसाद नहीं रहा, इसीसे तुमने इसे दूर फेंक दिया है। अतः मेरा यह सुन्दर शरीर अभी ढेर हुआ जाता है और तुम्हारे देखते-देखते इसे भेड़िये और गीध खा जायँगे'॥ ३५॥

उर्वशीने कहा—राजन्! तुम पुरुष हो। इस प्रकार मत मरो। देखो, सचमुच ये भेड़िये तुम्हें खा न जायँ! स्त्रियोंकी किसीके साथ मित्रता नहीं हुआ करती। स्त्रियोंका हृदय और भेड़ियोंका हृदय बिलकुल एक-जैसा होता है॥ ३६॥ स्त्रियाँ निर्दय होती हैं। क्रूरता तो उनमें स्वाभाविक ही रहती है। तनिक-सी बातमें चिढ़ जाती हैं और अपने सुखके लिये बड़े-बड़े साहसके काम कर बैठती हैं, थोड़े-से स्वार्थके लिये विश्वास दिलाकर अपने पति और भाईतकको मार डालती हैं॥ ३७॥

१. विक्षताः। २. विक्लवः। ३. दुर्मुखाः।

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः॥ ३८

संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं मयेश्वर।
वत्स्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः॥ ३९

अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरम्।
पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते उर्वशीं वीरमातरम्॥ ४०

उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास तया निशाम्।
अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम्॥ ४१

गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति।
तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप।
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन् वने॥ ४२

स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि।
त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत॥ ४३

स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया॥ ४४

उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत् तत् प्रजननं प्रभुः॥ ४५

तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभावसुः।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत्॥ ४६

इनके हृदयमें सौहार्द तो है ही नहीं। भोले-भाले लोगोंको झूठ-मूठका विश्वास दिलाकर फाँस लेती हैं और नये-नये पुरुषकी चाटसे कुलटा और स्वच्छन्दचारिणी बन जाती हैं॥ ३८॥ तो फिर तुम धीरज धरो। तुम राजराजेश्वर हो। घबराओ मत। प्रति एक वर्षके बाद एक रात तुम मेरे साथ रहोगे। तब तुम्हारे और भी सन्तानें होंगी॥ ३९॥

राजा पुरूरवाने देखा कि उर्वशी गर्भवती है, इसलिये वे अपनी राजधानीमें लौट आये। एक वर्षके बाद फिर वहाँ गये। तबतक उर्वशी एक वीर पुत्रकी माता हो चुकी थी॥ ४०॥ उर्वशीके मिलनेसे पुरूरवाको बड़ा सुख मिला और वे एक रात उसीके साथ रहे। प्रात:काल जब वे विदा होने लगे तब विरहके दुःखसे वे अत्यन्त दीन हो गये। उर्वशीने उनसे कहा— ॥ ४१॥ 'तुम इन गन्धर्वोंकी स्तुति करो, ये चाहें तो तुम्हें मुझे दे सकते हैं। तब राजा पुरूरवाने गन्धर्वोंकी स्तुति की। परीक्षित्! राजा पुरूरवाकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर गन्धर्वोंने उन्हें एक अग्निस्थाली (अग्निस्थापन करनेका पात्र) दी। राजाने समझा यही उर्वशी है, इसलिये उसको हृदयसे लगाकर वे एक वनसे दूसरे वनमें घूमते रहे॥ ४२॥

जब उन्हें होश हुआ, तब वे स्थालीको वनमें छोड़कर अपने महलमें लौट आये एवं रातके समय उर्वशीका ध्यान करते रहे। इस प्रकार जब त्रेतायुगका प्रारम्भ हुआ, तब उनके हृदयमें तीनों वेद प्रकट हुए॥ ४३॥ फिर वे उस स्थानपर गये, जहाँ उन्होंने वह अग्निस्थाली छोड़ी थी। अब उस स्थानपर शमीवृक्षके गर्भमें एक पीपलका वृक्ष उग आया था, उसे देखकर उन्होंने उससे दो अरणियाँ (मन्थनकाष्ठ) बनायीं। फिर उन्होंने उर्वशीलोककी कामनासे नीचेकी अरणिको उर्वशी, ऊपरकी अरणिको पुरूरवा और बीचके काष्ठको पुत्ररूपसे चिन्तन करते हुए अग्नि प्रज्वलित करनेवाले मन्त्रोंसे मन्थन किया॥ ४४-४५॥

उनके मन्थनसे 'जातवेदा' नामका अग्नि प्रकट हुआ। राजा पुरूरवाने अग्निदेवताको त्रयीविद्याके द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन भागोंमें विभक्त करके पुत्ररूपसे स्वीकार कर लिया॥ ४६॥

तेनायजत यज्ञेशं[1] भगवन्तमधोक्षजम्।
उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम्॥ ४७

फिर उर्वशीलोककी इच्छासे पुरूरवाने उन तीनों अग्नियोंद्वारा सर्वदेवस्वरूप इन्द्रियातीत यज्ञपति भगवान् श्रीहरिका यजन किया॥ ४७॥

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥ ४८

पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान्॥ ४९

परीक्षित्! त्रेताके पूर्व सत्ययुगमें एकमात्र प्रणव (ॐकार) ही वेद था। सारे वेद-शास्त्र उसीके अन्तर्भूत थे। देवता थे एकमात्र नारायण; और कोई न था। अग्नि भी तीन नहीं, केवल एक था और वर्ण भी केवल एक 'हंस' ही था॥ ४८॥ परीक्षित्! त्रेताके प्रारम्भमें पुरूरवासे ही वेदत्रयी और अग्नित्रयीका आविर्भाव हुआ। राजा पुरूरवाने अग्निको सन्तानरूपसे स्वीकार करके गन्धर्वलोककी प्राप्ति की॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे ऐलोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

ऋचीक, जमदग्नि और परशुरामजीका चरित्र

श्रीशुक[2] उवाच

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप।
आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उर्वशीके गर्भसे पुरूरवाके छः पुत्र हुए—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय॥ १॥

श्रुतायोर्वसुमान् पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतंजयः।
रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः॥ २
भीमस्तु विजयस्याथ कांचनो होत्रकस्ततः।
तस्य जह्नुः सुतो गंगां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत्।
जह्नोस्तु पूरुस्तत्पुत्रो बलाकश्चात्मजोऽजकः॥ ३
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो[3] वसुः।
कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुजः॥ ४

श्रुतायुका पुत्र था वसुमान्, सत्यायुका श्रुतंजय, रयका एक और जयका अमित॥ २॥ विजयका भीम, भीमका कांचन, कांचनका होत्र और होत्रका पुत्र था जह्नु। ये जह्नु वही थे, जो गंगाजीको अपनी अंजलिमें लेकर पी गये थे। जह्नुका पुत्र था पूरु, पूरुका बलाक और बलाकका अजक॥ ३॥ अजकका कुश था। कुशके चार पुत्र थे—कुशाम्बु, तनय, वसु और कुशनाभ। इनमेंसे कुशाम्बुके पुत्र गाधि हुए॥ ४॥

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत्॥ ५
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम्॥ ६

परीक्षित्! गाधिकी कन्याका नाम था सत्यवती। ऋचीक ऋषिने गाधिसे उनकी कन्या माँगी। गाधिने यह समझकर कि ये कन्याके योग्य वर नहीं है, ऋचीकसे कहा—॥ ५॥ 'मुनिवर! हमलोग कुशिकवंशके हैं। हमारी कन्या मिलनी कठिन है। इसलिये आप एक हजार ऐसे घोड़े लाकर मुझे शुल्करूपमें दीजिये, जिनका सारा शरीर तो श्वेत हो, परन्तु एक-एक कान श्याम वर्णका हो'॥ ६॥

१. देवेशं। २. बादरायणिरुवाच। ३. शाम्बुर्मूर्तरयो।

इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम्।
आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वराननाम्॥ ७

स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया।
श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः॥ ८

तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं[1] याचिता सती।
श्रेष्ठं मत्वा त[2]यायच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम्॥ ९

तद् विज्ञाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः।
घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः॥ १०

प्रसादितः सत्यवत्या मैवं भूदिति भार्गवः।
अथ तर्हि भवेत् पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत्॥ ११

सा चाभूत् सुमहापुण्या कौशिकी लोकपावनी।
रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम्॥ १२

तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः।
यवीयांजज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः॥ १३

यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम्।
त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम्॥ १४

दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यम[3]नीनशत्।
रजस्तमोवृतमहन् फल्गुन्यपि कृतेंऽहसि॥ १५

जब गाधिने यह बात कही, तब ऋचीक मुनि उनका आशय समझ गये और वरुणके पास जाकर वैसे ही घोड़े ले आये तथा उन्हें देकर सुन्दरी सत्यवतीसे विवाह कर लिया॥ ७॥ एक बार महर्षि ऋचीकसे उनकी पत्नी और सास दोनोंने ही पुत्रप्राप्तिके लिये प्रार्थना की। महर्षि ऋचीकने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके दोनोंके लिये अलग-अलग मन्त्रोंसे चरु पकाया और स्नान करनेके लिये चले गये॥ ८॥ सत्यवतीकी माँने यह समझकर कि ऋषिने अपनी पत्नीके लिये श्रेष्ठ चरु पकाया होगा, उससे वह चरु माँग लिया। इसपर सत्यवतीने अपना चरु तो माँको दे दिया और माँका चरु वह स्वयं खा गयी॥ ९॥ जब ऋचीक मुनिको इस बातका पता चला, तब उन्होंने अपनी पत्नी सत्यवतीसे कहा कि 'तुमने बड़ा अनर्थ कर डाला। अब तुम्हारा पुत्र तो लोगोंको दण्ड देनेवाला घोर प्रकृतिका होगा और तुम्हारा भाई होगा एक श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता'॥ १०॥ सत्यवतीने ऋचीक मुनिको प्रसन्न किया और प्रार्थना की कि 'स्वामी! ऐसा नहीं होना चाहिये।' तब उन्होंने कहा—'अच्छी बात है। पुत्रके बदले तुम्हारा पौत्र वैसा (घोर प्रकृतिका) होगा।' समयपर सत्यवतीके गर्भसे जमदग्निका जन्म हुआ॥ ११॥ सत्यवती समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली परम पुण्यमयी 'कौशिकी' नदी बन गयी। रेणु ऋषिकी कन्या थी रेणुका। जमदग्निने उसका पाणिग्रहण किया॥ १२॥ रेणुकाके गर्भसे जमदग्नि ऋषिके वसुमान् आदि कई पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे परशुरामजी थे। उनका यश सारे संसारमें प्रसिद्ध है॥ १३॥ कहते हैं कि हैहयवंशका अन्त करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही परशुरामके रूपमें अंशावतार ग्रहण किया था। उन्होंने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन कर दिया॥ १४॥ यद्यपि क्षत्रियोंने उनका थोड़ा-सा ही अपराध किया था—फिर भी वे लोग बड़े दुष्ट, ब्राह्मणोंके अभक्त, रजोगुणी और विशेष करके तमोगुणी हो रहे थे। यही कारण था कि वे पृथ्वीके भार हो गये थे और इसीके फलस्वरूप भगवान् परशुरामने उनका नाश करके पृथ्वीका भार उतार दिया॥ १५॥

१. सा चरुं। २. तु सा य०। ३. मुपाहरत्।

राजोवाच

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः।
कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः॥ १६

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! अवश्य ही उस समयके क्षत्रिय विषयलोलुप हो गये थे; परन्तु उन्होंने परशुरामजीका ऐसा कौन-सा अपराध कर दिया, जिसके कारण उन्होंने बार-बार क्षत्रियोंके वंशका संहार किया?॥ १६॥

श्रीशुक[१] उवाच

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः।
दत्तं नारायणस्यांशमाराध्य परिकर्मभिः॥ १७

बाहून् दशशतं लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु।
अव्याहतेन्द्रियौजःश्रीतेजोवीर्ययशो[२]बलम्॥ १८

योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः।
चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा॥ १९

स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन् रेवाम्भसि मदोत्कटः।
वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद् रुरोध सरितं भुजैः॥ २०

विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्रोतःसरिज्जलैः।
नामृष्यत् तस्य तद् वीर्यं वीरमानी दशाननः॥ २१

गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः।
माहिष्मत्यां संनिरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा॥ २२

श्रीशुकदेवजी कहने लगे—परीक्षित्! उन दिनों हैहयवंशका अधिपति था अर्जुन। वह एक श्रेष्ठ क्षत्रिय था। उसने अनेकों प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा करके भगवान् नारायणके अंशावतार दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया और उनसे एक हजार भुजाएँ तथा कोई भी शत्रु युद्धमें पराजित न कर सके—यह वरदान प्राप्त कर लिया। साथ ही इन्द्रियोंका अबाध बल, अतुल सम्पत्ति, तेजस्विता, वीरता, कीर्ति और शारीरिक बल भी उसने उनकी कृपासे प्राप्त कर लिये थे॥ १७-१८॥ वह योगेश्वर हो गया था। उसमें ऐसा ऐश्वर्य था कि वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्थूल-से-स्थूल रूप धारण कर लेता। सभी सिद्धियाँ उसे प्राप्त थीं। वह संसारमें वायुकी तरह सब जगह बेरोक-टोक विचरा करता॥ १९॥ एक बार गलेमें वैजयन्ती माला पहने सहस्रबाहु अर्जुन बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंके साथ नर्मदा नदीमें जल-विहार कर रहा था। उस समय मदोन्मत्त सहस्रबाहुने अपनी बाँहोंसे नदीका प्रवाह रोक दिया॥ २०॥ दशमुख रावणका शिविर भी वहीं कहीं पासमें ही था। नदीकी धारा उलटी बहने लगी, जिससे उसका शिविर डूबने लगा। रावण अपनेको बहुत बड़ा वीर तो मानता ही था, इसलिये सहस्रार्जुनका यह पराक्रम उससे सहन नहीं हुआ॥ २१॥ जब रावण सहस्रबाहु अर्जुनके पास जाकर बुरा-भला कहने लगा, तब उसने स्त्रियोंके सामने ही खेल-खेलमें रावणको पकड़ लिया और अपनी राजधानी माहिष्मतीमें ले जाकर बंदरके समान कैद कर लिया। पीछे पुलस्त्यजीके कहनेसे सहस्रबाहुने रावणको छोड़ दिया॥ २२॥

१. बादरायणिरुवाच। २. शोऽतुलम्।

स एकदा तु मृगयां विचरन् विपिने[१] वने।
यदृच्छयाऽऽश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत्॥ २३

तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत्।
ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः॥ २४

स[२] वीरस्तत्र तद् दृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम्।
तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां साभिलाषः स हैहयः॥ २५

हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान् हर्तुमचोदयत्।
ते च माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रन्दतीं बलात्॥ २६

अथ राजनि निर्याते राम आश्रम आगतः।
श्रुत्वा तत्[३] तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः॥ २७

घोरमादाय[४] परशुं सतूणं चर्म कार्मुकम्।
अन्वधावत दुर्धर्षो[५] मृगेन्द्र इव यूथपम्॥ २८

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा
धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम्।
ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभि-
र्युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन्॥ २९

अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभि-
र्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः।
अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणा-
स्ता राम एको भगवानसूदयत्॥ ३०

एक दिन सहस्रबाहु अर्जुन शिकार खेलनेके लिये बड़े घोर जंगलमें निकल गया था। दैववश वह जमदग्नि मुनिके आश्रमपर जा पहुँचा॥ २३॥ परम तपस्वी जमदग्नि मुनिके आश्रममें कामधेनु रहती थी। उसके प्रतापसे उन्होंने सेना, मन्त्री और वाहनोंके साथ हैहयाधिपतिका खूब स्वागत-सत्कार किया॥ २४॥ वीर हैहयाधिपतिने देखा कि जमदग्नि मुनिका ऐश्वर्य तो मुझसे भी बढ़ा-चढ़ा है। इसलिये उसने उनके स्वागत-सत्कारको कुछ भी आदर न देकर कामधेनुको ही ले लेना चाहा॥ २५॥

उसने अभिमानवश जमदग्नि मुनिसे माँगा भी नहीं, अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि कामधेनुको छीन ले चलो। उसकी आज्ञासे उसके सेवक बछड़ेके साथ 'बाँ-बाँ' डकराती हुई कामधेनुको बलपूर्वक माहिष्मतीपुरी ले गये॥ २६॥ जब वे सब चले गये, तब परशुरामजी आश्रमपर आये और उसकी दुष्टताका वृत्तान्त सुनकर चोट खाये हुए साँपकी तरह क्रोधसे तिलमिला उठे॥ २७॥ वे अपना भयंकर फरसा, तरकस, ढाल एवं धनुष लेकर बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़े—जैसे कोई किसीसे न दबनेवाला सिंह हाथीपर टूट पड़े॥ २८॥

सहस्रबाहु अर्जुन अभी अपने नगरमें प्रवेश कर ही रहा था कि उसने देखा परशुरामजी महाराज बड़े वेगसे उसीकी ओर झपटे आ रहे हैं। उनकी बड़ी विलक्षण झाँकी थी। वे हाथमें धनुष-बाण और फरसा लिये हुए थे, शरीरपर काला मृगचर्म धारण किये हुए थे और उनकी जटाएँ सूर्यकी किरणोंके समान चमक रही थीं॥ २९॥

उन्हें देखते ही उसने गदा, खड्ग, बाण, ऋष्टि, शतघ्नी और शक्ति आदि आयुधोंसे सुसज्जित एवं हाथी, घोड़े, रथ तथा पदातियोंसे युक्त अत्यन्त भयंकर सत्रह अक्षौहिणी सेना भेजी। भगवान् परशुरामने बात-की-बातमें अकेले ही उस सारी सेनाको नष्ट कर दिया॥ ३०॥

१. विजने। २. स चैश्वर्यं तु त०। ३. स तस्य। ४. परशुं घोरमादाय स क्षणाद्वर्मकार्मुकम्। ५. दुर्मर्षो।

यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो
मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा
निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः॥ ३१

दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे
रणाजिरे रामकुठारसायकैः।
विवृक्णचर्मध्वजचापविग्रहं
निपातितं हैहय आपतद् रुषा॥ ३२

अथार्जुनः पंचशतेषु बाहुभि-
र्धनुःषु बाणान् युगपत् स सन्दधे।
रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणी-
स्तान्येकधन्वेषुभिराच्छिनत् समम्॥ ३३

पुनः स्वहस्तैरचलान् मृधेऽङ्घ्रिपा-
नुत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि।
भुजान् कुठारेण कठोरनेमिना
चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव॥ ३४

कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृंगमिवाहरत्।
हते पितरि तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात्॥ ३५

अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा।
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत्॥ ३६

स्वकर्म तत्कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च।
वर्णयामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निरभाषत॥ ३७

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत्।
अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा॥ ३८

वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम्॥ ३९

भगवान् परशुरामजीकी गति मन और वायुके समान थी। बस, वे शत्रुकी सेना काटते ही जा रहे थे। जहाँ-जहाँ वे अपने फरसेका प्रहार करते, वहाँ-वहाँ सारथि और वाहनोंके साथ बड़े-बड़े वीरोंकी बाँहें, जाँघें और कंधे कट-कटकर पृथ्वीपर गिरते जाते थे॥ ३१॥

हैहयाधिपति अर्जुनने देखा कि मेरी सेनाके सैनिक, उनके धनुष, ध्वजाएँ और ढाल भगवान् परशुरामके फरसे और बाणोंसे कट-कटकर खूनसे लथपथ रणभूमिमें गिर गये हैं, तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह स्वयं भिड़नेके लिये आ धमका॥ ३२॥ उसने एक साथ ही अपनी हजार भुजाओंसे पाँच सौ धनुषोंपर बाण चढ़ाये और परशुरामजीपर छोड़े। परन्तु परशुरामजी तो समस्त शस्त्रधारियोंके शिरोमणि ठहरे। उन्होंने अपने एक धनुषपर छोड़े हुए बाणोंसे ही एक साथ सबको काट डाला॥ ३३॥ अब हैहयाधिपति अपने हाथोंसे पहाड़ और पेड़ उखाड़कर बड़े वेगसे युद्धभूमिमें परशुरामजीकी ओर झपटा। परन्तु परशुरामजीने अपनी तीखी धारवाले फरसेसे बड़ी फुर्तीके साथ उसकी साँपोंके समान भुजाओंको काट डाला॥ ३४॥ जब उसकी बाँहें कट गयीं, तब उन्होंने पहाड़की चोटीकी तरह उसका ऊँचा सिर धड़से अलग कर दिया। पिताके मर जानेपर उसके दस हजार लड़के डरकर भग गये॥ ३५॥

परीक्षित्! विपक्षी वीरोंके नाशक परशुरामजीने बछड़ेके साथ कामधेनु लौटा ली। वह बहुत ही दुःखी हो रही थी। उन्होंने उसे अपने आश्रमपर लाकर पिताजीको सौंप दिया॥ ३६॥ और माहिष्मतीमें सहस्रबाहुने तथा उन्होंने जो कुछ किया था, सब अपने पिताजी तथा भाइयोंको कह सुनाया। सब कुछ सुनकर जमदग्नि मुनिने कहा—॥ ३७॥ 'हाय, हाय, परशुराम! तुमने बड़ा पाप किया। राम, राम! तुम बड़े वीर हो; परन्तु सर्वदेवमय नरदेवका तुमने व्यर्थ ही वध किया॥ ३८॥ बेटा! हमलोग ब्राह्मण हैं। क्षमाके प्रभावसे ही हम संसारमें पूजनीय हुए हैं। और तो क्या, सबके दादा ब्रह्माजी भी क्षमाके बलसे ही ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं॥ ३९॥

क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः॥ ४०

ब्राह्मणोंकी शोभा क्षमाके द्वारा ही सूर्यकी प्रभाके समान चमक उठती है। सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि भी क्षमावानोंपर ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं॥ ४०॥

राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद् गुरुः।
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यंगाच्युतचेतनः॥ ४१

बेटा! सार्वभौम राजाका वध ब्राह्मणकी हत्यासे भी बढ़कर है। जाओ, भगवान्‌का स्मरण करते हुए तीर्थोंका सेवन करके अपने पापोंको धो डालो'॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

परशुरामजीके द्वारा क्षत्रियसंहार और विश्वामित्रजीके वंशकी कथा

श्रीशुक उवाच

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन।
संवत्सरं तीर्थयात्रां चरित्वाऽऽश्रममाव्रजत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपने पिताकी यह शिक्षा भगवान् परशुरामने 'जो आज्ञा' कहकर स्वीकार की। इसके बाद वे एक वर्षतक तीर्थयात्रा करके अपने आश्रमपर लौट आये॥ १॥

कदाचिद् रेणुका याता गंगायां पद्ममालिनम्।
गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत॥ २

एक दिनकी बात है, परशुरामजीकी माता रेणुका गंगातटपर गयी हुई थीं। वहाँ उन्होंने देखा कि गन्धर्वराज चित्ररथ कमलोंकी माला पहने अप्सराओंके साथ विहार कर रहा है॥ २॥

विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकार्थं नदीं गता।
होमवेलां न सस्मार किंचिच्चित्ररथस्पृहा॥ ३

वे जल लानेके लिये नदीतटपर गयी थीं, परन्तु वहाँ जलक्रीडा करते हुए गन्धर्वको देखने लगीं और पतिदेवके हवनका समय हो गया है—इस बातको भूल गयीं। उनका मन कुछ-कुछ चित्ररथकी ओर खिंच भी गया था॥ ३॥

कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशंकिता।
आगत्य कलशं तस्थौ पुरोधाय कृतांजलिः॥ ४

हवनका समय बीत गया, यह जानकर वे महर्षि जमदग्निके शापसे भयभीत हो गयीं और तुरंत वहाँसे आश्रमपर चली आयीं। वहाँ जलका कलश महर्षिके सामने रखकर हाथ जोड़ खड़ी हो गयीं॥ ४॥

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत्।
घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे॥ ५

जमदग्नि मुनिने अपनी पत्नीका मानसिक व्यभिचार जान लिया और क्रोध करके कहा—'मेरे पुत्रो! इस पापिनीको मार डालो।' परन्तु उनके किसी भी पुत्रने उनकी वह आज्ञा स्वीकार नहीं की॥ ५॥

रामः संचोदितः पित्रा भ्रातॄन् मात्रा सहावधीत्।
प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च[1] सः॥ ६

इसके बाद पिताकी आज्ञासे परशुरामजीने माताके साथ सब भाइयोंको भी मार डाला। इसका कारण था। वे अपने पिताजीके योग और तपस्याका प्रभाव भलीभाँति जानते थे॥ ६॥

१. सः सुतः।

वरेणच्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः।
वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वधे॥ ७

उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवांजसा।
पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम्॥ ८

येऽर्जुनस्य सुता राजन् स्मरन्तः स्वपितुर्वधम्।
रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित्॥ ९

एकदाऽऽश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते।
वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन्॥ १०

दृष्ट्वाग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिम्।
भगवत्युत्तमश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः॥ ११

याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः।
प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः॥ १२

रेणुका दुःखशोकार्ता निघ्नन्त्यात्मानमात्मना।
राम रामेहि तातेति विचुक्रोशोच्चकैः सती॥ १३

तदुपश्रुत्य दूरस्थो हा रामेत्यार्तवत्स्वनम्।
त्वरयाऽऽश्रममासाद्य ददृशे पितरं हतम्॥ १४

तद् दुःखरोषामर्षार्तिशोकवेगविमोहितः।
हा तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वास्मान् स्वर्गतो भवान्॥ १५

परशुरामजीके इस कामसे सत्यवतीनन्दन महर्षि जमदग्नि बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—'बेटा! तुम्हारी जो इच्छा हो, वर माँग लो।' परशुरामजीने कहा—'पिताजी! मेरी माता और सब भाई जीवित हो जायँ तथा उन्हें इस बातकी याद न रहे कि मैंने उन्हें मारा था'॥ ७॥ परशुरामजीके इस प्रकार कहते ही जैसे कोई सोकर उठे, सब-के-सब अनायास ही सकुशल उठ बैठे। परशुरामजीने अपने पिताजीका तपो-बल जानकर ही तो अपने सुहृदोंका वध किया था॥ ८॥

परीक्षित्! सहस्रबाहु अर्जुनके जो लड़के परशु-रामजीसे हारकर भाग गये थे, उन्हें अपने पिताके वधकी याद निरन्तर बनी रहती थी। कहीं एक क्षणके लिये भी उन्हें चैन नहीं मिलता था॥ ९ ॥ एक दिनकी बात है, परशुरामजी अपने भाइयोंके साथ आश्रमसे बाहर वनकी ओर गये हुए थे। यह अवसर पाकर वैर साधनेके लिये सहस्रबाहुके लड़के वहाँ आ पहुँचे॥ १० ॥ उस समय महर्षि जमदग्नि अग्निशालामें बैठे हुए थे और अपनी समस्त वृत्तियोंसे पवित्रकीर्ति भगवान्के ही चिन्तनमें मग्न हो रहे थे। उन्हें बाहरकी कोई सुध न थी। उसी समय उन पापियोंने जमदग्नि ऋषिको मार डाला। उन्होंने पहलेसे ही ऐसा पापपूर्ण निश्चय कर रखा था॥ ११ ॥ परशुरामकी माता रेणुका बड़ी दीनतासे उनसे प्रार्थना कर रही थीं, परन्तु उन सबोंने उनकी एक न सुनी। वे बलपूर्वक महर्षि जमदग्निका सिर काटकर ले गये। परीक्षित्! वास्तवमें वे नीच क्षत्रिय अत्यन्त क्रूर थे॥ १२ ॥ सती रेणुका दुःख और शोकसे आतुर हो गयीं। वे अपने हाथों अपनी छाती और सिर पीट-पीटकर जोर-जोरसे रोने लगीं—'परशुराम! बेटा परशुराम! शीघ्र आओ'॥ १३॥ परशुरामजीने बहुत दूरसे माताका 'हा राम!' यह करुण-क्रन्दन सुन लिया। वे बड़ी शीघ्रतासे आश्रमपर आये और वहाँ आकर देखा कि पिताजी मार डाले गये हैं॥ १४॥ परीक्षित्! उस समय परशुरामजीको बड़ा दुःख हुआ। साथ ही क्रोध, असहिष्णुता, मानसिक पीड़ा और शोकके वेगसे वे अत्यन्त मोहित हो गये। 'हाय पिताजी! आप तो बड़े महात्मा थे। पिताजी! आप तो धर्मके सच्चे पुजारी थे। आप हमलोगोंको छोड़कर स्वर्ग चले गये'॥ १५॥

विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम्।
प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे॥ १६

गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम्।
तेषां स शीर्षभी राजन् मध्ये चक्रे महागिरिम्॥ १७

तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम्।
हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमंगलकारिणि॥ १८

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपंचके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप॥ १९

पितुः कायेन सन्धाय शिर आदाय बर्हिषि।
सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः॥ २०

ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम्॥ २१

अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम्॥ २२

ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः।
सरस्वत्यां ब्रह्मनद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान्॥ २३

स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम्।
ऋषीणां मण्डले सोऽभूत् सप्तमो रामपूजितः॥ २४

जामदग्न्योऽपि भगवान् रामः कमललोचनः।
आगामिन्यन्तरे राजन् वर्तयिष्यति वै बृहत्॥ २५

आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः॥ २६

इस प्रकार विलापकर उन्होंने पिताका शरीर तो भाइयोंको सौंप दिया और स्वयं हाथमें फरसा उठाकर क्षत्रियोंका संहार कर डालनेका निश्चय किया॥ १६॥

परीक्षित्! परशुरामजीने माहिष्मती नगरीमें जाकर सहस्रबाहु अर्जुनके पुत्रोंके सिरोंसे नगरके बीचो-बीच एक बड़ा भारी पर्वत खड़ा कर दिया। उस नगरकी शोभा तो उन ब्रह्मघाती नीच क्षत्रियोंके कारण ही नष्ट हो चुकी थी॥ १७॥ उनके रक्तसे एक बड़ी भयंकर नदी बह निकली, जिसे देखकर ब्राह्मणद्रोहियोंका हृदय भयसे काँप उठता था। भगवान्‌ने देखा कि वर्तमान क्षत्रिय अत्याचारी हो गये हैं। इसलिये राजन्! उन्होंने अपने पिताके वधको निमित्त बनाकर इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया और कुरुक्षेत्रके समन्तपंचकमें ऐसे-ऐसे पाँच तालाब बना दिये, जो रक्तके जलसे भरे हुए थे॥ १८-१९॥ परशुरामजीने अपने पिताजीका सिर लाकर उनके धड़से जोड़ दिया और यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय आत्मस्वरूप भगवान्‌का यजन किया॥ २०॥ यज्ञोंमें उन्होंने पूर्व दिशा होताको, दक्षिण दिशा ब्रह्माको, पश्चिम दिशा अध्वर्युको और उत्तर दिशा सामगान करनेवाले उद्गाताको दे दी॥ २१॥ इसी प्रकार अग्निकोण आदि विदिशाएँ ऋत्विजोंको दीं, कश्यपजीको मध्यभूमि दी, उपद्रष्टाको आर्यावर्त दिया तथा दूसरे सदस्योंको अन्यान्य दिशाएँ प्रदान कर दीं॥ २२॥ इसके बाद यज्ञान्त-स्नान करके वे समस्त पापोंसे मुक्त हो गये और ब्रह्मनदी सरस्वतीके तटपर मेघरहित सूर्यके समान शोभायमान हुए॥ २३॥ महर्षि जमदग्निको स्मृतिरूप संकल्पमय शरीरकी प्राप्ति हो गयी। परशुरामजीसे सम्मानित होकर वे सप्तर्षियोंके मण्डलमें सातवें ऋषि हो गये॥ २४॥ परीक्षित्! कमललोचन जमदग्निनन्दन भगवान् परशुराम आगामी मन्वन्तरमें सप्तर्षियोंके मण्डलमें रहकर वेदोंका विस्तार करेंगे॥ २५॥ वे आज भी किसीको किसी प्रकारका दण्ड न देते हुए शान्त चित्तसे महेन्द्र पर्वतपर निवास करते हैं। वहाँ सिद्ध, गन्धर्व और चारण उनके चरित्रका मधुर स्वरसे गान करते रहते हैं॥ २६॥

एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान्॥ २७

गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः।
तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम्॥ २८

विश्वामित्रस्य चैवासन् पुत्रा एकशतं नृप।
मध्यमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते॥ २९

पुत्रं कृत्वा शुनःशेपं देवरातं च भार्गवम्।
आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम्॥ ३०

यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः पुरुषः पशुः।
स्तुत्वा देवान् प्रजेशादीन् मुमुचे पाशबन्धनात्॥ ३१

यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः।
देवरात इति ख्यातः शुनःशेपः स भार्गवः॥ ३२

ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत्।
अशपत् तान्मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः॥ ३३

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्धं पंचाशता: ततः।
यन्नो भवान् संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम्॥ ३४

ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि।
विश्वामित्रः[1] सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीर[2]वन्तमकर्त माम्॥ ३५

सर्वशक्तिमान् विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिने इस प्रकार भृगुवंशियोंमें अवतार ग्रहण करके पृथ्वीके भारभूत राजाओंका बहुत बार वध किया॥ २७॥

महाराज गाधिके पुत्र हुए प्रज्वलित अग्निके समान परम तेजस्वी विश्वामित्रजी। इन्होंने अपने तपोबलसे क्षत्रियत्वका त्याग करके ब्रह्मतेज प्राप्त कर लिया॥ २८॥ परीक्षित्! विश्वामित्रजीके सौ पुत्र थे। उनमें बिचले पुत्रका नाम था मधुच्छन्दा। इसलिये सभी पुत्र 'मधुच्छन्दा' के ही नामसे विख्यात हुए॥ २९॥ विश्वामित्रजीने भृगुवंशी अजीगर्तके पुत्र अपने भानजे शुनःशेपको, जिसका एक नाम देवरात भी था, पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया और अपने पुत्रोंसे कहा कि 'तुमलोग इसे अपना बड़ा भाई मानो'॥ ३०॥ यह वही प्रसिद्ध भृगुवंशी शुनःशेप था, जो हरिश्चन्द्रके यज्ञमें यज्ञपशुके रूपमें मोल लेकर लाया गया था। विश्वामित्रजीने प्रजापति वरुण आदि देवताओंकी स्तुति करके उसे पाशबन्धनसे छुड़ा लिया था। देवताओंके यज्ञमें यही शुनःशेप देवताओंद्वारा विश्वामित्रजीको दिया गया था; अतः **'देवैः रातः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार गाधिवंशमें यह तपस्वी देवरातके नामसे विख्यात हुआ॥ ३१-३२॥ विश्वामित्रजीके पुत्रोंमें जो बड़े थे, उन्हें शुनःशेपको बड़ा भाई माननेकी बात अच्छी न लगी। इसपर विश्वामित्रजीने क्रोधित होकर उन्हें शाप दे दिया कि 'दुष्टो! तुम सब म्लेच्छ हो जाओ'॥ ३३॥ इस प्रकार जब उनचास भाई म्लेच्छ हो गये तब विश्वामित्रजीके बिचले पुत्र मधुच्छन्दाने अपनेसे छोटे पचासों भाइयोंके साथ कहा—'पिताजी! आप हमलोगोंको जो आज्ञा करते हैं, हम उसका पालन करनेके लिये तैयार हैं'॥ ३४॥ यह कहकर मधुच्छन्दाने मन्त्रद्रष्टा शुनःशेपको बड़ा भाई स्वीकार कर लिया और कहा कि 'हम सब तुम्हारे अनुयायी—छोटे भाई हैं।' तब विश्वामित्रजीने अपने इन आज्ञाकारी पुत्रोंसे कहा—'तुम लोगोंने मेरी बात मानकर मेरे सम्मानकी रक्षा की है, इसलिये तुमलोगों-जैसे सुपुत्र प्राप्त करके मैं धन्य हुआ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें भी सुपुत्र प्राप्त होंगे॥ ३५॥

१. त्रस्तु ताना०। २. वीरभावकसत्तमाः।

एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित।
अन्ये चाष्टकहारीतजयक्रतुमदादयः॥ ३६

मेरे प्यारे पुत्रो! यह देवरात शुनःशेप भी तुम्हारे ही गोत्रका है। तुमलोग इसकी आज्ञामें रहना।' परीक्षित्! विश्वामित्रजीके अष्टक, हारीत, जय और क्रतुमान् आदि और भी पुत्र थे॥ ३६॥

एवं कौशिकगोत्रं तु विश्वामित्रैः पृथग्विधम्।
प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम्॥ ३७

इस प्रकार विश्वामित्रजीकी सन्तानोंसे कौशिकगोत्रमें कई भेद हो गये और देवरातको बड़ा भाई माननेके कारण उसका प्रवर ही दूसरा हो गया॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

क्षत्रवृद्ध, रजि आदि राजाओंके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन् सुताः।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान्॥ १
अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयम्।
क्षत्रवृद्धसुतस्यासन् सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः॥ २
काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत्।
शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः॥ ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजेन्द्र पुरूरवाका एक पुत्र था आयु। उसके पाँच लड़के हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, शक्तिशाली रम्भ और अनेना। अब क्षत्रवृद्धका वंश सुनो। क्षत्रवृद्धके पुत्र थे सुहोत्र। सुहोत्रके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश और गृत्समद। गृत्समदका पुत्र हुआ शुनक। इसी शुनकके पुत्र ऋग्वेदियोंमें श्रेष्ठ मुनिवर शौनकजी हुए॥ १—३॥

काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमःपिता।
धन्वन्तरिर्दैर्घतम आयुर्वेदप्रवर्तकः॥ ४
यज्ञभुग् वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः।
तत्पुत्रः केतुमानस्य जज्ञे भीमरथस्ततः॥ ५

काश्यका पुत्र काशि, काशिका राष्ट्र, राष्ट्रका दीर्घतमा और दीर्घतमाके धन्वन्तरि। यही आयुर्वेदके प्रवर्तक हैं॥ ४॥ ये यज्ञभागके भोक्ता और भगवान् वासुदेवके अंश हैं। इनके स्मरणमात्रसे ही सब प्रकारके रोग दूर हो जाते हैं। धन्वन्तरिका पुत्र हुआ केतुमान् और केतुमान्का भीमरथ॥ ५॥

दिवोदासो द्युमांस्तस्मात् प्रतर्दन इति स्मृतः।
स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः॥ ६
षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च।
नालर्कादपरो राजन्[१] मेदिनीं बुभुजे युवा॥ ७
अलर्कात् सन्ततिस्तस्मात् सुनीथोऽथ सुकेतनः[२]।
धर्मकेतुः सुतस्तस्मात् सत्यकेतुरजायत॥ ८

भीमरथका दिवोदास और दिवोदासका द्युमान्—जिसका एक नाम प्रतर्दन भी है। यही द्युमान् शत्रुजित्, वत्स, ऋतध्वज और कुवलयाश्वके नामसे भी प्रसिद्ध है। द्युमान्के ही पुत्र अलर्क आदि हुए॥ ६॥ परीक्षित्! अलर्कके सिवा और किसी राजाने छाछठ हजार (६६,०००) वर्षतक युवा रहकर पृथ्वीका राज्य नहीं भोगा॥ ७॥ अलर्कका पुत्र हुआ सन्तति, सन्ततिका सुनीथ, सुनीथका सुकेतन, सुकेतनका धर्मकेतु और धर्मकेतुका सत्यकेतु॥ ८॥

१. राजा। २. सुतोत्तमः।

धृष्टकेतुः सुतस्तस्मात् सुकुमारः क्षितीश्वरः।
वीतिहोत्रस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभून्नृपः ॥ ९
इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः।
रम्भस्य[1] रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः[2] ॥ १०
तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे शृणु वंशमनेनसः।
शुद्धस्ततः[3] शुचिस्तस्मात् त्रिककुद् धर्मसारथिः ॥ ११
ततः शान्तरयो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान्।
रजेः पंचशतान्यासन् पुत्राणाममितौजसाम् ॥ १२
देवैरभ्यर्थितो दैत्यान् हत्वेन्द्रायाददाद् दिवम्।
इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः ॥ १३
आत्मानमर्पयामास प्रह्लादाद्यरिशंकितः[4]।
पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः ॥ १४
त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान् समाददुः।
गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित् तनयान् रजेः ॥ १५
अवधीद् भ्रंशितान् मार्गान्न कश्चिदवशेषितः।
कुशात् प्रतिः क्षात्रवृद्धात् संजयस्तत्सुतो जयः ॥ १६
ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यवनो नृपः।
सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः ॥ १७
संकृतिस्तस्य च[5] जयः क्षत्रधर्मा महारथः।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः शृणु वंशं च नाहुषात् ॥ १८

सत्यकेतुसे धृष्टकेतु, धृष्टकेतुसे राजा सुकुमार, सुकुमारसे वीतिहोत्र, वीतिहोत्रसे भर्ग और भर्गसे राजा भार्गभूमिका जन्म हुआ ॥ ९ ॥

ये सब-के-सब क्षत्रवृद्धके वंशमें काशिसे उत्पन्न नरपति हुए। रम्भके पुत्रका नाम था रभस, उससे गम्भीर और गम्भीरसे अक्रियका जन्म हुआ ॥ १० ॥ अक्रियकी पत्नीसे ब्राह्मणवंश चला। अब अनेनाका वंश सुनो। अनेनाका पुत्र था शुद्ध, शुद्धका शुचि, शुचिका त्रिककुद् और त्रिककुद्का धर्मसारथि ॥ ११ ॥ धर्मसारथिके पुत्र थे शान्तरय। शान्तरय आत्मज्ञानी होनेके कारण कृतकृत्य थे, उन्हें सन्तानकी आवश्यकता न थी। परीक्षित्! आयुके पुत्र रजिके अत्यन्त तेजस्वी पाँच सौ पुत्र थे ॥ १२ ॥

देवताओंकी प्रार्थनासे रजिने दैत्योंका वध करके इन्द्रको स्वर्गका राज्य दिया। परन्तु वे अपने प्रह्लाद आदि शत्रुओंसे भयभीत रहते थे, इसलिये उन्होंने वह स्वर्ग फिर रजिको लौटा दिया और उनके चरण पकड़कर उन्हींको अपनी रक्षाका भार भी सौंप दिया। जब रजिकी मृत्यु हो गयी, तब इन्द्रके माँगनेपर भी रजिके पुत्रोंने स्वर्ग नहीं लौटाया। वे स्वयं ही यज्ञोंका भाग भी ग्रहण करने लगे। तब गुरु बृहस्पतिजीने इन्द्रकी प्रार्थनासे अभिचारविधिसे हवन किया। इससे वे धर्मके मार्गसे भ्रष्ट हो गये। तब इन्द्रने अनायास ही उन सब रजिके पुत्रोंको मार डाला। उनमेंसे कोई भी न बचा। क्षत्रवृद्धके पौत्र कुशसे प्रति, प्रतिसे संजय और संजयसे जयका जन्म हुआ ॥ १३—१६ ॥ जयसे कृत, कृतसे राजा हर्यवन, हर्यवनसे सहदेव, सहदेवसे हीन और हीनसे जयसेन नामक पुत्र हुआ ॥ १७ ॥ जयसेनका संकृति, संकृतिका पुत्र हुआ महारथी वीरशिरोमणि जय। क्षत्रवृद्धकी वंश-परम्परामें इतने ही नरपति हुए। अब नहुषवंशका वर्णन सुनो ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे चन्द्रवंशानुवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

१. नाभस्य। २. श्चक्रकस्ततः। ३. शुद्धः शुचिस्ततस्तस्मा०। ४. द्यवि०। ५. तनयः।

अथाष्टादशोऽध्यायः

ययाति-चरित्र

श्रीशुक उवाच

यतिर्ययातिः संयातिरायतिर्वियतिः कृतिः।
षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः॥ १

राज्यं नैच्छद् यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित्।
यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते॥ २

पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद् द्विजैः।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः॥ ३

चतसृष्वादिशद् दिक्षु भ्रातॄन् भ्राता यवीयसः।
कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृषपर्वणः॥ ४

राजोवाच

ब्रह्मर्षिर्भगवान् काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः।
राजन्यविप्रयोः कस्माद् विवाहः प्रतिलोमकः॥ ५

श्रीशुक उवाच

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका।
सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी॥ ६

देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसंकुले।
व्यचरत् कलगीतालिनलिनीपुलिनेऽबला॥ ७

ता जलाशयमासाद्य कन्याः कमललोचनाः।
तीरे न्यस्य दुकूलानि विजह्रुः सिंचतीर्मिथः॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जैसे शरीरधारियोंके छः इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे ही नहुषके छः पुत्र थे। उनके नाम थे—यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति और कृति॥ १॥ नहुष अपने बड़े पुत्र यतिको राज्य देना चाहते थे। परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया; क्योंकि वह राज्य पानेका परिणाम जानता था। राज्य एक ऐसी वस्तु है कि जो उसके दाव-पेंच और प्रबन्ध आदिमें भीतर प्रवेश कर जाता है, वह अपने आत्मस्वरूपको नहीं समझ सकता॥ २॥ जब इन्द्रपत्नी शचीसे सहवास करनेकी चेष्टा करनेके कारण नहुषको ब्राह्मणोंने इन्द्रपदसे गिरा दिया और अजगर बना दिया, तब राजाके पदपर ययाति बैठे॥ ३॥ ययातिने अपने चार छोटे भाइयोंको चार दिशाओंमें नियुक्त कर दिया और स्वयं शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाको पत्नीके रूपमें स्वीकार करके पृथ्वीकी रक्षा करने लगा॥ ४॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! भगवान् शुक्राचार्यजी तो ब्राह्मण थे और ययाति क्षत्रिय। फिर ब्राह्मण-कन्या और क्षत्रिय-वरका प्रतिलोम (उलटा) विवाह कैसे हुआ?॥ ५॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन्! दानवराज वृषपर्वाकी एक बड़ी मानिनी कन्या थी। उसका नाम था शर्मिष्ठा। वह एक दिन अपनी गुरुपुत्री देवयानी और हजारों सखियोंके साथ अपनी राजधानीके श्रेष्ठ उद्यानमें टहल रही थी। उस उद्यानमें सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे लदे हुए अनेकों वृक्ष थे। उसमें एक बड़ा ही सुन्दर सरोवर था। सरोवरमें कमल खिले हुए थे और उनपर बड़े ही मधुर स्वरसे भौंरे गुंजार कर रहे थे। उसकी ध्वनिसे सरोवरका तट गूँज रहा था॥ ६-७॥ जलाशयके पास पहुँचनेपर उन सुन्दरी कन्याओंने अपने-अपने वस्त्र तो घाटपर रख दिये और उस तालाबमें प्रवेश करके वे एक-दूसरेपर जल उलीच-उलीचकर क्रीडा करने लगीं॥ ८॥

वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम्।
सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिताः स्त्रियः॥ ९

शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत्।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत्॥ १०

अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम्।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे॥ ११

यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये।
धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाश्च दर्शितः॥ १२

यान् वन्दन्त्युपतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः।
भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः॥ १३

वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पितासुरः।
अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती॥ १४

एवं शपन्तीं शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत।
रुषा श्वसन्त्युरंगीव धर्षिता दष्टदच्छदा॥ १५

आत्मवृत्तमविज्ञाय कत्थसे बहु भिक्षुकि।
किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान् बलिभुजो यथा॥ १६

एवंविधैः सुपरुषैः क्षिप्त्वाऽऽचार्यसुतां सतीम्।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे वास आदाय मन्युना॥ १७

उसी समय उधरसे पार्वतीजीके साथ बैलपर चढ़े हुए भगवान् शंकर आ निकले। उनको देखकर सब-की-सब कन्याएँ सकुचा गयीं और उन्होंने झटपट सरोवरसे निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये॥ ९॥ शीघ्रताके कारण शर्मिष्ठाने अनजानमें देवयानीके वस्त्रको अपना समझकर पहन लिया। इसपर देवयानी क्रोधके मारे आग-बबूला हो गयी। उसने कहा—॥ १०॥ 'अरे, देखो तो सही, इस दासीने कितना अनुचित काम कर डाला! राम-राम, जैसे कुतिया यज्ञका हविष्य उठा ले जाय, वैसे ही इसने मेरे वस्त्र पहन लिये हैं॥ ११॥ जिन ब्राह्मणोंने अपने तपोबलसे इस संसारकी सृष्टि की है, जो परम पुरुष परमात्माके मुखरूप हैं, जो अपने हृदयमें निरन्तर ज्योतिर्मय परमात्माको धारण किये रहते हैं और जिन्होंने सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये वैदिक मार्गका निर्देश किया है, बड़े-बड़े लोकपाल तथा देवराज इन्द्र-ब्रह्मा आदि भी जिनके चरणोंकी वन्दना और सेवा करते हैं—और तो क्या, लक्ष्मीजीके एकमात्र आश्रय परम पावन विश्वात्मा भगवान् भी जिनकी वन्दना और स्तुति करते हैं—उन्हीं ब्राह्मणोंमें हम सबसे श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं। और इसका पिता प्रथम तो असुर है, फिर हमारा शिष्य है। इसपर भी इस दुष्टाने जैसे शूद्र वेद पढ़ ले, उसी तरह हमारे कपड़ोंको पहन लिया है'॥ १२—१४॥ जब देवयानी इस प्रकार गाली देने लगी, तब शर्मिष्ठा क्रोधसे तिलमिला उठी। वह चोट खायी हुई नागिनके समान लंबी साँस लेने लगी। उसने अपने दाँतोंसे होठ दबाकर कहा—॥ १५॥ 'भिखारिन! तू इतना बहक रही है। तुझे कुछ अपनी बातका भी पता है? जैसे कौए और कुत्ते हमारे दरवाजेपर रोटीके टुकड़ोंके लिये प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही क्या तुम भी हमारे घरोंकी ओर नहीं ताकती रहतीं'॥ १६॥ शर्मिष्ठाने इस प्रकार बड़ी कड़ी-कड़ी बात कहकर गुरुपुत्री देवयानीका तिरस्कार किया और क्रोधवश उसके वस्त्र छीनकर उसे कूएँमें ढकेल दिया॥ १७॥

तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन्।
प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह॥ १८

दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः॥ १९

तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा।
राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरंजय॥ २०

हस्तग्राहोऽपरो मा भूद् गृहीतायास्त्वया हि मे।
एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः।
यदिदं कूपलग्नाया भवतो दर्शनं मम॥ २१

न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद् यमशपं पुरा॥ २२

ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः।
मनस्तु तद्गतं बुद्ध्वा प्रतिजग्राह तद्वचः॥ २३

गते राजनि सा वीरे तत्र स्म रुदती पितुः।
न्यवेदयत् ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम्॥ २४

दुर्मना भगवान् काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन्।
स्तुवन् वृत्तिं च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात्॥ २५

शर्मिष्ठाके चले जानेके बाद संयोगवश शिकार खेलते हुए राजा ययाति उधर आ निकले। उन्हें जलकी आवश्यकता थी, इसलिये कूएँमें पड़ी हुई देवयानीको उन्होंने देख लिया॥ १८॥ उस समय वह वस्त्रहीन थी। इसलिये उन्होंने अपना दुपट्टा उसे दे दिया और दया करके अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर उसे बाहर निकाल लिया॥ १९॥ देवयानीने प्रेमभरी वाणीसे वीर ययातिसे कहा—'वीरशिरोमणे राजन्! आज आपने मेरा हाथ पकड़ा है। अब जब आपने मेरा हाथ पकड़ लिया, तब कोई दूसरा इसे न पकड़े। वीरश्रेष्ठ! कूएँमें गिर जानेपर मुझे जो आपका अचानक दर्शन हुआ है, यह भगवान्‌का ही किया हुआ सम्बन्ध समझना चाहिये। इसमें हमलोगोंकी या और किसी मनुष्यकी कोई चेष्टा नहीं है॥ २०-२१॥ वीरश्रेष्ठ! पहले मैंने बृहस्पतिके पुत्र कचको शाप दे दिया था, इसपर उसने भी मुझे शाप दे दिया। इसी कारण ब्राह्मण मेरा पाणिग्रहण नहीं कर सकता'*॥ २२॥ ययातिको शास्त्रप्रतिकूल होनेके कारण यह सम्बन्ध अभीष्ट तो न था; परन्तु उन्होंने देखा कि प्रारब्धने स्वयं ही मुझे यह उपहार दिया है और मेरा मन भी इसकी ओर खिंच रहा है। इसलिये ययातिने उसकी बात मान ली॥ २३॥

वीर राजा ययाति जब चले गये, तब देवयानी रोती-पीटती अपने पिता शुक्राचार्यके पास पहुँची और शर्मिष्ठाने जो कुछ किया था, वह सब उन्हें कह सुनाया॥ २४॥ शर्मिष्ठाके व्यवहारसे भगवान् शुक्राचार्यजीका भी मन उचट गया। वे पुरोहिताईकी निन्दा करने लगे। उन्होंने सोचा कि इसकी अपेक्षा तो खेत या बाजारमेंसे कबूतरकी तरह कुछ बीनकर खा लेना अच्छा है। अतः अपनी कन्या देवयानीको साथ लेकर वे नगरसे निकल पड़े॥ २५॥

---

* बृहस्पतिजीका पुत्र कच शुक्राचार्यजीसे मृतसंजीवनी विद्या पढ़ता था। अध्ययन समाप्त करके जब वह अपने घर जाने लगा तो देवयानीने उसे वरण करना चाहा। परन्तु गुरुपुत्री होनेके कारण कचने उसका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। इसपर देवयानीने उसे शाप दे दिया कि 'तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या निष्फल हो जाय।' कचने भी उसे शाप दिया कि 'कोई भी ब्राह्मण तुम्हें पत्नीरूपमें स्वीकार न करेगा।'

वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम्।
गुरुं प्रसादयन् मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि॥ २६

क्षणार्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः।
कामोऽस्याः क्रियतां राजन् नैनां त्यक्तुमिहोत्सहे॥ २७

तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम्।
पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु॥ २८

स्वानां तत् संकटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम्।
देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत्॥ २९

नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना।
तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित्॥ ३०

विलोक्यौशनसीं राजञ्छर्मिष्ठा सप्रजां क्वचित्।
तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती॥ ३१

राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित्।
स्मरञ्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत॥ ३२

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी॥ ३३

गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता॥ ३४

जब वृषपर्वाको यह मालूम हुआ तो उनके मनमें यह शंका हुई कि गुरुजी कहीं शत्रुओंकी जीत न करा दें, अथवा मुझे शाप न दे दें। अतएव वे उनको प्रसन्न करनेके लिये पीछे-पीछे गये और रास्तेमें उनके चरणोंपर सिरके बल गिर गये॥ २६॥ भगवान् शुक्राचार्यजीका क्रोध तो आधे ही क्षणका था। उन्होंने वृषपर्वासे कहा—'राजन्! मैं अपनी पुत्री देवयानीको नहीं छोड़ सकता। इसलिये इसकी जो इच्छा हो, तुम पूरी कर दो। फिर मुझे लौट चलनेमें कोई आपत्ति न होगी'॥ २७॥ जब वृषपर्वाने 'ठीक है' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली, तब देवयानीने अपने मनकी बात कही। उसने कहा—'पिताजी मुझे जिस किसीको दे दें और मैं जहाँ कहीं जाऊँ, शर्मिष्ठा अपनी सहेलियोंके साथ मेरी सेवाके लिये वहीं चले'॥ २८॥

शर्मिष्ठाने अपने परिवारवालोंका संकट और उनके कार्यका गौरव देखकर देवयानीकी बात स्वीकार कर ली। वह अपनी एक हजार सहेलियोंके साथ दासीके समान उसकी सेवा करने लगी॥ २९॥ शुक्राचार्यजीने देवयानीका विवाह राजा ययातिके साथ कर दिया और शर्मिष्ठाको दासीके रूपमें देकर उनसे कह दिया—'राजन्! इसको अपनी सेजपर कभी न आने देना'॥ ३०॥ परीक्षित्! कुछ ही दिनों बाद देवयानी पुत्रवती हो गयी। उसको पुत्रवती देखकर एक दिन शर्मिष्ठाने भी अपने ऋतुकालमें देवयानीके पति ययातिसे एकान्तमें सहवासकी याचना की॥ ३१॥ शर्मिष्ठाकी पुत्रके लिये प्रार्थना धर्मसंगत है—यह देखकर धर्मज्ञ राजा ययातिने शुक्राचार्यकी बात याद रहनेपर भी यही निश्चय किया कि समयपर प्रारब्धके अनुसार जो होना होगा, हो जायगा॥ ३२॥ देवयानीके दो पुत्र हुए—यदु और तुर्वसु। तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके तीन पुत्र हुए—द्रुह्यु, अनु और पूरु॥ ३३॥ जब मानिनी देवयानीको यह मालूम हुआ कि शर्मिष्ठाको भी मेरे पतिके द्वारा ही गर्भ रहा था, तब वह क्रोधसे बेसुध होकर अपने पिताके घर चली गयी॥ ३४॥

प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन्।
न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः॥ ३५

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम्॥ ३६

ययातिरुवाच

अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति॥ ३७

इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत।
यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः॥ ३८

मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम्।
वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः॥ ३९

यदुरुवाच

नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव।
अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः॥ ४०

तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानुश्च भारत।
प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः॥ ४१

अपृच्छत् तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम्।
न त्वमग्रजवद् वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि॥ ४२

पूरुरुवाच

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विन्दते परम्॥ ४३

कामी ययातिने मीठी-मीठी बातें, अनुनय-विनय और चरण दबाने आदिके द्वारा देवयानीको मनानेकी चेष्टा की, उसके पीछे-पीछे वहाँतक गये भी; परन्तु मना न सके॥ ३५॥ शुक्राचार्यजीने भी क्रोधमें भरकर ययातिसे कहा—'तू अत्यन्त स्त्रीलम्पट, मन्दबुद्धि और झूठा है। जा, तेरे शरीरमें वह बुढ़ापा आ जाय, जो मनुष्योंको कुरूप कर देता है'॥ ३६॥

ययातिने कहा—'ब्रह्मन्! आपकी पुत्रीके साथ विषय-भोग करते-करते अभी मेरी तृप्ति नहीं हुई है। इस शापसे तो आपकी पुत्रीका भी अनिष्ट ही है।' इसपर शुक्राचार्यजीने कहा—'अच्छा जाओ; जो प्रसन्नतासे तुम्हें अपनी जवानी दे दे, उससे अपना बुढ़ापा बदल लो'॥ ३७॥ शुक्राचार्यजीने जब ऐसी व्यवस्था दे दी, तब अपनी राजधानीमें आकर ययातिने अपने बड़े पुत्र यदुसे कहा—'बेटा! तुम अपनी जवानी मुझे दे दो और अपने नानाका दिया हुआ यह बुढ़ापा तुम स्वीकार कर लो। क्योंकि मेरे प्यारे पुत्र! मैं अभी विषयोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ। इसलिये तुम्हारी आयु लेकर मैं कुछ वर्षोंतक और आनन्द भोगूँगा'॥ ३८-३९॥

यदुने कहा—'पिताजी! बिना समयके ही प्राप्त हुआ आपका बुढ़ापा लेकर तो मैं जीना भी नहीं चाहता। क्योंकि कोई भी मनुष्य जबतक विषय-सुखका अनुभव नहीं कर लेता, तबतक उसे उससे वैराग्य नहीं होता'॥ ४०॥ परीक्षित्! इसी प्रकार तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुने भी पिताकी आज्ञा अस्वीकार कर दी। सच पूछो तो उन पुत्रोंको धर्मका तत्त्व मालूम नहीं था। वे इस अनित्य शरीरको ही नित्य माने बैठे थे॥ ४१॥ अब ययातिने अवस्थामें सबसे छोटे किन्तु गुणोंमें बड़े अपने पुत्र पूरुको बुलाकर पूछा और कहा—'बेटा! अपने बड़े भाइयोंके समान तुम्हें तो मेरी बात नहीं टालनी चाहिये'॥ ४२॥

पूरुने कहा—'पिताजी! पिताकी कृपासे मनुष्यको परमपदकी प्राप्ति हो सकती है। वास्तवमें पुत्रका शरीर पिताका ही दिया हुआ है। ऐसी अवस्थामें ऐसा कौन है, जो इस संसारमें पिताके उपकारोंका बदला चुका सके?॥ ४३॥

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः॥ ४४

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः।
सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप॥ ४५

सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत् पालयन् प्रजाः।
यथोपजोषं विषयांजुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः॥ ४६

देवयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः।
प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः॥ ४७

अयजद् यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम्॥ ४८

यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः।
नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः॥ ४९

तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम्।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत् प्रभुम्॥ ५०

एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम्।
विदधानोऽपि नातृप्यत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः॥ ५१

उत्तम पुत्र तो वह है जो पिताके मनकी बात बिना कहे ही कर दे। कहनेपर श्रद्धाके साथ आज्ञापालन करनेवाले पुत्रको मध्यम कहते हैं। जो आज्ञा प्राप्त होनेपर भी अश्रद्धासे उसका पालन करे, वह अधम पुत्र है। और जो किसी प्रकार भी पिताकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसको तो पुत्र कहना ही भूल है। वह तो पिताका मल-मूत्र ही है॥ ४४॥ परीक्षित्! इस प्रकार कहकर पूरुने बड़े आनन्दसे अपने पिताका बुढ़ापा स्वीकार कर लिया। राजा ययाति भी उसकी जवानी लेकर पूर्ववत् विषयोंका सेवन करने लगे॥ ४५॥ वे सातों द्वीपोंके एकच्छत्र सम्राट् थे। पिताके समान भलीभाँति प्रजाका पालन करते थे। उनकी इन्द्रियोंमें पूरी शक्ति थी और वे यथावसर यथाप्राप्त विषयोंका यथेच्छ उपभोग करते थे॥ ४६॥ देवयानी उनकी प्रियतमा पत्नी थी। वह अपने प्रियतम ययातिको अपने मन, वाणी, शरीर और वस्तुओंके द्वारा दिन-दिन और भी प्रसन्न करने लगी; और एकान्तमें सुख देने लगी॥ ४७॥ राजा ययातिने समस्त वेदोंके प्रतिपाद्य सर्वदेवस्वरूप यज्ञपुरुष भगवान् श्रीहरिका बहुत-से बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यजन किया॥ ४८॥ जैसे आकाशमें दल-के-दल बादल दीखते हैं और कभी नहीं भी दीखते, वैसे ही परमात्माके स्वरूपमें यह जगत् स्वप्न, माया और मनोराज्यके समान कल्पित है। यह कभी अनेक नाम और रूपोंके रूपमें प्रतीत होता है और कभी नहीं भी॥ ४९॥

वे परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं। उनका स्वरूप सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। उन्हीं सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् श्रीनारायणको अपने हृदयमें स्थापित करके राजा ययातिने निष्काम भावसे उनका यजन किया॥ ५०॥ इस प्रकार एक हजार वर्षतक उन्होंने अपनी उच्छृंखल इन्द्रियोंके साथ मनको जोड़कर उसके प्रिय विषयोंको भोगा। परन्तु इतनेपर भी चक्रवर्ती सम्राट् ययातिकी भोगोंसे तृप्ति न हो सकी॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

ययातिका गृहत्याग

श्रीशुक उवाच

स इत्थमाचरन् कामान् स्त्रैणोऽपह्नवमात्मनः।
बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत॥ १

शृणु भार्गव्यमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि।
धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः॥ २

बस्त एको वने कश्चिद् विचिन्वन् प्रियमात्मनः।
ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम्॥ ३

तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन्।
व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसी॥ ४

सोत्तीर्य कूपात् सुश्रोणी तमेव चकमे किल।
तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्व्योऽजाः कान्तकामिनीः॥ ५

पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठं मीढ्वांसं याभकोविदम्।
स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्धनः।
रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत॥ ६

तमेव प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया।
विलोक्य कूपसंविग्ना नामृष्यद् बस्तकर्म तत्॥ ७

तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम्।
इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा ययाति इस प्रकार स्त्रीके वशमें होकर विषयोंका उपभोग करते रहे। एक दिन जब अपने अध:पतनपर दृष्टि गयी तब उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और उन्होंने अपनी प्रिय पत्नी देवयानीसे इस गाथाका गान किया॥ १॥ 'भृगुनन्दिनी! तुम यह गाथा सुनो। पृथ्वीमें मेरे ही समान विषयीका यह सत्य इतिहास है। ऐसे ही ग्राम-वासी विषयी पुरुषोंके सम्बन्धमें वनवासी जितेन्द्रिय पुरुष दु:खके साथ विचार किया करते हैं कि इनका कल्याण कैसे होगा?॥ २॥ एक था बकरा। वह वनमें अकेला ही अपनेको प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ ढूँढ़ता हुआ घूम रहा था। उसने देखा कि अपने कर्मवश एक बकरी कूएँमें गिर पड़ी है॥ ३॥ वह बकरा बड़ा कामी था। वह सोचने लगा कि इस बकरीको किस प्रकार कूएँसे निकाला जाय। उसने अपने सींगसे कूएँके पासकी धरती खोद डाली और रास्ता तैयार कर लिया॥ ४॥ जब वह सुन्दरी बकरी कूएँसे निकली तो उसने उस बकरेसे ही प्रेम करना चाहा। वह दाढ़ी-मूँछमण्डित बकरा हृष्ट-पुष्ट, जवान, बकरियोंको सुख देनेवाला, विहारकुशल और बहुत प्यारा था। जब दूसरी बकरियोंने देखा कि कूएँमें गिरी हुई बकरीने उसे अपना प्रेमपात्र चुन लिया है, तब उन्होंने भी उसीको अपना पति बना लिया। वे तो पहलेसे ही पतिकी तलाशमें थीं। उस बकरेके सिरपर कामरूप पिशाच सवार था। वह अकेला ही बहुत-सी बकरियोंके साथ विहार करने लगा और अपनी सब सुध-बुध खो बैठा॥ ५-६॥

जब उसकी कूएँमेंसे निकाली हुई प्रियतमा बकरीने देखा कि मेरा पति तो अपनी दूसरी प्रियतमा बकरीसे विहार कर रहा है तो उसे बकरेकी यह करतूत सहन न हुई॥ ७॥ उसने देखा कि यह तो बड़ा कामी है, इसके प्रेमका कोई भरोसा नहीं है और यह मित्रके रूपमें शत्रुका काम कर रहा है। अत: वह बकरी उस इन्द्रियलोलुप बकरेको छोड़कर बड़े दु:खसे अपने पालनेवालेके पास चली गयी॥ ८॥

सोऽपि चानुगतः स्त्रैणः कृपणस्तां प्रसादितुम्।
कुर्वन्निडविडाकारं नाशक्नोत् पथि संधितुम्॥ ९

तस्यास्तत्र द्विजः कश्चिदजास्वाम्यच्छिनद् रुषा।
लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित्॥ १०

सम्बद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया।
कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति॥ ११

तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः।
आत्मानं नाभिजानामि मोहितस्तव मायया॥ १२

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥ १३

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ १४

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमंगलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥ १५

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥ १६

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ १७

वह दीन कामी बकरा उसे मनानेके लिये 'में-में' करता हुआ उसके पीछे-पीछे चला। परन्तु उसे मार्गमें मना न सका॥ ९॥ उस बकरीका स्वामी एक ब्राह्मण था। उसने क्रोधमें आकर बकरेके लटकते हुए अण्डकोषको काट दिया। परन्तु फिर उस बकरीका ही भला करनेके लिये फिरसे उसे जोड़ भी दिया। उसे इस प्रकारके बहुत-से उपाय मालूम थे॥ १०॥ प्रिये! इस प्रकार अण्डकोष जुड़ जानेपर वह बकरा फिर कूएँसे निकली हुई बकरीके साथ बहुत दिनोंतक विषयभोग करता रहा, परन्तु आजतक उसे सन्तोष न हुआ॥ ११॥ सुन्दरी! मेरी भी यही दशा है। तुम्हारे प्रेमपाशमें बँधकर मैं भी अत्यन्त दीन हो गया। तुम्हारी मायासे मोहित होकर मैं अपने-आपको भी भूल गया हूँ॥ १२॥

'प्रिये! पृथ्वीमें जितने भी धान्य (चावल, जौ आदि), सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सब-के-सब मिलकर भी उस पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते जो कामनाओंके प्रहारसे जर्जर हो रहा है॥ १३॥ विषयोंके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। बल्कि जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगवासनाएँ भी भोगोंसे प्रबल हो जाती हैं॥ १४॥ जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ राग-द्वेषका भाव नहीं रखता तब वह समदर्शी हो जाता है, तथा उसके लिये सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं॥ १५॥ विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्गम स्थान है। मन्दबुद्धि लोग बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है, पर तृष्णा नित्य नवीन ही होती जाती है। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना) का त्याग कर देना चाहिये॥ १६॥ और तो क्या—अपनी मा, बहिन और कन्याके साथ भी अकेले एक आसनपर सटकर नहीं बैठना चाहिये। इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि वे बड़े-बड़े विद्वानोंको भी विचलित कर देती हैं॥ १७॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं[1] तृष्णा तेषूपजायते॥ १८

तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्द्वो निरहंकारश्चरिष्यामि मृगैः सह॥ १९

दृष्टं श्रुतमसद्[2] बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्॥ २०

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पूरवे वयः।
दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः॥ २१

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम्।
प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्र उदीच्यामनुमीश्वरम्॥ २२

भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम्।
अभिषिच्याग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ॥ २३

आसेवितं वर्षपूगान् षड्वर्गं विषयेषु सः।
क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः॥ २४

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसंग
आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिंगः।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे
लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः॥ २५

विषयोंका बार-बार सेवन करते-करते मेरे एक हजार वर्ष पूरे हो गये, फिर भी क्षण-प्रति-क्षण उन भोगोंकी लालसा बढ़ती ही जा रही है॥ १८॥ इसलिये मैं अब भोगोंकी वासना—तृष्णाका परित्याग करके अपना अन्तःकरण परमात्माके प्रति समर्पित कर दूँगा और शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदिके भावोंसे ऊपर उठकर अहंकारसे मुक्त हो हरिनोंके साथ वनमें विचरूँगा॥ १९॥ लोक-परलोक दोनोंके ही भोग असत् हैं, ऐसा समझकर न तो उनका चिन्तन करना चाहिये और न भोग ही। समझना चाहिये कि उनके चिन्तनसे ही जन्म-मृत्युरूप संसारकी प्राप्ति होती है और उनके भोगसे तो आत्मनाश ही हो जाता है। वास्तवमें इनके रहस्यको जानकर इनसे अलग रहनेवाला ही आत्मज्ञानी है'॥ २०॥

परीक्षित्! ययातिने अपनी पत्नीसे इस प्रकार कहकर पूरुकी जवानी उसे लौटा दी और उससे अपना बुढ़ापा ले लिया। यह इसलिये कि अब उनके चित्तमें विषयोंकी वासना नहीं रह गयी थी॥ २१॥ इसके बाद उन्होंने दक्षिण-पूर्व दिशामें द्रुह्यु, दक्षिणमें यदु, पश्चिममें तुर्वसु और उत्तरमें अनुको राज्य दे दिया॥ २२॥ सारे भूमण्डलकी समस्त सम्पत्तियोंके योग्यतम पात्र पूरुको अपने राज्यपर अभिषिक्त करके तथा बड़े भाइयोंको उसके अधीन बनाकर वे वनमें चले गये॥ २३॥ यद्यपि राजा ययातिने बहुत वर्षोंतक इन्द्रियोंसे विषयोंका सुख भोगा था—परन्तु जैसे पाँख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देता है, वैसे ही उन्होंने एक क्षणमें ही सब कुछ छोड़ दिया॥ २४॥ वनमें जाकर राजा ययातिने समस्त आसक्तियोंसे छुट्टी पा ली। आत्म-साक्षात्कारके द्वारा उनका त्रिगुणमय लिंगशरीर नष्ट हो गया। उन्होंने माया-मलसे रहित परब्रह्म परमात्मा वासुदेवमें मिलकर वह भागवती गति प्राप्त की, जो बड़े-बड़े भगवान्के प्रेमी संतोंको प्राप्त होती है॥ २५॥

१. नुदिवसं। २. सद्विद्वान्।

श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः।
स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात् परिहासमिवेरितम्॥ २६

सा संनिवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम्।
विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः॥ २७

सर्वत्र संगमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी।
कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिंगमात्मनः॥ २८

नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः॥ २९

जब देवयानीने वह गाथा सुनी, तो उसने समझा कि ये मुझे निवृत्तिमार्गके लिये प्रोत्साहित कर रहे हैं। क्योंकि स्त्री-पुरुषमें परस्पर प्रेमके कारण विरह होनेपर विकलता होती है, यह सोचकर ही इन्होंने यह बात हँसी-हँसीमें कही है॥ २६॥ स्वजन-सम्बन्धियोंका—जो ईश्वरके अधीन है—एक स्थानपर इकट्ठा हो जाना वैसा ही है, जैसा प्याऊपर पथिकोंका। यह सब भगवान्‌की मायाका खेल और स्वप्नके सरीखा ही है। ऐसा समझकर देवयानीने सब पदार्थोंकी आसक्ति त्याग दी और अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय करके बन्धनके हेतु लिंगशरीरका परित्याग कर दिया—वह भगवान्‌को प्राप्त हो गयी॥ २७-२८॥ उसने भगवान्‌को नमस्कार करके कहा—'समस्त जगत्‌के रचयिता, सर्वान्तर्यामी, सबके आश्रयस्वरूप सर्वशक्तिमान् भगवान् वासुदेवको नमस्कार है। जो परमशान्त और अनन्त तत्त्व है, उसे मैं नमस्कार करती हूँ'॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

अथ विंशोऽध्यायः

पूरुके वंश, राजा दुष्यन्त और भरतके चरित्रका वर्णन

श्रीशुक उवाच

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे॥ १
जनमेजयो ह्यभूत् पूरोः प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः।
प्रवीरोऽथ नमस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत्॥ २
तस्य सुद्युरभूत् पुत्रस्तस्माद् बहुगवस्ततः।
संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्तत्सुतः स्मृतः॥ ३
ऋतेयुस्तस्य कुक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः।
जलेयुः सन्ततेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः॥ ४
दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः स्मृतः।
घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब मैं राजा पूरुके वंशका वर्णन करूँगा। इसी वंशमें तुम्हारा जन्म हुआ है। इसी वंशके वंशधर बहुत-से राजर्षि और ब्रह्मर्षि भी हुए हैं॥ १॥ पूरुका पुत्र हुआ जनमेजय। जनमेजयका प्रचिन्वान्, प्रचिन्वान्‌का प्रवीर, प्रवीरका नमस्यु और नमस्युका पुत्र हुआ चारुपद॥ २॥ चारुपदसे सुद्यु, सुद्युसे बहुगव, बहुगवसे संयाति, संयातिसे अहंयाति और अहंयातिसे रौद्राश्व हुआ॥ ३॥

परीक्षित्! जैसे विश्वात्मा प्रधान प्राणसे दस इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे ही घृताची अप्सराके गर्भसे रौद्राश्वके दस पुत्र हुए—ऋतेयु, कुक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्ततेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु और सबसे छोटा वनेयु॥ ४-५॥

ऋतेयो रन्तिभारोऽभूत् त्रयस्तस्यात्मजा नृप।
सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः॥ ६

तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः।
पुत्रोऽभूत् सुमते रैभ्यो दुष्यन्तस्तत्सुतो मतः॥ ७

दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः।
तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव॥ ८

विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम्।
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः॥ ९

तद्दर्शनप्रमुदितः संनिवृत्तपरिश्रमः।
पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा॥ १०

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयंगमे।
किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्या निर्जने वने॥ ११

व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे।
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित्॥ १२

शकुन्तलोवाच

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने।
वेदैतद् भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते॥ १३

आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः।
भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते॥ १४

दुष्यन्त उवाच

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये।
स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम्॥१५

परीक्षित्! उनमेंसे ऋतेयुका पुत्र रन्तिभार हुआ और रन्तिभारके तीन पुत्र हुए—सुमति, ध्रुव, और अप्रतिरथ। अप्रतिरथके पुत्रका नाम था कण्व॥ ६॥ कण्वका पुत्र मेधातिथि हुआ। इसी मेधातिथिसे प्रस्कण्व आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए। सुमतिका पुत्र रैभ्य हुआ, इसी रैभ्यका पुत्र दुष्यन्त था॥ ७॥

एक बार दुष्यन्त वनमें अपने कुछ सैनिकोंके साथ शिकार खेलनेके लिये गये हुए थे। उधर ही वे कण्व मुनिके आश्रमपर जा पहुँचे। उस आश्रमपर देवमायाके समान मनोहर एक स्त्री बैठी हुई थी। उसकी लक्ष्मीके समान अंगकान्तिसे वह आश्रम जग-मगा रहा था। उस सुन्दरीको देखते ही दुष्यन्त मोहित हो गये और उससे बातचीत करने लगे॥ ८-९॥ उसको देखनेसे उनको बड़ा आनन्द मिला। उनके मनमें कामवासना जाग्रत् हो गयी। थकावट दूर करनेके बाद उन्होंने बड़ी मधुर वाणीसे मुसकराते हुए उससे पूछा— ॥ १०॥ 'कमलदलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली देवि! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो? मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली सुन्दरी! तुम इस निर्जन वनमें रहकर क्या करना चाहती हो?॥ ११॥ सुन्दरी! मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्या हो। क्योंकि पुरुवंशियोंका चित्त कभी अधर्मकी ओर नहीं झुकता'॥ १२॥

शकुन्तलाने कहा—'आपका कहना सत्य है। मैं विश्वामित्रजीकी पुत्री हूँ। मेनका अप्सराने मुझे वनमें छोड़ दिया था। इस बातके साक्षी हैं मेरा पालन-पोषण करनेवाले महर्षि कण्व। वीरशिरोमणे! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?॥ १३॥ कमलनयन! आप यहाँ बैठिये और हम जो कुछ आपका स्वागत-सत्कार करें, उसे स्वीकार कीजिये। आश्रममें कुछ नीवार (तिन्नीका भात) है। आपकी इच्छा हो तो भोजन कीजिये और जँचे तो यहीं ठहरिये'॥ १४॥

दुष्यन्तने कहा—'सुन्दरी! तुम कुशिकवंशमें उत्पन्न हुई हो, इसलिये इस प्रकारका आतिथ्यसत्कार तुम्हारे योग्य ही है। क्योंकि राजकन्याएँ स्वयं ही अपने योग्य पतिको वरण कर लिया करती हैं'॥ १५॥

ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम्।
गान्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित्॥ १६

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे।
श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम्॥ १७

कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः।
बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः॥ १८

तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा।
हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत्॥ १९

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी॥ २०

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम्॥ २१

रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात्।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला॥ २२

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः।
महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि॥ २३

चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः।
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड् विभुः॥ २४

पंचपंचाशता मेध्यैर्गंगायामनु वाजिभिः।
मामतेयं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः॥ २५

शकुन्तलाकी स्वीकृति मिल जानेपर देश, काल और शास्त्रकी आज्ञाको जाननेवाले राजा दुष्यन्तने गान्धर्व-विधिसे धर्मानुसार उसके साथ विवाह कर लिया॥ १६॥ राजर्षि दुष्यन्तका वीर्य अमोघ था। रात्रिमें वहाँ रहकर दुष्यन्तने शकुन्तलाका सहवास किया और दूसरे दिन सबेरे वे अपनी राजधानीमें चले गये। समय आनेपर शकुन्तलाको एक पुत्र उत्पन्न हुआ॥ १७॥

महर्षि कण्वने वनमें ही राजकुमारके जातकर्म आदि संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये। वह बालक बचपनमें ही इतना बलवान् था कि बड़े-बड़े सिंहोंको बलपूर्वक बाँध लेता और उनसे खेला करता॥ १८॥

वह बालक भगवान्का अंशांशावतार था। उसका बल-विक्रम अपरिमित था। उसे अपने साथ लेकर रमणीरत्न शकुन्तला अपने पतिके पास गयी॥ १९॥ जब राजा दुष्यन्तने अपनी निर्दोष पत्नी और पुत्रको स्वीकार नहीं किया, तब जिसका वक्ता नहीं दीख रहा था और जिसे सब लोगोंने सुना, ऐसी आकाशवाणी हुई॥ २०॥ 'पुत्र उत्पन्न करनेमें माता तो केवल धौंकनीके समान है। वास्तवमें पुत्र पिताका ही है। क्योंकि पिता ही पुत्रके रूपमें उत्पन्न होता है। इसलिये दुष्यन्त! तुम शकुन्तलाका तिरस्कार न करो, अपने पुत्रका भरण-पोषण करो॥ २१॥ राजन्! वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र अपने पिताको नरकसे उबार लेता है। शकुन्तलाका कहना बिलकुल ठीक है। इस गर्भको धारण करानेवाले तुम्हीं हो'॥ २२॥

परीक्षित्! पिता दुष्यन्तकी मृत्यु हो जानेके बाद वह परम यशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। उसका जन्म भगवान्के अंशसे हुआ था। आज भी पृथ्वीपर उसकी महिमाका गान किया जाता है॥ २३॥ उसके दाहिने हाथमें चक्रका चिह्न था और पैरोंमें कमल-कोषका। महाभिषेककी विधिसे राजाधिराजके पद-पर उसका अभिषेक हुआ। भरत बड़ा शक्तिशाली राजा था॥ २४॥ भरतने ममताके पुत्र दीर्घतमा मुनिको पुरोहित बनाकर गंगातटपर गंगासागरसे लेकर गंगोत्री-पर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये। और इसी

अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद् वसु।
भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
सहस्रं बद्वशो यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे॥ २६

त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान्।
दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ॥ २७

मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन परीवृतान्।
अदात् कर्मणि मष्णारे नियुतानि चतुर्दश॥ २८

भरतस्य महत् कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा॥ २९

किरातहूणान् यवनानन्ध्रान् कंकान् खशाञ्छकान्।
अब्रह्मण्यान् नृपांश्चाहन् म्लेच्छान् दिग्विजयेऽखिलान्॥ ३०

जित्वा पुरासुरा देवान् ये रसौकांसि भेजिरे।
देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत्॥ ३१

सर्वकामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी।
समास्त्रिणवसाहस्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत्॥ ३२

स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम्।
चक्रं चास्खलितं प्राणान् मृषेत्युपरराम ह॥ ३३

प्रकार यमुनातटपर भी प्रयागसे लेकर यमुनोत्रीतक उन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये। इन सभी यज्ञोंमें उन्होंने अपार धनराशिका दान किया था। दुष्यन्तकुमार भरतका यज्ञीय अग्निस्थापन बड़े ही उत्तम गुणवाले स्थानमें किया गया था। उस स्थानमें भरतने इतनी गौएँ दान दी थीं कि एक हजार ब्राह्मणोंमें प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक बद्व (१३०८४) गौएँ मिली थीं॥ २५-२६॥ इस प्रकार राजा भरतने उन यज्ञोंमें एक सौ तैंतीस (५५+७८) घोड़े बाँधकर (१३३ यज्ञ करके) समस्त नरपतियोंको असीम आश्चर्यमें डाल दिया। इन यज्ञोंके द्वारा इस लोकमें तो राजा भरतको परम यश मिला ही, अन्तमें उन्होंने मायापर भी विजय प्राप्त की और देवताओंके परमगुरु भगवान् श्रीहरिको प्राप्त कर लिया॥ २७॥ यज्ञमें एक कर्म होता है 'मष्णार'। उसमें भरतने सुवर्णसे विभूषित, श्वेत दाँतोंवाले तथा काले रंगके चौदह लाख हाथी दान किये॥ २८॥ भरतने जो महान् कर्म किया, वह न तो पहले कोई राजा कर सका था और न तो आगे ही कोई कर सकेगा। क्या कभी कोई हाथसे स्वर्गको छू सकता है?॥ २९॥ भरतने दिग्विजयके समय किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कंक, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मणद्रोही राजाओंको मार डाला॥ ३०॥ पहले युगमें बलवान् असुरोंने देवताओंपर विजय प्राप्त कर ली थी और वे रसातलमें रहने लगे थे। उस समय वे बहुत-सी देवांगनाओंको रसातलमें ले गये थे। राजा भरतने फिरसे उन्हें छुड़ा दिया॥ ३१॥ उनके राज्यमें पृथ्वी और आकाश प्रजाकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण कर देते थे। भरतने सत्ताईस हजार वर्षतक समस्त दिशाओंका एकछत्र शासन किया॥ ३२॥ अन्तमें सार्वभौम सम्राट् भरतने यही निश्चय किया कि लोकपालोंको भी चकित कर देनेवाला ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति, अखण्ड शासन और यह जीवन भी मिथ्या ही है। यह निश्चय करके वे संसारसे उदासीन हो गये॥ ३३॥

तस्यासन् नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसम्मताः ।
जघ्नुस्त्यागभयात् पुत्रान् नानुरूपा इतीरिते ॥ ३४

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम् ।
मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥ ३५

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः ।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत् ॥ ३६

तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशंकिताम् ।
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥ ३७

मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते ।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥ ३८

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम् ।
व्यसृजन् मरुतोऽबिभ्रन् दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥ ३९

परीक्षित्! विदर्भराजकी तीन कन्याएँ सम्राट् भरतकी पत्नियाँ थीं। वे उनका बड़ा आदर भी करते थे। परन्तु जब भरतने उनसे कह दिया कि तुम्हारे पुत्र मेरे अनुरूप नहीं हैं, तब वे डर गयीं कि कहीं सम्राट् हमें त्याग न दें। इसलिये उन्होंने अपने बच्चोंको मार डाला॥ ३४॥ इस प्रकार सम्राट् भरतका वंश वितथ अर्थात् विच्छिन्न होने लगा। तब उन्होंने सन्तानके लिये 'मरुत्स्तोम' नामका यज्ञ किया। इससे मरुद्-गणोंने प्रसन्न होकर भरतको भरद्वाज नामका पुत्र दिया॥ ३५॥ भरद्वाजकी उत्पत्तिका प्रसंग यह है कि एक बार बृहस्पतिजीने अपने भाई उतथ्यकी गर्भवती पत्नीसे मैथुन करना चाहा। उस समय गर्भमें जो बालक (दीर्घतमा) था, उसने मना किया। किन्तु बृहस्पतिजीने उसकी बातपर ध्यान न दिया और उसे 'तू अंधा हो जा' यह शाप देकर बलपूर्वक गर्भाधान कर दिया॥ ३६॥ उतथ्यकी पत्नी ममता इस बातसे डर गयी कि कहीं मेरे पति मेरा त्याग न कर दें। इसलिये उसने बृहस्पतिजीके द्वारा होनेवाले लड़केको त्याग देना चाहा। उस समय देवताओंने गर्भस्थ शिशुके नामका निर्वचन करते हुए यह कहा॥ ३७॥ बृहस्पतिजी कहते हैं कि 'अरी मूढे! यह मेरा औरस और मेरे भाईका क्षेत्रज—इस प्रकार दोनोंका पुत्र (द्वाज) है; इसलिये तू डर मत, इसका भरण-पोषण कर (भर)।' इसपर ममताने कहा—'बृहस्पते! यह मेरे पतिका नहीं, हम दोनोंका ही पुत्र है; इसलिये तुम्हीं इसका भरण-पोषण करो।' इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए माता-पिता दोनों ही इसको छोड़कर चले गये। इसलिये इस लड़केका नाम 'भरद्वाज' हुआ॥ ३८॥ देवताओंके द्वारा नामका ऐसा निर्वचन होनेपर भी ममताने यही समझा कि मेरा यह पुत्र वितथ अर्थात् अन्यायसे पैदा हुआ है। अत: उसने उस बच्चेको छोड़ दिया। अब मरुद्गणोंने उसका पालन किया और जब राजा भरतका वंश नष्ट होने लगा, तब उसे लाकर उनको दे दिया। यही वितथ (भरद्वाज) भरतका दत्तक पुत्र हुआ॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे विंशोऽध्याय: ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

भरतवंशका वर्णन, राजा रन्तिदेवकी कथा

श्रीशुक उवाच

वितथस्य सुतो मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः।
महावीर्यो नरो गर्गः संकृतिस्तु नरात्मजः॥ १

गुरुश्च रन्तिदेवश्च संकृतेः पाण्डुनन्दन।
रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते॥ २

वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः।
निष्किंचनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः॥ ३

व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल।
घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम्॥ ४

कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत्॥ ५

तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः।
हरिं सर्वत्र संपश्यन् स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः॥ ६

अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपते।
विभक्तं व्यभजत् तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन्॥ ७

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः।
राजन् मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वितथ अथवा भरद्वाजका पुत्र था मन्यु। मन्युके पाँच पुत्र हुए—बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग। नरका पुत्र था संकृति॥ १॥ संकृतिके दो पुत्र हुए—गुरु और रन्तिदेव। परीक्षित्! रन्तिदेवका निर्मल यश इस लोक और परलोकमें सब जगह गाया जाता है॥ २॥ रन्तिदेव आकाशके समान बिना उद्योगके ही दैववश प्राप्त वस्तुका उपभोग करते और दिनोंदिन उनकी पूँजी घटती जाती। जो कुछ मिल जाता उसे भी दे डालते और स्वयं भूखे रहते। वे संग्रह-परिग्रह, ममतासे रहित तथा बड़े धैर्यशाली थे और अपने कुटुम्बके साथ दुःख भोग रहे थे॥ ३॥ एक बार तो लगातार अड़तालीस दिन ऐसे बीत गये कि उन्हें पानीतक पीनेको न मिला। उनचासवें दिन प्रातःकाल ही उन्हें कुछ घी, खीर, हलवा और जल मिला॥ ४॥ उनका परिवार बड़े संकटमें था। भूख और प्यासके मारे वे लोग काँप रहे थे। परन्तु ज्यों ही उन लोगोंने भोजन करना चाहा, त्यों ही एक ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ गया॥ ५॥ रन्तिदेव सबमें श्रीभगवान्‌के ही दर्शन करते थे। अतएव उन्होंने बड़ी श्रद्धासे आदरपूर्वक उसी अन्नमेंसे ब्राह्मणको भोजन कराया। ब्राह्मणदेवता भोजन करके चले गये॥ ६॥

परीक्षित्! अब बचे हुए अन्नको रन्तिदेवने आपसमें बाँट लिया और भोजन करना चाहा। उसी समय एक दूसरा शूद्र-अतिथि आ गया। रन्तिदेवने भगवान्‌का स्मरण करते हुए उस बचे हुए अन्नमेंसे भी कुछ भाग शूद्रके रूपमें आये अतिथिको खिला दिया॥ ७॥

जब शूद्र खा-पीकर चला गया, तब कुत्तोंको लिये हुए एक और अतिथि आया। उसने कहा—'राजन्! मैं और मेरे ये कुत्ते बहुत भूखे हैं। हमें कुछ

स आदृत्यावशिष्टं यद् बहुमानपुरस्कृतम्।
तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः॥ ९

पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम्।
पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे॥ १०

तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम्।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः॥ ११

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥ १२

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥ १३

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया।
पुल्कसायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः॥ १४

तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम्।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः॥ १५

स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसंगो विगतस्पृहः।
वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम्॥ १६

खानेको दीजिये'॥ ८॥ रन्तिदेवने अत्यन्त आदरभावसे, जो कुछ बच रहा था, सब-का-सब उसे दे दिया और भगवन्मय होकर उन्होंने कुत्ते और कुत्तोंके स्वामीके रूपमें आये हुए भगवान्‌को नमस्कार किया॥ ९॥ अब केवल जल ही बच रहा था और वह भी केवल एक मनुष्यके पीनेभरका था। वे उसे आपसमें बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल और आ पहुँचा। उसने कहा—'मैं अत्यन्त नीच हूँ। मुझे जल पिला दीजिये'॥ १०॥ चाण्डालकी वह करुणापूर्ण वाणी जिसके उच्चारणमें भी वह अत्यन्त कष्ट पा रहा था, सुनकर रन्तिदेव दयासे अत्यन्त सन्तप्त हो उठे और ये अमृतमय वचन कहने लगे॥ ११॥ 'मैं भगवान्‌से आठों सिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता। और तो क्या, मैं मोक्षकी भी कामना नहीं करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे और किसी भी प्राणीको दुःख न हो॥ १२॥ यह दीन प्राणी जल पी करके जीना चाहता था। जल दे देनेसे इसके जीवनकी रक्षा हो गयी। अब मेरी भूख-प्यासकी पीड़ा, शरीरकी शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह—ये सब-के-सब जाते रहे। मैं सुखी हो गया'॥ १३॥ इस प्रकार कहकर रन्तिदेवने वह बचा हुआ जल भी उस चाण्डालको दे दिया। यद्यपि जलके बिना वे स्वयं मर रहे थे, फिर भी स्वभावसे ही उनका हृदय इतना करुणापूर्ण था कि वे अपनेको रोक न सके। उनके धैर्यकी भी कोई सीमा है?॥ १४॥ परीक्षित्! ये अतिथि वास्तवमें भगवान्‌की रची हुई मायाके ही विभिन्न रूप थे। परीक्षा पूरी हो जानेपर अपने भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले त्रिभुवनस्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों उनके सामने प्रकट हो गये॥ १५॥ रन्तिदेवने उनके चरणोंमें नमस्कार किया। उन्हें कुछ लेना तो था नहीं। भगवान्‌की कृपासे वे आसक्ति और स्पृहासे भी रहित हो गये तथा परम प्रेममय भक्तिभावसे अपने मनको भगवान् वासुदेवमें तन्मय कर दिया। कुछ भी माँगा नहीं॥ १६॥

ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः।
माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत॥ १७

तत्प्रसंगानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः।
अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः॥ १८

गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत।
दुरितक्षयो महावीर्यात् तस्य त्रय्यारुणिः कविः॥ १९

पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः।
बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम्॥ २०

अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः।
अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः॥ २१

अजमीढाद् बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः।
बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः॥ २२

तत्सुतो विशदस्तस्य सेनजित् समजायत।
रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः॥ २३

रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदात्मजः।
पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत्॥ २४

स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्।
स योगी गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात् सुतम्॥ २५

जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह।
उदक्स्वनस्ततस्तस्माद् भल्लादो बार्हदीषवाः॥ २६

परीक्षित्! उन्हें भगवान्के सिवा और किसी भी वस्तुकी इच्छा तो थी नहीं, उन्होंने अपने मनको पूर्णरूपसे भगवान्में लगा दिया। इसलिये त्रिगुणमयी माया जागनेपर स्वप्न-दृश्यके समान नष्ट हो गयी॥ १७॥ रन्तिदेवके अनुयायी भी उनके संगके प्रभावसे योगी हो गये और सब भगवान्के ही आश्रित परम भक्त बन गये॥ १८॥

मन्युपुत्र गर्गसे शिनि और शिनिसे गार्ग्यका जन्म हुआ। यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय था, फिर भी उससे ब्राह्मणवंश चला। महावीर्यका पुत्र था दुरितक्षय। दुरितक्षयके तीन पुत्र हुए—त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि। ये तीनों ब्राह्मण हो गये। बृहत्क्षत्रका पुत्र हुआ हस्ती, उसीने हस्तिनापुर बसाया था॥ १९-२०॥ हस्तीके तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। अजमीढके पुत्रोंमें प्रियमेध आदि ब्राह्मण हुए॥ २१॥ इन्हीं अजमीढके एक पुत्रका नाम था बृहदिषु। बृहदिषुका पुत्र हुआ बृहद्धनु, बृहद्धनुका बृहत्काय और बृहत्कायका जयद्रथ हुआ॥ २२॥ जयद्रथका पुत्र हुआ विशद और विशदका सेनजित्। सेनजित्के चार पुत्र हुए—रुचिराश्व, दृढहनु, काश्य और वत्स॥ २३॥ रुचिराश्वका पुत्र पार था और पारका पृथुसेन। पारके दूसरे पुत्रका नाम नीप था। उसके सौ पुत्र थे॥ २४॥ इसी नीपने (छाया)* शुककी कन्या कृत्वीसे विवाह किया था। उससे ब्रह्मदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ब्रह्मदत्त बड़ा योगी था। उसने अपनी पत्नी सरस्वतीके गर्भसे विष्वक्सेन नामक पुत्र उत्पन्न किया॥ २५॥ इसी विष्वक्सेनने जैगीषव्यके उपदेशसे योगशास्त्रकी रचना की। विष्वक्सेनका पुत्र था उदक्स्वन और उदक्स्वनका भल्लाद। ये सब बृहदिषुके वंशज हुए॥ २६॥

* श्रीशुकदेवजी असंग थे पर वे वन जाते समय एक छाया शुक रचकर छोड़ गये थे। उस छाया शुकने ही गृहस्थोचित व्यवहार किये थे।

यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः।
नाम्ना सत्यधृतिर्यस्य दृढनेमिः सुपार्श्वकृत्॥ २७

सुपार्श्वात् सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः।
कृतिर्हिरण्यनाभाद् यो योगं प्राप्य जगौ स्म षट्॥ २८

संहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युग्रायुधस्ततः।
तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुंजयः॥ २९

ततो बहुरथो नाम पुरुमीढोऽप्रजोऽभवत्।
नलिन्यामजमीढस्य नीलः शान्तिः सुतस्ततः॥ ३०

शान्तेः सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत्।
भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पंचासन्मुद्गलादयः॥ ३१

यवीनरो बृहदिषुः काम्पिल्यः संजयः सुताः।
भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पंचानां रक्षणाय हि॥ ३२

विषयाणामलमिमे इति पंचालसंज्ञिताः।
मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम्॥ ३३

मिथुनं मुद्गलाद् भार्म्याद् दिवोदासः पुमानभूत्।
अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात्॥ ३४

तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः।
शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल॥ ३५

शरस्तम्बेऽपतद् रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम्।
तद् दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन्।
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी॥ ३६

द्विमीढका पुत्र था यवीनर, यवीनरका कृतिमान्, कृतिमान्का सत्यधृति, सत्यधृतिका दृढनेमि और दृढ-नेमिका पुत्र सुपार्श्व हुआ॥ २७॥ सुपार्श्वसे सुमति, सुमतिसे सन्नतिमान् और सन्नतिमान्से कृतिका जन्म हुआ। उसने हिरण्यनाभसे योगविद्या प्राप्त की थी और 'प्राच्यसाम' नामक ऋचाओंकी छः संहिताएँ कही थीं। कृतिका पुत्र नीप था, नीपका उग्रायुध, उग्रायुधका क्षेम्य, क्षेम्यका सुवीर और सुवीरका पुत्र था रिपुंजय॥ २८-२९॥ रिपुंजयका पुत्र था बहुरथ। द्विमीढके भाई पुरुमीढको कोई सन्तान न हुई। अजमीढकी दूसरी पत्नीका नाम था नलिनी। उसके गर्भसे नीलका जन्म हुआ। नीलका शान्ति, शान्तिका सुशान्ति, सुशान्तिका पुरुज, पुरुजका अर्क और अर्कका पुत्र हुआ भर्म्याश्व। भर्म्याश्वके पाँच पुत्र थे—मुद्गल, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य और संजय। भर्म्याश्वने कहा—'ये मेरे पुत्र पाँच देशोंका शासन करनेमें समर्थ (पंच अलम्) हैं।' इसलिये ये 'पंचाल' नामसे प्रसिद्ध हुए। इनमें मुद्गलसे 'मौद्गल्य' नामक ब्राह्मणगोत्रकी प्रवृत्ति हुई॥ ३०—३३॥

भर्म्याश्वके पुत्र मुद्गलसे यमज (जुड़वाँ) सन्तान हुई। उनमें पुत्रका नाम था दिवोदास और कन्याका अहल्या। अहल्याका विवाह महर्षि गौतमसे हुआ। गौतमके पुत्र हुए शतानन्द॥ ३४॥ शतानन्दका पुत्र सत्यधृति था, वह धनुर्विद्यामें अत्यन्त निपुण था। सत्यधृतिके पुत्रका नाम था शरद्वान्। एक दिन उर्वशीको देखनेसे शरद्वान्का वीर्य मूँजके झाड़पर गिर पड़ा, उससे एक शुभ लक्षणवाले पुत्र और पुत्रीका जन्म हुआ। महाराज शन्तनुकी उसपर दृष्टि पड़ गयी, क्योंकि वे उधर शिकार खेलनेके लिये गये हुए थे। उन्होंने दयावश दोनोंको उठा लिया। उनमें जो पुत्र था, उसका नाम कृपाचार्य हुआ और जो कन्या थी, उसका नाम हुआ कृपी। यही कृपी द्रोणाचार्यकी पत्नी हुई॥ ३५-३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

पांचाल, कौरव और मगधदेशीय राजाओंके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

मित्रेयुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप।
सुदासः सहदेवोऽथ सोमको जन्तुजन्मकृत्॥ १
तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान् पृषतः सुतः।
द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः॥ २
धृष्टद्युम्नाद् धृष्टकेतुर्भार्म्याः पंचालका इमे।
योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः॥ ३
तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः।
परीक्षित् सुधनुर्जह्नुर्निषधाश्वः कुरोः सुताः॥ ४
सुहोत्रोऽभूत् सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती।
वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः॥ ५
कुशाम्बमत्स्यप्रत्यग्रचेदिपाद्याश्च चेदिपाः।
बृहद्रथात् कुशाग्रोऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः॥ ६
जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः।
अन्यस्यां चापि भार्यायां शकले द्वे बृहद्रथात्॥ ७
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते।
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत् सुतः॥ ८
ततश्च सहदेवोऽभूत् सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवाः।
परीक्षिदनपत्योऽभूत् सुरथो नाम जाह्नवः॥ ९
ततो विदूरथस्तस्मात् सार्वभौमस्ततोऽभवत्।
जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुतो ह्यभूत्॥ १०
ततश्च क्रोधनस्तस्माद् देवातिथिरमुष्य च।
ऋष्यस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चात्मजः॥ ११

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! दिवोदासका पुत्र था मित्रेयु। मित्रेयुके चार पुत्र हुए—च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक। सोमकके सौ पुत्र थे, उनमें सबसे बड़ा जन्तु और सबसे छोटा पृषत था। पृषतके पुत्र द्रुपद थे, द्रुपदके द्रौपदी नामकी पुत्री और धृष्टद्युम्न आदि पुत्र हुए॥ १-२॥ धृष्टद्युम्नका पुत्र था धृष्टकेतु। भर्म्याश्वके वंशमें उत्पन्न हुए ये नरपति 'पांचाल' कहलाये। अजमीढका दूसरा पुत्र था ऋक्ष। उनके पुत्र हुए संवरण॥ ३॥ संवरणका विवाह सूर्यकी कन्या तपतीसे हुआ। उन्हींके गर्भसे कुरुक्षेत्रके स्वामी कुरुका जन्म हुआ। कुरुके चार पुत्र हुए—परीक्षित्, सुधन्वा, जह्नु और निषधाश्व॥ ४॥

सुधन्वासे सुहोत्र, सुहोत्रसे च्यवन, च्यवनसे कृती, कृतीसे उपरिचरवसु और उपरिचरवसुसे बृहद्रथ आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए॥ ५॥ उनमें बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र और चेदिप आदि चेदिदेशके राजा हुए। बृहद्रथका पुत्र था कुशाग्र, कुशाग्रका ऋषभ, ऋषभका सत्यहित, सत्यहितका पुष्पवान् और पुष्पवान्के जहु नामक पुत्र हुआ। बृहद्रथकी दूसरी पत्नीके गर्भसे एक शरीरके दो टुकड़े उत्पन्न हुए॥ ६-७॥

उन्हें माताने बाहर फेंकवा दिया। तब 'जरा' नामकी राक्षसीने 'जियो, जियो' इस प्रकार कहकर खेल-खेलमें उन दोनों टुकड़ोंको जोड़ दिया। उसी जोड़े हुए बालकका नाम हुआ जरासन्ध॥ ८॥ जरासन्धका सहदेव, सहदेवका सोमापि और सोमापिका पुत्र हुआ श्रुतश्रवा। कुरुके ज्येष्ठ पुत्र परीक्षित्के कोई सन्तान न हुई। जह्नुका पुत्र था सुरथ॥ ९॥ सुरथका विदूरथ, विदूरथका सार्वभौम, सार्वभौमका जयसेन, जयसेनका राधिक और राधिकका पुत्र हुआ अयुत॥ १०॥ अयुतका क्रोधन, क्रोधनका देवातिथि, देवातिथिका ऋष्य, ऋष्यका दिलीप और दिलीपका पुत्र प्रतीप हुआ॥ ११॥

देवापिः शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः।
पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः॥ १२

अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः॥ १३

शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः।
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः॥ १४

शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक्।
राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये॥ १५

एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत्।
तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद् विभ्रंशितो गिरा॥ १६

वेदवादातिवादान् वै तदा देवो ववर्ष ह।
देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः॥ १७

सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति।
बाह्लीकात् सोमदत्तोऽभूद् भूरिर्भूरिश्रवास्ततः॥ १८

प्रतीपके तीन पुत्र थे—देवापि, शन्तनु और बाह्लीक। देवापि अपना पैतृक राज्य छोड़कर वनमें चला गया॥ १२॥ इसलिये उसके छोटे भाई शन्तनु राजा हुए। पूर्वजन्ममें शन्तनुका नाम महाभिष था। इस जन्ममें भी वे अपने हाथोंसे जिसे छू देते थे, वह बूढ़ेसे जवान हो जाता था॥ १३॥ उसे परम शान्ति मिल जाती थी। इसी करामातके कारण उनका नाम 'शन्तनु' हुआ। एक बार शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षतक इन्द्रने वर्षा नहीं की। इसपर ब्राह्मणोंने शन्तनुसे कहा कि 'तुमने अपने बड़े भाई देवापिसे पहले ही विवाह, अग्निहोत्र और राजपदको स्वीकार कर लिया, अतः तुम परिवेत्ता* हो; इसीसे तुम्हारे राज्यमें वर्षा नहीं होती। अब यदि तुम अपने नगर और राष्ट्रकी उन्नति चाहते हो, तो शीघ्र-से-शीघ्र अपने बड़े भाईको राज्य लौटा दो'॥ १४-१५॥ जब ब्राह्मणोंने शन्तनुसे इस प्रकार कहा, तब उन्होंने वनमें जाकर अपने बड़े भाई देवापिसे राज्य स्वीकार करनेका अनुरोध किया। परन्तु शन्तनुके मन्त्री अश्मरातने पहलेसे ही उनके पास कुछ ऐसे ब्राह्मण भेज दिये थे, जो वेदको दूषित करनेवाले वचनोंसे देवापिको वेदमार्गसे विचलित कर चुके थे। इसका फल यह हुआ कि देवापि वेदोंके अनुसार गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेकी जगह उनकी निन्दा करने लगे। इसलिये वे राज्यके अधिकारसे वंचित हो गये और तब शन्तनुके राज्यमें वर्षा हुई। देवापि इस समय भी योगसाधना कर रहे हैं और योगियोंके प्रसिद्ध निवासस्थान कलापग्राममें रहते हैं॥ १६-१७॥ जब कलियुगमें चन्द्रवंशका नाश हो जायगा, तब सत्ययुगके प्रारम्भमें वे फिर उसकी स्थापना करेंगे। शन्तनुके छोटे भाई बाह्लीकका पुत्र हुआ सोमदत्त। सोमदत्तके तीन पुत्र हुए—भूरि, भूरिश्रवा और शल। शन्तनुके द्वारा गंगाजीके

* दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः॥

अर्थात् जो पुरुष अपने बड़े भाईके रहते हुए उससे पहले ही विवाह और अग्निहोत्रका संयोग करता है उसे परिवेत्ता जानना चाहिये और उसका बड़ा भाई परिवित्ति कहलाता है।

शलश्च शन्तनोरासीद् गंगायां भीष्म आत्मवान्।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः॥ १९

वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः।
शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्रांगदः सुतः॥ २०

विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्रांगदो हतः।
यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला॥ २१

वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम्।
हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः॥ २२

मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ।
विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात्॥ २३

स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे।
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः॥ २४

क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत्॥ २५

गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं नृप।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका॥ २६

शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः।
जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः॥ २७

गर्भसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्मका जन्म हुआ। वे समस्त धर्मज्ञोंके सिरमौर, भगवान्के परम प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी थे॥ १८-१९॥ वे संसारके समस्त वीरोंके अग्रगण्य नेता थे। औरोंकी तो बात ही क्या, उन्होंने अपने गुरु भगवान् परशुरामको भी युद्धमें सन्तुष्ट कर दिया था। शन्तनुके द्वारा दाशराजकी कन्या* के गर्भसे दो पुत्र हुए—चित्रांगद और विचित्रवीर्य। चित्रांगदको चित्रांगद नामक गन्धर्वने मार डाला। इसी दाशराजकी कन्या सत्यवतीसे पराशरजीके द्वारा मेरे पिता, भगवान्के कलावतार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने वेदोंकी रक्षा की। परीक्षित्! मैंने उन्हींसे इस श्रीमद्भागवतपुराणका अध्ययन किया था। यह पुराण परम गोपनीय—अत्यन्त रहस्यमय है। इसीसे मेरे पिता भगवान् व्यासजीने अपने पैल आदि शिष्योंको इसका अध्ययन नहीं कराया, मुझे ही इसके योग्य अधिकारी समझा! एक तो मैं उनका पुत्र था और दूसरे शान्ति आदि गुण भी मुझमें विशेषरूपसे थे। शन्तनुके दूसरे पुत्र विचित्रवीर्यने काशिराजकी कन्या अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया। उन दोनोंको भीष्मजी स्वयंवरसे बलपूर्वक ले आये थे। विचित्रवीर्य अपनी दोनों पत्नियोंमें इतना आसक्त हो गया कि उसे राजयक्ष्मा रोग हो गया और उसकी मृत्यु हो गयी॥ २०—२४॥ माता सत्यवतीके कहनेसे भगवान् व्यासजीने अपने सन्तानहीन भाईकी स्त्रियोंसे धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र उत्पन्न किये। उनकी दासीसे तीसरे पुत्र विदुरजी हुए॥ २५॥

परीक्षित्! धृतराष्ट्रकी पत्नी थी गान्धारी। उसके गर्भसे सौ पुत्र हुए, उनमें सबसे बड़ा था दुर्योधन। कन्याका नाम था दुःशला॥ २६॥ पाण्डुकी पत्नी थी कुन्ती। शापवश पाण्डु स्त्री-सहवास नहीं कर सकते थे। इसलिये उनकी पत्नी कुन्तीके गर्भसे धर्म, वायु और इन्द्रके द्वारा क्रमशः युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन नामके तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों-के-तीनों महारथी थे॥ २७॥

* यह कन्या वास्तवमें उपरिचरवसुके वीर्यसे मछलीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी किन्तु दाशों (केवटों)-के द्वारा पालित होनेसे वह केवटोंकी कन्या कहलायी।

नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्त्रयोः।
द्रौपद्यां पंच पंचभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन्॥ २८
युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः॥ २९
सहदेवसुतो राजञ्छ्रुतकर्मा तथापरे।
युधिष्ठिरात् तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः॥ ३०
भीमसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः।
सहदेवात् सुहोत्रं तु विजयासूत पार्वती॥ ३१
करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथार्जुनः।
इरावन्तमुलूप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम्।
मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः॥ ३२
तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत।
सर्वातिरथजिद् वीर उत्तरायां ततो भवान्॥ ३३
परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा।
त्वं च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात्॥ ३४
तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः।
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान्॥ ३५
जनमेजयस्त्वां विदित्वा तक्षकान्निधनं गतम्।
सर्पान् वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः॥ ३६
कावषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधयाट्।
समन्तात् पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति चाध्वरैः॥ ३७
तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति॥ ३८

पाण्डुकी दूसरी पत्नीका नाम था माद्री। दोनों अश्विनीकुमारोंके द्वारा उसके गर्भसे नकुल और सहदेवका जन्म हुआ। परीक्षित्! इन पाँच पाण्डवोंके द्वारा द्रौपदीके गर्भसे तुम्हारे पाँच चाचा उत्पन्न हुए॥ २८॥ इनमेंसे युधिष्ठिरके पुत्रका नाम था प्रतिविन्ध्य, भीमसेनका पुत्र था श्रुतसेन, अर्जुनका श्रुतकीर्ति, नकुलका शतानीक और सहदेवका श्रुतकर्मा। इनके सिवा युधिष्ठिरके पौरवी नामकी पत्नीसे देवक और भीमसेनके हिडिम्बासे घटोत्कच और कालीसे सर्वगत नामके पुत्र हुए। सहदेवके पर्वतकुमारी विजयासे सुहोत्र और नकुलके करेणुमतीसे निरमित्र हुआ। अर्जुनद्वारा नागकन्या उलूपीके गर्भसे इरावान् और मणिपूर नरेशकी कन्यासे बभ्रुवाहनका जन्म हुआ। बभ्रुवाहन अपने नानाका ही पुत्र माना गया। क्योंकि पहलेसे ही यह बात तय हो चुकी थी॥ २९—३२॥ अर्जुनकी सुभद्रा नामकी पत्नीसे तुम्हारे पिता अभिमन्युका जन्म हुआ। वीर अभिमन्युने सभी अतिरथियोंको जीत लिया था। अभिमन्युके द्वारा उत्तराके गर्भसे तुम्हारा जन्म हुआ॥ ३३॥ परीक्षित्! उस समय कुरुवंशका नाश हो चुका था। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे तुम भी जल ही चुके थे, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रभावसे तुम्हें उस मृत्युसे जीता-जागता बचा लिया॥ ३४॥

परीक्षित्! तुम्हारे पुत्र तो सामने ही बैठे हुए हैं—इनके नाम हैं—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन। ये सब-के-सब बड़े पराक्रमी हैं॥ ३५॥

जब तक्षकके काटनेसे तुम्हारी मृत्यु हो जायगी, तब इस बातको जानकर जनमेजय बहुत क्रोधित होगा और यह सर्प-यज्ञकी आगमें सर्पोंका हवन करेगा॥ ३६॥ यह कावषेय तुरको पुरोहित बनाकर अश्वमेध यज्ञ करेगा और सब ओरसे सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करके यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधना करेगा॥ ३७॥

जनमेजयका पुत्र होगा शतानीक। वह याज्ञवल्क्य ऋषिसे तीनों वेद और कर्मकाण्डकी तथा कृपाचार्यसे अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त करेगा एवं शौनकजीसे

सहस्त्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ।
असीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु तत्सुतः ॥ ३९
गजाह्वये हृते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति ।
उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्मात् कविरथः सुतः ॥ ४०
तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः ।
सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत् सुखीनलः ॥ ४१
परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः ।
नृपंजयस्ततो दूर्वस्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति ॥ ४२
तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः ।
शतानीकाद् दुर्दमनस्तस्यापत्यं बहीनरः ॥ ४३
दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता नृपः ।
ब्रह्मक्षत्रस्य वै प्रोक्तो वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥ ४४
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ।
अथ मागधराजानो भवितारो वदामि ते ॥ ४५
भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छ्रुतश्रवाः ।
ततोऽयुतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥ ४६
सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद् बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् ।
ततः सृतंजयाद् विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति ॥ ४७
क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद् धर्मसूत्रः शमस्ततः ।
द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः ॥ ४८
सुनीथः सत्यजिदथ विश्वजिद् यद् रिपुंजयः ।
बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्त्रवत्सरम् ॥ ४९

आत्मज्ञानका सम्पादन करके परमात्माको प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥ शतानीकका सहस्त्रानीक, सहस्त्रानीकका अश्वमेधज, अश्वमेधजका असीमकृष्ण और असीम-कृष्णका पुत्र होगा नेमिचक्र ॥ ३९ ॥ जब हस्तिनापुर गंगाजीमें बह जायगा, तब वह कौशाम्बीपुरीमें सुखपूर्वक निवास करेगा। नेमिचक्रका पुत्र होगा चित्ररथ, चित्ररथका कविरथ, कविरथका वृष्टिमान्, वृष्टिमान्‌का राजा सुषेण, सुषेणका सुनीथ, सुनीथका नृचक्षु, नृचक्षुका सुखीनल, सुखीनलका परिप्लव, परिप्लवका सुनय, सुनयका मेधावी, मेधावीका नृपंजय, नृपंजयका दूर्व और दूर्वका पुत्र तिमि होगा ॥ ४०-४२ ॥ तिमिसे बृहद्रथ, बृहद्रथसे सुदास, सुदाससे शतानीक, शतानीकसे दुर्दमन, दुर्दमनसे वहीनर, वहीनरसे दण्डपाणि, दण्डपाणिसे निमि और निमिसे राजा क्षेमकका जन्म होगा। इस प्रकार मैंने तुम्हें ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंके उत्पत्तिस्थान सोमवंशका वर्णन सुनाया। बड़े-बड़े देवता और ऋषि इस वंशका सत्कार करते हैं॥ ४३-४४॥ यह वंश कलियुगमें राजा क्षेमकके साथ ही समाप्त हो जायगा। अब मैं भविष्यमें होनेवाले मगध देशके राजाओंका वर्णन सुनाता हूँ॥ ४५ ॥

जरासन्धके पुत्र सहदेवसे मार्जारि, मार्जारिसे श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवासे अयुतायु और अयुतायुसे निरमित्र नामक पुत्र होगा ॥ ४६ ॥ निरमित्रके सुनक्षत्र, सुनक्षत्रके बृहत्सेन, बृहत्सेनके कर्मजित्, कर्मजित्‌के सृतंजय, सृतंजयके विप्र और विप्रके पुत्रका नाम होगा शुचि ॥ ४७॥ शुचिसे क्षेम, क्षेमसे सुव्रत, सुव्रतसे धर्मसूत्र, धर्मसूत्रसे शम, शमसे द्युमत्सेन, द्युमत्सेनसे सुमति और सुमतिसे सुबलका जन्म होगा ॥ ४८ ॥ सुबलका सुनीथ, सुनीथका सत्यजित्, सत्यजित्‌का विश्वजित् और विश्वजित्‌का पुत्र रिपुंजय होगा। ये सब बृहद्रथवंशके राजा होंगे। इनका शासनकाल एक हजार वर्षके भीतर ही होगा ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु और यदुके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च त्रयः सुताः।
सभानरात् कालनरः सृंजयस्तत्सुतस्ततः॥ १
जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशीलो महामनाः।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ॥ २
शिबिर्वनः शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः।
वृषादर्भः सुवीरश्च मद्रः कैकेय आत्मजाः॥ ३
शिबेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथः।
ततो हेमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत्॥ ४
अंगवंगकलिंगाद्याः सुह्मपुण्ड्रान्ध्रसंज्ञिताः।
जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः॥ ५
चक्रुः स्वनाम्ना विषयान् षडिमान् प्राच्यकांश्च ते।
खनपानोऽङ्गतो जज्ञे तस्माद् दिविरथस्ततः॥ ६
सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा॥ ७
शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह ताम्।
देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम्॥ ८
नाट्यसंगीतवादित्रैर्विभ्रमालिंगनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वतः॥ ९
प्रजामदाद् दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः।
चतुरंगो रोमपादात् पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः॥ १०
बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः।
आद्याद् बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः॥ ११

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! ययातिनन्दन अनुके तीन पुत्र हुए—सभानर, चक्षु और परोक्ष। सभानरका कालनर, कालनरका सृंजय, सृंजयका जनमेजय, जनमेजयका महाशील, महाशीलका पुत्र हुआ महामना। महामनाके दो पुत्र हुए—उशीनर एवं तितिक्षु॥ १-२॥ उशीनरके चार पुत्र थे—शिबि, वन, शमी और दक्ष। शिबिके चार पुत्र हुए—बृषादर्भ, सुवीर, मद्र और कैकेय। उशीनरके भाई तितिक्षुके रुशद्रथ, रुशद्रथके हेम, हेमके सुतपा और सुतपाके बलि नामक पुत्र हुआ॥ ३-४॥

राजा बलिकी पत्नीके गर्भसे दीर्घतमा मुनिने छः पुत्र उत्पन्न किये—अंग, वंग, कलिंग, सुह्म, पुण्ड्र और अन्ध्र॥ ५॥ इन लोगोंने अपने-अपने नामसे पूर्व दिशामें छः देश बसाये। अंगका पुत्र हुआ खनपान, खनपानका दिविरथ, दिविरथका धर्मरथ और धर्मरथका चित्ररथ। यह चित्ररथ ही रोमपादके नामसे प्रसिद्ध था। इसके मित्र थे अयोध्याधिपति महाराज दशरथ। रोमपादको कोई सन्तान न थी। इसलिये दशरथने उन्हें अपनी शान्ता नामकी कन्या गोद दे दी। शान्ताका विवाह ऋष्यश्रृंग मुनिसे हुआ। ऋष्यश्रृंग विभाण्डक ऋषिके द्वारा हरिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। एक बार राजा रोमपादके राज्यमें बहुत दिनोंतक वर्षा नहीं हुई। तब गणिकाएँ अपने नृत्य, संगीत, वाद्य, हाव-भाव, आलिंगन और विविध उपहारोंसे मोहित करके ऋष्यश्रृंगको वहाँ ले आयीं। उनके आते ही वर्षा हो गयी। उन्होंने ही इन्द्र देवताका यज्ञ कराया, तब सन्तानहीन राजा रोमपादको भी पुत्र हुआ और पुत्रहीन दशरथने भी उन्हींके प्रयत्नसे चार पुत्र प्राप्त किये। रोमपादका पुत्र हुआ चतुरंग और चतुरंगका पृथुलाक्ष॥ ६—१०॥ पृथुलाक्षके बृहद्रथ, बृहत्कर्मा और बृहद्भानु—तीन पुत्र हुए। बृहद्रथका पुत्र हुआ बृहन्मना और बृहन्मनाका जयद्रथ॥ ११॥

विजयस्तस्य सम्भूत्यां ततो धृतिरजायत।
ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माधिरथस्ततः॥ १२

योऽसौ गंगातटे क्रीडन् मंजूषान्तर्गतं शिशुम्।
कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत् सुतम्॥ १३

वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपतेः।
द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः॥ १४

आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः।
धृतस्य दुर्मनास्तस्मात् प्रचेताः प्राचेतसं शतम्॥ १५

म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः।
तुर्वसोश्च सुतो वह्निर्वह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान्॥ १६

त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करन्धम उदारधीः।
मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत्॥ १७

दुष्यन्तः स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ॥ १८

वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम्।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १९

यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः।
यदोः सहस्रजित्क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः॥ २०

चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित् प्रथमात्मजः।
महाहयो वेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः॥ २१

धर्मस्तु हैहयसुतो नेत्रः कुन्तेः पिता ततः।
सोहंजिरभवत् कुन्तेर्महिष्मान् भद्रसेनकः॥ २२

दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः।
कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः॥ २३

जयद्रथकी पत्नीका नाम था सम्भूति। उसके गर्भसे विजयका जन्म हुआ। विजयका धृति, धृतिका धृतव्रत, धृतव्रतका सत्कर्मा और सत्कर्माका पुत्र था अधिरथ॥ १२॥ अधिरथको कोई सन्तान न थी। किसी दिन वह गंगातटपर क्रीडा कर रहा था कि देखा एक पिटारीमें नन्हा-सा शिशु बहा चला जा रहा है। वह बालक कर्ण था, जिसे कुन्तीने कन्यावस्थामें उत्पन्न होनेके कारण उस प्रकार बहा दिया था। अधिरथने उसीको अपना पुत्र बना लिया॥ १३॥ परीक्षित्! राजा कर्णके पुत्रका नाम था बृषसेन। ययातिके पुत्र द्रुह्युसे बभ्रुका जन्म हुआ। बभ्रुका सेतु, सेतुका आरब्ध, आरब्धका गान्धार, गान्धारका धर्म, धर्मका धृत, धृतका दुर्मना और दुर्मनाका पुत्र प्रचेता हुआ। प्रचेताके सौ पुत्र हुए, ये उत्तर दिशामें म्लेच्छोंके राजा हुए। ययातिके पुत्र तुर्वसुका वह्नि, वह्निका भर्ग, भर्गका भानुमान्, भानुमान्‌का त्रिभानु, त्रिभानुका उदारबुद्धि करन्धम और करन्धमका पुत्र हुआ मरुत। मरुत सन्तानहीन था। इसलिये उसने पूरुवंशी दुष्यन्तको अपना पुत्र बनाकर रखा था॥ १४—१७॥ परन्तु दुष्यन्त राज्यकी कामनासे अपने ही वंशमें लौट गये। परीक्षित्! अब मैं राजा ययातिके बड़े पुत्र यदुके वंशका वर्णन करता हूँ॥ १८॥

परीक्षित्! महाराज यदुका वंश परम पवित्र और मनुष्योंके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है। जो मनुष्य इसका श्रवण करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ १९॥ इस वंशमें स्वयं भगवान् परब्रह्म श्रीकृष्णने मनुष्यके-से रूपमें अवतार लिया था। यदुके चार पुत्र थे—सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपु। सहस्रजित्से शतजित्‌का जन्म हुआ। शतजित्के तीन पुत्र थे—महाहय, वेणुहय और हैहय॥ २०-२१॥ हैहयका धर्म, धर्मका नेत्र, नेत्रका कुन्ति, कुन्तिका सोहंजि, सोहंजिका महिष्मान् और महिष्मान्‌का पुत्र भद्रसेन हुआ॥ २२॥ भद्रसेनके दो पुत्र थे—दुर्मद और धनक। धनकके चार पुत्र हुए—कृतवीर्य, कृताग्नि,

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत्।
दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः॥ २४

न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः।
यज्ञदानतपोयोगश्रुतवीर्यजयादिभिः ॥ २५

पंचाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः।
अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु॥ २६

तस्य पुत्रसहस्रेषु पंचैवोर्वरिता मृधे।
जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः॥ २७

जयध्वजात् तालजंघस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत्।
क्षत्रं यत् तालजंघाख्यमौर्वतेजोपसंहृतम् ॥ २८

तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः।
तस्य पुत्रशतं त्वासीद् वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम्॥ २९

माधवा वृष्णयो राजन् यादवाश्चेति संज्ञिताः।
यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः॥ ३०

श्वाहिस्ततो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः।
शशबिन्दुर्महायोगी महाभोजो महानभूत्॥ ३१

चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः ।
तस्य पत्नीसहस्राणां दशानां सुमहायशाः॥ ३२

कृतवर्मा और कृतौजा॥ २३॥ कृतवीर्यका पुत्र अर्जुन था। वह सातों द्वीपका एकछत्र सम्राट् था। उसने भगवान्‌के अंशावतार श्रीदत्तात्रेयजीसे योगविद्या और अणिमा-लघिमा आदि बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं॥ २४॥ इसमें सन्देह नहीं कि संसारका कोई भी सम्राट् यज्ञ, दान, तपस्या, योग, शास्त्रज्ञान, पराक्रम और विजय आदि गुणोंमें कार्तवीर्य अर्जुनकी बराबरी नहीं कर सकेगा॥ २५॥ सहस्रबाहु अर्जुन पचासी हजार वर्षतक छहों इन्द्रियोंसे अक्षय विषयोंका भोग करता रहा। इस बीचमें न तो उसके शरीरका बल ही क्षीण हुआ और न तो कभी उसने यही स्मरण किया कि मेरे धनका नाश हो जायगा। उसके धनके नाशकी तो बात ही क्या है, उसका ऐसा प्रभाव था कि उसके स्मरणसे दूसरोंका खोया हुआ धन भी मिल जाता था॥ २६॥ उसके हजारों पुत्रोंमेंसे केवल पाँच ही जीवित रहे। शेष सब परशुरामजीकी क्रोधाग्निमें भस्म हो गये। बचे हुए पुत्रोंके नाम थे—जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित॥ २७॥

जयध्वजके पुत्रका नाम था तालजंघ। तालजंघके सौ पुत्र हुए। वे 'तालजंघ' नामक क्षत्रिय कहलाये। महर्षि और्वकी शक्तिसे राजा सगरने उनका संहार कर डाला॥ २८॥ उन सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा था वीतिहोत्र। वीतिहोत्रका पुत्र मधु हुआ। मधुके सौ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़ा था वृष्णि॥ २९॥ परीक्षित्! इन्हीं मधु, वृष्णि और यदुके कारण यह वंश माधव, वार्ष्णेय और यादवके नामसे प्रसिद्ध हुआ। यदुनन्दन क्रोष्टुके पुत्रका नाम था वृजिनवान्॥ ३०॥ वृजिनवान्‌का पुत्र श्वाहि, श्वाहिका रुशेकु, रुशेकुका चित्ररथ और चित्ररथके पुत्रका नाम था शशबिन्दु। वह परम योगी, महान् भोगैश्वर्यसम्पन्न और अत्यन्त पराक्रमी था॥ ३१॥ वह चौदह रत्नों * का स्वामी, चक्रवर्ती और युद्धमें अजेय था। परम यशस्वी शशबिन्दुके दस हजार पत्नियाँ थीं। उनमेंसे एक-एकके लाख-लाख सन्तान हुई थीं। इस प्रकार उसके सौ करोड़—एक अरब

* चौदह रत्न ये हैं—हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, बाण, खजाना, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान।

दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत्।
तेषां तु षट्प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः॥ ३३

धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट्।
तत्सुतो रुचकस्तस्य पंचासन्नात्मजाः शृणु॥ ३४

पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ।
ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैब्यापतिर्भयात्॥ ३५

नाविन्दच्छत्रुभवनाद् भोज्यां कन्यामहारषीत्।
रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता॥ ३६

केयं कुहक मत्स्थानं रथमारोपितेति वै।
स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत्॥ ३७

अहं वन्ध्यासपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम्।
जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपयुज्यते॥ ३८

अन्वमोदन्त तद्विश्वेदेवाः पितर एव च।
शैब्या गर्भमधात् काले कुमारं सुषुवे शुभम्।
स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम्॥ ३९

सन्तानें उत्पन्न हुईं। उनमें पृथुश्रवा आदि छः पुत्र प्रधान थे। पृथुश्रवाके पुत्रका नाम था धर्म। धर्मका पुत्र उशना हुआ। उसने सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे। उशनाका पुत्र हुआ रुचक। रुचकके पाँच पुत्र हुए, उनके नाम सुनो॥ ३२—३४॥ पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ। ज्यामघकी पत्नीका नाम था शैब्या। ज्यामघके बहुत दिनोंतक कोई सन्तान न हुई। परन्तु उसने अपनी पत्नीके भयसे दूसरा विवाह नहीं किया। एक बार वह अपने शत्रुके घरसे भोज्या नामकी कन्या हर लाया। जब शैब्याने पतिके रथपर उस कन्याको देखा, तब वह चिढ़कर अपने पतिसे बोली—'कपटी! मेरे बैठनेकी जगहपर आज किसे बैठाकर लिये आ रहे हो?' ज्यामघने कहा—'यह तो तुम्हारी पुत्रवधू है।' शैब्याने मुसकराकर अपने पतिसे कहा— ॥ ३५—३७॥

'मैं तो जन्मसे ही बाँझ हूँ और मेरी कोई सौत भी नहीं है। फिर यह मेरी पुत्रवधू कैसे हो सकती है?' ज्यामघने कहा—'रानी! तुमको जो पुत्र होगा, उसकी यह पत्नी बनेगी'॥ ३८॥ राजा ज्यामघके इस वचनका विश्वेदेव और पितरोंने अनुमोदन किया। फिर क्या था, समयपर शैब्याको गर्भ रहा और उसने बड़ा ही सुन्दर बालक उत्पन्न किया। उसका नाम हुआ विदर्भ। उसीने शैब्याकी साध्वी पुत्रवधू भोज्यासे विवाह किया॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे यदुवंशानुवर्णने त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

विदर्भके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तस्यां विदर्भोऽजनयत् पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ।
तृतीयं रोमपादं च विदर्भकुलनन्दनम्॥ १

रोमपादसुतो बभ्रुर्बभ्रोः कृतिरजायत।
उशिकस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृप॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा विदर्भकी भोज्या नामक पत्नीसे तीन पुत्र हुए—कुश, क्रथ और रोमपाद। रोमपाद विदर्भवंशमें बहुत ही श्रेष्ठ पुरुष हुए॥ १॥

रोमपादका पुत्र बभ्रु, बभ्रुका कृति, कृतिका उशिक और उशिकका चेदि। राजन्! इस चेदिके वंशमें ही दमघोष एवं शिशुपाल आदि हुए॥ २॥

क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद् धृष्टिस्तस्याथ निर्वृतिः।
ततो दशार्हो नाम्नाभूत् तस्य व्योमः सुतस्ततः॥ ३
जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः।
ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः॥ ४
करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः।
देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशादनुः॥ ५
पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः।
भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः॥ ६
सात्वतस्य सुताः सप्त महाभोजश्च मारिष।
भजमानस्य निम्लोचिः किंकिणो धृष्टिरेव च॥ ७
एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयः सुताः।
शताजिच्च सहस्राजिदयुताजिदिति प्रभो॥ ८
बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू।
यथैव शृणुमो दूरात् सम्पश्यामस्तथान्तिकात्॥ ९
बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः।
पुरुषाः पंचषष्टिश्च षट् सहस्राणि चाष्ट च॥ १०
येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि।
महाभोजोऽपि धर्मात्मा भोजा आसंस्तदन्वये॥ ११
वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद् युधाजिच्च परंतप।
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः॥ १२
सत्राजितः प्रसेनश्च निम्नस्याप्यासतुः सुतौ।
अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्याथ सत्यकः॥ १३
युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः।
युगन्धरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः॥ १४
श्वफल्कश्चित्ररथश्च गान्दिन्यां च श्वफल्कतः।
अक्रूरप्रमुखा आसन् पुत्रा द्वादश विश्रुताः॥ १५
आसंगः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद् गिरिः।
धर्मवृद्धः सुकर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः॥ १६

क्रथका पुत्र हुआ कुन्ति, कुन्तिका धृष्टि, धृष्टिका निर्वृति, निर्वृतिका दशार्ह और दशार्हका व्योम॥ ३॥

व्योमका जीमूत, जीमूतका विकृति, विकृतिका भीमरथ, भीमरथका नवरथ और नवरथका दशरथ हुआ॥ ४॥ दशरथसे शकुनि, शकुनिसे करम्भि, करम्भिसे देवरात, देवरातसे देवक्षत्र, देवक्षत्रसे मधु, मधुसे कुरुवश और कुरुवशसे अनु हुए॥ ५॥ अनुसे पुरुहोत्र, पुरुहोत्रसे आयु और आयुसे सात्वतका जन्म हुआ। परीक्षित्! सात्वतके सात पुत्र हुए—भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक और महाभोज। भजमानकी दो पत्नियाँ थीं एकसे तीन पुत्र हुए—निम्लोचि, किंकिण और धृष्टि। दूसरी पत्नीसे भी तीन पुत्र हुए—शताजित्, सहस्राजित् और अयुताजित्॥ ६—८॥

देवावृधके पुत्रका नाम था बभ्रु। देवावृध और बभ्रुके सम्बन्धमें यह बात कही जाती है—'हमने दूरसे जैसा सुन रखा था, अब वैसा ही निकटसे देखते भी हैं॥ ९॥

बभ्रु मनुष्योंमें श्रेष्ठ है और देवावृध देवताओंके समान है। इसका कारण यह है कि बभ्रु और देवावृधसे उपदेश लेकर चौदह हजार पैंसठ मनुष्य परम पदको प्राप्त कर चुके हैं।' सात्वतके पुत्रोंमें महाभोज भी बड़ा धर्मात्मा था। उसीके वंशमें भोजवंशी यादव हुए॥ १०-११॥

परीक्षित्! वृष्णिके दो पुत्र हुए—सुमित्र और युधाजित्। युधाजित्के शिनि और अनमित्र—ये दो पुत्र थे। अनमित्रसे निम्नका जन्म हुआ॥ १२॥ सत्राजित् और प्रसेन नामसे प्रसिद्ध यदुवंशी निम्नके ही पुत्र थे। अनमित्रका एक और पुत्र था, जिसका नाम था शिनि। शिनिसे ही सत्यकका जन्म हुआ॥ १३॥

इसी सत्यकके पुत्र युयुधान थे, जो सात्यकिके नामसे प्रसिद्ध हुए। सात्यकिका जय, जयका कुणि और कुणिका पुत्र युगन्धर हुआ। अनमित्रके तीसरे पुत्रका नाम वृष्णि था। वृष्णिके दो पुत्र हुए—श्वफल्क और चित्ररथ। श्वफल्ककी पत्नीका नाम था गान्दिनी। उनमें सबसे श्रेष्ठ अक्रूरके अतिरिक्त बारह पुत्र उत्पन्न हुए—आसंग, सारमेय, मृदुर, मृदुविद्, गिरि, धर्मवृद्ध, सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न,

शत्रुघ्नो गन्धमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश।
तेषां स्वसा सुचीराख्या द्वावक्रूरसुतावपि॥ १७
देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः।
पृथुर्विदूरथाद्याश्च बहवो वृष्णिनन्दनाः॥ १८
कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः।
कुकुरस्य सुतो वह्निर्विलोमा तनयस्ततः॥ १९
कपोतरोमा तस्यानुः सखा यस्य च तुम्बुरुः।
अन्धको दुन्दुभिस्तस्मादरिद्योतः पुनर्वसुः॥ २०
तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ।
देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः॥ २१
देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धनः।
तेषां स्वसारः सप्तासन् धृतदेवादयो नृप॥ २२
शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः॥ २३
कंसः सुनामा न्यग्रोधः कंकः शंकुः सुहूस्तथा।
राष्ट्रपालोऽथ सृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः॥ २४
कंसा कंसवती कंका शूरभू राष्ट्रपालिका।
उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः॥ २५
शूरो विदूरथादासीद् भजमानः सुतस्ततः।
शिनिस्तस्मात् स्वयम्भोजो हृदीकस्तत्सुतो मतः॥ २६
देवबाहुः शतधनुः कृतवर्मेति तत्सुताः।
देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्॥ २७
तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्।
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्॥ २८
सृंजयं श्यामकं कंकं शमीकं वत्सकं वृकम्।
देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि॥ २९
वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्।
पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः॥ ३०

गन्धमादन और प्रतिबाहु। इनके एक बहिन भी थी, जिसका नाम था सुचीरा। अक्रूरके दो पुत्र थे—देववान् और उपदेव। श्वफल्कके भाई चित्ररथके पृथु, विदूरथ आदि बहुत-से पुत्र हुए—जो वृष्णि-वंशियोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं॥ १४-१८॥

सात्वतके पुत्र अन्धकके चार पुत्र हुए—कुकुर, भजमान, शुचि और कम्बलबर्हि। उनमें कुकुरका पुत्र वह्नि, वह्निका विलोमा, विलोमाका कपोतरोमा और कपोतरोमाका अनु हुआ। तुम्बुरु गन्धर्वके साथ अनुकी बड़ी मित्रता थी। अनुका पुत्र अन्धक, अन्धकका दुन्दुभि, दुन्दुभिका अरिद्योत, अरिद्योतका पुनर्वसु और पुनर्वसुके आहुक नामका एक पुत्र तथा आहुकी नामकी एक कन्या हुई। आहुकके दो पुत्र हुए—देवक और उग्रसेन। देवकके चार पुत्र हुए॥ १९—२१॥

देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन। इनकी सात बहिनें भी थीं—धृत, देवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी। वसुदेवजीने इन सबके साथ विवाह किया था॥ २२-२३॥ उग्रसेनके नौ लड़के थे—कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कंक, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि और तुष्टिमान्॥ २४॥ उग्रसेनके पाँच कन्याएँ भी थीं—कंसा, कंसवती, कंका, शूरभू और राष्ट्रपालिका। इनका विवाह देवभाग आदि वसुदेवजीके छोटे भाइयोंसे हुआ था॥ २५॥

चित्ररथके पुत्र विदूरथसे शूर, शूरसे भजमान, भजमानसे शिनि, शिनिसे स्वयम्भोज और स्वयम्भोजसे हृदीक हुए॥ २६॥ हृदीकसे तीन पुत्र हुए—देवबाहु, शतधन्वा और कृतवर्मा। देवमीढके पुत्र शूरकी पत्नीका नाम था मारिषा॥ २७॥ उन्होंने उसके गर्भसे दस निष्पाप पुत्र उत्पन्न किये—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृंजय, श्यामक, कंक, शमीक, वत्सक और वृक। ये सब-के-सब बड़े पुण्यात्मा थे। वसुदेवजीके जन्मके समय देवताओंके नगारे और नौबत स्वयं ही बजने लगे थे। अतः वे 'आनकदुन्दुभि' भी कहलाये। वे ही भगवान् श्रीकृष्णके पिता हुए। वसुदेव आदिकी पाँच बहनें भी थीं—पृथा (कुन्ती), श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी। वसुदेवके पिता शूरसेनके

राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पंच कन्यकाः।
कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात्॥ ३१

साऽऽप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात्।
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिम्॥ ३२

तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा।
प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे॥ ३३

अमोघं दर्शनं देवि आधित्से त्वयि चात्मजम्।
योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताहं ते सुमध्यमे॥ ३४

इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः।
सद्यः कुमारः संजज्ञे द्वितीय इव भास्करः॥ ३५

तं सात्यजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती।
प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुर्वै सत्यविक्रमः॥ ३६

श्रुतदेवां तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत्।
यस्यामभूद् दन्तवक्त्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः॥ ३७

कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्तिमविन्दत।
सन्तर्दनादयस्तस्य पंचासन् कैकयाः सुताः॥ ३८

राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयसेनोऽजनिष्ट ह।
दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत्॥ ३९

एक मित्र थे— कुन्तिभोज। कुन्तिभोजके कोई सन्तान न थी। इसलिये शूरसेनने उन्हें पृथा नामकी अपनी सबसे बड़ी कन्या गोद दे दी॥ २८—३१॥

पृथाने दुर्वासा ऋषिको प्रसन्न करके उनसे देवताओंको बुलानेकी विद्या सीख ली। एक दिन उस विद्याके प्रभावकी परीक्षा लेनेके लिये पृथाने परम पवित्र भगवान् सूर्यका आवाहन किया॥ ३२॥ उसी समय भगवान् सूर्य वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर कुन्तीका हृदय विस्मयसे भर गया। उसने कहा— 'भगवन्! मुझे क्षमा कीजिये। मैंने तो परीक्षा करनेके लिये ही इस विद्याका प्रयोग किया था। अब आप पधार सकते हैं'॥ ३३॥ सूर्यदेवने कहा—'देवि! मेरा दर्शन निष्फल नहीं हो सकता। इसलिये हे सुन्दरी! अब मैं तुझसे एक पुत्र उत्पन्न करना चाहता हूँ। हाँ, अवश्य ही तुम्हारी योनि दूषित न हो, इसका उपाय मैं कर दूँगा'॥ ३४॥

यह कहकर भगवान् सूर्यने गर्भ स्थापित कर दिया और इसके बाद वे स्वर्ग चले गये। उसी समय उससे एक बड़ा सुन्दर एवं तेजस्वी शिशु उत्पन्न हुआ। वह देखनेमें दूसरे सूर्यके समान जान पड़ता था॥ ३५॥ पृथा लोकनिन्दासे डर गयी। इसलिये उसने बड़े दुःखसे उस बालकको नदीके जलमें छोड़ दिया। परीक्षित्! उसी पृथाका विवाह तुम्हारे परदादा पाण्डुसे हुआ था, जो वास्तवमें बड़े सच्चे वीर थे॥ ३६॥

परीक्षित्! पृथाकी छोटी बहिन श्रुतदेवाका विवाह करूष देशके अधिपति वृद्धशर्मासे हुआ था। उसके गर्भसे दन्तवक्त्रका जन्म हुआ। यह वही दन्तवक्त्र है, जो पूर्वजन्ममें सनकादि ऋषियोंके शापसे हिरण्याक्ष हुआ था॥ ३७॥ कैकय देशके राजा धृष्टकेतुने श्रुतकीर्तिसे विवाह किया था। उससे सन्तर्दन आदि पाँच कैकय राजकुमार हुए॥ ३८॥ राजाधिदेवीका विवाह जयसेनसे हुआ था। उसके दो पुत्र हुए—विन्द और अनुविन्द। वे दोनों ही अवन्तीके राजा हुए। चेदिराज दमघोषने श्रुतश्रवाका पाणिग्रहण किया॥ ३९॥

शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः।
देवभागस्य कंसायां चित्रकेतुबृहद्बलौ॥ ४०
कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा।
कंकायामानकाज्जातः सत्यजित् पुरुजित् तथा॥ ४१
सृंजयो राष्ट्रपाल्यां च वृषदुर्मर्षणादिकान्।
हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्यां च श्यामकः॥ ४२
मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन् वत्सकस्तथा।
तक्षपुष्करशालादीन् दुर्वाक्ष्यां वृक आदधे॥ ४३
सुमित्रार्जुनपालादीञ्छमीकात्तु सुदामिनी।
कंकश्च कर्णिकायां वै ऋतधामजयावपि॥ ४४
पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला।
देवकीप्रमुखा आसन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः॥ ४५
बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम्।
वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्॥ ४६
सुभद्रो भद्रवाहश्च दुर्मदो भद्र एव च।
पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन्॥ ४७
नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः।
कौसल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम्॥ ४८
रोचनायामतो जाता हस्तहेमांगदादयः।
इलायामुरुवल्कादीन् यदुमुख्यानजीजनत्॥ ४९
विपृष्ठो धृतदेवायामेक आनकदुन्दुभेः।
शान्तिदेवात्मजा राजञ्छ्रमप्रतिश्रुतादयः॥ ५०
राजानः कल्पवर्षाद्या उपदेवासुता दश।
वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षट् सुताः॥ ५१
देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः।
वसुदेवः सुतानष्टावादधे सहदेवया॥ ५२

उसका पुत्र था शिशुपाल, जिसका वर्णन मैं पहले (सप्तम स्कन्धमें) कर चुका हूँ। वसुदेवजीके भाइयोंमेंसे देवभागकी पत्नी कंसाके गर्भसे दो पुत्र हुए—चित्रकेतु और बृहद्बल॥ ४०॥ देवश्रवाकी पत्नी कंसवतीसे सुवीर और इषुमान् नामके दो पुत्र हुए। आनककी पत्नी कंकाके गर्भसे भी दो पुत्र हुए—सत्यजित् और पुरुजित्॥ ४१॥ सृंजयने अपनी पत्नी राष्ट्रपालिकाके गर्भसे वृष और दुर्मर्षण आदि कई पुत्र उत्पन्न किये। इसी प्रकार श्यामकने शूरभूमि (शूरभू) नामकी पत्नीसे हरिकेश और हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र उत्पन्न किये॥ ४२॥ मिश्रकेशी अप्सराके गर्भसे वत्सकके भी वृक आदि कई पुत्र हुए। वृकने दुर्वाक्षीके गर्भसे तक्ष, पुष्कर और शाल आदि कई पुत्र उत्पन्न किये॥ ४३॥ शमीककी पत्नी सुदामिनीने भी सुमित्र और अर्जुनपाल आदि कई बालक उत्पन्न किये। कंककी पत्नी कर्णिकाके गर्भसे दो पुत्र हुए—ऋतधाम और जय॥ ४४॥

आनकदुन्दुभि वसुदेवजीकी पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला और देवकी आदि बहुत-सी पत्नियाँ थीं॥ ४५॥ रोहिणीके गर्भसे वसुदेवजीके बलराम, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि पुत्र हुए थे॥ ४६॥

पौरवीके गर्भसे उनके बारह पुत्र हुए—भूत, सुभद्र, भद्रवाह, दुर्मद और भद्र आदि॥ ४७॥ नन्द, उपनन्द, कृतक, शूर आदि मदिराके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। कौसल्याने एक ही वंश-उजागर पुत्र उत्पन्न किया था। उसका नाम था केशी॥ ४८॥ उसने रोचनासे हस्त और हेमांगद आदि तथा इलासे उरुवल्क आदि प्रधान यदुवंशी पुत्रोंको जन्म दिया॥ ४९॥ परीक्षित्! वसुदेवजीके धृतदेवाके गर्भसे विपृष्ठ नामका एक ही पुत्र हुआ और शान्तिदेवासे श्रम और प्रतिश्रुत आदि कई पुत्र हुए॥ ५०॥ उपदेवाके पुत्र कल्पवर्ष आदि दस राजा हुए और श्रीदेवाके वसु, हंस, सुवंश आदि छः पुत्र हुए॥ ५१॥ देवरक्षिताके गर्भसे गद आदि नौ पुत्र हुए तथा जैसे स्वयं धर्मने आठ वसुओंको उत्पन्न किया था, वैसे ही वसुदेवजीने सहदेवाके

पुरुविश्रुतमुख्यांस्तु साक्षाद् धर्मो वसूनिव।
वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत्॥ ५३

कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः।
ऋजुं सम्मर्दनं भद्रं संकर्षणमहीश्वरम्॥ ५४

अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल।
सुभद्रा च महाभागा तव राजन् पितामही॥ ५५

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥ ५६

न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते।
आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः॥ ५७

यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि।
अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते॥ ५८

अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः।
भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यमः॥ ५९

कर्माण्यपरिमेयाणि मनसापि सुरेश्वरैः।
सहसंकर्षणश्चक्रे भगवान् मधुसूदनः॥ ६०

कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम्।
अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद् यशः॥ ६१

यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत्।
श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम्॥ ६२

भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः।
श्लाघनीयेहितः शश्वत् कुरुसृंजयपाण्डुभिः॥ ६३

गर्भसे पुरुविश्रुत आदि आठ पुत्र उत्पन्न किये। परम उदार वसुदेवजीने देवकीके गर्भसे भी आठ पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें सातके नाम हैं—कीर्तिमान्, सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, संमर्दन, भद्र और शेषावतार श्रीबलरामजी॥ ५२—५४॥ उन दोनोंके आठवें पुत्र स्वयं श्रीभगवान् ही थे। परीक्षित्! तुम्हारी परम सौभाग्यवती दादी सुभद्रा भी देवकीजीकी ही कन्या थीं॥ ५५॥

जब-जब संसारमें धर्मका ह्रास और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि अवतार ग्रहण करते हैं॥ ५६॥ परीक्षित्! भगवान् सबके द्रष्टा और वास्तवमें असंग आत्मा ही हैं। इसलिये उनकी आत्मस्वरूपिणी योगमायाके अतिरिक्त उनके जन्म अथवा कर्मका और कोई भी कारण नहीं है॥ ५७॥ उनकी मायाका विलास ही जीवके जन्म, जीवन और मृत्युका कारण है। और उनका अनुग्रह ही मायाको अलग करके आत्मस्वरूपको प्राप्त करनेवाला है॥ ५८॥ जब असुरोंने राजाओंका वेष धारण कर लिया और कई अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके वे सारी पृथ्वीको रौंदने लगे, तब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान् मधुसूदन बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुए। उन्होंने ऐसी-ऐसी लीलाएँ कीं, जिनके सम्बन्धमें बड़े-बड़े देवता मनसे अनुमान भी नहीं कर सकते—शरीरसे करनेकी बात तो अलग रही॥ ५९-६०॥

पृथ्वीका भार तो उतरा ही, साथ ही कलियुगमें पैदा होनेवाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये भगवान्ने ऐसे परम पवित्र यशका विस्तार किया, जिसका गान और श्रवण करनेसे ही उनके दु:ख, शोक और अज्ञान सब-के-सब नष्ट हो जायँगे॥ ६१॥ उनका यश क्या है, लोगोंको पवित्र करनेवाला श्रेष्ठ तीर्थ है। संतोंके कानोंके लिये तो वह साक्षात् अमृत ही है। एक बार भी यदि कानकी अंजलियोंसे उसका आचमन कर लिया जाता है, तो कर्मकी वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं॥ ६२॥ परीक्षित्! भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृंजय और पाण्डुवंशी वीर निरन्तर भगवान्की लीलाओंकी आदरपूर्वक सराहना करते रहते थे॥ ६३॥

स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया।
नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वांगरम्यया॥ ६४

उनका श्यामल शरीर सर्वांगसुन्दर था। उन्होंने उस मनोरम विग्रहसे तथा अपनी प्रेमभरी मुसकान, मधुर चितवन, प्रसादपूर्ण वचन और पराक्रमपूर्ण लीलाके द्वारा सारे मनुष्यलोकको आनन्दमें सराबोर कर दिया था॥ ६४॥

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च॥ ६५

भगवान्‌के मुखकमलकी शोभा तो निराली ही थी। मकराकृति कुण्डलोंसे उनके कान बड़े कमनीय मालूम पड़ते थे। उनकी आभासे कपोलोंका सौन्दर्य और भी खिल उठता था। जब वे विलासके साथ हँस देते, तो उनके मुखपर निरन्तर रहनेवाले आनन्दमें मानो बाढ़-सी आ जाती। सभी नर-नारी अपने नेत्रोंके प्यालोंसे उनके मुखकी माधुरीका निरन्तर पान करते रहते, परन्तु तृप्त नहीं होते। वे उसका रस ले-लेकर आनन्दित तो होते ही, परन्तु पलकें गिरनेसे उनके गिरानेवाले निमिपर खीझते भी॥ ६५॥

जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थो
हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे
आत्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु॥ ६६

लीलापुरुषोत्तम भगवान् अवतीर्ण हुए मथुरामें वसुदेवजीके घर, परन्तु वहाँ रहे नहीं, वहाँसे गोकुलमें नन्दबाबाके घर चले गये। वहाँ अपना प्रयोजन—जो ग्वाल, गोपी और गौओंको सुखी करना था—पूरा करके मथुरा लौट आये। व्रजमें, मथुरामें तथा द्वारकामें रहकर अनेकों शत्रुओंका संहार किया। बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह करके हजारों पुत्र उत्पन्न किये। साथ ही लोगोंमें अपने स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाली अपनी वाणीस्वरूप श्रुतियोंकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये अनेक यज्ञोंके द्वारा स्वयं अपना ही यजन किया॥ ६६॥

पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन् कुरूणा-
मन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्वः।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य
प्रोच्योद्धवाय च परं समगात् स्वधाम॥ ६७

कौरव और पाण्डवोंके बीच उत्पन्न हुए आपसके कलहसे उन्होंने पृथ्वीका बहुत-सा भार हलका कर दिया तथा युद्धमें अपनी दृष्टिसे ही राजाओंकी बहुत-सी अक्षौहिणियोंको ध्वंस करके संसारमें अर्जुनकी जीतका डंका पिटवा दिया। फिर उद्धवको आत्मतत्त्वका उपदेश किया और इसके बाद वे अपने परमधामको सिधार गये॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे श्रीसूर्यसोमवंशानुकीर्तने यदुवंशानुकीर्तनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

इति नवमः स्कन्धः समाप्तः

हरिः ॐ तत्सत्

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(पूर्वार्धः)

अथ प्रथमोऽध्यायः

भगवान्‌के द्वारा पृथ्वीको आश्वासन, वसुदेव-देवकीका विवाह और कंसके द्वारा देवकीके छः पुत्रोंकी हत्या

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम्॥ १

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः॥ २

अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात्॥ ३

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥ ४

पितामहा मे समरेऽमरंजयै-
र्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिंगिलैः।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपने चन्द्रवंश और सूर्यवंशके विस्तार तथा दोनों वंशोंके राजाओंका अत्यन्त अद्‌भुत चरित्र वर्णन किया। भगवान्‌के परम प्रेमी मुनिवर! आपने स्वभावसे ही धर्मप्रेमी यदुवंशका भी विशद वर्णन किया। अब कृपा करके उसी वंशमें अपने अंश श्रीबलरामजीके साथ अवतीर्ण हुए भगवान् श्रीकृष्णके परम पवित्र चरित्र भी हमें सुनाइये॥ १-२॥ भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके जीवनदाता एवं सर्वात्मा हैं। उन्होंने यदुवंशमें अवतार लेकर जो-जो लीलाएँ कीं, उनका विस्तारसे हमलोगोंको श्रवण कराइये॥ ३॥ जिनकी तृष्णाकी प्यास सर्वदाके लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर गान किया करते हैं, मुमुक्षुजनोंके लिये जो भवरोगका रामबाण औषध है तथा विषयी लोगोंके लिये भी उनके कान और मनको परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले, गुणानुवादसे पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे?॥ ४॥ (श्रीकृष्ण तो मेरे कुलदेव ही हैं।) जब कुरुक्षेत्रमें महाभारत-युद्ध हो रहा था और देवताओंको भी जीत लेनेवाले भीष्मपितामह आदि अतिरथियोंसे मेरे दादा पाण्डवोंका युद्ध हो रहा था, उस समय कौरवोंकी सेना उनके लिये अपार समुद्रके समान थी—जिसमें भीष्म आदि वीर बड़े-बड़े मच्छोंको भी निगल जानेवाले तिमिंगिल मच्छोंकी

दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं
कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥ ५

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदंगं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिंगत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥ ६

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥ ७

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः संकर्षणस्त्वया।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना॥ ८

कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहाद् व्रजं गतः।
क्व वासं ज्ञातिभिः सार्धं कृतवान् सात्वतांपतिः॥ ९

व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः।
भ्रातरं चावधीत् कंसं मातुरद्धातदर्हणम्॥ १०

भाँति भय उत्पन्न कर रहे थे। परन्तु मेरे स्वनामधन्य पितामह भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी नौकाका आश्रय लेकर उस समुद्रको अनायास ही पार कर गये—ठीक वैसे ही जैसे कोई मार्गमें चलता हुआ स्वभावसे ही बछड़ेके खुरका गड्ढा पार कर जाय॥ ५॥ महाराज! मेरा यह शरीर—जो आपके सामने है तथा जो कौरव और पाण्डव दोनों ही वंशोंका एकमात्र सहारा था—अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जल चुका था। उस समय मेरी माता जब भगवान्‌की शरणमें गयीं, तब उन्होंने हाथमें चक्र लेकर मेरी माताके गर्भमें प्रवेश किया और मेरी रक्षा की॥ ६॥ (केवल मेरी ही बात नहीं,) वे समस्त शरीरधारियोंके भीतर आत्मारूपसे रहकर अमृतत्वका दान कर रहे हैं और बाहर कालरूपसे रहकर मृत्युका*। मनुष्यके रूपमें प्रतीत होना, यह तो उनकी एक लीला है। आप उन्हींकी ऐश्वर्य और माधुर्यसे परिपूर्ण लीलाओंका वर्णन कीजिये॥ ७॥

भगवन्! आपने अभी बतलाया था कि बलरामजी रोहिणीके पुत्र थे। इसके बाद देवकीके पुत्रोंमें भी आपने उनकी गणना की। दूसरा शरीर धारण किये बिना दो माताओंका पुत्र होना कैसे सम्भव है?॥ ८॥ असुरोंको मुक्ति देनेवाले और भक्तोंको प्रेम वितरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने वात्सल्य-स्नेहसे भरे हुए पिताका घर छोड़कर व्रजमें क्यों चले गये? यदुवंशशिरोमणि भक्तवत्सल प्रभुने नन्द आदि गोप-बन्धुओंके साथ कहाँ-कहाँ निवास किया?॥ ९॥ ब्रह्मा और शंकरका भी शासन करनेवाले प्रभुने व्रजमें तथा मधुपुरीमें रहकर कौन-कौन-सी लीलाएँ कीं? और महाराज! उन्होंने अपनी माँके भाई मामा कंसको अपने हाथों क्यों मार डाला? वह मामा होनेके कारण उनके द्वारा मारे जाने योग्य तो नहीं था॥ १०॥

* समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान् उनके जीवनके कारण हैं तथा बाहर कालरूपसे स्थित हुए वे ही उनका नाश करते हैं। अतः जो आत्मज्ञानीजन अन्तर्दृष्टिद्वारा उन अन्तर्यामीकी उपासना करते हैं, वे मोक्षरूप अमरपद पाते हैं और जो विषयपरायण अज्ञानी पुरुष बाह्यदृष्टिसे विषयचिन्तनमें ही लगे रहते हैं, वे जन्म-मरणरूप मृत्युके भागी होते हैं।

देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः।
यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः॥ ११

एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम्।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम्॥ १२

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥ १३

सूत उवाच

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं
वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम्।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं
व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः॥ १४

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम।
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः[1]॥ १५

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा॥ १६

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ॥ १७

मनुष्याकार सच्चिदानन्दमय विग्रह प्रकट करके द्वारकापुरीमें यदुवंशियोंके साथ उन्होंने कितने वर्षोंतक निवास किया? और उन सर्वशक्तिमान् प्रभुकी पत्नियाँ कितनी थीं?॥ ११॥ मुने! मैंने श्रीकृष्णकी जितनी लीलाएँ पूछी हैं और जो नहीं पूछी हैं, वे सब आप मुझे विस्तारसे सुनाइये; क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं और मैं बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें सुनना चाहता हूँ॥ १२॥ भगवन्! अन्नकी तो बात ही क्या, मैंने जलका भी परित्याग कर दिया है। फिर भी वह असह्य भूख-प्यास (जिसके कारण मैंने मुनिके गलेमें मृत सर्प डालनेका अन्याय किया था) मुझे तनिक भी नहीं सता रही है; क्योंकि मैं आपके मुखकमलसे झरती हुई भगवान्‌की सुधामयी लीला-कथाका पान कर रहा हूँ॥ १३॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! भगवान्‌के प्रेमियोंमें अग्रगण्य एवं सर्वज्ञ श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षित्‌का ऐसा समीचीन प्रश्न सुनकर (जो संतोंकी सभामें भगवान्‌की लीलाके वर्णनका हेतु हुआ करता है) उनका अभिनन्दन किया और भगवान् श्रीकृष्णकी उन लीलाओंका वर्णन प्रारम्भ किया, जो समस्त कलिमलोंको सदाके लिये धो डालती है॥ १४॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—भगवान्‌के लीला-रसके रसिक राजर्षे! तुमने जो कुछ निश्चय किया है, वह बहुत ही सुन्दर और आदरणीय है; क्योंकि सबके हृदयाराध्य श्रीकृष्णकी लीला-कथा श्रवण करनेमें तुम्हें सहज एवं सुदृढ़ प्रीति प्राप्त हो गयी है॥ १५॥ भगवान् श्रीकृष्णकी कथाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेसे ही वक्ता, प्रश्नकर्ता और श्रोता तीनों ही पवित्र हो जाते हैं—जैसे गंगाजीका जल या भगवान् शालग्रामका चरणामृत सभीको पवित्र कर देता है॥ १६॥

परीक्षित्! उस समय लाखों दैत्योंके दलने घमंडी राजाओंका रूप धारण कर अपने भारी भारसे पृथ्वीको आक्रान्त कर रखा था। उससे त्राण पानेके लिये वह ब्रह्माजीकी शरणमें गयी॥ १७॥

१. मतिः।

गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचत[१]॥ १८

ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः॥ १९

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः॥ २०

गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्॥ २१

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि॥ २२

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते[२] तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु[३] सुरस्त्रियः॥ २३

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥ २४

पृथ्वीने उस समय गौका रूप धारण कर रखा था। उसके नेत्रोंसे आँसू बह-बहकर मुँहपर आ रहे थे। उसका मन तो खिन्न था ही, शरीर भी बहुत कृश हो गया था। वह बड़े करुण स्वरसे रँभा रही थी। ब्रह्माजीके पास जाकर उसने उन्हें अपनी पूरी कष्ट-कहानी सुनायी॥ १८॥ ब्रह्माजीने बड़ी सहानुभूतिके साथ उसकी दुःख-गाथा सुनी। उसके बाद वे भगवान् शंकर, स्वर्गके अन्यान्य प्रमुख देवता तथा गौके रूपमें आयी हुई पृथ्वीको अपने साथ लेकर क्षीरसागरके तटपर गये॥ १९॥ भगवान् देवताओंके भी आराध्यदेव हैं। वे अपने भक्तोंकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण करते और उनके समस्त क्लेशोंको नष्ट कर देते हैं। वे ही जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं। क्षीरसागरके तटपर पहुँचकर ब्रह्मा आदि देवताओंने 'पुरुषसूक्त' के द्वारा उन्हीं परम पुरुष सर्वान्तर्यामी प्रभुकी स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गये॥ २०॥ उन्होंने समाधि-अवस्थामें आकाशवाणी सुनी। इसके बाद जगत्‌के निर्माणकर्ता ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा— 'देवताओ! मैंने भगवान्‌की वाणी सुनी है। तुमलोग भी उसे मेरे द्वारा अभी सुन लो और फिर वैसा ही करो। उसके पालनमें विलम्ब नहीं होना चाहिये॥ २१॥ भगवान्‌को पृथ्वीके कष्टका पहलेसे ही पता है। वे ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। अतः अपनी कालशक्तिके द्वारा पृथ्वीका भार हरण करते हुए वे जबतक पृथ्वीपर लीला करें, तबतक तुम लोग भी अपने-अपने अंशोंके साथ यदुकुलमें जन्म लेकर उनकी लीलामें सहयोग दो॥ २२॥ वसुदेवजीके घर स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट होंगे। उनकी और उनकी प्रियतमा (श्रीराधा) की सेवाके लिये देवांगनाएँ जन्म ग्रहण करें॥ २३॥

स्वयंप्रकाश भगवान् शेष भी, जो भगवान्‌की कला होनेके कारण अनन्त हैं (अनन्तका अंश भी अनन्त ही होता है) और जिनके सहस्र मुख हैं, भगवान्‌के प्रिय कार्य करनेके लिये उनसे पहले ही उनके बड़े भाईके रूपमें अवतार ग्रहण करेंगे॥ २४॥

१. समवोचत। २. ष्यति। ३. वन्त्वमरस्त्रियः।

विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥ २५

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः।
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ॥ २६

शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।
माथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा॥ २७

राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः॥ २८

तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत्॥ २९

उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः॥ ३०

चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम्।
अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम्॥ ३१

दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलंकृते।
दुहित्रे देवकः प्रादाद् याने दुहितृवत्सलः॥ ३२

शंखतूर्यमृदंगाश्च नेदुर्दुन्दुभयः समम्।
प्रयाणप्रक्रमे तावद् वरवध्वोः सुमंगलम्॥ ३३

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध॥ ३४

इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत्॥ ३५

भगवान्‌की वह ऐश्वर्यशालिनी योगमाया भी, जिसने सारे जगत्‌को मोहित कर रखा है, उनकी आज्ञासे उनकी लीलाके कार्य सम्पन्न करनेके लिये अंशरूपसे अवतार ग्रहण करेगी'॥ २५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! प्रजापतियोंके स्वामी भगवान् ब्रह्माजीने देवताओंको इस प्रकार आज्ञा दी और पृथ्वीको समझा-बुझाकर ढाढ़स बँधाया। इसके बाद वे अपने परम धामको चले गये॥ २६॥ प्राचीन कालमें यदुवंशी राजा थे शूरसेन। वे मथुरापुरीमें रहकर माथुरमण्डल और शूरसेनमण्डलका राज्यशासन करते थे॥ २७॥ उसी समयसे मथुरा ही समस्त यदुवंशी नरपतियोंकी राजधानी हो गयी थी। भगवान् श्रीहरि सर्वदा वहाँ विराजमान रहते हैं॥ २८॥ एक बार मथुरामें शूरके पुत्र वसुदेवजी विवाह करके अपनी नवविवाहिता पत्नी देवकीके साथ घर जानेके लिये रथपर सवार हुए॥ २९॥ उग्रसेनका लड़का था कंस। उसने अपनी चचेरी बहिन देवकीको प्रसन्न करनेके लिये उसके रथके घोड़ोंकी रास पकड़ ली। वह स्वयं ही रथ हाँकने लगा, यद्यपि उसके साथ सैकड़ों सोनेके बने हुए रथ चल रहे थे॥ ३०॥ देवकीके पिता थे देवक। अपनी पुत्रीपर उनका बड़ा प्रेम था। कन्याको विदा करते समय उन्होंने उसे सोनेके हारोंसे अलंकृत चार सौ हाथी, पंद्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ तथा सुन्दर-सुन्दर वस्त्रा-भूषणोंसे विभूषित दो सौ सुकुमारी दासियाँ दहेजमें दीं॥ ३१-३२॥ विदाईके समय वर-वधूके मंगलके लिये एक ही साथ शंख, तुरही, मृदंग और दुन्दुभियाँ बजने लगीं॥ ३३॥ मार्गमें जिस समय घोड़ोंकी रास पकड़कर कंस रथ हाँक रहा था, उस समय आकाशवाणीने उसे सम्बोधन करके कहा—'अरे मूर्ख! जिसको तू रथमें बैठाकर लिये जा रहा है, उसकी आठवें गर्भकी सन्तान तुझे मार डालेगी'॥ ३४॥ कंस बड़ा पापी था। उसकी दुष्टताकी सीमा नहीं थी। वह भोजवंशका कलंक ही था। आकाशवाणी सुनते ही उसने तलवार खींच ली और अपनी बहिनकी चोटी पकड़कर उसे मारनेके लिये तैयार हो गया॥ ३५॥

तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम्।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन्॥ ३६

वसुदेव उवाच

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः।
स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि॥ ३७

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥ ३८

देहे पंचत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥ ३९

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥ ४०

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं
मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन्
प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः॥ ४१

यतो यतो धावति दैवचोदितं
मनो विकारात्मकमाप पंचसु।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ
प्रपद्यमानः सह तेन जायते॥ ४२

वह अत्यन्त क्रूर तो था ही, पाप-कर्म करते-करते निर्लज्ज भी हो गया था। उसका यह काम देखकर महात्मा वसुदेवजी उसको शान्त करते हुए बोले— ॥ ३६ ॥

वसुदेवजीने कहा—राजकुमार! आप भोजवंशके होनहार वंशधर तथा अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। बड़े-बड़े शूरवीर आपके गुणोंकी सराहना करते हैं। इधर यह एक तो स्त्री, दूसरे आपकी बहिन और तीसरे यह विवाहका शुभ अवसर! ऐसी स्थितिमें आप इसे कैसे मार सकते हैं?॥ ३७॥ वीरवर! जो जन्म लेते हैं, उनके शरीरके साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्षके बाद—जो प्राणी है, उसकी मृत्यु होगी ही॥ ३८॥ जब शरीरका अन्त हो जाता है, तब जीव अपने कर्मके अनुसार दूसरे शरीरको ग्रहण करके अपने पहले शरीरको छोड़ देता है। उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है॥ ३९ ॥ जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर जमाकर ही दूसरा पैर उठाता है और जैसे जोंक किसी अगले तिनकेको पकड़ लेती है, तब पहलेके पकड़े हुए तिनकेको छोड़ती है—वैसे जीव भी अपने कर्मके अनुसार किसी शरीरको प्राप्त करनेके बाद ही इस शरीरको छोड़ता है॥ ४० ॥ जैसे कोई पुरुष जाग्रत्-अवस्थामें राजाके ऐश्वर्यको देखकर और इन्द्रादिके ऐश्वर्यको सुनकर उसकी अभिलाषा करने लगता है और उसका चिन्तन करते-करते उन्हीं बातोंमें घुल-मिलकर एक हो जाता है तथा स्वप्नमें अपनेको राजा या इन्द्रके रूपमें अनुभव करने लगता है, साथ ही अपने दरिद्रावस्थाके शरीरको भूल जाता है। कभी-कभी तो जाग्रत् अवस्थामें ही मन-ही-मन उन बातोंका चिन्तन करते-करते तन्मय हो जाता है और उसे स्थूल शरीरकी सुधि नहीं रहती। वैसे ही जीव कर्मकृत कामना और कामनाकृत कर्मके वश होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है और अपने पहले शरीरको भूल जाता है॥ ४१ ॥ जीवका मन अनेक विकारोंका पुंज है। देहान्तके समय वह अनेक जन्मोंके संचित और प्रारब्ध कर्मोंकी वासनाओंके अधीन होकर मायाके द्वारा रचे हुए अनेक पांचभौतिक शरीरोंमेंसे जिस किसी शरीरके चिन्तनमें तल्लीन हो जाता है और मान बैठता है कि यह मैं हूँ, उसे वही शरीर ग्रहण करके जन्म लेना पड़ता है॥ ४२॥

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः
समीरवेगानुगतं विभाव्यते।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्
गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति॥ ४३

तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्॥ ४४

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः॥ ४५

श्रीशुक उवाच

एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोऽपि दारुणः।
न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः॥ ४६

निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत॥ ४७

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः॥ ४८

प्रदाय मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम्।
सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत्॥ ४९

विपर्ययो वा किं न स्याद् गतिर्धातुर्दुरत्यया।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत्॥ ५०

जैसे सूर्य, चन्द्रमा आदि चमकीली वस्तुएँ जलसे भरे हुए घड़ोंमें या तेल आदि तरल पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होती हैं और हवाके झोंकेसे उनके जल आदिके हिलने-डोलनेपर उनमें प्रतिबिम्बित वस्तुएँ भी चंचल जान पड़ती हैं—वैसे ही जीव अपने स्वरूपके अज्ञानद्वारा रचे हुए शरीरोंमें राग करके उन्हें अपना आप मान बैठता है और मोहवश उनके आने-जानेको अपना आना-जाना मानने लगता है॥ ४३॥ इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे किसीसे द्रोह नहीं करना चाहिये; क्योंकि जीव कर्मके अधीन हो गया है और जो किसीसे भी द्रोह करेगा, उसको इस जीवनमें शत्रुसे और जीवनके बाद परलोकसे भयभीत होना ही पड़ेगा॥ ४४॥ कंस! यह आपकी छोटी बहिन अभी बच्ची और बहुत दीन है। यह तो आपकी कन्याके समान है। इसपर, अभी-अभी इसका विवाह हुआ है, विवाहके मंगलचिह्न भी इसके शरीरपरसे नहीं उतरे हैं। ऐसी दशामें आप-जैसे दीनवत्सल पुरुषको इस बेचारीका वध करना उचित नहीं है॥ ४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार वसुदेवजीने प्रशंसा आदि सामनीति और भय आदि भेदनीतिसे कंसको बहुत समझाया। परन्तु वह क्रूर तो राक्षसोंका अनुयायी हो रहा था; इसलिये उसने अपने घोर संकल्पको नहीं छोड़ा॥ ४६॥ वसुदेवजीने कंसका विकट हठ देखकर यह विचार किया कि किसी प्रकार यह समय तो टाल ही देना चाहिये। तब वे इस निश्चयपर पहुँचे॥ ४७॥ 'बुद्धिमान् पुरुषको, जहाँतक उसकी बुद्धि और बल साथ दें, मृत्युको टालनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रयत्न करनेपर भी वह न टल सके, तो फिर प्रयत्न करनेवालेका कोई दोष नहीं रहता॥ ४८॥ इसलिये इस मृत्युरूप कंसको अपने पुत्र दे देनेकी प्रतिज्ञा करके मैं इस दीन देवकीको बचा लूँ। यदि मेरे लड़के होंगे और तबतक यह कंस स्वयं नहीं मर जायगा, तब क्या होगा?॥ ४९॥ सम्भव है, उलटा ही हो। मेरा लड़का ही इसे मार डाले! क्योंकि विधाताके विधानका पार पाना बहुत कठिन है। मृत्यु सामने आकर भी टल जाती है और टली हुई भी लौट आती है॥ ५०॥

अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयो-
रदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः
शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥ ५१

एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्।
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरःसरम्॥ ५२

प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम्।
मनसा दूयमानेन विहसन्निदमब्रवीत्॥ ५३

वसुदेव उवाच

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद् वागाहाशरीरिणी।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम्॥ ५४

श्रीशुक उवाच

स्वसुर्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित्।
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद् गृहम्॥ ५५

अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।
पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम्॥ ५६

कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः॥ ५७

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥ ५८

जिस समय वनमें आग लगती है, उस समय कौन-सी लकड़ी जले और कौन-सी न जले, दूरकी जल जाय और पासकी बच रहे—इन सब बातोंमें अदृष्टके सिवा और कोई कारण नहीं होता। वैसे ही किस प्राणीका कौन-सा शरीर बना रहेगा और किस हेतुसे कौन-सा शरीर नष्ट हो जायगा—इस बातका पता लगा लेना बहुत ही कठिन है'॥ ५१॥ अपनी बुद्धिके अनुसार ऐसा निश्चय करके वसुदेवजीने बहुत सम्मानके साथ पापी कंसकी बड़ी प्रशंसा की॥ ५२॥ परीक्षित्! कंस बड़ा क्रूर और निर्लज्ज था; अतः ऐसा करते समय वसुदेवजीके मनमें बड़ी पीड़ा भी हो रही थी। फिर भी उन्होंने ऊपरसे अपने मुखकमलको प्रफुल्लित करके हँसते हुए कहा—॥ ५३॥

वसुदेवजीने कहा—सौम्य! आपको देवकीसे तो कोई भय है नहीं, जैसा कि आकाशवाणीने कहा है। भय है पुत्रोंसे, सो इसके पुत्र मैं आपको लाकर सौंप दूँगा॥ ५४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कंस जानता था कि वसुदेवजीके वचन झूठे नहीं होते और इन्होंने जो कुछ कहा है, वह युक्तिसंगत भी है। इसलिये उसने अपनी बहिन देवकीको मारनेका विचार छोड़ दिया। इससे वसुदेवजी बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करके अपने घर चले आये॥ ५५॥ देवकी बड़ी सती-साध्वी थी। सारे देवता उसके शरीरमें निवास करते थे। समय आनेपर देवकीके गर्भसे प्रतिवर्ष एक-एक करके आठ पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई॥ ५६॥ पहले पुत्रका नाम था कीर्तिमान्। वसुदेवजीने उसे लाकर कंसको दे दिया। ऐसा करते समय उन्हें कष्ट तो अवश्य हुआ, परन्तु उससे भी बड़ा कष्ट उन्हें इस बातका था कि कहीं मेरे वचन झूठे न हो जायँ॥ ५७॥ परीक्षित्! सत्यसन्ध पुरुष बड़े-से-बड़ा कष्ट भी सह लेते हैं, ज्ञानियोंको किसी बातकी अपेक्षा नहीं होती, नीच पुरुष बुरे-से-बुरा काम भी कर सकते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं—जिन्होंने भगवान्‌को हृदयमें धारण कर रखा है, वे सब कुछ त्याग सकते हैं॥ ५८॥

दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम्।
कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ ५९

प्रतियातु[1] कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम्।
अष्टमाद् युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे[2] विहितः किल॥ ६०

तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः॥ ६१

नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः॥ ६२

सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः॥ ६३

एतत् कंसाय भगवाञ्छशंसाभ्येत्य नारदः।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम्॥ ६४

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति।
देवक्या गर्भसम्भूतं विष्णुं च स्ववधं प्रति॥ ६५

देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशंकया॥ ६६

मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च सुहृदस्तथा।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि॥ ६७

जब कंसने देखा कि वसुदेवजीका अपने पुत्रके जीवन और मृत्युमें समान भाव है एवं वे सत्यमें पूर्ण निष्ठावान् भी हैं, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ और उनसे हँसकर बोला॥ ५९॥ वसुदेवजी! आप इस नन्हे-से सुकुमार बालकको ले जाइये। इससे मुझे कोई भय नहीं है। क्योंकि आकाशवाणीने तो ऐसा कहा था कि देवकीके आठवें गर्भसे उत्पन्न सन्तानके द्वारा मेरी मृत्यु होगी॥ ६०॥ वसुदेवजीने कहा—'ठीक है' और उस बालकको लेकर वे लौट आये। परन्तु उन्हें मालूम था कि कंस बड़ा दुष्ट है और उसका मन उसके हाथमें नहीं है। वह किसी क्षण बदल सकता है। इसलिये उन्होंने उसकी बातपर विश्वास नहीं किया॥ ६१॥

परीक्षित्! इधर भगवान् नारद कंसके पास आये और उससे बोले कि 'कंस! व्रजमें रहनेवाले नन्द आदि गोप, उनकी स्त्रियाँ, वसुदेव आदि वृष्णिवंशी यादव, देवकी आदि यदुवंशकी स्त्रियाँ और नन्द, वसुदेव दोनोंके सजातीय बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी—सब-के-सब देवता हैं; जो इस समय तुम्हारी सेवा कर रहे हैं, वे भी देवता ही हैं।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'दैत्योंके कारण पृथ्वीका भार बढ़ गया है, इसलिये देवताओंकी ओरसे अब उनके वधकी तैयारी की जा रही है'॥ ६२—६४॥ जब देवर्षि नारद इतना कहकर चले गये, तब कंसको यह निश्चय हो गया कि यदुवंशी देवता हैं और देवकीके गर्भसे विष्णुभगवान् ही मुझे मारनेके लिये पैदा होनेवाले हैं। इसलिये उसने देवकी और वसुदेवको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर कैदमें डाल दिया और उन दोनोंसे जो-जो पुत्र होते गये, उन्हें वह मारता गया। उसे हर बार यह शंका बनी रहती कि कहीं विष्णु ही उस बालकके रूपमें न आ गया हो॥ ६५-६६॥ परीक्षित्! पृथ्वीमें यह बात प्रायः देखी जाती है कि अपने प्राणोंका ही पोषण करनेवाले लोभी राजा अपने स्वार्थके लिये माता-पिता, भाई-बन्धु और अपने अत्यन्त हितैषी इष्ट-मित्रोंकी भी हत्या कर डालते हैं॥ ६७॥

१. यवीयांस्तु। २. योः पुत्रान्मृ०।

आत्मानमिह संजातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम्।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत॥ ६८

कंस जानता था कि मैं पहले कालनेमि असुर था और विष्णुने मुझे मार डाला था। इससे उसने यदुवंशियोंसे घोर विरोध ठान लिया॥ ६८॥

उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्[१]।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः॥ ६९

कंस बड़ा बलवान् था। उसने यदु, भोज और अन्धक वंशके अधिनायक अपने पिता उग्रसेनको कैद कर लिया और शूरसेन-देशका राज्य वह स्वयं करने लगा॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे श्रीकृष्णावतारोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान्‌का गर्भ-प्रवेश और देवताओंद्वारा गर्भ-स्तुति

श्रीशुक उवाच

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः[२]।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः॥ १

अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! कंस एक तो स्वयं बड़ा बली था और दूसरे, मगधनरेश जरासन्धकी उसे बहुत बड़ी सहायता प्राप्त थी। तीसरे, उसके साथी थे—प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूर, तृणावर्त, अघासुर, मुष्टिक, अरिष्टासुर, द्विविद, पूतना, केशी और धेनुक। तथा बाणासुर और भौमासुर आदि बहुत-से दैत्य राजा उसके सहायक थे। इनको साथ लेकर वह यदुवंशियोंको नष्ट करने लगा॥ १-२॥

ते पीडिता निविविशुः कुरुपंचालकेकयान्।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोसलानपि॥ ३

एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते।
हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना॥ ४

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः॥ ५

वे लोग भयभीत होकर कुरु, पंचाल, केकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह और कोसल आदि देशोंमें जा बसे॥ ३॥ कुछ लोग ऊपर-ऊपरसे उसके मनके अनुसार काम करते हुए उसकी सेवामें लगे रहे। जब कंसने एक-एक करके देवकीके छः बालक मार डाले, तब देवकीके सातवें गर्भमें भगवान्‌के अंशस्वरूप श्रीशेषजी* जिन्हें अनन्त भी कहते हैं—पधारे। आनन्द-स्वरूप शेषजीके गर्भमें आनेके कारण देवकीको स्वाभाविक ही हर्ष हुआ। परन्तु कंस शायद इसे भी मार डाले, इस भयसे उनका शोक भी बढ़ गया॥ ४-५॥

१. यदूनामन्धका०। २. हासुरैः।

* शेष भगवान्‌ने विचार किया कि 'रामावतारमें मैं छोटा भाई बना, इसीसे मुझे बड़े भाईकी आज्ञा माननी पड़ी और वन जानेसे मैं उन्हें रोक नहीं सका। श्रीकृष्णावतारमें मैं बड़ा भाई बनकर भगवान्‌की अच्छी सेवा कर सकूँगा। इसलिये वे श्रीकृष्णसे पहले ही गर्भमें आ गये।

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां[1] समादिशत्॥ ६

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि[2]॥ ७

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् संनिकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय॥ ८

अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥ ९

अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वका[3]मवरेश्वरीम्।
[4]धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम्॥ १०

नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥ ११

कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च॥ १२

गर्भसंकर्षणात् तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि।
रामेति लोकरमणाद् बलं बलवदुच्छ्रयात्॥ १३

सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत्॥ १४

गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः॥ १५

विश्वात्मा भगवान्‌ने देखा कि मुझे ही अपना स्वामी और सर्वस्व माननेवाले यदुवंशी कंसके द्वारा बहुत ही सताये जा रहे हैं। तब उन्होंने अपनी योगमायाको यह आदेश दिया— ॥ ६ ॥ 'देवि! कल्याणी! तुम व्रजमें जाओ! वह प्रदेश ग्वालों और गौओंसे सुशोभित है। वहाँ नन्दबाबाके गोकुलमें वसुदेवकी पत्नी रोहिणी निवास करती हैं। उनकी और भी पत्नियाँ कंससे डरकर गुप्त स्थानोंमें रह रही हैं॥ ७॥ इस समय मेरा वह अंश जिसे शेष कहते हैं, देवकीके उदरमें गर्भ रूपसे स्थित है। उसे वहाँसे निकालकर तुम रोहिणीके पेटमें रख दो॥ ८॥ कल्याणी! अब मैं अपने समस्त ज्ञान, बल आदि अंशोंके साथ देवकीका पुत्र बनूँगा और तुम नन्दबाबाकी पत्नी यशोदाके गर्भसे जन्म लेना॥ ९॥ तुम लोगोंको मुँहमाँगे वरदान देनेमें समर्थ होओगी। मनुष्य तुम्हें अपनी समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली जानकर धूप-दीप, नैवेद्य एवं अन्य प्रकारकी सामग्रियोंसे तुम्हारी पूजा करेंगे॥ १०॥ पृथ्वीमें लोग तुम्हारे लिये बहुत-से स्थान बनायेंगे और दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्या, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका आदि बहुत-से नामोंसे पुकारेंगे॥ ११-१२॥ देवकीके गर्भमेंसे खींचे जानेके कारण शेषजीको लोग संसारमें 'संकर्षण' कहेंगे, लोकरंजन करनेके कारण 'राम' कहेंगे और बलवानोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण 'बलभद्र' भी कहेंगे॥ १३॥

जब भगवान्‌ने इस प्रकार आदेश दिया, तब योगमायाने 'जो आज्ञा'—ऐसा कहकर उनकी बात शिरोधार्य की और उनकी परिक्रमा करके वे पृथ्वी-लोकमें चली आयीं तथा भगवान्‌ने जैसा कहा था, वैसे ही किया॥ १४॥ जब योगमायाने देवकीका गर्भ ले जाकर रोहिणीके उदरमें रख दिया, तब पुरवासी बड़े दुःखके साथ आपसमें कहने लगे—'हाय! बेचारी देवकीका यह गर्भ तो नष्ट ही हो गया'॥ १५॥

---

१. निद्रां। २. याः। ३. कर्मवरे०। ४. नानोप०।

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयंकरः।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः॥ १६

स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह॥ १७

ततो जगन्मंगलमच्युतांशं
समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं
काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः॥ १८

सा देवकी सर्वजगन्निवास-
निवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा
सरस्वती ज्ञानखले यथा सती॥ १९

तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां
विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां
ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी॥ २०

किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे
यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं
यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः॥ २१

स एष जीवन् खलु सम्परेतो
वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन।
देहे मृते तं मनुजाः शपन्ति
गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम्॥ २२

भगवान् भक्तोंको अभय करनेवाले हैं। वे सर्वत्र सब रूपमें हैं, उन्हें कहीं आना-जाना नहीं है। इसलिये वे वसुदेवजीके मनमें अपनी समस्त कलाओंके साथ प्रकट हो गये॥ १६॥ उसमें विद्यमान रहनेपर भी अपनेको अव्यक्तसे व्यक्त कर दिया। भगवान्‌की ज्योतिको धारण करनेके कारण वसुदेवजी सूर्यके समान तेजस्वी हो गये, उन्हें देखकर लोगोंकी आँखें चौंधिया जातीं। कोई भी अपने बल, वाणी या प्रभावसे उन्हें दबा नहीं सकता था॥ १७॥ भगवान्‌के उस ज्योतिर्मय अंशको, जो जगत्‌का परम मंगल करनेवाला है, वसुदेवजीके द्वारा आधान किये जानेपर देवी देवकीने ग्रहण किया। जैसे पूर्वदिशा चन्द्रदेवको धारण करती है, वैसे ही शुद्ध सत्त्वसे सम्पन्न देवी देवकीने विशुद्ध मनसे सर्वात्मा एवं आत्मस्वरूप भगवान्‌को धारण किया॥ १८॥ भगवान् सारे जगत्‌के निवासस्थान हैं। देवकी उनका भी निवासस्थान बन गयी। परन्तु घड़े आदिके भीतर बंद किये हुए दीपकका और अपनी विद्या दूसरेको न देनेवाले ज्ञानखलकी श्रेष्ठ विद्याका प्रकाश जैसे चारों ओर नहीं फैलता, वैसे ही कंसके कारागारमें बंद देवकीकी भी उतनी शोभा नहीं हुई॥ १९॥ देवकीके गर्भमें भगवान् विराजमान हो गये थे। उसके मुखपर पवित्र मुसकान थी और उसके शरीरकी कान्तिसे बंदीगृह जगमगाने लगा था। जब कंसने उसे देखा, तब वह मन-ही-मन कहने लगा—'अबकी बार मेरे प्राणोंके ग्राहक विष्णुने इसके गर्भमें अवश्य ही प्रवेश किया है; क्योंकि इसके पहले देवकी कभी ऐसी न थी॥ २०॥ अब इस विषयमें शीघ्र-से-शीघ्र मुझे क्या करना चाहिये? देवकीको मारना तो ठीक न होगा; क्योंकि वीर पुरुष स्वार्थवश अपने पराक्रमको कलंकित नहीं करते। एक तो यह स्त्री है, दूसरे बहिन और तीसरे गर्भवती है। इसको मारनेसे तो तत्काल ही मेरी कीर्ति, लक्ष्मी और आयु नष्ट हो जायगी॥ २१॥ वह मनुष्य तो जीवित रहनेपर भी मरा हुआ ही है, जो अत्यन्त क्रूरताका व्यवहार करता है। उसकी मृत्युके बाद लोग उसे गाली देते हैं। इतना ही नहीं, वह देहाभिमानियोंके योग्य घोर नरकमें भी अवश्य-अवश्य जाता है॥ २२॥

इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयं प्रभुः ।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत् ॥ २३

यद्यपि कंस देवकीको मार सकता था, किन्तु स्वयं ही वह इस अत्यन्त क्रूरताके विचारसे निवृत्त हो गया।* अब भगवान्‌के प्रति दृढ़ वैरका भाव मनमें गाँठकर उनके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा॥ २३ ॥

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुंजानः पर्यटन्[1] महीम् ।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥ २४

वह उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और चलते-फिरते—सर्वदा ही श्रीकृष्णके चिन्तनमें लगा रहता। जहाँ उसकी आँख पड़ती, जहाँ कुछ खड़का होता, वहाँ उसे श्रीकृष्ण दीख जाते। इस प्रकार उसे सारा जगत् ही श्रीकृष्णमय दीखने लगा॥ २४॥

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः ।
देवैः[2] सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमैडयन् ॥ २५

परीक्षित्! भगवान् शंकर और ब्रह्माजी कंसके कैदखानेमें आये। उनके साथ अपने अनुचरोंके सहित समस्त देवता और नारदादि ऋषि भी थे। वे लोग सुमधुर वचनोंसे सबकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति करने लगे॥ २५ ॥

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २६

'प्रभो! आप सत्यसंकल्प हैं। सत्य ही आपकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है। सृष्टिके पूर्व, प्रलयके पश्चात् और संसारकी स्थितिके समय—इन असत्य अवस्थाओंमें भी आप सत्य हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच दृश्यमान सत्योंके आप ही कारण हैं। और उनमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान भी हैं। आप इस दृश्यमान जगत्‌के परमार्थस्वरूप हैं। आप ही मधुर वाणी और समदर्शनके प्रवर्तक हैं। भगवन्! आप तो बस, सत्यस्वरूप ही हैं। हम सब आपकी शरणमें आये हैं॥ २६ ॥

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल-
श्चतूरसः पंचविधः षडात्मा।

यह संसार क्या है, एक सनातन वृक्ष। इस वृक्षका आश्रय है—एक प्रकृति। इसके दो फल हैं—सुख और दुःख; तीन जड़ें हैं—सत्त्व, रज और तम; चार रस हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसके जाननेके पाँच प्रकार हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका। इसके छः स्वभाव हैं—पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना। इस वृक्षकी छाल हैं सात धातुएँ—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। आठ शाखाएँ हैं—पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। इसमें मुख आदि

१. टन् पिबन्। २. देवाः सानुचराः।

* जो कंस विवाहके मंगलचिह्नोंको धारण की हुई देवकीका गला काटनेके उद्योगसे न हिचका, वही आज इतना सद्-विचारवान् हो गया, इसका क्या कारण है? अवश्य ही आज वह जिस देवकीको देख रहा है, उसके अन्तरंगमें—गर्भमें श्रीभगवान् हैं। जिसके भीतर भगवान् हैं, उसके दर्शनसे सद्‌बुद्धिका उदय होना कोई आश्चर्य नहीं है।

सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥ २७

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूति-
स्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये॥ २८

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥ २९

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥ ३०

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीमममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥ ३१

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ ३२

नवों द्वार खोड़र हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये दस प्राण ही इसके दस पत्ते हैं। इस संसाररूप वृक्षपर दो पक्षी हैं—जीव और ईश्वर॥ २७॥ इस संसाररूप वृक्षकी उत्पत्तिके आधार एकमात्र आप ही हैं। आपमें ही इसका प्रलय होता है और आपके ही अनुग्रहसे इसकी रक्षा भी होती है। जिनका चित्त आपकी मायासे आवृत हो रहा है, इस सत्यको समझनेकी शक्ति खो बैठा है—वे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मादि देवताओंको अनेक देखते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष तो सबके रूपमें केवल आपका ही दर्शन करते हैं॥ २८॥ आप ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। चराचर जगत्के कल्याणके लिये ही अनेकों रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय होते हैं और संत पुरुषोंको बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टोंको उनकी दुष्टताका दण्ड भी देते हैं। उनके लिये अमंगलमय भी होते हैं॥ २९॥ कमलके समान कोमल अनुग्रहभरे नेत्रोंवाले प्रभो! कुछ बिरले लोग ही आपके समस्त पदार्थों और प्राणियोंके आश्रयस्वरूप रूपमें पूर्ण एकाग्रतासे अपना चित्त लगा पाते हैं और आपके चरणकमलरूपी जहाजका आश्रय लेकर इस संसारसागरको बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान अनायास ही पार कर जाते हैं। क्यों न हो, अबतकके संतोंने इसी जहाजसे संसार-सागरको पार जो किया है॥ ३०॥ परम प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आपके भक्तजन सारे जगत्के निष्कपट प्रेमी, सच्चे हितैषी होते हैं। वे स्वयं तो इस भयंकर और कष्टसे पार करनेयोग्य संसारसागरको पार कर ही जाते हैं, किन्तु औरोंके कल्याणके लिये भी वे यहाँ आपके चरण-कमलोंकी नौका स्थापित कर जाते हैं। वास्तवमें सत्पुरुषोंपर आपकी महान् कृपा है। उनके लिये आप अनुग्रहस्वरूप ही हैं॥ ३१॥ कमलनयन! जो लोग आपके चरणकमलोंकी शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको झूठ-मूठ मुक्त मानते हैं। वास्तवमें तो वे बद्ध ही हैं। वे यदि बड़ी तपस्या और साधनाका कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं॥ ३२॥

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥ ३३

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि-
स्तवार्हणं येन जनः समीहते॥ ३४

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः॥ ३५

न नामरूपे गुणजन्मकर्मभि-[1]
र्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि॥ ३६

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मंगलानि ते।

परन्तु भगवन्! जो आपके अपने निज जन हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने साधन-मार्गसे गिरते नहीं। प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवालोंकी सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते; क्योंकि उनके रक्षक आप जो हैं॥ ३३॥ आप संसारकी स्थितिके लिये समस्त देहधारियोंको परम कल्याण प्रदान करनेवाला विशुद्ध सत्त्वमय, सच्चिदानन्दमय परम दिव्य मंगल-विग्रह प्रकट करते हैं। उस रूपके प्रकट होनेसे ही आपके भक्त वेद, कर्मकाण्ड, अष्टांगयोग, तपस्या और समाधिके द्वारा आपकी आराधना करते हैं। बिना किसी आश्रयके वे किसकी आराधना करेंगे?॥ ३४॥ प्रभो! आप सबके विधाता हैं। यदि आपका यह विशुद्ध सत्त्वमय निज स्वरूप न हो, तो अज्ञान और उसके द्वारा होनेवाले भेदभावको नष्ट करनेवाला अपरोक्ष ज्ञान ही किसीको न हो। जगत्‌में दीखनेवाले तीनों गुण आपके हैं और आपके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, यह सत्य है। परन्तु इन गुणोंकी प्रकाशक वृत्तियोंसे आपके स्वरूपका केवल अनुमान ही होता है, वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता। (आपके स्वरूपका साक्षात्कार तो आपके इस विशुद्ध सत्त्वमय स्वरूपकी सेवा करनेपर आपकी कृपासे ही होता है)॥ ३५॥ भगवन्! मन और वेद-वाणीके द्वारा केवल आपके स्वरूपका अनुमानमात्र होता है। क्योंकि आप उनके द्वारा दृश्य नहीं; उनके साक्षी हैं। इसलिये आपके गुण, जन्म और कर्म आदिके द्वारा आपके नाम और रूपका निरूपण नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रभो! आपके भक्तजन उपासना आदि क्रियायोगोंके द्वारा आपका साक्षात्कार तो करते ही हैं॥ ३६॥ जो पुरुष आपके मंगलमय नामों और रूपोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है और आपके चरणकमलोंकी

१. गुणकर्मजन्मभिर्नि०।

क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥ ३७

दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो
भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः।
दिष्ट्यांकितां त्वत्पदकैः सुशोभनै-
र्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम्॥ ३८

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥ ३९

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस-
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते॥ ४०

दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमा-
नंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः।
मा भूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षो-
र्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः॥ ४१

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्॥ ४२

सेवामें ही अपना चित्त लगाये रहता है—उसे फिर जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें नहीं आना पड़ता॥ ३७॥ सम्पूर्ण दुःखोंके हरनेवाले भगवन्! आप सर्वेश्वर हैं। यह पृथ्वी तो आपका चरणकमल ही है। आपके अवतारसे इसका भार दूर हो गया। धन्य है! प्रभो! हमारे लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि हमलोग आपके सुन्दर-सुन्दर चिह्नोंसे युक्त चरणकमलोंके द्वारा विभूषित पृथ्वीको देखेंगे और स्वर्गलोकको भी आपकी कृपासे कृतार्थ देखेंगे॥ ३८॥ प्रभो! आप अजन्मा हैं। यदि आपके जन्मके कारणके सम्बन्धमें हम कोई तर्क ना करें, तो यही कह सकते हैं कि यह आपका एक लीला-विनोद है । ऐसा कहनेका कारण यह है कि आप तो द्वैतके लेशसे रहित सर्वाधिष्ठानस्वरूप हैं और इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय अज्ञानके द्वारा आपमें आरोपित हैं॥ ३९॥ प्रभो! आपने जैसे अनेकों बार मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, परशुराम और वामन अवतार धारण करके हमलोगोंकी और तीनों लोकोंकी रक्षा की है—वैसे ही आप इस बार भी पृथ्वीका भार हरण कीजिये। यदुनन्दन! हम आपके चरणोंमें वन्दना करते हैं'॥ ४०॥ [देवकीजीको सम्बोधित करके] 'माताजी! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपकी कोखमें हम सबका कल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम अपने ज्ञान, बल आदि अंशोंके साथ पधारे हैं। अब आप कंससे तनिक भी मत डरिये। अब तो वह कुछ ही दिनोंका मेहमान है। आपका पुत्र यदुवंशकी रक्षा करेगा'॥ ४१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! ब्रह्मादि देवताओंने इस प्रकार भगवान्की स्तुति की। उनका रूप 'यह है' इस प्रकार निश्चितरूपसे तो कहा नहीं जा सकता, सब अपनी-अपनी मतिके अनुसार उसका निरूपण करते हैं। इसके बाद ब्रह्मा और शंकरजीको आगे करके देवगण स्वर्गमें चले गये॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गर्भगतविष्णोर्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य

श्रीशुक उवाच

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्॥ १

दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।
मही मंगलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब समस्त शुभ गुणोंसे युक्त बहुत सुहावना समय आया। रोहिणी नक्षत्र था। आकाशके सभी नक्षत्र, ग्रह और तारे शान्त—सौम्य हो रहे थे*॥ १॥

दिशाएँ स्वच्छ प्रसन्न थीं। निर्मल आकाशमें तारे जगमगा रहे थे। पृथ्वीके बड़े-बड़े नगर, छोटे-छोटे गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ और हीरे आदिकी खानें

---

* जैसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर उसमें भगवान्‌का आविर्भाव होता है, श्रीकृष्णावतारके अवसरपर भी ठीक उसी प्रकारका समष्टिकी शुद्धिका वर्णन किया गया है। इसमें काल, दिशा, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन और आत्मा—इन नौ द्रव्योंका अलग-अलग नामोल्लेख करके साधकके लिये एक अत्यन्त उपयोगी साधन-पद्धतिकी ओर संकेत किया गया है।

काल—

भगवान् कालसे परे हैं। शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा ऐसा निरूपण सुनकर काल मानो क्रुद्ध हो गया था और रुद्ररूप धारण करके सबको निगल रहा था। आज जब उसे मालूम हुआ कि स्वयं परिपूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण मेरे अंदर अवतीर्ण हो रहे हैं, तब वह आनन्दसे भर गया और समस्त सद्‌गुणोंको धारणकर तथा सुहावना बनकर प्रकट हो गया।

दिशा—

१. प्राचीन शास्त्रोंमें दिशाओंको देवी माना गया है। उनके एक-एक स्वामी भी होते हैं—जैसे प्राचीके इन्द्र, प्रतीचीके वरुण आदि। कंसके राज्य-कालमें ये देवता पराधीन—कैदी हो गये थे। अब भगवान् श्रीकृष्णके अवतारसे देवताओंकी गणनाके अनुसार ग्यारह-बारह दिनोंमें ही उन्हें छुटकारा मिल जायगा, इसलिये अपने पतियोंके संगम-सौभाग्यका अनुसंधान करके देवियाँ प्रसन्न हो गयीं। जो देव एवं दिशाके परिच्छेदसे रहित हैं, वे ही प्रभु भारत देशके व्रज-प्रदेशमें आ रहे हैं, यह अपूर्व आनन्दोत्सव भी दिशाओंकी प्रसन्नताका हेतु है।

२. संस्कृत-साहित्यमें दिशाओंका एक नाम 'आशा' भी है। दिशाओंकी प्रसन्नताका एक अर्थ यह भी है कि अब सत्पुरुषोंकी आशा-अभिलाषा पूर्ण होगी।

३. विराट् पुरुषके अवयव-संस्थानका वर्णन करते समय दिशाओंको उनका कान बताया गया है। श्रीकृष्णके अवतारके अवसरपर दिशाएँ मानो यह सोचकर प्रसन्न हो गयीं कि प्रभु असुर-असाधुओंके उपद्रवसे दुःखी प्राणियोंकी प्रार्थना सुननेके लिये सतत सावधान हैं।

पृथ्वी—

१. पुराणोंमें भगवान्‌की दो पत्नियोंका उल्लेख मिलता है—एक श्रीदेवी और दूसरी भूदेवी। ये दोनों चल-सम्पत्ति और अचल-सम्पत्तिकी स्वामिनी हैं। इनके पति हैं—भगवान्, जीव नहीं। जिस समय श्रीदेवीके निवासस्थान वैकुण्ठसे उतरकर भगवान् भूदेवीके निवासस्थान पृथ्वीपर आने लगे, तब जैसे परदेशसे पतिके आगमनका समाचार सुनकर पत्नी सज-धजकर अगवानी करनेके लिये निकलती है, वैसे ही पृथ्वीका मंगलमयी होना, मंगलचिह्नोंको धारण करना स्वाभाविक ही है।

२. भगवान्‌के श्रीचरण मेरे वक्षःस्थलपर पड़ेंगे, अपने सौभाग्यका ऐसा अनुसन्धान करके पृथ्वी आनन्दित हो गयी।

३. वामन ब्रह्मचारी थे। परशुरामजीने ब्राह्मणोंको दान दे दिया । श्रीरामचन्द्रने मेरी पुत्री जानकीसे विवाह कर लिया। इसलिये उन अवतारोंमें मैं भगवान्‌से जो सुख नहीं प्राप्त कर सकी, वही श्रीकृष्णसे प्राप्त करूँगी। यह सोचकर पृथ्वी मंगलमयी हो गयी।

४. अपने पुत्र मंगलको गोदमें लेकर पतिदेवका स्वागत करने चली।

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
द्विजालिकुलसंनादस्तबका वनराजयः॥ ३

मंगलमय हो रही थीं॥ २॥ नदियोंका जल निर्मल हो गया था। रात्रिके समय भी सरोवरोंमें कमल खिल रहे थे। वनमें वृक्षोंकी पंक्तियाँ रंग-बिरंगे पुष्पोंके गुच्छोंसे लद गयी थीं। कहीं पक्षी चहक रहे थे, तो कहीं भौंरे गुनगुना रहे थे॥ ३॥ उस समय परम पवित्र और शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु अपने स्पर्शसे लोगोंको सुखदान करती हुई बह रही थी। ब्राह्मणोंके अग्नि-होत्रकी कभी न बुझनेवाली अग्नियाँ जो कंसके अत्याचारसे बुझ गयी थीं, वे इस समय अपने-आप जल उठीं॥ ४॥

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत॥ ४

जल (नदियाँ)—

१. नदियोंने विचार किया कि रामावतारमें सेतु-बन्धके बहाने हमारे पिता पर्वतोंको हमारी ससुराल समुद्रमें पहुँचाकर इन्होंने हमें मायकेका सुख दिया था। अब इनके शुभागमनके अवसरपर हमें भी प्रसन्न होकर इनका स्वागत करना चाहिये।

२. नदियाँ सब गंगाजीसे कहती थीं—'तुमने हमारे पिता पर्वत देखे हैं, अपने पिता भगवान् विष्णुके दर्शन कराओ।' गंगाजीने सुनी-अनसुनी कर दी। अब वे इसलिये प्रसन्न हो गयीं कि हम स्वयं देख लेंगी।

३. यद्यपि भगवान् समुद्रमें नित्य निवास करते हैं, फिर भी ससुराल होनेके कारण वे उन्हें वहाँ देख नहीं पातीं। अब उन्हें पूर्णरूपसे देख सकेंगी, इसलिये वे निर्मल हो गयीं।

४. निर्मल हृदयको भगवान् मिलते हैं, इसलिये वे निर्मल हो गयीं।

५. नदियोंको जो सौभाग्य किसी भी अवतारमें नहीं मिला, वह कृष्णावतारमें मिला। श्रीकृष्णकी चतुर्थ पटरानी हैं—श्रीकालिन्दीजी। अवतार लेते ही यमुनाजीके तटपर जाना, ग्वालबाल एवं गोपियोंके साथ जलक्रीडा करना, उन्हें अपनी पटरानी बनाना—इन सब बातोंको सोचकर नदियाँ आनन्दसे भर गयीं।

ह्रद—

कालिय-दमन करके कालिय-दहका शोधन, ग्वालबालों और अक्रूरको ब्रह्म-ह्रदमें ही अपने स्वरूपके दर्शन आदि स्व-सम्बन्धी लीलाओंका अनुसन्धान करके ह्रदोंने कमलके बहाने अपने प्रफुल्लित हृदयको ही श्रीकृष्णके प्रति अर्पित कर दिया। उन्होंने कहा कि 'प्रभो! भले ही हमें लोग जड समझा करें, आप हमें कभी स्वीकार करेंगे, इस भावी सौभाग्यके अनुसन्धानसे हम सहृदय हो रहे हैं।'

अग्नि—

१. इस अवतारमें श्रीकृष्णने व्योमासुर, तृणावर्त, कालियके दमनसे आकाश, वायु और जलकी शुद्धि की है। मृद्-भक्षणसे पृथ्वीकी और अग्निपानसे अग्निकी। भगवान् श्रीकृष्णने दो बार अग्निको अपने मुँहमें धारण किया। इस भावी सुखका अनुसन्धान करके ही अग्निदेव शान्त होकर प्रज्वलित होने लगे।

२. देवताओंके लिये यज्ञ-भाग आदि बन्द हो जानेके कारण अग्निदेव भी भूखे ही थे। अब श्रीकृष्णावतारसे अपने भोजन मिलनेकी आशासे अग्निदेव प्रसन्न होकर प्रज्वलित हो उठे।

वायु—

१. उदारशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके जन्मके अवसरपर वायुने सुख लुटाना प्रारम्भ किया; क्योंकि समान शीलसे ही मैत्री होती है। जैसे स्वामीके सामने सेवक, प्रजा अपने गुण प्रकट करके उसे प्रसन्न करती है, वैसे ही वायु भगवान्के सामने अपने गुण प्रकट करने लगे।

२. आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दपर जब श्रमजनित स्वेदविन्दु आ जायँगे, तब मैं ही शीतल-मन्द-सुगन्ध गतिसे उसे सुखाऊँगा—यह सोचकर पहलेसे ही वायु सेवाका अभ्यास करने लगा।

३. यदि मनुष्यको प्रभु-चरणारविन्दके दर्शनकी लालसा हो तो उसे विश्वकी सेवा ही करनी चाहिये, मानो यह उपदेश करता हुआ वायु सबकी सेवा करने लगा।

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।
जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि॥ ५
जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।
विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा॥ ६
मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम्॥ ७

संत पुरुष पहलेसे ही चाहते थे कि असुरोंकी बढ़ती न होने पाये। अब उनका मन सहसा प्रसन्नतासे भर गया। जिस समय भगवान्के आविर्भावका अवसर आया, स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं॥ ५॥ किन्नर और गन्धर्व मधुर स्वरमें गाने लगे तथा सिद्ध और चारण भगवान्के मंगलमय गुणोंकी स्तुति करने लगे। विद्याधरियाँ अप्सराओंके साथ नाचने लगीं॥ ६॥ बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि

---

४. रामावतारमें मेरे पुत्र हनुमान्ने भगवान्की सेवा की, इससे मैं कृतार्थ ही हूँ; परन्तु इस अवतारमें मुझे स्वयं ही सेवा कर लेनी चाहिये। इस विचारसे वायु लोगोंको सुख पहुँचाने लगा।

५. सम्पूर्ण विश्वके प्राण वायुने सम्पूर्ण विश्वकी ओरसे भगवान्के स्वागत-समारोहमें प्रतिनिधित्व किया।

आकाश—

१. आकाशकी एकता, आधारता, विशालता और समताकी उपमा तो सदासे ही भगवान्के साथ दी जाती रही, परन्तु अब उसकी झूठी नीलिमा भी भगवान्के अंगसे उपमा देनेसे चरितार्थ हो जायगी, इसलिये आकाशने मानो आनन्दोत्सव मनानेके लिये नीले चँदोवेमें हीरोंके समान तारोंकी झालरें लटका ली हैं।

२. स्वामीके शुभागमनके अवसरपर जैसे सेवक स्वच्छ वेष-भूषा धारण करते हैं और शान्त हो जाते हैं, इसी प्रकार आकाशके सब नक्षत्र, ग्रह, तारे शान्त एवं निर्मल हो गये। वक्रता, अतिचार और युद्ध छोड़कर श्रीकृष्णका स्वागत करने लगे।

नक्षत्र—

मैं देवकीके गर्भसे जन्म ले रहा हूँ तो रोहिणीके संतोषके लिये कम-से-कम रोहिणी नक्षत्रमें जन्म तो लेना ही चाहिये। अथवा चन्द्रवंशमें जन्म ले रहा हूँ, तो चन्द्रमाकी सबसे प्यारी पत्नी रोहिणीमें ही जन्म लेना उचित है। यह सोचकर भगवान्ने रोहिणी नक्षत्रमें जन्म लिया।

मन—

१. योगी मनका निरोध करते हैं, मुमुक्षु निर्विषय करते हैं और जिज्ञासु बाध करते हैं। तत्त्वज्ञोंने तो मनका सत्यानाश ही कर दिया। भगवान्के अवतारका समय जानकर उसने सोचा कि अब तो मैं अपनी पत्नी—इन्द्रियाँ और विषय—बाल-बच्चे सबके साथ ही भगवान्के साथ खेलूँगा। निरोध और बाधसे पिण्ड छूटा। इसीसे मन प्रसन्न हो गया।

२. निर्मलको ही भगवान् मिलते हैं, इसलिये मन निर्मल हो गया।

३. वैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका परित्याग कर देनेपर भगवान् मिलते हैं। अब तो स्वयं भगवान् ही वह सब बनकर आ रहे हैं। लौकिक आनन्द भी प्रभुमें मिलेगा। यह सोचकर मन प्रसन्न हो गया।

४. वसुदेवके मनमें निवास करके ये ही भगवान् प्रकट हो रहे हैं। वह हमारी ही जातिका है, यह सोचकर मन प्रसन्न हो गया।

५. सुमन (देवता और शुद्ध मन) को सुख देनेके लिये ही भगवान्का अवतार हो रहा है। यह जानकर सुमन प्रसन्न हो गये।

६. संतोंमें, स्वर्गमें और उपवनमें सुमन (शुद्ध मन, देवता और पुष्प) आनन्दित हो गये। क्यों न हो, माधव (विष्णु और वसन्त) का आगमन जो हो रहा है।

भाद्रमास—

भद्र अर्थात् कल्याण देनेवाला है। कृष्णपक्ष स्वयं कृष्णसे सम्बद्ध है। अष्टमी तिथि पक्षके बीचोबीच सन्धि-स्थलपर पड़ती है। रात्रि योगीजनोंको प्रिय है। निशीथ यतियोंका सन्ध्याकाल और रात्रिके दो भागोंकी सन्धि है। उस समय श्रीकृष्णके आविर्भावका अर्थ है—अज्ञानके घोर अन्धकारमें दिव्य प्रकाश। निशानाथ चन्द्रके वंशमें जन्म लेना है, तो निशाके मध्यभागमें अवतीर्ण होना उचित भी है। अष्टमीके चन्द्रोदयका समय भी वही है। यदि वसुदेवजी मेरा जातकर्म नहीं कर सकते तो हमारे वंशके आदिपुरुष चन्द्रमा समुद्रस्नान करके अपने कर-किरणोंसे अमृतका वितरण करें।

निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः[1]।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥ ८

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्[2]।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥ ९

महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल-
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकंकणादिभि-
र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥ १०

स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं
सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन्
मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम्॥ ११

आनन्दसे भरकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे*। जलसे भरे हुए बादल समुद्रके पास जाकर धीरे-धीरे गर्जना करने लगे†॥ ७॥ जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ानेवाले जनार्दनके अवतारका समय था निशीथ। चारों ओर अन्धकारका साम्राज्य था। उसी समय सबके हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णु देवरूपिणी देवकीके गर्भसे प्रकट हुए, जैसे पूर्व दिशामें सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाका उदय हो गया हो॥ ८॥

वसुदेवजीने देखा, उनके सामने एक अद्‌भुत बालक है। उसके नेत्र कमलके समान कोमल और विशाल हैं। चार सुन्दर हाथोंमें शंख, गदा, चक्र और कमल लिये हुए हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न— अत्यन्त सुन्दर सुवर्णमयी रेखा है। गलेमें कौस्तुभमणि झिलमिला रही है। वर्षाकालीन मेघके समान परम सुन्दर श्यामल शरीरपर मनोहर पीताम्बर फहरा रहा है। बहुमूल्य वैदूर्यमणिके किरीट और कुण्डलकी कान्तिसे सुन्दर-सुन्दर घुँघराले बाल सूर्यकी किरणोंके समान चमक रहे हैं। कमरमें चमचमाती करधनीकी लड़ियाँ लटक रही हैं। बाँहोंमें बाजूबंद और कलाइयोंमें कंकण शोभायमान हो रहे हैं। इन सब आभूषणोंसे सुशोभित बालकके अंग-अंगसे अनोखी छटा छिटक रही है॥ ९-१०॥ जब वसुदेवजीने देखा कि मेरे पुत्रके रूपमें तो स्वयं भगवान् ही आये हैं, तब पहले तो उन्हें असीम आश्चर्य हुआ; फिर आनन्दसे उनकी

---

१. गुणाश्रयः। २. दाद्युदायुधम्।

* ऋषि, मुनि और देवता जब अपने सुमनकी वर्षा करनेके लिये मथुराकी ओर दौड़े, तब उनका आनन्द भी पीछे छूट गया और उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। उन्होंने अपने निरोध और बाधसम्बन्धी सारे विचार त्यागकर मनको श्रीकृष्णकी ओर जानेके लिये मुक्त कर दिया, उनपर न्योछावर कर दिया।

† १. मेघ समुद्रके पास जाकर मन्द-मन्द गर्जना करते हुए कहते—जलनिधे! यह तुम्हारे उपदेश (पास आने) का फल है कि हमारे पास जल-ही-जल हो गया। अब ऐसा कुछ उपदेश करो कि जैसे तुम्हारे भीतर भगवान् रहते हैं, वैसे हमारे भीतर भी रहें।

२. बादल समुद्रके पास जाते और कहते कि समुद्र! तुम्हारे हृदयमें भगवान् रहते हैं, हमें भी उनका दर्शन-प्यार प्राप्त करवा दो। समुद्र उन्हें थोड़ा-सा जल देकर कह देता—अपनी उत्ताल तरंगोंसे ढकेल देता—जाओ अभी विश्वकी सेवा करके अन्तःकरण शुद्ध करो, तब भगवान्‌के दर्शन होंगे। स्वयं भगवान् मेघश्याम बनकर समुद्रसे बाहर व्रजमें आ रहे हैं। हम धूपमें उनपर छाया करेंगे, अपनी फुइयाँ बरसाकर जीवन न्योछावर करेंगे और उनकी बाँसुरीके स्वरपर ताल देंगे। अपने इस सौभाग्यका अनुसन्धान करके बादल समुद्रके पास पहुँचे और मन्द-मन्द गर्जना करने लगे। मन्द-मन्द इसलिये कि यह ध्वनि प्यारे श्रीकृष्णके कानोंतक न पहुँच जाय।

अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं
परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः।
स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं
विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित्॥ १२

वसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥ १३

स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे॥ १४

यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि॥ १५

सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः॥ १६

एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणै-
र्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते
सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः॥ १७

आँखें खिल उठीं। उनका रोम-रोम परमानन्दमें मग्न हो गया। श्रीकृष्णका जन्मोत्सव मनानेकी उतावलीमें उन्होंने उसी समय ब्राह्मणोंके लिये दस हजार गायोंका संकल्प कर दिया॥ ११॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अंगकान्तिसे सूतिकागृहको जगमग कर रहे थे। जब वसुदेवजीको यह निश्चय हो गया कि ये तो परम पुरुष परमात्मा ही हैं, तब भगवान्का प्रभाव जान लेनेसे उनका सारा भय जाता रहा। अपनी बुद्धि स्थिर करके उन्होंने भगवान्के चरणोंमें अपना सिर झुका दिया और फिर हाथ जोड़कर वे उनकी स्तुति करने लगे—॥ १२॥

वसुदेवजीने कहा—मैं समझ गया कि आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। आपका स्वरूप है केवल अनुभव और केवल आनन्द। आप समस्त बुद्धियोंके एकमात्र साक्षी हैं॥ १३॥ आप ही सर्गके आदिमें अपनी प्रकृतिसे इस त्रिगुणमय जगत्की सृष्टि करते हैं। फिर उसमें प्रविष्ट न होनेपर भी आप प्रविष्टके समान जान पड़ते हैं॥ १४॥ जैसे जबतक महत्तत्त्व आदि कारण-तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं, तबतक उनकी शक्ति भी पृथक्-पृथक् होती है; जब वे इन्द्रियादि सोलह विकारोंके साथ मिलते हैं, तभी इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं और इसे उत्पन्न करके इसीमें अनुप्रविष्ट-से जान पड़ते हैं; परंतु सच्ची बात तो यह है कि वे किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करते। ऐसा होनेका कारण यह है कि उनसे बनी हुई जो भी वस्तु है, उसमें वे पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं॥ १५-१६॥ ठीक वैसे ही बुद्धिके द्वारा केवल गुणोंके लक्षणोंका ही अनुमान किया जाता है और इन्द्रियोंके द्वारा केवल गुणमय विषयोंका ही ग्रहण होता है। यद्यपि आप उनमें रहते हैं, फिर भी उन गुणोंके ग्रहणसे आपका ग्रहण नहीं होता। इसका कारण यह है कि आप सब कुछ हैं, सबके अन्तर्यामी हैं और परमार्थ सत्य, आत्मस्वरूप हैं। गुणोंका आवरण आपको ढक नहीं सकता। इसलिये आपमें न बाहर है न भीतर। फिर आप किसमें प्रवेश करेंगे? (इसलिये प्रवेश न करनेपर भी आप प्रवेश किये हुएके समान दीखते हैं)॥ १७॥

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति
व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं
सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्॥ १८

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥ १९

स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया
बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं
कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये॥ २०

त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु-
र्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपै-
र्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः॥ २१

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे
श्रुत्वाग्रजांस्ते न्यवधीत् सुरेश्वर।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं
श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥ २२

श्रीशुक उवाच

अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम्।
देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता शुचिस्मिता॥ २३

देवक्युवाच

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।

जो अपने इन दृश्य गुणोंको अपनेसे पृथक् मानकर सत्य समझता है, वह अज्ञानी है। क्योंकि विचार करनेपर ये देह-गेह आदि पदार्थ वाग्विलासके सिवा और कुछ नहीं सिद्ध होते। विचारके द्वारा जिस वस्तुका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, बल्कि जो बाधित हो जाती है, उसको सत्य माननेवाला पुरुष बुद्धिमान् कैसे हो सकता है?॥ १८॥ प्रभो! कहते हैं कि आप स्वयं समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारोंसे रहित हैं। फिर भी इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपसे ही होते हैं। यह बात परम ऐश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मा आपके लिये असंगत नहीं है । क्योंकि तीनों गुणोंके आश्रय आप ही हैं, इसलिये उन गुणोंके कार्य आदिका आपमें ही आरोप किया जाता है॥ १९॥ आप ही तीनों लोकोंकी रक्षा करनेके लिये अपनी मायासे सत्त्वमय शुक्लवर्ण (पोषणकारी विष्णुरूप) धारण करते हैं, उत्पत्तिके लिये रज:प्रधान रक्तवर्ण (सृजनकारी ब्रह्मारूप) और प्रलयके समय तमोगुणप्रधान कृष्णवर्ण (संहारकारी रुद्ररूप) स्वीकार करते हैं॥ २०॥ प्रभो! आप सर्वशक्तिमान् और सबके स्वामी हैं। इस संसारकी रक्षाके लिये ही आपने मेरे घर अवतार लिया है। आजकल कोटि-कोटि असुर सेनापतियोंने राजाका नाम धारण कर रखा है और अपने अधीन बड़ी-बड़ी सेनाएँ कर रखी हैं। आप उन सबका संहार करेंगे॥ २१॥ देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो! यह कंस बड़ा दुष्ट है। इसे जब मालूम हुआ कि आपका अवतार हमारे घर होनेवाला है, तब उसने आपके भयसे आपके बड़े भाइयोंको मार डाला। अभी उसके दूत आपके अवतारका समाचार उसे सुनायेंगे और वह अभी-अभी हाथमें शस्त्र लेकर दौड़ा आयेगा॥ २२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इधर देवकीने देखा कि मेरे पुत्रमें तो पुरुषोत्तम भगवान्के सभी लक्षण मौजूद हैं। पहले तो उन्हें कंससे कुछ भय मालूम हुआ, परन्तु फिर वे बड़े पवित्र भावसे मुसकराती हुई स्तुति करने लगीं॥ २३॥

माता देवकीने कहा—प्रभो! वेदोंने आपके जिस रूपको अव्यक्त और सबका कारण बतलाया है, जो ब्रह्म, ज्योति:स्वरूप, समस्त गुणोंसे रहित और विकारहीन

सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥ २४

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः॥ २५

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो
चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां-
स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये॥ २६

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान् सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति॥ २७

स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्-
स्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं
मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः॥ २८

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः॥ २९

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥ ३०

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्॥ ३१

है, जिसे विशेषणरहित—अनिर्वचनीय, निष्क्रिय एवं केवल विशुद्ध सत्ताके रूपमें कहा गया है—वही बुद्धि आदिके प्रकाशक विष्णु आप स्वयं हैं॥ २४॥ जिस समय ब्रह्माकी पूरी आयु—दो परार्ध समाप्त हो जाते हैं, काल शक्तिके प्रभावसे सारे लोक नष्ट हो जाते हैं, पंच महाभूत अहंकारमें, अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है—उस समय एकमात्र आप ही शेष रह जाते हैं। इसीसे आपका एक नाम 'शेष' भी है॥ २५॥ प्रकृतिके एकमात्र सहायक प्रभो! निमेषसे लेकर वर्षपर्यन्त अनेक विभागोंमें विभक्त जो काल है, जिसकी चेष्टासे यह सम्पूर्ण विश्व सचेष्ट हो रहा है और जिसकी कोई सीमा नहीं है, वह आपकी लीलामात्र है। आप सर्वशक्तिमान् और परम कल्याणके आश्रय हैं। मैं आपकी शरण लेती हूँ॥ २६॥ प्रभो! यह जीव मृत्युग्रस्त हो रहा है। यह मृत्युरूप कराल व्यालसे भयभीत होकर सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरोंमें भटकता रहा है; परन्तु इसे कभी कहीं भी ऐसा स्थान न मिल सका, जहाँ यह निर्भय होकर रहे। आज बड़े भाग्यसे इसे आपके चरणारविन्दोंकी शरण मिल गयी। अतः अब यह स्वस्थ होकर सुखकी नींद सो रहा है। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग गयी है॥ २७॥ प्रभो! आप हैं भक्तभयहारी। और हमलोग इस दुष्ट कंससे बहुत ही भयभीत हैं। अतः आप हमारी रक्षा कीजिये। आपका यह चतुर्भुज दिव्यरूप ध्यानकी वस्तु है। इसे केवल मांस-मज्जामय शरीरपर ही दृष्टि रखनेवाले देहाभिमानी पुरुषोंके सामने प्रकट मत कीजिये॥ २८॥ मधुसूदन! इस पापी कंसको यह बात मालूम न हो कि आपका जन्म मेरे गर्भसे हुआ है। मेरा धैर्य टूट रहा है। आपके लिये मैं कंससे बहुत डर रही हूँ॥ २९॥ विश्वात्मन्! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शंख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपना यह चतुर्भुजरूप छिपा लीजिये॥ ३०॥ प्रलयके समय आप इस सम्पूर्ण विश्वको अपने शरीरमें वैसे ही स्वाभाविक रूपसे धारण करते हैं, जैसे कोई मनुष्य अपने शरीरमें रहनेवाले छिद्ररूप आकाशको। वही परम पुरुष परमात्मा आप मेरे गर्भवासी हुए, यह आपकी अद्भुत मनुष्य-लीला नहीं तो और क्या है?॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः॥ ३२
युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः॥ ३३
वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु ।
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ॥ ३४
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः॥ ३५
एवं वां तप्यतोस्तीव्रं तपः परमदुष्करम्।
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः॥ ३६
तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः॥ ३७
प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया।
व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः॥ ३८
अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया॥ ३९
गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम्।
ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ॥ ४०
अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥ ४१
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥ ४२

श्रीभगवान्‌ने कहा—देवि! स्वायम्भुव मन्वन्तरमें जब तुम्हारा पहला जन्म हुआ था, उस समय तुम्हारा नाम था पृश्नि और ये वसुदेव सुतपा नामके प्रजापति थे। तुम दोनोंके हृदय बड़े ही शुद्ध थे॥ ३२॥ जब ब्रह्माजीने तुम दोनोंको सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी, तब तुमलोगोंने इन्द्रियोंका दमन करके उत्कृष्ट तपस्या की॥ ३३॥ तुम दोनोंने वर्षा, वायु, घाम, शीत, उष्ण आदि कालके विभिन्न गुणोंका सहन किया और प्राणायामके द्वारा अपने मनके मल धो डाले॥ ३४॥ तुम दोनों कभी सूखे पत्ते खा लेते और कभी हवा पीकर ही रह जाते। तुम्हारा चित्त बड़ा शान्त था। इस प्रकार तुमलोगोंने मुझसे अभीष्ट वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छासे मेरी आराधना की॥ ३५॥ मुझमें चित्त लगाकर ऐसा परम दुष्कर और घोर तप करते-करते देवताओंके बारह हजार वर्ष बीत गये॥ ३६॥ पुण्यमयी देवि! उस समय मैं तुम दोनोंपर प्रसन्न हुआ। क्योंकि तुम दोनोंने तपस्या, श्रद्धा और प्रेममयी भक्तिसे अपने हृदयमें नित्य-निरन्तर मेरी भावना की थी। उस समय तुम दोनोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये वर देनेवालोंका राजा मैं इसी रूपसे तुम्हारे सामने प्रकट हुआ। जब मैंने कहा कि 'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो', तब तुम दोनोंने मेरे-जैसा पुत्र माँगा॥ ३७-३८॥ उस समयतक विषय-भोगोंसे तुम लोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ था। तुम्हारे कोई सन्तान भी न थी। इसलिये मेरी मायासे मोहित होकर तुम दोनोंने मुझसे मोक्ष नहीं माँगा॥ ३९॥ तुम्हें मेरे-जैसा पुत्र होनेका वर प्राप्त हो गया और मैं वहाँसे चला गया। अब सफलमनोरथ होकर तुमलोग विषयोंका भोग करने लगे॥ ४०॥ मैंने देखा कि संसारमें शील-स्वभाव, उदारता तथा अन्य गुणोंमें मेरे-जैसा दूसरा कोई नहीं है; इसलिये मैं ही तुम दोनोंका पुत्र हुआ और उस समय मैं 'पृश्निगर्भ' के नामसे विख्यात हुआ॥ ४१॥ फिर दूसरे जन्ममें तुम हुईं अदिति और वसुदेव हुए कश्यप। उस समय भी मैं तुम्हारा पुत्र हुआ। मेरा नाम था 'उपेन्द्र'। शरीर छोटा होनेके कारण लोग मुझे 'वामन' भी कहते थे॥ ४२॥

तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥ ४३
एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिंगेन जायते॥ ४४
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥ ४५

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥ ४६
ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः
सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा
या योगमायाजनि नन्दजायया॥ ४७
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया
बृहत्कपाटायसकीलशृंखलैः ॥ ४८
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते
स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः।

सती देवकी! तुम्हारे इस तीसरे जन्ममें भी मैं उसी रूपसे फिर तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ[1]। मेरी वाणी सर्वदा सत्य होती है॥ ४३॥

मैंने तुम्हें अपना यह रूप इसलिये दिखला दिया है कि तुम्हें मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय। यदि मैं ऐसा नहीं करता, तो केवल मनुष्य-शरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती॥ ४४॥ तुम दोनों मेरे प्रति पुत्रभाव तथा निरन्तर ब्रह्मभाव रखना। इस प्रकार वात्सल्य-स्नेह और चिन्तनके द्वारा तुम्हें मेरे परम पदकी प्राप्ति होगी॥ ४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— भगवान् इतना कहकर चुप हो गये। अब उन्होंने अपनी योगमायासे पिता-माताके देखते-देखते तुरंत एक साधारण शिशुका रूप धारण कर लिया॥ ४६॥ तब वसुदेवजीने भगवान्की प्रेरणासे अपने पुत्रको लेकर सूतिकागृहसे बाहर निकलनेकी इच्छा की। उसी समय नन्दपत्नी यशोदाके गर्भसे उस योगमायाका जन्म हुआ, जो भगवान्की शक्ति होनेके कारण उनके समान ही जन्म-रहित है॥ ४७॥ उसी योगमायाने द्वारपाल और पुरवासियोंकी समस्त इन्द्रिय वृत्तियोंकी चेतना हर ली, वे सब-के-सब अचेत होकर सो गये। बंदीगृहके सभी दरवाजे बंद थे। उनमें बड़े-बड़े किवाड़, लोहेकी जंजीरें और ताले जड़े हुए थे। उनके बाहर जाना बड़ा ही कठिन था; परन्तु वसुदेवजी भगवान् श्रीकृष्णको गोदमें लेकर ज्यों ही उनके निकट पहुँचे, त्यों ही वे सब दरवाजे आप-से-आप खुल गये[2]। ठीक वैसे ही, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर हो जाता है। उस समय बादल धीरे-धीरे गरजकर जलकी फुहारें छोड़

१-भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि मैंने इनको वर तो यह दे दिया कि मेरे सदृश पुत्र होगा, परन्तु इसको मैं पूरा नहीं कर सकता। क्योंकि वैसा कोई है ही नहीं। किसीको कोई वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा करके पूरी न कर सके तो उसके समान तिगुनी वस्तु देनी चाहिये। मेरे सदृश पदार्थके समान मैं ही हूँ। अतएव मैं अपनेको तीन बार इनका पुत्र बनाऊँगा।

२-जिनके नाम-श्रवणमात्रसे असंख्य जन्मार्जित प्रारब्ध-बन्धन ध्वस्त हो जाते हैं, वे ही प्रभु जिसकी गोदमें आ गये, उसकी हथकड़ी-बेड़ी खुल जाय, इसमें क्या आश्चर्य है?

ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः
शेषोऽन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ॥ ४९

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥ ५०

नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान्
गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ।
सुतं यशोदाशयने निधाय त-
त्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ॥ ५१

रहे थे। इसलिये शेषजी अपने फनोंसे जलको रोकते हुए भगवान्‌के पीछे-पीछे चलने लगे* ॥ ४८-४९ ॥ उन दिनों बार-बार वर्षा होती रहती थी, इससे यमुनाजी बहुत बढ़ गयी थीं†। उनका प्रवाह गहरा और तेज हो गया था। तरल तरंगोंके कारण जलपर फेन-ही-फेन हो रहा था। सैकड़ों भयानक भँवर पड़ रहे थे। जैसे सीतापति भगवान् श्रीरामजीको समुद्रने मार्ग दे दिया था, वैसे ही यमुनाजीने भगवान्‌को मार्ग दे दिया‡ ॥ ५० ॥ वसुदेवजीने नन्दबाबाके गोकुलमें जाकर देखा कि सब-के-सब गोप नींदसे अचेत पड़े हुए हैं। उन्होंने अपने पुत्रको यशोदाजीकी शय्यापर सुला दिया और उनकी नवजात कन्या लेकर वे बंदीगृहमें लौट आये ॥ ५१ ॥

---

* बलरामजीने विचार किया कि मैं बड़ा भाई बना तो क्या, सेवा ही मेरा मुख्य धर्म है। इसलिये वे अपने शेषरूपसे श्रीकृष्णके छत्र बनकर जलका निवारण करते हुए चले। उन्होंने सोचा कि यदि मेरे रहते मेरे स्वामीको वर्षासे कष्ट पहुँचा तो मुझे धिक्कार है। इसलिये उन्होंने अपना सिर आगे कर दिया। अथवा उन्होंने यह सोचा कि ये विष्णुपद (आकाश) वासी मेघ परोपकारके लिये अधःपतित होना स्वीकार कर लेते हैं, इसलिये बलिके समान सिरसे वन्दनीय हैं।

† १. श्रीकृष्ण शिशुको अपनी ओर आते देखकर यमुनाजीने विचार किया—अहा! जिनके चरणोंकी धूलि सत्पुरुषोंके मानस-ध्यानका विषय है, वे ही आज मेरे तटपर आ रहे हैं। वे आनन्द और प्रेमसे भर गयीं, आँखोंसे इतने आँसू निकले कि बाढ़ आ गयी।

२. मुझे यमराजकी बहिन समझकर श्रीकृष्ण अपनी आँख न फेर लें, इसलिये वे अपने विशाल जीवनका प्रदर्शन करने लगीं।

३. ये गोपालनके लिये गोकुलमें जा रहे हैं, ये सहस्र-सहस्र लहरियाँ गौएँ ही तो हैं। ये उन्हींके समान इनका भी पालन करें।

४. एक कालियनाग तो मुझमें पहलेसे ही है, यह दूसरे शेषनाग आ रहे हैं। अब मेरी क्या गति होगी—यह सोचकर यमुनाजी अपने थपेड़ोंसे उनका निवारण करनेके लिये बढ़ गयीं।

‡ १. एकाएक यमुनाजीके मनमें विचार आया कि मेरे अगाध जलको देखकर कहीं श्रीकृष्ण यह न सोच लें कि मैं इसमें खेलूँगा कैसे, इसलिये वे तुरंत कहीं कण्ठभर, कहीं नाभिभर और कहीं घुटनोंतक जलवाली हो गयीं।

२. जैसे दुःखी मनुष्य दयालु पुरुषके सामने अपना मन खोलकर रख देता है, वैसे ही कालियनागसे त्रस्त अपने हृदयका दुःख निवेदन कर देनेके लिये यमुनाजीने भी अपना दिल खोलकर श्रीकृष्णके सामने रख दिया।

३. मेरी नीरसता देखकर श्रीकृष्ण कहीं जलक्रीडा करना और पटरानी बनाना अस्वीकार न कर दें, इसलिये वे उच्छृंखलता छोड़कर बड़ी विनयसे अपने हृदयकी संकोचपूर्ण रसरीति प्रकट करने लगीं।

४. जब इन्होंने सूर्यवंशमें रामावतार ग्रहण किया, तब मार्ग न देनेपर चन्द्रमाके पिता समुद्रको बाँध दिया था। अब ये चन्द्रवंशमें प्रकट हुए हैं और मैं सूर्यकी पुत्री हूँ। यदि मैं इन्हें मार्ग न दूँगी तो ये मुझे भी बाँध देंगे। इस डरसे मानो यमुनाजी दो भागोंमें बँट गयीं।

५. सत्पुरुष कहते हैं कि हृदयमें भगवान्‌के आ जानेपर अलौकिक सुख होता है। मानो उसीका उपभोग करनेके लिये यमुनाजीने भगवान्‌को अपने भीतर ले लिया।

६. मेरा नाम कृष्णा, मेरा जल कृष्ण, मेरे बाहर श्रीकृष्ण हैं। फिर मेरे हृदयमें ही उनकी स्फूर्ति क्यों न हो? ऐसा सोचकर मार्ग देनेके बहाने यमुनाजीने श्रीकृष्णको अपने हृदयमें ले लिया।

देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः॥ ५२

जेलमें पहुँचकर वसुदेवजीने उस कन्याको देवकीकी शय्यापर सुला दिया और अपने पैरोंमें बेड़ियाँ डाल लीं तथा पहलेकी तरह वे बंदीगृहमें बंद हो गये॥ ५२॥

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः॥ ५३

उधर नन्दपत्नी यशोदाजीको इतना तो मालूम हुआ कि कोई सन्तान हुई है, परन्तु वे यह न जान सकीं कि पुत्र है या पुत्री। क्योंकि एक तो उन्हें बड़ा परिश्रम हुआ था और दूसरे योगमायाने उन्हें अचेत कर दिया था*॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे कृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

कंसके हाथसे छूटकर योगमायाका आकाशमें जाकर भविष्यवाणी करना

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब वसुदेवजी लौट आये, तब नगरके बाहरी और भीतरी सब दरवाजे अपने-आप ही पहलेकी तरह बंद हो गये। इसके बाद नवजात शिशुके रोनेकी ध्वनि सुनकर द्वारपालोंकी नींद टूटी॥ १॥

ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते॥ २

वे तुरन्त भोजराज कंसके पास गये और देवकीको सन्तान होनेकी बात कही। कंस तो बड़ी आकुलता और घबराहटके साथ इसी बातकी प्रतीक्षा कर रहा था॥ २॥

स तल्पात् तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।
सूतीगृहमगात् तूर्णं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः॥ ३

द्वारपालोंकी बात सुनते ही वह झटपट पलँगसे उठ खड़ा हुआ और बड़ी शीघ्रतासे सूतिकागृहकी ओर झपटा। इस बार तो मेरे कालका ही जन्म हुआ है, यह सोचकर वह विह्वल हो रहा था और यही कारण है कि उसे इस बातका भी ध्यान न रहा कि उसके बाल बिखरे हुए हैं। रास्तेमें कई जगह वह लड़खड़ाकर गिरते-गिरते बचा॥ ३॥

तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि॥ ४

बंदीगृहमें पहुँचनेपर सती देवकीने बड़े दुःख और करुणाके साथ अपने भाई कंससे कहा—'मेरे हितैषी भाई! यह कन्या तो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है। स्त्रीजातिकी है; तुम्हें स्त्रीकी हत्या कदापि नहीं करनी चाहिये॥ ४॥

* भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रसंगमें यह प्रकट किया कि जो मुझे प्रेमपूर्वक अपने हृदयमें धारण करता है, उसके बन्धन खुल जाते हैं, जेलसे छुटकारा मिल जाता है, बड़े-बड़े फाटक टूट जाते हैं, पहरेदारोंका पता नहीं चलता, भव-नदीका जल सूख जाता है, गोकुल (इन्द्रिय-समुदाय) की वृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं और माया हाथमें आ जाती है।

बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः।
त्वया दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम्॥ ५

नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो।
दातुमर्हसि मन्दाया अंगेमां चरमां प्रजाम्॥ ६

श्रीशुक उवाच

उपगुह्यात्मजामेवं रुदत्या दीनदीनवत्।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः॥ ७

तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम्।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः॥ ८

सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा॥ ९

दिव्यस्त्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता।
धनुःशूलेषुचर्मासिशंखचक्रगदाधरा॥ १०

सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत्॥ ११

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत्।
यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा॥ १२

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह॥ १३

तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः।
देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्॥ १४

भैया! तुमने दैववश मेरे बहुत-से अग्निके समान तेजस्वी बालक मार डाले। अब केवल यही एक कन्या बची है, इसे तो मुझे दे दो॥ ५॥ अवश्य ही मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूँ। मेरे बहुत-से बच्चे मर गये हैं, इसलिये मैं अत्यन्त दीन हूँ। मेरे प्यारे और समर्थ भाई! तुम मुझ मन्दभागिनीको यह अन्तिम सन्तान अवश्य दे दो'॥ ६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कन्याको अपनी गोदमें छिपाकर देवकीजीने अत्यन्त दीनताके साथ रोते-रोते याचना की। परन्तु कंस बड़ा दुष्ट था। उसने देवकीजीको झिड़ककर उनके हाथसे वह कन्या छीन ली॥ ७॥ अपनी उस नन्हीं-सी नवजात भानजीके पैर पकड़कर कंसने उसे बड़े जोरसे एक चट्टानपर दे मारा। स्वार्थने उसके हृदयसे सौहार्दको समूल उखाड़ फेंका था॥ ८॥ परन्तु श्रीकृष्णकी वह छोटी बहिन साधारण कन्या तो थी नहीं, देवी थी; उसके हाथसे छूटकर तुरन्त आकाशमें चली गयी और अपने बड़े-बड़े आठ हाथोंमें आयुध लिये हुए दीख पड़ी॥ ९॥ वह दिव्य माला, वस्त्र, चन्दन और मणिमय आभूषणोंसे विभूषित थी। उसके हाथोंमें धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शंख, चक्र और गदा—ये आठ आयुध थे॥ १०॥ सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगण बहुत-सी भेंटकी सामग्री समर्पित करके उसकी स्तुति कर रहे थे। उस समय देवीने कंससे यह कहा—॥ ११॥ 'रे मूर्ख! मुझे मारनेसे तुझे क्या मिलेगा? तेरे पूर्वजन्मका शत्रु तुझे मारनेके लिये किसी स्थानपर पैदा हो चुका है। अब तू व्यर्थ निर्दोष बालकोंकी हत्या न किया कर'॥ १२॥ कंससे इस प्रकार कहकर भगवती योगमाया वहाँसे अन्तर्धान हो गयीं और पृथ्वीके अनेक स्थानोंमें विभिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हुईं॥ १३॥

देवीकी यह बात सुनकर कंसको असीम आश्चर्य हुआ। उसने उसी समय देवकी और वसुदेवको कैदसे छोड़ दिया और बड़ी नम्रतासे उनसे कहा—॥ १४॥

अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना।
पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः॥ १५

स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः।
काँल्लोकान् वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन्॥ १६

दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्।
यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून्॥ १७

मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतम्भुजः।
जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनास्तदासते॥ १८

भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः॥ १९

यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते॥ २०

तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतेऽवशः॥ २१

यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक्[1]।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्॥ २२

'मेरी प्यारी बहिन और बहनोईजी! हाय-हाय, मैं बड़ा पापी हूँ। राक्षस जैसे अपने ही बच्चोंको मार डालता है, वैसे ही मैंने तुम्हारे बहुत-से लड़के मार डाले। इस बातका मुझे बड़ा खेद है*॥ १५॥ मैं इतना दुष्ट हूँ कि करुणाका तो मुझमें लेश भी नहीं है। मैंने अपने भाई-बन्धु और हितैषियोंतकका त्याग कर दिया। पता नहीं, अब मुझे किस नरकमें जाना पड़ेगा। वास्तवमें तो मैं ब्रह्मघातीके समान जीवित होनेपर भी मुर्दा ही हूँ॥ १६॥ केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, विधाता भी झूठ बोलते हैं। उसीपर विश्वास करके मैंने अपनी बहिनके बच्चे मार डाले। ओह! मैं कितना पापी हूँ॥ १७॥ तुम दोनों महात्मा हो। अपने पुत्रोंके लिये शोक मत करो। उन्हें तो अपने कर्मका ही फल मिला है। सभी प्राणी प्रारब्धके अधीन हैं। इसीसे वे सदा-सर्वदा एक साथ नहीं रह सकते॥ १८॥ जैसे मिट्टीके बने हुए पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं, परन्तु मिट्टीमें कोई अदल-बदल नहीं होती—वैसे ही शरीरका तो बनना-बिगड़ना होता ही रहता है; परन्तु आत्मापर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता॥ १९॥

जो लोग इस तत्त्वको नहीं जानते, वे इस अनात्मा शरीरको ही आत्मा मान बैठते हैं। यही उलटी बुद्धि अथवा अज्ञान है। इसीके कारण जन्म और मृत्यु होते हैं। और जबतक यह अज्ञान नहीं मिटता, तबतक सुख-दुःखरूप संसारसे छुटकारा नहीं मिलता॥ २०॥ मेरी प्यारी बहिन! यद्यपि मैंने तुम्हारे पुत्रोंको मार डाला है, फिर भी तुम उनके लिये शोक न करो। क्योंकि सभी प्राणियोंको विवश होकर अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है॥ २१॥ अपने स्वरूपको न जाननेके कारण जीव जबतक यह मानता रहता है कि 'मैं मारनेवाला हूँ या मारा जाता हूँ', तबतक शरीरके जन्म और मृत्युका अभिमान करनेवाला वह अज्ञानी बाध्य और बाधक-भावको प्राप्त होता है। अर्थात् वह दूसरोंको दुःख देता है और स्वयं दुःख भोगता है॥ २२॥

१. सुदृक्।

* जिनके गर्भमें भगवान्‌ने निवास किया, जिन्हें भगवान्‌के दर्शन हुए, उन देवकी-वसुदेवके दर्शनका ही यह फल है कि कंसके हृदयमें विनय, विचार, उदारता आदि सद्‌गुणोंका उदय हो गया। परन्तु जबतक वह उनके सामने रहा तभीतक ये सद्‌गुण रहे। दुष्ट मन्त्रियोंके बीचमें जाते ही वह फिर ज्यों-का-त्यों हो गया!

क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीन[१]वत्सलाः।
इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्त्रोरथाग्रहीत्॥ २३

मोच[२]यामास निगडाद् विश्रब्धः कन्यकागिरा।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम्॥ २४

भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी।
व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह॥ २५

एवमेतन्महाभाग[३] यथा वदसि देहिनाम्।
अज्ञानप्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यतः॥ २६

शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः ।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः॥ २७

श्रीशुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद् गृहम्॥ २८

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः।
तेभ्य आचष्ट तत् सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया॥ २९

आकर्ण्य भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः।
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः॥ ३०

एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु।
अनिर्दशान् निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून्॥ ३१

मेरी यह दुष्टता तुम दोनों क्षमा करो; क्योंकि तुम बड़े ही साधुस्वभाव और दीनोंके रक्षक हो।' ऐसा कहकर कंसने अपनी बहिन देवकी और वसुदेवजीके चरण पकड़ लिये। उसकी आँखोंसे आँसू बह-बहकर मुँहतक आ रहे थे॥ २३॥ इसके बाद उसने योगमायाके वचनोंपर विश्वास करके देवकी और वसुदेवको कैदसे छोड़ दिया और वह तरह-तरहसे उनके प्रति अपना प्रेम प्रकट करने लगा॥ २४॥ जब देवकीजीने देखा कि भाई कंसको पश्चात्ताप हो रहा है, तब उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। वे उसके पहले अपराधोंको भूल गयीं और वसुदेवजीने हँसकर कंससे कहा—॥ २५॥ 'मनस्वी कंस! आप जो कहते हैं, वह ठीक वैसा ही है। जीव अज्ञानके कारण ही शरीर आदिको 'मैं' मान बैठते हैं। इसीसे अपने परायेका भेद हो जाता है॥ २६॥ और यह भेददृष्टि हो जानेपर तो वे शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह और मदसे अन्धे हो जाते हैं। फिर तो उन्हें इस बातका पता ही नहीं रहता कि सबके प्रेरक भगवान् ही एक भावसे दूसरे भावका, एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका नाश करा रहे हैं'॥ २७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब वसुदेव और देवकीने इस प्रकार प्रसन्न होकर निष्कपटभावसे कंसके साथ बातचीत की, तब उनसे अनुमति लेकर वह अपने महलमें चला गया॥ २८॥ वह रात्रि बीत जानेपर कंसने अपने मन्त्रियोंको बुलाया और योगमायाने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया॥ २९॥ कंसके मन्त्री पूर्णतया नीतिनिपुण नहीं थे। दैत्य होनेके कारण स्वभावसे ही वे देवताओंके प्रति शत्रुताका भाव रखते थे। अपने स्वामी कंसकी बात सुनकर वे देवताओंपर और भी चिढ़ गये और कंससे कहने लगे—॥ ३०॥ 'भोजराज! यदि ऐसी बात है तो हम आज ही बड़े-बड़े नगरोंमें, छोटे-छोटे गाँवोंमें, अहीरोंकी बस्तियोंमें और दूसरे स्थानोंमें जितने बच्चे हुए हैं, वे चाहे दस दिनसे अधिकके हों या कमके, सबको आज ही मार डालेंगे॥ ३१॥

१. बन्धुव०। २. क्षया०। ३. राज।

किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव॥ ३२

अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः॥ ३३

केचित् प्रांजलयो दीना न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।
मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः॥ ३४

न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसंवृतान्।
हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः॥ ३५

किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः।
रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा।
किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता॥ ३६

तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे।
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान्॥ ३७

यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभि-
र्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम्।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा
रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते॥ ३८

मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः।
तस्य च ब्रह्म गोविप्रास्तपो यज्ञाः सदक्षिणाः॥ ३९

समरभीरु देवगण युद्धोद्योग करके ही क्या करेंगे? वे तो आपके धनुषकी टंकार सुनकर ही सदा-सर्वदा घबराये रहते हैं॥ ३२॥ जिस समय युद्धभूमिमें आप चोट-पर-चोट करने लगते हैं, बाण-वर्षासे घायल होकर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये समरांगण छोड़कर देवतालोग पलायन-परायण होकर इधर-उधर भाग जाते हैं॥ ३३॥ कुछ देवता तो अपने अस्त्र-शस्त्र जमीनपर डाल देते हैं और हाथ जोड़कर आपके सामने अपनी दीनता प्रकट करने लगते हैं। कोई-कोई अपनी चोटीके बाल तथा कच्छ खोलकर आपकी शरणमें आकर कहते हैं कि—'हम भयभीत हैं, हमारी रक्षा कीजिये'॥ ३४॥ आप उन शत्रुओंको नहीं मारते जो अस्त्र-शस्त्र भूल गये हों, जिनका रथ टूट गया हो, जो डर गये हों, जो लोग युद्ध छोड़कर अन्यमनस्क हो गये हों, जिनका धनुष टूट गया हो या जिन्होंने युद्धसे अपना मुख मोड़ लिया हो—उन्हें भी आप नहीं मारते॥ ३५॥ देवता तो बस वहीं वीर बनते हैं, जहाँ कोई लड़ाई-झगड़ा न हो। रणभूमिके बाहर वे बड़ी-बड़ी डींग हाँकते हैं। उनसे तथा एकान्तवासी विष्णु, वनवासी शंकर, अल्पवीर्य इन्द्र और तपस्वी ब्रह्मासे भी हमें क्या भय हो सकता है॥ ३६॥ फिर भी देवताओंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—ऐसी हमारी राय है। क्योंकि हैं तो वे शत्रु ही। इसलिये उनकी जड़ उखाड़ फेंकनेके लिये आप हम-जैसे विश्वासपात्र सेवकोंको नियुक्त कर दीजिये॥ ३७॥ जब मनुष्यके शरीरमें रोग हो जाता है और उसकी चिकित्सा नहीं की जाती—उपेक्षा कर दी जाती है, तब रोग अपनी जड़ जमा लेता है और फिर वह असाध्य हो जाता है। अथवा जैसे इन्द्रियोंकी उपेक्षा कर देनेपर उनका दमन असम्भव हो जाता है, वैसे ही यदि पहले शत्रुकी उपेक्षा कर दी जाय और वह अपना पाँव जमा ले, तो फिर उसको हराना कठिन हो जाता है॥ ३८॥ देवताओंकी जड़ है विष्णु और वह वहाँ रहता है, जहाँ सनातनधर्म है। सनातनधर्मकी जड़ हैं—वेद, गौ, ब्राह्मण, तपस्या और वे यज्ञ, जिनमें दक्षिणा दी जाती है॥ ३९॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः ॥ ४०

विप्रा गावश्च वेदाश्च[१] तपः सत्यं दमः शमः ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥ ४१

स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः ।
तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः ।
अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ॥ ४२

श्रीशुक उवाच

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः ।
ब्रह्महिंसां हितं[२] मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥ ४३

सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् ।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत् ॥ ४४

ते वै रजःप्रकृतयस्तमसा मूढचेतसः ।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥ ४५

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च ।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥ ४६

इसलिये भोजराज! हमलोग वेदवादी ब्राह्मण, तपस्वी, याज्ञिक और यज्ञके लिये घी आदि हविष्य पदार्थ देनेवाली गायोंका पूर्णरूपसे नाश कर डालेंगे ॥ ४० ॥ ब्राह्मण, गौ, वेद, तपस्या, सत्य, इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ विष्णुके शरीर हैं ॥ ४१ ॥ वह विष्णु ही सारे देवताओंका स्वामी तथा असुरोंका प्रधान द्वेषी है। परन्तु वह किसी गुफामें छिपा रहता है। महादेव, ब्रह्मा और सारे देवताओंकी जड़ वही है। उसको मार डालनेका उपाय यह है कि ऋषियोंको मार डाला जाय'॥ ४२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक तो कंसकी बुद्धि स्वयं ही बिगड़ी हुई थी; फिर उसे मन्त्री ऐसे मिले थे, जो उससे भी बढ़कर दुष्ट थे। इस प्रकार उनसे सलाह करके कालके फंदेमें फँसे हुए असुर कंसने यही ठीक समझा कि ब्राह्मणोंको ही मार डाला जाय ॥ ४३ ॥ उसने हिंसाप्रेमी राक्षसोंको संतपुरुषोंकी हिंसा करनेका आदेश दे दिया। वे इच्छानुसार रूप धारण कर सकते थे। जब वे इधर-उधर चले गये, तब कंसने अपने महलमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ उन असुरोंकी प्रकृति थी रजोगुणी। तमोगुणके कारण उनका चित्त उचित और अनुचितके विवेकसे रहित हो गया था। उनके सिरपर मौत नाच रही थी। यही कारण है कि उन्होंने सन्तोंसे द्वेष किया ॥ ४५ ॥ परीक्षित्! जो लोग महान् सन्त पुरुषोंका अनादर करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्ति, धर्म, लोक-परलोक, विषय-भोग और सब-के-सब कल्याणके साधनोंको नष्ट कर देता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

गोकुलमें भगवान्‌का जन्ममहोत्सव

श्रीशुक उवाच

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः ॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! नन्दबाबा बड़े मनस्वी और उदार थे। पुत्रका जन्म होनेपर तो उनका हृदय विलक्षण आनन्दसे भर गया। उन्होंने

१. देवाश्च। २. हितां।

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै।
कारयामास विधिवत्[1] पितृदेवार्चनं तथा॥ २

धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते।
तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान्॥ ३

कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया।
शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्माऽऽत्मविद्यया॥ ४

सौमंगल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः॥ ५

व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः।
चित्रध्वजपताकास्त्रक्चैलपल्लवतोरणैः॥ ६

गावो वृषा[2] वत्सतरा हरिद्रातैलरूषिताः।
विचित्रधातुबर्हस्त्रग्वस्त्रकांचनमालिनः॥ ७

महार्हवस्त्राभरणकंचुकोष्णीषभूषिताः।
गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः॥ ८

गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्।
आत्मानं भूषयांचक्रुर्वस्त्राकल्पांजनादिभिः॥ ९

स्नान किया और पवित्र होकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये। फिर वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बुलवाकर स्वस्तिवाचन और अपने पुत्रका जातकर्म-संस्कार करवाया। साथ ही देवता और पितरोंकी विधिपूर्वक पूजा भी करवायी॥ १-२॥ उन्होंने ब्राह्मणोंको वस्त्र और आभूषणोंसे सुसज्जित दो लाख गौएँ दान कीं। रत्नों और सुनहले वस्त्रोंसे ढके हुए तिलके सात पहाड़ दान किये॥ ३॥ (संस्कारोंसे ही गर्भशुद्धि होती है—यह प्रदर्शित करनेके लिये अनेक दृष्टान्तोंका उल्लेख करते हैं—) समयसे (नूतनजल, अशुद्ध भूमि आदि), स्नानसे (शरीर आदि), प्रक्षालनसे (वस्त्रादि), संस्कारोंसे (गर्भादि), तपस्यासे (इन्द्रियादि), यज्ञसे (ब्राह्मणादि), दानसे (धन-धान्यादि) और संतोषसे (मन आदि) द्रव्य शुद्ध होते हैं। परन्तु आत्माकी शुद्धि तो आत्मज्ञानसे ही होती है॥ ४॥ उस समय ब्राह्मण, सूत,* मागध† और वंदीजन‡ मंगलमय आशीर्वाद देने तथा स्तुति करने लगे। गायक गाने लगे। भेरी और दुन्दुभियाँ बार-बार बजने लगीं॥ ५॥ व्रजमण्डलके सभी घरोंके द्वार, आँगन और भीतरी भाग झाड़-बुहार दिये गये; उनमें सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया; उन्हें चित्र-विचित्र, ध्वजा-पताका, पुष्पोंकी मालाओं, रंग-बिरंगे वस्त्र और पल्लवोंकी बन्दनवारोंसे सजाया गया॥ ६॥ गाय, बैल और बछड़ोंके अंगोंमें हल्दी-तेलका लेप कर दिया गया और उन्हें गेरू आदि रंगीन धातुएँ, मोरपंख, फूलोंके हार, तरह-तरहके सुन्दर वस्त्र और सोनेकी जंजीरोंसे सजा दिया गया॥ ७॥ परीक्षित्! सभी ग्वाल बहुमूल्य वस्त्र, गहने, अँगरखे और पगड़ियोंसे सुसज्जित होकर और अपने हाथोंमें भेंटकी बहुत-सी सामग्रियाँ ले-लेकर नन्दबाबाके घर आये॥ ८॥

यशोदाजीके पुत्र हुआ है, यह सुनकर गोपियोंको भी बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, आभूषण और अंजन आदिसे अपना शृंगार किया॥ ९॥

---

१. धिना पितृ०। २. षाः सवत्साश्च हरि०।

* पौराणिक। † वंशका वर्णन करनेवाले। ‡ समयानुसार उक्तियोंसे स्तुति करनेवाले भाट। जैसा कि कहा है—
'सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधावंशशंसकाः। वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः॥'

नवकुंकुमकिंजल्कमुखपंकजभूतयः ।
बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ १०

गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य-
श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु-
र्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥ ११

ता आशिषः प्रयुंजानाश्चिरं पाहीति[1] बालके ।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिंचन्त्योऽजनमुज्जगुः ॥ १२

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य[2] व्रजमागते ॥ १३

गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥ १४

नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलंकारगोधनम्[3] ।
सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥ १५

तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥ १६

गोपियोंके मुखकमल बड़े ही सुन्दर जान पड़ते थे। उनपर लगी हुई कुंकुम ऐसी लगती मानो कमलकी केशर हो। उनके नितम्ब बड़े-बड़े थे। वे भेंटकी सामग्री ले-लेकर जल्दी-जल्दी यशोदाजीके पास चलीं। उस समय उनके पयोधर हिल रहे थे॥ १०॥ गोपियोंके कानोंमें चमकती हुई मणियोंके कुण्डल झिलमिला रहे थे। गलेमें सोनेके हार (हैकल या हुमेल) जगमगा रहे थे। वे बड़े सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे वस्त्र पहने हुए थीं। मार्गमें उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए फूल बरसते जा रहे थे। हाथोंमें जड़ाऊ कंगन अलग ही चमक रहे थे। उनके कानोंके कुण्डल, पयोधर और हार हिलते जाते थे। इस प्रकार नन्दबाबाके घर जाते समय उनकी शोभा बड़ी अनूठी जान पड़ती थी॥ ११॥ नन्दबाबाके घर जाकर वे नवजात शिशुको आशीर्वाद देतीं 'यह चिरजीवी हो, भगवन्! इसकी रक्षा करो।' और लोगोंपर हल्दी-तेलसे मिला हुआ पानी छिड़क देतीं तथा ऊँचे स्वरसे मंगलगान करती थीं॥ १२॥

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। उनके ऐश्वर्य, माधुर्य, वात्सल्य—सभी अनन्त हैं। वे जब नन्दबाबाके व्रजमें प्रकट हुए, उस समय उनके जन्मका महान् उत्सव मनाया गया। उसमें बड़े-बड़े विचित्र और मंगलमय बाजे बजाये जाने लगे॥ १३॥ आनन्दसे मतवाले होकर गोपगण एक-दूसरेपर दही, दूध, घी और पानी उड़ेलने लगे। एक-दूसरेके मुँहपर मक्खन मलने लगे और मक्खन फेंक-फेंककर आनन्दोत्सव मनाने लगे॥ १४॥ नन्दबाबा स्वभावसे ही परम उदार और मनस्वी थे। उन्होंने गोपोंको बहुत-से वस्त्र, आभूषण और गौएँ दीं। सूत-मागध-वंदीजनों, नृत्य, वाद्य आदि विद्याओंसे अपना जीवन-निर्वाह करनेवालों तथा दूसरे गुणीजनोंको भी नन्दबाबाने प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ देकर उनका यथोचित सत्कार किया। यह सब करनेमें उनका उद्देश्य यही था कि इन कर्मोंसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हों और मेरे इस नवजात शिशुका मंगल हो॥ १५-१६॥

१. जीवेति। २. नन्दव्रजमुपेयुषि। ३. धनैः।

रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता।
व्यचरद् दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता॥ १७

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप॥ १८

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह॥ १९

वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम्।
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम्॥ २०

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम्।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः॥ २१

पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वानामयमादृतः।
प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते॥ २२

दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते।
प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत॥ २३

दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः।
उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम्॥ २४

नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम्।
ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा॥ २५

नन्दबाबाके अभिनन्दन करनेपर परम सौभाग्यवती रोहिणीजी दिव्य वस्त्र, माला और गलेके भाँति-भाँतिके गहनोंसे सुसज्जित होकर गृहस्वामिनीकी भाँति आने-जानेवाली स्त्रियोंका सत्कार करती हुई विचर रही थीं॥ १७॥ परीक्षित्! उसी दिनसे नन्दबाबाके व्रजमें सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियाँ अठखेलियाँ करने लगीं और भगवान् श्रीकृष्णके निवास तथा अपने स्वाभाविक गुणोंके कारण वह लक्ष्मीजीका क्रीडास्थल बन गया॥ १८॥

परीक्षित्! कुछ दिनोंके बाद नन्दबाबाने गोकुलकी रक्षाका भार तो दूसरे गोपोंको सौंप दिया और वे स्वयं कंसका वार्षिक कर चुकानेके लिये मथुरा चले गये॥ १९॥ जब वसुदेवजीको यह मालूम हुआ कि हमारे भाई नन्दजी मथुरामें आये हैं और राजा कंसको उसका कर भी दे चुके हैं, तब वे जहाँ नन्दबाबा ठहरे हुए थे, वहाँ गये॥ २०॥ वसुदेवजीको देखते ही नन्दजी सहसा उठकर खड़े हो गये मानो मृतक शरीरमें प्राण आ गया हो। उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने प्रियतम वसुदेवजीको दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लिया। नन्दबाबा उस समय प्रेमसे विह्वल हो रहे थे॥ २१॥ परीक्षित्! नन्दबाबाने वसुदेवजीका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। वे आदरपूर्वक आरामसे बैठ गये। उस समय उनका चित्त अपने पुत्रोंमें लग रहा था। वे नन्दबाबासे कुशलमंगल पूछकर कहने लगे॥ २२॥

[वसुदेवजीने कहा—] 'भाई! तुम्हारी अवस्था ढल चली थी और अबतक तुम्हें कोई सन्तान नहीं हुई थी। यहाँतक कि अब तुम्हें सन्तानकी कोई आशा भी न थी। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि अब तुम्हें सन्तान प्राप्त हो गयी॥ २३॥ यह भी बड़े आनन्दका विषय है कि आज हमलोगोंका मिलना हो गया। अपने प्रेमियोंका मिलना भी बड़ा दुर्लभ है। इस संसारका चक्र ही ऐसा है। इसे तो एक प्रकारका पुनर्जन्म ही समझना चाहिये॥ २४॥ जैसे नदीके प्रबल प्रवाहमें बहते हुए बेड़े और तिनके सदा एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही सगे-सम्बन्धी और प्रेमियोंका भी एक स्थानपर रहना सम्भव नहीं है—यद्यपि वह सबको प्रिय लगता है। क्योंकि सबके प्रारब्धकर्म अलग-अलग होते हैं॥ २५॥

कच्चित् पशव्यं निरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम्।
बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्‌वृतः॥ २६

आजकल तुम जिस महावनमें अपने भाई-बन्धु और स्वजनोंके साथ रहते हो, उसमें जल, घास और लता-पत्रादि तो भरे-पूरे हैं न? वह वन पशुओंके लिये अनुकूल और सब प्रकारके रोगोंसे तो बचा है?॥ २६॥

भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्‌व्रजे।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्‌भ्यामुपलालितः॥ २७

भाई! मेरा लड़का अपनी मा (रोहिणी) के साथ तुम्हारे व्रजमें रहता है। उसका लालन-पालन तुम और यशोदा करते हो, इसलिये वह तो तुम्हींको अपने पिता-माता मानता होगा। वह अच्छी तरह है न?॥ २७॥

पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते॥ २८

मनुष्यके लिये वे ही धर्म, अर्थ और काम शास्त्रविहित हैं, जिनसे उसके स्वजनोंको सुख मिले। जिनसे केवल अपनेको ही सुख मिलता है; किन्तु अपने स्वजनोंको दुःख मिलता है, वे धर्म, अर्थ और काम हितकारी नहीं हैं'॥ २८॥

नन्द उवाच

अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः।
एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता॥ २९

नन्दबाबाने कहा—भाई वसुदेव! कंसने देवकीके गर्भसे उत्पन्न तुम्हारे कई पुत्र मार डाले। अन्तमें एक सबसे छोटी कन्या बच रही थी, वह भी स्वर्ग सिधार गयी॥ २९॥

नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति॥ ३०

इसमें सन्देह नहीं कि प्राणियोंका सुख-दुःख भाग्यपर ही अवलम्बित है। भाग्य ही प्राणीका एकमात्र आश्रय है। जो जान लेता है कि जीवनके सुख-दुःखका कारण भाग्य ही है, वह उनके प्राप्त होनेपर मोहित नहीं होता॥ ३०॥

वसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्टा वयं च वः।
नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले॥ ३१

वसुदेवजीने कहा—भाई! तुमने राजा कंसको उसका सालाना कर चुका दिया। हम दोनों मिल भी चुके। अब तुम्हें यहाँ अधिक दिन नहीं ठहरना चाहिये; क्योंकि आजकल गोकुलमें बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच

इति नन्दादयो गोपाः प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः।
अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम्॥ ३२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब वसुदेवजीने इस प्रकार कहा, तब नन्द आदि गोपोंने उनसे अनुमति ले, बैलोंसे जुते हुए छकड़ोंपर सवार होकर गोकुलकी यात्रा की॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
नन्दवसुदेवसंगमो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

पूतना-उद्धार

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन्।
हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशंकितः॥ १

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु॥ २

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि॥ ३

सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम्।
योषित्वा माययाऽऽत्मानं प्राविशत् कामचारिणी॥ ४

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां
बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम्।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषण-
त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम्॥ ५

वल्गुस्मितापांगविसर्गवीक्षितै-
र्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं
गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम्॥ ६

बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून्
यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम्।
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं
ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! नन्दबाबा जब मथुरासे चले, तब रास्तेमें विचार करने लगे कि वसुदेवजीका कथन झूठा नहीं हो सकता। इससे उनके मनमें उत्पात होनेकी आशंका हो गयी। तब उन्होंने मन-ही-मन 'भगवान् ही शरण हैं, वे ही रक्षा करेंगे' ऐसा निश्चय किया॥ १॥ पूतना नामकी एक बड़ी क्रूर राक्षसी थी। उसका एक ही काम था—बच्चोंको मारना। कंसकी आज्ञासे वह नगर, ग्राम और अहीरोंकी बस्तियोंमें बच्चोंको मारनेके लिये घूमा करती थी॥ २॥ जहाँके लोग अपने प्रतिदिनके कामोंमें राक्षसोंके भयको दूर भगानेवाले भक्तवत्सल भगवान्के नाम, गुण और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण नहीं करते—वहीं ऐसी राक्षसियोंका बल चलता है॥ ३॥ वह पूतना आकाशमार्गसे चल सकती थी और अपनी इच्छाके अनुसार रूप भी बना लेती थी। एक दिन नन्दबाबाके गोकुलके पास आकर उसने मायासे अपनेको एक सुन्दरी युवती बना लिया और गोकुलके भीतर घुस गयी॥ ४॥ उसने बड़ा सुन्दर रूप बनाया था। उसकी चोटियोंमें बेलेके फूल गुँथे हुए थे। सुन्दर वस्त्र पहने हुए थी। जब उसके कर्णफूल हिलते थे, तब उनकी चमकसे मुखकी ओर लटकी हुई अलकें और भी शोभायमान हो जाती थीं। उसके नितम्ब और कुच-कलश ऊँचे-ऊँचे थे और कमर पतली थी॥ ५॥ वह अपनी मधुर मुसकान और कटाक्षपूर्ण चितवनसे व्रजवासियोंका चित्त चुरा रही थी। उस रूपवती रमणीको हाथमें कमल लेकर आते देख गोपियाँ ऐसी उत्प्रेक्षा करने लगीं, मानो स्वयं लक्ष्मीजी अपने पतिका दर्शन करनेके लिये आ रही हैं॥ ६॥

पूतना बालकोंके लिये ग्रहके समान थी। वह इधर-उधर बालकोंको ढूँढ़ती हुई अनायास ही नन्द-बाबाके घरमें घुस गयी। वहाँ उसने देखा कि बालक श्रीकृष्ण शय्यापर सोये हुए हैं। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण दुष्टोंके काल हैं। परन्तु जैसे आग राखकी ढेरीमें अपनेको छिपाये हुए हो, वैसे ही उस समय उन्होंने अपने प्रचण्ड तेजको छिपा रखा था॥ ७॥

विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं
चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षणः।
अनन्तमारोपयदंकमन्तकं
यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः॥ ८

भगवान् श्रीकृष्ण चर-अचर सभी प्राणियोंके आत्मा हैं। इसलिये उन्होंने उसी क्षण जान लिया कि यह बच्चोंको मार डालनेवाला पूतना-ग्रह है और अपने नेत्र बंद कर लिये।* जैसे कोई पुरुष भ्रमवश सोये हुए साँपको रस्सी समझकर उठा ले, वैसे ही अपने कालरूप भगवान् श्रीकृष्णको पूतनाने अपनी गोदमें उठा लिया॥ ८॥

---

* पूतनाको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने नेत्र बंद कर लिये, इसपर भक्त कवियों और टीकाकारोंने अनेकों प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ की हैं, जिनमें कुछ ये हैं—

१. श्रीमद्वल्लभाचार्यने सुबोधिनीमें कहा है—अविद्या ही पूतना है। भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि मेरी दृष्टिके सामने अविद्या टिक नहीं सकती, फिर लीला कैसे होगी, इसलिये नेत्र बन्द कर लिये।

२. यह पूतना बाल-घातिनी है 'पूतानपि नयति'। यह पवित्र बालकोंको भी ले जाती है। ऐसा जघन्य कृत्य करनेवालीका मुँह नहीं देखना चाहिये, इसलिये नेत्र बंद कर लिये।

३. इस जन्ममें तो इसने कुछ साधन किया नहीं है। संभव है मुझसे मिलनेके लिये पूर्व जन्ममें कुछ किया हो। मानो पूतनाके पूर्व-पूर्व जन्मोंके साधन देखनेके लिये ही श्रीकृष्णने नेत्र बंद कर लिये।

४. भगवान्ने अपने मनमें विचार किया कि मैंने पापिनीका दूध कभी नहीं पिया है। अब जैसे लोग आँख बंद करके चिरायतेका काढ़ा पी जाते हैं, वैसे ही इसका दूध भी पी जाऊँ। इसलिये नेत्र बंद कर लिये।

५. भगवान्के उदरमें निवास करनेवाले असंख्य कोटि ब्रह्माण्डोंके जीव यह जानकर घबरा गये कि श्यामसुन्दर पूतनाके स्तनमें लगा हलाहल विष पीने जा रहे हैं। अतः उन्हें समझानेके लिये ही श्रीकृष्णने नेत्र बंद कर लिये।

६. श्रीकृष्णशिशुने विचार किया कि मैं गोकुलमें यह सोचकर आया था कि माखन-मिश्री खाऊँगा। सो छठीके दिन ही विष पीनेका अवसर आ गया। इसलिये आँख बंद करके मानो शंकरजीका ध्यान किया कि आप आकर अपना अभ्यस्त विष-पान कीजिये, मैं दूध पीऊँगा।

७. श्रीकृष्णके नेत्रोंने विचार किया कि परम स्वतन्त्र ईश्वर इस दुष्टाको अच्छी-बुरी चाहे जो गति दे दें, परन्तु हम दोनों इसे चन्द्रमार्ग अथवा सूर्यमार्ग दोनोंमेंसे एक भी नहीं देंगे। इसलिये उन्होंने अपने द्वार बंद कर लिये।

८. नेत्रोंने सोचा पूतनाके नेत्र हैं तो हमारी जातिके; परन्तु ये इस क्रूर राक्षसीकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इसलिये अपने होनेपर भी ये दर्शनके योग्य नहीं हैं। इसलिये उन्होंने अपनेको पलकोंसे ढक लिया।

९. श्रीकृष्णके नेत्रोंमें स्थित धर्मात्मा निमिने उस दुष्टाको देखना उचित न समझकर नेत्र बंद कर लिये।

१०. श्रीकृष्णके नेत्र राज-हंस हैं। उन्हें बकी पूतनाके दर्शन करनेकी कोई उत्कण्ठा नहीं थी। इसलिये नेत्र बंद कर लिये।

११. श्रीकृष्णने विचार किया कि बाहरसे तो इसने माताका-सा रूप धारण कर रखा है, परन्तु हृदयमें अत्यन्त क्रूरता भरे हुए हैं। ऐसी स्त्रीका मुँह न देखना ही उचित है। इसलिये नेत्र बंद कर लिये।

१२. उन्होंने सोचा कि मुझे निडर देखकर कहीं यह ऐसा न समझ जाय कि इसके ऊपर मेरा प्रभाव नहीं चला और फिर कहीं लौट न जाय। इसलिये नेत्र बंद कर लिये।

१३. बाल-लीलाके प्रारम्भमें पहले-पहल स्त्रीसे ही मुठभेड़ हो गयी, इस विचारसे विरक्तिपूर्वक नेत्र बंद कर लिये।

१४. श्रीकृष्णके मनमें यह बात आयी कि करुणा-दृष्टिसे देखूँगा तो इसे मारूँगा कैसे, और उग्र दृष्टिसे देखूँगा तो यह अभी भस्म हो जायगी। लीलाकी सिद्धिके लिये नेत्र बंद कर लेना ही उत्तम है। इसलिये नेत्र बंद कर लिये।

१५. यह धात्रीका वेष धारण करके आयी है, मारना उचित नहीं है। परन्तु यह और ग्वालबालोंको मारेगी। इसलिये इसका यह वेष देखे बिना ही मार डालना चाहिये। इसलिये नेत्र बंद कर लिये।

१६. बड़े-से-बड़ा अनिष्ट योगसे निवृत्त हो जाता है। उन्होंने नेत्र बंद करके मानो योगदृष्टि सम्पादित की।

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां
वीक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत्।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते
निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम्॥ ९

मखमली म्यानके भीतर छिपी हुई तीखी धारवाली तलवारके समान पूतनाका हृदय तो बड़ा कुटिल था; किन्तु ऊपरसे वह बहुत मधुर और सुन्दर व्यवहार कर रही थी। देखनेमें वह एक भद्र महिलाके समान जान पड़ती थी। इसलिये रोहिणी और यशोदाजीने उसे घरके भीतर आयी देखकर भी उसकी सौन्दर्यप्रभासे हतप्रतिभ-सी होकर कोई रोक-टोक नहीं की, चुपचाप खड़ी-खड़ी देखती रहीं॥ ९॥

तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं
घोरांकमादाय शिशोर्ददावथ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत्॥ १०

इधर भयानक राक्षसी पूतनाने बालक श्रीकृष्णको अपनी गोदमें लेकर उनके मुँहमें अपना स्तन दे दिया, जिसमें बड़ा भयंकर और किसी प्रकार भी पच न सकनेवाला विष लगा हुआ था। भगवान्ने क्रोधको अपना साथी बनाया और दोनों हाथोंसे उसके स्तनोंको जोरसे दबाकर उसके प्राणोंके साथ उसका दूध पीने लगे (वे उसका दूध पीने लगे और उनका साथी क्रोध प्राण पीने लगा!)*॥ १०॥

---

१७. पूतना यह निश्चय करके आयी थी कि मैं व्रजके सारे शिशुओंको मार डालूँगी, परन्तु भक्तरक्षापरायण भगवान्की कृपासे व्रजका एक भी शिशु उसे दिखायी नहीं दिया और बालकोंको खोजती हुई वह लीलाशक्तिकी प्रेरणासे सीधी नन्दालयमें आ पहुँची, तब भगवान्ने सोचा कि मेरे भक्तका बुरा करनेकी बात तो दूर रही, जो मेरे भक्तका बुरा सोचता है, उस दुष्टका मैं मुँह नहीं देखता; व्रज-बालक सभी श्रीकृष्णके सखा हैं, परम भक्त हैं, पूतना उनको मारनेका संकल्प करके आयी है, इसलिये उन्होंने नेत्र बंद कर लिये।

१८. पूतना अपनी भीषण आकृतिको छिपाकर राक्षसी मायासे दिव्य रमणी रूप बनाकर आयी है। भगवान्की दृष्टि पड़नेपर माया रहेगी नहीं और इसका असली भयानक रूप प्रकट हो जायगा। उसे सामने देखकर यशोदा मैया डर जायँ और पुत्रकी अनिष्टाशंकासे कहीं उनके हठात् प्राण निकल जायँ, इस आशंकासे उन्होंने नेत्र बंद कर लिये।

१९. पूतना हिंसापूर्ण हृदयसे आयी है, परन्तु भगवान् उसकी हिंसाके लिये उपयुक्त दण्ड न देकर उसका प्राण-वधमात्र करके परम कल्याण करना चाहते हैं। भगवान् समस्त सद्गुणोंके भण्डार हैं। उनमें धृष्टता आदि दोषोंका लेश भी नहीं है, इसीलिये पूतनाके कल्याणार्थ भी उसका प्राण-वध करनेमें उन्हें लज्जा आती है। इस लज्जासे ही उन्होंने नेत्र बंद कर लिये।

२०. भगवान् जगत्पिता हैं—असुर-राक्षसादि भी उनकी सन्तान ही हैं। पर वे सर्वथा उच्छृंखल और उद्दण्ड हो गये हैं, इसलिये उन्हें दण्ड देना आवश्यक है। स्नेहमय माता-पिता जब अपने उच्छृंखल पुत्रको दण्ड देते हैं, तब उनके मनमें दुःख होता है। परन्तु वे उसे भय दिखलानेके लिये उसे बाहर प्रकट नहीं करते। इसी प्रकार भगवान् भी जब असुरोंको मारते हैं, तब पिताके नाते उनको भी दुःख होता है; पर दूसरे असुरोंको भय दिखलानेके लिये वे उसे प्रकट नहीं करते। भगवान् अब पूतनाको मारनेवाले हैं, परन्तु उसकी मृत्युकालीन पीड़ाको अपनी आँखों देखना नहीं चाहते, इसीसे उन्होंने नेत्र बंद कर लिये।

२१. छोटे बालकोंका स्वभाव है कि वे अपनी माके सामने खूब खेलते हैं, पर किसी अपरिचितको देखकर डर जाते हैं और नेत्र मूँद लेते हैं। अपरिचित पूतनाको देखकर इसीलिये बाल-लीला-विहारी भगवान्ने नेत्र बंद कर लिये। यह उनकी बाललीलाका माधुर्य है।

* भगवान् रोषके साथ पूतनाके प्राणोंके सहित स्तन-पान करने लगे, इसका यह अर्थ प्रतीत होता है कि रोष (रोषाधिष्ठातृ-देवता रुद्र) ने प्राणोंका पान किया और श्रीकृष्णने स्तनका।

सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी
निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः
प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह॥ ११

तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा
साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा।
रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः
पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशंकया॥ १२

निशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसु-
र्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि।
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता
वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप॥ १३

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान्।
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत्तदद्भुतम्॥ १४

ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम्।
गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम्॥ १५

अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम्।
बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम्॥ १६

सन्तत्रसुः स्म तद् वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम्।
पूर्वं तु तन्निःस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः॥ १७

बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम्।
गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः॥ १८

अब तो पूतनाके प्राणोंके आश्रयभूत सभी मर्मस्थान फटने लगे। वह पुकारने लगी—'अरे छोड़ दे, छोड़ दे, अब बस कर!' वह बार-बार अपने हाथ और पैर पटक-पटककर रोने लगी। उसके नेत्र उलट गये। उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया॥ ११॥ उसकी चिल्लाहटका वेग बड़ा भयंकर था। उसके प्रभावसे पहाड़ोंके साथ पृथ्वी और ग्रहोंके साथ अन्तरिक्ष डगमगा उठा। सातों पाताल और दिशाएँ गूँज उठीं। बहुत-से लोग वज्रपातकी आशंकासे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १२॥ परीक्षित्! इस प्रकार निशाचरी पूतनाके स्तनोंमें इतनी पीड़ा हुई कि वह अपनेको छिपा न सकी, राक्षसीरूपमें प्रकट हो गयी। उसके शरीरसे प्राण निकल गये, मुँह फट गया, बाल बिखर गये और हाथ-पाँव फैल गये। जैसे इन्द्रके वज्रसे घायल होकर वृत्रासुर गिर पड़ा था, वैसे ही वह बाहर गोष्ठमें आकर गिर पड़ी॥ १३॥

राजेन्द्र! पूतनाके शरीरने गिरते-गिरते भी छः कोसके भीतरके वृक्षोंको कुचल डाला। यह बड़ी ही अद्भुत घटना हुई॥ १४॥ पूतनाका शरीर बड़ा भयानक था, उसका मुँह हलके समान तीखी और भयंकर दाढ़ोंसे युक्त था। उसके नथुने पहाड़की गुफाके समान गहरे थे और स्तन पहाड़से गिरी हुई चट्टानोंकी तरह बड़े-बड़े थे। लाल-लाल बाल चारों ओर बिखरे हुए थे॥ १५॥ आँखें अंधे कूएँके समान गहरी नितम्ब नदीके करारकी तरह भयंकर; भुजाएँ, जाँघें और पैर नदीके पुलके समान तथा पेट सूखे हुए सरोवरकी भाँति जान पड़ता था॥ १६॥ पूतनाके उस शरीरको देखकर सब-के-सब ग्वाल और गोपी डर गये। उसकी भयंकर चिल्लाहट सुनकर उनके हृदय, कान और सिर तो पहले ही फट-से रहे थे॥ १७॥ जब गोपियोंने देखा कि बालक श्रीकृष्ण उसकी छातीपर निर्भय होकर खेल रहे हैं,* तब वे बड़ी घबराहट और

* पूतनाके वक्षःस्थलपर क्रीडा करते हुए मानो मन-ही-मन कह रहे थे—

स्तनन्धयस्य स्तन एव जीविका दत्तस्त्वया स स्वयमानने मम।
मया च पीतो म्रियते यदि त्वया किं वा ममागः स्वयमेव कथ्यताम्॥

'मैं दुधमुँहाँ शिशु हूँ, स्तनपान ही मेरी जीविका है। तुमने स्वयं अपना स्तन मेरे मुँहमें दे दिया और मैंने पिया। इससे यदि तुम मर जाती हो तो स्वयं तुम्हीं बताओ इसमें मेरा क्या अपराध है।'

यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः।
रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिः॥ १९

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम्।
रक्षां चक्रुश्च शकृता द्वादशांगेषु नामभिः॥ २०

गोप्यः संस्पृष्टसलिला अंगेषु करयोः पृथक्।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत॥ २१

अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू
यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः।
हृत् केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं
विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम्॥ २२

चक्र्यग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चात्
त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाजनश्च।
कोणेषु शंख उरुगाय उपर्युपेन्द्र-
स्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात्॥ २३

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु।
श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु॥ २४

पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः।
क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः॥ २५

व्रजन्तमव्याद् वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः पतिः।
भुंजानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयंकरः॥ २६

उतावलीके साथ झटपट वहाँ पहुँच गयीं तथा श्रीकृष्णको उठा लिया॥ १८॥

इसके बाद यशोदा और रोहिणीके साथ गोपियोंने गायकी पूँछ घुमाने आदि उपायोंसे बालक श्रीकृष्णके अंगोंकी सब प्रकारसे रक्षा की॥ १९॥ उन्होंने पहले बालक श्रीकृष्णको गोमूत्रसे स्नान कराया, फिर सब अंगोंमें गो-रज लगायी और फिर बारहों अंगोंमें गोबर लगाकर भगवान्‌के केशव आदि नामोंसे रक्षा की॥ २०॥ इसके बाद गोपियोंने आचमन करके 'अज' आदि ग्यारह बीज-मन्त्रोंसे अपने शरीरोंमें अलग-अलग अंगन्यास एवं करन्यास किया और फिर बालकके अंगोंमें बीजन्यास किया॥ २१॥

वे कहने लगीं—'अजन्मा भगवान् तेरे पैरोंकी रक्षा करें, मणिमान् घुटनोंकी, यज्ञपुरुष जाँघोंकी, अच्युत कमरकी, हयग्रीव पेटकी, केशव हृदयकी, ईश वक्षःस्थलकी, सूर्य कण्ठकी, विष्णु बाँहोंकी, उरुक्रम मुखकी और ईश्वर सिरकी रक्षा करें॥ २२॥ चक्रधर भगवान् रक्षाके लिये तेरे आगे रहें, गदाधारी श्रीहरि पीछे, क्रमशः धनुष और खड्ग धारण करनेवाले भगवान् मधुसूदन और अजन दोनों बगलमें, शंखधारी उरुगाय चारों कोनोंमें, उपेन्द्र ऊपर, हलधर पृथ्वीपर और भगवान् परमपुरुष तेरे सब ओर रक्षाके लिये रहें॥ २३॥ हृषीकेशभगवान् इन्द्रियोंकी और नारायण प्राणोंकी रक्षा करें। श्वेतद्वीपके अधिपति चित्तकी और योगेश्वर मनकी रक्षा करें॥ २४॥ पृश्निगर्भ तेरी बुद्धिकी और परमात्मा भगवान् तेरे अहंकारकी रक्षा करें। खेलते समय गोविन्द रक्षा करें, सोते समय माधव रक्षा करें॥ २५॥ चलते समय भगवान् वैकुण्ठ और बैठते समय भगवान् श्रीपति तेरी रक्षा करें। भोजनके समय समस्त ग्रहोंको भयभीत करनेवाले यज्ञभोक्ता भगवान् तेरी रक्षा करें॥ २६॥

राजा बलिकी कन्या थी रत्नमाला। यज्ञशालामें वामन भगवान्‌को देखकर उसके हृदयमें पुत्रस्नेहका भाव उदय हो आया। वह मन-ही-मन अभिलाषा करने लगी कि यदि मुझे ऐसा बालक हो और मैं उसे स्तन पिलाऊँ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। वामन भगवान्ने अपने भक्त बलिकी पुत्रीके इस मनोरथका मन-ही-मन अनुमोदन किया। वही द्वापरमें पूतना हुई और श्रीकृष्णके स्पर्शसे उसकी लालसा पूर्ण हुई।

डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः॥ २७

कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः॥ २८

स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः॥ २९

श्रीशुक उवाच

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम्।
पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेशयदात्मजम्॥ ३०

तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः।
विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः॥ ३१

नूनं बतर्षिः संजातो योगेशो वा समास सः।
स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकदुन्दुभिः॥ ३२

कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा तत्ते व्रजौकसः।
दूरे क्षिप्त्वावयवशो न्यदहन् काष्ठधिष्ठितम्॥ ३३

दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः॥ ३४

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम्॥ ३५

किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतमं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा॥ ३६

डाकिनी, राक्षसी और कूष्माण्डा आदि बालग्रह; भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस और विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना, मातृका आदि; शरीर, प्राण तथा इन्द्रियोंका नाश करनेवाले उन्माद (पागलपन) एवं अपस्मार (मृगी) आदि रोग; स्वप्नमें देखे हुए महान् उत्पात, वृद्धग्रह और बालग्रह आदि—ये सभी अनिष्ट भगवान् विष्णुका नामोच्चारण करनेसे भयभीत होकर नष्ट हो जायँ*॥ २७—२९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार गोपियोंने प्रेमपाशमें बँधकर भगवान् श्रीकृष्णकी रक्षा की। माता यशोदाने अपने पुत्रको स्तन पिलाया और फिर पालनेपर सुला दिया॥ ३०॥ इसी समय नन्दबाबा और उनके साथी गोप मथुरासे गोकुलमें पहुँचे। जब उन्होंने पूतनाका भयंकर शरीर देखा, तब वे आश्चर्यचकित हो गये॥ ३१॥ वे कहने लगे—'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है, अवश्य ही वसुदेवके रूपमें किसी ऋषिने जन्म ग्रहण किया है। अथवा सम्भव है वसुदेवजी पूर्वजन्ममें कोई योगेश्वर रहे हों; क्योंकि उन्होंने जैसा कहा था, वैसा ही उत्पात यहाँ देखनेमें आ रहा है॥ ३२॥ तबतक व्रजवासियोंने कुल्हाड़ीसे पूतनाके शरीरको टुकड़े-टुकड़े कर डाला और गोकुलसे दूर ले जाकर लकड़ियोंपर रखकर जला दिया॥ ३३॥ जब उसका शरीर जलने लगा, तब उसमेंसे ऐसा धूँआ निकला, जिसमेंसे अगरकी-सी सुगन्ध आ रही थी। क्यों न हो, भगवान्‌ने जो उसका दूध पी लिया था—जिससे उसके सारे पाप तत्काल ही नष्ट हो गये थे॥ ३४॥ पूतना एक राक्षसी थी। लोगोंके बच्चोंको मार डालना और उनका खून पी जाना—यही उसका काम था। भगवान्‌को भी उसने मार डालनेकी इच्छासे ही स्तन पिलाया था। फिर भी उसे वह परमगति मिली, जो सत्पुरुषोंको मिलती है॥ ३५॥ ऐसी स्थितिमें जो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको श्रद्धा और भक्तिसे माताके समान अनुरागपूर्वक अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और उनको प्रिय लगनेवाली वस्तु समर्पित करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ ३६॥

* इस प्रसंगको पढ़कर भावुक भक्त भगवान्‌से कहता है—'भगवन्! जान पड़ता है, आपकी अपेक्षा भी आपके नाममें शक्ति अधिक है; क्योंकि आप त्रिलोकीकी रक्षा करते हैं और नाम आपकी रक्षा कर रहा है।'

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः।
अंगं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम्॥ ३७

यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो नु मातरः॥ ३८

पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम्।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः॥ ३९

तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः॥ ४०

कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः।
किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः॥ ४१

ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम्।
श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोश्चासन् सुविस्मिताः॥ ४२

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रेत्यागतमुदारधीः।
मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह॥ ४३

य एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम्।
शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते रतिम्॥ ४४

भगवान्‌के चरणकमल सबके वन्दनीय ब्रह्मा, शंकर आदि देवताओंके द्वारा भी वन्दित हैं। वे भक्तोंके हृदयकी पूँजी हैं। उन्हीं चरणोंसे भगवान्‌ने पूतनाका शरीर दबाकर उसका स्तनपान किया था॥ ३७॥ माना कि वह राक्षसी थी, परन्तु उसे उत्तम-से-उत्तम गति—जो माताको मिलनी चाहिये—प्राप्त हुई। फिर जिनके स्तनका दूध भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे पिया, उन गौओं और माताओंकी* तो बात ही क्या है॥ ३८॥ परीक्षित्! देवकीनन्दन भगवान् कैवल्य आदि सब प्रकारकी मुक्ति और सब कुछ देनेवाले हैं। उन्होंने व्रजकी गोपियों और गौओंका वह दूध, जो भगवान्‌के प्रति पुत्र-भाव होनेसे वात्सल्य-स्नेहकी अधिकताके कारण स्वयं ही झरता रहता था, भरपेट पान किया॥ ३९॥ राजन्! वे गौएँ और गोपियाँ, जो नित्य-निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णको अपने पुत्रके ही रूपमें देखती थीं, फिर जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें कभी नहीं पड़ सकतीं; क्योंकि यह संसार तो अज्ञानके कारण ही है॥ ४०॥

नन्दबाबाके साथ आनेवाले व्रजवासियोंकी नाकमें जब चिताके धूएँकी सुगन्ध पहुँची, तब 'यह क्या है? कहाँसे ऐसी सुगन्ध आ रही है?' इस प्रकार कहते हुए वे व्रजमें पहुँचे॥ ४१॥ वहाँ गोपोंने उन्हें पूतनाके आनेसे लेकर मरनेतकका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वे लोग पूतनाकी मृत्यु और श्रीकृष्णके कुशलपूर्वक बच जानेकी बात सुनकर बड़े ही आश्चर्यचकित हुए॥ ४२॥ परीक्षित्! उदारशिरोमणि नन्दबाबाने मृत्युके मुखसे बचे हुए अपने लालाको गोदमें उठा लिया और बार-बार उसका सिर सूँघकर मन-ही-मन बहुत आनन्दित हुए॥ ४३॥ यह 'पूतना-मोक्ष' भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत बाल-लीला है। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक इसका श्रवण करता है, उसे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम प्राप्त होता है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

---

* जब ब्रह्माजी ग्वालबाल और बछड़ोंको हर ले गये, तब भगवान् स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये, उस समय अपने विभिन्न रूपोंसे उन्होंने अपने साथी अनेकों गोप और वत्सोंकी माताओंका स्तनपान किया। इसीलिये यहाँ बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

अथ सप्तमोऽध्यायः

शकट-भंजन और तृणावर्त-उद्धार

राजोवाच

येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो॥ १

यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा
सत्त्वं च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं
तदेव हारं वद मन्यसे चेत्॥ २

अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम्।
मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः॥ ३

श्रीशुक उवाच

कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे
जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम्।
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै-
श्चकार सूनोरभिषेचनं सती॥ ४

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं
विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः।
अन्नाद्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः
संजातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—प्रभो! सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि अनेकों अवतार धारण करके बहुत-सी सुन्दर एवं सुननेमें मधुर लीलाएँ करते हैं। वे सभी मेरे हृदयको बहुत प्रिय लगती हैं॥ १ ॥ उनके श्रवणमात्रसे भगवत्-सम्बन्धी कथासे अरुचि और विविध विषयोंकी तृष्णा भाग जाती है। मनुष्यका अन्तःकरण शीघ्र-से-शीघ्र शुद्ध हो जाता है। भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति और उनके भक्तजनोंसे प्रेम भी प्राप्त हो जाता है। यदि आप मुझे उनके श्रवणका अधिकारी समझते हों, तो भगवान्‌की उन्हीं मनोहर लीलाओंका वर्णन कीजिये॥ २ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्य-लोकमें प्रकट होकर मनुष्य-जातिके स्वभावका अनुसरण करते हुए जो बाललीलाएँ की हैं अवश्य ही वे अत्यन्त अद्‌भुत हैं, इसलिये आप अब उनकी दूसरी बाल-लीलाओंका भी वर्णन कीजिये॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक बार* भगवान् श्रीकृष्णके करवट बदलनेका अभिषेक-उत्सव मनाया जा रहा था। उसी दिन उनका जन्मनक्षत्र भी था। घरमें बहुत-सी स्त्रियोंकी भीड़ लगी हुई थी। गाना-बजाना हो रहा था। उन्हीं स्त्रियोंके बीचमें खड़ी हुई सती साध्वी यशोदाजीने अपने पुत्रका अभिषेक किया। उस समय ब्राह्मणलोग मन्त्र पढ़कर आशीर्वाद दे रहे थे॥ ४ ॥ नन्दरानी यशोदाजीने ब्राह्मणोंका खूब पूजन-सम्मान किया। उन्हें अन्न, वस्त्र, माला, गाय आदि मुँहमाँगी वस्तुएँ दीं। जब यशोदाने उन ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराकर स्वयं बालकके नहलाने आदिका कार्य सम्पन्न कर लिया, तब यह देखकरकि मेरे लल्लाके नेत्रोंमें नींद आ रही है, अपने पुत्रको धीरेसे शय्यापर सुला दिया॥ ५ ॥

---

* यहाँ कदाचित् (एक बार) से तात्पर्य है तीसरे महीनेके जन्मनक्षत्रयुक्त कालसे। उस समय श्रीकृष्णकी झाँकीका ऐसा वर्णन मिलता है—

स्निग्धाः पश्यति सेष्मयीति भुजयोर्युग्मं मुहुश्चालयन्नत्यल्पं मधुरं च कूजति परिष्वंगाय चाकांक्षति।
लाभालाभवशादमुष्य लसति क्रन्दत्यपि क्वाप्यसौ पीतस्तन्यतया स्वपित्यपि पुनर्जाग्रन्मुदं यच्छति॥

'स्नेहसे तर गोपियोंको आँख उठाकर देखते हैं और मुसकराते हैं। दोनों भुजाएँ बार-बार हिलाते हैं। बड़े मधुर स्वरसे थोड़ा-थोड़ा कूजते हैं। गोदमें आनेके लिये ललकते हैं। किसी वस्तुको पाकर उससे खेलने लग जाते हैं और न मिलनेसे क्रन्दन करते हैं। कभी-कभी दूध पीकर सो जाते हैं और फिर जागकर आनन्दित करते हैं।'

औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी
समागतान् पूजयती व्रजौकसः।
नैवाश्रृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा
रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत्॥ ६

अधः शयानस्य शिशोरनोऽल्पक-
प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं
व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७

दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय
औत्थानिके कर्मणि याः समागताः।
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः
कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात्॥ ८

ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः।
रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः॥ ९

न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत।
अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः॥ १०

रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशंकिता।
कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत्॥ ११

थोड़ी देरमें श्यामसुन्दरकी आँखें खुलीं, तो वे स्तन-पानके लिये रोने लगे। उस समय मनस्विनी यशोदाजी उत्सवमें आये हुए व्रजवासियोंके स्वागत-सत्कारमें बहुत ही तन्मय हो रही थीं। इसलिये उन्हें श्रीकृष्णका रोना सुनायी नहीं पड़ा। तब श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने पाँव उछालने लगे॥ ६॥ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे सोये हुए थे। उनके पाँव अभी लाल-लाल कोंपलोंके समान बड़े ही कोमल और नन्हे-नन्हे थे। परन्तु वह नन्हा-सा पाँव लगते ही विशाल छकड़ा उलट गया*। उस छकड़ेपर दूध-दही आदि अनेक रसोंसे भरी हुई मटकियाँ और दूसरे बर्तन रखे हुए थे। वे सब-के-सब फूट-फाट गये और छकड़ेके पहिये तथा धुरे अस्त-व्यस्त हो गये, उसका जूआ फट गया॥ ७॥ करवट बदलनेके उत्सवमें जितनी भी स्त्रियाँ आयी हुई थीं, वे सब और यशोदा, रोहिणी, नन्दबाबा और गोपगण इस विचित्र घटनाको देखकर व्याकुल हो गये। वे आपसमें कहने लगे—'अरे, यह क्या हो गया? यह छकड़ा अपने-आप कैसे उलट गया?'॥ ८॥ वे इसका कोई कारण निश्चित न कर सके। वहाँ खेलते हुए बालकोंने गोपों और गोपियोंसे कहा कि 'इस कृष्णने ही तो रोते-रोते अपने पाँवकी ठोकरसे इसे उलट दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं'॥ ९॥ परन्तु गोपोंने उसे 'बालकोंकी बात' मानकर उसपर विश्वास नहीं किया। ठीक ही है, वे गोप उस बालकके अनन्त बलको नहीं जानते थे॥ १०॥

यशोदाजीने समझा यह किसी ग्रह आदिका उत्पात है। उन्होंने अपने रोते हुए लाड़ले लालको गोदमें लेकर ब्राह्मणोंसे वेदमन्त्रोंके द्वारा शान्तिपाठ कराया और फिर वे उसे स्तन पिलाने लगीं॥ ११॥

* हिरण्याक्षका पुत्र था उत्कच। वह बहुत बलवान् एवं मोटा-तगड़ा था। एक बार यात्रा करते समय उसने लोमश ऋषिके आश्रमके वृक्षोंको कुचल डाला। लोमश ऋषिने क्रोध करके शाप दे दिया—'अरे दुष्ट! जा, तू देहरहित हो जा।' उसी समय साँपके केंचुलके समान उसका शरीर गिरने लगा। वह धड़ामसे लोमश ऋषिके चरणोंपर गिर पड़ा और प्रार्थना की—'कृपासिन्धो! मुझपर कृपा कीजिये। मुझे आपके प्रभावका ज्ञान नहीं था। मेरा शरीर लौटा दीजिये।' लोमशजी प्रसन्न हो गये। महात्माओंका शाप भी वर हो जाता है। उन्होंने कहा—'वैवस्वत मन्वन्तरमें श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शसे तेरी मुक्ति हो जायगी।' वही असुर छकड़ेमें आकर बैठ गया था और भगवान् श्रीकृष्णके चरणस्पर्शसे मुक्त हो गया।

पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम्।
विप्रा हुत्वार्चयांचक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः॥ १२

येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः।
न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः॥ १३

इति बालकमादाय सामग्र्यजुरुपाकृतैः।
जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः॥ १४

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः।
हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम्॥ १५

गावः सर्वगुणोपेता वासःस्त्रग्रुक्ममालिनीः।
आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात्ते चान्वयुंजत॥ १६

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाऽऽशिषः।
ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम्॥ १७

एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती।
गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्॥ १८

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता।
महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु॥ १९

दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः।
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम्॥ २०

गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः।
ईरयन् सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः॥ २१

मुहूर्तमभवद् गोष्ठं रजसा तमसाऽऽवृतम्।
सुतं यशोदा नापश्यत्तस्मिन् न्यस्तवती यतः॥ २२

बलवान् गोपोंने छकड़ेको फिर सीधा कर दिया। उसपर पहलेकी तरह सारी सामग्री रख दी गयी। ब्राह्मणोंने हवन किया और दही, अक्षत, कुश तथा जलके द्वारा भगवान् और उस छकड़ेकी पूजा की॥ १२॥ जो किसीके गुणोंमें दोष नहीं निकालते, झूठ नहीं बोलते, दम्भ, ईर्ष्या और हिंसा नहीं करते तथा अभिमानसे रहित हैं—उन सत्यशील ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता॥ १३॥ यह सोचकर नन्दबाबाने बालकको गोदमें उठा लिया और ब्राह्मणोंसे साम, ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कृत एवं पवित्र ओषधियोंसे युक्त जलसे अभिषेक कराया॥ १४॥ उन्होंने बड़ी एकाग्रतासे स्वस्त्ययनपाठ और हवन कराकर ब्राह्मणोंको अति उत्तम अन्नका भोजन कराया॥ १५॥ इसके बाद नन्दबाबाने अपने पुत्रकी उन्नति और अभिवृद्धिकी कामनासे ब्राह्मणोंको सर्वगुणसम्पन्न बहुत-सी गौएँ दीं। वे गौएँ वस्त्र, पुष्पमाला और सोनेके हारोंसे सजी हुई थीं। ब्राह्मणोंने उन्हें आशीर्वाद दिया॥ १६॥ यह बात स्पष्ट है कि जो वेदवेत्ता और सदाचारी ब्राह्मण होते हैं, उनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता॥ १७॥

एक दिनकी बात है, सती यशोदाजी अपने प्यारे लल्लाको गोदमें लेकर दुलार रही थीं। सहसा श्रीकृष्ण चट्टानके समान भारी बन गये। वे उनका भार न सह सकीं॥ १८॥ उन्होंने भारसे पीड़ित होकर श्रीकृष्णको पृथ्वीपर बैठा दिया। इस नयी घटनासे वे अत्यन्त चकित हो रही थीं। इसके बाद उन्होंने भगवान् पुरुषोत्तमका स्मरण किया और घरके काममें लग गयीं॥ १९॥

तृणावर्त नामका एक दैत्य था। वह कंसका निजी सेवक था। कंसकी प्रेरणासे ही बवंडरके रूपमें वह गोकुलमें आया और बैठे हुए बालक श्रीकृष्णको उड़ाकर आकाशमें ले गया॥ २०॥ उसने व्रजरजसे सारे गोकुलको ढक दिया और लोगोंकी देखनेकी शक्ति हर ली। उसके अत्यन्त भयंकर शब्दसे दसों दिशाएँ काँप उठीं॥ २१॥ सारा व्रज दो घड़ीतक रज और तमसे ढका रहा। यशोदाजीने अपने पुत्रको जहाँ बैठा दिया था, वहाँ जाकर देखा तो श्रीकृष्ण वहाँ नहीं थे॥ २२॥

नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः।
तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः॥ २३

इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे
सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद्
भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः॥ २४

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो
भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं
पवन उपारतपांसुवर्षवेगे॥ २५

तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन्।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत्॥ २६

तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम्॥ २७

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः।
अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे॥ २८

तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां
विशीर्णसर्वावयवं करालम्।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं
स्त्रियो रुदत्यो ददृशुः समेताः॥ २९

उस समय तृणावर्तने बवंडररूपसे इतनी बालू उड़ा रखी थी कि सभी लोग अत्यन्त उद्विग्न और बेसुध हो गये थे। उन्हें अपना-पराया कुछ भी नहीं सूझ रहा था॥ २३॥ उस जोरकी आँधी और धूलकी वर्षामें अपने पुत्रका पता न पाकर यशोदाको बड़ा शोक हुआ। वे अपने पुत्रकी याद करके बहुत ही दीन हो गयीं और बछड़ेके मर जानेपर गायकी जो दशा हो जाती है, वही दशा उनकी हो गयी। वे पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ २४॥ बवंडरके शान्त होनेपर जब धूलकी वर्षाका वेग कम हो गया, तब यशोदाजीके रोनेका शब्द सुनकर दूसरी गोपियाँ वहाँ दौड़ आयीं। नन्दनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको न देखकर उनके हृदयमें भी बड़ा संताप हुआ, आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगी। वे फूट-फूटकर रोने लगीं॥ २५॥

इधर तृणावर्त बवंडररूपसे जब भगवान् श्रीकृष्णको आकाशमें उठा ले गया, तब उनके भारी बोझको न सँभाल सकनेके कारण उसका वेग शान्त हो गया। वह अधिक चल न सका॥ २६॥

तृणावर्त अपनेसे भी भारी होनेके कारण श्रीकृष्णको नीलगिरिकी चट्टान समझने लगा। उन्होंने उसका गला ऐसा पकड़ा कि वह उस अद्भुत शिशुको अपनेसे अलग नहीं कर सका॥ २७॥ भगवान्‌ने इतने जोरसे उसका गला पकड़ रखा था कि वह असुर निश्चेष्ट हो गया। उसकी आँखें बाहर निकल आयीं। बोलती बंद हो गयी। प्राण-पखेरू उड़ गये और बालक श्रीकृष्णके साथ वह व्रजमें गिर पड़ा*॥ २८॥ वहाँ जो स्त्रियाँ इकट्ठी होकर रो रही थीं, उन्होंने देखा कि वह विकराल दैत्य आकाशसे एक चट्टानपर गिर पड़ा और उसका एक-एक अंग चकनाचूर हो गया—ठीक वैसे ही, जैसे भगवान् शंकरके बाणोंसे आहत हो त्रिपुरासुर गिरकर चूर-चूर हो गया था॥ २९॥

---

* पाण्डुदेशमें सहस्राक्ष नामके एक राजा थे। वे नर्मदा-तटपर अपनी रानियोंके साथ विहार कर रहे थे। उधरसे दुर्वासा ऋषि निकले, परन्तु उन्होंने प्रणाम नहीं किया। ऋषिने शाप दिया—'तू राक्षस हो जा।' जब वह उनके चरणोंपर गिरकर गिड़गिड़ाया, तब दुर्वासाजीने कह दिया—'भगवान् श्रीकृष्णके श्रीविग्रहका स्पर्श होते ही तू मुक्त हो जायगा।' वही राजा तृणावर्त होकर आया था और श्रीकृष्णका संस्पर्श प्राप्त करके मुक्त हो गया।

प्रादाय मात्रे प्रतिहृत्य[१] विस्मिताः
कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम्।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं
विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्।
गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या
लब्ध्वा पुनः[२] प्रापुरतीव मोदम्॥ ३०

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते॥ ३१

किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं
पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम्।
यत्संपरेतः पुनरेव बालको
दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः॥ ३२

दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने।
वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः॥ ३३

एकदार्भकमादाय स्वांकमारोप्य भामिनी।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता॥ ३४

पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम्।
मुखं लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे इदम्॥ ३५

भगवान् श्रीकृष्ण उसके वक्षःस्थलपर लटक रहे थे। यह देखकर गोपियाँ विस्मित हो गयीं। उन्होंने झटपट वहाँ जाकर श्रीकृष्णको गोदमें ले लिया और लाकर उन्हें माताको दे दिया। बालक मृत्युके मुखसे सकुशल लौट आया। यद्यपि उसे राक्षस आकाशमें उठा ले गया था, फिर भी वह बच गया। इस प्रकार बालक श्रीकृष्णको फिर पाकर यशोदा आदि गोपियों तथा नन्द आदि गोपोंको अत्यन्त आनन्द हुआ॥ ३०॥ वे कहने लगे—'अहो! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है। देखो तो सही, यह कितनी अद्भुत घटना घट गयी! यह बालक राक्षसके द्वारा मृत्युके मुखमें डाल दिया गया था, परन्तु फिर जीता-जागता आ गया और उस हिंसक दुष्टको उसके पाप ही खा गये! सच है, साधुपुरुष अपनी समतासे ही सम्पूर्ण भयोंसे बच जाता है॥ ३१॥ हमने ऐसा कौन-सा तप, भगवान्की पूजा, प्याऊ-पौसला, कूआँ-बावली, बाग-बगीचे आदि पूर्त, यज्ञ, दान अथवा जीवोंकी भलाई की थी, जिसके फलसे हमारा यह बालक मरकर भी अपने स्वजनोंको सुखी करनेके लिये फिर लौट आया? अवश्य ही यह बड़े सौभाग्यकी बात है'॥ ३२॥ जब नन्दबाबाने देखा कि महावनमें बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ घटित हो रही हैं, तब आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वसुदेवजीकी बातका बार-बार समर्थन किया॥ ३३॥

एक दिनकी बात है, यशोदाजी अपने प्यारे शिशुको अपनी गोदमें लेकर बड़े प्रेमसे स्तनपान करा रही थीं। वे वात्सल्य-स्नेहसे इस प्रकार सराबोर हो रही थीं कि उनके स्तनोंसे अपने-आप ही दूध झरता जा रहा था॥ ३४॥ जब वे प्रायः दूध पी चुके और माता यशोदा उनके रुचिर मुसकानसे युक्त मुखको चूम रही थीं उसी समय श्रीकृष्णको जँभाई आ गयी और माताने उनके मुखमें यह देखा*॥ ३५॥

१. गृह्य। २. सुतं।

* स्नेहमयी जननी और स्नेहके सदा भूखे भगवान्! उन्हें दूध पीनेसे तृप्ति ही नहीं होती थी। माँके मनमें शंका हुई—कहीं अधिक पीनेसे अपच न हो जाय। प्रेम सर्वदा अनिष्टकी आशंका उत्पन्न करता है। श्रीकृष्णने अपने मुखमें विश्वरूप दिखाकर कहा—'अरी मैया! तेरा दूध मैं अकेले ही नहीं पीता हूँ। मेरे मुखमें बैठकर सम्पूर्ण विश्व ही इसका पान कर रहा है। तू घबरावे मत'—

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजंगमानि॥ ३६

उसमें आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदियाँ, वन और समस्त चराचर प्राणी स्थित हैं॥ ३६॥

सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् संजातवेपथुः।
सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता॥ ३७

परीक्षित्! अपने पुत्रके मुँहमें इस प्रकार सहसा सारा जगत् देखकर मृगशावकनयनी यशोदाजीका शरीर काँप उठा। उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें बन्द कर लीं*। वे अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गयीं॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे तृणावर्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

नामकरण-संस्कार और बाललीला

श्रीशुक उवाच

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! यदुवंशियोंके कुलपुरोहित थे श्रीगर्गाचार्यजी। वे बड़े तपस्वी थे। वसुदेवजीकी प्रेरणासे वे एक दिन नन्दबाबाके गोकुलमें आये॥ १॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृतांजलिः।
आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम्॥ २

उन्हें देखकर नन्दबाबाको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। उनके चरणोंमें प्रणाम किया। इसके बाद 'ये स्वयं भगवान् ही हैं'—इस भावसे उनकी पूजा की॥ २॥

सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम्।
नन्दयित्वाब्रवीद् ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम्॥ ३

जब गर्गाचार्यजी आरामसे बैठ गये और विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार हो गया, तब नन्दबाबाने बड़ी ही मधुर वाणीसे उनका अभिनन्दन किया और कहा—'भगवन्! आप तो स्वयं पूर्णकाम हैं, फिर मैं आपकी क्या सेवा करूँ?॥ ३॥

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥ ४

आप-जैसे महात्माओंका हमारे-जैसे गृहस्थोंके घर आ जाना ही हमारे परम कल्याणका कारण है। हम तो घरोंमें इतने उलझ रहे हैं और इन प्रपंचोंमें हमारा चित्त इतना दीन हो रहा है कि हम आपके आश्रमतक जा भी नहीं सकते। हमारे कल्याणके सिवा आपके आगमनका और कोई हेतु नहीं है॥ ४॥

स्तन्यं कियत् पिबसि भूर्यलमर्भकेति वर्तिष्यमाणवचनां जननीं विभाव्य।
विश्वं विभागि पयसोऽस्य न केवलोऽहमस्माददर्शि हरिणा किमु विश्वमास्ये॥

* वात्सल्यमयी यशोदा माता अपने लालाके मुखमें विश्व देखकर डर गयीं, परन्तु वात्सल्य-प्रेमरस-भावित हृदय होनेसे उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने यह विचार किया कि यह विश्वका बखेड़ा लालाके मुँहमें कहाँसे आया? हो-न-हो यह मेरी इन निगोड़ी आँखोंकी ही गड़बड़ी है। मानो इसीसे उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये।

ज्योतिषामयनं साक्षाद् यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम्।
प्रणीतं भवता येन पुमान् वेद परावरम्॥ ५

त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि।
बालयोरनयोर्नॄणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः॥ ६

गर्ग उवाच

यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वतः।
सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम्॥ ७

कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति॥ ८

इति संचिन्तयञ्छ्रुत्वा देवक्या दारिकावचः।
अपि हन्ताऽऽगताशंकस्तर्हि तन्नोऽनयो भवेत्॥ ९

नन्द उवाच

अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे।
कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम्॥ १०

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत्।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः॥ ११

गर्ग उवाच

अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद् बलं विदुः।
यदूनामपृथग्भावात् संकर्षणमुशन्त्युत॥ १२

प्रभो! जो बात साधारणतः इन्द्रियोंकी पहुँचके बाहर है अथवा भूत और भविष्यके गर्भमें निहित है, वह भी ज्यौतिष-शास्त्रके द्वारा प्रत्यक्ष जान ली जाती है। आपने उसी ज्यौतिष-शास्त्रकी रचना की है॥ ५॥ आप ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। इसलिये मेरे इन दोनों बालकोंके नामकरणादि संस्कार आप ही कर दीजिये; क्योंकि ब्राह्मण जन्मसे ही मनुष्यमात्रका गुरु है'॥ ६॥

गर्गाचार्यजीने कहा—नन्दजी! मैं सब जगह यदुवंशियोंके आचार्यके रूपमें प्रसिद्ध हूँ। यदि मैं तुम्हारे पुत्रके संस्कार करूँगा, तो लोग समझेंगे कि यह तो देवकीका पुत्र है॥ ७॥ कंसकी बुद्धि बुरी है, वह पाप ही सोचा करती है। वसुदेवजीके साथ तुम्हारी बड़ी घनिष्ठ मित्रता है। जबसे देवकीकी कन्यासे उसने यह बात सुनी है कि उसको मारनेवाला और कहीं पैदा हो गया है, तबसे वह यही सोचा करता है कि देवकीके आठवें गर्भसे कन्याका जन्म नहीं होना चाहिये। यदि मैं तुम्हारे पुत्रका संस्कार कर दूँ और वह इस बालकको वसुदेवजीका लड़का समझकर मार डाले, तो हमसे बड़ा अन्याय हो जायगा॥ ८-९॥

नन्दबाबाने कहा—आचार्यजी! आप चुपचाप इस एकान्त गोशालामें केवल स्वस्तिवाचन करके इस बालकका द्विजातिसमुचित नामकरण-संस्कारमात्र कर दीजिये। औरोंकी कौन कहे, मेरे सगे-सम्बन्धी भी इस बातको न जानने पावें॥ १०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—गर्गाचार्यजी तो संस्कार करना चाहते ही थे। जब नन्दबाबाने उनसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने एकान्तमें छिपकर गुप्तरूपसे दोनों बालकोंका नामकरण-संस्कार कर दिया॥ ११॥

गर्गाचार्यजीने कहा—'यह रोहिणीका पुत्र है। इसलिये इसका नाम होगा रौहिणेय। यह अपने सगे-सम्बन्धी और मित्रोंको अपने गुणोंसे अत्यन्त आनन्दित करेगा। इसलिये इसका दूसरा नाम होगा 'राम'। इसके बलकी कोई सीमा नहीं है, अतः इसका एक नाम 'बल' भी है। यह यादवोंमें और तुमलोगोंमें कोई भेदभाव नहीं रखेगा और लोगोंमें फूट पड़नेपर मेल करावेगा, इसलिये इसका एक नाम 'संकर्षण' भी है॥ १२॥

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ १३

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ १४

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥ १५

एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ॥ १६

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः॥ १७

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः॥ १८

तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः॥ १९

इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।
नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम्॥ २०

और यह जो साँवला-साँवला है, यह प्रत्येक युगमें शरीर ग्रहण करता है। पिछले युगोंमें इसने क्रमशः श्वेत, रक्त और पीत—ये तीन विभिन्न रंग स्वीकार किये थे। अबकी यह कृष्णवर्ण हुआ है। इसलिये इसका नाम 'कृष्ण' होगा॥ १३॥ नन्दजी! यह तुम्हारा पुत्र पहले कभी वसुदेवजीके घर भी पैदा हुआ था, इसलिये इस रहस्यको जाननेवाले लोग इसे 'श्रीमान् वासुदेव' भी कहते हैं॥ १४॥ तुम्हारे पुत्रके और भी बहुत-से नाम हैं तथा रूप भी अनेक हैं। इसके जितने गुण हैं और जितने कर्म, उन सबके अनुसार अलग-अलग नाम पड़ जाते हैं। मैं तो उन नामोंको जानता हूँ, परन्तु संसारके साधारण लोग नहीं जानते॥ १५॥ यह तुमलोगोंका परम कल्याण करेगा। समस्त गोप और गौओंको यह बहुत ही आनन्दित करेगा। इसकी सहायतासे तुमलोग बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको बड़ी सुगमतासे पार कर लोगे॥ १६॥ व्रजराज! पहले युगकी बात है। एक बार पृथ्वीमें कोई राजा नहीं रह गया था। डाकुओंने चारों ओर लूट-खसोट मचा रखी थी। तब तुम्हारे इसी पुत्रने सज्जन पुरुषोंकी रक्षा की और इससे बल पाकर उन लोगोंने लुटेरोंपर विजय प्राप्त की॥ १७॥ जो मनुष्य तुम्हारे इस साँवले-सलोने शिशुसे प्रेम करते हैं। वे बड़े भाग्यवान् हैं। जैसे विष्णुभगवान्के करकमलोंकी छत्रछायामें रहनेवाले देवताओंको असुर नहीं जीत सकते, वैसे ही इससे प्रेम करनेवालोंको भीतर या बाहर किसी भी प्रकारके शत्रु नहीं जीत सकते॥ १८॥ नन्दजी! चाहे जिस दृष्टिसे देखें—गुणमें, सम्पत्ति और सौन्दर्यमें, कीर्ति और प्रभावमें तुम्हारा यह बालक साक्षात् भगवान् नारायणके समान है। तुम बड़ी सावधानी और तत्परतासे इसकी रक्षा करो'॥ १९॥ इस प्रकार नन्दबाबाको भलीभाँति समझाकर, आदेश देकर गर्गाचार्यजी अपने आश्रमको लौट गये। उनकी बात सुनकर नन्दबाबाको बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने ऐसा समझा कि मेरी सब आशा-लालसाएँ पूरी हो गयीं, मैं अब कृतकृत्य हूँ॥ २०॥

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिंगमाणौ विजह्रतुः॥ २१

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥ २२

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्॥ २३

यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला-
वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः॥ २४

शृंग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।

परीक्षित्! कुछ ही दिनोंमें राम और श्याम घुटनों और हाथोंके बल बकैयाँ चल-चलकर गोकुलमें खेलने लगे॥ २१॥ दोनों भाई अपने नन्हे-नन्हे पाँवोंको गोकुलकी कीचड़में घसीटते हुए चलते। उस समय उनके पाँव और कमरके घुँघरू रुनझुन बजने लगते। वह शब्द बड़ा भला मालूम पड़ता। वे दोनों स्वयं वह ध्वनि सुनकर खिल उठते। कभी-कभी वे रास्ते चलते किसी अज्ञात व्यक्तिके पीछे हो लेते। फिर जब देखते कि यह तो कोई दूसरा है, तब झक-से रह जाते और डरकर अपनी माताओं—रोहिणीजी और यशोदाजीके पास लौट आते॥ २२॥ माताएँ यह सब देख-देखकर स्नेहसे भर जातीं। उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती थी। जब उनके दोनों नन्हे-नन्हे-से शिशु अपने शरीरमें कीचड़का अंगराग लगाकर लौटते, तब उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी। माताएँ उन्हें आते ही दोनों हाथोंसे गोदमें लेकर हृदयसे लगा लेतीं और स्तनपान कराने लगतीं, जब वे दूध पीने लगते और बीच-बीचमें मुसकरा-मुसकराकर अपनी माताओंकी ओर देखने लगते, तब वे उनकी मन्द-मन्द मुसकान, छोटी-छोटी दँतुलियाँ और भोला-भाला मुँह देखकर आनन्दके समुद्रमें डूबने-उतराने लगतीं॥ २३॥ जब राम और श्याम दोनों कुछ और बड़े हुए, तब व्रजमें घरके बाहर ऐसी-ऐसी बाललीलाएँ करने लगे, जिन्हें गोपियाँ देखती ही रह जातीं। जब वे किसी बैठे हुए बछड़ेकी पूँछ पकड़ लेते और बछड़े डरकर इधर-उधर भागते, तब वे दोनों और भी जोरसे पूँछ पकड़ लेते और बछड़े उन्हें घसीटते हुए दौड़ने लगते। गोपियाँ अपने घरका काम-धंधा छोड़कर यही सब देखती रहतीं और हँसते-हँसते लोटपोट होकर परम आनन्दमें मग्न हो जातीं॥ २४॥ कन्हैया और बलदाऊ दोनों ही बड़े चंचल और बड़े खिलाड़ी थे। वे कहीं हरिन, गाय आदि सींगवाले पशुओंके पास दौड़ जाते, तो कहीं धधकती हुई आगसे खेलनेके लिये कूद पड़ते। कभी दाँतसे काटनेवाले कुत्तोंके पास पहुँच जाते, तो कभी आँख बचाकर तलवार उठा लेते। कभी कूएँ या

गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥ २५

गड्ढेके पास जलमें गिरते-गिरते बचते, कभी मोर आदि पक्षियोंके निकट चले जाते और कभी काँटोंकी ओर बढ़ जाते थे। माताएँ उन्हें बहुत बरजतीं, परन्तु उनकी एक न चलती। ऐसी स्थितिमें वे घरका काम-धंधा भी नहीं सँभाल पातीं। उनका चित्त बच्चोंको भयकी वस्तुओंसे बचानेकी चिन्तासे अत्यन्त चंचल रहता था॥ २५॥

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरंजसा॥ २६

राजर्षे! कुछ ही दिनोंमें यशोदा और रोहिणीके लाड़ले लाल घुटनोंका सहारा लिये बिना अनायास ही खड़े होकर गोकुलमें चलने-फिरने लगे*॥ २६॥

---

* जब श्यामसुन्दर घुटनोंका सहारा लिये बिना चलने लगे, तब वे अपने घरमें अनेकों प्रकारकी कौतुकमयी लीला करने लगे—

शून्ये चोरयतः स्वयं निजगृहे हैयंगवीनं मणिस्तम्भे स्वप्रतिबिम्बमीक्षितवतस्तेनैव सार्द्धं भिया।
भ्रातर्मा वद मातरं मम समो भागस्तवापीहितो भुङ्क्ष्वेत्यालपतो हरेः कलवचो मात्रा रहः श्रूयते॥

एक दिन साँवरे-सलोने व्रजराजकुमार श्रीकन्हैयालालजी अपने सूने घरमें स्वयं ही माखन चुरा रहे थे । उनकी दृष्टि मणिके खम्भेमें पड़े हुए अपने प्रतिविम्बपर पड़ी। अब तो वे डर गये। अपने प्रतिविम्बसे बोले—'अरे भैया! मेरी मैयासे कहियो मत। तेरा भाग भी मेरे बराबर ही मुझे स्वीकार है; ले, खा। खा ले, भैया!' यशोदा माता अपने लालाकी तोतली बोली सुन रही थीं।

उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे घरमें भीतर घुस आयीं। माताको देखते ही श्रीकृष्णने अपने प्रतिविम्बको दिखाकर बात बदल दी—

मातः क एष नवनीतमिदं त्वदीयं लोभेन चोरयितुमद्य गृहं प्रविष्टः।
मद्वारणं न मनुते मयि रोषभाजि रोषं तनोति न हि मे नवनीतलोभः॥

'मैया! मैया! यह कौन है? लोभवश तुम्हारा माखन चुरानेके लिये आज घरमें घुस आया है। मैं मना करता हूँ तो मानता नहीं है और मैं क्रोध करता हूँ तो यह भी क्रोध करता है। मैया! तुम कुछ और मत सोचना। मेरे मनमें माखनका तनिक भी लोभ नहीं है।'

अपने दुध-मुँहे शिशुकी प्रतिभा देखकर मैया वात्सल्य-स्नेहके आनन्दमें मग्न हो गयीं।

× × × × ×

एक दिन श्यामसुन्दर माताके बाहर जानेपर घरमें ही माखन-चोरी कर रहे थे। इतनेमें ही दैववश यशोदाजी लौट आयीं और अपने लाड़ले लालको न देखकर पुकारने लगीं—

कृष्ण! क्वासि करोषि किं पितरिति श्रुत्वैव मातुर्वचः साशंकं नवनीतचौर्यविरतो विश्रभ्य तामब्रवीत्।
मातः कंकणपद्मरागमहसा पाणिर्ममातप्यते तेनायं नवनीतभाण्डविवरे विन्यस्य निर्वापितः॥

'कन्हैया! कन्हैया! अरे ओ मेरे बाप! कहाँ है, क्या कर रहा है?' माताकी यह बात सुनते ही माखनचोर श्रीकृष्ण डर गये और माखन-चोरीसे अलग हो गये। फिर थोड़ी देर चुप रहकर यशोदाजीसे बोले—'मैया, री मैया! यह जो तुमने मेरे कंकणमें पद्मराग जड़ा दिया है, इसकी लपटसे मेरा हाथ जल रहा था। इसीसे मैंने इसे माखनके मटकेमें डालकर बुझाया था।'

माता यह मधुर-मधुर कन्हैयाकी तोतली बोली सुनकर मुग्ध हो गयीं और 'आओ बेटा!' ऐसा कहकर लालाको गोदमें उठा लिया और प्यारसे चूमने लगीं।

× × × × ×

ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्॥ २७

ये व्रजवासियोंके कन्हैया स्वयं भगवान् हैं, परम सुन्दर और परम मधुर! अब वे और बलराम अपनी ही उम्रके ग्वालबालोंको अपने साथ लेकर खेलनेके लिये व्रजमें निकल पड़ते और व्रजकी भाग्यवती गोपियोंको निहाल करते हुए तरह-तरहके खेल खेलते॥ २७॥

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्।
शृण्वत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः॥ २८

उनके बचपनकी चंचलताएँ बड़ी ही अनोखी होती थीं। गोपियोंको तो वे बड़ी ही सुन्दर और मधुर लगतीं। एक दिन सब-की-सब इकट्ठी होकर नन्द-बाबाके घर आयीं और यशोदा माताको सुना-सुनाकर कन्हैयाके करतूत कहने लगीं॥ २८॥

क्षुण्णाभ्यां करकुड्मलेन विगलद्वाष्पाम्बुदृग्भ्यां रुदन् हुं हुं हूमिति रुद्धकण्ठकुहरादस्पष्टवाग्विभ्रमः।
मात्रासौ नवनीतचौर्यकुतुके प्राग्भर्त्सितः स्वांचलेनामृज्यास्य मुखं तवैतदखिलं वत्सेति कण्ठे कृतः॥

एक दिन माताने माखनचोरी करनेपर श्यामसुन्दरको धमकाया, डाँटा-फटकारा। बस, दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। कर-कमलसे आँखें मलने लगे। ऊँ-ऊँ-ऊँ करके रोने लगे। गला रुँध गया। मुँहसे बोला नहीं जाता था। बस, माता यशोदाका धैर्य टूट गया। अपने आँचलसे अपने लाला कन्हैयाका मुँह पोंछा और बड़े प्यारसे गले लगाकर बोलीं—'लाला! यह सब तुम्हारा ही है, यह चोरी नहीं है।'

एक दिनकी बात है—पूर्णचन्द्रकी चाँदनीसे मणिमय आँगन धुल गया था। यशोदा मैयाके साथ गोपियोंकी गोष्ठी जुड़ रही थी। वहीं खेलते-खेलते कृष्णचन्द्रकी दृष्टि चन्द्रमापर पड़ी। उन्होंने पीछेसे आकर यशोदा मैयाका घूँघट उतार लिया। और अपने कोमल करोंसे उनकी चोटी खोलकर खींचने लगे और बार-बार पीठ थपथपाने लगे। 'मैं लूँगा, मैं लूँगा'—तोतली बोलीसे इतना ही कहते। जब मैयाकी समझमें बात नहीं आयी, तब उसने स्नेहार्द्र दृष्टिसे पास बैठी ग्वालिनोंकी ओर देखा। अब वे विनयसे, प्यारसे फुसलाकर श्रीकृष्णको अपने पास ले आयीं और बोलीं—'लालन! तुम क्या चाहते हो, दूध!' श्रीकृष्ण-'ना'। 'क्या बढ़िया दही?' 'ना'। 'क्या खुरचन?' 'ना'। 'मलाई?' 'ना'। 'ताजा माखन? 'ना' ग्वालिनोंने कहा—'बेटा! रूठो मत, रोओ मत। जो माँगोगे सो देंगी।' श्रीकृष्णने धीरेसे कहा—'घरकी वस्तु नहीं चाहिये' और अँगुली उठाकर चन्द्रमाकी ओर संकेत कर दिया। गोपियाँ बोलीं—'ओ मेरे बाप! यह कोई माखनका लौंदा थोड़े ही है? हाय! हाय! हम यह कैसे देंगी? यह तो प्यारा-प्यारा हंस आकाशके सरोवरमें तैर रहा है।' श्रीकृष्णने कहा—'मैं भी तो खेलनेके लिये इस हंसको ही माँग रहा हूँ, शीघ्रता करो। पार जानेके पूर्व ही मुझे ला दो।'

अब और भी मचल गये। धरतीपर पाँव पीट-पीटकर और हाथोंसे गला पकड़-पकड़कर 'दो-दो' कहने लगे और पहलेसे भी अधिक रोने लगे। दूसरी गोपियोंने कहा—'बेटा! राम-राम। इन्होंने तुमको बहला दिया है। यह राजहंस नहीं है, यह तो आकाशमें ही रहनेवाला चन्द्रमा है।' श्रीकृष्ण हठ कर बैठे—'मुझे तो यही दो; मेरे मनमें इसके साथ खेलनेकी बड़ी लालसा है। अभी दो, अभी दो। 'जब बहुत रोने लगे, तब यशोदा माताने गोदमें उठा लिया और प्यार करके बोलीं—'मेरे प्राण! न यह राजहंस है और न तो चन्द्रमा। है यह माखन ही, परन्तु तुमको देने योग्य नहीं है। देखो, इसमें वह काला-काला विष लगा हुआ है। इससे बढ़िया होनेपर भी इसे कोई नहीं खाता है।' श्रीकृष्णने कहा—'मैया! मैया! इसमें विष कैसे लग गया।' बात बदल गयी। मैयाने गोदमें लेकर मधुर-मधुर स्वरसे कथा सुनाना प्रारम्भ किया। मा-बेटेमें प्रश्नोत्तर होने लगे।

यशोदा—'लाला! एक क्षीरसागर है।'

श्रीकृष्ण—'मैया! वह कैसा है।'

यशोदा—'बेटा! यह जो तुम दूध देख रहे हो, इसीका एक समुद्र है।'

श्रीकृष्ण—'मैया! कितनी गायोंने दूध दिया होगा जब समुद्र बना होगा।

वत्सान् मुंचन् क्वचिदसमये
क्रोशसंजातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि पयः
कल्पितैः स्तेययोगैः।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चे-
न्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो
यात्युपक्रोश्य तोकान्॥ २९

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं
पीठकोलूखलाद्यै-
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः
शिक्यभाण्डेषु तद्वित्।

'अरी यशोदा! यह तेरा कान्हा बड़ा नटखट हो गया है। गाय दुहनेका समय न होनेपर भी यह बछड़ोंको खोल देता है और हम डाँटती हैं, तो ठठा-ठठाकर हँसने लगता है। यह चोरीके बड़े-बड़े उपाय करके हमारे मीठे-मीठे दही-दूध चुरा-चुराकर खा जाता है। केवल अपने ही खाता तो भी एक बात थी, यह तो सारा दही-दूध वानरोंको बाँट देता है और जब वे भी पेट भर जानेपर नहीं खा पाते, तब यह हमारे माटोंको ही फोड़ डालता है। यदि घरमें कोई वस्तु इसे नहीं मिलती तो यह घर और घरवालोंपर बहुत खीझता है और हमारे बच्चोंको रुलाकर भाग जाता है॥ २९॥ जब हम दही-दूधको छीकोंपर रख देती हैं और इसके छोटे-छोटे हाथ वहाँतक नहीं पहुँच पाते, तब यह बड़े-बड़े उपाय रचता है। कहीं दो-चार पीढ़ोंको एकके ऊपर एक रख देता है। कहीं ऊखलपर चढ़ जाता है तो कहीं ऊखलपर पीढ़ा रख देता है, (कभी-कभी तो अपने किसी साथीके कंधेपर ही चढ़ जाता है।) जब इतनेपर भी काम नहीं चलता, तब यह नीचेसे ही उन बर्तनोंमें छेद कर देता है। इसे इस बातकी पक्की पहचान रहती है कि किस छीकेपर किस बर्तनमें क्या रखा है। और ऐसे ढंगसे छेद करना

यशोदा—'कन्हैया! वह गायका दूध नहीं है।'

श्रीकृष्ण—'अरी मैया! तू मुझे बहला रही है, भला बिना गायके दूध कैसे?'

यशोदा—'वत्स! जिसने गायोंमें दूध बनाया है, वह गायके बिना भी दूध बना सकता है।'

श्रीकृष्ण—'मैया! वह कौन है?'

यशोदा—'वह भगवान् हैं; परन्तु अग (उनके पास कोई जा नहीं सकता। अथवा 'ग' कार रहित) हैं।'

श्रीकृष्ण—'अच्छा ठीक है, आगे कहो।'

यशोदा—'एक बार देवता और दैत्योंमें लड़ाई हुई। असुरोंको मोहित करनेके लिये भगवान्ने क्षीरसागरको मथा। मंदराचलकी रई बनी। वासुकि नागकी रस्सी। एक ओर देवता लगे, दूसरी ओर दानव।'

श्रीकृष्ण—'जैसे गोपियाँ दही मथती हैं, क्यों मैया?'

यशोदा—'हाँ बेटा! उसीसे कालकूट नामका विष पैदा हुआ।'

श्रीकृष्ण—'मैया! विष तो साँपोंमें होता है, दूधमें कैसे निकला?'

यशोदा—'बेटा! जब शंकर भगवान्ने वही विष पी लिया, तब उसकी जो फुइयाँ धरतीपर गिर पड़ीं, उन्हें पीकर साँप विषधर हो गये। सो बेटा! भगवान्की ही ऐसी कोई लीला है, जिससे दूधमेंसे विष निकला।'

श्रीकृष्ण—'अच्छा मैया! यह तो ठीक है।'

यशोदा—'बेटा! (चन्द्रमाकी ओर दिखाकर) यह मक्खन भी उसीसे निकला है। इसलिये थोड़ा-सा विष इसमें भी लग गया। देखो, देखो, इसीको लोग कलंक कहते हैं। सो मेरे प्राण! तुम घरका ही मक्खन खाओ।'

ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वांगमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः॥ ३०

जानता है कि किसीको पतातक न चले। जब हम अपनी वस्तुओंको बहुत अँधेरेमें छिपा देती हैं, तब नन्दरानी! तुमने जो इसे बहुत-से मणिमय आभूषण पहना रखे हैं, उनके प्रकाशसे अपने-आप ही सब कुछ देख लेता है। इसके शरीरमें भी ऐसी ज्योति है कि जिससे इसे सब कुछ दीख जाता है। यह इतना चालाक है कि कब कौन कहाँ रहता है, इसका पता रखता है और जब हम सब घरके काम-धंधोंमें उलझी रहती हैं, तब यह अपना काम बना लेता है॥ ३०॥ ऐसा करके भी ढिठाईकी बातें करता है—उलटे हमें ही चोर बनाता और अपने घरका मालिक बन जाता है। इतना ही नहीं, यह हमारे लिपे-पुते स्वच्छ घरोंमें मूत्र आदि भी कर देता है। तनिक देखो तो इसकी ओर, वहाँ तो चोरीके अनेकों उपाय करके काम बनाता है और यहाँ मालूम हो रहा है मानो पत्थरकी मूर्ति खड़ी हो! वाह रे भोले-भाले साधु!' इस प्रकार गोपियाँ कहती जातीं और श्रीकृष्णके भीत-चकित नेत्रोंसे युक्त मुखकमलको देखती जातीं। उनकी यह दशा देखकर नन्दरानी यशोदाजी उनके मनका भाव ताड़ लेतीं और उनके हृदयमें स्नेह और आनन्दकी बाढ़ आ जाती। वे इस प्रकार हँसने लगतीं कि अपने लाड़ले कन्हैयाको इस बातका उलाहना भी न दे पातीं, डाँटनेकी बाततक नहीं सोच पातीं*॥ ३१॥

एवं धाष्ट्र्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते।
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-
र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥ ३१

कथा सुनते-सुनते श्यामसुन्दरकी आँखोंमें नींद आ गयी और मैयाने उन्हें पलंगपर सुला दिया।

* भगवान्‌की लीलापर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान्‌का लीलाधाम, भगवान्‌के लीलापात्र, भगवान्‌का लीलाशरीर और उनकी लीला प्राकृत नहीं होती। भगवान्‌में देह-देहीका भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः। यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः। मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

'परमात्माका शरीर भूतसमुदायसे बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्माके शरीरको भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे बहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्ममें अधिकार नहीं है। यहाँतक कि उसका मुँह देखनेपर भी सचैल (वस्त्रसहित) स्नान करना चाहिये।'

श्रीमद्भागवतमें ही ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।

'आपने मुझपर कृपा करनेके लिये ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकट किया है, यह पांचभौतिक कदापि नहीं है।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌का सभी कुछ अप्राकृत होता है। इसी प्रकार यह माखनचोरीकी लीला भी अप्राकृत—दिव्य ही है।

यदि भगवान्‌के नित्य परम धाममें अभिन्नरूपसे नित्य निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे न देखकर

केवल साधनसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये माखनचोरीकी लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करें, चीरहरण करके उनका रहा-सहा व्यवधानका परदा उठा दें और रासलीला करके उनको दिव्य सुख पहुँचायें तो कोई बड़ी बात नहीं है।

भगवान्की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियोंके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थीं, जो अपनी महान् साधनाके फलस्वरूप भगवान्की मुक्तजन-वांछित सेवा करनेके लिये गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं। उनमेंसे कुछ पूर्वजन्मकी देवकन्याएँ थीं, कुछ श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्वी ऋषि थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी कथाएँ विभिन्न पुराणोंमें मिलती हैं। श्रुतिरूपा गोपियाँ, जो 'नेति-नेति'के द्वारा निरन्तर परमात्माका वर्णन करते रहनेपर भी उन्हें साक्षात्-रूपसे प्राप्त नहीं कर सकतीं, गोपियोंके साथ भगवान्के दिव्य रसमय विहारकी बात जानकर गोपियोंकी उपासना करती हैं और अन्तमें स्वयं गोपीरूपमें परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् अपने प्रियतमरूपसे प्राप्त करती हैं। इनमें मुख्य श्रुतियोंके नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकण्ठिका और विपंची आदि।

भगवान्के श्रीरामावतारमें उन्हें देखकर मुग्ध होनेवाले—अपने-आपको उनके स्वरूप-सौन्दर्यपर न्योछावर कर देनेवाले सिद्ध ऋषिगण, जिनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करनेका वर दिया था, व्रजमें गोपीरूपसे अवतीर्ण हुए थे। इसके अतिरिक्त मिथिलाकी गोपी, कोसलकी गोपी, अयोध्याकी गोपी—पुलिन्दगोपी, रमावैकुण्ठ, श्वेतद्वीप आदिकी गोपियाँ और जालन्धरी गोपी आदि गोपियोंके अनेकों यूथ थे, जिनको बड़ी तपस्या करके भगवान्से वरदान पाकर गोपीरूपमें अवतीर्ण होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मपुराणके पातालखण्डमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंका वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्या आदि करके अनेकों कल्पोंके बाद गोपीस्वरूपको प्राप्त किया था। उनमेंसे कुछके नाम निम्नलिखित हैं—

१. एक उग्रतपा नामके ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बड़े दृढ़व्रती थे। उनकी तपस्या अद्भुत थी। उन्होंने पंचदशाक्षर-मन्त्रका जाप और रासोन्मत्त नवकिशोर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ध्यान किया था। सौ कल्पोंके बाद वे सुनन्द नामक गोपकी कन्या 'सुनन्दा' हुए।

२. एक सत्यतपा नामके मुनि थे। वे सूखे पत्तोंपर रहकर दशाक्षरमन्त्रका जाप और श्रीराधाजीके दोनों हाथ पकड़कर नाचते हुए श्रीकृष्णका ध्यान करते थे। दस कल्पके बाद वे सुभद्र नामक गोपकी कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३. हरिधामा नामके एक ऋषि थे। वे निराहार रहकर 'क्लीं' कामबीजसे युक्त विंशाक्षरी मन्त्रका जाप करते थे और माधवीमण्डपमें कोमल-कोमल पत्तोंकी शय्यापर लेटे हुए युगल-सरकारका ध्यान करते थे । तीन कल्पके पश्चात् वे सारंग नामक गोपके घर 'रंगवेणी' नामसे अवतीर्ण हुए।

४. जाबालि नामके एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वनमें विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी। उस बावलीके पश्चिम तटपर बड़के नीचे एक तेजस्विनी युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बड़ी सुन्दर थी। चन्द्रमाकी शुभ्र किरणोंके समान उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमरपर था और दाहिने हाथसे वह ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए थी। जाबालिके बड़ी नम्रताके साथ पूछनेपर उस तापसीने बतलाया—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते । साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः । चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना॥

'मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये इस घोर वनमें उन पुरुषोत्तमका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्दसे परितृप्त है। परन्तु श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपनेको शून्य देखती हूँ।' ब्रह्मज्ञानी जाबालिने उसके चरणोंपर गिरकर दीक्षा ली और फिर व्रजवीथियोंमें विहरनेवाले भगवान्का ध्यान करते हुए वे एक पैरसे खड़े होकर बड़ी कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पोंके बाद प्रचण्ड नामक गोपके घर वे 'चित्रगन्धा' के रूपमें प्रकट हुए।

५. कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षिके पुत्र शुचिश्रवा और सुवर्ण देवतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने शीर्षासन करके 'ह्रीं' हंस-मन्त्रका जाप करते हुए और सुन्दर कन्दर्प-तुल्य गोकुलवासी दस वर्षकी उम्रके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए घोर तपस्या

की। कल्पके बाद वे व्रजमें सुधीर नामक गोपके घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियोंके पूर्वजन्मकी कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान्‌के लिये इतनी तपस्या करके इतनी लगनके साथ कल्पोंतक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियोंने गोपियोंका तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द-दान देनेके लिये यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनाचारकी कौन-सी बात है? रासलीलाके प्रसंगमें स्वयं भगवान्‌ने श्रीगोपियोंसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(१०। ३२। २२)

‘गोपियो! तुमने लोक और परलोकके सारे बन्धनोंको काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है; यदि मैं तुममेंसे प्रत्येकके लिये अलग-अलग अनन्त कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभावसे ऋणरहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।’ सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभागा गोपियोंके ऋणी रहना चाहते हैं, उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला विचारिये तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णरसभावितमति गोपियोंके मनकी क्या स्थिति थी। गोपियोंका तन, मन, धन—सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी देखकर वे सुखी होती थीं। प्रात:काल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखतीं और अनुभव करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी यह अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीकेपर रखूँ, जितनेपर श्रीकृष्णके हाथ आसानीसे पहुँच सकें। फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और अपने सखाओं और बंदरोंको लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ और फिर अचानक ही पकड़कर हृदयसे लगा लूँ। सूरदासजीने गाया है—

मैया री, मोहि माखन भावै । जो मेवा पकवान कहति तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥
ब्रज-जुवती इक पाछैं ठाढ़ी, सुनत स्यामकी बात । मन-मन कहति कबहुँ अपनैं घर, देखौं माखन खात॥
बैठैं जाइ मथनियाँकें ढिग, मैं तब रहौं छपानी । सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि-मन की जानी॥

एक दिन श्यामसुन्दर कह रहे थे, ‘मैया! मुझे माखन भाता है; तू मेवा-पकवानके लिये कहती है, परन्तु मुझे तो वे रुचते ही नहीं।’ वहीं पीछे एक गोपी खड़ी श्यामसुन्दरकी बात सुन रही थी। उसने मन-ही-मन कामना की—‘मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी; ये मथानीके पास जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी?’ प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, गोपीके मनकी जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घरका माखन खाकर उसे सुख दिया—***‘गये स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर।’***

उसे इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

फूली फिरति ग्वालि मनमें री । पूछति सखी परस्पर बातैं पायो पर्‌यौ कछू कहुँ तैं री ?॥
पुलकित रोम-रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै । ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यों न सुनावै॥
तन न्यारा, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप । सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

वह खुशीसे छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनन्द उसके हृदयमें समा नहीं रहा था। सहेलियोंने पूछा—‘अरी,

तुझे कहीं कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेमविह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्‌गद हो गयी, मुँहसे बोली नहीं निकली। सखियोंने कहा—'सखि! ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं? हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपानेकी कौन सी बात है?' तब उसके मुँहसे इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेमके आँसू बहने लगे! सभी गोपियोंकी यही दशा थी।

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात । दधि माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात॥
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारैं आवैं । माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुपावैं॥
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान । सूरदास प्रभु कौं घरमें लै, दैहौं माखन खान॥
चली ब्रज घर-घरनि यह बात । नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ । कोउ कहति मोहिं देखि द्वारैं, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरिकौं, देखौं अपने धाम । हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवार । कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवार॥
सूर प्रभुके मिलन कारन, करति बिबिध बिचार । जोरि कर बिधि कौं मनावति पुरुष नंदकुमार॥

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रातःकाल होनेकी बाट देखतीं। उनका मन श्रीकृष्णमें लगा रहता । प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छीकेपर रखतीं; कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करतीं और श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें व्याकुल होती हुई मन-ही-मन सोचतीं—'हा! आज प्राणप्रियतम क्यों नहीं आये? इतनी देर क्यों हो गयी? क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे? कहीं यशोदा मैयाने तो उन्हें नहीं रोक लिया? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं । माखनकी क्या कमी है। मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं!' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती, लाज छोड़कर रास्तेकी ओर देखती, सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान हो जाता! ऐसी भाग्यवती गोपियोंकी मनःकामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते।

सूरदासजीने गाया है—

प्रथम करी हरि माखन-चोरी । ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी॥
मनमें यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ । गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकैं माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग । सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज लोग॥

अपने निजजन व्रजवासियोंको सुखी करनेके लिये ही तो भगवान् गोकुलमें पधारे थे। माखन तो नन्दबाबाके घरपर कम न था। लाख-लाख गौएँ थीं। वे चाहे जितना खाते-लुटाते। परन्तु वे तो केवल नन्दबाबाके ही नहीं; सभी व्रजवासियोंके अपने थे, सभीको सुख देना चाहते थे। गोपियोंकी लालसा पूरी करनेके लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तवमें चोरी नहीं, यह तो गोपियोंकी पूजा-पद्धतिका भगवान्‌के द्वारा स्वीकार था । भक्तवत्सल भगवान् भक्तकी पूजा स्वीकार कैसे न करें?

भगवान्‌की इस दिव्यलीला—माखनचोरीका रहस्य न जाननेके कारण ही कुछ लोग इसे आदर्शके विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किसकी होती है और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरेकी कोई चीज, उसकी इच्छाके बिना, उसके अनजानमें और आगे भी वह जान न पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके घरसे माखन लेते थे उनकी इच्छासे, गोपियोंके अनजानमें नहीं—उनकी जानमें, उनके देखते-देखते और आगे जनानेकी कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दौड़ते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्वकी यह है कि संसारमें या संसारके बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान्‌की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियोंका तो सर्वस्व श्रीभगवान्‌का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं? हाँ, चोर तो वास्तवमें वे लोग हैं, जो भगवान्‌की वस्तुको अपनी मानकर ममता-आसक्तिमें फँसे रहते हैं और दण्डके पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियोंसे यही सिद्ध होता है कि माखनचोरी चोरी न थी, भगवान्‌की दिव्य लीला थी। असलमें गोपियोंने प्रेमकी अधिकतासे ही भगवान्‌का प्रेमका

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥ ३२

एक दिन बलराम आदि ग्वालबाल श्रीकृष्णके साथ खेल रहे थे। उन लोगोंने मा यशोदाके पास आकर कहा—'मा! कन्हैयाने मिट्टी खायी है'*॥ ३२॥

सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी।
यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत॥ ३३

हितैषिणी यशोदाने श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया†। उस समय श्रीकृष्णकी आँखें डरके मारे नाच रही थीं‡। यशोदा मैयाने डाँटकर कहा—॥ ३३॥

कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम्॥ ३४

'क्यों रे नटखट! तू बहुत ढीठ हो गया है। तूने अकेलेमें छिपकर मिट्टी क्यों खायी? देख तो तेरे दलके तेरे सखा क्या कह रहे हैं! तेरे बड़े भैया बलदाऊ भी तो उन्हींकी ओरसे गवाही दे रहे हैं'॥ ३४॥

नाम 'चोर' रख दिया था, क्योंकि वे उनके चित्तचोर तो थे ही।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्की लीलापर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं है, परन्तु उनकी दृष्टिसे भी इस प्रसंगमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्षके बच्चे थे और गोपियाँ अत्यधिक स्नेहके कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थीं। आशा है, इससे शंका करनेवालोंको कुछ सन्तोष होगा।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

* मृद्-भक्षणके हेतु—

१—भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि मुझमें शुद्ध सत्त्वगुण ही रहता है और आगे बहुत-से रजोगुणी कर्म करने हैं। उसके लिये थोड़ा-सा 'रज' संग्रह कर लें।

२—संस्कृत-साहित्यमें पृथ्वीका एक नाम 'क्षमा' भी है। श्रीकृष्णने देखा कि ग्वालबाल खुलकर मेरे साथ खेलते हैं; कभी-कभी अपमान भी कर बैठते हैं। उनके साथ क्षमांश धारण करके ही क्रीडा करनी चाहिये, जिससे कोई विघ्न न पड़े।

३—संस्कृत-भाषामें पृथ्वीको 'रसा' भी कहते हैं। श्रीकृष्णने सोचा सब रस तो ले ही चुका हूँ, अब रसा-रसका आस्वादन करूँ।

४—इस अवतारमें पृथ्वीका हित करना है। इसलिये उसका कुछ अंश अपने मुख्य (मुखमें स्थित) द्विजों (दाँतों) को पहले दान कर लेना चाहिये।

५—ब्राह्मण शुद्ध सात्त्विक कर्ममें लग रहे हैं, अब उन्हें असुरोंका संहार करनेके लिये कुछ राजस कर्म भी करने चाहिये। यही सूचित करनेके लिये मानो उन्होंने अपने मुखमें स्थित द्विजोंको (दाँतोंको) रजसे युक्त किया।

६—पहले विष भक्षण किया था, मिट्टी खाकर उसकी दवा की।

७—पहले गोपियोंका मक्खन खाया था, उलाहना देनेपर मिट्टी खा ली, जिससे मुँह साफ हो जाय।

८—भगवान् श्रीकृष्णके उदरमें रहनेवाले कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके जीव व्रज-रज—गोपियोंके चरणोंकी रज— प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो रहे थे। उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये भगवान्ने मिट्टी खायी।

९—भगवान् स्वयं ही अपने भक्तोंकी चरण-रज मुखके द्वारा अपने हृदयमें धारण करते हैं।

१०—छोटे बालक स्वभावसे ही मिट्टी खा लिया करते हैं।

† यशोदाजी जानती थीं कि इस हाथने मिट्टी खानेमें सहायता की है। चोरका सहायक भी चोर ही है। इसलिये उन्होंने हाथ ही पकड़ा।

‡ भगवान्के नेत्रमें सूर्य और चन्द्रमाका निवास है। वे कर्मके साक्षी हैं। उन्होंने सोचा कि पता नहीं श्रीकृष्ण मिट्टी खाना स्वीकार करेंगे कि मुकर जायँगे। अब हमारा कर्तव्य क्या है। इसी भावको सूचित करते हुए दोनों नेत्र चकराने लगे।

श्रीकृष्ण उवाच

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्॥ ३५
यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः॥ ३६
सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम्॥ ३७
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः॥ ३८
एतद् विचित्रं सह जीवकाल-
स्वभावकर्माशयलिंगभेदम्।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्य
व्रजं सहात्मानमवाप शंकाम्॥ ३९
किं स्वप्न एतदुत देवमाया
किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥ ४०
अथो यथावन्न वितर्कगोचरं
चेतोमनःकर्मवचोभिरंजसा।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम्॥ ४१

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मा! मैंने मिट्टी नहीं खायी। ये सब झूठ बक रहे हैं। यदि तुम इन्हींकी बात सच मानती हो तो मेरा मुँह तुम्हारे सामने ही है, तुम अपनी आँखोंसे देख लो॥ ३५॥ यशोदाजीने कहा—'अच्छी बात। यदि ऐसा है, तो मुँह खोल।' माताके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपना मुँह खोल दिया*। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य अनन्त है। वे केवल लीलाके लिये ही मनुष्यके बालक बने हुए हैं॥ ३६॥

यशोदाजीने देखा कि उनके मुँहमें चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है। आकाश (वह शून्य जिसमें किसीकी गति नहीं), दिशाएँ, पहाड़, द्वीप और समुद्रोंके सहित सारी पृथ्वी, बहनेवाली वायु, वैद्युत, अग्नि, चन्द्रमा और तारोंके साथ सम्पूर्ण ज्योतिर्मण्डल, जल, तेज, पवन, वियत् (प्राणियोंके चलने-फिरनेका आकाश), वैकारिक अहंकारके कार्य देवता, मन-इन्द्रिय, पंचतन्मात्राएँ और तीनों गुण श्रीकृष्णके मुखमें दीख पड़े॥ ३७-३८॥ परीक्षित्! जीव, काल, स्वभाव, कर्म, उनकी वासना और शरीर आदिके द्वारा विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाला यह सारा विचित्र संसार, सम्पूर्ण व्रज और अपने-आपको भी यशोदाजीने श्रीकृष्णके नन्हेसे खुले हुए मुखमें देखा। वे बड़ी शंकामें पड़ गयीं॥ ३९॥ वे सोचने लगीं कि 'यह कोई स्वप्न है या भगवान्‌की माया? कहीं मेरी बुद्धिमें ही तो कोई भ्रम नहीं हो गया है? सम्भव है, मेरे इस बालकमें ही कोई जन्मजात योगसिद्धि हो'॥ ४०॥ 'जो चित्त, मन, कर्म और वाणीके द्वारा ठीक-ठीक तथा सुगमतासे अनुमानके विषय नहीं होते, यह सारा विश्व जिनके आश्रित है, जो इसके प्रेरक हैं और जिनकी सत्तासे ही इसकी प्रतीति होती है, जिनका स्वरूप सर्वथा अचिन्त्य है—उन प्रभुको मैं प्रणाम करती हूँ॥ ४१॥

* १—मा! मिट्टी खानेके सम्बन्धमें ये मुझ अकेलेका ही नाम ले रहे हैं। मैंने खायी, तो सबने खायी, देख लो मेरे मुखमें सम्पूर्ण विश्व!

२-श्रीकृष्णने विचार किया कि उस दिन मेरे मुखमें विश्व देखकर माताने अपने नेत्र बंद कर लिये थे। आज भी जब मैं अपना मुँह खोलूँगा, तब यह अपने नेत्र बंद कर लेगी। इस विचारसे मुख खोल दिया।

अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो
व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे
यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः॥ ४२

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः॥ ४३

सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम्।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽऽसीद् यथा पुरा॥ ४४

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्॥ ४५

राजोवाच

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥ ४६

पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम्।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम्॥ ४७

श्रीशुक उवाच

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया।
करिष्यमाण आदेशान् ब्रह्मणस्तमुवाच ह॥ ४८

जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ।
भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत्॥ ४९

यह मैं हूँ और ये मेरे पति तथा यह मेरा लड़का है, साथ ही मैं व्रजराजकी समस्त सम्पत्तियोंकी स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ; ये गोपियाँ, गोप और गोधन मेरे अधीन हैं—जिनकी मायासे मुझे इस प्रकारकी कुमति घेरे हुए है, वे भगवान् ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं—मैं उन्हींकी शरणमें हूँ'॥ ४२॥ जब इस प्रकार यशोदा माता श्रीकृष्णका तत्त्व समझ गयीं, तब सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक प्रभुने अपनी पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी योगमायाका उनके हृदयमें संचार कर दिया॥ ४३॥ यशोदाजीको तुरंत वह घटना भूल गयी। उन्होंने अपने दुलारे लालको गोदमें उठा लिया। जैसे पहले उनके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ता रहता था, वैसे ही फिर उमड़ने लगा॥ ४४॥ सारे वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग और भक्तजन जिनके माहात्म्यका गीत गाते-गाते अघाते नहीं—उन्हीं भगवान्‌को यशोदाजी अपना पुत्र मानती थीं॥ ४५॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! नन्दबाबाने ऐसा कौन-सा बहुत बड़ा मंगलमय साधन किया था? और परमभाग्यवती यशोदाजीने भी ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जिसके कारण स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे उनका स्तनपान किया॥ ४६॥ भगवान् श्रीकृष्णकी वे बाल-लीलाएँ, जो वे अपने ऐश्वर्य और महत्ता आदिको छिपाकर ग्वालबालोंमें करते हैं, इतनी पवित्र हैं कि उनका श्रवण-कीर्तन करनेवाले लोगोंके भी सारे पाप-ताप शान्त हो जाते हैं। त्रिकालदर्शी ज्ञानी पुरुष आज भी उनका गान करते रहते हैं। वे ही लीलाएँ उनके जन्मदाता माता-पिता देवकी-वसुदेवजीको तो देखनेतकको न मिलीं और नन्द-यशोदा उनका अपार सुख लूट रहे हैं। इसका क्या कारण है?॥ ४७॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! नन्दबाबा पूर्वजन्ममें एक श्रेष्ठ वसु थे। उनका नाम था द्रोण और उनकी पत्नीका नाम था धरा। उन्होंने ब्रह्माजीके आदेशोंका पालन करनेकी इच्छासे उनसे कहा—॥ ४८॥ 'भगवन्! जब हम पृथ्वीपर जन्म लें, तब जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें हमारी अनन्य प्रेममयी भक्ति हो—जिस भक्तिके द्वारा संसारमें लोग अनायास ही दुर्गतियोंको पार कर जाते हैं'॥ ४९॥

अस्त्वित्युक्तः स भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः।
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत्॥ ५०

ब्रह्माजीने कहा—'ऐसा ही होगा।' वे ही परमयशस्वी भगवन्मय द्रोण व्रजमें पैदा हुए और उनका नाम हुआ नन्द। और वे ही धरा इस जन्ममें यशोदाके नामसे उनकी पत्नी हुईं॥ ५०॥

ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत॥ ५१

परीक्षित्! अब इस जन्ममें जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ानेवाले भगवान् उनके पुत्र हुए और समस्त गोप-गोपियोंकी अपेक्षा इन पति-पत्नी नन्द और यशोदाजीका उनके प्रति अत्यन्त प्रेम हुआ॥ ५१॥

कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया॥ ५२

ब्रह्माजीकी बात सत्य करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ व्रजमें रहकर समस्त व्रजवासियोंको अपनी बाल-लीलासे आनन्दित करने लगे॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे विश्वरूपदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका ऊखलसे बाँधा जाना

श्रीशुक उवाच

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक समयकी बात है, नन्दरानी यशोदाजीने घरकी दासियोंको तो दूसरे कामोंमें लगा दिया और स्वयं (अपने लालाको मक्खन खिलानेके लिये) दही मथने लगीं*॥ १॥

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च।
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत॥ २

मैंने तुमसे अबतक भगवान्की जिन-जिन बाल-लीलाओंका वर्णन किया है, दधिमन्थनके समय वे उन सबका स्मरण करतीं और गाती भी जाती थीं†॥ २॥

* इस प्रसंगमें 'एक समय' का तात्पर्य है कार्तिक मास। पुराणोंमें इसे 'दामोदरमास' कहते हैं। इन्द्रयागके अवसरपर दासियोंका दूसरे कामोंमें लग जाना स्वाभाविक है। 'नियुक्तासु'—इस पदसे ध्वनित होता है कि यशोदा माताने जान-बूझकर दासियोंको दूसरे काममें लगा दिया। 'यशोदा'—नाम उल्लेख करनेका अभिप्राय यह है कि अपने विशुद्ध वात्सल्यप्रेमके व्यवहारसे षडैश्वर्यशाली भगवान्को भी प्रेमाधीनता, भक्तवश्यताके कारण अपने भक्तोंके हाथों बँध जानेका 'यश' यही देती हैं। गोपराज नन्दके वात्सल्यप्रेमके आकर्षणसे सच्चिदानन्द-परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान् नन्दनन्दनरूपसे जगत्में अवतीर्ण होकर जगत्के लोगोंको आनन्द प्रदान करते हैं। जगत्को इस अप्राकृत परमानन्दका रसास्वादन करानेमें नन्दबाबा ही कारण हैं। उन नन्दकी गृहिणी होनेसे इन्हें 'नन्दगेहिनी' कहा गया है। साथ ही 'नन्दगेहिनी' और 'स्वयं'—ये दो पद इस बातके सूचक हैं कि दधिमन्थनकर्म उनके योग्य नहीं है। फिर भी पुत्र-स्नेहकी अधिकतासे यह सोचकर कि मेरे लालाको मेरे हाथका माखन ही भाता है, वे स्वयं ही दधि मथ रही हैं।

† इस श्लोकमें भक्तके स्वरूपका निरूपण है। शरीरसे दधिमन्थनरूप सेवाकर्म हो रहा है, हृदयमें स्मरणकी धारा सतत प्रवाहित हो रही है, वाणीमें बाल-चरित्रका संगीत। भक्तके तन, मन, वचन—सब अपने प्यारेकी सेवामें संलग्न

क्षौमं वासः पृथुकटितटे
बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं
जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्-
कंकणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगल-
न्मालती निर्ममन्थ॥ ३

वे अपने स्थूल कटिभागमें सूतसे बाँधकर रेशमी लहँगा पहने हुए थीं। उनके स्तनोंमेंसे पुत्र-स्नेहकी अधिकतासे दूध चूता जा रहा था और वे काँप भी रहे थे। नेती खींचते रहनेसे बाँहें कुछ थक गयी थीं। हाथोंके कंगन और कानोंके कर्णफूल हिल रहे थे। मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं। चोटीमें गुँथे हुए मालतीके सुन्दर पुष्प गिरते जा रहे थे। सुन्दर भौंहोंवाली यशोदा इस प्रकार दही मथ रही थीं*॥ ३॥

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन्॥ ४

उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण स्तन पीनेके लिये दही मथती हुई अपनी माताके पास आये। उन्होंने अपनी माताके हृदयमें प्रेम और आनन्दको और भी बढ़ाते हुए दहीकी मथानी पकड़ ली तथा उन्हें मथनेसे रोक दिया†॥ ४॥

हैं। स्नेह अमूर्त पदार्थ है; वह सेवाके रूपमें ही व्यक्त होता है। स्नेहके ही विलासविशेष हैं—नृत्य और संगीत। यशोदा मैयाके जीवनमें इस समय राग और भोग दोनों ही प्रकट हैं।

* कमरमें रेशमी लहँगा डोरीसे कसकर बँधा हुआ है अर्थात् जीवनमें आलस्य, प्रमाद, असावधानी नहीं है। सेवाकर्ममें पूरी तत्परता है। रेशमी लहँगा इसीलिये पहने हैं कि किसी प्रकारकी अपवित्रता रह गयी तो मेरे कन्हैयाको कुछ हो जायगा।

माताके हृदयका रसस्नेह—दूध स्तनके मुँह आ लगा है, चुचुआ रहा है, बाहर झाँक रहा है। श्यामसुन्दर आवें, उनकी दृष्टि पहले मुझपर पड़े और वे पहले माखन न खाकर मुझे ही पीवें—यही उसकी लालसा है।

स्तनके काँपनेका अर्थ यह है कि उसे डर भी है कि कहीं मुझे नहीं पिया तो!

कंकण और कुण्डल नाच-नाचकर मैयाको बधाई दे रहे हैं। यशोदा मैयाके हाथोंके कंकण इसलिये झंकार ध्वनि कर रहे हैं कि वे आज उन हाथोंमें रहकर धन्य हो रहे हैं कि जो हाथ भगवान्‌की सेवामें लगे हैं। और कुण्डल यशोदा मैयाके मुखसे लीला-गान सुनकर परमानन्दसे हिलते हुए कानोंकी सफलताकी सूचना दे रहे हैं। हाथ वही धन्य हैं, जो भगवान्‌की सेवा करें और कान वे धन्य हैं, जिनमें भगवान्‌के लीला-गुण-गानकी सुधाधारा प्रवेश करती रहे। मुँहपर स्वेद और मालतीके पुष्पोंके नीचे गिरनेका ध्यान माताको नहीं है। वह शृंगार और शरीर भूल चुकी हैं। अथवा मालतीके पुष्प स्वयं ही चोटियोंसे छूटकर चरणोंमें गिर रहे हैं कि ऐसी वात्सल्यमयी माके चरणोंमें ही रहना सौभाग्य है, हम सिरपर रहनेके अधिकारी नहीं।

† हृदयमें लीलाकी सुखस्मृति, हाथोंसे दधिमन्थन और मुखसे लीलागान—इस प्रकार मन, तन, वचन तीनोंका श्रीकृष्णके साथ एकतान संयोग होते ही श्रीकृष्ण जगकर 'मा-मा' पुकारने लगे। अबतक भगवान् श्रीकृष्ण सोये हुए-से थे। माकी स्नेह-साधनाने उन्हें जगा दिया। वे निर्गुणसे सगुण हुए, अचलसे चल हुए, निष्कामसे सकाम हुए; स्नेहके भूखे-प्यासे माके पास आये। क्या ही सुन्दर नाम है—'स्तन्यकाम'! मन्थन करते समय आये, बैठी-ठालीके पास नहीं।

सर्वत्र भगवान् साधनकी प्रेरणा देते हैं, अपनी ओर आकृष्ट करते हैं; परन्तु मथानी पकड़कर मैयाको रोक लिया। 'मा! अब तेरी साधना पूर्ण हो गयी। पिष्ट-पेषण करनेसे क्या लाभ? अब मैं तेरी साधनाका इससे अधिक भार नहीं सह सकता।' मा प्रेमसे दब गयी—निहाल हो गयी—मेरा लाला मुझे इतना चाहता है।

तमंकमारूढमपाययत् स्तनं
स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम्।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया-
वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते॥ ५

श्रीकृष्ण माता यशोदाकी गोदमें चढ़ गये। वात्सल्य-स्नेहकी अधिकतासे उनके स्तनोंसे दूध तो स्वयं झर ही रहा था। वे उन्हें पिलाने लगीं और मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त उनका मुख देखने लगीं। इतनेमें ही दूसरी ओर अँगीठीपर रखे हुए दूधमें उफान आया। उसे देखकर यशोदाजी उन्हें अतृप्त ही छोड़कर जल्दीसे दूध उतारनेके लिये चली गयीं *॥ ५॥

संजातकोपः स्फुरितारुणाधरं
संदश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम्।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो
जघास हैयंगवमन्तरं गतः॥ ६

इससे श्रीकृष्णको कुछ क्रोध आ गया। उनके लाल-लाल होठ फड़कने लगे। उन्हें दाँतोंसे दबाकर श्रीकृष्णने पास ही पड़े हुए लोढ़ेसे दहीका मटका फोड़फाड़ डाला, बनावटी आँसू आँखोंमें भर लिये और दूसरे घरमें जाकर अकेलेमें बासी माखन खाने लगे‡॥ ६॥

---

* मैया मना करती रही—'नेक-सा माखन तो निकाल लेने दे।' 'ऊँ-ऊँ-ऊँ, मैं तो दूध पीऊँगा'—दोनों हाथोंसे मैयाकी कमर पकड़कर एक पाँव घुटनेपर रखा और गोदमें चढ़ गये। स्तनका दूध बरस पड़ा। मैया दूध पिलाने लगी, लाला मुसकराने लगे, आँखें मुसकानपर जम गयीं। 'ईक्षती' पदका यह अभिप्राय है कि जब लाला मुँह उठाकर देखेगा और मेरी आँखें उसपर लगी मिलेंगी, तब उसे बड़ा सुख होगा।

सामने पद्मगन्धा गायका दूध गरम हो रहा था। उसने सोचा—'स्नेहमयी मा यशोदाका दूध कभी कम न होगा, श्यामसुन्दरकी प्यास कभी बुझेगी नहीं! उनमें परस्पर होड़ लगी है। मैं बेचारा युग-युगका, जन्म-जन्मका श्यामसुन्दरके होठोंका स्पर्श करनेके लिये व्याकुल तप-तपकर मर रहा हूँ। अब इस जीवनसे क्या लाभ जो श्रीकृष्णके काम न आवे। इससे अच्छा है उनकी आँखोंके सामने आगमें कूद पड़ना।' माके नेत्र पहुँच गये। दयार्द्र माको श्रीकृष्णका भी ध्यान न रहा; उन्हें एक ओर डालकर दौड़ पड़ी। भक्त भगवान्‌को एक ओर रखकर भी दु:खियोंकी रक्षा करते हैं। भगवान् अतृप्त ही रह गये। क्या भक्तोंके हृदय-रससे, स्नेहसे उन्हें कभी तृप्ति हो सकती है? उसी दिनसे उनका एक नाम हुआ—'अतृप्त'।

‡ श्रीकृष्णके होठ फड़के। क्रोध होठोंका स्पर्श पाकर कृतार्थ हो गया। लाल-लाल होठ श्वेत-श्वेत दूधकी दँतुलियोंसे दबा दिये गये, मानो सत्त्वगुण रजोगुणपर शासन कर रहा हो, ब्राह्मण क्षत्रियको शिक्षा दे रहा हो। वह क्रोध उतरा दधिमन्थनके मटकेपर। उसमें एक असुर आ बैठा था। दम्भने कहा—काम, क्रोध और अतृप्तिके बाद मेरी बारी है। वह आँसू बनकर आँखोंमें छलक आया। श्रीकृष्ण अपने भक्तजनोंके प्रति अपनी ममताकी धारा उड़ेलनेके लिये क्या-क्या भाव नहीं अपनाते? ये काम, क्रोध, लोभ और दम्भ भी आज ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो गये! श्रीकृष्ण घरमें घुसकर बासी मक्खन गटकने लगे, मानो माको दिखा रहे हों कि मैं कितना भूखा हूँ।

प्रेमी भक्तोंके 'पुरुषार्थ' भगवान् नहीं हैं, भगवान्‌की सेवा है। ये भगवान्‌की सेवाके लिये भगवान्‌का भी त्याग कर सकते हैं। मैयाके अपने हाथों दुहा हुआ यह पद्मगन्धा गायोंका दूध श्रीकृष्णके लिये ही गरम हो रहा था। थोड़ी देरके बाद ही उनको पिलाना था। दूध उफन जायगा तो मेरे लाला भूखे रहेंगे—रोयेंगे, इसीलिये माताने उन्हें नीचे उतारकर दूधको सँभाला।

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः
प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम्।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म त-
ज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती॥ ७

यशोदाजी औंटे हुए दूधको उतारकर* फिर मथनेके घरमें चली आयीं। वहाँ देखती हैं तो दहीका मटका (कमोरा) टुकड़े-टुकड़े हो गया है। वे समझ गयीं कि यह सब मेरे लालाकी ही करतूत है। साथ ही उन्हें वहाँ न देखकर यशोदा माता हँसने लगीं॥ ७॥

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं
मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्।
हैयंगवं चौर्यविशंकितेक्षणं
निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः॥ ८

इधर-उधर ढूँढ़नेपर पता चला कि श्रीकृष्ण एक उलटे हुए ऊखलपर खड़े हैं और छीकेपरका माखन ले-लेकर बंदरोंको खूब लुटा रहे हैं। उन्हें यह भी डर है कि कहीं मेरी चोरी खुल न जाय, इसलिये चौकन्ने होकर चारों ओर ताकते जाते हैं। यह देखकर यशोदा-रानी पीछेसे धीरे-धीरे उनके पास जा पहुँचीं†॥ ८॥

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥ ९

जब श्रीकृष्णने देखा कि मेरी मा हाथमें छड़ी लिये मेरी ही ओर आ रही है, तब झटसे ओखलीपरसे कूद पड़े और डरे हुएकी भाँति भागे। परीक्षित्! बड़े-बड़े योगी तपस्याके द्वारा अपने मनको अत्यन्त सूक्ष्म और शुद्ध बनाकर भी जिनमें प्रवेश नहीं करा पाते, पानेकी बात तो दूर रही, उन्हीं भगवान्के पीछे-पीछे उन्हें पकड़नेके लिये यशोदाजी दौड़ीं‡॥ ९॥

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चल-
च्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।

जब इस प्रकार माता यशोदा श्रीकृष्णके पीछे दौड़ने लगीं, तब कुछ ही देरमें बड़े-बड़े एवं हिलते हुए नितम्बोंके कारण उनकी चाल धीमी पड़ गयी। वेगसे दौड़नेके कारण चोटीकी गाँठ ढीली पड़ गयी।

---

* यशोदा माता दूधके पास पहुँचीं। प्रेमका अद्भुत दृश्य! पुत्रको गोदसे उतारकर उसके पेयके प्रति इतनी प्रीति क्यों? अपनी छातीका दूध तो अपना है, वह कहीं जाता नहीं। परन्तु यह सहस्रों छटी हुई गायोंके दूधसे पालित पद्मगन्धा गायका दूध फिर कहाँ मिलेगा? वृन्दावनका दूध अप्राकृत, चिन्मय, प्रेमजगत्‌का दूध—माको आते देखकर शर्मसे दब गया। 'अहो! आगमें कूदनेका संकल्प करके मैंने माके स्नेहानन्दमें कितना बड़ा विघ्न कर डाला? और मा अपना आनन्द छोड़कर मेरी रक्षाके लिये दौड़ी आ रही है। मुझे धिक्कार है।' दूधका उफनना बंद हो गया और वह तत्काल अपने स्थानपर बैठ गया।

† 'मा! तुम अपनी गोदमें नहीं बैठाओगी तो मैं किसी खलकी गोदमें जा बैठूँगा'—यही सोचकर मानो श्रीकृष्ण उलटे ऊखलके ऊपर जा बैठे। उदार पुरुष भले ही खलोंकी संगतिमें जा बैठें, परन्तु उनका शील-स्वभाव बदलता नहीं है। ऊखलपर बैठकर भी वे बन्दरोंको माखन बाँटने लगे। सम्भव है रामावतारके प्रति जो कृतज्ञताका भाव उदय हुआ था, उसके कारण अथवा अभी-अभी क्रोध आ गया था, उसका प्रायश्चित्त करनेके लिये!

श्रीकृष्णके नेत्र हैं 'चौर्यविशंकित' ध्यान करनेयोग्य। वैसे तो उनके ललित, कलित, छलित, बलित, चकित आदि अनेकों प्रकारके ध्येय नेत्र हैं, परन्तु ये प्रेमीजनोंके हृदयमें गहरी चोट करते हैं।

‡ भीत होकर भागते हुए भगवान् हैं। अपूर्व झाँकी है! ऐश्वर्यको तो मानो मैयाके वात्सल्य प्रेमपर न्योछावर करके व्रजके बाहर ही फेंक दिया है! कोई असुर अस्त्र-शस्त्र लेकर आता तो सुदर्शन चक्रका स्मरण करते। मैयाकी छड़ीका निवारण करनेके लिये कोई भी अस्त्र-शस्त्र नहीं! भगवान्‌की यह भयभीत मूर्ति कितनी मधुर है! धन्य है इस भयको।

जवेन विस्रंसितकेशबन्धन-
च्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥ १०

वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़तीं, पीछे-पीछे चोटीमें गुँथे हुए फूल गिरते जाते। इस प्रकार सुन्दरी यशोदा ज्यों-त्यों करके उन्हें पकड़ सकीं*॥ १०॥

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी
कषन्तमंजन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं
हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥ ११

श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर वे उन्हें डराने-धमकाने लगीं। उस समय श्रीकृष्णकी झाँकी बड़ी विलक्षण हो रही थी। अपराध तो किया ही था, इसलिये रुलाई रोकनेपर भी न रुकती थी। हाथोंसे आँखें मल रहे थे, इसलिये मुँहपर काजलकी स्याही फैल गयी थी, पिटनेके भयसे आँखें ऊपरकी ओर उठ गयी थीं, उनसे व्याकुलता सूचित होती थी†॥ ११॥

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा॥ १२

जब यशोदाजीने देखा कि लल्ला बहुत डर गया है, तब उनके हृदयमें वात्सल्य-स्नेह उमड़ आया। उन्होंने छड़ी फेंक दी। इसके बाद सोचा कि इसको एक बार रस्सीसे बाँध देना चाहिये (नहीं तो यह कहीं भाग जायगा)। परीक्षित्! सच पूछो तो यशोदा मैयाको अपने बालकके ऐश्वर्यका पता न था‡॥ १२॥

---

* माता यशोदाके शरीर और शृंगार दोनों ही विरोधी हो गये—तुम प्यारे कन्हैयाको क्यों खदेड़ रही हो। परन्तु मैयाने पकड़कर ही छोड़ा।

† विश्वके इतिहासमें, भगवान्‌के सम्पूर्ण जीवनमें पहली बार स्वयं विश्वेश्वरभगवान् माके सामने अपराधी बनकर खड़े हुए हैं। मानो अपराधी भी मैं ही हूँ—इस सत्यका प्रत्यक्ष करा दिया। बायें हाथसे दोनों आँखें रगड़-रगड़कर मानो उनसे कहलाना चाहते हों कि ये किसी कर्मके कर्त्ता नहीं हैं। ऊपर इसलिये देख रहे हैं कि जब माता ही पीटनेके लिये तैयार है, तब मेरी सहायता और कौन कर सकता है? नेत्र भयसे विह्वल हो रहे हैं, ये भले ही कह दें कि मैंने नहीं किया, हम कैसे कहें। फिर तो लीला ही बंद हो जायगी।

माने डाँटा—अरे, अशान्तप्रकृते! वानरबन्धो! मन्थनीस्फोटक! अब तुझे मक्खन कहाँसे मिलेगा? आज मैं तुझे ऐसा बाँधूँगी, ऐसा बाँधूँगी कि न तो तू ग्वालबालोंके साथ खेल ही सकेगा और न माखन-चोरी आदि ऊधम ही मचा सकेगा।

‡ 'अरी मैया! मोहि मत मार।' माताने कहा—'यदि तुझे पिटनेका इतना डर था तो मटका क्यों फोड़ा?' श्रीकृष्ण—'अरी मैया! मैं अब ऐसा कभी नहीं करूँगा। तू अपने हाथसे छड़ी डाल दे।'

श्रीकृष्णका भोलापन देखकर मैयाका हृदय भर आया, वात्सल्य-स्नेहके समुद्रमें ज्वार आ गया। वे सोचने लगीं—लाला अत्यन्त डर गया है। कहीं छोड़नेपर यह भागकर वनमें चला गया तो कहाँ-कहाँ भटकता फिरेगा, भूखा-प्यासा रहेगा। इसलिये थोड़ी देरतक बाँधकर रख लूँ। दूध-माखन तैयार होनेपर मना लूँगी। यही सोच-विचारकर माताने बाँधनेका निश्चय किया। बाँधनेमें वात्सल्य ही हेतु था।

भगवान्‌के ऐश्वर्यका अज्ञान दो प्रकारका होता है, एक तो साधारण प्राकृत जीवोंको और दूसरा भगवान्‌के नित्यसिद्ध प्रेमी परिकरको। यशोदा मैया आदि भगवान्‌की स्वरूपभूता चिन्मयी लीलाके अप्राकृत नित्य-सिद्ध परिकर हैं। भगवान्‌के प्रति वात्सल्यभाव, शिशु-प्रेमकी गाढ़ताके कारण ही उनका ऐश्वर्य-ज्ञान अभिभूत हो जाता है; अन्यथा उनमें अज्ञानकी संभावना ही नहीं है। इनकी स्थिति तुरीयावस्था अथवा समाधिका भी अतिक्रमण करके सहज प्रेममें रहती है। वहाँ प्राकृत अज्ञान, मोह, रजोगुण और तमोगुणकी तो बात ही क्या, प्राकृत सत्त्वकी भी गति नहीं है। इसलिये इनका अज्ञान भी भगवान्‌की लीलाकी सिद्धिके लिये उनकी लीलाशक्तिका ही एक चमत्कार विशेष है।

तभीतक हृदयमें जड़ता रहती है, जबतक चेतनका स्फुरण नहीं होता। श्रीकृष्णके हाथमें आ जानेपर यशोदा माताने बाँसकी छड़ी फेंक दी—यह सर्वथा स्वाभाविक है।

मेरी तृप्तिका प्रयत्न छोड़कर छोटी-मोटी वस्तुपर दृष्टि डालना केवल अर्थ-हानिका ही हेतु नहीं है, मुझे भी

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥ १३

तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिंगमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥ १४

जिसमें न बाहर है न भीतर, न आदि है और न अन्त; जो जगत्के पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे; इस जगत्के भीतर तो हैं ही, बाहरी रूपोंमें भी हैं; और तो क्या, जगत्के रूपमें भी स्वयं वही हैं;* यही नहीं, जो समस्त इन्द्रियोंसे परे और अव्यक्त हैं—उन्हीं भगवान्को मनुष्यका-सा रूप धारण करनेके कारण पुत्र समझकर यशोदारानी रस्सीसे ऊखलमें ठीक वैसे ही बाँध देती हैं, जैसे कोई साधारण-सा बालक† हो॥ १३-१४॥

तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥ १५

जब माता यशोदा अपने ऊधमी और नटखट लड़केको रस्सीसे बाँधने लगीं, तब वह दो अंगुल छोटी पड़ गयी! तब उन्होंने दूसरी रस्सी लाकर उसमें जोड़ी‡॥ १५॥

यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद् यदादत्त बन्धनम्॥ १६

जब वह भी छोटी हो गयी, तब उसके साथ और जोड़ी卐, इस प्रकार वे ज्यों-ज्यों रस्सी लातीं और जोड़ती गयीं, त्यों-त्यों जुड़नेपर भी वे सब दो-

---

आँखोंसे ओझल कर देता है। परन्तु सब कुछ छोड़कर मेरे पीछे दौड़ना मेरी प्राप्तिका हेतु है। क्या मैयाके चरितसे इस बातकी शिक्षा नहीं मिलती?

मुझे योगियोंकी भी बुद्धि नहीं पकड़ सकती, परन्तु जो सब ओरसे मुँह मोड़कर मेरी ओर दौड़ता है, मैं उसकी मुट्ठीमें आ जाता हूँ। यही सोचकर भगवान् यशोदाके हाथों पकड़े गये।

* इस श्लोकमें श्रीकृष्णकी ब्रह्मरूपता बतायी गयी है। 'उपनिषदोंमें जैसे ब्रह्मका वर्णन है—अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्' इत्यादि। वही बात यहाँ श्रीकृष्णके सम्बन्धमें है। वह सर्वाधिष्ठान, सर्वसाक्षी, सर्वातीत, सर्वान्तर्यामी, सर्वोपादान एवं सर्वरूप ब्रह्म ही यशोदा माताके प्रेमके वश बँधने जा रहा है। बन्धनरूप होनेके कारण उसमें किसी प्रकारकी असङ्गति या अनौचित्य भी नहीं है।

† यह फिर कभी ऊखलपर जाकर न बैठे इसके लिये ऊखलसे बाँधना ही उचित है; क्योंकि खलका अधिक संग होनेपर उससे मनमें उद्वेग हो जाता है।

यह ऊखल भी चोर ही है, क्योंकि इसने कन्हैयाके चोरी करनेमें सहायता की है। दोनोंको बन्धनयोग्य देखकर ही यशोदा माताने दोनोंको बाँधनेका उद्योग किया।

‡ यशोदा माता ज्यों-ज्यों अपने स्नेह, ममता आदि गुणों (सद्गुणों या रस्सियों) से श्रीकृष्णका पेट भरने लगीं, त्यों-त्यों अपनी नित्यमुक्तता, स्वतन्त्रता आदि सद्गुणोंसे भगवान् अपने स्वरूपको प्रकट करने लगे।

卐 १. संस्कृत-साहित्यमें 'गुण' शब्दके अनेक अर्थ हैं—सद्गुण, सत्त्व आदि गुण और रस्सी। सत्त्व, रज आदि गुण भी अखिल ब्रह्माण्डनायक त्रिलोकीनाथ भगवान्का स्पर्श नहीं कर सकते। फिर यह छोटा-सा गुण (दो बित्तेकी रस्सी) उन्हें कैसे बाँध सकता है। यही कारण है कि यशोदा माताकी रस्सी पूरी नहीं पड़ती थी।

२. संसारके विषय इन्द्रियोंको ही बाँधनेमें समर्थ हैं—विषिण्वन्ति इति विषयाः। ये हृदयमें स्थित अन्तर्यामी और साक्षीको नहीं बाँध सकते। तब गो-बन्धक (इन्द्रियों या गायोंको बाँधनेवाली) रस्सी गो-पति (इन्द्रियों या गायोंके स्वामी) को कैसे बाँध सकती है?

३. वेदान्तके सिद्धान्तानुसार अध्यस्तमें ही बन्धन होता है, अधिष्ठानमें नहीं। भगवान् श्रीकृष्णका उदर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका अधिष्ठान है। उसमें भला बन्धन कैसे हो सकता है?

४. भगवान् जिसको अपनी कृपाप्रसादपूर्ण दृष्टिसे देख लेते हैं, वही सर्वदाके लिये बन्धनसे मुक्त हो जाता है। यशोदा माता अपने हाथमें जो रस्सी उठातीं, उसीपर श्रीकृष्णकी दृष्टि पड़ जाती। वह स्वयं मुक्त हो जाती, फिर उसमें गाँठ कैसे लगती?

५. कोई साधक यदि अपने गुणोंके द्वारा भगवान्को रिझाना चाहे तो नहीं रिझा सकता। मानो यही सूचित करनेके लिये कोई भी गुण (रस्सी) भगवान्के उदरको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हुआ।

एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत्॥ १७

दो अंगुल छोटी पड़ती गयीं*॥ १६॥ यशोदारानीने घरकी सारी रस्सियाँ जोड़ डालीं, फिर भी वे भगवान् श्रीकृष्णको न बाँध सकीं। उनकी असफलतापर देखनेवाली गोपियाँ मुसकराने लगीं और वे स्वयं भी मुसकराती हुई आश्चर्यचकित हो गयीं†॥ १७॥

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥ १८

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरी माका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया है, चोटीमें गुँथी हुई मालाएँ गिर गयी हैं और वे बहुत थक भी गयी हैं; तब कृपा करके वे स्वयं ही अपनी माके बन्धनमें बँध गये‡॥ १८

---

* रस्सी दो अंगुल ही कम क्यों हुई? इसपर कहते हैं—

१. भगवान्ने सोचा कि जब मैं शुद्धहृदय भक्तजनोंको दर्शन देता हूँ, तब मेरे साथ एकमात्र सत्त्वगुणसे ही सम्बन्धकी स्फूर्ति होती है, रज और तमसे नहीं। इसलिये उन्होंने रस्सीको दो अंगुल कम करके अपना भाव प्रकट किया।

२. उन्होंने विचार किया कि जहाँ नाम और रूप होते हैं, वहीं बन्धन भी होता है। मुझ परमात्मामें बन्धनकी कल्पना कैसे? जब कि ये दोनों ही नहीं। दो अंगुलकी कमीका यही रहस्य है।

३. दो वृक्षोंका उद्धार करना है। यही क्रिया सूचित करनेके लिये रस्सी दो अंगुल कम पड़ गयी।

४. भगवत्कृपासे द्वैतानुरागी भी मुक्त हो जाता है और असंग भी प्रेमसे बँध जाता है। यही दोनों भाव सूचित करनेके लिये रस्सी दो अंगुल कम हो गयी।

५. यशोदा माताने छोटी-बड़ी अनेकों रस्सियाँ अलग-अलग और एक साथ भी भगवान्की कमरमें लगायीं, परन्तु वे पूरी न पड़ीं; क्योंकि भगवान्में छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है। रस्सियोंने कहा—भगवान्के समान अनन्तता, अनादिता और विभुता हमलोगोंमें नहीं है। इसलिये इनको बाँधनेकी बात बंद करो। अथवा जैसे नदियाँ समुद्रमें समा जाती हैं वैसे ही सारे गुण (सारी रस्सियाँ) अनन्तगुण भगवान्में लीन हो गये, अपना नाम-रूप खो बैठे। ये ही दो भाव सूचित करनेके लिये रस्सियोंमें दो अंगुलकी न्यूनता हुई।

† वे मन-ही-मन सोचतीं—इसकी कमर मुट्ठीभरकी है, फिर भी सैकड़ों हाथ लम्बी रस्सीसे यह नहीं बँधता है। कमर तिलमात्र भी मोटी नहीं होती, रस्सी एक अंगुल भी छोटी नहीं होती, फिर भी वह बँधता नहीं। कैसा आश्चर्य है। हर बार दो अंगुलकी ही कमी होती है, न तीनकी, न चारकी, न एककी। यह कैसा अलौकिक चमत्कार है।

‡ १. भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि जब माके हृदयसे द्वैत-भावना दूर नहीं हो रही है, तब मैं व्यर्थ अपनी असंगता क्यों प्रकट करूँ। जो मुझे बद्ध समझता है उसके लिये बद्ध होना ही उचित है। इसलिये वे बँध गये।

२. मैं अपने भक्तके छोटे-से गुणको भी पूर्ण कर देता हूँ—यह सोचकर भगवान्ने यशोदा माताके गुण (रस्सी) को अपने बाँधनेयोग्य बना लिया।

३. यद्यपि मुझमें अनन्त, अचिन्त्य कल्याण-गुण निवास करते हैं, तथापि तबतक वे अधूरे ही रहते हैं, जबतक मेरे भक्त अपने गुणोंकी मुहर उनपर नहीं लगा देते। यही सोचकर यशोदा मैयाके गुणों (वात्सल्य, स्नेह आदि और रज्जु) से अपनेको पूर्णोदर—दामोदर बना लिया।

४. भगवान् श्रीकृष्ण इतने कोमलहृदय हैं कि अपने भक्तके प्रेमको पुष्ट करनेवाला परिश्रम भी सहन नहीं करते हैं। वे अपने भक्तको परिश्रमसे मुक्त करनेके लिये स्वयं ही बन्धन स्वीकार कर लेते हैं।

५. भगवान्ने अपने मध्यभागमें बन्धन स्वीकार करके यह सूचित किया कि मुझमें तत्त्वदृष्टिसे बन्धन है ही नहीं; क्योंकि जो वस्तु आगे-पीछे, ऊपर-नीचे नहीं होती, केवल बीचमें भासती है, वह झूठी होती है। इसी प्रकार यह बन्धन भी झूठा है।

६. भगवान् किसीकी शक्ति, साधन या सामग्रीसे नहीं बँधते। यशोदाजीके हाथों श्यामसुन्दरको न बँधते देखकर पास-पड़ोसकी ग्वालिनें इकट्ठी हो गयीं और कहने लगीं—यशोदाजी! लालाकी कमर तो मुट्ठीभरकी ही है और छोटी-सी किंकिणी इसमें रुन-झुन कर रही है। अब यह इतनी रस्सियोंसे नहीं बँधता तो जान पड़ता है कि विधाताने इसके ललाटमें बन्धन लिखा ही नहीं है। इसलिये अब तुम यह उद्योग छोड़ दो।

एवं संदर्शिता ह्यंग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥ १९

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण परम स्वतन्त्र हैं। ब्रह्मा, इन्द्र आदिके साथ यह सम्पूर्ण जगत् उनके वशमें है। फिर भी इस प्रकार बँधकर उन्होंने संसारको यह बात दिखला दी कि मैं अपने प्रेमी भक्तोंके वशमें हूँ* ॥ १९ ॥

नेमं विरिंचो न भवो न श्रीरप्यंगसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥ २०

ग्वालिनी यशोदाने मुक्तिदाता मुकुन्दसे जो कुछ अनिर्वचनीय कृपाप्रसाद प्राप्त किया वह प्रसाद ब्रह्मा पुत्र होनेपर भी, शंकर आत्मा होनेपर भी और वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मी अर्धांगिनी होनेपर भी न पा सके, न पा सके† ॥ २० ॥

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥ २१

यह गोपिकानन्दन भगवान् अनन्यप्रेमी भक्तोंके लिये जितने सुलभ हैं, उतने देहाभिमानी कर्मकाण्डी एवं तपस्वियोंको तथा अपने स्वरूपभूत ज्ञानियोंके लिये भी नहीं हैं‡ ॥ २१ ॥

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥ २२

इसके बाद नन्दरानी यशोदाजी तो घरके काम-धंधोंमें उलझ गयीं और ऊखलमें बँधे हुए भगवान् श्यामसुन्दरने उन दोनों अर्जुनवृक्षोंको मुक्ति देनेकी सोची, जो पहले यक्षराज कुबेरके पुत्र थे卐 ॥ २२ ॥

यशोदा मैयाने कहा—चाहे सन्ध्या हो जाय और गाँवभरकी रस्सी क्यों न इकट्ठी करनी पड़े, पर मैं तो इसे बाँधकर ही छोड़ूँगी। यशोदाजीका यह हठ देखकर भगवान्ने अपना हठ छोड़ दिया; क्योंकि जहाँ भगवान् और भक्तके हठमें विरोध होता है, वहाँ भक्तका ही हठ पूरा होता है। भगवान् बँधते हैं तब, जब भक्तकी थकान देखकर कृपापरवश हो जाते हैं। भक्तके श्रम और भगवान्की कृपाकी कमी ही दो अंगुलकी कमी है। अथवा जब भक्त अहंकार करता है कि मैं भगवान्को बाँध लूँगा, तब वह उनसे एक अंगुल दूर पड़ जाता है और भक्तकी नकल करनेवाले भगवान् भी एक अंगुल दूर हो जाते हैं। जब यशोदा माता थक गयीं, उनका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया, तब भगवान्की सर्वशक्तिचक्रवर्तिनी परम भास्वती भगवती कृपा-शक्तिने भगवान्के हृदयको माखनके समान द्रवित कर दिया और स्वयं प्रकट होकर उसने भगवान्की सत्य-संकल्पितता और विभुताको अन्तर्हित कर दिया। इसीसे भगवान् बँध गये।

* यद्यपि भगवान् स्वयं परमेश्वर हैं, तथापि प्रेमपरवश होकर बँध जाना परम चमत्कारकारी होनेके कारण भगवान्का भूषण ही है, दूषण नहीं।

आत्माराम होनेपर भी भूख लगना, पूर्णकाम होनेपर भी अतृप्त रहना, शुद्ध सत्त्वस्वरूप होनेपर भी क्रोध करना, स्वाराज्य-लक्ष्मीसे युक्त होनेपर भी चोरी करना, महाकाल यम आदिको भय देनेवाले होनेपर भी डरना और भागना, मनसे भी तीव्र गतिवाले होनेपर भी माताके हाथों पकड़ा जाना, आनन्दमय होनेपर भी दुःखी होना, रोना, सर्वव्यापक होनेपर भी बँध जाना—यह सब भगवान्की स्वाभाविक भक्तवश्यता है। जो लोग भगवान्को नहीं जानते हैं, उनके लिये तो इसका कुछ उपयोग नहीं है, परन्तु जो श्रीकृष्णको भगवान्के रूपमें पहचानते हैं, उनके लिये यह अत्यन्त चमत्कारी वस्तु है और यह देखकर—जानकर उनका हृदय द्रवित हो जाता है, भक्तिप्रेमसे सराबोर हो जाता है। अहो! विश्वेश्वर प्रभु अपने भक्तके हाथों ऊखलमें बँधे हुए हैं।

† इस श्लोकमें तीनों नकारोंका अन्वय 'लेभिरे' क्रियाके साथ करना चाहिये। न पा सके, न पा सके, न पा सके।

‡ ज्ञानी पुरुष भी भक्ति करें तो उन्हें इन सगुण भगवान्की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु बड़ी कठिनाईसे। ऊखल-बँधे भगवान् सगुण हैं, वे निर्गुण प्रेमीको कैसे मिलेंगे?

卐 स्वयं बँधकर भी बन्धनमें पड़े हुए यक्षोंकी मुक्तिकी चिन्ता करना, सत्पुरुषके सर्वथा योग्य है।

जब यशोदा माताकी दृष्टि श्रीकृष्णसे हटकर दूसरेपर पड़ती है, तब वे भी किसी दूसरेको देखने लगते हैं और ऐसा ऊधम मचाते हैं कि सबकी दृष्टि उनकी ओर खिंच आये। देखिये, पूतना, शकटासुर, तृणावर्त आदिका प्रसंग।

पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥ २३

इनके नाम थे नलकूबर और मणिग्रीव। इनके पास धन, सौन्दर्य और ऐश्वर्यकी पूर्णता थी। इनका घमण्ड देखकर ही देवर्षि नारदजीने इन्हें शाप दे दिया था और ये वृक्ष हो गये थे*॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गोपीप्रसादो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

यमलार्जुनका उद्धार

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य कारणम्।
यत्तद् विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तमः॥ १

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! आप कृपया यह बतलाइये कि नलकूबर और मणिग्रीवको शाप क्यों मिला। उन्होंने ऐसा कौन-सा निन्दित कर्म किया था, जिसके कारण परम शान्त देवर्षि नारदजीको भी क्रोध आ गया?॥ १॥

श्रीशुक उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ।
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ॥ २

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ।
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने॥ ३

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! नलकूबर और मणिग्रीव—ये दोनों एक तो धनाध्यक्ष कुबेरके लाड़ले लड़के थे और दूसरे इनकी गिनती हो गयी रुद्रभगवान्‌के अनुचरोंमें। इससे उनका घमण्ड बढ़ गया। एक दिन वे दोनों मन्दाकिनीके तटपर कैलासके रमणीय उपवनमें वारुणी मदिरा पीकर मदोन्मत्त हो गये थे। नशेके कारण उनकी आँखें घूम रही थीं। बहुत-सी स्त्रियाँ उनके साथ गा-बजा रही थीं और वे पुष्पोंसे लदे हुए वनमें उनके साथ विहार कर रहे थे॥ २-३॥

अन्तः प्रविश्य गंगायामम्भोजवनराजिनि।
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः॥ ४

उस समय गंगाजीमें पाँत-के-पाँत कमल खिले हुए थे । वे स्त्रियोंके साथ जलके भीतर घुस गये और जैसे हाथियोंका जोड़ा हथिनियोंके साथ जलक्रीडा कर रहा हो, वैसे ही वे उन युवतियोंके साथ तरह-तरहकी क्रीडा करने लगे॥ ४॥

* ये अपने भक्त कुबेरके पुत्र हैं, इसलिये इनका अर्जुन नाम है। ये देवर्षि नारदके द्वारा दृष्टिपूत किये जा चुके हैं, इसलिये भगवान्‌ने उनकी ओर देखा।

जिसे पहले भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, उसपर कृपा करनेके लिये स्वयं बँधकर भी भगवान् जाते हैं।

यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव।
अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत॥ ५

परीक्षित्! संयोगवश उधरसे परम समर्थ देवर्षि नारदजी आ निकले। उन्होंने उन यक्ष-युवकोंको देखा और समझ लिया कि ये इस समय मतवाले हो रहे हैं॥ ५॥

तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशंकिताः।
वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ॥ ६

देवर्षि नारदको देखकर वस्त्रहीन अप्सराएँ लजा गयीं। शापके डरसे उन्होंने तो अपने-अपने कपड़े झटपट पहन लिये, परन्तु इन यक्षोंने कपड़े नहीं पहने॥ ६॥

तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ।
तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ॥ ७

जब देवर्षि नारदजीने देखा कि ये देवताओंके पुत्र होकर श्रीमदसे अन्धे और मदिरापान करके उन्मत्त हो रहे हैं, तब उन्होंने उनपर अनुग्रह करनेके लिये शाप देते हुए यह कहा—*॥ ७॥

नारद उवाच

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः॥ ८

नारदजीने कहा—जो लोग अपने प्रिय विषयोंका सेवन करते हैं, उनकी बुद्धिको सबसे बढ़कर नष्ट करनेवाला है श्रीमद—धन-सम्पत्तिका नशा। हिंसा आदि रजोगुणी कर्म और कुलीनता आदिका अभिमान भी उससे बढ़कर बुद्धिभ्रंशक नहीं है; क्योंकि श्रीमदके साथ-साथ तो स्त्री, जूआ और मदिरा भी रहती है॥ ८॥

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥ ९

ऐश्वर्यमद और श्रीमदसे अंधे होकर अपनी इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले क्रूर पुरुष अपने नाशवान् शरीरको तो अजर-अमर मान बैठते हैं और अपने ही जैसे शरीरवाले पशुओंकी हत्या करते हैं॥ ९॥

देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम्।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ १०

जिस शरीरको 'भूदेव', 'नरदेव', 'देव' आदि नामोंसे पुकारते हैं—उसकी अन्तमें क्या गति होगी? उसमें कीड़े पड़ जायँगे, पक्षी खाकर उसे विष्ठा बना देंगे या वह जलकर राखका ढेर बन जायगा। उसी शरीरके लिये प्राणियोंसे द्रोह करनेमें मनुष्य अपना कौन-सा स्वार्थ समझता है? ऐसा करनेसे तो उसे नरककी ही प्राप्ति होगी॥ १०॥

* देवर्षि नारदके शाप देनेमें दो हेतु थे—एक तो अनुग्रह—उनके मदका नाश करना और दूसरा अर्थ—श्रीकृष्ण-प्राप्ति।

ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिकालदर्शी देवर्षि नारदने अपनी ज्ञानदृष्टिसे यह जान लिया कि इनपर भगवान्का अनुग्रह होनेवाला है। इसीसे उन्हें भगवान्का भावी कृपापात्र समझकर ही उनके साथ छेड़-छाड़ की।

देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च।
मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा॥ ११

बतलाओ तो सही, यह शरीर किसकी सम्पत्ति है? अन्न देकर पालनेवालेकी है या गर्भाधान करानेवाले पिताकी? यह शरीर उसे नौ महीने पेटमें रखनेवाली माताका है अथवा माताको भी पैदा करनेवाले नानाका? जो बलवान् पुरुष बलपूर्वक इससे काम करा लेता है, उसका है अथवा दाम देकर खरीद लेनेवालेका? चिताकी जिस धधकती आगमें यह जल जायगा, उसका है अथवा जो कुत्ते-स्यार इसको चीथ-चीथकर खा जानेकी आशा लगाये बैठे हैं, उनका?॥ ११॥

एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम्।
को विद्वानात्मसात् कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः॥ १२

यह शरीर एक साधारण-सी वस्तु है। प्रकृतिसे पैदा होता है और उसीमें समा जाता है। ऐसी स्थितिमें मूर्ख पशुओंके सिवा और ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो इसको अपना आत्मा मानकर दूसरोंको कष्ट पहुँचायेगा, उनके प्राण लेगा॥ १२॥

असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम्।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥ १३

जो दुष्ट श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं, उनकी आँखोंमें ज्योति डालनेके लिये दरिद्रता ही सबसे बड़ा अंजन है; क्योंकि दरिद्र यह देख सकता है कि दूसरे प्राणी भी मेरे ही जैसे हैं॥ १३॥

यथा कण्टकविद्धांगो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः॥ १४

जिसके शरीरमें एक बार काँटा गड़ जाता है, वह नहीं चाहता कि किसी भी प्राणीको काँटा गड़नेकी पीड़ा सहनी पड़े; क्योंकि उस पीड़ा और उसके द्वारा होनेवाले विकारोंसे वह समझता है कि दूसरेको भी वैसी ही पीड़ा होती है । परन्तु जिसे कभी काँटा गड़ा ही नहीं, वह उसकी पीड़ाका अनुमान नहीं कर सकता॥ १४॥

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः॥ १५

दरिद्रमें घमंड और हेकड़ी नहीं होती; वह सब तरहके मदोंसे बचा रहता है। बल्कि दैववश उसे जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह उसके लिये एक बहुत बड़ी तपस्या भी है॥ १५॥

नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकांक्षिणः।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते॥ १६

जिसे प्रतिदिन भोजनके लिये अन्न जुटाना पड़ता है, भूखसे जिसका शरीर दुबला-पतला हो गया है, उस दरिद्रकी इन्द्रियाँ भी अधिक विषय नहीं भोगना चाहतीं, सूख जाती हैं और फिर वह अपने भोगोंके लिये दूसरे प्राणियोंको सताता नहीं—उनकी हिंसा नहीं करता॥ १६॥

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्ध्यति॥ १७

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः॥ १८

तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः।
तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः॥ १९

यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ।
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ॥ २०

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्॥ २१

वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥ २२

श्रीशुक उवाच

एवमुक्त्वा स देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम्।
नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥ २३

यद्यपि साधु पुरुष समदर्शी होते हैं, फिर भी उनका समागम दरिद्रके लिये ही सुलभ है; क्योंकि उसके भोग तो पहलेसे ही छूटे हुए हैं। अब संतोंके संगसे उसकी लालसा-तृष्णा भी मिट जाती है और शीघ्र ही उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है*॥ १७॥ जिन महात्माओंके चित्तमें सबके लिये समता है, जो केवल भगवान्‌के चरणारविन्दोंका मकरन्द-रस पीनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं, उन्हें दुर्गुणोंके खजाने अथवा दुराचारियोंकी जीविका चलानेवाले और धनके मदसे मतवाले दुष्टोंकी क्या आवश्यकता है? वे तो उनकी उपेक्षाके ही पात्र हैं†॥ १८॥ ये दोनों यक्ष वारुणी मदिराका पान करके मतवाले और श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं। अपनी इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले इन स्त्री-लम्पट यक्षोंका अज्ञानजनित मद मैं चूर-चूर कर दूँगा॥ १९॥ देखो तो सही, कितना अनर्थ है कि ये लोकपाल कुबेरके पुत्र होनेपर भी मदोन्मत्त होकर अचेत हो रहे हैं और इनको इस बातका भी पता नहीं है कि हम बिलकुल नंग-धड़ंग हैं॥ २०॥ इसलिये ये दोनों अब वृक्षयोनिमें जानेके योग्य हैं। ऐसा होनेसे इन्हें फिर इस प्रकारका अभिमान न होगा। वृक्षयोनिमें जानेपर भी मेरी कृपासे इन्हें भगवान्‌की स्मृति बनी रहेगी और मेरे अनुग्रहसे देवताओंके सौ वर्ष बीतनेपर इन्हें भगवान् श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त होगा; और फिर भगवान्‌के चरणोंमें परम प्रेम प्राप्त करके ये अपने लोकमें चले आयेंगे॥ २१-२२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—देवर्षि नारद इस प्रकार कहकर भगवान् नर-नारायणके आश्रमपर चले गये‡। नलकूबर और मणिग्रीव—ये दोनों एक ही साथ अर्जुन वृक्ष होकर यमलार्जुन नामसे प्रसिद्ध हुए॥ २३॥

* धनी पुरुषमें तीन दोष होते हैं—धन, धनका अभिमान और धनकी तृष्णा। दरिद्र पुरुषमें पहले दो नहीं होते, केवल तीसरा ही दोष रहता है। इसलिये सत्पुरुषोंके संगसे धनकी तृष्णा मिट जानेपर धनियोंकी अपेक्षा उसका शीघ्र कल्याण हो जाता है।

† धन स्वयं एक दोष है। सातवें स्कन्धमें कहा है कि जितनेसे पेट भर जाय, उससे अधिकको अपना माननेवाला चोर है और दण्डका पात्र है—'**स स्तेनो दण्डमर्हति**।' भगवान् भी कहते हैं—जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन छीन लेता हूँ। इसीसे सत्पुरुष प्रायः धनियोंकी उपेक्षा करते हैं।

‡ १. शाप वरदानसे तपस्या क्षीण होती है। नलकूबर-मणिग्रीवको शाप देनेके पश्चात् नर-नारायण-आश्रमकी यात्रा करनेका यह अभिप्राय है कि फिरसे तप:संचय कर लिया जाय।

२. मैंने यक्षोंपर जो अनुग्रह किया है, वह बिना तपस्याके पूर्ण नहीं हो सकता है, इसलिये।

३. अपने आराध्यदेव एवं गुरुदेव नारायणके सम्मुख अपना कृत्य निवेदन करनेके लिये।

ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ॥ २४

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना॥ २५

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥ २६

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ॥ २७

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धांजली विरजसाविदमूचतुः स्म॥ २८

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥ २९

भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम प्रेमी भक्त देवर्षि नारदजीकी बात सत्य करनेके लिये धीरे-धीरे ऊखल घसीटते हुए उस ओर प्रस्थान किया, जिधर यमलार्जुन वृक्ष थे॥ २४॥ भगवान्‌ने सोचा कि 'देवर्षि नारद मेरे अत्यन्त प्यारे हैं और ये दोनों भी मेरे भक्त कुबेरके लड़के हैं। इसलिये महात्मा नारदने जो कुछ कहा है, उसे मैं ठीक उसी रूपमें पूरा करूँगा'*॥ २५॥ यह विचार करके भगवान् श्रीकृष्ण दोनों वृक्षोंके बीचमें घुस गये†। वे तो दूसरी ओर निकल गये, परन्तु ऊखल टेढ़ा होकर अटक गया॥ २६॥ दामोदरभगवान् श्रीकृष्णकी कमरमें रस्सी कसी हुई थी। उन्होंने अपने पीछे लुढ़कते हुए ऊखलको ज्यों ही तनिक जोरसे खींचा, त्यों ही पेड़ोंकी सारी जड़ें उखड़ गयी‡। समस्त बल-विक्रमके केन्द्र भगवान्‌का तनिक-सा जोर लगते ही पेड़ोंके तने, शाखाएँ, छोटी-छोटी डालियाँ और एक-एक पत्ते काँप उठे और वे दोनों बड़े जोरसे तड़तड़ाते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २७॥ उन दोनों वृक्षोंमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्ध पुरुष निकले। उनके चमचमाते हुए सौन्दर्यसे दिशाएँ दमक उठीं। उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर शुद्ध हृदयसे वे उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—॥ २८॥

उन्होंने कहा—सच्चिदानन्दस्वरूप! सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाले परम योगेश्वर श्रीकृष्ण! आप प्रकृतिसे अतीत स्वयं पुरुषोत्तम हैं। वेदज्ञ ब्राह्मण यह बात जानते हैं कि यह व्यक्त और अव्यक्त सम्पूर्ण जगत् आपका ही रूप है॥ २९॥

---

* भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कृपादृष्टिसे उन्हें मुक्त कर सकते थे। परन्तु वृक्षोंके पास जानेका कारण यह है कि देवर्षि नारदने कहा था कि तुम्हें वासुदेवका सान्निध्य प्राप्त होगा।

† वृक्षोंके बीचमें जानेका आशय यह है कि भगवान् जिसके अन्तर्देशमें प्रवेश करते हैं, उसके जीवनमें क्लेशका लेश भी नहीं रहता। भीतर प्रवेश किये बिना दोनोंका एक साथ उद्धार भी कैसे होता।

‡ जो भगवान्‌के गुण (भक्त-वत्सल्य आदि सद्गुण या रस्सी) से बँधा हुआ है, वह तिर्यक् गति (पशु-पक्षी या टेढ़ी चालवाला) ही क्यों न हो—दूसरोंका उद्धार कर सकता है।

अपने अनुयायीके द्वारा किया हुआ काम जितना यशस्कर होता है, उतना अपने हाथसे नहीं। मानो यही सोचकर अपने पीछे-पीछे चलनेवाले ऊखलके द्वारा उनका उद्धार करवाया।

त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥ ३०

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१

गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः ॥ ३२

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥ ३३

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥ ३४

स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥ ३५

नमः परमकल्याण नमः परममंगल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥ ३६

अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिंकरौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥ ३७

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥ ३८

आप ही समस्त प्राणियोंके शरीर, प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियोंके स्वामी हैं। तथा आप ही सर्वशक्तिमान् काल, सर्वव्यापक एवं अविनाशी ईश्वर हैं॥ ३०॥ आप ही महत्तत्त्व और वह प्रकृति हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म एवं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूपा है। आप ही समस्त स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके कर्म, भाव, धर्म और सत्ताको जाननेवाले सबके साक्षी परमात्मा हैं॥ ३१॥ वृत्तियोंसे ग्रहण किये जानेवाले प्रकृतिके गुणों और विकारोंके द्वारा आप पकड़में नहीं आ सकते। स्थूल और सूक्ष्म शरीरके आवरणसे ढका हुआ ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो आपको जान सके? क्योंकि आप तो उन शरीरोंके पहले भी एकरस विद्यमान थे॥ ३२॥ समस्त प्रपंचके विधाता भगवान् वासुदेवको हम नमस्कार करते हैं। प्रभो! आपके द्वारा प्रकाशित होनेवाले गुणोंसे ही आपने अपनी महिमा छिपा रखी है। परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण! हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ३३॥ आप प्राकृत शरीरसे रहित हैं। फिर भी जब आप ऐसे पराक्रम प्रकट करते हैं, जो साधारण शरीरधारियोंके लिये शक्य नहीं है और जिनसे बढ़कर तो क्या जिनके समान भी कोई नहीं कर सकता, तब उनके द्वारा उन शरीरोंमें आपके अवतारोंका पता चल जाता है॥ ३४॥ प्रभो! आप ही समस्त लोकोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये इस समय अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंसे अवतीर्ण हुए हैं। आप समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं॥ ३५॥ परम कल्याण (साध्य) स्वरूप! आपको नमस्कार है। परम मंगल (साधन) स्वरूप! आपको नमस्कार है। परम शान्त, सबके हृदयमें विहार करनेवाले यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णको नमस्कार है॥ ३६॥ अनन्त! हम आपके दासानुदास हैं। आप यह स्वीकार कीजिये। देवर्षि भगवान् नारदके परम अनुग्रहसे ही हम अपराधियोंको आपका दर्शन प्राप्त हुआ है॥ ३७॥ प्रभो! हमारी वाणी आपके मंगलमय गुणोंका वर्णन करती रहे। हमारे कान आपकी रसमयी कथामें लगे रहें। हमारे हाथ आपकी सेवामें और मन आपके चरण-कमलोंकी स्मृतिमें रम जायँ। यह सम्पूर्ण जगत् आपका निवास-स्थान है। हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे। संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं। हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें॥ ३८॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः।
दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ॥ ३९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सौन्दर्य-माधुर्यनिधि गोकुलेश्वर श्रीकृष्णने नलकूबर और मणिग्रीवके इस प्रकार स्तुति करनेपर रस्सीसे ऊखलमें बँधे-बँधे ही हँसते हुए* उनसे कहा—॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः॥ ४०

श्रीभगवान्ने कहा—तुमलोग श्रीमदसे अंधे हो रहे थे। मैं पहलेसे ही यह बात जानता था कि परम कारुणिक देवर्षि नारदने शाप देकर तुम्हारा ऐश्वर्य नष्ट कर दिया तथा इस प्रकार तुम्हारे ऊपर कृपा की॥ ४०॥

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥ ४१

जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्ण-रूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना॥ ४१॥

तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम्।
संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः॥ ४२

इसलिये नलकूबर और मणिग्रीव! तुमलोग मेरे परायण होकर अपने-अपने घर जाओ। तुमलोगोंको संसारचक्रसे छुड़ानेवाले अनन्य भक्तिभावकी, जो तुम्हें अभीष्ट है, प्राप्ति हो गयी है॥ ४२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम्॥ ४३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान्ने इस प्रकार कहा, तब उन दोनोंने उनकी परिक्रमा की और बार-बार प्रणाम किया। इसके बाद ऊखलमें बँधे हुए सर्वेश्वरकी आज्ञा प्राप्त करके उन लोगोंने उत्तर दिशाकी यात्रा की†॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नारदशापो नाम
दशमोऽध्यायः॥ १०॥

---

* सर्वदा मैं मुक्त रहता हूँ और बद्ध जीव मेरी स्तुति करते हैं। आज मैं बद्ध हूँ और मुक्त जीव मेरी स्तुति कर रहे हैं। यह विपरीत दशा देखकर भगवान्को हँसी आ गयी।

† यक्षोंने विचार किया कि जबतक यह सगुण (रस्सी)में बँधे हुए हैं, तभीतक हमें इनके दर्शन हो रहे हैं। निर्गुणको तो मनमें सोचा भी नहीं जा सकता। इसीसे भगवान्के बँधे रहते ही वे चले गये।

स्वस्त्यस्तु उलूखल सर्वदा श्रीकृष्णगुणशाली एव भूयाः।

'ऊखल! तुम्हारा कल्याण हो, तुम सदा श्रीकृष्णके गुणोंसे बँधे ही रहो।'—ऐसा ऊखलको आशीर्वाद देकर यक्ष वहाँसे चले गये।

अथैकादशोऽध्यायः

गोकुलसे वृन्दावन जाना तथा वत्सासुर और बकासुरका उद्धार

श्रीशुक उवाच

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम्।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशंकिताः॥ १

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम्॥ २

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम्।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः॥ ३

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम्।
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि॥ ४

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत्।
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः॥ ५

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह॥ ६

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वृक्षोंके गिरनेसे जो भयंकर शब्द हुआ था, उसे नन्दबाबा आदि गोपोंने भी सुना। उनके मनमें यह शंका हुई कि कहीं बिजली तो नहीं गिरी! सब-के-सब भयभीत होकर वृक्षोंके पास आ गये॥ १॥ वहाँ पहुँचनेपर उन लोगोंने देखा कि दोनों अर्जुनके वृक्ष गिरे हुए हैं। यद्यपि वृक्ष गिरनेका कारण स्पष्ट था—वहीं उनके सामने ही रस्सीमें बँधा हुआ बालक ऊखल खींच रहा था, परन्तु वे समझ न सके। 'यह किसका काम है, ऐसी आश्चर्यजनक दुर्घटना कैसे घट गयी?'—यह सोचकर वे कातर हो गये, उनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी॥ २-३॥

वहाँ कुछ बालक खेल रहे थे। उन्होंने कहा—'अरे, इसी कन्हैयाका तो काम है। यह दोनों वृक्षोंके बीचमेंसे होकर निकल रहा था। ऊखल तिरछा हो जानेपर दूसरी ओरसे इसने उसे खींचा और वृक्ष गिर पड़े। हमने तो इनमेंसे निकलते हुए दो पुरुष भी देखे हैं॥ ४॥ परन्तु गोपोंने बालकोंकी बात नहीं मानी। वे कहने लगे—'एक नन्हा-सा बच्चा इतने बड़े वृक्षोंको उखाड़ डाले, यह कभी सम्भव नहीं है।' किसी-किसीके चित्तमें श्रीकृष्णकी पहलेकी लीलाओंका स्मरण करके सन्देह भी हो आया॥ ५॥ नन्दबाबाने देखा, उनका प्राणोंसे प्यारा बच्चा रस्सीसे बँधा हुआ ऊखल घसीटता जा रहा है। वे हँसने लगे और जल्दीसे जाकर उन्होंने रस्सीकी गाँठ खोल दी*॥ ६॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् कभी-कभी गोपियोंके फुसलानेसे साधारण बालकोंके समान नाचने लगते। कभी भोले-भाले अनजान बालककी तरह गाने लगते। वे उनके हाथकी कठपुतली—उनके सर्वथा अधीन हो गये॥ ७॥

---

* नन्दबाबा इसलिये हँसे कि कन्हैया कहीं यह सोचकर डर न जाय कि जब माने बाँध दिया, तब पिता कहीं आकर पीटने न लगें।

माताने बाँधा और पिताने छोड़ा। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलासे यह बात सिद्ध हुई कि उनके स्वरूपमें बन्धन और मुक्तकी कल्पना करनेवाले दूसरे ही हैं। वे स्वयं न बद्ध हैं, न मुक्त हैं।

बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्।
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन्॥ ८

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥ ९

क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः।
फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥ १०

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥ ११

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत्।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम्॥ १२

नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासंगेन पुत्रकौ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम्॥ १३

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम्।
यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी॥ १४

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥ १५

हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति॥ १६

वे कभी उनकी आज्ञासे पीढ़ा ले आते, तो कभी दुसेरी आदि तौलनेके बटखरे उठा लाते। कभी खड़ाऊँ ले आते, तो कभी अपने प्रेमी भक्तोंको आनन्दित करनेके लिये पहलवानोंकी भाँति ताल ठोंकने लगते॥ ८॥ इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् अपनी बाल-लीलाओंसे व्रजवासियोंको आनन्दित करते और संसारमें जो लोग उनके रहस्यको जानने-वाले हैं, उनको यह दिखलाते कि मैं अपने सेवकोंके वशमें हूँ॥ ९॥

एक दिन कोई फल बेचनेवाली आकर पुकार उठी—'फल लो फल! यह सुनते ही समस्त कर्म और उपासनाओंके फल देनेवाले भगवान् अच्युत फल खरीदनेके लिये अपनी छोटी-सी अँजुलीमें अनाज लेकर दौड़ पड़े॥ १०॥ उनकी अँजुलिमेंसे अनाज तो रास्तेमें ही बिखर गया, पर फल बेचनेवालीने उनके दोनों हाथ फलसे भर दिये। इधर भगवान्‌ने भी उसकी फल रखनेवाली टोकरी रत्नोंसे भर दी॥ ११॥

तदनन्तर एक दिन यमलार्जुन वृक्षको तोड़नेवाले श्रीकृष्ण और बलराम बालकोंके साथ खेलते-खेलते यमुनातटपर चले गये और खेलमें ही रम गये, तब रोहिणीदेवीने उन्हें पुकारा 'ओ कृष्ण! ओ बलराम! जल्दी आओ'॥ १२॥ परन्तु रोहिणीके पुकारनेपर भी वे आये नहीं; क्योंकि उनका मन खेलमें लग गया था। जब बुलानेपर भी वे दोनों बालक नहीं आये, तब रोहिणीजीने वात्सल्यस्नेहमयी यशोदाजीको भेजा॥ १३॥ श्रीकृष्ण और बलराम ग्वालबालकोंके साथ बहुत देरसे खेल रहे थे, यशोदाजीने जाकर उन्हें पुकारा। उस समय पुत्रके प्रति वात्सल्यस्नेहके कारण उनके स्तनोंमेंसे दूध चुचुआ रहा था॥ १४॥ वे जोर-जोरसे पुकारने लगीं—'मेरे प्यारे कन्हैया! ओ कृष्ण! कमलनयन! श्यामसुन्दर! बेटा! आओ, अपनी माका दूध पी लो। खेलते-खेलते थक गये हो बेटा! अब बस करो। देखो तो सही, तुम भूखसे दुबले हो रहे हो॥ १५॥ मेरे प्यारे बेटा राम! तुम तो समूचे कुलको आनन्द देनेवाले हो। अपने छोटे भाईको लेकर जल्दीसे आ जाओ तो! देखो, भाई! आज तुमने बहुत सबेरे कलेऊ किया था। अब तो तुम्हें कुछ खाना चाहिये॥ १६॥

प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः॥ १७

धूलिधूसरितांगस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥ १८

पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलंकृतान्।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः॥ १९

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं
नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥ २०

गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने।
नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन्॥ २१

तत्रोपनन्दनामाऽऽह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः।
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः॥ २२

उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः।
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः॥ २३

मुक्तः कथंचिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ।
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत्॥ २४

बेटा बलराम! व्रजराज भोजन करनेके लिये बैठ गये हैं; परन्तु अभीतक तुम्हारी बाट देख रहे हैं। आओ, अब हमें आनन्दित करो। बालको! अब तुमलोग भी अपने-अपने घर जाओ॥ १७॥ बेटा! देखो तो सही, तुम्हारा एक-एक अंग धूलसे लथपथ हो रहा है। आओ, जल्दीसे स्नान कर लो। आज तुम्हारा जन्म नक्षत्र है। पवित्र होकर ब्राह्मणोंको गोदान करो॥ १८॥ देखो-देखो! तुम्हारे साथियोंको उनकी माताओंने नहला-धुलाकर, मींज-पोंछकर कैसे सुन्दर-सुन्दर गहने पहना दिये हैं। अब तुम भी नहा-धोकर, खा-पीकर, पहन-ओढ़कर तब खेलना'॥ १९॥ परीक्षित्! माता यशोदाका सम्पूर्ण मन-प्राण प्रेम-बन्धनसे बँधा हुआ था। वे चराचर जगत्के शिरोमणि भगवान्को अपना पुत्र समझतीं और इस प्रकार कहकर एक हाथसे बलराम तथा दूसरे हाथसे श्रीकृष्णको पकड़कर अपने घर ले आयीं। इसके बाद उन्होंने पुत्रके मंगलके लिये जो कुछ करना था, वह बड़े प्रेमसे किया॥ २०॥

जब नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंने देखा कि महावनमें तो बड़े-बड़े उत्पात होने लगे हैं, तब वे लोग इकट्ठे होकर 'अब व्रजवासियोंको क्या करना चाहिये'—इस विषयपर विचार करने लगे॥ २१॥ उनमेंसे एक गोपका नाम था उपनन्द। वे अवस्थामें तो बड़े थे ही, ज्ञानमें भी बड़े थे। उन्हें इस बातका पता था कि किस समय किस स्थानपर किस वस्तुसे कैसा व्यवहार करना चाहिये। साथ ही वे यह भी चाहते थे कि राम और श्याम सुखी रहें, उनपर कोई विपत्ति न आवे। उन्होंने कहा— ॥ २२॥ 'भाइयो! अब यहाँ ऐसे बड़े-बड़े उत्पात होने लगे हैं, जो बच्चोंके लिये तो बहुत ही अनिष्टकारी हैं। इसलिये यदि हमलोग गोकुल और गोकुलवासियोंका भला चाहते हैं, तो हमें यहाँसे अपना डेरा-डंडा उठाकर कूच कर देना चाहिये॥ २३॥ देखो, यह सामने बैठा हुआ नन्दरायका लाड़ला सबसे पहले तो बच्चोंके लिये कालस्वरूपिणी हत्यारी पूतनाके चंगुलसे किसी प्रकार छूटा। इसके बाद भगवान्की दूसरी कृपा यह हुई कि इसके ऊपर उतना बड़ा छकड़ा गिरते गिरते बचा॥ २४॥

चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत्।
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः॥ २५

बवंडररूपधारी दैत्यने तो इसे आकाशमें ले जाकर बड़ी भारी विपत्ति (मृत्युके मुख) में ही डाल दिया था, परन्तु वहाँसे जब वह चट्टानपर गिरा, तब भी हमारे कुलके देवेश्वरोंने ही इस बालककी रक्षा की॥ २५॥

यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः।
असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम्॥ २६

यमलार्जुन वृक्षोंके गिरनेके समय उनके बीचमें आकर भी यह या और कोई बालक न मरा। इससे भी यही समझना चाहिये कि भगवान्‌ने हमारी रक्षा की॥ २६॥

यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः।
तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥ २७

इसलिये जबतक कोई बहुत बड़ा अनिष्टकारी अरिष्ट हमें और हमारे व्रजको नष्ट न कर दे, तबतक ही हमलोग अपने बच्चोंको लेकर अनुचरोंके साथ यहाँसे अन्यत्र चले चलें॥ २७॥

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम्॥ २८

'वृन्दावन' नामका एक वन है। उसमें छोटे-छोटे और भी बहुत-से नये-नये हरे-भरे वन हैं। वहाँ बड़ा ही पवित्र पर्वत, घास और हरी-भरी लता-वनस्पतियाँ हैं। हमारे पशुओंके लिये तो वह बहुत ही हितकारी है। गोप, गोपी और गायोंके लिये वह केवल सुविधाका ही नहीं, सेवन करनेयोग्य स्थान है॥ २८॥

तत्तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त मा चिरम्।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते॥ २९

सो यदि तुम सब लोगोंको यह बात जँचती हो तो आज ही हमलोग वहाँके लिये कूच कर दें। देर न करें, गाड़ी-छकड़े जोतें और पहले गायोंको, जो हमारी एकमात्र सम्पत्ति हैं, वहाँ भेज दें'॥ २९॥

तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः।
व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः॥ ३०

उपनन्दकी बात सुनकर सभी गोपोंने एक स्वरसे कहा—'बहुत ठीक, बहुत ठीक।' इस विषयमें किसीका भी मतभेद न था। सब लोगोंने अपनी झुंड-की-झुंड गायें इकट्ठी कीं और छकड़ोंपर घरकी सब सामग्री लादकर वृन्दावनकी यात्रा की॥ ३०॥

वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च।
अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः॥ ३१

परीक्षित्! ग्वालोंने बूढ़ों, बच्चों, स्त्रियों और सब सामग्रियोंको छकड़ोंपर चढ़ा दिया और स्वयं उनके पीछे-पीछे धनुष-बाण लेकर बड़ी सावधानीसे चलने लगे॥ ३१॥

गोधनानि पुरस्कृत्य श्रृंगाण्यापूर्य सर्वतः।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः॥ ३२

उन्होंने गौ और बछड़ोंको तो सबसे आगे कर लिया और उनके पीछे-पीछे सिंगी और तुरही जोर-जोरसे बजाते हुए चले। उनके साथ ही-साथ पुरोहितलोग भी चल रहे थे॥ ३२॥

गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुंकुमकान्तयः।
कृष्णलीला जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः॥ ३३

गोपियाँ अपने-अपने वक्षःस्थलपर नयी केसर लगाकर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनकर, गलेमें सोनेके हार धारण किये हुए रथोंपर सवार थीं और बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके गीत गाती जाती थीं॥ ३३॥

तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके॥ ३४

वृन्दावनं संप्रविश्य सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत्॥ ३५

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥ ३६

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥ ३७

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ॥ ३८

क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।
क्वचित् पादैः किंकिणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः॥ ३९

वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥ ४०

कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत्॥ ४१

यशोदारानी और रोहिणीजी भी वैसे ही सज-धजकर अपने-अपने प्यारे पुत्र श्रीकृष्ण तथा बलरामके साथ एक छकड़ेपर शोभायमान हो रही थीं। वे अपने दोनों बालकोंकी तोतली बोली सुन-सुनकर भी अघाती न थीं, और-और सुनना चाहती थीं॥ ३४॥ वृन्दावन बड़ा ही सुन्दर वन है। चाहे कोई भी ऋतु हो, वहाँ सुख-ही-सुख है। उसमें प्रवेश करके ग्वालोंने अपने छकड़ोंको अर्द्धचन्द्राकार मण्डल बाँधकर खड़ा कर दिया और अपने गोधनके रहनेयोग्य स्थान बना लिया॥ ३५॥ परीक्षित्! वृन्दावनका हरा-भरा वन, अत्यन्त मनोहर गोवर्धन पर्वत और यमुना नदीके सुन्दर-सुन्दर पुलिनोंको देखकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके हृदयमें उत्तम प्रीतिका उदय हुआ॥ ३६॥

राम और श्याम दोनों ही अपनी तोतली बोली और अत्यन्त मधुर बालोचित लीलाओंसे गोकुलकी ही तरह वृन्दावनमें भी व्रजवासियोंको आनन्द देते रहे। थोड़े ही दिनोंमें समय आनेपर वे बछड़े चराने लगे॥ ३७॥ दूसरे ग्वालबालोंके साथ खेलनेके लिये बहुत-सी सामग्री लेकर वे घरसे निकल पड़ते और गोष्ठ (गायोंके रहनेके स्थान) के पास ही अपने बछड़ोंको चराते॥ ३८॥ श्याम और राम कहीं बाँसुरी बजा रहे हैं, तो कहीं गुलेल या ढेलवाँससे ढेले या गोलियाँ फेंक रहे हैं। किसी समय अपने पैरोंके घुँघरूपर तान छेड़ रहे हैं तो कहीं बनावटी गाय और बैल बनकर खेल रहे हैं॥ ३९॥ एक ओर देखिये तो साँड़ बन-बनकर हँकड़ते हुए आपसमें लड़ रहे हैं तो दूसरी ओर मोर, कोयल, बंदर आदि पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ निकाल रहे हैं। परीक्षित्! इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् साधारण बालकोंके समान खेलते रहते॥ ४०॥

एक दिनकी बात है, श्याम और बलराम अपने प्रेमी सखा ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर बछड़े चरा रहे थे। उसी समय उन्हें मारनेकी नीयतसे एक दैत्य आया॥ ४१॥

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः।
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत्॥ ४२

गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम्।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह॥ ४३

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति।
देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः॥ ४४

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः॥ ४५

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥ ४६

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः श्रृंगमिव च्युतम्॥ ४७

स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक्।
आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली॥ ४८

कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः॥ ४९

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद्
गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।

भगवान्‌ने देखा कि वह बनावटी बछड़ेका रूप धारणकर बछड़ोंके झुंडमें मिल गया है। वे आँखोंके इशारेसे बलरामजीको दिखाते हुए धीरे-धीरे उसके पास पहुँच गये। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे दैत्यको तो पहचानते नहीं और उस हट्टे-कट्टे सुन्दर बछड़ेपर मुग्ध हो गये हैं॥ ४२॥ भगवान् श्रीकृष्णने पूँछके साथ उसके दोनों पिछले पैर पकड़कर आकाशमें घुमाया और मर जानेपर कैथके वृक्षपर पटक दिया। उसका लम्बा-तगड़ा दैत्यशरीर बहुत-से कैथके वृक्षोंको गिराकर स्वयं भी गिर पड़ा॥ ४३॥ यह देखकर ग्वालबालोंके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे 'वाह-वाह' करके प्यारे कन्हैयाकी प्रशंसा करने लगे। देवता भी बड़े आनन्दसे फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ ४४॥

परीक्षित्! जो सारे लोकोंके एकमात्र रक्षक हैं, वे ही श्याम और बलराम अब वत्सपाल (बछड़ोंके चरवाहे) बने हुए हैं। वे तड़के ही उठकर कलेवेकी सामग्री ले लेते और बछड़ोंको चराते हुए एक वनसे दूसरे वनमें घूमा करते॥ ४५॥ एक दिनकी बात है, सब ग्वालबाल अपने झुंड-के-झुंड बछड़ोंको पानी पिलानेके लिये जलाशयके तटपर ले गये। उन्होंने पहले बछड़ोंको जल पिलाया और फिर स्वयं भी पिया॥ ४६॥ ग्वालबालोंने देखा कि वहाँ एक बहुत बड़ा जीव बैठा हुआ है। वह ऐसा मालूम पड़ता था, मानो इन्द्रके वज्रसे कटकर कोई पहाड़का टुकड़ा गिरा हुआ है॥ ४७॥ ग्वालबाल उसे देखकर डर गये। वह 'बक' नामका एक बड़ा भारी असुर था, जो बगुलेका रूप धरके वहाँ आया था। उसकी चोंच बड़ी तीखी थी और वह स्वयं बड़ा बलवान् था। उसने झपटकर श्रीकृष्णको निगल लिया॥ ४८॥ जब बलराम आदि बालकोंने देखा कि वह बड़ा भारी बगुला श्रीकृष्णको निगल गया, तब उनकी वही गति हुई जो प्राण निकल जानेपर इन्द्रियोंकी होती है। वे अचेत हो गये॥ ४९॥ परीक्षित्! श्रीकृष्ण लोकपितामह ब्रह्माके भी पिता हैं। वे लीलासे ही गोपाल-बालक बने हुए हैं। जब वे बगुलेके तालुके नीचे पहुँचे, तब वे आगके समान

चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक-
स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत॥ ५०

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो-
र्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया
मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम्॥ ५१

तदा बकारिं सुरलोकवासिनः
समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः।
समीडिरे चानकशंखसंस्तवै-
स्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे॥ ५२

मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका
रामादयः प्राणमिवैन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः
प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः॥ ५३

श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः॥ ५४

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्।
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम्॥ ५५

अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतंगवत्॥ ५६

उसका तालु जलाने लगे। अतः उस दैत्यने श्रीकृष्णके शरीरपर बिना किसी प्रकारका घाव किये ही झटपट उन्हें उगल दिया और फिर बड़े क्रोधसे अपनी कठोर चोंचसे उनपर चोट करनेके लिये टूट पड़ा॥ ५०॥ कंसका सखा बकासुर अभी भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णपर झपट ही रहा था कि उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों ठोर पकड़ लिये और ग्वालबालोंके देखते-देखते खेल-ही-खेलमें उसे वैसे ही चीर डाला, जैसे कोई वीरण (गाँड़र, जिसकी जड़का खस होता है) को चीर डाले। इससे देवताओंको बड़ा आनन्द हुआ॥ ५१॥ सभी देवता भगवान् श्रीकृष्णपर नन्दनवनके बेला, चमेली आदिके फूल बरसाने लगे तथा नगारे, शंख आदि बजाकर एवं स्तोत्रोंके द्वारा उनको प्रसन्न करने लगे। यह सब देखकर सब-के-सब ग्वालबाल आश्चर्यचकित हो गये॥ ५२॥ जब बलराम आदि बालकोंने देखा कि श्रीकृष्ण बगुलेके मुँहसे निकलकर हमारे पास आ गये हैं, तब उन्हें ऐसा आनन्द हुआ, मानो प्राणोंके संचारसे इन्द्रियाँ सचेत और आनन्दित हो गयी हों। सबने भगवान्‌को अलग-अलग गले लगाया। इसके बाद अपने-अपने बछड़े हाँककर सब व्रजमें आये और वहाँ उन्होंने घरके लोगोंसे सारी घटना कह सुनायी॥ ५३॥

परीक्षित्! बकासुरके वधकी घटना सुनकर सब-के-सब गोपी-गोप आश्चर्यचकित हो गये। उन्हें ऐसा जान पड़ा, जैसे कन्हैया साक्षात् मृत्युके मुखसे ही लौटे हों। वे बड़ी उत्सुकता, प्रेम और आदरसे श्रीकृष्णको निहारने लगे। उनके नेत्रोंकी प्यास बढ़ती ही जाती थी, किसी प्रकार उन्हें तृप्ति न होती थी॥ ५४॥ वे आपसमें कहने लगे—'हाय! हाय!! यह कितने आश्चर्यकी बात है। इस बालकको कई बार मृत्युके मुँहमें जाना पड़ा। परन्तु जिन्होंने इसका अनिष्ट करना चाहा, उन्हींका अनिष्ट हुआ। क्योंकि उन्होंने पहलेसे दूसरोंका अनिष्ट किया था॥ ५५॥ यह सब होनेपर भी वे भयंकर असुर इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते। आते हैं इसे मार डालनेकी नीयतसे, किन्तु आगपर गिरकर पतिंगोंकी तरह उलटे स्वयं स्वाहा हो जाते हैं॥ ५६॥

अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित्।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत्॥ ५७

सच है, ब्रह्मवेत्ता महात्माओंके वचन कभी झूठे नहीं होते। देखो न, महात्मा गर्गाचार्यने जितनी बातें कही थीं, सब-की-सब सोलहों आने ठीक उतर रही हैं'॥ ५७॥

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥ ५८

नन्दबाबा आदि गोपगण इसी प्रकार बड़े आनन्दसे अपने श्याम और रामकी बातें किया करते। वे उनमें इतने तन्मय रहते कि उन्हें संसारके दुःख-संकटोंका कुछ पता ही न चलता॥ ५८॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥ ५९

इसी प्रकार श्याम और बलराम ग्वालबालोंके साथ कभी आँखमिचौनी खेलते, तो कभी पुल बाँधते। कभी बंदरोंकी भाँति उछलते-कूदते, तो कभी और कोई विचित्र खेल करते। इस प्रकारके बालोचित खेलोंसे उन दोनोंने व्रजमें अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे वत्सबकवधो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अघासुरका उद्धार

श्रीशुक उवाच

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयञ्छृंगरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! एक दिन नन्दनन्दन श्यामसुन्दर वनमें ही कलेवा करनेके विचारसे बड़े तड़के उठ गये और सिंगी बाजेकी मधुर मनोहर ध्वनिसे अपने साथी ग्वालबालोंको मनकी बात जनाते हुए उन्हें जगाया और बछड़ोंको आगे करके वे व्रज-मण्डलसे निकल पड़े॥ १॥

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा॥ २

श्रीकृष्णके साथ ही उनके प्रेमी सहस्रों ग्वालबाल सुन्दर छीके, बेंत, सिंगी और बाँसुरी लेकर तथा अपने सहस्रों बछड़ोंको आगे करके बड़ी प्रसन्नतासे अपने-अपने घरोंसे चल पड़े॥ २॥

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान्।
चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह॥ ३

उन्होंने श्रीकृष्णके अगणित बछड़ोंमें अपने-अपने बछड़े मिला दिये और स्थान-स्थानपर बालोचित खेल खेलते हुए विचरने लगे॥ ३॥

फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः।
काचगुंजामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन्॥ ४

यद्यपि सब-के-सब ग्वालबाल काँच, घुँघची, मणि और सुवर्णके गहने पहने हुए थे, फिर भी उन्होंने वृन्दावनके लाल-पीले-हरे फलोंसे, नयी-नयी कोंपलोंसे, गुच्छोंसे, रंग-बिरंगे फूलों और मोरपंखोंसे तथा गेरू आदि रंगीन धातुओंसे अपनेको सजा लिया॥ ४॥

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः॥ ५

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥ ६

केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृंगाणि केचन।
केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे॥ ७

विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधुहंसकैः।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥ ८

विकर्षन्तः कीशवालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु॥ ९

साकं भेकैर्विलंघन्तः सरित्प्रस्त्रवसम्प्लुताः।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥ १०

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुंजाः॥ ११

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।

कोई किसीका छीका चुरा लेता, तो कोई किसीकी बेंत या बाँसुरी। जब उन वस्तुओंके स्वामीको पता चलता, तब उन्हें लेनेवाला किसी दूसरेके पास दूर फेंक देता, दूसरा तीसरेके और तीसरा और भी दूर चौथेके पास। फिर वे हँसते हुए उन्हें लौटा देते॥ ५॥ यदि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण वनकी शोभा देखनेके लिये कुछ आगे बढ़ जाते, तो 'पहले मैं छुऊँगा, पहले मैं छुऊँगा'—इस प्रकार आपसमें होड़ लगाकर सब-के-सब उनकी ओर दौड़ पड़ते और उन्हें छू-छूकर आनन्दमग्न हो जाते॥ ६॥ कोई बाँसुरी बजा रहा है, तो कोई सिंगी ही फूँक रहा है। कोई-कोई भौंरोंके साथ गुनगुना रहे हैं, तो बहुत-से कोयलोंके स्वरमें स्वर मिलाकर 'कुहू-कुहू' कर रहे हैं॥ ७॥ एक ओर कुछ ग्वालबाल आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी छायाके साथ दौड़ लगा रहे हैं, तो दूसरी ओर कुछ हंसोंकी चालकी नकल करते हुए उनके साथ सुन्दर गतिसे चल रहे हैं । कोई बगुलेके पास उसीके समान आँखें मूँदकर बैठ रहे हैं, तो कोई मोरोंको नाचते देख उन्हींकी तरह नाच रहे हैं॥ ८॥ कोई-कोई बंदरोंकी पूँछ पकड़कर खींच रहे हैं, तो दूसरे उनके साथ इस पेड़से उस पेड़पर चढ़ रहे हैं। कोई-कोई उनके साथ मुँह बना रहे हैं, तो दूसरे उनके साथ एक डालसे दूसरी डालपर छलाँग मार रहे हैं॥ ९॥ बहुत-से ग्वालबाल तो नदीके कछारमें छपका खेल रहे हैं और उसमें फुदकते हुए मेढकोंके साथ स्वयं भी फुदक रहे हैं। कोई पानीमें अपनी परछाईं देखकर उसकी हँसी कर रहे हैं, तो दूसरे अपने शब्दकी प्रतिध्वनिको ही बुरा-भला कह रहे हैं॥ १०॥ भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी संतोंके लिये स्वयं ब्रह्मानन्दके मूर्तिमान् अनुभव हैं। दास्यभावसे युक्त भक्तोंके लिये वे उनके आराध्यदेव, परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर हैं। और माया-मोहित विषयान्धोंके लिये वे केवल एक मनुष्य-बालक हैं । उन्हीं भगवान्‌के साथ वे महान् पुण्यात्मा ग्वालबाल तरह-तरहके खेल खेल रहे हैं॥ ११॥ बहुत जन्मोंतक श्रम और कष्ट उठाकर जिन्होंने अपनी इन्द्रियों और अन्त:करणको वशमें कर लिया है, उन योगियोंके

स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥ १२

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर-
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते॥ १३

दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः
कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयो-
र्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये॥ १४

एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः
कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता
प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते॥ १५

इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः
स योजनायाममहाद्रिपीवरम्।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा
पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः॥ १६

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो
दर्याननान्तो गिरिशृंगदंष्ट्रः।
ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्वः
परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७

लिये भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी रज अप्राप्य है। वही भगवान् स्वयं जिन व्रजवासी ग्वालबालोंकी आँखोंके सामने रहकर सदा खेल खेलते हैं, उनके सौभाग्यकी महिमा इससे अधिक क्या कही जाय॥ १२॥

परीक्षित्! इसी समय अघासुर नामका महान् दैत्य आ धमका। उससे श्रीकृष्ण और ग्वालबालोंकी सुखमयी क्रीडा देखी न गयी। उसके हृदयमें जलन होने लगी। वह इतना भयंकर था कि अमृतपान करके अमर हुए देवता भी उससे अपने जीवनकी रक्षा करनेके लिये चिन्तित रहा करते थे और इस बातकी बाट देखते रहते थे कि किसी प्रकारसे इसकी मृत्युका अवसर आ जाय॥ १३॥ अघासुर पूतना और बकासुरका छोटा भाई तथा कंसका भेजा हुआ था। वह श्रीकृष्ण, श्रीदामा आदि ग्वालबालोंको देखकर मन-ही-मन सोचने लगा कि 'यही मेरे सगे भाई और बहिनको मारनेवाला है। इसलिये आज मैं इन ग्वालबालोंके साथ इसे मार डालूँगा॥ १४॥ जब ये सब मरकर मेरे उन दोनों भाई-बहिनोंके मृततर्पणकी तिलांजलि बन जायँगे, तब व्रजवासी अपने-आप मरे-जैसे हो जायँगे। सन्तान ही प्राणियोंके प्राण हैं। जब प्राण ही न रहेंगे, तब शरीर कैसे रहेगा? इसकी मृत्युसे व्रजवासी अपने-आप मर जायँगे'॥ १५॥ ऐसा निश्चय करके वह दुष्ट दैत्य अजगरका रूप धारण कर मार्गमें लेट गया। उसका वह अजगर-शरीर एक योजन लंबे बड़े पर्वतके समान विशाल एवं मोटा था। वह बहुत ही अद्भुत था। उसकी नीयत सब बालकोंको निगल जानेकी थी, इसलिये उसने गुफाके समान अपना बहुत बड़ा मुँह फाड़ रखा था॥ १६॥ उसका नीचेका होठ पृथ्वीसे और ऊपरका होठ बादलोंसे लग रहा था। उसके जबड़े कन्दराओंके समान थे और दाढ़ें पर्वतके शिखर-सी जान पड़ती थीं। मुँहके भीतर घोर अन्धकार था। जीभ एक चौड़ी लाल सड़क-सी दीखती थी। साँस आँधीके समान थी और आँखें दावानलके समान दहक रही थीं॥ १७॥

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम्।
व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया॥ १८

अघासुरका ऐसा रूप देखकर बालकोंने समझा कि यह भी वृन्दावनकी कोई शोभा है। वे कौतुकवश खेल-ही-खेलमें उत्प्रेक्षा करने लगे कि यह मानो अजगरका खुला हुआ मुँह है॥ १८॥

अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरः स्थितम्।
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥ १९

कोई कहता—'मित्रो! भला बतलाओ तो, यह जो हमारे सामने कोई जीव-सा बैठा है, यह हमें निगलनेके लिये खुले हुए किसी अजगरके मुँह-जैसा नहीं है?'॥ १९॥

सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद् घनम्।
अधराहनुवद् रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम्॥ २०

दूसरेने कहा—'सचमुच सूर्यकी किरणें पड़नेसे ये जो बादल लाल-लाल हो गये हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानो ठीक-ठीक इसका ऊपरी होठ ही हो। और उन्हीं बादलोंकी परछाईंसे यह जो नीचेकी भूमि कुछ लाल-लाल दीख रही है, वही इसका नीचेका होठ जान पड़ता है'॥ २०॥

प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।
तुंगशृंगालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥ २१

तीसरे ग्वालबालने कहा—'हाँ, सच तो है। देखो तो सही, क्या ये दायीं और बायीं ओरकी गिरि-कन्दराएँ अजगरके जबड़ोंकी होड़ नहीं करतीं? और ये ऊँची-ऊँची शिखर-पंक्तियाँ तो साफ-साफ इसकी दाढ़ें मालूम पड़ती हैं'॥ २१॥

आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति।
एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम्॥ २२

चौथेने कहा—'अरे भाई! यह लम्बी-चौड़ी सड़क तो ठीक अजगरकी जीभ-सरीखी मालूम पड़ती है और इन गिरिशृंगोंके बीचका अन्धकार तो उसके मुँहके भीतरी भागको भी मात करता है'॥ २२॥

दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद् भाति पश्यत।
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत्॥ २३

किसी दूसरे ग्वालबालने कहा—'देखो, देखो! ऐसा जान पड़ता है कि कहीं इधर जंगलमें आग लगी है। इसीसे यह गरम और तीखी हवा आ रही है। परन्तु अजगरकी साँसके साथ इसका क्या ही मेल बैठ गया है। और उसी आगसे जले हुए प्राणियोंकी दुर्गन्ध ऐसी जान पड़ती है, मानो अजगरके पेटमें मरे हुए जीवोंके मांसकी ही दुर्गन्ध हो'॥ २३॥

अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टा-
नयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं
वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः॥ २४

तब उन्हींमेंसे एकने कहा—'यदि हमलोग इसके मुँहमें घुस जायँ, तो क्या यह हमें निगल जायगा? अजी! यह क्या निगलेगा। कहीं ऐसा करनेकी ढिठाई की तो एक क्षणमें यह भी बकासुरके समान नष्ट हो जायगा। हमारा यह कन्हैया इसको छोड़ेगा थोड़े ही।' इस प्रकार कहते हुए वे ग्वालबाल बकासुरको मारनेवाले श्रीकृष्णका सुन्दर मुख देखते और ताली पीट-पीटकर हँसते हुए अघासुरके मुँहमें घुस गये॥ २४॥

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे॥ २५

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं
परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं
हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा॥ २६

तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान्।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः॥ २७

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं
न वा अमीषां च सतां विहिंसनम्।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य त-
ज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः॥ २८

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः।
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः॥ २९

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम्।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले॥ ३०

उन अनजान बच्चोंकी आपसमें की हुई भ्रमपूर्ण बातें सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि 'अरे, इन्हें तो सच्चा सर्प भी झूठा प्रतीत होता है!' परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण जान गये कि यह राक्षस है। भला, उनसे क्या छिपा रहता? वे तो समस्त प्राणियोंके हृदयमें ही निवास करते हैं। अब उन्होंने यह निश्चय किया कि अपने सखा ग्वालबालोंको उसके मुँहमें जानेसे बचा लें॥ २५॥ भगवान् इस प्रकार सोच ही रहे थे कि सब-के-सब ग्वालबाल बछड़ोंके साथ उस असुरके पेटमें चले गये। परन्तु अघासुरने अभी उन्हें निगला नहीं, इसका कारण यह था कि अघासुर अपने भाई बकासुर और बहिन पूतनाके वधकी याद करके इस बातकी बाट देख रहा था कि उनको मारनेवाले श्रीकृष्ण मुँहमें आ जायँ, तब सबको एक साथ ही निगल जाऊँ॥ २६॥ भगवान् श्रीकृष्ण सबको अभय देनेवाले हैं। जब उन्होंने देखा कि ये बेचारे ग्वालबाल—जिनका एकमात्र रक्षक मैं ही हूँ—मेरे हाथसे निकल गये और जैसे कोई तिनका उड़कर आगमें गिर पड़े, वैसे ही अपने-आप मृत्युरूप अघासुरकी जठराग्निके ग्रास बन गये, तब दैवकी इस विचित्र लीलापर भगवान्को बड़ा विस्मय हुआ और उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया॥ २७॥ वे सोचने लगे कि 'अब मुझे क्या करना चाहिये? ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे इस दुष्टकी मृत्यु भी हो जाय और इन संत-स्वभाव भोले-भाले बालकोंकी हत्या भी न हो? ये दोनों काम कैसे हो सकते हैं?' परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण भूत, भविष्य, वर्तमान—सबको प्रत्यक्ष देखते रहते हैं। उनके लिये यह उपाय जानना कोई कठिन न था। वे अपना कर्तव्य निश्चय करके स्वयं उसके मुँहमें घुस गये॥ २८॥ उस समय बादलोंमें छिपे हुए देवता भयवश 'हाय-हाय' पुकार उठे और अघासुरके हितैषी कंस आदि राक्षस हर्ष प्रकट करने लगे॥ २९॥

अघासुर बछड़ों और ग्वालबालोंके सहित भगवान् श्रीकृष्णको अपनी डाढ़ोंसे चबाकर चूर-चूर कर डालना चाहता था। परन्तु उसी समय अविनाशी श्रीकृष्णने देवताओंकी 'हाय-हाय' सुनकर उसके गलेमें अपने शरीरको बड़ी फुर्तीसे बढ़ा लिया॥ ३०॥

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरंगे पवनो निरुद्धो
मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः ॥ ३१

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ॥ ३२

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद् दिशो दश।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम्॥ ३३

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥ ३४

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमंगलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम्॥ ३५

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्॥ ३६

एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥ ३७

इसके बाद भगवान्‌ने अपने शरीरको इतना बड़ा कर लिया कि उसका गला ही रुँध गया। आँखें उलट गयीं। वह व्याकुल होकर बहुत ही छटपटाने लगा। साँस रुककर सारे शरीरमें भर गयी और अन्तमें उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर निकल गये॥ ३१॥ उसी मार्गसे प्राणोंके साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी शरीरसे बाहर हो गयीं। उसी समय भगवान् मुकुन्दने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे मरे हुए बछड़ों और ग्वालबालोंको जिला दिया और उन सबको साथ लेकर वे अघासुरके मुँहसे बाहर निकल आये॥ ३२॥ उस अजगरके स्थूल शरीरसे एक अत्यन्त अद्भुत और महान् ज्योति निकली, उस समय उस ज्योतिके प्रकाशसे दसों दिशाएँ प्रज्वलित हो उठीं। वह थोड़ी देरतक तो आकाशमें स्थित होकर भगवान्‌के निकलनेकी प्रतीक्षा करती रही। जब वे बाहर निकल आये, तब वह सब देवताओंके देखते-देखते उन्हींमें समा गयी॥ ३३॥ उस समय देवताओंने फूल बरसाकर, अप्सराओंने नाचकर, गन्धर्वोंने गाकर, विद्याधरोंने बाजे बजाकर, ब्राह्मणोंने स्तुति-पाठकर और पार्षदोंने जय-जय-कारके नारे लगाकर बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन किया। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने अघासुरको मारकर उन सबका बहुत बड़ा काम किया था॥ ३४॥ उन अद्भुत स्तुतियों, सुन्दर बाजों, मंगलमय गीतों, जय-जयकार और आनन्दोत्सवोंकी मंगलध्वनि ब्रह्म-लोकके पास पहुँच गयी। जब ब्रह्माजीने वह ध्वनि सुनी, तब वे बहुत ही शीघ्र अपने वाहनपर चढ़कर वहाँ आये और भगवान् श्रीकृष्णकी यह महिमा देखकर आश्चर्य चकित हो गये॥ ३५॥ परीक्षित्! जब वृन्दावनमें अजगरका वह चाम सूख गया, तब वह व्रजवासियोंके लिये बहुत दिनोंतक खेलनेकी एक अद्भुत गुफा-सी बना रहा॥ ३६॥ यह जो भगवान्‌ने अपने ग्वालबालोंको मृत्युके मुखसे बचाया था और अघासुरको मोक्ष-दान किया था, वह लीला भगवान्‌ने अपनी कुमार अवस्थामें अर्थात् पाँचवें वर्षमें ही की थी। ग्वालबालोंने उसे उसी समय देखा भी था, परन्तु पौगण्ड अवस्था अर्थात् छठे वर्षमें अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर व्रजमें उसका वर्णन किया॥ ३७॥

नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम्॥ ३८

अघासुर मूर्तिमान् अघ (पाप) ही था। भगवान्के स्पर्शमात्रसे उसके सारे पाप धुल गये और उसे उस सारूप्य-मुक्तिकी प्राप्ति हुई, जो पापियोंको कभी मिल नहीं सकती। परन्तु यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि मनुष्य-बालककी-सी लीला रचनेवाले ये वे ही परमपुरुष परमात्मा हैं, जो व्यक्त-अव्यक्त और कार्य-कारणरूप समस्त जगत्के एकमात्र विधाता हैं॥ ३८॥

सकृद् यदंगप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥ ३९

भगवान् श्रीकृष्णके किसी एक अंगकी भावनिर्मित प्रतिमा यदि ध्यानके द्वारा एक बार भी हृदयमें बैठा ली जाय तो वह सालोक्य, सामीप्य आदि गतिका दान करती है, जो भगवान्के बड़े-बड़े भक्तोंको मिलती है। भगवान् आत्मानन्दके नित्य साक्षात्कारस्वरूप हैं। माया उनके पासतक नहीं फटक पाती। वे ही स्वयं अघासुरके शरीरमें प्रवेश कर गये। क्या अब भी उसकी सद्गतिके विषयमें कोई सन्देह है?॥ ३९॥

सूत उवाच

इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः
श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम्।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं
वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः॥ ४०

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने ही राजा परीक्षित्को जीवन दान दिया था । उन्होंने जब अपने रक्षक एवं जीवनसर्वस्वका यह विचित्र चरित्र सुना, तब उन्होंने फिर श्रीशुकदेवजी महाराजसे उन्हींकी पवित्र लीलाके सम्बन्धमें प्रश्न किया। इसका कारण यह था कि भगवान्की अमृतमयी लीलाने परीक्षित्के चित्तको अपने वशमें कर रखा था॥ ४०॥

राजोवाच

ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत्।
यत् कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः॥ ४१

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! आपने कहा था कि ग्वालबालोंने भगवान्की की हुई पाँचवें वर्षकी लीला व्रजमें छठे वर्षमें जाकर कही। अब इस विषयमें आप कृपा करके यह बतलाइये कि एक समयकी लीला दूसरे समयमें वर्तमानकालीन कैसे हो सकती है?॥ ४१॥

तद् ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो।
नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा॥ ४२

महायोगी गुरुदेव! मुझे इस आश्चर्यपूर्ण रहस्यको जाननेके लिये बड़ा कौतूहल हो रहा है। आप कृपा करके बतलाइये। अवश्य ही इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी विचित्र घटनाओंको घटित करनेवाली मायाका कुछ-न-कुछ काम होगा। क्योंकि और किसी प्रकार ऐसा नहीं हो सकता॥ ४२॥

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः।
यत् पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम्॥ ४३

गुरुदेव! यद्यपि क्षत्रियोचित धर्म ब्राह्मणसेवासे विमुख होनेके कारण मैं अपराधी नाममात्रका क्षत्रिय हूँ, तथापि हमारा अहोभाग्य है कि हम आपके मुखारविन्दसे निरन्तर झरते हुए परम पवित्र मधुमय श्रीकृष्णलीलामृतका बार-बार पान कर रहे हैं॥ ४३॥

सूत उवाच

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणि-
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम॥ ४४

सूतजी कहते हैं— भगवान्‌के परम प्रेमी भक्तोंमें श्रेष्ठ शौनकजी! जब राजा परीक्षित्‌ने इस प्रकार प्रश्न किया, तब श्रीशुकदेवजीको भगवान्‌की वह लीला स्मरण हो आयी और उनकी समस्त इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण विवश होकर भगवान्‌की नित्यलीलामें खिंच गये। कुछ समयके बाद धीरे-धीरे श्रम और कष्टसे उन्हें बाह्यज्ञान हुआ। तब वे परीक्षित्‌से भगवान्‌की लीलाका वर्णन करने लगे॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

ब्रह्माजीका मोह और उसका नाश

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम।
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः॥ १

सतामयं सारभृतां निसर्गो
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्
स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता॥ २

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! तुम बड़े भाग्यवान् हो। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंमें तुम्हारा स्थान श्रेष्ठ है। तभी तो तुमने इतना सुन्दर प्रश्न किया है। यों तो तुम्हें बार-बार भगवान्‌की लीला-कथाएँ सुननेको मिलती हैं, फिर भी तुम उनके सम्बन्धमें प्रश्न करके उन्हें और भी सरस—और भी नूतन बना देते हो॥ १॥ रसिक संतोंकी वाणी, कान और हृदय भगवान्‌की लीलाके गान, श्रवण और चिन्तनके लिये ही होते हैं—उनका यह स्वभाव ही होता है कि वे क्षण-प्रतिक्षण भगवान्‌की लीलाओंको अपूर्व रस-मयी और नित्य-नूतन अनुभव करते रहें—ठीक वैसे ही, जैसे लम्पट पुरुषोंको स्त्रियोंकी चर्चामें नया-नया रस जान पड़ता है॥ २॥ परीक्षित्! तुम एकाग्र चित्तसे श्रवण करो। यद्यपि भगवान्‌की यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है, फिर भी मैं तुम्हें सुनाता हूँ। क्योंकि दयालु आचार्यगण अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त रहस्य भी बतला दिया करते हैं॥ ३॥

तथाघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान्।
सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत्॥ ४

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम्।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥ ५

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधार्दिताः।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम्॥ ६

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा॥ ७

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः॥ ८

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरंकुरैः फलैः।
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः॥ ९

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः॥ १०

यह तो मैं तुमसे कह ही चुका हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने साथी ग्वालबालोंको मृत्युरूप अघासुरके मुँहसे बचा लिया। इसके बाद वे उन्हें यमुनाके पुलिनपर ले आये और उनसे कहने लगे— ॥ ४ ॥ 'मेरे प्यारे मित्रो! यमुनाजीका यह पुलिन अत्यन्त रमणीय है। देखो तो सही, यहाँकी बालू कितनी कोमल और स्वच्छ है। हमलोगोंके लिये खेलनेकी तो यहाँ सभी सामग्री विद्यमान है। देखो, एक ओर रंग-बिरंगे कमल खिले हुए हैं और उनकी सुगन्धसे खिंचकर भौंरे गुंजार कर रहे हैं; तो दूसरी ओर सुन्दर-सुन्दर पक्षी बड़ा ही मधुर कलरव कर रहे हैं, जिसकी प्रतिध्वनिसे सुशोभित वृक्ष इस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे हैं॥ ५ ॥ अब हमलोगोंको यहाँ भोजन कर लेना चाहिये; क्योंकि दिन बहुत चढ़ आया है और हमलोग भूखसे पीड़ित हो रहे हैं। बछड़े पानी पीकर समीप ही धीरे-धीरे हरी-हरी घास चरते रहें'॥ ६ ॥

ग्वालबालोंने एक स्वरसे कहा—'ठीक है, ठीक है!' उन्होंने बछड़ोंको पानी पिलाकर हरी-हरी घासमें छोड़ दिया और अपने-अपने छीके खोल-खोलकर भगवान्के साथ बड़े आनन्दसे भोजन करने लगे॥ ७ ॥ सबके बीचमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठ गये। उनके चारों ओर ग्वालबालोंने बहुत-सी मण्डलाकार पंक्तियाँ बना लीं और एक-से-एक सटकर बैठ गये। सबके मुँह श्रीकृष्णकी ओर थे और सबकी आँखें आनन्दसे खिल रही थीं। वन-भोजनके समय श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए ग्वालबाल ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो कमलकी कर्णिकाके चारों ओर उसकी छोटी-बड़ी पँखुड़ियाँ सुशोभित हो रही हों॥ ८ ॥ कोई पुष्प तो कोई पत्ते और कोई-कोई पल्लव, अंकुर, फल, छीके, छाल एवं पत्थरोंके पात्र बनाकर भोजन करने लगे॥ ९ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और ग्वालबाल सभी परस्पर अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न रुचिका प्रदर्शन करते। कोई किसीको हँसा देता, तो कोई स्वयं ही हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता। इस प्रकार वे सब भोजन करने लगे॥ १० ॥

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः
शृंगवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं
तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो
हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे
यज्ञभुग् बालकेलिः ॥ ११

भारतैवं वत्सपेषु भुंजानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥ १२

तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम्।
मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम्॥ १३

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान्।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥ १४

अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो
मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मंजु महित्वमन्यदपि
तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्
खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः
प्राप्तः परं विस्मयम्॥ १५

(उस समय श्रीकृष्णकी छटा सबसे निराली थी।) उन्होंने मुरलीको तो कमरकी फेंटमें आगेकी ओर खोंस लिया था। सींगी और बेंत बगलमें दबा लिये थे। बायें हाथमें बड़ा ही मधुर घृतमिश्रित दही-भातका ग्रास था और अँगुलियोंमें अदरक, नीबू आदिके अचार-मुरब्बे दबा रखे थे। ग्वालबाल उनको चारों ओरसे घेरकर बैठे हुए थे और वे स्वयं सबके बीचमें बैठकर अपनी विनोदभरी बातोंसे अपने साथी ग्वालबालोंको हँसाते जा रहे थे। जो समस्त यज्ञोंके एकमात्र भोक्ता हैं, वे ही भगवान् ग्वालबालोंके साथ बैठकर इस प्रकार बाल-लीला करते हुए भोजन कर रहे थे और स्वर्गके देवता आश्चर्यचकित होकर यह अद्भुत लीला देख रहे थे॥ ११॥

भरतवंशशिरोमणे! इस प्रकार भोजन करते-करते ग्वालबाल भगवान्की इस रसमयी लीलामें तन्मय हो गये। उसी समय उनके बछड़े हरी-हरी घासके लालचसे घोर जंगलमें बड़ी दूर निकल गये॥ १२॥ जब ग्वालबालोंका ध्यान उस ओर गया, तब तो वे भयभीत हो गये। उस समय अपने भक्तोंके भयको भगा देनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मेरे प्यारे मित्रो! तुमलोग भोजन करना बंद मत करो। मैं अभी बछड़ोंको लिये आता हूँ'॥ १३॥ ग्वालबालोंसे इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें दही-भातका कौर लिये ही पहाड़ों, गुफाओं, कुंजों एवं अन्यान्य भयंकर स्थानोंमें अपने तथा साथियोंके बछड़ोंको ढूँढ़ने चल दिये॥ १४॥ परीक्षित्! ब्रह्माजी पहलेसे ही आकाशमें उपस्थित थे। प्रभुके प्रभावसे अघासुरका मोक्ष देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा कि लीलासे मनुष्य-बालक बने हुए भगवान् श्रीकृष्णकी कोई और मनोहर महिमामयी लीला देखनी चाहिये। ऐसा सोचकर उन्होंने पहले तो बछड़ोंको और भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर ग्वाल-बालोंको भी, अन्यत्र ले जाकर रख दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये। अन्ततः वे जड़ कमलकी ही तो सन्तान हैं॥ १५॥

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः॥ १६

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित्।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह॥ १७

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥ १८

यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपु-
र्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग्
यावद् विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो
यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः
सर्वस्वरूपो बभौ॥ १९

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम्॥ २०

तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः।
तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान्॥ २१

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्।

भगवान् श्रीकृष्ण बछड़े न मिलनेपर यमुनाजीके पुलिनपर लौट आये, परन्तु यहाँ क्या देखते हैं कि ग्वालबाल भी नहीं हैं। तब उन्होंने वनमें घूम-घूमकर चारों ओर उन्हें ढूँढ़ा॥ १६॥ परन्तु जब ग्वालबाल और बछड़े उन्हें कहीं न मिले, तब वे तुरंत जान गये कि यह सब ब्रह्माकी करतूत है। वे तो सारे विश्वके एकमात्र ज्ञाता हैं॥ १७॥ अब भगवान् श्रीकृष्णने बछड़ों और ग्वालबालोंकी माताओंको तथा ब्रह्माजीको भी आनन्दित करनेके लिये अपने-आपको ही बछड़ों और ग्वालबालों—दोनोंके रूपमें बना लिया*। क्योंकि वे ही तो सम्पूर्ण विश्वके कर्ता सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं॥ १८॥ परीक्षित्! वे बालक और बछड़े संख्यामें जितने थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे, उनके हाथ-पैर जैसे-जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ, सिंगी, बाँसुरी, पत्ते और छीके थे, जैसे और जितने वस्त्राभूषण थे, उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्थाएँ जैसी थीं, जिस प्रकार वे खाते-पीते और चलते थे, ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उस समय 'यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है'—यह वेदवाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी॥ १९॥ सर्वात्मा भगवान् स्वयं ही बछड़े बन गये और स्वयं ही ग्वालबाल । अपने आत्मस्वरूप बछड़ोंको अपने आत्मस्वरूप ग्वालबालोंके द्वारा घेरकर अपने ही साथ अनेकों प्रकारके खेल खेलते हुए उन्होंने व्रजमें प्रवेश किया॥ २०॥ परीक्षित्! जिस ग्वालबालके जो बछड़े थे, उन्हें उसी ग्वालबालके रूपसे अलग-अलग ले जाकर उसकी बाखलमें घुसा दिया और विभिन्न बालकोंके रूपमें उनके भिन्न-भिन्न घरोंमें चले गये॥ २१॥

ग्वालबालोंकी माताएँ बाँसुरीकी तान सुनते ही जल्दीसे दौड़ आयीं। ग्वालबाल बने हुए परब्रह्म श्रीकृष्णको अपने बच्चे समझकर हाथोंसे उठाकर

* भगवान् सर्वसमर्थ हैं। वे ब्रह्माजीके चुराये हुए ग्वालबाल और बछड़ोंको ला सकते थे। किन्तु इससे ब्रह्माजीका मोह दूर न होता और वे भगवान्की उस दिव्य मायाका ऐश्वर्य न देख सकते, जिसने उनके विश्वकर्ता होनेके अभिमानको नष्ट किया। इसीलिये भगवान् उन्हीं ग्वालबाल और बछड़ोंको न लाकर स्वयं ही वैसे ही एवं उतने ही ग्वालबाल और बछड़े बन गये।

स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्॥ २२

ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लंकाररक्षातिलकाशनादिभिः ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः॥ २३

गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुंकारघोषैः परिहूतसंगतान्।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः॥ २४

गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना॥ २५

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्।
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्॥ २६

इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः॥ २७

एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्।
पंचषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः॥ २८

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम्।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम्॥ २९

उन्होंने जोरसे हृदयसे लगा लिया। वे अपने स्तनोंसे वात्सल्य-स्नेहकी अधिकताके कारण सुधासे भी मधुर और आसवसे भी मादक चुचुआता हुआ दूध उन्हें पिलाने लगीं॥ २२॥ परीक्षित्! इसी प्रकार प्रतिदिन सन्ध्यासमय भगवान् श्रीकृष्ण उन ग्वालबालोंके रूपमें वनसे लौट आते और अपनी बालसुलभ लीलाओंसे माताओंको आनन्दित करते। वे माताएँ उन्हें उबटन लगातीं, नहलातीं, चन्दनका लेप करतीं और अच्छे-अच्छे वस्त्रों तथा गहनोंसे सजातीं। दोनों भौंहोंके बीचमें डीठसे बचानेके लिये काजलका डिठौना लगा देतीं तथा भोजन करातीं और तरह-तरहसे बड़े लाड़-प्यारसे उनका लालन-पालन करतीं॥ २३॥ ग्वालिनोंके समान गौएँ भी जब जंगलोंमेंसे चरकर जल्दी-जल्दी लौटतीं और उनकी हुंकार सुनकर उनके प्यारे बछड़े दौड़कर उनके पास आ जाते, तब वे बार-बार उन्हें अपनी जीभसे चाटतीं और अपना दूध पिलातीं । उस समय स्नेहकी अधिकताके कारण उनके थनोंसे स्वयं ही दूधकी धारा बहने लगती॥ २४॥ इन गायों और ग्वालिनोंका मातृभाव पहले-जैसा ही ऐश्वर्यज्ञानरहित और विशुद्ध था। हाँ, अपने असली पुत्रोंकी अपेक्षा इस समय उनका स्नेह अवश्य अधिक था। इसी प्रकार भगवान् भी उनके पहले पुत्रोंके समान ही पुत्रभाव दिखला रहे थे, परन्तु भगवान्में उन बालकोंके जैसा मोहका भाव नहीं था कि मैं इनका पुत्र हूँ॥ २५॥ अपने-अपने बालकोंके प्रति व्रज-वासियोंकी स्नेह-लता दिन-प्रतिदिन एक वर्षतक धीरे-धीरे बढ़ती ही गयी। यहाँतक कि पहले श्रीकृष्णमें उनका जैसा असीम और अपूर्व प्रेम था, वैसा ही अपने इन बालकोंके प्रति भी हो गया॥ २६॥ इस प्रकार सर्वात्मा श्रीकृष्ण बछड़े और ग्वालबालोंके बहाने गोपाल बनकर अपने बालकरूपसे वत्सरूपका पालन करते हुए एक वर्षतक वन और गोष्ठमें क्रीडा करते रहे॥ २७॥

जब एक वर्ष पूरा होनेमें पाँच-छः रातें शेष थीं, तब एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ बछड़ोंको चराते हुए वनमें गये॥ २८॥ उस समय गौएँ गोवर्धनकी चोटीपर घास चर रही थीं। वहाँसे उन्होंने व्रजके पास ही घास चरते हुए बहुत दूर अपने बछड़ोंको देखा॥ २९॥

दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छो-
ऽगाद्धुंकृतैरास्रुपया जवेन॥ ३०

बछड़ोंको देखते ही गौओंका वात्सल्य-स्नेह उमड़ आया। वे अपने-आपकी सुध-बुध खो बैठीं और ग्वालोंके रोकनेकी कुछ भी परवा न कर जिस मार्गसे वे न जा सकते थे, उस मार्गसे हुंकार करती हुई बड़े वेगसे दौड़ पड़ीं। उस समय उनके थनोंसे दूध बहता जाता था और उनकी गरदनें सिकुड़कर डीलसे मिल गयी थीं। वे पूँछ तथा सिर उठाकर इतने वेगसे दौड़ रही थीं कि मालूम होता था मानो उनके दो ही पैर हैं॥ ३० ॥

समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्।
गिलन्त्य इव चांगानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः॥ ३१

जिन गौओंके और भी बछड़े हो चुके थे, वे भी गोवर्धनके नीचे अपने पहले बछड़ोंके पास दौड़ आयीं और उन्हें स्नेहवश अपने-आप बहता हुआ दूध पिलाने लगीं। उस समय वे अपने बच्चोंका एक-एक अंग ऐसे चावसे चाट रही थीं, मानो उन्हें अपने पेटमें रख लेंगी॥ ३१ ॥

गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान्॥ ३२

गोपोंने उन्हें रोकनेका बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ रहा। उन्हें अपनी विफलतापर कुछ लज्जा और गायोंपर बड़ा क्रोध आया। जब वे बहुत कष्ट उठाकर उस कठिन मार्गसे उस स्थानपर पहुँचे, तब उन्होंने बछड़ोंके साथ अपने बालकोंको भी देखा॥ ३२ ॥

तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते॥ ३३

अपने बच्चोंको देखते ही उनका हृदय प्रेमरससे सराबोर हो गया। बालकोंके प्रति अनुरागकी बाढ़ आ गयी, उनका क्रोध न जाने कहाँ हवा हो गया। उन्होंने अपने-अपने बालकोंको गोदमें उठाकर हृदयसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघकर अत्यन्त आनन्दित हुए॥ ३३ ॥

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः॥ ३४

बूढ़े गोपोंको अपने बालकोंके आलिंगनसे परम आनन्द प्राप्त हुआ। वे निहाल हो गये। फिर बड़े कष्टसे उन्हें छोड़कर धीरे-धीरे वहाँसे गये। जानेके बाद भी बालकोंके और उनके आलिंगनके स्मरणसे उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहते रहे॥ ३४ ॥

व्रजस्य रामः प्रेमर्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम्।
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत्॥ ३५

बलरामजीने देखा कि व्रजवासी गोप, गौएँ और ग्वालिनोंकी उन सन्तानोंपर भी, जिन्होंने अपनी माका दूध पीना छोड़ दिया है, क्षण-प्रतिक्षण प्रेम-सम्पत्ति और उसके अनुरूप उत्कण्ठा बढ़ती ही जा रही है, तब वे विचारमें पड़ गये, क्योंकि उन्हें इसका कारण मालूम न था॥ ३५ ॥

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥ ३६

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥ ३७

इति संचिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि।
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः॥ ३८

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत्॥ ३९

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।
पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम्॥ ४०

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि।
मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः॥ ४१

इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥ ४२

एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथंचन॥ ४३

'यह कैसी विचित्र बात है! सर्वात्मा श्रीकृष्णमें व्रजवासियोंका और मेरा जैसा अपूर्व स्नेह है, वैसा ही इन बालकों और बछड़ोंपर भी बढ़ता जा रहा है॥ ३६॥ यह कौन-सी माया है? कहाँसे आयी है? यह किसी देवताकी है, मनुष्यकी है अथवा असुरोंकी? परन्तु क्या ऐसा भी सम्भव है? नहीं-नहीं, यह तो मेरे प्रभुकी ही माया है। और किसीकी मायामें ऐसी सामर्थ्य नहीं, जो मुझे भी मोहित कर ले'॥ ३७॥ बलरामजीने ऐसा विचार करके ज्ञानदृष्टिसे देखा, तो उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि इन सब बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें केवल श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं॥ ३८॥ तब उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'भगवन्! ये ग्वालबाल और बछड़े न देवता हैं और न तो कोई ऋषि ही। इन भिन्न-भिन्न रूपोंका आश्रय लेनेपर भी आप अकेले ही इन रूपोंमें प्रकाशित हो रहे हैं। कृपया स्पष्ट करके थोड़ेमें ही यह बतला दीजिये कि आप इस प्रकार बछड़े, बालक, सिंगी, रस्सी आदिके रूपमें अलग-अलग क्यों प्रकाशित हो रहे हैं?' तब भगवान्ने ब्रह्माकी सारी करतूत सुनायी और बलरामजीने सब बातें जान लीं॥ ३९॥

परीक्षित्! तबतक ब्रह्माजी ब्रह्मलोकसे व्रजमें लौट आये। उनके कालमानसे अबतक केवल एक त्रुटि (जितनी देरमें तीखी सूईसे कमलकी पँखुड़ी छिदे) समय व्यतीत हुआ था। उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण ग्वालबाल और बछड़ोंके साथ एक सालसे पहलेकी भाँति ही क्रीडा कर रहे हैं॥ ४०॥ वे सोचने लगे—'गोकुलमें जितने भी ग्वालबाल और बछड़े थे, वे तो मेरी मायामयी शय्यापर सो रहे हैं—उनको तो मैंने अपनी मायासे अचेत कर दिया था; वे तबसे अबतक सचेत नहीं हुए॥ ४१॥ तब मेरी मायासे मोहित ग्वालबाल और बछड़ोंके अतिरिक्त ये उतने ही दूसरे बालक तथा बछड़े कहाँसे आ गये, जो एक सालसे भगवान्के साथ खेल रहे हैं?॥ ४२॥ ब्रह्माजीने दोनों स्थानोंपर दोनोंको देखा और बहुत देरतक ध्यान करके अपनी ज्ञानदृष्टिसे उनका रहस्य खोलना चाहा; परन्तु इन दोनोंमें कौन-से पहलेके ग्वालबाल हैं और कौन-से पीछे बना लिये गये हैं, इनमेंसे कौन सच्चे हैं और कौन बनावटी—यह बात वे किसी प्रकार न समझ सके॥ ४३॥

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥ ४४

तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युंजतः॥ ४५

तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥ ४६

चतुर्भुजाः शंखचक्रगदाराजीवपाणयः।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥ ४७

श्रीवत्सांगददोरत्नकम्बुकंकणपाणयः।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्रांगुलीयकैः॥ ४८

आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः॥ ४९

चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापांगवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥ ५०

आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः॥ ५१

भगवान् श्रीकृष्णकी मायामें तो सभी मुग्ध हो रहे हैं, परन्तु कोई भी माया-मोह भगवान्का स्पर्श नहीं कर सकता। ब्रह्माजी उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णको अपनी मायासे मोहित करने चले थे। किन्तु उनको मोहित करना तो दूर रहा, वे अजन्मा होनेपर भी अपनी ही मायासे अपने-आप मोहित हो गये॥ ४४॥ जिस प्रकार रातके घोर अन्धकारमें कुहरेके अन्धकारका और दिनके प्रकाशमें जुगनूके प्रकाशका पता नहीं चलता, वैसे ही जब क्षुद्र पुरुष महापुरुषोंपर अपनी मायाका प्रयोग करते हैं, तब वह उनका तो कुछ बिगाड़ नहीं सकती, अपना ही प्रभाव खो बैठती है॥ ४५॥

ब्रह्माजी विचार कर ही रहे थे कि उनके देखते-देखते उसी क्षण सभी ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी पड़ने लगे। सब-के-सब सजल जलधरके समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, शंख, चक्र, गदा और पद्मसे युक्त—चतुर्भुज। सबके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल और कण्ठोंमें मनोहर हार तथा वनमालाएँ शोभायमान हो रही थीं॥ ४६-४७॥ उनके वक्ष:स्थलपर सुवर्णकी सुनहली रेखा—श्रीवत्स, बाहुओंमें बाजूबंद, कलाइयोंमें शंखाकार रत्नोंसे जड़े कंगन, चरणोंमें नूपुर और कड़े, कमरमें करधनी तथा अँगुलियोंमें अँगूठियाँ जगमगा रही थीं॥ ४८॥ वे नखसे शिखतक समस्त अंगोंमें कोमल और नूतन तुलसीकी मालाएँ, जो उन्हें बड़े भाग्यशाली भक्तोंने पहनायी थीं, धारण किये हुए थे॥ ४९॥ उनकी मुसकान चाँदनीके समान उज्ज्वल थी और रतनारे नेत्रोंकी कटाक्षपूर्ण चितवन बड़ी ही मधुर थी। ऐसा जान पड़ता था मानो वे इन दोनोंके द्वारा सत्त्वगुण और रजोगुणको स्वीकार करके भक्त-जनोंके हृदयमें शुद्ध लालसाएँ जगाकर उनको पूर्ण कर रहे हैं॥ ५०॥ ब्रह्माजीने यह भी देखा कि उन्हींके-जैसे दूसरे ब्रह्मासे लेकर तृणतक सभी चराचर जीव मूर्तिमान् होकर नाचते-गाते अनेक प्रकारकी पूजा-सामग्रीसे अलग-अलग भगवान्के उन सब रूपोंकी उपासना कर रहे हैं॥ ५१॥

अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥ ५२

कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥ ५३

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥ ५४

एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५५

ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५६

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ॥ ५७

उन्हें अलग-अलग अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ, माया-विद्या आदि विभूतियाँ और महत्तत्त्व आदि चौबीसों तत्त्व चारों ओरसे घेरे हुए हैं ॥ ५२ ॥ प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला काल, उसके परिणामका कारण स्वभाव, वासनाओंको जगानेवाला संस्कार, कामनाएँ, कर्म, विषय और फल—सभी मूर्तिमान् होकर भगवान्के प्रत्येक रूपकी उपासना कर रहे हैं। भगवान्की सत्ता और महत्ताके सामने उन सभीकी सत्ता और महत्ता अपना अस्तित्व खो बैठी थी ॥ ५३ ॥ ब्रह्माजीने यह भी देखा कि वे सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके द्वारा सीमित नहीं हैं, त्रिकालाबाधित सत्य हैं। वे सब-के-सब स्वयंप्रकाश और केवल अनन्त आनन्दस्वरूप हैं। उनमें जड़ता अथवा चेतनताका भेदभाव नहीं है। वे सब-के-सब एक-रस हैं। यहाँतक कि उपनिषद्दर्शी तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टि भी उनकी अनन्त महिमाका स्पर्श नहीं कर सकती ॥ ५४ ॥ इस प्रकार ब्रह्माजीने एक साथ ही देखा कि वे सब-के-सब उन परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णके ही स्वरूप हैं, जिनके प्रकाशसे यह सारा चराचर जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥ ५५ ॥

यह अत्यन्त आश्चर्यमय दृश्य देखकर ब्रह्माजी तो चकित रह गये। उनकी ग्यारहों इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन) क्षुब्ध एवं स्तब्ध रह गयीं। वे भगवान्के तेजसे निस्तेज होकर मौन हो गये। उस समय वे ऐसे स्तब्ध होकर खड़े रह गये, मानो व्रजके अधिष्ठातृ-देवताके पास एक पुतली खड़ी हो ॥ ५६ ॥ परीक्षित्! भगवान्का स्वरूप तर्कसे परे है। उसकी महिमा असाधारण है। वह स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप और मायासे अतीत है। वेदान्त भी साक्षात्‌रूपसे उसका वर्णन करनेमें असमर्थ है, इसलिये उससे भिन्नका निषेध करके आनन्द-स्वरूप ब्रह्मका किसी प्रकार कुछ संकेत करता है। यद्यपि ब्रह्माजी समस्त विद्याओंके अधिपति हैं, तथापि भगवान्के दिव्यस्वरूपको वे तनिक भी न समझ सके कि यह क्या है। यहाँतक कि वे भगवान्के उन महिमामय रूपोंको देखनेमें भी असमर्थ हो गये। उनकी आँखें मुँद गयीं। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माके इस मोह और असमर्थताको जानकर बिना किसी प्रयासके तुरंत अपनी मायाका परदा हटा दिया ॥ ५७ ॥

ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना॥ ५८

सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरः स्थितम्।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम्॥ ५९

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम्॥ ६०

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥ ६१

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम्॥ ६२

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन्।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः॥ ६३

इससे ब्रह्माजीको बाह्यज्ञान हुआ। वे मानो मरकर फिर जी उठे। सचेत होकर उन्होंने ज्यों-त्यों करके बड़े कष्टसे अपने नेत्र खोले। तब कहीं उन्हें अपना शरीर और यह जगत् दिखायी पड़ा॥ ५८॥ फिर ब्रह्माजी जब चारों ओर देखने लगे, तब पहले दिशाएँ और उसके बाद तुरंत ही उनके सामने वृन्दावन दिखायी पड़ा। वृन्दावन सबके लिये एक-सा प्यारा है। जिधर देखिये, उधर ही जीवोंको जीवन देनेवाले फल और फूलोंसे लदे हुए, हरे-हरे पत्तोंसे लहलहाते हुए वृक्षोंकी पाँतें शोभा पा रही हैं॥ ५९॥ भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि होनेके कारण वृन्दावनधाममें क्रोध, तृष्णा आदि दोष प्रवेश नहीं कर सकते और वहाँ स्वभावसे ही परस्पर दुस्त्यज वैर रखनेवाले मनुष्य और पशु-पक्षी भी प्रेमी मित्रोंके समान हिल-मिलकर एक साथ रहते हैं॥ ६०॥ ब्रह्माजीने वृन्दावनका दर्शन करनेके बाद देखा कि अद्वितीय परब्रह्म गोपवंशके बालकका-सा नाट्य कर रहा है। एक होनेपर भी उसके सखा हैं, अनन्त होनेपर भी वह इधर-उधर घूम रहा है और उसका ज्ञान अगाध होनेपर भी वह अपने ग्वालबाल और बछड़ोंको ढूँढ़ रहा है। ब्रह्माजीने देखा कि जैसे भगवान् श्रीकृष्ण पहले अपने हाथमें दही-भातका कौर लिये उन्हें ढूँढ़ रहे थे, वैसे ही अब भी अकेले ही उनकी खोजमें लगे हैं॥ ६१॥ भगवान्‌को देखते ही ब्रह्माजी अपने वाहन हंसपरसे कूद पड़े और सोनेके समान चमकते हुए अपने शरीरसे पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिर पड़े। उन्होंने अपने चारों मुकुटोंके अग्रभागसे भगवान्‌के चरण-कमलोंका स्पर्श करके नमस्कार किया और आनन्दके आँसुओंकी धारासे उन्हें नहला दिया॥ ६२॥ वे भगवान् श्रीकृष्णकी पहले देखी हुई महिमाका बार-बार स्मरण करते, उनके चरणोंपर गिरते और उठ-उठकर फिर-फिर गिर पड़ते। इसी प्रकार बहुत देरतक वे भगवान्‌के चरणोंमें ही पड़े रहे॥ ६३॥

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने
मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
कृतांजलिः प्रश्रयवान् समाहितः
सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥ ६४

फिर धीरे-धीरे उठे और अपने नेत्रोंके आँसू पोंछे। प्रेम और मुक्तिके एकमात्र उद्गम भगवान्‌को देखकर उनका सिर झुक गया। वे काँपने लगे। अंजलि बाँधकर बड़ी नम्रता और एकाग्रताके साथ गद्गद वाणीसे वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ ६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुंजावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥ १

ब्रह्माजीने स्तुति की—प्रभो! एकमात्र आप ही स्तुति करनेयोग्य हैं। मैं आपके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ। आपका यह शरीर वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है, इसपर स्थिर बिजलीके समान झिलमिल-झिलमिल करता हुआ पीताम्बर शोभा पाता है, आपके गलेमें घुँघचीकी माला, कानोंमें मकराकृति कुण्डल तथा सिरपर मोरपंखोंका मुकुट है, इन सबकी कान्तिसे आपके मुखपर अनोखी छटा छिटक रही है। वक्षःस्थलपर लटकती हुई वनमाला और नन्ही-सी हथेलीपर दही-भातका कौर। बगलमें बेंत और सिंगी तथा कमरकी फेंटमें आपकी पहचान बतानेवाली बाँसुरी शोभा पा रही है। आपके कमल-से सुकोमल परम सुकुमार चरण और यह गोपाल-बालकका सुमधुर वेष। (मैं और कुछ नहीं जानता; बस, मैं तो इन्हीं चरणोंपर निछावर हूँ) ॥ १ ॥ स्वयं-प्रकाश परमात्मन्! आपका यह श्रीविग्रह भक्तजनोंकी लालसा-अभिलाषा पूर्ण करनेवाला है। यह आपकी चिन्मयी इच्छाका मूर्तिमान् स्वरूप मुझपर आपका साक्षात् कृपा-प्रसाद है। मुझे अनुगृहीत करनेके लिये ही आपने इसे प्रकट किया है। कौन कहता है कि यह पंचभूतोंकी रचना है? प्रभो! यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है। मैं या और कोई समाधि लगाकर भी आपके इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता। फिर आत्मा-नन्दानुभवस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको तो कोई एकाग्रमनसे भी कैसे जान सकता है॥ २॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥ २

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥ ३

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥ ४

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥ ५

तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥ ६

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।

प्रभो! जो लोग ज्ञानके लिये प्रयत्न न करके अपने स्थानमें ही स्थित रहकर केवल सत्संग करते हैं और आपके प्रेमी संत पुरुषोंके द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाका, जो उन लोगोंके पास रहनेसे अपने-आप सुननेको मिलती है, शरीर, वाणी और मनसे विनयावनत होकर सेवन करते हैं—यहाँतक कि उसे ही अपना जीवन बना लेते हैं, उसके बिना जी ही नहीं सकते—प्रभो! यद्यपि आपपर त्रिलोकीमें कोई कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकता, फिर भी वे आपपर विजय प्राप्त कर लेते हैं, आप उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं॥ ३॥ भगवन्! आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूलस्रोत— उद्गम है। जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस, क्लेश-ही क्लेश हाथ लगता है, और कुछ नहीं—जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं॥ ४॥

हे अच्युत! हे अनन्त! इस लोकमें पहले भी बहुत-से योगी हो गये हैं। जब उन्हें योगादिके द्वारा आपकी प्राप्ति न हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म आपके चरणोंमें समर्पित कर दिये। उन समर्पित कर्मोंसे तथा आपकी लीला-कथासे उन्हें आपकी भक्ति प्राप्त हुई। उस भक्तिसे ही आपके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने बड़ी सुगमतासे आपके परमपदकी प्राप्ति कर ली॥ ५॥ हे अनन्त! आपके सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपोंका ज्ञान कठिन होनेपर भी निर्गुण स्वरूपकी महिमा इन्द्रियोंका प्रत्याहार करके शुद्धान्तःकरणसे जानी जा सकती है। (जाननेकी प्रक्रिया यह है कि) विशेष आकारके परित्यागपूर्वक आत्माकार अन्तःकरणका साक्षात्कार किया जाय। यह आत्माकारता घट-पटादि रूपके समान ज्ञेय नहीं है, प्रत्युत आवरणका भंगमात्र है। यह साक्षात्कार 'यह ब्रह्म है', 'मैं ब्रह्मको जानता हूँ' इस प्रकार नहीं, किन्तु स्वयंप्रकाश रूपसे ही होता है॥ ६॥ परन्तु भगवन्! जिन समर्थ पुरुषोंने अनेक जन्मोंतक परिश्रम करके पृथ्वीका एक-एक परमाणु, आकाशके हिमकण (ओसकी बूँदें) तथा उसमें चमकनेवाले नक्षत्र

कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
भूर्पांसवः खे मिहिका द्युभासः॥ ७

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुंजान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥ ८

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये
परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं
ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ॥ ९

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति॥ १०

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥ ११

एवं तारोंतकको गिन डाला है—उनमें भी भला, ऐसा कौन हो सकता है जो आपके सगुण स्वरूपके अनन्त गुणोंको गिन सके? प्रभो! आप केवल संसारके कल्याणके लिये ही अवतीर्ण हुए हैं। सो भगवन्! आपकी महिमाका ज्ञान तो बड़ा ही कठिन है॥ ७॥ इसलिये जो पुरुष क्षण-क्षणपर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है, एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परम पदका अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!॥ ८॥

प्रभो! मेरी कुटिलता तो देखिये। आप अनन्त आदिपुरुष परमात्मा हैं और मेरे-जैसे बड़े-बड़े मायावी भी आपकी मायाके चक्रमें हैं। फिर भी मैंने आपपर अपनी माया फैलाकर अपना ऐश्वर्य देखना चाहा! प्रभो! मैं आपके सामने हूँ ही क्या। क्या आगके सामने चिनगारीकी भी कुछ गिनती है?॥ ९॥ भगवन्! मैं रजोगुणसे उत्पन्न हुआ हूँ। आपके स्वरूपको मैं ठीक-ठीक नहीं जानता। इसीसे अपनेको आपसे अलग संसारका स्वामी माने बैठा था। मैं अजन्मा जगत्कर्ता हूँ—इस मायाकृत मोहके घने अन्धकारसे मैं अन्धा हो रहा था। इसलिये आप यह समझकर कि 'यह मेरे ही अधीन है— मेरा भृत्य है, इसपर कृपा करनी चाहिये', मेरा अपराध क्षमा कीजिये॥ १०॥ मेरे स्वामी! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीरूप आवरणोंसे घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड ही मेरा शरीर है। और आपके एक-एक रोमके छिद्रमें ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते-पड़ते रहते हैं, जैसे झरोखेकी जालीमेंसे आनेवाली सूर्यकी किरणोंमें रजके छोटे-छोटे परमाणु उड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं। कहाँ अपने परिमाणसे साढ़े तीन हाथके शरीरवाला अत्यन्त क्षुद्र मैं, और कहाँ आपकी अनन्त महिमा॥ ११॥

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥ १२

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे
नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा
किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि॥ १३

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥ १४

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः
किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव
किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि॥ १५

अत्रैव मायाधमनावतारे
ह्यस्य प्रपंचस्य बहिः स्फुटस्य।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या
मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते॥ १६

वृत्तियोंकी पकड़में न आनेवाले परमात्मन्! जब बच्चा माताके पेटमें रहता है, तब अज्ञानवश अपने हाथ-पैर पीटता है; परन्तु क्या माता उसे अपराध समझती है या उसके लिये वह कोई अपराध होता है? 'है' और 'नहीं है'—इन शब्दोंसे कही जानेवाली कोई भी वस्तु ऐसी है क्या, जो आपकी कोखके भीतर न हो?॥ १२॥

श्रुतियाँ कहती हैं कि जिस समय तीनों लोक प्रलयकालीन जलमें लीन थे, उस समय उस जलमें स्थित श्रीनारायणके नाभिकमलसे ब्रह्माका जन्म हुआ। उनका यह कहना किसी प्रकार असत्य नहीं हो सकता। तब आप ही बतलाइये, प्रभो! क्या मैं आपका पुत्र नहीं हूँ?॥ १३॥ प्रभो! आप समस्त जीवोंके आत्मा हैं। इसलिये आप नारायण (नार—जीव और अयन—आश्रय) हैं। आप समस्त जगत्के और जीवोंके अधीश्वर हैं, इसलिये आप नारायण (नार—जीव और अयन—प्रवर्तक) हैं। आप समस्त लोकोंके साक्षी हैं, इसलिये भी नारायण (नार—जीव और अयन—जाननेवाला) हैं। नरसे उत्पन्न होनेवाले जलमें निवास करनेके कारण जिन्हें नारायण (नार—जल और अयन—निवासस्थान) कहा जाता है, वे भी आपके एक अंश ही हैं । वह अंशरूपसे दीखना भी सत्य नहीं है, आपकी माया ही है॥ १४॥ भगवन्! यदि आपका वह विराट् स्वरूप सचमुच उस समय जलमें ही था तो मैंने उसी समय उसे क्यों नहीं देखा, जब कि मैं कमलनालके मार्गसे उसे सौ वर्षतक जलमें ढूँढ़ता रहा? फिर मैंने जब तपस्या की, तब उसी समय मेरे हृदयमें उसका दर्शन कैसे हो गया? और फिर कुछ ही क्षणोंमें वह पुनः क्यों नहीं दीखा, अन्तर्धान क्यों हो गया?॥ १५॥ मायाका नाश करनेवाले प्रभो! दूरकी बात कौन करे—अभी इसी अवतारमें आपने इस बाहर दीखनेवाले जगत्को अपने पेटमें ही दिखला दिया, जिसे देखकर माता यशोदा चकित हो गयी थीं। इससे यही तो सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण विश्व केवल आपकी माया-ही-माया है॥ १६॥

यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।
तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना॥ १७
अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते
मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्
वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः
साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं
ब्रह्माद्वयं शिष्यते॥ १८
अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः॥ १९
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥ २०
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥ २१
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥ २२
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।

जब आपके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जैसा बाहर दीखता है वैसा ही आपके उदरमें भी दीखा, तब क्या यह सब आपकी मायाके बिना ही आपमें प्रतीत हुआ? अवश्य ही आपकी लीला है॥ १७॥ उस दिनकी बात जाने दीजिये, आजकी ही लीजिये। क्या आज आपने मेरे सामने अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्वको अपनी मायाका खेल नहीं दिखलाया है? पहले आप अकेले थे। फिर सम्पूर्ण ग्वालबाल, बछड़े और छड़ी-छीके भी आप ही हो गये। उसके बाद मैंने देखा कि आपके वे सब रूप चतुर्भुज हैं और मेरे सहित सब-के-सब तत्त्व उनकी सेवा कर रहे हैं। आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्डोंका रूप भी धारण कर लिया था, परन्तु अब आप केवल अपरिमित अद्वितीय ब्रह्मरूपसे ही शेष रह गये हैं॥ १८॥

जो लोग अज्ञानवश आपके स्वरूपको नहीं जानते, उन्हींको आप प्रकृतिमें स्थित जीवके रूपसे प्रतीत होते हैं और उनपर अपनी मायाका परदा डालकर सृष्टिके समय मेरे (ब्रह्मा) रूपसे, पालनके समय अपने (विष्णु) रूपसे और संहारके समय रुद्रके रूपमें प्रतीत होते हैं॥ १९॥ प्रभो! आप सारे जगत्के स्वामी और विधाता हैं। अजन्मा होनेपर भी आप देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और जलचर आदि योनियोंमें अवतार ग्रहण करते हैं—इसलिये कि इन रूपोंके द्वारा दुष्ट पुरुषोंका घमंड तोड़ दें और सत्पुरुषोंपर अनुग्रह करें॥ २०॥ भगवन्! आप अनन्त परमात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार करके लीला करने लगते हैं, उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिये, कब और कितनी होती है॥ २१॥ इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्नके समान असत्य, अज्ञानरूप और दुःख-पर-दुःख देनेवाला है। आप परमानन्द, परम ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। यह मायासे उत्पन्न एवं विलीन होनेपर भी आपमें आपकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है॥ २२॥ प्रभो! आप ही एकमात्र सत्य हैं। क्योंकि आप सबके आत्मा जो हैं। आप पुराणपुरुष होनेके कारण समस्त जन्मादि विकारोंसे रहित हैं। आप स्वयंप्रकाश हैं; इसलिये देश, काल और वस्तु—जो परप्रकाश हैं—

नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरंजनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥ २३

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्॥ २४

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपंचितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा॥ २५

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥ २६

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता॥ २७

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव
ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण
सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥ २८

किसी प्रकार आपको सीमित नहीं कर सकते । आप उनके भी आदि प्रकाशक हैं। आप अविनाशी होनेके कारण नित्य हैं। आपका आनन्द अखण्डित है। आपमें न तो किसी प्रकारका मल है और न अभाव। आप पूर्ण, एक हैं। समस्त उपाधियोंसे मुक्त होनेके कारण आप अमृतस्वरूप हैं॥ २३ ॥ आपका यह ऐसा स्वरूप समस्त जीवोंका ही अपना स्वरूप है। जो गुरुरूप सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूप दिव्य दृष्टि प्राप्त करके उससे आपको अपने स्वरूपके रूपमें साक्षात्कार कर लेते हैं, वे इस झूठे संसार-सागरको मानो पार कर जाते हैं। (संसार-सागरके झूठा होनेके कारण इससे पार जाना भी अविचार-दशाकी दृष्टिसे ही है) ॥ २४ ॥ जो पुरुष परमात्माको आत्माके रूपमें नहीं जानते, उन्हें उस अज्ञानके कारण ही इस नामरूपात्मक निखिल प्रपंचकी उत्पत्तिका भ्रम हो जाता है। किन्तु ज्ञान होते ही इसका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। जैसे रस्सीमें भ्रमके कारण ही साँपकी प्रतीति होती है और भ्रमके निवृत्त होते ही उसकी निवृत्ति हो जाती है॥ २५ ॥

संसार-सम्बन्धी बन्धन और उससे मोक्ष—ये दोनों ही नाम अज्ञानसे कल्पित हैं। वास्तवमें ये अज्ञानके ही दो नाम हैं। ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न अस्तित्व नहीं रखते। जैसे सूर्यमें दिन और रातका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्वमें न बन्धन है और न तो मोक्ष॥ २६ ॥ भगवन्! कितने आश्चर्यकी बात है कि आप हैं अपने आत्मा, पर लोग आपको पराया मानते हैं। और शरीर आदि हैं पराये, किन्तु उनको आत्मा मान बैठते हैं। और इसके बाद आपको कहीं अलग ढूँढ़ने लगते हैं। भला, अज्ञानी जीवोंका यह कितना बड़ा अज्ञान है॥ २७॥ हे अनन्त! आप तो सबके अन्तःकरणमें ही विराजमान हैं। इसलिये सन्तलोग आपके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका परित्याग करते हुए अपने भीतर ही आपको ढूँढ़ते हैं। क्योंकि यद्यपि रस्सीमें साँप नहीं है, फिर भी उस प्रतीयमान साँपको मिथ्या निश्चय किये बिना भला, कोई सत्पुरुष सच्ची रस्सीको कैसे जान सकता है?॥ २८ ॥

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥ २९

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥ ३०

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः॥ ३१

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥ ३२

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥ ३३

अपने भक्तजनोंके हृदयमें स्वयं स्फुरित होनेवाले भगवन्! आपके ज्ञानका स्वरूप और महिमा ऐसी ही है, उससे अज्ञानकल्पित जगत्का नाश हो जाता है। फिर भी जो पुरुष आपके युगल चरणकमलोंका तनिक-सा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है—वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमाका तत्त्व जान सकता है। दूसरा कोई भी ज्ञान-वैराग्यादि साधनरूप अपने प्रयत्नसे बहुत कालतक कितना भी अनुसन्धान करता रहे, वह आपकी महिमाका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता॥ २९॥ इसलिये भगवन्! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर आपके चरणकमलोंकी सेवा करूँ॥ ३०॥ मेरे स्वामी! जगत्के बड़े-बड़े यज्ञ सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अबतक आपको पूर्णतः तृप्त न कर सके। परन्तु आपने व्रजकी गायों और ग्वालिनोंके बछड़े एवं बालक बनकर उनके स्तनोंका अमृत-सा दूध बड़े उमंगसे पिया है। वास्तवमें उन्हींका जीवन सफल है, वे ही अत्यन्त धन्य हैं॥ ३१॥ अहो, नन्द आदि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं। वास्तवमें उनका अहोभाग्य है। क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृद् हैं॥ ३२॥ हे अच्युत! इन व्रजवासियोंके सौभाग्यकी महिमा तो अलग रही—मन आदि ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवताके रूपमें रहनेवाले महादेव आदि हम लोग बड़े ही भाग्यवान् हैं। क्योंकि इन व्रजवासियोंकी मन आदि ग्यारह इन्द्रियोंको प्याले बनाकर हम आपके चरणकमलोंका अमृतसे भी मीठा, मदिरासे भी मादक मधुर मकरन्दरस पान करते रहते हैं। जब उसका एक-एक इन्द्रियसे पान करके हम धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियोंसे उसका सेवन करनेवाले व्रजवासियोंकी तो बात ही क्या है॥ ३३॥

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ ३४

एषां घोषनिवासिनामुत भवान्
किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं
कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला
त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनय-
प्राणाशयास्त्वत्कृते॥ ३५

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥ ३६

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥ ३७

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥ ३८

प्रभो! इस व्रजभूमिके किसी वनमें और विशेष करके गोकुलमें किसी भी योनिमें जन्म हो जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात होगी! क्योंकि यहाँ जन्म हो जानेपर आपके किसी-न-किसी प्रेमीके चरणोंकी धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायगी। प्रभो! आपके प्रेमी व्रजवासियोंका सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है। आप ही उनके जीवनके एकमात्र सर्वस्व हैं। इसलिये उनके चरणोंकी धूलि मिलना आपके ही चरणोंकी धूलि मिलना है और आपके चरणोंकी धूलिको तो श्रुतियाँ भी अनादि कालसे अबतक ढूँढ़ ही रही हैं॥ ३४॥ देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो! इन व्रजवासियोंको इनकी सेवाके बदलेमें आप क्या फल देंगे? सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप! आपसे बढ़कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोचकर मेरा चित्त मोहित हो रहा है। आप उन्हें अपना स्वरूप भी देकर उऋण नहीं हो सकते। क्योंकि आपके स्वरूपको तो उस पूतनाने भी अपने सम्बन्धियों—अघासुर, बकासुर आदिके साथ प्राप्त कर लिया, जिसका केवल वेष ही साध्वी स्त्रीका था, पर जो हृदयसे महान् क्रूर थी। फिर, जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन—सब कुछ आपके ही चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आपके ही लिये है, उन व्रजवासियोंको भी वही फल देकर आप कैसे उऋण हो सकते हैं॥ ३५॥ सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर! तभीतक राग-द्वेष आदि दोष चोरोंके समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभीतक घर और उसके सम्बन्धी कैदकी तरह सम्बन्धके बन्धनोंमें बाँध रखते हैं और तभीतक मोह पैरकी बेड़ियोंकी तरह जकड़े रखता है—जबतक जीव आपका नहीं हो जाता॥ ३६॥ प्रभो! आप विश्वके बखेड़ेसे सर्वथा रहित हैं, फिर भी अपने शरणागत भक्तजनोंको अनन्त आनन्द वितरण करनेके लिये पृथ्वीमें अवतार लेकर विश्वके समान ही लीला-विलासका विस्तार करते हैं॥ ३७॥ मेरे स्वामी! बहुत कहनेकी आवश्यकता नहीं—जो लोग आपकी महिमा जानते हैं, वे जानते रहें; मेरे मन, वाणी और शरीर तो आपकी महिमा जाननेमें सर्वथा असमर्थ हैं॥ ३८॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम्॥ ३९

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप सबके साक्षी हैं। इसलिये आप सब कुछ जानते हैं। आप समस्त जगत्के स्वामी हैं। यह सम्पूर्ण प्रपंच आपमें ही स्थित है। आपसे मैं और क्या कहूँ? अब आप मुझे स्वीकार कीजिये। मुझे अपने लोकमें जानेकी आज्ञा दीजिये॥ ३९॥

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते॥ ४०

सबके मन-प्राणको अपनी रूप-माधुरीसे आकर्षित करनेवाले श्यामसुन्दर! आप यदुवंशरूपी कमलको विकसित करनेवाले सूर्य हैं। प्रभो! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशुरूप समुद्रकी अभिवृद्धि करनेवाले चन्द्रमा भी आप ही हैं। आप पाखण्डियोंके धर्मरूप रात्रिका घोर अन्धकार नष्ट करनेके लिये सूर्य और चन्द्रमा दोनोंके ही समान हैं। पृथ्वीपर रहनेवाले राक्षसोंके नष्ट करनेवाले आप चन्द्रमा, सूर्य आदि समस्त देवताओंके भी परम पूजनीय हैं। भगवन्! मैं अपने जीवनभर, महाकल्पपर्यन्त आपको नमस्कार ही करता रहूँ॥ ४०॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥ ४१

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान्।
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्॥ ४२

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः।
कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः॥ ४३

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः।
यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम्॥ ४४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! संसारके रचयिता ब्रह्माजीने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की। इसके बाद उन्होंने तीन बार परिक्रमा करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर अपने गन्तव्य स्थान सत्यलोकमें चले गये॥ ४१॥ ब्रह्माजीने बछड़ों और ग्वालबालोंको पहले ही यथास्थान पहुँचा दिया था। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजीको विदा कर दिया और बछड़ोंको लेकर यमुनाजीके पुलिनपर आये, जहाँ वे अपने सखा ग्वालबालोंको पहले छोड़ गये थे॥ ४२॥ परीक्षित्! अपने जीवनसर्वस्व—प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके वियोगमें यद्यपि एक वर्ष बीत गया था, तथापि उन ग्वालबालोंको वह समय आधे क्षणके समान जान पड़ा। क्यों न हो, वे भगवान्की विश्व-विमोहिनी योगमायासे मोहित जो हो गये थे॥ ४३॥ जगत्के सभी जीव उसी मायासे मोहित होकर शास्त्र और आचार्योंके बार-बार समझानेपर भी अपने आत्माको निरन्तर भूले हुए हैं। वास्तवमें उस मायाकी ऐसी ही शक्ति है। भला, उससे मोहित होकर जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते हैं?॥ ४४॥

ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम्॥ ४५

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः।
दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम्॥ ४६

बर्हप्रसूननवधातुविचित्रितांगः
प्रोद्दामवेणुदलशृंगरवोत्सवाढ्यः ।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति-
र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥ ४७

अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना।
हतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः॥ ४८

राजोवाच

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत्।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम्॥ ४९

श्रीशुक उवाच

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥ ५०

तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु॥ ५१

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णको देखते ही ग्वाल-बालोंने बड़ी उतावलीसे कहा—'भाई! तुम भले आये। स्वागत है, स्वागत! अभी तो हमने तुम्हारे बिना एक कौर भी नहीं खाया है। आओ, इधर आओ; आनन्दसे भोजन करो॥ ४५॥ तब हँसते हुए भगवान्ने ग्वालबालोंके साथ भोजन किया और उन्हें अघासुरके शरीरका ढाँचा दिखाते हुए वनसे व्रजमें लौट आये॥ ४६॥ श्रीकृष्णके सिरपर मोरपंखका मनोहर मुकुट और घुँघराले बालोंमें सुन्दर-सुन्दर महँ-महँ महँकते हुए पुष्प गुँथ रहे थे। नयी-नयी रंगीन धातुओंसे श्याम शरीरपर चित्रकारी की हुई थी। वे चलते समय रास्तेमें उच्च स्वरसे कभी बाँसुरी, कभी पत्ते और कभी सिंगी बजाकर वाद्योत्सवमें मग्न हो रहे हैं। पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान करते जा रहे हैं। कभी वे नाम ले-लेकर अपने बछड़ोंको पुकारते, तो कभी उनके साथ लाड़-लड़ाने लगते। मार्गके दोनों ओर गोपियाँ खड़ी हैं; जब वे कभी तिरछे नेत्रोंसे उनकी नजरमें नजर मिला देते हैं, तब गोपियाँ आनन्द-मुग्ध हो जाती हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने गोष्ठमें प्रवेश कियो॥ ४७॥ परीक्षित्! उसी दिन बालकोंने व्रजमें जाकर कहा कि 'आज यशोदा मैयाके लाड़ले नन्दनन्दनने वनमें एक बड़ा भारी अजगर मार डाला है और उससे हमलोगोंकी रक्षा की है'॥ ४८॥

राजा परीक्षित्ने कहा—ब्रह्मन्! व्रजवासियोंके लिये श्रीकृष्ण अपने पुत्र नहीं थे, दूसरेके पुत्र थे। फिर उनका श्रीकृष्णके प्रति इतना प्रेम कैसे हुआ? ऐसा प्रेम तो उनका अपने बालकोंपर भी पहले कभी नहीं हुआ था! आप कृपा करके बतलाइये, इसका क्या कारण है?॥ ४९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! संसारके सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सबसे बढ़कर प्रेम करते हैं। पुत्रसे, धनसे या और किसीसे जो प्रेम होता है—वह तो इसलिये कि वे वस्तुएँ अपने आत्माको प्रिय लगती हैं॥ ५०॥ राजेन्द्र! यही कारण है कि सभी प्राणियोंका अपने आत्माके प्रति जैसा प्रेम होता है, वैसा अपने कहलानेवाले पुत्र, धन और गृह आदिमें नहीं होता॥ ५१॥

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्॥ ५२

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥ ५३

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥ ५४

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥ ५५

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किंचन॥ ५६

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम्॥ ५७

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥ ५८

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
यत् कौमारे हरिकृतं पौगण्डे परिकीर्तितम्॥ ५९

एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारे-
रघार्दनं शाद्वलजेमनं च।
व्यक्तेतरद् रूपमजोर्वभिष्टवं
शृण्वन् गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान्॥ ६०

नृपश्रेष्ठ! जो लोग देहको ही आत्मा मानते हैं, वे भी अपने शरीरसे जितना प्रेम करते हैं, उतना प्रेम शरीरके सम्बन्धी पुत्र-मित्र आदिसे नहीं करते॥ ५२॥ जब विचारके द्वारा यह मालूम हो जाता है कि 'यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह शरीर मेरा है' तब इस शरीरसे भी आत्माके समान प्रेम नहीं रहता। यही कारण है कि इस देहके जीर्ण-शीर्ण हो जानेपर भी जीनेकी आशा प्रबल रूपसे बनी रहती है॥ ५३॥ इससे यह बात सिद्ध होती है कि सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सबसे बढ़कर प्रेम करते हैं और उसीके लिये इस सारे चराचर जगत्से भी प्रेम करते हैं॥ ५४॥ इन श्रीकृष्णको ही तुम सब आत्माओंका आत्मा समझो। संसारके कल्याणके लिये ही योगमायाका आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारीके समान जान पड़ते हैं॥ ५५॥ जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानते हैं, उनके लिये तो इस जगत्में जो कुछ भी चराचर पदार्थ हैं, अथवा इससे परे परमात्मा, ब्रह्म, नारायण आदि जो भगवत्स्वरूप हैं, सभी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई प्राकृत-अप्राकृत वस्तु है ही नहीं॥ ५६॥ सभी वस्तुओंका अन्तिम रूप अपने कारणमें स्थित होता है। उस कारणके भी परम कारण हैं भगवान् श्रीकृष्ण। तब भला बताओ, किस वस्तुको श्रीकृष्णसे भिन्न बतलायें॥ ५७॥ जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारीके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो कि सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भवसागर बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान है। उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवासस्थान—यह संसार नहीं रहता॥ ५८॥

परीक्षित्! तुमने मुझसे पूछा था कि भगवान्के पाँचवें वर्षकी लीला ग्वालबालोंने छठे वर्षमें कैसे कही, उसका सारा रहस्य मैंने तुम्हें बतला दिया॥ ५९॥ भगवान् श्रीकृष्णकी ग्वालबालोंके साथ वनक्रीड़ा, अघासुरको मारना, हरी-हरी घाससे युक्त भूमिपर बैठकर भोजन करना, अप्राकृतरूपधारी बछड़ों और ग्वालबालोंका प्रकट होना और ब्रह्माजीके द्वारा की हुई इस महान् स्तुतिको जो मनुष्य सुनता और कहता है—उस-उसको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है॥ ६०॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥ ६१

परीक्षित्! इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलरामने कुमार-अवस्थाके अनुरूप आँखमिचौनी, सेतु-बन्धन, बन्दरोंकी भाँति उछलना-कूदना आदि अनेकों लीलाएँ करके अपनी कुमार-अवस्था व्रजमें ही त्याग दी॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
ब्रह्मस्तुतिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

धेनुकासुरका उद्धार और ग्वालबालोंको कालियनागके विषसे बचाना

श्रीशुक उवाच

ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥ १

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो
गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्
विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥ २

तन्मंजुघोषालिमृगद्विजाकुलं
महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे॥ ३

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा
स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब बलराम और श्रीकृष्णने पौगण्ड-अवस्थामें अर्थात् छठे वर्षमें प्रवेश किया था। अब उन्हें गौएँ चरानेकी स्वीकृति मिल गयी। वे अपने सखा ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए वृन्दावनमें जाते और अपने चरणोंसे वृन्दावनको अत्यन्त पावन करते॥ १॥ यह वन गौओंके लिये हरी-हरी घाससे युक्त एवं रंग-बिरंगे पुष्पोंकी खान हो रहा था। आगे-आगे गौएँ, उनके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए श्यामसुन्दर, तदनन्तर बलराम और फिर श्रीकृष्णके यशका गान करते हुए ग्वालबाल—इस प्रकार विहार करनेके लिये उन्होंने उस वनमें प्रवेश किया॥ २॥ उस वनमें कहीं तो भौंरे बड़ी मधुर गुंजार कर रहे थे, कहीं झुंड-के-झुंड हरिन चौकड़ी भर रहे थे और कहीं सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहक रहे थे। बड़े ही सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे, जिनका जल महात्माओंके हृदयके समान स्वच्छ और निर्मल था। उनमें खिले हुए कमलोंके सौरभसे सुवासित होकर शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु उस वनकी सेवा कर रही थी। इतना मनोहर था वह वन कि उसे देखकर भगवान्ने मन-ही-मन उसमें विहार करनेका संकल्प किया॥ ३॥ पुरुषोत्तम भगवान्ने देखा कि बड़े-बड़े वृक्ष फल और फूलोंके भारसे झुककर अपनी डालियों और नूतन कोंपलोंकी लालिमासे उनके चरणोंका स्पर्श कर रहे हैं, तब उन्होंने बड़े आनन्दसे कुछ मुसकराते हुए-से अपने बड़े भाई बलरामजीसे कहा॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥ ५

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवशिरोमणे! यों तो बड़े-बड़े देवता आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं; परन्तु देखिये तो, ये वृक्ष भी अपनी डालियोंसे सुन्दर पुष्प और फलोंकी सामग्री लेकर आपके चरणकमलोंमें झुक रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं। क्यों न हो, इन्होंने इसी सौभाग्यके लिये तथा अपना दर्शन एवं श्रवण करनेवालोंके अज्ञानका नाश करनेके लिये ही तो वृन्दावनधाममें वृक्ष-योनि ग्रहण की है। इनका जीवन धन्य है॥ ५॥

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥ ६

आदिपुरुष! यद्यपि आप इस वृन्दावनमें अपने ऐश्वर्यरूपको छिपाकर बालकोंकी-सी लीला कर रहे हैं, फिर भी आपके श्रेष्ठ भक्त मुनिगण अपने इष्टदेवको पहचानकर यहाँ भी प्रायः भौंरोंके रूपमें आपके भुवन-पावन यशका निरन्तर गान करते हुए आपके भजनमें लगे रहते हैं। वे एक क्षणके लिये भी आपको नहीं छोड़ना चाहते॥ ६॥

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः॥ ७

भाईजी! वास्तवमें आप ही स्तुति करनेयोग्य हैं। देखिये, आपको अपने घर आया देख ये मोर आपके दर्शनोंसे आनन्दित होकर नाच रहे हैं। हरिनियाँ मृगनयनी गोपियोंके समान अपनी प्रेमभरी तिरछी चितवनसे आपके प्रति प्रेम प्रकट कर रही हैं, आपको प्रसन्न कर रही हैं। ये कोयलें अपनी मधुर कुहू-कुहू ध्वनिसे आपका कितना सुन्दर स्वागत कर रही हैं! ये वनवासी होनेपर भी धन्य हैं। क्योंकि सत्पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे घर आये अतिथिको अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भेंट कर देते हैं॥ ७॥

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥ ८

आज यहाँकी भूमि अपनी हरी-हरी घासके साथ आपके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके धन्य हो रही है। यहाँके वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ आपकी अँगुलियोंका स्पर्श पाकर अपना अहोभाग्य मान रही हैं। आपकी दयाभरी चितवनसे नदी, पर्वत, पशु, पक्षी— सब कृतार्थ हो रहे हैं और व्रजकी गोपियाँ आपके वक्षःस्थलका स्पर्श प्राप्त करके, जिसके लिये स्वयं लक्ष्मी भी लालायित रहती हैं, धन्य-धन्य हो रही हैं॥ ८॥

श्रीशुक उवाच

एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून्।
रेमे संचारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः॥ ९

क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमानचरितः स्रग्वी संकर्षणान्वितः॥ १०

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥ ११

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून्।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया॥ १२

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः॥ १३

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्संगोपबर्हणम्।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः॥ १४

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः॥ १५

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्संगोपबर्हणः॥ १६

पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन्॥ १७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार परम सुन्दर वृन्दावनको देखकर भगवान् श्रीकृष्ण बहुत ही आनन्दित हुए। वे अपने सखा ग्वालबालोंके साथ गोवर्धनकी तराईमें, यमुनातटपर गौओंको चराते हुए अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करने लगे॥ ९॥ एक ओर ग्वालबाल भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रोंकी मधुर तान छेड़े रहते हैं, तो दूसरी ओर बलरामजीके साथ वनमाला पहने हुए श्रीकृष्ण मतवाले भौंरोंकी सुरीली गुनगुनाहटमें अपना स्वर मिलाकर मधुर संगीत अलापने लगते हैं॥ १०॥

कभी-कभी श्रीकृष्ण कूजते हुए राजहंसोंके साथ स्वयं भी कूजने लगते हैं और कभी नाचते हुए मोरोंके साथ स्वयं भी ठुमुक-ठुमुक नाचने लगते हैं और ऐसा नाचते हैं कि मयूरको उपहासास्पद बना देते हैं॥ ११॥ कभी मेघके समान गम्भीर वाणीसे दूर गये हुए पशुओंको उनका नाम ले-लेकर बड़े प्रेमसे पुकारते हैं। उनके कण्ठकी मधुर ध्वनि सुनकर गायों और ग्वालबालोंका चित्त भी अपने वशमें नहीं रहता॥ १२॥ कभी चकोर, क्रौंच (कराँकुल), चकवा, भरदूल और मोर आदि पक्षियोंकी-सी बोली बोलते तो कभी बाघ, सिंह आदिकी गर्जनासे डरे हुए जीवोंके समान स्वयं भी भयभीतकी-सी लीला करते॥ १३॥ जब बलरामजी खेलते-खेलते थककर किसी ग्वाल-बालकी गोदके तकियेपर सिर रखकर लेट जाते, तब श्रीकृष्ण उनके पैर दबाने लगते, पंखा झलने लगते और इस प्रकार अपने बड़े भाईकी थकावट दूर करते॥ १४॥ जब ग्वालबाल नाचने-गाने लगते अथवा ताल ठोंक-ठोंककर एक-दूसरेसे कुश्ती लड़ने लगते, तब श्याम और राम दोनों भाई हाथमें हाथ डालकर खड़े हो जाते और हँस-हँसकर 'वाह-वाह' करते॥ १५॥ कभी-कभी स्वयं श्रीकृष्ण भी ग्वाल-बालोंके साथ कुश्ती लड़ते-लड़ते थक जाते तथा किसी सुन्दर वृक्षके नीचे कोमल पल्लवोंकी सेजपर किसी ग्वालबालकी गोदमें सिर रखकर लेट जाते॥ १६॥ परीक्षित्! उस समय कोई-कोई पुण्यके मूर्तिमान् स्वरूप ग्वालबाल महात्मा श्रीकृष्णके चरण दबाने लगते और दूसरे निष्पाप बालक उन्हें बड़े-बड़े पत्तों या अँगोछियोंसे पंखा झलने लगते॥ १७॥

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥ १८

किसी-किसीके हृदयमें प्रेमकी धारा उमड़ आती तो वह धीरे-धीरे उदारशिरोमणि परममनस्वी श्रीकृष्णकी लीलाओंके अनुरूप उनके मनको प्रिय लगनेवाले मनोहर गीत गाने लगता॥ १८॥

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः॥ १९

भगवान्‌ने इस प्रकार अपनी योगमायासे अपने ऐश्वर्यमय स्वरूपको छिपा रखा था। वे ऐसी लीलाएँ करते, जो ठीक-ठीक गोपबालकोंकी-सी ही मालूम पड़तीं। स्वयं भगवती लक्ष्मी जिनके चरणकमलोंकी सेवामें संलग्न रहती हैं, वे ही भगवान् इन ग्रामीण बालकोंके साथ बड़े प्रेमसे ग्रामीण खेल खेला करते थे। परीक्षित्! ऐसा होनेपर भी कभी-कभी उनकी ऐश्वर्यमयी लीलाएँ भी प्रकट हो जाया करतीं॥ १९॥

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥ २०

बलरामजी और श्रीकृष्णके सखाओंमें एक प्रधान गोप-बालक थे श्रीदामा। एक दिन उन्होंने तथा सुबल और स्तोककृष्ण (छोटे कृष्ण) आदि ग्वालबालोंने श्याम और रामसे बड़े प्रेमके साथ कहा— ॥ २०॥

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसंकुलम्॥ २१

'हमलोगोंको सर्वदा सुख पहुँचानेवाले बलरामजी! आपके बाहुबलकी तो कोई थाह ही नहीं है। हमारे मनमोहन श्रीकृष्ण! दुष्टोंको नष्ट कर डालना तो तुम्हारा स्वभाव ही है। यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक बड़ा भारी वन है। बस, उसमें पाँत-के-पाँत ताड़के वृक्ष भरे पड़े हैं॥ २१॥

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।
सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥ २२

वहाँ बहुत-से ताड़के फल पक-पककर गिरते रहते हैं और बहुत-से पहलेके गिरे हुए भी हैं। परन्तु वहाँ धेनुक नामका एक दुष्ट दैत्य रहता है। उसने उन फलोंपर रोक लगा रखी है॥ २२॥

सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक्।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः॥ २३

बलरामजी और भैया श्रीकृष्ण! वह दैत्य गधेके रूपमें रहता है। वह स्वयं तो बड़ा बलवान् है ही, उसके साथी और भी बहुत-से उसीके समान बलवान् दैत्य उसी रूपमें रहते हैं॥ २३॥

तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन्।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसंघैर्विवर्जितम्॥ २४

मेरे शत्रुघाती भैया! उस दैत्यने अबतक न जाने कितने मनुष्य खा डाले हैं। यही कारण है कि उसके डरके मारे मनुष्य उसका सेवन नहीं करते और पशु-पक्षी भी उस जंगलमें नहीं जाते॥ २४॥

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते॥ २५

उसके फल हैं तो बड़े सुगन्धित, परन्तु हमने कभी नहीं खाये। देखो न, चारों ओर उन्हींकी मन्द-मन्द सुगन्ध फैल रही है। तनिक-सा ध्यान देनेसे उसका रस मिलने लगता है॥ २५॥

प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम्।
वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते॥ २६

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू॥ २७

बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।
फलानि पातयामास मतंगज इवौजसा॥ २८

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः।
अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन्॥ २९

समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।
निहत्योरसि काशब्दं मुंचन् पर्यसरत् खलः॥ ३०

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा॥ ३१

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्॥ ३२

तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम्॥ ३३

बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव॥ ३४

श्रीकृष्ण! उनकी सुगन्धसे हमारा मन मोहित हो गया है और उन्हें पानेके लिये मचल रहा है। तुम हमें वे फल अवश्य खिलाओ। दाऊ दादा! हमें उन फलोंकी बड़ी उत्कट अभिलाषा है। आपको रुचे तो वहाँ अवश्य चलिये॥ २६॥

अपने सखा ग्वालबालोंकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों हँसे और फिर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनके साथ तालवनके लिये चल पड़े॥ २७॥ उस वनमें पहुँचकर बलरामजीने अपनी बाँहोंसे उन ताड़के पेड़ोंको पकड़ लिया और मतवाले हाथीके बच्चेके समान उन्हें बड़े जोरसे हिलाकर बहुत-से फल नीचे गिरा दिये॥ २८॥ जब गधेके रूपमें रहनेवाले दैत्यने फलोंके गिरनेका शब्द सुना, तब वह पर्वतोंके साथ सारी पृथ्वीको कँपाता हुआ उनकी ओर दौड़ा॥ २९॥ वह बड़ा बलवान् था। उसने बड़े वेगसे बलरामजीके सामने आकर अपने पिछले पैरोंसे उनकी छातीमें दुलत्ती मारी और इसके बाद वह दुष्ट बड़े जोरसे रेंकता हुआ वहाँसे हट गया॥ ३०॥ राजन्! वह गधा क्रोधमें भरकर फिर रेंकता हुआ दूसरी बार बलरामजीके पास पहुँचा और उनकी ओर पीठ करके फिर बड़े क्रोधसे अपने पिछले पैरोंकी दुलत्ती चलायी॥ ३१॥ बलरामजीने अपने एक ही हाथसे उसके दोनों पैर पकड़ लिये और उसे आकाशमें घुमाकर एक ताड़के पेड़पर दे मारा। घुमाते समय ही उस गधेके प्राणपखेरू उड़ गये थे॥ ३२॥

उसके गिरनेकी चोटसे वह महान् ताड़का वृक्ष—जिसका ऊपरी भाग बहुत विशाल था—स्वयं तो तड़तड़ाकर गिर ही पड़ा, सटे हुए दूसरे वृक्षको भी उसने तोड़ डाला। उसने तीसरेको, तीसरेने चौथेको—इस प्रकार एक-दूसरेको गिराते हुए बहुत-से तालवृक्ष गिर पड़े॥ ३३॥ बलरामजीके लिये तो यह एक खेल था। परन्तु उनके द्वारा फेंके हुए गधेके शरीरसे चोट खा-खाकर वहाँ सब-के-सब ताड़ हिल गये। ऐसा जान पड़ा, मानो सबको झंझावातने झकझोर दिया हो॥ ३४॥

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वंग यथा पटः॥ ३५

ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः॥ ३६

तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु॥ ३७

फलप्रकरसंकीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम्॥ ३८

तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशाम्य विबुधादयः।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः॥ ३९

अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः।
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने॥ ४०

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत्॥ ४१

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः॥ ४२

भगवान् बलराम स्वयं जगदीश्वर हैं। उनमें यह सारा संसार ठीक वैसे ही ओतप्रोत है, जैसे सूतोंमें वस्त्र। तब भला, उनके लिये यह कौन आश्चर्यकी बात है॥ ३५॥ उस समय धेनुकासुरके भाई-बन्धु अपने भाईके मारे जानेसे क्रोधके मारे आगबबूला हो गये। सब-के-सब गधे बलरामजी और श्रीकृष्णपर बड़े वेगसे टूट पड़े॥ ३६॥ राजन्! उनमेंसे जो-जो पास आया, उसी-उसीको बलरामजी और श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही पिछले पैर पकड़कर तालवृक्षोंपर दे मारा॥ ३७॥ उस समय वह भूमि ताड़के फलोंसे पट गयी और टूटे हुए वृक्ष तथा दैत्योंके प्राणहीन शरीरोंसे भर गयी। जैसे बादलोंसे आकाश ढक गया हो, उस भूमिकी वैसी ही शोभा होने लगी॥ ३८॥ बलरामजी और श्रीकृष्णकी यह मंगलमयी लीला देखकर देवतागण उनपर फूल बरसाने लगे और बाजे बजा-बजाकर स्तुति करने लगे॥ ३९॥ जिस दिन धेनुकासुर मरा, उसी दिनसे लोग निडर होकर उस वनके तालफल खाने लगे तथा पशु भी स्वच्छन्दताके साथ घास चरने लगे॥ ४०॥

इसके बाद कमलदललोचन भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भाई बलरामजीके साथ व्रजमें आये। उस समय उनके साथी ग्वालबाल उनके पीछे-पीछे चलते हुए उनकी स्तुति करते जाते थे। क्यों न हो; भगवान्की लीलाओंका श्रवण-कीर्तन ही सबसे बढ़कर पवित्र जो है॥ ४१॥ उस समय श्रीकृष्णकी घुँघराली अलकोंपर गौओंके खुरोंसे उड़-उड़कर धूलि पड़ी हुई थी, सिरपर मोरपंखका मुकुट था और बालोंमें सुन्दर-सुन्दर जंगली पुष्प गुँथे हुए थे। उनके नेत्रोंमें मधुर चितवन और मुखपर मनोहर मुसकान थी। वे मधुर-मधुर मुरली बजा रहे थे और साथी ग्वालबाल उनकी ललित कीर्तिका गान कर रहे थे। वंशीकी ध्वनि सुनकर बहुत-सी गोपियाँ एक साथ ही व्रजसे बाहर निकल आयीं। उनकी आँखें न जाने कबसे श्रीकृष्णके दर्शनके लिये तरस रही थीं॥ ४२॥

पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपांगमोक्षम्॥ ४३

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः॥ ४४

गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्त्रग्गन्धमण्डितौ॥ ४५

जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे॥ ४६

एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित्।
ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः॥ ४७

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम्॥ ४८

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह॥ ४९

वीक्ष्य तान् वै तथा भूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत्॥ ५०

ते सम्प्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात्।
आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्॥ ५१

गोपियोंने अपने नेत्ररूप भ्रमरोंसे भगवान्‌के मुखारविन्दका मकरन्द-रस पान करके दिनभरके विरहकी जलन शान्त की। और भगवान्‌ने भी उनकी लाजभरी हँसी तथा विनयसे युक्त प्रेमभरी तिरछी चितवनका सत्कार स्वीकार करके व्रजमें प्रवेश किया॥ ४३॥ उधर यशोदामैया और रोहिणीजीका हृदय वात्सल्यस्नेहसे उमड़ रहा था। उन्होंने श्याम और रामके घर पहुँचते ही उनकी इच्छाके अनुसार तथा समयके अनुरूप पहलेसे ही सोच-सँजोकर रखी हुई वस्तुएँ उन्हें खिलायीं-पिलायीं और पहनायीं॥ ४४॥ माताओंने तेल-उबटन आदि लगाकर स्नान कराया। इससे उनकी दिनभर घूमने-फिरनेकी मार्गकी थकान दूर हो गयी। फिर उन्होंने सुन्दर वस्त्र पहनाकर दिव्य पुष्पोंकी माला पहनायी तथा चन्दन लगाया॥ ४५॥ तत्पश्चात् दोनों भाइयोंने माताओंका परोसा हुआ स्वादिष्ट अन्न भोजन किया। इसके बाद बड़े लाड़-प्यारसे दुलार-दुलार कर यशोदा और रोहिणीने उन्हें सुन्दर शय्यापर सुलाया। श्याम और राम बड़े आरामसे सो गये॥ ४६॥

भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार वृन्दावनमें अनेकों लीलाएँ करते। एक दिन अपने सखा ग्वालबालोंके साथ वे यमुना-तटपर गये। राजन्! उस दिन बलरामजी उनके साथ नहीं थे॥ ४७॥ उस समय जेठ-आषाढ़के घामसे गौएँ और ग्वालबाल अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। प्याससे उनका कण्ठ सूख रहा था। इसलिये उन्होंने यमुनाजीका विषैला जल पी लिया॥ ४८॥ परीक्षित्! होनहारके वश उन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं रहा था। उस विषैले जलके पीते ही सब गौएँ और ग्वालबाल प्राणहीन होकर यमुनाजीके तटपर गिर पड़े॥ ४९॥ उन्हें ऐसी अवस्थामें देखकर योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अमृत बरसानेवाली दृष्टिसे उन्हें जीवित कर दिया। उनके स्वामी और सर्वस्व तो एकमात्र श्रीकृष्ण ही थे॥ ५०॥ परीक्षित्! चेतना आनेपर वे सब यमुनाजीके तटपर उठ खड़े हुए और आश्चर्यचकित होकर एक-दूसरेकी ओर देखने लगे॥ ५१॥

अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥ ५२

राजन्! अन्तमें उन्होंने यही निश्चय किया कि हमलोग विषैला जल पी लेनेके कारण मर चुके थे, परन्तु हमारे श्रीकृष्णने अपनी अनुग्रहभरी दृष्टिसे देखकर हमें फिरसे जिला दिया है॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

कालियपर कृपा

श्रीशुक उवाच

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत्॥ १

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम्।
स वै बहुयुगावासं यथाऽऽसीद् विप्र कथ्यताम्॥ २

ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः।
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन्॥ ३

श्रीशुक उवाच

कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः॥ ४

विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजंगमाः॥ ५

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि महाविषधर कालिय नागने यमुनाजीका जल विषैला कर दिया है। तब यमुनाजीको शुद्ध करनेके विचारसे उन्होंने वहाँसे उस सर्पको निकाल दिया॥ १॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीके अगाध जलमें किस प्रकार उस सर्पका दमन किया? फिर कालिय नाग तो जलचर जीव नहीं था, ऐसी दशामें वह अनेक युगोंतक जलमें क्यों और कैसे रहा? सो बतलाइये॥ २॥ ब्रह्मस्वरूप महात्मन्! भगवान् अनन्त हैं। वे अपनी लीला प्रकट करके स्वच्छन्द विहार करते हैं। गोपालरूपसे उन्होंने जो उदार लीला की है, वह तो अमृतस्वरूप है। भला, उसके सेवनसे कौन तृप्त हो सकता है?॥ ३॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! यमुनाजीमें कालिय नागका एक कुण्ड था। उसका जल विषकी गर्मीसे खौलता रहता था। यहाँतक कि उसके ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी झुलसकर उसमें गिर जाया करते थे॥ ४॥ उसके विषैले जलकी उत्ताल तरंगोंका स्पर्श करके तथा उसकी छोटी-छोटी बूँदें लेकर जब वायु बाहर आती और तटके घास-पात, वृक्ष, पशु-पक्षी आदिका स्पर्श करती, तब वे उसी समय मर जाते थे॥ ५॥ परीक्षित्! भगवान्का अवतार तो दुष्टोंका दमन करनेके लिये होता ही है। जब उन्होंने देखा कि उस साँपके विषका वेग बड़ा प्रचण्ड (भयंकर) है और वह भयानक विष ही उसका महान् बल है तथा उसके कारण मेरे विहारका स्थान यमुनाजी भी दूषित

कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे॥ ६

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
संक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः।
पर्यक् प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मि-
र्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत्॥ ७

तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
वार्घोषमंग वरवारणविक्रमस्य।
आश्रुत्य तत् स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः॥ ८

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं
श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं
सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद॥ ९

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः॥ १०

हो गयी हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कमरका फेंटा कसकर एक बहुत ऊँचे कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे ताल ठोंककर उस विषैले जलमें कूद पड़े॥ ६॥ यमुनाजीका जल साँपके विषके कारण पहलेसे ही खौल रहा था। उसकी तरंगें लाल-पीली और अत्यन्त भयंकर उठ रही थीं। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके कूद पड़नेसे उसका जल और भी उछलने लगा। उस समय तो कालियदहका जल इधर-उधर उछलकर चार सौ हाथतक फैल गया। अचिन्त्य अनन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णके लिये इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है॥ ७॥ प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण कालियदहमें कूदकर अतुल बलशाली मतवाले गजराजके समान जल उछालने लगे। इस प्रकार जल-क्रीड़ा करनेपर उनकी भुजाओंकी टक्करसे जलमें बड़े जोरका शब्द होने लगा। आँखसे ही सुननेवाले कालिय नागने वह आवाज सुनी और देखा कि कोई मेरे निवासस्थानका तिरस्कार कर रहा है। उसे यह सहन न हुआ। वह चिढ़कर भगवान् श्रीकृष्णके सामने आ गया॥ ८॥ उसने देखा कि सामने एक साँवला-सलोना बालक है। वर्षाकालीन मेघके समान अत्यन्त सुकुमार शरीर है, उसमें लगकर आँखें हटनेका नाम ही नहीं लेतीं। उसके वक्षःस्थलपर एक सुनहली रेखा—श्रीवत्सका चिह्न है और वह पीले रंगका वस्त्र धारण किये हुए है। बड़े मधुर एवं मनोहर मुखपर मन्द-मन्द मुसकान अत्यन्त शोभायमान हो रही है। चरण इतने सुकुमार और सुन्दर हैं, मानो कमलकी गद्दी हो। इतना आकर्षक रूप होनेपर भी जब कालिय नागने देखा कि बालक तनिक भी न डरकर इस विषैले जलमें मौजसे खेल रहा है, तब उसका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने श्रीकृष्णको मर्मस्थानोंमें डँसकर अपने शरीरके बन्धनसे उन्हें जकड़ लिया॥ ९॥ भगवान् श्रीकृष्ण नागपाशमें बँधकर निश्चेष्ट हो गये। यह देखकर उनके प्यारे सखा ग्वालबाल बहुत ही पीड़ित हुए और उसी समय दुःख, पश्चात्ताप और भयसे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। क्योंकि उन्होंने अपने शरीर, सुहृद्, धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, भोग और कामनाएँ—सब कुछ भगवान् श्रीकृष्णको ही समर्पित कर रखा था॥ १०॥

गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे॥ ११

गाय, बैल, बछिया और बछड़े बड़े दुःखसे डकराने लगे। श्रीकृष्णकी ओर ही उनकी टकटकी बँध रही थी। वे डरकर इस प्रकार खड़े हो गये, मानो रो रहे हों। उस समय उनका शरीर हिलता-डोलतातक न था॥ ११॥

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः॥ १२

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम्॥ १३

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः॥ १४

आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः।
निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥ १५

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः।
प्रहस्य किंचिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः॥ १६

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम्॥ १७

इधर व्रजमें पृथ्वी, आकाश और शरीरोंमें बड़े भयंकर-भयंकर तीनों प्रकारके उत्पात उठ खड़े हुए, जो इस बातकी सूचना दे रहे थे कि बहुत ही शीघ्र कोई अशुभ घटना घटनेवाली है॥ १२॥ नन्दबाबा आदि गोपोंने पहले तो उन अशकुनोंको देखा और पीछेसे यह जाना कि आज श्रीकृष्ण बिना बलरामके ही गाय चराने चले गये। वे भयसे व्याकुल हो गये॥ १३॥ वे भगवान्‌का प्रभाव नहीं जानते थे। इसीलिये उन अशकुनोंको देखकर उनके मनमें यह बात आयी कि आज तो श्रीकृष्णकी मृत्यु ही हो गयी होगी। वे उसी क्षण दुःख, शोक और भयसे आतुर हो गये। क्यों न हों, श्रीकृष्ण ही उनके प्राण, मन और सर्वस्व जो थे॥ १४॥ प्रिय परीक्षित्! व्रजके बालक, वृद्ध और स्त्रियोंका स्वभाव गायों-जैसा ही वात्सल्यपूर्ण था। वे मनमें ऐसी बात आते ही अत्यन्त दीन हो गये और अपने प्यारे कन्हैयाको देखनेकी उत्कट लालसासे घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े॥ १५॥ बलरामजी स्वयं भगवान्‌के स्वरूप और सर्वशक्तिमान् हैं। उन्होंने जब व्रजवासियोंको इतना कातर और इतना आतुर देखा, तब उन्हें हँसी आ गयी। परन्तु वे कुछ बोले नहीं, चुप ही रहे। क्योंकि वे अपने छोटे भाई श्रीकृष्णका प्रभाव भलीभाँति जानते थे॥ १६॥ व्रजवासी अपने प्यारे श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगे। कोई अधिक कठिनाई न हुई; क्योंकि मार्गमें उन्हें भगवान्‌के चरणचिह्न मिलते जाते थे। जौ, कमल, अंकुश आदिसे युक्त होनेके कारण उन्हें पहचान होती जाती थी। इस प्रकार वे यमुना-तटकी ओर जाने लगे॥ १७॥

ते तत्र तत्राब्जयवांकुशाशनि-
ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे
निरीक्षमाणा ययुरंग सत्वराः॥ १८

परीक्षित्! मार्गमें गौओं और दूसरोंके चरणचिह्नोंके बीच-बीचमें भगवान्‌के चरणचिह्न भी दीख जाते थे। उनमें कमल, जौ, अंकुश, वज्र और ध्वजाके चिह्न बहुत ही स्पष्ट थे। उन्हें देखते हुए वे बहुत शीघ्रतासे चले॥ १८॥

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात्
कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते।
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च
संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः॥ १९

गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते
तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम्॥ २०

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः॥ २१

कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम्।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित्॥ २२

इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः
स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरंगबन्धात्॥ २३

उन्होंने दूरसे ही देखा कि कालियदहमें कालिय नागके शरीरसे बँधे हुए श्रीकृष्ण चेष्टाहीन हो रहे हैं। कुण्डके किनारेपर ग्वालबाल अचेत हुए पड़े हैं और गौएँ, बैल, बछड़े आदि बड़े आर्तस्वरसे डकरा रहे हैं। यह सब देखकर वे सब गोप अत्यन्त व्याकुल और अन्तमें मूर्च्छित हो गये॥ १९॥ गोपियोंका मन अनन्त गुणगणनिलय भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमके रंगमें रँगा हुआ था। वे तो नित्य-निरन्तर भगवान्‌के सौहार्द, उनकी मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन तथा मीठी वाणीका ही स्मरण करती रहती थीं। जब उन्होंने देखा कि हमारे प्रियतम श्यामसुन्दरको काले साँपने जकड़ रखा है, तब तो उनके हृदयमें बड़ा ही दुःख और बड़ी ही जलन हुई। अपने प्राणवल्लभ जीवनसर्वस्वके बिना उन्हें तीनों लोक सूने दीखने लगे॥ २०॥ माता यशोदा तो अपने लाड़ले लालके पीछे कालियदहमें कूदने ही जा रही थीं; परन्तु गोपियोंने उन्हें पकड़ लिया। उनके हृदयमें भी वैसी ही पीड़ा थी। उनकी आँखोंसे भी आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी। सबकी आँखें श्रीकृष्णके मुखकमलपर लगी थीं। जिनके शरीरमें चेतना थी, वे व्रजमोहन श्रीकृष्णकी पूतना-वध आदिकी प्यारी-प्यारी ऐश्वर्यकी लीलाएँ कह-कहकर यशोदाजीको धीरज बँधाने लगीं। किन्तु अधिकांश तो मुर्देकी तरह पड़ ही गयी थीं॥ २१॥ परीक्षित्! नन्दबाबा आदिके जीवन-प्राण तो श्रीकृष्ण ही थे। वे श्रीकृष्णके लिये कालियदहमें घुसने लगे। यह देखकर श्रीकृष्णका प्रभाव जाननेवाले भगवान् बलरामजीने किन्हींको समझा-बुझाकर, किन्हींको बलपूर्वक और किन्हींको उनके हृदयोंमें प्रेरणा करके रोक दिया॥ २२॥

परीक्षित्! यह साँपके शरीरसे बँध जाना तो श्रीकृष्णकी मनुष्यों-जैसी एक लीला थी। जब उन्होंने देखा कि व्रजके सभी लोग स्त्री और बच्चोंके साथ मेरे लिये इस प्रकार अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं और सचमुच मेरे सिवा इनका कोई दूसरा सहारा भी नहीं है, तब वे एक मुहूर्ततक सर्पके बन्धनमें रहकर बाहर निकल आये॥ २३॥

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजंगः।
तस्थौ श्वसञ्छ्‌वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥ २४

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं
द्वे सृक्विणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम्।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो
बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः॥ २५

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरस्स्वधिरूढ आद्यः।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥ २६

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदंगपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः॥ २७

यद् यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन् ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः॥ २८

भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपना शरीर फुलाकर खूब मोटा कर लिया। इससे साँपका शरीर टूटने लगा। वह अपना नागपाश छोड़कर अलग खड़ा हो गया और क्रोधसे आग बबूला हो अपने फण ऊँचा करके फुफकारें मारने लगा। घात मिलते ही श्रीकृष्णपर चोट करनेके लिये वह उनकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। उस समय उसके नथुनोंसे विषकी फुहारें निकल रही थीं। उसकी आँखें स्थिर थीं और इतनी लाल-लाल हो रही थीं, मानो भट्टीपर तपाया हुआ खपड़ा हो। उसके मुँहसे आगकी लपटें निकल रही थीं॥ २४॥ उस समय कालिय नाग अपनी दुहरी जीभ लपलपाकर अपने होठोंके दोनों किनारोंको चाट रहा था और अपनी कराल आँखोंसे विषकी ज्वाला उगलता जा रहा था। अपने वाहन गरुड़के समान भगवान् श्रीकृष्ण उसके साथ खेलते हुए पैंतरा बदलने लगे और वह साँप भी उनपर चोट करनेका दाँव देखता हुआ पैंतरा बदलने लगा॥ २५॥ इस प्रकार पैंतरा बदलते-बदलते उसका बल क्षीण हो गया। तब भगवान् श्रीकृष्णने उसके बड़े-बड़े सिरोंको तनिक दबा दिया और उछलकर उनपर सवार हो गये। कालिय नागके मस्तकोंपर बहुत-सी लाल-लाल मणियाँ थीं। उनके स्पर्शसे भगवान्‌के सुकुमार तलुओंकी लालिमा और भी बढ़ गयी। नृत्य-गान आदि समस्त कलाओंके आदिप्रवर्तक भगवान् श्रीकृष्ण उसके सिरोंपर कलापूर्ण नृत्य करने लगे॥ २६॥ भगवान्‌के प्यारे भक्त गन्धर्व, सिद्ध, देवता, चारण और देवांगनाओंने जब देखा कि भगवान् नृत्य करना चाहते हैं, तब वे बड़े प्रेमसे मृदंग, ढोल, नगारे आदि बाजे बजाते हुए, सुन्दर-सुन्दर गीत गाते हुए, पुष्पोंकी वर्षा करते हुए और अपनेको निछावर करते हुए भेंट ले-लेकर उसी समय भगवान्‌के पास आ पहुँचे॥ २७॥ परीक्षित्! कालिय नागके एक सौ एक सिर थे। वह अपने जिस सिरको नहीं झुकाता था, उसीको प्रचण्ड दण्डधारी भगवान् अपने पैरोंकी चोटसे कुचल डालते। इससे कालिय नागकी जीवनशक्ति क्षीण हो चली, वह मुँह और नथुनोंसे खून उगलने लगा। अन्तमें चक्कर काटते-काटते वह बेहोश हो गया॥ २८॥

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु
यद् यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः।
नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव
पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः॥ २९

तनिक भी चेत होता तो वह अपनी आँखोंसे विष उगलने लगता और क्रोधके मारे जोर-जोरसे फुफकारें मारने लगता। इस प्रकार वह अपने सिरोंमेंसे जिस सिरको ऊपर उठाता, उसीको नाचते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणोंकी ठोकरसे झुकाकर रौंद डालते। उस समय पुराण-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर जो खूनकी बूँदें पड़ती थीं, उनसे ऐसा मालूम होता, मानो रक्त-पुष्पोंसे उनकी पूजा की जा रही हो॥ २९॥

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥ ३०

परीक्षित्! भगवान्‌के इस अद्भुत ताण्डव-नृत्यसे कालियके फणरूप छत्ते छिन्न-भिन्न हो गये। उसका एक-एक अंग चूर-चूर हो गया और मुँहसे खूनकी उलटी होने लगी। अब उसे सारे जगत्‌के आदिशिक्षक पुराणपुरुष भगवान् नारायणकी स्मृति हुई। वह मन-ही-मन भगवान्‌की शरणमें गया॥ ३०॥

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं
पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम्।
दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य
आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः॥ ३१

भगवान् श्रीकृष्णके उदरमें सम्पूर्ण विश्व है। इसलिये उनके भारी बोझसे कालिय नागके शरीरकी एक-एक गाँठ ढीली पड़ गयी। उनकी एड़ियोंकी चोटसे उसके छत्रके समान फण छिन्न-भिन्न हो गये। अपने पतिकी यह दशा देखकर उसकी पत्नियाँ भगवान्‌की शरणमें आयीं। वे अत्यन्त आतुर हो रही थीं। भयके मारे उनके वस्त्राभूषण अस्त-व्यस्त हो रहे थे और केशकी चोटियाँ भी बिखर रही थीं॥ ३१॥

तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः।
साध्व्यः कृतांजलिपुटाः शमलस्य भर्तु-
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः॥ ३२

उस समय उन साध्वी नागपत्नियोंके चित्तमें बड़ी घबराहट थी। अपने बालकोंको आगे करके वे पृथ्वीपर लोट गयीं और हाथ जोड़कर उन्होंने समस्त प्राणियोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया। भगवान् श्रीकृष्णको शरणागतवत्सल जानकर अपने अपराधी पतिको छुड़ानेकी इच्छासे उन्होंने उनकी शरण ग्रहण की॥ ३२॥

नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे-
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्॥ ३३

नागपत्नियोंने कहा—प्रभो! आपका यह अवतार ही दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये हुआ है। इसलिये इस अपराधीको दण्ड देना सर्वथा उचित है। आपकी दृष्टिमें शत्रु और पुत्रका कोई भेदभाव नहीं है। इसलिये आप जो किसीको दण्ड देते हैं, वह उसके पापोंका प्रायश्चित्त कराने और उसका परम कल्याण करनेके लिये ही॥ ३३॥

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः॥ ३४

आपने हमलोगोंपर यह बड़ा ही अनुग्रह किया। यह तो आपका कृपा-प्रसाद ही है। क्योंकि आप जो दुष्टोंको दण्ड देते हैं, उससे उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इस सर्पके अपराधी होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। यदि यह अपराधी न होता तो इसे सर्पकी योनि ही क्यों मिलती? इसलिये हम सच्चे हृदयसे आपके इस क्रोधको भी आपका अनुग्रह ही समझती हैं॥ ३४॥

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः॥ ३५

अवश्य ही पूर्वजन्ममें इसने स्वयं मानरहित होकर और दूसरोंका सम्मान करते हुए कोई बहुत बड़ी तपस्या की है। अथवा सब जीवोंपर दया करते हुए इसने कोई बहुत बड़ा धर्म किया है तभी तो आप इसके ऊपर सन्तुष्ट हुए हैं। क्योंकि सर्व-जीवस्वरूप आपकी प्रसन्नताका यही उपाय है॥ ३५॥

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥ ३६

भगवन्! हम नहीं समझ पातीं कि यह इसकी किस साधनाका फल है, जो यह आपके चरणकमलोंकी धूलका स्पर्श पानेका अधिकारी हुआ है। आपके चरणोंकी रज इतनी दुर्लभ है कि उसके लिये आपकी अर्द्धांगिनी लक्ष्मीजीको भी बहुत दिनोंतक समस्त भोगोंका त्याग करके नियमोंका पालन करते हुए तपस्या करनी पड़ी थी॥ ३६॥

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥ ३७

प्रभो! जो आपके चरणोंकी धूलकी शरण ले लेते हैं, वे भक्तजन स्वर्गका राज्य या पृथ्वीकी बादशाही नहीं चाहते। न वे रसातलका ही राज्य चाहते और न तो ब्रह्माका पद ही लेना चाहते हैं। उन्हें अणिमादि योग-सिद्धियोंकी भी चाह नहीं होती। यहाँतक कि वे जन्म-मृत्युसे छुड़ानेवाले कैवल्य-मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते॥ ३७॥

तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः॥ ३८

स्वामी! यह नागराज तमोगुणी योनिमें उत्पन्न हुआ है और अत्यन्त क्रोधी है। फिर भी इसे आपकी वह परम पवित्र चरणरज प्राप्त हुई, जो दूसरोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है; तथा जिसको प्राप्त करनेकी इच्छा-मात्रसे ही संसारचक्रमें पड़े हुए जीवको संसारके वैभव-सम्पत्तिकी तो बात ही क्या—मोक्षकी भी प्राप्ति हो जाती है॥ ३८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने॥ ३९

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च॥ ४०

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे॥ ४१

भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये॥ ४२

नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥ ४३

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥ ४४

प्रभो! हम आपको प्रणाम करती हैं। आप अनन्त एवं अचिन्त्य ऐश्वर्यके नित्य निधि हैं। आप सबके अन्त:करणोंमें विराजमान होनेपर भी अनन्त हैं। आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंके आश्रय तथा सब पदार्थोंके रूपमें भी विद्यमान हैं। आप प्रकृतिसे परे स्वयं परमात्मा हैं॥ ३९ ॥ आप सब प्रकारके ज्ञान और अनुभवोंके खजाने हैं। आपकी महिमा और शक्ति अनन्त है। आपका स्वरूप अप्राकृत—दिव्य चिन्मय है, प्राकृतिक गुणों एवं विकारोंका आप कभी स्पर्श ही नहीं करते। आप ही ब्रह्म हैं, हम आपको नमस्कार कर रही हैं॥ ४० ॥ आप प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले काल हैं, कालशक्तिके आश्रय हैं और कालके क्षण-कल्प आदि समस्त अवयवोंके साक्षी हैं। आप विश्वरूप होते हुए भी उससे अलग रहकर उसके द्रष्टा हैं। आप उसके बनानेवाले निमित्तकारण तो हैं ही, उसके रूपमें बननेवाले उपादानकारण भी हैं॥ ४१ ॥ प्रभो! पंचभूत, उनकी तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि और इन सबका खजाना चित्त—ये सब आप ही हैं। तीनों गुण और उनके कार्योंमें होनेवाले अभिमानके द्वारा आपने अपने साक्षात्कारको छिपा रखा है॥ ४२ ॥ आप देश, काल और वस्तुओंकी सीमासे बाहर—अनन्त हैं। सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और कार्य-कारणोंके समस्त विकारोंमें भी एकरस, विकाररहित और सर्वज्ञ हैं। ईश्वर हैं कि नहीं हैं, सर्वज्ञ हैं कि अल्पज्ञ इत्यादि अनेक मतभेदोंके अनुसार आप उन-उन मतवादियोंको उन्हीं-उन्हीं रूपोंमें दर्शन देते हैं। समस्त शब्दोंके अर्थके रूपमें तो आप हैं ही, शब्दोंके रूपमें भी हैं तथा उन दोनोंका सम्बन्ध जोड़नेवाली शक्ति भी आप ही हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं॥ ४३ ॥ प्रत्यक्ष-अनुमान आदि जितने भी प्रमाण हैं, उनको प्रमाणित करनेवाले मूल आप ही हैं। समस्त शास्त्र आपसे ही निकले हैं और आपका ज्ञान स्वत:सिद्ध है। आप ही मनको लगानेकी विधिके रूपमें और उसको सब कहींसे हटा लेनेकी आज्ञाके रूपमें प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग हैं। इन दोनोंके मूल वेद भी स्वयं आप ही हैं। हम आपको बार-बार नमस्कार करती हैं॥ ४४ ॥

नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः॥ ४५

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे॥ ४६

अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने॥ ४७

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे॥ ४८

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो
गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक्।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः
समीक्षयामोघविहार ईहसे॥ ४९

तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां
शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां
स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः॥ ५०

आप शुद्धसत्त्वमय वसुदेवके पुत्र वासुदेव, संकर्षण एवं प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी हैं। इस प्रकार चतुर्व्यूहके रूपमें आप भक्तों तथा यादवोंके स्वामी हैं। श्रीकृष्ण! हम आपको नमस्कार करती हैं॥ ४५ ॥ आप अन्त:करण और उसकी वृत्तियोंके प्रकाशक हैं और उन्हींके द्वारा अपने-आपको ढक रखते हैं। उन अन्त:करण और वृत्तियोंके द्वारा ही आपके स्वरूपका कुछ-कुछ संकेत भी मिलता है। आप उन गुणों और उनकी वृत्तियोंके साक्षी तथा स्वयंप्रकाश हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं॥ ४६ ॥ आप मूलप्रकृतिमें नित्य विहार करते रहते हैं। समस्त स्थूल और सूक्ष्म जगत्‌की सिद्धि आपसे ही होती है। हृषीकेश! आप मननशील आत्माराम हैं। मौन ही आपका स्वभाव है। आपको हमारा नमस्कार है॥ ४७ ॥ आप स्थूल, सूक्ष्म समस्त गतियोंके जाननेवाले तथा सबके साक्षी हैं। आप नामरूपात्मक विश्वप्रपंचके निषेधकी अवधि तथा उसके अधिष्ठान होनेके कारण विश्वरूप भी हैं। आप विश्वके अध्यास तथा अपवादके साक्षी हैं एवं अज्ञानके द्वारा उसकी सत्यत्वभ्रान्ति एवं स्वरूपज्ञानके द्वारा उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिके भी कारण हैं। आपको हमारा नमस्कार है॥ ४८ ॥

प्रभो! यद्यपि कर्तापन न होनेके कारण आप कोई भी कर्म नहीं करते, निष्क्रिय हैं—तथापि अनादि कालशक्तिको स्वीकार करके प्रकृतिके गुणोंके द्वारा आप इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी लीला करते हैं। क्योंकि आपकी लीलाएँ अमोघ हैं। आप सत्यसंकल्प हैं। इसलिये जीवोंके संस्काररूपसे छिपे हुए स्वभावोंको अपनी दृष्टिसे जाग्रत् कर देते हैं॥ ४९ ॥ त्रिलोकीमें तीन प्रकारकी योनियाँ हैं—सत्त्वगुणप्रधान शान्त, रजोगुणप्रधान अशान्त और तमोगुणप्रधान मूढ। वे सब-की-सब आपकी लीला-मूर्तियाँ हैं। फिर भी इस समय आपको सत्त्वगुणप्रधान शान्तजन ही विशेष प्रिय हैं। क्योंकि आपका यह अवतार और ये लीलाएँ साधुजनोंकी रक्षा तथा धर्मकी रक्षा एवं विस्तारके लिये ही हैं॥ ५० ॥

अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः॥ ५१

अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥ ५२

विधेहि ते किंकरीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतोभयात्॥ ५३

श्रीशुक उवाच

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः।
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः॥ ५४

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम्।
कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृतांजलिः॥ ५५

कालिय उवाच

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः॥ ५६

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम्।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति॥ ५७

वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम्॥ ५८

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः॥ ५९

शान्तात्मन्! स्वामीको एक बार अपनी प्रजाका अपराध सह लेना चाहिये। यह मूढ है, आपको पहचानता नहीं है, इसलिये इसे क्षमा कर दीजिये॥ ५१॥ भगवन्! कृपा कीजिये; अब यह सर्प मरने ही वाला है। साधुपुरुष सदासे ही हम अबलाओंपर दया करते आये हैं। अतः आप हमें हमारे प्राणस्वरूप पतिदेवको दे दीजिये॥ ५२॥ हम आपकी दासी हैं। हमें आप आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करें? क्योंकि जो श्रद्धाके साथ आपकी आज्ञाओंका पालन—आपकी सेवा करता है, वह सब प्रकारके भयोंसे छुटकारा पा जाता है॥ ५३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्के चरणोंकी ठोकरोंसे कालिय नागके फण छिन्न-भिन्न हो गये थे। वह बेसुध हो रहा था। जब नागपत्नियोंने इस प्रकार भगवान्की स्तुति की, तब उन्होंने दया करके उसे छोड़ दिया॥ ५४॥ धीरे-धीरे कालिय नागकी इन्द्रियों और प्राणोंमें कुछ-कुछ चेतना आ गयी। वह बड़ी कठिनतासे श्वास लेने लगा और थोड़ी देरके बाद बड़ी दीनतासे हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोला॥ ५५॥

कालिय नागने कहा—नाथ! हम जन्मसे ही दुष्ट, तमोगुणी और बहुत दिनोंके बाद भी बदला लेनेवाले—बड़े क्रोधी जीव हैं। जीवोंके लिये अपना स्वभाव छोड़ देना बहुत कठिन है। इसीके कारण संसारके लोग नाना प्रकारके दुराग्रहोंमें फँस जाते हैं॥ ५६॥ विश्वविधाता! आपने ही गुणोंके भेदसे इस जगत्में नाना प्रकारके स्वभाव, वीर्य, बल, योनि, बीज, चित्त और आकृतियोंका निर्माण किया है॥ ५७॥ भगवन्! आपकी ही सृष्टिमें हम सर्प भी हैं। हम जन्मसे ही बड़े क्रोधी होते हैं। हम इस मायाके चक्करमें स्वयं मोहित हो रहे हैं। फिर अपने प्रयत्नसे इस दुस्त्यज मायाका त्याग कैसे करें॥ ५८॥ आप सर्वज्ञ और सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं। आप ही हमारे स्वभाव और इस मायाके कारण हैं। अब आप अपनी इच्छासे—जैसा ठीक समझें—कृपा कीजिये या दण्ड दीजिये॥ ५९॥

श्रीशुक उवाच

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी॥ ६०

य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।
कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद् भयमाप्नुयात्॥ ६१

योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ६२

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्॥ ६३

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम्॥ ६४

दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया॥ ६५

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम्।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम्॥ ६६

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह।
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत्।
अनुग्रहाद् भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः॥ ६७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कालिय नागकी बात सुनकर लीला-मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'सर्प! अब तुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये। तू अपने जाति-भाई, पुत्र और स्त्रियोंके साथ शीघ्र ही यहाँसे समुद्रमें चला जा। अब गौएँ और मनुष्य यमुना-जलका उपभोग करें॥ ६०॥ जो मनुष्य दोनों समय तुझको दी हुई मेरी इस आज्ञाका स्मरण तथा कीर्तन करे, उसे साँपोंसे कभी भय न हो॥ ६१॥ मैंने इस कालियदहमें क्रीड़ा की है। इसलिये जो पुरुष इसमें स्नान करके जलसे देवता और पितरोंका तर्पण करेगा, एवं उपवास करके मेरा स्मरण करता हुआ मेरी पूजा करेगा—वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ ६२॥ मैं जानता हूँ कि तू गरुडके भयसे रमणक द्वीप छोड़कर इस दहमें आ बसा था। अब तेरा शरीर मेरे चरणचिह्नोंसे अंकित हो गया है। इसलिये जा, अब गरुड तुझे खायेंगे नहीं॥ ६३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— भगवान् श्रीकृष्णकी एक-एक लीला अद्‌भुत है। उनकी ऐसी आज्ञा पाकर कालिय नाग और उसकी पत्नियोंने आनन्दसे भरकर बड़े आदरसे उनकी पूजा की॥ ६४॥

उन्होंने दिव्य वस्त्र, पुष्पमाला, मणि, बहुमूल्य आभूषण, दिव्य गन्ध, चन्दन और अति उत्तम कमलोंकी मालासे जगत्‌के स्वामी गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्णका पूजन करके उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद बड़े प्रेम और आनन्दसे उनकी परिक्रमा की, वन्दना की और उनसे अनुमति ली। तब अपनी पत्नियों, पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके साथ रमणक द्वीपकी, जो समुद्रमें सर्पोंके रहनेका एक स्थान है, यात्रा की। लीला-मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे यमुनाजीका जल केवल विषहीन ही नहीं, बल्कि उसी समय अमृतके समान मधुर हो गया॥ ६५—६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कालियमोक्षणं नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

कालियके कालियदहमें आनेकी कथा तथा भगवान्‌का व्रजवासियोंको दावानलसे बचाना

राजोवाच

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः।
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमंजसम्॥ १

श्रीशुक उवाच

उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः।
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्‌ निरूपितः॥ २

स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि।
गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने॥ ३

विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बलिम्॥ ४

तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् भगवान् भगवत्प्रियः।
विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत्॥ ५

तमापतन्तं तरसा विषायुधः
प्रत्यभ्ययादुच्छ्रितनैकमस्तकः।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद् ददायुधः
करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः॥ ६

तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युमान्
प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! कालिय नागने नागोंके निवासस्थान रमणक द्वीपको क्यों छोड़ा था? और उस अकेलेने ही गरुडजीका कौन-सा अपराध किया था?॥ १॥

श्रीशुकदेवीजीने कहा—परीक्षित्! पूर्वकालमें गरुडजीको उपहार स्वरूप प्राप्त होनेवाले सर्पोंने यह नियम कर लिया था कि प्रत्येक मासमें निर्दिष्ट वृक्षके नीचे गरुडको एक सर्पकी भेंट दी जाय॥ २॥

इस नियमके अनुसार प्रत्येक अमावस्याको सारे सर्प अपनी रक्षाके लिये महात्मा गरुडजीको अपना-अपना भाग देते रहते थे*॥ ३॥ उन सर्पोंमें कद्रूका पुत्र कालिय नाग अपने विष और बलके घमंडसे मतवाला हो रहा था। उसने गरुडका तिरस्कार करके स्वयं तो बलि देना दूर रहा—दूसरे साँप जो गरुडको बलि देते, उसे भी खा लेता॥ ४॥ परीक्षित्! यह सुनकर भगवान्‌के प्यारे पार्षद शक्तिशाली गरुडको बड़ा क्रोध आया। इसलिये उन्होंने कालिय नागको मार डालनेके विचारसे बड़े वेगसे उसपर आक्रमण किया॥ ५॥ विषधर कालिय नागने जब देखा कि गरुड बड़े वेगसे मुझपर आक्रमण करने आ रहे हैं, तब वह अपने एक सौ एक फण फैलाकर डसनेके लिये उनपर टूट पड़ा। उसके पास शस्त्र थे केवल दाँत, इसलिये उसने दाँतोंसे गरुडको डस लिया। उस समय वह अपनी भयावनी जीभें लपलपा रहा था, उसकी साँस लंबी चल रही थी और आँखें बड़ी डरावनी जान पड़ती थीं॥ ६॥ तार्क्ष्यनन्दन गरुडजी विष्णुभगवान्‌के वाहन हैं और उनका वेग तथा पराक्रम भी अतुलनीय है। कालिय नागकी यह ढिठाई देखकर उनका क्रोध और भी बढ़ गया तथा उन्होंने उसे अपने शरीरसे झटककर फेंक दिया एवं अपने सुनहले बायें

* यह कथा इस प्रकार है—गरुडजीकी माता विनता और सर्पोंकी माता कद्रूमें परस्पर वैर था। माताका वैर स्मरण कर गरुडजी जो सर्प मिलता उसीको खा जाते। इससे व्याकुल होकर सब सर्प ब्रह्माजीकी शरणमें गये। तब ब्रह्माजीने यह नियम कर दिया कि प्रत्येक अमावास्याको प्रत्येक सर्पपरिवार बारी-बारीसे गरुडजीको एक सर्पकी बलि दिया करे।

पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा
जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः॥ ७

सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः।
ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम्॥ ८

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम्।
निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत्॥ ९

मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हते।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन्॥ १०

अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति।
सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम्॥ ११

तं कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः।
अवात्सीद् गरुडाद् भीतः कृष्णेन च विवासितः॥ १२

कृष्णं ह्रदाद् विनिष्क्रान्तं दिव्यस्त्रग्गन्धवाससम्।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥ १३

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे॥ १४

यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः॥ १५

रामश्चाच्युतमालिंगय जहासास्यानुभाववित्।
नगा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम्॥ १६

नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥ १७

पंखसे कालिय नागपर बड़े जोरसे प्रहार किया॥ ७॥ उनके पंखकी चोटसे कालिय नाग घायल हो गया। वह घबड़ाकर वहाँसे भगा और यमुनाजीके इस कुण्डमें चला आया। यमुनाजीका यह कुण्ड गरुडके लिये अगम्य था। साथ ही वह इतना गहरा था कि उसमें दूसरे लोग भी नहीं जा सकते थे॥ ८॥ इसी स्थानपर एक दिन क्षुधातुर गरुडने तपस्वी सौभरिके मना करनेपर भी अपने अभीष्ट भक्ष्य मत्स्यको बलपूर्वक पकड़कर खा लिया॥ ९॥ अपने मुखिया मत्स्यराजके मारे जानेके कारण मछलियोंको बड़ा कष्ट हुआ। वे अत्यन्त दीन और व्याकुल हो गयीं। उनकी यह दशा देखकर महर्षि सौभरिको बड़ी दया आयी। उन्होंने उस कुण्डमें रहने-वाले सब जीवोंकी भलाईके लिये गरुडको यह शाप दे दिया॥ १०॥ 'यदि गरुड फिर कभी इस कुण्डमें घुसकर मछलियोंको खायेंगे, तो उसी क्षण प्राणोंसे हाथ धो बैठेंगे। मैं यह सत्य-सत्य कहता हूँ'॥ ११॥

परीक्षित्! महर्षि सौभरिके इस शापकी बात कालिय नागके सिवा और कोई साँप नहीं जानता था। इसलिये वह गरुडके भयसे वहाँ रहने लगा था और अब भगवान् श्रीकृष्णने उसे निर्भय करके वहाँसे रमणक द्वीपमें भेज दिया॥ १२॥

परीक्षित्! इधर भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य माला, गन्ध, वस्त्र, महामूल्य मणि और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो उस कुण्डसे बाहर निकले॥ १३॥ उनको देखकर सब-के-सब व्रजवासी इस प्रकार उठ खड़े हुए, जैसे प्राणोंको पाकर इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं। सभी गोपोंका हृदय आनन्दसे भर गया। वे बड़े प्रेम और प्रसन्नतासे अपने कन्हैयाको हृदयसे लगाने लगे॥ १४॥ परीक्षित्! यशोदारानी, रोहिणीजी, नन्दबाबा, गोपी और गोप—सभी श्रीकृष्णको पाकर सचेत हो गये। उनका मनोरथ सफल हो गया॥ १५॥ बलरामजी तो भगवान्‌का प्रभाव जानते ही थे। वे श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर हँसने लगे। पर्वत, वृक्ष, गाय, बैल, बछड़े—सब-के-सब आनन्दमग्न हो गये॥ १६॥

गोपोंके कुलगुरु ब्राह्मणोंने अपनी पत्नियोंके साथ नन्दबाबाके पास आकर कहा—'नन्दजी! तुम्हारे बालकको कालिय नागने पकड़ लिया था। सो छूटकर आ गया। यह बड़े सौभाग्यकी बात है!॥ १७॥

देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे।
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत्॥ १८

यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः॥ १९

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः।
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः॥ २०

तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम्।
सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे॥ २१

तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम्॥ २२

कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम।
एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः॥ २३

सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम्॥ २४

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः।
तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक्॥ २५

श्रीकृष्णके मृत्युके मुखसे लौट आनेके उपलक्ष्यमें तुम ब्राह्मणोंको दान करो।' परीक्षित्! ब्राह्मणोंकी बात सुनकर नन्दबाबाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बहुत-सा सोना और गौएँ ब्राह्मणोंको दान दीं॥ १८॥ परम सौभाग्यवती देवी यशोदाने भी कालके गालसे बचे हुए अपने लालको गोदमें लेकर हृदयसे चिपका लिया। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसुओंकी बूँदें बार-बार टपकी पड़ती थीं॥ १९॥

राजेन्द्र! व्रजवासी और गौएँ सब बहुत ही थक गये थे। ऊपरसे भूख-प्यास भी लग रही थी। इसलिये उस रात वे व्रजमें नहीं गये, वहीं यमुनाजीके तटपर सो रहे॥ २०॥ गर्मीके दिन थे, उधरका वन सूख गया था। आधी रातके समय उसमें आग लग गयी। उस आगने सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया और वह उन्हें जलाने लगी॥ २१॥ आगकी आँच लगनेपर व्रजवासी घबड़ाकर उठ खड़े हुए और लीला-मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गये॥ २२॥ उन्होंने कहा—'प्यारे श्रीकृष्ण! श्यामसुन्दर! महाभाग्यवान् बलराम! तुम दोनोंका बल-विक्रम अनन्त है। देखो, देखो, यह भयंकर आग तुम्हारे सगे-सम्बन्धी हम स्वजनोंको जलाना ही चाहती है॥ २३॥ तुममें सब सामर्थ्य है। हम तुम्हारे सुहृद् हैं, इसलिये इस प्रलयकी अपार आगसे हमें बचाओ। प्रभो! हम मृत्युसे नहीं डरते, परन्तु तुम्हारे अकुतोभय चरणकमल छोड़नेमें हम असमर्थ हैं॥ २४॥ भगवान् अनन्त हैं; वे अनन्त शक्तियोंको धारण करते हैं, उन जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि मेरे स्वजन इस प्रकार व्याकुल हो रहे हैं तब वे उस भयंकर आगको पी गये*॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अग्नि-पान

* १. मैं सबका दाह दूर करनेके लिये ही अवतीर्ण हुआ हूँ। इसलिये यह दाह दूर करना भी मेरा कर्तव्य है।

* २. रामावतारमें श्रीजानकीजीको सुरक्षित रखकर अग्निने मेरा उपकार किया था। अब उसको अपने मुखमें स्थापित करके उसका सत्कार करना कर्तव्य है।

३. कार्यका कारणमें लय होता है। भगवान्के मुखसे अग्नि प्रकट हुआ—मुखाद् अग्निरजायत। इसलिये भगवान्ने उसे मुखमें ही स्थापित किया।

४. मुखके द्वारा अग्नि शान्त करके यह भाव प्रकट किया कि भव-दावाग्निको शान्त करनेमें भगवान्के मुख-स्थानीय ब्राह्मण ही समर्थ हैं।

अथाष्टादशोऽध्यायः

प्रलम्बासुर-उद्धार

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः।
अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम्॥ १

व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम्॥ २

स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।
यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः॥ ३

यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम्।
शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम्॥ ४

सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना
कह्लारकंजोत्पलरेणुहारिणा।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो
निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले॥ ५

अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभि-
र्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा
भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब आनन्दित स्वजन सम्बन्धियोंसे घिरे हुए एवं उनके मुखसे अपनी कीर्तिका गान सुनते हुए श्रीकृष्णने गोकुलमण्डित गोष्ठमें प्रवेश किया॥ १॥

इस प्रकार अपनी योगमायासे ग्वालका-सा वेष बनाकर राम और श्याम व्रजमें क्रीडा कर रहे थे। उन दिनों ग्रीष्म ऋतु थी। यह शरीरधारियोंको बहुत प्रिय नहीं है॥ २॥

परन्तु वृन्दावनके स्वाभाविक गुणोंसे वहाँ वसन्तकी ही छटा छिटक रही थी। इसका कारण था, वृन्दावनमें परम मधुर भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और बलरामजी निवास जो करते थे॥ ३॥

झींगुरोंकी तीखी झंकार झरनोंके मधुर झर-झरमें छिप गयी थी। उन झरनोंसे सदा-सर्वदा बहुत ठंडी जलकी फुहियाँ उड़ा करती थीं, जिनसे वहाँके वृक्षोंकी हरियाली देखते ही बनती थी॥ ४॥

जिधर देखिये, हरी-हरी दूबसे पृथ्वी हरी-हरी हो रही है। नदी, सरोवर एवं झरनोंकी लहरोंका स्पर्श करके जो वायु चलती थी उसमें लाल-पीले-नीले तुरंतके खिले हुए, देरके खिले हुए—कह्लार, उत्पल आदि अनेकों प्रकारके कमलोंका पराग मिला हुआ होता था। इस शीतल, मन्द और सुगन्ध वायुके कारण वनवासियोंको गर्मीका किसी प्रकारका क्लेश नहीं सहना पड़ता था। न दावाग्निका ताप लगता था और न तो सूर्यका घाम ही॥ ५॥

नदियोंमें अगाध जल भरा हुआ था। बड़ी-बड़ी लहरें उनके तटोंको चूम जाया करती थीं। वे उनके पुलिनोंसे टकरातीं और उन्हें स्वच्छ बना जातीं। उनके कारण आस-पासकी भूमि गीली बनी रहती और सूर्यकी अत्यन्त उग्र तथा तीखी किरणें भी वहाँकी पृथ्वी और हरी-भरी घासको नहीं सुखा सकती थीं; चारों ओर हरियाली छा रही थी॥ ६॥

वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम्।
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम्॥ ७

क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः।
वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्॥ ८

प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः।
रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः॥ ९

कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन्।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे॥ १०

गोपजातिप्रतिच्छन्नौ देवा गोपालरूपिणः।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप॥ ११

भ्रामणैर्लंघनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः।
चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्॥ १२

क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ॥ १३

उस वनमें वृक्षोंकी पाँत-की-पाँत फूलोंसे लद रही थी। जहाँ देखिये, वहींसे सुन्दरता फूटी पड़ती थी। कहीं रंग-बिरंगे पक्षी चहक रहे हैं, तो कहीं तरह-तरहके हरिन चौकड़ी भर रहे हैं। कहीं मोर कूक रहे हैं, तो कहीं भौंरे गुंजार कर रहे हैं। कहीं कोयलें कुहक रही हैं तो कहीं सारस अलग ही अपना अलाप छेड़े हुए हैं॥ ७॥ ऐसा सुन्दर वन देखकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलरामजीने उसमें विहार करनेकी इच्छा की। आगे-आगे गौएँ चलीं, पीछे-पीछे ग्वालबाल और बीचमें अपने बड़े भाईके साथ बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण॥ ८॥

राम, श्याम और ग्वालबालोंने नव पल्लवों, मोर-पंखके गुच्छों, सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंके हारों और गेरू आदि रंगीन धातुओंसे अपनेको भाँति-भाँतिसे सजा लिया। फिर कोई आनन्दमें मग्न होकर नाचने लगा तो कोई ताल ठोंककर कुश्ती लड़ने लगा और किसी-किसीने राग अलापना शुरू कर दिया॥ ९॥ जिस समय श्रीकृष्ण नाचने लगते, उस समय कुछ ग्वालबाल गाने लगते और कुछ बाँसुरी तथा सींग बजाने लगते। कुछ हथेलीसे ही ताल देते, तो कुछ 'वाह-वाह' करने लगते॥ १०॥ परीक्षित्! उस समय नट जैसे अपने नायककी प्रशंसा करते हैं, वैसे ही देवतालोग ग्वालबालोंका रूप धारण करके वहाँ आते और गोपजातिमें जन्म लेकर छिपे हुए बलराम और श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगते॥ ११॥ घुँघराली अलकोंवाले श्याम और बलराम कभी एक-दूसरेका हाथ पकड़कर कुम्हारके चाककी तरह चक्कर काटते—घुमरी-परेता खेलते। कभी एक-दूसरेसे अधिक फाँद जानेकी इच्छासे कूदते—कूँड़ी डाकते, कभी कहीं होड़ लगाकर ढेले फेंकते तो कभी ताल ठोंक-ठोंककर रस्साकसी करते—एक दल दूसरे दलके विपरीत रस्सी पकड़कर खींचता और कभी कहीं एक-दूसरेसे कुश्ती लड़ते-लड़ाते। इस प्रकार तरह-तरहके खेल खेलते॥ १२॥ कहीं-कहीं जब दूसरे ग्वालबाल नाचने लगते तो श्रीकृष्ण और बलरामजी गाते या बाँसुरी, सींग आदि बजाते। और महाराज! कभी-कभी वे 'वाह-वाह' कहकर उनकी प्रशंसा भी करने लगते॥ १३॥

क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया॥ १४

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः।
कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया॥ १५

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।
नद्यद्रिद्रोणिकुंजेषु काननेषु सरस्सु च॥ १६

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया॥ १७

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन्॥ १८

तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित्।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम्॥ १९

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ।
कृष्णसंघट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे॥ २०

आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः॥ २१

कभी एक-दूसरेपर बेल, जायफल या आँवलेके फल हाथमें लेकर फेंकते। कभी एक-दूसरेकी आँख बंद करके छिप जाते और वह पीछेसे ढूँढ़ता—इस प्रकार आँखमिचौनी खेलते। कभी एक-दूसरेको छूनेके लिये बहुत दूर-दूरतक दौड़ते रहते और कभी पशु-पक्षियोंकी चेष्टाओंका अनुकरण करते॥ १४॥ कहीं मेढकोंकी तरह फुदक-फुदककर चलते तो कभी मुँह बना-बनाकर एक-दूसरेकी हँसी उड़ाते। कहीं रस्सियोंसे वृक्षोंपर झूला डालकर झूलते तो कभी दो बालकोंको खड़ा कराकर उनकी बाँहोंके बल-पर ही लटकने लगते। कभी किसी राजाकी नकल करने लगते॥ १५॥ इस प्रकार राम और श्याम वृन्दावनकी नदी, पर्वत, घाटी, कुंज, वन और सरोवरोंमें वे सभी खेल खेलते जो साधारण बच्चे संसारमें खेला करते हैं॥ १६॥

एक दिन जब बलराम और श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ उस वनमें गौएँ चरा रहे थे तब ग्वालके वेषमें प्रलम्ब नामका एक असुर आया। उसकी इच्छा थी कि मैं श्रीकृष्ण और बलरामको हर ले जाऊँ॥ १७॥ भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं। वे उसे देखते ही पहचान गये। फिर भी उन्होंने उसका मित्रताका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वे मन-ही-मन यह सोच रहे थे कि किस युक्तिसे इसका वध करना चाहिये॥ १८॥ ग्वालबालोंमें सबसे बड़े खिलाड़ी, खेलोंके आचार्य श्रीकृष्ण ही थे। उन्होंने सब ग्वालबालोंको बुलाकर कहा—मेरे प्यारे मित्रो! आज हमलोग अपनेको उचित रीतिसे दो दलोंमें बाँट लें और फिर आनन्दसे खेलें॥ १९॥ उस खेलमें ग्वालबालोंने बलराम और श्रीकृष्णको नायक बनाया। कुछ श्रीकृष्णके साथी बन गये और कुछ बलरामके॥ २०॥ फिर उन लोगोंने तरह-तरहसे ऐसे बहुत-से खेल खेले, जिनमें एक दलके लोग दूसरे दलके लोगोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर एक निर्दिष्ट स्थानपर ले जाते थे। जीतनेवाला दल चढ़ता था और हारनेवाला दल ढोता था॥ २१॥

वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम्।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः॥ २२

रामसंघट्टिनो यर्हि श्रीदामवृषभादयः।
क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप॥ २३

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥ २४

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुंगवः।
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम्॥ २५

तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं
महासुरो विगतरयो निजं वपुः।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ
तडिद् द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः॥ २६

निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्
प्रदीप्तदृग् भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम्।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल-
त्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत्॥ २७

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो
विहायसार्थमिव हरन्तमात्मनः।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा॥ २८

स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।

इस प्रकार एक-दूसरेकी पीठपर चढ़ते-चढ़ाते श्रीकृष्ण आदि ग्वालबाल गौएँ चराते हुए भाण्डीर नामक वटके पास पहुँच गये॥ २२॥

परीक्षित्! एक बार बलरामजीके दलवाले श्रीदामा, वृषभ आदि ग्वालबालोंने खेलमें बाजी मार ली। तब श्रीकृष्ण आदि उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाकर ढोने लगे॥ २३॥ हारे हुए श्रीकृष्णने श्रीदामाको अपनी पीठपर चढ़ाया, भद्रसेनने वृषभको और प्रलम्बने बलरामजीको ॥ २४॥ दानवपुंगव प्रलम्बने देखा कि श्रीकृष्ण तो बड़े बलवान् हैं, उन्हें मैं नहीं हरा सकूँगा। अतः वह उन्हींके पक्षमें हो गया और बलरामजीको लेकर फुर्तीसे भाग चला, और पीठपरसे उतारनेके लिये जो स्थान नियत था, उससे आगे निकल गया॥ २५॥ बलरामजी बड़े भारी पर्वतके समान बोझवाले थे। उनको लेकर प्रलम्बासुर दूरतक न जा सका, उसकी चाल रुक गयी। तब उसने अपना स्वाभाविक दैत्यरूप धारण कर लिया। उसके काले शरीरपर सोनेके गहने चमक रहे थे और गौरसुन्दर बलरामजीको धारण करनेके कारण उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो बिजलीसे युक्त काला बादल चन्द्रमाको धारण किये हुए हो॥ २६॥ उसकी आँखें आगकी तरह धधक रही थीं और दाढ़ें भौंहोंतक पहुँची हुई बड़ी भयावनी थीं। उसके लाल-लाल बाल इस तरह बिखर रहे थे, मानो आगकी लपटें उठ रही हों। उसके हाथ और पाँवोंमें कड़े, सिरपर मुकुट और कानोंमें कुण्डल थे। उनकी कान्तिसे वह बड़ा अद्भुत लग रहा था! उस भयानक दैत्यको बड़े वेगसे आकाशमें जाते देख पहले तो बलरामजी कुछ घबड़ा-से गये॥ २७॥ परन्तु दूसरे ही क्षण अपने स्वरूपकी याद आते ही उनका भय जाता रहा। बलरामजीने देखा कि जैसे चोर किसीका धन चुराकर ले जाय, वैसे ही यह शत्रु मुझे चुराकर आकाश-मार्गसे लिये जा रहा है। उस समय जैसे इन्द्रने पर्वतोंपर वज्र चलाया था, वैसे ही उन्होंने क्रोध करके उसके सिरपर एक घूँसा कसकर जमाया॥ २८॥ घूँसा लगना था कि उसका सिर चूर-चूर हो गया। वह मुँहसे खून उगलने लगा, चेतना जाती रही और

महारवं व्यसुरपतत् समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥ २९

बड़ा भयंकर शब्द करता हुआ इन्द्रके द्वारा वज्रसे मारे हुए पर्वतके समान वह उसी समय प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २९॥

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना।
गोपाः सुविस्मिता आसन् साधु साध्विति वादिनः॥ ३०

बलरामजी परम बलशाली थे। जब ग्वालबालोंने देखा कि उन्होंने प्रलम्बासुरको मार डाला, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे बार-बार 'वाह-वाह' करने लगे॥ ३०॥

आशिषोऽभिगृणन्तस्तं प्रशशंसुस्तदर्हणम्।
प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः॥ ३१

ग्वालबालोंका चित्त प्रेमसे विह्वल हो गया। वे उनके लिये शुभ कामनाओंकी वर्षा करने लगे और मानो मरकर लौट आये हों, इस भावसे आलिंगन करके प्रशंसा करने लगे। वस्तुतः बलरामजी इसके योग्य ही थे॥ ३१॥

पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः।
अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति॥ ३२

प्रलम्बासुर मूर्तिमान् पाप था। उसकी मृत्युसे देवताओंको बड़ा सुख मिला। वे बलरामजीपर फूल बरसाने लगे और 'बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा किया' इस प्रकार कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
प्रलम्बवधो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

गौओं और गोपोंको दावानलसे बचाना

श्रीशुक उवाच

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उस समय जब ग्वालबाल खेल-कूदमें लग गये, तब उनकी गौएँ बेरोक-टोक चरती हुई बहुत दूर निकल गयीं और हरी-हरी घासके लोभसे एक गहन वनमें घुस गयीं॥ १॥

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम्।
इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः॥ २

उनकी बकरियाँ, गायें और भैंसें एक वनसे दूसरे वनमें होती हुई आगे बढ़ गयीं तथा गर्मीके तापसे व्याकुल हो गयीं। वे बेसुध-सी होकर अन्तमें डकराती हुई मुंजाटवी (सरकंडोंके वन) में घुस गयीं॥ २॥

तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम्॥ ३

जब श्रीकृष्ण, बलराम आदि ग्वालबालोंने देखा कि हमारे पशुओंका तो कहीं पता-ठिकाना ही नहीं है, तब उन्हें अपने खेल-कूदपर बड़ा पछतावा हुआ और वे बहुत कुछ खोज-बीन करनेपर भी अपनी गौओंका पता न लगा सके॥ ३॥

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरंकितैर्गवाम् ।
मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः॥ ४

मुंजाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं स्वगोधनम्।
सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते संन्यवर्तयन्॥ ५

ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः॥ ६

ततः समन्ताद् वनधूमकेतु-
र्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम्।
समीरितः सारथिनोल्बणोल्मुकै-
र्विलेलिहानः स्थिरजंगमान् महान्॥ ७

तमापतन्तं परितो दवाग्निं
गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना
यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः॥ ८

कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामामितविक्रम।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः॥ ९

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम्।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥ १०

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत॥ ११

गौएँ ही तो व्रजवासियोंकी जीविकाका साधन थीं। उनके न मिलनेसे वे अचेत-से हो रहे थे। अब वे गौओंके खुर और दाँतोंसे कटी हुई घास तथा पृथ्वीपर बने हुए खुरोंके चिह्नोंसे उनका पता लगाते हुए आगे बढ़े॥ ४॥ अन्तमें उन्होंने देखा कि उनकी गौएँ मुंजाटवीमें रास्ता भूलकर डकरा रही हैं। उन्हें पाकर वे लौटानेकी चेष्टा करने लगे। उस समय वे एकदम थक गये थे और उन्हें प्यास भी बड़े जोरसे लगी हुई थी। इससे वे व्याकुल हो रहे थे॥ ५॥ उनकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मेघके समान गम्भीर वाणीसे नाम ले-लेकर गौओंको पुकारने लगे। गौएँ अपने नामकी ध्वनि सुनकर बहुत हर्षित हुईं। वे भी उत्तरमें हुंकारने और रँभाने लगीं॥ ६॥

परीक्षित्! इस प्रकार भगवान् उन गायोंको पुकार ही रहे थे कि उस वनमें सब ओर अकस्मात् दावाग्नि लग गयी, जो वनवासी जीवोंका काल ही होती है। साथ ही बड़े जोरकी आँधी भी चलकर उस अग्निके बढ़नेमें सहायता देने लगी। इससे सब ओर फैली हुई वह प्रचण्ड अग्नि अपनी भयंकर लपटोंसे समस्त चराचर जीवोंको भस्मसात् करने लगी॥ ७॥ जब ग्वालों और गौओंने देखा कि दावानल चारों ओरसे हमारी ही ओर बढ़ता आ रहा है, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गये। और मृत्युके भयसे डरे हुए जीव जिस प्रकार भगवान्की शरणमें आते हैं, वैसे ही वे श्रीकृष्ण और बलरामजीके शरणापन्न होकर उन्हें पुकारते हुए बोले—॥ ८॥ 'महावीर श्रीकृष्ण! प्यारे श्रीकृष्ण! परम बलशाली बलराम! हम तुम्हारे शरणागत हैं। देखो, इस समय हम दावानलसे जलना ही चाहते हैं। तुम दोनों हमें इससे बचाओ॥ ९॥ श्रीकृष्ण! जिनके तुम्हीं भाई-बन्धु और सब कुछ हो, उन्हें तो किसी प्रकारका कष्ट नहीं होना चाहिये। सब धर्मोंके ज्ञाता श्यामसुन्दर! तुम्हीं हमारे एकमात्र रक्षक एवं स्वामी हो; हमें केवल तुम्हारा ही भरोसा है'॥ १०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—अपने सखा ग्वाल-बालोंके ये दीनतासे भरे वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'डरो मत, तुम अपनी आँखें बंद कर लो'॥ ११॥

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्॥ १२

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः।
निशाम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः॥ १३

कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम्।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम्॥ १४

गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः।
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः॥ १५

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥ १६

भगवान्की आज्ञा सुनकर उन ग्वालबालोंने कहा 'बहुत अच्छा' और अपनी आँखें मूँद लीं। तब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उस भयंकर आगको अपने मुँहसे पी लिया* और इस प्रकार उन्हें उस घोर संकटसे छुड़ा दिया॥ १२॥ इसके बाद जब ग्वालबालोंने अपनी-अपनी आँखें खोलकर देखा तब अपनेको भाण्डीर वटके पास पाया। इस प्रकार अपने-आपको और गौओंको दावानलसे बचा देख वे ग्वालबाल बहुत ही विस्मित हुए॥ १३॥ श्रीकृष्णकी इस योगसिद्धि तथा योगमायाके प्रभावको एवं दावा-नलसे अपनी रक्षाको देखकर उन्होंने यही समझा कि श्रीकृष्ण कोई देवता हैं॥ १४॥

परीक्षित्! सायंकाल होनेपर बलरामजीके साथ भगवान् श्रीकृष्णने गौएँ लौटायीं और वंशी बजाते हुए उनके पीछे-पीछे व्रजकी यात्रा की। उस समय ग्वालबाल उनकी स्तुति करते आ रहे थे॥ १५॥ इधर व्रजमें गोपियोंको श्रीकृष्णके बिना एक-एक क्षण सौ-सौ युगके समान हो रहा था। जब भगवान् श्रीकृष्ण लौटे तब उनका दर्शन करके वे परमानन्दमें मग्न हो गयीं॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे दावाग्निपानं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

अथ विंशोऽध्यायः

वर्षा और शरद्ऋतुका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः।
गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! ग्वालबालोंने घर पहुँचकर अपनी मा, बहिन आदि स्त्रियोंसे श्रीकृष्ण और बलरामने जो कुछ अद्भुत कर्म किये थे—दावानलसे उनको बचाना, प्रलम्बको मारना इत्यादि—सबका वर्णन किया॥ १॥

* १. भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके द्वारा अर्पित प्रेम-भक्ति-सुधा-रसका पान करते हैं। अग्निके मनमें उसीका स्वाद लेनेकी लालसा हो आयी। इसलिये उसने स्वयं ही मुखमें प्रवेश किया।

२. विषाग्नि, मुंजाग्नि और दावाग्नि—तीनोंका पान करके भगवान्ने अपनी त्रितापनाशकी शक्ति व्यक्त की।

३. पहले रात्रिमें अग्निपान किया था, दूसरी बार दिनमें। भगवान् अपने भक्तजनोंका ताप हरनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं।

४. पहली बार सबके सामने और दूसरी बार सबकी आँखें बंद कराके श्रीकृष्णने अग्निपान किया। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही प्रकारसे वे भक्तजनोंका हित करते हैं।

गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः।
मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ॥ २

बड़े-बड़े बूढ़े गोप और गोपियाँ भी राम और श्यामकी अलौकिक लीलाएँ सुनकर विस्मित हो गयीं। वे सब ऐसा मानने लगे कि 'श्रीकृष्ण और बलरामके वेषमें कोई बहुत बड़े देवता ही व्रजमें पधारे हैं'॥ २॥

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला॥ ३

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ॥ ४

अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥ ५

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव॥ ६

इसके बाद वर्षा ऋतुका शुभागमन हुआ। इस ऋतुमें सभी प्रकारके प्राणियोंकी बढ़ती हो जाती है। उस समय सूर्य और चन्द्रमापर बार-बार प्रकाशमय मण्डल बैठने लगे। बादल, वायु, चमक, कड़क आदिसे आकाश क्षुब्ध-सा दीखने लगा॥ ३॥ आकाशमें नीले और घने बादल घिर आते, बिजली कौंधने लगती, बार-बार गड़गड़ाहट सुनायी पड़ती; सूर्य, चन्द्रमा और तारे ढके रहते। इससे आकाशकी ऐसी शोभा होती, जैसे ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी गुणोंसे ढक जानेपर जीवकी होती है॥ ४॥ सूर्यने राजाकी तरह पृथ्वीरूप प्रजासे आठ महीनेतक जलका कर ग्रहण किया था, अब समय आनेपर वे अपनी किरण-करोंसे फिर उसे बाँटने लगे॥ ५॥ जैसे दयालु पुरुष जब देखते हैं कि प्रजा बहुत पीड़ित हो रही है, तब वे दयापरवश होकर अपने जीवन-प्राणतक निछावर कर देते हैं— वैसे ही बिजलीकी चमकसे शोभायमान घनघोर बादल तेज हवाकी प्रेरणासे प्राणियोंके कल्याणके लिये अपने जीवनस्वरूप जलको बरसाने लगे॥ ६॥

तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम्॥ ७

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥ ८

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥ ९

जेठ-आषाढ़की गर्मीसे पृथ्वी सूख गयी थी। अब वर्षाके जलसे सिंचकर वह फिर हरी-भरी हो गयी—जैसे सकामभावसे तपस्या करते समय पहले तो शरीर दुर्बल हो जाता है, परन्तु जब उसका फल मिलता है तब हृष्ट-पुष्ट हो जाता है॥ ७॥ वर्षाके सायंकालमें बादलोंसे घना अँधेरा छा जानेपर ग्रह और तारोंका प्रकाश तो नहीं दिखलायी पड़ता, परन्तु जुगनू चमकने लगते हैं—जैसे कलियुगमें पापकी प्रबलता हो जानेसे पाखण्ड मतोंका प्रचार हो जाता है और वैदिक सम्प्रदाय लुप्त हो जाते हैं॥ ८॥ जो मेंढक पहले चुपचाप सो रहे थे, अब वे बादलोंकी गरज सुनकर टर्र-टर्र करने लगे—जैसे नित्य-नियमसे निवृत्त होनेपर गुरुके आदेशानुसार ब्रह्मचारी लोग वेदपाठ करने लगते हैं॥ ९॥

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः[1]।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः॥ १०

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिता।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्॥ ११

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः[2] कर्षकाणां मुदं ददुः।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥ १२

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥ १३

सरिद्भिः संगतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥ १४

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः॥ १५

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता[3] इव॥ १६

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव[4]॥ १७

छोटी-छोटी नदियाँ, जो जेठ-आषाढ़में बिलकुल सूखनेको आ गयी थीं, वे अब उमड़-घुमड़कर अपने घेरेसे बाहर बहने लगीं—जैसे अजितेन्द्रिय पुरुषके शरीर और धन सम्पत्तियोंका कुमार्गमें उपयोग होने लगता है॥ १०॥ पृथ्वीपर कहीं-कहीं हरी-हरी घासकी हरियाली थी, तो कहीं-कहीं बीरबहूटियोंकी लालिमा और कहीं-कहीं बरसाती छत्तों (सफेद कुकुरमुत्तों) के कारण वह सफेद मालूम देती थी। इस प्रकार उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो किसी राजाकी रंग-बिरंगी सेना हो॥ ११॥ सब खेत अनाजोंसे भरे-पूरे लहलहा रहे थे। उन्हें देखकर किसान तो मारे आनन्दके फूले न समाते थे, परन्तु सब कुछ प्रारब्धके अधीन है—यह बात न जाननेवाले धनियोंके चित्तमें बड़ी जलन हो रही थी कि अब हम इन्हें अपने पंजेमें कैसे रख सकेंगे॥ १२॥ नये बरसाती जलके सेवनसे सभी जलचर और थलचर प्राणियोंकी सुन्दरता बढ़ गयी थी, जैसे भगवान्‌की सेवा करनेसे बाहर और भीतरके दोनों ही रूप सुघड़ हो जाते हैं॥ १३॥ वर्षा-ऋतुमें हवाके झोकोंसे समुद्र एक तो यों ही उत्ताल तरंगोंसे युक्त हो रहा था, अब नदियोंके संयोगसे वह और भी क्षुब्ध हो उठा—ठीक वैसे ही जैसे वासनायुक्त योगीका चित्त विषयोंका सम्पर्क होनेपर कामनाओंके उभारसे भर जाता है॥ १४॥ मूसलधार वर्षाकी चोट खाते रहनेपर भी पर्वतोंको कोई व्यथा नहीं होती थी—जैसे दुःखोंकी भरमार होनेपर भी उन पुरुषोंको किसी प्रकारकी व्यथा नहीं होती, जिन्होंने अपना चित्त भगवान्‌को ही समर्पित कर रखा है॥ १५॥ जो मार्ग कभी साफ नहीं किये जाते थे, वे घाससे ढक गये और उनको पहचानना कठिन हो गया—जैसे जब द्विजाति वेदोंका अभ्यास नहीं करते, तब कालक्रमसे वे उन्हें भूल जाते हैं॥ १६॥ यद्यपि बादल बड़े लोकोपकारी हैं, फिर भी बिजलियाँ उनमें स्थिर नहीं रहतीं—ठीक वैसे ही, जैसे चपल अनुरागवाली कामिनी स्त्रियाँ गुणी पुरुषोंके पास भी स्थिरभावसे नहीं रहतीं॥ १७॥

१. ऽम्बुपूरिताः। २. सस्यवृद्धानि। ३. कालेन वा हताः। ४. गुणेष्वपि।

धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात्।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा॥ १८

न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः।
अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा॥ १९

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥ २०

पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः।
प्राक् क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया॥ २१

सरस्स्वशान्तरोधस्सु न्यूषुरंगापि सारसाः।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः॥ २२

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥ २३

व्यमुंचन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः।
यथाऽऽशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः॥ २४

एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत्।
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः॥ २५

आकाश मेघोंके गर्जन-तर्जनसे भर रहा था। उसमें निर्गुण (बिना डोरीके) इन्द्रधनुषकी वैसी ही शोभा हुई, जैसी सत्त्व-रज आदि गुणोंके क्षोभसे होनेवाले विश्वके बखेड़ेमें निर्गुण ब्रह्मकी॥ १८॥ यद्यपि चन्द्रमाकी उज्ज्वल चाँदनीसे बादलोंका पता चलता था, फिर भी उन बादलोंने ही चन्द्रमाको ढककर शोभाहीन भी बना दिया था—ठीक वैसे ही, जैसे पुरुषके आभाससे आभासित होनेवाला अहंकार ही उसे ढककर प्रकाशित नहीं होने देता॥ १९॥ बादलोंके शुभागमनसे मोरोंका रोम-रोम खिल रहा था, वे अपनी कुहक और नृत्यके द्वारा आनन्दोत्सव मना रहे थे—ठीक वैसे ही, जैसे गृहस्थीके जंजालमें फँसे हुए लोग, जो अधिकतर तीनों तापोंसे जलते और घबराते रहते हैं, भगवान्के भक्तोंके शुभागमनसे आनन्द-मग्न हो जाते हैं॥ २०॥ जो वृक्ष जेठ-आषाढ़में सूख गये थे, वे अब अपनी जड़ोंसे जल पीकर पत्ते, फूल तथा डालियोंसे खूब सज-धज गये—जैसे सकामभावसे तपस्या करनेवाले पहले तो दुर्बल हो जाते हैं, परन्तु कामना पूरी होनेपर मोटे-तगड़े हो जाते हैं॥ २१॥ परीक्षित्! तालाबोंके तट, काँटे-कीचड़ और जलके बहावके कारण प्रायः अशान्त ही रहते थे, परन्तु सारस एक क्षणके लिये भी उन्हें नहीं छोड़ते थे—जैसे अशुद्ध हृदयवाले विषयी पुरुष काम-धंधोंकी झंझटसे कभी छुटकारा नहीं पाते, फिर भी घरोंमें ही पड़े रहते हैं॥ २२॥ वर्षा ऋतुमें इन्द्रकी प्रेरणासे मूसलधार वर्षा होती है, इससे नदियोंके बाँध और खेतोंकी मेड़ें टूट-फूट जाती हैं—जैसे कलियुगमें पाखण्डियोंके तरह-तरहके मिथ्या मतवादोंसे वैदिक मार्गकी मर्यादा ढीली पड़ जाती है॥ २३॥ वायुकी प्रेरणासे घने बादल प्राणियोंके लिये अमृतमय जलकी वर्षा करने लगते हैं—जैसे ब्राह्मणोंकी प्रेरणासे धनी लोग समय-समयपर दानके द्वारा प्रजाकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते हैं॥ २४॥

वर्षा ऋतुमें वृन्दावन इसी प्रकार शोभायमान और पके हुए खजूर तथा जामुनोंसे भर रहा था। उसी वनमें विहार करनेके लिये श्याम और बलरामने ग्वालबाल और गौओंके साथ प्रवेश किया॥ २५॥

धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा।
ययुर्भगवताऽऽहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः॥ २६

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः॥ २७

क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति।
निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः॥ २८

दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः संकर्षणान्वितः॥ २९

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान्।
तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः॥ ३०

प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम्।
भगवान् पूजयांचक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम्॥ ३१

एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे।
शरत् समभवद् व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला॥ ३२

शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया॥ ३३

व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यं भुवः पंकमपां मलम्।
शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम्॥ ३४

गौएँ अपने थनोंके भारी भारके कारण बहुत ही धीरे-धीरे चल रही थीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण उनका नाम लेकर पुकारते, तब वे प्रेमपरवश होकर जल्दी-जल्दी दौड़ने लगतीं। उस समय उनके थनोंसे दूधकी धारा गिरती जाती थी॥ २६॥ भगवान्ने देखा कि वनवासी भील और भीलनियाँ आनन्दमग्न हैं। वृक्षोंकी पंक्तियाँ मधुधारा उँड़ेल रही हैं। पर्वतोंसे झर-झर करते हुए झरने झर रहे हैं। उनकी आवाज बड़ी सुरीली जान पड़ती है और साथ ही वर्षा होनेपर छिपनेके लिये बहुत-सी गुफाएँ भी हैं॥ २७॥ जब वर्षा होने लगती तब श्रीकृष्ण कभी किसी वृक्षकी गोदमें या खोड़रमें जा छिपते। कभी-कभी किसी गुफामें ही जा बैठते और कभी कन्द-मूल-फल खाकर ग्वालबालोंके साथ खेलते रहते॥ २८॥ कभी जलके पास ही किसी चट्टानपर बैठ जाते और बलरामजी तथा ग्वालबालोंके साथ मिलकर घरसे लाया हुआ दही-भात, दाल-शाक आदिके साथ खाते॥ २९॥ वर्षा ऋतुमें बैल, बछड़े और थनोंके भारी भारसे थकी हुई गौएँ थोड़ी ही देरमें भरपेट घास चर लेतीं और हरी-हरी घासपर बैठकर ही आँख मूँदकर जुगाली करती रहतीं। वर्षा ऋतुकी सुन्दरता अपार थी। वह सभी प्राणियोंको सुख पहुँचा रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि वह ऋतु, गाय, बैल, बछड़े—सब-के-सब भगवान्की लीलाके ही विलास थे। फिर भी उन्हें देखकर भगवान् बहुत प्रसन्न होते और बार-बार उनकी प्रशंसा करते॥ ३०-३१॥

इस प्रकार श्याम और बलराम बड़े आनन्दसे व्रजमें निवास कर रहे थे। इसी समय वर्षा बीतनेपर शरद् ऋतु आ गयी। अब आकाशमें बादल नहीं रहे, जल निर्मल हो गया, वायु बड़ी धीमी गतिसे चलने लगी॥ ३२॥ शरद् ऋतुमें कमलोंकी उत्पत्तिसे जलाशयोंके जलने अपनी सहज स्वच्छता प्राप्त कर ली—ठीक वैसे ही, जैसे योगभ्रष्ट पुरुषोंका चित्त फिरसे योगका सेवन करनेसे निर्मल हो जाता है॥ ३३॥ शरद् ऋतुने आकाशके बादल, वर्षा-कालके बढ़े हुए जीव, पृथ्वीकी कीचड़ और जलके मटमैलेपनको नष्ट कर दिया—जैसे भगवान्की भक्ति ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियोंके सब प्रकारके कष्टों और अशुभोंका झटपट नाश कर देती है॥ ३४॥

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः॥ ३५

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥ ३६

नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः।
यथाऽऽयुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः॥ ३७

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम्　।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥ ३८

शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः।
यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु॥ ३९

निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शरदागमे।
आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः॥ ४०

केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः॥ ४१

शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत्।
देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम्॥ ४२

बादल अपने सर्वस्व जलका दान करके उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित होने लगे—ठीक वैसे ही, जैसे लोक-परलोक, स्त्री-पुत्र और धन-सम्पत्तिसम्बन्धी चिन्ता और कामनाओंका परित्याग कर देनेपर संसारके बन्धनसे छूटे हुए परम शान्त संन्यासी शोभायमान होते हैं॥ ३५॥ अब पर्वतोंसे कहीं-कहीं झरने झरते थे और कहीं-कहीं वे अपने कल्याणकारी जलको नहीं भी बहाते थे—जैसे ज्ञानी पुरुष समयपर अपने अमृतमय ज्ञानका दान किसी अधिकारीको कर देते हैं और किसी-किसीको नहीं भी करते॥ ३६॥ छोटे-छोटे गड्ढोंमें भरे हुए जलके जलचर यह नहीं जानते कि इस गड्ढेका जल दिन-पर-दिन सूखता जा रहा है—जैसे कुटुम्बके भरण-पोषणमें भूले हुए मूढ़ यह नहीं जानते कि हमारी आयु क्षण-क्षण क्षीण हो रही है॥ ३७॥ थोड़े जलमें रहनेवाले प्राणियोंको शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे बड़ी पीड़ा होने लगी—जैसे अपनी इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले कृपण एवं दरिद्र कुटुम्बीको तरह-तरहके ताप सताते ही रहते हैं॥ ३८॥ पृथ्वी धीरे-धीरे अपना कीचड़ छोड़ने लगी और घास-पात धीरे-धीरे अपनी कचाई छोड़ने लगे—ठीक वैसे ही, जैसे विवेकसम्पन्न साधक धीरे-धीरे शरीर आदि अनात्म पदार्थोंमेंसे 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' यह अहंता और ममता छोड़ देते हैं॥ ३९॥ शरद् ऋतुमें समुद्रका जल स्थिर, गम्भीर और शान्त हो गया—जैसे मनके निःसंकल्प हो जानेपर आत्माराम पुरुष कर्मकाण्डका झमेला छोड़कर शान्त हो जाता है॥ ४०॥ किसान खेतोंकी मेड़ मजबूत करके जलका बहना रोकने लगे—जैसे योगीजन अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर जानेसे रोककर, प्रत्याहार करके उनके द्वारा क्षीण होते हुए ज्ञानकी रक्षा करते हैं॥ ४१॥ शरद् ऋतुमें दिनके समय बड़ी कड़ी धूप होती, लोगोंको बहुत कष्ट होता; परन्तु चन्द्रमा रात्रिके समय लोगोंका सारा सन्ताप वैसे ही हर लेते—जैसे देहाभिमानसे होनेवाले दुःखको ज्ञान और भगवद्विरहसे होनेवाले गोपियोंके दुःखको श्रीकृष्ण नष्ट कर देते हैं॥ ४२॥

खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥ ४३

जैसे वेदोंके अर्थको स्पष्टरूपसे जाननेवाला सत्त्वगुणी चित्त अत्यन्त शोभायमान होता है, वैसे ही शरद् ऋतुमें रातके समय मेघोंसे रहित निर्मल आकाश तारोंकी ज्योतिसे जगमगाने लगा॥ ४३॥

अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि॥ ४४

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम्।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः॥ ४५

गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन्।
अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव॥ ४६

परीक्षित्! जैसे पृथ्वीतलमें यदुवंशियोंके बीच यदुपति भगवान् श्रीकृष्णकी शोभा होती है, वैसे ही आकाशमें तारोंके बीच पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होने लगा॥ ४४॥ फूलोंसे लदे हुए वृक्ष और लताओंमें होकर बड़ी ही सुन्दर वायु बहती; वह न अधिक ठंडी होती और न अधिक गरम। उस वायुके स्पर्शसे सब लोगोंकी जलन तो मिट जाती, परन्तु गोपियोंकी जलन और भी बढ़ जाती; क्योंकि उनका चित्त उनके हाथमें नहीं था, श्रीकृष्णने उसे चुरा लिया था॥ ४५॥ शरद् ऋतुमें गौएँ, हरिनियाँ, चिड़ियाँ और नारियाँ ऋतुमती—सन्तानोत्पत्तिकी कामनासे युक्त हो गयीं तथा साँड़, हरिन, पक्षी और पुरुष उनका अनुसरण करने लगे—ठीक वैसे ही, जैसे समर्थ पुरुषके द्वारा की हुई क्रियाओंका अनुसरण उनके फल करते हैं॥ ४६॥

उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद् विना।
राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप॥ ४७

पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः।
बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः॥ ४८

वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते॥ ४९

परीक्षित्! जैसे राजाके शुभागमनसे डाकू चोरोंके सिवा और सब लोग निर्भय हो जाते हैं, वैसे ही सूर्योदयके कारण कुमुदिनी (कुँई या कोईं) के अतिरिक्त और सभी प्रकारके कमल खिल गये॥ ४७॥ उस समय बड़े-बड़े शहरों और गाँवोंमें नवान्नप्राशन और इन्द्रसम्बन्धी उत्सव होने लगे। खेतोमें अनाज पक गये और पृथ्वी भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीकी उपस्थितिसे अत्यन्त सुशोभित होने लगी॥ ४८॥ साधना करके सिद्ध हुए पुरुष जैसे समय आनेपर अपने देव आदि शरीरोंको प्राप्त होते हैं, वैसे ही वैश्य, संन्यासी, राजा और स्नातक—जो वर्षाके कारण एक स्थानपर रुके हुए थे—वहाँसे चलकर अपने-अपने अभीष्ट काम-काजमें लग गये॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रावृट्-शरद्वर्णन नाम विंशतितमोऽध्यायः॥ २०॥

अथैकविंशोऽध्यायः

वेणुगीत

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥ १

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृंग-
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्॥ २

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥ ३

तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥ ४

बर्हापीडं नटवरवपुः
कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं
वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया
पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं
प्राविशद् गीतकीर्तिः॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! शरद् ऋतुके कारण वह वन बड़ा सुन्दर हो रहा था। जल निर्मल था और जलाशयोंमें खिले हुए कमलोंकी सुगन्धसे सनकर वायु मन्द-मन्द चल रही थी। भगवान् श्रीकृष्णने गौओं और ग्वालबालोंके साथ उस वनमें प्रवेश किया॥ १॥ सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे परिपूर्ण हरी-हरी वृक्ष-पंक्तियोंमें मतवाले भौंरे स्थान-स्थानपर गुनगुना रहे थे और तरह-तरहके पक्षी झुंड-के-झुंड अलग-अलग कलरव कर रहे थे, जिससे उस वनके सरोवर, नदियाँ और पर्वत—सब-के-सब गूँजते रहते थे। मधुपति श्रीकृष्णने बलरामजी और ग्वालबालोंके साथ उसके भीतर घुसकर गौओंको चराते हुए अपनी बाँसुरीपर बड़ी मधुर तान छेड़ी॥ २॥ श्रीकृष्णकी वह वंशीध्वनि भगवान्‌के प्रति प्रेमभावको, उनके मिलनकी आकांक्षाको जगानेवाली थी। (उसे सुनकर गोपियोंका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो गया) वे एकान्तमें अपनी सखियोंसे उनके रूप, गुण और वंशीध्वनिके प्रभावका वर्णन करने लगीं॥ ३॥ व्रजकी गोपियोंने वंशीध्वनिका माधुर्य आपसमें वर्णन करना चाहा तो अवश्य; परन्तु वंशीका स्मरण होते ही उन्हें श्रीकृष्णकी मधुर चेष्टाओंकी, प्रेमपूर्ण चितवन, भौंहोंके इशारे और मधुर मुसकान आदिकी याद हो आयी। उनकी भगवान्‌से मिलनेकी आकांक्षा और भी बढ़ गयी। उनका मन हाथसे निकल गया। वे मन-ही-मन वहाँ पहुँच गयीं, जहाँ श्रीकृष्ण थे। अब उनकी वाणी बोले कैसे? वे उसके वर्णनमें असमर्थ हो गयीं॥ ४॥ (वे मन-ही-मन देखने लगीं कि) श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिरपर मयूरपिच्छ है और कानोंपर कनेरके पीले-पीले पुष्प; शरीरपर सुनहला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी वैजयन्ती माला है। रंगमंचपर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नटका-सा क्या ही सुन्दर वेष है। बाँसुरीके छिद्रोंको वे अपने अधरामृतसे भर

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥ ६

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥ ७

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रंगे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥ ८

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥ ९

रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान कर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ वह वृन्दावनधाम उनके चरणचिह्नोंसे और भी रमणीय बन गया है॥ ५॥ परीक्षित्! यह वंशीध्वनि जड, चेतन—समस्त भूतोंका मन चुरा लेती है। गोपियोंने उसे सुना और सुनकर उसका वर्णन करने लगीं। वर्णन करते-करते वे तन्मय हो गयीं और श्रीकृष्णको पाकर आलिंगन करने लगीं॥ ६॥

गोपियाँ आपसमें बातचीत करने लगीं— अरी सखी! हमने तो आँखवालोंके जीवनकी और उनकी आँखोंकी बस, यही—इतनी ही सफलता समझी है; और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है। वह कौन-सा लाभ है? वह यही है कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलराम ग्वालबालोंके साथ गायोंको हाँककर वनमें ले जा रहे हों या लौटाकर व्रजमें ला रहे हों, उन्होंने अपने अधरोंपर मुरली धर रखी हो और प्रेमभरी तिरछी चितवनसे हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनकी मुख-माधुरीका पान करती रहें॥ ७॥ अरी सखी! जब वे आमकी नयी कोंपलें, मोरोंके पंख, फूलोंके गुच्छे, रंग-बिरंगे कमल और कुमुदकी मालाएँ धारण कर लेते हैं, श्रीकृष्णके साँवरे शरीरपर पीताम्बर और बलरामके गोरे शरीरपर नीलाम्बर फहराने लगता है, तब उनका वेष बड़ा ही विचित्र बन जाता है। ग्वालबालोंकी गोष्ठीमें वे दोनों बीचो-बीच बैठ जाते हैं और मधुर संगीतकी तान छेड़ देते हैं। मेरी प्यारी सखी! उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो दो चतुर नट रंगमंचपर अभिनय कर रहे हों। मैं क्या बताऊँ कि उस समय उनकी कितनी शोभा होती है॥ ८॥ अरी गोपियो! यह वेणु पुरुष जातिका होनेपर भी पूर्वजन्ममें न जाने ऐसा कौन-सा साधन-भजन कर चुका है कि हम गोपियोंकी अपनी सम्पत्ति—दामोदरके अधरोंकी सुधा स्वयं ही इस प्रकार पिये जा रहा है कि हमलोगोंके लिये थोड़ा-सा भी रस शेष नहीं रहेगा। इस वेणुको अपने रससे सींचनेवाली ह्रदिनियाँ आज कमलोंके मिस रोमाञ्चित हो रही हैं और अपने वंशमें भगवत्प्रेमी सन्तानोंको देखकर श्रेष्ठ पुरुषोंके समान वृक्ष भी इसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आँखोंसे आनन्दाश्रु बहा रहे हैं॥ ९॥

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्॥ १०

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥ ११

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥ १२

अरी सखी! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोकतक पृथ्वीकी कीर्तिका विस्तार कर रहा है। क्योंकि यशोदानन्दन श्रीकृष्णके चरणकमलोंके चिह्नोंसे यह चिह्नित हो रहा है! सखि! जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजनमोहिनी मुरली बजाते हैं तब मोर मतवाले होकर उसकी तालपर नाचने लगते हैं। यह देखकर पर्वतकी चोटियोंपर विचरनेवाले सभी पशु-पक्षी चुपचाप—शान्त होकर खड़े रह जाते हैं। अरी सखी! जब प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण विचित्र वेष धारण करके बाँसुरी बजाते हैं, तब मूढ़ बुद्धिवाली ये हरिनियाँ भी वंशीकी तान सुनकर अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ नन्दनन्दनके पास चली आती हैं और अपनी प्रेमभरी बड़ी-बड़ी आँखोंसे उन्हें निरखने लगती हैं। निरखती क्या हैं, अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखें श्रीकृष्णके चरणोंपर निछावर कर देती हैं और श्रीकृष्णकी प्रेमभरी चितवनके द्वारा किया हुआ अपना सत्कार स्वीकार करती हैं।' वास्तवमें उनका जीवन धन्य है! (हम वृन्दावनकी गोपी होनेपर भी इस प्रकार उनपर अपनेको निछावर नहीं कर पातीं, हमारे घरवाले कुढ़ने लगते हैं। कितनी विडम्बना है!)॥ १०-११॥ अरी सखी! हरिनियोंकी तो बात ही क्या है—स्वर्गकी देवियाँ जब युवतियोंको आनन्दित करनेवाले सौन्दर्य और शीलके खजाने श्रीकृष्णको देखती हैं और बाँसुरीपर उनके द्वारा गाया हुआ मधुर संगीत सुनती हैं, तब उनके चित्र-विचित्र आलाप सुनकर वे अपने विमानपर ही सुध-बुध खो बैठती हैं—मूर्च्छित हो जाती हैं। यह कैसे मालूम हुआ सखी? सुनो तो, जब उनके हृदयमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र आकांक्षा जग जाती है तब वे अपना धीरज खो बैठती हैं, बेहोश हो जाती हैं। उन्हें इस बातका भी पता नहीं चलता कि उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए फूल पृथ्वीपर गिर रहे हैं। यहाँतक कि उन्हें अपनी साड़ीका भी पता नहीं रहता, वह कमरसे खिसककर जमीनपर गिर जाती है॥ १२॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥ १३

अरी सखी! तुम देवियोंकी बात क्या कह रही हो, इन गौओंको नहीं देखती? जब हमारे कृष्ण-प्यारे अपने मुखसे बाँसुरीमें स्वर भरते हैं और गौएँ उनका मधुर संगीत सुनती हैं, तब ये अपने दोनों कानोंके दोने सम्हाल लेती हैं—खड़े कर लेती हैं और मानो उनसे अमृत पी रही हों, इस प्रकार उस संगीतका रस लेने लगती हैं? ऐसा क्यों होता है सखी? अपने नेत्रोंके द्वारसे श्यामसुन्दरको हृदयमें ले जाकर वे उन्हें वहीं विराजमान कर देती हैं और मन-ही-मन उनका आलिंगन करती हैं। देखती नहीं हो, उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू छलकने लगते हैं! और उनके बछड़े, बछड़ोंकी तो दशा ही निराली हो जाती है। यद्यपि गायोंके थनोंसे अपने-आप दूध झरता रहता है, वे जब दूध पीते-पीते अचानक ही वंशीध्वनि सुनते हैं तब मुँहमें लिया हुआ दूधका घूँट न उगल पाते हैं और न निगल पाते हैं। उनके हृदयमें भी होता है भगवान्का संस्पर्श और नेत्रोंमें छलकते होते हैं आनन्दके आँसू। वे ज्यों-के-त्यों ठिठके रह जाते हैं॥ १३॥

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥ १४

अरी सखी! गौएँ और बछड़े तो हमारी घरकी वस्तु हैं। उनकी बात तो जाने ही दो। वृन्दावनके पक्षियोंको तुम नहीं देखती हो! उन्हें पक्षी कहना ही भूल है! सच पूछो तो उनमेंसे अधिकांश बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हैं। वे वृन्दावनके सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंकी नयी और मनोहर कोंपलोंवाली डालियोंपर चुपचाप बैठ जाते हैं और आँखें बंद नहीं करते, निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णकी रूप-माधुरी तथा प्यार-भरी चितवन देख-देखकर निहाल होते रहते हैं, तथा कानोंसे अन्य सब प्रकारके शब्दोंको छोड़कर केवल उन्हींकी मोहनी वाणी और वंशीका त्रिभुवनमोहन संगीत सुनते रहते हैं। मेरी प्यारी सखी! उनका जीवन कितना धन्य है!॥ १४॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।

अरी सखी! देवता, गौओं और पक्षियोंकी बात क्यों करती हो ? वे तो चेतन हैं। इन जड नदियोंको नहीं देखतीं? इनमें जो भँवर दीख रहे हैं, उनसे इनके हृदयमें श्यामसुन्दरसे मिलनेकी तीव्र आकांक्षाका पता चलता है? उसके वेगसे ही तो इनका प्रवाह रुक गया है। इन्होंने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुन

आलिंगनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥ १५

ली है। देखो, देखो! ये अपनी तरंगोंके हाथोंसे उनके चरण पकड़कर कमलके फूलोंका उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिंगन कर रही हैं; मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं॥ १५॥

दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
संचारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम्।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्॥ १६

अरी सखी! ये नदियाँ तो हमारी पृथ्वीकी, हमारे वृन्दावनकी वस्तुएँ हैं; तनिक इन बादलोंको भी देखो! जब वे देखते हैं कि व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण और बलरामजी ग्वालबालोंके साथ धूपमें गौएँ चरा रहे हैं और साथ-साथ बाँसुरी भी बजाते जा रहे हैं, तब उनके हृदयमें प्रेम उमड़ आता है। वे उनके ऊपर मँड़राने लगते हैं और वे श्यामघन अपने सखा घनश्यामके ऊपर अपने शरीरको ही छाता बनाकर तान देते हैं। इतना ही नहीं सखी! वे जब उनपर नन्हीं-नन्हीं फुहियोंकी वर्षा करने लगते हैं तब ऐसा जान पड़ता है कि वे उनके ऊपर सुन्दर-सुन्दर श्वेत कुसुम चढ़ा रहे हैं। नहीं सखी, उनके बहाने वे तो अपना जीवन ही निछावर कर देते हैं!॥ १६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥ १७

अरी भटू! हम तो वृन्दावनकी इन भीलनियोंको ही धन्य और कृतकृत्य मानती हैं। ऐसा क्यों सखी? इसलिये कि इनके हृदयमें बड़ा प्रेम है। जब ये हमारे कृष्ण-प्यारेको देखती हैं, तब इनके हृदयमें भी उनसे मिलनेकी तीव्र आकांक्षा जाग उठती है। इनके हृदयमें भी प्रेमकी व्याधि लग जाती है। उस समय ये क्या उपाय करती हैं, यह भी सुन लो। हमारे प्रियतमकी प्रेयसी गोपियाँ अपने वक्ष:स्थलोंपर जो केसर लगाती हैं, वह श्यामसुन्दरके चरणोंमें लगी होती है और वे जब वृन्दावनके घास-पातपर चलते हैं, तब उनमें भी लग जाती है। ये सौभाग्यवती भीलनियाँ उन्हें उन तिनकोंपरसे छुड़ाकर अपने स्तनों और मुखोंपर मल लेती हैं और इस प्रकार अपने हृदयकी प्रेम-पीड़ा शान्त करती हैं॥ १७॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।

अरी गोपियो! यह गिरिराज गोवर्द्धन तो भगवान्‌के भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है। धन्य हैं इसके भाग्य! देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम बलरामके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त

मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥ १८

करके यह कितना आनन्दित रहता है। इसके भाग्यकी सराहना कौन करे? यह तो उन दोनोंका—ग्वालबालों और गौओंका बड़ा ही सत्कार करता है। स्नान-पानके लिये झरनोंका जल देता है, गौओंके लिये सुन्दर हरी-हरी घास प्रस्तुत करता है, विश्राम करनेके लिये कन्दराएँ और खानेके लिये कन्द-मूल फल देता है। वास्तवमें यह धन्य है!॥ १८॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्॥ १९

अरी सखी! इन साँवरे-गोरे किशोरोंकी तो गति ही निराली है। जब वे सिरपर नोवना (दुहते समय गायके पैर बाँधनेकी रस्सी) लपेटकर और कंधोंपर फंदा (भागनेवाली गायोंको पकड़नेकी रस्सी) रखकर गायोंको एक वनसे दूसरे वनमें हाँककर ले जाते हैं, साथमें ग्वालबाल भी होते हैं और मधुर-मधुर संगीत गाते हुए बाँसुरीकी तान छेड़ते हैं, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या अन्य शरीरधारियोंमें भी चलनेवाले चेतन पशु-पक्षी और जड नदी आदि तो स्थिर हो जाते हैं, तथा अचल-वृक्षोंको भी रोमांच हो आता है। जादूभरी वंशीका और क्या चमत्कार सुनाऊँ?॥ १९॥

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥ २०

परीक्षित्! वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णकी ऐसी-ऐसी एक नहीं, अनेक लीलाएँ हैं। गोपियाँ प्रति-दिन आपसमें उनका वर्णन करतीं और तन्मय हो जातीं। भगवान्‌की लीलाएँ उनके हृदयमें स्फुरित होने लगतीं॥ २०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे [1]
वेणुगीतं नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

चीरहरण

श्रीशुक उवाच

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुंजानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब हेमन्त ऋतु आयी। उसके पहले ही महीनेमें अर्थात् मार्गशीर्षमें नन्दबाबाके व्रजकी कुमारियाँ कात्यायनी देवीकी पूजा और व्रत करने लगीं। वे केवल हविष्यान्न ही खाती थीं॥ १॥

१. वृन्दावनक्रीडायामेक०।

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम्॥ २

गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः॥ ३

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः॥ ४

एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः॥ ५

उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥ ६

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा॥ ७

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥ ८

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥ ९

अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।
सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शिताः॥ १०

राजन्! वे कुमारी कन्याएँ पूर्व दिशाका क्षितिज लाल होते-होते यमुनाजलमें स्नान कर लेतीं और तटपर ही देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर सुगन्धित चन्दन, फूलोंके हार, भाँति-भाँतिके नैवेद्य, धूप-दीप, छोटी-बड़ी भेंटकी सामग्री, पल्लव, फल और चावल आदिसे उनकी पूजा करतीं॥ २-३॥ साथ ही 'हे कात्यायनी! हे महामाये! हे महायोगिनी! हे सबकी एकमात्र स्वामिनी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिये। देवि! हम आपके चरणोंमें नमस्कार करती हैं।'—इस मन्त्रका जप करती हुई वे कुमारियाँ देवीकी आराधना करतीं॥ ४॥ इस प्रकार उन कुमारियोंने, जिनका मन श्रीकृष्णपर निछावर हो चुका था, इस संकल्पके साथ एक महीनेतक भद्रकालीकी भलीभाँति पूजा कीं कि 'नन्दनन्दन श्यामसुन्दर ही हमारे पति हों'॥ ५॥ वे प्रतिदिन उषाकालमें ही नाम ले-लेकर एक-दूसरी सखीको पुकार लेतीं और परस्पर हाथ-में-हाथ डालकर ऊँचे स्वरसे भगवान् श्रीकृष्णकी लीला तथा नामोंका गान करती हुई यमुनाजलमें स्नान करनेके लिये जातीं॥ ६॥

एक दिन सब कुमारियोंने प्रतिदिनकी भाँति यमुनाजीके तटपर जाकर अपने-अपने वस्त्र उतार दिये और भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंका गान करती हुई बड़े आनन्दसे जल-क्रीडा करने लगीं॥ ७॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शंकर आदि योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उनसे गोपियोंकी अभिलाषा छिपी न रही। वे उनका अभिप्राय जानकर अपने सखा ग्वालबालोंके साथ उन कुमारियोंकी साधना सफल करनेके लिये यमुना-तटपर गये॥ ८॥ उन्होंने अकेले ही उन गोपियोंके सारे वस्त्र उठा लिये और बड़ी फुर्तीसे वे एक कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये। साथी ग्वालबाल ठठा-ठठाकर हँसने लगे और स्वयं श्रीकृष्ण भी हँसते हुए गोपियोंसे हँसीकी बात कहने लगे— ॥ ९॥ 'अरी कुमारियो! तुम यहाँ आकर इच्छा हो, तो अपने-अपने वस्त्र ले जाओ। मैं तुमलोगोंसे सच-सच कहता हूँ। हँसी बिलकुल नहीं करता। तुमलोग व्रत करते-करते दुबली हो गयी हो॥ १०॥

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः।
एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः॥ ११

ये मेरे सखा ग्वालबाल जानते हैं कि मैंने कभी कोई झूठी बात नहीं कही है। सुन्दरियो! तुम्हारी इच्छा हो तो अलग-अलग आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो, या सब एक साथ ही आओ। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है'॥ ११॥

तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः॥ १२

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसः।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन्॥ १३

भगवान्‌की यह हँसी-मसखरी देखकर गोपियोंका हृदय प्रेमसे सराबोर हो गया। वे तनिक सकुचाकर एक-दूसरीकी ओर देखने और मुसकराने लगीं। जलसे बाहर नहीं निकलीं॥ १२॥ जब भगवान्‌ने हँसी-हँसीमें यह बात कही तब उनके विनोदसे कुमारियोंका चित्त और भी उनकी ओर खिंच गया। वे ठंढे पानीमें कण्ठतक डूबी हुई थीं और उनका शरीर थर-थर काँप रहा था। उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—॥ १३॥

मानयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम्।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः॥ १४

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे॥ १५

'प्यारे श्रीकृष्ण! तुम ऐसी अनीति मत करो। हम जानती हैं कि तुम नन्दबाबाके लाड़ले लाल हो। हमारे प्यारे हो। सारे व्रजवासी तुम्हारी सराहना करते रहते हैं। देखो, हम जाड़ेके मारे ठिठुर रही हैं। तुम हमें हमारे वस्त्र दे दो॥ १४॥ प्यारे श्यामसुन्दर! हम तुम्हारी दासी हैं। तुम जो कुछ कहोगे, उसे हम करनेको तैयार हैं। तुम तो धर्मका मर्म भलीभाँति जानते हो। हमें कष्ट मत दो। हमारे वस्त्र हमें दे दो; नहीं तो हम जाकर नन्दबाबासे कह देंगी'॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः॥ १६

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुमारियो! तुम्हारी मुसकान पवित्रता और प्रेमसे भरी है। देखो, जब तुम अपनेको मेरी दासी स्वीकार करती हो और मेरी आज्ञाका पालन करना चाहती हो तो यहाँ आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो॥ १६॥

ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥ १७

परीक्षित्! वे कुमारियाँ ठंडसे ठिठुर रही थीं, काँप रही थीं। भगवान्‌की ऐसी बात सुनकर वे अपने दोनों हाथोंसे गुप्त अंगोंको छिपाकर यमुनाजीसे बाहर निकलीं। उस समय ठंड उन्हें बहुत ही सता रही थी॥ १७॥

भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्॥ १८

उनके इस शुद्ध भावसे भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए। उनको अपने पास आयी देखकर उन्होंने गोपियोंके वस्त्र अपने कंधेपर रख लिये और बड़ी प्रसन्नतासे मुसकराते हुए बोले—॥ १८॥

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
बद्ध्वांजलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्॥ १९

इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला
मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां
साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः॥ २०

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः॥ २१

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन् प्रियसंगनिर्वृताः॥ २२

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसंगमसज्जिताः।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिँल्लज्जायितेक्षणाः॥ २३

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया।
धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः॥ २४

'अरी गोपियो! तुमने जो व्रत लिया था, उसे अच्छी तरह निभाया है—इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस अवस्थामें वस्त्रहीन होकर तुमने जलमें स्नान किया है, इससे तो जलके अधिष्ठातृदेवता वरुणका तथा यमुनाजीका अपराध हुआ है। अतः अब इस दोषकी शान्तिके लिये तुम अपने हाथ जोड़कर सिरसे लगाओ और उन्हें झुककर प्रणाम करो, तदनन्तर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ॥ १९॥ भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उन व्रजकुमारियोंने ऐसा ही समझा कि वास्तवमें वस्त्रहीन होकर स्नान करनेसे हमारे व्रतमें त्रुटि आ गयी। अतः उसकी निर्विघ्न पूर्तिके लिये उन्होंने समस्त कर्मोंके साक्षी श्रीकृष्णको नमस्कार किया। क्योंकि उन्हें नमस्कार करनेसे ही सारी त्रुटियों और अपराधोंका मार्जन हो जाता है॥ २०॥ जब यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि सब-की-सब कुमारियाँ मेरी आज्ञाके अनुसार प्रणाम कर रही हैं, तब वे बहुत ही प्रसन्न हुए। उनके हृदयमें करुणा उमड़ आयी और उन्होंने उनके वस्त्र दे दिये॥ २१॥ प्रिय परीक्षित्! श्रीकृष्णने कुमारियोंसे छलभरी बातें कीं, उनका लज्जा-संकोच छुड़ाया, हँसी की और उन्हें कठ-पुतलियोंके समान नचाया; यहाँतक कि उनके वस्त्र-तक हर लिये। फिर भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं, उनकी इन चेष्टाओंको दोष नहीं माना, बल्कि अपने प्रियतमके संगसे वे और भी प्रसन्न हुईं॥ २२॥ परीक्षित्! गोपियोंने अपने-अपने वस्त्र पहन लिये। परन्तु श्रीकृष्णने उनके चित्तको इस प्रकार अपने वशमें कर रखा था कि वे वहाँसे एक पग भी न चल सकीं। अपने प्रियतमके समागमके लिये सजकर वे उन्हींकी ओर लजीली चितवनसे निहारती रहीं॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उन कुमारियोंने उनके चरणकमलोंके स्पर्शकी कामनासे ही व्रत धारण किया है और उनके जीवनका यही एकमात्र संकल्प है। तब गोपियोंके प्रेमके अधीन होकर ऊखल-तकमें बँध जानेवाले भगवान्ने उनसे कहा— ॥ २४॥

संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥ २५

'मेरी परम प्रेयसी कुमारियो! मैं तुम्हारा यह संकल्प जानता हूँ कि तुम मेरी पूजा करना चाहती हो। मैं तुम्हारी इस अभिलाषाका अनुमोदन करता हूँ, तुम्हारा यह संकल्प सत्य होगा। तुम मेरी पूजा कर सकोगी॥ २५॥

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥ २६

जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रखा है उनकी कामनाएँ उन्हें सांसारिक भोगोंकी ओर ले जानेमें समर्थ नहीं होतीं। ठीक वैसे ही, जैसे भुने या उबाले हुए बीज फिर अंकुरके रूपमें उगनेके योग्य नहीं रह जाते॥ २६॥

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥ २७

इसलिये कुमारियो! अब तुम अपने-अपने घर लौट जाओ। तुम्हारी साधना सिद्ध हो गयी है। तुम आनेवाली शरद् ऋतुकी रात्रियोंमें मेरे साथ विहार करोगी। सतियो! इसी उद्देश्यसे तो तुमलोगोंने यह व्रत और कात्यायनी देवीकी पूजा की थी'*॥ २७॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम्॥ २८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌की यह आज्ञा पाकर वे कुमारियाँ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका ध्यान करती हुई जानेकी इच्छा न होनेपर भी बड़े कष्टसे व्रजमें गयीं। अब उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं॥ २८॥

---

* चीर-हरणके प्रसंगको लेकर कई तरहकी शंकाएँ की जाती हैं, अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है। वास्तवमें बात यह है कि सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की दिव्य मधुर रसमयी लीलाओंका रहस्य जाननेका सौभाग्य बहुत थोड़े लोगोंको होता है। जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीला भी चिन्मयी ही होती है। सच्चिदानन्द रसमय-साम्राज्यके जिस परमोन्नत स्तरमें यह लीला हुआ करती है उसकी ऐसी विलक्षणता है कि कई बार तो ज्ञान-विज्ञान-स्वरूप विशुद्ध चेतन परम ब्रह्ममें भी उसका प्राकट्य नहीं होता, और इसीलिये ब्रह्म-साक्षात्कारको प्राप्त महात्मा लोग भी इस लीला-रसका समास्वादन नहीं कर पाते। भगवान्‌की इस परमोज्ज्वल दिव्य-रस-लीलाका यथार्थ प्रकाश तो भगवान्‌की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति नित्यनिकुंजेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी और तदंगभूता प्रेममयी गोपियोंके ही हृदयमें होता है और वे ही निरावरण होकर भगवान्‌की इस परम अन्तरंग रसमयी लीलाका समास्वादन करती हैं।

यों तो भगवान्‌के जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं, परन्तु व्रजकी लीला, व्रजमें निकुंजलीला और निकुंजमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरंग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है। अस्तु,

दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन आया है कि भगवान्‌की रूप-माधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाएँ देख-सुनकर गोपियाँ मुग्ध हो गयीं। बाईसवें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये वे साधनमें लग गयी हैं। इसी अध्यायमें भगवान्‌ने आकर उनकी साधना पूर्ण की है। यही चीर-हरणका प्रसंग है।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, श्रीकृष्णके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिकी चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पहले ही महीनेमें अर्थात् भगवान्‌के विभूतिस्वरूप मार्गशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो गयी। विलम्ब उनके लिये असह्य था। जाड़ेके दिनमें वे प्रातःकाल ही यमुना-स्नानके लिये जातीं, उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी। बहुत-सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ ही जातीं, उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णका नामकीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिवालोंका भय नहीं था। वे घरमें भी हविष्यान्नका ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माता-पिता तकका संकोच नहीं था। वे विधिपूर्वक देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा और मन्त्र-जप करती थीं। अपने इस कार्यको सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं। एक वाक्यमें—उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान्‌के चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था। वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही। परन्तु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी। वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही थीं, उनमें थोड़ी झिझक थी; उनकी यही झिझक दूर करनेके लिये—उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका आवरण भंग कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आवरणरूप चीर हर लेना जरूरी था और यही काम भगवान् श्रीकृष्णने किया। इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपने मित्र ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर पधारे थे।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और संकल्पसे केवल अपने निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है जब भगवान् स्वयं आकर वह संकल्प स्वीकार करते हैं और संकल्प करनेवालेको भी स्वीकार करते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है। साधकका कर्तव्य है—पूर्ण समर्पणकी तैयारी। उसे पूर्ण तो भगवान् ही करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं; फिर भी जब अपनी लीला प्रकट करते हैं, तब मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते, स्थापना ही करते हैं। विधिका अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। परन्तु हृदयकी निष्कपटता, सचाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी शिथिल कर देता है। गोपियाँ श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी। वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लंघन करके नग्न-स्नान करती थीं। यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी, तथापि भगवान्‌के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था। भगवान्‌ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया। जो लोग भगवान्‌के प्रेमके नामपर विधिका उल्लंघन करते हैं, उन्हें यह प्रसंग ध्यानसे पढ़ना चाहिये और भगवान् शास्त्रविधिका कितना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये।

वैधी भक्तिका पर्यवसान रागात्मिका भक्तिमें है और रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है। गोपियोंने वैधी भक्तिका अनुष्ठान किया, उनका हृदय तो रागात्मिकाभक्तिसे भरा हुआ था ही। अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये। चीर-हरणके द्वारा वही कार्य सम्पन्न होता है।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति-कुल, पुरजन-परिजन और गुरुजनोंकी परवा नहीं की, जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर रखा है, जिनसे निरावरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा है, उन्हीं निरावरण रसमय भगवान् श्रीकृष्णके सामने वे निरावरण भावसे न जा सकें—क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है? है, अवश्य है। और यह

समझकर ही गोपियाँ निरावरणरूपसे उनके सामने गयीं।

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृतिके एकमात्र अधीश्वर हैं; समस्त क्रियाओंके कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वही हैं। ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो। वही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं। गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके वही आत्मा हैं। उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदिके रूपमें मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं। गोपियाँ उन्हीं भगवान्‌को जान-बूझकर कि यही भगवान् हैं—यही योगेश्वरेश्वर, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं—पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका श्रद्धाभावसे पाठ कर जानेपर यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानती थीं, पहचानती थीं। वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है। जो लोग भगवान्‌को भगवान् मानते हैं, उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं, उनके हृदयमें गोपियोंके इस लोकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति शंका ही कैसे हो सकती है।

गोपियोंकी इस दिव्य लीलाका जीवन उच्च श्रेणीके साधकके लिये आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीवके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। हमारी बुद्धि हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है। इसलिये हम श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकलुषित समझ बैठते हैं। उस अपार्थिव और अप्राकृत लीलाको इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट लाना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकर परिणाम है। जीवका मन भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमोगुणी प्रवृत्तियोंसे अभिभूत रहता है । वह विषयोंमें ही इधरसे-उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके रोग-शोकसे आक्रान्त रहता है। जब कभी पुण्यकर्मोंके फल उदय होनेपर भगवान्‌की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है, तब जीव दुःखज्वालासे त्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंको शान्तिमय धाममें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है। वह भगवान्‌के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्संग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छटपटी उस आकांक्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े वेगसे परमात्माकी ओर चल पड़ती है। चिरकालसे विषयोंका ही अभ्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है। परन्तु भगवान्‌की प्रार्थना, कीर्तन-स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्‌की सन्निधिका अनुभव भी होने लगता है। थोड़ा-सा रसका अनुभव होते ही चित्त बड़े वेगसे अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाता है और भगवान् मार्गदर्शकके रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केवटके रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अभाव, अपूर्णता और सीमाका बन्धन नष्ट हो जाता है, विशुद्ध आनन्द—विशुद्ध ज्ञानकी अनुभूति होने लगती है।

गोपियाँ, जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्‌की अन्तरंग लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकालसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिलाभके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्‌की इच्छाके अनुसार उनकी दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त भावोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं। उनकी कितनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे कितना प्रेम करते हैं—यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्‌गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वस्त्रोंके रूपमें उनके समस्त संस्कारोंके आवरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर चढ़कर बैठ गये। गोपियाँ जलमें थीं, वे जलमें सर्वव्यापक सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस तत्त्वको भूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जलमें ही नहीं हैं, स्वयं जलस्वरूप भी

वही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जानेमें बाधक हो रहे थे; वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ भूल गयी थीं, परन्तु अबतक अपनेको नहीं भूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णको, परन्तु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियतमके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है सर्वथा व्यवधानरहित, अबाध और अनन्त मिलन। जहाँतक अपना सर्वस्व—इसका विस्तार चाहे जितना हो—प्रेमकी ज्वालामें भस्म नहीं कर दिया जाता, वहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए, 'शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए' (शुद्धभावप्रसादित:) श्रीकृष्णने कहा कि 'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो?' गोपियोंने मानो कहा—'श्रीकृष्ण! हम अपनेको कैसे भूलें? हमारी जन्म-जन्मकी धारणाएँ भूलने दें, तब न। हम संसारके अगाध जलमें आकण्ठमग्न हैं। जाड़ेका कष्ट भी है। हम आना चाहनेपर भी नहीं आ पाती हैं। श्यामसुन्दर! प्राणोंके प्राण! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करेंगी। परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।' साधककी यह दशा—भगवान्‌को चाहना और साथ ही संसारको भी न छोड़ना, संस्कारोंमें ही उलझे रहना—मायाके परदेको बनाये रखना, बड़ी द्विविधाकी दशा है। भगवान् यही सिखाते हैं कि 'संस्कारशून्य होकर, निरावरण होकर, मायाका परदा हटाकर आओ; मेरे पास आओ। अरे, तुम्हारा यह मोहका परदा तो मैंने ही छीन लिया है; तुम अब इस परदेके मोहमें क्यों पड़ी हो? यह परदा ही तो परमात्मा और जीवके बीचमें बड़ा व्यवधान है; यह हट गया, बड़ा कल्याण हुआ। अब तुम मेरे पास आओ, तभी तुम्हारी चिरसंचित आकांक्षाएँ पूरी हो सकेंगी।' परमात्मा श्रीकृष्णका यह आह्वान, आत्माके आत्मा परम प्रियतमके मिलनका यह मधुर आमन्त्रण भगवत्कृपासे जिसके अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममें निमग्न होकर सब कुछ छोड़कर, छोड़ना भी भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें दौड़ आता है। फिर न उसे अपने वस्त्रोंकी सुधि रहती है और न लोगोंका ध्यान! न वह जगत्‌को देखता है न अपनेको। यह भगवत्प्रेमका रहस्य है। विशुद्ध और अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसा होता ही है।

गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णके चरणोंके पास मूकभावसे खड़ी हो गयीं। उनका मुख लज्जावनत था। यत्किञ्चित् संस्कारशेष श्रीकृष्णके पूर्ण आभिमुख्यमें प्रतिबन्ध हो रहा था। श्रीकृष्ण मुसकराये। उन्होंने इशारेसे कहा—'इतने बड़े त्यागमें यह संकोच कलंक है। तुम तो सदा निष्कलंका हो; तुम्हें इसका भी त्याग, त्यागके भावका भी त्याग—त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना होगा।' गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णके मुखकमलपर पड़ी। दोनों हाथ अपने-आप जुड़ गये और सूर्यमण्डलमें विराजमान अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही उन्होंने प्रेमकी भिक्षा माँगी। गोपियोंके इसी सर्वस्व त्यागने, इसी पूर्ण समर्पणने, इसी उच्चतम आत्मविस्मृतिने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे भर दिया। वे दिव्य रसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे सब कुछ भूल गयीं, भूलनेवालेको भी भूल गयीं, उनकी दृष्टिमें अब श्यामसुन्दर थे। बस, केवल श्यामसुन्दर थे।

जब प्रेमी भक्त आत्मविस्मृत हो जाता है तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान्‌पर होता है। अब मर्यादारक्षाके लिये गोपियोंको तो वस्त्रकी आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि उन्हें जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, वह मिल चुकी थी। परन्तु श्रीकृष्ण अपने प्रेमीको मर्यादाच्युत नहीं होने देते। वे स्वयं वस्त्र देते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा उन्हें विस्मृतिसे जगाकर फिर जगत्‌में लाते हैं। श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! तुम सती साध्वी हो। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी साधना मुझसे छिपी नहीं है। तुम्हारा संकल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह संकल्प—तुम्हारी यह कामना तुम्हें उस पदपर स्थित करती है, जो निस्संकल्पता और निष्कामताका है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण, तुम्हारा समर्पण पूर्ण और आगे आनेवाली शारदीय रात्रियोंमें हमारा रमण पूर्ण होगा। भगवान्‌ने साधना सफल होनेकी अवधि

निर्धारित कर दी। इससे भी स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णमें किसी भी कामविकारकी कल्पना नहीं थी। कामी पुरुषका चित्त वस्त्रहीन स्त्रियोंको देखकर एक क्षणके लिये भी कब वशमें रह सकता है!

एक बात बड़ी—विलक्षण है। भगवान्‌के सम्मुख जानेके पहले जो वस्त्र समर्पणकी पूर्णतामें बाधक हो रहे थे विक्षेपका काम कर रहे थे—वही भगवान्‌की कृपा, प्रेम, सान्निध्य और वरदान प्राप्त होनेके पश्चात् 'प्रसाद'-स्वरूप हो गये। इसका कारण क्या है? इसका कारण है भगवान्‌का सम्बन्ध। भगवान्‌ने अपने हाथसे उन वस्त्रोंको उठाया था और फिर उन्हें अपने उत्तम अंग कंधेपर रख लिया था। नीचेके शरीरमें पहननेकी साड़ियाँ भगवान्‌के कंधेपर चढ़कर—उनका संस्पर्श पाकर कितनी अप्राकृत रसात्मक हो गयीं, कितनी पवित्र—कृष्णमय हो गयीं, इसका अनुमान कौन लगा सकता है। असलमें यह संसार तभीतक बाधक और विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्‌से सम्बन्ध और भगवान्‌का प्रसाद नहीं हो जाता। उनके द्वारा प्राप्त होनेपर तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। उनके सम्पर्कमें जाकर माया शुद्ध विद्या बन जाती है। संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। तब बन्धनका भय नहीं रहता। कोई भी आवरण भगवान्‌के दर्शनसे वञ्चित नहीं रख सकता। नरक नरक नहीं रहता, भगवान्‌का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है। इसी स्थितिमें पहुँचकर बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी होकर गोपियाँ पुनः वे ही वस्त्र धारण करती हैं अथवा श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण कराते हैं; परन्तु गोपियोंकी दृष्टिमें अब ये वस्त्र वे वस्त्र नहीं हैं; वस्तुतः वे हैं भी नहीं—अब तो ये दूसरी वस्तु हो गये हैं। अब तो ये भगवान्‌के पावन प्रसाद हैं, पल-पलपर भगवान्‌का स्मरण करानेवाले भगवान्‌के परम सुन्दर प्रतीक हैं। इसीसे उन्होंने स्वीकार भी किया। उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाके ऊपर थी, फिर भी उन्होंने भगवान्‌की इच्छासे मर्यादा स्वीकार की । इस दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि भगवान्‌की यह चीरहरण-लीला भी अन्य लीलाओंकी भाँति उच्चतम मर्यादासे परिपूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल वे ही प्राचीन आर्षग्रन्थ प्रमाण हैं जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है। उनमेंसे एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका वर्णन न हो। श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान् हैं' यही बात सर्वत्र मिलती है। जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन ग्रन्थोंको भी नहीं मानते। और जो उन ग्रन्थोंको ही प्रमाण नहीं मानते, वे उनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्रकी समीक्षा करनेका अधिकार भी नहीं रखते। भगवान्‌की लीलाओंको मानवीय चरित्रके समकक्ष रखना शास्त्र-दृष्टिसे एक महान् अपराध है और उसके अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है। मानवबुद्धि—जो स्थूलताओंसे ही परिवेष्टित है—केवल जडके सम्बन्धमें ही सोच सकती है, भगवान्‌की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना ही नहीं कर सकती। वह बुद्धि स्वयं ही अपना उपहास करती है, जो समस्त बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले परमात्माकी दिव्य लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है।

हृदय और बुद्धिके सर्वथा विपरीत होनेपर भी यदि थोड़ी देरके लिये मान लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे या उनकी यह लीला मानवी थी तो भी तर्क और युक्तिके सामने ऐसी कोई बात नहीं टिक पाती जो श्रीकृष्णके चरित्रमें लाञ्छन हो। श्रीमद्भागवतका पारायण करनेवाले जानते हैं कि व्रजमें श्रीकृष्णने केवल ग्यारह वर्षकी अवस्थातक ही निवास किया था। यदि रासलीलाका समय दसवाँ वर्ष मानें तो नवें वर्षमें ही चीरहरण लीला हुई थी। इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि आठ-नौ वर्षके बालकमें कामोत्तेजना हो सकती है। गाँवकी गँवारिन ग्वालिनें, जहाँ वर्तमानकालकी नागरिक मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक आठ-नौ वर्षके बालकसे अवैध सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना करें—यह कदापि सम्भव नहीं दीखता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कलुषित वृत्ति थी, यह वर्तमान कलुषित मनोवृत्तिकी उट्टङ्कना है। आजकल जैसे गाँवकी छोटी-छोटी

लड़कियाँ 'राम'-सा वर और 'लक्ष्मण'-सा देवर पानेके लिये देवी-देवताओंकी पूजा करती हैं, वैसे ही उन कुमारियोंने भी परम सुन्दर, परम मधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देवी-पूजन और व्रत किये थे। इसमें दोषकी कौन-सी बात है?

आजकी बात निराली है। भोगप्रधान देशोंमें तो नग्नसम्प्रदाय और नग्नस्नानके क्लब भी बने हुए हैं! उनकी दृष्टि इन्द्रिय-तृप्तितक ही सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तेजक एवं मलिन व्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक दोष है, जो कि पशुत्वको बढ़ानेवाला है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है, 'न नग्नः स्नायात्'—यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि गोपियाँ शास्त्रके विरुद्ध आचरण करें। केवल लौकिक अनर्थ ही नहीं—भारतीय ऋषियोंका वह सिद्धान्त, जो प्रत्येक वस्तुमें पृथक्-पृथक् देवताओंका अस्तित्व मानता है, इस नग्नस्नानको देवताओंके विपरीत बतलाता है। श्रीकृष्ण जानते थे कि इससे वरुण देवताका अपमान होता है। गोपियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये जो तपस्या कर रही थीं, उसमें उनका नग्नस्नान अनिष्ट फल देनेवाला था और इस प्रथाके प्रभातमें ही यदि इसका विरोध न कर दिया जाय तो आगे चलकर इसका विस्तार हो सकता है; इसलिये श्रीकृष्णने अलौकिक ढंगसे निषेध कर दिया।

गाँवोंकी ग्वालिनोंको इस प्रथाकी बुराई किस प्रकार समझायी जाय, इसके लिये भी श्रीकृष्णने एक मौलिक उपाय सोचा। यदि वे गोपियोंके पास जाकर उन्हें देवतावादकी फिलासफी समझाते तो वे सरलतासे नहीं समझ सकती थीं। उन्हें तो इस प्रथाके कारण होनेवाली विपत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था। और विपत्तिका अनुभव करानेके पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी बता दी तथा अंजलि बाँधकर क्षमा-प्रार्थनारूप प्रायश्चित्त भी करवाया। महापुरुषोंमें उनकी बाल्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिभा देखी जाती है।

श्रीकृष्ण आठ-नौ वर्षके थे, उनमें कामोत्तेजना नहीं हो सकती और नग्नस्नानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके लिये उन्होंने चीरहरण किया—यह उत्तर सम्भव होनेपर भी मूलमें आये हुए 'काम' और 'रमण' शब्दोंसे कई लोग भड़क उठते हैं। यह केवल शब्दकी पकड़ है, जिसपर महात्मालोग ध्यान नहीं देते। श्रुतियोंमें और गीतामें भी अनेकों बार 'काम' 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है; परन्तु वहाँ उनका अश्लील अर्थ नहीं होता। गीतामें तो 'धर्माविरुद्ध काम' को परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है। महापुरुषोंका आत्मरमण, आत्ममिथुन और आत्मरति प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भड़कना विचारशील पुरुषोंका काम नहीं है। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं उन्हें रमण और रति शब्दका अर्थ केवल क्रीडा अथवा खिलवाड़ समझना चाहिये, जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है—'रमु क्रीडायाम्'।

दृष्टिभेदसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख पड़ती है। अध्यात्मवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें देखते हैं और गोपियोंको वृत्तियोंके रूपमें। वृत्तियोंका आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीरहरण-लीला' है और उनका आत्मामें रम जाना ही 'रास' है। इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है। भक्तोंकी दृष्टिसे गोलोकाधिपति पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब नित्यलीला-विलास है और अनादिकालसे अनन्तकालतक यह नित्य चलता रहता है। कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नित्य धाम और नित्य सखा-सहचरियोंके साथ लीला-धाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण-चिन्तन तथा आनन्दमंगलकी सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं। साधकोंके लिये किस प्रकार कृपा करके भगवान् अन्तर्मलको और अनादिकालसे सञ्चित संस्कारपटको विशुद्ध कर देते हैं, यह बात भी इस चीरहरण-लीलासे प्रकट होती है। भगवान्की लीला रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे उनकी लीलामें प्रविष्ट भाग्यवान् भक्त कुछ-कुछ जानते हैं। यहाँ तो शास्त्रों और संतोंकी वाणीके आधारपर ही कुछ लिखनेकी धृष्टता की गयी है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः।
वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः॥ २९

निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥ ३०

हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप॥ ३१

पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान्।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः॥ ३२

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः॥ ३३

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः[१] कामान् वितन्वते॥ ३४

एतावज्जन्मसाफल्यं[२] देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय[३] एवाचरेत् सदा॥ ३५

इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः।
तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः॥ ३६

प्रिय परीक्षित्! एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए वृन्दावनसे बहुत दूर निकल गये॥ २९॥

ग्रीष्म ऋतु थी। सूर्यकी किरणें बहुत ही प्रखर हो रही थीं। परन्तु घने-घने वृक्ष भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर छत्तेका काम कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने वृक्षोंको छाया करते देख स्तोककृष्ण, अंशु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ और वरूथप आदि ग्वालबालोंको सम्बोधन करके कहा— ॥ ३०-३१॥

'मेरे प्यारे मित्रो! देखो, ये वृक्ष कितने भाग्यवान् हैं! इनका सारा जीवन केवल दूसरोंकी भलाई करनेके लिये ही है। ये स्वयं तो हवाके झोंके, वर्षा, धूप और पाला—सब कुछ सहते हैं, परन्तु हम लोगोंकी उनसे रक्षा करते हैं॥ ३२॥

मैं कहता हूँ कि इन्हींका जीवन सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि इनके द्वारा सब प्राणियोंको सहारा मिलता है, उनका जीवन-निर्वाह होता है। जैसे किसी सज्जन पुरुषके घरसे कोई याचक खाली हाथ नहीं लौटता, वैसे ही इन वृक्षोंसे भी सभीको कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है॥ ३३॥

ये अपने पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, लकड़ी, गन्ध, गोंद, राख, कोयला, अंकुर और कोंपलोंसे भी लोगोंकी कामना पूर्ण करते हैं॥ ३४॥

मेरे प्यारे मित्रो! संसारमें प्राणी तो बहुत हैं; परन्तु उनके जीवनकी सफलता इतनेमें ही है कि जहाँतक हो सके अपने धनसे, विवेक-विचारसे, वाणीसे और प्राणोंसे भी ऐसे ही कर्म किये जायँ, जिनसे दूसरोंकी भलाई हो॥ ३५॥

परीक्षित्! दोनों ओरके वृक्ष नयी-नयी कोंपलों, गुच्छों, फल-फूलों और पत्तोंसे लद रहे थे। उनकी डालियाँ पृथ्वीतक झुकी हुई थीं। इस प्रकार भाषण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उन्हींके बीचसे यमुना-तटपर निकल आये॥ ३६॥

१. स्थिभोगैः। २. सामग्र्यं। ३. श्रेयआचरणं सदा।

तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः।
ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम्॥ ३७

राजन्! यमुनाजीका जल बड़ा ही मधुर, शीतल और स्वच्छ था। उन लोगोंने पहले गौओंको पिलाया और इसके बाद स्वयं भी जी भरकर स्वादु जलका पान किया॥ ३७॥

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप।
कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन्॥ ३८

परीक्षित्! जिस समय वे यमुनाजीके तटपर हरे-भरे उपवनमें बड़ी स्वतन्त्रतासे अपनी गौएँ चरा रहे थे, उसी समय कुछ भूखे ग्वालोंने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके पास आकर यह बात कही—॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[1] गोपीवस्त्रापहारो नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

यज्ञपत्नियोंपर कृपा

गोपा ऊचुः

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिवर्हण।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः॥ १

ग्वालबालोंने कहा—नयनाभिराम बलराम! तुम बड़े पराक्रमी हो। हमारे चित्तचोर श्यामसुन्दर! तुमने बड़े-बड़े दुष्टोंका संहार किया है। उन्हीं दुष्टोंके समान यह भूख भी हमें सता रही है। अतः तुम दोनों इसे भी बुझानेका कोई उपाय करो॥ १॥

श्रीशुक उवाच

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः।
भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत्॥ २

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! जब ग्वालबालोंने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की तब उन्होंने मथुराकी अपनी भक्त ब्राह्मणपत्नियोंपर अनुग्रह करनेके लिये यह बात कही—॥ २॥

प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
सत्रमांगिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया॥ ३

तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम्॥ ४

'मेरे प्यारे मित्रो! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वेदवादी ब्राह्मण स्वर्गकी कामनासे आंगिरस नामका यज्ञ कर रहे हैं। तुम उनकी यज्ञशालामें जाओ॥ ३॥ ग्वालबालो! मेरे भेजनेसे वहाँ जाकर तुमलोग मेरे बड़े भाई भगवान् श्रीबलरामजीका और मेरा नाम लेकर कुछ थोड़ा-सा भात—भोजनकी सामग्री माँग लाओ'॥ ४॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा।
कृतांजलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि॥ ५

जब भगवान्ने ऐसी आज्ञा दी, तब ग्वालबाल उन ब्राह्मणोंकी यज्ञशालामें गये और उनसे भगवान्की आज्ञाके अनुसार ही अन्न माँगा। पहले उन्होंने पृथ्वीपर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर कहा—॥ ५॥

---

१. कृष्णक्रीडायां यमुनागमनं नाम द्वाविंशतितमो।

हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः।
प्राप्ताञ्जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान्॥ ६

गाश्चारयन्तावविदूर ओदनं
रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि
श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः॥ ७

दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति॥ ८

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः॥ ९

देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः॥ १०

तं ब्रह्म परमं साक्षाद् भगवन्तमधोक्षजम्।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे॥ ११

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः॥ १२

तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयँल्लौकिकीं गतिम्॥ १३

'पृथ्वीके मूर्तिमान् देवता ब्राह्मणो! आपका कल्याण हो! आपसे निवेदन है कि हम व्रजके ग्वाले हैं। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी आज्ञासे हम आपके पास आये हैं। आप हमारी बात सुनें॥ ६॥ भगवान् बलराम और श्रीकृष्ण गौएँ चराते हुए यहाँसे थोड़े ही दूरपर आये हुए हैं। उन्हें इस समय भूख लगी है और वे चाहते हैं कि आपलोग उन्हें थोड़ा-सा भात दे दें। ब्राह्मणो! आप धर्मका मर्म जानते हैं। यदि आपकी श्रद्धा हो, तो उन भोजनार्थियोंके लिये कुछ भात दे दीजिये॥ ७॥ सज्जनो! जिस यज्ञदीक्षामें पशुबलि होती है, उसमें और सौत्रामणी यज्ञमें दीक्षित पुरुषका अन्न नहीं खाना चाहिये। इनके अतिरिक्त और किसी भी समय किसी भी यज्ञमें दीक्षित पुरुषका भी अन्न खानेमें कोई दोष नहीं है॥ ८॥ परीक्षित्! इस प्रकार भगवान्के अन्न माँगनेकी बात सुनकर भी उन ब्राह्मणोंने उसपर कोई ध्यान नहीं दिया। वे चाहते थे स्वर्गादि तुच्छ फल और उनके लिये बड़े-बड़े कर्मोंमें उलझे हुए थे। सच पूछो तो वे ब्राह्मण ज्ञानकी दृष्टिसे थे बालक ही, परन्तु अपनेको बड़ा ज्ञानवृद्ध मानते थे॥ ९॥ परीक्षित्! देश, काल अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ, भिन्न-भिन्न कर्मोंमें विनियुक्त मन्त्र, अनुष्ठानकी पद्धति, ऋत्विज्-ब्रह्मा आदि यज्ञ करानेवाले, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म—इन सब रूपोंमें एकमात्र भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं॥ १०॥ वे ही इन्द्रियातीत परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ग्वालबालोंके द्वारा भात माँग रहे हैं। परन्तु इन मूर्खोंने, जो अपनेको शरीर ही माने बैठे हैं, भगवान्को भी एक साधारण मनुष्य ही माना और उनका सम्मान नहीं किया॥ ११॥ परीक्षित्! जब उन ब्राह्मणोंने 'हाँ' या 'ना'—कुछ नहीं कहा, तब ग्वालबालोंकी आशा टूट गयी; वे लौट आये और वहाँकी सब बात उन्होंने श्रीकृष्ण तथा बलरामसे कह दी॥ १२॥ उनकी बात सुनकर सारे जगत्के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण हँसने लगे। उन्होंने ग्वालबालोंको समझाया कि 'संसारमें असफलता तो बार-बार होती ही है, उससे निराश नहीं होना चाहिये; बार-बार प्रयत्न करते रहनेसे सफलता मिल ही जाती है।' फिर उनसे कहा— ॥ १३॥

मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससंकर्षणमागतम्।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया॥ १४

गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वाऽऽसीनाः स्वलंकृताः।
नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन्॥ १५

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः।
इतोऽविदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम्॥ १६

गाश्चारयन् सगोपालैः सरामो दूरमागतः।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्॥ १७

श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः॥ १८

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः॥ १९

निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः॥ २०

यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते।
विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः॥ २१

'मेरे प्यारे ग्वालबालो! इस बार तुमलोग उनकी पत्नियोंके पास जाओ और उनसे कहो कि राम और श्याम यहाँ आये हैं। तुम जितना चाहोगे उतना भोजन वे तुम्हें देंगी। वे मुझसे बड़ा प्रेम करती हैं। उनका मन सदा-सर्वदा मुझमें लगा रहता है'॥ १४॥ अबकी बार ग्वालबाल पत्नीशालामें गये। वहाँ जाकर देखा तो ब्राह्मणोंकी पत्नियाँ सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और गहनोंसे सज-धजकर बैठी हैं। उन्होंने द्विजपत्नियोंको प्रणाम करके बड़ी नम्रतासे यह बात कही— ॥ १५॥ 'आप विप्रपत्नियोंको हम नमस्कार करते हैं। आप कृपा करके हमारी बात सुनें। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँसे थोड़ी ही दूरपर आये हुए हैं और उन्होंने ही हमें आपके पास भेजा है॥ १६॥ वे ग्वालबाल और बलरामजीके साथ गौएँ चराते हुए इधर बहुत दूर आ गये हैं। इस समय उन्हें और उनके साथियोंको भूख लगी है। आप उनके लिये कुछ भोजन दे दें'॥ १७॥

परीक्षित्! वे ब्राह्मणियाँ बहुत दिनोंसे भगवान्‌की मनोहर लीलाएँ सुनती थीं। उनका मन उनमें लग चुका था। वे सदा-सर्वदा इस बातके लिये उत्सुक रहतीं कि किसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँ। श्रीकृष्णके आनेकी बात सुनते ही वे उतावली हो गयीं॥ १८॥ उन्होंने बर्तनोंमें अत्यन्त स्वादिष्ट और हितकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—चारों प्रकारकी भोजन-सामग्री ले ली तथा भाई-बन्धु, पति-पुत्रोंके रोकते रहनेपर भी अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके पास जानेके लिये घरसे निकल पड़ीं—ठीक वैसे ही, जैसे नदियाँ समुद्रके लिये। क्यों न हो; न जाने कितने दिनोंसे पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुण, लीला, सौन्दर्य और माधुर्य आदिका वर्णन सुन-सुनकर उन्होंने उनके चरणोंपर अपना हृदय निछावर कर दिया था॥ १९-२०॥

ब्राह्मणपत्नियोंने जाकर देखा कि यमुनाके तटपर नये-नये कोंपलोंसे शोभायमान अशोक-वनमें ग्वाल-बालोंसे घिरे हुए बलरामजीके साथ श्रीकृष्ण इधर-उधर घूम रहे हैं॥ २१॥

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥ २२

उनके साँवले शरीरपर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा है। गलेमें वनमाला लटक रही है। मस्तकपर मोरपंखका मुकुट है। अंग-अंगमें रंगीन धातुओंसे चित्रकारी कर रखी है। नये-नये कोंपलोंके गुच्छे शरीरमें लगाकर नटका-सा वेष बना रखा है। एक हाथ अपने सखा ग्वाल-बालके कंधेपर रखे हुए हैं और दूसरे हाथसे कमलका फूल नचा रहे हैं। कानोंमें कमलके कुण्डल हैं, कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटक रही हैं और मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानकी रेखासे प्रफुल्लित हो रहा है॥ २२॥

प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै-
र्यस्मिन् निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं
प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र॥ २३

परीक्षित्! अबतक अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके गुण और लीलाएँ अपने कानोंसे सुन-सुनकर उन्होंने अपने मनको उन्हींके प्रेमके रंगमें रँग डाला था, उसीमें सराबोर कर दिया था। अब नेत्रोंके मार्गसे उन्हें भीतर ले जाकर बहुत देरतक वे मन-ही-मन उनका आलिंगन करती रहीं और इस प्रकार उन्होंने अपने हृदयकी जलन शान्त की—ठीक वैसे ही, जैसे जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओंकी वृत्तियाँ 'यह मैं, यह मेरा' इस भावसे जलती रहती हैं, परन्तु सुषुप्ति-अवस्थामें उसके अभिमानी प्राज्ञको पाकर उसीमें लीन हो जाती हैं और उनकी सारी जलन मिट जाती है॥ २३॥

तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः॥ २४

प्रिय परीक्षित्! भगवान् सबके हृदयकी बात जानते हैं, सबकी बुद्धियोंके साक्षी हैं। उन्होंने जब देखा कि ये ब्राह्मणपत्नियाँ अपने भाई-बन्धु और पति-पुत्रोंके रोकनेपर भी सब सगे-सम्बन्धियों और विषयोंकी आशा छोड़कर केवल मेरे दर्शनकी लालसासे ही मेरे पास आयी हैं, तब उन्होंने उनसे कहा। उस समय उनके मुखारविन्दपर हास्यकी तरंगें अठखेलियाँ कर रही थीं॥ २४॥

स्वागतं[1] वो महाभागा आस्यतां करवाम किम्।
यन्नो दिदृक्षया[2] प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः॥ २५

भगवान्‌ने कहा—'महाभाग्यवती देवियो! तुम्हारा स्वागत है। आओ, बैठो। कहो, हम तुम्हारा क्या स्वागत करें? तुमलोग हमारे दर्शनकी इच्छासे यहाँ आयी हो, यह तुम्हारे-जैसे प्रेमपूर्ण हृदयवालोंके योग्य ही है॥ २५॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्वागतं वो......' इत्यादि श्लोकके पहले 'श्रीभगवानुवाच' इतना अधिक पाठ है।
२. याभ्येता।

नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा॥ २६

प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः॥ २७

तद् यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः॥ २८

पत्न्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम्।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं
केशैर्निवोढुमतिलंघ्य[1] समस्तबन्धून्॥ २९

गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा
न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो
नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि॥ ३०

श्रीभगवानुवाच

पतयो नाभ्यसूयेरन्[2] पितृभ्रातृसुतादयः।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते॥ ३१

इसमें सन्देह नहीं कि संसारमें अपनी सच्ची भलाईको समझनेवाले जितने भी बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे अपने प्रियतमके समान ही मुझसे प्रेम करते हैं और ऐसा प्रेम करते हैं जिसमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती—जिसमें किसी प्रकारका व्यवधान, संकोच, छिपाव, दुविधा या द्वैत नहीं होता॥ २६॥ प्राण, बुद्धि, मन, शरीर, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन आदि संसारकी सभी वस्तुएँ जिसके लिये और जिसकी सन्निधिसे प्रिय लगती हैं—उस आत्मासे, परमात्मासे, मुझ श्रीकृष्णसे बढ़कर और कौन प्यारा हो सकता है॥ २७॥ इसलिये तुम्हारा आना उचित ही है। मैं तुम्हारे प्रेमका अभिनन्दन करता हूँ। परन्तु अब तुमलोग मेरा दर्शन कर चुकीं। अब अपनी यज्ञशालामें लौट जाओ। तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ हैं। वे तुम्हारे साथ मिलकर ही अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे'॥ २८॥

ब्राह्मणपत्नियोंने कहा—अन्तर्यामी श्यामसुन्दर! आपकी यह बात निष्ठुरतासे पूर्ण है। आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। श्रुतियाँ कहती हैं कि जो एक बार भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, उसे फिर संसारमें नहीं लौटना पड़ता। आप अपनी यह वेदवाणी सत्य कीजिये। हम अपने समस्त सगे-सम्बन्धियोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके आपके चरणोंमें इसलिये आयी हैं कि आपके चरणोंसे गिरी हुई तुलसीकी माला अपने केशोंमें धारण करें॥ २९॥ स्वामी! अब हमारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु और स्वजन-सम्बन्धी हमें स्वीकार नहीं करेंगे; फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है। वीरशिरोमणे! अब हम आपके चरणोंमें आ पड़ी हैं। हमें और किसीका सहारा नहीं है। इसलिये अब हमें दूसरोंकी शरणमें न जाना पड़े, ऐसी व्यवस्था कीजिये॥ ३०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवियो! तुम्हारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु—कोई भी तुम्हारा तिरस्कार नहीं करेंगे। उनकी तो बात ही क्या, सारा संसार तुम्हारा सम्मान करेगा। इसका कारण है। अब तुम मेरी हो गयी हो, मुझसे युक्त हो गयी हो। देखो न, ये देवता मेरी बातका अनुमोदन कर रहे हैं॥ ३१॥

१. निरोद्धुमभिलंघ्य। २. न ह्यभ्य०।

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यंगसंगो नृणामिह।
तन्मनो मयि युंजाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥ ३२

देवियो! इस संसारमें मेरा अंग-संग ही मनुष्योंमें मेरी प्रीति या अनुरागका कारण नहीं है। इसलिये तुम जाओ, अपना मन मुझमें लगा दो। तुम्हें बहुत शीघ्र मेरी प्राप्ति हो जायगी॥ ३२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः।
ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन्॥ ३३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान्ने इस प्रकार कहा, तब वे ब्राह्मणपत्नियाँ यज्ञशालामें लौट गयीं। उन ब्राह्मणोंने अपनी स्त्रियोंमें तनिक भी दोषदृष्टि नहीं की। उनके साथ मिलकर अपना यज्ञ पूरा किया॥ ३३॥

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥ ३४

उन स्त्रियोंमेंसे एकको आनेके समय ही उसके पतिने बलपूर्वक रोक लिया था। इसपर उस ब्राह्मणपत्नीने भगवान्के वैसे ही स्वरूपका ध्यान किया, जैसा कि बहुत दिनोंसे सुन रखा था। जब उसका ध्यान जम गया, तब मन-ही-मन भगवान्का आलिंगन करके उसने कर्मके द्वारा बने हुए अपने शरीरको छोड़ दिया—(शुद्धसत्त्वमय दिव्य शरीरसे उसने भगवान्की सन्निधि प्राप्त कर ली)॥ ३४॥

भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान्।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः॥ ३५

इधर भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणियोंके लाये हुए उस चार प्रकारके अन्नसे पहले ग्वाल-बालोंको भोजन कराया और फिर उन्होंने स्वयं भी भोजन किया॥ ३५॥

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः॥ ३६

परीक्षित्! इस प्रकार लीलामनुष्य भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यकी-सी लीला की और अपने सौन्दर्य, माधुर्य, वाणी तथा कर्मोंसे गौएँ, ग्वालबाल और गोपियोंको आनन्दित किया और स्वयं भी उनके अलौकिक प्रेमरसका आस्वादन करके आनन्दित हुए॥ ३६॥

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः।
यद् विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः॥ ३७

परीक्षित्! इधर जब ब्राह्मणोंको यह मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, तब उन्हें बड़ा पछतावा हुआ। वे सोचने लगे कि जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी आज्ञाका उल्लंघन करके हमने बड़ा भारी अपराध किया है। वे तो मनुष्यकी-सी लीला करते हुए भी परमेश्वर ही हैं॥ ३७॥

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम्।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन्॥ ३८

जब उन्होंने देखा कि हमारी पत्नियोंके हृदयमें तो भगवान्का अलौकिक प्रेम है और हमलोग उससे बिलकुल रीते हैं, तब वे पछता-पछताकर अपनी निन्दा करने लगे॥ ३८॥

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥ ३९

नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी।
यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः॥ ४०

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान्॥ ४१

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः॥ ४२

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि॥ ४३

ननु[1] स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः॥ ४४

वे कहने लगे—हाय! हम भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं। बड़े ऊँचे कुलमें हमारा जन्म हुआ, गायत्री ग्रहण करके हम द्विजाति हुए, वेदाध्ययन करके हमने बड़े-बड़े यज्ञ किये; परन्तु वह सब किस कामका? धिक्कार है! धिक्कार है!! हमारी विद्या व्यर्थ गयी, हमारे व्रत बुरे सिद्ध हुए। हमारी इस बहुज्ञताको धिक्कार है! ऊँचे वंशमें जन्म लेना, कर्मकाण्डमें निपुण होना किसी काम न आया। इन्हें बार-बार धिक्कार है॥ ३९॥ निश्चय ही, भगवान्की माया बड़े-बड़े योगियोंको भी मोहित कर लेती है। तभी तो हम कहलाते हैं मनुष्योंके गुरु और ब्राह्मण, परन्तु अपने सच्चे स्वार्थ और परमार्थके विषयमें बिलकुल भूले हुए हैं॥ ४०॥ कितने आश्चर्यकी बात है! देखो तो सही—यद्यपि ये स्त्रियाँ हैं, तथापि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णमें इनका कितना अगाध प्रेम है, अखण्ड अनुराग है! उसीसे इन्होंने गृहस्थीकी वह बहुत बड़ी फाँसी भी काट डाली, जो मृत्युके साथ भी नहीं कटती॥ ४१॥ इनके न तो द्विजातिके योग्य यज्ञोपवीत आदि संस्कार हुए हैं और न तो इन्होंने गुरुकुलमें ही निवास किया है। न इन्होंने तपस्या की है और न तो आत्माके सम्बन्धमें ही कुछ विवेक-विचार किया है। उनकी बात तो दूर रही, इनमें न तो पूरी पवित्रता है और न तो शुभकर्म ही॥ ४२॥ फिर भी समस्त योगेश्वरोंके ईश्वर पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें इनका दृढ़ प्रेम है। और हमने अपने संस्कार किये हैं, गुरुकुलमें निवास किया है, तपस्या की है, आत्मानुसन्धान किया है, पवित्रताका निर्वाह किया है तथा अच्छे-अच्छे कर्म किये हैं; फिर भी भगवान्के चरणोंमें हमारा प्रेम नहीं है॥ ४३॥ सच्ची बात यह है कि हमलोग गृहस्थीके काम-धंधोंमें मतवाले हो गये थे, अपनी भलाई और बुराईको बिलकुल भूल गये थे। अहो, भगवान्की कितनी कृपा है! भक्तवत्सल प्रभुने ग्वालबालोंको भेजकर उनके वचनोंसे हमें चेतावनी दी, अपनी याद दिलायी॥ ४४॥

१. नूनं।

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः ।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम् ॥ ४५

हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशया सकृत् ।
आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ॥ ४६

देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ ४७

स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।
जातो यदुष्वित्यश्रृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥ ४८

अहो[1] वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥ ४९

नमस्तुभ्यं[2] भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥ ५०

स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम् ।
अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥ ५१

भगवान् स्वयं पूर्णकाम हैं और कैवल्यमोक्षपर्यन्त जितनी भी कामनाएँ होती हैं, उनको पूर्ण करनेवाले हैं। यदि हमें सचेत नहीं करना होता तो उनका हम-सरीखे क्षुद्र जीवोंसे प्रयोजन ही क्या हो सकता था? अवश्य ही उन्होंने इसी उद्देश्यसे माँगनेका बहाना बनाया। अन्यथा उन्हें माँगनेकी भला क्या आवश्यकता थी?॥ ४५ ॥ स्वयं लक्ष्मी अन्य सब देवताओंको छोड़कर और अपनी चंचलता, गर्व आदि दोषोंका परित्याग कर केवल एक बार उनके चरणकमलोंका स्पर्श पानेके लिये सेवा करती रहती हैं। वे ही प्रभु किसीसे भोजनकी याचना करें, यह लोगोंको मोहित करनेके लिये नहीं तो और क्या है?॥ ४६ ॥ देश, काल, पृथक्-पृथक् सामग्रियाँ, उन-उन कर्मोंमें विनियुक्त मन्त्र, अनुष्ठानकी पद्धति, ऋत्विज्, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म—सब भगवान्के ही स्वरूप हैं॥ ४७ ॥ वे ही योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् विष्णु स्वयं श्रीकृष्णके रूपमें यदुवंशियोंमें अवतीर्ण हुए हैं, यह बात हमने सुन रखी थी; परन्तु हम इतने मूढ हैं कि उन्हें पहचान न सके॥ ४८ ॥ यह सब होनेपर भी हम धन्यातिधन्य हैं, हमारे अहोभाग्य हैं। तभी तो हमें वैसी पत्नियाँ प्राप्त हुई हैं। उनकी भक्तिसे हमारी बुद्धि भी भगवान् श्रीकृष्णके अविचल प्रेमसे युक्त हो गयी है॥ ४९ ॥ प्रभो! आप अचिन्त्य और अनन्त ऐश्वर्योंके स्वामी हैं! श्रीकृष्ण! आपका ज्ञान अबाध है। आपकी ही मायासे हमारी बुद्धि मोहित हो रही है और हम कर्मोंके पचड़ेमें भटक रहे हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ५० ॥ वे आदि पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हमारे इस अपराधको क्षमा करें। क्योंकि हमारी बुद्धि उनकी मायासे मोहित हो रही है और हम उनके प्रभावको न जाननेवाले अज्ञानी हैं॥ ५१ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'अहो वयं··' से लेकर··········'निश्चला हरौ' तकका पाठ नहीं है। २. स्तस्मै।

इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः।
दिदृक्षवोऽप्यच्युतयोः कंसाद् भीता न चाचलन्॥ ५२

परीक्षित्! उन ब्राह्मणोंने श्रीकृष्णका तिरस्कार किया था। अतः उन्हें अपने अपराधकी स्मृतिसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उनके हृदयमें श्रीकृष्ण-बलरामके दर्शनकी बड़ी इच्छा भी हुई; परन्तु कंसके डरके मारे वे उनका दर्शन करने न जा सके॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे यज्ञपत्न्युद्धरणं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

इन्द्रयज्ञ-निवारण

श्रीशुक[1] उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः।
अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्॥ १

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान्॥ २

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः।
किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते मखः॥ ३

एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह॥ ४

अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम्।
उदासीनोऽरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते॥ ५

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ वृन्दावनमें रहकर अनेकों प्रकारकी लीलाएँ कर रहे थे। उन्होंने एक दिन देखा कि वहाँके सब गोप इन्द्र-यज्ञ करनेकी तैयारी कर रहे हैं॥ १॥ भगवान् श्रीकृष्ण सबके अन्तर्यामी और सर्वज्ञ हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं थी, वे सब जानते थे। फिर भी विनयावनत होकर उन्होंने नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंसे पूछा—॥ २॥ 'पिताजी! आपलोगोंके सामने यह कौन-सा बड़ा भारी काम, कौन-सा उत्सव आ पहुँचा है? इसका फल क्या है? किस उद्देश्यसे, कौन लोग, किन साधनोंके द्वारा यह यज्ञ किया करते हैं? पिताजी! आप मुझे यह अवश्य बतलाइये॥ ३॥ आप मेरे पिता हैं और मैं आपका पुत्र। ये बातें सुननेके लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठा भी है। पिताजी! जो संत पुरुष सबको अपनी आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टिमें अपने और परायेका भेद नहीं है, जिनका न कोई मित्र है, न शत्रु और न उदासीन—उनके पास छिपानेकी तो कोई बात होती ही नहीं। परन्तु यदि ऐसी स्थिति न हो तो रहस्यकी बात शत्रुकी भाँति उदासीनसे भी नहीं कहनी चाहिये। मित्र तो अपने समान ही कहा गया है, इसलिये उससे कोई बात छिपायी नहीं जाती॥ ४-५॥ यह संसारी मनुष्य समझे-बेसमझे अनेकों प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता है। उनमेंसे समझ-बूझकर करनेवाले पुरुषोंके कर्म जैसे सफल होते हैं, वैसे बेसमझके नहीं॥ ६॥

१. बादरायणिरुवाच।

तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः।
अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम्॥ ७

अतः इस समय आपलोग जो क्रियायोग करने जा रहे हैं, वह सुहृदोंके साथ विचारित—शास्त्रसम्मत है अथवा लौकिक ही है—मैं यह सब जानना चाहता हूँ; आप कृपा करके स्पष्टरूपसे बतलाइये'॥ ७॥

नन्द[1] *उवाच*

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः।
तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः॥ ८

तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम्।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः॥ ९

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे।
पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः॥ १०

य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः।
कामाल्लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम्॥ ११

नन्दबाबाने कहा—बेटा! भगवान् इन्द्र वर्षा करनेवाले मेघोंके स्वामी हैं। ये मेघ उन्हींके अपने रूप हैं। वे समस्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाला एवं जीवनदान करनेवाला जल बरसाते हैं॥ ८॥ मेरे प्यारे पुत्र! हम और दूसरे लोग भी उन्हीं मेघपति भगवान् इन्द्रकी यज्ञोंके द्वारा पूजा किया करते हैं। जिन सामग्रियोंसे यज्ञ होता है, वे भी उनके बरसाये हुए शक्तिशाली जलसे ही उत्पन्न होती हैं॥ ९॥ उनका यज्ञ करनेके बाद जो कुछ बच रहता है, उसी अन्नसे हम सब मनुष्य अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्गकी सिद्धिके लिये अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। मनुष्योंके खेती आदि प्रयत्नोंके फल देनेवाले इन्द्र ही हैं॥ १०॥ यह धर्म हमारी कुलपरम्परासे चला आया है। जो मनुष्य काम, लोभ, भय अथवा द्वेषवश ऐसे परम्परागत धर्मको छोड़ देता है, उसका कभी मंगल नहीं होता॥ ११॥

श्रीशुक[2] *उवाच*

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम्।
इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः॥ १२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! ब्रह्मा, शंकर आदिके भी शासन करनेवाले केशव भगवान्ने नन्दबाबा और दूसरे व्रजवासियोंकी बात सुनकर इन्द्रको क्रोध दिलानेके लिये अपने पिता नन्दबाबासे कहा॥ १२॥

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥ १३

श्रीभगवान्ने कहा—पिताजी! प्राणी अपने कर्मके अनुसार ही पैदा होता और कर्मसे ही मर जाता है। उसे उसके कर्मके अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मंगलके निमित्तोंकी प्राप्ति होती है॥ १३॥

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः॥ १४

यदि कर्मोंको ही सब कुछ न मानकर उनसे भिन्न जीवोंके कर्मका फल देनेवाला ईश्वर माना भी जाय तो वह कर्म करनेवालोंको ही उनके कर्मके अनुसार फल दे सकता है। कर्म न करने-वालोंपर उसकी प्रभुता नहीं चल सकती॥ १४॥

१. नन्दगोप उवाच। २. बादरायणिरुवाच।

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥ १५

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ १६

देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः॥ १७

तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥ १८

आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति।
न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारं नार्यसती यथा॥ १९

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥ २०

कृषिवाणिज्यगोरक्षा[१] कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥ २१

सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत्॥ २२

जब सभी प्राणी अपने-अपने कर्मोंका ही फल भोग रहे हैं, तब हमें इन्द्रकी क्या आवश्यकता है? पिताजी! जब वे पूर्वसंस्कारके अनुसार प्राप्त होनेवाले मनुष्योंके कर्म-फलको बदल ही नहीं सकते—तब उनसे प्रयोजन?॥ १५॥ मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्व-संस्कारों) के अधीन है। वह उसीका अनुसरण करता है। यहाँतक कि देवता, असुर, मनुष्य आदिको लिये हुए यह सारा जगत् स्वभावमें ही स्थित है॥ १६॥ जीव अपने कर्मोंके अनुसार उत्तम और अधम शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता रहता है। अपने कर्मोंके अनुसार ही 'यह शत्रु है, यह मित्र है, यह उदासीन है'—ऐसा व्यवहार करता है। कहाँतक कहूँ, कर्म ही गुरु है और कर्म ही ईश्वर॥ १७॥ इसलिये पिताजी! मनुष्यको चाहिये कि पूर्व-संस्कारोंके अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुकूल धर्मोंका पालन करता हुआ कर्मका ही आदर करे। जिसके द्वारा मनुष्यकी जीविका सुगमतासे चलती है, वही उसका इष्टदेव होता है॥ १८॥ जैसे अपने विवाहित पतिको छोड़कर जार पतिका सेवन करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री कभी शान्तिलाभ नहीं करती, वैसे ही जो मनुष्य अपनी आजीविका चलानेवाले एक देवताको छोड़कर किसी दूसरेकी उपासना करते हैं, उससे उन्हें कभी सुख नहीं मिलता॥ १९॥ ब्राह्मण वेदोंके अध्ययन-अध्यापनसे, क्षत्रिय पृथ्वीपालनसे, वैश्य वार्तावृत्तिसे और शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवासे अपनी जीविकाका निर्वाह करें॥ २०॥ वैश्योंकी वार्तावृत्ति चार प्रकारकी है—कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज लेना। हमलोग उन चारोंमेंसे एक केवल गोपालन ही सदासे करते आये हैं॥ २१॥ पिताजी! इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और अन्तके कारण क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण हैं। यह विविध प्रकारका सम्पूर्ण जगत् स्त्री-पुरुषके संयोगसे रजोगुणके द्वारा उत्पन्न होता है॥ २२॥

१. रक्ष्यं।

रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति॥ २३

न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम्।
नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः॥ २४

तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः॥ २५

पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥ २६

हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः॥ २७

अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः।
यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः॥ २८

स्वलंकृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः।
प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान्॥ २९

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः॥ ३०

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः॥ ३१

तथा च व्यदधुः सर्वं यथाऽऽह मधुसूदनः।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद् द्रव्येण गिरिद्विजान्॥ ३२

उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम्।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम्॥ ३३

उसी रजोगुणकी प्रेरणासे मेघगण सब कहीं जल बरसाते हैं। उसीसे अन्न और अन्नसे ही सब जीवोंकी जीविका चलती है। इसमें भला इन्द्रका क्या लेना-देना है? वह भला, क्या कर सकता है?॥ २३॥

पिताजी! न तो हमारे पास किसी देशका राज्य है और न तो बड़े-बड़े नगर ही हमारे अधीन हैं। हमारे पास गाँव या घर भी नहीं हैं। हम तो सदाके वनवासी हैं, वन और पहाड़ ही हमारे घर हैं॥ २४॥ इसलिये हमलोग गौओं, ब्राह्मणों और गिरिराजका यजन करनेकी तैयारी करें। इन्द्र-यज्ञके लिये जो सामग्रियाँ इकट्ठी की गयी हैं, उन्हींसे इस यज्ञका अनुष्ठान होने दें॥ २५॥ अनेकों प्रकारके पकवान—खीर, हलवा, पूआ, पूरी आदिसे लेकर मूँगकी दालतक बनाये जायँ। व्रजका सारा दूध एकत्र कर लिया जाय॥ २६॥ वेदवादी ब्राह्मणोंके द्वारा भलीभाँति हवन करवाया जाय तथा उन्हें अनेकों प्रकारके अन्न, गौएँ और दक्षिणाएँ दी जायँ॥ २७॥ और भी, चाण्डाल, पतित तथा कुत्तोंतकको यथायोग्य वस्तुएँ देकर गायोंको चारा दिया जाय और फिर गिरिराजको भोग लगाया जाय॥ २८॥ इसके बाद खूब प्रसाद खा-पीकर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनकर गहनोंसे सज-सजा लिया जाय और चन्दन लगाकर गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा गिरिराज गोवर्धनकी प्रदक्षिणा की जाय॥ २९॥ पिताजी! मेरी तो ऐसी ही सम्मति है। यदि आप-लोगोंको रुचे तो ऐसा ही कीजिये। ऐसा यज्ञ गौ, ब्राह्मण और गिरिराजको तो प्रिय होगा ही; मुझे भी बहुत प्रिय है॥ ३०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कालात्मा भगवान्‌की इच्छा थी कि इन्द्रका घमण्ड चूर-चूर कर दें। नन्दबाबा आदि गोपोंने उनकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर ली॥ ३१॥ भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकारका यज्ञ करनेको कहा था, वैसा ही यज्ञ उन्होंने प्रारम्भ किया। पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर उसी सामग्रीसे गिरिराज और ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं तथा गौओंको हरी-हरी घास खिलायीं। इसके बाद नन्दबाबा आदि गोपोंने गौओंको आगे करके गिरिराजकी प्रदक्षिणा की॥ ३२-३३॥

अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलंकृताः।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः॥ ३४

ब्राह्मणोंका आशीर्वाद प्राप्त करके वे और गोपियाँ भलीभाँति शृंगार करके और बैलोंसे जुती गाड़ियोंपर सवार होकर भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करती हुई गिरिराजकी परिक्रमा करने लगीं॥ ३४॥

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः॥ ३५

भगवान् श्रीकृष्ण गोपोंको विश्वास दिलानेके लिये गिरिराजके ऊपर एक दूसरा विशाल शरीर धारण करके प्रकट हो गये, तथा 'मैं गिरिराज हूँ' इस प्रकार कहते हुए सारी सामग्री आरोगने लगे॥ ३५॥

तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽऽत्मनाऽऽत्मने।
अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात्॥ ३६

एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम्॥ ३७

भगवान् श्रीकृष्णने अपने उस स्वरूपको दूसरे व्रजवासियोंके साथ स्वयं भी प्रणाम किया और कहने लगे—'देखो, कैसा आश्चर्य है! गिरिराजने साक्षात् प्रकट होकर हमपर कृपा की है॥ ३६॥ ये चाहे जैसा रूप धारण कर सकते हैं। जो वनवासी जीव इनका निरादर करते हैं, उन्हें ये नष्ट कर डालते हैं। आओ, अपना और गौओंका कल्याण करनेके लिये इन गिरिराजको हम नमस्कार करें'॥ ३७॥

इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः[1]।
यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः॥ ३८

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंने गिरिराज, गौ और ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया तथा फिर श्रीकृष्णके साथ सब व्रजमें लौट आये॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[2] चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

गोवर्धनधारण

श्रीशुक[3] उवाच

इन्द्रस्तदाऽऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब इन्द्रको पता लगा कि मेरी पूजा बंद कर दी गयी है, तब वे नन्दबाबा आदि गोपोंपर बहुत ही क्रोधित हुए। परन्तु उनके क्रोध करनेसे होता क्या, उन गोपोंके रक्षक तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण थे॥ १॥

गणं सांवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम्।
इन्द्रः प्राचोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत॥ २

इन्द्रको अपने पदका बड़ा घमण्ड था, वे समझते थे कि मैं ही त्रिलोकीका ईश्वर हूँ। उन्होंने क्रोधसे तिलमिलाकर प्रलय करनेवाले मेघोंके सांवर्तक नामक गणको व्रजपर चढ़ाई करनेकी

१. प्रचो०। २. इन्द्रमखभंगश्चतु०। ३. बादरायणिरुवाच।

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये[१] चक्रुर्देवहेलनम्॥ ३

यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः।
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम्॥ ४

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम्॥ ५

एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम्।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत संक्षयम्॥ ६

अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम्।
मरुद्गणैर्महावीर्यैर्[२]नन्दगोष्ठजिघांसया॥ ७

श्रीशुक उवाच

इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः।
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा॥ ८

विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः स्तनयित्नुभिः।
तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः॥ ९

स्थूणास्थूला वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः।
जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम्॥ १०

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः॥ ११

आज्ञा दी और कहा—॥ २॥ 'ओह, इन जंगली ग्वालोंको इतना घमण्ड! सचमुच यह धनका ही नशा है। भला देखो तो सही, एक साधारण मनुष्य कृष्णके बलपर उन्होंने मुझ देवराजका अपमान कर डाला॥ ३॥ जैसे पृथ्वीपर बहुत-से मन्दबुद्धि पुरुष भवसागरसे पार जानेके सच्चे साधन ब्रह्मविद्याको तो छोड़ देते हैं और नाममात्रकी टूटी हुई नावसे—कर्ममय यज्ञोंसे इस घोर संसार-सागरको पार करना चाहते हैं॥ ४॥ कृष्ण बकवादी, नादान, अभिमानी और मूर्ख होनेपर भी अपनेको बहुत बड़ा ज्ञानी समझता है। वह स्वयं मृत्युका ग्रास है। फिर भी उसीका सहारा लेकर इन अहीरोंने मेरी अवहेलना की है॥ ५॥ एक तो ये यों ही धनके नशेमें चूर हो रहे थे; दूसरे कृष्णने इनको और बढ़ावा दे दिया है। अब तुमलोग जाकर इनके इस धनके घमण्ड और हेकड़ीको धूलमें मिला दो तथा उनके पशुओंका संहार कर डालो॥ ६॥ मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ऐरावत हाथीपर चढ़कर नन्दके व्रजका नाश करनेके लिये महापराक्रमी मरुद्गणोंके साथ आता हूँ'॥ ७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इन्द्रने इस प्रकार प्रलयके मेघोंको आज्ञा दी और उनके बन्धन खोल दिये। अब वे बड़े वेगसे नन्दबाबाके व्रजपर चढ़ आये और मूसलधार पानी बरसाकर सारे व्रजको पीड़ित करने लगे॥ ८॥ चारों ओर बिजलियाँ चमकने लगीं, बादल आपसमें टकराकर कड़कने लगे और प्रचण्ड आँधीकी प्रेरणासे वे बड़े-बड़े ओले बरसाने लगे॥ ९॥ इस प्रकार जब दल-के-दल बादल बार-बार आ-आकर खंभेके समान मोटी-मोटी धाराएँ गिराने लगे, तब व्रजभूमिका कोना-कोना पानीसे भर गया और कहाँ नीचा है, कहाँ ऊँचा—इसका पता चलना कठिन हो गया॥ १०॥ इस प्रकार मूसलधार वर्षा तथा झंझावातके झपाटेसे जब एक-एक पशु ठिठुरने और काँपने लगा, ग्वाल और ग्वालिनें भी ठंडके मारे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, तब वे सब-के-सब भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आये॥ ११॥

१. मखभंगमचीकरन्। २. हावेगैर्न०।

शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः॥ १२

कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो।
त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल॥ १३

शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम्।
निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः॥ १४

अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम्।
स्वयागे विहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति॥ १५

तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये।
लोकेशमानिनां मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः॥ १६

न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः।
मत्तोऽसतां मानभंगः प्रशमायोपकल्पते॥ १७

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥ १८

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः॥ १९

मूसलधार वर्षासे सताये जानेके कारण सबने अपने-अपने सिर और बच्चोंको निहुककर अपने शरीरके नीचे छिपा लिया था और वे काँपते-काँपते भगवान्‌की चरणशरणमें पहुँचे॥ १२॥ और बोले—'प्यारे श्रीकृष्ण! तुम बड़े भाग्यवान् हो। अब तो कृष्ण! केवल तुम्हारे ही भाग्यसे हमारी रक्षा होगी। प्रभो! इस सारे गोकुलके एकमात्र स्वामी, एकमात्र रक्षक तुम्हीं हो। भक्तवत्सल! इन्द्रके क्रोधसे अब तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो'॥ १३॥ भगवान्‌ने देखा कि वर्षा और ओलोंकी मारसे पीड़ित होकर सब बेहोश हो रहे हैं। वे समझ गये कि यह सारी करतूत इन्द्रकी है। उन्होंने ही क्रोधवश ऐसा किया है॥ १४॥ वे मन-ही-मन कहने लगे—'हमने इन्द्रका यज्ञ भंग कर दिया है, इसीसे वे व्रजका नाश करनेके लिये बिना ऋतुके ही यह प्रचण्ड वायु और ओलोंके साथ घनघोर वर्षा कर रहे हैं॥ १५॥ अच्छा, मैं अपनी योगमायासे इसका भलीभाँति जवाब दूँगा। ये मूर्खतावश अपनेको लोकपाल मानते हैं, इनके ऐश्वर्य और धनका घमण्ड तथा अज्ञान मैं चूर-चूर कर दूँगा॥ १६॥ देवतालोग तो सत्त्वप्रधान होते हैं। इनमें अपने ऐश्वर्य और पदका अभिमान न होना चाहिये। अत: यह उचित ही है कि इन सत्त्वगुणसे च्युत दुष्ट देवताओंका मैं मान भंग कर दूँ। इससे अन्तमें उन्हें शान्ति ही मिलेगी॥ १७॥ यह सारा व्रज मेरे आश्रित है, मेरे द्वारा स्वीकृत है और एकमात्र मैं ही इसका रक्षक हूँ। अत: मैं अपनी योगमायासे इसकी रक्षा करूँगा। संतोंकी रक्षा करना तो मेरा व्रत ही है। अब उसके पालनका अवसर आ पहुँचा है'*॥ १८॥

इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्णने खेल-खेलमें एक ही हाथसे गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़ लिया और जैसे छोटे-छोटे बालक बरसाती छत्तेके पुष्पको उखाड़कर हाथमें रख लेते हैं, वैसे ही उन्होंने उस पर्वतको धारण कर लिया॥ १९॥

---

* भगवान् कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति चयाचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

'जो केवल एक बार मेरी शरणमें आ जाता है और 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार याचना करता है, उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः॥ २०

न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातने।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः॥ २१

तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः।
यथावकाशं सधनाः सव्रजाः सोपजीविनः॥ २२

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः।
वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं[1] सप्ताहं नाचलत् पदात्॥ २३

कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः।
निःस्तम्भो भ्रष्टसंकल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत्॥ २४

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम्।
निशाम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत्॥ २५

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः॥ २६

ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम्।
शकटोढोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः॥ २७

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया॥ २८

इसके बाद भगवान्‌ने गोपोंसे कहा—'माताजी, पिताजी और व्रजवासियो! तुमलोग अपनी गौओं और सब सामग्रियोंके साथ इस पर्वतके गड्ढेमें आकर आरामसे बैठ जाओ॥ २०॥ देखो, तुमलोग ऐसी शंका न करना कि मेरे हाथसे यह पर्वत गिर पड़ेगा। तुमलोग तनिक भी मत डरो। इस आँधी-पानीके डरसे तुम्हें बचानेके लिये ही मैंने यह युक्ति रची है'॥ २१॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सबको आश्वासन दिया—ढाढ़स बँधाया, तब सब-के-सब ग्वाल अपने-अपने गोधन, छकड़ों, आश्रितों, पुरोहितों और भृत्योंको अपने-अपने साथ लेकर सुभीतेके अनुसार गोवर्द्धनके गड्ढेमें आ घुसे॥ २२॥

भगवान् श्रीकृष्णने सब व्रजवासियोंके देखते-देखते भूख-प्यासकी पीड़ा, आराम-विश्रामकी आवश्यकता आदि सब कुछ भुलाकर सात दिनतक लगातार उस पर्वतको उठाये रखा। वे एक डग भी वहाँसे इधर-उधर नहीं हुए॥ २३॥ श्रीकृष्णकी योगमायाका यह प्रभाव देखकर इन्द्रके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। अपना संकल्प पूरा न होनेके कारण उनकी सारी हेकड़ी बंद हो गयी, वे भौंचक्के-से रह गये। इसके बाद उन्होंने मेघोंको अपने-आप वर्षा करनेसे रोक दिया॥ २४॥ जब गोवर्द्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि वह भयंकर आँधी और घनघोर वर्षा बंद हो गयी, आकाशसे बादल छँट गये और सूर्य दीखने लगे, तब उन्होंने गोपोंसे कहा— ॥ २५॥ 'मेरे प्यारे गोपो! अब तुमलोग निडर हो जाओ और अपनी स्त्रियों, गोधन तथा बच्चोंके साथ बाहर निकल आओ। देखो, अब आँधी-पानी बंद हो गया तथा नदियोंका पानी भी उतर गया'॥ २६॥ भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर अपने-अपने गोधन, स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ोंको साथ ले तथा अपनी सामग्री छकड़ोंपर लादकर धीरे-धीरे सब लोग बाहर निकल आये॥ २७॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने भी सब प्राणियोंके देखते-देखते खेल-खेलमें ही गिरिराजको पूर्ववत् उसके स्थानपर रख दिया॥ २८॥

१. धाराद्रिं।

तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो
यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा
दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः॥ २९

व्रजवासियोंका हृदय प्रेमके आवेगसे भर रहा था। पर्वतको रखते ही वे भगवान् श्रीकृष्णके पास दौड़ आये। कोई उन्हें हृदयसे लगाने और कोई चूमने लगा। सबने उनका सत्कार किया। बड़ी-बूढ़ी गोपियोंने बड़े आनन्द और स्नेहसे दही, चावल, जल आदिसे उनका मंगल-तिलक किया और उन्मुक्त हृदयसे शुभ आशीर्वाद दिये॥ २९॥

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः॥ ३०

यशोदारानी, रोहिणीजी, नन्दबाबा और बलवानोंमें श्रेष्ठ बलरामजीने स्नेहातुर होकर श्रीकृष्णको हृदयसे लगा लिया तथा आशीर्वाद दिये॥ ३०॥

दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः।
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव॥ ३१

परीक्षित्! उस समय आकाशमें स्थित देवता, साध्य, सिद्ध, गन्धर्व और चारण आदि प्रसन्न होकर भगवान्की स्तुति करते हुए उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ ३१॥

शंखदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः।
जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप॥ ३२

राजन्! स्वर्गमें देवतालोग शंख और नौबत बजाने लगे। तुम्बुरु आदि गन्धर्वराज भगवान्की मधुर लीलाका गान करने लगे॥ ३२॥

ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो
राजन् स गोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका
गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः॥ ३३

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने व्रजकी यात्रा की। उनके बगलमें बलरामजी चल रहे थे और उनके प्रेमी ग्वालबाल उनकी सेवा कर रहे थे। उनके साथ ही प्रेममयी गोपियाँ भी अपने हृदयको आकर्षित करनेवाले, उसमें प्रेम जगानेवाले भगवान्की गोवर्द्धन-धारण आदि लीलाओंका गान करती हुई बड़े आनन्दसे व्रजमें लौट आयीं॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

नन्दबाबासे गोपोंकी श्रीकृष्णके प्रभावके विषयमें बातचीत

श्रीशुक उवाच

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते।
अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! व्रजके गोप भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे अलौकिक कर्म देखकर बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। उन्हें भगवान्की अनन्त शक्तिका तो पता था नहीं, वे इकट्ठे होकर आपसमें इस प्रकार कहने लगे—॥ १॥

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम्॥ २

'इस बालकके ये कर्म बड़े अलौकिक हैं। इसका हमारे-जैसे गँवार ग्रामीणोंमें जन्म लेना तो इसके लिये बड़ी निन्दाकी बात है। यह भला, कैसे उचित हो सकता है॥ २॥

य: सप्तहायनो बाल: करेणैकेन लीलया।
कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव॥ ३

तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः॥ ४

हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक्।
अनोऽपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम्॥ ५

एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा।
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम्॥ ६

क्वचिद्धैयंगवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत्॥ ७

वने संचारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत्॥ ८

वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया।
हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया॥ ९

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम्॥ १०

जैसे गजराज कोई कमल उखाड़कर उसे ऊपर उठा ले और धारण करे, वैसे ही इस नन्हें-से सात वर्षके बालकने एक ही हाथसे गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़ लिया और खेल-खेलमें सात दिनोंतक उठाये रखा॥ ३॥ यह साधारण मनुष्यके लिये भला कैसे सम्भव है? जब यह नन्हा-सा बच्चा था, उस समय बड़ी भयंकर राक्षसी पूतना आयी और इसने आँख बंद किये-किये ही उसका स्तन तो पिया ही, प्राण भी पी डाले— ठीक वैसे ही, जैसे काल शरीरकी आयुको निगल जाता है॥ ४॥ जिस समय यह केवल तीन महीनेका था और छकड़ेके नीचे सोकर रो रहा था, उस समय रोते-रोते इसने ऐसा पाँव उछाला कि उसकी ठोकरसे वह बड़ा भारी छकड़ा उलटकर गिर ही पड़ा॥ ५॥ उस समय तो यह एक ही वर्षका था, जब दैत्य बवंडरके रूपमें इसे बैठे-बैठे आकाशमें उड़ा ले गया था। तुम सब जानते ही हो कि इसने उस तृणावर्त दैत्यको गला घोंटकर मार डाला॥ ६॥ उस दिनकी बात तो सभी जानते हैं कि माखनचोरी करनेपर यशोदारानीने इसे ऊखलसे बाँध दिया था। यह घुटनोंके बल बकैयाँ खींचते-खींचते उन दोनों विशाल अर्जुन वृक्षोंके बीचमेंसे निकल गया और उन्हें उखाड़ ही डाला॥ ७॥ जब यह ग्वालबाल और बलरामजीके साथ बछड़ोंको चरानेके लिये वनमें गया हुआ था उस समय इसको मार डालनेके लिये एक दैत्य बगुलेके रूपमें आया और इसने दोनों हाथोंसे उसके दोनों ठोर पकड़कर उसे तिनकेकी तरह चीर डाला॥ ८॥ जिस समय इसको मार डालनेकी इच्छासे एक दैत्य बछड़ेके रूपमें बछड़ोंके झुंडमें घुस गया था उस समय इसने उस दैत्यको खेल-ही-खेलमें मार डाला और उसे कैथके पेड़ोंपर पटककर उन पेड़ोंको भी गिरा दिया॥ ९॥ इसने बलरामजीके साथ मिलकर गधेके रूपमें रहनेवाले धेनुकासुर तथा उसके भाई-बन्धुओंको मार डाला और पके हुए फलोंसे पूर्ण तालवनको सबके लिये उपयोगी और मंगलमय बना दिया॥ १०॥

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना।
अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः॥ ११

आशीविषतमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात्।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम्॥ १२

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्॥ १३

क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्।
ततो नो जायते शंका व्रजनाथ तवात्मजे॥ १४

नन्द उवाच

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शंका च वोऽर्भके।
एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह॥ १५

वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ १६

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ १७

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥ १८

एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ॥ १९

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः॥ २०

इसीने बलशाली बलरामजीके द्वारा क्रूर प्रलम्बासुरको मरवा डाला तथा दावानलसे गौओं और ग्वालबालोंको उबार लिया॥ ११॥ यमुनाजलमें रहनेवाला कालियनाग कितना विषैला था? परन्तु इसने उसका भी मान मर्दन कर उसे बलपूर्वक दहसे निकाल दिया और यमुनाजीका जल सदाके लिये विषरहित—अमृतमय बना दिया॥ १२॥ नन्दजी! हम यह भी देखते हैं कि तुम्हारे इस साँवले बालकपर हम सभी व्रजवासियोंका अनन्त प्रेम है और इसका भी हमपर स्वाभाविक ही स्नेह है। क्या आप बतला सकते हैं कि इसका क्या कारण है॥ १३॥ भला, कहाँ तो यह सात वर्षका नन्हा-सा बालक और कहाँ इतने बड़े गिरिराजको सात दिनोंतक उठाये रखना! व्रजराज! इसीसे तो तुम्हारे पुत्रके सम्बन्धमें हमें बड़ी शंका हो रही है॥ १४॥

नन्दबाबाने कहा—गोपो! तुमलोग सावधान होकर मेरी बात सुनो। मेरे बालकके विषयमें तुम्हारी शंका दूर हो जाय। क्योंकि महर्षि गर्गने इस बालकको देखकर इसके विषयमें ऐसा ही कहा था॥ १५॥ 'तुम्हारा यह बालक प्रत्येक युगमें शरीर ग्रहण करता है। विभिन्न युगोंमें इसने श्वेत, रक्त और पीत—ये भिन्न-भिन्न रंग स्वीकार किये थे। इस बार यह कृष्णवर्ण हुआ है॥ १६॥ नन्दजी! यह तुम्हारा पुत्र पहले कहीं वसुदेवके घर भी पैदा हुआ था, इसलिये इस रहस्यको जाननेवाले लोग 'इसका नाम श्रीमान् वासुदेव है'—ऐसा कहते हैं॥ १७॥ तुम्हारे पुत्रके गुण और कर्मोंके अनुरूप और भी बहुत-से नाम हैं तथा बहुत-से रूप। मैं तो उन नामोंको जानता हूँ, परन्तु संसारके साधारण लोग नहीं जानते॥ १८॥ यह तुमलोगोंका परम कल्याण करेगा, समस्त गोप और गौओंको यह बहुत ही आनन्दित करेगा। इसकी सहायतासे तुमलोग बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको बड़ी सुगमतासे पार कर लोगे॥ १९॥

'व्रजराज! पूर्वकालमें एक बार पृथ्वीमें कोई राजा नहीं रह गया था। डाकुओंने चारों ओर लूट-खसोट मचा रखी थी। तब तुम्हारे इसी पुत्रने सज्जन पुरुषोंकी रक्षा की और इससे बल पाकर उन लोगोंने लुटेरोंपर विजय प्राप्त की॥ २०॥

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः॥ २१

तस्मान्नन्द कुमारोऽयं नारायणसमो गुणैः।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः॥ २२

इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्॥ २३

इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः।
दृष्टश्रुतानुभावास्ते कृष्णस्यामिततेजसः।
मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः॥ २४

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मपर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन्।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद् गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्॥ २५

नन्दबाबा! जो तुम्हारे इस साँवले शिशुसे प्रेम करते हैं, वे बड़े भाग्यवान् हैं। जैसे विष्णुभगवान्‌के करकमलोंकी छत्रछायामें रहनेवाले देवताओंको असुर नहीं जीत सकते, वैसे ही इससे प्रेम करनेवालोंको भीतरी या बाहरी—किसी भी प्रकारके शत्रु नहीं जीत सकते॥ २१॥ नन्दजी! चाहे जिस दृष्टिसे देखें—गुणसे, ऐश्वर्य और सौन्दर्यसे, कीर्ति और प्रभावसे तुम्हारा बालक स्वयं भगवान् नारायणके ही समान है, अतः इस बालकके अलौकिक कार्योंको देखकर आश्चर्य न करना चाहिये'॥ २२॥ गोपो! मुझे स्वयं गर्गाचार्यजी यह आदेश देकर अपने घर चले गये। तबसे मैं अलौकिक और परम सुखद कर्म करनेवाले इस बालकको भगवान् नारायणका ही अंश मानता हूँ॥ २३॥ जब व्रजवासियोंने नन्दबाबाके मुखसे गर्गजीकी यह बात सुनी, तब उनका विस्मय जाता रहा। क्योंकि अब वे अमिततेजस्वी श्रीकृष्णके प्रभावको पूर्णरूपसे देख और सुन चुके थे । आनन्दमें भरकर उन्होंने नन्दबाबा और श्रीकृष्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥ २४॥

जिस समय अपना यज्ञ भंग हो जानेके कारण इन्द्र क्रोधके मारे आग-बबूला हो गये थे और मूसलधार वर्षा करने लगे थे, उस समय वज्रपात, ओलोंकी बौछार और प्रचण्ड आँधीसे स्त्री, पशु तथा ग्वाले अत्यन्त पीड़ित हो गये थे। अपनी शरणमें रहनेवाले व्रजवासियोंकी यह दशा देखकर भगवान्‌का हृदय करुणासे भर आया। परन्तु फिर एक नयी लीला करनेके विचारसे वे तुरंत ही मुसकराने लगे। जैसे कोई नन्हा-सा निर्बल बालक खेल-खेलमें ही बरसाती छत्तेका पुष्प उखाड़ ले, वैसे ही उन्होंने एक हाथसे ही गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़कर धारण कर लिया और सारे व्रजकी रक्षा की। इन्द्रका मद चूर करनेवाले वे ही भगवान् गोविन्द हमपर प्रसन्न हों॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अभिषेक

श्रीशुक उवाच

गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे।
गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च॥ १

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा॥ २

दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः।
नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृतांजलिः॥ ३

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो
न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः॥ ४

कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता
लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति
धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय॥ ५

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो
दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे
मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम्॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने गिरिराज गोवर्द्धनको धारण करके मूसलधार वर्षासे व्रजको बचा लिया, तब उनके पास गोलोकसे कामधेनु (बधाई देनेके लिये) और स्वर्गसे देवराज इन्द्र (अपने अपराधको क्षमा करानेके लिये) आये॥ १॥ भगवान्का तिरस्कार करनेके कारण इन्द्र बहुत ही लज्जित थे। इसलिये उन्होंने एकान्त-स्थानमें भगवान्के पास जाकर अपने सूर्यके समान तेजस्वी मुकुटसे उनके चरणोंका स्पर्श किया॥ २॥ परम तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव देख-सुनकर इन्द्रका यह घमंड जाता रहा कि मैं ही तीनों लोकोंका स्वामी हूँ। अब उन्होंने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की॥ ३॥

इन्द्रने कहा—भगवन्! आपका स्वरूप परम शान्त, ज्ञानमय, रजोगुण तथा तमोगुणसे रहित एवं विशुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय है। यह गुणोंके प्रवाहरूपसे प्रतीत होनेवाला प्रपंच केवल मायामय है; क्योंकि आपका स्वरूप न जाननेके कारण ही आपमें इसकी प्रतीति होती है॥ ४॥ जब आपका सम्बन्ध अज्ञान और उसके कारण प्रतीत होनेवाले देहादिसे है ही नहीं, फिर उन देह आदिकी प्राप्तिके कारण तथा उन्हींसे होनेवाले लोभ-क्रोध आदि दोष तो आपमें हो ही कैसे सकते हैं? प्रभो! इन दोषोंका होना तो अज्ञानका लक्षण है। इस प्रकार यद्यपि अज्ञान और उससे होनेवाले जगत्से आपका कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी धर्मकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये आप अवतार ग्रहण करते हैं और निग्रह-अनुग्रह भी करते हैं॥ ५॥ आप जगत्के पिता, गुरु और स्वामी हैं। आप जगत्का नियन्त्रण करनेके लिये दण्ड धारण किये हुए दुस्तर काल हैं। आप अपने भक्तोंकी लालसा पूर्ण करनेके लिये स्वच्छन्दतासे लीला-शरीर प्रकट करते हैं और जो लोग हमारी तरह अपनेको ईश्वर मान बैठते हैं, उनका मान मर्दन करते हुए अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करते हैं॥ ६॥

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन-
स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम्।
हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया
ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम्॥ ७

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य
कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम्।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो
मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती॥ ८

तवावतारोऽयमधोक्षजेह
स्वयम्भराणामुरुभारजन्मनाम् ।
चमूपतीनामभवाय देव
भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम्॥ ९

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः॥ १०

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ११

मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना॥ १२

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥ १३

प्रभो! जो मेरे-जैसे अज्ञानी और अपनेको जगत्‌का ईश्वर माननेवाले हैं, वे जब देखते हैं कि बड़े-बड़े भयके अवसरोंपर भी आप निर्भय रहते हैं, तब वे अपना घमंड छोड़ देते हैं और गर्वरहित होकर संतपुरुषोंके द्वारा सेवित भक्तिमार्गका आश्रय लेकर आपका भजन करते हैं। प्रभो! आपकी एक-एक चेष्टा दुष्टोंके लिये दण्डविधान है॥ ७॥ प्रभो! मैंने ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर आपका अपराध किया है; क्योंकि मैं आपकी शक्ति और प्रभावके सम्बन्धमें बिलकुल अनजान था। परमेश्वर! आप कृपा करके मुझ मूर्ख अपराधीका यह अपराध क्षमा करें और ऐसी कृपा करें कि मुझे फिर कभी ऐसे दुष्ट अज्ञानका शिकार न होना पड़े॥ ८॥ स्वयंप्रकाश, इन्द्रियातीत परमात्मन्! आपका यह अवतार इसलिये हुआ है कि जो असुर-सेनापति केवल अपना पेट पालनेमें ही लग रहे हैं और पृथ्वीके लिये बड़े भारी भारके कारण बन रहे हैं, उनका वध करके उन्हें मोक्ष दिया जाय और जो आपके चरणोंके सेवक हैं—आज्ञाकारी भक्तजन हैं, उनका अभ्युदय हो—उनकी रक्षा हो॥ ९॥ भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम तथा सर्वात्मा वासुदेव हैं। आप यदुवंशियोंके एकमात्र स्वामी, भक्तवत्सल एवं सबके चित्तको आकर्षित करनेवाले हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ १०॥ आपने जीवोंके समान कर्मवश होकर नहीं, स्वतन्त्रतासे अपने भक्तोंकी तथा अपनी इच्छाके अनुसार शरीर स्वीकार किया है। आपका यह शरीर भी विशुद्ध-ज्ञानस्वरूप है। आप सब कुछ हैं, सबके कारण हैं और सबके आत्मा हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ ११॥ भगवन्! मेरे अभिमानका अन्त नहीं है और मेरा क्रोध भी बहुत ही तीव्र, मेरे वशके बाहर है। जब मैंने देखा कि मेरा यज्ञ तो नष्ट कर दिया गया, तब मैंने मूसलधार वर्षा और आँधीके द्वारा सारे व्रजमण्डलको नष्ट कर देना चाहा॥ १२॥ परन्तु प्रभो! आपने मुझपर बहुत ही अनुग्रह किया। मेरी चेष्टा व्यर्थ होनेसे मेरे घमंडकी जड़ उखड़ गयी। आप मेरे स्वामी हैं, गुरु हैं और मेरे आत्मा हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ॥ १३॥

श्रीशुक उवाच

एवं संकीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम्।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ १४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवराज इन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की, तब उन्होंने हँसते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे इन्द्रको सम्बोधन करके कहा—॥ १४॥

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम्॥ १५

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥ १६

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः॥ १७

श्रीभगवान्ने कहा—इन्द्र! तुम ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे पूरे-पूरे मतवाले हो रहे थे। इसलिये तुमपर अनुग्रह करके ही मैंने तुम्हारा यज्ञ भंग किया है। यह इसलिये कि अब तुम मुझे नित्य-निरन्तर स्मरण रख सको॥ १५॥ जो ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे अंधा हो जाता है, वह यह नहीं देखता कि मैं कालरूप परमेश्वर हाथमें दण्ड लेकर उसके सिरपर सवार हूँ। मैं जिसपर अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्यभ्रष्ट कर देता हूँ॥ १६॥ इन्द्र! तुम्हारा मंगल हो। अब तुम अपनी राजधानी अमरावतीमें जाओ और मेरी आज्ञाका पालन करो। अब कभी घमंड न करना। नित्य-निरन्तर मेरी सन्निधिका, मेरे संयोगका अनुभव करते रहना और अपने अधिकारके अनुसार उचित रीतिसे मर्यादाका पालन करना॥ १७॥

अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य मनस्विनी।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम्॥ १८

परीक्षित्! भगवान् इस प्रकार आज्ञा दे ही रहे थे कि मनस्विनी कामधेनुने अपनी सन्तानोंके साथ गोपवेषधारी परमेश्वर श्रीकृष्णकी वन्दना की और उनको सम्बोधित करके कहा—॥ १८॥

सुरभिरुवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत॥ १९

त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः॥ २०

इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम्।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये॥ २१

कामधेनुने कहा—सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप महायोगी—योगेश्वर हैं। आप स्वयं विश्व हैं, विश्वके परमकारण हैं, अच्युत हैं। सम्पूर्ण विश्वके स्वामी आपको अपने रक्षकके रूपमें प्राप्तकर हम सनाथ हो गयी॥ १९॥ आप जगत्के स्वामी हैं, परन्तु हमारे तो परम पूजनीय आराध्यदेव ही हैं। प्रभो! इन्द्र त्रिलोकीके इन्द्र हुआ करें, परन्तु हमारे इन्द्र तो आप ही हैं। अत: आप ही गौ, ब्राह्मण, देवता और साधुजनोंकी रक्षाके लिये हमारे इन्द्र बन जाइये॥ २०॥ हम गौएँ ब्रह्माजीकी प्रेरणासे आपको अपना इन्द्र मानकर अभिषेक करेंगी। विश्वात्मन्! आपने पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही अवतार धारण किया है॥ २१॥

श्रीशुक उवाच

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसाऽऽत्मनः।
जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः॥ २२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर कामधेनुने अपने दूधसे और देवमाताओंकी प्रेरणासे देवराज इन्द्रने ऐरावतकी सूँड़के

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः।
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात्॥ २३

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः
सुराङ्गनाः संननृतुर्मुदान्विताः॥ २४

तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो
व्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो
गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम्॥ २५

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्त्रवाः।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रदुन्मणीन्॥ २६

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सत्त्वानि कुरुनन्दन।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः॥ २७

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम्॥ २८

द्वारा लाये हुए आकाशगंगाके जलसे देवर्षियोंके साथ यदुनाथ श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उन्हें 'गोविन्द' नामसे सम्बोधित किया॥ २२-२३॥ उस समय वहाँ नारद, तुम्बुरु आदि गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारण पहलेसे ही आ गये थे। वे समस्त संसारके पाप-तापको मिटा देनेवाले भगवान्‌के लोकमलापह यशका गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दसे भरकर नृत्य करने लगीं॥ २४॥

मुख्य-मुख्य देवता भगवान्‌की स्तुति करके उनपर नन्दनवनके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। तीनों लोकोंमें परमानन्दकी बाढ़ आ गयी और गौओंके स्तनोंसे आप-ही-आप इतना दूध गिरा कि पृथ्वी गीली हो गयी॥ २५॥ नदियोंमें विविध रसोंकी बाढ़ आ गयी। वृक्षोंसे मधुधारा बहने लगी। बिना जोते-बोये पृथ्वीमें अनेकों प्रकारकी ओषधियाँ, अन्न पैदा हो गये। पर्वतोंमें छिपे हुए मणि-माणिक्य स्वयं ही बाहर निकल आये॥ २६॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक होनेपर जो जीव स्वभावसे ही क्रूर हैं, वे भी वैरहीन हो गये, उनमें भी परस्पर मित्रता हो गयी॥ २७॥ इन्द्रने इस प्रकार गौ और गोकुलके स्वामी श्रीगोविन्दका अभिषेक किया और उनसे अनुमति प्राप्त होनेपर देवता, गन्धर्व आदिके साथ स्वर्गकी यात्रा की॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे इन्द्रस्तुतिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

वरुणलोकसे नन्दजीको छुड़ाकर लाना

श्रीशुक उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम्।
स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत्॥ १

तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम्।
अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! नन्दबाबाने कार्तिक शुक्ल एकादशीका उपवास किया और भगवान्‌की पूजा की तथा उसी दिन रातमें द्वादशी लगनेपर स्नान करनेके लिये यमुना-जलमें प्रवेश किया॥ १॥ नन्दबाबाको यह मालूम नहीं था कि यह असुरोंकी वेला है, इसलिये वे रातके समय ही यमुनाजलमें घुस गये। उस समय वरुणके सेवक एक असुरने उन्हें

चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम्।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः॥ ३

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया।
महत्या पूजयित्वाऽऽह तद्दर्शनमहोत्सवः॥ ४

वरुण उवाच

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो।
त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः॥ ५

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना॥ ६

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति॥ ७

ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक्।
गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल॥ ८

श्रीशुक उवाच

एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः।
आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन् मुदम्॥ ९

पकड़ लिया और वह अपने स्वामीके पास ले गया॥ २॥ नन्दबाबाके खो जानेसे व्रजके सारे गोप 'श्रीकृष्ण! अब तुम्हीं अपने पिताको ला सकते हो; बलराम! अब तुम्हारा ही भरोसा है'—इस प्रकार कहते हुए रोने-पीटने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं एवं सदासे ही अपने भक्तोंका भय भगाते आये हैं। जब उन्होंने व्रजवासियोंका रोना-पीटना सुना और यह जाना कि पिताजीको वरुणका कोई सेवक ले गया है, तब वे वरुणजीके पास गये॥ ३॥ जब लोकपाल वरुणने देखा कि समस्त जगत्के अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियोंके प्रवर्तक भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही उनके यहाँ पधारे हैं, तब उन्होंने उनकी बहुत बड़ी पूजा की। भगवान्के दर्शनसे उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा। इसके बाद उन्होंने भगवान्से निवेदन किया॥ ४॥

वरुणजीने कहा—प्रभो! आज मेरा शरीर धारण करना सफल हुआ। आज मुझे सम्पूर्ण पुरुषार्थ प्राप्त हो गया; क्योंकि आज मुझे आपके चरणोंकी सेवाका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। भगवन्! जिन्हें भी आपके चरणकमलोंकी सेवाका सुअवसर मिला, वे भवसागरसे पार हो गये॥ ५॥ आप भक्तोंके भगवान्, वेदान्तियोंके ब्रह्म और योगियोंके परमात्मा हैं। आपके स्वरूपमें विभिन्न लोकसृष्टियोंकी कल्पना करनेवाली माया नहीं है—ऐसा श्रुति कहती है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ६॥ प्रभो! मेरा यह सेवक बड़ा मूढ़ और अनजान है। वह अपने कर्तव्यको भी नहीं जानता। वही आपके पिताजीको ले आया है, आप कृपा करके उसका अपराध क्षमा कीजिये॥ ७॥ गोविन्द! मैं जानता हूँ कि आप अपने पिताके प्रति बड़ा प्रेमभाव रखते हैं। ये आपके पिता हैं। इन्हें आप ले जाइये। परन्तु भगवन्! आप सबके अन्तर्यामी, सबके साक्षी हैं। इसलिये विश्वविमोहन श्रीकृष्ण! आप मुझ दासपर भी कृपा कीजिये॥ ८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा आदि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। लोकपाल वरुणने इस प्रकार उनकी स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद भगवान् अपने पिता नन्दजीको लेकर व्रजमें चले आये और व्रजवासी भाई-बन्धुओंको

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥ १०

ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः॥ ११

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम्।
संकल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत्॥ १२

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥ १३

इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ १४

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥ १५

ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा॥ १६

आनन्दित किया॥ ९॥ नन्दबाबाने वरुणलोकमें लोकपालके इन्द्रियातीत ऐश्वर्य और सुख-सम्पत्तिको देखा तथा यह भी देखा कि वहाँके निवासी उनके पुत्र श्रीकृष्णके चरणोंमें झुक-झुककर प्रणाम कर रहे हैं। उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने व्रजमें आकर अपने जाति-भाइयोंको सब बातें कह सुनायीं॥ १०॥

परीक्षित्! भगवान्‌के प्रेमी गोप यह सुनकर ऐसा समझने लगे कि अरे, ये तो स्वयं भगवान् हैं। तब उन्होंने मन-ही-मन बड़ी उत्सुकतासे विचार किया कि क्या कभी जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हमलोगोंको भी अपना वह मायातीत स्वधाम, जहाँ केवल इनके प्रेमी-भक्त ही जा सकते हैं, दिखलायेंगे॥ ११॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सर्वदर्शी हैं। भला, उनसे यह बात कैसे छिपी रहती? वे अपने आत्मीय गोपोंकी यह अभिलाषा जान गये और उनका संकल्प सिद्ध करनेके लिये कृपासे भरकर इस प्रकार सोचने लगे॥ १२॥ 'इस संसारमें जीव अज्ञानवश शरीरमें आत्मबुद्धि करके भाँति-भाँतिकी कामना और उनकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारके कर्म करता है। फिर उनके फलस्वरूप देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ऊँची-नीची योनियोंमें भटकता फिरता है, अपनी असली गतिको—आत्मस्वरूपको नहीं पहचान पाता॥ १३॥

परमदयालु भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सोचकर उन गोपोंको मायान्धकारसे अतीत अपना परमधाम दिखलाया॥ १४॥

भगवान्‌ने पहले उनको उस ब्रह्मका साक्षात्कार करवाया जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अनन्त, सनातन और ज्योतिःस्वरूप है तथा समाधिनिष्ठ गुणातीत पुरुष ही जिसे देख पाते हैं॥ १५॥

जिस जलाशयमें अक्रूरको भगवान्‌ने अपना स्वरूप दिखलाया था, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्महृदमें भगवान् उन गोपोंको ले गये। वहाँ उन लोगोंने उसमें डुबकी लगायी। वे ब्रह्महृदमें प्रवेश कर गये। तब भगवान्‌ने उसमेंसे उनको निकालकर अपने परमधामका दर्शन कराया॥ १६॥

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णं च तत्रच्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥ १७

उस दिव्य भगवत्स्वरूप लोकको देखकर नन्द आदि गोप परमानन्दमें मग्न हो गये। वहाँ उन्होंने देखा कि सारे वेद मूर्तिमान् होकर भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं। यह देखकर वे सब-के-सब परम विस्मित हो गये॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

रासलीलाका आरम्भ

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! शरद् ऋतु थी। उसके कारण बेला, चमेली आदि सुगन्धित पुष्प खिलकर महँ-महँ महँक रहे थे। भगवान्‌ने चीरहरणके समय गोपियोंको जिन रात्रियोंका संकेत किया था, वे सब-की-सब पुंजीभूत होकर एक ही रात्रिके रूपमें उल्लसित हो रही थीं। भगवान्‌ने उन्हें देखा, देखकर दिव्य बनाया। गोपियाँ तो चाहती ही थीं। अब भगवान्‌ने भी अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाके सहारे उन्हें निमित्त बनाकर रसमयी रासक्रीडा करनेका संकल्प किया। अमना होनेपर भी उन्होंने अपने प्रेमियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मन स्वीकार किया॥ १॥ भगवान्‌के संकल्प करते ही चन्द्रदेवने प्राची दिशाके मुखमण्डलपर अपने शीतल किरणरूपी करकमलोंसे लालिमाकी रोली-केसर मल दी, जैसे बहुत दिनोंके बाद अपनी प्राणप्रिया पत्नीके पास आकर उसके प्रियतम पतिने उसे आनन्दित करनेके लिये ऐसा किया हो! इस प्रकार चन्द्रदेवने उदय होकर न केवल पूर्वदिशाका, प्रत्युत संसारके समस्त चर-अचर प्राणियोंका सन्ताप—जो दिनमें शरत्कालीन प्रखर सूर्य-रश्मियोंके कारण बढ़ गया था—दूर कर दिया॥ २॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥ २

उस दिन चन्द्रदेवका मण्डल अखण्ड था। पूर्णिमाकी रात्रि थी। वे नूतन केशरके समान लाल-लाल हो रहे थे, कुछ संकोचमिश्रित अभिलाषासे युक्त जान पड़ते थे। उनका मुखमण्डल लक्ष्मीजीके समान

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।

वनं च तत्कोमलगोभिरंजितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥ ३

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥ ४

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥ ५

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥ ६

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अंजन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥ ७

मालूम हो रहा था। उनकी कोमल किरणोंसे सारा वन अनुरागके रंगमें रँग गया था। वनके कोने-कोनेमें उन्होंने अपनी चाँदनीके द्वारा अमृतका समुद्र उड़ेल दिया था। भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्य उज्ज्वल रसके उद्दीपनकी पूरी सामग्री उन्हें और उस वनको देखकर अपनी बाँसुरीपर व्रजसुन्दरियोंके मनको हरण करनेवाली कामबीज 'क्लीं' की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ी॥ ३॥ भगवान्‌का वह वंशीवादन भगवान्‌के प्रेमको, उनके मिलनकी लालसाको अत्यन्त उकसाने-वाला—बढ़ानेवाला था। यों तो श्यामसुन्दरने पहलेसे ही गोपियोंके मनको अपने वशमें कर रखा था। अब तो उनके मनकी सारी वस्तुएँ—भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा आदिकी वृत्तियाँ भी—छीन लीं। वंशीध्वनि सुनते ही उनकी विचित्र गति हो गयी। जिन्होंने एक साथ साधना की थी श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये, वे गोपियाँ भी एक-दूसरेको सूचना न देकर—यहाँतक कि एक-दूसरेसे अपनी चेष्टाको छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँके लिये चल पड़ीं। परीक्षित्! वे इतने वेगसे चली थीं कि उनके कानोंके कुण्डल झोंके खा रहे थे॥ ४॥

वंशीध्वनि सुनकर जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं, वे अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर चल पड़ीं। जो चूल्हेपर दूध औंटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर और जो लपसी पका रही थीं वे पकी हुई लपसी बिना उतारे ही ज्यों-की-त्यों छोड़कर चल दीं॥ ५॥ जो भोजन परस रही थीं वे परसना छोड़कर, जो छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर अपने कृष्णप्यारेके पास चल पड़ीं॥ ६॥ कोई-कोई गोपी अपने शरीरमें अंगराग चन्दन और उबटन लगा रही थीं और कुछ आँखोंमें अंजन लगा रही थीं। वे उन्हें छोड़कर तथा उलटे-पलटे वस्त्र धारणकर श्रीकृष्णके पास पहुँचनेके लिये चल पड़ीं॥ ७॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥ ८

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥ ९

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥ १०

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥ ११

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥ १२

पिता और पतियोंने, भाई और जाति-बन्धुओंने उन्हें रोका, उनकी मंगलमयी प्रेमयात्रामें विघ्न डाला। परन्तु वे इतनी मोहित हो गयी थीं कि रोकनेपर भी न रुकीं, न रुक सकीं। रुकतीं कैसे? विश्वविमोहन श्रीकृष्णने उनके प्राण, मन और आत्मा सब कुछका अपहरण जो कर लिया था॥ ८॥ परीक्षित्! उस समय कुछ गोपियाँ घरोंके भीतर थीं। उन्हें बाहर निकलनेका मार्ग ही न मिला। तब उन्होंने अपने नेत्र मूँद लिये और बड़ी तन्मयतासे श्रीकृष्णके सौन्दर्य, माधुर्य और लीलाओंका ध्यान करने लगीं॥ ९॥ परीक्षित्! अपने परम प्रियतम श्रीकृष्णके असह्य विरहकी तीव्र वेदनासे उनके हृदयमें इतनी व्यथा—इतनी जलन हुई कि उनमें जो कुछ अशुभ संस्कारोंका लेशमात्र अवशेष था, वह भस्म हो गया। इसके बाद तुरंत ही ध्यान लग गया। ध्यानमें उनके सामने भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। उन्होंने मन-ही-मन बड़े प्रेमसे, बड़े आवेगसे उनका आलिंगन किया। उस समय उन्हें इतना सुख, इतनी शान्ति मिली कि उनके सब-के-सब पुण्यके संस्कार एक साथ ही क्षीण हो गये॥ १०॥ परीक्षित्! यद्यपि उनका उस समय श्रीकृष्णके प्रति जारभाव भी था; तथापि कहीं सत्य वस्तु भी भावकी अपेक्षा रखती है? उन्होंने जिनका आलिंगन किया, चाहे किसी भी भावसे किया हो, वे स्वयं परमात्मा ही तो थे। इसलिये उन्होंने पाप और पुण्यरूप कर्मके परिणामसे बने हुए गुणमय शरीरका परित्याग कर दिया। (भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होनेके योग्य दिव्य अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया।) इस शरीरसे भोगे जानेवाले कर्मबन्धन तो ध्यानके समय ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे॥ ११॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा— भगवन्! गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्णको केवल अपना परम प्रियतम ही मानती थीं। उनका उनमें ब्रह्मभाव नहीं था। इस प्रकार उनकी दृष्टि प्राकृत गुणोंमें ही आसक्त दीखती है। ऐसी स्थितिमें उनके लिये गुणोंके प्रवाहरूप इस संसारकी निवृत्ति कैसे सम्भव हुई?॥ १२॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥ १३

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १४

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ १५

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥ १६

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥ १७

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥ १८

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि चेदिराज शिशुपाल भगवान्‌के प्रति द्वेषभाव रखनेपर भी अपने प्राकृत शरीरको छोड़कर अप्राकृत शरीरसे उनका पार्षद हो गया। ऐसी स्थितिमें जो समस्त प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी हैं और उनसे अनन्य प्रेम करती हैं, वे गोपियाँ उन्हें प्राप्त हो जायँ—इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है॥ १३॥ परीक्षित्! वास्तवमें भगवान् प्रकृतिसम्बन्धी वृद्धि-विनाश, प्रमाण-प्रमेय और गुण-गुणीभावसे रहित हैं। वे अचिन्त्य अनन्त अप्राकृत परम कल्याणस्वरूप गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं। उन्होंने यह जो अपनेको तथा अपनी लीलाको प्रकट किया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जीव उसके सहारे अपना परम कल्याण सम्पादन करे॥ १४॥ इसलिये भगवान्‌से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिये। वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो—कामका हो, क्रोधका हो या भयका हो; स्नेह, नातेदारी या सौहार्दका हो। चाहे जिस भावसे भगवान्‌में नित्य-निरन्तर अपनी वृत्तियाँ जोड़ दी जायँ, वे भगवान्‌से ही जुड़ती हैं। इसलिये वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं और उस जीवको भगवान्‌की ही प्राप्ति होती है॥ १५॥ परीक्षित्! तुम्हारे-जैसे परम भागवत भगवान्‌का रहस्य जाननेवाले भक्तको श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये। योगेश्वरोंके भी ईश्वर अजन्मा भगवान्‌के लिये भी यह कोई आश्चर्यकी बात है? अरे! उनके संकल्पमात्रसे—भौंहोंके इशारेसे सारे जगत्‌का परम कल्याण हो सकता है॥ १६॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि व्रजकी अनुपम विभूतियाँ गोपियाँ मेरे बिलकुल पास आ गयी हैं, तब उन्होंने अपनी विनोदभरी वाक्चातुरीसे उन्हें मोहित करते हुए कहा—क्यों न हो—भूत, भविष्य और वर्तमानकालके जितने वक्ता हैं, उनमें वे ही तो सर्वश्रेष्ठ हैं॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवती गोपियो! तुम्हारा स्वागत है। बतलाओ, तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये मैं कौन-सा काम करूँ? व्रजमें तो सब कुशल-मंगल है न? कहो, इस समय यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ गयी?॥ १८॥

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥ १९

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥ २०

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररंजितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥ २१

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥ २२

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥ २३

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ २४

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥ २५

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥ २६

सुन्दरी गोपियो! रातका समय है, यह स्वयं ही बड़ा भयावना होता है और इसमें बड़े-बड़े भयावने जीव-जन्तु इधर-उधर घूमते रहते हैं। अतः तुम सब तुरंत व्रजमें लौट जाओ। रातके समय घोर जंगलमें स्त्रियोंको नहीं रुकना चाहिये ॥ १९ ॥ तुम्हें न देखकर तुम्हारे माँ-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ़ रहे होंगे। उन्हें भयमें न डालो ॥ २० ॥ तुमलोगोंने रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे हुए इस वनकी शोभाको देखा। पूर्ण चन्द्रमाकी कोमल रश्मियोंसे यह रँगा हुआ है, मानो उन्होंने अपने हाथों चित्रकारी की हो; और यमुनाजीके जलका स्पर्श करके बहनेवाले शीतल समीरकी मन्द-मन्द गतिसे हिलते हुए ये वृक्षोंके पत्ते तो इस वनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं। परन्तु अब तो तुमलोगोंने यह सब कुछ देख लिया ॥ २१ ॥ अब देर मत करो, शीघ्र-से-शीघ्र व्रजमें लौट जाओ। तुमलोग कुलीन स्त्री हो और स्वयं भी सती हो; जाओ, अपने पतियोंकी और सतियोंकी सेवा-शुश्रूषा करो। देखो, तुम्हारे घरके नन्हे-नन्हे बच्चे और गौओंके बछड़े रो-रँभा रहे हैं; उन्हें दूध पिलाओ, गौएँ दुहो ॥ २२ ॥ अथवा यदि मेरे प्रेमसे परवश होकर तुमलोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, यह तो तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि जगत्के पशु-पक्षीतक मुझसे प्रेम करते हैं, मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं ॥ २३ ॥ कल्याणी गोपियो! स्त्रियोंका परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करें और सन्तानका पालन-पोषण करें ॥ २४ ॥ जिन स्त्रियोंको उत्तम लोक प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, वे पातकीको छोड़कर और किसी भी प्रकारके पतिका परित्याग न करें। भले ही वह बुरे स्वभाव-वाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो ॥ २५ ॥ कुलीन स्त्रियोंके लिये जार पुरुषकी सेवा सब तरहसे निन्दनीय ही है। इससे उनका परलोक बिगड़ता है, स्वर्ग नहीं मिलता, इस लोकमें अपयश होता है। यह कुकर्म स्वयं तो अत्यन्त तुच्छ, क्षणिक है ही; इसमें प्रत्यक्ष—वर्तमानमें भी कष्ट-ही-कष्ट है। मोक्ष आदिकी तो बात ही कौन करे, यह साक्षात् परम भय—नरक आदिका हेतु है ॥ २६ ॥

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥ २७

गोपियो! मेरी लीला और गुणोंके श्रवणसे, रूपके दर्शनसे, उन सबके कीर्तन और ध्यानसे मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होती है, वैसे प्रेमकी प्राप्ति पास रहनेसे नहीं होती। इसलिये तुमलोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ॥ २७॥

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्णा भग्नसंकल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्॥ २८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका यह अप्रिय भाषण सुनकर गोपियाँ उदास, खिन्न हो गयीं। उनकी आशा टूट गयी। वे चिन्ताके अथाह एवं अपार समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं॥ २८॥

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुंकुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥ २९

उनके बिम्बाफल (पके हुए कुँदरू) के समान लाल-लाल अधर शोकके कारण चलनेवाली लम्बी और गरम साँससे सूख गये। उन्होंने अपने मुँह नीचेकी ओर लटका लिये, वे पैरके नखोंसे धरती कुरेदने लगीं। नेत्रोंसे दुःखके आँसू बह-बहकर काजलके साथ वक्षःस्थलपर पहुँचने और वहाँ लगी हुई केशरको धोने लगे। उनका हृदय दुःखसे इतना भर गया कि वे कुछ बोल न सकीं, चुपचाप खड़ी रह गयीं॥ २९॥

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किंचित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥ ३०

गोपियोंने अपने प्यारे श्यामसुन्दरके लिये सारी कामनाएँ, सारे भोग छोड़ दिये थे। श्रीकृष्णमें उनका अनन्य अनुराग, परम प्रेम था। जब उन्होंने अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी यह निष्ठुरतासे भरी बात सुनी, जो बड़ी ही अप्रिय-सी मालूम हो रही थी, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। आँखें रोते-रोते लाल हो गयीं, आँसुओंके मारे रुँध गयीं। उन्होंने धीरज धारण करके अपनी आँखोंके आँसू पोंछे और फिर प्रणयकोपके कारण वे गद्गद वाणीसे कहने लगीं॥ ३०॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥ ३१

गोपियोंने कहा—प्यारे श्रीकृष्ण! तुम घट-घट व्यापी हो। हमारे हृदयकी बात जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरताभरे वचन नहीं कहने चाहिये। हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणोंमें ही प्रेम करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तुम स्वतन्त्र और हठीले हो। तुमपर हमारा कोई वश नहीं है। फिर भी तुम अपनी ओरसे, जैसे आदिपुरुष भगवान् नारायण कृपा करके अपने मुमुक्षु भक्तोंसे प्रेम करते हैं, वैसे ही हमें स्वीकार कर लो। हमारा त्याग मत करो॥ ३१॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥ ३२

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥ ३३

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥ ३४

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥ ३५

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।

प्यारे श्यामसुन्दर! तुम सब धर्मोंका रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र और भाई-बन्धुओंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है'—अक्षरशः ठीक है। परन्तु इस उपदेशके अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये; क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशोंके पद (चरम लक्ष्य) हो; साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो॥ ३२॥ आत्मज्ञानमें निपुण महापुरुष तुमसे ही प्रेम करते हैं; क्योंकि तुम नित्य प्रिय एवं अपने ही आत्मा हो। अनित्य एवं दुःखद पति-पुत्रादिसे क्या प्रयोजन है? परमेश्वर! इसलिये हमपर प्रसन्न होओ। कृपा करो। कमलनयन! चिरकालसे तुम्हारे प्रति पाली-पोसी आशा-अभिलाषाकी लहलहाती लताका छेदन मत करो॥ ३३॥ मनमोहन! अबतक हमारा चित्त घरके काम-धंधोंमें लगता था। इसीसे हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परन्तु तुमने हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। इसमें तुम्हें कोई कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ी, तुम तो सुखस्वरूप हो न! परन्तु अब तो हमारी गति-मति निराली ही हो गयी है। हमारे ये पैर तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर एक पग भी हटनेके लिये तैयार नहीं हैं, नहीं हट रहे हैं। फिर हम व्रजमें कैसे जायँ? और यदि वहाँ जायँ भी तो करें क्या?॥ ३४॥ प्राणवल्लभ! हमारे प्यारे सखा! तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन और मनोहर संगीतने हमारे हृदयमें तुम्हारे प्रेम और मिलनकी आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरोंकी रसधारासे बुझा दो। नहीं तो प्रियतम! हम सच कहती हैं, तुम्हारी विरहव्यथाकी आगसे हम अपने-अपने शरीर जला देंगी और ध्यानके द्वारा तुम्हारे चरणकमलोंको प्राप्त करेंगी॥ ३५॥

प्यारे कमलनयन! तुम वनवासियोंके प्यारे हो और वे भी तुमसे बहुत प्रेम करते हैं। इससे प्रायः तुम उन्हींके पास रहते हो। यहाँतक कि तुम्हारे जिन चरणकमलोंकी सेवाका अवसर स्वयं लक्ष्मीजीको कभी-कभी ही मिलता है, उन्हीं चरणोंका स्पर्श हमें प्राप्त हुआ। जिस दिन यह सौभाग्य हमें मिला और

अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥ ३६

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥ ३८

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।

तुमने हमें स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी दिनसे हम और किसीके सामने एक क्षणके लिये भी ठहरनेमें असमर्थ हो गयी हैं—पति-पुत्रादिकोंकी सेवा तो दूर रही ॥ ३६ ॥ हमारे स्वामी! जिन लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े देवता तपस्या करते रहते हैं, वही लक्ष्मीजी तुम्हारे वक्षःस्थलमें बिना किसीकी प्रतिद्वन्द्विताके स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी सौत तुलसीके साथ तुम्हारे चरणोंकी रज पानेकी अभिलाषा किया करती हैं। अबतकके सभी भक्तोंने उस चरणरजका सेवन किया है। उन्हींके समान हम भी तुम्हारी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं॥ ३७ ॥ भगवन्! अबतक जिसने भी तुम्हारे चरणोंकी शरण ली, उसके सारे कष्ट तुमने मिटा दिये। अब तुम हमपर कृपा करो। हमें भी अपने प्रसादका भाजन बनाओ। हम तुम्हारी सेवा करनेकी आशा-अभिलाषासे घर, गाँव, कुटुम्ब—सब कुछ छोड़कर तुम्हारे युगल चरणोंकी शरणमें आयी हैं। प्रियतम! वहाँ तो तुम्हारी आराधनाके लिये अवकाश ही नहीं है। पुरुषभूषण! पुरुषोत्तम! तुम्हारी मधुर मुसकान और चारु चितवनने हमारे हृदयमें प्रेमकी—मिलनकी आकांक्षाकी आग धधका दी है; हमारा रोम-रोम उससे जल रहा है। तुम हमें अपनी दासीके रूपमें स्वीकार कर लो। हमें अपनी सेवाका अवसर दो ॥ ३८ ॥ प्रियतम! तुम्हारा सुन्दर मुखकमल, जिसपर घुँघराली अलकें झलक रही हैं; तुम्हारे ये कमनीय कपोल, जिनपर सुन्दर-सुन्दर कुण्डल अपना अनन्त सौन्दर्य बिखेर रहे हैं; तुम्हारे ये मधुर अधर, जिनकी सुधा सुधाको भी लजानेवाली है; तुम्हारी यह नयनमनोहारी चितवन, जो मन्द-मन्द मुसकानसे उल्लसित हो रही है; तुम्हारी ये दोनों भुजाएँ, जो शरणागतोंको अभयदान देनेमें अत्यन्त उदार हैं और तुम्हारा यह वक्षःस्थल, जो लक्ष्मीजीका—सौन्दर्यकी एकमात्र देवीका नित्य क्रीडास्थल है, देखकर हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं॥ ३९ ॥ प्यारे श्यामसुन्दर! तीनों लोकोंमें भी और ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोह-क्रमसे विविध प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त तुम्हारी वंशीकी तान

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥ ४०

सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्तिको—जो अपने एक बूँद सौन्दर्यसे त्रिलोकीको सौन्दर्यका दान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिन भी रोमांचित, पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रोंसे निहारकर आर्य—मर्यादासे विचलित न हो जाय, कुल-कान और लोकलज्जाको त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाय॥ ४० ॥ हमसे यह बात छिपी नहीं है कि जैसे भगवान् नारायण देवताओंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम व्रजमण्डलका भय और दुःख मिटानेके लिये ही प्रकट हुए हो! और यह भी स्पष्ट ही है कि दीन-दुखियोंपर तुम्हारा बड़ा प्रेम, बड़ी कृपा है। प्रियतम! हम भी बड़ी दुःखिनी हैं। तुम्हारे मिलनकी आकांक्षाकी आगसे हमारा वक्षःस्थल जल रहा है। तुम अपनी इन दासियोंके वक्षःस्थल और सिरपर अपने कोमल करकमल रखकर इन्हें अपना लो; हमें जीवनदान दो॥ ४१ ॥

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपंकजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम्॥ ४१

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥ ४२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शिवादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं। जब उन्होंने गोपियोंकी व्यथा और व्याकुलतासे भरी वाणी सुनी, तब उनका हृदय दयासे भर गया और यद्यपि वे आत्माराम हैं—अपने-आपमें ही रमण करते रहते हैं, उन्हें अपने अतिरिक्त और किसी भी बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी उन्होंने हँसकर उनके साथ क्रीडा प्रारम्भ की॥ ४२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी भाव-भंगी और चेष्टाएँ गोपियोंके अनुकूल कर दीं; फिर भी वे अपने स्वरूपमें ज्यों-के-त्यों एकरस स्थित थे, अच्युत थे। जब वे खुलकर हँसते, तब उनके उज्ज्वल-उज्ज्वल दाँत कुन्दकलीके समान जान पड़ते थे। उनकी प्रेमभरी चितवनसे और उनके दर्शनके आनन्दसे गोपियोंका मुखकमल प्रफुल्लित हो गया। वे उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं। उस समय श्रीकृष्णकी ऐसी शोभा हुई, मानो अपनी पत्नी तारिकाओंसे घिरे हुए चन्द्रमा ही हों॥ ४३ ॥ गोपियोंके शत-शत यूथोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण वैजयन्ती माला पहने वृन्दावनको शोभायमान करते हुए विचरण करने लगे। कभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्णके गुण और लीलाओंका गान करतीं, तो कभी श्रीकृष्ण गोपियोंके प्रेम और

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति-
र्व्यरोचतैणांक इवोडुभिर्वृतः॥ ४३

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥ ४४

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना॥ ४५

सौन्दर्यके गीत गाने लगते॥ ४४॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ यमुनाजीके पावन पुलिनपर, जो कपूरके समान चमकीली बालूसे जगमगा रहा था, पदार्पण किया। वह यमुनाजीकी तरल तरंगोंके स्पर्शसे शीतल और कुमुदिनीकी सहज सुगन्धसे सुवासित वायुके द्वारा सेवित हो रहा था। उस आनन्दप्रद पुलिनपर भगवान्ने गोपियोंके साथ क्रीडा की॥ ४५॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥ ४६

हाथ फैलाना, आलिंगन करना, गोपियोंके हाथ दबाना, उनकी चोटी, जाँघ, नीवी और स्तन आदिका स्पर्श करना, विनोद करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवनसे देखना और मुसकाना—इन क्रियाओंके द्वारा गोपियोंके दिव्य कामरसको, परमोज्ज्वल प्रेमभावको उत्तेजित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें क्रीडाद्वारा आनन्दित करने लगे॥ ४६॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥ ४७

उदारशिरोमणि सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार गोपियोंका सम्मान किया, तब गोपियोंके मनमें ऐसा भाव आया कि संसारकी समस्त स्त्रियोंमें हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान और कोई नहीं है। वे कुछ मानवती हो गयीं॥ ४७॥

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥ ४८

जब भगवान्ने देखा कि इन्हें तो अपने सुहागका कुछ गर्व हो आया है और अब मान भी करने लगी हैं, तब वे उनका गर्व शान्त करनेके लिये तथा उनका मान दूर कर प्रसन्न करनेके लिये वहीं—उनके बीचमें ही अन्तर्धान हो गये॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
भगवतो रासक्रीडावर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी दशा

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये। उन्हें न देखकर व्रजयुवतियोंकी वैसी ही दशा हो गयी, जैसे यूथपति गजराजके बिना हथिनियोंकी होती है। उनका हृदय विरहकी ज्वालासे जलने लगा॥ १॥

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-
मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-
स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥ २

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥ ३

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥ ४

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥ ५

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः॥ ६

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः॥ ७

भगवान् श्रीकृष्णकी मदोन्मत्त गजराजकी-सी चाल, प्रेमभरी मुसकान, विलासभरी चितवन, मनोरम प्रेमालाप, भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाओं तथा शृंगार-रसकी भाव-भंगियोंने उनके चित्तको चुरा लिया था। वे प्रेमकी मतवाली गोपियाँ श्रीकृष्णमय हो गयीं और फिर श्रीकृष्णकी विभिन्न चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं॥ २॥ अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन-बोलन आदिमें श्रीकृष्णकी प्यारी गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं; उनके शरीरमें भी वही गति-मति, वही भाव-भंगी उतर आयी। वे अपनेको सर्वथा भूलकर श्रीकृष्ण-स्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-विलासका अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं॥ ३॥ वे सब परस्पर मिलकर ऊँचे स्वरसे उन्हींके गुणोंका गान करने लगीं और मतवाली होकर एक वनसे दूसरे वनमें, एक झाड़ीसे दूसरी झाड़ीमें जा-जाकर श्रीकृष्णको ढूँढने लगीं। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण कहीं दूर थोड़े ही गये थे। वे तो समस्त जड-चेतन पदार्थोंमें तथा उनके बाहर भी आकाशके समान एकरस स्थित ही हैं। वे वहीं थे, उन्हींमें थे, परन्तु उन्हें न देखकर गोपियाँ वनस्पतियोंसे—पेड़-पौधोंसे उनका पता पूछने लगीं॥ ४॥

(गोपियोंने पहले बड़े-बड़े वृक्षोंसे जाकर पूछा) 'हे पीपल, पाकर और बरगद! नन्दनन्दन श्यामसुन्दर अपनी प्रेमभरी मुसकान और चितवनसे हमारा मन चुराकर चले गये हैं। क्या तुमलोगोंने उन्हें देखा है?॥ ५॥ कुरबक, अशोक, नागकेशर, पुन्नाग और चम्पा! बलरामजीके छोटे भाई, जिनकी मुसकान-मात्रसे बड़ी-बड़ी मानिनियोंका मानमर्दन हो जाता है, इधर आये थे क्या?'॥ ६॥ (अब उन्होंने स्त्रीजातिके पौधोंसे कहा—) 'बहिन तुलसी! तुम्हारा हृदय तो बड़ा कोमल है, तुम तो सभी लोगोंका कल्याण चाहती हो। भगवान्‌के चरणोंमें तुम्हारा प्रेम तो है ही, वे भी तुमसे बहुत प्यार करते हैं। तभी तो भौंरोंके मँडराते रहनेपर भी वे तुम्हारी माला नहीं उतारते, सर्वदा पहने रहते हैं। क्या तुमने अपने परम प्रियतम

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके ।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १०

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरंजितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥ १२

श्यामसुन्दरको देखा है?॥ ७॥ प्यारी मालती! मल्लिके! जाती और जूही! तुमलोगोंने कदाचित् हमारे प्यारे माधवको देखा होगा। क्या वे अपने कोमल करोंसे स्पर्श करके तुम्हें आनन्दित करते हुए इधरसे गये हैं?'॥ ८॥ 'रसाल, प्रियाल, कटहल, पीतशाल, कचनार, जामुन, आक, बेल, मौलसिरी, आम, कदम्ब और नीम तथा अन्यान्य यमुनाके तटपर विराजमान सुखी तरुवरो! तुम्हारा जन्म-जीवन केवल परोपकारके लिये है। श्रीकृष्णके बिना हमारा जीवन सूना हो रहा है। हम बेहोश हो रही हैं। तुम हमें उन्हें पानेका मार्ग बता दो'॥ ९॥ 'भगवान्की प्रेयसी पृथ्वीदेवी! तुमने ऐसी कौन-सी तपस्या की है कि श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके तुम आनन्दसे भर रही हो और तृण-लता आदिके रूपमें अपना रोमांच प्रकट कर रही हो? तुम्हारा यह उल्लास-विलास श्रीकृष्णके चरणस्पर्शके कारण है अथवा वामनावतारमें विश्वरूप धारण करके उन्होंने तुम्हें जो नापा था, उसके कारण है? कहीं उनसे भी पहले वराह भगवान्के अंग-संगके कारण तो तुम्हारी यह दशा नहीं हो रही है?'॥ १०॥ 'अरी सखी! हरिनियो! हमारे श्यामसुन्दरके अंग-संगसे सुषमा-सौन्दर्यकी धारा बहती रहती है,वे कहीं अपनी प्राणप्रियाके साथ तुम्हारे नयनोंको परमानन्दका दान करते हुए इधरसे ही तो नहीं गये हैं? देखो, देखो; यहाँ कुलपति श्रीकृष्णकी कुन्दकलीकी मालाकी मनोहर गन्ध आ रही है, जो उनकी परम प्रेयसीके अंग-संगसे लगे हुए कुच-कुंकुमसे अनुरंजित रहती है'॥ ११॥ 'तरुवरो! उनकी मालाकी तुलसीमें ऐसी सुगन्ध है कि उसकी गन्धके लोभी मतवाले भौंरे प्रत्येक क्षण उसपर मँडराते रहते हैं। उनके एक हाथमें लीलाकमल होगा और दूसरा हाथ अपनी प्रेयसीके कंधेपर रखे होंगे। हमारे प्यारे श्यामसुन्दर इधरसे विचरते हुए अवश्य गये होंगे। जान पड़ता है, तुमलोग उन्हें प्रणाम करनेके लिये ही झुके हो। परन्तु उन्होंने अपनी प्रेमभरी चितवनसे भी तुम्हारी वन्दनाका अभिनन्दन किया है या नहीं?'॥ १२॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥ १३

'अरी सखी! इन लताओंसे पूछो। ये अपने पति वृक्षोंको भुजपाशमें बाँधकर आलिंगन किये हुए हैं, इससे क्या हुआ? इनके शरीरमें जो पुलक है, रोमांच है, वह तो भगवान्‌के नखोंके स्पर्शसे ही है। अहो! इनका कैसा सौभाग्य है?'॥ १३॥

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥ १४

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम्॥ १५

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः॥ १६

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपयन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम्॥ १७

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम्।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति॥ १८

कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः॥ १९

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्॥ २०

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्॥ २१

परीक्षित्! इस प्रकार मतवाली गोपियाँ प्रलाप करती हुई भगवान् श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कातर हो रही थीं। अब और भी गाढ़ आवेश हो जानेके कारण वे भगवन्मय होकर भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका अनुकरण करने लगीं॥ १४॥ एक पूतना बन गयी, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तन पीने लगीं। कोई छकड़ा बन गयी, तो किसीने बालकृष्ण बनकर रोते हुए उसे पैरकी ठोकर मारकर उलट दिया॥ १५॥ कोई सखी बालकृष्ण बनकर बैठ गयी तो कोई तृणावर्त दैत्यका रूप धारण करके उसे हर ले गयी। कोई गोपी पाँव घसीट-घसीटकर घुटनोंके बल बकैयाँ चलने लगी और उस समय उसके पायजेब रुनझुन-रुनझुन बोलने लगे॥ १६॥ एक बनी कृष्ण, तो दूसरी बनी बलराम, और बहुत-सी गोपियाँ ग्वालबालोंके रूपमें हो गयीं। एक गोपी बन गयी वत्सासुर, तो दूसरी बनी बकासुर। तब तो गोपियोंने अलग-अलग श्रीकृष्ण बनकर वत्सासुर और बकासुर बनी हुई गोपियोंको मारनेकी लीला की॥ १७॥ जैसे श्रीकृष्ण वनमें करते थे, वैसे ही एक गोपी बाँसुरी बजा-बजाकर दूर गये हुए पशुओंको बुलानेका खेल खेलने लगी। तब दूसरी गोपियाँ 'वाह-वाह' करके उसकी प्रशंसा करने लगीं॥ १८॥ एक गोपी अपनेको श्रीकृष्ण समझकर दूसरी सखीके गलेमें बाँह डालकर चलती और गोपियोंसे कहने लगती—'मित्रो! मैं श्रीकृष्ण हूँ। तुमलोग मेरी यह मनोहर चाल देखो'॥ १९॥ कोई गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहती—'अरे व्रजवासियो! तुम आँधी-पानीसे मत डरो। मैंने उससे बचनेका उपाय निकाल लिया है।' ऐसा कहकर गोवर्धन-धारणका अनुकरण करती हुई वह अपनी ओढ़नी उठाकर ऊपर तान लेती॥ २०॥ परीक्षित्! एक गोपी बनी कालिय नाग, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसके सिरपर पैर रखकर चढ़ी-चढ़ी बोलने लगी—'रे दुष्ट साँप! तू यहाँसे चला जा। मैं दुष्टोंका दमन करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ'॥ २१॥

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम्।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममंजसा॥ २२

बद्ध्वान्यया स्त्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम्॥ २३

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः॥ २४

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्रांकुशयवादिभिः॥ २५

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन्॥ २६

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा॥ २७

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥ २८

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥ २९

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्॥ ३०

इतनेमें ही एक गोपी बोली—'अरे ग्वालो! देखो, वनमें बड़ी भयंकर आग लगी है। तुमलोग जल्दी-से-जल्दी अपनी आँखें मूँद लो, मैं अनायास ही तुमलोगोंकी रक्षा कर लूँगा'॥ २२॥ एक गोपी यशोदा बनी और दूसरी बनी श्रीकृष्ण। यशोदाने फूलोंकी मालासे श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँध दिया। अब वह श्रीकृष्ण बनी हुई सुन्दरी गोपी हाथोंसे मुँह ढँककर भयकी नकल करने लगी॥ २३॥

परीक्षित्! इस प्रकार लीला करते-करते गोपियाँ वृन्दावनके वृक्ष और लता आदिसे फिर भी श्रीकृष्णका पता पूछने लगीं। इसी समय उन्होंने एक स्थानपर भगवान्के चरणचिह्न देखे॥ २४॥ वे आपसमें कहने लगीं—'अवश्य ही ये चरणचिह्न उदारशिरोमणि नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके हैं; क्योंकि इनमें ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश और जौ आदिके चिह्न स्पष्ट ही दीख रहे हैं'॥ २५॥ उन चरणचिह्नोंके द्वारा व्रजवल्लभ भगवान्को ढूँढ़ती हुई गोपियाँ आगे बढ़ीं, तब उन्हें श्रीकृष्णके साथ किसी व्रजयुवतीके भी चरणचिह्न दीख पड़े। उन्हें देखकर वे व्याकुल हो गयीं। और आपसमें कहने लगीं—॥ २६॥ 'जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराजके साथ गयी हो, वैसे ही नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके साथ उनके कंधेपर हाथ रखकर चलनेवाली किस बड़भागिनीके ये चरणचिह्न हैं?॥ २७॥ अवश्य ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी यह 'आराधिका' होगी। इसीलिये इसपर प्रसन्न होकर हमारे प्राणप्यारे श्यामसुन्दरने हमें छोड़ दिया है और इसे एकान्तमें ले गये हैं॥ २८॥ प्यारी सखियो! भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमलसे जिस रजका स्पर्श कर देते हैं, वह धन्य हो जाती है, उसके अहोभाग्य हैं! क्योंकि ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मी आदि भी अपने अशुभ नष्ट करनेके लिये उस रजको अपने सिरपर धारण करते हैं'॥ २९॥ 'अरी सखी! चाहे कुछ भी हो—यह जो सखी हमारे सर्वस्व श्रीकृष्णको एकान्तमें ले जाकर अकेले ही उनकी अधर-सुधाका रस पी रही है, इस गोपीके उभरे हुए चरणचिह्न तो हमारे हृदयमें बड़ा ही क्षोभ

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणांकुरैः।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः॥ ३१

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः॥ ३२

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे॥ ३३

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्॥ ३४

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्॥ ३५

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने॥ ३६

सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः॥ ३७

उत्पन्न कर रहे हैं'॥ ३०॥ यहाँ उस गोपीके पैर नहीं दिखायी देते। मालूम होता है, यहाँ प्यारे श्यामसुन्दरने देखा होगा कि मेरी प्रेयसीके सुकुमार चरणकमलोंमें घासकी नोक गड़ती होगी; इसलिये उन्होंने उसे अपने कंधेपर चढ़ा लिया होगा॥ ३१॥ सखियो! यहाँ देखो, प्यारे श्रीकृष्णके चरणचिह्न अधिक गहरे—बालूमें धँसे हुए हैं। इससे सूचित होता है कि यहाँ वे किसी भारी वस्तुको उठाकर चले हैं, उसीके बोझसे उनके पैर जमीनमें धँस गये हैं। हो-न-हो यहाँ उस कामीने अपनी प्रियतमाको अवश्य कंधेपर चढ़ाया होगा॥ ३२॥ देखो-देखो, यहाँ परमप्रेमी व्रजवल्लभने फूल चुननेके लिये अपनी प्रेयसीको नीचे उतार दिया है और यहाँ परम प्रियतम श्रीकृष्णने अपनी प्रेयसीके लिये फूल चुने हैं। उचक-उचककर फूल तोड़नेके कारण यहाँ उनके पंजे तो धरतीमें गड़े हुए हैं और एड़ीका पता ही नहीं है॥ ३३॥ परम प्रेमी श्रीकृष्णने कामी पुरुषके समान यहाँ अपनी प्रेयसीके केश सँवारे हैं। देखो, अपने चुने हुए फूलोंको प्रेयसीकी चोटीमें गूँथनेके लिये वे यहाँ अवश्य ही बैठे रहे होंगे॥ ३४॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। वे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट और पूर्ण हैं। जब वे अखण्ड हैं, उनमें दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनमें कामकी कल्पना कैसे हो सकती है? फिर भी उन्होंने कामियोंकी दीनता-स्त्रीपरवशता और स्त्रियोंकी कुटिलता दिखलाते हुए वहाँ उस गोपीके साथ एकान्तमें क्रीडा की थी—एक खेल रचा था॥ ३५॥

इस प्रकार गोपियाँ मतवाली-सी होकर—अपनी सुधबुध खोकर एक दूसरेको भगवान् श्रीकृष्णके चरणचिह्न दिखलाती हुई वन-वनमें भटक रही थीं। इधर भगवान् श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंको वनमें छोड़कर जिस भाग्यवती गोपीको एकान्तमें ले गये थे, उसने समझा कि 'मैं ही समस्त गोपियोंमें श्रेष्ठ हूँ। इसीलिये तो हमारे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंको छोड़कर, जो उन्हें इतना चाहती हैं, केवल मेरा ही मान करते हैं। मुझे ही आदर दे रहे हैं॥ ३६-३७॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥ ३८

भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा और शंकरके भी शासक हैं। वह गोपी वनमें जाकर अपने प्रेम और सौभाग्यके मदसे मतवाली हो गयी और उन्हीं श्रीकृष्णसे कहने लगी—'प्यारे! मुझसे अब तो और नहीं चला जाता। मेरे सुकुमार पाँव थक गये हैं। अब तुम जहाँ चलना चाहो, मुझे अपने कंधेपर चढ़ाकर ले चलो'॥ ३८॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥ ३९

अपनी प्रियतमाकी यह बात सुनकर श्यामसुन्दरने कहा—'अच्छा प्यारी! तुम अब मेरे कंधेपर चढ़ लो।' यह सुनकर वह गोपी ज्यों ही उनके कंधेपर चढ़ने चली, त्यों ही श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और वह सौभाग्यवती गोपी रोने-पछताने लगी॥ ३९॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥ ४०

'हा नाथ! हा रमण! हा प्रेष्ठ! हा महाभुज! तुम कहाँ हो! कहाँ हो!! मेरे सखा! मैं तुम्हारी दीन-हीन दासी हूँ। शीघ्र ही मुझे अपने सान्निध्यका अनुभव कराओ, मुझे दर्शन दो'॥ ४०॥

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम्॥ ४१

परीक्षित्! गोपियाँ भगवान्के चरणचिह्नोंके सहारे उनके जानेका मार्ग ढूँढ़ती-ढूँढ़ती वहाँ जा पहुँची। थोड़ी दूरसे ही उन्होंने देखा कि उनकी सखी अपने प्रियतमके वियोगसे दुःखी होकर अचेत हो गयी है॥ ४१॥

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।
अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः॥ ४२

जब उन्होंने उसे जगाया, तब उसने भगवान् श्रीकृष्णसे उसे जो प्यार और सम्मान प्राप्त हुआ था, वह उनको सुनाया। उसने यह भी कहा कि 'मैंने कुटिलतावश उनका अपमान किया, इसीसे वे अन्तर्धान हो गये।' उसकी बात सुनकर गोपियोंके आश्चर्यकी सीमा न रही॥ ४२॥

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः॥ ४३

इसके बाद वनमें जहाँतक चन्द्रदेवकी चाँदनी छिटक रही थी, वहाँतक वे उन्हें ढूँढ़ती हुई गयीं। परन्तु जब उन्होंने देखा कि आगे घना अन्धकार है—घोर जंगल है—हम ढूँढ़ती जायँगी तो श्रीकृष्ण और भी उसके अंदर घुस जायँगे, तब वे उधरसे लौट आयीं॥ ४३॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥ ४४

परीक्षित्! गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे कृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णकी चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कहूँ; उनका रोम-रोम, उनकी आत्मा श्रीकृष्णमय हो रही थी। वे केवल उनके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध नहीं थी, फिर घरकी याद कौन करता?॥ ४४॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकांक्षिताः॥ ४५

गोपियोंका रोम-रोम इस बातकी प्रतीक्षा और आकांक्षा कर रहा था कि जल्दी-से-जल्दी श्रीकृष्ण आयें। श्रीकृष्णकी ही भावनामें डूबी हुई गोपियाँ यमुनाजीके पावन पुलिनपर—रमणरेतीमें लौट आयीं और एक साथ मिलकर श्रीकृष्णके गुणोंका गान करने लगीं॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

गोपिकागीत

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥ १

शरदुदाशये साधुजातसत्
सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥ २

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥ ३

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥ ४

गोपियाँ विरहावेशमें गाने लगीं—'प्यारे! तुम्हारे जन्मके कारण वैकुण्ठ आदि लोकोंसे भी व्रजकी महिमा बढ़ गयी है। तभी तो सौन्दर्य और मृदुलताकी देवी लक्ष्मीजी अपना निवासस्थान वैकुण्ठ छोड़कर यहाँ नित्य-निरन्तर निवास करने लगी हैं, इसकी सेवा करने लगी हैं। परन्तु प्रियतम! देखो तुम्हारी गोपियाँ जिन्होंने तुम्हारे चरणोंमें ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं, वन-वनमें भटककर तुम्हें ढूँढ़ रही हैं॥ १॥ हमारे प्रेमपूर्ण हृदयके स्वामी! हम तुम्हारी बिना मोलकी दासी हैं। तुम शरत्कालीन जलाशयमें सुन्दर-से-सुन्दर सरसिजकी कर्णिकाके सौन्दर्यको चुरानेवाले नेत्रोंसे हमें घायल कर चुके हो। हमारे मनोरथ पूर्ण करनेवाले प्राणेश्वर! क्या नेत्रोंसे मारना वध नहीं है? अस्त्रोंसे हत्या करना ही वध है?॥ २॥ पुरुषशिरोमणे! यमुनाजीके विषैले जलसे होनेवाली मृत्यु, अजगरके रूपमें खानेवाले अघासुर, इन्द्रकी वर्षा, आँधी, बिजली, दावानल, वृषभासुर और व्योमासुर आदिसे एवं भिन्न-भिन्न अवसरोंपर सब प्रकारके भयोंसे तुमने बार-बार हमलोगोंकी रक्षा की है॥ ३॥ तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो; समस्त शरीरधारियोंके हृदयमें रहनेवाले उनके साक्षी हो, अन्तर्यामी हो। सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे विश्वकी रक्षा करनेके लिये तुम यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हो॥ ४॥

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥ ५

अपने प्रेमियोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवालोंमें अग्रगण्य यदुवंशशिरोमणे! जो लोग जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करसे डरकर तुम्हारे चरणोंकी शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें तुम्हारे करकमल अपनी छत्र-छायामें लेकर अभय कर देते हैं। हमारे प्रियतम! सबकी लालसा-अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाला वही करकमल, जिससे तुमने लक्ष्मीजीका हाथ पकड़ा है, हमारे सिरपर रख दो॥ ५॥

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय॥ ६

व्रजवासियोंके दुःख दूर करनेवाले वीरशिरोमणि श्यामसुन्दर! तुम्हारी मन्द-मन्द मुसकानकी एक उज्ज्वल रेखा ही तुम्हारे प्रेमीजनोंके सारे मान-मदको चूर-चूर कर देनेके लिये पर्याप्त है। हमारे प्यारे सखा! हमसे रूठो मत, प्रेम करो। हम तो तुम्हारी दासी हैं, तुम्हारे चरणोंपर निछावर हैं। हम अबलाओंको अपना वह परम सुन्दर साँवला-साँवला मुखकमल दिखलाओ॥ ६॥

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥ ७

तुम्हारे चरणकमल शरणागत प्राणियोंके सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं। वे समस्त सौन्दर्य, माधुर्यकी खान हैं और स्वयं लक्ष्मीजी उनकी सेवा करती रहती हैं। तुम उन्हीं चरणोंसे हमारे बछड़ोंके पीछे-पीछे चलते हो और हमारे लिये उन्हें साँपके फणोंतकपर रखनेमें भी तुमने संकोच नहीं किया। हमारा हृदय तुम्हारी विरहव्यथाकी आगसे जल रहा है तुम्हारी मिलनकी आकांक्षा हमें सता रही है। तुम अपने वे ही चरण हमारे वक्षःस्थलपर रखकर हमारे हृदयकी ज्वालाको शान्त कर दो॥ ७॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती-
रधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः॥ ८

कमलनयन! तुम्हारी वाणी कितनी मधुर है! उसका एक-एक पद, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर है। बड़े-बड़े विद्वान् उसमें रम जाते हैं। उसपर अपना सर्वस्व निछावर कर देते हैं। तुम्हारी उसी वाणीका रसास्वादन करके तुम्हारी आज्ञाकारिणी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं। दानवीर! अब तुम अपना दिव्य अमृतसे भी मधुर अधर-रस पिलाकर हमें जीवन-दान दो, छका दो॥ ८॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥ ९

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं
विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥ १०

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥ ११

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै-
र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहु-
र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि॥ १२

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं
धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपंकजं शन्तमं च ते
रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्॥ १३

प्रभो! तुम्हारी लीलाकथा भी अमृतस्वरूप है। विरहसे सताये हुए लोगोंके लिये तो वह जीवन सर्वस्व ही है। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं—भक्त कवियोंने उसका गान किया है, वह सारे पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवणमात्रसे परम मंगल—परम कल्याणका दान भी करती है। वह परम सुन्दर, परम मधुर और बहुत विस्तृत भी है। जो तुम्हारी उस लीला-कथाका गान करते हैं, वास्तवमें भूलोकमें वे ही सबसे बड़े दाता हैं॥ ९ ॥ प्यारे! एक दिन वह था, जब तुम्हारी प्रेमभरी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह-तरहकी क्रीडाओंका ध्यान करके हम आनन्दमें मग्न हो जाया करती थीं। उनका ध्यान भी परम मंगलदायक है, उसके बाद तुम मिले। तुमने एकान्तमें हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं, प्रेमकी बातें कहीं। हमारे कपटी मित्र! अब वे सब बातें याद आकर हमारे मनको क्षुब्ध किये देती हैं॥ १० ॥

हमारे प्यारे स्वामी! तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकोमल और सुन्दर हैं। जब तुम गौओंको चरानेके लिये व्रजसे निकलते हो तब यह सोचकर कि तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़, तिनके और कुश-काँटे गड़ जानेसे कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है। हमें बड़ा दुःख होता है॥ ११ ॥ दिन ढलनेपर जब तुम वनसे घर लौटते हो, तो हम देखती हैं कि तुम्हारे मुखकमलपर नीली-नीली अलकें लटक रही हैं और गौओंके खुरसे उड़-उड़कर घनी धूल पड़ी हुई है। हमारे वीर प्रियतम! तुम अपना वह सौन्दर्य हमें दिखा-दिखाकर हमारे हृदयमें मिलनकी आकांक्षा—प्रेम उत्पन्न करते हो॥ १२ ॥ प्रियतम! एकमात्र तुम्हीं हमारे सारे दुःखोंको मिटानेवाले हो। तुम्हारे चरण-कमल शरणागत भक्तोंकी समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। स्वयं लक्ष्मीजी उनकी सेवा करती हैं और पृथ्वीके तो वे भूषण ही हैं। आपत्तिके समय एकमात्र उन्हींका चिन्तन करना उचित है, जिससे सारी आपत्तियाँ कट जाती हैं। कुंजविहारी! तुम अपने वे परम कल्याणस्वरूप चरणकमल हमारे वक्षः-स्थलपर रखकर हृदयकी व्यथा शान्त कर दो॥ १३ ॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ १४

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥ १५

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-
नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः
कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥ १६

रहसि संविदं हृच्छयोदयं
प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते
मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥ १७

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते
वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां
स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्॥ १८

वीरशिरोमणे! तुम्हारा अधरामृत मिलनके सुखको—आकांक्षाको बढ़ानेवाला है। वह विरहजन्य समस्त शोक-सन्तापको नष्ट कर देता है। यह गानेवाली बाँसुरी भलीभाँति उसे चूमती रहती है। जिन्होंने एक बार उसे पी लिया, उन लोगोंको फिर दूसरों और दूसरोंकी आसक्तियोंका स्मरण भी नहीं होता। हमारे वीर! अपना वही अधरामृत हमें वितरण करो, पिलाओ॥ १४॥ प्यारे! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम सन्ध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिये भार हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख है॥ १५॥ प्यारे श्यामसुन्दर! हम अपने पति-पुत्र, भाई-बन्धु और कुल-परिवारका त्यागकर, उनकी इच्छा और आज्ञाओंका उल्लंघन करके तुम्हारे पास आयी हैं। हम तुम्हारी एक-एक चाल जानती हैं, संकेत समझती हैं और तुम्हारे मधुर गानकी गति समझकर, उसीसे मोहित होकर यहाँ आयी हैं। कपटी! इस प्रकार रात्रिके समय आयी हुई युवतियोंको तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ सकता है॥ १६॥ प्यारे! एकान्तमें तुम मिलनकी आकांक्षा, प्रेम-भावको जगानेवाली बातें करते थे। ठिठोली करके हमें छेड़ते थे। तुम प्रेमभरी चितवनसे हमारी ओर देखकर मुसकरा देते थे और हम देखती थीं तुम्हारा वह विशाल वक्षःस्थल, जिसपर लक्ष्मीजी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं। तबसे अबतक निरन्तर हमारी लालसा बढ़ती ही जा रही है और हमारा मन अधिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है॥ १७॥ प्यारे! तुम्हारी यह अभिव्यक्ति व्रज-वनवासियोंके सम्पूर्ण दुःख-तापको नष्ट करनेवाली और विश्वका पूर्ण मंगल करनेके लिये है। हमारा हृदय तुम्हारे प्रति लालसासे भर रहा है। कुछ थोड़ी-सी ऐसी ओषधि दो, जो तुम्हारे निजजनोंके हृदयरोगको सर्वथा निर्मूल कर दे॥ १८॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥ १९

तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनोंपर भी डरते-डरते बहुत धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर जंगलमें छिपे-छिपे भटक रहे हो! क्या कंकड़, पत्थर आदिकी चोट लगनेसे उनमें पीड़ा नहीं होती? हमें तो इसकी सम्भावनामात्रसे ही चक्कर आ रहा है। हम अचेत होती जा रही हैं। श्रीकृष्ण! श्यामसुन्दर! प्राणनाथ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये जी रही हैं, हम तुम्हारी हैं॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

भगवान्‌का प्रकट होकर गोपियोंको सान्त्वना देना

श्रीशुक उवाच

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌की प्यारी गोपियाँ विरहके आवेशमें इस प्रकार भाँति-भाँतिसे गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने कृष्ण-प्यारेके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं॥ १॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥ २

ठीक उसी समय उनके बीचोबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। गलेमें वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डालनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था॥ २॥

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥ ३

कोटि-कोटि कामोंसे भी सुन्दर परम मनोहर प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरको आया देख गोपियोंके नेत्र प्रेम और आनन्दसे खिल उठे। वे सब-की-सब एक ही साथ इस प्रकार उठ खड़ी हुईं, मानो प्राणहीन शरीरमें दिव्य प्राणोंका संचार हो गया हो, शरीरके एक-एक अंगमें नवीन चेतना—नूतन स्फूर्ति आ गयी हो॥ ३॥

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्॥ ४

एक गोपीने बड़े प्रेम और आनन्दसे श्रीकृष्णके करकमलको अपने दोनों हाथोंमें ले लिया और वह धीरे-धीरे उसे सहलाने लगी। दूसरी गोपीने उनके चन्दनचर्चित भुजदण्डको अपने कंधेपर रख लिया॥ ४॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात्॥ ५

तीसरी सुन्दरीने भगवान्‌का चबाया हुआ पान अपने हाथोंमें ले लिया। चौथी गोपी, जिसके हृदयमें भगवान्‌के विरहसे बड़ी जलन हो रही थी, बैठ गयी और उनके चरणकमलोंको अपने वक्षःस्थलपर रख लिया॥ ५॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा॥ ६

पाँचवीं गोपी प्रणयकोपसे विह्वल होकर, भौंहें चढ़ाकर, दाँतोंसे होठ दबाकर अपने कटाक्ष-बाणोंसे बींधती हुई उनकी ओर ताकने लगी॥ ६॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा॥ ७

छठी गोपी अपने निर्निमेष नयनोंसे उनके मुखकमलका मकरन्द-रस पान करने लगी। परन्तु जैसे संत पुरुष भगवान्‌के चरणोंके दर्शनसे कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उनकी मुख-माधुरीका निरन्तर पान करते रहनेपर भी तृप्त नहीं होती थी॥ ७॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्‌ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥ ८

सातवीं गोपी नेत्रोंके मार्गसे भगवान्‌को अपने हृदयमें ले गयी और फिर उसने आँखें बंद कर लीं। अब मन-ही-मन भगवान्‌का आलिंगन करनेसे उसका शरीर पुलकित हो गया, रोम-रोम खिल उठा और वह सिद्ध योगियोंके समान परमानन्दमें मग्न हो गयी॥ ८॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः॥ ९

परीक्षित्! जैसे मुमुक्षुजन परम ज्ञानी संत पुरुषको प्राप्त करके संसारकी पीड़ासे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सभी गोपियोंको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे परम आनन्द और परम उल्लास प्राप्त हुआ। उनके विरहके कारण गोपियोंको जो दुःख हुआ था, उससे वे मुक्त हो गयीं और शान्तिके समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं॥ ९॥

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥ १०

परीक्षित्! यों तो भगवान् श्रीकृष्ण अच्युत और एकरस हैं, उनका सौन्दर्य और माधुर्य निरतिशय है; फिर भी विरह-व्यथासे मुक्त हुई गोपियोंके बीचमें उनकी शोभा और भी बढ़ गयी। ठीक वैसे ही, जैसे परमेश्वर अपने नित्य ज्ञान, बल आदि शक्तियोंसे सेवित होनेपर और भी शोभायमान होता है॥ १०॥

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम्॥ ११

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन व्रजसुन्दरियोंको साथ लेकर यमुनाजीके पुलिनमें प्रवेश किया। उस समय खिले हुए कुन्द और मन्दारके पुष्पोंकी सुरभि लेकर बड़ी ही शीतल और सुगन्धित मन्द-मन्द वायु चल रही थी और उसकी महँकसे मतवाले होकर भौंरे इधर-उधर मँडरा रहे थे॥ ११॥

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम्।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम्॥ १२

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुंकुमांकितै-
रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥ १३

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्॥ १४

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः
संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे॥ १५

शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनी अपनी निराली ही छटा दिखला रही थी। उसके कारण रात्रिके अन्धकारका तो कहीं पता ही न था, सर्वत्र आनन्द-मंगलका ही साम्राज्य छाया था। वह पुलिन क्या था, यमुनाजीने स्वयं अपनी लहरोंके हाथों भगवान्की लीलाके लिये सुकोमल बालुकाका रंगमंच बना रखा था॥ १२॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे गोपियोंके हृदयमें इतने आनन्द और इतने रसका उल्लास हुआ कि उनके हृदयकी सारी आधि-व्याधि मिट गयी। जैसे कर्मकाण्डकी श्रुतियाँ उसका वर्णन करते-करते अन्तमें ज्ञानकाण्डका प्रतिपादन करने लगती हैं और फिर वे समस्त मनोरथोंसे ऊपर उठ जाती हैं, कृतकृत्य हो जाती हैं—वैसे ही गोपियाँ भी पूर्णकाम हो गयीं। अब उन्होंने अपने वक्ष:स्थलपर लगी हुई रोली-केसरसे चिह्नित ओढ़नीको अपने परम प्यारे सुहृद् श्रीकृष्णके विराजनेके लिये बिछा दिया॥ १३॥ बड़े-बड़े योगेश्वर अपने योगसाधनसे पवित्र किये हुए हृदयमें जिनके लिये आसनकी कल्पना करते रहते हैं, किंतु फिर भी अपने हृदय-सिंहासनपर बिठा नहीं पाते, वही सर्वशक्तिमान् भगवान् यमुनाजीकी रेतीमें गोपियोंकी ओढ़नीपर बैठ गये। सहस्र-सहस्र गोपियोंके बीचमें उनसे पूजित होकर भगवान् बड़े ही शोभायमान हो रहे थे। परीक्षित्! तीनों लोकोंमें—तीनों कालोंमें जितना भी सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वह सब तो भगवान्के बिन्दुमात्र सौन्दर्यका आभासभर है। वे उसके एकमात्र आश्रय हैं॥ १४॥ भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस अलौकिक सौन्दर्यके द्वारा उनके प्रेम और आकांक्षाको और भी उभाड़ रहे थे। गोपियोंने अपनी मन्द-मन्द मुसकान, विलासपूर्ण चितवन और तिरछी भौंहोंसे उनका सम्मान किया। किसीने उनके चरणकमलोंको अपनी गोदमें रख लिया, तो किसीने उनके करकमलोंको। वे उनके संस्पर्शका आनन्द लेती हुई कभी-कभी कह उठती थीं—कितना सुकुमार है, कितना मधुर है! इसके बाद श्रीकृष्णके छिप जानेसे मन-ही-मन तनिक रूठकर उनके मुँहसे ही उनका दोष स्वीकार करानेके लिये वे कहने लगीं॥ १५॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥ १६

गोपियोंने कहा—नटनागर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। परंतु कोई-कोई दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। प्यारे! इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है?॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥ १७

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥ १८

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥ १९

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥ २०

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मेरी प्रिय सखियो! जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थको लेकर है। लेन-देनमात्र है। न तो उनमें सौहार्द है और न तो धर्म। उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये ही है; इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है॥ १७॥ सुन्दरियो! जो लोग प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते हैं—जैसे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता—उनका हृदय सौहार्दसे, हितैषितासे भरा रहता है और सच पूछो, तो उनके व्यवहारमें निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म भी है॥ १८॥ कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते, न प्रेम करनेवालोंका तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे लोग चार प्रकारके होते हैं। एक तो वे, जो अपने स्वरूपमें ही मस्त रहते हैं— जिनकी दृष्टिमें कभी द्वैत भासता ही नहीं। दूसरे वे, जिन्हें द्वैत तो भासता है, परन्तु जो कृतकृत्य हो चुके हैं; उनका किसीसे कोई प्रयोजन ही नहीं है। तीसरे वे हैं, जो जानते ही नहीं कि हमसे कौन प्रेम करता है; और चौथे वे हैं, जो जान-बूझकर अपना हित करनेवाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगोंसे भी द्रोह करते हैं, उनको सताना चाहते है॥ १९॥ गोपियो! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेमका वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा केवल इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगे, निरन्तर लगी ही रहे। जैसे निर्धन पुरुषको कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धनकी चिन्तासे भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ॥ २०॥ गोपियो! इसमें सन्देह नहीं कि तुमलोगोंने मेरे लिये लोक-मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी छोड़ दिया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाय, अपने सौन्दर्य और सुहागकी चिन्ता न करने लगे,

मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥ २१

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥ २२

मुझमें ही लगी रहे—इसीलिये परोक्षरूपसे तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था। इसलिये तुमलोग मेरे प्रेममें दोष मत निकालो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ॥ २१ ॥ मेरी प्यारी गोपियो! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्मके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे, प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

महारास

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥ १

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३

यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसंकुलम्।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! गोपियाँ भगवान्‌की इस प्रकार प्रेमभरी सुमधुर वाणी सुनकर जो कुछ विरहजन्य ताप शेष था, उससे भी मुक्त हो गयीं और सौन्दर्य-माधुर्यनिधि प्राणप्यारेके अंग-संगसे सफल-मनोरथ हो गयीं॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेयसी और सेविका गोपियाँ एक-दूसरेकी बाँह-में-बाँह डाले खड़ी थीं। उन स्त्रीरत्नोंके साथ यमुनाजीके पुलिनपर भगवान्‌ने अपनी रसमयी रासक्रीड़ा प्रारम्भ की॥ २ ॥ सम्पूर्ण योगोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रकट हो गये और उनके गलेमें अपना हाथ डाल दिया। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, यही क्रम था। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव करती थीं कि हमारे प्यारे तो हमारे ही पास हैं। इस प्रकार सहस्र-सहस्र गोपियोंसे शोभायमान भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य रासोत्सव प्रारम्भ हुआ। उस समय आकाशमें शत-शत विमानोंकी भीड़ लग गयी। सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आ पहुँचे। रासोत्सवके दर्शनकी लालसासे, उत्सुकतासे उनका मन उनके वशमें नहीं था॥ ३-४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम्॥ ५

स्वर्गकी दिव्य दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं। स्वर्गीय पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। गन्धर्वगण अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ भगवान्‌के निर्मल यशका गान करने लगे॥ ५॥

वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले॥ ६

रासमण्डलमें सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ नृत्य करने लगीं। उनकी कलाइयोंके कंगन, पैरोंके पायजेब और करधनीके छोटे-छोटे घुँघरू एक साथ बज उठे। असंख्य गोपियाँ थीं, इसलिये यह मधुर ध्वनि भी बड़े ही जोरकी हो रही थी॥ ६॥

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा॥ ७

यमुनाजीकी रमणरेतीपर व्रजसुन्दरियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी अनोखी शोभा हुई। ऐसा जान पड़ता था, मानो अगणित पीली-पीली दमकती हुई सुवर्ण-मणियोंके बीचमें ज्योतिर्मयी नीलमणि चमक रही हो॥ ७॥

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः
सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः
कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशना-
ग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव
ता मेघचक्रे विरेजुः॥ ८

नृत्यके समय गोपियाँ तरह-तरहसे ठुमुक-ठुमुककर अपने पाँव कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं। कभी गतिके अनुसार धीरे-धीरे पाँव रखतीं, तो कभी बड़े वेगसे; कभी चाककी तरह घूम जातीं, कभी अपने हाथ उठा-उठाकर भाव बतातीं, तो कभी विभिन्न प्रकारसे उन्हें चमकातीं। कभी बड़े कलापूर्ण ढंगसे मुसकरातीं, तो कभी भौंहें मटकातीं। नाचते-नाचते उनकी पतली कमर ऐसी लचक जाती थी, मानो टूट गयी हो। झुकने, बैठने, उठने और चलनेकी फुर्तीसे उनके स्तन हिल रहे थे तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे। कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर कपोलोंपर आ जाते थे। नाचनेके परिश्रमसे उनके मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलकने लगी थीं। केशोंकी चोटियाँ कुछ ढीली पड़ गयी थीं। नीवीकी गाँठें खुली जा रही थीं। इस प्रकार नटवर नन्दलालकी परम प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा-गाकर नाच रही थीं। परीक्षित्! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो बहुत-से श्रीकृष्ण तो साँवले-साँवले मेघ-मण्डल हैं और उनके बीच-बीचमें चमकती हुई गोरी गोपियाँ बिजली हैं। उनकी शोभा असीम थी॥ ८॥

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम्॥ ९

गोपियोंका जीवन भगवान्‌की रति है, प्रेम है। वे श्रीकृष्णसे सटकर नाचते-नाचते ऊँचे स्वरसे मधुर गान कर रही थीं। श्रीकृष्णका संस्पर्श पा-पाकर और भी आनन्दमग्न हो रही थीं। उनके राग-रागिनियोंसे पूर्ण गानसे यह सारा जगत् अब भी

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात्॥ १०

काचिद् रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका॥ ११

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह॥ १२

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम्॥ १३

नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्॥ १४

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे॥ १५

कर्णोत्पलालकविटंककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।

गूँज रहा है॥ ९॥ कोई गोपी भगवान्‌के साथ—उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गा रही थी। वह श्रीकृष्णके स्वरकी अपेक्षा और भी ऊँचे स्वरसे राग अलापने लगी। उसके विलक्षण और उत्तम स्वरको सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और वाह-वाह करके उसकी प्रशंसा करने लगे। उसी रागको एक दूसरी सखीने ध्रुपदमें गाया। उसका भी भगवान्‌ने बहुत सम्मान किया॥ १०॥ एक गोपी नृत्य करते-करते थक गयी। उसकी कलाइयोंसे कंगन और चोटियोंसे बेलाके फूल खिसकने लगे। तब उसने अपने बगलमें ही खड़े मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरके कंधेको अपनी बाँहसे कसकर पकड़ लिया॥ ११॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपना एक हाथ दूसरी गोपीके कंधेपर रख रखा था। वह स्वभावसे तो कमलके समान सुगन्धसे युक्त था ही, उसपर बड़ा सुगन्धित चन्दनका लेप भी था। उसकी सुगन्धसे वह गोपी पुलकित हो गयी, उसका रोम-रोम खिल उठा। उसने झटसे उसे चूम लिया॥ १२॥ एक गोपी नृत्य कर रही थी। नाचनेके कारण उसके कुण्डल हिल रहे थे, उनकी छटासे उसके कपोल और भी चमक रहे थे। उसने अपने कपोलोंको भगवान् श्रीकृष्णके कपोलसे सटा दिया और भगवान्‌ने उसके मुँहमें अपना चबाया हुआ पान दे दिया॥ १३॥ कोई गोपी नूपुर और करधनीके घुँघरुओंको झनकारती हुई नाच और गा रही थी। वह जब बहुत थक गयी, तब उसने अपने बगलमें ही खड़े श्यामसुन्दरके शीतल करकमलको अपने दोनों स्तनोंपर रख लिया॥ १४॥

परीक्षित्! गोपियोंका सौभाग्य लक्ष्मीजीसे भी बढ़कर है। लक्ष्मीजीके परम प्रियतम एकान्तवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णको अपने परम प्रियतमके रूपमें पाकर गोपियाँ गान करती हुई उनके साथ विहार करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्णने उनके गलोंको अपने भुजपाशमें बाँध रखा था, उस समय गोपियोंकी बड़ी अपूर्व शोभा थी॥ १५॥ उनके कानोंमें कमलके कुण्डल शोभायमान थे। घुँघराली अलकें कपोलोंपर लटक रही थीं। पसीनेकी बूँदें झलकनेसे उनके मुखकी छटा निराली ही हो गयी थी। वे रासमण्डलमें भगवान्

गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्॥ १६

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥ १७

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः
केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो
विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह॥ १८

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः।
कामार्दिताः शशांकश्च सगणो विस्मितोऽभवत्॥ १९

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥ २०

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना॥ २१

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः॥ २२

श्रीकृष्णके साथ नृत्य कर रही थीं। उनके कंगन और पायजेबोंके बाजे बज रहे थे। भौंरे उनके ताल-सुरमें अपना सुर मिलाकर गा रहे थे। और उनके जूड़ों तथा चोटियोंमें गुँथे हुए फूल गिरते जा रहे थे॥ १६॥ परीक्षित्! जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकारभावसे अपनी परछाईंके साथ खेलता है, वैसे ही रमारमण भगवान् श्रीकृष्ण कभी उन्हें अपने हृदयसे लगा लेते, कभी हाथसे उनका अंगस्पर्श करते, कभी प्रेमभरी तिरछी चितवनसे उनकी ओर देखते तो कभी लीलासे उन्मुक्त हँसी हँसने लगते। इस प्रकार उन्होंने व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीडा की, विहार किया॥ १७॥ परीक्षित्! भगवान्‌के अंगोंका संस्पर्श प्राप्त करके गोपियोंकी इन्द्रियाँ प्रेम और आनन्दसे विह्वल हो गयीं। उनके केश बिखर गये। फूलोंके हार टूट गये और गहने अस्त-व्यस्त हो गये। वे अपने केश, वस्त्र और कंचुकीको भी पूर्णतया सँभालनेमें असमर्थ हो गयीं॥ १८॥ भगवान् श्रीकृष्णकी यह रासक्रीडा देखकर स्वर्गकी देवांगनाएँ भी मिलनकी कामनासे मोहित हो गयीं और समस्त तारों तथा ग्रहोंके साथ चन्द्रमा चकित, विस्मित हो गये॥ १९॥ परीक्षित्! यद्यपि भगवान् आत्माराम हैं—उन्हें अपने अतिरिक्त और किसीकी भी आवश्यकता नहीं है—फिर भी उन्होंने जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही रूप धारण किये और खेल-खेलमें उनके साथ इस प्रकार विहार किया॥ २०॥ जब बहुत देरतक गान और नृत्य आदि विहार करनेके कारण गोपियाँ थक गयीं, तब करुणामय भगवान् श्रीकृष्णने बड़े प्रेमसे स्वयं अपने सुखद करकमलोंके द्वारा उनके मुँह पोंछे॥ २१॥ परीक्षित्! भगवान्‌के करकमल और नखस्पर्शसे गोपियोंको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने अपने उन कपोलोंके सौन्दर्यसे, जिनपर सोनेके कुण्डल झिलमिला रहे थे और घुँघराली अलकें लटक रही थीं, तथा उस प्रेमभरी चितवनसे, जो सुधासे भी मीठी मुसकानसे उज्ज्वल हो रही थी, भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान किया और प्रभुकी परम पवित्र लीलाओंका

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः स कुचकुंकुमरंजितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद् वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २३

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥ २४

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-
प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥ २५

एवं शशांकांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।

गान करने लगीं ॥ २२ ॥ इसके बाद जैसे थका हुआ गजराज किनारोंको तोड़ता हुआ हथिनियोंके साथ जलमें घुसकर क्रीडा करता है, वैसे ही लोक और वेदकी मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाले भगवान्‌ने अपनी थकान दूर करनेके लिये गोपियोंके साथ जलक्रीडा करनेके उद्देश्यसे यमुनाके जलमें प्रवेश किया। उस समय भगवान्‌की वनमाला गोपियोंके अंगकी रगड़से कुछ कुचल-सी गयी थी और उनके वक्षःस्थलकी केसरसे वह रँग भी गयी थी। उसके चारों ओर गुनगुनाते हुए भौंरे उनके पीछे-पीछे इस प्रकार चल रहे थे, मानो गन्धर्वराज उनकी कीर्तिका गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे हों ॥ २३ ॥ परीक्षित्! यमुनाजलमें गोपियोंने प्रेमभरी चितवनसे भगवान्‌की ओर देख-देखकर तथा हँस-हँसकर उनपर इधर-उधरसे जलकी खूब बौछारें डालीं। जल उलीच-उलीचकर उन्हें खूब नहलाया। विमानोंपर चढ़े हुए देवता पुष्पोंकी वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे। इस प्रकार यमुनाजलमें स्वयं आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णने गजराजके समान जलविहार किया ॥ २४ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण व्रजयुवतियों और भौंरोंकी भीड़से घिरे हुए यमुनातटके उपवनमें गये। वह बड़ा ही रमणीय था। उसके चारों ओर जल और स्थलमें बड़ी सुन्दर सुगन्धवाले फूल खिले हुए थे। उनकी सुवास लेकर मन्द-मन्द वायु चल रही थी। उसमें भगवान् इस प्रकार विचरण करने लगे, जैसे मदमत्त गजराज हथिनियोंके झुंडके साथ घूम रहा हो ॥ २५ ॥ परीक्षित्! शरद्‌की वह रात्रि जिसके रूपमें अनेक रात्रियाँ पुंजीभूत हो गयी थीं, बहुत ही सुन्दर थी। चारों ओर चन्द्रमाकी बड़ी सुन्दर चाँदनी छिटक रही थी। काव्योंमें शरद् ऋतुकी जिन रस-सामग्रियोंका वर्णन मिलता है, उन सभीसे वह युक्त थी। उसमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्रेयसी गोपियोंके साथ यमुनाके पुलिन, यमुनाजी और उनके उपवनमें विहार किया। यह बात स्मरण रखनी चाहिये

सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः
सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः॥ २६

राजोवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥ २७

स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥ २८

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥ २९

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥ ३०

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥ ३१

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥ ३२

कि भगवान् सत्यसंकल्प हैं। यह सब उनके चिन्मय संकल्पकी ही चिन्मयी लीला है। और उन्होंने इस लीलामें कामभावको, उसकी चेष्टाओंको तथा उसकी क्रियाको सर्वथा अपने अधीन कर रखा था, उन्हें अपने-आपमें कैद कर रखा था॥ २६॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं। उन्होंने अपने अंश श्रीबलरामजीके सहित पूर्णरूपमें अवतार ग्रहण किया था। उनके अवतारका उद्देश्य ही यह था कि धर्मकी स्थापना हो और अधर्मका नाश॥ २७॥ ब्रह्मन्! वे धर्ममर्यादाके बनानेवाले, उपदेश करनेवाले और रक्षक थे। फिर उन्होंने स्वयं धर्मके विपरीत परस्त्रियोंका स्पर्श कैसे किया॥ २८॥ मैं मानता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे, उन्हें किसी भी वस्तुकी कामना नहीं थी, फिर भी उन्होंने किस अभिप्रायसे यह निन्दनीय कर्म किया? परम ब्रह्मचारी मुनीश्वर! आप कृपा करके मेरा यह सन्देह मिटाइये॥ २९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सूर्य, अग्नि आदि ईश्वर (समर्थ) कभी-कभी धर्मका उल्लंघन और साहसका काम करते देखे जाते हैं। परंतु उन कामोंसे उन तेजस्वी पुरुषोंको कोई दोष नहीं होता। देखो, अग्नि सब कुछ खा जाता है, परन्तु उन पदार्थोंके दोषसे लिप्त नहीं होता॥ ३०॥ जिन लोगोंमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें मनसे भी वैसी बात कभी नहीं सोचनी चाहिये, शरीरसे करना तो दूर रहा। यदि मूर्खतावश कोई ऐसा काम कर बैठे, तो उसका नाश हो जाता है। भगवान् शंकरने हलाहल विष पी लिया था, दूसरा कोई पिये तो वह जलकर भस्म हो जायगा॥ ३१॥ इसलिये इस प्रकारके जो शंकर आदि ईश्वर हैं, अपने अधिकारके अनुसार उनके वचनको ही सत्य मानना और उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये। उनके आचरणका अनुकरण तो कहीं-कहीं ही किया जाता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि उनका जो आचरण उनके उपदेशके अनुकूल हो, उसीको जीवनमें उतारे॥ ३२॥

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो॥ ३३

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः॥ ३४

यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः॥ ३५

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥ ३६

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ ३७

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥ ३८

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः॥ ३९

परीक्षित्! वे सामर्थ्यवान् पुरुष अहंकारहीन होते हैं, शुभकर्म करनेमें उनका कोई सांसारिक स्वार्थ नहीं होता और अशुभ कर्म करनेमें अनर्थ (नुकसान) नहीं होता। वे स्वार्थ और अनर्थसे ऊपर उठे होते हैं॥ ३३॥ जब उन्हींके सम्बन्धमें ऐसी बात है तब जो पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि समस्त चराचर जीवोंके एकमात्र प्रभु सर्वेश्वर भगवान् हैं, उनके साथ मानवीय शुभ और अशुभका सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है॥ ३४॥ जिनके चरणकमलोंके रजका सेवन करके भक्तजन तृप्त हो जाते हैं, जिनके साथ योग प्राप्त करके उसके प्रभावसे योगीजन अपने सारे कर्मबन्धन काट डालते हैं और विचारशील ज्ञानीजन जिनके तत्त्वका विचार करके तत्स्वरूप हो जाते हैं तथा समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरते हैं, वे ही भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छासे अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करते हैं; तब भला, उनमें कर्मबन्धनकी कल्पना ही कैसे हो सकती है॥ ३५॥ गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण शरीरधारियोंके अन्तःकरणोंमें जो आत्मारूपसे विराजमान हैं, जो सबके साक्षी और परमपति हैं, वही तो अपना दिव्य-चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करके यह लीला कर रहे हैं॥ ३६॥

भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ॥ ३७॥ व्रजवासी गोपोंने भगवान् श्रीकृष्णमें तनिक भी दोषबुद्धि नहीं की। वे उनकी योगमायासे मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही हैं॥ ३८॥ ब्रह्माकी रात्रिके बराबर वह रात्रि बीत गयी। ब्राह्ममुहूर्त आया। यद्यपि गोपियोंकी इच्छा अपने घर लौटनेकी नहीं थी, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे वे अपने-अपने घर चली गयीं। क्योंकि वे अपनी प्रत्येक चेष्टासे, प्रत्येक संकल्पसे केवल भगवान्‌को ही प्रसन्न करना चाहती थीं॥ ३९॥

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥ ४०

परीक्षित्! जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रास-विलासका श्रद्धाके साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान्के चरणोंमें परा भक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदयके रोग—कामविकारसे छुटकारा पा जाता है। उसका कामभाव सर्वदाके लिये नष्ट हो जाता है*॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

---

* श्रीमद्भागवतमें ये रासलीलाके पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी परम अन्तरंगलीला, निजस्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजीके साथ होनेवाली भगवान्की दिव्यातिदिव्य क्रीडा, इन अध्यायोंमें कही गयी है। 'रास' शब्दका मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—**'रसो वै सः'।** जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे—उसका नाम रास है। भगवान्की यह दिव्य लीला भगवान्के दिव्य धाममें दिव्य रूपसे निरन्तर हुआ करती है। यह भगवान्की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें। इस पंचाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रासनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है—जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है।

समयके साथ ही मानव-मस्तिष्क भी पलटता रहता है। कभी अन्तर्दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टिकी। आजका युग ही ऐसा है, जिसमें भगवान्की दिव्य-लीलाओंकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान्के अस्तित्वपर ही अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। ऐसी स्थितिमें इस दिव्य लीलाका रहस्य न समझकर लोग तरह-तरहकी आशंका प्रकट करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह लीला अन्तर्दृष्टिसे और मुख्यतः भगवत्कृपासे ही समझमें आती है। जिन भाग्यवान् और भगवत्कृपाप्राप्त महात्माओंने इसका अनुभव किया है, वे धन्य हैं और उनकी चरण-धूलिके प्रतापसे ही त्रिलोकी धन्य है। उन्हींकी उक्तियोंका आश्रय लेकर यहाँ रासलीलाके सम्बन्धमें यत्किंचित् लिखनेकी धृष्टता की जाती है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड नहीं होता। जडकी सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्की दृष्टिमें नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेदभाव केवल प्रकृतिके राज्यमें होता है। अप्राकृत लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित्की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। इसलिये स्थूलतामें—या यों कहिये कि जडराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है, तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जडराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और

क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्य-लीलाके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड जगत्‌की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्‌में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थस्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड शरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म शरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष—और तो क्या, जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूलशरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अंग-संगकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शंकर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है। उन गोपियोंके दिव्य भावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान् अन्याय एवं अपराध है। इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है। इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्‌की भगवान्‌की स्वरूपभूता अन्तरंगशक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है। आवरण-भंगके अनन्तर अर्थात् चीरहरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे। जबतक 'कारण शरीर' रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं। इस 'कारण शरीर' के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है। इसी कर्मबन्धनके कारण पांचभौतिक स्थूलशरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्थि आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है। प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं; फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके संकल्पसे, बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे हो, अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परन्तु वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते। और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-

एक अंग पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है। फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिन और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा मैथुनकर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है, उससे क्रमश: रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुक्र बनता है; इसी शुक्रके आधारपर शरीर रहता है और मैथुनक्रियामें इसी शुक्रका क्षरण हुआ करता है। भगवान्‌का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टिका है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं; अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उसमें प्राकृत पांचभौतिक शरीरोंवाले स्त्री-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्‌को उपनिषद्‌में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसीसे भागवतमें उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं। फिर कोई शंका करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, भगवान्‌के संकल्पसे हुई थी। भगवान्‌के शरीरमें जो रक्त-मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान्‌की योगमायाका चमत्कार है। इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्यकी लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं।

× × × ×

इन गोपियोंकी साधना पूर्ण हो चुकी है। भगवान्‌ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेम-संकल्प कर लिया है। इसीके साथ उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टिमें विवाहिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य-लीलामें सम्मिलित करना है। वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें '**स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।**'—भगवान्‌के इस ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेमवीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेमदान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी, दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है, जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती रहती है। भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा—धर्मके काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृंगार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्षसाधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें, परन्तु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं उस साधक संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है,

दो नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है?

साधनाके दो भेद हैं—१—मर्यादापूर्ण वैध साधना और २—मर्यादारहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र नियम हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका, कर्तव्योंका और विविध पालनीय कर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट करनेवाला और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका पालन कलंकरूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके साधनोंको वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच जानेपर स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहींतक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्की ओर दौड़ने नहीं लग जातीं। इसीलिये भगवान्ने गीतामें एक जगह तो अर्जुनसे कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् । संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

(३। २२—२५)

'अर्जुन! यद्यपि तीनों लोकोंमें मुझे कुछ भी करना नहीं है और न मुझे किसी वस्तुको प्राप्त ही करना है, जो मुझे न प्राप्त हो; तो भी मैं कर्म करता ही हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो अर्जुन! मेरी देखा-देखी लोग कर्मोंको छोड़ बैठें और यों मेरे कर्म न करनेसे ये सारे लोक भ्रष्ट हो जायँ तथा मैं इन्हें वर्णसंकर बनानेवाला और सारी प्रजाका नाश करनेवाला बनूँ। इसलिये मेरे इस आदर्शके अनुसार अनासक्त ज्ञानी पुरुषको भी लोकसंग्रहके लिये वैसे ही कर्म करना चाहिये, जैसे कर्ममें आसक्त अज्ञानी लोग करते हैं।'

यहाँ भगवान् आदर्श लोकसंग्रही महापुरुषके रूपमें बोलते हैं, लोकनायक बनकर सर्वसाधारणको शिक्षा देते हैं। इसलिये स्वयं अपना उदाहरण देकर लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करना चाहते हैं। ये ही भगवान् उसी गीतामें जहाँ अन्तरंगताकी बात कहते हैं, वहाँ स्पष्ट कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (१८। ६६)

'सारे धर्मोंका त्याग करके तू केवल एक मेरी शरणमें आ जा।'

यह बात सबके लिये नहीं है। इसीसे भगवान् १८।६४ में इसे सबसे बढ़कर छिपी हुई गुप्त बात (सर्वगुह्यतम) कहकर इसके बादके ही श्लोकमें कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्तायकदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ (१८।६७)

'भैया अर्जुन! इस सर्वगुह्यतम बातको जो इन्द्रिय-विजयी तपस्वी न हो, मेरा भक्त न हो, सुनना न चाहता हो और मुझमें दोष लगाता हो, उसे न कहना।'

श्रीगोपीजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं। इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लंघन कर, एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको ही पानेके लिये अभिसार किया था। उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्वधर्मका त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है।

इस 'सर्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्मका आचरण गोपियों-जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है। क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग वही कर सकते हैं, जो इसका यथाविधि पूरा पालन कर चुकनेके बाद इसके परमफल अनन्य और अचिन्त्य देवदुर्लभ भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुकते हैं, वे भी जान-बूझकर त्याग नहीं करते। सूर्यका

प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति स्वत: ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं। यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है। भगवत्प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है। देवर्षि नारदजीका एक सूत्र है—

'वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'

'जो वेदोंका (वेदमूलक समस्त धर्ममर्यादाओंका) भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड, असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।'

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलायें, वह भला, किसी दूसरे धर्मकी ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है।

रोकनेवालोंने रोका भी, परन्तु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है? वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं। जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकारके कारण सशरीर जानेमें समर्थ न हुईं। उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्के वियोग-दु:खसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्के प्रेमालिंगनसे उनके समस्त सौभाग्यका परमफल प्राप्त हो गया और वे भगवान्के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्के पास पहुँच गयीं। भगवान्में मिल गयीं। यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभका भोग होता है। शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब जीवकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे रहित श्रीभगवान्की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं, तथापि लीलाके लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे, उनके विरहानलसे उनको इतना महान् सन्ताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पाप नष्ट हो गये। और प्रियतम भगवान्के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया। इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी। चाहे किसी भी भावसे हो—कामसे, क्रोधसे, लोभसे—जो भगवान्के मंगलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है, उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है। यह भगवान्के श्रीविग्रहकी विशेषता है। भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका सहज दान है।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल विश्वके विधाता ब्रह्मा-शिव आदिके भी वन्दनीय, निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे, उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परंतु उन्होंने ऐसी भावभंगी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात, प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियो! व्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है? घरवाले ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातन धर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो। परन्तु प्रेममें शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सान्निध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ, तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।'

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारी-जातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष

था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानतीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको भलीभाँति जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं—इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करनेयोग्य है। सचमुच जिनके हृदयमें भगवान्के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं, जो कि शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकोंको स्वामि-सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है—न पूर्ण हो? भगवान्ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—'**रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।**' जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे ही रमेश भगवान् और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरस-स्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी-शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की। पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिक-शेखर रसपरब्रह्म अखिलरसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीडाका नाम ही रास है। इसमें न कोई जड शरीर था, न प्राकृत अंग-संग था और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान्का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद ही भगवान्की लीलामें बाधक हैं। भगवान्की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका संचार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान्का, पास रहनेपर भी, दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु गोपियाँ गोपियाँ थीं, उनसे जगत्के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदयसे हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे ही यह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद'को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने '**साक्षान्मन्मथमन्मथः**' रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियो! मैं तुम्हारे प्रेमभावका चिर-ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्तकालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ, तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीडा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर अनेक यज्ञोंमें युगपत् आहुति

स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीडा करें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? जो लोग भगवान्को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वही अनेकों प्रकारकी शंका-कुशंकाएँ करते हैं। भगवान्की निज लीलामें इन तर्कोंका सर्वथा प्रवेश नहीं है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा भी जीव हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षित्के प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञानसे, भले ही श्रीकृष्णको पराया समझे; वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीलाविलास हैं, सभी स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा है।

ऐसी स्थितिमें 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अंग-संग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परन्तु उनमें परकीयाभाव था। परकीया होनेमें और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। परकीयाभावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयाभावमें निरन्तर एक साथ रहनेके कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं; परन्तु परकीयाभावमें ये तीनों भाव बने रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं, इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्वका और है—वह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र एवं कन्याओंका पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पतिसे चाहती है। वह समझती है कि इनकी देखरेख करना पतिका कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं, और वह पतिसे ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीयामें यह सकामभाव छिपा रहता ही है। परन्तु परकीया अपने प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपनेको देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियोंमें यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत-साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेक दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं; इसलिये गोपियोंपर परकीयापनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है। जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हलकी-सी प्रकाशरेखा आ जाती है, उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्श-स्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कल्पोंतक साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सेवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उल्लंघन कैसे कर सकती हैं और समस्त धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मोल्लंघनका लाञ्छन कैसे लगाया जा सकता है? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्यलीलाके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपंचाध्यायीपर अबतक अनेकानेक भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीवगोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है। किसीने इसे कामपर विजय बतलाया है, किसीने भगवान्का दिव्य विहार बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति

श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परन्तु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण-प्रसंग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मिलन-विलासादिरूप शृंगारका रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका मिलन न था। उनके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, परात्परतत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरंकुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन; और नायिका थीं स्वयं ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायव्यूहरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन! अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कड़ुए इन्द्रायण (तूँबे)-जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबे-जैसी ही मालूम हो; परन्तु इससे असलमें क्या वह मिश्रीका तूँबा कड़ुआ थोड़े ही हो जाता है? क्या तूँबेके आकारकी होनेसे ही मिश्रीके स्वाभाविक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है? नहीं-नहीं, वह किसी भी आकारमें हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा केवल मिश्री-ही-मिश्री है बल्कि इसमें लीला-चमत्कारकी बात जरूर है। लोग समझते हैं कड़ुआ तूँबा, और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंगा अभिन्नस्वरूपा गोपियोंकी लीला भी देखनेमें कैसी ही क्यों न हो, वस्तुतः वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे कामका कड़ुआ स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीलाकी नकल किसीको नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थोंके द्वारा मायातीत भगवान्का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है? कड़ुए तूँबेको चाहे जैसी सुन्दर मिठाईकी आकृति दे दी जाय, उसका कड़ुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्योंने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरंगलीलाओंका अनुकरण करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा। श्रीकृष्णकी इन लीलाओंका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजीने रासपंचाध्यायीके अन्तमें सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान्के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परन्तु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको केवल मनुष्य मानते हैं और केवल मानवीय भाव एवं आदर्शकी कसौटीपर उनके चरित्रको कसना चाहते हैं, वे पहले ही शास्त्रसे विमुख हो जाते हैं, उनके चित्तमें धर्मकी कोई धारणा ही नहीं रहती और वे भगवान्को भी अपनी बुद्धिके पीछे चलाना चाहते हैं। इसलिये साधकोंके सामने उनकी युक्तियोंका कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जो शास्त्रके 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इस वचनको नहीं मानता, वह उनकी लीलाओंको किस आधारपर सत्य मानकर उनकी आलोचना करता है—यह समझमें नहीं आता। जैसे मानवधर्म, देवधर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्धर्म भी पृथक् होता है और भगवान्के चरित्रका परीक्षण उसकी ही कसौटीपर होना चाहिये। भगवान्का एकमात्र धर्म है—प्रेमपरवशता, दयापरवशता और भक्तोंकी अभिलाषाकी पूर्ति। यशोदाके हाथोंसे ऊखलमें बँध जानेवाले श्रीकृष्ण अपने निजजन गोपियोंके प्रेमके कारण उनके साथ नाचें, यह उनका सहज धर्म है।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी, जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत-से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, गुड्डे-गुड्एकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोज-भात भी करते हैं। गाँवके बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरंजन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं। यह तो साधारण

बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न बालक जिनके अनेक सद्गुण बाल्यकालमें ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे व्रजवासियोंने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरंजन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरंजनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानीके साथ भागवतमें आये हुए काम-रति आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके निष्कपट प्रेमका ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीडा ही रति है। इसीलिये स्थान-स्थानपर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं—जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

जब गोपियाँ श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वनमें जाने लगी थीं, तब उनके सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें जानेसे रोका था। रातमें अपनी बालिकाओंको भला, कौन बाहर जाने देता। फिर भी वे चली गयीं और इससे घरवालोंको किसी प्रकारकी अप्रसन्नता नहीं हुई। और न तो उन्होंने श्रीकृष्णपर या गोपियोंपर किसी प्रकारका लाञ्छन ही लगाया। उनका श्रीकृष्णपर, गोपियोंपर विश्वास था और वे उनके बचपन और खेलोंसे परिचित थे। उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियाँ हमारे पास ही हैं। इसको दो प्रकारसे समझ सकते हैं। एक तो यह कि श्रीकृष्णके प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्णके पास गोपियोंका रहना भी अपने ही पास रहना है। यह तो मानवीय दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह है कि श्रीकृष्णकी योगमायाने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी, गोपोंको वे घरमें ही दीखती थीं । किसी भी दृष्टिसे रासलीला दूषित प्रसंग नहीं है, बल्कि अधिकारी पुरुषोंके लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमलको नष्ट करनेवाला है। रासलीलाके अन्तमें कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रासलीलाका श्रवण और वर्णन करता है, उसके हृदयका रोग-काम बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भगवान्का प्रेम प्राप्त होता है। भागवतमें अनेक स्थानपर ऐसा वर्णन आता है कि जो भगवान्की मायाका वर्णन करता है, वह मायासे पार हो जाता है। जो भगवान्के कामजयका वर्णन करता है, वह कामपर विजय प्राप्त करता है। राजा परीक्षित्ने अपने प्रश्नोंमें जो शंकाएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है।

उस उत्तरसे वे शंकाएँ तो हट गयी हैं, परन्तु भगवान्की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया; सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३वें अध्यायमें रासलीलाप्रसंग समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगत्में व्याख्या की भी नहीं जा सकती क्योंकि यह इस जगत्की क्रीडा ही नहीं है। यह तो उस दिव्य आनन्दमय रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिसके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। कुछ लोग इस लीलाप्रसंगको भागवतमें क्षेपक मानते हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं। क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसंग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों।

भगवान्के इस दिव्य-लीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो कि श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्के रसमय दिव्यलीलालोकमें भगवान्के अनन्त प्रेमका अनुभव करे। हमें रासलीलाका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शंका न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये। **—हनुमानप्रसाद पोद्दार**

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

सुदर्शन और शंखचूडका उद्धार

श्रीशुक उवाच

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक बार नन्दबाबा आदि गोपोंने शिवरात्रिके अवसरपर बड़ी उत्सुकता, कौतूहल और आनन्दसे भरकर बैलोंसे जुती हुई गाड़ियोंपर सवार होकर अम्बिकावनकी यात्रा की॥ १॥

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम्।
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम्॥ २

राजन्! वहाँ उन लोगोंने सरस्वती नदीमें स्नान किया और सर्वान्तर्यामी पशुपति भगवान् शंकरजीका तथा भगवती अम्बिकाजीका बड़ी भक्तिसे अनेक प्रकारकी सामग्रियोंके द्वारा पूजन किया॥ २॥

गावो हिरण्यं वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः।
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति॥ ३

वहाँ उन्होंने आदरपूर्वक गौएँ, सोना, वस्त्र, मधु और मधुर अन्न ब्राह्मणोंको दिये तथा उनको खिलाया-पिलाया। वे केवल यही चाहते थे कि इनसे देवाधिदेव भगवान् शंकर हमपर प्रसन्न हों॥ ३॥

ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः॥ ४

उस दिन परम भाग्यवान् नन्द-सुनन्द आदि गोपोंने उपवास कर रखा था, इसलिये वे लोग केवल जल पीकर रातके समय सरस्वती नदीके तटपर ही बेखटके सो गये॥ ४॥

कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः।
यदृच्छयाऽऽगतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत्॥ ५

उस अम्बिकावनमें एक बड़ा भारी अजगर रहता था। उस दिन वह भूखा भी बहुत था। दैववश वह उधर ही आ निकला और उसने सोये हुए नन्दजीको पकड़ लिया॥ ५॥

स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम्।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय॥ ६

अजगरके पकड़ लेनेपर नन्दरायजी चिल्लाने लगे—'बेटा कृष्ण! कृष्ण! दौड़ो, दौड़ो। देखो बेटा! यह अजगर मुझे निगल रहा है। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। जल्दी मुझे इस संकटसे बचाओ'॥ ६॥

तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः॥ ७

नन्दबाबाका चिल्लाना सुनकर सब-के-सब गोप एकाएक उठ खड़े हुए और उन्हें अजगरके मुँहमें देखकर घबड़ा गये। अब वे लुकाठियों (अधजली लकड़ियों) से उस अजगरको मारने लगे॥ ७॥

अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः।
तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः॥ ८

किन्तु लुकाठियोंसे मारे जाने और जलनेपर भी अजगरने नन्दबाबाको छोड़ा नहीं। इतनेमें ही भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ पहुँचकर अपने चरणोंसे उस अजगरको छू दिया॥ ८॥

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम्॥ ९

भगवान्‌के श्रीचरणोंका स्पर्श होते ही अजगरके सारे अशुभ भस्म हो गये और वह उसी क्षण अजगरका शरीर छोड़कर विद्याधरार्चित सर्वांग-सुन्दर रूपवान् बन गया॥ ९॥

तमपृच्छद्धृषीकेशः प्रणतं समुपस्थितम्।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम्॥ १०

को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः।
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः॥ ११

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः।
श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरं दिशः॥ १२

ऋषीन् विरूपानंगिरसः प्राहसं रूपदर्पितः।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना॥ १३

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः॥ १४

तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम्।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन्॥ १५

प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर॥ १६

ब्रह्मदण्डाद् विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात्।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते॥ १७

उस पुरुषके शरीरसे दिव्य ज्योति निकल रही थी। वह सोनेके हार पहने हुए था। जब वह प्रणाम करनेके बाद हाथ जोड़कर भगवान्‌के सामने खड़ा हो गया, तब उन्होंने उससे पूछा— ॥ १० ॥ 'तुम कौन हो? तुम्हारे अंग-अंगसे सुन्दरता फूटी पड़ती है। तुम देखनेमें बड़े अद्‌भुत जान पड़ते हो। तुम्हें यह अत्यन्त निन्दनीय अजगरयोनि क्यों प्राप्त हुई थी? अवश्य ही तुम्हें विवश होकर इसमें आना पड़ा होगा'॥ ११ ॥

अजगरके शरीरसे निकला हुआ पुरुष बोला—भगवन्! मैं पहले एक विद्याधर था। मेरा नाम था सुदर्शन। मेरे पास सौन्दर्य तो था ही, लक्ष्मी भी बहुत थी। इससे मैं विमानपर चढ़कर यहाँ-से-वहाँ घूमता रहता था॥ १२ ॥ एक दिन मैंने अंगिरा गोत्रके कुरूप ऋषियोंको देखा। अपने सौन्दर्यके घमंडसे मैंने उनकी हँसी उड़ायी। मेरे इस अपराधसे कुपित होकर उन लोगोंने मुझे अजगरयोनिमें जानेका शाप दे दिया। यह मेरे पापोंका ही फल था॥ १३ ॥ उन कृपालु ऋषियोंने अनुग्रहके लिये ही मुझे शाप दिया था। क्योंकि यह उसीका प्रभाव है कि आज चराचरके गुरु स्वयं आपने अपने चरणकमलोंसे मेरा स्पर्श किया है, इससे मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये॥ १४ ॥ समस्त पापोंका नाश करनेवाले प्रभो! जो लोग जन्म-मृत्युरूप संसारसे भयभीत होकर आपके चरणोंकी शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें आप समस्त भयोंसे मुक्त कर देते हैं। अब मैं आपके श्रीचरणोंके स्पर्शसे शापसे छूट गया हूँ और अपने लोकमें जानेकी अनुमति चाहता हूँ॥ १५ ॥ भक्तवत्सल! महायोगेश्वर पुरुषोत्तम! मैं आपकी शरणमें हूँ। इन्द्रादि समस्त लोकेश्वरोंके परमेश्वर! स्वयंप्रकाश परमात्मन्! मुझे आज्ञा दीजिये॥ १६ ॥ अपने स्वरूपमें नित्य-निरन्तर एकरस रहनेवाले अच्युत! आपके दर्शनमात्रसे मैं ब्राह्मणोंके शापसे मुक्त हो गया, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि जो पुरुष आपके नामोंका उच्चारण करता है, वह अपने-आपको और समस्त श्रोताओंको भी तुरंत पवित्र कर देता है। फिर मुझे तो आपने स्वयं अपने चरणकमलोंसे स्पर्श किया है। तब भला, मेरी मुक्तिमें क्या सन्देह हो सकता है?॥ १७ ॥

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः॥ १८

निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं
व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः।
समाप्य तस्मिन् नियमं पुनर्व्रजं
नृपाययुस्तत् कथयन्त आदृताः॥ १९

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः।
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम्॥ २०

उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः।
स्वलंकृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ॥ २१

निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम्।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना॥ २२

जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम्।
तौ कल्पयन्तौ युगपत् स्वरमण्डलमूर्च्छितम्॥ २३

गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप।
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः॥ २४

एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत्।
शंखचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात्॥ २५

इस प्रकार सुदर्शनने भगवान् श्रीकृष्णसे विनती की, परिक्रमा की और प्रणाम किया। फिर उनसे आज्ञा लेकर वह अपने लोकमें चला गया और नन्दबाबा इस भारी संकटसे छूट गये॥ १८॥ राजन्! जब व्रजवासियोंने भगवान् श्रीकृष्णका यह अद्‌भुत प्रभाव देखा, तब उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। उन लोगोंने उस क्षेत्रमें जो नियम ले रखे थे, उनको पूर्ण करके वे बड़े आदर और प्रेमसे श्रीकृष्णकी उस लीलाका गान करते हुए पुनः व्रजमें लौट आये॥ १९॥

एक दिनकी बात है, अलौकिक कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी रात्रिके समय वनमें गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे॥ २०॥ भगवान् श्रीकृष्ण निर्मल पीताम्बर और बलरामजी नीलाम्बर धारण किये हुए थे। दोनोंके गलेमें फूलोंके सुन्दर-सुन्दर हार लटक रहे थे तथा शरीरमें अंगराग, सुगन्धित चन्दन लगा हुआ था और सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहने हुए थे। गोपियाँ बड़े प्रेम और आनन्दसे ललित स्वरमें उन्हींके गुणोंका गान कर रही थीं॥ २१॥ अभी-अभी सायंकाल हुआ था। आकाशमें तारे उग आये थे और चाँदनी छिटक रही थी। बेलाके सुन्दर गन्धसे मतवाले होकर भौंरे इधर-उधर गुनगुना रहे थे तथा जलाशयमें खिली हुई कुमुदिनीकी सुगन्ध लेकर वायु मन्द-मन्द चल रही थी। उस समय उनका सम्मान करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने एक ही साथ मिलकर राग अलापा। उनका राग आरोह-अवरोह स्वरोंके चढ़ाव-उतारसे बहुत ही सुन्दर लग रहा था। वह जगत्‌के समस्त प्राणियोंके मन और कानोंको आनन्दसे भर देनेवाला था॥ २२-२३॥ उनका वह गान सुनकर गोपियाँ मोहित हो गयीं। परीक्षित्! उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रही कि वे उसपरसे खिसकते हुए वस्त्रों और चोटियोंसे बिखरते हुए पुष्पोंको सँभाल सकें॥ २४॥

जिस समय बलराम और श्याम दोनों भाई इस प्रकार स्वच्छन्द विहार कर रहे थे और उन्मत्तकी भाँति गा रहे थे, उसी समय वहाँ शंखचूड नामक एक यक्ष आया। वह कुबेरका अनुचर था॥ २५॥

तयोर्निरीक्षतो राजंस्तन्नाथं प्रमदाजनम्।
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशंकितः॥ २६

क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम्॥ २७

मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम्॥ २८

स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन्।
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया॥ २९

तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति।
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः॥ ३०

अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः॥ ३१

शंखचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम्।
अग्रजायाददात् प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम्॥ ३२

परीक्षित्! दोनों भाइयोंके देखते-देखते वह उन गोपियोंको लेकर बेखटके उत्तरकी ओर भाग चला। जिनके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, वे गोपियाँ उस समय रो-रोकर चिल्लाने लगीं॥ २६॥ दोनों भाइयोंने देखा कि जैसे कोई डाकू गौओंको लूट ले जाय, वैसे ही यह यक्ष हमारी प्रेयसियोंको लिये जा रहा है और वे 'हा कृष्ण! हा राम!' पुकारकर रो-पीट रही हैं। उसी समय दोनों भाई उसकी ओर दौड़ पड़े॥ २७॥ 'डरो मत, डरो मत' इस प्रकार अभयवाणी कहते हुए हाथमें शालका वृक्ष लेकर बड़े वेगसे क्षणभरमें ही उस नीच यक्षके पास पहुँच गये॥ २८॥ यक्षने देखा कि काल और मृत्युके समान ये दोनों भाई मेरे पास आ पहुँचे। तब वह मूढ़ घबड़ा गया। उसने गोपियोंको वहीं छोड़ दिया, स्वयं प्राण बचानेके लिये भागा॥ २९॥ तब स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिये बलरामजी तो वहीं खड़े रह गये, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ-जहाँ वह भागकर गया, उसके पीछे-पीछे दौड़ते गये। वे चाहते थे कि उसके सिरकी चूड़ामणि निकाल लें॥ ३०॥ कुछ ही दूर जानेपर भगवान्ने उसे पकड़ लिया और उस दुष्टके सिरपर कसकर एक घूँसा जमाया और चूड़ामणिके साथ उसका सिर भी धड़से अलग कर दिया॥ ३१॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण शंखचूडको मारकर और वह चमकीली मणि लेकर लौट आये तथा सब गोपियोंके सामने ही उन्होंने बड़े प्रेमसे वह मणि बड़े भाई बलरामजीको दे दी॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
शंखचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

युगलगीत

श्रीशुक उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके गौओंको चरानेके लिये प्रतिदिन वनमें चले जानेपर उनके साथ गोपियोंका चित्त भी चला जाता था। उनका मन श्रीकृष्णका चिन्तन करता रहता और वे वाणीसे उनकी लीलाओंका गान करती रहतीं। इस प्रकार वे बड़ी कठिनाईसे अपना दिन बितातीं॥ १॥

गोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो
वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं
गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥ २

व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-
र्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः
कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः॥ ३

गोपियाँ आपसमें कहतीं—अरी सखी! अपने प्रेमीजनोंको प्रेम वितरण करनेवाले और द्वेष करनेवालों-तकको मोक्ष दे देनेवाले श्यामसुन्दर नटनागर जब अपने बायें कपोलको बायीं बाँहकी ओर लटका देते हैं और अपनी भौंहें नचाते हुए बाँसुरीको अधरोंसे लगाते हैं तथा अपनी सुकुमार अंगुलियोंको उसके छेदोंपर फिराते हुए मधुर तान छेड़ते हैं, उस समय सिद्धपत्नियाँ आकाशमें अपने पति सिद्धगणोंके साथ विमानोंपर चढ़कर आ जाती हैं और उस तानको सुनकर अत्यन्त ही चकित तथा विस्मित हो जाती हैं। पहले तो उन्हें अपने पतियोंके साथ रहनेपर भी चित्तकी यह दशा देखकर लज्जा मालूम होती है; परन्तु क्षणभरमें ही उनका चित्त कामबाणसे बिंध जाता है, वे विवश और अचेत हो जाती हैं। उन्हें इस बातकी भी सुधि नहीं रहती कि उनकी नीवी खुल गयी है और उनके वस्त्र खिसक गये हैं॥ २-३॥

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं
हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां
नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः॥ ४

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो
वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा
निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्॥ ५

अरी गोपियो! तुम यह आश्चर्यकी बात सुनो! ये नन्दनन्दन कितने सुन्दर हैं। जब वे हँसते हैं तब हास्यरेखाएँ हारका रूप धारण कर लेती हैं, शुभ्र मोती-सी चमकने लगती हैं। अरी वीर! उनके वक्षः-स्थलपर लहराते हुए हारमें हास्यकी किरणें चमकने लगती हैं। उनके वक्षःस्थलपर जो श्रीवत्सकी सुनहली रेखा है, वह तो ऐसी जान पड़ती है, मानो श्याम मेघपर बिजली ही स्थिररूपसे बैठ गयी है। वे जब दुःखीजनोंको सुख देनेके लिये, विरहियोंके मृतक शरीरमें प्राणोंका संचार करनेके लिये बाँसुरी बजाते हैं, तब व्रजके झुंड-के-झुंड बैल, गौएँ और हरिन उनके पास ही दौड़ आते हैं। केवल आते ही नहीं, सखी! दाँतोंसे चबाया हुआ घासका ग्रास उनके मुँहमें ज्यों-का-त्यों पड़ा रह जाता है, वे उसे न निगल पाते और न तो उगल ही पाते हैं। दोनों कान खड़े करके इस प्रकार स्थिरभावसे खड़े हो जाते हैं, मानो सो गये हैं या केवल भीतपर लिखे हुए चित्र हैं। उनकी ऐसी दशा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह बाँसुरीकी तान उनके चित्तको चुरा लेती है॥ ४-५॥

बर्हिणस्तबकधातुपलाशै-
र्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः ।
कर्हिचित् सबल आलि स गोपै-
र्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६

तर्हि भग्नगतयः सरितो वै
तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः
प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥ ७

हे सखि! जब वे नन्दके लाड़ले लाल अपने सिरपर मोरपंखका मुकुट बाँध लेते हैं, घुँघराली अलकोंमें फूलके गुच्छे खोंस लेते हैं, रंगीन धातुओंसे अपना अंग-अंग रँग लेते हैं और नये-नये पल्लवोंसे ऐसा वेष सजा लेते हैं, जैसे कोई बहुत बड़ा पहलवान हो और फिर बलरामजी तथा ग्वालबालोंके साथ बाँसुरीमें गौओंका नाम ले-लेकर उन्हें पुकारते हैं; उस समय प्यारी सखियो! नदियोंकी गति भी रुक जाती है। वे चाहती हैं कि वायु उड़ाकर हमारे प्रियतमके चरणोंकी धूलि हमारे पास पहुँचा दे और उसे पाकर हम निहाल हो जायँ, परन्तु सखियो! वे भी हमारे ही जैसी मन्दभागिनी हैं। जैसे नन्दनन्दन श्रीकृष्णका आलिंगन करते समय हमारी भुजाएँ काँप जाती हैं और जड़तारूप संचारीभावका उदय हो जानेसे हम अपने हाथोंको हिला भी नहीं पातीं, वैसे ही वे भी प्रेमके कारण काँपने लगती हैं। दो-चार बार अपनी तरंगरूप भुजाओंको काँपते-काँपते उठाती तो अवश्य हैं, परन्तु फिर विवश होकर स्थिर हो जाती हैं, प्रेमावेशसे स्तम्भित हो जाती हैं॥ ६-७॥

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य
आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।
वनचरो गिरितटेषु चरन्ती-
र्वेणुनाऽऽह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यंजयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥ ९

अरी वीर! जैसे देवता लोग अनन्त और अचिन्त्य ऐश्वर्योंके स्वामी भगवान् नारायणकी शक्तियोंका गान करते हैं, वैसे ही ग्वालबाल अनन्तसुन्दर नटनागर श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करते रहते हैं। वे अचिन्त्य ऐश्वर्य-सम्पन्न श्रीकृष्ण जब वृन्दावनमें विहार करते रहते हैं और बाँसुरी बजाकर गिरिराज गोवर्धनकी तराईमें चरती हुई गौओंको नाम ले-लेकर पुकारते हैं, उस समय वनके वृक्ष और लताएँ फूल और फलोंसे लद जाती हैं, उनके भारसे डालियाँ झुककर धरती छूने लगती हैं, मानो प्रणाम कर रही हों, वे वृक्ष और लताएँ अपने भीतर भगवान् विष्णुकी अभिव्यक्ति सूचित करती हुई-सी प्रेमसे फूल उठती हैं, उनका रोम-रोम खिल जाता है और सब-की-सब मधुधाराएँ उँड़ेलने लगती हैं॥ ८-९॥

दर्शनीयतिलको वनमाला-
दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्ट-
माद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः॥ १०

सरसि सारसहंसविहङ्गा-
श्चारुगीतहृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता
हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः॥ ११

सहबलः स्त्रगवतंसविलासः
सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण
जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्॥ १२

महदतिक्रमणशंकितचेता
मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः।
सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभि-
श्छायया च विदधत् प्रतपत्रम्॥ १३

अरी सखी! जितनी भी वस्तुएँ संसारमें या उसके बाहर देखनेयोग्य हैं, उनमें सबसे सुन्दर, सबसे मधुर, सबके शिरोमणि हैं—ये हमारे मनमोहन। उनके साँवले ललाटपर केसरकी खौर कितनी फबती है—बस, देखती ही जाओ! गलेमें घुटनोंतक लटकती हुई वनमाला, उसमें पिरोयी हुई तुलसीकी दिव्य गन्ध और मधुर मधुसे मतवाले होकर झुंड-के-झुंड भौंरे बड़े मनोहर एवं उच्च स्वरसे गुंजार करते रहते हैं। हमारे नटनागर श्यामसुन्दर भौंरोंकी उस गुनगुनाहटका आदर करते हैं और उन्हींके स्वरमें स्वर मिलाकर अपनी बाँसुरी फूँकने लगते हैं। उस समय सखि! उस मुनिजनमोहन संगीतको सुनकर सरोवरमें रहनेवाले सारस-हंस आदि पक्षियोंका भी चित्त उनके हाथसे निकल जाता है, छिन जाता है। वे विवश होकर प्यारे श्यामसुन्दरके पास आ बैठते हैं तथा आँखें मूँद, चुपचाप, चित्त एकाग्र करके उनकी आराधना करने लगते हैं—मानो कोई विहंगमवृत्तिके रसिक परमहंस ही हों, भला कहो तो यह कितने आश्चर्यकी बात है!॥ १०-११ ॥

अरी व्रजदेवियो! हमारे श्यामसुन्दर जब पुष्पोंके कुण्डल बनाकर अपने कानोंमें धारण कर लेते हैं और बलरामजीके साथ गिरिराजके शिखरोंपर खड़े होकर सारे जगत्‌को हर्षित करते हुए बाँसुरी बजाने लगते हैं—बाँसुरी क्या बजाते हैं, आनन्दमें भरकर उसकी ध्वनिके द्वारा सारे विश्वका आलिंगन करने लगते हैं—उस समय श्याम मेघ बाँसुरीकी तानके साथ मन्द-मन्द गरजने लगता है। उसके चित्तमें इस बातकी शंका बनी रहती है कि कहीं मैं जोरसे गर्जना कर उठूँ और वह कहीं बाँसुरीकी तानके विपरीत पड़ जाय, उसमें बेसुरापन ले आये, तो मुझसे महात्मा श्रीकृष्णका अपराध हो जायगा। सखी! वह इतना ही नहीं करता; वह जब देखता है कि हमारे सखा घनश्यामको घाम लग रहा है, तब वह उनके ऊपर आकर छाया कर लेता है, उनका छत्र बन जाता है। अरी वीर! वह तो प्रसन्न होकर बड़े प्रेमसे उनके ऊपर अपना जीवन ही निछावर कर देता है—नन्हीं-नन्हीं फुहियोंके रूपमें ऐसा बरसने लगता है, मानो दिव्य पुष्पोंकी वर्षा कर रहा हो। कभी-कभी बादलोंकी ओटमें छिपकर देवता-लोग भी पुष्पवर्षा कर जाया करते हैं॥ १२-१३ ॥

विविधगोपचरणेषु विदग्धो
वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे
दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः॥ १४

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः
शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः
कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥ १५

सतीशिरोमणि यशोदाजी! तुम्हारे सुन्दर कुँवर ग्वालबालोंके साथ खेल खेलनेमें बड़े निपुण हैं। रानीजी! तुम्हारे लाड़ले लाल सबके प्यारे तो हैं ही, चतुर भी बहुत हैं। देखो, उन्होंने बाँसुरी बजाना किसीसे सीखा नहीं। अपने ही अनेकों प्रकारकी राग-रागिनियाँ उन्होंने निकाल लीं। जब वे अपने बिम्बाफल सदृश लाल-लाल अधरोंपर बाँसुरी रखकर ऋषभ, निषाद आदि स्वरोंकी अनेक जातियाँ बजाने लगते हैं, उस समय वंशीकी परम मोहिनी और नयी तान सुनकर ब्रह्मा, शंकर और इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता भी—जो सर्वज्ञ हैं—उसे नहीं पहचान पाते। वे इतने मोहित हो जाते हैं कि उनका चित्त तो उनके रोकनेपर भी उनके हाथसे निकलकर वंशीध्वनिमें तल्लीन हो ही जाता है, सिर भी झुक जाता है, और वे अपनी सुध-बुध खोकर उसीमें तन्मय हो जाते हैं॥ १४-१५॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-
नीरजांकुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं
वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥ १६

व्रजति तेन वयं सविलास-
वीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः
कश्मलेन कबरं वसनं वा॥ १७

अरी वीर! उनके चरणकमलोंमें ध्वजा, वज्र, कमल, अंकुश आदिके विचित्र और सुन्दर-सुन्दर चिह्न हैं। जब व्रजभूमि गौओंके खुरसे खुद जाती है, तब वे अपने सुकुमार चरणोंसे उसकी पीड़ा मिटाते हुए गजराजके समान मन्दगतिसे आते हैं और बाँसुरी भी बजाते रहते हैं। उनकी वह वंशीध्वनि, उनकी वह चाल और उनकी वह विलासभरी चितवन हमारे हृदयमें प्रेमके, मिलनकी आकांक्षाका आवेग बढ़ा देती है। हम उस समय इतनी मुग्ध, इतनी मोहित हो जाती हैं कि हिल-डोलतक नहीं सकतीं, मानो हम जड़ वृक्ष हों! हमें तो इस बातका भी पता नहीं चलता कि हमारा जूड़ा खुल गया है या बँधा है, हमारे शरीरपरका वस्त्र उतर गया है या है॥ १६-१७॥

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा
मालया दयितगन्धतुलस्याः।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे
प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र॥ १८

अरी वीर! उनके गलेमें मणियोंकी माला बहुत ही भली मालूम होती है। तुलसीकी मधुर गन्ध उन्हें बहुत प्यारी है। इसीसे तुलसीकी मालाको तो वे कभी छोड़ते ही नहीं, सदा धारण किये रहते हैं। जब वे श्यामसुन्दर उस मणियोंकी मालासे गौओंकी गिनती करते-करते किसी प्रेमी सखाके गलेमें बाँह डाल देते हैं और भाव बता-बताकर बाँसुरी बजाते हुए गाने

क्वणितवेणुरववंचितचित्ताः
कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो
गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः॥ १९

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो
गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो
नर्मदः प्रणयिनां विजहार॥ २०

मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं
मानयन् मलयजस्पर्शेन।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये
वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः॥ २१

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो
वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते
गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥ २२

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीना-
मुन्नयन् खुररजश्छुरितस्त्रक्।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष
देवकीजठरभूरुडुराजः ॥ २३

लगते हैं, उस समय बजती हुई उस बाँसुरीके मधुर स्वरसे मोहित होकर कृष्णसार मृगोंकी पत्नी हरिनियाँ भी अपना चित्त उनके चरणोंपर निछावर कर देती हैं और जैसे हम गोपियाँ अपने घर-गृहस्थीकी आशा-अभिलाषा छोड़कर गुणसागर नागर नन्दनन्दनको घेरे रहती हैं, वैसे ही वे भी उनके पास दौड़ आती हैं और वहीं एकटक देखती हुई खड़ी रह जाती हैं, लौटनेका नाम भी नहीं लेतीं॥ १८-१९॥

नन्दरानी यशोदाजी! वास्तवमें तुम बड़ी पुण्यवती हो। तभी तो तुम्हें ऐसे पुत्र मिले हैं। तुम्हारे वे लाड़ले लाल बड़े प्रेमी हैं, उनका चित्त बड़ा कोमल है। वे प्रेमी सखाओंको तरह-तरहसे हास-परिहासके द्वारा सुख पहुँचाते हैं। कुन्दकलीका हार पहनकर जब वे अपनेको विचित्र वेषमें सजा लेते हैं और ग्वालबाल तथा गौओंके साथ यमुनाजीके तटपर खेलने लगते हैं, उस समय मलयज चन्दनके समान शीतल और सुगन्धित स्पर्शसे मन्द-मन्द अनुकूल बहकर वायु तुम्हारे लालकी सेवा करती है और गन्धर्व आदि उपदेवता वंदीजनोंके समान गा-बजाकर उन्हें सन्तुष्ट करते हैं तथा अनेकों प्रकारकी भेंटें देते हुए सब ओरसे घेरकर उनकी सेवा करते हैं॥ २०-२१॥

अरी सखी! श्यामसुन्दर व्रजकी गौओंसे बड़ा प्रेम करते हैं। इसीलिये तो उन्होंने गोवर्धन धारण किया था। अब वे सब गौओंको लौटाकर आते ही होंगे; देखो, सायंकाल हो चला है। तब इतनी देर क्यों होती है, सखी? रास्तेमें बड़े-बड़े ब्रह्मा आदि वयोवृद्ध और शंकर आदि ज्ञानवृद्ध उनके चरणोंकी वन्दना जो करने लगते हैं। अब गौओंके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए वे आते ही होंगे। ग्वालबाल उनकी कीर्तिका गान कर रहे होंगे। देखो न, यह क्या आ रहे हैं। गौओंके खुरोंसे उड़-उड़कर बहुत-सी धूल वनमालापर पड़ गयी है। वे दिनभर जंगलोंमें घूमते-घूमते थक गये हैं। फिर भी अपनी इस शोभासे हमारी आँखोंको कितना सुख, कितना आनन्द दे रहे हैं। देखो, ये यशोदाकी कोखसे प्रकट हुए सबको आह्लादित करनेवाले चन्द्रमा हम प्रेमीजनोंकी भलाईके लिये, हमारी आशा-अभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिये ही हमारे पास चले आ रहे हैं॥ २२-२३॥

मदविघूर्णितलोचन ईषन्
मानदः स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं
मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या॥ २४

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो
यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं
मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्॥ २५

सखी! देखो कैसा सौन्दर्य है! मदभरी आँखें कुछ चढ़ी हुई हैं। कुछ-कुछ ललाई लिये हुए कैसी भली जान पड़ती हैं। गलेमें वनमाला लहरा रही है। सोनेके कुण्डलोंकी कान्तिसे वे अपने कोमल कपोलोंको अलंकृत कर रहे हैं। इसीसे मुँहपर अधपके बेरके समान कुछ पीलापन जान पड़ता है और रोम-रोमसे विशेष करके मुखकमलसे प्रसन्नता फूटी पड़ती है। देखो, अब वे अपने सखा ग्वालबालोंका सम्मान करके उन्हें विदा कर रहे हैं। देखो, देखो सखी! व्रज-विभूषण श्रीकृष्ण गजराजके समान मदभरी चालसे इस सन्ध्या वेलामें हमारी ओर आ रहे हैं। अब व्रजमें रहनेवाली गौओंका, हमलोगोंका दिनभरका असह्य विरह-ताप मिटानेके लिये उदित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति ये हमारे प्यारे श्यामसुन्दर समीप चले आ रहे हैं॥ २४-२५॥

श्रीशुक उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायतीः।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः॥ २६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! बड़भागिनी गोपियोंका मन श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे श्रीकृष्णमय हो गयी थीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण दिनमें गौओंको चरानेके लिये वनमें चले जाते, तब वे उन्हींका चिन्तन करती रहतीं और अपनी-अपनी सखियोंके साथ अलग-अलग उन्हींकी लीलाओंका गान करके उसीमें रम जातीं। इस प्रकार उनके दिन बीत जाते॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे वृन्दावनक्रीडायां गोपिकायुगलगीतं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥ ३५॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

अरिष्टासुरका उद्धार और कंसका श्रीअक्रूरजीको व्रजमें भेजना

श्रीशुक उवाच

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रवेश कर रहे थे और वहाँ आनन्दोत्सवकी धूम मची हुई थी, उसी समय अरिष्टासुर नामका एक दैत्य बैलका रूप धारण करके आया। उसका ककुद् (कंधेका पुट्ठा) या थुआ और डील-डौल दोनों ही बहुत बड़े-बड़े थे। वह अपने खुरोंको इतने जोरसे पटक रहा था कि उससे

रम्भमाणः खरतरं पदा च विलिखन् महीम्।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन्॥ २

किंचित् किंचिच्छकृन्मुञ्चन् मूत्रयन् स्तब्धलोचनः।
यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम्[१]॥ ३

पतन्त्य[२]कालतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै।
निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशंकया॥ ४

तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः।
पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन् संत्यज्य गोकुलम्॥ ५

कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः।
भगवानपि तद् वीक्ष्य गोकुलं भयविद्रुतम्॥ ६

मा भैष्टेति गिराऽऽश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत्।
गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम॥ ७

बलदर्पहाहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम्।
इत्यास्फोट्याच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन्॥ ८

सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः।
सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन्।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत्॥ ९

अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम्।
कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा॥ १०

धरती काँप रही थी॥ १॥ वह बड़े जोरसे गर्ज रहा था और पैरोंसे धूल उछालता जाता था। पूँछ खड़ी किये हुए था और सींगोंसे चहारदीवारी, खेतोंकी मेंड़ आदि तोड़ता जाता था ॥ २॥ बीच-बीचमें बार-बार मूतता और गोबर छोड़ता जाता था। आँखें फाड़कर इधर-उधर दौड़ रहा था। परीक्षित्! उसके जोरसे हँकड़नेसे—निष्ठुर गर्जनासे भयवश स्त्रियों और गौओंके तीन-चार महीनेके गर्भ स्रवित हो जाते थे और पाँच-छः महीनेके गिर जाते थे। और तो क्या कहूँ, उसके ककुद्को पर्वत समझकर बादल उसपर आकर ठहर जाते थे॥ ३-४॥ परीक्षित्! उस तीखे सींगवाले बैलको देखकर गोपियाँ और गोप सभी भयभीत हो गये। पशु तो इतने डर गये कि अपने रहनेका स्थान छोड़कर भाग ही गये॥ ५॥ उस समय सभी व्रजवासी 'श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण! हमें इस भयसे बचाओ' इस प्रकार पुकारते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आये। भगवान्ने देखा कि हमारा गोकुल अत्यन्त भयातुर हो रहा है॥ ६॥ तब उन्होंने 'डरनेकी कोई बात नहीं है'—यह कहकर सबको ढाढ़स बँधाया और फिर वृषासुरको ललकारा, 'अरे मूर्ख! महादुष्ट! तू इन गौओं और ग्वालोंको क्यों डरा रहा है? इससे क्या होगा॥ ७॥ देख, तुझ-जैसे दुरात्मा दुष्टोंके बलका घमंड चूर-चूर कर देनेवाला यह मैं हूँ।' इस प्रकार ललकारकर भगवान्ने ताल ठोंकी और उसे क्रोधित करनेके लिये वे अपने एक सखाके गलेमें बाँह डालकर खड़े हो गये। भगवान् श्रीकृष्णकी इस चुनौतीसे वह क्रोधके मारे तिलमिला उठा और अपने खुरोंसे बड़े जोरसे धरती खोदता हुआ श्रीकृष्णकी ओर झपटा। उस समय उसकी उठायी हुई पूँछके धक्केसे आकाशके बादल तितर-बितर होने लगे॥ ८-९॥ उसने अपने तीखे सींग आगे कर लिये। लाल-लाल आँखोंसे टकटकी लगाकर श्रीकृष्णकी ओर टेढ़ी नजरसे देखता हुआ वह उनपर इतने वेगसे टूटा, मानो इन्द्रके हाथसे छोड़ा हुआ वज्र हो॥ १०॥

१. भृशम् २. न्त्वाकालिका गर्भाः।

गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वा अष्टादश पदानि सः।
प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा॥ ११

भगवान् श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों सींग पकड़ लिये और जैसे एक हाथी अपनेसे भिड़नेवाले दूसरे हाथीको पीछे हटा देता है, वैसे ही उन्होंने उसे अठारह पग पीछे ठेलकर गिरा दिया॥ ११॥

सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः।
आपतत् स्विन्नसर्वांगो निःश्वसन् क्रोधमूर्छितः॥ १२

भगवान्के इस प्रकार ठेल देनेपर वह फिर तुरंत ही उठ खड़ा हुआ और क्रोधसे अचेत होकर लंबी-लंबी साँस छोड़ता हुआ फिर उनपर झपटा। उस समय उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था॥ १२॥

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः
पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले।
निष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमम्बरं
कृत्त्वा विषाणेन जघान सोऽपतत्॥ १३

भगवान्ने जब देखा कि वह अब मुझपर प्रहार करना ही चाहता है, तब उन्होंने उसके सींग पकड़ लिये और उसे लात मारकर जमीनपर गिरा दिया और फिर पैरोंसे दबाकर इस प्रकार उसका कचूमर निकाला, जैसे कोई गीला कपड़ा निचोड़ रहा हो। इसके बाद उसीका सींग उखाड़कर उसको खूब पीटा, जिससे वह पड़ा ही रह गया॥ १३॥

असृग् वमन् मूत्रशकृत् समुत्सृजन्
क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं
पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः॥ १४

परीक्षित्! इस प्रकार वह दैत्य मुँहसे खून उगलता और गोबर-मूत करता हुआ पैर पटकने लगा। उसकी आँखें उलट गयीं और उसने बड़े कष्टके साथ प्राण छोड़े। अब देवतालोग भगवान्पर फूल बरसा-बरसाकर उनकी स्तुति करने लगे॥ १४॥

एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः॥ १५

जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बैलके रूपमें आने-वाले अरिष्टासुरको मार डाला, तब सभी गोप उनकी प्रशंसा करने लगे। उन्होंने बलरामजीके साथ गोष्ठमें प्रवेश किया और उन्हें देख-देखकर गोपियोंके नयन-मन आनन्दसे भर गये॥ १५॥

अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
कंसायाथाह भगवान् नारदो देवदर्शनः॥ १६

परीक्षित्! भगवान्की लीला अत्यन्त अद्भुत है। इधर जब उन्होंने अरिष्टासुरको मार डाला, तब भगवन्मय नारद, जो लोगोंको शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्का दर्शन कराते रहते हैं, कंसके पास पहुँचे। उन्होंने उससे कहा— ॥ १६॥

यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च।
रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता॥ १७

न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः।
निशम्य तद् भोजपतिः कोपात् प्रचलितेन्द्रियः॥ १८

'कंस! जो कन्या तुम्हारे हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी, वह तो यशोदाकी पुत्री थी। और व्रजमें जो श्रीकृष्ण हैं, वे देवकीके पुत्र हैं। वहाँ जो बलरामजी हैं, वे रोहिणीके पुत्र हैं। वसुदेवने तुमसे डरकर अपने मित्र नन्दके पास उन दोनोंको रख दिया है। उन्होंने ही तुम्हारे अनुचर दैत्योंका वध किया है।' यह बात सुनते ही कंसकी एक-एक इन्द्रिय क्रोधके मारे काँप उठी॥ १७-१८॥

निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया।
निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः॥ १९

ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया।
प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम्॥ २०

प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ।
ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान्॥ २१

अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट्।
भो भो निशम्यतामेतद् वीरचाणूरमुष्टिकौ॥ २२

नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः।
रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः॥ २३

भवद्‌भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया।
मंचाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम्॥ २४

महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम्।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ॥ २५

आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि।
विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे॥ २६

इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह॥ २७

भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु॥ २८

उसने वसुदेवजीको मार डालनेके लिये तुरंत तीखी तलवार उठा ली, परन्तु नारदजीने रोक दिया। जब कंसको यह मालूम हो गया कि वसुदेवके लड़के ही हमारी मृत्युके कारण हैं, तब उसने देवकी और वसुदेव दोनों ही पति-पत्नीको हथकड़ी और बेड़ीसे जकड़कर फिर जेलमें डाल दिया। जब देवर्षि नारद चले गये, तब कंसने केशीको बुलाया और कहा—'तुम व्रजमें जाकर बलराम और कृष्णको मार डालो।' वह चला गया। इसके बाद कंसने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल आदि पहलवानों, मन्त्रियों और महावतोंको बुलाकर कहा—'वीरवर चाणूर और मुष्टिक! तुमलोग ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो॥ १९—२२॥ वसुदेवके दो पुत्र बलराम और कृष्ण नन्दके व्रजमें रहते हैं। उन्हींके हाथसे मेरी मृत्यु बतलायी जाती है॥ २३॥ अतः जब वे यहाँ आवें, तब तुमलोग उन्हें कुश्ती लड़ने-लड़ानेके बहाने मार डालना। अब तुमलोग भाँति-भाँतिके मंच बनाओ और उन्हें अखाड़ेके चारों ओर गोल-गोल सजा दो। उनपर बैठकर नगरवासी और देशकी दूसरी प्रजा इस स्वच्छन्द दंगलको देखें॥ २४॥ महावत! तुम बड़े चतुर हो। देखो भाई! तुम दंगलके घेरेके फाटकपर ही अपने कुवलयापीड हाथीको रखना और जब मेरे शत्रु उधरसे निकलें, तब उसीके द्वारा उन्हें मरवा डालना॥ २५॥ इसी चतुर्दशीको विधिपूर्वक धनुषयज्ञ प्रारम्भ कर दो और उसकी सफलताके लिये वरदानी भूतनाथ भैरवको बहुत-से पवित्र पशुओंकी बलि चढ़ाओ॥ २६॥

परीक्षित्! कंस तो केवल स्वार्थ-साधनका सिद्धान्त जानता था। इसलिये उसने मन्त्री, पहलवान और महावतको इस प्रकार आज्ञा देकर श्रेष्ठ यदुवंशी अक्रूरको बुलवाया और उनका हाथ अपने हाथमें लेकर बोला—॥ २७॥ 'अक्रूरजी! आप तो बड़े उदार दानी हैं। सब तरहसे मेरे आदरणीय हैं। आज आप मेरा एक मित्रोचित काम कर दीजिये; क्योंकि भोजवंशी और वृष्णिवंशी यादवोंमें आपसे बढ़कर मेरी भलाई करनेवाला दूसरा कोई नहीं है॥ २८॥

अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम्।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद् विभुः॥ २९

गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः।
आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम्॥ ३०

निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः।
तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः॥ ३१

घातयिष्य इहानीतौ कालकल्पेन हस्तिना।
यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः॥ ३२

तयोर्निहतयोस्तप्तान् वसुदेवपुरोगमान्।
तद्बन्धून् निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान्॥ ३३

उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम्।
तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम॥ ३४

ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका।
जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा॥ ३५

शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः।
तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान्॥ ३६

एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ।
धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम्॥ ३७

यह काम बहुत बड़ा है, इसलिये मेरे मित्र! मैंने आपका आश्रय लिया है। ठीक वैसे ही, जैसे इन्द्र समर्थ होनेपर भी विष्णुका आश्रय लेकर अपना स्वार्थ साधता रहता है॥ २९॥

आप नन्दरायके व्रजमें जाइये। वहाँ वसुदेवजीके दो पुत्र हैं। उन्हें इसी रथपर चढ़ाकर यहाँ ले आइये। बस, अब इस काममें देर नहीं होनी चाहिये॥ ३०॥ सुनते हैं, विष्णुके भरोसे जीनेवाले देवताओंने उन दोनोंको मेरी मृत्युका कारण निश्चित किया है। इसलिये आप उन दोनोंको तो ले ही आइये, साथ ही नन्द आदि गोपोंको भी बड़ी-बड़ी भेंटोंके साथ ले आइये॥ ३१॥ यहाँ आनेपर मैं उन्हें अपने कालके समान कुवलयापीड हाथीसे मरवा डालूँगा। यदि वे कदाचित् उस हाथीसे बच गये, तो मैं अपने वज्रके समान मजबूत और फुर्तीले पहलवान मुष्टिक-चाणूर आदिसे उन्हें मरवा डालूँगा॥ ३२॥ उनके मारे जानेपर वसुदेव आदि वृष्णि, भोज और दशार्हवंशी उनके भाई-बन्धु शोकाकुल हो जायँगे। फिर उन्हें मैं अपने हाथों मार डालूँगा॥ ३३॥ मेरा पिता उग्रसेन यों तो बूढ़ा हो गया है, परन्तु अभी उसको राज्यका लोभ बना हुआ है। यह सब कर चुकनेके बाद मैं उसको, उसके भाई देवकको और दूसरे भी जो-जो मुझसे द्वेष करनेवाले हैं—उन सबको तलवारके घाट उतार दूँगा॥ ३४॥ मेरे मित्र अक्रूरजी! फिर तो मैं होऊँगा और आप होंगे तथा होगा इस पृथ्वीका अकण्टक राज्य। जरासन्ध हमारे बड़े-बूढ़े ससुर हैं और वानरराज द्विविद मेरे प्यारे सखा हैं॥ ३५॥ शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर—ये तो मुझसे मित्रता करते ही हैं, मेरा मुँह देखते रहते हैं; इन सबकी सहायतासे मैं देवताओंके पक्षपाती नरपतियोंको मारकर पृथ्वीका अकण्टक राज्य भोगूँगा॥ ३६॥ यह सब अपनी गुप्त बातें मैंने आपको बतला दीं। अब आप जल्दी-से-जल्दी बलराम और कृष्णको यहाँ ले आइये। अभी तो वे बच्चे ही हैं। उनको मार डालनेमें क्या लगता है? उनसे केवल इतनी ही बात कहियेगा कि वे लोग धनुषयज्ञके दर्शन और यदुवंशियोंकी राजधानी मथुराकी शोभा देखनेके लिये यहाँ आ जायँ'॥ ३७॥

अक्रूर उवाच

राजन् मनीषितं सम्यक् तव स्वावद्यमार्जनम्।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्याद् दैवं हि फलसाधनम्॥ ३८

मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि।
युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते॥ ३९

अक्रूरजीने कहा—महाराज! आप अपनी मृत्यु, अपना अरिष्ट दूर करना चाहते हैं, इसलिये आपका ऐसा सोचना ठीक ही है। मनुष्यको चाहिये कि चाहे सफलता हो या असफलता, दोनोंके प्रति समभाव रखकर अपना काम करता जाय। फल तो प्रयत्नसे नहीं, दैवी प्रेरणासे मिलते हैं॥ ३८॥ मनुष्य बड़े-बड़े मनोरथोंके पुल बाँधता रहता है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि दैवने, प्रारब्धने इसे पहलेसे ही नष्ट कर रखा है। यही कारण है कि कभी प्रारब्धके अनुकूल होनेपर प्रयत्न सफल हो जाता है तो वह हर्षसे फूल उठता है और प्रतिकूल होनेपर विफल हो जाता है तो शोकग्रस्त हो जाता है। फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन तो कर ही रहा हूँ॥ ३९॥

श्रीशुक उवाच

एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः।
प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम्॥ ४०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कंसने मन्त्रियों और अक्रूरजीको इस प्रकारकी आज्ञा देकर सबको विदा कर दिया। तदनन्तर वह अपने महलमें चला गया और अक्रूरजी अपने घर लौट आये॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धेऽक्रूरसंप्रेषणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

केशी और व्योमासुरका उद्धार तथा नारदजीके द्वारा भगवान्की स्तुति

श्रीशुक उवाच

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं
महाहयो निर्जरयन् मनोजवः।
सटावधूताभ्रविमानसंकुलं
कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः॥ १

विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो
बृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः।
दुराशयः कंसहितं चिकीर्षु-
र्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन्॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कंसने जिस केशी नामक दैत्यको भेजा था, वह बड़े भारी घोड़ेके रूपमें मनके समान वेगसे दौड़ता हुआ व्रजमें आया। वह अपनी टापोंसे धरती खोदता आ रहा था! उसकी गरदनके छितराये हुए बालोंके झटकेसे आकाशके बादल और विमानोंकी भीड़ तीतर-बितर हो रही थी। उसकी भयानक हिनहिनाहटसे सब-के-सब भयसे काँप रहे थे। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थीं, मुँह क्या था, मानो किसी वृक्षका खोड़र ही हो। उसे देखनेसे ही डर लगता था। बड़ी मोटी गरदन थी। शरीर इतना विशाल था कि मालूम होता था काली-काली बादलकी घटा है। उसकी नीयतमें पाप भरा था। वह श्रीकृष्णको मारकर अपने स्वामी कंसका हित करना चाहता था। उसके चलनेसे भूकम्प होने लगता था॥ १-२॥

तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं
तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् ।
आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणी-
रुपाह्वयत् स व्यनदन्मृगेन्द्रवत्॥ ३

स तं निशाम्याभिमुखो मुखेन खं
पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं
दुरासदश्चण्डजवो दुरत्ययः॥ ४

तद् वंचयित्वा तमधोक्षजो रुषा
प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविध्य पादयोः।
सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे
यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः॥ ५

स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा
व्यादाय केशी तरसाऽऽपतद्धरिम्।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्
प्रवेशयामास यथोरगं बिले॥ ६

दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृश-
स्ते केशिनस्तप्तमयस्पृशो यथा।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो
यथाऽऽमयः संववृधे उपेक्षितः॥ ७

समेधमानेन स कृष्णबाहुना
निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन्।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः
पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः॥ ८

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उसकी हिनहिनाहटसे उनके आश्रित रहनेवाला गोकुल भयभीत हो रहा है और उसकी पूँछके बालोंसे बादल तितर-बितर हो रहे हैं, तथा वह लड़नेके लिये उन्हींको ढूँढ़ भी रहा है—तब वे बढ़कर उसके सामने आ गये और उन्होंने सिंहके समान गरजकर उसे ललकारा॥ ३॥ भगवान्को सामने आया देख वह और भी चिढ़ गया तथा उनकी ओर इस प्रकार मुँह फैलाकर दौड़ा, मानो आकाशको पी जायगा। परीक्षित्! सचमुच केशीका वेग बड़ा प्रचण्ड था। उसपर विजय पाना तो कठिन था ही, उसे पकड़ लेना भी आसान नहीं था। उसने भगवान्के पास पहुँचकर दुलत्ती झाड़ी॥ ४॥

परन्तु भगवान्ने उससे अपनेको बचा लिया। भला, वह इन्द्रियातीतको कैसे मार पाता! उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों पिछले पैर पकड़ लिये और जैसे गरुड़ साँपको पकड़कर झटक देते हैं, उसी प्रकार क्रोधसे उसे घुमाकर बड़े अपमानके साथ चार सौ हाथकी दूरीपर फेंक दिया और स्वयं अकड़कर खड़े हो गये॥ ५॥ थोड़ी ही देरके बाद केशी फिर सचेत हो गया और उठ खड़ा हुआ। इसके बाद वह क्रोधसे तिलमिलाकर और मुँह फाड़कर बड़े वेगसे भगवान्की ओर झपटा। उसको दौड़ते देख भगवान् मुसकराने लगे। उन्होंने अपना बायाँ हाथ उसके मुँहमें इस प्रकार डाल दिया, जैसे सर्प बिना किसी आशंकाके अपने बिलमें घुस जाता है॥ ६॥ परीक्षित्! भगवान्का अत्यन्त कोमल करकमल भी उस समय ऐसा हो गया, मानो तपाया हुआ लोहा हो। उसका स्पर्श होते ही केशीके दाँत टूट-टूटकर गिर गये और जैसे जलोदर रोग उपेक्षा कर देनेपर बहुत बढ़ जाता है, वैसे ही श्रीकृष्णका भुजदण्ड उसके मुँहमें बढ़ने लगा॥ ७॥ अचिन्त्यशक्ति भगवान् श्रीकृष्णका हाथ उसके मुँहमें इतना बढ़ गया कि उसकी साँसके भी आने-जानेका मार्ग न रहा। अब तो दम घुटनेके कारण वह पैर पीटने लगा। उसका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया, आँखोंकी पुतली उलट गयी, वह मल-त्याग करने लगा। थोड़ी ही देरमें उसका शरीर निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा तथा उसके प्राण-पखेरू उड़ गये॥ ८॥

तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद्
व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः।
[1]अविस्मितोऽयत्नहतारिरुत्स्मयैः
प्रसूनवर्षैर्दिविषद्भिरीडितः ॥ ९

उसका निष्प्राण शरीर फूला हुआ होनेके कारण गिरते ही पकी ककड़ीकी तरह फट गया। महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने उसके शरीरसे अपनी भुजा खींच ली। उन्हें इससे कुछ भी आश्चर्य या गर्व नहीं हुआ। बिना प्रयत्नके ही शत्रुका नाश हो गया। देवताओंको अवश्य ही इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। वे प्रसन्न हो-होकर भगवान्के ऊपर पुष्प बरसाने और उनकी स्तुति करने लगे॥ ९॥

देवर्षिरुपसंगम्य भागवतप्रवरो नृप।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत॥ १०

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो॥ ११

त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम्।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः॥ १२

आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान्।
तैरिदं सत्यसंकल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः॥ १३

स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम्।
अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां रक्षणाय च॥ १४

परीक्षित्! देवर्षि नारदजी भगवान्के परम प्रेमी और समस्त जीवोंके सच्चे हितैषी हैं। कंसके यहाँसे लौटकर वे अनायास ही अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास आये और एकान्तमें उनसे कहने लगे— ॥ १० ॥ 'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आपका स्वरूप मन और वाणीका विषय नहीं है। आप योगेश्वर हैं। सारे जगत्का नियन्त्रण आप ही करते हैं। आप सबके हृदयमें निवास करते हैं और सब-के-सब आपके हृदयमें निवास करते हैं। आप भक्तोंके एकमात्र वांछनीय, यदुवंश-शिरोमणि और हमारे स्वामी हैं॥ ११ ॥ जैसे एक ही अग्नि सभी लकड़ियोंमें व्याप्त रहती है, वैसे एक ही आप समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आत्माके रूपमें होनेपर भी आप अपनेको छिपाये रखते हैं; क्योंकि आप पंचकोशरूप गुफाओंके भीतर रहते हैं। फिर भी पुरुषोत्तमके रूपमें, सबके नियन्ताके रूपमें और सबके साक्षीके रूपमें आपका अनुभव होता ही है॥ १२ ॥ प्रभो! आप सबके अधिष्ठान और स्वयं अधिष्ठानरहित हैं। आपने सृष्टिके प्रारम्भमें अपनी मायासे ही गुणोंकी सृष्टि की और उन गुणोंको ही स्वीकार करके आप जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करते रहते हैं। यह सब करनेके लिये आपको अपनेसे अतिरिक्त और किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आप सर्वशक्तिमान् और सत्यसङ्कल्प हैं॥ १३ ॥ वही आप दैत्य, प्रमथ और राक्षसोंका, जिन्होंने आजकल राजाओंका वेष धारण कर रखा है, विनाश करनेके लिये तथा धर्मकी मर्यादाओंकी रक्षा करनेके लिये यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं॥ १४॥

१. सुविस्मितैः पद्मभवादिभिः सुरैः प्रसू०।

दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः।
यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम्॥ १५

यह बड़े आनन्दकी बात है कि आपने खेल-ही-खेलमें घोड़ेके रूपमें रहनेवाले इस केशी दैत्यको मार डाला। इसकी हिनहिनाहटसे डरकर देवतालोग अपना स्वर्ग छोड़कर भाग जाया करते थे॥ १५॥

चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम्।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो॥ १६

प्रभो! अब परसों मैं आपके हाथों चाणूर, मुष्टिक, दूसरे पहलवान, कुवलयापीड हाथी और स्वयं कंसको भी मरते देखूँगा॥ १६॥

तस्यानु शंखयवनमुराणां नरकस्य च।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम्॥ १७

उसके बाद शंखासुर, कालयवन, मुर और नरकासुरका वध देखूँगा। आप स्वर्गसे कल्पवृक्ष उखाड़ लायेंगे और इन्द्रके चीं-चपड़ करनेपर उनको उसका मजा चखायेंगे॥ १७॥

उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम्।
नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते॥ १८

आप अपनी कृपा, वीरता, सौन्दर्य आदिका शुल्क देकर वीर-कन्याओंसे विवाह करेंगे, और जगदीश्वर! आप द्वारकामें रहते हुए नृगको पापसे छुड़ायेंगे॥ १८॥

स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया।
मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः॥ १९

आप जाम्बवतीके साथ स्यमन्तक मणिको जाम्बवान्से ले आयेंगे और अपने धामसे ब्राह्मणके मरे हुए पुत्रोंको ला देंगे॥ १९॥

पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात् काशिपुर्याश्च दीपनम्।
दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ॥ २०

इसके पश्चात् आप पौण्ड्रक—मिथ्यावासुदेवका वध करेंगे। काशीपुरीको जला देंगे। युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें चेदिराज शिशुपालको और वहाँसे लौटते समय उसके मौसेरे भाई दन्तवक्त्रको नष्ट करेंगे॥ २०॥

यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान्।
कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि॥ २१

प्रभो! द्वारकामें निवास करते समय आप और भी बहुत-से पराक्रम प्रकट करेंगे जिन्हें पृथ्वीके बड़े-बड़े ज्ञानी और प्रतिभाशील पुरुष आगे चलकर गायेंगे। मैं वह सब देखूँगा॥ २१॥

अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै।
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः॥ २२

इसके बाद आप पृथ्वीका भार उतारनेके लिये कालरूपसे अर्जुनके सारथि बनेंगे और अनेक अक्षौहिणी सेनाका संहार करेंगे। यह सब मैं अपनी आँखोंसे देखूँगा॥ २२॥

विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया
समाप्तसर्वार्थममोघवांछितम्।

प्रभो! आप विशुद्ध विज्ञानघन हैं। आपके स्वरूपमें और किसीका अस्तित्व है ही नहीं। आप नित्य-निरन्तर अपने परमानन्दस्वरूपमें स्थित रहते हैं। इसलिये सारे पदार्थ आपको नित्य प्राप्त ही हैं। आपका संकल्प अमोघ है। आपकी चिन्मयी शक्तिके

स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया-
गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि॥ २३

सामने माया और मायासे होनेवाला यह त्रिगुणमय संसार-चक्र नित्यनिवृत्त है—कभी हुआ ही नहीं। ऐसे आप अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप, निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान्‌की मैं शरण ग्रहण करता हूँ॥ २३॥

त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया
विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम्।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं
नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम्॥ २४

आप सबके अन्तर्यामी और नियन्ता हैं। अपने-आपमें स्थित, परम स्वतन्त्र हैं। जगत् और उसके अशेष विशेषों—भाव-अभावरूप सारे भेद-विभेदोंकी कल्पना केवल आपकी मायासे ही हुई है। इस समय आपने अपनी लीला प्रकट करनेके लिये मनुष्यका-सा श्रीविग्रह प्रकट किया है और आप यदु, वृष्णि तथा सात्वतवंशियोंके शिरोमणि बने हैं। प्रभो! मैं आपको नमस्कार करता हूँ'॥ २४॥

श्रीशुक उवाच

एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः।
प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः॥ २५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌के परमप्रेमी भक्त देवर्षि नारदजीने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति और प्रणाम किया। भगवान्‌के दर्शनोंके आह्लादसे नारदजीका रोम-रोम खिल उठा। तदनन्तर उनकी आज्ञा प्राप्त करके वे चले गये॥ २५॥

भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे।
पशूनपालयत् पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः॥ २६

इधर भगवान् श्रीकृष्ण केशीको लड़ाईमें मारकर फिर अपने प्रेमी एवं प्रसन्नचित्त ग्वाल-बालोंके साथ पूर्ववत् पशु-पालनके काममें लग गये तथा व्रजवासियोंको परमानन्द वितरण करने लगे॥ २६॥

एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः॥ २७

एक समय वे सब ग्वालबाल पहाड़की चोटियोंपर गाय आदि पशुओंको चरा रहे थे तथा कुछ चोर और कुछ रक्षक बनकर छिपने-छिपानेका—लुका-लुकीका खेल खेल रहे थे॥ २७॥

तत्रासन् कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः॥ २८

राजन्! उन लोगोंमेंसे कुछ तो चोर और कुछ रक्षक तथा कुछ भेड़ बन गये थे। इस प्रकार वे निर्भय होकर खेलमें रम गये थे॥ २८॥

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक्।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून्॥ २९

उसी समय ग्वालका वेष धारण करके व्योमासुर वहाँ आया। वह मायावियोंके आचार्य मयासुरका पुत्र था और स्वयं भी बड़ा मायावी था। वह खेलमें बहुधा चोर ही बनता और भेड़ बने हुए बहुत-से बालकोंको चुराकर छिपा आता॥ २९॥

गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपंचावशेषिताः॥ ३०

वह महान् असुर बार-बार उन्हें ले जाकर एक पहाड़की गुफामें डाल देता और उसका दरवाजा एक बड़ी चट्टानसे ढक देता। इस प्रकार ग्वालबालोंमें केवल चार-पाँच बालक ही बच रहे॥ ३०॥

तस्य तत् कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम्।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा॥ ३१

भक्तवत्सल भगवान् उसकी यह करतूत जान गये। जिस समय वह ग्वालबालोंको लिये जा रहा था, उसी समय उन्होंने, जैसे सिंह भेड़ियेको दबोच ले उसी प्रकार, उसे धर दबाया॥ ३१॥

स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली।
इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः॥ ३२

व्योमासुर बड़ा बली था। उसने पहाड़के समान अपना असली रूप प्रकट कर दिया और चाहा कि अपनेको छुड़ा लूँ। परन्तु भगवान्‌ने उसको इस प्रकार अपने शिकंजेमें फाँस लिया था कि वह अपनेको छुड़ा न सका॥ ३२॥

तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत्॥ ३३

तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे जकड़कर उसे भूमिपर गिरा दिया और पशुकी भाँति गला घोंटकर मार डाला। देवतालोग विमानोंपर चढ़कर उनकी यह लीला देख रहे थे॥ ३३॥

गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः।
स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम्॥ ३४

अब भगवान् श्रीकृष्णने गुफाके द्वारपर लगे हुए चट्टानोंके पिहान तोड़ डाले और ग्वालबालोंको उस संकटपूर्ण स्थानसे निकाल लिया। बड़े-बड़े देवता और ग्वालबाल उनकी स्तुति करने लगे और भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें चले आये॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥ ३७॥

अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः

अक्रूरजीकी व्रजयात्रा

श्रीशुक उवाच

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ १
गच्छन् पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत्॥ २
किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः।
किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥ ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! महामति अक्रूरजी भी वह रात मथुरापुरीमें बिताकर प्रातःकाल होते ही रथपर सवार हुए और नन्दबाबाके गोकुलकी ओर चल दिये॥ १॥ परम भाग्यवान् अक्रूरजी व्रजकी यात्रा करते समय मार्गमें कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी परम प्रेममयी भक्तिसे परिपूर्ण हो गये। वे इस प्रकार सोचने लगे—॥ २॥ 'मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया है, ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ तपस्या की है अथवा किसी सत्पात्रको ऐसा कौन-सा महत्त्वपूर्ण दान दिया है जिसके फलस्वरूप आज मैं भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करूँगा॥ ३॥

ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम्।
विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः॥ ४

मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन॥ ५

ममाद्यामंगलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपंकजम्॥ ६

कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं
द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः
पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा॥ ७

यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः
श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने
यद् गोपिकानां कुचकुंकुमाङ्कितम्॥ ८

द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं
स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम्।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं
प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः॥ ९

मैं बड़ा विषयी हूँ। ऐसी स्थितिमें, बड़े-बड़े सात्त्विक पुरुष भी जिनके गुणोंका ही गान करते रहते हैं, दर्शन नहीं कर पाते—उन भगवान्‌के दर्शन मेरे लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं, ठीक वैसे ही, जैसे शूद्रकुलके बालकके लिये वेदोंका कीर्तन॥ ४॥ परंतु नहीं, मुझ अधमको भी भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होंगे ही। क्योंकि जैसे नदीमें बहते हुए तिनके कभी-कभी इस पारसे उस पार लग जाते हैं, वैसे ही समयके प्रवाहसे भी कहीं कोई इस संसारसागरको पार कर सकता है॥ ५॥ अवश्य ही आज मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये। आज मेरा जन्म सफल हो गया। क्योंकि आज मैं भगवान्‌के उन चरणकमलोंमें साक्षात् नमस्कार करूँगा, जो बड़े-बड़े योगी-यतियोंके भी केवल ध्यानके ही विषय हैं॥ ६॥ अहो! कंसने तो आज मेरे ऊपर बड़ी ही कृपा की है। उसी कंसके भेजनेसे मैं इस भूतलपर अवतीर्ण स्वयं भगवान्‌के चरणकमलोंके दर्शन पाऊँगा। जिनके नखमण्डलकी कान्तिका ध्यान करके पहले युगोंके ऋषि-महर्षि इस अज्ञानरूप अपार अन्धकार-राशिको पार कर चुके हैं, स्वयं वही भगवान् तो अवतार ग्रहण करके प्रकट हुए हैं॥ ७॥ ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता जिन चरणकमलोंकी उपासना करते रहते हैं, स्वयं भगवती लक्ष्मी एक क्षणके लिये भी जिनकी सेवा नहीं छोड़तीं, प्रेमी भक्तोंके साथ बड़े-बड़े ज्ञानी भी जिनकी आराधनामें संलग्न रहते हैं—भगवान्‌के वे ही चरणकमल गौओंको चरानेके लिये ग्वालबालोंके साथ वन-वनमें विचरते हैं। वे ही सुर-मुनि-वन्दित श्रीचरण गोपियोंके वक्षः-स्थलपर लगी हुई केसरसे रँग जाते हैं, चिह्नित हो जाते हैं,॥ ८॥ मैं अवश्य-अवश्य उनका दर्शन करूँगा। मरकतमणिके समान सुस्निग्ध कान्तिमान् उनके कोमल कपोल हैं, तोतेकी ठोरके समान नुकीली नासिका है, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, कमल-से कोमल रतनारे लोचन और कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटक रही हैं। मैं प्रेम और मुक्तिके परम दानी श्रीमुकुन्दके उस मुखकमलका आज अवश्य दर्शन करूँगा। क्योंकि हरिन मेरी दायीं ओरसे निकल रहे हैं॥ ९॥

अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो
भारावताराय भुवो निजेच्छया।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं
मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः॥ १०

य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः
स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।
स्वमाययाऽऽत्मन् रचितैस्तदीक्षया
प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते॥ ११

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलै-
र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद्
यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः॥ १२

स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये
स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् ।
यशो वितन्वन् व्रज आस्त ईश्वरो
गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम्॥ १३

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।

भगवान् विष्णु पृथ्वीका भार उतारनेके लिये स्वेच्छासे मनुष्यकी-सी लीला कर रहे हैं! वे सम्पूर्ण लावण्यके धाम हैं। सौन्दर्यकी मूर्तिमान् निधि हैं। आज मुझे उन्हींका दर्शन होगा! अवश्य होगा! आज मुझे सहजमें ही आँखोंका फल मिल जायगा॥ १०॥ भगवान् इस कार्य-कारणरूप जगत्के द्रष्टामात्र हैं, और ऐसा होनेपर भी द्रष्टापनका अहंकार उन्हें छूतक नहीं गया है। उनकी चिन्मयी शक्तिसे अज्ञानके कारण होनेवाला भेदभ्रम अज्ञानसहित दूरसे ही निरस्त रहता है। वे अपनी योगमायासे ही अपने-आपमें भ्रूविलासमात्रसे प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदिके सहित अपने स्वरूपभूत जीवोंकी रचना कर लेते हैं और उनके साथ वृन्दावनकी कुंजोंमें तथा गोपियोंके घरोंमें तरह-तरहकी लीलाएँ करते हुए प्रतीत होते हैं॥ ११॥ जब समस्त पापोंके नाशक उनके परम मंगलमय गुण, कर्म और जन्मकी लीलाओंसे युक्त होकर वाणी उनका गान करती है, तब उस गानसे संसारमें जीवनकी स्फूर्ति होने लगती है, शोभाका संचार हो जाता है, सारी अपवित्रताएँ धुलकर पवित्रताका साम्राज्य छा जाता है; परन्तु जिस वाणीसे उनके गुण, लीला और जन्मकी कथाएँ नहीं गायी जातीं, वह तो मुर्दोंको ही शोभित करनेवाली है, होनेपर भी नहींके समान—व्यर्थ है॥ १२॥ जिनके गुणगानका ही ऐसा माहात्म्य है, वे ही भगवान् स्वयं यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं। किसलिये? अपनी ही बनायी मर्यादाका पालन करनेवाले श्रेष्ठ देवताओंका कल्याण करनेके लिये। वे ही परम ऐश्वर्यशाली भगवान् आज व्रजमें निवास कर रहे हैं और वहींसे अपने यशका विस्तार कर रहे हैं उनका यश कितना पवित्र है! अहो, देवतालोग भी उस सम्पूर्ण मंगलमय यशका गान करते रहते हैं॥ १३॥ इसमें सन्देह नहीं कि आज मैं अवश्य ही उन्हें देखूँगा। वे बड़े-बड़े संतों और लोकपालोंके भी एकमात्र आश्रय हैं। सबके परम गुरु हैं। और उनका रूप-सौन्दर्य तीनों लोकोंके मनको मोह लेनेवाला है। जो नेत्रवाले हैं उनके लिये वह आनन्द और रसकी चरम सीमा है। इसीसे स्वयं लक्ष्मीजी भी, जो सौन्दर्यकी अधीश्वरी हैं, उन्हें पानेके

रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः॥ १४

अथावरूढः सपदीशयो रथात्
प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं
नमस्य आभ्यां च सखीन् वनौकसः॥ १५

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः
शिरस्यधास्यन्निजहस्तपंकजम्।
दत्ताभयं कालभुजंगरंहसा
प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम्॥ १६

समर्हणं यत्र निधाय कौशिक-
स्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम्।
यद् वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं
स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत्॥ १७

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा॥ १८

अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृतांजलिं
मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो
वोढा मुदं वीतविशंक ऊर्जिताम्॥ १९

लिये ललकती रहती हैं। हाँ, तो मैं उन्हें अवश्य देखूँगा। क्योंकि आज मेरा मंगल-प्रभात है, आज मुझे प्रातःकालसे ही अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं॥ १४॥ जब मैं उन्हें देखूँगा तब सर्वश्रेष्ठ पुरुष बलराम तथा श्रीकृष्णके चरणोंमें नमस्कार करनेके लिये तुरंत रथसे कूद पड़ूँगा। उनके चरण पकड़ लूँगा। ओह! उनके चरण कितने दुर्लभ हैं! बड़े-बड़े योगी-यति आत्म-साक्षात्कारके लिये मन-ही-मन अपने हृदयमें उनके चरणोंकी धारणा करते हैं और मैं तो उन्हें प्रत्यक्ष पा जाऊँगा और लोट जाऊँगा उनपर। उन दोनोंके साथ ही उनके वनवासी सखा एक-एक ग्वालबालके चरणोंकी भी वन्दना करूँगा॥ १५॥ मेरे अहोभाग्य! जब मैं उनके चरण-कमलोंमें गिर जाऊँगा, तब क्या वे अपना करकमल मेरे सिरपर रख देंगे? उनके वे करकमल उन लोगोंको सदाके लिये अभयदान दे चुके हैं, जो कालरूपी साँपके भयसे अत्यन्त घबड़ाकर उनकी शरण चाहते और शरणमें आ जाते हैं॥ १६॥ इन्द्र तथा दैत्यराज बलिने भगवान्के उन्हीं करकमलोंमें पूजाकी भेंट समर्पित करके तीनों लोकोंका प्रभुत्व—इन्द्रपद प्राप्त कर लिया। भगवान्के उन्हीं करकमलोंने, जिनमेंसे दिव्य कमलकी-सी सुगन्ध आया करती है, अपने स्पर्शसे रासलीलाके समय व्रजयुवतियोंकी सारी थकान मिटा दी थी॥ १७॥ मैं कंसका दूत हूँ। उसीके भेजनेसे उनके पास जा रहा हूँ। कहीं वे मुझे अपना शत्रु तो न समझ बैठेंगे? राम-राम! वे ऐसा कदापि नहीं समझ सकते। क्योंकि वे निर्विकार हैं, सम हैं, अच्युत हैं, सारे विश्वके साक्षी हैं, सर्वज्ञ हैं, वे चित्तके बाहर भी हैं और भीतर भी। वे क्षेत्रज्ञरूपसे स्थित होकर अन्तःकरणकी एक-एक चेष्टाको अपनी निर्मल ज्ञान-दृष्टिके द्वारा देखते रहते हैं॥ १८॥ तब मेरी शंका व्यर्थ है। अवश्य ही मैं उनके चरणोंमें हाथ जोड़कर विनीतभावसे खड़ा हो जाऊँगा। वे मुसकराते हुए दयाभरी स्निग्ध दृष्टिसे मेरी ओर देखेंगे। उस समय मेरे जन्म-जन्मके समस्त अशुभ संस्कार उसी क्षण नष्ट हो जायँगे और मैं निःशंक होकर सदाके लिये परमानन्दमें मग्न हो जाऊँगा॥ १९॥

सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं
दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम्।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे
बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः॥ २०

लब्धांगसंगं प्रणतं कृतांजलिं
मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा
नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत्॥ २१

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥ २२

किंचाग्रजो मावनतं यदूत्तमः
स्मयन् परिष्वज्य गृहीतमंजलौ।
गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं
संप्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु॥ २३

श्रीशुक उवाच

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप॥ २४

मैं उनके कुटुम्बका हूँ और उनका अत्यन्त हित चाहता हूँ। उनके सिवा और कोई मेरा आराध्यदेव भी नहीं है। ऐसी स्थितिमें वे अपनी लंबी-लंबी बाँहोंसे पकड़कर मुझे अवश्य अपने हृदयसे लगा लेंगे। अहा! उस समय मेरी तो देह पवित्र होगी ही, वह दूसरोंको पवित्र करनेवाली भी बन जायगी और उसी समय—उनका आलिंगन प्राप्त होते ही—मेरे कर्ममय बन्धन, जिनके कारण मैं अनादिकालसे भटक रहा हूँ, टूट जायँगे॥ २०॥ जब वे मेरा आलिंगन कर चुकेंगे और मैं हाथ जोड़, सिर झुकाकर उनके सामने खड़ा हो जाऊँगा तब वे मुझे 'चाचा अक्रूर!' इस प्रकार कहकर सम्बोधन करेंगे! क्यों न हो, इसी पवित्र और मधुर यशका विस्तार करनेके लिये ही तो वे लीला कर रहे हैं। तब मेरा जीवन सफल हो जायगा। भगवान् श्रीकृष्णने जिसको अपनाया नहीं, जिसे आदर नहीं दिया—उसके उस जन्मको, जीवनको धिक्कार है॥ २१॥ न तो उन्हें कोई प्रिय है और न तो अप्रिय। न तो उनका कोई आत्मीय सुहृद् है और न तो शत्रु। उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है। फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँहमाँगी वस्तु देता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी भक्तोंसे ही पूर्ण प्रेम करते हैं॥ २२॥ मैं उनके सामने विनीत भावसे सिर झुकाकर खड़ा हो जाऊँगा और बलरामजी मुसकराते हुए मुझे अपने हृदयसे लगा लेंगे और फिर मेरे दोनों हाथ पकड़कर मुझे घरके भीतर ले जायँगे। वहाँ सब प्रकारसे मेरा सत्कार करेंगे। इसके बाद मुझसे पूछेंगे कि 'कंस हमारे घरवालोंके साथ कैसा व्यवहार करता है?'॥ २३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! श्वफल्क-नन्दन अक्रूर मार्गमें इसी चिन्तनमें डूबे-डूबे रथसे नन्द-गाँव पहुँच गये और सूर्य अस्ताचलपर चले गये॥ २४॥

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवांकुशाद्यैः ॥ २५

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥ २६

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम् ।
संदेशाद् यो हरेर्लिंगदर्शनश्रवणादिभिः ॥ २७

ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥ २८

किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥ २९

ध्वजवज्रांकुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् ।
शोभयन्तौ महात्मानावनुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥ ३०

उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ ।
पुण्यगन्धानुलिप्तांगौ स्नातौ विरजवाससौ ॥ ३१

जिनके चरणकमलकी रजका सभी लोकपाल अपने किरीटोंके द्वारा सेवन करते हैं, अक्रूरजीने गोष्ठमें उनके चरणचिह्नोंके दर्शन किये। कमल, यव, अंकुश आदि असाधारण चिह्नोंके द्वारा उनकी पहचान हो रही थी और उनसे पृथ्वीकी शोभा बढ़ रही थी॥ २५ ॥ उन चरणचिह्नोंके दर्शन करते ही अक्रूरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सके, विह्वल हो गये। प्रेमके आवेगसे उनका रोम-रोम खिल उठा, नेत्रोंमें आँसू भर आये और टप-टप टपकने लगे। वे रथसे कूद-कर उस धूलिमें लोटने लगे और कहने लगे—'अहो! यह हमारे प्रभुके चरणोंकी रज है'॥ २६ ॥

परीक्षित्! कंसके सन्देशसे लेकर यहाँतक अक्रूरजीके चित्तकी जैसी अवस्था रही है, यही जीवोंके देह धारण करनेका परम लाभ है। इसलिये जीवमात्रका यही परम कर्तव्य है कि दम्भ, भय और शोक त्यागकर भगवान्की मूर्ति (प्रतिमा, भक्त आदि) चिह्न, लीला, स्थान तथा गुणोंके दर्शन-श्रवण आदिके द्वारा ऐसा ही भाव सम्पादन करें॥ २७ ॥

व्रजमें पहुँचकर अक्रूरजीने श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाइयोंको गाय दुहनेके स्थानमें विराजमान देखा। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण किये हुए थे और गौरसुन्दर बलराम नीलाम्बर। उनके नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए थे॥ २८ ॥ उन्होंने अभी किशोर-अवस्थामें प्रवेश ही किया था। वे दोनों गौर-श्याम निखिल सौन्दर्यकी खान थे। घुटनोंका स्पर्श करनेवाली लंबी-लंबी भुजाएँ, सुन्दर बदन, परम मनोहर और गजशावकके समान ललित चाल थी॥ २९ ॥ उनके चरणोंमें ध्वजा, वज्र, अंकुश और कमलके चिह्न थे। जब वे चलते थे, उनसे चिह्नित होकर पृथ्वी शोभायमान हो जाती थी। उनकी मन्द-मन्द मुसकान और चितवन ऐसी थी मानो दया बरस रही हो। वे उदारताकी तो मानो मूर्ति ही थे॥ ३० ॥ उनकी एक-एक लीला उदारता और सुन्दर कलासे भरी थी। गलेमें वनमाला और मणियोंके हार जगमगा रहे थे। उन्होंने अभी-अभी स्नान करके निर्मल वस्त्र पहने थे और शरीरमें पवित्र अंगराग तथा चन्दनका लेप किया था॥ ३१ ॥

प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती।
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ॥ ३२

दिशो वितिमिरा राजन् कुर्वाणौ प्रभया स्वया।
यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाचितौ॥ ३३

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः॥ ३४

भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः।
पुलकाचितांग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन् नृप॥ ३५

भगवांस्तमभिप्रेत्य रथांगाङ्कितपाणिना।
परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः॥ ३६

संकर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः।
गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत् सानुजो गृहम्॥ ३७

पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम्।
प्रक्षाल्य विधिवत् पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत्॥ ३८

निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः॥ ३९

तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित्।
मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात् पुनः॥ ४०

पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे।
कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः॥ ४१

परीक्षित्! अक्रूरने देखा कि जगत्के आदिकारण, जगत्के परमपति, पुरुषोत्तम ही संसारकी रक्षाके लिये अपने सम्पूर्ण अंशोंसे बलरामजी और श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर अपनी अंगकान्तिसे दिशाओंका अन्धकार दूर कर रहे हैं। वे ऐसे भले मालूम होते थे, जैसे सोनेसे मढ़े हुए मरकतमणि और चाँदीके पर्वत जगमगा रहे हों॥ ३२-३३॥ उन्हें देखते ही अक्रूरजी प्रेमावेगसे अधीर होकर रथसे कूद पड़े और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामके चरणोंके पास साष्टांग लोट गये॥ ३४॥ परीक्षित्! भगवान्के दर्शनसे उन्हें इतना आह्लाद हुआ कि उनके नेत्र आँसूसे सर्वथा भर गये। सारे शरीरमें पुलकावली छा गयी। उत्कण्ठावश गला भर आनेके कारण वे अपना नाम भी न बतला सके॥ ३५॥ शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण उनके मनका भाव जान गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे चक्रांकित हाथोंके द्वारा उन्हें खींचकर उठाया और हृदयसे लगा लिया॥ ३६॥ इसके बाद जब वे परम मनस्वी श्रीबलरामजीके सामने विनीत भावसे खड़े हो गये, तब उन्होंने उनको गले लगा लिया और उनका एक हाथ श्रीकृष्णने पकड़ा तथा दूसरा बलरामजीने। दोनों भाई उन्हें घर ले गये॥ ३७॥

घर ले जाकर भगवान्ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। कुशल-मंगल पूछकर श्रेष्ठ आसनपर बैठाया और विधिपूर्वक उनके पाँव पखारकर मधुपर्क (शहद मिला हुआ दही) आदि पूजाकी सामग्री भेंट की॥ ३८॥ इसके बाद भगवान्ने अतिथि अक्रूरजीको एक गाय दी और पैर दबाकर उनकी थकावट दूर की तथा बड़े आदर एवं श्रद्धासे उन्हें पवित्र और अनेक गुणोंसे युक्त अन्नका भोजन कराया॥ ३९॥ जब वे भोजन कर चुके, तब धर्मके परम मर्मज्ञ भगवान् बलरामजीने बड़े प्रेमसे मुखवास (पान-इलायची आदि) और सुगन्धित माला आदि देकर उन्हें अत्यन्त आनन्दित किया॥ ४०॥ इस प्रकार सत्कार हो चुकनेपर नन्दरायजीने उनके पास आकर पूछा—'अक्रूरजी! आपलोग निर्दयी कंसके जीते-जी किस प्रकार अपने दिन काटते हैं? अरे! उसके रहते आपलोगोंकी वही दशा है जो कसाईद्वारा पाली हुई भेड़ोंकी होती है॥ ४१॥

योऽवधीत् स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशन्त्या असुतृप् खलः।
किं नु स्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे॥ ४२

जिस इन्द्रियाराम पापीने अपनी बिलखती हुई बहनके नन्हे-नन्हे बच्चोंको मार डाला। आपलोग उसकी प्रजा हैं। फिर आप सुखी हैं, यह अनुमान तो हम कर ही कैसे सकते हैं?॥ ४२॥ अक्रूरजीने नन्दबाबासे पहले ही कुशल-मंगल पूछ लिया था। जब इस प्रकार नन्दबाबाने मधुर वाणीसे अक्रूरजीसे कुशल-मंगल पूछा और उनका सम्मान किया तब अक्रूरजीके शरीरमें रास्ता चलनेकी जो कुछ थकावट थी, वह सब दूर हो गयी॥ ४३॥

इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम्॥ ४३

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धेऽक्रूरागमनं नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः॥ ३८॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-बलरामका मथुरागमन

श्रीशुक उवाच

सुखोपविष्टः पर्यंके रामकृष्णोरुमानितः।
लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह॥ १

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथापि तत्परा राजन्न हि वाञ्छन्ति किंचन॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने अक्रूरजीका भलीभाँति सम्मान किया। वे आरामसे पलँगपर बैठ गये। उन्होंने मार्गमें जो-जो अभिलाषाएँ की थीं, वे सब पूरी हो गयीं॥ १॥ परीक्षित्! लक्ष्मीके आश्रयस्थान भगवान् श्रीकृष्णके प्रसन्न होनेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त नहीं हो सकती? फिर भी भगवान्‌के परमप्रेमी भक्तजन किसी भी वस्तुकी कामना नहीं करते॥ २॥

सायंतनाशनं कृत्वा भगवान् देवकीसुतः।
सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम्॥ ३

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सायंकालका भोजन करनेके बाद अक्रूरजीके पास जाकर अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ कंसके व्यवहार और उसके अगले कार्यक्रमके सम्बन्धमें पूछा॥ ३॥

श्रीभगवानुवाच

तात सौम्यागतः कच्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम्॥ ४

किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये।
कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च॥ ५

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—चाचाजी! आपका हृदय बड़ा शुद्ध है। आपको यात्रामें कोई कष्ट तो नहीं हुआ? स्वागत है। मैं आपकी मंगलकामना करता हूँ। मथुराके हमारे आत्मीय सुहृद्, कुटुम्बी तथा अन्य सम्बन्धी सब सकुशल और स्वस्थ हैं न?॥ ४॥ हमारा नाममात्रका मामा कंस तो हमारे कुलके लिये एक भयंकर व्याधि है। जबतक उसकी बढ़ती हो रही है, तबतक हम अपने वंशवालों और उनके बाल-बच्चोंका कुशल-मंगल क्या पूछें॥ ५॥

अहो अस्मदभूद् भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः॥ ६

दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य कांक्षितम्।
संजातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम्॥ ७

श्रीशुक उवाच

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम्॥ ८

यत्संदेशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम्।
यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः॥ ९

श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः॥ १०

गोपान् समादिशत् सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च॥ ११

यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान्।
द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्व यान्ति जानपदाः किल।
एवमाघोषयत् क्षत्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले॥ १२

गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम्।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम्॥ १३

चाचाजी! हमारे लिये यह बड़े खेदकी बात है कि मेरे ही कारण मेरे निरपराध और सदाचारी माता-पिताको अनेकों प्रकारकी यातनाएँ झेलनी पड़ीं—तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़े। और तो क्या कहूँ, मेरे ही कारण उन्हें हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर जेलमें डाल दिया गया तथा मेरे ही कारण उनके बच्चे भी मार डाले गये॥ ६॥ मैं बहुत दिनोंसे चाहता था कि आप-लोगोंमेंसे किसी-न-किसीका दर्शन हो। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मेरी वह अभिलाषा पूरी हो गयी। सौम्य-स्वभाव चाचाजी! अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि आपका शुभागमन किस निमित्तसे हुआ?॥ ७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने अक्रूरजीसे इस प्रकार प्रश्न किया, तब उन्होंने बतलाया कि 'कंसने तो सभी यदुवंशियोंसे घोर वैर ठान रखा है। वह वसुदेवजीको मार डालनेका भी उद्यम कर चुका है'॥ ८॥ अक्रूरजीने कंसका सन्देश और जिस उद्देश्यसे उसने स्वयं अक्रूरजीको दूत बनाकर भेजा था और नारदजीने जिस प्रकार वसुदेवजीके घर श्रीकृष्णके जन्म लेनेका वृत्तान्त उसको बता दिया था, सो सब कह सुनाया॥ ९॥ अक्रूरजीकी यह बात सुनकर विपक्षी शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी हँसने लगे और इसके बाद उन्होंने अपने पिता नन्दजीको कंसकी आज्ञा सुना दी॥ १०॥ तब नन्दबाबाने सब गोपोंको आज्ञा दी कि 'सारा गोरस एकत्र करो। भेंटकी सामग्री ले लो और छकड़े जोड़ो॥ ११॥ कल प्रातःकाल ही हम सब मथुराकी यात्रा करेंगे और वहाँ चलकर राजा कंसको गोरस देंगे। वहाँ एक बहुत बड़ा उत्सव हो रहा है। उसे देखनेके लिये देशकी सारी प्रजा इकट्ठी हो रही है। हमलोग भी उसे देखेंगे।' नन्दबाबाने गाँवके कोतवालके द्वारा यह घोषणा सारे व्रजमें करवा दी॥ १२॥

परीक्षित्! जब गोपियोंने सुना कि हमारे मनमोहन श्यामसुन्दर और गौरसुन्दर बलरामजीको मथुरा ले जानेके लिये अक्रूरजी व्रजमें आये हैं तब उनके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई। वे व्याकुल हो गयीं॥ १३॥

काश्चित्तत्कृतहृत्ताप[1]श्वासम्लानमुखश्रियः।
स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्य[2]श्च काश्चन॥ १४

अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव॥ १५

स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिता[3]ः।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः॥ १६

गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम्।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च॥ १७

चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः।
समेताः संघशः प्रोचुरश्रुमुख्योऽच्युताशयाः[4]॥ १८

गोप्य ऊचुः

अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा॥ १९

यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं
मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम्।

भगवान् श्रीकृष्णके मथुरा जानेकी बात सुनते ही बहुतोंके हृदयमें ऐसी जलन हुई कि गरम साँस चलने लगी, मुखकमल कुम्हला गया। और बहुतोंकी ऐसी दशा हुई—वे इस प्रकार अचेत हो गयीं कि उन्हें खिसकी हुई ओढ़नी, गिरते हुए कंगन और ढीले हुए जूड़ोंतकका पता न रहा॥ १४॥ भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान आते ही बहुत-सी गोपियोंकी चित्तवृत्तियाँ सर्वथा निवृत्त हो गयीं, मानो वे समाधिस्थ—आत्मामें स्थित हो गयी हों, और उन्हें अपने शरीर और संसारका कुछ ध्यान ही न रहा॥ १५॥ बहुत-सी गोपियोंके सामने भगवान् श्रीकृष्णका प्रेम, उनकी मन्द-मन्द मुसकान और हृदयको स्पर्श करनेवाली विचित्र पदोंसे युक्त मधुर वाणी नाचने लगी। वे उसमें तल्लीन हो गयीं। मोहित हो गयीं॥ १६॥ गोपियाँ मन-ही-मन भगवान्‌की लटकीली चाल, भाव-भंगी, प्रेमभरी मुसकान, चितवन, सारे शोकोंको मिटा देनेवाली ठिठोलियाँ तथा उदारता-भरी लीलाओंका चिन्तन करने लगीं और उनके विरहके भयसे कातर हो गयीं। उनका हृदय, उनका जीवन—सब कुछ भगवान्‌के प्रति समर्पित था। उनकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। वे झुंड-की-झुंड इकट्ठी होकर इस प्रकार कहने लगीं॥ १७-१८॥

गोपियोंने कहा— धन्य हो विधाता! तुम सब कुछ विधान तो करते हो, परन्तु तुम्हारे हृदयमें दयाका लेश भी नहीं है। पहले तो तुम सौहार्द और प्रेमसे जगत्‌के प्राणियोंको एक-दूसरेके साथ जोड़ देते हो, उन्हें आपसमें एक कर देते हो; मिला देते हो परन्तु अभी उनकी आशा-अभिलाषाएँ पूरी भी नहीं हो पातीं, वे तृप्त भी नहीं हो पाते कि तुम उन्हें व्यर्थ ही अलग-अलग कर देते हो! सच है, तुम्हारा यह खिलवाड़ बच्चोंके खेलकी तरह व्यर्थ ही है॥ १९॥ यह कितने दुःखकी बात है! विधाता! तुमने पहले हमें प्रेमका वितरण करनेवाले श्यामसुन्दरका मुखकमल दिखलाया। कितना सुन्दर है वह! काले-काले घुँघराले बाल कपोलोंपर झलक रहे हैं। मरकतमणि-से चिकने

१. संतापाः श्वास०। २. बन्धाश्च। ३. तेक्षणाः। ४. ताश्रयाः।

शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं
करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम्॥ २०

क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म न-
श्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत्।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं
त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः॥ २१

न नन्दसूनुः क्षणभंगसौहृदः
समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत।
विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान् पतीं-
स्तद्दास्यमद्धोपगता नवप्रियः॥ २२

सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः
सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम्।
याः संप्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः
पास्यन्त्यपांगोत्कलितस्मितासवम्॥ २३

तासां मुकुन्दो मधुमंजुभाषितै-
र्गृहीतचित्तः परवान् मनस्व्यपि।
कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला
ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन्॥ २४

अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते
दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम्।

सुस्निग्ध कपोल और तोतेकी चोंच-सी सुन्दर नासिका तथा अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकानकी सुन्दर रेखा, जो सारे शोकोंको तत्क्षण भगा देती है। विधाता! तुमने एक बार तो हमें वह परम सुन्दर मुखकमल दिखाया और अब उसे ही हमारी आँखोंसे ओझल कर रहे हो! सचमुच तुम्हारी यह करतूत बहुत ही अनुचित है॥ २०॥ हम जानती हैं, इसमें अक्रूरका दोष नहीं है; यह तो साफ तुम्हारी क्रूरता है। वास्तवमें तुम्हीं अक्रूरके नामसे यहाँ आये हो और अपनी ही दी हुई आँखें तुम हमसे मूर्खकी भाँति छीन रहे हो। इनके द्वारा हम श्यामसुन्दरके एक-एक अंगमें तुम्हारी सृष्टिका सम्पूर्ण सौन्दर्य निहारती रहती थीं। विधाता! तुम्हें ऐसा नहीं चाहिये॥ २१॥

अहो! नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको भी नये-नये लोगोंसे नेह लगानेकी चाट पड़ गयी है। देखो तो सही—इनका सौहार्द, इनका प्रेम एक क्षणमें ही कहाँ चला गया? हम तो अपने घर-द्वार, स्वजन-सम्बन्धी, पति-पुत्र आदिको छोड़कर इनकी दासी बनीं और इन्हींके लिये आज हमारा हृदय शोकातुर हो रहा है, परन्तु ये ऐसे हैं कि हमारी ओर देखतेतक नहीं॥ २२॥ आजकी रातका प्रातःकाल मथुराकी स्त्रियोंके लिये निश्चय ही बड़ा मंगलमय होगा। आज उनकी बहुत दिनोंकी अभिलाषाएँ अवश्य ही पूरी हो जायँगी। जब हमारे व्रजराज श्यामसुन्दर अपनी तिरछी चितवन और मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त मुखारविन्दका मादक मधु वितरण करते हुए मथुरापुरीमें प्रवेश करेंगे, तब वे उसका पान करके धन्य-धन्य हो जायँगी॥ २३॥ यद्यपि हमारे श्यामसुन्दर धैर्यवान् होनेके साथ ही नन्दबाबा आदि गुरुजनोंकी आज्ञामें रहते हैं, तथापि मथुराकी युवतियाँ अपने मधुके समान मधुर वचनोंसे इनका चित्त बरबस अपनी ओर खींच लेंगी और ये उनकी सलज्ज मुसकान तथा विलासपूर्ण भाव-भंगीसे वहीं रम जायँगे। फिर हम गँवार ग्वालिनोंके पास ये लौटकर क्यों आने लगे॥ २४॥ धन्य है आज हमारे श्यामसुन्दरका दर्शन करके मथुराके दाशार्ह, भोज, अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंके नेत्र अवश्य ही परमानन्दका साक्षात्कार करेंगे। आज उनके यहाँ महान् उत्सव होगा।

महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं
द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम्॥ २५

मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भू-
दक्रूर इत्येतदतीव दारुणः।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं
प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः॥ २६

अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं
तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं
दैवं च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते॥ २७

निवारयामः समुपेत्य माधवं
किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः।
मुकुन्दसंगान्निमिषार्धदुस्त्यजाद्
दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम्॥ २८

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम्।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम्॥ २९

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन् खुररजश्छुरितालकस्त्रक्।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम॥ ३०

साथ ही जो लोग यहाँसे मथुरा जाते हुए रमारमण गुणसागर नटनागर देवकीनन्दन श्यामसुन्दरका मार्गमें दर्शन करेंगे, वे भी निहाल हो जायँगे॥ २५॥

देखो सखी! यह अक्रूर कितना निठुर, कितना हृदयहीन है। इधर तो हम गोपियाँ इतनी दुःखित हो रही हैं और यह हमारे परम प्रियतम नन्ददुलारे श्यामसुन्दरको हमारी आँखोंसे ओझल करके बहुत दूर ले जाना चाहता है और दो बात कहकर हमें धीरज भी नहीं बँधाता, आश्वासन भी नहीं देता। सचमुच ऐसे अत्यन्त क्रूर पुरुषका 'अक्रूर' नाम नहीं होना चाहिये था॥ २६॥ सखी! हमारे ये श्यामसुन्दर भी तो कम निठुर नहीं हैं। देखो-देखो, वे भी रथपर बैठ गये। और मतवाले गोपगण छकड़ोंद्वारा उनके साथ जानेके लिये कितनी जल्दी मचा रहे हैं। सचमुच ये मूर्ख हैं। और हमारे बड़े-बूढ़े! उन्होंने तो इन लोगोंकी जल्दबाजी देखकर उपेक्षा कर दी है कि 'जाओ जो मनमें आवे, करो!' अब हम क्या करें? आज विधाता सर्वथा हमारे प्रतिकूल चेष्टा कर रहा है॥ २७॥ चलो, हम स्वयं ही चलकर अपने प्राणप्यारे श्यामसुन्दरको रोकेंगी; कुलके बड़े-बूढ़े और बन्धुजन हमारा क्या कर लेंगे? अरी सखी! हम आधे क्षणके लिये भी प्राणवल्लभ नन्दनन्दनका संग छोड़नेमें असमर्थ थीं। आज हमारे दुर्भाग्यने हमारे सामने उनका वियोग उपस्थित करके हमारे चित्तको विनष्ट एवं व्याकुल कर दिया है॥ २८॥ सखियो! जिनकी प्रेमभरी मनोहर मुसकान, रहस्यकी मीठी-मीठी बातें, विलासपूर्ण चितवन और प्रेमालिंगनसे हमने रासलीलाकी वे रात्रियाँ—जो बहुत विशाल थीं—एक क्षणके समान बिता दी थीं। अब भला, उनके बिना हम उन्हींकी दी हुई अपार विरहव्यथाका पार कैसे पावेंगी॥ २९॥ एक दिनकी नहीं, प्रतिदिनकी बात है, सायंकालमें प्रतिदिन वे ग्वालबालोंसे घिरे हुए बलरामजीके साथ वनसे गौएँ चराकर लौटते हैं। उनकी काली-काली घुँघराली अलकें और गलेके पुष्पहार गौओंके खुरकी रजसे ढके रहते हैं। वे बाँसुरी बजाते हुए अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछी चितवनसे देख-देखकर हमारे हृदयको बेध डालते हैं। उनके बिना भला, हम कैसे जी सकेंगी?॥ ३०॥

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ३१

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम्॥ ३२

गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान् गोरससम्भृतान्॥ ३३

गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरंजिताः।
प्रत्यादेशं भगवतः कांक्षन्त्यश्चावतस्थिरे॥ ३४

तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः॥ ३५

यावदालक्ष्यते केतुर्यावद् रेणू रथस्य च।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः॥ ३६

ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम्॥ ३७

भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम्॥ ३८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! गोपियाँ वाणीसे तो इस प्रकार कह रही थीं; परन्तु उनका एक-एक मनोभाव भगवान् श्रीकृष्णका स्पर्श, उनका आलिंगन कर रहा था। वे विरहकी सम्भावनासे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं और लाज छोड़कर 'हे गोविन्द! हे दामोदर! हे माधव!'—इस प्रकार ऊँची आवाजसे पुकार-पुकारकर सुललित स्वरसे रोने लगीं॥ ३१॥ गोपियाँ इस प्रकार रो रही थीं! रोते-रोते सारी रात बीत गयी, सूर्योदय हुआ। अक्रूरजी सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्मोंसे निवृत्त होकर रथपर सवार हुए और उसे हाँक ले चले॥ ३२॥ नन्दबाबा आदि गोपोंने भी दूध, दही, मक्खन, घी आदिसे भरे मटके और भेंटकी बहुत-सी सामग्रियाँ ले लीं तथा वे छकड़ोंपर चढ़कर उनके पीछे-पीछे चले॥ ३३॥ इसी समय अनुरागके रंगमें रँगी हुई गोपियाँ अपने प्राणप्यारे श्रीकृष्णके पास गयीं और उनकी चितवन, मुसकान आदि निरखकर कुछ-कुछ सुखी हुईं। अब वे अपने प्रियतम श्यामसुन्दरसे कुछ सन्देश पानेकी आकांक्षासे वहीं खड़ी हो गयीं॥ ३४॥ यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरे मथुरा जानेसे गोपियोंके हृदयमें बड़ी जलन हो रही है, वे सन्तप्त हो रही हैं, तब उन्होंने दूतके द्वारा 'मैं आऊँगा' यह प्रेम-सन्देश भेजकर उन्हें धीरज बँधाया॥ ३५॥ गोपियोंको जबतक रथकी ध्वजा और पहियोंसे उड़ती हुई धूल दीखती रही तबतक उनके शरीर चित्रलिखित-से वहीं ज्यों-के-त्यों खड़े रहे। परन्तु उन्होंने अपना चित्त तो मनमोहन प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके साथ ही भेज दिया था॥ ३६॥ अभी उनके मनमें आशा थी कि शायद श्रीकृष्ण कुछ दूर जाकर लौट आयें! परन्तु जब नहीं लौटे, तब वे निराश हो गयीं और अपने-अपने घर चली आयीं। परीक्षित्! वे रात-दिन अपने प्यारे श्यामसुन्दरकी लीलाओंका गान करती रहतीं और इस प्रकार अपने शोकसन्तापको हलका करतीं॥ ३७॥

परीक्षित्! इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी बलरामजी और अक्रूरजीके साथ वायुके समान वेगवाले रथपर सवार होकर पापनाशिनी यमुनाजीके किनारे जा पहुँचे॥ ३८॥

तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम्।
वृक्षषण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत्॥ ३९

अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि।
कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत्॥ ४०

निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम्।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ॥ ४१

तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः।
तर्हि स्वित् स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः॥ ४२

तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः।
न्यमज्जद् दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः॥ ४३

भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम्।
सिद्ध[1]चारणगन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥ ४४

सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम्।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम्॥ ४५

तस्योत्संगे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम्॥ ४६

चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम्।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम्॥ ४७

वहाँ उन लोगोंने हाथ-मुँह धोकर यमुनाजीका मरकत-मणिके समान नीला और अमृतके समान मीठा जल पिया। इसके बाद बलरामजीके साथ भगवान् वृक्षोंके झुरमुटमें खड़े रथपर सवार हो गये॥ ३९॥ अक्रूरजीने दोनों भाइयोंको रथपर बैठाकर उनसे आज्ञा ली और यमुनाजीके कुण्ड (अनन्त—तीर्थ या ब्रह्मह्रद) पर आकर वे विधिपूर्वक स्नान करने लगे॥ ४०॥ उस कुण्डमें स्नान करनेके बाद वे जलमें डुबकी लगाकर गायत्रीका जप करने लगे। उसी समय जलके भीतर अक्रूरजीने देखा कि श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई एक साथ ही बैठे हुए हैं॥ ४१॥ अब उनके मनमें यह शंका हुई कि 'वसुदेवजीके पुत्रोंको तो मैं रथपर बैठा आया हूँ, अब वे यहाँ जलमें कैसे आ गये? जब यहाँ हैं तो शायद रथपर नहीं होंगे।' ऐसा सोचकर उन्होंने सिर बाहर निकालकर देखा॥ ४२॥ वे उस रथपर भी पूर्ववत् बैठे हुए थे। उन्होंने यह सोचकर कि मैंने उन्हें जो जलमें देखा था, वह भ्रम ही रहा होगा, फिर डुबकी लगायी ॥ ४३॥ परन्तु फिर उन्होंने वहाँ भी देखा कि साक्षात् अनन्तदेव श्रीशेषजी विराजमान हैं और सिद्ध, चारण, गन्धर्व एवं असुर अपने-अपने सिर झुकाकर उनकी स्तुति कर रहे हैं॥ ४४॥ शेषजीके हजार सिर हैं और प्रत्येक फणपर मुकुट सुशोभित है। कमलनालके समान उज्ज्वल शरीरपर नीलाम्बर धारण किये हुए हैं और उनकी ऐसी शोभा हो रही है, मानो सहस्र शिखरोंसे युक्त श्वेतगिरि कैलास शोभायमान हो॥ ४५॥ अक्रूरजीने देखा कि शेषजीकी गोदमें श्याम मेघके समान घनश्याम विराजमान हो रहे हैं। वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं। बड़ी ही शान्त चतुर्भुज मूर्ति है और कमलके रक्तदलके समान रतनारे नेत्र हैं॥ ४६॥ उनका वदन बड़ा ही मनोहर और प्रसन्नताका सदन है। उनका मधुर हास्य और चारु चितवन चित्तको चुराये लेती है। भौंहें सुन्दर और नासिका तनिक ऊँची तथा बड़ी ही सुघड़ है। सुन्दर कान, कपोल और लाल-लाल अधरोंकी छटा निराली ही है॥ ४७॥

१. सिद्धैर्भुजंगपतिभिरसु०।

प्रलम्बपीवरभुजं तुंगांसोरःस्थलश्रियम्।
कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम्॥ ४८

बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम्।
चारुजानुयुगं चारुजंघायुगलसंयुतम्॥ ४९

तुंगगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम्[१]।
नवांगुल्यंगुष्ठदलैर्विलसत्पादपंकजम्॥ ५०

सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकांगदैः।
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः॥ ५१

भ्राजमानं पद्मकरं शंखचक्रगदाधरम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम्॥ ५२

सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैः सनकादिभिः।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः॥ ५३

प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैर्भागवतोत्तमैः।
स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः॥ ५४

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥ ५५

बाँहें घुटनोंतक लंबी और हृष्ट-पुष्ट हैं। कंधे ऊँचे और वक्षःस्थल लक्ष्मीजीका आश्रय-स्थान है। शंखके समान उतार-चढ़ाववाला सुडौल गला, गहरी नाभि और त्रिवलीयुक्त उदर पीपलके पत्तेके समान शोभायमान है॥ ४८॥

स्थूल कटिप्रदेश और नितम्ब, हाथीकी सूँडके समान जाँघें, सुन्दर घुटने एवं पिंडलियाँ हैं। एड़ीके ऊपरकी गाँठें उभरी हुई हैं और लाल-लाल नखोंसे दिव्य ज्योतिर्मय किरणें फैल रही हैं। चरणकमलकी अंगुलियाँ और अंगूठे नयी और कोमल पँखुड़ियोंके समान सुशोभित हैं॥ ४९-५०॥

अत्यन्त बहुमूल्य मणियोंसे जड़ा हुआ मुकुट, कड़े, बाजूबंद, करधनी, हार, नूपुर और कुण्डलोंसे तथा यज्ञोपवीतसे वह दिव्य मूर्ति अलंकृत हो रही है। एक हाथमें पद्म शोभा पा रहा है और शेष तीन हाथोंमें शंख, चक्र और गदा, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, गलेमें कौस्तुभमणि और वनमाला लटक रही है॥ ५१-५२॥

नन्द-सुनन्द आदि पार्षद अपने 'स्वामी', सनकादि परमर्षि 'परब्रह्म', ब्रह्मा, महादेव आदि देवता 'सर्वेश्वर', मरीचि आदि नौ ब्राह्मण 'प्रजापति' और प्रह्लाद-नारद आदि भगवान्के परम प्रेमी भक्त तथा आठों वसु अपने परम प्रियतम 'भगवान्' समझकर भिन्न-भिन्न भावोंके अनुसार निर्दोष वेदवाणीसे भगवान्की स्तुति कर रहे हैं॥ ५३-५४॥

साथ ही लक्ष्मी, पुष्टि, सरस्वती, कान्ति, कीर्ति और तुष्टि (अर्थात् ऐश्वर्य, बल, ज्ञान, श्री, यश और वैराग्य—ये षडैश्वर्यरूप शक्तियाँ), इला (सन्धिनीरूप पृथ्वी-शक्ति), ऊर्जा (लीलाशक्ति), विद्या-अविद्या (जीवोंके मोक्ष और बन्धनमें कारणरूपा बहिरंग शक्ति), ह्लादिनी, संवित् (अन्तरंगा शक्ति) और माया आदि शक्तियाँ मूर्तिमान् होकर उनकी सेवा कर रही हैं॥ ५५॥

१. भिर्नृप।

विलोक्य सुभृशं प्रीतो[१] भक्त्या परमया युतः।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः॥ ५६

भगवान्‌की यह झाँकी निरखकर अक्रूरजीका हृदय परमानन्दसे लबालब भर गया। उन्हें परम भक्ति प्राप्त हो गयी। सारा शरीर हर्षावेशसे पुलकित हो गया। प्रेमभावका उद्रेक होनेसे उनके नेत्र आँसूसे भर गये॥ ५६॥

गिरा गद्गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृतांजलिपुटः शनैः॥ ५७

अब अक्रूरजीने अपना साहस बटोरकर भगवान्‌के चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और वे उसके बाद हाथ जोड़कर बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे गद्गद स्वरसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[२]
पूर्वार्धेऽक्रूरप्रतियाने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

अक्रूरजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

अक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम्।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्
ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः॥ १

अक्रूरजी बोले—प्रभो! आप प्रकृति आदि समस्त कारणोंके परम कारण हैं। आप ही अविनाशी पुरुषोत्तम नारायण हैं तथा आपके ही नाभिकमलसे उन ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने इस चराचर जगत्‌की सृष्टि की है। मैं आपके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥ १॥

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादि-
र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे
ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः॥ २

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, इन्द्रिय, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषय और उनके अधिष्ठातृदेवता—यही सब चराचर जगत् तथा उसके व्यवहारके कारण हैं और ये सब-के-सब आपके ही अंगस्वरूप हैं॥ २॥

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते
ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया
गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम्॥ ३

प्रकृति और प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थ 'इदंवृत्ति' के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये ये सब अनात्मा हैं। अनात्मा होनेके कारण जड हैं और इसलिये आपका स्वरूप नहीं जान सकते। क्योंकि आप तो स्वयं आत्मा ही ठहरे। ब्रह्माजी अवश्य ही आपके स्वरूप हैं। परन्तु वे प्रकृतिके गुण रजस्‌से युक्त हैं, इसलिये वे भी आपकी प्रकृतिका और उसके गुणोंसे परेका स्वरूप नहीं जानते॥ ३॥

१. शान्तं। २. न्धेऽक्रूरप्रतियानं नामैकोन०।

त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम्।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः॥ ४

त्रय्या च विद्यया केचित् त्वां वै वैतानिका द्विजाः।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया॥ ५

एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम्॥ ६

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्॥ ७

त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते॥ ८

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो॥ ९

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥ १०

सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः॥ ११

साधु योगी स्वयं अपने अन्तःकरणमें स्थित 'अन्तर्यामी' के रूपमें, समस्त भूत-भौतिक पदार्थोंमें व्याप्त 'परमात्माके' रूपमें और सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवमण्डलमें स्थित 'इष्ट-देवता' के रूपमें तथा उनके साक्षी महापुरुष एवं नियन्ता ईश्वरके रूपमें साक्षात् आपकी ही उपासना करते हैं॥ ४॥ बहुत-से कर्मकाण्डी ब्राह्मण कर्ममार्गका उपदेश करनेवाली त्रयीविद्याके द्वारा, जो आपके इन्द्र, अग्नि आदि अनेक देववाचक नाम तथा वज्रहस्त, सप्तार्चि आदि अनेक रूप बतलाती है, बड़े-बड़े यज्ञ करते हैं और उनसे आपकी ही उपासना करते हैं॥ ५॥ बहुत-से ज्ञानी अपने समस्त कर्मोंका संन्यास कर देते हैं और शान्त-भावमें स्थित हो जाते हैं। वे इस प्रकार ज्ञानयज्ञके द्वारा ज्ञानस्वरूप आपकी ही आराधना करते हैं॥ ६॥ और भी बहुत-से संस्कार-सम्पन्न अथवा शुद्धचित्त वैष्णवजन आपकी बतलायी हुई पांचरात्र आदि विधियोंसे तन्मय होकर आपके चतुर्व्यूह आदि अनेक और नारायणरूप एक स्वरूपकी पूजा करते हैं॥ ७॥ भगवन्! दूसरे लोग शिवजीके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे, जिसके आचार्य भेदसे अनेक अवान्तर भेद भी हैं, शिवस्वरूप आपकी ही पूजा करते हैं॥ ८॥ स्वामिन्! जो लोग दूसरे देवताओंकी भक्ति करते हैं और उन्हें आपसे भिन्न समझते हैं, वे सब भी वास्तवमें आपकी ही आराधना करते हैं; क्योंकि आप ही समस्त देवताओंके रूपमें हैं और सर्वेश्वर भी हैं॥ ९॥ प्रभो! जैसे पर्वतोंसे सब ओर बहुत-सी नदियाँ निकलती हैं और वर्षाके जलसे भरकर घूमती-घामती समुद्रमें प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही सभी प्रकारके उपासना-मार्ग घूम-घामकर देर-सबेर आपके ही पास पहुँच जाते हैं॥ १०॥

प्रभो! आपकी प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण चराचर जीव प्राकृत हैं और जैसे वस्त्र सूत्रोंसे ओतप्रोत रहते हैं, वैसे ही ये सब प्रकृतिके उन गुणोंसे ही ओतप्रोत हैं॥ ११॥

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये
सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु॥ १२

परन्तु आप सर्वस्वरूप होनेपर भी उनके साथ लिप्त नहीं हैं। आपकी दृष्टि निर्लिप्त है, क्योंकि आप समस्त वृत्तियोंके साक्षी हैं। यह गुणोंके प्रवाहसे होनेवाली सृष्टि अज्ञानमूलक है और वह देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि समस्त योनियोंमें व्याप्त है; परन्तु आप उससे सर्वथा अलग हैं। इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ १२॥

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः
कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम्॥ १३

अग्नि आपका मुख है। पृथ्वी चरण है। सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं। आकाश नाभि है। दिशाएँ कान हैं। स्वर्ग सिर है। देवेन्द्रगण भुजाएँ हैं। समुद्र कोख है और यह वायु ही आपकी प्राणशक्तिके रूपमें उपासनाके लिये कल्पित हुई है॥ १३॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति-
र्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते॥ १४

वृक्ष और ओषधियाँ रोम हैं। मेघ सिरके केश हैं। पर्वत आपके अस्थिसमूह और नख हैं। दिन और रात पलकोंका खोलना और मींचना है। प्रजापति जननेन्द्रिय हैं और वृष्टि ही आपका वीर्य है॥ १४॥

त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता
लोकाः सपाला बहुजीवसंकुलाः।
यथा जले संजिहते जलौकसो-
ऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये॥ १५

अविनाशी भगवन्! जैसे जलमें बहुत-से जलचर जीव और गूलरके फलोंमें नन्हें-नन्हें कीट रहते हैं, उसी प्रकार उपासनाके लिये स्वीकृत आपके मनोमय पुरुषरूपमें अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए लोक और उनके लोकपाल कल्पित किये गये हैं॥ १५॥

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः॥ १६

प्रभो! आप क्रीडा करनेके लिये पृथ्वीपर जो-जो रूप धारण करते हैं, वे सब अवतार लोगोंके शोक-मोहको धो-बहा देते हैं; और फिर सब लोग बड़े आनन्दसे आपके निर्मल यशका गान करते हैं॥ १६॥

नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे॥ १७

प्रभो! आपने वेदों, ऋषियों, ओषधियों और सत्यव्रत आदिकी रक्षा-दीक्षाके लिये मत्स्यरूप धारण किया था और प्रलयके समुद्रमें स्वच्छन्द विहार किया था। आपके मत्स्यरूपको मैं नमस्कार करता हूँ। आपने ही मधु और कैटभ नामके असुरोंका संहार करनेके लिये हयग्रीव अवतार ग्रहण किया था। मैं आपके उस रूपको भी नमस्कार करता हूँ॥ १७॥

अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्तये॥ १८

आपने ही वह विशाल कच्छपरूप ग्रहण करके मन्दराचलको धारण किया था, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आपने ही पृथ्वीके उद्धारकी लीला करनेके लिये वराहरूप स्वीकार किया था, आपको मेरा बार-बार नमस्कार॥ १८॥

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च॥ १९

नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च॥ २०

नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः॥ २१

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे॥ २२

भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु॥ २३

अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो॥ २४

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम्।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम्॥ २५

प्रह्लाद-जैसे साधुजनोंका भय मिटानेवाले प्रभो! आपके उस अलौकिक नृसिंह-रूपको मैं नमस्कार करता हूँ। आपने वामनरूप ग्रहण करके अपने पगोंसे तीनों लोक नाप लिये थे, आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १९ ॥ धर्मका उल्लंघन करनेवाले घमंडी क्षत्रियोंके वनका छेदन कर देनेके लिये आपने भृगुपति परशुरामरूप ग्रहण किया था। मैं आपके उस रूपको नमस्कार करता हूँ। रावणका नाश करनेके लिये आपने रघुवंशमें भगवान् रामके रूपसे अवतार ग्रहण किया था। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २० ॥ वैष्णवजनों तथा यदु-वंशियोंका पालन-पोषण करनेके लिये आपने ही अपनेको वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूहके रूपमें प्रकट किया है। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ २१ ॥ दैत्य और दानवोंको मोहित करनेके लिये आप शुद्ध अहिंसा-मार्गके प्रवर्तक बुद्धका रूप ग्रहण करेंगे। मैं आपको नमस्कार करता हूँ और पृथ्वीके क्षत्रिय जब म्लेच्छप्राय हो जायँगे तब उनका नाश करनेके लिये आप ही कल्किके रूपमें अवतीर्ण होंगे। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २२ ॥

भगवन्! ये सब-के-सब जीव आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं और इस मोहके कारण ही 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' इस झूठे दुराग्रहमें फँसकर कर्मके मार्गोंमें भटक रहे हैं॥ २३ ॥ मेरे स्वामी! इसी प्रकार मैं भी स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थोंके समान झूठे देह-गेह, पत्नी-पुत्र और धन-स्वजन आदिको सत्य समझकर उन्हींके मोहमें फँस रहा हूँ और भटक रहा हूँ॥ २४ ॥

मेरी मूर्खता तो देखिये, प्रभो! मैंने अनित्य वस्तुओंको नित्य, अनात्माको आत्मा और दुःखको सुख समझ लिया। भला, इस उलटी बुद्धिकी भी कोई सीमा है! इस प्रकार अज्ञानवश सांसारिक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें ही रम गया और यह बात बिलकुल भूल गया कि आप ही हमारे सच्चे प्यारे हैं॥ २५ ॥

यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥ २६

जैसे कोई अनजान मनुष्य जलके लिये तालाबपर जाय और उसे उसीसे पैदा हुए सिवार आदि घासोंसे ढका देखकर ऐसा समझ ले कि यहाँ जल नहीं है, तथा सूर्यकी किरणोंमें झूठ-मूठ प्रतीत होनेवाले जलके लिये मृगतृष्णाकी ओर दौड़ पड़े, वैसे ही मैं अपनी ही मायासे छिपे रहनेके कारण आपको छोड़कर विषयोंमें सुखकी आशासे भटक रहा हूँ॥ २६ ॥

नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥ २७

मैं अविनाशी अक्षर वस्तुके ज्ञानसे रहित हूँ। इसीसे मेरे मनमें अनेक वस्तुओंकी कामना और उनके लिये कर्म करनेके संकल्प उठते ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त ये इन्द्रियाँ भी जो बड़ी प्रबल एवं दुर्दमनीय हैं, मनको मथ-मथकर बलपूर्वक इधर-उधर घसीट ले जाती हैं। इसीलिये इस मनको मैं रोक नहीं पाता॥ २७ ॥

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥ २८

इस प्रकार भटकता हुआ मैं आपके उन चरण-कमलोंकी छत्रछायामें आ पहुँचा हूँ, जो दुष्टोंके लिये दुर्लभ हैं। मेरे स्वामी! इसे भी मैं आपका कृपाप्रसाद ही मानता हूँ। क्योंकि पद्मनाभ! जब जीवके संसारसे मुक्त होनेका समय आता है, तब सत्पुरुषोंकी उपासनासे चित्तवृत्ति आपमें लगती है॥ २८ ॥

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ २९

प्रभो! आप केवल विज्ञानस्वरूप हैं, विज्ञान-घन हैं। जितनी भी प्रतीतियाँ होती हैं, जितनी भी वृत्तियाँ हैं, उन सबके आप ही कारण और अधिष्ठान हैं। जीवके रूपमें एवं जीवोंके सुख-दुःख आदिके निमित्त काल, कर्म, स्वभाव तथा प्रकृतिके रूपमें भी आप ही हैं तथा आप ही उन सबके नियन्ता भी हैं। आपकी शक्तियाँ अनन्त हैं। आप स्वयं ब्रह्म हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २९ ॥

नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥ ३०

प्रभो! आप ही वासुदेव, आप ही समस्त जीवोंके आश्रय (संकर्षण) हैं; तथा आप ही बुद्धि और मनके अधिष्ठातृ-देवता हृषीकेश (प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। प्रभो! आप मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धेऽक्रूरस्तुतिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका मथुराजीमें प्रवेश

श्रीशुक उवाच

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः।
भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः॥ १

सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः।
कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत्॥ २

तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्टमिवाद्भुतम्।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे॥ ३

अक्रूर उवाच

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः॥ ४

यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम्॥ ५

इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः।
मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये॥ ६

मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसंगताः।
वसुदेवसुतौ वीक्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः॥ ७

तावद् व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अक्रूरजी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे। उन्हें भगवान् श्रीकृष्णने जलमें अपने दिव्यरूपके दर्शन कराये और फिर उसे छिपा लिया, ठीक वैसे ही जैसे कोई नट अभिनयमें कोई रूप दिखाकर फिर उसे परदेकी ओटमें छिपा दे॥ १॥ जब अक्रूरजीने देखा कि भगवान्‌का वह दिव्यरूप अन्तर्धान हो गया, तब वे जलसे बाहर निकल आये और फिर जल्दी-जल्दी सारे आवश्यक कर्म समाप्त करके रथपर चले आये। उस समय वे बहुत ही विस्मित हो रहे थे॥ २॥ भगवान् श्रीकृष्णने उनसे पूछा—'चाचाजी! आपने पृथ्वी, आकाश या जलमें कोई अद्भुत वस्तु देखी है क्या? क्योंकि आपकी आकृति देखनेसे ऐसा ही जान पड़ता है'॥ ३॥

अक्रूरजीने कहा—'प्रभो! पृथ्वी, आकाश या जलमें और सारे जगत्‌में जितने भी अद्भुत पदार्थ हैं, वे सब आपमें ही हैं। क्योंकि आप विश्वरूप हैं। जब मैं आपको ही देख रहा हूँ तब ऐसी कौन-सी अद्भुत वस्तु रह जाती है, जो मैंने न देखी हो॥ ४॥ भगवन्! जितनी भी अद्भुत वस्तुएँ हैं, वे पृथ्वीमें हों या जल अथवा आकाशमें—सब-की-सब जिनमें हैं, उन्हीं आपको मैं देख रहा हूँ! फिर भला, मैंने यहाँ अद्भुत वस्तु कौन-सी देखी?॥ ५॥ गान्दिनी-नन्दन अक्रूरजीने यह कहकर रथ हाँक दिया और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीको लेकर दिन ढलते-ढलते वे मथुरापुरी जा पहुँचे॥ ६॥ परीक्षित्! मार्गमें स्थान-स्थानपर गाँवोंके लोग मिलनेके लिये आते और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीको देखकर आनन्द-मग्न हो जाते। वे एकटक उनकी ओर देखने लगते, अपनी दृष्टि हटा न पाते॥ ७॥ नन्दबाबा आदि व्रज-वासी तो पहलेसे ही वहाँ पहुँच गये थे, और मथुरापुरीके बाहरी उपवनमें रुककर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे॥ ८॥

तान् समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव॥ ९

भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम्।
वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम्॥ १०

अक्रूर उवाच

नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो।
त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल॥ ११

आगच्छ याम गेहान् नः सनाथान् कुर्वधोक्षज।
सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम॥ १२

पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम्।
यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः॥ १३

अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीच्छ्लोक्यो बलिर्महान्।
ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चैकान्तिनां तु या॥ १४

आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रीँल्लोकाञ्छुचयोऽपुनन्।
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः॥ १५

देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन।
यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोऽस्तु ते॥ १६

श्रीभगवानुवाच

आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम्॥ १७

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ॥ १८

उनके पास पहुँचकर जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने विनीतभावसे खड़े अक्रूरजीका हाथ अपने हाथमें लेकर मुसकराते हुए कहा— ॥ ९ ॥ 'चाचाजी! आप रथ लेकर पहले मथुरापुरीमें प्रवेश कीजिये और अपने घर जाइये। हमलोग पहले यहाँ उतरकर फिर नगर देखनेके लिये आयेंगे'॥ १० ॥

अक्रूरजीने कहा—प्रभो! आप दोनोंके बिना मैं मथुरामें नहीं जा सकता। स्वामी! मैं आपका भक्त हूँ! भक्तवत्सल प्रभो! आप मुझे मत छोड़िये॥ ११ ॥ भगवन्! आइये, चलें। मेरे परम हितैषी और सच्चे सुहृद् भगवन्! आप बलरामजी, ग्वालबालों तथा नन्दरायजी आदि आत्मीयोंके साथ चलकर हमारा घर सनाथ कीजिये॥ १२ ॥ हम गृहस्थ हैं। आप अपने चरणोंकी धूलिसे हमारा घर पवित्र कीजिये। आपके चरणोंकी धोवन (गंगाजल या चरणामृत) से अग्नि, देवता, पितर—सब-के-सब तृप्त हो जाते हैं॥ १३ ॥ प्रभो! आपके युगल चरणोंको पखारकर महात्मा बलिने वह यश प्राप्त किया, जिसका गान सन्त पुरुष करते हैं। केवल यश ही नहीं—उन्हें अतुलनीय ऐश्वर्य तथा वह गति प्राप्त हुई, जो अनन्य प्रेमी भक्तोंको प्राप्त होती है॥ १४॥ आपके चरणोदक—गंगाजीने तीनों लोक पवित्र कर दिये। सचमुच वे मूर्तिमान् पवित्रता हैं। उन्हींके स्पर्शसे सगरके पुत्रोंको सद्गति प्राप्त हुई और उसी जलको स्वयं भगवान् शंकरने अपने सिरपर धारण किया॥ १५ ॥ यदुवंशशिरोमणे! आप देवताओंके भी आराध्यदेव हैं। जगत्के स्वामी हैं। आपके गुण और लीलाओंका श्रवण तथा कीर्तन बड़ा ही मंगलकारी है। उत्तम पुरुष आपके गुणोंका कीर्तन करते रहते हैं। नारायण! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ १६ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—चाचाजी! मैं दाऊ भैयाके साथ आपके घर आऊँगा और पहले इस यदुवंशियोंके द्रोही कंसको मारकर तब अपने सभी सुहृद्-स्वजनोंका प्रिय करूँगा॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्के इस प्रकार कहनेपर अक्रूरजी कुछ अनमने-से हो गये। उन्होंने पुरीमें प्रवेश करके कंससे श्रीकृष्ण और बलरामके ले आनेका समाचार निवेदन किया और

अथापराह्णे भगवान् कृष्णः संकर्षणान्वितः।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः॥ १९

ददर्श तां स्फाटिकतुंगगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम्।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥ २०

सौवर्णशृंगाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु॥ २१

जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्यांकुरलाजतण्डुलाम्॥ २२

आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलंकृतद्वारगृहां सपट्टिकैः॥ २३

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ
वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो
हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः॥ २४

फिर अपने घर गये॥ १८॥ दूसरे दिन तीसरे पहर बलरामजी और ग्वालबालोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णने मथुरापुरीको देखनेके लिये नगरमें प्रवेश किया॥ १९॥ भगवान्ने देखा कि नगरके परकोटेमें स्फटिकमणि (बिल्लौर) के बहुत ऊँचे-ऊँचे गोपुर (प्रधान दरवाजे) तथा घरोंमें भी बड़े-बड़े फाटक बने हुए हैं। उनमें सोनेके बड़े-बड़े किंवाड़ लगे हैं और सोनेके ही तोरण (बाहरी दरवाजे) बने हुए हैं। नगरके चारों ओर ताँबे और पीतलकी चहारदीवारी बनी हुई है। खाईंके कारण और कहींसे उस नगरमें प्रवेश करना बहुत कठिन है। स्थान-स्थानपर सुन्दर-सुन्दर उद्यान और रमणीय उपवन (केवल स्त्रियोंके उपयोगमें आनेवाले बगीचे) शोभायमान हैं॥ २०॥ सुवर्णसे सजे हुए चौराहे, धनियोंके महल, उन्हींके साथके बगीचे, कारीगरोंके बैठनेके स्थान या प्रजावर्गके सभा-भवन (टाउनहाल) और साधारण लोगोंके निवासगृह नगरकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वैदूर्य, हीरे, स्फटिक (बिल्लौर), नीलम, मूँगे, मोती और पन्ने आदिसे जड़े हुए छज्जे, चबूतरे, झरोखे एवं फर्श आदि जगमगा रहे हैं। उनपर बैठे हुए कबूतर, मोर आदि पक्षी भाँति-भाँतिकी बोली बोल रहे हैं। सड़क, बाजार, गली एवं चौराहोंपर खूब छिड़काव किया गया है। स्थान-स्थानपर फूलोंके गजरे, जवारे (जौके अंकुर), खील और चावल बिखरे हुए हैं॥ २१-२२॥ घरोंके दरवाजोंपर दही और चन्दन आदिसे चर्चित जलसे भरे हुए कलश रखे हैं और वे फूल, दीपक, नयी-नयी कोंपलें फलसहित केले और सुपारीके वृक्ष, छोटी-छोटी झंडियों और रेशमी वस्त्रोंसे भलीभाँति सजाए हुए हैं॥ २३॥

परीक्षित्! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने ग्वालबालोंके साथ राजपथसे मथुरा नगरीमें प्रवेश किया। उस समय नगरकी नारियाँ बड़ी उत्सुकतासे उन्हें देखनेके लिये झटपट अटारियोंपर चढ़ गयीं॥ २४॥

काश्चिद् विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा
विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा
नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराश्च लोचनम्॥ २५

अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा
अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं
प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः॥ २६

मनांसि तासामरविन्दलोचनः
प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो
दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम्॥ २७

दृष्ट्वा मुहुःश्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं
तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः।
आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशाऽऽत्मलब्धं
हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम्॥ २८

प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः।
अभ्यवर्षन् सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ॥ २९

दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः।
तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः॥ ३०

किसी-किसीने जल्दीके कारण अपने वस्त्र और गहने उलटे पहन लिये। किसीने भूलसे कुण्डल, कंगन आदि जोड़ेसे पहने जानेवाले आभूषणोंमेंसे एक ही पहना और चल पड़ी। कोई एक ही कानमें पत्र नामक आभूषण धारण कर पायी थी तो किसीने एक ही पाँवमें पायजेब पहन रखा था। कोई एक ही आँखमें अंजन आँज पायी थी और दूसरीमें बिना आँजे ही चल पड़ी॥ २५॥ कई रमणियाँ तो भोजन कर रही थीं, वे हाथका कौर फेंककर चल पड़ीं। सबका मन उत्साह और आनन्दसे भर रहा था। कोई-कोई उबटन लगवा रही थीं, वे बिना स्नान किये ही दौड़ पड़ीं। जो सो रही थीं, वे कोलाहल सुनकर उठ खड़ी हुईं और उसी अवस्थामें दौड़ चलीं। जो माताएँ बच्चोंको दूध पिला रही थीं, वे उन्हें गोदसे हटाकर भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके लिये चल पड़ीं॥ २६॥ कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण मत-वाले गजराजके समान बड़ी मस्तीसे चल रहे थे। उन्होंने लक्ष्मीको भी आनन्दित करनेवाले अपने श्यामसुन्दर विग्रहसे नगरनारियोंके नेत्रोंको बड़ा आनन्द दिया और अपनी विलासपूर्ण प्रगल्भ हँसी तथा प्रेमभरी चितवनसे उनके मन चुरा लिये॥ २७॥ मथुराकी स्त्रियाँ बहुत दिनोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत लीलाएँ सुनती आ रही थीं। उनके चित्त चिरकालसे श्रीकृष्णके लिये चंचल, व्याकुल हो रहे थे। आज उन्होंने उन्हें देखा। भगवान् श्रीकृष्णने भी अपनी प्रेमभरी चितवन और मन्द मुसकानकी सुधासे सींचकर उनका सम्मान किया। परीक्षित्! उन स्त्रियोंने नेत्रोंके द्वारा भगवान्‌को अपने हृदयमें ले जाकर उनके आनन्दमय स्वरूपका आलिंगन किया। उनका शरीर पुलकित हो गया और बहुत दिनोंकी विरह-व्याधि शान्त हो गयी॥ २८॥ मथुराकी नारियाँ अपने-अपने महलोंकी अटारियोंपर चढ़कर बलराम और श्रीकृष्णपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं। उस समय उन स्त्रियोंके मुखकमल प्रेमके आवेगसे खिल रहे थे॥ २९॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंने स्थान-स्थानपर दही, अक्षत, जलसे भरे पात्र, फूलोंके हार, चन्दन और भेंटकी सामग्रियोंसे आनन्दमग्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीकी पूजा की॥ ३०॥

ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत्।
या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ॥ ३१

भगवान्‌को देखकर सभी पुरवासी आपसमें कहने लगे—'धन्य है! धन्य है!' गोपियोंने ऐसी कौन-सी महान् तपस्या की है, जिसके कारण वे मनुष्यमात्रको परमानन्द देनेवाले इन दोनों मनोहर किशोरोंको देखती रहती हैं॥ ३१॥

रजकं कंचिदायान्तं रंगकारं गदाग्रजः।
दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च॥ ३२

देह्यावयोः समुचितान्यंग वासांसि चार्हतोः।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः॥ ३३

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः॥ ३४

ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः।
परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ॥ ३५

याताशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै॥ ३६

एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः।
रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत्॥ ३७

तस्यानुजीविनः सर्वे वासः[१] कोशान् विसृज्य वै।
दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः॥ ३८

इसी समय भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि एक धोबी, जो कपड़े रँगनेका भी काम करता था, उनकी ओर आ रहा है। भगवान् श्रीकृष्णने उससे धुले हुए उत्तम-उत्तम कपड़े माँगे॥ ३२॥ भगवान्‌ने कहा—'भाई! तुम हमें ऐसे वस्त्र दो, जो हमारे शरीरमें पूरे-पूरे आ जायँ। वास्तवमें हमलोग उन वस्त्रोंके अधिकारी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि तुम हमलोगोंको वस्त्र दोगे तो तुम्हारा परम कल्याण होगा'॥ ३३॥ परीक्षित्! भगवान् सर्वत्र परिपूर्ण हैं। सब कुछ उन्हींका है। फिर भी उन्होंने इस प्रकार माँगनेकी लीला की। परन्तु वह मूर्ख राजा कंसका सेवक होनेके कारण मतवाला हो रहा था। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को देना तो दूर रहा, उसने क्रोधमें भरकर आक्षेप करते हुए कहा—॥ ३४॥ 'तुमलोग रहते हो सदा पहाड़ और जंगलोंमें। क्या वहाँ ऐसे ही वस्त्र पहनते हो? तुमलोग बहुत उद्दण्ड हो गये हो तभी तो ऐसी बढ़-बढ़कर बातें करते हो। अब तुम्हें राजाका धन लूटनेकी इच्छा हुई है॥ ३५॥ अरे, मूर्खो! जाओ, भाग जाओ! यदि कुछ दिन जीनेकी इच्छा हो तो फिर इस तरह मत माँगना। राजकर्मचारी तुम्हारे जैसे उच्छृंखलोंको कैद कर लेते हैं, मार डालते हैं और जो कुछ उनके पास होता है, छीन लेते हैं'॥ ३६॥ जब वह धोबी इस प्रकार बहुत कुछ बहक-बहककर बातें करने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्णने तनिक कुपित होकर उसे एक तमाचा जमाया और उसका सिर धड़ामसे धड़से नीचे जा गिरा॥ ३७॥ यह देखकर उस धोबीके अधीन काम करनेवाले सब-के-सब कपड़ोंके गट्ठर वहीं छोड़कर इधर-उधर भाग गये। भगवान्‌ने उन वस्त्रोंको ले लिया॥ ३८॥

१. बाह्यघोषैर्वितत्रसुः।

वसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः संकर्षणस्तथा।
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित्॥ ३९

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने मनमाने वस्त्र पहन लिये तथा बचे हुए वस्त्रोंमेंसे बहुत-से अपने साथी ग्वाल-बालोंको भी दिये। बहुत-से कपड़े तो वहीं जमीनपर ही छोड़कर चल दिये॥ ३९॥

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत्।
विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥ ४०

नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः।
स्वलंकृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ॥ ४१

तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः।
श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम्॥ ४२

भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जब कुछ आगे बढ़े, तब उन्हें एक दर्जी मिला। भगवान्‌का अनुपम सौन्दर्य देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उन रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्रोंको उनके शरीरपर ऐसे ढंगसे सजा दिया कि वे सब ठीक-ठीक फब गये॥ ४०॥ अनेक प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित होकर दोनों भाई और भी अधिक शोभायमान हुए ऐसे जान पड़ते, मानो उत्सवके समय श्वेत और श्याम गजशावक भलीभाँति सजा दिये गये हों॥ ४१॥ भगवान् श्रीकृष्ण उस दर्जीपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे इस लोकमें भरपूर धन-सम्पत्ति, बल-ऐश्वर्य, अपनी स्मृति और दूरतक देखने-सुनने आदिकी इन्द्रियसम्बन्धी शक्तियाँ दीं और मृत्युके बादके लिये अपना सारूप्य मोक्ष भी दे दिया॥ ४२॥

ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि॥ ४३

तयोरासनमानीय पाद्यं चार्घ्यार्हणादिभिः।
पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः॥ ४४

प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो।
पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम्॥ ४५

भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम्।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च॥ ४६

न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि॥ ४७

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण सुदामा मालीके घर गये। दोनों भाइयोंको देखते ही सुदामा उठ खड़ा हुआ और पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया॥ ४३॥ फिर उनको आसनपर बैठाकर उनके पाँव पखारे, हाथ धुलाये और तदनन्तर ग्वालबालोंके सहित सबकी फूलोंके हार, पान, चन्दन आदि सामग्रियोंसे विधिपूर्वक पूजा की॥ ४४॥ इसके पश्चात् उसने प्रार्थना की—'प्रभो! आप दोनोंके शुभागमनसे हमारा जन्म सफल हो गया। हमारा कुल पवित्र हो गया। आज हम पितर, ऋषि और देवताओंके ऋणसे मुक्त हो गये। वे हमपर परम सन्तुष्ट हैं॥ ४५॥ आप दोनों सम्पूर्ण जगत्‌के परम कारण हैं। आप संसारके अभ्युदय-उन्नति और निःश्रेयस—मोक्षके लिये ही इस पृथ्वीपर अपने ज्ञान, बल आदि अंशोंके साथ अवतीर्ण हुए हैं॥ ४६॥ यद्यपि आप प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं, भजन करनेवालोंको ही भजते हैं—फिर भी आपकी दृष्टिमें विषमता नहीं है। क्योंकि आप सारे जगत्‌के परम सुहृद् और आत्मा हैं। आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें समरूपसे स्थित हैं॥ ४७॥

तावाज्ञापयतं भृत्यं किमहं करवाणि वाम्।
पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते॥ ४८

मैं आपका दास हूँ। आप दोनों मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ। भगवन्! जीवपर आपका यह बहुत बड़ा अनुग्रह है, पूर्ण कृपाप्रसाद है कि आप उसे आज्ञा देकर किसी कार्यमें नियुक्त करते हैं॥ ४८॥

इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः।
शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्माला विरचिता ददौ॥ ४९

राजेन्द्र! सुदामा मालीने इस प्रकार प्रार्थना करनेके बाद भगवान्का अभिप्राय जानकर बड़े प्रेम और आनन्दसे भरकर अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर तथा सुगन्धित पुष्पोंसे गुँथे हुए हार उन्हें पहनाये॥ ४९॥

ताभिः स्वलंकृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान्॥ ५०

जब ग्वालबाल और बलरामजीके साथ भगवान् श्रीकृष्ण उन सुन्दर-सुन्दर मालाओंसे अलंकृत हो चुके, तब उन वरदायक प्रभुने प्रसन्न होकर विनीत और शरणागत सुदामाको श्रेष्ठ वर दिये॥ ५०॥

सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम्॥ ५१

सुदामा मालीने उनसे यही वर माँगा कि 'प्रभो! आप ही समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। सर्वस्वरूप आपके चरणोंमें मेरी अविचल भक्ति हो। आपके भक्तोंसे मेरा सौहार्द, मैत्रीका सम्बन्ध हो और समस्त प्राणियोंके प्रति अहैतुक दयाका भाव बना रहे'॥ ५१॥

इति तस्मै वरं दत्त्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम्।
बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः॥ ५२

भगवान् श्रीकृष्णने सुदामाको उसके माँगे हुए वर तो दिये ही—ऐसी लक्ष्मी भी दी जो वंशपरम्पराके साथ-साथ बढ़ती जाय; और साथ ही बल, आयु, कीर्ति तथा कान्तिका भी वरदान दिया। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ वहाँसे बिदा हुए॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पुरप्रवेशो नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४१॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

कुब्जापर कृपा, धनुषभंग और कंसकी घबड़ाहट

श्रीशुक उवाच

अथ व्रजन् राजपथेन माधवः
स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम्।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां
पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण जब अपनी मण्डलीके साथ राजमार्गसे आगे बढ़े, तब उन्होंने एक युवती स्त्रीको देखा। उसका मुँह तो सुन्दर था, परन्तु वह शरीरसे कुबड़ी थी। इसीसे उसका नाम पड़ गया था 'कुब्जा'। वह अपने हाथमें चन्दनका पात्र लिये हुए जा रही थी। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमरसका दान करनेवाले हैं, उन्होंने कुब्जापर कृपा करनेके लिये हँसते हुए उससे पूछा—॥ १॥

का त्वं वरोर्वेतदु हानुलेपनं
कस्यांगने वा कथयस्व साधु नः।
देह्यावयोरंगविलेपमुत्तमं
श्रेयस्ततस्ते नचिराद् भविष्यति॥ २

'सुन्दरी! तुम कौन हो? यह चन्दन किसके लिये ले जा रही हो? कल्याणि! हमें सब बात सच-सच बतला दो। यह उत्तम चन्दन, यह अंगराग हमें भी दो। इस दानसे शीघ्र ही तुम्हारा परम कल्याण होगा'॥ २॥

सैरन्ध्र्युवाच

दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता
त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं
विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति॥ ३

उबटन आदि लगानेवाली सैरन्ध्री कुब्जाने कहा—'परम सुन्दर! मैं कंसकी प्रिय दासी हूँ। महाराज मुझे बहुत मानते हैं। मेरा नाम त्रिवक्रा (कुब्जा) है। मैं उनके यहाँ चन्दन, अंगराग लगानेका काम करती हूँ। मेरे द्वारा तैयार किये हुए चन्दन और अंगराग भोजराज कंसको बहुत भाते हैं। परन्तु आप दोनोंसे बढ़कर उसका और कोई उत्तम पात्र नहीं है'॥ ३॥

रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवीक्षितैः ।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम्॥ ४

भगवान्‌के सौन्दर्य, सुकुमारता, रसिकता, मन्दहास्य, प्रेमालाप और चारु चितवनसे कुब्जाका मन हाथसे निकल गया। उसने भगवान्‌पर अपना हृदय न्योछावर कर दिया। उसने दोनों भाइयोंको वह सुन्दर और गाढ़ा अंगराग दे दिया॥ ४॥

ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ॥ ५

तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने साँवले शरीरपर पीले रंगका और बलरामजीने अपने गोरे शरीरपर लाल रंगका अंगराग लगाया तथा नाभिसे ऊपरके भागमें अनुरंजित होकर वे अत्यन्त सुशोभित हुए॥ ५॥

प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम्।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम्॥ ६

भगवान् श्रीकृष्ण उस कुब्जापर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने दर्शनका प्रत्यक्ष फल दिखलानेके लिये तीन जगहसे टेढ़ी किन्तु सुन्दर मुखवाली कुब्जाको सीधी करनेका विचार किया॥ ६॥

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यंगुल्युत्तानपाणिना।
प्रगृह्य चुबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः॥ ७

भगवान्‌ने अपने चरणोंसे कुब्जाके पैरके दोनों पंजे दबा लिये और हाथ ऊँचा करके दो अँगुलियाँ उसकी ठोड़ीमें लगायीं तथा उसके शरीरको तनिक उचका दिया॥ ७॥

सा तदर्जुसमानांगी बृहच्छ्रोणिपयोधरा।
मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा॥ ८

उचकाते ही उसके सारे अंग सीधे और समान हो गये। प्रेम और मुक्तिके दाता भगवान्‌के स्पर्शसे वह तत्काल विशाल नितम्ब तथा पीन पयोधरोंसे युक्त एक उत्तम युवती बन गयी॥ ८॥

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम्।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया॥ ९

उसी क्षण कुब्जा रूप, गुण और उदारतासे सम्पन्न हो गयी। उसके मनमें भगवान्‌के मिलनकी कामना जाग उठी। उसने उनके दुपट्टेका छोर पकड़कर मुसकराते हुए कहा—॥ ९॥

एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ॥ १०

एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः।
मुखं वीक्ष्यानुगानां च प्रहसंस्तामुवाच ह॥ ११

एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः पुंसामाधिविकर्शनम्।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम्॥ १२

विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन् मार्गे वणिक्पथैः।
नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्चितः॥ १३

तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन् स्त्रियः।
विस्रस्तवासःकबरवलयालेख्यमूर्तयः ॥ १४

ततः पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः।
तस्मिन् प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम्॥ १५

पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत्।
वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे॥ १६

करेण वामेन सलीलमुद्धृतं
सज्यं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम्।
नृणां विकृष्य प्रबभंज मध्यतो
यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः॥ १७

धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः।
पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत्॥ १८

'वीरशिरोमणे! आइये, घर चलें। अब मैं आपको यहाँ नहीं छोड़ सकती। क्योंकि आपने मेरे चित्तको मथ डाला है। पुरुषोत्तम! मुझ दासीपर प्रसन्न होइये'॥ १०॥ जब बलरामजीके सामने ही कुब्जाने इस प्रकार प्रार्थना की, तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने साथी ग्वालबालोंके मुँहकी ओर देखकर हँसते हुए उससे कहा— ॥ ११॥ 'सुन्दरी! तुम्हारा घर संसारी लोगोंके लिये अपनी मानसिक व्याधि मिटानेका साधन है। मैं अपना कार्य पूरा करके अवश्य वहाँ आऊँगा। हमारे-जैसे बेघरके बटोहियोंको तुम्हारा ही तो आसरा है'॥ १२॥ इस प्रकार मीठी-मीठी बातें करके भगवान् श्रीकृष्णने उसे विदा कर दिया। जब वे व्यापारियोंके बाजारमें पहुँचे, तब उन व्यापारियोंने उनका तथा बलरामजीका पान, फूलोंके हार, चन्दन और तरह-तरहकी भेंट—उपहारोंसे पूजन किया॥ १३॥ उनके दर्शनमात्रसे स्त्रियोंके हृदयमें प्रेमका आवेग, मिलनकी आकांक्षा जग उठती थी। यहाँतक कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध न रहती। उनके वस्त्र, जूड़े और कंगन ढीले पड़ जाते थे तथा वे चित्रलिखित मूर्तियोंके समान ज्यों-की-त्यों खड़ी रह जाती थीं॥ १४॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण पुरवासियोंसे धनुष-यज्ञका स्थान पूछते हुए रंगशालामें पहुँचे और वहाँ उन्होंने इन्द्रधनुषके समान एक अद्भुत धनुष देखा॥ १५॥ उस धनुषमें बहुत-सा धन लगाया गया था, अनेक बहुमूल्य अलंकारोंसे उसे सजाया गया था। उसकी खूब पूजा की गयी थी और बहुत-से सैनिक उसकी रक्षा कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने रक्षकोंके रोकनेपर भी उस धनुषको बलात् उठा लिया॥ १६॥ उन्होंने सबके देखते-देखते उस धनुषको बायें हाथसे उठाया, उसपर डोरी चढ़ायी और एक क्षणमें खींचकर बीचो-बीचसे उसी प्रकार उसके दो टुकड़े कर डाले, जैसे बहुत बलवान् मतवाला हाथी खेल-ही-खेलमें ईखको तोड़ डालता है॥ १७॥ जब धनुष टूटा तब उसके शब्दसे आकाश, पृथ्वी और दिशाएँ भर गयीं; उसे सुनकर कंस भी भयभीत हो गया॥ १८॥

तद्रक्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः।
ग्रहीतुकामा आववुर्गृह्यतां बध्यतामिति॥ १९

अथ तान् दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ।
क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः॥ २०

बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात्ततः।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः॥ २१

तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशाम्य पुरवासिनः।
तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ॥ २२

तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान्।
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः॥ २३

गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या
आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन्।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं
हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः॥ २४

अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम्।
ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम्॥ २५

कंसस्तु धनुषो भंगं रक्षिणां स्वबलस्य च।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम्॥ २६

अब धनुषके रक्षक आततायी असुर अपने सहायकोंके साथ बहुत ही बिगड़े। वे भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर खड़े हो गये और उन्हें पकड़ लेनेकी इच्छासे चिल्लाने लगे—'पकड़ लो, बाँध लो, जाने न पावे'॥ १९ ॥ उनका दुष्ट अभिप्राय जानकर बलरामजी और श्रीकृष्ण भी तनिक क्रोधित हो गये और उस धनुषके टुकड़ोंको उठाकर उन्हींसे उनका काम तमाम कर दिया॥ २० ॥ उन्हीं धनुषखण्डोंसे उन्होंने उन असुरोंकी सहायताके लिये कंसकी भेजी हुई सेनाका भी संहार कर डाला। इसके बाद वे यज्ञशालाके प्रधान द्वारसे होकर बाहर निकल आये और बड़े आनन्दसे मथुरापुरीकी शोभा देखते हुए विचरने लगे॥ २१ ॥ जब नगरनिवासियोंने दोनों भाइयोंके इस अद्भुत पराक्रमकी बात सुनी और उनके तेज, साहस तथा अनुपम रूपको देखा तब उन्होंने यही निश्चय किया कि हो-न-हो ये दोनों कोई श्रेष्ठ देवता हैं॥ २२ ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी पूरी स्वतन्त्रतासे मथुरापुरीमें विचरण करने लगे। जब सूर्यास्त हो गया तब दोनों भाई ग्वालबालोंसे घिरे हुए नगरसे बाहर अपने डेरेपर, जहाँ छकड़े थे, लौट आये॥ २३ ॥ तीनों लोकोंके बड़े-बड़े देवता चाहते थे कि लक्ष्मी हमें मिलें, परन्तु उन्होंने सबका परित्याग कर दिया और न चाहनेवाले भगवान्का वरण किया। उन्हींको सदाके लिये अपना निवासस्थान बना लिया। मथुरावासी उन्हीं पुरुषभूषण भगवान् श्रीकृष्णके अंग-अंगका सौन्दर्य देख रहे हैं। उनका कितना सौभाग्य है! व्रजमें भगवान्की यात्राके समय गोपियोंने विरहातुर होकर मथुरावासियोंके सम्बन्धमें जो-जो बातें कही थीं, वे सब यहाँ अक्षरशः सत्य हुईं। सचमुच वे परमानन्दमें मग्न हो गये॥ २४ ॥

फिर हाथ-पैर धोकर श्रीकृष्ण और बलरामजीने दूधमें बने हुए खीर आदि पदार्थोंका भोजन किया और कंस आगे क्या करना चाहता है, इस बातका पता लगाकर उस रातको वहीं आरामसे सो गये॥ २५ ॥

जब कंसने सुना कि श्रीकृष्ण और बलरामने धनुष तोड़ डाला, रक्षकों तथा उनकी सहायताके लिये भेजी हुई सेनाका भी संहार कर डाला और यह सब उनके लिये केवल एक खिलवाड़ ही था—इसके लिये उन्हें कोई श्रम या कठिनाई नहीं उठानी पड़ी॥ २६ ॥

दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च॥ २७

अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा॥ २८

छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम्॥ २९

स्वप्ने प्रेतपरिष्वंगः खरयानं विषादनम्।
यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः॥ ३०

अन्यानि चेत्थंभूतानि स्वप्नजागरितानि च।
पश्यन् मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया॥ ३१

व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम्॥ ३२

आनर्चुः पुरुषा रंगं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे।
मंचाश्चालंकृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः॥ ३३

तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः।
यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः॥ ३४

कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमंच उपाविशत्।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता॥ ३५

वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च।
मल्लाः स्वलंकृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समाविशन्॥ ३६

तब वह बहुत ही डर गया, उस दुर्बुद्धिको बहुत देरतक नींद न आयी। उसे जाग्रत्-अवस्थामें तथा स्वप्नमें भी बहुत-से ऐसे अपशकुन हुए जो उसकी मृत्युके सूचक थे॥ २७॥ जाग्रत्-अवस्थामें उसने देखा कि जल या दर्पणमें शरीरकी परछाईं तो पड़ती है, परन्तु सिर नहीं दिखायी देता; अँगुली आदिकी आड़ न होनेपर भी चन्द्रमा, तारे और दीपक आदिकी ज्योतियाँ उसे दो-दो दिखायी पड़ती हैं॥ २८॥ छायामें छेद दिखायी पड़ता है और कानोंमें अँगुली डालकर सुननेपर भी प्राणोंका घूँ-घूँ शब्द नहीं सुनायी पड़ता। वृक्ष सुनहले प्रतीत होते हैं और बालू या कीचड़में अपने पैरोंके चिह्न नहीं दीख पड़ते॥ २९॥ कंसने स्वप्नावस्थामें देखा कि वह प्रेतोंके गले लग रहा है, गधेपर चढ़कर चलता है और विष खा रहा है। उसका सारा शरीर तेलसे तर है, गलेमें जपाकुसुम (अड़हुल)-की माला है और नग्न होकर कहीं जा रहा है॥ ३०॥ स्वप्न और जाग्रत्-अवस्थामें उसने इसी प्रकारके और भी बहुत-से अपशकुन देखे। उनके कारण उसे बड़ी चिन्ता हो गयी, वह मृत्युसे डर गया और उसे नींद न आयी॥ ३१॥

परीक्षित्! जब रात बीत गयी और सूर्यनारायण पूर्व समुद्रसे ऊपर उठे, तब राजा कंसने मल्ल-क्रीड़ा (दंगल)-का महोत्सव प्रारम्भ कराया॥ ३२॥ राजकर्मचारियोंने रंगभूमिको भलीभाँति सजाया। तुरही, भेरी आदि बाजे बजने लगे। लोगोंके बैठनेके मंच फूलोंके गजरों, झंडियों, वस्त्र और बंदनवारोंसे सजा दिये गये॥ ३३॥ उनपर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नागरिक तथा ग्रामवासी—सब यथास्थान बैठ गये। राजालोग भी अपने-अपने निश्चित स्थानपर जा डटे॥ ३४॥ राजा कंस अपने मन्त्रियोंके साथ मण्डलेश्वरों (छोटे-छोटे राजाओं) के बीचमें सबसे श्रेष्ठ राजसिंहासनपर जा बैठा। इस समय भी अपशकुनोंके कारण उसका चित्त घबड़ाया हुआ था॥ ३५॥ तब पहलवानोंके ताल ठोंकनेके साथ ही बाजे बजने लगे और गरबीले पहलवान खूब सज-धजकर अपने-अपने उस्तादोंके

चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः॥ ३७

नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहुताः।
निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मंच आविशन्॥ ३८

साथ अखाड़ेमें आ उतरे॥ ३६॥ चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल आदि प्रधान-प्रधान पहलवान बाजोंकी सुमधुर ध्वनिसे उत्साहित होकर अखाड़ेमें आ-आकर बैठ गये॥ ३७॥ इसी समय भोजराज कंसने नन्द आदि गोपोंको बुलवाया। उन लोगोंने आकर उसे तरह-तरहकी भेंटें दीं और फिर जाकर वे एक मंचपर बैठ गये॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे मल्लरंगोपवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४२॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

कुवलयापीडका उद्धार और अखाड़ेमें प्रवेश

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः॥ १
रंगद्वारं समासाद्य तस्मिन् नागमवस्थितम्।
अपश्यत् कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम्॥ २
बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान्।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया॥ ३
अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्रम मा चिरम्।
नो चेत् सकुंजरं त्वाद्य नयामि यमसादनम्॥ ४
एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम्।
चोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम्॥ ५
करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत्।
कराद् विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत॥ ६
संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम्।
परामृशत् पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—काम-क्रोधादि शत्रुओंको पराजित करनेवाले परीक्षित्! अब श्रीकृष्ण और बलराम भी स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त हो दंगलके अनुरूप नगाड़ेकी ध्वनि सुनकर रंगभूमि देखनेके लिये चल पड़े॥ १॥ भगवान् श्रीकृष्णने रंग-भूमिके दरवाजेपर पहुँचकर देखा कि वहाँ महावतकी प्रेरणासे कुवलयापीड नामका हाथी खड़ा है॥ २॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी कमर कस ली और घुँघराली अलकें समेट लीं तथा मेघके समान गम्भीर वाणीसे महावतको ललकारकर कहा॥ ३॥ 'महावत, ओ महावत! हम दोनोंको रास्ता दे दे। हमारे मार्गसे हट जा। अरे, सुनता नहीं? देर मत कर। नहीं तो मैं हाथीके साथ अभी तुझे यमराजके घर पहुँचाता हूँ'॥ ४॥ भगवान् श्रीकृष्णने महावतको जब इस प्रकार धमकाया, तब वह क्रोधसे तिलमिला उठा और उसने काल, मृत्यु तथा यमराजके समान अत्यन्त भयंकर कुवलयापीडको अंकुशकी मारसे क्रुद्ध करके श्रीकृष्णकी ओर बढ़ाया॥ ५॥

कुवलयापीडने भगवान्की ओर झपटकर उन्हें बड़ी तेजीसे सूँड़में लपेट लिया; परन्तु भगवान् सूँड़से बाहर सरक आये और उसे एक घूँसा जमाकर उसके पैरोंके बीचमें जा छिपे॥ ६॥ उन्हें अपने सामने न देखकर कुवलयापीडको बड़ा क्रोध हुआ। उसने सूँघकर भगवान्को अपनी सूँड़से टटोल लिया और

पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पंचविंशतिम्।
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया॥ ८

स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः।
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः॥ ९

ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाऽऽहत्य वारणम्।
प्राद्रवन् पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे॥ १०

स धावन् क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः।
तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत्क्षितिम्॥ ११

स्वविक्रमे प्रतिहते कुंजरेन्द्रोऽत्यमर्षितः।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद् रुषा॥ १२

तमापतन्तमासाद्य भगवान् मधुसूदनः।
निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले॥ १३

पतितस्य पदाऽऽक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया।
दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः॥ १४

मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत्।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरंकितः।
विरूढस्वेदकणिकावदनाम्बुरुहो बभौ॥ १५

पकड़ा भी; परन्तु उन्होंने बलपूर्वक अपनेको उससे छुड़ा लिया॥ ७॥ इसके बाद भगवान् उस बलवान् हाथीकी पूँछ पकड़कर खेल-खेलमें ही उसे सौ हाथतक पीछे घसीट लाये; जैसे गरुड़ साँपको घसीट लाते हैं॥ ८॥ जिस प्रकार घूमते हुए बछड़ेके साथ बालक घूमता है अथवा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार बछड़ोंसे खेलते थे, वैसे ही वे उसकी पूँछ पकड़कर उसे घुमाने और खेलने लगे। जब वह दायेंसे घूमकर उनको पकड़ना चाहता, तब वे बायें आ जाते और जब वह बायेंकी ओर घूमता, तब वे दायें घूम जाते॥ ९॥ इसके बाद हाथीके सामने आकर उन्होंने उसे एक घूँसा जमाया और वे उसे गिरानेके लिये इस प्रकार उसके सामनेसे भागने लगे, मानो वह अब छू लेता है, तब छू लेता है॥ १०॥ भगवान् श्रीकृष्णने दौड़ते-दौड़ते एक बार खेल-खेलमें ही पृथ्वीपर गिरनेका अभिनय किया और झट वहाँसे उठकर भाग खड़े हुए। उस समय वह हाथी क्रोधसे जल-भुन रहा था। उसने समझा कि वे गिर पड़े और बड़े जोरसे अपने दोनों दाँत धरतीपर मारे॥ ११॥ जब कुवलयापीडका यह आक्रमण व्यर्थ हो गया, तब वह और भी चिढ़ गया। महावतोंकी प्रेरणासे वह क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णपर टूट पड़ा॥ १२॥ भगवान् मधुसूदनने जब उसे अपनी ओर झपटते देखा, तब उसके पास चले गये और अपने एक ही हाथसे उसकी सूँड़ पकड़कर उसे धरतीपर पटक दिया॥ १३॥ उसके गिर जानेपर भगवान्ने सिंहके समान खेल-ही-खेलमें उसे पैरोंसे दबाकर उसके दाँत उखाड़ लिये और उन्हींसे हाथी और महावतोंका काम तमाम कर दिया॥ १४॥

परीक्षित्! मरे हुए हाथीको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णने हाथमें उसके दाँत लिये-लिये ही रंगभूमिमें प्रवेश किया। उस समय उनकी शोभा देखने ही योग्य थी। उनके कंधेपर हाथीका दाँत रखा हुआ था, शरीर रक्त और मदकी बूँदोंसे सुशोभित था और मुखकमलपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं॥ १५॥

वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ।
रंगं विविशतू राजन् गजदन्तवरायुधौ॥ १६

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रंगं गतः साग्रजः॥ १७

हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ।
कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप॥ १८

तौ रेजतू रंगगतौ महाभुजौ
विचित्रवेषाभरणस्त्रगम्बरौ ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ
मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम्॥ १९

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मंचस्थिता नागरराष्ट्रका नृप।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणानना:
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम्॥ २०

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥ २१

ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम्।
तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव॥ २२

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके ही हाथोंमें कुवलयापीडके बड़े-बड़े दाँत शस्त्रके रूपमें सुशोभित हो रहे थे और कुछ ग्वालबाल उनके साथ-साथ चल रहे थे। इस प्रकार उन्होंने रंगभूमिमें प्रवेश किया॥ १६॥ जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रंगभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रकठोर शरीर, साधारण मनुष्योंको नर-रत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताके समान बड़े-बूढ़ोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े (सबने अपने-अपने भावानुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृंगार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, बीभत्स, शान्त और प्रेमभक्तिरसका अनुभव किया)॥ १७॥ राजन्! वैसे तो कंस बड़ा धीर-वीर था; फिर भी जब उसने देखा कि इन दोनोंने कुवलयापीडको मार डाला, तब उसकी समझमें यह बात आयी कि इनको जीतना तो बहुत कठिन है। उस समय वह बहुत घबड़ा गया॥ १८॥ श्रीकृष्ण और बलरामकी बाँहें बड़ी लम्बी-लम्बी थीं। पुष्पोंके हार, वस्त्र और आभूषण आदिसे उनका वेष विचित्र हो रहा था; ऐसा जान पड़ता था, मानो उत्तम वेष धारण करके दो नट अभिनय करनेके लिये आये हों। जिनके नेत्र एक बार उनपर पड़ जाते, बस, लग ही जाते। यही नहीं, वे अपनी कान्तिसे उसका मन भी चुरा लेते। इस प्रकार दोनों रंगभूमिमें शोभायमान हुए॥ १९॥ परीक्षित्! मंचोंपर जितने लोग बैठे थे—वे मथुराके नागरिक और राष्ट्रके जन-समुदाय पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको देखकर इतने प्रसन्न हुए कि उनके नेत्र और मुखकमल खिल उठे। उत्कण्ठासे भर गये। वे नेत्रोंके द्वारा उनकी मुखमाधुरीका पान करते-करते तृप्त ही नहीं होते थे॥ २०॥ मानो वे उन्हें नेत्रोंसे पी रहे हों, जिह्वासे चाट रहे हों, नासिकासे सूँघ रहे हों और भुजाओंसे पकड़कर हृदयसे सटा रहे हों॥ २१॥ उनके सौन्दर्य, गुण, माधुर्य और निर्भयताने मानो दर्शकोंको उनकी लीलाओंका स्मरण करा दिया और वे लोग आपसमें उनके सम्बन्धकी देखी-सुनी

एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि॥ २३

एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम्।
कालमेतं वसन् गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि॥ २४

पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः।
अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः॥ २५

गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः।
कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः॥ २६

सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना।
वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम्॥ २७

गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रेक्षणं मुखम्।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा॥ २८

वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः।
श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः॥ २९

अयं चास्याग्रजः श्रीमान् रामः कमललोचनः।
प्रलम्बो निहतो येन वत्सको ये बकादयः॥ ३०

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत्॥ ३१

हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसंमतौ।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाऽऽहूतौ दिदृक्षुणा॥ ३२

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वन्त्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः।
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा॥ ३३

बातें कहने-सुनने लगे॥ २२॥ 'ये दोनों साक्षात् भगवान् नारायणके अंश हैं। इस पृथ्वीपर वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण हुए हैं॥ २३॥

[अँगुलीसे दिखलाकर] ये साँवले-सलोने कुमार देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। जन्मते ही वसुदेवजीने इन्हें गोकुल पहुँचा दिया था। इतने दिनोंतक ये वहाँ छिपकर रहे और नन्दजीके घरमें ही पलकर इतने बड़े हुए॥ २४॥ इन्होंने ही पूतना, तृणावर्त, शंखचूड़, केशी और धेनुक आदिका तथा और भी दुष्ट दैत्योंका वध तथा यमलार्जुनका उद्धार किया है॥ २५॥ इन्होंने ही गौ और ग्वालोंको दावानलकी ज्वालासे बचाया था। कालियनागका दमन और इन्द्रका मान-मर्दन भी इन्होंने ही किया था॥ २६॥ इन्होंने सात दिनोंतक एक ही हाथपर गिरिराज गोवर्धनको उठाये रखा और उसके द्वारा आँधी-पानी तथा वज्रपातसे गोकुलको बचा लिया॥ २७॥ गोपियाँ इनकी मन्द-मन्द मुसकान, मधुर चितवन और सर्वदा एकरस प्रसन्न रहनेवाले मुखारविन्दके दर्शनसे आनन्दित रहती थीं और अनायास ही सब प्रकारके तापोंसे मुक्त हो जाती थीं॥ २८॥ कहते हैं कि ये यदुवंशकी रक्षा करेंगे। यह विख्यात वंश इनके द्वारा महान् समृद्धि, यश और गौरव प्राप्त करेगा॥ २९॥ ये दूसरे इन्हीं श्यामसुन्दरके बड़े भाई कमलनयन श्रीबलरामजी हैं। हमने किसी-किसीके मुँहसे ऐसा सुना है कि इन्होंने ही प्रलम्बासुर, वत्सासुर और बकासुर आदिको मारा है'॥ ३०॥

जिस समय दर्शकोंमें यह चर्चा हो रही थी और अखाड़ेमें तुरही आदि बाजे बज रहे थे, उस समय चाणूरने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको सम्बोधन करके यह बात कही—॥ ३१॥ 'नन्दनन्दन श्रीकृष्ण और बलरामजी! तुम दोनों वीरोंके आदरणीय हो। हमारे महाराजने यह सुनकर कि तुमलोग कुश्ती लड़नेमें बड़े निपुण हो, तुम्हारा कौशल देखनेके लिये तुम्हें यहाँ बुलवाया है॥ ३२॥ देखो भाई! जो प्रजा मन, वचन और कर्मसे राजाका प्रिय कार्य करती है, उसका भला होता है और जो राजाकी इच्छाके विपरीत काम करती है, उसे हानि उठानी पड़ती है॥ ३३॥

नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम्।
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः॥ ३४

यह सभी जानते हैं कि गाय और बछड़े चरानेवाले ग्वालिये प्रतिदिन आनन्दसे जंगलोंमें कुश्ती लड़-लड़कर खेलते रहते हैं और गायें चराते रहते हैं॥ ३४॥

तस्माद् राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवाम हे।
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः॥ ३५

इसलिये आओ, हम और तुम मिलकर महाराजको प्रसन्न करनेके लिये कुश्ती लड़ें। ऐसा करनेसे हमपर सभी प्राणी प्रसन्न होंगे, क्योंकि राजा सारी प्रजाका प्रतीक है'॥ ३५॥

तन्निशम्याब्रवीत् कृष्णो देशकालोचितं वचः।
नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च॥ ३६

प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः।
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः॥ ३७

बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम्।
भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्ल सभासदः॥ ३८

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण तो चाहते ही थे कि इनसे दो-दो हाथ करें। इसलिये उन्होंने चाणूरकी बात सुनकर उसका अनुमोदन किया और देश-कालके अनुसार यह बात कही— ॥ ३६॥ 'चाणूर! हम भी इन भोजराज कंसकी वनवासी प्रजा हैं। हमें इनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। इसीमें हमारा कल्याण है॥ ३७॥ किन्तु चाणूर! हमलोग अभी बालक हैं। इसलिये हम अपने समान बलवाले बालकोंके साथ ही कुश्ती लड़नेका खेल करेंगे। कुश्ती समान बलवालोंके साथ ही होनी चाहिये, जिससे देखनेवाले सभासदोंको अन्यायके समर्थक होनेका पाप न लगे'॥ ३८॥

चाणूर उवाच

न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः।
लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत्॥ ३९

तस्माद् भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै।
मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः॥ ४०

चाणूरने कहा—अजी! तुम और बलराम न बालक हो और न तो किशोर। तुम दोनों बलवानोंमें श्रेष्ठ हो, तुमने अभी-अभी हजार हाथियोंका बल रखनेवाले कुवलयापीडको खेल-ही-खेलमें मार डाला॥ ३९॥ इसलिये तुम दोनोंको हम-जैसे बलवानोंके साथ ही लड़ना चाहिये। इसमें अन्यायकी कोई बात नहीं है। इसलिये श्रीकृष्ण! तुम मुझपर अपना जोर आजमाओ और बलरामके साथ मुष्टिक लड़ेगा॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
कुवलयापीडवधो नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

चाणूर, मुष्टिक आदि पहलवानोंका तथा कंसका उद्धार

श्रीशुक उवाच

एवं चर्चितसंकल्पो भगवान् मधुसूदनः।
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने चाणूर आदिके वधका निश्चित संकल्प कर लिया। जोड़ बद दिये जानेपर श्रीकृष्ण चाणूरसे और बलरामजी मुष्टिकसे जा भिड़े॥ १॥

हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः।
विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया॥ २

अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी।
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ ३

परिभ्रामणविक्षेपपरिरम्भावपातनैः।
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम्॥ ४

उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि।
परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः॥ ५

तद् बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः।
ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः॥ ६

महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम्।
ये बलाबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः॥ ७

क्व वज्रसारसर्वांगौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ।
क्व चातिसुकुमारांगौ किशोरौ नाप्तयौवनौ॥ ८

धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत्।
यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित्॥ ९

न सभां प्रविशेत् प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन्।
अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते॥ १०

वे लोग एक-दूसरेको जीत लेनेकी इच्छासे हाथसे हाथ बाँधकर और पैरोंमें पैर अड़ाकर बलपूर्वक अपनी-अपनी ओर खींचने लगे॥ २॥ वे पंजोंसे पंजे, घुटनोंसे घुटने, माथेसे माथा और छातीसे छाती भिड़ाकर एक-दूसरेपर चोट करने लगे॥ ३॥ इस प्रकार दाँव-पेंच करते-करते अपने-अपने जोड़ीदारको पकड़कर इधर-उधर घुमाते, दूर ढकेल देते, जोरसे जकड़ लेते, लिपट जाते, उठाकर पटक देते, छूटकर निकल भागते और कभी छोड़कर पीछे हट जाते थे। इस प्रकार एक-दूसरेको रोकते, प्रहार करते और अपने जोड़ीदारको पछाड़ देनेकी चेष्टा करते। कभी कोई नीचे गिर जाता, तो दूसरा उसे घुटनों और पैरोंमें दबाकर उठा लेता। हाथोंसे पकड़कर ऊपर ले जाता। गलेमें लिपट जानेपर ढकेल देता और आवश्यकता होनेपर हाथ-पाँव इकट्ठे करके गाँठ बाँध देता॥ ४-५॥

परीक्षित्! इस दंगलको देखनेके लिये नगरकी बहुत-सी महिलाएँ भी आयी हुई थीं। उन्होंने जब देखा कि बड़े-बड़े पहलवानोंके साथ ये छोटे-छोटे बलहीन बालक लड़ाये जा रहे हैं, तब वे अलग-अलग टोलियाँ बनाकर करुणावश आपसमें बातचीत करने लगीं— ॥ ६॥ 'यहाँ राजा कंसके सभासद् बड़ा अन्याय और अधर्म कर रहे हैं। कितने खेदकी बात है कि राजाके सामने ही ये बली पहलवानों और निर्बल बालकोंके युद्धका अनुमोदन करते हैं॥ ७॥ बहिन! देखो, इन पहलवानोंका एक-एक अंग वज्रके समान कठोर है। ये देखनेमें बड़े भारी पर्वत-से मालूम होते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण और बलराम अभी जवान भी नहीं हुए हैं। इनकी किशोरावस्था है। इनका एक-एक अंग अत्यन्त सुकुमार है। कहाँ ये और कहाँ वे?॥ ८॥ जितने लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं, देख रहे हैं, उन्हें अवश्य-अवश्य धर्मोल्लंघनका पाप लगेगा। सखी! अब हमें भी यहाँसे चल देना चाहिये। जहाँ अधर्मकी प्रधानता हो, वहाँ कभी न रहे; यही शास्त्रका नियम है॥ ९॥ देखो, शास्त्र कहता है कि बुद्धिमान् पुरुषको सभासदोंके दोषोंको जानते हुए सभामें जाना ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ जाकर उन अवगुणोंको कहना, चुप रह जाना अथवा मैं नहीं जानता ऐसा कह देना—ये तीनों ही बातें मनुष्यको

वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम्।
वीक्ष्यतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥ ११

किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम्।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम्॥ १२

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिंग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः ॥ १३

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥ १४

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥ १५

दोषभागी बनाती हैं॥ १०॥ देखो, देखो, श्रीकृष्ण शत्रुके चारों ओर पैंतरा बदल रहे हैं। उनके मुखपर पसीनेकी बूँदें ठीक वैसे ही शोभा दे रही हैं, जैसे कमलकोशपर जलकी बूँदें॥ ११ ॥ सखियो! क्या तुम नहीं देख रही हो कि बलरामजीका मुख मुष्टिकके प्रति क्रोधके कारण कुछ-कुछ लाल लोचनोंसे युक्त हो रहा है! फिर भी हास्यका अनिरुद्ध आवेग कितना सुन्दर लग रहा है॥ १२॥

सखी! सच पूछो तो व्रजभूमि ही परम पवित्र और धन्य है। क्योंकि वहाँ ये पुरुषोत्तम मनुष्यके वेषमें छिपकर रहते हैं। स्वयं भगवान् शंकर और लक्ष्मीजी जिनके चरणोंकी पूजा करती हैं, वे ही प्रभु वहाँ रंग-बिरंगे जंगली पुष्पोंकी माला धारण कर लेते हैं तथा बलरामजीके साथ बाँसुरी बजाते, गौएँ चराते और तरह-तरहके खेल खेलते हुए आनन्दसे विचरते हैं॥ १३॥

सखी! पता नहीं, गोपियोंने कौन-सी तपस्या की थी, जो नेत्रोंके दोनोंसे नित्य-निरन्तर इनकी रूप-माधुरीका पान करती रहती हैं। इनका रूप क्या है, लावण्यका सार! संसारमें या उससे परे किसीका भी रूप इनके रूपके समान नहीं है, फिर बढ़कर होनेकी तो बात ही क्या है! सो भी किसीके सँवारने-सजानेसे नहीं, गहने-कपड़ेसे भी नहीं, बल्कि स्वयंसिद्ध है। इस रूपको देखते-देखते तृप्ति भी नहीं होती। क्योंकि यह प्रतिक्षण नया होता जाता है, नित्य नूतन है। समग्र यश, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इसीके आश्रित हैं। सखियो! परन्तु इसका दर्शन तो औरोंके लिये बड़ा ही दुर्लभ है। वह तो गोपियोंके ही भाग्यमें बदा है॥ १४॥

सखी! व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं। निरन्तर श्रीकृष्णमें ही चित्त लगा रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, आँसुओंके कारण गद्गद कण्ठसे वे इन्हींकी लीलाओंका गान करती रहती हैं। वे दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—कहाँतक कहें, सारे काम-काज करते समय श्रीकृष्णके गुणोंके गानमें ही मस्त रहती हैं॥ १५॥

प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥ १६

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः।
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान् भरतर्षभ॥ १७

सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचाऽऽतुरौ।
पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम्॥ १८

तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ।
युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ॥ १९

भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः।
चाणूरो भज्यमानांगो मुहुर्ग्लानिमवाप ह॥ २०

स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत॥ २१

नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः।
बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन् हरिः॥ २२

भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम्।
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत्॥ २३

ये श्रीकृष्ण जब प्रात:काल गौओंको चरानेके लिये व्रजसे वनमें जाते हैं और सायंकाल उन्हें लेकर व्रजमें लौटते हैं, तब बड़े मधुर स्वरसे बाँसुरी बजाते हैं। उसकी टेर सुनकर गोपियाँ घरका सारा कामकाज छोड़कर झटपट रास्तेमें दौड़ आती हैं और श्रीकृष्णका मन्द-मन्द मुसकान एवं दयाभरी चितवनसे युक्त मुखकमल निहार-निहारकर निहाल होती हैं। सचमुच गोपियाँ ही परम पुण्यवती हैं'॥ १६॥

भरतवंशशिरोमणे! जिस समय पुरवासिनी स्त्रियाँ इस प्रकार बातें कर रही थीं, उसी समय योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन शत्रुको मार डालनेका निश्चय किया॥ १७॥ स्त्रियोंकी ये भयपूर्ण बातें माता-पिता देवकी-वसुदेव भी सुन रहे थे*। वे पुत्रस्नेहवश शोकसे विह्वल हो गये। उनके हृदयमें बड़ी जलन, बड़ी पीड़ा होने लगी। क्योंकि वे अपने पुत्रोंके बल-वीर्यको नहीं जानते थे॥ १८॥ भगवान् श्रीकृष्ण और उनसे भिड़नेवाला चाणूर दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रकारके दाँव-पेंचका प्रयोग करते हुए परस्पर जिस प्रकार लड़ रहे थे, वैसे ही बलरामजी और मुष्टिक भी भिड़े हुए थे॥ १९॥ भगवान्‌के अंग-प्रत्यंग वज्रसे भी कठोर हो रहे थे। उनकी रगड़से चाणूरकी रग-रग ढीली पड़ गयी। बार-बार उसे ऐसा मालूम हो रहा था मानो उसके शरीरके सारे बन्धन टूट रहे हैं। उसे बड़ी ग्लानि, बड़ी व्यथा हुई॥ २०॥ अब वह अत्यन्त क्रोधित होकर बाजकी तरह झपटा और दोनों हाथोंके घूँसे बाँधकर उसने भगवान् श्रीकृष्णकी छातीपर प्रहार किया॥ २१॥ परन्तु उसके प्रहारसे भगवान् तनिक भी विचलित न हुए, जैसे फूलोंके गजरेकी मारसे गजराज। उन्होंने चाणूरकी दोनों भुजाएँ पकड़ लीं और उसे अन्तरिक्षमें बड़े वेगसे कई बार घुमाकर धरतीपर दे मारा। परीक्षित्! चाणूरके प्राण तो घुमानेके समय ही निकल गये थे। उसकी वेष-भूषा अस्त-व्यस्त हो गयी, केश और मालाएँ बिखर गयीं, वह इन्द्रध्वज (इन्द्रकी पूजाके लिये खड़े किये गये बड़े झंडे) के समान गिर पड़ा॥ २२-२३॥

* स्त्रियाँ जहाँ बातें कर रही थीं, वहाँसे निकट ही वसुदेव-देवकी कैद थे, अत: वे उनकी बातें सुन सके।

तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै।
बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम्॥ २४

प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन् मुखतोऽर्दितः।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः॥ २५

ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः।
अवधील्लीलया राजन् सावज्ञं वाममुष्टिना॥ २६

तर्ह्येव हि शलः कृष्णपदापहतशीर्षकः।
द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः॥ २७

चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते।
शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः॥ २८

गोपान् वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः।
वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ॥ २९

जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः।
ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधु साध्विति॥ ३०

हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट्।
न्यवारयत् स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह॥ ३१

निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात्।
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम्॥ ३२

वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः।
उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः॥ ३३

इसी प्रकार मुष्टिकने भी पहले बलरामजीको एक घूँसा मारा। इसपर बली बलरामजीने उसे बड़े जोरसे एक तमाचा जड़ दिया॥ २४॥ तमाचा लगनेसे वह काँप उठा और आँधीसे उखड़े हुए वृक्षके समान अत्यन्त व्यथित और अन्तमें प्राणहीन होकर खून उगलता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २५॥ हे राजन्! इसके बाद योद्धाओंमें श्रेष्ठ भगवान् बलरामजीने अपने सामने आते ही कूट नामक पहलवानको खेल-खेलमें ही बायें हाथके घूँसेसे उपेक्षापूर्वक मार डाला॥ २६॥ उसी समय भगवान् श्रीकृष्णने पैरकी ठोकरसे शलका सिर धड़से अलग कर दिया और तोशलको तिनकेकी तरह चीरकर दो टुकड़े कर दिया। इस प्रकार दोनों धराशायी हो गये॥ २७॥ जब चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल—ये पाँचों पहलवान मर चुके, तब जो बच रहे थे, वे अपने प्राण बचानेके लिये स्वयं वहाँसे भाग खड़े हुए॥ २८॥ उनके भाग जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी अपने समवयस्क ग्वाल-बालोंको खींच-खींचकर उनके साथ भिड़ने और नाच-नाचकर भेरीध्वनिके साथ अपने नूपुरोंकी झनकारको मिलाकर मल्लक्रीडा—कुश्तीके खेल करने लगे॥ २९॥

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी इस अद्‌भुत लीलाको देखकर सभी दर्शकोंको बड़ा आनन्द हुआ। श्रेष्ठ ब्राह्मण और साधु पुरुष 'धन्य है, धन्य है'—इस प्रकार कहकर प्रशंसा करने लगे। परन्तु कंसको इससे बड़ा दुःख हुआ। वह और भी चिढ़ गया॥ ३०॥ जब उसके प्रधान पहलवान मार डाले गये और बचे हुए सब-के-सब भाग गये, तब भोजराज कंसने अपने बाजे-गाजे बंद करा दिये और अपने सेवकोंको यह आज्ञा दी— ॥ ३१॥ 'अरे, वसुदेवके इन दुश्चरित्र लड़कोंको नगरसे बाहर निकाल दो। गोपोंका सारा धन छीन लो और दुर्बुद्धि नन्दको कैद कर लो॥ ३२॥ वसुदेव भी बड़ा कुबुद्धि और दुष्ट है। उसे शीघ्र मार डालो और उग्रसेन मेरा पिता होनेपर भी अपने अनुयायियोंके साथ शत्रुओंसे मिला हुआ है। इसलिये उसे भी जीता मत छोड़ो'॥ ३३॥

एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मंचमुत्तुंगमारुहत्॥ ३४

तमाविशन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात्।
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी॥ ३५

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु
श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे।
समग्रहीद् दुर्विषहोग्रतेजा
यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य॥ ३६

प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं
निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात्।
तस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभः
पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः॥ ३७

तं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ
हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः।
हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाभू-
दुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र॥ ३८

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं
पिबन् वदन् वा विचरन् स्वपन् श्वसन्।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो य-
स्तदेव रूपं दुरवापमाप॥ ३९

तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कंकन्यग्रोधकादयः।
अभ्यधावन्नभिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः॥ ४०

तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान् रोहिणीसुतः।
अहन् परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः॥ ४१

कंस इस प्रकार बढ़-बढ़कर बकवाद कर रहा था कि अविनाशी श्रीकृष्ण कुपित होकर फुर्तीसे वेगपूर्वक उछलकर लीलासे ही उसके ऊँचे मंचपर जा चढ़े॥ ३४॥ जब मनस्वी कंसने देखा कि मेरे मृत्युरूप भगवान् श्रीकृष्ण सामने आ गये, तब वह सहसा अपने सिंहासनसे उठ खड़ा हुआ और हाथमें ढाल तथा तलवार उठा ली॥ ३५॥ हाथमें तलवार लेकर वह चोट करनेका अवसर ढूँढ़ता हुआ पैंतरा बदलने लगा। आकाशमें उड़ते हुए बाजके समान वह कभी दायीं ओर जाता तो कभी बायीं ओर। परन्तु भगवान्का प्रचण्ड तेज अत्यन्त दुस्सह है। जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेते हैं, वैसे ही भगवान्ने बलपूर्वक उसे पकड़ लिया॥ ३६॥ इसी समय कंसका मुकुट गिर गया और भगवान्ने उसके केश पकड़कर उसे भी उस ऊँचे मंचसे रंगभूमिमें गिरा दिया। फिर परम स्वतन्त्र और सारे विश्वके आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण उसके ऊपर स्वयं कूद पड़े॥ ३७॥ उनके कूदते ही कंसकी मृत्यु हो गयी। सबके देखते-देखते भगवान् श्रीकृष्ण कंसकी लाशको धरतीपर उसी प्रकार घसीटने लगे, जैसे सिंह हाथीको घसीटे। नरेन्द्र! उस समय सबके मुँहसे 'हाय! हाय!' की बड़ी ऊँची आवाज सुनायी पड़ी॥ ३८॥ कंस नित्य-निरन्तर बड़ी घबड़ाहटके साथ श्रीकृष्णका ही चिन्तन करता रहता था। वह खाते-पीते, सोते-चलते, बोलते और साँस लेते—सब समय अपने सामने चक्र हाथमें लिये भगवान् श्रीकृष्णको ही देखता रहता था। इस नित्य चिन्तनके फलस्वरूप—वह चाहे द्वेषभावसे ही क्यों न किया गया हो—उसे भगवान्के उसी रूपकी प्राप्ति हुई, सारूप्य मुक्ति हुई, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े तपस्वी योगियोंके लिये भी कठिन है॥ ३९॥

कंसके कंक और न्यग्रोध आदि आठ छोटे भाई थे। वे अपने बड़े भाईका बदला लेनेके लिये क्रोधसे आगबबूले होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी ओर दौड़े॥ ४०॥ जब भगवान् बलरामजीने देखा कि वे बड़े वेगसे युद्धके लिये तैयार होकर दौड़े आ रहे हैं, तब उन्होंने परिघ उठाकर उन्हें वैसे ही मार डाला, जैसे सिंह पशुओंको मार डालता है॥ ४१॥

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः॥ ४२

तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः।
तत्राभीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः॥ ४३

शयानान् वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः।
विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः॥ ४४

हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः॥ ४५

त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमंगला॥ ४६

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान् द्रोहमुल्बणम्।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक् को लभेत शम्॥ ४७

सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते॥ ४८

श्रीशुक उवाच

राजयोषित आश्वास्य भगवाँल्लोकभावनः।
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत्॥ ४९

मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात्।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः॥ ५०

उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। भगवान्‌के विभूतिस्वरूप ब्रह्मा, शंकर आदि देवता बड़े आनन्दसे पुष्पोंकी वर्षा करते हुए उनकी स्तुति करने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं॥ ४२॥ महाराज! कंस और उसके भाइयोंकी स्त्रियाँ अपने आत्मीय स्वजनोंकी मृत्युसे अत्यन्त दुःखित हुईं। वे अपने सिर पीटती हुई आँखोंमें आँसू भरे वहाँ आयीं॥ ४३॥ वीरशय्यापर सोये हुए अपने पतियोंसे लिपटकर वे शोकग्रस्त हो गयीं और बार-बार आँसू बहाती हुई ऊँचे स्वरसे विलाप करने लगीं॥ ४४॥ 'हा नाथ! हे प्यारे! हे धर्मज्ञ! हे करुणामय! हे अनाथवत्सल! आपकी मृत्युसे हम सबकी मृत्यु हो गयी। आज हमारे घर उजड़ गये। हमारी सन्तान अनाथ हो गयी॥ ४५॥ पुरुषश्रेष्ठ! इस पुरीके आप ही स्वामी थे। आपके विरहसे इसके उत्सव समाप्त हो गये और मंगलचिह्न उतर गये। यह हमारी ही भाँति विधवा होकर शोभाहीन हो गयी॥ ४६॥ स्वामी! आपने निरपराध प्राणियोंके साथ घोर द्रोह किया था, अन्याय किया था; इसीसे आपकी यह गति हुई। सच है, जो जगत्‌के जीवोंसे द्रोह करता है, उनका अहित करता है, ऐसा कौन पुरुष शान्ति पा सकता है?॥ ४७॥ ये भगवान् श्रीकृष्ण जगत्‌के समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके आधार हैं। यही रक्षक भी हैं। जो इनका बुरा चाहता है, इनका तिरस्कार करता है; वह कभी सुखी नहीं हो सकता॥ ४८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ही सारे संसारके जीवनदाता हैं। उन्होंने रानियोंको ढाढ़स बँधाया, सान्त्वना दी; फिर लोक-रीतिके अनुसार मरनेवालोंका जैसा क्रिया-कर्म होता है, वह सब कराया॥ ४९॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और बल-रामजीने जेलमें जाकर अपने माता-पिताको बन्धनसे छुड़ाया और सिरसे स्पर्श करके उनके चरणोंकी वन्दना की॥ ५०॥

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥ ५१

किंतु अपने पुत्रोंके प्रणाम करनेपर भी देवकी और वसुदेवने उन्हें जगदीश्वर समझकर अपने हृदयसे नहीं लगाया। उन्हें शंका हो गयी कि हम जगदीश्वरको पुत्र कैसे समझें॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-बलरामका यज्ञोपवीत और गुरुकुलप्रवेश

श्रीशुक उवाच

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम्॥ १

उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम्॥ २

नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित्॥ ३

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥ ४

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा॥ ५

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि माता-पिताको मेरे ऐश्वर्यका, मेरे भगवद्भावका ज्ञान हो गया है, परंतु इन्हें ऐसा ज्ञान होना ठीक नहीं, (इससे तो ये पुत्र-स्नेहका सुख नहीं पा सकेंगे—) ऐसा सोचकर उन्होंने उनपर अपनी वह योगमाया फैला दी, जो उनके स्वजनोंको मुग्ध रखकर उनकी लीलामें सहायक होती है॥ १॥ यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भाई बलरामजीके साथ अपने माँ-बापके पास जाकर आदरपूर्वक और विनयसे झुककर 'मेरी अम्मा! मेरे पिताजी!' इन शब्दोंसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहने लगे—॥ २॥ 'पिताजी! माताजी! हम आपके पुत्र हैं और आप हमारे लिये सर्वदा उत्कण्ठित रहे हैं, फिर भी आप हमारे बाल्य, पौगण्ड और किशोर-अवस्थाका सुख हमसे नहीं पा सके॥ ३॥ दुर्दैववश हमलोगोंको आपके पास रहनेका सौभाग्य ही नहीं मिला। इसीसे बालकोंको माता-पिताके घरमें रहकर जो लाड़-प्यारका सुख मिलता है, वह हमें भी नहीं मिल सका॥ ४॥ पिता और माता ही इस शरीरको जन्म देते हैं और इसका लालन-पालन करते हैं। तब कहीं जाकर यह शरीर धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षकी प्राप्तिका साधन बनता है। यदि कोई मनुष्य सौ वर्षतक जीकर माता और पिताकी सेवा करता रहे, तब भी वह उनके उपकारसे उऋण नहीं हो सकता॥ ५॥ जो पुत्र सामर्थ्य रहते भी अपने माँ-बापकी शरीर और धनसे सेवा नहीं करता, उसके मरनेपर यमदूत उसे उसके अपने शरीरका मांस खिलाते हैं॥ ६॥

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः॥ ७

तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः॥ ८

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥ ९

श्रीशुक उवाच

इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम्॥ १०

सिंचन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ।
न किंचिदूचतू राजन् बाष्पकण्ठौ विमोहितौ॥ ११

एवमाश्वास्य पितरौ भगवान् देवकीसुतः।
मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम्॥ १२

आह चास्मान् महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि।
ययातिशापाद् यदुभिर्नासितव्यं नृपासने॥ १३

मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः॥ १४

सर्वान् स्वाञ्ज्ञातिसंबन्धान् दिग्भ्यः कंसभयाकुलान्।
यदुवृष्ण्यन्धकमधुदाशार्हकुकुरादिकान्॥ १५

सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान्।
न्यवासयत् स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत्॥ १६

जो पुरुष समर्थ होकर भी बूढ़े माता-पिता, सती पत्नी, बालक, सन्तान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता—वह जीता हुआ भी मुर्देके समान ही है!॥ ७॥ पिताजी! हमारे इतने दिन व्यर्थ ही बीत गये। क्योंकि कंसके भयसे सदा उद्विग्नचित्त रहनेके कारण हम आपकी सेवा करनेमें असमर्थ रहे॥ ८॥ मेरी माँ और मेरे पिताजी! आप दोनों हमें क्षमा करें। हाय! दुष्ट कंसने आपको इतने-इतने कष्ट दिये, परंतु हम परतन्त्र रहनेके कारण आपकी कोई सेवा-शुश्रूषा न कर सके'॥ ९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपनी लीलासे मनुष्य बने हुए विश्वात्मा श्रीहरिकी इस वाणीसे मोहित हो देवकी-वसुदेवने उन्हें गोदमें उठा लिया और हृदयसे चिपकाकर परमानन्द प्राप्त किया॥ १०॥ राजन्! वे स्नेह-पाशसे बँधकर पूर्णतः मोहित हो गये और आँसुओंकी धारासे उनका अभिषेक करने लगे। यहाँतक कि आँसुओंके कारण गला रुँध जानेसे वे कुछ बोल भी न सके॥ ११॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार अपने माता-पिताको सान्त्वना देकर अपने नाना उग्रसेनको यदुवंशियोंका राजा बना दिया॥ १२॥ और उनसे कहा—'महाराज! हम आपकी प्रजा हैं। आप हमलोगोंपर शासन कीजिये। राजा ययातिका शाप होनेके कारण यदुवंशी राजसिंहासनपर नहीं बैठ सकते; (परंतु मेरी ऐसी ही इच्छा है, इसलिये आपको कोई दोष न होगा॥ १३॥ जब मैं सेवक बनकर आपकी सेवा करता रहूँगा, तब बड़े-बड़े देवता भी सिर झुकाकर आपको भेंट देंगे।' दूसरे नरपतियोंके बारेमें तो कहना ही क्या है॥ १४॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ही सारे विश्वके विधाता हैं। उन्होंने, जो कंसके भयसे व्याकुल होकर इधर-उधर भाग गये थे, उन यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि वंशोंमें उत्पन्न समस्त सजातीय सम्बन्धियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर बुलवाया। उन्हें घरसे बाहर रहनेमें बड़ा क्लेश उठाना पड़ा था। भगवान्ने उनका सत्कार किया, सान्त्वना दी और उन्हें खूब धन-सम्पत्ति देकर तृप्त किया तथा अपने-अपने घरोंमें बसा दिया॥ १५-१६॥

कृष्णसंकर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः॥ १७

वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम्।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् सदयस्मितवीक्षणम्॥ १८

तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः॥ १९

अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः।
संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः॥ २०

पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि॥ २१

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत्।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे॥ २२

यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥ २३

एवं सान्त्वय्य भगवान् नन्दं सव्रजमच्युतः।
वासोऽलंकारकुप्याद्यैरर्हयामास सादरम्॥ २४

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः।
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ॥ २५

अब सारे-के-सारे यदुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके बाहुबलसे सुरक्षित थे। उनकी कृपासे उन्हें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं थी, दुःख नहीं था। उनके सारे मनोरथ सफल हो गये थे। वे कृतार्थ हो गये थे। अब वे अपने-अपने घरोंमें आनन्दसे विहार करने लगे॥ १७॥ भगवान् श्रीकृष्णका वदन आनन्दका सदन है। वह नित्य प्रफुल्लित, कभी न कुम्हलानेवाला कमल है। उसका सौन्दर्य अपार है। सदय हास और चितवन उसपर सदा नाचती रहती है। यदुवंशी दिन-प्रतिदिन उसका दर्शन करके आनन्दमग्न रहते॥ १८॥ मथुराके वृद्ध पुरुष भी युवकोंके समान अत्यन्त बलवान् और उत्साही हो गये थे; क्योंकि वे अपने नेत्रोंके दोनोंसे बारंबार भगवान्‌के मुखारविन्दका अमृतमय मकरन्द-रस पान करते रहते थे॥ १९॥

प्रिय परीक्षित्! अब देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों ही नन्दबाबाके पास आये और गले लगनेके बाद उनसे कहने लगे— ॥ २०॥ 'पिताजी! आपने और माँ यशोदाने बड़े स्नेह और दुलारसे हमारा लालन-पालन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माता-पिता सन्तानपर अपने शरीरसे भी अधिक स्नेह करते हैं॥ २१॥ जिन्हें पालन-पोषण न कर सकनेके कारण स्वजन-सम्बन्धियोंने त्याग दिया है, उन बालकोंको जो लोग अपने पुत्रके समान लाड़-प्यारसे पालते हैं, वे ही वास्तवमें उनके माँ-बाप हैं॥ २२॥ पिताजी! अब आपलोग व्रजमें जाइये। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे बिना वात्सल्य-स्नेहके कारण आपलोगोंको बहुत दुःख होगा। यहाँके सुहृद्-सम्बन्धियोंको सुखी करके हम आपलोगोंसे मिलनेके लिये आयेंगे'॥ २३॥ भगवान् श्रीकृष्णने नन्दबाबा और दूसरे व्रजवासियोंको इस प्रकार समझा-बुझाकर बड़े आदरके साथ वस्त्र, आभूषण और अनेक धातुओंके बने बरतन आदि देकर उनका सत्कार किया॥ २४॥ भगवान्‌की बात सुनकर नन्द-बाबाने प्रेमसे अधीर होकर दोनों भाइयोंको गले लगा लिया और फिर नेत्रोंमें आँसू भरकर गोपोंके साथ व्रजके लिये प्रस्थान किया॥ २५॥

अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोः समकारयत्।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद् द्विजसंस्कृतिम्॥ २६

तेभ्योऽदाद् दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलंकृताः।
स्वलंकृतेभ्यः संपूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः॥ २७

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः।
ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः॥ २८

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ।
गर्गाद् यदुकुलाचार्याद् गायत्रं व्रतमास्थितौ॥ २९

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः॥ ३०

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम्॥ ३१

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम्।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ॥ ३२

तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः।
प्रोवाच वेदानखिलान् सांगोपनिषदो गुरुः॥ ३३

हे राजन्! इसके बाद वसुदेवजीने अपने पुरोहित गर्गाचार्य तथा दूसरे ब्राह्मणोंसे दोनों पुत्रोंका विधिपूर्वक द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत संस्कार करवाया॥ २६॥ उन्होंने विविध प्रकारके वस्त्र और आभूषणोंसे ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें बहुत-सी दक्षिणा तथा बछड़ोंवाली गौएँ दीं। सभी गौएँ गलेमें सोनेकी माला पहने हुए थीं तथा और भी बहुतसे आभूषणों एवं रेशमी वस्त्रोंकी मालाओंसे विभूषित थीं॥ २७॥ महामति वसुदेवजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके जन्म-नक्षत्रमें जितनी गौएँ मन-ही-मन संकल्प करके दी थीं, उन्हें पहले कंसने अन्यायसे छीन लिया था। अब उनका स्मरण करके उन्होंने ब्राह्मणोंको वे फिरसे दीं॥ २८॥ इस प्रकार यदुवंशके आचार्य गर्गजीसे संस्कार कराकर बलरामजी और भगवान् श्रीकृष्ण द्विजत्वको प्राप्त हुए। उनका ब्रह्मचर्यव्रत अखण्ड तो था ही, अब उन्होंने गायत्रीपूर्वक अध्ययन करनेके लिये उसे नियमतः स्वीकार किया॥ २९॥ श्रीकृष्ण और बलराम जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। सर्वज्ञ हैं। सभी विद्याएँ उन्हींसे निकली हैं। उनका निर्मल ज्ञान स्वतःसिद्ध है। फिर भी उन्होंने मनुष्यकी-सी लीला करके उसे छिपा रखा था॥ ३०॥

अब वे दोनों गुरुकुलमें निवास करनेकी इच्छासे काश्यपगोत्री सान्दीपनि मुनिके पास गये, जो अवन्तीपुर (उज्जैन) में रहते थे॥ ३१॥ वे दोनों भाई विधिपूर्वक गुरुजीके पास रहने लगे। उस समय वे बड़े ही सुसंयत, अपनी चेष्टाओंको सर्वथा नियमित रखे हुए थे। गुरुजी तो उनका आदर करते ही थे, भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी भी गुरुकी उत्तम सेवा कैसे करनी चाहिये, इसका आदर्श लोगोंके सामने रखते हुए बड़ी भक्तिसे इष्टदेवके समान उनकी सेवा करने लगे॥ ३२॥ गुरुवर सान्दीपनिजी उनकी शुद्धभावसे युक्त सेवासे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों भाइयोंको छहों अंग और उपनिषदोंके सहित

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम्॥ ३४

सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ संजगृहतुर्नृप॥ ३५

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः।
गुरुदक्षिणयाऽऽचार्यं छन्दयामासतुर्नृप॥ ३६

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं
संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम्।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह॥ ३७

सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा दी॥ ३३॥ इनके सिवा मन्त्र और देवताओंके ज्ञानके साथ धनुर्वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि, वेदोंका तात्पर्य बतलानेवाले शास्त्र, तर्कविद्या (न्यायशास्त्र) आदिकी भी शिक्षा दी। साथ ही सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय—इन छः भेदोंसे युक्त राजनीतिका भी अध्ययन कराया॥ ३४॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओंके प्रवर्तक हैं। इस समय केवल श्रेष्ठ मनुष्यका-सा व्यवहार करते हुए ही वे अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने गुरुजीके केवल एक बार कहनेमात्रसे सारी विद्याएँ सीख लीं॥ ३५॥ केवल चौंसठ दिन-रातमें ही संयमीशिरोमणि दोनों भाइयोंने चौंसठों कलाओंका* ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अध्ययन समाप्त होनेपर उन्होंने सान्दीपनि मुनिसे प्रार्थना की कि 'आपकी जो इच्छा हो, गुरु-दक्षिणा माँग लें'॥ ३६॥ महाराज! सान्दीपनि मुनिने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धिका अनुभव कर लिया था। इसलिये उन्होंने अपनी पत्नीसे सलाह करके यह गुरुदक्षिणा माँगी कि 'प्रभासक्षेत्रमें हमारा बालक समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसे तुमलोग ला दो'॥ ३७॥

* चौंसठ कलाएँ ये हैं—

१ गानविद्या, २ वाद्य—भाँति-भाँतिके बाजे बजाना, ३ नृत्य, ४ नाट्य, ५ चित्रकारी, ६ बेल-बूटे बनाना, ७ चावल और पुष्पादिसे पूजाके उपहारकी रचना करना, ८ फूलोंकी सेज बनाना, ९ दाँत, वस्त्र और अंगोंको रँगना, १० मणियोंकी फर्श बनाना, ११ शय्या-रचना, १२ जलको बाँध देना, १३ विचित्र सिद्धियाँ दिखलाना, १४ हार-माला आदि बनाना, १५ कान और चोटीके फूलोंके गहने बनाना, १६ कपड़े और गहने बनाना, १७ फूलोंके आभूषणोंसे शृंगार करना, १८ कानोंके पत्तोंकी रचना करना, १९ सुगन्धित वस्तुएँ—इत्र, तैल आदि बनाना, २० इन्द्रजाल—जादूगरी, २१ चाहे जैसा वेष धारण कर लेना, २२ हाथकी फुर्तीके काम, २३ तरह-तरहकी खानेकी वस्तुएँ बनाना, २४ तरह-तरहके पीनेके पदार्थ बनाना, २५ सूईका काम, २६ कठपुतली बनाना, नचाना, २७ पहेली, २८ प्रतिमा आदि बनाना, २९ कूटनीति, ३० ग्रन्थोंके पढ़ानेकी चातुरी, ३१ नाटक, आख्यायिका आदिकी रचना करना, ३२ समस्यापूर्ति करना, ३३ पट्टी, बेंत, बाण आदि बनाना, ३४ गलीचे, दरी आदि बनाना, ३५ बढ़ईकी कारीगरी, ३६ गृह आदि बनानेकी कारीगरी, ३७ सोने, चाँदी आदि धातु तथा हीरे-पन्ने आदि रत्नोंकी परीक्षा, ३८ सोना-चाँदी आदि बना लेना, ३९ मणियोंके रंगको पहचानना, ४० खानोंकी पहचान, ४१ वृक्षोंकी चिकित्सा, ४२ भेड़ा, मुर्गा, बटेर आदिको लड़ानेकी रीति, ४३ तोता-मैना आदिकी बोलियाँ बोलना, ४४ उच्चाटनकी विधि, ४५ केशोंकी सफाईका कौशल, ४६ मुट्ठीकी चीज या मनकी बात बता देना, ४७ म्लेच्छ-काव्योंका समझ लेना, ४८ विभिन्न देशोंकी भाषाका ज्ञान, ४९ शकुन-अपशकुन जानना, प्रश्नोंके उत्तरमें शुभाशुभ बतलाना, ५० नाना प्रकारके मातृकायन्त्र बनाना, ५१ रत्नोंको नाना प्रकारके आकारोंमें काटना, ५२ सांकेतिक भाषा बनाना, ५३ मनमें कटकरचना करना, ५४ नयी-नयी बातें निकालना, ५५ छलसे काम निकालना, ५६ समस्त कोशोंका ज्ञान, ५७ समस्त छन्दोंका ज्ञान, ५८ वस्त्रोंको छिपाने या बदलनेकी विद्या, ५९ द्यूत क्रीड़ा, ६० दूरके मनुष्य या वस्तुओंका आकर्षण कर लेना, ६१ बालकोंके खेल, ६२ मन्त्रविद्या, ६३ विजय प्राप्त करानेवाली विद्या, ६४ वेताल आदिको वशमें रखनेकी विद्या।

तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं
सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत्तयोः ॥ ३८

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम्।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा॥ ३९

समुद्र उवाच

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पंचजनो महान्।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शंखरूपधरोऽसुरः॥ ४०

आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः।
जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम्॥ ४१

तदंगप्रभवं शंखमादाय रथमागमत्।
ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम्॥ ४२

गत्वा जनार्दनः शंखं प्रदध्मौ सहलायुधः।
शंखनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः॥ ४३

तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम्।
उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम्।
लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाम किम्॥ ४४

श्रीभगवानुवाच

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम्।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः॥ ४५

तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः॥ ४६

बलरामजी और श्रीकृष्णका पराक्रम अनन्त था। दोनों ही महारथी थे। उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर गुरुजीकी आज्ञा स्वीकार की और रथपर सवार होकर प्रभासक्षेत्रमें गये। वे समुद्रतटपर जाकर क्षणभर बैठे रहे। उस समय यह जानकर कि ये साक्षात् परमेश्वर हैं, अनेक प्रकारकी पूजा-सामग्री लेकर समुद्र उनके सामने उपस्थित हुआ॥ ३८॥

भगवान्ने समुद्रसे कहा—'समुद्र! तुम यहाँ अपनी बड़ी-बड़ी तरंगोंसे हमारे जिस गुरुपुत्रको बहा ले गये थे, उसे लाकर शीघ्र हमें दो'॥ ३९॥

मनुष्यवेषधारी समुद्रने कहा—'देवाधिदेव श्रीकृष्ण! मैंने उस बालकको नहीं लिया है। मेरे जलमें पंचजन नामका एक बड़ा भारी दैत्य जातिका असुर शंखके रूपमें रहता है। अवश्य ही उसीने वह बालक चुरा लिया होगा'॥ ४०॥

समुद्रकी बात सुनकर भगवान् तुरंत ही जलमें जा घुसे और शंखासुरको मार डाला। परन्तु वह बालक उसके पेटमें नहीं मिला॥ ४१॥

तब उसके शरीरका शंख लेकर भगवान् रथपर चले आये। वहाँसे बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने यमराजकी प्रिय पुरी संयमनीमें जाकर अपना शंख बजाया। शंखका शब्द सुनकर सारी प्रजाका शासन करनेवाले यमराजने उनका स्वागत किया और भक्तिभावसे भरकर विधिपूर्वक उनकी बहुत बड़ी पूजा की। उन्होंने नम्रतासे झुककर समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'लीलासे ही मनुष्य बने हुए सर्वव्यापक परमेश्वर! मैं आप दोनोंकी क्या सेवा करूँ?'॥ ४२—४४॥

श्रीभगवान्ने कहा—'यमराज! यहाँ अपने कर्मबन्धनके अनुसार मेरा गुरुपुत्र लाया गया है। तुम मेरी आज्ञा स्वीकार करो और उसके कर्मपर ध्यान न देकर उसे मेरे पास ले आओ॥ ४५॥

यमराजने 'जो आज्ञा' कहकर भगवान्का आदेश स्वीकार किया और उनका गुरुपुत्र ला दिया। तब यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी उस बालकको लेकर उज्जैन लौट आये और उसे अपने गुरुदेवको सौंपकर कहा कि 'आप और जो

गुरुरुवाच

सम्यक् संपादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते॥ ४७

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च॥ ४८

गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै॥ ४९

समनन्दन् प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ।
अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव॥ ५०

कुछ चाहें, माँग लें'॥ ४६॥

गुरुजीने कहा—'बेटा! तुम दोनोंने भलीभाँति गुरुदक्षिणा दी। अब और क्या चाहिये? जो तुम्हारे जैसे पुरुषोत्तमोंका गुरु है, उसका कौन-सा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है?॥ ४७॥ वीरो! अब तुम दोनों अपने घर जाओ। तुम्हें लोकोंको पवित्र करनेवाली कीर्ति प्राप्त हो। तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या इस लोक और परलोकमें सदा नवीन बनी रहे, कभी विस्मृत न हो'॥ ४८॥ बेटा परीक्षित्! फिर गुरुजीसे आज्ञा लेकर वायुके समान वेग और मेघके समान शब्दवाले रथपर सवार होकर दोनों भाई मथुरा लौट आये॥ ४९॥ मथुराकी प्रजा बहुत दिनोंतक श्रीकृष्ण और बलरामको न देखनेसे अत्यन्त दु:खी हो रही थी। अब उन्हें आया हुआ देख सब-के-सब परमानन्दमें मग्न हो गये, मानो खोया हुआ धन मिल गया हो॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गुरुपुत्रानयनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उद्धवजीकी व्रजयात्रा

श्रीशुक उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥ १

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥ २

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥ ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उद्धवजी वृष्णिवंशियोंमें एक प्रधान पुरुष थे। वे साक्षात् बृहस्पतिजीके शिष्य और परम बुद्धिमान् थे। उनकी महिमाके सम्बन्धमें इससे बढ़कर और कौन-सी बात कही जा सकती है कि वे भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा तथा मन्त्री भी थे॥ १॥ एक दिन शरणागतोंके सारे दु:ख हर लेनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय भक्त और एकान्तप्रेमी उद्धवजीका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—॥ २॥

'सौम्यस्वभाव उद्धव! तुम व्रजमें जाओ। वहाँ मेरे पिता-माता नन्दबाबा और यशोदा मैया हैं, उन्हें आनन्दित करो; और गोपियाँ मेरे विरहकी व्याधिसे बहुत ही दु:खी हो रही हैं, उन्हें मेरे सन्देश सुनाकर उस वेदनासे मुक्त करो॥ ३॥

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥ ४

प्यारे उद्धव! गोपियोंका मन नित्य-निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है। उनके प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ। मेरे लिये उन्होंने अपने पति-पुत्र आदि सभी सगे-सम्बन्धियोंको छोड़ दिया है। उन्होंने बुद्धिसे भी मुझीको अपना प्यारा, अपना प्रियतम—नहीं, नहीं; अपना आत्मा मान रखा है। मेरा यह व्रत है कि जो लोग मेरे लिये लौकिक और पारलौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ॥ ४॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥ ५

प्रिय उद्धव! मैं उन गोपियोंका परम प्रियतम हूँ। मेरे यहाँ चले आनेसे वे मुझे दूरस्थ मानती हैं और मेरा स्मरण करके अत्यन्त मोहित हो रही हैं, बार-बार मूर्च्छित हो जाती हैं। वे मेरे विरहकी व्यथासे विह्वल हो रही हैं, प्रतिक्षण मेरे लिये उत्कण्ठित रहती हैं॥ ५॥

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥ ६

मेरी गोपियाँ, मेरी प्रेयसियाँ इस समय बड़े ही कष्ट और यत्नसे अपने प्राणोंको किसी प्रकार रख रही हैं। मैंने उनसे कहा था कि 'मैं आऊँगा।' वही उनके जीवनका आधार है। उद्धव! और तो क्या कहूँ, मैं ही उनकी आत्मा हूँ। वे नित्य-निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं'॥ ६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुरादृतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही, तब उद्धवजी बड़े आदरसे अपने स्वामीका सन्देश लेकर रथपर सवार हुए और नन्दगाँवके लिये चल पड़े॥ ७॥

प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥ ८

परम सुन्दर उद्धवजी सूर्यास्तके समय नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचे। उस समय जंगलसे गौएँ लौट रही थीं। उनके खुरोंके आघातसे इतनी धूल उड़ रही थी कि उनका रथ ढक गया था॥ ८॥

वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावन्तीभिश्च वास्त्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान्॥ ९

इतस्ततो विलंघद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च॥ १०

व्रजभूमिमें ऋतुमती गौओंके लिये मतवाले साँड़ आपसमें लड़ रहे थे। उनकी गर्जनासे सारा व्रज गूँज रहा था। थोड़े दिनोंकी ब्यायी हुई गौएँ अपने थनोंके भारी भारसे दबी होनेपर भी अपने-अपने बछड़ोंकी ओर दौड़ रही थीं॥ ९॥ सफेद रंगके बछड़े इधर-उधर उछल-कूद मचाते हुए बहुत ही भले मालूम होते थे। गाय दुहनेकी 'घर-घर' ध्वनिसे और बाँसुरियोंकी मधुर टेरसे अब भी व्रजकी अपूर्व शोभा हो रही थी॥ १०॥

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः।
स्वलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम्॥ ११

अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्॥ १२

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्॥ १३

तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत्॥ १४

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः॥ १५

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः॥ १६

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा॥ १७

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥ १८

गोपी और गोप सुन्दर-सुन्दर वस्त्र तथा गहनोंसे सज-धजकर श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके मंगलमय चरित्रोंका गान कर रहे थे और इस प्रकार व्रजकी शोभा और भी बढ़ गयी थी॥ ११॥ गोपोंके घरोंमें अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण और देवता-पितरोंकी पूजा की हुई थी। धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी और दीपक जगमगा रहे थे। उन घरोंको पुष्पोंसे सजाया गया था। ऐसे मनोहर गृहोंसे सारा व्रज और भी मनोरम हो रहा था॥ १२॥ चारों ओर वन-पंक्तियाँ फूलोंसे लद रही थीं। पक्षी चहक रहे थे और भौंरे गुंजार कर रहे थे। वहाँ जल और स्थल दोनों ही कमलोंके वनसे शोभायमान थे और हंस, बत्तख आदि पक्षी वनमें विहार कर रहे थे॥ १३॥

जब भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे अनुचर उद्धवजी व्रजमें आये, तब उनसे मिलकर नन्दबाबा बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उद्धवजीको गले लगाकर उनका वैसे ही सम्मान किया, मानो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आ गये हों॥ १४॥ समयपर उत्तम अन्नका भोजन कराया और जब वे आरामसे पलँगपर बैठ गये, सेवकोंने पाँव दबाकर, पंखा झलकर उनकी थकावट दूर कर दी॥ १५॥ तब नन्दबाबाने उनसे पूछा—'परम भाग्यवान् उद्धवजी! अब हमारे सखा वसुदेवजी जेलसे छूट गये। उनके आत्मीय स्वजन तथा पुत्र आदि उनके साथ हैं। इस समय वे सब कुशलसे तो हैं न?॥ १६॥ यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि अपने पापोंके फलस्वरूप पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया। क्योंकि स्वभावसे ही धार्मिक परम साधु यदुवंशियोंसे वह सदा द्वेष करता था॥ १७॥ अच्छा उद्धवजी! श्रीकृष्ण कभी हमलोगोंकी भी याद करते हैं? यह उनकी माँ हैं, स्वजन-सम्बन्धी हैं, सखा हैं, गोप हैं; उन्हींको अपना स्वामी और सर्वस्व माननेवाला यह व्रज है; उन्हींकी गौएँ, वृन्दावन और यह गिरिराज है, क्या वे कभी इनका स्मरण करते हैं?॥ १८॥

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥ १९

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥ २०

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापांगनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥ २१

सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥ २३

कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥ २४

तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।
बभंजैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद् गिरिम्॥ २५

आप यह तो बतलाइये कि हमारे गोविन्द अपने सुहृद्-बान्धवोंको देखनेके लिये एक बार भी यहाँ आयेंगे क्या? यदि वे यहाँ आ जाते तो हम उनकी वह सुघड़ नासिका, उनका मधुर हास्य और मनोहर चितवनसे युक्त मुखकमल देख तो लेते॥ १९॥ उद्धवजी! श्रीकृष्णका हृदय उदार है, उनकी शक्ति अनन्त है, उन्होंने दावानलसे, आँधी-पानीसे, वृषासुर और अजगर आदि अनेकों मृत्युके निमित्तोंसे—जिन्हें टालनेका कोई उपाय न था—एक बार नहीं, अनेक बार हमारी रक्षा की है॥ २०॥ उद्धवजी! हम श्रीकृष्णके विचित्र चरित्र, उनकी विलासपूर्ण तिरछी चितवन, उन्मुक्त हास्य, मधुर भाषण आदिका स्मरण करते रहते हैं और उसमें इतने तन्मय रहते हैं कि अब हमसे कोई काम-काज नहीं हो पाता॥ २१॥ जब हम देखते हैं कि यह वही नदी है, जिसमें श्रीकृष्ण जलक्रीडा करते थे; यह वही गिरिराज है, जिसे उन्होंने अपने एक हाथपर उठा लिया था; ये वे ही वनके प्रदेश हैं, जहाँ श्रीकृष्ण गौएँ चराते हुए बाँसुरी बजाते थे, और ये वे ही स्थान हैं, जहाँ वे अपने सखाओंके साथ अनेकों प्रकारके खेल खेलते थे; और साथ ही यह भी देखते हैं कि वहाँ उनके चरणचिह्न अभी मिटे नहीं हैं, तब उन्हें देखकर हमारा मन श्रीकृष्णमय हो जाता है॥ २२॥ इसमें सन्देह नहीं कि मैं श्रीकृष्ण और बलरामको देवशिरोमणि मानता हूँ और यह भी मानता हूँ कि वे देवताओंका कोई बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये यहाँ आये हुए हैं। स्वयं भगवान् गर्गाचार्यजीने मुझसे ऐसा ही कहा था॥ २३॥ जैसे सिंह बिना किसी परिश्रमके पशुओंको मार डालता है, वैसे ही उन्होंने खेल-खेलमें ही दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले कंस, उसके दोनों अजेय पहलवानों और महान् बलशाली गजराज कुवलयापीडाको मार डाला॥ २४॥ उन्होंने तीन ताल लंबे और अत्यन्त दृढ़ धनुषको वैसे ही तोड़ डाला, जैसे कोई हाथी किसी छड़ीको तोड़ डाले। हमारे प्यारे श्रीकृष्णने एक हाथसे सात दिनोंतक गिरिराजको उठाये रखा था॥ २५॥

प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया॥ २६

यहीं सबके देखते-देखते खेल-खेलमें उन्होंने प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त और बक आदि उन बड़े-बड़े दैत्योंको मार डाला, जिन्होंने समस्त देवता और असुरोंपर विजय प्राप्त कर ली थी'॥ २६॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥ २७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! नन्दबाबाका हृदय यों ही भगवान् श्रीकृष्णके अनुराग-रंगमें रँगा हुआ था। जब इस प्रकार वे उनकी लीलाओंका एक-एक करके स्मरण करने लगे, तब तो उनमें प्रेमकी बाढ़ ही आ गयी, वे विह्वल हो गये और मिलनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा होनेके कारण उनका गला रुँध गया। वे चुप हो गये॥ २७॥

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥ २८

यशोदारानी भी वहीं बैठकर नन्दबाबाकी बातें सुन रही थीं, श्रीकृष्णकी एक-एक लीला सुनकर उनके नेत्रोंसे आँसू बहते जाते थे और पुत्रस्नेहकी बाढ़से उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहती जा रही थी॥ २८॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा॥ २९

उद्धवजी नन्दबाबा और यशोदारानीके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कैसा अगाध अनुराग है—यह देखकर आनन्दमग्न हो गये और उनसे कहने लगे॥ २९॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत् कृता मतिरीदृशी॥ ३०

उद्धवजीने कहा—हे मानद! इसमें सन्देह नहीं कि आप दोनों समस्त शरीरधारियोंमें अत्यन्त भाग्यवान् हैं, सराहना करनेयोग्य हैं। क्योंकि जो सारे चराचर जगत्के बनानेवाले और उसे ज्ञान देनेवाले नारायण हैं, उनके प्रति आपके हृदयमें ऐसा वात्सल्यस्नेह—पुत्रभाव है॥ ३०॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य
ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ॥ ३१

बलराम और श्रीकृष्ण पुराणपुरुष हैं; वे सारे संसारके उपादानकारण और निमित्तकारण भी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पुरुष हैं तो बलरामजी प्रधान (प्रकृति)। ये ही दोनों समस्त शरीरोंमें प्रविष्ट होकर उन्हें जीवनदान देते हैं और उनमें उनसे अत्यन्त विलक्षण जो ज्ञानस्वरूप जीव है, उसका नियमन करते हैं॥ ३१॥

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२

जो जीव मृत्युके समय अपने शुद्ध मनको एक क्षणके लिये भी उनमें लगा देता है, वह समस्त कर्म-वासनाओंको धो बहाता है और शीघ्र ही सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्रह्ममय होकर परमगतिको प्राप्त होता है॥ ३२॥

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्॥ ३३

वे भगवान् ही, जो सबके आत्मा और परम कारण हैं, भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करने और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण करके प्रकट हुए हैं। उनके प्रति आप दोनोंका ऐसा सुदृढ़ वात्सल्यभाव है; फिर महात्माओ! आप दोनोंके लिये अब कौन-सा शुभ कर्म करना शेष रह जाता है॥ ३३॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः॥ ३४

हत्वा कंसं रंगमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्॥ ३५

भक्तवत्सल यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण थोड़े ही दिनोंमें व्रजमें आयेंगे और आप दोनोंको—अपने माँ-बापको आनन्दित करेंगे॥ ३४॥ जिस समय उन्होंने समस्त यदुवंशियोंके द्रोही कंसको रंगभूमिमें मार डाला और आपके पास आकर कहा कि 'मैं व्रजमें आऊँगा' उस कथनको वे सत्य करेंगे॥ ३५॥

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि॥ ३६

नन्दबाबा और माता यशोदाजी! आप दोनों परम भाग्यशाली हैं। खेद न करें। आप श्रीकृष्णको अपने पास ही देखेंगे; क्योंकि जैसे काष्ठमें अग्नि सदा ही व्यापक रूपसे रहती है, वैसे ही वे समस्त प्राणियोंके हृदयमें सर्वदा विराजमान रहते हैं॥ ३६॥

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा॥ ३७

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च॥ ३८

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥ ३९

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ ४०

एक शरीरके प्रति अभिमान न होनेके कारण न तो कोई उनका प्रिय है और न तो अप्रिय। वे सबमें और सबके प्रति समान हैं; इसलिये उनकी दृष्टिमें न तो कोई उत्तम है और न तो अधम। यहाँतक कि विषमताका भाव रखनेवाला भी उनके लिये विषम नहीं है॥ ३७॥ न तो उनकी कोई माता है और न पिता। न पत्नी है और न तो पुत्र आदि। न अपना है और न तो पराया। न देह है और न तो जन्म ही॥ ३८॥ इस लोकमें उनका कोई कर्म नहीं है फिर भी वे साधुओंके परित्राणके लिये, लीला करनेके लिये देवादि सात्त्विक, मत्स्यादि तामस एवं मनुष्य आदि मिश्र योनियोंमें शरीर धारण करते हैं॥ ३९॥ भगवान् अजन्मा हैं। उनमें प्राकृत सत्त्व, रज आदिमेंसे एक भी गुण नहीं है। इस प्रकार इन गुणोंसे अतीत होनेपर भी लीलाके लिये खेल-खेलमें वे सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं और उनके द्वारा जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं॥ ४०॥

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥ ४१

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥ ४२

दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥ ४३

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता
नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्
वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥ ४४

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू
रज्जूर्विकर्षद्भुजकंकणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल-
त्विषत्कपोलारुणकुंकुमाननाः ॥ ४५

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजांगनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममंगलम्॥ ४६

जब बच्चे घुमरीपरेता खेलने लगते हैं या मनुष्य वेगसे चक्कर लगाने लगते हैं, तब उन्हें सारी पृथ्वी घूमती हुई जान पड़ती है। वैसे ही वास्तवमें सब कुछ करनेवाला चित्त ही है; परन्तु उस चित्तमें अहंबुद्धि हो जानेके कारण, भ्रमवश उसे आत्मा—अपना 'मैं' समझ लेनेके कारण, जीव अपनेको कर्ता समझने लगता है॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण केवल आप दोनोंके ही पुत्र नहीं हैं, वे समस्त प्राणियोंके आत्मा, पुत्र, पिता-माता और स्वामी भी हैं॥ ४२॥ बाबा! जो कुछ देखा या सुना जाता है—वह चाहे भूतसे सम्बन्ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे; स्थावर हो या जंगम हो, महान् हो अथवा अल्प हो—ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो भगवान् श्रीकृष्णसे पृथक् हो। बाबा! श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें। वास्तवमें सब वे ही हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं॥ ४३ ॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके सखा उद्धव और नन्दबाबा इसी प्रकार आपसमें बात करते रहे और वह रात बीत गयी। कुछ रात शेष रहनेपर गोपियाँ उठीं, दीपक जलाकर उन्होंने घरकी देहलियोंपर वास्तुदेवका पूजन किया, अपने घरोंको झाड़-बुहारकर साफ किया और फिर दही मथने लगीं॥ ४४॥

गोपियोंकी कलाइयोंमें कंगन शोभायमान हो रहे थे, रस्सी खींचते समय वे बहुत भली मालूम हो रही थीं। उनके नितम्ब, स्तन और गलेके हार हिल रहे थे। कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर उनके कुंकुम-मण्डित कपोलोंकी लालिमा बढ़ा रहे थे। उनके आभूषणोंकी मणियाँ दीपककी ज्योतिसे और भी जगमगा रही थीं और इस प्रकार वे अत्यन्त शोभासे सम्पन्न होकर दही मथ रही थीं॥ ४५॥

उस समय गोपियाँ—कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके मंगलमय चरित्रोंका गान कर रही थीं। उनका वह संगीत दही मथनेकी ध्वनिसे मिलकर और भी अद्भुत हो गया तथा स्वर्गलोकतक जा पहुँचा, जिसकी स्वर-लहरी सब ओर फैलकर दिशाओंका अमंगल मिटा देती है॥ ४६ ॥

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन्॥ ४७

जब भगवान् भुवनभास्करका उदय हुआ, तब व्रजांगनाओंने देखा कि नन्दबाबाके दरवाजेपर एक सोनेका रथ खड़ा है। वे एक-दूसरेसे पूछने लगीं 'यह किसका रथ है?'॥ ४७॥

अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः॥ ४८

किसी गोपीने कहा—'कंसका प्रयोजन सिद्ध करनेवाला अक्रूर ही तो कहीं फिर नहीं आ गया है? जो कमलनयन प्यारे श्यामसुन्दरको यहाँसे मथुरा ले गया था'॥ ४८॥

किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम्।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृताह्निकः॥ ४९

किसी दूसरी गोपीने कहा—'क्या अब वह हमें ले जाकर अपने मरे हुए स्वामी कंसका पिण्डदान करेगा? अब यहाँ उसके आनेका और क्या प्रयोजन हो सकता है?' व्रजवासिनी स्त्रियाँ इसी प्रकार आपसमें बातचीत कर रही थीं कि उसी समय नित्यकर्मसे निवृत्त होकर उद्धवजी आ पहुँचे॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

उद्धव तथा गोपियोंकी बातचीत और भ्रमरगीत

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकंजलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लस-
न्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! गोपियोंने देखा कि श्रीकृष्णके सेवक उद्धवजीकी आकृति और वेषभूषा श्रीकृष्णसे मिलती-जुलती है। घुटनोंतक लंबी-लंबी भुजाएँ हैं, नूतन कमलदलके समान कोमल नेत्र हैं, शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, गलेमें कमल-पुष्पोंकी माला है, कानोंमें मणिजटित कुण्डल झलक रहे हैं और मुखारविन्द अत्यन्त प्रफुल्लित है॥ १॥

शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः
कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-
स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्॥ २

पवित्र मुसकानवाली गोपियोंने आपसमें कहा—'यह पुरुष देखनेमें तो बहुत सुन्दर है। परन्तु यह है कौन? कहाँसे आया है? किसका दूत है? इसने श्रीकृष्ण-जैसी वेषभूषा क्यों धारण कर रखी है?' सब-की-सब गोपियाँ उनका परिचय प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो गयीं और उनमेंसे बहुत-सी पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके आश्रित तथा उनके सेवक-सखा उद्धवजीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं॥ २॥

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः॥ ३

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया॥ ४

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥ ५

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनस्स्विव षट्पदैः॥ ६

निस्स्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्॥ ७

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्॥ ८

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥ ९

जब उन्हें मालूम हुआ कि ये तो रमारमण भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश लेकर आये हैं, तब उन्होंने विनयसे झुककर सलज्ज हास्य, चितवन और मधुर वाणी आदिसे उद्धवजीका अत्यन्त सत्कार किया तथा एकान्तमें आसनपर बैठाकर वे उनसे इस प्रकार कहने लगीं— ॥ ३ ॥ 'उद्धवजी! हम जानती हैं कि आप यदुनाथके पार्षद हैं। उन्हींका संदेश लेकर यहाँ पधारे हैं। आपके स्वामीने अपने माता-पिताको सुख देनेके लिये आपको यहाँ भेजा है॥ ४ ॥ अन्यथा हमें तो अब इस नन्दगाँवमें—गौओंके रहनेकी जगहमें उनके स्मरण करने योग्य कोई भी वस्तु दिखायी नहीं पड़ती; माता-पिता आदि सगे-सम्बन्धियोंका स्नेह-बन्धन तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी बड़ी कठिनाईसे छोड़ पाते हैं॥ ५ ॥ दूसरोंके साथ जो प्रेम-सम्बन्धका स्वाँग किया जाता है, वह तो किसी-न-किसी स्वार्थके लिये ही होता है। भौंरोंका पुष्पोंसे और पुरुषोंका स्त्रियोंसे ऐसा ही स्वार्थका प्रेम-सम्बन्ध होता है॥ ६ ॥ जब वेश्या समझती है कि अब मेरे यहाँ आनेवालेके पास धन नहीं है, तब उसे वह धता बता देती है। जब प्रजा देखती है कि यह राजा हमारी रक्षा नहीं कर सकता, तब वह उसका साथ छोड़ देती है। अध्ययन समाप्त हो जानेपर कितने शिष्य अपने आचार्योंकी सेवा करते हैं? यज्ञकी दक्षिणा मिली कि ऋत्विजलोग चलते बने॥ ७ ॥ जब वृक्षपर फल नहीं रहते, तब पक्षीगण वहाँसे बिना कुछ सोचे-विचारे उड़ जाते हैं। भोजन कर लेनेके बाद अतिथिलोग ही गृहस्थकी ओर कब देखते हैं? वनमें आग लगी कि पशु भाग खड़े हुए। चाहे स्त्रीके हृदयमें कितना भी अनुराग हो, जार पुरुष अपना काम बना लेनेके बाद उलटकर भी तो नहीं देखता'॥ ८ ॥

परीक्षित्! गोपियोंके मन, वाणी और शरीर श्रीकृष्णमें ही तल्लीन थे। जब भगवान् श्रीकृष्णके दूत बनकर उद्धवजी व्रजमें आये, तब वे उनसे इस प्रकार कहते-कहते यह भूल ही गयीं कि कौन-सी बात किस तरह किसके सामने कहनी चाहिये।

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥ १०

भगवान् श्रीकृष्णने बचपनसे लेकर किशोर-अवस्थातक जितनी भी लीलाएँ की थीं, उन सबकी याद कर-करके गोपियाँ उनका गान करने लगीं। वे आत्मविस्मृत होकर स्त्री-सुलभ लज्जाको भी भूल गयीं और फूट-फूटकर रोने लगीं॥ ९-१०॥

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसंगमम्।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥ ११

एक गोपीको उस समय स्मरण हो रहा था भगवान् श्रीकृष्णके मिलनकी लीलाका। उसी समय उसने देखा कि पास ही एक भौंरा गुनगुना रहा है। उसने ऐसा समझा मानो मुझे रूठी हुई समझकर श्रीकृष्णने मनानेके लिये दूत भेजा हो। वह गोपी भौंरेसे इस प्रकार कहने लगी—॥ ११॥

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥ १२

गोपीने कहा—रे मधुप! तू कपटीका सखा है; इसलिये तू भी कपटी है। तू हमारे पैरोंको मत छू। झूठे प्रणाम करके हमसे अनुनय-विनय मत कर। हम देख रही हैं कि श्रीकृष्णकी जो वनमाला हमारी सौतोंके वक्षःस्थलके स्पर्शसे मसली हुई है, उसका पीला-पीला कुंकुम तेरी मूछोंपर भी लगा हुआ है। तू स्वयं भी तो किसी कुसुमसे प्रेम नहीं करता, यहाँ-से-वहाँ उड़ा करता है। जैसे तेरे स्वामी, वैसा ही तू! मधुपति श्रीकृष्ण मथुराकी मानिनी नायिकाओंको मनाया करें, उनका वह कुंकुमरूप कृपा-प्रसाद, जो युदवंशियोंकी सभामें उपहास करनेयोग्य है, अपने ही पास रखें। उसे तेरे द्वारा यहाँ भेजनेकी क्या आवश्यकता है?॥ १२॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः॥ १३

जैसा तू काला है, वैसे ही वे भी हैं। तू भी पुष्पोंका रस लेकर उड़ जाता है, वैसे ही वे भी निकले। उन्होंने हमें केवल एक बार—हाँ, ऐसा ही लगता है—केवल एक बार अपनी तनिक-सी मोहिनी और परम मादक अधरसुधा पिलायी थी और फिर हम भोली-भाली गोपियोंको छोड़कर वे यहाँसे चले गये। पता नहीं; सुकुमारी लक्ष्मी उनके चरण-कमलोंकी सेवा कैसे करती रहती हैं! अवश्य ही वे छैल-छबीले श्रीकृष्णकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आ गयी होंगी। चितचोरने उनका भी चित्त चुरा लिया होगा॥ १३॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥ १४

अरे भ्रमर! हम वनवासिनी हैं। हमारे तो घर-द्वार भी नहीं है। तू हमलोगोंके सामने यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णका बहुत-सा गुणगान क्यों कर रहा है? यह सब भला हमलोगोंको मनानेके लिये ही तो? परन्तु नहीं-नहीं, वे हमारे लिये कोई नये नहीं हैं। हमारे लिये तो जाने-पहचाने, बिलकुल पुराने हैं। तेरी चापलूसी हमारे पास नहीं चलेगी। तू जा, यहाँसे चला जा और जिनके साथ सदा विजय रहती है, उन श्रीकृष्णकी मधुपुरवासिनी सखियोंके सामने जाकर उनका गुणगान कर। वे नयी हैं, उनकी लीलाएँ कम जानती हैं और इस समय वे उनकी प्यारी हैं; उनके हृदयकी पीड़ा उन्होंने मिटा दी है। वे तेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगी, तेरी चापलूसीसे प्रसन्न होकर तुझे मुँहमाँगी वस्तु देंगी॥ १४॥

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥ १५

भौंरे! वे हमारे लिये छटपटा रहे हैं, ऐसा तू क्यों कहता है? उनकी कपटभरी मनोहर मुसकान और भौंहोंके इशारेसे जो वशमें न हो जायँ, उनके पास दौड़ी न आवें—ऐसी कौन-सी स्त्रियाँ हैं? अरे अनजान! स्वर्गमें, पातालमें और पृथ्वीमें ऐसी एक भी स्त्री नहीं है। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं लक्ष्मीजी भी उनके चरणरजकी सेवा किया करती हैं। फिर हम श्रीकृष्णके लिये किस गिनतीमें हैं? परन्तु तू उनके पास जाकर कहना कि 'तुम्हारा नाम तो 'उत्तमश्लोक' है, अच्छे-अच्छे लोग तुम्हारी कीर्तिका गान करते हैं; परन्तु इसकी सार्थकता तो इसीमें है कि तुम दीनोंपर दया करो। नहीं तो श्रीकृष्ण! तुम्हारा 'उत्तमश्लोक' नाम झूठा पड़ जाता है॥ १५॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्॥ १६

अरे मधुकर! देख, तू मेरे पैरपर सिर मत टेक। मैं जानती हूँ कि तू अनुनय-विनय करनेमें, क्षमा-याचना करनेमें बड़ा निपुण है। मालूम होता है तू श्रीकृष्णसे ही यही सीखकर आया है कि रूठे हुएको मनानेके लिये दूतको—सन्देश-वाहकको कितनी चाटुकारिता करनी चाहिये। परन्तु तू समझ ले कि यहाँ तेरी दाल नहीं गलनेकी। देख, हमने श्रीकृष्णके लिये ही अपने पति, पुत्र और दूसरे लोगोंको छोड़ दिया। परन्तु उनमें तनिक भी कृतज्ञता नहीं। वे ऐसे निर्मोही निकले कि हमें छोड़कर चलते बने! अब तू ही बता, ऐसे अकृतज्ञके साथ हम क्या सन्धि करें? क्या तू अब भी कहता है कि उनपर विश्वास करना चाहिये?॥ १६॥

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वांक्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥ १७

ऐ रे मधुप! जब वे राम बने थे, तब उन्होंने कपिराज बालिको व्याधके समान छिपकर बड़ी निर्दयतासे मारा था। बेचारी शूर्पणखा कामवश उनके पास आयी थी, परन्तु उन्होंने अपनी स्त्रीके वश होकर उस बेचारीके नाक-कान काट लिये और इस प्रकार उसे कुरूप कर दिया। ब्राह्मणके घर वामनके रूपमें जन्म लेकर उन्होंने क्या किया? बलिने तो उनकी पूजा की, उनकी मुँहमाँगी वस्तु दी और उन्होंने उसकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाशसे बाँधकर पातालमें डाल दिया। ठीक वैसे ही, जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देनेवालेको अपने अन्य साथियोंके साथ मिलकर घेर लेता है और परेशान करता है। अच्छा, तो अब जाने दे; हमें श्रीकृष्णसे क्या, किसी भी काली वस्तुके साथ मित्रतासे कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु यदि तू यह कहे कि 'जब ऐसा है तब तुमलोग उनकी चर्चा क्यों करती हो?' तो भ्रमर! हम सच कहती हैं, एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता। ऐसी दशामें हम चाहनेपर भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं॥ १७॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥ १८

श्रीकृष्णकी लीलारूप कर्णामृतके एक कणका भी जो रसास्वादन कर लेता है, उसके राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं। यहाँतक कि बहुत-से लोग तो अपनी दुःखमय—दुःखसे सनी हुई घर-गृहस्थी छोड़कर अकिंचन हो जाते हैं, अपने पास कुछ भी संग्रह-परिग्रह नहीं रखते और पक्षियोंकी तरह चुन-चुनकर—भीख माँगकर अपना पेट भरते हैं, दीन-दुनियासे जाते रहते हैं। फिर भी श्रीकृष्णकी लीलाकथा छोड़ नहीं पाते। वास्तवमें उसका रस, उसका चसका ऐसा ही है। यही दशा हमारी हो रही है॥ १८॥

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता॥ १९

जैसे कृष्णसार मृगकी पत्नी भोली-भाली हरिनियाँ व्याधके सुमधुर गानका विश्वास कर लेती हैं और उसके जालमें फँसकर मारी जाती हैं, वैसे ही हम भोली-भाली गोपियाँ भी उस छलिया कृष्णकी कपटभरी मीठी-मीठी बातोंमें आकर उन्हें सत्यके समान मान बैठीं और उनके नखस्पर्शसे होनेवाली कामव्याधिका बार-बार अनुभव करती रहीं। इसलिये श्रीकृष्णके दूत भौंरे! अब इस विषयमें तू और कुछ मत कह। तुझे कहना ही हो तो कोई दूसरी बात कह॥ १९॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥ २०

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥ २१

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन् प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत॥ २२

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥ २३

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥ २४

हमारे प्रियतमके प्यारे सखा! जान पड़ता है तुम एक बार उधर जाकर फिर लौट आये हो। अवश्य ही हमारे प्रियतमने मनानेके लिये तुम्हें भेजा होगा। प्रिय भ्रमर! तुम सब प्रकारसे हमारे माननीय हो। कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है? हमसे जो चाहो सो माँग लो। अच्छा, तुम सच बताओ, क्या हमें वहाँ ले चलना चाहते हो? अजी, उनके पास जाकर लौटना बड़ा कठिन है। हम तो उनके पास जा चुकी हैं। परन्तु तुम हमें वहाँ ले जाकर करोगे क्या? प्यारे भ्रमर! उनके साथ—उनके वक्षःस्थलपर तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मीजी सदा रहती हैं न? तब वहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा॥ २०॥ अच्छा, हमारे प्रियतमके प्यारे दूत मधुकर! हमें यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण गुरुकुलसे लौटकर मधुपुरीमें अब सुखसे तो हैं न? क्या वे कभी नन्दबाबा, यशोदारानी, यहाँके घर, सगे-सम्बन्धी और ग्वालबालोंकी भी याद करते हैं? और क्या हम दासियोंकी भी कोई बात कभी चलाते हैं? प्यारे भ्रमर! हमें यह भी बतलाओ कि कभी वे अपनी अगरके समान दिव्य सुगन्धसे युक्त भुजा हमारे सिरोंपर रखेंगे? क्या हमारे जीवनमें कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा?॥ २१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्सुक—लालायित हो रही थीं, उनके लिये तड़प रही थीं। उनकी बातें सुनकर उद्धवजीने उन्हें उनके प्रियतमका सन्देश सुनाकर सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ २२॥

उद्धवजीने कहा—अहो गोपियो! तुम कृतकृत्य हो। तुम्हारा जीवन सफल है। देवियो! तुम सारे संसारके लिये पूजनीय हो; क्योंकि तुमलोगोंने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको अपना हृदय, अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है॥ २३॥ दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, ध्यान, धारणा, समाधि और कल्याणके अन्य विविध साधनोंके द्वारा भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो, यही प्रयत्न किया जाता है॥ २४॥

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥ २५

दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च।
हित्वावृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥ २६

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥ २७

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः॥ २८

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः॥ २९

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना॥ ३०

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते॥ ३१

यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमलोगोंने पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके प्रति वही सर्वोत्तम प्रेमभक्ति प्राप्त की है और उसीका आदर्श स्थापित किया है, जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है॥ २५॥ सचमुच यह कितने सौभाग्यकी बात है कि तुमने अपने पुत्र, पति, देह, स्वजन और घरोंको छोड़कर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको, जो सबके परम पति हैं, पतिके रूपमें वरण किया है॥ २६॥ महाभाग्यवती गोपियो! भगवान् श्रीकृष्णके वियोगसे तुमने उन इन्द्रियातीत परमात्माके प्रति वह भाव प्राप्त कर लिया है, जो सभी वस्तुओंके रूपमें उनका दर्शन कराता है। तुमलोगोंका वह भाव मेरे सामने भी प्रकट हुआ, यह मेरे ऊपर तुम देवियोंकी बड़ी ही दया है॥ २७॥ मैं अपने स्वामीका गुप्त काम करनेवाला दूत हूँ। तुम्हारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णने तुमलोगोंको परम सुख देनेके लिये यह प्रिय सन्देश भेजा है। कल्याणियो! वही लेकर मैं तुमलोगोंके पास आया हूँ, अब उसे सुनो॥ २८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—मैं सबका उपादान कारण होनेसे सबका आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ; इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसारके सभी भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हींसे सब वस्तुएँ बनी हैं, और यही उन वस्तुओंके रूपमें हैं। वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंका आश्रय हूँ। वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ॥ २९॥ मैं ही अपनी मायाके द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंके रूपमें होकर उनका आश्रय बन जाता हूँ तथा स्वयं निमित्त भी बनकर अपने-आपको ही रचता हूँ, पालता हूँ और समेट लेता हूँ॥ ३०॥ आत्मा माया और मायाके कार्योंसे पृथक् है। वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, जड प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने ही अवान्तर भेदोंसे रहित सर्वथा शुद्ध है। कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते। मायाकी तीन वृत्तियाँ हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्। इनके द्वारा वही अखण्ड, अनन्त बोधस्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ, तो कभी तैजस और कभी विश्वरूपसे प्रतीत होता है॥ ३१॥

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत॥ ३२

एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम्।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः॥ ३३

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥ ३४

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे॥ ३५

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं[1] विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥ ३६

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया॥ ३७

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः॥ ३८

मनुष्यको चाहिये कि वह समझे कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थोंके समान ही जाग्रत्-अवस्थामें इन्द्रियोंके विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं। इसलिये उन विषयोंका चिन्तन करनेवाले मन और इन्द्रियोंको रोक ले और मानो सोकर उठा हो, इस प्रकार जगत्के स्वाप्निक विषयोंको त्यागकर मेरा साक्षात्कार करे॥ ३२॥ जिस प्रकार सभी नदियाँ घूम-फिरकर समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार मनस्वी पुरुषोंका वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्म-विवेक, त्याग, तपस्या, इन्द्रियसंयम और सत्य आदि समस्त धर्म, मेरी प्राप्तिमें ही समाप्त होते हैं। सबका सच्चा फल है मेरा साक्षात्कार; क्योंकि वे सब मनको निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचाते हैं॥ ३३॥

गोपियो! इसमें सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनोंका ध्रुवतारा हूँ। तुम्हारा जीवन-सर्वस्व हूँ। किन्तु मैं जो तुमसे इतना दूर रहता हूँ, उसका कारण है। वह यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीरसे दूर रहनेपर भी मनसे तुम मेरी सन्निधिका अनुभव करो, अपना मन मेरे पास रखो॥ ३४॥ क्योंकि स्त्रियों और अन्यान्य प्रेमियोंका चित्त अपने परदेशी प्रियतममें जितना निश्चल भावसे लगा रहता है, उतना आँखोंके सामने, पास रहनेवाले प्रियतममें नहीं लगता॥ ३५॥ अशेष वृत्तियोंसे रहित सम्पूर्ण मन मुझमें लगाकर जब तुमलोग मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही सदाके लिये मुझे प्राप्त हो जाओगी॥ ३६॥ कल्याणियो! जिस समय मैंने वृन्दावनमें शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें रास-क्रीडा की थी उस समय जो गोपियाँ स्वजनोंके रोक लेनेसे व्रजमें ही रह गयीं—मेरे साथ रास-विहारमें सम्मिलित न हो सकीं, वे मेरी लीलाओंका स्मरण करनेसे ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं। (तुम्हें भी मैं मिलूँगा अवश्य, निराश होनेकी कोई बात नहीं है)॥ ३७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपने प्रियतम श्रीकृष्णका यह सँदेशा सुनकर गोपियोंको बड़ा आनन्द हुआ उनके संदेशसे उन्हें श्रीकृष्णके स्वरूप और एक-एक लीलाकी याद आने लगी। प्रेमसे भरकर उन्होंने उद्धवजीसे कहा॥ ३८॥

१. कृष्णे।

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत्।
दिष्ट्याऽऽप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना॥ ३९

गोपियोंने कहा—उद्धवजी! यह बड़े सौभाग्यकी और आनन्दकी बात है कि यदुवंशियोंको सतानेवाला पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया। यह भी कम आनन्दकी बात नहीं है कि श्रीकृष्णके बन्धु-बान्धव और गुरुजनोंके सारे मनोरथ पूर्ण हो गये तथा अब हमारे प्यारे श्यामसुन्दर उनके साथ सकुशल निवास कर रहे हैं॥ ३९॥

कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥ ४०

किन्तु उद्धवजी! एक बात आप हमें बतलाइये। 'जिस प्रकार हम अपनी प्रेमभरी लजीली मुसकान और उन्मुक्त चितवनसे उनकी पूजा करती थीं और वे भी हमसे प्यार करते थे, उसी प्रकार मथुराकी स्त्रियोंसे भी वे प्रेम करते हैं या नहीं?'॥ ४०॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम्।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः॥ ४१

तबतक दूसरी गोपी बोल उठी—'अरी सखी! हमारे प्यारे श्यामसुन्दर तो प्रेमकी मोहिनी कलाके विशेषज्ञ हैं। सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ उनसे प्यार करती हैं, फिर भला जब नगरकी स्त्रियाँ उनसे मीठी-मीठी बातें करेंगी और हाव-भावसे उनकी ओर देखेंगी तब वे उनपर क्यों न रीझेंगे?'॥ ४१॥

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे॥ ४२

दूसरी गोपियाँ बोलीं—'साधो! आप यह तो बतलाइये कि जब कभी नागरी नारियोंकी मण्डलीमें कोई बात चलती है और हमारे प्यारे स्वच्छन्दरूपसे, बिना किसी संकोचके जब प्रेमकी बातें करने लगते हैं, तब क्या कभी प्रसंगवश हम गँवार ग्वालिनों-की भी याद करते हैं?'॥ ४२॥

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशांकरम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्॥ ४३

कुछ गोपियोंने कहा—'उद्धवजी! क्या कभी श्रीकृष्ण उन रात्रियोंका स्मरण करते हैं, जब कुमुदिनी तथा कुन्दके पुष्प खिले हुए थे, चारों ओर चाँदनी छिटक रही थी और वृन्दावन अत्यन्त रमणीय हो रहा था! उन रात्रियोंमें ही उन्होंने रास-मण्डल बनाकर हम-लोगोंके साथ नृत्य किया था। कितनी सुन्दर थी वह रासलीला! उस समय हमलोगोंके पैरोंके नूपुर रुनझुन-रुनझुन बज रहे थे। हम सब सखियाँ उन्हींकी सुन्दर-सुन्दर लीलाओंका गान कर रही थीं और वे हमारे साथ नाना प्रकारके विहार कर रहे थे'॥ ४३॥

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा।
संजीवयन् नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः॥ ४४

कुछ दूसरी गोपियाँ बोल उठीं—'उद्धवजी! हम सब तो उन्हींके विरहकी आगसे जल रही हैं। देवराज इन्द्र जैसे जल बरसाकर वनको हरा-भरा कर देते हैं, उसी प्रकार क्या कभी श्रीकृष्ण भी अपने कर-स्पर्श आदिसे हमें जीवनदान देनेके लिये यहाँ आवेंगे?'॥ ४४॥

कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः॥ ४५

तबतक एक गोपीने कहा—'अरी सखी! अब तो उन्होंने शत्रुओंको मारकर राज्य पा लिया है; जिसे देखो, वही उनका सुहृद् बना फिरता है। अब वे बड़े-बड़े नरपतियोंकी कुमारियोंसे विवाह करेंगे, उनके साथ आनन्दपूर्वक रहेंगे; यहाँ हम गँवारिनोंके पास क्यों आयेंगे?'॥ ४५॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः॥ ४६

दूसरी गोपीने कहा—'नहीं सखी! महात्मा श्रीकृष्ण तो स्वयं लक्ष्मीपति हैं। उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण ही हैं, वे कृतकृत्य हैं। हम वनवासिनी ग्वालिनों अथवा दूसरी राजकुमारियोंसे उनका कोई प्रयोजन नहीं है। हमलोगोंके बिना उनका कौन-सा काम अटक रहा है॥ ४६॥

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिंगला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥ ४७

देखो वेश्या होनेपर भी पिंगलाने क्या ही ठीक कहा है—संसारमें किसीकी आशा न रखना ही सबसे बड़ा सुख है।' यह बात हम जानती हैं, फिर भी हम भगवान् श्रीकृष्णके लौटनेकी आशा छोड़नेमें असमर्थ हैं। उनके शुभागमनकी आशा ही तो हमारा जीवन है॥ ४७॥

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरंगान्न च्यवते क्वचित्॥ ४८

हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने, जिनकी कीर्तिका गान बड़े-बड़े महात्मा करते रहते हैं, हमसे एकान्तमें जो मीठी-मीठी प्रेमकी बातें की हैं उन्हें छोड़नेका, भुलानेका उत्साह भी हम कैसे कर सकती हैं? देखो तो, उनकी इच्छा न होनेपर भी स्वयं लक्ष्मीजी उनके चरणोंसे लिपटी रहती हैं, एक क्षणके लिये भी उनका अंग-संग छोड़कर कहीं नहीं जातीं॥ ४८॥

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे।
संकर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो॥ ४९

उद्धवजी! यह वही नदी है, जिसमें वे विहार करते थे। यह वही पर्वत है, जिसके शिखरपर चढ़कर वे बाँसुरी बजाते थे। ये वे ही वन हैं, जिनमें वे रात्रिके समय रासलीला करते थे, और ये वे ही गौएँ हैं, जिनको चरानेके लिये वे सुबह-शाम हमलोगोंको देखते हुए जाते-आते थे। और यह ठीक वैसी ही वंशीकी तान हमारे कानोंमें गूँजती रहती है, जैसी वे अपने अधरोंके संयोगसे छेड़ा करते थे। बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने इन सभीका सेवन किया है॥ ४९॥

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥ ५०

यहाँका एक-एक प्रदेश, एक-एक धूलिकण उनके परम सुन्दर चरणकमलोंसे चिह्नित है। इन्हें जब-जब हम देखती हैं, सुनती हैं—दिनभर यही तो करती रहती हैं—तब-तब वे हमारे प्यारे श्यामसुन्दर नन्दनन्दनको हमारे नेत्रोंके सामने लाकर रख देते हैं। उद्धवजी! हम किसी भी प्रकार मरकर भी उन्हें भूल नहीं सकतीं॥ ५०॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे॥ ५१

उनकी वह हंसकी-सी सुन्दर चाल, उन्मुक्त हास्य, विलासपूर्ण चितवन और मधुमयी वाणी! आह! उन सबने हमारा चित्त चुरा लिया है, हमारा मन हमारे वशमें नहीं है; अब हम उन्हें भूलें तो किस तरह?॥ ५१॥

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥ ५२

हमारे प्यारे श्रीकृष्ण! तुम्हीं हमारे जीवनके स्वामी हो, सर्वस्व हो। प्यारे! तुम लक्ष्मीनाथ हो तो क्या हुआ? हमारे लिये तो व्रजनाथ ही हो। हम व्रजगोपियोंके एकमात्र तुम्हीं सच्चे स्वामी हो। श्यामसुन्दर! तुमने बार-बार हमारी व्यथा मिटायी है, हमारे संकट काटे हैं। गोविन्द! तुम गौओंसे बहुत प्रेम करते हो। क्या हम गौएँ नहीं हैं? तुम्हारा यह सारा गोकुल जिसमें ग्वालबाल, माता-पिता, गौएँ और हम गोपियाँ सब कोई हैं—दुःखके अपार सागरमें डूब रहा है। तुम इसे बचाओ, आओ, हमारी रक्षा करो॥ ५२॥

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्॥ ५३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय सन्देश सुनकर गोपियोंके विरहकी व्यथा शान्त हो गयी थी। वे इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्णको अपने आत्माके रूपमें सर्वत्र स्थित समझ चुकी थीं। अब वे बड़े प्रेम और आदरसे उद्धवजीका सत्कार करने लगीं॥ ५३॥

उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदञ्छुचः ।
कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥ ५४

उद्धवजी गोपियोंकी विरह-व्यथा मिटानेके लिये कई महीनोंतक वहीं रहे। वे भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों लीलाएँ और बातें सुना-सुनाकर व्रज-वासियोंको आनन्दित करते रहते॥ ५४॥

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्तया ॥ ५५

नन्दबाबाके व्रजमें जितने दिनोंतक उद्धवजी रहे, उतने दिनोंतक भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकी चर्चा होते रहनेके कारण व्रजवासियोंको ऐसा जान पड़ा, मानो अभी एक ही क्षण हुआ हो॥ ५५॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान् ।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥ ५६

भगवान्के परमप्रेमी भक्त उद्धवजी कभी नदीतटपर जाते, कभी वनोंमें विहरते और कभी गिरिराजकी घाटियोंमें विचरते। कभी रंग-बिरंगे फूलोंसे लदे हुए वृक्षोंमें ही रम जाते और यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने कौन-सी लीला की है, यह पूछ-पूछकर व्रजवासियोंको भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी लीलाके स्मरणमें तन्मय कर देते॥ ५६॥

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७

उद्धवजीने व्रजमें रहकर गोपियोंकी इस प्रकारकी प्रेम-विकलता तथा और भी बहुत-सी प्रेम-चेष्टाएँ देखीं। उनकी इस प्रकार श्रीकृष्णमें तन्मयता देखकर वे प्रेम और आनन्दसे भर गये। अब वे गोपियोंको नमस्कार करते हुए इस प्रकार गान करने लगे— ॥ ५७॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥ ५८

'इस पृथ्वीपर केवल इन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेममय दिव्य महाभावमें स्थित हो गयी हैं। प्रेमकी यह ऊँची-से-ऊँची स्थिति संसारके भयसे भीत मुमुक्षुजनोंके लिये ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों—मुक्त पुरुषों तथा हम भक्तजनोंके लिये भी अभी वाञ्छनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। सत्य है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाके रसका चसका लग गया है, उन्हें कुलीनताकी, द्विजातिसमुचित संस्कारकी और बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंमें दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है? अथवा यदि भगवान्की कथाका रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई, तो अनेक महाकल्पोंतक बार-बार ब्रह्मा होनेसे ही क्या लाभ?॥ ५८॥

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥ ५९

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजबल्लवीनाम्॥ ६०

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥ ६१

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥ ६२

कहाँ ये वनचरी आचार, ज्ञान और जातिसे हीन गाँवकी गँवार ग्वालिनें और कहाँ सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णमें यह अनन्य परम प्रेम! अहो, धन्य है! धन्य है! इससे सिद्ध होता है कि कोई भगवान्के स्वरूप और रहस्यको न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे, तो वे स्वयं अपनी शक्तिसे अपनी कृपासे उसका परम कल्याण कर देते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे कोई अनजानमें भी अमृत पी ले तो वह अपनी वस्तु-शक्तिसे ही पीनेवालेको अमर बना देता है॥ ५९॥ भगवान् श्रीकृष्णने रासोत्सवके समय इन व्रजांगनाओंके गलेमें बाँह डाल-डालकर इनके मनोरथ पूर्ण किये। इन्हें भगवान्ने जिस कृपा-प्रसादका वितरण किया, इन्हें जैसा प्रेमदान किया, वैसा भगवान्की परमप्रेमवती नित्यसंगिनी वक्ष:स्थलपर विराजमान लक्ष्मीजीको भी नहीं प्राप्त हुआ। कमलकी-सी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त देवांगनाओंको भी नहीं मिला। फिर दूसरी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें?॥ ६०॥ मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावनधाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन व्रजांगनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी। इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी नि:श्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अबतक भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं॥ ६१॥

स्वयं भगवती लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती रहती हैं; ब्रह्मा, शंकर आदि परम समर्थ देवता, पूर्णकाम आत्माराम और बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदयमें जिनका चिन्तन करते रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णके उन्हीं चरणारविन्दोंको रास-लीलाके समय गोपियोंने अपने वक्ष:स्थलपर रखा और उनका आलिंगन करके अपने हृदयकी जलन, विरह-व्यथा शान्त की॥ ६२॥

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्‌गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥ ६३

नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाली गोपांगनाओंकी चरण-धूलिको मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ—उसे सिरपर चढ़ाता हूँ। अहा! इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है, वह तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा'॥ ६३॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम्॥ ६४

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥ ६५

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥ ६६

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥ ६७

एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम्॥ ६८

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्॥ ६९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! इस प्रकार कई महीनोंतक व्रजमें रहकर उद्धवजीने अब मथुरा जानेके लिये गोपियोंसे, नन्दबाबा और यशोदा मैयासे आज्ञा प्राप्त की। ग्वालबालोंसे विदा लेकर वहाँसे यात्रा करनेके लिये वे रथपर सवार हुए॥ ६४॥ जब उनका रथ व्रजसे बाहर निकला, तब नन्दबाबा आदि गोपगण बहुत-सी भेंटकी सामग्री लेकर उनके पास आये और आँखोंमें आँसू भरकर उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा— ॥ ६५॥ 'उद्धवजी! अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मनकी एक-एक वृत्ति, एक-एक संकल्प श्रीकृष्णके चरणकमलोंके ही आश्रित रहे। उन्हींकी सेवाके लिये उठे और उन्हींमें लगी भी रहे। हमारी वाणी नित्य-निरन्तर उन्हींके नामोंका उच्चारण करती रहे और शरीर उन्हींको प्रणाम करने, उन्हींकी आज्ञा-पालन और सेवामें लगा रहे॥ ६६॥ उद्धवजी! हम सच कहते हैं, हमें मोक्षकी इच्छा बिलकुल नहीं है। हम भगवान्‌की इच्छासे अपने कर्मोंके अनुसार चाहे जिस योनिमें जन्म लें—वहाँ शुभ आचरण करें, दान करें और उसका फल यही पावें कि हमारे अपने ईश्वर श्रीकृष्णमें हमारी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे'॥ ६७॥ प्रिय परीक्षित्! नन्दबाबा आदि गोपोंने इस प्रकार श्रीकृष्ण-भक्तिके द्वारा उद्धवजीका सम्मान किया। अब वे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित मथुरापुरीमें लौट आये॥ ६८॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया और उन्हें व्रजवासियोंकी प्रेममयी भक्तिका उद्रेक, जैसा उन्होंने देखा था, कह सुनाया। इसके बाद नन्दबाबाने भेंटकी जो-जो सामग्री दी थी वह उनको, वसुदेवजी, बलरामजी और राजा उग्रसेनको दे दी॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४७॥

अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान्‌का कुब्जा और अक्रूरजीके घर जाना

श्रीशुक उवाच

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ॥ १

महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम्।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि मण्डितम्॥ २

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य साऽऽसनात्
सद्यः समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा।
यथोपसंगम्य सखीभिरच्युतं
सभाजयामास सदासनादिभिः॥ ३

तथोद्धवः साधु तयाभिपूजितो
न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम्।
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः॥ ४

सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ५

आहूय कान्तां नवसंगमह्रिया
विशंकितां कंकणभूषिते करे।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया
रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! तदनन्तर सबके आत्मा तथा सब कुछ देखनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपनेसे मिलनकी आकांक्षा रखकर व्याकुल हुई कुब्जाका प्रिय करने—उसे सुख देनेकी इच्छासे उसके घर गये॥ १॥ कुब्जाका घर बहुमूल्य सामग्रियोंसे सम्पन्न था। उसमें शृंगार-रसका उद्दीपन करनेवाली बहुत-सी साधन-सामग्री भी भरी हुई थी। मोतीकी झालरें और स्थान-स्थानपर झंडियाँ भी लगी हुई थीं। चँदोवे तने हुए थे। सेजें बिछायी हुई थीं और बैठनेके लिये बहुत सुन्दर-सुन्दर आसन लगाये हुए थे। धूपकी सुगन्ध फैल रही थी। दीपककी शिखाएँ जगमगा रही थीं। स्थान-स्थानपर फूलोंके हार और चन्दन रखे हुए थे॥ २॥ भगवान्‌को अपने घर आते देख कुब्जा तुरंत हड़बड़ाकर अपने आसनसे उठ खड़ी हुई और सखियोंके साथ आगे बढ़कर उसने विधिपूर्वक भगवान्‌का स्वागत-सत्कार किया। फिर श्रेष्ठ आसन आदि देकर विविध उपचारोंसे उनकी विधिपूर्वक पूजा की॥ ३॥ कुब्जाने भगवान्‌के परमभक्त उद्धवजीकी भी समुचित रीतिसे पूजा की; परन्तु वे उसके सम्मानके लिये उसका दिया हुआ आसन छूकर धरतीपर ही बैठ गये। (अपने स्वामीके सामने उन्होंने आसनपर बैठना उचित न समझा।) भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप होनेपर भी लोकाचारका अनुकरण करते हुए तुरंत उसकी बहुमूल्य सेजपर जा बैठे॥ ४॥ तब कुब्जा स्नान, अंगराग, वस्त्र, आभूषण, हार, गन्ध (इत्र आदि), ताम्बूल और सुधासव आदिसे अपनेको खूब सजाकर लीलामयी लजीली मुसकान तथा हाव-भावके साथ भगवान्‌की ओर देखती हुई उनके पास आयी॥ ५॥ कुब्जा नवीन मिलनके संकोचसे कुछ झिझक रही थी। तब श्याम-सुन्दर श्रीकृष्णने उसे अपने पास बुला लिया और उसकी कंकणसे सुशोभित कलाई पकड़कर अपने पास बैठा लिया और उसके साथ क्रीडा करने लगे। परीक्षित्! कुब्जाने इस जन्ममें केवल भगवान्‌को अंगराग अर्पित किया था, उसी एक शुभकर्मके फलस्वरूप उसे ऐसा अनुपम अवसर मिला॥ ६॥

सानंगतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त-
मानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम्॥ ७

कुब्जा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको अपने काम-संतप्त हृदय, वक्षःस्थल और नेत्रोंपर रखकर उनकी दिव्य सुगन्ध लेने लगी और इस प्रकार उसने अपने हृदयकी सारी आधि-व्याधि शान्त कर ली। वक्षःस्थलसे सटे हुए आनन्दमूर्ति प्रियतम श्यामसुन्दरका अपनी दोनों भुजाओंसे गाढ़ आलिंगन करके कुब्जाने दीर्घकालसे बढ़े हुए विरहतापको शान्त किया॥ ७॥

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अंगरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥ ८

परीक्षित्! कुब्जाने केवल अंगराग समर्पित किया था। उतनेसे ही उसे उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की प्राप्ति हुई, जो कैवल्यमोक्षके अधीश्वर हैं और जिनकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। परन्तु उस दुर्भगाने उन्हें प्राप्त करके भी व्रजगोपियोंकी भाँति सेवा न माँगकर यही माँगा— ॥ ८॥

आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं संगं तेऽम्बुरुहेक्षण॥ ९

'प्रियतम! आप कुछ दिन यहीं रहकर मेरे साथ क्रीडा कीजिये। क्योंकि हे कमलनयन! मुझसे आपका साथ नहीं छोड़ा जाता'॥ ९॥

तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्चितम्[1]॥ १०

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सबका मान रखनेवाले और सर्वेश्वर हैं। उन्होंने अभीष्ट वर देकर उसकी पूजा स्वीकार की और फिर अपने प्यारे भक्त उद्धवजीके साथ अपने सर्वसम्मानित घरपर लौट आये॥ १०॥

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥ ११

परीक्षित्! भगवान् ब्रह्मा आदि समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उनको प्रसन्न कर लेना भी जीवके लिये बहुत ही कठिन है। जो कोई उन्हें प्रसन्न करके उनसे विषय-सुख माँगता है, वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है; क्योंकि वास्तवमें विषय-सुख अत्यन्त तुच्छ—नहींके बराबर है॥ ११॥

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः।
किंचिच्चिकीर्षयन् प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया॥ १२

तदनन्तर एक दिन सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और उद्धवजीके साथ अक्रूरजीकी अभिलाषा पूर्ण करने और उनसे कुछ काम लेनेके लिये उनके घर गये॥ १२॥

स तान् नरवरश्रेष्ठानाराद् वीक्ष्य स्वबान्धवान्।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभ्यनन्दत॥ १३

अक्रूरजीने दूरसे ही देख लिया कि हमारे परम बन्धु मनुष्यलोकशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी आदि पधार रहे हैं। वे तुरंत उठकर आगे गये तथा आनन्दसे भर-कर उनका अभिनन्दन और आलिंगन किया॥ १३॥

---

१. दृद्धिमत्।

ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः।
पूजयामास विधिवत् कृतासनपरिग्रहान्॥ १४

पादावनेजनीरापो धारयञ्छिरसा नृप।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्त्रग्भूषणोत्तमैः॥ १५

अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य पादावंकगतौ मृजन्।
प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत॥ १६

दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम्।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद् दुरन्ताच्च समेधितम्॥ १७

युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ।
भवद्भ्यां न विना किंचित् परमस्ति न चापरम्॥ १८

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतप्रत्यक्षगोचरम्॥ १९

यथा हि भूतेषु चराचरेषु
मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना।
एवं भवान् केवल आत्मयोनि-
ष्वात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति॥ २०

सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं
रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा
ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः॥ २१

अक्रूरजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको नमस्कार किया तथा उद्धवजीके साथ उन दोनों भाइयोंने भी उन्हें नमस्कार किया। जब सब लोग आरामसे आसनोंपर बैठ गये, तब अक्रूरजी उन लोगोंकी विधिवत् पूजा करने लगे॥ १४॥ परीक्षित्! उन्होंने पहले भगवान्‌के चरण धोकर चरणोदक सिरपर धारण किया और फिर अनेकों प्रकारकी पूजा-सामग्री, दिव्य वस्त्र, गन्ध, माला और श्रेष्ठ आभूषणोंसे उनका पूजन किया, सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंको अपनी गोदमें लेकर दबाने लगे। उसी समय उन्होंने विनयावनत होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीसे कहा— ॥ १५-१६ ॥ 'भगवन्! यह बड़े ही आनन्द और सौभाग्यकी बात है कि पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया। उसे मारकर आप दोनोंने युदवंशको बहुत बड़े संकटसे बचा लिया है तथा उन्नत और समृद्ध किया है॥ १७॥ आप दोनों जगत्‌के कारण और जगद्रूप, आदिपुरुष हैं। आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, न कारण और न तो कार्य॥ १८॥ परमात्मन्! आपने ही अपनी शक्तिसे इसकी रचना की है और आप ही अपनी काल, माया आदि शक्तियोंसे इसमें प्रविष्ट होकर जितनी भी वस्तुएँ देखी और सुनी जाती हैं, उनके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं॥ १९॥ जैसे पृथ्वी आदि कारणतत्त्वोंसे ही उनके कार्य स्थावर-जंगम शरीर बनते हैं; वे उनमें अनुप्रविष्ट-से होकर अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तवमें वे कारणरूप ही हैं। इसी प्रकार हैं तो केवल आप ही, परन्तु अपने कार्यरूप जगत्‌में स्वेच्छासे अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं। यह भी आपकी एक लीला ही है॥ २०॥ प्रभो! आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणरूप अपनी शक्तियोंसे क्रमशः जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं; किन्तु आप उन गुणोंसे अथवा उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे बन्धनमें नहीं पड़ते, क्योंकि आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। ऐसी स्थितिमें आपके लिये बन्धनका कारण ही क्या हो सकता है?॥ २१॥

देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्
भवो न साक्षान्न भिदाऽऽत्मनः स्यात्।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः
स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः॥ २२

त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय
यदा यदा वेदपथः पुराणः।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भि-
स्तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति॥ २३

स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन्॥ २४

अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत् पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः॥ २५

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्
भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य॥ २६

दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम्॥ २७

प्रभो! स्वयं आत्मवस्तुमें स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह आदि उपाधियाँ न होनेके कारण न तो उसमें जन्म-मृत्यु है और न किसी प्रकारका भेदभाव। यही कारण है कि न आपमें बन्धन है और न मोक्ष! आपमें अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार बन्धन या मोक्षकी जो कुछ कल्पना होती है, उसका कारण केवल हमारा अविवेक ही है॥ २२॥ आपने जगत्के कल्याणके लिये यह सनातन वेदमार्ग प्रकट किया है। जब-जब इसे पाखण्ड-पथसे चलनेवाले दुष्टोंके द्वारा क्षति पहुँचती है, तब-तब आप शुद्ध सत्त्वमय शरीर ग्रहण करते हैं॥ २३॥ प्रभो! वही आप इस समय अपने अंश श्रीबलरामजीके साथ पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये यहाँ वसुदेवजीके घर अवतीर्ण हुए हैं। आप असुरोंके अंशसे उत्पन्न नाममात्रके शासकोंकी सौ-सौ अक्षौहिणी सेनाका संहार करेंगे और यदुवंशके यशका विस्तार करेंगे॥ २४॥ इन्द्रियातीत परमात्मन्! सारे देवता, पितर, भूतगण और राजा आपकी मूर्ति हैं। आपके चरणोंकी धोवन गंगाजी तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं। आप सारे जगत्के एकमात्र पिता और शिक्षक हैं। वही आज आप हमारे घर पधारे। इसमें सन्देह नहीं कि आज हमारे घर धन्य-धन्य हो गये। उनके सौभाग्यकी सीमा न रही॥ २५॥ प्रभो! आप प्रेमी भक्तोंके परम प्रियतम, सत्यवक्ता, अकारण हितू और कृतज्ञ हैं—जरा-सी सेवाको भी मान लेते हैं। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है जो आपको छोड़कर किसी दूसरेकी शरणमें जायगा? आप अपना भजन करनेवाले प्रेमी भक्तकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं। यहाँतक कि जिसकी कभी क्षति और वृद्धि नहीं होती—जो एकरस है, अपने उस आत्माका भी आप दान कर देते हैं॥ २६॥ भक्तोंके कष्ट मिटानेवाले और जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ानेवाले प्रभो! बड़े-बड़े योगिराज और देवराज भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते। परन्तु हमें आपका साक्षात् दर्शन हो गया, यह कितने सौभाग्यकी बात है। प्रभो! हम स्त्री, पुत्र, धन, स्वजन, गेह और देह आदिके मोहकी रस्सीसे बँधे हुए हैं। अवश्य ही यह आपकी मायाका खेल है। आप कृपा करके इस गाढ़े बन्धनको शीघ्र काट दीजिये'॥ २७॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान् हरिः।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः सम्मोहयन्निव॥ २८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार भक्त अक्रूरजीने भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा और स्तुति की। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराकर अपनी मधुर वाणीसे उन्हें मानो मोहित करते हुए कहा॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः॥ २९

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'तात! आप हमारे गुरु—हितोपदेशक और चाचा हैं। हमारे वंशमें अत्यन्त प्रशंसनीय तथा हमारे सदाके हितैषी हैं। हम तो आपके बालक हैं और सदा ही आपकी रक्षा, पालन और कृपाके पात्र हैं॥ २९॥

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः॥ ३०

अपना परम कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको आप-जैसे परम पूजनीय और महाभाग्यवान् संतोंकी सर्वदा सेवा करनी चाहिये। आप-जैसे संत देवताओंसे भी बढ़कर हैं; क्योंकि देवताओंमें तो स्वार्थ रहता है, परन्तु संतोंमें नहीं॥ ३०॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥ ३१

केवल जलके तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं, केवल मृत्तिका और शिला आदिकी बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। चाचाजी! उनकी तो बहुत दिनोंतक श्रद्धासे सेवा की जाय, तब वे पवित्र करते हैं। परन्तु संतपुरुष तो अपने दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं॥ ३१॥

स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयाञ्छ्रेयश्चिकीर्षया।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम्॥ ३२

चाचाजी! आप हमारे हितैषी सुहृदोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये आप पाण्डवोंका हित करनेके लिये तथा उनका कुशल-मंगल जाननेके लिये हस्तिनापुर जाइये॥ ३२॥

पितर्युपरते बालाः सह मात्रा सुदुःखिताः।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम॥ ३३

हमने ऐसा सुना है कि राजा पाण्डुके मर जानेपर अपनी माता कुन्तीके साथ युधिष्ठिर आदि पाण्डव बड़े दुःखमें पड़ गये थे। अब राजा धृतराष्ट्र उन्हें अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें ले आये हैं और वे वहीं रहते हैं॥ ३३॥

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक्॥ ३४

आप जानते ही हैं कि राजा धृतराष्ट्र एक तो अंधे हैं और दूसरे उनमें मनोबलकी भी कमी है। उनका पुत्र दुर्योधन बहुत दुष्ट है और उसके अधीन होनेके कारण वे पाण्डवोंके साथ अपने पुत्रों-जैसा—समान व्यवहार नहीं कर पाते॥ ३४॥

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा।
विज्ञाय तद् विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत्॥ ३५

इसलिये आप वहाँ जाइये और मालूम कीजिये कि उनकी स्थिति अच्छी है या बुरी। आपके द्वारा उनका समाचार जानकर मैं ऐसा उपाय करूँगा, जिससे उन सुहृदोंको सुख मिले'॥ ३५॥

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः।
संकर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ॥ ३६

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरजीको इस प्रकार आदेश देकर बलरामजी और उद्धवजीके साथ वहाँसे अपने घर लौट आये॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४८॥

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अक्रूरजीका हस्तिनापुर जाना

श्रीशुक उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम्।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम्॥ १

सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम्।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान् सुहृदोऽपरान्॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! भगवान्के आज्ञानुसार अक्रूरजी हस्तिनापुर गये। वहाँकी एक-एक वस्तुपर पुरुवंशी नरपतियोंकी अमरकीर्तिकी छाप लग रही है। वे वहाँ पहले धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, बाह्लीक और उनके पुत्र सोमदत्त, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव तथा अन्यान्य इष्ट-मित्रोंसे मिले॥ १-२॥

यथावदुपसंगम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः।
सम्पृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम्॥ ३

जब गान्दिनीनन्दन अक्रूरजी सब इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियोंसे भलीभाँति मिल चुके, तब उनसे उन लोगोंने अपने मथुरावासी स्वजन-सम्बन्धियोंकी कुशल-क्षेम पूछी। उनका उत्तर देकर अक्रूरजीने भी हस्तिनापुरवासियोंके कुशलमंगलके सम्बन्धमें पूछताछ की॥ ३॥

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः॥ ४

परीक्षित्! अक्रूरजी यह जाननेके लिये कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, कुछ महीनोंतक वहीं रहे। सच पूछो तो, धृतराष्ट्रमें अपने दुष्ट पुत्रोंकी इच्छाके विपरीत कुछ भी करनेका साहस न था। वे शकुनि आदि दुष्टोंकी सलाहके अनुसार ही काम करते थे॥ ४॥

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान्।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम्॥ ५

अक्रूरजीको कुन्ती और विदुरने यह बतलाया कि धृतराष्ट्रके लड़के दुर्योधन आदि पाण्डवोंके प्रभाव, शस्त्रकौशल, बल, वीरता तथा विनय आदि सद्गुण देख-देखकर उनसे जलते रहते हैं। जब वे यह देखते हैं कि प्रजा पाण्डवोंसे ही विशेष प्रेम रखती है, तब

कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद् गरदानाद्यपेशलम्।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च॥ ६

पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम्।
उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा॥ ७

अपि स्मरन्ति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे।
भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च॥ ८

भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः।
पैतृष्वसेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः॥ ९

सापत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान्॥ १०

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम्॥ ११

नान्यत्तव पदाम्भोजात् पश्यामि शरणं नृणाम्।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात्॥ १२

नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता॥ १३

तो वे और भी चिढ़ जाते हैं और पाण्डवोंका अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं। अबतक दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंपर कई बार विषदान आदि बहुत-से अत्याचार किये हैं और आगे भी बहुत कुछ करना चाहते हैं॥ ५-६॥

जब अक्रूरजी कुन्तीके घर आये, तब वह अपने भाईके पास जा बैठीं। अक्रूरजीको देखकर कुन्तीके मनमें अपने मायकेकी स्मृति जग गयी और नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने कहा— ॥ ७॥ 'प्यारे भाई! क्या कभी मेरे माँ-बाप, भाई-बहिन, भतीजे, कुलकी स्त्रियाँ और सखी-सहेलियाँ मेरी याद करती हैं?॥ ८॥ मैंने सुना है कि हमारे भतीजे भगवान् श्रीकृष्ण और कमलनयन बलराम बड़े ही भक्त-वत्सल और शरणागत-रक्षक हैं। क्या वे कभी अपने इन फुफेरे भाइयोंको भी याद करते हैं?॥ ९॥ मैं शत्रुओंके बीच घिरकर शोकाकुल हो रही हूँ। मेरी वही दशा है, जैसे कोई हरिनी भेड़ियोंके बीचमें पड़ गयी हो। मेरे बच्चे बिना बापके हो गये हैं। क्या हमारे श्रीकृष्ण कभी यहाँ आकर मुझको और इन अनाथ बालकोंको सान्त्वना देंगे?॥ १०॥ (श्रीकृष्णको अपने सामने समझकर कुन्ती कहने लगीं—) 'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! तुम महायोगी हो, विश्वात्मा हो और तुम सारे विश्वके जीवनदाता हो। गोविन्द! मैं अपने बच्चोंके साथ दुःख-पर-दुःख भोग रही हूँ। तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। मेरी रक्षा करो। मेरे बच्चोंको बचाओ॥ ११॥ मेरे श्रीकृष्ण! यह संसार मृत्युमय है और तुम्हारे चरण मोक्ष देनेवाले हैं। मैं देखती हूँ कि जो लोग इस संसारसे डरे हुए हैं, उनके लिये तुम्हारे चरणकमलोंके अतिरिक्त और कोई शरण, और कोई सहारा नहीं है॥ १२॥ श्रीकृष्ण! तुम मायाके लेशसे रहित परम शुद्ध हो। तुम स्वयं परब्रह्म परमात्मा हो। समस्त साधनों, योगों और उपायोंके स्वामी हो तथा स्वयं योग भी हो। श्रीकृष्ण! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। तुम मेरी रक्षा करो'॥ १३॥

श्रीशुक उवाच

इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम्।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् भवतां प्रपितामही॥ १४

समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः॥ १५

यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम्।
अवदत् सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम्॥ १६

अक्रूर उवाच

भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन।
भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनाऽऽसनमास्थितः॥ १७

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रंजयन्।
वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि॥ १८

अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः।
तस्मात् समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च॥ १९

नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित् केनचित् सह।
राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः॥ २०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! तुम्हारी परदादी कुन्ती इस प्रकार अपने सगे-सम्बन्धियों और अन्तमें जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको स्मरण करके अत्यन्त दुःखित हो गयीं और फफक-फफककर रोने लगीं॥ १४॥

अक्रूरजी और विदुरजी दोनों ही सुख और दुःखको समान दृष्टिसे देखते थे। दोनों यशस्वी महात्माओंने कुन्तीको उसके पुत्रोंके जन्मदाता धर्म, वायु आदि देवताओंकी याद दिलायी और यह कह-कर कि, तुम्हारे पुत्र अधर्मका नाश करनेके लिये ही पैदा हुए हैं, बहुत कुछ समझाया-बुझाया और सान्त्वना दी॥ १५॥ अक्रूरजी जब मथुरा जाने लगे, तब राजा धृतराष्ट्रके पास आये। अबतक यह स्पष्ट हो गया था कि राजा अपने पुत्रोंका पक्षपात करते हैं और भतीजोंके साथ अपने पुत्रोंका-सा बर्ताव नहीं करते। अब अक्रूरजीने कौरवोंकी भरी सभामें श्रीकृष्ण और बलरामजी आदिका हितैषितासे भरा सन्देश कह सुनाया॥ १६॥

अक्रूरजीने कहा—महाराज धृतराष्ट्रजी! आप कुरुवंशियोंकी उज्ज्वल कीर्तिको और भी बढ़ाइये। आपको यह काम विशेषरूपसे इसलिये भी करना चाहिये कि अपने भाई पाण्डुके परलोक सिधार जानेपर अब आप राज्यसिंहासनके अधिकारी हुए हैं॥ १७॥

आप धर्मसे पृथ्वीका पालन कीजिये। अपने सद्व्यवहारसे प्रजाको प्रसन्न रखिये और अपने स्वजनोंके साथ समान बर्ताव कीजिये। ऐसा करनेसे ही आपको लोकमें यश और परलोकमें सद्गति प्राप्त होगी॥ १८॥

यदि आप इसके विपरीत आचरण करेंगे तो इस लोकमें आपकी निन्दा होगी और मरनेके बाद आपको नरकमें जाना पड़ेगा। इसलिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंके साथ समानताका बर्ताव कीजिये॥ १९॥

आप जानते ही हैं कि इस संसारमें कभी कहीं कोई किसीके साथ सदा नहीं रह सकता। जिनसे जुड़े हुए हैं, उनसे एक दिन बिछुड़ना पड़ेगा ही। राजन्! यह बात अपने शरीरके लिये भी सोलहों आने सत्य है। फिर स्त्री, पुत्र, धन आदिको छोड़कर जाना पड़ेगा, इसके विषयमें तो कहना ही क्या है॥ २०॥

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ २१

जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरकर जाता है। अपनी करनी-धरनीका, पाप-पुण्यका फल भी अकेला ही भुगतता है॥ २१॥

अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः।
सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः॥ २२

जिन स्त्री-पुत्रोंको हम अपना समझते हैं, वे तो 'हम तुम्हारे अपने हैं, हमारा भरण-पोषण करना तुम्हारा धर्म है'—इस प्रकारकी बातें बनाकर मूर्ख प्राणीके अधर्मसे इकट्ठे किये हुए धनको लूट लेते हैं, जैसे जलमें रहनेवाले जन्तुओंके सर्वस्व जलको उन्हींके सम्बन्धी चाट जाते हैं॥ २२॥

पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम्।
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः॥ २३

यह मूर्ख जीव जिन्हें अपना समझकर अधर्म करके भी पालता-पोसता है, वे ही प्राण, धन और पुत्र आदि इस जीवको असन्तुष्ट छोड़कर ही चले जाते हैं॥ २३॥

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः॥ २४

जो अपने धर्मसे विमुख है—सच पूछिये, तो वह अपना लौकिक स्वार्थ भी नहीं जानता। जिनके लिये वह अधर्म करता है, वे तो उसे छोड़ ही देंगे; उसे कभी सन्तोषका अनुभव न होगा और वह अपने पापोंकी गठरी सिरपर लादकर स्वयं घोर नरकमें जायगा॥ २४॥

तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम्।
वीक्ष्यायम्यात्मनाऽऽत्मानं समः शान्तो भव प्रभो॥ २५

इसलिये महाराज! यह बात समझ लीजिये कि यह दुनिया चार दिनकी चाँदनी है, सपनेका खिलवाड़ है, जादूका तमाशा है और है मनोराज्यमात्र! आप अपने प्रयत्नसे, अपनी शक्तिसे चित्तको रोकिये; ममतावश पक्षपात न कीजिये। आप समर्थ हैं, समत्वमें स्थित हो जाइये और इस संसारकी ओरसे उपराम—शान्त हो जाइये॥ २५॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान्।
तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम्॥ २६

राजा धृतराष्ट्रने कहा—दानपते अक्रूरजी! आप मेरे कल्याणकी, भलेकी बात कह रहे हैं, जैसे मरनेवालेको अमृत मिल जाय तो वह उससे तृप्त नहीं हो सकता, वैसे ही मैं भी आपकी इन बातोंसे तृप्त नहीं हो रहा हूँ॥ २६॥

तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले।
पुत्रानुरागविषमे विद्युत् सौदामनी यथा॥ २७

फिर भी हमारे हितैषी अक्रूरजी! मेरे चंचल चित्तमें आपकी यह प्रिय शिक्षा तनिक भी नहीं ठहर रही है; क्योंकि मेरा हृदय पुत्रोंकी ममताके कारण अत्यन्त विषम हो गया है। जैसे स्फटिक पर्वतके शिखरपर एक बार बिजली कौंधती है और दूसरे ही क्षण अन्तर्धान हो जाती है, वही दशा आपके उपदेशोंकी है॥ २७॥

ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान्।
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥ २८

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय॥ २९

अक्रूरजी! सुना है कि सर्वशक्तिमान् भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। ऐसा कौन पुरुष है, जो उनके विधानमें उलट-फेर कर सके। उनकी जैसी इच्छा होगी, वही होगा॥ २८॥ भगवान्की मायाका मार्ग अचिन्त्य है। उसी मायाके द्वारा इस संसारकी सृष्टि करके वे इसमें प्रवेश करते हैं और कर्म तथा कर्मफलोंका विभाजन कर देते हैं। इस संसार-चक्रकी बेरोक-टोक चालमें उनकी अचिन्त्य लीला-शक्तिके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है । मैं उन्हीं परमैश्वर्यशक्तिशाली प्रभुको नमस्कार करता हूँ॥ २९॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः।
सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात्॥ ३०

शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम्।
पाण्डवान् प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम्॥ ३१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार अक्रूरजी महाराज धृतराष्ट्रका अभिप्राय जानकर और कुरुवंशी स्वजन-सम्बन्धियोंसे प्रेमपूर्वक अनुमति लेकर मथुरा लौट आये॥ ३०॥ परीक्षित्! उन्होंने वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके सामने धृतराष्ट्रका वह सारा व्यवहार-बर्ताव, जो वे पाण्डवोंके साथ करते थे, कह सुनाया, क्योंकि उनको हस्तिनापुर भेजनेका वास्तवमें उद्देश्य भी यही था॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां
पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

समाप्तमिदं दशमस्कन्धस्य पूर्वार्द्धम्

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(उत्तरार्धः)

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जरासन्धसे युद्ध और द्वारकापुरीका निर्माण

श्रीशुक उवाच

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ।
मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान्॥ १

पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते।
वेदयांचक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम्॥ २

स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप।
अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम्॥ ३

अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः।
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम्॥ ४

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम्।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम्॥ ५

चिन्तयामास भगवान् हरिः कारणमानुषः।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम्॥ ६

हनिष्यामि बलं ह्येतद् भुवि भारं समाहितम्।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम्॥ ७

अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुंजरैः।
मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम्॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— भरतवंशशिरोमणि परीक्षित्! कंसकी दो रानियाँ थीं—अस्ति और प्राप्ति। पतिकी मृत्युसे उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे अपने पिताकी राजधानीमें चली गयीं॥ १॥ उन दोनोंका पिता था मगधराज जरासन्ध। उससे उन्होंने बड़े दुःखके साथ अपने विधवा होनेके कारणोंका वर्णन किया॥ २॥ परीक्षित्! यह अप्रिय समाचार सुनकर पहले तो जरासन्धको बड़ा शोक हुआ, परन्तु पीछे वह क्रोधसे तिलमिला उठा। उसने यह निश्चय करके कि मैं पृथ्वीपर एक भी यदुवंशी नहीं रहने दूँगा, युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की॥ ३॥ और तेईस अक्षौहिणी सेनाके साथ यदुवंशियोंकी राजधानी मथुराको चारों ओरसे घेर लिया॥ ४॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा—जरासन्धकी सेना क्या है, उमड़ता हुआ समुद्र है। उन्होंने यह भी देखा कि उसने चारों ओरसे हमारी राजधानी घेर ली है और हमारे स्वजन तथा पुरवासी भयभीत हो रहे हैं॥ ५॥ भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही मनुष्यका-सा वेष धारण किये हुए हैं। अब उन्होंने विचार किया कि मेरे अवतारका क्या प्रयोजन है और इस समय इस स्थानपर मुझे क्या करना चाहिये॥ ६॥ उन्होंने सोचा यह बड़ा अच्छा हुआ कि मगध-राज जरासन्धने अपने अधीनस्थ नरपतियोंकी पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियोंसे युक्त कई अक्षौहिणी सेना इकट्ठी कर ली है। यह सब तो पृथ्वीका भार ही जुटकर मेरे पास आ पहुँचा है। मैं इसका नाश करूँगा। परन्तु अभी मगधराज जरासन्धको नहीं मारना चाहिये। क्योंकि वह जीवित रहेगा तो फिरसे असुरोंकी बहुत-

एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च॥ ९

अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संभ्रियते मया।
विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित्॥ १०

एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात् सूर्यवर्चसौ।
रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ॥ ११

आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया।
दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः संकर्षणमथाब्रवीत्॥ १२

पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो।
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च॥ १३

यानमास्थाय जह्येतद् व्यसनात् स्वान् समुद्धर।
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत्॥ १४

त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरु।
एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात्॥ १५

निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसाऽऽवृतौ।
शंखं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः॥ १६

ततोऽभूत् परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः।
तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम॥ १७

न त्वया योद्धुमिच्छामि बालेनैकेन लज्जया।
गुप्तेन हि त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन्॥ १८

सी सेना इकट्ठी कर लायेगा॥ ७-८॥ मेरे अवतारका यही प्रयोजन है कि मैं पृथ्वीका बोझ हलका कर दूँ, साधु-सज्जनोंकी रक्षा करूँ और दुष्ट-दुर्जनोंका संहार॥ ९॥ समय-समयपर धर्म-रक्षाके लिये और बढ़ते हुए अधर्मको रोकनेके लिये मैं और भी अनेकों शरीर ग्रहण करता हूँ॥ १०॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि आकाशसे सूर्यके समान चमकते हुए दो रथ आ पहुँचे। उनमें युद्धकी सारी सामग्रियाँ सुसज्जित थीं और दो सारथि उन्हें हाँक रहे थे॥ ११॥ इसी समय भगवान्‌के दिव्य और सनातन आयुध भी अपने-आप वहाँ आकर उपस्थित हो गये। उन्हें देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने बड़े भाई बलरामजीसे कहा— ॥ १२॥ 'भाईजी! आप बड़े शक्तिशाली हैं। इस समय जो यदुवंशी आपको ही अपना स्वामी और रक्षक मानते हैं, जो आपसे ही सनाथ हैं, उनपर बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है। देखिये, यह आपका रथ है और आपके प्यारे आयुध हल-मूसल भी आ पहुँचे हैं॥ १३॥ अब आप इस रथपर सवार होकर शत्रु-सेनाका संहार कीजिये और अपने स्वजनोंको इस विपत्तिसे बचाइये। भगवन्! साधुओंका कल्याण करनेके लिये ही हम दोनोंने अवतार ग्रहण किया है॥ १४॥ अतः अब आप यह तेईस अक्षौहिणी सेना, पृथ्वीका यह विपुल भार नष्ट कीजिये।' भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने यह सलाह करके कवच धारण किये और रथपर सवार होकर वे मथुरासे निकले। उस समय दोनों भाई अपने-अपने आयुध लिये हुए थे और छोटी-सी सेना उनके साथ-साथ चल रही थी। श्रीकृष्णका रथ हाँक रहा था दारुक। पुरीसे बाहर निकलकर उन्होंने अपना पांचजन्य शंख बजाया॥ १५-१६॥ उनके शंखकी भयंकर ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षकी सेनाके वीरोंका हृदय डरके मारे थर्रा उठा। उन्हें देखकर मगधराज जरासन्धने कहा— 'पुरुषाधम कृष्ण! तू तो अभी निरा बच्चा है। अकेले तेरे साथ लड़नेमें मुझे लाज लग रही है। इतने दिनोंतक तू न जाने कहाँ-कहाँ छिपा फिरता था। मन्द! तू तो अपने मामाका हत्यारा है। इसलिये मैं तेरे साथ नहीं लड़ सकता। जा, मेरे सामनेसे भाग जा॥ १७-१८॥

तव राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह।
हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि॥ १९

बलराम! यदि तेरे चित्तमें यह श्रद्धा हो कि युद्धमें मरनेपर स्वर्ग मिलता है तो तू आ, हिम्मत बाँधकर मुझसे लड़। मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए शरीरको यहाँ छोड़कर स्वर्गमें जा अथवा यदि तुझमें शक्ति हो तो मुझे ही मार डाल'॥ १९॥

श्रीभगवानुवाच

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।
न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः॥ २०

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मगधराज! जो शूरवीर होते हैं, वे तुम्हारी तरह डींग नहीं हाँकते, वे तो अपना बल-पौरुष ही दिखलाते हैं। देखो, अब तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे सिरपर नाच रही है। तुम वैसे ही अकबक कर रहे हो, जैसे मरनेके समय कोई सन्निपातका रोगी करे। बक लो, मैं तुम्हारी बातपर ध्यान नहीं देता॥ २०॥

श्रीशुक उवाच

जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ
महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत्।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी
सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः॥ २१

सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथा-
वलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं
समाश्रिताः संमुमुहुः शुचार्दिताः॥ २२

हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः
शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम्।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं
व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम्॥ २३

गृह्णन् निषंगादथ सन्दधच्छरान्
विकृष्य मुञ्चञ्छितबाणपूगान्।
निघ्नन् रथान् कुंजरवाजिपत्तीन्
निरन्तरं यद्वदलातचक्रम्॥ २४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जैसे वायु बादलोंसे सूर्यको और धूएँसे आगको ढक लेती है, किन्तु वास्तवमें वे ढकते नहीं, उनका प्रकाश फिर फैलता ही है; वैसे ही मगधराज जरासन्धने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके सामने आकर अपनी बहुत बड़ी बलवान् और अपार सेनाके द्वारा उन्हें चारों ओरसे घेर लिया—यहाँतक कि उनकी सेना, रथ, ध्वजा, घोड़ों और सारथियोंका दीखना भी बंद हो गया॥ २१॥ मथुरापुरीकी स्त्रियाँ अपने महलोंकी अटारियों, छज्जों और फाटकोंपर चढ़कर युद्धका कौतुक देख रही थीं। जब उन्होंने देखा कि युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णकी गरुड़चिह्नसे चिह्नित और बलरामजीकी तालचिह्नसे चिह्नित ध्वजावाले रथ नहीं दीख रहे हैं, तब वे शोकके आवेगसे मूर्च्छित हो गयीं॥ २२॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि शत्रु-सेनाके वीर हमारी सेनापर इस प्रकार बाणोंकी वर्षा कर रहे हैं, मानो बादल पानीकी अनगिनत बूँदें बरसा रहे हों और हमारी सेना उससे अत्यन्त पीड़ित, व्यथित हो रही है; तब उन्होंने अपने देवता और असुर—दोनोंसे सम्मानित शार्ङ्गधनुषका टंकार किया॥ २३॥ इसके बाद वे तरकसमेंसे बाण निकालने, उन्हें धनुषपर चढ़ाने और धनुषकी डोरी खींचकर झुंड-के-झुंड बाण छोड़ने लगे। उस समय उनका वह धनुष इतनी फुर्तीसे घूम रहा था, मानो कोई बड़े वेगसे अलातचक्र (लुकारी) घुमा रहा हो। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जरासन्धकी चतुरंगिणी—हाथी, घोड़े,

निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतु-
रनेकशोऽश्वा शरवृक्णकन्धराः।
रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः
पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥ २५

संछिद्यमानद्विपदेभवाजिना-
मंगप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा
हतद्विपद्वीपहयग्रहाकुलाः ॥ २६

करोरुमीना नरकेशशैवला
धनुस्तरंगायुधगुल्मसंकुलाः ।
अच्छूरिकावर्तभयानका महा-
मणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥ २७

प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे
मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम्।
विनिघ्नतारीन् मुसलेन दुर्मदान्
संकर्षणेनापरिमेयतेजसा ॥ २८

बलं तदंगार्णवदुर्गभैरवं
दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम्।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयो-
र्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम्॥ २९

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते॥ ३०

रथ और पैदल सेनाका संहार करने लगे॥ २४॥ इससे बहुत-से हाथियोंके सिर फट गये और वे मर-मरकर गिरने लगे। बाणोंकी बौछारसे अनेकों घोड़ोंके सिर धड़से अलग हो गये। घोड़े, ध्वजा, सारथि और रथियोंके नष्ट हो जानेसे बहुत-से रथ बेकाम हो गये। पैदल सेनाकी बाँहें, जाँघ और सिर आदि अंग-प्रत्यंग कट-कटकर गिर पड़े॥ २५॥ उस युद्धमें अपार तेजस्वी भगवान् बलरामजीने अपने मूसलकी चोटसे बहुत-से मतवाले शत्रुओंको मार-मारकर उनके अंग-प्रत्यंगसे निकले हुए खूनकी सैकड़ों नदियाँ बहा दीं। कहीं मनुष्य कट रहे हैं तो कहीं हाथी और घोड़े छटपटा रहे हैं। उन नदियोंमें मनुष्योंकी भुजाएँ साँपके समान जान पड़तीं और सिर इस प्रकार मालूम पड़ते, मानो कछुओंकी भीड़ लग गयी हो। मरे हुए हाथी दीप-जैसे और घोड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते। हाथ और जाँघें मछलियोंकी तरह, मनुष्योंके केश सेवारके समान, धनुष तरंगोंकी भाँति और अस्त्र-शस्त्र लता एवं तिनकोंके समान जान पड़ते। ढालें ऐसी मालूम पड़तीं, मानो भयानक भँवर हों। बहुमूल्य मणियाँ और आभूषण पत्थरके रोड़ों तथा कंकड़ोंके समान बहे जा रहे थे। उन नदियोंको देखकर कायर पुरुष डर रहे थे और वीरोंका आपसमें खूब उत्साह बढ़ रहा था॥ २६—२८॥ परीक्षित्! जरासन्धकी वह सेना समुद्रके समान दुर्गम, भयावह और बड़ी कठिनाईसे जीतनेयोग्य थी। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने थोड़े ही समयमें उसे नष्ट कर डाला। वे सारे जगत्‌के स्वामी हैं। उनके लिये एक सेनाका नाश कर देना केवल खिलवाड़ ही तो है॥ २९॥ परीक्षित्! भगवान्‌के गुण अनन्त हैं। वे खेल-खेलमें ही तीनों लोकोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं। उनके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है कि वे शत्रुओंकी सेनाका इस प्रकार बात-की-बातमें सत्यानाश कर दें। तथापि जब वे मनुष्यका-सा वेष धारण करके मनुष्यकी-सी लीला करते हैं, तब उसका भी वर्णन किया ही जाता है॥ ३०॥

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम्।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा॥ ३१

इस प्रकार जरासन्धकी सारी सेना मारी गयी। रथ भी टूट गया। शरीरमें केवल प्राण बाकी रहे। तब भगवान् श्रीबलरामजीने जैसे एक सिंह दूसरे सिंहको पकड़ लेता है, वैसे ही बलपूर्वक महाबली जरासन्धको पकड़ लिया॥ ३१ ॥

बध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः।
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया॥ ३२

जरासन्धने पहले बहुत-से विपक्षी नरपतियोंका वध किया था, परन्तु आज उसे बलरामजी वरुणकी फाँसी और मनुष्योंके फंदेसे बाँध रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि यह छोड़ दिया जायगा तो और भी सेना इकट्ठी करके लायेगा तथा हम सहज ही पृथ्वीका भार उतार सकेंगे, बलरामजीको रोक दिया॥ ३२ ॥

स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसंमतः।
तपसे कृतसंकल्पो वारितः पथि राजभिः॥ ३३

वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि।
स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभवः॥ ३४

बड़े-बड़े शूरवीर जरासन्धका सम्मान करते थे। इसलिये उसे इस बातपर बड़ी लज्जा मालूम हुई कि मुझे श्रीकृष्ण और बलरामने दया करके दीनकी भाँति छोड़ दिया है। अब उसने तपस्या करनेका निश्चय किया। परन्तु रास्तेमें उसके साथी नरपतियोंने बहुत समझाया कि 'राजन्! यदुवंशियोंमें क्या रखा है? वे आपको बिलकुल ही पराजित नहीं कर सकते थे। आपको प्रारब्धवश ही नीचा देखना पड़ा है।' उन लोगोंने भगवान्‌की इच्छा, फिर विजय प्राप्त करनेकी आशा आदि बतलाकर तथा लौकिक दृष्टान्त एवं युक्तियाँ दे-देकर यह बात समझा दी कि आपको तपस्या नहीं करनी चाहिये॥ ३३-३४ ॥

हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा।
उपेक्षितो भगवता मगधान् दुर्मना ययौ॥ ३५

परीक्षित्! उस समय मगधराज जरासन्धकी सारी सेना मर चुकी थी। भगवान् बलरामजीने उपेक्षापूर्वक उसे छोड़ दिया था, इससे वह बहुत उदास होकर अपने देश मगधको चला गया॥ ३५ ॥

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।
विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः॥ ३६

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णकी सेनामें किसीका बाल भी बाँका न हुआ और उन्होंने जरासन्धकी तेईस अक्षौहिणी सेनापर, जो समुद्रके समान थी, सहज ही विजय प्राप्त कर ली। उस समय बड़े-बड़े देवता उनपर नन्दनवनके पुष्पोंकी वर्षा और उनके इस महान् कार्यका अनुमोदन—प्रशंसा कर रहे थे॥ ३६ ॥

माथुरैरुपसंगम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः।
उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः॥ ३७

जरासन्धकी सेनाके पराजयसे मथुरा-वासी भयरहित हो गये थे और भगवान् श्रीकृष्णकी विजयसे उनका हृदय आनन्दसे भर रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण आकर उनमें मिल गये। सूत, मागध और वन्दीजन उनकी विजयके गीत गा रहे थे॥ ३७॥

शंखदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः।
वीणावेणुमृदंगानि पुरं प्रविशति प्रभौ॥ ३८

सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलंकृताम्।
निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम्॥ ३९

निचीयमानो[१] नारीभिर्माल्यदध्यक्षतांकुरैः।
निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः॥ ४०

आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम्।
यदुराजाय तत् सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः॥ ४१

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः[२]।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः॥ ४२

अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभिर्नृपः॥ ४३

अष्टादशमसंग्रामे आगामिनि तदन्तरा।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत॥ ४४

रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः।
नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीञ्छ्रुत्वाऽऽत्मसम्मितान्॥ ४५

तं दृष्ट्वाचिन्तयत् कृष्णः संकर्षणसहायवान्।
अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत्॥ ४६

जिस समय भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया, उस समय वहाँ शंख, नगारे, भेरी, तुरही, वीणा, बाँसुरी और मृदंग आदि बाजे बजने लगे थे॥ ३८॥ मथुराकी एक-एक सड़क और गलीमें छिड़काव कर दिया गया था। चारों ओर हँसते-खेलते नागरिकोंकी चहल-पहल थी। सारा नगर छोटी-छोटी झंडियों और बड़ी-बड़ी विजय-पताकाओंसे सजा दिया गया था। ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि गूँज रही थी और सब ओर आनन्दोत्सवके सूचक बंदनवार बाँध दिये गये थे॥ ३९॥ जिस समय श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, उस समय नगरकी नारियाँ प्रेम और उत्कण्ठासे भरे हुए नेत्रोंसे उन्हें स्नेहपूर्वक निहार रही थीं और फूलोंके हार, दही, अक्षत और जौ आदिके अंकुरोंकी उनके ऊपर वर्षा कर रही थीं॥ ४०॥ भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमिसे अपार धन और वीरोंके आभूषण ले आये थे। वह सब उन्होंने यदुवंशियोंके राजा उग्रसेनके पास भेज दिया॥ ४१॥

परीक्षित्! इस प्रकार सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके मगधराज जरासन्धने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुवंशियोंसे युद्ध किया॥ ४२॥ किन्तु यादवोंने भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिसे हर बार उसकी सारी सेना नष्ट कर दी। जब सारी सेना नष्ट हो जाती, तब यदुवंशियोंके उपेक्षापूर्वक छोड़ देनेपर जरासन्ध अपनी राजधानीमें लौट जाता॥ ४३॥

जिस समय अठारहवाँ संग्राम छिड़नेहीवाला था, उसी समय नारदजीका भेजा हुआ वीर कालयवन दिखायी पड़ा॥ ४४॥ युद्धमें कालयवनके सामने खड़ा होनेवाला वीर संसारमें दूसरा कोई न था। उसने जब यह सुना कि यदुवंशी हमारे ही-जैसे बलवान् हैं और हमारा सामना कर सकते हैं, तब तीन करोड़ म्लेच्छोंकी सेना लेकर उसने मथुराको घेर लिया॥ ४५॥

कालयवनकी यह असमय चढ़ाई देखकर भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीके साथ मिलकर विचार किया—'अहो! इस समय तो यदुवंशियोंपर जरासन्ध और कालयवन—ये दो-दो विपत्तियाँ एक साथ ही मँडरा

१. विकीर्यमाणो। २. णीर्नृपः।

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः।
मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वाऽऽगमिष्यति॥ ४७

आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः।
बन्धून् वधिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली॥ ४८

तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम्।
तत्र ज्ञातीन् समाधाय यवनं घातयामहे॥ ४९

इति सम्मन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम्।
अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत्॥ ५०

दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम्।
रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम्॥ ५१

सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम्।
हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः॥ ५२

राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलंकृतैः।
रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैर्महामरकतस्थलैः॥ ५३

वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वलभीभिश्च निर्मितम्।
चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत्॥ ५४

रही हैं॥ ४६॥ आज इस परम बलशाली यवनने हमें आकर घेर लिया है और जरासन्ध भी आज, कल या परसोंमें आ ही जायेगा॥ ४७॥ यदि हम दोनों भाई इसके साथ लड़नेमें लग गये और उसी समय जरासन्ध भी आ पहुँचा, तो वह हमारे बन्धुओंको मार डालेगा या तो कैद करके अपने नगरमें ले जायगा; क्योंकि वह बहुत बलवान् है॥ ४८॥ इसलिये आज हमलोग एक ऐसा दुर्ग—ऐसा किला बनायेंगे, जिसमें किसी भी मनुष्यका प्रवेश करना अत्यन्त कठिन होगा। अपने स्वजन-सम्बन्धियोंको उसी किलेमें पहुँचाकर फिर इस यवनका वध करायेंगे'॥ ४९॥ बलरामजीसे इस प्रकार सलाह करके भगवान् श्रीकृष्णने समुद्रके भीतर एक ऐसा दुर्गम नगर बनवाया, जिसमें सभी वस्तुएँ अद्‌भुत थीं और उस नगरकी लम्बाई-चौड़ाई अड़तालीस कोसकी थी॥ ५०॥ उस नगरकी एक-एक वस्तुमें विश्वकर्माका विज्ञान (वास्तु-विज्ञान) और शिल्पकलाकी निपुणता प्रकट होती थी। उसमें वास्तुशास्त्रके अनुसार बड़ी-बड़ी सड़कों, चौराहों और गलियोंका यथास्थान ठीक-ठीक विभाजन किया गया था॥ ५१॥ वह नगर ऐसे सुन्दर-सुन्दर उद्यानों और विचित्र-विचित्र उपवनोंसे युक्त था, जिनमें देवताओंके वृक्ष और लताएँ लहलहाती रहती थीं। सोनेके इतने ऊँचे-ऊँचे शिखर थे, जो आकाशसे बातें करते थे। स्फटिकमणिकी अटारियाँ और ऊँचे-ऊँचे दरवाजे बड़े ही सुन्दर लगते थे॥ ५२॥ अन्न रखनेके लिये चाँदी और पीतलके बहुत-से कोठे बने हुए थे। वहाँके महल सोनेके बने हुए थे और उनपर कामदार सोनेके कलश सजे हुए थे। उनके शिखर रत्नोंके थे तथा गच पन्नेकी बनी हुई बहुत भली मालूम होती थी॥ ५३॥ इसके अतिरिक्त उस नगरमें वास्तुदेवताके मन्दिर और छज्जे भी बहुत सुन्दर-सुन्दर बने हुए थे। उसमें चारों वर्णके लोग निवास करते थे। और सबके बीचमें यदुवंशियोंके प्रधान उग्रसेनजी, वसुदेवजी, बलरामजी तथा भगवान् श्रीकृष्णके महल जगमगा रहे थे॥ ५४॥

सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः।
यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते॥ ५५

परीक्षित्! उस समय देवराज इन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णके लिये पारिजातवृक्ष और सुधर्मा-सभाको भेज दिया। वह सभा ऐसी दिव्य थी कि उसमें बैठे हुए मनुष्यको भूख-प्यास आदि मर्त्यलोकके धर्म नहीं छू पाते थे॥ ५५॥

श्यामैककर्णान् वरुणो हयाञ्छुक्लान् मनोजवान्।
अष्टौ निधिपतिः कोशान् लोकपालो निजोदयान्॥ ५६

वरुणजीने ऐसे बहुत-से श्वेत घोड़े भेज दिये, जिनका एक-एक कान श्यामवर्णका था और जिनकी चाल मनके समान तेज थी। धनपति कुबेरजीने अपनी आठों निधियाँ भेज दीं और दूसरे लोकपालोंने भी अपनी-अपनी विभूतियाँ भगवान्के पास भेज दीं॥ ५६॥

यद् यद् भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये।
सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप॥ ५७

परीक्षित्! सभी लोकपालोंको भगवान् श्रीकृष्णने ही उनके अधिकारके निर्वाहके लिये शक्तियाँ और सिद्धियाँ दी हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर लीला करने लगे, तब सभी सिद्धियाँ उन्होंने भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दीं॥ ५७॥

तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः।
प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः।
निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः॥ ५८

भगवान् श्रीकृष्णने अपने समस्त स्वजन-सम्बन्धियोंको अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाके द्वारा द्वारकामें पहुँचा दिया। शेष प्रजाकी रक्षाके लिये बलरामजीको मथुरापुरीमें रख दिया और उनसे सलाह लेकर गलेमें कमलोंकी माला पहने, बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये स्वयं नगरके बड़े दरवाजेसे बाहर निकल आये॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे दुर्गनिवेशनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५०॥

अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कालयवनका भस्म होना, मुचुकुन्दकी कथा

श्रीशुक उवाच

तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम्।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा नगरके मुख्य द्वारसे निकले, उस समय ऐसा मालूम पड़ा मानो पूर्व दिशासे चन्द्रोदय हो रहा हो। उनका श्यामल शरीर अत्यन्त ही दर्शनीय था, उसपर रेशमी पीताम्बरकी छटा निराली ही थी; वक्षःस्थलपर स्वर्णरेखाके रूपमें श्रीवत्सचिह्न शोभा पा रहा था और गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही थी। चार भुजाएँ थीं, जो लम्बी-लम्बी और कुछ मोटी-मोटी थीं। हालके खिले हुए कमलके समान

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम्॥ २

नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम्।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३

वासुदेवो ह्ययमिति पुमाञ्छ्रीवत्सलाञ्छनः।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः॥ ४

लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति।
निरायुधश्चलन् पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः॥ ५

इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम्।
अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम्॥ ६

हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे।
नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम्॥ ७

पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम्।
इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः॥ ८

एवं क्षिप्तोऽपि भगवान् प्राविशद् गिरिकन्दरम्।
सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम्॥ ९

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत्।
इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत्॥ १०

स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने।
दिशो विलोकयन् पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम्॥ ११

कोमल और रतनारे नेत्र थे। मुखकमलपर राशि-राशि आनन्द खेल रहा था। कपोलोंकी छटा निराली ही थी। मन्द-मन्द मुसकान देखनेवालोंका मन चुराये लेती थी। कानोंमें मकराकृत कुण्डल झिलमिल-झिलमिल झलक रहे थे। उन्हें देखकर कालयवनने निश्चय किया कि 'यही पुरुष वासुदेव है। क्योंकि नारदजीने जो-जो लक्षण बतलाये थे— वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, चार भुजाएँ, कमलके-से नेत्र, गलेमें वनमाला और सुन्दरताकी सीमा; वे सब इसमें मिल रहे हैं। इसलिये यह कोई दूसरा नहीं हो सकता। इस समय यह बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके पैदल ही इस ओर चला आ रहा है, इसलिये मैं भी इसके साथ बिना अस्त्र-शस्त्रके ही लड़ूँगा'॥ १—५॥

ऐसा निश्चय करके जब कालयवन भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा, तब वे दूसरी ओर मुँह करके रणभूमिसे भाग चले और उन योगिदुर्लभ प्रभुको पकड़नेके लिये कालयवन उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा॥ ६॥ रणछोड़ भगवान् लीला करते हुए भाग रहे थे; कालयवन पग-पगपर यही समझता था कि अब पकड़ा, तब पकड़ा। इस प्रकार भगवान् उसे बहुत दूर एक पहाड़की गुफामें ले गये॥ ७॥ कालयवन पीछेसे बार-बार आक्षेप करता कि 'अरे भाई! तुम परम यशस्वी यदुवंशमें पैदा हुए हो, तुम्हारा इस प्रकार युद्ध छोड़कर भागना उचित नहीं है।' परन्तु अभी उसके अशुभ निःशेष नहीं हुए थे, इसलिये वह भगवान्‌को पानेमें समर्थ न हो सका॥ ८॥ उसके आक्षेप करते रहनेपर भी भगवान् उस पर्वतकी गुफामें घुस गये। उनके पीछे कालयवन भी घुसा। वहाँ उसने एक दूसरे ही मनुष्यको सोते हुए देखा॥ ९॥ उसे देखकर कालयवनने सोचा 'देखो तो सही, यह मुझे इस प्रकार इतनी दूर ले आया और अब इस तरह—मानो इसे कुछ पता ही न हो—साधुबाबा बनकर सो रहा है।' यह सोचकर उस मूढ़ने उसे कसकर एक लात मारी॥ १०॥ वह पुरुष वहाँ बहुत दिनोंसे सोया हुआ था। पैरकी ठोकर लगनेसे वह उठ पड़ा और धीरे-धीरे उसने अपनी आँखें खोलीं। इधर-उधर देखनेपर पास ही कालयवन खड़ा हुआ दिखायी दिया॥ ११॥

स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत।
देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत् क्षणात्॥ १२

परीक्षित्! वह पुरुष इस प्रकार ठोकर मारकर जगाये जानेसे कुछ रुष्ट हो गया था। उसकी दृष्टि पड़ते ही कालयवनके शरीरमें आग पैदा हो गयी और वह क्षणभरमें जलकर राखका ढेर हो गया॥ १२॥

राजोवाच

को नाम स पुमान् ब्रह्मन् कस्य किंवीर्य एव च।
कस्माद् गुहां गतः शिश्ये किन्तेजो यवनार्दनः॥ १३

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! जिसके दृष्टिपातमात्रसे कालयवन जलकर भस्म हो गया, वह पुरुष कौन था? किस वंशका था? उसमें कैसी शक्ति थी और वह किसका पुत्र था? आप कृपा करके यह भी बतलाइये कि वह पर्वतकी गुफामें जाकर क्यों सो रहा था?॥ १३॥

श्रीशुक उवाच

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान्।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसंगरः॥ १४

स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे।
असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम्॥ १५

लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन्।
राजन् विरमतां कृच्छ्राद् भवान् नः परिपालनात्॥ १६

नरलोके परित्यज्य राज्यं निहतकण्टकम्।
अस्मान् पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः॥ १७

सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः।
प्रजाश्च तुल्यकालीया नाधुना सन्ति कालिताः॥ १८

कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः।
प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो यथा पशून्॥ १९

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥ २०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वे इक्ष्वाकुवंशी महाराजा मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द थे। वे ब्राह्मणोंके परम भक्त, सत्यप्रतिज्ञ, संग्रामविजयी और महापुरुष थे॥ १४॥ एक बार इन्द्रादि देवता असुरोंसे अत्यन्त भयभीत हो गये थे। उन्होंने अपनी रक्षाके लिये राजा मुचुकुन्दसे प्रार्थना की और उन्होंने बहुत दिनोंतक उनकी रक्षा की॥ १५॥ जब बहुत दिनोंके बाद देवताओंको सेनापतिके रूपमें स्वामि-कार्तिकेय मिल गये, तब उन लोगोंने राजा मुचुकुन्दसे कहा—'राजन्! आपने हमलोगोंकी रक्षाके लिये बहुत श्रम और कष्ट उठाया है। अब आप विश्राम कीजिये॥ १६॥ वीरशिरोमणे! आपने हमारी रक्षाके लिये मनुष्यलोकका अपना अकण्टक राज्य छोड़ दिया और जीवनकी अभिलाषाएँ तथा भोगोंका भी परित्याग कर दिया॥ १७॥ अब आपके पुत्र, रानियाँ, बन्धु-बान्धव और अमात्य-मन्त्री तथा आपके समयकी प्रजामेंसे कोई नहीं रहा है। सब-के-सब कालके गालमें चले गये॥ १८॥ काल समस्त बलवानोंसे भी बलवान् है। वह स्वयं परम समर्थ अविनाशी और भगवत्स्वरूप है। जैसे ग्वाले पशुओंको अपने वशमें रखते हैं, वैसे ही वह खेल-खेलमें सारी प्रजाको अपने अधीन रखता है॥ १९॥ राजन्! आपका कल्याण हो। आपकी जो इच्छा हो हमसे माँग लीजिये। हम कैवल्य-मोक्षके अतिरिक्त आपको सब कुछ दे सकते हैं। क्योंकि कैवल्य-मोक्ष देनेकी सामर्थ्य तो केवल अविनाशी भगवान् विष्णुमें ही है॥ २०॥

एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः।
अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया॥ २१

स्वापं यातं यस्तु मध्ये बोधयेत्त्वामचेतनः।
स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्क्षणात्॥ २२

यवने भस्मसान्नीते भगवान् सात्वतर्षभः।
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते॥ २३

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम्॥ २४

चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ २५

प्रेक्षणीयं नृलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम्।
अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम्॥ २६

पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः।
शंकितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा॥ २७

मुचुकुन्द उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके॥ २८

किंस्वित्तेजस्विनां तेजो भगवान् वा विभावसुः।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा॥ २९

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम्।
यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा॥ ३०

परम यशस्वी राजा मुचुकुन्दने देवताओंके इस प्रकार कहनेपर उनकी वन्दना की और बहुत थके होनेके कारण निद्राका ही वर माँगा तथा उनसे वर पाकर वे नींदसे भरकर पर्वतकी गुफामें जा सोये॥ २१॥ उस समय देवताओंने कह दिया था कि 'राजन्! सोते समय यदि आपको कोई मूर्ख बीचमें ही जगा देगा तो वह आपकी दृष्टि पड़ते ही उसी क्षण भस्म हो जायगा'॥ २२॥

परीक्षित्! जब कालयवन भस्म हो गया, तब यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने परम बुद्धिमान् राजा मुचुकुन्दको अपना दर्शन दिया। भगवान् श्रीकृष्णका श्रीविग्रह वर्षाकालीन मेघके समान साँवला था। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे। वक्ष:स्थलपर श्रीवत्स और गलेमें कौस्तुभमणि अपनी दिव्य ज्योति बिखेर रहे थे। चार भुजाएँ थीं। वैजयन्तीमाला अलग ही घुटनोंतक लटक रही थी। मुखकमल अत्यन्त सुन्दर और प्रसन्नतासे खिला हुआ था। कानोंमें मकराकृति कुण्डल जगमगा रहे थे। होठोंपर प्रेमभरी मुसकराहट थी और नेत्रोंकी चितवन अनुरागकी वर्षा कर रही थी। अत्यन्त दर्शनीय तरुण-अवस्था और मतवाले सिंहके समान निर्भीक चाल! राजा मुचुकुन्द यद्यपि बड़े बुद्धिमान् और धीर पुरुष थे, फिर भी भगवान्की यह दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्ति देखकर कुछ चकित हो गये—उनके तेजसे हतप्रतिभ हो सकपका गये। भगवान् अपने तेजसे दुर्द्धर्ष जान पड़ते थे; राजाने तनिक शंकित होकर पूछा॥ २३—२७॥

राजा मुचुकुन्दने कहा—'आप कौन हैं? इस काँटोंसे भरे हुए घोर जंगलमें आप कमलके समान कोमल चरणोंसे क्यों विचर रहे हैं? और इस पर्वतकी गुफामें ही पधारनेका क्या प्रयोजन था?॥ २८॥ क्या आप समस्त तेजस्वियोंके मूर्तिमान् तेज अथवा भगवान् अग्निदेव तो नहीं हैं? क्या आप सूर्य, चन्द्रमा, देवराज इन्द्र या कोई दूसरे लोकपाल हैं?॥ २९॥ मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आप देवताओंके आराध्यदेव ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर—इन तीनोंमेंसे पुरुषोत्तम भगवान् नारायण ही हैं। क्योंकि जैसे श्रेष्ठ दीपक अँधेरेको दूर कर देता है, वैसे ही आप अपनी अंगकान्तिसे इस गुफाका अँधेरा भगा रहे हैं॥ ३०॥

शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुंगव।
स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते॥ ३१
वयं तु पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः।
मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो॥ ३२
चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयोपहतेन्द्रियः।
शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना॥ ३३
सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव[१] पाप्मना।
अनन्तरं भवाञ्छ्रीमान् लक्षितोऽमित्रशातनः[२]॥ ३४
तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः।
हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम्॥ ३५
एवं सम्भाषितो राज्ञा भगवान् भूतभावनः।
प्रत्याह प्रहसन् वाण्या मेघनादगभीरया॥ ३६

श्रीभगवानुवाच

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः।
न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि॥ ३७
क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित्॥ ३८
कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः॥ ३९
तथाप्यद्यतनान्यंग शृणुष्व गदतो मम।
विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराहं धर्मगुप्तये।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च॥ ४०
अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्॥ ४१

पुरुषश्रेष्ठ! यदि आपको रुचे तो हमें अपना जन्म, कर्म और गोत्र बतलाइये; क्योंकि हम सच्चे हृदयसे उसे सुननेके इच्छुक हैं॥ ३१॥ और पुरुषोत्तम! यदि आप हमारे बारेमें पूछें तो हम इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय हैं, मेरा नाम है मुचुकुन्द। और प्रभु! मैं युवनाश्वनन्दन महाराज मान्धाताका पुत्र हूँ॥ ३२॥ बहुत दिनोंतक जागते रहनेके कारण मैं थक गया था। निद्राने मेरी समस्त इन्द्रियोंकी शक्ति छीन ली थी, उन्हें बेकाम कर दिया था, इसीसे मैं इस निर्जन स्थानमें निर्द्वन्द्व सो रहा था। अभी-अभी किसीने मुझे जगा दिया॥ ३३॥ अवश्य उसके पापोंने ही उसे जलाकर भस्म कर दिया है। इसके बाद शत्रुओंके नाश करनेवाले परम सुन्दर आपने मुझे दर्शन दिया॥ ३४॥ महाभाग! आप समस्त प्राणियोंके माननीय हैं। आपके परम दिव्य और असह्य तेजसे मेरी शक्ति खो गयी है। मैं आपको बहुत देरतक देख भी नहीं सकता॥ ३५॥ जब राजा मुचुकुन्दने इस प्रकार कहा, तब समस्त प्राणियोंके जीवनदाता भगवान् श्रीकृष्णने हँसते हुए मेघध्वनिके समान गम्भीर वाणीसे कहा— ॥ ३६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय मुचुकुन्द! मेरे हजारों जन्म, कर्म और नाम हैं। वे अनन्त हैं, इसलिये मैं भी उनकी गिनती करके नहीं बतला सकता॥ ३७॥ यह सम्भव है कि कोई पुरुष अपने अनेक जन्मोंमें पृथ्वीके छोटे-छोटे धूल-कणोंकी गिनती कर डाले; परन्तु मेरे जन्म, गुण, कर्म और नामोंको कोई कभी किसी प्रकार नहीं गिन सकता॥ ३८॥ राजन्! सनक-सनन्दन आदि परमर्षिगण मेरे त्रिकालसिद्ध जन्म और कर्मोंका वर्णन करते रहते हैं, परन्तु कभी उनका पार नहीं पाते॥ ३९॥ प्रिय मुचुकुन्द! ऐसा होनेपर भी मैं अपने वर्तमान जन्म, कर्म और नामोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। पहले ब्रह्माजीने मुझसे धर्मकी रक्षा और पृथ्वीके भार बने हुए असुरोंका संहार करनेके लिये प्रार्थना की थी॥ ४०॥ उन्हींकी प्रार्थनासे मैंने यदुवंशमें वसुदेवजीके यहाँ अवतार ग्रहण किया है। अब मैं वसुदेवजीका पुत्र हूँ, इसलिये लोग मुझे 'वासुदेव' कहते हैं॥ ४१॥

१. मात्मजेनैव। २. नाशनः।

कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः।
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा॥ ४२

सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः॥ ४३

वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते।
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्॥ ४४

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः।
ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन्॥ ४५

मुचुकुन्द उवाच

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित् पुरुषश्च वंचितः॥ ४६

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथंचिदव्यंगमयत्नतोऽनघ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-
र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥ ४७

अबतक मैं कालनेमि असुरका, जो कंसके रूपमें पैदा हुआ था, तथा प्रलम्ब आदि अनेकों साधुद्रोही असुरोंका संहार कर चुका हूँ। राजन्! यह कालयवन था, जो मेरी ही प्रेरणासे तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टि पड़ते ही भस्म हो गया॥ ४२॥ वही मैं तुमपर कृपा करनेके लिये ही इस गुफामें आया हूँ। तुमने पहले मेरी बहुत आराधना की है और मैं हूँ भक्तवत्सल॥ ४३॥ इसलिये राजर्षे! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे माँग लो। मैं तुम्हारी सारी लालसा, अभिलाषाएँ पूर्ण कर दूँगा। जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है उसके लिये फिर ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसके लिये वह शोक करे॥ ४४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब राजा मुचुकुन्दको वृद्ध गर्गका यह कथन याद आ गया कि यदुवंशमें भगवान् अवतीर्ण होनेवाले हैं। वे जान गये कि ये स्वयं भगवान् नारायण हैं। आनन्दसे भरकर उन्होंने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार स्तुति की॥ ४५॥

मुचुकुन्दने कहा—'प्रभो! जगत्के सभी प्राणी आपकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहे हैं। वे आपसे विमुख होकर अनर्थमें ही फँसे रहते हैं और आपका भजन नहीं करते। वे सुखके लिये घर-गृहस्थीके उन झंझटोंमें फँस जाते हैं, जो सारे दुःखोंके मूल स्रोत हैं। इस तरह स्त्री और पुरुष सभी ठगे जा रहे हैं॥ ४६॥ इस पापरूप संसारसे सर्वथा रहित प्रभो! यह भूमि अत्यन्त पवित्र कर्मभूमि है, इसमें मनुष्यका जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य-जीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजनके लिये कोई भी असुविधा नहीं है। अपने परम सौभाग्य और भगवान्की अहैतुक कृपासे उसे अनायास ही प्राप्त करके भी जो अपनी मति, गति असत् संसारमें ही लगा देते हैं और तुच्छ विषयसुखके लिये ही सारा प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थीके अँधेरे कूएँमें पड़े रहते हैं—भगवान्के चरणकमलोंकी उपासना नहीं करते, भजन नहीं करते, वे तो ठीक उस पशुके समान हैं, जो तुच्छ तृणके लोभसे अँधेरे कूएँमें गिर जाता है॥ ४७॥

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभू-
ष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया॥ ४८

भगवन्! मैं राजा था, राज्यलक्ष्मीके मदसे मैं मतवाला हो रहा था। इस मरनेवाले शरीरको ही तो मैं आत्मा—अपना स्वरूप समझ रहा था और राजकुमार, रानी, खजाना तथा पृथ्वीके लोभ-मोहमें ही फँसा हुआ था। उन वस्तुओंकी चिन्ता दिन-रात मेरे गले लगी रहती थी। इस प्रकार मेरे जीवनका यह अमूल्य समय बिलकुल निष्फल—व्यर्थ चला गया॥ ४८॥

कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे
निरूढमानो नरदेव इत्यहम्।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै-
र्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः॥ ४९

जो शरीर प्रत्यक्ष ही घड़े और भीतके समान मिट्टीका है और दृश्य होनेके कारण उन्हींके समान अपनेसे अलग भी है, उसीको मैंने अपना स्वरूप मान लिया था और फिर अपनेको मान बैठा था 'नरदेव'! इस प्रकार मैंने मदान्ध होकर आपको तो कुछ समझा ही नहीं। रथ, हाथी, घोड़े और पैदलकी चतुरंगिणी सेना तथा सेनापतियोंसे घिरकर मैं पृथ्वीमें इधर-उधर घूमता रहता॥ ४९॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ५०

मुझे यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये, इस प्रकार विविध कर्तव्य और अकर्तव्योंकी चिन्तामें पड़कर मनुष्य अपने एकमात्र कर्तव्य भगवत्प्राप्तिसे विमुख होकर प्रमत्त हो जाता है, असावधान हो जाता है। संसारमें बाँध रखनेवाले विषयोंके लिये उसकी लालसा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही जाती है। परन्तु जैसे भूखके कारण जीभ लपलपाता हुआ साँप असावधान चूहेको दबोच लेता है, वैसे ही कालरूपसे सदा-सर्वदा सावधान रहनेवाले आप एकाएक उस प्रमादग्रस्त प्राणीपर टूट पड़ते हैं और उसे ले बीतते हैं॥ ५०॥

पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्
मतंगजैर्वा नरदेवसंज्ञितः।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते
कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः॥ ५१

जो पहले सोनेके रथोंपर अथवा बड़े-बड़े गजराजोंपर चढ़कर चलता था और नरदेव कहलाता था, वही शरीर आपके अबाध कालका ग्रास बनकर बाहर फेंक देनेपर पक्षियोंकी विष्ठा, धरतीमें गाड़ देनेपर सड़कर कीड़ा और आगमें जला देनेपर राखका ढेर बन जाता है॥ ५१॥

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो
वरासनस्थः समराजवन्दितः।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां
क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते॥ ५२

प्रभो! जिसने सारी दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ली है और जिससे लड़नेवाला संसारमें कोई रह नहीं गया है, जो श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठता है और बड़े-बड़े नरपति, जो पहले उसके समान थे, अब जिसके चरणोंमें सिर झुकाते हैं, वही पुरुष जब विषय-सुख भोगनेके लिये, जो घर-गृहस्थीकी एक विशेष वस्तु है, स्त्रियोंके पास जाता है, तब उनके हाथका खिलौना, उनका पालतू पशु बन जाता है॥ ५२॥

करोति कर्माणि तपस्सुनिष्ठितो
निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत्।
पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति
प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते॥ ५३

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥ ५४

मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो
राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया
वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः॥ ५५

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे
वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्॥ ५६

तस्माद् विसृज्याशिष ईश सर्वतो
रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरंजनं निर्गुणमद्वयं परं
त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्॥ ५७

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथंचित्।

बहुत-से लोग विषय-भोग छोड़कर पुनः राज्यादि भोग मिलनेकी इच्छासे ही दान-पुण्य करते हैं और 'मैं फिर जन्म लेकर सबसे बड़ा परम स्वतन्त्र सम्राट् होऊँ।' ऐसी कामना रखकर तपस्यामें भलीभाँति स्थित हो शुभकर्म करते हैं। इस प्रकार जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, वह कदापि सुखी नहीं हो सकता॥ ५३॥ अपने स्वरूपमें एकरस स्थित रहनेवाले भगवन्! जीव अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा है। जब उस चक्करसे छूटनेका समय आता है, तब उसे सत्संग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्संग प्राप्त होता है, उसी क्षण संतोंके आश्रय, कार्य-कारणरूप जगत्के एकमात्र स्वामी आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है॥ ५४॥ भगवन्! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपने मेरे ऊपर परम अनुग्रहकी वर्षा की, क्योंकि बिना किसी परिश्रमके—अनायास ही मेरे राज्यका बन्धन टूट गया। साधु-स्वभावके चक्रवर्ती राजा भी जब अपना राज्य छोड़कर एकान्तमें भजन-साधन करनेके उद्देश्यसे वनमें जाना चाहते हैं, तब उसके ममता-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये बड़े प्रेमसे आपसे प्रार्थना किया करते हैं॥ ५५॥ अन्तर्यामी प्रभो! आपसे क्या छिपा है? मैं आपके चरणोंकी सेवाके अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता; क्योंकि जिनके पास किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह नहीं है अथवा जो उसके अभिमानसे रहित हैं, वे लोग भी केवल उसीके लिये प्रार्थना करते रहते हैं। भगवन्! भला, बतलाइये तो सही—मोक्ष देनेवाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन श्रेष्ठ पुरुष होगा, जो अपनेको बाँधनेवाले सांसारिक विषयोंका वर माँगे॥ ५६॥

इसलिये प्रभो! मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल मायाके लेशमात्र सम्बन्धसे रहित, गुणातीत, एक—अद्वितीय, चित्स्वरूप परमपुरुष आपकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ ५७॥ भगवन्! मैं अनादिकालसे अपने कर्मफलोंको भोगते-भोगते अत्यन्त आर्त हो रहा था, उनकी दुःखद ज्वाला रात-दिन मुझे जलाती रहती थी। मेरे छः शत्रु (पाँच इन्द्रिय और एक मन) कभी शान्त न होते थे, उनकी विषयोंकी प्यास बढ़ती

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश ॥ ५८

ही जा रही थी। कभी किसी प्रकार एक क्षणके लिये भी मुझे शान्ति न मिली। शरणदाता! अब मैं आपके भय, मृत्यु और शोकसे रहित चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ। सारे जगत्‌के एकमात्र स्वामी! परमात्मन्! आप मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये॥ ५८॥

श्रीभगवानुवाच

सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः॥ ५९

प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत्।
न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित्॥ ६०

युंजानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥ ६१

विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः।
अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी॥ ६२

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः॥ ६३

जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम्॥ ६४

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'सार्वभौम महाराज! तुम्हारी मति, तुम्हारा निश्चय बड़ा ही पवित्र और ऊँची कोटिका है। यद्यपि मैंने तुम्हें बार-बार वर देनेका प्रलोभन दिया, फिर भी तुम्हारी बुद्धि कामनाओंके अधीन न हुई॥ ५९॥ मैंने तुम्हें जो वर देनेका प्रलोभन दिया, वह केवल तुम्हारी सावधानीकी परीक्षाके लिये। मेरे जो अनन्य भक्त होते हैं, उनकी बुद्धि कभी कामनाओंसे इधर-उधर नहीं भटकती॥ ६०॥ जो लोग मेरे भक्त नहीं होते, वे चाहे प्राणायाम आदिके द्वारा अपने मनको वशमें करनेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं और राजन्! उनका मन फिरसे विषयोंके लिये मचल पड़ता है॥ ६१॥ तुम अपने मन और सारे मनोभावोंको मुझे समर्पित कर दो, मुझमें लगा दो और फिर स्वच्छन्दरूपसे पृथ्वीपर विचरण करो। मुझमें तुम्हारी विषय-वासनाशून्य निर्मल भक्ति सदा बनी रहेगी॥ ६२॥ तुमने क्षत्रियधर्मका आचरण करते समय शिकार आदिके अवसरोंपर बहुत-से पशुओंका वध किया है। अब एकाग्रचित्तसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याके द्वारा उस पापको धो डालो॥ ६३॥ राजन्! अगले जन्ममें तुम ब्राह्मण बनोगे और समस्त प्राणियोंके सच्चे हितैषी, परम सुहृद् होओगे तथा फिर मुझ विशुद्ध विज्ञानघन परमात्माको प्राप्त करोगे'॥ ६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे मुचुकुन्दस्तुतिर्नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५१॥

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

द्वारकागमन, श्रीबलरामजीका विवाह तथा श्रीकृष्णके पास रुक्मिणीजीका सन्देशा लेकर ब्राह्मणका आना

श्रीशुक उवाच

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः।
तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात्॥ १

स वीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् पशून् वीरुद्वनस्पतीन्।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम्॥ २

तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसंगो मुक्तसंशयः।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद् गन्धमादनम्॥ ३

बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम्।
सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाऽऽराधयद्धरिम्॥ ४

भगवान् पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम्।
हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम्॥ ५

नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः॥ ६

विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ।
मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन् दुद्रुवतुर्द्रुतम्॥ ७

विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत्।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम्॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्यारे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार इक्ष्वाकुनन्दन राजा मुचुकुन्दपर अनुग्रह किया। अब उन्होंने भगवान्‌की परिक्रमा की, उन्हें नमस्कार किया और गुफासे बाहर निकले॥ १॥ उन्होंने बाहर आकर देखा कि सब-के-सब मनुष्य, पशु, लता और वृक्ष-वनस्पति पहलेकी अपेक्षा बहुत छोटे-छोटे आकारके हो गये हैं। इससे यह जानकर कि कलियुग आ गया, वे उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥ २॥ महाराज मुचुकुन्द तपस्या, श्रद्धा, धैर्य तथा अनासक्तिसे युक्त एवं संशय-सन्देहसे मुक्त थे। वे अपना चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें लगाकर गन्धमादन पर्वतपर जा पहुँचे॥ ३॥ भगवान् नर-नारायणके नित्य निवासस्थान बदरिकाश्रममें जाकर बड़े शान्तभावसे गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्व सहते हुए वे तपस्याके द्वारा भगवान्‌की आराधना करने लगे॥ ४॥

इधर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरापुरीमें लौट आये। अबतक कालयवनकी सेनाने उसे घेर रखा था। अब उन्होंने म्लेच्छोंकी सेनाका संहार किया और उसका सारा धन छीनकर द्वारकाको ले चले॥ ५॥ जिस समय भगवान् श्रीकृष्णके आज्ञानुसार मनुष्यों और बैलोंपर वह धन ले जाया जाने लगा, उसी समय मगधराज जरासन्ध फिर (अठारहवीं बार) तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर आ धमका॥ ६॥ परीक्षित्! शत्रु-सेनाका प्रबल वेग देखकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम मनुष्योंकी-सी लीला करते हुए उसके सामनेसे बड़ी फुर्तीके साथ भाग निकले॥ ७॥ उनके मनमें तनिक भी भय न था। फिर भी मानो अत्यन्त भयभीत हो गये हों—इस प्रकारका नाट्य करते हुए, वह सब-का-सब धन वहीं छोड़कर अनेक योजनोंतक वे अपने कमलदलके समान सुकोमल चरणोंसे ही—पैदल भागते चले गये॥ ८॥

पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन् बली।
अन्वधावद् रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित्॥ ९

प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुंगमारुहतां गिरिम्।
प्रवर्षणाख्यं भगवान् नित्यदा यत्र वर्षति॥ १०

गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप।
ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन्॥ ११

तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ।
दशैकयोजनोत्तुंगान्निपेततुरधो भुवि॥ १२

अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ।
स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप॥ १३

सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ।
बलमाकृष्य सुमहन्मगधान् मागधो ययौ॥ १४

आनर्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम्।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद् बलायेति पुरोदितम्॥ १५

भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे॥ १६

प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान्।
पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव॥ १७

राजोवाच

भगवान् भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम्।
राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम्॥ १८

जब महाबली मगधराज जरासन्धने देखा कि श्रीकृष्ण और बलराम तो भाग रहे हैं, तब वह हँसने लगा और अपनी रथ-सेनाके साथ उनका पीछा करने लगा। उसे भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके ऐश्वर्य, प्रभाव आदिका ज्ञान न था॥ ९॥ बहुत दूरतक दौड़नेके कारण दोनों भाई कुछ थक-से गये। अब वे बहुत ऊँचे प्रवर्षण पर्वतपर चढ़ गये। उस पर्वतका 'प्रवर्षण' नाम इसलिये पड़ा था कि वहाँ सदा ही मेघ वर्षा किया करते थे॥ १०॥ परीक्षित्! जब जरासन्धने देखा कि वे दोनों पहाड़में छिप गये और बहुत ढूँढ़नेपर भी पता न चला, तब उसने ईंधनसे भरे हुए प्रवर्षण पर्वतके चारों ओर आग लगवाकर उसे जला दिया॥ ११॥ जब भगवान्‌ने देखा कि पर्वतके छोर जलने लगे हैं, तब दोनों भाई जरासन्धकी सेनाके घेरेको लाँघते हुए बड़े वेगसे उस ग्यारह योजन (चौवालीस कोस) ऊँचे पर्वतसे एकदम नीचे धरती-पर कूद आये॥ १२॥ राजन्! उन्हें जरासन्धने अथवा उसके किसी सैनिकने देखा नहीं और वे दोनों भाई वहाँसे चलकर फिर अपनी समुद्रसे घिरी हुई द्वारकापुरीमें चले आये॥ १३॥ जरासन्धने झूठमूठ ऐसा मान लिया कि श्रीकृष्ण और बलराम तो जल गये और फिर वह अपनी बहुत बड़ी सेना लौटाकर मगधदेशको चला गया॥ १४॥

यह बात मैं तुमसे पहले ही (नवम स्कन्धमें) कह चुका हूँ कि आनर्तदेशके राजा श्रीमान् रैवतजीने अपनी रेवती नामकी कन्या ब्रह्माजीकी प्रेरणासे बल-रामजीके साथ ब्याह दी॥ १५॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वयंवरमें आये हुए शिशुपाल और उसके पक्षपाती शाल्व आदि नरपतियोंको बलपूर्वक हराकर सबके देखते-देखते, जैसे गरुड़ने सुधाका हरण किया था, वैसे ही विदर्भदेशकी राजकुमारी रुक्मिणीको हर लाये और उनसे विवाह कर लिया। रुक्मिणीजी राजा भीष्मककी कन्या और स्वयं भगवती लक्ष्मीजीका अवतार थीं॥ १६-१७॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! हमने सुना है कि भगवान् श्रीकृष्णने भीष्मकनन्दिनी परमसुन्दरी रुक्मिणीदेवीको बलपूर्वक हरण करके राक्षसविधिसे

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः।
यथा मागधशाल्वादीन् जित्वा कन्यामुपाहरत्॥ १९

ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः।
को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः॥ २०

श्रीशुक उवाच

राजाऽऽसीद् भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्।
तस्य पंचाभवन् पुत्राः कन्यैका च वरानना॥ २१

रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः।
रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती॥ २२

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः।
गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम्॥ २३

तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम्।
कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे॥ २४

बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप।
ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत॥ २५

तदवेत्यासितापांगी वैदर्भी दुर्मना भृशम्।
विचिन्त्याप्तं द्विजं कंचित् कृष्णाय प्राहिणोद् द्रुतम्॥ २६

उनके साथ विवाह किया था॥ १८॥ महाराज! अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि परम तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने जरासन्ध, शाल्व आदि नरपतियोंको जीतकर किस प्रकार रुक्मिणीका हरण किया?॥ १९॥ ब्रह्मर्षे! भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें क्या कहना है? वे स्वयं तो पवित्र हैं ही, सारे जगत्‌का मल धो-बहाकर उसे भी पवित्र कर देनेवाली हैं। उनमें ऐसी लोकोत्तर माधुरी है, जिसे दिन-रात सेवन करते रहनेपर भी नित्य नया-नया रस मिलता रहता है। भला ऐसा कौन रसिक, कौन मर्मज्ञ है, जो उन्हें सुनकर तृप्त न हो जाय॥ २०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! महाराज भीष्मक विदर्भदेशके अधिपति थे। उनके पाँच पुत्र और एक सुन्दरी कन्या थी॥ २१॥ सबसे बड़े पुत्रका नाम था रुक्मी और चार छोटे थे—जिनके नाम थे क्रमशः रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली। इनकी बहिन थी सती रुक्मिणी॥ २२॥ जब उसने भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य, पराक्रम, गुण और वैभवकी प्रशंसा सुनी—जो उसके महलमें आनेवाले अतिथि प्रायः गाया ही करते थे—तब उसने यही निश्चय किया कि भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे अनुरूप पति हैं॥ २३॥ भगवान् श्रीकृष्ण भी समझते थे कि 'रुक्मिणीमें बड़े सुन्दर-सुन्दर लक्षण हैं, वह परम बुद्धिमती है; उदारता, सौन्दर्य, शीलस्वभाव और गुणोंमें भी अद्वितीय है। इसलिये रुक्मिणी ही मेरे अनुरूप पत्नी है। अतः भगवान्‌ने रुक्मिणीजीसे विवाह करनेका निश्चय किया॥ २४॥ रुक्मिणीजीके भाई-बन्धु भी चाहते थे कि हमारी बहिनका विवाह श्रीकृष्णसे ही हो। परन्तु रुक्मी श्रीकृष्णसे बड़ा द्वेष रखता था, उसने उन्हें विवाह करनेसे रोक दिया और शिशुपालको ही अपनी बहिनके योग्य वर समझा॥ २५॥

जब परमसुन्दरी रुक्मिणीको यह मालूम हुआ कि मेरा बड़ा भाई रुक्मी शिशुपालके साथ मेरा विवाह करना चाहता है, तब वे बहुत उदास हो गयीं। उन्होंने बहुत कुछ सोच-विचारकर एक विश्वास-पात्र ब्राह्मणको तुरंत श्रीकृष्णके पास भेजा॥ २६॥

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः।
अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं कांचनासने॥ २७

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात्।
उपवेश्यार्हयांचक्रे यथाऽऽत्मानं दिवौकसः॥ २८

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः।
पाणिनाभिमृशन् पादावव्यग्रस्तमपृच्छत॥ २९

कच्चिद् द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसम्मतः।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा॥ ३०

संतुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित्।
अहीयमानः स्वाद्धर्मात् स ह्यस्याखिलकामधुक्॥ ३१

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिंचनोऽपि संतुष्ट शेते सर्वांगविज्वरः॥ ३२

विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान्।
निरहंकारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसासकृत्॥ ३३

कच्चिद् वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः॥ ३४

जब वे ब्राह्मणदेवता द्वारकापुरीमें पहुँचे तब द्वारपाल उन्हें राजमहलके भीतर ले गये। वहाँ जाकर ब्राह्मण-देवताने देखा कि आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण सोनेके सिंहासनपर विराजमान हैं॥ २७॥ ब्राह्मणोंके परमभक्त भगवान् श्रीकृष्ण उन ब्राह्मणदेवताको देखते ही अपने आसनसे नीचे उतर गये और उन्हें अपने आसनपर बैठाकर वैसी ही पूजा की जैसे देवतालोग उनकी (भगवान्‌की) किया करते हैं॥ २८॥ आदर-सत्कार, कुशल-प्रश्नके अनन्तर जब ब्राह्मणदेवता खा-पी चुके, आराम-विश्राम कर चुके तब संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास गये और अपने कोमल हाथोंसे उनके पैर सहलाते हुए बड़े शान्त भावसे पूछने लगे— ॥ २९॥

'ब्राह्मणशिरोमणे! आपका चित्त तो सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहता है न? आपको अपने पूर्वपुरुषोंद्वारा स्वीकृत धर्मका पालन करनेमें कोई कठिनाई तो नहीं होती॥ ३०॥ ब्राह्मण यदि जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहे और अपने धर्मका पालन करे, उससे च्युत न हो तो वह सन्तोष ही उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण कर देता है॥ ३१॥ यदि इन्द्रका पद पाकर भी किसीको सन्तोष न हो तो उसे सुखके लिये एक लोकसे दूसरे लोकमें बार-बार भटकना पड़ेगा, वह कहीं भी शान्तिसे बैठ नहीं सकेगा। परन्तु जिसके पास तनिक भी संग्रह-परिग्रह नहीं है और जो उसी अवस्थामें सन्तुष्ट है, वह सब प्रकारसे सन्तापरहित होकर सुखकी नींद सोता है॥ ३२॥ जो स्वयं प्राप्त हुई वस्तुसे सन्तोष कर लेते हैं, जिनका स्वभाव बड़ा ही मधुर है और जो समस्त प्राणियोंके परम हितैषी, अहंकाररहित और शान्त हैं—उन ब्राह्मणोंको मैं सदा सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ॥ ३३॥ ब्राह्मणदेवता! राजाकी ओरसे तो आपलोगोंको सब प्रकारकी सुविधा है न? जिसके राज्यमें प्रजाका अच्छी तरह पालन होता है और वह आनन्दसे रहती है, वह राजा मुझे बहुत ही प्रिय है॥ ३४॥

यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया।
सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत् किं कार्यं करवाम ते॥ ३५

ब्राह्मणदेवता! आप कहाँसे, किस हेतुसे और किस अभिलाषासे इतना कठिन मार्ग तय करके यहाँ पधारे हैं? यदि कोई बात विशेष गोपनीय न हो तो हमसे कहिये। हम आपकी क्या सेवा करें?'॥ ३५॥

एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत्॥ ३६

परीक्षित्! लीलासे ही मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार ब्राह्मणदेवतासे पूछा, तब उन्होंने सारी बात कह सुनायी। इसके बाद वे भगवान्से रुक्मिणीजीका सन्देश कहने लगे॥ ३६॥

रुक्मिण्युवाच

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥ ३७

रुक्मिणीजीने कहा है—त्रिभुवनसुन्दर! आपके गुणोंको, जो सुननेवालोंके कानोंके रास्ते हृदयमें प्रवेश करके एक-एक अंगके ताप, जन्म-जन्मकी जलन बुझा देते हैं तथा अपने रूप-सौन्दर्यको जो नेत्रवाले जीवोंके नेत्रोंके लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके फल एवं स्वार्थ-परमार्थ, सब कुछ हैं, श्रवण करके प्यारे अच्युत! मेरा चित्त लज्जा, शर्म सब कुछ छोड़कर आपमें ही प्रवेश कर रहा है॥ ३७॥

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम्॥ ३८

प्रेमस्वरूप श्यामसुन्दर! चाहे जिस दृष्टिसे देखें; कुल, शील, स्वभाव, सौन्दर्य, विद्या, अवस्था, धन-धाम—सभीमें आप अद्वितीय हैं, अपने ही समान हैं। मनुष्यलोकमें जितने भी प्राणी हैं, सबका मन आपको देखकर शान्तिका अनुभव करता है, आनन्दित होता है। अब पुरुषभूषण! आप ही बतलाइये—ऐसी कौन-सी कुलवती महागुणवती और धैर्यवती कन्या होगी, जो विवाहके योग्य समय आनेपर आपको ही पतिके रूपमें वरण न करेगी?॥ ३८॥

तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्
गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष॥ ३९

इसीलिये प्रियतम! मैंने आपको पतिरूपसे वरण किया है। मैं आपको आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ। आप अन्तर्यामी हैं। मेरे हृदयकी बात आपसे छिपी नहीं है। आप यहाँ पधारकर मुझे अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये। कमलनयन! प्राणवल्लभ! मैं आप-सरीखे वीरको समर्पित हो चुकी हूँ, आपकी हूँ। अब जैसे सिंहका भाग सियार छू जाय, वैसे कहीं शिशुपाल निकटसे आकर मेरा स्पर्श न कर जाय॥ ३९॥

पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-
गुर्वर्चनादिभिरलं भगवान् परेशः।

मैंने यदि जन्म-जन्ममें पूर्त (कुआँ, बावली आदि खुदवाना), इष्ट (यज्ञादि करना), दान, नियम, व्रत तथा देवता, ब्राह्मण और गुरु आदिकी पूजाके द्वारा भगवान् परमेश्वरकी

आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥ ४०

श्वोभाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्॥ ४१

अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूं-
स्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा
यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात्॥ ४२

यस्याङ्घ्रिपंकजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥ ४३

ब्राह्मण उवाच

इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाऽऽहृताः।
विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम्॥ ४४

ही आराधना की हो और वे मुझपर प्रसन्न हों तो भगवान् श्रीकृष्ण आकर मेरा पाणिग्रहण करें; शिशुपाल अथवा दूसरा कोई भी पुरुष मेरा स्पर्श न कर सके॥ ४०॥ प्रभो! आप अजित हैं। जिस दिन मेरा विवाह होनेवाला हो उसके एक दिन पहले आप हमारी राजधानीमें गुप्तरूपसे आ जाइये और फिर बड़े-बड़े सेनापतियोंके साथ शिशुपाल तथा जरासन्धकी सेनाओंको मथ डालिये, तहस-नहस कर दीजिये और बलपूर्वक राक्षस-विधिसे वीरताका मूल्य देकर मेरा पाणिग्रहण कीजिये॥ ४१॥ यदि आप यह सोचते हों कि 'तुम तो अन्तःपुरमें—भीतरके जनाने महलोंमें पहरेके अंदर रहती हो, तुम्हारे भाई-बन्धुओंको मारे बिना मैं तुम्हें कैसे ले जा सकता हूँ?' तो इसका उपाय मैं आपको बतलाये देती हूँ। हमारे कुलका ऐसा नियम है कि विवाहके पहले दिन कुलदेवीका दर्शन करनेके लिये एक बहुत बड़ी यात्रा होती है, जुलूस निकलता है—जिसमें विवाही जानेवाली कन्याको, दुलहिनको नगरके बाहर गिरिजादेवीके मन्दिरमें जाना पड़ता है॥ ४२॥ कमलनयन! उमापति भगवान् शंकरके समान बड़े-बड़े महापुरुष भी आत्मशुद्धिके लिये आपके चरणकमलोंकी धूलसे स्नान करना चाहते हैं। यदि मैं आपका वह प्रसाद, आपकी वह चरणधूल नहीं प्राप्त कर सकी तो व्रतद्वारा शरीरको सुखाकर प्राण छोड़ दूँगी। चाहे उसके लिये सैकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें, कभी-न-कभी तो आपका वह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा॥ ४३॥

ब्राह्मणदेवताने कहा—यदुवंशशिरोमणे! यही रुक्मिणीके अत्यन्त गोपनीय सन्देश हैं, जिन्हें लेकर मैं आपके पास आया हूँ। इसके सम्बन्धमें जो कुछ करना हो, विचार कर लीजिये और तुरंत ही उसके अनुसार कार्य कीजिये॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहप्रस्तावे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२॥

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

रुक्मिणीहरण

श्रीशुक उवाच

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीजीका यह सन्देश सुनकर अपने हाथसे ब्राह्मणदेवताका हाथ पकड़ लिया और हँसते हुए यों बोले॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥ २

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान् मृधे।
मत्परामनवद्यांगीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥ ३

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्राह्मणदेवता! जैसे विदर्भराजकुमारी मुझे चाहती हैं, वैसे ही मैं भी उन्हें चाहता हूँ। मेरा चित्त उन्हींमें लगा रहता है। कहाँतक कहूँ, मुझे रातके समय नींदतक नहीं आती। मैं जानता हूँ कि रुक्मीने द्वेषवश मेरा विवाह रोक दिया है॥ २॥ परन्तु ब्राह्मणदेवता! आप देखियेगा, जैसे लकड़ियोंको मथकर—एक-दूसरेसे रगड़कर मनुष्य उनमेंसे आग निकाल लेता है, वैसे ही युद्धमें उन नामधारी क्षत्रियकुल-कलंकोंको तहस-नहस करके अपनेसे प्रेम करनेवाली परमसुन्दरी राजकुमारीको मैं निकाल लाऊँगा॥ ३॥

श्रीशुक उवाच

उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः।
रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम्॥ ४

स चाश्वैः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः।
युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्रांजलिरग्रतः॥ ५

आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः।
आनर्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मधुसूदन श्रीकृष्णने यह जानकर कि रुक्मिणीके विवाहकी लग्न परसों रात्रिमें ही है, सारथिको आज्ञा दी कि 'दारुक! तनिक भी विलम्ब न करके रथ जोत लाओ'॥ ४॥ दारुक भगवान्‌के रथमें शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके चार घोड़े जोतकर उसे ले आया और हाथ जोड़कर भगवान्‌के सामने खड़ा हो गया॥ ५॥ शूरनन्दन श्रीकृष्ण ब्राह्मणदेवताको पहले रथपर चढ़ाकर फिर आप भी सवार हुए और उन शीघ्रगामी घोड़ोंके द्वारा एक ही रातमें आनर्त-देशसे विदर्भदेशमें जा पहुँचे॥ ६॥

राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः।
शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन् कर्माण्यकारयत्॥ ७

पुरं सम्मृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम्।
चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलंकृतम्॥ ८

कुण्डिननरेश महाराज भीष्मक अपने बड़े लड़के रुक्मीके स्नेहवश अपनी कन्या शिशुपालको देनेके लिये विवाहोत्सवकी तैयारी करा रहे थे॥ ७॥ नगरके राजपथ, चौराहे तथा गली-कूचे झाड़-बुहार दिये गये थे, उनपर छिड़काव किया जा चुका था। चित्र-विचित्र, रंग-बिरंगी, छोटी-बड़ी झंडियाँ और पताकाएँ लगा दी गयी थीं। तोरण बाँध दिये गये थे॥ ८॥

स्त्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजोऽम्बरभूषितैः ।
जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगुरुधूपितैः ॥ ९

पितॄन् देवान् समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृप।
भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मंगलम्॥ १०

सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमंगलाम्।
अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः॥ ११

चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः।
पुरोहितोऽथर्वविद् वै जुहाव ग्रहशान्तये॥ १२

हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान्।
प्रादाद् धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः॥ १३

एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम्॥ १४

मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः।
पत्त्यश्वसंकुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ॥ १५

तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च।
निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने॥ १६

तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः।
आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः॥ १७

कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम्।
यद्यागत्य हरेत् कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः॥ १८

योत्स्यामः संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः।
आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः॥ १९

वहाँके स्त्री-पुरुष पुष्प-माला, हार, इत्र-फुलेल, चन्दन, गहने और निर्मल वस्त्रोंसे सजे हुए थे। वहाँके सुन्दर-सुन्दर घरोंमेंसे अगरके धूपकी सुगन्ध फैल रही थी॥ ९ ॥ परीक्षित्! राजा भीष्मकने पितर और देवताओंका विधिपूर्वक पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराया और नियमानुसार स्वस्तिवाचन भी॥ १० ॥ सुशोभित दाँतोंवाली परमसुन्दरी राजकुमारी रुक्मिणीजीको स्नान कराया गया, उनके हाथोंमें मंगलसूत्र कंकण पहनाये गये, कोहबर बनाया गया, दो नये-नये वस्त्र उन्हें पहनाये गये और वे उत्तम-उत्तम आभूषणोंसे विभूषित की गयीं॥ ११ ॥ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने साम, ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे उनकी रक्षा की और अथर्ववेदके विद्वान् पुरोहितने ग्रह-शान्तिके लिये हवन किया॥ १२ ॥ राजा भीष्मक कुलपरम्परा और शास्त्रीय विधियोंके बड़े जानकार थे। उन्होंने सोना, चाँदी, वस्त्र, गुड़ मिले हुए तिल और गौएँ ब्राह्मणोंको दीं॥ १३ ॥

इसी प्रकार चेदिनरेश राजा दमघोषने भी अपने पुत्र शिशुपालके लिये मन्त्रज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने पुत्रके विवाह-सम्बन्धी मंगलकृत्य कराये॥ १४ ॥ इसके बाद वे मद चुआते हुए हाथियों, सोनेकी मालाओंसे सजाये हुए रथों, पैदलों तथा घुड़सवारोंकी चतुरंगिणी सेना साथ लेकर कुण्डिनपुर जा पहुँचे॥ १५ ॥ विदर्भराज भीष्मकने आगे आकर उनका स्वागत-सत्कार और प्रथाके अनुसार अर्चन-पूजन किया। इसके बाद उन लोगोंको पहलेसे ही निश्चित किये हुए जनवासोंमें आनन्दपूर्वक ठहरा दिया॥ १६ ॥ उस बारातमें शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र, विदूरथ और पौण्ड्रक आदि शिशुपालके सहस्रों मित्र नरपति आये थे॥ १७ ॥ वे सब राजा श्रीकृष्ण और बलरामजीके विरोधी थे और राजकुमारी रुक्मिणी शिशुपालको ही मिले, इस विचारसे आये थे। उन्होंने अपने-अपने मनमें यह पहलेसे ही निश्चय कर रखा था कि यदि श्रीकृष्ण बलराम आदि यदुवंशियोंके साथ आकर कन्याको हरनेकी चेष्टा करेगा तो हम सब मिलकर उससे लड़ेंगे। यही कारण था कि उन राजाओंने अपनी-अपनी पूरी सेना और रथ, घोड़े, हाथी आदि भी अपने साथ ले लिये थे॥ १८-१९ ॥

श्रुत्वैतद् भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशंकितः॥ २०

बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद् गजाश्वरथपत्तिभिः॥ २१

विपक्षी राजाओंकी इस तैयारीका पता भगवान् बलरामजीको लग गया और जब उन्होंने यह सुना कि भैया श्रीकृष्ण अकेले ही राजकुमारीका हरण करनेके लिये चले गये हैं, तब उन्हें वहाँ लड़ाई-झगड़ेकी बड़ी आशंका हुई॥ २०॥ यद्यपि वे श्रीकृष्णका बल-विक्रम जानते थे, फिर भी भ्रातृस्नेहसे उनका हृदय भर आया; वे तुरंत ही हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी बड़ी भारी चतुरंगिणी सेना साथ लेकर कुण्डिनपुरके लिये चल पड़े॥ २१॥

भीष्मकन्या वरारोहा कांक्षन्त्यागमनं हरेः।
प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा॥ २२

अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम्।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः॥ २३

अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किंचिज्जुगुप्सितम्।
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः॥ २४

दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः।
देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती॥ २५

इधर परमसुन्दरी रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्होंने देखा श्रीकृष्णकी तो कौन कहे, अभी ब्राह्मणदेवता भी नहीं लौटे! तो वे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं; सोचने लगीं॥ २२॥ 'अहो! अब मुझ अभागिनीके विवाहमें केवल एक रातकी देरी है। परन्तु मेरे जीवनसर्वस्व कमलनयन भगवान् अब भी नहीं पधारे! इसका क्या कारण हो सकता है, कुछ निश्चय नहीं मालूम पड़ता। यही नहीं, मेरे सन्देश ले जानेवाले ब्राह्मणदेवता भी तो अभीतक नहीं लौटे॥ २३॥ इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप परम शुद्ध है और विशुद्ध पुरुष ही उनसे प्रेम कर सकते हैं। उन्होंने मुझमें कुछ-न-कुछ बुराई देखी होगी, तभी तो मेरे हाथ पकड़नेके लिये—मुझे स्वीकार करनेके लिये उद्यत होकर वे यहाँ नहीं पधार रहे हैं?॥ २४॥ ठीक है, मेरे भाग्य ही मन्द हैं! विधाता और भगवान् शंकर भी मेरे अनुकूल नहीं जान पड़ते। यह भी सम्भव है कि रुद्रपत्नी गिरिराजकुमारी सती पार्वतीजी मुझसे अप्रसन्न हों'॥ २५॥

एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले॥ २६

एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिणः॥ २७

परीक्षित्! रुक्मिणीजी इसी उधेड़-बुनमें पड़ी हुई थीं। उनका सम्पूर्ण मन और उनके सारे मनोभाव भक्तमनचोर भगवान्‌ने चुरा लिये थे। उन्होंने उन्हींको सोचते-सोचते 'अभी समय है' ऐसा समझकर अपने आँसूभरे नेत्र बन्द कर लिये॥ २६॥ परीक्षित्! इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। उसी समय उनकी बायीं जाँघ, भुजा और नेत्र फड़कने लगे, जो प्रियतमके आगमनका प्रिय संवाद सूचित कर रहे थे॥ २७॥

अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह॥ २८

सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती।
आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता॥ २९

तस्या आवेदयत् प्राप्तं शशंस यदुनन्दनम्।
उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति॥ ३०

तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा॥ ३१

प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ।
अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः॥ ३२

मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजांसि सः।
उपायनान्यभीष्टानि विधिवत् समपूजयत्॥ ३३

तयोर्निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः।
ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा॥ ३४

एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः।
यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत्॥ ३५

कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः।
आगत्य नेत्रांजलिभिः पपुस्तन्मुखपंकजम्॥ ३६

इतनेमें ही भगवान् श्रीकृष्णके भेजे हुए वे ब्राह्मण-देवता आ गये और उन्होंने अन्तःपुरमें राजकुमारी रुक्मिणीको इस प्रकार देखा, मानो कोई ध्यानमग्न देवी हो॥ २८॥ सती रुक्मिणीजीने देखा ब्राह्मण-देवताका मुख प्रफुल्लित है। उनके मन और चेहरेपर किसी प्रकारकी घबड़ाहट नहीं है। वे उन्हें देखकर लक्षणोंसे ही समझ गयीं कि भगवान् श्रीकृष्ण आ गये! फिर प्रसन्नतासे खिलकर उन्होंने ब्राह्मणदेवतासे पूछा॥ २९॥ तब ब्राह्मणदेवताने निवेदन किया कि 'भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधार गये हैं।' और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह भी बतलाया कि 'राजकुमारीजी! आपको ले जानेकी उन्होंने सत्य प्रतिज्ञा की है'॥ ३०॥ भगवान्‌के शुभागमनका समाचार सुनकर रुक्मिणीजीका हृदय आनन्दातिरेकसे भर गया। उन्होंने इसके बदलेमें ब्राह्मणके लिये भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ प्रिय न देखकर उन्होंने केवल नमस्कार कर लिया। अर्थात् जगत्‌की समग्र लक्ष्मी ब्राह्मणदेवताको सौंप दी॥ ३१॥

राजा भीष्मकने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी मेरी कन्याका विवाह देखनेके लिये उत्सुकतावश यहाँ पधारे हैं। तब तुरही, भेरी आदि बाजे बजवाते हुए पूजाकी सामग्री लेकर उन्होंने उनकी अगवानी की॥ ३२॥ और मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा उत्तम-उत्तम भेंट देकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की॥ ३३॥ भीष्मकजी बड़े बुद्धिमान् थे। भगवान्‌के प्रति उनकी बड़ी भक्ति थी। उन्होंने भगवान्‌को सेना और साथियोंके सहित समस्त सामग्रियोंसे युक्त निवासस्थानमें ठहराया और उनका यथावत् आतिथ्य-सत्कार किया॥ ३४॥ विदर्भराज भीष्मकजीके यहाँ निमन्त्रणमें जितने राजा आये थे, उन्होंने उनके पराक्रम, अवस्था, बल और धनके अनुसार सारी इच्छित वस्तुएँ देकर सबका खूब सत्कार किया॥ ३५॥ विदर्भदेशके नागरिकोंने जब सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारे हैं, तब वे लोग भगवान्‌के निवासस्थानपर आये और अपने नयनोंकी अंजलिमें भर-भरकर उनके वदनारविन्दका मधुर मकरन्द-रस पान करने लगे॥ ३६॥

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः॥ ३७

किंचित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत्।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः॥ ३८

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः।
कन्या चान्तःपुरात् प्रागाद् भटैर्गुप्ताम्बिकालयम्॥ ३९

पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम्।
सा चानुध्यायती सम्यङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥ ४०

यतवाङ्मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता।
गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः।
मृदंगशंखपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे॥ ४१

नानोपहारबलिभिर्वारमुख्याः सहस्रशः।
स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलंकृताः॥ ४२

गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः।
परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः॥ ४३

आसाद्य देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा।
उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम्॥ ४४

तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः।
भवानीं वन्दयांचक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम्॥ ४५

वे आपसमें इस प्रकार बातचीत करते थे—रुक्मिणी इन्हींकी अर्द्धांगिनी होनेके योग्य है, और ये परम पवित्रमूर्ति श्यामसुन्दर रुक्मिणीके ही योग्य पति हैं। दूसरी कोई इनकी पत्नी होनेके योग्य नहीं है॥ ३७॥ यदि हमने अपने पूर्वजन्म या इस जन्ममें कुछ भी सत्कर्म किया हो तो त्रिलोक-विधाता भगवान् हमपर प्रसन्न हों और ऐसी कृपा करें कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीजीका पाणिग्रहण करें'॥ ३८॥

परीक्षित्! जिस समय प्रेम-परवश होकर पुरवासी-लोग परस्पर इस प्रकार बातचीत कर रहे थे, उसी समय रुक्मिणीजी अन्तःपुरसे निकलकर देवीजीके मन्दिरके लिये चलीं। बहुत-से सैनिक उनकी रक्षामें नियुक्त थे॥ ३९॥ वे प्रेममूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलोंका चिन्तन करती हुई भगवती भवानीके पाद-पल्लवोंका दर्शन करनेके लिये पैदल ही चलीं॥ ४०॥ वे स्वयं मौन थीं और माताएँ तथा सखी-सहेलियाँ सब ओरसे उन्हें घेरे हुए थीं। शूरवीर राजसैनिक हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र उठाये, कवच पहने उनकी रक्षा कर रहे थे। उस समय मृदंग, शंख, ढोल, तुरही और भेरी आदि बाजे बज रहे थे॥ ४१॥

बहुत-सी ब्राह्मणपत्नियाँ पुष्पमाला, चन्दन आदि सुगन्ध-द्रव्य और गहने-कपड़ोंसे सज-धजकर साथ-साथ चल रही थीं और अनेकों प्रकारके उपहार तथा पूजन आदिकी सामग्री लेकर सहस्रों श्रेष्ठ वाराङ्गनाएँ भी साथ थीं॥ ४२॥ गवैये गाते जाते थे, बाजेवाले बाजे बजाते चलते थे और सूत, मागध तथा वंदीजन दुलहिनके चारों ओर जय-जयकार करते—विरद बखानते जा रहे थे॥ ४३॥ देवीजीके मन्दिरमें पहुँचकर रुक्मिणीजीने अपने कमलके सदृश सुकोमल हाथ-पैर धोये, आचमन किया; इसके बाद बाहर-भीतरसे पवित्र एवं शान्तभावसे युक्त होकर अम्बिकादेवीके मन्दिरमें प्रवेश किया॥ ४४॥ बहुत-सी विधि-विधान जाननेवाली बड़ी-बूढ़ी ब्राह्मणियाँ उनके साथ थीं। उन्होंने भगवान् शंकरकी अर्द्धांगिनी भवानीको और भगवान् शंकरजीको भी रुक्मिणीजीसे प्रणाम करवाया॥ ४५॥

नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम्।
भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम्॥ ४६

अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वासःस्रङ्माल्यभूषणैः।
नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक्॥ ४७

विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत्।
लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः॥ ४८

तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः॥ ४९

मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात्।
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना॥ ५०

तां देवमायामिव वीरमोहिनीं
सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां
व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशंकितेक्षणाम्॥ ५१

शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युति-
शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम्।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं
शिंजत्कलानूपुरधामशोभिना।
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता
यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः॥ ५२

रुक्मिणीजीने भगवतीसे प्रार्थना की—'अम्बिकामाता! आपकी गोदमें बैठे हुए आपके प्रिय पुत्र गणेशजीको तथा आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो। भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों'॥ ४६॥ इसके बाद रुक्मिणीजीने जल, गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, पुष्पमाला, हार, आभूषण, अनेकों प्रकारके नैवेद्य, भेंट और आरती आदि सामग्रियोंसे अम्बिकादेवीकी पूजा की॥ ४७॥ तदनन्तर उक्त सामग्रियोंसे तथा नमक, पूआ, पान, कण्ठसूत्र, फल और ईखसे सुहागिन ब्राह्मणियोंकी भी पूजा की॥ ४८॥ तब ब्राह्मणियोंने उन्हें प्रसाद देकर आशीर्वाद दिये और दुलहिनने ब्राह्मणियों और माता अम्बिकाको नमस्कार करके प्रसाद ग्रहण किया॥ ४९॥ पूजा-अर्चाकी विधि समाप्त हो जानेपर उन्होंने मौनव्रत तोड़ दिया और रत्नजटित अँगूठीसे जगमगाते हुए करकमलके द्वारा एक सहेलीका हाथ पकड़कर वे गिरिजामन्दिरसे बाहर निकलीं॥ ५०॥

परीक्षित्! रुक्मिणीजी भगवान्‌की मायाके समान ही बड़े-बड़े धीर-वीरोंको भी मोहित कर लेनेवाली थीं। उनका कटिभाग बहुत ही सुन्दर और पतला था। मुखमण्डलपर कुण्डलोंकी शोभा जगमगा रही थी। वे किशोर और तरुण-अवस्थाकी सन्धिमें स्थित थीं। नितम्बपर जड़ाऊ करधनी शोभायमान हो रही थी, वक्षःस्थल कुछ उभरे हुए थे और उनकी दृष्टि लटकती हुई अलकोंके कारण कुछ चंचल हो रही थी॥ ५१॥

उनके होठोंपर मनोहर मुसकान थी। उनके दाँतोंकी पाँत थी तो कुन्दकलीके समान परम उज्ज्वल, परन्तु पके हुए कुँदरूके समान लाल-लाल होठोंकी चमकसे उसपर भी लालिमा आ गयी थी। उनके पाँवोंके पायजेब चमक रहे थे और उनमें लगे हुए छोटे-छोटे घुँघरू रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे। वे अपने सुकुमार चरण-कमलोंसे पैदल ही राजहंसकी गतिसे चल रही थीं। उनकी वह अपूर्व छबि देखकर वहाँ आये हुए बड़े-बड़े यशस्वी वीर सब मोहित हो गये। कामदेवने ही भगवान्‌का कार्य सिद्ध करनेके लिये अपने बाणोंसे उनका हृदय जर्जर कर दिया॥ ५२॥

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम्॥ ५३

सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ
प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा।
उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः
प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा॥ ५४

तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः॥ ५५

ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः
सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः॥ ५६

तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं
परे जरासन्धवशा न सेहिरे।
अहो धिगस्मान् यश आत्तधन्वनां
गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव॥ ५७

रुक्मिणीजी इस प्रकार इस उत्सवयात्राके बहाने मन्द-मन्द गतिसे चलकर भगवान् श्रीकृष्णपर अपना राशि-राशि सौन्दर्य निछावर कर रही थीं। उन्हें देखकर और उनकी खुली मुसकान तथा लजीली चितवनपर अपना चित्त लुटाकर वे बड़े-बड़े नरपति एवं वीर इतने मोहित और बेहोश हो गये कि उनके हाथोंसे अस्त्र-शस्त्र छूटकर गिर पड़े और वे स्वयं भी रथ, हाथी तथा घोड़ोंसे धरतीपर आ गिरे॥ ५३॥ इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा करती हुई अपने कमलकी कलीके समान सुकुमार चरणोंको बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ा रही थीं। उन्होंने अपने बायें हाथकी अँगुलियोंसे मुखकी ओर लटकती हुई अलकें हटायीं और वहाँ आये हुए नरपतियोंकी ओर लजीली चितवनसे देखा। उसी समय उन्हें श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए॥ ५४॥ राजकुमारी रुक्मिणीजी रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि भगवान् श्रीकृष्णने समस्त शत्रुओंके देखते-देखते उनकी भीड़मेंसे रुक्मिणीजीको उठा लिया और उन सैकड़ों राजाओंके सिरपर पाँव रखकर उन्हें अपने उस रथपर बैठा लिया, जिसकी ध्वजापर गरुड़का चिह्न लगा हुआ था॥ ५५॥ इसके बाद जैसे सिंह सियारोंके बीचमेंसे अपना भाग ले जाय, वैसे ही रुक्मिणीजीको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी आदि यदुवंशियोंके साथ वहाँसे चल पड़े॥ ५६॥ उस समय जरासन्धके वशवर्ती अभिमानी राजाओंको अपना यह बड़ा भारी तिरस्कार और यश-कीर्तिका नाश सहन न हुआ। वे सब-के-सब चिढ़कर कहने लगे—'अहो, हमें धिक्कार है। आज हमलोग धनुष धारण करके खड़े ही रहे और ये ग्वाले, जैसे सिंहके भागको हरिन ले जाय उसी प्रकार हमारा सारा यश छीन ले गये'॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
रुक्मिणीहरणं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३॥

अथ चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शिशुपालके साथी राजाओंकी और रुक्मीकी हार तथा श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-विवाह

श्रीशुक उवाच

इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः।
स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः॥ १

तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः।
तस्थुस्तत्संमुखा राजन्विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते॥ २

अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः।
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा॥ ३

पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा।
सव्रीडमैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना॥ ४

प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने।
विनंक्ष्यत्यधुनैवैतत् तावकैः शात्रवं बलम्॥ ५

तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसंकर्षणादयः।
अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान् रथान्॥ ६

पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः॥ ७

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च॥ ८

हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकांक्षिभिः।
राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरःसराः॥ ९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार कह-सुनकर सब-के-सब राजा क्रोधसे आगबबूला हो उठे और कवच पहनकर अपने-अपने वाहनोंपर सवार हो गये। अपनी-अपनी सेनाके साथ सब धनुष ले-लेकर भगवान् श्रीकृष्णके पीछे दौड़े॥ १॥ राजन्! जब यदुवंशियोंके सेनापतियोंने देखा कि शत्रुदल हमपर चढ़ा आ रहा है, तब उन्होंने भी अपने-अपने धनुषका टंकार किया और घूमकर उनके सामने डट गये॥ २॥ जरासन्धकी सेनाके लोग कोई घोड़ेपर, कोई हाथीपर, तो कोई रथपर चढ़े हुए थे। वे सभी धनुर्वेदके बड़े मर्मज्ञ थे। वे यदुवंशियोंपर इस प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो दल-के-दल बादल पहाड़ोंपर मूसलधार पानी बरसा रहे हों॥ ३॥ परमसुन्दरी रुक्मिणीजीने देखा कि उनके पति श्रीकृष्णकी सेना बाण-वर्षासे ढक गयी है। तब उन्होंने लज्जाके साथ भयभीत नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखा॥ ४॥ भगवान्‌ने हँसकर कहा—'सुन्दरी! डरो मत। तुम्हारी सेना अभी तुम्हारे शत्रुओंकी सेनाको नष्ट किये डालती है'॥ ५॥ इधर गद और संकर्षण आदि यदुवंशी वीर अपने शत्रुओंका पराक्रम और अधिक न सह सके। वे अपने बाणोंसे शत्रुओंके हाथी, घोड़े तथा रथोंको छिन्न-भिन्न करने लगे॥ ६॥ उनके बाणोंसे रथ, घोड़े और हाथियोंपर बैठे विपक्षी वीरोंके कुण्डल, किरीट और पगड़ियोंसे सुशोभित करोड़ों सिर, खड्ग, गदा और धनुषयुक्त हाथ, पहुँचे, जाँघें और पैर कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने लगे। इसी प्रकार घोड़े, खच्चर, हाथी, ऊँट, गधे और मनुष्योंके सिर भी कट-कटकर रण-भूमिमें लोटने लगे॥ ७-८॥ अन्तमें विजयकी सच्ची आकांक्षावाले यदुवंशियोंने शत्रुओंकी सेना तहस-नहस कर डाली। जरासन्ध आदि सभी राजा युद्धसे पीठ दिखाकर भाग खड़े हुए॥ ९॥

शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम्।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन्॥ १०

भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज।
न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते॥ ११

यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः॥ १२

शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः।
त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्य एकमहं परम्॥ १३

तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित्।
कालेन दैवयुक्तेन जानन् विद्रावितं जगत्॥ १४

अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः।
पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः॥ १५

रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि।
तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः॥ १६

एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात् सानुगः पुरम्।
हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः॥ १७

रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन् स्वसुः।
पृष्ठतोऽन्वगमत् कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली॥ १८

उधर शिशुपाल अपनी भावी पत्नीके छिन जानेके कारण मरणासन्न-सा हो रहा था। न तो उसके हृदयमें उत्साह रह गया था और न तो शरीरपर कान्ति। उसका मुँह सूख रहा था। उसके पास जाकर जरासन्ध कहने लगा— ॥ १० ॥ 'शिशुपालजी! आप तो एक श्रेष्ठ पुरुष हैं, यह उदासी छोड़ दीजिये। क्योंकि राजन्! कोई भी बात सर्वदा अपने मनके अनुकूल ही हो या प्रतिकूल, इस सम्बन्धमें कुछ स्थिरता किसी भी प्राणीके जीवनमें नहीं देखी जाती॥ ११ ॥ जैसे कठपुतली बाजीगरकी इच्छाके अनुसार नाचती है, वैसे ही यह जीव भी भगवदिच्छाके अधीन रहकर सुख और दुःखके सम्बन्धमें यथाशक्ति चेष्टा करता रहता है॥ १२ ॥ देखिये, श्रीकृष्णने मुझे तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेनाओंके साथ सत्रह बार हरा दिया, मैंने केवल एक बार—अठारहवीं बार उनपर विजय प्राप्त की॥ १३ ॥ फिर भी इस बातको लेकर मैं न तो कभी शोक करता हूँ और न तो कभी हर्ष; क्योंकि मैं जानता हूँ कि प्रारब्धके अनुसार काल भगवान् ही इस चराचर जगत्को झकझोरते रहते हैं॥ १४॥ इसमें सन्देह नहीं कि हमलोग बड़े-बड़े वीर सेनापतियोंके भी नायक हैं। फिर भी, इस समय श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुवंशियोंकी थोड़ी-सी सेनाने हमें हरा दिया है॥ १५॥ इस बार हमारे शत्रुओंकी ही जीत हुई, क्योंकि काल उन्हींके अनुकूल था। जब काल हमारे दाहिने होगा, तब हम भी उन्हें जीत लेंगे'॥ १६ ॥ परीक्षित्! जब मित्रोंने इस प्रकार समझाया, तब चेदिराज शिशुपाल अपने अनुयायियोंके साथ अपनी राजधानीको लौट गया और उसके मित्र राजा भी, जो मरनेसे बचे थे, अपने-अपने नगरोंको चले गये॥ १७॥

रुक्मिणीजीका बड़ा भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्णसे बहुत द्वेष रखता था। उसको यह बात बिलकुल सहन न हुई कि मेरी बहिनको श्रीकृष्ण हर ले जायँ और राक्षसरीतिसे बलपूर्वक उसके साथ विवाह करें। रुक्मी बली तो था ही, उसने एक अक्षौहिणी सेना साथ ले ली और श्रीकृष्णका पीछा किया॥ १८॥

रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम्।
प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः॥ १९

अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि वः॥ २०

इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः।
चोदयाश्वान् यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत्॥ २१

अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः।
नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता॥ २२

विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित्।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाह्वयत्॥ २३

धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः।
आह चात्र क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन॥ २४

कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वांक्षवद्धविः।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः॥ २५

यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम्।
स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम्॥ २६

अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः।
स चान्यद् धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः॥ २७

महाबाहु रुक्मी क्रोधके मारे जल रहा था। उसने कवच पहनकर और धनुष धारण करके समस्त नरपतियोंके सामने यह प्रतिज्ञा की— ॥ १९ ॥ 'मैं आपलोगोंके बीचमें यह शपथ करता हूँ कि यदि मैं युद्धमें श्रीकृष्णको न मार सका और अपनी बहिन रुक्मिणीको न लौटा सका तो अपनी राजधानी कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा'॥ २० ॥ परीक्षित्! यह कहकर वह रथपर सवार हो गया और सारथिसे बोला—'जहाँ कृष्ण हो वहाँ शीघ्र-से-शीघ्र मेरा रथ ले चलो। आज मेरा उसीके साथ युद्ध होगा॥ २१ ॥ आज मैं अपने तीखे बाणोंसे उस खोटी बुद्धिवाले ग्वालेके बल-वीर्यका घमंड चूर-चूर कर दूँगा। देखो तो उसका साहस, वह हमारी बहिनको बलपूर्वक हर ले गया है'॥ २२ ॥ परीक्षित्! रुक्मीकी बुद्धि बिगड़ गयी थी। वह भगवान्‌के तेज-प्रभावको बिलकुल नहीं जानता था। इसीसे इस प्रकार बहक-बहककर बातें करता हुआ वह एक ही रथसे श्रीकृष्णके पास पहुँचकर ललकारने लगा—'खड़ा रह! खड़ा रह!'॥ २३ ॥ उसने अपने धनुषको बलपूर्वक खींचकर भगवान् श्रीकृष्णको तीन बाण मारे और कहा—'एक क्षण मेरे सामने ठहर! यदुवंशियोंके कुलकलंक! जैसे कौआ होमकी सामग्री चुराकर उड़ जाय, वैसे ही तू मेरी बहिनको चुराकर कहाँ भागा जा रहा है? अरे मन्द! तू बड़ा मायावी और कपट-युद्धमें कुशल है। आज मैं तेरा सारा गर्व खर्व किये डालता हूँ॥ २४-२५ ॥ देख! जबतक मेरे बाण तुझे धरतीपर सुला नहीं देते, उसके पहले ही इस बच्चीको छोड़कर भाग जा।' रुक्मीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराने लगे। उन्होंने उसका धनुष काट डाला और उसपर छः बाण छोड़े॥ २६ ॥ साथ ही भगवान् श्रीकृष्णने आठ बाण उसके चार घोड़ोंपर और दो सारथिपर छोड़े और तीन बाणोंसे उसके रथकी ध्वजाको काट डाला। तब रुक्मीने दूसरा धनुष उठाया और भगवान् श्रीकृष्णको पाँच बाण मारे॥ २७ ॥

तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः।
पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदव्ययः॥ २८

परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासी शक्तितोमरौ।
यद् यदायुधमादत्त तत् सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः॥ २९

ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया।
कृष्णमभ्यद्रवत् क्रुद्धः पतंग इव पावकम्॥ ३०

तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः।
छित्त्वासिमाददे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः॥ ३१

दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला।
पतित्वा पादयोर्भर्तुरुवाच करुणं सती॥ ३२

योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते।
हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज॥ ३३

श्रीशुक उवाच

तया परित्रासविकम्पितांगया
शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया।
कातर्यविस्त्रंसितहेममालया
गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत॥ ३४

चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं
सश्मश्रुकेशं प्रवपन् व्यरूपयत्।
तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुतं
यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः॥ ३५

उन बाणोंके लगनेपर उन्होंने उसका वह धनुष भी काट डाला। रुक्मीने इसके बाद एक और धनुष लिया, परन्तु हाथमें लेते-ही-लेते अविनाशी अच्युतने उसे भी काट डाला॥ २८॥ इस प्रकार रुक्मीने परिघ, पट्टिश, शूल, ढाल, तलवार, शक्ति और तोमर—जितने अस्त्र-शस्त्र उठाये, उन सभीको भगवान्‌ने प्रहार करनेके पहले ही काट डाला॥ २९॥ अब रुक्मी क्रोधवश हाथमें तलवार लेकर भगवान् श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे रथसे कूद पड़ा और इस प्रकार उनकी ओर झपटा, जैसे पतिंगा आगकी ओर लपकता है॥ ३०॥ जब भगवान्‌ने देखा कि रुक्मी मुझपर चोट करना चाहता है, तब उन्होंने अपने बाणोंसे उसकी ढाल-तलवारको तिल-तिल करके काट दिया और उसको मार डालनेके लिये हाथमें तीखी तलवार निकाल ली॥ ३१॥ जब रुक्मिणीजीने देखा कि ये तो हमारे भाईको अब मार ही डालना चाहते हैं, तब वे भयसे विह्वल हो गयीं और अपने प्रियतम पति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरकर करुण-स्वरमें बोलीं— ॥ ३२॥ 'देवताओंके भी आराध्यदेव! जगत्पते! आप योगेश्वर हैं। आपके स्वरूप और इच्छाओंको कोई जान नहीं सकता। आप परम बलवान् हैं, परन्तु कल्याणस्वरूप भी तो हैं। प्रभो! मेरे भैयाको मारना आपके योग्य काम नहीं है'॥ ३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—रुक्मिणीजीका एक-एक अंग भयके मारे थर-थर काँप रहा था। शोककी प्रबलतासे मुँह सूख गया था, गला रुँध गया था। आतुरतावश सोनेका हार गलेसे गिर पड़ा था और इसी अवस्थामें वे भगवान्‌के चरणकमल पकड़े हुए थीं। परमदयालु भगवान् उन्हें भयभीत देखकर करुणासे द्रवित हो गये। उन्होंने रुक्मीको मार डालनेका विचार छोड़ दिया॥ ३४॥ फिर भी रुक्मी उनके अनिष्टकी चेष्टासे विमुख न हुआ। तब भगवान् श्रीकृष्णने उसको उसीके दुपट्टेसे बाँध दिया और उसकी दाढ़ी-मूँछ तथा केश कई जगहसे मूँड़कर उसे कुरूप बना दिया। तबतक यदुवंशी वीरोंने शत्रुकी अद्भुत सेनाको तहस-नहस कर डाला—ठीक वैसे ही, जैसे हाथी कमलवनको रौंद डालता है॥ ३५॥

कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम्।
तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा संकर्षणो विभुः।
विमुच्य बद्धं करुणो भगवान् कृष्णमब्रवीत्॥ ३६

फिर वे लोग उधरसे लौटकर श्रीकृष्णके पास आये तो देखा कि रुक्मी दुपट्टेसे बँधा हुआ अधमरी अवस्थामें पड़ा हुआ है। उसे देखकर सर्वशक्तिमान् भगवान् बलरामजीको बड़ी दया आयी और उन्होंने उसके बन्धन खोलकर उसे छोड़ दिया तथा श्रीकृष्णसे कहा— ॥ ३६ ॥

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम्।
वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः॥ ३७

'कृष्ण! तुमने यह अच्छा नहीं किया। यह निन्दित कार्य हमलोगोंके योग्य नहीं है। अपने सम्बन्धीकी दाढ़ी-मूँछ मूँड़कर उसे कुरूप कर देना, यह तो एक प्रकारका वध ही है'॥ ३७॥

मैवास्मान् साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया।
सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक् पुमान्॥ ३८

इसके बाद बलरामजीने रुक्मिणीको सम्बोधन करके कहा— 'साध्वी! तुम्हारे भाईका रूप विकृत कर दिया गया है, यह सोचकर हमलोगोंसे बुरा न मानना; क्योंकि जीवको सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है। उसे तो अपने ही कर्मका फल भोगना पड़ता है'॥ ३८ ॥

बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति।
त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः॥ ३९

अब श्रीकृष्णसे बोले—'कृष्ण! यदि अपना सगा-सम्बन्धी वध करनेयोग्य अपराध करे तो भी अपने ही सम्बन्धियोंके द्वारा उसका मारा जाना उचित नहीं है। उसे छोड़ देना चाहिये। वह तो अपने अपराधसे ही मर चुका है, मरे हुएको फिर क्या मारना?'॥ ३९ ॥

क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः।
भ्रातापि भ्रातरं हन्याद् येन घोरतरस्ततः॥ ४०

फिर रुक्मिणीजीसे बोले—'साध्वी! ब्रह्माजीने क्षत्रियोंका धर्म ही ऐसा बना दिया है कि सगा भाई भी अपने भाईको मार डालता है। इसलिये यह क्षात्रधर्म अत्यन्त घोर है'॥ ४० ॥

राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः।
मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि॥ ४१

इसके बाद श्रीकृष्णसे बोले—'भाई कृष्ण! यह ठीक है कि जो लोग धनके नशेमें अंधे हो रहे हैं और अभिमानी हैं, वे राज्य, पृथ्वी, पैसा, स्त्री, मान, तेज अथवा किसी और कारणसे अपने बन्धुओंका भी तिरस्कार कर दिया करते हैं'॥ ४१ ॥

तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्।
यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत्॥ ४२

अब वे रुक्मिणीजीसे बोले—'साध्वी! तुम्हारे भाई-बन्धु समस्त प्राणियोंके प्रति दुर्भाव रखते हैं। हमने उनके मंगलके लिये ही उनके प्रति दण्डविधान किया है। उसे तुम अज्ञानियोंकी भाँति अमंगल मान रही हो, यह तुम्हारी बुद्धिकी विषमता है॥ ४२ ॥

आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया।
सुहृद् दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम्॥ ४३

देवि! जो लोग भगवान्की मायासे मोहित होकर देहको ही आत्मा मान बैठते हैं, उन्हींको ऐसा आत्ममोह होता है कि यह मित्र है, यह शत्रु है और यह उदासीन है॥ ४३ ॥

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः॥ ४४

देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः।
आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम्॥ ४५

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः॥ ४६

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित्।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव॥ ४७

यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम्॥ ४८

तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम्।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते॥ ४९

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे॥ ५०

समस्त देहधारियोंकी आत्मा एक ही है और कार्य-कारणसे, मायासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जल और घड़ा आदि उपाधियोंके भेदसे जैसे सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकाशयुक्त पदार्थ और आकाश भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं; परन्तु हैं एक ही, वैसे ही मूर्ख लोग शरीरके भेदसे आत्माका भेद मानते हैं॥ ४४॥ यह शरीर आदि और अन्तवाला है। पञ्चभूत, पञ्चप्राण, तन्मात्रा और त्रिगुण ही इसका स्वरूप है। आत्मामें उसके अज्ञानसे ही इसकी कल्पना हुई है और वह कल्पित शरीर ही, जो उसे 'मैं समझता है', उसको जन्म-मृत्युके चक्करमें ले जाता है॥ ४५॥ साध्वी! नेत्र और रूप दोनों ही सूर्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं। सूर्य ही उनका कारण है। इसलिये सूर्यके साथ नेत्र और रूपका न तो कभी वियोग होता है और न संयोग। इसी प्रकार समस्त संसारकी सत्ता आत्मसत्ताके कारण जान पड़ती है, समस्त संसारका प्रकाशक आत्मा ही है। फिर आत्माके साथ दूसरे असत् पदार्थोंका संयोग या वियोग हो ही कैसे सकता है?॥ ४६॥ जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और मरना ये सारे विकार शरीरके ही होते हैं, आत्माके नहीं। जैसे कृष्णपक्षमें कलाओंका ही क्षय होता है, चन्द्रमाका नहीं, परन्तु अमावस्याके दिन व्यवहारमें लोग चन्द्रमाका ही क्षय हुआ कहते-सुनते हैं; वैसे ही जन्म-मृत्यु आदि सारे विकार शरीरके ही होते हैं, परन्तु लोग उसे भ्रमवश अपना—अपने आत्माका मान लेते हैं॥ ४७॥ जैसे सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थके न होनेपर भी स्वप्नमें भोक्ता, भोग्य और भोगरूप फलोंका अनुभव करता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग झूठमूठ संसार-चक्रका अनुभव करते हैं॥ ४८॥ इसलिये साध्वी! अज्ञानके कारण होनेवाले इस शोकको त्याग दो। यह शोक अन्तःकरणको मुरझा देता है, मोहित कर देता है। इसलिये इसे छोड़कर तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ'॥ ४९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब बलरामजीने इस प्रकार समझाया, तब परमसुन्दरी रुक्मिणीजीने अपने मनका मैल मिटाकर विवेक-

**प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः।
स्मरन् विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः॥ ५१**

**चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत् पुरम्।
अहत्वा दुर्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद् रुषा॥ ५२**

**भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान्।
पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह॥ ५३**

**तदा महोत्सवो नॄणां यदुपुर्यां गृहे गृहे।
अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप॥ ५४**

**नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।
पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः॥ ५५**

**सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभि-
र्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः।
बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमंगलै-
रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः॥ ५६**

**सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम्।
गजैर्द्वास्सु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता॥ ५७**

**कुरुसृंजयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः।
मिथो मुमुदिरे तस्मिन् सम्भ्रमात् परिधावताम्॥ ५८**

बुद्धिसे उसका समाधान किया॥ ५०॥ रुक्मीकी सेना और उसके तेजका नाश हो चुका था। केवल प्राण बच रहे थे। उसके चित्तकी सारी आशा-अभिलाषाएँ व्यर्थ हो चुकी थीं और शत्रुओंने अपमानित करके उसे छोड़ दिया था। उसे अपने विरूप किये जानेकी कष्टदायक स्मृति भूल नहीं पाती थी॥ ५१॥ अतः उसने अपने रहनेके लिये भोजकट नामकी एक बहुत बड़ी नगरी बसायी। उसने पहले ही यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'दुर्बुद्धि कृष्णको मारे बिना और अपनी छोटी बहिनको लौटाये बिना मैं कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा।' इसलिये क्रोध करके वह वहीं रहने लगा॥ ५२॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सब राजाओंको जीत लिया और विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीजीको द्वारकामें लाकर उनका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया॥ ५३॥ हे राजन्! उस समय द्वारका-पुरीमें घर-घर बड़ा ही उत्सव मनाया जाने लगा। क्यों न हो, वहाँके सभी लोगोंका यदुपति श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम जो था॥ ५४॥ वहाँके सभी नर-नारी मणियोंके चमकीले कुण्डल धारण किये हुए थे। उन्होंने आनन्दसे भरकर चित्र-विचित्र वस्त्र पहने दूल्हा और दुलहिनको अनेकों भेंटकी सामग्रियाँ उपहारमें दीं॥ ५५॥ उस समय द्वारकाकी अपूर्व शोभा हो रही थी। कहीं बड़ी-बड़ी पताकाएँ बहुत ऊँचेतक फहरा रही थीं। चित्र-विचित्र मालाएँ, वस्त्र और रत्नोंके तोरन बँधे हुए थे। द्वार-द्वारपर दूब, खील आदि मंगलकी वस्तुएँ सजायी हुई थीं। जलभरे कलश, अरगजा और धूपकी सुगन्ध तथा दीपावलीसे बड़ी ही विलक्षण शोभा हो रही थी॥ ५६॥ मित्र नरपति आमन्त्रित किये गये थे। उनके मतवाले हाथियोंके मदसे द्वारकाकी सड़क और गलियोंका छिड़काव हो गया था। प्रत्येक दरवाजेपर केलोंके खंभे और सुपारीके पेड़ रोपे हुए बहुत ही भले मालूम होते थे॥ ५७॥ उस उत्सवमें कुतूहलवश इधर-उधर दौड़-धूप करते हुए बन्धु-वर्गोंमें कुरु, सृञ्जय, कैकय, विदर्भ, यदु और कुन्ति आदि वंशोंके लोग परस्पर आनन्द मना रहे थे॥ ५८॥

रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः।
राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्भृशविस्मिताः॥ ५९

द्वारकायामभूद् राजन् महामोदः पुरौकसाम्।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम्॥ ६०

जहाँ-तहाँ रुक्मिणी-हरणकी ही गाथा गायी जाने लगी। उसे सुनकर राजा और राजकन्याएँ अत्यन्त विस्मित हो गयीं॥ ५९॥ महाराज! भगवती लक्ष्मीजीको रुक्मिणीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ देखकर द्वारकावासी नर-नारियोंको परम आनन्द हुआ॥ ६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

प्रद्युम्नका जन्म और शम्बरासुरका वध

श्रीशुक उवाच

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग् रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत॥ १

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः॥ २

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम्।
स विदित्वाऽऽत्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद् गृहम्॥ ३

तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरैः सह।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः॥ ४

तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रुरुपायनम्।
सूदा महानसं नीत्वावद्यन् स्वधितिनाद्भुतम्॥ ५

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन्।
नारदोऽकथयत् सर्वं तस्याः शंकितचेतसः।
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम्॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कामदेव भगवान् वासुदेवके ही अंश हैं। वे पहले रुद्रभगवान्‌की क्रोधाग्निसे भस्म हो गये थे। अब फिर शरीर-प्राप्तिके लिये उन्होंने अपने अंशी भगवान् वासुदेवका ही आश्रय लिया॥ १॥ वे ही काम अबकी बार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुक्मिणीजीके गर्भसे उत्पन्न हुए और प्रद्युम्न नामसे जगत्‌में प्रसिद्ध हुए। सौन्दर्य, वीर्य, सौशील्य आदि सद्‌गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे वे किसी प्रकार कम न थे॥ २॥ बालक प्रद्युम्न अभी दस दिनके भी न हुए थे कि कामरूपी शम्बरासुर वेष बदलकर सूतिकागृहसे उन्हें हर ले गया और समुद्रमें फेंककर अपने घर लौट गया। उसे मालूम हो गया था कि यह मेरा भावी शत्रु है॥ ३॥ समुद्रमें बालक प्रद्युम्नको एक बड़ा भारी मच्छ निगल गया। तदनन्तर मछुओंने अपने बहुत बड़े जालमें फँसाकर दूसरी मछलियोंके साथ उस मच्छको भी पकड़ लिया॥ ४॥ और उन्होंने उसे ले जाकर शम्बरासुरको भेंटके रूपमें दे दिया। शम्बरासुरके रसोइये उस अद्‌भुत मच्छको उठाकर रसोईघरमें ले आये और कुल्हाड़ियोंसे उसे काटने लगे॥ ५॥ रसोइयोंने मत्स्यके पेटमें बालक देखकर उसे शम्बरासुरकी दासी मायावतीको समर्पित किया। उसके मनमें बड़ी शंका हुई। तब नारदजीने आकर बालकका कामदेव होना, श्रीकृष्णकी पत्नी रुक्मिणीके गर्भसे जन्म लेना, मच्छके पेटमें जाना सब

सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी।
पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती॥ ७

निरूपिता शम्बरेण सा सूपौदनसाधने।
कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदार्भके॥ ८

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम्॥ ९

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं
प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम्।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती
प्रीत्योपतस्थे रतिरंग सौरतैः॥ १०

तामाह भगवान् कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा।
मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा॥ ११

रतिरुवाच

भवान् नारायणसुतः शम्बरेणाहृतो गृहात्।
अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान् प्रभो॥ १२

एष त्वानिर्दशं सिन्धावक्षिपच्छम्बरोऽसुरः।
मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरादिह प्राप्तो भवान् प्रभो॥ १३

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः।
मायाशतविदं त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः॥ १४

कुछ कह सुनाया॥ ६॥ परीक्षित्! वह मायावती कामदेवकी यशस्विनी पत्नी रति ही थी। जिस दिन शंकरजीके क्रोधसे कामदेवका शरीर भस्म हो गया था, उसी दिनसे वह उसकी देहके पुनः उत्पन्न होनेकी प्रतीक्षा कर रही थी॥ ७॥ उसी रतिको शम्बरासुरने अपने यहाँ दाल-भात बनानेके काममें नियुक्त कर रखा था। जब उसे मालूम हुआ कि इस शिशुके रूपमें मेरे पति कामदेव ही हैं, तब वह उसके प्रति बहुत प्रेम करने लगी॥ ८॥ श्रीकृष्णकुमार भगवान् प्रद्युम्न बहुत थोड़े दिनोंमें जवान हो गये। उनका रूप-लावण्य इतना अद्भुत था कि जो स्त्रियाँ उनकी ओर देखतीं, उनके मनमें शृंगार-रसका उद्दीपन हो जाता॥ ९॥

कमलदलके समान कोमल एवं विशाल नेत्र, घुटनोंतक लंबी-लंबी बाँहें और मनुष्यलोकमें सबसे सुन्दर शरीर! रति सलज्ज हास्यके साथ भौंह मटका-कर उनकी ओर देखती और प्रेमसे भरकर स्त्री-पुरुषसम्बन्धी भाव व्यक्त करती हुई उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती॥ १०॥ श्रीकृष्णनन्दन भगवान् प्रद्युम्नने उसके भावोंमें परिवर्तन देखकर कहा—'देवि! तुम तो मेरी माँके समान हो। तुम्हारी बुद्धि उलटी कैसे हो गयी? मैं देखता हूँ कि तुम माताका भाव छोड़कर कामिनीके समान हाव-भाव दिखा रही हो'॥ ११॥

रतिने कहा—'प्रभो! आप स्वयं भगवान् नारायणके पुत्र हैं। शम्बरासुर आपको सूतिकागृहसे चुरा लाया था। आप मेरे पति स्वयं कामदेव हैं और मैं आपकी सदाकी धर्म-पत्नी रति हूँ॥ १२॥ मेरे स्वामी! जब आप दस दिनके भी न थे, तब इस शम्बरासुरने आपको हरकर समुद्रमें डाल दिया था। वहाँ एक मच्छ आपको निगल गया और उसीके पेटसे आप यहाँ मुझे प्राप्त हुए हैं॥ १३॥ यह शम्बरासुर सैकड़ों प्रकारकी माया जानता है। इसको अपने वशमें कर लेना या जीत लेना बहुत ही कठिन है। आप अपने इस शत्रुको मोहन आदि मायाओंके द्वारा नष्ट कर डालिये॥ १४॥

परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा॥ १५

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम्॥ १६

स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत्।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन् संजनयन् कलिम्॥ १७

सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पदाहत इवोरगः।
निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः॥ १८

गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने।
प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम्॥ १९

तामापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम्।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत् स्वगदां नृप॥ २०

स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।
मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः॥ २१

बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम्॥ २२

ततो गौह्यकगान्धर्वपैशाचोरगराक्षसीः।
प्रायुंक्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत् स ताः॥ २३

निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम्।
शम्बरस्य शिरः कायात् ताम्रश्मश्र्वोजसाहरत्॥ २४

स्वामिन्! अपनी सन्तान आपके खो जानेसे आपकी माता पुत्रस्नेहसे व्याकुल हो रही हैं, वे आतुर होकर अत्यन्त दीनतासे रात-दिन चिन्ता करती रहती हैं। उनकी ठीक वैसी ही दशा हो रही है, जैसी बच्चा खो जानेपर कुररी पक्षीकी अथवा बछड़ा खो जानेपर बेचारी गायकी होती है'॥ १५॥ मायावती रतिने इस प्रकार कहकर परमशक्तिशाली प्रद्युम्नको महामाया नामकी विद्या सिखायी। यह विद्या ऐसी है, जो सब प्रकारकी मायाओंका नाश कर देती है॥ १६॥ अब प्रद्युम्नजी शम्बरासुरके पास जाकर उसपर बड़े कटु-कटु आक्षेप करने लगे। वे चाहते थे कि यह किसी प्रकार झगड़ा कर बैठे। इतना ही नहीं, उन्होंने युद्धके लिये उसे स्पष्टरूपसे ललकारा॥ १७॥

प्रद्युम्नजीके कटुवचनोंकी चोटसे शम्बरासुर तिलमिला उठा। मानो किसीने विषैले साँपको पैरसे ठोकर मार दी हो। उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह हाथमें गदा लेकर बाहर निकल आया॥ १८॥ उसने अपनी गदा बड़े जोरसे आकाशमें घुमायी और इसके बाद प्रद्युम्नजीपर चला दी। गदा चलाते समय उसने इतना कर्कश सिंहनाद किया, मानो बिजली कड़क रही हो॥ १९॥

परीक्षित्! भगवान् प्रद्युम्नने देखा कि उसकी गदा बड़े वेगसे मेरी ओर आ रही है। तब उन्होंने अपनी गदाके प्रहारसे उसकी गदा गिरा दी और क्रोधमें भरकर अपनी गदा उसपर चलायी॥ २०॥ तब वह दैत्य मयासुरकी बतलायी हुई आसुरी मायाका आश्रय लेकर आकाशमें चला गया और वहींसे प्रद्युम्नजीपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा॥ २१॥ महारथी प्रद्युम्नजीपर बहुत-सी अस्त्र-वर्षा करके जब वह उन्हें पीड़ित करने लगा तब उन्होंने समस्त मायाओंको शान्त करनेवाली सत्त्वमयी महाविद्याका प्रयोग किया॥ २२॥ तदनन्तर शम्बरासुरने यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, नाग और राक्षसोंकी सैकड़ों मायाओंका प्रयोग किया; परन्तु श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नजीने अपनी महाविद्यासे उन सबका नाश कर दिया॥ २३॥ इसके बाद उन्होंने एक तीक्ष्ण तलवार उठायी और शम्बरासुरका किरीट एवं कुण्डलसे सुशोभित सिर, जो लाल-लाल दाढ़ी, मूँछोंसे बड़ा भयंकर लग रहा था, काटकर धड़से

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः।
भार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा॥ २५

अन्तःपुरवरं राजन् ललनाशतसंकुलम्।
विवेश पत्न्या गगनाद् विद्युतेव बलाहकः॥ २६

तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम्॥ २७

स्वलंकृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह॥ २८

अवधार्य शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं सुविस्मिताः॥ २९

अथ तत्रासितापांगी वैदर्भी वल्गुभाषिणी।
अस्मरत् स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा॥ ३०

को न्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः।
धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा॥ ३१

मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात्।
एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित्॥ ३२

कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः॥ ३३

अलग कर दिया॥ २४॥ देवतालोग पुष्पोंकी वर्षा करते हुए स्तुति करने लगे और इसके बाद मायावती रति, जो आकाशमें चलना जानती थी, अपने पति प्रद्युम्नजीको आकाशमार्गसे द्वारकापुरीमें ले गयी॥ २५॥

परीक्षित्! आकाशमें अपनी गोरी पत्नीके साथ साँवले प्रद्युम्नजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो बिजली और मेघका जोड़ा हो। इस प्रकार उन्होंने भगवान्‌के उस उत्तम अन्तःपुरमें प्रवेश किया जिसमें सैकड़ों श्रेष्ठ रमणियाँ निवास करती थीं॥ २६॥ अन्तः-पुरकी नारियोंने देखा कि प्रद्युम्नजीका शरीर वर्षाकालीन मेघके समान श्यामवर्ण है। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए हैं। घुटनोंतक लंबी भुजाएँ हैं। रतनारे नेत्र हैं और सुन्दर मुखपर मन्द-मन्द मुसकानकी अनूठी ही छटा है। उनके मुखारविन्दपर घुँघराली और नीली अलकें इस प्रकार शोभायमान हो रही हैं, मानो भौंरें खेल रहे हों। वे सब उन्हें श्रीकृष्ण समझकर सकुचा गयीं और घरोंमें इधर-उधर लुक-छिप गयीं॥ २७-२८॥ फिर धीरे-धीरे स्त्रियोंको यह मालूम हो गया कि ये श्रीकृष्ण नहीं हैं। क्योंकि उनकी अपेक्षा इनमें कुछ विलक्षणता अवश्य है। अब वे अत्यन्त आनन्द और विस्मयसे भरकर इस श्रेष्ठ दम्पतिके पास आ गयीं॥ २९॥ इसी समय वहाँ रुक्मिणीजी आ पहुँचीं। परीक्षित्! उनके नेत्र कजरारे और वाणी अत्यन्त मधुर थी। इस नवीन दम्पतिको देखते ही उन्हें अपने खोये हुए पुत्रकी याद हो आयी। वात्सल्यस्नेहकी अधिकतासे उनके स्तनोंसे दूध झरने लगा॥ ३०॥

रुक्मिणीजी सोचने लगीं—'यह नररत्न कौन है? यह कमलनयन किसका पुत्र है? किस बड़भागिनीने इसे अपने गर्भमें धारण किया होगा? इसे यह कौन सौभाग्यवती पत्नी-रूपमें प्राप्त हुई है?॥ ३१॥ मेरा भी एक नन्हा-सा शिशु खो गया था। न जाने कौन उसे सूतिकागृहसे उठा ले गया! यदि वह कहीं जीता-जागता होगा तो उसकी अवस्था तथा रूप भी इसीके समान हुआ होगा॥ ३२॥ मैं तो इस बातसे हैरान हूँ कि इसे भगवान् श्यामसुन्दरकी-सी रूप-रेखा, अंगोंकी गठन, चाल-ढाल, मुसकान-चितवन और बोल-

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः।
अमुष्मिन् प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥ ३४

चाल कहाँसे प्राप्त हुई?॥ ३३॥ हो-न-हो यह वही बालक है, जिसे मैंने अपने गर्भमें धारण किया था; क्योंकि स्वभावसे ही मेरा स्नेह इसके प्रति उमड़ रहा है और मेरी बायीं बाँह भी फड़क रही है'॥ ३४॥

एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।
देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत्॥ ३५

जिस समय रुक्मिणीजी इस प्रकार सोच-विचार कर रही थीं—निश्चय और सन्देहके झूलेमें झूल रही थीं, उसी समय पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवजीके साथ वहाँ पधारे॥ ३५॥

विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः।
नारदोऽकथयत् सर्वं शम्बराहरणादिकम्॥ ३६

भगवान् श्रीकृष्ण सब कुछ जानते थे। परन्तु वे कुछ न बोले, चुपचाप खड़े रहे। इतनेमें ही नारदजी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने प्रद्युम्नजीको शम्बरासुरका हर ले जाना, समुद्रमें फेंक देना आदि जितनी भी घटनाएँ घटित हुई थीं, वे सब कह सुनायीं॥ ३६॥

तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः।
अभ्यनन्दन् बहूनब्दान् नष्टं मृतमिवागतम्॥ ३७

नारदजीके द्वारा यह महान् आश्चर्यमयी घटना सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ चकित हो गयीं और बहुत वर्षोंतक खोये रहनेके बाद लौटे हुए प्रद्युम्नजीका इस प्रकार अभिनन्दन करने लगीं, मानो कोई मरकर जी उठा हो॥ ३७॥

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम्॥ ३८

देवकीजी, वसुदेवजी, भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी, रुक्मिणीजी और स्त्रियाँ—सब उस नवदम्पतिको हृदयसे लगाकर बहुत ही आनन्दित हुए॥ ३८॥

नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः।
अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हाब्रुवन्॥ ३९

जब द्वारकावासी नर-नारियोंको यह मालूम हुआ कि खोये हुए प्रद्युम्नजी लौट आये हैं तब वे परस्पर कहने लगे 'अहो, कैसे सौभाग्यकी बात है कि यह बालक मानो मरकर फिर लौट आया'॥ ३९॥

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा-
स्तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः।
चित्रं न तत् खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे
कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः॥ ४०

परीक्षित्! प्रद्युम्नजीका रूप-रंग भगवान् श्रीकृष्णसे इतना मिलता-जुलता था कि उन्हें देखकर उनकी माताएँ भी उन्हें अपना पतिदेव श्रीकृष्ण समझकर मधुरभावमें मग्न हो जाती थीं और उनके सामनेसे हटकर एकान्तमें चली जाती थीं! श्रीनिकेतन भगवान्के प्रतिबिम्बस्वरूप कामावतार भगवान् प्रद्युम्नके दीख जानेपर ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। फिर उन्हें देखकर दूसरी स्त्रियोंकी विचित्र दशा हो जाती थी, इसमें तो कहना ही क्या है॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे प्रद्युम्नोत्पत्तिनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५५॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्यमन्तकमणिकी कथा, जाम्बवती और सत्यभामाके साथ श्रीकृष्णका विवाह

श्रीशुक उवाच

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान्॥ १

राजोवाच

सत्राजितः किमकरोद् ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम्।
स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद् दत्ता सुता हरेः॥ २

श्रीशुक उवाच

आसीत् सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा।
प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम्॥ ३

स तं बिभ्रन् मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः।
प्रविष्टो द्वारकां राजंस्तेजसा नोपलक्षितः॥ ४

तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः।
दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशंकिताः॥ ५

नारायण नमस्तेऽस्तु शंखचक्रगदाधर।
दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन॥ ६

एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते।
मुष्णन् गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः॥ ७

नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः।
ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो॥ ८

श्रीशुक उवाच

निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः।
प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन्॥ ९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! सत्राजित्ने श्रीकृष्णको झूठा कलंक लगाया था। फिर उस अपराधका मार्जन करनेके लिये उसने स्वयं स्यमन्तकमणि सहित अपनी कन्या सत्यभामा भगवान् श्रीकृष्णको सौंप दी॥ १॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! सत्राजित्ने भगवान् श्रीकृष्णका क्या अपराध किया था? उसे स्यमन्तकमणि कहाँसे मिली? और उसने अपनी कन्या उन्हें क्यों दी?॥ २॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! सत्राजित् भगवान् सूर्यका बहुत बड़ा भक्त था। वे उसकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उसके बहुत बड़े मित्र बन गये थे। सूर्य भगवान्ने ही प्रसन्न होकर बड़े प्रेमसे उसे स्यमन्तकमणि दी थी॥ ३॥ सत्राजित् उस मणिको गलेमें धारणकर ऐसा चमकने लगा, मानो स्वयं सूर्य ही हो। परीक्षित्! जब सत्राजित् द्वारकामें आया, तब अत्यन्त तेजस्विताके कारण लोग उसे पहचान न सके॥ ४॥ दूरसे ही उसे देखकर लोगोंकी आँखें उसके तेजसे चौंधिया गयीं। लोगोंने समझा कि कदाचित् स्वयं भगवान् सूर्य आ रहे हैं। उन लोगोंने भगवान्के पास आकर उन्हें इस बातकी सूचना दी। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण चौसर खेल रहे थे॥ ५॥ लोगोंने कहा—'शंख-चक्र-गदाधारी नारायण! कमलनयन दामोदर! यदुवंशशिरोमणि गोविन्द! आपको नमस्कार है॥ ६॥ जगदीश्वर! देखिये! अपनी चमकीली किरणोंसे लोगोंके नेत्रोंको चौंधियाते हुए प्रचण्डरश्मि भगवान् सूर्य आपका दर्शन करने आ रहे हैं॥ ७॥ प्रभो! सभी श्रेष्ठ देवता त्रिलोकीमें आपकी प्राप्तिका मार्ग ढूँढ़ते रहते हैं; किन्तु उसे पाते नहीं। आज आपको यदुवंशमें छिपा हुआ जानकर स्वयं सूर्यनारायण आपका दर्शन करने आ रहे हैं'॥ ८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अनजान पुरुषोंकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण हँसने लगे। उन्होंने कहा—'अरे, ये सूर्यदेव नहीं हैं।

सत्राजित् स्वगृहं श्रीमत् कृतकौतुकमंगलम्।
प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत्॥ १०

दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो।
दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः।
न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः॥ ११

स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा।
नैवार्थकामुकः प्रादाद् याच्ञाभंगमतर्कयन्॥ १२

तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम्।
प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद् वने॥ १३

प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी।
गिरिं विशञ्जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता॥ १४

सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले।
अपश्यन् भ्रातरं भ्राता सत्राजित् पर्यतप्यत॥ १५

प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः॥ १६

यह तो सत्राजित् है, जो मणिके कारण इतना चमक रहा है॥ ९॥ इसके बाद सत्राजित् अपने समृद्ध घरमें चला आया। घरपर उसके शुभागमनके उपलक्ष्यमें मंगल-उत्सव मनाया जा रहा था। उसने ब्राह्मणोंके द्वारा स्यमन्तकमणिको एक देवमन्दिरमें स्थापित करा दिया॥ १०॥ परीक्षित्! वह मणि प्रतिदिन आठ भार* सोना दिया करती थी। और जहाँ वह पूजित होकर रहती थी वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीडा, सर्पभय, मानसिक और शारीरिक व्यथा तथा मायावियोंका उपद्रव आदि कोई भी अशुभ नहीं होता था॥ ११॥ एक बार भगवान् श्रीकृष्णने प्रसंगवश कहा—'सत्राजित्! तुम अपनी मणि राजा उग्रसेनको दे दो।' परन्तु वह इतना अर्थलोलुप—लोभी था कि भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन होगा, इसका कुछ भी विचार न करके उसे अस्वीकार कर दिया॥ १२॥

एक दिन सत्राजित्‌के भाई प्रसेनने उस परम प्रकाशमयी मणिको अपने गलेमें धारण कर लिया और फिर वह घोड़ेपर सवार होकर शिकार खेलने वनमें चला गया॥ १३॥ वहाँ एक सिंहने घोड़े सहित प्रसेनको मार डाला और उस मणिको छीन लिया। वह अभी पर्वतकी गुफामें प्रवेश कर ही रहा था कि मणिके लिये ऋक्षराज जाम्बवान्‌ने उसे मार डाला॥ १४॥ उन्होंने वह मणि अपनी गुफामें ले जाकर बच्चेको खेलनेके लिये दे दी। अपने भाई प्रसेनके न लौटनेसे उसके भाई सत्राजित्‌को बड़ा दुःख हुआ॥ १५॥ वह कहने लगा, 'बहुत सम्भव है श्रीकृष्णने ही मेरे भाईको मार डाला हो; क्योंकि वह मणि गलेमें डालकर वनमें गया था।' सत्राजित्‌की यह बात सुनकर लोग आपसमें काना-फूसी करने लगे॥ १६॥

---

* भारका परिमाण इस प्रकार है—

चतुर्भिर्व्रीहिभिर्गुंजं गुंजान्पंच पणं पणान्।
अष्टौ धरणमष्टौ च कर्षं तांश्चतुरः पलम्।
तुलां पलशतं प्राहुर्भारं स्याद्विंशतिस्तुलाः॥

अर्थात् 'चार व्रीहि (धान) की एक गुंजा, पाँच गुंजाका एक पण, आठ पणका एक धरण, आठ धरणका एक कर्ष, चार कर्षका एक पल, सौ पलकी एक तुला और बीस तुलाका एक भार कहलाता है।'

भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि।
मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः॥ १७

जब भगवान् श्रीकृष्णने सुना कि यह कलंकका टीका मेरे ही सिर लगाया गया है, तब वे उसे धो-बहानेके उद्देश्यसे नगरके कुछ सभ्य पुरुषोंको साथ लेकर प्रसेनको ढूँढ़नेके लिये वनमें गये॥ १७॥

हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने।
तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः॥ १८

वहाँ खोजते-खोजते लोगोंने देखा कि घोर जंगलमें सिंहने प्रसेन और उसके घोड़ेको मार डाला है। जब वे लोग सिंहके पैरोंका चिह्न देखते हुए आगे बढ़े, तब उन लोगोंने यह भी देखा कि पर्वतपर एक रीछने सिंहको भी मार डाला है॥ १८॥

ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसाऽऽवृतम्।
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः॥ १९

भगवान् श्रीकृष्णने सब लोगोंको बाहर ही बिठा दिया और अकेले ही घोर अन्धकारसे भरी हुई ऋक्षराजकी भयंकर गुफामें प्रवेश किया॥ १९॥

तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम्।
हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके॥ २०

भगवान्ने वहाँ जाकर देखा कि श्रेष्ठ मणि स्यमन्तकको बच्चोंका खिलौना बना दिया गया है। वे उसे हर लेनेकी इच्छासे बच्चेके पास जा खड़े हुए॥ २०॥

तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत्।
तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत् क्रुद्धो जाम्बवान् बलिनां वरः॥ २१

उस गुफामें एक अपरिचित मनुष्यको देखकर बच्चेकी धाय भयभीतकी भाँति चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट सुनकर परम बली ऋक्षराज जाम्बवान् क्रोधित होकर वहाँ दौड़ आये॥ २१॥

स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनाऽऽत्मनः।
पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित्॥ २२

परीक्षित्! जाम्बवान् उस समय कुपित हो रहे थे। उन्हें भगवान्की महिमा, उनके प्रभावका पता न चला। उन्होंने उन्हें एक साधारण मनुष्य समझ लिया और वे अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे युद्ध करने लगे॥ २२॥

द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः।
आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव॥ २३

जिस प्रकार मांसके लिये दो बाज आपसमें लड़ते हैं, वैसे ही विजयाभिलाषी भगवान् श्रीकृष्ण और जाम्बवान् आपसमें घमासान युद्ध करने लगे। पहले तो उन्होंने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया, फिर शिलाओंका, तत्पश्चात् वे वृक्ष उखाड़कर एक-दूसरेपर फेंकने लगे। अन्तमें उनमें बाहुयुद्ध होने लगा॥ २३॥

आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः।
वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम्॥ २४

परीक्षित्! वज्र-प्रहारके समान कठोर घूँसोंसे आपसमें वे अट्ठाईस दिनतक बिना विश्राम किये रात-दिन लड़ते रहे॥ २४॥

कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टांगोरुबन्धनः।
क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः॥ २५

अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णके घूँसोंकी चोटसे जाम्बवान्के शरीरकी एक-एक गाँठ टूट-फूट गयी। उत्साह जाता रहा। शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया। तब उन्होंने अत्यन्त विस्मित—चकित होकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥ २५॥

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम्।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम्॥ २६

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत्।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथाऽऽत्मनाम्॥ २७

यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-
र्वर्त्मादिशत् क्षुभितनक्रतिमिंगिलोऽब्धिः।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लंका
रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि॥ २८

इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः।
व्याजहार महाराज भगवान् देवकीसुतः॥ २९

अभिमृश्यारविन्दाक्षः पाणिना शंकरेण तम्।
कृपया परया भक्तं प्रेमगम्भीरया गिरा॥ ३०

मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम्।
मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना॥ ३१

इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा।
अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह॥ ३२

अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः।
प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः॥ ३३

निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन् बिलात् कृष्णमनिर्गतम्॥ ३४

'प्रभो! मैं जान गया। आप ही समस्त प्राणियोंके स्वामी, रक्षक, पुराणपुरुष भगवान् विष्णु हैं। आप ही सबके प्राण, इन्द्रियबल, मनोबल और शरीरबल हैं॥ २६॥ आप विश्वके रचयिता ब्रह्मा आदिको भी बनानेवाले हैं। बनाये हुए पदार्थोंमें भी सत्तारूपसे आप ही विराजमान हैं। कालके जितने भी अवयव हैं, उनके नियामक परम काल आप ही हैं और शरीर-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीयमान अन्तरात्माओंके परम आत्मा भी आप ही हैं॥ २७॥ प्रभो! मुझे स्मरण है, आपने अपने नेत्रोंमें तनिक-सा क्रोधका भाव लेकर तिरछी दृष्टिसे समुद्रकी ओर देखा था। उस समय समुद्रके अंदर रहनेवाले बड़े-बड़े नाक (घड़ियाल) और मगरमच्छ क्षुब्ध हो गये थे और समुद्रने आपको मार्ग दे दिया था। तब आपने उसपर सेतु बाँधकर सुन्दर यशकी स्थापना की तथा लंकाका विध्वंस किया। आपके बाणोंसे कट-कटकर राक्षसोंके सिर पृथ्वीपर लोट रहे थे (अवश्य ही आप मेरे वे ही 'रामजी' श्रीकृष्णके रूपमें आये हैं)'॥ २८॥ परीक्षित्! जब ऋक्षराज जाम्बवान्‌ने भगवान्‌को पहचान लिया, तब कमलनयन श्रीकृष्णने अपने परम कल्याणकारी शीतल करकमलको उनके शरीरपर फेर दिया और फिर अहैतुकी कृपासे भरकर प्रेम-गम्भीर वाणीसे अपने भक्त जाम्बवान्‌जीसे कहा— ॥ २९-३०॥ 'ऋक्षराज! हम मणिके लिये ही तुम्हारी इस गुफामें आये हैं। इस मणिके द्वारा मैं अपनेपर लगे झूठे कलंकको मिटाना चाहता हूँ'॥ ३१॥ भगवान्‌के ऐसा कहनेपर जाम्बवान्‌ने बड़े आनन्दसे उनकी पूजा करनेके लिये अपनी कन्या कुमारी जाम्बवतीको मणिके साथ उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिन लोगोंको गुफाके बाहर छोड़ गये थे, उन्होंने बारह दिनतक उनकी प्रतीक्षा की। परन्तु जब उन्होंने देखा कि अबतक वे गुफामेंसे नहीं निकले, तब वे अत्यन्त दुःखी होकर द्वारकाको लौट गये॥ ३३॥ वहाँ जब माता देवकी, रुक्मिणी, वसुदेवजी तथा अन्य सम्बन्धियों और कुटुम्बियोंको यह मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण गुफामेंसे नहीं निकले, तब उन्हें बड़ा शोक हुआ॥ ३४॥

सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः।
उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये॥ ३५

तेषां तु देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषा स च।
प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन् हरिः॥ ३६

उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम्।
सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः॥ ३७

सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ।
प्राप्तिं चाख्याय भगवान् मणिं तस्मै न्यवेदयत्॥ ३८

स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः।
अनुतप्यमानो भवनमगमत् स्वेन पाप्मना॥ ३९

सोऽनुध्यायंस्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः।
कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद् वाच्युतः कथम्॥ ४०

किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद् वा जनो यथा।
अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम्॥ ४१

दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च।
उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा॥ ४२

एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित् स्वसुतां शुभाम्।
मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह॥ ४३

सभी द्वारकावासी अत्यन्त दुःखित होकर सत्राजित्‌को भला-बुरा कहने लगे और भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये महामाया दुर्गादेवीकी शरणमें गये, उनकी उपासना करने लगे॥ ३५ ॥ उनकी उपासनासे दुर्गादेवी प्रसन्न हुईं और उन्होंने आशीर्वाद दिया। उसी समय उनके बीचमें मणि और अपनी नववधू जाम्बवतीके साथ सफलमनोरथ होकर श्रीकृष्ण सबको प्रसन्न करते हुए प्रकट हो गये॥ ३६ ॥ सभी द्वारकावासी भगवान् श्रीकृष्णको पत्नीके साथ और गलेमें मणि धारण किये हुए देखकर परमानन्दमें मग्न हो गये, मानो कोई मरकर लौट आया हो॥ ३७॥

तदनन्तर भगवान्‌ने सत्राजित्‌को राजसभामें महाराज उग्रसेनके पास बुलवाया और जिस प्रकार मणि प्राप्त हुई थी, वह सब कथा सुनाकर उन्होंने वह मणि सत्राजित्‌को सौंप दी॥ ३८॥ सत्राजित् अत्यन्त लज्जित हो गया। मणि तो उसने ले ली, परन्तु उसका मुँह नीचेकी ओर लटक गया। अपने अपराधपर उसे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था, किसी प्रकार वह अपने घर पहुँचा॥ ३९॥

उसके मनकी आँखोंके सामने निरन्तर अपना अपराध नाचता रहता। बलवान्‌के साथ विरोध करनेके कारण वह भयभीत भी हो गया था। अब वह यही सोचता रहता कि 'मैं अपने अपराधका मार्जन कैसे करूँ? मुझपर भगवान् श्रीकृष्ण कैसे प्रसन्न हों॥ ४० ॥ मैं ऐसा कौन-सा काम करूँ, जिससे मेरा कल्याण हो और लोग मुझे कोसें नहीं। सचमुच मैं अदूरदर्शी, क्षुद्र हूँ। धनके लोभसे मैं बड़ी मूढ़ताका काम कर बैठा॥ ४१ ॥ अब मैं रमणियोंमें रत्नके समान अपनी कन्या सत्यभामा और वह स्यमन्तकमणि दोनों ही श्रीकृष्णको दे दूँ। यह उपाय बहुत अच्छा है। इसीसे मेरे अपराधका मार्जन हो सकता है, और कोई उपाय नहीं है'॥ ४२॥ सत्राजित्‌ने अपनी विवेक-बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके स्वयं ही इसके लिये उद्योग किया और अपनी कन्या तथा स्यमन्तकमणि दोनों ही ले जाकर श्रीकृष्णको अर्पण कर दीं॥ ४३॥

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम्॥ ४४

सत्यभामा शील-स्वभाव, सुन्दरता, उदारता आदि सद्‌गुणोंसे सम्पन्न थीं। बहुत-से लोग चाहते थे कि सत्यभामा हमें मिलें और उन लोगोंने उन्हें माँगा भी था। परन्तु अब भगवान् श्रीकृष्णने विधिपूर्वक उनका पाणिग्रहण किया॥ ४४॥

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप।
तवास्तां देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः॥ ४५

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने सत्राजित्‌से कहा—'हम स्यमन्तकमणि न लेंगे। आप सूर्यभगवान्‌के भक्त हैं, इसलिये वह आपके ही पास रहे। हम तो केवल उसके फलके, अर्थात् उससे निकले हुए सोनेके अधिकारी हैं। वही आप हमें दे दिया करें'॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे स्यमन्तकोपाख्याने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५६॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्यमन्तक-हरण, शतधन्वाका उद्धार और अक्रूरजीको फिरसे द्वारका बुलाना

श्रीशुक उवाच

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान्।
कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णको इस बातका पता था कि लाक्षागृहकी आगसे पाण्डवोंका बाल भी बाँका नहीं हुआ है, तथापि जब उन्होंने सुना कि कुन्ती और पाण्डव जल मरे, तब उस समयका कुल-परम्परोचित व्यवहार करनेके लिये वे बलरामजीके साथ हस्तिनापुर गये॥ १॥

भीष्मं कृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च।
तुल्यदुःखौ च संगम्य हा कष्टमिति होचतुः॥ २

वहाँ जाकर भीष्मपितामह, कृपाचार्य, विदुर, गान्धारी और द्रोणाचार्यसे मिलकर उनके साथ समवेदना—सहानुभूति प्रकट की और उन लोगोंसे कहने लगे—'हाय-हाय! यह तो बड़े ही दुःखकी बात हुई'॥ २॥

लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतुः।
अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते॥ ३

भगवान् श्रीकृष्णके हस्तिनापुर चले जानेसे द्वारकामें अक्रूर और कृतवर्माको अवसर मिल गया। उन लोगोंने शतधन्वासे आकर कहा—'तुम सत्राजित्‌से मणि क्यों नहीं छीन लेते?॥ ३॥

योऽस्मभ्यं संप्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य नः।
कृष्णायादान्न सत्राजित् कस्माद् भ्रातरमन्वियात्॥ ४

सत्राजित्‌ने अपनी श्रेष्ठ कन्या सत्यभामाका विवाह हमसे करनेका वचन दिया था और अब उसने हमलोगोंका तिरस्कार करके उसे श्रीकृष्णके साथ व्याह दिया है। अब सत्राजित् भी अपने भाई प्रसेनकी तरह क्यों न यमपुरीमें जाय?'॥ ४॥

एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः।
शयानमवधील्लोभात् स पापः क्षीणजीवितः॥ ५

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत्।
हत्वा पशून् सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान्॥ ६

सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्पिता।
व्यलपत्तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती॥ ७

तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम्।
कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताऽऽचख्यौ पितुर्वधम्॥ ८

तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम्।
अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः॥ ९

आगत्य भगवांस्तस्मात् सभार्यः साग्रजः पुरम्।
शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः॥ १०

सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया।
साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत्॥ ११

नाहमीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः।
को नु क्षेमाय कल्पेत तयोर्वृजिनमाचरन्॥ १२

शतधन्वा पापी था और अब तो उसकी मृत्यु भी उसके सिरपर नाच रही थी। अक्रूर और कृतवर्माके इस प्रकार बहकानेपर शतधन्वा उनकी बातोंमें आ गया और उस महादुष्टने लोभवश सोये हुए सत्राजित्‌को मार डाला॥ ५॥ इस समय स्त्रियाँ अनाथके समान रोने-चिल्लाने लगीं; परन्तु शतधन्वाने उनकी ओर तनिक भी ध्यान न दिया; जैसे कसाई पशुओंकी हत्या कर डालता है, वैसे ही वह सत्राजित्‌को मारकर और मणि लेकर वहाँसे चम्पत हो गया॥ ६॥

सत्यभामाजीको यह देखकर कि मेरे पिता मार डाले गये हैं, बड़ा शोक हुआ और वे 'हाय पिताजी! हाय पिताजी! मैं मारी गयी'—इस प्रकार पुकार-पुकारकर विलाप करने लगीं। बीच-बीचमें वे बेहोश हो जातीं और होशमें आनेपर फिर विलाप करने लगतीं॥ ७॥ इसके बाद उन्होंने अपने पिताके शवको तेलके कड़ाहेमें रखवा दिया और आप हस्तिनापुरको गयीं। उन्होंने बड़े दुःखसे भगवान् श्रीकृष्णको अपने पिताकी हत्याका वृत्तान्त सुनाया—यद्यपि इन बातोंको भगवान् श्रीकृष्ण पहलेसे ही जानते थे॥ ८॥ परीक्षित्! सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने सब सुनकर मनुष्योंकी-सी लीला करते हुए अपनी आँखोंमें आँसू भर लिये और विलाप करने लगे कि 'अहो! हम लोगोंपर तो यह बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी!'॥ ९॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामाजी और बलरामजीके साथ हस्तिनापुरसे द्वारका लौट आये और शतधन्वाको मारने तथा उससे मणि छीननेका उद्योग करने लगे॥ १०॥

जब शतधन्वाको यह मालूम हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण मुझे मारनेका उद्योग कर रहे हैं, तब वह बहुत डर गया और अपने प्राण बचानेके लिये उसने कृतवर्मासे सहायता माँगी। तब कृतवर्माने कहा—॥ ११॥ 'भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी सर्व-शक्तिमान् ईश्वर हैं। मैं उनका सामना नहीं कर सकता। भला, ऐसा कौन है, जो उनके साथ वैर बाँधकर इस लोक और परलोकमें सकुशल रह सके?॥ १२॥

कंसः सहानुगोऽपीतो यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया।
जरासन्धः सप्तदश संयुगान् विरथो गतः॥ १३

प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत।
सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वानीश्वरयोर्बलम्॥ १४

य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया॥ १५

यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना।
दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः॥ १६

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः॥ १७

प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम्।
तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ॥ १८

गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनार्दनौ।
अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन् गुरुद्रुहम्॥ १९

मिथिलायामुपवने विसृज्य पतितं हयम्।
पद्भ्यामधावत् सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद् रुषा॥ २०

पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम्॥ २१

तुम जानते हो कि कंस उन्हींसे द्वेष करनेके कारण राज्यलक्ष्मीको खो बैठा और अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया। जरासन्ध-जैसे शूरवीरको भी उनके सामने सत्रह बार मैदानमें हारकर बिना रथके ही अपनी राजधानीमें लौट जाना पड़ा था'॥ १३॥ जब कृतवर्माने उसे इस प्रकार टका-सा जवाब दे दिया, तब शतधन्वाने सहायताके लिये अक्रूरजीसे प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'भाई! ऐसा कौन है, जो सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का बल-पौरुष जानकर भी उनसे वैर-विरोध ठाने। जो भगवान् खेल-खेलमें ही इस विश्वकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं तथा जो कब क्या करना चाहते हैं—इस बातको मायासे मोहित ब्रह्मा आदि विश्वविधाता भी नहीं समझ पाते; जिन्होंने सात वर्षकी अवस्थामें—जब वे निरे बालक थे, एक हाथसे ही गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़ लिया और जैसे नन्हे-नन्हे बच्चे बरसाती छत्तेको उखाड़कर हाथमें रख लेते हैं, वैसे ही खेल-खेलमें सात दिनोंतक उसे उठाये रखा; मैं तो उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ। उनके कर्म अद्भुत हैं। वे अनन्त, अनादि, एकरस और आत्मस्वरूप हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ'॥ १४—१७॥ जब इस प्रकार अक्रूरजीने भी उसे कोरा जवाब दे दिया, तब शतधन्वाने स्यमन्तक-मणि उन्हींके पास रख दी और आप चार सौ कोस लगातार चलनेवाले घोड़ेपर सवार होकर वहाँसे बड़ी फुर्तीसे भागा॥ १८॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई अपने उस रथपर सवार हुए, जिसपर गरुड़चिह्नसे चिह्नित ध्वजा फहरा रही थी और बड़े वेगवाले घोड़े जुते हुए थे। अब उन्होंने अपने श्वशुर सत्राजित्‌को मारनेवाले शतधन्वाका पीछा किया॥ १९॥ मिथिलापुरीके निकट एक उपवनमें शतधन्वाका घोड़ा गिर पड़ा, अब वह उसे छोड़कर पैदल ही भागा। वह अत्यन्त भयभीत हो गया था। भगवान् श्रीकृष्ण भी क्रोध करके उसके पीछे दौड़े॥ २०॥ शतधन्वा पैदल ही भाग रहा था, इसलिये भगवान्‌ने भी पैदल ही दौड़कर अपने तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उसका सिर उतार लिया और उसके वस्त्रोंमें स्यमन्तकमणिको ढूँढ़ा॥ २१॥

अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम्।
वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते॥ २२

तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना।
कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष पुरं व्रज॥ २३

अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः॥ २४

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः।
अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः॥ २५

उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः।
मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना।
ततोऽशिक्षद् गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः॥ २६

केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः।
अप्राप्तिं च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृद् विभुः॥ २७

ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै।
साकं सुहृद्भिर्भगवान् या याः स्युः साम्परायिकाः॥ २८

अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम्।
व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ॥ २९

अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन् वै द्वारकौकसाम्।
शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः॥ ३०

इत्यंगोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम्।
मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम्॥ ३१

परन्तु जब मणि मिली नहीं तब भगवान् श्रीकृष्णने बड़े भाई बलरामजीके पास आकर कहा—'हमने शतधन्वाको व्यर्थ ही मारा। क्योंकि उसके पास स्यमन्तकमणि तो है ही नहीं'॥ २२॥ बलरामजीने कहा—'इसमें सन्देह नहीं कि शतधन्वाने स्यमन्तकमणिको किसी-न-किसीके पास रख दिया है। अब तुम द्वारका जाओ और उसका पता लगाओ॥ २३॥ मैं विदेहराजसे मिलना चाहता हूँ; क्योंकि वे मेरे बहुत ही प्रिय मित्र हैं।' परीक्षित्! यह कहकर यदुवंशशिरोमणि बलरामजी मिथिला नगरीमें चले गये॥ २४॥ जब मिथिलानरेशने देखा कि पूजनीय बलरामजी महाराज पधारे हैं, तब उनका हृदय आनन्दसे भर गया। उन्होंने झटपट अपने आसनसे उठकर अनेक सामग्रियोंसे उनकी पूजा की॥ २५॥ इसके बाद भगवान् बलरामजी कई वर्षोंतक मिथिलापुरीमें ही रहे। महात्मा जनकने बड़े प्रेम और सम्मानसे उन्हें रखा। इसके बाद समयपर धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने बलरामजीसे गदायुद्धकी शिक्षा ग्रहण की॥ २६॥ अपनी प्रिया सत्यभामाका प्रिय कार्य करके भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये और उनको यह समाचार सुना दिया कि शतधन्वाको मार डाला गया, परन्तु स्यमन्तकमणि उसके पास न मिली॥ २७॥ इसके बाद उन्होंने भाई-बन्धुओंके साथ अपने श्वशुर सत्राजित्की वे सब और्ध्वदैहिक क्रियाएँ करवायीं, जिनसे मृतक प्राणीका परलोक सुधरता है॥ २८॥

अक्रूर और कृतवर्माने शतधन्वाको सत्राजित्के वधके लिये उत्तेजित किया था। इसलिये जब उन्होंने सुना कि भगवान् श्रीकृष्णने शतधन्वाको मार डाला है, तब वे अत्यन्त भयभीत होकर द्वारकासे भाग खड़े हुए॥ २९॥ परीक्षित्! कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अक्रूरके द्वारकासे चले जानेपर द्वारकावासियोंको बहुत प्रकारके अनिष्टों और अरिष्टोंका सामना करना पड़ा। दैविक और भौतिक निमित्तोंसे बार-बार वहाँके नागरिकोंको शारीरिक और मानसिक कष्ट सहना पड़ा। परन्तु जो लोग ऐसा कहते हैं, वे पहले कही हुई बातोंको भूल जाते हैं। भला, यह भी कभी सम्भव है कि जिन भगवान् श्रीकृष्णमें समस्त ऋषि-मुनि निवास करते हैं, उनके निवासस्थान द्वारकामें उनके रहते कोई उपद्रव खड़ा हो जाय॥ ३०-३१॥

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै।
स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात् ततोऽवर्षत् स्म काशिषु॥ ३२

तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरो यत्र यत्र ह।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः॥ ३३

इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम्।
इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः॥ ३४

पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः।
विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह॥ ३५

ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना।
स्यमन्तको मणिः श्रीमान् विदितः पूर्वमेव नः॥ ३६

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद् गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः।
दायं निनीयापः पिण्डान् विमुच्यर्णं च शेषितम्॥ ३७

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः।
किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति॥ ३८

दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह।
अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः॥ ३९

उस समय नगरके बड़े-बूढ़े लोगोंने कहा—'एक बार काशी-नरेशके राज्यमें वर्षा नहीं हो रही थी, सूखा पड़ गया था। तब उन्होंने अपने राज्यमें आये हुए अक्रूरके पिता श्वफल्कको अपनी पुत्री गान्दिनी ब्याह दी। तब उस प्रदेशमें वर्षा हुई। अक्रूर भी श्वफल्कके ही पुत्र हैं और इनका प्रभाव भी वैसा ही है। इसलिये जहाँ-जहाँ अक्रूर रहते हैं, वहाँ-वहाँ खूब वर्षा होती है तथा किसी प्रकारका कष्ट और महामारी आदि उपद्रव नहीं होते।' परीक्षित्! उन लोगोंकी बात सुनकर भगवान्ने सोचा कि 'इस उपद्रवका यही कारण नहीं है' यह जानकर भी भगवान्ने दूत भेजकर अक्रूरजीको ढुँढ़वाया और आनेपर उनसे बातचीत की॥ ३२—३४॥ भगवान्ने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया और मीठी-मीठी प्रेमकी बातें कहकर उनसे सम्भाषण किया। परीक्षित्! भगवान् सबके चित्तका एक-एक संकल्प देखते रहते हैं। इसलिये उन्होंने मुसकराते हुए अक्रूरसे कहा—॥ ३५॥ 'चाचाजी! आप दान-धर्मके पालक हैं। हमें यह बात पहलेसे ही मालूम है कि शतधन्वा आपके पास वह स्यमन्तकमणि छोड़ गया है, जो बड़ी ही प्रकाशमान और धन देनेवाली है॥ ३६॥ आप जानते ही हैं कि सत्राजित्के कोई पुत्र नहीं है। इसलिये उनकी लड़कीके लड़के—उनके नाती ही उन्हें तिलांजलि और पिण्डदान करेंगे, उनका ऋण चुकायेंगे और जो कुछ बच रहेगा, उसके उत्तराधिकारी होंगे॥ ३७॥ इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टिसे यद्यपि स्यमन्तकमणि हमारे पुत्रोंको ही मिलनी चाहिये, तथापि वह मणि आपके ही पास रहे। क्योंकि आप बड़े व्रतनिष्ठ और पवित्रात्मा हैं तथा दूसरोंके लिये उस मणिको रखना अत्यन्त कठिन भी है। परन्तु हमारे सामने एक बहुत बड़ी कठिनाई यह आ गयी है कि हमारे बड़े भाई बलरामजी मणिके सम्बन्धमें मेरी बातका पूरा विश्वास नहीं करते॥ ३८॥ इसलिये महाभाग्यवान् अक्रूरजी! आप वह मणि दिखाकर हमारे इष्ट-मित्र—बलरामजी, सत्यभामा और जाम्बवतीका सन्देह दूर कर दीजिये और उनके हृदयमें शान्तिका संचार कीजिये। हमें पता है कि उसी मणिके प्रतापसे आजकल आप लगातार ही ऐसे यज्ञ करते रहते हैं, जिनमें सोनेकी वेदियाँ

एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम्।
आदाय वाससाच्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम्॥ ४०

स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः।
विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत् प्रभुः॥ ४१

यस्त्वेतद् भगवत ईश्वरस्य विष्णो-
र्वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमंगलं च।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद् वा
दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्॥ ४२

बनती हैं'॥ ३९॥ परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सान्त्वना देकर उन्हें समझाया-बुझाया तब अक्रूरजीने वस्त्रमें लपेटी हुई सूर्यके समान प्रकाशमान वह मणि निकाली और भगवान् श्रीकृष्णको दे दी॥ ४०॥ भगवान् श्रीकृष्णने वह स्यमन्तकमणि अपने जाति-भाइयोंको दिखाकर अपना कलंक दूर किया और उसे अपने पास रखनेमें समर्थ होनेपर भी पुनः अक्रूरजीको लौटा दिया॥ ४१॥

सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णके पराक्रमोंसे परिपूर्ण यह आख्यान समस्त पापों, अपराधों और कलंकोंका मार्जन करनेवाला तथा परम मंगलमय है। जो इसे पढ़ता, सुनता अथवा स्मरण करता है, वह सब प्रकारकी अपकीर्ति और पापोंसे छूटकर शान्तिका अनुभव करता है॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे स्यमन्तकोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५७॥

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके अन्यान्य विवाहोंकी कथा

श्रीशुक उवाच

एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः।
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः॥ १

दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम्।
उत्तस्थुर्युगपद् वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम्॥ २

परिष्वज्याच्युतं वीरा अंगसंगहतैनसः।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः॥ ३

युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः॥ ४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब पाण्डवोंका पता चल गया था कि वे लाक्षाभवनमें जले नहीं हैं। एक बार भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये इन्द्रप्रस्थ पधारे। उनके साथ सात्यकि आदि बहुत-से यदुवंशी भी थे॥ १॥ जब वीर पाण्डवोंने देखा कि सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण पधारे हैं तो जैसे प्राणका संचार होनेपर सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, वैसे ही वे सब-के-सब एक साथ उठ खड़े हुए॥ २॥ वीर पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्णका आलिंगन किया, उनके अंग-संगसे इनके सारे पाप-ताप धुल गये। भगवान्‌की प्रेमभरी मुसकराहटसे सुशोभित मुख-सुषमा देखकर वे आनन्दमें मग्न हो गये॥ ३॥ भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिर और भीमसेनके चरणोंमें प्रणाम किया और अर्जुनको हृदयसे लगाया। नकुल और सहदेवने भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना की॥ ४॥

परमासन आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता।
नवोढा व्रीडिता किंचिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत॥ ५

तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः।
निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत॥ ६

पृथां समागत्य कृताभिवादन-
स्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः।
आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां
पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः॥ ७

तमाह प्रेमवैक्लव्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना।
स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम्॥ ८

तदैव कुशलं नोऽभूत् सनाथास्ते कृता वयम्।
ज्ञातीन् नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया॥ ९

न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः।
तथापि स्मरतां शश्वत् क्लेशान् हंसि हृदि स्थितः॥ १०

युधिष्ठिर उवाच

किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर।
योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम्॥ ११

जब भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हो गये; तब परमसुन्दरी श्यामवर्णा द्रौपदी, जो नवविवाहिता होनेके कारण तनिक लजा रही थी, धीरे-धीरे भगवान् श्रीकृष्णके पास आयी और उन्हें प्रणाम किया॥ ५॥ पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्णके समान ही वीर सात्यकिका भी स्वागत-सत्कार और अभिनन्दन-वन्दन किया। वे एक आसनपर बैठ गये। दूसरे यदुवंशियोंका भी यथायोग्य सत्कार किया गया तथा वे भी श्रीकृष्णके चारों ओर आसनोंपर बैठ गये॥ ६॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपनी फूआ कुन्तीके पास गये और उनके चरणोंमें प्रणाम किया। कुन्तीजीने अत्यन्त स्नेहवश उन्हें अपने हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक आये। कुन्तीजीने श्रीकृष्णसे अपने भाई-बन्धुओंकी कुशल-क्षेम पूछी और भगवान्ने भी उनका यथोचित उत्तर देकर उनसे उनकी पुत्रवधू द्रौपदी और स्वयं उनका कुशल-मंगल पूछा॥ ७॥ उस समय प्रेमकी विह्वलतासे कुन्तीजीका गला रुँध गया था, नेत्रोंसे आँसू बह रहे थे। भगवान्के पूछनेपर उन्हें अपने पहलेके क्लेश-पर-क्लेश याद आने लगे और वे अपनेको बहुत सँभालकर, जिनका दर्शन समस्त क्लेशोंका अन्त करनेके लिये ही हुआ करता है, उन भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगीं— ॥ ८॥

'श्रीकृष्ण! जिस समय तुमने हमलोगोंको अपना कुटुम्बी, सम्बन्धी समझकर स्मरण किया और हमारा कुशल-मंगल जाननेके लिये भाई अक्रूरको भेजा, उसी समय हमारा कल्याण हो गया, हम अनाथोंको तुमने सनाथ कर दिया॥ ९॥ मैं जानती हूँ कि तुम सम्पूर्ण जगत्के परम हितैषी सुहृद् और आत्मा हो। यह अपना है और यह पराया, इस प्रकारकी भ्रान्ति तुम्हारे अंदर नहीं है। ऐसा होनेपर भी, श्रीकृष्ण! जो सदा तुम्हें स्मरण करते हैं, उनके हृदयमें आकर तुम बैठ जाते हो और उनकी क्लेश-परम्पराको सदाके लिये मिटा देते हो'॥ १०॥

युधिष्ठिरजीने कहा—'सर्वेश्वर श्रीकृष्ण! हमें इस बातका पता नहीं है कि हमने अपने पूर्वजन्मोंमें या इस जन्ममें कौन-सा कल्याण-साधन किया है? आपका दर्शन बड़े-बड़े योगेश्वर भी बड़ी कठिनतासे प्राप्त कर पाते हैं और हम कुबुद्धियोंको घर बैठे ही

इति वै वार्षिकान् मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम्।
जनयन् नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः॥ १२

एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम्।
गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ॥ १३

साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्तुं विपिनं वनम्।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा॥ १४

तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान् सूकरान् महिषान् रुरून्।
शरभान् गवयान् खड्गान् हरिणाञ्छशशल्लकान्॥ १५

तान् निन्युः किंकरा राज्ञे मेध्यान् पर्वण्युपागते।
तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सुर्यमुनामगात्॥ १६

तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ।
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम्॥ १७

तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम्।
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम्॥ १८

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतोऽसि किं चिकीर्षसि।
मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने॥ १९

कालिन्द्युवाच

अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता॥ २०

आपके दर्शन हो रहे हैं'॥ ११॥ राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार भगवान्‌का खूब सम्मान किया और कुछ दिन वहीं रहनेकी प्रार्थना की। इसपर भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थके नर-नारियोंको अपनी रूपमाधुरीसे नयनानन्दका दान करते हुए बरसातके चार महीनोंतक सुखपूर्वक वहीं रहे॥ १२॥ परीक्षित्! एक बार वीरशिरोमणि अर्जुनने गाण्डीव धनुष और अक्षय बाणवाले दो तरकस लिये तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ कवच पहनकर अपने उस रथपर सवार हुए, जिसपर वानर-चिह्नसे चिह्नित ध्वजा लगी हुई थी। इसके बाद विपक्षी वीरोंका नाश करनेवाले अर्जुन उस गहन वनमें शिकार खेलने गये, जो बहुत-से सिंह, बाघ आदि भयंकर जानवरोंसे भरा हुआ था॥ १३-१४॥ वहाँ उन्होंने बहुत-से बाघ, सूअर, भैंसे, काले हरिन, शरभ, गवय (नीलापन लिये हुए भूरे रंगका एक बड़ा हिरन), गैंडे, हरिन, खरगोश और शल्लक (साही) आदि पशुओंपर अपने बाणोंका निशाना लगाया॥ १५॥ उनमेंसे जो यज्ञके योग्य थे, उन्हें सेवकगण पर्वका समय जानकर राजा युधिष्ठिरके पास ले गये। अर्जुन शिकार खेलते-खेलते थक गये थे। अब वे प्यास लगनेपर यमुनाजीके किनारे गये॥ १६॥ भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों महारथियोंने यमुनाजीमें हाथ-पैर धोकर उनका निर्मल जल पिया और देखा कि एक परमसुन्दरी कन्या वहाँ तपस्या कर रही है॥ १७॥ उस श्रेष्ठ सुन्दरीकी जंघा, दाँत और मुख अत्यन्त सुन्दर थे। अपने प्रिय मित्र श्रीकृष्णके भेजनेपर अर्जुनने उसके पास जाकर पूछा—॥ १८॥ 'सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? कहाँसे आयी हो? और क्या करना चाहती हो? मैं ऐसा समझता हूँ कि तुम अपने योग्य पति चाह रही हो। हे कल्याणि! तुम अपनी सारी बात बतलाओ'॥ १९॥

कालिन्दीने कहा—'मैं भगवान् सूर्यदेवकी पुत्री हूँ। मैं सर्वश्रेष्ठ वरदानी भगवान् विष्णुको पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती हूँ और इसीलिये यह कठोर

नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम्।
तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः॥ २१

कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले।
निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम्॥ २२

तथावदद् गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम्।
रथमारोप्य तद् विद्वान् धर्मराजमुपागमत्॥ २३

यदैव कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम्।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा॥ २४

भगवांस्तत्र निवसन् स्वानां प्रियचिकीर्षया।
अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः॥ २५

सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयाञ्छ्वेतान् रथं नृप।
अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः॥ २६

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत्।
यस्मिन् दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशिभ्रमः॥ २७

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः।
आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः॥ २८

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते।
वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममंगलम्॥ २९

तपस्या कर रही हूँ॥ २०॥ वीर अर्जुन! मैं लक्ष्मीके परम आश्रय भगवान्‌को छोड़कर और किसीको अपना पति नहीं बना सकती। अनाथोंके एकमात्र सहारे, प्रेम वितरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों॥ २१॥ मेरा नाम है कालिन्दी। यमुनाजलमें मेरे पिता सूर्यने मेरे लिये एक भवन भी बनवा दिया है। उसीमें मैं रहती हूँ। जबतक भगवान्‌का दर्शन न होगा, मैं यहीं रहूँगी'॥ २२॥ अर्जुनने जाकर भगवान् श्रीकृष्णसे सारी बातें कहीं। वे तो पहलेसे ही यह सब कुछ जानते थे, अब उन्होंने कालिन्दीको अपने रथपर बैठा लिया और धर्मराज युधिष्ठिरके पास ले आये॥ २३॥

इसके बाद पाण्डवोंकी प्रार्थनासे भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके रहनेके लिये एक अत्यन्त अद्‌भुत और विचित्र नगर विश्वकर्माके द्वारा बनवा दिया॥ २४॥ भगवान् इस बार पाण्डवोंको आनन्द देने और उनका हित करनेके लिये वहाँ बहुत दिनोंतक रहे। इसी बीच अग्निदेवको खाण्डव-वन दिलानेके लिये वे अर्जुनके सारथि भी बने॥ २५॥ खाण्डव-वनका भोजन मिल जानेसे अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुनको गाण्डीव धनुष, चार श्वेत घोड़े, एक रथ, दो अटूट बाणोंवाले तरकस और एक ऐसा कवच दिया, जिसे कोई अस्त्र-शस्त्रधारी भेद न सके॥ २६॥ खाण्डव-दाहके समय अर्जुनने मय दानवको जलनेसे बचा लिया था। इसलिये उसने अर्जुनसे मित्रता करके उनके लिये एक परम अद्‌भुत सभा बना दी। उसी सभामें दुर्योधनको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हो गया था॥ २७॥

कुछ दिनोंके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी अनुमति एवं अन्य सम्बन्धियोंका अनुमोदन प्राप्त करके सात्यकि आदिके साथ द्वारका लौट आये॥ २८॥ वहाँ आकर उन्होंने विवाहके योग्य ऋतु और ज्यौतिष-शास्त्रके अनुसार प्रशंसित पवित्र लग्नमें कालिन्दीजीका पाणिग्रहण किया। इससे उनके स्वजन-सम्बन्धियोंको परम मंगल और परमानन्दकी प्राप्ति हुई॥ २९॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ।
स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम्॥ ३०

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः।
प्रसह्य हृतवान् कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम्॥ ३१

नग्नजिन्नाम कौसल्य आसीद् राजातिधार्मिकः।
तस्य सत्याभवत् कन्या देवी नाग्नजिती नृप॥ ३२

न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान्।
तीक्ष्णशृंगान् सुदुर्धर्षान् वीरगन्धासहान् खलान्॥ ३३

तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान् सात्वतां पतिः।
जगाम कौसल्यपुरं सैन्येन महता वृतः॥ ३४

स कोसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः।
अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन् प्रतिनन्दितः॥ ३५

वरं विलोक्याभिमतं समागतं
नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम्।
भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः
करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतैः॥ ३६

यत्पादपंकजरजः शिरसा बिभर्ति
श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः।
लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयेशः
काले दधत् स भगवान् मम केन तुष्येत्॥ ३७

अवन्ती (उज्जैन) देशके राजा थे विन्द और अनुविन्द। वे दुर्योधनके वशवर्ती तथा अनुयायी थे। उनकी बहिन मित्रविन्दाने स्वयंवरमें भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना पति बनाना चाहा। परन्तु विन्द और अनुविन्दने अपनी बहिनको रोक दिया॥ ३०॥ परीक्षित्! मित्रविन्दा श्रीकृष्णकी फूआ राजाधिदेवीकी कन्या थी। भगवान् श्रीकृष्ण राजाओंकी भरी सभामें उसे बलपूर्वक हर ले गये, सब लोग अपना-सा मुँह लिये देखते ही रह गये॥ ३१॥

परीक्षित्! कोसलदेशके राजा थे नग्नजित्। वे अत्यन्त धार्मिक थे। उनकी परमसुन्दरी कन्याका नाम था सत्या; नग्नजित्की पुत्री होनेसे वह नाग्नजिती भी कहलाती थी। परीक्षित्! राजाकी प्रतिज्ञाके अनुसार सात दुर्दान्त बैलोंपर विजय प्राप्त न कर सकनेके कारण कोई राजा उस कन्यासे विवाह न कर सके। क्योंकि उनके सींग बड़े तीखे थे और वे बैल किसी वीर पुरुषकी गन्ध भी नहीं सह सकते थे॥ ३२-३३॥ जब यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने यह समाचार सुना कि जो पुरुष उन बैलोंको जीत लेगा, उसे ही सत्या प्राप्त होगी; तब वे बहुत बड़ी सेना लेकर कोसलपुरी (अयोध्या) पहुँचे॥ ३४॥ कोसलनरेश महाराज नग्नजित्ने बड़ी प्रसन्नतासे उनकी अगवानी की और आसन आदि देकर बहुत बड़ी पूजा-सामग्रीसे उनका सत्कार किया। भगवान् श्रीकृष्णने भी उनका बहुत-बहुत अभिनन्दन किया॥ ३५॥ राजा नग्नजित्की कन्या सत्याने देखा कि मेरे चिर-अभिलषित रमारमण भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारे हैं; तब उसने मन-ही-मन यह अभिलाषा की कि 'यदि मैंने व्रत-नियम आदिका पालन करके इन्हींका चिन्तन किया है तो ये ही मेरे पति हों और मेरी विशुद्ध लालसाको पूर्ण करें'॥ ३६॥ नाग्नजिती सत्या मन-ही मन सोचने लगी—'भगवती लक्ष्मी, ब्रह्मा, शंकर और बड़े-बड़े लोकपाल जिनके पदपंकजका पराग अपने सिरपर धारण करते हैं और जिन प्रभुने अपनी बनायी हुई मर्यादाका पालन करनेके लिये ही समय-समयपर अनेकों लीलावतार ग्रहण किये हैं, वे प्रभु मेरे किस धर्म, व्रत अथवा नियमसे प्रसन्न होंगे? वे तो केवल अपनी कृपासे ही प्रसन्न हो सकते हैं'॥ ३७॥

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते।
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः॥ ३८

परीक्षित्! राजा नग्नजित्ने भगवान् श्रीकृष्णकी विधि-पूर्वक अर्चा-पूजा करके यह प्रार्थना की—'जगत्के एकमात्र स्वामी नारायण! आप अपने स्वरूपभूत आनन्दसे ही परिपूर्ण हैं और मैं हूँ एक तुच्छ मनुष्य! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'॥ ३८॥

श्रीशुक उवाच

तमाह भगवान् हृष्टः[1] कृतासनपरिग्रहः।
मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन॥ ३९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा नग्नजित्का दिया हुआ आसन, पूजा आदि स्वीकार करके भगवान् श्रीकृष्ण बहुत सन्तुष्ट हुए। उन्होंने मुसकराते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे कहा॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच

नरेन्द्र याच्ञा कविभिर्विगर्हिता
राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ।
तथापि याचे तव सौहृदेच्छया
कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम्॥ ४०

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! जो क्षत्रिय अपने धर्ममें स्थित है, उसका कुछ भी माँगना उचित नहीं। धर्मज्ञ विद्वानोंने उसके इस कर्मकी निन्दा की है। फिर भी मैं आपसे सौहार्दका—प्रेमका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये आपकी कन्या चाहता हूँ। हमारे यहाँ इसके बदलेमें कुछ शुल्क देनेकी प्रथा नहीं है॥ ४०॥

राजोवाच

कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः।
गुणैकधाम्नो यस्यांगे श्रीर्वसत्यनपायिनी॥ ४१

किं त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ।
पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया॥ ४२

सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः।
एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः॥ ४३

यदिमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन।
वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः[2] पते॥ ४४

एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान्॥ ४५

राजा नग्नजित्ने कहा—'प्रभो! आप समस्त गुणोंके धाम हैं, एकमात्र आश्रय हैं। आपके वक्षःस्थलपर भगवती लक्ष्मी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं। आपसे बढ़कर कन्याके लिये अभीष्ट वर भला और कौन हो सकता है?॥ ४१॥ परन्तु यदुवंशशिरोमणे! हमने पहले ही इस विषयमें एक प्रण कर लिया है। कन्याके लिये कौन-सा वर उपयुक्त है, उसका बल-पौरुष कैसा है—इत्यादि बातें जाननेके लिये ही ऐसा किया गया है॥ ४२॥ वीरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! हमारे ये सातों बैल किसीके वशमें न आनेवाले और बिना सधाये हुए हैं। इन्होंने बहुत-से राजकुमारोंके अंगोंको खण्डित करके उनका उत्साह तोड़ दिया है॥ ४३॥ श्रीकृष्ण! यदि इन्हें आप ही नाथ लें, अपने वशमें कर लें, तो लक्ष्मीपते! आप ही हमारी कन्याके लिये अभीष्ट वर होंगे'॥ ४४॥ भगवान् श्रीकृष्णने राजा नग्नजित्का ऐसा प्रण सुनकर कमरमें फेंट कस ली और अपने सात रूप बनाकर खेल-खेलमें ही उन बैलोंको नाथ लिया॥ ४५॥

१. कृष्णः। २. प्रियः पतिः।

बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः।
व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान् यथा॥ ४६

ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः।
तां प्रत्यगृह्णाद् भगवान् विधिवत् सदृशीं प्रभुः॥ ४७

राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम्।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः॥ ४८

शंखभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः।
नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवासःस्रगलंकृताः॥ ४९

दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद् विभुः।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम्॥ ५०

नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान्।
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान् नरान्॥ ५१

दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ।
स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोसलः॥ ५२

श्रुत्वैतद् रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम्।
भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा॥ ५३

तानस्यतः शरव्रातान् बन्धुप्रियकृदर्जुनः।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव॥ ५४

इससे बैलोंका घमंड चूर हो गया और उनका बल-पौरुष भी जाता रहा। अब भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें रस्सीसे बाँधकर इस प्रकार खींचने लगे, जैसे खेलते समय नन्हा-सा बालक काठके बैलोंको घसीटता है॥ ४६॥ राजा नग्नजित्‌को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णको अपनी कन्याका दान कर दिया और सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने अनुरूप पत्नी सत्याका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया॥ ४७॥ रानियोंने देखा कि हमारी कन्याको उसके अत्यन्त प्यारे भगवान् श्रीकृष्ण ही पतिके रूपमें प्राप्त हो गये हैं। उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और चारों ओर बड़ा भारी उत्सव मनाया जाने लगा॥ ४८॥ शंख, ढोल, नगारे बजने लगे। सब ओर गाना-बजाना होने लगा। ब्राह्मण आशीर्वाद देने लगे। सुन्दर वस्त्र, पुष्पोंके हार और गहनोंसे सज-धजकर नगरके नर-नारी आनन्द मनाने लगे॥ ४९॥ राजा नग्नजित्‌ने दस हजार गौएँ और तीन हजार ऐसी नवयुवती दासियाँ जो सुन्दर वस्त्र तथा गलेमें स्वर्णहार पहने हुए थीं, दहेजमें दीं। इनके साथ ही नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और नौ अरब सेवक भी दहेजमें दिये॥ ५०-५१॥ कोसलनरेश राजा नग्नजित्‌ने कन्या और दामादको रथपर चढ़ाकर एक बड़ी सेनाके साथ विदा किया। उस समय उनका हृदय वात्सल्य-स्नेहके उद्रेकसे द्रवित हो रहा था॥ ५२॥

परीक्षित्! यदुवंशियोंने और राजा नग्नजित्‌के बैलोंने पहले बहुत-से राजाओंका बल-पौरुष धूलमें मिला दिया था। जब उन राजाओंने यह समाचार सुना, तब उनसे भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजय सहन न हुई। उन लोगोंने नाग्नजिती सत्याको लेकर जाते समय मार्गमें भगवान् श्रीकृष्णको घेर लिया॥ ५३॥ और वे बड़े वेगसे उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे। उस समय पाण्डववीर अर्जुनने अपने मित्र भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये गाण्डीव धनुष धारण करके—जैसे सिंह छोटे-मोटे पशुओंको खदेड़ दे, वैसे ही उन नरपतियोंको मार-पीटकर भगा दिया॥ ५४॥

पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया।
रेमे यदूनामृषभो भगवान् देवकीसुतः॥ ५५

तदनन्तर यदुवंशशिरोमणि देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उस दहेज और सत्याके साथ द्वारकामें आये और वहाँ रहकर गृहस्थोचित विहार करने लगे॥ ५५॥

श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः।
कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः॥ ५६

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णकी फूआ श्रुतकीर्ति केकय-देशमें ब्याही गयी थीं। उनकी कन्याका नाम था भद्रा। उसके भाई सन्तर्दन आदिने उसे स्वयं ही भगवान् श्रीकृष्णको दे दिया और उन्होंने उसका पाणिग्रहण किया॥ ५६॥ मद्रप्रदेशके राजाकी एक कन्या थी लक्ष्मणा। वह अत्यन्त सुलक्षणा थी। जैसे गरुड़ने स्वर्गसे अमृतका हरण किया था, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने स्वयंवरमें अकेले ही उसे हर लिया॥ ५७॥

सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम्।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव॥ ५७

परीक्षित्! इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी और भी सहस्रों स्त्रियाँ थीं। उन परम सुन्दरियोंको वे भौमासुरको मारकर उसके बंदीगृहसे छुड़ा लाये थे॥ ५८॥

अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः।
भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः॥ ५८

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
अष्टमहिष्युद्वाहो नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८॥

अथैकोनषष्टितमोऽध्यायः

भौमासुरका उद्धार और सोलह हजार एक सौ राज-कन्याओंके साथ भगवान्का विवाह

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः।
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः॥ १

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! भगवान् श्रीकृष्णने भौमासुरको, जिसने उन स्त्रियोंको बंदीगृहमें डाल रखा था, क्यों और कैसे मारा? आप कृपा करके शार्ङ्ग-धनुषधारी भगवान् श्रीकृष्णका वह विचित्र चरित्र सुनाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रेण हृतछत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम्।
सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ॥ २

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! भौमासुरने वरुणका छत्र, माता अदितिके कुण्डल और मेरु पर्वतपर स्थित देवताओंका मणिपर्वत नामक स्थान छीन लिया था। इसपर सबके राजा इन्द्र द्वारकामें आये और उसकी एक-एक करतूत उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको सुनायी। अब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिय पत्नी सत्यभामाके साथ गरुड़पर सवार हुए और भौमासुरकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुरमें गये॥ २॥

गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम्।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम्॥ ३

गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः।
चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना॥ ४

शंखनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम्।
प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः॥ ५

पांचजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम्।
मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पंचशिरा जलात्॥ ६

त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो
युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पंचभिर्मुखै-
रभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः॥ ७

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते
निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पंचभिः।
स रोदसी सर्वदिशोऽन्तरं महा-
नापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत्॥ ८

तदापतद् वै त्रिशिखं गरुत्मते
हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधौजसा।

प्राग्ज्योतिषपुरमें प्रवेश करना बहुत कठिन था। पहले तो उसके चारों ओर पहाड़ोंकी किलेबंदी थी, उसके बाद शस्त्रोंका घेरा लगाया हुआ था। फिर जलसे भरी खाईं थी, उसके बाद आग या बिजलीकी चहारदीवारी थी और उसके भीतर वायु (गैस) बंद करके रखा गया था। इससे भी भीतर मुर दैत्यने नगरके चारों ओर अपने दस हजार घोर एवं सुदृढ फंदे (जाल) बिछा रखे थे॥ ३॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गदाकी चोटसे पहाड़ोंको तोड़-फोड़ डाला और शस्त्रोंकी मोरचे-बंदीको बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया। चक्रके द्वारा अग्नि, जल और वायुकी चहारदीवारियोंको तहस-नहस कर दिया और मुर दैत्यके फंदोंको तलवारसे काट-कूटकर अलग रख दिया॥ ४॥ जो बड़े-बड़े यन्त्र—मशीनें वहाँ लगी हुई थीं, उनको तथा वीरपुरुषोंके हृदयको शंखनादसे विदीर्ण कर दिया और नगरके परकोटेको गदाधर भगवान्ने अपनी भारी गदासे ध्वंस कर डाला॥ ५॥

भगवान्के पांचजन्य शंखकी ध्वनि प्रलयकालीन बिजलीकी कड़कके समान महाभयंकर थी। उसे सुनकर मुर दैत्यकी नींद टूटी और वह बाहर निकल आया। उसके पाँच सिर थे और अबतक वह जलके भीतर सो रहा था॥ ६॥ वह दैत्य प्रलयकालीन सूर्य और अग्निके समान प्रचण्ड तेजस्वी था। वह इतना भयंकर था कि उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी आसान काम नहीं था। उसने त्रिशूल उठाया और इस प्रकार भगवान्की ओर दौड़ा, जैसे साँप गरुड़जीपर टूट पड़े। उस समय ऐसा मालूम होता था मानो वह अपने पाँचों मुखोंसे त्रिलोकीको निगल जायगा॥ ७॥ उसने अपने त्रिशूलको बड़े वेगसे घुमाकर गरुड़जीपर चलाया और फिर अपने पाँचों मुखोंसे घोर सिंहनाद करने लगा। उसके सिंहनादका महान् शब्द पृथ्वी, आकाश, पाताल और दसों दिशाओंमें फैलकर सारे ब्रह्माण्डमें भर गया॥ ८॥ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मुर दैत्यका त्रिशूल गरुड़की ओर बड़े वेगसे आ रहा है। तब अपना हस्तकौशल दिखाकर फुर्तीसे उन्होंने दो बाण मारे, जिनसे वह त्रिशूल कटकर तीन टूक

मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्
तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत॥ ९

तामापतन्तीं गदया गदां मृधे
गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः
शिरांसि चक्रेण जहार लीलया॥ १०

व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षो
निकृत्तशृंगोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा ।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः
प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः॥ ११

ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसु-
र्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे
भौमप्रयुक्ता निरगन् धृतायुधाः॥ १२

प्रायुंजतासाद्य शरानसीन् गदाः
शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः।
तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणै-
रमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह॥ १३

तान् पीठमुख्याननयद् यमक्षयं
निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः।
स्वानीकपानच्युतचक्रसायकै-
स्तथा निरस्तान् नरको धरासुतः॥ १४

निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदै-
र्गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत्।
दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरि स्थितं
सूर्योपरिष्टात् सतडिद्घनं यथा।
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं
योधाश्च सर्वे युगपत् स्म विव्यधुः॥ १५

हो गया। इसके साथ ही मुर दैत्यके मुखोंमें भी भगवान्ने बहुत-से बाण मारे। इससे वह दैत्य अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और उसने भगवान्पर अपनी गदा चलायी॥ ९॥ परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गदाके प्रहारसे मुर दैत्यकी गदाको अपने पास पहुँचनेके पहले ही चूर-चूर कर दिया। अब वह अस्त्रहीन हो जानेके कारण अपनी भुजाएँ फैलाकर श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा और उन्होंने खेल-खेलमें ही चक्रसे उसके पाँचों सिर उतार लिये॥ १०॥ सिर कटते ही मुर दैत्यके प्राण-पखेरू उड़ गये और वह ठीक वैसे ही जलमें गिर पड़ा, जैसे इन्द्रके वज्रसे शिखर कट जानेपर कोई पर्वत समुद्रमें गिर पड़ा हो। मुर दैत्यके सात पुत्र थे—ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और अरुण। ये अपने पिताकी मृत्युसे अत्यन्त शोकाकुल हो उठे और फिर बदला लेनेके लिये क्रोधसे भरकर शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित हो गये तथा पीठ नामक दैत्यको अपना सेनापति बनाकर भौमासुरके आदेशसे श्रीकृष्णपर चढ़ आये॥ ११-१२॥ वे वहाँ आकर बड़े क्रोधसे भगवान् श्रीकृष्णपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, ऋष्टि और त्रिशूल आदि प्रचण्ड शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। परीक्षित्! भगवान्की शक्ति अमोघ और अनन्त है। उन्होंने अपने बाणोंसे उनके कोटि-कोटि शस्त्रास्त्र तिल-तिल करके काट गिराये॥ १३॥ भगवान्के शस्त्रप्रहारसे सेनापति पीठ और उसके साथी दैत्योंके सिर, जाँघें, भुजा, पैर और कवच कट गये और उन सभीको भगवान्ने यमराजके घर पहुँचा दिया। जब पृथ्वीके पुत्र नरकासुर (भौमासुर) ने देखा कि भगवान् श्रीकृष्णके चक्र और बाणोंसे हमारी सेना और सेनापतियोंका संहार हो गया, तब उसे असह्य क्रोध हुआ। वह समुद्रतटपर पैदा हुए बहुत-से मदवाले हाथियोंकी सेना लेकर नगरसे बाहर निकला। उसने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी पत्नीके साथ आकाशमें गरुड़पर स्थित हैं, जैसे सूर्यके ऊपर बिजलीके साथ वर्षाकालीन श्याममेघ शोभायमान हो। भौमासुरने स्वयं भगवान्के ऊपर शतघ्नी नामकी शक्ति चलायी और उसके सब सैनिकोंने भी एक ही साथ उनपर अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़े॥ १४-१५॥

तद् भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजो
विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः।
निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं
चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम्॥ १६

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह।
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः॥ १७

उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान्।
गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः॥ १८

पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत।
दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम्॥ १९

तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः।
नाकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः॥ २०

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः।
तद्विसर्गात् पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः।
अपाहरद् गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना॥ २१

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं
बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत्।
हाहेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा
माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे॥ २२

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले
प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।
सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत्
प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम्॥ २३

अब भगवान् श्रीकृष्ण भी चित्र-विचित्र पंखवाले तीखे-तीखे बाण चलाने लगे। इससे उसी समय भौमासुरके सैनिकोंकी भुजाएँ, जाँघें, गर्दन और धड़ कट-कटकर गिरने लगे; हाथी और घोड़े भी मरने लगे॥ १६॥

परीक्षित्! भौमासुरके सैनिकोंने भगवान्पर जो-जो अस्त्र-शस्त्र चलाये थे, उनमेंसे प्रत्येकको भगवान्ने तीन-तीन तीखे बाणोंसे काट गिराया॥ १७॥ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण गरुड़जीपर सवार थे और गरुड़जी अपने पंखोंसे हाथियोंको मार रहे थे। उनकी चोंच, पंख और पंजोंकी मारसे हाथियोंको बड़ी पीड़ा हुई और वे सब-के-सब आर्त होकर युद्धभूमिसे भागकर नगरमें घुस गये। अब वहाँ अकेला भौमासुर ही लड़ता रहा। जब उसने देखा कि गरुड़जीकी मारसे पीड़ित होकर मेरी सेना भाग रही है, तब उसने उनपर वह शक्ति चलायी, जिसने वज्रको भी विफल कर दिया था। परन्तु उसकी चोटसे पक्षिराज गरुड़ तनिक भी विचलित न हुए, मानो किसीने मतवाले गजराजपर फूलोंकी मालासे प्रहार किया हो॥ १८—२०॥ अब भौमासुरने देखा कि मेरी एक भी चाल नहीं चलती, सारे उद्योग विफल होते जा रहे हैं, तब उसने श्रीकृष्णको मार डालनेके लिये एक त्रिशूल उठाया। परन्तु उसे अभी वह छोड़ भी न पाया था कि भगवान् श्रीकृष्णने छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे हाथीपर बैठे हुए भौमासुरका सिर काट डाला॥ २१॥ उसका जगमगाता हुआ सिर कुण्डल और सुन्दर किरीटके सहित पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसे देखकर भौमासुरके सगे-सम्बन्धी हाय-हाय पुकार उठे, ऋषिलोग 'साधु साधु' कहने लगे और देवतालोग भगवान्पर पुष्पोंकी वर्षा करते हुए स्तुति करने लगे॥ २२॥

अब पृथ्वी भगवान्के पास आयी। उसने भगवान् श्रीकृष्णके गलेमें वैजयन्तीके साथ वनमाला पहना दी और अदिति माताके जगमगाते हुए कुण्डल, जो तपाये हुए सोनेके एवं रत्नजटित थे, भगवान्को दे दिये तथा वरुणका छत्र और साथ ही एक महामणि

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम्।
प्रांजलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया॥ २४

भी उनको दी॥ २३॥ राजन्! इसके बाद पृथ्वीदेवी बड़े-बड़े देवताओंके द्वारा पूजित विश्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके हाथ जोड़कर भक्तिभावभरे हृदयसे उनकी स्तुति करने लगीं॥ २४॥

भूमिरुवाच

नमस्ते देवदेवेश शंखचक्रगदाधर।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥ २५

पृथ्वीदेवीने कहा—शंखचक्रगदाधारी देव-देवेश्वर! मैं आपको नमस्कार करती हूँ। परमात्मन्! आप अपने भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसीके अनुसार रूप प्रकट किया करते हैं। आपको मैं नमस्कार करती हूँ॥ २५॥

नमः पंकजनाभाय नमः पंकजमालिने।
नमः पंकजनेत्राय नमस्ते पंकजाङ्घ्रये॥ २६

प्रभो! आपकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है। आप कमलकी माला पहनते हैं। आपके नेत्र कमलसे खिले हुए और शान्तिदायक हैं। आपके चरण कमलके समान सुकुमार और भक्तोंके हृदयको शीतल करनेवाले हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ॥ २६॥

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः॥ २७

आप समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, सम्पत्ति, ज्ञान और वैराग्यके आश्रय हैं। आप सर्वव्यापक होनेपर भी स्वयं वसुदेवनन्दनके रूपमें प्रकट हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ। आप ही पुरुष हैं और समस्त कारणोंके भी परम कारण हैं। आप स्वयं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ २७॥

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥ २८

आप स्वयं तो हैं जन्मरहित, परन्तु इस जगत्के जन्मदाता आप ही हैं। आप ही अनन्त शक्तियोंके आश्रय ब्रह्म हैं। जगत्का जो कुछ भी कार्य-कारणमय रूप है, जितने भी प्राणी या अप्राणी हैं— सब आपके ही स्वरूप हैं। परमात्मन्! आपके चरणोंमें मेरे बार-बार नमस्कार॥ २८॥

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो
तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते
कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः॥ २९

प्रभो! जब आप जगत्की रचना करना चाहते हैं, तब उत्कट रजोगुणको, और जब इसका प्रलय करना चाहते हैं तब तमोगुणको, तथा जब इसका पालन करना चाहते हैं तब सत्त्वगुणको स्वीकार करते हैं। परन्तु यह सब करनेपर भी आप इन गुणोंसे ढकते नहीं, लिप्त नहीं होते। जगत्पते! आप स्वयं ही प्रकृति, पुरुष और दोनोंके संयोग-वियोगके हेतु काल हैं तथा उन तीनोंसे परे भी हैं॥ २९॥

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो
मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं
त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः॥ ३०

भगवन्! मैं (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु, आकाश, पंचतन्मात्राएँ, मन, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृ-देवता, अहंकार और महत्तत्त्व—कहाँतक कहूँ, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपके अद्वितीय स्व-रूपमें भ्रमके कारण ही पृथक् प्रतीत हो रहा है॥ ३०॥

तस्यात्मजोऽयं तव पादपंकजं
भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः।
तत् पालयैनं कुरु हस्तपंकजं
शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥ ३१

शरणागत-भय-भंजन प्रभो! मेरे पुत्र भौमासुरका यह पुत्र भगदत्त अत्यन्त भयभीत हो रहा है। मैं इसे आपके चरणकमलोंकी शरणमें ले आयी हूँ। प्रभो! आप इसकी रक्षा कीजिये और इसके सिरपर अपना वह करकमल रखिये जो सारे जगत्‌के समस्त पाप-तापोंको नष्ट करनेवाला है॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति भूम्यार्थितो वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया।
दत्त्वाभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत्॥ ३२

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम्।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः॥ ३३

तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिताः।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम्॥ ३४

भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम्।
इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः॥ ३५

ताः प्राहिणोद् द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः।
नरयानैर्महाकोशान् रथाश्वान् द्रविणं महत्॥ ३६

ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः।
पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः॥ ३७

गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः॥ ३८

चोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति।
आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्योपानयत् पुरम्॥ ३९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब पृथ्वीने भक्तिभावसे विनम्र होकर इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति-प्रार्थना की, तब उन्होंने भगदत्तको अभयदान दिया और भौमासुरके समस्त सम्पत्तियोंसे सम्पन्न महलमें प्रवेश किया॥ ३२॥ वहाँ जाकर भगवान्‌ने देखा कि भौमासुरने बलपूर्वक राजाओंसे सोलह हजार राजकुमारियाँ छीनकर अपने यहाँ रख छोड़ी थीं॥ ३३ ॥ जब उन राजकुमारियोंने अन्तःपुरमें पधारे हुए नरश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णको देखा, तब वे मोहित हो गयीं और उन्होंने उनकी अहैतुकी कृपा तथा अपना सौभाग्य समझकर मन-ही-मन भगवान्‌को अपने परम प्रियतम पतिके रूपमें वरण कर लिया॥ ३४॥ उन राजकुमारियोंमेंसे प्रत्येकने अलग-अलग अपने मनमें यही निश्चय किया कि 'ये श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों और विधाता मेरी इस अभिलाषाको पूर्ण करें।' इस प्रकार उन्होंने प्रेम-भावसे अपना हृदय भगवान्‌के प्रति निछावर कर दिया॥ ३५ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने उन राजकुमारियोंको सुन्दर-सुन्दर निर्मल वस्त्राभूषण पहनाकर पालकियोंसे द्वारका भेज दिया और उनके साथ ही बहुत-से खजाने, रथ, घोड़े तथा अतुल सम्पत्ति भी भेजी॥ ३६ ॥ ऐरावतके वंशमें उत्पन्न हुए अत्यन्त वेगवान् चार-चार दाँतोंवाले सफेद रंगके चौंसठ हाथी भी भगवान्‌ने वहाँसे द्वारका भेजे॥ ३७॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अमरावतीमें स्थित देवराज इन्द्रके महलोंमें गये। वहाँ देवराज इन्द्रने अपनी पत्नी इन्द्राणीके साथ सत्यभामाजी और भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की, तब भगवान्‌ने अदितिके कुण्डल उन्हें दे दिये॥ ३८॥ वहाँसे लौटते समय सत्यभामाजीकी प्रेरणासे भगवान् श्रीकृष्णने कल्पवृक्ष उखाड़कर गरुड़पर रख लिया और देवराज इन्द्र तथा समस्त देवताओंको जीतकर उसे द्वारकामें ले आये॥ ३९ ॥

स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः।
अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात् तद्गन्धासवलम्पटाः॥ ४०

भगवान्ने उसे सत्यभामाके महलके बगीचेमें लगा दिया। इससे उस बगीचेकी शोभा अत्यन्त बढ़ गयी। कल्पवृक्षके साथ उसके गन्ध और मकरन्दके लोभी भौंरे स्वर्गसे द्वारकामें चले आये थे॥ ४०॥ परीक्षित्! देखो तो सही, जब इन्द्रको अपना काम बनाना था, तब तो उन्होंने अपना सिर झुकाकर मुकुटकी नोकसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श करके उनसे सहायताकी भिक्षा माँगी थी, परन्तु जब काम बन गया, तब उन्होंने उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णसे लड़ाई ठान ली। सचमुच ये देवता भी बड़े तमोगुणी हैं और सबसे बड़ा दोष तो उनमें धनाढ्यताका है। धिक्कार है ऐसी धनाढ्यताको॥ ४१॥

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः
पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम्।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा-
नहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम्॥ ४१

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने एक ही मुहूर्तमें अलग-अलग भवनोंमें अलग-अलग रूप धारण करके एक ही साथ सब राजकुमारियोंका शास्त्रोक्त विधिसे पाणिग्रहण किया। सर्वशक्तिमान् अविनाशी भगवान्के लिये इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है॥ ४२॥ परीक्षित्! भगवान्की पत्नियोंके अलग-अलग महलोंमें ऐसी दिव्य सामग्रियाँ भरी हुई थीं, जिनके बराबर जगत्में कहीं भी और कोई भी सामग्री नहीं है; फिर अधिककी तो बात ही क्या है। उन महलोंमें रहकर मति-गतिके परेकी लीला करनेवाले अविनाशी भगवान् श्रीकृष्ण अपने आत्मानन्दमें मग्न रहते हुए लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूपा उन पत्नियोंके साथ ठीक वैसे ही विहार करते थे, जैसे कोई साधारण मनुष्य घर-गृहस्थीमें रहकर गृहस्थ-धर्मके अनुसार आचरण करता हो॥ ४३॥ परीक्षित्! ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी भगवान्के वास्तविक स्वरूपको और उनकी प्राप्तिके मार्गको नहीं जानते। उन्हीं रमारमण भगवान् श्रीकृष्णको उन स्त्रियोंने पतिके रूपमें प्राप्त किया था। अब नित्य-निरन्तर उनके प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि होती रहती थी और वे प्रेमभरी मुसकराहट, मधुर चितवन, नवसमागम, प्रेमालाप तथा भाव बढ़ानेवाली लज्जासे युक्त होकर सब प्रकारसे भगवान्की सेवा करती रहती थीं॥ ४४॥

अथो मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः॥ ४२

गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृ-
न्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो
यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन्॥ ४३

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसंगमजल्पलज्जाः॥ ४४

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यै-
र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्॥ ४५

उनमेंसे सभी पत्नियोंके साथ सेवा करनेके लिये सैकड़ों दासियाँ रहतीं, फिर भी जब उनके महलमें भगवान् पधारते तब वे स्वयं आगे जाकर आदरपूर्वक उन्हें लिवा लातीं, श्रेष्ठ आसनपर बैठातीं, उत्तम सामग्रियोंसे पूजा करतीं, चरणकमल पखारतीं, पान लगाकर खिलातीं, पाँव दबाकर थकावट दूर करतीं, पंखा झलतीं, इत्र-फुलेल, चन्दन आदि लगातीं, फूलोंके हार पहनातीं, केश सँवारतीं, सुलातीं, स्नान करातीं और अनेक प्रकारके भोजन कराकर अपने ही हाथों भगवान्‌की सेवा करतीं॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पारिजातहरणनरकवधो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

अथ षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-संवाद

श्रीशुक उवाच

कर्हिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः॥ १

यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।
स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः॥ २

तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि॥ ३

मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादितैः।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः॥ ४

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना ।
धूपैरगुरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक दिन समस्त जगत्‌के परमपिता और ज्ञानदाता भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके पलँगपर आरामसे बैठे हुए थे। भीष्मकनन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी सखियोंके साथ अपने पतिदेवकी सेवा कर रही थीं, उन्हें पंखा झल रही थीं॥ १॥ परीक्षित्! जो सर्वशक्तिमान् भगवान् खेल-खेलमें ही इस जगत्‌की रचना, रक्षा और प्रलय करते हैं—वही अजन्मा प्रभु अपनी बनायी हुई धर्म-मर्यादाओंकी रक्षा करनेके लिये यदुवंशियोंमें अवतीर्ण हुए हैं॥ २॥ रुक्मिणीजीका महल बड़ा ही सुन्दर था। उसमें ऐसे-ऐसे चँदोवे तने हुए थे, जिनमें मोतियोंकी लड़ियोंकी झालरें लटक रही थीं। मणियोंके दीपक जगमगा रहे थे॥ ३॥ बेला-चमेलीके फूल और हार मँह-मँह मँहक रहे थे। फूलोंपर झुंड-के-झुंड भौंरे गुंजार कर रहे थे। सुन्दर-सुन्दर झरोखोंकी जालियोंमेंसे चन्द्रमाकी शुभ्र किरणें महलके भीतर छिटक रही थीं॥ ४॥ उद्यानमें पारिजातके उपवनकी सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द शीतल वायु चल रही थी। झरोखोंकी जालियोंमेंसे अगरके धूपका धूआँ बाहर निकल रहा था॥ ५॥

पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यंके कशिपूत्तमे।
उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम्॥ ६

वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात्।
तेन वीजयती देवी उपासांचक्र ईश्वरम्॥ ७

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां
रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता।
वस्त्रान्तगूढकुचकुंकुमशोणहार-
भासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या॥ ८

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य
या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-
वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे॥ ९

श्रीभगवानुवाच

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः॥ १०

तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन् स्मरदुर्मदान्।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान्॥ ११

ऐसे महलमें दूधके फेनके समान कोमल और उज्ज्वल बिछौनोंसे युक्त सुन्दर पलँगपर भगवान् श्रीकृष्ण बड़े आनन्दसे विराजमान थे और रुक्मिणीजी त्रिलोकीके स्वामीको पतिरूपमें प्राप्त करके उनकी सेवा कर रही थीं॥ ६॥ रुक्मिणीजीने अपनी सखीके हाथसे वह चँवर ले लिया, जिसमें रत्नोंकी डाँडी लगी थी और परमरूपवती लक्ष्मीरूपिणी देवी रुक्मिणीजी उसे डुला-डुलाकर भगवान्की सेवा करने लगीं॥ ७॥ उनके करकमलोंमें जड़ाऊ अँगूठियाँ, कंगन और चँवर शोभा पा रहे थे। चरणोंमें मणिजटित पायजेब रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे। अंचलके नीचे छिपे हुए स्तनोंकी केशरकी लालिमासे हार लाल-लाल जान पड़ता था और चमक रहा था। नितम्बभागमें बहुमूल्य करधनीकी लड़ियाँ लटक रही थीं। इस प्रकार वे भगवान्के पास ही रहकर उनकी सेवामें संलग्न थीं॥ ८॥ रुक्मिणीजीकी घुँघराली अलकें, कानोंके कुण्डल और गलेके स्वर्णहार अत्यन्त विलक्षण थे। उनके मुखचन्द्रसे मुसकराहटकी अमृतवर्षा हो रही थी। ये रुक्मिणीजी अलौकिक रूपलावण्यवती लक्ष्मीजी ही तो हैं। उन्होंने जब देखा कि भगवान्ने लीलाके लिये मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण किया है, तब उन्होंने भी उनके अनुरूप रूप प्रकट कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण यह देखकर बहुत प्रसन्न हुए कि रुक्मिणीजी मेरे परायण हैं, मेरी अनन्य प्रेयसी हैं। तब उन्होंने बड़े प्रेमसे मुसकराते हुए उनसे कहा॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजकुमारी! बड़े-बड़े नरपति, जिनके पास लोकपालोंके समान ऐश्वर्य और सम्पत्ति है, जो बड़े महानुभाव और श्रीमान् हैं तथा सुन्दरता, उदारता और बलमें भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं, तुमसे विवाह करना चाहते थे॥ १०॥ तुम्हारे पिता और भाई भी उन्हींके साथ तुम्हारा विवाह करना चाहते थे, यहाँतक कि उन्होंने वाग्दान भी कर दिया था। शिशुपाल आदि बड़े-बड़े वीरोंको, जो कामोन्मत्त होकर तुम्हारे याचक बन रहे थे, तुमने छोड़ दिया और मेरे-जैसे व्यक्तिको, जो किसी प्रकार तुम्हारे समान नहीं है, अपना पति स्वीकार किया। ऐसा तुमने क्यों किया?॥ ११॥

राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान्।
बलवद्भिः कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान्॥ १२

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम्।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः॥ १३

निष्किंचना वयं शश्वन्निष्किंचनजनप्रियाः।
तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे॥ १४

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्॥ १५

वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयादीर्घसमीक्षया।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा॥ १६

अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम्।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे॥ १७

चैद्यशाल्वजरासन्धदन्तवक्त्रादयो नृपाः।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः॥ १८

तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये।
आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरतासताम्॥ १९

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः॥ २०

सुन्दरी! देखो, हम जरासन्ध आदि राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आ बसे हैं। बड़े-बड़े बलवानोंसे हमने वैर बाँध रखा है और प्रायः राजसिंहासनके अधिकारसे भी हम वंचित ही हैं॥ १२॥ सुन्दरी! हम किस मार्गके अनुयायी हैं, हमारा कौन-सा मार्ग है, यह भी लोगोंको अच्छी तरह मालूम नहीं है। हमलोग लौकिक व्यवहारका भी ठीक-ठीक पालन नहीं करते, अनुनय-विनयके द्वारा स्त्रियोंको रिझाते भी नहीं। जो स्त्रियाँ हमारे-जैसे पुरुषोंका अनुसरण करती हैं, उन्हें प्रायः क्लेश-ही-क्लेश भोगना पड़ता है॥ १३॥ सुन्दरी! हम तो सदाके अकिंचन हैं। न तो हमारे पास कभी कुछ था और न रहेगा। ऐसे ही अकिंचन लोगोंसे हम प्रेम भी करते हैं और वे लोग भी हमसे प्रेम करते हैं। यही कारण है कि अपनेको धनी समझनेवाले लोग प्रायः हमसे प्रेम नहीं करते, हमारी सेवा नहीं करते॥ १४॥ जिनका धन, कुल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और आय अपने समान होती है—उन्हींसे विवाह और मित्रताका सम्बन्ध करना चाहिये। जो अपनेसे श्रेष्ठ या अधम हों, उनसे नहीं करना चाहिये॥ १५॥ विदर्भराजकुमारी! तुमने अपनी अदूरदर्शिताके कारण इन बातोंका विचार नहीं किया और बिना जाने-बूझे भिक्षुकोंसे मेरी झूठी प्रशंसा सुनकर मुझ गुणहीनको वरण कर लिया॥ १६॥ अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है। तुम अपने अनुरूप किसी श्रेष्ठ क्षत्रियको वरण कर लो। जिसके द्वारा तुम्हारी इहलोक और परलोककी सारी आशा-अभिलाषाएँ पूरी हो सकें॥ १७॥ सुन्दरी! तुम जानती ही हो कि शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र आदि नरपति और तुम्हारा बड़ा भाई रुक्मी-सभी मुझसे द्वेष करते थे॥ १८॥ कल्याणी! वे सब बल-पौरुषके मदसे अंधे हो रहे थे, अपने सामने किसीको कुछ नहीं गिनते थे। उन दुष्टोंका मान मर्दन करनेके लिये ही मैंने तुम्हारा हरण किया था और कोई कारण नहीं था॥ १९॥ निश्चय ही हम उदासीन हैं। हम स्त्री, सन्तान और धनके लोलुप नहीं हैं। निष्क्रिय और देह-गेहसे सम्बन्धरहित दीपशिखाके समान साक्षीमात्र हैं। हम अपने आत्माके साक्षात्कारसे ही पूर्णकाम हैं, कृतकृत्य हैं॥ २०॥

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव।
मन्यमानामविश्लेषात् तद्दर्पघ्न उपारमत्॥ २१

इति त्रिलोकेशपतेस्तदाऽऽत्मनः
प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम्।
आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथु-
श्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह॥ २२

पदा सुजातेन नखारुणश्रिया
भुवं लिखन्त्यश्रुभिरंजनासितैः।
आसिंचती कुंकुमरूषितौ स्तनौ
तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक्॥ २३

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे-
र्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन्
रम्भेव वायुविहता प्रविकीर्य केशान्॥ २४

तद् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्।
हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत॥ २५

पर्यंकादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः।
केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना॥ २६

प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा।
आश्लिष्य बाहुना राजन्ननन्यविषयां सतीम्॥ २७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके क्षणभरके लिये भी अलग न होनेके कारण रुक्मिणीजीको यह अभिमान हो गया था कि मैं इनकी सबसे अधिक प्यारी हूँ। इसी गर्वकी शान्तिके लिये इतना कहकर भगवान् चुप हो गये॥ २१॥ परीक्षित्! जब रुक्मिणीजीने अपने परम प्रियतम पति त्रिलोकेश्वर भगवान्‌की यह अप्रिय वाणी सुनी—जो पहले कभी नहीं सुनी थी, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गयीं; उनका हृदय धड़कने लगा, वे रोते-रोते चिन्ताके अगाध समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं॥ २२॥ वे अपने कमलके समान कोमल और नखोंकी लालिमासे कुछ-कुछ लाल प्रतीत होनेवाले चरणोंसे धरती कुरेदने लगीं। अंजनसे मिले हुए काले-काले आँसू केशरसे रँगे हुए वक्षःस्थलको धोने लगे। मुँह नीचेको लटक गया। अत्यन्त दुःखके कारण उनकी वाणी रुक गयी और वे ठिठकी-सी रह गयीं॥ २३॥ अत्यन्त व्यथा, भय और शोकके कारण विचारशक्ति लुप्त हो गयी, वियोगकी सम्भावनासे वे तत्क्षण इतनी दुबली हो गयीं कि उनकी कलाईका कंगनतक खिसक गया। हाथका चँवर गिर पड़ा, बुद्धिकी विकलताके कारण वे एकाएक अचेत हो गयीं, केश बिखर गये और वे वायुवेगसे उखड़े हुए केलेके खंभेकी तरह धरतीपर गिर पड़ीं॥ २४॥ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरी प्रेयसी रुक्मिणीजी हास्य-विनोदकी गम्भीरता नहीं समझ रही हैं और प्रेम-पाशकी दृढ़ताके कारण उनकी यह दशा हो रही है। स्वभावसे ही परम कारुणिक भगवान् श्रीकृष्णका हृदय उनके प्रति करुणासे भर गया॥ २५॥ चार भुजाओंवाले वे भगवान् उसी समय पलँगसे उतर पड़े और रुक्मिणीजीको उठा लिया तथा उनके खुले हुए केशपाशोंको बाँधकर अपने शीतल करकमलोंसे उनका मुँह पोंछ दिया॥ २६॥ भगवान्‌ने उनके नेत्रोंके आँसू और शोकके आँसुओंसे भींगे हुए स्तनोंको पोंछकर अपने प्रति अनन्य प्रेमभाव रखनेवाली उन सती रुक्मिणीजीको बाँहोंमें भरकर छातीसे लगा लिया॥ २७॥

सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः।
हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः॥ २८

भगवान् श्रीकृष्ण समझाने-बुझानेमें बड़े कुशल और अपने प्रेमी भक्तोंके एकमात्र आश्रय हैं। जब उन्होंने देखा कि हास्यकी गम्भीरताके कारण रुक्मिणीजीकी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी है और वे अत्यन्त दीन हो रही हैं, तब उन्होंने इस अवस्थाके अयोग्य अपनी प्रेयसी रुक्मिणीजीको समझाया॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याऽऽचरितमंगने॥ २९

मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम्।
कटाक्षेपारुणापांगं सुन्दरभ्रुकुटीतटम्॥ ३०

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि॥ ३१

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—विदर्भनन्दिनी! तुम मुझसे बुरा मत मानना। मुझसे रूठना नहीं। मैं जानता हूँ कि तुम एकमात्र मेरे ही परायण हो। मेरी प्रिय सहचरी! तुम्हारी प्रेमभरी बात सुननेके लिये ही मैंने हँसी-हँसीमें यह छलना की थी॥ २९॥ मैं देखना चाहता था कि मेरे यों कहनेपर तुम्हारे लाल-लाल होठ प्रणय-कोपसे किस प्रकार फड़कने लगते हैं। तुम्हारे कटाक्षपूर्वक देखनेसे नेत्रोंमें कैसी लाली छा जाती है और भौंहें चढ़ जानेके कारण तुम्हारा मुँह कैसा सुन्दर लगता है॥ ३०॥ मेरी परमप्रिये! सुन्दरी! घरके काम-धंधोंमें रात-दिन लगे रहनेवाले गृहस्थोंके लिये घर-गृहस्थीमें इतना ही तो परम लाभ है कि अपनी प्रिय अर्द्धांगिनीके साथ हास-परिहास करते हुए कुछ घड़ियाँ सुखसे बिता ली जाती हैं॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच

सैवं भगवता राजन् वैदर्भी परिसान्त्विता।
ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ॥ ३२

बभाष ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम्।
सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापांगेन भारत॥ ३३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्राणप्रियाको इस प्रकार समझाया-बुझाया, तब उन्हें इस बातका विश्वास हो गया कि मेरे प्रियतमने केवल परिहासमें ही ऐसा कहा था। अब उनके हृदयसे यह भय जाता रहा कि प्यारे हमें छोड़ देंगे॥ ३२॥ परीक्षित्! अब वे सलज्ज हास्य और प्रेमपूर्ण मधुर चितवनसे पुरुषभूषण भगवान् श्रीकृष्णका मुखारविन्द निरखती हुई उनसे कहने लगीं—॥ ३३॥

रुक्मिण्युवाच

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह
यद् वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः
क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा॥ ३४

रुक्मिणीजीने कहा—कमलनयन! आपका यह कहना ठीक है कि ऐश्वर्य आदि समस्त गुणोंसे युक्त, अनन्त भगवान्‌के अनुरूप मैं नहीं हूँ। आपकी समानता मैं किसी प्रकार नहीं कर सकती। कहाँ तो अपनी अखण्ड महिमामें स्थित, तीनों गुणोंके स्वामी तथा ब्रह्मा आदि देवताओंसे सेवित आप भगवान्; और कहाँ तीनों गुणोंके अनुसार स्वभाव रखनेवाली गुणमयी प्रकृति मैं, जिसकी सेवा कामनाओंके पीछे भटकनेवाले अज्ञानी लोग ही करते हैं॥ ३४॥

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः
शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं
त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम्॥ ३५

भला, मैं आपके समान कब हो सकती हूँ। स्वामिन्! आपका यह कहना भी ठीक ही है कि आप राजाओंके भयसे समुद्रमें आ छिपे हैं। परन्तु राजा शब्दका अर्थ पृथ्वीके राजा नहीं, तीनों गुणरूप राजा हैं। मानो आप उन्हींके भयसे अन्तःकरणरूप समुद्रमें चैतन्यघन अनुभूतिस्वरूप आत्माके रूपमें विराजमान रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आप राजाओंसे वैर रखते हैं, परन्तु वे राजा कौन हैं? यही अपनी दुष्ट इन्द्रियाँ। इनसे तो आपका वैर है ही। और प्रभो! आप राजसिंहासनसे रहित हैं, यह भी ठीक ही है; क्योंकि आपके चरणोंकी सेवा करनेवालोंने भी राजाके पदको घोर अज्ञानान्धकार समझकर दूरसे ही दुत्कार रखा है। फिर आपके लिये तो कहना ही क्या है॥ ३५॥

त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।
यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य
भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम्॥ ३६

आप कहते हैं कि हमारा मार्ग स्पष्ट नहीं है और हम लौकिक पुरुषों-जैसा आचरण भी नहीं करते; यह बात भी निस्सन्देह सत्य है। क्योंकि जो ऋषि-मुनि आपके पादपद्मोंका मकरन्द-रस सेवन करते हैं, उनका मार्ग भी अस्पष्ट रहता है और विषयोंमें उलझे हुए नरपशु उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते। और हे अनन्त! आपके मार्गपर चलनेवाले आपके भक्तोंकी भी चेष्टाएँ जब प्रायः अलौकिक ही होती हैं, तब समस्त शक्तियों और ऐश्वर्योंके आश्रय आपकी चेष्टाएँ अलौकिक हों इसमें तो कहना ही क्या है?॥ ३६॥

निष्किंचनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किंचिद्
यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः।
न त्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः
प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम्॥ ३७

आपने अपनेको अकिंचन बतलाया है; परन्तु आपकी अकिंचनता दरिद्रता नहीं है। उसका अर्थ यह है कि आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण आप ही सब कुछ हैं। आपके पास रखनेके लिये कुछ नहीं है। परन्तु जिन ब्रह्मा आदि देवताओंकी पूजा सब लोग करते हैं, भेंट देते हैं, वे ही लोग आपकी पूजा करते रहते हैं। आप उनके प्यारे हैं और वे आपके प्यारे हैं। (आपका यह कहना भी सर्वथा उचित है कि धनाढ्य लोग मेरा भजन नहीं करते;) जो लोग अपनी धनाढ्यताके अभिमानसे अंधे हो रहे हैं और इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे हैं, वे न तो आपका भजन-सेवन ही करते और न तो यह जानते हैं कि आप मृत्युके रूपमें उनके सिरपर सवार हैं॥ ३७॥

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम्।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥ ३८

जगत्में जीवके लिये जितने भी वाञ्छनीय पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—उन सबके रूपमें आप ही प्रकट हैं। आप समस्त वृत्तियों—प्रवृत्तियों, साधनों, सिद्धियों और साध्योंके फलस्वरूप हैं। विचारशील पुरुष आपको प्राप्त करनेके लिये सब कुछ छोड़ देते हैं। भगवन्! उन्हीं विवेकी पुरुषोंका आपके साथ सम्बन्ध होना चाहिये। जो लोग स्त्री-पुरुषके सहवाससे प्राप्त होनेवाले सुख या दुःखके वशीभूत हैं, वे कदापि आपका सम्बन्ध प्राप्त करनेके योग्य नहीं हैं॥ ३८॥

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव
आत्माऽऽत्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि।
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग-
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये॥ ३९

यह ठीक है कि भिक्षुकोंने आपकी प्रशंसा की है। परन्तु किन भिक्षुकोंने? उन परमशान्त संन्यासी महात्माओंने आपकी महिमा और प्रभावका वर्णन किया है, जिन्होंने अपराधी-से-अपराधी व्यक्तिको भी दण्ड न देनेका निश्चय कर लिया है। मैंने अदूरदर्शितासे नहीं, इस बातको समझते हुए आपको वरण किया है कि आप सारे जगत्के आत्मा हैं और अपने प्रेमियोंको आत्मदान करते हैं। मैंने जान-बूझकर उन ब्रह्मा और देवराज इन्द्र आदिका भी इसलिये परित्याग कर दिया है कि आपकी भौंहोंके इशारेसे पैदा होनेवाला काल अपने वेगसे उनकी आशा-अभिलाषाओंपर पानी फेर देता है। फिर दूसरोंकी—शिशुपाल, दन्तवक्त्र या जरासन्धकी तो बात ही क्या है?॥ ३९॥

जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान्
विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागं
तेभ्यो भयाद् यदुदधिं शरणं प्रपन्नः॥ ४०

सर्वेश्वर आर्यपुत्र! आपकी यह बात किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं मालूम होती कि आप राजाओंसे भयभीत होकर समुद्रमें आ बसे हैं। क्योंकि आपने केवल अपने शार्ङ्गधनुषके टंकारसे मेरे विवाहके समय आये हुए समस्त राजाओंको भगाकर अपने चरणोंमें समर्पित मुझ दासीको उसी प्रकार हरण कर लिया, जैसे सिंह अपनी कर्कश ध्वनिसे वन-पशुओंको भगाकर अपना भाग ले आवे॥ ४०॥ कमलनयन! आप कैसे कहते हैं कि जो मेरा अनुसरण करता है, उसे प्रायः कष्ट ही उठाना पड़ता है। प्राचीन कालके अंग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि जो बड़े-बड़े राजराजेश्वर अपना-अपना एकछत्र साम्राज्य छोड़कर आपको पानेकी अभिलाषासे तपस्या करने वनमें चले गये थे, वे आपके मार्गका अनुसरण करनेके कारण क्या किसी प्रकारका कष्ट उठा रहे हैं॥ ४१॥

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-
जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम्।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्॥ ४१

कान्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध-
माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम्।
लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य
मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः॥ ४२

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीश-
मात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम्।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिररणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या
यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः॥ ४३

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः
स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायाद्
युष्मत्कथा मृडविरिंचसभासु गीता॥ ४४

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
र्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥ ४५

आप कहते हैं कि तुम और किसी राजकुमारका वरण कर लो। भगवन्! आप समस्त गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं। बड़े-बड़े संत आपके चरणकमलोंकी सुगन्धका बखान करते रहते हैं। उसका आश्रय लेनेमात्रसे लोग संसारके पाप-तापसे मुक्त हो जाते हैं। लक्ष्मी सर्वदा उन्हींमें निवास करती हैं। फिर आप बतलाइये कि अपने स्वार्थ और परमार्थको भलीभाँति समझनेवाली ऐसी कौन-सी स्त्री है, जिसे एक बार उन चरणकमलोंकी सुगन्ध सूँघनेको मिल जाय और फिर वह उनका तिरस्कार करके ऐसे लोगोंको वरण करे जो सदा मृत्यु, रोग, जन्म, जरा आदि भयोंसे युक्त हैं! कोई भी बुद्धिमती स्त्री ऐसा नहीं कर सकती॥ ४२॥ प्रभो! आप सारे जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। आप ही इस लोक और परलोकमें समस्त आशाओंको पूर्ण करनेवाले एवं आत्मा हैं। मैंने आपको अपने अनुरूप समझकर ही वरण किया है। मुझे अपने कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें भटकना पड़े, इसकी मुझको परवा नहीं है। मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि मैं सदा अपना भजन करनेवालोंका मिथ्या संसारभ्रम निवृत्त करनेवाले तथा उन्हें अपना स्वरूपतक दे डालनेवाले आप परमेश्वरके चरणोंकी शरणमें रहूँ॥ ४३॥ अच्युत! शत्रुसूदन! गधोंके समान घरका बोझा ढोनेवाले, बैलोंके समान गृहस्थीके व्यापारोंमें जुते रहकर कष्ट उठानेवाले, कुत्तोंके समान तिरस्कार सहनेवाले, बिलावके समान कृपण और हिंसक तथा क्रीत दासोंके समान स्त्रीकी सेवा करनेवाले शिशुपाल आदि राजालोग, जिन्हें वरण करनेके लिये आपने मुझे संकेत किया है—उसी अभागिनी स्त्रीके पति हों, जिनके कानोंमें भगवान् शंकर, ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंकी सभामें गायी जानेवाली आपकी लीलाकथाने प्रवेश नहीं किया है॥ ४४॥ यह मनुष्यका शरीर जीवित होनेपर भी मुर्दा ही है। ऊपरसे चमड़ी, दाढ़ी-मूँछ, रोएँ, नख और केशोंसे ढका हुआ है; परन्तु इसके भीतर मांस, हड्डी, खून, कीड़े, मल-मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे पड़े हैं। इसे वही मूढ़ स्त्री अपना प्रियतम पति समझकर सेवन करती है, जिसे कभी आपके चरणारविन्दके मकरन्दकी सुगन्ध सूँघनेको नहीं मिली है॥ ४५॥

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो
मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा॥ ४६

कमलनयन! आप आत्माराम हैं। मैं सुन्दरी अथवा गुणवती हूँ, इन बातोंपर आपकी दृष्टि नहीं जाती। अतः आपका उदासीन रहना स्वाभाविक है, फिर भी आपके चरणकमलोंमें मेरा सुदृढ़ अनुराग हो, यही मेरी अभिलाषा है। जब आप इस संसारकी अभिवृद्धिके लिये उत्कट रजोगुण स्वीकार करके मेरी ओर देखते हैं, तब वह भी आपका परम अनुग्रह ही है॥ ४६॥

नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन।
अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद् रतिः क्वचित्॥ ४७

मधुसूदन! आपने कहा कि किसी अनुरूप वरको वरण कर लो। मैं आपकी इस बातको भी झूठ नहीं मानती। क्योंकि कभी-कभी एक पुरुषके द्वारा जीती जानेपर भी काशी-नरेशकी कन्या अम्बाके समान किसी-किसीकी दूसरे पुरुषमें भी प्रीति रहती है॥ ४७॥

व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्।
बुधोऽसतीं न बिभृयात् तां बिभ्रदुभयच्युतः॥ ४८

कुलटा स्त्रीका मन तो विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंकी ओर खिंचता रहता है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ऐसी कुलटा स्त्रीको अपने पास न रखे। उसे अपनानेवाला पुरुष लोक और परलोक दोनों खो बैठता है, उभयभ्रष्ट हो जाता है॥ ४८॥

श्रीभगवानुवाच

साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता।
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत् सत्यमेव हि॥ ४९

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—साध्वी! राजकुमारी! यही बातें सुननेके लिये तो मैंने तुमसे हँसी-हँसीमें तुम्हारी वंचना की थी, तुम्हें छकाया था। तुमने मेरे वचनोंकी जैसी व्याख्या की है, वह अक्षरशः सत्य है॥ ४९॥

यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय भामिनि।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा॥ ५०

सुन्दरी! तुम मेरी अनन्य प्रेयसी हो। मेरे प्रति तुम्हारा अनन्य प्रेम है। तुम मुझसे जो-जो अभिलाषाएँ करती हो, वे तो तुम्हें सदा-सर्वदा प्राप्त ही हैं। और यह बात भी है कि मुझसे की हुई अभिलाषाएँ सांसारिक कामनाओंके समान बन्धनमें डालनेवाली नहीं होतीं, बल्कि वे समस्त कामनाओंसे मुक्त कर देती हैं॥ ५०॥

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता॥ ५१

पुण्यमयी प्रिये! मैंने तुम्हारा पतिप्रेम और पातिव्रत्य भी भलीभाँति देख लिया। मैंने उलटी-सीधी बात कह-कहकर तुम्हें विचलित करना चाहा था; परन्तु तुम्हारी बुद्धि मुझसे तनिक भी इधर-उधर न हुई॥ ५१॥

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया॥ ५२

प्रिये! मैं मोक्षका स्वामी हूँ। लोगोंको संसार-सागरसे पार करता हूँ। जो सकाम पुरुष अनेक प्रकारके व्रत और तपस्या करके दाम्पत्य-जीवनके विषय-सुखकी अभिलाषासे मेरा भजन करते हैं, वे मेरी मायासे मोहित हैं॥ ५२॥

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं
वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां
मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसंगमः॥ ५३

मानिनी प्रिये! मैं मोक्ष तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंका आश्रय हूँ, अधीश्वर हूँ। मुझ परमात्माको प्राप्त करके भी जो लोग केवल विषयसुखके साधन सम्पत्तिकी ही अभिलाषा करते हैं, मेरी पराभक्ति नहीं चाहते, वे बड़े मन्दभागी हैं, क्योंकि विषयसुख तो नरकमें और नरकके ही समान सूकर-कूकर आदि योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु उन लोगोंका मन तो विषयोंमें ही लगा रहता है, इसलिये उन्हें नरकमें जाना भी अच्छा जान पड़ता है॥ ५३॥

दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया
कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः।
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो
ह्यसुम्भराया निकृतिंजुषः स्त्रियाः॥ ५४

गृहेश्वरी प्राणप्रिये! यह बड़े आनन्दकी बात है कि तुमने अबतक निरन्तर संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाली मेरी सेवा की है। दुष्ट पुरुष ऐसा कभी नहीं कर सकते। जिन स्त्रियोंका चित्त दूषित कामनाओंसे भरा हुआ है और जो अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगी रहनेके कारण अनेकों प्रकारके छल-छन्द रचती रहती हैं, उनके लिये तो ऐसा करना और भी कठिन है॥ ५४॥

न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु
पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।
प्राप्तान् नृपानवगणय्य रहोहरो मे
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य॥ ५५

मानिनि! मुझे अपने घरभरमें तुम्हारे समान प्रेम करनेवाली भार्या और कोई दिखायी नहीं देती। क्योंकि जिस समय तुमने मुझे देखा न था, केवल मेरी प्रशंसा सुनी थी, उस समय भी अपने विवाहमें आये हुए राजाओंकी उपेक्षा करके ब्राह्मणके द्वारा मेरे पास गुप्त सन्देश भेजा था॥ ५५॥

भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य
प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम्।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते॥ ५६

तुम्हारा हरण करते समय मैंने तुम्हारे भाईको युद्धमें जीतकर उसे विरूप कर दिया था और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें चौसर खेलते समय बलरामजीने तो उसे मार ही डाला। किन्तु हमसे वियोग हो जानेकी आशंकासे तुमने चुपचाप वह सारा दुःख सह लिया। मुझसे एक बात भी नहीं कही। तुम्हारे इस गुणसे मैं तुम्हारे वश हो गया हूँ॥ ५६॥

दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमंगमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः॥ ५७

तुमने मेरी प्राप्तिके लिये दूतके द्वारा अपना गुप्त सन्देश भेजा था; परन्तु जब तुमने मेरे पहुँचनेमें कुछ विलम्ब होता देखा; तब तुम्हें यह सारा संसार सूना दीखने लगा। उस समय तुमने अपना यह सर्वांगसुन्दर शरीर किसी दूसरेके योग्य न समझकर इसे छोड़नेका संकल्प कर लिया था। तुम्हारा यह प्रेमभाव तुम्हारे ही अंदर रहे। हम इसका बदला नहीं चुका सकते। तुम्हारे इस सर्वोच्च प्रेम-भावका केवल अभिनन्दन करते हैं॥ ५७॥

श्रीशुक उवाच

एवं सौरतसंलापैर्भगवान् जगदीश्वरः।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन्॥ ५८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। वे जब मनुष्योंकी-सी लीला कर रहे हैं, तब उसमें दाम्पत्य-प्रेमको बढ़ानेवाले विनोदभरे वार्तालाप भी करते हैं और इस प्रकार लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीजीके साथ विहार करते हैं॥ ५८॥

तथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव।
आस्थितो गृहमेधीयान् धर्मांल्लोकगुरुर्हरिः॥ ५९

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत्को शिक्षा देनेवाले और सर्वव्यापक हैं। वे इसी प्रकार दूसरी पत्नियोंके महलोंमें भी गृहस्थोंके समान रहते और गृहस्थोचित धर्मका पालन करते थे॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
कृष्णरुक्मिणीसंवादो नाम षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

अथैकषष्टितमोऽध्यायः

भगवान्की सन्ततिका वर्णन तथा अनिरुद्धके विवाहमें रुक्मीका मारा जाना

श्रीशुक उवाच

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः।
अजीजनन्ननवमान्पितुः सर्वात्मसम्पदा॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णकी प्रत्येक पत्नीके गर्भसे दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए। वे रूप, बल आदि गुणोंमें अपने पिता भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम न थे॥ १॥

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम्।
प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः॥ २

राजकुमारियाँ देखतीं कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे महलसे कभी बाहर नहीं जाते। सदा हमारे ही पास बने रहते हैं। इससे वे यही समझतीं कि श्रीकृष्णको मैं ही सबसे प्यारी हूँ। परीक्षित्! सच पूछो तो वे अपने पति भगवान् श्रीकृष्णका तत्त्व—उनकी महिमा नहीं समझती थीं॥ २॥

चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्र-
सप्रेमहासरसवीक्षितवल्गुजल्पैः।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं
स्वैर्विभ्रमैः समशकन् वनिता विभूम्नः॥ ३

वे सुन्दरियाँ अपने आत्मानन्दमें एकरस स्थित भगवान् श्रीकृष्णके कमल-कलीके समान सुन्दर मुख, विशाल बाहु, कर्णस्पर्शी नेत्र, प्रेमभरी मुसकान, रसमयी चितवन और मधुर वाणीसे स्वयं ही मोहित रहती थीं। वे अपने शृंगारसम्बन्धी हावभावोंसे उनके मनको अपनी ओर खींचनेमें समर्थ न हो सकीं॥ ३॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनंगबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः॥ ४

वे सोलह हजारसे अधिक थीं। अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछी चितवनसे युक्त मनोहर भौंहोंके इशारेसे ऐसे प्रेमके बाण चलाती थीं, जो काम-कलाके भावोंसे परिपूर्ण होते थे, परन्तु किसी भी प्रकारसे, किन्हीं साधनोंके द्वारा वे भगवान्के मन एवं इन्द्रियोंमें चंचलता नहीं उत्पन्न कर सकीं॥ ४॥

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसंगमलालसाद्यम् ॥ ५

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यै-
र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्॥ ६

तासां[1] या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते॥ ७

चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान्।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च[2] भद्रचारुस्तथापरः॥ ८

चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः॥ ९

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः ॥ १०

श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश।
साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित्॥ ११

विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान् द्रविडः क्रतुः।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसंमताः[3]॥ १२

वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च[4] चित्रगुर्वेगवान् वृषः।
आमः शंकुर्वसुः श्रीमान् कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः॥ १३

श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः॥ १४

परीक्षित्! ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको या उनकी प्राप्तिके मार्गको नहीं जानते। उन्हीं रमारमण भगवान् श्रीकृष्णको उन स्त्रियोंने पतिके रूपमें प्राप्त किया था। अब नित्य-निरन्तर उनके प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि होती रहती थी और वे प्रेमभरी मुसकराहट, मधुर चितवन, नवसमागमकी लालसा आदिसे भगवान्‌की सेवा करती रहती थीं॥ ५॥ उनमेंसे सभी पत्नियोंके साथ सेवा करनेके लिये सैकड़ों दासियाँ रहतीं। फिर भी जब उनके महलमें भगवान् पधारते तब वे स्वयं आगे जाकर आदरपूर्वक उन्हें लिवा लातीं, श्रेष्ठ आसनपर बैठातीं, उत्तम सामग्रियोंसे उनकी पूजा करतीं, चरणकमल पखारतीं, पान लगाकर खिलातीं, पाँव दबाकर थकावट दूर करतीं, पंखा झलतीं, इत्र-फुलेल, चन्दन आदि लगातीं, फूलोंके हार पहनातीं, केश सँवारतीं, सुलातीं, स्नान करातीं और अनेक प्रकारके भोजन कराकर अपने हाथों भगवान्‌की सेवा करतीं॥ ६॥

परीक्षित्! मैं कह चुका हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णकी प्रत्येक पत्नीके दस-दस पुत्र थे। उन रानियोंमें आठ पटरानियाँ थीं, जिनके विवाहका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। अब उनके प्रद्युम्न आदि पुत्रोंका वर्णन करता हूँ॥ ७॥ रुक्मिणीके गर्भसे दस पुत्र हुए—प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, पराक्रमी चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और दसवाँ चारु। ये अपने पिता भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम न थे॥ ८-९॥ सत्यभामाके भी दस पुत्र थे—भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु। जाम्बवतीके भी साम्ब आदि दस पुत्र थे—साम्ब, सुमित्र, पुरुजित्, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविड और क्रतु। ये सब श्रीकृष्णको बहुत प्यारे थे॥ १०—१२॥ नाग्नजिती सत्याके भी दस पुत्र हुए—वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शंकु, वसु और परम तेजस्वी कुन्ति॥ १३॥ कालिन्दीके दस पुत्र ये थे—श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सबसे छोटा सोमक॥ १४॥

१. आसां। २. दीप्तिश्च। ३. पितृवत्सला। ४. चारुचन्द्रोऽग्रसेनश्च।

प्रघोषो गात्रवान्सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः।
माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सहओजोऽपराजितः॥ १५

वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च।
महाशः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः॥ १६

संग्रामजिद् बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित्।
जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः॥ १७

दीप्तिमांस्ताम्रतप्ताद्या[1] रोहिण्यास्तनया हरेः।
प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद्रुक्मवत्यां महाबलः॥ १८

पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन् नाम्ना भोजकटे पुरे।
एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप।
मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश॥ १९

राजोवाच

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद् दुहितरं युधि।
कृष्णेन परिभूतस्तं[2] हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते।
एतदाख्याहि मे विद्वन् द्विषोर्वैवाहिकं मिथः॥ २०

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः॥ २१

श्रीशुक उवाच

वृतः[3] स्वयंवरे साक्षादनंगोऽङ्गयुतस्तया।
राज्ञः समेतान् निर्जित्य जहारैकरथो युधि॥ २२

मद्रदेशकी राजकुमारी लक्ष्मणाके गर्भसे प्रघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज और अपराजितका जन्म हुआ॥ १५॥ मित्रविन्दाके पुत्र थे—वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धन, अन्नाद, महाश, पावन, वह्नि और क्षुधि॥ १६॥ भद्राके पुत्र थे—संग्रामजित्, बृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम, आयु और सत्यक॥ १७॥ इन पटरानियोंके अतिरिक्त भगवान्‌की रोहिणी आदि सोलह हजार एक सौ और भी पत्नियाँ थीं। उनके दीप्तिमान् और ताम्रतप्त आदि दस-दस पुत्र हुए। रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नका मायावती रतिके अतिरिक्त भोजकट-नगर-निवासी रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीसे भी विवाह हुआ था। उसीके गर्भसे परम बलशाली अनिरुद्धका जन्म हुआ। परीक्षित्! श्रीकृष्णके पुत्रोंकी माताएँ ही सोलह हजारसे अधिक थीं। इसलिये उनके पुत्र-पौत्रोंकी संख्या करोड़ोंतक पहुँच गयी॥ १८-१९॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—परम ज्ञानी मुनीश्वर! भगवान् श्रीकृष्णने रणभूमिमें रुक्मीका बड़ा तिरस्कार किया था। इसलिये वह सदा इस बातकी घातमें रहता था कि अवसर मिलते ही श्रीकृष्णसे उसका बदला लूँ और उनका काम तमाम कर डालूँ। ऐसी स्थितिमें उसने अपनी कन्या रुक्मवती अपने शत्रुके पुत्र प्रद्युम्नजीको कैसे ब्याह दी? कृपा करके बतलाइये! दो शत्रुओंमें—श्रीकृष्ण और रुक्मीमें फिरसे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध कैसे हुआ?॥ २०॥ आपसे कोई बात छिपी नहीं है। क्योंकि योगीजन भूत, भविष्य और वर्तमानकी सभी बातें भलीभाँति जानते हैं। उनसे ऐसी बातें भी छिपी नहीं रहतीं; जो इन्द्रियोंसे परे हैं, बहुत दूर हैं अथवा बीचमें किसी वस्तुकी आड़ होनेके कारण नहीं दीखतीं॥ २१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! प्रद्युम्नजी मूर्तिमान् कामदेव थे। उनके सौन्दर्य और गुणोंपर रीझकर रुक्मवतीने स्वयंवरमें उन्हींको वरमाला पहना दी। प्रद्युम्नजीने युद्धमें अकेले ही वहाँ इकट्ठे हुए नरपतियोंको जीत लिया और रुक्मवतीको हर लाये॥ २२॥

१. पत्राद्याः। २. तोऽसौ। ३. प्राचीन प्रतिमें 'वृतः स्वयंवरे.........रथो युधि' यह श्लोक 'यद्यप्यनुस्मरन्...' इस तेईसवें श्लोकके बाद है।

यद्यप्यनुस्मरन् वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः।
व्यतरद् भागिनेयाय सुतां कुर्वन् स्वसुः प्रियम्॥ २३

रुक्मिण्यास्तनयां राजन् कृतवर्मसुतो बली।
उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल॥ २४

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः।
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
जानन्नधर्मं तद् यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः॥ २५

तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ।
पुरं भोजकटं जग्मुः साम्बप्रद्युम्नकादयः॥ २६

तस्मिन् निवृत्त उद्वाहे कालिंगप्रमुखा नृपाः।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय॥ २७

अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत्।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत॥ २८

शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम्।
तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिंगः प्राहसद् बलम्।
दन्तान् सन्दर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्धलायुधः॥ २९

ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद् बलः।
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः॥ ३०

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णसे अपमानित होनेके कारण रुक्मीके हृदयकी क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई थी, वह अब भी उनसे वैर गाँठे हुए था, फिर भी अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपने भानजे प्रद्युम्नको अपनी बेटी ब्याह दी॥ २३॥ परीक्षित्! दस पुत्रोंके अतिरिक्त रुक्मिणीजीके एक परम सुन्दरी बड़े-बड़े नेत्रोंवाली कन्या थी। उसका नाम था चारुमती। कृतवर्माके पुत्र बलीने उसके साथ विवाह किया॥ २४॥

परीक्षित्! रुक्मीका भगवान् श्रीकृष्णके साथ पुराना वैर था। फिर भी अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपनी पौत्री रोचनाका विवाह रुक्मिणीके पौत्र, अपने नाती (दौहित्र) अनिरुद्धके साथ कर दिया। यद्यपि रुक्मीको इस बातका पता था कि इस प्रकारका विवाह-सम्बन्ध धर्मके अनुकूल नहीं है, फिर भी स्नेह-बन्धनमें बँधकर उसने ऐसा कर दिया॥ २५॥ परीक्षित्! अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी, रुक्मिणीजी, प्रद्युम्न, साम्ब आदि द्वारकावासी भोजकट नगरमें पधारे॥ २६॥ जब विवाहोत्सव निर्विघ्न समाप्त हो गया, तब कलिंगनरेश आदि घमंडी नरपतियोंने रुक्मीसे कहा कि 'तुम बलरामजीको पासोंके खेलमें जीत लो॥ २७॥ राजन्! बलरामजीको पासे डालने तो आते नहीं, परन्तु उन्हें खेलनेका बहुत बड़ा व्यसन है।' उन लोगोंके बहकानेसे रुक्मीने बलरामजीको बुलवाया और वह उनके साथ चौसर खेलने लगा॥ २८॥ बलरामजीने पहले सौ, फिर हजार और इसके बाद दस हजार मुहरोंका दाँव लगाया। उन्हें रुक्मीने जीत लिया। रुक्मीकी जीत होनेपर कलिंगनरेश दाँत दिखा-दिखाकर, ठहाका मारकर बलरामजीकी हँसी उड़ाने लगा। बलरामजीसे वह हँसी सहन न हुई। वे कुछ चिढ़ गये॥ २९॥ इसके बाद रुक्मीने एक लाख मुहरोंका दाँव लगाया। उसे बलरामजीने जीत लिया। परन्तु रुक्मी धूर्ततासे यह कहने लगा कि 'मैंने जीता है'॥ ३०॥

मन्युना क्षुभितः श्रीमान् समुद्र इव पर्वणि।
जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमाददे॥ ३१

तं चापि जितवान् रामो धर्मेणच्छलमाश्रितः।
रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु प्राश्निका इति॥ ३२

तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः।
धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा॥ ३३

तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः।
संकर्षणं परिहसन् बभाषे कालचोदितः॥ ३४

नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः।
अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः॥ ३५

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः।
क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृम्णसंसदि॥ ३६

कलिंगराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे।
दन्तानपातयत् क्रुद्धो योऽहसद् विवृतैर्द्विजैः॥ ३७

अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः।
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः॥ ३८

निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत् साध्वसाधु वा।
रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभंगभयाद्धरिः॥ ३९

इसपर श्रीमान् बलरामजी क्रोधसे तिलमिला उठे। उनके हृदयमें इतना क्षोभ हुआ, मानो पूर्णिमाके दिन समुद्रमें ज्वार आ गया हो। उनके नेत्र एक तो स्वभावसे ही लाल-लाल थे, दूसरे अत्यन्त क्रोधके मारे वे और भी दहक उठे। अब उन्होंने दस करोड़ मुहरोंका दाँव रखा॥ ३१॥ इस बार भी द्यूतनियमके अनुसार बलरामजीकी ही जीत हुई। परन्तु रुक्मीने छल करके कहा—'मेरी जीत है। इस विषयके विशेषज्ञ कलिंगनरेश आदि सभासद् इसका निर्णय कर दें'॥ ३२॥

उस समय आकाशवाणीने कहा—'यदि धर्मपूर्वक कहा जाय, तो बलरामजीने ही यह दाँव जीता है। रुक्मीका यह कहना सरासर झूठ है कि उसने जीता है'॥ ३३॥ एक तो रुक्मीके सिरपर मौत सवार थी और दूसरे उसके साथी दुष्ट राजाओंने भी उसे उभाड़ रखा था। इससे उसने आकाशवाणीपर कोई ध्यान न दिया और बलरामजीकी हँसी उड़ाते हुए कहा— ॥ ३४॥ 'बलरामजी! आखिर आपलोग वन-वन भटकनेवाले ग्वाले ही तो ठहरे! आप पासा खेलना क्या जानें? पासों और बाणोंसे तो केवल राजालोग ही खेला करते हैं, आप-जैसे नहीं'॥ ३५॥ रुक्मीके इस प्रकार आक्षेप और राजाओंके उपहास करनेपर बलरामजी क्रोधसे आगबबूला हो उठे। उन्होंने एक मुद्गर उठाया और उस मांगलिक सभामें ही रुक्मीको मार डाला॥ ३६॥ पहले कलिंगनरेश दाँत दिखा-दिखाकर हँसता था, अब रंगमें भंग देखकर वहाँसे भागा; परन्तु बलरामजीने दस ही कदमपर उसे पकड़ लिया और क्रोधसे उसके दाँत तोड़ डाले॥ ३७॥ बलरामजीने अपने मुद्गरकी चोटसे दूसरे राजाओंकी भी बाँह, जाँघ और सिर आदि तोड़-फोड़ डाले। वे खूनसे लथपथ और भयभीत होकर वहाँसे भागते बने॥ ३८॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि बलरामजीका समर्थन करनेसे रुक्मिणीजी अप्रसन्न होंगी और रुक्मीके वधको बुरा बतलानेसे बलरामजी रुष्ट होंगे, अपने साले रुक्मीकी मृत्युपर भला-बुरा कुछ भी न कहा॥ ३९॥

ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं
रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम्।
रामादयो भोजकटाद् दशार्हाः
सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः॥ ४०

इसके बाद अनिरुद्धजीका विवाह और शत्रुका वध दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर भगवान्‌के आश्रित बलरामजी आदि यदुवंशी नवविवाहिता दुलहिन रोचनाके साथ अनिरुद्धजीको श्रेष्ठ रथपर चढ़ाकर भोजकट नगरसे द्वारकापुरीको चले आये॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अनिरुद्धविवाहे रुक्मिवधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः॥ ६१॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः

ऊषा-अनिरुद्ध-मिलन

राजोवाच

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः।
तत्र युद्धमभूद् घोरं हरिशंकरयोर्महत्।
एतत् सर्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि॥ १

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—महायोगसम्पन्न मुनीश्वर! मैंने सुना है कि यदुवंशशिरोमणि अनिरुद्धजीने बाणासुरकी पुत्री ऊषासे विवाह किया था और इस प्रसंगमें भगवान् श्रीकृष्ण और शंकरजीका बहुत बड़ा घमासान युद्ध हुआ था। आप कृपा करके यह वृत्तान्त विस्तारसे सुनाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः।
येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी॥ २

तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः॥ ३

शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्यमकरोत् पुरा।
तस्य शम्भोः प्रसादेन किंकरा इव तेऽमराः।
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम्॥ ४

भगवान् सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः।
वरेणच्छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम्॥ ५

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! महात्मा बलिकी कथा तो तुम सुन ही चुके हो। उन्होंने वामनरूपधारी भगवान्‌को सारी पृथ्वीका दान कर दिया था। उनके सौ लड़के थे। उनमें सबसे बड़ा था बाणासुर॥ २॥ दैत्यराज बलिका औरस पुत्र बाणासुर भगवान् शिवकी भक्तिमें सदा रत रहता था। समाजमें उसका बड़ा आदर था। उसकी उदारता और बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय थी। उसकी प्रतिज्ञा अटल होती थी और सचमुच वह बातका धनी था॥ ३॥ उन दिनों वह परम रमणीय शोणितपुरमें राज्य करता था। भगवान् शंकरकी कृपासे इन्द्रादि देवता नौकर-चाकरकी तरह उसकी सेवा करते थे। उसके हजार भुजाएँ थीं। एक दिन जब भगवान् शंकर ताण्डवनृत्य कर रहे थे, तब उसने अपने हजार हाथोंसे अनेकों प्रकारके बाजे बजाकर उन्हें प्रसन्न कर लिया॥ ४॥ सचमुच भगवान् शंकर बड़े ही भक्तवत्सल और शरणागतरक्षक हैं। समस्त भूतोंके एकमात्र स्वामी प्रभुने बाणासुरसे कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो।' बाणासुरने कहा—'भगवन्! आप मेरे नगरकी रक्षा करते हुए यहीं रहा करें'॥ ५॥

स एकदाऽऽह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः।
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम्॥ ६

नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम्।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम्॥ ७

दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत्।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम्॥ ८

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम्।
आद्यायां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः॥ ९

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा।
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते॥ १०

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप।
प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः॥ ११

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम्।
कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन सा॥ १२

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी।
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम्॥ १३

एक दिन बल-पौरुषके घमंडमें चूर बाणासुरने अपने समीप ही स्थित भगवान् शंकरके चरणकमलोंको सूर्यके समान चमकीले मुकुटसे छूकर प्रणाम किया और कहा— ॥ ६ ॥ 'देवाधिदेव! आप समस्त चराचर जगत्‌के गुरु और ईश्वर हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जिन लोगोंके मनोरथ अबतक पूरे नहीं हुए हैं, उनको पूर्ण करनेके लिये आप कल्पवृक्ष हैं॥ ७॥ भगवन्! आपने मुझे एक हजार भुजाएँ दी हैं, परन्तु वे मेरे लिये केवल भाररूप हो रही हैं। क्योंकि त्रिलोकीमें आपको छोड़कर मुझे अपनी बराबरीका कोई वीर-योद्धा ही नहीं मिलता, जो मुझसे लड़ सके॥ ८॥

आदिदेव! एक बार मेरी बाहोंमें लड़नेके लिये इतनी खुजलाहट हुई कि मैं दिग्गजोंकी ओर चला। परन्तु वे भी डरके मारे भाग खड़े हुए। उस समय मार्गमें अपनी बाहोंकी चोटसे मैंने बहुतसे पहाड़ोंको तोड़-फोड़ डाला था'॥ ९ ॥ बाणासुरकी यह प्रार्थना सुनकर भगवान् शंकरने तनिक क्रोधसे कहा—'रे मूढ़! जिस समय तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायगी, उस समय मेरे ही समान योद्धासे तेरा युद्ध होगा और वह युद्ध तेरा घमंड चूर-चूर कर देगा'॥ १० ॥ परीक्षित्! बाणासुरकी बुद्धि इतनी बिगड़ गयी थी कि भगवान् शंकरकी बात सुनकर उसे बड़ा हर्ष हुआ और वह अपने घर लौट गया। अब वह मूर्ख भगवान् शंकरके आदेशानुसार उस युद्धकी प्रतीक्षा करने लगा, जिसमें उसके बल-वीर्यका नाश होनेवाला था॥ ११ ॥

परीक्षित्! बाणासुरकी एक कन्या थी, उसका नाम था ऊषा। अभी वह कुमारी ही थी कि एक दिन स्वप्नमें उसने देखा कि 'परम सुन्दर अनिरुद्धजीके साथ मेरा समागम हो रहा है।' आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उसने अनिरुद्धजीको न तो कभी देखा था और न सुना ही था॥ १२॥ स्वप्नमें ही उन्हें न देखकर वह बोल उठी—'प्राणप्यारे! तुम कहाँ हो?' और उसकी नींद टूट गयी। वह अत्यन्त विह्वलताके साथ उठ बैठी और यह देखकर कि मैं सखियोंके बीचमें हूँ, बहुत ही लज्जित हुई॥ १३॥

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता।
सख्यपृच्छत् सखीमूषां कौतूहलसमन्विता॥ १४

परीक्षित्! बाणासुरके मन्त्रीका नाम था कुम्भाण्ड। उसकी एक कन्या थी, जिसका नाम था चित्रलेखा। ऊषा और चित्रलेखा एक-दूसरेकी सहेलियाँ थीं। चित्रलेखाने ऊषासे कौतूहलवश पूछा—॥ १४॥

कं त्वं मृगयसे सुभ्रूः कीदृशस्ते मनोरथः।
हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये॥ १५

'सुन्दरी! राजकुमारी! मैं देखती हूँ कि अभीतक किसीने तुम्हारा पाणिग्रहण भी नहीं किया है। फिर तुम किसे ढूँढ़ रही हो और तुम्हारे मनोरथका क्या स्वरूप है?'॥ १५॥

ऊषोवाच

दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः।
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयंगमः॥ १६

ऊषाने कहा—सखी! मैंने स्वप्नमें एक बहुत ही सुन्दर नवयुवकको देखा है। उसके शरीरका रंग साँवला-साँवला-सा है। नेत्र कमलदलके समान हैं। शरीरपर पीला-पीला पीताम्बर फहरा रहा है। भुजाएँ लम्बी-लम्बी हैं और वह स्त्रियोंका चित्त चुरानेवाला है॥ १६॥

तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु।
क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे॥ १७

उसने पहले तो अपने अधरोंका मधुर मधु मुझे पिलाया, परन्तु मैं उसे अघाकर पी ही न पायी थी कि वह मुझे दुःखके सागरमें डालकर न जाने कहाँ चला गया। मैं तरसती ही रह गयी। सखी! मैं अपने उसी प्राणवल्लभको ढूँढ़ रही हूँ॥ १७॥

चित्रलेखोवाच

व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते।
तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश॥ १८

चित्रलेखाने कहा—'सखी! यदि तुम्हारा चित्तचोर त्रिलोकीमें कहीं भी होगा, और उसे तुम पहचान सकोगी, तो मैं तुम्हारी विरह-व्यथा अवश्य शान्त कर दूँगी। मैं चित्र बनाती हूँ, तुम अपने चित्तचोर प्राणवल्लभको पहचानकर बतला दो। फिर वह चाहे कहीं भी होगा, मैं उसे तुम्हारे पास ले आऊँगी'॥ १८॥

इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगान्।
दैत्यविद्याधरान् यक्षान् मनुजांश्च यथालिखत्॥ १९

यों कहकर चित्रलेखाने बात-की-बातमें बहुत-से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्योंके चित्र बना दिये॥ १९॥

मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम्।
व्यलिखद् रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता॥ २०

मनुष्योंमें उसने वृष्णिवंशी वसुदेवजीके पिता शूर, स्वयं वसुदेवजी, बलरामजी और भगवान् श्रीकृष्ण आदिके चित्र बनाये। प्रद्युम्नका चित्र देखते ही ऊषा लज्जित हो गयी॥ २०॥

अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते॥ २१

परीक्षित्! जब उसने अनिरुद्धका चित्र देखा, तब तो लज्जाके मारे उसका सिर नीचा हो गया। फिर मन्द-मन्द मुसकराते हुए उसने कहा—'मेरा वह प्राणवल्लभ यही है, यही है'॥ २१॥

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी।
ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम्॥ २२

तत्र सुप्तं सुपर्यंके प्राद्युम्निं योगमास्थिता।
गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत्॥ २३

सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना।
दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम्॥ २४

परार्घ्यवासःस्त्रग्गन्धधूपदीपासनादिभिः ।
पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयार्चितः॥ २५

गूढः कन्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तया।
नाहर्गणान् स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः॥ २६

तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम्।
हेतुभिर्लक्षयांचक्रुराप्रीतां दुरवच्छदैः॥ २७

भटा आवेदयांचक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम्।
विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम्॥ २८

परीक्षित्! चित्रलेखा योगिनी थी। वह जान गयी कि ये भगवान् श्रीकृष्णके पौत्र हैं। अब वह आकाशमार्गसे रात्रिमें ही भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें पहुँची॥ २२॥ वहाँ अनिरुद्धजी बहुत ही सुन्दर पलँगपर सो रहे थे। चित्रलेखा योगसिद्धिके प्रभावसे उन्हें उठाकर शोणितपुर ले आयी और अपनी सखी ऊषाको उसके प्रियतमका दर्शन करा दिया॥ २३॥ अपने परम सुन्दर प्राण-वल्लभको पाकर आनन्दकी अधिकतासे उसका मुखकमल प्रफुल्लित हो उठा और वह अनिरुद्धजीके साथ अपने महलमें विहार करने लगी। परीक्षित्! उसका अन्तःपुर इतना सुरक्षित था कि उसकी ओर कोई पुरुष झाँकतक नहीं सकता था॥ २४॥ ऊषाका प्रेम दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा था। वह बहुमूल्य वस्त्र, पुष्पोंके हार, इत्र-फुलेल, धूप-दीप, आसन आदि सामग्रियोंसे, सुमधुर पेय (पीनेयोग्य पदार्थ—दूध, शरबत आदि), भोज्य (चबाकर खाने-योग्य) और भक्ष्य (निगल जानेयोग्य) पदार्थोंसे तथा मनोहर वाणी एवं सेवा-शुश्रूषासे अनिरुद्धजीका बड़ा सत्कार करती। ऊषाने अपने प्रेमसे उनके मनको अपने वशमें कर लिया। अनिरुद्धजी उस कन्याके अन्तःपुरमें छिपे रहकर अपने-आपको भूल गये। उन्हें इस बातका भी पता न चला कि मुझे यहाँ आये कितने दिन बीत गये॥ २५-२६॥

परीक्षित्! यदुकुमार अनिरुद्धजीके सहवाससे ऊषाका कुआँरपन नष्ट हो चुका था। उसके शरीरपर ऐसे चिह्न प्रकट हो गये, जो स्पष्ट इस बातकी सूचना दे रहे थे और जिन्हें किसी प्रकार छिपाया नहीं जा सकता था। ऊषा बहुत प्रसन्न भी रहने लगी। पहरेदारोंने समझ लिया कि इसका किसी-न-किसी पुरुषसे सम्बन्ध अवश्य हो गया है। उन्होंने जाकर बाणासुरसे निवेदन किया—'राजन्! हमलोग आपकी अविवाहिता राजकुमारीका जैसा रंग-ढंग देख रहे हैं, वह आपके कुलपर बट्टा लगानेवाला है॥ २७-२८॥

अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो।
कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्षाया न विद्महे॥ २९

प्रभो! इसमें सन्देह नहीं कि हमलोग बिना क्रम टूटे, रात-दिन महलका पहरा देते रहते हैं। आपकी कन्याको बाहरके मनुष्य देख भी नहीं सकते। फिर भी वह कलंकित कैसे हो गयी? इसका कारण हमारी समझमें नहीं आ रहा है'॥ २९॥

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः।
त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद् यदूद्वहम्॥ ३०

परीक्षित्! पहरेदारोंसे यह समाचार जानकर कि कन्याका चरित्र दूषित हो गया है, बाणासुरके हृदयमें बड़ी पीड़ा हुई। वह झटपट ऊषाके महलमें जा धमका और देखा कि अनिरुद्धजी वहाँ बैठे हुए हैं॥ ३०॥

कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं
श्यामं पिशंगाम्बरमम्बुजेक्षणम्।
बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा
स्मितावलोकेन च मण्डिताननम्॥ ३१

प्रिय परीक्षित्! अनिरुद्धजी स्वयं कामावतार प्रद्युम्नजीके पुत्र थे। त्रिभुवनमें उनके जैसा सुन्दर और कोई न था। साँवरा-सलोना शरीर और उसपर पीताम्बर फहराता हुआ, कमलदलके समान बड़ी-बड़ी कोमल आँखें, लम्बी-लम्बी भुजाएँ, कपोलोंपर घुँघराली अलकें और कुण्डलोंकी झिलमिलाती हुई ज्योति, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान और प्रेमभरी चितवनसे मुखकी शोभा अनूठी हो रही थी॥ ३१॥

दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया
तदंगसंगस्तनकुंकुमस्रजम्।
बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां
तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः॥ ३२

अनिरुद्धजी उस समय अपनी सब ओरसे सज-धजकर बैठी हुई प्रियतमा ऊषाके साथ पासे खेल रहे थे। उनके गलेमें बसंती बेलाके बहुत सुन्दर पुष्पोंका हार सुशोभित हो रहा था और उस हारमें ऊषाके अंगका सम्पर्क होनेसे उसके वक्ष:स्थलकी केशर लगी हुई थी। उन्हें ऊषाके सामने ही बैठा देखकर बाणासुर विस्मित—चकित हो गया॥ ३२॥

स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभि-
र्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो
यथान्तको दण्डधरो जिघांसया॥ ३३

जब अनिरुद्धजीने देखा कि बाणासुर बहुत-से आक्रमणकारी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित वीर सैनिकोंके साथ महलोंमें घुस आया है, तब वे उन्हें धराशायी कर देनेके लिये लोहेका एक भयंकर परिघ लेकर डट गये, मानो स्वयं कालदण्ड लेकर मृत्यु (यम) खड़ा हो॥ ३३॥

जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः
शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत्।
ते हन्यमाना भवनाद् विनिर्गता
निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः॥ ३४

बाणासुरके साथ आये हुए सैनिक उनको पकड़नेके लिये ज्यों-ज्यों उनकी ओर झपटते, त्यों-त्यों वे उन्हें मार-मारकर गिराते जाते—ठीक वैसे ही, जैसे सूअरोंके दलका नायक कुत्तोंको मार डाले! अनिरुद्धजीकी चोटसे उन सैनिकोंके सिर, भुजा, जंघा आदि अंग टूट-फूट गये और वे महलोंसे निकल भागे॥ ३४॥

तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली
घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह।
ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला
बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत्॥ ३५

जब बली बाणासुरने देखा कि यह तो मेरी सारी सेनाका संहार कर रहा है, तब वह क्रोधसे तिलमिला उठा और उसने नागपाशसे उन्हें बाँध लिया। ऊषाने जब सुना कि उसके प्रियतमको बाँध लिया गया है, तब वह अत्यन्त शोक और विषादसे विह्वल हो गयी; उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहने लगी, वह रोने लगी॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे-ऽनिरुद्धबन्धो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः॥ ६२॥

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके साथ बाणासुरका युद्ध

श्रीशुक उवाच

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत।
चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम्॥ १

नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च।
प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः॥ २

प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः।
नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः॥ ३

अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतोदिशम्।
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात् सात्वतर्षभाः॥ ४

भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालगोपुरम्।
प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ॥ ५

बाणार्थे भगवान् रुद्रः ससुतैः प्रमथैर्वृतः।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः॥ ६

आसीत् सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम्।
कृष्णशंकरयो राजन् प्रद्युम्नगुहयोरपि॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! बरसातके चार महीने बीत गये। परन्तु अनिरुद्धजीका कहीं पता न चला। उनके घरके लोग, इस घटनासे बहुत ही शोकाकुल हो रहे थे॥ १॥ एक दिन नारदजीने आकर अनिरुद्धका शोणितपुर जाना, वहाँ बाणासुरके सैनिकोंको हराना और फिर नागपाशमें बाँधा जाना—यह सारा समाचार सुनाया। तब श्रीकृष्णको ही अपना आराध्यदेव माननेवाले यदुवंशियोंने शोणितपुरपर चढ़ाई कर दी॥ २॥ अब श्रीकृष्ण और बलरामजीके साथ उनके अनुयायी सभी यदुवंशी—प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द और भद्र आदिने बारह अक्षौहिणी सेनाके साथ व्यूह बनाकर चारों ओरसे बाणासुरकी राजधानीको घेर लिया॥ ३-४॥ जब बाणासुरने देखा कि यदुवंशियोंकी सेना नगरके उद्यान, परकोटों, बुर्जों और सिंहद्वारोंको तोड़-फोड़ रही है, तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह भी बारह अक्षौहिणी सेना लेकर नगरसे निकल पड़ा॥ ५॥ बाणासुरकी ओरसे साक्षात् भगवान् शंकर वृषभराज नन्दीपर सवार होकर अपने पुत्र कार्तिकेय और गणोंके साथ रणभूमिमें पधारे और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीसे युद्ध किया॥ ६॥ परीक्षित्! वह युद्ध इतना अद्भुत और घमासान हुआ कि उसे देखकर रोंगटे खड़े हो जाते थे। भगवान् श्रीकृष्णसे शंकरजीका और प्रद्युम्नसे स्वामिकार्तिकका युद्ध हुआ॥ ७॥

कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः।
साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः॥ ८

ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन्॥ ९

शंकरानुचराञ्छौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान्।
डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान् सविनायकान्॥ १०

प्रेतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान्।
द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः॥ ११

पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे।
प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः॥ १२

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम्।
आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च॥ १३

मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम्।
बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः॥ १४

स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः।
असृग् विमुंचन् गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद् रणात्॥ १५

कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुसलार्दितौ।
दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः॥ १६

विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः।
कृष्णमभ्यद्रवत् संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम्॥ १७

बलरामजीसे कुम्भाण्ड और कूपकर्णका युद्ध हुआ। बाणासुरके पुत्रके साथ साम्ब और स्वयं बाणासुरके साथ सात्यकि भिड़ गये॥ ८॥ ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता, ऋषि-मुनि, सिद्ध-चारण, गन्धर्व-अप्सराएँ और यक्ष विमानोंपर चढ़-चढ़कर युद्ध देखनेके लिये आ पहुँचे॥ ९॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने शार्ङ्गधनुषके तीखी नोकवाले बाणोंसे शंकरजीके अनुचरों—भूत, प्रेत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, वेताल, विनायक, प्रेतगण, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्म-राक्षसोंको मार-मारकर खदेड़ दिया॥ १०-११॥ पिनाकपाणि शंकरजीने भगवान् श्रीकृष्णपर भाँति-भाँतिके अगणित अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग किया, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने बिना किसी प्रकारके विस्मयके उन्हें विरोधी शस्त्रास्त्रोंसे शान्त कर दिया॥ १२॥ भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मास्त्रकी शान्तिके लिये ब्रह्मास्त्रका, वायव्यास्त्रके लिये पार्वतास्त्रका, आग्नेयास्त्रके लिये पर्जन्यास्त्रका और पाशुपतास्त्रके लिये नारायणास्त्रका प्रयोग किया॥ १३॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने जृम्भणास्त्रसे (जिससे मनुष्यको जँभाई-पर-जँभाई आने लगती है) महादेवजीको मोहित कर दिया। वे युद्धसे विरत होकर जँभाई लेने लगे, तब भगवान् श्रीकृष्ण शंकरजीसे छुट्टी पाकर तलवार, गदा और बाणोंसे बाणासुरकी सेनाका संहार करने लगे॥ १४॥ इधर प्रद्युम्नने बाणोंकी बौछारसे स्वामिकार्तिकको घायल कर दिया, उनके अंग-अंगसे रक्तकी धारा बह चली, वे रणभूमि छोड़कर अपने वाहन मयूरद्वारा भाग निकले॥ १५॥ बलरामजीने अपने मूसलकी चोटसे कुम्भाण्ड और कूपकर्णको घायल कर दिया, वे रणभूमिमें गिर पड़े। इस प्रकार अपने सेनापतियोंको हताहत देखकर बाणासुरकी सारी सेना तितर-बितर हो गयी॥ १६॥

जब रथपर सवार बाणासुरने देखा कि श्रीकृष्ण आदिके प्रहारसे हमारी सेना तितर-बितर और तहस-नहस हो रही है, तब उसे बड़ा क्रोध आया। उसने चिढ़कर सात्यकिको छोड़ दिया और वह भगवान् श्रीकृष्णपर आक्रमण करनेके लिये दौड़ पड़ा॥ १७॥

धनूंष्याकृष्य युगपद् बाणः पंचशतानि वै।
एकैकस्मिञ्छरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्मदः॥ १८

तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद्धरिः।
सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शंखमपूरयत्॥ १९

तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया॥ २०

ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः।
बाणश्च तावद् विरथश्छिन्नधन्वाविशत् पुरम्॥ २१

विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात्।
अभ्यधावत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश॥ २२

अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम्।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ॥ २३

माहेश्वरः समाक्रन्दन् वैष्णवेन बलार्दितः।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयतांजलिः॥ २४

ज्वर उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं
सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम्।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं
यत्तद् ब्रह्म ब्रह्मलिंगं प्रशान्तम्॥ २५

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः।
तत्संघातो बीजरोहप्रवाह-
स्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये॥ २६

परीक्षित्! रणोन्मत्त बाणासुरने अपने एक हजार हाथोंसे एक साथ ही पाँच सौ धनुष खींचकर एक-एकपर दो-दो बाण चढ़ाये॥ १८॥ परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने एक साथ ही उसके सारे धनुष काट डाले और सारथि, रथ तथा घोड़ोंको भी धराशायी कर दिया एवं शंखध्वनि की॥ १९॥ कोटरा नामकी एक देवी बाणासुरकी धर्ममाता थी। वह अपने उपासक पुत्रके प्राणोंकी रक्षाके लिये बाल बिखेरकर नंग-धड़ंग भगवान् श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयी॥ २०॥ भगवान् श्रीकृष्णने इसलिये कि कहीं उसपर दृष्टि न पड़ जाय, अपना मुँह फेर लिया और वे दूसरी ओर देखने लगे। तबतक बाणासुर धनुष कट जाने और रथहीन हो जानेके कारण अपने नगरमें चला गया॥ २१॥ इधर जब भगवान् शंकरके भूतगण इधर-उधर भाग गये, तब उनका छोड़ा हुआ तीन सिर और तीन पैरवाला ज्वर दसों दिशाओंको जलाता हुआ-सा भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा॥ २२॥ भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपनी ओर आते देखकर उसका मुकाबला करनेके लिये अपना ज्वर छोड़ा। अब वैष्णव और माहेश्वर दोनों ज्वर आपसमें लड़ने लगे॥ २३॥ अन्तमें वैष्णव ज्वरके तेजसे माहेश्वर ज्वर पीड़ित होकर चिल्लाने लगा और अत्यन्त भयभीत हो गया। जब उसे अन्यत्र कहीं त्राण न मिला, तब वह अत्यन्त नम्रतासे हाथ जोड़कर शरणमें लेनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करने लगा॥ २४॥

ज्वरने कहा—प्रभो! आपकी शक्ति अनन्त है। आप ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी परम महेश्वर हैं। आप सबके आत्मा और सर्वस्वरूप हैं। आप अद्वितीय और केवल ज्ञानस्वरूप हैं। संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारण आप ही हैं। श्रुतियोंके द्वारा आपका ही वर्णन और अनुमान किया जाता है। आप समस्त विकारोंसे रहित स्वयं ब्रह्म हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ २५॥ काल, दैव (अदृष्ट), कर्म, जीव, स्वभाव, सूक्ष्मभूत, शरीर, सूत्रात्मा प्राण, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ और पंचभूत—इन सबका संघात लिंगशरीर और बीजांकुर-न्यायके अनुसार उससे कर्म और कर्मसे फिर लिंग-शरीरकी उत्पत्ति—यह सब आपकी माया है। आप मायाके निषेधकी परम

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नै-
र्देवान् साधूँल्लोकसेतून् बिभर्षि।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान्
जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः॥ २७

तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन
शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं
नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः॥ २८

श्रीभगवानुवाच

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि व्येतु ते मज्ज्वराद् भयम्।
यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद् भयम्॥ २९

इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः।
बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यंजनार्दनम्॥ ३०

ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः।
मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप॥ ३१

तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना।
चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः॥ ३२

बाहुषुच्छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः।
भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत॥ ३३

श्रीरुद्र उवाच

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्॥ ३४

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो
द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः॥ ३५

अवधि हैं। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ २६॥ प्रभो! आप अपनी लीलासे ही अनेकों रूप धारण कर लेते हैं और देवता, साधु तथा लोकमर्यादाओंका पालन-पोषण करते हैं। साथ ही उन्मार्गगामी और हिंसक असुरोंका संहार भी करते हैं। आपका यह अवतार पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही हुआ है॥ २७॥ प्रभो! आपके शान्त, उग्र और अत्यन्त भयानक दुस्सह तेज ज्वरसे मैं अत्यन्त सन्तप्त हो रहा हूँ। भगवन्! देहधारी जीवोंको तभीतक ताप-सन्ताप रहता है, जबतक वे आशाके फंदोंमें फँसे रहनेके कारण आपके चरण-कमलोंकी शरण नहीं ग्रहण करते॥ २८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'त्रिशिरा! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। अब तुम मेरे ज्वरसे निर्भय हो जाओ। संसारमें जो कोई हम दोनोंके संवादका स्मरण करेगा, उसे तुमसे कोई भय न रहेगा'॥ २९॥ भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार कहनेपर माहेश्वर ज्वर उन्हें प्रणाम करके चला गया। तबतक बाणासुर रथपर सवार होकर भगवान् श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये फिर आ पहुँचा॥ ३०॥ परीक्षित्! बाणासुरने अपने हजार हाथोंमें तरह-तरहके हथियार ले रखे थे। अब वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर चक्रपाणि भगवान्पर बाणोंकी वर्षा करने लगा॥ ३१॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि बाणासुरने तो बाणोंकी झड़ी लगा दी है, तब वे छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे उसकी भुजाएँ काटने लगे, मानो कोई किसी वृक्षकी छोटी-छोटी डालियाँ काट रहा हो॥ ३२॥ जब भक्तवत्सल भगवान् शंकरने देखा कि बाणासुरकी भुजाएँ कट रही हैं, तब वे चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णके पास आये और स्तुति करने लगे॥ ३३॥

भगवान् शंकरने कहा—प्रभो! आप वेदमन्त्रोंमें तात्पर्यरूपसे छिपे हुए परमज्योतिः-स्वरूप परब्रह्म हैं। शुद्धहृदय महात्मागण आपके आकाशके समान सर्वव्यापक और निर्विकार (निर्लेप) स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं॥ ३४॥ आकाश आपकी नाभि है, अग्नि मुख है और जल वीर्य। स्वर्ग सिर, दिशाएँ कान और पृथ्वी चरण है। चन्द्रमा मन, सूर्य नेत्र और मैं शिव आपका अहंकार हूँ। समुद्र आपका पेट है और इन्द्र भुजा॥ ३५॥

रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः
केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः
स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः॥ ३६

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्
धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता
विभावयामो भुवनानि सप्त॥ ३७

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीय-
स्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं
स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै॥ ३८

यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया
छायां च रूपाणि च संचकास्ति।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्व-
मात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन्॥ ३९

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे॥ ४०

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवंचकः॥ ४१

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम्।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन्॥ ४२

धान्यादि ओषधियाँ रोम हैं, मेघ केश हैं और ब्रह्मा बुद्धि। प्रजापति लिंग हैं और धर्म हृदय। इस प्रकार समस्त लोक और लोकान्तरोंके साथ जिसके शरीरकी तुलना की जाती है, वे परमपुरुष आप ही हैं॥ ३६॥ अखण्ड ज्योतिःस्वरूप परमात्मन्! आपका यह अवतार धर्मकी रक्षा और संसारके अभ्युदय—अभिवृद्धिके लिये हुआ है। हम सब भी आपके प्रभावसे ही प्रभावान्वित होकर सातों भुवनोंका पालन करते हैं॥ ३७॥ आप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित हैं—एक और अद्वितीय आदिपुरुष हैं। मायाकृत जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंमें अनुगत और उनसे अतीत तुरीयतत्त्व भी आप ही हैं। आप किसी दूसरी वस्तुके द्वारा प्रकाशित नहीं होते, स्वयंप्रकाश हैं। आप सबके कारण हैं, परन्तु आपका न तो कोई कारण है और न तो आपमें कारणपना ही है। भगवन्! ऐसा होनेपर भी आप तीनों गुणोंकी विभिन्न विषमताओंको प्रकाशित करनेके लिये अपनी मायासे देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि शरीरोंके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं॥ ३८॥ प्रभो! जैसे सूर्य अपनी छाया बादलोंसे ही ढक जाता है और उन बादलों तथा विभिन्न रूपोंको प्रकाशित करता है उसी प्रकार आप तो स्वयंप्रकाश हैं, परन्तु गुणोंके द्वारा मानो ढक-से जाते हैं और समस्त गुणों तथा गुणाभिमानी जीवोंको प्रकाशित करते हैं। वास्तवमें आप अनन्त हैं॥ ३९॥

भगवन्! आपकी मायासे मोहित होकर लोग स्त्री-पुत्र, देह-गेह आदिमें आसक्त हो जाते हैं और फिर दुःखके अपार सागरमें डूबने-उतराने लगते हैं॥ ४०॥ संसारके मानवोंको यह मनुष्य-शरीर आपने अत्यन्त कृपा करके दिया है। जो पुरुष इसे पाकर भी अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं करता और आपके चरणकमलोंका आश्रय नहीं लेता—उनका सेवन नहीं करता, उसका जीवन अत्यन्त शोचनीय है और वह स्वयं अपने-आपको धोखा दे रहा है॥ ४१॥ प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा, प्रियतम और ईश्वर हैं। जो मृत्युका ग्रास मनुष्य आपको छोड़ देता है और अनात्म, दुःखरूप एवं तुच्छ विषयोंमें सुखबुद्धि करके उनके पीछे भटकता है, वह इतना मूर्ख है कि अमृतको

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम्॥ ४३

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं
समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम्।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं
भवापवर्गाय भजाम देवम्॥ ४४

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती
मयाभयं दत्तममुष्य देव।
सम्पाद्यतां तद् भवतः प्रसादो
यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः॥ ४५

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवंस्त्वन्नः करवाम प्रियं तव।
भवतो यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम्॥ ४६

अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः॥ ४७

दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया।
सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः॥ ४८

चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः।
पार्षदमुख्यो भवतो नकुतश्चिद्भयोऽसुरः॥ ४९

इति लब्ध्वाभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसासुरः।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत्॥ ५०

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलंकृतम्।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः॥ ५१

छोड़कर विष पी रहा है॥ ४२॥ मैं, ब्रह्मा, सारे देवता और विशुद्ध हृदयवाले ऋषि-मुनि सब प्रकारसे और सर्वात्मभावसे आपके शरणागत हैं; क्योंकि आप ही हमलोगोंके आत्मा, प्रियतम और ईश्वर हैं॥ ४३॥ आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं। आप सबमें सम, परम शान्त, सबके सुहृद्, आत्मा और इष्टदेव हैं। आप एक, अद्वितीय और जगत्के आधार तथा अधिष्ठान हैं। हे प्रभो! हम सब संसारसे मुक्त होनेके लिये आपका भजन करते हैं॥ ४४॥

देव! यह बाणासुर मेरा परमप्रिय, कृपापात्र और सेवक है। मैंने इसे अभयदान दिया है। प्रभो! जिस प्रकार इसके परदादा दैत्यराज प्रह्लादपर आपका कृपाप्रसाद है, वैसा ही कृपाप्रसाद आप इसपर भी करें॥ ४५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भगवन्! आपकी बात मानकर—जैसा आप चाहते हैं, मैं इसे निर्भय किये देता हूँ। आपने पहले इसके सम्बन्धमें जैसा निश्चय किया था—मैंने इसकी भुजाएँ काटकर उसीका अनुमोदन किया है॥ ४६॥ मैं जानता हूँ कि बाणासुर दैत्यराज बलिका पुत्र है। इसलिये मैं भी इसका वध नहीं कर सकता; क्योंकि मैंने प्रह्लादको वर दे दिया है कि मैं तुम्हारे वंशमें पैदा होनेवाले किसी भी दैत्यका वध नहीं करूँगा॥ ४७॥ इसका घमंड चूर करनेके लिये ही मैंने इसकी भुजाएँ काट दी हैं। इसकी बहुत बड़ी सेना पृथ्वीके लिये भार हो रही थी, इसीलिये मैंने उसका संहार कर दिया है॥ ४८॥ अब इसकी चार भुजाएँ बच रही हैं। ये अजर, अमर बनी रहेंगी। यह बाणासुर आपके पार्षदोंमें मुख्य होगा। अब इसको किसीसे किसी प्रकारका भय नहीं है॥ ४९॥

श्रीकृष्णसे इस प्रकार अभयदान प्राप्त करके बाणासुरने उनके पास आकर धरतीमें माथा टेका, प्रणाम किया और अनिरुद्धजीको अपनी पुत्री ऊषाके साथ रथपर बैठाकर भगवान्के पास ले आया॥ ५०॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने महादेवजीकी सम्मतिसे वस्त्रालंकारविभूषित ऊषा और अनिरुद्धजीको एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आगे करके द्वारकाके लिये प्रस्थान किया॥ ५१॥

स्वराजधानीं समलंकृतां ध्वजैः
सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम् ।
विवेश शंखानकदुन्दुभिस्वनै-
रभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥ ५२

इधर द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण आदिके शुभागमनका समाचार सुनकर झंडियों और तोरणोंसे नगरका कोना-कोना सजा दिया गया। बड़ी-बड़ी सड़कों और चौराहोंको चन्दन-मिश्रित जलसे सींच दिया गया। नगरके नागरिकों, बन्धु-बान्धवों और ब्राह्मणोंने आगे आकर खूब धूमधामसे भगवान्का स्वागत किया। उस समय शंख, नगारों और ढोलोंकी तुमुल ध्वनि हो रही थी। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपनी राजधानीमें प्रवेश किया॥ ५२ ॥

य एवं कृष्णविजयं शंकरेण च संयुगम्।
संस्मरेत् प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात् पराजयः ॥ ५३

परीक्षित्! जो पुरुष श्रीशंकरजीके साथ भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध और उनकी विजयकी कथाका प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, उसकी पराजय नहीं होती॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[१] उत्तरार्धे ऽनिरुद्धानयनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः

नृग राजाकी कथा

श्रीशुक उवाच

एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः।
विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु और गद आदि यदुवंशी राजकुमार घूमनेके लिये उपवनमें गये॥ १ ॥

क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम्॥ २

वहाँ बहुत देरतक खेल खेलते हुए उन्हें प्यास लग आयी। अब वे इधर-उधर जलकी खोज करने लगे। वे एक कूएँके पास गये; उसमें जल तो था नहीं, एक बड़ा विचित्र जीव दीख पड़ा॥ २॥

कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः॥ ३

वह जीव पर्वतके समान आकारका एक गिरगिट था। उसे देखकर उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। उनका हृदय करुणासे भर आया और वे उसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगे॥ ३॥

चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः।
नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः॥ ४

परन्तु जब वे राजकुमार उस गिरे हुए गिरगिटको चमड़े और सूतकी रस्सियोंसे बाँधकर बाहर न निकाल सके, तब कुतूहलवश उन्होंने यह आश्चर्यमय वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्णके पास जाकर निवेदन किया॥ ४॥

१. न्धे बाणासुरसंग्रामे कृष्णविजयः। २. णोपपन्नः।

तत्रागत्यारविन्दाक्षो भगवान् विश्वभावनः।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया॥ ५

स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो
विहाय सद्यः कृकलासरूपम्।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः
स्वर्ग्यद्भुतालंकरणाम्बरस्त्रक्॥ ६

पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं
जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो
देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम्॥ ७

दशामिमां वा कतमेन कर्मणा
सम्प्रापितोऽस्यतदर्हः सुभद्र।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो
यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम्॥ ८

श्रीशुक उवाच

इति स्म राजा सम्पृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा॥ ९

नृग उवाच

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहंमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो।[1]
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम्॥ १०

किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया॥ ११

जगत्‌के जीवनदाता कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण उस कूएँपर आये। उसे देखकर उन्होंने बायें हाथसे खेल-खेलमें—अनायास ही उसको बाहर निकाल लिया॥ ५॥ भगवान् श्रीकृष्णके करकमलोंका स्पर्श होते ही उसका गिरगिट-रूप जाता रहा और वह एक स्वर्गीय देवताके रूपमें परिणत हो गया। अब उसके शरीरका रंग तपाये हुए सोनेके समान चमक रहा था। और उसके शरीरपर अद्‌भुत वस्त्र, आभूषण और पुष्पोंके हार शोभा पा रहे थे॥ ६॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण जानते थे कि इस दिव्य पुरुषको गिरगिट-योनि क्यों मिली थी, फिर भी वह कारण सर्वसाधारणको मालूम हो जाय, इसलिये उन्होंने उस दिव्य पुरुषसे पूछा—'महाभाग! तुम्हारा रूप तो बहुत ही सुन्दर है। तुम हो कौन? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि तुम अवश्य ही कोई श्रेष्ठ देवता हो॥ ७॥ कल्याणमूर्ते! किस कर्मके फलसे तुम्हें इस योनिमें आना पड़ा था? वास्तवमें तुम इसके योग्य नहीं हो। हमलोग तुम्हारा वृत्तान्त जानना चाहते हैं। यदि तुम हमलोगोंको वह बतलाना उचित समझो तो अपना परिचय अवश्य दो'॥ ८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब अनन्तमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णने राजा नृगसे [क्योंकि वे ही इस रूपमें प्रकट हुए थे] इस प्रकार पूछा, तब उन्होंने अपना सूर्यके समान जाज्वल्यमान मुकुट झुकाकर भगवान्‌को प्रणाम किया और वे इस प्रकार कहने लगे॥ ९॥

राजा नृगने कहा—प्रभो! मैं महाराज इक्ष्वाकुका पुत्र राजा नृग हूँ। जब कभी किसीने आपके सामने दानियोंकी गिनती की होगी, तब उसमें मेरा नाम भी अवश्य ही आपके कानोंमें पड़ा होगा॥ १०॥ प्रभो! आप समस्त प्राणियोंकी एक-एक वृत्तिके साक्षी हैं। भूत और भविष्यका व्यवधान भी आपके अखण्ड ज्ञानमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाल सकता। अतः आपसे छिपा ही क्या है? फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये कहता हूँ॥ ११॥

१. ऽहं मानवे वरुणात्मजः।

यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां स्म गाः॥ १२

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप-
गुणोपपन्नाः कपिला हेमशृंगीः।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा
दुकूलमालाभरणा ददावहम्॥ १३

स्वलंकृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः
सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः
प्रादां युवभ्यो द्विजपुंगवेभ्यः॥ १४

गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः
कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथा-
निष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम्॥ १५

कस्यचिद् द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने।
सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये॥ १६

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम्।
ममेति प्रतिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति॥ १७

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ।
भवान् दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद् भ्रमः॥ १८

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन वै।
गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम्॥ १९

भगवन्! पृथ्वीमें जितने धूलिकण हैं, आकाशमें जितने तारे हैं और वर्षामें जितनी जलकी धाराएँ गिरती हैं, मैंने उतनी ही गौएँ दान की थीं॥ १२॥ वे सभी गौएँ दुधार, नौजवान, सीधी, सुन्दर, सुलक्षणा और कपिला थीं। उन्हें मैंने न्यायके धनसे प्राप्त किया था। सबके साथ बछड़े थे। उनके सींगोंमें सोना मढ़ दिया गया था और खुरोंमें चाँदी। उन्हें वस्त्र, हार और गहनोंसे सजा दिया जाता था। ऐसी गौएँ मैंने दी थीं॥ १३॥ भगवन्! मैं युवावस्थासे सम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मणकुमारोंको—जो सद्गुणी, शीलसम्पन्न, कष्टमें पड़े हुए कुटुम्बवाले, दम्भरहित तपस्वी, वेदपाठी, शिष्योंको विद्यादान करनेवाले तथा सच्चरित्र होते—वस्त्राभूषणसे अलंकृत करता और उन गौओंका दान करता॥ १४॥ इस प्रकार मैंने बहुत-सी गौएँ, पृथ्वी, सोना, घर, घोड़े, हाथी, दासियोंके सहित कन्याएँ, तिलोंके पर्वत, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न, गृह-सामग्री और रथ आदि दान किये। अनेकों यज्ञ किये और बहुत-से कूएँ, बावली आदि बनवाये॥ १५॥

एक दिन किसी अप्रतिग्रही (दान न लेनेवाले), तपस्वी ब्राह्मणकी एक गाय बिछुड़कर मेरी गौओंमें आ मिली। मुझे इस बातका बिलकुल पता न चला। इसलिये मैंने अनजानमें उसे किसी दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया॥ १६॥ जब उस गायको वे ब्राह्मण ले चले, तब उस गायके असली स्वामीने कहा—'यह गौ मेरी है।' दान ले जानेवाले ब्राह्मणने कहा—'यह तो मेरी है, क्योंकि राजा नृगने मुझे इसका दान किया है'॥ १७॥ वे दोनों ब्राह्मण आपसमें झगड़ते हुए अपनी-अपनी बात कायम करनेके लिये मेरे पास आये। एकने कहा—'यह गाय अभी-अभी आपने मुझे दी है' और दूसरेने कहा कि 'यदि ऐसी बात है तो तुमने मेरी गाय चुरा ली है।' भगवन्! उन दोनों ब्राह्मणोंकी बात सुनकर मेरा चित्त भ्रमित हो गया॥ १८॥ मैंने धर्मसंकटमें पड़कर उन दोनोंसे बड़ी अनुनय-विनय की और कहा कि 'मैं बदलेमें एक लाख उत्तम गौएँ दूँगा। आपलोग मुझे यह गाय दे दीजिये॥ १९॥

भवन्तावनुगृह्णीतां किंकरस्याविजानतः।
समुद्धरत मां कृच्छ्रात् पतन्तं निरयेऽशुचौ॥ २०

नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत्।
नान्यद् गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ॥ २१

एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम्।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते॥ २२

पूर्वं त्वमशुभं भुंक्षे उताहो नृपते शुभम्।
नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः॥ २३

पूर्वं देवाशुभं भुंज इति प्राह पतेति सः।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन् प्रभो॥ २४

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः॥ २५

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः॥ २६

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय॥ २७

मैं आपलोगोंका सेवक हूँ। मुझसे अनजानमें यह अपराध बन गया है। मुझपर आपलोग कृपा कीजिये और मुझे इस घोर कष्टसे तथा घोर नरकमें गिरनेसे बचा लीजिये'॥ २०॥ 'राजन्! मैं इसके बदलेमें कुछ नहीं लूँगा।' यह कहकर गायका स्वामी चला गया। 'तुम इसके बदलेमें एक लाख ही नहीं, दस हजार गौएँ और दो तो भी मैं लेनेका नहीं।' इस प्रकार कहकर दूसरा ब्राह्मण भी चला गया॥ २१॥ देवाधिदेव जगदीश्वर! इसके बाद आयु समाप्त होनेपर यमराजके दूत आये और मुझे यमपुरी ले गये। वहाँ यमराजने मुझसे पूछा—॥ २२॥ 'राजन्! तुम पहले अपने पापका फल भोगना चाहते हो या पुण्यका? तुम्हारे दान और धर्मके फलस्वरूप तुम्हें ऐसा तेजस्वी लोक प्राप्त होनेवाला है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है'॥ २३॥ भगवन्! तब मैंने यमराजसे कहा—'देव! पहले मैं अपने पापका फल भोगना चाहता हूँ।' और उसी क्षण यमराजने कहा—'तुम गिर जाओ।' उनके ऐसा कहते ही मैं वहाँसे गिरा और गिरते ही समय मैंने देखा कि मैं गिरगिट हो गया हूँ॥ २४॥ प्रभो! मैं ब्राह्मणोंका सेवक, उदार, दानी और आपका भक्त था। मुझे इस बातकी उत्कट अभिलाषा थी कि किसी प्रकार आपके दर्शन हो जायँ। इस प्रकार आपकी कृपासे मेरे पूर्वजन्मोंकी स्मृति नष्ट न हुई॥ २५॥ भगवन्! आप परमात्मा हैं। बड़े-बड़े शुद्ध-हृदय योगीश्वर उपनिषदोंकी दृष्टिसे (अभेददृष्टिसे) अपने हृदयमें आपका ध्यान करते रहते हैं। इन्द्रियातीत परमात्मन्! साक्षात् आप मेरे नेत्रोंके सामने कैसे आ गये! क्योंकि मैं तो अनेक प्रकारके व्यसनों, दुःखद कर्मोंमें फँसकर अंधा हो रहा था। आपका दर्शन तो तब होता है, जब संसारके चक्करसे छुटकारा मिलनेका समय आता है॥ २६॥ देवताओंके भी आराध्यदेव! पुरुषोत्तम गोविन्द! आप ही व्यक्त और अव्यक्त जगत् तथा जीवोंके स्वामी हैं। अविनाशी अच्युत! आपकी कीर्ति पवित्र है। अन्तर्यामी नारायण! आप ही समस्त वृत्तियों और इन्द्रियोंके स्वामी हैं॥ २७॥

अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम्॥ २८

प्रभो! श्रीकृष्ण! मैं अब देवताओंके लोकमें जा रहा हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिये। आप ऐसी कृपा कीजिये कि मैं चाहे कहीं भी क्यों न रहूँ, मेरा चित्त सदा आपके चरणकमलोंमें ही लगा रहे॥ २८॥

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः॥ २९

आप समस्त कार्यों और कारणोंके रूपमें विद्यमान हैं। आपकी शक्ति अनन्त है और आप स्वयं ब्रह्म हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वान्तर्यामी वासुदेव श्रीकृष्ण! आप समस्त योगोंके स्वामी, योगेश्वर हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ २९॥

इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना।
अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत् पश्यतां नृणाम्॥ ३०

राजा नृगने इस प्रकार कहकर भगवान्‌की परिक्रमा की और अपने मुकुटसे उनके चरणोंका स्पर्श करके प्रणाम किया। फिर उनसे आज्ञा लेकर सबके देखते-देखते ही वे श्रेष्ठ विमानपर सवार हो गये॥ ३०॥

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान् देवकीसुतः।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन्॥ ३१

राजा नृगके चले जानेपर ब्राह्मणोंके परम प्रेमी, धर्मके आधार देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने क्षत्रियोंको शिक्षा देनेके लिये वहाँ उपस्थित अपने कुटुम्बके लोगोंसे कहा—॥ ३१॥

दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम्॥ ३२

'जो लोग अग्निके समान तेजस्वी हैं, वे भी ब्राह्मणोंका थोड़े-से-थोड़ा धन हड़पकर नहीं पचा सकते। फिर जो अभिमानवश झूठ-मूठ अपनेको लोगोंका स्वामी समझते हैं, वे राजा तो क्या पचा सकते हैं?॥ ३२॥

नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि॥ ३३

मैं हलाहल विषको विष नहीं मानता, क्योंकि उसकी चिकित्सा होती है। वस्तुतः ब्राह्मणोंका धन ही परम विष है; उसको पचा लेनेके लिये पृथ्वीमें कोई औषध, कोई उपाय नहीं है॥ ३३॥

हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः॥ ३४

हलाहल विष केवल खानेवालेका ही प्राण लेता है और आग भी जलके द्वारा बुझायी जा सकती है; परन्तु ब्राह्मणके धनरूप अरणिसे जो आग पैदा होती है, वह सारे कुलको समूल जला डालती है॥ ३४॥

ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम्।
प्रसह्य तु बलाद् भुक्तं दश पूर्वान् दशापरान्॥ ३५

ब्राह्मणका धन यदि उसकी पूरी-पूरी सम्मति लिये बिना भोगा जाय तब तो वह भोगनेवाले, उसके लड़के और पौत्र—इन तीन पीढ़ियोंको ही चौपट करता है। परन्तु यदि बलपूर्वक हठ करके उसका उपभोग किया जाय, तब तो पूर्वपुरुषोंकी दस पीढ़ियाँ और आगेकी भी दस पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं॥ ३५॥

राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते।
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः॥ ३६

गृह्णन्ति यावतः पांसून् क्रन्दतामश्रुबिन्दवः।
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम्॥ ३७

राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरंकुशाः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः॥ ३८

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥ ३९

न मे ब्रह्मधनं भूयाद् यद् गृद्ध्वाल्पायुषो नराः[1]।
पराजिताश्च्युता राज्याद् भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः[2]॥ ४०

विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥ ४१

यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक्॥ ४२

ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव॥ ४३

एवं विश्राव्य भगवान् मुकुन्दो द्वारकौकसः[3]।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम्॥ ४४

जो मूर्ख राजा अपनी राजलक्ष्मीके घमंडसे अंधे होकर ब्राह्मणोंका धन हड़पना चाहते हैं, समझना चाहिये कि वे जान-बूझकर नरकमें जानेका रास्ता साफ कर रहे हैं। वे देखते नहीं कि उन्हें अधःपतनके कैसे गहरे गड्ढेमें गिरना पड़ेगा॥ ३६॥ जिन उदारहृदय और बहु-कुटुम्बी ब्राह्मणोंकी वृत्ति छीन ली जाती है, उनके रोनेपर उनके आँसूकी बूँदोंसे धरतीके जितने धूलिकण भीगते हैं, उतने वर्षोंतक ब्राह्मणके स्वत्वको छीननेवाले उस उच्छृंखल राजा और उसके वंशजोंको कुम्भीपाक नरकमें दुःख भोगना पड़ता है॥ ३७-३८॥ जो मनुष्य अपनी या दूसरोंकी दी हुई ब्राह्मणोंकी वृत्ति, उनकी जीविकाके साधन छीन लेते हैं, वे साठ हजार वर्षतक विष्ठाके कीड़े होते हैं॥ ३९॥ इसलिये मैं तो यही चाहता हूँ कि ब्राह्मणोंका धन कभी भूलसे भी मेरे कोषमें न आये, क्योंकि जो लोग ब्राह्मणोंके धनकी इच्छा भी करते हैं—उसे छीननेकी बात तो अलग रही—वे इस जन्ममें अल्पायु, शत्रुओंसे पराजित और राज्यभ्रष्ट हो जाते हैं और मृत्युके बाद भी वे दूसरोंको कष्ट देनेवाले साँप ही होते हैं॥ ४०॥ इसलिये मेरे आत्मीयो! यदि ब्राह्मण अपराध करे, तो भी उससे द्वेष मत करो। वह मार ही क्यों न बैठे या बहुत-सी गालियाँ या शाप ही क्यों न दे, उसे तुमलोग सदा नमस्कार ही करो॥ ४१॥ जिस प्रकार मैं बड़ी सावधानीसे तीनों समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ, वैसे ही तुमलोग भी किया करो। जो मेरी इस आज्ञाका उल्लंघन करेगा, उसे मैं क्षमा नहीं करूँगा, दण्ड दूँगा॥ ४२॥ यदि ब्राह्मणके धनका अपहरण हो जाय तो वह अपहृत धन उस अपहरण करनेवालेको—अनजानमें उसके द्वारा यह अपराध हुआ हो तो भी—अधःपतनके गड्ढेमें डाल देता है। जैसे ब्राह्मणकी गायने अनजानमें उसे लेनेवाले राजा नृगको नरकमें डाल दिया था॥ ४३॥ परीक्षित्! समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकावासियोंको इस प्रकार उपदेश देकर अपने महलमें चले गये॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
नृगोपाख्यानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥ ६४॥

---

१. नृपाः। २. हि ये। ३. द्वारकाप्रजाः।

अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

श्रीबलरामजीका व्रजगमन

श्रीशुक उवाच

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ १

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः॥ २

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः।
इत्यारोप्यांकमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः॥ ३

गोपवृद्धांश्च विधिवद् यविष्ठैरभिवन्दितः।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः॥ ४

समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः॥ ५

पृष्टाश्चानामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः॥ ६

कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते।
कच्चित् स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः॥ ७

दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः।
निहत्य निर्जित्य रिपून् दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् बलरामजीके मनमें व्रजके नन्दबाबा आदि स्वजन सम्बन्धियोंसे मिलनेकी बड़ी इच्छा और उत्कण्ठा थी। अब वे रथपर सवार होकर द्वारकासे नन्दबाबाके व्रजमें आये॥ १॥ इधर उनके लिये व्रजवासी गोप और गोपियाँ भी बहुत दिनोंसे उत्कण्ठित थीं। उन्हें अपने बीचमें पाकर सबने बड़े प्रेमसे गले लगाया। बलरामजीने माता यशोदा और नन्दबाबाको प्रणाम किया। उन लोगोंने भी आशीर्वाद देकर उनका अभिनन्दन किया॥ २॥ यह कहकर कि 'बलरामजी! तुम जगदीश्वर हो, अपने छोटे भाई श्रीकृष्णके साथ सर्वदा हमारी रक्षा करते रहो, उनको गोदमें ले लिया और अपने प्रेमाश्रुओंसे उन्हें भिगो दिया॥ ३॥ इसके बाद बड़े-बड़े गोपोंको बलरामजीने और छोटे-छोटे गोपोंने बलरामजीको नमस्कार किया। वे अपनी आयु, मेल-जोल और सम्बन्धके अनुसार सबसे मिले-जुले॥ ४॥ ग्वालबालोंके पास जाकर किसीसे हाथ मिलाया, किसीसे मीठी-मीठी बातें कीं, किसीको खूब हँस-हँसकर गले लगाया। इसके बाद जब बलरामजीकी थकावट दूर हो गयी, वे आरामसे बैठ गये, तब सब ग्वाल उनके पास आये। इन ग्वालोंने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके लिये समस्त भोग, स्वर्ग और मोक्षतक त्याग रखा था। बलरामजीने जब उनके और उनके घरवालोंके सम्बन्धमें कुशलप्रश्न किया, तब उन्होंने प्रेम-गद्गद वाणीसे उनसे प्रश्न किया॥ ५-६॥ 'बलरामजी! वसुदेवजी आदि हमारे सब भाई-बन्धु सकुशल हैं न? अब आपलोग स्त्री-पुत्र आदिके साथ रहते हैं, बाल-बच्चेदार हो गये हैं; क्या कभी आप-लोगोंको हमारी याद भी आती है?॥ ७॥ यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि पापी कंसको आपलोगोंने मार डाला और अपने सुहृद्-सम्बन्धियोंको बड़े कष्टसे बचा लिया। यह भी कम आनन्दकी बात नहीं है कि आपलोगोंने और भी बहुत-से शत्रुओंको मार डाला या जीत लिया और अब अत्यन्त सुरक्षित दुर्ग (किले) में आपलोग निवास करते हैं'॥ ८॥

गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः।
कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः॥ ९

कच्चित् स्मरति वा बन्धून् पितरं मातरं च सः।
अप्यसौ मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः॥ १०

मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो॥ ११

ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संछिन्नसौहृदः।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम्॥ १२

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो
वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर-
स्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः॥ १३

किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः॥ १४

इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम्।
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः॥ १५

परीक्षित्! भगवान् बलरामजीके दर्शनसे, उनकी प्रेमभरी चितवनसे गोपियाँ निहाल हो गयीं। उन्होंने हँसकर पूछा—'क्यों बलरामजी! नगर-नारियोंके प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण अब सकुशल तो हैं न?॥ ९॥ क्या कभी उन्हें अपने भाई-बन्धु और पिता-माताकी भी याद आती है! क्या वे अपनी माताके दर्शनके लिये एक बार भी यहाँ आ सकेंगे! क्या महाबाहु श्रीकृष्ण कभी हमलोगोंकी सेवाका भी कुछ स्मरण करते हैं॥ १०॥ आप जानते हैं कि स्वजन-सम्बन्धियोंको छोड़ना बहुत ही कठिन है। फिर भी हमने उनके लिये माँ-बाप, भाई-बन्धु, पति-पुत्र और बहिन-बेटियोंको भी छोड़ दिया। परन्तु प्रभो! वे बात-की-बातमें हमारे सौहार्द और प्रेमका बन्धन काटकर, हमसे नाता तोड़कर परदेश चले गये; हमलोगोंको बिलकुल ही छोड़ दिया। हम चाहतीं तो उन्हें रोक लेतीं; परन्तु जब वे कहते कि हम तुम्हारे ऋणी हैं—तुम्हारे उपकारका बदला कभी नहीं चुका सकते, तब ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो उनकी मीठी-मीठी बातोंपर विश्वास न कर लेती'॥ ११-१२॥ एक गोपीने कहा—'बलरामजी! हम तो गाँवकी गँवार ग्वालिनें ठहरीं, उनकी बातोंमें आ गयीं। परन्तु नगरकी स्त्रियाँ तो बड़ी चतुर होती हैं। भला, वे चंचल और कृतघ्न श्रीकृष्णकी बातोंमें क्यों फँसने लगीं; उन्हें तो वे नहीं छका पाते होंगे!' दूसरी गोपीने कहा—'नहीं सखी, श्रीकृष्ण बातें बनानेमें तो एक ही हैं। ऐसी रंग-बिरंगी मीठी-मीठी बातें गढ़ते हैं कि क्या कहना! उनकी सुन्दर मुसकराहट और प्रेमभरी चितवनसे नगर-नारियाँ भी प्रेमावेशसे व्याकुल हो जाती होंगी और वे अवश्य उनकी बातोंमें आकर अपनेको निछावर कर देती होंगी'॥ १३॥ तीसरी गोपीने कहा—'अरी गोपियो! हमलोगोंको उसकी बातसे क्या मतलब है? यदि समय ही काटना है तो कोई दूसरी बात करो। यदि उस निष्ठुरका समय हमारे बिना बीत जाता है तो हमारा भी उसीकी तरह, भले ही दुःखसे क्यों न हो, कट ही जायगा'॥ १४॥ अब गोपियोंके भाव-नेत्रोंके सामने भगवान् श्रीकृष्णकी हँसी, प्रेमभरी बातें, चारु चितवन, अनूठी चाल और प्रेमालिंगन आदि मूर्तिमान् होकर नाचने लगे। वे उन बातोंकी मधुर स्मृतिमें तन्मय होकर रोने लगीं॥ १५॥

संकर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयंगमैः।
सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः॥ १६

द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च।
रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन्॥ १७

पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः॥ १८

वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात्।
पतन्ती तद् वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत्॥ १९

तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः।
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ॥ २०

उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः।
वनेषु व्यचरत् क्षीबो मदविह्वललोचनः॥ २१

स्त्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया।
बिभ्रत् स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम्॥ २२

स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह॥ २३

पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाऽऽहुता।
नेष्ये त्वां लांगलाग्रेण शतधा कामचारिणीम्॥ २४

परीक्षित्! भगवान् बलरामजी नाना प्रकारसे अनुनयविनय करनेमें बड़े निपुण थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके हृदयस्पर्शी और लुभावने सन्देश सुना-सुनाकर गोपियोंको सान्त्वना दी॥ १६॥ और वसन्तके दो महीने—चैत्र और वैशाख वहीं बिताये। वे रात्रिके समय गोपियोंमें रहकर उनके प्रेमकी अभिवृद्धि करते। क्यों न हो, भगवान् राम ही जो ठहरे!॥ १७॥

उस समय कुमुदिनीकी सुगन्ध लेकर भीनी-भीनी वायु चलती रहती, पूर्ण चन्द्रमाकी चाँदनी छिटककर यमुनाजीके तटवर्ती उपवनको उज्ज्वल कर देती और भगवान् बलराम गोपियोंके साथ वहीं विहार करते॥ १८॥ वरुणदेवने अपनी पुत्री वारुणीदेवीको वहाँ भेज दिया था। वह एक वृक्षके खोड़रसे बह निकली। उसने अपनी सुगन्धसे सारे वनको सुगन्धित कर दिया॥ १९॥ मधुधाराकी वह सुगन्ध वायुने बलरामजीके पास पहुँचायी, मानो उसने उन्हें उपहार दिया हो! उसकी महकसे आकृष्ट होकर बलरामजी गोपियोंको लेकर वहाँ पहुँच गये और उनके साथ उसका पान किया॥ २०॥ उस समय गोपियाँ बलरामजीके चारों ओर उनके चरित्रका गान कर रही थीं, और वे मतवाले-से होकर वनमें विचर रहे थे। उनके नेत्र आनन्दमदसे विह्वल हो रहे थे॥ २१॥ गलेमें पुष्पोंका हार शोभा पा रहा था। वैजयन्तीकी माला पहने हुए आनन्दोन्मत्त हो रहे थे। उनके एक कानमें कुण्डल झलक रहा था। मुखारविन्दपर मुसकराहटकी शोभा निराली ही थी। उसपर पसीनेकी बूँदें हिमकणके समान जान पड़ती थीं॥ २२॥ सर्वशक्तिमान् बलरामजीने जलक्रीडा करनेके लिये यमुनाजीको पुकारा। परन्तु यमुनाजीने यह समझकर कि ये तो मतवाले हो रहे हैं, उनकी आज्ञाका उल्लंघन कर दिया; वे नहीं आयीं। तब बलरामजीने क्रोधपूर्वक अपने हलकी नोकसे उन्हें खींचा॥ २३॥ और कहा 'पापिनी यमुने! मेरे बुलानेपर भी तू मेरी आज्ञाका उल्लंघन करके यहाँ नहीं आ रही है, मेरा तिरस्कार कर रही है! देख, अब मैं तुझे तेरे स्वेच्छाचारका फल चखाता हूँ। अभी-अभी तुझे हलकी नोकसे सौ-सौ टुकड़े किये देता हूँ'॥ २४॥

एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम्।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप॥ २५

राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम्।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते॥ २६

परं भावं भगवतो भगवन् मामजानतीम्।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल॥ २७

ततो व्यमुंचद् यमुनां याचितो भगवान् बलः।
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट्॥ २८

कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्त्रजम्॥ २९

वसित्वा वाससी नीले मालामामुच्य कांचनीम्।
रेजे स्वलंकृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः॥ ३०

अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि॥ ३१

एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम्॥ ३२

जब बलरामजीने यमुनाजीको इस प्रकार डाँटा-फटकारा, तब वे चकित और भयभीत होकर बलरामजीके चरणोंपर गिर पड़ीं और गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगीं— ॥ २५ ॥ 'लोकाभिराम बलरामजी! महाबाहो! मैं आपका पराक्रम भूल गयी थी। जगत्पते! अब मैं जान गयी कि आपके अंशमात्र शेषजी इस सारे जगत्को धारण करते हैं॥ २६॥ भगवन्! आप परम ऐश्वर्यशाली हैं। आपके वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण ही मुझसे यह अपराध बन गया है। सर्वस्वरूप भक्तवत्सल! मैं आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी भूल-चूक क्षमा कीजिये, मुझे छोड़ दीजिये'॥ २७॥

अब यमुनाजीकी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् बलरामजीने उन्हें क्षमा कर दिया और फिर जैसे गजराज हथिनियोंके साथ क्रीडा करता है, वैसे ही वे गोपियोंके साथ जलक्रीडा करने लगे॥ २८॥ जब वे यथेष्ट जल-विहार करके यमुनाजीसे बाहर निकले, तब लक्ष्मीजीने उन्हें नीलाम्बर, बहुमूल्य आभूषण और सोनेका सुन्दर हार दिया॥ २९॥ बलरामजीने नीले वस्त्र पहन लिये और सोनेकी माला गलेमें डाल ली। वे अंगराग लगाकर, सुन्दर भूषणोंसे विभूषित होकर इस प्रकार शोभायमान हुए मानो इन्द्रका श्वेतवर्ण ऐरावत हाथी हो॥ ३०॥ परीक्षित्! यमुनाजी अब भी बलरामजीके खींचे हुए मार्गसे बहती हैं और वे ऐसी जान पड़ती हैं, मानो अनन्तशक्ति भगवान् बलरामजीका यश-गान कर रही हों॥ ३१॥ बलरामजीका चित्त व्रजवासिनी गोपियोंके माधुर्यसे इस प्रकार मुग्ध हो गया कि उन्हें समयका कुछ ध्यान ही न रहा, बहुत-सी रात्रियाँ एक रातके समान व्यतीत हो गयीं। इस प्रकार बलरामजी व्रजमें विहार करते रहे॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे बलदेवविजये यमुनाकर्षणं नाम
पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः

पौण्ड्रक और काशिराजका उद्धार

श्रीशुक उवाच

नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत्॥ १

त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम्॥ २

दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः॥ ३

दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम्।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत्॥ ४

वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज॥ ५

यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद् बिभर्षि सात्वत।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद् देहि ममाहवम्॥ ६

श्रीशुक उवाच

कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा॥ ७

उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे॥ ८

मुखं तदपिधायाज्ञ कंकगृध्रवटैर्वृतः।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम्॥ ९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् बलरामजी नन्दबाबाके व्रजमें गये हुए थे, तब पीछेसे करूष देशके अज्ञानी राजा पौण्ड्रकने भगवान् श्रीकृष्णके पास एक दूत भेजकर यह कहलाया कि 'भगवान् वासुदेव मैं हूँ'॥ १॥ मूर्खलोग उसे बहकाया करते थे कि 'आप ही भगवान् वासुदेव हैं और जगत्की रक्षाके लिये पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं।' इसका फल यह हुआ कि वह मूर्ख अपनेको ही भगवान् मान बैठा॥ २॥ जैसे बच्चे आपसमें खेलते समय किसी बालकको ही राजा मान लेते हैं और वह राजाकी तरह उनके साथ व्यवहार करने लगता है, वैसे ही मन्दमति अज्ञानी पौण्ड्रकने अचिन्त्यगति भगवान् श्रीकृष्णकी लीला और रहस्य न जानकर द्वारकामें उनके पास दूत भेज दिया॥ ३॥ पौण्ड्रकका दूत द्वारका आया और राजसभामें बैठे हुए कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको उसने अपने राजाका यह सन्देश कह सुनाया— ॥ ४॥

'एकमात्र मैं ही वासुदेव हूँ। दूसरा कोई नहीं है। प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये मैंने ही अवतार ग्रहण किया है। तुमने झूठ-मूठ अपना नाम वासुदेव रख लिया है, अब उसे छोड़ दो॥ ५॥ यदुवंशी! तुमने मूर्खतावश मेरे चिह्न धारण कर रखे हैं। उन्हें छोड़कर मेरी शरणमें आओ और यदि मेरी बात तुम्हें स्वीकार न हो, तो मुझसे युद्ध करो'॥ ६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मन्दमति पौण्ड्रककी यह बहक सुनकर उग्रसेन आदि सभासद् जोर-जोरसे हँसने लगे॥ ७॥ उन लोगोंकी हँसी समाप्त होनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने दूतसे कहा—'तुम जाकर अपने राजासे कह देना कि 'रे मूढ़! मैं अपने चक्र आदि चिह्न यों नहीं छोड़ूँगा। इन्हें मैं तुझपर छोड़ूँगा और केवल तुझपर ही नहीं, तेरे उन सब साथियोंपर भी, जिनके बहकानेसे तू इस प्रकार बहक रहा है। उस समय मूर्ख! तू अपना मुँह छिपाकर—औंधे मुँह गिरकर चील, गीध, बटेर आदि मांसभोजी पक्षियोंसे घिरकर सो जायगा और तू मेरा शरणदाता नहीं, उन कुत्तोंकी शरण होगा, जो तेरा

इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत्।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह॥ १०

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद् द्रुतम्॥ ११

तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत् पौण्ड्रकं हरिः॥ १२

शंखार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम्।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम्॥ १३

कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम्।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ १४

दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यवेषं कृत्रिममास्थितम्।
यथा नटं रंगगतं विजहास भृशं हरिः॥ १५

शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम्॥ १६

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयो-
र्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत्।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद् भृशं
यथा युगान्ते हुतभुक् पृथक् प्रजाः॥ १७

आयोधनं तद्रथवाजिकुंजर-
द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विना-
माक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम्॥ १८

मांस चींथ-चींथकर खा जायँगे'॥ ८-९॥ परीक्षित्! भगवान्‌का यह तिरस्कारपूर्ण संवाद लेकर पौण्ड्रकका दूत अपने स्वामीके पास गया और उसे कह सुनाया। इधर भगवान् श्रीकृष्णने भी रथपर सवार होकर काशीपर चढ़ाई कर दी। (क्योंकि वह करूषका राजा उन दिनों वहीं अपने मित्र काशिराजके पास रहता था)॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णके आक्रमणका समाचार पाकर महारथी पौण्ड्रक भी दो अक्षौहिणी सेनाके साथ शीघ्र ही नगरसे बाहर निकल आया॥ ११॥ काशीका राजा पौण्ड्रकका मित्र था। अतः वह भी उसकी सहायता करनेके लिये तीन अक्षौहिणी सेनाके साथ उसके पीछे-पीछे आया। परीक्षित्! अब भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकको देखा॥ १२॥ पौण्ड्रकने भी शंख, चक्र, तलवार, गदा, शार्ङ्गधनुष और श्रीवत्सचिह्न आदि धारण कर रखे थे। उसके वक्षःस्थलपर बनावटी कौस्तुभमणि और वनमाला भी लटक रही थी॥ १३॥ उसने रेशमी पीले वस्त्र पहन रखे थे और रथकी ध्वजापर गरुड़का चिह्न भी लगा रखा था। उसके सिरपर अमूल्य मुकुट था और कानोंमें मकराकृत कुण्डल जगमगा रहे थे॥ १४॥ उसका यह सारा-का-सारा वेष बनावटी था, मानो कोई अभिनेता रंगमंचपर अभिनय करनेके लिये आया हो। उसकी वेष-भूषा अपने समान देखकर भगवान् श्रीकृष्ण खिलखिलाकर हँसने लगे॥ १५॥ अब शत्रुओंने भगवान् श्रीकृष्णपर त्रिशूल, गदा, मुद्‌गर, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, तोमर, तलवार, पट्टिश और बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार किया॥ १६॥ प्रलयके समय जिस प्रकार आग सभी प्रकारके प्राणियोंको जला देती है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने भी गदा, तलवार, चक्र और बाण आदि शस्त्रास्त्रोंसे पौण्ड्रक तथा काशि-राजके हाथी, रथ, घोड़े और पैदलकी चतुरंगिणी सेनाको तहस-नहस कर दिया॥ १७॥ वह रणभूमि भगवान्‌के चक्रसे खण्ड-खण्ड हुए रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य, गधे और ऊँटोंसे पट गयी। उस समय ऐसा मालूम हो रहा था, मानो वह भूतनाथ शंकरकी भयंकर क्रीडास्थली हो। उसे देख-देखकर शूरवीरोंका उत्साह और भी बढ़ रहा था॥ १८॥

अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो भोः पौण्ड्रक यद् भवान्।
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते॥ १९

त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम्।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम्॥ २०

इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम्।
शिरोऽवृश्चद् रथांगेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः॥ २१

तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः।
न्यपातयत् काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः॥ २२

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः।
द्वारकामाविशत् सिद्धैर्गीयमानकथामृतः॥ २३

स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः।
बिभ्राणश्च हरे राजन् स्वरूपं तन्मयोऽभवत्॥ २४

शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम्।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिशियरे जनाः॥ २५

राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः।
पौराश्च हा हता राजन् नाथ नाथेति प्रारुदन्॥ २६

सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः॥ २७

इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम्।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना॥ २८

अब भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकसे कहा—'रे पौण्ड्रक! तूने दूतके द्वारा कहलाया था कि मेरे चिह्न अस्त्र-शस्त्रादि छोड़ दो। सो अब मैं उन्हें तुझपर छोड़ रहा हूँ॥ १९॥ तूने झूठ-मूठ मेरा नाम रख लिया है। अतः मूर्ख! अब मैं तुझसे उन नामोंको भी छुड़ाकर रहूँगा। रही तेरे शरणमें आनेकी बात; सो यदि मैं तुझसे युद्ध न कर सकूँगा तो तेरी शरण ग्रहण करूँगा'॥ २०॥ भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार पौण्ड्रकका तिरस्कार करके अपने तीखे बाणोंसे उसके रथको तोड़-फोड़ डाला और चक्रसे उसका सिर वैसे ही उतार लिया, जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे पहाड़की चोटियोंको उड़ा दिया था॥ २१॥ इसी प्रकार भगवान्ने अपने बाणोंसे काशिनरेशका सिर भी धड़से ऊपर उड़ाकर काशीपुरीमें गिरा दिया, जैसे वायु कमलका पुष्प गिरा देती है॥ २२॥ इस प्रकार अपने साथ डाह रखनेवाले पौण्ड्रकको और उसके सखा काशिनरेशको मारकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी राजधानी द्वारकामें लौट आये। उस समय सिद्धगण भगवान्की अमृतमयी कथाका गान कर रहे थे॥ २३॥ परीक्षित्! पौण्ड्रक भगवान्के रूपका, चाहे वह किसी भावसे हो, सदा चिन्तन करता रहता था। इससे उसके सारे बन्धन कट गये। वह भगवान्का बनावटी वेष धारण किये रहता था, इससे बार-बार उसीका स्मरण होनेके कारण वह भगवान्के सारूप्यको ही प्राप्त हुआ॥ २४॥

इधर काशीमें राजमहलके दरवाजेपर एक कुण्डल-मण्डित मुण्ड गिरा देखकर लोग तरह-तरहका सन्देह करने लगे और सोचने लगे कि 'यह क्या है, यह किसका सिर है?'॥ २५॥

जब यह मालूम हुआ कि वह तो काशिनरेशका ही सिर है, तब रानियाँ, राजकुमार, राजपरिवारके लोग तथा नागरिक रो-रोकर विलाप करने लगे—'हा नाथ! हा राजन्! हाय-हाय! हमारा तो सर्वनाश हो गया'॥ २६॥ काशिनरेशका पुत्र था सुदक्षिण। उसने अपने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करके मन-ही-मन यह निश्चय किया कि अपने पितृघातीको मारकर ही मैं पिताके ऋणसे ऊऋण हो सकूँगा। निदान वह अपने कुलपुरोहित और आचार्योंके साथ अत्यन्त एकाग्रतासे भगवान् शंकरकी आराधना करने लगा॥ २७-२८॥

प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद् भवः।
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम्॥ २९

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम्।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः॥ ३०

साधयिष्यति संकल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः।
इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् व्रती॥ ३१

ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरंगारोद्गारिलोचनः॥ ३२

दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया।
आलिहन् सृक्किणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलन्॥ ३३

पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम्।
सोऽभ्यधावद् वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः॥ ३४

तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा॥ ३५

अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः।
त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम्॥ ३६

श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम्।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम्॥ ३७

काशी नगरीमें उसकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने वर देनेको कहा। सुदक्षिणने यह अभीष्ट वर माँगा कि मुझे मेरे पितृघातीके वधका उपाय बतलाइये॥ २९॥ भगवान् शंकरने कहा—'तुम ब्राह्मणोंके साथ मिलकर यज्ञके देवता ऋत्विग्भूत दक्षिणाग्निकी अभिचारविधिसे आराधना करो। इससे वह अग्नि प्रमथगणोंके साथ प्रकट होकर यदि ब्राह्मणोंके अभक्तपर प्रयोग करोगे तो वह तुम्हारा संकल्प सिद्ध करेगा।' भगवान् शंकरकी ऐसी आज्ञा प्राप्त करके सुदक्षिणने अनुष्ठानके उपयुक्त नियम ग्रहण किये और वह भगवान् श्रीकृष्णके लिये अभिचार (मारणका पुरश्चरण) करने लगा॥ ३०-३१॥ अभिचार पूर्ण होते ही यज्ञकुण्डसे अति भीषण अग्नि मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसके केश और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए ताँबेके समान लाल-लाल थे। आँखोंसे अंगारे बरस रहे थे॥ ३२॥ उग्र दाढ़ों और टेढ़ी भृकुटियोंके कारण उसके मुखसे क्रूरता टपक रही थी। वह अपनी जीभसे मुँहके दोनों कोने चाट रहा था। शरीर नंग-धड़ंग था। हाथमें त्रिशूल लिये हुए था, जिसे वह बार-बार घुमाता जाता था और उसमेंसे अग्निकी लपटें निकल रही थीं॥ ३३॥ ताड़के पेड़के समान बड़ी-बड़ी टाँगें थीं। वह अपने वेगसे धरतीको कँपाता हुआ और ज्वालाओंसे दसों दिशाओंको दग्ध करता हुआ द्वारकाकी ओर दौड़ा और बात-की-बातमें द्वारकाके पास जा पहुँचा। उसके साथ बहुत-से भूत भी थे॥ ३४॥ उस अभिचारकी आगको बिलकुल पास आयी हुई देख द्वारकावासी वैसे ही डर गये, जैसे जंगलमें आग लगनेपर हरिन डर जाते हैं॥ ३५॥ वे लोग भयभीत होकर भगवान्‌के पास दौड़े हुए आये; भगवान् उस समय सभामें चौसर खेल रहे थे, उन लोगोंने भगवान्‌से प्रार्थना की—'तीनों लोकोंके एकमात्र स्वामी! द्वारका नगरी इस आगसे भस्म होना चाहती है। आप हमारी रक्षा कीजिये। आपके सिवा इसकी रक्षा और कोई नहीं कर सकता'॥ ३६॥ शरणागतवत्सल भगवान्‌ने देखा कि हमारे स्वजन भयभीत हो गये हैं और पुकार-पुकारकर विकलताभरे स्वरसे हमारी प्रार्थना कर रहे हैं; तब उन्होंने हँसकर कहा—'डरो मत, मैं तुमलोगोंकी रक्षा करूँगा'॥ ३७॥

सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत्॥ ३८

तत् सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं
जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम्।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी
चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत्॥ ३९

कृत्यानलः प्रतिहतः स रथांगपाणे-
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
सर्त्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः॥ ४०

चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं
वाराणसीं साट्टसभालयापणाम्।
सगोपुराट्टालककोष्ठसंकुलां
सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम्॥ ४१

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम्।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः॥ ४२

य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम्।
समाहितो वा शृणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ४३

परीक्षित्! भगवान् सबके बाहर-भीतरकी जाननेवाले हैं। वे जान गये कि यह काशीसे चली हुई माहेश्वरी कृत्या है। उन्होंने उसके प्रतीकारके लिये अपने पास ही विराजमान चक्रसुदर्शनको आज्ञा दी॥ ३८॥ भगवान् मुकुन्दका प्यारा अस्त्र सुदर्शनचक्र कोटि-कोटि सूर्योंके समान तेजस्वी और प्रलयकालीन अग्निके समान जाज्वल्यमान है। उसके तेजसे आकाश, दिशाएँ और अन्तरिक्ष चमक उठे और अब उसने उस अभिचार-अग्निको कुचल डाला॥ ३९॥ भगवान् श्रीकृष्णके अस्त्र सुदर्शनचक्रकी शक्तिसे कृत्यारूप आगका मुँह टूट-फूट गया, उसका तेज नष्ट हो गया, शक्ति कुण्ठित हो गयी और वह वहाँसे लौटकर काशी आ गयी तथा उसने ऋत्विज् आचार्योंके साथ सुदक्षिणको जलाकर भस्म कर दिया। इस प्रकार उसका अभिचार उसीके विनाशका कारण हुआ॥ ४०॥ कृत्याके पीछे-पीछे सुदर्शनचक्र भी काशी पहुँचा। काशी बड़ी विशाल नगरी थी। वह बड़ी-बड़ी अटारियों, सभाभवन, बाजार, नगरद्वार, द्वारोंके शिखर, चहारदीवारियों, खजाने, हाथी, घोड़े, रथ और अन्नोंके गोदामसे सुसज्जित थी। भगवान् श्रीकृष्णके सुदर्शनचक्रने सारी काशीको जलाकर भस्म कर दिया और फिर वह परमानन्दमयी लीला करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास लौट आया॥ ४१-४२॥

जो मनुष्य पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके इस चरित्रको एकाग्रताके साथ सुनता या सुनाता है, वह सारे पापोंसे छूट जाता है॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पौण्ड्रकादिवधो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः॥ ६६॥

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः

द्विविदका उद्धार

राजोवाच

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रभुः॥ १

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवान् बलरामजी सर्वशक्तिमान् एवं सृष्टि-प्रलयकी सीमासे परे, अनन्त हैं। उनका स्वरूप, गुण, लीला आदि मन, बुद्धि और वाणीके विषय नहीं हैं। उनकी एक-एक लीला लोकमर्यादासे विलक्षण है, अलौकिक है। उन्होंने और जो कुछ अद्‌भुत कर्म किये हों, उन्हें मैं फिर सुनना चाहता हूँ॥ १॥

श्रीशुक उवाच

नरकस्य सखा कश्चिद् द्विविदो नाम वानरः।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान्॥ २

सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम्।
पुरग्रामाकरान् घोषानदहद् वह्निमुत्सृजन्॥ ३

क्वचित् स शैलानुत्पाट्य तैर्देशान् समचूर्णयत्।
आनर्तान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः॥ ४

क्वचित् समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम्।
देशान् नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत्॥ ५

आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन्।
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः॥ ६

पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः।
निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशस्कारीव कीटकम्॥ ७

एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ॥ ८

तत्रापश्यद् यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम्।
सुदर्शनीयसर्वांगं ललनायूथमध्यगम्॥ ९

गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम्।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम्॥ १०

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! द्विविद नामका एक वानर था। वह भौमासुरका सखा, सुग्रीवका मन्त्री और मैन्दका शक्तिशाली भाई था॥ २॥ जब उसने सुना कि श्रीकृष्णने भौमासुरको मार डाला, तब वह अपने मित्रकी मित्रताके ऋणसे उऋण होनेके लिये राष्ट्र-विप्लव करनेपर उतारू हो गया। वह वानर बड़े-बड़े नगरों, गाँवों, खानों और अहीरोंकी बस्तियोंमें आग लगाकर उन्हें जलाने लगा॥ ३॥ कभी वह बड़े-बड़े पहाड़ोंको उखाड़कर उनसे प्रान्त-के-प्रान्त चकनाचूर कर देता और विशेष करके ऐसा काम वह आनर्त (काठियावाड़) देशमें ही करता था। क्योंकि उसके मित्रको मारनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उसी देशमें निवास करते थे॥ ४॥ द्विविद वानरमें दस हजार हाथियोंका बल था। कभी-कभी वह दुष्ट समुद्रमें खड़ा हो जाता और हाथोंसे इतना जल उछालता कि समुद्रतटके देश डूब जाते॥ ५॥ वह दुष्ट बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंकी सुन्दर-सुन्दर लता-वनस्पतियोंको तोड़-मरोड़कर चौपट कर देता और उनके यज्ञसम्बन्धी अग्नि-कुण्डोंमें मलमूत्र डालकर अग्नियोंको दूषित कर देता॥ ६॥ जैसे भृंगी नामका कीड़ा दूसरे कीड़ोंको ले जाकर अपने बिलमें बंद कर देता है, वैसे ही वह मदोन्मत्त वानर स्त्रियों और पुरुषोंको ले जाकर पहाड़ोंकी घाटियों तथा गुफाओंमें डाल देता। फिर बाहरसे बड़ी-बड़ी चट्टानें रखकर उनका मुँह बंद कर देता॥ ७॥ इस प्रकार वह देशवासियोंका तो तिरस्कार करता ही, कुलीन स्त्रियोंको भी दूषित कर देता था। एक दिन वह दुष्ट सुललित संगीत सुनकर रैवतक पर्वतपर गया॥ ८॥

वहाँ उसने देखा कि यदुवंशशिरोमणि बलरामजी सुन्दर-सुन्दर युवतियोंके झुंडमें विराजमान हैं। उनका एक-एक अंग अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय है और वक्षःस्थलपर कमलोंकी माला लटक रही है॥ ९॥

वे मधुपान करके मधुर संगीत गा रहे थे और उनके नेत्र आनन्दोन्मादसे विह्वल हो रहे थे। उनका शरीर इस प्रकार शोभायमान हो रहा था, मानो कोई

दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान्।
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन्॥ ११

तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः।
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः॥ १२

ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः।
दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः॥ १३

तं ग्राव्णा प्राहरत् क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः॥ १४

गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन्।
निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्यास्फालयद् बलम्॥ १५

कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः।
तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान्॥ १६

क्रुद्धो मुसलमादत्त हलं चारिजिघांसया।
द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुद्यम्य पाणिना॥ १७

अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत्।
तं तु संकर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा॥ १८

प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम्।
मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया॥ १९

गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन्।
पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा॥ २०

मदमत्त गजराज हो॥ १०॥ वह दुष्ट वानर वृक्षोंकी शाखाओंपर चढ़ जाता और उन्हें झकझोर देता। कभी स्त्रियोंके सामने आकर किलकारी भी मारने लगता॥ ११॥ युवती स्त्रियाँ स्वभावसे ही चंचल और हास-परिहासमें रुचि रखनेवाली होती हैं। बलरामजीकी स्त्रियाँ उस वानरकी ढिठाई देखकर हँसने लगीं॥ १२॥ अब वह वानर भगवान् बलरामजीके सामने ही उन स्त्रियोंकी अवहेलना करने लगा। वह उन्हें कभी अपनी गुदा दिखाता तो कभी भौंहें मटकाता, फिर कभी-कभी गरज-तरजकर मुँह बनाता, घुड़कता॥ १३॥ वीरशिरोमणि बलरामजी उसकी यह चेष्टा देखकर क्रोधित हो गये। उन्होंने उसपर पत्थरका एक टुकड़ा फेंका। परन्तु द्विविदने उससे अपनेको बचा लिया और झपटकर मधुकलश उठा लिया तथा बलरामजीकी अवहेलना करने लगा। उस धूर्तने मधुकलशको तो फोड़ ही डाला, स्त्रियोंके वस्त्र भी फाड़ डाले और अब वह दुष्ट हँस-हँसकर बलरामजीको क्रोधित करने लगा॥ १४-१५॥ परीक्षित्! जब इस प्रकार बलवान् और मदोन्मत्त द्विविद बलरामजीको नीचा दिखाने तथा उनका घोर तिरस्कार करने लगा, तब उन्होंने उसकी ढिठाई देखकर और उसके द्वारा सताये हुए देशोंकी दुर्दशापर विचार करके उस शत्रुको मार डालनेकी इच्छासे क्रोधपूर्वक अपना हल-मूसल उठाया। द्विविद भी बड़ा बलवान् था। उसने अपने एक ही हाथसे शालका पेड़ उखाड़ लिया और बड़े वेगसे दौड़कर बलरामजीके सिरपर उसे दे मारा। भगवान् बलराम पर्वतकी तरह अविचल खड़े रहे। उन्होंने अपने हाथसे उस वृक्षको सिरपर गिरते-गिरते पकड़ लिया और अपने सुनन्द नामक मूसलसे उसपर प्रहार किया। मूसल लगनेसे द्विविदका मस्तक फट गया और उससे खूनकी धारा बहने लगी। उस समय उसकी ऐसी शोभा हुई, मानो किसी पर्वतसे गेरूका सोता बह रहा हो। परन्तु द्विविदने अपने सिर फटनेकी कोई परवा नहीं की। उसने कुपित होकर एक दूसरा वृक्ष उखाड़ा, उसे झाड़-झूड़कर बिना पत्तेका कर दिया और फिर उससे बलरामजीपर बड़े जोरका प्रहार किया।

तेनाहनत् सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाच्छिनत्।
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाच्छिनत्॥ २१

एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान् निर्वृक्षमकरोद् वनम्॥ २२

ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः।
तत् सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः॥ २३

स बाहू तालसंकाशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत्॥ २४

यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललांगले।
जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽपतद् रुधिरं वमन्॥ २५

चकम्पे तेन पतता सटंकः सवनस्पतिः।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि॥ २६

जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत् कुसुमवर्षिणाम्॥ २७

एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम्।
संस्तूयमानो भगवाञ्जनैः स्वपुरमाविशत्॥ २८

बलरामजीने उस वृक्षके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। इसके बाद द्विविदने बड़े क्रोधसे दूसरा वृक्ष चलाया, परन्तु भगवान् बलरामजीने उसे भी शतधा छिन्न-भिन्न कर दिया॥ १६—२१॥ इस प्रकार वह उनसे युद्ध करता रहा। एक वृक्षके टूट जानेपर दूसरा वृक्ष उखाड़ता और उससे प्रहार करनेकी चेष्टा करता। इस तरह सब ओरसे वृक्ष उखाड़-उखाड़कर लड़ते-लड़ते उसने सारे वनको ही वृक्षहीन कर दिया॥ २२॥ वृक्ष न रहे, तब द्विविदका क्रोध और भी बढ़ गया तथा वह बहुत चिढ़कर बलरामजीके ऊपर बड़ी-बड़ी चट्टानोंकी वर्षा करने लगा। परन्तु भगवान् बलरामजीने अपने मूसलसे उन सभी चट्टानोंको खेल-खेलमें ही चकनाचूर कर दिया॥ २३॥ अन्तमें कपिराज द्विविद अपनी ताड़के समान लम्बी बाँहोंसे घूँसा बाँधकर बलरामजीकी ओर झपटा और पास जाकर उसने उनकी छातीपर प्रहार किया॥ २४॥ अब यदुवंश-शिरोमणि बलरामजीने हल और मूसल अलग रख दिये तथा क्रुद्ध होकर दोनों हाथोंसे उसके जत्रुस्थान (हँसली) पर प्रहार किया। इससे वह वानर खून उगलता हुआ धरतीपर गिर पड़ा॥ २५॥ परीक्षित्! आँधी आनेपर जैसे जलमें डोंगी डगमगाने लगती है, वैसे ही उसके गिरनेसे बड़े-बड़े वृक्षों और चोटियोंके साथ सारा पर्वत हिल गया॥ २६॥ आकाशमें देवता लोग 'जय-जय', सिद्ध लोग 'नमो नमः' और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि 'साधु-साधु' के नारे लगाने और बलरामजीपर फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ २७॥परीक्षित्! द्विविदने जगत्में बड़ा उपद्रव मचा रखा था, अतः भगवान् बलरामजीने उसे इस प्रकार मार डाला और फिर वे द्वारकापुरीमें लौट आये। उस समय सभी पुरजन-परिजन भगवान् बलरामकी प्रशंसा कर रहे थे॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
द्विविदवधो नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः॥ ६७॥

अथाष्टषष्टितमोऽध्यायः

कौरवोंपर बलरामजीका कोप और साम्बका विवाह

श्रीशुक उवाच

दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिंजयः।
स्वयंवरस्थामहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः॥ १

कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः।
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद् बलात्॥ २

बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुंजते महीम्॥ ३

निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः॥ ४

इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः॥ ५

दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान् महारथः।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः॥ ६

तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन्॥ ७

सोऽपविद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः।
नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव॥ ८

विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः।
कर्णादीन् षड्रथान् वीरांस्तावद्भिर्युगपत् पृथक्॥ ९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जाम्बवती-नन्दन साम्ब अकेले ही बहुत बड़े-बड़े वीरोंपर विजय प्राप्त करनेवाले थे। वे स्वयंवरमें स्थित दुर्योधनकी कन्या लक्ष्मणाको हर लाये॥ १॥ इससे कौरवोंको बड़ा क्रोध हुआ, वे बोले—'यह बालक बहुत ढीठ है। देखो तो सही, इसने हमलोगोंको नीचा दिखाकर बलपूर्वक हमारी कन्याका अपहरण कर लिया। वह तो इसे चाहती भी न थी॥ २॥ अतः इस ढीठको पकड़कर बाँध लो। यदि यदुवंशीलोग रुष्ट भी होंगे तो वे हमारा क्या बिगाड़ लेंगे? वे लोग हमारी ही कृपासे हमारी ही दी हुई धन-धान्यसे परिपूर्ण पृथ्वीका उपभोग कर रहे हैं॥ ३॥ यदि वे लोग अपने इस लड़केके बंदी होनेका समाचार सुनकर यहाँ आयेंगे, तो हमलोग उनका सारा घमंड चूर-चूर कर देंगे और उन लोगोंके मिजाज वैसे ही ठंडे हो जायँगे, जैसे संयमी पुरुषके द्वारा प्राणायाम आदि उपायोंसे वशमें की हुई इन्द्रियाँ'॥ ४॥ ऐसा विचार करके कर्ण, शल, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु और दुर्योधनादि वीरोंने कुरुवंशके बड़े-बूढ़ोंकी अनुमति ली तथा साम्बको पकड़ लेनेकी तैयारी की॥ ५॥

जब महारथी साम्बने देखा कि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरा पीछा कर रहे हैं, तब वे एक सुन्दर धनुष चढ़ाकर सिंहके समान अकेले ही रणभूमिमें डट गये॥ ६॥ इधर कर्णको मुखिया बनाकर कौरववीर धनुष चढ़ाये हुए साम्बके पास आ पहुँचे और क्रोधमें भरकर उनको पकड़ लेनेकी इच्छासे 'खड़ा रह! खड़ा रह!' इस प्रकार ललकारते हुए बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ ७॥ परीक्षित्! यदुनन्दन साम्ब अचिन्त्यैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णके पुत्र थे। कौरवोंके प्रहारसे वे उनपर चिढ़ गये, जैसे सिंह तुच्छ हरिनोंका पराक्रम देखकर चिढ़ जाता है॥ ८॥ साम्बने अपने सुन्दर धनुषका टंकार करके कर्ण आदि छः वीरोंपर, जो अलग-अलग छः रथोंपर सवार थे, छः-छः बाणोंसे एक साथ अलग-अलग प्रहार किया॥ ९॥

चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन्।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन्॥ १०

तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान्।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम्॥ ११

तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि।
कुमारं स्वस्य कन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन्॥ १२

तच्छ्रुत्वा नारदोक्तेन राजन् संजातमन्यवः।
कुरून् प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः॥ १३

सान्त्वयित्वा तु तान् रामः सन्नद्धान् वृष्णिपुंगवान्।
नैच्छत् कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः॥ १४

जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः॥ १५

गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रं बुभुत्सया॥ १६

सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम्।
दुर्योधनं च विधिवद् राममागतमब्रवीत्॥ १७

तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम्।
तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मंगलपाणयः॥ १८

उनमेंसे चार-चार बाण उनके चार-चार घोड़ोंपर, एक-एक उनके सारथियोंपर और एक-एक उन महान् धनुषधारी रथी वीरोंपर छोड़ा। साम्बके इस अद्‌भुत हस्तलाघवको देखकर विपक्षी वीर भी मुक्त-कण्ठसे उनकी प्रशंसा करने लगे॥ १०॥ इसके बाद उन छहों वीरोंने एक साथ मिलकर साम्बको रथहीन कर दिया। चार वीरोंने एक-एक बाणसे उनके चार घोड़ोंको मारा, एकने सारथिको और एकने साम्बका धनुष काट डाला॥ ११॥ इस प्रकार कौरवोंने युद्धमें बड़ी कठिनाई और कष्टसे साम्बको रथहीन करके बाँध लिया। इसके बाद वे उन्हें तथा अपनी कन्या लक्ष्मणाको लेकर जय मनाते हुए हस्तिनापुर लौट आये॥ १२॥

परीक्षित्! नारदजीसे यह समाचार सुनकर यदुवंशियोंको बड़ा क्रोध आया। वे महाराज उग्रसेनकी आज्ञासे कौरवोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी करने लगे॥ १३॥ बलरामजी कलहप्रधान कलियुगके सारे पाप-तापको मिटानेवाले हैं। उन्होंने कुरुवंशियों और यदुवंशियोंके लड़ाई-झगड़ेको ठीक न समझा। यद्यपि यदुवंशी अपनी तैयारी पूरी कर चुके थे, फिर भी उन्होंने उन्हें शान्त कर दिया और स्वयं सूर्यके समान तेजस्वी रथपर सवार होकर हस्तिनापुर गये। उनके साथ कुछ ब्राह्मण और यदुवंशके बड़े-बूढ़े भी गये। उनके बीचमें बलरामजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो चन्द्रमा ग्रहोंसे घिरे हुए हों॥ १४-१५॥ हस्तिनापुर पहुँचकर बलरामजी नगरके बाहर एक उपवनमें ठहर गये और कौरवलोग क्या करना चाहते हैं, इस बातका पता लगानेके लिये उन्होंने उद्धवजीको धृतराष्ट्रके पास भेजा॥ १६॥

उद्धवजीने कौरवोंकी सभामें जाकर धृतराष्ट्र, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, बाह्लीक और दुर्योधनकी विधिपूर्वक अभ्यर्थना-वन्दना की और निवेदन किया कि 'बलरामजी पधारे हैं'॥ १७॥ अपने परम हितैषी और प्रियतम बलरामजीका आगमन सुनकर कौरवोंकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। वे उद्धवजीका विधि-पूर्वक सत्कार करके अपने हाथोंमें मांगलिक सामग्री लेकर बलरामजीकी अगवानी करने चले॥ १८॥

तं संगम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन्।
तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम्॥ १९

फिर अपनी-अपनी अवस्था और सम्बन्धके अनुसार सब लोग बलरामजीसे मिले तथा उनके सत्कारके लिये उन्हें गौ अर्पण की एवं अर्घ्य प्रदान किया। उनमें जो लोग भगवान् बलरामजीका प्रभाव जानते थे, उन्होंने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ १९॥

बन्धून् कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम्।
परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः॥ २०

तदनन्तर उन लोगोंने परस्पर एक-दूसरेका कुशल-मंगल पूछा और यह सुनकर कि सब भाई-बन्धु सकुशल हैं, बलरामजीने बड़ी धीरता और गम्भीरताके साथ यह बात कही— ॥ २०॥

उग्रसेनः क्षितीशेशो यद् व आज्ञापयत् प्रभुः।
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम्॥ २१

'सर्वसमर्थ राजाधिराज महाराज उग्रसेनने तुमलोगोंको एक आज्ञा दी है। उसे तुमलोग एकाग्रता और सावधानीके साथ सुनो और अविलम्ब उसका पालन करो॥ २१॥ उग्रसेनजीने कहा है—हम जानते हैं कि तुमलोगोंने कइयोंने मिलकर अधर्मसे अकेले धर्मात्मा साम्बको हरा दिया और बंदी कर लिया है। यह सब हम इसलिये सह लेते हैं कि हम सम्बन्धियोंमें परस्पर फूट न पड़े, एकता बनी रहे। (अतः अब झगड़ा मत बढ़ाओ, साम्बको उसकी नववधूके साथ हमारे पास भेज दो)॥ २२॥

यद् यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाधर्मेण धार्मिकम्।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया॥ २२

वीर्यशौर्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः॥ २३

परीक्षित्! बलरामजीकी वाणी वीरता, शूरता और बल-पौरुषके उत्कर्षसे परिपूर्ण और उनकी शक्तिके अनुरूप थी। यह बात सुनकर कुरुवंशी क्रोधसे तिल-मिला उठे। वे कहने लगे— ॥ २३॥ 'अहो, यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है! सचमुच कालकी चालको कोई टाल नहीं सकता। तभी तो आज पैरोंकी जूती उस सिरपर चढ़ना चाहती है, जो श्रेष्ठ मुकुटसे सुशोभित है॥ २४॥ इन यदुवंशियोंके साथ किसी प्रकार हमलोगोंने विवाह-सम्बन्ध कर लिया। ये हमारे साथ सोने-बैठने और एक पंक्तिमें खाने लगे। हमलोगोंने ही इन्हें राजसिंहासन देकर राजा बनाया और अपने बराबर बना लिया॥ २५॥ ये यदुवंशी चँवर, पंखा, शंख, श्वेतछत्र, मुकुट, राजसिंहासन और राजोचित शय्याका उपयोग-उपभोग इसलिये कर रहे हैं कि हमने जान-बूझकर इस विषयमें उपेक्षा कर रखी है॥ २६॥ बस-बस, अब हो चुका। यदुवंशियोंके पास अब राजचिह्न रहनेकी आवश्यकता नहीं, उन्हें उनसे छीन लेना चाहिये। जैसे साँपको दूध पिलाना पिलानेवालेके लिये ही घातक है, वैसे ही हमारे दिये हुए राजचिह्नोंको

अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया।
आरुरुक्षत्युपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम्॥ २४

एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः॥ २५

चामरव्यजने शंखमातपत्रं च पाण्डुरम्।
किरीटमासनं शय्यां भुंजन्त्यस्मदुपेक्षया॥ २६

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनै-
र्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम्।

येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवा
आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत॥ २७

कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः।
अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः॥ २८

श्रीशुक उवाच

जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ।
आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्याः पुरमाविशन्॥ २९

दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वावाच्यानि चाच्युतः।
अवोचत् कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन् मुहुः॥ ३०

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा॥ ३१

अहो यदून् सुसंरब्धान् कृष्णं च कुपितं शनैः।
सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः॥ ३२

त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः।
तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान् मानिनोऽब्रुवन्॥ ३३

नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः॥ ३४

लेकर ये यदुवंशी हमसे ही विपरीत हो रहे हैं। देखो तो भला हमारे ही कृपा-प्रसादसे तो इनकी बढ़ती हुई और अब ये निर्लज्ज होकर हमींपर हुकुम चलाने चले हैं। शोक है! शोक है!॥ २७॥ जैसे सिंहका ग्रास कभी भेड़ा नहीं छीन सकता, वैसे ही यदि भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि कौरववीर जान-बूझकर न छोड़ दें, न दे दें तो स्वयं देवराज इन्द्र भी किसी वस्तुका उपभोग कैसे कर सकते हैं?॥ २८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कुरुवंशी अपनी कुलीनता, बान्धवों-परिवारवालों (भीष्मादि) के बल और धनसम्पत्तिके घमंडमें चूर हो रहे थे। उन्होंने साधारण शिष्टाचारकी भी परवा नहीं की और वे भगवान् बलरामजीको इस प्रकार दुर्वचन कहकर हस्तिनापुर लौट गये॥ २९॥ बलरामजीने कौरवोंकी दुष्टता-अशिष्टता देखी और उनके दुर्वचन भी सुने। अब उनका चेहरा क्रोधसे तमतमा उठा। उस समय उनकी ओर देखातक नहीं जाता था। वे बार-बार जोर-जोरसे हँसकर कहने लगे—॥ ३०॥ 'सच है, जिन दुष्टोंको अपनी कुलीनता, बलपौरुष और धनका घमंड हो जाता है, वे शान्ति नहीं चाहते। उनको दमन करनेका, रास्तेपर लानेका उपाय समझाना-बुझाना नहीं, बल्कि दण्ड देना है—ठीक वैसे ही, जैसे पशुओंको ठीक करनेके लिये डंडेका प्रयोग आवश्यक होता है॥ ३१॥ भला, देखो तो सही—सारे यदुवंशी और श्रीकृष्ण भी क्रोधसे भरकर लड़ाईके लिये तैयार हो रहे थे। मैं उन्हें शनैः-शनैः समझा-बुझाकर इन लोगोंको शान्त करनेके लिये, सुलह करनेके लिये यहाँ आया॥ ३२॥ फिर भी ये मूर्ख ऐसी दुष्टता कर रहे हैं! इन्हें शान्ति प्यारी नहीं, कलह प्यारी है। ये इतने घमंडी हो रहे हैं कि बार-बार मेरा तिरस्कार करके गालियाँ बक गये हैं॥ ३३॥ ठीक है, भाई! ठीक है। पृथ्वीके राजाओंकी तो बात ही क्या, त्रिलोकीके स्वामी इन्द्र आदि लोकपाल जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं, वे उग्रसेन राजाधिराज नहीं हैं; वे तो केवल भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके ही स्वामी हैं!॥ ३४॥

सुधर्माऽऽक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः।
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः॥ ३५

यस्य पादयुगं साक्षात् श्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी।
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान्॥ ३६

यस्याङ्घ्रिपंकजरजोऽखिललोकपालै-
मौंल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम्।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व॥ ३७

भुंजते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल।
उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः॥ ३८

अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम्।
असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता॥ ३९

अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम्॥ ४०

लांगलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम्।
विचकर्ष स गंगायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः॥ ४१

जलयानमिवाघूर्णं गंगायां नगरं पतत्।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः॥ ४२

क्यों? जो सुधर्मासभाको अधिकारमें करके उसमें विराजते हैं और जो देवताओंके वृक्ष पारिजातको उखाड़कर ले आते और उसका उपभोग करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण भी राजसिंहासनके अधिकारी नहीं हैं! अच्छी बात है!॥ ३५॥ सारे जगत्‌की स्वामिनी भगवती लक्ष्मी स्वयं जिनके चरण-कमलोंकी उपासना करती हैं, वे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र छत्र, चँवर आदि राजोचित सामग्रियोंको नहीं रख सकते॥ ३६॥ ठीक है भाई! जिनके चरण-कमलोंकी धूल संत पुरुषोंके द्वारा सेवित गंगा आदि तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाली है, सारे लोकपाल अपने-अपने श्रेष्ठ मुकुटपर जिनके चरणकमलोंकी धूल धारण करते हैं; ब्रह्मा, शंकर, मैं और लक्ष्मीजी जिनकी कलाकी भी कला हैं और जिनके चरणोंकी धूल सदा-सर्वदा धारण करते हैं; उन भगवान् श्रीकृष्णके लिये भला; राजसिंहासन कहाँ रखा है!॥ ३७॥ बेचारे यदुवंशी तो कौरवोंका दिया हुआ पृथ्वीका एक टुकड़ा भोगते हैं। क्या खूब! हमलोग जूती हैं और ये कुरुवंशी स्वयं सिर हैं॥ ३८॥ ये लोग ऐश्वर्यसे उन्मत्त, घमंडी कौरव पागल-सरीखे हो रहे हैं। इनकी एक-एक बात कटुतासे भरी और बेसिर-पैरकी है। मेरे जैसा पुरुष—जो इनका शासन कर सकता है, इन्हें दण्ड देकर इनके होश ठिकाने ला सकता है—भला इनकी बातोंको कैसे सहन कर सकता है?॥ ३९॥ आज मैं सारी पृथ्वीको कौरवहीन कर डालूँगा, इस प्रकार कहते-कहते बलरामजी क्रोधसे ऐसे भर गये, मानो त्रिलोकीको भस्म कर देंगे। वे अपना हल लेकर खड़े हो गये॥ ४०॥ उन्होंने उसकी नोकसे बार-बार चोट करके हस्तिनापुरको उखाड़ लिया और उसे डुबानेके लिये बड़े क्रोधसे गंगाजीकी ओर खींचने लगे॥ ४१॥

हलसे खींचनेपर हस्तिनापुर इस प्रकार काँपने लगा, मानो जलमें कोई नाव डगमगा रही हो। जब कौरवोंने देखा कि हमारा नगर तो गंगाजीमें गिर रहा है, तब वे घबड़ा उठे॥ ४२॥

तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीविषवः।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्रांजलयः प्रभुम्॥ ४३

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम्॥ ४४

स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः।
लोकान् क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि॥ ४५

त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया
भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन्।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः
शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः॥ ४६

कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात्।
बिभ्रतो भगवन् सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः॥ ४७

नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराव्यय।
विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः॥ ४८

श्रीशुक उवाच

एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः।
प्रसादितः सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ॥ ४९

दुर्योधनः पारिबर्हं कुंजरान् षष्टिहायनान्।
ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरंगमान्॥ ५०

रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम्।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः॥ ५१

फिर उन लोगोंने लक्ष्मणाके साथ साम्बको आगे किया और अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कुटुम्बके साथ हाथ जोड़कर सर्वशक्तिमान् उन्हीं भगवान् बलरामजीकी शरणमें गये॥ ४३॥ और कहने लगे—'लोकाभिराम बलरामजी! आप सारे जगत्‌के आधार शेषजी हैं। हम आपका प्रभाव नहीं जानते। प्रभो! हमलोग मूढ़ हो रहे हैं, हमारी बुद्धि बिगड़ गयी है; इसलिये आप हमलोगोंका अपराध क्षमा कर दीजिये॥ ४४॥ आप जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके एकमात्र कारण हैं और स्वयं निराधार स्थित हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभो! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि कहते हैं कि आप खिलाड़ी हैं और ये सब-के-सब लोग आपके खिलौने हैं॥ ४५॥ अनन्त! आपके सहस्र-सहस्र सिर हैं और आप खेल-खेलमें ही इस भूमण्डलको अपने सिरपर रखे रहते हैं। जब प्रलयका समय आता है, तब आप सारे जगत्‌को अपने भीतर लीन कर लेते हैं और केवल आप ही बचे रहकर अद्वितीयरूपसे शयन करते हैं॥ ४६॥ भगवन्! आप जगत्‌की स्थिति और पालनके लिये विशुद्ध सत्त्वमय शरीर ग्रहण किये हुए हैं। आपका यह क्रोध द्वेष या मत्सरके कारण नहीं है। यह तो समस्त प्राणियोंको शिक्षा देनेके लिये है॥ ४७॥ समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले सर्वप्राणिस्वरूप अविनाशी भगवन्! आपको हम नमस्कार करते हैं। समस्त विश्वके रचयिता देव! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। हम आपकी शरणमें हैं। आप कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये'॥ ४८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! कौरवोंका नगर डगमगा रहा था और वे अत्यन्त घबराहटमें पड़े हुए थे। जब सब-के-सब कुरुवंशी इस प्रकार भगवान् बलरामजीकी शरणमें आये और उनकी स्तुति-प्रार्थना की, तब वे प्रसन्न हो गये और 'डरो मत' ऐसा कहकर उन्हें अभयदान दिया॥ ४९॥ परीक्षित्! दुर्योधन अपनी पुत्री लक्ष्मणासे बड़ा प्रेम करता था। उसने दहेजमें साठ-साठ वर्षके बारह सौ हाथी, दस हजार घोड़े, सूर्यके समान चमकते हुए सोनेके छः हजार रथ और सोनेके हार पहनी हुई एक हजार दासियाँ दीं॥ ५०-५१॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं भगवान् सात्वतर्षभः।
ससुतः सस्नुषः प्रागात् सुहृद्भिरभिनन्दितः॥ ५२

यदुवंशशिरोमणि भगवान् बलरामजीने यह सब दहेज स्वीकार किया और नवदम्पति लक्ष्मणा तथा साम्बके साथ कौरवोंका अभिनन्दन स्वीकार करके द्वारकाकी यात्रा की॥ ५२॥

ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः
समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः।
शशंस सर्वं यदुपुंगवानां
मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम्॥ ५३

अब बलरामजी द्वारकापुरीमें पहुँचे और अपने प्रेमी तथा समाचार जाननेके लिये उत्सुक बन्धु-बान्धवोंसे मिले। उन्होंने यदुवंशियोंकी भरी सभामें अपना वह सारा चरित्र कह सुनाया, जो हस्तिनापुरमें उन्होंने कौरवोंके साथ किया था॥ ५३॥

अद्यापि च पुरं ह्येतत् सूचयद् रामविक्रमम्।
समुन्नतं दक्षिणतो गंगायामनुदृश्यते॥ ५४

परीक्षित्! यह हस्तिनापुर आज भी दक्षिणकी ओर ऊँचा और गंगाजीकी ओर कुछ झुका हुआ है और इस प्रकार यह भगवान् बलरामजीके पराक्रमकी सूचना दे रहा है॥ ५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
हास्तिनपुरकर्षणरूपसंकर्षणविजयो नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

अथैकोनसप्ततितमोऽध्यायः

देवर्षि नारदजीका भगवान्‌की गृहचर्या देखना

श्रीशुक उवाच

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम्।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद् दिदृक्षुः स्म नारदः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवर्षि नारदने सुना कि भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुर (भौमासुर) को मारकर अकेले ही हजारों राज-कुमारियोंके साथ विवाह कर लिया है, तब उनके मनमें भगवान्‌की रहन-सहन देखनेकी बड़ी अभिलाषा हुई॥ १॥

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥ २

वे सोचने लगे—अहो, यह कितने आश्चर्यकी बात है कि भगवान् श्रीकृष्णने एक ही शरीरसे एक ही समय सोलह हजार महलोंमें अलग-अलग सोलह हजार राजकुमारियोंका पाणिग्रहण किया॥ २॥

इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत्।
पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम्॥ ३

देवर्षि नारद इस उत्सुकतासे प्रेरित होकर भगवान्‌की लीला देखनेके लिये द्वारका आ पहुँचे। वहाँके उपवन और उद्यान खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे वृक्षोंसे परिपूर्ण थे, उनपर तरह-तरहके पक्षी चहक रहे थे और भौंरे गुंजार कर रहे थे॥ ३॥

उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः॥ ४

निर्मल जलसे भरे सरोवरोंमें नीले, लाल और सफेद रंगके भाँति-भाँतिके कमल खिले हुए थे। कुमुद (कोईं) और नवजात कमलोंकी मानो भीड़ ही लगी हुई थी। उनमें हंस और सारस कलरव कर रहे थे॥ ४॥

प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः॥ ५

द्वारकापुरीमें स्फटिकमणि और चाँदीके नौ लाख महल थे। वे फर्श आदिमें जड़ी हुई महामरकतमणि (पन्ने) की प्रभासे जगमगा रहे थे और उनमें सोने तथा हीरोंकी बहुत-सी सामग्रियाँ शोभायमान थीं॥ ५॥

विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः
शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः।
संसिक्तमार्गांगणवीं[१]थिदेहलीं
पतत्पताकाध्वजवारितातपाम्[२] ॥ ६

उसके राजपथ (बड़ी-बड़ी सड़कें), गलियाँ, चौराहे और बाजार बहुत ही सुन्दर-सुन्दर थे। घुड़साल आदि पशुओंके रहनेके स्थान, सभा-भवन और देव-मन्दिरोंके कारण उसका सौन्दर्य और भी चमक उठा था। उसकी सड़कों, चौक, गली और दरवाजोंपर छिड़काव किया गया था। छोटी-छोटी झंडियाँ और बड़े-बड़े झंडे जगह-जगह फहरा रहे थे, जिनके कारण रास्तोंपर धूप नहीं आ पाती थी॥ ६॥

तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः।
हरेः[३] स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम्॥ ७

उसी द्वारकानगरीमें भगवान् श्रीकृष्णका बहुत ही सुन्दर अन्तःपुर था। बड़े-बड़े लोकपाल उसकी पूजा-प्रशंसा किया करते थे। उसका निर्माण करनेमें विश्वकर्माने अपना सारा कला-कौशल, सारी कारीगरी लगा दी थी॥ ७॥

तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलंकृतम्।
विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत्॥ ८

उस अन्तःपुर (रनिवास) में भगवान्‌की रानियोंके सोलह हजारसे अधिक महल शोभायमान थे, उनमेंसे एक बड़े भवनमें देवर्षि नारदजीने प्रवेश किया॥ ८॥

विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्यफलकोत्तमैः।
इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या[४] चाहतत्विषा॥ ९

उस महलमें मूँगोंके खम्भे, वैदूर्यके उत्तम-उत्तम छज्जे तथा इन्द्रनीलमणिकी दीवारें जगमगा रही थीं और वहाँकी गचें भी ऐसी इन्द्र-नीलमणियोंसे बनी हुई थीं, जिनकी चमक किसी प्रकार कम नहीं होती॥ ९॥

वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः।
दान्तैरासनपर्यंकैर्मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥ १०

विश्वकर्माने बहुत-से ऐसे चँदोवे बना रखे थे, जिनमें मोतीकी लड़ियोंकी झालरें लटक रही थीं। हाथी-दाँतके बने हुए आसन और पलँग थे, जिनमें श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मणि जड़ी हुई थी॥ १०॥

दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलंकृतम्।
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीषं[५]सुवस्त्रमणिकुण्डलैः॥ ११

बहुत-सी दासियाँ गलेमें सोनेका हार पहने और सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित होकर तथा बहुत-से सेवक भी जामा-पगड़ी और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहने तथा जड़ाऊ कुण्डल धारण किये अपने-अपने काममें व्यस्त थे और महलकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ ११॥

---

१. थिशोभां। २. प्रा प्रतिमें '...वारितातपाम्॥' इस श्लोकके बाद 'उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः। छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः॥ पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम्।' इस डेढ़ श्लोकका पाठ है, इसके पहले नहीं। ३. सर्वविस्मापकं यत्नात्त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन निर्मितम्। ४. जालैर्मरकतोत्तमैः। ५. षैः सुवासोमणि०।

रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः॥ १२

तस्मिन् समानगुणरूपवयस्सुवेष-
दासीसहस्त्रयुतयानुसवं गृहिण्या।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म-
दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या॥ १३

तं सन्निरीक्ष्य भगवान् सहसोत्थितः श्री-
पर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे॥ १४

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना
बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम्॥ १५

सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं
प्राह प्रभो भगवते करवाम हे किम्॥ १६

नारद उवाच

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम्।

अनेकों रत्न-प्रदीप अपनी जगमगाहटसे उसका अन्धकार दूर कर रहे थे। अगरकी धूप देनेके कारण झरोखोंसे धूआँ निकल रहा था। उसे देखकर रंग-बिरंगे मणिमय छज्जोंपर बैठे हुए मोर बादलोंके भ्रमसे कूक-कूककर नाचने लगते॥ १२॥ देवर्षि नारदजीने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण उस महलकी स्वामिनी रुक्मिणीजीके साथ बैठे हुए हैं और वे अपने हाथों भगवान्‌को सोनेकी डाँड़ीवाले चँवरसे हवा कर रही हैं। यद्यपि उस महलमें रुक्मिणीजीके समान ही गुण, रूप, अवस्था और वेष-भूषावाली सहस्रों दासियाँ भी हर समय विद्यमान रहती थीं॥ १३॥

नारदजीको देखते ही समस्त धार्मिकोंके मुकुट-मणि भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके पलँगसे सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने देवर्षि नारदके युगलचरणोंमें मुकुटयुक्त सिरसे प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उन्हें अपने आसनपर बैठाया॥ १४॥ परीक्षित्! इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्ण चराचर जगत्‌के परम गुरु हैं और उनके चरणोंका धोवन गंगाजल सारे जगत्‌को पवित्र करनेवाला है। फिर भी वे परमभक्तवत्सल और संतोंके परम आदर्श, उनके स्वामी हैं। उनका एक असाधारण नाम ब्रह्मण्यदेव भी है। वे ब्राह्मणोंको ही अपना आराध्यदेव मानते हैं। उनका यह नाम उनके गुणके अनुरूप एवं उचित ही है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही नारदजीके पाँव पखारे और उनका चरणामृत अपने सिरपर धारण किया॥ १५॥ नरशिरोमणि नरके सखा सर्वदर्शी पुराणपुरुष भगवान् नारायणने शास्त्रोक्त विधिसे देवर्षिशिरोमणि भगवान् नारदकी पूजा की। इसके बाद अमृतसे भी मीठे किन्तु थोड़े शब्दोंमें उनका स्वागत-सत्कार किया और फिर कहा—'प्रभो! आप तो स्वयं समग्र ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री और ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं। आपकी हम क्या सेवा करें'?॥ १६॥

देवर्षि नारदने कहा—भगवन्! आप समस्त लोकोंके एकमात्र स्वामी हैं। आपके लिये यह कोई नयी बात नहीं है कि आप अपने भक्तजनोंसे प्रेम करते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं। परमयशस्वी

निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु॥ १७

प्रभो! आपने जगत्‌की स्थिति और रक्षाके द्वारा समस्त जीवोंका कल्याण करनेके लिये स्वेच्छासे अवतार ग्रहण किया है। भगवन्! यह बात हम भलीभाँति जानते हैं॥ १७॥

दृष्टं तवाङ्‌घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृह्णाण यथा स्मृतिः स्यात्॥ १८

यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मुझे आपके चरणकमलोंके दर्शन हुए हैं। आपके ये चरणकमल सम्पूर्ण जनताको परम साम्य, मोक्ष देनेमें समर्थ हैं। जिनके ज्ञानकी कोई सीमा ही नहीं है, वे ब्रह्मा, शंकर आदि सदा-सर्वदा अपने हृदयमें उनका चिन्तन करते रहते हैं। वास्तवमें वे श्रीचरण ही संसाररूप कूएँमें गिरे हुए लोगोंको बाहर निकलनेके लिये अवलम्बन हैं। आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके उन चरणकमलोंकी स्मृति सर्वदा बनी रहे और मैं चाहे जहाँ जैसे रहूँ, उनके ध्यानमें तन्मय रहूँ॥ १८॥

ततोऽन्यदाविशद् गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः।
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया॥ १९

परीक्षित्! इसके बाद देवर्षि नारदजी योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगमायाका रहस्य जाननेके लिये उनकी दूसरी पत्नीके महलमें गये॥ १९॥

दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च।
पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः॥ २०

वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया और उद्धवजीके साथ चौसर खेल रहे हैं। वहाँ भी भगवान्‌ने खड़े होकर उनका स्वागत किया, आसनपर बैठाया और विविध सामग्रियोंद्वारा बड़ी भक्तिसे उनकी अर्चा-पूजा की॥ २०॥

पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदाऽऽयातो भवानिति।
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः॥ २१

इसके बाद भगवान्‌ने नारदजीसे अनजानकी तरह पूछा—'आप यहाँ कब पधारे! आप तो परिपूर्ण आत्माराम—आप्तकाम हैं और हमलोग हैं अपूर्ण। ऐसी अवस्थामें भला हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं॥ २१॥

अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन् जन्मैतच्छोभनं कुरु।
स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद् गृहम्॥ २२

फिर भी ब्रह्मस्वरूप नारदजी! आप कुछ-न-कुछ आज्ञा अवश्य कीजिये और हमें सेवाका अवसर देकर हमारा जन्म सफल कीजिये।' नारदजी यह सब देख-सुनकर चकित और विस्मित हो रहे थे। वे वहाँसे उठकर चुपचाप दूसरे महलमें चले गये॥ २२॥

तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुताञ्छिशून्।
ततोऽन्यस्मिन् गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम्॥ २३

उस महलमें भी देवर्षि नारदने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने नन्हे-नन्हे बच्चोंको दुलार रहे हैं। वहाँसे फिर दूसरे महलमें गये तो क्या देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण स्नानकी तैयारी कर रहे हैं॥ २३॥

जुह्वन्तं च वितानाग्नीन् यजन्तं पञ्चभिर्मखैः।
भोजयन्तं द्विजान् क्वापि भुञ्जानमवशेषितम्॥ २४

क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम्।
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु॥ २५

अश्वैर्गजैः रथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम्।
क्वचिच्छयानं पर्यंके स्तूयमानं च वन्दिभिः॥ २६

मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम्॥ २७

कुत्रचिद् द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः।
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मंगलानि च॥ २८

हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित्॥ २९

ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम्।
शुश्रूषन्तं गुरून् क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया॥ ३०

कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित् सन्धिं चान्यत्र केशवम्।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम्॥ ३१

पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम्।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः॥ ३२

प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान्।
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे॥ ३३

(इसी प्रकार देवर्षि नारदने विभिन्न महलोंमें भगवान्‌को भिन्न-भिन्न कार्य करते देखा।) कहीं वे यज्ञ-कुण्डोंमें हवन कर रहे हैं तो कहीं पंचमहायज्ञोंसे देवता आदिकी आराधना कर रहे हैं। कहीं ब्राह्मणोंको भोजन करा रहे हैं, तो कहीं यज्ञका अवशेष स्वयं भोजन कर रहे हैं॥ २४॥ कहीं सन्ध्या कर रहे हैं, तो कहीं मौन होकर गायत्रीका जप कर रहे हैं। कहीं हाथोंमें ढाल-तलवार लेकर उनको चलानेके पैतरे बदल रहे हैं॥ २५॥ कहीं घोड़े, हाथी अथवा रथपर सवार होकर श्रीकृष्ण विचरण कर रहे हैं। कहीं पलंगपर सो रहे हैं, तो कहीं वंदीजन उनकी स्तुति कर रहे हैं॥ २६॥ किसी महलमें उद्धव आदि मन्त्रियोंके साथ किसी गम्भीर विषयपर परामर्श कर रहे हैं, तो कहीं उत्तमोत्तम वारांगनाओंसे घिरकर जलक्रीडा कर रहे हैं॥ २७॥ कहीं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणसे सुसज्जित गौओंका दान कर रहे हैं, तो कहीं मंगलमय इतिहास-पुराणोंका श्रवण कर रहे हैं॥ २८॥ कहीं किसी पत्नीके महलमें अपनी प्राणप्रियाके साथ हास्य-विनोदकी बातें करके हँस रहे हैं। तो कहीं धर्मका सेवन कर रहे हैं। कहीं अर्थका सेवन कर रहे हैं—धन-संग्रह और धनवृद्धिके कार्यमें लगे हुए हैं, तो कहीं धर्मानुकूल गृहस्थोचित विषयोंका उपभोग कर रहे हैं॥ २९॥ कहीं एकान्तमें बैठकर प्रकृतिसे अतीत पुराण-पुरुषका ध्यान कर रहे हैं, तो कहीं गुरुजनोंको इच्छित भोग-सामग्री समर्पित करके उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं॥ ३०॥

देवर्षि नारदने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण किसीके साथ युद्धकी बात कर रहे हैं, तो किसीके साथ सन्धिकी। कहीं भगवान् बलरामजीके साथ बैठकर सत्पुरुषोंके कल्याणके बारेमें विचार कर रहे हैं॥ ३१॥ कहीं उचित समयपर पुत्र और कन्याओंका उनके सदृश पत्नी और वरोंके साथ बड़ी धूमधामसे विधिवत् विवाह कर रहे हैं॥ ३२॥ कहीं घरसे कन्याओंको विदा कर रहे हैं, तो कहीं बुलानेकी तैयारीमें लगे हुए हैं। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके इन विराट् उत्सवोंको देखकर सभी लोग विस्मित—

यजन्तं सकलान् देवान् क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः।
पूर्तयन्तं क्वचिद् धर्मं कूपाराममठादिभिः॥ ३४

चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम्।
घ्नन्तं ततः पशून् मेध्यान् परीतं यदुपुंगवैः॥ ३५

अव्यक्तलिंगं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया॥ ३६

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम्॥ ३७

विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम्।
योगेश्वरात्मन् निर्भाता भवत्पादनिषेवया॥ ३८

अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाऽऽप्लुतान्।
पर्यटामि तवोद्गायन् लीलां भुवनपावनीम्॥ ३९

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः॥ ४०

श्रीशुक उवाच

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥ ४१

कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम्।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मितो जातकौतुकः॥ ४२

चकित हो जाते थे॥ ३३॥ कहीं बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा समस्त देवताओंका यजन-पूजन और कहीं कूएँ, बगीचे तथा मठ आदि बनवाकर इष्टापूर्त धर्मका आचरण कर रहे हैं॥ ३४॥ कहीं श्रेष्ठ यादवोंसे घिरे हुए सिन्धुदेशीय घोड़ेपर चढ़कर मृगया कर रहे हैं, इस प्रकार यज्ञके लिये मेध्य पशुओंका संग्रह कर रहे हैं॥ ३५॥ और कहीं प्रजामें तथा अन्तःपुरके महलोंमें वेष बदलकर छिपे रूपसे सबका अभिप्राय जाननेके लिये विचरण कर रहे हैं। क्यों न हो, भगवान् योगेश्वर जो हैं॥ ३६॥

परीक्षित्! इस प्रकार मनुष्यकी-सी लीला करते हुए हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णकी योगमायाका वैभव देखकर देवर्षि नारदजीने मुसकराते हुए उनसे कहा— ॥ ३७॥ 'योगेश्वर! आत्मदेव! आपकी योग-माया ब्रह्माजी आदि बड़े-बड़े मायावियोंके लिये भी अगम्य है। परन्तु हम आपकी योगमायाका रहस्य जानते हैं; क्योंकि आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे वह स्वयं ही हमारे सामने प्रकट हो गयी है॥ ३८॥ देवताओंके भी आराध्यदेव भगवन्! चौदहों भुवन आपके सुयशसे परिपूर्ण हो रहे हैं। अब मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी त्रिभुवन-पावनी लीलाका गान करता हुआ उन लोकोंमें विचरण करूँ'॥ ३९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवर्षि नारदजी! मैं ही धर्मका उपदेशक, पालन करनेवाला और उसका अनुष्ठान करनेवालोंका अनुमोदनकर्ता भी हूँ। इसलिये संसारको धर्मकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे ही मैं इस प्रकार धर्मका आचरण करता हूँ। मेरे प्यारे पुत्र! तुम मेरी यह योगमाया देखकर मोहित मत होना॥ ४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थोंको पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ धर्मोंका आचरण कर रहे थे। यद्यपि वे एक ही हैं, फिर भी देवर्षि नारदजीने उनको उनकी प्रत्येक पत्नीके महलमें अलग-अलग देखा॥ ४१॥

भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त है। उनकी योगमायाका परम ऐश्वर्य बार-बार देखकर देवर्षि नारदके विस्मय और कौतूहलकी सीमा न रही॥ ४२॥

इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन् ययौ॥ ४३

द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थकी भाँति ऐसा आचरण करते थे, मानो धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थोंमें उनकी बड़ी श्रद्धा हो। उन्होंने देवर्षि नारदका बहुत सम्मान किया। वे अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान्का स्मरण करते हुए वहाँसे चले गये॥ ४३॥

एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः।
रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवरांगनानां
सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः॥ ४४

राजन्! भगवान् नारायण सारे जगत्के कल्याणके लिये अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको स्वीकार करते हैं और इस प्रकार मनुष्योंकी-सी लीला करते हैं। द्वारकापुरीमें सोलह हजारसे भी अधिक पत्नियाँ अपनी सलज्ज एवं प्रेमभरी चितवन तथा मन्द-मन्द मुसकानसे उनकी सेवा करती थीं और वे उनके साथ विहार करते थे॥ ४४॥

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार।
यस्त्वंग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद् भगवति ह्यपवर्गमार्गे॥ ४५

भगवान् श्रीकृष्णने जो लीलाएँ की हैं, उन्हें दूसरा कोई नहीं कर सकता। परीक्षित्! वे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं। जो उनकी लीलाओंका गान, श्रवण और गान-श्रवण करनेवालोंका अनुमोदन करता है, उसे मोक्षके मार्गस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें परम प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे कृष्णगार्हस्थ्यदर्शनं नामैकोनसप्ततितमोऽध्यायः॥ ६९॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी नित्यचर्या और उनके पास जरासन्धके कैदी राजाओंके दूतका आना

श्रीशुक उवाच

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब सबेरा होने लगता, कुक्कुट (मुरगे) बोलने लगते, तब वे श्रीकृष्ण-पत्नियाँ, जिनके कण्ठमें श्रीकृष्णने अपनी भुजा डाल रखी है, उनके विछोहकी आशंकासे व्याकुल हो जातीं और उन मुरगोंको कोसने लगतीं॥ १॥

वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः॥ २

उस समय पारिजातकी सुगन्धसे सुवासित भीनी-भीनी वायु बहने लगती। भौंरे तालस्वरसे अपने संगीतकी तान छेड़ देते। पक्षियोंकी नींद उचट जाती और वे वंदीजनोंकी भाँति भगवान् श्रीकृष्णको जगानेके लिये मधुर स्वरसे कलरव करने लगते॥ २॥

मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम्।
परिरम्भणविश्लेषात् प्रियबाह्वन्तरं गता॥ ३

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥ ४

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम्॥ ५

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥ ६

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः।
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान्॥ ७

धेनूनां रुक्मशृंगीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम्॥ ८

रुक्मिणीजी अपने प्रियतमके भुजपाशसे बँधी रहनेपर भी आलिंगन छूट जानेकी आशंकासे अत्यन्त सुहावने और पवित्र ब्राह्ममुहूर्तको भी असह्य समझने लगती थीं॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठता था॥ ४॥ परीक्षित्! भगवान्का वह आत्मस्वरूप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित एक, अखण्ड है। क्योंकि उसमें किसी प्रकारकी उपाधि या उपाधिके कारण होनेवाला अन्य वस्तुका अस्तित्व नहीं है। और यही कारण है कि वह अविनाशी सत्य है। जैसे चन्द्रमा-सूर्य आदि नेत्र-इन्द्रियके द्वारा और नेत्र-इन्द्रिय चन्द्रमा-सूर्य आदिके द्वारा प्रकाशित होती है, वैसे वह आत्मस्वरूप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश है। इसका कारण यह है कि अपने स्वरूपमें ही सदा-सर्वदा और कालकी सीमाके परे भी एकरस स्थित रहनेके कारण अविद्या उसका स्पर्श भी नहीं कर सकती। इसीसे प्रकाश्य-प्रकाशकभाव उसमें नहीं है। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशकी कारणभूता ब्रह्मशक्ति, विष्णुशक्ति और रुद्रशक्तियोंके द्वारा केवल इस बातका अनुमान हो सकता है कि वह स्वरूप एकरस सत्तारूप और आनन्दस्वरूप है। उसीको समझानेके लिये 'ब्रह्म' नामसे कहा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने उसी आत्मस्वरूपका प्रतिदिन ध्यान करते॥ ५॥ इसके बाद वे विधिपूर्वक निर्मल और पवित्र जलमें स्नान करते। फिर शुद्ध धोती पहनकर, दुपट्टा ओढ़कर यथाविधि नित्यकर्म सन्ध्या-वन्दन आदि करते। इसके बाद हवन करते और मौन होकर गायत्रीका जप करते। क्यों न हो, वे सत्पुरुषोंके पात्र आदर्श जो हैं॥ ६॥ इसके बाद सूर्योदय होनेके समय सूर्योपस्थान करते और अपने कलास्वरूप देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण करते। फिर कुलके बड़े-बूढ़ों और ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करते। इसके बाद परम मनस्वी श्रीकृष्ण दुधारू, पहले-पहल ब्यायी हुई, बछड़ोंवाली सीधी-शान्त गौओंका दान करते। उस समय उन्हें सुन्दर वस्त्र और मोतियोंकी माला पहना दी जाती।

ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह।
अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने॥ ९

गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मंगलानि समस्पृशत्॥ १०

आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम्।
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्त्रगनुलेपनैः॥ ११

अवेक्ष्याज्यं तथाऽऽदर्शं गोवृषद्विजदेवताः।
कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम्।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत॥ १२

संविभज्याग्रतो विप्रान् स्त्रक्ताम्बूलानुलेपनैः।
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुंक्त ततः स्वयम्॥ १३

तावत् सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम्।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः॥ १४

गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत्।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः॥ १५

ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः।
कृच्छ्राद् विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन् मनः॥ १६

सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः।
प्राविशद् यन्निविष्टानां न सन्त्यंग षडूर्मयः॥ १७

सींगमें सोना और खुरोंमें चाँदी मढ़ दी जाती। वे ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित करके रेशमी वस्त्र, मृगचर्म और तिलके साथ प्रतिदिन तेरह हजार चौरासी गौएँ इस प्रकार दान करते॥ ७—९ ॥ तदनन्तर अपनी विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, कुलके बड़े-बूढ़े, गुरुजन और समस्त प्राणियोंको प्रणाम करके मांगलिक वस्तुओंका स्पर्श करते॥ १० ॥

परीक्षित्! यद्यपि भगवान्के शरीरका सहज सौन्दर्य ही मनुष्य-लोकका अलंकार है, फिर भी वे अपने पीताम्बरादि दिव्य वस्त्र, कौस्तुभादि आभूषण, पुष्पोंके हार और चन्दनादि दिव्य अंगरागसे अपनेको आभूषित करते॥ ११ ॥ इसके बाद वे घी और दर्पणमें अपना मुखारविन्द देखते; गाय, बैल, ब्राह्मण और देव-प्रतिमाओंका दर्शन करते। फिर पुरवासी और अन्तःपुरमें रहनेवाले चारों वर्णोंके लोगोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते और फिर अपनी अन्य (ग्रामवासी) प्रजाकी कामनापूर्ति करके उसे सन्तुष्ट करते और इन सबको प्रसन्न देखकर स्वयं बहुत ही आनन्दित होते॥ १२ ॥ वे पुष्पमाला, ताम्बूल, चन्दन और अंगराग आदि वस्तुएँ पहले ब्राह्मण, स्वजनसम्बन्धी, मन्त्री और रानियोंको बाँट देते; और उनसे बची हुई स्वयं अपने काममें लाते॥ १३ ॥ भगवान् यह सब करते होते, तबतक दारुक नामका सारथि सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुता हुआ अत्यन्त अद्‌भुत रथ ले आता और प्रणाम करके भगवान्के सामने खड़ा हो जाता॥ १४॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण सात्यकि और उद्धवजीके साथ अपने हाथसे सारथिका हाथ पकड़कर रथपर सवार होते—ठीक वैसे ही जैसे भुवनभास्कर भगवान् सूर्य उदयाचलपर आरूढ़ होते हैं॥ १५ ॥ उस समय रनिवासकी स्त्रियाँ लज्जा एवं प्रेमसे भरी चितवनसे उन्हें निहारने लगतीं और बड़े कष्टसे उन्हें विदा करतीं। भगवान् मुसकराकर उनके चित्तको चुराते हुए महलसे निकलते॥ १६ ॥

परीक्षित्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यदुवंशियोंके साथ सुधर्मा नामकी सभामें प्रवेश करते। उस सभाकी ऐसी महिमा है कि जो लोग उस सभामें जा बैठते हैं, उन्हें भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ नहीं सतातीं॥ १७॥

तत्रोपविष्टः परमासने विभु-
र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन्।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो
यथोडुराजो दिवि तारकागणैः॥ १८

तत्रोपमन्त्रिणो राजन् नानाहास्यरसैर्विभुम्।
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक्॥ १९

मृदंगवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः॥ २०

तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन् कथाः॥ २१

तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः॥ २२

स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृतांजलिः।
राज्ञामावेदयद् दुःखं जरासन्धनिरोधजम्॥ २३

ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे॥ २४

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभंजन।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः॥ २५

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण सब रानियोंसे अलग-अलग विदा होकर एक ही रूपमें सुधर्मा-सभामें प्रवेश करते और वहाँ जाकर श्रेष्ठ सिंहासनपर विराज जाते। उनकी अंगकान्तिसे दिशाएँ प्रकाशित होती रहतीं। उस समय यदुवंशी वीरोंके बीचमें यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णकी ऐसी शोभा होती, जैसे आकाशमें तारोंसे घिरे हुए चन्द्रदेव शोभायमान होते हैं॥ १८॥ परीक्षित्! सभामें विदूषकलोग विभिन्न प्रकारके हास्य-विनोदसे, नटाचार्य अभिनयसे और नर्तकियाँ कलापूर्ण नृत्योंसे अलग-अलग अपनी टोलियोंके साथ भगवान्‌की सेवा करतीं ॥ १९ ॥ उस समय मृदंग, वीणा, पखावज, बाँसुरी, झाँझ और शंख बजने लगते और सूत, मागध तथा वंदीजन नाचते-गाते और भगवान्‌की स्तुति करते॥ २०॥ कोई-कोई व्याख्याकुशल ब्राह्मण वहाँ बैठकर वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करते और कोई पूर्वकालीन पवित्रकीर्ति नरपतियोंके चरित्र कह-कहकर सुनाते॥ २१॥

एक दिनकी बात है, द्वारकापुरीमें राजसभाके द्वारपर एक नया मनुष्य आया। द्वारपालोंने भगवान्‌को उसके आनेकी सूचना देकर उसे सभाभवनमें उपस्थित किया॥ २२॥ उस मनुष्यने परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको हाथ जोड़कर नमस्कार किया और उन राजाओंका, जिन्होंने जरासन्धके दिग्विजयके समय उसके सामने सिर नहीं झुकाया था और बलपूर्वक कैद कर लिये गये थे, जिनकी संख्या बीस हजार थी, जरासन्धके बंदी बननेका दुःख श्रीकृष्णके सामने निवेदन किया—॥ २३-२४॥ 'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप मन और वाणीके अगोचर हैं। जो आपकी शरणमें आता है, उसके सारे भय आप नष्ट कर देते हैं। प्रभो! हमारी भेद-बुद्धि मिटी नहीं है। हम जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करसे भयभीत होकर आपकी शरणमें आये हैं॥ २५॥ भगवन्! अधिकांश जीव ऐसे सकाम और निषिद्ध कर्मोंमें फँसे हुए हैं कि वे आपके बतलाये हुए अपने परम कल्याणकारी कर्म, आपकी उपासनासे विमुख हो गये हैं और अपने जीवन एवं जीवनसम्बन्धी आशा-अभिलाषाओंमें भ्रम-

यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ २६

भटक रहे हैं। परन्तु आप बड़े बलवान् हैं। आप कालरूपसे सदा-सर्वदा सावधान रहकर उनकी आशालताका तुरंत समूल उच्छेद कर डालते हैं। हम आपके उस कालरूपको नमस्कार करते हैं॥ २६ ॥ आप स्वयं जगदीश्वर हैं और आपने जगत्‌में अपने ज्ञान, बल आदि कलाओंके साथ इसलिये अवतार ग्रहण किया है कि संतोंकी रक्षा करें और दुष्टोंको दण्ड दें। ऐसी अवस्थामें प्रभो! जरासन्ध आदि कोई दूसरे राजा आपकी इच्छा और आज्ञाके विपरीत हमें कैसे कष्ट दे रहे हैं, यह बात हमारी समझमें नहीं आती। यदि यह कहा जाय कि जरासन्ध हमें कष्ट नहीं देता, उसके रूपमें—उसे निमित्त बनाकर हमारे अशुभ कर्म ही हमें दु:ख पहुँचा रहे हैं; तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जब हमलोग आपके अपने हैं, तब हमारे दुष्कर्म हमें फल देनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं? इसलिये आप कृपा करके अवश्य ही हमें इस क्लेशसे मुक्त कीजिये॥ २७॥ प्रभो! हम जानते हैं कि राजापनेका सुख प्रारब्धके अधीन एवं विषयसाध्य है। और सच कहें तो स्वप्न-सुखके समान अत्यन्त तुच्छ और असत् है। साथ ही उस सुखको भोगनेवाला यह शरीर भी एक प्रकारसे मुर्दा ही है और इसके पीछे सदा-सर्वदा सैकड़ों प्रकारके भय लगे रहते हैं। परन्तु हम तो इसीके द्वारा जगत्‌के अनेकों भार ढो रहे हैं और यही कारण है कि हमने अन्त:करणके निष्काम-भाव और निस्संकल्प स्थितिसे प्राप्त होनेवाले आत्मसुखका परित्याग कर दिया है। सचमुच हम अत्यन्त अज्ञानी हैं और आपकी मायाके फंदेमें फँसकर क्लेश-पर-क्लेश भोगते जा रहे हैं॥ २८॥ भगवन्! आपके चरण-कमल शरणागत पुरुषोंके समस्त शोक और मोहोंको नष्ट कर देनेवाले हैं। इसलिये आप ही जरासन्धरूप कर्मोंके बन्धनसे हमें छुड़ाइये। प्रभो! यह अकेला ही दस हजार हाथियोंकी शक्ति रखता है और हमलोगोंको उसी प्रकार बंदी बनाये हुए है, जैसे सिंह भेड़ोंको घेर रखे॥ २९॥

लोके भवांजगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः।
कश्चित् त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥ २७

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह॥ २८

तन्नो भवान् प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो
बद्धान् वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात्।
यो भूभुजोऽयुतमतंगजवीर्यमेको
बिभ्रद् रुरोध भवने मृगराडिवावीः॥ २९

योो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम्।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद् विधेहि॥ ३०

दूत उवाच

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकांक्षिणः।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम्॥ ३१

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः।
बिभ्रत् पिंगजटाभारं प्रादुरासीद् यथा रविः॥ ३२

तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा॥ ३३

सभाजयित्वा विधिवत् कृतासनपरिग्रहम्।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन् मुनिम्॥ ३४

अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम्।
ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः॥ ३५

न हि तेऽविदितं किंचिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु।
अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम्॥ ३६

चक्रपाणे! आपने अठारह बार जरासन्धसे युद्ध किया और सत्रह बार उसका मान-मर्दन करके उसे छोड़ दिया। परन्तु एक बार उसने आपको जीत लिया। हम जानते हैं कि आपकी शक्ति, आपका बल-पौरुष अनन्त है। फिर भी मनुष्योंका-सा आचरण करते हुए आपने हारनेका अभिनय किया। परन्तु इसीसे उसका घमंड बढ़ गया है। हे अजित! अब वह यह जानकर हमलोगोंको और भी सताता है कि हम आपके भक्त हैं, आपकी प्रजा हैं। अब आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये'॥ ३०॥

दूतने कहा—भगवन्! जरासन्धके बंदी नरपतियोंने इस प्रकार आपसे प्रार्थना की है। वे आपके चरणकमलोंकी शरणमें हैं और आपका दर्शन चाहते हैं। आप कृपा करके उन दीनोंका कल्याण कीजिये॥ ३१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजाओंका दूत इस प्रकार कह ही रहा था कि परमतेजस्वी देवर्षि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। उनकी सुनहरी जटाएँ चमक रही थीं। उन्हें देखकर ऐसा मालूम हो रहा था, मानो साक्षात् भगवान् सूर्य ही उदय हो गये हों॥ ३२॥ ब्रह्मा आदि समस्त लोकपालोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें देखते ही सभासदों और सेवकोंके साथ हर्षित होकर उठ खड़े हुए और सिर झुकाकर उनकी वन्दना करने लगे॥ ३३॥ जब देवर्षि नारद आसन स्वीकार करके बैठ गये, तब भगवान्ने उनकी विधि-पूर्वक पूजा की और अपनी श्रद्धासे उनको सन्तुष्ट करते हुए वे मधुर वाणीसे बोले—॥ ३४॥ 'देवर्षे! इस समय तीनों लोकोंमें कुशल-मंगल तो है न'? आप तीनों लोकोंमें विचरण करते रहते हैं, इससे हमें यह बहुत बड़ा लाभ है कि घर बैठे सबका समाचार मिल जाता है॥ ३५॥ ईश्वरके द्वारा रचे हुए तीनों लोकोंमें ऐसी कोई बात नहीं है, जिसे आप न जानते हों। अत: हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि युधिष्ठिर आदि पाण्डव इस समय क्या करना चाहते हैं?'॥ ३६॥

श्रीनारद उवाच

दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया
माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभि-
र्वह्नेरिवच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम्॥ ३७

देवर्षि नारदजीने कहा—सर्वव्यापक अनन्त! आप विश्वके निर्माता हैं और इतने बड़े मायावी हैं कि बड़े-बड़े मायावी ब्रह्माजी आदि भी आपकी मायाका पार नहीं पा सकते? प्रभो! आप सबके घट-घटमें अपनी अचिन्त्य शक्तिसे व्याप्त रहते हैं—ठीक वैसे ही; जैसे अग्नि लकड़ियोंमें अपनेको छिपाये रखता है। लोगोंकी दृष्टि सत्त्व आदि गुणोंपर ही अटक जाती है, इससे आपको वे नहीं देख पाते। मैंने एक बार नहीं, अनेकों बार आपकी माया देखी है। इसलिये आप जो यों अनजान बनकर पाण्डवोंका समाचार पूछते हैं, इससे मुझे कोई कौतूहल नहीं हो रहा है॥ ३७॥

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं
स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः।
यद् विद्यमानात्मतयावभासते
तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने॥ ३८

भगवन्! आप अपनी मायासे ही इस जगत्‌की रचना और संहार करते हैं, और आपकी मायाके कारण ही यह असत्य होनेपर भी सत्यके समान प्रतीत होता है। आप कब क्या करना चाहते हैं, यह बात भलीभाँति कौन समझ सकता है। आपका स्वरूप सर्वथा अचिन्तनीय है। मैं तो केवल बार-बार आपको नमस्कार करता हूँ॥ ३८॥

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं
न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं
प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये॥ ३९

शरीर और इससे सम्बन्ध रखनेवाली वासनाओंमें फँसकर जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता रहता है तथा यह नहीं जानता कि मैं इस शरीरसे कैसे मुक्त हो सकता हूँ। वास्तवमें उसीके हितके लिये आप नाना प्रकारके लीलावतार ग्रहण करके अपने पवित्र यशका दीपक जला देते हैं, जिसके सहारे वह इस अनर्थकारी शरीरसे मुक्त हो सके। इसलिये मैं आपकी शरणमें हूँ॥ ३९॥

अथाप्याश्रावये ब्रह्म नरलोकविडम्बनम्।
राज्ञः पैतृष्वसेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम्॥ ४०

प्रभो! आप स्वयं परब्रह्म हैं, तथापि मनुष्योंकी-सी लीलाका नाट्य करते हुए मुझसे पूछ रहे हैं। इसलिये आपके फुफेरे भाई और प्रेमी भक्त राजा युधिष्ठिर क्या करना चाहते हैं, यह बात मैं आपको सुनाता हूँ॥ ४०॥

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद् भवाननुमोदताम्॥ ४१

इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मलोकमें किसीको जो भोग प्राप्त हो सकता है, वह राजा युधिष्ठिरको यहीं प्राप्त है। उन्हें किसी वस्तुकी कामना नहीं है। फिर भी वे श्रेष्ठ यज्ञ राजसूयके द्वारा आपकी प्राप्तिके लिये आपकी आराधना करना चाहते हैं। आप कृपा करके उनकी इस अभिलाषाका अनुमोदन कीजिये॥ ४१॥

तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः॥ ४२

श्रवणात् कीर्तनाद् ध्यानात् पूयन्तेऽन्तेवसायिनः।
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः॥ ४३

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमंगल दिग्वितानम्।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गंगेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम्॥ ४४

श्रीशुक उवाच

तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृह्णत्सु विजिगीषया।
वाचःपेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः॥ ४५

श्रीभगवानुवाच

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित्।
तथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत्॥ ४६

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत्।
निदेशं शिरसाऽऽधाय उद्धवः प्रत्यभाषत॥ ४७

भगवन्! उस श्रेष्ठ यज्ञमें आपका दर्शन करनेके लिये बड़े-बड़े देवता और यशस्वी नरपतिगण एकत्र होंगे॥ ४२॥ प्रभो! आप स्वयं विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हैं। आपके श्रवण, कीर्तन और ध्यान करनेमात्रसे अन्त्यज भी पवित्र हो जाते हैं। फिर जो आपका दर्शन और स्पर्श प्राप्त करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ ४३॥ त्रिभुवन-मंगल! आपकी निर्मल कीर्ति समस्त दिशाओंमें छा रही है तथा स्वर्ग, पृथ्वी और पातालमें व्याप्त हो रही है; ठीक वैसे ही, जैसे आपकी चरणामृतधारा स्वर्गमें मन्दाकिनी, पातालमें भोगवती और मर्त्यलोकमें गंगाके नामसे प्रवाहित होकर सारे विश्वको पवित्र कर रही है॥ ४४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! सभामें जितने यदुवंशी बैठे थे, वे सब इस बातके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे कि पहले जरासन्धपर चढ़ाई करके उसे जीत लिया जाय। अत: उन्हें नारदजीकी बात पसंद न आयी। तब ब्रह्मा आदिके शासक भगवान् श्रीकृष्णने तनिक मुसकराकर बड़ी मीठी वाणीमें उद्धवजीसे कहा— ॥ ४५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'उद्धव! तुम मेरे हितैषी सुहृद् हो। शुभ सम्मति देनेवाले और कार्यके तत्त्वको भलीभाँति समझनेवाले हो, इसीलिये हम तुम्हें अपना उत्तम नेत्र मानते हैं। अब तुम्हीं बताओ कि इस विषयमें हमें क्या करना चाहिये। तुम्हारी बातपर हमारी श्रद्धा है। इसलिये हम तुम्हारी सलाहके अनुसार ही काम करेंगे'॥ ४६॥ जब उद्धवजीने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होनेपर भी अनजानकी तरह सलाह पूछ रहे हैं, तब वे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके बोले॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे भगवद्यानविचारे सप्ततितमोऽध्याय:॥ ७०॥

अथैकसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णभगवान्‌का इन्द्रप्रस्थ पधारना

श्रीशुक उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत्।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः॥ १

उद्धव उवाच

यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया।
कार्यं पैतृष्वसेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम्॥ २

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो।
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम॥ ३

अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बद्धान् विमुञ्चतः॥ ४

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना॥ ५

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः।
ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित्॥ ६

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः।
हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके वचन सुनकर महामति उद्धवजीने देवर्षि नारद, सभासद् और भगवान् श्रीकृष्णके मतपर विचार किया और फिर वे कहने लगे॥ १॥

उद्धवजीने कहा—भगवन्! देवर्षि नारदजीने आपको यह सलाह दी है कि फुफेरे भाई पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें सम्मिलित होकर उनकी सहायता करनी चाहिये। उनका यह कथन ठीक ही है और साथ ही यह भी ठीक है कि शरणागतोंकी रक्षा अवश्यकर्तव्य है॥ २॥ प्रभो! जब हम इस दृष्टिसे विचार करते हैं कि राजसूय-यज्ञ वही कर सकता है, जो दसों दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ले, तब हम इस निर्णयपर बिना किसी दुविधाके पहुँच जाते हैं कि पाण्डवोंके यज्ञ और शरणागतोंकी रक्षा दोनों कामोंके लिये जरासन्धको जीतना आवश्यक है॥ ३॥ प्रभो! केवल जरासन्धको जीत लेनेसे ही हमारा महान् उद्देश्य सफल हो जायगा, साथ ही उससे बंदी राजाओंकी मुक्ति और उसके कारण आपको सुयशकी भी प्राप्ति हो जायगी॥ ४॥ राजा जरासन्ध बड़े-बड़े लोगोंके भी दाँत खट्टे कर देता है; क्योंकि दस हजार हाथियोंका बल उसे प्राप्त है। उसे यदि हरा सकते हैं तो केवल भीमसेन, क्योंकि वे भी वैसे ही बली हैं॥ ५॥ उसे आमने-सामनेके युद्धमें एक वीर जीत ले, यही सबसे अच्छा है। सौ अक्षौहिणी सेना लेकर जब वह युद्धके लिये खड़ा होगा, उस समय उसे जीतना आसान न होगा। जरासन्ध बहुत बड़ा ब्राह्मणभक्त है। यदि ब्राह्मण उससे किसी बातकी याचना करते हैं, तो वह कभी कोरा जवाब नहीं देता॥ ६॥ इसलिये भीमसेन ब्राह्मणके वेषमें जायँ और उससे युद्धकी भिक्षा माँगें। भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि यदि आपकी उपस्थितिमें भीमसेन और जरासन्धका द्वन्द्वयुद्ध हो, तो भीमसेन उसे मार डालेंगे॥ ७॥

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव॥ ८

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च।
गोप्यश्च कुंजरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च॥ ९

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः॥ १०

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम्।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन्॥ ११

अथादिशत् प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः।
भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः॥ १२

निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान्।
संकर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन्।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद् गरुडध्वजम्॥ १३

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः
करालया परिवृत आत्मसेनया।
मृदंगभेर्यानकशंखगोमुखैः
प्रघोषघोषितककुभो निराक्रमत्॥ १४

प्रभो! आप सर्वशक्तिमान्, रूपरहित कालस्वरूप हैं। विश्वकी सृष्टि और प्रलय आपकी ही शक्तिसे होता है। ब्रह्मा और शंकर तो उसमें निमित्तमात्र हैं। (इसी प्रकार जरासन्धका वध तो होगा आपकी शक्तिसे, भीमसेन केवल उसमें निमित्तमात्र बनेंगे)॥ ८॥ जब इस प्रकार आप जरासन्धका वध कर डालेंगे, तब कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रानियाँ अपने महलोंमें आपकी इस विशुद्ध लीलाका गान करेंगी कि आपने उनके शत्रुका नाश कर दिया और उनके प्राणपतियोंको छुड़ा दिया। ठीक वैसे ही, जैसे गोपियाँ शंखचूड़से छुड़ानेकी लीलाका, आपके शरणागत मुनिगण गजेन्द्र और जानकीजीके उद्धारकी लीलाका तथा हमलोग आपके माता-पिताको कंसके कारागारसे छुड़ानेकी लीलाका गान करते हैं॥ ९॥ इसलिये प्रभो! जरासन्धका वध स्वयं ही बहुत-से प्रयोजन सिद्ध कर देगा। बंदी नरपतियोंके पुण्य-परिणामसे अथवा जरासन्धके पाप-परिणामसे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप भी तो इस समय राजसूय-यज्ञका होना ही पसंद करते हैं (इसलिये पहले आप वहीं पधारिये)॥ १०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उद्धवजीकी यह सलाह सब प्रकारसे हितकर और निर्दोष थी। देवर्षि नारद, यदुवंशके बड़े-बूढ़े और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी उनकी बातका समर्थन किया॥ ११॥ अब अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने वसुदेव आदि गुरुजनोंसे अनुमति लेकर दारुक, जैत्र आदि सेवकोंको इन्द्रप्रस्थ जानेकी तैयारी करनेके लिये आज्ञा दी॥ १२॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने यदुराज उग्रसेन और बलरामजीसे आज्ञा लेकर बाल-बच्चोंके साथ रानियों और उनके सब सामानोंको आगे चला दिया और फिर दारुकके लाये हुए गरुड़ध्वज रथपर स्वयं सवार हुए॥ १३॥ इसके बाद रथों, हाथियों, घुड़सवारों और पैदलोंकी बड़ी भारी सेनाके साथ उन्होंने प्रस्थान किया। उस समय मृदंग, नगारे, ढोल, शंख और नरसिंगोंकी ऊँची ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं॥ १४॥

नृवाजिकांचनशिबिकाभिरच्युतं
सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः।
वराम्बराभरणविलेपनस्त्रजः
सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः॥ १५

नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनः
करेणुभिः परिजनवारयोषितः।
स्वलंकृताः कटकुटिकम्बलाम्बरा-
द्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः॥ १६

बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरै-
र्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवे-
र्यथार्णवः क्षुभिततिमिंगिलोर्मिभिः॥ १७

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः
प्रणम्य तं हृदि विदधद् विहायसा।
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो
मुकुन्दसन्दर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥ १८

राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम्॥ १९

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान्।
तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन् यन्मुमुक्षवः॥ २०

सतीशिरोमणि रुक्मिणीजी आदि सहस्रों श्रीकृष्णपत्नियाँ अपनी सन्तानोंके साथ सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण, चन्दन, अंगराग और पुष्पोंके हार आदिसे सज-धजकर डोलियों, रथों और सोनेकी बनी हुई पालकियोंमें चढ़कर अपने पतिदेव भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चलीं। पैदल सिपाही हाथोंमें ढाल-तलवार लेकर उनकी रक्षा करते हुए चल रहे थे॥ १५॥ इसी प्रकार अनुचरोंकी स्त्रियाँ और वारांगनाएँ भलीभाँति शृंगार करके खस आदिकी झोपड़ियों, भाँति-भाँतिके तंबुओं, कनातों, कम्बलों और ओढ़ने-बिछाने आदिकी सामग्रियोंको बैलों, भैंसों, गधों और खच्चरोंपर लादकर तथा स्वयं पालकी, ऊँट, छकड़ों और हथिनियोंपर सवार होकर चलीं॥ १६॥ जैसे मगरमच्छों और लहरोंकी उछल-कूदसे क्षुब्ध समुद्रकी शोभा होती है, ठीक वैसे ही अत्यन्त कोलाहलसे परिपूर्ण, फहराती हुई बड़ी-बड़ी पताकाओं, छत्रों, चँवरों, श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों, वस्त्राभूषणों, मुकुटों, कवचों और दिनके समय उनपर पड़ती हुई सूर्यकी किरणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी सेना अत्यन्त शोभायमान हुई॥ १७॥ देवर्षि नारदजी भगवान् श्रीकृष्णसे सम्मानित होकर और उनके निश्चयको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। भगवान्‌के दर्शनसे उनका हृदय और समस्त इन्द्रियाँ परमानन्दमें मग्न हो गयीं। विदा होनेके समय भगवान् श्रीकृष्णने उनका नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे पूजन किया। अब देवर्षि नारदने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया और उनकी दिव्य मूर्तिको हृदयमें धारण करके आकाश-मार्गसे प्रस्थान किया॥ १८॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने जरासन्धके बंदी नरपतियोंके दूतको अपनी मधुर वाणीसे आश्वासन देते हुए कहा—'दूत! तुम अपने राजाओंसे जाकर कहना—डरो मत! तुमलोगोंका कल्याण हो। मैं जरासन्धको मरवा डालूँगा'॥ १९॥ भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर वह दूत गिरिव्रज चला गया और नरपतियोंको भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश ज्यों-का-त्यों सुना दिया। वे राजा भी कारागारसे छूटनेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌के शुभ दर्शनकी बाट जोहने लगे॥ २०॥

आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः।
गिरीन् नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान्॥ २१

ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम्।
पंचालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत्॥ २२

तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम्।
अजातशत्रुर्निरगात् सोपाध्यायः सुहृद्वृतः॥ २३

गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा।
अभ्ययात् स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः॥ २४

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः।
चिराद् दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः पुनः॥ २५

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं
मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो
हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः॥ २६

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो
भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम्॥ २७

परीक्षित्! अब भगवान् श्रीकृष्ण आनर्त, सौवीर, मरु, कुरुक्षेत्र और उनके बीचमें पड़नेवाले पर्वत, नदी, नगर, गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ तथा खानोंको पार करते हुए आगे बढ़ने लगे॥ २१॥

भगवान् मुकुन्द मार्गमें दृषद्वती एवं सरस्वती नदी पार करके पांचाल और मत्स्य देशोंमें होते हुए इन्द्रप्रस्थ जा पहुँचे॥ २२॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। जब अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला कि भगवान् श्रीकृष्ण पधार गये हैं, तब उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा। वे अपने आचार्यों और स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ भगवान्‌की अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर आये॥ २३॥ मंगल-गीत गाये जाने लगे, बाजे बजने लगे, बहुत-से ब्राह्मण मिलकर ऊँचे स्वरसे वेदमन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। इस प्रकार वे बड़े आदरसे हृषीकेशभगवान्‌का स्वागत करनेके लिये चले, जैसे इन्द्रियाँ मुख्य प्राणसे मिलने जा रही हों॥ २४॥ भगवान् श्रीकृष्णको देखकर राजा युधिष्ठिरका हृदय स्नेहातिरेकसे गद्गद हो गया। उन्हें बहुत दिनोंपर अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः वे उन्हें बार-बार अपने हृदयसे लगाने लगे॥ २५॥ भगवान् श्रीकृष्णका श्रीविग्रह भगवती लक्ष्मीजीका पवित्र और एकमात्र निवास-स्थान है। राजा युधिष्ठिर अपनी दोनों भुजाओंसे उसका आलिंगन करके समस्त पाप-तापोंसे छुटकारा पा गये। वे सर्वतोभावेन परमानन्दके समुद्रमें मग्न हो गये। नेत्रोंमें आँसू छलक आये, अंग-अंग पुलकित हो गया, उन्हें इस विश्व-प्रपंचके भ्रमका तनिक भी स्मरण न रहा॥ २६॥ तदनन्तर भीमसेनने मुसकराकर अपने ममेरे भाई श्रीकृष्णका आलिंगन किया। इससे उन्हें बड़ा आनन्द मिला। उस समय उनके हृदयमें इतना प्रेम उमड़ा कि उन्हें बाह्य विस्मृति-सी हो गयी। नकुल, सहदेव और अर्जुनने भी अपने परम प्रियतम और हितैषी भगवान् श्रीकृष्णका बड़े आनन्दसे आलिंगन प्राप्त किया। उस समय उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी बाढ़-सी आ गयी थी॥ २७॥

अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः॥ २८

मानितो मानयामास कुरुसृंजयकैकयान्।
सूतमागधगन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः॥ २९

मृदंगशंखपटहवीणापणवगोमुखैः।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः॥ ३०

एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः।
संस्तूयमानो भगवान् विवेशालंकृतं पुरम्॥ ३१

संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयै-
श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्त्रग्
गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम्॥ ३२

उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्मजाल-
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम्।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम॥ ३३

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे॥ ३४

अर्जुनने पुनः भगवान् श्रीकृष्णका आलिंगन किया, नकुल और सहदेवने अभिवादन किया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणों और कुरुवंशी वृद्धोंको यथायोग्य नमस्कार किया॥ २८॥ कुरु, सृंजय और केकय देशके नरपतियोंने भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान किया और भगवान् श्रीकृष्णने भी उनका यथोचित सत्कार किया। सूत, मागध, वंदीजन और ब्राह्मण भगवान्‌की स्तुति करने लगे तथा गन्धर्व, नट, विदूषक आदि मृदंग, शंख, नगारे, वीणा, ढोल और नरसिंगे बजा-बजाकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये नाचने-गाने लगे॥ २९-३०॥ इस प्रकार परमयशस्वी भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुहृद्-स्वजनोंके साथ सब प्रकारसे सुसज्जित इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय लोग आपसमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करते चल रहे थे॥ ३१॥

इन्द्रप्रस्थ नगरकी सड़कें और गलियाँ मतवाले हाथियोंके मदसे तथा सुगन्धित जलसे सींच दी गयी थीं। जगह-जगह रंग-बिरंगी झंडियाँ लगा दी गयी थीं। सुनहले तोरन बाँधे हुए थे और सोनेके जलभरे कलश स्थान-स्थानपर शोभा पा रहे थे। नगरके नर-नारी नहा-धोकर तथा नये वस्त्र, आभूषण, पुष्पोंके हार, इत्र-फुलेल आदिसे सज-धजकर घूम रहे थे॥ ३२॥ घर-घरमें ठौर-ठौरपर दीपक जलाये गये थे, जिनसे दीपावलीकी-सी छटा हो रही थी। प्रत्येक घरके झरोखोंसे धूपका धूआँ निकलता हुआ बहुत ही भला मालूम होता था। सभी घरोंके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं तथा सोनेके कलश और चाँदीके शिखर जगमगा रहे थे। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारके महलोंसे परिपूर्ण पाण्डवोंकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ नगरको देखते हुए आगे बढ़ रहे थे॥ ३३॥ जब युवतियोंने सुना कि मानव-नेत्रोंके पानपात्र अर्थात् अत्यन्त दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्ण राजपथपर आ रहे हैं, तब उनके दर्शनकी उत्सुकताके आवेगसे उनकी चोटियों और साड़ियोंकी गाँठें ढीली पड़ गयीं। उन्होंने घरका काम-काज तो छोड़ ही दिया, सेजपर सोये हुए अपने पतियोंको भी छोड़ दिया और भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये राजपथपर दौड़ आयीं॥ ३४॥

तस्मिन् सुसंकुल इभाश्वरथद्विपद्भिः
कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन॥ ३५

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोककलयोत्सवमातनोति॥ ३६

तत्र तत्रोपसंगम्य पौरा मंगलपाणयः।
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः॥ ३७

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः।
ससम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद् राजमन्दिरम्॥ ३८

पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम्।
प्रीतात्मोत्थाय पर्यंकात् सस्नुषा परिषस्वजे॥ ३९

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः।
पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः॥ ४०

पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम्।
स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवन्दितः॥ ४१

सड़कपर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेनाकी भीड़ लग रही थी। उन स्त्रियोंने अटारियोंपर चढ़कर रानियोंके सहित भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया, उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की और मन-ही-मन आलिंगन किया तथा प्रेमभरी मुसकान एवं चितवनसे उनका सुस्वागत किया॥ ३५॥ नगरकी स्त्रियाँ राजपथपर चन्द्रमाके साथ विराजमान ताराओंके समान श्रीकृष्णकी पत्नियोंको देखकर आपसमें कहने लगीं—'सखी! इन बड़भागिनी रानियोंने न जाने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिसके कारण पुरुषशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण अपने उन्मुक्त हास्य और विलासपूर्ण कटाक्षसे उनकी ओर देखकर उनके नेत्रोंको परम आनन्द प्रदान करते हैं॥ ३६॥ इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण राजपथसे चल रहे थे। स्थान-स्थानपर बहुत-से निष्पाप धनी-मानी और शिल्पजीवी नागरिकोंने अनेकों मांगलिक वस्तुएँ ला-लाकर उनकी पूजा-अर्चा और स्वागत-सत्कार किया॥ ३७॥

अन्तःपुरकी स्त्रियाँ भगवान् श्रीकृष्णको देखकर प्रेम और आनन्दसे भर गयीं। उन्होंने अपने प्रेमविह्वल और आनन्दसे खिले नेत्रोंके द्वारा भगवान्‌का स्वागत किया और श्रीकृष्ण उनका स्वागत-सत्कार स्वीकार करते हुए राजमहलमें पधारे॥ ३८॥

जब कुन्तीने अपने त्रिभुवनपति भतीजे श्रीकृष्णको देखा, तब उनका हृदय प्रेमसे भर आया। वे पलंगसे उठकर अपनी पुत्रवधू द्रौपदीके साथ आगे गयीं और भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगा लिया॥ ३९॥ देवदेवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको राजमहलके अंदर लाकर राजा युधिष्ठिर आदरभाव और आनन्दके उद्रेकसे आत्म-विस्मृत हो गये; उन्हें इस बातकी भी सुधि न रही कि किस क्रमसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये॥ ४०॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी फूआ कुन्ती और गुरुजनोंकी पत्नियोंका अभिवादन किया। उनकी बहिन सुभद्रा और द्रौपदीने भगवान्‌को नमस्कार किया॥ ४१॥

श्वश्र्वा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा॥ ४२

कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम्।
अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्त्रङ्मण्डनादिभिः॥ ४३

सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम्।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम्॥ ४४

तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता॥ ४५

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया।
विहरन् रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः॥ ४६

अपनी सास कुन्तीकी प्रेरणासे द्रौपदीने वस्त्र, आभूषण, माला आदिके द्वारा रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा और परम साध्वी सत्या—भगवान् श्रीकृष्णकी इन पटरानियोंका तथा वहाँ आयी हुई श्रीकृष्णकी अन्यान्य रानियोंका भी यथायोग्य सत्कार किया॥ ४२-४३॥ धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको उनकी सेना, सेवक, मन्त्री और पत्नियोंके साथ ऐसे स्थानमें ठहराया जहाँ उन्हें नित्य नयी-नयी सुखकी सामग्रियाँ प्राप्त हों॥ ४४॥ अर्जुनके साथ रहकर भगवान् श्रीकृष्णने खाण्डव वनका दाह करवाकर अग्निको तृप्त किया था और मयासुरको उससे बचाया था। परीक्षित्! उस मयासुरने ही धर्मराज युधिष्ठिरके लिये भगवान्‌की आज्ञासे एक दिव्य सभा तैयार कर दी॥ ४५॥ भगवान् श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरको आनन्दित करनेके लिये कई महीनोंतक इन्द्रप्रस्थमें ही रहे। वे समय-समयपर अर्जुनके साथ रथपर सवार होकर विहार करनेके लिये इधर-उधर चले जाया करते थे। उस समय बड़े-बड़े वीर सैनिक भी उनकी सेवाके लिये साथ-साथ जाते॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
कृष्णस्येन्द्रप्रस्थगमनं नामैकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः

पाण्डवोंके राजसूययज्ञका आयोजन और जरासन्धका उद्धार

श्रीशुक उवाच

एकदा तु सभामध्ये आस्थितो मुनिभिर्वृतः।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः॥ १

आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक दिन महाराज युधिष्ठिर बहुत-से मुनियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, भीमसेन आदि भाइयों, आचार्यों, कुलके बड़े-बूढ़ों, जाति-बन्धुओं, सम्बन्धियों एवं कुटुम्बियोंके साथ राजसभामें बैठे हुए थे। उन्होंने सबके सामने ही भगवान् श्रीकृष्णको सम्बोधित करके यह बात कही॥ १-२॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो॥ ३

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—गोविन्द! मैं सर्वश्रेष्ठ राजसूय-यज्ञके द्वारा आपका और आपके परम पावन विभूतिस्वरूप देवताओंका यजन करना चाहता हूँ। प्रभो! आप कृपा करके मेरा यह संकल्प पूरा कीजिये॥ ३॥

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये॥ ४

तद् देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृंजयानाम्॥ ५

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥ ६

श्रीभगवानुवाच

सम्यग् व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति॥ ७

ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम्॥ ८

विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे।
सम्भृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम्॥ ९

एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः॥ १०

कमलनाभ! आपके चरणकमलोंकी पादुकाएँ समस्त अमंगलोंको नष्ट करनेवाली हैं। जो लोग निरन्तर उनकी सेवा करते हैं, ध्यान और स्तुति करते हैं, वास्तवमें वे ही पवित्रात्मा हैं। वे जन्म-मृत्युके चक्करसे छुटकारा पा जाते हैं। और यदि वे सांसारिक विषयोंकी अभिलाषा करें तो उन्हें उनकी भी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जो आपके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण नहीं करते, उन्हें मुक्ति तो मिलती ही नहीं, सांसारिक भोग भी नहीं मिलते॥ ४॥ देवताओंके भी आराध्यदेव! मैं चाहता हूँ कि संसारी लोग आपके चरणकमलोंकी सेवाका प्रभाव देखें। प्रभो! कुरुवंशी और सृंजयवंशी नरपतियोंमें जो लोग आपका भजन करते हैं और जो नहीं करते, उनका अन्तर आप जनताको दिखला दीजिये॥ ५॥ प्रभो! आप सबके आत्मा, समदर्शी और स्वयं आत्मानन्दके साक्षात्कार हैं, स्वयं ब्रह्म हैं। आपमें 'यह मैं हूँ और यह दूसरा, यह अपना है और यह पराया'—इस प्रकारका भेदभाव नहीं है। फिर भी जो आपकी सेवा करते हैं, उन्हें उनकी भावनाके अनुसार फल मिलता ही है—ठीक वैसे ही, जैसे कल्पवृक्षकी सेवा करनेवालेको। उस फलमें जो न्यूनाधिकता होती है वह तो न्यूनाधिक सेवाके अनुरूप ही होती है। इससे आपमें विषमता या निर्दयता आदि दोष नहीं आते॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—शत्रु विजयी धर्मराज! आपका निश्चय बहुत ही उत्तम है। राजसूय-यज्ञ करनेसे समस्त लोकोंमें आपकी मंगलमयी कीर्तिका विस्तार होगा॥ ७॥

राजन्! आपका यह महायज्ञ ऋषियों, पितरों, देवताओं, सगे-सम्बन्धियों, हमें—और कहाँतक कहें, समस्त प्राणियोंको अभीष्ट है॥ ८॥ महाराज! पृथ्वीके समस्त नरपतियोंको जीतकर, सारी पृथ्वीको अपने वशमें करके और यज्ञोचित सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित करके फिर इस महायज्ञका अनुष्ठान कीजिये॥ ९॥ महाराज! आपके चारों भाई वायु, इन्द्र आदि लोकपालोंके अंशसे पैदा हुए हैं। वे सब-के-सब बड़े वीर हैं। आप तो परम मनस्वी और संयमी हैं ही। आपलोगोंने अपने सद्गुणोंसे मुझे अपने वशमें कर लिया है। जिन लोगोंने अपनी इन्द्रियों और मनको वशमें नहीं किया है, वे मुझे अपने वशमें नहीं कर सकते॥ १०॥

न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया।
विभूतिभिर्वाभिभवेद् देवोऽपि किमु पार्थिवः॥ ११

संसारमें कोई बड़े-से-बड़ा देवता भी तेज, यश, लक्ष्मी, सौन्दर्य और ऐश्वर्य आदिके द्वारा मेरे भक्तका तिरस्कार नहीं कर सकता। फिर कोई राजा उसका तिरस्कार कर दे, इसकी तो सम्भावना ही क्या है?॥ ११॥

श्रीशुक उवाच

निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः।
भ्रातॄन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान्॥ १२

सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत् सह सृंजयैः।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम्।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः॥ १३

ते विजित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते॥ १४

श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह॥ १५

भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिंगधरास्त्रयः।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः॥ १६

ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम्।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन् राजन्या ब्रह्मलिंगिनः॥ १७

राजन् विद्ध्यतिथीन् प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान्।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद् वयं कामयामहे॥ १८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! भगवान्‌की बात सुनकर महाराज युधिष्ठिरका हृदय आनन्दसे भर गया। उनका मुखकमल प्रफुल्लित हो गया। अब उन्होंने अपने भाइयोंको दिग्विजय करनेका आदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंमें अपनी शक्तिका संचार करके उनको अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया था॥ १२॥ धर्मराज युधिष्ठिरने सृंजयवंशी वीरोंके साथ सहदेवको दक्षिण दिशामें दिग्विजय करनेके लिये भेजा। नकुलको मत्स्यदेशीय वीरोंके साथ पश्चिममें, अर्जुनको केकयदेशीय वीरोंके साथ उत्तरमें और भीमसेनको मद्रदेशीय वीरोंके साथ पूर्व दिशामें दिग्विजय करनेका आदेश दिया॥ १३॥ परीक्षित्! उन भीमसेन आदि वीरोंने अपने बल-पौरुषसे सब ओरके नरपतियोंको जीत लिया और यज्ञ करनेके लिये उद्यत महाराज युधिष्ठिरको बहुत-सा धन लाकर दिया॥ १४॥ जब महाराज युधिष्ठिरने यह सुना कि अबतक जरासन्धपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकी, तब वे चिन्तामें पड़ गये। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें वही उपाय कह सुनाया, जो उद्धवजीने बतलाया था॥ १५॥ परीक्षित्! इसके बाद भीमसेन, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण—ये तीनों ही ब्राह्मणका वेष धारण करके गिरिव्रज गये। वही जरासन्धकी राजधानी थी॥ १६॥ राजा जरासन्ध ब्राह्मणोंका भक्त और गृहस्थोचित धर्मोंका पालन करनेवाला था। उपर्युक्त तीनों क्षत्रिय ब्राह्मणका वेष धारण करके अतिथि-अभ्यागतोंके सत्कारके समय जरासन्धके पास गये और उससे इस प्रकार याचना की—॥ १७॥

'राजन्! आपका कल्याण हो। हम तीनों आपके अतिथि हैं और बहुत दूरसे आ रहे हैं। अवश्य ही हम यहाँ किसी विशेष प्रयोजनसे ही आये हैं। इसलिये हम आपसे जो कुछ चाहते हैं, वह आप हमें अवश्य

किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम्॥ १९

योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम्।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः॥ २०

हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः॥ २१

श्रीशुक उवाच

स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि।
राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत्॥ २२

राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिंगानि बिभ्रति।
ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम्॥ २३

बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा।
ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना॥ २४

श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे।
जानन्नपि महीं प्रादाद् वार्यमाणोऽपि दैत्यराट्॥ २५

दीजिये॥ १८॥ तितिक्षु पुरुष क्या नहीं सह सकते। दुष्ट पुरुष बुरा-से-बुरा क्या नहीं कर सकते। उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते और समदर्शीके लिये पराया कौन है?॥ १९॥ जो पुरुष स्वयं समर्थ होकर भी इस नाशवान् शरीरसे ऐसे अविनाशी यशका संग्रह नहीं करता, जिसका बड़े-बड़े सत्पुरुष भी गान करें; सच पूछिये तो उसकी जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है। उसका जीवन शोक करनेयोग्य है॥ २०॥ राजन्! आप तो जानते ही होंगे—राजा हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, केवल अन्नके दाने बीन-चुनकर निर्वाह करनेवाले महात्मा मुद्गल, शिबि, बलि, व्याध और कपोत आदि बहुत-से व्यक्ति अतिथिको अपना सर्वस्व देकर इस नाशवान् शरीरके द्वारा अविनाशी पदको प्राप्त हो चुके हैं। इसलिये आप भी हमलोगोंको निराश मत कीजिये॥ २१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जरासन्धने उन लोगोंकी आवाज, सूरत-शकल और कलाइयोंपर पड़े हुए धनुषकी प्रत्यंचाकी रगड़के चिह्नोंको देखकर पहचान लिया कि ये तो ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय हैं। अब वह सोचने लगा कि मैंने कहीं-न-कहीं इन्हें देखा भी अवश्य है॥ २२॥ फिर उसने मन-ही-मन यह विचार किया कि 'ये क्षत्रिय होनेपर भी मेरे भयसे ब्राह्मणका वेष बनाकर आये हैं। जब ये भिक्षा माँगनेपर ही उतारू हो गये हैं, तब चाहे जो कुछ माँग लें, मैं इन्हें दूँगा। याचना करनेपर अपना अत्यन्त प्यारा और दुस्त्यज शरीर देनेमें भी मुझे हिचकिचाहट न होगी॥ २३॥ विष्णुभगवान्ने ब्राह्मणका वेष धारण करके बलिका धन, ऐश्वर्य—सब कुछ छीन लिया; फिर भी बलिकी पवित्र कीर्ति सब ओर फैली हुई है और आज भी लोग बड़े आदरसे उसका गान करते हैं॥ २४॥ इसमें सन्देह नहीं कि विष्णुभगवान्ने देवराज इन्द्रकी राज्यलक्ष्मी बलिसे छीनकर उन्हें लौटानेके लिये ही ब्राह्मणरूप धारण किया था। दैत्यराज बलिको यह बात मालूम हो गयी थी और शुक्राचार्यने उन्हें रोका भी; परन्तु उन्होंने पृथ्वीका दान कर ही दिया॥ २५॥

जीवता ब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः॥ २६

इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान्।
हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः॥ २७

श्रीभगवानुवाच

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकांक्षिणः॥ २८

असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम्।
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम्॥ २९

एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः॥ ३०

न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः॥ ३१

अयं तु वयसा तुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः।
अर्जुनो न भवेद् योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम॥ ३२

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम्।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद् बहिः॥ ३३

ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ॥ ३४

मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रंगिणोः॥ ३५

मेरा तो यह पक्का निश्चय है कि यह शरीर नाशवान् है। इस शरीरसे जो विपुल यश नहीं कमाता और जो क्षत्रिय ब्राह्मणके लिये ही जीवन नहीं धारण करता, उसका जीना व्यर्थ है'॥ २६॥

परीक्षित्! सचमुच जरासन्धकी बुद्धि बड़ी उदार थी। उपर्युक्त विचार करके उसने ब्राह्मण-वेषधारी श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनसे कहा—'ब्राह्मणो! आपलोग मनचाही वस्तु माँग लें, आप चाहें तो मैं आपलोगोंको अपना सिर भी दे सकता हूँ'॥ २७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'राजेन्द्र! हमलोग अन्नके इच्छुक ब्राह्मण नहीं हैं, क्षत्रिय हैं; हम आपके पास युद्धके लिये आये हैं। यदि आपकी इच्छा हो तो हमें द्वन्द्वयुद्धकी भिक्षा दीजिये॥ २८॥ देखो, ये पाण्डुपुत्र भीमसेन हैं और यह इनका भाई अर्जुन है और मैं इन दोनोंका ममेरा भाई तथा आपका पुराना शत्रु कृष्ण हूँ'॥ २९॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार अपना परिचय दिया, तब राजा जरासन्ध ठठाकर हँसने लगा। और चिढ़कर बोला—'अरे मूर्खो! यदि तुम्हें युद्धकी ही इच्छा है तो लो मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ॥ ३०॥ परन्तु कृष्ण! तुम तो बड़े डरपोक हो। युद्धमें तुम घबरा जाते हो। यहाँतक कि मेरे डरसे तुमने अपनी नगरी मथुरा भी छोड़ दी तथा समुद्रकी शरण ली है। इसलिये मैं तुम्हारे साथ नहीं लड़ूँगा॥ ३१॥ यह अर्जुन भी कोई योद्धा नहीं है। एक तो अवस्थामें मुझसे छोटा, दूसरे कोई विशेष बलवान् भी नहीं है। इसलिये यह भी मेरे जोड़का वीर नहीं है। मैं इसके साथ भी नहीं लड़ूँगा। रहे भीमसेन, ये अवश्य ही मेरे समान बलवान् और मेरे जोड़के हैं'॥ ३२॥ जरासन्धने यह कहकर भीमसेनको एक बहुत बड़ी गदा दे दी और स्वयं दूसरी गदा लेकर नगरसे बाहर निकल आया॥ ३३॥ अब दोनों रणोन्मत्त वीर अखाड़ेमें आकर एक-दूसरेसे भिड़ गये और अपनी वज्रके समान कठोर गदाओंसे एक-दूसरेपर चोट करने लगे॥ ३४॥ वे दायें-बायें तरह-तरहके पैंतरे बदलते हुए ऐसे शोभायमान हो रहे थे—मानो दो श्रेष्ठ नट रंगमंचपर युद्धका अभिनय कर रहे हों॥ ३५॥

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसन्निभः।
गदयोः क्षिप्तयो राजन् दन्तयोरिव दन्तिनोः॥ ३६

परीक्षित्! जब एककी गदा दूसरेकी गदासे टकराती, तब ऐसा मालूम होता मानो युद्ध करनेवाले दो हाथियोंके दाँत आपसमें भिड़कर चटचटा रहे हों या बड़े जोरसे बिजली तड़क रही हो॥ ३६॥

ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने
अन्योन्यतोंऽसकटिपादकरोरुजत्रून्।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुध्यतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्व्योः॥ ३७

जब दो हाथी क्रोधमें भरकर लड़ने लगते हैं और आककी डालियाँ तोड़-तोड़कर एक-दूसरेपर प्रहार करते हैं, उस समय एक-दूसरेकी चोटसे वे डालियाँ चूर-चूर हो जाती हैं; वैसे ही जब जरासन्ध और भीमसेन बड़े वेगसे गदा चला-चलाकर एक-दूसरेके कंधों, कमरों, पैरों, हाथों, जाँघों और हँसलियोंपर चोट करने लगे; तब उनकी गदाएँ उनके अंगोंसे टकरा-टकराकर चकनाचूर होने लगीं॥ ३७॥

इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिष्टाम्।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासी-
न्निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः॥ ३८

इस प्रकार जब गदाएँ चूर-चूर हो गयीं, तब दोनों वीर क्रोधमें भरकर अपने घूँसोंसे एक-दूसरेको कुचल डालनेकी चेष्टा करने लगे। उनके घूँसे ऐसी चोट करते, मानो लोहेका घन गिर रहा हो। एक-दूसरेपर खुलकर चोट करते हुए दो हाथियोंकी तरह उनके थप्पड़ों और घूँसोंका कठोर शब्द बिजलीकी कड़-कड़ाहटके समान जान पड़ता था॥ ३८॥

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः।
निर्विशेषमभूद् युद्धमक्षीणजवयोर्नृप॥ ३९

परीक्षित्! जरासन्ध और भीमसेन दोनोंकी गदा-युद्धमें कुशलता, बल और उत्साह समान थे। दोनोंकी शक्ति तनिक भी क्षीण नहीं हो रही थी। इस प्रकार लगातार प्रहार करते रहनेपर भी दोनोंमेंसे किसीकी जीत या हार न हुई॥ ३९॥

एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः।
दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन्निशि तिष्ठतोः॥ ४०

दोनों वीर रातके समय मित्रके समान रहते और दिनमें छूटकर एक-दूसरेपर प्रहार करते और लड़ते। महाराज! इस प्रकार उनके लड़ते-लड़ते सत्ताईस दिन बीत गये॥ ४०॥

एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः।
न शक्तोऽहं जरासन्धं निर्जेतुं युधि माधव॥ ४१

प्रिय परीक्षित्! अट्ठाईसवें दिन भीमसेनने अपने ममेरे भाई श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण! मैं युद्धमें जरासन्धको जीत नहीं सकता॥ ४१॥

शत्रोर्जन्ममृती विद्वान् जीवितं च जराकृतम्।
पार्थमाप्याययन् स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः॥ ४२

भगवान् श्रीकृष्ण जरासन्धके जन्म और मृत्युका रहस्य जानते थे और यह भी जानते थे कि जरा राक्षसीने जरासन्धके शरीरके दो टुकड़ोंको जोड़कर इसे जीवन-दान दिया है। इसलिये उन्होंने भीमसेनके शरीरमें अपनी शक्तिका संचार किया और जरासन्धके वधका उपाय सोचा॥ ४२॥

संचिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया॥ ४३

परीक्षित्! भगवान्‌का ज्ञान अबाध है। अब उन्होंने उसकी मृत्युका उपाय जानकर एक वृक्षकी डालीको बीचोबीचसे चीर दिया और इशारेसे भीमसेनको दिखाया॥ ४३॥

तद् विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले॥ ४४

वीरशिरोमणि एवं परम शक्तिशाली भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णका अभिप्राय समझ लिया और जरासन्धके पैर पकड़कर उसे धरतीपर दे मारा॥ ४४॥

एकं पादं पदाऽऽक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः।
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः॥ ४५

फिर उसके एक पैरको अपने पैरके नीचे दबाया और दूसरेको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया। इसके बाद भीमसेनने उसे गुदाकी ओरसे इस प्रकार चीर डाला, जैसे गजराज वृक्षकी डाली चीर डाले॥ ४५॥

एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः॥ ४६

लोगोंने देखा कि जरासन्धके शरीरके दो टुकड़े हो गये हैं, और इस प्रकार उनके एक-एक पैर, जाँघ, अण्डकोश, कमर, पीठ, स्तन, कंधा, भुजा, नेत्र, भौंह और कान अलग-अलग हो गये हैं॥ ४६॥

हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ॥ ४७

मगधराज जरासन्धकी मृत्यु हो जानेपर वहाँकी प्रजा बड़े जोरसे 'हाय-हाय!' पुकारने लगी। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भीमसेनका आलिंगन करके उनका सत्कार किया॥ ४७॥

सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः।
अभ्यषिंचदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः।
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये॥ ४८

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और विचारोंको कोई समझ नहीं सकता। वास्तवमें वे ही समस्त प्राणियोंके जीवनदाता हैं। उन्होंने जरासन्धके राजसिंहासनपर उसके पुत्र सहदेवका अभिषेक कर दिया और जरासन्धने जिन राजाओंको कैदी बना रखा था, उन्हें कारागारसे मुक्त कर दिया॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
जरासन्धवधो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२॥

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

जरासन्धके जेलसे छूटे हुए राजाओंकी बिदाई और भगवान्‌का इन्द्रप्रस्थ लौट आना

श्रीशुक उवाच

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः।
ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जरासन्धने अनायास ही बीस हजार आठ सौ राजाओंको जीतकर पहाड़ोंकी घाटीमें एक किलेके भीतर कैद कर रखा था। भगवान् श्रीकृष्णके छोड़ देनेपर जब वे वहाँसे निकले, तब उनके शरीर और वस्त्र मैले हो रहे थे॥ १॥

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्॥ २

श्रीवत्सांकं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३

पद्महस्तं गदाशंखरथाङ्गैरुपलक्षितम्।
किरीटहारकटककटिसूत्रांगदाचितम् ॥ ४

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया॥ ५

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः॥ ६

कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्रांजलयो नृपाः॥ ७

राजान ऊचुः

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय।
प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः॥ ८

नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन।
अनुग्रहो यद् भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो॥ ९

वे भूखसे दुर्बल हो रहे थे और उनके मुँह सूख गये थे। जेलमें बंद रहनेके कारण उनके शरीरका एक-एक अंग ढीला पड़ गया था। वहाँसे निकलते ही उन नरपतियोंने देखा कि सामने भगवान् श्रीकृष्ण खड़े हैं। वर्षाकालीन मेघके समान उनका साँवला-सलोना शरीर है और उसपर पीले रंगका रेशमी वस्त्र फहरा रहा है॥ २॥ चार भुजाएँ हैं—जिनमें गदा, शंख, चक्र और कमल सुशोभित हैं। वक्षःस्थलपर सुनहली रेखा—श्रीवत्सका चिह्न है और कमलके भीतरी भागके समान कोमल, रतनारे नेत्र हैं। सुन्दर वदन प्रसन्नताका सदन है। कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिलमिला रहे हैं। सुन्दर मुकुट, मोतियोंका हार, कड़े, करधनी और बाजूबंद अपने-अपने स्थानपर शोभा पा रहे हैं॥ ३-४॥ गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है और वनमाला लटक रही है। भगवान् श्रीकृष्णको देखकर उन राजाओंकी ऐसी स्थिति हो गयी, मानो वे नेत्रोंसे उन्हें पी रहे हैं। जीभसे चाट रहे हैं, नासिकासे सूँघ रहे हैं और बाहुओंसे आलिंगन कर रहे हैं। उनके सारे पाप तो भगवान्‌के दर्शनसे ही धुल चुके थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया॥ ५-६॥ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे उन राजाओंको इतना अधिक आनन्द हुआ कि कैदमें रहनेका क्लेश बिलकुल जाता रहा। वे हाथ जोड़कर विनम्र वाणीसे भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे॥ ७॥

राजाओंने कहा—शरणागतोंके सारे दुःख और भय हर लेनेवाले देवदेवेश्वर! सच्चिदानन्दस्वरूप अविनाशी श्रीकृष्ण! हम आपको नमस्कार करते हैं। आपने जरासन्धके कारागारसे तो हमें छुड़ा ही दिया, अब इस जन्म-मृत्युरूप घोर संसार-चक्रसे भी छुड़ा दीजिये; क्योंकि हम संसारमें दुःखका कटु अनुभव करके उससे ऊब गये हैं और आपकी शरणमें आये हैं। प्रभो! अब आप हमारी रक्षा कीजिये॥ ८॥ मधुसूदन! हमारे स्वामी! हम मगधराज जरासन्धका कोई दोष नहीं देखते। भगवन्! यह तो आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है कि हम राजा कहलाने-वाले लोग राज्यलक्ष्मीसे च्युत कर दिये गये॥ ९॥

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः।
त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचला:॥ १०

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम्।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते॥ ११

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो
जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो
मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः॥ १२

त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा
दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते॥ १३

अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत् पतता रुजां भुवा।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम्॥ १४

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह॥ १५

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥ १६

क्योंकि जो राजा अपने राज्य-ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो जाता है, उसको सच्चे सुखकी—कल्याणकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। वह आपकी मायासे मोहित होकर अनित्य सम्पत्तियोंको ही अचल मान बैठता है॥ १०॥ जैसे मूर्खलोग मृगतृष्णाके जलको ही जलाशय मान लेते हैं, वैसे ही इन्द्रियलोलुप और अज्ञानी पुरुष भी इस परिवर्तनशील मायाको सत्य वस्तु मान लेते हैं॥ ११॥ भगवन्! पहले हमलोग धन-सम्पत्तिके नशेमें चूर होकर अंधे हो रहे थे। इस पृथ्वीको जीत लेनेके लिये एक-दूसरेकी होड़ करते थे और अपनी ही प्रजाका नाश करते रहते थे! सचमुच हमारा जीवन अत्यन्त क्रूरतासे भरा हुआ था, और हमलोग इतने अधिक मतवाले हो रहे थे कि आप मृत्युरूपसे हमारे सामने खड़े हैं, इस बातकी भी हम तनिक परवा नहीं करते थे॥ १२॥ सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! कालकी गति बड़ी गहन है। वह इतना बलवान् है कि किसीके टाले टलता नहीं। क्यों न हो, वह आपका शरीर ही तो है। अब उसने हमलोगोंको श्रीहीन, निर्धन कर दिया है। आपकी अहैतुक अनुकम्पासे हमारा घमंड चूर-चूर हो गया। अब हम आपके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं॥ १३॥ विभो! यह शरीर दिनोदिन क्षीण होता जा रहा है। रोगोंकी तो यह जन्मभूमि ही है। अब हमें इस शरीरसे भोगे जानेवाले राज्यकी अभिलाषा नहीं है। क्योंकि हम समझ गये हैं कि वह मृगतृष्णाके जलके समान सर्वथा मिथ्या है। यही नहीं, हमें कर्मके फल स्वर्गादि लोकोंकी भी, जो मरनेके बाद मिलते हैं, इच्छा नहीं है। क्योंकि हम जानते हैं कि वे निस्सार हैं, केवल सुननेमें ही आकर्षक जान पड़ते हैं॥ १४॥ अब हमें कृपा करके आप वह उपाय बतलाइये, जिससे आपके चरणकमलोंकी विस्मृति कभी न हो, सर्वदा स्मृति बनी रहे। चाहे हमें संसारकी किसी भी योनिमें जन्म क्यों न लेना पड़े॥ १५॥ प्रणाम करनेवालोंके क्लेशका नाश करनेवाले श्रीकृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा एवं गोविन्दके प्रति हमारा बार-बार नमस्कार है॥ १६॥

श्रीशुक उवाच

संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा॥ १७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कारागारसे मुक्त राजाओंने जब इस प्रकार करुणावरुणालय भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की, तब शरणागतरक्षक प्रभुने बड़ी मधुर वाणीसे उनसे कहा॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच

अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा॥ १८

दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः।
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम्॥ १९

हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे।
श्रीमदाद् भ्रंशिताः स्थानाद् देवदैत्यनरेश्वराः॥ २०

भवन्त एतद् विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत्।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ॥ २१

सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ॥ २२

उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ॥ २३

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—नरपतियो! तुम-लोगोंने जैसी इच्छा प्रकट की है, उसके अनुसार आजसे मुझमें तुमलोगोंकी निश्चय ही सुदृढ़ भक्ति होगी। यह जान लो कि मैं सबका आत्मा और सबका स्वामी हूँ॥ १८॥ नरपतियो! तुमलोगोंने जो निश्चय किया है, वह सचमुच तुम्हारे लिये बड़े सौभाग्य और आनन्दकी बात है। तुमलोगोंने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिलकुल ठीक है। क्योंकि मैं देखता हूँ, धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर बहुत-से लोग उच्छृंखल और मतवाले हो जाते हैं॥ १९॥ हैहय, नहुष, वेन, रावण, नरकासुर आदि अनेकों देवता, दैत्य और नरपति श्रीमदके कारण अपने स्थानसे, पदसे च्युत हो गये॥ २०॥ तुमलोग यह समझ लो कि शरीर और इसके सम्बन्धी पैदा होते हैं, इसलिये उनका नाश भी अवश्यम्भावी है। अतः उनमें आसक्ति मत करो। बड़ी सावधानीसे मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर यज्ञोंके द्वारा मेरा यजन करो और धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करो॥ २१॥ तुमलोग अपनी वंश-परम्पराकी रक्षाके लिये, भोगके लिये नहीं, सन्तान उत्पन्न करो और प्रारब्धके अनुसार जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, लाभ-हानि—जो कुछ भी प्राप्त हों, उन्हें समानभावसे मेरा प्रसाद समझकर सेवन करो और अपना चित्त मुझमें लगाकर जीवन बिताओ॥ २२॥ देह और देहके सम्बन्धियोंसे किसी प्रकारकी आसक्ति न रखकर उदासीन रहो; अपने-आपमें, आत्मामें ही रमण करो और भजन तथा आश्रमके योग्य व्रतोंका पालन करते रहो। अपना मन भलीभाँति मुझमें लगाकर अन्तमें तुमलोग मुझ ब्रह्मस्वरूपको ही प्राप्त हो जाओगे॥ २३॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः।
तेषां न्ययुंक्त पुरुषान् स्त्रियो मज्जनकर्मणि॥ २४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भुवनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने राजाओंको यह आदेश देकर उन्हें स्नान आदि करानेके लिये बहुत-से स्त्री-पुरुष नियुक्त कर दिये॥ २४॥

सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः॥ २५

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलंकृतान्।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः॥ २६

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः॥ २७

रथान् सदश्वानारोप्य मणिकांचनभूषितान्।
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत्॥ २८

त एवं मोचिताः कृच्छ्रात् कृष्णेन सुमहात्मना।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः॥ २९

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम्।
यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः॥ ३०

जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः॥ ३१

गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शंखान् दध्मुर्जितारयः।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः॥ ३२

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः॥ ३३

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः।
सर्वमाश्रावयांचक्रुरात्मना यदनुष्ठितम्॥ ३४

परीक्षित्! जरासन्धके पुत्र सहदेवसे उनको राजोचित वस्त्र-आभूषण, माला-चन्दन आदि दिलवाकर उनका खूब सम्मान करवाया॥ २५॥ जब वे स्नान करके वस्त्राभूषणसे सुसज्जित हो चुके, तब भगवान्‌ने उन्हें उत्तम-उत्तम पदार्थोंका भोजन करवाया और पान आदि विविध प्रकारके राजोचित भोग दिलवाये॥ २६॥ भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार उन बंदी राजाओंको सम्मानित किया। अब वे समस्त क्लेशोंसे छुटकारा पाकर तथा कानोंमें झिलमिलाते हुए सुन्दर-सुन्दर कुण्डल पहनकर ऐसे शोभायमान हुए, जैसे वर्षाऋतुका अन्त हो जानेपर तारे॥ २७॥ फिर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें सुवर्ण और मणियोंसे भूषित एवं श्रेष्ठ घोड़ोंसे युक्त रथोंपर चढ़ाया, मधुर वाणीसे तृप्त किया और फिर उन्हें उनके देशोंको भेज दिया॥ २८॥ इस प्रकार उदारशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने उन राजाओंको महान् कष्टसे मुक्त किया। अब वे जगत्पति भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन करते हुए अपनी-अपनी राजधानीको चले गये॥ २९॥ वहाँ जाकर उन लोगोंने अपनी-अपनी प्रजासे परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी अद्‌भुत कृपा और लीला कह सुनायी और फिर बड़ी सावधानीसे भगवान्‌के आज्ञानुसार वे अपना जीवन व्यतीत करने लगे॥ ३०॥

परीक्षित्! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भीमसेनके द्वारा जरासन्धका वध करवाकर भीमसेन और अर्जुनके साथ जरासन्धनन्दन सहदेवसे सम्मानित होकर इन्द्र-प्रस्थके लिये चले। उन विजयी वीरोंने इन्द्रप्रस्थके पास पहुँचकर अपने-अपने शंख बजाये, जिससे उनके इष्टमित्रोंको सुख और शत्रुओंको बड़ा दुःख हुआ॥ ३१-३२॥ इन्द्रप्रस्थनिवासियोंका मन उस शंखध्वनिको सुनकर खिल उठा। उन्होंने समझ लिया कि जरासन्ध मर गया और अब राजा युधिष्ठिरका राजसूय-यज्ञ करनेका संकल्प एक प्रकारसे पूरा हो गया॥ ३३॥ भीमसेन, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने राजा युधिष्ठिरकी वन्दना की और वह सब कृत्य कह सुनाया, जो उन्हें जरासन्धके वधके लिये करना पड़ा था॥ ३४॥

निशम्य धर्मराजस्तत् केशवेनानुकम्पितम्।
आनन्दाश्रुकलां मुंचन् प्रेम्णा नोवाच किंचन॥ ३५

धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके इस परम अनुग्रहकी बात सुनकर प्रेमसे भर गये, उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी बूँदें टपकने लगीं और वे उनसे कुछ भी कह न सके॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे कृष्णाद्यागमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७३॥

अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान्‌की अग्रपूजा और शिशुपालका उद्धार

श्रीशुक उवाच

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! धर्मराज युधिष्ठिर जरासन्धका वध और सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी अद्‌भुत महिमा सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उनसे बोले॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकमहेश्वराः।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम्॥ २

स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम्।
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम्॥ ३

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः॥ ४

न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता॥ ५

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! त्रिलोकीके स्वामी ब्रह्मा, शंकर आदि और इन्द्रादि लोकपाल—सब आपकी आज्ञा पानेके लिये तरसते रहते हैं और यदि वह मिल जाती है तो बड़ी श्रद्धासे उसको शिरोधार्य करते हैं॥ २॥ अनन्त! हमलोग हैं तो अत्यन्त दीन, परन्तु मानते हैं अपनेको भूपति और नरपति। ऐसी स्थितिमें हैं तो हम दण्डके पात्र, परन्तु आप हमारी आज्ञा स्वीकार करते हैं और उसका पालन करते हैं। सर्वशक्तिमान् कमलनयन भगवान्‌के लिये यह मनुष्य-लीलाका अभिनयमात्र है॥ ३॥ जैसे उदय अथवा अस्तके कारण सूर्यके तेजमें घटती या बढ़ती नहीं होती, वैसे ही किसी भी प्रकारके कर्मोंसे न तो आपका उल्लास होता है और न तो ह्रास ही। क्योंकि आप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं॥ ४॥ किसीसे पराजित न होनेवाले माधव! 'यह मैं हूँ और यह मेरा है तथा यह तू है और यह तेरा'—इस प्रकारकी विकारयुक्त भेदबुद्धि तो पशुओंकी होती है। जो आपके अनन्य भक्त हैं, उनके चित्तमें ऐसे पागलपनके विचार कभी नहीं आते। फिर आपमें तो होंगे ही कहाँसे? (इसलिये आप जो कुछ कर रहे हैं, वह लीला-ही-लीला है)॥ ५॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान् स ऋत्विजः।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः॥ ६

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः।
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः॥ ७

विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः।
पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च॥ ८

अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः॥ ९

उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः।
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः॥ १०

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः।
तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप॥ ११

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलांगलैः।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयांचक्रिरे नृपम्॥ १२

हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिभवसंयुताः॥ १३

सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः।
मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः॥ १४

राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः।
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै॥ १५

मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः।
अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः।
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः॥ १६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार कहकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमतिसे यज्ञके योग्य समय आनेपर यज्ञके कर्मोंमें निपुण वेदवादी ब्राह्मणोंको ऋत्विज्, आचार्य आदिके रूपमें वरण किया॥ ६॥

उनके नाम ये हैं—श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, शुक्राचार्य, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन और अकृतव्रण॥ ७—९॥

इनके अतिरिक्त धर्मराजने द्रोणाचार्य, भीष्म-पितामह, कृपाचार्य, धृतराष्ट्र और उनके दुर्योधन आदि पुत्रों और महामति विदुर आदिको भी बुलवाया॥ १०॥ राजन्! राजसूय-यज्ञका दर्शन करनेके लिये देशके सब राजा, उनके मन्त्री तथा कर्मचारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब-के-सब वहाँ आये॥ ११॥

इसके बाद ऋत्विज् ब्राह्मणोंने सोनेके हलोंसे यज्ञभूमिको जुतवाकर राजा युधिष्ठिरको शास्त्रानुसार यज्ञकी दीक्षा दी॥ १२॥ प्राचीन कालमें जैसे वरुणदेवके यज्ञमें सब-के-सब यज्ञपात्र सोनेके बने हुए थे, वैसे ही युधिष्ठिरके यज्ञमें भी थे। पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिरके यज्ञमें निमन्त्रण पाकर ब्रह्माजी, शंकरजी, इन्द्रादि लोकपाल, अपने गणोंके साथ सिद्ध और गन्धर्व, विद्याधर, नाग, मुनि, यक्ष, राक्षस, पक्षी, किन्नर, चारण, बड़े-बड़े राजा और रानियाँ—ये सभी उपस्थित हुए॥ १३—१५॥

सबने बिना किसी प्रकारके कौतूहलके यह बात मान ली कि राजसूय-यज्ञ करना युधिष्ठिरके योग्य ही है। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णके भक्तके लिये ऐसा करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। उस समय देवताओंके समान तेजस्वी याजकोंने धर्मराज युधिष्ठिरसे विधिपूर्वक राजसूय-यज्ञ कराया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें देवताओंने वरुणसे करवाया था॥ १६॥

सौत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन्।
अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः॥ १७

सोमलतासे रस निकालनेके दिन महाराज युधिष्ठिरने अपने परम भाग्यवान् याजकों और यज्ञकर्मकी भूल-चूकका निरीक्षण करनेवाले सदसस्पतियोंका बड़ी सावधानीसे विधिपूर्वक पूजन किया॥ १७॥

सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत्॥ १८

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः॥ १९

यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः।
अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः॥ २०

एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत्।
आत्मनाऽऽत्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ २१

विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम्॥ २२

तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम्।
एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत्॥ २३

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता॥ २४

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूष्णीं कृष्णानुभाववित्।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः॥ २५

अब सभासद् लोग इस विषयपर विचार करने लगे कि सदस्योंमें सबसे पहले किसकी पूजा—अग्रपूजा होनी चाहिये। जितनी मति, उतने मत। इसलिये सर्वसम्मतिसे कोई निर्णय न हो सका। ऐसी स्थितिमें सहदेवने कहा— ॥ १८ ॥ 'यदुवंशशिरोमणि भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण ही सदस्योंमें सर्वश्रेष्ठ और अग्रपूजाके पात्र हैं; क्योंकि यही समस्त देवताओंके रूपमें हैं; और देश, काल, धन आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबके रूपमें भी ये ही हैं॥ १९ ॥ यह सारा विश्व श्रीकृष्णका ही रूप है। समस्त यज्ञ भी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही अग्नि, आहुति और मन्त्रोंके रूपमें हैं। ज्ञानमार्ग और कर्म-मार्ग—ये दोनों भी श्रीकृष्णकी प्राप्तिके ही हेतु हैं॥ २० ॥ सभासदो! मैं कहाँतक वर्णन करूँ, भगवान् श्रीकृष्ण वह एकरस अद्वितीय ब्रह्म हैं, जिसमें सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद नाममात्रका भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींका स्वरूप है। वे अपने-आपमें ही स्थित और जन्म, अस्तित्व, वृद्धि आदि छः भावविकारोंसे रहित हैं। वे अपने आत्मस्वरूप संकल्पसे ही जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं॥ २१ ॥ सारा जगत् श्रीकृष्णके ही अनुग्रहसे अनेकों प्रकारके कर्मका अनुष्ठान करता हुआ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंका सम्पादन करता है॥ २२ ॥ इसलिये सबसे महान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही अग्रपूजा होनी चाहिये। इनकी पूजा करनेसे समस्त प्राणियोंकी तथा अपनी भी पूजा हो जाती है॥ २३ ॥ जो अपने दान-धर्मको अनन्त भावसे युक्त करना चाहता हो, उसे चाहिये कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंके अन्तरात्मा, भेदभावरहित, परम शान्त और परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्णको ही दान करे॥ २४॥ परीक्षित्! सहदेव भगवान्‌की महिमा और उनके प्रभावको जानते थे। इतना कहकर वे चुप हो गये। उस समय धर्मराज युधिष्ठिरकी यज्ञसभामें जितने सत्पुरुष उपस्थित थे, सबने एक स्वरसे 'बहुत ठीक, बहुत

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम्।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः॥ २६

तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः।
सभार्यः सानुजामात्यः[1] सकुटुम्बोऽवहन्मुदा॥ २७

वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम्॥ २८

इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्रांजलयो जनाः।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः॥ २९

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा-
दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी
संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः॥ ३०

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः।
वृद्धानामपि यद् बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते॥ ३१

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम्।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत् सम्मतोऽर्हणे॥ ३२

तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान्।
परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान्॥ ३३

ठीक' कहकर सहदेवकी बातका समर्थन किया॥ २५॥ धर्मराज युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी यह आज्ञा सुनकर तथा सभासदोंका अभिप्राय जानकर बड़े आनन्दसे प्रेमोद्रेकसे विह्वल होकर भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की॥ २६॥ अपनी पत्नी, भाई, मन्त्री और कुटुम्बियोंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरने बड़े प्रेम और आनन्दसे भगवान्के पाँव पखारे तथा उनके चरणकमलोंका लोकपावन जल अपने सिरपर धारण किया॥ २७॥ उन्होंने भगवान्को पीले-पीले रेशमी वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण समर्पित किये। उस समय उनके नेत्र प्रेम और आनन्दके आँसुओंसे इस प्रकार भर गये कि वे भगवान्को भलीभाँति देख भी नहीं सकते थे॥ २८॥

यज्ञसभामें उपस्थित सभी लोग भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार पूजित, सत्कृत देखकर हाथ जोड़े हुए 'नमो नमः! जय जय!' इस प्रकारके नारे लगाकर उन्हें नमस्कार करने लगे। उस समय आकाशसे स्वयं ही पुष्पोंकी वर्षा होने लगी॥ २९॥

परीक्षित्! अपने आसनपर बैठा हुआ शिशुपाल यह सब देख-सुन रहा था। भगवान् श्रीकृष्णके गुण सुनकर उसे क्रोध हो आया और वह उठकर खड़ा हो गया। वह भरी सभामें हाथ उठाकर बड़ी असहिष्णुता किन्तु निर्भयताके साथ भगवान्को सुना-सुनाकर अत्यन्त कठोर बातें कहने लगा—॥ ३०॥ 'सभासदो! श्रुतियोंका यह कहना सर्वथा सत्य है कि काल ही ईश्वर है। लाख चेष्टा करनेपर भी वह अपना काम करा ही लेता है—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमने देख लिया कि यहाँ बच्चों और मूर्खोंकी बातसे बड़े-बड़े वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्धोंकी बुद्धि भी चकरा गयी है॥ ३१॥ पर मैं मानता हूँ कि आपलोग अग्रपूजाके योग्य पात्रका निर्णय करनेमें सर्वथा समर्थ हैं। इसलिये सदसस्पतियो! आपलोग बालक सहदेवकी यह बात ठीक न मानें कि 'कृष्ण ही अग्रपूजाके योग्य हैं॥ ३२॥ यहाँ बड़े-बड़े तपस्वी, विद्वान्, व्रतधारी, ज्ञानके द्वारा अपने समस्त पाप-तापोंको शान्त करनेवाले, परम ज्ञानी परमर्षि, ब्रह्मनिष्ठ आदि उपस्थित हैं—जिनकी पूजा बड़े-बड़े लोकपाल भी करते हैं॥ ३३॥

१. जोऽव्यग्रः।

सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति॥ ३४

यज्ञकी भूल-चूक बतलानेवाले उन सदसस्पतियोंको छोड़कर यह कुलकलंक ग्वाला भला, अग्रपूजाका अधिकारी कैसे हो सकता है? क्या कौआ कभी यज्ञके पुरोडाशका अधिकारी हो सकता है?॥ ३४॥

वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति॥ ३५

न इसका कोई वर्ण है और न तो आश्रम। कुल भी इसका ऊँचा नहीं है। सारे धर्मोंसे यह बाहर है। वेद और लोकमर्यादाओंका उल्लंघन करके मनमाना आचरण करता है। इसमें कोई गुण भी नहीं है। ऐसी स्थितिमें यह अग्रपूजाका पात्र कैसे हो सकता है?॥ ३५॥

ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम्।
वृथापानरतं शश्वत् सपर्यां कथमर्हति॥ ३६

आपलोग जानते हैं कि राजा ययातिने इसके वंशको शाप दे रखा है। इसलिये सत्पुरुषोंने इस वंशका ही बहिष्कार कर दिया है। ये सब सर्वदा व्यर्थ मधुपानमें आसक्त रहते हैं। फिर ये अग्रपूजाके योग्य कैसे हो सकते हैं?॥ ३६॥

ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम्।
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः॥ ३७

इन सबने ब्रह्मर्षियोंके द्वारा सेवित मथुरा आदि देशोंका परित्याग कर दिया और ब्रह्मवर्चस्के विरोधी (वेदचर्चारहित) समुद्रमें किला बनाकर रहने लगे। वहाँसे जब ये बाहर निकलते हैं तो डाकुओंकी तरह सारी प्रजाको सताते हैं'॥ ३७॥

एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमंगलः।
नोवाच किंचिद् भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम्॥ ३८

परीक्षित्! सच पूछो तो शिशुपालका सारा शुभ नष्ट हो चुका था। इसीसे उसने और भी बहुत-सी कड़ी-कड़ी बातें भगवान् श्रीकृष्णको सुनायीं। परन्तु जैसे सिंह कभी सियारकी 'हुआँ-हुआँ' पर ध्यान नहीं देता, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण चुप रहे, उन्होंने उसकी बातोंका कुछ भी उत्तर न दिया॥ ३८॥

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत् सभासदः।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा॥ ३९

परन्तु सभासदोंके लिये भगवान्की निन्दा सुनना असह्य था। उनमेंसे कई अपने-अपने कान बंद करके क्रोधसे शिशुपालको गाली देते हुए बाहर चले गये॥ ३९॥

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥ ४०

परीक्षित्! जो भगवान्की या भगवत्परायण भक्तोंकी निन्दा सुनकर वहाँसे हट नहीं जाता, वह अपने शुभकर्मोंसे च्युत हो जाता है और उसकी अधोगति होती है॥ ४०॥

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृंजयाः।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः॥ ४१

परीक्षित्! अब शिशुपालको मार डालनेके लिये पाण्डव, मत्स्य, केकय और सृंजयवंशी नरपति क्रोधित होकर हाथोंमें हथियार ले उठ खड़े हुए॥ ४१॥

ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी।
भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत॥ ४२

परन्तु शिशुपालको इससे कोई घबड़ाहट न हुई। उसने बिना किसी प्रकारका आगा-पीछा सोचे अपनी ढाल-तलवार उठा ली और वह भरी सभामें श्रीकृष्णके पक्षपाती राजाओंको ललकारने लगा॥ ४२॥

तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः॥ ४३

शब्दः कोलाहलोऽप्यासीत् शिशुपाले हते महान्।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः॥ ४४

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता॥ ४५

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥ ४६

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात्।
सर्वान् सम्पूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट्॥ ४७

साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः॥ ४८

ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः।
ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः॥ ४९

वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम्।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनः पुनः॥ ५०

राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव॥ ५१

उन लोगोंको लड़ते-झगड़ते देख भगवान् श्रीकृष्ण उठ खड़े हुए। उन्होंने अपने पक्षपाती राजाओंको शान्त किया और स्वयं क्रोध करके अपने ऊपर झपटते हुए शिशुपालका सिर छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे काट लिया॥ ४३॥ शिशुपालके मारे जानेपर वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया। उसके अनुयायी नरपति अपने-अपने प्राण बचानेके लिये वहाँसे भाग खड़े हुए॥ ४४॥ जैसे आकाशसे गिरा हुआ लूक धरतीमें समा जाता है, वैसे ही सब प्राणियोंके देखते-देखते शिशुपालके शरीरसे एक ज्योति निकलकर भगवान् श्रीकृष्णमें समा गयी॥ ४५॥ परीक्षित्! शिशुपालके अन्तःकरणमें लगातार तीन जन्मसे वैरभावकी अभिवृद्धि हो रही थी। और इस प्रकार, वैरभावसे ही सही, ध्यान करते-करते वह तन्मय हो गया—पार्षद हो गया। सच है—मृत्युके बाद होनेवाली गतिमें भाव ही कारण है॥ ४६॥ शिशुपालकी सद्‌गति होनेके बाद चक्रवर्ती धर्मराज युधिष्ठिरने सदस्यों और ऋत्विजोंको पुष्कल दक्षिणा दी तथा सबका सत्कार करके विधिपूर्वक यज्ञान्त-स्नान—अवभृथ-स्नान किया॥ ४७॥

परीक्षित्! इस प्रकार योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ पूर्ण किया और अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृदोंकी प्रार्थनासे कुछ महीनोंतक वहीं रहे॥ ४८॥ इसके बाद राजा युधिष्ठिरकी इच्छा न होनेपर भी सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने उनसे अनुमति ले ली और अपनी रानियों तथा मन्त्रियोंके साथ इन्द्रप्रस्थसे द्वारकापुरीकी यात्रा की॥ ४९॥

परीक्षित्! मैं यह उपाख्यान तुम्हें बहुत विस्तारसे (सातवें स्कन्धमें) सुना चुका हूँ कि वैकुण्ठवासी जय और विजयको सनकादि ऋषियोंके शापसे बार-बार जन्म लेना पड़ा था॥ ५०॥ महाराज युधिष्ठिर राजसूयका यज्ञान्त-स्नान करके ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी सभामें देवराज इन्द्रके समान शोभायमान होने लगे॥ ५१॥

राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा॥ ५२

राजा युधिष्ठिरने देवता, मनुष्य और आकाशचारियोंका यथायोग्य सत्कार किया तथा वे भगवान् श्रीकृष्ण एवं राजसूय यज्ञकी प्रशंसा करते हुए बड़े आनन्दसे अपने-अपने लोकको चले गये॥ ५२॥

दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम्।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम्॥ ५३

परीक्षित्! सब तो सुखी हुए, परन्तु दुर्योधनसे पाण्डवोंकी यह उज्ज्वल राज्यलक्ष्मीका उत्कर्ष सहन न हुआ। क्योंकि वह स्वभावसे ही पापी, कलहप्रेमी और कुरुकुलका नाश करनेके लिये एक महान् रोग था॥ ५३॥

य इदं कीर्तयेद् विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम्।
राजमोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५४

परीक्षित्! जो पुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी इस लीलाका—शिशुपालवध, जरासन्धवध, बंदी राजाओंकी मुक्ति और यज्ञानुष्ठानका कीर्तन करेगा, वह समस्त पापोंसे छूट जायगा॥ ५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
शिशुपालवधो नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७४॥

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

राजसूय यज्ञकी पूर्ति और दुर्योधनका अपमान

राजोवाच

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम्।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् नृदेवा ये समागताः॥ १

दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम्॥ २

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमहोत्सवको देखकर, जितने मनुष्य, नरपति, ऋषि, मुनि और देवता आदि आये थे, वे सब आनन्दित हुए। परन्तु दुर्योधनको बड़ा दुःख, बड़ी पीड़ा हुई; यह बात मैंने आपके मुखसे सुनी है। भगवन्! आप कृपा करके इसका कारण बतलाइये॥ १-२॥

ऋषिरुवाच

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः।
बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः॥ ३

श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा—परीक्षित्! तुम्हारे दादा युधिष्ठिर बड़े महात्मा थे। उनके प्रेमबन्धनसे बँधकर सभी बन्धु-बान्धवोंने राजसूय यज्ञमें विभिन्न सेवाकार्य स्वीकार किया था॥ ३॥

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने॥ ४

गुरुशुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः॥ ५

भीमसेन भोजनालयकी देख-रेख करते थे। दुर्योधन कोषाध्यक्ष थे। सहदेव अभ्यागतोंके स्वागत-सत्कारमें नियुक्त थे और नकुल विविध प्रकारकी सामग्री एकत्र करनेका काम देखते थे॥ ४॥ अर्जुन गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा करते थे और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आये हुए अतिथियोंके पाँव पखारनेका काम करते थे। देवी द्रौपदी भोजन परसनेका काम करतीं और उदार-शिरोमणि कर्ण खुले हाथों दान दिया करते थे॥ ५॥

युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः॥ ६

निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः॥ ७

परीक्षित्! इसी प्रकार सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर, भूरिश्रवा आदि बाह्लीकके पुत्र और सन्तर्दन आदि राजसूय यज्ञमें विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त थे। वे सब-के-सब वैसा ही काम करते थे, जिससे महाराज युधिष्ठिरका प्रिय और हित हो॥ ६-७॥

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम्॥ ८

परीक्षित्! जब ऋत्विज्, सदस्य और बहुज्ञ पुरुषोंका तथा अपने इष्ट-मित्र एवं बन्धु-बान्धवोंका सुमधुर वाणी, विविध प्रकारकी पूजा-सामग्री और दक्षिणा आदिसे भलीभाँति सत्कार हो चुका तथा शिशुपाल भक्तवत्सल भगवान्के चरणोंमें समा गया, तब धर्मराज युधिष्ठिर गंगाजीमें यज्ञान्त-स्नान करने गये॥ ८॥

मृदंगशंखपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे॥ ९

उस समय जब वे अवभृथ-स्नान करने लगे, तब मृदंग, शंख, ढोल, नौबत, नगारे और नरसिंगे आदि तरह-तरहके बाजे बजने लगे॥ ९॥

नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः।
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत्॥ १०

नर्तकियाँ आनन्दसे झूम-झूमकर नाचने लगीं। झुंड-के-झुंड गवैये गाने लगे और वीणा, बाँसुरी तथा झाँझ-मँजीरे बजने लगे। इनकी तुमुल ध्वनि सारे आकाशमें गूँज गयी॥ १०॥

चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः।
स्वलंकृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः॥ ११

यदुसृंजयकाम्बोजकुरुकेकयकोसलाः।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसराः॥ १२

सोनेके हार पहने हुए यदु, सृंजय, कम्बोज, कुरु, केकय और कोसल देशके नरपति रंग-बिरंगी ध्वजा-पताकाओंसे युक्त और खूब सजे-धजे गजराजों, रथों, घोड़ों तथा सुसज्जित वीर सैनिकोंके साथ महाराज युधिष्ठिरको आगे करके पृथ्वीको कँपाते हुए चल रहे थे॥ ११-१२॥

सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा।
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः॥ १३

यज्ञके सदस्य ऋत्विज् और बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मण वेदमन्त्रोंका ऊँचे स्वरसे उच्चारण करते हुए चले। देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा करते हुए उनकी स्तुति करने लगे॥ १३॥

स्वलंकृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः।
विलिम्पन्त्योऽभिषिंचन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः॥ १४

इन्द्रप्रस्थके नर-नारी इत्र-फुलेल, पुष्पोंके हार, रंग-बिरंगे वस्त्र और बहुमूल्य आभूषणोंसे सज-धजकर एक-दूसरेपर जल, तेल, दूध, मक्खन आदि रस डालकर भिगो देते, एक-दूसरेके शरीरमें लगा देते और इस प्रकार क्रीडा करते हुए चलने लगे॥ १४॥

तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुंकुमैः।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः॥ १५

वाराङ्गनाएँ पुरुषोंको तेल, गोरस, सुगन्धित जल, हल्दी और गाढ़ी केसर मल देतीं और पुरुष भी उन्हें उन्हीं वस्तुओंसे सराबोर कर देते॥ १५॥

गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्
देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः
सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः॥ १६

ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः
क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः।
औत्सुक्यमुक्तकबराच्च्यवमानमाल्याः
क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः॥ १७

स सम्राड् रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम्।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव॥ १८

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः।
आचान्तं स्नापयांचक्रुर्गंगायां सह कृष्णया॥ १९

देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम्।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः॥ २०

सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता नराः।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात्॥ २१

उस समय इस उत्सवको देखनेके लिये जैसे उत्तम-उत्तम विमानोंपर चढ़कर आकाशमें बहुत-सी देवियाँ आयी थीं, वैसे ही सैनिकोंके द्वारा सुरक्षित इन्द्रप्रस्थकी बहुत-सी राजमहिलाएँ भी सुन्दर-सुन्दर पालकियोंपर सवार होकर आयी थीं। पाण्डवोंके ममेरे भाई श्रीकृष्ण और उनके सखा उन रानियोंके ऊपर तरह-तरहके रंग आदि डाल रहे थे। इससे रानियोंके मुख लजीली मुसकराहटसे खिल उठते थे और उनकी बड़ी शोभा होती थी॥ १६॥ उन लोगोंके रंग आदि डालनेसे रानियोंके वस्त्र भीग गये थे। इससे उनके शरीरके अंग-प्रत्यंग—वक्षःस्थल, जंघा और कटिभाग कुछ-कुछ दीख-से रहे थे। वे भी पिचकारी और पात्रोंमें रंग भर-भरकर अपने देवरों और उनके सखाओंपर उड़ेल रही थीं। प्रेमभरी उत्सुकताके कारण उनकी चोटियों और जूड़ोंके बन्धन ढीले पड़ गये थे तथा उनमें गुँथे हुए फूल गिरते जा रहे थे। परीक्षित्! उनका यह रुचिर और पवित्र विहार देखकर मलिन अन्तःकरणवाले पुरुषोंका चित्त चंचल हो उठता था, काम-मोहित हो जाता था॥ १७॥

चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर द्रौपदी आदि रानियोंके साथ सुन्दर घोड़ोंसे युक्त एवं सोनेके हारोंसे सुसज्जित रथपर सवार होकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो स्वयं राजसूय यज्ञ प्रयाज आदि क्रियाओंके साथ मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया हो॥ १८॥ ऋत्विजोंने पत्नी-संयाज (एक प्रकारका यज्ञकर्म) तथा यज्ञान्त-स्नानसम्बन्धी कर्म करवाकर द्रौपदीके साथ सम्राट् युधिष्ठिरको आचमन करवाया और इसके बाद गंगास्नान॥ १९॥ उस समय मनुष्योंकी दुन्दुभियोंके साथ ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं। बड़े-बड़े देवता, ऋषि-मुनि, पितर और मनुष्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ २०॥ महाराज युधिष्ठिरके स्नान कर लेनेके बाद सभी वर्णों एवं आश्रमोंके लोगोंने गंगाजीमें स्नान किया; क्योंकि इस स्नानसे बड़े-से-बड़ा महापापी भी अपनी पाप-राशिसे तत्काल मुक्त हो जाता है॥ २१॥

अथ राजाहते क्षौमे परिधाय स्वलंकृतः।
ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः॥ २२

बन्धुज्ञातिनृपान् मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः।
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः॥ २३

सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्त्र-
गुष्णीषकंचुकदुकूलमहार्घ्यहाराः।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दजुष्ट-
वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः॥ २४

अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः॥ २५

देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः।
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप॥ २६

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम्।
नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिबन् मर्त्योऽमृतं यथा॥ २७

ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
प्रेम्णा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः॥ २८

भगवानपि तत्रांग न्यवात्सीत्तत्प्रियंकरः।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम्॥ २९

इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम्।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद् गतज्वरः॥ ३०

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने नयी रेशमी धोती और दुपट्टा धारण किया तथा विविध प्रकारके आभूषणोंसे अपनेको सजा लिया। फिर ऋत्विज्, सदस्य, ब्राह्मण आदिको वस्त्राभूषण दे-देकर उनकी पूजा की॥ २२॥ महाराज युधिष्ठिर भगवत्परायण थे, उन्हें सबमें भगवान्‌के ही दर्शन होते। इसलिये वे भाई-बन्धु, कुटुम्बी, नरपति, इष्ट-मित्र, हितैषी और सभी लोगोंकी बार-बार पूजा करते॥ २३॥ उस समय सभी लोग जड़ाऊ कुण्डल, पुष्पोंके हार, पगड़ी, लंबी अँगरखी, दुपट्टा तथा मणियोंके बहुमूल्य हार पहनकर देवताओंके समान शोभायमान हो रहे थे। स्त्रियोंके मुखोंकी भी दोनों कानोंके कर्णफूल और घुँघराली अलकोंसे बड़ी शोभा हो रही थी तथा उनके कटिभागमें सोनेकी करधनियाँ तो बहुत ही भली मालूम हो रही थीं॥ २४॥

परीक्षित्! राजसूय यज्ञमें जितने लोग आये थे—परम शीलवान् ऋत्विज्, ब्रह्मवादी सदस्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा, देवता, ऋषि, मुनि, पितर तथा अन्य प्राणी और अपने अनुयायियोंके साथ लोकपाल—इन सबकी पूजा महाराज युधिष्ठिरने की। इसके बाद वे लोग धर्मराजसे अनुमति लेकर अपने-अपने निवासस्थानको चले गये॥ २५-२६॥ परीक्षित्! जैसे मनुष्य अमृतपान करते-करते कभी तृप्त नहीं हो सकता, वैसे ही सब लोग भगवद्भक्त राजर्षि युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञकी प्रशंसा करते-करते तृप्त न होते थे॥ २७॥ इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे अपने हितैषी सुहृद्-सम्बन्धियों, भाई-बन्धुओं और भगवान् श्रीकृष्णको भी रोक लिया, क्योंकि उन्हें उनके विछोहकी कल्पनासे ही बड़ा दुःख होता था॥ २८॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने यदुवंशी वीर साम्ब आदिको द्वारकापुरी भेज दिया और स्वयं राजा युधिष्ठिरकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द देनेके लिये वहीं रह गये॥ २९॥ इस प्रकार धर्मनन्दन महाराज युधिष्ठिर मनोरथोंके महान् समुद्रको, जिसे पार करना अत्यन्त कठिन है, भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे अनायास ही पार कर गये और उनकी सारी चिन्ता मिट गयी॥ ३०॥

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम्।
अतप्यद् राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः॥ ३१

यस्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी-
र्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः।
ताभिः पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत्॥ ३२

यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं
श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम्।
मध्ये सुचारु कुचकुंकुमशोणहारं
श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम्॥ ३३

सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट्।
वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा॥ ३४

आसीनः कांचने साक्षादासने मघवानिव।
पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः॥ ३५

तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप।
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन् रुषा॥ ३६

स्थलेऽभ्यगृह्णाद् वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत्।
जले च स्थलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः॥ ३७

एक दिनकी बात है, भगवान्‌के परमप्रेमी महाराज युधिष्ठिरके अन्तःपुरकी सौन्दर्य-सम्पत्ति और राजसूय यज्ञद्वारा प्राप्त महत्त्वको देखकर दुर्योधनका मन डाहसे जलने लगा॥ ३१॥ परीक्षित्! पाण्डवोंके लिये मय दानवने जो महल बना दिये थे, उनमें नरपति, दैत्यपति और सुरपतियोंकी विविध विभूतियाँ तथा श्रेष्ठ सौन्दर्य स्थान-स्थानपर शोभायमान था। उनके द्वारा राजरानी द्रौपदी अपने पतियोंकी सेवा करती थीं। उस राजभवनमें उन दिनों भगवान् श्रीकृष्णकी सहस्रों रानियाँ निवास करती थीं। नितम्बके भारी भारके कारण जब वे उस राजभवनमें धीरे-धीरे चलने लगती थीं, तब उनके पायजेबोंकी झनकार चारों ओर फैल जाती थी। उनका कटिभाग बहुत ही सुन्दर था तथा उनके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसरकी लालिमासे मोतियोंके सुन्दर श्वेत हार भी लाल-लाल जान पड़ते थे। कुण्डलोंकी और घुँघराली अलकोंकी चंचलतासे उनके मुखकी शोभा और भी बढ़ जाती थी। यह सब देखकर दुर्योधनके हृदयमें बड़ी जलन होती। परीक्षित्! सच पूछो तो दुर्योधनका चित्त द्रौपदीमें आसक्त था और यही उसकी जलनका मुख्य कारण भी था॥ ३२-३३॥

एक दिन राजाधिराज महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, सम्बन्धियों एवं अपने नयनोंके तारे परम हितैषी भगवान् श्रीकृष्णके साथ मयदानवकी बनायी सभामें स्वर्णसिंहासनपर देवराज इन्द्रके समान विराजमान थे। उनकी भोग-सामग्री, उनकी राज्यलक्ष्मी ब्रह्माजीके ऐश्वर्यके समान थी। वंदीजन उनकी स्तुति कर रहे थे॥ ३४-३५॥ उसी समय अभिमानी दुर्योधन अपने दुःशासन आदि भाइयोंके साथ वहाँ आया। उसके सिरपर मुकुट, गलेमें माला और हाथमें तलवार थी। परीक्षित्! वह क्रोधवश द्वारपालों और सेवकोंको झिड़क रहा था॥ ३६॥ उस सभामें मय दानवने ऐसी माया फैला रखी थी कि दुर्योधनने उससे मोहित हो स्थलको जल समझकर अपने वस्त्र समेट लिये और जलको स्थल समझकर वह उसमें गिर पड़ा॥ ३७॥

जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे।
निवार्यमाणा अप्यंग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः॥ ३८

उसको गिरते देखकर भीमसेन, राजरानियाँ तथा दूसरे नरपति हँसने लगे। यद्यपि युधिष्ठिर उन्हें ऐसा करनेसे रोक रहे थे, परन्तु प्यारे परीक्षित्! उन्हें इशारेसे श्रीकृष्णका अनुमोदन प्राप्त हो चुका था॥ ३८॥

स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्
निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम्।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सता-
मजातशत्रुर्विमना इवाभवत्।
बभूव तूष्णीं भगवान् भुवो भरं
समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा॥ ३९

इससे दुर्योधन लज्जित हो गया, उसका रोम-रोम क्रोधसे जलने लगा। अब वह अपना मुँह लटकाकर चुपचाप सभाभवनसे निकलकर हस्तिनापुर चला गया। इस घटनाको देखकर सत्पुरुषोंमें हाहाकार मच गया और धर्मराज युधिष्ठिरका मन भी कुछ खिन्न-सा हो गया। परीक्षित्! यह सब होनेपर भी भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे। उनकी इच्छा थी कि किसी प्रकार पृथ्वीका भार उतर जाय; और सच पूछो तो उन्हींकी दृष्टिसे दुर्योधनको वह भ्रम हुआ था॥ ३९॥

एतत्तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ॥ ४०

परीक्षित्! तुमने मुझसे यह पूछा था कि उस महान् राजसूय-यज्ञमें दुर्योधनको डाह क्यों हुआ? जलन क्यों हुई? सो वह सब मैंने तुम्हें बतला दिया॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे दुर्योधनमानभंगो नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः

शाल्वके साथ यादवोंका युद्ध

श्रीशुक उवाच

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब मनुष्यकी-सी लीला करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका एक और भी अद्भुत चरित्र सुनो। इसमें यह बताया जायगा कि सौभनामक विमानका अधिपति शाल्व किस प्रकार भगवान्के हाथसे मारा गया॥ १॥

शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः।
यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा॥ २

शाल्व शिशुपालका सखा था और रुक्मिणीके विवाहके अवसरपर बारातमें शिशुपालकी ओरसे आया हुआ था। उस समय यदुवंशियोंने युद्धमें जरासन्ध आदिके साथ-साथ शाल्वको भी जीत लिया था॥ २॥

शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत् शृण्वतां सर्वभूभुजाम्।
अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत॥ ३

उस दिन सब राजाओंके सामने शाल्वने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं पृथ्वीसे यदुवंशियोंको मिटाकर छोड़ूँगा, सब लोग मेरा बल-पौरुष देखना'॥ ३॥

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम्।
आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद् ग्रसन्॥ ४

संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः।
वरेणच्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम्॥ ५

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम्॥ ६

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरंजयः।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम्॥ ७

स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम्।
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्॥ ८

निरुद्ध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ।
पुरीं बभंजोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः॥ ९

सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः।
विहारान् स विमानाग्र्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः॥ १०

शिला द्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः।
प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद् रजसाऽऽच्छादिता दिशः॥ ११

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम्।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही॥ १२

परीक्षित्! मूढ़ शाल्वने इस प्रकार प्रतिज्ञा करके देवाधिदेव भगवान् पशुपतिकी आराधना प्रारम्भ की। वह उन दिनों दिनमें केवल एक बार मुट्ठीभर राख फाँक लिया करता था॥ ४॥ यों तो पार्वतीपति भगवान् शंकर आशुतोष हैं, औढरदानी हैं, फिर भी वे शाल्वका घोर संकल्प जानकर एक वर्षके बाद प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने शरणागत शाल्वसे वर माँगनेके लिये कहा॥ ५॥ उस समय शाल्वने यह वर माँगा कि 'मुझे आप एक ऐसा विमान दीजिये जो देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंसे तोड़ा न जा सके; जहाँ इच्छा हो, वहीं चला जाय और यदुवंशियोंके लिये अत्यन्त भयंकर हो'॥ ६॥ भगवान् शंकरने कह दिया 'तथास्तु!' इसके बाद उनकी आज्ञासे विपक्षियोंके नगर जीतनेवाले मय दानवने लोहेका सौभनामक विमान बनाया और शाल्वको दे दिया॥ ७॥ वह विमान क्या था एक नगर ही था। वह इतना अन्धकारमय था कि उसे देखना या पकड़ना अत्यन्त कठिन था। चलानेवाला उसे जहाँ ले जाना चाहता, वहीं वह उसके इच्छा करते ही चला जाता था। शाल्वने वह विमान प्राप्त करके द्वारकापर चढ़ाई कर दी, क्योंकि वह वृष्णिवंशी यादवोंद्वारा किये हुए वैरको सदा स्मरण रखता था॥ ८॥

परीक्षित्! शाल्वने अपनी बहुत बड़ी सेनासे द्वारकाको चारों ओरसे घेर लिया और फिर उसके फल-फूलसे लदे हुए उपवन और उद्यानोंको उजाड़ने और नगरद्वारों, फाटकों, राजमहलों, अटारियों, दीवारों और नागरिकोंके मनोविनोदके स्थानोंको नष्ट-भ्रष्ट करने लगा। उस श्रेष्ठ विमानसे शस्त्रोंकी झड़ी लग गयी॥ ९-१०॥ बड़ी-बड़ी चट्टानें, वृक्ष, वज्र, सर्प और ओले बरसने लगे। बड़े जोरका बवंडर उठ खड़ा हुआ। चारों ओर धूल-ही-धूल छा गयी॥ ११॥ परीक्षित्! प्राचीन कालमें जैसे त्रिपुरासुरने सारी पृथ्वीको पीड़ित कर रखा था, वैसे ही शाल्वके विमानने द्वारकापुरीको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। वहाँके नर-नारियोंको कहीं एक क्षणके लिये भी शान्ति न मिलती थी॥ १२॥

प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।
मा भैष्टेत्यभ्यधाद् वीरो रथारूढो महायशाः ॥ १३

सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥ १४

अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥ १५

ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १६

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥ १७

विव्याध पंचविंशत्या स्वर्णपुंखैरयोमुखैः ।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १८

शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतॄन् वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥ १९

तदद्भुतं महत् कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥ २०

बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत् ॥ २१

क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।
अलातचक्रवद् भ्राम्यत् सौभं तद् दुरवस्थितम् ॥ २२

परमयशस्वी वीर भगवान् प्रद्युम्नने देखा—हमारी प्रजाको बड़ा कष्ट हो रहा है, तब उन्होंने रथपर सवार होकर सबको ढाढ़स बँधाया और कहा कि 'डरो मत'॥ १३ ॥ उनके पीछे-पीछे सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, भाइयोंके साथ अक्रूर, कृतवर्मा, भानुविन्द, गद, शुक, सारण आदि बहुत-से वीर बड़े-बड़े धनुष धारण करके निकले। ये सब-के-सब महारथी थे। सबने कवच पहन रखे थे और सबकी रक्षाके लिये बहुत-से रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना साथ-साथ चल रही थी॥ १४-१५ ॥ इसके बाद प्राचीन कालमें जैसे देवताओंके साथ असुरोंका घमासान युद्ध हुआ था वैसे ही शाल्वके सैनिकों और यदुवंशियोंका युद्ध होने लगा। उसे देखकर लोगोंके रोंगटे खड़े हो जाते थे॥ १६ ॥ प्रद्युम्नजीने अपने दिव्य अस्त्रोंसे क्षणभरमें ही सौभपति शाल्वकी सारी माया काट डाली; ठीक वैसे ही जैसे सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे रात्रिका अन्धकार मिटा देते हैं॥ १७ ॥ प्रद्युम्नजीके बाणोंमें सोनेके पंख एवं लोहेके फल लगे हुए थे। उनकी गाँठें जान नहीं पड़ती थीं। उन्होंने ऐसे ही पचीस बाणोंसे शाल्वके सेनापतिको घायल कर दिया॥ १८ ॥ परममनस्वी प्रद्युम्नजीने सेनापतिके साथ ही शाल्वको भी सौ बाण मारे, फिर प्रत्येक सैनिकको एक-एक और सारथियोंको दस-दस तथा वाहनोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल किया॥ १९ ॥ महामना प्रद्युम्नजीके इस अद्भुत और महान् कर्मको देखकर अपने एवं पराये—सभी सैनिक उनकी प्रशंसा करने लगे॥ २० ॥

परीक्षित्! मय दानवका बनाया हुआ शाल्वका वह विमान अत्यन्त मायामय था। वह इतना विचित्र था कि कभी अनेक रूपोंमें दीखता तो कभी एक रूपमें, कभी दीखता तो कभी न भी दीखता। यदुवंशियोंको इस बातका पता ही न चलता कि वह इस समय कहाँ है॥ २१ ॥ वह कभी पृथ्वीपर आ जाता तो कभी आकाशमें उड़ने लगता। कभी पहाड़की चोटीपर चढ़ जाता तो कभी जलमें तैरने लगता। वह अलातचक्रके समान—मानो कोई दुमुँही लुकारियोंकी बनेठी भाँज रहा हो—घूमता रहता था, एक क्षणके लिये भी कहीं ठहरता न था॥ २२ ॥

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः।
शाल्वस्ततस्ततोऽमुंचन् शरान् सात्वतयूथपाः ॥ २३

शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत् परेरितैः ॥ २४

शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥ २५

शाल्वामात्यो द्युमान् नाम प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः।
आसाद्य गदया मौर्व्या[2] व्याहत्य व्यनदद् बली ॥ २६

प्रद्युम्नं गदया शीर्णवक्षःस्थलमरिन्दमम्।
अपोवाह रणात् सूतो धर्मविद् दारुकात्मजः ॥ २७

लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत्।
अहो असाध्विदं सूत यद् रणान्मेऽपसर्पणम् ॥ २८

न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः।
विना मत् क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात्[3] ॥ २९

किं नु वक्ष्येऽभिसंगम्य पितरौ रामकेशवौ।
युद्धात् सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥ ३०

व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥ ३१

शाल्व अपने विमान और सैनिकोंके साथ जहाँ-जहाँ दिखायी पड़ता, वहीं-वहीं यदुवंशी सेनापति बाणोंकी झड़ी लगा देते थे॥ २३॥ उनके बाण सूर्य और अग्निके समान जलते हुए तथा विषैले साँपकी तरह असह्य होते थे। उनसे शाल्वका नगराकार विमान और सेना अत्यन्त पीड़ित हो गयी, यहाँतक कि यदुवंशियोंके बाणोंसे शाल्व स्वयं मूर्च्छित हो गया॥ २४॥

परीक्षित्! शाल्वके सेनापतियोंने भी यदुवंशियोंपर खूब शस्त्रोंकी वर्षा कर रखी थी, इससे वे अत्यन्त पीड़ित थे; परन्तु उन्होंने अपना-अपना मोर्चा छोड़ा नहीं। वे सोचते थे कि मरेंगे तो परलोक बनेगा और जीतेंगे तो विजयकी प्राप्ति होगी॥ २५॥ परीक्षित्! शाल्वके मन्त्रीका नाम था द्युमान्, जिसे पहले प्रद्युम्नजीने पचीस बाण मारे थे। वह बहुत बली था। उसने झपटकर प्रद्युम्नजीपर अपनी फौलादी गदासे बड़े जोरसे प्रहार किया और 'मार लिया, मार लिया' कहकर गरजने लगा॥ २६॥ परीक्षित्! गदाकी चोटसे शत्रुदमन प्रद्युम्नजीका वक्षःस्थल फट-सा गया। दारुकका पुत्र उनका रथ हाँक रहा था। वह सारथिधर्मके अनुसार उन्हें रणभूमिसे हटा ले गया॥ २७॥ दो घड़ीमें प्रद्युम्नजीकी मूर्च्छा टूटी। तब उन्होंने सारथिसे कहा—'सारथे! तूने यह बहुत बुरा किया। हाय, हाय! तू मुझे रणभूमिसे हटा लाया?॥ २८॥ सूत! हमने ऐसा कभी नहीं सुना कि हमारे वंशका कोई भी वीर कभी रणभूमि छोड़कर अलग हट गया हो! यह कलंकका टीका तो केवल मेरे ही सिर लगा। सचमुच सूत! तू कायर है, नपुंसक है॥ २९॥ बतला तो सही, अब मैं अपने ताऊ बलरामजी और पिता श्रीकृष्णके सामने जाकर क्या कहूँगा? अब तो सब लोग यही कहेंगे न, कि मैं युद्धसे भग गया? उनके पूछनेपर मैं अपने अनुरूप क्या उत्तर दे सकूँगा'॥ ३०॥ मेरी भाभियाँ हँसती हुई मुझसे साफ-साफ पूछेंगी कि 'कहो, वीर! तुम नपुंसक कैसे हो गये? दूसरोंने युद्धमें तुम्हें नीचा कैसे दिखा दिया?' 'सूत! अवश्य ही तुमने मुझे रणभूमिसे भगाकर अक्षम्य अपराध किया है!'॥ ३१॥

१. त्रय०। २. गुर्व्या। ३. प्तकल्मषात्।

सारथिरुवाच

धर्मं विजानताऽऽयुष्मन् कृतमेतन्मया विभो।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद् रथिनं सारथिं रथी॥ ३२

सारथीने कहा—आयुष्मन्! मैंने जो कुछ किया है, सारथीका धर्म समझकर ही किया है। मेरे समर्थ स्वामी! युद्धका ऐसा धर्म है कि संकट पड़नेपर सारथी रथीकी रक्षा कर ले और रथी सारथीकी॥ ३२॥ इस धर्मको समझते हुए ही मैंने आपको रणभूमिसे हटाया है। शत्रुने आपपर गदाका प्रहार किया था, जिससे आप मूर्च्छित हो गये थे, बड़े संकटमें थे; इसीसे मुझे ऐसा करना पड़ा॥ ३३॥

एतद् विदित्वा तु भवान् मयापोवाहितो रणात्।
उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः॥ ३३

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे शाल्वयुद्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७६॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

शाल्व-उद्धार

श्रीशुक उवाच

स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम्॥ १

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन्॥ २

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् सूतमेकेन चाहनत्।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः॥ ३

गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम्।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः॥ ४

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम्।
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम्॥ ५

इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना।
राजसूयेऽथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब प्रद्युम्नजीने हाथ-मुँह धोकर, कवच पहन धनुष धारण किया और सारथीसे कहा कि 'मुझे वीर द्युमान्‌के पास फिरसे ले चलो'॥ १॥ उस समय द्युमान् यादवसेनाको तहस-नहस कर रहा था। प्रद्युम्नजीने उसके पास पहुँचकर उसे ऐसा करनेसे रोक दिया और मुसकराकर आठ बाण मारे॥ २॥

चार बाणोंसे उसके चार घोड़े और एक-एक बाणसे सारथी, धनुष, ध्वजा और उसका सिर काट डाला॥ ३॥ इधर गद, सात्यकि, साम्ब आदि यदुवंशी वीर भी शाल्वकी सेनाका संहार करने लगे। सौभ विमानपर चढ़े हुए सैनिकोंकी गरदनें कट जातीं और वे समुद्रमें गिर पड़ते॥ ४॥

इस प्रकार यदुवंशी और शाल्वके सैनिक एक-दूसरेपर प्रहार करते रहे। बड़ा ही घमासान और भयंकर युद्ध हुआ और वह लगातार सत्ताईस दिनोंतक चलता रहा॥ ५॥

उन दिनों भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरके बुलानेसे इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। राजसूय यज्ञ हो चुका था और शिशुपालकी भी मृत्यु हो गयी थी॥ ६॥

कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम्।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ॥ ७

आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसंगतः।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम॥ ८

वीक्ष्य तत् कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम्।
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः॥ ९

रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम्॥ १०

इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम्॥ ११

शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः।
प्राहरत् कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे॥ १२

तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत्॥ १३

तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत्।
अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः॥ १४

शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः।
बिभेद न्यपतद्धस्तात् शार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम्॥ १५

हाहाकारो महानासीद् भूतानां तत्र पश्यताम्।
विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम्॥ १६

वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि बड़े भयंकर अपशकुन हो रहे हैं। तब उन्होंने कुरुवंशके बड़े-बूढ़ों, ऋषि-मुनियों, कुन्ती और पाण्डवोंसे अनुमति लेकर द्वारकाके लिये प्रस्थान किया॥ ७॥ वे मन-ही-मन कहने लगे कि 'मैं पूज्य भाई बलरामजीके साथ यहाँ चला आया। अब शिशुपालके पक्षपाती क्षत्रिय अवश्य ही द्वारकापर आक्रमण कर रहे होंगे'॥ ८॥ भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें पहुँचकर देखा कि सचमुच यादवोंपर बड़ी विपत्ति आयी है। तब उन्होंने बलरामजीको नगरकी रक्षाके लिये नियुक्त कर दिया और सौभपति शाल्वको देखकर अपने सारथि दारुकसे कहा— ॥ ९॥ 'दारुक! तुम शीघ्र-से-शीघ्र मेरा रथ शाल्वके पास ले चलो। देखो, यह शाल्व बड़ा मायावी है, तो भी तुम तनिक भी भय न करना'॥ १०॥ भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर दारुक रथपर चढ़ गया और उसे शाल्वकी ओर ले चला । भगवान्‌के रथकी ध्वजा गरुड़चिह्नसे चिह्नित थी। उसे देखकर यदुवंशियों तथा शाल्वकी सेनाके लोगोंने युद्धभूमिमें प्रवेश करते ही भगवान्‌को पहचान लिया॥ ११॥ परीक्षित्! अबतक शाल्वकी सारी सेना प्रायः नष्ट हो चुकी थी। भगवान् श्रीकृष्णको देखते ही उसने उनके सारथीपर एक बहुत बड़ी शक्ति चलायी। वह शक्ति बड़ा भयंकर शब्द करती हुई आकाशमें बड़े वेगसे चल रही थी और बहुत बड़े लूकके समान जान पड़ती थी। उसके प्रकाशसे दिशाएँ चमक उठी थीं। उसे सारथीकी ओर आते देख भगवान् श्रीकृष्णने अपने बाणोंसे उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये॥१२-१३॥ इसके बाद उन्होंने शाल्वको सोलह बाण मारे और उसके विमानको भी, जो आकाशमें घूम रहा था, असंख्य बाणोंसे चलनी कर दिया—ठीक वैसे ही, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे आकाशको भर देता है॥ १४॥ शाल्वने भगवान् श्रीकृष्णकी बायीं भुजामें, जिसमें शार्ङ्गधनुष शोभायमान था, बाण मारा, इससे शार्ङ्गधनुष भगवान्‌के हाथसे छूटकर गिर पड़ा। यह एक अद्‌भुत घटना घट गयी॥ १५॥ जो लोग आकाश या पृथ्वीसे यह युद्ध देख रहे थे, वे बड़े जोरसे 'हाय-हाय' पुकार उठे। तब शाल्वने गरजकर भगवान् श्रीकृष्णसे यों कहा— ॥ १६॥

यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम्।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा॥ १७

तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम्।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः॥ १८

श्रीभगवानुवाच

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम्।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः॥ १९

इत्युक्त्वा भगवाञ्छाल्वं गदया भीमवेगया।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक्॥ २०

गदायां सन्निवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत।
ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम्।
देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन्॥ २१

कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः॥ २२

निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः।
विमनस्को घृणी स्नेहाद् बभाषे प्राकृतो यथा॥ २३

कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः।
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान् विधिः॥ २४

इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः।
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः॥ २५

'मूढ़! तूने हमलोगोंके देखते-देखते हमारे भाई और सखा शिशुपालकी पत्नीको हर लिया तथा भरी सभामें, जब कि हमारा मित्र शिशुपाल असावधान था, तूने उसे मार डाला॥ १७॥ मैं जानता हूँ कि तू अपनेको अजेय मानता है। यदि मेरे सामने ठहर गया तो मैं आज तुझे अपने तीखे बाणोंसे वहाँ पहुँचा दूँगा, जहाँसे फिर कोई लौटकर नहीं आता'॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'रे मन्द! तू वृथा ही बहक रहा है। तुझे पता नहीं कि तेरे सिरपर मौत सवार है। शूरवीर व्यर्थकी बकवाद नहीं करते, वे अपनी वीरता ही दिखलाया करते हैं'॥ १९॥ इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्णने क्रोधित हो अपनी अत्यन्त वेगवती और भयंकर गदासे शाल्वके जत्रुस्थान (हँसली) पर प्रहार किया। इससे वह खून उगलता हुआ काँपने लगा॥ २०॥ इधर जब गदा भगवान्के पास लौट आयी, तब शाल्व अन्तर्धान हो गया। इसके बाद दो घड़ी बीतते-बीतते एक मनुष्यने भगवान्के पास पहुँचकर उनको सिर झुकाकर प्रणाम किया और वह रोता हुआ बोला—'मुझे आपकी माता देवकीजीने भेजा है॥ २१॥ उन्होंने कहा है कि अपने पिताके प्रति अत्यन्त प्रेम रखनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण! शाल्व तुम्हारे पिताको उसी प्रकार बाँधकर ले गया है, जैसे कोई कसाई पशुको बाँधकर ले जाय!'॥ २२॥ यह अप्रिय समाचार सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य-से बन गये। उनके मुँहपर कुछ उदासी छा गयी। वे साधारण पुरुषके समान अत्यन्त करुणा और स्नेहसे कहने लगे—॥ २३॥ 'अहो! मेरे भाई बलरामजीको तो देवता अथवा असुर कोई नहीं जीत सकता। वे सदा-सर्वदा सावधान रहते हैं। शाल्वका बल-पौरुष तो अत्यन्त अल्प है। फिर भी इसने उन्हें कैसे जीत लिया और कैसे मेरे पिताजीको बाँधकर ले गया? सचमुच, प्रारब्ध बहुत बलवान् है'॥ २४॥ भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार कह ही रहे थे कि शाल्व वसुदेवजीके समान एक मायारचित मनुष्य लेकर वहाँ आ पहुँचा और श्रीकृष्णसे कहने लगा—॥ २५॥

एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत् पाहि बालिश॥ २६

एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत्॥ २७

ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः
स्वबोध आस्ते स्वजनानुषंगतः।
महानुभावस्तदबुद्ध्यदासुरीं
मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम्॥ २८

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं
प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः॥ २९

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केच नान्विताः।
यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत॥ ३०

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः॥ ३१

यत्पादसेवोर्जितयाऽऽत्मविद्यया
हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम्।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं
कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः॥ ३२

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा
शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः।
विद्ध्वाच्छिनद् वर्म धनुः शिरोमणिं
सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह॥ ३३

'मूर्ख! देख, यही तुझे पैदा करनेवाला तेरा बाप है, जिसके लिये तू जी रहा है। तेरे देखते-देखते मैं इसका काम तमाम करता हूँ। कुछ बल-पौरुष हो, तो इसे बचा'॥ २६॥ मायावी शाल्वने इस प्रकार भगवान्‌को फटकार कर मायारचित वसुदेवका सिर तलवारसे काट लिया और उसे लेकर अपने आकाशस्थ विमानपर जा बैठा॥ २७॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूप और महानुभाव हैं। वे यह घटना देखकर दो घड़ीके लिये अपने स्वजन वसुदेवजीके प्रति अत्यन्त प्रेम होनेके कारण साधारण पुरुषोंके समान शोकमें डूब गये। परन्तु फिर वे जान गये कि यह तो शाल्वकी फैलायी हुई आसुरी माया ही है, जो उसे मय दानवने बतलायी थी॥ २८॥ भगवान् श्रीकृष्णने युद्धभूमिमें सचेत होकर देखा—न वहाँ दूत है और न पिताका वह शरीर; जैसे स्वप्नमें एक दृश्य दीखकर लुप्त हो गया हो! उधर देखा तो शाल्व विमानपर चढ़कर आकाशमें विचर रहा है। तब वे उसका वध करनेके लिये उद्यत हो गये॥ २९॥

प्रिय परीक्षित्! इस प्रकारकी बात पूर्वापरका विचार न करनेवाले कोई-कोई ऋषि कहते हैं। अवश्य ही वे इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसा कहना उन्हींके वचनोंके विपरीत है॥ ३०॥ कहाँ अज्ञानियोंमें रहनेवाले शोक, मोह, स्नेह और भय; तथा कहाँ वे परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण—जिनका ज्ञान, विज्ञान और ऐश्वर्य अखण्डित है, एकरस है (भला, उनमें वैसे भावोंकी सम्भावना ही कहाँ है?)॥ ३१॥ बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा करके आत्मविद्याका भलीभाँति सम्पादन करते हैं और उसके द्वारा शरीर आदिमें आत्मबुद्धिरूप अनादि अज्ञानको मिटा डालते हैं तथा आत्मसम्बन्धी अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। उन संतोंके परम गतिस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णमें भला, मोह कैसे हो सकता है?॥ ३२॥

अब शाल्व भगवान् श्रीकृष्णपर बड़े उत्साह और वेगसे शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा था। अमोघशक्ति भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने बाणोंसे शाल्वको घायल कर दिया और उसके कवच, धनुष तथा सिरकी मणिको छिन्न-भिन्न कर दिया। साथ ही गदाकी चोटसे उसके विमानको भी जर्जर कर दिया॥ ३३॥

तत् कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं
पपात तोये गदया सहस्रधा।
विसृज्य तद् भूतलमास्थितो गदा-
मुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद् द्रुतम्॥ ३४

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंसे चलायी हुई गदासे वह विमान चूर-चूर होकर समुद्रमें गिर पड़ा। गिरनेके पहले ही शाल्व हाथमें गदा लेकर धरतीपर कूद पड़ा और सावधान होकर बड़े वेगसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर झपटा॥ ३४॥

आधावतः सगदं तस्य बाहुं
भल्लेन छित्त्वाथ रथांगमद्भुतम्।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं
बिभ्रद् बभौ सार्क इवोदयाचलः॥ ३५

शाल्वको आक्रमण करते देख उन्होंने भालेसे गदाके साथ उसका हाथ काट गिराया। फिर उसे मार डालनेके लिये उन्होंने प्रलयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी और अत्यन्त अद्भुत सुदर्शन चक्र धारण कर लिया। उस समय उनकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो सूर्यके साथ उदयाचल शोभायमान हो॥ ३५॥

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम्॥ ३६

भगवान् श्रीकृष्णने उस चक्रसे परम मायावी शाल्वका कुण्डल-किरीटसहित सिर धड़से अलग कर दिया; ठीक वैसे ही, जैसे इन्द्रने वज्रसे वृत्रासुरका सिर काट डाला था। उस समय शाल्वके सैनिक अत्यन्त दुःखसे 'हाय-हाय' चिल्ला उठे॥ ३६॥

तस्मिन् निपतिते पापे सौभे च गदया हते।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः।
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात्॥ ३७

परीक्षित्! जब पापी शाल्व मर गया और उसका विमान भी गदाके प्रहारसे चूर-चूर हो गया, तब देवतालोग आकाशमें दुन्दुभियाँ बजाने लगे। ठीक इसी समय दन्तवक्त्र अपने मित्र शिशुपाल आदिका बदला लेनेके लिये अत्यन्त क्रोधित होकर आ पहुँचा॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सौभवधो नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७७॥

अथाष्टसप्ततितमोऽध्यायः

दन्तवक्त्र और विदूरथका उद्धार तथा तीर्थयात्रामें बलरामजीके हाथसे सूतजीका वध

श्रीशुक उवाच

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः।
परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम्॥ १
एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन्।
पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत॥ २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! शिशुपाल, शाल्व और पौण्ड्रकके मारे जानेपर उनकी मित्रताका ऋण चुकानेके लिये मूर्ख दन्तवक्त्र अकेला ही पैदल युद्धभूमिमें आ धमका। वह क्रोधके मारे आग-बबूला हो रहा था। शस्त्रके नामपर उसके हाथमें एकमात्र गदा थी। परन्तु परीक्षित्! लोगोंने देखा, वह इतना शक्तिशाली है कि उसके पैरोंकी धमकसे पृथ्वी हिल रही है॥ १-२॥

तं तथाऽऽयान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः।
अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्॥ ३

गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः।
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः॥ ४

त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मां जिघांससि।
अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया॥ ५

तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः।
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा॥ ६

एवं रूक्षैस्तुदन् वाक्यैः कृष्णं तोत्त्रैरिव द्विपम्।
गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद् व्यनदच्च सः॥ ७

गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः।
कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे॥ ८

गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात्।
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् धरण्यां न्यपतद् व्यसुः॥ ९

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप॥ १०

विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः।
आगच्छदसिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया॥ ११

भगवान् श्रीकृष्णने जब उसे इस प्रकार आते देखा, तब झटपट हाथमें गदा लेकर वे रथसे कूद पड़े। फिर जैसे समुद्रके तटकी भूमि उसके ज्वार-भाटेको आगे बढ़नेसे रोक देती है, वैसे ही उन्होंने उसे रोक दिया॥ ३॥ घमंडके नशेमें चूर करूषनरेश दन्तवक्त्रने गदा तानकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'बड़े सौभाग्य और आनन्दकी बात है कि आज तुम मेरी आँखोंके सामने पड़ गये॥ ४॥

कृष्ण! तुम मेरे मामाके लड़के हो, इसलिये तुम्हें मारना तो नहीं चाहिये; परन्तु एक तो तुमने मेरे मित्रोंको मार डाला है और दूसरे मुझे भी मारना चाहते हो। इसलिये मतिमन्द! आज मैं तुम्हें अपनी वज्रकर्कश गदासे चूर-चूर कर डालूँगा॥ ५॥ मूर्ख! वैसे तो तुम मेरे सम्बन्धी हो, फिर भी हो शत्रु ही, जैसे अपने ही शरीरमें रहनेवाला कोई रोग हो! मैं अपने मित्रोंसे बड़ा प्रेम करता हूँ, उनका मुझपर ऋण है। अब तुम्हें मारकर ही मैं उनके ऋणसे उऋण हो सकता हूँ॥ ६॥ जैसे महावत अंकुशसे हाथीको घायल करता है, वैसे ही दन्तवक्त्रने अपनी कड़वी बातोंसे श्रीकृष्णको चोट पहुँचानेकी चेष्टा की और फिर वह उनके सिरपर बड़े वेगसे गदा मारकर सिंहके समान गरज उठा॥ ७॥ रणभूमिमें गदाकी चोट खाकर भी भगवान् श्रीकृष्ण टस-से-मस न हुए। उन्होंने अपनी बहुत बड़ी कौमोदकी गदा सँभालकर उससे दन्तवक्त्रके वक्षःस्थलपर प्रहार किया॥ ८॥ गदाकी चोटसे दन्तवक्त्रका कलेजा फट गया। वह मुँहसे खून उगलने लगा। उसके बाल बिखर गये, भुजाएँ और पैर फैल गये। निदान निष्प्राण होकर वह धरतीपर गिर पड़ा॥ ९॥ परीक्षित्! जैसा कि शिशुपालकी मृत्युके समय हुआ था, सब प्राणियोंके सामने ही दन्तवक्त्रके मृत शरीरसे एक अत्यन्त सूक्ष्म ज्योति निकली और वह बड़ी विचित्र रीतिसे भगवान् श्रीकृष्णमें समा गयी॥ १०॥

दन्तवक्त्रके भाईका नाम था विदूरथ। वह अपने भाईकी मृत्युसे अत्यन्त शोकाकुल हो गया। अब वह क्रोधके मारे लम्बी-लम्बी साँस लेता हुआ हाथमें ढाल-तलवार लेकर भगवान् श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे आया॥ ११॥

तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम्॥ १२

एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम्।
हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः॥ १३

मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः।
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः॥ १४

उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालङ्कृतां पुरीम्॥ १५

एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः॥ १६

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल॥ १७

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान्।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः॥ १८

पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम्।
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम्॥ १९

यमुनामनु यान्येव गंगामनु च भारत।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते॥ २०

राजेन्द्र! जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि अब वह प्रहार करना ही चाहता है, तब उन्होंने अपने छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे किरीट और कुण्डलके साथ उसका सिर धड़से अलग कर दिया॥ १२॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने शाल्व, उसके विमान सौभ, दन्तवक्त्र और विदूरथको, जिन्हें मारना दूसरोंके लिये अशक्य था, मारकर द्वारकापुरीमें प्रवेश किया। उस समय देवता और मनुष्य उनकी स्तुति कर रहे थे। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, सिद्ध-गन्धर्व, विद्याधर और वासुकि आदि महानाग, अप्सराएँ, पितर, यक्ष, किन्नर तथा चारण उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करते हुए उनकी विजयके गीत गा रहे थे। भगवान्के प्रवेशके अवसरपर पुरी खूब सजा दी गयी थी और बड़े-बड़े वृष्णिवंशी यादव वीर उनके पीछे-पीछे चल रहे थे॥ १३—१५॥ योगेश्वर एवं जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण इसी प्रकार अनेकों खेल खेलते रहते हैं। जो पशुओंके समान अविवेकी हैं, वे उन्हें कभी हारते भी देखते हैं। परन्तु वास्तवमें तो वे सदा-सर्वदा विजयी ही हैं॥ १६॥

एक बार बलरामजीने सुना कि दुर्योधनादि कौरव पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी तैयारी कर रहे हैं। वे मध्यस्थ थे, उन्हें किसीका पक्ष लेकर लड़ना पसंद नहीं था। इसलिये वे तीर्थोंमें स्नान करनेके बहाने द्वारकासे चले गये॥ १७॥ वहाँसे चलकर उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया और तर्पण तथा ब्राह्मणभोजनके द्वारा देवता, ऋषि, पितर और मनुष्योंको तृप्त किया। इसके बाद वे कुछ ब्राह्मणोंके साथ जिधरसे सरस्वती नदी आ रही थी, उधर ही चल पड़े॥ १८॥ वे क्रमशः पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शनतीर्थ, विशालतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ और पूर्ववाहिनी सरस्वती आदि तीर्थोंमें गये॥ १९॥ परीक्षित्! तदनन्तर यमुनातट और गंगातटके प्रधान-प्रधान तीर्थोंमें होते हुए वे नैमिषारण्य क्षेत्रमें गये। उन दिनों नैमिषारण्य क्षेत्रमें बड़े-बड़े ऋषि सत्संगरूप महान् सत्र कर रहे थे॥ २०॥

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन्॥ २१

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत॥ २२

अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणांजलिम्।
अध्यासीनं च तान् विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः॥ २३

कस्मादसाविमान् विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः।
धर्मपालांस्तथैवास्मान् वधमर्हति दुर्मतिः॥ २४

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः॥ २५

अदान्तस्याविनीतस्य वृथा पण्डितमानिनः।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः॥ २६

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः।
वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः॥ २७

एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधादपि।
भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः॥ २८

हाहेति वादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः।
ऊचुः संकर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो॥ २९

दीर्घकालतक सत्संगसत्रका नियम लेकर बैठे हुए ऋषियोंने बलरामजीको आया देख अपने-अपने आसनोंसे उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया और यथायोग्य प्रणाम-आशीर्वाद करके उनकी पूजा की॥ २१॥ वे अपने साथियोंके साथ आसन ग्रहण करके बैठ गये और उनकी अर्चा-पूजा हो चुकी, तब उन्होंने देखा कि भगवान् व्यासके शिष्य रोमहर्षण व्यासगद्दीपर बैठे हुए हैं॥ २२॥ बलरामजीने देखा कि रोमहर्षणजी सूत-जातिमें उत्पन्न होनेपर भी उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे ऊँचे आसनपर बैठे हुए हैं और उनके आनेपर न तो उठकर स्वागत करते हैं और न हाथ जोड़कर प्रणाम ही। इसपर बलरामजीको क्रोध आ गया॥ २३॥ वे कहने लगे कि 'यह रोमहर्षण प्रतिलोम जातिका होनेपर भी इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे तथा धर्मके रक्षक हमलोगोंसे ऊपर बैठा हुआ है, इसलिये यह दुर्बुद्धि मृत्युदण्डका पात्र है॥ २४॥ भगवान् व्यासदेवका शिष्य होकर इसने इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि बहुत-से शास्त्रोंका अध्ययन भी किया है; परन्तु अभी इसका अपने मनपर संयम नहीं है। यह विनयी नहीं, उद्दण्ड है। इस अजितात्माने झूठमूठ अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मान रखा है। जैसे नटकी सारी चेष्टाएँ अभिनयमात्र होती हैं, वैसे ही इसका सारा अध्ययन स्वाँगके लिये है। उससे न इसका लाभ है और न किसी दूसरेका॥ २५-२६॥

जो लोग धर्मका चिह्न धारण करते हैं, परन्तु धर्मका पालन नहीं करते, वे अधिक पापी हैं और वे मेरे लिये वध करने योग्य हैं। इस जगत्‌में इसीलिये मैंने अवतार धारण किया है'॥ २७॥ भगवान् बलराम यद्यपि तीर्थयात्राके कारण दुष्टोंके वधसे भी अलग हो गये थे, फिर भी इतना कहकर उन्होंने अपने हाथमें स्थित कुशकी नोकसे उनपर प्रहार कर दिया और वे तुरंत मर गये। होनहार ही ऐसी थी॥ २८॥ सूतजीके मरते ही सब ऋषि-मुनि हाय-हाय करने लगे, सबके चित्त खिन्न हो गये। उन्होंने देवाधिदेव भगवान् बलरामजीसे कहा—'प्रभो! आपने यह बहुत बड़ा अधर्म किया॥ २९॥

अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन।
आयुश्चात्माक्लमं तावद् यावत् सत्रं समाप्यते॥ ३०

अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः॥ ३१

यद्येतद् ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन।
चरिष्यति भवाँल्लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः॥ ३२

यदुवंशशिरोमणे! सूतजीको हम लोगोंने ही ब्राह्मणोचित आसनपर बैठाया था और जबतक हमारा यह सत्र समाप्त न हो, तबतकके लिये उन्हें शारीरिक कष्टसे रहित आयु भी दे दी थी॥ ३०॥ आपने अनजानमें यह ऐसा काम कर दिया, जो ब्रह्महत्याके समान है। हमलोग यह मानते हैं कि आप योगेश्वर हैं, वेद भी आपपर शासन नहीं कर सकता। फिर भी आपसे यह प्रार्थना है कि आपका अवतार लोगोंको पवित्र करनेके लिये हुआ है; यदि आप किसीकी प्रेरणाके बिना स्वयं अपनी इच्छासे ही इस ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त कर लेंगे तो इससे लोगोंको बहुत शिक्षा मिलेगी'॥ ३१-३२॥

श्रीभगवानुवाच

करिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम्॥ ३३

दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च।
आशासितं यत्तद् ब्रूत साधये योगमायया॥ ३४

भगवान् बलरामने कहा—मैं लोगोंको शिक्षा देनेके लिये, लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये इस ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त अवश्य करूँगा, अतः इसके लिये प्रथम श्रेणीका जो प्रायश्चित्त हो, आपलोग उसीका विधान कीजिये॥ ३३॥ आपलोग इस सूतको लम्बी आयु, बल, इन्द्रिय-शक्ति आदि जो कुछ भी देना चाहते हों, मुझे बतला दीजिये; मैं अपने योगबलसे सब कुछ सम्पन्न किये देता हूँ॥ ३४॥

ऋषय ऊचुः

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च।
यथा भवेद् वचः सत्यं तथा राम विधीयताम्॥ ३५

ऋषियोंने कहा—बलरामजी! आप ऐसा कोई उपाय कीजिये जिससे आपका शस्त्र, पराक्रम और इनकी मृत्यु भी व्यर्थ न हो और हमलोगोंने इन्हें जो वरदान दिया था, वह भी सत्य हो जाय॥ ३५॥

श्रीभगवानुवाच

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम्।
तस्मादस्य भवेद् वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान्॥ ३६

किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ।
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः॥ ३७

भगवान् बलरामने कहा—ऋषियो! वेदोंका ऐसा कहना है कि आत्मा ही पुत्रके रूपमें उत्पन्न होता है। इसलिये रोमहर्षणके स्थानपर उनका पुत्र आपलोगोंको पुराणोंकी कथा सुनायेगा। उसे मैं अपनी शक्तिसे दीर्घायु, इन्द्रियशक्ति और बल दिये देता हूँ॥ ३६॥

ऋषियो! इसके अतिरिक्त आपलोग और जो कुछ भी चाहते हों, मुझसे कहिये। मैं आपलोगोंकी इच्छा पूर्ण करूँगा। अनजानमें मुझसे जो अपराध हो गया है, उसका प्रायश्चित्त भी आपलोग सोच-विचारकर बतलाइये; क्योंकि आपलोग इस विषयके विद्वान् हैं॥ ३७॥

ऋषय ऊचुः

इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि॥ ३८

तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम्।
पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम्॥ ३९

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः।
चरित्वा द्वादश मासांस्तीर्थस्नायी विशुद्ध्यसे॥ ४०

ऋषियोंने कहा—बलरामजी! इल्वलका पुत्र बल्वल नामका एक भयंकर दानव है। वह प्रत्येक पर्वपर यहाँ आ पहुँचता है और हमारे इस सत्रको दूषित कर देता है॥ ३८॥ यदुनन्दन! वह यहाँ आकर पीब, खून, विष्ठा, मूत्र, शराब और मांसकी वर्षा करने लगता है। आप उस पापीको मार डालिये। हमलोगोंकी यह बहुत बड़ी सेवा होगी॥ ३९॥ इसके बाद आप एकाग्रचित्तसे तीर्थोंमें स्नान करते हुए बारह महीनोंतक भारतवर्षकी परिक्रमा करते हुए विचरण कीजिये। इससे आपकी शुद्धि हो जायगी॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे बलदेवचरित्रे बल्वलवधोपक्रमो नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७८॥

अथैकोनाशीतितमोऽध्यायः

बल्वलका उद्धार और बलरामजीकी तीर्थयात्रा

श्रीशुक उवाच

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः।
भीमो वायुरभूद् राजन् पूयगन्धस्तु सर्वशः॥ १

ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम्।
अभवद् यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक्॥ २

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम्।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम्॥ ३

सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम्।
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः॥ ४

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम्।
मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः॥ ५

सोऽपतद् भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक् समुत्सृजन्।
मुंचन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! पर्वका दिन आनेपर बड़ा भयंकर अंधड़ चलने लगा। धूलकी वर्षा होने लगी और चारों ओरसे पीबकी दुर्गन्ध आने लगी॥ १॥ इसके बाद यज्ञशालामें बल्वल दानवने मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा की। तदनन्तर हाथमें त्रिशूल लिये वह स्वयं दिखायी पड़ा॥ २॥ उसका डील-डौल बहुत बड़ा था, ऐसा जान पड़ता मानो ढेर-का-ढेर कालिख इकट्ठा कर दिया गया हो। उसकी चोटी और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए ताँबेके समान लाल-लाल थीं। बड़ी-बड़ी दाढ़ों और भौंहोंके कारण उसका मुँह बड़ा भयावना लगता था। उसे देखकर भगवान् बलरामजीने शत्रुसेनाकी कुंदी करने-वाले मूसल और दैत्योंको चीर-फाड़ डालनेवाले हलका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही वे दोनों शस्त्र तुरंत वहाँ आ पहुँचे॥ ३-४॥

बलरामजीने आकाशमें विचरनेवाले बल्वल दैत्यको अपने हलके अगले भागसे खींचकर उस ब्रह्मद्रोहीके सिरपर बड़े क्रोधसे एक मूसल कसकर जमाया, जिससे उसका ललाट फट गया और वह खून उगलता तथा आर्तस्वरसे चिल्लाता हुआ धरतीपर गिर पड़ा, ठीक वैसे ही जैसे वज्रकी चोट खाकर गेरू आदिसे लाल हुआ कोई पहाड़ गिर पड़ा हो॥ ५-६॥

संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः।
अभ्यषिंचन् महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा॥ ७

वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपंकजाम्।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च॥ ८

अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः।
स्नात्वा सरोवरमगाद् यतः सरयुरास्त्रवत्॥ ९

अनुस्त्रोतेन सरयूं[१] प्रयागमुपगम्य सः।
स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन् जगाम पुलहाश्रमम्॥ १०

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः।
गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गंगासागरसंगमे॥ ११

उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः॥ १२

स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम्।
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेंकटं प्रभुः॥ १३

कामकोष्णीं पुरीं कांचीं कावेरीं च सरिद्वराम्।
श्रीरंगाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः॥ १४

ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा।
सामुद्रं सेतुमगमन्महापातकनाशनम्॥ १५

नैमिषारण्यवासी महाभाग्यवान् मुनियोंने बलरामजीकी स्तुति की, उन्हें कभी न व्यर्थ होनेवाले आशीर्वाद दिये और जैसे देवतालोग देवराज इन्द्रका अभिषेक करते हैं, वैसे ही उनका अभिषेक किया॥ ७॥ इसके बाद ऋषियोंने बलरामजीको दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषण दिये तथा एक ऐसी वैजयन्ती माला भी दी, जो सौन्दर्यका आश्रय एवं कभी न मुरझानेवाले कमलके पुष्पोंसे युक्त थी॥ ८॥

तदनन्तर नैमिषारण्यवासी ऋषियोंसे विदा होकर उनके आज्ञानुसार बलरामजी ब्राह्मणोंके साथ कौशिकी नदीके तटपर आये। वहाँ स्नान करके वे उस सरोवरपर गये, जहाँसे सरयू नदी निकली है॥ ९॥ वहाँसे सरयूके किनारे-किनारे चलने लगे, फिर उसे छोड़कर प्रयाग आये; और वहाँ स्नान तथा देवता, ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करके वहाँसे पुलहाश्रम गये॥ १०॥ वहाँसे गण्डकी, गोमती तथा विपाशा नदियोंमें स्नान करके वे सोननदके तटपर गये और वहाँ स्नान किया। इसके बाद गयामें जाकर पितरोंका वसुदेवजीके आज्ञानुसार पूजन-यजन किया। फिर गंगासागर-संगमपर गये; वहाँ भी स्नान आदि तीर्थ-कृत्योंसे निवृत्त होकर महेन्द्र पर्वतपर गये। वहाँ परशुरामजीका दर्शन और अभिवादन किया। तदनन्तर सप्तगोदावरी, वेणा, पम्पा और भीमरथी आदिमें स्नान करते हुए स्वामिकार्तिकका दर्शन करने गये तथा वहाँसे महादेवजीके निवासस्थान श्रीशैलपर पहुँचे। इसके बाद भगवान् बलरामने द्रविड़ देशके परम पुण्यमय स्थान वेंकटाचल (बालाजी) का दर्शन किया और वहाँसे वे कामाक्षी—शिवकांची, विष्णुकांची होते हुए तथा श्रेष्ठ नदी कावेरीमें स्नान करते हुए पुण्यमय श्रीरंगक्षेत्रमें पहुँचे। श्रीरंगक्षेत्रमें भगवान् विष्णु सदा विराजमान रहते हैं॥ ११—१४॥ वहाँसे उन्होंने विष्णुभगवान्के क्षेत्र ऋषभ पर्वत, दक्षिण मथुरा तथा बड़े-बड़े महापापोंको नष्ट करनेवाले सेतुबन्धकी यात्रा की॥ १५॥

१. रमयन्।

तत्रायुतमदाद् धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः।
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम्॥ १६

तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च।
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम्।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः॥ १७

ततः फाल्गुनमासाद्य पंचाप्सरसमुत्तमम्।
विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद् गवायुतम्॥ १८

ततोऽभिव्रज्य भगवान् केरलांस्तु त्रिगर्तकान्।
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः॥ १९

आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद् बलः।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम्॥ २०

प्रविश्य रेवामगमद् यत्र माहिष्मती पुरी।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत्॥ २१

श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे।
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः॥ २२

स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे।
वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः॥ २३

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि।
अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किंविवक्षुरिहागतः॥ २४

वहाँ बलरामजीने ब्राह्मणोंको दस हजार गौएँ दान कीं। फिर वहाँसे कृतमाला और ताम्रपर्णी नदियोंमें स्नान करते हुए वे मलयपर्वतपर गये। वह पर्वत सात कुलपर्वतोंमेंसे एक है॥ १६॥ वहाँपर विराजमान अगस्त्य मुनिको उन्होंने नमस्कार और अभिवादन किया। अगस्त्यजीसे आशीर्वाद और अनुमति प्राप्त करके बलरामजीने दक्षिण समुद्रकी यात्रा की। वहाँ उन्होंने दुर्गादेवीका कन्याकुमारीके रूपमें दर्शन किया॥ १७॥ इसके बाद वे फाल्गुन तीर्थ—अनन्तशयन क्षेत्रमें गये और वहाँके सर्वश्रेष्ठ पंचाप्सरस तीर्थमें स्नान किया। उस तीर्थमें सर्वदा विष्णुभगवान्‌का सान्निध्य रहता है। वहाँ बलरामजीने दस हजार गौएँ दान कीं॥ १८॥

अब भगवान् बलराम वहाँसे चलकर केरल और त्रिगर्त देशोंमें होकर भगवान् शंकरके क्षेत्र गोकर्णतीर्थमें आये। वहाँ सदा-सर्वदा भगवान् शंकर विराजमान रहते हैं॥ १९॥ वहाँसे जलसे घिरे द्वीपमें निवास करनेवाली आर्यादेवीका दर्शन करने गये और फिर उस द्वीपसे चलकर शूर्पारक-क्षेत्रकी यात्रा की, इसके बाद तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या नदियोंमें स्नान करके वे दण्डकारण्यमें आये॥ २०॥ वहाँ होकर वे नर्मदाजीके तटपर गये। परीक्षित्! इस पवित्र नदीके तटपर ही माहिष्मतीपुरी है। वहाँ मनुतीर्थमें स्नान करके वे फिर प्रभासक्षेत्रमें चले आये॥ २१॥ वहीं उन्होंने ब्राह्मणोंसे सुना कि कौरव और पाण्डवोंके युद्धमें अधिकांश क्षत्रियोंका संहार हो गया। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि अब पृथ्वीका बहुत-सा भार उतर गया॥ २२॥ जिस दिन रणभूमिमें भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे थे, उसी दिन बलरामजी उन्हें रोकनेके लिये कुरुक्षेत्र जा पहुँचे॥ २३॥

महाराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने बलरामजीको देखकर प्रणाम किया तथा चुप हो रहे। वे डरते हुए मन-ही-मन सोचने लगे कि ये न जाने क्या कहनेके लिये यहाँ पधारे हैं?॥ २४॥

गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत्॥ २५

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम्॥ २६

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः॥ २७

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत्।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च॥ २८

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः॥ २९

तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन् मुदा।
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम्॥ ३०

तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद् विभुः।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः॥ ३१

स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः॥ ३२

उस समय भीमसेन और दुर्योधन दोनों ही हाथमें गदा लेकर एक-दूसरेको जीतनेके लिये क्रोधसे भरकर भाँति-भाँतिके पैंतरे बदल रहे थे। उन्हें देखकर बलरामजीने कहा—॥ २५॥ 'राजा दुर्योधन और भीमसेन! तुम दोनों वीर हो। तुम दोनोंमें बल-पौरुष भी समान है। मैं ऐसा समझता हूँ कि भीमसेनमें बल अधिक है और दुर्योधनने गदायुद्धमें शिक्षा अधिक पायी है॥ २६॥

इसलिये तुमलोगों-जैसे समान बलशालियोंमें किसी एककी जय या पराजय नहीं होती दीखती। अतः तुमलोग व्यर्थका युद्ध मत करो, अब इसे बंद कर दो'॥ २७॥ परीक्षित्! बलरामजीकी बात दोनोंके लिये हितकर थी। परन्तु उन दोनोंका वैरभाव इतना दृढ़मूल हो गया था कि उन्होंने बलरामजीकी बात न मानी। वे एक-दूसरेकी कटुवाणी और दुर्व्यवहारोंका स्मरण करके उन्मत्त-से हो रहे थे॥ २८॥ भगवान् बलरामजीने निश्चय किया कि इनका प्रारब्ध ऐसा ही है; इसलिये उसके सम्बन्धमें विशेष आग्रह न करके वे द्वारका लौट गये। द्वारकामें उग्रसेन आदि गुरुजनों तथा अन्य सम्बन्धियोंने बड़े प्रेमसे आगे आकर उनका स्वागत किया॥ २९॥ वहाँसे बलरामजी फिर नैमिषारण्य क्षेत्रमें गये। वहाँ ऋषियोंने विरोधभावसे—युद्धादिसे निवृत्त बलरामजीके द्वारा बड़े प्रेमसे सब प्रकारके यज्ञ कराये। परीक्षित्! सच पूछो तो जितने भी यज्ञ हैं, वे बलरामजीके अंग ही हैं। इसलिये उनका यह यज्ञानुष्ठान लोकसंग्रहके लिये ही था॥ ३०॥ सर्वसमर्थ भगवान् बलरामने उन ऋषियोंको विशुद्ध तत्त्वज्ञानका उपदेश किया, जिससे वे लोग इस सम्पूर्ण विश्वको अपने-आपमें और अपने-आपको सारे विश्वमें अनुभव करने लगे॥ ३१॥ इसके बाद बलरामजीने अपनी पत्नी रेवतीके साथ यज्ञान्त-स्नान किया और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहनकर अपने भाई-बन्धु तथा स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ इस प्रकार शोभायमान हुए, जैसे अपनी चन्द्रिका एवं नक्षत्रोंके साथ चन्द्रदेव होते हैं॥ ३२॥

ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः।
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि॥ ३३

परीक्षित्! भगवान् बलराम स्वयं अनन्त हैं। उनका स्वरूप मन और वाणीके परे है। उन्होंने लीलाके लिये ही यह मनुष्योंका-सा शरीर ग्रहण किया है। उन बलशाली बलरामजीके ऐसे-ऐसे चरित्रोंकी गिनती भी नहीं की जा सकती॥ ३३॥

योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत्॥ ३४

जो पुरुष अनन्त, सर्वव्यापक, अद्‌भुतकर्मा भगवान् बलरामजीके चरित्रोंका सायं-प्रातः स्मरण करता है, वह भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे बलदेव-तीर्थयात्रानिरूपणं नामैकोनाशीतितमोऽध्यायः॥ ७९॥

अथाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा सुदामाजीका स्वागत

राजोवाच

भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो॥ १

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! प्रेम और मुक्तिके दाता परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त है। इसलिये उनकी माधुर्य और ऐश्वर्यसे भरी लीलाएँ भी अनन्त हैं। अब हम उनकी दूसरी लीलाएँ, जिनका वर्णन आपने अबतक नहीं किया है, सुनना चाहते हैं॥ १॥

को नु श्रुत्वासकृद् ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः॥ २

ब्रह्मन्! यह जीव विषय-सुखको खोजते-खोजते अत्यन्त दुःखी हो गया है। वे बाणकी तरह इसके चित्तमें चुभते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें ऐसा कौन-सा रसिक—रसका विशेषज्ञ पुरुष होगा, जो बार-बार पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णकी मंगलमयी लीलाओंका श्रवण करके भी उनसे विमुख होना चाहेगा॥ २॥

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजंगमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥ ३

जो वाणी भगवान्‌के गुणोंका गान करती है, वही सच्ची वाणी है। वे ही हाथ सच्चे हाथ हैं, जो भगवान्‌की सेवाके लिये काम करते हैं। वही मन सच्चा मन है, जो चराचर प्राणियोंमें निवास करनेवाले भगवान्‌का स्मरण करता है; और वे ही कान वास्तवमें कान कहनेयोग्य हैं, जो भगवान्‌की पुण्यमयी कथाओंका श्रवण करते हैं ॥ ३॥

शिरस्तु तस्योभयलिंगमानमे-
त्तदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः।
अंगानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥ ४

वही सिर सिर है, जो चराचर जगत्‌को भगवान्‌की चल-अचल प्रतिमा समझकर नमस्कार करता है; और जो सर्वत्र भगवद्विग्रहका दर्शन करते हैं, वे ही नेत्र वास्तवमें नेत्र हैं। शरीरके जो अंग भगवान् और उनके भक्तोंके चरणोदकका सेवन करते हैं, वे ही अंग वास्तवमें अंग हैं; सच पूछिये तो उन्हींका होना सफल है॥ ४॥

सूत उवाच

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान् बादरायणिः।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत्॥ ५

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः॥ ६

यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा॥ ७

पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा।
दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च॥ ८

ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः॥ ९

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम्।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने॥ १०

आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किं न्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टांजगद्गुरुः॥ ११

स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मृदु।
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्॥ १२

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! जब राजा परीक्षित्‌ने इस प्रकार प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीशुकदेवजीका हृदय भगवान् श्रीकृष्णमें ही तल्लीन हो गया। उन्होंने परीक्षित्‌से इस प्रकार कहा॥ ५॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! एक ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके परम मित्र थे। वे बड़े ब्रह्मज्ञानी, विषयोंसे विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय थे॥ ६॥ वे गृहस्थ होनेपर भी किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह न रखकर प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता, उसीमें सन्तुष्ट रहते थे। उनके वस्त्र तो फटे-पुराने थे ही, उनकी पत्नीके भी वैसे ही थे। वह भी अपने पतिके समान ही भूखसे दुबली हो रही थी॥ ७॥ एक दिन दरिद्रताकी प्रतिमूर्ति दुःखिनी पतिव्रता भूखके मारे काँपती हुई अपने पतिदेवके पास गयी और मुरझाये हुए मुँहसे बोली—॥ ८॥ 'भगवन्! साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण आपके सखा हैं। वे भक्तवाञ्छाकल्पतरु, शरणागतवत्सल और ब्राह्मणोंके परम भक्त हैं॥ ९॥ परम भाग्यवान् आर्यपुत्र! वे साधु-संतोंके, सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय हैं। आप उनके पास जाइये। जब वे जानेंगे कि आप कुटुम्बी हैं और अन्नके बिना दुःखी हो रहे हैं तो वे आपको बहुत-सा धन देंगे॥ १०॥ आजकल वे भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके स्वामीके रूपमें द्वारकामें ही निवास कर रहे हैं और इतने उदार हैं कि जो उनके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं, उन प्रेमी भक्तोंको वे अपने-आपतकका दान कर डालते हैं। ऐसी स्थितिमें जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंको यदि धन और विषय-सुख, जो अत्यन्त वाञ्छनीय नहीं है, दे दें तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है?'॥ ११॥ इस प्रकार जब उन ब्राह्मणदेवताकी पत्नीने अपने पतिदेवसे कई बार बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की, तब उन्होंने सोचा कि 'धनकी तो कोई बात नहीं है; परन्तु भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन हो जायगा, यह तो जीवनका बहुत बड़ा लाभ है'॥ १२॥

इति संचिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे।
अप्यस्त्युपायनं किंचिद् गृहे कल्याणि दीयताम्॥ १३

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान्।
चैलखण्डेन तान् बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम्॥ १४

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन्॥ १५

त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः।
विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम्॥ १६

गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः।
विवेशैकतमं श्रीमद् ब्रह्मानन्दं गतो यथा॥ १७

तं विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्यंकमास्थितः।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा॥ १८

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरंगसंगातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुंचदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥ १९

अथोपवेश्य पर्यंके स्वयं सख्युः समर्हणम्।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः॥ २०

अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुंकुमैः॥ २१

यही विचार करके उन्होंने जानेका निश्चय किया और अपनी पत्नीसे बोले—'कल्याणी! घरमें कुछ भेंट देनेयोग्य वस्तु भी है क्या? यदि हो तो दे दो'॥ १३॥ तब उस ब्राह्मणीने पास-पड़ोसके ब्राह्मणोंके घरसे चार मुट्ठी चिउड़े माँगकर एक कपड़ेमें बाँध दिये और भगवान्‌को भेंट देनेके लिये अपने पतिदेवको दे दिये॥ १४॥ इसके बाद वे ब्राह्मणदेवता उन चिउड़ोंको लेकर द्वारकाके लिये चल पड़े। वे मार्गमें यह सोचते जाते थे कि 'मुझे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन कैसे प्राप्त होंगे?'॥ १५॥

परीक्षित्! द्वारकामें पहुँचनेपर वे ब्राह्मणदेवता दूसरे ब्राह्मणोंके साथ सैनिकोंकी तीन छावनियाँ और तीन ड्योढ़ियाँ पार करके भगवद्धर्मका पालन करनेवाले अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंके महलोंमें, जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है, जा पहुँचे॥ १६॥ उनके बीच भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार रानियोंके महल थे। उनमेंसे एकमें उन ब्राह्मणदेवताने प्रवेश किया। वह महल खूब सजा-सजाया—अत्यन्त शोभा-युक्त था। उसमें प्रवेश करते समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो वे ब्रह्मानन्दके समुद्रमें डूब-उतरा रहे हों!॥ १७॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया रुक्मिणीजीके पलंगपर विराजे हुए थे। ब्राह्मणदेवताको दूरसे ही देखकर वे सहसा उठ खड़े हुए और उनके पास आकर बड़े आनन्दसे उन्हें अपने भुजपाशमें बाँध लिया॥ १८॥ परीक्षित्! परमानन्दस्वरूप भगवान् अपने प्यारे सखा ब्राह्मणदेवताके अंग-स्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुए। उनके कमलके समान कोमल नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बरसने लगे॥ १९॥ परीक्षित्! कुछ समयके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ले जाकर अपने पलंगपर बैठा दिया और स्वयं पूजनकी सामग्री लाकर उनकी पूजा की। प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सभीको पवित्र करनेवाले हैं; फिर भी उन्होंने अपने हाथों ब्राह्मणदेवताके पाँव पखारकर उनका चरणोदक अपने सिरपर धारण किया और उनके शरीरमें चन्दन, अरगजा, केसर आदि दिव्य गन्धोंका लेपन किया॥ २०-२१॥

धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा।
अर्चित्वाऽऽवेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत्॥ २२

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम्।
देवी पर्यचरत् साक्षाच्चामरव्यजनेन वै॥ २३

अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना।
विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम्॥ २४

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च॥ २५

योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः।
पर्यंकस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा॥ २६

कथयांचक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः।
आत्मनो ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम्॥ २७

श्रीभगवानुवाच

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात्।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा॥ २८

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा।
नैवातिप्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे॥ २९

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम्॥ ३०

कच्चिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते॥ ३१

फिर उन्होंने बड़े आनन्दसे सुगन्धित धूप और दीपावलीसे अपने मित्रकी आरती उतारी। इस प्रकार पूजा करके पान एवं गाय देकर मधुर वचनोंसे 'भले पधारे' ऐसा कहकर उनका स्वागत किया॥ २२॥ ब्राह्मणदेवता फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे। शरीर अत्यन्त मलिन और दुर्बल था। देहकी सारी नसें दिखायी पड़ती थीं। स्वयं भगवती रुक्मिणीजी चँवर डुलाकर उनकी सेवा करने लगीं॥ २३॥ अन्तःपुरकी स्त्रियाँ यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गयीं कि पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अतिशय प्रेमसे इस मैले-कुचैले अवधूत ब्राह्मणकी पूजा कर रहे हैं॥ २४॥ वे आपसमें कहने लगीं—'इस नंग-धड़ंग, निर्धन, निन्दनीय और निकृष्ट भिखमंगेने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिससे त्रिलोकी-गुरु श्रीनिवास श्रीकृष्ण स्वयं इसका आदर-सत्कार कर रहे हैं। देखो तो सही, इन्होंने अपने पलंगपर सेवा करती हुई स्वयं लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीजीको छोड़कर इस ब्राह्मणको अपने बड़े भाई बलरामजीके समान हृदयसे लगाया है'॥ २५-२६॥ प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण और वे ब्राह्मण दोनों एक-दूसरेका हाथ पकड़कर अपने पूर्वजीवनकी उन आनन्ददायक घटनाओंका स्मरण और वर्णन करने लगे जो गुरुकुलमें रहते समय घटित हुई थीं॥ २७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धर्मके मर्मज्ञ ब्राह्मणदेव! गुरुदक्षिणा देकर जब आप गुरुकुलसे लौट आये, तब आपने अपने अनुरूप स्त्रीसे विवाह किया या नहीं?॥ २८॥ मैं जानता हूँ कि आपका चित्त गृहस्थीमें रहनेपर भी प्रायः विषय-भोगोंमें आसक्त नहीं है। विद्वन्! यह भी मुझे मालूम है कि धन आदिमें भी आपकी कोई प्रीति नहीं है॥ २९॥ जगत्में विरले ही लोग ऐसे होते हैं, जो भगवान्की मायासे निर्मित विषयसम्बन्धी वासनाओंका त्याग कर देते हैं और चित्तमें विषयोंकी तनिक भी वासना न रहनेपर भी मेरे समान केवल लोकशिक्षाके लिये कर्म करते रहते हैं॥ ३०॥ ब्राह्मणशिरोमणे! क्या आपको उस समयकी बात याद है, जब हम दोनों एक साथ गुरुकुलमें निवास करते थे। सचमुच गुरुकुलमें ही द्विजातियोंको अपने ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वे अज्ञानान्धकारसे पार हो जाते हैं॥ ३१॥

स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः॥ ३२

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह।
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यंजो भवार्णवम्॥ ३३

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥ ३४

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ।
गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित्॥ ३५

प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद् द्विज।
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः॥ ३६

सूर्यश्चास्तं गतस्तावत् तमसा चावृता दिशः।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन॥ ३७

वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभि-
र्निहन्यमाना मुहुरम्बुसम्प्लवे।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने
गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः॥ ३८

एतद् विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान्॥ ३९

मित्र! इस संसारमें शरीरका कारण—जन्मदाता पिता प्रथम गुरु है। इसके बाद उपनयन-संस्कार करके सत्कर्मोंकी शिक्षा देनेवाला दूसरा गुरु है। वह मेरे ही समान पूज्य है। तदनन्तर ज्ञानोपदेश करके परमात्माको प्राप्त करानेवाला गुरु तो मेरा स्वरूप ही है। वर्णाश्रमियोंके ये तीन गुरु होते हैं॥ ३२॥ मेरे प्यारे मित्र! गुरुके स्वरूपमें स्वयं मैं हूँ। इस जगत्में वर्णाश्रमियोंमें जो लोग अपने गुरुदेवके उपदेशानुसार अनायास ही भवसागर पार कर लेते हैं, वे अपने स्वार्थ और परमार्थके सच्चे जानकार हैं॥ ३३॥ प्रिय मित्र! मैं सबका आत्मा हूँ, सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हूँ। मैं गृहस्थके धर्म पंचमहायज्ञ आदिसे, ब्रह्मचारीके धर्म उपनयन-वेदाध्ययन आदिसे, वानप्रस्थीके धर्म तपस्यासे और सब ओरसे उपरत हो जाना—इस संन्यासीके धर्मसे भी उतना सन्तुष्ट नहीं होता, जितना गुरुदेवकी सेवा-शुश्रूषासे सन्तुष्ट होता हूँ॥ ३४॥

ब्रह्मन्! जिस समय हमलोग गुरुकुलमें निवास कर रहे थे; उस समयकी वह बात आपको याद है क्या, जब हम दोनोंको एक दिन हमारी गुरुपत्नीने ईंधन लानेके लिये जंगलमें भेजा था॥ ३५॥ उस समय हमलोग एक घोर जंगलमें गये हुए थे और बिना ऋतुके ही बड़ा भयंकर आँधी-पानी आ गया था। आकाशमें बिजली कड़कने लगी थी॥ ३६॥ तबतक सूर्यास्त हो गया; चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा फैल गया। धरतीपर इस प्रकार पानी-ही-पानी हो गया कि कहाँ गड्ढा है, कहाँ किनारा, इसका पता ही न चलता था॥ ३७॥

वह वर्षा क्या थी, एक छोटा-मोटा प्रलय ही था। आँधीके झटकों और वर्षाकी बौछारोंसे हमलोगोंको बड़ी पीड़ा हुई, दिशाका ज्ञान न रहा। हमलोग अत्यन्त आतुर हो गये और एक-दूसरेका हाथ पकड़कर जंगलमें इधर-उधर भटकते रहे॥ ३८॥ जब हमारे गुरुदेव सान्दीपनि मुनिको इस बातका पता चला, तब वे सूर्योदय होनेपर अपने शिष्य हमलोगोंको ढूँढ़ते हुए जंगलमें पहुँचे और उन्होंने देखा कि हम अत्यन्त आतुर हो रहे हैं॥ ३९॥

अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः।
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः॥ ४०

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम्।
यद् वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ॥ ४१

तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च॥ ४२

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये॥ ४३

वे कहने लगे—'आश्चर्य है, आश्चर्य है! पुत्रो! तुमलोगोंने हमारे लिये अत्यन्त कष्ट उठाया। सभी प्राणियोंको अपना शरीर सबसे अधिक प्रिय होता है; परन्तु तुम दोनों उसकी भी परवा न करके हमारी सेवामें ही संलग्न रहे॥ ४०॥ गुरुके ऋणसे मुक्त होनेके लिये सत्-शिष्योंका इतना ही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध भावसे अपना सब कुछ और शरीर भी गुरुदेवकी सेवामें समर्पित कर दें॥ ४१॥ द्विज-शिरोमणियो! मैं तुमलोगोंसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारे सारे मनोरथ, सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हों और तुमलोगोंने हमसे जो वेदाध्ययन किया है, वह तुम्हें सर्वदा कण्ठस्थ रहे तथा इस लोक एवं परलोकमें कहीं भी निष्फल न हो'॥ ४२॥ प्रिय मित्र! जिस समय हमलोग गुरुकुलमें निवास कर रहे थे, हमारे जीवनमें ऐसी-ऐसी अनेकों घटनाएँ घटित हुई थीं। इसमें सन्देह नहीं कि गुरुदेवकी कृपासे ही मनुष्य शान्तिका अधिकारी होता और पूर्णताको प्राप्त करता है॥ ४३॥

ब्राह्मण उवाच

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत्॥ ४४

यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम्॥ ४५

ब्राह्मणदेवताने कहा—देवताओंके आराध्यदेव जगद्गुरु श्रीकृष्ण! भला, अब हमें क्या करना बाकी है? क्योंकि आपके साथ, जो सत्यसंकल्प परमात्मा हैं, हमें गुरुकुलमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था॥ ४४॥ प्रभो! छन्दोमय वेद, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चतुर्विध पुरुषार्थके मूल स्रोत हैं; और वे हैं आपके शरीर। वही आप वेदाध्ययनके लिये गुरुकुलमें निवास करें, यह मनुष्य-लीलाका अभिनय नहीं तो और क्या है?॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीदामचरितेऽशीतितमोऽध्यायः॥ ८०॥

अथैकाशीतितमोऽध्यायः

सुदामाजीको ऐश्वर्यकी प्राप्ति

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सबके मनकी बात जानते हैं। वे ब्राह्मणोंके परम भक्त, उनके क्लेशोंके नाशक तथा संतोंके एकमात्र आश्रय हैं। वे पूर्वोक्त प्रकारसे उन ब्राह्मणदेवताके

ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम्।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः॥ २

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥ ३

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ ४

इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः।
पृथुकप्रसृतिं राजन् न प्रायच्छदवाङ्मुखः॥ ५

सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् तस्यागमनकारणम्।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा॥ ६

पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः॥ ७

इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान्द्विजन्मनः।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान्॥ ८

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यंग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥ ९

इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः॥ १०

साथ बहुत देरतक बातचीत करते रहे। अब वे अपने प्यारे सखा उन ब्राह्मणसे तनिक मुसकराकर विनोद करते हुए बोले। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण उन ब्राह्मण-देवताकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे देख रहे थे॥ १-२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'ब्रह्मन्! आप अपने घरसे मेरे लिये क्या उपहार लाये हैं? मेरे प्रेमी भक्त जब प्रेमसे थोड़ी-सी वस्तु भी मुझे अर्पण करते हैं तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है। परन्तु मेरे अभक्त यदि बहुत-सी सामग्री भी मुझे भेंट करते हैं तो उससे मैं सन्तुष्ट नहीं होता॥ ३॥ जो पुरुष प्रेम-भक्तिसे फल-फूल अथवा पत्ता-पानीमेंसे कोई भी वस्तु मुझे समर्पित करता है, तो मैं उस शुद्धचित्त भक्तका वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि तुरंत भोग लगा लेता हूँ'॥ ४॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर भी उन ब्राह्मणदेवताने लज्जावश उन लक्ष्मीपतिको वे चार मुट्ठी चिउड़े नहीं दिये। उन्होंने संकोचसे अपना मुँह नीचे कर लिया था। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयका एक-एक संकल्प और उनका अभाव भी जानते हैं। उन्होंने ब्राह्मणके आनेका कारण, उनके हृदयकी बात जान ली। अब वे विचार करने लगे कि 'एक तो यह मेरा प्यारा सखा है, दूसरे इसने पहले कभी लक्ष्मीकी कामनासे मेरा भजन नहीं किया है। इस समय यह अपनी पतिव्रता पत्नीको प्रसन्न करनेके लिये उसीके आग्रहसे यहाँ आया है। अब मैं इसे ऐसी सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है'॥ ५—७॥ भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा विचार करके उनके वस्त्रमेंसे चिथड़ेकी एक पोटलीमें बँधा हुआ चिउड़ा 'यह क्या है'—ऐसा कहकर स्वयं ही छीन लिया॥ ८॥ और बड़े आदरसे कहने लगे—'प्यारे मित्र! यह तो तुम मेरे लिये अत्यन्त प्रिय भेंट ले आये हो। ये चिउड़े न केवल मुझे, बल्कि सारे संसारको तृप्त करनेके लिये पर्याप्त हैं'॥ ९॥ ऐसा कहकर वे उसमेंसे एक मुट्ठी चिउड़ा खा गये और दूसरी मुट्ठी ज्यों ही भरी, त्यों ही रुक्मिणीके रूपमें स्वयं भगवती लक्ष्मीजीने भगवान् श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया! क्योंकि वे तो एकमात्र भगवान्‌के परायण हैं, उन्हें छोड़कर और कहीं जा नहीं सकतीं॥ १०॥

एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये।
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम्॥ ११

ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा॥ १२

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः॥ १३

स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान् स्वयम्।
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः॥ १४

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया।
यद् दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि॥ १५

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥ १६

निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यंके भ्रातरो यथा।
महिष्या वीजितः श्रान्तो वालव्यजनहस्तया॥ १७

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत्॥ १८

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥ १९

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्॥ २०

रुक्मिणीजीने कहा—'विश्वात्मन्! बस, बस। मनुष्यको इस लोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि प्राप्त करनेके लिये यह एक मुट्ठी चिउड़ा ही बहुत है; क्योंकि आपके लिये इतना ही प्रसन्नताका हेतु बन जाता है'॥ ११॥

परीक्षित्! ब्राह्मणदेवता उस रातको भगवान् श्रीकृष्णके महलमें ही रहे। उन्होंने बड़े आरामसे वहाँ खाया-पिया और ऐसा अनुभव किया, मानो मैं वैकुण्ठमें ही पहुँच गया हूँ॥ १२॥ परीक्षित्! श्रीकृष्णसे ब्राह्मणको प्रत्यक्षरूपमें कुछ भी न मिला। फिर भी उन्होंने उनसे कुछ माँगा नहीं! वे अपने चित्तकी करतूतपर कुछ लज्जित-से होकर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनजनित आनन्दमें डूबते-उतराते अपने घरकी ओर चल पड़े॥ १३-१४॥ वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो, कितने आनन्द और आश्चर्यकी बात है! ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी ब्राह्मणभक्ति आज मैंने अपनी आँखों देख ली। धन्य है! जिनके वक्षःस्थलपर स्वयं लक्ष्मीजी सदा विराजमान रहती हैं, उन्होंने मुझ अत्यन्त दरिद्रको अपने हृदयसे लगा लिया॥ १५॥ कहाँ तो मैं अत्यन्त पापी और दरिद्र, और कहाँ लक्ष्मीके एकमात्र आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण! परन्तु उन्होंने 'यह ब्राह्मण है'—ऐसा समझकर मुझे अपनी भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया॥ १६॥ इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे उस पलंगपर सुलाया, जिसपर उनकी प्राणप्रिया रुक्मिणीजी शयन करती हैं। मानो मैं उनका सगा भाई हूँ! कहाँतक कहूँ? मैं थका हुआ था, इसलिये स्वयं उनकी पटरानी रुक्मिणीजीने अपने हाथों चँवर डुलाकर मेरी सेवा की॥ १७॥ ओह, देवताओंके आराध्यदेव होकर भी ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले प्रभुने पाँव दबाकर, अपने हाथों खिला-पिलाकर मेरी अत्यन्त सेवा-शुश्रूषा की और देवताके समान मेरी पूजा की॥ १८॥ स्वर्ग, मोक्ष, पृथ्वी और रसातलकी सम्पत्ति तथा समस्त योगसिद्धियोंकी प्राप्तिका मूल उनके चरणोंकी पूजा ही है॥ १९॥ फिर भी परमदयालु श्रीकृष्णने यह सोचकर मुझे थोड़ा-सा भी धन नहीं दिया कि कहीं यह दरिद्र धन पाकर बिलकुल मतवाला न हो जाय और मुझे न भूल बैठे'॥ २०॥

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम्।
सूर्यानलेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम्॥ २१

विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः।
प्रोत्फुल्लकुमुदाम्भोजकह्लारोत्पलवारिभिः॥ २२

जुष्टं स्वलंकृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत्॥ २३

एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः।
प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा॥ २४

पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा।
निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात्॥ २५

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना।
मीलिताक्ष्यनमद् बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे॥ २६

पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः॥ २७

प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम्।
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा॥ २८

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
पर्यंका हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च॥ २९

इस प्रकार मन-ही-मन विचार करते-करते ब्राह्मणदेवता अपने घरके पास पहुँच गये। वे वहाँ क्या देखते हैं कि सब-का-सब स्थान सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके समान तेजस्वी रत्ननिर्मित महलोंसे घिरा हुआ है। ठौर-ठौर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान बने हुए हैं तथा उनमें झुंड-के-झुंड रंग-बिरंगे पक्षी कलरव कर रहे हैं। सरोवरोंमें कुमुदिनी तथा श्वेत, नील और सौगन्धिक—भाँति-भाँतिके कमल खिले हुए हैं; सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष बन-ठनकर इधर-उधर विचर रहे हैं। उस स्थानको देखकर ब्राह्मणदेवता सोचने लगे—'मैं यह क्या देख रहा हूँ? यह किसका स्थान है? यदि यह वही स्थान है, जहाँ मैं रहता था तो यह ऐसा कैसे हो गया'॥ २१—२३॥ इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि देवताओंके समान सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष गाजे-बाजेके साथ मंगलगीत गाते हुए उस महाभाग्यवान् ब्राह्मणकी अगवानी करनेके लिये आये॥ २४॥ पतिदेवका शुभागमन सुनकर ब्राह्मणीको अपार आनन्द हुआ और वह हड़बड़ाकर जल्दी-जल्दी घरसे निकल आयी, वह ऐसी मालूम होती थी मानो मूर्तिमती लक्ष्मीजी ही कमलवनसे पधारी हों॥ २५॥ पतिदेवको देखते ही पतिव्रता पत्नीके नेत्रोंमें प्रेम और उत्कण्ठाके आवेगसे आँसू छलक आये। उसने अपने नेत्र बंद कर लिये। ब्राह्मणीने बड़े प्रेमभावसे उन्हें नमस्कार किया और मन-ही-मन आलिंगन भी॥ २६॥

प्रिय परीक्षित्! ब्राह्मणपत्नी सोनेका हार पहनी हुई दासियोंके बीचमें विमानस्थित देवांगनाके समान अत्यन्त शोभायमान एवं देदीप्यमान हो रही थी। उसे इस रूपमें देखकर वे विस्मित हो गये॥ २७॥ उन्होंने अपनी पत्नीके साथ बड़े प्रेमसे अपने महलमें प्रवेश किया। उनका महल क्या था, मानो देवराज इन्द्रका निवासस्थान। इसमें मणियोंके सैकड़ों खंभे खड़े थे॥ २८॥ हाथीके दाँतके बने हुए और सोनेके पातसे मँढ़े हुए पलंगोंपर दूधके फेनकी तरह श्वेत और कोमल बिछौने बिछ रहे थे। बहुत-से चँवर वहाँ रखे हुए थे, जिनमें सोनेकी डंडियाँ लगी हुई थीं॥ २९॥

आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च।
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च॥ ३०

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
रत्नदीपा भ्राजमाना ललनारत्नसंयुताः॥ ३१

विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम्।
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम्॥ ३२

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य॥ ३३

नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः।
पर्जन्यवत्तत् स्वयमीक्षमाणो
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे॥ ३४

किंचित्करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी।
मयोपनीतां पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत् प्रीतियुतो महात्मा॥ ३५

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसंगः ॥ ३६

सोनेके सिंहासन शोभायमान हो रहे थे, जिनपर बड़ी कोमल-कोमल गद्दियाँ लगी हुई थीं! ऐसे चँदोवे भी झिलमिला रहे थे जिनमें मोतियोंकी लड़ियाँ लटक रही थीं॥ ३०॥ स्फटिकमणिकी स्वच्छ भीतोंपर पन्नेकी पच्चीकारी की हुई थी। रत्ननिर्मित स्त्रीमूर्तियोंके हाथोंमें रत्नोंके दीपक जगमगा रहे थे॥ ३१॥

इस प्रकार समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि देखकर और उसका कोई प्रत्यक्ष कारण न पाकर, बड़ी गम्भीरतासे ब्राह्मणदेवता विचार करने लगे कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति कहाँसे आ गयी॥ ३२॥ वे मन-ही-मन कहने लगे—'मैं जन्मसे ही भाग्यहीन और दरिद्र हूँ। फिर मेरी इस सम्पत्ति-समृद्धिका कारण क्या है? अवश्य ही परमैश्वर्यशाली यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके कृपाकटाक्षके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता॥ ३३॥ यह सब कुछ उनकी करुणाकी ही देन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम और लक्ष्मीपति होनेके कारण अनन्त भोग-सामग्रियोंसे युक्त हैं। इसलिये वे याचक भक्तको उसके मनका भाव जानकर बहुत कुछ दे देते हैं, परन्तु उसे समझते हैं बहुत थोड़ा; इसलिये सामने कुछ कहते नहीं। मेरे यदुवंशशिरोमणि सखा श्यामसुन्दर सचमुच उस मेघसे भी बढ़कर उदार हैं, जो समुद्रको भर देनेकी शक्ति रखनेपर भी किसानके सामने न बरसकर उसके सो जानेपर रातमें बरसता है और बहुत बरसनेपर भी थोड़ा ही समझता है॥ ३४॥ मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्ण देते हैं बहुत, पर उसे मानते हैं बहुत थोड़ा! और उनका प्रेमी भक्त यदि उनके लिये कुछ भी कर दे, तो वे उसको बहुत मान लेते हैं। देखो तो सही! मैंने उन्हें केवल एक मुट्ठी चिउड़ा भेंट किया था, पर उदारशिरोमणि श्रीकृष्णने उसे कितने प्रेमसे स्वीकार किया॥ ३५॥ मुझे जन्म-जन्म उन्हींका प्रेम, उन्हींकी हितैषिता, उन्हींकी मित्रता और उन्हींकी सेवा प्राप्त हो। मुझे सम्पत्तिकी आवश्यकता नहीं, सदा-सर्वदा उन्हीं गुणोंके एकमात्र निवासस्थान महानुभाव भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा अनुराग बढ़ता जाय और उन्हींके प्रेमी भक्तोंका सत्संग प्राप्त हो॥ ३६॥

भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो
राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम्॥ ३७

अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पत्ति आदिके दोष जानते हैं। वे देखते हैं कि बड़े-बड़े धनियोंका धन और ऐश्वर्यके मदसे पतन हो जाता है। इसलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको उसके माँगते रहनेपर भी तरह-तरहकी सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि नहीं देते। यह उनकी बड़ी कृपा है'॥ ३७॥

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने।
विषयाञ्जायया त्यक्ष्यन् बुभुजे नातिलम्पटः॥ ३८

परीक्षित्! अपनी बुद्धिसे इस प्रकार निश्चय करके वे ब्राह्मणदेवता त्यागपूर्वक अनासक्तभावसे अपनी पत्नीके साथ भगवत्प्रसादस्वरूप विषयोंको ग्रहण करने लगे और दिनोंदिन उनकी प्रेम-भक्ति बढ़ने लगी॥ ३८॥

तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः।
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम्॥ ३९

प्रिय परीक्षित्! देवताओंके भी आराध्यदेव भक्त-भयहारी यज्ञपति सर्वशक्तिमान् भगवान् स्वयं ब्राह्मणोंको अपना प्रभु, अपना इष्टदेव मानते हैं। इसलिये ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कोई भी प्राणी जगत्‌में नहीं है॥ ३९॥

एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा
दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम्।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम्॥ ४०

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा उस ब्राह्मणने देखा कि 'यद्यपि भगवान् अजित हैं, किसीके अधीन नहीं हैं; फिर भी वे अपने सेवकोंके अधीन हो जाते हैं, उनसे पराजित हो जाते हैं,' अब वे उन्हींके ध्यानमें तन्मय हो गये। ध्यानके आवेगसे उनकी अविद्याकी गाँठ कट गयी और उन्होंने थोड़े ही समयमें भगवान्‌का धाम, जो कि संतोंका एकमात्र आश्रय है, प्राप्त किया॥ ४०॥

एतद् ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद् विमुच्यते॥ ४१

परीक्षित्! ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी इस ब्राह्मणभक्तिको जो सुनता है, उसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रेमभाव प्राप्त हो जाता है और वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पृथुकोपाख्यानं नामैकाशीतितमोऽध्यायः॥ ८१॥

अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण-बलरामसे गोप-गोपियोंकी भेंट

श्रीशुक उवाच

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः।
सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी द्वारकामें निवास कर रहे थे। एक बार सर्वग्रास सूर्यग्रहण लगा, जैसा कि प्रलयके समय लगा करता है॥ १॥

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः।
समन्तपंचकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया॥ २

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान्॥ ३

ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा।
लोकस्य ग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये॥ ४

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन् भारतीः प्रजाः।
वृष्णयश्च तथाक्रूरवसुदेवाहुकादयः॥ ५

ययुर्भारत तत् क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः।
गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः सुचन्द्रशुकसारणैः॥ ६

आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः।
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः॥ ७

गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः।
व्यरोचन्त महातेजाः पथि कांचनमालिनः॥ ८

दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव।
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः॥ ९

परीक्षित्! मनुष्योंको ज्योतिषियोंके द्वारा उस ग्रहणका पता पहलेसे ही चल गया था, इसलिये सब लोग अपने-अपने कल्याणके उद्देश्यसे पुण्य आदि उपार्जन करनेके लिये समन्तपंचक-तीर्थ कुरुक्षेत्रमें आये॥ २॥ समन्तपंचक क्षेत्र वह है, जहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने सारी पृथ्वीको क्षत्रियहीन करके राजाओंकी रुधिरधारासे पाँच बड़े-बड़े कुण्ड बना दिये थे॥ ३॥ जैसे कोई साधारण मनुष्य अपने पापकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्त करता है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् भगवान् परशुरामने अपने साथ कर्मका कुछ सम्बन्ध न होनेपर भी लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये वहींपर यज्ञ किया था॥ ४॥

परीक्षित्! इस महान् तीर्थयात्राके अवसरपर भारतवर्षके सभी प्रान्तोंकी जनता कुरुक्षेत्र आयी थी। उनमें अक्रूर, वसुदेव, उग्रसेन आदि बड़े-बूढ़े तथा गद, प्रद्युम्न, साम्ब आदि अन्य यदुवंशी भी अपने-अपने पापोंका नाश करनेके लिये कुरुक्षेत्र आये थे। प्रद्युम्ननन्दन अनिरुद्ध और यदुवंशी सेनापति कृतवर्मा—ये दोनों सुचन्द्र, शुक, सारण आदिके साथ नगरकी रक्षाके लिये द्वारकामें रह गये थे। यदुवंशी एक तो स्वभावसे ही परम तेजस्वी थे; दूसरे गलेमें सोनेकी माला, दिव्य पुष्पोंके हार, बहुमूल्य वस्त्र और कवचोंसे सुसज्जित होनेके कारण उनकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। वे तीर्थयात्राके पथमें देवताओंके विमानके समान रथों, समुद्रकी तरंगके समान चलनेवाले घोड़ों, बादलोंके समान विशालकाय एवं गर्जना करते हुए हाथियों तथा विद्याधरोंके समान मनुष्योंके द्वारा ढोयी जानेवाली पालकियोंपर अपनी पत्नियोंके साथ इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, मानो स्वर्गके देवता ही यात्रा कर रहे हों। महाभाग्यवान् यदुवंशियोंने कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर एकाग्रचित्तसे संयमपूर्वक स्नान किया और ग्रहणके उपलक्ष्यमें निश्चित कालतक उपवास किया॥ ५—९॥

ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्त्रग्रुक्ममालिनीः।
रामह्रदेषु विधिवत् पुनराप्लुत्य वृष्णयः॥ १०

ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति।
स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः॥ ११

भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु।
तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान्॥ १२

मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृंजयान्।
काम्बोजकैकयान् मद्रान् कुन्तीनानर्तकेरलान्॥ १३

अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान् परांश्च शतशो नृप।
नन्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम्॥ १४

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्त्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम्॥ १५

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-
स्मितामलापांगदृशोऽभिरेभिरे।
स्तनैः स्तनान् कुंकुमपंकरूषितान्
निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः॥ १६

उन्होंने ब्राह्मणोंको गोदान किया। ऐसी गौओंका दान किया जिन्हें वस्त्रोंकी सुन्दर-सुन्दर झूलें, पुष्पमालाएँ एवं सोनेकी जंजीरें पहना दी गयी थीं। इसके बाद ग्रहणका मोक्ष हो जानेपर परशुरामजीके बनाये हुए कुण्डोंमें यदुवंशियोंने विधिपूर्वक स्नान किया और सत्पात्र ब्राह्मणोंको सुन्दर-सुन्दर पकवानोंका भोजन कराया। उन्होंने अपने मनमें यह संकल्प किया था कि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें हमारी प्रेमभक्ति बनी रहे। भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना आदर्श और इष्टदेव माननेवाले यदुवंशियोंने ब्राह्मणोंसे अनुमति लेकर तब स्वयं भोजन किया और फिर घनी एवं ठंडी छायावाले वृक्षोंके नीचे अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार डेरा डालकर ठहर गये। परीक्षित्! विश्राम कर लेनेके बाद यदुवंशियोंने अपने सुहृद् और सम्बन्धी राजाओंसे मिलना-भेंटना शुरू किया॥ १०—१२॥ वहाँ मत्स्य, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सृंजय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ति, आनर्त, केरल एवं दूसरे अनेकों देशोंके—अपने पक्षके तथा शत्रुपक्षके—सैकड़ों नरपति आये हुए थे। परीक्षित्! इनके अतिरिक्त यदुवंशियोंके परम हितैषी बन्धु नन्द आदि गोप तथा भगवान्के दर्शनके लिये चिरकालसे उत्कण्ठित गोपियाँ भी वहाँ आयी हुई थीं। यादवोंने इन सबको देखा॥ १३-१४॥ परीक्षित्! एक-दूसरेके दर्शन, मिलन और वार्तालापसे सभीको बड़ा आनन्द हुआ। सभीके हृदय-कमल एवं मुख-कमल खिल उठे। सब एक-दूसरेको भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगाते, उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती, रोम-रोम खिल उठता, प्रेमके आवेगसे बोली बंद हो जाती और सब-के-सब आनन्द-समुद्रमें डूबने-उतराने लगते॥ १५॥

पुरुषोंकी भाँति स्त्रियाँ भी एक-दूसरेको देखकर प्रेम और आनन्दसे भर गयीं। वे अत्यन्त सौहार्द, मन्द-मन्द मुसकान, परम पवित्र तिरछी चितवनसे देख-देखकर परस्पर भेंट-अँकवार भरने लगीं। वे अपनी भुजाओंमें भरकर केसर लगे हुए वक्षःस्थलोंको दूसरी स्त्रियोंके वक्षःस्थलोंसे दबातीं और अत्यन्त आनन्दका अनुभव करतीं। उस समय उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू छलकने लगते॥ १६॥

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा मिथः॥ १७
पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान् पितरावपि।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः॥ १८

कुन्त्युवाच

आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम्।
यद् वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः॥ १९
सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम्॥ २०

वसुदेव उवाच

अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान् नरान्।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा॥ २१
कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम्।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः॥ २२

श्रीशुक उवाच

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः।
आसन्नच्युतसन्दर्शपरमानन्दनिर्वृताः॥ २३
भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृंजयो विदुरः कृपः॥ २४
कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान्।
पुरुजिद् द्रुपदः शल्यो[1] धृष्टकेतुः सकाशिराट्॥ २५
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता[2] बाह्लिकादयः॥ २६
राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः।
श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः॥ २७

अवस्था आदिमें छोटोंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया और उन्होंने अपनेसे छोटोंका प्रणाम स्वीकार किया। वे एक-दूसरेका स्वागत करके तथा कुशल-मंगल आदि पूछकर फिर श्रीकृष्णकी मधुर लीलाएँ आपसमें कहने-सुनने लगे॥ १७॥ परीक्षित्! कुन्ती वसुदेव आदि अपने भाइयों, बहिनों, उनके पुत्रों, माता-पिता, भाभियों और भगवान् श्रीकृष्णको देखकर तथा उनसे बातचीत करके अपना सारा दुःख भूल गयीं॥ १८॥

कुन्तीने वसुदेवजीसे कहा—भैया! मैं सचमुच बड़ी अभागिन हूँ। मेरी एक भी साध पूरी न हुई। आप-जैसे साधु-स्वभाव सज्जन भाई आपत्तिके समय मेरी सुधि भी न लें, इससे बढ़कर दुःखकी बात क्या होगी?॥ १९॥ भैया! विधाता जिसके बाँयें हो जाता है उसे स्वजन-सम्बन्धी, पुत्र और माता-पिता भी भूल जाते हैं। इसमें आपलोगोंका कोई दोष नहीं॥ २०॥

वसुदेवजीने कहा—बहिन! उलाहना मत दो। हमसे बिलग न मानो। सभी मनुष्य दैवके खिलौने हैं। यह सम्पूर्ण लोक ईश्वरके वशमें रहकर कर्म करता है और उसका फल भोगता है॥ २१॥ बहिन! कंससे सताये जाकर हमलोग इधर-उधर अनेक दिशाओंमें भगे हुए थे। अभी कुछ ही दिन हुए, ईश्वरकृपासे हम सब पुनः अपना स्थान प्राप्त कर सके हैं॥ २२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वहाँ जितने भी नरपति आये थे—वसुदेव, उग्रसेन आदि यदुवंशियोंने उनका खूब सम्मान-सत्कार किया। वे सब भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन पाकर परमानन्द और शान्तिका अनुभव करने लगे॥ २३॥ परीक्षित्! भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, दुर्योधनादि पुत्रोंके साथ गान्धारी, पत्नियोंके सहित युधिष्ठिर आदि पाण्डव, कुन्ती, सृंजय, विदुर, कृपाचार्य, कुन्तिभोज, विराट, भीष्मक, महाराज नग्नजित्, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशीनरेश, दमघोष, विशालाक्ष, मिथिलानरेश, मद्रनरेश, केकयनरेश, युधामन्यु, सुशर्मा, अपने पुत्रोंके साथ बाह्लीक और दूसरे भी युधिष्ठिरके अनुयायी नृपति भगवान् श्रीकृष्णका परम सुन्दर श्रीनिकेतन विग्रह और उनकी रानियोंको देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये॥ २४—२७॥

१. शैव्यो धृष्टकेतुश्च काशि०। २. यदुश्चावन्तिकादयः।

अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक् प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान् ॥ २८

अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह।
यत् पश्यथासकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥ २९

यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम्।
भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥ ३०

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-
शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥ ३१

श्रीशुक उवाच

नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् ।
तत्रागमद् वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥ ३२

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥ ३३

अब वे बलरामजी तथा भगवान् श्रीकृष्णसे भलीभाँति सम्मान प्राप्त करके बड़े आनन्दसे श्रीकृष्णके स्वजनों—यदुवंशियोंकी प्रशंसा करने लगे॥ २८॥ उन लोगोंने मुख्यतया उग्रसेनजीको सम्बोधित कर कहा—'भोजराज उग्रसेनजी! सच पूछिये तो इस जगत्के मनुष्योंमें आपलोगोंका जीवन ही सफल है, धन्य है! धन्य है! क्योंकि जिन श्रीकृष्णका दर्शन बड़े-बड़े योगियोंके लिये भी दुर्लभ है, उन्हींको आपलोग नित्य-निरन्तर देखते रहते हैं॥ २९॥ वेदोंने बड़े आदरके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्तिका गान किया है। उनके चरणधोवनका जल गंगाजल, उनकी वाणी—शास्त्र और उनकी कीर्ति इस जगत्को अत्यन्त पवित्र कर रही है। अभी हमलोगोंके जीवनकी ही बात है, समयके फेरसे पृथ्वीका सारा सौभाग्य नष्ट हो चुका था; परन्तु उनके चरणकमलोंके स्पर्शसे पृथ्वीमें फिर समस्त शक्तियोंका संचार हो गया और अब वह फिर हमारी समस्त अभिलाषाओं—मनोरथोंको पूर्ण करने लगी॥ ३०॥ उग्रसेनजी! आपलोगोंका श्रीकृष्णके साथ वैवाहिक एवं गोत्रसम्बन्ध है। यही नहीं, आप हर समय उनका दर्शन और स्पर्श प्राप्त करते रहते हैं। उनके साथ चलते हैं, बोलते हैं, सोते हैं, बैठते हैं और खाते-पीते हैं। यों तो आपलोग गृहस्थीकी झंझटोंमें फँसे रहते हैं—जो नरकका मार्ग है, परन्तु आपलोगोंके घर वे सर्वव्यापक विष्णु भगवान् मूर्तिमान् रूपसे निवास करते हैं, जिनके दर्शनमात्रसे स्वर्ग और मोक्षतककी अभिलाषा मिट जाती है'॥ ३१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब नन्दबाबाको यह बात मालूम हुई कि श्रीकृष्ण आदि यदुवंशी कुरुक्षेत्रमें आये हुए हैं, तब वे गोपोंके साथ अपनी सारी सामग्री गाड़ियोंपर लादकर अपने प्रिय पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम आदिको देखनेके लिये वहाँ आये॥ ३२॥ नन्द आदि गोपोंको देखकर सब-के-सब यदुवंशी आनन्दसे भर गये। वे इस प्रकार उठ खड़े हुए, मानो मृत शरीरमें प्राणोंका संचार हो गया हो। वे लोग एक-दूसरेसे मिलनेके लिये बहुत दिनोंसे आतुर हो रहे थे। इसलिये एक-दूसरेको बहुत देरतक अत्यन्त गाढ़भावसे आलिंगन करते रहे॥ ३३॥

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः।
स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले॥ ३४

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च।
न किंचनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह॥ ३५

तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः॥ ३६

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम्।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः॥ ३७

का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया॥ ३८

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः॥ ३९

वसुदेवजीने अत्यन्त प्रेम और आनन्दसे विह्वल होकर नन्दजीको हृदयसे लगा लिया। उन्हें एक-एक करके सारी बातें याद हो आयीं—कंस किस प्रकार उन्हें सताता था और किस प्रकार उन्होंने अपने पुत्रको गोकुलमें ले जाकर नन्दजीके घर रख दिया था॥ ३४॥ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने माता यशोदा और पिता नन्दजीके हृदयसे लगकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। परीक्षित्! उस समय प्रेमके उद्रेकसे दोनों भाइयोंका गला रुँध गया, वे कुछ भी बोल न सके॥ ३५॥ महाभाग्यवती यशोदाजी और नन्दबाबाने दोनों पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठा लिया और भुजाओंसे उनका गाढ़ आलिंगन किया। उनके हृदयमें चिरकालतक न मिलनेका जो दुःख था, वह सब मिट गया॥ ३६॥ रोहिणी और देवकीजीने व्रजेश्वरी यशोदाको अपनी अँकवारमें भर लिया। यशोदाजीने उन लोगोंके साथ मित्रताका जो व्यवहार किया था, उसका स्मरण करके दोनोंका गला भर आया। वे यशोदाजीसे कहने लगीं—॥ ३७॥ 'यशोदारानी! आपने और व्रजेश्वर नन्दजीने हमलोगोंके साथ जो मित्रताका व्यवहार किया है, वह कभी मिटनेवाला नहीं है, उसका बदला इन्द्रका ऐश्वर्य पाकर भी हम किसी प्रकार नहीं चुका सकतीं। नन्दरानीजी! भला ऐसा कौन कृतघ्न है, जो आपके उस उपकारको भूल सके?॥ ३८॥ देवि! जिस समय बलराम और श्रीकृष्णने अपने मा-बापको देखातक न था और इनके पिताने धरोहरके रूपमें इन्हें आप दोनोंके पास रख छोड़ा था, उस समय आपने इन दोनोंकी इस प्रकार रक्षा की, जैसे पलकें पुतलियोंकी रक्षा करती हैं। तथा आपलोगोंने ही इन्हें खिलाया-पिलाया, दुलार किया और रिझाया; इनके मंगलके लिये अनेकों प्रकारके उत्सव मनाये। सच पूछिये, तो इनके मा-बाप आप ही लोग हैं। आपलोगोंकी देख-रेखमें इन्हें किसीकी आँचतक न लगी, ये सर्वथा निर्भय रहे, ऐसा करना आपलोगोंके अनुरूप ही था। क्योंकि सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं रहता। नन्दरानीजी! सचमुच आपलोग परम संत हैं॥ ३९॥

श्रीशुक उवाच

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्॥ ४०

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसंगतः।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ ४१

अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥ ४२

अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशंकया।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च॥ ४३

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत्॥ ४४

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥ ४५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मैं कह चुका हूँ कि गोपियोंके परम प्रियतम, जीवनसर्वस्व श्रीकृष्ण ही थे। जब उनके दर्शनके समय नेत्रोंकी पलकें गिर पड़तीं, तब वे पलकोंको बनानेवालेको ही कोसने लगतीं। उन्हीं प्रेमकी मूर्ति गोपियोंको आज बहुत दिनोंके बाद भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन हुआ। उनके मनमें इसके लिये कितनी लालसा थी, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। उन्होंने नेत्रोंके रास्ते अपने प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें ले जाकर गाढ़ आलिंगन किया और मन-ही-मन आलिंगन करते-करते तन्मय हो गयीं। परीक्षित्! कहाँतक कहूँ, वे उस भावको प्राप्त हो गयीं, जो नित्य-निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगियोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है॥ ४०॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि गोपियाँ मुझसे तादात्म्यको प्राप्त—एक हो रही हैं, तब वे एकान्तमें उनके पास गये, उनको हृदयसे लगाया, कुशल-मंगल पूछा और हँसते हुए यों बोले— ॥ ४१॥ 'सखियो! हमलोग अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका काम करनेके लिये व्रजसे बाहर चले आये और इस प्रकार तुम्हारी-जैसी प्रेयसियोंको छोड़कर हम शत्रुओंका विनाश करनेमें उलझ गये। बहुत दिन बीत गये, क्या कभी तुमलोग हमारा स्मरण भी करती हो?॥ ४२॥ मेरी प्यारी गोपियो! कहीं तुमलोगोंके मनमें यह आशंका तो नहीं हो गयी है कि मैं अकृतज्ञ हूँ और ऐसा समझकर तुमलोग हमसे बुरा तो नहीं मानने लगी हो? निस्सन्देह भगवान् ही प्राणियोंके संयोग और वियोगके कारण हैं॥ ४३॥ जैसे वायु बादलों, तिनकों, रूई और धूलके कणोंको एक-दूसरेसे मिला देती है और फिर स्वच्छन्दरूपसे उन्हें अलग-अलग कर देती है, वैसे ही समस्त पदार्थोंके निर्माता भगवान् भी सबका संयोग-वियोग अपनी इच्छानुसार करते रहते हैं॥ ४४॥ सखियो! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सब लोगोंको मेरा वह प्रेम प्राप्त हो चुका है, जो मेरी ही प्राप्ति करानेवाला है। क्योंकि मेरे प्रति की हुई प्रेम-भक्ति प्राणियोंको अमृतत्व (परमानन्द-धाम) प्रदान करनेमें समर्थ है॥ ४५॥

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरंगनाः॥ ४६

प्यारी गोपियो! जैसे घट, पट आदि जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, उनके आदि, अन्त और मध्यमें, बाहर और भीतर, उनके मूल कारण पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओतप्रोत हो रहे हैं, वैसे ही जितने भी पदार्थ हैं, उनके पहले, पीछे, बीचमें, बाहर और भीतर केवल मैं-ही-मैं हूँ॥ ४६॥

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥ ४७

इसी प्रकार सभी प्राणियोंके शरीरमें यही पाँचों भूत कारणरूपसे स्थित हैं और आत्मा भोक्ताके रूपसे अथवा जीवके रूपसे स्थित है। परन्तु मैं इन दोनोंसे परे अविनाशी सत्य हूँ। ये दोनों मेरे ही अंदर प्रतीत हो रहे हैं, तुमलोग ऐसा अनुभव करो॥ ४७॥

श्रीशुक उवाच

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्॥ ४८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार गोपियोंको अध्यात्मज्ञानकी शिक्षासे शिक्षित किया। उसी उपदेशके बार-बार स्मरणसे गोपियोंका जीवकोश—लिंगशरीर नष्ट हो गया और वे भगवान्‌से एक हो गयीं, भगवान्‌को ही सदा-सर्वदाके लिये प्राप्त हो गयीं॥ ४८॥

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥ ४९

उन्होंने कहा—'हे कमलनाभ! अगाधबोध-सम्पन्न बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदयकमलमें आपके चरणकमलोंका चिन्तन करते रहते हैं। जो लोग संसारके कूएँमें गिरे हुए हैं, उन्हें उससे निकलनेके लिये आपके चरणकमल ही एकमात्र अवलम्बन हैं। प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपका वह चरणकमल, घर-गृहस्थके काम करते रहनेपर भी सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान रहे, हम एक क्षणके लिये भी उसे न भूलें॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे वृष्णिगोपसंगमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८२॥

अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः

भगवान्‌की पटरानियोंके साथ द्रौपदीकी बातचीत

श्रीशुक उवाच

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ही गोपियोंको शिक्षा देनेवाले हैं और वही उस शिक्षाके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु हैं। इसके पहले, जैसा कि वर्णन किया गया है, भगवान् श्रीकृष्णने उनपर महान् अनुग्रह किया। अब उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर

त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः।
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥ २

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित्।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहम्भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम्॥ ३

हित्वाऽऽत्मधामविधुतात्मकृतत्र्यवस्थ-
मानन्दसम्प्लवमखण्डमकुण्ठबोधम्।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म॥ ४

ऋषिरुवाच

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने-
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते॥ ५

द्रौपद्युवाच

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे॥ ६

हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान् स्वयम्।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया॥ ७

तथा अन्य समस्त सम्बन्धियोंसे कुशल-मंगल पूछा॥ १॥ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका दर्शन करनेसे ही उनके सारे अशुभ नष्ट हो चुके थे। अब जब भगवान् श्रीकृष्णने उनका सत्कार किया, कुशल-मंगल पूछा, तब वे अत्यन्त आनन्दित होकर उनसे कहने लगे—॥ २॥ 'भगवन्! बड़े बड़े महापुरुष मन-ही-मन आपके चरणारविन्दका मकरन्द रस पान करते रहते हैं। कभी-कभी उनके मुखकमलसे लीला-कथाके रूपमें वह रस छलक पड़ता है। प्रभो! वह इतना अद्‌भुत दिव्य रस है कि कोई भी प्राणी उसको पी ले तो वह जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाली विस्मृति अथवा अविद्याको नष्ट कर देता है। उसी रसको जो लोग अपने कानोंके दोनोंमें भर-भरकर जी-भर पीते हैं, उनके अमंगलकी आशंका ही क्या है?॥ ३॥ भगवन्! आप एकरस ज्ञानस्वरूप और अखण्ड आनन्दके समुद्र हैं। बुद्धि-वृत्तियोंके कारण होनेवाली जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ आपके स्वयंप्रकाश स्वरूपतक पहुँच ही नहीं पातीं, दूरसे ही नष्ट हो जाती हैं। आप परमहंसोंकी एकमात्र गति हैं। समयके फेरसे वेदोंका ह्रास होते देखकर उनकी रक्षाके लिये आपने अपनी अचिन्त्य योगमायाके द्वारा मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण किया है। हम आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करते हैं'॥ ४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जिस समय दूसरे लोग इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे, उसी समय यादव और कौरव-कुलकी स्त्रियाँ एकत्र होकर आपसमें भगवान्‌की त्रिभुवन-विख्यात लीलाओंका वर्णन कर रही थीं। अब मैं तुम्हें उन्हींकी बातें सुनाता हूँ॥ ५॥

द्रौपदीने कहा—हे रुक्मिणी, भद्रे, हे जाम्बवती, सत्ये, हे सत्यभामे, कालिन्दी, शैव्ये, लक्ष्मणे, रोहिणी और अन्यान्य श्रीकृष्णपत्नियो! तुमलोग हमें यह तो बताओ कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपनी मायासे लोगोंका अनुकरण करते हुए तुमलोगोंका किस प्रकार पाणिग्रहण किया?॥ ६-७॥

रुक्मिण्युवाच

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्
तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय॥ ८

रुक्मिणीजीने कहा—द्रौपदीजी! जरासन्ध आदि सभी राजा चाहते थे कि मेरा विवाह शिशुपालके साथ हो; इसके लिये सभी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर युद्धके लिये तैयार थे। परन्तु भगवान् मुझे वैसे ही हर लाये, जैसे सिंह बकरी और भेड़ोंके झुंडमेंसे अपना भाग छीन ले जाय। क्यों न हो—जगत्‌में जितने भी अजेय वीर हैं, उनके मुकुटोंपर इन्हींकी चरणधूलि शोभायमान होती है। द्रौपदीजी! मेरी तो यही अभिलाषा है कि भगवान्‌के वे ही समस्त सम्पत्ति और सौन्दर्योंके आश्रय चरणकमल जन्म-जन्म मुझे आराधना करनेके लिये प्राप्त होते रहें, मैं उन्हींकी सेवामें लगी रहूँ॥ ८॥

सत्यभामोवाच

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात् स तेन
भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम्॥ ९

सत्यभामाने कहा—द्रौपदीजी! मेरे पिताजी अपने भाई प्रसेनकी मृत्युसे बहुत दुःखी हो रहे थे, अतः उन्होंने उनके वधका कलंक भगवान्‌पर ही लगाया। उस कलंकको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने ऋक्षराज जाम्बवान्‌पर विजय प्राप्त की और वह रत्न लाकर मेरे पिताको दे दिया। अब तो मेरे पिताजी मिथ्या कलंक लगानेके कारण डर गये। अतः यद्यपि वे दूसरेको मेरा वाग्दान कर चुके थे, फिर भी उन्होंने मुझे स्यमन्तकमणिके साथ भगवान्‌के चरणोंमें ही समर्पित कर दिया॥ ९॥

जाम्बवत्युवाच

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदेवं
सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत्।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी॥ १०

जाम्बवतीने कहा—द्रौपदीजी! मेरे पिता ऋक्षराज जाम्बवान्‌को इस बातका पता न था कि यही मेरे स्वामी भगवान् सीतापति हैं। इसलिये वे इनसे सत्ताईस दिनतक लड़ते रहे। परन्तु जब परीक्षा पूरी हुई, उन्होंने जान लिया कि ये भगवान् राम ही हैं, तब इनके चरणकमल पकड़कर स्यमन्तकमणिके साथ उपहारके रूपमें मुझे समर्पित कर दिया। मैं यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्म इन्हींकी दासी बनी रहूँ॥ १०॥

कालिन्द्युवाच

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया।
सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी॥ ११

कालिन्दीने कहा—द्रौपदीजी! जब भगवान्‌को यह मालूम हुआ कि मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेकी आशा-अभिलाषासे तपस्या कर रही हूँ, तब वे अपने सखा अर्जुनके साथ यमुना-तटपर आये और मुझे स्वीकार कर लिया। मैं उनका घर बुहारनेवाली उनकी दासी हूँ॥ ११॥

मित्रविन्दोवाच

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्
निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ।
भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-
स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम् ॥ १२

सत्योवाच

सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृंगान्
पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥ १३

य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरंगिणीम् ।
पथि निर्जित्य राजन्यान् निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥ १४

भद्रोवाच

पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥ १५

अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥ १६

लक्ष्मणोवाच

ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥ १७

मित्रविन्दाने कहा—द्रौपदीजी ! मेरा स्वयंवर हो रहा था। वहाँ आकर भगवान्‌ने सब राजाओंको जीत लिया और जैसे सिंह झुंड-के-झुंड कुत्तोंमेंसे अपना भाग ले जाय, वैसे ही मुझे अपनी शोभामयी द्वारका-पुरीमें ले आये। मेरे भाइयोंने भी मुझे भगवान्‌से छुड़ाकर मेरा अपकार करना चाहा, परन्तु उन्होंने उन्हें भी नीचा दिखा दिया। मैं ऐसा चाहती हूँ कि मुझे जन्म-जन्म उनके पाँव पखारनेका सौभाग्य प्राप्त होता रहे ॥ १२ ॥

सत्याने कहा—द्रौपदीजी ! मेरे पिताजीने मेरे स्वयंवरमें आये हुए राजाओंके बल-पौरुषकी परीक्षाके लिये बड़े बलवान् और पराक्रमी, तीखे सींगवाले सात बैल रख छोड़े थे। उन बैलोंने बड़े-बड़े वीरोंका घमंड चूर-चूर कर दिया था। उन्हें भगवान्‌ने खेल-खेलमें ही झपटकर पकड़ लिया, नाथ लिया और बाँध दिया; ठीक वैसे ही, जैसे छोटे-छोटे बच्चे बकरीके बच्चोंको पकड़ लेते हैं ॥ १३ ॥ इस प्रकार भगवान् बल-पौरुषके द्वारा मुझे प्राप्त कर चतुरंगिणी सेना और दासियोंके साथ द्वारका ले आये। मार्गमें जिन क्षत्रियोंने विघ्न डाला, उन्हें जीत भी लिया। मेरी यही अभिलाषा है कि मुझे इनकी सेवाका अवसर सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहे ॥ १४ ॥

भद्राने कहा—द्रौपदीजी ! भगवान् मेरे मामाके पुत्र हैं। मेरा चित्त इन्हींके चरणोंमें अनुरक्त हो गया था। जब मेरे पिताजीको यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने स्वयं ही भगवान्‌को बुलाकर अक्षौहिणी सेना और बहुत-सी दासियोंके साथ मुझे इन्हींके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ १५ ॥ मैं अपना परम कल्याण इसीमें समझती हूँ कि कर्मके अनुसार मुझे जहाँ-जहाँ जन्म लेना पड़े, सर्वत्र इन्हींके चरणकमलोंका संस्पर्श प्राप्त होता रहे ॥ १६ ॥

लक्ष्मणाने कहा—रानीजी ! देवर्षि नारद बार-बार भगवान्‌के अवतार और लीलाओंका गान करते रहते थे। उसे सुनकर और यह सोचकर कि लक्ष्मीजीने समस्त लोकपालोंका त्याग करके भगवान्‌का ही वरण किया, मेरा चित्त भगवान्‌के चरणोंमें आसक्त हो गया ॥ १७ ॥

ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः।
बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत्॥ १८

यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः।
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम्॥ १९

श्रुत्वैतत् सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम्।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः॥ २०

पित्रा सम्पूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः॥ २१

आदाय व्यसृजन् केचित् सज्यं कर्तुमनीश्वराः।
आकोटि ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः॥ २२

सज्यं कृत्वा परे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दंस्तदवस्थितिम्॥ २३

मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम्।
पार्थो यत्तोऽसृजद् बाणं नाच्छिनत् पस्पृशे परम्॥ २४

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु।
भगवान् धनुरादाय सज्यं कृत्वाथ लीलया॥ २५

तस्मिन् सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते॥ २६

साध्वी! मेरे पिता बृहत्सेन मुझपर बहुत प्रेम रखते थे। जब उन्हें मेरा अभिप्राय मालूम हुआ, तब उन्होंने मेरी इच्छाकी पूर्तिके लिये यह उपाय किया॥ १८॥ महारानी! जिस प्रकार पाण्डववीर अर्जुनकी प्राप्तिके लिये आपके पिताने स्वयंवरमें मत्स्यवेधका आयोजन किया था, उसी प्रकार मेरे पिताने भी किया। आपके स्वयंवरकी अपेक्षा हमारे यहाँ यह विशेषता थी कि मत्स्य बाहरसे ढका हुआ था, केवल जलमें ही उसकी परछाईं दीख पड़ती थी॥ १९॥ जब यह समाचार राजाओंको मिला, तब सब ओरसे समस्त अस्त्र-शस्त्रोंके तत्त्वज्ञ हजारों राजा अपने-अपने गुरुओंके साथ मेरे पिताजीकी राजधानीमें आने लगे॥ २०॥ मेरे पिताजीने आये हुए सभी राजाओंका बल-पौरुष और अवस्थाके अनुसार भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया। उन लोगोंने मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे स्वयंवर-सभामें रखे हुए धनुष और बाण उठाये॥ २१॥ उनमेंसे कितने ही राजा तो धनुषपर ताँत भी न चढ़ा सके। उन्होंने धनुषको ज्यों-का-त्यों रख दिया। कइयोंने धनुषकी डोरीको एक सिरेसे बाँधकर दूसरे सिरेतक खींच तो लिया, परन्तु वे उसे दूसरे सिरेसे बाँध न सके, उसका झटका लगनेसे गिर पड़े॥ २२॥ रानीजी! बड़े-बड़े प्रसिद्ध वीर—जैसे जरासन्ध, अम्बष्ठनरेश, शिशुपाल, भीमसेन, दुर्योधन और कर्ण—इन लोगोंने धनुषपर डोरी तो चढ़ा ली; परन्तु उन्हें मछलीकी स्थितिका पता न चला॥ २३॥ पाण्डववीर अर्जुनने जलमें उस मछलीकी परछाईं देख ली और यह भी जान लिया कि वह कहाँ है। बड़ी सावधानीसे उन्होंने बाण छोड़ा भी; परन्तु उससे लक्ष्यवेध न हुआ, उनके बाणने केवल उसका स्पर्शमात्र किया॥ २४॥

रानीजी! इस प्रकार बड़े-बड़े अभिमानियोंका मान मर्दन हो गया। अधिकांश नरपतियोंने मुझे पानेकी लालसा एवं साथ-ही-साथ लक्ष्यवेधकी चेष्टा भी छोड़ दी। तब भगवान्ने धनुष उठाकर खेल-खेलमें—अनायास ही उसपर डोरी चढ़ा दी, बाण साधा और जलमें केवल एक बार मछलीकी परछाईं देखकर बाण मारा तथा उसे नीचे गिरा दिया। उस समय ठीक दोपहर हो रहा था, सर्वार्थसाधक 'अभिजित्' नामक मुहूर्त बीत रहा था॥ २५-२६॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः॥ २७

तद् रंगमाविशमहं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम्।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्त्रक्॥ २८

उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम्॥ २९

तावन्मृदंगपटहाः शंखभेर्यानकादयः।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः॥ ३०

एवं वृते भगवति मयेशे[1] नृपयूथपाः।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः॥ ३१

मां तावद् रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम्।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः॥ ३२

दारुकश्चोदयामास कांचनोपस्करं रथम्।
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव॥ ३३

तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धु[2] पथि केचन।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम्॥ ३४

देवीजी! उस समय पृथ्वीमें जय-जयकार होने लगा और आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। बड़े-बड़े देवता आनन्द-विह्वल होकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ २७॥ रानीजी! उसी समय मैंने रंगशालामें प्रवेश किया। मेरे पैरोंके पायजेब रुनझुन-रुनझुन बोल रहे थे। मैंने नये-नये उत्तम रेशमी वस्त्र धारण कर रखे थे। मेरी चोटियोंमें मालाएँ गुँथी हुई थीं और मुँहपर लज्जामिश्रित मुसकराहट थी। मैं अपने हाथोंमें रत्नोंका हार लिये हुए थी, जो बीच-बीचमें लगे हुए सोनेके कारण और भी दमक रहा था। रानीजी! उस समय मेरा मुखमण्डल घनी घुँघराली अलकोंसे सुशोभित हो रहा था तथा कपोलोंपर कुण्डलोंकी आभा पड़नेसे वह और भी दमक उठा था। मैंने एक बार अपना मुख उठाकर चन्द्रमाकी किरणोंके समान सुशीतल हास्यरेखा और तिरछी चितवनसे चारों ओर बैठे हुए राजाओंकी ओर देखा, फिर धीरेसे अपनी वरमाला भगवान्‌के गलेमें डाल दी। यह तो कह ही चुकी हूँ कि मेरा हृदय पहलेसे ही भगवान्‌के प्रति अनुरक्त था॥ २८-२९॥ मैंने ज्यों ही वरमाला पहनायी त्यों ही मृदंग, पखावज, शंख, ढोल, नगारे आदि बाजे बजने लगे। नट और नर्तकियाँ नाचने लगीं। गवैये गाने लगे॥ ३०॥

द्रौपदीजी! जब मैंने इस प्रकार अपने स्वामी प्रियतम भगवान्‌को वरमाला पहना दी, उन्हें वरण कर लिया, तब कामातुर राजाओंको बड़ा डाह हुआ। वे बहुत ही चिढ़ गये॥ ३१॥ चतुर्भुज भगवान्‌ने अपने श्रेष्ठ चार घोड़ोंवाले रथपर मुझे चढ़ा लिया और हाथमें शार्ङ्गधनुष लेकर तथा कवच पहनकर युद्ध करनेके लिये वे रथपर खड़े हो गये॥ ३२॥ पर रानीजी! दारुकने सोनेके साज-सामानसे लदे हुए रथको सब राजाओंके सामने ही द्वारकाके लिये हाँक दिया, जैसे कोई सिंह हरिनोंके बीचसे अपना भाग ले जाय॥ ३३॥ उनमेंसे कुछ राजाओंने धनुष लेकर युद्धके लिये सज-धजकर इस उद्देश्यसे रास्तेमें पीछा किया कि हम भगवान्‌को रोक लें; परन्तु रानीजी! उनकी चेष्टा ठीक वैसी ही थी, जैसे कुत्ते सिंहको रोकना चाहें॥ ३४॥

१. मयेमे। २. नियोद्धुं।

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः।
निपेतुः प्रधने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः॥ ३५

शार्ङ्गधनुषके छूटे हुए तीरोंसे किसीकी बाँह कट गयी तो किसीके पैर कटे और किसीकी गर्दन ही उतर गयी। बहुत-से लोग तो उस रणभूमिमें ही सदाके लिये सो गये और बहुत-से युद्धभूमि छोड़कर भाग खड़े हुए॥ ३५॥

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलंकृतां
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम्।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां[1]
समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम्॥ ३६

तदनन्तर यदुवंशशिरोमणि भगवान्ने सूर्यकी भाँति अपने निवासस्थान स्वर्ग और पृथ्वीमें सर्वत्र प्रशंसित द्वारका-नगरीमें प्रवेश किया। उस दिन वह विशेषरूपसे सजायी गयी थी। इतनी झंडियाँ, पताकाएँ और तोरण लगाये गये थे कि उनके कारण सूर्यका प्रकाश धरतीतक नहीं आ पाता था॥ ३६॥ मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जानेसे पिताजीको बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने हितैषी-सुहृदों, सगे-सम्बन्धियों और भाई-बन्धुओंको बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन और विविध प्रकारकी सामग्रियाँ देकर सम्मानित किया॥ ३७॥ भगवान् परिपूर्ण हैं—तथापि मेरे पिताजीने प्रेमवश उन्हें बहुत-सी दासियाँ, सब प्रकारकी सम्पत्तियाँ, सैनिक, हाथी, रथ, घोड़े एवं बहुत-से बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्र समर्पित किये॥ ३८॥ रानीजी! हमने पूर्वजन्ममें सबकी आसक्ति छोड़कर कोई बहुत बड़ी तपस्या की होगी। तभी तो हम इस जन्ममें आत्माराम भगवान्की गृह-दासियाँ हुई हैं॥ ३९॥

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
महार्हवासोऽलंकारैः शय्यासनपरिच्छदैः॥ ३७

दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः॥ ३८

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः।
सर्वसंगनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम॥ ३९

महिष्य ऊचुः

भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः॥ ४०

सोलह हजार पत्नियोंकी ओरसे रोहिणीजीने कहा—भौमासुरने दिग्विजयके समय बहुत-से राजाओंको जीतकर उनकी कन्या हमलोगोंको अपने महलमें बंदी बना रखा था। भगवान्ने यह जानकर युद्धमें भौमासुर और उसकी सेनाका संहार कर डाला और स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी उन्होंने हमलोगोंको वहाँसे छुड़ाया तथा पाणिग्रहण करके अपनी दासी बना लिया। रानीजी! हम सदा-सर्वदा उनके उन्हीं चरणकमलोंका चिन्तन करती रहती थीं, जो जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त करनेवाले हैं॥ ४०॥

१. सम्मतां।

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥ ४१

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥ ४२

व्रजस्त्रियो यद् वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः॥ ४३

साध्वी द्रौपदीजी! हम साम्राज्य, इन्द्रपद अथवा इन दोनोंके भोग, अणिमा आदि ऐश्वर्य, ब्रह्माका पद, मोक्ष अथवा सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ—कुछ भी नहीं चाहतीं। हम केवल इतना ही चाहती हैं कि अपने प्रियतम प्रभुके सुकोमल चरणकमलोंकी वह श्रीरज सर्वदा अपने सिरपर वहन किया करें, जो लक्ष्मीजीके वक्षःस्थलपर लगी हुई केशरकी सुगन्धसे युक्त है॥ ४१-४२॥ उदारशिरोमणि भगवान्‌के जिन चरणकमलोंका स्पर्श उनके गौ चराते समय गोप, गोपियाँ, भीलिनें, तिनके और घास लताएँतक करना चाहती थीं, उन्हींकी हमें भी चाह है॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८३॥

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः

वसुदेवजीका यज्ञोत्सव

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः॥ १
इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया॥ २
द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः।
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः॥ ३
रामः सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः॥ ४
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथांगिराः।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे॥ ५
तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान्॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! सर्वात्मा भक्तभयहारी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति उनकी पत्नियोंका कितना प्रेम है—यह बात कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, दूसरी राजपत्नियों और भगवान्‌की प्रियतमा गोपियोंने भी सुनी। सब-की-सब उनका यह अलौकिक प्रेम देखकर अत्यन्त मुग्ध, अत्यन्त विस्मित हो गयीं। सबके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक आये॥ १॥ इस प्रकार जिस समय स्त्रियोंसे स्त्रियाँ और पुरुषोंसे पुरुष बातचीत कर रहे थे, उसी समय बहुत-से ऋषि-मुनि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये॥ २॥ उनमें प्रधान ये थे—श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, अपने शिष्योंके सहित भगवान् परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, अंगिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेव इत्यादि॥ ३—५॥ ऋषियोंको देखकर पहलेसे बैठे हुए नरपतिगण, युधिष्ठिर आदि पाण्डव, भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी सहसा उठकर खड़े हो गये और सबने उन विश्ववन्दित ऋषियोंको प्रणाम किया॥ ६॥

तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत्।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७

उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुप्तनुः।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः॥ ८

श्रीभगवानुवाच

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलम्।
देवानामपि दुष्प्रापं यद् योगेश्वरदर्शनम्॥ ९

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥ १०

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥ ११

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥ १२

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥ १३

इसके बाद स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, पुष्पमाला, धूप और चन्दन आदिसे सब राजाओंने तथा बलरामजीके साथ स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उन सब ऋषियोंकी विधिपूर्वक पूजा की॥ ७॥ जब सब ऋषि-मुनि आरामसे बैठ गये, तब धर्मरक्षाके लिये अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा। उस समय वह बहुत बड़ी सभा चुपचाप भगवान्का भाषण सुन रही थी॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धन्य है! हमलोगोंका जीवन सफल हो गया, आज जन्म लेनेका हमें पूरा-पूरा फल मिल गया; क्योंकि जिन योगेश्वरोंका दर्शन बड़े-बड़े देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है, उन्हींका दर्शन हमें प्राप्त हुआ है॥ ९॥ जिन्होंने बहुत थोड़ी तपस्या की है और जो लोग अपने इष्टदेवको समस्त प्राणियोंके हृदयमें न देखकर केवल मूर्तिविशेषमें ही उनका दर्शन करते हैं, उन्हें आपलोगोंके दर्शन, स्पर्श, कुशल-प्रश्न, प्रणाम और पादपूजन आदिका सुअवसर भला कब मिल सकता है?॥ १०॥

केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते और केवल मिट्टी या पत्थरकी प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होतीं; संत पुरुष ही वास्तवमें तीर्थ और देवता हैं; क्योंकि उनका बहुत समयतक सेवन किया जाय, तब वे पवित्र करते हैं; परंतु संत पुरुष तो दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं॥ ११॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मनके अधिष्ठातृ-देवता उपासना करनेपर भी पापका पूरा-पूरा नाश नहीं कर सकते; क्योंकि उनकी उपासनासे भेद-बुद्धिका नाश नहीं होता, वह और भी बढ़ती है। परन्तु यदि घड़ी-दो-घड़ी भी ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा की जाय तो वे सारे पाप-ताप मिटा देते हैं; क्योंकि वे भेद-बुद्धिके विनाशक हैं॥ १२॥ महात्माओ और सभासदो! जो मनुष्य वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा—अपना 'मैं', स्त्री-पुत्र आदिको ही अपना और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है—ज्ञानी महापुरुषोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुओंमें भी नीच गधा ही है॥ १३॥

श्रीशुक उवाच

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः॥ १४

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम्।
जनसङ्ग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम्॥ १५

मुनय ऊचुः

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम्॥ १६

अनीह एतद् बहुधैक आत्मना
सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥ १७

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान्॥ १८

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः।
यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम्॥ १९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण अखण्ड ज्ञानसम्पन्न हैं। उनका यह गूढ भाषण सुनकर सब-के-सब ऋषि-मुनि चुप रह गये। उनकी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी, वे समझ न सके कि भगवान् यह क्या कह रहे हैं॥ १४॥ उन्होंने बहुत देरतक विचार करनेके बाद यह निश्चय किया कि भगवान् सर्वेश्वर होनेपर भी जो इस प्रकार सामान्य, कर्म-परतन्त्र जीवकी भाँति व्यवहार कर रहे हैं—यह केवल लोकसंग्रहके लिये ही है। ऐसा समझकर वे मुसकराते हुए जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे॥ १५॥

मुनियोंने कहा—भगवन्! आपकी मायासे प्रजापतियोंके अधीश्वर मरीचि आदि तथा बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी हमलोग मोहित हो रहे हैं। आप स्वयं ईश्वर होते हुए भी मनुष्यकी-सी चेष्टाओंसे अपनेको छिपाये रखकर जीवकी भाँति आचरण करते हैं। भगवन्! सचमुच आपकी लीला अत्यन्त विचित्र है। परम आश्चर्यमयी है॥ १६॥ जैसे पृथ्वी अपने विकारों—वृक्ष, पत्थर, घट आदिके द्वारा बहुत-से नाम और रूप ग्रहण कर लेती है, वास्तवमें वह एक ही है, वैसे ही आप एक और चेष्टाहीन होनेपर भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं और अपने-आपसे ही इस जगत्की रचना, रक्षा और संहार करते हैं। पर यह सब करते हुए भी इन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते। जो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य एकरस अनन्त है, उसका यह चरित्र लीलामात्र नहीं तो और क्या है? धन्य है आपकी यह लीला!॥ १७॥

भगवन्! यद्यपि आप प्रकृतिसे परे, स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं; तथापि समय-समयपर भक्तजनोंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये विशुद्ध सत्त्वमय श्रीविग्रह प्रकट करते हैं और अपनी लीलाके द्वारा सनातन वैदिक मार्गकी रक्षा करते हैं; क्योंकि सभी वर्णों और आश्रमोंके रूपमें आप स्वयं ही प्रकट हैं॥ १८॥ भगवन्! वेद आपका विशुद्ध हृदय है; तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा उसीमें आपके साकार-निराकाररूप और दोनोंके अधिष्ठान-स्वरूप परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होता है॥ १९॥

तस्माद् ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः।
सभाजयसि सं[1]द्धाम तद् ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान्॥ २०

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः।
त्वया संगम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः॥ २१

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने॥ २२

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम्॥ २३

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक्।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम्॥ २४

एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात्॥ २५

तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः।
उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा
आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान्॥ २६

परमात्मन्! ब्राह्मण ही वेदोंके आधारभूत आपके स्वरूपकी उपलब्धिके स्थान हैं; इसीसे आप ब्राह्मणोंका सम्मान करते हैं और इसीसे आप ब्राह्मणभक्तोंमें अग्रगण्य भी हैं॥ २०॥ आप सर्वविध कल्याण-साधनोंकी चरमसीमा हैं और संत पुरुषोंकी एकमात्र गति हैं। आपसे मिलकर आज हमारे जन्म, विद्या, तप और ज्ञान सफल हो गये। वास्तवमें सबके परम फल आप ही हैं॥ २१॥ प्रभो! आपका ज्ञान अनन्त है, आप स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् हैं। आपने अपनी अचिन्त्य शक्ति योगमायाके द्वारा अपनी महिमा छिपा रखी है, हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २२॥ ये सभामें बैठे हुए राजालोग और दूसरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं आपके साथ आहार-विहार करनेवाले यदुवंशी लोग भी आपको वास्तवमें नहीं जानते; क्योंकि आपने अपने स्वरूपको—जो सबका आत्मा, जगत्का आदिकारण और नियन्ता है—मायाके परदेसे ढक रखा है॥ २३॥ जब मनुष्य स्वप्न देखने लगता है, उस समय स्वप्नके मिथ्या पदार्थोंको ही सत्य समझ लेता है और नाममात्रकी इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाले अपने स्वप्नशरीरको ही वास्तविक शरीर मान बैठता है। उसे उतनी देरके लिये इस बातका बिलकुल ही पता नहीं रहता कि स्वप्नशरीरके अतिरिक्त एक जाग्रत्-अवस्थाका शरीर भी है॥ २४॥ ठीक इसी प्रकार, जाग्रत्-अवस्थामें भी इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप मायासे चित्त मोहित होकर नाममात्रके विषयोंमें भटकने लगता है। उस समय भी चित्तके चक्करसे विवेकशक्ति ढक जाती है और जीव यह नहीं जान पाता कि आप इस जाग्रत् संसारसे परे हैं॥ २५॥ प्रभो! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि अत्यन्त परिपक्व योग-साधनाके द्वारा आपके उन चरणकमलोंको हृदयमें धारण करते हैं, जो समस्त पाप-राशिको नष्ट करनेवाले गंगाजलके भी आश्रय-स्थान हैं। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हमें उन्हींका दर्शन हुआ है। प्रभो! हम आपके भक्त हैं, आप हमपर अनुग्रह कीजिये; क्योंकि आपके परम पदकी प्राप्ति उन्हीं लोगोंको होती है, जिनका लिंगशरीररूप जीव-कोश आपकी उत्कृष्ट भक्तिके द्वारा नष्ट हो जाता है॥ २६॥

१. यः सर्वांस्तस्माद्ब्रह्माग्र०।

श्रीशुक उवाच

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम्।
राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे मनः॥ २७

तद् वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः।
प्रणम्य चोपसंगृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः॥ २८

वसुदेव उवाच

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम्॥ २९

नारद उवाच

नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः॥ ३०

सन्निकर्षो हि मर्त्यानामनादरणकारणम्।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये॥ ३१

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनास्य वै।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति॥ ३२

तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम्।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः॥ ३३

अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम्।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः॥ ३४

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः।
यच्छ्रद्धया यजेद् विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः॥ ३५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजर्षे! भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करके और उनसे, राजा धृतराष्ट्रसे तथा धर्मराज युधिष्ठिरजीसे अनुमति लेकर उन लोगोंने अपने-अपने आश्रमपर जानेका विचार किया॥ २७॥ परम यशस्वी वसुदेवजी उनका जानेका विचार देखकर उनके पास आये और उन्हें प्रणाम किया और उनके चरण पकड़कर बड़ी नम्रतासे निवेदन करने लगे॥ २८॥

वसुदेवजीने कहा—ऋषियो! आपलोग सर्वदेवस्वरूप हैं। मैं आपलोगोंको नमस्कार करता हूँ। आपलोग कृपा करके मेरी एक प्रार्थना सुन लीजिये। वह यह कि जिन कर्मोंके अनुष्ठानसे कर्मों और कर्मवासनाओंका आत्यन्तिक नाश—मोक्ष हो जाय, उनका आप मुझे उपदेश कीजिये॥ २९॥

नारदजीने कहा—ऋषियो! यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि वसुदेवजी श्रीकृष्णको अपना बालक समझकर शुद्ध जिज्ञासाके भावसे अपने कल्याणका साधन हमलोगोंसे पूछ रहे हैं॥ ३०॥ संसारमें बहुत पास रहना मनुष्योंके अनादरका कारण हुआ करता है। देखते हैं, गंगातटपर रहनेवाला पुरुष गंगाजल छोड़कर अपनी शुद्धिके लिये दूसरे तीर्थमें जाता है॥ ३१॥ श्रीकृष्णकी अनुभूति समयके फेरसे होनेवाली जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयसे मिटनेवाली नहीं है। वह स्वतः किसी दूसरे निमित्तसे, गुणोंसे और किसीसे भी क्षीण नहीं होती॥ ३२॥ उनका ज्ञानमय स्वरूप अविद्या, राग-द्वेष आदि क्लेश, पुण्य-पापमय कर्म, सुख-दुःखादि कर्मफल तथा सत्त्व आदि गुणोंके प्रवाहसे खण्डित नहीं है। वे स्वयं अद्वितीय परमात्मा हैं। जब वे अपनेको अपनी ही शक्तियों—प्राण आदिसे ढक लेते हैं, तब मूर्खलोग ऐसा समझते हैं कि वे ढक गये; जैसे बादल, कुहरा या ग्रहणके द्वारा अपने नेत्रोंके ढक जानेपर सूर्यको ढका हुआ मान लेते हैं॥ ३३॥

परीक्षित्! इसके बाद ऋषियोंने भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी और अन्यान्य राजाओंके सामने ही वसुदेवजीको सम्बोधित करके कहा—॥ ३४॥ 'कर्मोंके द्वारा कर्मवासनाओं और कर्मफलोंका आत्यन्तिक नाश करनेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि यज्ञ आदिके द्वारा समस्त यज्ञोंके अधिपति भगवान् विष्णुकी श्रद्धा-पूर्वक आराधना करे॥ ३५॥

चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा।
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः॥ ३६

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवि[1]त्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥ ३७

वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम्।
आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेद् बुधः।
ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम्॥ ३८

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥ ३९

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव॥ ४०

वसुदेव भवान् नूनं भक्त्या परमया हरिम्।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद् वां पुत्रतां गतः॥ ४१

श्रीशुक उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः।
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नाऽऽ[2]नम्य प्रसाद्य च॥ ४२

त एनमृषयो राजन् वृता धर्मेण धार्मिकम्।
तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः॥ ४३

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः।
स्नाताः सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलंकृताः॥ ४४

त्रिकालदर्शी ज्ञानियोंने शास्त्रदृष्टिसे यही चित्तकी शान्तिका उपाय, सुगम मोक्षसाधन और चित्तमें आनन्दका उल्लास करनेवाला धर्म बतलाया है॥ ३६॥ अपने न्यायार्जित धनसे श्रद्धापूर्वक पुरुषोत्तमभगवान्‌की आराधना करना ही द्विजाति—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थके लिये परम कल्याणका मार्ग है॥ ३७॥ वसुदेवजी! विचारवान् पुरुषको चाहिये कि यज्ञ, दान आदिके द्वारा धनकी इच्छाको, गृहस्थोचित भोगोंद्वारा स्त्री-पुत्रकी इच्छाको और कालक्रमसे स्वर्गादि भोग भी नष्ट हो जाते हैं—इस विचारसे लोकैषणाको त्याग दे। इस प्रकार धीर पुरुष घरमें रहते हुए ही तीनों प्रकारकी एषणाओं—इच्छाओंका परित्याग करके तपोवनका रास्ता लिया करते थे॥ ३८॥ समर्थ वसुदेवजी! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों देवता, ऋषि और पितरोंका ऋण लेकर ही पैदा होते हैं। इनके ऋणोंसे छुटकारा मिलता है यज्ञ, अध्ययन और सन्तानोत्पत्तिसे। इनसे उऋण हुए बिना ही जो संसारका त्याग करता है, उसका पतन हो जाता है॥ ३९॥ परम बुद्धिमान् वसुदेवजी! आप अबतक ऋषि और पितरोंके ऋणसे तो मुक्त हो चुके हैं। अब यज्ञोंके द्वारा देवताओंका ऋण चुका दीजिये; और इस प्रकार सबसे उऋण होकर गृहत्याग कीजिये, भगवान्‌की शरण हो जाइये॥ ४०॥ वसुदेवजी! आपने अवश्य ही परम भक्तिसे जगदीश्वरभगवान्‌की आराधना की है; तभी तो वे आप दोनोंके पुत्र हुए हैं॥ ४१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! परम मनस्वी वसुदेवजीने ऋषियोंकी यह बात सुनकर, उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया, उन्हें प्रसन्न किया और यज्ञके लिये ऋत्विजोंके रूपमें उनका वरण कर लिया॥ ४२॥ राजन्! जब इस प्रकार वसुदेवजीने धर्मपूर्वक ऋषियोंको वरण कर लिया, तब उन्होंने पुण्यक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें परम धार्मिक वसुदेवजीके द्वारा उत्तमोत्तम सामग्रीसे युक्त यज्ञ करवाये॥ ४३॥ परीक्षित्! जब वसुदेवजीने यज्ञकी दीक्षा ले ली, तब यदुवंशियोंने स्नान करके सुन्दर वस्त्र और कमलोंकी मालाएँ धारण कर लीं, राजालोग वस्त्राभूषणोंसे खूब सुसज्जित हो गये॥ ४४॥

१. चित्ते०। २. नम्योपसर्प्य च।

तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः।
दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः॥ ४५

नेदुर्मृदंगपटहशंखभेर्यानकादयः।
ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः।
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः संगीतं सहभर्तृकाः॥ ४६

तमभ्यषिंचन् विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः॥ ४७

ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः।
स्वलंकृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः॥ ४८

तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे॥ ४९

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः॥ ५०

ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम्॥ ५१

अथर्त्विग्भ्योऽददात् काले यथाम्नातं स दक्षिणाः।
स्वलंकृतेभ्योऽलंकृत्य गोभूकन्या महाधनाः॥ ५२

वसुदेवजीकी पत्नियोंने सुन्दर वस्त्र, अंगराग और सोनेके हारोंसे अपनेको सजा लिया और फिर वे सब बड़े आनन्दसे अपने-अपने हाथोंमें मांगलिक सामग्री लेकर यज्ञशालामें आयीं॥ ४५॥

उस समय मृदंग, पखावज, शंख, ढोल और नगारे आदि बाजे बजने लगे। नट और नर्तकियाँ नाचने लगीं। सूत और मागध स्तुतिगान करने लगे। गन्धर्वोंके साथ सुरीले गलेवाली गन्धर्वपत्नियाँ गान करने लगीं॥ ४६॥ वसुदेवजीने पहले नेत्रोंमें अंजन और शरीरमें मक्खन लगा लिया; फिर उनकी देवकी आदि अठारह पत्नियोंके साथ उन्हें ऋत्विजोंने महाभिषेककी विधिसे वैसे ही अभिषेक कराया, जिस प्रकार प्राचीन कालमें नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमाका अभिषेक हुआ था॥ ४७॥ उस समय यज्ञमें दीक्षित होनेके कारण वसुदेवजी तो मृगचर्म धारण किये हुए थे; परन्तु उनकी पत्नियाँ सुन्दर-सुन्दर साड़ी, कंगन, हार, पायजेब और कर्णफूल आदि आभूषणोंसे खूब सजी हुई थीं। वे अपनी पत्नियोंके साथ भलीभाँति शोभायमान हुए॥ ४८॥ महाराज! वसुदेवजीके ऋत्विज् और सदस्य रत्नजटित आभूषण तथा रेशमी वस्त्र धारण करके वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे पहले इन्द्रके यज्ञमें हुए थे॥ ४९॥ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी अपने-अपने भाई-बन्धु और स्त्री-पुत्रोंके साथ इस प्रकार शोभायमान हुए, जैसे अपनी शक्तियोंके साथ समस्त जीवोंके ईश्वर स्वयं भगवान् समष्टि जीवोंके अभिमानी श्रीसंकर्षण तथा अपने विशुद्ध नारायणस्वरूपमें शोभायमान होते हैं॥ ५०॥

वसुदेवजीने प्रत्येक यज्ञमें ज्योतिष्टोम, दर्श, पूर्णमास आदि प्राकृत यज्ञों, सौरसत्रादि वैकृत यज्ञों और अग्निहोत्र आदि अन्यान्य यज्ञोंके द्वारा द्रव्य, क्रिया और उनके ज्ञानके—मन्त्रोंके स्वामी विष्णु-भगवान्की आराधना की॥ ५१॥ इसके बाद उन्होंने उचित समयपर ऋत्विजोंको वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित किया और शास्त्रके अनुसार बहुत-सी दक्षिणा तथा प्रचुर धनके साथ अलंकृत गौएँ, पृथ्वी और सुन्दरी कन्याएँ दीं॥ ५२॥

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः॥ ५३

स्नातोऽलंकारवासांसि वन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः।
ततः स्वलंकृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत्॥ ५४

बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा।
विदर्भकोसलकुरून् काशिकेकयसृंजयान्॥ ५५

सदस्यर्त्विक्सुरगणान् नृभूतपितृचारणान्।
श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम्॥ ५६

धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ।
नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः॥ ५७

बन्धून् परिष्वज्य यदून् सौहृदात् क्लिन्नचेतसः।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः॥ ५८

नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद् बन्धुवत्सलः॥ ५९

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम्।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन्॥ ६०

वसुदेव उवाच

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम्॥ ६१

इसके बाद महर्षियोंने पत्नीसंयाज नामक यज्ञांग और अवभृथस्नान अर्थात् यज्ञान्त-स्नानसम्बन्धी अवशेष कर्म कराकर वसुदेवजीको आगे करके परशुरामजीके बनाये ह्रदमें—रामह्रदमें स्नान किया॥ ५३॥ स्नान करनेके बाद वसुदेवजी और उनकी पत्नियोंने वंदी-जनोंको अपने सारे वस्त्राभूषण दे दिये तथा स्वयं नये वस्त्राभूषणसे सुसज्जित होकर उन्होंने ब्राह्मणोंसे लेकर कुत्तोंतकको भोजन कराया॥ ५४॥ तदनन्तर अपने भाई-बन्धुओं, उनके स्त्री-पुत्रों तथा विदर्भ, कोसल, कुरु, काशी, केकय और सृंजय आदि देशोंके राजाओं, सदस्यों, ऋत्विजों, देवताओं, मनुष्यों, भूतों, पितरों और चारणोंको विदाईके रूपमें बहुत-सी भेंट देकर सम्मानित किया। वे लोग लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमति लेकर यज्ञकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घर चले गये॥ ५५-५६॥ परीक्षित्! उस समय राजा धृतराष्ट्र, विदुर, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कुन्ती, नकुल, सहदेव, नारद, भगवान् व्यासदेव तथा दूसरे स्वजन, सम्बन्धी और बान्धव अपने हितैषी बन्धु यादवोंको छोड़कर जानेमें अत्यन्त विरह-व्यथाका अनुभव करने लगे। उन्होंने अत्यन्त स्नेहार्द्र चित्तसे यदुवंशियोंका आलिंगन किया और बड़ी कठिनाईसे किसी प्रकार अपने-अपने देशको गये। दूसरे लोग भी इनके साथ ही वहाँसे रवाना हो गये॥ ५७-५८॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी तथा उग्रसेन आदिने नन्दबाबा एवं अन्य सब गोपोंकी बहुत बड़ी-बड़ी सामग्रियोंसे अर्चा-पूजा की; उनका सत्कार किया; और वे प्रेम-परवश होकर बहुत दिनोंतक वहीं रहे॥ ५९॥ वसुदेवजी अनायास ही अपने बहुत बड़े मनोरथका महासागर पार कर गये थे। उनके आनन्दकी सीमा न थी। सभी आत्मीय स्वजन उनके साथ थे। उन्होंने नन्दबाबाका हाथ पकड़कर कहा॥ ६०॥

वसुदेवजीने कहा—भाईजी! भगवान्ने मनुष्योंके लिये एक बहुत बड़ा बन्धन बना दिया है। उस बन्धनका नाम है स्नेह, प्रेमपाश। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि बड़े-बड़े शूरवीर और योगी-यति भी उसे तोड़नेमें असमर्थ हैं॥ ६१॥

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत् कृताज्ञेषु सत्तमैः।
मैत्र्यर्पिताफला वापि न निवर्तेत कर्हिचित्॥ ६२

प्रागकल्पाच्च कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः॥ ६३

मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद।
स्वजनानुत बन्धून् वा न पश्यति ययान्धदृक्॥ ६४

श्रीशुक उवाच

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः॥ ६५

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्दरामयोः।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत्॥ ६६

ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः।
परार्घ्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥ ६७

वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ॥ ६८

नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः॥ ६९

आपने हम अकृतज्ञोंके प्रति अनुपम मित्रताका व्यवहार किया है। क्यों न हो, आप-सरीखे संत शिरोमणियोंका तो ऐसा स्वभाव ही होता है। हम इसका कभी बदला नहीं चुका सकते, आपको इसका कोई फल नहीं दे सकते। फिर भी हमारा यह मैत्री-सम्बन्ध कभी टूटनेवाला नहीं है। आप इसको सदा निभाते रहेंगे॥ ६२॥ भाईजी! पहले तो बंदीगृहमें बंद होनेके कारण हम आपका कुछ भी प्रिय और हित न कर सके। अब हमारी यह दशा हो रही है कि हम धन-सम्पत्तिके नशेसे—श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं; आप हमारे सामने हैं तो भी हम आपकी ओर नहीं देख पाते॥ ६३॥ दूसरोंको सम्मान देकर स्वयं सम्मान न चाहनेवाले भाईजी! जो कल्याणकामी है उसे राज्यलक्ष्मी न मिले—इसीमें उसका भला है; क्योंकि मनुष्य राज्यलक्ष्मीसे अंधा हो जाता है और अपने भाई-बन्धु, स्वजनोंतकको नहीं देख पाता॥ ६४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार कहते-कहते वसुदेवजीका हृदय प्रेमसे गद्‌गद हो गया। उन्हें नन्दबाबाकी मित्रता और उपकार स्मरण हो आये। उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु उमड़ आये, वे रोने लगे॥ ६५॥ नन्दजी अपने सखा वसुदेवजीको प्रसन्न करनेके लिये एवं भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके प्रेमपाशमें बँधकर आज-कल करते-करते तीन महीनेतक वहीं रह गये। यदुवंशियोंने जीभर उनका सम्मान किया॥ ६६॥ इसके बाद बहुमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र, नाना प्रकारकी उत्तमोत्तम सामग्रियों और भोगोंसे नन्दबाबाको, उनके व्रजवासी साथियोंको और बन्धु-बान्धवोंको खूब तृप्त किया॥ ६७॥ वसुदेवजी, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलराम, उद्धव आदि यदुवंशियोंने अलग-अलग उन्हें अनेकों प्रकारकी भेंटें दीं। उनके विदा करनेपर उन सब सामग्रियोंको लेकर नन्दबाबा, अपने व्रजके लिये रवाना हुए॥ ६८॥ नन्दबाबा, गोपों और गोपियोंका चित्त भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें इस प्रकार लग गया कि वे फिर प्रयत्न करनेपर भी उसे वहाँसे लौटा न सके। सुतरां बिना ही मनके उन्होंने मथुराकी यात्रा की॥ ६९॥

बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः॥ ७०

जब सब बन्धु-बान्धव वहाँसे विदा हो चुके, तब भगवान् श्रीकृष्णको ही एकमात्र इष्टदेव माननेवाले यदुवंशियोंने यह देखकर कि अब वर्षा ऋतु आ पहुँची है, द्वारकाके लिये प्रस्थान किया॥ ७०॥

जनेभ्यः कथयांचक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम्।
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम्॥ ७१

वहाँ जाकर उन्होंने सब लोगोंसे वसुदेवजीके यज्ञमहोत्सव, स्वजन-सम्बन्धियोंके दर्शन-मिलन आदि तीर्थयात्राके प्रसंगोंको कह सुनाया॥ ७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ ८४॥

अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

श्रीभगवान्‌के द्वारा वसुदेवजीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश तथा देवकीजीके छः पुत्रोंको लौटा लाना

श्रीबादरायणिरुवाच

अथैकदाऽऽत्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या संकर्षणाच्युतौ॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इसके बाद एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी प्रातःकालीन प्रणाम करनेके लिये माता-पिताके पास गये। प्रणाम कर लेनेपर वसुदेवजी बड़े प्रेमसे दोनों भाइयोंका अभिनन्दन करके कहने लगे॥ १॥

मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम्।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत॥ २

वसुदेवजीने बड़े-बड़े ऋषियोंके मुँहसे भगवान्‌की महिमा सुनी थी तथा उनके ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र भी देखे थे। इससे उन्हें इस बातका दृढ़ विश्वास हो गया था कि ये साधारण पुरुष नहीं, स्वयं भगवान् हैं। इसलिये उन्होंने अपने पुत्रोंको प्रेमपूर्वक सम्बोधित करके यों कहा—॥ २॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् संकर्षण सनातन।
जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ॥ ३

'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! महायोगीश्वर संकर्षण! तुम दोनों सनातन हो। मैं जानता हूँ कि तुम दोनों सारे जगत्‌के साक्षात् कारणस्वरूप प्रधान और पुरुषके भी नियामक परमेश्वर हो॥ ३॥

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः॥ ४

इस जगत्‌के आधार, निर्माता और निर्माणसामग्री भी तुम्हीं हो। इस सारे जगत्‌के स्वामी तुम दोनों हो और तुम्हारी ही क्रीडाके लिये इसका निर्माण हुआ है। यह जिस समय, जिस रूपमें जो कुछ रहता है, होता है—वह सब तुम्हीं हो। इस जगत्‌में प्रकृति-रूपसे भोग्य और पुरुषरूपसे भोक्ता तथा दोनोंसे परे दोनोंके नियामक साक्षात् भगवान् भी तुम्हीं हो॥ ४॥

एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यज:॥ ५

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो या: परस्य ता:।
पारतन्त्र्याद् वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्॥ ६

कान्तिस्तेज: प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्।
यत् स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान्॥ ७

तर्पणं प्राणनमपां देव त्वं ताश्च तद्रस:।
ओज: सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर॥ ८

दिशां त्वमवकाशोऽसि दिश: खं स्फोट आश्रय:।
नादो वर्णस्त्वमोंकार आकृतीनां पृथक्कृति:॥ ९

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रह:।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृति: सती॥ १०

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजस:।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम्॥ ११

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम्।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम्॥ १२

इन्द्रियातीत! जन्म, अस्तित्व आदि भावविकारोंसे रहित परमात्मन्! इस चित्र-विचित्र जगत्का तुम्हींने निर्माण किया है और इसमें स्वयं तुमने ही आत्मारूपसे प्रवेश भी किया है। तुम प्राण (क्रियाशक्ति) और जीव (ज्ञानशक्ति) के रूपमें इसका पालन-पोषण कर रहे हो॥ ५॥ क्रियाशक्तिप्रधान प्राण आदिमें जो जगत्की वस्तुओंकी सृष्टि करनेकी सामर्थ्य है, वह उनकी अपनी सामर्थ्य नहीं, तुम्हारी ही है। क्योंकि वे तुम्हारे समान चेतन नहीं, अचेतन हैं; स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र हैं। अत: उन चेष्टाशील प्राण आदिमें केवल चेष्टामात्र होती है, शक्ति नहीं। शक्ति तो तुम्हारी ही है॥ ६॥ प्रभो! चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, नक्षत्र और विद्युत् आदिकी स्फुरणरूपसे सत्ता, पर्वतोंकी स्थिरता, पृथ्वीकी साधारणशक्तिरूप वृत्ति और गन्धरूप गुण—ये सब वास्तवमें तुम्हीं हो॥ ७॥ परमेश्वर! जलमें तृप्त करने, जीवन देने और शुद्ध करनेकी जो शक्तियाँ हैं, वे तुम्हारा ही स्वरूप हैं। जल और उसका रस भी तुम्हीं हो। प्रभो! इन्द्रियशक्ति, अन्त:करणकी शक्ति, शरीरकी शक्ति, उसका हिलना-डोलना, चलना-फिरना—ये सब वायुकी शक्तियाँ तुम्हारी ही हैं॥ ८॥ दिशाएँ और उनके अवकाश भी तुम्हीं हो। आकाश और उसका आश्रयभूत स्फोट—शब्दतन्मात्रा या परा वाणी, नाद—पश्यन्ती, ओंकार—मध्यमा तथा वर्ण (अक्षर) एवं पदार्थोंका अलग-अलग निर्देश करनेवाले पद, रूप, वैखरी वाणी भी तुम्हीं हो॥ ९॥ इन्द्रियाँ, उनकी विषयप्रकाशिनी शक्ति और अधिष्ठातृ-देवता तुम्हीं हो! बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति और जीवकी विशुद्ध स्मृति भी तुम्हीं हो॥ १०॥ भूतोंमें उनका कारण तामस अहंकार, इन्द्रियोंमें उनका कारण तैजस अहंकार और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंमें उनका कारण सात्त्विक अहंकार तथा जीवोंके आवागमनका कारण माया भी तुम्हीं हो॥ ११॥ भगवन्! जैसे मिट्टी आदि वस्तुओंके विकार घड़ा, वृक्ष आदिमें मिट्टी निरन्तर वर्तमान है और वास्तवमें वे कारण (मृत्तिका) रूप ही हैं—उसी प्रकार जितने भी विनाशवान् पदार्थ हैं, उनमें तुम कारणरूपसे अविनाशी तत्त्व हो। वास्तवमें वे सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं॥ १२॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया॥ १३

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः।
त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः॥ १४

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः।
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः॥ १५

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम्।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर॥ १६

असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत्॥ १७

युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथाऽऽत्थ ह॥ १८

तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः॥ १९

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै।

प्रभो! सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण और उनकी वृत्तियाँ (परिणाम)—महत्तत्त्वादि परब्रह्म परमात्मामें, तुममें योगमायाके द्वारा कल्पित हैं॥ १३॥ इसलिये ये जितने भी जन्म, अस्ति, वृद्धि, परिणाम आदि भाव-विकार हैं, वे तुममें सर्वथा नहीं हैं। जब तुममें इनकी कल्पना कर ली जाती है, तब तुम इन विकारोंमें अनुगत जान पड़ते हो। कल्पनाकी निवृत्ति हो जानेपर तो निर्विकल्प परमार्थस्वरूप तुम्हीं तुम रह जाते हो॥ १४॥ यह जगत् सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका प्रवाह है; देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, सुख, दुःख और राग-लोभादि उन्हींके कार्य हैं। इनमें जो अज्ञानी तुम्हारा, सर्वात्माका सूक्ष्मस्वरूप नहीं जानते, वे अपने देहाभिमानरूप अज्ञानके कारण ही कर्मोंके फंदेमें फँसकर बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकते रहते हैं॥ १५॥ परमेश्वर! मुझे शुभ प्रारब्धके अनुसार इन्द्रियादिकी सामर्थ्यसे युक्त अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। किन्तु तुम्हारी मायाके वश होकर मैं अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थसे ही असावधान हो गया और मेरी सारी आयु यों ही बीत गयी॥ १६॥ प्रभो! यह शरीर मैं हूँ और इस शरीरके सम्बन्धी मेरे अपने हैं, इस अहंता एवं ममतारूप स्नेहकी फाँसीसे तुमने इस सारे जगत्को बाँध रखा है॥ १७॥ मैं जानता हूँ कि तुम दोनों मेरे पुत्र नहीं हो, सम्पूर्ण प्रकृति और जीवोंके स्वामी हो। पृथ्वीके भारभूत राजाओंके नाशके लिये ही तुमने अवतार ग्रहण किया है। यह बात तुमने मुझसे कही भी थी॥ १८॥ इसलिये दीनजनोंके हितैषी, शरणागतवत्सल! मैं अब तुम्हारे चरणकमलोंकी शरणमें हूँ; क्योंकि वे ही शरणागतोंके संसारभयको मिटानेवाले हैं। अब इन्द्रियोंकी लोलुपतासे भर पाया! इसीके कारण मैंने मृत्युके ग्रास इस शरीरमें आत्मबुद्धि कर ली और तुममें, जो कि परमात्मा हो, पुत्रबुद्धि॥ १९॥ प्रभो! तुमने प्रसव-गृहमें ही हमसे कहा था कि 'यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, फिर भी मैं अपनी ही बनायी हुई धर्म-मर्यादाकी रक्षा करनेके लिये प्रत्येक युगमें तुम दोनोंके द्वारा अवतार ग्रहण करता रहा हूँ।' भगवन्! तुम आकाशके समान अनेकों शरीर

नानातनूर्गगनवद् विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम्॥ २०

ग्रहण करते और छोड़ते रहते हो। वास्तवमें तुम अनन्त, एकरस सत्ता हो। तुम्हारी आश्चर्यमयी शक्ति योगमायाका रहस्य भला कौन जान सकता है? सब लोग तुम्हारी कीर्तिका ही गान करते रहते हैं॥ २०॥

श्रीशुक उवाच

आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान् सात्वतर्षभः।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा॥ २१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वसुदेवजीके ये वचन सुनकर यदुवंशशिरोमणि भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराने लगे। उन्होंने विनयसे झुककर मधुर वाणीसे कहा॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे।
यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः॥ २२

अहं यूयमसावार्य[१] इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥ २३

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥ २४

खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम्।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि॥ २५

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पिताजी! हम तो आपके पुत्र ही हैं। हमें लक्ष्य करके आपने यह ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया है। हम आपकी एक-एक बात युक्तियुक्त मानते हैं॥ २२॥ पिताजी! आपलोग, मैं, भैया बलरामजी, सारे द्वारकावासी, सम्पूर्ण चराचर जगत्—सब-के-सब आपने जैसा कहा, वैसे ही हैं, सबको ब्रह्मरूप ही समझना चाहिये॥ २३॥ पिताजी! आत्मा तो एक ही है। परन्तु वह अपनेमें ही गुणोंकी सृष्टि कर लेता है और गुणोंके द्वारा बनाये हुए पंचभूतोंमें एक होनेपर भी अनेक, स्वयंप्रकाश होनेपर भी दृश्य, अपना स्वरूप होनेपर भी अपनेसे भिन्न, नित्य होनेपर भी अनित्य और निर्गुण होनेपर भी सगुणके रूपमें प्रतीत होता है॥ २४॥ जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पंचमहाभूत अपने कार्य घट, कुण्डल आदिमें प्रकट-अप्रकट, बड़े-छोटे, अधिक-थोड़े, एक और अनेक-से प्रतीत होते हैं—परन्तु वास्तवमें सत्तारूपसे वे एक ही रहते हैं; वैसे ही आत्मामें भी उपाधियोंके भेदसे ही नानात्वकी प्रतीति होती है। इसलिये जो मैं हूँ, वही सब हैं—इस दृष्टिसे आपका कहना ठीक ही है॥ २५॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम्।
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत्॥ २६

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता।
श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता॥ २७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर वसुदेवजीने नानात्व-बुद्धि छोड़ दी; वे आनन्दमें मग्न होकर वाणीसे मौन और मनसे निस्संकल्प हो गये॥ २६॥ कुरुश्रेष्ठ! उस समय वहाँ सर्वदेवमयी देवकीजी भी बैठी हुई थीं। वे बहुत पहलेसे ही यह सुनकर अत्यन्त विस्मित थीं कि श्रीकृष्ण और बलरामजीने अपने मरे हुए गुरुपुत्रको यमलोकसे वापस ला दिया॥ २७॥

१. प्रियो ममाचार्य।

कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान्।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना॥ २८

अब उन्हें अपने उन पुत्रोंकी याद आ गयी, जिन्हें कंसने मार डाला था। उनके स्मरणसे देवकीजीका हृदय आतुर हो गया, नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। उन्होंने बड़े ही करुणस्वरसे श्रीकृष्ण और बलरामजीको सम्बोधित करके कहा॥ २८॥

देवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ॥ २९

कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम्।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे॥ ३०

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता॥ ३१

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा कालचोदितौ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद् गुरवे गुरुदक्षिणाम्॥ ३२

तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान्॥ ३३

देवकीजीने कहा—लोकाभिराम राम! तुम्हारी शक्ति मन और वाणीके परे है। श्रीकृष्ण! तुम योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। मैं जानती हूँ कि तुम दोनों प्रजापतियोंके भी ईश्वर, आदिपुरुष नारायण हो॥ २९॥ यह भी मुझे निश्चत रूपसे मालूम है कि जिन लोगोंने कालक्रमसे अपना धैर्य, संयम और सत्त्वगुण खो दिया है तथा शास्त्रकी आज्ञाओंका उल्लंघन करके जो स्वेच्छाचारपरायण हो रहे हैं, भूमिके भारभूत उन राजाओंका नाश करनेके लिये ही तुम दोनों मेरे गर्भसे अवतीर्ण हुए हो॥ ३०॥

विश्वात्मन्! तुम्हारे पुरुषरूप अंशसे उत्पन्न हुई मायासे गुणोंकी उत्पत्ति होती है और उनके लेशमात्रसे जगत्‌की उत्पत्ति, विकास तथा प्रलय होता है। आज मैं सर्वान्तःकरणसे तुम्हारी शरण हो रही हूँ॥ ३१॥ मैंने सुना है कि तुम्हारे गुरु सान्दीपनिजीके पुत्रको मरे बहुत दिन हो गये थे। उनको गुरुदक्षिणा देनेके लिये उनकी आज्ञा तथा कालकी प्रेरणासे तुम दोनोंने उनके पुत्रको यमपुरीसे वापस ला दिया॥ ३२॥ तुम दोनों योगीश्वरोंके भी ईश्वर हो। इसलिये आज मेरी भी अभिलाषा पूर्ण करो। मैं चाहती हूँ कि तुम दोनों मेरे उन पुत्रोंको, जिन्हें कंसने मार डाला था, ला दो और उन्हें मैं भर आँख देख लूँ॥ ३३॥

ऋषिरुवाच

एवं संचोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ॥ ३४

तस्मिन् प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्
विश्वात्मदैवं सुतरां तथाऽऽत्मनः।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः
सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः॥ ३५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! माता देवकीजीकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंने योगमायाका आश्रय लेकर सुतल लोकमें प्रवेश किया॥ ३४॥ जब दैत्यराज बलिने देखा कि जगत्‌के आत्मा और इष्टदेव तथा मेरे परम स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी सुतल लोकमें पधारे हैं, तब उनका हृदय उनके दर्शनके आनन्दमें निमग्न हो गया। उन्होंने झटपट अपने कुटुम्बके साथ आसनसे उठकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया॥ ३५॥

तयोः समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं
सवृन्द आब्रह्म पुनद् यदम्बु ह॥ ३६

समर्हयामास स तौ विभूतिभि-
र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः
स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च॥ ३७

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं
बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम्॥ ३८

बलिरुवाच

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने॥ ३९

दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम्।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया॥ ४०

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः॥ ४१

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः॥ ४२

केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः॥ ४३

अत्यन्त आनन्दसे भरकर दैत्यराज बलिने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको श्रेष्ठ आसन दिया और जब वे दोनों महापुरुष उसपर विराज गये, तब उन्होंने उनके पाँव पखारकर उनका चरणोदक परिवारसहित अपने सिरपर धारण किया। परीक्षित्! भगवान्के चरणोंका जल ब्रह्मापर्यन्त सारे जगत्को पवित्र कर देता है॥ ३६॥ इसके बाद दैत्यराज बलिने बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, चन्दन, ताम्बूल, दीपक, अमृतके समान भोजन एवं अन्य विविध सामग्रियोंसे उनकी पूजा की और अपने समस्त परिवार, धन तथा शरीर आदिको उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया॥ ३७॥ परीक्षित्! दैत्यराज बलि बार-बार भगवान्के चरणकमलोंको अपने वक्षःस्थल और सिरपर रखने लगे, उनका हृदय प्रेमसे विह्वल हो गया। नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। रोम-रोम खिल उठा। अब वे गद्गद स्वरसे भगवान्की स्तुति करने लगे॥ ३८॥

दैत्यराज बलिने कहा—बलरामजी! आप अनन्त हैं। आप इतने महान् हैं कि शेष आदि सभी विग्रह आपके अन्तर्भूत हैं। सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप सकल जगत्के निर्माता हैं। ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनोंके प्रवर्तक आप ही हैं। आप स्वयं ही परब्रह्म परमात्मा हैं। हम आप दोनोंको बार-बार नमस्कार करते हैं॥ ३९॥ भगवन्! आप दोनोंका दर्शन प्राणियोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। फिर भी आपकी कृपासे वह सुलभ हो जाता है। क्योंकि आज आपने कृपा करके हम रजोगुणी एवं तमोगुणी स्वभाववाले दैत्योंको भी दर्शन दिया है॥ ४०॥ प्रभो! हम और हमारे ही समान दूसरे दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत और प्रमथनायक आदि आपका प्रेमसे भजन करना तो दूर रहा, आपसे सर्वदा दृढ़ वैरभाव रखते हैं; परन्तु आपका श्रीविग्रह साक्षात् वेदमय और विशुद्ध सत्त्वस्वरूप है। इसलिये हमलोगोंमेंसे बहुतोंने दृढ़ वैरभावसे, कुछने भक्तिसे और कुछने कामनासे आपका स्मरण करके उस पदको प्राप्त किया है, जिसे आपके समीप रहनेवाले सत्त्वप्रधान देवता आदि भी नहीं प्राप्त कर सकते॥ ४१—४३॥

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम्॥ ४४

तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत्-
पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात्।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि॥ ४५

शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो।
पुमान् यच्छ्रद्धयाऽऽतिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते॥ ४६

श्रीभगवानुवाच

आसन् मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम्॥ ४७

तेनासुरीमगन् योनिमधुनावद्यकर्मणा।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया॥ ४८

देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः।
सा ताञ्छोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके॥ ४९

इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये।
ततः शापाद् विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः॥ ५०

स्मरोद्गीथः परिष्वंगः पतंगः क्षुद्रभृद् घृणी।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम्॥ ५१

इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम्॥ ५२

योगेश्वरोंके अधीश्वर! बड़े-बड़े योगेश्वर भी प्रायः यह बात नहीं जानते कि आपकी योगमाया यह है और ऐसी है; फिर हमारी तो बात ही क्या है?॥ ४४॥ इसलिये स्वामी! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी चित्त-वृत्ति आपके उन चरणकमलोंमें लग जाय, जिसे किसीकी अपेक्षा न रखनेवाले परमहंस लोग ढूँढ़ा करते हैं; और उनका आश्रय लेकर मैं उससे भिन्न इस घर-गृहस्थीके अँधेरे कूएँसे निकल जाऊँ। प्रभो! इस प्रकार आपके उन चरणकमलोंकी, जो सारे जगत्के एकमात्र आश्रय हैं, शरण लेकर शान्त हो जाऊँ और अकेला ही विचरण करूँ। यदि कभी किसीका संग करना ही पड़े तो सबके परम हितैषी संतोंका ही॥ ४५॥ प्रभो! आप समस्त चराचर जगत्के नियन्ता और स्वामी हैं। आप हमें आज्ञा देकर निष्पाप बनाइये, हमारे पापोंका नाश कर दीजिये; क्योंकि जो पुरुष श्रद्धाके साथ आपकी आज्ञाका पालन करता है, वह विधि-निषेधके बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ४६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—‘दैत्यराज! स्वायम्भुव मन्वन्तरमें प्रजापति मरीचिकी पत्नी ऊर्णाके गर्भसे छः पुत्र उत्पन्न हुए थे। वे सभी देवता थे। वे यह देखकर कि ब्रह्माजी अपनी पुत्रीसे समागम करनेके लिये उद्यत हैं, हँसने लगे॥ ४७॥ इस परिहासरूप अपराधके कारण उन्हें ब्रह्माजीने शाप दे दिया और वे असुर-योनिमें हिरण्यकशिपुके पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए। अब योगमायाने उन्हें वहाँसे लाकर देवकीके गर्भमें रख दिया और उनको उत्पन्न होते ही कंसने मार डाला। दैत्यराज! माता देवकीजी अपने उन पुत्रोंके लिये अत्यन्त शोकातुर हो रही हैं और वे तुम्हारे पास हैं॥ ४८-४९॥ अतः हम अपनी माताका शोक दूर करनेके लिये इन्हें यहाँसे ले जायँगे। इसके बाद ये शापसे मुक्त हो जायँगे और आनन्दपूर्वक अपने लोकमें चले जायँगे॥ ५०॥ इनके छः नाम हैं—स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतंग, क्षुद्रभृत् और घृणि। इन्हें मेरी कृपासे पुनः सद्गति प्राप्त होगी’॥ ५१॥ परीक्षित्! इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्ण चुप हो गये। दैत्यराज बलिने उनकी पूजा की; इसके बाद श्रीकृष्ण और बलरामजी बालकोंको लेकर फिर द्वारका लौट आये तथा माता देवकीको उनके पुत्र सौंप दिये॥ ५२॥

तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी।
परिष्वज्यांकमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः॥ ५३

अपाययत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते॥ ५४

पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः।
नारायणांगसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥ ५५

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम्।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम्॥ ५६

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप॥ ५७

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥ ५८

सूत उवाच

य इदमनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥ ५९

उन बालकोंको देखकर देवी देवकीके हृदयमें वात्सल्य-स्नेहकी बाढ़ आ गयी। उनके स्तनोंसे दूध बहने लगा। वे बार-बार उन्हें गोदमें लेकर छातीसे लगातीं और उनका सिर सूँघतीं॥ ५३॥ पुत्रोंके स्पर्शके आनन्दसे सराबोर एवं आनन्दित देवकीने उनको स्तन-पान कराया। वे विष्णुभगवान्‌की उस मायासे मोहित हो रही थीं, जिससे यह सृष्टि-चक्र चलता है॥ ५४॥ परीक्षित्! देवकीजीके स्तनोंका दूध साक्षात् अमृत था; क्यों न हो, भगवान् श्रीकृष्ण जो उसे पी चुके थे! उन बालकोंने वही अमृतमय दूध पिया। उस दूधके पीनेसे और भगवान् श्रीकृष्णके अंगोंका संस्पर्श होनेसे उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया॥ ५५॥ इसके बाद उन लोगोंने भगवान् श्रीकृष्ण, माता देवकी, पिता वसुदेव और बलरामजीको नमस्कार किया। तदनन्तर सबके सामने ही वे देवलोकमें चले गये॥ ५६॥ परीक्षित्! देवी देवकी यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गयीं कि मरे हुए बालक लौट आये और फिर चले भी गये। उन्होंने ऐसा निश्चय किया कि यह श्रीकृष्णका ही कोई लीला-कौशल है॥ ५७॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं परमात्मा हैं, उनकी शक्ति अनन्त है। उनके ऐसे-ऐसे अद्भुत चरित्र इतने हैं कि किसी प्रकार उनका पार नहीं पाया जा सकता॥ ५८॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्ति अमर है, अमृतमयी है। उनका चरित्र जगत्‌के समस्त पाप-तापोंको मिटानेवाला तथा भक्तजनोंके कर्णकुहरोंमें आनन्दसुधा प्रवाहित करनेवाला है। इसका वर्णन स्वयं व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीने किया है। जो इसका श्रवण करता है अथवा दूसरोंको सुनाता है, उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति भगवान्‌में लग जाती है और वह उन्हींके परम कल्याणस्वरूप धामको प्राप्त होता है॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे मृताग्रजानयनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः॥ ८५॥

अथ षडशीतितमोऽध्यायः

सुभद्राहरण और भगवान्‌का मिथिलापुरीमें राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मणके घर एक ही साथ जाना

राजोवाच

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही॥ १

श्रीशुक उवाच

अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः।
गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः॥ २

दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात्॥ ३

तत्र वै वार्षिकान् मासानवात्सीत् स्वार्थसाधकः।
पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः॥ ४

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम्।
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल॥ ५

सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम्।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे॥ ६

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयंगमम्।
हसन्ती व्रीडितापांगी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा॥ ७

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मेरे दादा अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीकी बहिन सुभद्राजीसे, जो मेरी दादी थीं, किस प्रकार विवाह किया? मैं यह जाननेके लिये बहुत उत्सुक हूँ॥ १॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! एक बार अत्यन्त शक्तिशाली अर्जुन तीर्थयात्राके लिये पृथ्वीपर विचरण करते हुए प्रभासक्षेत्र पहुँचे। वहाँ उन्होंने यह सुना कि बलरामजी मेरे मामाकी पुत्री सुभद्राका विवाह दुर्योधनके साथ करना चाहते हैं और वसुदेव, श्रीकृष्ण आदि उनसे इस विषयमें सहमत नहीं हैं। अब अर्जुनके मनमें सुभद्राको पानेकी लालसा जग आयी। वे त्रिदण्डी वैष्णवका वेष धारण करके द्वारका पहुँचे॥ २-३॥ अर्जुन सुभद्राको प्राप्त करनेके लिये वहाँ वर्षाकालमें चार महीनेतक रहे। वहाँ पुरवासियों और बलरामजीने उनका खूब सम्मान किया। उन्हें यह पता न चला कि ये अर्जुन हैं॥ ४॥

एक दिन बलरामजीने आतिथ्यके लिये उन्हें निमन्त्रित किया और उनको वे अपने घर ले आये। त्रिदण्डी-वेषधारी अर्जुनको बलरामजीने अत्यन्त श्रद्धाके साथ भोजन-सामग्री निवेदित की और उन्होंने बड़े प्रेमसे भोजन किया॥ ५॥ अर्जुनने भोजनके समय वहाँ विवाहयोग्य परम सुन्दरी सुभद्राको देखा। उसका सौन्दर्य बड़े-बड़े वीरोंका मन हरनेवाला था। अर्जुनके नेत्र प्रेमसे प्रफुल्लित हो गये। उनका मन उसे पानेकी आकांक्षासे क्षुब्ध हो गया और उन्होंने उसे पत्नी बनानेका दृढ़ निश्चय कर लिया॥ ६॥ परीक्षित्! तुम्हारे दादा अर्जुन भी बड़े ही सुन्दर थे। उनके शरीरकी गठन, भाव-भंगी स्त्रियोंका हृदय स्पर्श कर लेती थी। उन्हें देखकर सुभद्राने भी मनमें उन्हींको पति बनानेका निश्चय किया। वह तनिक मुसकराकर लजीली चितवनसे उनकी ओर देखने लगी। उसने अपना हृदय उन्हें समर्पित कर दिया॥ ७॥

१. स्मरक्षु०।

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः।
न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा॥ ८

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम्।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः॥ ९

रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान्।
विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव॥ १०

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत[1]॥ ११

प्राहिणोत् पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः।
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः॥ १२

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः॥ १३

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी।
अनीहयाऽऽगताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः॥ १४

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत[2]।
नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः॥ १५

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ॥ १६

अब अर्जुन केवल उसीका चिन्तन करने लगे और इस बातका अवसर ढूँढ़ने लगे कि इसे कब हर ले जाऊँ। सुभद्राको प्राप्त करनेकी उत्कट कामनासे उनका चित्त चक्कर काटने लगा, उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी॥ ८॥

एक बार सुभद्राजी देव-दर्शनके लिये रथपर सवार होकर द्वारका-दुर्गसे बाहर निकलीं। उसी समय महारथी अर्जुनने देवकी-वसुदेव और श्रीकृष्णकी अनुमतिसे सुभद्राका हरण कर लिया॥ ९॥ रथपर सवार होकर वीर अर्जुनने धनुष उठा लिया और जो सैनिक उन्हें रोकनेके लिये आये, उन्हें मार-पीटकर भगा दिया। सुभद्राके निज-जन रोते-चिल्लाते रह गये और अर्जुन जिस प्रकार सिंह अपना भाग लेकर चल देता है, वैसे ही सुभद्राको लेकर चल पड़े॥ १०॥ यह समाचार सुनकर बलरामजी बहुत बिगड़े। वे वैसे ही क्षुब्ध हो उठे, जैसे पूर्णिमाके दिन समुद्र। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य सुहृद्-सम्बन्धियोंने उनके पैर पकड़कर उन्हें बहुत कुछ समझाया-बुझाया, तब वे शान्त हुए॥ ११॥ इसके बाद बलरामजीने प्रसन्न होकर वर-वधूके लिये बहुत-सा धन, सामग्री, हाथी, रथ, घोड़े और दासी-दास दहेजमें भेजे॥ १२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विदेहकी राजधानी मिथिलामें एक गृहस्थ ब्राह्मण थे। उनका नाम था श्रुतदेव। वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। वे एकमात्र भगवद्भक्तिसे ही पूर्णमनोरथ, परम शान्त, ज्ञानी और विरक्त थे॥ १३॥ वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी किसी प्रकारका उद्योग नहीं करते थे; जो कुछ मिल जाता, उसीसे अपना निर्वाह कर लेते थे॥ १४॥ प्रारब्धवश प्रतिदिन उन्हें जीवन-निर्वाहभरके लिये सामग्री मिल जाया करती थी, अधिक नहीं। वे उतनेसे ही सन्तुष्ट भी थे, और अपने वर्णाश्रमके अनुसार धर्म-पालनमें तत्पर रहते थे॥ १५॥ प्रिय परीक्षित्! उस देशके राजा भी ब्राह्मणके समान ही भक्तिमान् थे। मैथिलवंशके उन प्रतिष्ठित नरपतिका नाम था बहुलाश्व। उनमें अहंकारका लेश भी न था। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे भक्त थे॥ १६॥

१. श्चानुसान्त्वितः। २. मत्ययम्।

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम्।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः॥ १७

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः॥ १८

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप।
उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम्॥ १९

आनर्तधन्वकुरुजांगलकंकमत्स्य-
पांचालकुन्तिमधुकेकयकोसलार्णाः।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः॥ २०

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन्।
शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान्॥ २१

तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप।
अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः॥ २२

दृष्ट्वा त उत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः।
कैर्धृतांजलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन्॥ २३

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम्।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः॥ २४

एक बार भगवान् श्रीकृष्णने उन दोनोंपर प्रसन्न होकर दारुकसे रथ मँगवाया और उसपर सवार होकर द्वारकासे विदेह देशकी ओर प्रस्थान किया॥ १७॥ भगवान्‌के साथ नारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, परशुराम, असित, आरुणि, मैं (शुकदेव), बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय, च्यवन आदि ऋषि भी थे॥ १८॥ परीक्षित्! वे जहाँ-जहाँ पहुँचते, वहाँ-वहाँकी नागरिक और ग्रामवासी प्रजा पूजाकी सामग्री लेकर उपस्थित होती। पूजा करनेवालोंको भगवान् ऐसे जान पड़ते, मानो ग्रहोंके साथ साक्षात् सूर्यनारायण उदय हो रहे हों॥ १९॥ परीक्षित्! उस यात्रामें आनर्त, धन्व, कुरुजांगल, कंक, मत्स्य, पांचाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल, अर्ण आदि अनेक देशोंके नर-नारियोंने अपने नेत्ररूपी दोनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके उन्मुक्त हास्य और प्रेमभरी चितवनसे युक्त मुखारविन्दके मकरन्द-रसका पान किया॥ २०॥ त्रिलोकगुरु भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे उन लोगोंकी अज्ञानदृष्टि नष्ट हो गयी। प्रभु-दर्शन करनेवाले नर-नारियोंको अपनी दृष्टिसे परम कल्याण और तत्त्वज्ञानका दान करते चल रहे थे। स्थान-स्थानपर मनुष्य और देवता भगवान्‌की उस कीर्तिका गान करके सुनाते, जो समस्त दिशाओंको उज्ज्वल बनानेवाली एवं समस्त अशुभोंका विनाश करनेवाली है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण धीरे-धीरे विदेह देशमें पहुँचे॥ २१॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनका समाचार सुनकर नागरिक और ग्रामवासियोंके आनन्दकी सीमा न रही। वे अपने हाथोंमें पूजाकी विविध सामग्रियाँ लेकर उनकी अगवानी करने आये॥ २२॥ भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके उनके हृदय और मुखकमल प्रेम और आनन्दसे खिल उठे। उन्होंने भगवान्‌को तथा उन मुनियोंको, जिनका नाम केवल सुन रखा था, देखा न था—हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर प्रणाम किया॥ २३॥ मिथिलानरेश बहुलाश्व और श्रुतदेवने, यह समझकर कि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण हम-लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही पधारे हैं, उनके चरणोंपर गिरकर प्रणाम किया॥ २४॥

न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत् संहतांजली॥ २५

भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया।
उभयोराविशद् गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः॥ २६

श्रोतुमप्यसतां दूरान् जनकः स्वगृहागतान्।
आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान् महामनाः॥ २७

प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्त्राविलेक्षणः।
नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः॥ २८

सकुटुम्बो वहन् मूर्ध्ना पूजयांचक्र ईश्वरान्।
गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घ्यगोवृषैः॥ २९

वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान्।
पादावंकगतौ विष्णोः संस्पृशञ्छनकैर्मुदा॥ ३०

राजोवाच

भवान् हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग् विभो।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः॥ ३१

स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान्।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः॥ ३२

बहुलाश्व और श्रुतदेव दोनोंने ही एक साथ हाथ जोड़कर मुनि-मण्डलीके सहित भगवान् श्रीकृष्णको आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये निमन्त्रित किया॥ २५॥ भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार करके दोनोंको ही प्रसन्न करनेके लिये एक ही समय पृथक्-पृथक् रूपसे दोनोंके घर पधारे और यह बात एक-दूसरेको मालूम न हुई कि भगवान् श्रीकृष्ण मेरे घरके अतिरिक्त और कहीं भी जा रहे हैं॥ २६॥ विदेहराज बहुलाश्व बड़े मनस्वी थे; उन्होंने यह देखकर कि दुष्ट-दुराचारी पुरुष जिनका नाम भी नहीं सुन सकते, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण और ऋषि-मुनि मेरे घर पधारे हैं, सुन्दर-सुन्दर आसन मँगाये और भगवान् श्रीकृष्ण तथा ऋषि-मुनि आरामसे उनपर बैठ गये। उस समय बहुलाश्वकी विचित्र दशा थी। प्रेम-भक्तिके उद्रेकसे उनका हृदय भर आया था। नेत्रोंमें आँसू उमड़ रहे थे। उन्होंने अपने पूज्यतम अतिथियोंके चरणोंमें नमस्कार करके पाँव पखारे और अपने कुटुम्बके साथ उनके चरणोंका लोकपावन जल सिरपर धारण किया और फिर भगवान् एवं भगवत्स्वरूप ऋषियोंको गन्ध, माला, वस्त्र, अलंकार, धूप, दीप, अर्घ्य, गौ, बैल आदि समर्पित करके उनकी पूजा की॥ २७—२९॥ जब सब लोग भोजन करके तृप्त हो गये, तब राजा बहुलाश्व भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको अपनी गोदमें लेकर बैठ गये। और बड़े आनन्दसे धीरे-धीरे उन्हें सहलाते हुए बड़ी मधुर वाणीसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ ३०॥

राजा बहुलाश्वने कहा—'प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा, साक्षी एवं स्वयंप्रकाश हैं। हम सदा-सर्वदा आपके चरणकमलोंका स्मरण करते रहते हैं। इसीसे आपने हमलोगोंको दर्शन देकर कृतार्थ किया है॥ ३१॥ भगवन्! आपके वचन हैं कि मेरा अनन्यप्रेमी भक्त मुझे अपने स्वरूप बलरामजी, अर्द्धांगिनी लक्ष्मी और पुत्र ब्रह्मासे भी बढ़कर प्रिय है। अपने उन वचनोंको सत्य करनेके लिये ही आपने हमलोगोंको दर्शन दिया है॥ ३२॥

को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद् विसृजेत् पुमान्।
निष्किंचनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥ ३३

योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम्॥ ३४

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे॥ ३५

दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान् नो निवस द्विजैः।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम्॥ ३६

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः।
उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम्॥ ३७

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहांजनको यथा।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह॥ ३८

तृणपीठबृसीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजे मुदा॥ ३९

तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम्।
स्नापयांचक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः॥ ४०

भला, ऐसा कौन पुरुष है, जो आपकी इस परम दयालुता और प्रेमपरवशताको जानकर भी आपके चरणकमलोंका परित्याग कर सके? प्रभो! जिन्होंने जगत्की समस्त वस्तुओंका एवं शरीर आदिका भी मनसे परित्याग कर दिया है, उन परम शान्त मुनियोंको आप अपनेतकको भी दे डालते हैं॥ ३३॥ आपने यदुवंशमें अवतार लेकर जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े हुए मनुष्योंको उससे मुक्त करनेके लिये जगत्में ऐसे विशुद्ध यशका विस्तार किया है, जो त्रिलोकीके पाप-तापको शान्त करनेवाला है॥ ३४॥ प्रभो! आप अचिन्त्य, अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यकी निधि हैं; सबके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये आप सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म हैं। आपका ज्ञान अनन्त है। परम शान्तिका विस्तार करनेके लिये आप ही नारायण ऋषिके रूपमें तपस्या कर रहे हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ३५॥ एकरस अनन्त! आप कुछ दिनोंतक मुनिमण्डलीके साथ हमारे यहाँ निवास कीजिये और अपने चरणोंकी धूलसे इस निमिवंशको पवित्र कीजिये'॥ ३६॥ परीक्षित्! सबके जीवनदाता भगवान् श्रीकृष्ण राजा बहुलाश्वकी यह प्रार्थना स्वीकार करके मिथिलावासी नर-नारियोंका कल्याण करते हुए कुछ दिनोंतक वहीं रहे॥ ३७॥

प्रिय परीक्षित्! जैसे राजा बहुलाश्व भगवान् श्रीकृष्ण और मुनि-मण्डलीके पधारनेपर आनन्दमग्न हो गये थे, वैसे ही श्रुतदेव ब्राह्मण भी भगवान् श्रीकृष्ण और मुनियोंको अपने घर आया देखकर आनन्दविह्वल हो गये; वे उन्हें नमस्कार करके अपने वस्त्र उछाल-उछालकर नाचने लगे॥ ३८॥ श्रुतदेवने चटाई, पीढ़े और कुशासन बिछाकर उनपर भगवान् श्रीकृष्ण और मुनियोंको बैठाया, स्वागत-भाषण आदिके द्वारा उनका अभिनन्दन किया तथा अपनी पत्नीके साथ बड़े आनन्दसे सबके पाँव पखारे॥ ३९॥ परीक्षित्! महान् सौभाग्यशाली श्रुतदेवने भगवान् और ऋषियोंके चरणोदकसे अपने घर और कुटुम्बियोंको सींच दिया। इस समय उनके सारे मनोरथ पूर्ण हो गये थे। वे हर्षातिरेकसे मतवाले हो रहे थे॥ ४०॥

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः।
आराधयामास यथोपपन्नया
सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा॥ ४१

स तर्कयामास कुतो ममान्वभूद्
गृहान्धकूपे पतितस्य संगमः।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः॥ ४२

सूपविष्टान् कृतातिथ्याञ्छ्रुतदेव उपस्थितः।
सभार्यस्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः॥ ४३

श्रुतदेव उवाच

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया॥ ४४

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते॥ ४५

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम्।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम्॥ ४६

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम्।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम्॥ ४७

तदनन्तर उन्होंने फल, गन्ध, खससे सुवासित निर्मल एवं मधुर जल, सुगन्धित मिट्टी, तुलसी, कुश, कमल आदि अनायास-प्राप्त पूजा-सामग्री और सत्त्वगुण बढ़ानेवाले अन्नसे सबकी आराधना की॥ ४१॥ उस समय श्रुतदेवजी मन-ही-मन तर्कना करने लगे कि 'मैं तो घर-गृहस्थीके अँधेरे कूएँमें गिरा हुआ हूँ, अभागा हूँ; मुझे भगवान् श्रीकृष्ण और उनके निवासस्थान ऋषि-मुनियोंका, जिनके चरणोंकी धूल ही समस्त तीर्थोंको तीर्थ बनानेवाली है, समागम कैसे प्राप्त हो गया?'॥ ४२॥ जब सब लोग आतिथ्य स्वीकार करके आरामसे बैठ गये, तब श्रुतदेव अपने स्त्री-पुत्र तथा अन्य सम्बन्धियोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुए। वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श करते हुए कहने लगे॥ ४३॥

श्रुतदेवने कहा—प्रभो! आप व्यक्त-अव्यक्तरूप प्रकृति और जीवोंसे परे पुरुषोत्तम हैं। मुझे आपने आज ही दर्शन दिया हो, ऐसी बात नहीं है। आप तो तभीसे सब लोगोंसे मिले हुए हैं, जबसे आपने अपनी शक्तियोंके द्वारा इस जगत्‌की रचना करके आत्मसत्ताके रूपमें इसमें प्रवेश किया है॥ ४४॥ जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्नावस्थामें अविद्यावश मन-ही-मन स्वप्न-जगत्‌की सृष्टि कर लेता है और उसमें स्वयं उपस्थित होकर अनेक रूपोंमें अनेक कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही आपने अपनेमें ही अपनी मायासे जगत्‌की रचना कर ली है और अब इसमें प्रवेश करके अनेकों रूपोंसे प्रकाशित हो रहे हैं॥ ४५॥ जो लोग सर्वदा आपकी लीलाकथाका श्रवण-कीर्तन तथा आपकी प्रतिमाओंका अर्चन-वन्दन करते हैं और आपसमें आपकी ही चर्चा करते हैं, उनका हृदय शुद्ध हो जाता है और आप उसमें प्रकाशित हो जाते हैं॥ ४६॥ जिन लोगोंका चित्त लौकिक-वैदिक आदि कर्मोंकी वासनासे बहिर्मुख हो रहा है, उनके हृदयमें रहनेपर भी आप उनसे बहुत दूर हैं। किन्तु जिन लोगोंने आपके गुणगानसे अपने अन्तःकरणको सद्‌गुणसम्पन्न बना लिया है, उनके लिये चित्तवृत्तियोंसे अग्राह्य होनेपर भी आप अत्यन्त निकट हैं॥ ४७॥

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे।
सकारणाकारणलिंगमीयुषे
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥ ४८

स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवामहे।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवानक्षिगोचरः ॥ ४९

श्रीशुक उवाच

तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह॥ ५०

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून् मुनीन्।
संचरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ॥ ५१

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया॥ ५२

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥ ५३

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥ ५४

दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥ ५५

प्रभो! जो लोग आत्मतत्त्वको जाननेवाले हैं, उनके आत्माके रूपमें ही आप स्थित हैं और जो शरीर आदिको ही अपना आत्मा मान बैठे हैं, उनके लिये आप अनात्माको प्राप्त होनेवाली मृत्युके रूपमें हैं। आप महत्तत्त्व आदि कार्यद्रव्य और प्रकृतिरूप कारणके नियामक हैं—शासक हैं। आपकी माया आपकी अपनी दृष्टिपर पर्दा नहीं डाल सकती, किन्तु उसने दूसरोंकी दृष्टिको ढक रखा है। आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ४८ ॥ स्वयंप्रकाश प्रभो! हम आपके सेवक हैं। हमें आज्ञा दीजिये कि हम आपकी क्या सेवा करें? नेत्रोंके द्वारा आपका दर्शन होनेतक ही जीवोंके क्लेश रहते हैं। आपके दर्शनमें ही समस्त क्लेशोंकी परिसमाप्ति है॥ ४९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! शरणागत-भयहारी भगवान् श्रीकृष्णने श्रुतदेवकी प्रार्थना सुनकर अपने हाथसे उनका हाथ पकड़ लिया और मुसकराते हुए कहा॥ ५० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय श्रुतदेव! ये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुमपर अनुग्रह करनेके लिये ही यहाँ पधारे हैं। ये अपने चरणकमलोंकी धूलसे लोगों और लोकोंको पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे हैं॥ ५१ ॥ देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदिके द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं; परन्तु संत पुरुष अपनी दृष्टिसे ही सबको पवित्र कर देते हैं। यही नहीं; देवता आदिमें जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी उन्हें संतोंकी दृष्टिसे ही प्राप्त होती है॥ ५२॥ श्रुतदेव! जगत्में ब्राह्मण जन्मसे ही सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं। यदि वह तपस्या, विद्या, सन्तोष और मेरी उपासना—मेरी भक्तिसे युक्त हो तब तो कहना ही क्या है॥ ५३॥

मुझे अपना यह चतुर्भुजरूप भी ब्राह्मणोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं है। क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय है और मैं सर्वदेवमय हूँ॥ ५४॥ दुर्बुद्धि मनुष्य इस बातको न जानकर केवल मूर्ति आदिमें ही पूज्यबुद्धि रखते हैं और गुणोंमें दोष निकालकर मेरे स्वरूप जगद्गुरु ब्राह्मणका, जो कि उनका आत्मा ही है, तिरस्कार करते हैं॥ ५५॥

चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया॥ ५६

ब्राह्मण मेरा साक्षात्कार करके अपने चित्तमें यह निश्चय कर लेता है कि यह चराचर जगत्, इसके सम्बन्धकी सारी भावनाएँ और इसके कारण प्रकृति-महत्तत्त्वादि सब-के-सब आत्मस्वरूप भगवान्‌के ही रूप हैं॥ ५६॥

तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः॥ ५७

इसलिये श्रुतदेव! तुम इन ब्रह्मर्षियोंको मेरा ही स्वरूप समझकर पूरी श्रद्धासे इनकी पूजा करो। यदि तुम ऐसा करोगे, तब तो तुमने साक्षात् अनायास ही मेरा पूजन कर लिया; नहीं तो बड़ी-बड़ी बहुमूल्य सामग्रियोंसे भी मेरी पूजा नहीं हो सकती॥ ५७॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थं प्रभुणाऽऽदिष्टः सहकृष्णान् द्विजोत्तमान्।
आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्‌गतिम्॥ ५८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका यह आदेश प्राप्त करके श्रुतदेवने भगवान् श्रीकृष्ण और उन ब्रह्मर्षियोंकी एकात्मभावसे आराधना की तथा उनकी कृपासे वे भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो गये। राजा बहुलाश्वने भी वही गति प्राप्त की॥ ५८॥

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।
उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्॥ ५९

प्रिय परीक्षित्! जैसे भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंकी भक्ति करते हैं। वे अपने दोनों भक्तोंको प्रसन्न करनेके लिये कुछ दिनोंतक मिथिलापुरीमें रहे और उन्हें साधु पुरुषोंके मार्गका उपदेश करके वे द्वारका लौट आये॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रुतदेवानुग्रहो नाम षडशीतितमोऽध्यायः॥ ८६॥

अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः

वेदस्तुति

परीक्षिदुवाच

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥ १

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! ब्रह्म कार्य और कारणसे सर्वथा परे है। सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उसमें हैं ही नहीं। मन और वाणीसे संकेतरूपमें भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर समस्त श्रुतियोंका विषय गुण ही है। (वे जिस विषयका वर्णन करती हैं उसके गुण, जाति, क्रिया अथवा रूढिका ही निर्देश करती हैं) ऐसी स्थितिमें श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन किस प्रकार करती हैं? क्योंकि निर्गुण वस्तुका स्वरूप तो उनकी पहुँचके परे है॥ १॥

श्रीशुक उवाच

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥ २

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता।
श्रद्धया धारयेद् यस्तां क्षेमं गच्छेदकिंचनः॥ ३

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च॥ ४

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन् भगवत्प्रियः।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम्॥ ५

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम्।
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः॥ ६

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! (भगवान् सर्वशक्तिमान् और गुणोंके निधान हैं। श्रुतियाँ स्पष्टतः सगुणका ही निरूपण करती हैं, परन्तु विचार करनेपर उनका तात्पर्य निर्गुण ही निकलता है। विचार करनेके लिये ही) भगवान्ने जीवोंके लिये बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंकी सृष्टि की है। इनके द्वारा वे स्वेच्छासे अर्थ, धर्म, काम अथवा मोक्षका अर्जन कर सकते हैं (प्राणोंके द्वारा जीवन-धारण, श्रवणादि इन्द्रियोंके द्वारा महावाक्य आदिका श्रवण, मनके द्वारा मनन और बुद्धिके द्वारा निश्चय करनेपर श्रुतियोंके तात्पर्य निर्गुण स्वरूपका साक्षात्कार हो सकता है। इसलिये श्रुतियाँ सगुणका प्रतिपादन करनेपर भी वस्तुतः निर्गुणपरक हैं)॥ २॥

ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद्का यही स्वरूप है। इसे पूर्वजोंके भी पूर्वज सनकादि ऋषियोंने आत्मनिश्चयके द्वारा धारण किया है। जो भी मनुष्य इसे श्रद्धापूर्वक धारण करता है, वह बन्धनके कारण समस्त उपाधियों—अनात्मभावोंसे मुक्त होकर अपने परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है॥ ३॥

इस विषयमें मैं तुम्हें एक गाथा सुनाता हूँ। उस गाथाके साथ स्वयं भगवान् नारायणका सम्बन्ध है। वह गाथा देवर्षि नारद और ऋषिश्रेष्ठ नारायणका संवाद है॥ ४॥

एक समयकी बात है, भगवान्के प्यारे भक्त देवर्षि नारदजी विभिन्न लोकोंमें विचरण करते हुए सनातनऋषि भगवान् नारायणका दर्शन करनेके लिये बदरिकाश्रम गये॥ ५॥

भगवान् नारायण मनुष्योंके अभ्युदय (लौकिक कल्याण) और परम निःश्रेयस (भगवत्स्वरूप अथवा मोक्षकी प्राप्ति) के लिये इस भारतवर्षमें कल्पके प्रारम्भसे ही धर्म, ज्ञान और संयमके साथ महान् तपस्या कर रहे हैं॥ ६॥

परीक्षित्! एक दिन वे कलापग्रामवासी सिद्ध ऋषियोंके बीचमें बैठे हुए थे। उस समय नारदजीने उन्हें प्रणाम करके बड़ी नम्रतासे यही प्रश्न पूछा, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो॥ ७॥

तस्मै ह्यवोचद् भगवानृषीणां शृण्वतामिदम्।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम्॥ ८

भगवान् नारायणने ऋषियोंकी उस भरी सभामें नारदजीको उनके प्रश्नका उत्तर दिया और वह कथा सुनायी, जो पूर्वकालीन जनलोकनिवासियोंमें परस्पर वेदोंके तात्पर्य और ब्रह्मके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार करते समय कही गयी थी॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्॥ ९

भगवान् नारायणने कहा—नारदजी! प्राचीन कालकी बात है। एक बार जनलोकमें वहाँ रहनेवाले ब्रह्माके मानस पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनक, सनन्दन, सनातन आदि परमर्षियोंका ब्रह्मसत्र (ब्रह्मविषयक विचार या प्रवचन) हुआ था॥ ९॥

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम्।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते।
तत्र हायमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि॥ १०

उस समय तुम मेरी श्वेतद्वीपाधिपति अनिरुद्ध-मूर्तिका दर्शन करनेके लिये श्वेतद्वीप चले गये थे। उस समय वहाँ उस ब्रह्मके सम्बन्धमें बड़ी ही सुन्दर चर्चा हुई थी, जिसके विषयमें श्रुतियाँ भी मौन धारण कर लेती हैं, स्पष्ट वर्णन न करके तात्पर्यरूपसे लक्षित कराती हुई उसीमें सो जाती हैं। उस ब्रह्मसत्रमें यही प्रश्न उपस्थित किया गया था, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो॥ १०॥

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे॥ ११

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ये चारों भाई शास्त्रीय ज्ञान, तपस्या और शील-स्वभावमें समान हैं। उन लोगोंकी दृष्टिमें शत्रु, मित्र और उदासीन एक-से हैं। फिर भी उन्होंने अपनेमेंसे सनन्दनको तो वक्ता बना लिया और शेष भाई सुननेके इच्छुक बनकर बैठ गये॥ ११॥

सनन्दन उवाच

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः।
तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्॥ १२

यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः॥ १३

सनन्दनजीने कहा—जिस प्रकार प्रातःकाल होनेपर सोते हुए सम्राट्को जगानेके लिये अनुजीवी वंदीजन उसके पास आते हैं और सम्राट्के पराक्रम तथा सुयशका गान करके उसे जगाते हैं, वैसे ही जब परमात्मा अपने बनाये हुए सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें लीन करके अपनी शक्तियोंके सहित सोये रहते हैं; तब प्रलयके अन्तमें श्रुतियाँ उनका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंसे उन्हें इस प्रकार जगाती हैं॥ १२-१३॥

श्रुतय ऊचुः

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां

त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।

अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते

क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥ १४

श्रुतियाँ कहती हैं—अजित! आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं, आपपर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता। आपकी जय हो, जय हो। प्रभो! आप स्वभावसे ही समस्त ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं, इसलिये चराचर प्राणियोंको फँसानेवाली मायाका नाश कर दीजिये। प्रभो! इस गुणमयी मायाने दोषके लिये—जीवोंके आनन्दादिमय सहज स्वरूपका आच्छादन करके उन्हें बन्धनमें डालनेके लिये ही सत्त्वादि गुणोंको ग्रहण किया है। जगत्‌में जितनी भी साधना, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ हैं, उन सबको जगानेवाले आप ही हैं। इसलिये आपके मिटाये बिना यह माया मिट नहीं सकती। (इस विषयमें यदि प्रमाण पूछा जाय, तो आपकी श्वासभूता श्रुतियाँ ही—हम ही प्रमाण हैं।) यद्यपि हम आपका स्वरूपतः वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, परन्तु जब कभी आप मायाके द्वारा जगत्‌की सृष्टि करके सगुण हो जाते हैं या उसको निषेध करके स्वरूपस्थितिकी लीला करते हैं अथवा अपना सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीविग्रह प्रकट करके क्रीड़ा करते हैं, तभी हम यत्किंचित् आपका वर्णन करनेमें समर्थ होती हैं*॥ १४॥

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया

यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे द्वारा इन्द्र, वरुण आदि देवताओंका भी वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारे (श्रुतियोंके) सारे मन्त्र अथवा सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रतीत होनेवाले इस सम्पूर्ण जगत्‌को ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। क्योंकि जिस समय यह सारा जगत् नहीं रहता, उस समय भी आप बच रहते हैं। जैसे घट, शराव (मिट्टीका प्याला—कसोरा) आदि सभी विकार मिट्टीसे ही उत्पन्न और उसीमें लीन होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय आपमें ही होती है। तब क्या आप पृथ्वीके समान विकारी हैं? नहीं-नहीं, आप तो एकरस—निर्विकार

---

* इन श्लोकोंपर श्रीश्रीधरस्वामीने बहुत सुन्दर श्लोक लिखे हैं, वे अर्थसहित यहाँ दिये जाते हैं—

जय जयाजित जह्यगजंगमावृतिमजामुपनीतमृषागुणाम्।
न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव॥ १॥

अजित! आपकी जय हो, जय हो! झूठे गुण धारण करके चराचर जीवको आच्छादित करनेवाली इस मायाको नष्ट कर दीजिये। आपके बिना बेचारे जीव इसको नहीं मार सकेंगे—नहीं पार कर सकेंगे। वेद इस बातका गान करते रहते हैं कि आप सकल सद्‌गुणोंके समुद्र हैं॥ १॥

अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं

कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥ १५

हैं। इसीसे तो यह जगत् आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत है। इसलिये जैसे घट, शराव आदिका वर्णन भी मिट्टीका ही वर्णन है, वैसे ही इन्द्र, वरुण आदि देवताओंका वर्णन भी आपका ही वर्णन है। यही कारण है कि विचारशील ऋषि, मनसे जो कुछ सोचा जाता है और वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, उसे आपमें ही स्थित, आपका ही स्वरूप देखते हैं। मनुष्य अपना पैर चाहे कहीं भी रखे—ईंट, पत्थर या काठपर—होगा वह पृथ्वीपर ही; क्योंकि वे सब पृथ्वीस्वरूप ही हैं। इसलिये हम चाहे जिस नाम या जिस रूपका वर्णन करें, वह आपका ही नाम, आपका ही रूप है*॥ १५॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-

क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।

किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः

परम भजन्ति ये पदमजस्त्रसुखानुभवम्॥ १६

भगवन्! लोग सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंकी मायासे बने हुए अच्छे-बुरे भावों या अच्छी-बुरी क्रियाओंमें उलझ जाया करते हैं, परन्तु आप तो उस मायानटीके स्वामी, उसको नचानेवाले हैं। इसीलिये विचारशील पुरुष आपकी लीलाकथाके अमृतसागरमें गोते लगाते रहते हैं और इस प्रकार अपने सारे पाप-तापको धो-बहा देते हैं। क्यों न हो, आपकी लीला-कथा सभी जीवोंके मायामलको नष्ट करनेवाली जो है। पुरुषोत्तम! जिन महापुरुषोंने आत्मज्ञानके द्वारा अन्त:करणके राग-द्वेष आदि और शरीरके कालकृत जरा-मरण आदि दोष मिटा दिये हैं और निरन्तर आपके उस स्वरूपकी अनुभूतिमें मग्न रहते हैं, जो अखण्ड आनन्दस्वरूप है, उन्होंने अपने पाप-तापोंको सदाके लिये शान्त, भस्म कर दिया है—इसके विषयमें तो कहना ही क्या है†॥ १६॥

---

* **द्रुहिणवह्निरवीन्द्रमुखामरा जगदिदं न भवेत्पृथगुत्थितम्।**
बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरजस्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे॥ २॥

ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य, इन्द्र आदि देवता तथा यह सम्पूर्ण जगत् प्रतीत होनेपर भी आपसे पृथक् नहीं है। इसलिये अनेक देवताओंका प्रतिपादन करनेवाले वेद-मन्त्र उन देवताओंके नामसे पृथक्-पृथक् आपकी ही विभिन्न मूर्तियोंका वर्णन करते हैं। वस्तुतः आप अजन्मा हैं; उन मूर्तियोंके रूपमें भी आपका जन्म नहीं होता॥ २॥

† **सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः।**
त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिस्तव पदस्मरणेन गतक्लमाः॥ ३॥

सारे वेद आपके सद्गुणोंका वर्णन करते हैं। इसलिये संसारके सभी विद्वान् आपके मंगलमय कल्याणकारी गुणोंके श्रवण, स्मरण आदिके द्वारा आपसे ही प्रेम करते हैं और आपके चरणोंका स्मरण करके सम्पूर्ण क्लेशोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ ३॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा

महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।

पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः

सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्॥ १७

भगवन्! प्राणधारियोंके जीवनकी सफलता इसीमें है कि वे आपका भजन-सेवन करें, आपकी आज्ञाका पालन करें; यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनका जीवन व्यर्थ है और उनके शरीरमें श्वासका चलना ठीक वैसा ही है, जैसा लुहारकी धौंकनीमें हवाका आना-जाना। महत्तत्त्व, अहंकार आदिने आपके अनुग्रहसे—आपके उनमें प्रवेश करनेपर ही इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि की है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँचों कोशोंमें पुरुष-रूपसे रहनेवाले, उनमें 'मैं-मैं' की स्फूर्ति करनेवाले भी आप ही हैं! आपके ही अस्तित्वसे उन कोशोंके अस्तित्वका अनुभव होता है और उनके न रहनेपर भी अन्तिम अवधिरूपसे आप विराजमान रहते हैं। इस प्रकार सबमें अन्वित और सबकी अवधि होनेपर भी आप असंग ही हैं। क्योंकि वास्तवमें जो कुछ वृत्तियोंके द्वारा अस्ति अथवा नास्तिके रूपमें अनुभव होता है, उन समस्त कार्य-कारणोंसे आप परे हैं। 'नेति-नेति' के द्वारा इन सबका निषेध हो जानेपर भी आप ही शेष रहते हैं, क्योंकि आप उस निषेधके भी साक्षी हैं और वास्तवमें आप ही एकमात्र सत्य हैं (इसलिये आपके भजनके बिना जीवका जीवन व्यर्थ ही है, क्योंकि वह इस महान् सत्यसे वंचित है)*॥ १७॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः

परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।

ऋषियोंने आपकी प्राप्तिके लिये अनेकों मार्ग माने हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं, वे मणिपूरक चक्रमें अग्निरूपसे आपकी उपासना करते हैं। अरुणवंशके ऋषि समस्त नाड़ियोंके निकलनेके स्थान हृदयमें आपके परम सूक्ष्मस्वरूप दहर ब्रह्मकी उपासना करते हैं। प्रभो! हृदयसे ही आपको प्राप्त करनेका श्रेष्ठ मार्ग सुषुम्ना नाड़ी

---

* **नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः।**
नरहरे! न भजन्ति नृणामिदं दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः॥ ४॥

नरहरे! मनुष्य-शरीर प्राप्त करके यदि जीव आपके श्रवण, वर्णन और संस्मरण आदिके द्वारा आपका भजन नहीं करते तो जीवोंका श्वास लेना धौंकनीके समान ही सर्वथा व्यर्थ है॥ ४॥

तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं

पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे॥ १८

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया

तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः।

अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं

विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम्॥ १९

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं

तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।

ब्रह्मरन्ध्रतक गयी हुई है। जो पुरुष उस ज्योतिर्मय मार्गको प्राप्त कर लेता है और उससे ऊपरकी ओर बढ़ता है, वह फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ता*॥ १८॥ भगवन्! आपने ही देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनियाँ बनायी हैं। सदा-सर्वत्र सब रूपोंमें आप हैं ही, इसलिये कारणरूपसे प्रवेश न करनेपर भी आप ऐसे जान पड़ते हैं, मानो उसमें प्रविष्ट हुए हों। साथ ही विभिन्न आकृतियोंका अनुकरण करके कहीं उत्तम, तो कहीं अधमरूपसे प्रतीत होते हैं, जैसे आग छोटी-बड़ी लकड़ियों और कर्मोंके अनुसार प्रचुर अथवा अल्प परिमाणमें या उत्तम-अधमरूपमें प्रतीत होती है। इसलिये संत पुरुष लौकिक-पारलौकिक कर्मोंकी दूकानदारीसे, उनके फलोंसे विरक्त हो जाते हैं और अपनी निर्मल बुद्धिसे सत्य-असत्य, आत्मा-अनात्माको पहचानकर जगत्के झूठे रूपोंमें नहीं फँसते; आपके सर्वत्र एकरस, समभावसे स्थित सत्यस्वरूपका साक्षात्कार करते हैं†॥ १९॥

प्रभो! जीव जिन शरीरोंमें रहता है, वे उसके कर्मके द्वारा निर्मित होते हैं और वास्तवमें उन शरीरोंके कार्य-कारणरूप आवरणोंसे वह रहित है, क्योंकि वस्तुतः उन आवरणोंकी सत्ता ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले आपका ही वह स्वरूप है। स्वरूप होनेके कारण अंश न होनेपर भी उसे अंश कहते हैं

* **उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः।**
हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे॥ ५॥

मनुष्य ऋषि-मुनियोंके द्वारा बतलायी हुई पद्धतियोंसे उदर आदि स्थानोंमें जिनका चिन्तन करते हैं और जो प्रभु उनके चिन्तन करनेपर मृत्यु-भयका नाश कर देते हैं, उन हृदयदेशमें विराजमान प्रभुकी हम उपासना करते हैं॥ ५॥

† **स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्।**
सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे॥ ६॥

अपने द्वारा निर्मित सम्पूर्ण कार्योंमें जो न्यूनाधिक श्रेष्ठ-कनिष्ठके भावसे रहित एवं सबमें भरपूर हैं, इस रूपमें अनुभवमें आनेवाली निर्विशेष सत्ताके रूपमें स्थित हैं, उन भगवान्का हम भजन करते हैं॥ ६॥

इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥ २०

और निर्मित न होनेपर भी निर्मित कहते हैं। इसीसे बुद्धिमान् पुरुष जीवके वास्तविक स्वरूपपर विचार करके परम विश्वासके साथ आपके चरणकमलोंकी उपासना करते हैं। क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मोंके समर्पणस्थान और मोक्षस्वरूप हैं* ॥ २० ॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः ॥ २१

भगवन्! परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। उसीका ज्ञान करानेके लिये आप विविध प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा ऐसी लीला करते हैं, जो अमृतके महासागरसे भी मधुर और मादक होती है। जो लोग उसका सेवन करते हैं, उनकी सारी थकावट दूर हो जाती है, वे परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं। कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं, जो आपकी लीला-कथाओंको छोड़कर मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते—स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है। वे आपके चरणकमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्संगमें, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उसके लिये इस जीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्थीका भी परित्याग कर देते हैं† ॥ २१ ॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव-
च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।

प्रभो! यह शरीर आपकी सेवाका साधन होकर जब आपके पथका अनुरागी हो जाता है, तब आत्मा, हितैषी, सुहृद् और प्रिय व्यक्तिके समान आचरण करता है। आप जीवके सच्चे हितैषी, प्रियतम और आत्मा ही हैं और सदा-सर्वदा जीवको अपनानेके लिये तैयार भी रहते हैं। इतनी सुगमता होनेपर तथा अनुकूल मानव-शरीरको पाकर भी लोग सख्यभाव आदिके द्वारा आपकी उपासना नहीं करते, आपमें नहीं रमते, बल्कि इस विनाशी और असत् शरीर तथा

---

* **त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्।**
त्वदङ्घ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्तय ॥ ७ ॥

मेरे परमानन्दस्वरूप स्वामी! मैं आपका अंश हूँ। अपने चरणोंकी सेवाका आदेश देकर अपनी मायाके द्वारा निर्मित मेरे बन्धनको निवृत्त कर दो ॥ ७ ॥

† **त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।**
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥ ८ ॥

कोई-कोई विरले शुद्धान्तःकरण महापुरुष आपके अमृतमय कथा-समुद्रमें विहार करते हुए परमानन्दमें मग्न रहते हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको तृणके समान तुच्छ बना देते हैं।

न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो

यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः॥ २२

उसके सम्बन्धियोंमें ही रम जाते हैं, उन्हींकी उपासना करने लगते हैं और इस प्रकार अपने आत्माका हनन करते हैं, उसे अधोगतिमें पहुँचाते हैं। भला, यह कितने कष्टकी बात है! इसका फल यह होता है कि उनकी सारी वृत्तियाँ, सारी वासनाएँ शरीर आदिमें ही लग जाती हैं और फिर उनके अनुसार उनको पशु-पक्षी आदिके न जाने कितने बुरे-बुरे शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं और इस प्रकार अत्यन्त भयावह जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकना पड़ता है*॥ २२॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-

न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।

स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो

वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥ २३

प्रभो! बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंको वशमें करके दृढ़ योगाभ्यासके द्वारा हृदयमें आपकी उपासना करते हैं। परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि उन्हें जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसीकी प्राप्ति उन शत्रुओंको भी हो जाती है, जो आपसे वैर-भाव रखते हैं। क्योंकि स्मरण तो वे भी करते ही हैं। कहाँतक कहें, भगवन्! वे स्त्रियाँ, जो अज्ञानवश आपको परिच्छिन्न मानती हैं और आपकी शेषनागके समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओंके प्रति कामभावसे आसक्त रहती हैं, जिस परम पदको प्राप्त करती हैं, वही पद हम श्रुतियोंको भी प्राप्त होता है—यद्यपि हम आपको सदा-सर्वदा एकरस अनुभव करती हैं और आपके चरणारविन्दका मकरन्दरस पान करती रहती हैं। क्यों न हो, आप समदर्शी जो हैं। आपकी दृष्टिमें उपासकके परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न भावमें कोई अन्तर नहीं है†॥ २३॥

---

* **त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह।**
कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति॥ ९॥

आप जगत्के स्वामी हैं और अपनी आत्मा ही हैं। इस जीवनमें ही मेरा मन आपमें रम जाय। मेरे स्वामी! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा, जब मुझे इस प्रकारका मनुष्यजन्म प्राप्त होगा?

† **चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम्।**
यथाकथञ्चिन्नृहरे मम भूयादहर्निशम्॥ १०॥

देव! आपके चरणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण अत्यन्त दुर्लभ है। चाहे जैसे-कैसे भी हो, नृसिंह! मुझे तो आपके चरणोंका स्मरण दिन-रात बना रहे।

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं

यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।

तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः

किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा॥ २४

भगवन्! आप अनादि और अनन्त हैं। जिसका जन्म और मृत्यु कालसे सीमित है, वह भला, आपको कैसे जान सकता है। स्वयं ब्रह्माजी, निवृत्तिपरायण सनकादि तथा प्रवृत्तिपरायण मरीचि आदि भी बहुत पीछे आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। जिस समय आप सबको समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई साधन नहीं रह जाता, जिससे उनके साथ ही सोया हुआ जीव आपको जान सके। क्योंकि उस समय न तो आकाशादि स्थूल जगत् रहता है और न तो महत्तत्त्वादि सूक्ष्म जगत्। इन दोनोंसे बने हुए शरीर और उनके निमित्त क्षण-मुहूर्त आदि कालके अंग भी नहीं रहते। उस समय कुछ भी नहीं रहता। यहाँतक कि शास्त्र भी आपमें ही समा जाते हैं (ऐसी अवस्थामें आपको जाननेकी चेष्टा न करके आपका भजन करना ही सर्वोत्तम मार्ग है।)*॥ २४॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां

विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।

त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता

त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥ २५

प्रभो! कुछ लोग मानते हैं कि असत् जगत्की उत्पत्ति होती है और कुछ लोग कहते हैं कि सत्-रूप दुःखोंका नाश होनेपर मुक्ति मिलती है। दूसरे लोग आत्माको अनेक मानते हैं, तो कई लोग कर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक और परलोकरूप व्यवहारको सत्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी बातें भ्रममूलक हैं और वे आरोप करके ही ऐसा उपदेश करते हैं। पुरुष त्रिगुणमय है—इस प्रकारका भेदभाव केवल अज्ञानसे ही होता है और आप अज्ञानसे सर्वथा परे हैं। इसलिये ज्ञानस्वरूप आपमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है†॥ २५॥

---

* **क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्धः क्व च भूमन्महस्तव।**
दीनबन्धो दयासिन्धो भक्तिं मे नृहरे दिश॥ ११॥

अनन्त! कहाँ बुद्धि आदि परिच्छिन्न उपाधियोंसे घिरा हुआ मैं और कहाँ आपका मन, वाणी आदिके अगोचर स्वरूप! (आपका ज्ञान तो बहुत ही कठिन है) इसलिये दीनबन्धु, दयासिन्धु! नरहरि देव! मुझे तो अपनी भक्ति ही दीजिये।

† **मिथ्यातर्कसुकर्कशेरितमहावादान्धकारान्तर-**
भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वज्ज्ञानवर्त्मास्फुटम् ।
श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशंकर श्रीपते
गोविन्देति मुदा वदन् मधुपते मुक्तः कदा स्यामहम्॥ १२॥

अनन्त महिमाशाली प्रभो! जो मन्दमति पुरुष झूठे तर्कोंके द्वारा प्रेरित अत्यन्त कर्कश वाद-विवादके घोर अन्धकारमें भटक रहे हैं, उनके लिये आपके ज्ञानका मार्ग स्पष्ट सूझना सम्भव नहीं है। इसलिये मेरे जीवनमें ऐसी सौभाग्यकी घड़ी कब आवेगी कि मैं श्रीमन्माधव, वामन, त्रिलोचन, श्रीशंकर, श्रीपते, गोविन्द, मधुपते—इस प्रकार आपको आनन्दमें भरकर पुकारता हुआ मुक्त हो जाऊँगा।

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्

सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः।

न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया

स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्॥ २६

यह त्रिगुणात्मक जगत् मनकी कल्पनामात्र है। केवल यही नहीं, परमात्मा और जगत्से पृथक् प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पनामात्र ही है। इस प्रकार वास्तवमें असत् होनेपर भी अपने सत्य अधिष्ठान आपकी सत्ताके कारण यह सत्य-सा प्रतीत हो रहा है। इसलिये भोक्ता, भोग्य और दोनोंके सम्बन्धको सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ आदि जितना भी जगत् है, सबको आत्मज्ञानी पुरुष आत्मरूपसे सत्य ही मानते हैं। सोनेसे बने हुए कड़े, कुण्डल आदि स्वर्णरूप ही तो हैं; इसलिये उनको इस रूपमें जाननेवाला पुरुष उन्हें छोड़ता नहीं, वह समझता है कि यह भी सोना है। इसी प्रकार यह जगत् आत्मामें ही कल्पित, आत्मासे ही व्याप्त है; इसलिये आत्मज्ञानी पुरुष इसे आत्मरूप ही मानते हैं*॥ २६॥ भगवन्! जो लोग यह समझते हैं कि आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंके अधिष्ठान हैं, सबके आधार हैं और सर्वात्मभावसे आपका भजन-सेवन करते हैं, वे मृत्युको तुच्छ समझकर उसके सिरपर लात मारते हैं अर्थात् उसपर विजय प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग आपसे विमुख हैं, वे चाहे जितने बड़े विद्वान् हों, उन्हें आप कर्मोंका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे पशुओंके समान बाँध लेते हैं। इसके विपरीत जिन्होंने आपके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़ रखा है, वे न केवल अपनेको बल्कि दूसरोंको भी पवित्र कर देते हैं—जगत्के बन्धनसे छुड़ा देते हैं। ऐसा सौभाग्य भला, आपसे विमुख लोगोंको कैसे प्राप्त हो सकता है†॥ २७॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया

त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।

परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-

स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥ २७

*** यत्सत्त्वतः सदाभाति जगदेतदसत् स्वतः।**
सदाभासमसत्यस्मिन् भगवन्तं भजाम तम्॥ १३॥

यह जगत् अपने स्वरूप, नाम और आकृतिके रूपमें असत् है, फिर भी जिस अधिष्ठान-सत्ताकी सत्यतासे यह सत्य जान पड़ता है तथा जो इस असत्य प्रपंचमें सत्यके रूपसे सदा प्रकाशमान रहता है, उस भगवान्का हम भजन करते हैं।

† तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥ १४॥

लोग पंचाग्नि आदि तापोंसे तप्त हों, पर्वतसे गिरकर आत्मघात कर लें, तीर्थोंका पर्यटन करें, वेदोंका पाठ करें, यज्ञोंके द्वारा यजन करें अथवा भिन्न-भिन्न मतवादोंके द्वारा आपसमें विवाद करें, परन्तु भगवान्के बिना इस मृत्युमय संसार-सागरसे पार नहीं जाते।

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-

स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।

वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो

विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥ २८

प्रभो! आप मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि करणोंसे—चिन्तन, कर्म आदिके साधनोंसे सर्वथा रहित हैं। फिर भी आप समस्त अन्तःकरण और बाह्य करणोंकी शक्तियोंसे सदा-सर्वदा सम्पन्न हैं। आप स्वतः सिद्ध ज्ञानवान्, स्वयंप्रकाश हैं; अतः कोई काम करनेके लिये आपको इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं है। जैसे छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी प्रजासे कर लेकर स्वयं अपने सम्राट्को कर देते हैं, वैसे ही मनुष्योंके पूज्य देवता और देवताओंके पूज्य ब्रह्मा आदि भी अपने अधिकृत प्राणियोंसे पूजा स्वीकार करते हैं और मायाके अधीन होकर आपकी पूजा करते रहते हैं। वे इस प्रकार आपकी पूजा करते हैं कि आपने जहाँ जो कर्म करनेके लिये उन्हें नियुक्त कर दिया है, वे आपसे भयभीत रहकर वहीं वह काम करते रहते हैं*॥ २८॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो

विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।

न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्

वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः॥ २९

नित्यमुक्त! आप मायातीत हैं, फिर भी जब अपने ईक्षणमात्रसे—संकल्पमात्रसे मायाके साथ क्रीडा करते हैं, तब आपका संकेत पाते ही जीवोंके सूक्ष्म शरीर और उनके सुप्त कर्म-संस्कार जग जाते हैं और चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। प्रभो! आप परम दयालु हैं। आकाशके समान सबमें सम होनेके कारण न तो कोई आपका अपना है और न तो पराया। वास्तवमें तो आपके स्वरूपमें मन और वाणीकी गति ही नहीं है। आपमें कार्य-कारणरूप प्रपंचका अभाव होनेसे बाह्य दृष्टिसे आप शून्यके समान ही जान पड़ते हैं; परन्तु उस दृष्टिके भी अधिष्ठान होनेके कारण आप परम सत्य हैं†॥ २९॥

---

* **अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक्।**
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम्॥ १५॥

जो प्रभु इन्द्रियरहित होनेपर भी समस्त बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियकी शक्तिको धारण करता है और सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता है, उस सबके सेवनीय प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ।

† **त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधितकर्मभिः।**
जातान् संसरतः खिन्नान्नृहरे पाहि नः पितः॥ १६॥

नृसिंह! आपके सृष्टि-संकल्पसे क्षुब्ध होकर मायाने कर्मोंको जाग्रत् कर दिया है। उन्हींके कारण हम लोगोंका जन्म हुआ और अब आवागमनके चक्करमें भटककर हम दुःखी हो रहे हैं। पिताजी! आप हमारी रक्षा कीजिये।

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-

स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्

सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥ ३०

भगवन्! आप नित्य एकरस हैं। यदि जीव असंख्य हों और सब-के-सब नित्य एवं सर्वव्यापक हों, तब तो वे आपके समान ही हो जायँगे; उस हालतमें वे शासित हैं और आप शासक—यह बात बन ही नहीं सकती, और तब आप उनका नियन्त्रण कर ही नहीं सकते। उनका नियन्त्रण आप तभी कर सकते हैं, जब वे आपसे उत्पन्न एवं आपकी अपेक्षा न्यून हों। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब-के-सब जीव तथा इनकी एकता या विभिन्नता आपसे ही उत्पन्न हुई है। इसलिये आप उनमें कारणरूपसे रहते हुए भी उनके नियामक हैं। वास्तवमें आप उनमें समरूपसे स्थित हैं। परन्तु यह जाना नहीं जा सकता कि आपका वह स्वरूप कैसा है। क्योंकि जो लोग ऐसा समझते हैं कि हमने जान लिया, उन्होंने वास्तवमें आपको नहीं जाना; उन्होंने तो केवल अपनी बुद्धिके विषयको जाना है, जिससे आप परे हैं। और साथ ही मतिके द्वारा जितनी वस्तुएँ जानी जाती हैं, वे मतियोंकी भिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न होती हैं; इसलिये उनकी दुष्टता, एक मतके साथ दूसरे मतका विरोध प्रत्यक्ष ही है। अतएव आपका स्वरूप समस्त मतोंके परे है*॥ ३०॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-

रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।

स्वामिन्! जीव आपसे उत्पन्न होता है, यह कहनेका ऐसा अर्थ नहीं है कि आप परिणामके द्वारा जीव बनते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अजन्मा हैं। अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप—जो आप हैं—कभी वृत्तियोंके अंदर उतरता नहीं, जन्म नहीं लेता। तब प्राणियोंका जन्म कैसे होता है? अज्ञानके कारण प्रकृतिको पुरुष और पुरुषको प्रकृति समझ लेनेसे, एकका दूसरेके साथ संयोग हो जानेसे जैसे 'बुलबुला' नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, परन्तु उपादान-कारण जल और निमित्त-कारण वायुके संयोगसे उसकी सृष्टि हो जाती

---

* **अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या युक्त्या चैवमेवावसेयः।**
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे॥ १७॥

श्रुतिने समस्त दृश्यप्रपंचके अन्तर्यामीके रूपमें जिनका गान किया है, और युक्तिसे भी वैसा ही निश्चय होता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और नृसिंह—पुरुषोत्तम हैं, उन्हीं सर्वसौन्दर्य-माधुर्यनिधि प्रभुका मैं मन-ही-मन आश्रय ग्रहण करता हूँ।

त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे

सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः॥ ३१

है। प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृतिका अध्यास (एकमें दूसरेकी कल्पना) हो जानेके कारण ही जीवोंके विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं। अन्तमें जैसे समुद्रमें नदियाँ और मधुमें समस्त पुष्पोंके रस समा जाते हैं, वैसे ही वे सब-के-सब उपाधिरहित आपमें समा जाते हैं। (इसलिये जीवोंकी भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व आपके द्वारा नियन्त्रित है। उनकी पृथक् स्वतन्त्रता और सर्व-व्यापकता आदि वास्तविक सत्यको न जाननेके कारण ही मानी जाती है)*॥ ३१॥

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं

त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।

कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः

सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम्॥ ३२

भगवन्! सभी जीव आपकी मायासे भ्रममें भटक रहे हैं, अपनेको आपसे पृथक् मानकर जन्म-मृत्युका चक्कर काट रहे हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष इस भ्रमको समझ लेते हैं और सम्पूर्ण भक्तिभावसे आपकी शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि आप जन्म-मृत्युके चक्करसे छुड़ानेवाले हैं। यद्यपि शीत, ग्रीष्म और वर्षा—इन तीन भागोंवाला कालचक्र आपका भ्रूविलासमात्र है, वह सभीको भयभीत करता है, परन्तु वह उन्हींको बार-बार भयभीत करता है, जो आपकी शरण नहीं लेते। जो आपके शरणागत भक्त हैं, उन्हें भला, जन्म-मृत्युरूप संसारका भय कैसे हो सकता है?†॥ ३२॥

---

* **यस्मिन्नुद्यद् विलयमपि यद् भाति विश्वं लयादौ**
जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे।
अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत्सिन्धुमध्ये
मध्येचित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम्॥ १८॥

जीवोंके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जिनमें उदय होता है और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें विलयको प्राप्त होता है तथा भान होता है, गुरुदेवकी करुणा प्राप्त होनेपर जब शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है, तब समुद्रमें नदीके समान सहसा यह जिनमें आत्यन्तिक प्रलयको प्राप्त हो जाता है, उन्हीं त्रिभुवनगुरु नृसिंहभगवान्की मैं अपने हृदयमें भावना करता हूँ।

† **संसारचक्रक्रकचैर्विदीर्णमुदीर्णनानाभवतापतप्तम्।**
कथंचिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम्॥ १९॥

नृसिंह! यह जीव संसार-चक्रके आरेसे टुकड़े-टुकड़े हो रहा है और नाना प्रकारके सांसारिक तापोंकी धधकती हुई लपटोंसे झुलस रहा है। यह आपत्तिग्रस्त जीव किसी प्रकार आपकी कृपासे आपकी शरणमें आया है। आप इसका उद्धार कीजिये।

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं

य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।

व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं

वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥ ३३

अजन्मा प्रभो! जिन योगियोंने अपनी इन्द्रियों और प्राणोंको वशमें कर लिया है, वे भी, जब गुरुदेवके चरणोंकी शरण न लेकर उच्छृंखल एवं अत्यन्त चंचल मन-तुरंगको अपने वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं, तब अपने साधनोंमें सफल नहीं होते। उन्हें बार-बार खेद और सैकड़ों विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्रमें बिना कर्णधारकी नावपर यात्रा करनेवाले व्यापारियोंकी होती है (तात्पर्य यह कि जो मनको वशमें करना चाहते हैं, उनके लिये कर्णधार—गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता है)*॥ ३३॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-

स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे।

इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां

सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे॥ ३४

भगवन्! आप अखण्ड आनन्दस्वरूप और शरणागतोंके आत्मा हैं। आपके रहते स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, महल, पृथ्वी, प्राण और रथ आदिसे क्या प्रयोजन है? जो लोग इस सत्य सिद्धान्तको न जानकर स्त्री-पुरुषके सम्बन्धसे होनेवाले सुखोंमें ही रम रहे हैं, उन्हें संसारमें भला, ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सुखी कर सके। क्योंकि संसारकी सभी वस्तुएँ स्वभावसे ही विनाशी हैं, एक-न-एक दिन मटियामेट हो जानेवाली हैं। और तो क्या, वे स्वरूपसे ही सारहीन और सत्ताहीन हैं; वे भला, क्या सुख दे सकती हैं†॥ ३४॥ भगवन्! जो ऐश्वर्य, लक्ष्मी, विद्या, जाति, तपस्या आदिके घमंडसे रहित हैं, वे संतपुरुष इस पृथ्वीतलपर परम पवित्र और सबको पवित्र करनेवाले पुण्यमय सच्चे तीर्थस्थान हैं। क्योंकि उनके हृदयमें आपके चरणारविन्द सर्वदा विराजमान रहते हैं और यही कारण है कि उन संत पुरुषोंका

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-

स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः।

***यदा परानन्दगुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवँल्लभेत।**
तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः॥ २०॥

परमानन्दमय गुरुदेव! भगवन्! जब मेरा मन आपके चरणोंमें स्थान प्राप्त कर लेगा, तब मैं आपकी कृपासे समस्त साधनोंके परिश्रमसे छुटकारा पाकर परमानन्द प्राप्त करूँगा।

†**भजतो हि भवान् साक्षात्परमानन्दचिद्घनः।**
आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः॥ २१॥

जो आपका भजन करते हैं, उनके लिये आप स्वयं साक्षात् परमानन्दचिद्घन आत्मा ही हैं। इसलिये उन्हें तुच्छ स्त्री, पुत्र, धन आदिसे क्या प्रयोजन है?

दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्॥ ३५

चरणामृत समस्त पापों और तापोंको सदाके लिये नष्ट कर देनेवाला है। भगवन्! आप नित्य-आनन्दस्वरूप आत्मा ही हैं। जो एक बार भी आपको अपना मन समर्पित कर देते हैं—आपमें मन लगा देते हैं—वे उन देह-गेहोंमें कभी नहीं फँसते जो जीवके विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा और शान्ति आदि गुणोंका नाश करनेवाले हैं। वे तो बस, आपमें ही रम जाते हैं* ॥ ३५ ॥

सत इदमुत्थितं

सदिति चेन्ननु तर्कहतं

व्यभिचरति क्व च

क्व च मृषा न तथोभययुक्।

भगवन्! जैसे मिट्टीसे बना हुआ घड़ा मिट्टीरूप ही होता है, वैसे ही सत्‌से बना हुआ जगत् भी सत् ही है—यह बात युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि कारण और कार्यका निर्देश ही उनके भेदका द्योतक है। यदि केवल भेदका निषेध करनेके लिये ही ऐसा कहा जा रहा हो तो पिता और पुत्रमें, दण्ड और घटनाशमें कार्य-कारण-भाव होनेपर भी वे एक दूसरेसे भिन्न हैं। इस प्रकार कार्य-कारणकी एकता सर्वत्र एक-सी नहीं देखी जाती। यदि कारण-शब्दसे निमित्त-कारण न लेकर केवल उपादान-कारण लिया जाय—जैसे कुण्डलका सोना—तो भी कहीं-कहीं कार्यकी असत्यता प्रमाणित होती है; जैसे रस्सीमें साँप। यहाँ उपादान-कारणके सत्य होनेपर भी उसका कार्य सर्प सर्वथा असत्य है। यदि यह कहा जाय कि प्रतीत होनेवाले सर्पका उपादान-कारण केवल रस्सी नहीं है, उसके साथ अविद्याका—भ्रमका मेल भी है, तो यह समझना चाहिये कि अविद्या और सत् वस्तुके संयोगसे ही इस जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। इसलिये जैसे रस्सीमें प्रतीत होनेवाला सर्प मिथ्या है, वैसे ही सत् वस्तुमें अविद्याके संयोगसे प्रतीत होनेवाला नाम-रूपात्मक जगत् भी मिथ्या है। यदि केवल व्यवहारकी सिद्धिके लिये ही

*** मुंचन्नंगतदंगसंगमनिशं त्वामेव संचिन्तयन्**
सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन्।
नित्यं तन्मुखपंकजाद्विगलितत्वत्पुण्यगाथामृत-
स्रोतःसम्प्लवसंप्लुतो नरहरे न स्यामहं देहभृत्॥ २२॥

मैं शरीर और उसके सम्बन्धियोंकी आसक्ति छोड़कर रात-दिन आपका ही चिन्तन करूँगा और जहाँ-जहाँ निरभिमान सन्त निवास करते हैं, उन्हीं-उन्हीं आश्रमोंमें रहूँगा। उन सत्पुरुषोंके मुख-कमलसे निःसृत आपकी पुण्यमयी कथा-सुधाकी नदियोंकी धारामें प्रतिदिन स्नान करूँगा और नृसिंह! फिर मैं कभी देहके बन्धनमें नहीं पड़ूँगा।

व्यवहृतये विकल्प

इषितोऽन्धपरम्परया

भ्रमयति भारती त

उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-

दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।

अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-

र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७

जगत्की सत्ता अभीष्ट हो, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि वह पारमार्थिक सत्य न होकर केवल व्यावहारिक सत्य है। यह भ्रम व्यावहारिक जगत्में माने हुए कालकी दृष्टिसे अनादि है; और अज्ञानीजन बिना विचार किये पूर्व-पूर्वके भ्रमसे प्रेरित होकर अन्धपरम्परासे इसे मानते चले आ रहे हैं। ऐसी स्थितिमें कर्मफलको सत्य बतलानेवाली श्रुतियाँ केवल उन्हीं लोगोंको भ्रममें डालती हैं, जो कर्ममें जड हो रहे हैं और यह नहीं समझते कि इनका तात्पर्य कर्मफलकी नित्यता बतलानेमें नहीं, बल्कि उनकी प्रशंसा करके उन कर्मोंमें लगानेमें है* ॥ ३६ ॥

भगवन्! वास्तविक बात तो यह है कि यह जगत् उत्पत्तिके पहले नहीं था और प्रलयके बाद नहीं रहेगा; इससे यह सिद्ध होता है कि यह बीचमें भी एकरस परमात्मामें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसीसे हम श्रुतियाँ इस जगत्का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टीमें घड़ा, लोहेमें शस्त्र और सोनेमें कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तवमें मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं। वैसे ही परमात्मामें वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मनकी कल्पना है। इसे नासमझ मूर्ख ही सत्य मानते हैं† ॥ ३७ ॥

---

* **उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः**
कुर्वत् कार्यमपीह कूटकनकं वेदोऽपि नैवंपरः।
अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा
वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुंच मामानतम्॥ २३॥

मालामें प्रतीयमान सर्पके समान सत्यस्वरूप आपसे उदय होनेपर भी यह त्रिभुवन सत्य नहीं है। झूठा सोना बाजारमें चल जानेपर भी सत्य नहीं हो जाता। वेदोंका तात्पर्य भी जगत्की सत्यतामें नहीं है। इसलिये आपका जो परम सत्य परमानन्दस्वरूप अद्वैत सुन्दर पद है, हे इन्दिरावन्दित श्रीहरे! मैं उसीकी वन्दना करता हूँ। मुझ शरणागतको मत छोड़िये।

† **मुकुटकुण्डलकंकणकिंकिणीपरिणतं कनकं परमार्थतः।**
महदहङ्कृतिखप्रमुखं तथा नरहरे न परं परमार्थतः॥ २४॥

सोना मुकुट, कुण्डल, कंकण और किंकिणीके रूपमें परिणत होनेपर भी वस्तुतः सोना ही है। इसी प्रकार नृसिंह! महत्तत्त्व, अहंकार और आकाश, वायु आदिके रूपमें उपलब्ध होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आपसे भिन्न नहीं है।

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्

भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।

त्वमुत जह्यसि तामहिरिव त्वचमात्तभगो

महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥ ३८

भगवन्! जब जीव मायासे मोहित होकर अविद्याको अपना लेता है, उस समय उसके स्वरूपभूत आनन्दादि गुण ढक जाते हैं; वह गुणजन्य वृत्तियों, इन्द्रियों और देहोंमें फँस जाता है तथा उन्हींको अपना आपा मानकर उनकी सेवा करने लगता है। अब उनकी जन्म-मृत्युमें अपनी जन्म-मृत्यु मानकर उनके चक्करमें पड़ जाता है। परन्तु प्रभो! जैसे साँप अपने केंचुलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, उसे छोड़ देता है—वैसे ही आप माया—अविद्यासे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, उसे सदा-सर्वदा छोड़े रहते हैं। इसीसे आपके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सदा-सर्वदा आपके साथ रहते हैं। अणिमा आदि अष्टसिद्धियोंसे युक्त परमैश्वर्यमें आपकी स्थिति है। इसीसे आपका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य अपरिमित है, अनन्त है; वह देश, काल और वस्तुओंकी सीमासे आबद्ध नहीं है*॥ ३८॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा

दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः।

असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-

न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः॥ ३९

भगवन्! यदि मनुष्य योगी-यति होकर भी अपने हृदयकी विषय-वासनाओंको उखाड़ नहीं फेंकते तो उन असाधकोंके लिये आप हृदयमें रहनेपर भी वैसे ही दुर्लभ हैं, जैसे कोई अपने गलेमें मणि पहने हुए हो, परन्तु उसकी याद न रहनेपर उसे ढूँढ़ता फिरे इधर-उधर। जो साधक अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे रहते हैं, विषयोंसे विरक्त नहीं होते, उन्हें जीवनभर और जीवनके बाद भी दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि वे साधक नहीं, दम्भी हैं। एक तो अभी उन्हें मृत्युसे छुटकारा नहीं मिला है, लोगोंको रिझाने, धन कमाने आदिके क्लेश उठाने पड़ रहे हैं, और दूसरे आपका स्वरूप न जाननेके कारण अपने धर्म-कर्मका उल्लंघन करनेसे परलोकमें नरक आदि प्राप्त होनेका भय भी बना ही रहता है†॥ ३९॥

---

* **नृत्यन्ती तव वीक्षणांगणगता कालस्वभावादिभि-**
र्भावान् सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून्।
मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं
माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय॥ २५॥

प्रभो! आपकी यह माया आपकी दृष्टिके आँगनमें आकर नाच रही है और काल, स्वभाव आदिके द्वारा सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी अनेकानेक भावोंका प्रदर्शन कर रही है। साथ ही यह मेरे सिरपर सवार होकर मुझ आतुरको बलपूर्वक रौंद रही है। नृसिंह! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप ही इसे रोक दीजिये।

† **दम्भन्यासमिषेण वंचितजनं भोगैकचिन्तातुरं**
सम्मुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्।

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-

र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः।

अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया

श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः॥ ४०

भगवन्! आपके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाला पुरुष आपके दिये हुए पुण्य और पाप-कर्मोंके फल सुख एवं दु:खोंको नहीं जानता, नहीं भोगता; वह भोग्य और भोक्तापनके भावसे ऊपर उठ जाता है। उस समय विधि-निषेधके प्रतिपादक शास्त्र भी उससे निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि वे देहाभिमानियोंके लिये हैं। उनकी ओर तो उसका ध्यान ही नहीं जाता। जिसे आपके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि प्रतिदिन आपकी प्रत्येक युगमें की हुई लीलाओं, गुणोंका गान सुन-सुनकर उनके द्वारा आपको अपने हृदयमें बैठा लेता है तो अनन्त, अचिन्त्य, दिव्यगुणगणोंके निवासस्थान प्रभो! आपका वह प्रेमी भक्त भी पाप-पुण्योंके फल सुख-दु:खों और विधि-निषेधोंसे अतीत हो जाता है। क्योंकि आप ही उनकी मोक्षस्वरूप गति हैं। (परन्तु इन ज्ञानी और प्रेमियोंको छोड़कर और सभी शास्त्र बन्धनमें हैं तथा वे उसका उल्लंघन करनेपर दुर्गतिको प्राप्त होते हैं)* ॥ ४० ॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया

त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।

भगवन्! स्वर्गादि लोकोंके अधिपति इन्द्र, ब्रह्मा प्रभृति भी आपकी थाह—आपका पार न पा सके; और आश्चर्यकी बात तो यह है कि आप भी उसे नहीं जानते। क्योंकि जब अन्त है ही नहीं, तब कोई जानेगा कैसे? प्रभो! जैसे आकाशमें हवासे धूलके नन्हें-नन्हें कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आपमें कालके वेगसे अपनेसे उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरणोंके सहित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ ही घूमते रहते हैं। तब

आज्ञालंघिनमज्ञमज्ञजनतासम्माननासन्मदं
दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम्॥ २६॥

प्रभो! मैं दम्भपूर्ण संन्यासके बहाने लोगोंको ठग रहा हूँ। एकमात्र भोगकी चिन्तासे ही आतुर हूँ तथा रात-दिन नाना प्रकारके उद्योगोंकी रचनाकी थकावटसे व्याकुल तथा बेसुध हो रहा हूँ। मैं आपकी आज्ञाका उल्लंघन करता हूँ, अज्ञानी हूँ और अज्ञानी लोगोंके द्वारा प्राप्त सम्मानसे 'मैं सन्त हूँ' ऐसा घमण्ड कर बैठा हूँ। दीनानाथ, दयानिधान, परमानन्द! मेरी रक्षा कीजिये।

*** अवगमं तव मे दिशि माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसंगमः।**
श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथा विधिकिंकरः॥ २७॥

माधव! आप मुझे अपने स्वरूपका अनुभव कराइये, जिससे फिर सुख-दु:खके संयोगकी स्फूर्ति नहीं होती। अथवा मुझे अपने गुणोंके श्रवण और वर्णनका प्रेम ही दीजिये, जिससे कि मैं विधि-निषेधका किंकर न होऊँ।

ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ४१

भला, आपकी सीमा कैसे मिले। हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं* ॥ ४१ ॥

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम्।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥ ४२

भगवान् नारायणने कहा—देवर्षे! इस प्रकार सनकादि ऋषियोंने आत्मा और ब्रह्मकी एकता बतलानेवाला उपदेश सुनकर आत्मस्वरूपको जाना और नित्य सिद्ध होनेपर भी इस उपदेशसे कृतकृत्य-से होकर उन लोगोंने सनन्दनकी पूजा की ॥ ४२ ॥

इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ ४३

नारद! सनकादि ऋषि सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए थे, अतएव वे सबके पूर्वज हैं। उन आकाशगामी महात्माओंने इस प्रकार समस्त वेद, पुराण और उपनिषदोंका रस निचोड़ लिया है, यह सबका सार-सर्वस्व है ॥ ४३ ॥

त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम्।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥ ४४

देवर्षे! तुम भी उन्हींके समान ब्रह्माके मानस-पुत्र हो—उनकी ज्ञान-सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हो। तुम भी श्रद्धाके साथ इस ब्रह्मात्मविद्याको धारण करो और स्वच्छन्दभावसे पृथ्वीमें विचरण करो। यह विद्या मनुष्योंकी समस्त वासनाओंको भस्म कर देनेवाली है ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं स ऋषिणाऽऽदिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान्।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥ ४५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवर्षि नारद बड़े संयमी, ज्ञानी, पूर्णकाम और नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। वे जो कुछ सुनते हैं, उन्हें उसकी धारणा हो जाती है। भगवान् नारायणने उन्हें जब इस प्रकार उपदेश किया, तब उन्होंने बड़ी श्रद्धासे उसे ग्रहण किया और उनसे यह कहा ॥ ४५ ॥

---

* **द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते न च भवान्न गिरः श्रुतिमौलयः।**
त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम् ॥ २८ ॥

हे अनन्त! ब्रह्मा आदि देवता आपका अन्त नहीं जानते, न आप ही जानते और न तो वेदोंकी मुकुटमणि उपनिषदें ही जानती हैं; क्योंकि आप अनन्त हैं। उपनिषदें 'नमो नमः', 'जय हो, जय हो' यह कहकर आपमें चरितार्थ होती हैं। इसलिये मैं भी 'नमो नमः', 'जय हो', 'जय हो' यही कहकर आपके चरण-कमलकी उपासना करता हूँ।

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः॥ ४६

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे॥ ४७

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः।
तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम्॥ ४८

इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत्॥ ४९

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं संपद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥ ५०

देवर्षि नारदने कहा—भगवन्! आप सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं। आपकी कीर्ति परम पवित्र है। आप समस्त प्राणियोंके परम कल्याण—मोक्षके लिये कमनीय कलावतार धारण किया करते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ४६॥

परीक्षित्! इस प्रकार महात्मा देवर्षि नारद आदि ऋषि भगवान् नारायणको और उनके शिष्योंको नमस्कार करके स्वयं मेरे पिता श्रीकृष्णद्वैपायनके आश्रमपर गये॥ ४७॥ भगवान् वेदव्यासने उनका यथोचित सत्कार किया। वे आसन स्वीकार करके बैठ गये, इसके बाद देवर्षि नारदने जो कुछ भगवान् नारायणके मुँहसे सुना था, वह सब कुछ मेरे पिताजीको सुना दिया॥ ४८॥ राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें बतलाया कि मन-वाणीसे अगोचर और समस्त प्राकृत गुणोंसे रहित परब्रह्म परमात्माका वर्णन श्रुतियाँ किस प्रकार करती हैं और उसमें मनका कैसे प्रवेश होता है? यही तो तुम्हारा प्रश्न था॥ ४९॥ परीक्षित्! भगवान् ही इस विश्वका संकल्प करते हैं तथा उसके आदि, मध्य और अन्तमें स्थित रहते हैं। वे प्रकृति और जीव दोनोंके स्वामी हैं। उन्होंने ही इसकी सृष्टि करके जीवके साथ इसमें प्रवेश किया है और शरीरोंका निर्माण करके वे ही उनका नियन्त्रण करते हैं। जैसे गाढ़ निद्रा—सुषुप्तिमें मग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसन्धान छोड़ देता है, वैसे ही भगवान्को पाकर यह जीव मायासे मुक्त हो जाता है। भगवान् ऐसे विशुद्ध, केवल चिन्मात्र तत्त्व हैं कि उनमें जगत्के कारण माया अथवा प्रकृतिका रत्तीभर भी अस्तित्व नहीं है। वे ही वास्तवमें अभय-स्थान हैं। उनका चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे नारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम
सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ ८७॥

अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः

शिवजीका संकटमोचन

राजोवाच

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम्।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्॥ १

एतद् वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान् हि नः।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः॥ २

श्रीशुक उवाच

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिंगो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥ ३

ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कंचन।
उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम्॥ ४

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्॥ ५

निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः।
शृण्वन् भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम्॥ ६

स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥ ७

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! भगवान् शंकरने समस्त भोगोंका परित्याग कर रखा है; परन्तु देखा यह जाता है कि जो देवता, असुर अथवा मनुष्य उनकी उपासना करते हैं, वे प्रायः धनी और भोगसम्पन्न हो जाते हैं। और भगवान् विष्णु लक्ष्मीपति हैं, परन्तु उनकी उपासना करनेवाले प्रायः धनी और भोग सम्पन्न नहीं होते॥ १॥ दोनों प्रभु त्याग और भोगकी दृष्टिसे एक-दूसरेसे विरुद्ध स्वभाववाले हैं, परंतु उनके उपासकोंको उनके स्वरूपके विपरीत फल मिलता है। मुझे इस विषयमें बड़ा सन्देह है कि त्यागीकी उपासनासे भोग और लक्ष्मीपतिकी उपासनासे त्याग कैसे मिलता है? मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ॥ २॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! शिवजी सदा अपनी शक्तिसे युक्त रहते हैं। वे सत्त्व आदि गुणोंसे युक्त तथा अहंकारके अधिष्ठाता हैं। अहंकारके तीन भेद हैं—वैकारिक, तैजस और तामस॥ ३॥ त्रिविध अहंकारसे सोलह विकार हुए—दस इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन। अतः इन सबके अधिष्ठातृ-देवताओंमेंसे किसी एककी उपासना करनेपर समस्त ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है॥ ४॥ परन्तु परीक्षित्! भगवान् श्रीहरि तो प्रकृतिसे परे स्वयं पुरुषोत्तम एवं प्राकृत गुणरहित हैं। वे सर्वज्ञ तथा सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं। जो उनका भजन करता है, वह स्वयं भी गुणातीत हो जाता है॥ ५॥ परीक्षित्! जब तुम्हारे दादा धर्मराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर चुके, तब भगवान्‌से विविध प्रकारके धर्मोंका वर्णन सुनते समय उन्होंने भी यही प्रश्न किया था॥ ६॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। मनुष्योंके कल्याणके लिये ही उन्होंने यदुवंशमें अवतार धारण किया था। राजा युधिष्ठिरका प्रश्न सुनकर और उनकी सुननेकी इच्छा देखकर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार उत्तर दिया था॥ ७॥

श्रीभगवानुवाच

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥ ८

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥ ९

तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान् भजते जनः॥ १०

ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते॥ ११

श्रीशुक उवाच

शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः।
सद्यःशापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः॥ १२

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाऽऽप संकटम्॥ १३

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम्।
दृष्ट्वाऽऽशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः॥ १४

स आह देवं गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यसि।
योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति॥ १५

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका सब धन धीरे-धीरे छीन लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तब उसके सगे-सम्बन्धी उसके दुःखाकुल चित्तकी परवा न करके उसे छोड़ देते हैं॥ ८॥ फिर वह धनके लिये उद्योग करने लगता है, तब मैं उसका वह प्रयत्न भी निष्फल कर देता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होनेके कारण जब धन कमानेसे उसका मन विरक्त हो जाता है, उसे दुःख समझकर वह उधरसे अपना मुँह मोड़ लेता है और मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मेल-जोल करता है, तब मैं उसपर अपनी अहैतुक कृपाकी वर्षा करता हूँ॥ ९॥ मेरी कृपासे उसे परम सूक्ष्म अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मेरी प्रसन्नता, मेरी आराधना बहुत कठिन है। इसीसे साधारण लोग मुझे छोड़कर मेरे ही दूसरे रूप अन्यान्य देवताओंकी आराधना करते हैं॥ १०॥ दूसरे देवता आशुतोष हैं। वे झटपट पिघल पड़ते हैं और अपने भक्तोंको साम्राज्य-लक्ष्मी दे देते हैं। उसे पाकर वे उच्छृंखल, प्रमादी और उन्मत्त हो उठते हैं और अपने वरदाता देवताओंको भी भूल जाते हैं तथा उनका तिरस्कार कर बैठते हैं॥ ११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—ये तीनों शाप और वरदान देनेमें समर्थ हैं; परन्तु इनमें महादेव और ब्रह्मा शीघ्र ही प्रसन्न या रुष्ट होकर वरदान अथवा शाप दे देते हैं। परन्तु विष्णु भगवान् वैसे नहीं हैं॥ १२॥ इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। भगवान् शंकर एक बार वृकासुरको वर देकर संकटमें पड़ गये थे॥ १३॥ परीक्षित्! वृकासुर शकुनिका पुत्र था। उसकी बुद्धि बहुत बिगड़ी हुई थी। एक दिन कहीं जाते समय उसने देवर्षि नारदको देख लिया और उनसे पूछा कि 'तीनों देवताओंमें झटपट प्रसन्न होनेवाला कौन है?'॥ १४॥ परीक्षित्! देवर्षि नारदने कहा—'तुम भगवान् शंकरकी आराधना करो। इससे तुम्हारा मनोरथ बहुत जल्दी पूरा हो जायगा। वे थोड़े ही गुणोंसे शीघ्र-से-शीघ्र प्रसन्न और थोड़े ही अपराधसे तुरन्त क्रोध कर बैठते हैं॥ १५॥

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव।
ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसंकटम्॥ १६

रावण और बाणासुरने केवल वंदीजनोंके समान शंकरजीकी कुछ स्तुतियाँ की थीं। इसीसे वे उनपर प्रसन्न हो गये और उन्हें अतुलनीय ऐश्वर्य दे दिया। बादमें रावणके कैलास उठाने और बाणासुरके नगरकी रक्षाका भार लेनेसे वे उनके लिये संकटमें भी पड़ गये थे'॥ १६॥

इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत् स्वगात्रतः।
केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरम्॥ १७

देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात् सप्तमेऽहनि।
शिरोऽवृश्चत् स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम्॥ १८

नारदजीका उपदेश पाकर वृकासुर केदारक्षेत्रमें गया और अग्निको भगवान् शंकरका मुख मानकर अपने शरीरका मांस काट-काटकर उसमें हवन करने लगा॥ १७॥ इस प्रकार छः दिनतक उपासना करनेपर भी जब उसे भगवान् शंकरके दर्शन न हुए, तब उसे बड़ा दुःख हुआ। सातवें दिन केदारतीर्थमें स्नान करके उसने अपने भीगे बालवाले मस्तकको कुल्हाड़ेसे काटकर हवन करना चाहा॥ १८॥

तदा महाकारुणिकः स धूर्जटि-
र्यथा वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात्।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्
तत्स्पर्शनाद् भूय उपस्कृताकृतिः॥ १९

परीक्षित्! जैसे जगत्में कोई दुःखवश आत्महत्या करने जाता है तो हमलोग करुणावश उसे बचा लेते हैं, वैसे ही परम दयालु भगवान् शंकरने वृकासुरके आत्मघातके पहले ही अग्निकुण्डसे अग्निदेवके समान प्रकट होकर अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और गला काटनेसे रोक दिया। उनका स्पर्श होते ही वृकासुरके अंग ज्यों-के-त्यों पूर्ण हो गये॥ १९॥

तमाह चांगालमलं वृणीष्व मे
यथाभिकामं वितरामि ते वरम्।
प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता-
महो त्वयाऽऽत्मा भृशमर्द्यते वृथा॥ २०

भगवान् शंकरने वृकासुरसे कहा—'प्यारे वृकासुर! बस करो, बस करो; बहुत हो गया। मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ। तुम मुँहमाँगा वर माँग लो। अरे भाई! मैं तो अपने शरणागत भक्तोंपर केवल जल चढ़ानेसे ही सन्तुष्ट हो जाया करता हूँ। भला, तुम झूठ-मूठ अपने शरीरको क्यों पीड़ा दे रहे हो?'॥ २०॥

देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूतभयावहम्।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति॥ २१

परीक्षित्! अत्यन्त पापी वृकासुरने समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला यह वर माँगा कि 'मैं जिसके सिरपर हाथ रख दूँ, वही मर जाय'॥ २१॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत।
ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा॥ २२

परीक्षित्! उसकी यह याचना सुनकर भगवान् रुद्र पहले तो कुछ अनमने-से हो गये, फिर हँसकर कह दिया—'अच्छा, ऐसा ही हो।' ऐसा वर देकर उन्होंने मानो साँपको अमृत पिला दिया॥ २२॥

इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः।
स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत् स्वकृताच्छिवः॥ २३

तेनोपसृष्टः संत्रस्तः पराधावन् सवेपथुः।
यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक्॥ २४

अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन् सुरेश्वराः।
ततो वैकुण्ठमगमद् भास्वरं तमसः परम्॥ २५

यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः॥ २६

तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्दनः।
दूरात् प्रत्युदियाद् भूत्वा वटुको योगमायया॥ २७

मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन्।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत्॥ २८

श्रीभगवानुवाच

शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः।
क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्मायं सर्वकामधुक्॥ २९

यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो।
भण्यतां प्रायशः पुम्भिर्धृतैः स्वार्थान् समीहते॥ ३०

भगवान् शंकरके इस प्रकार कह देनेपर वृकासुरके मनमें यह लालसा हो आयी कि 'मैं पार्वतीजीको ही हर लूँ।' वह असुर शंकरजीके वरकी परीक्षाके लिये उन्हींके सिरपर हाथ रखनेका उद्योग करने लगा। अब तो शंकरजी अपने दिये हुए वरदानसे ही भयभीत हो गये॥ २३॥ वह उनका पीछा करने लगा और वे उससे डरकर काँपते हुए भागने लगे। वे पृथ्वी, स्वर्ग और दिशाओंके अन्ततक दौड़ते गये; परन्तु फिर भी उसे पीछा करते देखकर उत्तरकी ओर बढ़े॥ २४॥ बड़े-बड़े देवता इस संकटको टालनेका कोई उपाय न देखकर चुप रह गये। अन्तमें वे प्राकृतिक अंधकारसे परे परम प्रकाशमय वैकुण्ठ-लोकमें गये॥ २५॥ वैकुण्ठमें स्वयं भगवान् नारायण निवास करते हैं। एकमात्र वे ही उन संन्यासियोंकी परम गति हैं जो सारे जगत्को अभयदान करके शान्तभावमें स्थित हो गये हैं। वैकुण्ठमें जाकर जीवको फिर लौटना नहीं पड़ता॥ २६॥ भक्तभयहारी भगवान्ने देखा कि शंकरजी तो बड़े संकटमें पड़े हुए हैं। तब वे अपनी योगमायासे ब्रह्मचारी बनकर दूरसे ही धीरे-धीरे वृकासुरकी ओर आने लगे॥ २७॥ भगवान्ने मूँजकी मेखला, काला मृगचर्म, दण्ड और रुद्राक्षकी माला धारण कर रखी थी। उनके एक-एक अंगसे ऐसी ज्योति निकल रही थी, मानो आग धधक रही हो। वे हाथमें कुश लिये हुए थे। वृकासुरको देखकर उन्होंने बड़ी नम्रतासे झुककर प्रणाम किया॥ २८॥

ब्रह्मचारी-वेषधारी भगवान्ने कहा—शकुनि-नन्दन वृकासुरजी! आप स्पष्ट ही बहुत थके-से जान पड़ते हैं। आज आप बहुत दूरसे आ रहे हैं क्या? तनिक विश्राम तो कर लीजिये। देखिये, यह शरीर ही सारे सुखोंकी जड़ है। इसीसे सारी कामनाएँ पूरी होती हैं। इसे अधिक कष्ट न देना चाहिये॥ २९॥

आप तो सब प्रकारसे समर्थ हैं। इस समय आप क्या करना चाहते हैं? यदि मेरे सुननेयोग्य कोई बात हो तो बतलाइये। क्योंकि संसारमें देखा जाता है कि लोग सहायकोंके द्वारा बहुत-से काम बना लिया करते हैं॥ ३०॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा।
गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम्॥ ३१

श्रीभगवानुवाच

एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि।
यो दक्षशापात् पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट्॥ ३२

यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ।
तर्ह्यंगाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम्॥ ३३

यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथंचिद् दानवर्षभ।
तदैनं जह्यसद्वाचं न यद् वक्तानृतं पुनः॥ ३४

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात्॥ ३५

अथापतद् भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात्।
जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद् दिवि॥ ३६

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः संकटाच्छिवः॥ ३७

मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना॥ ३८

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः।
क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ॥ ३९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्के एक-एक शब्दसे अमृत बरस रहा था। उनके इस प्रकार पूछनेपर पहले तो उसने तनिक ठहरकर अपनी थकावट दूर की; उसके बाद क्रमशः अपनी तपस्या, वरदान-प्राप्ति तथा भगवान् शंकरके पीछे दौड़नेकी बात शुरूसे कह सुनायी॥ ३१॥

श्रीभगवान्ने कहा—'अच्छा, ऐसी बात है? तब तो भाई! हम उसकी बातपर विश्वास नहीं करते। आप नहीं जानते हैं क्या? वह तो दक्ष प्रजापतिके शापसे पिशाचभावको प्राप्त हो गया है। आजकल वही प्रेतों और पिशाचोंका सम्राट् है॥ ३२॥ दानवराज! आप इतने बड़े होकर ऐसी छोटी-छोटी बातोंपर विश्वास कर लेते हैं? आप यदि अब भी उसे जगद्गुरु मानते हों और उसकी बातपर विश्वास करते हों तो झटपट अपने सिरपर हाथ रखकर परीक्षा कर लीजिये॥ ३३॥ दानव-शिरोमणे! यदि किसी प्रकार शंकरकी बात असत्य निकले तो उस असत्यवादीको मार डालिये, जिससे फिर कभी वह झूठ न बोल सके॥ ३४॥ परीक्षित्! भगवान्ने ऐसी मोहित करनेवाली अद्भुत और मीठी बात कही कि उसकी विवेक-बुद्धि जाती रही। उस दुर्बुद्धिने भूलकर अपने ही सिरपर हाथ रख लिया॥ ३५॥ बस, उसी क्षण उसका सिर फट गया और वह वहीं धरतीपर गिर पड़ा, मानो उसपर बिजली गिर पड़ी हो। उस समय आकाशमें देवतालोग 'जय-जय, नमो नमः, साधु-साधु!' के नारे लगाने लगे॥ ३६॥ पापी वृकासुरकी मृत्युसे देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व अत्यन्त प्रसन्न होकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे और भगवान् शंकर उस विकट संकटसे मुक्त हो गये॥ ३७॥ अब भगवान् पुरुषोत्तमने भयमुक्त शंकरजीसे कहा कि 'देवाधिदेव! बड़े हर्षकी बात है कि इस दुष्टको इसके पापोंने ही नष्ट कर दिया। परमेश्वर! भला, ऐसा कौन प्राणी है जो महापुरुषोंका अपराध करके कुशलसे रह सके? फिर स्वयं जगद्गुरु विश्वेश्वर! आपका अपराध करके तो कोई सकुशल रह ही कैसे सकता है?'॥ ३८-३९॥

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः॥ ४०

भगवान् अनन्त शक्तियोंके समुद्र हैं। उनकी एक-एक शक्ति मन और वाणीकी सीमाके परे है। वे प्रकृतिसे अतीत स्वयं परमात्मा हैं। उनकी शंकरजीको संकटसे छुड़ानेकी यह लीला जो कोई कहता या सुनता है, वह संसारके बन्धनों और शत्रुओंके भयसे मुक्त हो जाता है॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुद्रमोक्षणं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः॥ ८८॥

अथैकोननवतितमोऽध्यायः

भृगुजीके द्वारा त्रिदेवोंकी परीक्षा तथा भगवान्‌का मरे हुए ब्राह्मण-बालकोंको वापस लाना

श्रीशुक उवाच

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान्॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक बार सरस्वती नदीके पावन तटपर यज्ञ प्रारम्भ करनेके लिये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि एकत्र होकर बैठे। उन लोगोंमें इस विषयपर वाद-विवाद चला कि ब्रह्मा, शिव और विष्णुमें सबसे बड़ा कौन है?॥ १॥

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद् ब्रह्मणः सभाम्॥ २

परीक्षित्! उन लोगोंने यह बात जाननेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे ब्रह्माके पुत्र भृगुजीको उनके पास भेजा। महर्षि भृगु सबसे पहले ब्रह्माजीकी सभामें गये॥ २॥

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया।
तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा॥ ३

उन्होंने ब्रह्माजीके धैर्य आदिकी परीक्षा करनेके लिये न उन्हें नमस्कार किया और न तो उनकी स्तुति ही की। इसपर ऐसा मालूम हुआ कि ब्रह्माजी अपने तेजसे दहक रहे हैं। उन्हें क्रोध आ गया॥ ३॥

स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः।
अशीशमद् यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणाऽऽत्मभूः॥ ४

परन्तु जब समर्थ ब्रह्माजीने देखा कि यह तो मेरा पुत्र ही है, तब अपने मनमें उठे हुए क्रोधको भीतर-ही-भीतर विवेकबुद्धिसे दबा लिया; ठीक वैसे ही, जैसे कोई अरणि-मन्थनसे उत्पन्न अग्निको जलसे बुझा दे॥ ४॥

ततः कैलासमगमत् स तं देवो महेश्वरः।
परिरब्धुं समारेभे उत्थाय भ्रातरं मुदा॥ ५

वहाँसे महर्षि भृगु कैलासमें गये। देवाधिदेव भगवान् शंकरने जब देखा कि मेरे भाई भृगुजी आये हैं, तब उन्होंने बड़े आनन्दसे खड़े होकर उनका आलिंगन करनेके लिये भुजाएँ फैला दीं॥ ५॥

नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह।
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः॥ ६

पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा।
अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः॥ ७

शयानं श्रिय उत्संगे पदा वक्षस्यताडयत्।
तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः॥ ८

स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम्।
आह[1] ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान्[2] वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो॥ ९

अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना॥ १०

पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा॥ ११

अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः॥ १२

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगु[3]स्तन्मन्द्रया गिरा।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः॥ १३

पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम्।
स्वानुभूतमशेषेण राजन् भृगुरवर्णयत्॥ १४

परन्तु महर्षि भृगुने उनसे आलिंगन करना स्वीकार न किया और कहा—'तुम लोक और वेदकी मर्यादाका उल्लंघन करते हो, इसलिये मैं तुमसे नहीं मिलता।' भृगुजीकी यह बात सुनकर भगवान् शंकर क्रोधके मारे तिलमिला उठे। उनकी आँखें चढ़ गयीं। उन्होंने त्रिशूल उठाकर महर्षि भृगुको मारना चाहा॥ ६॥ परन्तु उसी समय भगवती सतीने उनके चरणोंपर गिरकर बहुत अनुनय-विनय की और किसी प्रकार उनका क्रोध शान्त किया। अब महर्षि भृगुजी भगवान् विष्णुके निवासस्थान वैकुण्ठमें गये॥ ७॥ उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीकी गोदमें अपना सिर रखकर लेटे हुए थे। भृगुजीने जाकर उनके वक्ष:स्थलपर एक लात कसकर जमा दी। भक्तवत्सल भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ उठ बैठे और झटपट अपनी शय्यासे नीचे उतरकर मुनिको सिर झुकाया, प्रणाम किया। भगवान्ने कहा—'ब्रह्मन्! आपका स्वागत है, आप भले पधारे। इस आसनपर बैठकर कुछ क्षण विश्राम कीजिये। प्रभो! मुझे आपके शुभागमनका पता न था। इसीसे मैं आपकी अगवानी न कर सका। मेरा अपराध क्षमा कीजिये॥ ८-९॥ महामुने! आपके चरणकमल अत्यन्त कोमल हैं।' यों कहकर भृगुजीके चरणोंको भगवान् अपने हाथोंसे सहलाने लगे॥ १०॥ और बोले—'महर्षे! आपके चरणोंका जल तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाला है। आप उससे वैकुण्ठलोक, मुझे और मेरे अन्दर रहनेवाले लोकपालोंको पवित्र कीजिये॥ ११॥ भगवन्! आपके चरणकमलोंके स्पर्शसे मेरे सारे पाप धुल गये। आज मैं लक्ष्मीका एकमात्र आश्रय हो गया। अब आपके चरणोंसे चिह्नित मेरे वक्ष:स्थलपर लक्ष्मी सदा-सर्वदा निवास करेंगी'॥ १२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान्ने अत्यन्त गम्भीर वाणीसे इस प्रकार कहा, तब भृगुजी परम सुखी और तृप्त हो गये। भक्तिके उद्रेकसे उनका गला भर आया, आँखोंमें आँसू छलक आये और वे चुप हो गये॥ १३॥ परीक्षित्! भृगुजी वहाँसे लौटकर ब्रह्मवादी मुनियोंके सत्संगमें आये और उन्हें ब्रह्मा, शिव और विष्णुभगवान्के यहाँ जो कुछ अनुभव हुआ था, वह सब कह सुनाया॥ १४॥

१. अहो। २. मागमनं क्षन्तु०। ३. गुस्तं सान्द्रया।

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम्॥ १५
धर्मः साक्षाद् यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम्।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम्॥ १६
मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम्।
अकिंचनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम्॥ १७
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः।
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः॥ १८
त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम्॥ १९

श्रीशुक उवाच

एवं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये।
पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः॥ २०

सूत उवाच

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध-
पीयूषं भवभयभित् परस्य पुंसः।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं
पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति॥ २१

श्रीशुक उवाच

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत॥ २२
विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः।
इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः॥ २३
ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् पंचत्वं मे गतोऽर्भकः॥ २४

भृगुजीका अनुभव सुनकर सभी ऋषि-मुनियोंको बड़ा विस्मय हुआ, उनका सन्देह दूर हो गया। तबसे वे भगवान् विष्णुको ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगे; क्योंकि वे ही शान्ति और अभयके उद्गमस्थान हैं॥ १५॥ भगवान् विष्णुसे ही साक्षात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य, आठ प्रकारके ऐश्वर्य और चित्तको शुद्ध करनेवाला यश प्राप्त होता है॥ १६॥ शान्त, समचित्त, अकिंचन और सबको अभय देनेवाले साधु-मुनियोंकी वे ही एकमात्र परम गति हैं। ऐसा सारे शास्त्र कहते हैं॥ १७॥

उनकी प्रिय मूर्ति है सत्त्व और इष्टदेव हैं ब्राह्मण। निष्काम, शान्त और निपुणबुद्धि (विवेकसम्पन्न) पुरुष उनका भजन करते हैं॥ १८॥ भगवान्‌की गुणमयी मायाने राक्षस, असुर और देवता—उनकी ये तीन मूर्तियाँ बना दी हैं। इनमें सत्त्वमयी देवमूर्ति ही उनकी प्राप्तिका साधन है। वे स्वयं ही समस्त पुरुषार्थस्वरूप हैं॥ १९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! सरस्वती-तटके ऋषियोंने अपने लिये नहीं, मनुष्योंका संशय मिटानेके लिये ही ऐसी युक्ति रची थी। पुरुषोत्तम भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवा करके उन्होंने उनका परमपद प्राप्त किया॥ २०॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! भगवान् पुरुषोत्तमकी यह कमनीय कीर्ति-कथा जन्म-मृत्युरूप संसारके भयको मिटानेवाली है। यह व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके मुखारविन्दसे निकली हुई सुरभिमयी मधुमयी सुधाधारा है। इस संसारके लंबे पथका जो बटोही अपने कानोंके दोनोंसे इसका निरन्तर पान करता रहता है, उसकी सारी थकावट, जो जगत्‌में इधर-उधर भटकनेसे होती है, दूर हो जाती है॥ २१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक दिनकी बात है, द्वारकापुरीमें किसी ब्राह्मणीके गर्भसे एक पुत्र पैदा हुआ, परन्तु वह उसी समय पृथ्वीका स्पर्श होते ही मर गया॥ २२॥ ब्राह्मण अपने बालकका मृत शरीर लेकर राजमहलके द्वारपर गया और वहाँ उसे रखकर अत्यन्त आतुरता और दुःखी मनसे विलाप करता हुआ यह कहने लगा—॥ २३॥ 'इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणद्रोही, धूर्त, कृपण और विषयी राजाके कर्मदोषसे ही मेरे बालककी मृत्यु हुई है॥ २४॥

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम्।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥ २५

एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च।
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत॥ २६

तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित् केशवान्तिके।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत॥ २७

किंस्विद् ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः।
राजन्यबन्धुरेते वै ब्राह्मणाः सत्र आसते॥ २८

धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥ २९

अहं प्रजा वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोरिह।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥ ३०

ब्राह्मण उवाच

संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत्॥ ३१

तत् कथं नु भवान् कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः।
चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात् तन्न श्रद्दध्महे वयम्॥ ३२

अर्जुन उवाच

नाहं संकर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः कार्ष्णिरेव च।
अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥ ३३

मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम्।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभो॥ ३४

जो राजा हिंसापरायण, दुःशील और अजितेन्द्रिय होता है, उसे राजा मानकर सेवा करनेवाली प्रजा दरिद्र होकर दुःख-पर-दुःख भोगती रहती है और उसके सामने संकट-पर-संकट आते रहते हैं॥ २५ ॥ परीक्षित्! इसी प्रकार अपने दूसरे और तीसरे बालकके भी पैदा होते ही मर जानेपर वह ब्राह्मण लड़केकी लाश राजमहलके दरवाजेपर डाल गया और वही बात कह गया॥ २६ ॥ नवें बालकके मरनेपर जब वह वहाँ आया, तब उस समय भगवान् श्रीकृष्णके पास अर्जुन भी बैठे हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणकी बात सुनकर उससे कहा— ॥ २७ ॥ 'ब्रह्मन्! आपके निवासस्थान द्वारकामें कोई धनुषधारी क्षत्रिय नहीं है क्या? मालूम होता है कि ये यदुवंशी ब्राह्मण हैं और प्रजापालनका परित्याग करके किसी यज्ञमें बैठे हुए हैं!॥ २८॥ जिनके राज्यमें धन, स्त्री अथवा पुत्रोंसे वियुक्त होकर ब्राह्मण दुःखी होते हैं, वे क्षत्रिय नहीं हैं, क्षत्रियके वेषमें पेट पालनेवाले नट हैं। उनका जीवन व्यर्थ है॥ २९ ॥ भगवन्! मैं समझता हूँ कि आप स्त्री-पुरुष अपने पुत्रोंकी मृत्युसे दीन हो रहे हैं। मैं आपकी सन्तानकी रक्षा करूँगा। यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका तो आगमें कूदकर जल मरूँगा और इस प्रकार मेरे पापका प्रायश्चित्त हो जायगा'॥ ३० ॥

ब्राह्मणने कहा—अर्जुन! यहाँ बलरामजी, भगवान् श्रीकृष्ण, धनुर्धरशिरोमणि प्रद्युम्न, अद्वितीय योद्धा अनिरुद्ध भी जब मेरे बालकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं; इन जगदीश्वरोंके लिये भी यह काम कठिन हो रहा है; तब तुम इसे कैसे करना चाहते हो? सचमुच यह तुम्हारी मूर्खता है। हम तुम्हारी इस बातपर बिलकुल विश्वास नहीं करते॥ ३१-३२ ॥

अर्जुनने कहा—ब्रह्मन्! मैं बलराम, श्रीकृष्ण अथवा प्रद्युम्न नहीं हूँ। मैं हूँ अर्जुन, जिसका गाण्डीव नामक धनुष विश्वविख्यात है॥ ३३ ॥ ब्राह्मणदेवता! आप मेरे बल-पौरुषका तिरस्कार मत कीजिये। आप जानते नहीं, मैं अपने पराक्रमसे भगवान् शंकरको सन्तुष्ट कर चुका हूँ। भगवन्! मैं आपसे अधिक क्या कहूँ, मैं युद्धमें साक्षात् मृत्युको भी जीतकर आपकी सन्तान ला दूँगा॥ ३४॥

एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परंतप।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन्॥ ३५

प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः॥ ३६

स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम्।
दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे॥ ३७

न्यरुणत् सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपंजरम्॥ ३८

ततः कुमारः संजातो विप्रपत्न्या रुदन् मुहुः।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा॥ ३९

तदाऽऽह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम्॥ ४०

न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः॥ ४१

धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः॥ ४२

एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः।
ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः॥ ४३

विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात् पुरीम्।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः॥ ४४

परीक्षित्! जब अर्जुनने उस ब्राह्मणको इस प्रकार विश्वास दिलाया, तब वह लोगोंसे उनके बल-पौरुषका बखान करता हुआ बड़ी प्रसन्नतासे अपने घर लौट गया॥ ३५॥ प्रसवका समय निकट आनेपर ब्राह्मण आतुर होकर अर्जुनके पास आया और कहने लगा—'इस बार तुम मेरे बच्चेको मृत्युसे बचा लो'॥ ३६॥ यह सुनकर अर्जुनने शुद्ध जलसे आचमन किया, तथा भगवान् शंकरको नमस्कार किया। फिर दिव्य अस्त्रोंका स्मरण किया और गाण्डीव धनुषपर डोरी चढ़ाकर उसे हाथमें ले लिया॥ ३७॥

अर्जुनने बाणोंको अनेक प्रकारके अस्त्र-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके प्रसवगृहको चारों ओरसे घेर दिया। इस प्रकार उन्होंने सूतिकागृहके ऊपर-नीचे, अगल-बगल बाणोंका एक पिंजड़ा-सा बना दिया॥ ३८॥ इसके बाद ब्राह्मणीके गर्भसे एक शिशु पैदा हुआ, जो बार-बार रो रहा था। परन्तु देखते-ही-देखते वह सशरीर आकाशमें अन्तर्धान हो गया॥ ३९॥ अब वह ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनकी निन्दा करने लगा। वह बोला—'मेरी मूर्खता तो देखो, मैंने इस नपुंसककी डींगभरी बातोंपर विश्वास कर लिया॥ ४०॥ भला जिसे प्रद्युम्न, अनिरुद्ध यहाँतक कि बलराम और भगवान् श्रीकृष्ण भी न बचा सके, उसकी रक्षा करनेमें और कौन समर्थ है?॥ ४१॥ मिथ्यावादी अर्जुनको धिक्कार है! अपने मुँह अपनी बड़ाई करनेवाले अर्जुनके धनुषको धिक्कार है!! इसकी दुर्बुद्धि तो देखो! यह मूढ़तावश उस बालकको लौटा लाना चाहता है, जिसे प्रारब्धने हमसे अलग कर दिया है'॥ ४२॥

जब वह ब्राह्मण इस प्रकार उन्हें भला-बुरा कहने लगा, तब अर्जुन योगबलसे तत्काल संयमनीपुरीमें गये, जहाँ भगवान् यमराज निवास करते हैं॥ ४३॥ वहाँ उन्हें ब्राह्मणका बालक नहीं मिला। फिर वे शस्त्र लेकर क्रमशः इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, सोम, वायु और वरुण आदिकी पुरियोंमें, अतलादि नीचेके लोकोंमें, स्वर्गसे ऊपरके महर्लोकादिमें एवं अन्यान्य स्थानोंमें गये॥ ४४॥

ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता॥ ४५

परन्तु कहीं भी उन्हें ब्राह्मणका बालक न मिला। उनकी प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी। अब उन्होंने अग्निमें प्रवेश करनेका विचार किया। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ऐसा करनेसे रोकते हुए कहा— ॥ ४५ ॥

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना।
ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति॥ ४६

'भाई अर्जुन! तुम अपने आप अपना तिरस्कार मत करो। मैं तुम्हें ब्राह्मणके सब बालक अभी दिखाये देता हूँ। आज जो लोग तुम्हारी निन्दा कर रहे हैं, वे ही फिर हमलोगोंकी निर्मल कीर्तिकी स्थापना करेंगे'॥ ४६ ॥

इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्॥ ४७

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार समझा-बुझाकर अर्जुनके साथ अपने दिव्य रथपर सवार हुए और पश्चिम दिशाको प्रस्थान किया॥ ४७ ॥

सप्त द्वीपान् सप्त सिन्धून् सप्तसप्तगिरीनथ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः॥ ४८

उन्होंने सात-सात पर्वतोंवाले सात द्वीप, सात समुद्र और लोकालोक-पर्वतको लाँघकर घोर अन्धकारमें प्रवेश किया॥ ४८ ॥

तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ॥ ४९

परीक्षित्! वह अन्धकार इतना घोर था कि उसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके चारों घोड़े अपना मार्ग भूलकर इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें कुछ सूझता ही न था॥ ४९ ॥

तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः।
सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः॥ ५०

योगेश्वरोंके भी परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंकी यह दशा देखकर अपने सहस्र-सहस्र सूर्योंके समान तेजस्वी चक्रको आगे चलनेकी आज्ञा दी॥ ५० ॥

तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्
विदारयद् भूरितरेण रोचिषा।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं
गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः॥ ५१

सुदर्शन चक्र अपने ज्योतिर्मय तेजसे स्वयं भगवान्‌के द्वारा उत्पन्न उस घने एवं महान् अन्धकारको चीरता हुआ मनके समान तीव्र गतिसे आगे-आगे चला। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था, मानो भगवान् रामका बाण धनुषसे छूटकर राक्षसोंकी सेनामें प्रवेश कर रहा हो॥ ५१ ॥

द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः
परं[१] परं ज्योतिरनन्तपारम्।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः
प्रताडिताक्षोपिदधेऽक्षिणी उभे॥ ५२

इस प्रकार सुदर्शन चक्रके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे चलकर रथ अन्धकारकी अन्तिम सीमापर पहुँचा। उस अन्धकारके पार सर्वश्रेष्ठ पारावाररहित व्यापक परम ज्योति जगमगा रही थी। उसे देखकर अर्जुनकी आँखें चौंधिया गयीं और उन्होंने विवश होकर अपने नेत्र बंद कर लिये॥ ५२ ॥

१. परात्परं।

ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता
बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम्[1] ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं
भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥ ५३

तस्मिन् महाभीममनन्तमद्भुतं
सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः[2] ।
विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणं
सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम्[3] ॥ ५४

ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं
महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशंगवाससं
प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥ ५५

महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-
प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं
श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालया वृतम् ॥ ५६

सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदै-
श्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्द्धिभि-
र्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥ ५७

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो[4]
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।
तावाह[5] भूमा परमेष्ठिनां प्रभु-
र्बद्धांजली सस्मितमूर्जया गिरा ॥ ५८

इसके बाद भगवान्‌के रथने दिव्य जलराशिमें प्रवेश किया। बड़ी तेज आँधी चलनेके कारण उस जलमें बड़ी-बड़ी तरंगें उठ रही थीं, जो बहुत ही भली मालूम होती थीं। वहाँ एक बड़ा सुन्दर महल था। उसमें मणियोंके सहस्र-सहस्र खंभे चमक-चमककर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे और उसके चारों ओर बड़ी उज्ज्वल ज्योति फैल रही थी ॥ ५३ ॥ उसी महलमें भगवान् शेषजी विराजमान थे। उनका शरीर अत्यन्त भयानक और अद्‌भुत था। उनके सहस्र सिर थे और प्रत्येक फणपर सुन्दर-सुन्दर मणियाँ जगमगा रही थीं। प्रत्येक सिरमें दो-दो नेत्र थे और वे बड़े ही भयंकर थे। उनका सम्पूर्ण शरीर कैलासके समान श्वेतवर्णका था और गला तथा जीभ नीले रंगकी थी ॥ ५४ ॥ परीक्षित्! अर्जुनने देखा कि शेषभगवान्‌की सुखमयी शय्यापर सर्वव्यापक महान् प्रभावशाली परम पुरुषोत्तम भगवान् विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है। अत्यन्त सुन्दर पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं। मुखपर प्रसन्नता खेल रही है और बड़े-बड़े नेत्र बहुत ही सुहावने लगते हैं ॥ ५५ ॥ बहुमूल्य मणियोंसे जटित मुकुट और कुण्डलोंकी कान्तिसे सहस्रों घुँघराली अलकें चमक रही हैं। लंबी-लंबी, सुन्दर आठ भुजाएँ हैं; गलेमें कौस्तुभ मणि है; वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है और घुटनोंतक वनमाला लटक रही है ॥ ५६ ॥ अर्जुनने देखा कि उनके नन्द-सुनन्द आदि अपने पार्षद, चक्र-सुदर्शन आदि अपने मूर्तिमान् आयुध तथा पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा—ये चारों शक्तियाँ एवं सम्पूर्ण ऋद्धियाँ ब्रह्मादि लोकपालोंके अधीश्वर भगवान्‌की सेवा कर रही हैं ॥ ५७ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही स्वरूप श्रीअनन्त भगवान्‌को प्रणाम किया। अर्जुन उनके दर्शनसे कुछ भयभीत हो गये थे; श्रीकृष्णके बाद उन्होंने भी उनको प्रणाम किया और वे दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये। अब ब्रह्मादि लोकपालोंके स्वामी भूमा पुरुषने मुसकराते हुए मधुर एवं गम्भीर वाणीसे कहा— ॥ ५८ ॥

१. भीषणं। २. द्युतिं। ३. ण्ठभूषणं। ४. जं तमच्युतं। ५. स चाह भूम्नां पर०।

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे॥ ५९

'श्रीकृष्ण और अर्जुन! मैंने तुम दोनोंको देखनेके लिये ही ब्राह्मणके बालक अपने पास मँगा लिये थे। तुम दोनोंने धर्मकी रक्षाके लिये मेरी कलाओंके साथ पृथ्वीपर अवतार ग्रहण किया है; पृथ्वीके भाररूप दैत्योंका संहार करके शीघ्र-से-शीघ्र तुमलोग फिर मेरे पास लौट आओ॥ ५९॥

पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम्॥ ६०

तुम दोनों ऋषिवर नर और नारायण हो। यद्यपि तुम पूर्णकाम और सर्वश्रेष्ठ हो, फिर भी जगत्‌की स्थिति और लोकसंग्रहके लिये धर्मका आचरण करो'॥ ६०॥

इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना।
ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान्॥ ६१

न्यवर्ततां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम्।
विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथावयः॥ ६२

जब भगवान् भूमा पुरुषने श्रीकृष्ण और अर्जुनको इस प्रकार आदेश दिया, तब उन लोगोंने उसे स्वीकार करके उन्हें नमस्कार किया और बड़े आनन्दके साथ ब्राह्मण-बालकोंको लेकर जिस रास्तेसे, जिस प्रकार आये थे, उसीसे वैसे ही द्वारकामें लौट आये। ब्राह्मणके बालक अपनी आयुके अनुसार बड़े-बड़े हो गये थे। उनका रूप और आकृति वैसी ही थी, जैसी उनके जन्मके समय थी। उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने उनके पिताको सौंप दिया॥ ६१-६२॥

निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः।
यत्किंचित् पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम्॥ ६३

भगवान् विष्णुके उस परमधामको देखकर अर्जुनके आश्चर्यकी सीमा न रही। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि जीवोंमें जो कुछ बल-पौरुष है, वह सब भगवान् श्रीकृष्णकी ही कृपाका फल है॥ ६३॥

इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन्।
बुभुजे विषयान् ग्राम्यानीजे चात्यूर्जितैर्मखैः॥ ६४

परीक्षित्! भगवान्‌ने और भी ऐसी अनेकों ऐश्वर्य और वीरतासे परिपूर्ण लीलाएँ कीं। लोकदृष्टिमें साधारण लोगोंके समान सांसारिक विषयोंका भोग किया और बड़े-बड़े महाराजाओंके समान श्रेष्ठ-श्रेष्ठ यज्ञ किये॥ ६४॥

प्रववर्षाखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु।
यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवाञ्छ्रैष्ठ्यमास्थितः॥ ६५

भगवान् श्रीकृष्णने आदर्श महापुरुषोंका-सा आचरण करते हुए ब्राह्मण आदि समस्त प्रजावर्गोंके सारे मनोरथ पूर्ण किये, ठीक वैसे ही, जैसे इन्द्र प्रजाके लिये समयानुसार वर्षा करते हैं॥ ६५॥

हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वार्जुनादिभिः।
अंजसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः॥ ६६

उन्होंने बहुत-से अधर्मी राजाओंको स्वयं मार डाला और बहुतोंको अर्जुन आदिके द्वारा मरवा डाला। इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर आदि धार्मिक राजाओंसे उन्होंने अनायास ही सारी पृथ्वीमें धर्ममर्यादाकी स्थापना करा दी॥ ६६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विजकुमारानयनं नाम एकोननवतितमोऽध्यायः॥ ८९॥

अथ नवतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके लीला-विहारका वर्णन

श्रीशुक उवाच

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः।
सर्वसंपत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुंगवैः॥ १

स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः।
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः॥ २

नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतंगजैः।
स्वलंकृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः॥ ३

उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु।
निर्विशद्भृंगविहगैर्नादितायां समन्ततः॥ ४

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः।
तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गृहेषु महर्द्धिषु॥ ५

प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! द्वारका-नगरीकी छटा अलौकिक थी। उसकी सड़कें, मद चूते हुए मतवाले हाथियों, सुसज्जित योद्धाओं, घोड़ों और स्वर्णमय रथोंकी भीड़से सदा-सर्वदा भरी रहती थीं। जिधर देखिये, उधर ही हरे-भरे उपवन और उद्यान लहरा रहे हैं। पाँत-के-पाँत वृक्ष फूलोंसे लदे हुए हैं। उनपर बैठकर भौंरे गुनगुना रहे हैं और तरह-तरहके पक्षी कलरव कर रहे हैं। वह नगरी सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे भरपूर थी। जगत्के श्रेष्ठ वीर यदुवंशी उसका सेवन करनेमें अपना सौभाग्य मानते थे। वहाँकी स्त्रियाँ सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित थीं और उनके अंग-अंगसे जवानीकी छटा छिटकती रहती थी। वे जब अपने महलोंमें गेंद आदिके खेल खेलतीं और उनका कोई अंग कभी दीख जाता तो ऐसा जान पड़ता, मानो बिजली चमक रही है। लक्ष्मीपति भगवान्की यही अपनी नगरी द्वारका थी। इसीमें वे निवास करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण सोलह हजारसे अधिक पत्नियोंके एकमात्र प्राण-वल्लभ थे। उन पत्नियोंके अलग-अलग महल भी परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न थे। जितनी पत्नियाँ थीं, उतने ही अद्भुत रूप धारण करके वे उनके साथ विहार करते थे॥ १—५॥ सभी पत्नियोंके महलोंमें सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे। उनका निर्मल जल खिले हुए नीले, पीले, श्वेत, लाल आदि भाँति-भाँतिके कमलोंके परागसे मँहकता रहता था। उनमें झुंड-के-झुंड हंस, सारस आदि सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहकते रहते थे। भगवान् श्रीकृष्ण उन जलाशयोंमें तथा

विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः।
कुचकुंकुमलिप्तांगः परिरब्धश्च योषिताम्॥ ७

कभी-कभी नदियोंके जलमें भी प्रवेश कर अपनी पत्नियोंके साथ जल-विहार करते थे। भगवान्‌के साथ विहार करनेवाली पत्नियाँ जब उन्हें अपने भुजपाशमें बाँध लेतीं, आलिंगन करतीं, तब भगवान्‌के श्रीअंगोंमें उनके वक्ष:स्थलकी केसर लग जाती थी॥ ६-७॥

उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदंगपणवानकान्।
वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः॥ ८

उस समय गन्धर्व उनके यशका गान करने लगते और सूत, मागध एवं वन्दीजन बड़े आनन्दसे मृदंग, ढोल, नगारे और वीणा आदि बाजे बजाने लगते॥ ८॥

सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः।
प्रतिसिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव॥ ९

भगवान्‌की पत्नियाँ कभी-कभी हँसते-हँसते पिचकारियोंसे उन्हें भिगो देती थीं। वे भी उनको तर कर देते। इस प्रकार भगवान् अपनी पत्नियोंके साथ क्रीडा करते; मानो यक्षराज कुबेर यक्षिणियोंके साथ विहार कर रहे हों॥ ९॥

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः
सिंचन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः।
कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य
जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः॥ १०

उस समय भगवान्‌की पत्नियोंके वक्ष:स्थल और जंघा आदि अंग वस्त्रोंके भीग जानेके कारण उनमेंसे झलकने लगते। उनकी बड़ी-बड़ी चोटियों और जूड़ोंमेंसे गुँथे हुए फूल गिरने लगते, वे उन्हें भिगोते-भिगोते पिचकारी छीन लेनेके लिये उनके पास पहुँच जातीं और इसी बहाने अपने प्रियतमका आलिंगन कर लेतीं। उनके स्पर्शसे पत्नियोंके हृदयमें प्रेम-भावकी अभिवृद्धि हो जाती, जिससे उनका मुखकमल खिल उठता। ऐसे अवसरोंपर उनकी शोभा और भी बढ़ जाया करती॥ १०॥

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुंकुमस्त्रक्
क्रीडाभिषंगधुतकुन्तलवृन्दबन्धः।
सिंचन् मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो
रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः॥ ११

उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी वनमाला उन रानियोंके वक्ष:स्थलपर लगी हुई केसरके रंगसे रँग जाती। विहारमें अत्यन्त मग्न हो जानेके कारण घुँघराली अलकें उन्मुक्त भावसे लहराने लगतीं। वे अपनी रानियोंको बार-बार भिगो देते और रानियाँ भी उन्हें सराबोर कर देतीं। भगवान् श्रीकृष्ण उनके साथ इस प्रकार विहार करते, मानो कोई गजराज हथिनियोंसे घिरकर उनके साथ क्रीड़ा कर रहा हो॥ ११॥

नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम्।
क्रीडालंकारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः॥ १२

भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पत्नियाँ क्रीडा करनेके बाद अपने-अपने वस्त्राभूषण उतारकर उन नटों और नर्तकियोंको दे देते, जिनकी जीविका केवल गाना-बजाना ही है॥ १२॥

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः।
नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः॥ १३

ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जडम्।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु॥ १४

महिष्य ऊचुः

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥ १५

नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धु-
स्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि।
दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां
किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम्॥ १६

भो भोः सदा निष्टनसे उदन्व-
न्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।
किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः
प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम्॥ १७

परीक्षित्! भगवान् इसी प्रकार उनके साथ विहार करते रहते। उनकी चाल-ढाल, बातचीत, चितवन-मुसकान, हास-विलास और आलिंगन आदिसे रानियोंकी चित्तवृत्ति उन्हींकी ओर खिंची रहती। उन्हें और किसी बातका स्मरण ही न होता॥ १३॥ परीक्षित्! रानियोंके जीवन-सर्वस्व, उनके एकमात्र हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही थे। वे कमलनयन श्यामसुन्दरके चिन्तनमें ही इतनी मग्न हो जातीं कि कई देरतक चुप हो रहतीं और फिर उन्मत्तके समान असम्बद्ध बातें कहने लगतीं। कभी-कभी तो भगवान् श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें ही प्रेमोन्मादके कारण उनके विरहका अनुभव करने लगतीं। और न जाने क्या-क्या कहने लगतीं। मैं उनकी बात तुम्हें सुनाता हूँ॥ १४॥

रानियाँ कहतीं—अरी कुररी! अब तो बड़ी रात हो गयी है। संसारमें सब ओर सन्नाटा छा गया है। देख, इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपाकर सो रहे हैं और तुझे नींद ही नहीं आती? तू इस तरह रात-रातभर जगकर विलाप क्यों कर रही है? सखी! कहीं कमलनयन भगवान्के मधुर हास्य और लीलाभरी उदार (स्वीकृतिसूचक) चितवनसे तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है?॥ १५॥

अरी चकवी! तूने रातके समय अपने नेत्र क्यों बंद कर लिये हैं? क्या तेरे पतिदेव कहीं विदेश चले गये हैं कि तू इस प्रकार करुण स्वरसे पुकार रही है? हाय-हाय! तब तो तू बड़ी दुःखिनी है। परन्तु हो-न-हो तेरे हृदयमें भी हमारे ही समान भगवान्की दासी होनेका भाव जग गया है। क्या अब तू उनके चरणोंपर चढ़ायी हुई पुष्पोंकी माला अपनी चोटियोंमें धारण करना चाहती है?॥ १६॥

अहो समुद्र! तुम निरन्तर गरजते ही रहते हो। तुम्हें नींद नहीं आती क्या? जान पड़ता है तुम्हें सदा जागते रहनेका रोग लग गया है। परन्तु नहीं-नहीं, हम समझ गयीं, हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने तुम्हारे धैर्य, गाम्भीर्य आदि स्वाभाविक गुण छीन लिये हैं। क्या इसीसे तुम हमारे ही समान ऐसी व्याधिके शिकार हो गये हो, जिसकी कोई दवा नहीं है?॥ १७॥

त्वं यक्ष्मणा बलवतासि गृहीत इन्दो
क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं
विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥ १८

चन्द्रदेव! तुम्हें बहुत बड़ा रोग राजयक्ष्मा हो गया है। इसीसे तुम इतने क्षीण हो रहे हो। अरे राम-राम, अब तुम अपनी किरणोंसे अँधेरा भी नहीं हटा सकते! क्या हमारी ही भाँति हमारे प्यारे श्यामसुन्दरकी मीठी-मीठी रहस्यकी बातें भूल जानेके कारण तुम्हारी बोलती बंद हो गयी है? क्या उसीकी चिन्तासे तुम मौन हो रहे हो?॥ १८॥

किं त्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम्।
गोविन्दापांगनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम्॥ १९

मलयानिल! हमने तेरा क्या बिगाड़ा है, जो तू हमारे हृदयमें कामका संचार कर रहा है? अरे तू नहीं जानता क्या? भगवान्‌की तिरछी चितवनसे हमारा हृदय तो पहलेसे ही घायल हो गया है॥ १९॥

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं
श्रीवत्सांकं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः।
अत्युत्कण्ठः शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः
स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसंगः॥ २०

श्रीमन् मेघ! तुम्हारे शरीरका सौन्दर्य तो हमारे प्रियतम-जैसा ही है। अवश्य ही तुम यदुवंशशिरोमणि भगवान्‌के परम प्यारे हो। तभी तो तुम हमारी ही भाँति प्रेमपाशमें बँधकर उनका ध्यान कर रहे हो! देखो-देखो! तुम्हारा हृदय चिन्तासे भर रहा है, तुम उनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हो! तभी तो बार-बार उनकी याद करके हमारी ही भाँति आँसूकी धारा बहा रहे हो। श्यामघन! सचमुच घनश्यामसे नाता जोड़ना घर बैठे पीड़ा मोल लेना है॥ २०॥

प्रियरावपदानि भाषसे
मृतसंजीविकयानया गिरा।
करवाणि किमद्य ते प्रियं
वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल॥ २१

न चलसि न वदस्युदारबुद्धे
क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम्।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं
वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम्॥ २२

री कोयल! तेरा गला बड़ा ही सुरीला है, मीठी बोली बोलनेवाले हमारे प्राणप्यारेके समान ही मधुर स्वरसे तू बोलती है। सचमुच तेरी बोलीमें सुधा घोली हुई है, जो प्यारेके विरहसे मरे हुए प्रेमियोंको जिलानेवाली है। तू ही बता, इस समय हम तेरा क्या प्रिय करें?॥ २१॥ प्रिय पर्वत! तुम तो बड़े उदार विचारके हो। तुमने ही पृथ्वीको भी धारण कर रखा है। न तुम हिलते-डोलते हो और न कुछ कहते-सुनते हो। जान पड़ता है कि किसी बड़ी बातकी चिन्तामें मग्न हो रहे हो। ठीक है, ठीक है; हम समझ गयीं। तुम हमारी ही भाँति चाहते हो कि अपने स्तनोंके समान बहुत-से शिखरोंपर मैं भी भगवान् श्यामसुन्दरके चरण-कमल धारण करूँ॥ २२॥

शुष्यद्ध्रदाः कर्शिता बत सिन्धुपत्न्यः
सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः।
यद्वद् वयं मधुपतेः प्रणयावलोक-
मप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म॥ २३

समुद्रपत्नी नदियो! यह ग्रीष्म ऋतु है। तुम्हारे कुण्ड सूख गये हैं। अब तुम्हारे अंदर खिले हुए कमलोंका सौन्दर्य नहीं दीखता। तुम बहुत दुबली-पतली हो गयी हो। जान पड़ता है, जैसे हम अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी प्रेमभरी चितवन न पाकर अपना हृदय खो बैठी हैं और अत्यन्त दुबली-पतली हो गयी हैं, वैसे ही तुम भी मेघोंके द्वारा अपने प्रियतम समुद्रका जल न पाकर ऐसी दीन-हीन हो गयी हो॥ २३॥

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो
ब्रूह्यंग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः
स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं
कस्माद् भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते
सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम्॥ २४

हंस! आओ, आओ! भले आये, स्वागत है। आसनपर बैठो; लो, दूध पियो। प्रिय हंस! श्यामसुन्दरकी कोई बात तो सुनाओ। हम समझती हैं कि तुम उनके दूत हो। किसीके वशमें न होनेवाले श्यामसुन्दर सकुशल तो हैं न? अरे भाई! उनकी मित्रता तो बड़ी अस्थिर है, क्षणभंगुर है। एक बात तो बतलाओ, उन्होंने हमसे कहा था कि तुम्हीं हमारी परम प्रियतमा हो। क्या अब उन्हें यह बात याद है? जाओ, जाओ; हम तुम्हारी अनुनय-विनय नहीं सुनतीं। जब वे हमारी परवा नहीं करते, तो हम उनके पीछे क्यों मरें? क्षुद्रके दूत! हम उनके पास नहीं जातीं। क्या कहा? वे हमारी इच्छा पूर्ण करनेके लिये ही आना चाहते हैं, अच्छा! तब उन्हें तो यहाँ बुला लाना, हमसे बातें कराना, परन्तु कहीं लक्ष्मीको साथ न ले आना। तब क्या वे लक्ष्मीको छोड़कर यहाँ नहीं आना चाहते? यह कैसी बात है? क्या स्त्रियोंमें लक्ष्मी ही एक ऐसी हैं, जिनका भगवान्‌से अनन्य प्रेम है? क्या हममेंसे कोई एक भी वैसी नहीं है?॥ २४॥

इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम्॥ २५

परीक्षित्! श्रीकृष्ण-पत्नियाँ योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें ऐसा ही अनन्य प्रेम-भाव रखती थीं। इसीसे उन्होंने परमपद प्राप्त किया॥ २५॥ भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ अनेकों प्रकारसे अनेकों गीतोंद्वारा गान की गयी हैं। वे इतनी मधुर, इतनी मनोहर हैं कि उनके सुननेमात्रसे स्त्रियोंका मन बलात् उनकी ओर खिंच जाता है। फिर जो स्त्रियाँ उन्हें अपने नेत्रोंसे देखती थीं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ २६॥

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः॥ २६

जिन बड़भागिनी स्त्रियोंने जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको अपना पति मानकर परम प्रेमसे उनके चरण-कमलोंको सहलाया, उन्हें नहलाया-धुलाया, खिलाया-पिलाया, तरह-तरहसे उनकी सेवा की, उनकी तपस्याका वर्णन तो भला, किया ही कैसे जा सकता है॥ २७॥

याः सम्पर्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः॥ २७

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत् पदम्॥ २८
आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम्।
आसन् षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम्॥ २९
तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः॥ ३०
एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान्।
यावत्य आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः॥ ३१
तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु॥ ३२
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान् भानुरेव च।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः॥ ३३
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च॥ ३४
एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः।
प्रद्युम्न आसीत् प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः॥ ३५
स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः।
तस्मात् सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः॥ ३६
स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः।
वज्रस्तस्याभवद् यस्तु मौसलादवशेषितः॥ ३७
प्रतिबाहुरभूत्तस्मात् सुबाहुस्तस्य चात्मजः।
सुबाहोः शान्तसेनोऽभूच्छतसेनस्तु तत्सुतः॥ ३८
न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना अबहुप्रजाः।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे॥ ३९

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय हैं। उन्होंने वेदोक्त धर्मका बार-बार आचरण करके लोगोंको यह बात दिखला दी कि घर ही धर्म, अर्थ और काम—साधनका स्थान है॥ २८॥ इसीलिये वे गृहस्थोचित श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेकर व्यवहार कर रहे थे। परीक्षित्! मैं तुमसे कह ही चुका हूँ कि उनकी रानियोंकी संख्या थी सोलह हजार एक सौ आठ॥ २९॥ उन श्रेष्ठ स्त्रियोंमेंसे रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों और उनके पुत्रोंका तो मैं पहले ही क्रमसे वर्णन कर चुका हूँ॥ ३०॥ उनके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णकी और जितनी पत्नियाँ थीं, उनसे भी प्रत्येकके दस-दस पुत्र उत्पन्न किये। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प हैं॥ ३१॥ भगवान्‌के परम पराक्रमी पुत्रोंमें अठारह तो महारथी थे, जिनका यश सारे जगत्‌में फैला हुआ था। उनके नाम मुझसे सुनो॥ ३२॥ प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान्, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि और न्यग्रोध॥ ३३-३४॥ राजेन्द्र! भगवान् श्रीकृष्णके इन पुत्रोंमें भी सबसे श्रेष्ठ रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नजी थे। वे सभी गुणोंमें अपने पिताके समान ही थे॥ ३५॥ महारथी प्रद्युम्नने रुक्मीकी कन्यासे अपना विवाह किया था। उसीके गर्भसे अनिरुद्धजीका जन्म हुआ। उनमें दस हजार हाथियोंका बल था॥ ३६॥ रुक्मीके दौहित्र अनिरुद्धजीने अपने नानाकी पोतीसे विवाह किया। उसके गर्भसे वज्रका जन्म हुआ। ब्राह्मणोंके शापसे पैदा हुए मूसलके द्वारा यदुवंशका नाश हो जानेपर एकमात्र वे ही बच रहे थे॥ ३७॥

वज्रके पुत्र हैं प्रतिबाहु, प्रतिबाहुके सुबाहु, सुबाहुके शान्तसेन और शान्तसेनके शतसेन॥ ३८॥ परीक्षित्! इस वंशमें कोई भी पुरुष ऐसा न हुआ जो बहुत-सी सन्तानवाला न हो तथा जो निर्धन, अल्पायु और अल्पशक्ति हो। वे सभी ब्राह्मणोंके भक्त थे॥ ३९॥

यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम्।
संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप॥ ४०

तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च।
आसन् यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम्॥ ४१

संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम्।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः॥ ४२

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे॥ ४३

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप॥ ४४

तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वेनाभवद्धरिः।
ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः॥ ४५

शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः॥ ४६

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु
स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा
श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ।
यन्नामामंगलघ्नं श्रुतमथ गदितं
यत्कृतो गोत्रधर्मः

परीक्षित्! यदुवंशमें ऐसे-ऐसे यशस्वी और पराक्रमी पुरुष हुए हैं, जिनकी गिनती भी हजारों वर्षोंमें पूरी नहीं हो सकती॥ ४०॥ मैंने ऐसा सुना है कि यदुवंशके बालकोंको शिक्षा देनेके लिये तीन करोड़ अट्ठासी लाख आचार्य थे॥ ४१॥ ऐसी स्थितिमें महात्मा यदुवंशियोंकी संख्या तो बतायी ही कैसे जा सकती है! स्वयं महाराज उग्रसेनके साथ एक नील (१००००००००००००००) के लगभग सैनिक रहते थे॥ ४२॥ परीक्षित्! प्राचीन कालमें देवासुरसंग्रामके समय बहुत-से भयंकर असुर मारे गये थे। वे ही मनुष्योंमें उत्पन्न हुए और बड़े घमंडसे जनताको सताने लगे॥ ४३॥ उनका दमन करनेके लिये भगवान्की आज्ञासे देवताओंने ही यदुवंशमें अवतार लिया था। परीक्षित्! उनके कुलोंकी संख्या एक सौ एक थी॥ ४४॥ वे सब भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी एवं आदर्श मानते थे। जो यदुवंशी उनके अनुयायी थे, उनकी सब प्रकारसे उन्नति हुई॥ ४५॥ यदुवंशियोंका चित्त इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णमें लगा रहता था कि उन्हें सोने-बैठने, घूमने-फिरने, बोलने-खेलने और नहाने-धोने आदि कामोंमें अपने शरीरकी भी सुधि न रहती थी। वे जानते ही न थे कि हमारा शरीर क्या कर रहा है। उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ यन्त्रकी भाँति अपने-आप होती रहती थीं॥ ४६॥

परीक्षित्! भगवान्का चरणधोवन गंगाजी अवश्य ही समस्त तीर्थोंमें महान् एवं पवित्र हैं। परन्तु जब स्वयं परमतीर्थस्वरूप भगवान्ने ही यदुवंशमें अवतार ग्रहण किया, तब तो गंगाजलकी महिमा अपने-आप ही उनके सुयशतीर्थकी अपेक्षा कम हो गयी। भगवान्के स्वरूपकी यह कितनी बड़ी महिमा है कि उनसे प्रेम करनेवाले भक्त और द्वेष करनेवाले शत्रु दोनों ही उनके स्वरूपको प्राप्त हुए। जिस लक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े देवता यत्न करते रहते हैं, वे ही भगवान्की सेवामें नित्य-निरन्तर लगी रहती हैं। भगवान्का नाम एक बार सुनने अथवा उच्चारण करनेसे ही सारे अमंगलोंको नष्ट कर देता है। ऋषियोंके वंशजोंमें जितने भी धर्म प्रचलित हैं, सबके संस्थापक भगवान्

कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं
कालचक्रायुधस्य ॥ ४७

श्रीकृष्ण ही हैं। वे अपने हाथमें काल-स्वरूप चक्र लिये रहते हैं। परीक्षित्! ऐसी स्थितिमें वे पृथ्वीका भार उतार देते हैं, यह कौन बड़ी बात है॥ ४७॥

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपर्षत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्॥ ४८

भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त जीवोंके आश्रयस्थान हैं। यद्यपि वे सदा-सर्वदा सर्वत्र उपस्थित ही रहते हैं, फिर भी कहनेके लिये उन्होंने देवकीजीके गर्भसे जन्म लिया है। यदुवंशी वीर पार्षदोंके रूपमें उनकी सेवा करते रहते हैं। उन्होंने अपने भुजबलसे अधर्मका अन्त कर दिया है। परीक्षित्! भगवान् स्वभावसे ही चराचर जगत्का दुःख मिटाते रहते हैं। उनका मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त सुन्दर मुखारविन्द व्रजस्त्रियों और पुरस्त्रियोंके हृदयमें प्रेम-भावका संचार करता रहता है। वास्तवमें सारे जगत्पर वही विजयी हैं। उन्हींकी जय हो! जय हो!!॥ ४८॥

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयाऽऽत्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्॥ ४९

परीक्षित्! प्रकृतिसे अतीत परमात्माने अपने द्वारा स्थापित धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये दिव्य लीला-शरीर ग्रहण किया और उसके अनुरूप अनेकों अद्‌भुत चरित्रोंका अभिनय किया। उनका एक-एक कर्म स्मरण करनेवालोंके कर्मबन्धनोंको काट डालनेवाला है। जो यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाका अधिकार प्राप्त करना चाहे, उसे उनकी लीलाओंका ही श्रवण करना चाहिये॥ ४९॥

मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द-
श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं
ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः॥ ५०

परीक्षित्! जब मनुष्य प्रतिक्षण भगवान् श्रीकृष्णकी मनोहारिणी लीला-कथाओंका अधिकाधिक श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करने लगता है, तब उसकी यही भक्ति उसे भगवान्के परमधाममें पहुँचा देती है। यद्यपि कालकी गतिके परे पहुँच जाना बहुत ही कठिन है, परन्तु भगवान्के धाममें कालकी दाल नहीं गलती। वह वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता। उसी धामकी प्राप्तिके लिये अनेक सम्राटोंने अपना राजपाट छोड़कर तपस्या करनेके उद्देश्यसे जंगलकी यात्रा की है। इसलिये मनुष्यको उनकी लीला-कथाका ही श्रवण करना चाहिये॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीकृष्णचरितानुवर्णनं नाम नवतितमोऽध्यायः॥ ९०॥

॥ इति दशमस्कन्धोत्तरार्धः सम्पूर्णः॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

यदुवंशको ऋषियोंका शाप

श्रीबादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम्॥ १

व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा अन्य यदुवंशियोंके साथ मिलकर बहुत-से दैत्योंका संहार किया तथा कौरव और पाण्डवोंमें भी शीघ्र मार-काट मचानेवाला अत्यन्त प्रबल कलह उत्पन्न करके पृथ्वीका भार उतार दिया॥ १॥

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः॥ २

कौरवोंने कपटपूर्ण जूएसे, तरह-तरहके अपमानोंसे तथा द्रौपदीके केश खींचने आदि अत्याचारोंसे पाण्डवोंको अत्यन्त क्रोधित कर दिया था। उन्हीं पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों पक्षोंमें एकत्र हुए राजाओंको मरवा डाला और इस प्रकार पृथ्वीका भार हलका कर दिया॥ २॥

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते॥ ३

अपने बाहुबलसे सुरक्षित यदुवंशियोंके द्वारा पृथ्वीके भार—राजा और उनकी सेनाका विनाश करके, प्रमाणोंके द्वारा ज्ञानके विषय न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि लोकदृष्टिसे पृथ्वीका भार दूर हो जानेपर भी वस्तुतः मेरी दृष्टिसे अभीतक दूर नहीं हुआ; क्योंकि जिसपर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता, वह यदुवंश अभी पृथ्वीपर विद्यमान है॥ ३॥

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथंचि-
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम्।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम॥ ४

यह यदुवंश मेरे आश्रित है और हाथी, घोड़े, जनबल, धनबल आदि विशाल वैभवके कारण उच्छृंखल हो रहा है। अन्य किसी देवता आदिसे भी इसकी किसी प्रकार पराजय नहीं हो सकती। बाँसके वनमें परस्पर संघर्षसे उत्पन्न अग्निके समान इस यदुवंशमें भी परस्पर कलह खड़ा करके मैं शान्ति प्राप्त कर सकूँगा और इसके बाद अपने धाममें जाऊँगा॥ ४॥

एवं व्यवसितो राजन् सत्यसंकल्प ईश्वरः।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः॥ ५

राजन्! भगवान् सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प हैं। उन्होंने इस प्रकार अपने मनमें निश्चय करके ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने ही वंशका संहार कर डाला, सबको समेटकर अपने धाममें ले गये॥ ५॥

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः॥ ६

आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यंजसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः॥ ७

परीक्षित्! भगवान्की वह मूर्ति त्रिलोकीके सौन्दर्यका तिरस्कार करनेवाली थी। उन्होंने अपनी सौन्दर्य-माधुरीसे सबके नेत्र अपनी ओर आकर्षित कर लिये थे। उनकी वाणी, उनके उपदेश परम मधुर, दिव्यातिदिव्य थे। उनके द्वारा उन्हें स्मरण करनेवालोंके चित्त उन्होंने छीन लिये थे। उनके चरणकमल त्रिलोक-सुन्दर थे। जिसने उनके एक चरण-चिह्नका भी दर्शन कर लिया, उसकी बहिर्मुखता दूर भाग गयी, वह कर्मप्रपंचसे ऊपर उठकर उन्हींकी सेवामें लग गया। उन्होंने अनायास ही पृथ्वीमें अपनी कीर्तिका विस्तार कर दिया, जिसका बड़े-बड़े सुकवियोंने बड़ी ही सुन्दर भाषामें वर्णन किया है। वह इसलिये कि मेरे चले जानेके बाद लोग मेरी इस कीर्तिका गान, श्रवण और स्मरण करके इस अज्ञानरूप अन्धकारसे सुगमतया पार हो जायँगे। इसके बाद परमैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णने अपने धामको प्रयाण किया॥ ६-७॥

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्॥ ८

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! यदुवंशी बड़े ब्राह्मणभक्त थे। उनमें बड़ी उदारता भी थी और वे अपने कुलवृद्धोंकी नित्य-निरन्तर सेवा करनेवाले थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें लगा रहता था; फिर उनसे ब्राह्मणोंका अपराध कैसे बन गया? और क्यों ब्राह्मणोंने उन्हें शाप दिया?॥ ८॥

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम।
कथमेकात्मनां भेद एतत् सर्वं वदस्व मे॥ ९

भगवान्के परम प्रेमी विप्रवर! उस शापका कारण क्या था तथा क्या स्वरूप था? समस्त यदुवंशियोंके आत्मा, स्वामी और प्रियतम एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे; फिर उनमें फूट कैसे हुई? दूसरी दृष्टिसे देखें तो वे सब ऋषि अद्वैतदर्शी थे, फिर उनको ऐसी भेददृष्टि कैसे हुई? यह सब आप कृपा करके मुझे बतलाइये॥ ९॥

श्रीशुक उवाच

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमंगलमाप्तकामः।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः॥ १०

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमंगलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः॥ ११

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरंगिराः।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः॥ १२

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत्॥ १३

ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा॥ १४

प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् संजनयिष्यति॥ १५

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम्॥ १६

श्रीशुकदेवजीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने वह शरीर धारण करके जिसमें सम्पूर्ण सुन्दर पदार्थोंका सन्निवेश था (नेत्रोंमें मृगनयन, कन्धोंमें सिंहस्कन्ध, करोंमें करि-कर, चरणोंमें कमल आदिका विन्यास था।) पृथ्वीमें मंगलमय कल्याणकारी कर्मोंका आचरण किया। वे पूर्णकाम प्रभु द्वारकाधाममें रहकर क्रीडा करते रहे और उन्होंने अपनी उदार कीर्तिकी स्थापना की। (जो कीर्ति स्वयं अपने आश्रयतकका दान कर सके वह उदार है।) अन्तमें श्रीहरिने अपने कुलके संहार—उपसंहारकी इच्छा की; क्योंकि अब पृथ्वीका भार उतरनेमें इतना ही कार्य शेष रह गया था॥ १०॥ भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे परम मंगलमय और पुण्य-प्रापक कर्म किये, जिनका गान करनेवाले लोगोंके सारे कलिमल नष्ट हो जाते हैं। अब भगवान् श्रीकृष्ण महाराज उग्रसेनकी राजधानी द्वारकापुरीमें वसुदेवजीके घर यादवोंका संहार करनेके लिये कालरूपसे ही निवास कर रहे थे। उस समय उनके विदा कर देनेपर—विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि बड़े-बड़े ऋषि द्वारकाके पास ही पिण्डारकक्षेत्रमें जाकर निवास करने लगे थे॥ ११-१२॥

एक दिन यदुवंशके कुछ उद्दण्ड कुमार खेलते-खेलते उनके पास जा निकले। उन्होंने बनावटी नम्रतासे उनके चरणोंमें प्रणाम करके प्रश्न किया॥ १३॥ वे जाम्बवतीनन्दन साम्बको स्त्रीके वेषमें सजाकर ले गये और कहने लगे, 'ब्राह्मणो! यह कजरारी आँखोंवाली सुन्दरी गर्भवती है। यह आपसे एक बात पूछना चाहती है। परन्तु स्वयं पूछनेमें सकुचाती है। आपलोगोंका ज्ञान अमोघ—अबाध है, आप सर्वज्ञ हैं। इसे पुत्रकी बड़ी लालसा है और अब प्रसवका समय निकट आ गया है। आपलोग बताइये, यह कन्या जनेगी या पुत्र?'॥ १४-१५॥ परीक्षित्! जब उन कुमारोंने इस प्रकार उन ऋषि-मुनियोंको धोखा देना चाहा, तब वे भगवत्प्रेरणासे क्रोधित हो उठे। उन्होंने कहा—'मूर्खो! यह एक ऐसा मूसल पैदा करेगी, जो तुम्हारे कुलका नाश करनेवाला होगा॥ १६॥

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम्।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं खल्वयस्मयम्॥ १७

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः॥ १८

तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः।
राज्ञ आवेदयांचक्रुः सर्वयादवसन्निधौ॥ १९

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः॥ २०

तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम्॥ २१

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः॥ २२

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे।
तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत्॥ २३

भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत॥ २४

मुनियोंकी यह बात सुनकर वे बालक बहुत ही डर गये। उन्होंने तुरंत साम्बका पेट खोलकर देखा तो सचमुच उसमें एक लोहेका मूसल मिला॥ १७॥ अब तो वे पछताने लगे और कहने लगे—'हम बड़े अभागे हैं। देखो, हमलोगोंने यह क्या अनर्थ कर डाला? अब लोग हमें क्या कहेंगे?' इस प्रकार वे बहुत ही घबरा गये तथा मूसल लेकर अपने निवासस्थानमें गये॥ १८॥ उस समय उनके चेहरे फीके पड़ गये थे। मुख कुम्हला गये थे। उन्होंने भरी सभामें सब यादवोंके सामने ले जाकर वह मूसल रख दिया और राजा उग्रसेनसे सारी घटना कह सुनायी॥ १९॥ राजन्! जब सब लोगोंने ब्राह्मणोंके शापकी बात सुनी और अपनी आँखोंसे उस मूसलको देखा, तब सब-के-सब द्वारकावासी विस्मित और भयभीत हो गये; क्योंकि वे जानते थे कि ब्राह्मणोंका शाप कभी झूठा नहीं होता॥ २०॥ यदुराज उग्रसेनने उस मूसलको चूरा-चूरा करा डाला और उस चूरे तथा लोहेके बचे हुए छोटे टुकड़ेको समुद्रमें फेंकवा दिया। (इसके सम्बन्धमें उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कोई सलाह न ली; ऐसी ही उनकी प्रेरणा थी)॥ २१॥

परीक्षित्! उस लोहेके टुकड़ेको एक मछली निगल गयी और चूरा तरंगोंके साथ बह-बहकर समुद्रके किनारे आ लगा। वह थोड़े दिनोंमें एरक (बिना गाँठकी एक घास) के रूपमें उग आया॥ २२॥ मछली मारनेवाले मछुओंने समुद्रमें दूसरी मछलियोंके साथ उस मछलीको भी पकड़ लिया। उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था, उसको जरा नामक व्याधने अपने बाणके नोकमें लगा लिया॥ २३॥ भगवान् सब कुछ जानते थे। वे इस शापको उलट भी सकते थे। फिर भी उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा। कालरूपधारी प्रभुने ब्राह्मणोंके शापका अनुमोदन ही किया॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

वसुदेवजीके पास श्रीनारदजीका आना और उन्हें राजा जनक तथा नौ योगीश्वरोंका संवाद सुनाना

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कुरुनन्दन! देवर्षि नारदके मनमें भगवान् श्रीकृष्णकी सन्निधिमें रहनेकी बड़ी लालसा थी। इसलिये वे श्रीकृष्णके निज बाहुओंसे सुरक्षित द्वारकामें—जहाँ दक्ष आदिके शापका कोई भय नहीं था, विदा कर देनेपर भी पुनः-पुनः आकर प्रायः रहा ही करते थे॥ १॥

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः॥ २

राजन्! ऐसा कौन प्राणी है, जिसे इन्द्रियाँ तो प्राप्त हों और वह भगवान्के ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवताओंके भी उपास्य चरणकमलोंकी दिव्य गन्ध, मधुर मकरन्द-रस, अलौकिक रूपमाधुरी, सुकुमार स्पर्श और मंगलमय ध्वनिका सेवन करना न चाहे? क्योंकि यह बेचारा प्राणी सब ओरसे मृत्युसे ही घिरा हुआ है॥ २॥

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम्।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत्॥ ३

एक दिनकी बात है, देवर्षि नारद वसुदेवजीके यहाँ पधारे। वसुदेवजीने उनका अभिवादन किया तथा आरामसे बैठ जानेपर विधिपूर्वक उनकी पूजा की और इसके बाद पुनः प्रणाम करके उनसे यह बात कही॥ ३॥

वसुदेव उवाच

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्॥ ४

वसुदेवजीने कहा—संसारमें माता-पिताका आगमन पुत्रोंके लिये और भगवान्की ओर अग्रसर होनेवाले साधु-संतोंका पदार्पण प्रपंचमें उलझे हुए दीन-दुःखियोंके लिये बड़ा ही सुखकर और बड़ा ही मंगलमय होता है। परन्तु भगवन्! आप तो स्वयं भगवन्मय, भगवत्स्वरूप हैं। आपका चलना-फिरना तो समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होता है॥ ४॥

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥ ५

देवताओंके चरित्र भी कभी प्राणियोंके लिये दुःखके हेतु, तो कभी सुखके हेतु बन जाते हैं। परन्तु जो आप-जैसे भगवत्प्रेमी पुरुष हैं—जिनका हृदय, प्राण, जीवन, सब कुछ भगवन्मय हो गया है—उनकी तो प्रत्येक चेष्टा समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होती है॥ ५॥

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥ ६

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव।
याञ्छ्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतोभयात्॥ ७

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया॥ ८

यथा विचित्रव्यसनाद् भवद्भिर्विश्वतोभयात्।
मुच्येम ह्यंजसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत॥ ९

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः॥ १०

नारद उवाच

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ।
यत् पृच्छसे भागवतान् धर्मांस्त्वं विश्वभावनान्॥ ११

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि॥ १२

जो लोग देवताओंका जिस प्रकार भजन करते हैं, देवता भी परछाईंके समान ठीक उसी रीतिसे भजन करनेवालोंको फल देते हैं; क्योंकि देवता कर्मके मन्त्री हैं, अधीन हैं। परन्तु सत्पुरुष दीनवत्सल होते हैं अर्थात् जो सांसारिक सम्पत्ति एवं साधनसे भी हीन हैं, उन्हें अपनाते हैं॥ ६॥ ब्रह्मन्! (यद्यपि हम आपके शुभागमन और शुभ दर्शनसे ही कृतकृत्य हो गये हैं) तथापि आपसे उन धर्मोंके—साधनोंके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहे हैं, जिनको मनुष्य श्रद्धासे सुन भर ले तो इस सब ओरसे भयदायक संसारसे मुक्त हो जाय॥ ७॥ पहले जन्ममें मैंने मुक्ति देनेवाले भगवान्‌की आराधना तो की थी, परन्तु इसलिये नहीं कि मुझे मुक्ति मिले। मेरी आराधनाका उद्देश्य था कि वे मुझे पुत्ररूपमें प्राप्त हों। उस समय मैं भगवान्‌की लीलासे मुग्ध हो रहा था॥ ८॥ सुव्रत! अब आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं इस जन्म-मृत्युरूप भयावह संसारसे—जिसमें दुःख भी सुखका विचित्र और मोहक रूप धारण करके सामने आते हैं—अनायास ही पार हो जाऊँ॥ ९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! बुद्धिमान् वसुदेवजीने भगवान्‌के स्वरूप और गुण आदिके श्रवणके अभिप्रायसे ही यह प्रश्न किया था। देवर्षि नारद उनका प्रश्न सुनकर भगवान्‌के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणोंके स्मरणमें तन्मय हो गये और प्रेम एवं आनन्दमें भरकर वसुदेवजीसे बोले॥ १०॥

नारदजीने कहा—यदुवंशशिरोमणे! तुम्हारा यह निश्चय बहुत ही सुन्दर है; क्योंकि यह भागवत धर्मके सम्बन्धमें है, जो सारे विश्वको जीवन-दान देनेवाला है, पवित्र करनेवाला है॥ ११॥ वसुदेवजी! यह भागवतधर्म एक ऐसी वस्तु है, जिसे कानोंसे सुनने, वाणीसे उच्चारण करने, चित्तसे स्मरण करने, हृदयसे स्वीकार करने या कोई इसका पालन करने जा रहा हो तो उसका अनुमोदन करनेसे ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है—चाहे वह भगवान्‌का एवं सारे संसारका द्रोही ही क्यों न हो॥ १२॥

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम॥ १३

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः॥ १४

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥ १५

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्॥ १६

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥ १७

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः॥ १८

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः॥ १९

नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः॥ २०

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥ २१

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम्॥ २२

जिनके गुण, लीला और नाम आदिका श्रवण तथा कीर्तन पतितोंको भी पावन करनेवाला है, उन्हीं परम कल्याणस्वरूप मेरे आराध्यदेव भगवान् नारायणका तुमने आज मुझे स्मरण कराया है॥ १३॥ वसुदेवजी! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है, इसके सम्बन्धमें संत पुरुष एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास है—ऋषभके पुत्र नौ योगीश्वरों और महात्मा विदेहका शुभ संवाद॥ १४॥ तुम जानते ही हो कि स्वायम्भुव मनुके एक प्रसिद्ध पुत्र थे प्रियव्रत। प्रियव्रतके आग्नीध्र, आग्नीध्रके नाभि और नाभिके पुत्र हुए ऋषभ॥ १५॥ शास्त्रोंने उन्हें भगवान् वासुदेवका अंश कहा है। मोक्षधर्मका उपदेश करनेके लिये उन्होंने अवतार ग्रहण किया था। उनके सौ पुत्र थे और सब-के-सब वेदोंके पारदर्शी विद्वान् थे॥ १६॥

उनमें सबसे बड़े थे राजर्षि भरत। वे भगवान् नारायणके परम प्रेमी भक्त थे। उन्हींके नामसे यह भूमिखण्ड, जो पहले 'अजनाभवर्ष' कहलाता था, 'भारतवर्ष' कहलाया। यह भारतवर्ष भी एक अलौकिक स्थान है ॥ १७॥ राजर्षि भरतने सारी पृथ्वीका राज्य-भोग किया, परन्तु अन्तमें इसे छोड़कर वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने तपस्याके द्वारा भगवान्‌की उपासना की और तीन जन्मोंमें वे भगवान्‌को प्राप्त हुए॥ १८॥ भगवान् ऋषभदेवजीके शेष निन्यानबे पुत्रोंमें नौ पुत्र तो इस भारतवर्षके सब ओर स्थित नौ द्वीपोंके अधिपति हुए और इक्यासी पुत्र कर्मकाण्डके रचयिता ब्राह्मण हो गये॥ १९॥ शेष नौ संन्यासी हो गये। वे बड़े ही भाग्यवान् थे। उन्होंने आत्मविद्याके सम्पादनमें बड़ा परिश्रम किया था और वास्तवमें वे उसमें बड़े निपुण थे। वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियोंको परमार्थ-वस्तुका उपदेश किया करते थे। उनके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और कर-भाजन॥ २०-२१॥ वे इस कार्य-कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत्‌को अपने आत्मासे अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करते थे॥ २२॥

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान्।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम्॥ २३

उनके लिये कहीं भी रोक-टोक न थी। वे जहाँ चाहते, चले जाते। देवता, सिद्ध, साध्य-गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोकोंमें तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थानोंमें वे स्वच्छन्द विचरते थे। वसुदेवजी! वे सब-के-सब जीवन्मुक्त थे॥ २३॥

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः॥ २४

एक बारकी बात है, इस अजनाभ (भारत) वर्षमें विदेहराज महात्मा निमि बड़े-बड़े ऋषियोंके द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे। पूर्वोक्त नौ योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञमें जा पहुँचे॥ २४॥

तान् दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान् महाभागवतान् नृपः।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे॥ २५

वसुदेवजी! वे योगीश्वर भगवान्के परम प्रेमी भक्त और सूर्यके समान तेजस्वी थे। उन्हें देखकर राजा निमि, आहवनीय आदि मूर्तिमान् अग्नि और ऋत्विज् आदि ब्राह्मण सब-के-सब उनके स्वागतमें खड़े हो गये॥ २५॥

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान्।
प्रीतः सम्पूजयांचक्रे आसनस्थान् यथार्हतः॥ २६

विदेहराज निमिने उन्हें भगवान्के परम प्रेमी भक्त जानकर यथायोग्य आसनोंपर बैठाया और प्रेम तथा आनन्दसे भरकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की॥ २६॥

तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः॥ २७

वे नवों योगीश्वर अपने अंगोंकी कान्तिसे इस प्रकार चमक रहे थे, मानो साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि मुनीश्वर ही हों। राजा निमिने विनयसे झुककर परम प्रेमके साथ उनसे प्रश्न किया॥ २७॥

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि॥ २८

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥ २९

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्संगः शेवधिर्नृणाम्॥ ३०

विदेहराज निमिने कहा—भगवन्! मैं ऐसा समझता हूँ कि आपलोग मधुसूदन भगवान्के पार्षद ही हैं, क्योंकि भगवान्के पार्षद संसारी प्राणियोंको पवित्र करनेके लिये विचरण किया करते हैं॥ २८॥ जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्युका भय सिरपर सवार रहता है, क्योंकि यह क्षणभंगुर है। इसलिये अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्के प्यारे और उनको प्यार करनेवाले भक्तजनोंका, संतोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है॥ २९॥ इसलिये त्रिलोकपावन महात्माओ! हम आपलोगोंसे यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याणका स्वरूप क्या है? और उसका साधन क्या है? इस संसारमें आधे क्षणका सत्संग भी मनुष्योंके लिये परम निधि है॥ ३०॥

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः॥ ३१

योगीश्वरो! यदि हम सुननेके अधिकारी हों तो आप कृपा करके भागवत-धर्मोंका उपदेश कीजिये; क्योंकि उनसे जन्मादि विकारसे रहित, एकरस भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और उन धर्मोंका पालन करनेवाले शरणागत भक्तोंको अपने-आपतकका दान कर डालते हैं॥ ३१॥

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम्॥ ३२

देवर्षि नारदजीने कहा—वसुदेवजी! जब राजा निमिने उन भगवत्प्रेमी संतोंसे यह प्रश्न किया, तब उन लोगोंने बड़े प्रेमसे उनका और उनके प्रश्नका सम्मान किया और सदस्य तथा ऋत्विजोंके साथ बैठे हुए राजा निमिसे बोले॥ ३२॥

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥ ३३

पहले उन नौ योगीश्वरोंमेंसे कविजीने कहा—राजन्! भक्तजनोंके हृदयसे कभी दूर न होनेवाले अच्युत भगवान्के चरणोंकी नित्य-निरन्तर उपासना ही इस संसारमें परम कल्याण—आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भयशून्य है, ऐसा मेरा निश्चित मत है। देह, गेह आदि तुच्छ एवं असत् पदार्थोंमें अहंता एवं ममता हो जानेके कारण जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासनाका अनुष्ठान करनेपर पूर्णतया निवृत्त हो जाता है॥ ३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अंजः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥ ३४

भगवान्ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय स्वयं श्रीमुखसे बतलाये हैं, उन्हें ही 'भागवत धर्म' समझो॥ ३४॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥ ३५

राजन्! इन भागवतधर्मोंका अवलम्बन करके मनुष्य कभी विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता और नेत्र बंद करके दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी न तो मार्गसे स्खलित ही होता है और न तो पतित—फलसे वञ्चित ही होता है॥ ३५॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ ३६

(भागवतधर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका कर्म ही करे।) वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे। (यही सरल-से-सरल, सीधा-सा भागवतधर्म है)॥ ३६॥

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥ ३७

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो-
र्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत् कर्मसंकल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥ ३८

शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसंगः॥ ३९

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ ४०

ईश्वरसे विमुख पुरुषको उनकी मायासे अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृतिसे ही 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ,' इस प्रकारका भ्रम—विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तुमें अभिनिवेश, तन्मयता होनेके कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये अपने गुरुको ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्तिके द्वारा उस ईश्वरका भजन करना चाहिये॥ ३७॥ राजन्! सच पूछो तो भगवान्‌के अतिरिक्त, आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। परन्तु न होनेपर भी इसकी प्रतीति इसका चिन्तन करनेवालेको उसके चिन्तनके कारण, उधर मन लगनेके कारण ही होती है—जैसे स्वप्नके समय स्वप्नद्रष्टाकी कल्पनासे अथवा जाग्रत् अवस्थामें नाना प्रकारके मनोरथोंसे एक विलक्षण ही सृष्टि दीखने लगती है। इसलिये विचारवान् पुरुषको चाहिये कि सांसारिक कर्मोंके सम्बन्धमें संकल्प-विकल्प करनेवाले मनको रोक दे—कैद कर ले। बस, ऐसा करते ही उसे अभय पदकी, परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी॥ ३८॥ संसारमें भगवान्‌के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मंगलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्‌के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये॥ ३९॥ जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत—नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे अनुरागका, प्रेमका अंकुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है। दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है, तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है॥ ४०॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥ ४१

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ ४२

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥ ४३

राजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥ ४४

हरिरुवाच

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ ४५

राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है॥ ४१॥ जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवनशक्तिका संचार) और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक साथ होते जाते हैं; वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है॥ ४२॥ राजन्! इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक वृत्तिके द्वारा भगवान्‌के चरणकमलोंका ही भजन करता है, उसे भगवान्‌के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान्‌के स्वरूपकी स्फूर्ति—ये सब अवश्य ही प्राप्त होते हैं; वह भागवत हो जाता है और जब ये सब प्राप्त हो जाते हैं, तब वह स्वयं परम शान्तिका अनुभव करने लगता है॥ ४३॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वर! अब आप कृपा करके भगवद्भक्तका लक्षण वर्णन कीजिये। उसके क्या धर्म हैं? और कैसा स्वभाव होता है? वह मनुष्योंके साथ व्यवहार करते समय कैसा आचरण करता है? क्या बोलता है? और किन लक्षणोंके कारण भगवान्‌का प्यारा होता है?॥ ४४॥

अब नौ योगीश्वरोंमेंसे दूसरे हरिजी बोले—राजन्! आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं। जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्‌में ही आधेयरूपसे अथवा अध्यस्तरूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकारका जिसका अनुभव है, ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भगवान्‌का परमप्रेमी उत्तम भागवत समझना चाहिये॥ ४५॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ४६

जो भगवान्‌से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुःखी और अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्‌से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भागवत है॥ ४६॥

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ ४७

और जो भगवान्‌के अर्चा-विग्रह—मूर्ति आदिकी पूजा तो श्रद्धासे करता है, परन्तु भगवान्‌के भक्तों या दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह साधारण श्रेणीका भगवद्भक्त है॥ ४७॥

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥ ४८

जो श्रोत्र-नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है; परन्तु अपनी इच्छाके प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान्‌की माया है—वह पुरुष उत्तम भागवत है॥ ४८॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥ ४९

संसारके धर्म हैं—जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्‌की स्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि इनके बार-बार होते-जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है॥ ४९॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥ ५०

जिसके मनमें विषय-भोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीज वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है॥ ५०॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥ ५१

जिनका इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म, तपस्या आदि कर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिसे ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्‌का प्यारा है॥ ५१॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥ ५२

जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें 'यह अपना है और यह पराया'—इस प्रकारका भेद-भाव नहीं रखता, समस्त पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता रहता है, समभाव रखता है तथा किसी भी घटना अथवा संकल्पसे विक्षिप्त न होकर शान्त रहता है, वह भगवान्‌का उत्तम भक्त है॥ ५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥ ५३

राजन्! बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्‌के ऐसे चरणकमलोंसे आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी सन्निधि और सेवामें ही संलग्न रहता है; यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है॥ ५३॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥ ५४

रासलीलाके अवसरपर नृत्य-गतिसे भाँति-भाँतिके पाद-विन्यास करनेवाले निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान्‌के चरणोंके अंगुलि-नखकी मणि-चन्द्रिकासे जिन शरणागत भक्तजनोंके हृदयका विरहजन्य संताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह फिर कैसे आ सकता है, जैसे चन्द्रोदय होनेपर सूर्यका ताप नहीं लग सकता॥ ५४॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥ ५५

विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण अघ-राशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरण-कमलोंको बाँध रखा है, वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भगवान्‌के भक्तोंमें प्रधान है॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

माया, मायासे पार होनेके उपाय तथा ब्रह्म और कर्मयोगका निरूपण

राजोवाच

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम्।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः॥ १

राजा निमिने पूछा—भगवन्! सर्वशक्तिमान् परमकारण विष्णुभगवान्‌की माया बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देती है, उसे कोई पहचान नहीं पाता; (और आप कहते हैं कि भक्त उसे देखा करता है।) अतः अब मैं उस मायाका स्वरूप जानना चाहता हूँ, आपलोग कृपा करके बतलाइये॥ १॥

नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम्।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम्॥ २

योगीश्वरो! मैं एक मृत्युका शिकार मनुष्य हूँ। संसारके तरह-तरहके तापोंने मुझे बहुत दिनोंसे तपा रखा है। आपलोग जो भगवत्कथारूप अमृतका पान करा रहे हैं, वह उन तापोंको मिटानेकी एकमात्र ओषधि है; इसलिये मैं आपलोगोंकी इस वाणीका सेवन करते-करते तृप्त नहीं होता। आप कृपया और कहिये॥ २॥

अन्तरिक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये॥ ३

अब तीसरे योगीश्वर अन्तरिक्षजीने कहा— राजन्! (भगवान्की माया स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, इसलिये उसके कार्योंके द्वारा ही उसका निरूपण होता है।) आदि-पुरुष परमात्मा जिस शक्तिसे सम्पूर्ण भूतोंके कारण बनते हैं और उनके विषय-भोग तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये अथवा अपने उपासकोंकी उत्कृष्ट सिद्धिके लिये स्वनिर्मित पंचभूतोंके द्वारा नाना प्रकारके देव, मनुष्य आदि शरीरोंकी सृष्टि करते हैं, उसीको माया कहते हैं॥ ३॥

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पंचधातुभिः।
एकधा दशधाऽऽत्मानं विभजंजुषते गुणान्॥ ४

इस प्रकार पंचमहाभूतोंके द्वारा बने हुए प्राणि-शरीरोंमें उन्होंने अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश किया और अपनेको ही पहले एक मनके रूपमें और इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दस रूपोंमें विभक्त कर दिया तथा उन्हींके द्वारा विषयोंका भोग कराने लगे॥ ४॥

गुणैर्गुणान् स भुंजान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते॥ ५

वह देहाभिमानी जीव अन्तर्यामीके द्वारा प्रकाशित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करता है और इस पंचभूतोंके द्वारा निर्मित शरीरको आत्मा—अपना स्वरूप मानकर उसीमें आसक्त हो जाता है। (यह भगवान्की माया है)॥ ५॥

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत्।
तत्तत् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्॥ ६

अब वह कर्मेन्द्रियोंसे सकाम कर्म करता है और उनके अनुसार शुभ कर्मका फल सुख और अशुभ कर्मका फल दुःख भोग करने लगता है और शरीरधारी होकर इस संसारमें भटकने लगता है। यह भगवान्की माया है॥ ६॥

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान्।
आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः॥ ७

इस प्रकार यह जीव ऐसी अनेक अमंगलमय कर्मगतियोंको, उनके फलोंको प्राप्त होता है और महाभूतोंके प्रलयपर्यन्त विवश होकर जन्मके बाद मृत्यु और मृत्युके बाद जन्मको प्राप्त होता रहता है—यह भगवान्की माया है॥ ७॥

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम्।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति॥ ८

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति॥ ९

पातालतलमारभ्य संकर्षणमुखानलः।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः॥ १०

सांवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट्॥ ११

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः॥ १२

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते॥ १३

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते॥ १४

कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप।
प्रविशन्ति ह्यहंकारं स्वगुणैरहमात्मनि॥ १५

जब पंचभूतोंके प्रलयका समय आता है, तब अनादि और अनन्त काल स्थूल तथा सूक्ष्म द्रव्य एवं गुणरूप इस समस्त व्यक्त सृष्टिको अव्यक्तकी ओर, उसके मूल कारणकी ओर खींचता है—यह भगवान्‌की माया है॥ ८॥ उस समय पृथ्वीपर लगातार सौ वर्षतक भयंकर सूखा पड़ता है, वर्षा बिलकुल नहीं होती; प्रलयकालकी शक्तिसे सूर्यकी उष्णता और भी बढ़ जाती है तथा वे तीनों लोकोंको तपाने लगते हैं—यह भगवान्‌की माया है॥ ९॥ उस समय शेषनाग—संकर्षणके मुँहसे आगकी प्रचण्ड लपटें निकलती हैं और वायुकी प्रेरणासे वे लपटें पाताललोकसे जलाना आरम्भ करती हैं तथा और भी ऊँची-ऊँची होकर चारों ओर फैल जाती हैं—यह भगवान्‌की माया है॥ १०॥ इसके बाद प्रलयकालीन सांवर्तक मेघगण हाथीकी सूँडके समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्षतक बरसता रहता है। उससे यह विराट् ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाता है—यह भगवान्‌की माया है॥ ११॥ राजन्! उस समय जैसे बिना ईंधनके आग बुझ जाती है, वैसे ही विराट् पुरुष ब्रह्मा अपने ब्रह्माण्ड-शरीरको छोड़कर सूक्ष्मस्वरूप अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं—यह भगवान्‌की माया है॥ १२॥ वायु पृथ्वीकी गन्ध खींच लेती है, जिससे वह जलके रूपमें हो जाती है और जब वही वायु जलके रसको खींच लेती है, तब वह जल अपना कारण अग्नि बन जाता है—यह भगवान्‌की माया है॥ १३॥ जब अन्धकार अग्निका रूप छीन लेता है, तब वह अग्नि वायुमें लीन हो जाती है और जब अवकाशरूप आकाश वायुकी स्पर्श-शक्ति छीन लेता है, तब वह आकाशमें लीन हो जाता है—यह भगवान्‌की माया है॥ १४॥ राजन्! तदनन्तर कालरूप ईश्वर आकाशके शब्द गुणको हरण कर लेता है जिससे वह तामस अहंकारमें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ और बुद्धि राजस अहंकारमें लीन होती हैं। मन सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न देवताओंके साथ सात्त्विक अहंकारमें प्रवेश कर जाता है तथा अपने तीन प्रकारके कार्योंके साथ अहंकार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है। महत्तत्त्व प्रकृतिमें और प्रकृति ब्रह्ममें लीन होती है। फिर इसीके उलटे क्रमसे सृष्टि होती है—यह भगवान्‌की माया है॥ १५॥

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १६

यह सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाली त्रिगुणमयी माया है। इसका हमने आपसे वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?॥ १६॥

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यंजः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम्॥ १७

राजा निमिने पूछा— महर्षिजी! इस भगवान्‌की मायाको पार करना उन लोगोंके लिये तो बहुत ही कठिन है, जो अपने मनको वशमें नहीं कर पाये हैं। अब आप कृपा करके यह बताइये कि जो लोग शरीर आदिमें आत्मबुद्धि रखते हैं तथा जिनकी समझ मोटी है, वे भी अनायास ही इसे कैसे पार कर सकते हैं?॥ १७॥

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥ १८

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः॥ १९

एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम्॥ २०

अब चौथे योगीश्वर प्रबुद्धजी बोले— राजन्! स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आदि बन्धनोंमें बँधे हुए संसारी मनुष्य सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये बड़े-बड़े कर्म करते रहते हैं। जो पुरुष मायाके पार जाना चाहता है, उसको विचार करना चाहिये कि उनके कर्मोंका फल किस प्रकार विपरीत होता जाता है। वे सुखके बदले दुःख पाते हैं और दुःख-निवृत्तिके स्थानपर दिनोंदिन दुःख बढ़ता ही जाता है॥ १८॥ एक धनको ही लो। इससे दिन-पर-दिन दुःख बढ़ता ही है, इसको पाना भी कठिन है और यदि किसी प्रकार मिल भी जाय तो आत्माके लिये तो यह मृत्युस्वरूप ही है। जो इसकी उलझनोंमें पड़ जाता है, वह अपने-आपको भूल जाता है। इसी प्रकार घर, पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, पशुधन आदि भी अनित्य और नाशवान् ही हैं; यदि कोई इन्हें जुटा भी ले तो इनसे क्या सुख-शान्ति मिल सकती है?॥ १९॥ इसी प्रकार जो मनुष्य मायासे पार जाना चाहता है, उसे यह भी समझ लेना चाहिये कि मरनेके बाद प्राप्त होनेवाले लोक-परलोक भी ऐसे ही नाशवान् हैं। क्योंकि इस लोककी वस्तुओंके समान वे भी कुछ सीमित कर्मोंके सीमित फलमात्र हैं। वहाँ भी पृथ्वीके छोटे-छोटे राजाओंके समान बराबरवालोंसे होड़ अथवा लाग-डाँट रहती है, अधिक ऐश्वर्य और सुखवालोंके प्रति छिद्रान्वेषण तथा ईर्ष्या-द्वेषका भाव रहता है, कम सुख और ऐश्वर्यवालोंके प्रति घृणा रहती है एवं कर्मोंका फल पूरा हो जानेपर वहाँसे पतन तो होता ही है। उसका नाश निश्चित है। नाशका भय वहाँ भी नहीं छूट पाता॥ २०॥

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ २१

इसलिये जो परम कल्याणका जिज्ञासु हो, उसे गुरुदेवकी शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों, जो शब्दब्रह्म—वेदोंके पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे ठीक-ठीक समझा सकें; और साथ ही परब्रह्ममें परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभवके द्वारा प्राप्त हुई रहस्यकी बातोंको बता सकें। उनका चित्त शान्त हो, व्यवहारके प्रपंचमें विशेष प्रवृत्त न हो॥ २१॥

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥ २२

जिज्ञासुको चाहिये कि गुरुको ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपटभावसे सेवा करे और उनके पास रहकर भागवतधर्मकी—भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले भक्ति-भावके साधनोंकी क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनोंसे सर्वात्मा एवं भक्तको अपने आत्माका दान करनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं॥ २२॥

सर्वतो मनसोऽसंगमादौ संगं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥ २३

पहले शरीर, सन्तान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे। फिर भगवान्‌के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे॥ २३॥

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥ २४

मिट्टी, जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखे॥ २४॥

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥ २५

सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतनरूपसे आत्मा और नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्तसेवन, 'यही मेरा घर है'—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ हो तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे-पुराने पवित्र चिथड़े, जो कुछ प्रारब्धके अनुसार मिल जाय, उसीमें सन्तोष करना सीखे॥ २५॥

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि॥ २६

भगवान्‌की प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा और दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, प्राणायामके द्वारा मनका, मौनके द्वारा वाणीका और वासनाहीनताके अभ्याससे कर्मोंका संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर रखना और मनको कहीं बाहर न जाने देना सीखे॥ २६॥

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥ २७

राजन्! भगवान्‌की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब भगवान्‌के लिये करना सीखे॥ २७॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्॥ २८

यज्ञ, दान, तप अथवा जप, सदाचारका पालन और स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो—सब-का-सब भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करना उन्हें सौंप देना सीखे॥ २८॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥ २९

जिन संत पुरुषोंने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका अपने आत्मा और स्वामीके रूपमें साक्षात्कार कर लिया हो, उनसे प्रेम और स्थावर, जंगम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा; विशेष करके मनुष्योंकी, मनुष्योंमें भी परोपकारी सज्जनोंकी और उनमें भी भगवत्प्रेमी संतोंकी करना सीखे॥ २९॥

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥ ३०

भगवान्‌के परम पावन यशके सम्बन्धमें ही एक-दूसरेसे बातचीत करना और इस प्रकारके साधकोंका इकट्ठे होकर आपसमें प्रेम करना, आपसमें सन्तुष्ट रहना और प्रपंचसे निवृत्त होकर आपसमें ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करना सीखे॥ ३०॥

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥ ३१

राजन्! श्रीकृष्ण राशि-राशि पापोंको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं। सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करावें। इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेकसे पुलकित-शरीर धारण करते हैं॥ ३१॥

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ ३२

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामंजस्तरति दुस्तराम्॥ ३३

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः॥ ३४

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥ ३५

उनके हृदयकी बड़ी विलक्षण स्थिति होती है। कभी-कभी वे इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं कि अबतक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किसे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे? इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं तो कभी भगवान्की लीलाकी स्फूर्ति हो जानेसे ऐसा देखकर कि परमैश्वर्यशाली भगवान् गोपियोंके डरसे छिपे हुए हैं, खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी-कभी उनके प्रेम और दर्शनकी अनुभूतिसे आनन्दमग्न हो जाते हैं तो कभी लोकातीत भावमें स्थित होकर भगवान्के साथ बातचीत करने लगते हैं। कभी मानो उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणोंका गान छेड़ देते हैं और कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाने लगते हैं। कभी-कभी उन्हें अपने पास न पाकर इधर-उधर ढूँढ़ने लगते हैं तो कभी-कभी उनसे एक होकर, उनकी सन्निधिमें स्थित होकर परम शान्तिका अनुभव करते और चुप हो जाते हैं॥ ३२॥ राजन्! जो इस प्रकार भागवतधर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान् नारायणके परायण होकर उस मायाको अनायास ही पार कर जाता है, जिसके पंजेसे निकलना बहुत ही कठिन है॥ ३३॥

राजा निमिने पूछा—महर्षियो! आपलोग परमात्माका वास्तविक स्वरूप जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये मुझे यह बतलाइये कि जिस परब्रह्म परमात्माका 'नारायण' नामसे वर्णन किया जाता है, उनका स्वरूप क्या है?॥ ३४॥

अब पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायनजीने कहा—राजन्! जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त-कारण और उपादान-कारण दोनों ही है, बननेवाला भी है और बनानेवाला भी—परन्तु स्वयं कारणरहित है; जो स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओंमें उनके साक्षीके रूपमें विद्यमान रहता है और उनके अतिरिक्त समाधिमें भी ज्यों-का-त्यों एकरस रहता है; जिसकी सत्तासे ही सत्तावान् होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपना-अपना काम करनेमें समर्थ होते हैं, उसी परम सत्य वस्तुको आप 'नारायण' समझिये॥ ३५॥

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥ ३६

जैसे चिनगारियाँ न तो अग्निको प्रकाशित ही कर सकती हैं और न जला ही सकती हैं, वैसे ही उस परमतत्त्वमें—आत्मस्वरूपमें न तो मनकी गति है और न वाणीकी, नेत्र उसे देख नहीं सकते और बुद्धि सोच नहीं सकती, प्राण और इन्द्रियाँ तो उसके पासतक नहीं फटक पातीं। 'नेति-नेति'—इत्यादि श्रुतियोंके शब्द भी वह यह है—इस रूपमें उसका वर्णन नहीं करते, बल्कि उसको बोध करानेवाले जितने भी साधन हैं, उनका निषेध करके तात्पर्यरूपसे अपना मूल—निषेधका मूल लक्षित करा देते हैं; क्योंकि यदि निषेधके आधारकी, आत्माकी सत्ता न हो तो निषेध कौन कर रहा है, निषेधकी वृत्ति किसमें है—इन प्रश्नोंका कोई उत्तर ही न रहे, निषेधकी ही सिद्धि न हो॥ ३६॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्॥ ३७

जब सृष्टि नहीं थी, तब केवल एक वही था। सृष्टिका निरूपण करनेके लिये उसीको त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम)-मयी प्रकृति कहकर वर्णन किया गया। फिर उसीको ज्ञानप्रधान होनेसे महत्तत्त्व, क्रियाप्रधान होनेसे सूत्रात्मा और जीवकी उपाधि होनेसे अहंकारके रूपमें वर्णन किया गया। वास्तवमें जितनी भी शक्तियाँ हैं—चाहे वे इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंके रूपमें हों, चाहे इन्द्रियोंके, उनके विषयोंके अथवा विषयोंके प्रकाशके रूपमें हों—सब-का-सब वह ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्मकी शक्ति अनन्त है। कहाँतक कहूँ? जो कुछ दृश्य-अदृश्य, कार्य-कारण, सत्य और असत्य है—सब कुछ ब्रह्म है। इनसे परे जो कुछ है, वह भी ब्रह्म ही है॥ ३७॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥ ३८

वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है। वह न तो बढ़ता है और न घटता ही है। जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं—चाहे वे क्रिया, संकल्प और उनके अभावके रूपमें ही क्यों न हों—सबकी भूत, भविष्यत् और वर्तमान सत्ताका वह साक्षी है। सबमें है। देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, अविनाशी है। वह उपलब्धि करनेवाला अथवा उपलब्धिका विषय नहीं है। केवल उपलब्धिस्वरूप—ज्ञानस्वरूप है। जैसे प्राण तो एक ही रहता है, परन्तु स्थानभेदसे उसके अनेक नाम हो जाते हैं—वैसे ही ज्ञान एक होनेपर भी इन्द्रियोंके सहयोगसे उसमें अनेकताकी कल्पना हो जाती है॥ ३८॥

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥ ३९

जगत्में चार प्रकारके जीव होते हैं—अंडा फोड़कर पैदा होनेवाले पक्षी-साँप आदि, नालमें बँधे पैदा होनेवाले पशु-मनुष्य, धरती फोड़कर निकलनेवाले वृक्ष-वनस्पति और पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले खटमल आदि। इन सभी जीव-शरीरोंमें प्राणशक्ति जीवके पीछे लगी रहती है। शरीरोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राण एक ही रहता है। सुषुप्ति-अवस्थामें जब इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, अहंकार भी सो जाता है—लीन हो जाता है, अर्थात् लिंगशरीर नहीं रहता, उस समय यदि कूटस्थ आत्मा भी न हो तो इस बातकी पीछेसे स्मृति ही कैसे हो कि मैं सुखसे सोया था। पीछे होनेवाली यह स्मृति ही उस समय आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करती है॥ ३९॥

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥ ४०

जब भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र भक्ति की जाती है तब वह भक्ति ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है—जैसे नेत्रोंके निर्विकार हो जानेपर सूर्यके प्रकाशकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है॥ ४०॥

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्॥ ४१

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो! अब आपलोग हमें कर्मयोगका उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध होकर मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र परम नैष्कर्म्य अर्थात् कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलकी निवृत्ति करनेवाला ज्ञान प्राप्त करता है॥ ४१॥

एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके।
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम्॥ ४२

एक बार यही प्रश्न मैंने अपने पिता महाराज इक्ष्वाकुके सामने ब्रह्माजीके मानस पुत्र सनकादि ऋषियोंसे पूछा था, परन्तु उन्होंने सर्वज्ञ होनेपर भी मेरे प्रश्नका उत्तर न दिया। इसका क्या कारण था? कृपा करके मुझे बतलाइये॥ ४२॥

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥ ४३

अब छठे योगीश्वर आविर्होत्रजीने कहा—राजन्! कर्म (शास्त्रविहित), अकर्म (निषिद्ध) और विकर्म (विहितका उल्लंघन)—ये तीनों एकमात्र वेदके द्वारा जाने जाते हैं, इनकी व्यवस्था लौकिक रीतिसे नहीं होती। वेद अपौरुषेय हैं—ईश्वररूप हैं; इसलिये उनके तात्पर्यका निश्चय करना बहुत कठिन है। इसीसे बड़े-बड़े विद्वान् भी उनके अभिप्रायका निर्णय करनेमें भूल कर बैठते हैं। (इसीसे तुम्हारे बचपनकी ओर देखकर—तुम्हें अनधिकारी समझकर सनकादि ऋषियोंने तुम्हारे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया)॥ ४३॥

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥ ४४

यह वेद परोक्षवादात्मक* है। यह कर्मोंकी निवृत्तिके लिये कर्मका विधान करता है, जैसे बालकको मिठाई आदिका लालच देकर औषध खिलाते हैं, वैसे ही यह अनभिज्ञोंको स्वर्ग आदिका प्रलोभन देकर श्रेष्ठ कर्ममें प्रवृत्त करता है॥ ४४॥

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥ ४५

जिसका अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वह यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परित्याग कर देता है, तो वह विहित कर्मोंका आचरण न करनेके कारण विकर्मरूप अधर्म ही करता है। इसलिये वह मृत्युके बाद फिर मृत्युको प्राप्त होता है॥ ४५॥

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥ ४६

इसलिये फलकी अभिलाषा छोड़कर और विश्वात्मा भगवान्‌को समर्पित कर जो वेदोक्त कर्मका ही अनुष्ठान करता है, उसे कर्मोंकी निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है। जो वेदोंमें स्वर्गादिरूप फलका वर्णन है, उसका तात्पर्य फलकी सत्यतामें नहीं है, वह तो कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करानेके लिये है॥ ४६॥

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥ ४७

राजन्! जो पुरुष चाहता है कि शीघ्र-से-शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्माकी हृदय-ग्रन्थि—मैं और मेरेकी कल्पित गाँठ खुल जाय, उसे चाहिये कि वह वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पद्धतियोंसे भगवान्‌की आराधना करे॥ ४७॥

लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः ॥ ४८

पहले सेवा आदिके द्वारा गुरुदेवकी दीक्षा प्राप्त करे, फिर उनके द्वारा अनुष्ठानकी विधि सीखे; अपनेको भगवान्‌की जो मूर्ति प्रिय लगे, अभीष्ट जान पड़े, उसीके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान्‌की पूजा करे॥ ४८॥

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः।
पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम्॥ ४९

पहले स्नानादिसे शरीर और सन्तोष आदिसे अन्तः-करणको शुद्ध करे, इसके बाद भगवान्‌की मूर्तिके सामने बैठकर प्राणायाम आदिके द्वारा भूतशुद्धि—नाडी-शोधन करे, तत्पश्चात् विधिपूर्वक मन्त्र, देवता आदिके न्याससे अंगरक्षा करके भगवान्‌की पूजा करे॥ ४९॥

* जिसमें शब्दार्थ कुछ और मालूम दे और तात्पर्यार्थ कुछ और हो—उसे परोक्षवाद कहते हैं।

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः।
द्रव्यक्षित्यात्मलिंगानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम्॥ ५०

पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत्॥ ५१

पहले पुष्प आदि पदार्थोंका जन्तु आदि निकालकर, पृथ्वीको सम्मार्जन आदिसे, अपनेको अव्यग्र होकर और भगवान्‌की मूर्तिको पहलेहीकी पूजाके लगे हुए पदार्थोंके क्षालन आदिसे पूजाके योग्य बनाकर फिर आसनपर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़ककर पाद्य, अर्घ्य आदि पात्रोंको स्थापित करे। तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर हृदयमें भगवान्‌का ध्यान करके फिर उसे सामनेकी श्रीमूर्तिमें चिन्तन करे। तदनन्तर हृदय, सिर, शिखा (**हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा**) इत्यादि मन्त्रोंसे न्यास करे और अपने इष्टदेवके मूलमन्त्रके द्वारा देश, काल आदिके अनुकूल प्राप्त पूजा-सामग्रीसे प्रतिमा आदिमें अथवा हृदयमें भगवान्‌की पूजा करे॥ ५०-५१॥

सांगोपांगां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः॥ ५२

गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः।
सांगं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥ ५३

अपने-अपने उपास्यदेवके विग्रहकी हृदयादि अंग, आयुधादि उपांग और पार्षदोंसहित उसके मूलमन्त्रद्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, दधि-अक्षतके* तिलक, माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदिसे विधिवत् पूजा करे तथा फिर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करे॥ ५२-५३॥

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम्॥ ५४

अपने-आपको भगवन्मय ध्यान करते हुए ही भगवान्‌की मूर्तिका पूजन करना चाहिये। निर्माल्यको अपने सिरपर रखे और आदरके साथ भगवद्विग्रहको यथास्थान स्थापित कर पूजा समाप्त करनी चाहिये॥ ५४॥

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥ ५५

इस प्रकार जो पुरुष अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और अपने हृदयमें आत्मरूप श्रीहरिकी पूजा करता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

---

* विष्णुभगवान्‌की पूजामें अक्षतोंका प्रयोग केवल तिलकालंकारमें ही करना चाहिये, पूजामें नहीं—'नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम्।'

अथ चतुर्थोऽध्यायः
भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः॥ १

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो! भगवान् स्वतन्त्रतासे अपने भक्तोंकी भक्तिके वश होकर अनेकों प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और अनेकों लीलाएँ करते हैं। आपलोग कृपा करके भगवान्‌की उन लीलाओंका वर्णन कीजिये, जो वे अबतक कर चुके हैं, कर रहे हैं या करेंगे॥ १॥

द्रुमिल उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥ २

भूतैर्यदा पंचभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः॥ ३

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता॥ ४

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।

अब सातवें योगीश्वर द्रुमिलजीने कहा—राजन्! भगवान् अनन्त हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं। जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणोंको गिन लूँगा, वह मूर्ख है, बालक है। यह तो सम्भव है कि कोई किसी प्रकार पृथ्वीके धूलि-कणोंको गिन ले, परन्तु समस्त शक्तियोंके आश्रय भगवान्‌के अनन्त गुणोंका कोई कभी किसी प्रकार पार नहीं पा सकता॥ २॥ भगवान्‌ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इन पाँच भूतोंकी अपने-आपसे अपने-आपमें सृष्टि की है। जब वे इनके द्वारा विराट् शरीर, ब्रह्माण्डका निर्माण करके उसमें लीलासे अपने अंश अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं, (भोक्तारूपसे नहीं, क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्योंके फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदिदेव नारायणको 'पुरुष' नामसे कहते हैं, यही उनका पहला अवतार है॥ ३॥ उन्हींके इस विराट् ब्रह्माण्ड शरीरमें तीनों लोक स्थित हैं। उन्हींकी इन्द्रियोंसे समस्त देहधारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं। उनके स्वरूपसे ही स्वतःसिद्ध ज्ञानका संचार होता है। उनके श्वास-प्रश्वाससे सब शरीरोंमें बल आता है तथा इन्द्रियोंमें ओज (इन्द्रियोंकी शक्ति) और कर्म करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। उन्हींके सत्त्व आदि गुणोंसे संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। इस विराट् शरीरके जो शरीरी हैं, वे ही आदिकर्ता नारायण हैं॥ ४॥ पहले-पहल जगत्‌की उत्पत्तिके लिये उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा हुए, फिर वे आदिपुरुष ही संसारकी स्थितिके लिये अपने सत्त्वांशसे धर्म तथा ब्राह्मणोंके रक्षक यज्ञपति विष्णु

रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु॥ ५

बन गये। फिर वे ही तमोगुणके अंशसे जगत्‌के संहारके लिये रुद्र बने। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे परिवर्तनशील प्रजाकी उत्पत्ति-स्थिति और संहार होते रहते हैं॥ ५॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः॥ ६

दक्ष प्रजापतिकी एक कन्याका नाम था मूर्ति। वह धर्मकी पत्नी थी। उसके गर्भसे भगवान्‌ने ऋषिश्रेष्ठ शान्तात्मा 'नर' और 'नारायण' के रूपमें अवतार लिया । उन्होंने आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाले उस भगवदाराधनरूप कर्मका उपदेश किया, जो वास्तवमें कर्मबन्धनसे छुड़ानेवाला और नैष्कर्म्य स्थितिको प्राप्त करानेवाला है। उन्होंने स्वयं भी वैसे ही कर्मका अनुष्ठान किया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके चरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं। वे आज भी बदरिकाश्रममें उसी कर्मका आचरण करते हुए विराजमान हैं॥ ६॥

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम्।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः॥ ७

ये अपनी घोर तपस्याके द्वारा मेरा धाम छीनना चाहते हैं—इन्द्रने ऐसी आशंका करके स्त्री, वसन्त आदि दल-बलके साथ कामदेवको उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये भेजा। कामदेवको भगवान्‌की महिमाका ज्ञान न था; इसलिये वह अप्सरागण, वसन्त तथा मन्द-सुगन्ध वायुके साथ बदरिकाश्रममें जाकर स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे उन्हें घायल करनेकी चेष्टा करने लगा॥ ७॥

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान्।
मा भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम्॥ ८

आदिदेव नर-नारायणने यह जानकर कि यह इन्द्रका कुचक्र है, भयसे काँपते हुए काम आदिकोंसे हँसकर कहा—उस समय उनके मनमें किसी प्रकारका अभिमान या आश्चर्य नहीं था। 'कामदेव, मलय-मारुत और देवांगनाओ! तुमलोग डरो मत; हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। अभी यहीं ठहरो, हमारा आश्रम सूना मत करो'॥ ८॥

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः।
नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे॥ ९

राजन्! जब नर-नारायण ऋषिने उन्हें अभयदान देते हुए इस प्रकार कहा, तब कामदेव आदिके सिर लज्जासे झुक गये। उन्होंने दयालु भगवान् नर-नारायणसे कहा—'प्रभो! आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि आप मायासे परे और निर्विकार हैं। बड़े-बड़े आत्माराम और धीर पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंमें प्रणाम करते रहते हैं॥ ९॥

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि॥ १०

आपके भक्त आपकी भक्तिके प्रभावसे देवताओंकी राजधानी अमरावतीका उल्लंघन करके आपके परम-पदको प्राप्त होते हैं। इसलिये जब वे भजन करने लगते हैं, तब देवतालोग तरह-तरहसे उनकी साधनामें विघ्न डालते हैं। किन्तु जो लोग केवल कर्मकाण्डमें लगे रहकर यज्ञादिके द्वारा देवताओंको बलिके रूपमें उनका भाग देते रहते हैं, उन लोगोंके मार्गमें वे किसी प्रकारका विघ्न नहीं डालते। परन्तु प्रभो! आपके भक्तजन उनके द्वारा उपस्थित की हुई विघ्न-बाधाओंसे गिरते नहीं। बल्कि आपके करकमलोंकी छत्रछायामें रहते हुए वे विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर आगे बढ़ जाते हैं, अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते॥ १०॥

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्या-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥ ११

बहुत-से लोग तो ऐसे होते हैं जो भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी एवं आँधी-पानीके कष्टोंको तथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियके वेगोंको, जो अपार समुद्रोंके समान हैं, सह लेते हैं—पार कर जाते हैं। परन्तु फिर भी वे उस क्रोधके वशमें हो जाते हैं, जो गायके खुरसे बने गड्ढेके समान है और जिससे कोई लाभ नहीं है—आत्मनाशक है। और प्रभो! वे इस प्रकार अपनी कठिन तपस्याको खो बैठते हैं॥ ११॥

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः।
दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः॥ १२

जब कामदेव, वसन्त आदि देवताओंने इस प्रकार स्तुति की तब सर्वशक्तिमान् भगवान्ने अपने योगबलसे उनके सामने बहुत-सी ऐसी रमणियाँ प्रकट करके दिखलायीं, जो अद्भुत रूप-लावण्यसे सम्पन्न और विचित्र वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित थीं तथा भगवान्की सेवा कर रही थीं॥ १२॥

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः॥ १३

जब देवराज इन्द्रके अनुचरोंने उन लक्ष्मीजीके समान रूपवती स्त्रियोंको देखा, तब उनके महान् सौन्दर्यके सामने उनका चेहरा फीका पड़ गया, वे श्रीहीन होकर उनके शरीरसे निकलनेवाली दिव्य सुगन्धसे मोहित हो गये॥ १३॥

तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम्॥ १४

अब उनका सिर झुक गया। देवदेवेश भगवान् नारायण हँसते हुए-से उनसे बोले—'तुमलोग इनमेंसे किसी एक स्त्रीको, जो तुम्हारे अनुरूप हो, ग्रहण कर लो। वह तुम्हारे स्वर्ग-लोककी शोभा बढ़ानेवाली होगी॥ १४॥

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः॥ १५

देवराज इन्द्रके अनुचरोंने 'जो आज्ञा' कहकर भगवान्के आदेशको स्वीकार किया तथा उन्हें नमस्कार किया। फिर उनके द्वारा बनायी हुई स्त्रियोंमेंसे श्रेष्ठ अप्सरा

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम्।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः॥ १६

उर्वशीको आगे करके वे स्वर्गलोकमें गये॥ १५॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने इन्द्रको नमस्कार किया तथा भरी सभामें देवताओंके सामने भगवान् नर-नारायणके बल और प्रभावका वर्णन किया। उसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त भयभीत और चकित हो गये॥ १६॥

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये॥ १७

भगवान् विष्णुने अपने स्वरूपमें एकरस स्थित रहते हुए भी सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिये बहुत-से कलावतार ग्रहण किये हैं। विदेहराज! हंस, दत्तात्रेय, सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार और हमारे पिता ऋषभके रूपमें अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कारके साधनोंका उपदेश किया है। उन्होंने ही हयग्रीव-अवतार लेकर मधु-कैटभ नामक असुरोंका संहार करके उन लोगोंके द्वारा चुराये हुए वेदोंका उद्धार किया है॥ १७॥ प्रलयके समय मत्स्यावतार लेकर उन्होंने भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी और ओषधियोंकी—धान्यादिकी रक्षा की और वराहावतार ग्रहण करके पृथ्वीका रसातलसे उद्धार करते समय हिरण्याक्षका संहार किया। कूर्मावतार ग्रहण करके उन्हीं भगवान्ने अमृत-मन्थनका कार्य सम्पन्न करनेके लिये अपनी पीठपर मन्दराचल धारण किया और उन्हीं भगवान् विष्णुने अपने शरणागत एवं आर्त भक्त गजेन्द्रको ग्राहसे छुड़ाया॥ १८॥

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम्।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम्॥ १८

एक बार वालखिल्य ऋषि तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषिके लिये समिधा ला रहे थे तो थककर गायके खुरसे बने हुए गड्ढेमें गिर पड़े, मानो समुद्रमें गिर गये हों। उन्होंने जब स्तुति की, तब भगवान्ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया। वृत्रासुरको मारनेके कारण जब इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी और वे उसके भयसे भागकर छिप गये, तब भगवान्ने उस हत्यासे इन्द्रकी रक्षा की; और जब असुरोंने अनाथ देवांगनाओंको बंदी बना लिया, तब भी भगवान्ने ही उन्हें असुरोंके चंगुलसे छुड़ाया। जब हिरण्यकशिपुके कारण प्रह्लाद आदि संत पुरुषोंको भय पहुँचने लगा तब उनको निर्भय करनेके लिये भगवान्ने नृसिंहावतार ग्रहण किया और हिरण्यकशिपुको मार डाला॥ १९॥

संस्तुन्वतोऽब्धिपतिताञ्छ्रमणानृषींश्च
शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम्।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे॥ १९

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां
याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः॥ २०

उन्होंने देवताओंकी रक्षाके लिये देवासुर संग्राममें दैत्यपतियोंका वध किया और विभिन्न मन्वन्तरोंमें अपनी शक्तिसे अनेकों कलावतार धारण करके त्रिभुवनकी रक्षा की। फिर वामन-अवतार ग्रहण करके उन्होंने याचनाके बहाने इस पृथ्वीको दैत्यराज बलिसे छीन लिया और अदितिनन्दन देवताओंको दे दिया॥ २०॥

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः॥ २१

परशुराम-अवतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन किया। परशुरामजी तो हैहय-वंशका प्रलय करनेके लिये मानो भृगुवंशमें अग्नि रूपसे ही अवतीर्ण हुए थे। उन्हीं भगवान्ने रामावतारमें समुद्रपर पुल बाँधा एवं रावण और उसकी राजधानी लंकाको मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति समस्त लोकोंके मलको नष्ट करनेवाली है। सीतापति भगवान् राम सदा-सर्वदा, सर्वत्र विजयी-ही-विजयी हैं॥ २१॥

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते॥ २२

राजन्! अजन्मा होनेपर भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये वे ही भगवान् यदुवंशमें जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते। फिर आगे चलकर भगवान् ही बुद्धके रूपमें प्रकट होंगे और यज्ञके अनधिकारियोंको यज्ञ करते देखकर अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कोंसे मोहित कर लेंगे और कलियुगके अन्तमें कल्कि-अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओंका वध करेंगे॥ २२॥

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज॥ २३

महाबाहु विदेहराज! भगवान्की कीर्ति अनन्त है। महात्माओंने जगत्पति भगवान्के ऐसे-ऐसे अनेकों जन्म और कर्मोंका प्रचुरतासे गान भी किया है॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्‌की पूजाविधिका वर्णन

राजोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम्॥ १

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो! आपलोग तो श्रेष्ठ आत्मज्ञानी और भगवान्के परमभक्त हैं। कृपा करके यह बतलाइये कि जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुई हैं, लौकिक-पारलौकिक भोगोंकी लालसा मिटी नहीं है और मन एवं इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं हैं तथा जो प्रायः भगवान्का भजन भी नहीं करते, ऐसे लोगोंकी क्या गति होती है?॥ १॥

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥ २

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥ ३

दूरेहरिकथाः केचिद् दूरेचाच्युतकीर्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्॥ ४

विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः॥ ५

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥ ६

रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥ ७

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः।

अब आठवें योगीश्वर चमसजीने कहा— राजन्! विराट् पुरुषके मुखसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व-रजप्रधान क्षत्रिय, जाँघोंसे रज-तम-प्रधान वैश्य और चरणोंसे तम:प्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी जाँघोंसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्ष:स्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं। इन चारों वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता स्वयं भगवान् ही हैं। वही इनके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं। इसलिये इन वर्ण और आश्रममें रहनेवाला जो मनुष्य भगवान्का भजन नहीं करता, बल्कि उलटा उनका अनादर करता है, वह अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य-योनिसे भी च्युत हो जाता है; उसका अध:पतन हो जाता है॥ २-३॥ बहुत-सी स्त्रियाँ और शूद्र आदि भगवान्की कथा और उनके नामकीर्तन आदिसे कुछ दूर पड़ गये हैं। वे आप-जैसे भगवद्भक्तोंकी दयाके पात्र हैं। आपलोग उन्हें कथा-कीर्तनकी सुविधा देकर उनका उद्धार करें॥ ४॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्मसे, वेदाध्ययनसे तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंसे भगवान्के चरणोंके निकटतक पहुँच चुके हैं। फिर भी वे वेदोंका असली तात्पर्य न समझकर अर्थवादमें लगकर मोहित हो जाते हैं॥ ५॥ उन्हें कर्मका रहस्य मालूम नहीं है। मूर्ख होनेपर भी वे अपनेको पण्डित मानते हैं और अभिमानमें अकड़े रहते हैं। वे मीठी-मीठी बातोंमें भूल जाते हैं और केवल वस्तु-शून्य शब्द-माधुरीके मोहमें पड़कर चटकीली-भड़कीली बातें कहा करते हैं॥ ६॥ रजोगुणकी अधिकताके कारण उनके संकल्प बड़े घोर होते हैं। कामनाओंकी तो सीमा ही नहीं रहती, उनका क्रोध भी ऐसा होता है जैसे साँपका, बनावट और घमंडसे उन्हें प्रेम होता है। वे पापीलोग भगवान्के प्यारे भक्तोंकी हँसी उड़ाया करते हैं॥ ७॥ वे मूर्ख बड़े-बूढ़ोंकी नहीं, स्त्रियोंकी उपासना करते हैं। यही नहीं, वे परस्पर इकट्ठे होकर उस घर-गृहस्थीके सम्बन्धमें ही बड़े-बड़े मनसूबे बाँधते हैं, जहाँका सबसे बड़ा सुख स्त्री-सहवासमें ही सीमित है। वे यदि कभी यज्ञ भी करते हैं तो अन्न-दान नहीं करते, विधिका उल्लंघन करते और दक्षिणातक नहीं देते।

यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः॥ ८

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥ ९

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया॥ १०

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ ११

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥ १२

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा।

वे कर्मका रहस्य न जाननेवाले मूर्ख केवल अपनी जीभको सन्तुष्ट करने और पेटकी भूख मिटाने—शरीरको पुष्ट करनेके लिये बेचारे पशुओंकी हत्या करते हैं॥ ८॥ धन-वैभव, कुलीनता, विद्या, दान, सौन्दर्य, बल और कर्म आदिके घमंडसे अंधे हो जाते हैं तथा वे दुष्ट उन भगवत्प्रेमी संतों तथा ईश्वरका भी अपमान करते रहते हैं॥ ९ ॥ राजन्! वेदोंने इस बातको बार-बार दुहराया है कि भगवान् आकाशके समान नित्य-निरन्तर समस्त शरीरधारियोंमें स्थित हैं। वे ही अपने आत्मा और प्रियतम हैं। परन्तु वे मूर्ख इस वेदवाणीको तो सुनते ही नहीं और केवल बड़े-बड़े मनोरथोंकी बात आपसमें कहते-सुनते रहते हैं॥ १० ॥ (वेद विधिके रूपमें ऐसे ही कर्मोंके करनेकी आज्ञा देता है कि जिनमें मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती।) संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यकी ओर प्राणीकी स्वाभाविक प्रवृति हो जाती है। तब उसे उसमें प्रवृत्त करनेके लिये विधान तो हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि यज्ञके द्वारा ही जो उनके सेवनकी व्यवस्था दी गयी है, उसका अर्थ है लोगोंकी उच्छृंखल प्रवृत्तिका नियन्त्रण, उनका मर्यादामें स्थापन। वास्तवमें उनकी ओरसे लोगोंको हटाना ही श्रुतिको अभीष्ट है॥ ११ ॥ धनका एकमात्र फल है धर्म; क्योंकि धर्मसे ही परम-तत्त्वका ज्ञान और उसकी निष्ठा—अपरोक्ष अनुभूति सिद्ध होती है और निष्ठामें ही परम शान्ति है। परन्तु यह कितने खेदकी बात है कि लोग उस धनका उपयोग घर-गृहस्थीके स्वार्थोंमें या कामभोगमें ही करते हैं और यह नहीं देखते कि हमारा यह शरीर मृत्युका शिकार है और वह मृत्यु किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती॥ १२ ॥ सौत्रामणि यज्ञमें भी सुराको सूँघनेका ही विधान है, पीनेका नहीं। यज्ञमें पशुका आलभन (स्पर्शमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं। इसी प्रकार अपनी धर्मपत्नीके साथ मैथुनकी आज्ञा भी विषयभोगके लिये नहीं, धार्मिक परम्पराकी रक्षाके निमित्त सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही दी गयी

एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥ १३

है। परन्तु जो लोग अर्थवादके वचनोंमें फँसे हैं, विषयी हैं, वे अपने इस विशुद्ध धर्मको जानते ही नहीं॥ १३॥

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥ १४

जो इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते, वे घमंडी वास्तवमें तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपनेको श्रेष्ठ। वे धोखेमें पड़े हुए लोग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनेके बाद वे पशु ही उन मारनेवालोंको खाते हैं॥ १४॥

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥ १५

यह शरीर मृतक-शरीर है। इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं। जो लोग इस शरीरसे तो प्रेमकी गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान् भगवान्से द्वेष करते हैं, उन मूर्खोंका अध:पतन निश्चित है॥ १५॥

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥ १६

जिन लोगोंने आत्मज्ञान सम्पादन करके कैवल्य-मोक्ष नहीं प्राप्त किया है और जो पूरे-पूरे मूढ़ भी नहीं हैं, वे अधूरे न इधरके हैं और न उधरके। वे अर्थ, धर्म, काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें फँसे रहते हैं, एक क्षणके लिये भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती। वे अपने हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हैं। ऐसे ही लोगोंको आत्मघाती कहते हैं॥ १६॥

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥ १७

अज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियोंको कभी शान्ति नहीं मिलती, इनके कर्मोंकी परम्परा कभी शान्त नहीं होती। काल-भगवान् सदा-सर्वदा इनके मनोरथोंपर पानी फेरते रहते हैं। इनके हृदयकी जलन, विषाद कभी मिटनेका नहीं॥ १७॥

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः॥ १८

राजन्! जो लोग अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं; परन्तु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहनेपर भी विवश होकर घोर नरकमें जाना पड़ता है। (भगवान्का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषोंकी यही गति होती है)॥ १८॥

राजोवाच

कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम्॥ १९

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो! आपलोग कृपा करके यह बतलाइये कि भगवान् किस समय किस रंगका, कौन-सा आकार स्वीकार करते हैं और मनुष्य किन नामों और विधियोंसे उनकी उपासना करते हैं॥ १९॥

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते॥ २०

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद् दण्डकमण्डलू॥ २१

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च॥ २२

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते॥ २३

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः॥ २४

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम्।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः॥ २५

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते॥ २६

द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरंकैश्च लक्षणैरुपलक्षितः॥ २७

तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम्।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप॥ २८

अब नवें योगीश्वर करभाजनजीने कहा— राजन्! चार युग हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। इन युगोंमें भगवान्के अनेकों रंग, नाम और आकृतियाँ होती हैं तथा विभिन्न विधियोंसे उनकी पूजा की जाती है॥ २०॥ सत्ययुगमें भगवान्के श्रीविग्रहका रंग होता है श्वेत। उनके चार भुजाएँ और सिरपर जटा होती है तथा वे वल्कलका ही वस्त्र पहनते हैं। काले मृगका चर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्षकी माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं॥ २१॥ सत्ययुगके मनुष्य बड़े शान्त, परस्पर वैररहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे लोग इन्द्रियों और मनको वशमें रखकर ध्यानरूप तपस्याके द्वारा सबके प्रकाशक परमात्माकी आराधना करते हैं॥ २२॥ वे लोग हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामोंके द्वारा भगवान्के गुण, लीला आदिका गान करते हैं॥ २३॥ राजन्! त्रेतायुगमें भगवान्के श्रीविग्रहका रंग होता है लाल। चार भुजाएँ होती हैं और कटिभागमें वे तीन मेखला धारण करते हैं। उनके केश सुनहले होते हैं और वे वेदप्रतिपादित यज्ञके रूपमें रहकर स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञ-पात्रोंको धारण किया करते हैं॥ २४॥ उस युगके मनुष्य अपने धर्ममें बड़ी निष्ठा रखनेवाले और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें बड़े प्रवीण होते हैं। वे लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयीके द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं॥ २५॥ त्रेतायुगमें अधिकांश लोग विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामोंसे उनके गुण और लीला आदिका कीर्तन करते है॥ २६॥ राजन्! द्वापरयुगमें भगवान्के श्रीविग्रहका रंग होता है साँवला। वे पीताम्बर तथा शंख, चक्र, गदा आदि अपने आयुध धारण करते हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, भृगुलता, कौस्तुभमणि आदि लक्षणोंसे वे पहचाने जाते हैं॥ २७॥ राजन्! उस समय जिज्ञासु मनुष्य महाराजोंके चिह्न छत्र, चँवर आदिसे युक्त परमपुरुष भगवान्की वैदिक और तान्त्रिक विधिसे आराधना करते हैं॥ २८॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥ २९

नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ३०

वे लोग इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करते हैं—'हे ज्ञानस्वरूप भगवान् वासुदेव एवं क्रियाशक्तिरूप संकर्षण! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। भगवान् प्रद्युम्न और अनिरुद्धके रूपमें हम आपको नमस्कार करते हैं। ऋषि नारायण, महात्मा नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप और सर्वभूतात्मा भगवान्‌को हम नमस्कार करते हैं॥ २९-३०॥ राजन्! द्वापरयुगमें इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान्‌की स्तुति करते हैं। अब कलियुगमें अनेक तन्त्रोंके विधि-विधानसे भगवान्‌की जैसी पूजा की जाती है, उसका वर्णन सुनो—॥ ३१॥

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम्।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु॥ ३१

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥ ३२

कलियुगमें भगवान्‌का श्रीविग्रह होता है कृष्ण-वर्ण—काले रंगका। जैसे नीलम मणिमेंसे उज्ज्वल कान्तिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनके अंगकी छटा भी उज्ज्वल होती है। वे हृदय आदि अंग, कौस्तुभ आदि उपांग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदोंसे संयुक्त रहते हैं। कलियुगमें श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करते हैं जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है॥ ३२॥ वे लोग भगवान्‌की स्तुति इस प्रकार करते हैं—'प्रभो! आप शरणागत रक्षक हैं। आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करनेयोग्य, माया-मोहके कारण होनेवाले सांसारिक पराजयोंका अन्त कर देनेवाले तथा भक्तोंकी समस्त अभीष्ट वस्तुओंका दान करनेवाले कामधेनुस्वरूप हैं। वे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरूप हैं; शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरणमें आ जाय उसे स्वीकार कर लेते हैं। सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार-सागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। महापुरुष! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ॥ ३३॥ भगवन्! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे? रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंके लिये भी वांछनीय और दुस्त्यज राज्य-लक्ष्मीको छोड़कर आपके चरण-कमल वन-वन

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिंचिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।



कलियुग में भगवान का श्रीविग्रह कृष्णवर्ण - कालेरंगका होता है। परंतु, जैसे नीलम मणिमेंसे उज्ज्वल कान्तिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनके अंगकी छटा भी उज्ज्वल होती है। वे हृदय आदि अंग, कौस्तुभ आदि उपांग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदोंसे संयुक्त रहते हैं। कलियुगमें श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करते हैं जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है कलियुग में, समझदार लोग भगवान के उस अवतार की पूजा करने के लिए संकीर्तन करते हैं जो लगातार श्रीकृष्ण का नाम लेते हैं। हालांकि उनका रंग काला नहीं है, लेकिन वे खुद कृष्ण हैं। उनके साथ उनके अंग, उपांग, हथियार और पार्षद हैं। (यह अवतार कोई और नहीं बल्कि श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। वे परम भगवान गोविंद स्वयं श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट होते हैं। जीवों को मुक्ति दिलाने में कोई दूसरा भगवान इतना दयालु नहीं है।) ॥ ३२ ॥ वे लोग भगवान्‌की स्तुति इस प्रकार करते हैं- 'प्रभो! आप शरणागत रक्षक हैं। आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करनेयोग्य, माया मोहके कारण होनेवाले सांसारिक पराजयोंका अन्त कर देनेवाले तथा भक्तोंकी समस्त अभीष्ट वस्तुओं का दान करनेवाले कामधेनुस्वरूप हैं। वे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरुप हैं; शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरणमें आ जाय उसे स्वीकार कर लेते हैं। सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार सागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। महापुरुष ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ ॥ ३३ ॥ भगवन्! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे ? रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंके लिये भी वांछनीय और दुस्त्यज राज्य लक्ष्मीको छोड़कर आपके चरण कमल वन-वन घूमते फिरे ! सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा हैं। और महापुरुष! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरणकमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे। सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं। प्रभो ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूं ॥ ३४ ॥



कलियुग में भगवान का श्रीविग्रह कृष्णवर्ण - कालेरंगका होता है। परंतु, जैसे नीलम मणिमेंसे उज्ज्वल कान्तिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनके अंगकी छटा भी उज्ज्वल होती है। वे हृदय आदि अंग, कौस्तुभ आदि उपांग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदोंसे संयुक्त रहते हैं। कलियुगमें श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करते हैं जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है कलियुग में, समझदार लोग भगवान के उस अवतार की पूजा करने के लिए संकीर्तन करते हैं जो लगातार श्रीकृष्ण का नाम लेते हैं। हालांकि उनका रंग काला नहीं है, लेकिन वे खुद कृष्ण हैं। उनके साथ उनके अंग, उपांग, हथियार और पार्षद हैं। **(यह अवतार कोई और नहीं बल्कि श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। वे परम भगवान गोविंद स्वयं श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट होते हैं। जीवों को मुक्ति दिलाने में कोई दूसरा भगवान इतना दयालु नहीं है।)** ॥ ३२ ॥ वे लोग भगवान्‌की स्तुति इस प्रकार करते हैं- 'प्रभो! आप शरणागत रक्षक हैं। आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करनेयोग्य, माया मोहके कारण होनेवाले सांसारिक पराजयोंका अन्त कर देनेवाले तथा भक्तोंकी समस्त अभीष्ट वस्तुओं का दान करनेवाले कामधेनुस्वरूप हैं। वे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरूप हैं; शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरणमें आ जाय उसे स्वीकार कर लेते हैं। सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार सागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। महापुरुष ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ॥ ३३ ॥ भगवन्! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे ? रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंके लिये भी वांछनीय और दुस्त्यज राज्य लक्ष्मीको छोड़कर आपके चरण कमल वन-वन घूमते फिरे ! सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा हैं। और महापुरुष! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरणकमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे। सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं। प्रभो ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ॥ ३४ ॥

मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः।
मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरो हरिः॥ ३५

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥ ३६

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः॥ ३७

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥ ३८

क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी॥ ३९

कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥ ४०

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ ४१

घूमते फिरे! सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा हैं। और महापुरुष! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरणकमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे। सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं। प्रभो! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ'॥ ३४॥

राजन्! इस प्रकार विभिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके अनुरूप नाम-रूपोंद्वारा विभिन्न प्रकारसे भगवान्‌की आराधना करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभी पुरुषार्थोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीहरि ही हैं॥ ३५॥ कलि-युगमें केवल संकीर्तनसे ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं। इसलिये इस युगका गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुगकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा प्रेम करते हैं॥ ३६॥ देहाभिमानी जीव संसारचक्रमें अनादि कालसे भटक रहे हैं। उनके लिये भगवान्‌की लीला, गुण और नामके कीर्तनसे बढ़कर और कोई परम लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसारमें भटकना मिट जाता है और परम शान्तिका अनुभव होता है॥ ३७॥ राजन्! सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुगमें हो; क्योंकि कलियुगमें कहीं-कहीं भगवान् नारायणके शरणागत उन्हींके आश्रयमें रहनेवाले बहुत-से भक्त उत्पन्न होंगे। महाराज विदेह! कलियुगमें द्रविड़देशमें अधिक भक्त पाये जाते हैं; जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नामकी नदियाँ बहती हैं। राजन्! जो मनुष्य इन नदियोंका जल पीते हैं, प्रायः उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् वासुदेवके भक्त हो जाते हैं॥ ३८—४०॥

राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म-वासनाओंका अथवा भेद-बुद्धिका परित्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल, प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है; वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बन्धनमें नहीं रहता॥ ४१॥

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥ ४२

जो प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के चरण-कमलोंका अनन्यभावसे—दूसरी भावनाओं, आस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियोंको छोड़कर—भजन करता है, उससे, पहली बात तो यह है कि पापकर्म होते ही नहीं; परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जायँ तो परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसके हृदयमें बैठकर वह सब धो-बहा देते और उसके हृदयको शुद्ध कर देते हैं॥ ४२॥

नारद उवाच

धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत्॥ ४३

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम्॥ ४४

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताञ्छ्रुतान्।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसंगो यास्यसे परम्॥ ४५

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत्।
पुत्रतामगमद् यद् वां भगवानीश्वरो हरिः॥ ४६

दर्शनालिंगनालापैः शयनासनभोजनैः।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः॥ ४७

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥ ४८

नारदजी कहते हैं—वसुदेवजी! मिथिलानरेश राजा निमि नौ योगीश्वरोंसे इस प्रकार भागवतधर्मोंका वर्णन सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए। उन्होंने अपने ऋत्विज् और आचार्योंके साथ ऋषभनन्दन नव योगीश्वरोंकी पूजा की॥ ४३॥ इसके बाद सब लोगोंके सामने ही वे सिद्ध अन्तर्धान हो गये। विदेहराज निमिने उनसे सुने हुए भागवतधर्मोंका आचरण किया और परमगति प्राप्त की॥ ४४॥ महाभाग्यवान् वसुदेवजी! मैंने तुम्हारे आगे जिन भागवतधर्मोंका वर्णन किया है, तुम भी यदि श्रद्धाके साथ इनका आचरण करोगे तो अन्तमें सब आसक्तियोंसे छूटकर भगवान्‌का परमपद प्राप्त कर लोगे॥ ४५॥ वसुदेवजी! तुम्हारे और देवकीके यशसे तो सारा जगत् भरपूर हो रहा है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं॥ ४६॥ तुमलोगोंने भगवान्‌के दर्शन, आलिंगन तथा बातचीत करने एवं उन्हें सुलाने, बैठाने, खिलाने आदिके द्वारा वात्सल्य-स्नेह करके अपना हृदय शुद्ध कर लिया है; तुम परम पवित्र हो गये हो॥ ४७॥ वसुदेवजी! शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजाओंने तो वैरभावसे श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, लीला-विलास, चितवन-बोलन आदिका स्मरण किया था। वह भी नियमानुसार नहीं, सोते, बैठते, चलते-फिरते—स्वाभाविकरूपसे ही। फिर भी उनकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्णाकार हो गयी और वे सारूप्यमुक्तिके अधिकारी हुए। फिर जो लोग प्रेमभाव और अनुरागसे श्रीकृष्णका चिन्तन करते हैं, उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति होनेमें कोई सन्देह है क्या?॥ ४८॥

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये॥ ४९

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम्।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते॥ ५०

वसुदेवजी! तुम श्रीकृष्णको केवल अपना पुत्र ही मत समझो। वे सर्वात्मा, सर्वेश्वर, कारणातीत और अविनाशी हैं। उन्होंने लीलाके लिये मनुष्यरूप प्रकट करके अपना ऐश्वर्य छिपा रखा है॥ ४९॥ वे पृथ्वीके भारभूत राजवेषधारी असुरोंका नाश और संतोंकी रक्षा करनेके लिये तथा जीवोंको परम शान्ति और मुक्ति देनेके लिये ही अवतीर्ण हुए हैं और इसीके लिये जगत्‌में उनकी कीर्ति भी गायी जाती है॥ ५०॥

श्रीशुक उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः॥ ५१

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद् यः समाहितः।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! नारदजीके मुखसे यह सब सुनकर परम भाग्यवान् वसुदेवजी और परम भाग्यवती देवकीजीको बड़ा ही विस्मय हुआ। उनमें जो कुछ माया-मोह अवशेष था, उसे उन्होंने तत्क्षण छोड़ दिया॥ ५१॥ राजन्! यह इतिहास परम पवित्र है। जो एकाग्रचित्तसे इसे धारण करता है, वह अपना सारा शोक-मोह दूर करके ब्रह्मपदको प्राप्त होता है॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

देवताओंकी भगवान्‌से स्वधाम सिधारनेके लिये प्रार्थना तथा यादवोंको प्रभासक्षेत्र जानेकी तैयारी करते देखकर उद्धवका भगवान्‌के पास आना

श्रीशुक उवाच

अथ ब्रह्माऽऽत्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात्।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः॥ १

इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः॥ २

गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः॥ ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवर्षि नारद वसुदेवजीको उपदेश करके चले गये, तब अपने पुत्र सनकादिकों, देवताओं और प्रजापतियोंके साथ ब्रह्माजी, भूतगणोंके साथ सर्वेश्वर महादेवजी और मरुद्‌गणोंके साथ देवराज इन्द्र द्वारकानगरीमें आये। साथ ही सभी आदित्यगण, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अंगिराके वंशज ऋषि, ग्यारहों रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषि, पितर, विद्याधर और किन्नर भी वहीं पहुँचे। इन लोगोंके आगमनका उद्देश्य यह था कि मनुष्यका-सा मनोहर वेष धारण करनेवाले और अपने श्यामसुन्दर विग्रहसे सभी लोगोंका मन अपनी ओर खींचकर रमा लेनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करें; क्योंकि इस

द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः।
वपुषा येन भगवान् नरलोकमनोरमः।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम्॥ ४

तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम्॥ ५

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम्।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्॥ ६

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात्॥ ७

त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः॥ ८

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥ ९

समय उन्होंने अपना श्रीविग्रह प्रकट करके उसके द्वारा तीनों लोकोंमें ऐसी पवित्र कीर्तिका विस्तार किया है, जो समस्त लोकोंके पाप-तापको सदाके लिये मिटा देती है॥ १—४॥ द्वारकापुरी सब प्रकारकी सम्पत्ति और ऐश्वर्योंसे समृद्ध तथा अलौकिक दीप्तिसे देदीप्यमान हो रही थी। वहाँ आकर उन लोगोंने अनूठी छबिसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन किये। भगवान्की रूप-माधुरीका निर्निमेष नयनोंसे पान करनेपर भी उनके नेत्र तृप्त न होते थे। वे एकटक बहुत देरतक उन्हें देखते ही रहे॥ ५॥ उन लोगोंने स्वर्गके उद्यान नन्दन-वन, चैत्ररथ आदिके दिव्य पुष्पोंसे जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको ढक दिया और चित्र-विचित्र पदों तथा अर्थोंसे युक्त वाणीके द्वारा उनकी स्तुति करने लगे॥ ६॥

देवताओंने प्रार्थना की—स्वामी! कर्मोंके विकट फंदोंसे छूटनेकी इच्छावाले मुमुक्षुजन भक्ति-भावसे अपने हृदयमें जिसका चिन्तन करते रहते हैं, आपके उसी चरणकमलको हमलोगोंने अपनी बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणीसे साक्षात् नमस्कार किया है। अहो! आश्चर्य है!*॥ ७॥ अजित! आप मायिक रज आदि गुणोंमें स्थित होकर इस अचिन्त्य नाम-रूपात्मक प्रपंचकी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा अपने-आपमें ही रचना करते हैं, पालन करते और संहार करते हैं। यह सब करते हुए भी इन कर्मोंसे आप लिप्त नहीं होते हैं; क्योंकि आप राग-द्वेषादि दोषोंसे सर्वथा मुक्त हैं और अपने निरावरण अखण्ड स्वरूपभूत परमानन्दमें मग्न रहते हैं॥ ८॥ स्तुति करनेयोग्य परमात्मन्! जिन मनुष्योंकी चित्तवृत्ति राग-द्वेषादिसे कलुषित हैं, वे उपासना, वेदाध्ययन, दान, तपस्या और यज्ञ आदि कर्म भले ही करें; परंतु उनकी वैसी शुद्धि नहीं हो सकती, जैसी श्रवणके द्वारा सम्पुष्ट शुद्धान्तःकरण सज्जन पुरुषोंकी आपकी लीलाकथा, कीर्तिके विषयमें दिनोंदिन बढ़कर परिपूर्ण होनेवाली श्रद्धासे होती है॥ ९॥

---

* यहाँ साष्टांग प्रणामसे तात्पर्य है—

दोर्भ्यां पादाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टांग ईरितः॥

हाथोंसे, चरणोंसे, घुटनोंसे, वक्षःस्थलसे, सिरसे, नेत्रोंसे, मनसे और वाणीसे—इन आठ अंगोंसे किया गया प्रणाम साष्टांग प्रणाम कहलाता है।

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय॥ १०

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः॥ ११

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥ १२

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः॥ १३

मननशील मुमुक्षुजन मोक्ष-प्राप्तिके लिये अपने प्रेमसे पिघले हुए हृदयके द्वारा जिन्हें लिये-लिये फिरते हैं, पांचरात्र विधिसे उपासना करनेवाले भक्तजन समान ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूहके रूपमें जिनका पूजन करते हैं और जितेन्द्रिय धीरपुरुष स्वर्गलोकका अतिक्रमण करके भगवद्धामकी प्राप्तिके लिये तीनों समय जिनकी पूजा किया करते हैं, याज्ञिक लोग तीनों वेदोंके द्वारा बतलायी हुई विधिसे अपने संयत हाथोंमें हविष्य लेकर यज्ञकुण्डमें आहुति देते और उन्हींका चिन्तन करते हैं। आपकी आत्म-स्वरूपिणी मायाके जिज्ञासु योगीजन हृदयके अन्तर्देशमें दहरविद्या आदिके द्वारा आपके चरणकमलोंका ही ध्यान करते हैं और आपके बड़े-बड़े प्रेमी भक्तजन उन्हींको अपना परम इष्ट आराध्यदेव मानते हैं। प्रभो! आपके वे ही चरणकमल हमारी समस्त अशुभ वासनाओं—विषय-वासनाओंको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हों। वे अग्निके समान हमारे पाप-तापोंको भस्म कर दें॥ १०-११॥ प्रभो! यह भगवती लक्ष्मी आपके वक्षः-स्थलपर मुरझायी हुई बासी वनमालासे भी सौतकी तरह स्पर्द्धा रखती हैं। फिर भी आप उनकी परवा न कर भक्तोंके द्वारा इस बासी मालासे की हुई पूजा भी प्रेमसे स्वीकार करते हैं। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुके चरणकमल सर्वदा हमारी विषयवासनाओंको जलाने-वाले अग्निस्वरूप हों॥ १२॥ अनन्त! वामनावतारमें दैत्यराज बलिकी दी हुई पृथ्वीको नापनेके लिये जब आपने अपना पग उठाया था और वह सत्यलोकमें पहुँच गया था, तब यह ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई बहुत बड़ा विजयध्वज हो। ब्रह्माजीके पखारनेके बाद उससे गिरती हुई गंगाजीके जलकी तीन धाराएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानो उसमें लगी हुई तीन पताकाएँ फहरा रही हों। उसे देखकर असुरोंकी सेना भयभीत हो गयी थी और देवसेना निर्भय। आपका वह चरणकमल साधुस्वभाव पुरुषोंके लिये आपके धाम वैकुण्ठलोककी प्राप्तिका और दुष्टोंके लिये अधो-गतिका कारण है। भगवन्! आपका वही पादपद्म हम भजन करनेवालोंके सारे पाप-ताप धो-बहा दे॥ १३॥

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य॥ १४

ब्रह्मा आदि जितने भी शरीरधारी हैं, वे सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके परस्पर-विरोधी त्रिविध भावोंकी टक्करसे जीते-मरते रहते हैं। वे सुख-दुःखके थपेड़ोंसे बाहर नहीं हैं और ठीक वैसे ही आपके वशमें हैं, जैसे नथे हुए बैल अपने स्वामीके वशमें होते हैं। आप उनके लिये भी कालस्वरूप हैं। उनके जीवनका आदि, मध्य और अन्त आपके ही अधीन है। इतना ही नहीं, आप प्रकृति और पुरुषसे भी परे स्वयं पुरुषोत्तम हैं। आपके चरणकमल हम-लोगोंका कल्याण करें॥ १४॥

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम्॥ १५

प्रभो! आप इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं; क्योंकि शास्त्रोंने ऐसा कहा है कि आप प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके भी नियन्त्रण करनेवाले काल हैं। शीत, ग्रीष्म और वर्षाकालरूप तीन नाभियोंवाले संवत्सरके रूपमें सबको क्षयकी ओर ले जानेवाले काल आप ही हैं। आपकी गति अबाध और गम्भीर है। आप स्वयं पुरुषोत्तम हैं॥ १५॥

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यया स्ववीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम्॥ १६

यह पुरुष आपसे शक्ति प्राप्त करके अमोघवीर्य हो जाता है और फिर मायाके साथ संयुक्त होकर विश्वके महत्तत्त्वरूप गर्भका स्थापन करता है। इसके बाद वह महत्तत्त्व त्रिगुणमयी मायाका अनुसरण करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और मनरूप सात आवरणों (परतों) वाले इस सुवर्णवर्ण ब्रह्माण्डकी रचना करता है॥ १६॥

तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान्।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म॥ १७

इसलिये हृषीकेश! आप समस्त चराचर जगत्के अधीश्वर हैं। यही कारण है कि मायाकी गुण विषमताके कारण बननेवाले विभिन्न पदार्थोंका उपभोग करते हुए भी आप उनमें लिप्त नहीं होते। यह केवल आपकी ही बात है। आपके अतिरिक्त दूसरे तो स्वयं उनका त्याग करके भी उन विषयोंसे डरते रहते हैं॥ १७॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनंगबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः॥ १८

सोलह हजारसे अधिक रानियाँ आपके साथ रहती हैं। वे सब अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछी चितवनसे युक्त मनोहर भौंहोंके इशारेसे और सुरतालापोंसे प्रौढ़ सम्मोहक कामबाण चलाती हैं और कामकलाकी विविध रीतियोंसे आपका मन आकर्षित करना चाहती हैं; परंतु फिर भी वे अपने परिपुष्ट कामबाणोंसे आपका मन तनिक भी न डिगा सकीं, वे असफल ही रहीं॥ १८॥

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम्।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमंगसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति॥ १९

आपने त्रिलोकीकी पाप-राशिको धो बहानेके लिये दो प्रकारकी पवित्र नदियाँ बहा रखी हैं—एक तो आपकी अमृतमयी लीलासे भरी कथानदी और दूसरी आपके पाद-प्रक्षालनके जलसे भरी गंगाजी। अतः सत्संगसेवी विवेकीजन कानोंके द्वारा आपकी कथा-नदीमें और शरीरके द्वारा गंगाजीमें गोता लगाकर दोनों ही तीर्थोंका सेवन करते हैं और अपने पाप-ताप मिटा देते हैं॥ १९॥

बादरायणिरुवाच

इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम्।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः॥ २०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! समस्त देवताओं और भगवान् शंकरके साथ ब्रह्माजीने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति की। इसके बाद वे प्रणाम करके अपने धाममें जानेके लिये आकाशमें स्थित होकर भगवान्‌से इस प्रकार कहने लगे॥ २०॥

ब्रह्मोवाच

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो।
त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम् ॥ २१

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा॥ २२

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद् रूपमनुत्तमम्।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः॥ २३

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः॥ २४

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीताय पंचविंशाधिकं प्रभो॥ २५

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम्।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम्॥ २६

ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे।
सलोकाँल्लोकपालान् नःपाहि वैकुण्ठ किंकरान्॥ २७

ब्रह्माजीने कहा—सर्वात्मन् प्रभो! पहले हमलोगोंने आपसे अवतार लेकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये प्रार्थना की थी। सो वह काम आपने हमारी प्रार्थनाके अनुसार ही यथोचितरूपसे पूरा कर दिया॥ २१॥ आपने सत्यपरायण साधुपुरुषोंके कल्याणार्थ धर्मकी स्थापना भी कर दी और दसों दिशाओंमें ऐसी कीर्ति फैला दी, जिसे सुन-सुनाकर सब लोग अपने मनका मैल मिटा देते हैं॥ २२॥ आपने यह सर्वोत्तम रूप धारण करके यदुवंशमें अवतार लिया और जगत्‌के हितके लिये उदारता और पराक्रमसे भरी अनेकों लीलाएँ कीं॥ २३॥ प्रभो! कलियुगमें जो साधुस्वभाव मनुष्य आपकी इन लीलाओंका श्रवण-कीर्तन करेंगे वे सुगमतासे ही इस अज्ञानरूप अन्धकारसे पार हो जायँगे॥ २४॥ पुरुषोत्तम सर्वशक्तिमान् प्रभो! आपको यदुवंशमें अवतार ग्रहण किये एक सौ पचीस वर्ष बीत गये हैं॥ २५॥ सर्वाधार! अब हमलोगोंका ऐसा कोई काम बाकी नहीं है, जिसे पूर्ण करनेके लिये आपके यहाँ रहनेकी आवश्यकता हो। ब्राह्मणोंके शापके कारण आपका यह कुल भी एक प्रकारसे नष्ट हो ही चुका है॥ २६॥ इसलिये वैकुण्ठनाथ! यदि आप उचित समझें तो अपने परमधाममें पधारिये और अपने सेवक हम लोकपालोंका तथा हमारे लोकोंका पालन-पोषण कीजिये॥ २७॥

श्रीभगवानुवाच

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः॥ २८

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम्।
लोकं जिघृक्षद् रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः॥ २९

यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम्।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति॥ ३०

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापतः।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ॥ ३१

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम्।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत॥ ३२

अथ तस्यां महोत्पातान् द्वारवत्यां समुत्थितान्।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान् समागतान्॥ ३३

श्रीभगवानुवाच

एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः।
शापश्च नः कुलस्यासीद् ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः॥ ३४

न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव मा चिरम्॥ ३५

यत्र स्नात्वा दक्षशापाद् गृहीतो यक्ष्मणोडुराट्।
विमुक्तः किल्बिषात् सद्यो भेजे भूयः कलोदयम्॥ ३६

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्रह्माजी! आप जैसा कहते हैं, मैं पहलेसे ही वैसा निश्चय कर चुका हूँ। मैंने आपलोगोंका सब काम पूरा करके पृथ्वीका भार उतार दिया॥ २८॥ परन्तु अभी एक काम बाकी है; वह यह कि यदुवंशी बल-विक्रम, वीरता-शूरता और धन-सम्पत्तिसे उन्मत्त हो रहे हैं। ये सारी पृथ्वीको ग्रस लेनेपर तुले हुए हैं। इन्हें मैंने ठीक वैसे ही रोक रखा है, जैसे समुद्रको उसके तटकी भूमि॥ २९॥ यदि मैं घमंडी और उच्छृंखल यदुवंशियोंका यह विशाल वंश नष्ट किये बिना ही चला जाऊँगा तो ये सब मर्यादाका उल्लंघन करके सारे लोकोंका संहार कर डालेंगे॥ ३०॥ निष्पाप ब्रह्माजी! अब ब्राह्मणोंके शापसे इस वंशका नाश प्रारम्भ हो चुका है। इसका अन्त हो जानेपर मैं आपके धाममें होकर जाऊँगा॥ ३१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब अखिललोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्माजीने उन्हें प्रणाम किया और देवताओंके साथ वे अपने धामको चले गये॥ ३२॥ उनके जाते ही द्वारकापुरीमें बड़े-बड़े अपशकुन, बड़े-बड़े उत्पात उठ खड़े हुए। उन्हें देखकर यदुवंशके बड़े-बूढ़े भगवान् श्रीकृष्णके पास आये। भगवान् श्रीकृष्णने उनसे यह बात कही॥ ३३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—गुरुजनो! आजकल द्वारकामें जिधर देखिये, उधर ही बड़े-बड़े अपशकुन और उत्पात हो रहे हैं। आपलोग जानते ही हैं कि ब्राह्मणोंने हमारे वंशको ऐसा शाप दे दिया है, जिसे टाल सकना बहुत ही कठिन है। मेरा ऐसा विचार है कि यदि हमलोग अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हों तो हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये। अब विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमलोग आज ही परम पवित्र प्रभासक्षेत्रके लिये निकल पड़ें॥ ३४-३५॥ प्रभासक्षेत्रकी महिमा बहुत प्रसिद्ध है। जिस समय दक्ष प्रजापतिके शापसे चन्द्रमाको राजयक्ष्मा रोगने ग्रस लिया था, उस समय उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें जाकर स्नान किया और वे तत्क्षण उस पापजन्य रोगसे छूट गये। साथ ही उन्हें कलाओंकी अभिवृद्धि भी प्राप्त हो गयी॥ ३६॥

वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन् सुरान्।
भोजयित्वोशिजो विप्रान् नानागुणवतान्धसा॥ ३७

तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम्॥ ३८

हमलोग भी प्रभासक्षेत्रमें चलकर स्नान करेंगे, देवता एवं पितरोंका तर्पण करेंगे और साथ ही अनेकों गुणवाले पकवान तैयार करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन करायेंगे। वहाँ हमलोग उन सत्पात्र ब्राह्मणोंको पूरी श्रद्धासे बड़ी-बड़ी दान-दक्षिणा देंगे और इस प्रकार उनके द्वारा अपने बड़े-बड़े संकटोंको वैसे ही पार कर जायँगे, जैसे कोई जहाजके द्वारा समुद्र पार कर जाय!॥ ३७-३८॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टा यादवाः कुलनन्दन।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान् समयूयुजन्॥ ३९

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन् श्रुत्वा भगवतोदितम्।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः॥ ४०

विविक्त उपसंगम्य जगतामीश्वरेश्वरम्।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्रांजलिस्तमभाषत॥ ४१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कुलनन्दन! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आज्ञा दी, तब यदुवंशियोंने एक मतसे प्रभास जानेका निश्चय कर लिया और सब अपने-अपने रथ सजाने-जोतने लगे॥ ३९॥ परीक्षित्! उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी और सेवक थे। उन्होंने जब यदुवंशियोंको यात्राकी तैयारी करते देखा, भगवान्की आज्ञा सुनी और अत्यन्त घोर अपशकुन देखे तब वे जगत्के एकमात्र अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके पास एकान्तमें गये, उनके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे॥ ४०-४१॥

उद्धव उवाच

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन।
संहृत्यैतत् कुलं नूनं लोकं सन्त्यक्ष्यते भवान्।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः॥ ४२

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥ ४३

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममंगलम्।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः॥ ४४

उद्धवजीने कहा—योगेश्वर! आप देवाधिदेवोंके भी अधीश्वर हैं। आपकी लीलाओंके श्रवण-कीर्तनसे जीव पवित्र हो जाता है। आप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आप चाहते तो ब्राह्मणोंके शापको मिटा सकते थे। परन्तु आपने वैसा किया नहीं। इससे मैं यह समझ गया कि अब आप यदुवंशका संहार करके, इसे समेटकर अवश्य ही इस लोकका परित्याग कर देंगे॥ ४२॥ परन्तु घुँघराली अलकोंवाले श्यामसुन्दर! मैं आधे क्षणके लिये भी आपके चरणकमलोंके त्यागकी बात सोच भी नहीं सकता। मेरे जीवनसर्वस्व, मेरे स्वामी! आप मुझे भी अपने धाममें ले चलिये॥ ४३॥ प्यारे कृष्ण! आपकी एक-एक लीला मनुष्योंके लिये परम मंगलमयी और कानोंके लिये अमृतस्वरूप है। जिसे एक बार उस रसका चसका लग जाता है, उसके मनमें फिर किसी दूसरी वस्तुके लिये लालसा ही नहीं रह जाती। प्रभो! हम तो उठते-बैठते, सोते-जागते, घूमते-फिरते आपके साथ रहे हैं, हमने आपके

शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेमहि ॥ ४५

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥ ४६

वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः ॥ ४७

वयं त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥ ४८

स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च ।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥ ४९

श्रीशुक उवाच

एवं विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः ।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥ ५०

साथ स्नान किया, खेल खेले, भोजन किया; कहाँतक गिनावें, हमारी एक-एक चेष्टा आपके साथ होती रही। आप हमारे प्रियतम हैं; और तो क्या, आप हमारे आत्मा ही हैं। ऐसी स्थितिमें हम आपके प्रेमी भक्त आपको कैसे छोड़ सकते हैं?॥ ४४-४५॥ हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने-आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं। इसलिये हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। (अतः प्रभो! हमें आपकी मायाका डर नहीं है, डर है तो केवल आपके वियोगका)॥ ४६॥ हम जानते हैं कि मायाको पार कर लेना बहुत ही कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दिगम्बर रहकर और आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करके अध्यात्मविद्याके लिये अत्यन्त परिश्रम करते हैं। इस प्रकारकी कठिन साधनासे उन संन्यासियोंके हृदय निर्मल हो पाते हैं और तब कहीं वे समस्त वृत्तियोंकी शान्तिरूप नैष्कर्म्य-अवस्थामें स्थित होकर आपके ब्रह्मनामक धामको प्राप्त होते हैं॥ ४७॥ महायोगेश्वर! हमलोग तो कर्म-मार्गमें ही भ्रम-भटक रहे हैं! परन्तु इतना निश्चित है कि हम आपके भक्तजनोंके साथ आपके गुणों और लीलाओंकी चर्चा करेंगे तथा मनुष्यकी-सी लीला करते हुए आपने जो कुछ किया या कहा है, उसका स्मरण-कीर्तन करते रहेंगे। साथ ही आपकी चाल-ढाल, मुसकान-चितवन और हास-परिहासकी स्मृतिमें तल्लीन हो जायँगे। केवल इसीसे हम दुस्तर मायाको पार कर लेंगे। (इसलिये हमें मायासे पार जानेकी नहीं, आपके विरहकी चिन्ता है। आप हमें छोड़िये नहीं, साथ ले चलिये)॥ ४८-४९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब उद्धवजीने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने अपने अनन्यप्रेमी सखा एवं सेवक उद्धवजीसे कहा॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—पृथ्वीसे लेकर कबूतरतक आठ गुरुओंकी कथा

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकांक्षिणः॥ १

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः॥ २

कुलं वै शापनिर्दग्धं नंक्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात्।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति॥ ३

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमंगलः।
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः॥ ४

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे॥ ५

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्॥ ६

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥ ७

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥ ८

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवान् उद्धव! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ। ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकोंमें होकर अपने धामको चला जाऊँ॥ १॥ पृथ्वीपर देवताओंका जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर चुका। इसी कामके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे मैं बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुआ था॥ २॥ अब यह यदुवंश, जो ब्राह्मणोंके शापसे भस्म हो चुका है, पारस्परिक फूट और युद्धसे नष्ट हो जायगा। आजके सातवें दिन समुद्र इस पुरी—द्वारकाको डुबो देगा॥ ३॥ प्यारे उद्धव! जिस क्षण मैं मर्त्यलोकका परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मंगल नष्ट हो जायँगे और थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीपर कलियुगका बोलबाला हो जायगा॥ ४॥ जब मैं इस पृथ्वीका त्याग कर दूँ तब तुम इसपर मत रहना; क्योंकि साधु उद्धव! कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी॥ ५॥ अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्यप्रेमसे मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टिसे पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरण करो॥ ६॥ इस जगत्‌में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है। सपनेकी तरह मनका विलास है। इसलिये मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो॥ ७॥ जिस पुरुषका मन अशान्त है, असंयत है, उसीको पागलकी तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं; वास्तवमें यह चित्तका भ्रम ही है। नानात्वका भ्रम हो जानेपर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष' इस प्रकारकी कल्पना करनी पड़ती है । जिसकी बुद्धिमें गुण और दोषका भेद बैठ गया है, दृढ़मूल हो गया है, उसीके लिये कर्म*, अकर्म† और विकर्मरूप‡

* विहित कर्म। † विहित कर्मका लोप। ‡ निषिद्ध कर्म।

तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे॥ ९

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे॥ १०

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ ११

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥ १२

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम्॥ १३

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः॥ १४

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः॥ १५

भेदका प्रतिपादन हुआ है॥ ८॥ इसलिये उद्धव! तुम पहले अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथमें ले लो और केवल इन्द्रियोंको ही नहीं, चित्तकी समस्त वृत्तियोंको भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मामें ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इन्द्रियातीत ब्रह्मसे एक है, अभिन्न है॥ ९॥ जब वेदोंके मुख्य तात्पर्य—निश्चयरूप ज्ञान और अनुभवरूप विज्ञानसे भलीभाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्माके अनुभवमें ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियोंके आत्मा हो जाओगे। इसलिये किसी भी विघ्नसे तुम पीडित नहीं हो सकोगे; क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करनेवालोंकी आत्मा भी तुम्हीं होगे॥ १०॥ जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धिसे अतीत हो जाता है वह बालकके समान निषिद्ध कर्मसे निवृत्त होता है, परन्तु दोष-बुद्धिसे नहीं। वह विहित कर्मका अनुष्ठान भी करता है, परन्तु गुणबुद्धिसे नहीं॥ ११॥ जिसने श्रुतियोंके तात्पर्यका यथार्थ ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर लिया, बल्कि उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो अटल निश्चयसे सम्पन्न हो गया है वह समस्त प्राणियोंका हितैषी सुहृद् होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। वह समस्त प्रतीयमान विश्वको मेरा ही स्वरूप—आत्मस्वरूप देखता है; इसलिये उसे फिर कभी जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता॥ १२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान्‌के परम प्रेमी उद्धवजीने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया॥ १३॥

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप ही समस्त योगियोंकी गुप्त पूँजी योगोंके कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगोंके आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परम-कल्याणके लिये उस संन्यासरूप त्यागका उपदेश किया है॥ १४॥ परन्तु अनन्त! जो लोग विषयोंके चिन्तन और सेवनमें घुल-मिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय-भोगों और कामनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन है। सर्वस्वरूप! उनमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकारका त्याग सर्वथा असम्भव

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्॥ १६

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः॥ १७

तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम्।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये॥ १८

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥ १९

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥ २०

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥ २१

ही है ऐसा मेरा निश्चय है॥ १५॥ प्रभो! मैं भी ऐसा ही हूँ; मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस भावसे मैं आपकी मायाके खेल, देह और देहके सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदिमें डूब रहा हूँ। अतः भगवन्! आपने जिस संन्यासका उपदेश किया है, उसका तत्त्व मुझ सेवकको इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ॥ १६॥ मेरे प्रभो! आप भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालोंसे अबाधित, एकरस सत्य हैं। आप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप हैं। प्रभो! मैं समझता हूँ कि मेरे लिये आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई नहीं है। ब्रह्मा आदि जितने बड़े-बड़े देवता हैं, वे सब शरीराभिमानी होनेके कारण आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि मायाके वशमें हो गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियोंसे अनुभव किये जानेवाले बाह्य विषयोंको सत्य मानते हैं। इसीलिये मुझे तो आप ही उपदेश कीजिये॥ १७॥ भगवन्! इसीसे चारों ओरसे दुःखोंकी दावाग्निसे जलकर और विरक्त होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप निर्दोष देश-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठलोकके निवासी एवं नरके नित्य सखा नारायण हैं। (अतः आप ही मुझे उपदेश कीजिये)॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! संसारमें जो मनुष्य 'यह जगत् क्या है? इसमें क्या हो रहा है?' इत्यादि बातोंका विचार करनेमें निपुण हैं, वे चित्तमें भरी हुई अशुभ वासनाओंसे अपने-आपको स्वयं अपनी विवेक-शक्तिसे ही प्रायः बचा लेते हैं॥ १९॥ समस्त प्राणियोंका विशेषकर मनुष्यका आत्मा अपने हित और अहितका उपदेशक गुरु है। क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमानके द्वारा अपने हित-अहितका निर्णय करनेमें पूर्णतः समर्थ है॥ २०॥ सांख्य-योगविशारद धीर पुरुष इस मनुष्ययोनिमें इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति आदिके आश्रयभूत मुझ आत्मतत्त्वको पूर्णतः प्रकटरूपसे साक्षात्कार कर लेते हैं॥ २१॥

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया॥ २२

अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः॥ २४

अवधूतं द्विजं कंचिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥ २५

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत्॥ २६

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥ २७

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।
न कर्ता नेहसे किंचिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ २८

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गंगाम्भःस्थ इव द्विपः॥ २९

मैंने एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, चारसे अधिक पैरवाले और बिना पैरके—इत्यादि अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्यका ही शरीर है॥ २२॥ इस मनुष्य-शरीरमें एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किये जानेवाले हेतुओंसे जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमानसे अग्राह्य अर्थात् अहंकार आदि विषयोंसे भिन्न मुझ सर्वप्रवर्त्तक ईश्वरको साक्षात् अनुभव करते हैं*॥ २३॥ इस विषयमें महात्मा-लोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदुके संवादके रूपमें है॥ २४॥ एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया॥ २५॥

राजा यदुने पूछा— ब्रह्मन्! आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमें विचरते रहते हैं॥ २६॥ ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदिकी अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं; अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती॥ २७॥ मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ, विद्वान् और निपुण हैं। आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है। आपकी वाणीसे तो मानो अमृत टपक रहा है। फिर भी आप जड, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान रहते हैं; न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं॥ २८॥ संसारके अधिकांश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं। परन्तु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप मुक्त हैं, आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती; ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमें दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गंगाजलमें खड़ा हो॥ २९॥

* अनुसन्धानके दो प्रकार हैं—(१) एक स्वप्रकाश तत्त्वके बिना बुद्धि आदि जड पदार्थोंका प्रकाश नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थापत्तिके द्वारा और (२) जैसे बसूला आदि औजार किसी कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार यह बुद्धि आदि औजार किसी कर्ताके द्वारा ही प्रयुक्त हो रहे हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा आनुमानिक है। यह तो देहादिसे विलक्षण त्वम् पदार्थके शोधनकी युक्तिमात्र है।

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः॥ ३०

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः॥ ३१

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु॥ ३२

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतंगो मधुकृद् गजः॥ ३३

मधुहा हरिणो मीनः पिंगला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥ ३४

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥ ३५

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते॥ ३६

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्॥ ३७

ब्रह्मन्! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसारके स्पर्शसे भी रहित हैं। आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अपने आत्मामें ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है? आप कृपा करके अवश्य बतलाइये॥ ३०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! हमारे पूर्वज महाराज यदुकी बुद्धि शुद्ध थी और उनके हृदयमें ब्राह्मण-भक्ति थी। उन्होंने परमभाग्यवान् दत्तात्रेयजीका अत्यन्त सत्कार करके यह प्रश्न पूछा और बड़े विनम्रभावसे सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये। अब दत्तात्रेयजीने कहा॥ ३१॥

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो॥ ३२॥ मेरे गुरुओंके नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट॥ ३३-३४॥ राजन्! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इन्हींके आचरणसे इस लोकमें अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है॥ ३५॥ वीरवर ययातिनन्दन! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो॥ ३६॥

मैंने पृथ्वीसे उसके धैर्यकी, क्षमाकी शिक्षा ली है। लोग पृथ्वीपर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परन्तु वह न तो किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। संसारके सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं। धीर पुरुषको चाहिये कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोवे और न क्रोध करे। अपने मार्गपर ज्यों-का-त्यों चलता रहे॥ ३७॥

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥ ३८

पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरोंका हित करनेके लिये ही हुआ है, साधु पुरुषको चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे॥ ३८॥

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः॥ ३९

मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु—प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे जीवन-निर्वाह हो जाय, उतना भोजन कर ले। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये बहुत-से विषय न चाहे। संक्षेपमें उतने ही विषयोंका उपयोग करना चाहिये जिनसे बुद्धि विकृत न हो, मन चंचल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोंमें न लग जाय॥ ३९॥ शरीरके बाहर रहनेवाले वायुसे मैंने यह सीखा है कि जैसे वायुको अनेक स्थानोंमें जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसीका भी गुण-दोष नहीं अपनाता, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यकता होनेपर विभिन्न प्रकारके धर्म और स्वभाववाले विषयोंमें जाय, परन्तु अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे। किसीके गुण या दोषकी ओर झुक न जाय, किसीसे आसक्ति या द्वेष न कर बैठे॥ ४०॥ गन्ध वायुका गुण नहीं, पृथ्वीका गुण है। परन्तु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है। ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्धसे उसका सम्पर्क नहीं होता। वैसे ही साधकका जबतक इस पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे इसकी व्याधि-पीड़ा और भूख-प्यास आदिका भी वहन करना पड़ता है। परन्तु अपनेको शरीर नहीं, आत्माके रूपमें देखनेवाला साधक शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है॥ ४१॥

विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत्॥ ४०

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक्॥ ४१

अन्तर्हितश्च स्थिरजंगमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।

राजन्! जितने भी घट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आकाश एक और

व्याप्त्याव्यवच्छेदमसंगमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्॥ ४२

अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है। वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मारूपसे सर्वत्र स्थित होनेके कारण ब्रह्म सभीमें है। साधकको चाहिये कि सूतके मनियोंमें व्याप्त सूतके समान आत्माको अखण्ड और असंगरूपसे देखे। वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाशसे ही की जा सकती है। इसलिये साधकको आत्माकी आकाशरूपताकी भावना करनी चाहिये॥ ४२॥

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान्॥ ४३

आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायुकी प्रेरणासे बादल आदि आते और चले जाते हैं; यह सब होनेपर भी आकाश अछूता रहता है। आकाशकी दृष्टिसे यह सब कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्यके चक्करमें न जाने किन-किन नामरूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं; परन्तु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है॥ ४३॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः॥ ४४

जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करनेवाला होता है तथा गंगा आदि तीर्थोंके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे भी लोग पवित्र हो जाते हैं—वैसे ही साधकको भी स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये। जलसे शिक्षा ग्रहण करनेवाला अपने दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोगोंको पवित्र कर देता है॥ ४४॥

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्॥ ४५

राजन्! मैंने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं—सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है, और जैसे सब कुछ खा-पी लेनेपर भी विभिन्न वस्तुओंके दोषोंसे वह लिप्त नहीं होती वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्यासे देदीप्यमान, इन्द्रियोंसे अपराभूत, भोजनमात्रका संग्रही और यथायोग्य सभी विषयोंका उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखे, किसीका दोष अपनेमें न आने दे॥ ४५॥

क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम्॥ ४६

जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदिमें) अप्रकट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाय। वह कहीं-कहीं ऐसे रूपमें भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याणकामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। वह अग्निके समान ही भिक्षारूप हवन करनेवालोंके अतीत और भावी अशुभको भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है॥ ४६॥

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि॥ ४७

साधक पुरुषको इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लम्बी-चौड़ी दिखायी पड़ती है—वास्तवमें वह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्‌में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है॥ ४७॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना॥ ४८

मैंने चन्द्रमासे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है, वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीरकी हैं, आत्मासे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है॥ ४८॥

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम्॥ ४९

जैसे आगकी लपट अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है—उनका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परन्तु दीख नहीं पड़ता—वैसे ही जलप्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं पड़ता॥ ४९॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः॥ ५०

राजन्! मैंने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचते और समयपर उसे बरसा देते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा समयपर विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर उनका त्याग—उनका दान भी कर देता है। किसी भी समय उसे इन्द्रियके किसी भी विषयमें आसक्ति नहीं होती॥ ५०॥

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥ ५१

नातिस्नेहः प्रसंगो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित्।
कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः॥ ५२

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः॥ ५३

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ।
दृष्टिं दृष्ट्यांगमंगेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः॥ ५४

शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम्।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु॥ ५५

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः॥ ५६

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती॥ ५७

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलांगतनूरुहाः॥ ५८

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः॥ ५९

स्थूलबुद्धि पुरुषोंको जलके विभिन्न पात्रोंमें प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य उन्हींमें प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है। परन्तु इससे स्वरूपतः सूर्य अनेक नहीं हो जाता; वैसे ही चल-अचल उपाधियोंके भेदसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा अलग-अलग है। परन्तु जिनको ऐसा मालूम होता है, उनकी बुद्धि मोटी है। असल बात तो यह है कि आत्मा सूर्यके समान एक ही है। स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है॥ ५१॥

राजन्! कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति न करनी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा॥ ५२॥ राजन्! किसी जंगलमें एक कबूतर रहता था, उसने एक पेड़पर अपना घोंसला बना रखा था। अपनी मादा कबूतरीके साथ वह कई वर्षोंतक उसी घोंसलेमें रहा॥ ५३॥ उस कबूतरके जोड़ेके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी। वे गृहस्थधर्ममें इतने आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरेकी दृष्टि-से-दृष्टि, अंग-से-अंग और बुद्धि-से-बुद्धिको बाँध रखा था॥ ५४॥

उनका एक-दूसरेपर इतना विश्वास हो गया था कि वे निःशंक होकर वहाँकी वृक्षावलीमें एक साथ सोते, बैठते, घूमते-फिरते, ठहरते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे॥ ५५॥ राजन्! कबूतरीपर कबूतरका इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कबूतर बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर उसकी कामना पूर्ण करता; वह कबूतरी भी अपने कामुक पतिकी कामनाएँ पूर्ण करती॥ ५६॥ समय आनेपर कबूतरीको पहला गर्भ रहा। उसने अपने पतिके पास ही घोंसलेमें अंडे दिये॥ ५७॥ भगवान्की अचिन्त्य शक्तिसे समय आनेपर वे अंडे फूट गये और उनमेंसे हाथ-पैरवाले बच्चे निकल आये। उनका एक-एक अंग और रोएँ अत्यन्त कोमल थे॥ ५८॥ अब उन कबूतर-कबूतरीकी आँखें अपने बच्चोंपर लग गयीं, वे बड़े प्रेम और आनन्दसे अपने बच्चोंका लालन-पालन, लाड़-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुटर-गूँ सुन-सुनकर आनन्दमग्न हो जाते॥ ५९॥

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः॥ ६०

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः॥ ६१

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम्॥ ६२

दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद् यदृच्छातो वनेचरः।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके॥ ६३

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः॥ ६४

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकान् जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता॥ ६५

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः॥ ६६

कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः॥ ६७

बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं; वे जब अपने सुकुमार पंखोंसे माँ-बापका स्पर्श करते, कूजते, भोली-भाली चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर अपने माँ-बापके पास दौड़ आते तब कबूतर-कबूतरी आनन्दमग्न हो जाते॥ ६०॥ राजन्! सच पूछो तो वे कबूतर-कबूतरी भगवान्‌की मायासे मोहित हो रहे थे। उनका हृदय एक-दूसरेके स्नेहबन्धनसे बँध रहा था। वे अपने नन्हें-नन्हें बच्चोंके पालन-पोषणमें इतने व्यग्र रहते कि उन्हें दीन-दुनिया, लोक-परलोककी याद ही न आती॥ ६१॥ एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चोंके लिये चारा लाने जंगलमें गये हुए थे। क्योंकि अब उनका कुटुम्ब बहुत बढ़ गया था। वे चारेके लिये चिरकालतक जंगलमें चारों ओर विचरते रहे॥ ६२॥ इधर एक बहेलिया घूमता-घूमता संयोगवश उनके घोंसलेकी ओर आ निकला। उसने देखा कि घोंसलेके आस-पास कबूतरके बच्चे फुदक रहे हैं; उसने जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया॥ ६३॥ कबूतर-कबूतरी बच्चोंको खिलाने-पिलानेके लिये हर समय उत्सुक रहा करते थे। अब वे चारा लेकर अपने घोंसलेके पास आये॥ ६४॥ कबूतरीने देखा कि उसके नन्हें-नन्हें बच्चे, उसके हृदयके टुकड़े जालमें फँसे हुए हैं और दुःखसे चें-चें कर रहे हैं। उन्हें ऐसी स्थितिमें देखकर कबूतरीके दुःखकी सीमा न रही। वह रोती-चिल्लाती उनके पास दौड़ गयी॥ ६५॥

भगवान्‌की मायासे उसका चित्त अत्यन्त दीन-दुःखी हो रहा था। वह उमड़ते हुए स्नेहकी रस्सीसे जकड़ी हुई थी; अपने बच्चोंको जालमें फँसा देखकर उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध न रही। और वह स्वयं ही जाकर जालमें फँस गयी॥ ६६॥ जब कबूतरने देखा कि मेरे प्राणोंसे भी प्यारे बच्चे जालमें फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दशामें पहुँच गयी, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगा। सचमुच उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी॥ ६७॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः॥ ६८

'मैं अभागा हूँ, दुर्मति हूँ। हाय, हाय! मेरा तो सत्यानाश हो गया। देखो, देखो, न मुझे अभी तृप्ति हुई और न मेरी आशाएँ ही पूरी हुईं। तबतक मेरा धर्म, अर्थ और कामका मूल यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया॥ ६८॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः॥ ६९

हाय! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अपना इष्टदेव समझती थी; मेरी एक-एक बात मानती थी, मेरे इशारेपर नाचती थी, सब तरहसे मेरे योग्य थी। आज वह मुझे सूने घरमें छोड़कर हमारे सीधे-सादे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है॥ ६९॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः॥ ७०

मेरे बच्चे मर गये। मेरी पत्नी जाती रही। मेरा अब संसारमें क्या काम है? मुझ दीनका यह विधुर जीवन—बिना गृहिणीका जीवन जलनका—व्यथाका जीवन है। अब मैं इस सूने घरमें किसके लिये जीऊँ?॥ ७०॥

तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत्॥ ७१

राजन्! कबूतरके बच्चे जालमें फँसकर तड़फड़ा रहे थे, स्पष्ट दीख रहा था कि वे मौतके पंजेमें हैं, परन्तु वह मूर्ख कबूतर यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा था कि स्वयं जान-बूझकर जालमें कूद पड़ा॥ ७१॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम्॥ ७२

राजन्! वह बहेलिया बड़ा क्रूर था। गृहस्थाश्रमी कबूतर-कबूतरी और उनके बच्चोंके मिल जानेसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई; उसने समझा मेरा काम बन गया और वह उन्हें लेकर चलता बना॥ ७२॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति॥ ७३

जो कुटुम्बी है, विषयों और लोगोंके संग-साथमें ही जिसे सुख मिलता है एवं अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वह उसी कबूतरके समान अपने कुटुम्बके साथ कष्ट पाता है॥ ७३॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥ ७४

यह मनुष्य-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमें ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचेतक चढ़कर गिर रहा है। शास्त्रकी भाषामें वह 'आरूढ़च्युत' है॥ ७४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—अजगरसे लेकर पिंगलातक नौ गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥ १

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः॥ २

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्॥ ३

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि॥ ४

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः॥ ५

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ ६

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! प्राणियोंको जैसे बिना इच्छाके, बिना किसी प्रयत्नके, रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्गमें या नरकमें—कहीं भी रहें, उन्हें इन्द्रियसम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं। इसलिये सुख और दुःखका रहस्य जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकारका प्रयत्न न करे॥ १ ॥ बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाय—वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा—बुद्धिमान् पुरुष अजगरके समान उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह कर ले और उदासीन रहे॥ २ ॥ यदि भोजन न मिले तो उसे भी प्रारब्ध-भोग समझकर किसी प्रकारकी चेष्टा न करे, बहुत दिनोंतक भूखा ही पड़ा रहे। उसे चाहिये कि अजगरके समान केवल प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए भोजनमें ही सन्तुष्ट रहे॥ ३ ॥ उसके शरीरमें मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल तीनों हों तब भी वह निश्चेष्ट ही रहे। निद्रारहित होनेपर भी सोया हुआ-सा रहे और कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी उनसे कोई चेष्टा न करे। राजन्! मैंने अजगरसे यही शिक्षा ग्रहण की है॥ ४ ॥

समुद्रसे मैंने यह सीखा है कि साधकको सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये, उसका भाव अथाह, अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्तसे उसे क्षोभ न होना चाहिये। उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तरंगोंसे रहित शान्त समुद्र॥ ५ ॥ देखो, समुद्र वर्षाऋतुमें नदियोंकी बाढ़के कारण बढ़ता नहीं और न ग्रीष्म-ऋतुमें घटता ही है; वैसे ही भगवत्परायण साधकको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उनके घटनेसे उदास ही होना चाहिये॥ ६ ॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतंगवत्॥ ७

राजन्! मैंने पतिंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूपपर मोहित होकर आगमें कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला पुरुष जब स्त्रीको देखता है तो उसके हाव-भावपर लट्टू हो जाता है और घोर अन्धकारमें, नरकमें गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है। सचमुच स्त्री देवताओंकी वह माया है, जिससे जीव भगवान् या मोक्षकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है॥ ७॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतंगवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥ ८

जो मूढ़ कामिनी-कंचन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थोंमें फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोगके लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेकबुद्धि खोकर पतिंगेके समान नष्ट हो जाता है॥ ८॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥ ९

राजन्! संन्यासीको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका कष्ट न देकर भौंरेकी तरह अपना जीवन-निर्वाह करे। वह अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले*॥ ९॥

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥ १०

जिस प्रकार भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे—चाहे वे छोटे हों या बड़े—उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार—उनका रस निचोड़ ले॥ १०॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही॥ ११

राजन्! मैंने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये भिक्षाका संग्रह न करना चाहिये। उसके पास भिक्षा लेनेको कोई पात्र हो तो केवल हाथ और रखनेके लिये कोई बर्तन हो तो पेट। वह कहीं संग्रह न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियोंके समान उसका जीवन ही दूभर हो जायगा॥ ११॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति॥ १२

यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि संन्यासी सबेरे-शामके लिये किसी प्रकारका संग्रह न करे; यदि संग्रह करेगा तो मधुमक्खियोंके समान अपने संग्रहके साथ ही जीवन भी गँवा बैठेगा॥ १२॥

---

* नहीं तो एक ही कमलके गन्धमें आसक्त हुआ भ्रमर जैसे रात्रिके समय उसमें बंद हो जानेसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वादवासनासे एक ही गृहस्थका अन्न खानेसे उसके सांसर्गिक मोहमें फँसकर यति भी नष्ट हो जायगा।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अंगसंगतः॥ १३

राजन्! मैंने हाथीसे यह सीखा कि संन्यासीको कभी पैरसे भी काठकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो जैसे हथिनीके अंग-संगसे हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायगा*॥ १३॥

नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥ १४

विवेकी पुरुष किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्यरूपसे स्वीकार न करे; क्योंकि यह उसकी मूर्तिमती मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे हाथीकी तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा॥ १४॥

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसंचितम्।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु॥ १५

मैंने मधु निकालनेवाले पुरुषसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संसारके लोभी पुरुष बड़ी कठिनाईसे धनका संचय तो करते रहते हैं, किन्तु वह संचित धन न किसीको दान करते हैं और न स्वयं उसका उपभोग ही करते हैं। बस, जैसे मधु निकालनेवाला मधुमक्खियोंद्वारा संचित रसको निकाल ले जाता है वैसे ही उनके संचित धनको भी उसकी टोह रखनेवाला कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है॥ १५॥

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम्॥ १६

तुम देखते हो न कि मधुहारी मधुमक्खियोंका जोड़ा हुआ मधु उनके खानेसे पहले ही साफ कर जाता है; वैसे ही गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे संचित किये पदार्थोंको, जिनसे वे सुखभोगकी अभिलाषा रखते हैं, उनसे भी पहले संन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं। क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करेगा॥ १६॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥ १७

मैंने हरिनसे यह सीखा है कि वनवासी संन्यासीको कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये। वह इस बातकी शिक्षा उस हरिनसे ग्रहण करे जो व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है॥ १७॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृंगो मृगीसुतः॥ १८

तुम्हें इस बातका पता है कि हरिनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृंग मुनि स्त्रियोंका विषय-सम्बन्धी गाना-बजाना, नाचना आदि देख-सुनकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे॥ १८॥

---

* हाथी पकड़नेवाले तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेपर कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं। उसे देखकर हाथी वहाँ आता है और गड्ढेमें गिरकर फँस जाता है।

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥ १९

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥ २०

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ २१

पिंगला नाम वेश्याऽऽसीद् विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किंचिन्निबोध नृपनन्दन॥ २२

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं संकेत उपनेष्यती।
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम्॥ २३

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।
ताञ्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका॥ २४

आगतेष्वपयातेषु सा संकेतोपजीविनी।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः॥ २५

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥ २६

अब मैं तुम्हें मछलीकी सीख सुनाता हूँ। जैसे मछली काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी मनको मथकर व्याकुल कर देनेवाली अपनी जिह्वाके वशमें हो जाता है और मारा जाता है॥ १९ ॥ विवेकी पुरुष भोजन बंद करके दूसरी इन्द्रियोंपर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसना-इन्द्रिय वशमें नहीं होती। वह तो भोजन बंद कर देनेसे और भी प्रबल हो जाती है॥ २० ॥ मनुष्य और सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता। और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं॥ २१ ॥

नृपनन्दन! प्राचीन कालकी बात है, विदेहनगरी मिथिलामें एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिंगला। मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सावधान होकर सुनो॥ २२ ॥ वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपवती भी थी। एक दिन रात्रिके समय किसी पुरुषको अपने रमणस्थानमें लानेके लिये खूब बन-ठनकर—उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजकर बहुत देरतक अपने घरके बाहरी दरवाजेपर खड़ी रही॥ २३ ॥ नररत्न! उसे पुरुषकी नहीं, धनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी दृढ़मूल हो गयी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचती कि यह कोई धनी है और मुझे धन देकर उपभोग करनेके लिये ही आ रहा है॥ २४ ॥

जब आने-जानेवाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह संकेतजीविनी वेश्या यही सोचती कि अवश्य ही अबकी बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आवेगा जो मुझे बहुत-सा धन देगा॥ २५ ॥ उसके चित्तकी यह दुराशा बढ़ती ही जाती थी। वह दरवाजेपर बहुत देरतक टँगी रही। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती तो कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात हो गयी॥ २६ ॥

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥ २७

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः॥ २८

न ह्यंगाज्जातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥ २९

पिंगलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥ ३०

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥ ३१

अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा
सांकेत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती॥ ३२

राजन्! सचमुच आशा और सो भी धनकी—बहुत बुरी है। धनीकी बाट जोहते-जोहते उसका मुँह सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्तिसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसमें दुःख-बुद्धि हो गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस वैराग्यका कारण चिन्ता ही थी। परन्तु ऐसा वैराग्य भी है तो सुखका ही हेतु॥ २७॥ जब पिंगलाके चित्तमें इस प्रकार वैराग्यकी भावना जाग्रत् हुई, तब उसने एक गीत गाया। वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। राजन्! मनुष्य आशाकी फाँसीपर लटक रहा है। इसको तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य है॥ २८॥ प्रिय राजन्! जिसे वैराग्य नहीं हुआ है, जो इन बखेड़ोंसे ऊबा नहीं है, वह शरीर और इसके बन्धनसे उसी प्रकार मुक्त नहीं होना चाहता, जैसे अज्ञानी पुरुष ममता छोड़नेकी इच्छा भी नहीं करता॥ २९॥

पिंगलाने यह गीत गाया था—हाय! हाय! मैं इन्द्रियोंके अधीन हो गयी। भला! मेरे मोहका विस्तार तो देखो, मैं इन दुष्ट पुरुषोंसे, जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, विषयसुखकी लालसा करती हूँ। कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ॥ ३०॥ देखो तो सही, मेरे निकट-से-निकट हृदयमें ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं। वे वास्तविक प्रेम, सुख और परमार्थका सच्चा धन भी देनेवाले हैं। जगत्‌के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं। हाय! हाय! मैंने उनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्योंका सेवन किया जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते; उलटे दुःख-भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। यह मेरी मूर्खताकी हद है कि मैं उनका सेवन करती हूँ॥ ३१॥ बड़े खेदकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्यावृत्तिका आश्रय लिया और व्यर्थमें अपने शरीर और मनको क्लेश दिया, पीड़ा पहुँचायी। मेरा यह शरीर बिक गया है। लम्पट, लोभी और निन्दनीय मनुष्योंने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रति-सुख चाहती हूँ। मुझे धिक्कार है!॥ ३२॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥ ३३

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्॥ ३४

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥ ३५

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥ ३६

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥ ३७

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥ ३८

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसंगताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥ ३९

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥ ४०

यह शरीर एक घर है। इसमें हड्डियोंके टेढ़े-तिरछे बाँस और खंभे लगे हुए हैं; चाम, रोएँ और नाखूनोंसे यह छाया गया है। इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते ही रहते हैं। इसमें संचित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र हैं। मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है जो इस स्थूल शरीरको अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी॥ ३३॥ यों तो यह विदेहोंकी—जीवन्मुक्तोंकी नगरी है, परन्तु इसमें मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ; क्योंकि अकेली मैं ही तो आत्मदानी, अविनाशी एवं परमप्रियतम परमात्माको छोड़कर दूसरे पुरुषकी अभिलाषा करती हूँ॥ ३४॥ मेरे हृदयमें विराजमान प्रभु, समस्त प्राणियोंके हितैषी, सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब मैं अपने-आपको देकर इन्हें खरीद लूँगी और इनके साथ वैसे ही विहार करूँगी, जैसे लक्ष्मीजी करती हैं॥ ३५॥ मेरे मूर्ख चित्त! तू बतला तो सही, जगत्के विषयभोगोंने और उनको देनेवाले पुरुषोंने तुझे कितना सुख दिया है। अरे! वे तो स्वयं ही पैदा होते और मरते रहते हैं। मैं केवल अपनी ही बात नहीं कहती, केवल मनुष्योंकी भी नहीं; क्या देवताओंने भी भोगोंके द्वारा अपनी पत्नियोंको सन्तुष्ट किया है? वे बेचारे तो स्वयं कालके गालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं॥ ३६॥ अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्मसे विष्णुभगवान् मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो दुराशासे मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। अवश्य ही मेरा यह वैराग्य सुख देनेवाला होगा॥ ३७॥ यदि मैं मन्दभागिनी होती तो मुझे ऐसे दुःख ही न उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है। मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही घर आदिके सब बन्धनोंको काटकर शान्ति-लाभ करता है॥ ३८॥ अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ॥ ३९॥ अब मुझे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा उसीसे निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरे पुरुषकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर, आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी॥ ४०॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः॥ ४१

यह जीव संसारके कूएँमें गिरा हुआ है। विषयोंने इसे अंधा बना दिया है, कालरूपी अजगरने इसे अपने मुँहमें दबा रखा है। अब भगवान्‌को छोड़कर इसकी रक्षा करनेमें दूसरा कौन समर्थ है॥ ४१ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत्॥ ४२

जिस समय जीव समस्त विषयोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ यह देखते रहना चाहिये कि सारा जगत् कालरूपी अजगरसे ग्रस्त है॥ ४२ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा॥ ४३

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! पिंगला वेश्याने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियोंकी दुराशा, उनसे मिलनेकी लालसाका परित्याग कर दिया और शान्तभावसे जाकर वह अपनी सेजपर सो रही॥ ४३ ॥

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला॥ ४४

सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिंगला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—कुररसे लेकर भृंगीतक सात गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिंचनः॥ १

अवधूत दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दुःखका कारण है। जो बुद्धिमान् पुरुष यह बात समझकर अकिंचनभावसे रहता है—शरीरकी तो बात ही अलग, मनसे भी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता—उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है॥ १ ॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥ २

एक कुररपक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये हुए था। उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीननेके लिये उसे घेरकर चोंचें मारने लगे। जब कुररपक्षीने अपनी चोंचसे मांसका टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला॥ २ ॥

न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥ ३

मुझे मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवारवालोंको जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मामें ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीडा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली है। अतः उसीके समान मैं भी मौजसे रहता हूँ॥ ३ ॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥ ४

इस जगत्‌में दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमें मग्न रहते हैं—एक तो भोलाभाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो॥ ४॥

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु॥ ५

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शंखाः स्वनं महत्॥ ६

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभंजैकैकशः शंखान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्॥ ७

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्म शंखयोः।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः॥ ८

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम।
लोकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया॥ ९

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कंकणः॥ १०

एक बार किसी कुमारी कन्याके घर उसे वरण करनेके लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन उसके घरके लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसने स्वयं ही उनका आतिथ्यसत्कार किया॥ ५॥ राजन्! उनको भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पड़ी शंखकी चूड़ियाँ जोर-जोरसे बज रही थीं॥ ६॥ इस शब्दको निन्दित समझकर कुमारीको बड़ी लज्जा मालूम हुई* और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डाली और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं॥ ७॥ अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयोंमें केवल एक-एक चूड़ी रह गयी तब किसी प्रकारकी आवाज नहीं हुई॥ ८॥ रिपुदमन! उस समय लोगोंका आचार-विचार निरखने-परखनेके लिये इधर-उधर घूमता-घामता मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत तो होती ही है; इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान अकेले ही विचरना चाहिये॥ ९-१०॥

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥ ११

यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुंचति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥ १२

राजन्! मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर ले और फिर बड़ी सावधानीके साथ उसे एक लक्ष्यमें लगा दे॥ ११॥ जब परमानन्दस्वरूप परमात्मामें मन स्थिर हो जाता है तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओंकी धूलको धो बहाता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिसे रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंका त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधनके बिना अग्नि॥ १२॥

* क्योंकि उससे उसका स्वयं धान कूटना सूचित होता था, जो कि उसकी द्ररिद्रताका द्योतक था।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किंचिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥ १३

इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मामें ही स्थिर—निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पतातक न चला॥ १३॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः॥ १४

राजन्! मैंने साँपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये। वह एक स्थानमें न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय। किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले॥ १४॥

गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥ १५

इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखकी जड़ है। साँप दूसरोंके बनाये घरमें घुसकर बड़े आरामसे अपना समय काटता है॥ १५॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः॥ १६

एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः॥ १७

परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः॥ १८

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम॥ १९

अब मकड़ीसे ली हुई शिक्षा सुनो। सबके प्रकाशक और अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्ने पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी ही मायासे रचे हुए जगत्को कल्पके अन्तमें (प्रलयकाल उपस्थित होनेपर) कालशक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया—उसे अपनेमें लीन कर लिया और सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदसे शून्य अकेले ही शेष रह गये। वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं; परन्तु स्वयं अपने आश्रय—अपने ही आधारसे रहते हैं, उनका कोई दूसरा आधार नहीं है। वे प्रकृति और पुरुष दोनोंके नियामक, कार्य और कारणात्मक जगत्के आदिकारण परमात्मा अपनी शक्ति कालके प्रभावसे सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियोंको साम्यावस्थामें पहुँचा देते हैं और स्वयं कैवल्यरूपसे एक और अद्वितीयरूपसे विराजमान रहते हैं। वे केवल अनुभवस्वरूप और आनन्दघन मात्र हैं। किसी भी प्रकारकी उपाधिका उनसे सम्बन्ध नहीं है। वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति कालके द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करते हैं और उससे पहले क्रियाशक्ति-प्रधान सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। यह सूत्ररूप महत्तत्त्व ही तीनों गुणोंकी पहली अभिव्यक्ति

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥ २०

है, वही सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण है। उसीमें यह सारा विश्व, सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत है और इसीके कारण जीवको जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना पड़ता है॥ १६—२०॥ जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्‌को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे विहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं॥ २१॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ २१

राजन्! मैंने भृंगी (बिलनी) कीड़ेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेहसे , द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है॥ २२॥ राजन्! जैसे भृंगी एक कीड़ेको ले जाकर दीवारपर अपने रहनेकी जगह बंद कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है*॥ २३॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥ २२

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥ २३

राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बताता हूँ, सावधान होकर सुनो॥ २४॥ यह शरीर भी मेरा गुरु ही है; क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्यकी शिक्षा देता है। मरना और जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। इस शरीरको पकड़ रखनेका फल यह है कि दुःख-पर-दुःख भोगते जाओ। यद्यपि इस शरीरसे तत्त्वविचार करनेमें सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता; सर्वदा यही निश्चय रखता हूँ कि एक दिन इसे सियार-कुत्ते खा जायँगे। इसीलिये मैं इससे असंग होकर विचरता हूँ॥ २५॥ जीव जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओंका विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषणमें लगा रहता है। बड़ी-

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो॥ २४

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसंगः॥ २५

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षुतया वितन्वन्।

* जब उसी शरीरसे चिन्तन किये रूपकी प्राप्ति हो जाती है; तब दूसरे शरीरसे तो कहना ही क्या है? इसलिये मनुष्यको अन्य वस्तुका चिन्तन न करके केवल परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये।

स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा॥ २६

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ २७

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ २८

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ २९

एवं संजातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि।
विचरामि महीमेतां मुक्तसंगोऽनहंकृतिः॥ ३०

बड़ी कठिनाइयाँ सहकर धनसंचय करता है। आयुष्य पूरी होनेपर वही शरीर स्वयं तो नष्ट होता ही है, वृक्षके समान दूसरे शरीरके लिये बीज बोकर उसके लिये भी दु:खकी व्यवस्था कर जाता है॥ २६॥ जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीवको जीभ एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर; जननेन्द्रिय एक ओर—स्त्रीसंभोगकी ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं। नाक कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है तो चंचल नेत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही इसे सताती रहती हैं॥ २७॥ वैसे तो भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु) पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्यशरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धिसे युक्त है जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए॥ २८॥ यद्यपि यह मनुष्यशरीर है तो अनित्य ही—मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। परन्तु इससे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है; इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्युके पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये॥ २९॥

राजन्! यही सब सोच-विचारकर मुझे जगत्‌से वैराग्य हो गया। मेरे हृदयमें ज्ञान-विज्ञानकी ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहंकार ही। अब मैं स्वच्छन्दरूपसे इस

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥ ३१

पृथ्वीमें विचरण करता हूँ॥ ३०॥ राजन्! अकेले गुरुसे ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धिसे भी बहुत कुछ सोचने-समझनेकी आवश्यकता है। देखो! ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेकों प्रकारसे गान किया है। (यदि तुम स्वयं विचारकर निर्णय न करोगे तो ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको कैसे जान सकोगे?)॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥ ३२

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! गम्भीरबुद्धि अवधूत दत्तात्रेयने राजा यदुको इस प्रकार उपदेश किया। यदुने उनकी पूजा और वन्दना की, दत्तात्रेयजी उनसे अनुमति लेकर बड़ी प्रसन्नतासे इच्छानुसार पधार गये॥ ३२॥ हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेयकी यह बात सुनकर समस्त आसक्तियोंसे छुटकारा पा गये और समदर्शी हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये)॥ ३३॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः।
सर्वसंगविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह॥ ३३

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंकी असारताका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत्॥ १

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम्।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम्॥ २

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः।
नानात्मकत्वाद् विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः॥ ३

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव! साधकको चाहिये कि सब तरहसे मेरी शरणमें रहकर (गीता-पाञ्चरात्र आदिमें) मेरे द्वारा उपदिष्ट अपने धर्मोंका सावधानीसे पालन करे। साथ ही जहाँतक उनसे विरोध न हो वहाँतक निष्कामभावसे अपने वर्ण, आश्रम और कुलके अनुसार सदाचारका भी अनुष्ठान करे॥ १॥ निष्काम होनेका उपाय यह है कि स्वधर्मोंका पालन करनेसे शुद्ध हुए अपने चित्तमें यह विचार करे कि जगत्के विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंको सत्य समझकर उनकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करते हैं, उसमें उनका उद्देश्य तो यह होता है कि सुख मिले, परन्तु मिलता है दुःख॥ २॥ इसके सम्बन्धमें ऐसा विचार करना चाहिये कि स्वप्न-अवस्थामें और मनोरथ करते समय जाग्रत्-अवस्थामें भी मनुष्य मन-ही-मन अनेकों प्रकारके विषयोंका अनुभव करता है, परन्तु उसकी वह सारी कल्पना

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्॥ ४

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्॥ ५

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः॥ ७

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥ ८

वस्तुशून्य होनेके कारण व्यर्थ है। वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली भेदबुद्धि भी व्यर्थ ही है, क्योंकि यह भी इन्द्रियजन्य और नाना वस्तुविषयक होनेके कारण पूर्ववत् असत्य ही है॥ ३॥ जो पुरुष मेरी शरणमें है, उसे अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम अथवा नित्यकर्म ही करने चाहिये। उन कर्मोंका बिलकुल परित्याग कर देना चाहिये जो बहिर्मुख बनानेवाले अथवा सकाम हों। जब आत्मज्ञानकी उत्कट इच्छा जाग उठे, तब तो कर्मसम्बन्धी विधि-विधानोंका भी आदर नहीं करना चाहिये॥ ४॥ अहिंसा आदि यमोंका तो आदरपूर्वक सेवन करना चाहिये, परन्तु शौच (पवित्रता) आदि नियमोंका पालन शक्तिके अनुसार और आत्मज्ञानके विरोधी न होनेपर ही करना चाहिये। जिज्ञासु पुरुषके लिये यम और नियमोंके पालनसे भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरुकी, जो मेरे स्वरूपको जाननेवाले और शान्त हों, मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करे॥ ५॥ शिष्यको अभिमान न करना चाहिये। वह कभी किसीसे डाह न करे—किसीका बुरा न सोचे। वह प्रत्येक कार्यमें कुशल हो—उसे आलस्य छू न जाय। उसे कहीं भी ममता न हो, गुरुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग हो। कोई काम हड़बड़ाकर न करे—उसे सावधानीसे पूरा करे। सदा परमार्थके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा बनाये रखे। किसीके गुणोंमें दोष न निकाले और व्यर्थकी बात न करे॥ ६॥ जिज्ञासुका परम धन है आत्मा; इसलिये वह स्त्री-पुत्र, घर-खेत, स्वजन और धन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक सम आत्माको देखे और किसीमें कुछ विशेषताका आरोप करके उससे ममता न करे, उदासीन रहे॥ ७॥ उद्धव! जैसे जलनेवाली लकड़ीसे उसे जलाने और प्रकाशित करनेवाली आग सर्वथा अलग है। ठीक वैसे ही विचार करनेपर जान पड़ता है कि पञ्चभूतोंका बना स्थूलशरीर और मन-बुद्धि आदि सत्रह तत्त्वोंका बना सूक्ष्मशरीर दोनों ही दृश्य और जड हैं। तथा उनको जानने और प्रकाशित करनेवाला आत्मा साक्षी एवं स्वयंप्रकाश है। शरीर अनित्य, अनेक एवं जड हैं। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है। इस प्रकार देहकी अपेक्षा आत्मामें महान् विलक्षणता है। अतएव देहसे आत्मा भिन्न है॥ ८॥

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान्।
अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान् परः॥ ९

जब आग लकड़ीमें प्रज्वलित होती है, तब लकड़ीके उत्पत्ति-विनाश, बड़ाई-छोटाई और अनेकता आदि सभी गुण वह स्वयं ग्रहण कर लेती है। परन्तु सच पूछो, तो लकड़ीके उन गुणोंसे आगका कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही जब आत्मा अपनेको शरीर मान लेता है तब वह देहके जडता, अनित्यता, स्थूलता, अनेकता आदि गुणोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी उनसे युक्त जान पड़ता है॥ ९॥

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः॥ १०

ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित मायाके गुणोंने ही सूक्ष्म और स्थूलशरीरका निर्माण किया है। जीवको शरीर और शरीरको जीव समझ लेनेके कारण ही स्थूलशरीरके जन्म-मरण और सूक्ष्मशरीरके आवागमनका आत्मापर आरोप किया जाता है। जीवको जन्म-मृत्युरूप संसार इसी भ्रम अथवा अध्यासके कारण प्राप्त होता है। आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेपर उसकी जड़ कट जाती है॥ १०॥

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम्।
संगम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम्॥ ११

प्यारे उद्धव! इस जन्म-मृत्युरूप संसारका कोई दूसरा कारण नहीं, केवल अज्ञान ही मूल कारण है। इसलिये अपने वास्तविक स्वरूपको, आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्से अतीत, द्वैतकी गन्धसे रहित एवं अपने-आपमें ही स्थित है। उसका और कोई आधार नहीं है। उसे जानकर धीरे-धीरे स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर आदिमें जो सत्यत्वबुद्धि हो रही है उसे क्रमशः मिटा देना चाहिये॥ ११॥

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः॥ १२

(यज्ञमें जब अरणिमन्थन करके अग्नि उत्पन्न करते हैं, तो उसमें नीचे-ऊपर दो लकड़ियाँ रहती हैं और बीचमें मन्थनकाष्ठ रहता है; वैसे ही) विद्यारूप अग्निकी उत्पत्तिके लिये आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपरकी अरणियाँ हैं तथा उपदेश मन्थनकाष्ठ है। इनसे जो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है वह विलक्षण सुख देनेवाली है। इस यज्ञमें बुद्धिमान् शिष्य सद्गुरुके द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है, वह गुणोंसे बनी हुई विषयोंकी मायाको भस्म कर देता है। तत्पश्चात् वे गुण भी भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्
स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः॥ १३

यह संसार बना हुआ है। इस प्रकार सबके भस्म हो जानेपर जब आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी ठीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूपमें शान्त हो जाती है, जैसे समिधा न रहनेपर आग बुझ जाती है*॥ १२-१३॥

अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम्॥ १४

मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः॥ १५

एवमप्यंग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत्॥ १६

अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत्॥ १७

प्यारे उद्धव! यदि तुम कदाचित् कर्मोंके कर्ता और सुख-दुखोंके भोक्ता जीवोंको अनेक तथा जगत्, काल, वेद और आत्माओंको नित्य मानते हो; साथ ही समस्त पदार्थोंकी स्थिति प्रवाहसे नित्य और यथार्थ स्वीकार करते हो तथा यह समझते हो कि घट-पट आदि बाह्य आकृतियोंके भेदसे उनके अनुसार ज्ञान ही उत्पन्न होता और बदलता रहता है; तो ऐसे मतके माननेसे बड़ा अनर्थ हो जायगा। (क्योंकि इस प्रकार जगत्के कर्ता आत्माकी नित्य सत्ता और जन्म-मृत्युके चक्करसे मुक्ति भी सिद्ध न हो सकेगी।) यदि कदाचित् ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाय तो देह और संवत्सरादि कालावयवोंके सम्बन्धसे होनेवाली जीवोंकी जन्म-मरण आदि अवस्थाएँ भी नित्य होनेके कारण दूर न हो सकेंगी; क्योंकि तुम देहादि पदार्थ और कालकी नित्यता स्वीकार करते हो। इसके सिवा, यहाँ भी कर्मोंका कर्ता तथा सुख-दुःखका भोक्ता जीव परतन्त्र ही दिखायी देता है; यदि वह स्वतन्त्र हो तो दुःखका फल क्यों भोगना चाहेगा? इस प्रकार सुख-भोगकी समस्या सुलझ जानेपर भी दुःख-भोगकी समस्या तो उलझी ही रहेगी। अतः इस मतके अनुसार जीवको कभी मुक्ति या स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकेगी। जब जीव स्वरूपतः परतन्त्र है, विवश है, तब तो स्वार्थ या परमार्थ कोई भी उसका सेवन न करेगा। अर्थात् वह स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे ही वञ्चित रह जायगा॥ १४—१७॥

* यहाँतक यह बात स्पष्ट हो गयी कि स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप नित्य एक ही आत्मा है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म देहके कारण हैं। आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है, सब अनित्य और मायामय है; इसलिये आत्मज्ञान होते ही समस्त विपत्तियोंसे मुक्ति मिल जाती है।

न देहिनां सुखं किंचिद् विद्यते विदुषामपि।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहंकरणं परम्॥ १८

(यदि यह कहा जाय कि जो भलीभाँति कर्म करना जानते हैं, वे सुखी रहते हैं, और जो नहीं जानते उन्हें दुःख भोगना पड़ता है तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि) ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कर्मकुशल विद्वानोंको भी कुछ सुख नहीं मिलता और मूढ़ोंका भी कभी दुःखसे पाला नहीं पड़ता। इसलिये जो लोग अपनी बुद्धि या कर्मसे सुख पानेका घमंड करते हैं, उनका वह अभिमान व्यर्थ है॥ १८॥

यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा॥ १९

यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि वे लोग सुखकी प्राप्ति और दुःखके नाशका ठीक-ठीक उपाय जानते हैं, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी ऐसे उपायका पता नहीं है, जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके और वे कभी मरें ही नहीं॥ १९॥

को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥ २०

जब मृत्यु उनके सिरपर नाच रही है तब ऐसी कौन-सी भोग-सामग्री या भोग-कामना है जो उन्हें सुखी कर सके? भला, जिस मनुष्यको फाँसीपर लटकानेके लिये वधस्थानपर ले जाया जा रहा है, उसे क्या फूल-चन्दन-स्त्री आदि पदार्थ सन्तुष्ट कर सकते हैं? कदापि नहीं। (अतः पूर्वोक्त मत माननेवालोंकी दृष्टिसे न सुख ही सिद्ध होगा और न जीवका कुछ पुरुषार्थ ही रहेगा)॥ २०॥

श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम्॥ २१

प्यारे उद्धव! लौकिक सुखके समान पारलौकिक सुख भी दोषयुक्त ही है; क्योंकि वहाँ भी बराबरीवालोंसे होड़ चलती है, अधिक सुख भोगनेवालोंके प्रति असूया होती है—उनके गुणोंमें दोष निकाला जाता है और छोटोंसे घृणा होती है। प्रतिदिन पुण्य क्षीण होनेके साथ ही वहाँके सुख भी क्षयके निकट पहुँचते रहते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं। वहाँकी कामना पूर्ण होनेमें भी यजमान, ऋत्विज् और कर्म आदिकी त्रुटियोंके कारण बड़े-बड़े विघ्नोंकी सम्भावना रहती है। जैसे हरी-भरी खेती भी अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदिके कारण नष्ट हो जाती है, वैसे ही स्वर्ग भी प्राप्त होते-होते विघ्नोंके कारण नहीं मिल पाता॥ २१॥

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु॥ २२

यदि यज्ञ-यागादि धर्म बिना किसी विघ्नके पूरा हो जाय तो उसके द्वारा जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उनकी प्राप्तिका प्रकार मैं बतलाता हूँ, सुनो॥ २२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
भुंजीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥ २३

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक्॥ २४

स्त्रीभिः कामगयानेन किंकिणीजालमालिना।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः॥ २५

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥ २६

यद्यधर्मरतः संगादसतां वाजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥ २७

पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः॥ २८

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥ २९

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः॥ ३०

यज्ञ करनेवाला पुरुष यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गमें जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है॥ २३॥ उसे उसके पुण्योंके अनुसार एक चमकीला विमान मिलता है और वह उसपर सवार होकर सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है। गन्धर्वगण उसके गुणोंका गान करते हैं और उसके रूप-लावण्यको देखकर दूसरोंका मन लुभा जाता है॥ २४॥ उसका विमान वह जहाँ ले जाना चाहता है, वहीं चला जाता है और उसकी घंटियाँ घनघनाकर दिशाओंको गुंजारित करती हैं। वह अप्सराओंके साथ नन्दनवन आदि देवताओंकी विहार-स्थलियोंमें क्रीड़ाएँ करते-करते इतना बेसुध हो जाता है कि उसे इस बातका पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायँगे और मैं यहाँसे ढकेल दिया जाऊँगा॥ २५॥ जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्गमें चैनकी वंशी बजाता रहता है; परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहनेपर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि कालकी चाल ही ऐसी है॥ २६॥

यदि कोई मनुष्य दुष्टोंकी संगतिमें पड़कर अधर्म-परायण हो जाय, अपनी इन्द्रियोंके वशमें होकर मनमानी करने लगे, लोभवश दाने-दानेमें कृपणता करने लगे, लम्पट हो जाय अथवा प्राणियोंको सताने लगे और विधि-विरुद्ध पशुओंकी बलि देकर भूत और प्रेतोंकी उपासनामें लग जाय, तब तो वह पशुओंसे भी गया-बीता हो जाता है और अवश्य ही नरकमें जाता है। उसे अन्तमें घोर अन्धकार, स्वार्थ और परमार्थसे रहित अज्ञानमें ही भटकना पड़ता है॥ २७-२८॥ जितने भी सकाम और बहिर्मुख करनेवाले कर्म हैं, उनका फल दुःख ही है। जो जीव शरीरमें अहंता-ममता करके उन्हींमें लग जाता है, उसे बार-बार जन्म-पर-जन्म और मत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती रहती है। ऐसी स्थितिमें मृत्युधर्मा जीवको क्या सुख हो सकता है?॥ २९॥

सारे लोक और लोकपालोंकी आयु भी केवल एक कल्प है, इसलिये मुझसे भयभीत रहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी कालसे सीमित—केवल

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ॥ ३१

यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि॥ ३२

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः॥ ३३

काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति॥ ३४

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो॥ ३५

कथं वर्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः।
किं भुंजीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा॥ ३६

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः॥ ३७

दो परार्द्ध है॥ ३०॥ सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण इन्द्रियोंको उनके कर्मोंमें प्रेरित करते हैं और इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज आदि गुणों और इन्द्रियोंको अपना स्वरूप मान बैठता है और उनके किये हुए कर्मोंका फल सुख-दुःख भोगने लगता है॥ ३१॥ जबतक गुणोंकी विषमता है अर्थात् शरीरादिमें मैं और मेरेपनका अभिमान है; तभीतक आत्माके एकत्वकी अनुभूति नहीं होती—वह अनेक जान पड़ता है; और जबतक आत्माकी अनेकता है, तबतक तो उन्हें काल अथवा कर्म किसीके अधीन रहना ही पड़ेगा॥ ३२॥ जबतक परतन्त्रता है, तबतक ईश्वरसे भय बना ही रहता है। जो मैं और मेरेपनके भावसे ग्रस्त रहकर आत्माकी अनेकता, परतन्त्रता आदि मानते हैं और वैराग्य न ग्रहण करके बहिर्मुख करनेवाले कर्मोंका ही सेवन करते रहते हैं, उन्हें शोक और मोहकी प्राप्ति होती है॥ ३३॥ प्यारे उद्धव! जब मायाके गुणोंमें क्षोभ होता है, तब मुझ आत्माको ही काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामोंसे निरूपण करने लगते हैं। (ये सब मायामय हैं। वास्तविक सत्य मैं आत्मा ही हूँ)॥ ३४॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! यह जीव देह आदि रूप गुणोंमें ही रह रहा है। फिर देहसे होनेवाले कर्मों या सुख-दुःख आदि रूप फलोंमें क्यों नहीं बँधता है? अथवा यह आत्मा गुणोंसे निर्लिप्त है, देह आदिके सम्पर्कसे सर्वथा रहित है, फिर इसे बन्धनकी प्राप्ति कैसे होती है?॥ ३५॥ बद्ध अथवा मुक्त पुरुष कैसा बर्ताव करता है, वह कैसे विहार करता है, या वह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, कैसे भोजन करता है? और मल-त्याग आदि कैसे करता है? कैसे सोता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?॥ ३६॥ अच्युत! प्रश्नका मर्म जाननेवालोंमें आप श्रेष्ठ हैं। इसलिये आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये—एक ही आत्मा अनादि गुणोंके संसर्गसे नित्यबद्ध भी मालूम पड़ता है और असंग होनेके कारण नित्यमुक्त भी। इस बातको लेकर मुझे भ्रम हो रहा है॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे भगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

बद्ध, मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥ १

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥ २

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥ ३

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥ ४

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥ ५

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! आत्मा बद्ध है या मुक्त है, इस प्रकारकी व्याख्या या व्यवहार मेरे अधीन रहनेवाले सत्त्वादि गुणोंकी उपाधिसे ही होता है। वस्तुतः—तत्त्वदृष्टिसे नहीं। सभी गुण माया-मूलक हैं—इन्द्रजाल हैं—जादूके खेलके समान हैं। इसलिये न मेरा मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन ही है॥ १॥ जैसे स्वप्न बुद्धिका विवर्त है—उसमें बिना हुए ही भासता है—मिथ्या है, वैसे ही शोक-मोह, सुख-दुःख, शरीरकी उत्पत्ति और मृत्यु—यह सब संसारका बखेड़ा माया (अविद्या) के कारण प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं है॥ २॥ उद्धव! शरीरधारियोंको मुक्तिका अनुभव करानेवाली आत्मविद्या और बन्धनका अनुभव करानेवाली अविद्या—ये दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं। मेरी मायासे ही इनकी रचना हुई है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है॥ ३॥ भाई! तुम तो स्वयं बड़े बुद्धिमान् हो, विचार करो—जीव तो एक ही है। वह व्यवहारके लिये ही मेरे अंशके रूपमें कल्पित हुआ है, वस्तुतः मेरा स्वरूप ही है। आत्मज्ञानसे सम्पन्न होनेपर उसे मुक्त कहते हैं और आत्माका ज्ञान न होनेसे बद्ध। और यह अज्ञान अनादि होनेसे बन्धन भी अनादि कहलाता है॥ ४॥ इस प्रकार मुझ एक ही धर्मीमें रहनेपर भी जो शोक और आनन्दरूप विरुद्ध धर्मवाले जान पड़ते हैं, उन बद्ध और मुक्त जीवका भेद मैं बतलाता हूँ॥ ५॥ (वह भेद दो प्रकारका है—एक तो नित्यमुक्त ईश्वरसे जीवका भेद, और दूसरा मुक्त-बद्ध जीवका भेद। पहला सुनो)—जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्तके भेदसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही शरीरमें नियन्ता और नियन्त्रितके रूपसे स्थित हैं। ऐसा समझो कि शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदयका घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होनेके कारण समान हैं और कभी न बिछुड़नेके कारण सखा हैं। इनके निवास करनेका कारण केवल लीला ही है। इतनी समानता होनेपर भी जीव तो

एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥ ६

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥ ७

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥ ८

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥ ९

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते॥ १०

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥ ११

शरीररूप वृक्षके फल सुख-दुःख आदि भोगता है, परन्तु ईश्वर उन्हें न भोगकर कर्मफल सुख-दुःख आदिसे असंग और उनका साक्षीमात्र रहता है। अभोक्ता होनेपर भी ईश्वरकी यह विलक्षणता है कि वह ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदिमें भोक्ता जीवसे बढ़कर है॥ ६ ॥ साथ ही एक यह भी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और इसके अतिरिक्त जगत्‌को भी जानता है, परन्तु भोक्ता जीव न अपने वास्तविक रूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्तको! इन दोनोंमें जीव तो अविद्यासे युक्त होनेके कारण नित्यबद्ध है और ईश्वर विद्यास्वरूप होनेके कारण नित्यमुक्त है॥ ७ ॥ प्यारे उद्धव! ज्ञानसम्पन्न पुरुष भी मुक्त ही है; जैसे स्वप्न टूट जानेपर जगा हुआ पुरुष स्वप्नके स्मर्यमाण शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल-शरीरमें रहनेपर भी उनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु अज्ञानी पुरुष वास्तवमें शरीरसे कोई सम्बन्ध न रखनेपर भी अज्ञानके कारण शरीरमें ही स्थित रहता है, जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न देखते समय स्वाप्निक शरीरमें बँध जाता है॥ ८ ॥ व्यवहारादिमें इन्द्रियाँ शब्द-स्पर्शादि विषयोंको ग्रहण करती हैं; क्योंकि यह तो नियम ही है कि गुण ही गुणको ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं। इसलिये जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूपको समझ लिया है, वह उन विषयोंके ग्रहण-त्यागमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं करता॥ ९ ॥ यह शरीर प्रारब्धके अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं, सब गुणोंकी प्रेरणासे ही होते हैं। अज्ञानी पुरुष झूठमूठ अपनेको उन ग्रहण-त्याग आदि कर्मोंका कर्ता मान बैठता है और इसी अभिमानके कारण वह बँध जाता है॥ १० ॥

प्यारे उद्धव! पूर्वोक्त पद्धतिसे विचार करके विवेकी पुरुष समस्त विषयोंसे विरक्त रहता है और सोने-बैठने, घूमने-फिरने, नहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने और सुनने आदि क्रियाओंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता, बल्कि गुणोंको ही कर्ता मानता है। गुण ही सभी कर्मोंके कर्ता-भोक्ता हैं—ऐसा जानकर विद्वान्

न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान्।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः॥ १२

वैशारद्येक्षयासंगशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते॥ १३

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥ १४

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद् यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥ १५

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥ १६

न कुर्यान्न वदेत् किंचिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ १७

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ १८

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमंग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥ १९

यस्यां न मे पावनमंग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।

पुरुष कर्मवासना और फलोंसे नहीं बँधते। वे प्रकृतिमें रहकर भी वैसे ही असंग रहते हैं, जैसे स्पर्श आदिसे आकाश, जलकी आर्द्रता आदिसे सूर्य और गन्ध आदिसे वायु। उनकी विमल बुद्धिकी तलवार असंग-भावनाकी सानसे और भी तीखी हो जाती है, और वे उससे अपने सारे संशय-सन्देहोंको काट-कूटकर फेंक देते हैं। जैसे कोई स्वप्नसे जाग उठा हो, उसी प्रकार वे इस भेदबुद्धिके भ्रमसे मुक्त हो जाते हैं॥ ११—१३॥ जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना संकल्पके होती हैं, वे देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त हैं॥ १४॥

उन तत्त्वज्ञ मुक्त पुरुषोंके शरीरको चाहे हिंसक लोग पीड़ा पहुँचायें और चाहे कभी कोई दैवयोगसे पूजा करने लगे—वे न तो किसीके सतानेसे दुःखी होते हैं और न पूजा करनेसे सुखी॥ १५॥ जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी भेददृष्टिसे ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और न बुरे काम करनेवालेकी निन्दा; न वे किसीकी अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरी बात सुनकर किसीको झिड़कते ही हैं॥ १६॥ जीवन्मुक्त पुरुष न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं, न कुछ भला या बुरा कहते हैं और न सोचते ही हैं। वे व्यवहारमें अपनी समान वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें ही मग्न रहते हैं और जडके समान मानो कोई मूर्ख हो इस प्रकार विचरण करते रहते हैं॥ १७॥

प्यारे उद्धव! जो पुरुष वेदोंका तो पारगामी विद्वान् हो, परन्तु परब्रह्मके ज्ञानसे शून्य हो, उसके परिश्रमका कोई फल नहीं है वह तो वैसा ही है, जैसे बिना दूधकी गायका पालनेवाला॥ १८॥ दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारिणी स्त्री, पराधीन शरीर, दुष्ट पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया हुआ धन और मेरे गुणोंसे रहित वाणी व्यर्थ है। इन वस्तुओंकी रखवाली करनेवाला दुःख-पर-दुःख ही भोगता रहता है॥ १९॥ इसलिये उद्धव! जिस वाणीमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप मेरी लोक-पावन लीलाका वर्णन न हो और लीलावतारोंमें भी मेरे लोकप्रिय राम-कृष्णादि

लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥ २०

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे॥ २१

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥ २२

श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः॥ २३

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥ २४

सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता।
स वै मे दर्शितं सद्भिरंजसा विन्दते पदम्॥ २५

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता॥ २६

एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम्॥ २७

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः॥ २८

अवतारोंका जिसमें यशोगान न हो, वह वाणी वन्ध्या है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि ऐसी वाणीका उच्चारण एवं श्रवण न करे॥ २०॥

प्रिय उद्धव! जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, आत्मजिज्ञासा और विचारके द्वारा आत्मामें जो अनेकताका भ्रम है उसे दूर कर दे और मुझ सर्वव्यापी परमात्मामें अपना निर्मल मन लगा दे तथा संसारके व्यवहारोंसे उपराम हो जाय॥ २१॥ यदि तुम अपना मन परब्रह्ममें स्थिर न कर सको तो सारे कर्म निरपेक्ष होकर मेरे लिये ही करो॥ २२॥ मेरी कथाएँ समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली एवं कल्याणस्वरूपिणी हैं। श्रद्धाके साथ उन्हें सुनना चाहिये। बार-बार मेरे अवतार और लीलाओंका गान, स्मरण और अभिनय करना चाहिये॥ २३॥ मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिये धर्म, काम और अर्थका सेवन करना चाहिये। प्रिय उद्धव! जो ऐसा करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुषके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है॥ २४॥

भक्तिकी प्राप्ति सत्संगसे होती है; जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है वह मेरी उपासना करता है, मेरे सान्निध्यका अनुभव करता है। इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतोंके उपदेशोंके अनुसार उनके द्वारा बताये हुए मेरे परमपदको— वास्तविक स्वरूपको सहजहीमें प्राप्त हो जाता है॥ २५॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! बड़े-बड़े संत आपकी कीर्तिका गान करते हैं। आप कृपया बतलाइये कि आपके विचारसे संत पुरुषका क्या लक्षण है? आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिये, जिसका संतलोग आदर करते हैं?॥ २६॥ भगवन्! आप ही ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता, सत्यादि लोक और चराचर जगत्के स्वामी हैं। मैं आपका विनीत, प्रेमी और शरणागत भक्त हूँ। आप मुझे भक्ति और भक्तका रहस्य बतलाइये॥ २७॥ भगवन्! मैं जानता हूँ कि आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म हैं। आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है; फिर भी आपने लीलाके लिये स्वेच्छासे ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है। इसलिये वास्तवमें आप ही भक्ति और भक्तका रहस्य बतला सकते हैं॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥ २९

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥ ३०

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमांजितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥ ३१

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥ ३२

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥ ३३

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम्॥ ३४

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवनका सार है सत्य, और उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है॥ २९॥ उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिये वह कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है॥ ३०॥ वह प्रमादरहित, गम्भीरस्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वशमें रहते हैं। वह स्वयं तो कभी किसीसे किसी प्रकारका सम्मान नहीं चाहता, परन्तु दूसरोंका सम्मान करता रहता है। मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका व्यवहार करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी होती है। मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है॥ ३१॥

प्रिय उद्धव! मैंने वेदों और शास्त्रोंके रूपमें मनुष्योंके धर्मका उपदेश किया है, उनके पालनसे अन्तःकरणशुद्धि आदि गुण और उल्लंघनसे नरकादि दुःख प्राप्त होते हैं; परन्तु मेरा जो भक्त उन्हें भी अपने ध्यान आदिमें विक्षेप समझकर त्याग देता है और केवल मेरे ही भजनमें लगा रहता है, वह परम संत है॥ ३२॥ मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ—इन बातोंको जाने, चाहे न जाने; किन्तु जो अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरे विचारसे मेरे परम भक्त हैं॥ ३३॥

प्यारे उद्धव! मेरी मूर्ति और मेरे भक्तजनोंका दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति और प्रणाम करे तथा मेरे गुण और कर्मोंका कीर्तन करे॥ ३४॥

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥ ३५

मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम्।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः॥ ३६

यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्॥ ३७

ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया॥ ३९

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम्।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्॥ ४०

यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥ ४१

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥ ४२

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वंग यवसादिना॥ ४३

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः॥ ४४

उद्धव! मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा रखे और निरन्तर मेरा ध्यान करता रहे। जो कुछ मिले, वह मुझे समर्पित कर दे और दास्यभावसे मुझे आत्मनिवेदन करे॥ ३५॥ मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंकी चर्चा करे। जन्माष्टमी, रामनवमी आदि पर्वोंपर आनन्द मनावे और संगीत, नृत्य, बाजे और समाजोंद्वारा मेरे मन्दिरोंमें उत्सव करे-करावे॥ ३६॥ वार्षिक त्योहारोंके दिन मेरे स्थानोंकी यात्रा करे, जुलूस निकाले तथा विविध उपहारोंसे मेरी पूजा करे। वैदिक अथवा तान्त्रिक पद्धतिसे दीक्षा ग्रहण करे। मेरे व्रतोंका पालन करे॥ ३७॥ मन्दिरोंमें मेरी मूर्तियोंकी स्थापनामें श्रद्धा रखे। यदि यह काम अकेला न कर सके, तो औरोंके साथ मिलकर उद्योग करे। मेरे लिये पुष्पवाटिका, बगीचे, क्रीड़ाके स्थान, नगर और मन्दिर बनवावे॥ ३८॥ सेवककी भाँति श्रद्धाभक्तिके साथ निष्कपट भावसे मेरे मन्दिरोंकी सेवा-शुश्रूषा करे—झाड़े-बुहारे, लीपे-पोते, छिड़काव करे और तरह-तरहके चौक पूरे॥ ३९॥ अभिमान न करे, दम्भ न करे। साथ ही अपने शुभ कर्मोंका ढिंढोरा भी न पीटे। प्रिय उद्धव! मेरे चढ़ावेकी, अपने काममें लगानेकी बात तो दूर रही, मुझे समर्पित दीपकके प्रकाशसे भी अपना काम न ले। किसी दूसरे देवताकी चढ़ायी हुई वस्तु मुझे न चढ़ावे॥ ४०॥ संसारमें जो वस्तु अपनेको सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े वह मुझे समर्पित कर दे। ऐसा करनेसे वह वस्तु अनन्त फल देनेवाली हो जाती है॥ ४१॥

भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजाके स्थान हैं॥ ४२॥ प्यारे उद्धव! ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा सूर्यमें मेरी पूजा करनी चाहिये। हवनके द्वारा अग्निमें, आतिथ्यद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणमें और हरी-हरी घास आदिके द्वारा गौमें मेरी पूजा करे॥ ४३॥

भाई-बन्धुके समान सत्कारके द्वारा वैष्णवमें, निरन्तर ध्यानमें लगे रहनेसे हृदयाकाशमें, मुख्य प्राण समझनेसे वायुमें और जल-पुष्प आदि सामग्रियों-द्वारा जलमें मेरी आराधना की जाती है॥ ४४॥

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्॥ ४५

गुप्त मन्त्रोंद्वारा न्यास करके मिट्टीकी वेदीमें, उपयुक्त भोगोंद्वारा आत्मामें और समदृष्टिद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी आराधना करनी चाहिये, क्योंकि मैं सभीमें क्षेत्रज्ञ आत्माके रूपसे स्थित हूँ॥ ४५॥

धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शंखचक्रगदाम्बुजैः।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः॥ ४६

इन सभी स्थानोंमें शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये चार भुजाओंवाले शान्तमूर्ति श्रीभगवान् विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करते हुए एकाग्रताके साथ मेरी पूजा करनी चाहिये॥ ४६॥

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया॥ ४७

इस प्रकार जो मनुष्य एकाग्र चित्तसे यज्ञ-यागादि इष्ट और कुआँ-बावली बनवाना आदि पूर्त्तकर्मोंके द्वारा मेरी पूजा करता है, उसे मेरी श्रेष्ठ भक्ति प्राप्त होती है तथा संत-पुरुषोंकी सेवा करनेसे मेरे स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है॥ ४७॥

प्रायेण भक्तियोगेन सत्संगेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ्प्रायणं हि सतामहम्॥ ४८

प्यारे उद्धव! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्संग और भक्तियोग—इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि संतपुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ॥ ४८॥

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥ ४९

प्यारे उद्धव! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त गोपनीय परम रहस्यकी बात बतलाऊँगा; क्योंकि तुम मेरे प्रिय सेवक, हितैषी, सुहृद् और प्रेमी सखा हो; साथ ही सुननेके भी इच्छुक हो॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सत्संगकी महिमा और कर्म तथा कर्मत्यागकी विधि

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ १

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥ २

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! जगत्‌में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्संग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त्त और दक्षिणासे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँतक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संगके समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ १-२॥

सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥ ३

विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥ ४

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥ ५

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥ ६

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः॥ ७

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥ ८

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥ ९

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥ १०

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरंग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥ ११

निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्संगके द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संगके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं॥ ३—६॥ उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संगके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये॥ ७॥ गोपियाँ, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रजके हरिन आदि पशु, कालिय आदि नाग—ये तो साधन-साध्यके सम्बन्धमें सर्वथा ही मूढ़बुद्धि थे। इतने ही नहीं, ऐसे-ऐसे और भी बहुत हो गये हैं, जिन्होंने केवल प्रेमपूर्ण भावके द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृतकृत्य हो गये॥ ८॥ उद्धव! बड़े-बड़े प्रयत्नशील साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुतियोंकी व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनोंके द्वारा मुझे नहीं प्राप्त कर सकते; परन्तु सत्संगके द्वारा तो मैं अत्यन्त सुलभ हो जाता हूँ॥ ९॥ उद्धव! जिस समय अक्रूरजी भैया बलरामजीके साथ मुझे व्रजसे मथुरा ले आये, उस समय गोपियोंका हृदय गाढ़ प्रेमके कारण मेरे अनुरागके रंगमें रँगा हुआ था। मेरे वियोगकी तीव्र व्याधिसे वे व्याकुल हो रही थीं और मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखकारक नहीं जान पड़ती थी॥ १०॥ तुम जानते हो कि मैं ही उनका एकमात्र प्रियतम हूँ। जब मैं वृन्दावनमें था, तब उन्होंने बहुत-सी रात्रियाँ—वे रासकी रात्रियाँ मेरे साथ आधे क्षणके समान बिता दी थीं; परन्तु प्यारे उद्धव! मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये एक-एक कल्पके

ता नाविदन् मय्यनुषंगबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥ १२

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगाच्छतसहस्रशः॥ १३

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ १४

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥ १५

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर।
न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः॥ १६

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।

समान हो गयीं॥ ११॥ जैसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि समाधिमें स्थित होकर तथा गंगा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर और अपने कहलानेवाले पति-पुत्रादिकी भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी॥ १२॥ उद्धव! उन गोपियोंमें बहुत-सी तो ऐसी थीं, जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानती थीं। वे मुझे भगवान् न जानकर केवल प्रियतम ही समझती थीं और जारभावसे मुझसे मिलनेकी आकांक्षा किया करती थीं। उन साधनहीन सैकड़ों, हजारों अबलाओंने केवल संगके प्रभावसे ही मुझ परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लिया॥ १३॥ इसलिये उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुननेयोग्य तथा सुने हुए विषयका भी परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप मुझ एकको ही शरण सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करो; क्योंकि मेरी शरणमें आ जानेसे तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे॥ १४-१५॥

उद्धवजीने कहा—सनकादि योगेश्वरोंके भी परमेश्वर प्रभो! यों तो मैं आपका उपदेश सुन रहा हूँ, परन्तु इससे मेरे मनका सन्देह मिट नहीं रहा है। मुझे स्वधर्मका पालन करना चाहिये या सब कुछ छोड़कर आपकी शरण ग्रहण करनी चाहिये, मेरा मन इसी दुविधामें लटक रहा है। आप कृपा करके मुझे भली-भाँति समझाइये॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जिस परमात्माका परोक्षरूपसे वर्णन किया जाता है, वे साक्षात् अपरोक्ष—प्रत्यक्ष ही हैं, क्योंकि वे ही निखिल वस्तुओंको सत्ता-स्फूर्ति—जीवन-दान करनेवाले हैं, वे ही पहले अनाहत नादस्वरूप परा वाणी नामक प्राणके साथ मूलाधारचक्रमें प्रवेश करते हैं। उसके बाद मणिपूरकचक्र (नाभि-स्थान) में आकर पश्यन्ती वाणीका मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करते हैं। तदनन्तर कण्ठदेशमें स्थित विशुद्ध नामक चक्रमें आते हैं और

मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥ १७

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी॥ १८

एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
संकल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः॥ १९

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत्॥ २०

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥ २१

वहाँ मध्यमा वाणीके रूपमें व्यक्त होते हैं। फिर क्रमशः मुखमें आकर ह्रस्व-दीर्घादि मात्रा, उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर तथा ककारादि वर्णरूप स्थूल—वैखरी वाणीका रूप ग्रहण कर लेते हैं॥ १७॥ अग्नि आकाशमें ऊष्मा अथवा विद्युत्के रूपसे अव्यक्तरूपमें स्थित है। जब बलपूर्वक काष्ठमन्थन किया जाता है, तब वायुकी सहायतासे वह पहले अत्यन्त सूक्ष्म चिनगारीके रूपमें प्रकट होती है और फिर आहुति देनेपर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मैं भी शब्दब्रह्मस्वरूपसे क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणीके रूपमें प्रकट होता हूँ॥ १८॥ इसी प्रकार बोलना, हाथोंसे काम करना, पैरोंसे चलना, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदासे मल-मूत्र त्यागना, सूँघना, चखना, देखना, छूना, सुनना, मनसे संकल्प-विकल्प करना, बुद्धिसे समझना, अहंकारके द्वारा अभिमान करना, महत्तत्त्वके रूपमें सबका ताना-बाना बुनना तथा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके सारे विकार; कहाँतक कहूँ—समस्त कर्ता, करण और कर्म मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं॥ १९॥ यह सबको जीवित करनेवाला परमेश्वर ही इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमलका कारण है। यह आदि-पुरुष पहले एक और अव्यक्त था। जैसे उपजाऊ खेतमें बोया हुआ बीज शाखा-पत्र-पुष्पादि अनेक रूप धारण कर लेता है, वैसे ही कालगतिसे मायाका आश्रय लेकर शक्ति-विभाजनके द्वारा परमेश्वर ही अनेक रूपोंमें प्रतीत होने लगता है॥ २०॥ जैसे तागोंके ताने-बानेमें वस्त्र ओतप्रोत रहता है, वैसे ही यह सारा विश्व परमात्मामें ही ओतप्रोत है। जैसे सूतके बिना वस्त्रका अस्तित्व नहीं है; किन्तु सूत वस्त्रके बिना भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत्के न रहनेपर भी परमात्मा रहता है; किन्तु यह जगत् परमात्मस्वरूप ही है—परमात्माके बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह संसारवृक्ष अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य है। इसका स्वरूप ही है—कर्मकी परम्परा तथा इस वृक्षके फल-फूल हैं—मोक्ष और भोग॥ २१॥

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पंचस्कन्धः पंचरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥ २२

इस संसारवृक्षके दो बीज हैं—पाप और पुण्य। असंख्य वासनाएँ जड़ें हैं और तीन गुण तने हैं। पाँच भूत इसकी मोटी-मोटी प्रधान शाखाएँ हैं और शब्दादि पाँच विषय रस हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ शाखा हैं तथा जीव और ईश्वर—दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर निवास करते हैं। इस वृक्षमें वात, पित्त और कफरूप तीन तरहकी छाल है। इसमें दो तरहके फल लगते हैं—सुख और दुःख। यह विशाल वृक्ष सूर्यमण्डलतक फैला हुआ है (इस सूर्यमण्डलका भेदन कर जानेवाले मुक्त पुरुष फिर संसार-चक्रमें नहीं पड़ते)॥ २२॥

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥ २३

जो गृहस्थ शब्द-रूप-रस आदि विषयोंमें फँसे हुए हैं, वे कामनासे भरे हुए होनेके कारण गीधके समान हैं। वे इस वृक्षका दुःखरूप फल भोगते हैं, क्योंकि वे अनेक प्रकारके कर्मोंके बन्धनमें फँसे रहते हैं। जो अरण्यवासी परमहंस विषयोंसे विरक्त हैं, वे इस वृक्षमें राजहंसके समान हैं और वे इसका सुखरूप फल भोगते हैं। प्रिय उद्धव! वास्तवमें मैं एक ही हूँ। यह मेरा जो अनेकों प्रकारका रूप है, वह तो केवल मायामय है। जो इस बातको गुरुओंके द्वारा समझ लेता है, वही वास्तवमें समस्त वेदोंका रहस्य जानता है॥ २३॥

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्चय जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥ २४

अतः उद्धव! तुम इस प्रकार गुरुदेवकी उपासनारूप अनन्य भक्तिके द्वारा अपने ज्ञानकी कुल्हाड़ीको तीखी कर लो और उसके द्वारा धैर्य एवं सावधानीसे जीवभावको काट डालो। फिर परमात्मस्वरूप होकर उस वृत्तिरूप अस्त्रोंको भी छोड़ दो और अपने अखण्ड स्वरूपमें ही स्थित हो रहो॥ २४॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

* ईश्वर अपनी मायाके द्वारा प्रपंचरूपसे प्रतीत हो रहा है। इस प्रपंचके अध्यासके कारण ही जीवोंको अनादि अविद्यासे कर्तापन आदिकी भ्रान्ति होती है। फिर 'यह करो, यह मत करो' इस प्रकारके विधि-निषेधका अधिकार होता है। तब 'अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करो'—यह बात कही जाती है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब कर्मसम्बन्धी दुराग्रह मिटानेके लिये यह बात कही जाती है कि भक्तिमें विक्षेप डालनेवाले कर्मोंके प्रति आदरभाव छोड़कर दृढ़ विश्वाससे भजन करो। तत्त्वज्ञान हो जानेपर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। यही इस प्रसंगका अभिप्राय है।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

हंसरूपसे सनकादिको दिये हुए उपदेशका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि॥ १

सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥ २

धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥ ३

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥ ४

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्॥ ५

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम्॥ ६

वेणुसंघर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः॥ ७

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों बुद्धि (प्रकृति) के गुण हैं, आत्माके नहीं। सत्त्वके द्वारा रज और तम—इन दो गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये। तदनन्तर सत्त्वगुणकी शान्तवृत्तिके द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियोंको भी शान्त कर देना चाहिये॥ १॥ जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तभी जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है। निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है॥ २॥ जिस धर्मके पालनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ है। वह धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है। जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हींके कारण होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है॥ ३॥ शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं॥ ४॥ इनमेंसे शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुएँ राजसिक हैं॥ ५॥

जबतक अपने आत्माका साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणोंकी निवृत्ति न हो, तबतक मनुष्यको चाहिये कि सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करे; क्योंकि उससे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मकी वृद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है॥ ६॥ बाँसोंकी रगड़से आग पैदा होती है और वह उनके सारे वनको जलाकर शान्त हो जाती है। वैसे ही यह शरीर गुणोंके वैषम्यसे उत्पन्न हुआ है। विचारद्वारा मन्थन करनेपर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणोंको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है॥ ७॥

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्।
तथापि भुंजते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत्॥ ८

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥ ९

रजोयुक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥ १०

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः॥ ११

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युंजन् दोषदृष्टिर्न सज्जते॥ १२

अप्रमत्तोऽनुयुंजीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः॥ १३

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥ १४

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद् रूपमिच्छामि वेदितुम्॥ १५

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तियोंके घर हैं; फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान दुःख सहन करके भी उन्हींको ही भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है?॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूपको भूलकर हृदयसे सूक्ष्म-स्थूलादि शरीरोंमें अहंबुद्धि कर बैठता है—जो कि सर्वथा भ्रम ही है—तब उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुणकी ओर झुक जाता है; उससे व्याप्त हो जाता है॥ ९॥ बस, जहाँ मनमें रजोगुणकी प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पोंका ताँता बँध जाता है। अब वह विषयोंका चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्बुद्धिके कारण कामके फंदेमें फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना बहुत ही कठिन है॥ १०॥ अब वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकारके कर्म करने लगता है और इन्द्रियोंके वश होकर, यह जानकर भी कि इन कर्मोंका अन्तिम फल दुःख ही है, उन्हींको करता है, उस समय वह रजोगुणके तीव्र वेगसे अत्यन्त मोहित रहता है॥ ११॥ यद्यपि विवेकी पुरुषका चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणके वेगसे विक्षिप्त होता है, तथापि उसकी विषयोंमें दोषदृष्टि बनी रहती है; इसलिये वह बड़ी सावधानीसे अपने चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति नहीं होती॥ १२॥ साधकको चाहिये कि आसन और प्राणवायुपर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समयके अनुसार बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साहसे उसीमें जुड़ जाय॥ १३॥ प्रिय उद्धव! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियोंने योगका यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मनको सब ओरसे खींचकर विराट् आदिमें नहीं, साक्षात् मुझमें ही पूर्णरूपसे लगा दें॥ १४॥

उद्धवजीने कहा—श्रीकृष्ण! आपने जिस समय जिस रूपसे, सनकादि परमर्षियोंको योगका आदेश दिया था, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥ १६

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! सनकादि परमर्षि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। उन्होंने एक बार अपने पितासे योगकी सूक्ष्म अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इस प्रकार प्रश्न किया था॥ १६॥

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥ १७

सनकादि परमर्षियोंने पूछा—पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं। अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसारसागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक-दूसरेसे अलग कैसे कर सकता है?॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः॥ १८

स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा॥ १९

दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति॥ २०

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे॥ २१

वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥ २२

पंचात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥ २३

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! यद्यपि ब्रह्माजी सब देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू और प्राणियोंके जन्मदाता हैं। फिर भी सनकादि परमर्षियोंके इस प्रकार पूछनेपर ध्यान करके भी वे इस प्रश्नका मूल कारण न समझ सके; क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मप्रवण थी॥ १८॥ उद्धव! उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्तिभावसे मेरा चिन्तन किया। तब मैं हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ॥ १९॥ मुझे देखकर सनकादि ब्रह्माजीको आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणोंकी वन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं?'॥ २०॥ प्रिय उद्धव! सनकादि परमार्थतत्त्वके जिज्ञासु थे; इसलिये उनके पूछनेपर उस समय मैंने जो कुछ कहा वह तुम मुझसे सुनो—॥ २१॥ 'ब्राह्मणो! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तब आत्माके सम्बन्धमें आपलोगोंका ऐसा प्रश्न कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? अथवा मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोलूँ भी तो किस जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ?॥ २२॥

देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पंच-भूतात्मक होनेके कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थ-रूपसे भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं?' आपलोगोंका यह प्रश्न ही केवल वाणीका व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है॥ २३॥

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा॥ २४

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥ २५

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥ २६

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः॥ २७

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम्॥ २८

अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥ २९

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥ ३०

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्व-विचारके द्वारा समझ लीजिये॥ २४॥ पुत्रो! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं—उपाधि हैं। अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है॥ २५॥ इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविकसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये॥ २६॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्दका स्वभाव नहीं। इन वृत्तियोंका साक्षी होनेके कारण जीव उनसे विलक्षण है। यह सिद्धान्त श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है॥ २७॥ क्योंकि बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है। इसलिये तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस बुद्धिके बन्धनका परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनोंका युगपत् त्याग हो जाता है॥ २८॥ यह बन्धन अहंकारकी ही रचना है और यही आत्माके परिपूर्णतम सत्य, अखण्डज्ञान और परमानन्दस्वरूपको छिपा देता है। इस बातको जानकर विरक्त हो जाय और अपने तीन अवस्थाओंमें अनुगत तुरीयस्वरूपमें होकर संसारकी चिन्ताको छोड़ दे॥ २९॥ जबतक पुरुषकी भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सत्यत्वबुद्धि, अहंबुद्धि और ममबुद्धि युक्तियोंके द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक वह अज्ञानी यद्यपि जागता है तथापि सोता हुआ-सा रहता है—जैसे स्वप्नावस्थामें जान पड़ता है

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥ ३१

कि मैं जाग रहा हूँ॥ ३०॥ आत्मासे अन्य देह आदि प्रतीयमान नाम-रूपात्मक प्रपंचका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इसलिये उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादिभेद, स्वर्गादिफल और उनके कारणभूत कर्म—ये सब-के-सब इस आत्माके लिये वैसे ही मिथ्या हैं; जैसे स्वप्नदर्शी पुरुषके द्वारा देखे हुए सब-के-सब पदार्थ॥ ३१॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः॥ ३२

जो जाग्रत्-अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण क्षणभंगुर पदार्थोंको अनुभव करता है और स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रत्में देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका अनुभव करता है और सुषुप्ति-अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत्-अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्नावस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है। क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जिस मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक ही आत्माका समस्त अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है॥ ३२॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥ ३३

ऐसा विचारकर मनकी ये तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायासे मेरे अंशस्वरूप जीवमें कल्पित की गयी हैं और आत्मामें ये नितान्त असत्य हैं, ऐसा निश्चय करके तुमलोग अनुमान, सत्पुरुषोंद्वारा किये गये उपनिषदोंके श्रवण और तीक्ष्ण ज्ञानखड्गके द्वारा सकल संशयोंके आधार अहंकारका छेदन करके हृदयमें स्थित मुझ परमात्माका भजन करो॥ ३३॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥ ३४

यह जगत् मनका विलास है, दीखनेपर भी नष्टप्राय है, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी) के समान अत्यन्त चंचल है और भ्रममात्र है—ऐसा समझे। ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है। यह स्थूल शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान मायाका खेल है, अज्ञानसे कल्पित है॥ ३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥ ३५

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३६

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपंचमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३७

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः।
जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥ ३८

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च॥ ३९

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासंगादयोऽगुणाः॥ ४०

इसलिये उस देहादिरूप दृश्यसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाय। यद्यपि कभी-कभी आहार आदिके समय यह देहादिक प्रपंच देखनेमें आता है, तथापि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है। इसलिये वह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है॥ ३५॥ जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीरसे उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है— नश्वर शरीरसम्बन्धी इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता॥ ३६॥

प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारब्धके अधीन है। इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है। परन्तु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योगमें आरूढ़ पुरुष स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपंचके सहित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता, जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्थाके शरीर आदिको॥ ३७॥ सनकादि ऋषियो! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सांख्य और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य है। मैं स्वयं भगवान् हूँ, तुमलोगोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो॥ ३८॥ विप्रवरो! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुरभाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह)—इन सबका परम गति—परम अधिष्ठान हूँ॥ ३९॥ मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी साम्य, असंगता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हूँ। सच पूछो तो उन्हें गुण कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सत्त्वादि गुणोंके परिणाम नहीं हैं और नित्य हैं॥ ४०॥

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः॥ ४१

प्रिय उद्धव! इस प्रकार मैंने सनकादि मुनियोंके संशय मिटा दिये। उन्होंने परम भक्तिसे मेरी पूजा की और स्तुतियोंद्वारा मेरी महिमाका गान किया॥ ४१॥

तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः॥ ४२

जब उन परमर्षियोंने भली-भाँति मेरी पूजा और स्तुति कर ली, तब मैं ब्रह्माजीके सामने ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

भक्तियोगकी महिमा तथा ध्यानविधिका वर्णन

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता॥ १

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः।
निरस्य सर्वतः संगं येन त्वय्याविशेन्मनः॥ २

उद्धवजीने पूछा—श्रीकृष्ण! ब्रह्मवादी महात्मा आत्मकल्याणके अनेकों साधन बतलाते हैं। उनमें अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं अथवा किसी एककी प्रधानता है?॥ १॥ मेरे स्वामी! आपने तो अभी-अभी भक्तियोगको ही निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र साधन बतलाया है; क्योंकि इसीसे सब ओरसे आसक्ति छोड़कर मन आपमें ही तन्मय हो जाता है॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥ ३

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥ ४

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥ ५

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! यह वेदवाणी समयके फेरसे प्रलयके अवसरपर लुप्त हो गयी थी; फिर जब सृष्टिका समय आया, तब मैंने अपने संकल्पसे ही इसे ब्रह्माको उपदेश किया, इसमें मेरे भागवतधर्मका ही वर्णन है॥ ३॥ ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उपदेश किया और उनसे भृगु, अंगिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात प्रजापति-महर्षियोंने ग्रहण किया॥ ४॥ तदनन्तर इन ब्रह्मर्षियोंकी सन्तान देवता, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किन्देव*, किन्नर†, नाग, राक्षस और किम्पुरुष‡ आदिने इसे अपने पूर्वज इन्हीं ब्रह्मर्षियोंसे प्राप्त किया। सभी

* श्रम और स्वेदादि दुर्गन्धसे रहित होनेके कारण जिनके विषयमें 'ये देवता हैं या मनुष्य' ऐसा सन्देह हो, वे द्वीपान्तर-निवासी मनुष्य।

† मुख तथा शरीरकी आकृतिसे कुछ-कुछ मनुष्यके समान प्राणी।

‡ कुछ-कुछ पुरुषके समान प्रतीत होनेवाले वानरादि।

किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षः किम्पुरुषादयः।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः॥ ६

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥ ७

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाखण्डमतयोऽपरे॥ ८

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि॥ ९

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्॥ १०

केचिद् यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्।
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥ ११

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥ १२

जातियों और व्यक्तियोंके स्वभाव—उनकी वासनाएँ सत्त्व, रज और तमोगुणके कारण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिये उनमें और उनकी बुद्धि-वृत्तियोंमें भी अनेकों भेद हैं। इसीलिये वे सभी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उस वेदवाणीका भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं। वह वाणी ही ऐसी अलौकिक है कि उससे विभिन्न अर्थ निकलना स्वाभाविक ही है॥ ५—७॥ इसी प्रकार स्वभावभेद तथा परम्परागत उपदेशके भेदसे मनुष्योंकी बुद्धिमें भिन्नता आ जाती है और कुछ लोग तो बिना किसी विचारके वेदविरुद्ध पाखण्डमतावलम्बी हो जाते हैं॥ ८॥ प्रिय उद्धव! सभीकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित हो रही है; इसीसे वे अपने-अपने कर्म-संस्कार और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार आत्मकल्याणके साधन भी एक नहीं, अनेकों बतलाते हैं॥ ९॥ पूर्वमीमांसक धर्मको, साहित्याचार्य यशको, कामशास्त्री कामको, योगवेत्ता सत्य और शमदमादिको, दण्डनीतिकार ऐश्वर्यको, त्यागी त्यागको और लोकायतिक भोगको ही मनुष्य-जीवनका स्वार्थ—परम लाभ बतलाते हैं॥ १०॥ कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदिको पुरुषार्थ बतलाते हैं। परन्तु ये सभी कर्म हैं; इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं, वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं। कर्मोंका फल समाप्त हो जानेपर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। उनसे जो सुख मिलता है, वह तुच्छ हैं—नगण्य है और वे लोग भोगके समय भी असूया आदि दोषोंके कारण शोकसे परिपूर्ण हैं। (इसलिये इन विभिन्न साधनोंके फेरमें न पड़ना चाहिये)॥ ११॥

प्रिय उद्धव! जो सब ओरसे निरपेक्ष—बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदिकी आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दस्वरूप मैं उसकी आत्माके रूपमें स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुखका अनुभव करता है, वह विषय-लोलुप प्राणियोंको किसी प्रकार मिल नहीं सकता॥ १२॥

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ १३

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ॥ १४

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥ १५

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ १६

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥ १७

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ १८

जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित—अकिंचन है, जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सान्निध्यका अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण सन्तोषका अनुभव करता है, उसके लिये आकाशका एक-एक कोना आनन्दसे भरा हुआ है॥ १३ ॥ जिसने अपनेको मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका, उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है। वह योगकी बड़ी बड़ी सिद्धियों और मोक्षतककी अभिलाषा नहीं करता॥ १४॥ उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है॥ १५ ॥ जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ॥ १६ ॥ जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँतक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त-उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता—उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूपका अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है॥ १७॥

उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बढ़नेवाली मेरी प्रगल्भ भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता॥ १८॥

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥ १९

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥ २०

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥ २१

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥ २२

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥ २३

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ २४

यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥ २५

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवांजनसम्प्रयुक्तम्॥ २६

उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियोंके बड़े ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप-राशिको पूर्णतया जला डालती है॥ १९ ॥ उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति॥ २० ॥ मैं संतोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मुझे प्राप्त करनेका यह एक ही उपाय है। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र—जातिदोषसे मुक्त कर देती है, जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं॥ २१ ॥ इसके विपरीत जो मेरी भक्तिसे वञ्चित हैं, उनके चित्तको सत्य और दयासे युक्त, धर्म और तपस्यासे युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करनेमें असमर्थ है॥ २२ ॥ जबतक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघलकर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्दके आँसू आँखोंसे छलकने नहीं लगते तथा अन्तरंग और बहिरंग भक्तिकी बाढ़में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तबतक इसके शुद्ध होनेकी कोई सम्भावना नहीं है॥ २३ ॥ जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघल-कर एक ओर बहता रहता है, एक क्षणके लिये भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिल-खिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कहीं नाचने लगता है, भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है॥ २४ ॥ जैसे आगमें तपानेपर सोना मैल छोड़ देता है—निखर जाता है और अपने असली शुद्ध रूपमें स्थित हो जाता है, वैसे ही मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा कर्म-वासनाओंसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ॥ २५ ॥ उद्धवजी! मेरी परमपावन लीला-कथाके श्रवण-कीर्तनसे ज्यों-ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म-वस्तुके—वास्तविक तत्त्वके दर्शन होने लगते हैं—जैसे अंजनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उनमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है॥ २६ ॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥ २७

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥ २८

स्त्रीणां स्त्रीसंगिनां संगं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥ २९

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसंगतः।
योषित्संगाद् यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः॥ ३०

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि॥ ३१

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्संग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥ ३२

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः॥ ३३

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम्॥ ३४

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥ ३५

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है॥ २७॥ इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलोंका चिन्तन छोड़ दो। अरे भाई! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ जान पड़ता है, वह ठीक वैसा ही है जैसे स्वप्न अथवा मनोरथका राज्य। इसलिये मेरे चिन्तनसे तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरहसे—एकाग्रतासे मुझमें ही लगा दो॥ २८॥ संयमी पुरुष स्त्रियों और उनके प्रेमियोंका संग दूरसे ही छोड़कर, पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर बड़ी सावधानीसे मेरा ही चिन्तन करे॥ २९॥ प्यारे उद्धव! स्त्रियोंके संगसे और स्त्रीसंगियोंके—लम्पटोंके संगसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और फँसावट और किसीके भी संगसे नहीं होती॥ ३०॥

उद्धवजीने पूछा—कमलनयन श्यामसुन्दर! आप कृपा करके यह बतलाइये कि मुमुक्षु पुरुष आपका किस रूपसे, किस प्रकार और किस भावसे ध्यान करे?॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जो न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ही—ऐसे आसनपर शरीरको सीधा रखकर आरामसे बैठ जाय, हाथोंको अपनी गोदमें रख ले और दृष्टि अपनी नासिकाके अग्रभागपर जमावे॥ ३२॥ इसके बाद पूरक, कुम्भक और रेचक तथा रेचक, कुम्भक और पूरक—इन प्राणायामोंके द्वारा नाड़ियोंका शोधन करे। प्राणायामका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये और उसके साथ-साथ इन्द्रियोंको जीतनेका भी अभ्यास करना चाहिये॥ ३३॥ हृदयमें कमलनालगत पतले सूतके समान ॐकारका चिन्तन करे, प्राणके द्वारा उसे ऊपर ले जाय और उसमें घण्टानादके समान स्वर स्थिर करे। उस स्वरका ताँता टूटने न पावे॥ ३४॥ इस प्रकार प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार ॐकार-सहित प्राणायामका अभ्यास करे। ऐसा करनेसे एक महीनेके अंदर ही प्राणवायु वशमें हो जाता है॥ ३५॥

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम्॥ ३६

कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्।
वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमंगलम्॥ ३७

इसके बाद ऐसा चिन्तन करे कि हृदय एक कमल है, वह शरीरके भीतर इस प्रकार स्थित है मानो उसकी डंडी तो ऊपरकी ओर है और मुँह नीचेकी ओर। अब ध्यान करना चाहिये कि उसका मुख ऊपरकी ओर होकर खिल गया है, उसके आठ दल (पँखुड़ियाँ) हैं और उनके बीचोबीच पीली-पीली अत्यन्त सुकुमार कर्णिका (गद्दी) है॥ ३६॥ कर्णिकापर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका न्यास करना चाहिये। तदनन्तर अग्निके अंदर मेरे इस रूपका स्मरण करना चाहिये। मेरा यह स्वरूप ध्यानके लिये बड़ा ही मंगलमय है॥ ३७॥

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥ ३८

समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम्।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्॥ ३९

शंखचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्॥ ४०

द्युमत्किरीटकटककटिसूत्रांगदायुतम् ।
सर्वांगसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वांगेषु मनो दधत्॥ ४१

मेरे अवयवोंकी गठन बड़ी ही सुडौल है। रोम-रोमसे शान्ति टपकती है। मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित और सुन्दर है। घुटनोंतक लंबी मनोहर चार भुजाएँ हैं। बड़ी ही सुन्दर और मनोहर गरदन है। मरकत-मणिके समान सुस्निग्ध कपोल हैं। मुखपर मन्द-मन्द मुसकानकी अनोखी ही छटा है। दोनों ओरके कान बराबर हैं और उनमें मकराकृत कुण्डल झिलमिल-झिलमिल कर रहे हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है। श्रीवत्स एवं लक्ष्मीजीका चिह्न वक्षःस्थलपर दायें-बायें विराजमान है। हाथोंमें क्रमशः शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए हैं। गलेमें वनमाला लटक रही है। चरणोंमें नूपुर शोभा दे रहे हैं, गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। अपने-अपने स्थानपर चमचमाते हुए किरीट, कंगन, करधनी और बाजूबंद शोभायमान हो रहे हैं। मेरा एक-एक अंग अत्यन्त सुन्दर एवं हृदयहारी है। सुन्दर मुख और प्यारभरी चितवन कृपा-प्रसादकी वर्षा कर रही है। उद्धव! मेरे इस सुकुमार रूपका ध्यान करना चाहिये और अपने मनको एक-एक अंगमें लगाना चाहिये॥ ३८—४१॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥ ४२

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींच ले और मनको बुद्धिरूप सारथिकी सहायतासे मुझमें ही लगा दे, चाहे मेरे किसी भी अंगमें क्यों न लगे॥ ४२॥

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ ४४

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥ ४५

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युंजतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥ ४६

जब सारे शरीरका ध्यान होने लगे, तब अपने चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और अन्य अंगोंका चिन्तन न करके केवल मन्द-मन्द मुसकानकी छटासे युक्त मेरे मुखका ही ध्यान करे॥ ४३॥ जब चित्त मुखारविन्दमें ठहर जाय, तब उसे वहाँसे हटाकर आकाशमें स्थिर करे। तदनन्तर आकाशका चिन्तन भी त्यागकर मेरे स्वरूपमें आरूढ हो जाय और मेरे सिवा किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे॥ ४४॥ जब इस प्रकार चित्त समाहित हो जाता है, तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योतिसे मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही अपनेमें मुझे और मुझ सर्वात्मामें अपनेको अनुभव करने लगता है॥ ४५॥ जो योगी इस प्रकार तीव्र ध्यानयोगके द्वारा मुझमें ही अपने चित्तका संयम करता है, उसके चित्तसे वस्तुकी अनेकता, तत्सम्बन्धी ज्ञान और उनकी प्राप्तिके लिये होनेवाले कर्मोंका भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न सिद्धियोंके नाम और लक्षण

श्रीभगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥ १

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! जब साधक इन्द्रिय, प्राण और मनको अपने वशमें करके अपना चित्त मुझमें लगाने लगता है, मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं॥ १॥

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित् कथंस्वित् सिद्धिरच्युत।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान्॥ २

उद्धवजीने कहा—अच्युत! कौन-सी धारणा करनेसे किस प्रकार कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और उनकी संख्या कितनी है, आप ही योगियोंको सिद्धियाँ देते हैं, अतः आप इनका वर्णन कीजिये॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः॥ ३

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! धारणायोगके पारगामी योगियोंने अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं। उनमें आठ सिद्धियाँ तो प्रधानरूपसे मुझमें ही रहती हैं और दूसरोंमें न्यून; तथा दस सत्त्वगुणके विकाससे भी मिल जाती हैं॥ ३॥

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥ ४

उनमें तीन सिद्धियाँ तो शरीरकी हैं—'अणिमा','महिमा' और 'लघिमा'। इन्द्रियोंकी एक सिद्धि है—'प्राप्ति'। लौकिक और पारलौकिक पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव करनेवाली सिद्धि 'प्राकाम्य' है। माया और उसके कार्योंको इच्छानुसार संचालित करना 'ईशिता' नामकी सिद्धि है॥ ४॥

गुणेष्वसंगो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः॥ ५

विषयोंमें रहकर भी उनमें आसक्त न होना 'वशिता' है और जिस-जिस सुखकी कामना करे, उसकी सीमातक पहुँच जाना 'कामावसायिता' नामकी आठवीं सिद्धि है। ये आठों सिद्धियाँ मुझमें स्वभावसे ही रहती हैं और जिन्हें मैं देता हूँ, उन्हींको अंशतः प्राप्त होती हैं॥ ५॥

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥ ६

स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहतागतिः॥ ७

इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धियाँ हैं। शरीरमें भूख-प्यास आदि वेगोंका न होना, बहुत दूरकी वस्तु देख लेना और बहुत दूरकी बात सुन लेना, मनके साथ ही शरीरका उस स्थानपर पहुँच जाना, जो इच्छा हो वही रूप बना लेना; दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, जब इच्छा हो तभी शरीर छोड़ना, अप्सराओंके साथ होनेवाली देवक्रीड़ाका दर्शन, संकल्पकी सिद्धि, सब जगह सबके द्वारा बिना ननु-नचके आज्ञापालन—ये दस सिद्धियाँ सत्त्वगुणके विशेष विकाससे होती हैं॥ ६-७॥

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥ ८

भूत, भविष्य और वर्तमानकी बात जान लेना; शीत-उष्ण, सुख-दुःख और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना, दूसरेके मन आदिकी बात जान लेना; अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिकी शक्तिको स्तम्भित कर देना और किसीसे भी पराजित न होना—ये पाँच सिद्धियाँ भी योगियोंको प्राप्त होती हैं॥ ८॥

एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः।
यया धारणया या स्याद् यथा वा स्यान्निबोध मे॥ ९

प्रिय उद्धव! योग-धारणा करनेसे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका मैंने नाम-निर्देशके साथ वर्णन कर दिया। अब किस धारणासे कौन-सी सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, यह बतलाता हूँ, सुनो॥ ९॥

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम॥ १०

प्रिय उद्धव! पंचभूतोंकी सूक्ष्मतम मात्राएँ मेरा ही शरीर है। जो साधक केवल मेरे उसी शरीरकी उपासना करता है और अपने मनको तदाकार बनाकर उसीमें लगा देता है अर्थात् मेरे तन्मात्रात्मक शरीरके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता, उसे 'अणिमा' नामकी सिद्धि अर्थात् पत्थरकी चट्टान आदिमें भी प्रवेश करनेकी शक्ति—अणुता प्राप्त हो जाती है॥ १०॥

महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत्।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक्॥ ११

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रंजयन्।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात्॥ १२

धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम्।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः॥ १३

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम्।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः॥ १४

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम्॥ १५

नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद् योगी मद्धर्मा वशितामियात्॥ १६

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥ १७

महत्तत्त्वके रूपमें भी मैं ही प्रकाशित हो रहा हूँ और उस रूपमें समस्त व्यावहारिक ज्ञानोंका केन्द्र हूँ। जो मेरे उस रूपमें अपने मनको महत्तत्त्वाकार करके तन्मय कर देता है, उसे 'महिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है, और इसी प्रकार आकाशादि पंचभूतोंमें—जो मेरे ही शरीर हैं—अलग-अलग मन लगानेसे उन-उनकी महत्ता प्राप्त हो जाती है, यह भी 'महिमा' सिद्धिके ही अन्तर्गत है॥ ११॥ जो योगी वायु आदि चार भूतोंके परमाणुओंको मेरा ही रूप समझकर चित्तको तदाकार कर देता है, उसे 'लघिमा' सिद्धि प्राप्त हो जाती है—उसे परमाणुरूप कालके* समान सूक्ष्म वस्तु बननेका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है॥ १२॥ जो सात्त्विक अहंकारको मेरा स्वरूप समझकर मेरे उसी रूपमें चित्तकी धारणा करता है, वह समस्त इन्द्रियोंका अधिष्ठाता हो जाता है। मेरा चिन्तन करनेवाला भक्त इस प्रकार 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है॥ १३॥ जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपना चित्त स्थिर करता है, उसे मुझ अव्यक्तजन्मा (सूत्रात्मा) की 'प्राकाम्य' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है—जिससे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं॥ १४॥ जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी मेरे काल-स्वरूप विश्वरूपकी धारणा करता है, वह शरीरों और जीवोंको अपने इच्छानुसार प्रेरित करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धिका नाम 'ईशित्व' है॥ १५॥ जो योगी मेरे नारायण-स्वरूपमें—जिसे तुरीय और भगवान् भी कहते हैं—मनको लगा देता है, मेरे स्वाभाविक गुण उसमें प्रकट होने लगते हैं और उसे 'वशिता' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥ १६॥ निर्गुण ब्रह्म भी मैं ही हूँ। जो अपना निर्मल मन मेरे इस ब्रह्मस्वरूपमें स्थित कर लेता है, उसे परमानन्द-स्वरूपिणी 'कामावसायिता' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है। इसके मिलनेपर उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं॥ १७॥

* पृथ्वी आदिके परमाणुओंमें गुरुत्व विद्यमान रहता है। इसीसे उसका भी निषेध करनेके लिये कालके परमाणुकी समानता बतायी है।

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि।
धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः॥ १८

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ॥ १९

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक्॥ २०

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः॥ २१

यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति।
तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः॥ २२

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत्॥ २३

पार्ष्ण्याऽऽपीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम्॥ २४

विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत्।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः॥ २५

प्रिय उद्धव! मेरा वह रूप, जो श्वेतद्वीपका स्वामी है, अत्यन्त शुद्ध और धर्ममय है। जो उसकी धारणा करता है, वह भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु और शोक-मोह—इन छः ऊर्मियोंसे मुक्त हो जाता है और उसे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होती है॥ १८॥ मैं ही समष्टि-प्राणरूप आकाशात्मा हूँ। जो मेरे इस स्वरूपमें मनके द्वारा अनाहत नादका चिन्तन करता है, वह 'दूरश्रवण' नामकी सिद्धिसे सम्पन्न हो जाता है और आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोली सुन-समझ सकता है॥ १९॥ जो योगी नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त कर देता है और दोनोंके संयोगमें मन-ही-मन मेरा ध्यान करता है, उसकी दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है, उसे 'दूरदर्शन' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है और वह सारे संसारको देख सकता है॥ २०॥ मन और शरीरको प्राणवायुके सहित मेरे साथ संयुक्त कर दे और मेरी धारणा करे तो इससे 'मनोजव' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके प्रभावसे वह योगी जहाँ भी जानेका संकल्प करता है, वहीं उसका शरीर उसी क्षण पहुँच जाता है॥ २१॥ जिस समय योगी मनको उपादान-कारण बनाकर किसी देवता आदिका रूप धारण करना चाहता है तो वह अपने मनके अनुकूल वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि उसने अपने चित्तको मेरे साथ जोड़ दिया है॥ २२॥ जो योगी दूसरे शरीरमें प्रवेश करना चाहे, वह ऐसी भावना करे कि मैं उसी शरीरमें हूँ। ऐसा करनेसे उसका प्राण वायुरूप धारण कर लेता है और वह एक फूलसे दूसरे फूलपर जानेवाले भौंरेके समान अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है॥ २३॥ योगीको यदि शरीरका परित्याग करना हो तो एड़ीसे गुदाद्वारको दबाकर प्राणवायुको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तकमें ले जाय। फिर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्ममें लीन करके शरीरका परित्याग कर दे॥ २४॥ यदि उसे देवताओंके विहारस्थलोंमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा हो, तो मेरे शुद्ध सत्त्वमय स्वरूपकी भावना करे। ऐसा करनेसे सत्त्वगुणकी अंशस्वरूपा सुर-सुन्दरियाँ विमानपर चढ़कर उसके पास पहुँच जाती हैं॥ २५॥

यथा संकल्पयेद् बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान्।
मयि सत्ये मनो युंजंस्तथा तत् समुपाश्नुते॥ २६

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान्।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम॥ २७

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता॥ २८

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः।
मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा॥ २९

मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः॥ ३०

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः॥ ३१

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥ ३२

अन्तरायान् वदन्त्येता युंजतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥ ३३

जिस पुरुषने मेरे सत्यसंकल्पस्वरूपमें अपना चित्त स्थिर कर दिया है, उसीके ध्यानमें संलग्न है, वह अपने मनसे जिस समय जैसा संकल्प करता है, उसी समय उसका वह संकल्प सिद्ध हो जाता है॥ २६॥ मैं 'ईशित्व' और 'वशित्व'—इन दोनों सिद्धियोंका स्वामी हूँ; इसलिये कभी कोई मेरी आज्ञा टाल नहीं सकता। जो मेरे उस रूपका चिन्तन करके उसी भावसे युक्त हो जाता है, मेरे समान उसकी आज्ञाको भी कोई टाल नहीं सकता॥ २७॥ जिस योगीका चित्त मेरी धारणा करते-करते मेरी भक्तिके प्रभावसे शुद्ध हो गया है, उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयोंको भी जान लेती है। और तो क्या—भूत, भविष्य और वर्तमानकी सभी बातें उसे मालूम हो जाती हैं॥ २८॥ जैसे जलके द्वारा जलमें रहनेवाले प्राणियोंका नाश नहीं होता, वैसे ही जिस योगीने अपना चित्त मुझमें लगाकर शिथिल कर दिया है, उसके योगमय शरीरको अग्नि, जल आदि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं कर सकते॥ २९॥ जो पुरुष श्रीवत्स आदि चिह्न और शंख-गदा-चक्र-पद्म आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा-छत्र-चँवर आदिसे सम्पन्न मेरे अवतारोंका ध्यान करता है, वह अजेय हो जाता है॥ ३०॥

इस प्रकार जो विचारशील पुरुष मेरी उपासना करता है और योगधारणाके द्वारा मेरा चिन्तन करता है, उसे वे सभी सिद्धियाँ पूर्णतः प्राप्त हो जाती हैं, जिनका वर्णन मैंने किया है॥ ३१॥ प्यारे उद्धव! जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, जो संयमी है और मेरे ही स्वरूपकी धारणा कर रहा है, उसके लिये ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो। उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त ही हैं॥ ३२॥ परन्तु श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जो लोग भक्तियोग अथवा ज्ञानयोगादि उत्तम योगोंका अभ्यास कर रहे हैं, जो मुझसे एक हो रहे हैं उनके लिये इन सिद्धियोंका प्राप्त होना एक विघ्न ही है; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ ही उनके समयका दुरुपयोग होता है॥ ३३॥

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्॥ ३४

जगत्में जन्म, ओषधि, तपस्या और मन्त्रादिके द्वारा जितनी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सभी योगके द्वारा मिल जाती हैं; परन्तु योगकी अन्तिम सीमा—मेरे सारूप्य, सालोक्य आदिकी प्राप्ति बिना मुझमें चित्त लगाये किसी भी साधनसे नहीं प्राप्त हो सकती॥ ३४॥

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम्॥ ३५

ब्रह्मवादियोंने बहुत-से साधन बतलाये हैं—योग, सांख्य और धर्म आदि। उनका एवं समस्त सिद्धियोंका एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूँ॥ ३५॥

अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा॥ ३६

जैसे स्थूल पंचभूतोंमें बाहर, भीतर—सर्वत्र सूक्ष्म पंच-महाभूत ही हैं, सूक्ष्म भूतोंके अतिरिक्त स्थूल भूतोंकी कोई सत्ता ही नहीं है, वैसे ही मैं समस्त प्राणियोंके भीतर द्रष्टारूपसे और बाहर दृश्यरूपसे स्थित हूँ। मुझमें बाहर-भीतरका भेद भी नहीं है; क्योंकि मैं निरावरण, एक—अद्वितीय आत्मा हूँ॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

भगवान्की विभूतियोंका वर्णन

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम्।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः॥ १

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः।
उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः॥ २

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप स्वयं परब्रह्म हैं, न आपका आदि है और न अन्त। आप आवरण-रहित, अद्वितीय तत्त्व हैं। समस्त प्राणियों और पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति, रक्षा और प्रलयके कारण भी आप ही हैं। आप ऊँचे-नीचे सभी प्राणियोंमें स्थित हैं; परन्तु जिन लोगोंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वे आपको नहीं जान सकते। आपकी यथोचित उपासना तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही करते हैं॥ १-२॥

येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद् वदस्व मे॥ ३

बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आपके जिन रूपों और विभूतियोंकी परम भक्तिके साथ उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं, वह आप मुझसे कहिये॥ ३॥

गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते॥ ४

समस्त प्राणियोंके जीवनदाता प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं। आप उनमें अपनेको गुप्त रखकर लीला करते रहते हैं। आप तो सबको देखते हैं, परन्तु जगत्के प्राणी आपकी मायासे ऐसे मोहित हो रहे हैं कि वे आपको नहीं देख पाते॥ ४॥

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम्॥ ५

अचिन्त्य ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो! पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशा-विदिशाओंमें आपके प्रभावसे युक्त जो-जो भी विभूतियाँ हैं, आप कृपा करके मुझसे उनका वर्णन कीजिये। प्रभो! मैं आपके उन चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो समस्त तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले हैं॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥ ६

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! तुम प्रश्नका मर्म समझनेवालोंमें शिरोमणि हो। जिस समय कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय शत्रुओंसे युद्धके लिये तत्पर अर्जुनने मुझसे यही प्रश्न किया था॥ ६॥

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः॥ ७

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि॥ ८

अर्जुनके मनमें ऐसी धारणा हुई कि कुटुम्बियोंको मारना, और सो भी राज्यके लिये, बहुत ही निन्दनीय अधर्म है। साधारण पुरुषोंके समान वह यह सोच रहा था कि 'मैं मारनेवाला हूँ और ये सब मरनेवाले हैं। यह सोचकर वह युद्धसे उपरत हो गया॥ ७॥ तब मैंने रणभूमिमें बहुत-सी युक्तियाँ देकर वीरशिरोमणि अर्जुनको समझाया था। उस समय अर्जुनने भी मुझसे यही प्रश्न किया था, जो तुम कर रहे हो॥ ८॥

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः॥ ९

उद्धवजी! मैं समस्त प्राणियोंका आत्मा, हितैषी, सुहृद् और ईश्वर—नियामक हूँ। मैं ही इन समस्त प्राणियों और पदार्थोंके रूपमें हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कारण भी हूँ॥ ९॥

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम्।
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः॥ १०

गतिशील पदार्थोंमें मैं गति हूँ। अपने अधीन करनेवालोंमें मैं काल हूँ। गुणोंमें मैं उनकी मूलस्वरूपा साम्यावस्था हूँ और जितने भी गुणवान् पदार्थ हैं, उनमें उनका स्वाभाविक गुण हूँ॥ १०॥

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम्।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः॥ ११

गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं क्रिया-शक्ति-प्रधान प्रथम कार्य सूत्रात्मा हूँ और महानोंमें ज्ञान-शक्तिप्रधान प्रथम कार्य महत्तत्त्व हूँ। सूक्ष्म वस्तुओंमें मैं जीव हूँ और कठिनाईसे वशमें होनेवालोंमें मन हूँ॥ ११॥

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम्॥ १२

मैं वेदोंका अभिव्यक्तिस्थान हिरण्यगर्भ हूँ और मन्त्रोंमें तीन मात्राओं (अ+उ+म) वाला ओंकार हूँ। मैं अक्षरोंमें अकार, छन्दोंमें त्रिपदा गायत्री हूँ॥ १२॥

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट्।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः॥ १३

समस्त देवताओंमें इन्द्र, आठ वसुओंमें अग्नि, द्वादश आदित्योंमें विष्णु और एकादश रुद्रोंमें नीललोहित नामका रुद्र हूँ॥ १३॥

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु॥ १४
सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम्।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा॥ १५
मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम्।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम्॥ १६
ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम्।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम्॥ १७
उच्चैःश्रवास्तुरंगाणां धातूनामस्मि कांचनम्।
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ १८
नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृंगिदंष्ट्रिणाम्।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ॥ १९
तीर्थानां स्त्रोतसां गंगा समुद्रः सरसामहम्।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्॥ २०
धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः॥ २१
पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः॥ २२
यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम्।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः॥ २३
योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम्।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम्॥ २४
स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम्॥ २५
धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः।
गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम्॥ २६

मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु, देवर्षियोंमें नारद और गौओंमें कामधेनु हूँ॥ १४॥ मैं सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड़, प्रजापतियोंमें दक्ष प्रजापति और पितरोंमें अर्यमा हूँ॥ १५॥ प्रिय उद्धव! मैं दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, ओषधियोंमें सोमरस एवं यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर हूँ—ऐसा समझो॥ १६॥ मैं गजराजोंमें ऐरावत, जलनिवासियोंमें उनका प्रभु वरुण, तपने और चमकनेवालोंमें सूर्य तथा मनुष्योंमें राजा हूँ॥ १७॥ मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सोना, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि हूँ॥ १८॥ निष्पाप उद्धवजी! मैं नागराजोंमें शेषनाग, सींग और दाढ़वाले प्राणियोंमें उनका राजा सिंह, आश्रमोंमें संन्यास और वर्णोंमें ब्राह्मण हूँ॥ १९॥ मैं तीर्थ और नदियोंमें गंगा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र-शस्त्रोंमें धनुष तथा धनुर्धरोंमें त्रिपुरारि शंकर हूँ ॥ २०॥

मैं निवासस्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्पतियोंमें पीपल और धान्योंमें जौ हूँ॥ २१॥ मैं पुरोहितोंमें वसिष्ठ, वेदवेत्ताओंमें बृहस्पति, समस्त सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिक और सन्मार्गप्रवर्तकोंमें भगवान् ब्रह्मा हूँ॥ २२॥ पंचमहायज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याययज्ञ) हूँ, व्रतोंमें अहिंसाव्रत और शुद्ध करनेवाले पदार्थोंमें नित्यशुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी एवं आत्मा हूँ॥ २३॥ आठ प्रकारके योगोंमें मैं मनोनिरोधरूप समाधि हूँ। विजयके इच्छुकोंमें रहनेवाला मैं मन्त्र (नीति) बल हूँ, कौशलोंमें आत्मा और अनात्माका विवेकरूप कौशल तथा ख्यातिवादियोंमें विकल्प हूँ॥ २४॥ मैं स्त्रियोंमें मनुपत्नी शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार हूँ॥ २५॥ मैं धर्मोंमें कर्मसंन्यास अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदानरूप सच्चा संन्यास हूँ। अभयके साधनोंमें आत्मस्वरूपका अनुसन्धान हूँ, अभिप्राय-गोपनके साधनोंमें मधुर वचन एवं मौन हूँ और स्त्री-पुरुषके जोड़ोंमें मैं प्रजापति हूँ—जिनके शरीरके दो भागोंसे पुरुष और स्त्रीका पहला जोड़ा पैदा हुआ॥ २६॥

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित्॥ २७

अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान्॥ २८

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम्।
किंपुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः॥ २९

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम्।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम्॥ ३०

व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३१

ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्त्वताम्।
सात्त्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा॥ ३२

विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः॥ ३३

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः॥ ३४

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसङ्क्रमः॥ ३५

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम्।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम्॥ ३६

सदा सावधान रहकर जागनेवालोंमें संवत्सररूप काल मैं हूँ, ऋतुओंमें वसन्त, महीनोंमें मार्गशीर्ष और नक्षत्रोंमें अभिजित् हूँ॥ २७॥ मैं युगोंमें सत्ययुग, विवेकियोंमें महर्षि देवल और असित, व्यासोंमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास तथा कवियोंमें मनस्वी शुक्राचार्य हूँ॥ २८॥ सृष्टिकी उत्पत्ति और लय, प्राणियोंके जन्म और मृत्यु तथा विद्या और अविद्याके जाननेवाले भगवानोंमें (विशिष्ट महा-पुरुषोंमें) मैं वासुदेव हूँ। मेरे प्रेमी भक्तोंमें तुम (उद्धव), किम्पुरुषोंमें हनुमान्, विद्याधरोंमें सुदर्शन (जिसने अजगरके रूपमें नन्दबाबाको ग्रस लिया था और फिर भगवान्‌के पादस्पर्शसे मुक्त हो गया था) मैं हूँ॥ २९॥ रत्नोंमें पद्मराग (लाल), सुन्दर वस्तुओंमें कमलकी कली, तृणोंमें कुश और हविष्योंमें गायका घी हूँ॥ ३०॥ मैं व्यापारियोंमें रहनेवाली लक्ष्मी, छल-कपट करनेवालोंमें द्यूतक्रीडा, तितिक्षुओंकी तितिक्षा (कष्टसहिष्णुता) और सात्त्विक पुरुषोंमें रहनेवाला सत्त्वगुण हूँ॥ ३१॥ मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम तथा भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्म हूँ। वैष्णवोंकी पूज्य वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा—इन नौ मूर्तियोंमें मैं पहली एवं श्रेष्ठ मूर्ति वासुदेव हूँ॥ ३२॥ मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें ब्रह्माजीके दरबारकी अप्सरा पूर्वचित्ति हूँ। पर्वतोंमें स्थिरता और पृथ्वीमें शुद्ध अविकारी गन्ध मैं ही हूँ॥ ३३॥ मैं जलमें रस, तेजस्वियोंमें परम तेजस्वी अग्नि; सूर्य, चन्द्र और तारोंमें प्रभा तथा आकाशमें उसका एकमात्र गुण शब्द हूँ॥ ३४॥ उद्धवजी! मैं ब्राह्मणभक्तोंमें बलि, वीरोंमें अर्जुन और प्राणियोंमें उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हूँ॥ ३५॥ मैं ही पैरोंमें चलनेकी शक्ति, वाणीमें बोलनेकी शक्ति, पायुमें मल-त्यागकी शक्ति, हाथोंमें पकड़नेकी शक्ति और जननेन्द्रियमें आनन्दोपभोगकी शक्ति हूँ। त्वचामें स्पर्शकी, नेत्रोंमें दर्शनकी, रसनामें स्वाद लेनेकी, कानोंमें श्रवणकी और नासिकामें सूँघनेकी शक्ति भी मैं ही हूँ। समस्त इन्द्रियोंकी इन्द्रिय-शक्ति मैं ही हूँ॥ ३६॥

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्॥ ३७

अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः।
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित्॥ ३८

संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः॥ ३९

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः॥ ४०

एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते॥ ४१

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान्[1] यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥ ४२

यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्त्रवत्यामघटाम्बुवत्॥ ४३

तस्मान्मनोवचःप्राणान्[2] नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥ ४४

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहंकार, महत्तत्त्व, पंचमहाभूत, जीव, अव्यक्त, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और उनसे परे रहनेवाला ब्रह्म—ये सब मैं ही हूँ॥ ३७॥ इन तत्त्वोंकी गणना, लक्षणोंद्वारा उनका ज्ञान तथा तत्त्वज्ञानरूप उसका फल भी मैं ही हूँ। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही जीव हूँ, मैं ही गुण हूँ और मैं ही गुणी हूँ। मैं ही सबका आत्मा हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं भी नहीं है॥ ३८॥ यदि मैं गिनने लगूँ तो किसी समय परमाणुओंकी गणना तो कर सकता हूँ, परन्तु अपनी विभूतियोंकी गणना नहीं कर सकता। क्योंकि जब मेरे रचे हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी भी गणना नहीं हो सकती, तब मेरी विभूतियोंकी गणना तो हो ही कैसे सकती है॥ ३९॥ ऐसा समझो कि जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है॥ ४०॥

उद्धवजी! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन किया। ये सब परमार्थ-वस्तु नहीं हैं, मनोविकारमात्र हैं; क्योंकि मनसे सोची और वाणीसे कही हुई कोई भी वस्तु परमार्थ (वास्तविक) नहीं होती। उसकी एक कल्पना ही होती है॥ ४१॥ इसलिये तुम वाणीको स्वच्छन्दभाषणसे रोको, मनके संकल्प-विकल्प बंद करो। इसके लिये प्राणोंको वशमें करो और इन्द्रियोंका दमन करो। सात्त्विक बुद्धिके द्वारा प्रपंचाभिमुख बुद्धिको शान्त करो। फिर तुम्हें संसारके जन्म-मृत्युरूप बीहड़ मार्गमें भटकना नहीं पड़ेगा॥ ४२॥ जो साधक बुद्धिके द्वारा वाणी और मनको पूर्णतया वशमें नहीं कर लेता, उसके व्रत, तप और दान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जैसे कच्चे घड़ेमें भरा हुआ जल॥ ४३॥ इसलिये मेरे प्रेमी भक्तको चाहिये कि मेरे परायण होकर भक्तियुक्त बुद्धिसे वाणी, मन और प्राणोंका संयम करे। ऐसा कर लेनेपर फिर उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो जाता है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

१. प्राणम्। २. वचोमनःप्राणान्।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि॥ १

यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत्[1] समाख्यातुमर्हसि॥ २

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव॥ ३

स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः॥ ४

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः॥ ५

कर्त्राविता प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति॥ ६

तत्त्वं[2] नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो॥ ७

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान्॥ ८

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण! आपने पहले वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवालोंके लिये और सामान्यतः मनुष्यमात्रके लिये उस धर्मका उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है। अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकारसे अपने धर्मका अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणोंमें उसे भक्ति प्राप्त हो जाय॥ १-२॥ प्रभो! महाबाहु माधव! पहले आपने हंसरूपसे अवतार ग्रहण करके ब्रह्माजीको अपने परमधर्मका उपदेश किया था॥ ३॥ रिपुदमन! बहुत समय बीत जानेके कारण वह इस समय मर्त्यलोकमें प्रायः नहीं-सा रह गया है, क्योंकि आपको उसका उपदेश किये बहुत दिन हो गये हैं॥ ४॥ अच्युत! पृथ्वीमें तथा ब्रह्माकी उस सभामें भी, जहाँ सम्पूर्ण वेद मूर्तिमान् होकर विराजमान रहते हैं, आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है, जो आपके इस धर्मका प्रवचन, प्रवर्त्तन अथवा संरक्षण कर सके॥ ५॥

इस धर्मके प्रवर्तक, रक्षक और उपदेशक आप ही हैं। आपने पहले जैसे मधु दैत्यको मारकर वेदोंकी रक्षा की थी, वैसे ही अपने धर्मकी भी रक्षा कीजिये। स्वयंप्रकाश परमात्मन्! जब आप पृथ्वीतलसे अपनी लीला संवरण कर लेंगे, तब तो इस धर्मका लोप ही हो जायगा तो फिर उसे कौन बतावेगा?॥ ६॥ आप समस्त धर्मोंके मर्मज्ञ हैं; इसलिये प्रभो! आप उस धर्मका वर्णन कीजिये, जो आपकी भक्ति प्राप्त करानेवाला है। और यह भी बतलाइये कि किसके लिये उसका कैसा विधान है॥ ७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब इस प्रकार भक्तशिरोमणि उद्धवजीने प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर प्राणियोंके कल्याणके लिये उन्हें सनातन धर्मोंका उपदेश दिया॥ ८॥

१. तन्ममा०। २. तत्त्वत: सर्व०।

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे॥ ९

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृत्यकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्[1] कृतयुगं विदुः॥ १०

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥ ११

त्रेतामुखे[2] महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या[3] अहमासं त्रिवृन्मखः॥ १२

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥ १३

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद्[4] वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः॥ १४

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः[5]।
आसन्[6] प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥ १५

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥ १६

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है, क्योंकि इससे वर्णाश्रमधर्मी मनुष्योंको परमकल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः मैं तुम्हें उन धर्मोंका उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो॥ ९॥ जिस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ था और पहला सत्ययुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्योंका 'हंस' नामक एक ही वर्ण था। उस युगमें सब लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे; इसीलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है॥ १०॥ उस समय केवल प्रणव ही वेद था और तपस्या, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणोंसे युक्त मैं ही वृषभरूपधारी धर्म था। उस समयके निष्पाप एवं परमतपस्वी भक्तजन मुझ हंसस्वरूप शुद्ध परमात्माकी उपासना करते थे॥ ११॥ परम भाग्यवान् उद्धव! सत्ययुगके बाद त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर मेरे हृदयसे श्वास-प्रश्वासके द्वारा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदरूप त्रयीविद्या प्रकट हुई और उस त्रयीविद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्मरूप तीन भेदोंवाले यज्ञके रूपसे मैं प्रकट हुआ॥ १२॥ विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, भुजासे क्षत्रिय, जंघासे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई। उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरणसे होती है॥ १३॥ उद्धवजी! विराट् पुरुष भी मैं ही हूँ; इसलिये मेरे ही ऊरुस्थलसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थाश्रम और मस्तकसे संन्यासाश्रमकी उत्पत्ति हुई है॥ १४॥

इन वर्ण और आश्रमोंके पुरुषोंके स्वभाव भी इनके जन्मस्थानोंके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हो गये। अर्थात् उत्तम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवाले वर्ण और आश्रमोंके स्वभाव उत्तम और अधम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवालोंके अधम हुए॥ १५॥ शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सीधापन, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं॥ १६॥

१. यस्मात्। २. त्रेतायुगे। ३. त्तत्र। ४. वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः। ५. चारिणीः। ६. आसन्वै गतयो नृणां।

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १७

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्[1]।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १८

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १९

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च[2] स्वभावोऽन्तेवसायिनाम्[3]॥ २०

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥ २१

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः[4]॥ २२

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत्॥ २३

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे[5] च वाग्यतः।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि॥ २४

रेतो नावकिरेज्जातु[6] ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥ २५

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः[7]।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग् जपन्॥ २६

तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मण-भक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं॥ १७॥ आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धनसंचयसे सन्तुष्ट न होना—ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं॥ १८॥ ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र वर्णके स्वभाव हैं॥ १९॥ अपवित्रता, झूठ बोलना, चोरी करना, ईश्वर और परलोककी परवा न करना, झूठमूठ झगड़ना और काम, क्रोध एवं तृष्णाके वशमें रहना—ये अन्त्यजोंके स्वभाव हैं॥ २०॥ उद्धवजी! चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करें; सत्यपर दृढ़ रहें; चोरी न करें; काम, क्रोध तथा लोभसे बचें और जिन कामोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता और उनका भला हो, वही करें॥ २१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके गुरुकुलमें रहे और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखे। आचार्यके बुलानेपर वेदका अध्ययन करे और उसके अर्थका भी विचार करे॥ २२॥ मेखला, मृगचर्म, वर्णके अनुसार दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत और कमण्डलु धारण करे। सिरपर जटा रखे, शौकीनीके लिये दाँत और वस्त्र न धोवे, रंगीन आसनपर न बैठे और कुश धारण करे॥ २३॥ स्नान, भोजन, हवन, जप और मल-मूत्र त्यागके समय मौन रहे। और कक्ष तथा गुप्तेन्द्रियके बाल और नाखूनोंको कभी न काटे॥ २४॥ पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करे। स्वयं तो कभी वीर्यपात करे ही नहीं। यदि स्वप्न आदिमें वीर्य स्खलित हो जाय, तो जलमें स्नान करके प्राणायाम करे एवं गायत्रीका जप करे॥ २५॥ ब्रह्मचारीको पवित्रताके साथ एकाग्रचित्त होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना करनी चाहिये तथा सायंकाल और प्रातःकाल मौन होकर सन्ध्योपासन एवं गायत्रीका जप करना

१. विप्रसेवनम्। २. हर्षश्च। ३. न्त्यावसायिनान्। ४. चाग्रचतः। ५. मन्त्रोच्चारे। ६. न विकिरेत्। ७. वृद्धान् सुरानपि।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥ २७

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुंजीत संयतः॥ २८

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृतांजलिः॥ २९

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद् व्रतमखण्डितम्॥ ३०

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद्[1] देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः॥ ३१

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः॥ ३२

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत्॥ ३३

शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम्[2]।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम्॥ ३४

चाहिये॥ २६॥ आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोषदृष्टि न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है॥ २७॥ सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षामें मिले वह लाकर गुरुदेवके आगे रख दे। केवल भोजन ही नहीं, जो कुछ हो सब। तदनन्तर उनके आज्ञानुसार बड़े संयमसे भिक्षा आदिका यथोचित उपयोग करे॥ २८॥ आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे चले, उनके सो जानेके बाद बड़ी सावधानीसे उनसे थोड़ी दूरपर सोवे। थके हों, तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों, तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पासमें ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त छोटे व्यक्तिकी भाँति सेवा-शुश्रूषाके द्वारा सदा-सर्वदा आचार्यकी आज्ञामें तत्पर रहे॥ २९॥ जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाय, तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर इसी प्रकार गुरुकुलमें निवास करे और कभी अपना ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित न होने दे॥ ३०॥

यदि ब्रह्मचारीका विचार हो कि मैं मूर्तिमान् वेदोंके निवासस्थान ब्रह्मलोकमें जाऊँ, तो उसे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लेना चाहिये। और वेदोंके स्वाध्यायके लिये अपना सारा जीवन आचार्यकी सेवामें ही समर्पित कर देना चाहिये॥ ३१॥ ऐसा ब्रह्मचारी सचमुच ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो जाता है और उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उसे चाहिये कि अग्नि, गुरु, अपने शरीर और समस्त प्राणियोंमें मेरी ही उपासना करे और यह भाव रखे कि मेरे तथा सबके हृदयमें एक ही परमात्मा विराजमान हैं॥ ३२॥ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंको चाहिये कि वे स्त्रियोंको देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूरसे ही त्याग दें; मैथुन करते हुए प्राणियोंपर तो दृष्टिपाततक न करें॥ ३३॥ प्रिय उद्धव! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीरका संयम—यह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—सभीके लिये एक-

१. च न्यसेद्देहम्। २. सन्ध्योपास्तिर्ममार्चनम्।

सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः॥ ३५

एवं बृहद् व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥ ३६

अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथा जिज्ञासितागमः।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः॥ ३७

गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद् वा द्विजोत्तमः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्॥ ३८

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात्॥ ३९

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥ ४०

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा[१] दोषदृक् तयोः॥ ४१

सा नियम है। अस्पृश्योंको न छूना, अभक्ष्य वस्तुओंको न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिये उनसे न बोलना—ये नियम भी सबके लिये हैं॥ ३४-३५॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण इन नियमोंका पालन करनेसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्याके कारण उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है॥ ३६॥

प्यारे उद्धव! यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करनेकी इच्छा न हो—गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता हो, तो विधिपूर्वक वेदाध्ययन समाप्त करके आचार्यको दक्षिणा देकर और उनकी अनुमति लेकर समावर्तन-संस्कार करावे—स्नातक बनकर ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ दे॥ ३७॥ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। यदि ब्राह्मण हो तो संन्यास भी ले सकता है। अथवा उसे चाहिये कि क्रमशः एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करे। किन्तु मेरा आज्ञाकारी भक्त बिना आश्रमके रहकर अथवा विपरीत क्रमसे आश्रम-परिवर्तन कर स्वेच्छाचारमें न प्रवृत्त हो॥ ३८॥

प्रिय उद्धव! यदि ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करना हो तो ब्रह्मचारीको चाहिये कि अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न कुलीन कन्यासे विवाह करे। वह अवस्थामें अपनेसे छोटी और अपने ही वर्णकी होनी चाहिये। यदि कामवश अन्य वर्णकी कन्यासे और विवाह करना हो तो क्रमशः अपनेसे निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है॥ ३९॥ यज्ञ-यागादि, अध्ययन और दान करनेका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंको समान-रूपसे है। परन्तु दान लेने, पढ़ाने और यज्ञ करानेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही है॥ ४०॥ ब्राह्मणको चाहिये कि इन तीनों वृत्तियोंमें प्रतिग्रह अर्थात् दान लेनेकी वृत्तिको तपस्या, तेज और यशका नाश करने-वाली समझकर पढ़ाने और यज्ञ करानेके द्वारा ही अपना जीवन-निर्वाह करे और यदि इन दोनों वृत्तियोंमें भी दोषदृष्टि हो—परावलम्बन, दीनता आदि दोष

१. शिल्पैः।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥ ४२

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठ-
न्नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम्॥ ४३

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम्।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात्॥ ४४

सर्वाः समुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान्॥ ४५

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते॥ ४६

सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत्।
खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथंचन॥ ४७

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि।
चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथंचन॥ ४८

दीखते हों—तो अन्न कटनेके बाद खेतोंमें पड़े हुए दाने बीनकर ही अपने जीवनका निर्वाह कर ले॥ ४१॥ उद्धव! ब्राह्मणका शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। यह इसलिये नहीं है कि इसके द्वारा तुच्छ विषय-भोग ही भोगे जायँ। यह तो जीवन-पर्यन्त कष्ट भोगने, तपस्या करने और अन्तमें अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करनेके लिये है॥ ४२॥

जो ब्राह्मण घरमें रहकर अपने महान् धर्मका निष्कामभावसे पालन करता है और खेतोंमें तथा बाजारोंमें गिरे-पड़े दाने चुनकर सन्तोषपूर्वक अपने जीवनका निर्वाह करता है, साथ ही अपना शरीर, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा मुझे समर्पित कर देता है और कहीं भी अत्यन्त आसक्ति नहीं करता, वह बिना संन्यास लिये ही परमशान्तिस्वरूप परमपद प्राप्त कर लेता है॥ ४३॥ जो लोग विपत्तिमें पड़े कष्ट पा रहे मेरे भक्त ब्राह्मणको विपत्तियोंसे बचा लेते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही समस्त आपत्तियोंसे उसी प्रकार बचा लेता हूँ, जैसे समुद्रमें डूबते हुए प्राणीको नौका बचा लेती है॥ ४४॥ राजा पिताके समान सारी प्रजाका कष्टसे उद्धार करे—उन्हें बचावे, जैसे गजराज दूसरे गजोंकी रक्षा करता है और धीर होकर स्वयं अपने-आपसे अपना उद्धार करे॥ ४५॥ जो राजा इस प्रकार प्रजाकी रक्षा करता है, वह सारे पापोंसे मुक्त होकर अन्त समयमें सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकमें जाता है और इन्द्रके साथ सुख भोगता है॥ ४६॥ यदि ब्राह्मण अध्यापन अथवा यज्ञ-यागादिसे अपनी जीविका न चला सके, तो वैश्य-वृत्तिका आश्रय ले ले, और जब-तक विपत्ति दूर न हो जाय तबतक करे। यदि बहुत बड़ी आपत्तिका सामना करना पड़े तो तलवार उठाकर क्षत्रियोंकी वृत्तिसे भी अपना काम चला ले, परन्तु किसी भी अवस्थामें नीचोंकी सेवा—जिसे 'श्वानवृत्ति' कहते हैं—न करे॥ ४७॥ इसी प्रकार यदि क्षत्रिय भी प्रजापालन आदिके द्वारा अपने जीवनका निर्वाह न कर सके तो वैश्यवृत्ति व्यापार आदि कर ले। बहुत बड़ी आपत्ति हो तो शिकारके द्वारा अथवा विद्यार्थियोंको पढ़ाकर अपनी आपत्तिके दिन काट दे, परन्तु नीचोंकी सेवा, 'श्वानवृत्ति' का आश्रय कभी न ले॥ ४८॥

शूद्रवृत्तिं[1] भजेद् वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम्[2]।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा॥ ४९

वैश्य भी आपत्तिके समय शूद्रोंकी वृत्ति सेवासे अपना जीवन-निर्वाह कर ले और शूद्र चटाई बुनने आदि कारुवृत्तिका आश्रय ले ले; परन्तु उद्धव! ये सारी बातें आपत्तिकालके लिये ही हैं। आपत्तिका समय बीत जानेपर निम्नवर्णोंकी वृत्तिसे जीविकोपार्जन करनेका लोभ न करे॥ ४९॥

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम्।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्॥ ५०

गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरूप पितृयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, काकबलि आदि भूतयज्ञ और अन्नदानरूप अतिथियज्ञ आदिके द्वारा मेरे स्वरूपभूत ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करता रहे॥ ५०॥

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥ ५१

गृहस्थ पुरुष अनायास प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त रीतिसे उपार्जित अपने शुद्ध धनसे अपने भृत्य, आश्रित प्रजाजनको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाते हुए न्याय और विधिके साथ ही यज्ञ करे॥ ५१॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ ५२

प्रिय उद्धव! गृहस्थ पुरुष कुटुम्बमें आसक्त न हो। बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी भजनमें प्रमाद न करे। बुद्धिमान् पुरुषको यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जैसे इस लोकको सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, वैसे ही स्वर्गादि परलोकके भोग भी नाशवान् ही हैं॥ ५२॥

पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥ ५३

यह जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनोंका मिलना-जुलना है, यह वैसा ही है, जैसे किसी प्याऊपर कुछ बटोही इकट्ठे हो गये हों। सबको अलग-अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटनेतक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलनेवालोंका सम्बन्ध ही बस, शरीरके रहनेतक ही रहता है; फिर तो कौन किसको पूछता है॥ ५३॥

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः॥ ५४

गृहस्थको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थीमें फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्तभावसे रहे मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो। जो शरीर आदिमें अहंकार और घर आदिमें ममता नहीं करता, उसे घर-गृहस्थीके फंदे बाँध नहीं सकते॥ ५४॥

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेद्॥ ५५

भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करता हुआ घरमें ही रहे, अथवा यदि पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रममें चला जाय या संन्यासाश्रम स्वीकार कर ले॥ ५५॥

१. शूद्रवृत्तिर्भवेद्वैश्यः। २. कारुकटक्रियः।

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥ ५६

प्रिय उद्धव! जो लोग इस प्रकारका गृहस्थजीवन न बिताकर घर-गृहस्थीमें ही आसक्त हो जाते हैं, स्त्री, पुत्र और धनकी कामनाओंमें फँसकर हाय-हाय करते रहते और मूढ़तावश स्त्रीलम्पट और कृपण होकर मैं-मेरेके फेरमें पड़ जाते हैं, वे बँध जाते हैं॥ ५६॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥ ५७

वे सोचते रहते हैं—हाय! हाय! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गये; पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये दीन, अनाथ और दुःखी हो जायँगे; फिर इनका जीवन कैसे रहेगा?'॥ ५७॥

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥ ५८

इस प्रकार घर-गृहस्थीकी वासनासे जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ़बुद्धि पुरुष विषयभोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता, उन्हींमें उलझकर अपना जीवन खो बैठता है और मरकर घोर तमोमय नरकमें जाता है॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः॥ १

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! यदि गृहस्थ मनुष्य वानप्रस्थ आश्रममें जाना चाहे, तो अपनी पत्नीको पुत्रोंके हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ ही ले ले और फिर शान्त चित्तसे अपनी आयुका तीसरा भाग वनमें ही रहकर व्यतीत करे॥ १॥

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च॥ २

उसे वनके पवित्र कन्द-मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करना चाहिये; वस्त्रकी जगह वृक्षोंकी छाल पहिने अथवा घास-पात और मृगछालासे ही काम निकाल ले॥ २॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥ ३

केश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढ़ीरूप शरीरके मलको हटावे नहीं। दातुन न करे। जलमें घुसकर त्रिकाल स्नान करे और धरतीपर ही पड़ रहे॥ ३॥

ग्रीष्मे तप्येत पंचाग्नीन् वर्षास्वासारषाड् जले।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवंवृत्तस्तपश्चरेत्॥ ४

ग्रीष्म ऋतुमें पंचाग्नि तपे, वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें रहकर वर्षाकी बौछार सहे। जाड़ेके दिनोंमें गलेतक जलमें डूबा रहे। इस प्रकार घोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करे॥ ४॥

अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा॥ ५

कन्द-मूलोंको केवल आगमें भूनकर खा ले अथवा समयानुसार पके हुए फल आदिके द्वारा ही काम चला ले। उन्हें कूटनेकी आवश्यकता हो तो ओखलीमें या

स्वयं संचिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाऽऽहृतम्॥ ६

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्[1]।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी॥ ७

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च[2] पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः॥ ८

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम्॥ ९

यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद् बालिशः कोऽपरस्ततः॥ १०

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्॥ ११

सिलपर कूट ले, अन्यथा दाँतोंसे ही चबा-चबाकर खा ले॥ ५॥ वानप्रस्थाश्रमीको चाहिये कि कौन-सा पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये, कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—इन बातोंको जानकर अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वयं ही सब प्रकारके कन्द-मूल-फल आदि ले आवे। देश-काल आदिसे अनभिज्ञ लोगोंसे लाये हुए अथवा दूसरे समयके संचित पदार्थोंको अपने काममें न ले*॥ ६॥ नीवार आदि जंगली अन्नसे ही चरु-पुरोडाश आदि तैयार करे और उन्हींसे समयोचित आग्रयण आदि वैदिक कर्म करे। वानप्रस्थ हो जानेपर वेदविहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे॥ ७॥ वेदवेत्ताओंने वानप्रस्थीके लिये अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य आदिका वैसा ही विधान किया है, जैसा गृहस्थोंके लिये है॥ ८॥ इस प्रकार घोर तपस्या करते-करते मांस सूख जानेके कारण वानप्रस्थीकी एक-एक नस दीखने लगती है। वह इस तपस्याके द्वारा मेरी आराधना करके पहले तो ऋषियोंके लोकमें जाता है और वहाँसे फिर मेरे पास आ जाता है; क्योंकि तप मेरा ही स्वरूप है॥ ९॥ प्रिय उद्धव! जो पुरुष बड़े कष्टसे किये हुए और मोक्ष देनेवाले इस महान् तपस्याको स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि छोटे-मोटे फलोंकी प्राप्तिके लिये करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा? इसलिये तपस्याका अनुष्ठान निष्कामभावसे ही करना चाहिये॥ १०॥

प्यारे उद्धव! वानप्रस्थी जब अपने आश्रमोचित नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय, बुढ़ापेके कारण उसका शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्नियोंको भावनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें आरोपित कर ले और अपना मन मुझमें लगाकर अग्निमें प्रवेश कर जाय। (यह विधान केवल उनके लिये है, जो विरक्त

१. कालचोदितम्। २. पौर्णमासः।

* अर्थात् मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं, स्वयं ही नवीन-नवीन कन्द-मूल-फल आदिका संचय करे। देश-कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये हुए अथवा कालान्तरमें संचय किये हुए पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशंका है।

यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः॥ १२

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे।
अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ १३

विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः।
विघ्नान् कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम्॥ १४

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किंचिदनापदि॥ १५

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ १६

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यंग वेणुभिर्न भवेद् यतिः॥ १७

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता॥ १८

नहीं हैं)॥ ११॥ यदि उसकी समझमें यह बात आ जाय कि काम्य कर्मोंसे उनके फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, वे नरकोंके समान ही दुःखपूर्ण हैं और मनमें लोक-परलोकसे पूरा वैराग्य हो जाय तो विधिपूर्वक यज्ञाग्नियोंका परित्याग करके संन्यास ले ले॥ १२॥ जो वानप्रस्थी संन्यासी होना चाहे, वह पहले वेदविधिके अनुसार आठों प्रकारके श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञसे मेरा यजन करे। इसके बाद अपना सर्वस्व ऋत्विजको दे दे। यज्ञाग्नियोंको अपने प्राणोंमें लीन कर ले और फिर किसी भी स्थान, वस्तु और व्यक्तियोंकी अपेक्षा न रखकर स्वच्छन्द विचरण करे॥ १३॥ उद्धवजी! जब ब्राह्मण संन्यास लेने लगता है, तब देवतालोग स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धियोंका रूप धारण करके उसके संन्यास-ग्रहणमें विघ्न डालते हैं। वे सोचते हैं कि 'अरे! यह तो हमलोगोंकी अवहेलना कर, हमलोगोंको लाँघकर परमात्माको प्राप्त होने जा रहा है'॥ १४॥

यदि संन्यासी वस्त्र धारण करे तो केवल लँगोटी लगा ले और अधिक-से-अधिक उसके ऊपर एक ऐसा छोटा-सा टुकड़ा लपेट ले कि जिसमें लँगोटी ढक जाय। तथा आश्रमोचित दण्ड और कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु अपने पास न रखे। यह नियम आपत्तिकालको छोड़कर सदाके लिये है॥ १५॥ नेत्रोंसे धरती देखकर पैर रखे, कपड़ेसे छानकर जल पिये, मुँहसे प्रत्येक बात सत्यपूत—सत्यसे पवित्र हुई ही निकाले और शरीरसे जितने भी काम करे, बुद्धि-पूर्वक—सोच-विचार कर ही करे॥ १६॥ वाणीके लिये मौन, शरीरके लिये निश्चेष्ट स्थिति और मनके लिये प्राणायाम दण्ड हैं। जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं हैं, वह केवल शरीरपर बाँसके दण्ड धारण करनेसे दण्डी स्वामी नहीं हो जाता॥ १७॥ संन्यासीको चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा ले। केवल अनिश्चित सात घरोंसे जितना मिल जाय, उतनेसे ही सन्तोष कर ले॥ १८॥

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः।
विभज्य पावितं शेषं भुंजीताशेषमाहृतम्॥ १९

एकश्चरेन्महीमेतां निःसंगः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥ २०

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः॥ २१

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः॥ २२

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत्॥ २३

पुरग्रामव्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत्।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम्॥ २४

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत्।
संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा॥ २५

नैतद् वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात्॥ २६

इस प्रकार भिक्षा लेकर बस्तीके बाहर जलाशयपर जाय, वहाँ हाथ-पैर धोकर जलके द्वारा भिक्षा पवित्र कर ले; फिर शास्त्रोक्त पद्धतिसे जिन्हें भिक्षाका भाग देना चाहिये, उन्हें देकर जो कुछ बचे उसे मौन होकर खा ले। दूसरे समयके लिये बचाकर न रखे और न अधिक माँगकर ही लाये॥ १९॥ संन्यासीको पृथ्वीपर अकेले ही विचरना चाहिये। उसकी कहीं भी आसक्ति न हो, सब इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। वह अपने-आपमें ही मस्त रहे, आत्म-प्रेममें ही तन्मय रहे, प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी धैर्य रखे और सर्वत्र समानरूपसे स्थित परमात्माका अनुभव करता रहे॥ २०॥ संन्यासीको निर्जन और निर्भय एकान्त-स्थानमें रहना चाहिये। उसका हृदय निरन्तर मेरी भावनासे विशुद्ध बना रहे। वह अपने-आपको मुझसे अभिन्न और अद्वितीय, अखण्डके रूपमें चिन्तन करे॥ २१॥ वह अपनी ज्ञाननिष्ठासे चित्तके बन्धन और मोक्षपर विचार करे तथा निश्चय करे कि इन्द्रियोंका विषयोंके लिये विक्षिप्त होना—चंचल होना बन्धन है और उनको संयममें रखना ही मोक्ष है॥ २२॥ इसलिये संन्यासीको चाहिये कि मन एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको जीत ले, भोगोंकी क्षुद्रता समझकर उनकी ओरसे सर्वथा मुँह मोड़ ले और अपने-आपमें ही परम आनन्दका अनुभव करे। इस प्रकार वह मेरी भावनासे भरकर पृथ्वीमें विचरता रहे॥ २३॥ केवल भिक्षाके लिये ही नगर, गाँव, अहीरोंकी बस्ती या यात्रियोंकी टोलीमें जाय। पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन और आश्रमोंसे पूर्ण पृथ्वीमें बिना कहीं ममता जोड़े घूमता-फिरता रहे॥ २४॥ भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके आश्रमसे ही ग्रहण करे; क्योंकि कटे हुए खेतोंके दानेसे बनी हुई भिक्षा शीघ्र ही चित्तको शुद्ध कर देती है और उससे बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥ २५॥

विचारवान् संन्यासी दृश्यमान जगत्‌को सत्य वस्तु कभी न समझे; क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही नाशवान् है। इस जगत्‌में कहीं भी अपने चित्तको लगाये नहीं। इस लोक और परलोकमें जो कुछ करने-पानेकी इच्छा हो, उससे विरक्त हो जाय॥ २६॥

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम्।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत्॥ २७

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥ २८

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥ २९

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादे न कंचित् पक्षं समाश्रयेत्॥ ३०

नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित्॥ ३१

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥ ३२

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥ ३३

संन्यासी विचार करे कि आत्मामें जो मन, वाणी और प्राणोंका संघातरूप यह जगत् है, वह सारा-का-सारा माया ही है। इस विचारके द्वारा इसका बाध करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर कभी उसका स्मरण भी न करे॥ २७॥ ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्षकी भी अपेक्षा न रखनेवाला मेरा भक्त आश्रमोंकी मर्यादामें बद्ध नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नोंको छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्रके विधि-निषेधोंसे परे होकर स्वच्छन्द विचरे॥ २८॥ वह बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान खेले। निपुण होकर भी जडवत् रहे, विद्वान् होकर भी पागलकी तरह बातचीत करे और समस्त वेद-विधियोंका जानकार होकर भी पशुवृत्तिसे (अनियत आचारवान्) रहे॥ २९॥ उसे चाहिये कि वेदोंके कर्मकाण्ड-भागकी व्याख्यामें न लगे, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्कसे बचे और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न ले॥ ३०॥ वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मनमें किसी भी प्राणीसे उद्वेग न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणीको उद्विग्न न करे। उसकी कोई निन्दा करे, तो प्रसन्नतासे सह ले; किसीका अपमान न करे। प्रिय उद्धव! संन्यासी इस शरीरके लिये किसीसे भी वैर न करे। ऐसा वैर तो पशु करते हैं॥ ३१॥ जैसे एक ही चन्द्रमा जलसे भरे हुए विभिन्न पात्रोंमें अलग-अलग दिखायी देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंमें और अपनेमें भी स्थित है। सबकी आत्मा तो एक है ही, पंचभूतोंसे बने हुए शरीर भी सबके एक ही हैं, क्योंकि सब पांचभौतिक ही तो हैं। (ऐसी अवस्थामें किसीसे भी वैर-विरोध करना अपना ही वैर-विरोध है)॥ ३२॥

प्रिय उद्धव! संन्यासीको किसी दिन यदि समयपर भोजन न मिले, तो उसे दुःखी नहीं होना चाहिये और यदि बराबर मिलता रहे, तो हर्षित न होना चाहिये। उसे चाहिये कि वह धैर्य रखे। मनमें हर्ष और विषाद दोनों प्रकारके विकार न आने दे; क्योंकि भोजन मिलना और न मिलना दोनों ही प्रारब्धके अधीन हैं॥ ३३॥

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते॥ ३४

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम्।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः॥ ३५

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः॥ ३६

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता।
आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया॥ ३७

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्॥ ३८

तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः॥ ३९

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति॥ ४०

भिक्षा अवश्य माँगनी चाहिये, ऐसा करना उचित ही है; क्योंकि भिक्षासे ही प्राणोंकी रक्षा होती है। प्राण रहनेसे ही तत्त्वका विचार होता है और तत्त्वविचारसे तत्त्वज्ञान होकर मुक्ति मिलती है॥ ३४॥ संन्यासीको प्रारब्धके अनुसार अच्छी या बुरी—जैसी भी भिक्षा मिल जाय, उसीसे पेट भर ले। वस्त्र और बिछौने भी जैसे मिल जायँ, उन्हींसे काम चला ले। उनमें अच्छेपन या बुरेपनकी कल्पना न करे॥ ३५॥ जैसे मैं परमेश्वर होनेपर भी अपनी लीलासे ही शौच आदि शास्त्रोक्त नियमोंका पालन करता हूँ, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी शौच, आचमन, स्नान और दूसरे नियमोंका लीलासे ही आचरण करे। वह शास्त्रविधिके अधीन होकर—विधि-किंकर होकर न करे॥ ३६॥ क्योंकि ज्ञाननिष्ठ पुरुषको भेदकी प्रतीति ही नहीं होती। जो पहले थी, वह भी मुझ सर्वात्माके साक्षात्कारसे नष्ट हो गयी। यदि कभी-कभी मरणपर्यन्त बाधित भेदकी प्रतीति भी होती है, तब भी देहपात हो जानेपर वह मुझसे एक हो जाता है॥ ३७॥

उद्धवजी! (यह तो हुई ज्ञानवान्‌की बात, अब केवल वैराग्यवान्‌की बात सुनो।) जितेन्द्रिय पुरुष, जब यह निश्चय हो जाय कि संसारके विषयोंके भोगका फल दुःख-ही-दुःख है, तब वह विरक्त हो जाय और यदि वह मेरी प्राप्तिके साधनोंको न जानता हो तो भगवच्चिन्तनमें तन्मय रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरुकी शरण ग्रहण करे॥ ३८॥ वह गुरुकी दृढ़ भक्ति करे, श्रद्धा रखे और उनमें दोष कभी न निकाले। जबतक ब्रह्मका ज्ञान हो, तबतक बड़े आदरसे मुझे ही गुरुके रूपमें समझता हुआ उनकी सेवा करे॥ ३९॥ किन्तु जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन, इन छहोंपर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथि बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदयमें न ज्ञान है और न तो वैराग्य, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासीका वेष धारणकर पेट पालता है तो वह संन्यासधर्मका सत्तानाश ही कर रहा है और अपने पूज्य देवताओंको, अपने-आपको और अपने हृदयमें स्थित मुझको ठगनेकी चेष्टा करता है। अभी

सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते॥ ४१

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम्॥ ४२

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्॥ ४३

इति मां यः स्वधर्मेण भजन् नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम्॥ ४४

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः॥ ४५

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो नचिरात् समुपैति माम्॥ ४६

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥ ४७

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम्।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम्॥ ४८

उस वेषमात्रके संन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं; इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनोंसे हाथ धो बैठता है॥ ४०-४१॥ संन्यासीका मुख्य धर्म है—शान्ति और अहिंसा। वानप्रस्थीका मुख्य धर्म है—तपस्या और भगवद्भाव। गृहस्थका मुख्य धर्म है—प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ-याग तथा ब्रह्मचारीका मुख्य धर्म है—आचार्यकी सेवा॥ ४२॥ गृहस्थ भी केवल ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीका सहवास करे। उसके लिये भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभाव—ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभीको करनी चाहिये॥ ४३॥ जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभावसे अपने वर्णाश्रमधर्मके द्वारा मेरी सेवामें लगा रहता है और समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करता रहता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है॥ ४४॥ उद्धवजी! मैं सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र स्वामी, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका परम कारण ब्रह्म हूँ। नित्य-निरन्तर बढ़नेवाली अखण्ड भक्तिके द्वारा वह मुझे प्राप्त कर लेता है॥ ४५॥ इस प्रकार वह गृहस्थ अपने धर्मपालनके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करके मेरे ऐश्वर्यको—मेरे स्वरूपको जान लेता है और ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है॥ ४६॥ मैंने तुम्हें यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म बतलाया है। यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका पुट लग जाय, तब तो इससे अनायास ही परम कल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाय॥ ४७॥ साधुस्वभाव उद्धव! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया और यह बतला दिया कि अपने धर्मका पालन करनेवाला भक्त मुझ परब्रह्म-स्वरूपको किस प्रकार प्राप्त होता है॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

भक्ति, ज्ञान और यम-नियमादि साधनोंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत्॥ १

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! जिसने उपनिषदादि शास्त्रोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया है,

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः॥ २

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्॥ ३

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥ ४

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः॥ ५

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वाऽऽत्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥ ६

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये॥ ७

जो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ है, जिसका निश्चय केवल युक्तियों और अनुमानोंपर ही निर्भर नहीं करता, दूसरे शब्दोंमें—जो केवल परोक्षज्ञानी नहीं है, वह यह जानकर कि सम्पूर्ण द्वैतप्रपंच और इसकी निवृत्तिका साधन वृत्तिज्ञान मायामात्र है, उन्हें मुझमें लीन कर दे, वे दोनों ही मुझ आत्मामें अध्यस्त हैं, ऐसा जान ले॥ १॥ ज्ञानी पुरुषका अभीष्ट पदार्थ मैं ही हूँ, उसके साधन-साध्य, स्वर्ग और अपवर्ग भी मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी भी पदार्थसे वह प्रेम नहीं करता॥ २॥ जो ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न सिद्धपुरुष हैं, वे ही मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं। इसीलिये ज्ञानी पुरुष मुझे सबसे प्रिय है। उद्धवजी! ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा निरन्तर मुझे अपने अन्त:करणमें धारण करता है॥ ३॥ तत्त्वज्ञानके लेशमात्रका उदय होनेसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह तपस्या, तीर्थ, जप, दान अथवा अन्त:करणशुद्धिके और किसी भी साधनसे पूर्णतया नहीं हो सकती॥ ४॥

इसलिये मेरे प्यारे उद्धव! तुम ज्ञानके सहित अपने आत्मस्वरूपको जान लो और फिर ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर भक्तिभावसे मेरा भजन करो॥ ५॥ बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने अन्त:करणमें मुझ सब यज्ञोंके अधिपति आत्माका यजन करके परम सिद्धि प्राप्त की है॥ ६॥ उद्धव! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन विकारोंकी समष्टि ही शरीर है और वह सर्वथा तुम्हारे आश्रित है। यह पहले नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा; केवल बीचमें ही दीख रहा है। इसलिये इसे जादूके खेलके समान माया ही समझना चाहिये। इसके जो जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना—ये छः भावविकार हैं, इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, ये विकार उसके भी नहीं हैं; क्योंकि वह स्वयं असत् है। असत् वस्तु तो पहले नहीं थी, बादमें भी नहीं रहेगी; इसलिये बीचमें भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता॥ ७॥

उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम्।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम्॥ ८

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९

दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम्।
समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव॥ १०

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम्॥ ११

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः।
श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत॥ १२

तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान्।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान्॥ १३

नवैकादश पंच त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥ १४

उद्धवजीने कहा— विश्वरूप परमात्मन्! आप ही विश्वके स्वामी हैं। आपका यह वैराग्य और विज्ञानसे युक्त सनातन एवं विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकार सुदृढ़ हो जाय, उसी प्रकार मुझे स्पष्ट करके समझाइये और उस अपने भक्तियोगका भी वर्णन कीजिये, जिसे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ढूँढ़ा करते हैं॥ ८॥ मेरे स्वामी! जो पुरुष इस संसारके विकट मार्गमें तीनों तापोंके थपेड़े खा रहे हैं और भीतर-बाहर जल-भुन रहे हैं, उनके लिये आपके अमृतवर्षी युगल चरणारविन्दोंकी छत्र-छायाके अतिरिक्त और कोई भी आश्रय नहीं दीखता॥ ९॥ महानुभाव! आपका यह अपना सेवक अँधेरे कुएँमें पड़ा हुआ है, कालरूपी सर्पने इसे डस रखा है; फिर भी विषयोंके क्षुद्र सुख-भोगोंकी तीव्र तृष्णा मिटती नहीं, बढ़ती ही जा रही है। आप कृपा करके इसका उद्धार कीजिये और इससे मुक्त करनेवाली वाणीकी सुधा-धारासे इसे सराबोर कर दीजिये॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा— उद्धवजी! जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है, यही प्रश्न धर्मराज युधिष्ठिरने धार्मिकशिरोमणि भीष्मपितामहसे किया था। उस समय हम सभी लोग वहाँ विद्यमान थे॥ ११॥ जब भारतीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था और धर्मराज युधिष्ठिर अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके संहारसे शोक-विह्वल हो रहे थे, तब उन्होंने भीष्मपितामहसे बहुत-से धर्मोंका विवरण सुननेके पश्चात् मोक्षके साधनोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया था॥ १२॥ उस समय भीष्मपितामहके मुखसे सुने हुए मोक्षधर्म मैं तुम्हें सुनाऊँगा; क्योंकि वे ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, श्रद्धा और भक्तिके भावोंसे परिपूर्ण हैं॥ १३॥ उद्धवजी! जिस ज्ञानसे प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार और पंच-तन्मात्रा—ये नौ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—ये ग्यारह, पाँच महाभूत और तीन गुण अर्थात् इन अट्ठाईस तत्त्वोंको ब्रह्मासे लेकर तृणतक सम्पूर्ण कार्योंमें देखा जाता है और इनमें भी एक परमात्मतत्त्वको अनुगत रूपसे देखा जाता है—वह परोक्षज्ञान है, ऐसा मेरा निश्चय है॥ १४॥

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥ १५

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥ १६

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते॥ १७

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमंगलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ १८

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्॥ १९

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥ २०

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ २१

मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥ २२

जब जिस एक तत्त्वसे अनुगत एकात्मक तत्त्वोंको पहले देखता था, उनको पहलेके समान न देखे, किन्तु एक परम कारण ब्रह्मको ही देखे, तब यही निश्चित विज्ञान (अपरोक्षज्ञान) कहा जाता है। (इस ज्ञान और विज्ञानको प्राप्त करनेकी युक्ति यह है कि) यह शरीर आदि जितने भी त्रिगुणात्मक सावयव पदार्थ हैं, उनकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयका विचार करे॥ १५॥ जो तत्त्ववस्तु सृष्टिके प्रारम्भमें और अन्तमें कारणरूपसे स्थित रहती है, वही मध्यमें भी रहती है और वही प्रतीयमान कार्यसे प्रतीयमान कार्यान्तरमें अनुगत भी होती है। फिर उन कार्योंका प्रलय अथवा बाध होनेपर उसके साक्षी एवं अधिष्ठान रूपसे शेष रह जाती है। वही सत्य परमार्थ वस्तु है, ऐसा समझे॥ १६॥ श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (महापुरुषोंमें प्रसिद्धि) और अनुमान—प्रमाणोंमें यह चार मुख्य हैं। इनकी कसौटीपर कसनेसे दृश्य प्रपंच अस्थिर, नश्वर एवं विकारी होनेके कारण सत्य सिद्ध नहीं होता, इसलिये विवेकी पुरुष इस विविध कल्पनारूप अथवा शब्दमात्र प्रपंचसे विरक्त हो जाता है॥ १७॥ विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्वर्गादि फल देनेवाले यज्ञादि कर्मोंके परिणामी—नश्वर होनेके कारण ब्रह्मलोकपर्यन्त स्वर्गादि सुख—अदृष्टको भी इस प्रत्यक्ष विषय-सुखके समान ही अमंगल, दुःखदायी एवं नाशवान् समझे॥ १८॥

निष्पाप उद्धवजी! भक्तियोगका वर्णन मैं तुम्हें पहले ही सुना चुका हूँ; परन्तु उसमें तुम्हारी बहुत प्रीति है, इसलिये मैं तुम्हें फिरसे भक्ति प्राप्त होनेका श्रेष्ठ साधन बतलाता हूँ॥ १९॥ जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी कथामें श्रद्धा रखे; निरन्तर मेरे गुण-लीला और नामोंका संकीर्तन करे; मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रखे और स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति करे॥ २०॥ मेरी सेवा-पूजामें प्रेम रखे और सामने साष्टांग लोटकर प्रणाम करे; मेरे भक्तोंकी पूजा मेरी पूजासे बढ़कर करे और समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे॥ २१॥ अपने एक-एक अंगकी चेष्टा केवल मेरे ही लिये करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे तथा सारी कामनाएँ छोड़ दे॥ २२॥

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥ २३

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥ २४

यदाऽऽत्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते॥ २५

यदर्पितं तद् विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्॥ २६

धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्।
गुणेष्वसंगो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः॥ २७

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो॥ २८

किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा॥ २९

पुंसः किंस्विद् बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च॥ ३०

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम्॥ ३१

मेरे लिये धन, भोग और प्राप्त सुखका भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय, वह सब मेरे लिये ही करे॥ २३॥ उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मोंका पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्म-निवेदन कर देते हैं, उनके हृदयमें मेरी प्रेममयी भक्तिका उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसके लिये और किस दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता है?॥ २४॥

इस प्रकारके धर्मोंका पालन करनेसे चित्तमें जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और वह शान्त होकर आत्मामें लग जाता है, उस समय साधकको धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं॥ २५॥ यह संसार विविध कल्पनाओंसे भरपूर है। सच पूछो तो इसका नाम तो है, किन्तु कोई वस्तु नहीं है। जब चित्त इसमें लगा दिया जाता है, तब इन्द्रियोंके साथ इधर-उधर भटकने लगता है। इस प्रकार चित्तमें रजोगुणकी बाढ़ आ जाती है, वह असत् वस्तुमें लग जाता है और उसके धर्म, ज्ञान आदि तो लुप्त हो ही जाते हैं, वह अधर्म, अज्ञान और मोहका भी घर बन जाता है॥ २६॥ उद्धव! जिससे मेरी भक्ति हो, वही धर्म है; जिससे ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार हो, वही ज्ञान है; विषयोंसे असंग—निर्लेप रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं॥ २७॥

उद्धवजीने कहा—रिपुसूदन! यम और नियम कितने प्रकारके हैं? श्रीकृष्ण! शम क्या है? दम क्या है? प्रभो! तितिक्षा और धैर्य क्या है?॥ २८॥ आप मुझे दान, तपस्या, शूरता, सत्य और ऋतका भी स्वरूप बतलाइये। त्याग क्या है? अभीष्ट धन कौन-सा है? यज्ञ किसे कहते हैं? और दक्षिणा क्या वस्तु है?॥ २९॥ श्रीमान् केशव! पुरुषका सच्चा बल क्या है? भग किसे कहते हैं? और लाभ क्या वस्तु है? उत्तम विद्या, लज्जा, श्री तथा सुख और दुःख क्या है?॥ ३०॥ पण्डित और मूर्खके लक्षण क्या हैं? सुमार्ग और कुमार्गका क्या लक्षण है? स्वर्ग और नरक क्या हैं? भाई-बन्धु किसे मानना चाहिये? और घर क्या है?॥ ३१॥

क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः।
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते॥ ३२

धनवान् और निर्धन किसे कहते हैं? कृपण कौन है? और ईश्वर किसे कहते हैं? भक्तवत्सल प्रभो! आप मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये और साथ ही इनके विरोधी भावोंकी भी व्याख्या कीजिये॥ ३२॥

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥ ३३

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ ३४

एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि॥ ३५

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'यम' बारह हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असंगता, लज्जा, असंचय (आवश्यकतासे अधिक धन आदि न जोड़ना), आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय। नियमोंकी संख्या भी बारह ही हैं। शौच (बाहरी पवित्रता और भीतरी पवित्रता), जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथिसेवा, मेरी पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चेष्टा, सन्तोष और गुरुसेवा—इस प्रकार 'यम' और 'नियम' दोनोंकी संख्या बारह-बारह हैं। ये सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके साधकोंके लिये उपयोगी हैं। उद्धवजी! जो पुरुष इनका पालन करते हैं, वे यम और नियम उनके इच्छानुसार उन्हें भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करते हैं॥ ३३—३५॥

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥ ३६

बुद्धिका मुझमें लग जाना ही 'शम' है। इन्द्रियोंके संयमका नाम 'दम' है। न्यायसे प्राप्त दुःखके सहनेका नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करना 'धैर्य' है॥ ३६॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम्॥ ३७

किसीसे द्रोह न करना सबको अभय देना 'दान' है। कामनाओंका त्याग करना ही 'तप' है। अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त करना ही 'शूरता' है। सर्वत्र समस्वरूप, सत्यस्वरूप परमात्माका दर्शन ही 'सत्य' है॥ ३७॥

ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते॥ ३८

इसी प्रकार सत्य और मधुर भाषणको ही महात्माओंने 'ऋत' कहा है। कर्मोंमें आसक्त न होना ही 'शौच' है। कामनाओंका त्याग ही सच्चा 'संन्यास' है॥ ३८॥

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम्॥ ३९

धर्म ही मनुष्योंका अभीष्ट 'धन' है। मैं परमेश्वर ही 'यज्ञ' हूँ। ज्ञानका उपदेश देना ही 'दक्षिणा' है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'बल' है॥ ३९॥

भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।
विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु॥ ४०

मेरा ऐश्वर्य ही 'भग' है, मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है, सच्ची 'विद्या' वही है जिससे ब्रह्म और आत्माका भेद मिट जाता है। पाप करनेसे घृणा होनेका नाम ही 'लज्जा' है॥ ४०॥

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित्॥ ४१

निरपेक्षता आदि गुण ही शरीरका सच्चा सौन्दर्य—'श्री' है, दुःख और सुख दोनोंकी भावनाका सदाके लिये नष्ट हो जाना ही 'सुख' है। विषयभोगोंकी कामना ही 'दुःख' है। जो बन्धन और मोक्षका तत्त्व जानता है, वही 'पण्डित' है॥ ४१॥ शरीर आदिमें जिसका मैंपन है, वही 'मूर्ख' है। जो संसारकी ओरसे निवृत्त करके मुझे प्राप्त करा देता है, वही सच्चा 'सुमार्ग' है। चित्तकी बहिर्मुखता ही 'कुमार्ग' है। सत्त्वगुणकी वृद्धि ही 'स्वर्ग' और सखे! तमोगुणकी वृद्धि ही 'नरक' है। गुरु ही सच्चा 'भाई-बन्धु' है और वह गुरु मैं हूँ। यह मनुष्य-शरीर ही सच्चा 'घर' है तथा सच्चा 'धनी' वह है, जो गुणोंसे सम्पन्न है, जिसके पास गुणोंका खजाना है॥ ४२-४३॥ जिसके चित्तमें असन्तोष है, अभावका बोध है, वही 'दरिद्र' है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही 'कृपण' है। समर्थ, स्वतन्त्र और 'ईश्वर' वह है, जिसकी चित्तवृत्ति विषयोंमें आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयोंमें आसक्त है, वही सर्वथा 'असमर्थ' है॥ ४४॥ प्यारे उद्धव! तुमने जितने प्रश्न पूछे थे, उनका उत्तर मैंने दे दिया; इनको समझ लेना मोक्ष-मार्गके लिये सहायक है। मैं तुम्हें गुण और दोषोंका लक्षण अलग-अलग कहाँतक बताऊँ? सबका सारांश इतनेमें ही समझ लो कि गुणों और दोषोंपर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है और गुण-दोषोंपर दृष्टि न जाकर अपने शान्त निःसंकल्प स्वरूपमें स्थित रहे—वही सबसे बड़ा गुण है॥ ४५॥

मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः॥ ४२

नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते॥ ४३

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ ४४

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥ ४५

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

अथ विंशोऽध्यायः

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम्॥ १

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण! आप सर्वशक्तिमान् हैं। आपकी आज्ञा ही वेद है; उसमें कुछ कर्मोंको करनेकी विधि है और कुछके करनेका निषेध है। यह विधि-निषेध कर्मोंके गुण और दोषकी परीक्षा करके ही तो होता है॥ १॥

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम्।
द्रव्यदेशवयःकालान् स्वर्गं नरकमेव च॥ २

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम्॥ ३

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि॥ ४

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः॥ ५

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ ६

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥ ७

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ ८

वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोम और अनुलोमरूप वर्णसंकर, कर्मोंके उपयुक्त और अनुपयुक्त द्रव्य, देश, आयु और काल तथा स्वर्ग और नरकके भेदोंका बोध भी वेदोंसे ही होता है॥ २॥ इसमें सन्देह नहीं कि आपकी वाणी ही वेद है, परन्तु उसमें विधि-निषेध ही तो भरा पड़ा है। यदि उसमें गुण और दोषमें भेद करनेवाली दृष्टि न हो, तो वह प्राणियोंका कल्याण करनेमें समर्थ ही कैसे हो?॥ ३॥ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! आपकी वाणी वेद ही पितर, देवता और मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ मार्ग-दर्शकका काम करता है; क्योंकि उसीके द्वारा स्वर्ग-मोक्ष आदि अदृष्ट वस्तुओंका बोध होता है और इस लोकमें भी किसका कौन-सा साध्य है और क्या साधन—इसका निर्णय भी उसीसे होता है॥ ४॥ प्रभो! इसमें सन्देह नहीं कि गुण और दोषोंमें भेददृष्टि आपकी वाणी वेदके ही अनुसार है, किसीकी अपनी कल्पना नहीं; परन्तु प्रश्न तो यह है कि आपकी वाणी ही भेदका निषेध भी करती है। यह विरोध देखकर मुझे भ्रम हो रहा है। आप कृपा करके मेरा यह भ्रम मिटाइये॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारिभेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है। वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है॥ ६॥ उद्धवजी! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःखबुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं॥ ७॥ जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है॥ ८॥

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ ९

कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय॥ ९॥ उद्धव! इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें स्थित रहकर यज्ञोंके द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मोंसे दूर रहकर केवल विहित कर्मोंका ही आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता॥ १०॥

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥ १०

अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला पुरुष इस शरीरमें रहते-रहते ही निषिद्ध कर्मका परित्याग कर देता है और रागादि मलोंसे भी मुक्त—पवित्र हो जाता है। इसीसे अनायास ही उसे आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुत-चित्त होनेपर मेरी भक्ति प्राप्त होती है॥ ११॥ यह विधि-निषेधरूप कर्मका अधिकारी मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। स्वर्ग और नरक दोनों ही लोकोंमें रहनेवाले जीव इसकी अभिलाषा करते रहते हैं; क्योंकि इसी शरीरमें अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञान अथवा भक्तिकी प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग अथवा नरकका भोगप्रधान शरीर किसी भी साधनके उपयुक्त नहीं है। बुद्धिमान् पुरुषको न तो स्वर्गकी अभिलाषा करनी चाहिये और न नरककी ही। और तो क्या, इस मनुष्य-शरीरकी भी कामना न करनी चाहिये; क्योंकि किसी भी शरीरमें गुणबुद्धि और अभिमान हो जानेसे अपने वास्तविक स्वरूपकी प्राप्तिके साधनमें प्रमाद होने लगता है॥ १२-१३॥

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥ ११

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम्॥ १२

न नरः स्वर्गतिं कांक्षेन्नारकीं वा विचक्षणः।
नेमं लोकं च कांक्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति॥ १३

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो मृत्युग्रस्त ही, परन्तु इसके द्वारा परमार्थकी—सत्य वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि यह बात जानकर मृत्यु होनेके पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले, जिससे वह जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाय—मुक्त हो जाय॥ १४॥ यह शरीर एक वृक्ष है। इसमें घोंसला बनाकर जीवरूप पक्षी निवास करता है। इसे यमराजके दूत प्रतिक्षण काट रहे हैं। जैसे पक्षी कटते हुए वृक्षको छोड़कर उड़ जाता है, वैसे ही अनासक्त जीव भी इस शरीरको छोड़कर मोक्षका भागी बन जाता है। परन्तु आसक्त

एतद् विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम्॥ १४

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम्।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः॥ १५

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः ।
मुक्तसंगः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥ १६

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥ १७

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥ १८

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥ १९

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥ २०

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥ २१

जीव दुःख ही भोगता रहता है ॥ १५ ॥ प्रिय उद्धव! ये दिन और रात क्षण-क्षणमें शरीरकी आयुको क्षीण कर रहे हैं। यह जानकर जो भयसे काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर इसके जीवन-मरणसे निरपेक्ष होकर अपने आत्मामें ही शान्त हो जाता है ॥ १६ ॥ यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं और स्मरणमात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है ॥ १७ ॥

प्रिय उद्धव! जब पुरुष दोषदर्शनके कारण कर्मोंसे उद्विग्न और विरक्त हो जाय, तब जितेन्द्रिय होकर वह योगमें स्थित हो जाय और अभ्यास—आत्मानुसन्धानके द्वारा अपना मन मुझ परमात्मामें निश्चलरूपसे धारण करे ॥ १८ ॥ जब स्थिर करते समय मन चंचल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब झटपट बड़ी सावधानीसे उसे मनाकर, समझा-बुझाकर, फुसलाकर अपने वशमें कर ले ॥ १९ ॥ इन्द्रियों और प्राणोंको अपने वशमें रखे और मनको एक क्षणके लिये भी स्वतन्त्र न छोड़े। उसकी एक-एक चाल, एक-एक हरकतको देखता रहे। इस प्रकार सत्त्वसम्पन्न बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे मनको अपने वशमें कर लेना चाहिये ॥ २० ॥ जैसे सवार घोड़ेको अपने वशमें करते समय उसे अपने मनो-भावकी पहचान कराना चाहता है—अपनी इच्छाके अनुसार उसे चलाना चाहता है और बार-बार फुसलाकर उसे अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही मनको फुसलाकर, उसे मीठी-मीठी बातें सुना-कर वशमें कर लेना भी परम योग है ॥ २१ ॥

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति॥ २२

सांख्यशास्त्रमें प्रकृतिसे लेकर शरीरपर्यन्त सृष्टिका जो क्रम बतलाया गया है, उसके अनुसार सृष्टि-चिन्तन करना चाहिये और जिस क्रमसे शरीर आदिका प्रकृतिमें लय बताया गया है, उस प्रकार लय-चिन्तन करना चाहिये। यह क्रम तबतक जारी रखना चाहिये, जबतक मन शान्त—स्थिर न हो जाय॥ २२॥

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥ २३

जो पुरुष संसारसे विरक्त हो गया है और जिसे संसारके पदार्थोंमें दुःख-बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुजनोंके उपदेशको भलीभाँति समझकर बार-बार अपने स्वरूपके ही चिन्तनमें संलग्न रहता है। इस अभ्याससे बहुत शीघ्र ही उसका मन अपनी वह चंचलता, जो अनात्मा शरीर आदिमें आत्मबुद्धि करनेसे हुई है, छोड़ देता है॥ २३॥

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः॥ २४

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गोंसे, वस्तुतत्त्वका निरीक्षण-परीक्षण करनेवाली आत्मविद्यासे तथा मेरी प्रतिमाकी उपासनासे—अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति-योगसे मन परमात्माका चिन्तन करने लगता है; और कोई उपाय नहीं है॥ २४॥

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम्।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन॥ २५

उद्धवजी! वैसे तो योगी कभी कोई निन्दित कर्म करता ही नहीं; परन्तु यदि कभी उससे प्रमादवश कोई अपराध बन जाय तो योगके द्वारा ही उस पापको जला डाले, कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि दूसरे प्रायश्चित्त कभी न करे॥ २५॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोषविधानेन संगानां त्याजनेच्छया॥ २६

अपने-अपने अधिकारमें जो निष्ठा है, वही गुण कहा गया है। इस गुण-दोष और विधि-निषेधके विधानसे यही तात्पर्य निकलता है कि किसी प्रकार विषयासक्तिका परित्याग हो जाय; क्योंकि कर्म तो जन्मसे ही अशुद्ध हैं, अनर्थके मूल हैं। शास्त्रका तात्पर्य उनका नियन्त्रण, नियम ही है। जहाँतक हो सके प्रवृत्तिका संकोच ही करना चाहिये॥ २६॥

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥ २७

जो साधक समस्त कर्मोंसे विरक्त हो गया हो, उनमें दुःखबुद्धि रखता हो, मेरी लीलाकथाके प्रति श्रद्धालु हो और यह भी जानता हो कि सभी भोग और भोगवासनाएँ दुःखरूप हैं, किन्तु इतना सब जानकर भी जो उनके परित्यागमें समर्थ न हो, उसे चाहिये कि

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥ २८

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥ २९

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥ ३०

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥ ३१

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥ ३२

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति॥ ३३

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥ ३४

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥ ३५

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥ ३६

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः॥ ३७

उन भोगोंको तो भोग ले; परन्तु उन्हें सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझे और मन-ही-मन उनकी निन्दा करे तथा उसे अपना दुर्भाग्य ही समझे। साथ ही इस दुविधाकी स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और प्रेमसे मेरा भजन करे॥ २७-२८॥ इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं॥ २९॥ इस तरह जब उसे मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्म-वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं॥ ३०॥ इसीसे जो योगी मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान अथवा वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है॥ ३१॥ कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याणसाधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा परम धाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे ही, यदि चाहे तो, अनायास प्राप्त कर लेता है॥ ३२-३३॥ मेरे अनन्यप्रेमी एवं धैर्यवान् साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं; यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या—वे कैवल्य-मोक्ष भी नहीं लेना चाहते॥ ३४॥ उद्धवजी! सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षताका ही दूसरा नाम है। इसलिये जो निष्काम और निरपेक्ष होता है, उसीको मेरी भक्ति प्राप्त होती है॥ ३५॥ मेरे अनन्यप्रेमी भक्तोंका और उन समदर्शी महात्माओंका; जो बुद्धिसे अतीत परमतत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, इन विधि और निषेधसे होनेवाले पुण्य और पापसे कोई सम्बन्ध ही नहीं होता॥ ३६॥ इस प्रकार जो लोग मेरे बतलाये हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्ममार्गोंका आश्रय लेते हैं, वे मेरे परम कल्याण-स्वरूप धामको प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परब्रह्मतत्त्वको जान लेते हैं॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे विंशोऽध्यायः॥ २०॥

अथैकविंशोऽध्यायः

गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप और रहस्य

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्।
क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते॥ १

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥ २

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ॥ ३

धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्॥ ४

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पंच धातवः।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः॥ ५

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये॥ ६

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! मेरी प्राप्तिके तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। जो इन्हें छोड़कर चंचल इन्द्रियोंके द्वारा क्षुद्र भोग भोगते रहते हैं, वे बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटकते रहते हैं॥ १॥ अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है। तात्पर्य यह कि गुण और दोष दोनोंकी व्यवस्था अधिकारके अनुसार की जाती है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं॥ २॥ वस्तुओंके समान होनेपर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ आदिका जो विधान किया जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थका ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके और उनमें सन्देह उत्पन्न करके ही यह योग्य है कि अयोग्य, स्वाभाविक प्रवृत्तिको नियन्त्रित—संकुचित किया जा सके॥ ३॥ उनके द्वारा धर्म-सम्पादन कर सके, समाजका व्यवहार ठीक-ठीक चला सके और अपने व्यक्तिगत जीवनके निर्वाहमें भी सुविधा हो। इससे यह लाभ भी है कि मनुष्य अपनी वासनामूलक सहज प्रवृत्तियोंके द्वारा इनके जालमें न फँसकर शास्त्रानुसार अपने जीवनको नियन्त्रित और मनको वशीभूत कर लेता है। निष्पाप उद्धव! यह आचार मैंने ही मनु आदिका रूप धारण करके धर्मका भार ढोनेवाले कर्म जडोंके लिये उपदेश किया है॥ ४॥ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचभूत ही ब्रह्मासे लेकर पर्वत-वृक्षपर्यन्त सभी प्राणियोंके शरीरोंके मूलकारण हैं। इस तरह वे सब शरीरकी दृष्टिसे तो समान हैं ही, सबका आत्मा भी एक ही है॥ ५॥ प्रिय उद्धव! यद्यपि सबके शरीरोंके पंच-भूत समान हैं, फिर भी वेदोंने इनके वर्णाश्रम आदि अलग-अलग नाम और रूप इसलिये बना दिये हैं कि ये अपनी वासना-मूलक प्रवृत्तियोंको संकुचित करके—नियन्त्रित करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकें॥ ६॥

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्॥ ७

साधुश्रेष्ठ! देश, काल, फल, निमित्त, अधिकारी और धान्य आदि वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान भी मेरे द्वारा इसीलिये किया गया है कि कर्मोंमें लोगोंकी उच्छृंखल प्रवृत्ति न हो, मर्यादाका भंग न होने पावे॥ ७॥

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम्॥ ८

देशोंमें वह देश अपवित्र है, जिसमें कृष्णसार मृग न हों और जिसके निवासी ब्राह्मण-भक्त न हों। कृष्णसार मृगके होनेपर भी, केवल उन प्रदेशोंको छोड़कर जहाँ संत पुरुष रहते हैं, कीकट देश अपवित्र ही है। संस्काररहित और ऊसर आदि स्थान भी अपवित्र ही होते हैं॥ ८॥

कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः॥ ९

समय वही पवित्र है, जिसमें कर्म करने-योग्य सामग्री मिल सके तथा कर्म भी हो सके। जिसमें कर्म करनेकी सामग्री न मिले, आगन्तुक दोषोंसे अथवा स्वाभाविक दोषके कारण जिसमें कर्म ही न हो सके, वह समय अशुद्ध है॥ ९॥

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा॥ १०

पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व अथवा अल्पत्वसे भी होती है। (जैसे कोई पात्र जलसे शुद्ध और मूत्रादिसे अशुद्ध हो जाता है। किसी वस्तुकी शुद्धि अथवा अशुद्धिमें शंका होनेपर ब्राह्मणोंके वचनसे वह शुद्ध हो जाती है अन्यथा अशुद्ध रहती है। पुष्पादि जल छिड़कनेसे शुद्ध और सूँघनेसे अशुद्ध माने जाते हैं। तत्कालका पकाया हुआ अन्न शुद्ध और बासी अशुद्ध माना जाता है। बड़े सरोवर और नदी आदिका जल शुद्ध और छोटे गड्ढोंका अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये।)॥ १०॥

शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः॥ ११

शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभवके अनुसार भी पवित्रता और अपवित्रताकी व्यवस्था होती है। उसमें भी स्थान और उपयोग करनेवालेकी आयुका विचार करते हुए ही अशुद्ध वस्तुओंके व्यवहारका दोष ठीक तरहसे आँका जाता है। (जैसे धनी-दरिद्र, बलवान्-निर्बल, बुद्धिमान्-मूर्ख, उपद्रवपूर्ण और सुखद देश तथा तरुण एवं वृद्धावस्थाके भेदसे शुद्धि और अशुद्धिकी व्यवस्थामें अन्तर पड़ जाता है।)॥ ११॥

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम्।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः॥ १२

अनाज, लकड़ी, हाथीदाँत आदि हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेल, घी आदि रस, सोना-पारा आदि तैजस पदार्थ, चाम और घड़ा आदि मिट्टीके बने पदार्थ समयपर अपने-आप हवा लगनेसे, आगमें जलानेसे, मिट्टी लगानेसे अथवा जलमें धोनेसे शुद्ध हो जाते हैं। देश, काल और अवस्थाके अनुसार कहीं जल-मिट्टी

अमेध्यलिप्तं यद् येन गन्धं लेपं व्यपोहति।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते॥ १३

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः॥ १४

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम्।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः॥ १५

क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते॥ १६

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम्।
औत्पत्तिको गुणः संगो न शयानः पतत्यधः॥ १७

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥ १८

आदि शोधक सामग्रीके संयोगसे शुद्धि करनी पड़ती है तो कहीं-कहीं एक-एकसे भी शुद्धि हो जाती है॥ १२॥ यदि किसी वस्तुमें कोई अशुद्ध पदार्थ लग गया हो तो छीलनेसे या मिट्टी आदि मलनेसे जब उस पदार्थकी गन्ध और लेप न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूपमें आ जाय, तब उसको शुद्ध समझना चाहिये॥ १३॥ स्नान, दान, तपस्या, वय, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरणसे चित्तकी शुद्धि होती है। इनके द्वारा शुद्ध होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये॥ १४॥ गुरुमुखसे सुनकर भलीभाँति हृदयंगम कर लेनेसे मन्त्रकी और मुझे समर्पित कर देनेसे कर्मकी शुद्धि होती है। उद्धवजी! इस प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म—इन छहोंके शुद्ध होनेसे धर्म और अशुद्ध होनेसे अधर्म होता है॥ १५॥ कहीं-कहीं शास्त्रविधिसे गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। (जैसे ब्राह्मणके लिये सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदि गुण हैं; परन्तु शूद्रके लिये दोष हैं। और दूध आदिका व्यापार वैश्यके लिये विहित है; परन्तु ब्राह्मणके लिये अत्यन्त निषिद्ध है।) एक ही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और किसीके लिये दोषका विधान गुण और दोषोंकी वास्तविकताका खण्डन कर देता है और इससे यह निश्चय होता है कि गुण-दोषका यह भेद कल्पित है॥ १६॥ जो लोग पतित हैं, वे पतितोंका-सा आचरण करते हैं तो उन्हें पाप नहीं लगता, जब कि श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये वह सर्वथा त्याज्य होता है। जैसे गृहस्थोंके लिये स्वाभाविक होनेके कारण अपनी पत्नीका संग पाप नहीं है; परन्तु संन्यासीके लिये घोर पाप है। उद्धवजी! बात तो यह है कि जो नीचे सोया हुआ है, वह गिरेगा कहाँ? वैसे ही जो पहलेसे ही पतित हैं, उनका अब और पतन क्या होगा?॥ १७॥ जिन-जिन दोषों और गुणोंसे मनुष्यका चित्त उपरत हो जाता है, उन्हीं वस्तुओंके बन्धनसे वह मुक्त हो जाता है। मनुष्योंके लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याणका साधन है; क्योंकि यही शोक, मोह और भयको मिटानेवाला है॥ १८॥

विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः संगस्ततो भवेत्।
संगात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम्॥ १९

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम्॥ २०

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च॥ २१

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन्॥ २२

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्॥ २३

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु॥ २४

उद्धवजी! विषयोंमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होनेसे उसे अपने पास रखनेकी कामना हो जाती है और इस कामनाकी पूर्तिमें किसी प्रकारकी बाधा पड़नेपर लोगोंमें परस्पर कलह होने लगता है॥ १९॥ कलहसे असह्य क्रोधकी उत्पत्ति होती है और क्रोधके समय अपने हित-अहितका बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है। इस अज्ञानसे शीघ्र ही मनुष्यकी कार्याकार्यका निर्णय करनेवाली व्यापक चेतनाशक्ति लुप्त हो जाती है॥ २०॥ साधो! चेतना-शक्ति अर्थात् स्मृतिके लुप्त हो जानेपर मनुष्यमें मनुष्यता नहीं रह जाती, पशुता आ जाती है और वह शून्यके समान अस्तित्वहीन हो जाता है। अब उसकी अवस्था वैसी ही हो जाती है, जैसे कोई मूर्च्छित या मुर्दा हो। ऐसी स्थितिमें न तो उसका स्वार्थ बनता है और न तो परमार्थ॥ २१॥ विषयोंका चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है। उसका जीवन वृक्षोंके समान जड हो जाता है। उसके शरीरमें उसी प्रकार व्यर्थ श्वास चलता रहता है, जैसे लुहारकी धौंकनीकी हवा। उसे न अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरेका। वह सर्वथा आत्म-वञ्चित हो जाता है॥ २२॥

उद्धवजी! यह स्वर्गादिरूप फलका वर्णन करने-वाली श्रुति मनुष्योंके लिये उन-उन लोकोंको परम पुरुषार्थ नहीं बतलाती; परन्तु बहिर्मुख पुरुषोंके लिये अन्त:करणशुद्धिके द्वारा परम कल्याणमय मोक्षकी विवक्षासे ही कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये वैसा वर्णन करती है। जैसे बच्चोंसे ओषधिमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये रोचक वाक्य कहे जाते हैं। (बेटा! प्रेमसे गिलोयका काढ़ा पी लो तो तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी)॥ २३॥ इसमें सन्देह नहीं कि संसारके विषय-भोगोंमें, प्राणोंमें और सगे-सम्बन्धियोंमें सभी मनुष्य जन्मसे ही आसक्त हैं और उन वस्तुओंकी आसक्ति उनकी आत्मोन्नतिमें बाधक एवं अनर्थका कारण है॥ २४॥

न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि।
कथं युञ्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः॥ २५

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि॥ २६

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥ २७

न ते मामंग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः॥ २८

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः।
हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना॥ २९

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥ ३०

स्वप्नोपममममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम्।
आशिषो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक्॥ ३१

वे अपने परम पुरुषार्थको नहीं जानते, इसलिये स्वर्गादिका जो वर्णन मिलता है, वह ज्यों-का-त्यों सत्य है—ऐसा विश्वास करके देवादि योनियोंमें भटकते रहते हैं और फिर वृक्ष आदि योनियोंके घोर अन्धकारमें आ पड़ते हैं। ऐसी अवस्थामें कोई भी विद्वान् अथवा वेद फिरसे उन्हें उन्हीं विषयोंमें क्यों प्रवृत्त करेगा?॥ २५॥ दुर्बुद्धिलोग (कर्मवादी) वेदोंका यह अभिप्राय न समझकर कर्मासक्तिवश पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंका वर्णन देखते हैं और उन्हींको परम फल मानकर भटक जाते हैं। परन्तु वेदवेत्ता लोग श्रुतियोंका ऐसा तात्पर्य नहीं बतलाते॥ २६॥ विषय-वासनाओंमें फँसे हुए दीन-हीन, लोभी पुरुष रंग-बिरंगे पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंको ही सब कुछ समझ बैठते हैं, अग्निके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञ-यागादि कर्मोंमें ही मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें अन्तमें देवलोक, पितृलोक आदिकी ही प्राप्ति होती है। दूसरी ओर भटक जानेके कारण उन्हें अपने निजधाम आत्मपदका पता नहीं लगता॥ २७॥ प्यारे उद्धव! उनके पास साधना है तो केवल कर्मकी और उसका कोई फल है तो इन्द्रियोंकी तृप्ति। उनकी आँखें धुँधली हो गयी हैं; इसीसे वे यह बात नहीं जानते कि जिससे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं इस जगत्के रूपमें है, वह परमात्मा मैं उनके हृदयमें ही हूँ॥ २८॥ यदि हिंसा और उसके फल मांस-भक्षणमें राग ही हो, उसका त्याग न किया जा सकता हो, तो यज्ञमें ही करे—यह परिसंख्या विधि है, स्वाभाविक प्रवृत्तिका संकोच है, सन्ध्यावन्दनादिके समान अपूर्व विधि नहीं है। इस प्रकार मेरे परोक्ष अभिप्रायको न जानकर विषयलोलुप पुरुष हिंसाका खिलवाड़ खेलते हैं और दुष्टतावश अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये वध किये हुए पशुओंके मांससे यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूतपतियोंके यजनका ढोंग करते हैं॥ २९-३०॥

उद्धवजी! स्वर्गादि परलोक स्वप्नके दृश्योंके समान हैं, वास्तवमें वे असत् हैं, केवल उनकी बातें सुननेमें बहुत मीठी लगती हैं। सकाम पुरुष वहाँके भोगोंके लिये मन-ही-मन अनेकों प्रकारके संकल्प कर लेते हैं और जैसे व्यापारी अधिक लाभकी आशासे

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम्॥ ३२

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः॥ ३३

एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते॥ ३४

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥ ३५

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥ ३६

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥ ३७

मूलधनको भी खो बैठता है, वैसे ही वे सकाम यज्ञोंद्वारा अपने धनका नाश करते हैं॥ ३१॥ वे स्वयं रजोगुण, सत्त्वगुण या तमोगुणमें स्थित रहते हैं और रजोगुणी, सत्त्वगुणी अथवा तमोगुणी इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं। वे उन्हीं सामग्रियोंसे उतने ही परिश्रमसे मेरी पूजा नहीं करते॥ ३२॥ वे जब इस प्रकारकी पुष्पिता वाणी—रंग-बिरंगी मीठी-मीठी बातें सुनते हैं कि 'हमलोग इस लोकमें यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके स्वर्गमें जायँगे और वहाँ दिव्य आनन्द भोगेंगे, उसके बाद जब फिर हमारा जन्म होगा, तब हम बड़े कुलीन परिवारमें पैदा होंगे, हमारे बड़े-बड़े महल होंगे और हमारा कुटुम्ब बहुत सुखी और बहुत बड़ा होगा' तब उनका चित्त क्षुब्ध हो जाता है और उन हेकड़ी जतानेवाले घमंडियोंको मेरे सम्बन्धकी बातचीत भी अच्छी नहीं लगती॥ ३३-३४॥

उद्धवजी! वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनों काण्डोंके द्वारा प्रतिपादित विषय है ब्रह्म और आत्माकी एकता, सभी मन्त्र और मन्त्र-द्रष्टा ऋषि इस विषयको खोलकर नहीं, गुप्तभावसे बतलाते हैं और मुझे भी इस बातको गुप्तरूपसे कहना ही अभीष्ट है*॥ ३५॥ वेदोंका नाम है शब्दब्रह्म। वे मेरी मूर्त्ति हैं, इसीसे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणीके रूपमें प्राण, मन और इन्द्रियमय है। समुद्रके समान सीमारहित और गहरा है। उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है। (इसीसे जैमिनि आदि बड़े-बड़े विद्वान् भी उसके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते)॥ ३६॥ उद्धव! मैं अनन्त-शक्ति-सम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेदवाणीका विस्तार किया है। जैसे कमलनालमें पतला-सा सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियोंके अन्तः-करणमें अनाहतनादके रूपमें प्रकट होती है॥ ३७॥

* क्योंकि सब लोग इसके अधिकारी नहीं हैं, अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही यह बात समझमें आती है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥ ३८

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओंकाराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम्॥ ३९

विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम्॥ ४०

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद् विराट्॥ ४१

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥ ४२

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥ ४३

भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं वेदमूर्ति एवं अमृतमय हैं। उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत शब्दके द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है। जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुखद्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है, वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णोंका संकल्प करनेवाले मनरूप निमित्तकारणके द्वारा हृदयाकाशसे अनन्त अपार अनेकों मार्गोंवाली वैखरीरूप वेदवाणीको स्वयं ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं। वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकारके द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श ('क' से लेकर 'म' तक–२५), स्वर ('अ' से 'औ' तक–९), ऊष्मा (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व)—इन वर्णोंसे विभूषित है। उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं और उनके द्वारा विचित्र भाषाके रूपमें वह विस्तृत हुई है॥ ३८—४० ॥ (चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दोंमेंसे कुछ ये हैं—) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट्॥ ४१ ॥ वह वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासनाकाण्डमें किन देवताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकारके विकल्प करती है—इन बातोंको इस सम्बन्धमें श्रुतिके रहस्यको मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता॥ ४२ ॥ मैं तुम्हें स्पष्ट बतला देता हूँ, सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें मेरा ही विधान करती हैं, उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें आकाशादिरूपसे मुझमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेदका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठानरूपसे मैं ही शेष रह जाता हूँ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति-विवेक

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादश पंच त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम॥ १

केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पंचविंशतिम्।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे॥ २

केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि॥ ३

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥ ४

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥ ५

यासां व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदतां पदम्।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनुशाम्यति॥ ६

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम्॥ ७

उद्धवजीने कहा—प्रभो! विश्वेश्वर! ऋषियोंने तत्त्वोंकी संख्या कितनी बतलायी है? आपने तो अभी (उन्नीसवें अध्यायमें) नौ, ग्यारह, पाँच और तीन अर्थात् कुल अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं। यह तो हम सुन चुके हैं॥ १॥ किन्तु कुछ लोग छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कुछ पचीस; कोई सात, नौ अथवा छः स्वीकार करते हैं, कोई चार बतलाते हैं तो कोई ग्यारह॥ २॥ इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं ऋषि-मुनियोंके मतमें उनकी संख्या सत्रह है, कोई सोलह और कोई तेरह बतलाते हैं। सनातन श्रीकृष्ण! ऋषि-मुनि इतनी भिन्न संख्याएँ किस अभिप्रायसे बतलाते हैं? आप कृपा करके हमें बतलाइये ॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है; क्योंकि सभी तत्त्व सबमें अन्तर्भूत हैं। मेरी मायाको स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है?॥ ४॥ 'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, जो मैं कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार जगत्के कारणके सम्बन्धमें विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियों—सत्त्व, रज आदि गुणों और उनकी वृत्तियोंका रहस्य लोग समझ नहीं पाते; इसलिये वे अपनी-अपनी मनोवृत्तिपर ही आग्रह कर बैठते हैं॥ ५॥ सत्त्व आदि गुणोंके क्षोभसे ही यह विविध कल्पनारूप प्रपंच—जो वस्तु नहीं केवल नाम है—उठ खड़ा हुआ है। यही वाद-विवाद करनेवालोंके विवादका विषय है। जब इन्द्रियाँ अपने वशमें हो जाती हैं तथा चित्त शान्त हो जाता है, तब यह प्रपंच भी निवृत्त हो जाता है और इसकी निवृत्तिके साथ ही सारे वाद-विवाद भी मिट जाते हैं॥ ६॥ पुरुष-शिरोमणे! तत्त्वोंका एक-दूसरेमें अनुप्रवेश है, इसलिये वक्ता तत्त्वोंकी जितनी संख्या बतलाना चाहता है, उसके अनुसार कारणको कार्यमें अथवा कार्यको कारणमें मिलाकर अपनी इच्छित संख्या सिद्ध कर लेता है॥ ७॥

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥ ८

ऐसा देखा जाता है कि एक ही तत्त्वमें बहुत-से दूसरे तत्त्वोंका अन्तर्भाव हो गया है। इसका कोई बन्धन नहीं है कि किसका किसमें अन्तर्भाव हो। कभी घट-पट आदि कार्य वस्तुओंका उनके कारण मिट्टी-सूत आदिमें, तो कभी मिट्टी-सूत आदिका घट-पट आदि कार्योंमें अन्तर्भाव हो जाता है॥ ८॥

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्॥ ९

इसलिये वादी-प्रतिवादियोंमेंसे जिसकी वाणीने जिस कार्यको जिस कारणमें अथवा जिस कारणको जिस कार्यमें अन्तर्भूत करके तत्त्वोंकी जितनी संख्या स्वीकार की है, वह हम निश्चय ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि उनका वह उपपादन युक्तिसंगत ही है॥ ९॥

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥ १०

उद्धवजी! जिन लोगोंने छब्बीस संख्या स्वीकार की है, वे ऐसा कहते हैं कि जीव अनादि कालसे अविद्यासे ग्रस्त हो रहा है। वह स्वयं अपने-आपको नहीं जान सकता। उसे आत्मज्ञान करानेके लिये किसी अन्य सर्वज्ञकी आवश्यकता है। (इसलिये प्रकृतिके कार्यकारणरूप चौबीस तत्त्व, पचीसवाँ पुरुष और छब्बीसवाँ ईश्वर—इस प्रकार कुल छब्बीस तत्त्व स्वीकार करने चाहिये)॥ १०॥

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः॥ ११

पचीस तत्त्व माननेवाले कहते हैं कि इस शरीरमें जीव और ईश्वरका अणुमात्र भी अन्तर या भेद नहीं है, इसलिये उनमें भेदकी कल्पना व्यर्थ है। रही ज्ञानकी बात, सो तो सत्त्वात्मिका प्रकृतिका गुण है॥ ११॥

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः॥ १२

तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है; इसलिये सत्त्व, रज आदि गुण आत्माके नहीं, प्रकृतिके ही हैं। इन्हींके द्वारा जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय हुआ करते हैं। इसलिये ज्ञान आत्माका गुण नहीं, प्रकृतिका ही गुण सिद्ध होता है॥ १२॥

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च॥ १३

इस प्रसंगमें सत्त्वगुण ही ज्ञान है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहा गया है। और गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ही काल है और सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व ही स्वभाव है। (इसलिये पचीस और छब्बीस तत्त्वोंकी—दोनों ही संख्या युक्तिसंगत है)॥ १३॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नभोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव॥ १४

उद्धवजी! (यदि तीनों गुणोंको प्रकृतिसे अलग मान लिया जाय, जैसा कि उनकी उत्पत्ति और प्रलयको देखते हुए मानना चाहिये, तो तत्त्वोंकी संख्या स्वयं ही अट्‌ठाईस हो जाती है। उन तीनोंके अतिरिक्त पचीस ये हैं—) पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश,

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यंगोभयं मनः॥ १५

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः॥ १६

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते॥ १७

व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात्॥ १८

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पंच खादयः।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः॥ १९

षडित्यत्रापि भूतानि पंच षष्ठः परः पुमान्।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत्॥ २०

वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये नौ तत्त्व मैं पहले ही गिना चुका हूँ॥ १४॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ; तथा मन, जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही हैं। इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय। इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच—सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व होते हैं। कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले पाँच कर्म—चलना, बोलना, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना—इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती। इन्हें कर्मेन्द्रियस्वरूप ही मानना चाहिये॥ १५-१६॥ सृष्टिके आरम्भमें कार्य (ग्यारह इन्द्रिय और पंचभूत) और कारण (महत्तत्त्व आदि) के रूपमें प्रकृति ही रहती है। वही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी सहायतासे जगत्की स्थिति, उत्पत्ति और संहारसम्बन्धी अवस्थाएँ धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओंका केवल साक्षीमात्र बना रहता है॥ १७॥ महत्तत्त्व आदि कारण धातुएँ विकारको प्राप्त होते हुए पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिल जाते हैं और प्रकृतिका आश्रय लेकर उसीके बलसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं॥ १८॥

उद्धवजी! जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सात स्वीकार करते हैं, उनके विचारसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच भूत, छठा जीव और सातवाँ परमात्मा—जो साक्षी जीव और साक्ष्य जगत् दोनोंका अधिष्ठान है—ये ही तत्त्व हैं। देह, इन्द्रिय और प्राणादिकी उत्पत्ति तो पंचभूतोंसे ही हुई है [इसलिये वे इन्हें अलग नहीं गिनते]॥ १९॥ जो लोग केवल छः तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और छठा है परमपुरुष परमात्मा। वह परमात्मा अपने बनाये हुए पंचभूतोंसे युक्त होकर देह आदिकी सृष्टि करता है और उनमें जीवरूपसे प्रवेश करता है (इस मतके अनुसार जीवका परमात्मामें और शरीर आदिका पंचभूतोंमें समावेश हो जाता है)॥ २०॥

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु॥ २१

जो लोग कारणके रूपमें चार ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्मासे तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है और जगत्‌में जितने पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं। वे सभी कार्योंका इन्हींमें समावेश कर लेते हैं॥ २१॥

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च।
पंच पंचैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः॥ २२

जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सत्रह बतलाते हैं, वे इस प्रकार गणना करते हैं—पाँच भूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा॥ २२॥

तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते।
भूतेन्द्रियाणि पंचैव मन आत्मा त्रयोदश॥ २३

जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सोलह बतलाते हैं, उनकी गणना भी इसी प्रकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्मामें मनका भी समावेश कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्वसंख्या सोलह रह जाती है। जो लोग तेरह तत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं कि आकाशादि पाँच भूत, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह तत्त्व हैं॥ २३॥

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ॥ २४

ग्यारह संख्या माननेवालोंने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और इनके अतिरिक्त एक आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया है। जो लोग नौ तत्त्व मानते हैं, वे आकाशादि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ प्रकृतियाँ और नवाँ पुरुष—इन्हींको तत्त्व मानते हैं॥ २४॥

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्॥ २५

उद्धवजी! इस प्रकार ऋषि-मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है। सबका कहना उचित ही है, क्योंकि सबकी संख्या युक्तियुक्त है। जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं, उन्हें किसी भी मतमें बुराई नहीं दीखती। उनके लिये तो सब कुछ ठीक ही है॥ २५॥

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ।
अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः॥ २६

उद्धवजीने कहा—श्यामसुन्दर! यद्यपि स्वरूपतः प्रकृति और पुरुष—दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि वे आपसमें इतने घुल-मिल गये हैं कि साधारणतः उनका भेद नहीं जान पड़ता। प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं। इनकी भिन्नता स्पष्ट कैसे हो?॥ २६॥

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि।
एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः॥ २७

कमलनयन श्रीकृष्ण! मेरे हृदयमें इनकी भिन्नता और अभिन्नताको लेकर बहुत बड़ा सन्देह है। आप तो सर्वज्ञ हैं, अपनी युक्तियुक्त वाणीसे मेरे सन्देहका

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः॥ २८

निवारण कर दीजिये॥ २७॥ भगवन्! आपकी ही कृपासे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी माया-शक्तिसे ही उनके ज्ञानका नाश होता है। अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाकी विचित्र गति आप ही जानते हैं और कोई नहीं जानता। अतएव आप ही मेरा सन्देह मिटानेमें समर्थ हैं॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः॥ २९

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा—इन दोनोंमें अत्यन्त भेद है। इस प्राकृत जगत्‌में जन्म-मरण एवं वृद्धि-ह्रास आदि विकार लगे ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणोंके क्षोभसे ही बना है॥ २९॥ प्रिय मित्र!

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्॥ ३०

मेरी माया त्रिगुणात्मिका है। वही अपने सत्त्व, रज आदि गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेदवृत्तियाँ पैदा कर देती है। यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी इस विकारात्मक सृष्टिको तीन भागोंमें बाँट सकते हैं। वे तीन भाग हैं—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत॥ ३०॥

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम्॥ ३१

उदाहरणार्थ—नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उसका विषय रूप अधिभूत है और नेत्र-गोलकमें स्थित सूर्यदेवताका अंश अधिदैव है। ये तीनों परस्पर एक-दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं। और इसलिये अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। परन्तु आकाशमें स्थित सूर्यमण्डल इन तीनोंकी अपेक्षासे मुक्त है, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा भी उपर्युक्त तीनों भेदोंका मूलकारण, उनका साक्षी और उनसे परे है। वही अपने स्वयंसिद्ध प्रकाशसे समस्त सिद्ध पदार्थोंकी मूलसिद्धि है। उसीके द्वारा सबका प्रकाश होता है। जिस प्रकार चक्षुके तीन भेद बताये गये, उसी प्रकार त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका और चित्त आदिके भी तीन-तीन भेद हैं*॥ ३१॥

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
र्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च॥ ३२

प्रकृतिसे महत्तत्त्व बनता है और महत्तत्त्वसे अहंकार। इस प्रकार यह अहंकार गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न हुआ प्रकृतिका ही एक विकार है। अहंकारके तीन भेद हैं—सात्त्विक, तामस और राजस। यह अहंकार ही अज्ञान और सृष्टिकी विविधताका मूलकारण है॥ ३२॥

* यथा—त्वचा, स्पर्श और वायु; श्रवण, शब्द और दिशा; जिह्वा, रस और वरुण; नासिका, गन्ध और अश्विनीकुमार; चित्त, चिन्तनका विषय और वासुदेव; मन, मनका विषय और चन्द्रमा; अहंकार, अहंकारका विषय और रुद्र; बुद्धि, समझनेका विषय और ब्रह्मा—इन सभी त्रिविध तत्त्वोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात्॥ ३३

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका इन पदार्थोंसे न तो कोई सम्बन्ध है और न उसमें कोई विवादकी ही बात है! अस्ति-नास्ति (है-नहीं), सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि रूपसे जितने भी वाद-विवाद हैं, सबका मूलकारण भेददृष्टि ही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विवादका कोई प्रयोजन नहीं है; यह सर्वथा व्यर्थ है तथापि जो लोग मुझसे—अपने वास्तविक स्वरूपसे विमुख हैं, वे इस विवादसे मुक्त नहीं हो सकते॥ ३३॥

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च॥ ३४

तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वंचिताः॥ ३५

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! आपसे विमुख जीव अपने किये हुए पुण्य-पापोंके फलस्वरूप ऊँची-नीची योनियोंमें जाते-आते रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि व्यापक आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना, अकर्ताका कर्म करना और नित्य-वस्तुका जन्म-मरण कैसे सम्भव है?॥ ३४॥ गोविन्द! जो लोग आत्मज्ञानसे रहित हैं, वे तो इस विषयको ठीक-ठीक सोच भी नहीं सकते। और इस विषयके विद्वान् संसारमें प्रायः मिलते नहीं, क्योंकि सभी लोग आपकी मायाकी भूल-भुलैयामें पड़े हुए हैं। इसलिये आप ही कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाइये॥ ३५॥

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पंचभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥ ३६

ध्यायन् मनोऽनु विषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ।
उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति॥ ३७

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! मनुष्योंका मन कर्म-संस्कारोंका पुंज है। उन संस्कारोंके अनुसार भोग प्राप्त करनेके लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसीका नाम है लिंगशरीर। वही कर्मोंके अनुसार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें आता-जाता रहता है। आत्मा इस लिंगशरीरसे सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता; परन्तु जब वह अपनेको लिंगशरीर ही समझ बैठता है, उसीमें अहंकार कर लेता है, तब उसे भी अपना जाना-आना प्रतीत होने लगता है॥ ३६॥ मन कर्मोंके अधीन है। वह देखे हुए या सुने हुए विषयोंका चिन्तन करने लगता है और क्षणभरमें ही उनमें तदाकार हो जाता है तथा उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयोंमें लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी स्मृति, पूर्वापरका अनुसन्धान भी नष्ट हो जाता है॥ ३७॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥ ३८

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥ ३९

स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति॥ ४०

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद् यथा॥ ४१

नित्यदा ह्यंग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥ ४२

यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः॥ ४३

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम्॥ ४४

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान्।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः॥ ४५

उन देवादि शरीरोंमें इसका इतना अभिनिवेश, इतनी तल्लीनता हो जाती है कि जीवको अपने पूर्व शरीरका स्मरण भी नहीं रहता। किसी भी कारणसे शरीरको सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है॥ ३८॥ उदार उद्धव! जब यह जीव किसी भी शरीरको अभेद-भावसे 'मैं' के रूपमें स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नकालीन और मनोरथकालीन शरीरमें अभिमान करना ही स्वप्न और मनोरथ कहा जाता है॥ ३९॥ यह वर्तमान देहमें स्थित जीव जैसे पूर्व देहका स्मरण नहीं करता, वैसे ही स्वप्न या मनोरथमें स्थित जीव भी पहलेके स्वप्न और मनोरथको स्मरण नहीं करता, प्रत्युत उस वर्तमान स्वप्न और मनोरथमें पूर्व सिद्ध होनेपर भी अपनेको नवीन-सा ही समझता है॥ ४०॥ इन्द्रियोंके आश्रय मन या शरीरकी सृष्टिसे आत्मवस्तुमें यह उत्तम, मध्यम और अधमकी त्रिविधता भासती है। उनमें अभिमान करनेसे ही आत्मा बाह्य और आभ्यन्तर भेदोंका हेतु मालूम पड़ने लगता है, जैसे दुष्ट पुत्रको उत्पन्न करनेवाला पिता पुत्रके शत्रु-मित्र आदिके लिये भेदका हेतु हो जाता है॥ ४१॥ प्यारे उद्धव! कालकी गति सूक्ष्म है। उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता। उसके द्वारा प्रतिक्षण ही शरीरोंकी उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। सूक्ष्म होनेके कारण ही प्रतिक्षण होनेवाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते॥ ४२॥ जैसे कालके प्रभावसे दियेकी लौ, नदियोंके प्रवाह अथवा वृक्षके फलोंकी विशेष-विशेष अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियोंके शरीरोंकी आयु, अवस्था आदि भी बदलती रहती है॥ ४३॥ जैसे यह उन्हीं ज्योतियोंका वही दीपक है, प्रवाहका यह वही जल है—ऐसा समझना और कहना मिथ्या है, वैसे ही विषय-चिन्तनमें व्यर्थ आयु बितानेवाले अविवेकी पुरुषोंका ऐसा कहना और समझना कि यह वही पुरुष है, सर्वथा मिथ्या है॥ ४४॥ यद्यपि वह भ्रान्त पुरुष भी अपने कर्मोंके बीजद्वारा न पैदा होता है और न तो मरता ही है; वह भी अजन्मा और अमर ही है, फिर भी भ्रान्तिसे वह उत्पन्न होता है और मरता-सा भी है, जैसे कि काष्ठसे युक्त अग्नि पैदा होता और नष्ट होता दिखायी पड़ता है॥ ४५॥

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम्।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव॥ ४६

एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः।
गुणसंगादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च॥ ४७

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः॥ ४८

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वांजन्मसंयमौ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक्॥ ४९

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान्।
तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते॥ ५०

सत्त्वसंगादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान्।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः॥ ५१

नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते॥ ५२

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः॥ ५३

उद्धवजी! गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी, अधेड़ अवस्था, बुढ़ापा और मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं॥ ४६॥ यह शरीर जीवसे भिन्न है और ये ऊँची-नीची अवस्थाएँ उसके मनोरथके अनुसार ही हैं; परन्तु वह अज्ञानवश गुणोंके संगसे इन्हें अपनी मानकर भटकने लगता है और कभी-कभी विवेक हो जानेपर इन्हें छोड़ भी देता है॥ ४७॥ पिताको पुत्रके जन्मसे और पुत्रको पिताकी मृत्युसे अपने-अपने जन्म-मरणका अनुमान कर लेना चाहिये। जन्म-मृत्युसे युक्त देहोंका द्रष्टा जन्म और मृत्युसे युक्त शरीर नहीं है॥ ४८॥ जैसे जौ-गेहूँ आदिकी फसल बोनेपर उग आती है और पक जानेपर काट दी जाती है, किन्तु जो पुरुष उनके उगने और काटनेका जाननेवाला साक्षी है, वह उनसे सर्वथा पृथक् है; वैसे ही जो शरीर और उसकी अवस्थाओंका साक्षी है, वह शरीरसे सर्वथा पृथक् है॥ ४९॥ अज्ञानी पुरुष इस प्रकार प्रकृति और शरीरसे आत्माका विवेचन नहीं करते। वे उसे उनसे तत्त्वतः अलग अनुभव नहीं करते और विषयभोगमें सच्चा सुख मानने लगते हैं तथा उसीमें मोहित हो जाते हैं। इसीसे उन्हें जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकना पड़ता है॥ ५०॥ जब अविवेकी जीव अपने कर्मोंके अनुसार जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकने लगता है, तब सात्त्विक कर्मोंकी आसक्तिसे वह ऋषिलोक और देवलोकमें राजसिक कर्मोंकी आसक्तिसे मनुष्य और असुरयोनियोंमें तथा तामसी कर्मोंकी आसक्तिसे भूत-प्रेत एवं पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जाता है॥ ५१॥ जब मनुष्य किसीको नाचते-गाते देखता है, तब वह स्वयं भी उसका अनुकरण करने—तान तोड़ने लगता है। वैसे ही जब जीव बुद्धिके गुणोंको देखता है, तब स्वयं निष्क्रिय होनेपर भी उसका अनुकरण करनेके लिये बाध्य हो जाता है॥ ५२॥ जैसे नदी-तालाब आदिके जलके हिलने या चंचल होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित तटके वृक्ष भी उसके साथ हिलते-डोलते-से जान पड़ते हैं, जैसे घुमाये जानेवाले नेत्रके साथ-साथ पृथ्वी भी घूमती हुई-सी दिखायी देती है, जैसे मनके द्वारा सोचे

यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः॥ ५४

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ५५

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥ ५६

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा।
ताडितः सन्निबद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः॥ ५७

निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत्॥ ५८

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर।
सुदुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम्॥ ५९

विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी।
ऋते त्वद्धर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान्॥ ६०

गये तथा स्वप्नमें देखे गये भोग पदार्थ सर्वथा अलीक ही होते हैं, वैसे ही हे दाशार्ह! आत्माका विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा असत्य है। आत्मा तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ही है॥ ५३-५४॥ विषयोंके सत्य न होनेपर भी जो जीव विषयोंका ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्नमें प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती॥ ५५॥

प्रिय उद्धव! इसलिये इन दुष्ट (कभी तृप्त न होनेवाली) इन्द्रियोंसे विषयोंको मत भोगो। आत्म-विषयक अज्ञानसे प्रतीत होनेवाला सांसारिक भेद-भाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो॥ ५६॥ असाधु पुरुष गर्दन पकड़कर बाहर निकाल दें, वाणीद्वारा अपमान करें, उपहास करें, निन्दा करें, मारें-पीटें, बाँधें, आजीविका छीन लें, ऊपर थूक दें, मूत दें अथवा तरह-तरहसे विचलित करें, निष्ठासे डिगानेकी चेष्टा करें; उनके किसी भी उपद्रवसे क्षुब्ध न होना चाहिये; क्योंकि वे तो बेचारे अज्ञानी हैं, उन्हें परमार्थका तो पता ही नहीं है। अतः जो अपने कल्याणका इच्छुक है, उसे सभी कठिनाइयोंसे अपनी विवेक-बुद्धिद्वारा ही—किसी बाह्य साधनसे नहीं—अपनेको बचा लेना चाहिये। वस्तुतः आत्म-दृष्टि ही समस्त विपत्तियोंसे बचनेका एकमात्र साधन है॥ ५७-५८॥

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप समस्त वक्ताओंके शिरोमणि हैं। मैं इस दुर्जनोंसे किये गये तिरस्कारको अपने मनमें अत्यन्त असह्य समझता हूँ। अतः जैसे मैं इसको समझ सकूँ, आपका उपदेश जीवनमें धारण कर सकूँ, वैसे हमें बतलाइये॥ ५९॥ विश्वात्मन्! जो आपके भागवतधर्मके आचरणमें प्रेम-पूर्वक संलग्न हैं, जिन्होंने आपके चरणकमलोंका ही आश्रय ले लिया है, उन शान्त पुरुषोंके अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी दुष्टोंके द्वारा किया हुआ तिरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकृति अत्यन्त बलवती है॥ ६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास

बादरायणिरुवाच

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः॥ १

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः॥ २

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः॥ ३

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः॥ ४

केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्॥ ५

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः॥ ६

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः॥ ७

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम्॥ ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वास्तवमें भगवान्‌की लीलाकथा ही श्रवण करनेयोग्य है। वे ही प्रेम और मुक्तिके दाता हैं। जब उनके परमप्रेमी भक्त उद्धवजीने इस प्रकार प्रार्थना की, तब यदुवंशविभूषण श्रीभगवान्‌ने उनके प्रश्नकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धवजी! इस संसारमें प्रायः ऐसे संत पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनोंकी कटुवाणीसे बिंधे हुए अपने हृदयको सँभाल सकें॥ २॥ मनुष्यका हृदय मर्मभेदी बाणोंसे बिंधनेपर भी उतनी पीडाका अनुभव नहीं करता, जितनी पीडा उसे दुष्टजनोंके मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं॥ ३॥ उद्धवजी! इस विषयमें महात्मालोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं; मैं वही तुम्हें सुनाऊँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो॥ ४॥ एक भिक्षुकको दुष्टोंने बहुत सताया था। उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्मके कर्मोंका फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्‌गार प्रकट किये थे। उन्हींका इस इतिहासमें वर्णन है॥ ५॥

प्राचीन समयकी बात है, उज्जैनमें एक ब्राह्मण रहता था। उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी। वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था। क्रोध तो उसे बात-बातमें आ जाया करता था॥ ६॥ उसने अपने जाति-बन्धु और अतिथियोंको कभी मीठी बातसे भी प्रसन्न नहीं किया, खिलाने-पिलानेकी तो बात ही क्या है। वह धर्म-कर्मसे रीते घरमें रहता और स्वयं भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा समयपर अपने शरीरको भी सुखी नहीं करता था॥ ७॥ उसकी कृपणता और बुरे स्वभावके कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दुःखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्टचिन्तन किया करते थे। कोई भी उसके मनको प्रिय लगनेवाला

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पंचभागिनः॥ ९

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः॥ १०

ज्ञातयो जगृहुः किंचित् किंचिद् दस्यव उद्धव।
दैवतः कालतः किंचिद् ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ ११

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम्॥ १२

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत्॥ १३

स चाहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः॥ १४

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥ १५

व्यवहार नहीं करता था॥ ८॥ वह लोक-परलोक दोनोंसे ही गिर गया था। बस, यक्षोंके समान धनकी रखवाली करता रहता था। उस धनसे वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था। बहुत दिनोंतक इस प्रकार जीवन बितानेसे उसपर पंचमहायज्ञके भागी देवता बिगड़ उठे॥ ९॥ उदार उद्धवजी! पंचमहायज्ञके भागियोंके तिरस्कारसे उसके पूर्व-पुण्योंका सहारा—जिसके बलसे अबतक धन टिका हुआ था—जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रमसे इकट्ठा किया था, वह धन उसकी आँखोंके सामने ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया॥ १०॥ उस नीच ब्राह्मणका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोपसे नष्ट हो गया, कुछ समयके फेरसे मारा गया। कुछ साधारण मनुष्योंने ले लिया और बचा-खुचा कर और दण्डके रूपमें शासकोंने हड़प लिया॥ ११॥ उद्धवजी! इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही। न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे। इधर उसके सगे-सम्बन्धियोंने भी उसकी ओरसे मुँह मोड़ लिया। अब उसे बड़ी भयानक चिन्ताने घेर लिया॥ १२॥ धनके नाशसे उसके हृदयमें बड़ी जलन हुई। उसका मन खेदसे भर गया। आँसुओंके कारण गला रुँध गया। परन्तु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मनमें संसारके प्रति महान् दुःखबुद्धि और उत्कट वैराग्यका उदय हो गया॥ १३॥

अब वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा—'हाय! हाय!! बड़े खेदकी बात है, मैंने इतने दिनोंतक अपनेको व्यर्थ ही इस प्रकार सताया। जिस धनके लिये मैंने सरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्मकर्ममें लगा और न मेरे सुखभोगके ही काम आया॥ १४॥ प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। इस लोकमें तो वे धन कमाने और रक्षाकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर धर्म न करनेके कारण नरकमें जाते हैं॥ १५॥

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ १६

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥ १७

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥ १८

एते पंचदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥ १९

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥ २०

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥ २१

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ २२

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥ २३

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥ २४

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वांगसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंपर पानी फेर देता है॥ १६॥ धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है॥ १७॥ चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे॥ १८-१९॥ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेहबन्धनसे बँधकर बिलकुल एक हुए रहते हैं—सब-के-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं॥ २०॥ ये लोग थोड़े-से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात-की-बातमें सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डाँट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं। यहाँतक कि एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं॥ २१॥ देवताओंके भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण-शरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थका नाश करते हैं, वे अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं॥ २२॥ यह मनुष्य-शरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थोंके धाम धनके चक्करमें फँसा रहे॥ २३॥ जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धनके दूसरे भागीदारोंको उनका भाग देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाला कृपण तो अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होता है॥ २४॥

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये॥ २५

मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया हूँ। मैंने प्रमादमें अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये। विवेकीलोग जिन साधनोंसे मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हींको मैंने धन इकट्ठा करनेकी व्यर्थ चेष्टामें खो दिया। अब बुढ़ापेमें मैं कौन-सा साधन करूँगा॥ २५॥

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः॥ २६

मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों दुःखी रहते हैं? हो-न-हो, अवश्य ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है॥ २६॥

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः॥ २७

यह मनुष्य-शरीर कालके विकराल गालमें पड़ा हुआ है। इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओं और लोगोंसे, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले सकाम कर्मोंसे लाभ ही क्या है?॥ २७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥ २८

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो उन्होंने मुझे इस दशामें पहुँचाया है और मुझे जगत्के प्रति यह दुःख-बुद्धि और वैराग्य दिया है। वस्तुतः वैराग्य ही इस संसार-सागरसे पार होनेके लिये नौकाके समान है॥ २८॥

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि॥ २९

मैं अब ऐसी अवस्थामें पहुँच गया हूँ। यदि मेरी आयु शेष हो तो मैं आत्मलाभमें ही सन्तुष्ट रहकर अपने परमार्थके सम्बन्धमें सावधान हो जाऊँगा और अब जो समय बच रहा है, उसमें अपने शरीरको तपस्याके द्वारा सुखा डालूँगा॥ २९॥

तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वांगः समसाधयत्॥ ३०

तीनों लोकोंके स्वामी देवगण मेरे इस संकल्पका अनुमोदन करें। अभी निराश होनेकी कोई बात नहीं है, क्योंकि राजा खट्वांगने तो दो घड़ीमें ही भगवद्धामकी प्राप्ति कर ली थी॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः॥ ३१

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! उस उज्जैननिवासी ब्राह्मणने मन-ही-मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं' और 'मेरे' पनकी गाँठ खोल दी। इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया॥ ३१॥

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसंगोऽलक्षितोऽविशत्॥ ३२

अब उसके चित्तमें किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्तिके प्रति आसक्ति न रही। उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया। वह पृथ्वीपर स्वच्छन्दरूपसे विचरने लगा। वह भिक्षाके लिये नगर और गाँवोंमें जाता अवश्य था, परन्तु इस प्रकार जाता था कि कोई उसे पहचान न पाता था॥ ३२॥

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥ ३३

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन॥ ३४

प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः।
अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुंजानस्य सरित्तटे॥ ३५

मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि।
यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत्॥ ३६

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद् बध्यतां बध्यतामिति॥ ३७

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥ ३८

अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद् दृढनिश्चयः॥ ३९

इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम्॥ ४०

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत्।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत॥ ४१

उद्धवजी! वह भिक्षुक अवधूत बहुत बूढ़ा हो गया था। दुष्ट उसे देखते ही टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते॥ ३३॥ कोई उसका दण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक ले जाता। कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, रुद्राक्षमाला और कन्था ही लेकर भाग जाता। कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देते॥ ३४॥ कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई दिखला-दिखलाकर फिर छीन लेते। जब वह अवधूत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी-तटपर भोजन करने बैठता, तो पापी लोग कभी उसके सिरपर मूत देते, तो कभी थूक देते। वे लोग उस मौनी अवधूतको तरह-तरहसे बोलनेके लिये विवश करते और जब वह इसपर भी न बोलता तो उसे पीटते॥ ३५-३६॥ कोई उसे चोर कहकर डाँटने-डपटने लगता। कोई कहता 'इसे बाँध लो, बाँध लो' और फिर उसे रस्सीसे बाँधने लगते॥ ३७॥ कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि 'देखो-देखो, अब इस कृपणने धर्मका ढोंग रचा है। धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया; तब इसने भीख माँगनेका रोजगार लिया है॥ ३८॥ ओहो! देखो तो सही, यह मोटा-तगड़ा भिखारी धैर्यमें बड़े भारी पर्वतके समान है। यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है। सचमुच यह बगुलेसे भी बढ़कर ढोंगी और दृढ़निश्चयी है'॥ ३९॥ कोई उस अवधूतकी हँसी उड़ाता, तो कोई उसपर अधोवायु छोड़ता। जैसे लोग तोता-मैना आदि पालतू पक्षियोंको बाँध लेते या पिंजड़ेमें बंद कर लेते हैं, वैसे ही उसे भी वे लोग बाँध देते और घरोंमें बंद कर देते॥ ४०॥ किन्तु वह सब कुछ चुपचाप सह लेता। उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गरमी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते; परन्तु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता। वह समझता कि यह सब मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा॥ ४१॥

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम्॥ ४२

यद्यपि नीच मनुष्य तरह-तरहके तिरस्कार करके उसे उसके धर्मसे गिरानेकी चेष्टा किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़तासे अपने धर्ममें स्थिर रहता और सात्त्विक धैर्यका आश्रय लेकर कभी-कभी ऐसे उद्गार प्रकट किया करता॥ ४२॥

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्॥ ४३

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४४

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिंगं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसंगतोऽसौ॥ ४५

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥ ४६

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥ ४७

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः॥ ४८

ब्राह्मण कहता—मेरे सुख अथवा दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न आत्मा है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसार-चक्रको चला रहा है॥ ४३॥ सचमुच यह मन बहुत बलवान् है। इसीने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्तियोंकी सृष्टि की है। उन वृत्तियोंके अनुसार ही सात्त्विक, राजस और तामस—अनेकों प्रकारके कर्म होते हैं और कर्मोंके अनुसार ही जीवकी विविध गतियाँ होती हैं॥ ४४॥ मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है। उसके साथ रहनेपर भी आत्मा निष्क्रिय ही है। वह ज्ञानशक्तिप्रधान है, मुझ जीवका सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञानसे सब कुछ देखता रहता है। मनके द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब वह मनको स्वीकार करके उसके द्वारा विषयोंका भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मोंके साथ आसक्ति होनेके कारण वह उनसे बँध जाता है॥ ४५॥

दान, अपने धर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत—इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान्में लग जाय। मनका समाहित हो जाना ही परम योग है॥ ४६॥ जिसका मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मोंका फल प्राप्त हो चुका है। अब उनसे कुछ लेना बाकी नहीं है। और जिसका मन चंचल है अथवा आलस्यसे अभिभूत हो रहा है, उसको इन दानादि शुभकर्मोंसे अबतक कोई लाभ नहीं हुआ॥ ४७॥ सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं। मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। यह मन बलवान्से भी बलवान्, अत्यन्त भयंकर देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है, वही देव-देव—इन्द्रियोंका विजेता है॥ ४८॥

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः॥ ४९

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥ ५०

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत्।
जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्॥ ५१

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत्।
यदंगमंगेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे॥ ५२

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः।
न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम्॥ ५३

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै।

सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है। इसका आक्रमण असह्य है। यह बाहरी शरीरको ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानोंको भी बेधता रहता है। इसे जीतना बहुत ही कठिन है। मनुष्योंको चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रुपर विजय प्राप्त करे; परन्तु होता है यह कि मूर्ख लोग इसे तो जीतनेका प्रयत्न करते नहीं, दूसरे मनुष्योंसे झूठमूठ झगड़ा-बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत्‌के लोगोंको ही मित्र-शत्रु-उदासीन बना लेते हैं॥ ४९ ॥ साधारणतः मनुष्योंकी बुद्धि अंधी हो रही है। तभी तो वे इस मनःकल्पित शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रमके फंदेमें फँस जाते हैं कि 'यह मैं हूँ और यह दूसरा।' इसका परिणाम यह होता है कि वे इस अनन्त अज्ञानान्धकारमें ही भटकते रहते हैं॥ ५० ॥

यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःखका कारण है, तो भी उनसे आत्माका क्या सम्बन्ध? क्योंकि सुख-दुःख पहुँचानेवाला भी मिट्टीका शरीर है और भोगनेवाला भी। कभी भोजन आदिके समय यदि अपने दाँतोंसे ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे, तो मनुष्य किसपर क्रोध करेगा?॥ ५१ ॥ यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःखके कारण हैं तो भी इस दुःखसे आत्माकी क्या हानि? क्योंकि यदि दुःखके कारण देवता हैं, तो इन्द्रियाभिमानी देवताओंके रूपमें उनके भोक्ता भी तो वे ही हैं। और देवता सभी शरीरोंमें एक हैं; जो देवता एक शरीरमें हैं; वे ही दूसरेमें भी हैं। ऐसी दशामें यदि अपने ही शरीरके किसी एक अंगसे दूसरे अंगको चोट लग जाय तो भला, किसपर क्रोध किया जायगा?॥ ५२ ॥ यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःखका कारण है तो वह तो अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ और है ही नहीं। यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है तो वह मिथ्या है। इसलिये न सुख है, न दुःख; फिर क्रोध कैसा? क्रोधका निमित्त ही क्या?॥ ५३ ॥ यदि ग्रहोंको सुख-दुःखका निमित्त मानें, तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीरपर ही होता है। ग्रहोंकी पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण

ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः॥ ५४

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम्॥ ५५

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम्॥ ५६

न केनचित् क्वापि कथंचनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः॥ ५७

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥ ५८

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।

करनेवाले शरीरको ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरोंसे सर्वथा परे है। तब भला वह किसपर क्रोध करे?॥ ५४॥ यदि कर्मोंको ही सुख-दुःखका कारण मानें, तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड और चेतन—उभयरूप होनेपर ही हो सकते हैं। (जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसीसे कर्म हो सकते हैं; अतः वह विकारयुक्त होनेके कारण जड होनी चाहिये और हिताहितका ज्ञान रखनेके कारण चेतन।) किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मोंका तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता। फिर क्रोध किसपर करें?॥ ५५॥ यदि ऐसा मानें कि काल ही सुख-दुःखका कारण है, तो आत्मापर उसका क्या प्रभाव? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे आग आगको नहीं जला सकती और बर्फ बर्फको नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्माको ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किसपर क्रोध किया जाय? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत है॥ ५६॥ आत्मा प्रकृतिके स्वरूप, धर्म, कार्य, लेश, सम्बन्ध और गन्धसे भी रहित है। उसे कभी कहीं किसीके द्वारा किसी भी प्रकारसे द्वन्द्वका स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकनेवाले अहंकारको ही होता है। जो इस बातको जान लेता है, वह फिर किसी भी भयके निमित्तसे भयभीत नहीं होता॥ ५७॥ बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परमात्मनिष्ठाका आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रेमके दाता भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञानसागरको अनायास ही पार कर लूँगा॥ ५८॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! उस ब्राह्मणका धन क्या नष्ट हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। अब वह संसारसे विरक्त हो गया था और संन्यास लेकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचर रहा था। यद्यपि

निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम्॥ ५९

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः॥ ६०

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥ ६१

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते॥ ६२

दुष्टोंने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्ममें अटल रहा, तनिक भी विचलित न हुआ। उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकारका गीत गाया करता था॥ ५९॥ उद्धवजी! इस संसारमें मनुष्यको कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्तका भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रुके भेद अज्ञानकल्पित हैं॥ ६०॥ इसलिये प्यारे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको वशमें कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधनका इतना ही सार-संग्रह है॥ ६१॥ यह भिक्षुकका गीत क्या है, मूर्तिमान् ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्रचित्तसे इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है वह कभी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके वशमें नहीं होता। उनके बीचमें भी वह सिंहके समान दहाड़ता रहता है॥ ६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

सांख्ययोग

श्रीभगवानुवाच

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम्॥ १

आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥ २

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत्॥ ३

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव! अब मैं तुम्हें सांख्यशास्त्रका निर्णय सुनाता हूँ। प्राचीन कालके बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने इसका निश्चय किया है। जब जीव इसे भलीभाँति समझ लेता है तो वह भेदबुद्धिमूलक सुख-दुःखादिरूप भ्रमका तत्काल त्याग कर देता है॥ १॥ युगोंसे पूर्व प्रलयकालमें आदिसत्ययुगमें और जब कभी मनुष्य विवेकनिपुण होते हैं—इन सभी अवस्थाओंमें यह सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा, जगत् और जीव विकल्पशून्य किसी प्रकारके भेदभावसे रहित केवल ब्रह्म ही होते हैं॥ २॥ इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्ममें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है, वह केवल—अद्वितीय सत्य है; मन और वाणीकी उसमें गति नहीं है। वह ब्रह्म ही माया और उसमें प्रतिबिम्बित जीवके रूपमें—दृश्य और द्रष्टाके रूपमें—दो भागोंमें विभक्त-

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥ ४

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥ ५

तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।
ततो विकुर्वतो जातोऽहंकारो यो विमोहनः॥ ६

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः॥ ७

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च।
तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकृतात्॥ ८

मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम्॥ ९

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ।
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः॥ १०

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात्।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा॥ ११

देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानां च भुवः पदम्।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम्॥ १२

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्॥ १३

सा हो गया॥ ३॥ उनमेंसे एक वस्तुको प्रकृति कहते हैं। उसीने जगत्में कार्य और कारणका रूप धारण किया है। दूसरी वस्तुको, जो ज्ञानस्वरूप है, पुरुष कहते हैं॥ ४॥ उद्धवजी! मैंने ही जीवोंके शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार प्रकृतिको क्षुब्ध किया। तब उससे सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुए॥ ५॥ उनसे क्रिया-शक्तिप्रधान सूत्र और ज्ञानशक्तिप्रधान महत्तत्त्व प्रकट हुए। वे दोनों परस्पर मिले हुए ही हैं। महत्तत्त्वमें विकार होनेपर अहंकार व्यक्त हुआ। यह अहंकार ही जीवोंको मोहमें डालनेवाला है॥ ६॥ वह तीन प्रकारका है—सात्त्विक, राजस और तामस। अहंकार पंचतन्मात्रा, इन्द्रिय और मनका कारण है; इसलिये वह जड-चेतन—उभयात्मक है॥ ७॥ तामस अहंकारसे पंचतन्मात्राएँ और उनसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति हुई। तथा राजस अहंकारसे इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता* प्रकट हुए॥ ८॥ ये सभी पदार्थ मेरी प्रेरणासे एकत्र होकर परस्पर मिल गये और इन्होंने यह ब्रह्माण्ड-रूप अण्ड उत्पन्न किया। यह अण्ड मेरा उत्तम निवास-स्थान है॥ ९॥ जब वह अण्ड जलमें स्थित हो गया, तब मैं नारायणरूपसे इसमें विराजमान हो गया। मेरी नाभिसे विश्वकमलकी उत्पत्ति हुई। उसीपर ब्रह्माका आविर्भाव हुआ॥ १०॥ विश्वसमष्टिके अन्तःकरण ब्रह्माने पहले बहुत बड़ी तपस्या की। उसके बाद मेरा कृपा-प्रसाद प्राप्त करके रजोगुणके द्वारा भूः, भुवः, स्वः अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—इन तीन लोकोंकी और इनके लोकपालोंकी रचना की॥ ११॥ देवताओंके निवासके लिये स्वर्लोक, भूत-प्रेतादिके लिये भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) और मनुष्य आदिके लिये भूर्लोक (पृथ्वीलोक) का निश्चय किया गया। इन तीनों लोकोंसे ऊपर महर्लोक, तपलोक आदि सिद्धोंके निवासस्थान हुए॥ १२॥ सृष्टिकार्यमें समर्थ ब्रह्माजीने असुर और नागोंके लिये पृथ्वीके नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये। इन्हीं तीनों लोकोंमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके अनुसार विविध गतियाँ प्राप्त

* पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता हैं।

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥ १४

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति॥ १५

अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १६

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥ १७

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥ १८

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥ १९

सर्गः प्रवर्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम्॥ २०

विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः।
पंचत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह॥ २१

होती हैं॥ १३॥ योग, तपस्या और संन्यासके द्वारा महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोकरूप उत्तम गति प्राप्त होती है तथा भक्तियोगसे मेरा परम धाम मिलता है॥ १४॥ यह सारा जगत् कर्म और उनके संस्कारोंसे युक्त है। मैं ही कालरूपसे कर्मोंके अनुसार उनके फलका विधान करता हूँ। इस गुणप्रवाहमें पड़कर जीव कभी डूब जाता है और कभी ऊपर आ जाता है—कभी उसकी अधोगति होती है और कभी उसे पुण्यवश उच्चगति प्राप्त हो जाती है॥ १५॥ जगत्में छोटे-बड़े, मोटे-पतले—जितने भी पदार्थ बनते हैं, सब प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही सिद्ध होते है॥ १६॥

जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है। विकार तो केवल व्यवहारके लिये की हुई कल्पनामात्र है। जैसे कंगन-कुण्डल आदि सोनेके विकार और घड़े-सकोरे आदि मिट्टीके विकार पहले सोना या मिट्टी ही थे, बादमें भी सोना या मिट्टी ही रहेंगे। अत: बीचमें भी वे सोना या मिट्टी ही हैं। पूर्ववर्ती कारण (महत्तत्त्व आदि) भी जिस परम कारणको उपादान बनाकर अपर (अहंकार आदि) कार्य-वर्गकी सृष्टि करते हैं, वही उनकी अपेक्षा भी परम सत्य है। तात्पर्य यह कि जब जो जिस किसी भी कार्यके आदि और अन्तमें विद्यमान रहता है, वही सत्य है॥ १७-१८॥ इस प्रपंचका उपादान-कारण प्रकृति है, परमात्मा अधिष्ठान है और इसको प्रकट करनेवाला काल है। व्यवहार-कालकी यह त्रिविधता वस्तुत: ब्रह्म-स्वरूप है और मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ॥ १९॥ जबतक परमात्माकी ईक्षणशक्ति अपना काम करती रहती है, जबतक उनकी पालन-प्रवृत्ति बनी रहती है, तबतक जीवोंके कर्मभोगके लिये कारण-कार्यरूपसे अथवा पिता-पुत्रादिके रूपसे यह सृष्टिचक्र निरन्तर चलता रहता है॥ २०॥

यह विराट् ही विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीलाभूमि है। जब मैं कालरूपसे इसमें व्याप्त होता हूँ, प्रलयका संकल्प करता हूँ, तब यह भुवनोंके साथ विनाशरूप विभागके योग्य हो जाता है॥ २१॥

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते॥ २२

अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते॥ २३

रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु॥ २४

योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः॥ २५

स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये॥ २६

कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः॥ २७

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः॥ २८

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥ २९

उसके लीन होनेकी प्रक्रिया यह है कि प्राणियोंके शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें और भूमि गन्ध-तन्मात्रामें लीन हो जाती है॥ २२॥ गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें और तेज रूपमें लीन हो जाता है॥ २३॥ रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश शब्दतन्मात्रामें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने कारण देवताओंमें और अन्ततः राजस अहंकारमें समा जाती हैं॥ २४॥ हे सौम्य! राजस अहंकार अपने नियन्ता सात्त्विक अहंकाररूप मनमें, शब्दतन्मात्रा पंचभूतोंके कारण तामस अहंकारमें और सारे जगत्को मोहित करनेमें समर्थ त्रिविध अहंकार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है॥ २५॥ ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिप्रधान महत्तत्त्व अपने कारण गुणोंमें लीन हो जाता है। गुण अव्यक्त प्रकृतिमें और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी कालमें लीन हो जाती है॥ २६॥ काल मायामय जीवमें और जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है। आत्मा किसीमें लीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान एवं अवधि है॥ २७॥ उद्धवजी! जो इस प्रकार विवेकदृष्टिसे देखता है उसके चित्तमें यह प्रपंचका भ्रम हो ही नहीं सकता। यदि कदाचित् उसकी स्फूर्ति हो भी जाय तो वह अधिक कालतक हृदयमें ठहर कैसे सकता है? क्या सूर्योदय होनेपर भी आकाशमें अन्धकार ठहर सकता है॥ २८॥ उद्धवजी! मैं कार्य और कारण दोनोंका ही साक्षी हूँ। मैंने तुम्हें सृष्टिसे प्रलय और प्रलयसे सृष्टितककी सांख्यविधि बतला दी। इससे सन्देहकी गाँठ कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत्।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः॥ १

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषप्रवर उद्धवजी! प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग गुणोंका प्रकाश होता है। उनके कारण प्राणियोंके स्वभावमें भी भेद हो

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥ २

काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम् ।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३

क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः ।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राऽऽशा भीरनुद्यमः ॥ ४

सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥ ५

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥ १०

जाता है। अब मैं बतलाता हूँ कि किस गुणसे कैसा-कैसा स्वभाव बनता है। तुम सावधानीसे सुनो ॥ १ ॥ सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं—शम (मनःसंयम), दम (इन्द्रियनिग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता), विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, विषयोंके प्रति अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा (पाप करनेमें स्वाभाविक संकोच), आत्मरति, दान, विनय और सरलता आदि ॥ २ ॥ रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं—इच्छा, प्रयत्न, घमंड, तृष्णा (असन्तोष), ऐंठ या अकड़, देवताओंसे धन आदिकी याचना, भेदबुद्धि, विषयभोग, युद्धादिके लिये मदजनित उत्साह, अपने यशमें प्रेम, हास्य, पराक्रम और हठपूर्वक उद्योग करना आदि ॥ ३ ॥ तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं—क्रोध (असहिष्णुता), लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अकर्मण्यता आदि ॥ ४ ॥ इस प्रकार क्रमसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया। अब उनके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन सुनो ॥ ५ ॥ उद्धवजी! 'मैं हूँ और यह मेरा है' इस प्रकारकी बुद्धिमें तीनों गुणोंका मिश्रण है। जिन मन, शब्दादि विषय, इन्द्रिय और प्राणोंके कारण पूर्वोक्त वृत्तियोंका उदय होता है, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस हैं ॥ ६ ॥ जब मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें संलग्न रहता है, तब उसे सत्त्वगुणसे श्रद्धा, रजोगुणसे रति और तमोगुणसे धनकी प्राप्ति होती है। यह भी गुणोंका मिश्रण ही है ॥ ७ ॥ जिस समय मनुष्य सकाम कर्म, गृहस्थाश्रम और स्वधर्माचरणमें अधिक प्रीति रखता है, उस समय भी उसमें तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये ॥ ८ ॥

मानसिक शान्ति और जितेन्द्रियता आदि गुणोंसे सत्त्वगुणी पुरुषकी, कामना आदिसे रजोगुणी पुरुषकी और क्रोध-हिंसा आदिसे तमोगुणी पुरुषकी पहचान करे ॥ ९ ॥ पुरुष हो, चाहे स्त्री—जब वह निष्काम होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा मेरी आराधना करे, तब उसे सत्त्वगुणी जानना चाहिये ॥ १० ॥

यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम्॥ ११

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते॥ १२

यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम्।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान्॥ १३

यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः संगं भिदा चलम्।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया॥ १४

यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाऽऽशया॥ १५

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसंगं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम्॥ १६

विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय॥ १७

सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय॥ १८

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम्॥ १९

सकामभावसे अपने कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करनेवाला रजोगुणी है और जो अपने शत्रुकी मृत्यु आदिके लिये मेरा भजन-पूजन करे, उसे तमोगुणी समझना चाहिये॥ ११॥ सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका कारण जीवका चित्त है। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हीं गुणोंके द्वारा जीव शरीर अथवा धन आदिमें आसक्त होकर बन्धनमें पड़ जाता है॥ १२॥ सत्त्वगुण प्रकाशक, निर्मल और शान्त है। जिस समय वह रजोगुण और तमोगुणको दबाकर बढ़ता है, उस समय पुरुष सुख, धर्म और ज्ञान आदिका भाजन हो जाता है॥ १३॥ रजोगुण भेदबुद्धिका कारण है। उसका स्वभाव है आसक्ति और प्रवृत्ति। जिस समय तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है, उस समय मनुष्य दुःख, कर्म, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होता है॥ १४॥ तमोगुणका स्वरूप है अज्ञान। उसका स्वभाव है आलस्य और बुद्धिकी मूढ़ता। जब वह बढ़कर सत्त्वगुण और रजोगुणको दबा लेता है, तब प्राणी तरह-तरहकी आशाएँ करता है, शोक-मोहमें पड़ जाता है, हिंसा करने लगता है अथवा निद्रा-आलस्यके वशीभूत होकर पड़ रहता है॥ १५॥ जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियाँ शान्त हों, देह निर्भय हो और मनमें आसक्ति न हो, तब सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये। सत्त्वगुण मेरी प्राप्तिका साधन है॥ १६॥ जब काम करते-करते जीवकी बुद्धि चंचल, ज्ञानेन्द्रियाँ असन्तुष्ट, कर्मेन्द्रियाँ विकारयुक्त, मन भ्रान्त और शरीर अस्वस्थ हो जाय, तब समझना चाहिये कि रजोगुण जोर पकड़ रहा है॥ १७॥

जब चित्त ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंको ठीक-ठीक समझनेमें असमर्थ हो जाय और खिन्न होकर लीन होने लगे, मन सूना-सा हो जाय तथा अज्ञान और विषादकी वृद्धि हो, तब समझना चाहिये कि तमोगुण वृद्धिपर है॥ १८॥

उद्धवजी! सत्त्वगुणके बढ़नेपर देवताओंका, रजोगुणके बढ़नेपर असुरोंका और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल बढ़ जाता है। (वृत्तियोंमें भी क्रमशः सत्त्वादि गुणोंकी अधिकता होनेपर देवत्व, असुरत्व और राक्षसत्व-प्रधान निवृत्ति, प्रवृत्ति अथवा मोहकी

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥ २०

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाधोऽध आमुख्याद् रजसान्तरचारिणः॥ २१

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः॥ २२

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥ २३

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥ २४

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम्॥ २५

सात्त्विकः कारकोऽसंगी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥ २६

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥ २७

प्रधानता हो जाती है)॥ १९॥ सत्त्वगुणसे जाग्रत्-अवस्था, रजोगुणसे स्वप्नावस्था और तमोगुणसे सुषुप्ति-अवस्था होती है। तुरीय इन तीनोंमें एक-सा व्याप्त रहता है। वही शुद्ध और एकरस आत्मा है॥ २०॥ वेदोंके अभ्यासमें तत्पर ब्राह्मण सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं। तमोगुणसे जीवोंको वृक्षादिपर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है और रजोगुणसे मनुष्य-शरीर मिलता है॥ २१॥ जिसकी मृत्यु सत्त्वगुणोंकी वृद्धिके समय होती है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; जिसकी रजोगुणकी वृद्धिके समय होती है, उसे मनुष्य-लोक मिलता है और जो तमोगुणकी वृद्धिके समय मरता है, उसे नरककी प्राप्ति होती है। परन्तु जो पुरुष त्रिगुणातीत—जीवन्मुक्त हो गये हैं, उन्हें मेरी ही प्राप्ति होती है॥ २२॥ जब अपने धर्मका आचरण मुझे समर्पित करके अथवा निष्कामभावसे किया जाता है तब वह सात्त्विक होता है। जिस कर्मके अनुष्ठानमें किसी फलकी कामना रहती है, वह राजसिक होता है और जिस कर्ममें किसीको सताने अथवा दिखाने आदिका भाव रहता है, वह तामसिक होता है॥ २३॥ शुद्ध आत्माका ज्ञान सात्त्विक है। उसको कर्ता-भोक्ता समझना राजस ज्ञान है और उसे शरीर समझना तो सर्वथा तामसिक है। इन तीनोंसे विलक्षण मेरे स्वरूपका वास्तविक ज्ञान निर्गुण ज्ञान है॥ २४॥ वनमें रहना सात्त्विक निवास है, गाँवमें रहना राजस है और जूआघरमें रहना तामसिक है। इन सबसे बढ़कर मेरे मन्दिरमें रहना निर्गुण निवास है॥ २५॥ अनासक्तभावसे कर्म करनेवाला सात्त्विक है, रागान्ध होकर कर्म करनेवाला राजसिक है और पूर्वापर विचारसे रहित होकर करनेवाला तामसिक है। इनके अतिरिक्त जो पुरुष केवल मेरी शरणमें रहकर बिना अहंकारके कर्म करता है, वह निर्गुण कर्ता है॥ २६॥ आत्मज्ञानविषयक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है, कर्मविषयक श्रद्धा राजस है और जो श्रद्धा अधर्ममें होती है, वह तामस है तथा मेरी सेवामें जो श्रद्धा है, वह निर्गुण श्रद्धा है॥ २७॥

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि॥ २८

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥ २९

आरोग्यदायक, पवित्र और अनायास प्राप्त भोजन सात्त्विक है। रसनेन्द्रियको रुचिकर और स्वादकी दृष्टिसे युक्त आहार राजस है तथा दुःखदायी और अपवित्र आहार तामस है॥ २८॥ अन्तर्मुखतासे—आत्मचिन्तनसे प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है। बहिर्मुखतासे—विषयोंसे प्राप्त होनेवाला राजस है तथा अज्ञान और दीनतासे प्राप्त होनेवाला सुख तामस है और जो सुख मुझसे मिलता है, वह तो गुणातीत और अप्राकृत है॥ २९॥

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥ ३०

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥ ३१

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥ ३२

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसंगं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥ ३३

निःसंगो मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्वसंसेवया मुनिः॥ ३४

सत्त्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्॥ ३५

उद्धवजी! द्रव्य (वस्तु), देश (स्थान), फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, देव-मनुष्य-तिर्यगादि शरीर और निष्ठा—सभी त्रिगुणात्मक हैं॥ ३०॥ नररत्न! पुरुष और प्रकृतिके आश्रित जितने भी भाव हैं, सभी गुणमय हैं—वे चाहे नेत्रादि इन्द्रियोंसे अनुभव किये हुए हों, शास्त्रोंके द्वारा लोक-लोकान्तरोंके सम्बन्धमें सुने गये हों अथवा बुद्धिके द्वारा सोचे-विचारे गये हों॥ ३१॥ जीवको जितनी भी योनियाँ अथवा गतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब उनके गुणों और कर्मोंके अनुसार ही होती हैं। हे सौम्य! सब-के-सब गुण चित्तसे ही सम्बन्ध रखते हैं (इसलिये जीव उन्हें अनायास ही जीत सकता है) जो जीव उनपर विजय प्राप्त कर लेता है, वह भक्तियोगके द्वारा मुझमें ही परिनिष्ठित हो जाता है और अन्ततः मेरा वास्तविक स्वरूप, जिसे मोक्ष भी कहते हैं, प्राप्त कर लेता है॥ ३२॥ यह मनुष्यशरीर बहुत ही दुर्लभ है। इसी शरीरमें तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूप विज्ञानकी प्राप्ति सम्भव है; इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुषोंको गुणोंकी आसक्ति हटाकर मेरा भजन करना चाहिये॥ ३३॥ विचारशील पुरुषको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे सत्त्वगुणके सेवनसे रजोगुण और तमोगुणको जीत ले, इन्द्रियोंको वशमें कर ले और मेरे स्वरूपको समझकर मेरे भजनमें लग जाय। आसक्तिको लेशमात्र भी न रहने दे॥ ३४॥ योगयुक्तिसे चित्तवृत्तियोंको शान्त करके निरपेक्षताके द्वारा सत्त्वगुणपर भी विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार गुणोंसे मुक्त होकर जीव अपने जीवभावको छोड़ देता है और मुझसे एक हो जाता है॥ ३५॥

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्॥ ३६

जीव लिंगशरीररूप अपनी उपाधि जीवत्वसे तथा अन्तःकरणमें उदय होनेवाली सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंसे मुक्त होकर मुझ ब्रह्मकी अनुभूतिसे एकत्वदर्शनसे पूर्ण हो जाता है और वह फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी विषयमें नहीं जाता॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

पुरूरवाकी वैराग्योक्ति

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्॥ १

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! यह मनुष्यशरीर मेरे स्वरूपज्ञानकी प्राप्तिका—मेरी प्राप्तिका मुख्य साधन है। इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेमसे मेरी भक्ति करता है, वह अन्तःकरणमें स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है॥ १॥

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः।
वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः॥ २

जीवोंकी सभी योनियाँ, सभी गतियाँ त्रिगुणमयी हैं। जीव ज्ञाननिष्ठाके द्वारा उनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। सत्त्व-रज आदि गुण जो दीख रहे हैं वे वास्तविक नहीं हैं, मायामात्र हैं। ज्ञान हो जानेके बाद पुरुष उनके बीचमें रहनेपर भी, उनके द्वारा व्यवहार करनेपर भी उनसे बँधता नहीं। इसका कारण यह है कि उन गुणोंकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है॥ २॥

संगं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥ ३

साधारण लोगोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जो लोग विषयोंके सेवन और उदरपोषणमें ही लगे हुए हैं, उन असत् पुरुषोंका संग कभी न करें; क्योंकि उनका अनुगमन करनेवाले पुरुषकी वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अंधेके सहारे चलनेवाले अंधेकी। उसे तो घोर अन्धकारमें ही भटकना पड़ता है॥ ३॥

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान् मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे॥ ४

उद्धवजी! पहले तो परम यशस्वी सम्राट् इलानन्दन पुरूरवा उर्वशीके विरहसे अत्यन्त बेसुध हो गया था। पीछे शोक हट जानेपर उसे बड़ा वैराग्य हुआ और तब उसने यह गाथा गायी॥ ४॥

त्यक्त्वाऽऽत्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः॥ ५

राजा पुरूरवा नग्न होकर पागलकी भाँति अपनेको छोड़कर भागती हुई उर्वशीके पीछे अत्यन्त विह्वल होकर दौड़ने लगा और कहने लगा—'देवि! निष्ठुर हृदये! थोड़ी देर ठहर जा, भाग मत'॥ ५॥

कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः॥ ६

उर्वशीने उनका चित्त आकृष्ट कर लिया था। उन्हें तृप्ति नहीं हुई थी। वे क्षुद्र विषयोंके सेवनमें इतने डूब गये थे कि उन्हें वर्षोंकी रात्रियाँ न जाती मालूम पड़ीं और न तो आतीं॥ ६॥

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः॥ ७

नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत॥ ८

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः॥ ९

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम्।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद् रुदन्॥ १०

कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः॥ ११

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥ १२

स्वार्थस्याकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम्।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः॥ १३

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम्।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा॥ १४

पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम्॥ १५

पुरूरवाने कहा—हाय-हाय! भला, मेरी मूढ़ता तो देखो, कामवासनाने मेरे चित्तको कितना कलुषित कर दिया! उर्वशीने अपनी बाहुओंसे मेरा ऐसा गला पकड़ा कि मैंने आयुके न जाने कितने वर्ष खो दिये। ओह! विस्मृतिकी भी एक सीमा होती है॥ ७॥ हाय-हाय! इसने मुझे लूट लिया। सूर्य अस्त हो गया या उदित हुआ—यह भी मैं न जान सका। बड़े खेदकी बात है कि बहुत-से वर्षोंके दिन-पर-दिन बीतते गये और मुझे मालूमतक न पड़ा॥ ८॥ अहो! आश्चर्य है! मेरे मनमें इतना मोह बढ़ गया, जिसने नरदेव-शिखामणि चक्रवर्ती सम्राट् मुझ पुरूरवाको भी स्त्रियोंका क्रीडामृग (खिलौना) बना दिया॥ ९॥ देखो, मैं प्रजाको मर्यादामें रखनेवाला सम्राट् हूँ। वह मुझे और मेरे राजपाटको तिनकेकी तरह छोड़कर जाने लगी और मैं पागल होकर नंग-धड़ंग रोता-बिलखता उस स्त्रीके पीछे दौड़ पड़ा। हाय! हाय! यह भी कोई जीवन है॥ १०॥ मैं गधेकी तरह दुलत्तियाँ सहकर भी स्त्रीके पीछे-पीछे दौड़ता रहा; फिर मुझमें प्रभाव, तेज और स्वामित्व भला कैसे रह सकता है॥ ११॥ स्त्रीने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्याससे भी कोई लाभ नहीं। और इसमें सन्देह नहीं कि उसका एकान्तसेवन और मौन भी निष्फल है॥ १२॥ मुझे अपनी ही हानि-लाभका पता नहीं, फिर भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता हूँ। मुझ मूर्खको धिक्कार है! हाय! हाय! मैं चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी गधे और बैलकी तरह स्त्रीके फंदेमें फँस गया॥ १३॥ मैं वर्षोंतक उर्वशीके होठोंकी मादक मदिरा पीता रहा, पर मेरी कामवासना तृप्त न हुई। सच है, कहीं आहुतियोंसे अग्निकी तृप्ति हुई है॥ १४॥ उस कुलटाने मेरा चित्त चुरा लिया। आत्माराम जीवन्मुक्तोंके स्वामी इन्द्रियातीत भगवान्को छोड़कर और ऐसा कौन है, जो मुझे उसके फंदेसे निकाल सके॥ १५॥

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः॥ १६

उर्वशीने तो मुझे वैदिक सूक्तके वचनोंद्वारा यथार्थ बात कहकर समझाया भी था; परन्तु मेरी बुद्धि ऐसी मारी गयी कि मेरे मनका वह भयंकर मोह तब भी मिटा नहीं। जब मेरी इन्द्रियाँ ही मेरे हाथके बाहर हो गयीं, तब मैं समझता भी कैसे॥ १६॥

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः॥ १७

जो रस्सीके स्वरूपको न जानकर उसमें सर्पकी कल्पना कर रहा है और दुखी हो रहा है, रस्सीने उसका क्या बिगाड़ा है? इसी प्रकार इस उर्वशीने भी हमारा क्या बिगाड़ा? क्योंकि स्वयं मैं ही अजितेन्द्रिय होनेके कारण अपराधी हूँ॥ १७॥

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः॥ १८

कहाँ तो यह मैला-कुचैला, दुर्गन्धसे भरा अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुण! परन्तु मैंने अज्ञानवश असुन्दरमें सुन्दरका आरोप कर लिया॥ १८॥

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते॥ १९

यह शरीर माता-पिताका सर्वस्व है अथवा पत्नीकी सम्पत्ति? यह स्वामीकी मोल ली हुई वस्तु है, आगका ईंधन है अथवा कुत्ते और गीधोंका भोजन? इसे अपना कहें अथवा सुहृद्-सम्बन्धियोंका? बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई निश्चय नहीं होता॥ १९॥

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः॥ २०

यह शरीर मल-मूत्रसे भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है। इसका अन्त यही है कि पक्षी खाकर विष्ठा कर दें, इसके सड़ जानेपर इसमें कीड़े पड़ जायँ अथवा जला देनेपर यह राखका ढेर हो जाय। ऐसे शरीरपर लोग लट्टू हो जाते हैं और कहने लगते हैं—'अहो! इस स्त्रीका मुखड़ा कितना सुन्दर है! नाक कितनी सुघड़ है और मन्द-मन्द मुसकान कितनी मनोहर है॥ २०॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥ २१

यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेदा, मज्जा और हड्डियोंका ढेर और मल-मूत्र तथा पीबसे भरा हुआ है। यदि मनुष्य इसमें रमता है तो मल-मूत्रके कीड़ोंमें और उसमें अन्तर ही क्या है॥ २१॥

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा॥ २२

इसलिये अपनी भलाई समझनेवाले विवेकी मनुष्यको चाहिये कि स्त्रियों और स्त्री-लम्पट पुरुषोंका संग न करे। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है; अन्यथा विकारका कोई अवसर ही नहीं है॥ २२॥

अदृष्टादश्रुताद् भावान्न भाव उपजायते।
असम्प्रयुंजतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः॥ २३

जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मनमें विकार नहीं होता। जो लोग विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है॥ २३॥

तस्मात् संगो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः।
विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम्॥ २४

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ २५

ततो दुःसंगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्य च्छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः॥ २६

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥ २७

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥ २८

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥ २९

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥ ३०

अतः वाणी, कान और मन आदि इन्द्रियोंसे स्त्रियों और स्त्रीलम्पटोंका संग कभी नहीं करना चाहिये। मेरे-जैसे लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं हैं॥ २४॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! राजराजेश्वर पुरूरवाके मनमें जब इस तरहके उद्गार उठने लगे, तब उसने उर्वशीलोकका परित्याग कर दिया। अब ज्ञानोदय होनेके कारण उसका मोह जाता रहा और उसने अपने हृदयमें ही आत्मस्वरूपसे मेरा साक्षात्कार कर लिया और वह शान्तभावमें स्थित हो गया॥ २५॥ इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पुरूरवाकी भाँति कुसंग छोड़कर सत्पुरुषोंका संग करे। संत पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्ट कर देंगे॥ २६॥ संत पुरुषोंका लक्षण यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती। उनका चित्त मुझमें लगा रहता है। उनके हृदयमें शान्तिका अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें सब रूपसे स्थित भगवान्का ही दर्शन करते हैं। उनमें अहंकारका लेश भी नहीं होता, फिर ममताकी तो सम्भावना ही कहाँ है। वे सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें एकरस रहते हैं तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ-सम्बन्धी किसी प्रकारका भी परिग्रह नहीं रखते॥ २७॥ परमभाग्यवान् उद्धवजी! संतोंके सौभाग्यकी महिमा कौन कहे? उनके पास सदा-सर्वदा मेरी लीला-कथाएँ हुआ करती हैं। मेरी कथाएँ मनुष्योंके लिये परम हितकर हैं; जो उनका सेवन करते हैं, उनके सारे पाप-तापोंको वे धो डालती हैं॥ २८॥ जो लोग आदर और श्रद्धासे मेरी लीला-कथाओंका श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ २९॥ उद्धवजी! मैं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुणगणोंका आश्रय हूँ। मेरा स्वरूप है—केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा। मैं साक्षात् परब्रह्म हूँ। जिसे मेरी भक्ति मिल गयी, वह तो संत हो गया। अब उसे कुछ भी पाना शेष नहीं है॥ ३०॥

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥ ३१

उनकी तो बात ही क्या—जिसने उन संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली उसकी भी कर्मजडता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्निभगवान्‌का आश्रय ले लिया उसे शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख हो सकता है?॥ ३१॥

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥ ३२

जो इस घोर संसारसागरमें डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये दृढ़ नौका॥ ३२॥

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥ ३३

जैसे अन्नसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं ही दीन-दुखियोंका परम रक्षक हूँ, जैसे मनुष्यके लिये परलोकमें धर्म ही एकमात्र पूँजी है—वैसे ही जो लोग संसारसे भयभीत हैं, उनके लिये संतजन ही परम आश्रय हैं॥ ३३॥

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥ ३४

जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपनेको तथा भगवान्‌को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। संत अनुग्रहशील देवता हैं। संत अपने हितैषी सुहृद् हैं। संत अपने प्रियतम आत्मा हैं। और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही संतके रूपमें विद्यमान हूँ॥ ३४॥

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः।
मुक्तसंगो महीमेतामात्मारामश्चचार ह॥ ३५

प्रिय उद्धव! आत्मसाक्षात्कार होते ही इलानन्दन पुरूरवाको उर्वशीके लोककी स्पृहा न रही। उसकी सारी आसक्तियाँ मिट गयीं और वह आत्माराम होकर स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगा॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

क्रियायोगका वर्णन

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ॥ १

उद्धवजीने पूछा—भक्तवत्सल श्रीकृष्ण! जिस क्रियायोगका आश्रय लेकर जो भक्तजन जिस प्रकारसे जिस उद्देश्यसे आपकी अर्चा-पूजा करते हैं, आप अपने उस आराधनरूप क्रियायोगका वर्णन कीजिये॥ १॥

एतद् वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम्।
नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः॥ २

देवर्षि नारद, भगवान् व्यासदेव और आचार्य बृहस्पति आदि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यह बात बार-बार कहते हैं कि क्रियायोगके द्वारा आपकी आराधना ही मनुष्योंके परम कल्याणकी साधना है॥ २॥

निःसृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः॥ ३

एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम्।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद॥ ४

एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम्।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर॥ ५

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ६

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥ ७

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे॥ ८

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया॥ ९

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना॥ १०

सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक् संकल्पः कर्मपावनीम्॥ ११

यह क्रियायोग पहले-पहल आपके मुखारविन्दसे ही निकला था। आपसे ही ग्रहण करके इसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र भृगु आदि महर्षियोंको और भगवान् शंकरने अपनी अर्द्धांगिनी भगवती पार्वतीजीको उपदेश किया था॥ ३॥ मर्यादारक्षक प्रभो! यह क्रियायोग ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णों और ब्रह्मचारी-गृहस्थ आदि आश्रमोंके लिये भी परम कल्याणकारी है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि स्त्री-शूद्रादिके लिये भी यही सबसे श्रेष्ठ साधना-पद्धति है॥ ४॥ कमलनयन श्यामसुन्दर! आप शंकर आदि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर हैं और मैं आपके चरणोंका प्रेमी भक्त हूँ। आप कृपा करके मुझे यह कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाली विधि बतलाइये॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! कर्मकाण्डका इतना विस्तार है कि उसकी कोई सीमा नहीं है; इसलिये मैं उसे थोड़ेमें ही पूर्वापर-क्रमसे विधिपूर्वक वर्णन करता हूँ॥ ६॥ मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। इन तीनोंमेंसे मेरे भक्तको जो भी अपने अनुकूल जान पड़े, उसी विधिसे मेरी आराधना करनी चाहिये॥ ७॥ पहले अपने अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधिसे समयपर यज्ञोपवीत-संस्कारके द्वारा संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करे, फिर श्रद्धा और भक्तिके साथ वह किस प्रकार मेरी पूजा करे, इसकी विधि तुम मुझसे सुनो॥ ८॥ भक्तिपूर्वक निष्कपट भावसे अपने पिता एवं गुरुरूप मुझ परमात्माका पूजाकी सामग्रियोंके द्वारा मूर्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें—चाहे किसीमें भी आराधना करे॥ ९॥ उपासकको चाहिये कि प्रातःकाल दतुअन करके पहले शरीरशुद्धिके लिये स्नान करे और फिर वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिट्टी और भस्म आदिका लेप करके पुनः स्नान करे॥ १०॥ इसके पश्चात् वेदोक्त सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद मेरी आराधनाका ही सुदृढ़ संकल्प करके वैदिक और तान्त्रिक विधियोंसे कर्मबन्धनोंसे छुड़ानेवाली मेरी पूजा करे॥ ११॥

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ १२

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने॥ १३

अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम्।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम्॥ १४

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि॥ १५

स्नानालंकरणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः॥ १६

सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥ १७

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥ १८

शुचिः सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः।
आसीनः प्रागुदग् वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः॥ १९

मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी होती है—पत्थरकी, लकड़ीकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दन आदिकी, चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी॥ १२॥ चल और अचल भेदसे दो प्रकारकी प्रतिमा ही मुझ भगवान्का मन्दिर है। उद्धवजी! अचल प्रतिमाके पूजनमें प्रतिदिन आवाहन और विसर्जन नहीं करना चाहिये॥ १३॥ चल प्रतिमाके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे करे और चाहे न करे। परन्तु बालुकामयी प्रतिमामें तो आवाहन और विसर्जन प्रतिदिन करना ही चाहिये। मिट्टी और चन्दनकी तथा चित्रमयी प्रतिमाओंको स्नान न करावे, केवल मार्जन कर दे; परन्तु और सबको स्नान कराना चाहिये॥ १४॥ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पदार्थोंसे प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा की जाती है, परन्तु जो निष्काम भक्त है, वह अनायास प्राप्त पदार्थोंसे और भावनामात्रसे ही हृदयमें मेरी पूजा कर ले॥ १५॥ उद्धवजी! स्नान, वस्त्र, आभूषण आदि तो पाषाण अथवा धातुकी प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी हैं। बालुकामयी मूर्ति अथवा मिट्टीकी वेदीमें पूजा करनी हो तो उसमें मन्त्रोंके द्वारा अंग और उसके प्रधान देवताओंकी यथास्थान पूजा करनी चाहिये। तथा अग्निमें पूजा करनी हो तो घृतमिश्रित हवन-सामग्रियोंसे आहुति देनी चाहिये॥ १६॥ सूर्यको प्रतीक मानकर की जानेवाली उपासनामें मुख्यतः अर्घ्यदान एवं उपस्थान ही प्रिय है और जलमें तर्पण आदिसे मेरी उपासना करनी चाहिये। जब मुझे कोई भक्त हार्दिक श्रद्धासे जल भी चढ़ाता है, तब मैं उसे बड़े प्रेमसे स्वीकार करता हूँ॥ १७॥ यदि कोई अभक्त मुझे बहुत-सी सामग्री निवेदन करे तो भी मैं उससे सन्तुष्ट नहीं होता। जब मैं भक्ति-श्रद्धापूर्वक समर्पित जलसे ही प्रसन्न हो जाता हूँ, तब गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि वस्तुओंके समर्पणसे तो कहना ही क्या है॥ १८॥

उपासक पहले पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर ले। फिर इस प्रकार कुश बिछाये कि उनके अगले भाग पूर्वकी ओर रहें। तदनन्तर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके पवित्रतासे उन कुशोंके आसनपर बैठ जाय। यदि प्रतिमा अचल हो तो उसके सामने ही बैठना चाहिये। इसके बाद पूजाकार्य प्रारम्भ करे॥ १९॥

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिना मृजेत्।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत्॥ २०

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत्॥ २१

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥ २२

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम्॥ २३

तयाऽऽत्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्तांगं मां प्रपूजयेत्॥ २४

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत्।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसनं मम॥ २५

पहले विधिपूर्वक अंगन्यास और करन्यास कर ले। इसके बाद मूर्तिमें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमापरसे पूर्वसमर्पित सामग्री हटाकर उसे पोंछ दे। इसके बाद जलसे भरे हुए कलश और प्रोक्षणपात्र आदिकी पूजा गन्ध-पुष्प आदिसे करे॥ २०॥ प्रोक्षणपात्रके जलसे पूजासामग्री और अपने शरीरका प्रोक्षण कर ले। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पात्रोंमें कलशमेंसे जल भरकर रख ले और उनमें पूजा-पद्धतिके अनुसार सामग्री डाले। (पाद्यपात्रमें श्यामाक—साँवेके दाने, दूब, कमल, विष्णुक्रान्ता और चन्दन, तुलसीदल आदि; अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, अक्षत, जौ, कुश, तिल, सरसों और दूब तथा आचमनपात्रमें जायफल, लौंग आदि डाले।) इसके बाद पूजा करनेवालेको चाहिये कि तीनों पात्रोंको क्रमशः हृदयमन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अन्तमें गायत्रीमन्त्रसे तीनोंको अभिमन्त्रित करे॥ २१-२२॥ इसके बाद प्राणायामके द्वारा प्राण-वायु और भावनाओंद्वारा शरीरस्थ अग्निके शुद्ध हो जानेपर हृदयकमलमें परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ दीपशिखाके समान मेरी जीवकलाका ध्यान करे। बड़े-बड़े सिद्ध ऋषि-मुनि ॐकारके अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद—इन पाँच कलाओंके अन्तमें उसी जीव-कलाका ध्यान करते हैं॥ २३॥ वह जीवकला आत्म-स्वरूपिणी है। जब उसके तेजसे सारा अन्तःकरण और शरीर भर जाय तब मानसिक उपचारोंसे मन-ही-मन उसकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर तन्मय होकर मेरा आवाहन करे और प्रतिमा आदिमें स्थापना करे। फिर मन्त्रोंके द्वारा अंगन्यास करके उसमें मेरी पूजा करे॥ २४॥ उद्धवजी! मेरे आसनमें धर्म आदि गुणों और विमला आदि शक्तियोंकी भावना करे। अर्थात् आसनके चारों कोनोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप चार पाये हैं; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये चार चारों दिशाओंमें डंडे हैं; सत्त्व-रज-तम-रूप तीन पटरियोंकी बनी हुई पीठ है; उसपर विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ विराजमान हैं। उस आसनपर एक अष्टदल कमल है, उसकी कर्णिका

पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम्।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये॥ २६

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान्।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत्॥ २७

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम्॥ २८

दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान्।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः॥ २९

चन्दनोशीरकर्पूरकुंकुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति॥ ३०

स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः॥ ३१

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम्॥ ३२

पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान्।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः॥ ३३

गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान्।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत्॥ ३४

अभ्यंगोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि[1] पर्वणि स्युरुतान्वहम्॥ ३५

अत्यन्त प्रकाशमान है और पीली-पीली केसरोंकी छटा निराली ही है। आसनके सम्बन्धमें ऐसी भावना करके पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत करे। तदनन्तर भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये वैदिक और तान्त्रिक विधिसे मेरी पूजा करे॥ २५-२६॥

सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शंख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे और कौस्तुभमणि, वैजयन्ती-माला तथा श्रीवत्सचिह्नकी वक्षःस्थलपर यथास्थान पूजा करे॥ २७॥ नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्षदोंकी आठ दिशाओंमें; गरुड़की सामने; दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी चारों कोनोंमें स्थापना करके पूजन करे। बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी स्थापना करके प्रोक्षण, अर्घ्यदान आदि क्रमसे उनकी पूजा करनी चाहिये॥ २८-२९॥

प्रिय उद्धव! यदि सामर्थ्य हो तो प्रतिदिन चन्दन, खस, कपूर, केसर और अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओंद्वारा सुवासित जलसे मुझे स्नान कराये और उस समय '**सुवर्ण घर्म**' इत्यादि स्वर्णघर्मानुवाक, '**जितं ते पुण्डरीकाक्ष**' इत्यादि महापुरुषविद्या, '**सहस्रशीर्षा पुरुषः**' इत्यादि पुरुषसूक्त और '**इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्त**' इत्यादि मन्त्रोक्त राजनादि साम-गायनका पाठ भी करता रहे॥ ३०-३१॥ मेरा भक्त वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध और चन्दनादिसे प्रेमपूर्वक यथावत् मेरा शृंगार करे॥ ३२॥ उपासक श्रद्धाके साथ मुझे पाद्य, आचमन, चन्दन, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप आदि सामग्रियाँ समर्पित करे॥ ३३॥ यदि हो सके तो गुड़, खीर, घृत, पूड़ी, पूए, लड्डू, हलुआ, दही और दाल आदि विविध व्यंजनोंका नैवेद्य लगावे॥ ३४॥ भगवान्‌के विग्रहको दतुअन कराये, उबटन लगाये, पञ्चामृत आदिसे स्नान कराये, सुगन्धित पदार्थोंका लेप करे, दर्पण दिखाये, भोग लगाये और शक्ति हो तो प्रतिदिन अथवा पर्वोंके अवसरपर नाचने-गाने आदिका भी प्रबन्ध करे॥ ३५॥

१. अन्नादि गीतनृत्यादि मत्पर्वणि यथार्हतः।

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम्॥ ३६

उद्धवजी! तदनन्तर पूजाके बाद शास्त्रोक्त विधिसे बने हुए कुण्डमें अग्निकी स्थापना करे। वह कुण्ड मेखला, गर्त और वेदीसे शोभायमान हो। उसमें हाथकी हवासे अग्नि प्रज्वलित करके उसका परिसमूहन करे, अर्थात् उसे एकत्र कर दे॥ ३६॥

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि।
प्रोक्षण्याऽऽसाद्य[1] द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम्॥ ३७

वेदीके चारों ओर कुशकण्डिका करके अर्थात् चारों ओर बीस-बीस कुश बिछाकर मन्त्र पढ़ता हुआ उनपर जल छिड़के। इसके बाद विधिपूर्वक समिधाओंका आधानरूप अन्वाधान कर्म करके अग्निके उत्तर भागमें होमोपयोगी सामग्री रखे और प्रोक्षणीपात्रके जलसे प्रोक्षण करे। तदनन्तर अग्निमें मेरा इस प्रकार ध्यान करे॥ ३७॥

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शंखचक्रगदाम्बुजैः।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिंजल्कवाससम्॥ ३८

'मेरी मूर्ति तपाये हुए सोनेके समान दम-दम दमक रही है। रोम-रोमसे शान्तिकी वर्षा हो रही है। लंबी और विशाल चार भुजाएँ शोभायमान हैं। उनमें शंख, चक्र, गदा, पद्म विराजमान हैं। कमलकी केसरके समान पीला-पीला वस्त्र फहरा रहा है॥ ३८॥

स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवरांगदम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम्॥ ३९

सिरपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, कमरमें करधनी और बाँहोंमें बाजूबंद झिलमिला रहे हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है। गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। घुटनोंतक वनमाला लटक रही है'॥ ३९॥

ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः॥ ४०

अग्निमें मेरी इस मूर्तिका ध्यान करके पूजा करनी चाहिये। इसके बाद सूखी समिधाओंको घृतमें डुबोकर आहुति दे और आज्यभाग और आघार नामक दो-दो आहुतियोंसे और भी हवन करे। तदनन्तर घीसे भिगोकर अन्य हवन-सामग्रियोंसे आहुति दे॥ ४०॥

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः॥ ४१

इसके बाद अपने इष्टमन्त्रसे अथवा '**ॐ नमो नारायणाय**' इस अष्टाक्षर मन्त्रसे तथा पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंसे हवन करे। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि धर्मादि देवताओंके लिये भी विधिपूर्वक मन्त्रोंसे हवन करे और स्विष्टकृत् आहुति भी दे॥ ४१॥

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत्।
मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम्॥ ४२

इस प्रकार अग्निमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान्‌की पूजा करके उन्हें नमस्कार करे और नन्द-सुनन्द आदि पार्षदोंको आठों दिशाओंमें हवनकर्मांग बलि दे। तदनन्तर प्रतिमाके सम्मुख बैठकर परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका स्मरण करे और भगवत्स्वरूप मूलमन्त्र '**ॐ नमो नारायणाय**' का जप करे॥ ४२॥

---

१. प्रोक्ष्याद्भिराज्यद्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नावावहेत माम्।

दत्त्वाऽऽचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत्।
मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत्॥ ४३

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम।
मत्कथाः श्रावयञ्छृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत्॥ ४४

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्॥ ४५

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥ ४६

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम्।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः॥ ४७

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत्।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः॥ ४८

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥ ४९

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम्।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान्॥ ५०

इसके बाद भगवान्‌को आचमन करावे और उनका प्रसाद विष्वक्सेनको निवेदन करे। इसके पश्चात् अपने इष्टदेवकी सेवामें सुगन्धित ताम्बूल आदि मुखवास उपस्थित करे तथा पुष्पाञ्जलि समर्पित करे॥ ४३॥ मेरी लीलाओंको गावे, उनका वर्णन करे और मेरी ही लीलाओंका अभिनय करे। यह सब करते समय प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगे। मेरी लीला-कथाएँ स्वयं सुने और दूसरोंको सुनावे। कुछ समयतक संसार और उसके रगड़ों-झगड़ोंको भूलकर मुझमें ही तन्मय हो जाय॥ ४४॥ प्राचीन ऋषियोंके द्वारा अथवा प्राकृत भक्तोंके द्वारा बनाये हुए छोटे-बड़े स्तव और स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करके प्रार्थना करे—'भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न हों। मुझे अपने कृपाप्रसादसे सराबोर कर दें।' तदनन्तर दण्डवत् प्रणाम करे॥ ४५॥ अपना सिर मेरे चरणोंपर रख दे और अपने दोनों हाथोंसे—दायेंसे दाहिना और बायेंसे बायाँ चरण पकड़कर कहे—'भगवन्! इस संसार-सागरमें मैं डूब रहा हूँ। मृत्युरूप मगर मेरा पीछा कर रहा है। मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मेरी रक्षा कीजिये'॥ ४६॥ इस प्रकार स्तुति करके मुझे समर्पित की हुई माला आदरके साथ अपने सिरपर रखे और उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद समझे। यदि विसर्जन करना हो तो ऐसी भावना करनी चाहिये कि प्रतिमामेंसे एक दिव्य ज्योति निकली है और वह मेरी हृदयस्थ ज्योतिमें लीन हो गयी है। बस, यही विसर्जन है॥ ४७॥ उद्धवजी! प्रतिमा आदिमें जब जहाँ श्रद्धा हो तब, तहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ॥ ४८॥

उद्धवजी! जो मनुष्य इस प्रकार वैदिक, तान्त्रिक क्रियायोगके द्वारा मेरी पूजा करता है वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है॥ ४९॥ यदि शक्ति हो तो उपासक सुन्दर और सुदृढ़ मन्दिर बनवाये और उसमें मेरी प्रतिमा स्थापित करे। सुन्दर-सुन्दर फूलोंके बगीचे लगवा दे; नित्यकी पूजा, पर्वकी यात्रा और बड़े-बड़े

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम्।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात्॥ ५१

प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥ ५२

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन[1] विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥ ५३

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः।
वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम्॥ ५४

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम्॥ ५५

उत्सवोंकी व्यवस्था कर दे॥ ५०॥ जो मनुष्य पर्वोंके उत्सव और प्रतिदिनकी पूजा लगातार चलनेके लिये खेत, बाजार, नगर अथवा गाँव मेरे नामपर समर्पित कर देते हैं, उन्हें मेरे समान ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है॥ ५१॥ मेरी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका एकच्छत्र राज्य, मन्दिर-निर्माणसे त्रिलोकीका राज्य, पूजा आदिकी व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक और तीनोंके द्वारा मेरी समानता प्राप्त होती है॥ ५२॥ जो निष्काम-भावसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त हो जाता है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर लेता है॥ ५३॥ जो अपनी दी हुई या दूसरोंकी दी हुई देवता और ब्राह्मणकी जीविका हरण कर लेता है, वह करोड़ों वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है॥ ५४॥ जो लोग ऐसे कामोंमें सहायता, प्रेरणा अथवा अनुमोदन करते हैं, वे भी मरनेके बाद प्राप्त करनेवालेके समान ही फलके भागीदार होते हैं। यदि उनका हाथ अधिक रहा तो फल भी उन्हें अधिक ही मिलता है॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

परमार्थनिरूपण

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! यद्यपि व्यवहारमें पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्यके भेदसे दो प्रकारका जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थ-दृष्टिसे देखनेपर यह सब एक अधिष्ठान-स्वरूप ही है; इसलिये किसीके शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उनके अनुसार कर्मोंकी न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा। सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिये॥ १॥

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥ २

जो पुरुष दूसरोंके स्वभाव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं, वे शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ-साधनसे च्युत हो जाते हैं; क्योंकि साधन तो द्वैतके अभिनिवेशका—उसके प्रति सत्यत्व-बुद्धिका निषेध करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यताके भ्रमको और भी दृढ़ करती हैं॥ २॥

१. क्रियायोगेन।

तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान्॥ ३

उद्धवजी! सभी इन्द्रियाँ राजस अहंकारके कार्य हैं। जब वे निद्रित हो जाती हैं तब शरीरका अभिमानी जीव चेतनाशून्य हो जाता है; अर्थात् उसे बाहरी शरीरकी स्मृति नहीं रहती। उस समय यदि मन बच रहा, तब तो वह सपनेके झूठे दृश्योंमें भटकने लगता है और वह भी लीन हो गया, तब तो जीव मृत्युके समान गाढ़ निद्रा—सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। वैसे ही जब जीव अपने अद्वितीय आत्मस्वरूपको भूलकर नाना वस्तुओंका दर्शन करने लगता है तब वह स्वप्नके समान झूठे दृश्योंमें फँस जाता है; अथवा मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है॥ ३॥

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥ ४

उद्धवजी! जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी, अथवा इतनी भली और इतनी बुरी है—यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। विश्वकी सभी वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं अथवा मनसे सोची जा सकती हैं; इसलिये दृश्य एवं अनित्य होनेके कारण उनका मिथ्यात्व तो स्पष्ट ही है॥ ४॥

छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्॥ ५

परछाईं, प्रतिध्वनि और सीपी आदिमें चाँदी आदिके आभास यद्यपि हैं तो सर्वथा मिथ्या, परन्तु उनके द्वारा मनुष्यके हृदयमें भय-कम्प आदिका संचार हो जाता है। वैसे ही देहादि सभी वस्तुएँ हैं तो सर्वथा मिथ्या ही, परन्तु जबतक ज्ञानके द्वारा इनकी असत्यताका बोध नहीं हो जाता, इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक ये भी अज्ञानियोंको भयभीत करती रहती हैं॥ ५॥

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥ ६

उद्धवजी! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है, वह आत्मा ही है। वही सर्वशक्तिमान् भी है। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त-कारण तो है ही, उपादान-कारण भी है। अर्थात् वही विश्व बनता है और वही बनाता भी है, वही रक्षक है और रक्षित भी वही है। सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है , वह भी वे ही हैं॥ ६॥

तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥ ७

अवश्य ही व्यवहारदृष्टिसे देखनेपर आत्मा इस विश्वसे भिन्न है; परन्तु आत्मदृष्टिसे उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही नहीं है। उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका किसी भी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता और अनिर्वचनीय तो केवल आत्मस्वरूप ही है; इसलिये आत्मामें सृष्टि-स्थिति-संहार अथवा

एतद् विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्॥ ८

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसंगो विचरेदिह॥ ९

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते॥ १०

आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः॥ ११

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥ १२

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ १३

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीन-तीन प्रकारकी प्रतीतियाँ सर्वथा निर्मूल ही हैं। न होनेपर भी यों ही प्रतीत हो रही हैं। यह सत्त्व, रज और तमके कारण प्रतीत होनेवाली द्रष्टा-दर्शन-दृश्य आदिकी त्रिविधता मायाका खेल है॥ ७॥ उद्धवजी! तुमसे मैंने ज्ञान और विज्ञानकी उत्तम स्थितिका वर्णन किया है। जो पुरुष मेरे इन वचनोंका रहस्य जान लेता है वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा। वह जगत्में सूर्यके समान समभावसे विचरता रहता है॥ ८॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और आत्मानुभूति आदि सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि यह जगत् उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण अनित्य एवं असत्य है। यह बात जानकर जगत्में असंगभावसे विचरना चाहिये॥ ९॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! आत्मा है द्रष्टा और देह है दृश्य। आत्मा स्वयंप्रकाश है और देह है जड। ऐसी स्थितिमें जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीरको हो सकता है और न आत्माको। परन्तु इसका होना भी उपलब्ध होता है। तब यह होता किसे है?॥ १०॥ आत्मा तो अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणोंसे रहित, शुद्ध, स्वयंप्रकाश और सभी प्रकारके आवरणोंसे रहित है; तथा शरीर विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य और आवृत है। आत्मा अग्निके समान प्रकाशमान है तो शरीर काठकी तरह अचेतन। फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार है किसे?॥ ११॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—वस्तुतः प्रिय उद्धव! संसारका अस्तित्व नहीं है तथापि जबतक देह, इन्द्रिय और प्राणोंके साथ आत्माकी सम्बन्ध-भ्रान्ति है तबतक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सा स्फुरित होता है॥ १२॥ जैसे स्वप्नमें अनेकों विपत्तियाँ आती हैं पर वास्तवमें वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही संसारके न होनेपर भी जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती॥ १३॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥ १४

जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है, तब नींद टूटनेके पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है; परन्तु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होनेवाले मोह आदि विकार॥ १४॥

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः॥ १५

उद्धवजी! अहंकार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्युका शिकार बनता है। आत्मासे तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है॥ १५॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः॥ १६

उद्धवजी! देह, इन्द्रिय, प्राण और मनमें स्थित आत्मा ही जब उनका अभिमान कर बैठता है—उन्हें अपना स्वरूप मान लेता है—तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है। उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माकी मूर्ति है—गुण और कर्मोंका बना हुआ लिंगशरीर। उसे ही कहीं सूत्रात्मा कहा जाता है और कहीं महत्तत्त्व। उसके और भी बहुत-से नाम हैं। वही कालरूप परमेश्वरके अधीन होकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है॥ १६॥

अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः॥ १७

वास्तवमें मन, वाणी, प्राण और शरीर अहंकारके ही कार्य हैं। यह है तो निर्मूल, परन्तु देवता, मनुष्य आदि अनेक रूपोंमें इसीकी प्रतीति होती है। मननशील पुरुष उपासनाकी शानपर चढ़ाकर ज्ञानकी तलवारको अत्यन्त तीखी बना लेता है और उसके द्वारा देहाभिमानका—अहंकारका मूलोच्छेद करके पृथ्वीमें निर्द्वन्द्व होकर विचरता है। फिर उसमें किसी प्रकारकी आशा-तृष्णा नहीं रहती॥ १७॥

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ १८

आत्मा और अनात्माके स्वरूपको पृथक्-पृथक् भलीभाँति समझ लेना ही ज्ञान है, क्योंकि विवेक होते ही द्वैतका अस्तित्व मिट जाता है। उसका साधन है तपस्याके द्वारा हृदयको शुद्ध करके वेदादि शास्त्रोंका श्रवण करना। इनके अतिरिक्त श्रवणानुकूल युक्तियाँ, महापुरुषोंके उपदेश और इन दोनोंसे अविरुद्ध स्वानुभूति भी प्रमाण हैं। सबका सार यही निकलता है कि इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही अद्वितीय, उपाधिशून्य परमात्मा बीचमें भी है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है॥ १८॥

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरणमयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥ १९

उद्धवजी! सोनेसे कंगन, कुण्डल आदि बहुत-से आभूषण बनते हैं; परन्तु जब वे गहने नहीं बने थे, तब भी सोना था और जब नहीं रहेंगे, तब भी सोना रहेगा। इसलिये जब बीचमें उसके कंगन-कुण्डल आदि अनेकों नाम रखकर व्यवहार करते हैं, तब भी वह सोना ही है। ठीक ऐसे ही जगत्का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। वास्तवमें मैं ही सत्य तत्त्व हूँ॥ १९॥

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमंग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम्॥ २०

भाई उद्धव! मनकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; इन अवस्थाओंके कारण तीन ही गुण हैं सत्त्व, रज और तम, और जगत्के तीन भेद हैं—अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथिव्यादि) और अधिदैव (कर्ता)। ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होती हैं और समाधि आदिमें यह त्रिविधता न रहनेपर भी जिसकी सत्ता बनी रहती है, वह तुरीयतत्त्व—इन तीनोंसे परे और इनमें अनुगत चौथा ब्रह्मतत्त्व ही सत्य है॥ २०॥

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥ २१

जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ-सत्ता है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है॥ २१॥

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥ २२

यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दीख रही है। यह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिये इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि जितने चित्र-विचित्र नामरूप हैं उनके रूपमें ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है॥ २२॥

एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन।
छित्त्वाऽऽत्मसन्देहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः॥ २३

ब्रह्मविचारके साधन हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति। उनमें सहायक हैं—आत्मज्ञानी गुरुदेव! इनके द्वारा विचार करके स्पष्टरूपसे देहादि अनात्म पदार्थोंका निषेध कर देना चाहिये। इस प्रकार निषेधके द्वारा आत्मविषयक सन्देहोंको छिन्न-भिन्न करके अपने आनन्दस्वरूप आत्मामें ही मग्न हो जाय और सब प्रकारकी विषयवासनाओंसे रहित हो जाय॥ २३॥

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महंकृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम्॥ २४

निषेध करनेकी प्रक्रिया यह है कि पृथ्वीका विकार होनेके कारण शरीर आत्मा नहीं है। इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ-देवता, प्राण, वायु, जल, अग्नि एवं मन भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि इनका धारण-पोषण शरीरके समान ही अन्नके द्वारा होता है। बुद्धि, चित्त, अहंकार, आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि ये सब-के-सब दृश्य एवं जड हैं॥ २४॥

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्॥ २५

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम्॥ २६

उद्धवजी! जिसे मेरे स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, उसकी वृत्तियाँ और इन्द्रियाँ यदि समाहित रहती हैं तो उसे उनसे लाभ क्या है? और यदि वे विक्षिप्त रहती हैं तो उनसे हानि भी क्या है? क्योंकि अन्तःकरण और बाह्यकरण—सभी गुणमय हैं और आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। भला, आकाशमें बादलोंके छा जाने अथवा तितर-बितर हो जानेसे सूर्यका क्या बनता-बिगड़ता है?॥ २५॥ जैसे वायु आकाशको सुखा नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, धूल-धुएँ मटमैला नहीं कर सकते और ऋतुओंके गुण गरमी-सर्दी आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते—क्योंकि ये सब आने-जानेवाले क्षणिक भाव हैं और आकाश इन सबका एकरस अधिष्ठान है—वैसे ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियाँ तथा कर्म अविनाशी आत्माका स्पर्श नहीं कर पाते; वह तो इनसे सर्वथा परे है। इनके द्वारा तो केवल वही संसारमें भटकता है जो इनमें अहंकार कर बैठता है॥ २६॥

तथापि संगः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत्।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनःकषायः॥ २७

उद्धवजी! ऐसा होनेपर भी तबतक इन मायानिर्मित गुणों और उनके कार्योंका संग सर्वथा त्याग देना चाहिये, जबतक मेरे सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा मनका रजोगुणरूप मल एकदम निकल न जाय॥ २७॥

यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः संतुदति प्रोरोहन्।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसंगम्॥ २८

उद्धवजी! जैसे भलीभाँति चिकित्सा न करनेपर रोगका समूल नाश नहीं होता, वह बार-बार उभरकर मनुष्यको सताया करता है; वैसे ही जिस मनकी वासनाएँ और कर्मोंके संस्कार मिट नहीं गये हैं, जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त है, वह बार-बार अधूरे योगीको बेधता रहता है और उसे कई बार योगभ्रष्ट भी कर देता है॥ २८॥

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम्॥ २९

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात्।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या॥ ३०

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद॥ ३१

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्॥ ३२

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमंग ।
निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा॥ ३३

देवताओंके द्वारा प्रेरित शिष्य-पुत्र आदिके द्वारा किये हुए विघ्नोंसे यदि कदाचित् अधूरा योगी मार्गच्युत हो जाय तो भी वह अपने पूर्वाभ्यासके कारण पुनः योगाभ्यासमें ही लग जाता है। कर्म आदिमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती॥ २९॥ उद्धवजी! जीव संस्कार आदिसे प्रेरित होकर जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त कर्ममें ही लगा रहता है और उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंको प्राप्त होता रहता है। परन्तु जो तत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है, वह प्रकृतिमें स्थित रहनेपर भी संस्कारा-नुसार कर्म होते रहनेपर भी उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंसे युक्त नहीं होता; क्योंकि आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारसे उसकी संसारसम्बन्धी सभी आशा-तृष्णाएँ पहले ही नष्ट हो चुकी होती हैं॥ ३०॥

जो अपने स्वरूपमें स्थित हो गया है, उसे इस बातका भी पता नहीं रहता कि शरीर खड़ा है या बैठा, चल रहा है या सो रहा है, मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अथवा और कोई स्वाभाविक कर्म कर रहा है; क्योंकि उसकी वृत्ति तो आत्मस्वरूपमें स्थित—ब्रह्माकार रहती है॥ ३१॥ यदि ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियोंके विविध बाह्य विषय, जो कि असत् हैं, आते भी हैं तो वह उन्हें अपने आत्मासे भिन्न नहीं मानता, क्योंकि वे युक्तियों, प्रमाणों और स्वानुभूतिसे सिद्ध नहीं होते। जैसे नींद टूट जानेपर स्वप्नमें देखे हुए और जागनेपर तिरोहित हुए पदार्थोंको कोई सत्य नहीं मानता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपनेसे भिन्न प्रतीयमान पदार्थोंको सत्य नहीं मानते॥ ३२॥ उद्धवजी! (इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानीने आत्माका त्याग कर दिया है और ज्ञानी उसको ग्रहण करता है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि) अनेकों प्रकारके गुण और कर्मोंसे युक्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थ पहले अज्ञानके कारण आत्मासे अभिन्न मान लिये गये थे, उनका विवेक नहीं था। अब आत्मदृष्टि होनेपर अज्ञान और उसके कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति ही अभीष्ट है। वृत्तियोंके द्वारा न तो आत्माका ग्रहण हो सकता है और न त्याग॥ ३३॥

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥ ३४

जैसे सूर्य उदय होकर मनुष्योंके नेत्रोंके सामनेसे अन्धकारका परदा हटा देते हैं, किसी नयी वस्तुका निर्माण नहीं करते, वैसे ही मेरे स्वरूपका दृढ़ अपरोक्षज्ञान पुरुषके बुद्धिगत अज्ञानका आवरण नष्ट कर देता है। वह इदंरूपसे किसी वस्तुका अनुभव नहीं कराता॥ ३४॥

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति॥ ३५

उद्धवजी! आत्मा नित्य अपरोक्ष है, उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती। वह स्वयंप्रकाश है। उसमें अज्ञान आदि किसी प्रकारके विकार नहीं हैं। वह जन्मरहित है अर्थात् कभी किसी प्रकार भी वृत्तिमें आरूढ़ नहीं होता। इसलिये अप्रमेय है। ज्ञान आदिके द्वारा उसका संस्कार भी नहीं किया जा सकता। आत्मामें देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद न होनेके कारण अस्तित्व, वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास और विनाश उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। सबकी और सब प्रकारकी अनुभूतियाँ आत्मस्वरूप ही हैं। जब मन और वाणी आत्माको अपना अविषय समझकर निवृत्त हो जाते हैं, तब वही सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य एक अद्वितीय रह जाता है। व्यवहारदृष्टिसे उसके स्वरूपका वाणी और प्राण आदिके प्रवर्तकके रूपमें निरूपण किया जाता है॥ ३५॥

एतावानात्मसंमोहो यद् विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥ ३६

उद्धवजी! अद्वितीय आत्मतत्त्वमें अर्थहीन नामोंके द्वारा विविधता मान लेना ही मनका भ्रम है, अज्ञान है। सचमुच यह बहुत बड़ा मोह है, क्योंकि अपने आत्माके अतिरिक्त उस भ्रमका भी और कोई अधिष्ठान नहीं है। अधिष्ठान-सत्तामें अध्यस्तकी सत्ता है ही नहीं। इसलिये सब कुछ आत्मा ही है॥ ३६ ॥

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पंचवर्णमबाधितम्।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम्॥ ३७

बहुत-से पण्डिताभिमानी लोग ऐसा कहते हैं कि यह पाञ्चभौतिक द्वैत विभिन्न नामों और रूपोंके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसलिये सत्य है। परन्तु यह तो अर्थहीन वाणीका आडम्बरमात्र है; क्योंकि तत्त्वत: तो इन्द्रियोंकी पृथक् सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, फिर वे किसीको प्रमाणित कैसे करेंगी?॥ ३७॥

योगिनोऽपक्वयोगस्य युंजतः काय उत्थितैः।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः॥ ३८

उद्धवजी! यदि योगसाधना पूर्ण होनेके पहले ही किसी साधकका शरीर रोगादि उपद्रवोंसे पीड़ित हो, तो उसे इन उपायोंका आश्रय लेना चाहिये॥ ३८॥

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत्॥ ३९

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसंकीर्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः॥ ४०

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युंजन्ति सिद्धये॥ ४१

न हि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥ ४२

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥ ४३

योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः॥ ४४

गरमी-ठंडक आदिको चन्द्रमा-सूर्य आदिकी धारणाके द्वारा, वात आदि रोगोंको वायुधारणायुक्त आसनोंके द्वारा और ग्रह-सर्पादिकृत विघ्नोंको तपस्या, मन्त्र एवं ओषधिके द्वारा नष्ट कर डालना चाहिये॥ ३९॥ काम-क्रोध आदि विघ्नोंको मेरे चिन्तन और नाम-संकीर्तन आदिके द्वारा नष्ट करना चाहिये। तथा पतनकी ओर ले जानेवाले दम्भ-मद आदि विघ्नोंको धीरे-धीरे महापुरुषोंकी सेवाके द्वारा दूर कर देना चाहिये॥ ४०॥ कोई-कोई मनस्वी योगी विविध उपायोंके द्वारा इस शरीरको सुदृढ़ और युवावस्थामें स्थिर करके फिर अणिमा आदि सिद्धियोंके लिये योगसाधन करते हैं, परन्तु बुद्धिमान् पुरुष ऐसे विचारका समर्थन नहीं करते, क्योंकि यह तो एक व्यर्थ प्रयास है। वृक्षमें लगे हुए फलके समान इस शरीरका नाश तो अवश्यम्भावी है॥ ४१-४२॥ यदि कदाचित् बहुत दिनोंतक निरन्तर और आदरपूर्वक योगसाधना करते रहनेपर शरीर सुदृढ़ भी हो जाय, तब भी बुद्धिमान् पुरुषको अपनी साधना छोड़कर उतनेमें ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। उसे तो सर्वदा मेरी प्राप्तिके लिये ही संलग्न रहना चाहिये॥ ४३॥ जो साधक मेरा आश्रय लेकर मेरे द्वारा कही हुई योगसाधनामें संलग्न रहता है, उसे कोई भी विघ्न-बाधा डिगा नहीं सकती। उसकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्दकी अनुभूतिमें मग्न हो जाता है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धेऽष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

भागवतधर्मोंका निरूपण और उद्धवजीका बदरिकाश्रमगमन

उद्धव उवाच

सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथांजसा पुमान् सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूह्यंजसाच्युत॥ १

उद्धवजीने कहा—अच्युत! जो अपना मन वशमें नहीं कर सका है, उसके लिये आपकी बतलायी हुई इस योगसाधनाको तो मैं बहुत ही कठिन समझता हूँ। अतः अब आप कोई ऐसा सरल और सुगम साधन बतलाइये, जिससे मनुष्य अनायास ही परमपद प्राप्त

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युंजन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥ ३

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद् विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥ ५

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥ ६

कर सके॥ १॥ कमलनयन! आप जानते ही हैं कि अधिकांश योगी जब अपने मनको एकाग्र करने लगते हैं, तब वे बार-बार चेष्टा करनेपर भी सफल न होनेके कारण हार मान लेते हैं और उसे वशमें न कर पानेके कारण दुःखी हो जाते हैं॥ २॥ पद्मलोचन! आप विश्वेश्वर हैं! आपके ही द्वारा सारे संसारका नियमन होता है। इसीसे सारासार-विचारमें चतुर मनुष्य आपके आनन्दवर्षी चरणकमलोंकी शरण लेते हैं और अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। आपकी माया उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती; क्योंकि उन्हें योगसाधन और कर्मानुष्ठानका अभिमान नहीं होता। परन्तु जो आपके चरणोंका आश्रय नहीं लेते, वे योगी और कर्मी अपने साधनके घमंडसे फूल जाते हैं; अवश्य ही आपकी मायाने उनकी मति हर ली है॥ ३॥ प्रभो! आप सबके हितैषी सुहृद् हैं। आप अपने अनन्य शरणागत बलि आदि सेवकोंके अधीन हो जायँ, यह आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आपने रामावतार ग्रहण करके प्रेमवश वानरोंसे भी मित्रताका निर्वाह किया। यद्यपि ब्रह्मा आदि लोकेश्वरगण भी अपने दिव्य किरीटोंको आपके चरणकमल रखनेकी चौकीपर रगड़ते रहते हैं॥ ४॥ प्रभो! आप सबके प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। आप अपने अनन्य शरणागतोंको सब कुछ दे देते हैं। आपने बलि-प्रह्लाद आदि अपने भक्तोंको जो कुछ दिया है, उसे जानकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो आपको छोड़ देगा? यह बात किसी प्रकार बुद्धिमें ही नहीं आती कि भला, कोई विचारवान् विस्मृतिके गर्तमें डालनेवाले तुच्छ विषयोंमें ही फँसा रखनेवाले भोगोंको क्यों चाहेगा? हमलोग आपके चरणकमलोंकी रजके उपासक हैं। हमारे लिये दुर्लभ ही क्या है?॥ ५॥ भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे और बाहर गुरुरूपसे स्थित होकर उनके सारे पाप-ताप मिटा देते हैं और अपने वास्तविक स्वरूपको उनके प्रति प्रकट कर देते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी ब्रह्माजीके समान लंबी आयु पाकर भी आपके उपकारोंका बदला नहीं चुका सकते। इसीसे वे आपके उपकारोंका स्मरण करके क्षण-क्षण अधिकाधिक आनन्दका अनुभव करते रहते हैं॥ ६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। वे ही सत्त्व-रज आदि गुणोंके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रका रूप धारण करके जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति आदिके खेल खेला करते हैं। जब उद्धवजीने अनुरागभरे चित्तसे उनसे यह प्रश्न किया, तब उन्होंने मन्द-मन्द मुसकराकर बड़े प्रेमसे कहना प्रारम्भ किया॥ ७॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमंगलान्।
याञ्छ्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥ ८

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥ ९

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥ १०

पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्।
कारयेद् गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः॥ ११

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥ १२

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥ १३

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥ १४

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥ १५

श्रीभगवान्‌ने कहा—प्रिय उद्धव! अब मैं तुम्हें अपने उन मंगलमय भागवतधर्मोंका उपदेश करता हूँ, जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करके मनुष्य संसाररूप दुर्जय मृत्युको अनायास ही जीत लेता है॥ ८॥ उद्धवजी! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जायँगे। उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्मोंमें रम जायँगे॥ ९॥ मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानोंमें निवास करते हों, उन्हींमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमें जो मेरे अनन्य भक्त हों, उनके आचरणोंका अनुसरण करे॥ १०॥ पर्वके अवसरोंपर सबके साथ मिलकर अथवा अकेला ही नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करे॥ ११॥ शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियों और अपने हृदयमें स्थित देखे॥ १२॥ निर्मलबुद्धि उद्धवजी! जो साधक केवल इस ज्ञान-दृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरा दर्शन करता है और उन्हें मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समानदृष्टि रखता है, उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिये॥ १३-१४॥ जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्द्धा (होड़), ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं॥ १५॥

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥ १६

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥ १७

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥ १८

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥ १९

न ह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥ २०

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम॥ २१

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥ २२

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः॥ २३

अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत्।
एतद् विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः॥ २४

अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे; 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको और लोक-लज्जाको छोड़ दे और कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करे॥ १६॥ जबतक समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना—भगवद्भावना न होने लगे, तबतक इस प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सभी संकल्पों और कर्मोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे॥ १७॥ उद्धवजी! जब इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि—ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास किया जाता है, तब थोड़े ही दिनोंमें उसे ज्ञान होकर सब कुछ ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर सारे संशय-सन्देह अपने-आप निवृत्त हो जाते हैं और वह सब कहीं मेरा साक्षात्कार करके संसारदृष्टिसे उपराम हो जाता है॥ १८॥ मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय॥ १९॥ उद्धवजी! यही मेरा अपना भागवत-धर्म है; इसको एक बार आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चय किया है॥ २०॥ भागवतधर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि पड़नी तो दूर रही—यदि इस धर्मका साधक भय-शोक आदिके अवसरपर होनेवाली भावना और रोने-पीटने, भागने-जैसा निरर्थक कर्म भी निष्कामभावसे मुझे समर्पित कर दे तो वे भी मेरी प्रसन्नताके कारण धर्म बन जाते हैं॥ २१॥ विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें॥ २२॥

उद्धवजी! यह सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका रहस्य मैंने संक्षेप और विस्तारसे तुम्हें सुना दिया। इस रहस्यको समझना मनुष्योंकी तो कौन कहे, देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है॥ २३॥ मैंने जिस सुस्पष्ट और युक्तियुक्त ज्ञानका वर्णन बार-बार किया है, उसके मर्मको जो समझ लेता है, उसके हृदयकी संशय-ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और वह मुक्त हो

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत्।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति॥ २५

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात् सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना॥ २६

य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुचि।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन्॥ २७

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः।
मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते॥ २८

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः॥ २९

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥ ३०

एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्॥ ३१

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते॥ ३२

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः॥ ३३

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥ ३४

जाता है॥ २४॥ मैंने तुम्हारे प्रश्नका भलीभाँति खुलासा कर दिया; जो पुरुष हमारे प्रश्नोत्तरको विचारपूर्वक धारण करेगा, वह वेदोंके भी परम रहस्य सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेगा॥ २५॥ जो पुरुष मेरे भक्तोंको इसे भलीभाँति स्पष्ट करके समझायेगा, उस ज्ञानदाताको मैं प्रसन्न मनसे अपना स्वरूपतक दे डालूँगा, उसे आत्मज्ञान करा दूँगा॥ २६॥ उद्धवजी! यह तुम्हारा और मेरा संवाद स्वयं तो परम पवित्र है ही, दूसरोंको भी पवित्र करनेवाला है। जो प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और दूसरोंको सुनायेगा, वह इस ज्ञानदीपके द्वारा दूसरोंको मेरा दर्शन करानेके कारण पवित्र हो जायगा॥ २७॥ जो कोई एकाग्र चित्तसे इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा, उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होगी और वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा॥ २८॥ प्रिय सखे! तुमने भलीभाँति ब्रह्मका स्वरूप समझ लिया न? और तुम्हारे चित्तका मोह एवं शोक तो दूर हो गया न?॥ २९॥ तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, शठ, अश्रद्धालु, भक्तिहीन और उद्धत पुरुषको कभी मत देना॥ ३०॥ जो इन दोषोंसे रहित हो, ब्राह्मणभक्त हो, प्रेमी हो, साधुस्वभाव हो और जिसका चरित्र पवित्र हो, उसीको यह प्रसंग सुनाना चाहिये। यदि शूद्र और स्त्री भी मेरे प्रति प्रेम-भक्ति रखते हों तो उन्हें भी इसका उपदेश करना चाहिये॥ ३१॥ जैसे दिव्य अमृतपान कर लेनेपर कुछ भी पीना शेष नहीं रहता, वैसे ही यह जान लेनेपर जिज्ञासुके लिये और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता॥ ३२॥ प्यारे उद्धव! मनुष्योंको ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य और राजदण्डादिसे क्रमशः मोक्ष, धर्म, काम और अर्थरूप फल प्राप्त होते हैं; परन्तु तुम्हारे-जैसे अनन्य भक्तोंके लिये वह चारों प्रकारका फल केवल मैं ही हूँ॥ ३३॥ जिस समय मनुष्य समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसे उसके जीवत्वसे छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है॥ ३४॥

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य।
बद्धांजलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किंचिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः॥ ३५

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन् बहु मन्यमानः।
कृतांजलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम्॥ ३६

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो
य आश्रितो मे तव सन्निधानात्।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य॥ ३७

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यत् समीयाच्छरणं त्वदीयम्॥ ३८

वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना॥ ३९

नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम्।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी॥ ४०

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः॥ ४१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब उद्धवजी योगमार्गका पूरा-पूरा उपदेश प्राप्त कर चुके थे। भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये। प्रेमकी बाढ़से गला रुँध गया, चुपचाप हाथ जोड़े रह गये और वाणीसे कुछ बोला न गया॥ ३५॥ उनका चित्त प्रेमावेशसे विह्वल हो रहा था, उन्होंने धैर्यपूर्वक उसे रोका और अपनेको अत्यन्त सौभाग्यशाली अनुभव करते हुए सिरसे यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको स्पर्श किया तथा हाथ जोड़कर उनसे यह प्रार्थना की॥ ३६॥

उद्धवजीने कहा—प्रभो! आप माया और ब्रह्मा आदिके भी मूल कारण हैं। मैं मोहके महान् अन्धकारमें भटक रहा था। आपके सत्संगसे वह सदाके लिये भाग गया। भला, जो अग्निके पास पहुँच गया उसके सामने क्या शीत, अन्धकार और उसके कारण होनेवाला भय ठहर सकते हैं?॥ ३७॥ भगवन्! आपकी मोहिनी मायाने मेरा ज्ञानदीपक छीन लिया था, परन्तु आपने कृपा करके वह फिर अपने सेवकको लौटा दिया। आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रहकी वर्षा की है। ऐसा कौन होगा, जो आपके इस कृपा-प्रसादका अनुभव करके भी आपके चरणकमलोंकी शरण छोड़ दे और किसी दूसरेका सहारा ले?॥ ३८॥ आपने अपनी मायासे सृष्टिवृद्धिके लिये दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वतवंशी यादवोंके साथ मुझे सुदृढ़ स्नेह-पाशसे बाँध दिया था। आज आपने आत्मबोधकी तीखी तलवारसे उस बन्धनको अनायास ही काट डाला॥ ३९॥ महायोगेश्वर! मेरा आपको नमस्कार है। अब आप कृपा करके मुझ शरणागतको ऐसी आज्ञा दीजिये, जिससे आपके चरणकमलोंमें मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे॥ ४०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! अब तुम मेरी आज्ञासे बदरीवनमें चले जाओ। वह मेरा ही आश्रम है। वहाँ मेरे चरणकमलोंके धोवन गंगा-जलका स्नानपानके द्वारा सेवन करके तुम पवित्र

ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यंग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः॥ ४२

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥ ४३

मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन्।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्त्रो मामेष्यसि ततः परम्॥ ४४

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिंचदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥ ४५

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः॥ ४६

ततस्तमन्तर्हृदि संनिवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद् गतिम्॥ ४७

हो जाओगे॥ ४१॥ अलकनन्दाके दर्शनमात्रसे तुम्हारे सारे पाप-ताप नष्ट हो जायँगे। प्रिय उद्धव! तुम वहाँ वृक्षोंकी छाल पहनना, वनके कन्द-मूल-फल खाना और किसी भोगकी अपेक्षा न रखकर निःस्पृह-वृत्तिसे अपने-आपमें मस्त रहना॥ ४२॥ सर्दी-गरमी, सुख-दुःख—जो कुछ आ पड़े, उसे सम रहकर सहना। स्वभाव सौम्य रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना। चित्त शान्त रहे। बुद्धि समाहित रहे और तुम स्वयं मेरे स्वरूपके ज्ञान और अनुभवमें डूबे रहना॥ ४३॥ मैंने तुम्हें जो कुछ शिक्षा दी है, उसका एकान्तमें विचारपूर्वक अनुभव करते रहना। अपनी वाणी और चित्त मुझमें ही लगाये रहना और मेरे बतलाये हुए भागवतधर्ममें प्रेमसे रम जाना। अन्तमें तुम त्रिगुण और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली गतियोंको पार करके उनसे परे मेरे परमार्थस्वरूपमें मिल जाओगे॥ ४४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान संसारके भेदभ्रमको छिन्न-भिन्न कर देता है। जब उन्होंने स्वयं उद्धवजीको ऐसा उपदेश किया तो उन्होंने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणोंपर सिर रख दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उद्धवजी संयोग-वियोगसे होनेवाले सुख-दुःखके जोड़ेसे परे थे, क्योंकि वे भगवान्के निर्द्वन्द्व चरणोंकी शरण ले चुके थे; फिर भी वहाँसे चलते समय उनका चित्त प्रेमावेशसे भर गया। उन्होंने अपने नेत्रोंकी झरती हुई अश्रुधारासे भगवान्के चरणकमलोंको भिगो दिया॥ ४५॥ परीक्षित्! भगवान्के प्रति प्रेम करके उसका त्याग करना सम्भव नहीं है। उन्हींके वियोगकी कल्पनासे उद्धवजी कातर हो गये, उनका त्याग करनेमें समर्थ न हुए। बार-बार विह्वल होकर मूर्च्छित होने लगे। कुछ समयके बाद उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी पादुकाएँ अपने सिरपर रख लीं और बार-बार भगवान्के चरणोंमें प्रणाम करके वहाँसे प्रस्थान किया॥ ४६॥ भगवान्के परमप्रेमी भक्त उद्धवजी हृदयमें उनकी दिव्य छबि धारण किये बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ उन्होंने तपोमय जीवन व्यतीत करके जगत्के एकमात्र हितैषी भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशानुसार उनकी स्वरूपभूत परमगति प्राप्त की॥ ४७॥

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यते॥ ४८

भगवान् शंकर आदि योगेश्वर भी सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवा किया करते हैं। उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे अपने परमप्रेमी भक्त उद्धवके लिये इस ज्ञानामृतका वितरण किया। यह ज्ञानामृत आनन्दमहासागरका सार है। जो श्रद्धाके साथ इसका सेवन करता है, वह तो मुक्त हो ही जाता है, उसके संगसे सारा जगत् मुक्त हो जाता है॥ ४८॥ परीक्षित्! जैसे भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे उनका सार-सार मधु संग्रह कर लेता है, वैसे ही स्वयं वेदोंको प्रकाशित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंको संसारसे मुक्त करनेके लिये यह ज्ञान और विज्ञानका सार निकाला है। उन्हींने जरा-रोगादि भयकी निवृत्तिके लिये क्षीर-समुद्रसे अमृत भी निकाला था तथा इन्हें क्रमशः अपने निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी भक्तोंको पिलाया, वे ही पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत्के मूल कारण हैं। मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥ ४९॥

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृंगवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥ ४९

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

यदुकुलका संहार

राजोवाच

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम्।
द्वारवत्यां किमकरोद् भगवान् भूतभावनः॥ १

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत्॥ २

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम्।

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! जब महाभागवत उद्धवजी बदरीवनको चले गये, तब भूतभावन भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें क्या लीला रची?॥ १॥ प्रभो! यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलके ब्रह्मशापग्रस्त होनेपर सबके नेत्रादि इन्द्रियोंके परम प्रिय अपने दिव्य श्रीविग्रहकी लीलाका संवरण कैसे किया?॥ २॥ भगवन्! जब स्त्रियोंके नेत्र उनके श्रीविग्रहमें लग जाते थे, तब वे उन्हें वहाँसे हटानेमें असमर्थ हो जाती थीं। जब संत पुरुष उनकी रूपमाधुरीका वर्णन सुनते हैं, तब वह श्रीविग्रह कानोंके रास्ते प्रवेश करके उनके चित्तमें गड़-सा जाता है, वहाँसे हटना नहीं जानता। उसकी शोभा कवियोंकी काव्यरचनामें अनुरागका रंग भर देती है और उनका सम्मान बढ़ा देती है, इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। महाभारतयुद्धके समय जब वे हमारे दादा

यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥ ३

ऋषिरुवाच

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान्।
दृष्ट्वाऽऽसीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥ ४

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः।
मुहूर्त्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुंगवाः ॥ ५

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शंखोद्धारं व्रजन्त्वितः।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती ॥ ६

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७

ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृतस्वस्त्ययना वयम्।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मंगलायनमुत्तमम्।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥ १०

तस्मिन् भगवताऽऽदिष्टं यदुदेवेन यादवाः।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥ ११

ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥ १२

अर्जुनके रथपर बैठे हुए थे, उस समय जिन योद्धाओंने उसे देखते-देखते शरीर-त्याग किया; उन्हें सारूप्यमुक्ति मिल गयी। उन्होंने अपना ऐसा अद्भुत श्रीविग्रह किस प्रकार अन्तर्धान किया? ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें बड़े-बड़े उत्पात—अशकुन हो रहे हैं, तब उन्होंने सुधर्मा-सभामें उपस्थित सभी यदुवंशियोंसे यह बात कही— ॥ ४ ॥ 'श्रेष्ठ यदुवंशियो! यह देखो, द्वारकामें बड़े-बड़े भयंकर उत्पात होने लगे हैं। ये साक्षात् यमराजकी ध्वजाके समान हमारे महान् अनिष्टके सूचक हैं। अब हमें यहाँ घड़ी-दो-घड़ी भी नहीं ठहरना चाहिये ॥ ५ ॥ स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े यहाँसे शंखोद्धारक्षेत्रमें चले जायँ और हमलोग प्रभासक्षेत्रमें चलें। आप सब जानते हैं कि वहाँ सरस्वती पश्चिमकी ओर बहकर समुद्रमें जा मिली हैं ॥ ६ ॥ वहाँ हम स्नान करके पवित्र होंगे, उपवास करेंगे और एकाग्रचित्तसे स्नान एवं चन्दन आदि सामग्रियोंसे देवताओंकी पूजा करेंगे ॥ ७ ॥ वहाँ स्वस्तिवाचनके बाद हमलोग गौ, भूमि, सोना, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ और घर आदिके द्वारा महात्मा ब्राह्मणोंका सत्कार करेंगे ॥ ८ ॥ यह विधि सब प्रकारके अमंगलोंका नाश करनेवाली और परम मंगलकी जननी है। श्रेष्ठ यदुवंशियो! देवता, ब्राह्मण और गौओंकी पूजा ही प्राणियोंके जन्मका परम लाभ है' ॥ ९ ॥

परीक्षित्! सभी वृद्ध यदुवंशियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर 'तथास्तु' कहकर उसका अनुमोदन किया और तुरंत नौकाओंसे समुद्र पार करके रथोंद्वारा प्रभासक्षेत्रकी यात्रा की ॥ १० ॥ वहाँ पहुँचकर यादवोंने यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे शान्तिपाठ आदि तथा और भी सब प्रकारके मंगलकृत्य किये ॥ ११ ॥ यह सब तो उन्होंने किया; परन्तु दैवने उनकी बुद्धि हर ली और वे उस मैरेयक नामक मदिराका पान करने लगे, जिसके नशेसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। वह पीनेमें तो अवश्य मीठी लगती है, परन्तु परिणाममें

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम्।
कृष्णमायाविमूढानां संघर्षः सुमहानभूत्॥ १३

युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः॥ १४

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहञ्छरैर्दद्भिरिव द्विपा वने॥ १५

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरा-
वक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसङ्ग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः॥ १६

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम्॥ १७

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम्॥ १८

पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहञ्ज्ञातय एव मूढाः॥ १९

शरेषु क्षीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु।
शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः॥ २०

सर्वनाश करनेवाली है॥ १२॥ उस तीव्र मदिराके पानसे सब-के-सब उन्मत्त हो गये और वे घमंडी वीर एक-दूसरेसे लड़ने-झगड़ने लगे। सच पूछो तो श्रीकृष्णकी मायासे वे मूढ़ हो रहे थे॥ १३॥ उस समय वे क्रोधसे भरकर एक-दूसरेपर आक्रमण करने लगे और धनुष-बाण, तलवार, भाले, गदा, तोमर और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे वहाँ समुद्रतटपर ही एक-दूसरेसे भिड़ गये॥ १४॥ मतवाले यदुवंशी रथों, हाथियों, घोड़ों, गधों, ऊँटों, खच्चरों, बैलों, भैंसों और मनुष्योंपर भी सवार होकर एक-दूसरेको बाणोंसे घायल करने लगे—मानो जंगली हाथी एक-दूसरेपर दाँतोंसे चोट कर रहे हों। सबकी सवारियोंपर ध्वजाएँ फहरा रही थीं, पैदल सैनिक भी आपसमें उलझ रहे थे॥ १५॥ प्रद्युम्न साम्बसे, अक्रूर भोजसे, अनिरुद्ध सात्यकिसे, सुभद्र संग्रामजित्से, भगवान् श्रीकृष्णके भाई गद उसी नामके उनके पुत्रसे और सुमित्र सुरथसे युद्ध करने लगे। ये सभी बड़े भयंकर योद्धा थे और क्रोधमें भरकर एक-दूसरेका नाश करनेपर तुल गये थे॥ १६॥ इनके अतिरिक्त निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित् और भानु आदि यादव भी एक-दूसरेसे गुँथ गये। भगवान् श्रीकृष्णकी मायाने तो इन्हें अत्यन्त मोहित कर ही रखा था, इधर मदिराके नशेने भी इन्हें अंधा बना दिया था॥ १७॥ दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर और कुन्ति आदि वंशोंके लोग सौहार्द और प्रेमको भुलाकर आपसमें मार-काट करने लगे॥ १८॥

मूढ़तावश पुत्र पिताका, भाई भाईका, भानजा मामाका, नाती नानाका, मित्र मित्रका, सुहृद् सुहृद्का, चाचा भतीजेका तथा एक गोत्रवाले आपसमें एक-दूसरेका खून करने लगे॥ १९॥ अन्तमें जब उनके सब बाण समाप्त हो गये, धनुष टूट गये और शस्त्रास्त्र नष्ट-भ्रष्ट हो गये तब उन्होंने अपने हाथोंसे समुद्रतटपर लगी हुई एरका नामकी घास उखाड़नी शुरू की। यह वही घास थी, जो ऋषियोंके शापके कारण उत्पन्न हुए लोहमय मूसलके चूरेसे पैदा हुई थी॥ २०॥

ता वज्रकल्पा ह्यभवन् परिघा मुष्टिना भृताः।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते॥ २१

प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः॥ २२

अथ तावपि सङ्‌क्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि॥ २३

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम्।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम्॥ २४

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः॥ २५

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम्।
तत्याज लोकं मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि॥ २६

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम्॥ २७

बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया।
दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः॥ २८

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम्।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमंगलम्॥ २९

हे राजन्! उनके हाथोंमें आते ही वह घास वज्रके समान कठोर मुद्‌गरोंके रूपमें परिणत हो गयी। अब वे रोषमें भरकर उसी घासके द्वारा अपने विपक्षियोंपर प्रहार करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें मना किया, तो उन्होंने उनको और बलरामजीको भी अपना शत्रु समझ लिया। उन आततायियोंकी बुद्धि ऐसी मूढ़ हो रही थी कि वे उन्हें मारनेके लिये उनकी ओर दौड़ पड़े॥ २१-२२॥ कुरुनन्दन! अब भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी भी क्रोधमें भरकर युद्धभूमिमें इधर-उधर विचरने और मुट्ठी-की-मुट्ठी एरका घास उखाड़-उखाड़कर उन्हें मारने लगे। एरका घासकी मुट्ठी ही मुद्‌गरके समान चोट करती थी॥ २३॥ जैसे बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न होकर दावानल बाँसोंको ही भस्म कर देता है, वैसे ही ब्रह्मशापसे ग्रस्त और भगवान् श्रीकृष्णकी मायासे मोहित यदुवंशियोंके स्पर्द्धामूलक क्रोधने उनका ध्वंस कर दिया॥ २४॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि समस्त यदु-वंशियोंका संहार हो चुका, तब उन्होंने यह सोचकर सन्तोषकी साँस ली कि पृथ्वीका बचा-खुचा भार भी उतर गया॥ २५॥

परीक्षित्! बलरामजीने समुद्रतटपर बैठकर एकाग्र-चित्तसे परमात्मचिन्तन करते हुए अपने आत्माको आत्मस्वरूपमें ही स्थिर कर लिया और मनुष्यशरीर छोड़ दिया॥ २६॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरे बड़े भाई बलरामजी परमपदमें लीन हो गये, तब वे एक पीपलके पेड़के तले जाकर चुपचाप धरतीपर ही बैठ गये॥ २७॥ भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपनी अंगकान्तिसे देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण कर रखा था और धूमसे रहित अग्निके समान दिशाओंको अन्धकाररहित—प्रकाशमान बना रहे थे॥ २८॥ वर्षाकालीन मेघके समान साँवले शरीरसे तपे हुए सोनेके समान ज्योति निकल रही थी। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न शोभायमान था। वे रेशमी पीताम्बरकी धोती और वैसा ही दुपट्टा धारण किये हुए थे। बड़ा ही मंगलमय रूप था॥ २९॥

सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम्।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३०

कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकांगदैः।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम्॥ ३१

वनमालापरीतांगं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पंकजारुणम्॥ ३२

मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशंकया॥ ३३

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः॥ ३४

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ॥ ३५

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम्।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो॥ ३६

तन्माऽऽशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम्।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम्॥ ३७

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः॥ ३८

मुखकमलपर सुन्दर मुसकान और कपोलोंपर नीली-नीली अलकें बड़ी ही सुहावनी लगती थीं। कमलके समान सुन्दर-सुन्दर एवं सुकुमार नेत्र थे। कानोंमें मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे थे॥ ३०॥ कमरमें करधनी, कंधेपर यज्ञोपवीत, माथेपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, बाँहोंमें बाजूबंद, वक्षःस्थलपर हार, चरणोंमें नूपुर, अँगुलियोंमें अँगूठियाँ और गलेमें कौस्तुभमणि शोभायमान हो रही थी॥ ३१॥ घुटनोंतक वनमाला लटकी हुई थी। शंख, चक्र, गदा आदि आयुध मूर्तिमान् होकर प्रभुकी सेवा कर रहे थे। उस समय भगवान् अपनी दाहिनी जाँघपर बायाँ चरण रखकर बैठे हुए थे, लाल-लाल तलवा रक्त कमलके समान चमक रहा था॥ ३२॥

परीक्षित्! जरा नामका एक बहेलिया था। उसने मूसलके बचे हुए टुकड़ेसे अपने बाणकी गाँसी बना ली थी। उसे दूरसे भगवान्‌का लाल-लाल तलवा हरिनके मुखके समान जान पड़ा। उसने उसे सचमुच हरिन समझकर अपने उसी बाणसे बींध दिया॥ ३३॥ जब वह पास आया, तब उसने देखा कि 'अरे! ये तो चतुर्भुज पुरुष हैं।' अब तो वह अपराध कर चुका था, इसलिये डरके मारे काँपने लगा और दैत्यदलन भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर सिर रखकर धरतीपर गिर पड़ा॥ ३४॥ उसने कहा—'हे मधुसूदन! मैंने अनजानमें यह पाप किया है। सचमुच मैं बहुत बड़ा पापी हूँ; परन्तु आप परमयशस्वी और निर्विकार हैं। आप कृपा करके मेरा अपराध क्षमा कीजिये॥ ३५॥ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् प्रभो! महात्मालोग कहा करते हैं कि आपके स्मरणमात्रसे मनुष्योंका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। बड़े खेदकी बात है कि मैंने स्वयं आपका ही अनिष्ट कर दिया॥ ३६॥ वैकुण्ठनाथ! मैं निरपराध हरिणोंको मारनेवाला महापापी हूँ। आप मुझे अभी-अभी मार डालिये, क्योंकि मर जानेपर मैं फिर कभी आप-जैसे महापुरुषोंका ऐसा अपराध न करूँगा॥ ३७॥ भगवन्! सम्पूर्ण विद्याओंके पारदर्शी ब्रह्माजी और उनके पुत्र रुद्र आदि भी आपकी योगमायाका विलास नहीं समझ पाते; क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी मायासे आवृत है। ऐसी अवस्थामें हमारे-जैसे पापयोनि लोग उसके विषयमें कह ही

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम्॥ ३९

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ॥ ४०

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम्।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ॥ ४१

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम्।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः॥ ४२

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रनष्टा तमसि प्रविष्टा।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रनष्टे॥ ४३

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः॥ ४४

तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः॥ ४५

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः।
संकर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम्॥ ४६

क्या सकते हैं?॥ ३८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे जरे! तू डर मत, उठ-उठ! यह तो तूने मेरे मनका काम किया है। जा, मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है॥ ३९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण तो अपनी इच्छासे शरीर धारण करते हैं। जब उन्होंने जरा व्याधको यह आदेश दिया, तब उसने उनकी तीन बार परिक्रमा की, नमस्कार किया और विमानपर सवार होकर स्वर्गको चला गया॥ ४०॥

भगवान् श्रीकृष्णका सारथि दारुक उनके स्थानका पता लगाता हुआ उनके द्वारा धारण की हुई तुलसीकी गन्धसे युक्त वायु सूँघकर और उससे उनके होनेके स्थानका अनुमान लगाकर सामनेकी ओर गया॥ ४१॥ दारुकने वहाँ जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण पीपलके वृक्षके नीचे आसन लगाये बैठे हैं। असह्य तेजवाले आयुध मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें संलग्न हैं। उन्हें देखकर दारुकके हृदयमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी। नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। वह रथसे कूदकर भगवान्के चरणोंपर गिर पड़ा॥ ४२॥ उसने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! रात्रिके समय चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर राह चलनेवालेकी जैसी दशा हो जाती है, आपके चरणकमलोंका दर्शन न पाकर मेरी भी वैसी ही दशा हो गयी है। मेरी दृष्टि नष्ट हो गयी है, चारों ओर अँधेरा छा गया है। अब न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान है और न मेरे हृदयमें शान्ति ही है'॥ ४३॥ परीक्षित्! अभी दारुक इस प्रकार कह ही रहा था कि उसके सामने ही भगवान्का गरुड़-ध्वज रथ पताका और घोड़ोंके साथ आकाशमें उड़ गया॥ ४४॥ उसके पीछे-पीछे भगवान्के दिव्य आयुध भी चले गये। यह सब देखकर दारुकके आश्चर्यकी सीमा न रही। तब भगवान्ने उससे कहा—॥ ४५॥ 'दारुक! अब तुम द्वारका चले जाओ और वहाँ यदुवंशियोंके पारस्परिक संहार, भैया बलरामजीकी परम गति और मेरे स्वधाम-गमनकी बात कहो'॥ ४६॥

द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति॥ ४७

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ॥ ४८

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज॥ ४९

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम्॥ ५०

उनसे कहना कि 'अब तुमलोगोंको अपने परिवारवालोंके साथ द्वारकामें नहीं रहना चाहिये। मेरे न रहनेपर समुद्र उस नगरीको डुबो देगा॥ ४७॥ सब लोग अपनी-अपनी धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब और मेरे माता-पिताको लेकर अर्जुनके संरक्षणमें इन्द्रप्रस्थ चले जायँ॥ ४८॥ दारुक! तुम मेरे द्वारा उपदिष्ट भागवतधर्मका आश्रय लो और ज्ञाननिष्ठ होकर सबकी उपेक्षा कर दो तथा इस दृश्यको मेरी मायाकी रचना समझकर शान्त हो जाओ'॥ ४९॥

भगवान्‌का यह आदेश पाकर दारुकने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणकमल अपने सिरपर रखकर बारम्बार प्रणाम किया। तदनन्तर वह उदास मनसे द्वारकाके लिये चल पड़ा॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

श्रीभगवान्‌का स्वधामगमन

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद् ब्रह्मा भवान्या च समं भवः।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः॥ १

पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः।
चारणाः यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः॥ २

द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च॥ ३

ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः।
कुर्वन्तः संकुलं राजन् भक्त्या परमया युताः॥ ४

भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! दारुकके चले जानेपर ब्रह्माजी, शिव-पार्वती, इन्द्रादि लोकपाल, मरीचि आदि प्रजापति, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, पितर-सिद्ध, गन्धर्व-विद्याधर, नाग-चारण, यक्ष-राक्षस, किन्नर-अप्सराएँ तथा गरुड़लोकके विभिन्न पक्षी अथवा मैत्रेय आदि ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम-प्रस्थानको देखनेके लिये बड़ी उत्सुकतासे वहाँ आये। वे सभी भगवान् श्रीकृष्णके जन्म और लीलाओंका गान अथवा वर्णन कर रहे थे। उनके विमानोंसे सारा आकाश भर-सा गया था। वे बड़ी भक्तिसे भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ १—४॥

सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजी और अपने विभूतिस्वरूप देवताओंको देखकर अपने आत्माको स्वरूपमें स्थित किया और कमलके समान नेत्र बंद कर लिये॥ ५॥

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥ ६

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात्।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः॥ ७

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः॥ ८

सौदामन्या यथाऽऽकाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम्।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥ ९

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा॥ १०

राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य।
सृष्ट्वाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते॥ ११

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम्।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम्॥ १२

भगवान्‌का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मंगलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है; इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्निदेवतासम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें चले गये॥ ६॥ उस समय स्वर्गमें नगारे बजने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे इस लोकसे सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और श्रीदेवी भी चली गयीं॥ ७॥

भगवान् श्रीकृष्णकी गति मन और वाणीके परे है; तभी तो जब भगवान् अपने धाममें प्रवेश करने लगे, तब ब्रह्मादि देवता भी उन्हें न देख सके। इस घटनासे उन्हें बड़ा ही विस्मय हुआ॥ ८॥ जैसे बिजली मेघमण्डलको छोड़कर जब आकाशमें प्रवेश करती है, तब मनुष्य उसकी चाल नहीं देख पाते, वैसे ही बड़े-बड़े देवता भी श्रीकृष्णकी गतिके सम्बन्धमें कुछ न जान सके॥ ९॥ ब्रह्माजी और भगवान् शंकर आदि देवता भगवान्‌की यह परमयोगमयी गति देखकर बड़े विस्मयके साथ उसकी प्रशंसा करते अपने-अपने लोकमें चले गये॥ १०॥

परीक्षित्! जैसे नट अनेकों प्रकारके स्वाँग बनाता है, परन्तु रहता है उन सबसे निर्लेप; वैसे ही भगवान्‌का मनुष्योंके समान जन्म लेना, लीला करना और फिर उसे संवरण कर लेना उनकी मायाका विलासमात्र है—अभिनयमात्र है। वे स्वयं ही इस जगत्‌की सृष्टि करके इसमें प्रवेश करके विहार करते हैं और अन्तमें संहार-लीला करके अपने अनन्त महिमामय स्वरूपमें ही स्थित हो जाते हैं॥ ११॥ सान्दीपनि गुरुका पुत्र यमपुरी चला गया था, परन्तु उसे वे मनुष्य-शरीरके साथ लौटा लाये। तुम्हारा ही शरीर ब्रह्मास्त्रसे जल चुका था; परन्तु उन्होंने तुम्हें जीवित कर दिया। वास्तवमें उनकी शरणागतवत्सलता ऐसी ही है। और तो क्या कहूँ, उन्होंने कालोंके महाकाल भगवान् शंकरको भी युद्धमें जीत लिया और अत्यन्त अपराधी—अपने शरीरपर ही प्रहार करनेवाले व्याधको भी सदेह स्वर्ग भेज दिया। प्रिय परीक्षित्! ऐसी स्थितिमें क्या वे अपने शरीरको सदाके लिये यहाँ नहीं रख सकते थे? अवश्य ही रख सकते थे॥ १२॥

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्॥ १३

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम्।
प्रयतः कीर्तयेद् भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ १४

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः।
पतित्वा चरणावस्त्रैर्न्यषिंचत् कृष्णविच्युतः॥ १५

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः॥ १६

तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम्॥ १७

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम्॥ १८

प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः।
उपगुह्य पतींस्तात चितामारुरुहुः स्त्रियः॥ १९

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन्।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन् हरेः स्नुषाः।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः॥ २०

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥ २१

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और संहारके निरपेक्ष कारण हैं और सम्पूर्ण शक्तियोंके धारण करनेवाले हैं तथापि उन्होंने अपने शरीरको इस संसारमें बचा रखनेकी इच्छा नहीं की। इससे उन्होंने यह दिखाया कि इस मनुष्य-शरीरसे मुझे क्या प्रयोजन है? आत्मनिष्ठ पुरुषोंके लिये यही आदर्श है कि वे शरीर रखनेकी चेष्टा न करें॥ १३॥ जो पुरुष प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमनकी इस कथाका एकाग्रता और भक्तिके साथ कीर्तन करेगा, उसे भगवान्‌का वही सर्वश्रेष्ठ परमपद प्राप्त होगा॥ १४॥

इधर दारुक भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल होकर द्वारका आया और वसुदेवजी तथा उग्रसेनके चरणोंपर गिर-गिरकर उन्हें आँसुओंसे भिगोने लगा॥ १५॥ परीक्षित्! उसने अपनेको सँभाल-कर यदुवंशियोंके विनाशका पूरा-पूरा विवरण कह सुनाया। उसे सुनकर लोग बहुत ही दुःखी हुए और मारे शोकके मूर्च्छित हो गये॥ १६॥ भगवान् श्रीकृष्णके वियोगसे विह्वल होकर वे लोग सिर पीटते हुए वहाँ तुरंत पहुँचे, जहाँ उनके भाई-बन्धु निष्प्राण होकर पड़े हुए थे॥ १७॥ देवकी, रोहिणी और वसुदेवजी अपने प्यारे पुत्र श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर शोककी पीड़ासे बेहोश हो गये॥ १८॥ उन्होंने भगव-द्विरहसे व्याकुल होकर वहीं अपने प्राण छोड़ दिये। स्त्रियोंने अपने-अपने पतियोंके शव पहचानकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और उनके साथ चितापर बैठकर भस्म हो गयीं॥ १९॥ बलरामजीकी पत्नियाँ उनके शरीरको, वसुदेवजीकी पत्नियाँ उनके शवको और भगवान्‌की पुत्रवधुएँ अपने पतियोंकी लाशोंको लेकर अग्निमें प्रवेश कर गयीं। भगवान् श्रीकृष्णकी रुक्मिणी आदि पटरानियाँ उनके ध्यानमें मग्न होकर अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं॥ २०॥

परीक्षित्! अर्जुन अपने प्रियतम और सखा भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे पहले तो अत्यन्त व्याकुल हो गये; फिर उन्होंने उन्हींके गीतोक्त सदु-पदेशोंका स्मरण करके अपने मनको सँभाला॥ २१॥

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम्।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः॥ २२

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम्॥ २३

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमंगलमंगलम्॥ २४

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनंजयः।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत्॥ २५

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम्॥ २६

य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २७

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥ २८

यदुवंशके मृत व्यक्तियोंमें जिनको कोई पिण्ड देने-वाला न था, उनका श्राद्ध अर्जुनने क्रमशः विधिपूर्वक करवाया॥ २२॥ महाराज! भगवान्‌के न रहनेपर समुद्रने एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णका निवासस्थान छोड़कर एक ही क्षणमें सारी द्वारका डुबो दी॥ २३॥ भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ अब भी सदा-सर्वदा निवास करते हैं। वह स्थान स्मरणमात्रसे ही सारे पाप-तापोंका नाश करनेवाला और सर्वमंगलोंको भी मंगल बनानेवाला है॥ २४॥ प्रिय परीक्षित्! पिण्डदानके अनन्तर बची-खुची स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ोंको लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये। वहाँ सबको यथायोग्य बसाकर अनिरुद्धके पुत्र वज्रका राज्याभिषेक कर दिया॥ २५॥ राजन्! तुम्हारे दादा युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको अर्जुनसे ही यह बात मालूम हुई कि यदुवंशियोंका संहार हो गया है। तब उन्होंने अपने वंशधर तुम्हें राज्यपदपर अभिषिक्त करके हिमालयकी वीरयात्रा की॥ २६॥

मैंने तुम्हें देवताओंके भी आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मलीला और कर्मलीला सुनायी। जो मनुष्य श्रद्धाके साथ इसका कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ २७॥ परीक्षित्! जो मनुष्य इस प्रकार भक्तभयहारी निखिल सौन्दर्य-माधुर्यनिधि श्रीकृष्णचन्द्रके अवतार-सम्बन्धी रुचिर पराक्रम और इस श्रीमद्भागवतमहापुराणमें तथा दूसरे पुराणोंमें वर्णित परमानन्दमयी बाललीला, कैशोरलीला आदिका संकीर्तन करता है, वह परमहंस मुनीन्द्रोंके अन्तिम प्राप्तव्य श्रीकृष्णके चरणोंमें पराभक्ति प्राप्त करता है॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

॥ इत्येकादशः स्कन्धः समाप्तः॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वादशः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

कलियुगके राजवंशोंका वर्णन

राजोवाच

स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे।
कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने॥ १

श्रीशुक उवाच

योऽन्त्यः पुरंजयो नाम भाव्यो बार्हद्रथो नृप।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम्॥ २

प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत् पालकः सुतः।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः॥ ३

नन्दिवर्धनस्तत्पुत्रः पंच प्रद्योतना इमे।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः॥ ४

शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः॥ ५

विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः॥ ६

नन्दिवर्धन आजेयो महानन्दिः सुतस्ततः।
शिशुनागा दशैवैते षष्ठ्युत्तरशतत्रयम्॥ ७

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः।
महानन्दिसुतो राजन् शूद्रीगर्भोद्भवो बली॥ ८

महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत्।
ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः॥ ९

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने परमधाम पधार गये, तब पृथ्वीपर किस वंशका राज्य हुआ? तथा अब किसका राज्य होगा? आप कृपा करके मुझे यह बतलाइये॥ १॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—प्रिय परीक्षित्! मैंने तुम्हें नवें स्कन्धमें यह बात बतलायी थी कि जरासन्धके पिता बृहद्रथके वंशमें अन्तिम राजा होगा पुरंजय अथवा रिपुंजय। उसके मन्त्रीका नाम होगा शुनक। वह अपने स्वामीको मार डालेगा और अपने पुत्र प्रद्योतको राजसिंहासनपर अभिषिक्त करेगा। प्रद्योतका पुत्र होगा पालक, पालकका विशाखयूप, विशाखयूपका राजक और राजकका पुत्र होगा नन्दि-वर्द्धन। प्रद्योतवंशमें यही पाँच नरपति होंगे। इनकी संज्ञा होगी 'प्रद्योतन'। ये एक सौ अड़तीस वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे॥ २—४॥

इसके पश्चात् शिशुनाग नामका राजा होगा। शिशुनागका काकवर्ण, उसका क्षेमधर्मा और क्षेमधर्माका पुत्र होगा क्षेत्रज्ञ॥ ५॥ क्षेत्रज्ञका विधिसार, उसका अजातशत्रु, फिर दर्भक और दर्भकका पुत्र अजय होगा॥ ६॥ अजयसे नन्दिवर्द्धन और उससे महानन्दिका जन्म होगा। शिशुनाग-वंशमें ये दस राजा होंगे। ये सब मिलकर कलियुगमें तीन सौ साठ वर्षतक पृथ्वीपर राज्य करेंगे। प्रिय परीक्षित्! महानन्दिकी शूद्रा पत्नीके गर्भसे नन्द नामका पुत्र होगा। वह बड़ा बलवान् होगा। महानन्दि 'महापद्म' नामक निधिका अधिपति होगा। इसीलिये लोग उसे 'महापद्म' भी कहेंगे। वह क्षत्रिय राजाओंके विनाशका कारण बनेगा। तभीसे राजालोग प्रायः शूद्र और अधार्मिक हो जायँगे॥ ७—९॥

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लंघितशासनः।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः॥ १०
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः।
य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजानः स्म शतं समाः॥ ११
नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति।
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ॥ १२
स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः॥ १३
सुयशा भविता तस्य संगतः सुयशःसुतः।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति॥ १४
शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद् बृहद्रथः।
मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम्।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह॥ १५
हत्वा बृहद्रथं मौर्यं तस्य सेनापतिः कलौ।
पुष्यमित्रस्तु शुंगाह्वः स्वयं राज्यं करिष्यति।
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् सुज्येष्ठोऽथ भविष्यति॥ १६
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता ततः।
ततो घोषः सुतस्तस्माद् वज्रमित्रो भविष्यति॥ १७
ततो भागवतस्तस्माद् देवभूतिरिति श्रुतः।
शुंगा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम्॥ १८
ततः कण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान् नृप।
शुंगं हत्वा देवभूतिं कण्वोऽमात्यस्तु कामिनम्॥ १९
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः।
तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः।
नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विश्रुतः॥ २०

महापद्म पृथ्वीका एकच्छत्र शासक होगा। उसके शासनका उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकेगा। क्षत्रियोंके विनाशमें हेतु होनेकी दृष्टिसे तो उसे दूसरा परशुराम ही समझना चाहिये॥ १०॥ उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे। वे सभी राजा होंगे और सौ वर्षतक इस पृथ्वीका उपभोग करेंगे॥ ११॥ कौटिल्य, वात्स्यायन तथा चाणक्यके नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण विश्वविख्यात नन्द और उनके सुमाल्य आदि आठ पुत्रोंका नाश कर डालेगा। उनका नाश हो जानेपर कलियुगमें मौर्यवंशी नरपति पृथ्वीका राज्य करेंगे॥ १२॥ वही ब्राह्मण पहले-पहल चन्द्रगुप्त मौर्यको राजाके पदपर अभिषिक्त करेगा। चन्द्रगुप्तका पुत्र होगा वारिसार और वारिसारका अशोकवर्द्धन॥ १३॥ अशोकवर्द्धनका पुत्र होगा सुयश। सुयशका संगत, संगतका शालिशूक और शालिशूकका सोमशर्मा॥ १४॥ सोमशर्माका शतधन्वा और शतधन्वाका पुत्र बृहद्रथ होगा। कुरुवंशविभूषण परीक्षित्! मौर्यवंशके ये दस* नरपति कलियुगमें एक सौ सैंतीस वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे। बृहद्रथका सेनापति होगा पुष्यमित्र शुंग। वह अपने स्वामीको मारकर स्वयं राजा बन बैठेगा। पुष्यमित्रका अग्निमित्र और अग्निमित्रका सुज्येष्ठ होगा॥ १५-१६॥ सुज्येष्ठका वसुमित्र, वसुमित्रका भद्रक और भद्रकका पुलिन्द, पुलिन्दका घोष और घोषका पुत्र होगा वज्रमित्र॥ १७॥ वज्रमित्रका भागवत और भागवतका पुत्र होगा देवभूति। शुंगवंशके ये दस नरपति एक सौ बारह वर्षतक पृथ्वीका पालन करेंगे॥ १८॥

परीक्षित्! शुंगवंशी नरपतियोंका राज्यकाल समाप्त होनेपर यह पृथ्वी कण्ववंशी नरपतियोंके हाथमें चली जायगी। कण्ववंशी नरपति अपने पूर्ववर्ती राजाओंकी अपेक्षा कम गुणवाले होंगे। शुंगवंशका अन्तिम नरपति देवभूति बड़ा ही लम्पट होगा। उसे उसका मन्त्री कण्ववंशी वसुदेव मार डालेगा और अपने बुद्धिबलसे स्वयं राज्य करेगा। वसुदेवका पुत्र होगा भूमित्र, भूमित्रका नारायण और नारायणका सुशर्मा। सुशर्मा बड़ा यशस्वी होगा॥ १९-२०॥

* मौर्योंकी संख्या चन्द्रगुप्तको मिलाकर नौ ही होती है। विष्णुपुराणादिमें चन्द्रगुप्तसे पाँचवें दशरथ नामके एक और मौर्यवंशी राजाका उल्लेख मिलता है। उसीको लेकर यहाँ दस संख्या समझनी चाहिये।

काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पंच च।
शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे॥ २१
हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली।
गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कंचित् कालमसत्तमः॥ २२
कृष्णनामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः।
श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः॥ २३
लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्चिबिलको नृपः।
मेघस्वातिश्चिबिलकादटमानस्तु तस्य च॥ २४
अनिष्टकर्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः।
पुरीषभीरुस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः॥ २५
चकोरो बहवो यत्र शिवस्वातिररिन्दमः।
तस्यापि गोमतीपुत्रः पुरीमान् भविता ततः॥ २६
मेदःशिराः शिवस्कन्दो यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः।
विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चन्द्रविज्ञः सलोमधिः॥ २७
एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्यब्दशतानि च।
षट्पंचाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन॥ २८
सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः।
कंकाः षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपाः॥ २९
ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौना एकादशैव तु॥ ३०
एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च।
नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिम्॥ ३१
भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यंग त्रीणि तैः संस्थिते ततः।
किलिकिलायां नृपतयो भूतनन्दोऽथ वंगिरिः॥ ३२
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः।
इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट्॥ ३३
तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः।
पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च॥ ३४

कण्ववंशके ये चार नरपति काण्वायन कहलायेंगे और कलियुगमें तीन सौ पैंतालीस वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे॥ २१॥ प्रिय परीक्षित्! कण्ववंशी सुशर्माका एक शूद्र सेवक होगा—बली। वह अन्ध्रजातिका एवं बड़ा दुष्ट होगा। वह सुशर्माको मारकर कुछ समयतक स्वयं पृथ्वीका राज्य करेगा॥ २२॥ इसके बाद उसका भाई कृष्ण राजा होगा। कृष्णका पुत्र श्रीशान्तकर्ण और उसका पौर्णमास होगा॥ २३॥ पौर्णमासका लम्बोदर और लम्बोदरका पुत्र चिबिलक होगा। चिबिलकका मेघस्वाति, मेघस्वातिका अटमान, अटमानका अनिष्ट-कर्मा, अनिष्टकर्माका हालेय, हालेयका तलक, तलकका पुरीषभीरु और पुरीषभीरुका पुत्र होगा राजा सुनन्दन॥ २४-२५॥ परीक्षित्! सुनन्दनका पुत्र होगा चकोर; चकोरके आठ पुत्र होंगे, जो सभी 'बहु' कहलायेंगे। इनमें सबसे छोटेका नाम होगा शिवस्वाति। वह बड़ा वीर होगा और शत्रुओंका दमन करेगा। शिवस्वातिका गोमतीपुत्र और उसका पुत्र होगा पुरीमान्॥ २६॥ पुरीमान्का मेदःशिरा, मेदःशिराका शिवस्कन्द, शिवस्कन्दका यज्ञश्री, यज्ञश्रीका विजय और विजयके दो पुत्र होंगे—चन्द्रविज्ञ और लोमधि॥ २७॥ परीक्षित्! ये तीस राजा चार सौ छप्पन वर्षतक पृथ्वीका राज्य भोगेंगे॥ २८॥

परीक्षित्! इसके पश्चात् अवभृति-नगरीके सात आभीर, दस गर्दभी और सोलह कंक पृथ्वीका राज्य करेंगे। ये सब-के-सब बड़े लोभी होंगे॥ २९॥ इनके बाद आठ यवन और चौदह तुर्क राज्य करेंगे। इसके बाद दस गुरुण्ड और ग्यारह मौन नरपति होंगे॥ ३०॥ मौनोंके अतिरिक्त ये सब एक हजार निन्यानबे वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे। तथा ग्यारह मौन नरपति तीन सौ वर्षतक पृथ्वीका शासन करेंगे। जब उनका राज्यकाल समाप्त हो जायगा, तब किलिकिला नामकी नगरीमें भूतनन्द नामका राजा होगा। भूतनन्दका वंगिरि, वंगिरिका भाई शिशुनन्दि तथा यशोनन्दि और प्रवीरक—ये एक सौ छः वर्षतक राज्य करेंगे॥ ३१—३३॥

इनके तेरह पुत्र होंगे और वे सब-के-सब बाह्लिक कहलायेंगे। उनके पश्चात् पुष्पमित्र नामक क्षत्रिय और उसके पुत्र दुर्मित्रका राज्य होगा॥ ३४॥

एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कोसलाः।
विदूरपतयो भाव्या निषधास्तत एव हि॥ ३५

मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरंजयः।
करिष्यत्यपरो वर्णान् पुलिन्दयदुमद्रकान्॥ ३६

प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः।
वीर्यवान् क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरि।
अनुगंगामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम्॥ ३७

सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुदमालवाः।
व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः॥ ३८

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम्।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः॥ ३९

तुल्यकाला इमे राजन् म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः।
एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः॥ ४०

स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः॥ ४१

असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसाऽऽवृताः।
प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥ ४२

परीक्षित्! बाह्लिकवंशी नरपति एक साथ ही विभिन्न प्रदेशोंमें राज्य करेंगे। उनमें सात अन्ध्रदेशके तथा सात ही कोसलदेशके अधिपति होंगे, कुछ विदूर-भूमिके शासक और कुछ निषधदेशके स्वामी होंगे॥ ३५॥

इनके बाद मगध देशका राजा होगा विश्वस्फूर्जि। यह पूर्वोक्त पुरंजयके अतिरिक्त द्वितीय पुरंजय कहलायेगा। यह ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंको पुलिन्द, यदु और मद्र आदि म्लेच्छप्राय जातियोंके रूपमें परिणत कर देगा॥ ३६॥ इसकी बुद्धि इतनी दुष्ट होगी कि यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका नाश करके शूद्रप्राय जनताकी रक्षा करेगा। यह अपने बल-वीर्यसे क्षत्रियोंको उजाड़ देगा और पद्मवती पुरीको राजधानी बनाकर हरिद्वारसे लेकर प्रयागपर्यन्त सुरक्षित पृथ्वीका राज्य करेगा॥ ३७॥ परीक्षित्! ज्यों-ज्यों घोर कलियुग आता जायगा, त्यों-त्यों सौराष्ट्र अवन्ती, आभीर, शूर, अर्बुद और मालव देशके ब्राह्मणगण संस्कारशून्य हो जायँगे तथा राजालोग भी शूद्रतुल्य हो जायँगे॥ ३८॥ सिन्धुतट, चन्द्रभागाका तटवर्ती प्रदेश, कौन्तीपुरी और काश्मीर-मण्डलपर प्रायः शूद्रोंका, संस्कार एवं ब्रह्मतेजसे हीन नाममात्रके द्विजोंका और म्लेच्छोंका राज्य होगा॥ ३९॥

परीक्षित्! ये सब-के-सब राजा आचार-विचारमें म्लेच्छप्राय होंगे। ये सब एक ही समय भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें राज्य करेंगे। ये सब-के-सब परले सिरेके झूठे, अधार्मिक और स्वल्प दान करनेवाले होंगे। छोटी-छोटी बातोंको लेकर ही ये क्रोधके मारे आगबबूला हो जाया करेंगे॥ ४०॥ ये दुष्ट लोग स्त्री, बच्चों, गौओं, ब्राह्मणोंको मारनेमें भी नहीं हिचकेंगे। दूसरेकी स्त्री और धन हथिया लेनेके लिये ये सर्वदा उत्सुक रहेंगे। न तो इन्हें बढ़ते देर लगेगी और न तो घटते। क्षणमें रुष्ट तो क्षणमें तुष्ट। इनकी शक्ति और आयु थोड़ी होगी॥ ४१॥ इनमें परम्परागत संस्कार नहीं होंगे। ये अपने कर्तव्य-कर्मका पालन नहीं करेंगे। रजोगुण और तमोगुणसे अंधे बने रहेंगे। राजाके वेषमें वे म्लेच्छ ही होंगे। वे लूट-खसोटकर अपनी प्रजाका खून चूसेंगे॥ ४२॥

तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः।
अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः॥ ४३

जब ऐसे लोगोंका शासन होगा, तो देशकी प्रजामें भी वैसे ही स्वभाव, आचरण और भाषणकी वृद्धि हो जायगी। राजालोग तो उनका शोषण करेंगे ही, वे आपसमें भी एक-दूसरेको उत्पीड़ित करेंगे और अन्ततः सब-के-सब नष्ट हो जायँगे॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

कलियुगके धर्म

श्रीशुक उवाच

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया।
कालेन बलिना राजन् नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः॥ १

वित्तमेव कलौ नॄणां जन्माचारगुणोदयः।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि॥ २

दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि॥ ३

लिंगमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम्।
अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः॥ ४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! समय बड़ा बलवान् है; ज्यों-ज्यों घोर कलियुग आता जायगा, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर धर्म, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मरणशक्तिका लोप होता जायगा॥ १॥ कलियुगमें जिसके पास धन होगा, उसीको लोग कुलीन, सदाचारी और सद्‌गुणी मानेंगे। जिसके हाथमें शक्ति होगी वही धर्म और न्यायकी व्यवस्था अपने अनुकूल करा सकेगा॥ २॥ विवाह-सम्बन्धके लिये कुल-शील-योग्यता आदिकी परख-निरख नहीं रहेगी, युवक-युवतीकी पारस्परिक रुचिसे ही सम्बन्ध हो जायगा। व्यवहारकी निपुणता सच्चाई और ईमानदारीमें नहीं रहेगी; जो जितना छल-कपट कर सकेगा, वह उतना ही व्यवहारकुशल माना जायगा। स्त्री और पुरुषकी श्रेष्ठताका आधार उनका शील-संयम न होकर केवल रतिकौशल ही रहेगा। ब्राह्मणकी पहचान उसके गुण-स्वभावसे नहीं यज्ञोपवीतसे हुआ करेगी॥ ३॥ वस्त्र, दण्ड-कमण्डलु आदिसे ही ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि आश्रमियोंकी पहचान होगी और एक-दूसरेका चिह्न स्वीकार कर लेना ही एकसे दूसरे आश्रममें प्रवेशका स्वरूप होगा। जो घूस देने या धन खर्च करनेमें असमर्थ होगा, उसे अदालतोंसे ठीक-ठीक न्याय न मिल सकेगा। जो बोलचालमें जितना चालाक होगा, उसे उतना ही बड़ा पण्डित माना जायगा॥ ४॥

अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम्॥ ५

असाधुताकी—दोषी होनेकी एक ही पहचान रहेगी—गरीब होना। जो जितना अधिक दम्भ-पाखण्ड कर सकेगा, उसे उतना ही बड़ा साधु समझा जायगा। विवाहके लिये एक-दूसरेकी स्वीकृति ही पर्याप्त होगी, शास्त्रीय विधि-विधानकी—संस्कार आदिकी कोई आवश्यकता न समझी जायगी। बाल आदि सँवारकर कपड़े-लत्तेसे लैस हो जाना ही स्नान समझा जायगा॥ ५॥

दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम्।
उदरम्भरता स्वार्थः सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि॥ ६

दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम्।
एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डल॥ ७

ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः।
प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः॥ ८

आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्।
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः॥ ९

लोग दूरके तालाबको तीर्थ मानेंगे और निकटके तीर्थ गंगा-गोमती, माता-पिता आदिकी उपेक्षा करेंगे। सिरपर बड़े-बड़े बाल—काकुल रखाना ही शारीरिक सौन्दर्यका चिह्न समझा जायगा और जीवनका सबसे बड़ा पुरुषार्थ होगा—अपना पेट भर लेना। जो जितनी ढिठाईसे बात कर सकेगा, उसे उतना ही सच्चा समझा जायगा॥ ६॥ योग्यता चतुराईका सबसे बड़ा लक्षण यह होगा कि मनुष्य अपने कुटुम्बका पालन कर ले। धर्मका सेवन यशके लिये किया जायगा। इस प्रकार जब सारी पृथ्वीपर दुष्टोंका बोलबाला हो जायगा, तब राजा होनेका कोई नियम न रहेगा; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रोंमें जो बली होगा, वही राजा बन बैठेगा। उस समयके नीच राजा अत्यन्त निर्दय एवं क्रूर होंगे; लोभी तो इतने होंगे कि उनमें और लुटेरोंमें कोई अन्तर न किया जा सकेगा। वे प्रजाकी पूँजी एवं पत्नियोंतकको छीन लेंगे। उनसे डरकर प्रजा पहाड़ों और जंगलोंमें भाग जायगी। उस समय प्रजा तरह-तरहके शाक, कन्द-मूल, मांस, मधु, फल-फूल और बीज-गुठली आदि खा-खाकर अपना पेट भरेगी॥ ७—९॥

अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः।
शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः॥ १०

कभी वर्षा न होगी—सूखा पड़ जायगा; तो कभी कर-पर-कर लगाये जायँगे। कभी कड़ाकेकी सर्दी पड़ेगी तो कभी पाला पड़ेगा, कभी आँधी चलेगी, कभी गरमी पड़ेगी तो कभी बाढ़ आ जायगी। इन उत्पातोंसे तथा आपसके संघर्षसे प्रजा अत्यन्त पीड़ित होगी, नष्ट हो जायगी॥ १०॥

क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते च चिन्तया।
त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम्॥ ११

लोग भूख-प्यास तथा नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे दुःखी रहेंगे। रोगोंसे तो उन्हें छुटकारा ही न मिलेगा। कलियुगमें मनुष्योंकी परमायु केवल बीस या तीस वर्षकी होगी॥ ११॥

क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः।
वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथे नृणाम्॥ १२

पाखण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु।
चौर्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु॥ १३

शूद्रप्रायेषु वर्णेषु छागप्रायासु धेनुषु।
गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु॥ १४

अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु॥ १५

इत्थं कलौ गतप्राये जने तु खरधर्मिणि।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति॥ १६

चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।
धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये॥ १७

सम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति॥ १८

परीक्षित्! कलिकालके दोषसे प्राणियोंके शरीर छोटे-छोटे, क्षीण और रोगग्रस्त होने लगेंगे। वर्ण और आश्रमोंका धर्म बतलानेवाला वेद-मार्ग नष्टप्राय हो जायगा॥ १२॥ धर्ममें पाखण्डकी प्रधानता हो जायगी। राजे-महाराजे डाकू-लुटेरोंके समान हो जायँगे। मनुष्य चोरी, झूठ तथा निरपराध हिंसा आदि नाना प्रकारके कुकर्मोंसे जीविका चलाने लगेंगे॥ १३॥ चारों वर्णोंके लोग शूद्रोंके समान हो जायँगे। गौएँ बकरियोंकी तरह छोटी-छोटी और कम दूध देनेवाली हो जायँगी। वानप्रस्थी और संन्यासी आदि विरक्त आश्रमवाले भी घर-गृहस्थी जुटाकर गृहस्थोंका-सा व्यापार करने लगेंगे। जिनसे वैवाहिक सम्बन्ध है, उन्हींको अपना सम्बन्धी माना जायगा॥ १४॥

धान, जौ, गेहूँ आदि धान्योंके पौधे छोटे-छोटे होने लगेंगे। वृक्षोंमें अधिकांश शमीके समान छोटे और कँटीले वृक्ष ही रह जायँगे। बादलोंमें बिजली तो बहुत चमकेगी, परन्तु वर्षा कम होगी। गृहस्थोंके घर अतिथि-सत्कार या वेदध्वनिसे रहित होनेके कारण अथवा जनसंख्या घट जानेके कारण सूने-सूने हो जायँगे॥ १५॥ परीक्षित्! अधिक क्या कहें—कलियुगका अन्त होते-होते मनुष्योंका स्वभाव गधों-जैसा दुःसह बन जायगा, लोग प्रायः गृहस्थीका भार ढोनेवाले और विषयी हो जायँगे। ऐसी स्थितिमें धर्मकी रक्षा करनेके लिये सत्त्वगुण स्वीकार करके स्वयं भगवान् अवतार ग्रहण करेंगे॥ १६॥

प्रिय परीक्षित्! सर्वव्यापक भगवान् विष्णु सर्वशक्तिमान् हैं। वे सर्वस्वरूप होनेपर भी चराचर जगत्‌के सच्चे शिक्षक—सद्गुरु हैं। वे साधु—सज्जन पुरुषोंके धर्मकी रक्षाके लिये, उनके कर्मका बन्धन काटकर उन्हें जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ानेके लिये अवतार ग्रहण करते हैं॥ १७॥ उन दिनों शम्भल-ग्राममें विष्णुयश नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण होंगे। उनका हृदय बड़ा उदार एवं भगवद्भक्तिसे पूर्ण होगा। उन्हींके घर कल्किभगवान् अवतार ग्रहण करेंगे॥ १८॥

अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः।
असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥ १९

विचरन्नाशुना क्षोण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः।
नृपलिंगच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति॥ २०

अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै।
वासुदेवांगरागातिपुण्यगन्धानिलस्पृशाम्।
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु॥ २१

तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति।
वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते॥ २२

यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी॥ २३

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती।
एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत् कृतम्॥ २४

येऽतीता वर्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवाः।
ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः॥ २५

आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद् वर्षसहस्रं तु शतं पंचदशोत्तरम्॥ २६

सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत् समं निशि॥ २७

तेनैत ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम्।
ये त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः॥ २८

श्रीभगवान् ही अष्टसिद्धियोंके और समस्त सद्‌गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं। समस्त चराचर जगत्‌के वे ही रक्षक और स्वामी हैं। वे देवदत्त नामक शीघ्रगामी घोड़ेपर सवार होकर दुष्टोंको तलवारके घाट उतारकर ठीक करेंगे॥ १९॥ उनके रोम-रोमसे अतुलनीय तेजकी किरणें छिटकती होंगी। वे अपने शीघ्रगामी घोड़ेसे पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करेंगे और राजाके वेषमें छिपकर रहनेवाले कोटि-कोटि डाकुओंका संहार करेंगे॥ २०॥

प्रिय परीक्षित्! जब सब डाकुओंका संहार हो चुकेगा, तब नगरकी और देशकी सारी प्रजाका हृदय पवित्रतासे भर जायगा; क्योंकि भगवान् कल्किके शरीरमें लगे हुए अंगरागका स्पर्श पाकर अत्यन्त पवित्र हुई वायु उनका स्पर्श करेगी और इस प्रकार वे भगवान्‌के श्रीविग्रहकी दिव्य गन्ध प्राप्त कर सकेंगे॥ २१॥ उनके पवित्र हृदयोंमें सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेव विराजमान होंगे और फिर उनकी सन्तान पहलेकी भाँति हृष्ट-पुष्ट और बलवान् होने लगेगी॥ २२॥ प्रजाके नयन-मनोहारी हरि ही धर्मके रक्षक और स्वामी हैं। वे ही भगवान् जब कल्किके रूपमें अवतार ग्रहण करेंगे, उसी समय सत्ययुगका प्रारम्भ हो जायगा और प्रजाकी सन्तान-परम्परा स्वयं ही सत्त्वगुणसे युक्त हो जायगी॥ २३॥ जिस समय चन्द्रमा, सूर्य और बृहस्पति एक ही समय एक ही साथ पुष्य नक्षत्रके प्रथम पलमें प्रवेश करके एक राशिपर आते हैं, उसी समय सत्ययुगका प्रारम्भ होता है॥ २४॥

परीक्षित्! चन्द्रवंश और सूर्यवंशमें जितने राजा हो गये हैं या होंगे, उन सबका मैंने संक्षेपसे वर्णन कर दिया॥ २५॥ तुम्हारे जन्मसे लेकर राजा नन्दके अभिषेकतक एक हजार एक सौ पंद्रह वर्षका समय लगेगा॥ २६॥ जिस समय आकाशमें सप्तर्षियोंका उदय होता है, उस समय पहले उनमेंसे दो ही तारे दिखायी पड़ते हैं। उनके बीचमें दक्षिणोत्तर रेखापर समभागमें अश्विनी आदि नक्षत्रोंमेंसे एक नक्षत्र दिखायी पड़ता है॥ २७॥ उस नक्षत्रके साथ सप्तर्षिगण मनुष्योंकी गणनासे सौ वर्षतक रहते हैं। वे तुम्हारे जन्मके समय और इस समय भी मघा नक्षत्रपर स्थित हैं॥ २८॥

विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः।
तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद् रमते जनः॥ २९

यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः।
तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रान्तुं न चाशकत्॥ ३०

यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः॥ ३१

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥ ३२

यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः॥ ३३

दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम्।
भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम्॥ ३४

इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि।
तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे॥ ३५

एतेषां नामलिंगानां पुरुषाणां महात्मनाम्।
कथामात्रावशिष्टानां कीर्तिरेव स्थिता भुवि॥ ३६

देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ॥ ३७

स्वयं सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् भगवान् ही शुद्ध सत्त्वमय विग्रहके साथ श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए थे। वे जिस समय अपनी लीला संवरण करके परमधामको पधार गये, उसी समय कलियुगने संसारमें प्रवेश किया। उसीके कारण मनुष्योंकी मति-गति पापकी ओर ढुलक गयी॥ २९॥ जबतक लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमलोंसे पृथ्वीका स्पर्श करते रहे, तबतक कलियुग पृथ्वीपर अपना पैर न जमा सका॥ ३०॥ परीक्षित्! जिस समय सप्तर्षि मघानक्षत्रपर विचरण करते रहते हैं, उसी समय कलियुगका प्रारम्भ होता है। कलियुगकी आयु देवताओंकी वर्षगणनासे बारह सौ वर्षोंकी अर्थात् मनुष्योंकी गणनाके अनुसार चार लाख बत्तीस हजार वर्षकी है॥ ३१॥ जिस समय सप्तर्षि मघासे चलकर पूर्वाषाढ़ानक्षत्रमें जा चुके होंगे, उस समय राजा नन्दका राज्य रहेगा। तभीसे कलियुगकी वृद्धि शुरू होगी॥ ३२॥ पुरातत्त्ववेत्ता ऐतिहासिक विद्वानोंका कहना है कि जिस दिन भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम-धामको प्रयाण किया, उसी दिन, उसी समय कलियुगका प्रारम्भ हो गया॥ ३३॥ परीक्षित्! जब देवताओंकी वर्षगणनाके अनुसार एक हजार वर्ष बीत चुकेंगे, तब कलियुगके अन्तिम दिनोंमें फिरसे कल्किभगवान्की कृपासे मनुष्योंके मनमें सात्त्विकताका संचार होगा, लोग अपने वास्तविक स्वरूपको जान सकेंगे और तभीसे सत्ययुगका प्रारम्भ भी होगा॥ ३४॥

परीक्षित्! मैंने तो तुमसे केवल मनुवंशका, सो भी संक्षेपसे वर्णन किया है। जैसे मनुवंशकी गणना होती है, वैसे ही प्रत्येक युगमें ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंकी भी वंशपरम्परा समझनी चाहिये॥ ३५॥ राजन्! जिन पुरुषों और महात्माओंका वर्णन मैंने तुमसे किया है, अब केवल नामसे ही उनकी पहचान होती है। अब वे नहीं हैं, केवल उनकी कथा रह गयी है। अब उनकी कीर्ति ही पृथ्वीपर जहाँ-तहाँ सुननेको मिलती है॥ ३६॥ भीष्मपितामहके पिता राजा शन्तनुके भाई देवापि और इक्ष्वाकुवंशी मरु इस समय कलाप-ग्राममें स्थित हैं। वे बहुत बड़े योगबलसे युक्त हैं॥ ३७॥

ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ।
वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः॥ ३८

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते॥ ३९

राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे।
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः॥ ४०

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ ४१

कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता।
मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा॥ ४२

तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वाऽऽत्मतयाबुधाः।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः॥ ४३

ये ये भूपतयो राजन् भुंजन्ति भुवमोजसा।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च॥ ४४

कलियुगके अन्तमें कल्किभगवान्‌की आज्ञासे वे फिर यहाँ आयेंगे और पहलेकी भाँति ही वर्णाश्रमधर्मका विस्तार करेंगे॥ ३८॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये ही चार युग हैं; ये पूर्वोक्त क्रमके अनुसार अपने-अपने समयमें पृथ्वीके प्राणियोंपर अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं॥ ३९॥ परीक्षित्! मैंने तुमसे जिन राजाओंका वर्णन किया है, वे सब और उनके अतिरिक्त दूसरे राजा भी इस पृथ्वीको 'मेरी-मेरी' करते रहे, परन्तु अन्तमें मरकर धूलमें मिल गये॥ ४०॥ इस शरीरको भले ही कोई राजा कह ले; परन्तु अन्तमें यह कीड़ा, विष्ठा अथवा राखके रूपमें ही परिणत होगा, राख ही होकर रहेगा। इसी शरीरके या इसके सम्बन्धियोंके लिये जो किसी भी प्राणीको सताता है, वह न तो अपना स्वार्थ जानता है और न तो परमार्थ। क्योंकि प्राणियोंको सताना तो नरकका द्वार है॥ ४१॥ वे लोग यही सोचा करते हैं कि मेरे दादा-परदादा इस अखण्ड भूमण्डलका शासन करते थे; अब यह मेरे अधीन किस प्रकार रहे और मेरे बाद मेरे बेटे-पोते, मेरे वंशज किस प्रकार इसका उपभोग करें॥ ४२॥ वे मूर्ख इस आग, पानी और मिट्टीके शरीरको अपना आपा मान बैठते हैं और बड़े अभिमानके साथ डींग हाँकते हैं कि यह पृथ्वी मेरी है। अन्तमें वे शरीर और पृथ्वी दोनोंको छोड़कर स्वयं ही अदृश्य हो जाते हैं॥ ४३॥ प्रिय परीक्षित्! जो-जो नरपति बड़े उत्साह और बल-पौरुषसे इस पृथ्वीके उपभोगमें लगे रहे, उन सबको कालने अपने विकराल गालमें धर दबाया। अब केवल इतिहासमें उनकी कहानी ही शेष रह गयी है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

राज्य, युगधर्म और कलियुगके दोषोंसे बचनेका उपाय—नामसंकीर्तन

श्रीशुक उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब पृथ्वी देखती है कि राजा लोग मुझपर विजय प्राप्त करनेके लिये उतावले हो रहे हैं, तब वह हँसने लगती है और कहती है—"कितने आश्चर्यकी बात है कि ये राजा लोग, जो

काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद् विदुषामपि।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः॥ २

पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः।
ततः सचिवपौराप्तकरीन्द्रानस्य कण्टकान्॥ ३

एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम्।
इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम्॥ ४

समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम्॥ ५

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः॥ ६

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातॄणां चापि विग्रहः।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम्॥ ७

ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः।
स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः॥ ८

स्वयं मौतके खिलौने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं॥ १॥ राजाओंसे यह बात छिपी नहीं है कि वे एक-न-एक दिन मर जायँगे, फिर भी वे व्यर्थमें ही मुझे जीतनेकी कामना करते हैं। सचमुच इस कामनासे अंधे होनेके कारण ही वे पानीके बुलबुलेके समान क्षणभंगुर शरीरपर विश्वास कर बैठते हैं और धोखा खाते हैं॥ २॥ वे सोचते हैं कि 'हम पहले मनके सहित अपनी पाँचों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करेंगे—अपने भीतरी शत्रुओंको वशमें करेंगे; क्योंकि इनको जीते बिना बाहरी शत्रुओंको जीतना कठिन है। उसके बाद अपने शत्रुके मन्त्रियों, अमात्यों, नागरिकों, नेताओं और समस्त सेनाको भी वशमें कर लेंगे। जो भी हमारे विजय-मार्गमें काँटे बोयेगा, उसे हम अवश्य जीत लेंगे॥ ३॥ इस प्रकार धीरे-धीरे क्रमसे सारी पृथ्वी हमारे अधीन हो जायगी और फिर तो समुद्र ही हमारे राज्यकी खाईंका काम करेगा।' इस प्रकार वे अपने मनमें अनेकों आशाएँ बाँध लेते हैं और उन्हें यह बात बिलकुल नहीं सूझती कि उनके सिरपर काल सवार है॥ ४॥ यहींतक नहीं, जब एक द्वीप उनके वशमें हो जाता है, तब वे दूसरे द्वीपपर विजय करनेके लिये बड़ी शक्ति और उत्साहके साथ समुद्रयात्रा करते हैं। अपने मनको, इन्द्रियोंको वशमें करके लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं, परन्तु ये लोग उनको वशमें करके भी थोड़ा-सा भूभाग ही प्राप्त करते हैं। इतने परिश्रम और आत्मसंयमका यह कितना तुच्छ फल है!''॥ ५॥ परीक्षित्! पृथ्वी कहती है कि 'बड़े-बड़े मनु और उनके वीर पुत्र मुझे ज्यों-की-त्यों छोड़कर जहाँसे आये थे, वहीं खाली हाथ लौट गये, मुझे अपने साथ न ले जा सके। अब ये मूर्ख राजा मुझे युद्धमें जीतकर वशमें करना चाहते हैं॥ ६॥ जिनके चित्तमें यह बात दृढ़ मूल हो गयी है कि यह पृथ्वी मेरी है, उन दुष्टोंके राज्यमें मेरे लिये पिता-पुत्र और भाई-भाई भी आपसमें लड़ बैठते हैं॥ ७॥

वे परस्पर इस प्रकार कहते हैं कि 'ओ मूढ़! यह सारी पृथ्वी मेरी ही है, तेरी नहीं', इस प्रकार राजा लोग एक-दूसरेको कहते-सुनते हैं, एक-दूसरेसे स्पर्द्धा करते हैं, मेरे लिये एक-दूसरेको मारते हैं और स्वयं मर मिटते हैं॥ ८॥

पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः।
मान्धाता सगरो रामः खट्वांगो धुन्धुहा रघुः॥ ९
तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः।
भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः॥ १०
हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः॥ ११
अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः॥ १२
ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो॥ १३

पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, सहस्रबाहु, अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वांग, धुन्धुमार, रघु, तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नल, नृग, हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, लोकद्रोही रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष और तारकासुर तथा और बहुत-से दैत्य एवं शक्तिशाली नरपति हो गये। ये सब लोग सब कुछ समझते थे, शूर थे, सभीने दिग्विजयमें दूसरोंको हरा दिया; किन्तु दूसरे लोग इन्हें न जीत सके, परन्तु सब-के-सब मृत्युके ग्रास बन गये। राजन्! उन्होंने अपने पूरे अन्तःकरणसे मुझसे ममता की और समझा कि 'यह पृथ्वी मेरी है'। परन्तु विकराल कालने उनकी लालसा पूरी न होने दी। अब उनके बल-पौरुष और शरीर आदिका कुछ पता ही नहीं है। केवल उनकी कहानी मात्र शेष रह गयी है॥ ९—१३॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
 विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो
 वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥ १४
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
 संगीयतेऽभीक्ष्णममंगलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
 कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥ १५

परीक्षित्! संसारमें बड़े-बड़े प्रतापी और महान् पुरुष हुए हैं। वे लोकोंमें अपने यशका विस्तार करके यहाँसे चल बसे। मैंने तुम्हें ज्ञान और वैराग्यका उपदेश करनेके लिये ही उनकी कथा सुनायी है। यह सब वाणीका विलास मात्र है। इसमें पारमार्थिक सत्य कुछ भी नहीं है॥ १४॥ भगवान् श्रीकृष्णका गुणानुवाद समस्त अमंगलोंका नाश करनेवाला है, बड़े-बड़े महात्मा उसीका गान करते रहते हैं। जो भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेममयी भक्तिकी लालसा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के दिव्य गुणानुवादका ही श्रवण करते रहना चाहिये॥ १५॥

राजोवाच

केनोपायेन भगवन् कलेर्दोषान् कलौ जनाः।
विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने॥ १६
युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः।
कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः॥ १७

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मुझे तो कलियुगमें राशि-राशि दोष ही दिखायी दे रहे हैं। उस समय लोग किस उपायसे उन दोषोंका नाश करेंगे। इसके अतिरिक्त युगोंका स्वरूप, उनके धर्म, कल्पकी स्थिति और प्रलयकालके मान एवं सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के कालरूपका भी यथावत् वर्णन कीजिये॥ १६-१७॥

श्रीशुक उवाच

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः[1]।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप॥ १८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! सत्ययुगमें धर्मके चार चरण होते हैं; वे चरण हैं—सत्य, दया, तप और दान। उस समयके लोग पूरी निष्ठाके साथ अपने-अपने धर्मका पालन करते हैं। धर्म स्वयं भगवान्‌का स्वरूप है॥ १८॥

सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा[2] जनाः॥ १९

सत्ययुगके लोग बड़े सन्तोषी और दयालु होते हैं। वे सबसे मित्रताका व्यवहार करते और शान्त रहते हैं। इन्द्रियाँ और मन उनके वशमें रहते हैं और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको वे समान भावसे सहन करते हैं। अधिकांश लोग तो समदर्शी और आत्माराम होते हैं और बाकी लोग स्वरूप-स्थितिके लिये अभ्यासमें तत्पर रहते हैं॥ १९॥

त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः।
अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः ॥ २०

परीक्षित्! धर्मके समान अधर्मके भी चार चरण हैं—असत्य, हिंसा, असन्तोष और कलह। त्रेतायुगमें इनके प्रभावसे धीरे-धीरे धर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्थांश क्षीण हो जाता है॥ २०॥

तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा[3] न लम्पटाः।
त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप॥ २१

राजन्! उस समय वर्णोंमें ब्राह्मणोंकी प्रधानता अक्षुण्ण रहती है। लोगोंमें अत्यन्त हिंसा और लम्पटताका अभाव रहता है। सभी लोग कर्मकाण्ड और तपस्यामें निष्ठा रखते हैं और अर्थ, धर्म एवं कामरूप त्रिवर्गका सेवन करते हैं। अधिकांश लोग कर्मप्रतिपादक वेदोंके पारदर्शी विद्वान् होते हैं॥ २१॥

तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे।
हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥ २२

द्वापरयुगमें हिंसा, असन्तोष, झूठ और द्वेष—अधर्मके इन चरणोंकी वृद्धि हो जाती है एवं इनके कारण धर्मके चारों चरण—तपस्या, सत्य, दया और दान आधे-आधे क्षीण हो जाते हैं॥ २२॥

यशस्विनो महाशालाः स्वाध्यायाध्ययने रताः।
आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः[4]॥ २३

उस समयके लोग बड़े यशस्वी, कर्मकाण्डी और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें बड़े तत्पर होते हैं। लोगोंके कुटुम्ब बड़े-बड़े होते हैं, प्रायः लोग धनाढ्य एवं सुखी होते हैं। उस समय वर्णोंमें क्षत्रिय और ब्राह्मण दो वर्णोंकी प्रधानता रहती है॥ २३॥

कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति॥ २४

कलियुगमें तो अधर्मके चारों चरण अत्यन्त बढ़ जाते हैं। उनके कारण धर्मके चारों चरण क्षीण होने लगते हैं और उनका चतुर्थांश ही बच रहता है। अन्तमें तो उस चतुर्थांशका भी लोप हो जाता है॥ २४॥

१. ष्यादो जनै०। २. सुमहाजनाः। ३. सा। ४. त्तमाः।

तस्मिँल्लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः।
दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदाशोत्तराः प्रजाः॥ २५

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः।
कालसंचोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि॥ २६

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद् रुचिः॥ २७

यदा[1] धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम्।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि[2] बुद्धिमन्॥ २८

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः।
कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद् रजस्तमः॥ २९

यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम्।
शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः॥ ३०

यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः।
कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः॥ ३१

कलियुगमें लोग लोभी, दुराचारी और कठोरहृदय होते हैं। वे झूठमूठ एक-दूसरेसे वैर मोल ले लेते हैं, एवं लालसा-तृष्णाकी तरंगोंमें बहते रहते हैं। उस समयके अभागे लोगोंमें शूद्र, केवट आदिकी ही प्रधानता रहती है॥ २५॥

सभी प्राणियोंमें तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रज और तम। कालकी प्रेरणासे समय-समयपर शरीर, प्राण और मनमें उनका ह्रास और विकास भी हुआ करता है॥ २६॥ जिस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सत्त्वगुणमें स्थित होकर अपना-अपना काम करने लगती हैं, उस समय सत्ययुग समझना चाहिये। सत्त्वगुणकी प्रधानताके समय मनुष्य ज्ञान और तपस्यासे अधिक प्रेम करने लगता है॥ २७॥ जिस समय मनुष्योंकी प्रवृत्ति और रुचि धर्म, अर्थ और लौकिक-पारलौकिक सुख-भोगोंकी ओर होती है तथा शरीर, मन एवं इन्द्रियाँ रजोगुणमें स्थित होकर काम करने लगती हैं—बुद्धिमान् परीक्षित्! समझना चाहिये कि उस समय त्रेतायुग अपना काम कर रहा है॥ २८॥ जिस समय लोभ, असन्तोष, अभिमान, दम्भ और मत्सर आदि दोषोंका बोलबाला हो और मनुष्य बड़े उत्साह तथा रुचिके साथ सकाम कर्मोंमें लगना चाहे, उस समय द्वापरयुग समझना चाहिये। अवश्य ही रजोगुण और तमोगुणकी मिश्रित प्रधानताका नाम ही द्वापरयुग है॥ २९॥ जिस समय झूठ-कपट, तन्द्रा-निद्रा, हिंसा-विषाद, शोक-मोह, भय और दीनताकी प्रधानता हो, उसे तमोगुण-प्रधान कलियुग समझना चाहिये॥ ३०॥ जब कलियुगका राज्य होता है, तब लोगोंकी दृष्टि क्षुद्र हो जाती है; अधिकांश लोग होते तो हैं अत्यन्त निर्धन, परन्तु खाते हैं बहुत अधिक। उनका भाग्य तो होता है बहुत ही मन्द और चित्तमें कामनाएँ होती हैं बहुत बड़ी-बड़ी। स्त्रियोंमें दुष्टता और कुलटापनकी वृद्धि हो जाती है॥ ३१॥

१. यदा कर्मसु काम्येषु भक्तिर्यशसि देहिनाम्। २. नीत बुद्धिमान्।

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाखण्डदूषिताः।
राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः॥ ३२

अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः।
तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः॥ ३३

ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः।
शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः॥ ३४

पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः।
अनापद्यपि मंस्यन्ते वार्तां साधुजुगुप्सिताम्॥ ३५

पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम्।
भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः॥ ३६

पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः।
ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः॥ ३७

सारे देशमें, गाँव-गाँवमें लुटेरोंकी प्रधानता एवं प्रचुरता हो जाती है। पाखण्डी लोग अपने नये-नये मत चलाकर मनमाने ढंगसे वेदोंका तात्पर्य निकालने लगते हैं और इस प्रकार उन्हें कलंकित करते हैं। राजा कहलानेवाले लोग प्रजाकी सारी कमाई हड़पकर उन्हें चूसने लगते हैं। ब्राह्मणनामधारी जीव पेट भरने और जननेन्द्रियको तृप्त करनेमें ही लग जाते हैं॥ ३२॥ ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यव्रतसे रहित और अपवित्र रहने लगते हैं। गृहस्थ दूसरोंको भिक्षा देनेके बदले स्वयं भीख माँगने लगते हैं, वानप्रस्थी गाँवोंमें बसने लगते हैं और संन्यासी धनके अत्यन्त लोभी—अर्थपिशाच हो जाते हैं॥ ३३॥ स्त्रियोंका आकार तो छोटा हो जाता है, पर भूख बढ़ जाती है। उन्हें सन्तान बहुत अधिक होती है और वे अपनी कुल-मर्यादाका उल्लंघन करके लाज-हया—जो उनका भूषण है—छोड़ बैठती हैं। वे सदा-सर्वदा कड़वी बात कहती रहती हैं और चोरी तथा कपटमें बड़ी निपुण हो जाती हैं। उनमें साहस भी बहुत बढ़ जाता है॥ ३४॥ व्यापारियोंके हृदय अत्यन्त क्षुद्र हो जाते हैं। वे कौड़ी-कौड़ीसे लिपटे रहते और छदाम-छदामके लिये धोखाधड़ी करने लगते हैं। और तो क्या—आपत्तिकाल न होनेपर तथा धनी होनेपर भी वे निम्नश्रेणीके व्यापारोंको, जिनकी सत्पुरुष निन्दा करते हैं, ठीक समझने और अपनाने लगते हैं॥ ३५॥

स्वामी चाहे सर्वश्रेष्ठ ही क्यों न हों—जब सेवक लोग देखते हैं कि इसके पास धन-दौलत नहीं रही, तब उसे छोड़कर भाग जाते हैं। सेवक चाहे कितना ही पुराना क्यों न हो—परन्तु जब वह किसी विपत्तिमें पड़ जाता है, तब स्वामी उसे छोड़ देते हैं,। और तो क्या, जब गौएँ बकेन हो जाती हैं—दूध देना बन्द कर देती हैं, तब लोग उनका भी परित्याग कर देते हैं॥ ३६॥

प्रिय परीक्षित्! कलियुगके मनुष्य बड़े ही लम्पट हो जाते हैं, वे अपनी कामवासनाको तृप्त करनेके लिये ही किसीसे प्रेम करते हैं। वे विषयवासनाके वशीभूत होकर इतने दीन हो जाते हैं कि माता-पिता, भाई-बन्धु और मित्रोंको भी छोड़कर केवल अपनी साली और सालोंसे ही सलाह लेने लगते हैं॥ ३७॥

शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः।
धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम्॥ ३८

शूद्र तपस्वियोंका वेष बनाकर अपना पेट भरते और दान लेने लगते हैं। जिन्हें धर्मका रत्तीभर भी ज्ञान नहीं है, वे ऊँचे सिंहासनपर विराजमान होकर धर्मका उपदेश करने लगते हैं॥ ३८॥

नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिता।
निरन्ने भूतले राजन्ननावृष्टिभयातुराः॥ ३९

प्रिय परीक्षित्! कलियुगकी प्रजा सूखा पड़नेके कारण अत्यन्त भयभीत और आतुर हो जाती है। एक तो दुर्भिक्ष और दूसरे शासकोंकी कर-वृद्धि! प्रजाके शरीरमें केवल अस्थिपंजर और मनमें केवल उद्वेग शेष रह जाता है। प्राण-रक्षाके लिये रोटीका टुकड़ा मिलना भी कठिन हो जाता है॥ ३९॥

वासोऽन्नपानशयनव्यवायस्नानभूषणैः।
हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः॥ ४०

कलियुगमें प्रजा शरीर ढकनेके लिये वस्त्र और पेटकी ज्वाला शान्त करनेके लिये रोटी, पीनेके लिये पानी और सोनेके लिये दो हाथ जमीनसे भी वंचित हो जाती है। उसे दाम्पत्य-जीवन, स्नान और आभूषण पहननेतकको सुविधा नहीं रहती। लोगोंकी आकृति, प्रकृति और चेष्टाएँ पिशाचोंकी-सी हो जाती हैं॥ ४०॥

कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः।
त्यक्ष्यन्ति च प्रियान् प्राणान् हनिष्यन्ति स्वकानपि॥ ४१

कलियुगमें लोग, अधिक धनकी तो बात ही क्या, कुछ कौड़ियोंके लिये आपसमें वैर-विरोध करने लगते और बहुत दिनोंके सद्भाव तथा मित्रताको तिलांजलि दे देते हैं। इतना ही नहीं, वे दमड़ी-दमड़ीके लिये अपने सगे-सम्बन्धियोंतकको हत्या कर बैठते और अपने प्रिय प्राणोंसे भी हाथ धो बैठते हैं॥ ४१॥

न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि।
पुत्रान् सर्वार्थकुशलान् क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः॥ ४२

परीक्षित्! कलियुगके क्षुद्र प्राणी केवल कामवासनाकी पूर्ति और पेट भरनेकी धुनमें ही लगे रहते हैं। पुत्र अपने बूढ़े मा-बापकी भी रक्षा—पालन-पोषण नहीं करते, उनकी उपेक्षा कर देते हैं और पिता अपने निपुण-से-निपुण, सब कामोंमें योग्य पुत्रोंकी भी परवा नहीं करते, उन्हें अलग कर देते हैं॥ ४२॥

कलौ न राजञ्जगतां परं गुरुं
त्रिलोकनाथानतपादपंकजम्।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं
यक्ष्यन्ति पाखण्डविभिन्नचेतसः॥ ४३

परीक्षित्! श्रीभगवान् ही चराचर जगत्के परम पिता और परम गुरु हैं। इन्द्र-ब्रह्मा आदि त्रिलोकाधिपति उनके चरणकमलोंमें अपना सिर झुकाकर सर्वस्व समर्पण करते रहते हैं। उनका ऐश्वर्य अनन्त है और वे एकरस अपने स्वरूपमें स्थित हैं। परन्तु कलियुगमें लोगोंमें इतनी मूढ़ता फैल जाती है, पाखण्डियोंके कारण लोगोंका चित्त इतना भटक जाता है कि प्रायः लोग अपने कर्म और भावनाओंके द्वारा भगवान्की पूजासे भी विमुख हो जाते हैं॥ ४३॥

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥ ४४

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः॥ ४५

श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥ ४६

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥ ४७

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥ ४८

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम्॥ ४९

म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यंग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः॥ ५०

मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के किसी एक नामका उच्चारण कर ले, तो उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसे उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। परन्तु हाय रे कलियुग! कलियुगसे प्रभावित होकर लोग उन भगवान्‌की आराधनासे भी विमुख हो जाते हैं॥ ४४॥

परीक्षित्! कलियुगके अनेकों दोष हैं। कुल वस्तुएँ दूषित हो जाती हैं, स्थानोंमें भी दोषकी प्रधानता हो जाती है। सब दोषोंका मूल स्रोत तो अन्तःकरण है ही, परन्तु जब पुरुषोत्तमभगवान् हृदयमें आ विराजते हैं, तब उनकी सन्निधिमात्रसे ही सब-के-सब दोष नष्ट हो जाते हैं॥ ४५॥ भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, धाम और नामके श्रवण, संकीर्तन, ध्यान, पूजन और आदरसे वे मनुष्यके हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं। और एक-दो जन्मके पापोंकी तो बात ही क्या, हजारों जन्मोंके पापके ढेर-के-ढेर भी क्षणभरमें भस्म कर देते हैं॥ ४६॥ जैसे सोनेके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसके धातुसम्बन्धी मलिनता आदि दोषोंको नष्ट कर देती है, वैसे ही साधकोंके हृदयमें स्थित होकर भगवान् विष्णु उनके अशुभ संस्कारोंको सदाके लिये मिटा देते हैं॥ ४७॥ परीक्षित्! विद्या, तपस्या, प्राणायाम, समस्त प्राणियोंके प्रति मित्रभाव, तीर्थस्नान, व्रत, दान और जप आदि किसी भी साधनसे मनुष्यके अन्तःकरणकी वैसी वास्तविक शुद्धि नहीं होती, जैसी शुद्धि भगवान् पुरुषोत्तमके हृदयमें विराजमान हो जानेपर होती है॥ ४८॥

परीक्षित्! अब तुम्हारी मृत्युका समय निकट आ गया है। अब सावधान हो जाओ। पूरी शक्तिसे और अन्तःकरणकी सारी वृत्तियोंसे भगवान् श्रीकृष्णको अपने हृदयसिंहासनपर बैठा लो। ऐसा करनेसे अवश्य ही तुम्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी॥ ४९॥

जो लोग मृत्युके निकट पहुँच रहे हैं, उन्हें सब प्रकारसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान्‌का ही ध्यान करना चाहिये। प्यारे परीक्षित्! सबके परम आश्रय और सर्वात्मा भगवान् अपना ध्यान करने-वालेको अपने स्वरूपमें लीन कर लेते हैं, उसे अपना स्वरूप बना लेते हैं॥ ५०॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥ ५१

परीक्षित्! यों तो कलियुग दोषोंका खजाना है, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है॥ ५१ ॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥ ५२

सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधि-पूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

चार प्रकारके प्रलय

श्रीशुक उवाच

कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्धावधिर्नृप ।
कथितो युगमानं च शृणु कल्पलयावपि ॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! (तीसरे स्कन्धमें) परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त कालका स्वरूप और एक-एक युग कितने-कितने वर्षोंका होता है, यह मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। अब तुम कल्पकी स्थिति और उसके प्रलयका वर्णन भी सुनो॥ १ ॥

चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥ २

राजन्! एक हजार चतुर्युगीका ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके इस दिनको ही कल्प भी कहते हैं। एक कल्पमें चौदह मनु होते हैं॥ २ ॥

तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥ ३

कल्पके अन्तमें उतने ही समयतक प्रलय भी रहता है। प्रलयको ही ब्रह्माकी रात भी कहते हैं। उस समय ये तीनों लोक लीन हो जाते हैं, उनका प्रलय हो जाता है॥ ३ ॥

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः ॥ ४

इसका नाम नैमित्तिक प्रलय है। इस प्रलयके अवसरपर सारे विश्वको अपने अंदर समेटकर—लीन कर ब्रह्मा और तत्पश्चात् शेषशायी भगवान् नारायण भी शयन कर जाते हैं॥ ४॥

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥ ५

इस प्रकार रातके बाद दिन और दिनके बाद रात होते-होते जब ब्रह्माजीकी अपने मानसे सौ वर्षकी और मनुष्योंकी दृष्टिमें दो परार्द्धकी आयु समाप्त हो जाती है, तब महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा—ये सातों प्रकृतियाँ अपने कारण मूल प्रकृतिमें लीन हो जाती हैं॥ ५॥

एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते॥ ६

पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन् न वर्षति।
तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्षमाणाः क्षुधार्दिताः॥ ७

क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः।
सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः॥ ८

रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुंचति।
ततः संवर्तको वह्निः संकर्षणमुखोत्थितः॥ ९

दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ।
उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः॥ १०

दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत्।
ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम्॥ ११

परः सांवर्तको वाति धूम्रं खं रजसाऽऽवृतम्।
ततो मेघकुलान्यंग चित्रवर्णान्यनेकशः॥ १२

शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः।
तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम्॥ १३

तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते॥ १४

राजन्! इसीका नाम प्राकृतिक प्रलय है। इस प्रलयमें प्रलयका कारण उपस्थित होनेपर पंचभूतोंके मिश्रणसे बना हुआ ब्रह्माण्ड अपना स्थूलरूप छोड़कर कारणरूपमें स्थित हो जाता है, घुल-मिल जाता है॥ ६॥ परीक्षित्! प्रलयका समय आनेपर सौ वर्षतक मेघ पृथ्वीपर वर्षा नहीं करते। किसीको अन्न नहीं मिलता। उस समय प्रजा भूख-प्याससे व्याकुल होकर एक-दूसरेको खाने लगती है॥ ७॥ इस प्रकार कालके उपद्रवसे पीड़ित होकर धीरे-धीरे सारी प्रजा क्षीण हो जाती है। प्रलयकालीन सांवर्तक सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समुद्र, प्राणियोंके शरीर और पृथ्वीका सारा रस खींच-खींचकर सोख जाते हैं और फिर उन्हें सदाकी भाँति पृथ्वीपर बरसाते नहीं। उस समय संकर्षणभगवान्के मुखसे प्रलयकालीन संवर्तक अग्नि प्रकट होती है॥ ८-९॥ वायुके वेगसे वह और भी बढ़ जाती है और तल-अतल आदि सातों नीचेके लोकोंको भस्म कर देती है। वहाँके प्राणी तो पहले ही मर चुके होते हैं नीचेसे आगकी करारी लपटें और ऊपरसे सूर्यकी प्रचण्ड गरमी! उस समय ऊपर-नीचे, चारों ओर यह ब्रह्माण्ड जलने लगता है और ऐसा जान पड़ता है, मानो गोबरका उपला जलकर अंगारेके रूपमें दहक रहा हो। इसके बाद प्रलयकालीन अत्यन्त प्रचण्ड सांवर्तक वायु सैकड़ों वर्षोंतक चलती रहती है। उस समयका आकाश धूएँ और धूलसे तो भरा ही रहता है, उसके बाद असंख्यों रंग-बिरंगे बादल आकाशमें मँडराने लगते हैं और बड़ी भयंकरताके साथ गरज-गरजकर सैकड़ों वर्षोंतक वर्षा करते रहते हैं। उस समय ब्रह्माण्डके भीतरका सारा संसार एक समुद्र हो जाता है, सब कुछ जलमग्न हो जाता है॥ १०—१३॥

इस प्रकार जब जल-प्रलय हो जाता है, तब जल पृथ्वीके विशेष गुण गन्धको ग्रस लेता है—अपनेमें लीन कर लेता है। गन्ध गुणके जलमें लीन हो जानेपर पृथ्वीका प्रलय हो जाता है, वह जलमें घुल-मिलकर जलरूप बन जाती है॥ १४॥

अपां रसमथो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा॥ १५

लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम्।
स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम्॥ १६

शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग देवान् वैकारिको गुणैः॥ १७

महान् ग्रसत्यहंकारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम्।
ग्रसतेऽव्याकृतं राजन् गुणान् कालेन चोदितम्॥ १८

न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः।
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम्॥ १९

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः॥ २०

न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्तं
न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं
तन्मूलभूतं पदमामनन्ति॥ २१

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा।
शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः॥ २२

राजन्! इसके बाद जलके गुण रसको तेजस्तत्त्व ग्रस लेता है और जल नीरस होकर तेजमें समा जाता है। तदनन्तर वायु तेजके गुण रूपको ग्रस लेता है और तेज रूपरहित होकर वायुमें लीन हो जाता है। अब आकाश वायुके गुण स्पर्शको अपनेमें मिला लेता है और वायु स्पर्शहीन होकर आकाशमें शान्त हो जाता है। इसके बाद तामस अहंकार आकाशके गुण शब्दको ग्रस लेता है और आकाश शब्दहीन होकर तामस अहंकारमें लीन हो जाता है। इसी प्रकार तैजस अहंकार इन्द्रियोंको और वैकारिक (सात्त्विक) अहंकार इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवता और इन्द्रियवृत्तियोंको अपनेमें लीन कर लेता है॥ १५—१७॥ तत्पश्चात् महत्तत्त्व अहंकारको और सत्त्व आदि गुण महत्तत्त्वको ग्रस लेते हैं। परीक्षित्! यह सब कालकी महिमा है। उसीकी प्रेरणासे अव्यक्त प्रकृति गुणोंको ग्रस लेती है और तब केवल प्रकृति-ही-प्रकृति शेष रह जाती है॥ १८॥ वही चराचर जगत्का मूल कारण है। वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य और अविनाशी है। जब वह अपने कार्योंको लीन करके प्रलयके समय साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाती है, तब कालके अवयव वर्ष, मास, दिन-रात क्षण आदिके कारण उसमें परिणाम, क्षय, वृद्धि आदि किसी प्रकारके विकार नहीं होते॥ १९॥ उस समय प्रकृतिमें स्थूल अथवा सूक्ष्मरूपसे वाणी, मन, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, महत्तत्त्व आदि विकार, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और उनके देवता आदि कुछ नहीं रहते। सृष्टिके समय रहनेवाले लोकोंकी कल्पना और उनकी स्थिति भी नहीं रहती॥ २०॥ उस समय स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ नहीं रहतीं। आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और सूर्य भी नहीं रहते। सब कुछ सोये हुएके समान शून्य-सा रहता है। उस अवस्थाका तर्कके द्वारा अनुमान करना भी असम्भव है। उस अव्यक्तको ही जगत्का मूलभूत तत्त्व कहते हैं॥ २१॥ इसी अवस्थाका नाम 'प्राकृत प्रलय' है। उस समय पुरुष और प्रकृति दोनोंकी शक्तियाँ कालके प्रभावसे क्षीण हो जाती हैं और विवश होकर अपने मूल-स्वरूपमें लीन हो जाती हैं॥ २२॥

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत्॥ २३

दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत्।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात्॥ २४

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि॥ २५

यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात्॥ २६

सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवांग तन्तवः॥ २७

यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः।
अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत्॥ २८

परीक्षित्! (अब आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मोक्षका स्वरूप बतलाया जाता है।) बुद्धि, इन्द्रिय और उनके विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान, ज्ञानस्वरूप वस्तु ही भासित हो रही है। उन सबका तो आदि भी है और अन्त भी। इसलिये वे सब सत्य नहीं हैं। वे दृश्य हैं और अपने अधिष्ठानसे भिन्न उनकी सत्ता भी नहीं है। इसलिये वे सर्वथा मिथ्या—मायामात्र हैं॥ २३ ॥ जैसे दीपक, नेत्र और रूप—ये तीनों तेजसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही बुद्धि इन्द्रिय और इनके विषय तन्मात्राएँ भी अपने अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं यद्यपि वह इनसे सर्वथा भिन्न है; (जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें अध्यस्त सर्प अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है, परन्तु अध्यस्त सर्पसे अधिष्ठानका कोई सम्बन्ध नहीं है)॥ २४॥

परीक्षित्! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही हैं। अतः इनके कारण अन्तरात्मामें जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्वकी प्रतीति होती है, वह केवल मायामात्र है। बुद्धिगत नानात्वका एकमात्र सत्य आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है॥ २५ ॥ यह विश्व उत्पत्ति और प्रलयसे ग्रस्त है, इसलिये अनेक अवयवोंका समूह अवयवी है। अतः यह कभी ब्रह्ममें होता है और कभी नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें मेघमाला कभी होती है और कभी नहीं होती॥ २६ ॥ परीक्षित्! जगत्के व्यवहारमें जितने भी अवयवी पदार्थ होते हैं, उनके न होनेपर भी उनके भिन्न-भिन्न अवयव सत्य माने जाते हैं। क्योंकि वे उनके कारण हैं। जैसे वस्त्ररूप अवयवीके न होनेपर भी उसके कारणरूप सूतका अस्तित्व माना ही जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप जगत्के अभावमें भी इस जगत्के कारणरूप अवयवकी स्थिति हो सकती है॥ २७॥ परन्तु ब्रह्ममें यह कार्य-कारणभाव भी वास्तविक नहीं है। क्योंकि देखो, कारण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु। इस प्रकारका जो भेद दिखायी देता है, वह केवल भ्रम ही है। इसका हेतु यह है कि सामान्य और विशेष भाव आपेक्षिक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। विशेषके बिना सामान्य और सामान्यके बिना विशेषकी स्थिति नहीं हो सकती। कार्य और कारणभावका आदि और अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिये भी वह स्वाप्निक भेद-भावके समान सर्वथा अवस्तु है॥ २८॥

विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत्॥ २९

नहि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव॥ ३०

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते[1]
नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो
व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः॥ ३१

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः॥ ३२

घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहंकार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्॥ ३३

यदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहंकरणात्मबन्धनम्।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमंग सम्प्लवम्॥ ३४

इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रपंचरूप विकार स्वाप्निक विकारके समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं है। कोई चाहे भी तो आत्मासे भिन्न रूपमें अणुमात्र भी इसका निरूपण नहीं कर सकता। यदि आत्मासे पृथक् इसकी सत्ता मानी भी जाय तो यह भी चिद्रूप आत्माके समान स्वयंप्रकाश होगा, और ऐसी स्थितिमें वह आत्माकी भाँति ही एकरूप सिद्ध होगा॥ २९॥ परन्तु इतना तो सर्वथा निश्चित है कि परमार्थ-सत्य वस्तुमें नानात्व नहीं है। यदि कोई अज्ञानी परमार्थ-सत्य वस्तुमें नानात्व स्वीकार करता है, तो उसका वह मानना वैसा ही है, जैसा महाकाश और घटाकाशका, आकाशस्थित सूर्य और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका तथा बाह्य वायु और आन्तर वायुका भेद मानना॥ ३०॥

जैसे व्यवहारमें मनुष्य एक ही सोनेको अनेकों रूपोंमें गढ़-गलाकर तैयार कर लेते हैं और वह कंगन, कुण्डल, कड़ा आदि अनेकों रूपोंमें मिलता है; इसी प्रकार व्यवहारमें निपुण विद्वान् लौकिक और वैदिक वाणीके द्वारा इन्द्रियातीत आत्मस्वरूप भगवान्का भी अनेकों रूपोंमें वर्णन करते हैं॥ ३१॥ देखो न, बादल सूर्यसे उत्पन्न होता है और सूर्यसे ही प्रकाशित। फिर भी वह सूर्यके ही अंश नेत्रोंके लिये सूर्यका दर्शन होनेमें बाधक बन बैठता है। इसी प्रकार अहंकार भी ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता, ब्रह्मसे ही प्रकाशित होता और ब्रह्मके अंश जीवके लिये ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कारमें बाधक बन बैठता है॥ ३२॥ जब सूर्यसे प्रकट होनेवाला बादल तितर-बितर हो जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूप सूर्यका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं। ठीक वैसे ही, जब जीवके हृदयमें जिज्ञासा जगती है, तब आत्माकी उपाधि अहंकार नष्ट हो जाता है और उसे अपने स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है॥ ३३॥ प्रिय परीक्षित्! जब जीव विवेकके खड्गसे मायामय अहंकारका बन्धन काट देता है, तब यह अपने एकरस आत्मस्वरूपके साक्षात्कारमें स्थित हो जाता है। आत्माकी यह मायामुक्त वास्तविक स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है॥ ३४॥

१. प्रतीयते।

नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परंतप।
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ ३५

कालस्त्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा।
परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः॥ ३६

अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना।
अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव॥ ३७

नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी॥ ३८

एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातु-
र्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः।
लीलाकथास्ते कथिताः समासतः
कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः॥ ३९

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥ ४०

पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः।
नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः॥ ४१

हे शत्रुदमन! तत्त्वदर्शी लोग कहते हैं कि ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक जितने प्राणी या पदार्थ हैं, सभी हर समय पैदा होते और मरते रहते हैं। अर्थात् नित्यरूपसे उत्पत्ति और प्रलय होता ही रहता है॥ ३५॥ संसारके परिणामी पदार्थ नदी-प्रवाह और दीप-शिखा आदि क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। उनकी बदलती हुई अवस्थाओंको देखकर यह निश्चय होता है कि देह आदि भी कालरूप सोतेके वेगमें बहते-बदलते जा रहे हैं। इसलिये क्षण-क्षणमें उनकी उत्पत्ति और प्रलय हो रहा है॥ ३६॥ जैसे आकाशमें तारे हर समय चलते ही रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्टरूपसे नहीं दिखायी पड़ती, वैसे ही भगवान्‌के स्वरूपभूत अनादि-अनन्त कालके कारण प्राणियोंकी प्रतिक्षण होनेवाली उत्पत्ति और प्रलयका भी पता नहीं चलता॥ ३७॥ परीक्षित्! मैंने तुमसे चार प्रकारके प्रलयका वर्णन किया; उनके नाम हैं—नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृतिक प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय। वास्तवमें कालकी सूक्ष्म गति ऐसी ही है॥ ३८॥

हे कुरुश्रेष्ठ! विश्वविधाता भगवान् नारायण ही समस्त प्राणियों और शक्तियोंके आश्रय हैं। जो कुछ मैंने संक्षेपसे कहा है, वह सब उन्हींकी लीला-कथा है। भगवान्‌की लीलाओंका पूर्ण वर्णन तो स्वयं ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते॥ ३९॥

जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं अथवा जो लोग अनेकों प्रकारके दुःख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं, उनके लिये पुषोत्तमभगवान्‌की लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त और कोई साधन, कोई नौका नहीं है। ये केवल लीला-रसायनका सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं॥ ४०॥ जो कुछ मैंने तुम्हें सुनाया है, यही श्रीमद्भागवतपुराण है। इसे सनातन ऋषि नर-नारायणने पहले देवर्षि नारदको सुनाया था और उन्होंने मेरे पिता महर्षि कृष्णद्वैपायनको॥ ४१॥

स वै मह्यं महाराज भगवान् बादरायणः।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम्॥ ४२

महाराज! उन्हीं बदरीवनविहारी भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने प्रसन्न होकर मुझे इस वेदतुल्य श्रीभागवतसंहिताका उपदेश किया॥ ४२॥

एतां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये।
दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ सम्पृष्टः शौनकादिभिः॥ ४३

कुरुश्रेष्ठ! आगे चलकर जब शौनकादि ऋषि नैमिषारण्य क्षेत्रमें बहुत बड़ा सत्र करेंगे, तब उनके प्रश्न करनेपर पौराणिक वक्ता श्रीसूतजी उन लोगोंको इस संहिताका श्रवण करायेंगे॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुकदेवजीका अन्तिम उपदेश

श्रीशुक उवाच

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः॥ १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! इस श्रीमद्भागवतमहापुराणमें बार-बार और सर्वत्र विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिका ही संकीर्तन हुआ है। ब्रह्मा और रुद्र भी श्रीहरिसे पृथक् नहीं हैं, उन्हींकी प्रसाद-लीला और क्रोध-लीलाकी अभिव्यक्ति हैं॥ १॥

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥ २

हे राजन्! अब तुम यह पशुओंकी-सी अविवेकमूलक धारणा छोड़ दो कि मैं मरूँगा; जैसे शरीर पहले नहीं था और अब पैदा हुआ और फिर नष्ट हो जायगा, वैसे ही तुम भी पहले नहीं थे, तुम्हारा जन्म हुआ, तुम मर जाओगे—यह बात नहीं है॥ २॥

न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान्।
बीजांकुरवद् देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः॥ ३

जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही एक देहसे दूसरे देहकी और दूसरे देहसे तीसरेकी उत्पत्ति होती है। किन्तु तुम न तो किसीसे उत्पन्न हुए हो और न तो आगे पुत्र-पौत्रादिकोंके शरीरके रूपमें उत्पन्न होओगे। अजी, जैसे आग लकड़ीसे सर्वथा अलग रहती है—लकड़ीकी उत्पत्ति और विनाशसे सर्वथा परे, वैसे ही तुम भी शरीर आदिसे सर्वथा अलग हो॥ ३॥

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पंचत्वाद्यात्मनः स्वयम्।
यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः॥ ४

स्वप्नावस्थामें ऐसा मालूम होता है कि मेरा सिर कट गया है और मैं मर गया हूँ, मुझे लोग श्मशानमें जला रहे हैं; परन्तु ये सब शरीरकी ही अवस्थाएँ दीखती हैं, आत्माकी नहीं। देखनेवाला तो उन अवस्थाओंसे सर्वथा परे, जन्म और मृत्युसे रहित, शुद्ध-बुद्ध परमतत्त्वस्वरूप है॥ ४॥

घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः॥ ५

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥ ६

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते।
ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति॥ ७

न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः।
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः॥ ८

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो।
बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया॥ ९

चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्॥ १०

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले॥ ११

जैसे घड़ा फूट जानेपर आकाश पहलेकी ही भाँति अखण्ड रहता है, परन्तु घटाकाशताकी निवृत्ति हो जानेसे लोगोंको ऐसा प्रतीत होता है कि वह महाकाशसे मिल गया है—वास्तवमें तो वह मिला हुआ था ही, वैसे ही देहपात हो जानेपर ऐसा मालूम पड़ता है मानो जीव ब्रह्म हो गया। वास्तवमें तो वह ब्रह्म था ही, उसकी अब्रह्मता तो प्रतीतिमात्र थी॥ ५॥ मन ही आत्माके लिये शरीर, विषय और कर्मोंकी कल्पना कर लेता है; और उस मनकी सृष्टि करती है माया (अविद्या)। वास्तवमें माया ही जीवके संसार-चक्रमें पड़नेका कारण है॥ ६॥ जबतक तेल, तेल रखनेका पात्र, बत्ती और आगका संयोग रहता है, तभीतक दीपकमें दीपकपना है; वैसे ही उनके ही समान जबतक आत्माका कर्म, मन, शरीर और इनमें रहनेवाले चैतन्याध्यासके साथ सम्बन्ध रहता है तभीतक उसे जन्म-मृत्युके चक्र संसारमें भटकना पड़ता है और रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणकी वृत्तियोंसे उसे उत्पन्न, स्थित एवं विनष्ट होना पड़ता है॥ ७॥ परन्तु जैसे दीपकके बुझ जानेसे तत्त्वरूप तेजका विनाश नहीं होता, वैसे ही संसारका नाश होनेपर भी स्वयंप्रकाश आत्माका नाश नहीं होता। क्योंकि वह कार्य और कारण, व्यक्त और अव्यक्त सबसे परे है, वह आकाशके समान सबका आधार है, नित्य और निश्चल है, वह अनन्त है। सचमुच आत्माकी उपमा आत्मा ही है॥ ८॥

हे राजन्! तुम अपनी विशुद्ध एवं विवेकवती बुद्धिको परमात्माके चिन्तनसे भरपूर कर लो और स्वयं ही अपने अन्तरमें स्थित परमात्माका साक्षात्कार करो॥ ९॥ देखो, तुम मृत्युओंकी भी मृत्यु हो! तुम स्वयं ईश्वर हो। ब्राह्मणके शापसे प्रेरित तक्षक तुम्हें भस्म न कर सकेगा। अजी, तक्षककी तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु और मृत्युओंका समूह भी तुम्हारे पासतक न फटक सकेंगे॥ १०॥ तुम इस प्रकार अनुसंधान—चिन्तन करो कि 'मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ। सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ।' इस प्रकार तुम अपने-आपको अपने वास्तविक एकरस अनन्त अखण्ड स्वरूपमें स्थित कर लो॥ ११॥

दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः॥ १२

उस समय अपनी विषैली जीभ लपलपाता हुआ, अपने होठोंके कोने चाटता हुआ तक्षक आये और अपने विषपूर्ण मुखोंसे तुम्हारे पैरोंमें डस ले—कोई परवा नहीं। तुम अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होकर इस शरीरको—और तो क्या, सारे विश्वको भी अपनेसे पृथक् न देखोगे॥ १२॥

एतत्ते कथितं तात यथाऽऽत्मा पृष्टवान् नृप।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १३

आत्मस्वरूप बेटा परीक्षित्! तुमने विश्वात्मा भगवान्की लीलाके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया, अब और क्या सुनना चाहते हो?॥ १३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे
ब्रह्मोपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

परीक्षित्की परमगति, जनमेजयका सर्पसत्र और वेदोंके शाखाभेद

सूत उवाच

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद्
व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना
बद्धांजलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः॥ १

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! व्यासनन्दन श्रीशुकदेव मुनि समस्त चराचर जगत्को अपनी आत्माके रूपमें अनुभव करते हैं और व्यवहारमें सबके प्रति समदृष्टि रखते हैं। भगवान्के शरणागत एवं उनके द्वारा सुरक्षित राजर्षि परीक्षित्ने उनका सम्पूर्ण उपदेश बड़े ध्यानसे श्रवण किया। अब वे सिर झुकाकर उनके चरणोंके तनिक और पास खिसक आये तथा अंजलि बाँधकर उनसे यह प्रार्थना करने लगे॥ १॥

राजोवाच

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः॥ २

राजा परीक्षित्ने कहा—भगवन्! आप करुणाके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। आपने मुझपर परम कृपा करके अनादि-अनन्त, एकरस, सत्य भगवान् श्रीहरिके स्वरूप और लीलाओंका वर्णन किया है। अब मैं आपकी कृपासे परम अनुगृहीत और कृतकृत्य हो गया हूँ॥ २॥

नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम्।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः॥ ३

संसारके प्राणी अपने स्वार्थ और परमार्थके ज्ञानसे शून्य हैं और विभिन्न प्रकारके दुःखोंके दावानलसे दग्ध हो रहे हैं। उनके ऊपर भगवन्मय महात्माओंका अनुग्रह होना कोई नयी घटना अथवा आश्चर्यकी बात नहीं है। यह तो उनके लिये स्वाभाविक ही है॥ ३॥

पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्।
यस्यां खलूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते॥ ४

मैंने और मेरे साथ और बहुत-से लोगोंने आपके मुखारविन्दसे इस श्रीमद्भागवतमहापुराणका श्रवण किया है। इस पुराणमें पद-पदपर भगवान् श्रीहरिके उस स्वरूप और उन लीलाओंका वर्णन हुआ है, जिसके गानमें बड़े-बड़े आत्माराम पुरुष रमते रहते हैं॥ ४॥

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥ ५

अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून्॥ ६

भगवन्! आपने मुझे अभयपदका, ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार करा दिया है। अब मैं परम शान्ति-स्वरूप ब्रह्ममें स्थित हूँ। अब मुझे तक्षक आदि किसी भी मृत्युके निमित्तसे अथवा दल-के-दल मृत्युओंसे भी भय नहीं है। मैं अभय हो गया हूँ॥ ५॥ ब्रह्मन्! अब आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपनी वाणी बंद कर लूँ, मौन हो जाऊँ और साथ ही कामनाओंके संस्कारसे भी रहित चित्तको इन्द्रियातीत परमात्माके स्वरूपमें विलीन करके अपने प्राणोंका त्याग कर दूँ॥ ६॥

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम्॥ ७

आपके द्वारा उपदेश किये हुए ज्ञान और विज्ञानमें परिनिष्ठित हो जानेसे मेरा अज्ञान सर्वदाके लिये नष्ट हो गया। आपने भगवान्के परम कल्याणमय स्वरूपका मुझे साक्षात्कार करा दिया है॥ ७॥

सूत उवाच

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् बादरायणिः।
जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः॥ ८

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! राजा परीक्षित्ने भगवान् श्रीशुकदेवजीसे इस प्रकार कहकर बड़े प्रेमसे उनकी पूजा की। अब वे परीक्षित्से विदा लेकर समागत त्यागी महात्माओं, भिक्षुओंके साथ वहाँसे चले गये॥ ८॥

परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना।
समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः॥ ९

राजर्षि परीक्षित्ने भी बिना किसी बाह्य सहायताके स्वयं ही अपने अन्तरात्माको परमात्माके चिन्तनमें समाहित किया और ध्यानमग्न हो गये। उस समय उनका श्वास-प्रश्वास भी नहीं चलता था, ऐसा जान पड़ता था मानो कोई वृक्षका ठूँठ हो॥ ९॥

प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गंगाकूल उदङ्मुखः।
ब्रह्मभूतो महायोगी निःसंगश्छिन्नसंशयः॥ १०

उन्होंने गंगाजीके तटपर कुशोंको इस प्रकार बिछा रखा था, जिसमें उनका अग्रभाग पूर्वकी ओर हो और उनपर स्वयं उत्तर मुँह होकर बैठे हुए थे। उनकी आसक्ति और संशय तो पहले ही मिट चुके थे। अब वे ब्रह्म और आत्माकी एकतारूप महायोगमें स्थित होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये॥ १०॥

तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना।
हन्तुकामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि कश्यपम्॥ ११

तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम्।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम्॥ १२

ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना।
बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥ १३

हाहाकारो महानासीद् भुवि खे दिक्षु सर्वतः।
विस्मिता ह्यभवन् सर्वे देवासुरनरादयः॥ १४

देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः।
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः॥ १५

जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम्।
यथा जुहाव संक्रुद्धो नागान् सत्रे सह द्विजैः॥ १६

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान् महोरगान्।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ॥ १७

अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान्।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः॥ १८

तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम्।
तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ॥ १९

शौनकादि ऋषियो! मुनिकुमार शृंगीने क्रोधित होकर परीक्षित्‌को शाप दे दिया था। अब उनका भेजा हुआ तक्षक सर्प राजा परीक्षित्‌को डसनेके लिये उनके पास चला। रास्तेमें उसने कश्यप नामके एक ब्राह्मणको देखा॥ ११॥ कश्यपब्राह्मण सर्पविषकी चिकित्सा करनेमें बड़े निपुण थे। तक्षकने बहुत-सा धन देकर कश्यपको वहींसे लौटा दिया, उन्हें राजाके पास न जाने दिया। और स्वयं ब्राह्मणके रूपमें छिपकर, क्योंकि वह इच्छानुसार रूप धारण कर सकता था, राजा परीक्षित्‌के पास गया और उन्हें डस लिया॥ १२॥ राजर्षि परीक्षित् तक्षकके डसनेके पहले ही ब्रह्ममें स्थित हो चुके थे। अब तक्षकके विषकी आगसे उनका शरीर सबके सामने ही जलकर भस्म हो गया॥ १३॥

पृथ्वी, आकाश और सब दिशाओंमें बड़े जोरसे 'हाय-हाय' की ध्वनि होने लगी। देवता, असुर, मनुष्य आदि सब-के-सब परीक्षित्‌की यह परम गति देखकर विस्मित हो गये॥ १४॥ देवताओंकी दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं। गन्धर्व और अप्सराएँ गान करने लगीं। देवतालोग 'साधु-साधु' के नारे लगाकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ १५॥

जब जनमेजयने सुना कि तक्षकने मेरे पिताजीको डस लिया है, तो उसे बड़ा क्रोध हुआ। अब वह ब्राह्मणोंके साथ विधिपूर्वक सर्पोंका अग्निकुण्डमें हवन करने लगा॥ १६॥ तक्षकने देखा कि जनमेजयके सर्प-सत्रकी प्रज्वलित अग्निमें बड़े-बड़े महासर्प भस्म होते जा रहे हैं, तब वह अत्यन्त भयभीत होकर देवराज इन्द्रकी शरणमें गया॥ १७॥ बहुत सर्पोंके भस्म होनेपर भी तक्षक न आया, यह देखकर परीक्षित्‌नन्दन राजा जनमेजयने ब्राह्मणोंसे कहा कि 'ब्राह्मणो! अबतक सर्पाधम तक्षक क्यों नहीं भस्म हो रहा है?'॥ १८॥ ब्राह्मणोंने कहा—'राजेन्द्र! तक्षक इस समय इन्द्रकी शरणमें चला गया है और वे उसकी रक्षा कर रहे हैं। उन्होंने ही तक्षकको स्तम्भित कर दिया है, इसीसे वह अग्निकुण्डमें गिरकर भस्म नहीं हो रहा है'॥ १९॥

पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते॥ २०

तच्छ्रुत्वाऽऽजुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्त्वता॥ २१

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः।
बभूव सम्भ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः॥ २२

तं पतन्तं विमानेन सहतक्षकमम्बरात्।
विलोक्यांगिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः॥ २३

नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट्।
अनेन पीतममृतमथ वा अजरामरः॥ २४

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा।
राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः॥ २५

सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप।
पंचत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म तत्॥ २६

तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम्।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते॥ २७

सूत उवाच

इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन् वचः।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम्॥ २८

परीक्षित्नन्दन जनमेजय बड़े ही बुद्धिमान् और वीर थे। उन्होंने ब्राह्मणोंकी बात सुनकर ऋत्विजोंसे कहा कि 'ब्राह्मणो! आपलोग इन्द्रके साथ तक्षकको क्यों नहीं अग्निमें गिरा देते?'॥ २०॥ जनमेजयकी बात सुनकर ब्राह्मणोंने उस यज्ञमें इन्द्रके साथ तक्षकका अग्निकुण्डमें आवाहन किया। उन्होंने कहा—'रे तक्षक! तू मरुद्गणके सहचर इन्द्रके साथ इस अग्निकुण्डमें शीघ्र आ पड़'॥ २१॥ जब ब्राह्मणोंने इस प्रकार आकर्षणमन्त्रका पाठ किया, तब तो इन्द्र अपने स्थान—स्वर्गलोकसे विचलित हो गये। विमानपर बैठे हुए इन्द्र तक्षकके साथ ही बहुत घबड़ा गये और उनका विमान भी चक्कर काटने लगा॥ २२॥ अंगिरानन्दन बृहस्पतिजीने देखा कि आकाशसे देवराज इन्द्र विमान और तक्षकके साथ ही अग्निकुण्डमें गिर रहे हैं; तब उन्होंने राजा जनमेजयसे कहा— ॥ २३॥ 'नरेन्द्र! सर्पराज तक्षकको मार डालना आपके योग्य काम नहीं है। यह अमृत पी चुका है। इसलिये यह अजर और अमर है॥ २४॥

राजन्! जगत्के प्राणी अपने-अपने कर्मके अनुसार ही जीवन, मरण और मरणोत्तर गति प्राप्त करते हैं। कर्मके अतिरिक्त और कोई भी किसीको सुख-दुःख नहीं दे सकता॥ २५॥ जनमेजय! यों तो बहुत-से लोगोंकी मृत्यु साँप, चोर, आग, बिजली आदिसे तथा भूख-प्यास, रोग आदि निमित्तोंसे होती है; परन्तु यह तो कहनेकी बात है। वास्तवमें तो सभी प्राणी अपने प्रारब्ध-कर्मका ही उपभोग करते हैं॥ २६॥ राजन्! तुमने बहुत-से निरपराध सर्पोंको जला दिया है। इस अभिचार-यज्ञका फल केवल प्राणियोंकी हिंसा ही है। इसलिये इसे बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि जगत्के सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धकर्मका ही भोग कर रहे हैं॥ २७॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! महर्षि बृहस्पतिजीकी बातका सम्मान करके जनमेजयने कहा कि 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।' उन्होंने सर्प-सत्र बंद कर दिया और देवगुरु बृहस्पतिजीकी विधिपूर्वक पूजा की॥ २८॥

सैषा विष्णोर्महामायाबाध्ययालक्षणा यया।
मुह्यन्त्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः॥ २९

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता
मायाऽऽत्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो
मनश्च संकल्पविकल्पवृत्ति यत्॥ ३०

न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं
श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम्।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं
निषिध्य चोर्मीन् विरमेत् स्वयं मुनिः॥ ३१

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।

ऋषिगण! (जिससे विद्वान् ब्राह्मणको भी क्रोध आया, राजाको शाप हुआ, मृत्यु हुई, फिर जनमेजयको क्रोध आया, सर्प मारे गये) यह वही भगवान् विष्णुकी महामाया है। यह अनिर्वचनीय है, इसीसे भगवान्के स्वरूपभूत जीव क्रोधादि गुण-वृत्तियोंके द्वारा शरीरोंमें मोहित हो जाते हैं, एक-दूसरेको दुःख देते और भोगते हैं और अपने प्रयत्नसे इसको निवृत्त नहीं कर सकते॥ २९॥ (विष्णुभगवान्के स्वरूपका निश्चय करके उनका भजन करनेसे ही मायासे निवृत्ति होती है; इसलिये उनके स्वरूपका निरूपण सुनो—) यह दम्भी है, कपटी है—इत्याकारक बुद्धिमें बार-बार जो दम्भ-कपटका स्फुरण होता है, वही माया है। जब आत्मवादी पुरुष आत्मचर्चा करने लगते हैं, तब वह परमात्माके स्वरूपमें निर्भयरूपसे प्रकाशित नहीं होती; किन्तु भयभीत होकर अपना मोह आदि कार्य न करती हुई ही किसी प्रकार रहती है। इस रूपमें उसका प्रतिपादन किया गया है। मायाके आश्रित नाना प्रकारके विवाद, मतवाद भी परमात्माके स्वरूपमें नहीं हैं; क्योंकि वे विशेषविषयक हैं और परमात्मा निर्विशेष है। केवल वाद-विवादकी तो बात ही क्या, लोक-परलोकके विषयोंके सम्बन्धमें संकल्प-विकल्प करनेवाला मन भी शान्त हो जाता है॥ ३०॥ कर्म, उसके सम्पादनकी सामग्री और उनके द्वारा साध्यकर्म—इन तीनोंसे अन्वित अहंकारात्मक जीव—यह सब जिसमें नहीं हैं, वह आत्म-स्वरूप परमात्मा न तो कभी किसीके द्वारा बाधित होता है और न तो किसीका विरोधी ही है। जो पुरुष उस परमपदके स्वरूपका विचार करता है, वह मनकी मायामयी लहरों, अहंकार आदिका बाध करके स्वयं अपने आत्मस्वरूपमें विहार करने लगता है॥ ३१॥ जो मुमुक्षु एवं विचारशील पुरुष परमपदके अतिरिक्त वस्तुका परित्याग करते हुए 'नेति-नेति' के द्वारा उसका निषेध करके ऐसी वस्तु प्राप्त करते हैं, जिसका कभी निषेध नहीं हो सकता और न तो कभी त्याग ही, वही विष्णुभगवान्का परमपद है; यह बात सभी महात्मा और श्रुतियाँ एक मतसे स्वीकार करती हैं। अपने चित्तको एकाग्र

विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः॥ ३२

त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम्।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥ ३३

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ३४

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
यत्पादाम्बुरुहध्यानात् संहितामध्यगामिमाम्॥ ३५

शौनक उवाच

पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः।
वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत् सौम्याभिधेहि नः॥ ३६

सूत उवाच

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते॥ ३७

यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्॥ ३८

करनेवाले पुरुष अन्तःकरणकी अशुद्धियोंको, अनात्म-भावनाओंको सदा-सर्वदाके लिये मिटाकर अनन्य प्रेमभावसे परिपूर्ण हृदयके द्वारा उसी परमपदका आलिंगन करते हैं और उसीमें समा जाते हैं॥ ३२॥ विष्णुभगवान्‌का यही वास्तविक स्वरूप है, यही उनका परमपद है। इसकी प्राप्ति उन्हीं लोगोंको होती है, जिनके अन्तःकरणमें शरीरके प्रति अहंभाव नहीं है और न तो इसके सम्बन्धी गृह आदि पदार्थोंमें ममता ही। सचमुच जगत्‌की वस्तुओंमें मैंपन और मेरेपनका आरोप बहुत बड़ी दुर्जनता है॥ ३३॥ शौनकजी! जिसे इस परमपदकी प्राप्ति अभीष्ट है, उसे चाहिये कि वह दूसरोंकी कटु वाणी सहन कर ले और बदलेमें किसीका अपमान न करे। इस क्षणभंगुर शरीरमें अहंता-ममता करके किसी भी प्राणीसे कभी वैर न करे॥ ३४॥ भगवान् श्रीकृष्णका ज्ञान अनन्त है। उन्हींके चरणकमलोंके ध्यानसे मैंने इस श्रीमद्भागवत-महापुराणका अध्ययन किया है। मैं अब उन्हींको नमस्कार करके यह पुराण समाप्त करता हूँ॥ ३५॥

शौनकजीने पूछा—साधुशिरोमणि सूतजी! वेदव्यासजीके शिष्य पैल आदि महर्षि बड़े महात्मा और वेदोंके आचार्य थे। उन लोगोंने कितने प्रकारसे वेदोंका विभाजन किया, यह बात आप कृपा करके हमें सुनाइये॥ ३६॥

सूतजीने कहा—ब्रह्मन्! जिस समय परमेष्ठी ब्रह्माजी पूर्वसृष्टिका ज्ञान सम्पादन करनेके लिये एकाग्रचित्त हुए, उस समय उनके हृदयाकाशसे कण्ठ-तालु आदि स्थानोंके संघर्षसे रहित एक अत्यन्त विलक्षण अनाहत नाद प्रकट हुआ। जब जीव अपनी मनोवृत्तियोंको रोक लेता है, तब उसे भी उस अनाहत नादका अनुभव होता है॥ ३७॥

शौनकजी! बड़े-बड़े योगी उसी अनाहत नादकी उपासना करते हैं और उसके प्रभावसे अन्तःकरणके द्रव्य (अधिभूत), क्रिया (अध्यात्म) और कारक (अधिदैव) रूप मलको नष्ट करके वह परमगतिरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं, जिसमें जन्म-मृत्युरूप संसारचक्र नहीं है॥ ३८॥

ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः॥ ३९

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥ ४०

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्॥ ४१

तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह।
धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः॥ ४२

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः।
अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम्॥ ४३

तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः।
सव्याहृतिकान् सोंकारांश्चातुर्होत्रविवक्षया॥ ४४

पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान्।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन्॥ ४५

उसी अनाहत नादसे 'अ' कार, 'उ' कार और 'म' काररूप तीन मात्राओंसे युक्त ॐकार प्रकट हुआ। इस ॐकारकी शक्तिसे ही प्रकृति अव्यक्तसे व्यक्तरूपमें परिणत हो जाती है। ॐकार स्वयं भी अव्यक्त एवं अनादि है और परमात्म-स्वरूप होनेके कारण स्वयंप्रकाश भी है। जिस परम वस्तुको भगवान् ब्रह्म अथवा परमात्माके नामसे कहा जाता है, उसके स्वरूपका बोध भी ॐकारके द्वारा ही होता है॥ ३९॥ जब श्रवणेन्द्रियकी शक्ति लुप्त हो जाती है, तब भी इस ॐकारको—समस्त अर्थोंको प्रकाशित करनेवाले स्फोट तत्त्वको जो सुनता है और सुषुप्ति एवं समाधि-अवस्थाओंमें सबके अभावको भी जानता है, वही परमात्माका विशुद्ध स्वरूप है। वही ॐकार परमात्मासे हृदयाकाशमें प्रकट होकर वेदरूपा वाणीको अभिव्यक्त करता है॥ ४०॥ ॐकार अपने आश्रय परमात्मा परब्रह्मका साक्षात् वाचक है और ॐकार ही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदोंका सनातन बीज है॥ ४१॥

शौनकजी! ॐकारके तीन वर्ण हैं —'अ', 'उ', और 'म'। ये ही तीनों वर्ण सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों; ऋक्, यजुः, साम—इन तीन नामों; भूः, भुवः, स्वः—इन तीन अर्थों और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन वृत्तियोंके रूपमें तीन-तीनकी संख्यावाले भावोंको धारण करते हैं॥ ४२॥ इसके बाद सर्वशक्तिमान् ब्रह्माजीने ॐकारसे ही अन्तःस्थ (य, र, ल, व), ऊष्म (श, ष, स, ह), स्वर ('अ' से 'औ' तक), स्पर्श ('क से 'म' तक) तथा ह्रस्व और दीर्घ आदि लक्षणोंसे युक्त अक्षर-समाम्नाय अर्थात् वर्णमालाकी रचना की॥ ४३॥ उसी वर्णमालाद्वारा उन्होंने अपने चार मुखोंसे होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंके कर्म बतलानेके लिये ॐकार और व्याहृतियोंके सहित चार वेद प्रकट किये और अपने पुत्र ब्रह्मर्षि मरीचि आदिको वेदाध्ययनमें कुशल देखकर उन्हें वेदोंकी शिक्षा दी। वे सभी जब धर्मका उपदेश करनेमें निपुण हो गये, तब उन्होंने अपने पुत्रोंको उनका अध्ययन कराया॥ ४४-४५॥

ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः॥ ४६

क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः।
वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतचोदिताः॥ ४७

अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवाँल्लोकभावनः।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये॥ ४८

पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम्॥ ४९

ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥ ५०

तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः॥ ५१

पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्॥ ५२

साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्।
अथर्वांगिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे॥ ५३

पैलः स्वसंहितामूचे इन्द्रप्रमितये मुनिः।
बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम्॥ ५४

चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव।
पराशरायाग्निमित्रे इन्द्रप्रमितिरात्मवान्॥ ५५

अध्यापयत् संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम्।
तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान्॥ ५६

तदनन्तर, उन्हीं लोगोंके नैष्ठिक ब्रह्मचारी शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा चारों युगोंमें सम्प्रदायके रूपमें वेदोंकी रक्षा होती रही। द्वापरके अन्तमें महर्षियोंने उनका विभाजन भी किया॥ ४६॥ जब ब्रह्मवेत्ता ऋषियोंने देखा कि समयके फेरसे लोगोंकी आयु, शक्ति और बुद्धि क्षीण हो गयी है, तब उन्होंने अपने हृदय-देशमें विराजमान परमात्माकी प्रेरणासे वेदोंके अनेकों विभाग कर दिये॥ ४७॥

शौनकजी! इस वैवस्वत मन्वन्तरमें भी ब्रह्मा-शंकर आदि लोकपालोंकी प्रार्थनासे अखिल विश्वके जीवनदाता भगवान्‌ने धर्मकी रक्षाके लिये महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीके गर्भसे अपने अंशांश-कलास्वरूप व्यासके रूपमें अवतार ग्रहण किया है। परम भाग्यवान् शौनकजी! उन्होंने ही वर्तमान युगमें वेदके चार विभाग किये हैं॥ ४८-४९॥ जैसे मणियोंके समूहमेंसे विभिन्न जातिकी मणियाँ छाँटकर अलग-अलग कर दी जाती हैं, वैसे ही महामति भगवान् व्यासदेवने मन्त्र-समुदायमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके अनुसार मन्त्रोंका संग्रह करके उनसे ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनायीं और अपने चार शिष्योंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक संहिताकी शिक्षा दी॥ ५०-५१॥ उन्होंने 'बह्वृच' नामकी पहली ऋक्संहिता पैलको, 'निगद' नामकी दूसरी यजुःसंहिता वैशम्पायनको, सामश्रुतियोंकी 'छन्दोग-संहिता' जैमिनिको और अपने शिष्य सुमन्तुको 'अथर्वांगिरससंहिता' का अध्ययन कराया॥ ५२-५३॥

शौनकजी! पैल मुनिने अपनी संहिताके दो विभाग करके एकका अध्ययन इन्द्रप्रमितिको और दूसरेका बाष्कलको कराया। बाष्कलने भी अपनी शाखाके चार विभाग करके उन्हें अलग-अलग अपने शिष्य बोध, याज्ञवल्क्य, पराशर और अग्निमित्रको पढ़ाया। परमसंयमी इन्द्र-प्रमितिने प्रतिभाशाली माण्डूकेय ऋषिको अपनी संहिताका अध्ययन कराया। माण्डूकेयके शिष्य थे—देवमित्र। उन्होंने सौभरि आदि ऋषियोंको वेदोंका अध्ययन कराया॥ ५४—५६॥

शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पंचधा व्यस्य संहिताम्।
वात्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ॥ ५७

जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम्।
बलाकपैजवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः॥ ५८

बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो वालखिल्याख्यसंहिताम्।
चक्रे बालायनिर्भज्यः कासारश्चैव तां दधुः॥ ५९

बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः।
श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ६०

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन्।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम्॥ ६१

याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन् कियत्।
चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम्॥ ६२

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया।
विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति॥ ६३

देवरातसुतः सोऽपिच्छर्दित्वा यजुषां गणम्।
ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान्॥ ६४

यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽऽददुः।
तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन् सुपेशलाः॥ ६५

माण्डूकेयके पुत्रका नाम था शाकल्य। उन्होंने अपनी संहिताके पाँच विभाग करके उन्हें वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिर नामक शिष्योंको पढ़ाया॥ ५७॥ शाकल्यके एक और शिष्य थे—जातूकर्ण्यमुनि। उन्होंने अपनी संहिताके तीन विभाग करके तत्सम्बन्धी निरुक्तके साथ अपने शिष्य बलाक, पैज, वैताल और विरजको पढ़ाया॥ ५८॥ बाष्कलके पुत्र बाष्कलिने सब शाखाओंसे एक 'वालखिल्य' नामकी शाखा रची। उसे बालायनि, भज्य एवं कासारने ग्रहण किया॥ ५९ ॥ इन ब्रह्मर्षियोंने पूर्वोक्त सम्प्रदायके अनुसार ऋग्वेदसम्बन्धी बह्वृच शाखाओंको धारण किया। जो मनुष्य यह वेदोंके विभाजनका इतिहास श्रवण करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है॥ ६०॥

शौनकजी! वैशम्पायनके कुछ शिष्योंका नाम था चरकाध्वर्यु। इन लोगोंने अपने गुरुदेवके ब्रह्महत्या-जनित पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये एक व्रतका अनुष्ठान किया। इसीलिये इनका नाम 'चरकाध्वर्यु' पड़ा॥ ६१ ॥ वैशम्पायनके एक शिष्य याज्ञवल्क्यमुनि भी थे। उन्होंने अपने गुरुदेवसे कहा—'अहो भगवन्! ये चरकाध्वर्यु ब्राह्मण तो बहुत ही थोड़ी शक्ति रखते हैं। इनके व्रतपालनसे लाभ ही कितना है? मैं आपके प्रायश्चित्तके लिये बहुत ही कठिन तपस्या करूँगा'॥ ६२॥ याज्ञवल्क्यमुनिकी यह बात सुनकर वैशम्पायनमुनिको क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—'बस-बस', चुप रहो। तुम्हारे-जैसे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले शिष्यकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। देखो, अबतक तुमने मुझसे जो कुछ अध्ययन किया है उसका शीघ्र-से-शीघ्र त्याग कर दो और यहाँसे चले जाओ॥ ६३॥ याज्ञवल्क्यजी देवरातके पुत्र थे। उन्होंने गुरुजीकी आज्ञा पाते ही उनके पढ़ाये हुए यजुर्वेदका वमन कर दिया और वे वहाँसे चले गये। जब मुनियोंने देखा कि याज्ञवल्क्यने तो यजुर्वेदका वमन कर दिया, तब उनके चित्तमें इस बातके लिये बड़ा लालच हुआ कि हमलोग किसी प्रकार इसको ग्रहण कर लें। परन्तु ब्राह्मण होकर उगले हुए मन्त्रोंको ग्रहण करना अनुचित है, ऐसा सोचकर वे तीतर बन गये और उस संहिताको चुग लिया। इसीसे यजुर्वेदकी वह परम रमणीय शाखा 'तैत्तिरीय' के नामसे प्रसिद्ध हुई॥ ६४-६५॥

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेषयन्।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम्॥ ६६

शौनकजी! अब याज्ञवल्क्यने सोचा कि मैं ऐसी श्रुतियाँ प्राप्त करूँ, जो मेरे गुरुजीके पास भी न हों। इसके लिये वे सूर्यभगवान्‌का उपस्थान करने लगे॥ ६६॥

याज्ञवल्क्य उवाच

ॐ नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण कालस्वरूपेण चतुर्विधभूतनिकायानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश इवोपाधिनाव्यवधीयमानो भवानेक एव क्षणलवनिमेषावयवोपचितसंवत्सरगणेनापामादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति॥ ६७॥

याज्ञवल्क्यजी इस प्रकार उपस्थान करते हैं—मैं ॐकारस्वरूप भगवान् सूर्यको नमस्कार करता हूँ। आप सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा और कालस्वरूप हैं। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितने भी जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—चार प्रकारके प्राणी हैं, उन सबके हृदयदेशमें और बाहर आकाशके समान व्याप्त रहकर भी आप उपाधिके धर्मोंसे असंग रहनेवाले अद्वितीय भगवान् ही हैं। आप ही क्षण, लव, निमेष आदि अवयवोंसे संघटित संवत्सरोंके द्वारा एवं जलके आकर्षण-विकर्षण—आदान-प्रदानके द्वारा समस्त लोकोंकी जीवनयात्रा चलाते हैं॥ ६७॥

यदु ह वाव विबुधर्षभ सवितरदस्तपत्यनुसवनमहरहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामखिलदुरितवृजिनबीजावभर्जन भगवतः समभिधीमहि तपनमण्डलम्॥ ६८॥ य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां मनइन्द्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मान्तर्यामी प्रचोदयति॥ ६९॥ य एवेमं लोकमतिकरालवदनान्धकारसंज्ञाजगरग्रहगिलितं मृतकमिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेयसि स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयत्यवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति॥ ७०॥

प्रभो! आप समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ हैं। जो लोग प्रतिदिन तीनों समय वेद-विधिसे आपकी उपासना करते हैं, उनके सारे पाप और दुःखोंके बीजोंको आप भस्म कर देते हैं। सूर्यदेव! आप सारी सृष्टिके मूल कारण एवं समस्त ऐश्वर्योंके स्वामी हैं। इसलिये हम आपके इस तेजोमय मण्डलका पूरी एकाग्रताके साथ ध्यान करते हैं॥ ६८॥ आप सबके आत्मा और अन्तर्यामी हैं। जगत्‌में जितने चराचर प्राणी हैं, सब आपके ही आश्रित हैं। आप ही उनके अचेतन मन, इन्द्रिय और प्राणोंके प्रेरक हैं*॥ ६९॥ यह लोक प्रतिदिन अन्धकाररूप अजगरके विकराल मुँहमें पड़कर अचेत और मुर्दा-सा हो जाता है। आप परम करुणास्वरूप हैं, इसलिये कृपा करके अपनी दृष्टिमात्रसे ही इसे सचेत कर देते हैं और परम कल्याणके साधन समय-समयके धर्मानुष्ठानोंमें लगाकर आत्माभिमुख करते हैं। जैसे राजा दुष्टोंको भयभीत करता हुआ अपने राज्यमें विचरण करता है, वैसे ही आप चोर-जार आदि दुष्टोंको भयभीत करते हुए विचरते रहते हैं॥ ७०॥

* ६७, ६८, ६९—इन तीनों वाक्योंद्वारा क्रमशः गायत्रीमन्त्रके 'तत्सवितुर्वरेण्यम्,' 'भर्गो देवस्य धीमहि' और 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—इन तीन चरणोंकी व्याख्या करते हुए भगवान् सूर्यकी स्तुति की गयी है।

परित आशापालैस्तत्र तत्र कमलकोशाञ्जलिभि-रुपहृतार्हणः ॥ ७१ ॥ अथ ह भगवंस्तव चरण-नलिनयुगलं त्रिभुवनगुरुभिर्वन्दितमहमयातयाम-यजुःकाम उपसरामीति ॥ ७२ ॥

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः ॥ ७३

यजुर्भिरकरोच्छाखा दशपंच शतैर्विभुः।
जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ॥ ७४

जैमिनेः सामगस्यासीत् सुमन्तुस्तनयो मुनिः।
सुन्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम् ॥ ७५

सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान्।
सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः ॥ ७६

हिरण्यनाभः कौसल्यः पौष्यंजिश्च सुकर्मणः।
शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः ॥ ७७

उदीच्याः सामगाः शिष्या आसन् पंचशतानि वै।
पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान् प्रचक्षते ॥ ७८

लौगाक्षिर्मांगलिः कुल्यः कुसीदः कुक्षिरेव च।
पौष्यंजिशिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम् ॥ ७९

कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशतिसंहिताः।
शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान् ॥ ८०

चारों ओर सभी दिक्पाल स्थान-स्थानपर अपनी कमलकी कलीके समान अंजलियोंसे आपको उपहार समर्पित करते हैं ॥ ७१ ॥ भगवन्! आपके दोनों चरणकमल तीनों लोकोंके गुरु-सदृश महानुभावोंसे भी वन्दित हैं। मैंने आपके युगल चरणकमलोंकी इसलिये शरण ली है कि मुझे ऐसे यजुर्वेदकी प्राप्ति हो, जो अबतक किसीको न मिला हो ॥ ७२ ॥

सूतजी कहते हैं—शौकनादि ऋषियो! जब याज्ञवल्क्यमुनिने भगवान् सूर्यकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे प्रसन्न होकर उनके सामने अश्वरूपसे प्रकट हुए और उन्हें यजुर्वेदके उन मन्त्रोंका उपदेश किया, जो अबतक किसीको प्राप्त न हुए थे ॥ ७३ ॥ इसके बाद याज्ञवल्क्यमुनिने यजुर्वेदके असंख्य मन्त्रोंसे उसकी पंद्रह शाखाओंकी रचना की। वही वाजसनेय शाखाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उन्हें कण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषियोंने ग्रहण किया ॥ ७४ ॥

यह बात मैं पहले ही कह चूका हूँ कि महर्षि श्रीकृष्ण-द्वैपायनने जैमिनिमुनिको सामसंहिताका अध्ययन कराया। उनके पुत्र थे सुमन्तुमुनि और पौत्र थे सुन्वान्। जैमिनिमुनिने अपने पुत्र और पौत्रको एक-एक संहिता पढ़ायी ॥ ७५ ॥ जैमिनिमुनिके एक शिष्यका नाम था सुकर्मा। वह एक महान् पुरुष था। जैसे एक वृक्षमें बहुत-सी डालियाँ होती हैं, वैसे ही सुकर्माने सामवेदकी एक हजार संहिताएँ बना दीं ॥ ७६ ॥ सुकर्माके शिष्य कोसलदेशनिवासी हिरण्यनाभ, पौष्यंजि और ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आवन्त्यने उन शाखाओंको ग्रहण किया ॥ ७७ ॥ पौष्यंजि और आवन्त्यके पाँच सौ शिष्य थे। वे उत्तर दिशाके निवासी होनेके कारण औदीच्य सामवेदी कहलाते थे। उन्हींको प्राच्य सामवेदी भी कहते हैं। उन्होंने एक-एक संहिताका अध्ययन किया ॥ ७८ ॥ पौष्यंजिके और भी शिष्य थे—लौगाक्षि, मांगलि, कुल्य, कुसीद और कुक्षि। इसमेंसे प्रत्येकने सौ-सौ संहिताओंका अध्ययन किया ॥ ७९ ॥ हिरण्यनाभका शिष्य था—कृत। उसने अपने शिष्योंको चौबीस संहिताएँ पढ़ायीं। शेष संहिताएँ परम संयमी आवन्त्यने अपने शिष्योंको दीं। इस प्रकार सामवेदका विस्तार हुआ ॥ ८० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे वेदशाखाप्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथर्ववेदकी शाखाएँ और पुराणोंके लक्षण

सूत उवाच

अथर्ववित् सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत् स्वकाम्।
संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान्॥ १
शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः।
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु॥ २
कुमुदः शुनको ब्रह्मन् जाजलिश्चाप्यथर्ववित्।
बभ्रुः शिष्योऽथांगिरसः सैन्धवायन एव च।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथापरे॥ ३
नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपांगिरसादयः।
एते आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान् मुने॥ ४
त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः।
वैशम्पायन हारीतौ षड् वै पौराणिका इमे॥ ५
अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात्।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम्॥ ६
कश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः।
अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूलसंहिताः॥ ७
पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम्।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥ ८
सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ ९
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित् पंचविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥ १०

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! मैं कह चुका हूँ कि अथर्ववेदके ज्ञाता सुमन्तुमुनि थे। उन्होंने अपनी संहिता अपने प्रिय शिष्य कबन्धको पढ़ायी। कबन्धने उस संहिताके दो भाग करके पथ्य और वेद-दर्शको उसका अध्ययन कराया॥ १॥ वेददर्शके चार शिष्य हुए—शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष और पिप्पलायनि। अब पथ्यके शिष्योंके नाम सुनो॥ २॥ शौनकजी! पथ्यके तीन शिष्य थे—कुमुद, शुनक और अथर्ववेत्ता जाजलि। अंगिरा-गोत्रोत्पन्न शुनकके दो शिष्य थे—बभ्रु और सैन्धवायन। उन लोगोंने दो संहिताओंका अध्ययन किया। अथर्ववेदके आचार्योंमें इनके अतिरिक्त सैन्धवायनादिके शिष्य सावर्ण्य आदि तथा नक्षत्रकल्प, शान्ति, कश्यप, आंगिरस आदि कई विद्वान् और भी हुए। अब मैं तुम्हें पौराणिकोंके सम्बन्धमें सुनाता हूँ॥ ३-४॥

शौनकजी! पुराणोंके छः आचार्य प्रसिद्ध हैं—त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत॥ ५॥ इन लोगोंने मेरे पिताजीसे एक-एक पुराणसंहिता पढ़ी थी और मेरे पिताजीने स्वयं भगवान् व्याससे उन संहिताओंका अध्ययन किया था। मैंने उन छहों आचार्योंसे सभी संहिताओंका अध्ययन किया था॥ ६॥ उन छः संहिताओंके अतिरिक्त और भी चार मूल संहिताएँ थीं। उन्हें भी कश्यप, सावर्णि, परशुरामजीके शिष्य अकृतव्रण और उन सबके साथ मैंने व्यासजीके शिष्य श्रीरोमहर्षणजीसे, जो मेरे पिता थे, अध्ययन किया था॥ ७॥

शौनकजी! महर्षियोंने वेद और शास्त्रोंके अनुसार पुराणोंके लक्षण बतलाये हैं। अब तुम स्वस्थ होकर सावधानीसे उनका वर्णन सुनो॥ ८॥ शौनकजी! पुराणोंके पारदर्शी विद्वान् बतलाते हैं कि पुराणोंके दस लक्षण हैं—विश्वसर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था (प्रलय), हेतु (ऊति) और अपाश्रय। कोई-कोई आचार्य पुराणोंके पाँच ही लक्षण मानते हैं। दोनों ही बातें ठीक हैं, क्योंकि महापुराणोंमें दस लक्षण होते हैं और छोटे पुराणोंमें पाँच। विस्तार करके दस बतलाते हैं और संक्षेप करके पाँच॥ ९-१०॥

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥ ११

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्॥ १२

वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा॥ १३

रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः॥ १४

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥ १५

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः।
वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये॥ १६

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावतः॥ १७

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे॥ १८

(अब इनके लक्षण सुनो) जब मूल प्रकृतिमें लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्वसे तामस, राजस और वैकारिक (सात्त्विक)—तीन प्रकारके अहंकार बनते हैं। त्रिविध अहंकारसे ही पंचतन्मात्रा, इन्द्रिय और विषयोंकी उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्तिक्रमका नाम 'सर्ग' है॥ ११॥ परमेश्वरके अनुग्रहसे सृष्टिका सामर्थ्य प्राप्त करके महत्तत्त्व आदि पूर्वकर्मोंके अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओंकी प्रधानतासे जो यह चराचर शरीरात्मक जीवकी उपाधिकी सृष्टि करते हैं, एक बीजसे दूसरे बीजके समान, इसीको विसर्ग कहते हैं॥ १२॥ चर प्राणियोंकी अचर-पदार्थ 'वृत्ति' अर्थात् जीवन-निर्वाहकी सामग्री है। चर प्राणियोंके दुग्ध आदि भी इनमेंसे मनुष्योंने कुछ तो स्वभाववश कामनाके अनुसार निश्चित कर ली है और कुछने शास्त्रके आज्ञानुसार॥ १३॥

भगवान् युग-युगमें पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, देवता आदिके रूपमें अवतार ग्रहण करके अनेकों लीलाएँ करते हैं। इन्हीं अवतारोंमें वे वेदधर्मके विरोधियोंका संहार भी करते हैं। उनकी यह अवतार-लीला विश्वकी रक्षाके लिये ही होती है, इसीलिये उसका नाम 'रक्षा' है॥ १४॥ मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान्के अंशावतार—इन्हीं छः बातोंकी विशेषतासे युक्त समयको 'मन्वन्तर' कहते हैं॥ १५॥ ब्रह्माजीसे जितने राजाओंकी सृष्टि हुई है, उनकी भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन सन्तान-परम्पराको 'वंश' कहते हैं। उन राजाओंके तथा उनके वंशधरोंके चरित्रका नाम 'वंशानुचरित' है॥ १६॥ इस विश्वब्रह्माण्डका स्वभावसे ही प्रलय हो जाता है। उसके चार भेद हैं—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक। तत्त्वज्ञ विद्वानोंने इन्हींको 'संस्था' कहा है॥ १७॥ पुराणोंके लक्षणमें 'हेतु' नामसे जिसका व्यवहार होता है, वह जीव ही है; क्योंकि वास्तवमें वही सर्ग-विसर्ग आदिका हेतु है और अविद्यावश अनेकों प्रकारके कर्मकलापमें उलझ गया है। जो लोग उसे चैतन्यप्रधानकी दृष्टिसे देखते हैं, वे उसे अनुशयी अर्थात् प्रकृतिमें शयन करनेवाला कहते हैं; और जो उपाधिकी दृष्टिसे कहते हैं, वे उसे अव्याकृत अर्थात् प्रकृतिरूप कहते हैं॥ १८॥

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः॥ १९

पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु।
बीजादिपंचतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम्॥ २०

विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम्।
योगेन वा तदाऽऽत्मानं वेदेहाया निवर्तते॥ २१

एवंलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च॥ २२

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैंगं सगारुडम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम्॥ २३

भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥ २४

ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः।
शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्धनम्॥ २५

जीवकी वृत्तियोंके तीन विभाग हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जो इन अवस्थाओंमें इनके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञके मायामय रूपोंमें प्रतीत होता है और इन अवस्थाओंसे परे तुरीयतत्त्वके रूपमें भी लक्षित होता है, वही ब्रह्म है; उसीको यहाँ 'अपाश्रय' शब्दसे कहा गया है॥ १९ ॥ नामविशेष और रूपविशेषसे युक्त पदार्थोंपर विचार करें तो वे सत्तामात्र वस्तुके रूपमें सिद्ध होते हैं। उनकी विशेषताएँ लुप्त हो जाती हैं। असलमें वह सत्ता ही उन विशेषताओंके रूपमें प्रतीत भी हो रही है और उनसे पृथक् भी है। ठीक इसी न्यायसे शरीर और विश्वब्रह्माण्डकी उत्पत्तिसे लेकर मृत्यु और महाप्रलयपर्यन्त जितनी भी विशेष अवस्थाएँ हैं, उनके रूपमें परम सत्यस्वरूप ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है और वह उनसे सर्वथा पृथक् भी है। यही वाक्य-भेदसे अधिष्ठान और साक्षीके रूपमें ब्रह्म ही पुराणोक्त आश्रयतत्त्व है॥ २० ॥ जब चित्त स्वयं आत्मविचार अथवा योगाभ्यासके द्वारा सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण-सम्बन्धी व्यावहारिक वृत्तियों और जाग्रत्-स्वप्न आदि स्वाभाविक वृत्तियोंका त्याग करके उपराम हो जाता है, तब शान्तवृत्तिमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके द्वारा आत्मज्ञानका उदय होता है। उस समय आत्मवेत्ता पुरुष अविद्याजनित कर्म-वासना और कर्मप्रवृत्तिसे निवृत्त हो जाता है॥ २१ ॥

शौनकादि ऋषियो! पुरातत्त्ववेत्ता ऐतिहासिक विद्वानोंने इन्हीं लक्षणोंके द्वारा पुराणोंकी यह पहचान बतलायी है। ऐसे लक्षणोंसे युक्त छोटे-बड़े अठारह पुराण हैं॥ २२ ॥ उनके नाम ये हैं —ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिंगपुराण, गरुडपुराण, नारदपुराण, भागवतपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मार्कण्डेयपुराण, वामनपुराण, वराहपुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण और ब्रह्माण्डपुराण यह अठारह हैं॥ २३-२४ ॥ शौनकजी! व्यासजीकी शिष्य-परम्पराने जिस प्रकार वेदसंहिता और पुराणसंहिताओंका अध्ययन-अध्यापन, विभाजन आदि किया वह मैंने तुम्हें सुना दिया। यह प्रसंग सुनने और पढ़नेवालोंके ब्रह्मतेजकी अभिवृद्धि करता है॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीकी तपस्या और वर-प्राप्ति

शौनक उवाच

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर।
तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः॥ १

आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डतनयं जनाः।
यः कल्पान्ते उर्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत्॥ २

स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवर्षभः।
नैवाधुनापि भूतानां सम्प्लवः कोऽपि जायते॥ ३

एक एवार्णवे भ्राम्यन् ददर्श पुरुषं किल।
वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम्॥ ४

एष नः संशयो भूयान् सूत कौतूहलं यतः।
तं नश्छिन्धि महायोगिन् पुराणेष्वपि सम्मतः॥ ५

सूत उवाच

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः।
नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा॥ ६

प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात्।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः॥ ७

बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः।
बिभ्रत् कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम्॥ ८

शौनकजीने कहा—साधुशिरोमणि सूतजी! आप आयुष्मान् हों। सचमुच आप वक्ताओंके सिरमौर हैं। जो लोग संसारके अपार अन्धकारमें भूल-भटक रहे हैं, उन्हें आप वहाँसे निकालकर प्रकाशस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करा देते हैं। आप कृपा करके हमारे एक प्रश्नका उत्तर दीजिये॥ १॥ लोग कहते हैं कि मृकण्ड ऋषिके पुत्र मार्कण्डेय ऋषि चिरायु हैं और जिस समय प्रलयने सारे जगत्‌को निगल लिया था, उस समय भी वे बचे रहे॥ २॥ परन्तु सूतजी! वे तो इसी कल्पमें हमारे ही वंशमें उत्पन्न हुए एक श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं और जहाँतक हमें मालूम है, इस कल्पमें अबतक प्राणियोंका कोई प्रलय नहीं हुआ है॥ ३॥ ऐसी स्थितिमें यह बात कैसे सत्य हो सकती है कि जिस समय सारी पृथ्वी प्रलयकालीन समुद्रमें डूब गयी थी, उस समय मार्कण्डेयजी उसमें डूब-उतरा रहे थे और उन्होंने अक्षयवटके पत्तेके दोनेमें अत्यन्त अद्‌भुत और सोये हुए बालमुकुन्दका दर्शन किया॥ ४॥ सूतजी! हमारे मनमें बड़ा सन्देह है और इस बातको जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा है। आप बड़े योगी हैं, पौराणिकोंमें सम्मानित हैं। आप कृपा करके हमारा यह सन्देह मिटा दीजिये॥ ५॥

सूतजीने कहा—शौनकजी! आपने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया। इससे लोगोंका भ्रम मिट जायगा और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस कथामें भगवान् नारायणकी महिमा है। जो इसका गान करता है, उसके सारे कलिमल नष्ट हो जाते हैं॥ ६॥ शौनकजी! मृकण्ड ऋषिने अपने पुत्र मार्कण्डेयके सभी संस्कार समय-समयपर किये। मार्कण्डेयजी विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके तपस्या और स्वाध्यायसे सम्पन्न हो गये थे॥ ७॥ उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यका व्रत ले रखा था। शान्तभावसे रहते थे। सिरपर जटाएँ बढ़ा रखी थीं। वृक्षोंकी छालका ही वस्त्र पहनते थे। वे अपने हाथोंमें कमण्डलु और दण्ड धारण करते, शरीरपर यज्ञोपवीत और मेखला शोभायमान रहती॥ ८॥

कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये।
अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन् सन्ध्ययोर्हरिम्॥ ९

सायं प्रातः स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः।
बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नो चेदुपोषितः॥ १०

एवं तपः स्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम्।
आराधयन् हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम्॥ ११

ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च ये परे।
नृदेवपितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः॥ १२

इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपस्स्वाध्यायसंयमैः।
दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना॥ १३

तस्यैवं युंजतश्चित्तं महायोगेन योगिनः।
व्यतीयाय महान् कालो मन्वन्तरषडात्मकः॥ १४

एतत् पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन् किलान्तरे।
तपोविशंकितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम्॥ १५

गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ।
मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा॥ १६

ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे।
पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो॥ १७

काले मृगका चर्म, रुद्राक्षमाला और कुश—यही उनकी पूँजी थी। यह सब उन्होंने अपने आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतकी पूर्तिके लिये ही ग्रहण किया था। वे सायंकाल और प्रातःकाल अग्निहोत्र, सूर्योपस्थान, गुरुवन्दन, ब्राह्मण-सत्कार, मानस-पूजा और 'मैं परमात्माका स्वरूप ही हूँ' इस प्रकारकी भावना आदिके द्वारा भगवान्‌की आराधना करते॥ ९॥ सायं-प्रातः भिक्षा लाकर गुरुदेवके चरणोंमें निवेदन कर देते और मौन हो जाते। गुरुजीकी आज्ञा होती तो एक बार खा लेते, अन्यथा उपवास कर जाते॥ १०॥ मार्कण्डेयजीने इस प्रकार तपस्या और स्वाध्यायमें तत्पर रहकर करोड़ों वर्षोंतक भगवान्‌की आराधना की और इस प्रकार उस मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर ली, जिसको जीतना बड़े-बड़े योगियोंके लिये भी कठिन है॥ ११॥ मार्कण्डेयजीकी मृत्यु-विजयको देखकर ब्रह्मा, भृगु, शंकर, दक्ष प्रजापति, ब्रह्माजीके अन्यान्य पुत्र तथा मनुष्य, देवता, पितर एवं अन्य सभी प्राणी अत्यन्त विस्मित हो गये॥ १२॥ आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतधारी एवं योगी मार्कण्डेयजी इस प्रकार तपस्या, स्वाध्याय और संयम आदिके द्वारा अविद्या आदि सारे क्लेशोंको मिटाकर शुद्ध अन्तःकरणसे इन्द्रियातीत परमात्माका ध्यान करने लगे॥ १३॥ योगी मार्कण्डेयजी महायोगके द्वारा अपना चित्त भगवान्‌के स्वरूपमें जोड़ते रहे। इस प्रकार साधन करते-करते बहुत समय—छः मन्वन्तर व्यतीत हो गये॥ १४॥

ब्रह्मन्! इस सातवें मन्वन्तरमें जब इन्द्रको इस बातका पता चला, तब तो वे उनकी तपस्यासे शंकित और भयभीत हो गये। इसलिये उन्होंने उनकी तपस्यामें विघ्न डालना आरम्भ कर दिया॥ १५॥

शौनकजी! इन्द्रने मार्कण्डेयजीकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये उनके आश्रमपर गन्धर्व, अप्सराएँ, काम, वसन्त, मलयानिल, लोभ और मदको भेजा॥ १६॥ भगवन्! वे सब उनकी आज्ञाके अनुसार उनके आश्रमपर गये। मार्कण्डेयजीका आश्रम हिमालयके उत्तरकी ओर है। वहाँ पुष्पभद्रा नामकी नदी बहती है और उसके पास ही चित्रा नामकी एक शिला है॥ १७॥

तदाश्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलतांचितम्।
पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयम्॥ १८

शौनकजी! मार्कण्डेयजीका आश्रम बड़ा ही पवित्र है। चारों ओर हरे-भरे पवित्र वृक्षोंकी पंक्तियाँ हैं, उनपर लताएँ लहलहाती रहती हैं। वृक्षोंके झुरमुटमें स्थान-स्थानपर पुण्यात्मा ऋषिगण निवास करते हैं और बड़े ही पवित्र एवं निर्मल जलसे भरे जलाशय सब ऋतुओंमें एक-से ही रहते हैं॥ १८॥

मत्तभ्रमरसंगीतं मत्तकोकिलकूजितम्।
मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम्॥ १९

कहीं मतवाले भौंरे अपनी संगीतमयी गुंजारसे लोगोंका मन आकर्षित करते रहते हैं तो कहीं मतवाले कोकिल पंचम स्वरमें 'कुहू-कुहू' कूकते रहते हैं; कहीं मतवाले मोर अपने पंख फैलाकर कलापूर्ण नृत्य करते रहते हैं तो कहीं अन्य मतवाले पक्षियोंका झुंड खेलता रहता है॥ १९॥

वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान्।
सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन् स्मरम्॥ २०

मार्कण्डेय मुनिके ऐसे पवित्र आश्रममें इन्द्रके भेजे हुए वायुने प्रवेश किया। वहाँ उसने पहले शीतल झरनोंकी नन्हीं-नन्हीं फुहियाँ संग्रह कीं। इसके बाद सुगन्धित पुष्पोंका आलिंगन किया और फिर कामभावको उत्तेजित करते हुए धीरे-धीरे बहने लगा॥ २०॥

उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तबकालिभिः।
गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत् कुसुमाकरः॥ २१

कामदेवके प्यारे सखा वसन्तने भी अपनी माया फैलायी। सन्ध्याका समय था। चन्द्रमा उदित हो अपनी मनोहर किरणोंका विस्तार कर रहे थे। सहस्र-सहस्र डालियोंवाले वृक्ष लताओंका आलिंगन पाकर धरतीतक झुके हुए थे। नयी-नयी कोपलों, फलों और फूलोंके गुच्छे अलग ही शोभायमान हो रहे थे॥ २१॥

अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथकैः।
अदृश्यतात्तचापेषुः स्वः स्त्रीयूथपतिः स्मरः॥ २२

वसन्तका साम्राज्य देखकर कामदेवने भी वहाँ प्रवेश किया। उसके साथ गाने-बजानेवाले गन्धर्व झुंड-के-झुंड चल रहे थे, उसके चारों ओर बहुत-सी स्वर्गीय अप्सराएँ चल रही थीं और अकेला काम ही सबका नायक था। उसके हाथमें पुष्पोंका धनुष और उसपर सम्मोहन आदि बाण चढ़े हुए थे॥ २२॥

हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिंकराः।
मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्तिमन्तमिवानलम्॥ २३

उस समय मार्कण्डेय मुनि अग्निहोत्र करके भगवान्‌की उपासना कर रहे थे। उनके नेत्र बंद थे। वे इतने तेजस्वी थे, मानो स्वयं अग्निदेव ही मूर्तिमान् होकर बैठे हों! उनको देखनेसे ही मालूम हो जाता था कि इनको पराजित कर सकना बहुत ही कठिन है। इन्द्रके आज्ञाकारी सेवकोंने मार्कण्डेय मुनिको इसी अवस्थामें देखा॥ २३॥

ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः।
मृदंगवीणापणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमम्॥ २४

सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पंचमुखं तदा।
मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन्॥ २५

क्रीडन्त्याः पुंजिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात्।
भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः॥ २६

इतस्ततो भ्रमद्दृष्टेश्चलन्त्या अनुकन्दुकम्।
वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम्॥ २७

विससर्ज तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः।
सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः॥ २८

त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने।
दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः॥ २९

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि॥ ३०

अब अप्सराएँ उनके सामने नाचने लगीं। कुछ गन्धर्व मधुर गान करने लगे तो कुछ मृदंग, वीणा, ढोल आदि बाजे बड़े मनोहर स्वरमें बजाने लगे॥ २४॥ शौनकजी! अब कामदेवने अपने पुष्पनिर्मित धनुषपर पंचमुख बाण चढ़ाया। उसके बाणके पाँच मुख हैं—शोषण, दीपन, सम्मोहन, तापन और उन्मादन। जिस समय वह निशाना लगानेकी ताकमें था, उस समय इन्द्रके सेवक वसन्त और लोभ मार्कण्डेयमुनिका मन विचलित करनेके लिये प्रयत्नशील थे॥ २५॥ उनके सामने ही पुंजिकस्थली नामकी सुन्दरी अप्सरा गेंद खेल रही थी। स्तनोंके भारसे बार-बार उसकी कमर लचक जाया करती थी। साथ ही उसकी चोटियोंमें गुँथे हुए सुन्दर-सुन्दर पुष्प और मालाएँ बिखरकर धरतीपर गिरती जा रही थीं॥ २६॥ कभी-कभी वह तिरछी चितवनसे इधर-उधर देख लिया करती थी। उसके नेत्र कभी गेंदके साथ आकाशकी ओर जाते, कभी धरतीकी ओर और कभी हथेलियोंकी ओर। वह बड़े हाव-भावके साथ गेंदकी ओर दौड़ती थी। उसी समय उसकी करधनी टूट गयी और वायुने उसकी झीनी-सी साड़ीको शरीरसे अलग कर दिया॥ २७॥ कामदेवने अपना उपयुक्त अवसर देखकर और यह समझकर कि अब मार्कण्डेय मुनिको मैंने जीत लिया, उनके ऊपर अपना बाण छोड़ा। परन्तु उसकी एक न चली। मार्कण्डेय मुनिपर उसका सारा उद्योग निष्फल हो गया—ठीक वैसे ही, जैसे असमर्थ और अभागे पुरुषोंके प्रयत्न विफल हो जाते हैं॥ २८॥ शौनकजी! मार्कण्डेय मुनि अपरिमित तेजस्वी थे। काम, वसन्त आदि आये तो थे इसलिये कि उन्हें तपस्यासे भ्रष्ट कर दें; परन्तु अब उनके तेजसे जलने लगे और ठीक उसी प्रकार भाग गये, जैसे छोटे-छोटे बच्चे सोते हुए साँपको जगाकर भाग जाते हैं॥ २९॥ शौनकजी! इन्द्रके सेवकोंने इस प्रकार मार्कण्डेयजीको पराजित करना चाहा, परन्तु वे रत्तीभर भी विचलित न हुए। इतना ही नहीं, उनके मनमें इस बातको लेकर तनिक भी अहंकारका भाव न हुआ। सच है, महापुरुषोंके लिये यह कौन-सी आश्चर्यकी बात है॥ ३०॥

दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्वराट् ।
श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात् परम्॥ ३१

जब देवराज इन्द्रने देखा कि कामदेव अपनी सेनाके साथ निस्तेज—हतप्रभ होकर लौटा है और सुना कि ब्रह्मर्षि मार्कण्डेयजी परम प्रभावशाली हैं, तब उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ॥ ३१ ॥

तस्यैवं युंजतश्चित्तं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः॥ ३२

शौनकजी! मार्कण्डेय मुनि तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा भगवान्में चित्त लगानेका प्रयत्न करते रहते थे। अब उनपर कृपाप्रसादकी वर्षा करनेके लिये मुनिजन-नयन-मनोहारी नरोत्तम नर और भगवान् नारायण प्रकट हुए॥ ३२ ॥

तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ
चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ।
पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत्
कमण्डलुं दण्डमृजुं च वैणवम्॥ ३३

उन दोनोंमें एकका शरीर गौरवर्ण था और दूसरेका श्याम। दोनोंके ही नेत्र तुरंतके खिले हुए कमलके समान कोमल और विशाल थे। चार-चार भुजाएँ थीं। एक मृगचर्म पहने हुए थे तो दूसरे वृक्षकी छाल। हाथोंमें कुश लिये हुए थे और गलेमें तीन-तीन सूतके यज्ञोपवीत शोभायमान थे। वे कमण्डलु और बाँसका सीधा दण्ड ग्रहण किये हुए थे॥ ३३॥

पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्जनं
वेदं च साक्षात्तप एव रूपिणौ।
तपत्तडिद्वर्णपिशंगरोचिषा
प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ॥ ३४

कमलगट्टेकी माला और जीवोंको हटानेके लिये वस्त्रकी कूँची भी रखे हुए थे। ब्रह्मा, इन्द्र आदिके भी पूज्य भगवान् नर-नारायण कुछ ऊँचे कदके थे और वेद धारण किये हुए थे। उनके शरीरसे चमकती हुई बिजलीके समान पीले-पीले रंगकी कान्ति निकल रही थी। वे ऐसे मालूम होते थे, मानो स्वयं तप ही मूर्तिमान् हो गया हो॥ ३४॥

ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी।
दृष्ट्वोत्थायादरेणोच्चैर्ननामांगेन दण्डवत्॥ ३५

जब मार्कण्डेय मुनिने देखा कि भगवान्के साक्षात् स्वरूप नर-नारायण ऋषि पधारे हैं, तब वे बड़े आदरभावसे उठकर खड़े हो गये और धरतीपर दण्डवत् लोटकर साष्टांग प्रणाम किया॥ ३५ ॥

स तत्सन्दर्शनानन्दनिर्वृतात्मेन्द्रियाशयः।
हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम्॥ ३६

भगवान्के दिव्य दर्शनसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उनका रोम-रोम, उनकी सारी इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण शान्तिके समुद्रमें गोता खाने लगे। शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये, जिनके कारण वे उन्हें भर आँख देख भी न सकते॥ ३६ ॥

उत्थाय प्रांजलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव।
नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरः॥ ३७

तदनन्तर वे हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। उनका अंग-अंग भगवान्के सामने झुका जा रहा था। उनके हृदयमें उत्सुकता तो इतनी थी, मानो वे भगवान्का आलिंगन कर लेंगे। उनसे और कुछ तो बोला न गया, गद्गद वाणीसे केवल इतना ही कहा—'नमस्कार! नमस्कार'॥ ३७॥

तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च।
अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत्॥ ३८

सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी।
पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत्॥ ३९

मार्कण्डेय उवाच

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः॥ ४०

मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः
क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै।
नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं
सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः॥ ४१

तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं
यत्स्थं न कर्मगुणकालरुजः स्पृशन्ति।
यद् वै स्तुवन्ति निनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं
ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै॥ ४२

नान्यं तवांङ्घ्र्यपनयादपवर्गमूर्तेः
क्षेमं जनस्य परितोभिय ईश विद्मः।

इसके बाद उन्होंने दोनोंको आसनपर बैठाया, बड़े प्रेमसे उनके चरण पखारे और अर्घ्य, चन्दन, धूप और माला आदिसे उनकी पूजा करने लगे॥ ३८॥ भगवान् नर-नारायण सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे और मार्कण्डेयजीपर कृपा-प्रसादकी वर्षा कर रहे थे। पूजाके अनन्तर मार्कण्डेय मुनिने उन सर्वश्रेष्ठ मुनिवेषधारी नर-नारायणके चरणोंमें प्रणाम किया और यह स्तुति की॥ ३९॥

मार्कण्डेय मुनिने कहा— भगवन्! मैं अल्पज्ञ जीव भला, आपकी अनन्त महिमाका कैसे वर्णन करूँ? आपकी प्रेरणासे ही सम्पूर्ण प्राणियों—ब्रह्मा, शंकर तथा मेरे शरीरमें भी प्राणशक्तिका संचार होता है और फिर उसीके कारण वाणी, मन तथा इन्द्रियोंमें भी बोलने, सोचने-विचारने और करने-जाननेकी शक्ति आती है। इस प्रकार सबके प्रेरक और परम स्वतन्त्र होनेपर भी आप अपना भजन करनेवाले भक्तोंके प्रेम-बन्धनमें बँधे हुए हैं॥ ४०॥ प्रभो! आपने केवल विश्वकी रक्षाके लिये ही जैसे मत्स्य-कूर्म आदि अनेकों अवतार ग्रहण किये हैं, वैसे ही आपने ये दोनों रूप भी त्रिलोकीके कल्याण, उसकी दुःख-निवृत्ति और विश्वके प्राणियोंको मृत्युपर विजय प्राप्त करानेके लिये ग्रहण किया है। आप रक्षा तो करते ही हैं, मकड़ीके समान अपनेसे ही इस विश्वको प्रकट करते हैं और फिर स्वयं अपनेमें ही लीन भी कर लेते हैं॥ ४१॥ आप चराचरका पालन और नियमन करनेवाले हैं। मैं आपके चरणकमलोंमें प्रणाम करता हूँ। जो आपके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उन्हें कर्म, गुण और कालजनित क्लेश स्पर्श भी नहीं कर सकते। वेदके मर्मज्ञ ऋषि-मुनि आपकी प्राप्तिके लिये निरन्तर आपका स्तवन, वन्दन, पूजन और ध्यान किया करते हैं॥ ४२॥ प्रभो! जीवके चारों ओर भय-ही-भयका बोलबाला है। औरोंकी तो बात ही क्या, आपके कालरूपसे स्वयं ब्रह्मा भी अत्यन्त भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी सीमित—केवल दो परार्धकी है। फिर उनके बनाये हुए भौतिक

ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्धधिष्ण्यः
कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम्॥ ४३

तद् वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं
हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य।
देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं
विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम्॥ ४४

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम्॥ ४५

तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां
शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति।
यत् सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं
लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत्॥ ४६

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने
विश्वाय विश्वगुरवे परदेवतायै।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय
हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय॥ ४७

यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः
सन्तं स्वखेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु।

शरीरवाले प्राणियोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। ऐसी अवस्थामें आपके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करनेके अतिरिक्त और कोई भी परम कल्याण तथा सुख-शान्तिका उपाय हमारी समझमें नहीं आता; क्योंकि आप स्वयं ही मोक्षस्वरूप हैं॥ ४३॥ भगवन्! आप समस्त जीवोंके परम गुरु, सबसे श्रेष्ठ और सत्य ज्ञानस्वरूप हैं। इसलिये आत्मस्वरूपको ढक देनेवाले देह-गेह आदि निष्फल, असत्य, नाशवान् और प्रतीतिमात्र पदार्थोंको त्याग कर मैं आपके चरणकमलोंकी ही शरण ग्रहण करता हूँ। कोई भी प्राणी यदि आपकी शरण ग्रहण कर लेता है तो वह उससे अपने सारे अभीष्ट पदार्थ प्राप्त कर लेता है॥ ४४॥ जीवोंके परम सुहृद् प्रभो! यद्यपि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण आपकी ही मूर्ति हैं—इन्हींके द्वारा आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि अनेकों मायामयी लीलाएँ करते हैं फिर भी आपकी सत्त्वगुणमयी मूर्ति ही जीवोंको शान्ति प्रदान करती है। रजोगुणी और तमोगुणी मूर्तियोंसे जीवोंको शान्ति नहीं मिल सकती। उनसे तो दुःख, मोह और भयकी वृद्धि ही होती है॥ ४५॥ भगवन्! इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आपकी और आपके भक्तोंकी परम प्रिय एवं शुद्ध मूर्ति नर-नारायणकी ही उपासना करते हैं। पांचरात्र-सिद्धान्तके अनुयायी विशुद्ध सत्त्वको ही आपका श्रीविग्रह मानते हैं। उसीकी उपासनासे आपके नित्यधाम वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है। उस धामकी यह विलक्षणता है कि वह लोक होनेपर भी सर्वथा भयरहित और भोगयुक्त होनेपर भी आत्मानन्दसे परिपूर्ण है। वे रजोगुण और तमोगुणको आपकी मूर्ति स्वीकार नहीं करते॥ ४६॥ भगवन्! आप अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप, जगद्गुरु परमाराध्य और शुद्धस्वरूप हैं। समस्त लौकिक और वैदिक वाणी आपके अधीन है। आप ही वेदमार्गके प्रवर्तक हैं। मैं आपके इस युगल स्वरूप नरोत्तम नर और ऋषिवर नारायणको नमस्कार करता हूँ॥ ४७॥ आप यद्यपि प्रत्येक जीवकी इन्द्रियों तथा उनके विषयोंमें, प्राणोंमें तथा हृदयमें भी विद्यमान हैं तो भी आपकी मायासे जीवकी बुद्धि इतनी मोहित हो जाती है—ढक जाती है कि वह निष्फल और झूठी

तन्माययाऽऽवृतमतिः स उ एव साक्षा-
दाद्यस्तवाखिलगुरोरुपसाद्य वेदम्॥ ४८

इन्द्रियोंके जालमें फँसकर आपकी झाँकीसे वंचित हो जाता है। किन्तु सारे जगत्‌के गुरु तो आप ही हैं। इसलिये पहले अज्ञानी होनेपर भी जब आपकी कृपासे उसे आपके ज्ञान-भण्डार वेदोंकी प्राप्ति होती है, तब वह आपके साक्षात् दर्शन कर लेता है॥ ४८॥ प्रभो! वेदमें आपका साक्षात्कार करानेवाला वह ज्ञान पूर्णरूपसे विद्यमान है, जो आपके स्वरूपका रहस्य प्रकट करता है। ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े प्रतिभाशाली मनीषी उसे प्राप्त करनेका यत्न करते रहनेपर भी मोहमें पड़ जाते हैं। आप भी ऐसे लीलाविहारी हैं कि विभिन्न मतवाले आपके सम्बन्धमें जैसा सोचते-विचारते हैं, वैसा ही शील-स्वभाव और रूप ग्रहण करके आप उनके सामने प्रकट हो जाते हैं। वास्तवमें आप देह आदि समस्त उपाधियोंमें छिपे हुए विशुद्ध विज्ञानघन ही हैं। हे पुरुषोत्तम! मैं आपकी वन्दना करता हूँ॥ ४९॥

यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं
मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं
वन्दे महापुरुषमात्मनिगूढबोधम्॥ ४९

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीका माया-दर्शन

सूत उवाच

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता।
नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम्॥ १

सूतजी कहते हैं—जब ज्ञानसम्पन्न मार्कण्डेय मुनिने इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान् नर-नारायणने प्रसन्न होकर मार्कण्डेयजीसे कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

भो भो ब्रह्मर्षिवर्यासि सिद्ध आत्मसमाधिना।
मयि भक्त्यानपायिन्या तपःस्वाध्यायसंयमैः॥ २

वयं ते परितुष्टाः स्म त्वद्बृहद्व्रतचर्यया।
वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदेशादभीप्सितम्॥ ३

भगवान् नारायणने कहा—सम्मान्य ब्रह्मर्षि-शिरोमणि! तुम चित्तकी एकाग्रता, तपस्या, स्वाध्याय, संयम और मेरी अनन्य भक्तिसे सिद्ध हो गये हो॥ २॥ तुम्हारे इस आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतकी निष्ठा देखकर हम तुमपर बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। तुम्हारा कल्याण हो! मैं समस्त वर देने-वालोंका स्वामी हूँ। इसलिये तुम अपना अभीष्ट वर मुझसे माँग लो॥ ३॥

ऋषिरुवाच

जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराच्युत।
वरेणैतावतालं नो यद् भवान् समदृश्यत॥ ४

मार्कण्डेय मुनिने कहा—देवदेवेश! शरणागत-भयहारी अच्युत! आपकी जय हो! जय हो! हमारे लिये बस इतना ही वर पर्याप्त है कि आपने कृपा करके अपने मनोहर स्वरूपका दर्शन कराया॥ ४॥

गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम्।
मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षगोचरः॥ ५

अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे।
द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम्॥ ६

सूत उवाच

इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान् मुने।
तथेति स स्मयन् प्रागाद् बदर्याश्रममीश्वरः॥ ७

तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः।
वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बुभूवायुवियदात्मसु॥ ८

ध्यायन् सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत्।
क्वचित् पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसम्प्लुतः॥ ९

तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः।
उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन् वायुरभून्महान्॥ १०

तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं
बलाहका अन्वभवन् करालाः।
अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः
स्वनन्त उच्चैरभिवर्षधाराः॥ ११

ततो व्यदृश्यन्त चतुःसमुद्राः
समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः।

ब्रह्मा-शंकर आदि देवगण योग-साधनाके द्वारा एकाग्र हुए मनसे ही आपके परम सुन्दर श्रीचरणकमलोंका दर्शन प्राप्त करके कृतार्थ हो गये हैं। आज उन्हीं आपने मेरे नेत्रोंके सामने प्रकट होकर मुझे धन्य बनाया है॥ ५॥ पवित्रकीर्ति महानुभावोंके शिरोमणि कमलनयन! फिर भी आपकी आज्ञाके अनुसार मैं आपसे वर माँगता हूँ। मैं आपकी वह माया देखना चाहता हूँ, जिससे मोहित होकर सभी लोक और लोकपाल अद्वितीय वस्तु ब्रह्ममें अनेकों प्रकारके भेद-विभेद देखने लगते हैं॥ ६॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! जब इस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने भगवान् नर-नारायणकी इच्छानुसार स्तुति-पूजा कर ली एवं वरदान माँग लिया, तब उन्होंने मुसकराते हुए कहा—'ठीक है, ऐसा ही होगा।' इसके बाद वे अपने आश्रम बदरीवनको चले गये॥ ७॥ मार्कण्डेय मुनि अपने आश्रमपर ही रहकर निरन्तर इस बातका चिन्तन करते रहते कि मुझे मायाके दर्शन कब होंगे। वे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश एवं अन्तःकरणमें—और तो क्या, सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन करते हुए मानसिक वस्तुओंसे उनका पूजन करते रहते। कभी-कभी तो उनके हृदयमें प्रेमकी ऐसी बाढ़ आ जाती कि वे उसके प्रवाहमें डूबने-उतराने लगते, उन्हें इस बातकी भी याद न रहती कि कब कहाँ किस प्रकार भगवान्की पूजा करनी चाहिये?॥ ८-९॥

शौनकजी! एक दिनकी बात है, सन्ध्याके समय पुष्पभद्रा नदीके तटपर मार्कण्डेय मुनि भगवान्की उपासनामें तन्मय हो रहे थे। ब्रह्मन्! उसी समय एकाएक बड़े जोरकी आँधी चलने लगी॥ १०॥ उस समय आँधीके कारण बड़ी भयंकर आवाज होने लगी और बड़े विकराल बादल आकाशमें मँडराने लगे। बिजली चमक-चमककर कड़कने लगी और रथके धुरेके समान जलकी मोटी-मोटी धाराएँ पृथ्वीपर गिरने लगीं॥ ११॥ यही नहीं, मार्कण्डेय मुनिको ऐसा दिखायी पड़ा कि चारों ओरसे चारों समुद्र समूची पृथ्वीको निगलते हुए उमड़े आ रहे हैं। आँधीके वेगसे

समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्र-
महाभयावर्तगभीरघोषाः ॥ १२

अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः
शतह्रदाभीरुपतापितं जगत्।
चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि-
र्जलाप्लुतां क्ष्मां विमनाः समत्रसत्॥ १३

तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः
प्रभंजनाघूर्णितवार्महार्णवः ।
आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः
क्ष्मामप्यधाद् द्वीपवर्षाद्रिभिः समम्॥ १४

सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं
त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम्।
स एक एवोर्वरितो महामुनि-
र्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्धवत्॥ १५

क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिंगिलै-
रुपद्रुतो वीचिनभस्वता हतः।
तमस्यपारे पतितो भ्रमन् दिशो
न वेद खं गां च परिश्रमेषितः॥ १६

क्वचिद् गतो महावर्ते तरलैस्ताडितः क्वचित्।
यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योन्यघातिभिः॥ १७

समुद्रमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं, बड़े भयंकर भँवर पड़ रहे हैं और भयंकर ध्वनि कान फाड़े डालती है। स्थान-स्थानपर बड़े-बड़े मगर उछल रहे हैं॥ १२॥ उस समय बाहर-भीतर, चारों ओर जल-ही-जल दीखता था। ऐसा जान पड़ता था कि उस जलराशिमें पृथ्वी ही नहीं, स्वर्ग भी डूबा जा रहा है; ऊपरसे बड़े वेगसे आँधी चल रही है और बिजली चमक रही है, जिससे सम्पूर्ण जगत् संतप्त हो रहा है। जब मार्कण्डेय मुनिने देखा कि इस जल-प्रलयसे सारी पृथ्वी डूब गयी है, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—चारों प्रकारके प्राणी तथा स्वयं वे भी अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं, तब वे उदास हो गये और साथ ही अत्यन्त भयभीत भी॥ १३॥ उनके सामने ही प्रलयसमुद्रमें भयंकर लहरें उठ रही थीं, आँधीके वेगसे जलराशि उछल रही थी और प्रलयकालीन बादल बरस-बरसकर समुद्रको और भी भरते जा रहे थे। उन्होंने देखा कि समुद्रने द्वीप, वर्ष और पर्वतोंके साथ सारी पृथ्वीको डुबा दिया॥ १४॥ पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, ज्योतिर्मण्डल (ग्रह, नक्षत्र एवं तारोंका समूह) और दिशाओंके साथ तीनों लोक जलमें डूब गये। बस, उस समय एकमात्र महामुनि मार्कण्डेय ही बच रहे थे। उस समय वे पागल और अंधेके समान जटा फैलाकर यहाँसे वहाँ और वहाँसे यहाँ भाग-भागकर अपने प्राण बचानेकी चेष्टा कर रहे थे॥ १५॥ वे भूख-प्याससे व्याकुल हो रहे थे। किसी ओर बड़े-बड़े मगर तो किसी ओर बड़े-बड़े तिमिंगिल मच्छ उनपर टूट पड़ते। किसी ओरसे हवाका झोंका आता, तो किसी ओरसे लहरोंके थपेड़े उन्हें घायल कर देते। इस प्रकार इधर-उधर भटकते-भटकते वे अपार अज्ञानान्धकारमें पड़ गये—बेहोश हो गये और इतने थक गये कि उन्हें पृथ्वी और आकाशका भी ज्ञान न रहा॥ १६॥ वे कभी बड़े भारी भँवरमें पड़ जाते, कभी तरल तरंगोंकी चोटसे चंचल हो उठते। जब कभी जल-जन्तु आपसमें एक-दूसरेपर आक्रमण करते, तब ये अचानक ही उनके शिकार बन जाते॥ १७॥

क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद् दुःखं सुखं भयम्।
क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुतार्दितः॥ १८

कहीं शोकग्रस्त हो जाते तो कहीं मोहग्रस्त। कभी दुःख-ही-दुःखके निमित्त आते तो कभी तनिक सुख भी मिल जाता। कभी भयभीत होते, कभी मर जाते तो कभी तरह-तरहके रोग उन्हें सताने लगते॥ १८॥

अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन् विष्णुमायावृतात्मनः॥ १९

इस प्रकार मार्कण्डेय मुनि विष्णुभगवान्‌की मायाके चक्करमें मोहित हो रहे थे। उस प्रलयकालके समुद्रमें भटकते-भटकते उन्हें सैकड़ों-हजारों ही नहीं, लाखों-करोड़ों वर्ष बीत गये॥ १९॥

स कदाचिद् भ्रमंस्तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि द्विजः।
न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम्॥ २०

शौनकजी! मार्कण्डेय मुनि इसी प्रकार प्रलयके जलमें बहुत समयतक भटकते रहे। एक बार उन्होंने पृथ्वीके एक टीलेपर एक छोटा-सा बरगदका पेड़ देखा। उसमें हरे-हरे पत्ते और लाल-लाल फल शोभायमान हो रहे थे॥ २०॥

प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम्।
शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः॥ २१

बरगदके पेड़में ईशानकोणपर एक डाल थी, उसमें एक पत्तोंका दोना-सा बन गया था। उसीपर एक बड़ा ही सुन्दर नन्हा-सा शिशु लेट रहा था। उसके शरीरसे ऐसी उज्ज्वल छटा छिटक रही थी, जिससे आसपासका अँधेरा दूर हो रहा था॥ २१॥

महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपंकजम्।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम्॥ २२

वह शिशु मरकतमणिके समान साँवल-साँवला था। मुखकमलपर सारा सौन्दर्य फूटा पड़ता था। गरदन शंखके समान उतार-चढ़ाववाली थी। छाती चौड़ी थी। तोतेकी चोंचके समान सुन्दर नासिका और भौंहें बड़ी मनोहर थीं॥ २२॥

श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम्।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम्॥ २३

काली-काली घुँघराली अलकें कपोलोंपर लटक रही थीं और श्वास लगनेसे कभी-कभी हिल भी जाती थीं। शंखके समान घुमावदार कानोंमें अनारके लाल-लाल फूल शोभायमान हो रहे थे। मूँगेके समान लाल-लाल होठोंकी कान्तिसे उनकी सुधामयी श्वेत मुसकान कुछ लालिमामिश्रित हो गयी थी॥ २३॥

पद्मगर्भारुणापांगं हृद्यहासावलोकनम्।
श्वासैजद्वलिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम्॥ २४

नेत्रोंके कोने कमलके भीतरी भागके समान तनिक लाल-लाल थे। मुसकान और चितवन बरबस हृदयको पकड़ लेती थी। बड़ी गम्भीर नाभि थी। छोटी-सी तोंद पीपलके पत्तेके समान जान पड़ती और श्वास लेनेके समय उसपर पड़ी हुई बलें तथा नाभि भी हिल जाया करती थी॥ २४॥

चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम्।
मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः॥ २५

नन्हें-नन्हें हाथोंमें बड़ी सुन्दर-सुन्दर अँगुलियाँ थीं। वह शिशु अपने दोनों करकमलोंसे एक चरणकमलको मुखमें डालकर चूस रहा था। मार्कण्डेय मुनि यह दिव्य दृश्य देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये॥ २५॥

तद्दर्शनाद् वीतपरिश्रमो मुदा
प्रोत्फुल्लहृत्पद्मविलोचनाम्बुजः ।
प्रहृष्टरोमाद्‌भुतभावशंकितः
प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम्॥ २६

तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः
सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत्।
तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो
यथा पुरामुह्यदतीव विस्मितः॥ २७

खं रोदसी भगणानद्रिसागरान्
द्वीपान् सवर्षान् ककुभः सुरासुरान्।
वनानि देशान् सरितः पुराकरान्
खेटान् व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः॥ २८

महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ
कालं च नानायुगकल्पकल्पनम्।
यत् किंचिदन्यद् व्यवहारकारणं
ददर्श विश्वं सदिवावभासितम्॥ २९

हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं
निजाश्रमं तत्र ऋषीनपश्यत्।
विश्वं विपश्यञ्छ्वसिताच्छिशोर्वै
बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ॥ ३०

तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं
वटं च तत्पर्णपुटे शयानम्।
तोकं च तत्प्रेमसुधास्मितेन
निरीक्षितोऽपांगनिरीक्षणेन ॥ ३१

शौनकजी! उस दिव्य शिशुको देखते ही मार्कण्डेय मुनिकी सारी थकावट जाती रही। आनन्दसे उनके हृदय-कमल और नेत्रकमल खिल गये। शरीर पुलकित हो गया। उस नन्हें-से शिशुके इस अद्‌भुत भावको देखकर उनके मनमें तरह-तरहकी शंकाएँ—'यह कौन है' इत्यादि—आने लगीं और वे उस शिशुसे ये बातें पूछनेके लिये उसके सामने सरक गये॥ २६॥ अभी मार्कण्डेयजी पहुँच भी न पाये थे कि उस शिशुके श्वासके साथ उसके शरीरके भीतर उसी प्रकार घुस गये, जैसे कोई मच्छर किसीके पेटमें चला जाय। उस शिशुके पेटमें जाकर उन्होंने सब-की-सब वही सृष्टि देखी, जैसी प्रलयके पहले उन्होंने देखी थी। वे वह सब विचित्र दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो गये। वे मोहवश कुछ सोच-विचार भी न सके॥ २७॥ उन्होंने उस शिशुके उदरमें आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल, पर्वत, समुद्र, द्वीप, वर्ष, दिशाएँ, देवता, दैत्य, वन, देश, नदियाँ, नगर, खानें, किसानोंके गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ, आश्रम, वर्ण, उनके आचार-व्यवहार, पंचमहाभूत, भूतोंसे बने हुए प्राणियोंके शरीर तथा पदार्थ, अनेक युग और कल्पोंके भेदसे युक्त काल आदि सब कुछ देखा। केवल इतना ही नहीं जिन देशों, वस्तुओं और कालोंके द्वारा जगत्‌का व्यवहार सम्पन्न होता है, वह सब कुछ वहाँ विद्यमान था। कहाँतक कहें, यह सम्पूर्ण विश्व न होनेपर भी वहाँ सत्यके समान प्रतीत होते देखा॥ २८-२९॥ हिमालय पर्वत, वही पुष्पभद्रा नदी, उसके तटपर अपना आश्रम और वहाँ रहनेवाले ऋषियोंको भी मार्कण्डेयजीने प्रत्यक्ष ही देखा। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वको देखते-देखते ही वे उस दिव्य शिशुके श्वासके द्वारा ही बाहर आ गये और फिर प्रलयकालीन समुद्रमें गिर पड़े॥ ३०॥ अब फिर उन्होंने देखा कि समुद्रके बीचमें पृथ्वीके टीलेपर वही बरगदका पेड़ ज्यों-का-त्यों विद्यमान है और उसके पत्तेके दोनेमें वही शिशु सोया हुआ है। उसके अधरोंपर प्रेमामृतसे परिपूर्ण मन्द-मन्द मुसकान है और अपनी प्रेमपूर्ण चितवनसे वह मार्कण्डेयजीकी ओर देख रहा है॥ ३१॥

अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्ठितं हृदि।
अभ्ययादतिसंक्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम्॥ ३२

अब मार्कण्डेय मुनि इन्द्रियातीत भगवान्‌को जो शिशुके रूपमें क्रीडा कर रहे थे और नेत्रोंके मार्गसे पहले ही हृदयमें विराजमान हो चुके थे, आलिंगन करनेके लिये बड़े श्रम और कठिनाईसे आगे बढ़े॥ ३२॥

तावत् स भगवान् साक्षाद् योगाधीशो गुहाशयः।
अन्तर्दध ऋषेः सद्यो यथेहानीशनिर्मिता॥ ३३

परन्तु शौनकजी! भगवान् केवल योगियोंके ही नहीं, स्वयं योगके भी स्वामी और सबके हृदयमें छिपे रहनेवाले हैं। अभी मार्कण्डेय मुनि उनके पास पहुँच भी न पाये थे कि वे तुरंत अन्तर्धान हो गये—ठीक वैसे ही, जैसे अभागे और असमर्थ पुरुषोंके परिश्रमका पता नहीं चलता कि वह फल दिये बिना ही क्या हो गया?॥ ३३॥

तमन्वथ वटो ब्रह्मन् सलिलं लोकसम्प्लवः।
तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत् स्थितः॥ ३४

शौनकजी! उस शिशुके अन्तर्धान होते ही वह बरगदका वृक्ष तथा प्रलयकालीन दृश्य एवं जल भी तत्काल लीन हो गया और मार्कण्डेय मुनिने देखा कि मैं तो पहलेके समान ही अपने आश्रममें बैठा हुआ हूँ॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे
मायादर्शनं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीको भगवान् शंकरका वरदान

सूत उवाच

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम्।
वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ॥ १

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! मार्कण्डेय मुनिने इस प्रकार नारायण-निर्मित योगमाया-वैभवका अनुभव किया। अब यह निश्चय करके कि इस मायासे मुक्त होनेके लिये मायापति भगवान्‌की शरण ही एकमात्र उपाय है, उन्हींकी शरणमें स्थित हो गये॥ १॥

मार्कण्डेय उवाच

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे।
यन्माययापि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया॥ २

मार्कण्डेयजीने मन-ही-मन कहा—प्रभो! आपकी माया वास्तवमें प्रतीतिमात्र होनेपर भी सत्य ज्ञानके समान प्रकाशित होती है और बड़े-बड़े विद्वान् भी उसके खेलोंमें मोहित हो जाते हैं। आपके श्रीचरणकमल ही शरणागतोंको सब प्रकारसे अभयदान करते हैं। इसलिये मैंने उन्हींकी शरण ग्रहण की है॥ २॥

सूत उवाच

तमेवं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन्।
रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः॥ ३

अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरिशं समभाषत।
पश्येमं भगवन् विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम्॥ ४

निभृतोदझषव्रातं वातापाये यथार्णवम्।
कुर्वस्य तपसः साक्षात् संसिद्धिं सिद्धिदो भवान्॥ ५

श्रीभगवानुवाच

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये॥ ६

अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना।
अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः॥ ७

सूत उवाच

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान् स सतां गतिः।
ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम्॥ ८

तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च॥ ९

सूतजी कहते हैं—मार्कण्डेयजी इस प्रकार शरणागतिकी भावनामें तन्मय हो रहे थे। उसी समय भगवान् शंकर भगवती पार्वतीजीके साथ नन्दीपर सवार होकर आकाशमार्गसे विचरण करते हुए उधर आ निकले और मार्कण्डेयजीको उसी अवस्थामें देखा। उनके साथ बहुत-से गण भी थे॥ ३॥ जब भगवती पार्वतीने मार्कण्डेय मुनिको ध्यानकी अवस्थामें देखा, तब उनका हृदय वात्सल्य-स्नेहसे उमड़ आया। उन्होंने शंकरजीसे कहा—'भगवन्! तनिक इस ब्राह्मणकी ओर तो देखिये। जैसे तूफान शान्त हो जानेपर समुद्रकी लहरें और मछलियाँ शान्त हो जाती हैं और समुद्र धीर-गम्भीर हो जाता है, वैसे ही इस ब्राह्मणका शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण शान्त हो रहा है। समस्त सिद्धियोंके दाता आप ही हैं। इसलिये कृपा करके आप इस ब्राह्मणकी तपस्याका प्रत्यक्ष फल दीजिये'॥ ४-५॥

भगवान् शंकरने कहा—देवि! ये ब्रह्मर्षि लोक अथवा परलोकको कोई भी वस्तु नहीं चाहते। और तो क्या, इनके मनमें कभी मोक्षकी भी आकांक्षा नहीं होती। इसका कारण यह है कि घट-घटवासी अविनाशी भगवान्के चरणकमलोंमें इन्हें परम भक्ति प्राप्त हो चुकी है॥ ६॥ प्रिये! यद्यपि इन्हें हमारी कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी मैं इनके साथ बातचीत करूँगा; क्योंकि ये महात्मा पुरुष हैं। जीवमात्रके लिये सबसे बड़े लाभकी बात यही है कि संत पुरुषोंका समागम प्राप्त हो॥ ७॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! भगवान् शंकर समस्त विद्याओंके प्रवर्तक और सारे प्राणियोंके हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी प्रभु हैं। जगत्के जितने भी संत हैं, उनके एकमात्र आश्रय और आदर्श भी वही हैं। भगवती पार्वतीसे इस प्रकार कहकर भगवान् शंकर मार्कण्डेय मुनिके पास गये॥ ८॥ उस समय मार्कण्डेय मुनिकी समस्त मनोवृत्तियाँ भगवद्भावमें तन्मय थीं। उन्हें अपने शरीर और जगत्का बिलकुल पता न था। इसलिये उस समय वे यह भी न जान सके कि मेरे सामने सारे विश्वके आत्मा स्वयं भगवान् गौरी-शंकर पधारे हुए हैं॥ ९॥

भगवांस्तदभिज्ञाय गिरीशो योगमायया।
आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः॥ १०

आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिंगजटाधरम्।
त्र्यक्षं[1] दशभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम्॥ ११

व्याघ्रचर्माम्बरधरं शूलखट्वांगचर्मभिः[2]।
अक्षमालाडमरुककपालासिधनुः सह॥ १२

बिभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः।
किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः॥ १३

नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयाऽऽगतम्।
रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं[3] ननाम शिरसा मुनिः॥ १४

तस्मै[4] सपर्यां व्यदधात् सगणाय सहोमया।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्रग्धूपदीपकैः॥ १५

आह चात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो।
करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत्॥ १६

नमः शिवाय शान्ताय[5] सत्त्वाय प्रमृडाय च।
रजोजुषेऽप्यघोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे॥ १७

शौनकजी! सर्वशक्तिमान् भगवान् कैलासपतिसे यह बात छिपी न रही कि मार्कण्डेय मुनि इस समय किस अवस्थामें हैं। इसलिये जैसे वायु अवकाशके स्थानमें अनायास ही प्रवेश कर जाती है, वैसे ही वे अपनी योगमायासे मार्कण्डेय मुनिके हृदयाकाशमें प्रवेश कर गये॥ १०॥ मार्कण्डेय मुनिने देखा कि उनके हृदयमें तो भगवान् शंकरके दर्शन हो रहे हैं। शंकरजीके सिरपर बिजलीके समान चमकीली पीली-पीली जटाएँ शोभायमान हो रही हैं। तीन नेत्र हैं और दस भुजाएँ। लम्बा-तगड़ा शरीर उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी है॥ ११॥ शरीरपर बाघम्बर धारण किये हुए हैं और हाथोंमें शूल, खट्वांग, ढाल, रुद्राक्ष-माला, डमरू, खप्पर, तलवार और धनुष लिये हैं॥ १२॥ मार्कण्डेय मुनि अपने हृदयमें अकस्मात् भगवान् शंकरका यह रूप देखकर विस्मित हो गये। 'यह क्या है? कहाँसे आया?' इस प्रकारकी वृत्तियोंका उदय हो जानेसे उन्होंने अपनी समाधि खोल दी॥ १३॥ जब उन्होंने आँखें खोलीं, तब देखा कि तीनों लोकोंके एकमात्र गुरु भगवान् शंकर श्रीपार्वतीजी तथा अपने गणोंके साथ पधारे हुए हैं। उन्होंने उनके चरणोंमें माथा टेककर प्रणाम किया॥ १४॥ तदनन्तर मार्कण्डेय मुनिने स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्पमाला, धूप और दीप आदि उपचारोंसे भगवान् शंकर, भगवती पार्वती और उनके गणोंकी पूजा की॥ १५॥ इसके पश्चात् मार्कण्डेय मुनि उनसे कहने लगे—'सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप अपनी आत्मानुभूति और महिमासे ही पूर्णकाम हैं। आपकी शान्ति और सुखसे ही सारे जगत्में सुख-शान्तिका विस्तार हो रहा है, ऐसी अवस्थामें मैं आपकी क्या सेवा करूँ?॥ १६॥ मैं आपके त्रिगुणातीत सदाशिव स्वरूपको और सत्त्वगुणसे युक्त शान्त-स्वरूपको नमस्कार करता हूँ। मैं आपके रजोगुणयुक्त सर्वप्रवर्तकस्वरूप एवं तमोगुणयुक्त अघोरस्वरूपको नमस्कार करता हूँ'॥ १७॥

१. त्र्यक्षमष्टभुजम्। २. तोमरैः। ३. विलोक्यैक०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'तस्मै······सहोमया' इस श्लोकार्धके स्थानमें 'विमुच्यात्मसमाधानं तपसा नियमैर्यमैः' ऐसा पाठ है। इसके सिवा वर्तमान प्रतिमें जो २५वीं संख्याका 'श्रवणाद्दर्शना······किन्नु सम्भाषणादिभिः' यह श्लोक है। इसको वहाँ न पढ़कर यहाँ ही ('विमुच्या·····यमैः' इसके बाद) पढ़ा गया है। इसके पश्चात् 'स्वागतासन······' इत्यादि श्लोकोंका पाठ है। ५. देवाय नित्याय प्रमृ०।

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः सतां गतिः।
परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत॥ १८

श्रीभगवानुवाच

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः।
अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद् विन्दतेऽमृतम्॥ १९

ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसंगा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः॥ २०

सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते।
अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः॥ २१

न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।
नात्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि॥ २२

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः॥ २३

ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम्।
बिभ्रत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः॥ २४

श्रवणाद् दर्शनाद् वापि महापातकिनोऽपि वः।
शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः॥ २५

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! जब मार्कण्डेय मुनिने संतोंके परम आश्रय देवाधिदेव भगवान् शंकरकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे उनपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बड़े प्रसन्नचित्तसे हँसते हुए कहने लगे॥ १८॥

भगवान् शंकरने कहा—मार्कण्डेयजी! ब्रह्मा, विष्णु तथा मैं—हम तीनों ही वरदाताओंके स्वामी हैं, हमलोगोंका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। हमलोगोंसे ही मरणशील मनुष्य भी अमृतत्वकी प्राप्ति कर लेता है। इसलिये तुम्हारी जो इच्छा हो, वही वर मुझसे माँग लो॥ १९॥ ब्राह्मण स्वभावसे ही परोपकारी, शान्तचित्त एवं अनासक्त होते हैं। वे किसीके साथ वैरभाव नहीं रखते और समदर्शी होनेपर भी प्राणियोंका कष्ट देखकर उसके निवारणके लिये पूरे हृदयसे जुट जाते हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह होती है कि वे हमारे अनन्य प्रेमी एवं भक्त होते हैं॥ २०॥ सारे लोक और लोकपाल ऐसे ब्राह्मणोंकी वन्दना, पूजा और उपासना किया करते हैं। केवल वे ही क्यों; मैं, भगवान् ब्रह्मा तथा स्वयं साक्षात् ईश्वर विष्णु भी उनकी सेवामें संलग्न रहते हैं॥ २१॥ ऐसे शान्त महापुरुष मुझमें, विष्णुभगवान्में, ब्रह्मामें, अपनेमें और सब जीवोंमें अणुमात्र भी भेद नहीं देखते। सदा-सर्वदा, सर्वत्र और सर्वथा एकरस आत्माका ही दर्शन करते हैं। इसलिये हम तुम्हारे-जैसे महात्माओंकी स्तुति और सेवा करते हैं॥ २२॥ मार्कण्डेयजी! केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं होते तथा केवल जड मूर्तियाँ ही देवता नहीं होतीं। सबसे बड़े तीर्थ और देवता तो तुम्हारे-जैसे संत हैं; क्योंकि वे तीर्थ और देवता बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं, परन्तु तुमलोग दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हो॥ २३॥ हमलोग तो ब्राह्मणोंको ही नमस्कार करते हैं; क्योंकि वे चित्तकी एकाग्रता, तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा हमारे वेदमय शरीरको धारण करते हैं॥ २४॥ मार्कण्डेयजी! बड़े-बड़े महापापी और अन्त्यज भी तुम्हारे-जैसे महापुरुषोंके चरित्रश्रवण और दर्शनसे ही शुद्ध हो जाते हैं; फिर वे तुमलोगोंके सम्भाषण और सहवास आदिसे शुद्ध हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है॥ २५॥

सूत उवाच

इति चन्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम्।
वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत् कर्णयोः पिबन्॥ २६

स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो भृशम्।
शिववागमृतध्वस्तक्लेशपुंजस्तमब्रवीत्॥ २७

ऋषिरुवाच

अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम्।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः॥ २८

धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च॥ २९

नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः।
न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः कुहकं यथा॥ ३०

सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्तेव स्वप्नदृग् यथा॥ ३१

तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये॥ ३२

कं वृणे नु परं भूमन् वरं त्वद् वरदर्शनात्।
यद्दर्शनात् पूर्णकामः सत्यकामः पुमान् भवेत्॥ ३३

सूतजी कहते हैं— शौनकादि ऋषियो! चन्द्रभूषण भगवान् शंकरकी एक-एक बात धर्मके गुप्ततम रहस्यसे परिपूर्ण थी। उसके एक-एक अक्षरमें अमृतका समुद्र भरा हुआ था। मार्कण्डेय मुनि अपने कानोंके द्वारा पूरी तन्मयताके साथ उसका पान करते रहे; परन्तु उन्हें तृप्ति न हुई॥ २६॥ वे चिरकालतक विष्णुभगवान्की मायासे भटक चुके थे और बहुत थके हुए भी थे। भगवान् शिवकी कल्याणी वाणीका अमृतपान करनेसे उनके सारे क्लेश नष्ट हो गये। उन्होंने भगवान् शंकरसे इस प्रकार कहा॥ २७॥

मार्कण्डेयजीने कहा— सचमुच सर्वशक्तिमान् भगवान्की यह लीला सभी प्राणियोंकी समझके परे है। भला, देखो तो सही—ये सारे जगत्के स्वामी होकर भी अपने अधीन रहनेवाले मेरे-जैसे जीवोंकी वन्दना और स्तुति करते हैं॥ २८॥ धर्मके प्रवचनकार प्रायः प्राणियोंको धर्मका रहस्य और स्वरूप समझानेके लिये उसका आचरण और अनुमोदन करते हैं तथा कोई धर्मका आचरण करता है तो उसकी प्रशंसा भी करते हैं॥ २९॥ जैसे जादूगर अनेकों खेल दिखलाता है और उन खेलोंसे उसके प्रभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, वैसे ही आप अपनी स्वजनमोहिनी मायाकी वृत्तियोंको स्वीकार करके किसीकी वन्दना-स्तुति आदि करते हैं तो केवल इस कामके द्वारा आपकी महिमामें कोई त्रुटि नहीं आती॥ ३०॥ आपने स्वप्नद्रष्टाके समान अपने मनसे ही सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि की है और इसमें स्वयं प्रवेश करके कर्ता न होनेपर भी कर्म करनेवाले गुणोंके द्वारा कर्ताके समान प्रतीत होते हैं॥ ३१॥

भगवन्! आप त्रिगुणस्वरूप होनेपर भी उनके परे उनकी आत्माके रूपमें स्थित हैं। आप ही समस्त ज्ञानके मूल, केवल, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ३२॥ अनन्त! आपके श्रेष्ठ दर्शनसे बढ़कर ऐसी और कौन-सी वस्तु है, जिसे मैं वरदानके रूपमें माँगूँ? मनुष्य आपके दर्शनसे ही पूर्णकाम और सत्यसंकल्प हो जाता है॥ ३३॥

वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात्।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि॥ ३४

आप स्वयं तो पूर्ण हैं ही, अपने भक्तोंकी भी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। इसलिये मैं आपका दर्शन प्राप्त कर लेनेपर भी एक वर और माँगता हूँ। वह यह कि भगवान्‌में, उनके शरणागत भक्तोंमें और आपमें मेरी अविचल भक्ति सदा-सर्वदा बनी रहे॥ ३४॥

सूत उवाच

इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा।
तमाह भगवाञ्छर्वः शर्वया चाभिनन्दितः॥ ३५

कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे।
आकल्पान्ताद् यशः पुण्यमजरामरता तथा॥ ३६

ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानं च विरक्तिमत्।
ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात् पुराणाचार्यतास्तु ते॥ ३७

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! जब मार्कण्डेय मुनिने सुमधुर वाणीसे इस प्रकार भगवान् शंकरकी स्तुति और पूजा की, तब उन्होंने भगवती पार्वतीकी प्रसाद-प्रेरणासे यह बात कही॥ ३५॥ महर्षे! तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण हों। इन्द्रियातीत परमात्मामें तुम्हारी अनन्य भक्ति सदा-सर्वदा बनी रहे। कल्पपर्यन्त तुम्हारा पवित्र यश फैले और तुम अजर एवं अमर हो जाओ॥ ३६॥ ब्रह्मन्! तुम्हारा ब्रह्मतेज तो सर्वदा अक्षुण्ण रहेगा ही। तुम्हें भूत, भविष्य और वर्तमानके समस्त विशेष ज्ञानोंका एक अधिष्ठानरूप ज्ञान और वैराग्ययुक्त स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति हो जाय। तुम्हें पुराणका आचार्यत्व भी प्राप्त हो॥ ३७॥

सूत उवाच

एवं वरान् स मुनये दत्त्वागात्त्र्यक्ष ईश्वरः।
देव्यै तत्कर्म कथयन्ननुभूतं पुरामुना॥ ३८

सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः।
विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः॥ ३९

अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः।
अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम्॥ ४०

एतत् केचिदविद्वांसो मायासंसृतिमात्मनः।
अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते॥ ४१

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! इस प्रकार त्रिलोचन भगवान् शंकर मार्कण्डेय मुनिको वर देकर भगवती पार्वतीसे मार्कण्डेय मुनिकी तपस्या और उनके प्रलयसम्बन्धी अनुभवोंका वर्णन करते हुए वहाँसे चले गये॥ ३८॥ भृगुवंशशिरोमणि मार्कण्डेय मुनिको उनके महायोगका परम फल प्राप्त हो गया। वे भगवान्‌के अनन्यप्रेमी हो गये। अब भी वे भक्तिभावभरित हृदयसे पृथ्वीपर विचरण किया करते हैं॥ ३९॥ परम ज्ञानसम्पन्न मार्कण्डेय मुनिने भगवान्‌की योगमायासे जिस अद्भुत लीलाका अनुभव किया था, वह मैंने आपलोगोंको सुना दिया॥ ४०॥ शौनकजी! यह जो मार्कण्डेयजीने अनेक कल्पोंका—सृष्टि-प्रलयोंका अनुभव किया, वह भगवान्‌की मायाका ही वैभव था, तात्कालिक था और उन्हींके लिये था, सर्वसाधारणके लिये नहीं। कोई-कोई इस मायाकी रचनाको न जानकर अनादि-कालसे बार-बार होनेवाले सृष्टि-प्रलय ही इसको भी बतलाते हैं। (इसलिये आपको यह शंका नहीं करनी चाहिये कि इसी कल्पके हमारे पूर्वज मार्कण्डेयजीकी आयु इतनी लम्बी कैसे हो गयी?)॥ ४१॥

य एवमेतद् भृगुवर्य वर्णितं
रथांगपाणेरनुभावभावितम् ।
संश्रावयेत् संशृणुयादु तावुभौ
तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत्॥ ४२

भृगुवंशशिरोमणे! मैंने आपको यह जो मार्कण्डेय-चरित्र सुनाया है, वह भगवान् चक्रपाणिके प्रभाव और महिमासे भरपूर है। जो इसका श्रवण एवं कीर्तन करते हैं, वे दोनों ही कर्म-वासनाओंके कारण प्राप्त होनेवाले आवागमनके चक्करसे सर्वदाके लिये छूट जाते हैं॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

भगवान्‌के अंग, उपांग और आयुधोंका रहस्य तथा विभिन्न सूर्यगणोंका वर्णन

शौनक उवाच

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम्।
समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान् भागवततत्त्ववित्॥ १

तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः।
अंगोपांगायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः॥ २

तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम्।
येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायादमर्त्यताम्॥ ३

शौनकजीने कहा—सूतजी! आप भगवान्‌के परमभक्त और बहुज्ञोंमें शिरोमणि हैं। हमलोग समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्तके सम्बन्धमें आपसे एक विशेष प्रश्न पूछना चाहते हैं, क्योंकि आप उसके मर्मज्ञ हैं॥ १॥ हमलोग क्रियायोगका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं; क्योंकि उसका कुशलतापूर्वक ठीक-ठीक आचरण करनेसे मरणधर्मा पुरुष अमरत्व प्राप्त कर लेता है। अतः आप हमें यह बतलाइये कि पांचरात्रादि तन्त्रोंकी विधि जाननेवाले लोग केवल श्रीलक्ष्मीपति भगवान्‌की आराधना करते समय किन-किन तत्त्वोंसे उनके चरणादि अंग, गरुडादि उपांग, सुदर्शनादि आयुध और कौस्तुभादि आभूषणोंकी कल्पना करते हैं? भगवान् आपका कल्याण करें॥ २-३॥

सूत उवाच

नमस्कृत्य गुरून् वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि।
याः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः॥ ४

मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट्।
निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम्॥ ५

एतद् वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः॥ ६

सूतजीने कहा—शौनकजी! ब्रह्मादि आचार्योंने, वेदोंने और पांचरात्रादि तन्त्र-ग्रन्थोंने विष्णुभगवान्‌की जिन विभूतियोंका वर्णन किया है, मैं श्रीगुरुदेवके चरणोंमें नमस्कार करके आपलोगोंको वही सुनाता हूँ॥ ४॥ भगवान्‌के जिस चेतनाधिष्ठित विराट् रूपमें यह त्रिलोकी दिखायी देती है, वह प्रकृति, सूत्रात्मा, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा—इन नौ तत्त्वोंके सहित ग्यारह इन्द्रिय तथा पंचभूत—इन सोलह विकारोंसे बना हुआ है॥ ५॥ यह भगवान्‌का ही पुरुषरूप है। पृथ्वी इसके चरण हैं, स्वर्ग मस्तक है, अन्तरिक्ष नाभि है, सूर्य नेत्र हैं, वायु नासिका है और दिशाएँ कान हैं॥ ६॥

प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः॥ ७

लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः॥ ८

यावानयं वै पुरुषो यावत्या संस्थया मितः।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया॥ ९

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षात् श्रीवत्समुरसा विभुः॥ १०

स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत् स्वरम्॥ ११

बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयंकरम्॥ १२

अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते॥ १३

ओजःसहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्॥ १४

नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम्।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम्॥ १५

इन्द्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यन्दनम्।
तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम्॥ १६

प्रजापति लिंग है, मृत्यु गुदा है, लोकपालगण भुजाएँ हैं, चन्द्रमा मन है और यमराज भौंहें हैं॥ ७॥ लज्जा ऊपरका होठ है, लोभ नीचेका होठ है, चन्द्रमाकी चाँदनी दन्तावली है, भ्रम मुसकान है, वृक्ष रोम हैं और बादल ही विराट् पुरुषके सिरपर उगे हुए बाल हैं॥ ८॥ शौनकजी! जिस प्रकार यह व्यष्टि पुरुष अपने परिमाणसे सात बित्तेका है उसी प्रकार वह समष्टि पुरुष भी इस लोकसंस्थितिके साथ अपने सात बित्तेका है॥ ९॥

स्वयं भगवान् अजन्मा हैं। वे कौस्तुभमणिके बहाने जीव-चैतन्यरूप आत्मज्योतिको ही धारण करते हैं और उसकी सर्वव्यापिनी प्रभाको ही वक्षःस्थलपर श्रीवत्सरूपसे॥ १०॥

वे अपनी सत्त्व, रज आदि गुणोंवाली मायाको वनमालाके रूपसे, छन्दको पीताम्बरके रूपसे तथा अ+उ+म्—इन तीन मात्रावाले प्रणवको यज्ञोपवीतके रूपमें धारण करते हैं॥ ११॥

देवाधिदेव भगवान् सांख्य और योगरूप मकराकृत कुण्डल तथा सब लोकोंको अभय करनेवाले ब्रह्मलोकको ही मुकुटके रूपमें धारण करते हैं॥ १२॥

मूलप्रकृति ही उनकी शेषशय्या है, जिसपर वे विराजमान रहते हैं और धर्म-ज्ञानादियुक्त सत्त्वगुण ही उनके नाभि-कमलके रूपमें वर्णित हुआ है॥ १३॥

वे मन, इन्द्रिय और शरीरसम्बन्धी शक्तियोंसे युक्त प्राण-तत्त्वरूप कौमोदकी गदा, जलतत्त्वरूप पांचजन्य शंख और तेजस्तत्त्वरूप सुदर्शनचक्रको धारण करते हैं॥ १४॥

आकाशके समान निर्मल आकाशस्वरूप खड्ग, तमोमय अज्ञानरूप ढाल, कालरूप शार्ङ्गधनुष और कर्मका ही तरकस धारण किये हुए हैं॥ १५॥

इन्द्रियोंको ही भगवान्के बाणोंके रूपमें कहा गया है। क्रियाशक्तियुक्त मन ही रथ है। तन्मात्राएँ रथके बाहरी भाग हैं और वर-अभय आदिकी मुद्राओंसे उनकी वरदान, अभयदान आदिके रूपमें क्रियाशीलता प्रकट होती है॥ १६॥

मण्डलं देवयजनं दीक्षा संस्कार आत्मनः।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः॥ १७

भगवान् भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन्।
धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत्॥ १८

आतपत्रं तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम्।
त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम्॥ १९

अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः।
विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः॥ २०

वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते॥ २१

स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते॥ २२

अंगोपांगायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम्।
बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः॥ २३

सूर्यमण्डल अथवा अग्निमण्डल ही भगवान्की पूजाका स्थान है, अन्तःकरणकी शुद्धि ही मन्त्रदीक्षा है और अपने समस्त पापोंको नष्ट कर देना ही भगवान्की पूजा है॥ १७॥

ब्राह्मणो! समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य—इन छः पदार्थोंका नाम ही लीला-कमल है, जिसे भगवान् अपने करकमलमें धारण करते हैं। धर्म और यशको क्रमशः चँवर एवं व्यजन (पंखे) के रूपसे तथा अपने निर्भय धाम वैकुण्ठको छत्ररूपसे धारण किये हुए हैं। तीनों वेदोंका ही नाम गरुड है। वे ही अन्तर्यामी परमात्माका वहन करते हैं॥ १८-१९॥

आत्मस्वरूप भगवान्की उनसे कभी न बिछुड़नेवाली आत्मशक्तिका ही नाम लक्ष्मी है। भगवान्के पार्षदोंके नायक विश्वविश्रुत विष्वक्सेन पांचरात्रादि आगमरूप हैं। भगवान्के स्वाभाविक गुण अणिमा, महिमा आदि अष्टसिद्धियोंको ही नन्द-सुनन्दादि आठ द्वारपाल कहते हैं॥ २०॥

शौनकजी! स्वयं भगवान् ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार मूर्तियोंके रूपमें अवस्थित हैं; इसलिये उन्हींको चतुर्व्यूहके रूपमें कहा जाता है॥ २१॥

वे ही जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी 'विश्व' बनकर शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयोंको ग्रहण करते और वे ही स्वप्नावस्थाके अभिमानी 'तैजस' बनकर बाह्य विषयोंके बिना ही मन-ही-मन अनेक विषयोंको देखते और ग्रहण करते हैं। वे ही सुषुप्ति-अवस्थाके अभिमानी 'प्राज्ञ' बनकर विषय और मनके संस्कारोंसे युक्त अज्ञानसे ढक जाते हैं और वही सबके साक्षी 'तुरीय' रहकर समस्त ज्ञानोंके अधिष्ठान रहते हैं॥ २२॥

इस प्रकार अंग, उपांग, आयुध और आभूषणोंसे युक्त तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चार मूर्तियोंके रूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि ही क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीयरूपसे प्रकाशित होते हैं॥ २३॥

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक्
स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत्।
सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो
विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः॥ २४

शौनकजी! वही सर्वस्वरूप भगवान् वेदोंके मूल कारण हैं, वे स्वयंप्रकाश एवं अपनी महिमासे परिपूर्ण हैं। वे अपनी मायासे ब्रह्मा आदि रूपों एवं नामोंसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार सम्पन्न करते हैं। इन सब कर्मों और नामोंसे उनका ज्ञान कभी आवृत नहीं होता। यद्यपि शास्त्रोंमें भिन्नके समान उनका वर्णन हुआ है अवश्य, परन्तु वे अपने भक्तोंको आत्मस्वरूपसे ही प्राप्त होते हैं॥ २४॥

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रु-
ग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत-
तीर्थश्रवः श्रवणमंगल पाहि भृत्यान्॥ २५

सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण! आप अर्जुनके सखा हैं। आपने यदुवंशशिरोमणिके रूपमें अवतार ग्रहण करके पृथ्वीके द्रोही भूपालोंको भस्म कर दिया है। आपका पराक्रम सदा एकरस रहता है। व्रजकी गोपबालाएँ और आपके नारदादि प्रेमी निरन्तर आपके पवित्र यशका गान करते रहते हैं। गोविन्द! आपके नाम, गुण और लीलादिका श्रवण करनेसे ही जीवका मंगल हो जाता है। हम सब आपके सेवक हैं। आप कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये॥ २५॥

य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम्।
तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम्॥ २६

पुरुषोत्तमभगवान्‌के चिह्नभूत अंग, उपांग और आयुध आदिके इस वर्णनका जो मनुष्य भगवान्‌में ही चित्त लगाकर पवित्र होकर प्रातःकाल पाठ करेगा, उसे सबके हृदयमें रहनेवाले ब्रह्मस्वरूप परमात्माका ज्ञान हो जायगा॥ २६॥

शौनक उवाच

शुको यदाह भगवान् विष्णुराताय शृण्वते।
सौरो गणो मासि मासि नाना वसति सप्तकः॥ २७

तेषां नामानि कर्माणि संयुक्तानामधीश्वरैः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः॥ २८

शौनकजीने कहा—सूतजी! भगवान् श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवत-कथा सुनाते समय राजर्षि परीक्षित्‌से (पंचम स्कन्धमें) कहा था कि ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष, राक्षस और देवताओंका एक सौरगण होता है और ये सातों प्रत्येक महीनेमें बदलते रहते हैं। ये बारह गण अपने स्वामी द्वादश आदित्योंके साथ रहकर क्या काम करते हैं और उनके अन्तर्गत व्यक्तियोंके नाम क्या हैं? सूर्यके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही हैं; इसलिये उनके विभागको हम बड़ी श्रद्धाके साथ सुनना चाहते हैं, आप कृपा करके कहिये॥ २७-२८॥

सूत उवाच

अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम्।
निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्तते॥ २९

सूतजीने कहा—समस्त प्राणियोंके आत्मा भगवान् विष्णु ही हैं। अनादि अविद्यासे अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे ही समस्त लोकोंके व्यवहार-प्रवर्तक प्राकृत सूर्यमण्डलका निर्माण हुआ है। वही लोकोंमें भ्रमण किया करता है॥ २९॥

एक एव हि लोकानां सूर्य आत्माऽऽदिकृद्धरिः।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥ ३०

कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः ॥ ३१

मध्वादिषु द्वादशसु भगवान् कालरूपधृक्।
लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः ॥ ३२

धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने।
पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ॥ ३३

अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुंजिकस्थली।
नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥ ३४

मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः।
रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥ ३५

वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः।
शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥ ३६

इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथांगिराः।
प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥ ३७

विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः।
अनुम्लोचा शंखपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ॥ ३८

पूषा धनंजयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा।
घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥ ३९

असलमें समस्त लोकोंके आत्मा एवं आदिकर्ता एकमात्र श्रीहरि ही अन्तर्यामीरूपसे सूर्य बने हुए हैं। वे यद्यपि एक ही हैं, तथापि ऋषियोंने उनका बहुत रूपोंमें वर्णन किया है, वे ही समस्त वैदिक क्रियाओंके मूल हैं॥ ३० ॥ शौनकजी! एक भगवान् ही मायाके द्वारा काल, देश, यज्ञादि क्रिया, कर्ता, स्रुवा आदि करण, यागादि कर्म, वेदमन्त्र, शाकल्य आदि द्रव्य और फलरूपसे नौ प्रकारके कहे जाते हैं॥ ३१ ॥ कालरूपधारी भगवान् सूर्य लोगोंका व्यवहार ठीक-ठीक चलानेके लिये चैत्रादि बारह महीनोंमें अपने भिन्न-भिन्न बारह गणोंके साथ चक्कर लगाया करते हैं॥ ३२ ॥

शौनकजी! धाता नामक सूर्य, कृतस्थली अप्सरा, हेति राक्षस, वासुकि सर्प, रथकृत् यक्ष, पुलस्त्य ऋषि और तुम्बुरु गन्धर्व—ये चैत्र मासमें अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं॥ ३३ ॥ अर्यमा सूर्य, पुलह ऋषि, अथौजा यक्ष, प्रहेति राक्षस, पुंजिकस्थली अप्सरा, नारद गन्धर्व और कच्छनीर सर्प—ये वैशाख मासके कार्य-निर्वाहक हैं॥ ३४ ॥ मित्र सूर्य, अत्रि ऋषि, पौरुषेय राक्षस, तक्षक सर्प, मेनका अप्सरा, हाहा गन्धर्व और रथस्वन यक्ष—ये ज्येष्ठ मासके कार्यनिर्वाहक हैं॥ ३५ ॥ आषाढ़में वरुण नामक सूर्यके साथ वसिष्ठ ऋषि, रम्भा अप्सरा, सहजन्य यक्ष, हूहू गन्धर्व, शुक्र नाग और चित्रस्वन राक्षस अपने-अपने कार्यका निर्वाह करते हैं॥ ३६ ॥ श्रावण मास इन्द्र नामक सूर्यका कार्यकाल है। उनके साथ विश्वावसु गन्धर्व, श्रोता यक्ष, एलापत्र नाग, अंगिरा ऋषि, प्रम्लोचा अप्सरा एवं वर्य नामक राक्षस अपने कार्यका सम्पादन करते हैं॥ ३७ ॥ भाद्रपदके सूर्यका नाम है विवस्वान्। उनके साथ उग्रसेन गन्धर्व, व्याघ्र राक्षस, आसारण यक्ष, भृगु ऋषि, अनुम्लोचा अप्सरा और शंखपाल नाग रहते हैं॥ ३८ ॥ शौनकजी! माघ मासमें पूषा नामके सूर्य रहते हैं। उनके साथ धनंजय नाग, वात राक्षस, सुषेण गन्धर्व, सुरुचि यक्ष, घृताची अप्सरा और गौतम ऋषि रहते हैं॥ ३९ ॥

क्रतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित्तथा।
विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी॥ ४०

अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी।
विद्युच्छत्रुर्महाशंखः सहोमासं नयन्त्यमी॥ ४१

भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पंचमः।
कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी॥ ४२

त्वष्टा ऋचीकतनयः कम्बलश्च तिलोत्तमा।
ब्रह्मापेतोऽथ शतजिद् धृतराष्ट्र इषम्भराः॥ ४३

विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित्।
विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी॥ ४४

एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः।
स्मरतां सन्ध्ययोर्नृणां हरन्त्यंहो दिने दिने॥ ४५

द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै।
चरन् समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मतिम्॥ ४६

सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैर्ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम्।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः॥ ४७

उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः॥ ४८

वालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम्॥ ४९

एवं ह्यनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः।
कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः॥ ५०

फाल्गुन मासका कार्यकाल पर्जन्य नामक सूर्यका है। उनके साथ क्रतु यक्ष, वर्चा राक्षस, भरद्वाज ऋषि, सेनजित् अप्सरा, विश्व गन्धर्व और ऐरावत सर्प रहते हैं॥ ४० ॥ मार्गशीर्ष मासमें सूर्यका नाम होता है अंशु। उनके साथ कश्यप ऋषि, तार्क्ष्य यक्ष, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, विद्युच्छत्रु राक्षस और महाशंख नाग रहते हैं॥ ४१ ॥ पौष मासमें भग नामक सूर्यके साथ स्फूर्ज राक्षस, अरिष्टनेमि गन्धर्व, ऊर्ण यक्ष, आयु ऋषि, पूर्वचित्ति अप्सरा और कर्कोटक नाग रहते हैं॥ ४२ ॥ आश्विन मासमें त्वष्टा सूर्य, जमदग्नि ऋषि, कम्बल नाग, तिलोत्तमा अप्सरा, ब्रह्मापेत राक्षस, शतजित् यक्ष और धृतराष्ट्र गन्धर्वका कार्यकाल है॥ ४३ ॥ तथा कार्तिकमें विष्णु नामक सूर्यके साथ अश्वतर नाग, रम्भा अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्यजित् यक्ष, विश्वामित्र ऋषि और मखापेत राक्षस अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं॥ ४४ ॥

शौनकजी! ये सब सूर्यरूप भगवान्‌की विभूतियाँ हैं। जो लोग इनका प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल स्मरण करते हैं, उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ ४५ ॥ ये सूर्यदेव अपने छः गणोंके साथ बारहों महीने सर्वत्र विचरते रहते हैं और इस लोक तथा परलोकमें विवेक-बुद्धिका विस्तार करते हैं॥ ४६ ॥ सूर्यभगवान्‌के गणोंमें ऋषिलोग तो सूर्यसम्बन्धी ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं और गंधर्व उनके सुयशका गान करते रहते हैं। अप्सराएँ आगे-आगे नृत्य करती चलती हैं॥ ४ ७॥

नागगण रस्सीकी तरह उनके रथको कसे रहते हैं। यक्षगण रथका साज सजाते हैं और बलवान् राक्षस उसे पीछेसे ढकेलते हैं॥ ४८ ॥ इनके सिवा वालखिल्य नामके साठ हजार निर्मलस्वभाव ब्रह्मर्षि सूर्यकी ओर मुँह करके उनके आगे-आगे स्तुतिपाठ करते चलते हैं॥ ४९ ॥ इस प्रकार अनादि, अनन्त, अजन्मा भगवान् श्रीहरि ही कल्प-कल्पमें अपने स्वरूपका विभाग करके लोकोंका पालन-पोषण करते-रहते हैं॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे
आदित्यव्यूहविवरणं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतकी संक्षिप्त विषय-सूची

सूत उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्ये सनातनान्॥ १

सूतजी कहते हैं—भगवद्भक्तिरूप महान् धर्मको नमस्कार है। विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मणोंको नमस्कार करके श्रीमद्भागवतोक्त सनातन धर्मोंका संक्षिप्त विवरण सुनाता हूँ॥ १॥

एतद् वः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम्।
भवद्भिर्यदहं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम्॥ २

शौनकादि ऋषियो! आपलोगोंने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने भगवान् विष्णुका यह अद्‌भुत चरित्र सुनाया। यह सभी मनुष्योंके श्रवण करनेयोग्य है॥ २॥

अत्र संकीर्तितः साक्षात् सर्वपापहरो हरिः।
नारायणो हृषीकेशो भगवान् सात्वतां पतिः॥ ३

इस श्रीमद्भागवतपुराणमें सर्वपापापहारी स्वयं भगवान् श्रीहरिका ही संकीर्तन हुआ है। वे ही सबके हृदयमें विराजमान, सबकी इन्द्रियोंके स्वामी और प्रेमी भक्तोंके जीवनधन हैं॥ ३॥

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम्।
ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम्॥ ४

इस श्रीमद्भागवतपुराणमें परम रहस्यमय—अत्यन्त गोपनीय ब्रह्मतत्त्वका वर्णन हुआ है। उस ब्रह्ममें ही इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है। इस पुराणमें उसी परमतत्त्वका अनुभवात्मक ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोंका स्पष्ट निर्देश है॥ ४॥

भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यं च तदाश्रयम्।
पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च॥ ५

शौनकजी! इस महापुराणके प्रथम स्कन्धमें भक्तियोगका भलीभाँति निरूपण हुआ है और साथ ही भक्तियोगसे उत्पन्न एवं उसको स्थिर रखनेवाले वैराग्यका भी वर्णन किया गया है। परीक्षित्‌की कथा और व्यास-नारद-संवादके प्रसंगसे नारदचरित्र भी कहा गया है॥ ५॥

प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः।
शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य संवादश्च परीक्षितः॥ ६

राजर्षि परीक्षित् ब्राह्मणका शाप हो जानेपर किस प्रकार गंगातटपर अनशन-व्रत लेकर बैठ गये और ऋषिप्रवर श्रीशुकदेवजीके साथ किस प्रकार उनका संवाद प्रारम्भ हुआ, यह कथा भी प्रथम स्कन्धमें ही है॥ ६॥

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः।
अवतारानुगीतं च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः॥ ७

योगधारणाके द्वारा शरीरत्यागकी विधि, ब्रह्मा और नारदका संवाद, अवतारोंकी संक्षिप्त चर्चा तथा महत्तत्त्व आदिके क्रमसे प्राकृतिक सृष्टिकी उत्पत्ति आदि विषयोंका वर्णन द्वितीय स्कन्धमें हुआ है॥ ७॥

विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः॥ ८

ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये।
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः॥ ९

कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः।
भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा॥ १०

ऊर्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च।
अर्धनारीनरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः॥ ११

शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा।
सन्तानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः॥ १२

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता॥ १३

नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम् ।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात्पृथोः प्राचीनबर्हिषः॥ १४

नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य भरतस्य च॥ १५

द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम्।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः॥ १६

दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणां च सन्ततिः।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः॥ १७

त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः॥ १८

तीसरे स्कन्धमें पहले-पहल विदुरजी और उद्धवजीके, तदनन्तर विदुर तथा मैत्रेयजीके समागम और संवादका प्रसंग है। इसके पश्चात् पुराणसंहिताके विषयमें प्रश्न है और फिर प्रलयकालमें परमात्मा किस प्रकार स्थित रहते हैं, इसका निरूपण है॥ ८॥

गुणोंके क्षोभसे प्राकृतिक सृष्टि और महत्तत्त्व आदि सात प्रकृति-विकृतियोंके द्वारा कार्य-सृष्टिका वर्णन है। इसके बाद ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और उसमें विराट् पुरुषकी स्थितिका स्वरूप समझाया गया है॥ ९॥

तदनन्तर स्थूल और सूक्ष्म कालका स्वरूप, लोक-पद्मकी उत्पत्ति, प्रलय-समुद्रसे पृथ्वीका उद्धार करते समय वराहभगवान्‌के द्वारा हिरण्याक्षका वध; देवता, पशु, पक्षी और मनुष्योंकी सृष्टि एवं रुद्रोंकी उत्पत्तिका प्रसंग है। इसके पश्चात् उस अर्द्धनारी-नरके स्वरूपका विवेचन है, जिससे स्वायम्भुव मनु और स्त्रियोंकी अत्यन्त उत्तम आद्या प्रकृति शतरूपाका जन्म हुआ था। कर्दम प्रजापतिका चरित्र, उनसे मुनिपत्नियोंका जन्म, महात्मा भगवान् कपिलका अवतार और फिर कपिलदेव तथा उनकी माता देवहूतिके संवादका प्रसंग आता है॥ १०—१३॥

चौथे स्कन्धमें मरीचि आदि नौ प्रजापतियोंकी उत्पत्ति, दक्षयज्ञका विध्वंस, राजर्षि ध्रुव एवं पृथुका चरित्र तथा प्राचीनबर्हि और नारदजीके संवादका वर्णन है। पाँचवें स्कन्धमें प्रियव्रतका उपाख्यान; नाभि, ऋषभ और भरतके चरित्र, द्वीप, वर्ष, समुद्र, पर्वत और नदियोंका वर्णन; ज्योतिश्चक्रके विस्तार एवं पाताल तथा नरकोंकी स्थितिका निरूपण हुआ है॥ १४—१६॥

शौनकादि ऋषियो! छठे स्कन्धमें ये विषय आये हैं—प्रचेताओंसे दक्षकी उत्पत्ति; दक्ष-पुत्रियोंकी सन्तान देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पर्वत और पक्षियोंका जन्म-कर्म; वृत्रासुरकी उत्पत्ति और उसकी परम गति। (अब सातवें स्कन्धके विषय बतलाये जाते हैं—) इस स्कन्धमें मुख्यतः दैत्यराज हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षके जन्म-कर्म एवं दैत्यशिरोमणि महात्मा

मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम्।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः॥ १९
कौर्मं धान्वन्तरं मात्स्यं वामनं च जगत्पतेः।
क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम्॥ २०
देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्तनम्।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः॥ २१
इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः॥ २२
सौकन्यं चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः।
खट्वांगस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च॥ २३
रामस्य कोसलेन्द्रस्य चरितं किल्बिषापहम्।
निमेरंगपरित्यागो जनकानां च सम्भवः॥ २४
रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रकरणं भुवः।
ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च॥ २५
दौष्यन्तेर्भरतस्यापि शन्तनोस्तत्सुतस्य च।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः॥ २६
यत्रावतीर्णो भगवान्कृष्णाख्यो जगदीश्वरः।
वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले॥ २७
तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः॥ २८
तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयोः।
धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः॥ २९

प्रह्लादके उत्कृष्ट चरित्रका निरूपण है॥ १७-१८॥

आठवें स्कन्धमें मन्वन्तरोंकी कथा, गजेन्द्रमोक्ष, विभिन्न मन्वन्तरोंमें होनेवाले जगदीश्वर भगवान् विष्णुके अवतार—कूर्म, मत्स्य, वामन, धन्वन्तरि, हयग्रीव आदि; अमृत-प्राप्तिके लिये देवताओं और दैत्योंका समुद्र-मन्थन और देवासुर-संग्राम आदि विषयोंका वर्णन है। नवें स्कन्धमें मुख्यतः राजवंशोंका वर्णन है। इक्ष्वाकुके जन्म-कर्म, वंशविस्तार, महात्मा सुद्युम्न, इला एवं ताराके उपाख्यान—इन सबका वर्णन किया गया है। सूर्यवंशका वृत्तान्त, शशाद और नृग आदि राजाओंका वर्णन, सुकन्याका चरित्र, शर्याति, खट्वांग, मान्धाता, सौभरि, सगर, बुद्धिमान् ककुत्स्थ और कोसलेन्द्र भगवान् रामके सर्वपापहारी चरित्रका वर्णन भी इसी स्कन्धमें है। तदनन्तर निमिका देह-त्याग और जनकोंकी उत्पत्तिका वर्णन है॥ १९—२४॥

भृगुवंशशिरोमणि परशुरामजीका क्षत्रियसंहार, चन्द्रवंशी नरपति पुरूरवा, ययाति, नहुष, दुष्यन्त-नन्दन भरत, शन्तनु और उनके पुत्र भीष्म आदिकी संक्षिप्त कथाएँ भी नवम स्कन्धमें ही हैं। सबके अन्तमें ययातिके बड़े लड़के यदुका वंशविस्तार कहा गया है॥ २५-२६॥

शौनकादि ऋषियो! इसी यदुवंशमें जगत्पति भगवान् श्रीकृष्णने अवतार ग्रहण किया था। उन्होंने अनेक असुरोंका संहार किया। उनकी लीलाएँ इतनी हैं कि कोई पार नहीं पा सकता। फिर भी दशम स्कन्धमें उनका कुछ कीर्तन किया गया है। वसुदेवकी पत्नी देवकीके गर्भसे उनका जन्म हुआ। गोकुलमें नन्दबाबाके घर जाकर बढ़े। पूतनाके प्राणोंको दूधके साथ पी लिया। बचपनमें ही छकड़ेको उलट दिया॥ २७-२८॥

तृणावर्त, बकासुर एवं वत्सासुरको पीस डाला। सपरिवार धेनुकासुर और प्रलम्बासुरको मार डाला॥ २९॥

गोपानां च परित्राणं दावाग्ने परिसर्पतः।
दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम्॥ ३०

दावानलसे घिरे गोपोंकी रक्षा की। कालिय नागका दमन किया। अजगरसे नन्दबाबाको छुड़ाया॥ ३०॥

व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः।
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणां चानुतापनम्॥ ३१

इसके बाद गोपियोंने भगवान्‌को पतिरूपसे प्राप्त करनेके लिये व्रत किया और भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर उन्हें अभिमत वर दिया। भगवान्‌ने यज्ञपत्नियोंपर कृपा की। उनके पतियों—ब्राह्मणोंको बड़ा पश्चत्ताप हुआ॥ ३१॥

गोवर्धनोद्धारणं च शक्रस्य सुरभेरथ।
यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु॥ ३२

गोवर्द्धनधारणकी लीला करनेपर इन्द्र और कामधेनुने आकर भगवान्‌का यज्ञाभिषेक किया। शरद् ऋतुकी रात्रियोंमें व्रजसुन्दरियोंके साथ रास-क्रीडा की॥ ३२॥

शंखचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः।
अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्णयोः॥ ३३

दुष्ट शंखचूड, अरिष्ट, और केशीके वधकी लीला हुई। तदनन्तर अक्रूरजी मथुरासे वृन्दावन आये और उनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीने मथुराके लिये प्रस्थान किया॥ ३३॥

व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः।
गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां च यो वधः॥ ३४

उस प्रसंगपर व्रजसुन्दरियोंने जो विलाप किया था, उसका वर्णन है। राम और श्यामने मथुरामें जाकर वहाँकी सजावट देखी और कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक, चाणूर एवं कंस आदिका संहार किया॥ ३४॥

मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः।
मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत्प्रियम्।
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः॥ ३५

सान्दीपनि गुरुके यहाँ विद्याध्ययन करके उनके मृत पुत्रको लौटा लाये। शौनकादि ऋषियो! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें निवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने उद्धव और बलरामजीके साथ यदुवंशियोंका सब प्रकारसे प्रिय और हित किया॥ ३५॥

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।
घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम्॥ ३६

जरासन्ध कई बार बड़ी-बड़ी सेनाएँ लेकर आया और भगवान्‌ने उनका उद्धार करके पृथ्वीका भार हलका किया। कालयवनको मुचुकुन्दसे भस्म करा दिया। द्वारकापुरी बसाकर रातों-रात सबको वहाँ पहुँचा दिया॥ ३६॥

आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात्।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः॥ ३७

स्वर्गसे कल्पवृक्ष एवं सुधर्मा सभा ले आये। भगवान्‌ने दल-के-दल शत्रुओंको युद्धमें पराजित करके रुक्मिणीका हरण किया॥ ३७॥

हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम्।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणं च यत्॥ ३८

बाणासुरके साथ युद्धके प्रसंगमें महादेवजी-पर ऐसा बाण छोड़ा कि वे जँभाई लेने लगे और इधर बाणसुरकी भुजाएँ काट डालीं। प्राग्-ज्योतिषपुरके स्वामी भौमासुरको मारकर सोलह हजार कन्याएँ ग्रहण कीं॥ ३८॥

चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्त्रस्य दुर्मतेः।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पंचजनादयः॥ ३९

माहात्म्यं च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम्।
भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान्॥ ४०

शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुष्ट दन्तवक्त्र, शम्बरासुर, द्विविद, पीठ, मुर, पंचजन आदि दैत्योंके बल-पौरुषका वर्णन करके यह बात बतलायी गयी कि भगवान्ने उन्हें कैसे-कैसे मारा। भगवान्के चक्रने काशीको जला दिया और फिर उन्होंने भारतीय युद्धमें पाण्डवोंको निमित्त बनाकर पृथ्वीका बहुत बड़ा भार उतार दिया॥ ३९-४०॥

विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च।
उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः॥ ४१

शौनकादि ऋषियो! ग्यारहवें स्कन्धमें इस बातका वर्णन हुआ है कि भगवान्ने ब्राह्मणोंके शापके बहाने किस प्रकार यदुवंशका संहार किया। इस स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण और उद्धवका संवाद बड़ा ही अद्भुत है॥ ४१॥

यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः।
ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः॥ ४२

उसमें सम्पूर्ण आत्मज्ञान और धर्म-निर्णयका निरूपण हुआ है और अन्तमें यह बात बतायी गयी है कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने आत्मयोगके प्रभावसे किस प्रकार मर्त्यलोकका परित्याग किया॥ ४२॥

युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः।
चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा॥ ४३

बारहवें स्कन्धमें विभिन्न युगोंके लक्षण और उनमें रहनेवाले लोगोंके व्यवहारका वर्णन किया गया है तथा यह भी बतलाया गया है कि कलि-युगमें मनुष्योंकी गति विपरीत होती है। चार प्रकारके प्रलय और तीन प्रकारकी उत्पत्तिका वर्णन भी इसी स्कन्धमें है॥ ४३॥

देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः॥ ४४

इसके बाद परम ज्ञानी राजर्षि परीक्षित्के शरीरत्यागकी बात कही गयी है। तदनन्तर वेदोंके शाखा-विभाजनका प्रसंग आया है। मार्कण्डेयजीकी सुन्दर कथा, भगवान्के अंग-उपांगोंका स्वरूपकथन और सबके अन्तमें विश्वात्मा भगवान् सूर्यके गणोंका वर्णन है॥ ४४॥

इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोऽहमिहास्मि वः।
लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः॥ ४५

शौनकादि ऋषियो! आपलोगोंने इस सत्संगके अवसरपर मुझसे जो कुछ पूछा था, उसका वर्णन मैंने कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस अवसरपर मैंने हर तरहसे भगवान्‌की लीला और उनके अवतार-चरित्रोंका ही कीर्तन किया है॥ ४५॥

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥ ४६

जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ४६॥

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥ ४७

यदि देश, काल एवं वस्तुसे अपरिच्छिन्न भगवान् श्रीकृष्णके नाम, लीला, गुण आदिका संकीर्तन किया जाय अथवा उनके प्रभाव, महिमा आदिका श्रवण किया जाय तो वे स्वयं ही हृदयमें आ विराजते हैं और श्रवण तथा कीर्तन करनेवाले पुरुषके सारे दुःख मिटा देते हैं—ठीक वैसे ही जैसे सूर्य अन्धकारको और आँधी बादलोंको तितर-बितर कर देती है॥ ४७॥

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मंगलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥ ४८

जिस वाणीके द्वारा घट-घटवासी अविनाशी भगवान्‌के नाम, लीला, गुण आदिका उच्चारण नहीं होता, वह वाणी भावपूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी असत्कथा है। जो वाणी और वचन भगवान्‌के गुणोंसे परिपूर्ण रहते हैं, वे ही परम पावन हैं, वे ही मंगलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं॥ ४८॥

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥ ४९

जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के परम पवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है॥ ४९॥

न तद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् ध्वांक्षतीर्थं न तु हंससेवितं
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥ ५०

जिस वाणीसे—चाहे वह रस, भाव, अलंकार आदिसे युक्त ही क्यों न हो—जगत्‌को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशका कभी गान नहीं होता, वह तो कौओंके लिये उच्छिष्ट फेंकनेके स्थानके समान अत्यन्त अपवित्र है। मानससरोवर-निवासी हंस अथवा ब्रह्मधाममें विहार करनेवाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त उसका कभी सेवन नहीं करते। निर्मल हृदयवाले साधुजन तो वहीं निवास करते हैं, जहाँ भगवान् रहते हैं॥ ५०॥

स वाग्विसर्गो जनताघसंप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ ५१

इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो व्याकरण आदिकी दृष्टिसे दूषित शब्दोंसे युक्त भी है, परन्तु जिसके प्रत्येक श्लोकमें भगवान्‌के सुयशसूचक नाम जड़े हुए हैं, वह वाणी लोगोंके सारे पापोंका नाश कर देती है; क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणीका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं॥ ५१॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम्॥ ५२

वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो कर्म भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है—वह चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो—सर्वदा अमंगलरूप, दुःख देनेवाला ही है; वह तो शोभन—वरणीय हो ही कैसे सकता है?॥ ५२॥

यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥ ५३

वर्णाश्रमके अनुकूल आचरण, तपस्या और अध्ययन आदिके लिये जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है, उसका फल है—केवल यश अथवा लक्ष्मीकी प्राप्ति। परन्तु भगवान्‌के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण, कीर्तन आदि तो उनके श्रीचरणकमलोंकी अविचल स्मृति प्रदान करता है॥ ५३॥

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥ ५४

भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप और अमंगलोंको नष्ट कर देती और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है॥ ५४॥

यूयं द्विजाग्र्या बत भूरिभागा
यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम्।
नारायणं देवमदेवमीश-
मजस्रभावा भजताविवेश्य॥ ५५

शौनकादि ऋषियो! आपलोग बड़े भाग्यवान् हैं। धन्य हैं, धन्य हैं! क्योंकि आपलोग बड़े प्रेमसे निरन्तर अपने हृदयमें सर्वान्तर्यामी, सर्वात्मा, सर्व-शक्तिमान् आदिदेव सबके आराध्यदेव एवं स्वयं दूसरे आराध्यदेवसे रहित नारायण भगवान्‌को स्थापित करके भजन करते रहते हैं॥ ५५॥

अहं च संस्मारित आत्मतत्त्वं
श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात्।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः
सदस्यृषीणां महतां च शृण्वताम्॥ ५६

जिस समय राजर्षि परीक्षित् अनशन करके बड़े-बड़े ऋषियोंकी भरी सभामें सबके सामने श्रीशुकदेवजी महाराजसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुन रहे थे, उस समय वहीं बैठकर मैंने भी उन्हीं परमर्षिके मुखसे इस आत्मतत्त्वका श्रवण किया था। आपलोगोंने उसका स्मरण कराकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया। मैं इसके लिये आपलोगोंका बड़ा ऋणी हूँ॥ ५६॥

एतद्वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः।
माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम्॥ ५७

शौनकादि ऋषियो! भगवान् वासुदेवकी एक-एक लीला सर्वदा श्रवण-कीर्तन करनेयोग्य है। मैंने इस प्रसंगमें उन्हींकी महिमाका वर्णन किया है; जो सारे अशुभ संस्कारोंको धो बहाती है॥ ५७॥

य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः।
श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः॥ ५८

जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे एक पहर अथवा एक क्षण ही प्रतिदिन इसका कीर्तन करता है और जो श्रद्धाके साथ इसका श्रवण करता है, वह अवश्य ही शरीरसहित अपने अन्तःकरणको पवित्र बना लेता है॥ ५८॥

द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान् भवेत्।
पठत्यनश्नन् प्रयतस्ततो भवत्यपातकी॥ ५९

जो पुरुष द्वादशी अथवा एकादशीके दिन इसका श्रवण करता है, वह दीर्घायु हो जाता है और जो संयमपूर्वक निराहार रहकर पाठ करता है, उसके पहलेके पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं, पापकी प्रवृत्ति भी नष्ट हो जाती है॥ ५९॥

पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान्।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात्॥ ६०

जो मनुष्य इन्द्रियों और अन्तःकरणको अपने वशमें करके उपवासपूर्वक पुष्कर, मथुरा अथवा द्वारकामें इस पुराणसंहिताका पाठ करता है, वह सारे भयोंसे मुक्त हो जाता है॥ ६०॥

देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः।
यच्छन्ति कामान् गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात्॥ ६१

जो मनुष्य इसका श्रवण या उच्चारण करता है, उसके कीर्तनसे देवता, मुनि, सिद्ध, पितर, मनु और नरपति सन्तुष्ट होते हैं और उसकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते हैं॥ ६१॥

ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते।
मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत्फलम्॥ ६२

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके पाठसे ब्राह्मणको मधुकुल्या, घृतकुल्या और पयःकुल्या (मधु, घी एवं दूधकी नदियाँ अर्थात् सब प्रकारकी सुख-समृद्धि) की प्राप्ति होती है। वही फल श्रीमद्भागवतके पाठसे भी मिलता है॥ ६२॥

पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः।
प्रोक्तं भगवता यत्तु तत्पदं परमं व्रजेत्॥ ६३

जो द्विज संयमपूर्वक इस पुराणसंहिताका अध्ययन करता है, उसे उसी परमपदकी प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन स्वयं भगवान्ने किया है॥ ६३॥ इसके अध्ययनसे ब्राह्मणको ऋतम्भरा प्रज्ञा (तत्त्वज्ञानको प्राप्त करानेवाली बुद्धि) की प्राप्ति होती है और क्षत्रियको समुद्रपर्यन्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त होता है। वैश्य कुबेरका पद प्राप्त करता है और शूद्र सारे पापोंसे छुटकारा पा जाता है॥ ६४॥

विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात्॥ ६४

कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो
हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः
परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः॥ ६५

भगवान् ही सबके स्वामी हैं और समूह-के-समूह कलिमलोंको ध्वंस करनेवाले हैं। यों तो उनका वर्णन करनेके लिये बहुत-से पुराण हैं, परन्तु उनमें सर्वत्र और निरन्तर भगवान्का वर्णन नहीं मिलता। श्रीमद्भागवत-महापुराणमें तो प्रत्येक कथा-प्रसंगमें पद-पदपर सर्वस्वरूप भगवान्का ही वर्णन हुआ है॥ ६५॥

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं
जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम्।
द्युपतिभिरजशक्रशंकराद्यै-
र्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि॥ ६६

वे जन्म-मृत्यु आदि विकारोंसे रहित, देशकाला-दिकृत परिच्छेदोंसे मुक्त एवं स्वयं आत्मतत्त्व ही हैं। जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करनेवाली शक्तियाँ भी उनकी स्वरूपभूत ही हैं, भिन्न नहीं। ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि लोकपाल भी उनकी स्तुति करना लेशमात्र भी नहीं जानते। उन्हीं एकरस सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ६६॥

उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्म-
न्युपरचितस्थिरजंगमालयाय।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने
सुरऋषभाय नमः सनातनाय॥ ६७

जिन्होंने अपने स्वरूपमें ही प्रकृति आदि नौ शक्तियोंका संकल्प करके इस चराचर जगत्की सृष्टि की है और जो इसके अधिष्ठानरूपसे स्थित हैं तथा जिनका परम पद केवल अनुभूतिस्वरूप है, उन्हीं देवताओंके आराध्यदेव सनातन भगवान्के चरणोंमें मैं नमस्कार करता हूँ॥ ६७॥

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥ ६८

श्रीशुकदेवजी महाराज अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी मधुमयी, मंगलमयी, मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्‌के प्राणियोंपर कृपा करके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस महापुराणका विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥ ६८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे
द्वादशस्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

विभिन्न पुराणोंकी श्लोक-संख्या और श्रीमद्भागवतकी महिमा

सूत उवाच

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः
स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदै-
र्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा
पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा
देवाय तस्मै नमः॥ १

सूतजी कहते हैं—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तुतियोंके द्वारा जिनके गुण-गानमें संलग्न रहते हैं; साम-संगीतके मर्मज्ञ ऋषि-मुनि अंग, पद, क्रम एवं उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गान करते रहते हैं; योगीलोग ध्यानके द्वारा निश्चल एवं तल्लीन मनसे जिनका भावमय दर्शन प्राप्त करते रहते हैं; किन्तु यह सब करते रहनेपर भी देवता, दैत्य, मनुष्य—कोई भी जिनके वास्तविक स्वरूपको पूर्णतया न जान सका, उन स्वयंप्रकाश परमात्माको नमस्कार है॥ १॥

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरि-
ग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः
श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद्
वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधे-
र्नाद्यापि विश्राम्यति॥ २

जिस समय भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया था और उनकी पीठपर बड़ा भारी मन्दराचल मथानीकी तरह घूम रहा था, उस समय मन्दराचलकी चट्टानोंकी नोकसे खुजलानेके कारण भगवान्‌को तनिक सुख मिला। वे सो गये और श्वासकी गति तनिक बढ़ गयी। उस समय उस श्वासवायुसे जो समुद्रके जलको धक्का लगा था, उसका संस्कार आज भी उसमें शेष है। आज भी समुद्र उसी श्वासवायुके थपेड़ोंके फलस्वरूप ज्वार-भाटोंके रूपमें दिन-रात चढ़ता-उतरता रहता है, उसे अबतक विश्राम न मिला। भगवान्‌की वही परमप्रभावशाली श्वासवायु आपलोगोंकी रक्षा करे॥ २॥

पुराणसंख्यासम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत॥ ३

ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पंचोनषष्टि च।
श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम्॥ ४

दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पंचविंशतिः।
मार्कण्डं नव वाह्नं च दशपंच चतुःशतम्॥ ५

चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पंचशतानि च।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिंगमेकादशैव तु॥ ६

चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम्।
स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम्॥ ७

कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश।
एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु॥ ८

एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।
तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते॥ ९

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपंकजे।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्॥ १०

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्॥ ११

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥ १२

शौनकजी! अब पुराणोंकी अलग-अलग श्लोक-संख्या, उनका जोड़, श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय और उसका प्रयोजन भी सुनिये। इसके दानकी पद्धति तथा दान और पाठ आदिकी महिमा भी आपलोग श्रवण कीजिये॥ ३॥ ब्रह्मपुराणमें दस हजार श्लोक, पद्मपुराणमें पचपन हजार, श्रीविष्णुपुराणमें तेईस हजार और शिवपुराणकी श्लोकसंख्या चौबीस हजार है॥ ४॥ श्रीमद्भागवतमें अठारह हजार, नारदपुराणमें पचीस हजार, मार्कण्डेयपुराणमें नौ हजार तथा अग्निपुराणमें पन्द्रह हजार चार सौ श्लोक हैं॥ ५॥ भविष्यपुराणकी श्लोक-संख्या चौदह हजार पाँच सौ है और ब्रह्मवैवर्तपुराणकी अठारह हजार तथा लिंगपुराणमें ग्यारह हजार श्लोक हैं॥ ६॥ वराहपुराणमें चौबीस हजार, स्कन्ध-पुराणकी श्लोक-संख्या इक्यासी हजार एक सौ है और वामनपुराणकी दस हजार॥ ७॥ कूर्मपुराण सत्रह हजार श्लोकोंका और मत्स्यपुराण चौदह हजार श्लोकोंका है। गरुड़पुराणमें उन्नीस हजार श्लोक हैं और ब्रह्माण्डपुराणमें बारह हजार॥ ८॥ इस प्रकार सब पुराणोंकी श्लोकसंख्या कुल मिलाकर चार लाख होती है। उनमें श्रीमद्भागवत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अठारह हजार श्लोकोंका है॥ ९॥

शौनकजी! पहले-पहल भगवान् विष्णुने अपने नाभिकमलपर स्थित एवं संसारसे भयभीत ब्रह्मापर परम करुणा करके इस पुराणको प्रकाशित किया था॥ १०॥

इसके आदि, मध्य और अन्तमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली बहुत-सी कथाएँ हैं। इस महापुराणमें जो भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथाएँ हैं, वे तो अमृतस्वरूप हैं ही; उनके सेवनसे सत्पुरुष और देवताओंको बड़ा ही आनन्द मिलता है॥ ११॥

आपलोग जानते हैं कि समस्त उपनिषदोंका सार है ब्रह्म और आत्माका एकत्वरूप अद्वितीय सद्वस्तु। वही श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय है। इसके निर्माणका प्रयोजन है एकमात्र कैवल्य-मोक्ष॥ १२॥

प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्।
ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम्॥ १३
राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम्॥ १४
सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥ १५
निम्नगानां यथा गंगा देवानामच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥ १६
क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः॥ १७
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं
यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं
ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं
नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो
भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ १८

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो
ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये
कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्-
राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं
सत्यं परं धीमहि॥ १९

जो पुरुष भाद्रपद मासकी पूर्णिमाके दिन श्रीमद्भागवतको सोनेके सिंहासनपर रखकर उसका दान करता है, उसे परमगति प्राप्त होती है॥ १३॥ संतोंकी सभामें तभीतक दूसरे पुराणोंकी शोभा होती है, जबतक सर्वश्रेष्ठ स्वयं श्रीमद्भागवतमहापुराणके दर्शन नहीं होते॥ १४॥ यह श्रीमद्भागवत समस्त उपनिषदोंका सार है। जो इस रस-सुधाका पान करके छक चुका है, वह किसी और पुराण-शास्त्रमें रम नहीं सकता॥ १५॥ जैसे नदियोंमें गंगा, देवताओंमें विष्णु और वैष्णवोंमें श्रीशंकरजी सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत है॥ १६॥ शौनकादि ऋषियो! जैसे सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें काशी सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवतका स्थान सबसे ऊँचा है॥ १७॥ यह श्रीमद्भागवतपुराण सर्वथा निर्दोष है। भगवान्‌के प्यारे भक्त वैष्णव इससे बड़ा प्रेम करते हैं। इस पुराणमें जीवन्मुक्त परमहंसोंके सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय एवं मायाके लेशसे रहित ज्ञानका गान किया गया है। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि इसका नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति भी ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिसे युक्त है। जो इसका श्रवण, पठन और मनन करने लगता है, उसे भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है॥ १८॥

यह श्रीमद्भागवत भगवत्तत्त्वज्ञानका एक श्रेष्ठ प्रकाशक है। इसकी तुलनामें और कोई भी पुराण नहीं है। इसे पहले-पहल स्वयं भगवान् नारायणने ब्रह्माजीके लिये प्रकट किया था। फिर उन्होंने ही ब्रह्माजीके रूपसे देवर्षि नारदको उपदेश किया और नारदजीके रूपसे भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको। तदनन्तर उन्होंने ही व्यासरूपसे योगीन्द्र शुकदेवजीको और श्रीशुकदेवजीके रूपसे अत्यन्त करुणावश राजर्षि परीक्षित्‌को उपदेश किया। वे भगवान् परम शुद्ध एवं मायामलसे रहित हैं। शोक और मृत्यु उनके पासतक नहीं फटक सकते। हम सब उन्हीं परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका ध्यान करते हैं॥ १९॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे॥ २०

हम उन सर्वसाक्षी भगवान् वासुदेवको नमस्कार करते हैं, जिन्होंने कृपा करके मोक्षाभिलाषी ब्रह्माजीको इस श्रीमद्भागवतमहापुराणका उपदेश किया॥ २०॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥ २१

साथ ही हम उन योगिराज ब्रह्मस्वरूप श्रीशुकदेवजीको भी नमस्कार करते हैं, जिन्होंने श्रीमद्भागवतमहापुराण सुनाकर संसार-सर्पसे डसे हुए राजर्षि परीक्षित्को मुक्त किया॥ २१॥

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥ २२

देवताओंके आराध्यदेव सर्वेश्वर! आप ही हमारे एकमात्र स्वामी एवं सर्वस्व हैं। अब आप ऐसी कृपा कीजिये कि बार-बार जन्म ग्रहण करते रहनेपर भी आपके चरणकमलोंमें हमारी अविचल भक्ति बनी रहे॥ २२॥

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥ २३

जिन भगवान्के नामोंका संकीर्तन सारे पापोंको सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान्के चरणोंमें आत्मसमर्पण, उनके चरणोंमें प्रणति सर्वदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंको शान्त कर देती है, उन्हीं परम-तत्त्वस्वरूप श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

इति द्वादशः स्कन्धः समाप्तः
सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
तेन त्वदङ्घ्रिकमले रतिं मे यच्छ शाश्वतीम्॥

हे गोविन्द! आपकी वस्तु आपको ही समर्पण कर रहा हूँ। इसके द्वारा आपके चरणकमलोंमें मुझे शाश्वत प्रेम प्रदान करनेकी कृपा करें।

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

परीक्षित् और वज्रनाभका समागम, शाण्डिल्यमुनिके मुखसे भगवान्‌की लीलाके रहस्य और व्रजभूमिके महत्त्वका वर्णन

व्यास उवाच

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे
कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे
नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम्॥ १

महर्षि व्यास कहते हैं—जिनका स्वरूप है सच्चिदानन्दघन, जो अपने सौन्दर्य और माधुर्यादि गुणोंसे सबका मन अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं और सदा-सर्वदा अनन्त सुखकी वर्षा करते रहते हैं, जिनकी ही शक्तिसे इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं—उन भगवान् श्रीकृष्णको हम भक्तिरसका आस्वादन करनेके लिये नित्य-निरन्तर प्रणाम करते हैं॥ १॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम्।
कथामृतरसास्वादकुशला ऋषयोऽब्रुवन्॥ २

नैमिषारण्यक्षेत्रमें श्रीसूतजी स्वस्थ चित्तसे अपने आसनपर बैठे हुए थे। उस समय भगवान्‌की अमृतमयी लीलाकथाके रसिक, उसके रसास्वादनमें अत्यन्त कुशल शौनकादि ऋषियोंने सूतजीको प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया॥ २॥

ऋषय ऊचुः

वज्रं श्रीमाथुरे देशे स्वपौत्रं हस्तिनापुरे।
अभिषिच्य गते राज्ञि तौ कथं किं च चक्रतुः॥ ३

ऋषियोंने पूछा—सूतजी! धर्मराज युधिष्ठिर जब श्रीमथुरामण्डलमें अनिरुद्धनन्दन वज्रका और हस्तिनापुरमें अपने पौत्र परीक्षित्‌का राज्याभिषेक करके हिमालयपर चले गये, तब राजा वज्र और परीक्षित्‌ने कैसे-कैसे कौन-कौन-सा कार्य किया॥ ३॥

सूत उवाच

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ ४

सूतजीने कहा—भगवान् नारायण, नरोत्तम नर, देवी सरस्वती और महर्षि व्यासको नमस्कार करके शुद्धचित्त होकर भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इतिहासपुराणरूप 'जय' का उच्चारण करना चाहिये॥ ४॥

महापथं गते राज्ञि परीक्षित् पृथिवीपतिः।
जगाम मथुरां विप्रा वज्रनाभदिदृक्षया॥ ५

शौनकादि ब्रह्मर्षियो! जब धर्मराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवगण स्वर्गारोहणके लिये हिमालय चले गये, तब सम्राट् परीक्षित् एक दिन मथुरा गये। उनकी इस यात्राका उद्देश्य इतना ही था कि वहाँ चलकर वज्रनाभसे मिल-जुल आयें॥ ५॥

पितृव्यमागतं ज्ञात्वा वज्रः प्रेमपरिप्लुतः।
अभिगम्याभिवाद्याथ निनाय निजमन्दिरम्॥ ६

परिष्वज्य स तं वीरः कृष्णैकगतमानसः।
रोहिण्याद्या हरेः पत्नीर्ववन्दायतनागतः॥ ७

ताभिः संमानितोऽत्यर्थं परीक्षित् पृथिवीपतिः।
विश्रान्तः सुखमासीनो वज्रनाभमुवाच ह॥ ८

परीक्षिदुवाच

तात त्वत्पितृभिर्नूनमस्मत्पितृपितामहाः।
उद्धृता भूरिदुःखौघादहं च परिरक्षितः॥ ९

न पारयाम्यहं तात साधु कृत्वोपकारतः।
त्वामतः प्रार्थयाम्यंग सुखं राज्येऽनुयुज्यताम्॥ १०

कोशसैन्यादिजा चिन्ता तथारिदमनादिजा।
मनागपि न कार्या ते सुसेव्याः किन्तु मातरः॥ ११

निवेद्य मयि कर्तव्यं सर्वाधिपरिवर्जनम्।
श्रुत्वैतत् परमप्रीतो वज्रस्तं प्रत्युवाच ह॥ १२

वज्रनाभ उवाच

राजन्नुचितमेतत्ते यदस्मासु प्रभाषसे।
त्वत्पित्रोपकृतश्चाहं धनुर्विद्याप्रदानतः॥ १३

जब वज्रनाभको यह समाचार मालूम हुआ कि मेरे पितातुल्य परीक्षित् मुझसे मिलनेके लिये आ रहे हैं, तब उनका हृदय प्रेमसे भर गया। उन्होंने नगरसे आगे बढ़कर उनकी अगवानी की, चरणोंमें प्रणाम किया और बड़े प्रेमसे उन्हें अपने महलमें ले आये॥ ६॥ वीर परीक्षित् भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेमी भक्त थे। उनका मन नित्य-निरन्तर आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रमें ही रमता रहता था। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभका बड़े प्रेमसे आलिंगन किया। इसके बाद अन्तःपुरमें जाकर भगवान् श्रीकृष्णकी रोहिणी आदि पत्नियोंको नमस्कार किया॥ ७॥ रोहिणी आदि श्रीकृष्ण-पत्नियोंने भी सम्राट् परीक्षित्का अत्यन्त सम्मान किया। वे विश्राम करके जब आरामसे बैठ गये, तब उन्होंने वज्रनाभसे यह बात कही॥ ८॥

राजा परीक्षित्ने कहा—'हे तात! तुम्हारे पिता और पितामहोंने मेरे पिता-पितामहको बड़े-बड़े संकटोंसे बचाया है। मेरी रक्षा भी उन्होंने ही की है॥ ९॥ प्रिय वज्रनाभ! यदि मैं उनके उपकारोंका बदला चुकाना चाहूँ तो किसी प्रकार नहीं चुका सकता। इसलिये मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम सुखपूर्वक अपने राजकाजमें लगे रहो॥ १०॥

तुम्हें अपने खजानेकी, सेनाकी तथा शत्रुओंको दबाने आदिकी तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिये। तुम्हारे लिये कोई कर्तव्य है तो केवल एक ही; वह यह कि तुम्हें अपनी इन माताओंकी खूब प्रेमसे भलीभाँति सेवा करते रहना चाहिये॥ ११॥

यदि कभी तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति-विपत्ति आये अथवा किसी कारणवश तुम्हारे हृदयमें अधिक क्लेशका अनुभव हो तो मुझसे बताकर निश्चिन्त हो जाना; मैं तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर कर दूँगा।' सम्राट् परीक्षित्की यह बात सुनकर वज्रनाभको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने राजा परीक्षित्से कहा— ॥ १२॥

वज्रनाभने कहा—'महाराज! आप मुझसे जो कुछ कह रहे हैं, वह सर्वथा आपके अनुरूप है। आपके पिताने भी मुझे धनुर्वेदकी शिक्षा देकर मेरा महान् उपकार किया है॥ १३॥

तस्मान्नाल्पापि मे चिन्ता क्षात्रं दृढमुपेयुषः।
किन्त्वेका परमा चिन्ता तत्र किंचिद् विचार्यताम्॥ १४

माथुरे त्वभिषिक्तोऽपि स्थितोऽहं निर्जने वने।
क्व गता वै प्रजात्रत्या यत्र राज्यं प्ररोचते॥ १५

इत्युक्तो विष्णुरातस्तु नन्दादीनां पुरोहितम्।
शाण्डिल्यमाजुहावाशु वज्रसन्देहनुत्तये॥ १६

अथोटजं विहायाशु शाण्डिल्यः समुपागतः।
पूजितो वज्रनाभेन निषसादासनोत्तमे॥ १७

उपोद्घातं विष्णुरातश्चकाराशु ततस्त्वसौ।
उवाच परमप्रीतस्तावुभौ परिसान्त्वयन्॥ १८

शाण्डिल्य उवाच

श्रृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं व्रजभूमिजम्।
व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते॥ १९

गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते।
सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्॥ २०

तस्मिन् नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दांगविग्रहः।
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते॥ २१

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः॥ २२

इसलिये मुझे किसी बातकी तनिक भी चिन्ता नहीं है; क्योंकि उनकी कृपासे मैं क्षत्रियोचित शूरवीरतासे भलीभाँति सम्पन्न हूँ। मुझे केवल एक बातकी बहुत बड़ी चिन्ता है, आप उसके सम्बन्धमें कुछ विचार कीजिये॥ १४॥ यद्यपि मैं मथुरामण्डलके राज्यपर अभिषिक्त हूँ, तथापि मैं यहाँ निर्जन वनमें ही रहता हूँ। इस बातका मुझे कुछ भी पता नहीं है कि यहाँकी प्रजा कहाँ चली गयी; क्योंकि राज्यका सुख तो तभी है, जब प्रजा रहे'॥ १५॥ जब वज्रनाभने परीक्षित्से यह बात कही, तब उन्होंने वज्रनाभका सन्देह मिटानेके लिये महर्षि शाण्डिल्यको बुलवाया। ये ही महर्षि शाण्डिल्य पहले नन्द आदि गोपोंके पुरोहित थे॥ १६॥ परीक्षित्का सन्देश पाते ही महर्षि शाण्डिल्य अपनी कुटी छोड़कर वहाँ आ पहुँचे। वज्रनाभने विधिपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया और वे एक ऊँचे आसनपर विराजमान हुए॥ १७॥ राजा परीक्षित्ने वज्रनाभकी बात उन्हें कह सुनायी। इसके बाद महर्षि शाण्डिल्य बड़ी प्रसन्नतासे उनको सान्त्वना देते हुए कहने लगे— ॥ १८॥

शाण्डिल्यजीने कहा—प्रिय परीक्षित् और वज्रनाभ! मैं तुमलोगोंसे व्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो। 'व्रज' शब्दका अर्थ है व्याप्ति। इस वृद्धवचनके अनुसार व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'व्रज' पड़ा है॥ १९॥ सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे अतीत जो परब्रह्म है, वही व्यापक है। इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप, परम ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं॥ २०॥ इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निवास है। उनका एक-एक अंग सच्चिदानन्दस्वरूप है। वे आत्माराम और आप्तकाम हैं। प्रेमरसमें डूबे हुए रसिकजन ही उनका अनुभव करते हैं॥ २१॥ भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—राधिका; उनसे रमण करनेके कारण ही रहस्यरसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष उन्हें 'आत्माराम' कहते हैं॥ २२॥

कामास्तु वांछितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः।
नित्याः सर्वे विहाराद्या आप्तकामस्ततस्त्वयम्॥ २३

रहस्यं त्विदमेतस्य प्रकृतेः परमुच्यते।
प्रकृत्या खेलतस्तस्य लीलान्यैरनुभूयते॥ २४

सर्गस्थित्यप्यया यत्र रजःसत्त्वतमोगुणैः।
लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी॥ २५

वास्तवी तत्स्वसंवेद्या जीवानां व्यावहारिकी।
आद्यां विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगा क्वचित्॥ २६

युवयोर्गोचरेयं तु तल्लीला व्यावहारिकी।
यत्र भूरादयो लोका भुवि माथुरमण्डलम्॥ २७

अत्रैव व्रजभूमिः सा यत्र तत्त्वं सुगोपितम्।
भासते प्रेमपूर्णानां कदाचिदपि सर्वतः॥ २८

कदाचिद् द्वापरस्यान्ते रहोलीलाधिकारिणः।
समवेता यदात्र स्युर्यथेदानीं तदा हरिः॥ २९

स्वैः सहावतरेत् स्वेषु समावेशार्थमीप्सिताः।
तदा देवादयोऽप्यन्येऽवतरन्ति समन्ततः॥ ३०

'काम' शब्दका अर्थ है कामना—अभिलाषा; व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णके वांछित पदार्थ हैं—गौएँ, ग्वालबाल, गोपियाँ और उनके साथ लीला-विहार आदि; वे सब-के-सब यहाँ नित्य प्राप्त हैं। इसीसे श्रीकृष्णको 'आप्तकाम' कहा गया है॥ २३॥ भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्य-लीला प्रकृतिसे परे है। वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलने लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी लीलाका अनुभव करते हैं॥ २४॥ प्रकृतिके साथ होनेवाली लीलामें ही रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्की लीला दो प्रकारकी है—एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी॥ २५॥ वास्तवी लीला स्वसंवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके रसिक भक्तजन ही जानते हैं। जीवोंके सामने जो लीला होती है, वह व्यावहारिकी लीला है। वास्तवी लीलाके बिना व्यावहारिकी लीला नहीं हो सकती; परन्तु व्यावहारिकी लीलाका वास्तविक लीलाके राज्यमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता॥ २६॥ तुम दोनों भगवान्की जिस लीलाको देख रहे हो, यह व्यावहारिकी लीला है। यह पृथ्वी और स्वर्ग आदि लोक इसी लीलाके अन्तर्गत हैं। इसी पृथ्वीपर यह मथुरामण्डल है॥ २७॥ यहीं वह व्रजभूमि है, जिसमें भगवान्की वह वास्तवी रहस्य-लीला गुप्तरूपसे होती रहती है। वह कभी-कभी प्रेमपूर्ण हृदयवाले रसिक भक्तोंको सब ओर दीखने लगती है॥ २८॥ कभी अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें जब भगवान्की रहस्य-लीलाके अधिकारी भक्तजन यहाँ एकत्र होते हैं, जैसा कि इस समय भी कुछ काल पहले हुए थे, उस समय भगवान् अपने अन्तरंग प्रेमियोंके साथ अवतार लेते हैं। उनके अवतारका यह प्रयोजन होता है कि रहस्य-लीलाके अधिकारी भक्तजन भी अन्तरंग परिकरोंके साथ सम्मिलित होकर लीला-रसका आस्वादन कर सकें। इस प्रकार जब भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, उस समय भगवान्के अभिमत प्रेमी देवता और ऋषि आदि भी सब ओर अवतार लेते हैं॥ २९-३०॥

सर्वेषां वांछितं कृत्वा हरिरन्तर्हितोऽभवत्।
तेनात्र त्रिविधा लोकाः स्थिताः पूर्वं न संशयः॥ ३१

नित्यास्तल्लिप्सवश्चैव देवाद्याश्चेति भेदतः।
देवाद्यास्तेषु कृष्णेन द्वारकां प्रापिताः पुरा॥ ३२

पुनर्मौशलमार्गेण स्वाधिकारेषु चापिताः।
तल्लिप्सूंश्च सदा कृष्णः प्रेमानन्दैकरूपिणः॥ ३३

विधाय स्वीयनित्येषु समावेशितवांस्तदा।
नित्याः सर्वेऽप्ययोग्येषु दर्शनाभावतां गताः॥ ३४

व्यावहारिकलीलास्थास्तत्र यन्नाधिकारिणः।
पश्यन्त्यत्रागतास्तस्मान्निर्जनत्वं समन्ततः॥ ३५

तस्माच्चिन्ता न ते कार्या वज्रनाभ मदाज्ञया।
वासयात्र बहून् ग्रामान् संसिद्धिस्ते भविष्यति॥ ३६

कृष्णलीलानुसारेण कृत्वा नामानि सर्वतः।
त्वया वासयता ग्रामान् संसेव्या भूरियं परा॥ ३७

अभी-अभी जो अवतार हुआ था, उसमें भगवान् अपने सभी प्रेमियोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करके अब अन्तर्धान हो चुके हैं। इससे यह निश्चय हुआ कि यहाँ पहले तीन प्रकारके भक्तजन उपस्थित थे; इसमें सन्देह नहीं है॥ ३१॥ उन तीनोंमें प्रथम तो उनकी श्रेणी है, जो भगवान्के नित्य 'अन्तरंग' पार्षद हैं—जिनका भगवान्से कभी वियोग होता ही नहीं। दूसरे वे हैं, जो एकमात्र भगवान्को पानेकी इच्छा रखते हैं—उनकी अन्तरंग-लीलामें अपना प्रवेश चाहते हैं। तीसरी श्रेणीमें देवता आदि हैं। इनमेंसे जो देवता आदिके अंशसे अवतीर्ण हुए थे, उन्हें भगवान्ने व्रजभूमिसे हटाकर पहले ही द्वारका पहुँचा दिया था॥ ३२॥ फिर भगवान्ने ब्राह्मणके शापसे उत्पन्न मूसलको निमित्त बनाकर यदुकुलमें अवतीर्ण देवताओंको स्वर्गमें भेज दिया और पुनः अपने-अपने अधिकारपर स्थापित कर दिया। तथा जिन्हें एकमात्र भगवान्को ही पानेकी इच्छा थी, उन्हें प्रेमानन्दस्वरूप बनाकर श्रीकृष्णने सदाके लिये अपने नित्य अन्तरंग पार्षदोंमें सम्मिलित कर लिया। जो नित्य पार्षद हैं, वे यद्यपि यहाँ गुप्तरूपसे होनेवाली नित्यलीलामें सदा ही रहते हैं, परन्तु जो उनके दर्शनके अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये वे भी अदृश्य हो गये हैं॥ ३३-३४॥ जो लोग व्यावहारिक लीलामें स्थित हैं, वे नित्यलीलाका दर्शन पानेके अधिकारी नहीं हैं; इसलिये यहाँ आनेवालोंको सब ओर निर्जन वन—सूना-ही-सूना दिखायी देता है; क्योंकि वे वास्तविक लीलामें स्थित भक्तजनोंको देख नहीं सकते॥ ३५॥

इसलिये वज्रनाभ! तुम्हें तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। तुम मेरी आज्ञासे यहाँ बहुत-से गाँव बसाओ; इससे निश्चय ही तुम्हारे मनोरथोंकी सिद्धि होगी॥ ३६॥

भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ जैसी लीला की है, उसके अनुसार उस स्थानका नाम रखकर तुम अनेकों गाँव बसाओ और इस प्रकार दिव्य व्रजभूमिका भलीभाँति सेवन करते रहो॥ ३७॥

गोवर्द्धने दीर्घपुरे मथुरायां महावने।
नन्दिग्रामे बृहत्सानौ कार्या राज्यस्थितिस्त्वया॥ ३८

गोवर्धन, दीर्घपुर (डीग), मथुरा, महावन (गोकुल), नन्दिग्राम (नन्दगाँव) और बृहत्सानु (बरसाना) आदिमें तुम्हें अपने लिये छावनी बनवानी चाहिये॥ ३८॥

नद्यद्रिद्रोणिकुण्डादिकुञ्जान् संसेवतस्तव।
राज्ये प्रजाः सुसम्पन्नास्त्वं च प्रीतो भविष्यसि॥ ३९

उन-उन स्थानोंमें रहकर भगवान्‌की लीलाके स्थल नदी, पर्वत, घाटी, सरोवर और कुण्ड तथा कुंज-वन आदिका सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे तुम्हारे राज्यमें प्रजा बहुत ही सम्पन्न होगी और तुम भी अत्यन्त प्रसन्न रहोगे॥ ३९॥

सच्चिदानन्दभूरेषा त्वया सेव्या प्रयत्नतः।
तव कृष्णस्थलान्यत्र स्फुरन्तु मदनुग्रहात्॥ ४०

यह व्रजभूमि सच्चिदानन्दमयी है, अतः तुम्हें प्रयत्नपूर्वक इस भूमिका सेवन करना चाहिये। मैं आशीर्वाद देता हूँ; मेरी कृपासे भगवान्‌की लीलाके जितने भी स्थल हैं, सबकी तुम्हें ठीक-ठीक पहचान हो जायगी॥ ४०॥

वज्र संसेवनादस्य उद्धवस्त्वां मिलिष्यति।
ततो रहस्यमेतस्मात् प्राप्स्यसि त्वं समातृकः॥ ४१

वज्रनाभ! इस व्रजभूमिका सेवन करते रहनेसे तुम्हें किसी दिन उद्धवजी मिल जायँगे। फिर तो अपनी माताओंसहित तुम उन्हींसे इस भूमिका तथा भगवान्‌की लीलाका रहस्य भी जान लोगे॥ ४१॥

एवमुक्त्वा तु शाण्डिल्यो गतः कृष्णमनुस्मरन्।
विष्णुरातोऽथ वज्रश्च परां प्रीतिमवापतुः॥ ४२

मुनिवर शाण्डिल्यजी उन दोनोंको इस प्रकार समझा-बुझाकर भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए अपने आश्रमपर चले गये। उनकी बातें सुनकर राजा परीक्षित् और वज्रनाभ दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए॥ ४२॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये शाण्डिल्योपदिष्टव्रजभूमिमाहात्म्यवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

यमुना और श्रीकृष्णपत्नियोंका संवाद, कीर्तनोत्सवमें उद्धवजीका प्रकट होना

ऋषय ऊचुः

शाण्डिल्ये तौ समादिश्य परावृत्ते स्वमाश्रमम्।
किं कथं चक्रतुस्तौ तु राजानौ सूत तद् वद॥ १

ऋषियोंने पूछा—सूतजी! अब यह बतलाइये कि परीक्षित् और वज्रनाभको इस प्रकार आदेश देकर जब शाण्डिल्य मुनि अपने आश्रमको लौट गये, तब उन दोनों राजाओंने कैसे-कैसे और कौन-कौन-सा काम किया?॥ १॥

सूत उवाच

ततस्तु विष्णुरातेन श्रेणीमुख्याः सहस्रशः।
इन्द्रप्रस्थात् समानाय्य मथुरास्थानमापिताः॥ २

सूतजी कहने लगे—तदनन्तर महाराज परीक्षित्‌ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) से हजारों बड़े-बड़े सेठोंको बुलवाकर मथुरामें रहनेकी जगह दी॥ २॥

माथुरान् ब्राह्मणांस्तत्र वानरांश्च पुरातनान्।
विज्ञाय माननीयत्वं तेषु स्थापितवान् स्वराट्॥ ३

वज्रस्तु तत्सहायेन शाण्डिल्यस्याप्यनुग्रहात्।
गोविन्दगोपगोपीनां लीलास्थानान्यनुक्रमात्॥ ४

विज्ञायाभिधयाऽऽस्थाप्य ग्रामानावासयद् बहून्।
कुण्डकूपादिपूर्तेन शिवादिस्थापनेन च॥ ५

गोविन्दहरिदेवादिस्वरूपारोपणेन च।
कृष्णैकभक्तिं स्वे राज्ये ततान च मुमोद ह॥ ६

प्रजास्तु मुदितास्तस्य कृष्णकीर्तनतत्पराः।
परमानन्दसम्पन्ना राज्यं तस्यैव तुष्टुवुः॥ ७

एकदा कृष्णपत्न्यस्तु श्रीकृष्णविरहातुराः।
कालिन्दीं मुदितां वीक्ष्य पप्रच्छुर्गतमत्सराः॥ ८

श्रीकृष्णपत्न्य ऊचुः

यथा वयं कृष्णपत्न्यस्तथा त्वमपि शोभने।
वयं विरहदुःखार्तास्त्वं न कालिन्दि तद् वद॥ ९

इनके अतिरिक्त सम्राट् परीक्षित्‌ने मथुरामण्डलके ब्राह्मणों तथा प्राचीन वानरोंको, जो भगवान्‌के बड़े ही प्रेमी थे, बुलवाया और उन्हें आदरके योग्य समझकर मथुरा नगरीमें बसाया॥ ३॥ इस प्रकार राजा परीक्षित्‌की सहायता और महर्षि शाण्डिल्यकी कृपासे वज्रनाभने क्रमशः उन सभी स्थानोंकी खोज की, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी गोप-गोपियोंके साथ नाना प्रकारकी लीलाएँ करते थे। लीला-स्थानोंका ठीक-ठीक निश्चय हो जानेपर उन्होंने वहाँ-वहाँकी लीलाके अनुसार उस-उस स्थानका नामकरण किया, भगवान्‌के लीलाविग्रहोंकी स्थापना की तथा उन-उन स्थानोंपर अनेकों गाँव बसाये। स्थान-स्थानपर भगवान्‌के नामसे कुण्ड और कुएँ खुदवाये। कुंज और बगीचे लगवाये, शिव आदि देवताओंकी स्थापना की॥ ४-५॥ गोविन्ददेव, हरिदेव आदि नामोंसे भगवद्विग्रह स्थापित किये। इन सब शुभ कर्मोंके द्वारा वज्रनाभने अपने राज्यमें सब ओर एकमात्र श्रीकृष्णभक्तिका प्रचार किया और बड़े ही आनन्दित हुए॥ ६॥ उनके प्रजाजनोंको भी बड़ा आनन्द था, वे सदा भगवान्‌के मधुर नाम तथा लीलाओंके कीर्तनमें संलग्न हो परमानन्दके समुद्रमें डूबे रहते थे और सदा ही वज्रनाभके राज्यकी प्रशंसा किया करते थे॥ ७॥

एक दिन भगवान् श्रीकृष्णकी विरह-वेदनासे व्याकुल सोलह हजार रानियाँ अपने प्रियतम पतिदेवकी चतुर्थ पटरानी कालिन्दी (यमुनाजी) को आनन्दित देखकर सरलभावसे उनसे पूछने लगीं। उनके मनमें सौतियाडाहका लेशमात्र भी नहीं था॥ ८॥

श्रीकृष्णकी रानियोंने कहा—बहिन कालिन्दी! जैसे हम सब श्रीकृष्णकी धर्मपत्नी हैं, वैसे ही तुम भी तो हो। हम तो उनकी विरहाग्निमें जली जा रही हैं, उनके वियोग-दुःखसे हमारा हृदय व्यथित हो रहा है; किन्तु तुम्हारी यह स्थिति नहीं है, तुम प्रसन्न हो। इसका क्या कारण है? कल्याणी! कुछ बताओ तो सही॥ ९॥

तच्छ्रुत्वा स्मयमाना सा कालिन्दी वाक्यमब्रवीत्।
सापत्न्यं वीक्ष्य तत्तासां करुणापरमानसा॥ १०

उनका प्रश्न सुनकर यमुनाजी हँस पड़ीं। साथ ही यह सोचकर कि मेरे प्रियतमकी पत्नी होनेके कारण ये भी मेरी ही बहिनें हैं, पिघल गयीं; उनका रदय दयासे द्रवित हो उठा। अतः वे इस प्रकार कहने लगीं॥ १०॥

कालिन्द्युवाच

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।
तस्या दास्यप्रभावेण विरहोऽस्मान् न संस्पृशेत्॥ ११

यमुनाजीने कहा—अपनी आत्मामें ही रमण करनेके कारण भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं और उनकी आत्मा हैं—श्रीराधाजी। मैं दासीकी भाँति राधाजीकी सेवा करती रहती हूँ; उनकी सेवाका ही यह प्रभाव है कि विरह हमारा स्पर्श नहीं कर सकता॥ ११॥

तस्या एवांशविस्तारा: सर्वा: श्रीकृष्णनायिका:।
नित्यसम्भोग एवास्ति तस्या: साम्मुख्ययोगत:॥ १२

स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका।
श्रीकृष्णनखचन्द्रालिसंगाच्चन्द्रावली स्मृता॥ १३

रूपान्तरमगृह्णाना तयो: सेवातिलालसा।
रुक्मिण्यादिसमावेशो मयात्रैव विलोकित:॥ १४

युष्माकमपि कृष्णेन विरहो नैव सर्वत:।
किन्तु एवं न जानीथ तस्माद् व्याकुलतामिता:॥ १५

एवमेवात्र गोपीनामक्रूरावसरे पुरा।
विरहाभास एवासीदुद्धवेन समाहित:॥ १६

भगवान् श्रीकृष्णकी जितनी भी रानियाँ हैं, सब-की-सब श्रीराधाजीके ही अंशका विस्तार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण और राधा सदा एक-दूसरेके सम्मुख हैं, उनका परस्पर नित्य संयोग है; इसलिये राधाके स्वरूपमें अंशत: विद्यमान जो श्रीकृष्णकी अन्य रानियाँ हैं, उनको भी भगवान्‌का नित्य संयोग प्राप्त है॥ १२॥ श्रीकृष्ण ही राधा हैं और राधा ही श्रीकृष्ण हैं। उन दोनोंका प्रेम ही वंशी है। तथा राधाकी प्यारी सखी चन्द्रावली भी श्रीकृष्ण-चरणोंके नखरूपी चन्द्रमाओंकी सेवामें आसक्त रहनेके कारण ही 'चन्द्रावली' नामसे कही जाती है॥ १३॥ श्रीराधा और श्रीकृष्णकी सेवामें उसकी बड़ी लालसा, बड़ी लगन है; इसीलिये वह कोई दूसरा स्वरूप धारण नहीं करती। मैंने यहीं श्रीराधामें ही रुक्मिणी आदिका समावेश देखा है॥ १४॥ तुमलोगोंका भी सर्वांशमें श्रीकृष्णके साथ वियोग नहीं हुआ है, किन्तु तुम इस रहस्यको इस रूपमें जानती नहीं हो, इसीलिये इतनी व्याकुल हो रही हो॥ १५॥ इसी प्रकार पहले भी जब अक्रूर श्रीकृष्णको नन्दगाँवसे मथुरामें ले आये थे, उस अवसरपर जो गोपियोंको श्रीकृष्णसे विरहकी प्रतीति हुई थी, वह भी वास्तविक विरह नहीं, केवल विरहका आभास था। इस बातको जबतक वे नहीं जानती थीं, तबतक उन्हें बड़ा कष्ट था; फिर जब उद्धवजीने आकर उनका समाधान किया, तब वे इस बातको समझ सकीं॥ १६॥

तेनैव भवतीनां चेद् भवेदत्र समागमः।
तर्हि नित्यं स्वकान्तेन विहारमपि लप्स्यथ॥ १७

यदि तुम्हें भी उद्धवजीका सत्संग प्राप्त हो जाय, तो तुम सब भी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ नित्यविहारका सुख प्राप्त कर लोगी॥ १७॥

सूत उवाच

एवमुक्तास्तु ताः पत्न्यः प्रसन्नां पुनरब्रुवन्।
उद्धवालोकनेनात्मप्रेष्ठसंगमलालसाः॥ १८

सूतजी कहते हैं— ऋषिगण! जब उन्होंने इस प्रकार समझाया, तब श्रीकृष्णकी पत्नियाँ सदा प्रसन्न रहनेवाली यमुनाजीसे पुनः बोलीं। उस समय उनके हृदयमें इस बातकी बड़ी लालसा थी कि किसी उपायसे उद्धवजीका दर्शन हो, जिससे हमें अपने प्रियतमके नित्य संयोगका सौभाग्य प्राप्त हो सके॥ १८॥

श्रीकृष्णपत्न्य ऊचुः

धन्यासि सखि कान्तेन यस्या नैवास्ति विच्युतिः।
यतस्ते स्वार्थसंसिद्धिस्तस्या दास्यो बभूविम॥ १९

परन्तूद्धवलाभे स्यादस्मत्सर्वार्थसाधनम्।
तथा वदस्व कालिन्दि तल्लाभोऽपि यथा भवेत्॥ २०

श्रीकृष्णपत्नियोंने कहा— सखी! तुम्हारा ही जीवन धन्य है; क्योंकि तुम्हें कभी भी अपने प्राणनाथके वियोगका दुःख नहीं भोगना पड़ता। जिन श्रीराधिकाजीकी कृपासे तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हुई है, उनकी अब हमलोग भी दासी हुईं॥ १९॥ किन्तु तुम अभी कह चुकी हो कि उद्धवजीके मिलनेपर ही हमारे सभी मनोरथ पूर्ण होंगे; इसलिये कालिन्दी! अब ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे उद्धवजी भी शीघ्र ही मिल जायँ॥ २०॥

सूत उवाच

एवमुक्ता तु कालिन्दी प्रत्युवाचाथ तास्तथा।
स्मरन्ती कृष्णचन्द्रस्य कलाः षोडशरूपिणीः॥ २१

साधनभूमिर्बदरी व्रजता कृष्णेन मन्त्रिणे प्रोक्ता।
तत्रास्ते स तु साक्षात्तद्वयुनं ग्राहयँल्लोकान्॥ २२

फलभूमिर्व्रजभूमिर्दत्ता तस्मै पुरैव सरहस्यम्।
फलमिह तिरोहितं सत्तदिहेदानीं स उद्धवोऽलक्ष्यः॥ २३

सूतजी कहते हैं— श्रीकृष्णकी रानियोंने जब यमुनाजीसे इस प्रकार कहा, तब वे भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रकी सोलह कलाओंका चिन्तन करती हुई उनसे कहने लगीं॥ २१॥ ''जब भगवान् श्रीकृष्ण अपने परमधामको पधारने लगे, तब उन्होंने अपने मन्त्री उद्धवसे कहा—'उद्धव! साधना करनेकी भूमि है बदरिकाश्रम, अतः अपनी साधना पूर्ण करनेके लिये तुम वहीं जाओ।' भगवान्की इस आज्ञाके अनुसार उद्धवजी इस समय अपने साक्षात् स्वरूपसे बदरिकाश्रममें विराजमान हैं और वहाँ जानेवाले जिज्ञासु लोगोंको भगवान्के बताये हुए ज्ञानका उपदेश करते रहते हैं॥ २२॥ साधनकी फलरूपा भूमि है—व्रजभूमि; इसे भी इसके रहस्योंसहित भगवान्ने पहले ही उद्धवको दे दिया था। किन्तु वह फलभूमि यहाँसे भगवान्के अन्तर्धान होनेके साथ ही स्थूल दृष्टिसे परे जा चुकी है; इसीलिये इस समय यहाँ उद्धव प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पड़ते॥ २३॥

गोवर्द्धनगिरिनिकटे सखीस्थले तद्रजःकामः।
तत्रत्यांकुरवल्लीरूपेणास्ते स उद्धवो नूनम्॥ २४

आत्मोत्सवरूपत्वं हरिणा तस्मै समर्पितं नियतम्।
तस्मात्तत्र स्थित्वा कुसुमसरःपरिसरे सवज्राभिः॥ २५

वीणावेणुमृदङ्गैः कीर्तनकाव्यादिसरससंगीतैः।
उत्सव आरब्धव्यो हरिरतलोकान् समानाय्य॥ २६

तत्रोद्धवावलोको भविता नियतं महोत्सवे वितते।
यौष्माकीणामभिमतसिद्धिं सविता स एव सवितानाम्॥ २७

सूत उवाच

इति श्रुत्वा प्रसन्नास्ताः कालिन्दीमभिवन्द्य तत्।
कथयामासुरागत्य वज्रं प्रति परीक्षितम्॥ २८

विष्णुरातस्तु तच्छ्रुत्वा प्रसन्नस्तद्युतस्तदा।
तत्रैवागत्य तत् सर्वं कारयामास सत्वरम्॥ २९

गोवर्द्धनाददूरेण वृन्दारण्ये सखीस्थले।
प्रवृत्तः कुसुमाम्भोधौ कृष्णसंकीर्तनोत्सवः॥ ३०

वृषभानुसुताकान्तविहारे कीर्तनश्रिया।
साक्षादिव समावृत्ते सर्वेऽनन्यदृशोऽभवन्॥ ३१

फिर भी एक स्थान है, जहाँ उद्धवजीका दर्शन हो सकता है। गोवर्धन पर्वतके निकट भगवान्‌की लीला-सहचरी गोपियोंकी विहार-स्थली है; वहाँकी लता, अंकुर और बेलोंके रूपमें अवश्य ही उद्धवजी वहाँ निवास करते हैं। लताओंके रूपमें उनके रहनेका यही उद्देश्य है कि भगवान्‌की प्रियतमा गोपियोंकी चरणरज उनपर पड़ती रहे॥ २४॥ उद्धवजीके सम्बन्धमें एक निश्चित बात यह भी है कि उन्हें भगवान्‌ने अपना उत्सव-स्वरूप प्रदान किया है। भगवान्‌का उत्सव उद्धवजीका अंग है, वे उससे अलग नहीं रह सकते; इसलिये अब तुमलोग वज्रनाभको साथ लेकर वहाँ जाओ और कुसुमसरोवरके पास ठहरो॥ २५॥ भगवद्भक्तोंकी मण्डली एकत्र करके वीणा, वेणु और मृदंग आदि बाजोंके साथ भगवान्‌के नाम और लीलाओंके कीर्तन, भगवत्सम्बन्धी काव्य-कथाओंके श्रवण तथा भगवद्गुण-गानसे युक्त सरस संगीतोंद्वारा महान् उत्सव आरम्भ करो॥ २६॥ इस प्रकार जब उस महान् उत्सवका विस्तार होगा, तब निश्चय है कि वहाँ उद्धवजीका दर्शन मिलेगा। वे ही भलीभाँति तुम सब लोगोंके मनोरथ पूर्ण करेंगे''॥ २७॥

सूतजी कहते हैं—यमुनाजीकी बतायी हुई बातें सुनकर श्रीकृष्णकी रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने यमुनाजीको प्रणाम किया और वहाँसे लौट-कर वज्रनाभ तथा परीक्षित्‌से वे सारी बातें कह सुनायीं॥ २८॥ सब बातें सुनकर परीक्षित्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वज्रनाभ तथा श्रीकृष्णपत्नियोंको उसी समय साथ ले उस स्थानपर पहुँचकर तत्काल वह सब कार्य आरम्भ करवा दिया, जो कि यमुनाजीने बताया था॥ २९॥

गोवर्धनके निकट वृन्दावनके भीतर कुसुम-सरोवरपर जो सखियोंकी विहारस्थली है, वहाँ ही श्रीकृष्णकीर्तनका उत्सव आरम्भ हुआ॥ ३०॥ वृषभानु-नन्दिनी श्रीराधाजी तथा उनके प्रियतम श्रीकृष्णकी वह लीलाभूमि जब साक्षात् संकीर्तनकी शोभासे सम्पन्न हो गयी, उस समय वहाँ रहनेवाले सभी भक्तजन एकाग्र हो गये; उनकी दृष्टि, उनके मनकी वृत्ति कहीं अन्यत्र न जाती थी॥ ३१॥

ततः पश्यत्सु सर्वेषु तृणगुल्मलताचयात्।
आजगामोद्धवः स्रग्वी श्यामः पीताम्बरावृतः॥ ३२
गुंजामालाधरो गायन् वल्लवीवल्लभं मुहुः।
तदागमनतो रेजे भृशं संकीर्तनोत्सवः॥ ३३
चन्द्रिकागमतो यद्वत् स्फाटिकाट्टालभूमणिः।
अथ सर्वे सुखाम्भोधौ मग्नाः सर्वं विसस्मरुः॥ ३४
क्षणेनागतविज्ञाना दृष्ट्वा श्रीकृष्णरूपिणम्।
उद्धवं पूजयांचक्रुः प्रतिलब्धमनोरथाः॥ ३५

तदनन्तर सबके देखते-देखते वहाँ फैले हुए तृण, गुल्म और लताओंके समूहसे प्रकट होकर श्रीउद्धवजी सबके सामने आये। उनका शरीर श्याम-वर्ण था, उसपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। वे गलेमें वनमाला और गुंजाकी माला धारण किये हुए थे तथा मुखसे बारंबार गोपीवल्लभ श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका गान कर रहे थे। उद्धवजीके आगमनसे उस संकीर्तनोत्सवकी शोभा कई गुनी बढ़ गयी। जैसे स्फटिकमणिकी बनी हुई अट्टालिकाकी छतपर चाँदनी छिटकनेसे उसकी शोभा बहुत बढ़ जाती है। उस समय सभी लोग आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो अपना सब कुछ भूल गये, सुध-बुध खो बैठे॥ ३२—३४॥

थोड़ी देर बाद जब उनकी चेतना दिव्य लोकसे नीचे आयी, अर्थात् जब उन्हें होश हुआ तब उद्धवजीको भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपमें उपस्थित देख, अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेके कारण प्रसन्न हो, वे उनकी पूजा करने लगे॥ ३५॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये गोवर्धनपर्वतसमीपे परीक्षिदादीनामुद्धव-दर्शनवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतकी परम्परा और उसका माहात्म्य, भागवतश्रवणसे श्रोताओंको भगवद्धामकी प्राप्ति

सूत उवाच

अथोद्धवस्तु तान् दृष्ट्वा कृष्णकीर्तनतत्परान्।
सत्कृत्याथ परिष्वज्य परीक्षितमुवाच ह॥ १

सूतजी कहते हैं—उद्धवजीने वहाँ एकत्र हुए सब लोगोंको श्रीकृष्णकीर्तनमें लगा देखकर सभीका सत्कार किया और राजा परीक्षित्को हृदयसे लगाकर कहा॥ १॥

उद्धव उवाच

धन्योऽसि राजन् कृष्णैकभक्त्या पूर्णोऽसि नित्यदा।
यस्त्वं निमग्नचित्तोऽसि कृष्णसंकीर्तनोत्सवे॥ २

उद्धवजीने कहा—राजन्! तुम धन्य हो, एक-मात्र श्रीकृष्णकी भक्तिसे ही पूर्ण हो! क्योंकि श्रीकृष्ण-संकीर्तनके महोत्सवमें तुम्हारा हृदय इस प्रकार निमग्न हो रहा है॥ २॥

कृष्णपत्नीषु वज्रे च दिष्ट्या प्रीतिः प्रवर्तिता।
तवोचितमिदं तात कृष्णदत्तांगवैभव॥ ३

द्वारकास्थेषु सर्वेषु धन्या एते न संशयः।
येषां व्रजनिवासाय पार्थमादिष्टवान् प्रभुः॥ ४

श्रीकृष्णस्य मनश्चन्द्रो राधास्यप्रभयान्वितः।
तद्विहारवनं गोभिर्मण्डयन् रोचते सदा॥ ५

कृष्णचन्द्रः सदा पूर्णस्तस्य षोडश याः कलाः।
चित्सहस्रप्रभाभिन्ना अत्रास्ते तत्स्वरूपता॥ ६

एवं वज्रस्तु राजेन्द्र प्रपन्नभयभंजकः।
श्रीकृष्णदक्षिणे पादे स्थानमेतस्य वर्तते॥ ७

अवतारेऽत्र कृष्णेन योगमायातिभाविताः।
तद्बलेनात्मविस्मृत्या सीदन्त्येते न संशयः॥ ८

ऋते कृष्णप्रकाशं तु स्वात्मबोधो न कस्यचित्।
तत्प्रकाशस्तु जीवानां मायया पिहितः सदा॥ ९

अष्टाविंशे द्वापरान्ते स्वयमेव यदा हरिः।
उत्सारयेन्निजां मायां तत्प्रकाशो भवेत्तदा॥ १०

बड़े सौभाग्यकी बात है कि श्रीकृष्णकी पत्नियोंके प्रति तुम्हारी भक्ति और वज्रनाभपर तुम्हारा प्रेम है। तात! तुम जो कुछ कर रहे हो, सब तुम्हारे अनुरूप ही है। क्यों न हो, श्रीकृष्णने ही तुम्हें शरीर और वैभव प्रदान किया है; अतः तुम्हारा उनके प्रपौत्रपर प्रेम होना स्वाभाविक ही है॥ ३॥ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समस्त द्वारकावासियोंमें ये लोग सबसे बढ़कर धन्य हैं, जिन्हें व्रजमें निवास करानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको आज्ञा की थी॥ ४॥ श्रीकृष्णका मनरूपी चन्द्रमा राधाके मुखकी प्रभारूप चाँदनीसे युक्त हो उनकी लीलाभूमि वृन्दावनको अपनी किरणोंसे सुशोभित करता हुआ यहाँ सदा प्रकाशमान रहता है॥ ५॥ श्रीकृष्णचन्द्र नित्य परिपूर्ण हैं, प्राकृत चन्द्रमाकी भाँति उनमें वृद्धि और क्षयरूप विकार नहीं होते। उनकी जो सोलह कलाएँ हैं, उनसे सहस्रों चिन्मय किरणें निकलती रहती हैं; इससे उनके सहस्रों भेद हो जाते हैं। इन सभी कलाओंसे युक्त, नित्य परिपूर्ण श्रीकृष्ण इस व्रजभूमिमें सदा ही विद्यमान रहते हैं; इस भूमिमें और उनके स्वरूपमें कुछ अन्तर नहीं है॥ ६॥ राजेन्द्र परीक्षित्! इस प्रकार विचार करनेपर सभी व्रजवासी भगवान्‌के अंगमें स्थित हैं। शरणागतोंका भय दूर करनेवाले जो ये वज्र हैं, इनका स्थान श्रीकृष्णके दाहिने चरणमें है॥ ७॥ इस अवतारमें भगवान् श्रीकृष्णने इन सबको अपनी योगमायासे अभिभूत कर लिया है, उसीके प्रभावसे ये अपने स्वरूपको भूल गये हैं और इसी कारण सदा दुःखी रहते हैं। यह बात निस्सन्देह ऐसी ही है॥ ८॥ श्रीकृष्णका प्रकाश प्राप्त हुए बिना किसीको भी अपने स्वरूपका बोध नहीं हो सकता। जीवोंके अन्तः-करणमें जो श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश है, उसपर सदा मायाका पर्दा पड़ा रहता है॥ ९॥ अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही सामने प्रकट होकर अपनी मायाका पर्दा उठा लेते हैं, उस समय जीवोंको उनका प्रकाश प्राप्त होता है॥ १०॥

स तु कालो व्यतिक्रान्तस्तेनेदमपरं शृणु।
अन्यदा तत्प्रकाशस्तु श्रीमद्भागवताद् भवेत्॥ ११

किन्तु अब वह समय तो बीत गया; इसलिये उनके प्रकाशकी प्राप्तिके लिये अब दूसरा उपाय बतलाया जा रहा है, सुनो। अट्ठाईसवें द्वापरके अतिरिक्त समयमें यदि कोई श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश पाना चाहे तो उसे वह श्रीमद्भागवतसे ही प्राप्त हो सकता है॥ ११॥

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं यत्र भागवतैर्यदा।
कीर्त्यते श्रूयते चापि श्रीकृष्णस्तत्र निश्चितम्॥ १२

भगवान्‌के भक्त जहाँ जब कभी श्रीमद्भागवत शास्त्रका कीर्तन और श्रवण करते हैं, वहाँ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् रूपसे विराजमान रहते हैं॥ १२॥

श्रीमद्भागवतं यत्र श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च।
तत्रापि भगवान् कृष्णो बल्लवीभिर्विराजते॥ १३

जहाँ श्रीमद्भागवतके एक या आधे श्लोकका ही पाठ होता है, वहाँ भी श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा गोपियोंके साथ विद्यमान रहते हैं॥ १३॥

भारते मानवं जन्म प्राप्य भागवतं न यैः।
श्रुतं पापपराधीनैरात्मघातस्तु तैः कृतः॥ १४

इस पवित्र भारतवर्षमें मनुष्यका जन्म पाकर भी जिन लोगोंने पापके अधीन होकर श्रीमद्भागवत नहीं सुना, उन्होंने मानो अपने ही हाथों अपनी हत्या कर ली॥ १४॥

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं नित्यं यैः परिसेवितम्।
पितुर्मातुश्च भार्यायाः कुलपङ्क्तिः सुतारिता॥ १५

जिन बड़भागियोंने प्रतिदिन श्रीमद्भागवत शास्त्रका सेवन किया है, उन्होंने अपने पिता, माता और पत्नी—तीनोंके ही कुलका भलीभाँति उद्धार कर दिया॥ १५॥

विद्याप्रकाशो विप्राणां राज्ञां शत्रुजयो विशाम्।
धनं स्वास्थ्यं च शूद्राणां श्रीमद्भागवताद् भवेत्॥ १६

श्रीमद्भागवतके स्वाध्याय और श्रवणसे ब्राह्मणोंको विद्याका प्रकाश (बोध) प्राप्त होता है, क्षत्रियलोग शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वैश्योंको धन मिलता है और शूद्र स्वस्थ—नीरोग बने रहते हैं॥ १६॥

योषितामपरेषां च सर्ववांछितपूरणम्।
अतो भागवतं नित्यं को न सेवेत भाग्यवान्॥ १७

स्त्रियों तथा अन्त्यज आदि अन्य लोगोंकी भी इच्छा श्रीमद्भागवतसे पूर्ण होती है; अतः कौन ऐसा भाग्यवान् पुरुष है, जो श्रीमद्भागवतका नित्य ही सेवन न करेगा॥ १७॥

अनेकजन्मसंसिद्धः श्रीमद्भागवतं लभेत्।
प्रकाशो भगवद्भक्तेरुद्भवस्तत्र जायते॥ १८

अनेकों जन्मोंतक साधना करते-करते जब मनुष्य पूर्ण सिद्ध हो जाता है, तब उसे श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति होती है। भागवतसे भगवान्‌का प्रकाश मिलता है, जिससे भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है॥ १८॥

सांख्यायनप्रसादाप्तं श्रीमद्भागवतं पुरा।
बृहस्पतिर्दत्तवान् मे तेनाहं कृष्णवल्लभः॥ १९

पूर्वकालमें सांख्यायनकी कृपासे श्रीमद्भागवत बृहस्पतिजीको मिला और बृहस्पतिजीने मुझे दिया; इसीसे मैं श्रीकृष्णका प्रियतम सखा हो सका हूँ॥ १९॥

आख्यायिकां च तेनोक्तां विष्णुरात निबोध ताम्।
ज्ञायते सम्प्रदायोऽपि यत्र भागवतश्रुतेः॥ २०

परीक्षित्! बृहस्पतिजीने मुझे एक आख्यायिका भी सुनायी थी, उसे तुम सुनो। इस आख्यायिकासे श्रीमद्भागवतश्रवणके सम्प्रदायका क्रम भी जाना जा सकता है॥ २०॥

बृहस्पतिरुवाच

ईक्षांचक्रे यदा कृष्णो मायापुरुषरूपधृक्।
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चापि रजःसत्त्वतमोगुणैः॥ २१

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरधिकारांस्तदादिशत्।
उत्पत्तौ पालने चैव संहारे प्रक्रमेण तान्॥ २२

ब्रह्मा तु नाभिकमलादुत्पन्नस्तं व्यजिज्ञपत्।

बृहस्पतिजीने कहा था—अपनी मायासे पुरुषरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने जब सृष्टिके लिये संकल्प किया, तब उनके दिव्य विग्रहसे तीन पुरुष प्रकट हुए। इनमें रजोगुणकी प्रधानतासे ब्रह्मा, सत्त्वगुणकी प्रधानतासे विष्णु और तमोगुणकी प्रधानतासे रुद्र प्रकट हुए। भगवान्ने इन तीनोंको क्रमशः जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेका अधिकार प्रदान किया॥ २१-२२॥ तब भगवान्के नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीने उनसे अपना मनोभाव यों प्रकट किया।

ब्रह्मोवाच

नारायणादिपुरुष परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥ २३

त्वया सर्गे नियुक्तोऽस्मि पापीयान् मां रजोगुणः।
त्वत्स्मृतौ नैव बाधेत तथैव कृपया प्रभो॥ २४

ब्रह्माजीने कहा—परमात्मन्! आप नार अर्थात् जलमें शयन करनेके कारण 'नारायण' नामसे प्रसिद्ध हैं, सबके आदि कारण होनेसे आदिपुरुष हैं; आपको नमस्कार है॥ २३॥ प्रभो! आपने मुझे सृष्टिकर्ममें लगाया है, मगर मुझे भय है कि सृष्टिकालमें अत्यन्त पापात्मा रजोगुण आपकी स्मृतिमें कहीं बाधा न डालने लग जाय। अतः कृपा करके ऐसी कोई बात बतायें, जिससे आपकी याद बराबर बनी रहे॥ २४॥

बृहस्पतिरुवाच

यदा तु भगवांस्तस्मै श्रीमद्भागवतं पुरा।
उपदिश्याब्रवीद् ब्रह्मन् सेवस्वैनत् स्वसिद्धये॥ २५

बृहस्पतिजी कहते हैं—जब ब्रह्माजीने ऐसी प्रार्थना की, तब पूर्वकालमें भगवान्ने उन्हें श्रीमद्भागवतका उपदेश देकर कहा—'ब्रह्मन्! तुम अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये सदा ही इसका सेवन करते रहो'॥ २५॥

ब्रह्मा तु परमप्रीतस्तेन कृष्णाप्तयेऽनिशम्।
सप्तावरणभंगाय सप्ताहं समवर्तयत्॥ २६

ब्रह्माजी श्रीमद्भागवतका उपदेश पाकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीकृष्णकी नित्य प्राप्तिके लिये तथा सात आवरणोंका भंग करनेके लिये श्रीमद्भागवतका सप्ताहपारायण किया॥ २६॥

श्रीभागवतसप्ताहसेवनाप्तमनोरथः ।
सृष्टिं वितनुते नित्यं ससप्ताहः पुनः पुनः॥ २७

सप्ताहयज्ञकी विधिसे सात दिनोंतक श्रीमद्भागवतका सेवन करनेसे ब्रह्माजीके सभी मनोरथ पूर्ण हो गये। इससे वे सदा भगवत्स्मरणपूर्वक सृष्टिका विस्तार करते और बारंबार सप्ताहयज्ञका अनुष्ठान करते रहते हैं॥ २७॥

विष्णुरप्यर्थयामास पुमांसं स्वार्थसिद्धये।
प्रजानां पालने पुंसा यदनेनापि कल्पितः॥ २८

विष्णुरुवाच

प्रजानां पालनं देव करिष्यामि यथोचितम्।
प्रवृत्त्या च निवृत्त्या च कर्मज्ञानप्रयोजनात्॥ २९

यदा यदैव कालेन धर्मग्लानिर्भविष्यति।
धर्मं संस्थापयिष्यामि ह्यवतारैस्तदा तदा॥ ३०

भोगार्थिभ्यस्तु यज्ञादिफलं दास्यामि निश्चितम्।
मोक्षार्थिभ्यो विरक्तेभ्यो मुक्तिं पञ्चविधां तथा॥ ३१

येऽपि मोक्षं न वाञ्छन्ति तान् कथं पालयाम्यहम्।
आत्मानं च श्रियं चापि पालयामि कथं वद॥ ३२

तस्मा अपि पुमानाद्यः श्रीभागवतमादिशत्।
उवाच च पठस्वैनत्तव सर्वार्थसिद्धये॥ ३३

ततो विष्णुः प्रसन्नात्मा परमार्थकपालने।
समर्थोऽभूच्छ्रिया मासि मासि भागवतं स्मरन्॥ ३४

यदा विष्णुः स्वयं वक्ता लक्ष्मीश्च श्रवणे रता।
तदा भागवतश्रावो मासेनैव पुनः पुनः॥ ३५

यदा लक्ष्मीः स्वयं वक्त्री विष्णुश्च श्रवणे रतः।
मासद्वयं रसास्वादस्तदातीव सुशोभते॥ ३६

ब्रह्माजीकी ही भाँति विष्णुने भी अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये उन परमपुरुष परमात्मासे प्रार्थना की; क्योंकि उन पुरुषोत्तमने विष्णुको भी प्रजा-पालनरूप कर्ममें नियुक्त किया था॥ २८॥

विष्णुने कहा—देव! मैं आपकी आज्ञाके अनुसार कर्म और ज्ञानके उद्देश्यसे प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा यथोचित रूपसे प्रजाओंका पालन करूँगा॥ २९॥ कालक्रमसे जब-जब धर्मकी हानि होगी, तब-तब अनेकों अवतार धारण कर पुनः धर्मकी स्थापना करूँगा॥ ३०॥ जो भोगोंकी इच्छा रखनेवाले हैं, उन्हें अवश्य ही उनके किये हुए यज्ञादि कर्मोंका फल अर्पण करूँगा; तथा जो संसारबन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, विरक्त हैं, उन्हें उनके इच्छानुसार पाँच प्रकारकी मुक्ति भी देता रहूँगा॥ ३१॥ परन्तु जो लोग मोक्ष भी नहीं चाहते, उनका पालन मैं कैसे करूँगा—यह बात समझमें नहीं आती। इसके अतिरिक्त मैं अपनी तथा लक्ष्मीजीकी भी रक्षा कैसे कर सकूँगा, इसका उपाय भी बताइये॥ ३२॥

विष्णुकी यह प्रार्थना सुनकर आदिपुरुष श्रीकृष्णने उन्हें भी श्रीमद्भागवतका उपदेश किया और कहा—'तुम अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये इस श्रीमद्भागवत-शास्त्रका सदा पाठ किया करो'॥ ३३॥ उस उपदेशसे विष्णुभगवान्‌का चित्त प्रसन्न हो गया और वे लक्ष्मीजीके साथ प्रत्येक मासमें श्रीमद्भागवतका चिन्तन करने लगे। इससे वे परमार्थका पालन और यथार्थरूपसे संसारकी रक्षा करनेमें समर्थ हुए॥ ३४॥

जब भगवान् विष्णु स्वयं वक्ता होते हैं और लक्ष्मीजी प्रेमसे श्रवण करती हैं, उस समय प्रत्येक बार भागवतकथाका श्रवण एक मासमें ही समाप्त होता है॥ ३५॥

किन्तु जब लक्ष्मीजी स्वयं वक्ता होती हैं और विष्णु श्रोता बनकर सुनते हैं, तब भागवतकथाका रसास्वादन दो मासतक होता रहता है; उस समय कथा बड़ी सुन्दर, बहुत ही रुचिकर होती है॥ ३६॥

अधिकारे स्थितो विष्णुर्लक्ष्मीर्निश्चिन्तमानसा।
तेन भागवतास्वादस्तस्या भूरि प्रकाशते॥ ३७

अथ रुद्रोऽपि तं देवं संहाराधिकृतः पुरा।
पुमांसं प्रार्थयामास स्वसामर्थ्यविवृद्धये॥ ३८

रुद्र उवाच

नित्ये नैमित्तिके चैव संहारे प्राकृते तथा।
शक्तयो मम विद्यन्ते देवदेव मम प्रभो॥ ३९

आत्यन्तिके तु संहारे मम शक्तिर्न विद्यते।
महद्दुःखं ममैतत्तु तेन त्वां प्रार्थयाम्यहम्॥ ४०

बृहस्पतिरुवाच

श्रीमद्भागवतं तस्मा अपि नारायणो ददौ।
स तु संसेवनादस्य जिग्ये चापि तमोगुणम्॥ ४१

कथा भागवती तेन सेविता वर्षमात्रतः।
लये त्वात्यन्तिके तेनावाप शक्तिं सदाशिवः॥ ४२

उद्धव उवाच

श्रीभागवतमाहात्म्य इमामाख्यायिकां गुरोः।
श्रुत्वा भागवतं लब्ध्वा मुमुदेऽहं प्रणम्य तम्॥ ४३

ततस्तु वैष्णवीं रीतिं गृहीत्वा मासमात्रतः।
श्रीमद्भागवतास्वादो मया सम्यङ्निषेवितः॥ ४४

तावतैव बभूवाहं कृष्णस्य दयितः सखा।
कृष्णेनाथ नियुक्तोऽहं व्रजे स्वप्रेयसीगणे॥ ४५

विरहार्त्तासु गोपीषु स्वयं नित्यविहारिणा।
श्रीभागवतसन्देशो मन्मुखेन प्रयोजितः॥ ४६

इसका कारण यह है कि विष्णु तो अधिकारारूढ हैं, उन्हें जगत्‌के पालनकी चिन्ता करनी पड़ती है; पर लक्ष्मीजी इन झंझटोंसे अलग हैं, अतः उनका हृदय निश्चिन्त है। इसीसे लक्ष्मीजीके मुखसे भागवतकथाका रसास्वादन अधिक प्रकाशित होता है। इसके पश्चात् रुद्रने भी, जिन्हें भगवान्‌ने पहले संहारकार्यमें लगाया था, अपनी सामर्थ्यकी वृद्धिके लिये उन परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की॥ ३७-३८॥

रुद्रने कहा—मेरे प्रभु देवदेव! मुझमें नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत संहारकी शक्तियाँ तो हैं, पर आत्यन्तिक संहारकी शक्ति बिलकुल नहीं है। यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात है। इसी कमीकी पूर्तिके लिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ॥ ३९-४०॥

बृहस्पतिजी कहते हैं—रुद्रकी प्रार्थना सुनकर नारायणने उन्हें भी श्रीमद्भागवतका ही उपदेश किया। सदाशिव रुद्रने एक वर्षमें एक पारायणके क्रमसे भागवतकथाका सेवन किया। इसके सेवनसे उन्होंने तमोगुणपर विजय पायी और आत्यन्तिक संहार (मोक्ष) की शक्ति भी प्राप्त कर ली॥ ४१-४२॥

उद्धवजी कहते हैं—श्रीमद्भागवतके माहात्म्यके सम्बन्धमें यह आख्यायिका मैंने अपने गुरु श्रीबृहस्पतिजीसे सुनी और उनसे भागवतका उपदेश प्राप्त कर उनके चरणोंमें प्रणाम करके मैं बहुत ही आनन्दित हुआ॥ ४३॥ तत्पश्चात् भगवान् विष्णुकी रीति स्वीकार करके मैंने भी एक मासतक श्रीमद्भागवतकथाका भलीभाँति रसास्वादन किया॥ ४४॥ उतनेसे ही मैं भगवान् श्रीकृष्णका प्रियतम सखा हो गया। इसके पश्चात् भगवान्‌ने मुझे व्रजमें अपनी प्रियतमा गोपियोंकी सेवामें नियुक्त किया॥ ४५॥ यद्यपि भगवान् अपने लीलापरिकरोंके साथ नित्य विहार करते रहते हैं, इसलिये गोपियोंका श्रीकृष्णसे कभी भी वियोग नहीं होता; तथापि जो भ्रमसे विरहवेदनाका अनुभव कर रही थीं, उन गोपियोंके प्रति भगवान्‌ने मेरे मुखसे भागवतका सन्देश कहलाया॥ ४६॥

तं यथामति लब्ध्वा ता आसन् विरहवर्जिताः।
नाज्ञासिषं रहस्यं तच्चमत्कारस्तु लोकितः॥ ४७

उस सन्देशको अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण कर गोपियाँ तुरन्त ही विरहवेदनासे मुक्त हो गयीं। मैं भागवतके इस रहस्यको तो नहीं समझ सका, किन्तु मैंने उसका चमत्कार प्रत्यक्ष देखा॥ ४७॥

स्वर्वासं प्रार्थ्य कृष्णं च ब्रह्माद्येषु गतेषु मे।
श्रीमद्भागवते कृष्णस्तद्रहस्यं स्वयं ददौ॥ ४८

पुरतोऽश्वत्थमूलस्य चकार मयि तद् दृढम्।
तेनात्र व्रजवल्लीषु वसामि बदरीं गतः॥ ४९

इसके बहुत समयके बाद जब ब्रह्मादि देवता आकर भगवान्से अपने परमधाममें पधारनेकी प्रार्थना करके चले गये, उस समय पीपलके वृक्षकी जड़के पास अपने सामने खड़े हुए मुझे भगवान्ने श्रीमद्भागवत-विषयक उस रहस्यका स्वयं ही उपदेश किया और मेरी बुद्धिमें उसका दृढ़ निश्चय करा दिया। उसीके प्रभावसे मैं बदरिकाश्रममें रहकर भी यहाँ व्रजकी लताओं और बेलोंमें निवास करता हूँ॥ ४८-४९॥

तस्मान्नारदकुण्डेऽत्र तिष्ठामि स्वेच्छया सदा।
कृष्णप्रकाशो भक्तानां श्रीमद्भागवताद् भवेत्॥ ५०

उसीके बलसे यहाँ नारदकुण्डपर सदा स्वेच्छानुसार विराजमान रहता हूँ। भगवान्के भक्तोंको श्रीमद्भागवतके सेवनसे श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश प्राप्त हो सकता है॥ ५०॥

तदेषामपि कार्यार्थं श्रीमद्भागवतं त्वहम्।
प्रवक्ष्यामि सहायोऽत्र त्वयैवानुष्ठितो भवेत्॥ ५१

इस कारण यहाँ उपस्थित हुए इन सभी भक्तजनोंके कार्यकी सिद्धिके लिये मैं श्रीमद्भागवतका पाठ करूँगा; किन्तु इस कार्यमें तुम्हें ही सहायता करनी पड़ेगी॥ ५१॥

सूत उवाच

विष्णुरातस्तु श्रुत्वा तदुद्धवं प्रणतोऽब्रवीत्।

सूतजी कहते हैं—यह सुनकर राजा परीक्षित् उद्धवजीको प्रणाम करके उनसे बोले।

परीक्षिदुवाच

हरिदास त्वया कार्यं श्रीभागवतकीर्तनम्॥ ५२
आज्ञाप्योऽहं यथा कार्यः सहायोऽत्र मया तथा।

परीक्षित्ने कहा—हरिदास उद्धवजी! आप निश्चिन्त होकर श्रीमद्भागवतकथाका कीर्तन करें॥ ५२॥ इस कार्यमें मुझे जिस प्रकारकी सहायता करनी आवश्यक हो, उसके लिये आज्ञा दें।

सूत उवाच

श्रुत्वैतदुद्धवो वाक्यमुवाच प्रीतमानसः॥ ५३

सूतजी कहते हैं—परीक्षित्का यह वचन सुनकर उद्धवजी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और बोले॥ ५३॥

उद्धव उवाच

श्रीकृष्णेन परित्यक्ते भूतले बलवान् कलिः।
करिष्यति परं विघ्नं सत्कार्ये समुपस्थिते॥ ५४

उद्धवजीने कहा—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णने जबसे इस पृथ्वीतलका परित्याग कर दिया है, तबसे यहाँ अत्यन्त बलवान् कलियुगका प्रभुत्व हो गया है। जिस समय यह शुभ अनुष्ठान यहाँ आरम्भ हो जायगा, बलवान् कलियुग अवश्य ही इसमें बहुत बड़ा विघ्न डालेगा॥ ५४॥

तस्माद् दिग्विजयं याहि कलिनिग्रहमाचर।
अहं तु मासमात्रेण वैष्णवीं रीतिमास्थितः॥ ५५

श्रीमद्भागवतास्वादं प्रचार्य त्वत्सहायतः।
एतान् सम्प्रापयिष्यामि नित्यधाम्नि मधुद्विषः॥ ५६

इसलिये तुम दिग्विजयके लिये जाओ और कलियुगको जीतकर अपने वशमें करो। इधर मैं तुम्हारी सहायतासे वैष्णवी रीतिका सहारा लेकर एक महीनेतक यहाँ श्रीमद्भागवतकथाका रसास्वादन कराऊँगा और इस प्रकार भागवतकथाके रसका प्रसार करके इन सभी श्रोताओंको भगवान् मधुसूदनके नित्य गोलोकधाममें पहुँचाऊँगा॥ ५५-५६॥

सूत उवाच

श्रुत्वैवं तद्वचो राजा मुदितश्चिन्तयाऽऽतुरः।
तदा विज्ञापयामास स्वाभिप्रायं तमुद्धवम्॥ ५७

सूतजी कहते हैं—उद्धवजीकी बात सुनकर राजा परीक्षित् पहले तो कलियुगपर विजय पानेके विचारसे बड़े ही प्रसन्न हुए; परन्तु पीछे यह सोचकर कि मुझे भागवतकथाके श्रवणसे वंचित ही रहना पड़ेगा, चिन्तासे व्याकुल हो उठे। उस समय उन्होंने उद्धवजीसे अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया॥ ५७॥

परीक्षिदुवाच

कलिं तु निग्रहीष्यामि तात ते वचसि स्थितः।
श्रीभागवतसम्प्राप्तिः कथं मम भविष्यति॥ ५८

राजा परीक्षित्ने कहा—हे तात! आपकी आज्ञाके अनुसार तत्पर होकर मैं कलियुगको तो अवश्य ही अपने वशमें करूँगा, मगर श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति मुझे कैसे होगी॥ ५८॥

अहं तु समनुग्राह्यस्तव पादतले श्रितः।

सूत उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं भूयोऽप्युद्धवस्तमुवाच ह॥ ५९

मैं भी आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ, अतः मुझपर भी आपको अनुग्रह करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—उनके इस वचनको सुनकर उद्धवजी पुनः बोले॥ ५९॥

उद्धव उवाच

राजंश्चिन्ता तु ते कापि नैव कार्या कथंचन।
तवैव भगवच्छास्त्रे यतो मुख्याधिकारिता॥ ६०

एतावत्कालपर्यन्तं प्रायो भागवतश्रुतेः।
वार्तामपि न जानन्ति मनुष्याः कर्मतत्पराः॥ ६१

त्वत्प्रसादेन बहवो मनुष्या भारताजिरे।
श्रीमद्भागवतप्राप्तौ सुखं प्राप्स्यन्ति शाश्वतम्॥ ६२

नन्दनन्दनरूपस्तु श्रीशुको भगवानृषिः।
श्रीमद्भागवतं तुभ्यं श्रावयिष्यत्यसंशयम्॥ ६३

उद्धवजीने कहा—राजन्! तुम्हें तो किसी भी बातके लिये किसी प्रकार भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस भागवतशास्त्रके प्रधान अधिकारी तो तुम्हीं हो॥ ६०॥ संसारके मनुष्य नाना प्रकारके कर्मोंमें रचे-पचे हुए हैं, ये लोग आजतक प्रायः भागवत-श्रवणकी बात भी नहीं जानते॥ ६१॥ तुम्हारे ही प्रसादसे इस भारतवर्षमें रहनेवाले अधिकांश मनुष्य श्रीमद्भागवतकथाकी प्राप्ति होनेपर शाश्वत सुख प्राप्त करेंगे॥ ६२॥ महर्षि भगवान् श्रीशुकदेवजी साक्षात् नन्दनन्दन श्रीकृष्णके स्वरूप हैं, वे ही तुम्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायेंगे; इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है॥ ६३॥

तेन प्राप्स्यसि राजंस्त्वं नित्यं धाम व्रजेशितुः।
श्रीभागवतसंचारस्ततो भुवि भविष्यति॥ ६४

तस्मात्त्वं गच्छ राजेन्द्र कलिनिग्रहमाचर।

सूत उवाच

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य गतो राजा दिशां जये॥ ६५

वज्रस्तु निजराज्येशं प्रतिबाहुं विधाय च।
तत्रैव मातृभिः साकं तस्थौ भागवताशया॥ ६६

अथ वृन्दावने मासं गोवर्धनसमीपतः।
श्रीमद्भागवतास्वादस्तूद्धवेन प्रवर्तितः॥ ६७

तस्मिन्नास्वाद्यमाने तु सच्चिदानन्दरूपिणी।
प्रचकाशे हरेर्लीला सर्वतः कृष्ण एव च॥ ६८

आत्मानं च तदन्तःस्थं सर्वेऽपि ददृशुस्तदा।
वज्रस्तु दक्षिणे दृष्ट्वा कृष्णपादसरोरुहे॥ ६९

स्वात्मानं कृष्णवैधुर्यान्मुक्तस्तद्भुव्यशोभत।
ताश्च तन्मातरः कृष्णे रासरात्रिप्रकाशिनि॥ ७०

चन्द्रे कलाप्रभारूपमात्मानं वीक्ष्य विस्मिताः।
स्वप्रेष्ठविरहव्याधिविमुक्ताः स्वपदं ययुः॥ ७१

येऽन्ये च तत्र ते सर्वे नित्यलीलान्तरं गताः।
व्यावहारिकलोकेभ्यः सद्योऽदर्शनमागताः॥ ७२

गोवर्धननिकुंजेषु गोषु वृन्दावनादिषु।
नित्यं कृष्णेन मोदन्ते दृश्यन्ते प्रेमतत्परैः॥ ७३

राजन्! उस कथाके श्रवणसे तुम व्रजेश्वर श्रीकृष्णके नित्यधामको प्राप्त करोगे। इसके पश्चात् इस पृथ्वीपर श्रीमद्भागवत-कथाका प्रचार होगा॥ ६४॥ अतः राजेन्द्र परीक्षित्! तुम जाओ और कलियुगको जीतकर अपने वशमें करो।

सूतजी कहते हैं—उद्धवजीके इस प्रकार कहनेपर राजा परीक्षित्ने उनकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया और दिग्विजयके लिये चले गये॥ ६५॥ इधर वज्रने भी अपने पुत्र प्रतिबाहुको अपनी राजधानी मथुराका राजा बना दिया और माताओंको साथ ले उसी स्थानपर, जहाँ उद्धवजी प्रकट हुए थे, जाकर श्रीमद्भागवत सुननेकी इच्छासे रहने लगे॥ ६६॥ तदनन्तर उद्धवजीने वृन्दावनमें गोवर्धनपर्वतके निकट एक महीनेतक श्रीमद्भागवत-कथाके रसकी धारा बहायी॥ ६७॥ उस रसका आस्वादन करते समय प्रेमी श्रोताओंकी दृष्टिमें सब ओर भगवान्की सच्चिदानन्दमयी लीला प्रकाशित हो गयी और सर्वत्र श्रीकृष्णचन्द्रका साक्षात्कार होने लगा॥ ६८॥ उस समय सभी श्रोताओंने अपनेको भगवान्के स्वरूपमें स्थित देखा। वज्रनाभने श्रीकृष्णके दाहिने चरणकमलमें अपनेको स्थित देखा और श्रीकृष्णके विरहशोकसे मुक्त होकर उस स्थानपर अत्यन्त सुशोभित होने लगे। वज्रनाभकी वे रोहिणी आदि माताएँ भी रासकी रजनीमें प्रकाशित होनेवाले श्रीकृष्णरूपी चन्द्रमाके विग्रहमें अपनेको कला और प्रभाके रूपमें स्थित देख बहुत ही विस्मित हुईं तथा अपने प्राणप्यारेकी विरह-वेदनासे छुटकारा पाकर उनके परमधाममें प्रविष्ट हो गयीं॥ ६९-७१॥

इनके अतिरिक्त भी जो श्रोतागण वहाँ उपस्थित थे वे भी भगवान्की नित्य अन्तरंगलीलामें सम्मिलित होकर इस स्थूल व्यावहारिक जगत्से तत्काल अन्तर्धान हो गये॥ ७२॥ वे सभी सदा ही गोवर्धन-पर्वतके कुंज और झाड़ियोंमें, वृन्दावन-काम्यवन आदि वनोंमें तथा वहाँकी दिव्य गौओंके बीचमें श्रीकृष्णके साथ विचरते हुए अनन्त आनन्दका अनुभव करते रहते हैं। जो लोग श्रीकृष्णके प्रेममें मग्न हैं, उन भावुक भक्तोंको उनके दर्शन भी होते हैं॥ ७३॥

सूत उवाच

य एतां भगवत्प्राप्तिं शृणुयाच्चापि कीर्तयेत्।
तस्य वै भगवत्प्राप्तिर्दुःखहानिश्च जायते॥ ७४

सूतजी कहते हैं—जो लोग इस भगवत्प्राप्तिकी कथाको सुनेंगे और कहेंगे, उन्हें भगवान् मिल जायँगे और उनके दुःखोंका सदाके लिये अन्त हो जायगा॥ ७४॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे परीक्षिदुद्धवसंवादे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतका स्वरूप, प्रमाण, श्रोता-वक्ताके लक्षण, श्रवणविधि और माहात्म्य

ऋषय ऊचुः

साधु सूत चिरं जीव चिरमेवं प्रशाधि नः।
श्रीभागवतमाहात्म्यमपूर्वं त्वन्मुखाच्छ्रुतम्॥ १

शौनकादि ऋषियोंने कहा—सूतजी! आपने हमलोगोंको बहुत अच्छी बात बतायी। आपकी आयु बढ़े, आप चिरजीवी हों और चिरकालतक हमें इसी प्रकार उपदेश करते रहें। आज हमलोगोंने आपके मुखसे श्रीमद्भागवतका अपूर्व माहात्म्य सुना है॥ १॥

तत्स्वरूपं प्रमाणं च विधिं च श्रवणे वद।
तद्वक्तुर्लक्षणं सूत श्रोतुश्चापि वदाधुना॥ २

सूतजी! अब इस समय आप हमें यह बताइये कि श्रीमद्भागवतका स्वरूप क्या है? उसका प्रमाण—उसकी श्लोकसंख्या कितनी है? किस विधिसे उसका श्रवण करना चाहिये? तथा श्रीमद्भागवतके वक्ता और श्रोताके क्या लक्षण हैं? अभिप्राय यह कि उसके वक्ता और श्रोता कैसे होने चाहिये॥ २॥

सूत उवाच

श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भगवतः सदा।
स्वरूपमेकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम्॥ ३

सूतजी कहते हैं—ऋषिगण! श्रीमद्भागवत और श्रीभगवान्‌का स्वरूप सदा एक ही है और वह है सच्चिदानन्दमय॥ ३॥

श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्माधुर्यप्रकाशकम्।
समुज्जृम्भति यद्वाक्यं विद्धि भागवतं हि तत्॥ ४

भगवान् श्रीकृष्णमें जिनकी लगन लगी है उन भावुक भक्तोंके हृदयमें जो भगवान्‌के माधुर्य भावको अभिव्यक्त करनेवाला, उनके दिव्य माधुर्यरसका आस्वादन करानेवाला सर्वोत्कृष्ट वचन है, उसे श्रीमद्भागवत समझो॥ ४॥

ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत्॥ ५

जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अंगभूत साधनचतुष्टयको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे भी तुम श्रीमद्भागवत समझो॥ ५॥

प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षरात्मनः।
ब्रह्मणे हरिणा तद्दिक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता॥ ६

श्रीमद्भागवत अनन्त, अक्षरस्वरूप है; इसका नियत प्रमाण भला कौन जान सकता है? पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शनमात्र कराया था॥ ६॥

तदानन्त्यावगाहेन स्वेप्सितावहनक्षमाः।
त एव सन्ति भो विप्रा ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥ ७

मितबुद्ध्यादिवृत्तीनां मनुष्याणां हिताय च।
परीक्षिच्छुकसंवादो योऽसौ व्यासेन कीर्तितः॥ ८

ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो योऽसौ भागवताभिधः।
कलिग्राहगृहीतानां स एव परमाश्रयः॥ ९

श्रोतारोऽथ निरूप्यन्ते श्रीमद्विष्णुकथाश्रयाः।
प्रवरा अवराश्चेति श्रोतारो द्विविधा मताः॥ १०

प्रवराश्चातको हंसः शुको मीनादयस्तथा।
अवरा वृकभूरुण्डवृषोष्ट्राद्याः प्रकीर्तिताः॥ ११

अखिलोपेक्षया यस्तु कृष्णशास्त्रश्रुतौ व्रती।
स चातको यथाम्भोदमुक्ते पाथसि चातकः॥ १२

हंसः स्यात् सारमादत्ते यः श्रोता विविधाच्छ्रुतात्।
दुग्धेनैक्यं गतात्तोयाद् यथा हंसोऽमलं पयः॥ १३

शुकः सुष्ठु मितं वक्ति व्यासं श्रोतॄंश्च हर्षयन्।
सुपाठितः शुको यद्वच्छिक्षकं पार्श्वगानपि॥ १४

विप्रगण! इस भागवतकी अपार गहराईमें डुबकी लगाकर इसमेंसे अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेमें केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि ही समर्थ हैं; दूसरे नहीं॥ ७॥ परन्तु जिनकी बुद्धि आदि वृत्तियाँ परिमित हैं, ऐसे मनुष्योंका हितसाधन करनेके लिये श्रीव्यासजीने परीक्षित् और शुकदेवजीके संवादके रूपमें जिसका गान किया है, उसीका नाम श्रीमद्भागवत है। उस ग्रन्थकी श्लोक-संख्या अठारह हजार है। इस भवसागरमें जो प्राणी कलिरूपी ग्राहसे ग्रस्त हो रहे हैं, उनके लिये वह श्रीमद्भागवत ही सर्वोत्तम सहारा है॥ ८-९॥

अब भगवान् श्रीकृष्णकी कथाका आश्रय लेनेवाले श्रोताओंका वर्णन करते हैं। श्रोता दो प्रकारके माने गये हैं—प्रवर (उत्तम) तथा अवर (अधम)॥ १०॥

प्रवर श्रोताओंके 'चातक', 'हंस', 'शुक' और 'मीन' आदि कई भेद हैं। अवरके भी 'वृक', 'भूरुण्ड', 'वृष' और 'उष्ट्र' आदि अनेकों भेद बतलाये गये हैं॥ ११॥

'चातक' कहते हैं पपीहेको। वह जैसे बादलसे बरसते हुए जलमें ही स्पृहा रखता है, दूसरे जलको छूता ही नहीं—उसी प्रकार जो श्रोता सब कुछ छोड़कर केवल श्रीकृष्णसम्बन्धी शास्त्रोंके श्रवणका व्रत ले लेता है, वह 'चातक' कहा गया है॥ १२॥

जैसे हंस दूधके साथ मिलकर एक हुए जलसे निर्मल दूध ग्रहण कर लेता और पानीको छोड़ देता है, उसी प्रकार जो श्रोता अनेकों शास्त्रोंका श्रवण करके भी उसमेंसे सारभाग अलग करके ग्रहण करता है, उसे 'हंस' कहते हैं॥ १३॥

जिस प्रकार भलीभाँति पढ़ाया हुआ तोता अपनी मधुर वाणीसे शिक्षकको तथा पास आनेवाले दूसरे लोगोंको भी प्रसन्न करता है, उसी प्रकार जो श्रोता कथावाचक व्यासके मुँहसे उपदेश सुनकर उसे सुन्दर और परिमित वाणीमें पुनः सुना देता और व्यास एवं अन्यान्य श्रोताओंको अत्यन्त आनन्दित करता है, वह 'शुक' कहलाता है॥ १४॥

शब्दं नानिमिषो जातु करोत्यास्वादयन् रसम्।
श्रोता स्निग्धो भवेन्मीनो मीनः क्षीरनिधौ यथा॥ १५

जैसे क्षीरसागरमें मछली मौन रहकर अपलक आँखोंसे देखती हुई सदा दुग्ध पान करती रहती है, उसी प्रकार जो कथा सुनते समय निर्निमेष नयनोंसे देखता हुआ मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकालता और निरन्तर कथारसका ही आस्वादन करता रहता है, वह प्रेमी श्रोता 'मीन' कहा गया है॥ १५॥

यस्तुदन् रसिकाञ्छ्रोतॄन् विरौत्यज्ञो वृको हि सः।
वेणुस्वनरसासक्तान् वृकोऽरण्ये मृगान् यथा॥ १६

(ये प्रवर अर्थात् उत्तम श्रोताओंके भेद बताये गये हैं, अब अवर यानी अधम श्रोता बताये जाते हैं।) 'वृक' कहते हैं भेड़ियेको। जैसे भेड़िया वनके भीतर वेणुकी मीठी आवाज सुननेमें लगे हुए मृगोंको डरानेवाली भयानक गर्जना करता है, वैसे ही जो मूर्ख कथाश्रवणके समय रसिक श्रोताओंको उद्विग्न करता हुआ बीच-बीचमें जोर-जोरसे बोल उठता है, वह 'वृक' कहलाता है॥ १६॥

भूरुण्डः शिक्षयेदन्याञ्छ्रुत्वा न स्वयमाचरेत्।
यथा हिमवतः शृंगे भूरुण्डाख्यो विहंगमः॥ १७

हिमालयके शिखरपर एक भूरुण्ड जातिका पक्षी होता है। वह किसीके शिक्षाप्रद वाक्य सुनकर वैसा ही बोला करता है, किन्तु स्वयं उससे लाभ नहीं उठाता। इसी प्रकार जो उपदेशकी बात सुनकर उसे दूसरोंको तो सिखाये पर स्वयं आचरणमें न लाये, ऐसे श्रोताको 'भूरुण्ड' कहते हैं॥ १७॥

सर्वं श्रुतमुपादत्ते सारासारान्धधीर्वृषः।
स्वादुद्राक्षां खलिं चापि निर्विशेषं यथा वृषः॥ १८

'वृष' कहते हैं बैलको। उसके सामने मीठे-मीठे अंगूर हो या कड़वी खली, दोनोंको वह एक-सा ही मानकर खाता है। उसी प्रकार जो सुनी हुई सभी बातें ग्रहण करता है, पर सार और असार वस्तुका विचार करनेमें उसकी बुद्धि अंधी—असमर्थ होती है, ऐसा श्रोता 'वृष' कहलाता है॥ १८॥

स उष्ट्रो मधुरं मुञ्चन् विपरीते रमेत यः।
यथा निम्बं चरत्युष्ट्रो हित्वाम्रमपि तद्युतम्॥ १९

जिस प्रकार ऊँट माधुर्यगुणसे युक्त आमको भी छोड़कर केवल नीमकी ही पत्ती चबाता है, उसी प्रकार जो भगवान्‌की मधुर कथाको छोड़कर उसके विपरीत संसारी बातोंमें रमता रहता है, उसे 'ऊँट' कहते हैं॥ १९॥ ये कुछ थोड़े-से भेद यहाँ बताये गये। इनके अतिरिक्त भी प्रवर-अवर दोनों प्रकारके श्रोताओंके 'भ्रमर' और 'गदहा' आदि बहुत-से भेद हैं,' इन सब भेदोंको उन-उन श्रोताओंके स्वाभाविक आचार-व्यवहारोंसे परखना चाहिये॥ २०॥

अन्येऽपि बहवो भेदा द्वयोर्भृंगखरादयः।
विज्ञेयास्तत्तदाचारैस्तत्तत्प्रकृतिसम्भवैः॥ २०

य: स्थित्वाभिमुखं प्रणम्य विधिव-
त्त्यक्तान्यवादो हरे-
र्लीला: श्रोतुमभीप्सतेऽतिनिपुणो
नम्रोऽथ क्लृप्तांजलि:।
शिष्यो विश्वसितोऽनुचिन्तनपर:
प्रश्नेऽनुरक्त: शुचि-
र्नित्यं कृष्णजनप्रियो निगदित:
श्रोता स वै वक्तृभि:॥ २१

भगवन्मतिरनपेक्ष: सुहृदो दीनेषु सानुकम्पो य:।
बहुधा बोधनचतुरो वक्ता सम्मानितो मुनिभि:॥ २२

अथ भारतभूस्थाने श्रीभागवतसेवने।
विधिं शृणुत भो विप्रा येन स्यात् सुखसन्तति:॥ २३

राजसं सात्त्विकं चापि तामसं निर्गुणं तथा।
चतुर्विधं तु विज्ञेयं श्रीभागवतसेवनम्॥ २४

सप्ताहं यज्ञवद् यत्तु सश्रमं सत्वरं मुदा।
सेवितं राजसं तत्तु बहुपूजादिशोभनम्॥ २५

मासेन ऋतुना वापि श्रवणं स्वादसंयुतम्।
सात्त्विकं यदनायासं समस्तानन्दवर्धनम्॥ २६

तामसं यत्तु वर्षेण सालसं श्रद्धया युतम्।
विस्मृतिस्मृतिसंयुक्तं सेवनं तच्च सौख्यदम्॥ २७

जो वक्ताके सामने उन्हें विधिवत् प्रणाम करके बैठे और अन्य संसारी बातोंको छोड़कर केवल श्रीभगवान्‌की लीला-कथाओंको ही सुननेकी इच्छा रखे, समझनेमें अत्यन्त कुशल हो, नम्र हो, हाथ जोड़े रहे, शिष्यभावसे उपदेश ग्रहण करे और भीतर श्रद्धा तथा विश्वास रखे; इसके सिवा, जो कुछ सुने उसका बराबर चिन्तन करता रहे, जो बात समझमें न आये, पूछे और पवित्र भावसे रहे तथा श्रीकृष्णके भक्तोंपर सदा ही प्रेम रखता हो—ऐसे ही श्रोताको वक्ता लोग उत्तम श्रोता कहते हैं॥ २१॥ अब वक्ताके लक्षण बतलाते हैं। जिसका मन सदा भगवान्‌में लगा रहे, जिसे किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न हो, जो सबका सुहृद् और दीनोंपर दया करनेवाला हो तथा अनेकों युक्तियोंसे तत्त्वका बोध करा देनेमें चतुर हो, उसी वक्ताका मुनिलोग भी सम्मान करते हैं॥ २२॥

विप्रगण! अब मैं भारतवर्षकी भूमिपर श्रीमद्भागवत-कथाका सेवन करनेके लिये जो आवश्यक विधि है, उसे बतलाता हूँ; आप सुनें। इस विधिके पालनसे श्रोताकी सुख-परम्पराका विस्तार होता है॥ २३॥ श्रीमद्भागवतका सेवन चार प्रकारका है—सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण॥ २४॥ जिसमें यज्ञकी भाँति तैयारी की गयी हो, बहुत-सी पूजा-सामग्रियोंके कारण जो अत्यन्त शोभासम्पन्न दिखायी दे रहा हो और बड़े ही परिश्रमसे बहुत उतावलीके साथ सात दिनोंमें ही जिसकी समाप्ति की जाय, वह प्रसन्नतापूर्वक किया हुआ श्रीमद्भागवतका सेवन 'राजस' है॥ २५॥ एक या दो महीनेमें धीरे-धीरे कथाके रसका आस्वादन करते हुए बिना परिश्रमके जो श्रवण होता है, वह पूर्ण आनन्दको बढ़ानेवाला 'सात्त्विक' सेवन कहलाता है॥ २६॥ तामस सेवन वह है जो कभी भूलसे छोड़ दिया जाय और याद आनेपर फिर आरम्भ कर दिया जाय, इस प्रकार एक वर्षतक आलस्य और अश्रद्धाके साथ चलाया जाय। यह 'तामस' सेवन भी न करनेकी अपेक्षा अच्छा और सुख ही देनेवाला है॥ २७॥

वर्षमासदिनानां तु विमुच्य नियमाग्रहम्।
सर्वदा प्रेमभक्त्यैव सेवनं निर्गुणं मतम्॥ २८

जब वर्ष, महीना और दिनोंके नियमका आग्रह छोड़कर सदा ही प्रेम और भक्तिके साथ श्रवण किया जाय, तब वह सेवन 'निर्गुण' माना गया है॥ २८॥

पारीक्षितेऽपि संवादे निर्गुणं तत् प्रकीर्तितम्।
तत्र सप्तदिनाख्यानं तदायुर्दिनसंख्यया॥ २९

राजा परीक्षित् और शुकदेवके संवादमें भी जो भागवतका सेवन हुआ था, वह निर्गुण ही बताया गया है। उसमें जो सात दिनोंकी बात आती है, वह राजाकी आयुके बचे हुए दिनोंकी संख्याके अनुसार है, सप्ताह-कथाका नियम करनेके लिये नहीं॥ २९॥

अन्यत्र त्रिगुणं चापि निर्गुणं च यथेच्छया।
यथा कथंचित् कर्तव्यं सेवनं भगवच्छ्रुतेः॥ ३०

भारतवर्षके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें भी त्रिगुण (सात्त्विक, राजस और तामस) अथवा निर्गुण-सेवन अपनी रुचिके अनुसार करना चाहिये। तात्पर्य यह कि जिस किसी प्रकार भी हो सके श्रीमद्भागवतका सेवन, उसका श्रवण करना ही चाहिये॥ ३०॥

ये श्रीकृष्णविहारैकभजनास्वादलोलुपाः।
मुक्तावपि निराकांक्षास्तेषां भागवतं धनम्॥ ३१

जो केवल श्रीकृष्णकी लीलाओंके ही श्रवण, कीर्तन एवं रसास्वादनके लिये लालायित रहते और मोक्षकी भी इच्छा नहीं रखते, उनका तो श्रीमद्भागवत ही धन है॥ ३१॥

येऽपि संसारसन्तापनिर्विण्णा मोक्षकांक्षिणः।
तेषां भवौषधं चैतत् कलौ सेव्यं प्रयत्नतः॥ ३२

तथा जो संसारके दुःखोंसे घबराकर अपनी मुक्ति चाहते हैं, उनके लिये भी यही इस भवरोगकी ओषधि है। अतः इस कलिकालमें इसका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये॥ ३२॥

ये चापि विषयारामाः सांसारिकसुखस्पृहाः।
तेषां तु कर्ममार्गेण या सिद्धिः साधुना कलौ॥ ३३

सामर्थ्यधनविज्ञानाभावादत्यन्तदुर्लभा।
तस्मात्तैरपि संसेव्या श्रीमद्भागवती कथा॥ ३४

इनके अतिरिक्त जो लोग विषयोंमें ही रमण करनेवाले हैं, सांसारिक सुखोंकी ही जिन्हें सदा चाह रहती है, उनके लिये भी अब इस कलियुगमें सामर्थ्य, धन और विधि-विधानका ज्ञान न होनेके कारण कर्ममार्ग (यज्ञादि)से मिलनेवाली सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ हो गयी है। ऐसी दशामें उन्हें भी सब प्रकारसे अब इस भागवतकथाका ही सेवन करना चाहिये॥ ३३-३४॥

धनं पुत्रांस्तथा दारान् वाहनादि यशो गृहान्।
असापत्न्यं च राज्यं च दद्याद् भागवती कथा॥ ३५

यह श्रीमद्भागवतकी कथा धन, पुत्र, स्त्री, हाथी-घोड़े आदि वाहन, यश, मकान और निष्कण्टक राज्य भी दे सकती है॥ ३५॥

इह लोके वरान् भुक्त्वा भोगान् वै मनसेप्सितान्।
श्रीभागवतसंगेन यात्यन्ते श्रीहरेः पदम्॥ ३६

सकाम भावसे भागवतका सहारा लेनेवाले मनुष्य इस संसारमें मनोवांछित उत्तम भोगोंको भोगकर अन्तमें श्रीमद्भागवतके ही संगसे श्रीहरिके परमधामको प्राप्त हो जाते हैं॥ ३६॥

यत्र भागवती वार्ता ये च तच्छ्रवणे रताः।
तेषां संसेवनं कुर्याद् देहेन च धनेन च॥ ३७

जिनके यहाँ श्रीमद्भागवतकी कथा-वार्ता होती हो तथा जो लोग उस कथाके श्रवणमें लगे रहते हों, उनकी सेवा और सहायता अपने शरीर और धनसे करनी चाहिये॥ ३७॥

तदनुग्रहतोऽस्यापि श्रीभागवतसेवनम्।
श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं यत्तत् सर्वं धनसंज्ञितम्॥ ३८

उन्हींके अनुग्रहसे सहायता करनेवाले पुरुषको भी भागवत-सेवनका पुण्य प्राप्त होता है। कामना दो वस्तुओंकी होती है—श्रीकृष्णकी और धनकी। श्रीकृष्णके सिवा जो कुछ भी चाहा जाय, यह सब धनके अन्तर्गत है; उसकी 'धन' संज्ञा है॥ ३८॥

कृष्णार्थीति धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः।
यथा वक्ता तथा श्रोता तत्र सौख्यं विवर्धते॥ ३९

श्रोता और वक्ता भी दो प्रकारके माने गये हैं, एक श्रीकृष्णको चाहनेवाले और दूसरे धनको। जैसा वक्ता, वैसा ही श्रोता भी हो तो वहाँ कथामें रस मिलता है, अतः सुखकी वृद्धि होती है॥ ३९॥

उभयोर्वैपरीत्ये तु रसाभासे फलच्युतिः।
किन्तु कृष्णार्थिनां सिद्धिर्विलम्बेनापि जायते॥ ४०

यदि दोनों विपरीत विचारके हों तो रसाभास हो जाता है, अतः फलकी हानि होती है। किन्तु जो श्रीकृष्णको चाहनेवाले वक्ता और श्रोता हैं, उन्हें विलम्ब होनेपर भी सिद्धि अवश्य मिलती है॥ ४०॥

धनार्थिनस्तु संसिद्धिर्विधिसम्पूर्णतावशात्।
कृष्णार्थिनोऽगुणस्यापि प्रेमैव विधिरुत्तमः॥ ४१

पर धनार्थीको तो तभी सिद्धि मिलती है, जब उनके अनुष्ठानका विधि-विधान पूरा उतर जाय। श्रीकृष्णकी चाह रखनेवाला सर्वथा गुणहीन हो और उसकी विधिमें कुछ कमी रह जाय तो भी, यदि उसके हृदयमें प्रेम है तो, वही उसके लिये सर्वोत्तम विधि है॥ ४१॥

आसमाप्ति सकामेन कर्त्तव्यो हि विधिः स्वयम्।
स्नातो नित्यक्रियां कृत्वा प्राश्य पादोदकं हरेः॥ ४२

पुस्तकं च गुरुं चैव पूजयित्वोपचारतः।
ब्रूयाद् वा शृणुयाद् वापि श्रीमद्भागवतं मुदा॥ ४३

सकाम पुरुषको कथाकी समाप्तिके दिनतक स्वयं सावधानीके साथ सभी विधियोंका पालन करना चाहिये। (भागवत-कथाके श्रोता और वक्ता दोनोंके ही पालन करनेयोग्य विधि यह है—) प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके अपना नित्यकर्म पूरा कर ले। फिर भगवान्‌का चरणामृत पीकर पूजाके सामानसे श्रीमद्भागवतकी पुस्तक और गुरुदेव (व्यास) का पूजन करे। इसके पश्चात् अत्यन्त प्रसन्नता-पूर्वक श्रीमद्भागवतकी कथा स्वयं कहे अथवा सुने॥ ४२-४३॥

पयसा वा हविष्येण मौनं भोजनमाचरेत्।
ब्रह्मचर्यमधःसुप्तिं क्रोधलोभादिवर्जनम्॥ ४४

दूध या खीरका मौन भोजन करे। नित्य ब्रह्मचर्यका पालन और भूमिपर शयन करे, क्रोध और लोभ आदिको त्याग दे॥ ४४॥

कथान्ते कीर्त्तनं नित्यं समाप्तौ जागरं चरेत्।
ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु दक्षिणाभिः प्रतोषयेत्॥ ४५

प्रतिदिन कथाके अन्तमें कीर्तन करे और कथासमाप्तिके दिन रात्रिमें जागरण करे। समाप्ति होनेपर ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें दक्षिणासे सन्तुष्ट करे॥ ४५॥

गुरवे वस्त्रभूषादि दत्त्वा गां च समर्पयेत्।
एवं कृते विधाने तु लभते वांछितं फलम्॥ ४६

दारागारसुतान् राज्यं धनादि च यदीप्सितम्।
परं तु शोभते नात्र सकामत्वं विडम्बनम्॥ ४७

कथावाचक गुरुको वस्त्र, आभूषण आदि देकर गौ भी अर्पण करे। इस प्रकार विधि-विधान पूर्ण करनेपर मनुष्यको स्त्री, घर, पुत्र, राज्य और धन आदि जो-जो उसे अभीष्ट होता है, वह सब मनोवांछित फल प्राप्त होता है। परन्तु सकामभाव बहुत बड़ी विडम्बना है, वह श्रीमद्भागवतकी कथामें शोभा नहीं देता॥ ४६-४७॥

कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दफलप्रदम्।
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम्॥ ४८

श्रीशुकदेवजीके मुखसे कहा हुआ यह श्रीमद्भागवतशास्त्र तो कलियुगमें साक्षात् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाला और नित्य प्रेमानन्दरूप फल प्रदान करनेवाला है॥ ४८॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्त्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भागवतश्रोतृवक्तृलक्षणश्रवणविधि-निरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

॥ समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्॥

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥



श्रीमद्भागवत-पाठके विभिन्न प्रयोग[१]

भागवत-महिमा

श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतं पठेत्।
यः पुमान् सोऽपि संसारान्मुच्यते किमुताखिलात्॥

आधा श्लोक या चौथाई श्लोकका भी नित्य जो मनुष्य पाठ करता है, उसकी भी संसारसे मुक्ति हो जाती है; फिर सम्पूर्ण पाठ करनेवालेकी तो बात ही क्या है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्यद् भागवतमादरात्।
नित्यं पठेद् यथाशक्ति यतः स्यात् संसृतिक्षयः॥

बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता यही है कि संसारभयनाशक श्रीमद्भागवतका आदरपूर्वक यथाशक्ति पाठ करे।

अशक्तो नित्य पठने मासे वर्षेऽपि वैकदा।
पालयन् नियमान् भक्त्या श्रीमद्भागवतं पठेत्॥

यदि नित्य पाठ न कर सकता हो तो महीने या वर्षमें एक बार नियमपूर्वक भक्तिसहित भागवतका पाठ अवश्य करना चाहिये।

एकाहे नैव शक्तस्तु द्व्यहेनाथ त्र्यहेण वा।
पंचभिर्दिवसैः षड्भिः सप्तभिर्वा पठेत् पुमान्॥
दशाहेनाथ पक्षेण मासेन ऋतुनापि वा।
पठेद् भागवतं यस्तु भुक्तिं मुक्तिं स विन्दते॥

जो एक दिनमें पाठ न कर सकता हो वह दो, तीन, पाँच, छः, सात, दस, पंद्रह, तीस या साठ दिनमें श्रीमद्भागवतका पाठ करे। इससे भोग एवं मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होती है।

एषोऽप्यत्युत्तमः पक्षः सप्ताहो बहुसम्मतः।
श्रीवासुदेवप्रीत्यर्थं पठतः पुंस आदरात्॥
सर्वे पक्षाः सन्ति तुल्या विशेषो नास्ति कश्चन।
विशेषोऽस्ति सकामानां कामनाफलभेदतः॥

बहुत-से ऋषियोंने सप्ताहपारायणका भी उत्तम पक्ष माना है। केवल भगवान्‌की प्रीतिके लिये सम्पूर्ण पक्ष बराबर हैं। कोई न्यूनाधिक नहीं हैं। फल चाहने-वालोंके लिये फलभेदसे पारायणभेद कहा गया है।

(१) निष्कामपारायण भगवत्प्रीत्यर्थ

पाठकर्ता ब्राह्मण १ या ५, पारायण-संख्या १०० या १०८

विशेष नियम—करनेवाला फलाहार या हविष्य भोजन करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	२३	६७
३	७	१५*	३७
४	९	२४*	४८
५	१०	१२	१२
६	१०	८२	७०
७	१२	१३*	५२

(२) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

निष्कामपारायण भगवत्प्रीत्यर्थ

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	२३	६७
३	७	१५*	३७
४	९	२४*	४८
५	१०	४२	४२
६	१०	९०*	४८
७	१२	१३*	४४

(३) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

मोक्षप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१८	४७
२	५	८	५४
३	८	७	५९
४	१०	३	४४
५	१०	५३	५०
६	११	९	४६
७	१२	१३*	३५

१-(भागवतांकमें प्रकाशित 'श्रीमद्भागवतकी अनुष्ठान-विधि' शीर्षक दो लेखोंके आधारपर।)

* यह चिह्न स्कन्धकी समाप्ति और ÷ यह चिह्न दशमस्कन्धके पूर्वार्धकी समाप्तिका है।

(४) आरम्भ किये हुए कार्यमें विघ्ननाशके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ९, पारायण-संख्या १४०

विशेष नियम—प्रतिदिन चतुर्थ स्कन्धके उन्नीसवें अध्याय (पृथुविजय) का पाठ, पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें करना चाहिये।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१९	४९
२	५	६	५१
३	७	१०	४९
४	९	२४*	५३
५	१०	४९÷	४९
६	१०	९०*	४१
७	१२	१३*	४४

(५) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

विघ्ननाशके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१९	४९
२	५	१६	६१
३	७	१०	३९
४	९	२४*	५३
५	१०	४९÷	४९
६	१०	९०*	४१
७	१२	१३*	४४

(६) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

धनप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	६	१३	६१
३	९	७	५२
४	१०	३४	५१
५	१०	७३	३९
६	१०	९०*	१७
७	१२	१३*	४४

(७) सप्ताहपारायणके प्रयोग (सात दिनके)

बान्धवपीडानिवृत्ति और संकटनाशके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ४, पारायण-संख्या १९६

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें षष्ठ स्कन्धकी देवस्तुति (अ० ९, श्लो० ३१—४५) का पाठ करना चाहिये। पाठविधि—

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	१०*	२९
२	४	३१*	६४
३	६	१९*	४५
४	८	२४*	३९
५	१०	४९÷	७३
६	११	३१*	७२
७	१२	१३*	१३

(८) कैदसे छुड़ानेके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ७, पारायण-संख्या १४३

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं अन्तमें दशम स्कन्धके १०। २९; १९। ९; २५। १३; २७। १९; ४९। ११ और ७०। २५—इन ६ श्लोकोंका पाठ करना चाहिये।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	३३*	६२
२	५	२६*	५७
३	७	१५*	३४
४	९	२४*	४८
५	१०	९०*	९०
६	११	३१*	३१
७	१२	१३*	१३

(९) शत्रुपराजयके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ६, पारायण-संख्या १९४

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके प्रारम्भ एवं समाप्तिमें अष्टम स्कन्धके 'यज्ञेश यज्ञपुरुष' (अ० १७, श्लो० ८) आदि ३ श्लोकोंका पाठ करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१९	४८

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२	५	१५	६०
३	७	१५*	४५
४	१०	१२	६०
५	१०	८४	७२
६	११	३१*	३७
७	१२	१३*	१३

(१०) रोगमुक्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ३, पारायण-संख्या १५७

विशेष नियम—प्रतिदिन प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें पंचम स्कन्धके नारसिंह मन्त्र (अ० १८, श्लो० ८) का पाठ करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	६	५०
३	६	१९*	३९
४	९	२०	५९
५	१०	३५	३९
६	१०	८५	५०
७	१२	१३*	४९

(११) पुत्र और स्त्रीप्राप्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ५, पारायण-संख्या १४५

विशेष नियम—प्रतिदिन प्रत्येक अध्यायके आरम्भ एवं अन्तमें पंचम स्कन्धके काममन्त्र (अ० १८, श्लो० १८) का पाठ करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२४	५३
२	५	३	४३
३	७	८	५०
४	१०	४	५९
५	१०	५५	५१
६	११	६	४१
७	१२	१३*	३८

(१२) निष्कण्टक राज्यके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण १०, पारायण-संख्या १९८

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें चतुर्थ स्कन्धकी ध्रुवस्तुति (अ० ९) का पाठ करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	६	१३	६१
३	९	७	५२
४	१०	३४	५१
५	१०	७३	३९
६	१०	९०*	१७
७	१२	१३*	४४

(१३) एकाहपारायण (एक दिनका)

हरिप्रेमप्राप्ति

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१२	१३*	३३५

(१४) द्व्यहपारायण (दो दिनका)

पराभक्ति-प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	९	१३	१९०
२	१२	१३*	१४५

(१५) द्व्यहपारायण (दो दिनका)

योग-सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	७	१५*	१५३
२	१२	१३*	१८२

(१६) द्व्यहपारायण (दो दिनका)

चित्तनिवृत्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	८	१६	१६९
२	१२	१३*	१६६

(१७) त्र्यहपारायण (तीन दिनका)

मोक्षप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	५	८	१०१
२	१०	१२	११२
३	१२	१३*	१२२

(१८) त्र्यहपारायण (तीन दिनका)

ऐश्वर्य-प्राप्ति, संसार-बन्धन-मुक्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	७	१५*	१५३
२	१०	९०*	१३८
३	१२	१३*	४४

(१९) चतुरहपारायण (चार दिनका)

संकट-निवारणके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१८	८०
२	६	१९*	५८
३	१०	५१	११४
४	१२	१३*	८३

(२०) चतुरहपारायण (चार दिनका)

सब प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१८	८०
२	८	७	८०
३	१०	५२	९३
४	१२	१३*	८२

(२१) चतुरहपारायण (चार दिनका)

पापनाशके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	२६	८८
२	८	१९	८४
३	१०	५३	८२
४	१२	१३*	८१

(२२) चतुरहपारायण (चार दिनका)

सद्धर्मकी प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१९	८१
२	८	१४	८६
३	१०	५१	८५
४	१२	१३*	८३

(२३) पंचाहपारायण (पाँच दिनका)

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	४	६६
२	६	१५	६८
३	९	२१	६४
४	१०	६४	६७
५	१२	१३*	७०

(२४) पंचाहपारायण (पाँच दिनका)

सकल कामनाप्राप्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ९, पारायण-संख्या २४२

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	७	६९
२	६	१९*	६९
३	९	२४*	६३
४	१०	६९	६९
५	१२	१३*	६५

(२५) षडहपारायण (छः दिनका)

धनप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	६	१३	६१
३	९	७	५२
४	१०	३४	५१
५	१०	९०*	५६
६	१२	१३*	४४

(२६) षडहपारायण (छः दिनका)

धनलाभ, कृत्यानाश, उत्पात-शान्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ४, पारायण-संख्या १४४

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	३२	६१
२	५	१४	४६
३	८	२४*	७०
४	१०	४९÷	७३
५	११	२९	७०
६	१२	१३*	१५

(२७) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

दरिद्रता नष्ट करनेके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१५	४४

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२	४	२१	३९
३	६	७	४३
४	८	२१	४८
५	१०	२३	५०
६	१०	५१	२८
७	११	३	४२
८	१२	१३*	४१

(२८) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

रोगसे छुटकारा पानेके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	६	५०
३	६	१९*	३९
४	९	२०	५९
५	१०	३५	३९
६	१०	८५	५०
७	११	६	११
८	१२	१३*	३८

(२९) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

भयनिवृत्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	९	३८
२	४	१६	४०
३	६	१	४२
४	८	१०	४३
५	१०	१	३९
६	१०	४२	४१
७	१०	९०*	४८
८	१२	१३*	४४

(३०) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

अकाल मृत्युसे बचनेके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	८	३७
२	४	८	३३
३	५	२४	४७
४	८	९	४५
५	१०	१०	४९
६	१०	५६	४६
७	११	९	४३
८	१२	१३*	३५

(३१) नवाहपारायण (नौ दिनका)

सुयशप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१०	३९
२	४	२	२५
३	५	२०	४९
४	७	१२	३७
५	९	८	३५
६	१०	२०	३६
७	१०	६०	४०
८	११	८	३८
९	१२	१३*	३६

(३२) नवाहपारायण (नौ दिनका)

कन्याप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	६	३५
२	४	११	३८
३	५	१६	३६
४	७	११	४०
५	९	६	३४
६	१०	२१	३९
७	१०	५८	३७
८	११	९	४१
९	१२	१३*	३५

(३३) दशाहपारायण (दस दिनका)

ज्ञानप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	६	३५
२	४	७	३४

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
३	५	९	३३
४	६	१९*	३६
५	८	२४*	३९
६	१०	११	३५
७	१०	४५	३४
८	१०	७९	३४
९	११	२३	३४
१०	१२	१३*	२१

(३४) एकादशाहपारायण (ग्यारह दिनका)

मनोकामनाकी सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८
२	३	२२	३३
३	४	२१	३२
४	५	२१	३१
५	७	८	३२
६	९	३	३४
७	१०	११	३२
८	१०	४८	३७
९	१०	८१	३३
१०	११	२३	३२
११	१२	१३*	२१

(३५) द्वादशाहपारायण (बारह दिनका)

शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	३	२२
२	३	२२	२९
३	४	१६	२७
४	५	९	२४
५	६	१८	३५
६	८	१७	३३
७	९	२१	२८
८	१०	२३	२६
९	१०	४८	२५
१०	१०	८०	३२
११	११	२५	३५
१२	१२	१३*	१९

(३६) त्रयोदशाहपारायण (तेरह दिनका)

ऋणसे छुटकारा पानेके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	२	२१
२	३	२०	२८
३	४	१३	२६
४	५	५	२३
५	६	१३	३४
६	८	११	३२
७	९	१४	२७
८	१०	१५	२५
९	१०	३९	२४
१०	१०	७०	३१
११	११	१४	३४
१२	१२	१	१८
१३	१२	१३*	१२

(३७) चतुर्दशाहपारायण (चौदह दिनका)

सब प्रकारकी आपत्तियोंसे छुटकारा पानेके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	६	२५
२	३	२०	२४
३	४	१२	२५
४	५	५	२४
५	६	२	२३
६	७	९	२६
७	८	१८	२४
८	९	१६	२२
९	१०	१८	२६
१०	१०	४१	२३
११	१०	६७	२६
१२	११	२	२५
१३	११	२३	२१
१४	१२	१३*	२१

(३८) पक्षपारायण (पंद्रह दिनका)

पक्ष, मास और ऋतुपारायण प्रतिपद् तिथिसे ही प्रारम्भ किया जाय—यह नियम नहीं है। केवल दिन-संख्याका नियम है।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	४	२३
२	३	१९	२५
३	४	२२	३६
४	५	१६	२५
५	६	१३	२३
६	८	२	२३
७	८	२४*	२२
८	९	२३	२३
९	१०	२४	२५
१०	१०	४८	२४
११	१०	६८	२०
१२	१०	८९	२१
१३	११	६	७
१४	१२	५	३०
१५	१२	१३*	८

(३९) पंचदशाहपारायण (पंद्रह दिनका)

सब प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	२	२१
२	३	१५	२३
३	४	४	२२
४	४	२७	२३
५	५	१८	२२
६	६	१५	२३
७	८	५	२४
८	९	६	२५
९	१०	४	२२
१०	१०	२६	२२
११	१०	४९÷	२३
१२	१०	७०	२१
१३	११	२	२२
१४	११	२५	२३
१५	१२	१३*	१९

(४०) षोडशाहपारायण (सोलह दिनका)

बाधाओंकी शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८
२	३	१३	२४
३	३	२९	१६
४	४	१९	२३
५	५	५	१७
६	६	५	२६
७	७	८	२२
८	८	१८	२५
९	९	१४	२०
१०	१०	१७	२७
११	१०	३८	२१
१२	१०	५२	१४
१३	१०	८१	२९
१४	११	१०	१९
१५	१२	१	२२
१६	१२	१३*	१२

(४१) सप्तदशाहपारायण (सत्रह दिनका)

आनन्दवृद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	४	२३
२	३	११	१७
३	३	२६	१५
४	४	१५	२२
५	४	३१*	१६
६	५	२५	२५
७	७	१	२१
८	८	१०	२४
९	९	५	१९
१०	१०	७	२६
११	१०	२७	२०

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१२	१०	४०	१३
१३	१०	६८	२८
१४	१०	८६	१८
१५	११	१७	२१
१६	१२	२	१६
१७	१२	१३*	११

(४२) अष्टादशाहपारायण (अठारह दिनका)

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१६	१६
२	३	८	२१
३	३	२१	१३
४	४	८	२०
५	४	२३	१५
६	५	१३	२१
७	६	१	१४
८	७	२	२०
९	८	६	१९
१०	९	४	२२
११	९	२४	२०
१२	१०	१८	१८
१३	१०	४०	२२
१४	१०	५९	१९
१५	१०	७३	१४
१६	११	७	२४
१७	११	२५	१८
१८	१२	१३*	१९

(४३) ऊनविंशत्यहपारायण (उन्नीस दिनका)

विजयप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१५	१५
२	३	५	१९
३	३	१७	१२
४	४	४	२०
५	४	२३	१९
६	५	६	१४
७	५	२६*	२०
८	६	१३	१३
९	७	१३	१९
१०	८	१६	१८
११	९	१३	२१
१२	१०	८	१९
१३	१०	२५	१७
१४	१०	४६	२१
१५	१०	६४	१८
१६	१०	७७	१३
१७	११	१०	२३
१८	११	२८	१८
१९	१२	१३*	१६

(४४) विंशाहपारायण (बीस दिनका)

इष्टसिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१३	१३
२	३	३	१९
३	३	१४	११
४	३	३२	१८
५	४	११	१२
६	५	१	२१
७	५	१८	१७
८	६	१२	२०
९	७	८	१५
१०	८	१५	२२
११	९	७	१६
१२	९	१६	९
१३	१०	१६	२४
१४	१०	३०	१४
१५	१०	४०	१०
१६	१०	६३	२३
१७	१०	८८	२५
१८	११	६	८
१९	१२	२	२७
२०	१२	१३*	११

(४५) एकविंशत्यहपारायण (इक्कीस दिनका)

सब प्रकारके उपद्रवोंकी शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१२	१२
२	३	१	१८
३	३	११	१०
४	३	२८	१७
५	४	६	११
६	४	२६	२०
७	५	११	१६
८	६	४	१९
९	६	१८	१४
१०	८	५	२१
११	८	२०	१५
१२	९	४	८
१३	१०	१३	२३
१४	१०	१६	१३
१५	१०	२५	९
१६	१०	४७	२२
१७	१०	७१	२४
१८	११	२	२१
१९	११	२७	२५
२०	१२	३	७
२१	१२	१३*	१०

(४६) द्वाविंशत्यहपारायण (बाईस दिनका)

ज्ञानप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	११
२	२	९	१७
३	३	९	१०
४	३	२५	१६
५	४	१०	१८
६	४	१८	८
७	५	३	१६
८	५	१६	१३
९	६	९	१९
१०	७	४	१४
११	८	१०	२१
१२	८	२२	१२
१३	९	१८	२०
१४	१०	१	७
१५	१०	२४	२३
१६	१०	३३	९
१७	१०	५४	२१
१८	१०	७८	२४
१९	११	८	२०
२०	११	१७	९
२१	१२	२	१६
२२	१२	१३*	११

(४७) त्रयोविंशत्यहपारायण (तेईस दिनका)

पापनाशके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१०	१०
२	२	७	१६
३	३	५	८
४	३	२०	१५
५	३	२९	९
६	४	१४	१८
७	४	२८	१४
८	५	१४	१७
९	५	२५	११
१०	६	१८	१९
११	७	१२	१३
१२	८	६	९
१३	९	३	२१
१४	९	१४	११
१५	९	२१	७
१६	१०	१७	२०
१७	१०	३९	२२
१८	१०	५९	१९
१९	१०	८१	२३
२०	१०	८९	८
२१	११	९	१०

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२२	११	२४	१५
२३	१२	१३*	२०

(४८) चतुर्विंशत्यहपारायण (चौबीस दिनका)

साम्राज्यकी प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	११
२	२	९	१७
३	३	१८	१९
४	३	३२	१४
५	४	८	९
६	४	१५	७
७	४	२६	११
८	५	१३	१८
९	६	८	२१
१०	७	८	१९
११	८	३	१०
१२	८	२३	२०
१३	९	७	८
१४	१०	५	२२
१५	१०	१३	८
१६	१०	२३	१०
१७	१०	३९	१६
१८	१०	५९	२०
१९	१०	७६	१७
२०	१०	८४	८
२१	११	८	१४
२२	११	२०	१२
२३	१२	४	१५
२४	१२	१३*	९

(४९) पंचविंशत्यहपारायण (पच्चीस दिनका)

सब प्रकारकी बाधाओंकी शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	८	८
२	१	१९*	११
३	३	४	१४
४	३	११	७
५	३	२४	१३
६	४	१०	१९
७	४	२५	१५
८	५	११	१७
९	५	२०	९
१०	६	२	८
११	६	१३	११
१२	७	१३	१९
१३	८	९	११
१४	८	१८	९
१५	९	९	१५
१६	९	१६	७
१७	१०	४	१२
१८	१०	२२	१८
१९	१०	३७	१५
२०	१०	५४	१७
२१	१०	६२	८
२२	१०	७५	१३
२३	११	३	१८
२४	११	२०	१७
२५	१२	१३*	२४

(५०) षड्विंशत्यहपारायण (छब्बीस दिनका)

त्रिलोकीके मंगलके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१५	१५
२	२	७	११
३	३	१३	१६
४	३	२५	१२
५	३	३२	७
६	४	१२	१३
७	५	१	२०
८	५	१२	११
९	५	२५	१३
१०	६	९	१०
११	७	४	१४
१२	७	१३	९

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१३	८	११	१३
१४	८	२२	११
१५	९	१६	१८
१६	१०	७	१५
१७	१०	१९	१२
१८	१०	३५	१६
१९	१०	४८	१३
२०	१०	५९	११
२१	१०	७२	१३
२२	१०	८४	१२
२३	११	१०	१६
२४	११	२१	११
२५	१२	२	१२
२६	१२	१३*	११

(५१) सप्तविंशत्यहपारायण (सत्ताईस दिनका)

सबमें एकीभावकी प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८
२	२	९	१०
३	३	१३	१४
४	३	२०	७
५	३	३३*	१३
६	४	१६	१६
७	४	२८	१२
८	५	१२	१५
९	५	२३	११
१०	६	६	९
११	६	१७	११
१२	७	८	१०
१३	८	५	१२
१४	८	२२	१७
१५	९	८	१०
१६	९	२४*	१६
१७	१०	९	९
१८	१०	२२	१३
१९	१०	३८	१६
२०	१०	४६	८
२१	१०	६५	१९
२२	१०	८०	१५
२३	१०	९०*	१०
२४	११	८	८
२५	११	२३	१५
२६	१२	२	१०
२७	१२	१३*	११

(५२) अष्टाविंशत्यहपारायण (अट्ठाईस दिनका)

किसीको वशमें करनेके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	७	७
२	१	१८	११
३	३	१	१२
४	३	१५	१४
५	३	२३	८
६	४	३	१३
७	४	१८	१५
८	४	२४	६
९	५	६	१३
१०	५	१३	७
११	५	२३	१०
१२	६	१६	१९
१३	७	१३	१६
१४	८	१३	१५
१५	९	४	१५
१६	९	१३	९
१७	१०	१	१२
१८	१०	१५	१४
१९	१०	३२	१७
२०	१०	४६	१४
२१	१०	५४	८
२२	१०	६५	११
२३	१०	८५	२०
२४	११	८	१३
२५	११	१५	७

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२६	११	२७	१२
२७	१२	४	८
२८	१२	१३*	९

(५३) ऊनत्रिंशदहपारायण (उन्तीस दिनका)

विद्या-प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	५	५
२	१	१६	११
३	२	१०*	१३
४	३	१२	१२
५	३	२३	११
६	३	३०	७
७	४	८	११
८	४	२२	१४
९	५	१	१०
१०	५	१२	११
११	५	१८	६
१२	६	६	१४
१३	६	१८	१२
१४	७	१०	११
१५	८	८	१३
१६	८	१७	९
१७	९	५	१२
१८	९	१६	११
१९	१०	४	१२
२०	१०	१५	११
२१	१०	२८	१३
२२	१०	४४	१६
२३	१०	५६	१२
२४	१०	६६	१०
२५	१०	७७	११
२६	११	१	१४
२७	११	१४	१३
२८	११	३०	१६
२९	१२	१३*	१४

(५४) मासपारायण (महीनेभरका)

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	११
२	१	१९*	८
३	२	१०*	१०
४	३	१२	१२
५	३	२४	१२
६	३	३३*	९
७	४	१२	१२
८	४	२३	११
९	४	३१*	८
१०	५	१४	१४
११	५	२६*	१२
१२	६	१२	१२
१३	७	५	१२
१४	७	१५*	१०
१५	८	१२	१२
१६	८	२४*	१२
१७	९	१३	१३
१८	९	२४*	११
१९	१०	११	११
२०	१०	२१	१०
२१	१०	३३	१२
२२	१०	४५	१२
२३	१०	५७	१२
२४	१०	६९	१२
२५	१०	७९	१०
२६	१०	९०*	११
२७	११	१३	१३
२८	११	२६	१३
२९	१२	५	१०
३०	१२	१३*	८

(५५) मासपारायण (महीनेभरका)

भक्तिप्रद

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	५	५

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२	१	१६	११
३	२	९	१२
४	३	१०	११
५	३	२३	१३
६	४	१	११
७	४	८	७
८	४	२२	१४
९	५	१	१०
१०	५	१२	११
११	५	२१	९
१२	६	६	११
१३	६	१८	१२
१४	७	१०	११
१५	८	८	१३
१६	८	१७	९
१७	९	५	१२
१८	९	१६	११
१९	१०	३	११
२०	१०	१५	१२
२१	१०	२८	१३
२२	१०	४४	१६
२३	१०	५६	१२
२४	१०	७०	१४
२५	१०	८१	११
२६	११	१	१०
२७	११	१४	१३
२८	११	२८	१४
२९	१२	७	१०
३०	१२	१३*	६

(५६) मासपारायण (महीनेभरका)

समस्त कामनाओंकी सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	११
२	२	२	१०
३	३	२	१०
४	३	१२	१०
५	३	२३	११
६	४	९	१९
७	४	२०	११
८	४	२२	१२
९	५	१	१०
१०	५	१०	९
११	५	२०	१०
१२	६	९	१५
१३	६	१६	७
१४	७	७	१०
१५	८	१	९
१६	८	१५	१४
१७	९	४	१३
१८	९	१०	६
१९	१०	६	२०
२०	१०	१७	११
२१	१०	३०	१३
२२	१०	४२	१२
२३	१०	५४	१२
२४	१०	६५	११
२५	१०	७८	१३
२६	१०	८७	९
२७	११	९	१२
२८	११	२१	१२
२९	१२	२	१२
३०	१२	१३*	११

(५७) ऋतुपारायण (दो महीनेका)

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	६	६
२	१	११	५
३	१	१५	४
४	१	१९*	४
५	२	६	६
६	२	१०*	४
७	३	६	६
८	३	११	५

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
९	३	१६	५
१०	३	२०	४
११	३	२४	४
१२	३	२८	४
१३	३	३३*	५
१४	४	७	७
१५	४	१२	५
१६	४	१८	६
१७	४	२४	६
१८	४	३१*	७
१९	५	६	६
२०	५	११	५
२१	५	१५	४
२२	५	२०	५
२३	५	२६*	६
२४	६	७	७
२५	६	१३	६
२६	६	१९*	६
२७	७	५	५
२८	७	१०	५
२९	७	१५*	५
३०	८	४	४
३१	८	९	५
३२	८	१४	५
३३	८	१८	४
३४	८	२४*	६
३५	९	५	५
३६	९	१२	७
३७	९	१७	५
३८	९	२४*	७
३९	१०	६	६
४०	१०	११	५
४१	१०	१७	६
४२	१०	२३	६
४३	१०	२८	५
४४	१०	३३	५
४५	१०	३८	५
४६	१०	४४	६
४७	१०	४९÷	५
४८	१०	५५	६
४९	१०	६१	६
५०	१०	६८	७
५१	१०	७५	७
५२	१०	८१	६
५३	१०	८८	७
५४	११	५	७
५५	११	११	६
५६	११	१८	७
५७	११	२३	५
५८	११	२९	६
५९	१२	५	७
६०	१२	१३*	८

ऐसा माना जाता है कि निम्नलिखित स्कन्धोंके निम्नलिखित अध्यायोंपर विश्राम नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेवालोंके प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे।

स्कन्ध	अध्याय
१	१, ८, १०, ११, १६
२	३, ८
३	१, ७, १०, १८, २०, २३
४	१, ३, १०, १७, १८
५	५, १३
६	६, १०
७	१, ४, ६
८	१, २, ८, १०, २१
९	१, ४, १०, १५
१०	१, ९, १०, २२, २९, ३०, ६२, ७६, ७७
११	१०, २२, ३०
१२	९

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्रम्

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥ १ ॥

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।
जिह्वे पिबस्वामृतमेतदेव गोविन्द दामोदर माधवेति॥ २ ॥

विक्रेतुकामाखिलगोपकन्या मुरारिपादार्पितचित्तवृत्तिः।
दध्यादिकं मोहवशादवोचद् गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ३ ॥

गृहे गृहे गोपवधू-कदम्बाः सर्वे मिलित्वा समवाप्य योगम्।
पुण्यानि नामानि पठन्ति नित्यं गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ४ ॥

सुखं शयाना निलये निजेऽपि नामानि विष्णोः प्रवदन्ति मर्त्याः।
ते निश्चितं तन्मयतां व्रजन्ति गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ५ ॥

जिह्वे सदैवं भज सुन्दराणि नामानि कृष्णस्य मनोहराणि।
समस्त-भक्तार्ति-विनाशनानि गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ६ ॥

सुखावसाने इदमेव सारं दुःखावसाने इदमेव ज्ञेयम्।
देहावसाने इदमेव जाप्यं गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ७ ॥

जिह्वे रसज्ञे मधुर-प्रिये त्वं सत्यं हितं त्वां परमं वदामि।
आवर्णयेथा मधुराक्षराणि गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ८ ॥

त्वामेव याचे मम देहि जिह्वे समागते दण्डधरे कृतान्ते।
वक्तव्यमेवं मधुरं सुभक्त्या गोविन्द दामोदर माधवेति॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण राधावर गोकुलेश गोपाल गोवर्धन नाथ विष्णो।
जिह्वे पिबस्वामृतमेतदेव गोविन्द दामोदर माधवेति॥१०॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवतकी आरती

आरति अतिपावन पुरानकी।
धर्म-भक्ति-विज्ञान-खानकी॥ टेक ॥

महापुरान भागवत निरमल।
शुक-मुख-विगलित निगम-कल्प-फल।
परमानन्द-सुधा-रसमय कल।
लीला-रति-रस रस-निधानकी॥ आरति० ॥

कलि-मल-मथनि त्रिताप-निवारिनि।
जन्म-मृत्युमय भव-भय-हारिनि।
सेवत सतत सकल सुखकारिनि।
सुमहौषधि हरि-चरित-गानकी॥ आरति० ॥

विषय-विलास-विमोह-विनाशिनि।
विमल विराग विवेक विकाशिनि।
भगवत्-तत्त्व-रहस्य-प्रकाशिनि।
परम ज्योति परमात्म-ज्ञानकी॥ आरति० ॥

परमहंस-मुनि-मन-उल्लासिनि।
रसिक-हृदय रस-रास-विलासिनि।
भुक्ति,मुक्ति,रतिप्रेम-सुदासिनि।
कथा अकिंचनप्रिय सुजानकी॥ आरति० ॥